दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

दिशा सन्धान के अब तक प्रकाशित सभी अंकों की पीडीएफ फाइल का संग्रह

दिशा सन्धान – 1 पेज न. 2
दिशा सन्धान – 2 पेज न. 266
दिशा सन्धान – 3 पेज न. 554
दिशा सन्धान – 4 पेज न. 934
दिशा सन्धान – 5 पेज न. 1094

नये अंक प्रकाशित होते ही
इसी लिंक पर जोड़ दिये जायेंगे

http://dishasandhaan.in/pdf/Disha-Sandhan.pdf

अंक 1, अप्रैल-जून 2013, 100 रुपये

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

"सबसे निकृष्ट अशिक्षित व्यक्ति वह होता है जो राजनीतिक रूप से अशिक्षित होता है। वह सुनता नहीं, बोलता नहीं, राजनीतिक सरगर्मियों में हिस्सा नहीं लेता। वह नहीं जानता कि ज़िन्दगी की क़ीमत, सब्ज़ियों, मछली, आटा, जूते और दवाओं के दाम तथा मक़ान का किराया–यह सब कुछ राजनीतिक फैसलों पर निर्भर करता है। राजनीतिक अशिक्षित व्यक्ति इतना घामड़ होता है कि इस बात पर घमण्ड करता है और छाती फुलाकर कहता है कि वह राजनीति से नफ़रत करता है। वह कूढ़मगज़ नहीं जानता कि उसकी राजनीतिक अज्ञानता एक वेश्या, एक परित्यक्त बच्चे और चोरों में सबसे बुरे चोर – एक बुरे राजनीतिज्ञ को जन्म देती है जो भ्रष्ट तथा राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का टुकड़खोर चाकर होता है।"

– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

(जर्मन चिन्तक, कवि, नाटककार)

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

1

अप्रैल–जून, 2013

1

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

मार्च–जून 2013

सम्पादक

कात्यायनी / सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :
69 ए-1, बाबा का पुरवा
पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226020
फ़ोन : 9936650658 / 8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रण : प्रकाश पैकेजर्स, गोलागंज, लखनऊ

प्रति अंक : 100 रुपये

वार्षिक सदस्यताः 400 रुपये (डाकखर्च सहित)

आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क **'दिशा सन्धान'** (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता ज़रूर बता दें।
चालू खाता सं. 0762002109003644
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,
आईएफ़एससी कोडः PUNB0076200

●

संपादन-संचालन पूर्णतः अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा प्रकाश पैकेजर्स, गोलागंज, लखनऊ द्वारा मुद्रित

इस अंक में

सम्पादकीय की एवज़ में

'दिशा सन्धान' क्यों ? **4**

विशेष लेख

सोवियत समाजवाद के अनुभवः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ — अभिनव सिन्हा **7**

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन — *दीपायन बोस* **153**

अर्थजगत

भारत में नवउदारवाद के दो दशक — *सुखविन्दर* **115**

पुस्तक समीक्षा

'ख़तरनाक ढंग से सपने देखने' और निष्क्रिय, नुकसानदेह और नामुराद सैद्धान्तिकीकरण का वर्ष — *अभिनव सिन्हा* **215**

समकालीन

आधुनिक यूनानी त्रासदी के त्रासद नायक के विरोधाभास — *सत्यम* **229**

दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड, जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट और सरकार का अपराध कानून (संशोधन) अध्यादेश, 2013 — *कात्यायनी* **240**

अ़फज़ल गुरू को फाँसीः बुर्जुआ "राष्ट्र" के सामूहिक अन्तःकरण की तुष्टि के लिए न्याय को तिलांजलि — *शिवानी* **248**

खाद्य सुरक्षा के नाम पर जनता के लिए खाद्य असुरक्षा पैदा करने की तैयारी — *तपीश मैन्दोला* **253**

सम्पादकीय
की एवज़ में

'दिशा सन्धान' क्यों?

हम 'दिशा सन्धान' के पहले अंक के साथ आपके बीच हैं। जैसा कि हमने पत्रिका से पहले जारी किये गये परिपत्र में बताया था, 'दिशा सन्धान' कई मायनों में उसी परियोजना की निरन्तरता में है, जो हमने करीब दो दशक पहले 'दायित्वबोध' के साथ शुरू की थी। कुछ वर्ष पहले कुछ बाध्यताओं के कारण 'दायित्वबोध' का प्रकाशन रुक गया था। उसके बाद से ही हम गम्भीर सैद्धान्तिक मुद्दों पर केन्द्रित एक नयी पत्रिका के प्रकाशन की आवश्यकता महसूस कर रहे थे और कुछ देर से सही लेकिन हम इस नयी पत्रिका के पहले अंक के साथ प्रस्तुत हैं।

निरन्तरता के बावजूद कुछ अर्थों में 'दिशा सन्धान' का स्वरूप और उद्देश्य थोड़े ज़्यादा व्यापक, ज़्यादा गम्भीर और ज़्यादा बहुआयामी हैं। इसका एक प्रमुख कारण पिछले दशक के दौरान दुनिया में हो रहे बदलाव हैं। 1990 में सोवियत संघ में नकली लाल झण्डे के गिरने के साथ शुरू हुआ पूँजीवादी विजयवाद समाप्त हो चुका है। विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का संकट नयी सहस्राब्दि के शुरू होने से पहले ही गम्भीर रूप लेना शुरू कर चुका था और 2007 में अमेरिका में शुरू हुए सबप्राइम संकट के साथ इसने 1930 के दशक की महामन्दी के बाद सबसे बड़ी मन्दी का रूप ग्रहण कर लिया है। आज अधिकांश प्रेक्षक इस बात पर एकमत हैं कि 'दूसरी महामन्दी' कई मायनों में पहली महामन्दी से ज़्यादा संरचनागत है और इसके बाद किसी तेज़ी (बूम) का दौर नहीं आने वाला है। ज़्यादा से ज़्यादा कुछ समय के लिए मन्दी के प्रभावों को कुछ कम किया जा सकता है, जो कि अगले चक्र में और ज़्यादा भयंकर होकर उभरते हैं। हमेशा की तरह पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े की हवस से पैदा होने वाली मन्दी का बोझ आम मेहनतकश जनता के कन्धों पर डाल रहा

है। आम मेहनतकश जनता भी इस ज़्यादती के ख़िलाफ़ दुनिया भर में सड़कों पर उतर रही है। जनान्दोलनों में छाया हुआ सन्नाटा भी टूट रहा है। अरब विश्व से लेकर, यूनान, स्पेन, इटली, अमेरिका और बंगलादेश तक में जनता सड़कों पर स्वत:स्फूर्त रूप से उतर रही है। आज की स्थिति का एक पहलू विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का गहराता संकट और जनता के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों का फूटना है।

लेकिन एक दूसरा पहलू भी है, जो कि मौजूदा स्थिति को विशिष्ट बनाता है। जनता दुनिया भर में स्वयंस्फूर्त रूप से सड़कों पर उतर रही है क्योंकि उसके सब्र का प्याला छलक रहा है, लेकिन यह भी सच है कि इन स्वत:स्फूर्त जनउभारों को एक सही क्रान्तिकारी दिशा देने वाली हिरावल ताक़त आज किसी देश में मौजूद नहीं है। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन दुनिया भर में बिखरा हुआ है। पूँजीवाद अपने ढाँचागत संकटों के बावजूद मार्क्सवाद पर अपने वैचारिक-सांस्कृतिक हमले जारी रखे हुए है। दुनिया और देश के पैमाने पर अधिकांश कम्युनिस्ट ताक़तों के बीच या तो कठमुल्लावाद की प्रवृत्ति गहरायी से जड़ जमाये हुए है, या फिर धुरीविहीन "मुक्त-चिन्तन" और सारसंग्रहवाद की रुझान हावी है। कुछ लोग पुरानी क्रान्तियों से आलोचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हुए नयी सदी के क्रान्तिकारी प्रयोग के विभिन्न आयामों को समझने की बजाय, उनका अन्धानुकरण करने पर आमादा हैं, तो कुछ अन्य लोग पुरानी क्रान्तियों के आलोचनात्मक विवेचन के बिना ही उन्हें ख़ारिज कर देने, और शून्य से नयी शुरुआत करने के मंसूबे बाँधे हुए हैं। इन दोनों रुझानों में साझा बात यह है कि दोनों ही बीसवीं सदी के महान समाजवादी प्रयोगों से किसी भी किस्म का आलोचनात्मक रिश्ता कायम नहीं करना चाहतीं। ऐसे में, कम्युनिस्ट आन्दोलन दुनिया भर में विचारधारात्मक, राजनीतिक और कार्यक्रम-सम्बन्धी मसलों पर बौद्धिक तौर पर विभ्रम का शिकार है। यही कारण है कि अधिकांश हालिया जनान्दोलनों में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों का प्रभाव पर्याप्त नहीं रहा। उनकी बजाय अराजकतावाद, संघाधिपत्यवाद और ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी धाराओं का प्रभाव इन आन्दोलनों पर ज़्यादा था। यही इन आन्दोलनों की असफलता का कारण भी बना। मिस्र में जनता के शानदार आन्दोलन के बाद इस्लामी कट्टरपन्थी ताक़तों का सत्ता में आना, 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' आन्दोलन का विसर्जित हो जाना इसी को सिद्ध करता है। हर संकट हमेशा की तरह क्रान्तिकारी और प्रतिक्रियावादी सम्भावनाओं को जन्म देता है और अगर क्रान्तिकारी हिरावल क्रान्तिकारी सम्भावना को यथार्थ में बदलने के लिए मौजूद नहीं है, तो प्रतिक्रियावादी, फासीवादी ताक़तें प्रतिक्रियावादी सम्भावना को हक़ीकत में तब्दील कर देती हैं।

आज कम्युनिस्ट आन्दोलन में जो वैचारिक विभ्रम की स्थिति बनी हुई है, उसके केन्द्र में मार्क्सवाद के कोर सिद्धान्त हैं जैसे वर्ग, पार्टी, राज्यसत्ता, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व की अवधारणाएँ। सोवियत समाजवादी प्रयोग और चीन में समाजवादी प्रयोगों के पतन के बाद जो संशयवाद कम्युनिस्ट आन्दोलन में फैला, उसका असर आज भी मौजूद हैं। इन समाजवादी प्रयोगों की कोई सुसंगत आलोचनात्मक समझदारी न होने के कारण ही अन्धानुकरणवाद और ख़ारिज कर देने के दो अतिवादी छोर कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद हैं। जो संशयवाद की लहर में बह गये हैं वे पार्टी और वर्ग अधिनायकत्व की ही अवधारणा पर प्रश्न खड़े करने लगे हैं, और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के सिद्धान्तों को ही नये शब्दों में पेश कर रहे हैं, तो कुछ ऐसे भी हैं जो संशयवाद की लहर पर अतिरेकी प्रतिक्रिया देते हुए या नये का सन्धान करने की ज़हमत से बचने के लिए सोवियत समाजवाद और चीन के समाजवादी प्रयोगों के

किसी भी आलोचनात्मक विवेचन के ख़िलाफ़ हैं। इस स्थिति के कारण ही आज कम्युनिस्ट आन्दोलन में एक वैचारिक विभ्रम और बिखराव की स्थिति बनी हुई है। इस स्थिति को दूर करने के लिए ज़रूरी है कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों का गम्भीर आलोचनात्मक विवेचन किया जाय, नयी क्रान्तियों में नये का सन्धान किया जाय और इस बात की भी निशानदेही की जाय कि बीसवीं सदी की महान और मौलिक क्रान्तियों से आज भी क्या सीखा जा सकता है; ज़रूरी है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त के कोर तत्वों की हिफ़ाज़त की जाय और इस बात को मज़बूती के साथ स्थापित किया जाय कि नये के सन्धान का अर्थ नयी सदी की क्रान्तियों की रणनीति और आम रणकौशल में नये का सन्धान है, न कि मार्क्सवादी सिद्धान्त के मूलभूत और बुनियादी तत्वों को तिलांजलि दे देना; विश्व का कम्युनिस्ट आन्दोलन पहले भी ऐसे "मुक्त-चिन्तन" की पर्याप्त कीमत अदा कर चुका है और अब इस बाबत एक विचारधारात्मक संजीदगी की ज़रूरत है। इसके लिए इन सभी मुद्दों को सभी पूर्वाग्रहों को छोड़कर, खुले दिमाग़ के साथ बहस-मुबाहसे की ज़रूरत है और 'दिशा सन्धान' का एक लक्ष्य होगा कि वह ऐसी गम्भीर सैद्धान्तिक बहसों का मंच बने और कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद वैचारिक विभ्रम और अस्पष्टता को दूर करने में योगदान करे।

इसके अतिरिक्त, मार्क्सवाद पर विचारधारात्मक हमलों का सिलसिला थमा नहीं है। यह सच है कि पूँजीवाद स्वयं अपने ढाँचागत अन्तकारी संकट से बुरी तरह से ग्रस्त है; यह भी सच है कि नब्बे के दशक के पूर्वार्द्ध का पूँजीवादी विजयवादी उन्माद शान्त हो चुका है; लेकिन यदि पूँजीवाद आज संकट का शिकार है तो कम्युनिस्ट आन्दोलन भी आज बिखराव और वैचारिक विभ्रम का शिकार है। ऐसे में, पूँजीवाद के प्रचार तन्त्र ने हिरावल को संगठित होने से रोकने के लिए अपने विचारधारात्मक और सैद्धान्तिक हमले जारी रखे हैं। अपने सांस्कृतिक माध्यमों और भाड़े के बुद्धिजीवियों का वह इसमें कुशलतापूर्ण इस्तेमाल कर रहा है। ऐसे में, आज का एक अहम कार्यभार यह भी बन जाता है कि ऐसे विचारधारात्मक हमलों के बरक्स न सिर्फ मार्क्सवाद की दृढ़ता से हिफ़ाज़त की जाय, बल्कि इन हमलों का मुँहतोड़ जवाब भी दिया जाय और दिखलाया जाय कि एक बार फिर से, इन नये हमलों में कुछ भी नया नहीं है और दरअसल पुराने बुर्जुआ सिद्धान्तों को ही नयी चाशनी में परोस दिया गया है। यह भी 'दिशा सन्धान' के लक्ष्यों में से एक होगा।

ज़िन्दा लोग ज़िन्दा सवालों पर सोचते हैं। लिहाज़ा, हमारा एक मकसद होगा पूँजीवादी समाज और व्यवस्था से जुड़ी रोज़मर्रा की घटनाओं, विशेष घटनाओं और प्रतीक घटनाओं के गम्भीर वैचारिक विश्लेषण के ज़रिये आज की मानवद्रोही व्यवस्था और समाज की सच्चाई को बेपर्द करना। 'दिशा सन्धान' में हम नियमित तौर पर समसामयिक घटनाओं पर संजीदा विश्लेषात्मक टिप्पणियाँ देंगे।

हम उम्मीद करते हैं कि हम जो लक्ष्य अपने लिए तय कर रहे हैं, उस पर अनुशासन और नियमितता के साथ और अपने द्वारा तय मानकों और पैमानों के साथ वफ़ादार बने रहते हुए अमल करने में सफल होंगे और हमें यह भी उम्मीद है कि हमारे इस प्रयास में सभी सरोकार रखने वाले पाठक, जनता का पक्ष चुनने वाले बुद्धिजीवी और राजनीतिक कार्यकर्ता भी हमारा साथ देंगे। इन उम्मीदों के साथ ही हम 'दिशा सन्धान' का प्रवेशांक आपके हाथों में थमा रहे हैं।

(20 मई 2013)

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

● अभिनव सिन्हा

(पहली किस्त)

I. प्रस्तावना

सोवियत समाजवादी प्रयोगों की नये सिरे से व्याख्या क्यों? बहुत से समकालीन विचारक, जैसे कि नववामपन्थी व उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक, सोवियत समाजवाद को इतिहास को हमेशा के लिए बन्द हो चुका अध्याय मानते हैं; कुछ अन्य सोवियत समाजवाद को एक दुर्गति/विपदा में समाप्त हुए प्रयोग के रूप में ख़ारिज कर देते हैं और 21वीं सदी में नये किस्म के समाजवाद/कम्युनिज़्म की बात कर रहे हैं। उनका मानना है कि सोवियत संघ के समाजवाद का ज़िक्र भर करने से नयी सदी की कम्युनिस्ट परियोजनाएँ दूषित हो जायेंगी! ऐसे सट्टेबाज़, नववामपन्थी और उत्तर-मार्क्सवादी विचारकों व दार्शनिकों को छोड़ भी दिया जाय, तो मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर ही ऐसी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं, जो सोवियत समाजवाद के आलोचनात्मक विवेचन की ज़रूरत को नहीं मानती हैं, या फिर इसे एक हल हो चुका प्रश्न मानती हैं। जो सोवियत समाजवाद के प्रयोगों के विश्लेषण को एक हल हो चुका प्रश्न मानते हैं, उनमें दो किस्म के लोग हैं।

एक वे, जो कि मानते हैं सोवियत समाजवाद के दौरान जो ग़लतियाँ हुईं वे आकस्मिक किस्म की थीं, या इसलिए हुईं क्योंकि

समाजवादी प्रयोग का कोई उदाहरण पहले से उसके सामने मौजूद नहीं था। वे उन राजनीतिक-विचारधारात्मक त्रुटियों की ओर कोई ध्यान नहीं देते जो पार्टी में मौजूद थीं और जिनके ख़िलाफ़ लेनिन ने अपने समय में संघर्ष चलाया था, और स्तालिन ने भी आनुभविक और लाक्षणिक तौर पर उस संघर्ष को जारी रखा था। वे सभी ग़लतियों को वस्तुगतता के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं और इसलिए किसी गम्भीर आलोचनात्मक विश्लेषण की तरफ़ नहीं जाते। दूसरी ओर, कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर ही कुछ ऐसे लोग भी हैं जो बोल्शेविक पार्टी की आलोचना का काम हाथ में लेने का दावा करते हैं, लेकिन अफसोसनाक तरीके से वे ठीक उन्हीं चीज़ों के लिए बोल्शेविक पार्टी की आलोचना करते हैं, जिनके लिए एक सही सर्वहारा दृष्टिकोण से बोल्शेविक पार्टी की प्रशंसा की जानी चाहिए; कि एक आत्यन्तिक रूप से प्रतिकूल दौर में, भयंकर प्रतिकूल परिस्थितियों में बोल्शेविक पार्टी ने आन्तरिक संकटों और बाह्य दबावों व ख़तरों को झेलते हुए ऐसे शानदार ऐतिहासिक प्रयोग किये, जिनकी पूरे मानव इतिहास में मिसाल नहीं मिलती। इस दूसरे किस्म के लोगों में कुछ ऐसे हैं जो बोल्शेविक पार्टी पर प्रतिस्थापनवाद (सब्स्टिट्यूशनिज़्म) का आरोप लगाते हैं, कुछ अन्य उसके भीतर मौजूद नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं के कारण स्तालिन काल में ही उसके एक पतित पार्टी बन जाने की बात करते हैं। कुछ का मानना है कि लेनिन के काल में ही पार्टी एक नौकरशाहाना बुर्जुआ पार्टी में तब्दील हो गयी थी और स्वयं लेनिन इस विचलन के शिकार थे, तो कुछ का मानना है कि यह सब स्तालिन काल में हुआ।

इस दूसरी किस्म में काफ़ी वैविध्य है, जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे! लेकिन इन दोनों किस्मों में एक बात साझी है: **दोनों के लिए सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों का प्रश्न एक हल (सेटेल्ड) हो चुका प्रश्न है।** पहली किस्म के लोग इसे लगभग पूर्णता में अपनाते हुए हल मानते हैं तो दूसरी किस्म के लोग इसे लगभग पूर्णता में ख़ारिज करते हुए हल मानते हैं, हालाँकि इस किस्म में कई ऐसे भी हैं, जो दिखावटी तौर पर सोवियत समाजवादी प्रयोग की महानता के बारे में कुछ कथन अपने सारे गाली-गलौच के अन्त में चस्पाँ कर देते हैं। **ऐसे में, सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन की बात करने की क्या प्रासंगिकता है?** हम इस सवाल का जवाब देते हुए ही शुरुआत करेंगे, क्योंकि उद्देश्य के कथन और औचित्य-प्रतिपादन के बिना कोई क्रान्तिकारी-वैज्ञानिक विश्लेषण सही तरीके से शुरू नहीं हो सकता।

II. वर्तमान संक्रमणकाल के असमाधित प्रश्न और सोवियत समाजवादी प्रयोग और उसके इतिहास के आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन की जारी प्रासंगिकता

1) संक्रमण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि: निराशा के दौर का अन्त और आशा के उत्स

हम एक संक्रमणकाल में जी रहे हैं। 1989 में बर्लिन की दीवार के गिरने और 1990 में

सोवियत संघ के औपचारिक पतन के साथ पूँजीवादी विजयवाद का जो दौर शुरू हुआ था, वह बहुत पहले ही समाप्त हो चुका है। वास्तव में, यह विजयवाद एक दशक भी नहीं चल सका था। 1997 में एशियाई मौद्रिक संकट के साथ पूँजीवादी संकट का जो दौर शुरू हुआ वह आज तक थम नहीं सका है। लेकिन 1990 के ठीक बाद विचारधारा और राजनीति की दुनिया में पूँजीवादी विचारकों ने 'पूँजीवाद की अन्तिम विजय', 'उदार बुर्जुआ जनवाद की अन्तिम विजय' और, चूँकि उनके अनुसार अब मानव इतिहास को गुणात्मक रूप से किसी नये चरण में नहीं जाना था, इसलिए 'इतिहास के अन्त', 'विचारधारा के अन्त', 'कविता के अन्त' आदि की घोषणाएँ करनी शुरू कर दी थीं। **फ्रांसिस फुकुयामा** ने अपनी पुस्तक **'दि एण्ड ऑफ हिस्ट्री एण्ड दि लास्ट मैन'** में उदार बुर्जुआ जनवाद को इतिहास का अन्त और तार्किक चयन करने वाले उदार बुर्जुआ नागरिक/व्यक्ति को अन्तिम मनुष्य करार दिया था। दरअसल, पूँजीवादी विचारकों ने अन्त की विचारधारा के कुछ शुरुआती संस्करण 1960 के दशक से ही बनाने शुरू कर दिये थे जो डेनियल बेल, रोस्तोव और आरों के उत्तर-औद्योगिक समाज और ल्योतार के 'उत्तरआधुनिक स्थिति' के सिद्धान्त के रूप में सामने आने लगे थे, और यह कोई इत्तेफ़ाक नहीं था। 1956 में सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में ख्रुश्चेव ने स्तालिन पर जमकर कीचड़ उछाला और संशोधनवाद का रास्ता अख़्तियार किया। 1950 के दशक के अन्त तक शान्तिपूर्ण संक्रमण, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के सिद्धान्त आने लगे थे और सोवियत संघ का समाजवाद के रास्ते से पूँजीवाद के रास्ते पर संक्रमण स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगा था। दुनिया की कई कम्युनिस्ट पार्टियों और कम्युनिस्ट विचारकों को अभी यह यथार्थ शायद नहीं दिख रहा था और वे 'वास्तव में अस्तित्वमान समाजवाद' आदि जैसे सिद्धान्त दे रहे थे, लेकिन पूँजीवादी थिंक टैंकों की समझ में यह बात आ रही थी कि यह समाजवादी प्रयोगों की पराजय है। और यही वक्त था जब एक ओर तो कई निराश बुद्धिजीवियों ने अपनी हताशा और संशयवाद में उत्तरआधुनिक सिद्धान्तों की रचना की और साथ ही दूसरी ओर कई सचेतन तौर पर शासक वर्ग की चाकरी में लगे भाड़े के पूँजीवादी बुद्धिजीवियों ने भी ऐसे सिद्धान्तों की रचना की। 1960 के दशक में आये ये सिद्धान्त ही उत्तरआधुनिकतावादी विचारसरणियों की शुरुआत थे। यहाँ हम 1968 के जनउभार की इन तमाम परिवर्तनों में भूमिका और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के इन उत्तरआधुनिकतावादियों द्वारा हस्तगतीकरण (एप्रोप्रियेशन) पर विस्तार में नहीं जा सकते। लेकिन यह स्पष्ट है कि उत्तरआधुनिकतावादी विचारसरणियों के ये तमाम शुरुआती संस्करण 1990 के बाद और ज़्यादा खुले और नंगे रूप में दुनिया के सामने रखने जाने लगे। तमाम किस्म की उत्तरआधुनिक विचार-सरणियों का बाज़ार अचानक गर्म हो गया। इसकी तुलना अखबार के दफ़्तर में पहले से मौजूद प्रसिद्ध लोगों के मृत्युलेखों से की जा सकती है। जैसे ही ये प्रसिद्ध लोग मरते हैं, वैसे ही उनके मृत्यु की तात्कालिक स्थितियों से जुड़ी सूचनाओं को ऊपर जोड़कर अखबार इन मृत्युलेखों को छाप देते हैं! उसी प्रकार समाजवाद और मार्क्सवाद की मृत्यु से जुड़े मृत्युलेख बुर्जुआज़ी के विचारधारात्मक वर्चस्व की मशीनरी ने शीत युद्ध के गति पकड़ने (यानी 1960 के दशक) के साथ ही लिखने शुरू कर दिये थे! 1956 में सोवियत संघ में संशोधनवाद की विजय के बाद उसके पूँजीवादी रास्ते को अख़्तियार करने, सोवियत संघ के राज्य पूँजीवाद के दायरे में पूँजी संचय के संकट के जन्म लेने, गोर्बाचोव के "सुधारों" के शुरू होने के साथ इन मृत्युलेखों में नये-नये विवरण जुड़ते गये और

1990 में औपचारिक तौर पर सोवियत संघ में "लाल झण्डे" के गिरने के साथ, साम्राज्यवादी सूचना तंत्र ने इन मृत्युलेखों की ब्रॉडकास्टिंग शुरू कर दी! लेकिन इतिहास स्वयं ही दिखला देता है कि ये मृत्युलेख नकली लाल झण्डे, नकली समाजवाद और संशोधनवाद के मृत्युलेख थे! जो पूँजीवादी विजयवाद सोवियत संघ के विघटन के साथ शुरू हुआ, वह ऐतिहासिक-राजनीतिक तौर पर अनुपयुक्त (मिस्प्लेस्ड) था। लेकिन फिर भी इस पूँजीवादी विजयवाद ने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से और अकादमिक जगत पर गहरा असर डाला।

राजनीति से लेकर अकादमिक जगत तक में इस तरह की 'उत्तर-' विचारसरणियों की फेरियाँ सज गयीं, जो वही दावा ज़्यादा "दार्शनिक" और "विचारधारात्मक" तौर पर सुसूचित व सुसज्जित रूप में कर रही थीं, जो कि रैण्ड कारपोरेशन के भाड़े के बुद्धिजीवी फुकुयामा ने भोंड़े शब्दों में किया था। इन 'उत्तर-' विचारसरणियों का यह दावा था कि क्रान्ति, परिवर्तन, वर्ग आदि की बात करना महाख्यानों के राज्य में विचरण करना है और महाख्यानों का दौर बीत चुका है; अब छोटे-छोटे आख्यानों का दौर है, खण्डों के जश्न मनाये जाने का दौर है, अलग-अलग अस्मिताओं को परकीकृत कर, उन्हें अनालोचनात्मक तौर पर महिमा-मण्डित करने का दौर है। **मिशेल फूको** जैसे लोग कहने लगे कि सत्ता का सामूहिक प्रतिरोध व्यर्थ है। क्योंकि हर सामूहिकता (यहाँ विशेष तौर पर निशाना वर्ग पर था) सार्वभौमिकता पर निर्भर करती है, और हर प्रकार का सार्वभौम (यूनीवर्सल) वास्तव में दमनकारी होता है। यदि वर्ग चेतना और वर्ग एकजुटता के आधार पर पूँजीवाद का विरोध किया जाता है, उसके ख़िलाफ़ क्रान्ति की जाती है, तो अन्त में वह भी एक प्रकार की सत्ता को जन्म देगा और यह सत्ता भी दमनकारी होगी! (फूको यह नहीं बताता कि किसका दमन और किसके लिए दमन! क्योंकि निश्चित तौर पर समाजवादी राज्य भी एक राज्यसत्ता ही होगी और इस रूप में निश्चित तौर पर वह एक दमन का उपकरण होगी। लेकिन अगर इस सवाल को ही गोल कर दिया जाय कि किसके लिए दमन, किसका दमन और किसके द्वारा दमन तो किसी बात को कोई अर्थ नहीं रह जाता।) इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था और समाज के शोषण और उत्पीड़न के प्रतिरोध का रास्ता है कि *व्यक्ति* (इण्डिविजुअल) इसके द्वारा स्थापित हर सार्वभौम, मानक (नॉर्म), सामान्यता के ख़िलाफ़ व्यक्तिगत तौर पर विद्रोह करे! यह विद्रोह समलैंगिकता के रूप में हो सकता है, ट्रांसवेस्टाइट और ट्रांसजेण्डर बनकर हो सकता है, वगैरह। यही फूको की *क्वियर थियरी* का मर्म है। इस सारे विश्लेषण से सिर्फ़ यह ग़ायब था कि दमन कौन कर रहा है और कौन उसे झेल रहा है, सत्ता किसकी है और शासित कौन है, यानी कि वर्ग विश्लेषण। जाहिर है, कि यहाँ निशाना मार्क्सवाद था। इसी प्रकार की उत्तरआधुनिक विचारसरणियों (जिनके विकास में **देरीदा, स्पिवाक, एडवर्ड सईद** आदि जैसे लोगों का योगदान अहम था) का बाज़ार 1990 के दशक के पूर्वार्द्ध में ख़ास तौर पर गर्म हो गया।

भारत में इन बीमार पूँजीवादी विचार-सरणियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे **आशीष नन्दी** और सबऑल्टर्न स्टडीज़ के बुद्धिजीवी जैसे कि **पार्थ चटर्जी, दीपेश चक्रवर्ती** आदि जैसे लोग। हिन्दी जगत में बिना पढ़े और बिना समझे इन विचार-सरणियों की राह पकड़ने का काम सुधीश पचौरी जैसे लोग कर रहे थे, जो बस इतना जानते थे कि ये विचार-सरणियाँ इस समय चलन में हैं। आजकल हिन्दी जगत में यही काम कुछ बुद्धिजीवी कर रहे हैं जो कि सबऑल्टर्न स्टडीज़ के पदचिन्हों पर चलने का प्रयास कर रहे हैं और अस्मितावादी विमर्श में

मगन हैं। अब यह बात अलग है कि सबऑल्टर्न इतिहास लेखन को अब कई सबऑल्टर्न स्टडीज़ के ही सदस्य एक चुकी हुई और असफल परियोजना मानते हैं, जो शुरुआत में मार्क्सवादी इतिहासलेखन में कठमुल्लावाद और अपचयनवाद के 'करेक्टिव' के तौर पर शुरू होकर, एडवर्ड सईद के 'भाषाई मोड़' पर फिसलकर गिर गयी।

ख़ैर, 1990 के दशक के पूर्वार्द्ध में ये उत्तरआधुनिकतावादी बुद्धिजीवी यह दावा कर रहे थे कि वे पश्चिम की वैश्विक प्रभुत्व की परियोजना (नाम लेकर कहें तो प्रबोधन की परियोजना जिसे वे पश्चिम का ऐतिहासिक षड्यन्त्र कहते हैं) पर हमला कर रहे थे और ऐसा करते हुए वे 'प्राच्य मासूमियत' (आशीष नन्दी का *ओरियेण्टल इनोसेंस*, हालाँकि इस *ओरियेण्टल इनोसेंस* का ज़ायका उन्हें हाल ही में जयपुर साहित्यिक उत्सव में मिल गया है!) को बचाने, खण्डित अस्मिताओं (पार्थ चटर्जी) का जश्न मनाने के लिए दीवाने हुए जा रहे थे! इन लोगों का लक्ष्य भी समूची 'प्रबोधन की परियोजना', 'आधुनिकता की परियोजना' (क्या ऐसी कोई एकाश्मीय परियोजना है?) पर निशाना साधने के नाम पर वास्तव में मार्क्सवाद के विज्ञान पर निशाना साधना था, और 'प्राच्य मासूमियत' की रक्षा करने के पागलपन में एक दौर में ये लोग भारत में हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक फासीवादियों तक के पक्ष में जा खड़े हुए थे!

यह समझना ज़रूरी है कि 'आधुनिकता' की किसी एकाश्मीय परियोजना की बात करना ही बेमानी है। मार्क्स और एंगेल्स ने प्रबोधन की पूरी परियोजना की द्वैधता को समझा था। इसे समझना न सिर्फ़ उत्तरआधुनिकतावादियों के उथले तर्कों के खण्डन के लिए ज़रूरी है, बल्कि इसलिए भी ज़रूरी है कि आजकल कई कथित मार्क्सवादी इन उत्तरआधुनिकतावादियों का खण्डन करते हुए दूसरे छोर पर जा खड़े हुए हैं, और सर्वहारा क्रान्ति से पहले ही 'आधुनिकता और प्रबोधन की परियोजना' को भारत में पूरा करने (या पूरा होने देने!) की बात कर रहे हैं। उनके अनुसार इस परियोजना के पूरा हुए बग़ैर भारत में सर्वहारा क्रान्ति के कार्यों को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। जब तक आधुनिकता की परियोजना को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता तब तक ऐसे देशों में जहाँ के जनसमुदाय 'सर्वसत्तावादी जनसमुदाय' (टोटैलिटैरियन कम्युनिटीज़) हैं, सर्वहारा क्रान्ति के एजेण्डे पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। वे तब तक के लिए क्रान्ति के कार्यभारों के लिए स्थगन प्रस्ताव पेश कर रहे हैं! लेकिन ऐसे लोग वास्तव में उत्तरआधुनिकतावादियों के 'ट्रैप' में गिर रहे हैं क्योंकि उन्होंने ही आधुनिकता और प्रबोधन की परियोजना के बारे में इस तरह की एकाश्मीयतापूर्ण और सजातीयतापूर्ण सोच पेश की थी (मिसाल के तौर पर, भारत में 1986 के बाद का सबऑल्टर्न स्टडीज़), बस फर्क यहाँ यह है कि उनके लिए यह परियोजना दमनकारी और शैतानी थी, और भारत की जनता के पिछड़ेपन से नाराज़ कुलीन वाम बुद्धिजीवियों के लिए यह परियोजना पूर्णतः मुक्तिदायिनी है।

इन उत्तरआधुनिकतावादियों द्वारा प्रबोधन और आधुनिकता की आड़ में मार्क्सवाद को निशाना बनाया जाना कोई संयोग नहीं था। पूरी दुनिया में उत्तरआधुनिक विचारधारा और राजनीति दक्षिणपन्थ के पक्ष में जाकर खड़ी हो रही थी। कहीं यह दक्षिणपन्थ नस्लवादी फासीवाद के तौर पर प्रकट हो रहा था, कहीं प्रवासी मज़दूरों के ख़िलाफ़ अन्धराष्ट्रवादी उन्माद के रूप में प्रकट हो रहा था, कहीं जातीयतावादी (एथनिक) फासीवाद के रूप में प्रकट हो रहा था तो कहीं धार्मिक कट्टरपन्थी फासीवाद के रूप में प्रकट हो रहा था। **सुमित सरकार** ने अपनी प्रशंसनीय पुस्तकों **'बियॉण्ड नेशनलिस्ट फ्रेम्स'** और **'राइटिंग सोशल**

हिस्ट्री' में स्पष्ट रूप से दिखलाया है कि सबऑल्टर्न स्टडीज़ का पूरा प्रोजेक्ट किस तरह से भारत में दक्षिणपन्थी, धार्मिक कट्टरपन्थी, पितृसत्तावादी, सवर्णवादी और हिन्दुत्ववादी फासीवादी ताक़तों के साथ जाकर खड़ा हो गया है, चाहे मार्क्सवादी इतिहासलेखन की आलोचना करते हुए उसकी शब्दावली कितनी ही आमूलवादी क्यों न रही हो, और मार्क्सवाद से भी 'ज्यादा रैडिकल' किसी विश्लेषण-पद्धति के लिए उसकी चीख़-चिल्लाहट कितनी ही कानफाड़ू क्यों न रही हो! अन्य असहमतियों को छोड़ भी दें, तो मार्क्सवादी चिन्तक **फ्रेडरिक जेम्सन** ने उत्तरआधुनिकतावाद को ठीक ही नाम दिया है - **वृद्ध, बीमार, मरणासन्न, और मानवद्रोही पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क।**

राजनीतिक तौर पर उत्तरआधुनिकतावादी दर्शन की अभिव्यक्ति स्वयंसेवी संगठनों की राजनीति के तौर पर सामने आयी। यहाँ पर भी एक **नकली द्वैधता** मौजूद थी। जहाँ नवउदारवादी पूँजीवादी चिन्तक, अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ और 'विश्व आर्थिक मंच' जैसे उनके संगठन सोवियत संघ के पतन के बाद 'कोई विकल्प नहीं है' (टीना-देयर इज़ नो ऑल्टरनेटिव) का नारा नंगे तौर पर दे रहे थे, वहीं पूँजीवादी वर्चस्व को जनता के बीच में स्थापित करने के लिए उन्होंने जो स्वयंसेवी संगठन मैदान में उतारे थे, वे 'बहुत-से विकल्प हैं' (टामा-देयर आर मैनी ऑल्टरनेटिव्स) का नारा दे रहे थे। विश्व आर्थिक मंच के समानान्तर उन्होंने विश्व सामाजिक मंच (वर्ल्ड सोशल फोरम) बनाया जो कि पूँजीवाद का नकली विरोध करते हुए अपरिहार्य रूप से पूँजीवाद की रक्षा का काम करने वाली सभी शक्तियों का जमावड़ा बन गया–एन.जी.ओ., सुधारवादी, सामाजिक जनवादी और संशोधनवादी पार्टियाँ आदि। वास्तव में, 'टीना' और 'टामा' एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; कहा जा सकता है कि वे **छद्म विकल्पों का समुच्चय** हैं। ये दो अलग बातें हैं ही नहीं बल्कि एक ही बात है। **'बहुत-से विकल्प हैं' जैसी बातें खण्डों का जश्न मनाने वाली उत्तरआधुनिकतावादी राजनीति ही कर सकती है, क्योंकि इतिहास और विज्ञान दोनों में हमेशा केवल एक ही सही विकल्प होता है। इस बात को ख़ारिज करने की, कि एक ही सही विकल्प है, दो रणनीतियाँ हो सकती हैं–एक यह कि सीधे यह कह दिया जाय कि कोई विकल्प नहीं है (टीना); और दूसरी रणनीति यह हो सकती है कि कहा जाय कि बहुत-से विकल्प हैं (टामा); लेकिन कभी कोई एक भी विकल्प न बताया जाय!** नवउदारवादी पूँजीवादी अर्थशास्त्री और चिन्तक पहली रणनीति अपनाते हैं और नवउदारवादी और साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण के फेंकी गयी हड्डियों पर पलने वाले एन.जी.ओ., स्वयंसेवी संगठन और सामाजिक-जनवादी पार्टियाँ दूसरी रणनीति अपनाने का काम करते हैं। पूँजीवादी वर्चस्व की कार्यप्रणाली इसी तरह से काम करती है। आजकल कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो कि **'एक समाजवादी विकल्प है' (टियासा–देयर इज़ ए सोशलिस्ट ऑल्टरनेटिव)** की बात कर रहे हैं। लेकिन 'टियासा' और 'टामा' में गुणात्मक तौर पर कोई फर्क नहीं है क्योंकि जिन लोगों ने यह शब्द उछाला है, यदि आप उनकी समाजवादी की परिभाषा और व्याख्या में जाते हैं, तो पाते हैं कि उसमें नाम के सिवा कुछ भी समाजवादी नहीं है! इस शब्द का इस्तेमाल कुछ लोगों ने इसलिए भी शुरू कर दिया है, क्योंकि पूरी दुनिया में मार्क्सवाद और मार्क्स की वापसी की बात की जा रही है; आम जनता के बीच से भी कई संगठन मार्क्सवाद का, पिछले समाजवादी प्रयोगों का और भविष्य की सम्भव परियोजनाओं का अध्ययन कर रहे हैं। इसलिए, 'टामा' की बात करने वाले कुछ लोग 'टियासा' के कैम्प में चले गये हैं! इसलिए

उनके नामधारी समाजवाद पर किसी लम्बी चर्चा की ज़रूरत नहीं है।

2) निराशा के दौर के अन्त और आशाओं के उत्स की ओर

इन सारी वर्चस्वकारी प्रणालियों और कार्यपद्धतियों के बावजूद पूँजीवाद के रक्षकों और शुभचिन्तकों के लिए चिन्ता की बात यह है कि **संकट के दौरों में पूँजीवादी वर्चस्व की प्रणालियाँ और मशीनरी ख़राब होने लगती हैं और ठीक से काम नहीं करतीं।** यही वह समय होता है जब वर्चस्व के विरुद्ध जनता की ताक़तों के प्रति-वर्चस्व (काउण्टर-हेजेमनी) के जन्म की सम्भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। 1997 में जिस एशियाई मौद्रिक संकट की शुरुआत हुई उसे एक वैश्विक आर्थिक संकट बनने में ज़्यादा देर नहीं लगी। और उस समय से पूँजीवादी विश्व व्यवस्था संकट के एक ऐसे भँवर में फँसी हुई है, जिससे वह आज तक नहीं निकल पायी है। बीच-बीच में सट्टेबाज़ वित्त पूँजी के बुलबुले फुलाकर पूँजीवादी व्यवस्था ने तेज़ी के दौर के कुछ भ्रम पैदा किये। लेकिन चाहे वह डॉट कॉम बुलबुला रहा हो या आवास बाज़ार में पैदा किया गया बुलबुला, कोई भी ज़्यादा देर तक नहीं चल पाया और जल्द ही फट गया। एक मन्द मन्दी का शिकार तो पूँजीवाद 1973 में डॉलर-स्वर्ण मानक के टूटने के बाद से ही है। इस पूरे दौर में विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने विकास की जो दर औसतन हासिल की, वह पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों के मानकों के अनुसार ही एक मन्द मन्दी की श्रेणी में आती है और कई पूँजीवादी अर्थशास्त्री अब इस बात को स्वीकारते भी हैं। लेकिन 1997 में 'एशियाई बाघों' के धराशायी होने के बाद से यह मन्द मन्दी एक गम्भीर संकट का रूप ले चुकी है। इस संकट के कुछ मील के पत्थर डॉट कॉम बुलबुले का फूटने, ऋण संकट के पैदा होने, आवास बाज़ार में संकट के आने के रूप में पहचाने जा सकते हैं। लेकिन 2007 में अमेरिकी वित्तीय बाज़ार में शुरू हुए **सबप्राइम ऋण संकट** के बाद से इस संकट ने 1930 के दशक की महामन्दी के बाद सबसे बड़ी मन्दी का रूप ले लिया है। इसे दूसरी महामन्दी भी कहा जा रहा है। **लेकिन उस मन्दी से यह संकट इस मायने में अलग है, कि मौजूदा मन्दी के बाद कोई तेज़ी का दौर नहीं आने वाला है, जैसा कि 1930 के दशक की महामन्दी के बाद आया था।** यह संकट पहले से कहीं ज़्यादा ढाँचागत है।

यहाँ हम इस विषय पर लम्बी चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन इतना इंगित करना अनिवार्य होगा कि मौजूदा संकट **भूमण्डलीकरण का संकट** है। इसके बाद साम्राज्यवादी पूँजी के पास कहीं और जाने की जगह नहीं बची है। लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की चरम अवस्था कहा था। आज यह कहा जा सकता है कि **भूमण्डलीकरण साम्राज्यवाद की चरम अवस्था है।** इसके बाद पूँजी के पास कोई और जगह नहीं बची है और वह पूँजी संचय के लिए मंगल ग्रह पर नहीं जा सकती है! पूँजी विश्व के सभी देशों, सभी अवामों की नस-नस से मुनाफ़ा निचोड़ने के लिए पूरे विश्व में फैल चुकी है और अब वह अपनी उत्तरजीविता को कायम रखने के लिए दो ही रणनीतियों को अपना सकती है। एक यह कि अभी भी विश्व के जो कोने उसकी लूट से थोड़े बचे हुए हैं, या जहाँ लूट का दबाव अभी कम है और सन्तृप्ति बिन्दु तक नहीं पहुँचा है वहाँ और बड़े पैमाने पर प्रवेश किया जाय। और दूसरी रणनीति वही रणनीति है जिसे अपनाने के लिए पूँजीवाद मजबूर है: युद्धों के ज़रिये उत्पादक शक्तियों का विनाश करके अपनी मन्दी से थोड़े समय की राहत पाना। जिन क्षेत्रों में साम्राज्यवादी शिविरों

के बीच प्रतिस्पर्द्धा सबसे ज़्यादा है वहीं पर ऐसे युद्ध जनता पर ज़्यादा थोपे जायेंगे और आज के समय में वह क्षेत्र मध्य-पूर्व है। पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों पर, विशेषकर जीवाश्म ईंधन पर पूँजीवादी संचय की निर्भरता आज हमेशा से ज़्यादा है, और मध्यपूर्व इन संसाधनों का भण्डार है। नतीजतन, पिछले लगभग तीन दशकों से साम्राज्यवाद मध्यपूर्व पर अपने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष युद्ध थोप रहा है। लेकिन ये ही युद्ध आने वाले समय में क्रान्ति की परिस्थितियों को जन्म देंगे। अरब जनउभार वस्तुगत तौर पर इन्हीं क्रान्ति की परिस्थितियों के पकने का द्योतक था। यह एक दीगर बात है कि वस्तुगत तौर पर अगर क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ बिल्कुल पक भी जायें तो बिना एक क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी पार्टी के समाज क्रान्ति की ओर आगे नहीं जा सकता है।

लेकिन एक बात तय है–आज का पूँजीवाद लेनिन के समय से कहीं ज़्यादा खोखला, कमज़ोर, बीमार, मरणासन्न और अनुत्पादक वित्तीय पूँजी की कहीं ज़्यादा गिरफ्त में है। यह केवल अपनी जड़ता की शक्ति से टिका हुआ है, और पिछले पाँच-छह वर्षों का जो वैश्विक घटनाक्रम रहा है, वह इसके असमाधेय हो चुके संकट को ही दिखला रहा है। साम्राज्यवाद मौजूदा असमाधेय संकट के दौर में पहले हमेशा से ज़्यादा मानवद्रोही और नरभक्षी हो चुका है। इसका संकट इसे अपनी ही कब्र खोदने के लिए मजबूर कर रहा है। वस्तुगत तौर पर दुनिया एक भयंकर उथल-पुथल की तरफ जा रही है। पूरी दुनिया में पिछले तीन-चार वर्षों के दौरान जो पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलन अलग-अलग हिस्सों में स्वत:स्फूर्त रूप से फूट पड़े हैं, वह वास्तव में साम्राज्यवाद के आर्थिक संकट की राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ हैं। चाहे वह अरब का जनउभार हो, अमेरिका का 'वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो' आन्दोलन हो, या यूरोप में विशेष तौर पर स्पेन, पुर्तगाल, यूनान और आइसलैण्ड में, चल रहे जनान्दोलन हों, ये सभी साम्राज्यवाद के गहराते संकट की राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ हैं। संकट का केन्द्र अमेरिका से पूर्व की ओर स्थानान्तरित होता हुआ यूरोप तक पहुँचा चुका है और वहाँ **सार्वभौम ऋण संकट** का रूप ले चुका है, और इस बात के बहुतेरे संकेत मिल रहे हैं कि संकट का केन्द्र आने वाले वर्षों में एशिया और लातिन अमेरिका की अर्थव्यवस्थाओं तक पहुँचेगा। संकट के केन्द्र के 'कमज़ोर कड़ियों' तक पहुँचने पर स्थितियाँ गम्भीर होंगी। लेकिन आने वाले समय में इन देशों में जनउभारों को क्रान्ति की दिशा में मोड़ा जा सके इसके लिए वर्तमान पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों की सीमाओं और समस्याओं को समझना बेहद ज़रूरी है।

3) वर्तमान पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों की समस्याएँ

आशाओं के उत्स की बात करने का यह अर्थ नहीं है कि दुनिया में कोई बना-बनाया विकल्प मौजूद है और बस उसे लागू कर देना है। आशाओं के उत्स की बात करने का अर्थ महज़ इतना है कि पूँजीवादी-साम्राज्यवादी लूट और दमन के ख़िलाफ़ जनता के खेमे में जो सन्नाटा छाया हुआ था, वह हालिया स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों से टूट रहा है और पूँजीवादी विश्व व्यवस्था का आर्थिक संकट अब अपने आपको राजनीतिक और सामाजिक संकट के रूप में भी अभिव्यक्त करने लगा है। यह निश्चित तौर पर उम्मीद पैदा करने वाली

बात है। लेकिन यही चीज़ तमाम सवाल और समस्याएँ भी खड़ी करती है, जिनका हमें जवाब और हल ढूँढना होगा। **ये सवाल क्या हैं? ये समस्याएँ क्या हैं?**

जहाँ एक ओर पूँजीवाद असमाधेय मन्दी के भँवर में फँसा हुआ है, वहीं जनता की शक्तियों के सामने भी आज कोई सहज उपलब्ध वैज्ञानिक-व्यावहारिक और व्यवस्थागत विकल्प मौजूद नहीं है। एक विकल्पहीनता की स्थिति बनी हुई है। जो विकल्प का संकट अरब जनउभार, 'वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो' आन्दोलन और यूरोप के आन्दोलनों के सामने मौजूद रहा वह संकट एशिया की ओर विश्व पूँजीवादी संकट के स्थानान्तरित होने और वहाँ पर मज़दूर आन्दोलनों की लहर शुरू होने पर भी उपस्थित होगा। अरब जनउभार का अन्त एक प्रकार के 'थर्मिडोर' (प्रतिक्रियावादी पुनर्स्थापना) में होने और 'वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो' आन्दोलन के विसर्जित होने के पीछे जो सबसे बड़ा कारण था वह यह था कि **इन स्वत:स्फूर्त आन्दोलनों के पास कोई सकारात्मक प्रस्ताव नहीं था; कोई क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद नहीं थी, जो कि एक व्यावहारिक-वैज्ञानिक क्रान्तिकारी विकल्प पेश करती। ये आन्दोलन महज़ पूँजीवाद-साम्राज्यवाद-विरोध तक सीमित थे, और इस हद तक इनका एजेण्डा नकारात्मक ही था।** ऐसे आन्दोलन ज़्यादा से ज़्यादा सत्ता परिवर्तन कर सकते हैं (जैसा कि ट्यूनीशिया और मिस्र में हुआ, और आज जारी कुछ आन्दोलनों के फलस्वरूप कुछ और देशों में हो सकता है) लेकिन चूँकि उनके पास कोई सकारात्मक विकल्प नहीं होता इसलिए वे एक राजनीतिक निर्वात की स्थिति पैदा करते हैं और उस निर्वात को वही ताक़त भरती है, जो कि विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक तौर पर सुसंगठित हो। नतीजतन, मिस्र में जनान्दोलन के फलस्वरूप जो सत्ता आयी वह इस्लामिक कट्टरपंथियों, मुख्य तौर पर सलाफिस्ट और मुस्लिम ब्रदरहुड के एक गठबन्धन, की थी। आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं आया। हालाँकि, मिस्र की मेहनतकश जनता इस बात को समझते हुए एक बार फिर सड़कों पर है। लेकिन चीज़ें तब तक आगे नहीं बढ़ सकतीं जब तक कि ऐसे जनान्दोलनों को एक क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी, जो कि उस विचारधारा का मूर्त रूप हो, का नेतृत्व मिले।

संक्षेप में कहा जाय तो साम्राज्यवाद का संकट दुनिया भर में स्वत:स्फूर्त जनान्दोलनों को जन्म दे रहा है, जो दिखला रहा है कि जनता के सब्र का प्याला अब छलक रहा है और वह पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ (चाहे आन्दोलनकारी जनता स्वयं उसे पूँजीवाद-साम्राज्यवाद का नाम दे या न दे!) सड़कों पर उतर रही है। यहाँ बरबस ही **माओ** की वह बात याद आती है जो उन्होंने मृत्यु से पहले सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में कही थी। उन्होंने कहा था कि मौजूदा सांस्कृतिक क्रान्ति अपने आप में चीन में समाजवाद की अन्तिम विजय को सुनिश्चित नहीं कर सकती और इसके लिए कई सांस्कृतिक क्रान्तियों की ज़रूरत होगी। अभी भी चीन में और पूरी दुनिया में यह तय नहीं हुआ है कि संघर्ष के इस दौर में पूँजीवाद और समाजवाद में कौन विजयी होगा। लेकिन, आगे माओ कहते हैं, आने वाले 50 से 100 वर्षों का इतिहास दुनिया भर में अभूतपूर्व उथल-पुथल और परिवर्तन का दौर होगा, जो पूरी दुनिया को हिलाकर रख देगा और पूरे मानव इतिहास में इसका कोई सानी नहीं होगा। अभी हम उन 50 से 100 वर्षों की ज़द में ही जी रहे हैं। साम्राज्यवाद का संकट दुनिया भर में क्रान्तिकारी जनान्दोलनों के लिए एक वस्तुगत स्थिति पैदा कर रहा है। वस्तुगत कारक पकने की ओर अग्रसर हैं, लेकिन संकट यहाँ आत्मगत शक्तियों का है।

मौजूदा जनान्दोलन में विकल्पहीनता, क्रान्ति के एक सकारात्मक प्रस्ताव की कमी और मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी की अनुपस्थिति ने एक बार फिर से बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के सकारात्मकों व नकारात्मकों के आलोचनात्मक विवेचन को प्रासंगिक बना दिया है। इन प्रयोगों को अनालोचनात्मक तरीके से देखने और उनके अन्धपूजन से, और साथ ही, उनके सही आलोचनात्मक विवेचन के बिना उन्हें ख़ारिज कर देने की अनैतिहासिक प्रवृत्ति, दोनों ही आज के समय में भावी क्रान्तिकारी परियोजना के लिए अनुत्पादक और इसलिए नुकसानदेह हैं। इन प्रयोगों के पहले जो आलोचनात्मक विवेचन किये गये हैं उनकी मज़बूतियों और कमज़ोरियों को भी समझने की ज़रूरत है। सोवियत समाजवाद की सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक तौर पर जारी समकालीनता (कण्टेम्पोरेनाइटी) को समझे बग़ैर नयी सदी की समाजवादी परियोजनाओं का निर्माण नहीं किया जा सकता है। यहाँ अतीतग्रस्त कठमुल्ला दृष्टिकोण और "मुक्त-चिन्तक" अस्वीकरणवादी (रिजेक्शनिस्ट) दृष्टिकोण, दोनों ही अवांछित हैं। यह पुनर्मूल्यांकन इसलिए भी ज़रूरी है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर और बाहर ऐसी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं जो कि अतीत के समाजवादी प्रयोगों, और विशेषकर सोवियत समाजवाद के प्रयोग, के इतिहास का ग़ैर-सर्वहारा प्रस्तुतिकरण (विकृतिकरण) कर रही हैं, जिसका पस्तहिम्मती, कठमुल्लावाद, "मुक्त-चिन्तन"-वाद का शिकार कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों पर गहरा असर पड़ रहा है। इन प्रवृत्तियों के बारे में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

4) विकल्प का प्रश्न और समाजवादी प्रयोगों के आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता

आज दुनिया भर में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियाँ अधिकांश देशों में और अधिकांश मामलों में कमज़ोर, विभाजित, निराशा या झूठी आशा की शिकार हैं; कहीं पर वे अनैतिहासिक "मुक्त चिन्तन" तो कहीं इतिहासग्रस्त-अतीतग्रस्त कठमुल्लावाद और लकीर की फकीरी करने की प्रवृत्ति का शिकार हैं। हमारे देश में भी आज मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिविर विघटन की अवस्था में है। लेकिन कुछ कम्युनिस्ट ग्रुप और संगठन नये सिरे से तमाम गम्भीर और बुनियादी सवालों पर सोच रहे हैं, मज़दूर वर्ग के बीच काम करने, उसे संगठित करने के नये तौर-तरीकों को ईजाद करने का प्रयास कर रहे हैं, आज की दुनिया की ज़्यादा वैज्ञानिक और गतिमान मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्याख्या करने का प्रयास कर रहे हैं। वैसे तो आज कम्युनिस्ट आन्दोलन के पटल पर, दुनिया के पैमाने पर भी और हमारे देश के पैमाने पर भी, विचारधारा, कार्यक्रम और रणनीति व आम रणकौशल से जुड़े बहुत-से मुद्दे हैं। लेकिन इन सब में आज एक बेहद प्रमुख मुद्दा बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के पुनर्मूल्यांकन का है। इनमें भी सोवियत समाजवादी प्रयोग का मुद्दा आज भारी विवाद का विषय बना हुआ है। इसके निश्चित कारण हैं।

एक कारण तो यह है कि सोवियत समाजवाद के पूरे दौर में (1917 से 1953 तक) जो प्रयोग हुए वे भारी और गम्भीर विचारधारात्मक बहसों के बीच में हुए जो कि बोल्शेविक पार्टी के भीतर लगातार जारी थे। इन बहसों ने मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु से जुड़े हुए अहम मुद्दों को उठाया। इसलिए सोवियत समाजवादी प्रयोग के इतिहास

का आलोचनात्मक अध्ययन वास्तव में वर्ग, राज्य, पार्टी, ट्रेड यूनियन और इन सबके आपसी सम्बन्धों आदि के प्रश्नों पर सही मार्क्सवादी अवस्थिति के निःसरण से जुड़ा हुआ है। इन मूल मुद्दों पर अलग-अलग अवस्थितियों के आधार पर और अलग-अलग समय में बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष हुआ। दरअसल, ये मुद्दे पूरे यूरोप के कम्युनिस्ट आन्दोलन और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में पहले से ही मौजूद रहे थे। अक्टूबर क्रान्ति से पहले तमाम मुद्दों पर बहसें सैद्धान्तिक ही बनी रहीं थीं, क्योंकि बिना ऐतिहासिक अनुभवों की रोशनी के वे महज़ सैद्धान्तिक ही हो सकती थीं। अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियत संघ में पहली बार एक सर्वहारा सत्ता के निर्माण ने इन बहसों को शुद्ध सिद्धान्त के राज्य से निकाल कर समकालीन इतिहास और राजनीति के राज्य में पहुँचा दिया और भावी सैद्धान्तिक विकास का भी रास्ता खोल दिया। ये सवाल अब सर्वहारा अधिनायकत्व के राज्य और उसे निर्देशित करने वाली पार्टी के सम्मुख उपस्थित जीवन्त प्रश्न बन गये थे। बोल्शेविक पार्टी ने किस प्रकार गम्भीर और तीखे विचारधारात्मक संघर्ष के जरिये इन प्रश्नों पर अपनी अवस्थिति को निःसृत किया, वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के लिए सर्वकालिक ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक और राजनीतिक महत्व रखता है। इस पूरी प्रक्रिया को हम सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और उसमें हिरावल पार्टी की भूमिका के सिद्धान्त के सन्दर्भ में रूसी क्रान्ति के अनुभवों और शिक्षाओं की रोशनी में कदम-दर-कदम हुए विकास में देख सकते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं है कि ये सवाल आज भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष अहम सवाल बने हुए हैं।

दूसरा कारण यह है कि आज जब दुनिया में स्वतःस्फूर्त पूँजीवादी जनान्दोलनों की ऐतिहासिक-राजनीतिक सीमा अपने आपको स्पष्ट रूप में प्रकट कर रही है और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष एक वैज्ञानिक-व्यावहारिक विकल्प पेश करने का सवाल जीवन्त रूप में खड़ा है, तो निश्चित तौर पर बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों, और विशेष तौर पर सोवियत समाजवादी प्रयोग का एक आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन अपरिहार्य हो गया है। यह पुनर्मूल्यांकन केवल समाजवादी क्रान्ति के बाद समाजवाद के निर्माण की समस्याओं के हल के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि पहली मंज़िल से ही सर्वहारा वर्ग को संगठित करने, उसके संगठन के स्वरूप, उसमें पार्टी की भूमिका, ट्रेड यूनियन की भूमिका, वर्ग, पार्टी और ट्रेड यूनियन के बीच आपसी रिश्तों के सवालों के लिए अहमियत रखता है। मज़दूर वर्ग, उसकी विचारधारा, आन्दोलन और संगठन के बारे में सही दृष्टिकोण पहली मंज़िल से ही ज़रूरी है। यह दृष्टिकोण ही तय करेगा कि क्रान्ति के बाद किस किस्म की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का निर्माण किया जायेगा, या, कहना चाहिए कि एक सही दृष्टिकोण का होना ही यह तय करेगा कि सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी वर्ग संघर्ष को क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व तक ले भी जा पायेगी या नहीं। **इसलिए सोवियत समाजवाद का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन महज़ एक सैद्धान्तिक-वैचारिक कवायद नहीं है। सोवियत समाजवाद का इतिहास जो प्रश्न खड़े करता है, वह क्रान्तिकारी मार्क्सवाद की अन्तर्वस्तु के प्रश्न हैं, और उनकी एक सही समझ सिर्फ समाजवादी निर्माण के लिए नहीं बल्कि समाजवादी क्रान्ति के लिए मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को एक सही नेतृत्व दे पाने के सवाल से भी जुड़ा हुआ है।** और हमें ऐसा लगता है कि अव्वलन तो यह सवाल पहले भी हल नहीं था, और हाल में कुछ राजनीतिक नौदौलतियों द्वारा सोवियत समाजवाद के प्रयोगों के इतिहास के विकृतिकरण और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विनियोग ने (जिनके बारे में हम

आगे चर्चा करेंगे) इस सवाल को और भी ज़्यादा उलझा दिया है। इसलिए नये सिरे से, मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण से इस सवाल पर सैद्धान्तिक स्पष्टता और सफ़ाई की ज़रूरत को हम शिद्दत से महसूस करते हैं।

सोवियत समाजवादी प्रयोग के पुनर्मूल्यांकन के पीछे **तीसरा कारण** इसी से जुड़ा हुआ है। वह कारण यह है कि पिछले करीब दो दशकों में सोवियत समाजवादी प्रयोग के इतिहास के पुनर्लेखन के कुछ महत्वपूर्ण मार्क्सवादी प्रयास कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर और प्रमुख तौर पर बाहर हुए हैं। जो मार्क्सवादी प्रयास कम्युनिस्ट आन्दोलन के बाहर हुए हैं उनका भी कम्युनिस्ट आन्दोलन के कुछ हिस्सों पर गहरा प्रभाव है। हमें ऐसा लगता है कि सोवियत समाजवाद के इतिहास लेखन के इन *संशोधनवादी* (यहाँ हम 'संशोधनवादी' शब्द का प्रयोग 'सामाजिक-जनवादी' के रूप में नहीं कर रहे हैं, बल्कि इतिहासलेखन के संशोधनवादी प्रयास के रूप में कर रहे हैं, जैसे कि इतिहासलेखन में 'रिवीज़निस्ट हिस्टोरियोग्राफ़ी' शब्द का प्रयोग किया जाता है) प्रयासों की आलोचनात्मक विवेचना की आज बेहद ज़रूरत है; इसलिए नहीं कि वे नया कुछ कह रहे हैं। बल्कि इसलिए कि उनका कम्युनिस्ट आन्दोलन के कुछ हिस्सों पर गहरा प्रभाव है, युवा बुद्धिजीवियों और क्रान्ति के प्रति अनुकूल रवैया रखने वाले छात्रों के बीच उन्हें पढ़ा जा रहा है और कम्युनिस्ट आन्दोलन, बुद्धिजीवियों और ऐसे छात्रों के बीच वैचारिक-बौद्धिक कमज़ोरी, इतिहास की कम जानकारी, प्राथमिक स्रोतों तक न जाने की आदत के कारण इतिहासलेखन के इन संशोधनवादी प्रयासों का काफ़ी असर भी हो रहा है। इस असर का एक कारण यह भी है कि क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं और बुद्धिजीवियों को अपने निम्न पूँजीवादी वर्ग पूर्वाग्रहों के कारण सोवियत समाजवादी प्रयोग की ये नयी-नवेली आलोचनाएँ आकर्षक लग रही हैं। जहाँ तक इन नयी आलोचनाओं की अन्तर्वस्तु का प्रश्न है, जैसा कि हमने पहले ज़िक्र किया और हम आगे सिद्ध करेंगे, उनमें कुछ भी नया नहीं है। इनमें से ज़्यादातर अलग-अलग समय पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में पैदा हुए "वामपन्थी" रुझानों, अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भटकावों, दक्षिणपन्थी अवसरवाद, गैर-पार्टी क्रान्तिवाद, **पान्नेकोएक** और **पॉल मात्तिक** के काउंसिल कम्युनिज़्म, 1960 के दशक में मज़दूर आन्दोलन में पैदा हुई विजातीय प्रवृत्तियों, जैसे कि **मारियो ट्रॉण्टी** के मज़दूरवाद (ऑपराइज़्मो), **अर्नेस्टो लाक्लाऊ** और **चैण्टेल माऊफ** के नववामपन्थ, **एलेन बेज्यू, स्लावोय ज़िज़ेक, एण्टोनियो नेग्री** व **माइकल हार्ट**, आदि जैसे सट्टेबाज़ उत्तर-मार्क्सवादी वामपन्थी चिन्तकों के "चिन्तनों" और यहाँ तक कि इतिहास की कचरा-पेटी में जा चुकी उत्तरआधुनिक विचारसरणियों के अनर्गल प्रलापों के वैविध्यपूर्ण मिश्रण हैं। जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, ऐसी व्याख्याएँ करने वालों में केवल मार्क्सविद् अकादमिक लोग शामिल नहीं हैं, बल्कि कई मार्क्सवादी-लेनिनवादी होने का दावा करने वाले कम्युनिस्ट संगठन भी शामिल हैं।

इन सभी द्वारा सोवियत समाजवाद के संशोधनवादी लेखन के जो हालिया प्रयास किये गये हैं, उनमें हम हरेक के बारे में अलग-अलग यहाँ नहीं लिख सकते हैं, और न ही ऐसा करने की कोई ज़रूरत है। इसका कारण यह है कि इन सभी की व्याख्याओं में कुछ बुनियादी तत्व हैं जो कि साझा हैं। वे इस प्रकार हैं– **(1) मार्क्सवादी पहुँच (अप्रोच) और पद्धति (मेथड) में गम्भीर विच्युतियाँ और विचलन, और कई मामलों में उनसे प्रस्थान; (2) इतिहास लेखन के स्रोतों के इस्तेमाल के प्रति गैरद्वन्द्वात्मक और "निष्पक्ष" (यानी कि ग़ैर-पक्षधर, या वास्तव में बुर्जुआज़ी की ओर पक्षधर) रवैया; (3) बुर्जुआ और**

पेटी-बुर्जुआ विचारधारात्मक-राजनीतिक पूर्वाग्रहों की मौजूदगी जो कि *एप्रायोरी* तौर पर समाजवाद-विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचाते हैं; और (4) कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और "वाम" विचलन का प्रभाव।

जैसा कि हमने पहले कहा, हम ऐसी व्याख्याओं के एक-एक उदाहरण को यहाँ नहीं लेंगे। लेकिन हम एक प्रातिनिधिक उदाहरण को लेते हुए और मार्क्सवादी पहुँच और पद्धति के कुछ बुनियादी सवालों को उठाते हुए अपनी बात की शुरुआत करेंगे। अन्य व्याख्याओं के बारे में हम आगे सोवियत समाजवादी प्रयोग के इतिहास का आलोचनात्मक विवेचन करते हुए बीच-बीच में अपनी आलोचना रखेंगे। यह प्रातिनिधिक उदाहरण एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन की पत्रिका **'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन'** के फरवरी, 2008 के अंक में आये **सुजीत दास** द्वारा लिखे गये लेख **'प्रैक्टिस ऑफ़ सोवियत सोशलिज़्म इन दि थर्टीज़: सक्सेसेज़ एण्ड फेल्योर्स'** का है। इस लेख में 1930 के दशक में सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। वैसे तो इस लेख में उस पूरे दौर में समाजवादी निर्माण से जुड़े तथ्यों को बुरी तरह से तोड़ा-मरोड़ा गया है और अपने राजनीतिक निष्कर्षों को सही ठहराने के लिए प्राधिकार रखने वाले स्रोतों को बेहद चुनिन्दा तरीके से उद्धृत किया गया है, लेकिन हम शुरुआत इस लेख द्वारा सोवियत समाजवाद के इतिहास के विकृतिकरण के खण्डन से नहीं करेंगे। सुजीत दास ने किस प्रकार से सोवियत समाजवाद के इतिहास को विकृत किया है, इस पर हम आगे आयेंगे जब हम सोवियत समाजवाद के इतिहास के अपने आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन के काम को सकारात्मक तौर पर हाथ में लेंगे। उससे पहले हम एक दूसरे कार्यभार को हाथ में लेना चाहेंगे।

हम शुरुआत समाजवादी निर्माण के दौर में सर्वहारा अधिनायकत्व, सर्वहारा राज्य के स्वरूप, इस दौर में पार्टी की भूमिका, पार्टी और ट्रेड यूनियन के वर्ग से रिश्ते, सर्वहारा राज्य के सर्वहारा वर्ग से रिश्ते और इस दौर में किसान प्रश्न के समाधान से जुड़े कुछ आम सैद्धान्तिक प्रश्नों से करेंगे। इस प्रक्रिया में पहले हम यह प्रदर्शित करेंगे कि सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का इन सवालों पर दृष्टिकोण मार्क्स, लेनिन और माओ की पहुँच और पद्धति से कोसों दूर है। इनकी पहुँच और पद्धति वास्तव में बोल्शेविक पार्टी में अलग-अलग समय पर पैदा हुई "वामपन्थी" विपक्षी धाराओं (अपोज़ीशंस), अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विचलनों, और काउंसिल कम्युनिज़्म के ज़्यादा करीब पड़ती है। **दरअसल, अगर 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की सोवियत समाजवाद, बल्कि पूरे समाजवादी निर्माण पर, समझ की बात करें तो वह पार्टी में लेनिन के दौर में पैदा हुई कुछ "वामपन्थी" और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद के विचलनों की शिकार विपक्षी धाराओं जैसे कि 'डेमोक्रैटिक सेण्ट्रलिज़्म' ग्रुप (जिसके सदस्य वी.वी. ओसिंस्की, टी.वी. सप्रोनोव, व वी. स्मिर्नोव जैसे लोग थे), और वर्कर्स अपोज़िशन (जिसका नेतृत्व अलेक्ज़ैण्डर श्ल्यापनिकोव व अलेक्ज़ैण्ड्रा कोलोन्ताई कर रही थीं), की अवस्थितियों का एक दयनीय रूप से दरिद्र और हास्यास्पद मिश्रण है।** कहने का मतलब है कि ग़ैर-सर्वहारा व टटपुँजिया प्रवृत्तियों का यह घोल-मट्ठा भी समझदारी से नहीं तैयार किया गया है! इस शोध-प्रबन्ध में हम 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास की पूरी अवस्थिति में निहित पहुँच और पद्धति की एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी आलोचना से शुरुआत करेंगे, और इस प्रक्रिया में एक हद तक हमारी पहुँच और पद्धति के कुछ तत्व भी स्पष्ट हो जायेंगे। इस

दौरान हमारा लक्ष्य एक तरफ़ सोवियत समाजवादी प्रयोगों के इतिहास के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और "वामपन्थी" विनियोग (एप्रोप्रियेशन) के तमाम प्रयासों की मार्क्सवादी-लेनिनवादी आलोचना होगा, और इस प्रक्रिया में मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की क्रान्तिकारी मूल अन्तर्वस्तु पर उनके हमलों का जवाब देना होगा; वहीं दूसरी ओर हमारा लक्ष्य एक आलोचनात्मक मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सोवियत संघ के समाजवादी प्रयोगों का विवेचन भी होगा, जिस प्रक्रिया में हम **चार्ल्स बेतेलहाइम, एडवर्ड हैलेट कार, मॉरिस डॉब** आदि जैसे सोवियत संघ के कुछ प्रमुख और प्राधिकार-सम्पन्न इतिहासकारों के इतिहास-लेखन का भी आलोचनात्मक विश्लेषण करेंगे। कहने की ज़रूरत नहीं है कि सोवियत समाजवादी प्रयोगों के इतिहास को रखते हुए उसके कुछ प्रमुख समकालीन आलोचकों की व्याख्याओं पर भी अपना दृष्टिकोण रखेंगे, जैसे कि **कार्ल काऊत्स्की, लियोन ट्रॉट्स्की (व उनके अनुयायी), डच "वामपन्थी कम्युनिस्ट" धारा, कार्ल कोर्श, रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** आदि।

III. 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास द्वारा सोवियत समाजवाद की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी व "वामपन्थी" व्याख्या: पहुँच और पद्धति से जुड़े कुछ बुनियादी सवाल

जैसा कि हमने पहले भी कहा है, 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास द्वारा सोवियत समाजवाद की 1930 के दशक में सफलताओं और असफलताओं के बारे लिखे गये लेख में तथ्यों को विकृत करने, अपने पूर्वाग्रहों के साथ उद्धरणों को सन्दर्भ से काटकर पेश करने और उस दौर के इतिहास का विकृतिकरण करने के जो प्रयास किये गये हैं, उन्हें हम आगे सोवियत समाजवाद के इतिहास पर सकारात्मक तौर से अपना विश्लेषण रखते हुए अनावृत्त करेंगे। सबसे पहले पहुँच और पद्धति से जुड़े कुछ बेहद ज़रूरी सवालों पर हम यह प्रदर्शित करने का प्रयास करेंगे कि सुजीत दास की पूरी पहुँच और पद्धति में नारेबाज़ी और जुमलेबाज़ी को छोड़ दें, तो कुछ भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं है। इसके लिए हम उनके लेख के उन हिस्सों को यहाँ पहले उद्धृत करेंगे, जिसमें उन्होंने सोवियत संघ के इतिहास से मनमाने तरीके से, सन्दर्भों से काटकर कुछ प्रकरण, तथ्य और आँकड़े रखने के बाद, अपने राजनीतिक निर्णय, मूल्यांकन, निष्कर्ष और मौलिक विचार रखे हैं। एक मार्क्सवादी सबसे पहले पहुँच और पद्धति के प्रश्न को उठाता है और उसके बाद तथ्यात्मक त्रुटियों, भूलों आदि की तरफ़ आगे बढ़ता है। यहाँ हम तथ्यात्मक ग़लतियों का ज़िक्र सिर्फ़ उस हद तक करेंगे, जितना कि सुजीत दास की पहुँच और पद्धति को अनावृत्त करने के लिए ज़रूरी है, और तथ्यात्मक त्रुटियों और अज्ञानवश या इरादतन किये गये विकृतिकरण और सन्दर्भ से तथ्यों और उद्धरणों को काटकर पेश करने की घटनाओं पर आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

1.) पूर्वधारणाएँ, प्रस्थान-बिन्दु और उनके पीछे मौजूद इरादे

सुजीत दास अपने लेख की शुरुआत कुछ पूर्वधारणाओं के साथ करते हैं। मिसाल के तौर पर, उनका मानना है कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर आज के समय तक जो रुझान हावी रही है, वह है समाजवादी प्रयोगों के प्रति एक **"सवाल न उठाने वाली वफ़ादारी के जड़त्व"** (सुजीत दास, 'दि प्रैक्टिस ऑफ सोवियत सोशलिज़्म इन दि थर्टीज़: सक्सेसेज़ एण्ड फेल्योर्स', *'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन', फरवरी 2008*, पृ. 74) की; उनका मानना है कि इस रुझान को तोड़ने की ज़रूरत है क्योंकि यह रुझान मानती है कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों में जो कुछ भी हुआ वह **"दैवीय आकाशवाणी के समान सही"** (*वही*) है। लेकिन कम्युनिस्ट आन्दोलन का यह चित्रण तथ्यात्मक रूप से ग़लत है। आज के समय में तो कम्युनिस्ट आन्दोलन के बारे में, एक सीमित अर्थ में, इसके ठीक उल्टी बात कही जा सकती है। विशेष तौर पर पिछले दो दशकों के दौरान कम्युनिस्ट पार्टियों से लेकर मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों तक में ग़ैर-पक्षधर और अनैतिहासिक ढंग से बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को नकारने की एक रुझान पैदा हुई है। इन प्रयोगों की जटिलताओं से आलोचनात्मक रिश्ता कायम करने के दुरूह कार्य को हाथ में लेने की बजाय, सिरे से उनका अतिसरलीकृत खण्डन कर देने का आसान रास्ता अपनाने का लालच कई मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों और ग्रुपों को अपनी गिरफ्त में ले चुका है। पश्चिम बंगाल में तो विशेषकर इस तरह के खण्डनवादी रुझान ज़्यादा हावी हैं।

फिर आख़िर सुजीत दास यह दावा क्यों कर रहे हैं? यह दावा 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के इस लेख और अन्य लेखों के स्वर में अन्तर्निहित एक प्रवृत्ति का अंग है, जो कि हरेक बात पर 'यूरेका-यूरेका' चिल्लाती है। यह एक राजनीतिक नौदौलतियेपन की प्रवृत्ति है जो कि अपने हर विश्लेषण और आलोचना को 'इतिहास में प्रथम' सिद्ध करने का प्रयास करती है। इससे कोई विशेष असुविधा नहीं होती, बशर्ते कि यह विश्लेषण और आलोचना व्यापक अध्ययन और शोध पर आधारित होते और अपनी विषय-वस्तु के बारे में कोई नयी या मौलिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करते। लेकिन यहाँ मामला बिल्कुल उल्टा है! **मिसाल के तौर पर, सोवियत समाजवाद पर सुजीत दास के लेख के अध्ययन से एक बात साफ़ तौर पर जाहिर हो जाती है–यह लेख बेहद अव्यवस्थित अध्ययन (वह भी पुस्तकों के फ्लैपों, समीक्षाओं और प्रस्तावनाओं के अध्ययन, पूरी पुस्तक के नहीं), अराजकतापूर्ण शोध (अगर इस लेख को सन्देह का लाभ देते हुए 'पैराफ्रेज़िंग' न कहकर 'शोध' कहा जा सके!), और स्रोतों की ठीक से पड़ताल किये बिना (स्रोतों के आलोचनात्मक विवेचन का तो अभी हम ज़िक्र भी नहीं करेंगे) लिखा गया है।** यह बात हम आगे तथ्यों और उदाहरणों के साथ प्रदर्शित करेंगे। दूसरी बात, जो लेख को पढ़ते ही स्पष्ट हो जाती है, वह यह है कि सोवियत समाजवाद का अध्ययन शुरू करने से पहले से ही लेखक के कुछ स्पष्ट और निश्चित अराजकतावाद-संघाधिपत्यवादी पूर्वाग्रह हैं और इन पूर्वाग्रहों से प्रस्थान करते हुए उसने किसी भी रचना को (जिसे उसने उद्धृत किया है) पूरा नहीं पढ़ा है। अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार लेखक ने अलग-अलग किताबों से सन्दर्भों से काटकर उद्धरण दे दिये हैं, जिनके आगे अगर लेखक ने खुद पढ़ा होता तो उन उद्धरणों को रखने की वह जुर्रत भी नहीं करता। यह बात भी हम आगे तथ्य और उदाहरण के साथ प्रदर्शित करेंगे।

सुजीत दास की एक अन्य विचित्र पूर्वधारणा यह है कि सोवियत समाजवाद का अध्ययन करने के लिए 1930 का दशक आदर्श कालखण्ड है। इसके कारणों के तौर पर वह कुछ विशिष्ट कारण बताते हैं। एक कारण यह है कि इस दौर में सर्वश्रेष्ठ समाजवादी रूपान्तरण हुए, जैसे कि सामूहिकीकरण, पंचवर्षीय योजनाएँ, आदि (जिन "सर्वश्रेष्ठ रूपान्तरणों" पर बाकी लेख में सुजीत दास ने जमकर कीचड़ उछाला है)। इसके पहले नयी आर्थिक नीतियों (यहाँ से नेप) के उथल-पुथल का दौर था, और इसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध का दौर शुरू हो जाता है। **इसलिए श्री दास के अनुसार, 1930 के दशक में न तो कोई आन्तरिक संकट था और न ही बाह्य दबाव।** यह पूर्वधारणा भी तथ्यत: ग़लत थी। जहाँ तक आन्तरिक संकट का सवाल है, इसी दौर में बोल्शेविक पार्टी को अपने सबसे कठिन दौर से गुज़रना पड़ा था। यही वह दौर था जिसमें 'महान शुद्धीकरण' अभियान चला था; इस दौर में पार्टी में दो-लाइन के संघर्ष ने सबसे भयंकर रूप ग्रहण किया था। प्रतिक्रान्तिकारी गुटों द्वारा तोड़-फोड़ की गतिविधि चरम पर थी; 1934 में स्तालिन के करीबी साथी किरोव की हत्या के बाद बोल्शेविक पार्टी ने प्रतिक्रान्तिकारियों के ख़िलाफ़ सख़्त रुख़ अपनाया था। इस पूरे दौर में पार्टी के भीतर चले दो-लाइन के संघर्ष और सोवियत समाज में जारी सघन वर्ग संघर्ष पर हम आगे विस्तृत चर्चा करेंगे।

जहाँ तक बाहरी दबाव का सवाल है, तो यह सोचना कि द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत के बाद सोवियत संघ ने युद्ध के मुद्दे पर विचार और उसकी तैयारियाँ शुरू कीं थीं, मूर्खतापूर्ण नादानी की श्रेणी में आयेगा। 1933 में सत्ता में आते ही हिटलर के नेतृत्व में नात्सी पार्टी ने सोवियत संघ-विरोधी प्रचार, जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी का दमन, कम्युनिज़्म को यहूदियों के साथ जोड़ने और 'यहूदी बोल्शेविज़्म' को अपना निशाना बनाने का काम शुरू कर दिया था। सोवियत संघ के व्यापार मिशनों पर नात्सी जर्मनी में 1933-34 में ही पुलिस हमले शुरू कर दिये गये थे, साथ ही, सोवियत संघ के नागरिकों पर भी ऐसे हमलों और गिरफ़्तारियों की घटनाओं की कमी नहीं थी। अपनी जीवनी *मेइन कैम्फ* में हिटलर ने *लेबेनस्रॉम* (जर्मन राष्ट्र के अस्तित्व के लिए स्थान) की बात करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि पूर्व में सोवियत रूस इसमें सबसे बड़ी बाधा है। सोवियत संघ की विदेश नीति 1930 के दशक में शुरुआती दौर में जर्मन आक्रामकता को न भड़काने और जर्मनी से करीबी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करके टकराव को अधिकतम सम्भव टालने की थी। 1934 आते-आते जर्मनी और सोवियत संघ के सम्बन्ध काफ़ी कटु हो चुके थे और इसका तात्कालिक कारण था द्वितीय पोलिश गणराज्य के साथ हिटलर द्वारा की गयी अनाक्रमण सन्धि। उस समय पोलैण्ड का शासक जोसेफ़ पिल्सुदेस्की था, जो कि सोवियत संघ के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख़ रखता था। पिल्सुदेस्की ने फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया द्वारा सोवियत संघ को नात्सी-विरोधी मोर्चे में शामिल करने का विरोध तक किया था। बाद में, जर्मनी के रुख़ में आये अचानक बदलाव के कारण जर्मनी का पोलैण्ड पर हमला हुआ और इसी के साथ ही 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत हुई। इस बदलाव के पीछे विशिष्ट ऐतिहासिक कारण थे, जिन पर हम यहाँ विस्तार में नहीं जा सकते हैं। **लेकिन एक बात स्पष्ट है 1935-36 तक सोवियत संघ और बोल्शेविक पार्टी के सामने यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि जर्मन हमला होना अवश्यम्भावी है।** यह बस समय की बात थी, कि वह कब होगा। 1935 के बाद भी सोवियत संघ आर्थिक और कूटनीतिक स्तर पर जर्मनी से टकराव को टालने के लिए काम करता रहा, क्योंकि सोवियत

सरकार इस बात को समझ रही थी कि अगर टकराव तत्काल होता है, तो जर्मनी की सैन्य शक्तिमत्ता का मुकाबला करना कहीं ज़्यादा मुश्किल होगा। औद्योगिकीकरण और एक शक्तिशाली सैन्य मशीनरी के निर्माण के लिए सोवियत संघ को वक़्त चाहिए था, और वह वक्त उसे **रिब्बनट्रॉप-मोलोतोव अनाक्रमण सन्धि** से मिला। यह विश्व इतिहास का एक दिलचस्प अध्याय था। **लेकिन सुजीत दास इन सारे तथ्यों को नज़रअन्दाज़ करते हुए 1930 के दशक को सोवियत समाजवादी निर्माण का सबसे सुगम और आदर्श दौर मानते हैं, जब बोल्शेविक पार्टी आन्तरिक और बाह्य दबावों से मुक्त थी!**

हम मानते हैं कि 1930 के दशक को चुनने के पीछे सुजीत दास के वास्तविक कारण कुछ और हैं। 1920 के दशक को चुनने का अर्थ होता उन प्रक्रियाओं और नीतियों का विश्लेषण जिनकी शुरुआत पूरी तरह तो नहीं लेकिन काफ़ी हद तक **लेनिन** के समय में हुई थी। सुजीत दास अपने लेख में जिन नतीजों तक पहुँचते हैं, उन नतीजों तक उनका पहुँचना पूर्वनिर्धारित था, जैसा कि हम आगे उनके स्रोतों को उद्धृत करने, तथ्यों का चुनाव करने और ऐतिहासिक रचनाओं के विनियोग (एप्रोप्रियेशन) की विचित्र प्रणाली पर चर्चा करते हुए प्रदर्शित करेंगे। लेकिन सोवियत समाजवाद की आलोचना में लेनिन निश्चित तौर पर एक मुश्किल निशाना होते। इस मामले में स्तालिन पर पार्टी की तानाशाही से लेकर नौकरशाही तक का दोषारोपण कर देना, मज़दूर वर्ग को उत्पादन के साधनों से और ज़्यादा अलगावग्रस्त कर देना, ट्रेड यूनियनों और सोवियतों को पंगु करके एक गिरोह के हाथ में सत्ता संकेन्द्रित कर देना, आदि जैसे आरोप लगाना ज़्यादा आसान है। **स्तालिन एक नरम निशाना (सॉफ्ट टारगेट) हैं।** और 1930 के दशक को सोवियत समाजवाद के प्रयोगों की आलोचना के लिए चुनना इसीलिए सुजीत दास के लिए ज़्यादा सुविधाजनक है। ऐसे में, मार्क्सवादी-लेनिनवादी खेमे में उनकी और उनके संगठन की स्वीकार्यता ज़्यादा बेहतर तरीके से बनी रहेगी।

लेकिन वास्तव में सुजीत दास जिन अवधारणाओं के लिए बोल्शेविक पार्टी की आलोचना कर रहे हैं, वह वास्तव में लेनिनवादी अवधारणाएँ हैं और उन्हें अपने निशाने के रूप में खुले तौर पर लेनिन को ही रखना चाहिए था। और वस्तुतः उनका मूल हमला है भी लेनिनवाद और बोल्शेविज़्म के बुनियादी उसूलों पर। और चूँकि ऐसा वह अपने आपको लेनिनवादी कहते हुए कर रहे हैं, इसलिए यह और भी ख़तरनाक है। हम आगे दिखलाएँगे कि समाजवाद की पहचान, पार्टी की भूमिका, ट्रेड यूनियन की भूमिका, राज्य और पार्टी के रिश्ते, पार्टी और वर्ग के रिश्ते, पार्टी और ट्रेड यूनियन के रिश्ते और पार्टी और सोवियत के रिश्तों के बारे में सुजीत दास वास्तव में स्तालिन के दौर में पार्टी द्वारा हुई "ग़लतियों" की आड़ में लेनिन पर हमला कर रहे हैं और इस प्रक्रिया में अपने वास्तविक रंग को प्रच्छन्न रखने का प्रयास कर रहे हैं। यह रंग वास्तव में कम्युनिज़्म का नहीं बल्कि अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और विसर्जनवाद का है। और यही उनका असली इरादा है: स्तालिन के बहाने और लेनिनवाद की आड़ में वास्तव में सोवियत संघ के इतिहास का, पार्टी, वर्ग और राज्यसत्ता के बारे में लेनिनवादी उसूलों का अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, "वामपन्थी" 'एप्रोप्रियेशन' करना।

अब हम एक-एक करके वे बुनियादी अवधारणात्मक मुद्दे लेंगे जिन पर 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की अवस्थिति सुजीत दास के लेख में पेश की गयी है और उन अवस्थितियों पर क्लासिकीय मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षाओं के नज़रिये से विचार करेंगे।

2) समाजवाद की पहचान, उत्पादन के साधनों पर 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' के नियन्त्रण और राज्यसत्ता व अलगाव का प्रश्न

सुजीत दास के तमाम विभ्रमों के स्रोतों में सबसे अहम विचारधारात्मक विभ्रम का स्रोत हमें समाजवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना की पहचान की कसौटी को लेकर उनकी सोच में मिलता है। और सुजीत दास इस विभ्रम को मार्क्सवाद के सिद्ध सिद्धान्त के तौर पर बार-बार दुहराते हैं, और इस हद तक दुहराते हैं कि हास्यास्पद दिखने लगते हैं। आइये देखें सुजीत दास इसके बारे में क्या कहते हैं:

"...बिल्कुल शुरुआत में ही हमें यह प्राथमिक समझदारी बनानी होगी कि समाजवाद की पहचान कैसे करें। हालाँकि, इसके बारे में कई दृष्टिकोण हैं, यद्यपि हर व्यक्ति इस बुनियादी बिन्दु पर सहमत है कि यह प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के साधनों से सम्बन्ध की पुनर्स्थापना है, जो कि प्रत्यक्ष उत्पादक के उत्पादन के साधनों से उस अलगाव को कदम-दर-कदम उन्मूलित करके सम्भव होता है, जो कि पूँजीवाद ने पैदा किया है।"

ऐसी अभिव्यक्तियाँ सुजीत दास ने पूरे लेख में बार-बार पूरे आत्मविश्वास के साथ दी हैं! दरअसल, वह जब भी सोवियत समाजवाद पर कोई तोहमत लगाते हैं तो अन्त यही कहकर करते हैं कि *'और इसलिए प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से अलगाव नहीं मिटा'*, या *'इसका कारण यह था कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से अलगाव था'*, या *'इससे प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से अलगाव बढ़ गया'*, वगैरह! वह इस बात को इतनी बार दुहराते हैं कि आप बुरी तरह से ऊब जाते हैं। इस ऊब का मुख्य कारण यह नहीं है कि एक बात को दुहराया जा रहा है बल्कि इसका मुख्य और मूल कारण यह है कि एक मूर्खतापूर्ण बात को बार-बार आत्मविश्वास के साथ दुहराया जा रहा है। यह बात बार-बार दुहराने में सुजीत दास ने अपनी दो भयंकर रूप से भ्रमित अवधारणाएँ खोलकर रख दी हैं, जिन्हें सम्भवत: वह मार्क्सवादी समझते हैं।

पहली बात, किसी भी सामाजिक-आर्थिक संरचना के चरित्र के निर्धारण की मूल कसौटी के बारे में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विचारों से सुजीत दास पूर्णत: अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। **सबसे पहली और सबसे ज़रूरी कसौटी है राज्यसत्ता का चरित्र।** किसी भी सामाजिक-आर्थिक संरचना के वर्ग चरित्र का निर्धारण सर्वप्रथम राज्यसत्ता के चरित्र से ही किया जा सकता है। इस मुद्दे पर आगे बढ़ने से पहले यहाँ हम एक भ्रम का निवारण करते हुए आगे बढ़ना चाहते हैं, जिसका शिकार तमाम ट्रॉट्स्कीपन्थी संगठन और 'सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर ऑफ़ इण्डिया' और उससे समय-समय पर निकले संगठन हैं, जिनकी पूरी पद्धति पर अभी भी ट्रॉट्स्कीपन्थ का प्रभाव है। राज्यसत्ता के चरित्र और उत्पादन सम्बन्धों के चरित्र में परिमाणात्मक अन्तर हो सकता है, लेकिन वे एक-दूसरे के विपरीत नहीं हो सकते। **जो भी राज्यसत्ता समाज में जारी वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया में नैसर्गिक तौर पर अस्तित्व में आयी है, वह उस समाज के वर्ग चरित्र के निर्धारण का बुनियादी पैमाना होगी।** मिसाल के तौर पर, फरवरी क्रान्ति रूसी समाज में जारी वर्ग संघर्ष के नतीजे के तौर पर हुई थी और नतीजतन फरवरी क्रान्ति के बाद जो आरज़ी सरकार अस्तित्व में आयी, वह उस समय के रूसी समाज में वर्ग संघर्ष के स्तर को प्रतिबिम्बित करती थी। एस.यू.सी.आई., उससे निकले कई संगठनों

और खुले और प्रच्छन्न ट्रॉट्स्कीपन्थी संगठनों का यह मानना है कि भारत में 1947 में चूँकि बुर्जुआ वर्ग सत्ता में आया इसलिए क्रान्ति की मंज़िल तत्काल ही समाजवादी हो गयी थी। यह भी एक किस्म की यान्त्रिकता है और निगमनात्मक पद्धति है, जो राज्यसत्ता और समाज में जारी वर्ग संघर्ष के बीच के रिश्ते को बिल्कुल भूल जाती है। भारत में बुर्जुआ सत्ता वर्ग संघर्ष की नैसर्गिक प्रक्रिया के जरिये नहीं आयी थी। यह एक समझौते के तहत आयी थी, जिसमें देश छोड़ कर जा रहे उपनिवेशवादियों ने उस वर्ग के हाथ में सत्ता सौंपी जिससे बाद में भी वे अपने साम्राज्यवादी आर्थिक हितों को बढ़ावा देने के लिए ज़्यादा सरलता और सुगमता के साथ सौदेबाज़ी कर सकें। बुर्जुआ वर्ग अभी भारत में स्वयं ऐसी स्थिति में नहीं था कि अपने बूते वह सत्ता में आ पाता। वर्ग शक्ति सन्तुलन में उसका पलड़ा भारी हो चुका था, लेकिन सामन्ती शक्तियों की तुलना में उसकी शक्ति इतनी भी नहीं थी कि वह उनसे सीधे टकरा पाता। नतीजतन, इस नवसत्तासीन बुर्जुआ वर्ग ने भूमि सुधार के ज़रिये कृषि में पूँजीवादी विकास का क्रान्तिकारी रास्ता अख़्तियार नहीं किया, बल्कि एक क्रमिक प्रक्रिया में आधे-अधूरे तरीके से होने वाले भूमि सुधारों का रास्ता चुना जिसकी प्रक्रिया आने वाले करीब दो दशकों तक जारी रही। नतीजतन, 1947 में गाँवों में जो स्थिति थी, उसमें समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल के अनुसार वर्ग मोर्चा बनना सम्भव नहीं था। जब तक गाँवों में उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख रूप से पूँजीवादी नहीं बन जाते, तब तक ऐसा सम्भव नहीं था। रूस की स्थिति फरवरी क्रान्ति के पहले से ही काफ़ी भिन्न थी। रूसी कृषि मुख्य और मूल तौर पर प्रशियाई पथ के भूमि सुधारों द्वारा पूँजीवादी बन चुकी थी, जबकि भारत में यह प्रक्रिया बुर्जुआ वर्ग के सत्तासीन होने के बाद शुरू हुई थी। रूस में किसान आबादी फरवरी 1917 के पहले के दौर में, अभी भी ज़मीन की भूख का शिकार थी क्योंकि प्रशियाई पथ से होने वाला भूमि सुधार अभी प्रक्रिया में ही था और उसमें युंकरों से ज़मीन छीन कर, उसका राष्ट्रीयकरण करके पुनर्वितरण करने का काम नहीं किया जा रहा था। ऐसे में, किसान आबादी आर्थिक तौर पर मुख्य रूप से पूँजीवादी सम्बन्धों में प्रवेश कर चुकी थी, लेकिन उसके भीतर पूँजीवादी राजनीतिक चेतना अभी पकी नहीं थी। प्रतितथ्यात्मक (काउण्टरफैक्चुअल) इतिहास की पद्धति का अनुसरण करते हुए यह पूछा जा सकता है कि अगर वे अपवादस्वरूप पैदा हुई ऐतिहासिक स्थितियाँ न पैदा होंती, जिनका लेनिन ने ज़िक्र किया था और जिनके कारण बोल्शेविक क्रान्ति 1917 में हुई, और अगर रूसी क्रान्ति तीन या चार दशक बाद होती, जिनके दौरान क्रमिक प्रक्रिया के तहत होने वाला प्रशियाई भूमि सुधार पूर्ण होता, परिपक्व होता और किसानों की आबादी का ध्रुवीकरण और सुदृढ़ होता और पकता तो क्या सोवियत समाजवादी क्रान्ति को किसानों के लिए भूमि के पुनर्वितरण की आज्ञप्ति लागू करनी पड़ती? शायद नहीं! **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** की किसान प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की नीति की आलोचना और **कार्ल काऊत्स्की** के इस आरोप का, कि रूसी क्रान्ति केवल एक जनवादी क्रान्ति है, लेनिन ने यही जवाब दिया था। लेकिन हम इस मुद्दे पर आगे वापस लौटेंगे; फिलहाल सुजीत दास के लेख पर वापस चलते हैं।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद के महज़ बुनियादी उसूलों की भी समझ रखने वाला व्यक्ति यह जानता है कि किसी सामाजिक-आर्थिक संरचना की पहचान राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र से होती है। अगर सर्वहारा वर्ग की हिरावल कम्युनिस्ट पार्टी ने सर्वहारा अधिनायकत्व की सत्ता की स्थापना कर दी है, तो आपको यह मानना होगा कि वह सामाजिक संरचना

समाजवादी है। कोई भी अन्य कसौटी इसके बाद आती है। लेकिन सुजीत दास इस कसौटी का ज़िक्र तक नहीं करते हैं। यह कहना पर्याप्त नहीं है कि राज्यसत्ता का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है, लेकिन मूल कसौटी उत्पादन के साधनों से उत्पादक वर्ग के अलगाव के ख़त्म होने का है। **राज्यसत्ता का प्रश्न केवल महत्वपूर्ण नहीं है, यह मूल और मुख्य है।** यह सबसे बड़ा विभ्रम है, जिसके सुजीत दास शिकार हैं। उनका मानना है कि अलगाव का ख़त्म होना समाजवाद की पहचान की मूल कसौटी है। वास्तव में, उन्होंने समाजवाद की पहचान और समाजवाद से कम्युनिज़्म की ओर संक्रमण की प्रक्रिया की पहचान के मानकों को आपस में मिला दिया है और यही उनके इस विभ्रम का सबसे बड़ा स्रोत है। आगे हम इस पर विस्तार से बात रखेंगे। लेकिन इसी मूल विभ्रम से सुजीत दास अपने दूसरे विभ्रम पर आ जाते हैं।

यह विभ्रम है अलगाव की परिघटना के बारे में सिरे से ग़लत समझदारी। अलगाव के पूरे सवाल को हल करने का सुजीत दास एक सीधा और सरल रास्ता बताते हैं जो कि समाजवादी सत्ता सोवियत संघ में कोई कानून या आज्ञप्ति पास करके हासिल कर सकती थी। यह सीधा-सरल रास्ता है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों को सीधे उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण दे दिया जाय। यानी कि कारखानों का नियन्त्रण कारखाने के मज़दूरों को सौंप दिया जाय, सामूहिक फार्मों का नियन्त्रण उस पर काम करने वाले किसानों के समूहों को सौंप दिया जाय, और क्या पैदा करना है, कैसे पैदा करना है और उत्पादन के साधनों का उपयोग कैसे करना है, उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया का निर्धारण कैसे करना है, ये सब सीधे प्रत्यक्ष उत्पादक तय करेगा। **यानी, अलगाव को ख़त्म करने और उत्पादक के उत्पादन के साधनों के 'प्रत्यक्ष नियन्त्रण' के बीच में सुजीत दास ने 'इज़ इक्वल टू' का चिन्ह रख दिया है।** पहली बात तो यह है कि यह अलगाव की परिघटना की शर्मनाक रूप से अधकचरी और अधूरी समझदारी है। यह दिखलाती है कि सुजीत दास को न सिर्फ 1917 से 1929 तक के सोवियत समाजवाद और बोल्शेविक पार्टी में चली बहसों के बारे में ठीक से नहीं पता है, बल्कि उन्हें वास्तव में 1930 के दशक के सोवियत समाजवाद और बोल्शेविक पार्टी के भीतर मौजूद दो लाइनों के संघर्ष के बारे में भी बहुत ही सीमित जानकारी है, और ऐसा लगता है कि यह सीमित जानकारी भी उन्हें किताबों की 'प्रस्तावना' व फ्लैप पढ़कर और विषय सूची से "अपने काम की सूचना" निकालकर उन्हें प्राप्त हुई है। **यह जानकारी जिस अवस्थिति को जन्म देती है वह दरअसल बोल्शेविक पार्टी में अलग-अलग समय पर पैदा हुए "वामपन्थी" विपक्षों की अवस्थितियों और काउंसिल कम्युनिज़्म की अवस्थितियों का एक बेहद मज़ाकिया मिश्रण है।** अब अलगाव के सवाल पर मार्क्स और लेनिन के दृष्टिकोण की कसौटी पर इस अवस्थिति को रखते हैं।

मार्क्स **'1844 की आर्थिक व दार्शनिक पाण्डुलिपियाँ'** में लिखते हैं:

"स्वयं राजनीतिक अर्थशास्त्र के ही आधार पर, उसी की भाषा में, हमने दिखलाया है कि मज़दूर एक माल के स्तर पर पहुँच जाता है और वास्तव में मालों में भी सबसे अभागा माल बन जाता है; कि प्रतिस्पर्द्धा का अनिवार्य परिणाम है कुछ हाथों में पूँजी का संचय, और इस प्रकार सबसे भयंकर रूप में एकाधिकार की स्थापना; और कि अन्त में...पूरे समाज का दो वर्गों में बँट जाना–*सम्पति के स्वामी* और सम्पत्तिहीन *मज़दूर।*

"राजनीतिक अर्थशास्त्र निजी सम्पत्ति से ही शुरुआत करता है; यह उसकी व्याख्या नहीं करता...राजनीतिक अर्थशास्त्र श्रम और पूँजी के बीच विभाजन, और पूँजी और

भूमि के बीच विभाजन पर कोई रोशनी नहीं डालता...अब, इसीलिए, हमें निजी सम्पत्ति, लालच, श्रम, पूँजी और भूमि के विभाजन; विनिमय और प्रतिस्पर्द्धा के बीच, मूल्य और मनुष्य के अवमूल्यन के बीच, एकाधिकार और प्रतिस्पर्द्धा आदि के बीच आन्तरिक सम्बन्ध को समझना है–हमें *मुद्रा* की व्यवस्था के साथ जुड़े हुए सम्पूर्ण अलगाव को समझना है।...हम एक *वास्तविक* आर्थिक तथ्य से शुरुआत करते हैं।

"मज़दूर जितनी समृद्धि पैदा करता है, जितना उसका उत्पादन अपनी शक्ति और आकार को बढ़ाता है, वह उतना ही दरिद्र होता जाता है। वह जितने माल पैदा करता है, वह उतना ही सस्ता माल बनता जाता है। मनुष्यों की दुनिया का *अवमूल्यन* वस्तुओं की दुनिया के *बढ़ते मूल्य* के साथ प्रत्यक्ष समानुपात में होता है। श्रम न सिर्फ़ माल पैदा करता है, यह स्वयं को और मज़दूर को भी एक माल के रूप में पैदा करता है–और यह उसी दर से होता है जिस दर से वह आम तौर पर मालों का उत्पादन करता है।

"यह तथ्य महज़ इतना बताता है कि श्रम जिस वस्तु को पैदा करता है–श्रम का उत्पाद–वह उसके सामने *एक परायी* चीज़ के रूप में खड़ा हो जाता है, उत्पादक से *स्वतन्त्र एक शक्ति* के रूप में खड़ा हो जाता है। श्रम का उत्पाद वह श्रम है जो कि एक वस्तु में मूर्त रूप ग्रहण कर चुका है, जो भौतिक बन चुका है: यह श्रम का *वस्तुकरण* है। श्रम की अनुभूति इसका वस्तुकरण है। इन आर्थिक स्थितियों के तहत श्रम की यह अनुभूति मज़दूरों के लिए *अनुभूति के खो जाने* के रूप में प्रकट होती है; वस्तुकरण *वस्तु के खो जाने और उसकी गुलामी के रूप में; हस्तगतीकरण बेगानेपन के रूप में, अलगाव के रूप में*" (मार्क्स, *इकोनॉमिक एंड फिलोसॉफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844,* पाँचवाँ संशोधित अंग्रेज़ी संस्करण, 1977, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 66-68, अनुवाद हमारा)

मार्क्स की अलगाव की सोच यहाँ बिल्कुल स्पष्ट है। **मार्क्स के अनुसार जो चीज़ अलगाव की पूरी परिघटना के मूल में है वह है एक परायी शक्ति द्वारा श्रम के उत्पाद का हस्तगतीकरण (एप्रोप्रियेशन)।** निश्चित तौर पर, इसकी एक अभिव्यक्ति पूँजीवादी समाज में इस रूप में प्रकट होती है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों पर कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता है। लेकिन अलगाव की पूरी परिघटना को ही नियन्त्रण के सवाल पर अपचयित कर देना वास्तव में रोग के मूल को रोग के लक्षण के साथ गड्डमड्ड कर देना है। जाहिर है, कि निजी सम्पत्ति की सम्पूर्ण व्यवस्था में अलगाव अपने पूरे शत्रुतापूर्ण रुख़ के साथ मज़दूर के समूचे अस्तित्व पर हमला कर देता है। मज़दूर जितनी वस्तुएँ अपने श्रम के ज़रिये और प्रकृति का उपयोग करके पैदा करता है, उतना ही वह अपने श्रम के उत्पाद से भी दूर होता जाता है और उतना ही वह प्रकृति से भी बेगाना होता जाता है। **यहाँ पर इस पूरी परिघटना का मूल कारण क्या है? पूँजी के स्वामियों द्वारा, यानी पूँजीपतियों द्वारा श्रम के उत्पाद का हस्तगतीकरण; एक शत्रुतापूर्ण शक्ति द्वारा मेहनत के उत्पाद का हस्तगतीकरण; इस उत्पाद के अम्बार के बढ़ने के साथ मज़दूर के अलगाव और दरिद्रता का बढ़ते जाना।** यहाँ पर यह ज़िक्र करना भी ज़रूरी है कि जिस प्रकार उत्पाद (माल पूँजी) श्रम का वस्तुकृत रूप है, वैसे ही संचित मौद्रिक पूँजी स्वयं और कुछ नहीं बल्कि भण्डारित श्रम (स्टोर्ड लेबर) है। पूँजी संचय का सीधा रिश्ता इस बात से है कि मज़दूर जो माल पैदा करता है वह उसका नहीं होता। और यहाँ मार्क्स अलग-अलग मज़दूरों, या एक कारखाने के मज़दूरों, या एक उद्योग या सेक्टर के मज़दूरों की बात नहीं कर रहे हैं। वे समूचे मज़दूर वर्ग

की बात कर रहे हैं। पूरा मार्क्सवादी अर्थशास्त्र व्यक्ति-आधारित नहीं बल्कि समष्टि-आधारित विश्लेषण पर आधारित है। और इस समष्टि की इकाई मार्क्सवादी विश्लेषण में वर्ग है। **संक्षेप में कहें तो मार्क्स के लिए अलगाव की पूरी आर्थिक परिघटना का सबसे बुनियादी पहलू यह है कि पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग के श्रम के उत्पाद का हस्तगतीकरण करता है।** और इसमें श्रमशक्ति का स्वयं एक माल बन जाना सबसे मूल कारक है। यही पूँजीवादी आर्थिक शोषण की कुंजीभूत कड़ी है, जिसे समझे बग़ैर पूँजीवादी शोषण को समझा नहीं जा सकता है।

इसके बाद मार्क्स अलगाव के दूसरे पहलू पर आते हैं। आइये देखें वह इसे किस रूप में व्याख्यायित करते हैं।

"अभी तक हमने मज़दूर के बेगानेपन, उसके अलगाव के केवल एक पहलू पर विचार किया है, यानी, मज़दूर *के उसके श्रम के उत्पाद के साथ सम्बन्ध के पहलू पर।* लेकिन यह अलगाव केवल परिणाम में अभिव्यक्त नहीं होता बल्कि *उत्पादन की कार्रवाई* में, स्वयं *उत्पादक गतिविधि* में भी अभिव्यक्त होता है। मज़दूर अपनी गतिविधि के उत्पाद से एक अजनबी की तरह टकराये ऐसा कैसे सम्भव होगा, अगर वह उत्पादन की कार्रवाई के दौरान ही अपने आपको खुद से अलग नहीं कर रहा होगा? उत्पाद आखिर उसकी, उत्पादन की गतिविधि का ही तो निचोड़ है। अगर फिर श्रम का उत्पाद अलगाव है, तो उत्पादन को भी सक्रिय अलगाव, गतिविधि का अलगाव और अलगाव की गतिविधि होना चाहिए। श्रम की वस्तु के अलगाव में श्रम की गतिविधि में मौजूद बेगानेपन, अलगाव का ही सार प्रस्तुत होता है।

"फिर आखिर अलगाव कैसे पैदा होता है?

"पहली बात, यह तथ्य कि श्रम मज़दूर के लिए *बाह्य* है, यानी कि वह उससे आन्तरिक प्रकृति से नहीं जुड़ा है; कि वह अपने काम में इसीलिए, अपनी पुष्टि नहीं करता बल्कि अपना नकार करता है, सन्तुष्ट महसूस नहीं करता, बल्कि नाखुश रहता है, अपनी शारीरिक और मानसिक ऊर्जा का मुक्त विकास नहीं करता बल्कि अपने शरीर को मृत बनाता जाता है और अपने मस्तिष्क को बरबाद कर देता है। इसलिए मज़दूर अपने आपको तभी महसूस कर पाता है जब वह काम के बाहर होता है।...इसलिए उसका श्रम स्वैच्छिक नहीं बल्कि *ज़बरिया श्रम* है। इसलिए यह किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं है; यह उसके लिए बाह्य आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए एक *माध्यम* मात्र है। इसका अलगावपूर्ण चरित्र उसी समय जाहिर हो जाता है कि जब कोई शारीरिक या अन्य बाध्यता नहीं होती, तो श्रम से वह वैसे ही दूर भागता है जैसे कि प्लेग से।...श्रम की यह बाह्य प्रकृति इस तथ्य में दिखती है कि यह उसका श्रम नहीं है, बल्कि किसी और का है, कि वह उसका मालिक नहीं है, और श्रम करते समय इसीलिए वह स्वयं का मालिक नहीं होता, बल्कि उसका मालिक कोई और होता है।" (*वही*, पृ. 70-71)

मार्क्स इस बात को यहाँ आईने की तरह साफ़ कर देते हैं कि अलगाव की परिघटना का दूसरा पहलू स्वयं उत्पादन की गतिविधि में है। **इस उत्पादन की गतिविधि में वह किसी और के लिए श्रम कर रहा होता है, और जाहिर-सी बात है ऐसा श्रम वह स्वेच्छा से नहीं कर सकता है, बल्कि ज़बरिया तौर पर ही कर सकता है।** यह ज़बर्दस्ती प्रत्यक्ष हो सकती

है या भौतिक आवश्यकताओं द्वारा थोपी हुई हो सकती है। किसी भी सूरत में वह यह बात जानता है कि उसे इस श्रम का मोल नहीं मिलने वाला; उसे उसकी श्रम शक्ति, जो कि स्वयं माल है, उसकी कीमत मिलने वाली है। और बुनियादी मार्क्सवाद समझने वाला व्यक्ति जानता है किसी माल का मूल्य और दाम कैसे तय होते हैं। हम यहाँ इसके विस्तार में नहीं जाएँगे। मार्क्स आगे इस पूरी बात का सारांश रखते हुए कहते हैं:

"हमने व्यावहारिक मानवीय गतिविधि, यानी श्रम के अलगाव की कार्रवाई को इसके दो पहलुओं में समझा है। (1) मज़दूर का अपने *श्रम के उत्पाद* से एक परायी वस्तु के तौर पर रिश्ता जो कि उस पर शासन कर रही है।...(2) श्रम का *श्रम प्रक्रिया* के भीतर *उत्पादन की कार्रवाई* से एक परायी गतिविधि के तौर पर रिश्ता, जो कि उसके लिए नहीं है।" (*वही*, पृ. 71-72)

मार्क्स ने इसके बाद अलगाव की प्रक्रिया और पूँजीवादी निजी सम्पत्ति के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हुए बताया है कि बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के लिए अलगाव निजी सम्पत्ति का नतीजा था; लेकिन वास्तव में इसका उल्टा होता है। निजी सम्पत्ति अलगाव का नतीजा होती है क्योंकि निजी सम्पत्ति और कुछ नहीं संचित पूँजी है और हम पहले ही देख आये हैं कि पूँजी और कुछ नहीं बल्कि परकीकृत भण्डारित श्रम (रीइफाइड स्टोर्ड लेबर) है। यहीं से हम अपनी मूल चर्चा पर वापस आ सकते हैं।

मार्क्स ने अलगाव की पूरी प्रक्रिया के जिन दो पहलुओं की बात की है, जो वास्तव में एक दूसरे से घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं, उसी के आधार पर अलगाव को दूर करने की पूरी कम्युनिस्ट परियोजना के दो पहलुओं की बात की जा सकती है। **इस प्रक्रिया की शुरुआत का पहला चरण सर्वहारा वर्ग द्वारा अपना अधिनायकत्व और अपना राज्य स्थापित करने और उसके साथ निजी सम्पत्ति के कानूनी तौर पर उन्मूलन के साथ ही शुरू हो सकता है।** अक्टूबर 1917 में जो हुआ वह इसी चरण की शुरुआत थी। और यह चरण सामूहिकीकरण की प्रक्रिया समाप्त होने के साथ पूरा हुआ जब उद्योग से लेकर कृषि के क्षेत्र तक निजी सम्पत्ति के तमाम रूपों का उन्मूलन हुआ। जाहिर है, निजी सम्पत्ति के कानूनी तौर पर उन्मूलन के साथ पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध पूर्णत: समाप्त नहीं हो जाते। लेकिन इस चरण को पूरा किये बग़ैर आगे बढ़ने की बात सोची भी नहीं जा सकती है। सभी कारखानों, खानों-खदानों, भूमि और बैंकों के सामूहिक सम्पत्ति बने बग़ैर उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया में निहित अलगाव के स्रोतों को ख़त्म नहीं किया जा सकता है। **कहा जा सकता है कि निजी सम्पत्ति का ख़ात्मा मज़दूर वर्ग के अलगाव को समाप्त करने की दिशा में एक महान ऐतिहासिक कदम होता है, और सोवियत संघ में स्तालिन के नेतृत्व में मज़दूर वर्ग ने इस काम को अंजाम दिया।**

इससे पहले कि हम अलगाव को ख़त्म करने की कम्युनिस्ट परियोजना के दूसरे चरण की बात करें एक बात को स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। **समाजवाद के पूरे ऐतिहासिक संक्रमण काल के दौरान उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया में निहित अलगाव पूरी तरह ख़त्म नहीं हो सकता है।** क्योंकि समाजवादी संक्रमण के दौरान भी उत्पादों के हस्तगतीकरण का एक पहलू मौजूद होता है। अभी भी उजरती श्रम मौजूद होता है; अभी हर किसी को उसके श्रम के अनुसार वेतन मिलता है; अभी 'सभी से उनकी क्षमता के अनुसार, और सभी को उनकी आवश्यकता के अनुसार' का कम्युनिस्ट सिद्धान्त लागू नहीं होता है। ऐसा तभी हो सकता है

जब माओ के शब्दों में 'क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखते हुए उत्पादन को बढ़ाते जाने' की प्रक्रिया को निरन्तर आगे बढ़ाया जाय और इस प्रक्रिया में अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति करते हुए, एक ओर शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम, कृषि और उद्योग व शहर और गाँव का फ़र्क मिटाया जाय और वहीं दूसरी ओर उत्पादन को बढ़ाते हुए प्रचुरता की मंज़िल तक पहुँचाया जाय। केवल इसी प्रक्रिया के अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने के साथ अलगाव का ख़ात्मा हो सकता है। सुजीत दास का यह कहना कि सोवियत समाजवाद के प्रयोगों के दौर में उत्पादक वर्ग का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण नहीं था और इसलिए उसका अलगाव बना हुआ था, और इसीलिए सोवियत समाजवाद इस दौर में महज़ 'कागज़ी समाजवाद' था, यह दिखलाता है कि वह समाजवादी संक्रमण के दौर की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक गतिकी को नहीं समझते हैं। उन्हें लगता है कि अगर पार्टी ने 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' का उत्पादन के साधनों पर तत्काल नियन्त्रण स्थापित कर दिया होता, तो अलगाव का ख़ात्मा हो गया होता। इससे पता चलता है कि न तो वह अलगाव की पूरी परिघटना को समझते हैं, और न ही समाजवादी संक्रमण को। हर चीज़ को अपचयित करके 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' के नियन्त्रण पर ला दिया जाता है।

यहाँ एक और बात सुजीत दास नहीं समझते कि समाजवादी राज्यसत्ता के स्थापित होने और निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे के चरण के समाप्त होने के बाद समाजवादी समाज में जिन रूपों में उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया में अलगाव मौजूद होता है, उसकी पूँजीवादी समाज में मौजूद मज़दूर वर्ग के अलगाव से कोई तुलना नहीं की जा सकती है, जैसा कि उन्होंने बार-बार करने का प्रयास किया है। ऐसा वह इसलिए कर रहे हैं क्योंकि उनके पूरे लेख में जो एक चीज़ ग़ायब है वह है वर्ग विश्लेषण। यह सच है जब तक मज़दूर वर्ग एक वर्ग के तौर पर उत्पादन-सम्बन्धी, श्रम प्रक्रिया सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी सभी निर्णय स्वयं लेना नहीं सीखता है, तब तक अलगाव का एक तत्व आर्थिक तौर मौजूद रहता है। इस पर हम आगे चर्चा करेंगे। लेकिन जब तक मज़दूर वर्ग का हिरावल उसे संस्थाबद्ध नेतृत्व देते हुए निर्णय लेना सिखाता है और स्वयं निर्णय लेता है, जब तक मज़दूर वर्ग के श्रम के उत्पादों का राजकीय एजेंसियों द्वारा परकीकरण होता है, तब तक यह सवाल पूछा जाना चाहिए कि **यहाँ हस्तगतीकरण करने वाली शक्ति कौन-सी है?** निश्चित तौर पर राज्यसत्ता और उसके निकाय। और **इस राज्यसत्ता का वर्ग चरित्र क्या है?** इसकी चारित्रिक आभिलाक्षणिकता है सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व। **सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का, लेनिन के शब्दों में, प्रमुख उपकरण क्या है?** सर्वहारा वर्ग की पार्टी। **पार्टी का सर्वहारा चरित्र किस बात से तय होता है?** उसके नेतृत्व, नीतियों और काडर शक्ति के (इसी क्रम से) चरित्र से। लेनिन के इस कथन पर ग़ौर करें: **"...कोई पार्टी वास्तव में मज़दूरों की राजनीतिक पार्टी है या नहीं, यह बात पूरी तरह मज़दूरों की सदस्यता होने पर निर्भर नहीं करती है, बल्कि उन लोगों पर भी निर्भर करती है जो उसका नेतृत्व करते हैं, इसकी कार्रवाइयों की अन्तर्वस्तु और इसके राजनीतिक रणकौशल पर भी निर्भर करती है।"** (लेनिन, **'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की दूसरी कांग्रेस: ब्रिटिश लेबर पार्टी से सम्बन्ध पर भाषण'**, *संग्रहीत रचनाएँ,* खण्ड-31, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, 1966, पृ. 257-58) अब इन अन्तर्दृष्टियों की रोशनी में अगर हम पूछें कि 1917 से 1953 तक के सोवियत संघ में मौजूद राज्यसत्ता और पार्टी का चरित्र क्या था तो जवाब क्या होगा? इस पर सुजीत दास को

जब अलग से एक सामान्य बात कहनी होती है, तो वह मानते हैं कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी सत्ता में थे, पार्टी क्रान्तिकारी थी और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व था। लेकिन जब वे अपने विवरणों में जाते हैं, तो अन्त में अन्तरविरोधी नतीजे पर पहुँच जाते हैं और ऐसे अर्थहीन दावे करने लगते हैं कि 'वर्ग का अधिनायकत्व नहीं था, पार्टी का अधिनायकत्व था'; 'सर्वहारा अधिनायकत्व तो महज़ कागज़ों पर था'; 'मज़दूर वर्ग निष्क्रिय हो गया था, उसकी ट्रेड यूनियनें और सोवियतें पार्टी की नौकर बन गयी थीं', वगैरह। इन मुद्दों पर हम आगे आयेंगे क्योंकि सोवियतों की भूमिका, पार्टी की भूमिका, ट्रेड यूनियनों की भूमिका और सर्वहारा वर्ग की भूमिका के आपसी सम्बन्धों के बारे में सुजीत दास की पूरी सोच वही है जो 'वर्कर्स अपोज़िशन', 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' ग्रुप, काउंसिल कम्युनिस्टों और मारियो ट्रॉण्टी के 'मज़दूरवाद' आदि जैसी अराजकतावादी और संघाधिपत्यवादी रुझानों की थी। और उसका जवाब देने के लिए हमें लेनिन, स्तालिन और माओ को उद्धृत करने से ज़्यादा कुछ करने की ज़रूरत नहीं होगी; इस काम को हम आगे एजेण्डे पर लेंगे।

लेकिन अभी हम सुजीत दास के इस विरोधाभास को उनकी नादानी मान लेते हैं और उनके मूल्य-आधारित निर्णयों (वैल्यू जजमेण्ट) को उनका ईमानदार कथन मानते हैं। यह सन्देह का लाभ देने पर देखें तो ऊपरी तौर पर वे मानते हैं कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व था और पार्टी अभी भी क्रान्तिकारी थी। अब इस सर्वहारा राज्य और उसके निकाय द्वारा मज़दूर वर्ग के उत्पादों का हस्तगतीकरण हो रहा है, तो इस रूप में तो अभी भी अलगाव मौजूद है कि अभी उत्पादन और शासन-सम्बन्धी सभी निर्णय स्वयं कम्यूनों में संगठित समूचा मज़दूर वर्ग नहीं ले रहा है, लेकिन यह भी सच है कि **समाजवादी संक्रमण से गुज़र रहे एक समाज में मौजूद इस अलगाव और पूँजीवादी समाज में मज़दूर वर्ग जिस अलगाव का शिकार होता है, उसमें बहुत फर्क है। यह फर्क क्या है? यह फर्क यह है कि पूँजीवादी समाज में हस्तगतीकरण किया गया अधिशेष पूँजीपति वर्ग के हाथों में संचित होता हुआ मज़दूर वर्ग के लिए एक विशाल शत्रुतापूर्ण शक्ति बन जाता है, जो उसे बाद में सड़कों पर खदेड़ देता है और उसके जीवन की बुनियादी शर्तों से भी उसे महरूम कर देता है। लेकिन समाजवादी संक्रमण काल में ऐसा नहीं होता। समाजवादी संक्रमण काल में हस्तगतीकृत अधिशेष संचित होकर वापस मज़दूर वर्ग के ही जीवन के स्तरोन्नयन और बेहतरी के लिए वापस लौटता है। 1917 से 1956 के बीच में सोवियत संघ ने समूची मेहनतकश आबादी के जीवन को अभूतपूर्व रूप से स्तरीय और उत्कृष्ट बनाया था, जिसे कि ग़ैर-मार्क्सवादी ईमानदार प्रेक्षक भी मानने को मजबूर थे। निश्चित तौर पर, अभी इस पूरी प्रक्रिया को स्वयं मज़दूर वर्ग नहीं संचालित कर रहा है बल्कि उसके उन्नत तत्व उसकी हिरावल पार्टी के नेतृत्व में संचालित कर रहे हैं।** लेकिन मज़दूर वर्ग जानता है कि समाज के सभी संसाधन उसकी साझा सम्पत्ति हैं और वह एक वर्ग के तौर पर उनका मालिक है और यह भी कि अपनी हिरावल पार्टी के जरिये वह ही शासन कर रहा है। उसके अलगाव के सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक रूप काफ़ी हद तक दब जाते हैं। एक आर्थिक परिघटना के तौर पर भी अलगाव के ख़ात्मे का पहला चरण पूरा हो चुका होता है।

दूसरा चरण तब तक पूरा नहीं हो सकता है जब तक कि शासन-सम्बन्धी और उत्पादन-सम्बन्धी सभी कार्यों को मज़दूर वर्ग धीरे-धीरे स्वयं अपने हाथ में लेने की स्थिति में नहीं पहुँच जाता है। यह एक अहम सवाल है कि सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी इस काम

को अंजाम दे पायी या नहीं। इस पूरे मुद्दे पर हम आगे चर्चा करेंगे, जब हम समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी के कार्यभारों पर बात करेंगे। लेकिन एक बात तय है कि मज़दूर वर्ग सोवियत समाजवादी समाज में अलगाव से एक हद तक मुक्त हुआ था, न कि उसका अलगाव बढ़ा था। सर्वहारा अधिनायकत्व और सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना और निजी सम्पत्ति के समाज के हर क्षेत्र से ख़ात्मे के साथ अलगाव को दूर करने की ऐतिहासिक परियोजना का एक चरण पूरा हुआ था। इसके साथ मज़दूर वर्ग के भीतर सर्वहारा राज्यसत्ता, पार्टी और समाज पर अपने नियन्त्रण पर भरोसा पैदा हुआ था। इसके बिना न तो स्ताखानोवाइट आन्दोलन, शॉक वर्क टीम, पब्लिक टगबोट आन्दोलन, कम्युनिस्ट सुब्बोतनिक आदि जैसी शानदार सर्वहारा पहलें होतीं और न ही सोवियत संघ के सवा दो करोड़ मेहनतकश अपनी मज़दूर सत्ता की हिफ़ाज़त के लिए नात्सी जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध में क़ुर्बानी देते। लेकिन सुजीत दास को शक़ है कि यह सारे काम आन्तरिक विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रेरणा से कम और पार्टी की ज़ोर-ज़बर्दस्ती से ज़्यादा हुआ था! अब कोई पहले से तय करके बैठा हो कि उसे क्या साबित करना है, तो ऐतिहासिक तथ्य और सच्चाइयाँ भी उसके सामने से हताश होकर लौट जाती हैं!

यहाँ एक आर्थिक परिघटना के तौर पर अलगाव के समाजवादी संक्रमण में मौजूद रहने को गहराई से समझना ज़रूरी है। जैसा कि माओ ने बताया था, समाजवादी समाज में अभी तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ यानी मानसिक और शारीरिक श्रम, उद्योग और कृषि और गाँव और शहर में अन्तर मौजूद होता है। जब तक यह अन्तर मौजूद होता है तब तक पूँजीवादी श्रम विभाजन भी मौजूद होता है; कुशल और अकुशल के बीच का अन्तर मौजूद होता है; बुर्जुआ अधिकार भी तब तक मौजूद रहते हैं। जाहिर है कि जब तक श्रम विभाजन मौजूद रहेगा तब तक विनिमय सम्बन्ध और विनिमय मूल्य बने रहेंगे। माल का अस्तित्व बना रहेगा क्योंकि अभी भी वस्तुओं का उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य दोनों बने रहेंगे। लिहाज़ा, अभी भी माल उत्पादन बना रहेगा और उजरती श्रम का अस्तित्व भी बरकरार रहेगा क्योंकि लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त नहीं करेंगे बल्कि अपने श्रम के उत्पाद का मोल हासिल करेंगे। जब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहेंगे तब तक श्रम के उत्पाद के हस्तगतीकरण का तत्व मौजूद रहेगा। और हम मार्क्स से इस बात को जानते हैं कि अलगाव की आर्थिक परिघटना का मूल और कुछ नहीं बल्कि श्रम के उत्पाद का हस्तगतीकरण है। यह पूरी स्थिति, जैसा कि हमने पहले बताया है, समूचे समाजवादी संक्रमण काल में मौजूद रहती है। यह एक घटता हुआ रुझान हो सकता है या एक बढ़ता हुआ रुझान। इस पर हम आगे चर्चा करेंगे कि सोवियत संघ के समाजवादी प्रयोगों में, विशेषकर स्तालिन के दौर में यह रुझान घट रहा था या बढ़ रहा था, और जो भी घटित हो रहा था उसका कारण क्या है।

लेकिन अभी हम सुजीत दास के लेख पर वापस चलेंगे। हम बता चुके हैं कि प्रचुरता की मंज़िल आये बग़ैर और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति, उत्पादन सम्बन्धों के सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण के बग़ैर समाजवादी संक्रमण को कम्युनिस्ट समाज की मंज़िल तक नहीं पहुँचाया जा सकता है, और तब तक अलगाव को पूरी तरह से ख़त्म नहीं किया जा सकता है। लेकिन सुजीत दास अलगाव को ख़त्म करने का एक सीधा-सरल रास्ता सुझाते हैं। वह मानते हैं कि समाजवादी संक्रमण के दौरान यदि सोवियत संघ में मज़दूरों और किसानों को उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण दे दिया गया

होता तो यह अलगाव समाप्त हो गया होता! वह यह नहीं बताते कि ऐसा करने के लिए बोल्शेविक पार्टी और सोवियत राज्य को क्या करना चाहिए था; मसलन, क्या उन्हें कोई कानून पास करके सभी कारखाने उनमें काम करने वाले मज़दूरों के नियन्त्रण में सौंप देने चाहिए थे? क्या उन्हें कोई आज्ञप्ति जारी करके सभी सामूहिक व सहकारी फार्मों और यहाँ तक कि निजी फार्मों को उसमें काम करने वाले किसानों के नियन्त्रण में सौंप देना चाहिए था? उसी प्रकार बैंकों को बैंक के कर्मचारियों के नियन्त्रण में, खानों-खदानों को उनमें काम करने वाले मज़दूरों के हाथ में, रेलवे को रेल मज़दूरों के हाथ में.....वगैरह?

इसमें दो बातें हैं। एक तो सुजीत दास को पता नहीं है कि क्रान्ति के बाद तुरन्त यह प्रयोग हुआ था जिसके भयंकर नतीजे सामने आये थे। इन पर हम आगे बात रखेंगे। और दूसरी बात यह कि अगर अलगाव की पूरी परिघटना को प्रत्यक्ष उत्पादक के नियन्त्रण के बारे में कोई कानून पास करके, आज्ञप्ति या कार्यकारी आदेश जारी करके ख़त्म करना सम्भव होता तो समाजवादी संक्रमण की अवधि एक दिन की होती, जिसमें कि सर्वहारा राज्यसत्ता ये सारी आज्ञप्तियाँ बनाकर आत्म-विलोपन कर लेती और समाज कम्युनिज़्म की मंज़िल में प्रवेश कर जाता! अगर कम्युनिस्ट समाज (यानी कि अलगावरहित समाज) तक पहुँचने का रास्ता इतना सीधा और सुगम था और रूसी क्रान्तिकारियों को इतनी मामूली-सी बात और इतना आसान सा रास्ता समझ में नहीं आया तो दो ही सम्भावनाएँ हो सकती हैं: या तो बोल्शेविक पार्टी बेहद नौसिखुआ और नादान थी, या फिर सुजीत दास मूर्खतापूर्ण बात कर रहे हैं! इनमें से कौन-ी सम्भावना सही है, यह फैसला हम आप पर छोड़ते हैं!

अब हम एक बार अपनी अभी तक की बात को समेटना चाहेंगे। **पहली बात**, समाजवाद के पहचान की पहली कसौटी राज्यसत्ता का वर्ग चरित्र है। अगर अलगाव के ख़ात्मे को समाजवाद की पहचान का पैमाना बना दिया जाय तो सुजीत दास को मानना पड़ेगा कि दुनिया में कभी कहीं समाजवाद नहीं था! तब फिर सोवियत संघ को 1917 से 1929 और फिर 1929 से 1953 के बीच समाजवादी क्यों माना जाय? इसके अलावा, अगर इन सबके बाद भी राज्यसत्ता के सवाल को नज़रअन्दाज़ करते हुए आप सोवियत संघ को किसी तरह समाजवादी मानते भी हैं, तो आपको यह मानना पड़ेगा कि 1956 में सोवियत संघ में ख्रुश्चेव के सत्ता में आने के बाद भी एक अपूर्ण (इम्पर्फेक्ट) समाजवाद ही था। अगर राज्यसत्ता और पार्टी के वर्ग चरित्र के सवाल को गोल कर दिया जाय, तो सबकुल गोलमगोल हो जाता है! और यही हालत सुजीत दास की इस लेख में हो गयी है। अगर अलगाव का होना या न होना समाजवाद के होने या न होने का पैमाना है और स्तालिन काल में और विशेषकर 1930 के दशक में मज़दूर वर्ग अलगाव का शिकार था, तो फिर सोवियत संघ में कभी समाजवाद नहीं था। बल्कि कहना चाहिए कि दुनिया में कभी भी कहीं समाजवाद नहीं था। सुजीत दास को फिर यह भी कहना चाहिए कि 1953 के पहले के और 1953 के बाद के सोवियत संघ में कोई फर्क नहीं था। स्पष्ट है कि सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षा को भूल गये हैं। किसी भी समाज और व्यवस्था के चरित्र का निर्धारण राजनीतिक तौर पर होता है और इसीलिए राज्यसत्ता का सवाल प्रमुख बन जाता है।

दूसरी अहम बात यह है कि सुजीत दास अलगाव की पूरी परिघटना को नहीं समझते हैं। वह अलगाव की पूरी परिघटना को प्रत्यक्ष उत्पादकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण पर लाकर ख़त्म कर देते हैं। यह एक किस्म का अर्थवादी निर्धारणवाद ही है, कह सकते हैं कि एक किस्म

का "वामपन्थी" आर्थिक निर्धारणवाद। हम आगे देखेंगे कि लेनिन इस 'प्रत्यक्ष उत्पादकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण' की अवधारणा को क्यों टटपुँजिया मानसिकता का प्रतीक मानते थे। लेकिन अभी यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि अलगाव की समस्या को प्रत्यक्ष उत्पादकों के नियन्त्रण से समानुपातिक वस्तु के रूप में जोड़ देना, मार्क्सवाद-लेनिनवाद का विकृतिकरण है। यह बताता है कि श्री दास ने मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों का अध्ययन किये बिना ही अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों, ट्रेडयूनियनवादियों और विसर्जनवादियों द्वारा लिखी गयी सोवियत संघ की आलोचनाएँ पढ़ ली हैं और उन्हें कुछ ज़्यादा ही गम्भीरता से ले लिया है!

यहीं से हम सुजीत दास के विश्लेषण प्रणाली के एक अन्य अहम नुक्ते पर आते हैं–वर्ग, पार्टी, राज्यसत्ता और ट्रेड यूनियन के आपसी रिश्तों का सवाल।

3) वर्ग, पार्टी, सर्वहारा अधिनायकत्व, राज्यसत्ता, फैक्टरी कमेटियाँ और ट्रेड यूनियनें

क) सोवियत संघ में ट्रेड यूनियन और फैक्टरी कमेटियों के प्रश्न पर बहसें, उस पर लेनिनवादी अवस्थिति और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद

पूरे सामूहिकीकरण की प्रक्रिया और उसमें पार्टी और राज्य की भूमिका के बारे में सुजीत दास की जो अवस्थिति है, उसमें सोवियत संघ का राज्य और बोल्शेविक पार्टी एक निरंकुश तानाशाह और अत्याचारी के रूप में प्रकट होते हैं। चूँकि ऐसा सिद्ध करने के अपने प्रयास में सुजीत दास द्वारा तथ्यों और उद्धरणों का मनमाने ढंग से और सन्दर्भ से काटकर चुनाव किया गया है और अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार उन्होंने अपनी बात साबित करने की कोशिश की है, इसलिए इन तथ्यों, उद्धरणों आदि की सच्चाई की पड़ताल भी हम आगे करेंगे, जब सोवियत संघ के इतिहास का अपना सकारात्मक मूल्यांकन हम रखेंगे और उस दौर की बात करेंगे, जिसकी सुजीत दास कर रहे हैं। फिलहाल हम 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' द्वारा उत्पादन के साधनों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण की उनकी अन्धपूजा, और इसके द्वारा वर्ग, पार्टी, राज्यसत्ता और ट्रेड यूनियनों के बारे में उनकी समझ के बारे में कुछ बातें कहना चाहेंगे जो मार्क्सवादी पहुँच और पद्धति के सन्दर्भ में महत्व रखती हैं।

देखिये कि सुजीत दास क्या कहते हैं:

"...अगर वर्ग संगठन, यानी, उत्पादक वर्ग/वर्गों का अपना संगठन हर दिन बढ़ता नहीं जा रहा है, तो प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के सम्बन्धों से अलगाव घट नहीं सकता है। लेकिन अगर इस वर्ग की राजनीतिक शक्ति विकसित नहीं हो रही है, तो यह शक्ति किसी छोटी सी मण्डली के हाथों में केन्द्रित हो जायेगी – चाहे इसके विपरीत कुछ भी कहा जाय। फिर, प्रत्यक्ष उत्पादक के इस अलगाव को कैसे दूर किया जा सकता है? सोवियतें सोवियत संघ में वह संस्था हो सकती थीं जिनके जरिये प्रत्यक्ष उत्पादकों की राजनीतिक शक्ति मूर्त रूप ले सकती थी। लेकिन सामूहिकीकरण आन्दोलन के पूरे कालखण्ड के दौरान यह देखा गया कि किसानों की सोवियतों की भूमिका परिधिगत थी। वे संस्थाएँ क्रमिक प्रक्रिया में मज़बूत नहीं बल्कि, कमज़ोर बनती गयीं; राज्य और पार्टी सापेक्षिक तौर पर मज़बूत बनते गये।

सामूहिकीकरण आन्दोलन के पूरे कालखण्ड के दौरान, किसान समितियों को बस ऊपर से, यानी पार्टी से आने वाले निर्णयों पर सिर हिलाकर सहमति देने की भूमिका में धकेल दिया गया था।" (*'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन'*, फरवरी 2008, पृ. 82-83)

किसान सोवियतों और किसान समितियों (इसके बारे में सुजीत दास कोई बात नहीं कहते, हालाँकि क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया के दौरान और उसके बाद भी इनकी भूमिका कई मायनों में किसान सोवियतों से ज़्यादा महत्वपूर्ण थी) की भूमिका के साथ वास्तव में क्या हुआ था और क्यों हुआ था इसके बारे में हम बाद में बात करेंगे। अभी हम इस पूरे बयान में निहित विचारधारात्मक और राजनीतिक अवस्थिति की पहचान करके उसका विश्लेषण करेंगे। लेकिन पहले ऐसे कुछ और पाण्डित्यपूर्ण उद्गारों को देखें! एक जगह पर सुजीत दास बताते हैं कि समाजवाद के विकास की एक अन्य महत्वपूर्ण शर्त है कि गाँवों और शहरों के बीच की दूरी घटे, लेकिन सोवियत संघ में सामूहिकीकरण के दौरान गाँव और ग्रामीण अर्थव्यवस्था लगातार बुरी हालत में पहुँचते गये; भूमि लगान बढ़ा दिया गया, मनमाने तरीके से अधिशेष का विनियोजन किया गया, और किसानों पर ज़बरिया श्रम थोप दिया गया और कई बार उन्हें ज़बरन खानों-खदानों और कारखानों में काम करने के लिए भेज दिया गया। इसके बाद दास कहते हैं: *"इन कदमों ने बिरले ही समाजवाद का विकास किया, उन्होंने उल्टे पूँजीवाद की स्थापना की।"* (*'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन'*, फरवरी 2008, पृ. 83) अभी हम यहाँ सुजीत दास द्वारा तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ और ज़ोर-ज़बर्दस्ती के पहलू को छोड़ भी दें (जिसे हम बाद में अनावृत्त करेंगे) तो भी उनकी यह टटपुँजिया लोकरंजक सोच खुलकर सामने आ जाती है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान किसानों के एक हिस्से के साथ समाजवादी राज्य को ज़बर्दस्ती नहीं करनी पड़ेगी। कम-से-कम मार्क्स और लेनिन की यह सोच नहीं थी। लेनिन ने बार-बार, अलग-अलग समय में और कई जगहों पर यह स्पष्ट किया है कि **ग्रामीण क्षेत्र में समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों का आधार तैयार करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी किसान आबादी के जिस हिस्से पर निर्भर रह सकती है वह है ग़रीब किसान (अर्द्धसर्वहारा) और ग्रामीण सर्वहारा आबादी; किसान आबादी का जो हिस्सा ढुलमुल-यकीन मित्र है, वह है मँझोले किसान; और ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ समाजवादी रूपान्तरण की यह पूरी प्रक्रिया चलायी जायेगी।** स्वयं देखें कि लेनिन क्या कहते हैं: **"बुर्जुआ वर्ग माल उत्पादन से पैदा होता है; जिस किसान के पास सैकड़ों पूड अनाज का अधिशेष है जिसकी उसे अपने और अपने परिवार के लिए ज़रूरत नहीं है और जिसे वह मज़दूरों के राज्य को भूखे मज़दूरों की सहायता के लिए ऋण के तौर पर नहीं देता, और माल उत्पादन की प्रभावी परिस्थितियों में उसके बूते पर मुनाफ़ा कमाता है–वह क्या है? क्या वह बुर्जुआ नहीं है? क्या बुर्जुआ वर्ग इसी तरीके से पैदा नहीं होता है?"** (लेनिन, सातवीं अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस)

लेनिन ने कई जगहों पर यह भी स्पष्ट किया था कि मँझोले किसान का चरित्र दोहरा है। एक तरफ़ वह अपने खून-पसीने के बूते उत्पादन करता है, वहीं दूसरी ओर वह कई बार छोटे पैमाने पर उजरती श्रम का शोषण करता है और अधिशेष विनियोजन करता है। उसके सपने कुलकों और धनी किसानों जैसा बन जाने के होते हैं। इसीलिए वह समाजवादी एजेण्डे के साथ सघन और सचेतन राजनीतिक प्रचार के साथ ही आयेगा और हमें इस मुगालते में भी नहीं रहना चाहिए कि पूरी की पूरी मँझोली किसानी समाजवाद के पक्ष में आ जायेगी, जैसा

कि **चार्ल्स बेतेलहाइम** ने अपनी पुस्तक **'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष'** के पहले खण्ड में यक़ीन दिलाने की कोशिश की है। लेनिन स्पष्ट थे कि मँझोले किसानों का एक हिस्सा कुलकों के पक्ष में जाकर खड़ा होगा और एक हिस्सा सक्रिय तौर पर कुलकों के पक्ष में न जाकर भी एक 'पैस्सिव' असहयोग की नीति पर काम करेगा। इन हिस्सों के साथ समाजवादी राज्य को समाजवादी निर्माण की प्रक्रिया में कभी न कभी ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी ही होगी, और इसमें सुजीत दास के अचम्भित, चकित और सन्न रह जाने का कोई कारण नहीं समझ में आता है कि सामूहिकीकरण के दौरान ज़ोर-ज़बर्दस्ती भी हुई थी (हालाँकि मुख्य पहलू ज़ोर-ज़बर्दस्ती का नहीं बल्कि राजनीतिक प्रेरण का था, जिसे सुजीत दास एक कृत्रिम कारक मानते हैं)! स्तालिन ने इसी सोच के तहत यह सवाल पूछा था कि जिन मज़दूरों ने हाड़ गलाकर किसानों को ट्रैक्टर और मशीनें दीं, क्या अब उन्हें किसानों के व्यक्तिगत हितों को देखने की टटपुँजिया आदत के कारण भूखा मरने के लिए छोड़ दिया जाय? लेनिन ने पहले ही इस विषय में अपनी सोच स्पष्ट कर दी थी। सातवीं अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में ही लेनिन ने कहा था कि जब देश के मेहनतकश भूख से तड़प रहे हों, तो धनी या खाते-पीते मँझोले किसानों की मुनाफ़ाखोरी और निजी पूँजी संचय की प्रवृत्ति से सर्वहारा राज्य सख़्ती से निपटेगा। लेनिन ने इसी कांग्रेस में किसानों द्वारा मुनाफ़ाखोरी और सट्टेबाज़ी के बारे में कहा था: **"हम इसके ख़िलाफ़ खून की आख़िरी बूँद तक लड़ेंगे। इस मामले में कोई छूट नहीं दी जा सकती है।"** लेनिन की इस सोच का क्या अर्थ है? लेनिन ने स्वयं ही स्पष्ट किया है कि इस सोच का यह अर्थ है कि मँझोले किसानों की आबादी के प्रति पार्टी पहले उदाहरण पेश करके नेतृत्व करने, उन्हें धैर्यपूर्वक सहमत करने और साथ लेने का अप्रोच अपनायेगी; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि पूरी की पूरी मँझोले किसानों की आबादी को सहमत करके समाजवादी एजेण्डे पर लाया जा सकता है; इसलिए लेनिन यह बताते हैं कि जो हिस्सा सहमत नहीं होता, उसके प्रति पहले उसे तटस्थ करने (न्यूट्रलाइज़ करने) की रणनीति को अपनाया जाना चाहिए जिसका अर्थ होगा कि अगर वे समाजवादी निर्माण के कार्य में साथ नहीं आते, तो वे उसे नुकसान भी न पहुँचाएँ और कुलकों का पक्ष न चुनें। और मँझोले किसानों की जो आबादी फिर भी कुलकों और धनी फार्मरों के राजनीतिक प्रभाव में प्रतिक्रान्ति के पक्ष में जाकर खड़ी होगी, समाजवादी राज्य निश्चित तौर पर उसके प्रति दमन की नीति अपनायेगा। लेनिन को इस सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं था कि राज्यसत्ता का क्षेत्र दमन का क्षेत्र है। हम इन मुद्दों पर लेनिन की पूरी सोच को कुछ आगे उद्धरणों समेत आपके सामने रखेंगे। लेकिन अभी सुजीत दास के "बौद्धिक" वटवृक्ष से "कम्युनिस्ट" बोधि-ज्ञान की थोड़ी और प्राप्ति कर ली जाय! सुजीत दास लिखते हैं:

"इस जटिल परिदृश्य को कैसे देखा जाय, इसकी व्याख्या कैसे की जाय, यह आज एक बेहद महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया है। पश्चिमी विचारकों ने, जिन्होंने इस पूरे दौर को पार्टी के नेतृत्व में पूँजीवाद के आदिम संचय के दौर के तौर पर चित्रित किया है, वे श्रम बाज़ार और पूँजी बाज़ार की अनुपस्थिति को नहीं समझा पाते, जो कि पूँजीवाद के दो बुनियादी गुण हैं। दूसरी तरफ़, रूढ़िवादी मार्क्सवादी जो यह कहना पसन्द करते हैं कि यह पूरा दौर शुद्ध 'समाजवाद' का था, इस बात की व्याख्या नहीं कर पाते कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से <u>अलगाव</u> क्रमिक प्रक्रिया में बढ़ क्यों रहा था। वास्तव में, यह पूरा दौर एक <u>'मिश्रित'</u> दौर था। इसे पूँजीवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो लोग सत्ता में थे, वे न तो पूँजीवादी थे

और न ही पूँजीवादी पथगामी। उनका राजनीतिक लक्ष्य था समाजवाद का निर्माण करना, सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना करना। हम इस दौर को उसी रूप में समाजवादी कह सकते हैं जिस तौर पर लेनिन ने 1918 या 1921 के सोवियत गणराज्य को समाजवादी कहा था।" (*वही*, पृ. 83-84)

देखिये कि इसमें सुजीत दास अपनी ही बात में कैसे उलझ गये हैं। साथ ही सुजीत दास ने यह भी बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि दक्षिणपन्थी अवसरवादी संशोधनवादियों, "वामपन्थी" कम्युनिस्टों और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों में एक चीज़ साझा होती है: अर्थवाद! **पहली बात**, सुजीत दास मार्क्स और लेनिन के इस विचार को नहीं समझते हैं कि पूँजीवाद की मौजूदगी श्रम बाज़ार और पूँजी बाज़ार की औपचारिक मौजूदगी के बग़ैर भी हो सकती है। लेनिन ने कहा था कि पूँजी एक सामाजिक सम्बन्ध है। यह सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन और उसके उत्पादों के हस्तगतीकरण की सामाजिक प्रक्रिया से तय होता है। इस पूरी प्रक्रिया का वर्ग चरित्र इस बात से तय होता है कि जो हस्तगतीकरण कर रहा है उसकी वर्ग पहचान क्या है। जहाँ तक श्रम बाज़ार और पूँजी बाज़ार का प्रश्न है, वह सोवियत संघ में 1956 के बाद भी तत्काल नहीं पैदा हो गया था और उसमें दशकों लगे थे। **तो क्या 1956 के बाद के सोवियत संघ को समाजवादी माना जाय?** इसके अलावा, पूँजीवाद बिना औपचारिक निजी सम्पत्ति, पूँजी बाज़ार और श्रम बाज़ार के अस्तित्वमान रह सकता है, इसकी ताईद तो एंगेल्स ने ही कर दी थी। इस मामले में सुजीत दास फिर से राजनीति को कमान में रखने की बजाय अर्थशास्त्र को कमान में रख रहे हैं, वह भी दयनीय रूप से दरिद्र रूप में। यहाँ यह भी पता चलता है कि सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण और पूँजीवादी पुनर्स्थापना को लेकर 1960, 1970 और 1980 के दशकों में मार्क्सवादियों के विभिन्न खेमों के बीच चली बहसों बारे में भी सुजीत दास को कोई जानकारी नहीं है। वास्तव में, सुजीत दास पूँजी और श्रम बाज़ार की मौजूदगी को पूँजीवाद की उपस्थिति या अनुपस्थिति का पैमाना मान रहे हैं, उसी प्रकार कीन्सीय मार्क्सवाद के हामी **पॉल स्वीज़ी** ने भी "बाज़ार" और "योजना" के 'बाइनरी' को पेश किया था और सोवियत संघ में 1956 हुई पूँजीवादी पुनर्स्थापना को लेकर विभ्रमित थे। पॉल स्वीज़ी ने यही ग़लती की थी; उन्होंने भी बाज़ार की मौजूदगी को पूँजीवाद का पैमाना माना था और नियोजन की मौजूदगी को समाजवाद का पैमाना माना था। **चार्ल्स बेतेलहाइम** ने इस बहस में अपेक्षाकृत सन्तुलित तर्क रखते हुए स्वीज़ी का खण्डन किया था। इस बहस में दिलचस्पी रखने वाले लोग **'ऑन दि ट्रांज़िशन टू सोशलिज़्म'** पुस्तक देख सकते हैं, जो कि 'मन्थली रिव्यू प्रेस' ने 1971 में प्रकाशित की थी। सुजीत दास का पूँजीवाद की पहचान के लिए श्रम और पूँजी बाज़ार की मौजूदगी का तर्क वस्तुत: अर्थवादी, कीन्सवादी तर्क है जिसका मार्क्सवाद-लेनिनवाद की अवस्थिति से बार-बार खण्डन किया जा चुका है। वास्तव में, **रेमण्ड लोटा, ऐल शिमैंस्की** आदि के बीच भी समाजवादी संक्रमण को लेकर एक बहस चली थी और उसमें भी यह मुद्दा उठा था और कमोबेश मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति से रेमण्ड लोटा ने अर्थवादी संशोधनवादी अवस्थिति का खण्डन किया था। इन सभी ग़ैर-मार्क्सवादी अवस्थितियों में जो बात सामान्य है वह है भोंड़े किस्म का अर्थवाद और राज्य के प्रश्न को न समझना। सुजीत दास इसी अवस्थिति को और भी ज़्यादा बचकाने और भोंड़े तौर पर आपके सामने रखते हैं।

सुजीत दास आगे बताते हैं कि इस दौर को समाजवादी सिर्फ़ इस रूप में कहा जा सकता

है कि जो लोग सत्ता में हैं उनका इरादा समाजवादी निर्माण करना और सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना करना है, जैसा कि लेनिन ने 1918 या 1921 के दौर के सोवियत गणराज्य के बारे में कहा था। मतलब कि सुजीत दास को मई-जून 1918 (यानी कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर के शुरू होने के पहले) तक और मार्च, 1921 के बाद अस्तित्वमान स्थिति (यानी "युद्ध कम्युनिज़्म" के समाप्त होने के बाद), यानी, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत "राजकीय पूँजीवाद" के दौर और 1930 के दशक के सोवियत संघ के बीच कोई फर्क नहीं नज़र आता! यह विचित्र बात है क्योंकि सामूहिकीकरण के बाद कृषि के क्षेत्र में समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना के साथ ही नेप के दौर से एक गुणात्मक परिवर्तन आ चुका था। अब स्थिति यह नहीं थी कि राज्यसत्ता का चरित्र सर्वहारा अधिनायकत्व का है और कृषि क्षेत्र में, जो कि पूरी अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा क्षेत्र था, निजी पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्ध बने हुए हैं। सामूहिकीकरण के आन्दोलन के बाद पहली बार सोवियत संघ में सम्पत्ति सम्बन्धों के धरातल पर पूँजीवाद का ख़ात्मा हो चुका था। यहाँ दुहराने की ज़रूरत नहीं है कि सम्पत्ति सम्बन्ध ही सम्पूर्ण उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते। लेकिन निश्चित तौर पर उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण की शुरुआत सम्पत्ति सम्बन्धों से ही होती है। 1918 से 1921 के बीच सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थापित होने और कुछ चुनिन्दा बड़े उद्योगों के राजकीयकरण के अलावा सम्पत्ति सम्बन्धों के रूपान्तरण का काम भी नहीं हुआ था। यह काम स्तालिन के नेतृत्व में 1930 के दशक में ही पूरा हुआ। लेकिन सुजीत दास को इन दोनों दौरों के बीच कोई फर्क नहीं नज़र आता है। समूची अर्थव्यवस्था में सामूहिक सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना जैसे महान ऐतिहासिक परिवर्तन को नज़रअन्दाज़ वही कर सकता है, जो पहले से तय किसी नतीजे पर पहुँचने की जल्दी में हो और इस जल्दी में वह राजनीतिक रूप से दृष्टिहीन हो चुका हो। निश्चित तौर पर, समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना के बाद भी उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण का काम जारी रहता है और अगली मंज़िल में प्रवेश करता है। सोवियत संघ में अगली मंज़िल का काम कहाँ तक हो पाया और कहाँ तक नहीं, यह एक अलग चर्चा का विषय है, और इस पर हम आगे विस्तार से अपनी बात रखेंगे, जब हम सोवियत समाजवाद और विशेष तौर पर स्तालिन के दौर में हुई ग़लतियों और समाजवादी निर्माण को लेकर बोल्शेविक पार्टी की असन्तुलित समझदारी का आलोचनात्मक विश्लेषण करेंगे। लेकिन अभी हम सुजीत दास की विचित्र तर्क-पद्धति और विचारधारात्मक-राजनीतिक नेत्रहीनता पर ही अपनी बात को केन्द्रित करेंगे।

आगे सुजीत दास यहाँ कहते हैं कि कुछ रूढ़िवादी मार्क्सवादी सोवियत समाजवाद के पूरे दौर को "शुद्ध 'समाजवाद'" का दौर मानते हैं। अब यह "शुद्ध 'समाजवाद'" क्या होता है, यह तो दास ही बता सकते हैं; और हमारी जिज्ञासा इस बात में भी है कि इस "शुद्ध 'समाजवाद'" में धार्मिक आस्था रखने वाले "रूढ़िवादी मार्क्सवादी" कहाँ पाये जाते हैं! दूसरी बात, सुजीत दास के इस कथन से यह भी पता लगता है कि वह खुद भी एक प्रकार के "शुद्ध समाजवाद" के अनुयायी हैं। उनके लिए समाजवाद की शुद्धता इस बात में है कि 'प्रत्यक्ष उत्पादक' उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण कर रहा है या नहीं। लेकिन चूँकि सुजीत दास को अपना वाला "शुद्ध समाजवाद" सोवियत संघ में नहीं दिखता, और चूँकि वे स्तालिन और उनके दौर की पार्टी को संशोधनवादी या पूँजीवादी पथगामी भी नहीं कहना चाहते, इसलिए यहाँ सुजीत दास ने समाजवादी संक्रमण की समस्याओं के क्षेत्र में एक नया, आँखें

चुँधिया देने वाला, चकित-अचम्भित कर देने वाला आविष्कार किया है! वे इस दौर को न तो पूँजीवादी मानते हैं, और न ही समाजवादी! वह इसको एक 'मिश्रित' दौर बोलते हैं क्योंकि सर्वहारा अधिनायकत्व के साथ-साथ उत्पादन सम्बन्ध मूलतः पूँजीवादी बने हुए थे (हालाँकि ऐसा नहीं था; अगर मूल और मुख्य पहलू की बात की जाय तो उत्पादन सम्बन्ध समाजवादी थे) और इस दौर की तुलना उन्होंने राजकीय पूँजीवाद के दौर से की है। **पहली बात तो यह कि राजकीय पूँजीवाद के दौर और सामूहिकीकरण के दौर की उत्पादन सम्बन्धों के धरातल पर मुश्किल से ही तुलना हो सकती है।** कह सकते हैं कि ये दौर गुणात्मक तौर पर भिन्न थे क्योंकि उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण की पहली मंज़िल, यानी कि पूँजीवादी निजी सम्पत्ति का अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों से ख़ात्मा, का काम पूरा हो चुका था। यहाँ पर निरन्तरता का पहलू प्रधान नहीं है बल्कि परिवर्तन का पहलू प्रधान है। सुजीत दास के इस कथन से एक बार फिर यह बात प्रतीत हो रही है कि उन्होंने सोवियत इतिहास पर कोई भी विश्वस्नीय ब्यौरा, शोध या पुस्तक शुरू से अन्त तक नहीं पढ़ी है; उन्होंने पहले से तय कर रखा था कि उन्हें क्या साबित करना है, और फिर उसे साबित करने के लिए विषय-तालिका की मदद से उन्होंने अपने मनपसन्द तथ्य और उद्धरण छाँट लिये हैं। उन्हें न तो 1930 के दशक के पहले सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के बारे में कुछ ठीक से पता है, और न ही 1930 के दशक के बारे में। यहाँ सकारात्मक तौर पर समाजवादी संक्रमण के बारे में हम कुछ बातें कहना चाहेंगे।

एक, अगर सुजीत दास समाजवादी और पूँजीवादी दोनों तत्व की मौजूदगी के कारण इस दौर को न तो समाजवादी कहना चाहते हैं और न ही पूँजीवादी, तो फिर पता नहीं वह किस चीज़ को क्या कहना चाहते हैं! क्योंकि समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर की यह ख़ासियत रहेगी ही कि इसमें पूँजीवादी और समाजवादी तत्वों का मिश्रण होगा और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम होगा। समाजवादी संक्रमण के दौर की ख़ासियत ही यही है कि इस दौर में राज्यसत्ता सर्वहारा वर्ग के हाथ में होती है और साथ में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण का कार्य जारी रहता है। इस मायने में समाजवादी क्रान्तियाँ बुर्जुआ क्रान्तियों से भिन्न होती हैं। इस बारे में **ग्यॉर्गी लूकाच** ने लेनिन की अवस्थिति को बहुत सटीक तरीके से संक्षेप में रखा है। लूकाच कहते हैं:

"क्योंकि समाजवाद कभी 'अपने से' नहीं आ सकता है, और न ही किसी अपरिहार्य प्राकृतिक आर्थिक विकास के तौर पर आ सकता है। पूँजीवाद के प्राकृतिक नियम निश्चित तौर पर उसे उसके अन्तिम संकट की तरफ़ ले जाते हैं, लेकिन इसकी राह के अन्त में समस्त सभ्यता का ध्वंस और एक नयी बर्बरता होगी।

"यही वह चीज़ है जो बुर्जुआ और सर्वहारा क्रान्तियों के बीच सबसे गम्भीर अन्तर का कारण है। बुर्जुआ क्रान्तियों की *इतनी शानदार जीवन्तता (ब्रिलियण्ट इलान)* के साथ आगे बढ़ने की क्षमता के सामाजिक कारण हैं, और वे इस तथ्य में निहित हैं कि वे *एक लगभग पूर्ण हो चुकी आर्थिक और सामाजिक प्रक्रिया के परिणामों को एक ऐसे समाज में आगे बढ़ा रहे हैं, जहाँ पूँजीवाद के सशक्त उभार के कारण सामन्ती और निरंकुश ढाँचा राजनीतिक, शासनात्मक, कानूनी, आदि तौर पर पहले ही गहराई से कमज़ोर हो चुका है।* वास्तविक क्रान्तिकारी तत्व यहाँ पर सामन्ती उत्पादन व्यवस्था का पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में रूपान्तरण है और इसलिए सैद्धान्तिक तौर पर इस प्रक्रिया

का *बिना किसी बुर्जुआ क्रान्ति*, बिना क्रान्तिकारी बुर्जुआज़ी द्वारा किसी राजनीतिक उथल-पुथल के द्वारा ही पूरा होना सम्भव होगा। उस सूरत में सामन्ती और निरंकुश अधिरचना के वे हिस्से जो 'ऊपर से हुई क्रान्ति' के ज़रिये ख़त्म नहीं किये गये हैं, वे पूँजीवाद के पूर्ण रूप से विकसित होने पर स्वयं ही ढह जाएँगे (जर्मन स्थिति इस पैटर्न में बिल्कुल सटीक बैठती है)।

"निस्सन्देह, किसी सर्वहारा क्रान्ति के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता, अगर उसके आर्थिक आधार और पूर्वशर्तें पूँजीवादी समाज के गर्भ में ही पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के उद्‌भव के साथ पोषित न हुई हों। लेकिन इन दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं के बीच विशाल अन्तर इस तथ्य में निहित है कि *पूँजीवाद सामन्तवाद के भीतर पहले ही विकसित हो गया था, जो कि अन्त में इसके विघटन को अवश्यम्भावी बना देता है।* इसके विपरीत, यह सोचना एक यूटोपियाई फन्तासी होगा कि समाजवाद की ओर अग्रसर कोई भी चीज़ पूँजीवाद के भीतर पैदा हो सकती है, सिवाय इसके कि *इसे एक सम्भावना बनाने वाले वस्तुगत आर्थिक आधार निर्मित हो गये हैं,* जो कि समाजवादी उत्पादन व्यवस्था के वास्तविक तत्वों में तभी *रूपान्तरित* हो सकते हैं, जब पूँजीवाद ढह चुका हो और उसके परिणाम सामने आ चुके हों।" (ग्यार्गी लूकाच, **'क्रिटिकल ऑब्ज़र्वेशंस ऑन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग्स "क्रिटीक ऑफ़ दि रशियन रिवोल्यूशन"'**, *हिस्ट्री एण्ड क्लास कांशसनेस,* मर्लिन प्रेस, 1967)।

स्पष्ट है कि समाजवादी क्रान्ति के इस विशिष्ट चरित्र के कारण समाजवादी संक्रमण कोई सुगम-सरल दौर नहीं होता, जो पूँजीवादी संक्रमण जितना छोटा और अबाधित हो। पूँजीवादी संक्रमण दीर्घकालिक नहीं होता और कलम की नोक से पूँजीवादी राज्यसत्ता इसे बहुत छोटे से दौर में पूर्णता पर पहुँचा देती है। लेकिन समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी रूपान्तरण मानव इतिहास की पहली क्रान्ति है जिसमें एक शोषक वर्ग दूसरे शोषक वर्ग की जगह नहीं लेने वाला है, बल्कि इतिहास का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग, यानी सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के नेतृत्व में अपनी राज्यसत्ता स्थापित करने वाला है। समाजवादी निर्माण एक सतत् और सघन संघर्ष की प्रक्रिया है जिसमें सर्वहारा वर्ग को अपने अधिनायकत्व के तहत एक-एक करके बुर्जुआ वर्ग से अर्थजगत और राजनीति के बुर्ज़ फतह करने होते हैं। **यह दौर हमेशा ही एक ऐसा दौर होगा जिसमें आर्थिक आधार और सम्बन्धों में समाजवाद और पूँजीवाद के तत्व मिश्रित होंगे।**

अगर इस आधार पर इसे 'मिश्रित' कहा जाय, तो दुनिया में किसी भी दौर में किसी भी देश में क्या कभी समाजवाद था? असल चीज़ एक बार फिर सुजीत दास की निगाह से ओझल हो गयी है–राज्यसत्ता का चरित्र। इसके अलावा, समाजवादी संक्रमण के अलग-अलग चरणों में भी वह फर्क नहीं कर पा रहे हैं। पहला चरण, सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना और सुदृढ़ीकरण के साथ 1921 में गृहयुद्ध की समाप्ति और सोवियत सत्ता के निर्णायक तौर पर स्थापना के साथ पूरा हुआ। दूसरा चरण, नेप के दौर के ख़त्म होने के साथ पूरा हुआ जब सोवियत सत्ता ने टूटते मज़दूर-किसान संश्रय को बचाने के लिए कुछ कदम पीछे हटाये और समाजवादी रूपान्तरण के काम को सीमित और एक हद तक स्थगित किया क्योंकि यही संश्रय सोवियत सत्ता का सामाजिक आधार था; यह दूसरा चरण अपने जीवन से ज़्यादा उत्तरजीवी हो गया जिसके कारण 1927 से 1929 के दौर में सोवियत सत्ता को भयंकर संकट

का सामना करना पड़ा; इसे दूर करने के शुरुआती कदम के तौर पर समाजवादी संक्रमण का तीसरा चरण, यानी सामूहिकीकरण शुरू हुआ, जब सम्पत्ति सम्बन्धों के धरातल पर पूँजीवादी सम्पत्ति का अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र से ख़ात्मा किया गया, और समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध पूर्ण रूप से स्थापित हुए। ये चरण ही वास्तव में अलगाव की परिघटना को कदम-दर-कदम ख़त्म करने, या समाजवादी निर्माण या समाजवादी संक्रमण (आप जो भी बोलना चाहें!) के कदम थे और यह पूरी प्रक्रिया ऐतिहासिक तौर पर दीर्घकालिक, जटिल, संघर्ष और अन्तरविरोधों से भरी हुई ही हो सकती थी। जो इस बात को नहीं समझता वह मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों को भी नहीं समझता है।

दूसरी बात, अगर प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के साधनों से अलगाव को ख़त्म हो जाने को वह 'समाजवाद' कह रहे हैं तो वह वास्तव में कम्युनिज़्म को समाजवाद कह रहे हैं। तीसरी बात, समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के पूँजीवादी तत्वों पर हावी होते जाने की प्रक्रिया कोई एकरेखीय प्रक्रिया नहीं है और इसके कई चरण हैं, जिनके ज़रिये समाजवादी समाज का कुण्डलाकार गति में ही विकास हो सकता है। हर सामाजिक प्रक्रिया के समान समाजवादी संक्रमण की प्रक्रिया भी अन्तरविरोधों से भरी होती है और इसका विकास भी कुण्डलाकार गति से ही होता है। **इसे एकरेखीय रूप से समझने का हर प्रयास या तो सोवियत समाजवादी प्रयोग की पूजा की तरफ़ ले जायेगा, या सुजीत दास की तरह उसे ख़ारिज करने की तरफ़ ले जायेगा।** इसलिए लेनिनवादी दृष्टि से देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के कार्यभार की पहली अनिवार्य मंज़िल का काम, यानी कि पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों के पूर्ण ख़ात्मे का काम स्तालिन के दौर में ही हुआ था। हाँ, यह निश्चित तौर पर एक चर्चा का विषय है कि इसके आगे के चरण के काम, यानी कि उत्पादन सम्बन्धों के अन्य पहलुओं के समाजवादी रूपान्तरण का काम सोवियत संघ में किस हद तक हो पाया, जैसे कि श्रम के पूँजीवादी विभाजन, बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी, वितरण और हस्तगतीकरण की प्रक्रिया के समाजवादी रूपान्तरण आदि के कार्यों को बोल्शेविक पार्टी कहाँ तक सम्पन्न कर पायी। हम एक अलग उपशीर्षक के तहत इस पूरे मुद्दे पर लम्बी चर्चा करेंगे। लेकिन अभी हम सुजीत दास के "मार्क्सवादी" प्रवचन की ज्ञान वर्षा पर वापस लौटने से अपने आपको रोक नहीं पा रहे हैं! देखें आगे वह क्या कहते हैं:

"प्रधान और ग़ैर-प्रधान अन्तरविरोध के बीच अन्तर्सम्बन्ध के निर्णय में ग़लती सोवियत अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास में बाधा की तरफ़ ले गयी, ***सर्वहारा अधिनायकत्व केवल कागज़ पर रह गया, असलियत में सारी राजनीतिक शक्ति पार्टी के हाथ में केन्द्रित हो गयी...*** *"* (*वही*, पृ. 84, ज़ोर हमारा) इस, बांग्ला अर्थों में, 'भयंकर' अन्तर्दृष्टि पर हम आगे टिप्पणी करेंगे, फिलहाल, ऐसी सारी अन्तर्दृष्टियों को आपके सामने रखना बेहतर होगा।

"एक तरफ़, समाजवाद के व्यवहार के प्रति महान उत्साह था, जो कि काफ़ी हद तक सच्चा था। दूसरी ओर, प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों से <u>अलगाव</u> था...सत्ता पर कब्ज़े के ठीक बाद के वर्षों में मज़दूर सोवियतें तेज़ी से और स्वत:स्फूर्त रूप से अस्तित्व में आयीं थीं। ये राजनीतिक सत्ता के वास्तविक केन्द्र थे - उनके निर्णय लेने और नीति बनाने की प्रक्रिया में पार्टी हस्तक्षेप नहीं करती थी। इस दौर में, मज़दूर वर्ग ने अपनी पहल पर कारखानों का नियन्त्रण हासिल कर लिया, जिसे बाद में राज्य की आज्ञप्तियों द्वारा कानूनी बना दिया गया

था। 'सबोतनिक' आन्दोलन ऐसे ही जीवन्त वातावरण में शुरू हुआ।" (*वही*, पृ. 84) और देखें कि सुब्बोतनिक आन्दोलन के बाद अगले दो दशकों में मज़दूर वर्ग द्वारा शुरू की गयी इसी प्रकार की पहलों के बारे में सुजीत दास क्या नतीजा निकालते हैं: *"सोवियत संघ के सरकारी दस्तावेज़ों में, उसके कला व साहित्य में, इस सफलता को समाजवाद की सफलता के रूप में बतलाया गया है। इस दावे में कुछ सच्चाई भी है। ज़ारशाही के निरंकुश शासन के अन्धकारमय दिन अभी भूले नहीं थे। उस अन्धकारमय शासन से मुक्त हुए लोग नैसर्गिक तौर पर उत्पादक कार्यों में लगने के लिए उत्साहित थे, क्योंकि तब तक उन्हें* ***लगता था*** *कि यह उनकी राज्यसत्ता है। वह पार्टी को अपनी पार्टी* ***समझते*** *थे। कृषि में हमने देखा कि इस दिखलायी पड़ रही वास्तविकता के नीचे एक दूसरी ज़्यादा गहरी असलियत थी। उद्योग में भी हम देखेंगे कि इस प्रोत्साहित काम के पीछे एक अन्य प्रक्रिया भी जारी थी जिसने प्रत्यक्ष उत्पादक को उत्पादन के साधनों से अलगावग्रस्त कर दिया।* ***राजनीतिक सत्ता मज़दूर वर्ग के हाथ में केन्द्रित नहीं हो रही थी, बल्कि मज़दूर वर्ग पार्टी और राज्य के प्रति दासवत एक सामाजिक शक्ति बनता जा रहा था। ट्रेड यूनियनें जो कि उनका अपना संगठन थीं, वे या तो विलोपित होती जा रही थीं, या फिर उन्हें पार्टी और राज्य का गुलाम बनाया जा रहा था।....*1929 *तक सोवियत संघ की ट्रेड यूनियनों की कारखानों के प्रशासन में अहम भूमिका थी। उनके पास कुछ स्वतन्त्रता थी, जो उन्हें मज़दूरों की नियुक्ति और उन्हें हटाने के कदम उठाने, ऐसे निर्णयों का विरोध करने में जो कि मज़दूरों के ख़िलाफ़ जाते थे, मदद करती थी। यह स्थिति 1930 में बदल गयी। राज्य आर्थिक नियोजन के नाम पर ऐसे कदम उठाने लगा जिससे कि मज़दूरों के अधिकार छीन लिये गये - वे राज्य की ज़रूरतों को पूरा करने का उपकरण बन गये। लेकिन चूँकि सोवियत संघ के मज़दूर वर्ग को अपनी शक्ति का स्वयं उपयोग करने की आदत थी, इसलिए उन्होंने इन कदमों को स्वीकार नहीं किया। 1931 से सोवियत राज्य को कुछ और सख़्त कदम उठाने पड़े।"* (*वही*, पृ. 85-87, *ज़ोर हमारा*)

यहाँ पर सुजीत दास ने सिद्ध कर दिया है कि उन्हें 1930 के पहले के सोवियत इतिहास के बारे में कोई जानकारी नहीं है; वास्तव में, इन महोदय ने 1917 से 1929 तक के इतिहास को पढ़े बग़ैर उसके बारे में ग़ैर-ज़िम्मेदार टिप्पणियाँ कर दी हैं। इन टिप्पणियों की आधारहीनता को तथ्यों समेत खण्डित करने के पहले सुजीत दास के "मार्क्सवादी" पाण्डित्य की एक और मिसाल देख लेना उचित होगा:

"लेनिन ने सुझाया था कि ट्रेड यूनियनों को एक स्वतन्त्र संगठन के रूप में बनाया जाय ताकि वे राज्य की पिछलग्गू न बनें, उनका मज़दूर वर्ग द्वारा अपने ही राज्य से अपने हितों की रक्षा करने के उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया जा सके। लेनिन ने सोचा कि उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करने के लिए भी यह पहली आवश्यकता है। 14वीं पार्टी कांग्रेस में 1925 में इस विचारधारात्मक अवस्थिति को अपनाया गया। लेकिन बाद में जब तीव्र औद्योगिकीकरण के कार्यक्रम को हाथ में लिया गया तो यह अवस्थिति कमज़ोर पड़ गयी थी। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ट्रेड यूनियनों ने स्वयं ही अपने पुराने नेताओं को हटाना शुरू कर दिया। 1930 में 16वीं कांग्रेस में इन अपदस्थीकरणों को मान्यता दी गयी और यह कहा गया कि पुराने नेताओं का अवसरवाद पुनर्निर्माण के काल की आवश्यकताओं से मेल नहीं खाता है। उसके बाद से यूनियनें मज़दूर वर्ग के हितों की रक्षा करने की बजाय योजनाओं को सफल बनाने की उपकरण बन गयीं। साथ ही यूनियनों के ढाँचे को ऊपर से, पार्टी के जरिये बदलने की

प्रक्रिया भी शुरू हो गयी। ट्रेड यूनियन की केन्द्रीय परिषद की शक्ति को घटा दिया गया और उसके अध्यक्ष मण्डल में शक्ति केन्द्रित कर दी गयी जो कि पार्टी के पोलित ब्यूरो के नेतृत्व में था।...उत्पादन में वृद्धि को कायम रखने को अपना मुख्य लक्ष्य रखने के कारण यूनियनों को मज़दूरों की समस्याओं को गौण स्थान देने को बाध्य होना पड़ा; कई मामलों में वे मज़दूरों की मज़दूरी में बढ़ोत्तरी को रोकने का उपकरण बन गयीं। मज़दूरों का ट्रेड यूनियनों पर से भरोसा ख़त्म हो गया। कई मामलों में मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त आन्दोलन होने लगे। ट्रेड यूनियनों को इन आन्दोलनों के दमन के लिए प्रयोग किया गया। 1932 में 9वीं ट्रेड यूनियन कांग्रेस से ट्रेड यूनियनें औपचारिक तौर पर राज्य का उपकरण बन गयीं। इस प्रकार "ट्रेड यूनियन संकट" की शुरुआत हुई।" (*वही,* पृ. 89-90)

इस पूरे उद्धरण में लेखक ने जो तथ्य दिये हैं, उनका उन्होंने कोई सन्दर्भ देना ज़रूरी नहीं समझा है। और समझा जा सकता है कि ऐसा क्यों है, क्योंकि इसके लिए लेखक को नये सन्दर्भों और "स्रोतों" का निर्माण करना पड़ेगा! इसमें अधिकांश तथ्य सुजीत दास की "मार्क्सवादी" कल्पनाओं की सुन्दर रचनाएँ हैं। इन सभी तथ्यों को हम यहाँ ख़ारिज करने की बजाय, आगे ख़ारिज करेंगे। यहाँ पर अभी हम उन्हीं तथ्यों को खण्डित करेंगे जिनका महत्व सुजीत दास के विचित्र किन्तु सत्य सैद्धान्तिकीकरणों के लिए केन्द्रीय है। यहाँ सुजीत दास ने ऐसा विराट गड़बड़झाला पैदा कर दिया है कि हम समझ नहीं पा रहे हैं कि शुरुआत कहाँ से करें! लेकिन फिर भी हम प्रयास करते हैं, क्योंकि और कोई चारा नहीं है!

सुजीत दास लिखते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व केवल कागज़ों पर रह गया था और वास्तव में राजनीतिक सत्ता पार्टी के हाथ में केन्द्रित हो गयी थी। इसके कारण के तौर पर वह बताते हैं कि बोल्शेविक क्रान्ति के शुरुआती वर्षों के बाद से मज़दूर सत्ता के असली स्रोत, यानी, उनके विचार में सोवियतों की भूमिका को सचेतन तौर पर क्रमिक प्रक्रिया में समाप्त कर दिया गया। यही हश्र ट्रेड यूनियनों का भी हुआ जिन्हें राज्य के मातहत और उनके दास के समान बना दिया गया। पहले तो सर्वहारा अधिनायकत्व और इसकी पूरी मशीनरी में सोवियतों और ट्रेड यूनियनों के स्थान के बारे में लेनिन के विचारों को जान लेते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि सुजीत दास ने जिन-जिन चीज़ों के लिए बोल्शेविक पार्टी की आलोचना की है उन मुद्दों पर बोल्शेविक पार्टी की नीति मूल और मुख्य तौर पर सही है। दूसरा कारण यह कि अगर उन "ग़लतियों" पर सुजीत दास आलोचना करना ही चाहते हैं, तो उन्हें लेनिन की आलोचना करनी चाहिए; स्तालिन के सिर पर वह बिना वजह इन "ग़लतियों" का ठीकरा फोड़ रहे हैं। लेकिन श्री दास की कोई ग़लती नहीं है, क्योंकि, जैसा कि हमने पहले भी इंगित किया है, उन्हें 1929 तक के सोवियत संघ के इतिहास के बारे में अखबारी-टाइप सूचनाओं के अलावा कोई जानकारी नहीं है। इसलिए हम पहले लेनिन के विचारों पर एक निगाह डाल लेते हैं।

यहाँ हम 1919 से 1921 के बीच बोल्शेविक पार्टी में ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर चल रही बहस का ज़िक्र करना चाहेंगे, जिसे सुजीत दास ने अपनी मनमर्ज़ी से 1932 में पहुँचा दिया है। क्योंकि 1932 में कोई ट्रेड यूनियन संकट नहीं पैदा हुआ था, जिसका कि वह दावा कर रहे हैं। ट्रेड यूनियनों की भूमिका पर बोल्शेविक पार्टी के भीतर लगातार ही बहसें और चर्चाएँ होती रहीं थीं; लेकिन जिस चीज़ को ट्रेड यूनियन विवाद या ट्रेड यूनियन संकट के तौर पर जाना जाता है वह मूलत: 1919 से 1921 के दौरान पार्टी के भीतर घटित हुआ था। उसके

पहले सुजीत दास ने लेनिन के ट्रेड यूनियन-सम्बन्धी दृष्टिकोण के बारे में जो लिखा है, वह भी लेनिन का पूरा दृष्टिकोण नहीं था, बल्कि ट्रेड यूनियन के सवाल पर मौजूद दक्षिणपन्थी भटकाव का, जिसका प्रतिनिधित्व ट्रॉट्स्की और बुखारिन कर रहे थे, जवाब था। सकारात्मक तौर पर लेनिन की वह अवस्थिति थी ही नहीं, जो सुजीत दास बता रहे हैं। वह अवस्थिति तो वास्तव में पार्टी में मौजूद अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी धड़े की थी।

1919 से 1921 के बीच ट्रेड यूनियनों की भूमिका को लेकर दो छोर की अवस्थितियाँ मौजूद थीं। एक रुझान, जिसका प्रतिनिधित्व मुख्य तौर पर **ट्रॉट्स्की** और **बुखारिन** कर रहे थे, उसका मानना था कि ट्रेड यूनियनों का "राजकीयकरण" कर दिया जाना चाहिए। उनका मानना था कि ट्रेड यूनियनों को पूरी तरह राज्य के अधीन कर दिया जाना चाहिए। उन्हें राज्य के अधीन करने के साथ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और शासन के कार्यों की मुख्य तौर पर ज़िम्मेदारी सौंप दी जानी चाहिए, लेकिन इस प्रक्रिया में उन्हें पूरी तरह से राज्य और पार्टी के अधीन होना चाहिए। वास्तव में, ट्रॉट्स्की "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में जो "श्रम के सैन्यकरण" की थीसिस लेकर आये थे, ट्रेड यूनियन पर उनकी थीसिस (देखें ट्रॉट्स्की की रचना 'ट्रेड यूनियनों के कार्यभार') उनकी "श्रम के सैन्यकरण" की उस पुरानी थीसिस का ही एक विस्तार थी। इस पर हम थोड़ा आगे वापस लौटेंगे, लेकिन अभी पहले ट्रेड यूनियन विवाद पर वापस आते हैं। ट्रेड यूनियनों को राज्य के अधीन कर दिये जाने की ट्रॉट्स्की व बुखारिन की थीसिस का पार्टी में **'वर्कर्स अपोज़ीशन'** नाम के धड़े ने पुरज़ोर विरोध किया। इस धड़े का प्रतिनिधित्व मुख्य तौर पर **अलेक्ज़ैण्डर श्ल्याप्निकोव** तथा **अलेक्ज़ैण्ड्रा कोलोन्ताई** कर रही थीं। कोलोन्ताई ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' नामक एक पुस्तिका लिखकर अपने धड़े की पूरी अवस्थिति को पार्टी के बीच प्रसारित भी किया। फिर इन दोनों दस्तावेज़ों पर एक बहस शुरू हुई। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का मानना था कि ट्रेड यूनियन का "राजकीयकरण" नहीं किया जाना चाहिए, उल्टे राज्य का "ट्रेड यूनियनीकरण" कर दिया जाना चाहिए। उनका मानना था कि ट्रेड यूनियनें पूर्णत: स्वतन्त्र रहनी चाहिए और उन्हें राज्य के सभी कार्य सौंप दिये जाने चाहिए, मतलब कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन से लेकर शासन-प्रशासन के अन्य कार्य और पार्टी और राज्य को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इसके कारण के तौर पर वे वही बात कह रहे थे जो सुजीत दास कह रहे हैं। उनका कहना था कि ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदायों को समेटती हैं और इसलिए प्रत्यक्ष उत्पादन और शासन के नियन्त्रण को यदि प्रत्यक्ष उत्पादक वर्ग को सौंपना है, सर्वहारा वर्ग को सौंपना है, तो ट्रेड यूनियनों को स्वतन्त्र होना चाहिए और शासन-प्रशासन के काम उनके हाथों में सौंप दिये जाने चाहिए।

पार्टी की दसवीं कांग्रेस, जो कि मार्च 1921 में हुई, इन दोनों अवस्थितियों के बीच बहस-मुबाहसे का केन्द्र बनी। वास्तव में इसके पहले की दो पार्टी कांग्रेसों में भी यह मुद्दा पुरज़ोर तरीके से उठा था। ट्रॉट्स्की और बुखारिन की अवस्थिति की आलोचना तो लेनिन ने 1919 और 1920 में ही की थी, लेकिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की अवस्थिति की आलोचना मुख्य तौर पर 1921 में दसवीं पार्टी कांग्रेस में हुई। वास्तव में इस पूरे विवाद का फैसला दसवीं पार्टी कांग्रेस में हुआ। लेनिन ने इन दोनों छोरों की निमर्म आलोचना करते हुए ट्रेड यूनियनों की भूमिका के बारे में जो कुछ कहा, वह आज मार्क्सवाद-लेनिनवाद के लिए हर मायने में बेहद महत्वपूर्ण बन गया है। यह न सिर्फ ट्रेड यूनियन के सवाल पर लेनिनवादी अवस्थिति का स्रोत बना, बल्कि समाजवादी संक्रमण के दौरान सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की प्रकृति और

चरित्र, उसमें पार्टी की भूमिका, पार्टी से सोवियतों और ट्रेड यूनियनों के आपसी रिश्ते और पार्टी और राज्य के रिश्तों पर एक सामान्य मार्क्सवाद-लेनिनवादी अवस्थिति का स्रोत बन गया। इस पर हम थोड़े देर में वापस लौटेंगे।

सबसे पहले हम 1920 के ट्रेड यूनियन सम्मेलन से लेकर 1921 की दसवीं पार्टी कांग्रेस के दौरान जो प्रमुख धड़े (फैक्शन) मौजूद थे, और जो इस पूरी बहस में हिस्सेदारी कर रहे थे, उनके बारे में बता दें। यहाँ हम पूरी बहस के घटना-सम्बन्धी ब्यौरे में नहीं जा रहे हैं, बल्कि उनकी अवस्थितियों के बारे में बात कर रहे हैं। घटनाओं में और ठोस ऐतिहासिक ब्यौरों में हम तब जाएँगे जब हम सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की पूरी परियोजना के अपने आलोचनात्मक मूल्यांकन की शुरुआत करेंगे। 1918 से ही ट्रेड यूनियनों, फैक्टरी कमेटियों, राज्य, पार्टी और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों पर पार्टी के भीतर तीखी बहस जारी थी, जो वास्तव में सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी संरचना पर बहस थी। इस बहस के अलग-अलग धड़े निम्न प्रकार से थे, जो कि दसवीं कांग्रेस तक मुख्य रूप से तीन धड़ों के रूप में संगठित हो चुके थे।

पहला समूह वह था जिसके नेतृत्व में **ओसिंस्की, स्मिर्नोव** और **साप्रोनोव** थे, और इस समूह को **'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म'** धड़े के नाम से जाना जाता था। यह समूह वास्तव में 1919 में आठवीं पार्टी कांग्रेस के समय में ही अस्तित्व में आने लगा था। आइये देखें कि इस धड़े का क्या कहना था। इनका कहना था कि सोवियतों को महज़ "रबर स्टैम्प्स" में बदल दिया गया है, जबकि हमारा पुराना नारा था 'सारी सत्ता सोवियतों को'; उनका कहना था कि सोवियतों का काम यह हो गया है कि वे पार्टी के निर्णयों को पुष्ट करें; इसके अलावा उनका कहना था कि पार्टी के भीतर पोलित ब्यूरो में शक्ति केन्द्रित हो गयी है; यहाँ ग़ौरतलब है कि इस धड़े के अधिकांश नेता व सदस्य 1917-18 में बुखारिन के नेतृत्व में अस्तित्व में आये "वामपन्थी" कम्युनिस्ट विपक्षी धड़े के साथ रह चुके थे। यह बात अलग थी कि अब बुखारिन स्वयं इस पूरी थीसिस के ठीक विपरीत ट्रॉट्स्की के करीब खड़े थे। लेकिन 1918 में पार्टी की सातवीं कांग्रेस में ओसिंस्की ने कहा था, **"हम मज़दूरों की वर्ग रचनात्मकता द्वारा सर्वहारा समाज के निर्माण के पक्षधर हैं, न कि उद्योग के कप्तानों की आज्ञप्तियों के द्वारा...अगर सर्वहारा वर्ग स्वयं नहीं जानता कि श्रम के समाजवादी संगठन की पूर्वशर्तें कैसे पूरी करनी है, तो उसकी ओर से कोई और यह काम नहीं कर सकता...समाजवाद और समाजवादी संगठन या तो स्वयं सर्वहारा वर्ग द्वारा स्थापित किया जायेगा, या फिर वह स्थापित ही नहीं किया जायेगा।"** (ओसिंस्की, 'ऑन दि बिल्डिंग ऑफ सोशलिज़्म', *दि कम्युनिस्ट*, सं.-2, (अप्रैल, 1918), पृ.5, रूसी संस्करण) लेनिन ने इस पूरी सोच को अपने लेख **'वामपन्थी बचकानापन और निम्न पूँजीवादी मानसिकता'** में निशाने पर रखा था और कहा था कि यह पूरी सोच स्वत:स्फूर्ततावादी, लोकरंजकतावादी और हिरावल की भूमिका का निषेध करती है। लेनिन की आलोचना पर हम थोड़ी देर में आते हैं। अभी हम 1919 से 1921 के बीच मौजूद प्रमुख समूहों की अवस्थितियों पर आते हैं। तो पहला समूह यह 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' ग्रुप था जिसके प्रमुख नेता ओसिंस्की, स्मिर्नोव और साप्रोनोव थे, जिनकी अवस्थितियों को जानकर पाठक एक कालदोषपूर्ण (एनाक्रॉनिस्टिक) कल्पना कर सकता है कि कहीं उन्होंने 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के फरवरी, 2008 के अंक में छपे सुजीत दास के लेख को तो नहीं पढ़ लिया था! लेकिन वह सुजीत दास के लेख से ठीक 90 वर्ष

पहले की घटना है! लेकिन अगर हम कालदोष को हटा दें, तो साफ़ तौर पर लगता है कि सुजीत दास ने शायद उनकी अवस्थितियों को पढ़ा है, और अपने मर्म तक ले गये हैं। आगे हम देखेंगे कि सुजीत दास किस तरह से 1918, 1919, 1920 और 1921 के सभी "वामपन्थी" और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भटकावग्रस्त अवस्थितियों की खिचड़ी पकाते हैं और उन्हें ज़बरन लेनिन पर थोपने का प्रयास करते हैं।

दूसरा प्रमुख समूह था **ट्रॉट्स्की** का जिसके समर्थन में मुख्य रूप से **राइकोव, क्रेस्टिंस्की, आन्द्रियेव** और **राडेक** थे। ट्रॉट्स्की ने ट्रेड यूनियनों की स्वायत्तता पर हमले की शुरुआत बड़े पैमाने पर 1920 में मास्को में हुए एक अखिल रूसी ट्रेड यूनियन सम्मेलन (कांग्रेस नहीं, सम्मेलन) में की। ट्रॉट्स्की ने ट्रेड यूनियनों के पूरे ढाँचे को अन्दर से "झकझोर देने" की बात की। ट्रॉट्स्की ने कहा कि समूचे मज़दूर वर्ग के अराजकतापूर्ण ढंग से बदलते मिजाज़ों पर सर्वहारा अधिनायकत्व को नहीं छोड़ा जा सकता है। सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी के बारे में ट्रॉट्स्की ने एक ऐसी समझ रखी, जिसके मुताबिक पार्टी कभी ग़लती नहीं कर सकती है, और अचूक और अमोघ है। इसलिए सर्वहारा वर्ग अपनी पार्टी के द्वारा अपने ऊपर "स्वअनुशासन" लागू करता है। ट्रॉट्स्की इस सोच का समर्थन करते हुए कहाँ तक चले गये यह ट्रॉट्स्की के इस कथन से साफ़ हो जाता है: **"क्या यह सच है कि बाध्यतापूर्ण श्रम हमेशा अनुत्पादक होता है?...यह सबसे निन्दनीय और दयनीय उदारवादी पूर्वाग्रह है: चैटेल गुलामी भी उत्पादक थी...बाध्यताकारी दास श्रम... अपने समय में एक प्रगतिशील परिघटना थी।"** (तृतीय अखिल रूसी ट्रेड यूनियन कांग्रेस, *स्टेनोग्राफिक रिपोर्ट,* मास्को, 1920, रूसी संस्करण) निश्चित तौर पर, हम यह नहीं कह रहे हैं कि ट्रॉट्स्की की पूरी सोच इसी कथन से स्पष्ट हो जाती है क्योंकि ऐसा दावा करना ट्रॉट्स्की के साथ नाइंसाफ़ी होगी। लेकिन इससे ट्रॉट्स्की की पहुँच और पद्धति के बारे में बहुत कुछ पता चलता है। यह बात सच है, और ऐसा लेनिन का भी मानना था, कि पार्टी के हिरावल होने के अर्थ में यह शामिल है कि सर्वहारा वर्ग के व्यापक जनसमुदायों की हर राय या मिजाज़ का वह सम्मान नहीं कर सकती। यह भी सच है कि पार्टी को कई बार संकटपूर्ण परिस्थितियों में मज़दूर वर्ग के पिछड़े हुए, निम्नपूँजीवादी चेतना के शिकार हिस्से की इच्छाओं के विपरीत भी कई कार्य करने पड़ते हैं। निश्चित तौर पर, मज़दूर वर्ग स्वत:स्फूर्त रूप से जो चेतना पैदा करता है वह आर्थिक माँगों से आगे नहीं जाती और वह अपने आप में सर्वहारा चेतना नहीं होती। अगर इसी स्वत:स्फूर्ततावाद की सोच को आगे बढ़ा दिया जाय तो वह ट्रेड यूनियनवाद, अराजकतावाद, अर्थवाद और संघाधिपत्यवाद तक चली जाती है। लेनिन स्वयं इन रुझानों के सख़्त आलोचक थे और इसीलिए क्रान्ति से पहले मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में भी और क्रान्ति के बाद मज़दूर वर्ग की तानाशाही में भी वह क्रान्तिकारी पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका को अपरिहार्य मानते थे। **लेकिन ट्रॉट्स्की और लेनिन की अवस्थितियों में दो बुनियादी फर्क था।** एक, लेनिन पार्टी को हर स्थिति में अचूक और अमोघ नहीं मानते थे, जैसा कि ट्रॉट्स्की की उस समय की अवस्थिति में निहित है। वह मानते थे कि पार्टी को जनसमुदायों के प्रति अपनी नेतृत्वकारी भूमिका को बनाये रहते हुए, जनसमुदायों से एक जीवन्त रिश्ता भी बनाये रखना होगा और उनसे सीखना भी होगा। यही पार्टी के नेतृत्व और नीतियों के सर्वहारा चरित्र को बनाये रख सकता है। **एक दूसरे अर्थ में** भी लेनिन की अवस्थिति ट्रॉट्स्की से बिल्कुल भिन्न थी। ट्रॉट्स्की "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों, जैसे कि जबरन कृषि अधिशेष वसूली,

श्रम के सैन्यकरण, ट्रेड यूनियनों को राज्य के मातहत रखने और श्रम के अनुशासनीकरण, को एक विशेष आपातकालीन और अपवादस्वरूप दौर का बाध्यताकारी उत्पाद नहीं मानते थे। वह मानते थे कि इन नीतियों के ज़रिये "सीधे कम्युनिज़्म में प्रयाण" किया जा सकता है। बुखारिन और प्रियोब्रेज़ेंस्की जब पूरी तरह ट्रॉट्स्की की तरफ़ झुक गये थे, तो उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया था कि तीन वर्षों में पूरी सोवियत अर्थव्यवस्था का कम्युनिस्ट रूपान्तरण इन नीतियों के ज़रिये किया जा सकता है! लेकिन लेनिन की अवस्थिति यह थी कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की ये नीतियाँ गृहयुद्ध के दौर में मूल और मुख्य तौर पर सही थीं; इनमें से कुछ नीतियाँ ऐसी थीं जो कि बाद के दौर के लिए भी उपयोगी थीं। लेकिन कुल मिलाकर दो प्रमुख नीतियाँ, यानी कि कृषि अधिशेष की ज़बरन वसूली और दूसरी श्रम के सैन्यकरण और ट्रेड यूनियनों को राज्य और पार्टी के पूरी तरह से अधीन किये जाने की नीतियों को केवल आपातकालीन और अपवादस्वरूप दौर में ही सही ठहराया जा सकता है। चूँकि लेनिन का एक दौर में इन नीतियों को सशर्त समर्थन था और एक दूसरे दौर में सशर्त विरोध इसलिए कई अकादमिकों को यह दृष्टिभ्रम हो जाता है कि लेनिन ट्रॉट्स्की की अवस्थिति पर थे, और जब वे मौखिक तौर पर ट्रॉट्स्की का विरोध कर रहे थे, तब भी व्यवहार में वे ट्रॉट्स्की की ही नीतियों को लागू कर रहे थे। ऐसे अकादमिकों में ख़ास तौर पर ट्रॉट्स्कीपन्थी या ट्रॉट्स्की के प्रति हमदर्दी रखने वाले बुद्धिजीवी शामिल हैं, जैसे कि **इसाक डॉइशर, एडवर्ड हैलेट कार, हॉल ड्रेपर** आदि। लेकिन अगर स्वयं पार्टी, ट्रेड यूनियन और सोवियतों के दस्तावेज़ों में बहस और पिछले कार्यकाल की गतिविधियों की रिपोर्टों को देखें तो लेनिन और ट्रॉट्स्की की अवस्थिति का फर्क साफ़ हो जाता है। बहरहाल, ट्रॉट्स्की की पूरी अवस्थिति को इसी वाक्यांश के ज़रिये सटीकता से अभिव्यक्त किया जा सकता है–**ट्रेड यूनियनों को राज्य और पार्टी का दासवत उपकरण बना देना, उनका "राजकीयकरण" कर देना।**

अब **तीसरे समूह** पर आते हैं जिसे **"बफर ग्रुप"** कहा गया, और जो कि 1920 में अस्तित्व में आया। दिसम्बर 1920 में केन्द्रीय कमेटी की एक बैठक में ज़िनोवियेव ने ट्रॉट्स्की की अवस्थिति का विरोध किया और लेनिन की अवस्थिति के समर्थन में बात रखी। लेकिन यह बात इस तरीके से रखी गयी, जिससे कि केन्द्रीय कमेटी का बड़ा हिस्सा ट्रॉट्स्की और ज़िनोवियेव, दोनों के ही ख़िलाफ़ हो गया। इस मौके पर **बुखारिन** ने एक मध्य मार्ग अपनाया और ट्रॉट्स्की और ज़िनोवियेव दोनों की ही कुछ बातों का समर्थन करते हुए यह तर्क रखा कि फिलहाल दोनों मतों में एक आरज़ी समझौता किया जाय और इस मसले पर 1921 में होने वाली दसवीं पार्टी कांग्रेस में विचार किया जाय। बुखारिन का प्रस्ताव एक वोट से विजयी हुआ। उस समय बुखारिन के साथ मध्यमार्ग अपनाने वाले इस "बफर ग्रुप" में **प्रियोब्रेज़ेंस्की, सेरेब्राइकोव, सोकोलनिकोव** और **लारिन** शामिल थे। 1920 के अन्तिम माह से लेकर मार्च 1921 में पार्टी कांग्रेस के शुरू होने तक यह "बफर ग्रुप" ज़्यादा से ज़्यादा ट्रॉट्स्की की तरफ़ झुकता गया और कांग्रेस आते-आते **ट्रॉट्स्की** और **बुखारिन** ने **ज़र्जेंस्की, आन्द्रियेव, प्रियोब्रेज़ेंस्की, रैकोव्स्की** और **सेरेब्राइकोव** के साथ मिलकर ट्रेडयूनियनों की भूमिका के सवाल पर ट्रॉट्स्की की सोच का समर्थन करते हुए एक प्रस्ताव रखा जिसे **'प्लेटफॉर्म ऑफ दि एट'** कहा गया।

एक **चौथा समूह** 1920 के ही उत्तरार्द्ध से अस्तित्व में आने लगा था। यह समूह वास्तव में पुराने 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' धड़े के कुछ लोगों के एक अनौपचारिक ट्रेड यूनियन धड़े

के साथ संलयन के साथ अस्तित्व में आया, जिसके प्रमुख सदस्य थे, **श्ल्याप्निकोव** और **कोलोन्ताई।** इन दोनों धड़ों के साथ आने के साथ जो ग्रुप अस्तित्व में आया उसे **'वर्कर्स अपोज़ीशन'** के नाम से जाना गया। इसकी ज़्यादातर अवस्थितियाँ ट्रॉट्स्कीपंथियों के ठीक विपरीत थीं, जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं। ये सारी अवस्थितियाँ वास्तव में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों की अवस्थितियाँ थीं। इसका एक कारण यह भी था कि इस समूह के नेतृत्व के लोग अधिकांशत: पुराने ट्रेड यूनियनवादी थे। इस कांग्रेस में श्ल्याप्निकोव ने भाषण दिया। उन्होंने एंगेल्स को उद्धृत करते हुए कहा कि आने वाला समाज **"उद्योग को सभी उत्पादकों के स्वतन्त्र और समान साहचर्य के आधार पर संगठित करेगा।"** और इसी से श्ल्याप्निकोव ने यह नतीजा निकाला कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए ट्रेड यूनियनों को राज्य और पार्टी से बिल्कुल स्वतन्त्र करके राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और शासन-प्रशासन सम्भालने का काम उन्हें दे दिया जाना चाहिए, जैसा कि सुजीत दास सुझा रहे हैं। लेनिन ने श्ल्याप्निकोव को याद दिलाया कि जब एंगेल्स ने ये शब्द लिखे थे तो वह समाजवादी संक्रमण के दौर की बात नहीं कर रहे थे, बल्कि कम्युनिस्ट समाज की बात कर रहे थे और यह कि उस सिद्धान्त को लागू करने का रिश्ता समाज में वर्ग संघर्ष के स्तर से जुड़ा हुआ है और विशेषकर सर्वहारा वर्ग के व्यापक जन-समुदायों की राजनीतिक चेतना से जुड़ा हुआ है। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का मानना था कि चूँकि ट्रेड यूनियनें सर्वहारा वर्ग के व्यापक जनसमुदायों को अपने भीतर समेटती हैं, इसलिए उनके ऊपर किसी किस्म का कोई प्राधिकार नहीं होना चाहिए। केन्द्रीय स्तर पर एक **अखिल रूसी उत्पादक कांग्रेस** होनी चाहिए जिसका काम ट्रेड यूनियनों के बीच समन्वय का होना चाहिए। लेनिन ने इस प्रस्ताव की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था कि 'उत्पादक कांग्रेस' की परिकल्पना वर्ग विश्लेषण का निषेध है। ऐसी किसी भी कांग्रेस को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बागडोर सौंपने का अर्थ होगा, टटपुँजिया उत्पादकों के हाथ में पूरी सोवियत व्यवस्था को सौंप देना, और एक प्रकार से सर्वहारा अधिनायकत्व का बुर्जुआज़ी के सामने समर्पण कर देना। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का यह भी विचार था कि सोवियतों को एक क्रमिक प्रक्रिया में विलोप की तरफ़ ले जाया जाना चाहिए, और शासन-प्रशासन के समस्य कार्य स्वतन्त्र ट्रेड यूनियनों को सौंप दिया जाना चाहिए, जिनमें पार्टी का कोई भी हस्तक्षेप न हो (यहाँ भी पाठकों को सुजीत दास की याद आ सकती है, जो कि पार्टी के हस्तक्षेप से ख़ासे नाराज़ रहते हैं!)। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के नेता किसानों को किसी भी किस्म की रियायत देने के ख़िलाफ़ थे। वे औद्योगिक मज़दूरों के मुद्दों को छोड़ दें तो "युद्ध कम्युनिज़्म" की अधिकांश नीतियों का समर्थन ही कर रहे थे। सोवियत राज्य के सामाजिक आधार के तौर पर मज़दूर-किसान संश्रय (स्मिच्का) के विषय पर उनकी कोई समझदारी नहीं थी, और वे मज़दूरों यानी कि अलग-अलग कारखानों, अलग-अलग उद्योगों, अलग-अलग पेशों के मज़दूरों के विशिष्ट हितों से आगे कुछ भी नहीं सोच पा रहे थे। **यहाँ पर 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' धड़े की अवस्थिति से एक ही फर्क था–'वर्कर्स अपोज़ीशन' मज़दूर वर्ग की राजनीतिक शक्ति का प्रमुख केन्द्र ट्रेड यूनियन को मान रहा था जबकि 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' ने इसका आधार फैक्टरी कमेटियों को माना था।** यानी कि एक के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद की बुनियादी राजनीतिक इकाई कारखाना थी, तो दूसरे की पेशा या उद्योग, क्योंकि ट्रेड यूनियनें पेशों और उद्योगों के आधार पर बँटी हुई थीं। सुजीत दास की पूरी सोच पर इन दोनों ही ग्रुपों

का ज़बर्दस्त असर है। वास्तव में, ये दोनों असर उनमें गड्ड-मड्ड हो गये हैं। एक जगह वह अपने लेख में फैक्टरी कमेटियों और सोवियतों के बीच भ्रमित हो गये हैं। उन्होंने लिखा है कि मज़दूरों की सोवियतें क्रान्ति के तुरन्त बाद राजनीतिक शक्ति का वास्तविक केन्द्र बनीं जिनमें पार्टी का कोई हस्तक्षेप नहीं था, और इसी दौर में मज़दूर वर्ग ने अपनी पहल पर कारखानों पर कब्ज़ा कर लिया जिसे बाद में राज्य की आज्ञप्तियों के ज़रिये मान्यता दे दी गयी। इससे ऐसा ध्वनित होता है कि कारखानों पर कब्ज़े के आन्दोलन में सोवियतों की कोई अहम भूमिका थी, क्योंकि ऐसा नहीं था और यह काम फैक्टरी कमेटियों के ज़रिये हुआ था जिनका श्री दास नाम भी नहीं लेते। अगर वह ऐसा दावा कर रहे हैं, तो निस्सन्देह यह एक और अज्ञानतापूर्ण दावा है। उनका कहना है कि इसी जीवन्त वातावरण में सुब्बोतनिक आन्दोलन शुरू हुआ। सुजीत दास ने अगर 1917 से 1920 तक का इतिहास किसी विश्वविद्यालय की पाठ्यपुस्तक से भी पढ़ा होता तो उन्हें पता होता कि कारखानों पर कब्ज़ा करने का आन्दोलन मज़दूरों की सोवियत ने नहीं किया था, बल्कि वह फैक्टरी कमेटियों ने किया था। शुरुआत में इन्हें राज्य और पार्टी द्वारा मान्यता मिली क्योंकि यह मज़दूरों की क्रान्तिकारी ऊर्जा का परिणाम था। लेकिन यह आन्दोलन बुरी तरह असफल हुआ था। अलग-अलग कारखाने के मज़दूर महज़ अपने हितों के बारे में सोच रहे थे। एक कारखाने ने दूसरे कारखाने से विनिमय करने से कई मौकों पर इंकार कर दिया। कई कारखानों ने सोवियत सत्ता से अपने उत्पादों का विनिमय करने से इंकार कर दिया। अलग-अलग कारखाना कमेटियाँ उस समय काले बाज़ार में अपने उत्पादों को बेचकर अपने निजी हितों के बारे में सोच रही थीं। यहाँ पर स्पष्ट देखा जा सकता है कि सुजीत दास के लेख वाले "प्रत्यक्ष उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण" स्थापित हो जाने से पूँजीवादी सम्बन्ध समाप्त नहीं होते। लेनिन को इस विषय में कोई ग़लतफ़हमी नहीं थी। देखिये कि वह क्या कहते हैं: **"मज़दूर कभी भी पुराने समाज से किसी चीन की दीवार से अलग नहीं किये गये थे। और उन्होंने पूँजीवादी समाज की पारम्परिक मानसिकता को काफी मात्रा में बचा रखा है। मज़दूर एक नया समाज स्वयं नये लोग बने बग़ैर बना रहे हैं, वे यह निर्माण अपने आपको पुरानी गन्दगी से मुक्त किये बिना कर रहे हैं; वे अभी भी घुटनों तक इस गन्दगी में डूबे हुए हैं।"** (लेनिन, दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में रिपोर्ट, जनवरी 1919)। माओ ने यही बात इन शब्दों में कही है: **"समाजवादी समाज का निर्माण करने में सभी का पुनःसंस्कार करने की आवश्यकता होती है–शोषकों का भी और मेहनतकश जनता का भी। कौन कहता है कि मज़दूर वर्ग को इसकी ज़रूरत नहीं होती? हाँ, शोषकों का पुनःसंस्कार और मेहनतकश जनता का पुनःसंस्कार स्वरूप की दृष्टि से दो अलग-अलग किस्म के पुनःसंस्कार हैं।"** (माओ त्से तुंग, 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में', *माओ त्से तुंग की प्रतिनिधि रचनाएँ*, एक खण्ड में, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, 2004 पृ. 368) यह लेनिन ठीक उसी समय कह रहे थे, जब फैक्टरी कमेटियाँ संकुचित पेशागत मानसिकता और टटपुँजिया पूँजी संचय की मानसिकता से काम कर रही थीं। फैक्टरी कमेटियों के तहत, यानी 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' के नियन्त्रण के तहत यहाँ क्या हो रहा था? यहाँ पर अभी भी पूँजीवादी उत्पादन ही हो रहा था। अब पूँजीपति की इकाई की जगह फैक्टरी कमेटी ने ले ली थी। लेकिन इन फैक्टरी कमेटियों की निगाह में पूरे मज़दूर वर्ग का हित नहीं था बल्कि अलग-अलग कारखानों के मज़दूरों का हित था। जाहिर है, ऐसी विसर्जित, विखण्डित फैक्टरी

कमेटी अर्थव्यवस्था का कोई भविष्य नहीं हो सकता था। नतीजतन, अच्छी-ख़ासी संख्या में वे कारखाने बन्द हो गये जो फैक्टरी कमेटियों के नेतृत्व में थे; कई जगह मज़दूर मशीनों को बेचकर पैसे कमाकर गाँव चले गये; कई मामलों में फैक्टरी कमेटियों ने कारखानों को पुराने पूँजीपतियों के हवाले कर दिया क्योंकि उन्हें पूरी उत्पादन प्रक्रिया का प्रबन्धन नहीं आता था। इन सभी के संख्यात्मक आँकड़े हम आगे देंगे। रूस में 1918-19 में जो आर्थिक विघटन की प्रक्रिया चली, उसमें किसानों द्वारा की गयी तोड़-फोड़ के अलावा मज़दूरों के बीच मौजूद यह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रुझान भी ज़िम्मेदार था। इसके बाद, फैक्टरी कमेटियों को ट्रेड यूनियनों के अन्तर्गत किया गया। यह प्रक्रिया 1918 के दिसम्बर में पूरी हो चुकी थी। और ट्रेड यूनियनें 1918 से 1920 तक पूरी तरह राज्य और पार्टी के मातहत ही थीं, जो कि "युद्ध कम्युनिज़्म" का दौर था। **इसलिए सुजीत दास यह बात बिना कहीं पढ़े हुए लिख रहे हैं कि सुब्बोतनिक आन्दोलन उस प्रेरणादायी परिस्थिति में हुआ था जिसमें मज़दूर सोवियतें पार्टी और राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त थीं, और मज़दूरों ने कारखानों पर कब्ज़ा कर लिया था!** यह हवाई कल्पना है जिसका तथ्यों से कोई रिश्ता नहीं है क्योंकि 1919 में जब सुब्बोतनिक आन्दोलन की पहली शुरुआत हुई तब तक फैक्टरी कमेटियाँ और ट्रेड यूनियन, दोनों पर ही पार्टी का नियन्त्रण मुख्य तौर पर स्थापित हो चुका था। सुजीत दास को सोवियत इतिहास का ठीक से अध्ययन किये बिना ऐसी बातें नहीं लिखनी चाहिए थीं। यह पाठकों को गुमराह करने के समान है।

सच तो यह है कि सुब्बोतनिक आन्दोलन 1919 में शुरू हुआ था और उस समय तक सोवियतें भी पार्टी से स्वतन्त्र नहीं थीं। वे राज्यसत्ता का प्रमुख उपकरण उस समय तक नहीं रह गयी थीं। 1919 में ही लेनिन ने कहा था कि दो वर्ष के सोवियतों के स्वायत्त शासन को देखने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अभी सोवियतें शासन के काम को अपने हाथ में नहीं ले सकतीं। 'राज्य और क्रान्ति' की अपनी थीसिस को लेनिन ने संशोधित करते हुए कहा था कि ऐतिहासिक अनुभव ने हमें सिखला दिया है कि पेरिस कम्यून मॉडल तुरन्त लागू नहीं किया जा सकता है। सर्वहारा अधिनायकत्व की नेतृत्वकारी शक्ति और प्रधान उपकरण सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी होगी। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की पूरी संरचना के बारे में 1921 आते-आते लेनिन का नज़रिया काफ़ी हद तक साफ़ हो चुका था। इसके बारे में हम कुछ पैराग्राफ बाद ही आयेंगे। लेकिन एक बात तो तय है—सुजीत दास काल्पनिक तथ्यों का आविष्कार करके उन्हें वास्तविक इतिहास पर थोपने की कला में सिद्धहस्त हैं! अब 1919 से 1921 के बीच बोल्शेविक पार्टी के भीतर जिन धड़ों के बीच ट्रेड यूनियन के सवाल को लेकर बहस जारी थी, और जिसकी चरम परिणति दसवीं पार्टी कांग्रेस में हुई बहस में सामने आयी, उन धड़ों की चर्चा पर वापस लौटते हैं।

अब हम बात करेंगे **आख़िरी प्रमुख धड़े** पर जिसका नेतृत्व **लेनिन** कर रहे थे। ट्रॉट्स्कीपन्थी 'प्लेटफॉर्म ऑफ एट' और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसिस के बरक्स लेनिन ने **स्तालिन, ज़िनोवियेव, टॉम्स्की, रुत्जुताक, कालिनिन, कामेनेव, लोज़ोव्स्की, पेत्रोव्स्की** और **आर्तेम** के साथ मिलकर **'प्लेटफॉर्म ऑफ दिन टेन'** बनाया और अपना समानान्तर प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव वास्तव में उसी प्रस्ताव का एक विकसित रूप था जो कि रुत्जुताक ने ट्रेड यूनियन सम्मेलन के मंच पर ट्रॉट्स्की के प्रस्ताव के ख़िलाफ़ रखा था; वह प्रस्ताव भी लेनिन के निर्देशन में ही बना था। उस प्रस्ताव को उस सम्मेलन में विजय मिली थी। और

दसवीं कांग्रेस में भी लेनिन का प्रस्ताव भारी मतों से विजयी हुआ। दसवीं कांग्रेस में जो **तीन प्रमुख धड़े** बन चुके थे (**1. ट्राट्स्की+बुखारिन 2. वर्कर्स अपोज़ीशन (डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म+कोलोन्ताई व श्ल्याप्निकोव), तथा, 3. लेनिन व स्तालिन**) उसमें से ट्रॉट्स्कीपंथियों के धड़े को 50 वोट मिले, 'वर्कर्स अपोज़ीशन' को मात्र 8 वोट मिले और लेनिन के धड़े को 336 वोट मिले। लेनिन ने ट्रॉट्स्की और बुखारिन की राजनीतिक आलोचना इस कांग्रेस से पहले ही रख दी थी, और इस धड़े के प्रस्ताव का हारना तय था क्योंकि 1920 से 1921 के बीच लेनिन और ट्रॉट्स्की की बार-बार जो तमाम मंचों पर बहस हुई (जिनका 'प्राव्दा' में लगातार प्रकाशन हुआ) उसके ज़रिये ट्रॉट्स्की का धड़ा कांग्रेस के शुरू होने से पहले ही वास्तव में परास्त हो चुका था। लेकिन लेनिन ने अभी तक 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की कहीं-कहीं प्रसंगवश आलोचना करने के अलावा, विधिवत आलोचना नहीं की थी। दसवीं कांग्रेस वास्तव में 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी पहुँच और पद्धति पर चोट करने और उसे बेनक़ाब करने का मंच बना, हालाँकि इस कांग्रेस की प्रमुख उपलब्धि था नेप की नीतियों का सूत्रीकरण। लेनिन ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के प्रत्यक्ष उत्पादक के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण के लिए अखिल रूसी उत्पादक कांग्रेस बनाने और ट्रेड यूनियनों को पूर्णत: स्वतन्त्र (जैसा कि सुजीत दास चाहते हैं!) बनाकर शासन के कार्य सौंपने के प्रस्ताव का पुरज़ोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि ऐसी किसी भी कांग्रेस में आज के दौर में ग़ैर-पार्टी लोगों की बहुतायत होगी और हम जानते हैं कि इस समय समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों का एक प्रमुख मुखौटा ग़ैर-पार्टी व्यक्ति होना ही है। ऐसे में, ऐसी कोई भी कांग्रेस सर्वहारा दृष्टिकोण से निर्णय लेने या काम करने के कार्यभार को नहीं पूरा कर सकती। इसमें निम्नपूँजीवादी विचारों, पेशावादी संकीर्ण सोच और अर्थवाद का बोलबाला होगा, क्योंकि रूस के मज़दूर वर्ग का भी एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा लेनिन के शब्दों में, "घुटनों तक टटपुँजिया राजनीतिक चेतना के दलदल में डूबा हुआ है।" लेनिन ने मज़दूरी और वेतन में मौजूद फर्क को ख़त्म करने की 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की माँग को एक दूरगामी लक्ष्य के तौर पर स्वीकार करते हुए कहा कि यह तात्कालिक लक्ष्य नहीं हो सकता है; आगे लेनिन कहते हैं कि ट्रेडयूनियनों को मुद्रा या वस्तु के रूप में मज़दूरी का इस्तेमाल अभी श्रम के अनुशासन को बढ़ाने और उत्पादकता को बढ़ाने के लिए करना चाहिए। इसके लिए बोनस और पीस वर्क की व्यवस्था को भी अभी लागू करने में कोई हर्ज़ नहीं है। लेनिन ने आगे कहा कि ट्रेड यूनियनों को अनुशासन लागू करना होगा और काम छोड़ कर जाने की और अनुपस्थित रहने की प्रवृत्ति पर काबू पाने के लिए "अनुशासन के कामरेडाना ट्रिब्युनल" बनाने होंगे (इस प्रकार के अनुशासन को मज़दूर वर्ग के उन पिछड़े तत्वों पर मज़दूर वर्ग के उन्नत तत्वों द्वारा लागू किये जाने पर भी सुजीत दास की गहरी आपत्ति है, जो कि काम से अनुपस्थित रहते थे, अराजकता फैलाते थे, और समाजवादी निर्माण की प्रक्रिया को बाधित कर रहे थे; हालाँकि वह इसके लिए लेनिन पर सवाल उठाने की हिम्मत नहीं करते, और स्तालिन को निशाना बनाते हैं)। यहाँ यह बताना भी आवश्यक है कि ऐसे ट्रिब्यूनलों के सदस्यों का चुनाव भी स्वयं मज़दूर ही करते थे। लेकिन सुजीत दास के अनुसार ऐसे कदमों से मज़दूर वर्ग के बीच फूट पड़ गयी, वे विसंगठित हो गये, वगैरह-वगैरह। यह टटपुँजिया और लोकरंजकतावादी अनर्गल प्रलाप नहीं तो और क्या है? आगे लेनिन ने कहा कि वास्तव में ट्रॉट्स्की और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसिस में बहुत-सी चीज़ें समान हैं और उसमें सबसे

महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों ही सत्ता के प्रश्न को नहीं समझते हैं। एक तरफ़ ट्रॉट्स्की सर्वहारा अधिनायकत्व के सवाल को नौकरशाहाना तरीके से हल करना चाहते हैं, तो दूसरी ओर 'वर्कर्स अपोज़ीशन' इसे औपचारिक जनवाद के ज़रिये हल करना चाहता है। यह दोनों ही राजनीति को कमान में रखने की बजाय अर्थवाद को कमान में रखते हैं। **'एक बार फिर से ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर: ट्रॉट्स्की और बुखारिन की ग़लतियाँ'** में लेनिन ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' पर चोट करते हुए कहा कि क्रान्तिकारी हित को औपचारिक जनवाद के मातहत नहीं किया जाना चाहिए बल्कि जनवाद के प्रश्न को क्रान्तिकारी हित के मातहत किया जाना चाहिए, अन्यथा वह बुर्जुआ जनवाद की ओर ले जायेगा। लेनिन ने लिखा: **"रूसी कम्युनिस्ट पार्टी बिना किसी शर्त अपने केन्द्रीय और स्थानीय संगठनों के जरिये ट्रेड यूनियन कार्य के सभी विचारधारात्मक पक्षों का निर्देशन करना जारी रखेगी...ट्रेड यूनियन आन्दोलन के नेतृत्वकारी कार्यकर्ताओं का चुनाव पार्टी के मार्गदर्शनात्मक निर्देशन में होना चाहिए।"** (दसवीं कांग्रेस द्वारा ट्रेड यूनियनों की भूमिका और कार्यभारों पर अपनाये गये प्रस्ताव का सातवाँ बिन्दु)। यहाँ पर आप सुजीत दास की इस पूरी सोच का खण्डन लेनिन में देख सकते हैं कि ट्रेड यूनियनों को पूरी तरह से स्वायत्त होना चाहिए और उनके नेतृत्व के चुनाव में पार्टी का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, वगैरह। लेकिन यह तो सिर्फ़ एक मुज़ाहिरा है। आगे हम सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की पूरी अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी और विसर्जनवादी सोच पर लेनिन की अवस्थिति को उद्धरणों के साथ प्रदर्शित करेंगे और यह भी दिखलायेंगे कि सुजीत दास स्तालिन पर बिना वजह नाराज़ हुए जा रहे हैं!

हम लेनिन के कुछ उद्धरणों को यहाँ पेश कर रहे हैं जिससे ट्रॉट्स्कीपंथियों के दक्षिणपन्थी भटकाव और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव के बरक्स लेनिनवादी अवस्थिति स्पष्ट हो जायेगी। **'ट्रेड यूनियनें, मौजूदा स्थिति और ट्रॉट्स्की की ग़लतियाँ'** में लेनिन लिखते हैं:

"ट्रेड यूनियनें न सिर्फ़ ऐतिहासिक तौर पर ज़रूरी हैं, बल्कि वे औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के संगठन के तौर पर ऐतिहासिक तौर पर अपरिहार्य हैं, और, सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के तहत उन्हें समूचे सर्वहारा वर्ग को अपने में समेटना चाहिए।...एक तरफ़ ट्रेड यूनियनें, जो सभी औद्योगिक मज़दूरों को अपने में समेटती हैं, शासक, प्रभावी, और सरकार चला रहे वर्ग का संगठन हैं, जिस वर्ग ने अपनी तानाशाही कायम की है और राज्यसत्ता के ज़रिये वह ज़ोर-ज़बर्दस्ती का भी इस्तेमाल कर रहा है। लेकिन यह कोई राजकीय संगठन नहीं है; न ही यह ज़ोर-ज़बर्दस्ती के लिए बनाया गया है, यह तो शिक्षण के लिए बनाया गया है। यह संगठन अपने में वर्ग को शामिल करने और उसे प्रशिक्षित करने के लिए है; वास्तव में, यह एक स्कूल है: प्रशासन का स्कूल, आर्थिक प्रबन्धन का स्कूल, कम्युनिज़्म का स्कूल। यह एक बहुत ही असामान्य किस्म का स्कूल है, क्योंकि यहाँ कोई शिक्षक और विद्यार्थी नहीं है; यह उन चीज़ों का एक बेहद असामान्य मिश्रण है, जो कि हमें अनिवार्य तौर पर पूँजीवाद से विरासत में मिली हैं, और जो हमें उन्नत क्रान्तिकारी दस्ते की कतारों से मिला है, जिन्हें आप सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी हिरावल कह सकते हैं। इन सच्चाइयों पर ध्यान दिये बग़ैर ट्रेड यूनियनों के बारे में बात करने अर्थ है सीधे कई ग़लतियों के गड्ढे में जाकर गिरना।" (लेनिन, *'ऑन ट्रेड यूनियंस'*,

छठाँ मुद्रण, 1986, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृ. 370-71) यहाँ लेनिन ने ट्रॉट्स्की की ट्रेड यूनियनों के सवाल पर अवस्थिति पर चोट की है और बताया है कि ट्रेड यूनियनों को कभी भी राज्यसत्ता के मातहत नहीं किया जा सकता है। लेकिन पार्टी और ट्रेड यूनियन के रिश्तों का न तो "वामपन्थी" बचकाना सरलीकरण किया जा सकता है, जैसा कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ने किया है और न ही दक्षिणपन्थी नौकरशाहाना विकृतिकरण किया जा सकता है, जैसा कि ट्रॉट्स्की और बुखारिन ने किया। आगे लेनिन के इस लम्बे उद्धरण से ट्रेड यूनियनों, पार्टी, राज्यसत्ता और वर्ग के बीच के रिश्तों के बारे में एक सही समझदारी को निःसृत करना आसान होगा:

"सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की पूरी व्यवस्था में, ट्रेड यूनियनें पार्टी और सरकार के बीच में खड़ी हैं। समाजवाद की ओर संक्रमण में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही अपरिहार्य है, लेकिन यह किसी ऐसे संगठन के ज़रिये लागू नहीं की जा सकती है, जो कि समूचे औद्योगिक मज़दूरों को अपने में समेटता हो। क्यों नहीं?...दरअसल होता यह है कि पार्टी, हम कह सकते हैं कि, सर्वहारा वर्ग के हिरावल को अपने में आत्मसात करती है, और यह हिरावल सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को लागू करता है। इस तानाशाही को या सरकार के कार्यों को ट्रेड यूनियन जैसे आधार के बिना नहीं लागू किया जा सकता है। लेकिन, इन कार्यों को एक विशेष संस्था के माध्यम से किया जाना होता है, जिसे हम सोवियत कहते हैं। इस विशिष्ट स्थिति से क्या व्यावहारिक नतीजे निकाले जा सकते हैं? एक तरफ़ तो इसका यह अर्थ है कि ट्रेड यूनियनें हिरावल और जनसमुदायों के बीच के बीच की *कड़ी* हैं, और अपने रोज़मर्रा के कामों के ज़रिये वे जनसमुदायों में, यानी उस वर्ग के जनसमुदायों में, जो कि हमें पूँजीवाद से कम्युनिज़्म तक ले जाने में सक्षम एकमात्र वर्ग है, दृढ़ विश्वास पैदा करता है। दूसरी तरफ़, ट्रेड यूनियनें राज्यसत्ता का "संचित भण्डार" होती हैं। पूँजीवाद से कम्युनिज़्म के पूरे संक्रमणकाल में ट्रेड यूनियनें यही तो होती हैं। सामान्य अर्थों में, यह संक्रमण उस वर्ग के नेतृत्व के बिना पूरा नहीं किया जा सकता है, जो कि पूँजीवाद द्वारा बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए प्रशिक्षित एकमात्र वर्ग है और जो अकेला वर्ग है जो कि टटपुँजिया मालिक के हितों से अलग है। लेकिन सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को किसी ऐसे संगठन के द्वारा लागू नहीं किया जा सकता है जो कि इस पूरे वर्ग को समेटता हो, क्योंकि सभी पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग अभी भी इतना विभाजित, इतना विकृत, और कई हिस्सों में इतना भ्रष्ट (कुछ देशों में साम्राज्यवाद के द्वारा) है कि सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग को समेटने वाला कोई भी संगठन सीधे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को लागू नहीं कर सकता है। यह केवल एक हिरावल के ज़रिये लागू किया जा सकता है, जिसने कि पूरे वर्ग की क्रान्तिकारी ऊर्जा को आत्मसात किया हो। यह सबकुछ एक दन्त-चक्रों की व्यवस्था के समान है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की बुनियादी प्रणाली और पूँजीवाद से कम्युनिज़्म में संक्रमण का बुनियादी आधार ऐसा ही होता है। इतने से ही यह देखा जा सकता है कि कॉमरेड ट्रॉट्स्की जब अपनी पहली थीसिस में यह बताते हैं कि एक "विचारधारात्मक विभ्रम" है और एक संकट की बात करते हैं जो विशेष और विशिष्ट तौर पर ट्रेड यूनियनों में है, तो इस पूरी बात में बुनियादी तौर पर कुछ गड़बड़ है...यह ट्रॉट्स्की हैं जो कि "विचारधारात्मक विभ्रम" के शिकार हैं क्योंकि पूँजीवाद से कम्युनिज़्म तक संक्रमण के

दौर में ट्रेड यूनियनों की भूमिका के इस कुंजीभूत प्रश्न में वह इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ कर बैठे हैं कि यहाँ हमारे सामने दन्तचक्रों की एक जटिल व्यवस्था है; क्योंकि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को किसी सर्वहारा जनसंगठन के ज़रिये नहीं लागू किया जा सकता है। यह कई "संचरण पट्टियों" के बिना काम नहीं कर सकती, जो कि हिरावल से उन्नत वर्ग तक, और उन्नत वर्ग से मेहनतकश जनता के जनसमुदायों तक जाती हों। और रूस में यह जनता किसान जनता है..." (*वही*, पृ. 371-72)

यहाँ पर लेनिन वास्तव में सिर्फ़ ट्रॉट्स्की पर हमला नहीं कर रहे हैं, बल्कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसिस पर भी हमला कर रहे हैं, और इस मायने में यह हमला 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे सभी अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों पर है। यहाँ हम यह याद दिलाना चाहेंगे कि ट्रॉट्स्की और 'वर्कर्स अपोज़ीशन', दोनों ही ट्रेड यूनियनों को शासन के कार्य सौंपने की वकालत कर रहे थे। बस फर्क यह था कि ट्रॉट्स्की ट्रेड यूनियनों को यह कार्य राज्य के मातहत करके करवाना चाहते थे, और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' यह काम राज्य और पार्टी से स्वतन्त्र तौर पर ट्रेड यूनियनों को देना चाहता था, जिसका अर्थ वास्तव में समाजवादी संक्रमण और सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत वर्ग संघर्ष के दौर में, राज्यसत्ता और पार्टी की ज़रूरत को नकारना है। आगे के उद्धरणों में भी पहले हम लेनिन द्वारा ट्रॉट्स्की की आलोचना-सम्बन्धी उद्धरणों को पेश करेंगे और उसके बाद लेनिन द्वारा 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों की आलोचना पर आएँगे। लेकिन ट्रॉट्स्की की ग़लतियों के बारे में लेनिन द्वारा कही गयी हर सामान्य बात, जो कि ट्रॉट्स्की की पहुँच और पद्धति की आलोचना करती है, प्रकारान्तर से 'वर्कर्स अपोज़ीशन' पर भी लागू होती है। **और ऐसा होना लाज़िमी है क्योंकि ट्रॉट्स्की और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की अवस्थितियाँ वास्तव में एक-दूसरे की 'मिरर इमेज' ही हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि टटपुँजिया "वामपन्थी" बचकानापन और दक्षिणपन्थी अवसरवादी भटकाव भी एक-दूसरे की 'मिरर इमेज' होते हैं। इन सबका सामान्य आधार होता है राजनीति को कमान में न रखना और अर्थवाद को कमान में रखना।** देखें कि आगे लेनिन क्या कहते हैं:

"ऐसा जनसमुदायों के प्रति हमारी (यानी कि लेनिन और ट्रॉट्स्की की - अनु.) भिन्न *पहुँच* के कारण, उन्हें जीतने और *उनसे सम्पर्क कायम रखने* के अलग तरीकों के कारण है। यही पूरा मामला है। और यह ट्रेड यूनियनों को एक बेहद ख़ास संस्था बना देता है, जो कि पूँजीवाद के तहत बनीं थीं, जो पूँजीवाद से कम्युनिज़्म तक संक्रमण में अपरिहार्य रूप में बनी रहती हैं, और जिनके पूरे भविष्य पर एक प्रश्न चिन्ह है...अब जिस चीज़ से फर्क पड़ता है वह यह है कि जनता के प्रति किस प्रकार की पहुँच रखें और उन्हें कैसे जीतें, और किस तरह से संचरण की जटिल व्यवस्था को स्थापित करें (यानी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को किस प्रकार संचालित करें)।" (*वही*, पृ. 373-74) आगे लेनिन इस पूरे विचार को और विस्तार देते हैं, **"हमारा पार्टी कार्यक्रम... दिखलाता है कि हमारा राज्य एक मज़दूर राज्य है, *लेकिन नौकरशाहाना घुमाव के साथ.* ... तो, क्या यह कहना सही है कि व्यवहार में इस रूप में आकार ग्रहण करने वाले राज्य के तहत ट्रेड यूनियनों के पास रक्षा करने के लिए कोई चीज़ नहीं है, या कि हम एक बेहद संगठित सर्वहारा वर्ग के भौतिक और आत्मिक हितों की रक्षा करने का काम उनके बिना भी कर सकते हैं? नहीं, यह तर्कप्रणाली सैद्धान्तिक तौर पर ग़लत है...हमारे**

पास अब एक ऐसी राज्यसत्ता है जिसके तहत अपने आपको सुरक्षित करना एक बेहद संगठित सर्वहारा वर्ग का काम है, जबकि हम, अपनी तरफ़ से, मज़दूरों को उनकी ही राज्यसत्ता से सुरक्षित रखने के काम में, और हमारी राज्यसत्ता को सुरक्षित रखने के काम में, इन मज़दूर संगठनों का इस्तेमाल करेंगे।" (*वही*, पृ. 375-376) यहाँ लेनिन अपने सर्वश्रेष्ठ द्वन्द्वात्मक रूप में हैं। हम समझ सकते हैं कि सुजीत दास ने सिर्फ़ राज्यसत्ता से मज़दूर वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त के काम में ट्रेड यूनियन के उपयोग वाली लेनिन की बात को उद्धृत करने के लिए क्यों चुना, और क्यों ठीक उसके बाद आने वाले हिस्से को छोड़ दिया जिसमें लेनिन राज्यसत्ता को मज़बूत बनाने और सुरक्षित रखने में ट्रेड यूनियनों के उपयोग की बात करते हैं! जाहिर है कोई भी अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी इस हिस्से को उद्धृत नहीं करेगा। ट्रॉट्स्की और बुखारिन की आलोचना के अन्त में लेनिन कहते हैं कि वास्तव में उनके पूरे प्रस्ताव को लागू करने का अर्थ होगा ट्रेडयूनियनों को नौकरशाही के हाथों प्रताड़ित करवाना।

अब देखते हैं कि लेनिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की पूरी थीसिस के बारे में क्या कहते हैं, साथ ही यह भी ग़ौर करें कि लेनिन जिस-जिस नुक्ते पर उनकी आलोचना कर रहे हैं, क्या ठीक-ठीक उन्हीं नुक्तों पर 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास की आलोचना नहीं की जा सकती?

"यह कम्युनिज़्म से सीधे तौर पर रिश्ता तोड़ना है और संघाधिपत्यवाद की ओर संक्रमण है। सारतः, यह श्ल्याप्निकोव के उसी नारे "राज्य का यूनियनीकरण कर दो" का दुहराव है, और इसका अर्थ है टुकड़े-टुकड़े में सर्वोच्च आर्थिक परिषद (वेसेंखा) के पूरे ढाँचे को सम्बन्धित ट्रेड यूनियनों के हवाले कर देना...

"कम्युनिज़्म कहता है: कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा वर्ग की हिरावल है, वह ग़ैर-पार्टी मज़दूर जनसमुदायों का नेतृत्व करती है, शिक्षित करते, तैयार करते, ज्ञान और प्रशिक्षण देते हुए जनसमुदायों को–पहले मज़दूरों और फिर किसानों को–नेतृत्व देती है, ताकि वह उन्हें पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रशासन को अपने हाथ में केन्द्रित करने के योग्य बना सके।

"संघाधिपत्यवाद उद्योगों में विखण्डित गैर-पार्टी मज़दूर जनसमुदायों को उनके उद्योगों के प्रबन्धन का काम सौंप देता है, और इस प्रकार पार्टी को ग़ैर-ज़रूरी बना देता है, और इस प्रक्रिया में वह जनसमुदायों को प्रशिक्षित करने का कोई लम्बा अभियान चला पाने में भी असफल हो जाता है, और वास्तव में उनके हाथों में पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन को केन्द्रित कर पाने में भी असफल हो जाता है।" (लेनिन, दि पार्टी क्राइसिस, *'ऑन ट्रेड यूनियंस'*, छठाँ मुद्रण, 1986, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृ. 399-400) आगे देखें, **"अगर औद्योगिक प्रबन्धन के लोगों को ट्रेड यूनियनों के ही द्वारा, जिनके हर दस सदस्यों में से नौ ग़ैर-पार्टी मज़दूर हैं, नियुक्त करना है ("बाध्यताकारी नामांकन"), तो पार्टी की क्या ज़रूरत है?"** (*वही*, पृ. 400)

यहाँ ग़ौर करने की बात यह है कि सुजीत दास का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' के संस्करण और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के संस्करण के बीच में शर्मनाक तरीके से दोलन कर रहा है। इनमें से पहले धड़े का कहना था कि फैक्टरी कमेटियों (जिन्हें शायद सुजीत दास अज्ञानवश मज़दूर सोवियतें समझ बैठे हैं) को

अलग-अलग कारखानों का प्रबन्धन सौंप दिया जाना चाहिए, और दूसरे धड़े का मानना था कि एक-एक उद्योग के प्रबन्धन का काम अलग-अलग ट्रेड यूनियनों को सौंप दिया जाना चाहिए। अपने पूरे लेख में सुजीत दास कभी पहली वाली बात के पक्ष में खड़े दिखायी पड़ते हैं, तो कभी दूसरी बात के पक्ष में। **संक्षेप में, सुजीत दास का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद बेहद अराजकतावादी ढंग से अनिरन्तरता का शिकार है। कम-से-कम श्री दास को यह तय कर लेना चाहिए कि वह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के कौन-से संस्करण को मानते हैं!** ख़ैर, इससे लेनिन की अवस्थिति को स्वीकारने वालों पर कोई ख़ास फर्क नहीं पड़ता है कि श्री दास अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के कौन से संस्करण को स्वीकार करेंगे, या इनके मिश्रण से अपना कोई संस्करण बनायेंगे। आगे देखें लेनिन मज़दूर वर्ग की स्वत:स्फूर्तता पर अनालोचनात्मक तरीके से जश्न मनाने वाली इस प्रवृत्ति के बारे में क्या कहते हैं:

"इस भटकाव की सैद्धान्तिक रूप से सबसे पूर्ण और स्पष्ट रूप से परिभाषित अभिव्यक्ति तथाकथित 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ग्रुप की थीसिसें और साहित्यिक उत्पाद हैं। मिसाल के तौर पर, इसको इस ग्रुप द्वारा प्रतिपादित निम्न थीसिस पर्याप्त साफ तरीके से चित्रित कर देती है: "राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन को संगठित करने का काम एक अखिल-रूसी उत्पादक कांग्रेस का है जो कि औद्योगिक यूनियनों में संगठित होगी, जो कि वास्तव में गणराज्य की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को संचालित करने के लिए एक केन्द्रीय निकाय का चुनाव करेंगी।" इस और कई ऐसे ही कथनों की बुनियाद में जो विचार हैं वे सिद्धान्ततः मूल रूप में ग़लत हैं, और वास्तव में वे मार्क्सवाद और कम्युनिज़्म से एक सम्पूर्ण विच्छेद को दिखलाते हैं...

"मार्क्सवाद बताता है...कि केवल मज़दूर वर्ग की राजनीतिक पार्टी, यानी कम्युनिस्ट पार्टी ही सर्वहारा वर्ग के हिरावल और साथ ही समूची मेहनतकश आबादी को एकजुट करने, प्रशिक्षित करने और संगठित करने में सक्षम है, जो कि एकमात्र शक्ति है जो इस जनसमुदाय के अपरिहार्य टटपुँजिया दोलनों और सर्वहारा वर्ग के भीतर मौजूद संकीर्ण पेशा-केन्द्रित यूनियनवाद या पेशागत पूर्वाग्रहों का प्रतिरोध करने, और साथ ही समूचे सर्वहारा वर्ग की एकजुट गतिविधियों को निर्देशित करने में सक्षम होगी, यानी कि उसे राजनीतिक रूप से नेतृत्व देने, और इसके जरिये समूची मेहनतकश आबादी के सभी जनसमुदायों को नेतृत्व देने में सक्षम होगी। इसके बिना सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व असम्भव है।

"गैर-पार्टी सर्वहारा के सम्बन्ध में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका के बारे में, और मेहनतकश आबादी की समस्त जनसमुदायों से इन दोनों कारकों के सम्बन्ध के बारे में यह ग़लत समझदारी, कम्युनिज़्म से एक आमूलगामी सैद्धान्तिक प्रस्थान है और संघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद की ओर विचलन है, और यह विचलन वर्कर्स अपोज़ीशन के सभी दृष्टिकोणों के पोर-पोर में समाया हुआ है।" (लेनिन, **प्रिलिमिनरी ड्राफ्ट रिज़ोल्यूशन ऑफ दि टेन्थ कांग्रेस ऑफ आर.सी.पी. ऑन दि सिंडिकलिस्ट एंड एनार्किस्ट डेवियेशन इन अवर पार्टी**, *ऑन ट्रेड यूनियंस*, छठां मुद्रण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1986, पृ. 458-59) इसके कुछ ही आगे लेनिन लिखते हैं, **"...संघाधिपत्यवादी और अराजकतावादी एक तात्कालिक नारे के तौर पर कहते हैं "उत्पादकों की कांग्रेस या**

कांग्रेसें" जो कि आर्थिक प्रबन्धन के निकायों का "चुनाव करें"। इस प्रकार, सर्वहारा वर्ग की ट्रेड यूनियनों के सम्बन्ध में, ट्रेड यूनियनों के मेहनतकश जनता के अर्द्ध-टटपुँजिया या यहाँ तक कि पूरी तरह से टटपुँजिया जनसमुदायों से सम्बन्ध में, पार्टी की शिक्षणात्मक और संगठनात्मक भूमिका को पूरी तरह से गोल कर दिया गया है, ख़त्म कर दिया गया है, और अर्थव्यवस्था के नये रूपों के निर्माण के उस व्यावहारिक कार्य को जारी रखने और उसे सही करने की बजाय, जिसे कि सोवियत राज्यसत्ता ने पहले से ही शुरू कर दिया है, हमें इस काम में टटपुँजिया अराजकतावादी विघ्न मिलता है, जो कि केवल बुर्जुआ प्रतिक्रान्ति की तरफ़ ही ले जा सकता है।" (*वही*, पृ. 460)

इसी मसौदा प्रस्ताव में एक जगह लेनिन लिखते हैं: **"पहली बात तो यह कि "उत्पादक" की अवधारणा सर्वहाराओं को अर्द्धसर्वहाराओं और छोटे माल उत्पादकों के साथ मिश्रित कर देती है, जो कि वर्ग संघर्ष की अवधारणा से आमूलगामी प्रस्थान है और साथ ही इस बुनियादी माँग से भी प्रस्थान है कि वर्गों के बीच सटीक तौर पर फर्क किया जाय।**

"दूसरी बात यह है कि गैर-पार्टी जनसमुदायों को निमन्त्रण या उसके साथ खिलवाड़, जिसे कि ऊपर उद्धृत थीसिस में अभिव्यक्त किया गया है, वह भी मार्क्सवाद से उतना ही आमूलगामी प्रस्थान है।" (वही, पृ. 458)

यहाँ पर हम देख सकते हैं कि लेनिन की 'प्रत्यक्ष उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण' के बारे में क्या अवस्थिति थी। सुजीत दास ने अपने पूरे लेख में 'अलगाव बढ़ गया', 'प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण नहीं हुआ', 'पार्टी की तानाशाही हो गयी' जैसे अराजकतावादी पिटे-पिटाये जुमलों का अनगिनत बार इस्तेमाल किया है, यानी कि लगभग हर पेज पर। और इनका जवाब मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने समाजवाद के ठोस अनुभवों के आधार पर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही दे दिया था। लेकिन सुजीत दास हर विजातीय प्रवृत्ति का नये सिरे से आविष्कार करने पर आमादा हैं!

नेप के दौर में, यानी कि 1921 से 1929 तक, ट्रेड यूनियनों की स्थिति को लेकर सुजीत दास काफ़ी प्रसन्न दिखलायी देते हैं। ऊपर हमने 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का जो हिस्सा उद्धृत किया है, उसमें श्री दास ने कहा है कि 1929 में ट्रेड यूनियनें काफ़ी स्वतन्त्र थीं, और उनकी कारखानों के प्रशासन में अहम भूमिका थी! उनके अनुसार यह स्थिति 1930 में बदल गयी जब ट्रेड यूनियनों को राज्य के अधीन करना शुरू कर दिया गया और फिर मज़दूरों पर अनुशासन आदि के नियम थोपे जाने लगे, अनुपस्थिति आदि के लिए उन्हें दण्डित किया जाने लगा! जब-जब हमें लगता है कि सुजीत दास ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें संयोगवश कह जाते हैं, और यह महज़ एक 'स्लिप' या 'लैप्स' होगी, तब-तब श्री दास अपनी तर्जनी उठाकर हमें ऐसा सोचने से रोक देते हैं, और बताते हैं कि ऐसी विचित्र बातें वे संयोग से नहीं बल्कि नियम और आदत से करते हैं! इस कथन से उन्होंने फिर से दिखलाया है कि उन्हें 1917 से 1929 के सोवियत इतिहास के बारे में उतना ही पता है जितना कि अमेरिकी रिपब्लिकन, भूतपूर्व उपराष्ट्रपति पद उम्मीदवार सारा पालिन को अमेरिका की विदेश नीति के बारे में पता है! आइये देखें कि नेप के दौरान लेनिन के नेतृत्व में पार्टी द्वारा ट्रेड यूनियनों के क्या कार्यभार तय किये थे। इस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"सर्वहारा राज्य के तहत ट्रेड यूनियन सदस्यों से जिस चीज़ की आवश्यकता है वह

यह है कि वे कामरेडाना अनुशासन को और साथ ही मेहनतकश जनता के हितों की रक्षा के उद्देश्य के लिए मज़दूरों की शक्ति को एकजुट करने की ज़रूरत को समझें और साथ ही यह समझें कि वे मेहनतकश जनता की सरकार पर, यानी सोवियत सरकार पर भरोसा करें। सर्वहारा राज्यसत्ता को मज़दूरों को अपने कानूनी व भौतिक कारणों के लिए ट्रेड यूनियनों में संगठित होने के लिए प्रेरित करना चाहिए, लेकिन ट्रेड यूनियनों को समझना चाहिए कि उनके कर्तव्यों के बिना उनके कोई अधिकार भी नहीं हो सकते।" (लेनिन, **'ड्राफ्ट थीसिस ऑन दि रोल एण्ड फंक्शंस ऑफ दि ट्रेड यूनियंस अण्डर दि न्यू इकोनॉमिक पॉलिसी'**, *ऑन ट्रेड यूनियंस*, छठां संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, 1986, पृ. 466) इसी मसौदा थीसिस में लेनिन नेप के दौर में ट्रेड यूनियनों की भूमिका के बारे में लिखते हैं, और यह उद्धरण सुजीत दास द्वारा सोवियत संघ के इतिहास के मिथकीकरण को और अच्छी तरह से अनावृत्त कर देता है, **"...अभी देश में मौजूद हालात में, यह बिल्कुल अनिवार्य है कि कारखानों में सारा प्राधिकार प्रबन्धन (यानी, एक विशेषज्ञ व्यक्ति के हाथों में प्रबन्धन-अनुवादक) के हाथों में केन्द्रित हो...इन परिस्थितियों में, कारखानों के प्रबन्धन में ट्रेड यूनियनों के सभी प्रत्यक्ष हस्तक्षेपों को निश्चित तौर पर हानिकारक माना जाना चाहिए और यह माना जाना चाहिए कि इसकी कतई आज्ञा नहीं दी जा सकती है।"** (*वही*, पृ. 467) आगे लेनिन ट्रेड यूनियनों के कार्यभार के तौर पर बताते हुए कहते हैं कि ट्रेड यूनियनों को मज़दूरों के बीच से हर प्रकार के संकीर्ण विचारों को हटाना चाहिए और उन्हें समझाना चाहिए कि उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण का अर्थ अलग-अलग कारखानों या अलग-अलग उद्योगों में मज़दूरों का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण नहीं, बल्कि पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजन में मज़दूर वर्ग की राज्यसत्ता और पार्टी के ज़रिये मज़दूर वर्ग का नियन्त्रण है। नेप के दौर में ट्रेड यूनियनों की भूमिका और स्थिति के बारे में कोई भी बात करते समय सुजीत दास को ऐसा ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रुख़ नहीं अपनाना चाहिए था; उन्हें अगर नेप के दौर में ट्रेड यूनियनों के बारे में अपनी बात कहनी थी, तो कम से कम वह दस्तावेज़ तो पढ़ लेना चाहिए था जो ख़ास तौर पर इसी विषय पर केन्द्रित है।

ट्रेड यूनियन और पार्टी के रिश्तों के बारे में, ट्रेड यूनियनों की सर्वहारा अधिनायकत्व के दौर में भूमिका के बारे में और साथ ही पार्टी द्वारा ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व के बारे में लेनिन की रचनाओं से ऐसे दर्जनों और उद्धरण दिये जा सकते हैं। लेकिन हमें लगता है कि उपरोक्त उद्धरणों से अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव और ट्रॉट्स्की-बुखारिन धड़े के दक्षिणपन्थी भटकावों की इन बुनियादी सवालों पर ग़लतियों के विषय पर लेनिन की अवस्थिति पर्याप्त साफ़ हो चुकी है। अगले अहम सवाल, यानी की पार्टी के चरित्र और प्रकृति के सवाल पर जाने से पहले, हम एक छोटी-सी टिप्पणी से अपनी बात ख़त्म करेंगे। ट्रॉट्स्की की अवस्थिति तार्किक तौर पर निरन्तरतापूर्ण थी और साथ ही सर्वहारा वर्ग दृष्टिकोण से विजातीय थी, इसलिए लेनिन ने शुरुआती दौर में ही उस पर ज़्यादा ध्यान दिया और दो लम्बे लेख लिखे। लेकिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की पूरी सोच को, जो कि सुजीत दास की सोच भी है, लेनिन हास्यास्पद मानते थे। इसकी तुलना में ट्रॉट्स्की की अवस्थिति को लेनिन सही अवस्थिति के अपेक्षाकृत ज़्यादा करीब मानते थे। इस उद्धरण से यह बात साफ़ हो जाती है:

"श्ल्याप्निकोव (वर्कर्स अपोज़ीशन की तरफ़ से) संघाधिपत्यवादी अवस्थिति को पढ़ते हैं जिसे ट्रॉट्स्की ने पहले ही तहस-नहस कर दिया था (ट्रॉट्स्की के मंच की

थीसिस संख्या 16) और जिसे (आंशिक तौर पर शायद इसी वजह से) कोई भी गम्भीरता से लेने के लिए तैयार नहीं है।" ((लेनिन, **दि पार्टी क्राइसिस**, *ऑन ट्रेड यूनियंस*, छठां मुद्रण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1986, पृ. 396) वास्तव में स्वयं लेनिन भी गम्भीरता से नहीं लेते थे। पार्टी कांग्रेस में 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसिस को साप्रोनोव ने पेश किया था। देखिये इसके बारे में लेनिन क्या कहते हैं: **"एक ही थीसिस (3) में ये साप्रोनोवाइट लोग 'एक गहरे संकट' और ट्रेड यूनियनों के 'नौकरशाहाना परिगलन' की बात करते हैं, और साथ ही 'बिल्कुल' ज़रूरी कार्यभार के तौर पर, उत्पादन में ट्रेड यूनियनों के *अधिकारों* के विस्तार' की बात भी करते हैं...शायद उनके 'नौकरशाहाना परिगलन' के कारण? क्या इस ग्रुप को गम्भीरता से लिया जा सकता है?"** (लेनिन, *कलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड 32, फॉरेन लैंग्वेजेज़ प्रेस, मॉस्को, चौथा अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 51-52) स्पष्ट है कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद को 1921 आते-आते कोई गम्भीरता से भी नहीं लेता था, जिसमें कि स्वयं लेनिन भी शामिल हैं। और इसके कारणों को समझना ज़्यादा कठिन नहीं है।

यहाँ लेनिन का यह दृष्टिकोण बिल्कुल साफ है कि ट्रेड यूनियनों की सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवादी संक्रमण के पूरे ऐतिहासिक कालखण्ड में क्या भूमिका होनी चाहिए और उसमें किस प्रकार बदलाव होना चाहिए। उपरोक्त उद्धरणों में लेनिन राज्य और सोवियत, पार्टी और सोवियत, राज्य और ट्रेड यूनियन, पार्टी और ट्रेड यूनियन के आपसी सम्बन्धों बारे में कुछ महत्वपूर्ण बातें कहते हैं। इससे पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका हर जगह पर स्पष्ट है; चाहे वह सोवियतें हों या ट्रेड यूनियनें। लेकिन सुजीत दास इसी बात पर सवाल उठाते हैं। वह बार-बार अपने लेख में इस किस्म की बातें करते हैं कि शासन वर्ग की बजाय पार्टी के हाथ में था; पार्टी की इच्छा को वर्ग की इच्छा मान लिया गया था; पार्टी ने वर्ग को अपदस्थ कर दिया था, या यह कि पार्टी वर्ग का स्थानापन्न बन गयी थी। ऐसे में यह सवाल उठाना ज़रूरी हो गया है कि **पार्टी आख़िर होती क्या है? पार्टी की लेनिनवादी समझदारी क्या है? सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और सर्वहारा वर्ग के राज्य में पार्टी की भूमिका और स्थान क्या है?** कुछ बातें ऊपर आयीं हैं जिससे लेनिन का यह विचार हमें पहले ही पता चल चुका है कि सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान

उपकरण सर्वहारा वर्ग की पार्टी होती है और सर्वहारा अधिनायकत्व को लागू करने का काम पार्टी करती है। लेकिन इस विषय पर और स्पष्टता की ज़रूरत है। पार्टी के सवाल पर पहले हम सुजीत दास की पूरी समझदारी पर कुछ बातें कहना चाहेंगे और उसके बाद हम लेनिन को उद्धृत करते हुए इस विषय पर लेनिनवादी सोच को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

ख) वर्ग, पार्टी और राज्यसत्ता के अन्तर्सम्बन्धों के प्रश्न पर 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद

बेहतर है कि सुजीत दास के विचारों की व्याख्या शुरू करने से पहले उन्हें ही बोलने दिया जाय। पार्टी और पार्टी की भूमिका के बारे में सुजीत दास की पूरी समझदारी उनके ही तमाम कथनों से स्पष्ट हो जाती है।

"...अगर वर्ग संगठन, यानी, उत्पादक वर्ग/वर्गों का अपना संगठन हर दिन बढ़ता नहीं जा रहा है, तो प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के सम्बन्धों से अलगाव घट नहीं सकता है। लेकिन अगर इस वर्ग की राजनीतिक शक्ति विकसित नहीं हो रही है, तो यह शक्ति किसी छोटी सी मण्डली के हाथों में केन्द्रित हो जायेगी – चाहे इसके विपरीत कुछ भी कहा जाय। फिर, प्रत्यक्ष उत्पादक के इस अलगाव को कैसे दूर किया जा सकता है? सोवियतें सोवियत संघ में वह संस्था हो सकती थीं जिनके जरिये प्रत्यक्ष उत्पादकों की राजनीतिक शक्ति मूर्त रूप ले सकती थी। लेकिन सामूहिकीकरण आन्दोलन के पूरे कालखण्ड के दौरान यह देखा गया कि किसानों की सोवियतों की भूमिका परिधिगत थी। वे संस्थाएँ क्रमिक प्रक्रिया में मज़बूत नहीं बल्कि, कमज़ोर बनती गयीं; राज्य और पार्टी सापेक्षिक तौर पर मज़बूत बनते गये। सामूहिकीकरण आन्दोलन के पूरे कालखण्ड के दौरान, किसान समितियों को बस ऊपर से, यानी पार्टी से आने वाले निर्णयों पर सिर हिलाकर सहमति देने की भूमिका में धकेल दिया गया था।" (पृ. 82-83, *'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन'*, फरवरी 2008) और देखें: ***"...सर्वहारा अधिनायकत्व मात्र कागज़ों पर रह गया, वास्तव में सारी राजनीतिक शक्ति पार्टी के हाथ में केन्द्रित हो गयी।"*** (*वही*, पृ. 84) यह भी देखें, ***"...राजनीतिक सत्ता मज़दूर वर्ग के हाथ में केंद्रित नहीं हो रही थी, बल्कि मज़दूर वर्ग पार्टी और राज्य के प्रति दासवत एक सामाजिक शक्ति बनता जा रहा था। ट्रेड यूनियनें जो कि उनका अपना संगठन थीं, वे या तो विलोपित होती जा रही थीं, या फिर उन्हें पार्टी और राज्य का गुलाम बनाया जा रहा था।"*** (*वही*, पृ. 86) लेकिन यह तो सिर्फ़ शुरुआत थी! इस लम्बे उद्धरण में सुजीत दास ने अपनी और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन की पूरी सोच को एकदम खोल कर रख दिया है:

"अगर "चेतना" को निर्धारक भूमिका अदा करनी है, तो इसे "हिरावल" की चेतना बनना होगा। मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को उसका वाहक बनना होगा और इस चेतना से लैस हिरावल बनना पड़ेगा। यह हिरावल हिस्सा ही "पार्टी" होगा। ***इसके विपरीत, समाजवादी क्रान्ति पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने के बाद पूरे मज़दूर वर्ग को सम्पूर्ण रूप से सत्ता में पहुँचाती है, स्वयं पार्टी को नहीं।*** *यह हमें एक अन्तरविरोध की तरफ़ ले जाता है। निर्धारक भूमिका हिरावलों, दूसरे शब्दों में पार्टी द्वारा निभाई गयी थी, हालाँकि, कम से कम सैद्धान्तिक तौर पर मज़दूर वर्ग सत्ता में होता है।* ***पार्टी ने यह सोचना शुरू कर दिया कि वर्ग पिछड़ा हुआ है, वर्ग में किसान और निम्न पूँजीवादी तत्व बचे हुए हैं। इसलिए वह सम्पूर्णता को नहीं देख सकता है। इसलिए पार्टी ने अपने नज़रिये को वर्ग पर थोपना शुरू कर दिया। दूसरी तरफ़ वर्ग ने यह सोचना शुरू कर दिया कि उसकी अपनी पार्टी ही उसके वर्ग हितों की उपेक्षा कर रही है। यह अन्तरविरोध सोवियत संघ में नेप के दिनों से ही था। ट्रेड यूनियनें और सोवियतें मज़दूरों के हितों की नुमाइन्दगी कर रही थीं और प्रबन्धक राज्य की आधिकारिक नीतियों की लागू कर रहे थे। ये दोनों एक-दूसरे के ख़िलाफ़ जा रहे थे।*** *संघर्ष अपरिहार्य हो गया। यह समस्या 1930 के दशक में बेहद तीक्ष्ण हो गयी।* ***मज़दूरों के हिरावल ने सोचा कि मज़दूरों के वे पिछड़े हिस्से जो मज़दूर राज्य की आवश्यकता को नहीं समझ सकते, वे बुनियादी तौर पर "निम्न पूँजीवादी" और "किसान" हैं। क्योंकि अगर वे सच्चे मज़दूर होते (यानी, अगर वे हिरावल होते), तो उन्होंने उस पल की अनिवार्यता को समझा होता। इसलिए अगर उन्हें ट्रेड यूनियनों व अन्य माध्यमों की ज़रिये मज़बूत किया जाता, तो वे पूँजीवाद के हितों को आगे बढ़ाते।***

इस प्रकार ट्रेड यूनियनों की गतिविधियों को रोका गया। इसकी प्रतिक्रिया में वर्ग एक बार फिर पार्टी से अलगावग्रस्त हो गया। इस समस्या को सही तरीके से हल नहीं किया जा सका; इसलिए समाजवाद के इतिहास में एक निहित तरीके से तय किया गया कि "वर्ग" और उसका "हिरावल", यानी कि "पार्टी" एक ही हैं। इस तरह से पार्टी के हाथ में जो सत्ता थी उसे वर्ग की सत्ता मान लिया गया। और इस कारण के चलते, वर्ग की अपनी सत्ता के केन्द्र यानी सोवियतें गैर-ज़रूरी हो गयीं, वर्ग अपने सभी स्वतन्त्र संगठनों को खो बैठा, पार्टी हर चीज़ की निर्धारक बन गयी।...पार्टी वर्ग से कटी हुई, वर्ग के ऊपर, और वर्ग के दायरों से बाहर का एक संगठन सिद्ध हुई। *इसका परिणाम वही हुआ जिसकी अपेक्षा की जा सकती थी। कम्युनिस्ट पार्टी की विचारधारात्मक बुनियाद मज़दूर वर्ग की एक वर्ग के तौर पर बुनियाद डालती है और यह सुनिश्चित करती है इस अवलम्ब को वर्गों के निरन्तर संघर्ष से हासिल करे। इस प्रकार, वर्ग से कटी हुई एक पार्टी अपरिहार्य रूप से बुर्जुआ वर्ग की तरफ़ झुकने के अनुकूल वस्तुगत स्थिति को प्राप्त करती है। यह प्रक्रिया स्तालिन काल में शुरू हुई और बाद के दिनों में ख्रुश्चेव के साथ पूरी हुई। दूसरी बात, चूँकि पार्टी अपने वर्ग से कटी हुई थी, इसलिए राज्य और उत्पादन के साधन जो कि पार्टी के द्वारा संचालित हो रहे थे, वे भी वर्ग से कट गये। पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूर पूँजीपतियों के मालिकाने के उत्पादन के साधनों से अलगावग्रस्त होता है, मज़दूर के पास उत्पादन प्रक्रिया और वितरण के बारे में तय करने का कोई अधिकार नहीं होता; और सोवियत संघ में, मज़दूर राजकीय मालिकाने वाले उत्पादन के साधनों से अलगावग्रस्त हो गये। यह स्थिति मज़दूरों के पार्टी से अलगावग्रस्त हो जाने के कारण पैदा हुई थी।...मज़दूर वर्ग बिखरा हुआ था, मज़दूर सोवियतें तनावयुक्त थीं, यहाँ तक कि ट्रेड यूनियनें भी काम नहीं कर रही थीं, लेकिन ऐसी स्थिति में कहा गया कि मज़दूर वर्ग की राजनीतिक सत्ता का रूप "सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व" है। सोवियत संघ के राजनीतिक साहित्य में, यह कभी ज़िक्र नहीं किया गया था कि "सर्वहारा वर्ग की तानाशाही" "पार्टी की तानाशाही" के ज़रिये व्यवहार में आयेगी। यह कभी नहीं कहा गया था कि मज़दूर वर्ग की तानाशाही और पार्टी की तानाशाही एक ही चीज़ हैं। बल्कि इसके विपरीत पर काफ़ी ज़ोर दिया गया था। अक्टूबर क्रान्ति के शुरुआती कुछ वर्षों को छोड़ दें, जब सोवियतें जीवित थीं, तो मज़दूरों की तानाशाही की बार-बार घोषणाओं के बावजूद हमने कभी इस प्रकार की तानाशाही नहीं देखी थी। और अगर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही ने रूप ग्रहण नहीं किया है, तो बहुसंख्या के लिए जनवाद कैसे स्थापित हो सकता है?...इसी प्रकार राज्य के अस्तित्व और उसके विलोपीकरण के अन्तरविरोध को भी तत्कालीन सोवियत संघ द्वारा हल नहीं किया जा सका। लेनिन ने अपनी पुस्तक "राज्य और क्रान्ति" में दिखलाया था कि राज्य जितना जनवादी बनता जाता है, उसके "विलोपीकरण" के लिए स्थिति उतनी ही अनुकूल बनती जाती है। अगर मज़दूरों की तानाशाही रूप ग्रहण नहीं करती, तो राज्य कभी भी बहुसंख्यक नागरिकों को जनवाद नहीं दे सकता है। चूँकि अगर वर्ग के पास अपनी राजनीतिक सत्ता का केन्द्र नहीं है, तो उस राज्य को बचाने के लिए वह कभी हथियारबन्द नहीं होता, जो बहुसंख्या को जनवाद देता है और उत्पादन और वितरण पर "नियन्त्रण" स्थापित करने और साथ ही श्रम पर और श्रम द्वारा उत्पादित माल का "लेखा-जोखा" रखने का अधिकार देता है।"* (वही, पृ. 95-97, ज़ोर हमारा)

इस पूरे उद्धरण में जो बातें आयी हैं, उनमें से कई बातों को तो कोई मतलब ही नहीं है,

इसलिए उनका खण्डन करना भी सम्भव नहीं है। मिसाल के तौर पर सुजीत दास का मानना है कि चेतना हिरावल के बाहर कहीं अस्तित्वमान होती है और उसे हिरावल की चेतना बन जाना होता है। यह सर्वहारा चेतना के पैदा होने की पूरी प्रक्रिया को नहीं समझने के समान है। सर्वहारा चेतना पहले से प्रदत्त नहीं होती, बल्कि वर्गों के संघर्षों और उन संघर्षों के अनुभवों के हिरावल द्वारा वैज्ञानिक समाहार के ज़रिये निःसृत होती है। इसलिए हिरावल का संघटन ही सर्वहारा चेतना के आत्मसातीकरण के ज़रिये होता है। लेकिन सुजीत दास के अनुसार यह चेतना पता नहीं कहाँ से समाज में पहले से मौजूद होती है, और बस उसे हिरावल की चेतना "बन" जाना होता है। इसी प्रकार श्री दास कहते हैं कि पार्टी वर्ग को एक वर्ग के तौर पर स्थापित करती है। यहाँ पर भी वर्ग चेतना और राजनीतिक वर्ग चेतना में सुजीत दास उस फर्क को नहीं समझते जो कि लेनिन ने बताया था। वर्ग 'अपने आप में वर्ग' (क्लास-इन-इटसेल्फ) से 'अपने लिए वर्ग' (क्लास-फॉर-इटसेल्फ) में अपने संघर्षों के साथ ही तब्दील होने लगता है, लेकिन बिना पार्टी के वह राजनीतिक सत्ता के प्रश्न तक नहीं पहुँच सकता। राजनीतिक चेतना मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में बाहर से ही आ सकती है, जैसा कि लेनिन ने 'क्या करें?' में बताया था। लेकिन इस मामले में श्री दास लेनिनवादी अवस्थिति को नहीं मानते बल्कि अपनी एक नयी 'दासवादी' अवस्थिति पैदा करने में व्यस्त हैं! एक और मिसाल पर ग़ौर करें।

ऊपर के उद्धरणों में आप 'अलगाव' और 'अलगावग्रस्त' शब्दों का प्रयोग देखें, जिन्हें हमने आपकी सुविधा के लिए अलग से रेखांकित कर दिया है। एक बात स्पष्ट है कि सुजीत दास अलगाव की मार्क्सवादी समझदारी से काफ़ी दूर हैं। वह अलगाव का इस्तेमाल रोज़मर्रा की भाषा में इस शब्द के प्रयोग की तर्ज़ पर करते हैं, जैसे कि 'फलाँ का फलाँ से अलगाव हो गया', 'फलाने अलगाव का शिकार है', वगैरह! सुजीत दास के 'प्रत्यक्ष उत्पादक' भी इन्हीं अर्थों में उत्पादन के साधनों से 'अलगावग्रस्त' हो जाते हैं; उसके बाद पार्टी वर्ग से 'अलगावग्रस्त' हो जाती है; फिर राज्य भी वर्ग से 'अलगावग्रस्त' हो जाता है; फिर ट्रेड यूनियन भी वर्ग से अलगावग्रस्त हो जाती है...अन्त में, ऐसा लगता है कि हर चीज़ बाकी चीज़ों से अलगावग्रस्त हो गयी है! अलगाव की ऐसी अखबारी बचकानी समझदारी से सुजीत दास ने सोवियत संघ में अलगाव के विश्लेषण की जो परियोजना हाथ में ली है, वह और कुछ नहीं करती, तो अन्त में कुछ मनोरंजन तो ज़रूर करती है! अलगाव की पूरी मार्क्सवादी समझदारी क्या है, सोवियत संघ में अलगाव की परिघटना से समाजवादी राज्य कैसे निपटा, इस प्रक्रिया में किस हद तक वह सफल रहा और कहाँ से उसकी असफलता शुरू होती है, इसके बारे में कुछ बातें हम ऊपर कह आये हैं, जिन्हें हम यहाँ दुहरायेंगे नहीं, और कुछ बातें हम आगे कहेंगे।

इन उद्धरणों में कुछ बातें ऐसी हैं जो कि ज़बरन लेनिन और उनके नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी के मुँह में ठूँस दी गयी हैं। इन बातों का खण्डन करने के लिए हम स्वयं लेनिन को ही आगे उद्धृत करेंगे। यहाँ पर भी हम देख सकते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी अवधारणा के इमले के बारे में भी सुजीत दास को कुछ पता नहीं है। अपने इस अज्ञान की भरपाई वह अपनी कल्पनाओं और बचकाने सैद्धान्तिकीकरण से करते हैं। मिसाल के तौर पर, सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी लेनिनवादी सोच को **गॉर्टर, रूले, पान्नेकोएक** जैसे डच "वामपन्थी" कम्युनिस्टों और **पॉल मात्तिक** जैसे काउंसिल कम्युनिस्टों के मज़दूर जनवाद की सोच में अपचयित कर दिया गया है। आगे हम इन बचकाने "वामपन्थी" सूत्रीकरणों से सुजीत

दास की गहरी मित्रता को भी "वामपन्थी" कम्युनिस्टों, और यहाँ तक कि काऊत्स्की जैसे सामाजिक-जनवादियों, वॉरेल जैसे ट्रॉट्स्कीपंथियों के उद्धरणों के ज़रिये प्रदर्शित करेंगे और साथ ही यह भी दिखलाएँगे कि लेनिन इन सभी सूत्रीकरणों के प्रति कितनी नफ़रत रखते थे। लेकिन पहले हम सुजीत दास को ही थोड़ा और उद्धृत करके पाठकों को थोड़ी और यातना देने की आज्ञा चाहेंगे, क्योंकि सबसे पहले सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे राजनीतिक नौदौलतियों की पूरी सोच को सम्पूर्णता में सामने रखना ज़रूरी है। आगे देखें श्री दास के वैचारिक विचरण कहाँ तक जाते हैं:

"चूँकि समाजवादी मालिकाने का शाब्दिक तौर पर यही अर्थ है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का मालिकाना हो, इसलिए कोई पार्टी या इसका सबसे बड़ा शुभचिन्तक राज्य भी प्रत्यक्ष उत्पादकों के स्थान पर उस मालिकाने को नहीं ले सकता...मज़दूरों की तानाशाही वह राजनीतिक मूर्त रूप है जिसके जरिये पार्टी नहीं बल्कि पूरा वर्ग अपने वर्चस्व को स्थापित करता है और इसके बूते पर उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया पर नियन्त्रण लागू करता है।...हमने देखा है कि सोवियत संघ में समाजवाद के लिए संघर्ष के सबसे गौरवशाली दौर में, यानी कि तीस के दशक के दौरान, वर्ग उत्पादन प्रक्रिया से <u>अलगावग्रस्त</u> था, वर्ग संगठन कमज़ोर होने लगा था और मज़दूरों की तानाशाही की अवधारणा महज़ शब्दों में ही रह गयी थी" (*वही*, पृ. 98-99) और इसके बाद सुजीत दास अपने विचारधारात्मक निर्वाण को इस तरह से प्राप्त होते हैं: *"पहले की सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में, प्रभावी व्यवस्थाओं के साथ निरन्तरता में, सत्ता लगातार केवल ग्रुपों के हाथ में, यानी वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली पार्टियों के हाथ में सीमित हो गयी थी। उस वर्ग ने वर्ग की ही अवहेलना करते हुए सत्ता हथिया ली थी (फासीवाद ने, प्रभावत:, इस वर्ग को विभाजित कर दिया था)।"* (*वही*, पृ. 99) और अन्त में सुजीत दास कालदोषात्मक रूप में सोवियत समाजवाद और तीस के दशक की पार्टी को अपनी सारगर्भित शिक्षा देते हैं, *"इसलिए समाजवाद में "हिरावल" को यह समझना होगा कि उसका हिरावलपन्थ एक तरफ़ तो एक ऐतिहासिक वस्तुगतता है, और वहीं दूसरी तरफ़ हिरावल का यह चेतन कार्यक्रम होना चाहिए कि वह हिरावल और पिछड़े के बीच का फर्क मिटाये। दूसरे शब्दों में हिरावल को अपने ही अस्तित्व को लगातार खत्म करना चाहिए...इस अन्तर को ख़त्म करने की प्रक्रिया को शुरू करने के लिए सचेतन प्रयास और केवल "विचारधारात्मक नेतृत्व" तक सीमित रूप में हिरावल की भूमिका को बिना रुके हुए चलाया जाना चाहिए। इसका संगठनात्मक रूप होगा पार्टी के महत्व को घटाते जाना और वर्ग संगठन की भूमिका के महत्व को बढ़ाते जाना...इसके विपरीत, जिस हद तक हिरावल और पिछड़े का फर्क समाज में बना रहेगा, जिस हद तक हिरावल का "पार्टी" संगठन पिछड़ों के संगठन से ज़्यादा ताक़तवर होगा, जिस हद तक वर्ग द्वारा सत्ता हासिल किये जाने की प्रक्रिया को रोका जायेगा, ठीक उसी हद तक सभी सामाजिक गतिविधियों में पार्टी निर्धारिक स्थिति में आ जायेगी और वर्ग का उत्पादन के साधनों से <u>अलगाव</u> बढ़ जायेगा।"* (*वही*, पृ. 100)। बस अब हम पाठकों के सब्र का और इम्तहान नहीं लेंगे!

आप देख सकते हैं कि सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की पूरी थीसिस क्या है। **यह साफ़ तौर पर पार्टी को वर्ग के ख़िलाफ़ खड़ा करना है।** इस पूरे बयान में पार्टी एक ऐसी ताक़त के रूप में आती है, जो वर्ग को सत्ता से वंचित कर देती है; जो मज़दूर वर्ग (जिसे बार-बार श्री दास एक व्यापक शब्द 'प्रत्यक्ष उत्पादक' से दिखलाते हैं, और जो कि

बिल्कुल ग़लत है) के राजनीतिक केन्द्रों और सत्ता के केन्द्रों को निष्प्रभावी बनाती जाती है, यानी कि सोवियतें और ट्रेड यूनियनें; जो ऐसा करते हुए उत्पादन के साधनों पर राजकीय मालिकाना कायम कर लेती है और 'प्रत्यक्ष उत्पादकों' को इससे अलगावग्रस्त कर देती है; उत्पादन के साधनों के समाजीकरण में पार्टी ऐसा करके बाधा डालती है; सर्वहारा अधिनायकत्व को पार्टी लागू करने लगती है (इस पर सुजीत दास काफ़ी चकित और हक्का-बक्का हैं, और उन्हें लगता कि सोवियत संघ के राजनीतिक साहित्य में तो ऐसा कभी कहा नहीं गया था, और ज़रा देखिये पार्टी ने कैसे मज़दूर वर्ग को कितनी कुशलता से गच्चा दे दिया!); पार्टी एक समूह थी जिसने वर्ग की नुमाइन्दगी का दावा किया और सत्ता निगल गयी! और सुजीत दास के लिए इस मायने में इतिहास के पहले की शोषक राजसत्ताओं और सोवियत राजसत्ता में कोई फर्क नहीं था! श्री दास मानते हैं कि पार्टी ने अपनी इच्छा वर्ग पर थोपनी शुरू कर दी; उसने अपने शासन को वर्ग का शासन बता दिया, वगैरह-वगैरह। 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की इस पूरी समझदारी को रखने के साथ सुजीत दास अलग से कुछ बातें लिख देते हैं, जिससे कि वह पाठक को याद दिलाते हैं (या शायद खुद को भी याद दिलाते हैं) कि वह एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी हैं। जैसे कि तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी मूर्खतापूर्ण बातों को लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के मुँह में डालने, स्तालिन काल की पार्टी (वास्तव में दास का निशाना सिर्फ़ स्तालिन काल और 1930 के दशक की पार्टी नहीं बल्कि 1917 से 1953 तक के समूचे कालखण्ड की बोल्शेविक पार्टी पर है, और विशेषकर लेनिन पर है) पर जमकर कीचड़ उछालने के बाद वह बीच-बीच में लिख देते हैं कि 'पार्टी में क्रान्तिकारी थे', 'सामूहिकीकरण का गौरवशाली आन्दोलन', वगैरह-वगैरह। **लेकिन उनका पूरा तर्क और पूरी अवस्थिति वास्तव में बीसवीं सदी के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों से भी कहीं गयी-गुज़री है।** इसका एक कारण यह भी है कि उस समय के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी कम-से-कम किसी भी विषय पर थोड़ा पढ़कर लिखते थे। लेकिन सुजीत दास ने तो मारकेस के 'जादुई यथार्थवाद' का अनुसरण करते हुए और कल्पना की सारी तार्किक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए सोवियत संघ के इतिहास का मिथकीयकरण किया है।

सबसे पहले हम आपको यह दिखाना चाहेंगे कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी होने का दावा करने वाले इन लोगों की ज़्यादा करीबी किनसे है। हम इसके लिए सोवियत समाजवाद के कुछ शुरुआती आलोचकों और बोल्शेविक पार्टी के बीच हुई कुछ बेहद अहम सैद्धान्तिक बहसों का संक्षिप्त ब्यौरा देंगे और दिखलाएँगे कि सुजीत दास की अवस्थिति न सिर्फ़ अराजकतावादी संघाधिपत्यवादियों की अवस्थिति है, बल्कि उस पर काऊत्स्की जैसे संशोधनवादियों, ऑस्ट्रेलियाई त्रात्स्कीपन्थी वॉरेल, सिमोन वील और रिज़्ज़ी जैसे मार्क्सवाद के सचेतन विरोधियों आदि जैसे लोगों का भी गहरा प्रभाव है। उसके बाद हम पार्टी और वर्ग व पार्टी और राज्यसत्ता के रिश्तों के बारे में लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों को आपके सामने रखेंगे। लेकिन पहले आपको सुजीत दास के वास्तविक विचारधारात्मक पूर्वजों से परिचित कराते हैं, जिसमें कि तमाम ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद, अराजकतावाद और विसर्जनवाद के पुरोधाओं समेत, काऊत्स्की आदि जैसे संशोधनवादी भी शामिल हैं। आगे तथ्यों, तर्कों और उद्धरणों समेत हम अपनी इस बात को पुष्ट करेंगे।

बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में अक्टूबर क्रान्ति के बाद जो सर्वहारा सत्ता अस्तित्व में आयी

उसके प्रमुख आलोचकों में द्वितीय इण्टरनेशनल और जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के नेता **कार्ल काऊत्स्की** प्रमुख थे। काऊत्स्की अपने पतन से पहले विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के एक निर्विवाद नेता थे और कृषि प्रश्न समेत कई अहम मुद्दों पर उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्त में महत्वपूर्ण इज़ाफ़े भी किये। लेकिन साम्राज्यवाद के दौर में पहले बड़े युद्ध, यानी, प्रथम विश्वयुद्ध के साथ, इस पीढ़ी के उन सामाजिक-जनवादियों का पतन उभर कर सतह पर आ गया, जो कि उन्नत देशों में मज़दूर आन्दोलनों के एक हिस्से के पतन को अभिव्यक्त कर रहे थे। इसके बाद से काऊत्स्की ने सतत् लेनिन, बोल्शेविक पार्टी और रूस में समाजवादी प्रयोग को अपना निशाना बनाया।

काऊत्स्की ने दो प्रमुख सवालों पर बोल्शेविक पार्टी और विशेष तौर पर लेनिन की आलोचना की। एक सवाल तो यह था कि बोल्शेविक पार्टी ने एक अपरिपक्व क्रान्ति कर दी है क्योंकि समाजवादी क्रान्ति एक उन्नत पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों वाले देश में ही हो सकती है और काऊत्स्की का मानना है कि बोल्शेविक एक ऐसे घोड़े पर सवार हो गये हैं जिसकी सवारी उन्हें नहीं आती है; और यह कि बोल्शेविक इस क्रान्ति के समाजवादी होने का कितना भी दावा करें, यह क्रान्ति एक बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति ही है। हम इस प्रश्न पर यहाँ चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि यहाँ अभी इसकी कोई प्रासंगिकता नहीं है और इसके सटीक जवाब के लिए हम पाठकों से लेनिन द्वारा लिखित **'सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की'** का सन्दर्भ देखने का आग्रह करेंगे। **लेकिन काऊत्स्की ने जो दूसरा सवाल उठाया वह हूबहू वही सवाल है जो कि सुजीत दास उठा रहे हैं।** यह दूसरा सवाल यह था कि सोवियत संघ में एक प्रबन्धकीय कुलीन वर्ग पैदा हो गया है जिसने सर्वहारा वर्ग को सत्ता से अपदस्थ कर दिया है। यह प्रबन्धकीय कुलीन वर्ग जो कि वास्तव में नौकरशाही ही है, राज्यसत्ता पर आसीन हो गया है तथा पार्टी और राज्यसत्ता वर्ग के नाम पर शासन कर रहे हैं। (काऊत्स्की, *टेररिज़्म एण्ड कम्युनिज़्म,* 1919, पृ. 21) काऊत्स्की भी सुजीत दास की तरह इस नये शासक वर्ग को पूँजीवादी कहने से सफ़ाई से बच निकले थे, क्योंकि उस सूरत में, एक बार फिर सुजीत दास की ही तरह, काऊत्स्की को भी पता था कि वह बेहद असुविधाजनक विरोधाभासों के गड्ढे में गिर जायेंगे। काऊत्स्की यह बात सही कह रहे थे कि रूस का मज़दूर वर्ग बेहद पिछड़ा हुआ है और वह अपने से उद्योगों के प्रबन्धन और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन का कार्य नहीं कर पायेगा। ऐसे में पार्टी और राज्य पर एक प्रबन्धक नौकरशाही का कब्ज़ा हो जायेगा जो मज़दूर वर्ग के नाम पर शासन करेगी। ऐसा नहीं था कि रूस में समाजवादी क्रान्ति और मज़दूर वर्ग की सीमाओं को लेनिन नहीं समझते थे। इस बारे में लेनिन ने स्पष्ट किया कि रूसी क्रान्ति बेहद अपवादस्वरूप स्थितियों में हुई थी। बोल्शेविकों के पास क्रान्ति का वक्त चुनने का सुविधाजनक विशेषाधिकार नहीं था। जाहिर था, कि प्रथम विश्वयुद्ध, गृहयुद्ध, मज़दूरों और किसानों के क्रान्तिकारी आन्दोलन और स्वत:स्फूर्त तरीके से सोवियतों के अस्तित्व में आने के कारण बोल्शेविक पार्टी को 1917 में जनता के आन्दोलनों की बागडोर अपने हाथ में लेकर उसे समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल तक पहुँचाना पड़ा। लेनिन जानते थे कि रूस का मज़दूर वर्ग काऊत्स्की के शब्दों में घुड़सवारी सीखने से पहले ही घोड़े पर सवार हो गया है।

1920 में, जब अभी ट्रॉट्स्की अपेक्षाकृत सही अवस्थिति पर थे तो उन्होंने काऊत्स्की को अच्छा उत्तर दिया था। 1920 में ट्रॉट्स्की ने काऊत्स्की की पुस्तिका के शीर्षक को अपनाते हुए अपनी पुस्तिका *टेररिज़्म एण्ड कम्युनिज़्म* निकाली। इसमें ट्रॉट्स्की ने काऊत्स्की को निम्न

उत्तर दिया:

"ठीक उतने ही मज़बूत आधार पर आप पूछ सकते हैं, 'क्या काऊत्स्की जीन पर ढंग से बैठना सीखे बगैर पशु को उसके रास्ते पर संचालित कर सकते हैं? हमारे पास यह मानने के पर्याप्त आधार हैं कि काऊत्स्की ऐसे ख़तरनाक, शुद्ध रूप से बोल्शेविक प्रयोग के लिए अपने आपको तैयार नहीं कर पाएँगे। दूसरी तरफ़, हमें यह डर है कि काऊत्स्की को घोड़े की पीठ पर चढ़ने का जोखिम उठाये बग़ैर, घुड़सवारी के राज़ जानने में पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। **क्योंकि बुनियादी बोल्शेविक पूर्वाग्रह यही है कि: आप घोड़े पर बैठकर ही घुड़सवारी सीख सकते हैं।**

"इसके अतिरिक्त, रूसी मज़दूर वर्ग को इस घोड़े पर *बैठना पड़ा,* अन्यथा उसे समूचे युग के ऐतिहासिक मंच से बाहर फेंक दिया जाता। और, एक बार जब इसने सत्ता हासिल कर ली, और अब इसकी बागडोर सम्भाल ली है, तो बाकी चीज़ें अपने आप ही होती जाएँगी...'जीन पर सवार होने के बाद घुड़सवार घोड़े को निर्देशित करने के लिए बाध्य होता है' - चाहे उसमें उसकी गर्दन टूट जाने का ख़तरा ही क्यों न हो।" (*टेररिज़्म एण्ड कम्युनिज़्म,* ट्रॉट्स्की, 1920 अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 102)

जाहिर है बोल्शेविक पार्टी इस बात को समझ रही थी कि उसे मज़दूर वर्ग को लम्बे समय तक संस्थाबद्ध नेतृत्व देना होगा, सिर्फ़ "विचारधारात्मक मार्गदर्शन" तक सीमित रहते हुए नहीं, जैसा कि सुजीत दास मानते हैं। काऊत्स्की का मानना था कि इसके ज़रिये पार्टी वर्ग को अपदस्थ कर देगी; नौकरशाही वर्ग से सत्ता छीन लेगी और सर्वहारा अधिनायकत्व, जैसा कि 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' मानता है, केवल कागज़ी यथार्थ रह जायेगा। **काऊत्स्की से सुजीत दास की करीबी यहाँ साफ़ तौर पर देखी जा सकती है।** लेकिन अभी बोल्शेविक पार्टी की तरफ़ से काऊत्स्की का इस मुद्दे पर सबसे सशक्त जवाब आना था और यह ज़िम्मेदारी पूरी की **निकोलाई बुखारिन** ने, जो अभी हाल ही में अपने "वामपन्थी" भटकाव को और उसके बाद ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर दक्षिणपन्थी भटकाव को छोड़कर लेनिनवादी अवस्थिति पर आये थे (बताने की ज़रूरत नहीं है कि बुखारिन का आगे भी भटकावों के इन दोनों छोरों के बीच दोलन जारी रहा था। लेकिन काऊत्स्की का जवाब देने के मुद्दे पर बुखारिन बिल्कुल सही थे।)

काऊत्स्की ने बोल्शेविक पार्टी पर अपना हमला जारी रखते हुए लिखा कि सोवियत सरकार **"दुनिया में सर्वहारा वर्ग के आगे बढ़ने में सबसे बड़ी बाधा है - हंगरी के हॉर्थी शासन या इटली में मुसोलिनी के शासन से भी बुरी बाधा, जबकि मुसोलिनी के शासन ने हर विपक्षी आन्दोलन को सोवियत संघ की तरह पूरी तरह से असम्भव भी नहीं बनाया है।"** (काऊत्स्की, *डाई इण्टरनेशनाली उण्ड सोवियेतरुसलैण्ड*, बर्लिन, 1925, जेएचडब्ल्यू डियेट्ज़ नाख़्ट, पृ. 11) ***यहाँ भी आपको सुजीत दास की उस बात की ध्वनि सुनायी दे जायेगी कि सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी का शासन पहले के सभी राज्यों जैसा ही था, क्योंकि सभी में एक छोटे से समूह ने वर्ग ने नाम पर सत्ता हथियाकर वर्ग की ही इच्छा की अवहेलना शुरू कर दी थी।*** आगे काऊत्स्की ने लिखा कि बोल्शेविक **"आज ऐसी स्थिति में हैं जिसमें वे सर्वहारा वर्ग पर प्रभुत्व स्थापित करके और उनका शोषण करके अपना अस्तित्व कायम रखते हैं। लेकिन वे एक पूँजीवादी वर्ग की तरह काम नहीं करना चाहते। इसलिए वे सर्वहारा और पूँजी दोनों के ही ऊपर खड़े हैं और उन्हें**

उपकरण की तरह इस्तेमाल करते हैं।" (*वही*, पृ. 25)

बुखारिन ने अपनी लम्बी पुस्तिका *कार्ल काऊत्स्की एण्ड सोवियत रशिया* में काऊत्स्की के तर्क को छिन्न-भिन्न कर दिया। बुखारिन ने लिखा पूछा कि **सोवियत राज्यसत्ता का चरित्र क्या है? क्या वह भूस्वामियों की सत्ता है? नहीं, क्योंकि भूस्वामियों का सोवियत सत्ता ने सम्पत्ति-हरण कर लिया था! क्या वह पूँजीपतियों की सत्ता है? नहीं! पूँजीपतियों का भी सोवियत सत्ता ने सम्पत्ति-हरण कर लिया था!** फिर आखिर सोवियत राज्यसत्ता का वर्ग चरित्र क्या था और इसी से जुड़ा हुआ सवाल यह था कि सोवियत संघ किस प्रकार की सामाजिक-आर्थिक संरचना थी? या तो काऊत्स्की यह कहें कि बोल्शेविक पार्टी नयी बुर्जुआज़ी का प्रतिनिधित्व करती है, लेकिन काऊत्स्की यह नहीं कह पा रहे थे। नौकरशाही को नया वर्ग कहना मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अव्वल दर्ज़े की मूर्खता होती, और काऊत्स्की संशोधनवादी होने के बावजूद मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इसलिए ऐसा वह कह नहीं सकते थे। **नतीजतन, काऊत्स्की निरुत्तर थे। और यहीं पर बुखारिन ने उन्हें पकड़ा, और यहीं पर सुजीत दास भी जनवाद के अपने संशोधनवादी संस्करण के साथ पकड़ में आ जाते हैं:**

"शासक वर्ग की पहचान हमेशा इस बात से होती है कि उनके पास उत्पादन के साधनों का एकाधिकार होता है, या कम-से-कम एक निश्चित वर्ग व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है। अगर लोगों का कोई समूह वह वर्ग है, तो इसका अर्थ होगा कि यह समूह सम्पत्ति के तौर पर उत्पादन के 'राष्ट्रीयकृत' साधनों का मालिक होगा। दूसरे शब्दों में, काऊत्स्की के नज़रिये से यह नतीजा निकलता है कि पोलित ब्यूरो के सदस्य, जिसमें कि मैं भी–कितना अभागा हूँ मैं! –शामिल हूँ समूचे बड़े पैमाने के उद्योग के मालिक और शोषक, यानी कि वित्तीय-पूँजीवादी अल्पतन्त्र हैं, जो कि इससे मुनाफ़े का हस्तगतीकरण करते हैं..." (बुखारिन, *काऊत्स्की उण्ड सोवियेतलैण्ड*, वियेना, वरलैग फ़ुर लिटरेटूर उण्ड पोलेटिक, पृ. 34-35)। ***लेकिन सुजीत दास की तरह ही काऊत्स्की अपने ही विश्लेषण के नतीजों से डर जाते हैं और उनका ज़िक्र नहीं करते।*** वह बोल्शेविक पार्टी को अलग शासक वर्ग नहीं मानते। सुजीत दास भी अपने सारे विश्लेषण को अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और संशोधनवादियों से उधार लेते हैं (बहुत ही दयनीय और दरिद्र तरीके से!) लेकिन नतीजे के तौर पर **मार्टिन निकोलस** जैसे लेखकों के नतीजे को चिपका देते हैं कि इन सबके बाद भी सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोग कितने गौरवशाली थे! आगे देखें कि बुखारिन काऊत्स्की को क्या जवाब देते हैं, और यह सुजीत दास जैसे लोगों पर भी कैसे लागू होता है: **"अगर बोल्शेविक लोग कोई वर्ग नहीं हैं, तो इसका अर्थ है कि वे किसी वर्ग की नुमाइन्दगी करते हैं। यह वर्ग बड़े भूस्वामियों का नहीं है (जैसा कि काऊत्स्की भी मानते हैं, उनका सम्पत्ति-हरण हो चुका है)। यह वर्ग पूँजीपति वर्ग भी नहीं है (यह भी काऊत्स्की मानते हैं)। यह वर्ग किसान या बुद्धिजीवी (जिन्हें तो सही रूप में वर्ग कहा भी नहीं जा सकता है) भी नहीं हैं। तो बचता क्या है? सर्वहारा वर्ग।"** (*वही*, पृ.35)

लेकिन सुजीत दास किसी पार्टी द्वारा वर्ग के प्रतिनिधित्व की पूरी अवधारणा पर ही उत्तरआधुनिक तरीके से सवाल खड़ा कर देते हैं! प्रतिनिधित्व के प्रश्न को वह धोखा-फरेब मानते हैं और सड़क चलते आम व्यक्ति की तरह कहते हैं कि **'देखो भाई! सब पार्टी जनता**

को धोखा देती है!' यह एक आम व्यवस्था-विरोधी टटपुँजिया व्यक्ति के लिए सही तर्क है, लेकिन सुजीत दास तो 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' (मार्क्सवादी चिन्तन) में लिख रहे हैं! इसलिए उनसे यह उम्मीद की जायेगी कि वह बुनियादी मार्क्सवादी वर्ग विश्लेषण का प्रयोग करें। **लेकिन यहाँ पर सुजीत दास सत्ता को अपने आप में एक शक्ति बना देते हैं, जिसका वर्ग विश्लेषण ही सम्भव नहीं है। वह कार्ल मार्क्स नहीं बल्कि मिशेल फूको के अनुयायी ज़्यादा नज़र आ रहे हैं।** और साथ ही उन लोगों के साथ खड़े नज़र आ रहे हैं जिन्होंने लेनिन पर **प्रतिस्थापनवाद (सब्स्टिट्यूशनिज़्म)** का आरोप लगाया था। मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण बताता है कि सुजीत दास जिस शक्ति को 'सत्ता हथिया लेने वाला समूह' कहते हैं उसका कोई न कोई वर्ग चरित्र अवश्य होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि वह सभी वर्गों को मूर्ख बनाकर सत्ता में पहुँच गया हो! यह पूरा विश्लेषण ही भयंकर अर्थहीनता की तरफ़ जाता है।

काऊत्स्की के बाद दूसरी धारा जिससे कि सुजीत दास की वैचारिक एकता नज़र आती है, वह है **पॉल लेवी** और शुरुआती दौर की **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग**, क्योंकि बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने अपनी इन आलोचनाओं को स्वयं ही रद्द कर दिया था, और जिसके बारे में आज भी कम्युनिस्ट आन्दोलन की कतारों में कम ही लोगों की जानकारी है। पॉल लेवी रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग और कार्ल लीब्कनेख़्त की शहादत के बाद जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख नेता थे। बाद में 1921 में उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया था, जिसका कारण दक्षिणपन्थी अवसरवादी भटकाव था। पॉल लेवी ने बोल्शेविक पार्टी की आलोचना रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की रचनाओं के संकलन की अपनी प्रस्तावना में की और यह भी साबित करने की कोशिश की कि रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग अन्त तक बोल्शेविज़्म की कटु आलोचक थीं, और उसका एक विकल्प पेश करती थीं। हालाँकि बाद में **एडोल्फ वार्ज़ावस्की** और **क्लारा ज़ेटकिन** द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से पता चला कि जिन तीन प्रश्नों पर रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग बोल्शेविक पार्टी की नीतियों की आलोचना करती थीं, उनमें से एक पर वह लेनिन से पूरी तरह सहमत हो चुकी थीं, दूसरे पर वह मान चुकी थीं कि बोल्शेविक पार्टी ने जो कदम उठाया उसके अलावा कोई और रास्ता नहीं था, और तीसरे सवाल पर उनकी असहमति बनी हुई थी। लेकिन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के शुरुआती दृष्टिकोण पर हम बाद में आते हैं, जिसका एक बेहद दयनीय संस्करण सुजीत दास के लेख में देखने को मिलता है; पहले हम पॉल लेवी की आलोचना को देखेंगे, क्योंकि इसका (बुरा) असर सुजीत दास पर और भी ज़्यादा नज़र आता है।

पॉल लेवी ने लिखा कि बोल्शेविक पार्टी सर्वहारा वर्ग के नाम पर शासन कर रही थी और लेनिन की सोच ही ऐसी थी। लेवी यह भी कहते हैं कि लेनिन 'सरकार के रूप' और 'राज्यसत्ता के रूप' में फर्क नहीं करते थे और इसीलिए एक पार्टी के शासन को वह सर्वहारा शासन से गड्ड-मड्ड कर बैठे हैं, जबकि सर्वहारा अधिनायकत्व के राज्य का रूप बहुपार्टी जनवाद भी हो सकता है! **हम पाठकों को बता दें कि सुजीत दास के जिस लेख की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं, उसमें तो नहीं लेकिन 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के समूह का ऐसा मानना है कि सोवियत संघ में भी अगर बहुपार्टी जनवाद होता तो बुर्जुआ प्रवृत्तियों को अपना स्वायत्त मंच मिल गया होता, और वे बोल्शेविक पार्टी में नहीं प्रवेश करतीं!** इस तर्क पर हँसा ही जा सकता है। एक-पार्टी व्यवस्था के सवाल पर लेनिन के दृष्टिकोण की अभी हम चर्चा नहीं कर सकते हैं और हम इस पर अपनी राय आगे रखेंगे। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि बोल्शेविक पार्टी के भीतर बुर्जुआ प्रवृत्तियों के घुसने का कारण यह नहीं था

कि उन्हें घुसपैठ के लिए कोई और पार्टी नहीं मिली! बोल्शेविक पार्टी के भीतर जो दो लाइनों का संघर्ष बुर्जुआ और सर्वहारा लाइन की बीच चल रहा था, वह समाज में जारी वर्ग संघर्ष का प्रतिबिम्बन था, न कि अनाथ, बेघर, बेसहारा बुर्जुआ प्रवृत्तियों के बोल्शेविक पार्टी में आसरा ढूँढने का कारण। इस विषय पर हम आगे कभी अवश्य लिखेंगे, लेकिन अभी पॉल लेवी पर लौटते हैं और देखते हैं कि किस तरह उन्हें भी सुजीत दास के तमाम "वामपन्थी", दक्षिणपन्थी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विचारधारात्मक पुरखों में क्यों गिना जा सकता है! स्वयं देखें पॉल लेवी क्या लिखते हैं: **"एक सच्ची माँ की तरह, हिरावल ने सोवियत तन्त्र को बनाने में एक कमीज़ तैयार की है, और अब वह–धैर्यपूर्वक या अधैर्यपूर्वक–उस समय का इन्तज़ार कर रही है जब बच्चा उस कमीज़ को पहनने लायक हो जायेगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक, माँ माँ ही रहती है, कमीज़ कमीज़ रहती है, हिरावल हिरावल रहता है, और सोवियत तन्त्र सोवियत तन्त्र ही रहता है।"** (पॉल लेवी, 1922, 'आइनलीटंग', रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की पुस्तक *डाई रुसिश्चे रिवोल्यूशन आइन क्रिटिश वूर्डिगुंग* में संकलित, बर्लिन: जेसेलशाफ्ट उण्ड एर्ज़ीहुंग, पृ. 29) आगे लेवी कहते हैं कि पार्टी ने वर्ग की जगह शासन करना शुरू कर दिया। सर्वहारा वर्ग को उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण मिलता, तो वह फलता-फूलता और अपने भविष्य पर नियन्त्रण स्थापित करता (*वही,* पृ. 50-51)। बोल्शेविकों ने अपनी इस नीति के कारण अपने आपको मज़दूर वर्ग से काट लिया और केवल अपनी सांगठनिक शक्ति के बूते सत्ता में बने रहे (*वही,* पृ. 47) और **अन्त में लेवी उसी नतीजे पर पहुँच जाते हैं जिस पर सुजीत दास पहुँचे हैं: "तो "सर्वहारा वर्ग की तानाशाही" का क्या बचा? कुछ भी नहीं। न तो कोई वस्तुपरक क्षण और न ही आत्मपरक।"** (*वही,* पृ. 51) यहाँ पर भी हम देख सकते हैं कि पार्टी के वर्ग चरित्र का सवाल ग़ायब है। यही वह बुनियादी सवाल है जिससे सभी "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी आलोचक बच निकलते हैं, क्योंकि बोल्शेविक पार्टी के वर्ग चरित्र की बात करना उनके लिए राजनीतिक *हाराकीरी* के समान होगा। सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के ज़रिये शासन करता है, या फिर वह किसी मैदान में इकट्ठा होकर पहले सर्वहारा अधिनायकत्व के कोरस का रिहर्सल करके बिना पार्टी के वह अधिनायकत्व लागू करता है, इस बहस पर बाद में आयेंगे और इस पर लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों को देखेंगे; क्योंकि सुजीत दास ने बिना पढ़े दावा कर दिया है कि बोल्शेविक पार्टी के राजनीतिक साहित्य में कभी भी इस बात का ज़िक्र नहीं किया गया था कि वर्ग के शासन को लागू करने का काम वर्ग का हिरावल करेगा! **लेकिन अभी हम "वामपन्थी" आलोचनाओं की उन अन्य धाराओं की चर्चा पर वापस आते हैं, जिनसे एक-एक चम्मच मसाला उधार लेकर सुजीत दास ने अपना अराजकतावादी पकवान तैयार किया है!**

रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने शुरुआत दौर में बोल्शेविक क्रान्ति की तीन प्रश्नों पर आलोचना की। पहला सवाल तो बोल्शेविकों द्वारा क्रान्ति के तुरन्त बाद जारी भूमि-सम्बन्धी आज्ञप्ति पर था। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने भूमि सुधारों के पूँजीवादी चरित्र पर सवाल खड़ा करते हुए पूछा था कि कोई समाजवादी राज्य छोटे पैमाने का किसानी मालिकाना क्यों पैदा करेगा? लक्ज़ेमबर्ग की दलील थी कि इस कदम के साथ सोवियत सत्ता ने अपना एक भावी शत्रु पैदा कर लिया है: छोटा और मँझोला किसान। लेनिन इस बात को समझते थे। लेकिन उन्होंने इसका जवाब देते हुए बताया कि आर्थिक रूप से किसानों के बीच वर्ग विभाजन और कृषि क्षेत्र में पूँजीवाद का

विकास होने के बावजूद किसान आबादी राजनीतिक तौर पर अभी भी टटपुँजिया ज़मीन पर खड़ी है। इसके दो कारण हैं, एक तो रूस में जो भूमि सुधार क्रान्ति के पहले क्रमिक प्रक्रिया में हुए थे, वे प्रशियाई पथ से हुए थे, अधूरे थे और उन्होंने ज़मीन की भूख को ख़त्म नहीं किया था। और अभी यह किसान आबादी पूँजीवाद के तहत बहुत परिपक्व नहीं हुई थी, इसने पूँजीवादी बाज़ार व्यवस्था में बहुत लम्बा समय नहीं बिताया था कि भू-स्वामित्व को लेकर उसके विभ्रम ख़त्म हो जायें। ऐसे में, उनकी ज़मीन की भूख उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं को तय कर रही थी। दूसरा कारण यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में और विशेष तौर पर मँझोली किसान आबादी में बोल्शेविक पार्टी का विचारधारात्मक और राजनीतिक प्राधिकार नगण्य था। वहाँ पर नरोदवादियों के सच्चे वंशजों, यानी कि समाजवादी क्रान्तिकारियों का राजनीतिक वर्चस्व था, जिन्होंने किसानों को पूँजीवाद की असलयित के प्रति राजनीतिक तौर पर सचेत बनाने और उनकी चेतना का समाजवादी रूपान्तरण करने की बजाय, उनमें ज़मीन की भूख को और बढ़ाया। नतीजतन, पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के प्रशियाई पथ से विकास के बावजूद राजनीतिक आकांक्षा के तौर किसानों की आबादी में, जो कि रूस की कुल आबादी का तीन-चौथाई से भी ज़्यादा थी, राजनीतिक तौर पर पूँजीवादी भूमि सुधारों का एजेण्डा ही जड़ जमाये हुआ था। बोल्शेविकों को 1917 में जारी राजनीतिक संघर्ष में किसानों का समर्थन इसलिए मिला क्योंकि उन्होंने साबित कर दिया कि समाजवादी क्रान्तिकारी स्वयं अपने ही भूमि कार्यक्रम पर अमल नहीं कर सकते और उनका अप्रोच रूसी भूस्वामियों के वर्ग से समझौते का है, और वास्तव में, लेनिन ने समाजवादी क्रान्तिकारियों के पूरे भूमि कार्यक्रम को हूबहू अपनाकर किसानों द्वारा ज़मीनें कब्ज़ा करने के आन्दोलन का समर्थन किया। जुलाई 1917 से अक्टूबर 1917 के बीच किसानों की आबादी का राजनीतिक समर्थन बोल्शेविकों को हासिल हो गया। इस पूरी प्रक्रिया को लेनिन समझ रहे थे। बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने अपनी इस आलोचना को वापस लेते हुए लिखा था कि महानतम क्रान्तियाँ भी इतिहास द्वारा प्रस्तुत सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकतीं। क्रान्तिकारी स्वयं क्रान्ति की परिस्थितियाँ नहीं चुनते। यह सच है कि किसान प्रश्न रूसी क्रान्ति का 'चोट का बिन्दु' (वूण्डेड पॉइण्ट) था, लेकिन इसका इलाज यूरोप में क्रान्ति के ज़रिये जल्दी हो सकता था। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने अपनी अवस्थिति को सही करते हुए जो बात कही वह काफ़ी सटीक थी।

रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की दूसरी आलोचना राष्ट्रीय प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की आत्मनिर्णय के अधिकार की नीति की थी। उन्होंने कहा कि कम्युनिस्ट पार्टी अन्तरराष्ट्रीयतावादी होती है और राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार देना वास्तव में हर राष्ट्र की बुर्जुआज़ी को आत्मनिर्णय का अधिकार देना होगा। वास्तव में, इस नीति से सोवियत राज्य ने अपना दूसरा भावी शत्रु पैदा कर लिया है, जो कि अलग-अलग राष्ट्रों की बुर्जुआज़ी है। लेनिन ने स्पष्ट किया कि यह एक यान्त्रिक दृष्टिकोण है। वास्तव में, जिन देशों में सर्वहारा वर्ग राजनीतिक चेतना की कमी और किसी अन्य प्रभुत्वशाली राष्ट्र द्वारा राष्ट्रीय शोषण और उत्पीड़न का शिकार होने के कारण अपने देश के रैडिकल राष्ट्रीय बुर्जुआ के साथ खड़ा है, उस पर आप अन्तरराष्ट्रीयतावादी राजनीतिक सर्वहारा चेतना थोप नहीं सकते; यह तो सर्वहारा वर्ग समेत उस राष्ट्र की पूरी जनता के बीच में कम्युनिज़्म के प्रति अविश्वास को पैदा करेगा। जिन देशों में सर्वहारा वर्ग अपनी राजनीतिक स्वायत्तता को हासिल कर चुका है और कम्युनिस्ट पार्टी के झण्डे तले खड़ा है, वहाँ निश्चित तौर पर आत्मनिर्णय का यह अधिकार उस राष्ट्र की

मेहनतकश आबादी को मिलेगा, उस राष्ट्र की बुर्जुआज़ी को नहीं। लेकिन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग अन्त तक इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हुई थीं।

लेकिन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की जो तीसरी आलोचना थी, उसे सुजीत दास ने (हमेशा की तरह) ठीक तरह से पढ़े-समझे बिना उधार ले लिया है। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने जनवाद और अधिनायकत्व के प्रश्न को उठाते हुए बोल्शेविक पार्टी पर **प्रतिस्थापनवाद** की तरफ़ जाने का आरोप लगाया। उन्होंने कहा कि बोल्शेविक पार्टी ने रूसी सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश आबादी के राजनीतिक जीवन और राजनीतिक संगठन को तहस-नहस कर दिया था। इस आलोचना को बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने स्वयं ही ठुकरा दिया था। लेकिन शुरुआती दौर में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की जो अवस्थिति थी, उसे सुजीत दास काफ़ी हद तक अपनाते हुए नज़र आते हैं। देखिये रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने क्या लिखा था, **"केवल सरकार के समर्थकों के लिए, केवल एक पार्टी के सदस्यों के लिए आज़ादी - चाहें वे कितने ज़्यादा भी क्यों न हों - वास्तव में कोई आज़ादी नहीं है। आज़ादी हमेशा और विशेष तौर उस व्यक्ति के लिए आज़ादी है जो कि अलग सोचता है। 'न्याय' की किसी कट्टरतावादी अवधारणा के कारण नहीं, बल्कि ऐसा इसलिए है क्योंकि राजनीतिक आज़ादी में जो भी निर्देशात्मक, पूर्ण और शुद्ध करने वाला है वह इसकी मूल चारित्रिक विशेषताओं पर निर्भर करता है, और इसकी प्रभाविता उस समय ख़त्म हो जाती है जब 'आज़ादी' एक विशेषाधिकार बन जाती है।"** (रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग, **'दि रशियन रिवोल्यूशन'**, *रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग स्पीक्स*, न्यूयॉर्क, पाथफाइण्डर प्रेस, 1970, पृ. 389-90) यहाँ पर रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग यह नहीं समझ पायी हैं कि सर्वहारा राज्यसत्ता भी वास्तव में एक दमन का उपकरण ही है और समाजवादी संक्रमण के ऐतिहासिक काल में कभी-कभी व्यापक मेहनतकश जनता के कुछ हिस्से भी इसके प्रभाव क्षेत्र में आ सकते हैं। लेनिन ने **क्रोंस्टाट विद्रोह** के बारे में कहा था कि यह सच है कि इसमें मज़दूर, आम किसान आबादी और आम सैनिक शामिल थे। लेकिन ग़ैर-सर्वहारा चेतना के कारण वे सर्वहारा वर्ग की सत्ता पर ही हमला कर रहे थे। नतीजतन, सवर्हारा राज्यसत्ता उनका दमन ही कर सकती है। यह एक विभ्रम है कि सर्वहारा राज्यसत्ता समाजवादी संक्रमण के दौर में मेहनतकश जनता के उन हिस्सों पर कुछ दमनात्मक कदम नहीं उठा सकती जो कि सचेतन तौर पर सर्वहारा अवस्थिति से प्रस्थान कर प्रतिक्रान्तिकारी अवस्थिति पर जाकर खड़े होते हैं। इस विषय-वस्तु पर हम आगे लौटेंगे। **अभी रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के एक अन्य उद्धरण को देखते हैं, जिससे लगता है कि सुजीत दास ने इसके शब्द बदलकर इसे पैराफ्रेज़ कर दिया है: "अक्षय ऊर्जा और असीमित आदर्शवाद वाले कुछ दर्ज़न पार्टी नेता निर्देशन करते हैं और शासन करते हैं। उनके बीच, वास्तव में केवल एक दर्ज़न श्रेष्ठतम दिमाग वाले लोग नेतृत्व करते हैं और मज़दूर वर्ग के एक कुलीन हिस्से को वक्त-वक्त पर मीटिंगों में बुलाया जाता है, जहाँ उन्हें नेताओं के भाषणों पर तालियाँ बजानी होती हैं, और प्रस्तावित प्रस्तावों को एकमत से अनुमोदित करना होता है - मूल तौर पर, फिर यह एक गिरोह का मामला बन जाता है - एक तानाशाही, और निश्चित तौर पर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही नहीं, यद्यपि केवल मुट्ठी भर राजनीतिज्ञों की तानाशाही, यानी बुर्जुआ अर्थों में एक तानाशाही, जैकोबिनों के शासन के अर्थ में एक तानाशाही।"** (*वही*, पृ. 391)। हमें लगता है कि सुजीत दास इस पढ़कर अपनी अवस्थिति का वैधीकरण महसूस कर रहे होंगे! लेकिन हमें

अफ़सोस है कि हम उनकी इस राहत में ख़लल डालने के लिए मजबूर हैं! लेनिन ने रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के पार्टी, वर्ग, जनवाद और तानाशाही के बारे में विचारों की आलोचना करते हुए कहा था कि इन विचारों पर उदार बुर्जुआ जनवाद के विचारों का ज़बर्दस्त प्रभाव है। इस आलोचना के बाद, जैसा कि अलेक्ज़ैण्डर वार्ज़ाव्स्की और क्लारा ज़ेटकिन ने बताया, रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग अपनी शहादत से पहले इस सवाल पर मोटे तौर पर लेनिन से सहमत हो चुकी थीं। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के आरम्भिक तर्कों और सुजीत दास ने जो कुछ लिखा है, उसमें वैचारिक समानता स्पष्ट है। बस एक फर्क है – सुजीत दास ट्रेड यूनियनों और सोवियतों को पूर्ण स्वतन्त्रता न देने और उन्हें निष्प्रभावी बना दिये जाने को लेकर दुखी हैं, जबकि रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की मुख्य आलोचना संविधान सभा को भंग करने और सोवियतों के कार्य में बोल्शेविक पार्टी की भूमिका के विषय में थी, जैसे कि उनके चुनावों में। लेकिन वास्तव में तर्कों में कोई फर्क नहीं है। पार्टी की भूमिका के सवाल पर शुरुआती दौर की रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के विचारों और सुजीत दास के विचारों में समानता देखने के लिए किसी अपवादस्वरूप प्रतिभावान अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता नहीं है।

रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के इन शुरुआती तर्कों की सबसे सटीक आलोचना हंगरी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक **ग्यॉर्गी लूकाच** ने रखी और उस पर यहाँ विचार करना सुजीत दास की स्वत:स्फूर्तता-अन्धभक्ति (स्पॉण्टेनाइटी फेटिशिज़्म) का पर्दाफाश करने और सही लेनिनवादी अवस्थिति को समझने के लिए काफ़ी उपयोगी होगा। 1923 में लूकाच ने **'इतिहास और वर्ग चेतना'** नामक अपनी प्रसिद्ध रचना में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की भूल के बारे में लिखते हुए कहा कि रोज़ा का रुख़ यहाँ **"क्रान्ति की स्वत:स्फूर्त तात्विक शक्तियों के, सबसे अधिक उस वर्ग के जिसे इतिहास ने क्रान्ति का नेतृत्व करने का ज़िम्मा सौंपा था, अतिरेकपूर्ण मूल्यांकन से निर्धारित हुआ था।"** (ग्यॉर्गी लूकाच, 1971, *हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शसनेस,* मर्लिन प्रेस, लन्दन, पृ. 279)। लूकाच के अनुसार, **"(लक्ज़ेमबर्ग) बोल्शेविकों द्वारा मज़दूरों के आन्दोलन में क्रान्ति की स्पिरिट की गारण्टी के तौर पर संगठन के प्रश्न को केन्द्रीय भूमिका प्रदान करने को अतिरंजित समझती हैं। वह इसके उलट विचार रखती हैं कि वास्तविक क्रान्तिकारी स्पिरिट सिर्फ़ और सिर्फ़ जनता की तात्विक स्वत:स्फूर्तता में खोजी और पायी जा सकती है।"** (*वही,* पृ. 284) लेकिन लूकाच अपना तर्क सबसे पूर्णता में यहाँ रखते हैं: **"किसी आन्दोलन की स्वत:स्फूर्तता...विशुद्ध आर्थिक नियमों द्वारा इसके निर्धारण की सिर्फ़ एक सचेतन, जन-मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है...ऐसे उभार उतने ही स्वत:स्फूर्त ढंग से ठण्डे भी पड़ जाते हैं, ज्यों ही उनके तात्कालिक लक्ष्य हासिल हो जाते हैं या हासिल होने योग्य महसूस होते हैं, वैसे ही उनका क्षरण हो जाता है।"** (*वही,* पृ. 307) यह बात मज़दूर वर्ग की स्वत:स्फूर्तता पर जितनी क्रान्ति के पहले के दौर की लिए लागू होती है, उतनी ही क्रान्ति के बाद के दौर के लिए भी लागू होती है। फैक्टरी कमेटियों के आन्दोलन की असफलता को इसकी रोशनी में विश्लेषित किया जा सकता है। स्वत:स्फूर्त रूप से मज़दूर वर्ग या कम-से-कम उसका एक हिस्सा पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान भी तब तक आर्थिक तर्क (पिक्यूनरी लॉजिक) से ही चलेगा जब तक कि बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर तोड़ नहीं दिया जाय और सर्वहारा वर्ग की विचारधारा (कम्युनिस्ट पार्टी जिसका मूर्त रूप होती है) के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर स्थापित न कर दिया जाय। चेतना की भूमिका इसी रूप में समाजवादी संक्रमण में प्रभावी

होती है, उस रूप में नहीं जिसमें सुजीत दास बात करते हैं! वास्तव में, चेतना की प्रधानता की बात करते हुए सुजीत दास चेतना की भूमिका को कचरापेटी के हवाले कर देते हैं, क्योंकि उनका मानना है कि इस चेतना का वाहक समूचा सर्वहारा वर्ग होता है। ये सर्वहारा वर्ग के बारे में गुलाबी रोमैण्टिक विचार हैं और इन विचारों के टूटने के लिए ऐसे विचार रखने वालों को मज़दूर वर्ग का जीवन देखने और उनके आन्दोलनों में शिरकत करने की ज़रूरत है। लेकिन अभी हम लूकाच की आलोचना पर वापस लौटते हैं।

आगे लूकाच कहते हैं, **"(इसलिए) ज़रूरी है कि... स्वतःस्फूर्तता और सचेत नियन्त्रण के बीच अन्तरक्रिया हो...कम्युनिस्ट पार्टियों के गठन में जो चीज़ अनूठी थी वह थी स्वतःस्फूर्त कार्रवाई और सचेत, सैद्धान्तिक दूरदर्शिता के बीच नया सम्बन्ध, यह बुर्जुआ वर्ग की सिर्फ़ 'चिन्तनशील', कार्यरूप में परकीकृत (रीइफाइड) चेतना की विशुद्ध *पोस्ट फेस्टम* संरचना पर स्थायी आक्रमण और धीरे-धीरे उसका लुप्त होना था।"** (*वही*, पृ. 317) यहाँ पर लूकाच अपने श्रेष्ठतम लेनिनवादी रूप में हैं जब वह लिखते हैं कि यह अनिवार्य है कि **"सर्वहारा वर्ग राज्यसत्ता को सभी परिस्थितियों में अपने हाथ में रखने के लिए अपने पास मौजूद सभी साधनों का इस्तेमाल करे। विजयी सर्वहारा वर्ग को आर्थिक या विचारधारात्मक तौर पर अपनी नीति को पहले से ही कठमुल्ला तरीके से सूत्रबद्ध करने की भूल नहीं करनी चाहिए। वर्गों का जिस रूप में पुनर्स्तरीकरण हुआ है और साथ ही अधिनायकत्व के लिए मज़दूरों के निश्चित समूहों को किस प्रकार अपने पक्ष में करना या कम-से-कम उन्हें अपनी तटस्थता बनाये रखने तक लाना सम्भव और अनिवार्य है, इस पर निर्भर रहते हुए सर्वहारा वर्ग को अपनी आर्थिक नीति (समाजीकरण, छूटें, आदि) में पूरी आज़ादी के साथ दाँव-पेच करने में सक्षम होना चाहिए। उसी प्रकार, उसे स्वतन्त्रता के जटिल मुद्दे पर अपने आपको कभी भी ज़बरन बाध्य किये जाने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए...स्वतन्त्रता अपने आपमें (समाजीकरण से ज़्यादा) किसी मूल्य का प्रतिनिधित्व नहीं करती। स्वतन्त्रता को हर स्थिति में सर्वहारा वर्ग के शासन के सेवा करनी चाहिए, न कि इसका उल्टा।"** (*वही*, पृ. 292) और इस शासन का प्रधान उपकरण सर्वहारा वर्ग की पार्टी होती है, इसके पक्ष में हम अपने तर्क आगे देंगे और साथ ही लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों को भी आपके समक्ष रखेंगे। लेकिन पहले 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के सुजीत दास के कुछ और ज़्यादा करीबी विचारधारात्मक पुरखों के विचारों पर एक निगाह डाल लें! **क्योंकि फिलहाल हम यह दिखलाना चाहते हैं कि सुजीत दास की वास्तविक करीबी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के साथ नहीं बनती, बल्कि एक ऐसी सोच के से बनती है, जिसके ख़िलाफ मार्क्स, लेनिन और माओ ने लगातार संघर्ष किया था।**

ज़्यादा करीबी पुरखों की यह धारा है डच "वामपन्थी" धारा और जर्मन कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद "वामपन्थी" भटकाव की धारा, जिसके प्रमुख प्रतिनिधि **पान्नेकोएक** (यह वही **हॉर्नर** हैं जिनकी लेनिन ने **'"वामपन्थी" कम्युनिज़्म: एक बचकाना मर्ज़'** में आलोचना की थी), **रूले** और **गॉर्टर** थे। इसमें आगे **कार्ल कोर्श** भी शामिल हुए, जो कि फ्रैंकफर्ट स्कूल के पुरोधाओं के दार्शनिक प्रेरणा-स्रोतों में से एक थे।

इन "वामपन्थी" भटकावग्रस्त बुद्धिजीवियों के वैचारिक विकास की शुरुआत रूस की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण वहाँ समाजवादी सत्ता के विकास होने लेकिन समाजवादी

व्यवस्था के विकास की क्षीण सम्भावनाओं (गॉर्टर व पान्नेकोएक) या समाजवादी सत्ता स्थापित ही न हो सकने (कार्ल कोर्श व ओटो रूले) के विचार से हुई, लेकिन इन सबका अन्त काउंसिल कम्युनिज़्म के विचार पर हुआ। पान्नेकोएक और गॉर्टर का शुरू में मानना था कि रूस में जो पिछड़ा और अर्द्धविकसित पूँजीवाद था उसके कारण वहाँ बुर्जुआ विचारधारा का प्रभाव सर्वहारा वर्ग पर कम था और उसे कम्युनिज़्म के पक्ष में जीतना आसान था। लेकिन यही पिछड़ापन एक बाधा भी पैदा करता था। चूँकि, पान्नेकोएक और गॉर्टर के अनुसार, समाजवादी व्यवस्था के विकास के लिए एक उन्नत पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों वाली सामाजिक संरचना की ज़रूरत होती है, इसलिए एक पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले देश में समाजवादी व्यवस्था का उत्तरोत्तर विकास सम्भव नहीं है। ऐसे में, पार्टी हिरावलपन्थी हो जायेगी और वर्ग पर अपनी इच्छा को थोपने लगेगी। यही कारण था कि रूसी पार्टी बेहद केन्द्रीकृत थी और यही कारण था कि उसने वर्ग को शासन से अपदस्थ कर सत्ता अपने हाथों मे केन्द्रित कर ली थी। अन्त में गॉर्टर और पान्नेकोएक इस राय पर पहुँच गये कि मज़दूर सत्ता को लागू करने का उपकरण सर्वहारा वर्ग की पार्टी नहीं बल्कि मज़दूर परिषदें होंगी। इसमें अचरज की कोई बात नहीं है कि सुजीत दास भी इसी नतीजे पर पहुँच गये हैं। और इसी नतीजे पर पहुँचे थे जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी के "वामपन्थी" भटकाव से ग्रस्त धड़े के सदस्य ओटो रूले और कार्ल कोर्श, हालाँकि वे दोनों अलग-अलग रास्तों से इस नतीजे पर पहुँचे थे। ओटो रूले ने इस धारा के भटकाव को सबसे सक्षम अभिव्यक्ति दी थी, और इस उद्धरण में आपको 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के "तर्कों" की अनुगूँज सुनायी दे सकती है: **"केन्द्रीयतावाद बुर्जुआ-पूँजीवादी युग का संगठनात्मक सिद्धान्त है। यह एक बुर्जुआ राज्य और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण करता है। सर्वहारा राज्य और समाजवादी अर्थव्यवस्था का नहीं। इनके लिए तो काउंसिल व्यवस्था की ज़रूरत होती है।"** (ओटो रूले, 1920, 'बेरिख़्ट उबेर मोस्काऊ', *डाई एक्टियन,* एक्स, 39-40) एक अन्य जगह पर एक बार फिर आप उन्हीं विचारों को ओटो रूले में देख सकते हैं, जो कि सुजीत दास ज़्यादा गड्ड-मड्ड तरीके से अभिव्यक्त करते हैं: **"बिना आर्थिक आधार (यानी 'प्रत्यक्ष उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण' - अनु.) के राजनीतिक समाजवाद। एक सैद्धान्तिक निर्मिति। एक नौकरशाहाना शासन। कागज़ी आज्ञप्तियों का एक संग्रह। एक उद्वेलनात्मक जुमला। एक भयंकर निराशा।"** (ओटो रूले, 1920, 'मोस्काओ उण्ड वॉर', *डाई एक्टियन,* एक्स, 37-38)। 1923-4 तक डच "वामपन्थी" धारा और ओटो रूले एक ही अवस्थिति पर आ चुके थे। गॉर्टर और पान्नेकोएक की मुख्य रचनाएँ जिनमें उन्होंने अपनी अवस्थिति प्रतिपादित की थीं, वे हैं गॉर्टर की 'दि वर्ल्ड रिवोल्यूशन' (1920) और पान्नेकोएक की 'दि वर्ल्ड रिवोल्यूशन एण्ड कम्युनिस्ट टैक्टिक्स' (1920)। कार्ल कोर्श भी थोड़ी देर से 1927 में इसी नतीजे पर पहुँच गये थे। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है। सभी "वामपन्थी" कम्युनिस्ट कुछ बुनियादी धारणाएँ शेयर करते हैं और इसलिए अक्सर देर-सबेर वे मिलते-जुलते नतीजों पर पहुँचते हैं, और वे धारणाएँ अर्थवाद (राजनीति पर आर्थिक कारकों को प्रधानता देना), मज़दूरवाद (सर्वहारा चेतना को हिरावल के अभिकरण द्वारा सचेतन तौर पर निःसृत की जाने वाली चेतना की बजाय मज़दूर वर्ग की स्वतःस्फूर्त चेतना समझना) और कार्यकारी निर्णयों (एक्ज़ीक्यूटिव डिसीज़ंस) द्वारा अलगाव को समाप्त करने की सोच रखना है (मिसाल के तौर पर, नौकरशाही ख़त्म करने के लिए सोवियत राज्य और पार्टी को

फलाँ-फलाँ कदम उठा देने चाहिए थे, वगैरह)। **बस सुजीत दास के लिए एक मज़ाकिया अफ़सोस की बात यह है कि वे इस नतीजे पर 90 वर्ष देर से पहुँचे हैं! और इससे भी मज़ेदार बात यह है कि उन्हें पता ही नहीं है कि उन्हें कुछ ज़्यादा देर हो गयी है! और सबसे मज़ेदार बात यह है कि वह तर्जनी उठाकर बार-बार देश और दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन को अपनी "नयी-नवेली" वैचारिक खोजों के बारे में बता रहे हैं।**

लेकिन पाठक देख सकते हैं कि इनमें कुछ भी नया नहीं है। सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की समाजवादी संक्रमण और उसमें पार्टी की भूमिका के बारे में पूरी सोच वास्तव में पिछली एक सदी या उससे कुछ ज़्यादा समय में अलग-अलग समय पर पैदा हुई अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, "वामपन्थी", संशोधनवादी प्रवृत्तियों की अवस्थितियों का बहुत ही दयनीय और दरिद्र मिश्रण है। इसके कारण हम पहले भी बता चुके हैं। वह यह है कि पहले की प्रवृत्तियों के प्रतिनिधियों के विचारों से कोई लेनिनवादी निश्चित तौर पर असहमति रखेगा, लेकिन यह भी सच है कि पुराने अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और विसर्जनवादी कम से कम पढ़कर लिखते थे! लेकिन सुजीत दास ने तथ्यों और ऐतिहासिक विवरणों के प्रति जो अवहेलना का रुख़ अपनाया है, उसके कारण उनका लेख सोवियत समाजवाद के आलोचनात्मक विश्लेषण की श्रेणी में नहीं आता, बल्कि उसके बारे में कुत्साप्रचार की श्रेणी में आता है। और इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि सारा कीचड़ उछालने के बाद अन्त में श्री दास स्तालिन और सोवियत समाजवाद के गौरव के बारे में कुछ वाक्य अलग से चेंप देते हैं। अब हम आपको दिखाना चाहेंगे कि सुजीत दास ने जो खिचड़ी तैयार की है, उसमें न सिर्फ़ उन्होंने उपरोक्त प्रवृत्तियों से उधार लिया है, बल्कि ट्रॉट्स्कीपन्थ की सबसे निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी और पतित धाराओं और यहाँ तक कि कुछ कुख्यात मार्क्सवाद-विरोधी और प्रतिक्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के विचारों की भी छौंक लगायी है। आइये देखें यह उपलब्धि सुजीत दास ने किस तरह से हासिल की है।

इन लोगों में से जो व्यक्ति सुजीत दास के सबसे करीब दिखलायी पड़ता है वह है **गावरिल मियास्निकोव** जो कि एक मज़दूर था और शुरुआती दौर में 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' जैसे "वामपन्थी" भटकावों से सहमति रखता था। 1928 में मियास्निकोव सोवियत संघ से भागकर फ्रांस चला गया था। उसकी 1931 में एक पुस्तिका *दि करेण्ट डिसेप्शन* प्रकाशित हुई, जिसे डच "वामपंथियों" ने अपनी पत्रिका में छापा भी था। मियास्निकोव हूबहू वही बात करता है, जो कि सुजीत दास कर रहे हैं। मियास्निकोव कहता है कि सोवियत संघ में प्रतिक्रान्ति की प्रक्रिया तभी शुरू हो गयी थी जब मज़दूर फैक्टरी काउंसिलों के हाथ से उत्पादन के साधनों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण ले लिया गया था। लेकिन सुजीत दास की तरह मियास्निकोव इस प्रक्रिया की तिथि ग़लत नहीं बताता, और इसे स्तालिन के दौर की परिघटना नहीं मानता है, बल्कि उसे लेनिन के दौर से ही जारी प्रक्रिया मानता है। मियास्निकोव का मानना है कि **"उद्योग अश्मीभूत हो गया था, मज़दूर विसंगठित हो गये थे और इसलिए मज़दूर परिषदें नष्ट हो गयी थीं। सर्वहारा अब शासक वर्ग नहीं रह गया था, जिसके पास राजनीतिक और आर्थिक वर्चस्व हो...।"** (मियास्निकोव, 1931, **'डे ग्राण्डस्लैगेन वॉन डेन रुसिस्चेन सोवजेट-स्टाट'**, *डे न्यूवे वेग*, संख्या-7, पेरिस) देखिये कि मियास्निकोव, सुजीत दास की ही तरह ठीक उन्हीं चीज़ों की आलोचना कर रहे हैं, जिन्हें लेनिन और स्तालिन दोनों ने ही समाजवादी संक्रमण के दौर की ज़रूरत बताया था, यानी कि

श्रम अनुशासन और हिरावल व ट्रेड यूनियन द्वारा मज़दूर वर्ग पर इस व्यवस्था को लागू करने और उसमें उन्हें शिक्षित-प्रशिक्षित करने की ज़रूरत। मियास्निकोव कहता है, **"सोवियत संघ की पूरी राजकीय अर्थव्यवस्था ऐसी है जैसे कि एक विशाल कारखाना, जिसमें अलग-अलग कार्यस्थलों के बीच एक व्यवस्थित सहकार और श्रम विभाजन है।"** (*वही*) यह तथ्य कि मियास्निकोव धातु उद्योग में काम करने वाला एक मज़दूर था, बताता है कि मज़दूर वर्ग की चेतना हर-हमेशा और स्वत:स्फूर्त रूप से सर्वहारा नहीं होती। वह अराजकतावादी भी हो सकती है।

सुजीत दास की बात जिस एक अन्य आलोचक से काफ़ी मिलती है, वह हैं **हेल्मुट वैग्नर** जो कि एक "वामपन्थी" भटकाव का शिकार एक सामाजिक जनवादी पत्रकार थे। 1934 में उन्होंने 'थीसीज़ ऑन बोल्शेविज़्म' प्रकाशित की। उनकी यह थीसिस वास्तव में 'रोटे कैम्फर' नामक एक काउंसिल कम्युनिस्ट ग्रुप से हुई उनकी बातचीत से प्रभावित थी। सुजीत दास की तरह वैग्नर भी सोवियत राज्यसत्ता को इतिहास की पहले की राज्यसत्ताओं से गुणात्मक तौर पर अलग नहीं मानते हैं। उनका भी मानना था कि सोवियत राज्यसत्ता भी एक समूह द्वारा वर्ग के नाम पर हथिया ली गयी सत्ता थी, और इस मामले में वह ज़ारशाही की सत्ता या आरज़ी सरकार की सत्ता से भिन्न नहीं थी। वैग्नर कहते हैं कि ज़ार का राज्य सामन्ती और पूँजीपति वर्ग के बीच सन्तुलन कायम रखने की प्रक्रिया में अपने वर्ग मूल से स्वायत्त हो गया था, और यह इसीलिए एक निरंकुश राज्य था (हालाँकि निरंकुश राज्यसत्ता का यह सिद्धान्त की उसका वर्ग मूल या वर्ग चरित्र नहीं होता है, प्रभावी तरीके से एंगेल्स द्वारा और आधुनिक युग में **पेरी एण्डरसन** द्वारा ख़ारिज किया जा चुका है); इसी तरीके से वैग्नर सोवियत राज्यसत्ता को किसान वर्ग और मज़दूर वर्ग के बीच सन्तुलन कायम रखने वाली राज्यसत्ता मानते हैं, और मानते हैं कि इसीलिए वह मज़दूर वर्ग से स्वायत्त हो गयी और एक निरंकुश सत्ता बन गयी। यह निरंकुश राज्यसत्ता मज़दूर वर्ग के नाम पर वास्तव में पूँजीवाद को संगठित कर रही थी। यानी कि पूँजीपति वर्ग के बिना ही पूँजीवाद। सुजीत दास के नतीजे भी कम तीखे शब्दों में कुछ ऐसे ही हैं। यहाँ हम वैग्नर का एक छोटा-सा उद्धरण देकर आगे बढ़ेंगे, **"रूसी राज्यसत्ता निश्चित रूप से किसी वर्ग के लोगों को प्रदर्शित नहीं करती, जो कि व्यक्तिगत तौर पर या प्रत्यक्ष रूप से अधिशेष के उत्पादन के लाभार्थी हों, बल्कि यह राज्य सत्ता अपने नौकरशाहाना, परजीवी उपकरण द्वारा इस अधिशेष को अपनी जेब में डालती है।"** (हेल्मुट वैग्नर, 1934, 'थीसिस ऑन बोल्शेविज़्म', *इण्टरनेशनल काउंसिल करेस्पॉण्डेंस, 1, 3 (दिसम्बर 1934): 1-18*)। सुजीत दास सोवियत राज्यसत्ता द्वारा फसल वसूली के सवाल पर यही अवस्थिति अपनाते हैं।

कुछ ऐसी ही अवस्थिति अपनाते हैं ऑस्ट्रेलायाई ट्रॉट्स्कीपन्थी **रायन वॉरेल** जिन्होंने 1939 में एक अमेरिकी पत्रिका 'मॉडर्न क्वार्टरली' में एक लेख लिखा था: 'सोवियत संघ: सर्वहारा राज्य या पूँजीवादी राज्य'। इसमें उन्होंने लिखा कि मार्क्स के अनुसार उत्पादन के साधनों पर एक अल्पसंख्या का नियन्त्रण पूँजीवादी उत्पादन की एक ख़ासियत है। सुजीत दास की ही तरह वॉरेल ने इस बात का अर्थ समझे बग़ैर यह नतीजा निकाल लिया था कि चूँकि सोवियत संघ में प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं है, इसलिए वह ज़्यादा से ज़्यादा राजकीय पूँजीवाद है। जो बात वॉरेल भी नहीं समझ पाये थे और सुजीत दास से तो हम ऐसी उम्मीद करने की नादानी बिल्कुल नहीं करते, वह यह थी कि मार्क्स यहाँ

जिस अल्पसंख्या की बात कर रहे हैं, वह कुछ लोगों का समूह नहीं बल्कि एक वर्ग है–पूँजीपति वर्ग। समूचा पूँजीपति वर्ग भी उत्पादन के साधनों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं करता है। उसका अच्छा-ख़ासा हिस्सा अधिशेष विनियोजन में हिस्सेदार होता है, और अक्सर वह उत्पादन, उत्पादन के साधन आदि से बहुत दूर होता है और उसके बारे में अक्सर कुछ भी नहीं जानता। **पूँजीपति वर्ग को जो चीज़ पूँजीवाद के तहत शासक वर्ग बनाती है वह उस पूरे के पूरे वर्ग का उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं, बल्कि सबसे पहले अधिशेष विनियोजन, यानी कि अधिशेष हस्तगत करने का उसका अधिकार होता है। यही बात मार्क्स ने भी अलगाव का ज़िक्र करते हुए कही थी, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं।** वॉरेल, एक बार फिर बिल्कुल सुजीत दास की तरह, यह हवाला देते हैं कि अधिकांश देशों में रेलवे राजकीय सम्पत्ति है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं वहाँ समाजवाद है। निश्चित तौर पर! लेकिन यहाँ वॉरेल और सुजीत दास, दोनों ही यह बात भूल गये कि राजकीय सम्पत्ति का चरित्र इससे निर्धारित होता है कि राज्य पर कौन काबिज़ है। यह तो एंगेल्स ने बहुत पहले ही बता दिया था कि पूँजीवाद के तहत राजकीय सम्पत्ति पूँजीपति वर्ग की 'सामूहिक पूँजी' से ज़्यादा कुछ नहीं होती। इस मामले में वॉरेल और सुजीत दास कोई नया आविष्कार नहीं कर रहे हैं। मूल प्रश्न राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र, यानी राज्यसत्ता का प्रमुख उपकरण कौन-सी पार्टी है, इससे तय होता है। क्योंकि कोई भी वर्ग अपने सभी सदस्यों के साथ कोरस में अभ्यास करके राज्यसत्ता पर अपना वर्चस्व कायम नहीं करता है, बल्कि अपने हिरावल के जरिये राज्यसत्ता पर अपना नियन्त्रण स्थापित करता है। न तो बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही इस नियम का अपवाद है और न ही सर्वहारा वर्ग की तानाशाही। वॉरेल एक और बात करते हैं, जो सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की याद दिला देती है। उनका मानना है कि सोवियत नौकरशाही पूँजीपति वर्ग नहीं है, लेकिन यह उसकी तरह से बर्ताव कर रही है। अगर यह नौकरशाही मज़दूर वर्ग के मातहत होती तो यह समाजवादी होती, लेकिन चूँकि ऐसा नहीं था इसलिए सोवियत राज्यसत्ता का चरित्र बुर्जुआ हो जाता है।

एक अन्य धारा जिससे सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की करीबी बनती है वह है **फ्रैंकफर्ट स्कूल** की धारा। फ्रैंकफर्ट स्कूल के अर्थशास्त्री फ्रेडरिक पोलक ने सोवियत संघ की आलोचना 'स्टेट कैपिटलिज़्म: इट्स पॉसिबिलिटीज़ एण्ड लिमिटेशंस' नामक लेख में की थी, जो कि 1941 में प्रकाशित हुआ था। पोलक अपनी सोच में पूरी तरह से मैक्स होर्कहाइमर (फ्रैंकफर्ट स्कूल के संस्थापकों में से एक) का अनुसरण करते है। और फ्रैंकफर्ट स्कूल की पूरी सोच इस उद्धरण से साफ़ हो जाती है: **"निजी पूँजीपति समाप्त हो चुके हैं। इसके बाद, लाभांश सरकारी बॉण्ड के रूप में संग्रहित होते हैं। शासन के क्रान्तिकारी अतीत के कारण अधिकारियों और विभागों के बीच निम्न स्तर के संघर्ष नौकरशाहाना स्टाफ के सामाजिक मूल और सम्बन्धों के कारण जटिल नहीं बनते, जैसा कि फासीवाद के साथ होता है। इस चीज़ ने फासीवादी राज्यों के भीतर काफी घर्षण पैदा किया है। समेकित राज्यवाद कदम पीछे हटाना नहीं बल्कि सत्ता का विकास है। यह बिना नस्लवाद के भी मौजूद रह सकता है। लेकिन, उत्पादक जिनका कानूनी तौर पर पूँजी पर मालिकाना है, वह 'उजरती मज़दूर - सर्वहारा' ही बना रहता है, चाहें उसके लिए कितना कुछ भी क्यों न किया जाता हो। कारखाने के रेजिमेण्टेशन को पूरे समाज तक विस्तारित कर दिया जाता है।"** (मैक्स होर्कहाइमर, 1942, **'दि अथॉरिटैरियन स्टेट'**, *दि*

एसेंशियल फ्रैंकफर्ट स्कूल रीडर, न्यूयॉर्क, उरिज़ेन बुक्स, 1978, पृ. 102)। यहाँ भी सुजीत दास की इस स्कूल के विचारों से करीबी साफ़ है और उसकी व्याख्या करने की कोई ज़रूरत नहीं है।

अब हम उस आख़िरी प्रभाव स्रोत पर आते हैं जिनके विचारों की छाया सुजीत दास पर स्पष्ट तौर पर नज़र आती है। इस धारा को अक्सर **ब्रूनो रिज़ी** और **सिमोन वील** के चिन्तन का नतीजा माना जाता है, लेकिन वास्तव में इसके मूल भूतपूर्व ऑस्ट्रियाई-जर्मन कम्युनिस्ट **लूसियेन लॉरेट** में ही खोजे जा सकते हैं। लूसियेन लॉरेट ने 1927 में मार्क्सवाद का परित्याग कर दिया था। 1931 में उनकी एक पुस्तक आयी थी जिसका नाम था 'दि सोवियत इकॉनमी'। **लॉरेट का मानना था कि सोवियत संघ न तो पूँजीवादी है और न समाजवादी (सुजीत दास के 'मिश्रित' संरचना वाली बात का यहाँ पर स्मरण हो आना स्वाभाविक है)।** उनका मानना था कि यह एक नयी सामाजिक-आर्थिक संरचना है और इसमें एक नया नौकरशाह शासक वर्ग पैदा हुआ है। लॉरेट कहते हैं कि सोवियत संघ में कानूनी तौर पर उत्पादन के साधनों का सामूहिक मालिकाना था, लेकिन वास्तव में इन साधनों का निर्देशन एक परजीवी नौकरशाह वर्ग या जाति (कास्ट) करती थी। मज़दूर वर्ग अधिशेष का उत्पादन करता था और यह नौकरशाही मज़दूर वर्ग के ही नाम पर उसका उपभोग और संचय करती थी। और यह संचय वास्तव में उद्योग के लिए पूँजी का संचित भण्डार था। आर्थिक नियोजन को सोवियत संघ और नात्सी जर्मनी, दोनों ने ही इस्तेमाल किया। एक जगह इस नियोजन के शीर्ष पर नौकरशाह-तकनोशाह (ब्यूरो-टेक्नोक्रेसी) वर्ग था (सोवियत संघ) जबकि दूसरी जगह इसके शीर्ष पर एक अल्पसंख्यक-तकनोशाह (प्लूटो-टेक्नोक्रेसी) वर्ग था (यानी जर्मनी और एक हद तक इटली)। पहले मामले में एक समाजवादी 'करेक्टिव' की ज़रूरत थी, यानी कि राज्यसत्ता और अर्थव्यवस्था पर प्रत्यक्ष उत्पादकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण को स्थापित करने की, और दूसरे मामले में एक पूँजीवादी 'करेक्टिव' की ज़रूरत थी, यानी कि मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था की। और चूँकि दोनों मामलों में यह करेक्टिव अनुपस्थित था, इसलिए दोनों जगह नौकरशाही का शासन था। लॉरेट बिल्कुल सुजीत दास की ही तरह यह बताने की कोई ज़रूरत नहीं समझते कि इस नौकरशाही का क्या वर्ग चरित्र था। लॉरेट इस चीज़ का वैधीकरण अपनी इस मान्यता के आधार पर दे सकते हैं, कि नौकरशाही को ही वह नया शासक वर्ग मानते हैं, हालाँकि मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के अनुसार यह मूर्खतापूर्ण बात है, क्योंकि वर्ग होने की पूर्वशर्तों को यह समूह, यानी कि नौकरशाही, पूरा नहीं करती। लेकिन सुजीत दास इसके लिए कोई वैधीकरण नहीं दे सकते क्योंकि वह कम-से-कम इस लेख में ऐसा नहीं लिखते कि नौकरशाही एक वर्ग है।

सिमोन वील भी 1933 में आई अपनी रचना 'आर वी गोइंग टुवर्ड्स ए प्रोलेतारियन रिवोल्यूशन' में यही विचार रखती हैं कि अगर पूँजीवाद समाप्त भी हो जाये तो मानसिक मज़दूरों और शारीरिक मज़दूरों के बीच का अन्तर अनिवार्य रूप से नौकरशाही को जन्म देगा जो कि एक नया शासक वर्ग बन जायेगी। यहाँ हम सिमोन वील की व्यापक आलोचना में नहीं जायेंगे, क्योंकि वह जो कह रही हैं, उसके अवधारणात्मक मूल लूसियन लॉरेट में पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। इसलिए हम लॉरेट के एक उद्धरण के साथ यह बात ख़त्म करेंगे: **"(नौकरशाही) सर्वहारा जनसमुदायों के साथ अपने सम्बन्धों को लगातार खोती गयी। इसने अपने आपको सम्पत्तिहीन बना दी गयी बुर्जुआज़ी की सम्पत्ति के निरीक्षक, और**

उन मज़दूरों के शिक्षक के रूप में खड़ा कर दिया जो अभी भी अपने प्रबन्धन में पर्याप्त रूप से सक्षम नहीं थे। तानाशाही को वर्ग पर पार्टी के शासन के बोल्शेविक सिद्धान्त के जरिये परिवर्तित कर दिया गया और एक ऐतिहासिक रूप से अपवादस्वरूप परिस्थिति में आकस्मिक सर्वशक्ति से लैस होकर नौकरशाही ने अपने आपको चिरकाल के लिए एक शिक्षक के रूप में खड़ा कर लिया।।" (लूसियन लॉरेट, 1931, *'ला इकोनोमी सोवियेतीक, सा डाईनेमीक, सोन मेकानिस्मे,* पेरिस: लाइब्रेरी वालोआ, पृ. 162)।

इन सभी सिद्धान्तों का बहुत करीबी से विश्लेषण करने का यहाँ हमारे पास स्थान नहीं है। वास्तव में इसकी ज़रूरत भी नहीं है। यहाँ हम इन संशोधनवादी, नवमार्क्सवादी, मार्क्सवाद-विरोधी, "वामपन्थी" कम्युनिस्ट, अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और ट्रॉट्स्कीपन्थी व्याख्याओं की चर्चा सिर्फ़ दो कारणों से कर रहे थे। **पहला कारण यह कि आप इन सभी व्याख्याओं में बिल्कुल साफ़ तौर पर एक साझा थीम देख सकते हैं। वह साझा थीम है परिघटना (फेनॉमेना) के स्तर पर विकासों और परिवर्तनों की सूची तैयार करने और उनके सारतत्व (एसेंस) का विश्लेषण नहीं करने की।** लेनिन और स्तालिन ने बार-बार बताया था कि सोवियत संघ का समाजवादी राज्य कोई अमोघ-अचूक समाजवादी राज्य नहीं है और उसमें नौकरशाहाना विकृतियाँ और बुर्जुआ विरूपताएँ मौजूद हैं और सच तो यह है कि कोई समाजवादी राज्यसत्ता अचूक और अमोघ हो ही नहीं सकती। जो यह बुनियादी बात नहीं समझता वह यह भूल जाता है कि समूचा समाजवादी संक्रमण बेहद तीव्र और जटिल वर्ग संघर्ष की एक प्रक्रिया है; अभी समाज में पूँजीवाद के तत्व मौजूद हैं और बुर्जुआ वर्ग परास्त हुआ है, किन्तु ख़त्म नहीं। ऐसे में, समाज में उत्पादन, विचारधारा, संस्कृति, शिक्षा, राजनीति और मनोविज्ञान के धरातलों पर जो वर्ग संघर्ष चलेगा उसका प्रतिबिम्बन कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष के रूप में, नौकरशाही के ख़िलाफ़ और अन्य विजातीय गैर-सर्वहारा प्रवृत्तियों के ख़िलाफ संघर्ष के रूप में दिखलायी पड़ेगा और इस वर्ग संघर्ष का प्रतिबिम्बन राज्यसत्ता में मौजूद संघर्ष के रूप में भी दिखलायी पड़ेगा। लेकिन उपरोक्त सभी धाराएँ एक बुनियादी मार्क्सवादी सबक को भूलने के चलते सोवियत समाजवाद के अध्ययन में मतिभ्रम और दृष्टिभ्रम का शिकार हो गयी हैं–यानी, **वर्ग विश्लेषण।** किसी सामाजिक संरचना का वर्ग विश्लेषण, किसी राज्यसत्ता का वर्ग विश्लेषण, पार्टी का वर्ग विश्लेषण और किसी भी राजनीतिक निकाय का वर्ग विश्लेषण। अगर इन बुनियादी चीज़ों को भूल जायें तो यह मानना होगा कि दुनिया में कभी कहीं समाजवादी व्यवस्था (संक्रमण के तौर पर भी) मौजूद नहीं थी। इस नतीजे तक सुजीत दास नहीं पहुँचते, लेकिन उन्हीं के शब्दों का इस्तेमाल करें, यह सुजीत दास के विश्लेषण में "सचेतनता" की भूमिका है **(पता नहीं अधिकांश जगहों पर सुजीत दास पार्टी, हिरावल, वर्ग, और चेतना जैसे शब्दों को उद्धरण चिन्हों के बीच क्यों रखते हैं, क्योंकि वह ट्रेड यूनियन या सोवियत को तो वह कभी भी उद्धरण चिन्ह में नहीं रखते; कहीं ऐसा वह उसी तरह से तो नहीं करते जैसे लेनिन ने वामपन्थी शब्द को "वामपन्थी" कम्युनिज़्म की आलोचना करते हुए उद्धरण चिन्ह में रखते हुए किया था? अगर यह काम "अचेतनता" या "अवचेतनता" के कारण सुजीत दास कर बैठे हैं, तो भी उनको सोचना चाहिए!)!** जहाँ पर भी सुजीत दास "नैसर्गिक स्वत:स्फूर्तता" (जिसके कि सुजीत दास दीवाने हैं!) से चलते हैं, वहाँ उनके सारे विश्लेषण में क्या

दिखलायी देता है? यहीं से हम अपने दूसरे कारण पर आते हैं।

हमने उपरोक्त तमाम धाराओं का यहाँ ज़िक्र और संक्षिप्त विश्लेषण इसलिए किया है, क्योंकि 1917 से लेकर 1953 तक सोवियत समाजवाद के जो भी आलोचक इन धाराओं से आये थे, उनकी आलोचनाओं का पूरा प्रभाव सुजीत दास के विश्लेषण में नज़र आता है। कहा जा सकता है कि सुजीत दास ने अपनी "नैसर्गिक वर्ग स्वत:स्फूर्तता" से इन तमाम अधकचरी गैरमार्क्सवादी आलोचनाओं का एक ऐसा मिश्रण तैयार किया है, जो इन सभी आलोचनाओं से ज़्यादा अधकचरा और दरिद्र साबित हुआ है। इन सभी धाराओं से सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की गहरी मित्रता को दिखलाने का बाद अब हम लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों से इन गैर-सर्वहारा विजातीय प्रवृत्तियों की एक तुलना कर सकते हैं और अपना विश्लेषण पाठकों के सम्मुख रख सकते हैं।

अब पहले हम सुजीत दास की पूरी अवस्थिति पर अपना विश्लेषण रखेंगे, और उसके बाद पार्टी और वर्ग के सम्बन्धों के बारे में लेनिन, स्तालिन और माओ के विचारों को देखेंगे। हम अपना विश्लेषण टुकड़ों में उपरोक्त धाराओं के आलोचनात्मक विवेचन में रखते हुए आए हैं, लेकिन हम यहाँ एक बार उसके मूल बिन्दुओं को रेखांकित करना चाहेंगे।

हमने ऊपर बोल्शेविक पार्टी में 1919 से लेकर 1921 तक ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर हुए विवाद पर लम्बी चर्चा की थी। हमने यह भी दिखलाने का प्रयास किया था कि विभिन्न धड़ों के बीच जो बहस चली उसका आलोचनात्मक समाहार करते हुए लेनिन ने कहा था कि यह बहस वास्तव में सिर्फ़ ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर नहीं थी बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व की समूची मशीनरी, उसमें पार्टी की प्राथमिक और प्रधान भूमिका, ट्रेड यूनियनों और सोवियतों की भूमिका, और पार्टी के साथ राज्य, सोवियत और ट्रेड यूनियनों के रिश्ते, और साथ ही पार्टी और वर्ग के रिश्तों पर केन्द्रित थी। लेनिन ने यह भी दिखलाया था कि ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर ट्रॉट्स्की-बुखारिन धड़े और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' दोनों की ही अवस्थिति की समस्या यह थी कि वे अर्थवाद के अलग-अलग संस्करण थे। **एक अर्थवाद का दक्षिणपन्थी भटकाव था, तो दूसरा उसका "वामपन्थी" भटकाव।** और इसी के बरक्स लेनिन ने सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी संरचना के बाबत अपनी वैकल्पिक समझदारी पेश की। हम इसी समझदारी से अपनी बात की शुरुआत करेंगे और इस चर्चा से ही कुछ बुनियादी नतीजे निकालेंगे।

हम जानते हैं कि लेनिन ने ट्रॉट्स्की के इस प्रस्ताव की सख़्त आलोचना 1919-20 के दौरान की थी कि ट्रेड यूनियनों को पूरी तरह राज्य का उपकरण बना दिया जाना चाहिए, उनकी किसी भी प्रकार की सापेक्षिक स्वायत्तता भी नहीं रहने दी जानी चाहिए, और उन्हें शासन के कार्य सौंप दिये जाने चाहिए। लेनिन का मानना था कि मज़दूर वर्ग को सजातीय या एकाश्मीय श्रेणी नहीं माना जा सकता है। यह विभाजित है, इसके व्यापक हिस्से टटपुँजिया चेतना से भ्रष्ट हैं। ट्रेड यूनियनें इस समूची आबादी को समेटती हैं, और इसलिए अगर उनका राजकीयकरण किया गया तो यह सर्वहारा राज्य को भी भ्रष्ट कर देगा और ट्रेड यूनियनों को भी। लेनिन का विचार था कि ट्रेड यूनियनों को हिरावल और मज़दूर वर्ग को जोड़ने वाली कड़ी का काम करना चाहिए। ट्रेड यूनियनों को सापेक्षिक स्वायत्ता दी जानी चाहिए, ताकि वे मज़दूर वर्ग के हितों की उन सूरतों में हिफ़ाज़त कर सकें, जब बुर्जुआ और नौकरशाह विकृतियों और विरूपताओं से प्रभावित सर्वहारा राज्यसत्ता उसके हितों के विपरीत कदम उठाये,

और साथ ही तभी वे सर्वहारा राज्यसत्ता की भी रक्षा कर पायेंगी, जब वे राज्यसत्ता से *सापेक्षिक तौर पर* स्वायत्त होंगी। लेनिन ने यहीं से अपने हमले का निशाना दूसरे छोर, यानी कि "वामपन्थी" और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी छोर के भटकाव पर केन्द्रित किया। लेनिन का मानना था कि अगर ट्रेड यूनियनों का राजकीयकरण नहीं किया जा सकता तो राज्य का भी ट्रेड यूनियनीकरण नहीं किया जा सकता, जैसा कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का मानना था। इस धड़े का भी यही मानना था कि ट्रेड यूनियनों को सरकार चलाने के कार्य दे दिये जाने चाहिए। लेकिन वे इसमें पार्टी की कोई भूमिका नहीं चाहते थे। वे पार्टी को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण के रूप में स्वीकार नहीं करते थे और मानते थे कि ट्रेड यूनियनों में पार्टी का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। लेनिन का मानना था कि यह पूरी थीसिस पार्टी को वर्ग के विपरीत खड़ा कर देती है, मानो कि दोनों शत्रुतापूर्ण शक्तियाँ हों। यह वास्तव में पार्टी की ज़रूरत को नकारने के समान था, और इसीलिए लेनिन ने इस धड़े को अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का शिकार करार दिया। इसके नेता कोलोन्ताई और श्ल्याप्निकोव पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका को नहीं समझते थे। ट्रेड यूनियनों को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र बनाकर सरकार के काम सौंपने का अर्थ होगा मज़दूर वर्ग के राजनीतिक हितों और सत्ता के ऊपर उसके आर्थिक हितों को प्रधानता देना। ऐसे में मज़दूर वर्ग समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में अपने सामाजिक आधार, यानी कि अपने मित्र वर्गों से रिश्ता तोड़ बैठेगा, और यह सर्वहारा अधिनायकत्व के पतन की ओर ले जायेगा। यह क्रान्ति में हिरावल वर्ग के तौर पर सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व को खण्डित कर देगा क्योंकि ट्रेड यूनियनें नैसर्गिक तौर पर मज़दूर वर्ग के हितों को ही प्रधानता देंगी। वास्तव में, 'वर्कर्स अपोज़ीशन' नेप का और किसानों को रियायतें दिये जाने की मजबूरी को नहीं समझ रहा था और उसका विरोध कर रहा था और लेनिन "युद्ध कम्युनिज़्म" के बाध्यताकारी कदमों से मज़दूर-किसान संश्रय के बेहद कमज़ोर हो जाने के ख़तरे को समझ रहे थे और यह भी समझ रहे थे कि अभी पूँजीवादी तत्वों को छूट देकर रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाये बग़ैर सर्वहारा सत्ता को बचाया नहीं जा सकेगा। लेकिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' सर्वहारा वर्ग की नेतृत्वकारी भूमिका को बनाये रखने की इस मजबूरी को नहीं समझता था। अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी यह नहीं समझते हैं कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के पूरे ऐतिहासिक दौर में सर्वहारा वर्ग को कई बार अपने मित्र वर्गों के हितों के आगे अपने तात्कालिक हितों को त्यागना पड़ता है, ताकि सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता को कायम रखा जा सके। लेनिन ने बताया कि ट्रेड यूनियनें पूँजीवाद के दौर में अस्तित्व में आती हैं। पूँजीवाद के दौरान उनका प्रमुख काम होता है पूँजी के हमलों के समक्ष मज़दूर वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त करना। जाहिर है, समाजवादी संक्रमण के दौरान यह उनका कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि राज्यसत्ता मज़दूर वर्ग के हाथ में आ चुकी है, और जो भी अधिशेष विनियोजित होता है वह राज्य के ज़रिये लौटकर सर्वहारा वर्ग के कल्याण में ही लगता है। इस रूप में मार्क्स के अलगाव के पहले अर्थ का उन्मूलन हो जाता है। समाजवाद के दौरान मज़दूर वर्ग ने अपनी जो पहलकदमी और नायकत्वपूर्ण प्रयास दिखाये वे इसी कारक के चलते सम्भव हुए थे, किसी ज़ोर-ज़बर्दस्ती से नहीं, जैसा कि सुजीत दास पूर्वाग्रहपूर्ण चयन प्रणाली से उद्धरण छाँटकर अपने लेख में दिखलाना चाहते हैं, जिनका खण्डन हम आगे तथ्यों और प्रमाणों के साथ करेंगे।

तो फिर समाजवाद के दौर में ट्रेड यूनियनों का मुख्य कार्य क्या होता है? लेनिन

इसके बारे में स्पष्ट हैं और उनके सम्बन्धित उद्धरणों को हम ऊपर पेश कर चुके हैं। उनका मानना है कि समाजवाद के अन्तर्गत ट्रेड यूनियनें 'कम्युनिज़्म का स्कूल' और 'प्रबन्धन का स्कूल' होंगी। इसका अर्थ यह है कि यह सर्वहारा अधिनायकत्व के राज्य की मशीनरी के लिए कम्युनिज़्म की स्पिरिट और विश्व दृष्टिकोण को आत्मसात कर चुके मज़दूर कार्यकर्ताओं, प्रबन्धकों और कमिसारों को तैयार करेगी। इसीलिए लेनिन ने आगे इसे सर्वहारा वर्ग की 'राज्यसत्ता का आरक्षित संचित भण्डार' कहा। और इसीलिए लेनिन ने कहा कि ट्रेड यूनियनें सर्वहारा वर्ग को उसके उन्नत दस्ते, उसके हिरावल यानी कि पार्टी से जोड़ने वाली कड़ी है और समाजवादी संक्रमण के दौर में उसकी यह भूमिका प्रमुख है, और यह भूमिका समाजवादी संक्रमण की मंज़िल के अनुसार अलग-अलग रूप धारण कर सकती है। अगर ट्रेड यूनियनों को पूर्णत: स्वतन्त्र और स्वायत्त बनाकर जनवाद की किसी बुर्जुआ अवधारणा को हम सर्वहारा जनवाद समझ बैठते हैं, तो इसका अर्थ होगा ट्रेड यूनियनों को समस्त मज़दूर आबादी की अचेत सामूहिक स्वत:स्फूर्तता पर छोड़ देना। यह एक तरह से अपने हाथों से पहल को टटपुँजिया वर्ग के हाथों में सौंपने के समान होगा, और चूँकि टटपुँजिया वर्ग की अपनी कोई विचारधारा नहीं होती, और वह बुर्जुआ विचारधारा का ही पुच्छल तारा होता है, इसलिए इसका अर्थ असल में समूची पहल को बुर्जुआजी के हाथ में सौंपना होगा। सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद के पूरे दौर में टटपुँजिया विचारों का बुरी तरह से शिकार होता है। किसी भी देश में क्रान्ति से पहले हिरावल पार्टी सर्वहारा वर्ग के बेहद छोटे, सबसे उन्नत और सबसे जुझारू हिस्से को ही समेट सकती है। वास्तव में, समाजवादी क्रान्ति से पहले उन्नत से उन्नत देश में ट्रेड यूनियनें तक कुल सर्वहारा आबादी के महज 15 से 30 प्रतिशत आबादी को समेट पाती हैं। रूस में तो यह आँकड़ा और भी कम था। सर्वहारा वर्ग की आबादी में ज़्यादातर आबादी ऐसी थी जो अभी पिछली पीढ़ी तक ही, या शायद कुछ समय पहले तक ही किसान थी। उसके अन्दर छोटे मालिक, दस्तकार और किसान की मानसिकता गहरे से जड़ जमाये हुए थी। **ऐसे में रूस में ट्रेड यूनियनों ने सर्वहारा आबादी के एक छोटे हिस्से को अपने में समेटा था, और पार्टी ने तो और भी छोटे हिस्से को। ऐसे में, समूची सर्वहारा आबादी की स्वत:स्फूर्तता स्वयं में सर्वहारा होगी, यह सोचना नादानी है।** आगे हम लेनिन के कुछ ज़रूरी उद्धरणों को आपके सामने पेश करेंगे। लेकिन अभी मूल चर्चा पर आते हैं।

चूँकि ट्रेड यूनियनों को स्वायत्त और स्वतन्त्र तरीके से राज्यसत्ता के काम नहीं दिये जा सकते हैं, इसलिए वे सर्वहारा अधिनायकत्व को लागू करने की प्रमुख उपकरण नहीं हो सकतीं। लेनिन ने ज़ोर देकर कहा कि सर्वहारा अधिनायकत्व को केवल सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी ही लागू कर सकती है (आश्चर्य है कि सुजीत दास यह दावा करते हैं कि सोवियत राजनीतिक साहित्य में कहीं ऐसा नहीं लिखा गया है, क्योंकि ऐसा बार-बार कहा गया है और स्पष्ट किया गया है कि सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को लागू करेगी।)। मज़दूर वर्ग समूचे वर्ग के तौर पर नहीं जानता है कि शासन करने का क्या अर्थ है। यह मज़दूर वर्ग का उन्नत दस्ता जानता है, जिसने सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण और विचारधारा को लम्बे वर्ग संघर्षों में जुझारू हिस्सेदारी करते हुए नि:सृत और आत्मसात किया है। और लेनिन आगे किसी भी भ्रम की सम्भावना को ख़त्म करते हुए कहते हैं कि पार्टी की यह नेतृत्वकारी भूमिका केवल "विचारधारात्मक मार्गदर्शक" की नहीं होगी, जैसा कि सुजीत दास समझते हैं। ऐसा सोचना पार्टी को प्रवचन देने वाले बुद्धिजीवियों का

गिरोह बना देगा, जिसकी आँखों के सामने और प्रवचनों के दौरान सर्वहारा सत्ता विखण्डित हो जायेगी। इसीलिए लेनिन ने कहा कि पार्टी को प्रबन्धन, शासन और उत्पादन के कार्यों में 'उदाहरण पेश करके नेतृत्व देना होगा'; **उन्होंने स्पष्ट कहा कि पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ही नहीं होगी, बल्कि यह आर्थिक प्रबन्धन, तकनीकी कार्यों और उत्पादन सम्बन्धी अन्य सभी कार्यों में 'संस्थाबद्ध नेतृत्व' के रूप में सामने आयेगी।** और यही कारण था कि लेनिन के जीवन काल में ही सोवियत संघ में सरकार की भूमिका को **सोवनार्कोम (जन कमिसार परिषद)** निभाने लगी, जिसके सदस्यों को मुख्य तौर पर पार्टी नियुक्त करती थी; यही कारण था कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के कार्यों को पहले **सोवियतों की केन्द्रीय कार्यकारी परिषद (वी.टी.एस.आई.के.)** के हाथों में सौंपा और फिर उसके अधिकांश कार्यों को सोवनार्कोम के हाथों में। यह प्रक्रिया 1918 का अन्त होते-होते पूरी हो चुकी थी। अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन का काम पूरी तरह से **सर्वोच्च आर्थिक परिषद (वेसेंखा)** के हाथों में केन्द्रित हो चुका था, जिसके कार्यों को अंजाम देने में ट्रेड यूनियनों का सहकार होता था। लेकिन सुजीत दास के पूरे लेख को पढ़ने के बाद हम उनसे यह उम्मीद नहीं कर सकते हैं कि वह अपने पाठकों को इस पूरी तस्वीर और इसके पीछे की राजनीतिक समझदारी से अवगत कराएँ। इसका कारण यह है कि पहले खुद इस तस्वीर से अवगत होना ज़रूरी है!

ख़ैर, आगे बढ़ते हैं। लेनिन ने इन भटकावों के बरक्स अपनी वैकल्पिक समझदारी पेश की और वह समझदारी आज भी प्रासंगिक है। इस वैकल्पिक तस्वीर में ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग और मज़दूर वर्ग के उन्नत दस्ते के बीच की कड़ी हैं। पार्टी के सक्रिय और संस्थाबद्ध नेतृत्व के तहत वे सर्वहारा अधिनायकत्व के कार्यभारों को पूरा करती हैं, लेकिन सरकार के कार्य ट्रेड यूनियनों को नहीं सौंपे जा सकते हैं, और इसके लिए एक विशेष संस्था, यानी कि सोवियतों की ज़रूरत होगी। इसका कारण यह है कि सोवियतें सिर्फ़ मज़दूर वर्ग के जनसमुदायों को नहीं समेटती हैं, बल्कि समूचे मेहनतकश जनसमुदायों को समेटती हैं। **लेकिन सोवियतें भी यह कार्य पार्टी के संस्थागत नेतृत्व के तहत ही कर सकती हैं।** 1917 से 1919 तक के दो वर्षों के सोवियतों के शासन के अनुभव का समाहार करते हुए लेनिन ने इण्टरनेशनल में कहा कि 'राज्य और क्रान्ति' की थीसिस में परिवर्तन की ज़रूरत है; पेरिस कम्यून मॉडल तुरन्त लागू नहीं किया जा सकता है। लेनिन ने बताया कि रूस में पार्टी ने दो वर्षों के सोवियतों के शासन का समाहार करते हुए पाया है कि सोवियतों को स्वायत्त रूप से शासन के कार्य आने वाले लम्बे समय तक नहीं सौंपे जा सकते हैं। यह काम पार्टी के ज़रिये ही हो सकता है और पार्टी को लम्बे समय तक सोवियतों के भीतर सर्वहारा विचारधारा के वर्चस्व को कायम करने और बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर तोड़ने के लिए राजनीतिक कार्य करना होगा। इस पार्टी कार्य की सफलता या असफलता पर ही यह निर्भर करेगा कि सोवियतें मेहनतकश जनता की सच्ची सत्ता की संस्था के रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व के शासनात्मक कार्यों को अंजाम देने की स्थिति में कब पहुँचती हैं। इसलिए सुजीत दास को सोवियतों को तत्काल सत्ता देने और ट्रेड यूनियनों को तत्काल उत्पादन व्यवस्था का नियन्त्रण देने की अपनी सोच के बारे में पुनर्विचार करना चाहिए। वे इसके लिए 'राज्य और क्रान्ति' और एंगेल्स के 'अराज्य' वाले उद्धरणों पर काफ़ी ज़ोर देते हैं। लेकिन वह यह नहीं समझ पाते कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की पूरी प्रणाली के बारे में क्रान्ति और

क्रान्तिकारी सर्वहारा सत्ता के अनुभवों के बग़ैर सामान्य दूरगामी लक्ष्यों के अनुसार कुछ आधे-अधूरे प्रेक्षण ही किये जा सकते थे। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि लेनिन ने इस बारे में अपनी थीसिस को दुरुस्त कर लिया और यह लेनिन की अद्वितीय प्रतिभा का ही द्योतक था कि कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल में उन्होंने इस सैद्धान्तिक परिवर्तन के बारे में बताया। **लेनिन ने बताया कि समाजवादी संक्रमण के दौरान यदि ट्रेड यूनियन का काम सर्वहारा वर्ग और सर्वहारा वर्ग के उन्नत दस्ते, यानी पार्टी, के बीच कड़ी का काम करना है, तो सोवियतों का काम है सर्वहारा अधिनायकत्व को तृणमूल धरातल तक ले जाना।** यानी कि सोवियतों का कार्य है सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को समूची मेहनतकश जनता के जनसमुदायों तक ले जाना। लेकिन सोवियतें यह कार्य पार्टी के सक्रिय और संस्थागत नेतृत्व के तहत ही कर सकती हैं।

यहाँ ग़ौर करने की बात यह है कि लेनिन ट्रेड यूनियनों और सोवियतों को कोई *आद्यरूपीय (आर्किटाइपल)* संगठन नहीं मानते थे जो एक बार बन जाने के बाद तय भूमिकाओं को निभाते चले जाते हैं। वह इन निकायों को निरन्तर बेहद तीव्र और जटिल वर्ग संघर्ष का मंच मानते हैं। समाजवादी संक्रमण के दौर में इन मंचों पर जारी तीखे वर्ग संघर्ष को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के तहत संचालित करना होगा। और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण पार्टी है। सुजीत दास की आलोचना के ठीक विपरीत यह दावा किया जा सकता है कि पार्टी अपनी नेतृत्वकारी भूमिका को स्तालिन काल में उस तरीके से नहीं निभा पायी जिस तरीके से उसे निभाया जाना था। इसके पीछे कौन-से कारक थे, इसके बारे में हम आगे चर्चा करेंगे, जब हम स्तालिन के तहत बोल्शेविक पार्टी का एक आलोचनात्मक मूल्यांकन रखेंगे। **लेकिन इतना तय है कि सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की सोवियतों और ट्रेड यूनियनों को लेकर जो अवधारणा है वह इन निकायों का एक ग़ैर-द्वन्द्वात्मक आदर्शीकरण करती है।** सुजीत दास के लेख में वास्तव में मार्क्सवादी दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र और सिद्धान्त की सभी श्रेणियों का यही हश्र होता है—मूर्खतापूर्ण आदर्शीकरण। मिसाल के तौर पर, हमने अलगाव के प्रश्न, मज़दूर नियन्त्रण के प्रश्न और ट्रेड यूनियन व सोवियतों के प्रश्न को अभी तक पाठकों के समक्ष रखा है। सुजीत दास की यह समझदारी है कि अगर सोवियत सत्ता तत्काल कोई कानून या आज्ञप्ति पास करके तत्काल सारी शासन-सत्ता सोवियतों को और समस्त उत्पादन तन्त्र का नियन्त्रण ट्रेड यूनियनों को सौंप देती तो प्रत्यक्ष उत्पादक का उत्पादन के साधनों से अलगाव दूर हो जाता। यहाँ पर श्री दास हरेक चीज़ का अहमकाना ढंग से आदर्शीकरण कर रहे हैं। मार्क्सवाद हर परिघटना और उसके सारतत्व का अध्ययन उसकी गति में करता है। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मूल सिद्धान्त है।

लेकिन 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के इस लेख को उठाते ही आप स्थैतिक श्रेणियों के ढेर में जा गिरते हैं और फिर श्री दास आपके गिरते ही अपनी नसीहत शुरू कर देते हैं कि किस श्रेणी के साथ क्या करना है; ट्रेड यूनियन के साथ क्या करना है, सोवियतों के साथ क्या करना है, वगैरह। बस पार्टी के साथ क्या करना है यह वह नहीं बताते! इसका कारण यह है कि उनके सरीखे विसर्जनवादी पार्टी की ज़रूरत को ही नहीं समझ पाते हैं। इसे एक दूसरे रूपके से ज़्यादा बेहतर तरीके से समझा जा सकता है। ***सुजीत दास के ब्लॉक वाले खिलौने के सेट में ट्रेड यूनियन और सोवियत आदि के ब्लॉक तो हैं, और***

वह खिलौने के डिब्बे पर दिये हुए मैनुअल (जिसे कि हॉर्नर, गॉर्टर, मात्तिक, रूले, कोर्श, श्ल्याप्निकोव, आदि जैसे लोगों ने लिखा है!) में पढ़-पढ़कर सही ब्लॉक को सही जगह पर लगाना शुरू कर देते हैं, लेकिन अन्त में जो बनता है वह किसी म्युनिसिपैलिटी के कूड़ेदान जैसी आकारहीन, आकृतिहीन संरचना होती है। इसका कारण यह है कि उनके ब्लॉक के डिब्बे में पार्टी वाला ब्लॉक ग़ायब है। ख़ैर, जब सुजीत दास सारे ब्लॉक जोड़कर यह आकारहीन, आकृतिहीन संरचना बना लेते हैं तो हम उनसे पूछते हैं यह क्या बना है? तो हमें किलकारियों के साथ बताया जाता है कि यह मज़दूर जनवाद है! सुजीत दास के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद के लिए इससे उपयुक्त रूपक हमें नहीं मिला।

ख़ैर, लेनिन यह स्पष्ट तौर पर समझते थे कि सर्वहारा अधिनायकत्व की संरचना कोई ब्लॉकों का सेट नहीं है, जिसे एक बार सही ढंग से जोड़कर अलगाव की समस्या का हल किया जा सकता है और सीधे कम्युनिज़्म में संक्रमण किया जा सकता है। लेनिन इस पूरी प्रक्रिया की जटिलता, सतत् तरलता को पूरी तरह समझते थे क्योंकि वह इसे लगातार जारी वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया के तौर पर देखते थे, जिसमें सर्वहारा वर्ग की विजय सुनिश्चित करने के लिए जहाँ एक ओर सर्वहारा अधिनायकत्व को कायम रखना सबसे बड़ी चुनौती थी, तो वहीं समाज में हर मोर्चे पर बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर तोड़ना भी पार्टी के समक्ष राजनीतिक कार्य और विचारधारात्मक प्रचार का एक दीर्घकालिक कार्यक्रम को रखता था।

लेनिन ने कहा कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का प्राथमिक और प्रधान उपकरण सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी है और वर्ग अपनी हिरावल पार्टी के ज़रिये ही शासन करता है। पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी ही सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रमुख उपकरण बनी रहेगी, और अगर यह क्रान्ति रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी समाज में हुई है तब तो यह अवधि और भी ज़्यादा लम्बी होगी। इस लम्बी अवधि के दौरान सोवियतों को शासन की ज़िम्मेदारी पार्टी धीरे-धीरे स्वायत्त तौर पर सौंपेगी। इस पूरे दौर में पार्टी सोवियतों में जारी वर्ग संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के वर्चस्व को स्थापित करेगी और बुर्जुआ विचारों के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर ध्वस्त करेगी। जिस हद तक कम्युनिस्ट विचारधारा सोवियतों में संगठित मेहनतकश आबादी के लिए प्राधिकार बनती जायेगी, उस हद तक पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व की भूमिका कम होती जायेगी, जिसे सुजीत दास "हस्तक्षेप" कहते हैं। मज़दूर वर्ग के जनवाद को किसी कानून और निर्णय को पास करके नहीं लागू किया जा सकता है। यह पूरे वर्ग के राजनीतिक तौर पर एक वर्ग के रूप में संगठित होने, उसके द्वारा क्रान्तिकारी सर्वहारा अवस्थिति को अपनाने पर निर्भर करता है, और यह सारी चीज़ें वर्ग संघर्ष का मसला हैं, पार्टी द्वारा पास किये जाने वाले प्रस्तावों और निर्णयों का नहीं। **इसीलिए लेनिन ने कहा कि अगर सोवियतों को पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व के बिना आर्थिक नियोजन और शासन-सम्बन्धी निर्णय लेने की ज़िम्मेदारी दे दी गयी तो जनता की सोवियतों के बुर्जुआ सोवियतों में तब्दील होने में ज़्यादा वक्त नहीं लगेगा।** बुर्जुआ वर्ग मेहनतकश जनता के बीच मौजूद अपने विचारधारात्मक प्रभाव के बूते अपने पक्ष में राय तैयार करने में सफल हो जायेगा। और इसके लिए बुर्जुआज़ी को किसी पार्टी की आवश्यकता नहीं है। इसका कारण यह है कि बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा, मूल्यों-मान्यताओं, आदतों और यहाँ तक कि चार हज़ार वर्षों के समूचे वर्ग

समाज के इतिहास में पैदा हुई आदतों, मूल्यों और मान्यताओं का असर लम्बे समय तक समाजवादी संक्रमण के दौरान जनता के मस्तिष्क पर बना रहता है। क्रान्ति हो जाने के बाद भी जनता के बीच मौजूद इस विचारधारात्मक प्रभाव का बुर्जुआज़ी को फायदा मिलता है और उसके आवाहनों की अनुगूँज जन-मनोविज्ञान में तत्काल ही और आसानी से सुनायी पड़ती है। इसलिए विचारधारात्मक वर्ग संघर्ष में अभी भी सर्वहारा वर्ग का पलड़ा हल्का होता है और बुर्जुआजी का पलड़ा भारी। इस स्थिति को एक ही सूरत में बदला जा सकता है, और वह है सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व को बुर्जुआज़ी पर लागू करके और अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति करके। और इस ऐतिहासिक कार्यभार को पूरा करने का काम समूचा सर्वहारा वर्ग एक साथ नहीं करता, बल्कि अपने उन्नत तत्वों के दस्ते के ज़रिये करता है। और यही कारण है कि जब तक यह कार्यभार पूरा नहीं हो जाता, यानी कि बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक तौर पर ध्वस्त नहीं कर दिया जाता, तब तक सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को लागू करने में पार्टी को संस्थाबद्ध नेतृत्व की भूमिका निभानी ही होगी। **मेहनतकश जनता की स्वतःस्फूर्तता सर्वहारा होती, तो फिर इतिहास में क्रान्ति के पहले या क्रान्ति के बाद भी पार्टी की ज़रूरत ही क्यों होती?** लेनिन ने लगातार इस स्वतःस्फूर्ततवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष किया जिसकी छूत 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे सभी अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों को लगी होती है।

इसीलिए लेनिन की अवस्थिति यह थी कि मेहनतकश जनसमुदायों को अधिक से अधिक राजनीतिक तौर पर सचेत बनाना कम्युनिस्ट पार्टी के तत्वों द्वारा सतत्, अविरत राजनीतिक कार्य की माँग करता है और हर जगह यह माँग करता है, चाहे वे सोवियतें हों या ट्रेड यूनियनें। और यह राजनीतिक कार्य केवल प्रचार का रूप नहीं लेता बल्कि ठोस कार्यों में नेतृत्व का रूप लेता है। सर्वहारा अधिनायकत्व को इस तरीके से ही लागू किया जा सकता है। एक लम्बे कालखण्ड में जब कई सांस्कृतिक क्रान्तियों और समाजवादी शिक्षा आन्दोलनों के ज़रिये पार्टी इस वर्ग संघर्ष को सचेतन तौर पर सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में चलाती है, और साथ ही उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के तीव्र विकास के काम को जारी रखती है, केवल तभी बुर्जुआ वर्ग के विचारधारात्मक वर्चस्व को निर्णायक तौर पर तोड़ा जा सकता है, केवल तभी उत्पादक वर्ग के उत्पादन के साधनों से अलगाव, और साथ ही आम तौर पर उसके अलगाव का क्रमिक प्रक्रिया में विलोपन (एलिमिनेशन) हो सकता है। अलगाव का किसी निर्णय या कानून के ज़रिये नाश या अन्त (एबॉलिशन) नहीं किया जा सकता है, जैसा कि सुजीत दास सोचते हैं।

सुजीत दास का यह सोचना भी उनके भ्रम को दिखलाता है कि सोवियतों और ट्रेड यूनियनों के "निष्क्रिय" होने के कारण मज़दूर वर्ग के अपने सत्ता के केन्द्र और राजनीतिक शक्ति के केन्द्र समाप्त हो गये, उनके अपने वर्ग संगठन समाप्त हो गये। **सुजीत दास के वर्ग संगठन, वर्ग के राजनीतिक शक्ति केन्द्र, वर्ग के सत्ता के केन्द्र में पार्टी कहीं भी नहीं आती। सुजीत दास के लिए सर्वहारा वर्ग के शुद्ध मंच या संस्थाएँ सोवियतें और ट्रेड यूनियनें हैं; पार्टी तो ऊपर से थोपी गयी एक परायी चीज़ है!** इससे पता चलता है कि सुजीत दास पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा के बारे में क्या समझदारी रखते हैं। वास्तव में, सुजीत दास यहाँ वही ग़लती कर रहे हैं जो एक समय में रूसी पार्टी में एक्सेलरोद ने की थी, जब उन्होंने मज़दूर कांग्रेस के रूप में मज़दूर वर्ग के 'जनराजनीतिक केन्द्र' के निर्माण की बात

की थी। **इसका लेनिन ने पुरज़ोर विरोध करते हुए कहा था कि मज़दूर वर्ग का राजनीतिक केन्द्र केवल पार्टी ही हो सकती है, और उसका चरित्र कभी जनसंगठन जैसा नहीं हो सकता है।** अगर ऐसा कोई भी संगठन बनाया जाता है तो वह पार्टी की सौत में तब्दील हो जायेगा। वास्तव में, 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' इसी सोच पर खड़ा है–यानी कि जनराजनीतिक केन्द्र की सोच पर। लेकिन अभी हम उनकी आम राजनीतिक अवस्थिति पर नहीं लिखेंगे, यह काम कभी भविष्य के लिए सुरक्षित रखते हैं। लेकिन अभी इतना समझ लेना पर्याप्त है कि वर्ग के कमज़ोर, विसंगठित हो जाने के पीछे सुजीत दास जो भी तर्क दे रहे हैं, उसके आधार में वही विसर्जनवादी सोच मौजूद है जो कि एक्सेलरोद की थी। जहाँ तक वर्ग के राजनीतिक केन्द्र की बात है, तो वह हिरावल पार्टी ही हो सकती है, सोवियतें या ट्रेड यूनियनें नहीं। दूसरी बात, ट्रेड यूनियनें वर्ग की व्यापक आबादी को समटने वाले जनसंगठन हैं, जबकि पार्टी वर्ग के उन्नत तत्वों को आत्मसात करने वाला संगठन है। दोनों ही सर्वहारा वर्ग के विशिष्ट किस्म के संगठन हैं, और दोनों की ही भूमिकाएँ अलग और विशिष्ट हैं। **यह कहना कि ट्रेड यूनियनें वर्ग का संगठन हैं, और पार्टी नहीं, एक मूर्खतापूर्ण बात है जो न तो ट्रेड यूनियन की ही भूमिका को समझती है और न ही पार्टी की।**

अभी तक की हमारी अवस्थिति का एक सार-संक्षेप करके आगे बढ़ना उपयोगी होगा। हमारा मानना है कि **सर्वहारा अधिनायकत्व की शुरुआती मंज़िलों में सोवियतों और ट्रेड यूनियनों की पूर्ण स्वतन्त्रता की बात करना या उन्हें सर्वहारा सत्ता का शुद्ध उपकरण मानना सम्भव नहीं है। ये निकाय सर्वहारा सत्ता का उपकरण केवल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व के तहत ही बन सकते हैं।** इस पूरे दौर में लेनिन के शब्दों में सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी मशीनरी की तुलना दन्तचक्रों और संरचरण पट्टियों के एक जटिल ताने-बाने से की जा सकती है, जो कि पार्टी से मेहनतकश जनसमुदाय तक जाती हैं। सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक केन्द्र और सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण पार्टी है, और पार्टी के नेतृत्व में ही सोवियतें और ट्रेड यूनियनें इस मशीनरी में कोई भूमिका निभाती हैं। इस पूरे संक्रमण के शुरू होते ही अगर कोई पार्टी की भूमिका को कम या कमज़ोर करने की बात करता है, तो वह अराजकतावाद, विसर्जनवाद, संघाधिपत्यवाद और "वामपन्थी" बचकानेपन के पक्ष में खड़ा है, मार्क्सवाद के पक्ष में नहीं। शुरुआती लम्बे दौर तक 'अराज्य' का पहलू मज़बूत नहीं होता और न ही पार्टी की भूमिका कमज़ोर होती है, जैसा कि लेनिन और एंगेल्स के 'अराज्य' वाले उद्धरण को सन्दर्भ से काटकर सुजीत दास सिद्ध करना चाहते हैं। वह यह भी नहीं बताते कि इस समझदारी को लेनिन ने सोवियत सत्ता के दो वर्षों के अनुभव के बाद संशोधित और उन्नत बनाया। लेनिन ने स्पष्ट किया कि सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना के बाद एक लम्बे ऐतिहासिक कालखण्ड में सर्वहारा वर्ग के राज्य में 'अराज्य' का पहलू हावी नहीं होता, बल्कि सर्वहारा राज्य और ज़्यादा मज़बूत बनाया जाता है और पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा विचारधारा के वर्चस्व को और ज़्यादा मज़बूत बनाया जाता है। **जब तक बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा के समाज में वर्चस्व को निर्णायक तौर पर ध्वस्त नहीं किया जाता, जब तक जनता की स्वतःस्फूर्त चेतना और पहलकदमी का सर्वहाराकरण एक मुकम्मिल मंज़िल तक नहीं पहुँचता, तब तक पार्टी और राज्य की भूमिका कम या कमज़ोर नहीं होती, बल्कि बढ़ती और मज़बूत होती है।** जिस हद तक यह सर्वहाराकरण उन्नत होता है, उसी हद तक पार्टी और राज्य की भूमिका कम हो सकती है। इसके अलावा किसी भी चीज़ की कल्पना करना

"वामपन्थी" कल्पनालोक में विचरण करना है।

ग) पार्टी का प्रश्न और सर्वहारा अधिनायकत्व की मशीनरी में उसकी भूमिका

यहीं पर यह सवाल भी आता है कि क्या पार्टी अचूक और अमोघ होती है, जैसा कि ट्रॉट्स्की का मानना था? क्या पार्टी भ्रष्ट होकर पूँजीवादी पथगामी नहीं बन सकती? बिल्कुल बन सकती है और लेनिन ने इसके बारे में भी कुछ ज़रूरी बातें कहीं हैं, और माओ ने उन सिरों को पकड़कर आगे एक सांगोपांग सिद्धान्त के रूप में विकसित किया है। लेकिन उस पर हम आगे आएँगे। पहले यह सवाल की पार्टी की समाजवादी संक्रमण में ऐसी भूमिका क्यों होती है?

यह समझने के लिए **विचारधारा की भूमिका** को समझना ज़रूरी है, जिसे सुजीत दास "चेतना" का नाम देते हैं और उसे दैवीय रूप से प्रदत्त कोई चीज़ समझते हैं। लेनिन ने पूछा कि पार्टी क्या है? और इसका जवाब उन्होंने इस प्रकार दिया: पार्टी सर्वहारा वर्ग के विश्व-दृष्टिकोण और विचारधारा का मूर्त रूप है; पार्टी सर्वहारा वर्ग का अगुआ दस्ता है। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि पार्टी ने सर्वहारा वर्ग के सबसे उन्नत और जुझारू तत्वों को आत्मसात किया है। वर्ग और वर्ग के उन्नत हिस्से के बीच के फर्क को सुजीत दास समझ नहीं पाते हैं। सर्वहारा वर्ग के उन्नत दस्ते और सर्वहारा वर्ग के व्यापक जनसमुदाय तथा पूरे सर्वहारा वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता के जनसमुदायों के बीच एक अन्तर मौजूद रहता है। यह अन्तर भी किसी कानून या आज्ञप्ति से नहीं ख़त्म हो सकता, बल्कि उत्पादन सम्बन्धों के सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण (यानी कि तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को मिटाने) और उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास के साथ ही ख़त्म हो सकता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह पूरी प्रक्रिया भी अविरत वर्ग संघर्ष और राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्ष की प्रक्रिया होती है। सोवियतों, ट्रेड यूनियनों, कम्यूनों या क्रान्तिकारी कमेटियों में जारी वर्ग संघर्ष पर सर्वहारा विचारधारा के वर्चस्व को स्थापित करने का उपकरण पार्टी ही हो सकती है। इन सभी निकायों में पार्टी के राजनीतिक और आर्थिक कार्यभार और कुछ नहीं बल्कि क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करना है। सोवियतें या कम्यून जनता की क्रान्तिकारी ऊर्जा के फलस्वरूप अस्तित्व में आये निकाय थे और उनका चरित्र विचारधारात्मक तौर पर क्षणभंगुर और अस्थिर होता है। **इसलिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के लिए एक सचेतन, विशिष्ट रूप से सर्वहारा विचारधारात्मक और राजनीतिक संरचना की ज़रूरत होती है। यही भूमिका पार्टी अदा करती है। पार्टी की इस भूमिका को नकारना वास्तव में पार्टी की ज़रूरत को नकारना है।** इसका अर्थ होगा जनता की स्वत:स्फूर्तता की अनालोचनात्मक पूजा या अन्धभक्ति (फेटिश), लोकरंजकतावाद, मज़दूरवाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद। वास्तव में, ऐसी बात करने वाले सभी लोग यह समझते हैं कि क्रान्ति के अगले दिन से ही पेरिस कम्यून मॉडल लागू किया जा सकता है, या कम्युनिज़्म में सीधे छलाँग लगायी जा सकती है। अगर ऐसा सम्भव होता तो न तो समाजवादी संक्रमण की दीर्घकालिक अवधि की, और न ही इस अवधि में पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व की अनिवार्यता की बात लेनिन, स्तालिन और माओ ने की होती। **पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रमुख**

और प्राथमिक उपकरण होती है और सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के ज़रिये अपना अधिनायकत्व लागू करता है और शासन करता है; इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्वहारा वर्ग नहीं बल्कि पार्टी शासन कर रही है। इसको समझने के लिए यह समझना ज़रूरी है कि समाजवादी संक्रमण के दौर में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में आम मेहनतकश जनता का शासन वास्तविक होता है, लेकिन निरपेक्ष नहीं। यह सापेक्षिक होता है, और इसके भीतर अन्तरविरोध मौजूद होते हैं। यह शासन सर्वप्रथम पार्टी और राज्य द्वारा *मीडियेट* होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह पार्टी का शासन है। इसका अर्थ सिर्फ़ इतना होता है कि वर्ग अपने शासन को अपने हिरावल के नेतृत्व में ही लागू करता है। वास्तव में इसके अलावा और कुछ हो भी नहीं सकता है। यह संघाधिपत्यवादी रुझान है जो कि पार्टी के नेतृत्व और वर्ग की तानाशाही के बीच की एकता को नहीं देख पाता है। लेनिन ने कहा था, **"पार्टी हिरावल को आत्मसात करती है और यह हिरावल सर्वहारा तानाशाही को लागू करता है।"** यह एक शानदार उद्धरण है जो पार्टी और वर्ग के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। स्तालिन ने एक जगह लिखा कि सोवियतें और ट्रेड यूनियनें पार्टी के नेतृत्व के तहत निर्णय लेंगी। स्तालिन ने कुछ यूँ लिखा है मानो वह सुजीत दास जैसे लोगों को ही जवाब दे रहे हैं। स्तालिन कहते हैं कि दिखने में ऐसा लग सकता है कि पार्टी की तानाशाही लागू हो गयी है। लेकिन यह सिर्फ़ आभासी यथार्थ है। स्तालिन चेतावनी देते हैं कि पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को एक ही चीज़ नहीं समझ लिया जाना चाहिए। पार्टी अपने नेतृत्व को स्थापित करने और उसे लागू करने में सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व देती है। स्तालिन कहते हैं कि अगर पार्टी जनता के साथ एक जीवन्त रिश्ता कायम रखती है, तो एक सही लाइन पर बने रहते हुए वह इस काम को अंजाम दे सकती है। माओ ने भी इसी बात को दुहराया है। वे कहते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रमुख और प्रधान उपकरण पार्टी है और यह बात समाजवाद के समूचे संक्रमणकाल पर लागू होती है।

संक्षेप में हम कहना चाहेंगे कि पेरिस कम्यून मॉडल क्रान्ति के अगले दिन से लागू नहीं किया जा सकता है। जिस रूप में सुजीत दास ने सोवितयों, ट्रेड यूनियनों आदि की भूमिका को देखा है, वह लेनिनवादी तरीका नहीं है। उनका यह कहना भी सटीक नहीं है कि 1930 के दशक में सोवियतों और ट्रेड यूनियनों की कोई भूमिका नहीं रह गयी थी। यह ज़रूर है कि ट्रेड यूनियनों और सोवियतों में वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया का जीवन्त राजनीतिक रूप में संचालन करने में इस दौर में बोल्शेविक पार्टी असफल रही। नतीजतन, सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के वर्चस्व को इन निकायों में स्थापित नहीं किया जा सका। ज़ाहिर है, कि अगर ऐसा होगा तो पार्टी भी अपना समुचित राजनीतिक विकास सर्वहारा तरीके से नहीं कर पायेगी। राज्य और पार्टी दोनों में ही सोवियतों और ट्रेड यूनियनों में जनसमुदायों से सही रिश्ता कायम न कर पाने के कारण नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं का विकास होगा। लेकिन ऐसा नहीं है कि पार्टी ने स्तालिन के नेतृत्व में ट्रेड यूनियनों और सोवियतों को इरादतन अपना गुलाम बना दिया था।

ऐसा क्यों हुआ इसके कारणों पर हम आगे विस्तृत चर्चा करेंगे। लेकिन स्तालिन काल की ग़लतियों और समस्याओं के बारे में सुजीत दास की तरह कोई सरलीकृत व्याख्या हमारे पास नहीं है। यह कह देना कि वर्ग की तानाशाही की जगह पार्टी की तानाशाही ने ले ली थी, व्यर्थ और नुकसानदेह है। क्योंकि फिर सुजीत दास के सामने ढेर सारे असुविधाजनक प्रश्न

खड़े हो जाते हैं, जैसे कि पार्टी का चरित्र क्या था, वगैरह। संक्षेप में वही सवाल जो प्रतिस्थापनवाद आदि का आरोप लगाने वाले सारे बचकाने "वामपंथियों" और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के सामने खड़े हो जाते हैं। और यही सवाल उनके सामने अलगाव आदि के मुद्दे पर भी खड़े हो जाते हैं। मिसाल के तौर पर, सुजीत दास ने बार-बार अपने लेख में एक निहायत मूर्खतापूर्ण बात को दुहराया है–समाजवाद की पहचान करने का पैमाना यह है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों के नियन्त्रण में उत्पादन के साधन हैं या नहीं! यह बुनियादी मार्क्सवादी विश्लेषण को भूलने के समान है। राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र का सवाल सबसे पहला पैमाना होता है; इसके बारे में हम पहले बात रख चुके हैं, इसलिए यहाँ दुहराने की कोई ज़रूरत नहीं है।

पहली बात तो यह है कि राज्यसत्ता किसी भी सामाजिक-आर्थिक संरचना की पहचान करने का पहला पैमाना है। दूसरी बात यह राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र की पहचान इस बात से होती है कि कौन-सी पार्टी उस पर काबिज़ है। कोई भी पार्टी ऐसी नहीं हो सकती जिसका कोई वर्ग चरित्र नहीं हो। इसलिए हमें इस प्रश्न का जवाब देना पड़ेगा कि स्तालिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी का वर्ग चरित्र क्या था? क्या वह पूँजीवादी रास्ते पर चली गयी थी? क्या वह संशोधनवादी हो चुकी थी? अगर नहीं तो सबसे पहले कदम के तौर पर आपको यह मानना होगा कि स्तालिन के तहत सोवियत राज्य एक समाजवादी राज्य था जिसकी चारित्रिक आभिलाक्षणिकता थी सर्वहारा वर्ग की तानाशाही। लेकिन सुजीत दास यहाँ शर्मनाक विरोधाभास में फँस गये हैं। और इसके लिए वह किसी और को दोष नहीं दे सकते हैं, उन्होंने स्वयं अपने साथ ऐसा किया है–पैर पर कुल्हाड़ी मारने की बजाय कुल्हाड़ी पर पैर दे मारा है! एक जगह वह कहते हैं कि स्तालिन के दौर में समाजवाद के लक्ष्य के लिए काम करने वाले क्रान्तिकारी समूह में थे और दूसरी कई जगहों पर उन्होंने लिखा है कि सर्वहारा अधिनायकत्व महज़ कागज़ों पर रह गया था। **यह किस किस्म का विश्लेषण है?** इसके बाद, सुजीत दास ने सभी प्रकार के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों को पीछे छोड़ते हुए साबित कर दिया है कि वह जितने बेहतरीन तरीके से वर्ग विश्लेषण को भूल सकते हैं, उससे तो काऊत्स्की जैसे संशोधनवादी और पॉल मात्तिक जैसे काउंसिल कम्युनिस्ट भी बगलें झाँकने लगें। सुजीत दास कहते हैं कि इन अर्थों में सोवियत राज्यसत्ता भी इतिहास की पहले की शोषक राज्यसत्ताओं के ही समान थी क्योंकि इसमें एक वर्ग से सहमति लेकर एक गिरोह राज्यसत्ता पर सवार हो गया था और फिर उसने उसी वर्ग की इच्छाओं की अवहेलना शुरू कर दी थी! अब इसका जवाब देना हमारे लिए सम्भव नहीं है, और पाठक इस तर्क प्रणाली की बेहतर समीक्षा कर सकते हैं **क्योंकि अगर कोई यह नहीं समझ पा रहा है कि इतिहास में पहली बार सोवियत संघ में बहुसंख्या ने अल्पसंख्या पर (निश्चित तौर पर अपने हिरावल के ज़रिये) तानाशाही स्थापित की थी; कि इसीलिए लेनिन, स्तालिन और माओ ने और तमाम मार्क्सवादी और ग़ैर-मार्क्सवादी अकादमिकों ने भी बोल्शेविक क्रान्ति को मानव इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात माना है; तो हम यही कह सकते हैं कि हम इस पर बहस नहीं कर सकते हैं।** **मार्क ट्वेन** का एक उद्धरण बरबस ही याद आ रहा है। एक बार उन्होंने कहा था, *"मूर्खों से कभी बहस मत करो! पहले वे तुम्हें घसीटकर अपने स्तर पर ले जाते हैं, और फिर तुम्हें अपने तजुरबे के बूते पर हरा देते हैं!"*

घ) स्तालिन के दौर की समस्याएँ और बोल्शेविक पार्टी की विचारधारात्मक ग़लतियाँ

हमारा मानना है कि तमाम समस्याओं और दिक्कतों के बावजूद स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत राज्य एक सर्वहारा राज्य था जिसकी पहचान सर्वहारा वर्ग की तानाशाही से होती है। हमारा यह मानना कतई नहीं है कि इस दौर में कोई समस्या या दिक्कत नहीं थी। उल्टे हमारा मानना है कि इस दौर में कुछ गम्भीर विचारधारात्मक भूलें हुई और इन तमाम समस्याओं पर भी एक संक्षिप्त चर्चा ज़रूरी है। सुजीत दास ने संयोग से कुछ उधार के जुमले उठाये हैं, जो कि एक सत्यांश को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे कि एक जगह वह लिखते हैं कि ख्रुश्चेव जैसे लोग एक दिन में नहीं पैदा होते। 1956 में बीसवीं पार्टी कांग्रेस में जो कुछ हुआ उसके बीज पहले से पार्टी में पड़े हुए थे। स्तालिन काल में बोल्शेविक पार्टी की असफलताएँ क्या रहीं, इस पर हम उस समय विस्तार से चर्चा करेंगे जब हम 1924 से लेकर 1953 तक के इतिहास की सकारात्मक तौर पर समीक्षा करेंगे। लेकिन अभी हम संक्षेप में कुछ बुनियादी अवधारणात्मक बातें कहना चाहेंगे।

लेनिन की मृत्यु के बाद बोल्शेविक पार्टी द्वारा समाजवादी संक्रमण के ऐतिहासिक कालखण्ड में मौजूद अन्तरविरोधों को हल करने में दो बुनियादी ग़लतियाँ रहीं। **चार्ल्स बेतेलहाइम** ने अपनी पुस्तक 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड की प्रस्तावना में इन ग़लतियों का आंशिक रूप से सही चित्रण किया है, हालाँकि बाकी किताब लिखते वक्त उन्हें क्या हो गया था, यह अभी भी एक गम्भीर शोध का विषय है! और अगर उस प्रस्तावना में भी बेतेलहाइम ने इस समस्याओं को कमोबेश ठीक ढंग से पकड़ा है, तो इसका कारण यह है कि इस प्रस्तावना में उन्होंने माओ के सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त का करीबी से अनुसरण करने का प्रयास किया है। लेकिन बाकी किताब वह अपने पूरे विश्लेषण को गड्ड-मड्ड कर बैठे हैं। **इसका एक कारण सम्भवतः यह था कि बेतेलहाइम माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और "वामपन्थी" कम्युनिज़्म के खेमे में जा खड़े हुए हैं।** इस पूरे शोध में हम आगे बेतेलहाइम की एक सांगोपांग आलोचना के काम को हाथ में लेंगे, क्योंकि कम-से-कम उनकी रचना 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड को कई लोग माओवादी पहुँच और पद्धति से लिखी गयी रचना मानते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। लेकिन अभी हम मूल मुद्दे पर वापस लौटते हैं।

स्तालिन काल में बोल्शेविक पार्टी द्वारा जिन **दो प्रमुख ग़लतियों** की हम पहचान कर सकते हैं, उनमें से पहली वास्तव में बोल्शेविक पार्टी का आविष्कार या नवोन्मेष नहीं थी, बल्कि यह ग़लती यूरोप के मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलन में पहले से मौजूद थी और लेनिन ने काऊत्स्की की आलोचना करते हुए मूलतः इसी ग़लती पर चोट की थी। इस ग़लती के मूल में मार्क्स के **'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान'** के एक पैराग्राफ़ की ग़लत व्याख्या मौजूद थी। मार्क्स ने अपनी उक्त रचना में एक जगह लिखा है कि सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ जिसमें सबसे प्रमुख उत्पादन की स्थितियाँ हैं, मनुष्य की चेतना का निर्माण करती हैं; किसी भी समाज में मनुष्य अपनी इच्छा से स्वतन्त्र उत्पादन में सहकार करते हुए कुछ निश्चित उत्पादन सम्बन्ध स्थापित करते हैं; इन उत्पादक सम्बन्धों का

कुल योग समाज का आर्थिक आधार होता है; हर आर्थिक आधार अपनी सेवा करने वाली अधिरचना का निर्माण करता है; उत्पादक शक्तियों का विकास जब पुराने आर्थिक आधार में अवरुद्ध होने लगता है तो क्रान्तिकारी स्थिति पैदा होती है। यह एक प्रसिद्ध उद्धरण है, जो अब तक पाठक के दिमाग़ में आ चुका होगा। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों से लेकर अकादमिकों के लेखन तक में यह मार्क्स के सबसे ज़्यादा उद्धृत किये जाने वाले कथनों में से एक है। इस कथन की तमाम लोगों ने इस तरह से व्याख्या की है कि मानो मार्क्स का यह मानना था कि आर्थिक कारक अन्य सभी चीज़ों को निर्धारित कर देते हैं; कि उत्पादक शक्तियाँ इतिहास की प्राथमिक 'प्राइम मूवर' होती हैं और जब उनका विकास दिये गये उत्पादन सम्बन्धों के ढाँचे में बाधित होने लगता है तो वे उत्पादन सम्बन्धों के उस ढाँचे को तोड़कर नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना कर देती हैं जो कि उनके लिए अनुकूल हों; उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच का अन्तरविरोध समाज में वर्ग संघर्ष के रूप में प्रकट होता है, जिसमें कि क्रान्तिकारी वर्ग उन्नत उत्पादन शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और शासक वर्ग पिछड़े हुए उत्पादन सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं। **यह समझदारी ग़लत नहीं है, बल्कि अधूरी है और सत्य के केवल एक पहलू को देखती है। मार्क्स के उक्त उद्धरण का यह पूर्ण अर्थ भी नहीं है। यह बात उनके कथन में अन्तर्निहित है कि उत्पादक शक्तियाँ भी तभी सही ढंग से विकसित हो सकती हैं, जब उत्पादन सम्बन्ध उनके लिए सापेक्षिक रूप से अनुकूल हों।** लेकिन इस कथन की आम तौर पर जो व्याख्या की जाती है वह इस बात को भूल जाती है कि उत्पादक शक्तियों का विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके विकास के अनुकूल उत्पादन सम्बन्ध न मौजूद हों और इसीलिए समाजवादी क्रान्ति के बाद उत्पादन सम्बन्धों के सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू प्रमुखता ग्रहण कर लेता है। यह सच है कि जब तक उत्पादक शक्तियों का विकास प्रचुरता की मंज़िल तक न हो जाये, तब तक कम्युनिज़्म की कल्पना करना व्यर्थ हैं, क्योंकि तब तक 'सभी को उनकी ज़रूरत के अनुसार और सभी से उनकी क्षमता के अनुसार' का कम्युनिस्ट सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। लेकिन प्रचुरता की मंज़िल तक उत्पादक शक्तियों का विकास कोई एकरेखीय प्रक्रिया नहीं है। जब तक कि उत्पादन सम्बन्धों का निरन्तर और सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण नहीं होगा तब तक कम्युनिज़्म की दिशा में उत्पादक शक्तियों का प्रचुरता की मंज़िल तक विकास नहीं हो सकता। उत्पादन सम्बन्धों के इस सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण के बिना अगर उत्पादक शक्तियों के विकास पर एकतरफ़ा तरीके से बल दिया गया तो यह समाज में पूँजीवादी विकास को जन्म देगा और तमाम बुर्जुआ अधिकारों और असमानताओं को जन्म देगा।

निजी सम्पत्ति के उन्मूलन के साथ उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की पहली मंज़िल पूरी होती है, यानी सम्पत्ति सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण। लेकिन सम्पत्ति सम्बन्ध ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते हैं। उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का अर्थ है वितरण के सम्बन्धों, पूँजीवादी श्रम विभाजन, उत्पादन प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया का क्रान्तिकारी रूपान्तरण। यह कैसे हो सकता है और इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि जब तक, माओ के शब्दों में, तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ, यानी कि मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम, गाँव और शहर और उद्योग और कृषि के बीच की असमानताएँ नहीं मिटतीं, तब तक पूँजीवादी श्रम विभाजन की ज़मीन मौजूद रहेगी। जब तक पूँजीवादी श्रम

विभाजन मौजूद रहेगा, तब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहेंगे; जब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहेंगे तब तक वस्तु का विनिमय मूल्य बना रहेगा; जब तक वस्तु का विनिमय मूल्य बना रहेगा तब तक उसका माल के रूप में अस्तित्व बना रहेगा; जब तक वस्तु का माल के रूप में अस्तित्व बना रहेगा, तब तक माल उत्पादन भी जारी रहेगा और उजरती श्रम के तत्व भी बने रहेंगे; जब तक उजरती श्रम कायम रहेगा तब तक अधिशेष के हस्तगतीकरण के तत्व भी बने रहेंगे; और जब तक हस्तगतीकरण के तत्व बरकरार रहेंगे तब तक अलगाव की परिघटना के शत्रुतापूर्ण रूप को खत्म करने के बावजूद एक आर्थिक परिघटना के तौर पर उसका अस्तित्व बना रहेगा। और यह शत्रुतापूर्ण अलगाव दोबारा पैदा हो सकता है अगर पार्टी और राज्य का चरित्र बुर्जुआ हो जाता है।

बेतेलहाइम ने ग़ैर-द्वन्द्वात्मक तरीके से इस पूरी सोच को एक दूसरे छोर पर खींच दिया है और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को महज़ राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रचार का मसला बना दिया है। इस क्रान्तिकारी रूपान्तरण का एक दूसरा पहलू यह भी है कि अगर पूँजीवादी श्रम विभाजन को ख़त्म करना है तो राजनीतिक, सांस्कृतिक, शिक्षणात्मक और विचारधारात्मक प्रचार के अलावा लगातार उत्पादक शक्तियों का भी गुणात्मक तौर पर विकास करना पड़ेगा। **मिसाल के तौर पर, जब तक छोटे पैमाने का माल उत्पादन जारी रहेगा तब तक उसमें लगी हुई मज़दूर आबादी के बीच से पूँजीवादी श्रम विभाजन को महज़ राजनीतिक प्रचार से नहीं ख़त्म किया जा सकता है। यही कारण था कि लेनिन ने भारी उद्योग को समाजवाद की पूर्वशर्तों में से एक बताया था। सिर्फ राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रचार पूँजीवादी श्रम विभाजन को ख़त्म नहीं कर सकते हैं। ऐसा दावा करना एक हेगेलवादी प्रत्ययवादी सोच का नतीजा होगा।** मार्क्सवाद बताता है कि श्रम विभाजन भी उत्पादन के विकास की एक निश्चित मंज़िल में पैदा होता है और इसका विलोप भी उत्पादन के विकास की एक विशिष्ट मंज़िल में ही होगा। हाँ, यह ज़रूर है कि उत्पादन के विकास की यह मंज़िल केवल उत्पादक शक्तियों का विकास करके नहीं हासिल की जा सकती है। इसीलिए माओ ने सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान नारा दिया कि **"क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखो और उत्पादन को आगे बढ़ाओ"।** यह एक सटीक द्वन्द्ववादी अवस्थिति है। इसलिए, बेतेलहाइम के जैसा "माओवाद" हमें नहीं चाहिए जो क्रमिक प्रक्रिया में हेगेलवादी प्रत्ययवाद के गड्ढे में गिर जाता है। ऐसा "माओवाद" माओ की युगान्तरकारी शिक्षाओं को माओ के विरोधियों से ज़्यादा नुकसान पहुँचाता है।

श्रम विभाजन को क्रमिक प्रक्रिया में ख़त्म करने का प्रश्न सतत् सांस्कृतिक-विचारधारात्मक संघर्ष और क्रान्ति का प्रश्न भी है, और साथ ही उत्पादक शक्तियों के विकास का प्रश्न भी है। ये दोनों हर मौके पर एक-दूसरे से अन्तर्गुंथित होते हैं। किसी क्षण पर कोई पहलू प्रधान होता है, तो किसी क्षण पर कोई पहलू। लेनिन एक एक ऐसे सर्वहारा राजनीतिज्ञ थे जो इस द्वन्द्वात्मकता को सबसे अधिक सटीकता के साथ समझते थे। इसीलिए हमें लेनिन यह कहते हुए भी मिलेंगे कि विद्युतीकरण और भारी उद्योग के बिना समाजवादी समाज और अर्थव्यवस्था की कल्पना करना व्यर्थ है और यह भी कहते हुए मिलेंगे कि समाजवादी रूपान्तरण का प्रश्न महज़ उत्पादक शक्तियों के विकास का प्रश्न नहीं बल्कि सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रश्न भी है। एक जगह लेनिन लिखते हैं कि नौकरशाही के पैदा होने का एक कारण वास्तव में सर्वहारा वर्ग के बीच उन्नत संस्कृति का अभाव भी है।

ऐसे में, सर्वहारा वर्ग की चेतना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए सांस्कृतिक क्रान्तियों और समाजवादी शिक्षा तन्त्र की आवश्यकता है। अगर ऐसा न किया जाय तो समाज में वर्ग संघर्ष एक ग़लत दिशा में जायेगा और उसका प्रतिबिम्बन पार्टी में भी होगा। अगर इन दोनों पहलुओं पर द्वन्द्वात्मक ज़ोर नहीं दिया जायेगा, तो पार्टी में एक बुर्जुआज़ी पैदा होगी और उस सूरत में, बिना निजी पूँजी, बिना पारम्परिक पूँजीवादी श्रम बाज़ार और पूँजी बाज़ार के पूँजीवादी सम्बन्धों की पुनर्स्थापना हो जायेगी, और इन पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के शीर्ष पर निजी पूँजीपति वर्ग नहीं बल्कि राजकीय पूँजीपति वर्ग होगा।

यहाँ पर भी सुजीत दास एक कीन्सीय मार्क्सवादी पैराडाइम में फँसे हुए हैं, जो कि समाजवादी संक्रमण पर चली बहस में पॉल स्वीज़ी ने प्रस्तुत किया था। यह सोच पूँजी को एक सामाजिक सम्बन्ध के रूप में नहीं देखती, जैसा कि मार्क्स और लेनिन ने बताया है, बल्कि उसकी ठोस ऐतिहासिक अभिव्यक्तियों की खोज में लगी रहती है, जैसे कि श्रम बाज़ार, पूँजी बाज़ार, निजी सम्पत्ति आदि। इस पर हम आगे लिखेंगे। अभी हम बोल्शेविक पार्टी की ग़लतियों के सवाल पर लौटते हैं।

उत्पादक शक्तियों की प्रमुखता के पूरे सिद्धान्त का प्रभाव बोल्शेविक पार्टी के भीतर भी शुरू से ही मौजूद था और लेनिन ने इसके ख़िलाफ़ सतत् संघर्ष चलाया था। यही समझदारी **बुखारिन** और **प्रियोब्रेज़ेंस्की** ने "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान पेश की थी और तब भी लेनिन ने इन दोनों की रचनाओं के कुछ सकारात्मकों की चर्चा के बावजूद, इनकी मूल ग़लतियों की तरफ़ इशारा किया था। यहाँ पर यह ज़िक्र करना भी ज़रूरी है उत्पादक शक्तियों को परिभाषित करने के बारे में भी उस दौर में पार्टी की समझदारी असन्तुलित थी। उत्पादक शक्ति के अंग के तौर पर तकनोलॉजी और यंत्रों पर ज़ोर था लेकिन उसके सबसे केन्द्रीय और कुंजीभूत हिस्से पर ध्यान नहीं था, यानी कि स्वयं मनुष्य। मनुष्य उत्पादक शक्तियों का केन्द्रीय संघटक अंग होता है और यह मनुष्य ही उत्पादन सम्बन्धों में बँधा होता है। ऐसे में, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच एक जटिल द्वन्द्वात्मकता का होना लाज़िमी है। लेकिन इस पहलू पर पार्टी की समझदारी कमज़ोर थी, और उत्पादक शक्तियों के अजैविक हिस्सों पर ज़ोर ज़्यादा था।

लेनिन की मृत्यु के बाद अर्थवाद और एक किस्म के 'उत्पादक शक्ति-वाद' के ख़िलाफ बोल्शेविक पार्टी में जारी संघर्ष एक प्रकार से थम गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय का बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्व स्वयं इस अर्थवाद का शिकार था। चूँकि स्तालिन और अन्य नेतृत्व भी इस अर्थवादी सोच के मामले में समान विचार रखते थे, इसलिए समाजवाद से कम्युनिज़्म की तरफ़ संक्रमण के लिए उत्पादक शक्तियों के विकास को ही प्रमुख कारक माना गया। सम्पत्ति सम्बन्धों को उत्पादन सम्बन्धों के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया गया। इसीलिए पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों के हर रूप के अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र से सामूहिकीकरण के पूरे होने के साथ समाप्ति के बाद 1936 में स्तालिन ने यह घोषणा की कि सोवियत संघ में *शत्रुतापूर्ण* वर्ग नहीं हैं। क्योंकि यह मान लिया गया था कि पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों के रूपान्तरण के साथ पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण का कार्यभार पूरा हो चुका है, और अब मज़दूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों को समाजवाद की तरक्की के लिए मिलकर काम करना है। यानी कि उत्पादकता और उत्पादन का विकास करते जाना है; इसी के ज़रिये प्रचुरता की मंज़िल आयेगी और इसी के ज़रिये कम्युनिस्ट समाज में

संक्रमण की पूर्वशर्तें पूरी होंगी।

ऐसा नहीं था कि बोल्शेविक पार्टी अलगाव की समस्या के ख़ात्मे के प्रति सचेत नहीं थी। लेकिन उसका मानना था कि उत्पादक शक्तियों के लगातार और द्रुत विकास के ज़रिये ही प्रचुरता की मंज़िल आयेगी और तभी 'सभी से सबकी क्षमता के अनुसार, और सभी को उनकी ज़रूरत के अनुसार' के कम्युनिस्ट सिद्धान्त को लागू किया जा पायेगा, और तभी अलगाव समाप्त होगा। **यह बोल्शेविक पार्टी की पहली बड़ी भूल थी: अर्थवाद का प्रभाव।** स्तालिन एक क्रमिक प्रक्रिया में इस कमी को समझने की तरफ़ आगे बढ़ रहे थे और उनके आख़िरी लेखनों से ऐसा लगता है, कि वह समस्या के मूल के काफ़ी करीब थे। लेकिन मानवीय जीवन की एक भौतिक-जैविक सीमा होती है। स्तालिन का पूरा दौर सोवियत संघ के लिए निहायत गम्भीर आन्तरिक समस्याओं और बाह्य दबावों का दौर था। उस दौर ने बिरले ही स्तालिन को कभी गम्भीरता से इन सवालों पर सोचने का मौका दिया हो। इसके बावजूद आनुभविक तौर पर इस अर्थवाद के परिणाम के तौर पैदा होने वाले लक्षणों पर स्तालिन हमला करते थे। मिसाल के तौर पर, स्तालिन 1924 से 1953 तक के पूरे दौर में पार्टी के भीतर जो नौकरशाही मौजूद थी उसके ख़िलाफ़ लड़ते रहे। लेकिन चूँकि वह बुनियादी समस्या के मूल तक नहीं पहुँच सके थे, इसलिए इन समस्याओं का उनका उपचार लाक्षणिक ही बना रहा, मूल तक पहुँचकर उसका निवारण नहीं कर सका। इस प्रश्न पर हम आगे और विस्तार से विचार करेंगे। लेकिन अभी फिलहाल दूसरी बुनियादी ग़लती की चर्चा पर वापस लौटते हैं।

उत्पादक शक्तियों के विकास पर गैर-द्वन्द्वात्मक ज़ोर की इसी कमी से ही **बोल्शेविक पार्टी की दूसरी बड़ी ग़लती निकलती है।** यह ग़लती थी स्तालिन और बोल्शेविक पार्टी द्वारा यह नहीं समझ पाना कि समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में भी वर्ग संघर्ष ही कुंजीभूत कड़ी और सामाजिक विकास का मूल कारक होता है। जैसा कि हमने पहले बताया, यही कारण था कि 1936 में स्तालिन ने सामूहिकीकरण के अभियान के ख़त्म होने के साथ यह एलान किया कि अब सोवियत संघ में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं हैं; केवल मज़दूर, किसान और बुद्धिजीवी हैं, जिन्हें समाजवाद के विकास के लिए काम करना है। लेकिन अगर शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं थे, तो सोवियत संघ को एक विराट राज्य व्यवस्था के ताने-बाने की ज़रूरत क्यों थी? यह सिर्फ़ विदेशी साम्राज्यवादी षड्यन्त्रों का मुकाबला करने के लिए नहीं था। **वास्तव में, स्तालिन आनुभविक तौर पर वर्ग संघर्ष को समझ भी रहे थे, और उसमें हिस्सा भी ले रहे थे।** वह प्रतिक्रियावादियों और प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों के ख़िलाफ़ दमन की मुहिम भी चला रहे थे (जिसकी चपेट में पार्टी में मौजूद नौकरशाही के कारण कई बार बेगुनाह भी आ गये), लेकिन अवधारणात्मक धरातल पर वर्ग संघर्ष की कुंजीभूत कड़ी को भूलने का पार्टी को भारी नुकसान उठाना पड़ा। **क्योंकि जब आप यह बात कहते हैं कि अब कोई शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं है, और आपका समूची जनता के बीच ज़बर्दस्त प्राधिकार हो, तो फिर पार्टी कतारें और जनता, दोनों ही उस क्रान्तिकारी चौकसी को खो बैठते हैं जिसकी ज़रूरत समूचे समाजवादी संक्रमण के दौरान होती है। क्योंकि समूचे समाजवादी संक्रमण के दौरान पूँजीवादी पुनर्स्थापना का ख़तरा मौजूद रहता है, जिसके कारणों की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं।** ऐसे में, ऐसी कोई भी घोषणा और वह भी मेहनतकश जनता के ऐसे निर्विवाद और प्राधिकार-सम्पन्न नेता की तरफ़ से जनता को राजनीतिक और विचारधारात्मक तौर पर नि:शस्त्र कर देती है।

ऐसे में चूँकि पार्टी का पूरा ज़ोर उत्पादक शक्तियों के तीव्रतम सम्भव विकास पर था इसलिए समाजवादी आर्थिक नियोजन को एक विशिष्ट ज़ोर के साथ लागू किया गया, और उसमें समस्याएँ थीं। और ट्रेड यूनियनों और सोवियतें निश्चित तौर पर इसके कारण राजनीतिक रूप से आंशिक तौर पर निष्क्रिय हुईं; **वे मृत या राज्य की गुलाम नहीं बनीं, बल्कि वे वर्ग संघर्ष और राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष का वैसा जीवन्त मंच नहीं रह गयीं, जैसा कि विशेष तौर पर उन्हें समाजवादी संक्रमण के दौर में होना चाहिए। यह वर्ग संघर्ष सोवियतों और ट्रेड यूनियनों में ठीक इसी कारण से नहीं चल पाया क्योंकि पार्टी अपने नेतृत्वकारी काम को उस तरीके से करने में असफल रही जिस तरीके से उसे किया जाना चाहिए था, जैसा कि लेनिन ने सुझाया था और बाद में माओ ने भी बताया। पार्टी का नेतृत्व राजनीतिक नेतृत्व से ज़्यादा आर्थिक नियोजन में नेतृत्व में तब्दील हो गया।** इससे जो दिक्कतें पैदा हो रही थीं, उनमें विशेष तौर पर राज्य और पार्टी में नौकरशाह बुर्जुआ वर्ग की गहरी होती जड़ें थीं; स्तालिन की मृत्यु के ठीक पहले भी स्तालिन ने इस नौकरशाही के ख़िलाफ़ एक तीखा संघर्ष छेड़ रखा था। लेकिन यह लाक्षणिक धरातल पर ज़्यादा था, और अवधारणात्मक धरातल पर कम। नतीजतन, पार्टी सोवियतों में और ट्रेड यूनियनों में क्रमिक प्रक्रिया में अपना राजनीतिक और विचारधारात्मक नेतृत्व खोती गयी। इस ख़ाली होती जगह को भरने का काम पार्टी के नाम पर नौकरशाही कर रही थी। इसलिए सोवियतें और ट्रेड यूनियनें बोल्शेविक पार्टी के प्रति दासवत नहीं बनीं, और न ही उनकी उपकरण बनीं; **कहना यह चाहिए कि पार्टी और सोवियतों और साथ ही पार्टी और ट्रेड यूनियनों के बीच का सम्बन्ध गतिमान रहने की बजाय स्थैतिक बन गया और पार्टी का राजनीतिक नेतृत्व उसमें कमज़ोर होता गया। राजनीतिक नेतृत्व की अनुपस्थिति की क्षतिपूर्ति नौकरशाहाना फरमानशाही से हुई, जो कि वास्तव में क्षतिपूर्ति नहीं बल्कि स्वयं एक क्षति था।**

इन कमज़ोरियों के ही चलते स्तालिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त तक भी नहीं पहुँच सकी। इसके कारण पार्टी कभी भी अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति के दीर्घकालिक कार्यक्रम को नहीं ले सकी; न ही पार्टी तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को समाप्त करने में उत्पादक शक्तियों के विकास को तेज़ करने के साथ-ही-साथ सचेतन राजनीतिक और विचारधारात्मक कार्य की ज़रूरत को समझ पायी। यह मान लिया गया कि उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ जब प्रचुरता की मंज़िल आ जायेगी तो ये सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ खुद-ब-खुद मिट जायेंगी। लेकिन ऐसा न तो होना था और न ही हुआ। और ये असमानताएँ बढ़ती गयीं, जिसने समाज में नौकरशाह बुर्जुआ वर्ग और बुर्जुआ विचारधारा की पकड़ को और मज़बूत किया। **चूँकि स्तालिन मृत्यु तक इन तमाम विकृतियों, विरूपताओं और विजातीय प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ अपने सर्वहारा स्वभाव के कारण आनुभविक तरीके से संघर्ष चलाते रहे, और चूँकि पार्टी की कतारें उनके साथ खड़ी थीं, इसलिए पार्टी और राज्य में पैदा हो चुकी बुर्जुआज़ी के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह पार्टी में नेतृत्व का तख़्तापलट कर समाजवादी नीतियों का त्याग कर दे और पूँजीवादी रास्ते को अपना ले। लेकिन पार्टी में मौजूद यह नौकरशाही भी अपनी अवस्थिति बाँधकर पार्टी के भीतर बैठी रही और इन्तज़ार करती रही। स्तालिन उनके लिए एक प्रकार से आख़िरी बाधा थे। और स्तालिन की मृत्यु के साथ ही पार्टी के भीतर मौजूद पूँजीवादी पथगामियों ने अपने कुकृत्यों का ठीकरा**

स्तालिन के सिर फोड़कर, अपने द्वारा पैदा की गयी ग़ैर-जनवादी प्रवृत्तियों की ज़िम्मेदारी स्तालिन पर डालकर "लोकतान्त्रीकरण", "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व" आदि जैसी लफ्फाज़ियाँ करनी शुरू कर दीं। बीसवीं कांग्रेस में यही प्रक्रिया अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची, जब संशोधनवादियों ने अपने सारे कुकर्मों को स्तालिन के सिर मढ़कर, अपने आपको उदार और लोकतान्त्रिक प्रदर्शित किया। चूँकि सोवियतें और ट्रेड यूनियनें उस प्रकार के जीवन्त राजनीतिक निकाय नहीं रह गये थे, जिसकी कल्पना लेनिन ने की थी, इसलिए उनमें संगठित जनता, जो कुछ हो रहा था उसे जल्दी समझ नहीं पायी और इस पूरे प्रतिक्रियावादी परिवर्तन की निष्क्रिय दर्शक बनी रही। और जब तक वह समझ पाती तब तक वह प्रक्रिया इतनी आगे बढ़ चुकी थी, कि अब उसे उल्टी दिशा में नहीं मोड़ा जा सकता था।

स्तालिन के दौर बोल्शेविक पार्टी की ग़लतियों के इस आलोचनात्मक विवेचन के अन्त में पहुँचने से पहले हम दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान खींचना चाहेंगे।

पहली बात, सोवियत संघ समाजवादी सत्ता और समाजवादी संक्रमण का पहला प्रयोग था। इसके पास कोई उदाहरण मौजूद नहीं था, जिसका वह अनुसरण करता या जिसकी ग़लतियों और सफलताओं से वह सीख पाता। बोल्शेविक पार्टी पहली बार एक ऐसा प्रयोग कर रही थी, जो कि इतिहास में पैमाने में और गुणवत्ता में अद्वितीय था। और यह प्रयोग भी वह सोवियत संघ जैसे विशाल और वैविध्यपूर्ण देश में कर रही थी। ऐसे में, सोवियत संघ ने 35 वर्षों में जो कुछ हासिल किया, मज़दूर वर्ग के जीवन को जहाँ तक पहुँचा दिया, पूरे देश को मध्ययुगीन बर्बरता से निकालकर जहाँ पहुँचा दिया, वह आज भी अचम्भित कर देता है। यह केवल किसी दमनकारी पार्टी की ज़ोर-ज़बर्दस्ती से नहीं हो सकता है, न ही उसके द्वारा किये गये सामूहिक सम्मोहन से हो सकता है। **यह मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता की रचनात्मक ऊर्जा और पहल पर ही हो सकता है। सुजीत दास का यह दावा कि मज़दूर वर्ग एक वर्ग के रूप में विसंगठित हो गया, पार्टी पर से उसका भरोसा उठ गया, उसकी कोई पहलकदमी नहीं रही, पार्टी की ज़ोर-ज़बर्दस्ती से ज़्यादा काम हुए और राजनीतिक-विचारधारात्मक प्रेरणा से कम, नेशनल जियोग्राफिक, डिस्कवरी चैनल या हिस्ट्री चैनल और रॉय मेदवेदेव और मार्क फेरो आदि जैसे लोगों द्वारा किया जाने वाला प्रचार ज़्यादा लगता है और एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी द्वारा सोवियत संघ का विश्लेषण कम।** और सोवियत संघ को अन्य शोषणकारी, दमनकारी यहाँ तक कि फासीवादी राज्य के साथ एक लाइन में गिन देना सुजीत दास और 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे राजनीतिक नौदौलतियों के अहंकारी और खोखले चिन्तन के वर्ग चरित्र को काफ़ी हद तक साफ़ कर देता है।

एक अन्य कारक भी है जिसकी ओर ज़रूर ध्यान दिया जाना चाहिए और वह यह है कि स्तालिन के पूरे जीवनकाल में सोवियत संघ कभी भी आन्तरिक संकटों और बाह्य दबावों से मुक्त नहीं था, जैसा कि सुजीत दास मानते हैं। यह उनकी कल्पना है कि 1930 के दशक में ऐसे दबाव काम नहीं कर रहे थे, क्योंकि उन्हें सोवियत संघ में समाजवाद के इतिहास का कोई ऐसा कालखण्ड चुनना था जिसमें कि लेनिन न हों, और स्तालिन काल में हुए "अतिरेकों" के ज़रिये मूल लेनिनवादी उसूलों पर ही हमला बोला जा सके। इस पूरे दौर में कौन-से दबाव काम कर रहे थे, उनका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। एक बात स्पष्ट है कि स्तालिन काल में हुई ग़लतियों को अलग से नहीं समझा जा सकता है। उन्हें देश-काल के

पूरे सन्दर्भ में रखकर ही देखा जा सकता है। और जब हम ऐसा करते हैं, तो तमाम सीमाओं और ग़लतियों के बावजूद स्तालिन की महानता समझ में आती है।

इसलिए हमारा मानना है कि स्तालिन काल और विशेष तौर पर 1930 में हुई जिन-जिन चीज़ों के लिए स्तालिन और बोल्शेविक पार्टी की आलोचना सुजीत दास ने अपने लेख में की है, ठीक उन्हीं चीज़ों के लिए स्तालिन की प्रशंसा की जानी चाहिए और माना जाना चाहिए कि इस मामले में स्तालिन लेनिन की विरासत के सच्चे वाहक थे। वास्तव में, जो वास्तविक कमियाँ थीं, उन्हें समझने और उनके सन्दर्भों को समझने में सुजीत दास बुरी तरह असफल रहे हैं। स्तालिन के दौर में ग़लती यह नहीं थी कि पार्टी का हस्तक्षेप ज़्यादा था। कहना चाहिए कि सच्चाई इसके ठीक विपरीत है। पार्टी का जितना और जैसा हस्तक्षेप होना चाहिए था वैसा स्तालिन काल में पार्टी नहीं कर पायी और इसके कारणों की हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। लेकिन इन सबके बावजूद इतना तय है कि स्तालिन काल तक बोल्शेविक पार्टी एक कम्युनिस्ट पार्टी बनी रही और सोवियत राज्य सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को अभिव्यक्त करता रहा। पार्टी के वर्ग चरित्र का फैसला सर्वप्रथम उसके नेतृत्व और नीतियों से होता है और राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र का फैसला उस पर काबिज़ पार्टी के वर्ग चरित्र से होता है। अगर मार्क्सवाद की इन बुनियादी शिक्षाओं को मानें तो स्तालिन काल में सोवियत समाजवाद की सफलताओं और असफलताओं, दोनों को ही समझा जा सकता है।

लेकिन ऐसा करने की बजाय सुजीत दास ने पार्टी को हर दिक्कत का ज़िम्मेदार ठहराने का आसान रास्ता चुना है। वे अलगाव को धाँय से ख़त्म नहीं कर देने के लिए पार्टी से रूठ गये हैं और कह रहे हैं कि 'प्रत्यक्ष उत्पादकों को उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण' क्यों नहीं दिया! वह कह रहे हैं कि पार्टी ने ट्रेड यूनियनों और सोवियतों के मामलों में टाँग क्यों अड़ाई? पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व को क्यों लागू क्यों करने लगी? ऐसा तो आपने कभी नहीं कहा था कि आप ऐसा करेंगे! इसी प्रकार की बचकानी शिकायतों और टिप्पणियों से उनका लेख भरा हुआ है। हमने हरेक बचकानेपन का यहाँ खण्डन नहीं किया है, क्योंकि वह सम्भव ही नहीं है। लेकिन उनका मूल तर्क वही है जो अराजकतावाद, संघाधिपत्यवाद, गैर-पार्टी क्रान्तिवाद, विसर्जनवाद, मज़दूरवाद और "वामपन्थी" कम्युनिस्टों का होता है। पार्टी, ट्रेड यूनियन, सोवियतों, राज्यसत्ता और वर्ग के बारे में और साथ ही इन सबके अन्तर्सम्बन्धों के बारे में 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की पूरी समझदारी यही दिखलाती है। हम अब आपके सामने लेनिन, स्तालिन और माओ के कुछ उद्धरण रखेंगे, जैसे कि हमने पहले वायदा किया था, जिससे कि यह साफ़ हो जाये कि सुजीत दास कहाँ खड़े हैं, उनके सच्चे मित्र कौन हैं (जो हम ऊपर देख आये हैं) और उनके तथा उनके मित्रों के बरक्स मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की अवस्थिति इन सारे कुंजीभूत प्रश्नों पर क्या है।

ङ) पार्टी, वर्ग और राज्यसत्ता के प्रश्न पर लेनिन, स्तालिन और माओ के विचार

आगे पार्टी, वर्ग और राज्यसत्ता के आपसी रिश्तों के बारे में लेनिन, स्तालिन और माओ के कुछ उद्धरण रखेंगे और यह काम पाठकों पर छोड़ देंगे कि वे सुजीत दास की अवस्थिति की

तुलना लेनिन, स्तालिन और माओ की अवस्थिति से करें। यहाँ हम कुछ उद्धरणों के उन प्रासंगिक हिस्सों को भी रखेंगे, जिन्हें हमने ऊपर भी उद्धृत किया है। शुरुआत में लेनिन का यह कथन सबसे मुफीद होगा:

"सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की पूरी व्यवस्था में, ट्रेड यूनियनें पार्टी और सरकार के बीच में खड़ी हैं। समाजवाद की ओर संक्रमण में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही अपरिहार्य है, लेकिन यह किसी ऐसे संगठन के ज़रिये लागू नहीं की जा सकती है, जो कि समूचे औद्योगिक मज़दूरों को अपने में समेटता हो। क्यों नहीं?...दरअसल होता यह है कि पार्टी, हम कह सकते हैं, सर्वहारा वर्ग के हिरावल को अपने में आत्मसात करती है, और यह हिरावल सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को लागू करता है। यह तानाशाही या सरकार के कार्यों को ट्रेड यूनियन जैसे आधार के बिना नहीं लागू किया जा सकता है। लेकिन, इन कार्यों को एक विशेष संस्था के माध्यम से किया जाना होता है, जिसे हम सोवियत कहते हैं। ...सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को किसी ऐसे संगठन के द्वारा लागू नहीं किया जा सकता है जो कि इस पूरे वर्ग को समेटता हो, क्योंकि सभी पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग अभी भी इतना विभाजित, इतना विकृत, और कई हिस्सों में इतना भ्रष्ट (कुछ देशों में साम्राज्यवाद के द्वारा) है कि सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग को समेटने वाला कोई भी संगठन सीधे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को लागू नहीं कर सकता है। यह केवल एक हिरावल के ज़रिये लागू किया जा सकता है, जिसने कि पूरे वर्ग की क्रान्तिकारी ऊर्जा को आत्मसात किया हो। यह सबकुछ एक दन्त-चक्रों की व्यवस्था के समान है।" (लेनिन, **'ट्रेड यूनियनें, मौजूदा स्थिति और ट्रॉट्स्की की ग़लतियाँ'**, *ऑन ट्रेड यूनियंस*, छठाँ मुद्रण, अंग्रेज़ी संस्करण, 1986 प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 371-72) सुजीत दास का दावा है कि पूरे सोवियत राजनीतिक साहित्य में कभी भी यह नहीं लिखा गया था कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को पार्टी लागू करेगी। अब हम इस बारे में केवल अटकलबाज़ी कर सकते हैं कि "सोवियत राजनीतिक साहित्य" से श्री दास का क्या अर्थ है, क्योंकि आप उपरोक्त उद्धरण में देख सकते हैं कि लेनिन को इस बारे में कोई दुविधा नहीं है। वह स्पष्ट हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व पार्टी के ज़रिये लागू किया जायेगा और पार्टी ही सर्वहारा अधिनायकत्व की प्रमुख उपकरण होगी; ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदायों और पार्टी के बीच एक कड़ी होंगी; और सोवियतें वे संस्थाएँ होंगी जिससे कि सर्वहारा अधिनायकत्व का शासन व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों तक पहुँचेगा। इसी पूरी व्यवस्था को लेनिन "दन्तचक्रों" और "संचरण पट्टियों" की व्यवस्था कहते हैं, जो कि पार्टी और समूची मेहनतकश आबादी के बीच सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत काम करती है। आगे देखें:

"यह कम्युनिज़्म से सीधे तौर पर रिश्ता तोड़ना है और संघाधिपत्यवाद की ओर संक्रमण है। सारतः, यह श्ल्याप्निकोव के उसी नारे "राज्य का यूनियनीकरण कर दो" का दुहराव है, और इसका अर्थ है टुकड़े-टुकड़े में सर्वोच्च आर्थिक परिषद (वेसेंखा) के पूरे ढाँचे को सम्बन्धित ट्रेड यूनियनों के हवाले कर देना...कम्युनिज़्म कहता है: कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा वर्ग की हिरावल है, वह ग़ैर-पार्टी मज़दूर जनसमुदायों का नेतृत्व करती है, शिक्षित करते, तैयार करते, ज्ञान और प्रशिक्षण देते हुए जनसमुदायों को–पहले मज़दूरों और फिर किसानों को–नेतृत्व देती है, ताकि वह उन्हें पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रशासन को अपने हाथों में केन्द्रित करने के योग्य बना सके।

"संघाधिपत्यवाद उद्योगों में विखण्डित गैर-पार्टी मज़दूर जनसमुदायों को उनके उद्योगों के प्रबन्धन का काम सौंप देता है, और इस प्रकार पार्टी को ग़ैर-ज़रूरी बना देता है, और इस प्रक्रिया में वह जनसमुदायों को प्रशिक्षित करने का कोई लम्बा अभियान चला पाने में भी असफल हो जाता है है, और वास्तव में उनके हाथों में पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन को केन्द्रित कर पाने में भी असफल हो जाता है।....अगर औद्योगिक प्रबन्धन के लोगों को ट्रेड यूनियनों के ही द्वारा, जिनके हर दस सदस्यों में से नौ ग़ैर-पार्टी मज़दूर हैं, नियुक्त करना है ("बाध्यताकारी नामांकन"), तो पार्टी की क्या ज़रूरत है?" (लेनिन, **दि पार्टी क्राइसिस**, *'ऑन ट्रेड यूनियंस'*, छठाँ मुद्रण, 1986, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृ. 399-400)

सुजीत दास पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन में नकारते हैं। उनकी यह माँग कि 'प्रत्यक्ष उत्पादकों को उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण दिया जाय,' दो स्तरों पर ग़लत है। एक तो यह कि पार्टी के ज़रिये सर्वहारा राज्य का पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण सर्वहारा वर्ग द्वारा उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण की शुरुआत है और इसके लिए पार्टी और राज्य के वर्ग चरित्र को समझने की ज़रूरत है। दूसरी बात यह कि अगर प्रत्यक्ष उत्पादकों (इस शब्द पर लेनिन ने आपत्ति करते हुए श्ल्याप्निकोव की सख़्त आलोचना की थी और कहा था कि समस्त प्रत्यक्ष उत्पादकों में टटपुँजिया उत्पादकों की एक बहुत बड़ी आबादी आती है और उनके किसी एक निकाय की रूस जैसे देश में नियन्त्रक और संचालक निकाय के रूप में बात नहीं की जा सकती है, क्योंकि उसमें सर्वहारा वर्ग अल्पसंख्या में होगा) का तत्काल उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाय, तो वह क्या रूप लेगा? जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, वह बिना सर्वहारा अधिनायकत्व और सर्वहारा विचारधारा के वर्चस्व के स्थापित हुए, कारखानों और खानों-खदानों को अलग-अलग कारखाना समितियों या अलग-अलग ट्रेड यूनियनों को सौंपने के रूप में अस्तित्व में आयेगा। इसी चीज़ का लेनिन ने सख़्त विरोध किया था और इसी के चलते बोल्शेविक पार्टी ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन के लिए सर्वोच्च आर्थिक परिषद (वेसेंखा) बनायी थी, जो कि पार्टी और सोवनार्कोम (जनकमिसार परिषद) के निर्देशन में काम करती थी। लेनिन ने स्पष्ट किया कि सर्वोच्च आर्थिक परिषद में कारखाना कमेटियों, ट्रेड यूनियनों और सोवियतों के प्रतिनिधियों के अलावा, पार्टी के प्रतिनिधि, प्रबन्धक, तकनीशियन आदि शामिल होंगे। कुल मिलाकर, पार्टी, ट्रेड यूनियनों और कारखाना समितियों के प्रतिनिधि उसमें बहुसंख्या में थे, और पार्टी का नियन्त्रण सर्वोच्च था। समाजवादी निर्माण के पूरे आरम्भिक दौर में, ख़ास तौर पर पिछड़े पूँजीवादी देशों में क्रान्ति के बाद, सर्वहारा अधिनायकत्व इसी रूप में काम कर सकता है। लेनिन इस बात को समझते थे और इसीलिए श्ल्याप्निकोव द्वारा राज्य और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को ट्रेड यूनियनों के हाथों मे सौंप देने के प्रस्ताव को अराजकतावादी और संघाधिपत्यवादी प्रस्ताव मानते थे। लेकिन सुजीत दास सोवियत इतिहास और राजनीतिक लेखन का अध्ययन करने की बजाय उसका आविष्कार करने पर आमादा हैं। उनका दावा है कि सोवियत राजनीतिक लेखन में पार्टी की ऐसी नेतृत्वकारी भूमिका के बारे में कहीं नहीं लिखा गया और यह कहते हुए वह पूरी तरह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अवस्थिति पर जाकर खड़े हो जाते हैं। और इस अवस्थिति के बारे में लेनिन का ही क्या कहना है, उस पर ग़ौर करें:

"इस भटकाव की सैद्धान्तिक रूप से सबसे पूर्ण और स्पष्ट रूप से परिभाषित

अभिव्यक्ति तथाकथित 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ग्रुप की थीसिसें और साहित्यिक उत्पाद हैं। मिसाल के तौर पर, इसको इस ग्रुप द्वारा प्रतिपादित निम्न थीसिस इसको पर्याप्त साफ तरीके से चित्रित कर देती है: "राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन को संगठित करने का काम एक अखिल-रूसी उत्पादक कांग्रेस का है जो कि औद्योगिक यूनियनों में संगठित होगी, जो कि वास्तव में गणराज्य की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को संचालित करने के लिए एक केन्द्रीय निकाय का चुनाव करेंगी।" इस और कई ऐसे ही कथनों की बुनियाद में जो विचार हैं वे सिद्धान्ततः मूल रूप में ग़लत हैं, और वास्तव में वे मार्क्सवाद और कम्युनिज़्म से एक सम्पूर्ण विच्छेद को दिखलाते हैं...

"मार्क्सवाद बताता है...कि केवल मज़दूर वर्ग की राजनीतिक पार्टी, यानी कम्युनिस्ट पार्टी ही सर्वहारा वर्ग के हिरावल और साथ ही समूची मेहनतकश आबादी को एकजुट करने, प्रशिक्षित करने और संगठित करने में सक्षम है, जो कि एकमात्र शक्ति है जो इस जनसमुदाय के अपरिहार्य टटपुँजिया दोलनों और सर्वहारा वर्ग के भीतर मौजूद संकीर्ण पेशा-केन्द्रित यूनियनवाद या पेशागत पूर्वाग्रहों का प्रतिरोध करने, और साथ ही समूचे सर्वहारा वर्ग की एकजुट गतिविधियों को निर्देशित करने में सक्षम होगी, यानी कि उसे राजनीतिक रूप से नेतृत्व देने, और इसके जरिये समूची मेहनतकश आबादी के सभी जनसमुदायों को नेतृत्व देने में सक्षम होगी। इसके बिना सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व असम्भव है।...संघाधिपत्यवादी और अराजकतावादी एक तात्कालिक नारे के तौर पर कहते हैं "उत्पादकों की कांग्रेस या कांग्रेसें" जो कि आर्थिक प्रबन्धन के निकायों का "चुनाव करें"। इस प्रकार, सर्वहारा वर्ग की ट्रेड यूनियनों के सम्बन्ध में, ट्रेड यूनियनों के मेहनतकश जनता के अर्द्ध-टटपुँजिया या यहाँ तक कि पूरी तरह से टटपुँजिया जनसमुदायों से सम्बन्ध में, पार्टी की शिक्षणात्मक और संगठनात्मक भूमिका को पूरी तरह से गोल कर दिया गया है, ख़त्म कर दिया गया है, और अर्थव्यवस्था के नये रूपों के निर्माण के उस व्यावहारिक कार्य को जारी रखने और उसे सही करने की बजाय, जिसे कि सोवियत राज्यसत्ता ने पहले से ही शुरू कर दिया है, हमें इस काम में टटपुँजिया अराजकतावादी विघ्न मिलता है, जो कि केवल बुर्जुआ प्रतिक्रान्ति की तरफ़ ही ले जा सकता है।" (लेनिन, **प्रिलिमिनरी ड्राफ्ट रिज़ोल्यूशन ऑफ दि टेन्थ कांग्रेस ऑफ आर.सी.पी. ऑन दि सिंडिकलिस्ट एंड एनार्किस्ट डेविऐशन इन अवर पार्टी**, *ऑन ट्रेड यूनियंस,* छठां मुद्रण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1986, पृ. 458-60) लेनिन ने स्पष्ट तौर पर यहाँ भी हिरावल पार्टी को ही वह प्रमुख उपकरण बताया है जिसके ज़रिये सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व समाजवादी संक्रमणकाल के दौरान अर्थव्यवस्था और राजनीति में लागू होगा। अगले उद्धरण में लेनिन इस बारे में शक़ की सभी गुंजाइशों को ख़त्म कर देते हैं:

"राज्य एक दमन का उपकरण है। दमन को छोड़ने की बात भी करना पागलपन होगा, ख़ास तौर पर, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के युग में, क्योंकि प्रशासनात्मक पहुँच और "जहाज़ का संचालन" अपरिहार्य हैं। पार्टी सर्वहारा वर्ग की नेता है, उसकी हिरावल है, जो कि प्रत्यक्ष रूप में शासन करती है।...ट्रेड यूनियनें राज्यसत्ता की शक्ति का भण्डार हैं, एक कम्युनिज़्म का स्कूल हैं, प्रबन्धन की कला का स्कूल हैं।" (लेनिन, **'एक बार फिर से ट्रेड यूनियनों, वर्तमान स्थिति और ट्रॉट्स्की व बुखारिन की ग़लतियों के बारे में'**, *ऑन ट्रेड यूनियंस,* छठाँ मुद्रण, अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को,

1986, पृ. 447-48)

मार्च 1919 में आठवीं पार्टी कांग्रेस में पार्टी का जो इस बारे में नज़रिया था वह और भी साफ़ था:

"कम्युनिस्ट पार्टी वह संगठन है जो अपनी कतारों के सिर्फ़ सर्वहारा वर्ग और निर्धनतम किसान आबादी के हिरावल को एकजुट करता है – इन वर्गों के वे हिस्से जो सचेतन तौर पर कम्युनिस्ट कार्यक्रम को व्यवहार में एक असलियत में तब्दील करने के लिए संघर्ष करते हैं।

"कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूरों के सभी संगठनों: ट्रेड यूनियनों, सहकारी संघों में, गाँव के कम्यूनों आदि में, निर्णायक प्रभाव और पूर्ण नेतृत्व स्थापित करने को अपना लक्ष्य बनाती है। कम्युनिस्ट पार्टी विशेष तौर पर अपने कार्यक्रम और पूर्ण नेतृत्व को समकालीन राज्य संगठनों, यानी कि सोवियतों, में स्थापित करने के लिए संघर्ष करती है।

"...रूसी कम्युनिस्ट पार्टी को सोवियतों में अविभाजित राजनीतिक प्रभुत्व हासिल करना ही होगा और इसके सभी कार्यों पर व्यावहारिक नियन्त्रण कायम करना ही होगा।" (मार्च, 1919, आठवीं पार्टी कांग्रेस के दस्तावेज, ई.एच. कार द्वारा *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन 1917-1923'* के पहले खण्ड में उद्धृत, पृ. 219) यहाँ देखा जा सकता है कि पार्टी किसी भी रूप में ट्रेड यूनियनों या सोवियतों की स्वत:स्फूर्तता की पूजक नहीं थी। वह जानती थी कि वह स्वयं सर्वहारा वर्ग के उन्नततम और जुझारू तत्वों का दस्ता है, और केवल ऐसा दस्ता ही वर्ग की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सकता है। ऐसे में, व्यापक आबादी को समेटने वाले सभी निकायों में पार्टी को अपना राजनीतिक और विचारधारात्मक वर्चस्व स्थापित करना ही होगा, अन्यथा वह स्वयं सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को नष्ट करने की तरफ़ आगे बढ़ जायेगी। लेकिन सुजीत दास के नज़रिये से यह सब पार्टी नामक शैतानी शक्ति द्वारा सोवियतों और ट्रेड यूनियनों जैसी पवित्र जनसंस्थाओं में कुत्सित हस्तक्षेप है! उनका प्रदूषण है! लेकिन कम-से-कम लेनिन और बोल्शेविक पार्टी का ऐसा नज़रिया नहीं था।

जब कोमिण्टर्न में 1920 में ट्रॉट्स्की बोल्शेविक पार्टी की नुमाइन्दगी कर रहे थे तो उन्होंने एक बयान दिया जो कि उस समय की स्थिति और लेनिनवादी अवस्थिति की ओर इंगित करता है। निश्चित तौर पर, इस बात को अगर लेनिन को कहना होता तो वह इन शब्दों में नहीं कहते, वह इसे अधिक द्वन्द्वात्मक तरीके से रखते। लेकिन ट्रॉट्स्की के अपने पूर्वाग्रह भी इस कथन में आ गये हैं, जो कि वास्तव में जनता और पार्टी के बीच में रिश्तों की उनकी गैर-द्वन्द्वात्मक समझदारी को दिखलाते हैं। लेकिन इन सभी चीज़ों के बावजूद यहाँ ट्रॉट्स्की के अन्दाज़े-बयाँ पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया जा सकता है। इसमें मुख्य बात यह है कि पार्टी के नेतृत्वकारी कार्य को किसी भी रूप में कम करके नहीं आँका जा सकता और सर्वहारा राज्य के नीति-निर्धारण के काम को मेहनतकश जनसमुदायों की स्वत:स्फूर्तता पर नहीं छोड़ा जा सकता है। इसलिए, ट्रॉट्स्की ने 1920 में कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस को बोल्शेविक पार्टी की तरफ से बताया:

"आज हमें पोलिश सरकार की ओर से शान्ति समझौता करने के प्रस्ताव प्राप्त हुए हैं। इस प्रश्न पर कौन फैसला लेगा? हमारे पास सोवनार्कोम है, लेकिन इसे किसी न किसी नियन्त्रण के अधीन होना चाहिए। किस नियन्त्रण के? क्या मज़दूर वर्ग के एक बिना किसी आकृति वाले और अराजकतापूर्ण जनसमुदाय के नियंत्रण के तहत?

नहीं। पार्टी की केन्द्रीय कमेटी को इस प्रस्ताव पर विचार करने और इस पर विचार करने कि इसका जवाब दिया जाय या नहीं, के लिए बुलाया गया है।" (कार के *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'*, खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 220)। नवीं पार्टी कांग्रेस में कामनेव ने भी पार्टी की इस समझदारी को फिर से रेखांकित किया, **"रूस में व्यवस्था को हम चलाते हैं, और कम्युनिस्टों के ज़रिये ही हम इस काम को कर सकते हैं।"** (कार के *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'*, खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 222)। लेकिन साथ ही बोल्शेविक पार्टी इस ख़तरे के प्रति भी सचेत थी कि पार्टी सोवियतों का स्थान न लें क्योंकि इससे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता के बीच का फर्क ख़त्म हो जायेगा और पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका समाप्त हो जायेगी। आठवीं कांग्रेस में कहा गया कि यह पार्टी का कर्तव्य है कि वह **"सोवियतों की गतिविधि की अगुवाई करे, लेकिन यह उनकी जगह नहीं ले सकती।"** (*वही*, पृ. 222-3)। लेनिन ने भी एक अन्य स्थान पर स्पष्ट किया, **"शासक पार्टी के तौर पर, हम सोवियत 'प्राधिकारी संस्थाओं' को पार्टी 'प्राधिकारों' को मिलाने से नहीं बच सकते – वे हमारे साथ संलयित हैं, और ऐसा तो होगा ही।"** (*वही*, पृ. 223)

1919 में लेनिन ने उन सभी लोगों की सख़्त आलोचना की जो रूस में पार्टी की तानाशाही की बात कर रहे थे (जैसा कि आज भारत में सुजीत दास और उनके जैसे तमाम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी कर रहे हैं)। उन्होंने लिखा: **"हाँ, एक पार्टी की तानाशाही! हम इस पर कायम हैं और इससे हट नहीं सकते, क्योंकि यह पार्टी ही है जिसने कई दशकों में समूचे कारखाना और औद्योगिक सर्वहारा के हिरावल की स्थिति को हासिल किया है।"** (*वही*, पृ. 230)। उन्होंने आगे कहा कि **"मज़दूर वर्ग की तानाशाही को बोल्शेविकों की पार्टी की ज़रिये प्रभाव में लाया जाता है, जो कि 1905 से या उससे भी पहले से समूचे क्रान्तिकारी सर्वहाराओं के साथ एकजुट हो चुकी है।"** (*वही*, पृ. 230)। इसी विषय में एक अन्य स्थान पर लेनिन मानो सुजीत दास जैसे छद्म बुद्धिजीवियों को ही जवाब देते हुए लिखते हैं: **"इस सवाल–"पार्टी की तानाशाही या वर्ग की तानाशाही, नेताओं की तानाशाही (पार्टी) या जनसमुदायों की तानाशाही (पार्टी)?"–को पेश करना ही सबसे अविश्वस्नीय और हताशापूर्ण दिमाग़ी वहम का सबूत है। लोग साधारण चीज़ों में से ही कुछ आविष्कार करने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देते हैं, और समझदार बनने के प्रयास में वे हास्यास्पद बन जाते हैं। हर कोई जानता है कि जनसमुदाय वर्गों में विभाजित हैं; कि जनसमुदायों का वर्गों से अन्तर आम तौर पर व्यापक बहुसंख्या का, उत्पादन के सामाजिक तन्त्र में उनकी अवस्थिति के अनुसार विभाजित किये बग़ैर, उन श्रेणियों से अन्तर बताकर ही किया जा सकता है, जो कि उत्पादन की सामाजिक व्यवस्था में एक निश्चित अवस्थिति पर काबिज़ होते हैं; कि आम तौर पर, अधिकांश मामलों में, कम-से-कम आधुनिक सभ्य समाजों में, वर्गों का नेतृत्व राजनीतिक पार्टियों द्वारा किया जाता है; कि राजनीतिक पार्टियाँ एक सामान्य नियम के रूप में सबसे प्राधिकार-सम्पन्न, प्रभावशाली और अनुभवी सदस्यों के कमोबेश स्थायी समूहों द्वारा निर्देशित होती हैं, जिनका सबसे ज़िम्मेदार पदों पर चुनाव होता है और जिन्हें नेता कहा जाता है। यह सब 'क ख ग' के समान है। यह सब एकदम सरल और स्पष्ट है।"** (लेनिन, *लेनिन एण्ड स्तालिन ऑन दि पार्टी* में उद्धृत, राहुल फाउण्डेशन, 2008, पृ. 30) इसी बात को स्पष्ट करते हुए लेनिन

आगे लिखते हैं: **"दूसरी तरफ, हम यहाँ अब "फैशनेबल" शब्दों जैसे "जनता" और "नेता" का बिना सोचे-समझे किया जाने वाला और बेमेल इस्तेमाल देखते हैं। लोगों ने "नेताओं" पर ऐसे हमलों के बारे काफी सुना है और अब वे उसके आदी हो गये हैं, जिसमें उन्हें "जनता" के विरोध में खड़ा कर दिया जाता है; लेकिन ऐसी बातें करने वाले लोग यह सोचने और अपने आपको ही यह समझा पाने में असफल थे कि इस सबका मतलब क्या है।"** (*वही*, पृ. 31)

सुजीत दास जैसे तमाम लोगों के इस भ्रम को लेनिन तोड़ देते हैं कि मज़दूर वर्ग उत्पादन और शासन सम्बन्धी निर्णयों को तुरन्त लेने लगेगा और समाजवादी राज्य शुरू से ही 'अराज्य' में तब्दील होने लगेगा। लेनिन का स्पष्ट मानना था कि समाजवादी संक्रमण के पूरे आरम्भिक कालखण्ड में राज्य न सिर्फ़ मौजूद रहेगा, बल्कि यह और ज़्यादा ताक़तवर बनाया जायेगा, ताकि बुर्जुआ वर्ग के प्रतिरोध और उसकी विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक रूप से ध्वस्त किया जा सके। सातवीं पार्टी कांग्रेस में, जो कि 1918 में हुई थी, लेनिन ने कहा:

"वर्तमान रूप में हम बिना शर्त एक राज्यसत्ता के पक्ष में हैं; और जहाँ तक उन्नत रूप में समाजवाद के वर्णन दिये जाने के सवाल है, जिसमें कोई राज्य नहीं होगा–उसके बारे में सिवाय इस बात के और कुछ भी कल्पना नहीं की जा सकती कि तब "सभी से उनकी क्षमता के अनुसार और सभी को उनकी आवश्यकता के अनुरूप" का सिद्धान्त एक हक़ीक़त बन चुका होगा। लेकिन अभी हम उस मंज़िल से बहुत दूर हैं...उससे पहले राज्य के ख़त्म होते जाने की बात करना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का उल्लंघन होगा।" (कार के *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'*, खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 246) आगे लेनिन इसी बात को और खोलकर कहते हैं, **"क्या हर मज़दूर जानता है कि राज्य का संचालन कैसे करना है? व्यावहारिक लोग जानते हैं कि यह बस एक परिकथा है...ट्रेड यूनियनें कम्युनिज़्म और प्रशासन का स्कूल हैं। जब वे (यानी मज़दूर) इस स्कूल में कई वर्ष बिताएँगे, तो ही वे सीखेंगे, लेकिन यह सब कुछ बहुत धीमे-धीमे होता है...कितने मज़दूर अभी प्रशासन के कामों में लगे हैं? पूरे रूस में कुछ हज़ार, इससे ज़्यादा नहीं।"** (कार के *'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'*, खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 247)

लेनिन ने स्पष्ट किया कि इसीलिए सोवियतों को तत्काल राज्य के सारे कार्य नहीं सौंपे जा सकते। यह काम लम्बे समय तक पार्टी को सोवियतों की अगुवाई करते हुए करना होगा। बिना पार्टी के नेतृत्व के अगर सोवियतों को राज्यसत्ता का प्रमुख उपकरण बना दिया गया तो उनके बुर्जुआ सोवियतों में तब्दील होने में ज़्यादा वक्त नहीं लगेगा। लेनिन के पास भी यह नतीजा बने-बनाये तौर पर मौजूद नहीं था। रूस में समाजवाद के प्रयोग के पहले दो वर्षों में लेनिन इस नतीजे पर पहुँचे कि पेरिस कम्यून के मॉडल को तत्काल नहीं लागू किया जा सकता। 1921 में दसवीं पार्टी कांग्रेस में वह कहते हैं, **"सोवियत सत्ता के ढाई वर्षों के बाद हम कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल में आये और हमने दुनिया को बताया कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व पार्टी के ज़रिये न लागू किया जाय तो वह काम ही नहीं करेगा।"** (लेनिन, *संग्रहीत रचनाएँ*, खण्ड-32, अंग्रेज़ी संस्करण, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ.199)।

लेनिन ने साथ में यह भी स्पष्ट किया कि इसका अर्थ यह नहीं होगा कि वर्ग शासन नहीं कर रहा है, और पार्टी शासन कर रही है। लेनिन ने कहा कि पार्टी और वर्ग की एकजुटता को देखने की बजाय उन्हें एक-दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा कर देने की

अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी प्रवृत्ति वास्तव में सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवादी संक्रमण के दीर्घकालिक चरित्र के बारे में कुछ भी नहीं समझती है। अगर पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोकना है तो सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण पार्टी ही हो सकती है और उसकी संस्थाबद्ध नेतृत्वकारी भूमिका के बिना सर्वहारा अधिनायकत्व टिक ही नहीं सकता है। ऐसे में, निश्चित तौर पर कई बार ऐसे मौके आ सकते हैं जब हिरावल पार्टी और व्यापक मेहनतकश आबादी के किसी हिस्से के बीच के सम्बन्ध दमन के सम्बन्ध बन जायें। कुछ मौकों पर इनसे बचा सकता है और कुछ मौकों पर नहीं। इस बात का कोई बना-बनाया फार्मुला नहीं हो सकता कि समाजवादी संक्रमण के दौर में ऐसा न हो। क्रोंस्टाट विद्रोह के कुचले जाने पर लेनिन के विचारों को देखा जा सकता है और साथ ही सुजीत दास जैसे सभी अराजकतावादियों को किसान प्रश्न के समाधान के बारे में भी लेनिन के विचारों का अध्ययन करना चाहिए। **जो यह मानकर चलता है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान ऐसी स्थितियाँ नहीं पैदा हो सकतीं, उसने समाजवाद के बारे में बेहद गुलाबी सपने सजा रखे हैं, जिनका टूटना अवश्यम्भावी है।**

लेनिन निश्चित तौर पर पार्टी को अचूक और अमोघ नहीं मानते थे। उनका मानना था कि पार्टी वर्ग की सामूहिक इच्छा के प्रतिनिधित्व का दावा तभी कर सकती है जबकि वह सर्वहारा वर्ग के सबसे उन्नत और जुझारू तत्वों को अपने में शामिल करती हो, जब वह सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण (यानी, मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों) को आत्मसात करती हो, उसका मूर्त रूप हो, और जब वह आम मेहनतकश जनता से एक जीवन्त रिश्ता बरकरार रखती हो। इसीलिए अपनी प्रसिद्ध रचना 'पार्टी का शुद्धीकरण' में वह लिखते हैं, **"...पार्टी को उन लोगों से शुद्ध कर दिया जाना चाहिए जो जनसमुदायों से सम्पर्क खो चुके हों...स्वाभाविक है, कि हम हर उस बात को नहीं मानेंगे जोकि जनता कहती है, क्योंकि जनता भी–खास तौर पर अपवादस्वरूप थकान और श्रान्ति की अवधियों में, जो कि अत्यधिक कठिनाइयों और तकलीफ़ों से पैदा होती है–ऐसी भावनाओं के सामने समर्पण कर देती है, जो कि किसी भी रूप में उन्नत नहीं होतीं।"** (लेनिन, **'पर्जिंग दि पार्टी'**, *कलेक्टेड वर्क्स*, दूसरा अंग्रेज़ी संस्करण, खण्ड-33, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 39-41)। स्तालिन ने इसी सोच के सिरे को आगे बढ़ाते हुए लिखा है कि सोवियत संघ में ट्रेड यूनियनें और सोवियतें ही निर्णय लेती थीं, लेकिन ऐसा वह पार्टी के नेतृत्व में करती थीं। इस रूप में देखा जाय तो सर्वहारा वर्ग की तानाशाही वास्तव में पार्टी की तानाशाही दिख सकती है। लेकिन यह वास्तव में पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका है और इस नेतृत्वकारी भूमिका के बिना सर्वहारा अधिनायकत्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, हालाँकि दोनों के बीच 'बराबर' का चिन्ह कभी नहीं लगाया जा सकता है। स्तालिन कहते हैं कि मूल समस्या यह है कि पार्टी अपने सर्वहारा चरित्र को कायम रखने के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद को अपना मार्गदर्शक सिद्धान्त बनाये और जनसमुदायों के साथ करीबी रिश्ता बनाये रखे। वास्तव में, स्तालिन ने इसके लिए पार्टी में लगातार नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष किया और कई बार वह सफल नहीं हो पाये। लेकिन स्वयं स्तालिन का दृष्टिकोण इस सवाल पर बिल्कुल साफ़ था। देखिये स्तालिन क्या लिखते हैं:

"...पार्टी को करीबी से जनता की आवाज़ पर ध्यान देना चाहिए; उसे जनसमुदायों के क्रान्तिकारी स्वभाव पर ध्यान देना चाहिए; इसे जनसमुदायों के संघर्ष के व्यवहार का

अध्ययन करना चाहिए और इस आधार पर अपनी नीति के सहीपन की जाँच करनी चाहिए; और परिणामतः इसे केवल जनता को सिखाना ही नहीं चाहिए बल्कि उससे सीखना भी चाहिए।" (स्तालिन, **'लेनिनवाद के सवालों के विषय में'** *'वर्क्स'* खण्ड-8, फॉरेन लैंग्वेजेज़ प्रेस, मॉस्को, 1954, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 46)। एक अन्य स्थान पर स्तालिन लिखते हैं, **"क्या पार्टी के नेतृत्व को वर्ग के ऊपर बलपूर्वक स्थापित किया जा सकता है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। किसी भी सूरत में, ऐसा नेतृत्व टिकाऊ बिल्कुल नहीं हो सकता। अगर पार्टी सर्वहारा वर्ग की पार्टी बने रहना चाहती है, तो इसे यह समझना होगा कि वह प्राथमिक और प्रमुख तौर पर, मज़दूर वर्ग की मार्गदर्शक, नेता, और शिक्षक है...क्या कोई पार्टी को वर्ग का वास्तविक नेता मान सकता है, अगर उसकी नीति ग़लत है, अगर उसकी नीति वर्ग के हितों के साथ टकराती हैं? जाहिरा तौर पर नहीं। किसी भी सूरत में अगर पार्टी को नेता बने रहना है, तो इसे अपनी नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए, उसे सही करना चाहिए और अपनी ग़लती मानकर उसे सही करना चाहिए।"** (*वही*, पृ. 52-53)। 'लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्त' में स्तालिन पार्टी के बारे में लिखते हैं: **"पार्टी मज़दूर वर्ग की हिरावल होती है...पार्टी मज़दूर वर्ग का उन्नत संगठित दस्ता होती है। पार्टी सर्वहारा वर्ग के वर्ग संगठन का उन्नततम रूप होती है। पार्टी मज़दूर वर्ग की राजनीतिक नेता है।...(पार्टी) सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को हासिल करने, और (समाजवाद की विजय के बाद) सर्वहारा अधिनायकत्व के सुदृढ़ीकरण और विस्तार करने के लिए सर्वहारा वर्ग का उपकरण है।"** (स्तालिन, **'फाउण्डेशंस ऑफ लेनिनिज़्म'**, *वर्क्स*, खण्ड-6, फॉरेन लैंग्वेजेज़ प्रेस, मॉस्को, 1953, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 177-89)।

पार्टी के चरित्र और प्रकृति को लेकर सभी अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भयंकर विभ्रमों के शिकार होते हैं। उनकी यह आम प्रवृत्ति होती है कि वे पार्टी और वर्ग को एक-दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा कर देते हैं। इस विभ्रम बारे में लेनिन ने बार-बार लिखा और 'क्या करें?' और 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' उनके इस विषय में विचारों को देखने के लिए सर्वश्रेष्ठ स्रोत हैं। लेनिन लिखते हैं, **"मज़दूर वर्ग के हिरावल के तौर पार्टी को कभी भी समूचे वर्ग के साथ गड्ड-मड्ड नहीं किया जाना चाहिए...ठीक इसलिए चूँकि गतिविधि के स्तरों में फर्क हैं, पार्टी से करीबी के स्तर में एक फर्क किया जाना चाहिए। हम एक वर्ग की पार्टी हैं, और इसलिए लगभग समूचे वर्ग को (और युद्ध के दौर में, गृहयुद्ध के दौर में, पूरे वर्ग को) पार्टी के नेतृत्व के तहत काम करना चाहिए, हमारी पार्टी के साथ निकटतम सम्भव तरीके से जुड़ जाना चाहिए।"** (लेनिन, *एक कदम आगे, दो कदम पीछे*, मॉस्को, 1969, पृ. 122-23)। लेनिन ने कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका पर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव का खण्डन करते हुए कहा, **"टैनर का कहना है कि वह सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के पक्ष में है, लेकिन इस अधिनायकत्व की उसी प्रकार परिकल्पना नहीं की गयी है, जैसे कि हम करते हैं। वह कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व से हमारा मतलब सर्वहारा वर्ग की संगठित और वर्ग सचेत अल्पसंख्या की तानाशाही से है।**

"और तथ्यतः पूँजीवाद के युग में जब मज़दूरों की व्यापक आबादी शोषण के निरन्तर अधीन होती है और अपनी मानवीय सम्भावनाओं का विकास नहीं कर पाती, तो

मज़दूर वर्ग की राजनीतिक पार्टियों का सबसे चारित्रिक गुण यह होता है कि वे वर्ग की एक छोटी सी अल्पसंख्या को ही समेटती हैं। एक राजनीतिक पार्टी केवल वर्ग की अल्पसंख्या को ही समेट सकती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि हर पूँजीवादी समाज में वर्ग सचेत मज़दूर कुल मज़दूर आबादी की एक छोटी सी अल्पसंख्या ही हो सकते हैं। इसीलिए हमें मानना ही चाहिए कि केवल यह वर्ग सचेत अल्पसंख्या ही मज़दूरों के व्यापक जनसमुदायों को नेतृत्व दे सकती है और उनका मार्गदर्शन कर सकती है।" (लेनिन, *संग्रहीत रचनाएँ*, खण्ड 32, अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 235)। सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी सर्वहारा वर्ग के सर्वश्रेष्ठ तत्वों को अपने में शामिल करती है, सर्वहारा वर्ग के संघर्षों में सतत् भागीदारी करती है, मार्क्सवाद को अपने मार्गदर्शक सिद्धान्त के तौर पर अपनाती है और सर्वहारा वर्ग के विश्व दृष्टिकोण का मूर्त रूप होती है। इसका सीधा अर्थ यह है कि पार्टी सर्वहारा वर्ग की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। निश्चित तौर पर, क्रान्ति से पूर्व पार्टी में सर्वहारा वर्ग का एक बेहद छोटा हिस्सा शामिल होता है, जो कि सर्वहारा वर्ग का सबसे वर्ग सचेत, उन्नत और जुझारू हिस्सा है। लेकिन ठीक इसी कारण से यह उन्नत दस्ता सर्वहारा वर्ग की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसके अलावा आप और किसी भी रूप में क्रान्तिकारी राजनीतिक की कल्पना नहीं कर सकते।

जाहिर तौर पर, ऐसी सूरत में पार्टी में जो नौकरशाही प्रवृत्तियाँ पैदा होंगी, उनके ख़ात्मे का सवाल पार्टी द्वारा किसी कार्यकारी निर्णय का सवाल नहीं है। पार्टी निर्णय पास करके या प्रस्ताव पास करके इन विकृतियों को दूर नहीं कर सकती है। क्योंकि उसने निर्णय पास करके इन विकृतियों को पालना भी नहीं शुरू किया था। यह समाज में जनता के उन्नत और पिछड़े हिस्सों के बीच मौजूद अन्तर का ही एक प्रतिबिम्बन होता है। यह अन्तर वर्ग समाज के भीतर ख़त्म हो ही नहीं सकता। समाजवादी संक्रमण के दौरान यह तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के दूर होने के साथ ही क्रमिक प्रक्रिया में विलोपित हो सकता है। इसके पूरे विलोपन की मंज़िल कम्युनिस्ट समाज में ही आ सकती है। लेकिन तब तक न तो पार्टी की ज़रूरत होगी और न ही राज्य की! इसलिए एक वर्ग समाज (जिसमें कि समाजवादी संक्रमणशील समाज शामिल है) के रहते हुए अगुआ और पिछड़े के बीच का फर्क, आम जनसमुदायों और नेतृत्व के बीच का फर्क और हिरावल और वर्ग के पिछड़े हिस्सों के बीच का फर्क मौजूद रहेगा। और यदि अन्तर मौजूद होगा तो निश्चित तौर पर दोनों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित होगा। दोनों के बीच अन्तरविरोध का भी एक तत्व ऐतिहासिक-दार्शनिक तौर पर मौजूद होगा। जाहिर तौर पर, समूचा वर्ग यदि स्वत:स्फूर्त रूप से सर्वहारा अवस्थिति पर पहुँच जाता तो, क्रान्ति के पहले और बाद में भी पार्टी की कोई आवश्यकता नहीं होती। और चूँकि पार्टी या हिरावल सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण का मूर्त रूप है और सर्वहारा वर्ग का उन्नत दस्ता है, इसलिए सर्वहारा वर्ग की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करने के कार्य पर उसका दावा ऐतिहासिक और राजनीतिक तौर पर पूर्णत: वैध है। इस दावे पर मज़दूर वर्ग को अपने आपमें कोई असुविधा या आपत्ति नहीं होती है, न कभी हुई है! इस पर दिक्कत होती है ट्रेड यूनियनवादियों, अराजकतावादियों और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी टटपुँजिया बुद्धिजीवियों को, जैसे कि श्री सुजीत दास! ऐसे लोग ही मज़दूर वर्ग में यह प्रदूषण फैलाते हैं, और जो ऐतिहासिक तौर पर वैध और नैसर्गिक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है, उसे अवैध और अनैसर्गिक बना देते हैं। निश्चित तौर पर, सर्वहारा वर्ग के हिरावल के लिए अपनी इस विशिष्ट ज़िम्मेदारी

और कार्य के कारण अपने भीतर पैदा होने वाली नौकरशाहाना विकृति से संघर्ष करना एक गम्भीर मुद्दा है, जिसे जनसमुदायों से जीवन्त रिश्ता बनाये रखकर और उसने सीखते हुए उन्हें सिखाने के दृष्टिकोण को अपनाकर ही हल किया जा सकता है। यह एक सतत् विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष का मसला है। जिन्होंने इन्हें आनन-फानन में दूर कर देने का दावा किया उनकी लेनिन ने खूब खिल्ली उड़ाई:

"हमारे 1919 के कार्यक्रम में हमने लिखा था कि नौकरशाहाना प्रथाएँ मौजूद हैं। जो भी आता है और इन नौकरशाहाना प्रवृत्तियों पर रोक लगाने की माँग करता है, वह जनोत्तेजक नेता बन रहा है। जब आपने "नौकरशाही प्रथाओं पर रोक लगाने" का आह्वान किया, तो वास्तव में यह जनोत्तेजक भाषणबाज़ी थी। हम आने वाले कई वर्षों तक नौकरशाही की बुराइयों के ख़िलाफ़ लड़ते रहेंगे, और जो कोई भी कुछ और सोचता है वह जनोत्तेजक नेता बन रहा है और धोखा दे रहा है, क्योंकि नौकरशाही की बुराइयों को दूर करने के लिए सैकड़ों कदमों की आवश्यकता होगी, पूर्ण साक्षरता और संस्कृति और मज़दूर-किसान जाँच की गतिविधियों में भागीदारी की ज़रूरत होगी। श्ल्याप्निकोव उद्योग व व्यापार के जनकमिसार और श्रम के जनकमिसार रहे हैं। क्या उन्होंने नौकरशाहाना प्रथाओं पर रोक लगा दी है?" (लेनिन, **'दि सेकेण्ड ऑल रशिया कांग्रेस ऑफ माइनर्स'**, *ऑन ट्रेड यूनियंस,* छठाँ मुद्रण, अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ.)। लेनिन ने अन्य जगहों पर स्पष्ट लिखा है कि जब तक व्यापक मेहनतकश जनता का सांस्कृतिक स्तर और राजनीतिक चेतना का स्तर नीचे रहेगा तब तक कानून या आज्ञप्तियों को पास करके नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं को दूर कर देने की बात करना कोरी बकवास है। जब तक मानसिक और शारीरिक श्रम, गाँव और शहर और उद्योग और कृषि का विभेद कायम रहेगा, तब तक यह सम्भव ही नहीं है। तब तक पार्टी के ज़रिये ही सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व लागू हो सकता है, और अन्य किसी भी चीज़ की बात करना अनर्गल बकबक है, जो कि सुजीत दास और उनके समान सभी अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी लगातार ही करते रहते हैं। और जब ये विभेद मिट जायेंगे, पूँजीवादी श्रम विभाजन, बुर्जुआ विशेषाधिकार, विनिमय सम्बन्ध आदि ख़त्म हो जायेंगे तो वर्ग विभेद भी ख़त्म हो चुके होंगे, और किसी राज्य या तानाशाही की आवश्कयता नहीं होगी। इसलिए कहा जा सकता है कि पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी के नेतृत्व में ही सोवियतें (या उनके जैसा कोई भी निकाय) सर्वहारा सत्ता का उपकरण बन सकता है और सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रमुख उपकरण पार्टी ही रहेगी। जैसा कि हमने पहले भी लिखा है, जैसे-जैसे सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना उन्नत होगी, जैसे-जैसे व्यापक मेहनतकश जनता के बीच सर्वहारा विचारधारा का वर्चस्व निर्णायक रूप में स्थापित होगा वैसे-वैसे पार्टी की संस्थागत नेतृत्व की भूमिका कम होती जायेगी, और पार्टी अधिक से अधिक विचारधारात्मक मार्गदर्शक की भूमिका में आती जायेगी। लेकिन बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व के निर्णायक रूप से टूटे बगैर जो भी पार्टी की भूमिका के वज़न को कम करने की कोशिश करता है, वह वास्तव में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की जड़ें खोदने का काम कर रहा है।

माओ त्से तुंग ने भी इस सवाल को स्पष्ट दृष्टि से देखा और लेनिन और स्तालिन की पार्टी-विषयक समझदारी को ही आगे बढ़ाया। माओ लिखते हैं: **"सोवियत राजनीतिक सत्ता के रूप के बारे में, जैसे ही वह असलियत में आयी, लेनिन प्रफुल्लित हुए और उसे**

मज़दूरों, किसानों और सैनिकों की एक विलक्षण रचना माना, और साथ ही सर्वहारा अधिनायकत्व का एक नया रूप माना। लेकिन फिर भी लेनिन ने तब इस बात का पूर्वानुमान नहीं लगाया था कि हालाँकि मज़दूर, किसान और सैनिक राजनीतिक सत्ता के इस रूप का इस्तेमाल कर सकते हैं, लेकिन इसका बुर्जुआज़ी और ख्रुश्चेव जैसे लोगों द्वारा भी इस्तेमाल किया जा सकता है।" (माओ त्से तुंग, *माओ मिसलेनी*, खण्ड-2, पृ. 452) 'सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना' में माओ लिखते हैं, **"(सत्ता के) उपकरणों और उद्यमों के नियन्त्रण में कौन लोग हैं इसका जनता के अधिकारों को सुनिश्चित करने पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ता है। अगर मार्क्सवादी-लेनिनवादी इनके नियन्त्रण में हैं, तो व्यापक बहुसंख्या के अधिकारों को सुनिश्चित किया जा सकता है। अगर दक्षिणपन्थी या दक्षिणपन्थी अवसरवादी नियन्त्रण में हैं, तो ये उपकरण और उद्यम गुणात्मक रूप से बदल सकते हें, और उनके सम्बन्ध में जनता के अधिकारों को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है। संक्षेप में, लोगों को अधिकार होना चाहिए कि वे अधिरचना को प्रबन्धित करें।"** (माओ, *सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना*, न्यूयॉर्क: मन्थली रिव्यू प्रेस, 1977, पृ. 61, अंग्रेज़ी संस्करण)। यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है कि माओ जन संस्थाओं जैसे कि सोवियतों के दोनों ही पहलुओं को देख रहे हैं और समझ रहे हैं कि उनकी स्वत:स्फूर्तता का स्वागत किया जाना चाहिए, लेकिन उसका जश्न नहीं मनाया जा सकता है। बिना क्रान्तिकारी राजनीतिक नेतृत्व के ऐसी जनसंस्थाओं का चरित्र बदलते देर नहीं लगती। यह नेतृत्व पार्टी ही दे सकती है और इसलिए राज्यसत्ता और अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण पार्टी के हाथ होना चाहिए, हालाँकि शासन और उत्पादन के निर्णयों को लागू करने का ठोस कार्य पार्टी नहीं करती और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को पार्टी से आम मेहनतकश जनसमुदायों तक पहुँचाने की पूरी व्यवस्था ट्रेड यूनियनों और सोवियतों के ज़रिये ही काम कर सकती है। सत्ता के चरित्र का प्रश्न इस बात से हल होता है कौन लोग उसका नियन्त्रण कर रहे हैं। और यहाँ माओ स्पष्ट हैं कि उनका अर्थ पार्टी से ही है। माओ पार्टी और जनता को एक-दूसरे के ख़िलाफ़ नहीं खड़ा करते, बल्कि पार्टी को मेहनतकश जनसमुदायों की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्ति मानते हैं।

च) स्वत:स्फूर्ततावाद और ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद के ख़िलाफ़ लेनिन

वास्तव में, सुजीत दास जिस तर्क से समाजवादी निर्माण के दौरान पार्टी की भूमिका, वर्ग से उसके रिश्ते और राज्य में उसकी स्थिति पर सवाल खड़ा कर रहे हैं, जिस तर्क से वह ट्रेड यूनियनों को स्वतन्त्र बनाये जाने की वकालत कर रहे हैं, उस तर्क से उन्हें समाजवादी क्रान्ति के पहले भी पार्टी की भूमिका पर सवाल खड़े करने चाहिए। क्योंकि वास्तव में वह हिरावल और वर्ग के रिश्तों के बारे में जो सामान्य सूत्रीकरण दे रहे हैं, वे सूत्रीकरण किसी भी कोण से लेनिनवादी नहीं हैं। उल्टे उनके ज़्यादातर सूत्रीकरण मेंशेविकों और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादियों के तर्क हैं। लेनिन ने 1903 से पार्टी की प्रकृति और चरित्र पर जारी बहस में ही कहा था कि मज़दूर वर्ग की स्वत:स्फूर्तता का जश्न मनाना कम्युनिस्ट पार्टी का काम नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टी का काम है कि वह मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों की समीक्षा और समाहार करे और सर्वहारा वर्ग के ऐतिहासिक वर्ग हितों

और उसके ऐतिहासिक लक्ष्य और उत्तरदायित्वों को सूत्रबद्ध करे; ऐसा वह तभी कर सकती है, जब उसने स्वयं को सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण, यानी कि मार्क्सवाद, का मूर्त रूप बना लिया हो और जब उसने सर्वहारा वर्ग के सर्वश्रेष्ठ उन्नत और जुझारू तत्वों को आत्मसात कर लिया हो। इसके साथ ही, कम्युनिस्ट पार्टी निरन्तर वर्ग के साथ एक जीवन्त सम्पर्क बनाये रखती है जो कि उसे एक कमोबेश सही राजनीतिक लाइन पर बने रहने योग्य बनाता है। लेकिन मज़दूर वर्ग, आम तौर पर, स्वयं अपनी स्वत:स्फूर्त चेतना से कम्युनिस्ट नहीं बन सकता, और न ही वह समाजवाद के आदर्श को अपना सकता है। पूँजीवादी समाज में मज़दूर का जीवन ही ऐसा होता है कि वह अपनी मुक्ति के रास्ते को स्वयं नहीं सूत्रबद्ध कर सकता। इसलिए स्वत:स्फूर्त मज़दूर आन्दोलन कभी भी आर्थिक तर्क से आगे नहीं जा सकता। और आर्थिक संघर्ष अपने आप, चाहे वे कितने भी जुझारू क्यों न हों, समाजवाद के लिए राजनीतिक संघर्ष में तब्दील नहीं हो सकते। मज़दूर आन्दोलन को समाजवाद के आदर्श को स्वीकार करने के लिए "बाह्य" हस्तक्षेप की ज़रूरत पड़ती है। उसमें विचारधारा का तत्व हमेशा बाहर से आता है। देखें कि लेनिन के इस बारे में क्या विचार हैं:

"...और अगर हम "स्वत:स्फूर्त तत्व" की बात करें, तो बेशक, सबसे पहले इस हड़ताल के आन्दोलन को ही स्वत:स्फूर्त मानना चाहिए। लेकिन स्वत:स्फूर्तता के कई प्रकार होते हैं। रूस में साठ और सत्तर के दशक में (और यहाँ तक कि उन्नीसवीं सदी के पहले अर्द्धांश में भी) हड़तालें हुईं, और उनमें मशीनों का स्वत:स्फूर्त तरीके से विनाश हुआ, आदि। इन "विद्रोहों" की तुलना में, नब्बे के दशक की हड़तालों को भी "सचेतन" कहा जा सकता है, और वे इस सीमा तक मज़दूर वर्ग के आन्दोलन द्वारा इस अवधि में हासिल उन्नति को चिन्हित करती हैं। यह दर्शाता है कि "स्वत:स्फूर्त तत्व", सारत:, भ्रूण रूपी चेतना के अलावा और कुछ नहीं है। यहाँ तक कि आदिम विद्रोह भी एक किस्म की चेतना के एक ख़ास स्तर तक जागृत होने की अभिव्यक्ति थे। उत्पीड़नकारी व्यवस्था के स्थायित्व के सिद्धान्त पर युगों-युगों से चली आ रही मज़दूरों की आस्था कमज़ोर पड़ने लगी थी और उन्होंने सामूहिक प्रतिरोध की ज़रूरत को महसूस करना, मैं यह नहीं कहूँगा कि समझना, शुरू कर दिया था और निश्चित तौर पर अधिकारियों के समक्ष दासवत समर्पण का परित्याग कर दिया था। लेकिन, फिर भी, इसकी प्रकृति संघर्ष की नहीं बल्कि निराशा और प्रतिशोध के फूट पड़ने की ही ज़्यादा थी। नब्बे के दशक की हड़तालों ने सचेतनता के कहीं अधिक चिन्ह दर्शाये; ठोस माँगें पेश की गयीं, हड़तालों का समय सावधानीपूर्वक तय किया गया था, अन्य जगहों के ज्ञात मामलों और घटनाओं पर विचार-विमर्श किया गया, आदि। विद्रोह सिर्फ उत्पीड़ित लोगों का प्रतिरोध थे, जबकि व्यवस्थित हड़तालें भ्रूण रूपी वर्ग संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती थीं, लेकिन केवल भ्रूण रूप में ही। अपने आप में, ये हड़तालें सिर्फ ट्रेड यूनियनों का संघर्ष थीं, और तबतक सामाजिक जनवादी (यानी, कम्युनिस्ट–*अनुवादक*) संघर्ष नहीं बनी थीं। वे मज़दूरों और नियोक्ताओं के बीच उभरते अन्तरविरोधों का संकेत थीं; लेकिन मज़दूर पूरी आधुनिक राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के साथ अपने हितों के असमाधेय अन्तरविरोध के प्रति सचेत नहीं थे, और न हो सकते थे, अर्थात, उनकी चेतना अभी सामाजिक-जनवादी चेतना नहीं थी। इस रूप में, नब्बे के दशक की हड़तालें, "विद्रोहों" की तुलना में बहुत अधिक उन्नत होते हुए भी, पूरी तरह स्वत:स्फूर्त

आन्दोलन ही थीं।" (लेनिन, 1977, **'क्या करें?'**, *सेलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड-1, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ.113-114, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)

इस मामले में लेनिन उस समय काऊत्स्की को बेहद सटीक मानते थे। वास्तव में, उन्होंने अपनी रचना 'क्या करें?' में इस प्रश्न पर काऊत्स्की को बार-बार उद्धृत किया है। काऊत्स्की उस समय दूसरे इण्टरनेशनल के सम्मानित नेता थे और अभी उन्होंने संशोधनवाद का रास्ता नहीं पकड़ा था। उनके ऐसे ही एक उद्धरण को देखते हैं, जिसे लेनिन ने भी अपनी उपरोक्त रचना में दिया है:

"हमारे कई संशोधनवादी आलोचकों का विश्वास है कि मार्क्स ने दावा किया था कि आर्थिक विकास और वर्ग संघर्ष न सिर्फ समाजवादी उत्पादन की स्थितियाँ, बल्कि, प्रत्यक्ष तौर पर, इसकी अपरिहार्यता की चेतना भी निर्मित करते हैं। और इन आलोचकों का दावा है कि इंग्लैण्ड, सबसे उन्नत पूँजीवादी देश, किसी अन्य देश की अपेक्षा इस चेतना से सबसे दूर है। मसौदे के आधार पर, यह माना जा सकता है कि यह कथित परम्परागत मार्क्सवादी दृष्टि, जिसका इस प्रकार स्वतः ही खण्डन हो जाता है, पर उस समिति की साझा सहमति थी जिसने आस्ट्रियाई कार्यक्रम का मसौदा तैयार किया था। मसौदा कार्यक्रम में कहा गया है: 'पूँजीवादी विकास सर्वहारा की संख्या में जितनी अधिक वृद्धि करता है, उतना ही अधिक सर्वहारा पूँजीवाद के खिलाफ लड़ने को बाध्य होता है और उतना ही योग्य बनता जाता है। सर्वहारा समाजवाद की सम्भावना और उसकी ज़रूरत के प्रति सचेत हो जाता है।' इस सम्बन्ध में ऐसा लगता है कि समाजवादी चेतना सर्वहारा वर्ग संघर्ष का एक अपरिहार्य और सीधा परिणाम है। लेकिन यह निहायत ग़लत है। बेशक, एक सिद्धान्त के तौर पर समाजवाद की जड़ें आधुनिक आर्थिक सम्बन्धों में हैं जैसे कि सर्वहारा का वर्ग संघर्ष, और उसी की तरह स्वयं सर्वहारा वर्ग, पूँजीवाद-जनित आम ग़रीबी और विपदा के ख़िलाफ़ संघर्ष से उभरता है। लेकिन समाजवाद और वर्ग संघर्ष साथ-साथ विकसित होते हैं न कि एक-दूसरे के कारण जन्म लेते हैं; दोनों अलग-अलग स्थितियों के तहत उत्पन्न होते हैं। आधुनिक समाजवादी चेतना केवल गहन वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हो सकती है। वास्तव में, आधुनिक अर्थशास्त्र का विज्ञान समाजवादी उत्पादन की उतनी ही ज़रूरी शर्त है जितनी कि कह लीजिए आधुनिक तकनीक, और सर्वहारा इन दोनों में से किसी का निर्माण नहीं कर सकता, चाहे वह ऐसा करने की उसकी कितनी भी इच्छा क्यों न हो; दोनों आधुनिक सामाजिक प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं। विज्ञान का वाहक सर्वहारा नहीं, बल्कि बुर्जुआ बौद्धिक वर्ग है: इसी संस्तर के अलग-अलग लोगों के दिमाग़ में आधुनिक समाजवाद उत्पन्न हुआ, और उन्हीं लोगों ने इसे बौद्धिक रूप से अपेक्षाकृत उन्नत सर्वहाराओं तक पहुँचाया जो, जहाँ स्थितियाँ इसके अनुकूल होती हैं, सर्वहारा वर्ग संघर्ष में इसका समावेश करते हैं। इस प्रकार, सर्वहारा के वर्ग संघर्ष में समाजवादी चेतना बाहर से लायी जाती है [von Aussen Hineingetragenes] न कि यह इसके भीतर से स्वतःस्फूर्त ढंग से [urwüchsig] पैदा होती है। तदनुरूप, पुराना हैनफेल्ड कार्यक्रम काफी सटीक ढंग से कहता है कि सामाजिक-जनवाद का काम सर्वहारा को उसकी स्थिति की चेतना और उसके कार्यभार की चेतना से भरना (शब्दशः सन्तृप्त कर देना) है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती अगर चेतना वर्ग संघर्ष से स्वतः उत्पन्न हो जाती।

नये मसौदे में यह प्रस्ताव पुराने मसौदे से उठा लिया गया है, और इसे उपरोक्त प्रस्ताव में जोड़ दिया गया है। लेकिन इससे विचारों की श्रृंखला पूरी तरह टूट गयी...” (*वही*, पृ. 120-121, लेनिन द्वारा उद्धृत)

'क्या करें?' में लेनिन ने काऊत्स्की के इस कथन के साथ एक स्पष्टीकरण जोड़ा है:

“बेशक, इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसी विचारधारा निर्मित करने में मज़दूरों की कोई भूमिका नहीं है। हालाँकि, वे इसमें मज़दूर के तौर पर नहीं, बल्कि समाजवादी सिद्धान्तकारों के तौर पर, प्रूधों और वाइटलिंगों के रूप में, भागीदारी करते हैं; दूसरे शब्दों में, वे केवल तभी भाग लेते हैं और उसी हद तक भाग लेते हैं जब और जिस हद तक वे अपने युग का ज्ञान हासिल करने और उसे विकसित करने के कमोबेश योग्य हो जाते हैं। लेकिन मज़दूर इस कार्य में और अधिक सफल हों इसके लिए सामान्य तौर पर मज़दूरों की चेतना के स्तर को बढ़ाने के हरसम्भव प्रयास किये जाने चाहिए; यह ज़रूरी है कि मज़दूर खुद को “मज़दूर साहित्य” की कृत्रिम सीमाओं में बाँधकर न रखें बल्कि वे सामान्य साहित्य में उत्तरोत्तर महारत हासिल करते जाएँ। “खुद को बाँधकर न रखें” की बजाय “उन्हें बाँधकर न रखा जाए” कहना और भी उचित होगा, क्योंकि मज़दूर खुद पढ़ने की चाहत रखते हैं और वह सब पढ़ते हैं जो बौद्धिक तबके के लिए लिखा जाता है, और केवल कुछ (बुरे) बुद्धिजीवी ही ऐसा मानते हैं कि फैक्टरी की दशाओं के बारे में कुछेक चीज़ें बता देना और पहले से ज्ञात चीज़ों का ही बार-बार दुहराते जाना “मज़दूरों के लिए” पर्याप्त है।” (*वही*, 121, फुटनोट में)

यह मान लेना कि ट्रेड यूनियनें वैचारिक रूप से स्वतः क्रान्तिकारी बन जायेंगी और समाजवादी निर्माण और निर्णय लेने के रास्ते पर चल पड़ेंगी, कल्पनालोक में विचरण करने के समान है। क्रान्ति के पहले जो मज़दूर वर्ग इस समस्या का स्वायत्त और स्वतन्त्र रूप से समाधान नहीं कर सकता, क्या वह समाजवादी निर्माण के कुछ वर्षों में इस मंज़िल पर पहुँच जायेगा? नहीं! लेनिन ने यही जवाब 1919 में दिया था। समाजवादी क्रान्ति के बाद भी लम्बे समय तक सर्वहारा वर्ग के हिरावल को समाजवादी निर्माण और सर्वहारा अधिनायकत्व को लागू करने में वही संस्थाबद्ध नेतृत्व वाली भूमिका अदा करनी पड़ेगी जो कि क्रान्ति के पहले क्रान्ति के लिए मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को राजनीतिक नेतृत्व देने में अदा करनी पड़ी थी। जो इस बुनियादी चीज़ को नहीं समझते, वास्तव में वे मार्क्स के अलगाव के सिद्धान्त, लेनिन के हिरावल पार्टी के सिद्धान्त और हिरावलपन्थ और हिरावल पार्टी के लेनिनवादी सिद्धान्त को रत्ती भर भी नहीं समझते। 'क्या करें?' में लेनिन लिखते हैं:

“चूँकि स्वतन्त्र, ख़ुद आम मज़दूरों द्वारा अपने आन्दोलन की प्रक्रिया के दौरान विकसित विचारधारा का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता, इसलिए <u>केवल ये रास्ते ही</u> रह जाते हैं – या तो बुर्जुआ विचारधारा को चुना जाये या समाजवादी विचारधारा को। बीच का कोई रास्ता नहीं है (क्योंकि मानवजाति ने कोई “तीसरी” विचारधारा पैदा नहीं की है, और इसके अलावा जो समाज वर्ग विरोधों के कारण बँटा हुआ है, उसमें कोई ग़ैर-वर्गीय या वर्गेतर विचारधारा कभी हो नहीं सकती)। इसलिए, समाजवादी विचारधारा के महत्व को <u>किसी भी तरह</u> कम करके आँकने, उससे <u>ज़रा भी मुँह मोड़ने</u> का मतलब बुर्जुआ विचारधारा को मज़बूत करना होता है। स्वयंस्फूर्तता की बहुत चर्चा हो रही है, लेकिन मज़दूर आन्दोलन के <u>स्वयंस्फूर्त</u> विकास का परिणाम यह होता है कि

यह आन्दोलन बुर्जुआ विचारधारा के अधीन हो जाता है, उसका विकास *क्रीडो* के कार्यक्रम के अनुसार ही होने लगता है, क्योंकि स्वयंस्फूर्त मज़दूर आन्दोलन ट्रेड-यूनियनवाद होता है, जर्मन भाषा में कहें तो वह *Nur-Gewerkschaftlerei* होता है, और ट्रेड-यूनियनवाद का मतलब मज़दूरों को विचारधारा के मामले में बुर्जुआ विचारधारा का दास बनाकर रखना होता है। इसलिए हमारा कार्यभार, सामाजिक-जनवादियों का कार्यभार है स्वयंस्फूर्ततावाद के ख़िलाफ़ लड़ना, मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के उस स्वयंस्फूर्त, ट्रेड-यूनियनवादी रुझान को, जो उसे बुर्जुआ वर्ग के साये में ले जाता है, मोड़ना और और उसे क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के नेतृत्व में लाना।" (*वही*, पृ. 121-122, अनुवाद हमारा)

ऐसे अनगिनत उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सुजीत दास जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का विवाद केवल सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण में पार्टी की भूमिका के प्रश्न पर नहीं है। वास्तव में, यह विवाद पार्टी की ही ज़रूरत पर है और ऐसे तमाम लोग ही इस समय, वर्तमान मज़दूर आन्दोलन में एक "जनराजनीतिक केन्द्र" खड़ा करने की माँग कर रहे हैं। इन लोगों का यह मानना है कि मज़दूर वर्ग का अपना जनराजनीतिक केन्द्र एक खुला केन्द्र होना चाहिए, जिसमें सभी "पूँजीवाद-विरोधी" मज़दूर शामिल हो सकें, चाहें वे मार्क्सवादी हों या न हों। ऐसे मज़दूर, ट्रेड यूनियन के स्तर से ऊपर उठ चुके होते हैं, लेकिन पार्टी के स्तर से नीचे होते हैं। इसलिए उनके लिए एक जनराजनीतिक केन्द्र बनाया जाना चाहिए! और यह जनराजनीतिक केन्द्र क्या करेगा? वह सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के प्राधिकार को आम मेहनतकश जनता में स्थापित करेगा, यानी पार्टी का काम करेगा; वह चुनावों में हिस्सेदारी करेगा, यानी कि दूमा धड़े वाला काम करेगा; वह ट्रेड यूनियन वाला काम भी करेगा; और वह सोवियतों का काम भी करेगा! **फिर पार्टी क्या करेगी? और फिर आपने अभी तक अपनी पार्टी बना ही क्यों रखी है? उसे भंग क्यों नहीं कर देते?** क्योंकि आपके सारे कार्य तो आपका यह जनराजनीतिक केन्द्र ही कर देगा! और जब आप इस जनराजनीतिक केन्द्र का नाम सुनते हैं, तो आपको समझ में आने लगता है कि ये बातें कहाँ से आ रही हैं। इन अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के जनराजनीतिक केन्द्र का नाम भी "मज़दूर परिषद" है, इसमें वे बीच में "क्रान्ति" शब्द जोड़ देते हैं! लेकिन इससे कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता है। **अगर नामपद्धति (नोमेनक्लेचर) पर भी ध्यान दें, तो सुजीत दास जैसे लोग पॉल मात्तिक, गॉर्टर, पान्नेकोएक, ओसिंस्की, रूले, स्मिर्नोव जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के ज़्यादा करीब हैं।** और कुछ मामलों में तो ऐसे लोग **मारियो ट्रॉण्टी** जैसे लोगों के "मज़दूरवाद" (ऑपराइज़्मो) और **कॉर्नेलियस कास्तोरियादिस** के स्वच्छन्दतावादी समाजवाद (लिबर्टैरियन सोशलिज़्म) के करीब पड़ते हैं। उनकी करीबी किसी से भी ज़्यादा हो, एक बात तो तय है: **लेनिन के सिद्धान्तों से इनका दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है, चाहे वे सिद्धान्त समाजवादी संक्रमण सम्बन्धी हों या पार्टी, वर्ग, राज्य और ट्रेड यूनियनों के आपसी रिश्तों के बारे में।**

●

सोवियत समाजवाद के अपने हास्यास्पद विश्लेषण में सुजीत दास आगे ग़लतबयानियों, असत्यों और तथ्यों के साथ दुराचार के स्तर पर कैसे पहुँच गये हैं, यह हम आगे तब दिखलायेंगे जब हम 1930 के दशक के सोवियत समाजवाद के बारे में सकारात्मक तौर पर अपना विवेचन ठोस ऐतिहासिक तथ्यों के साथ रखेंगे, जैसा कि हमने शुरू में ही बताया था। यह काम हम अभी हाथ में नहीं ले सकते थे, क्योंकि यह अलग से एक विस्तृत काम है। इसलिए 1917 से 1953 तक के सोवियत इतिहास पर अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखते हुए इस काम को करना ज़्यादा बेहतर होगा। अभी हमारे विश्लेषण का मकसद सिर्फ़ यह था कि हम 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की अवस्थितियों के राजनीतिक, विचारधारात्मक और दार्शनिक मूल और स्रोतों को पकड़ें; उनकी लेनिनवादी अवस्थितियों से तुलना करें; उनके अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद को बेनक़ाब करें और दिखलायें कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति जुबानी वफ़ादारी रखने के बावजूद उनकी असली राजनीति कहाँ से आ रही है। इस प्रक्रिया में हमें सुजीत दास की जितनी तथ्य-सम्बन्धी तोड़-मरोड़ का खण्डन करना ज़रूरी था, वह हमने किया है। लेकिन उनके द्वारा सोवियत इतिहास का जो मिथकीकरण किया गया है उस पर हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

नोट: *(1) उपरोक्त सभी उद्धरणों में अंग्रेज़ी स्रोतों से लिये गये उद्धरणों का अनुवाद हमारा है, क्योंकि अधिकांश स्रोतों का पहले से मौजूद हिन्दी अनुवाद सन्तोषजनक नहीं था और कई जगहों पर ग़लत था। (2) यह लेख 'दिशा सन्धान' के अगले अंकों में जारी रहेगा, इसलिए इसकी सन्दर्भ सूची हम पूरे शोध निबन्ध के अन्त में देंगे। फिलहाल, हमने उद्धरणों के बाद कोष्ठकों में पूरा सन्दर्भ दे दिया है।*

भारत में नवउदारवाद के दो दशक

● सुखविन्दर

भारतीय हुक़्मरानों द्वारा 1991 में 'नयी आर्थिक नीति' के नाम पर अपनायी गयी नवउदारवादी नीतियों को लागू हुए दो दशक पूरे हो चुके हैं। 1991 में नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की शुरुआत के समय भारतीय हुक़्मरानों द्वारा किये गये दावों की पड़ताल और इन नीतियों के भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़े प्रभावों को देखने के लिए दो दशकों का समय पर्याप्त से अधिक है।

1991 में जब भारतीय हुक़्मरानों ने नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की शुरुआत की थी तो उन्होंने दावा किया था कि इन सुधारों की बदौलत भारत एक आर्थिक महाशक्ति या एक और 'एशियाई बाघ' बनकर दुनिया के नक़्शे पर उभरेगा। गुज़रे दो दशकों के दौरान इन आर्थिक सुधारों पर अमल ने दिखला दिया है कि भारतीय हुक़्मरानों के उक्त दावे कितने खोखले थे। कुछ वामपन्थी ग्रुपों को 1991 के आर्थिक सुधारों के रूप में उपनिवेशवाद की वापसी नज़र आयी, कुछ ग्रुपों ने दावा किया कि इन आर्थिक सुधारों ने उनके इस दावे की पुष्टि की है कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद का दलाल है। ऐसे दावे करते हुए वे भारतीय बुर्जुआ वर्ग के साम्राज्यवाद के साथ सम्बन्धों की अपने ग़लत थीसिस के पक्ष में पहले से भी अधिक कुतर्क करने लगे। ये ग्रुप भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनायी गयी नवउदारवादी नीतियों के पीछे सिर्फ़ साम्राज्यवाद की साज़िश या साम्राज्यवादी निर्देशों को ही देखते हैं। वे भारतीय बुर्जुआ वर्ग की राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र हैसियत को मानने से इन्कार करते हैं। बिना शक भारतीय बुर्जुआ

वर्ग द्वारा अपनायी गयी इन आर्थिक नीतियों के पीछे साम्राज्यवादी देशों के दबाव से इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन ये नीतियाँ भारतीय बुर्जुआ वर्ग की भी ज़रूरत थीं। नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी और भारतीय बुर्जुआ वर्ग की ज़रूरतों (किसी न किसी रूप में तीसरी दुनिया के देशों के बुर्जुआ वर्ग के बारे में भी यही सच है, क्योंकि लगभग इन सभी देशों के बुर्जुआ वर्ग ने थोड़ा आगे-पीछे यही नीतियाँ अपनायी हैं) के विचित्र तालमेल की पैदावार हैं। भारत की सामाजिक जनवादी पार्टियाँ (भाकपा, माकपा, आदि) और उनसे जुड़े बुद्धिजीवी इन नवउदारवादी नीतियों का 'विरोध' करते हुए नेहरू के दौर की आर्थिक नीतियों की ओर वापसी की दुहाई देने लगे। ये पार्टियाँ यह समझने में अक्षम हैं या समझते हुए भी समझने से इन्कार करती हैं कि नेहरू के दौर की आर्थिक नीतियों का तार्किक नतीजा ही नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ हैं। पिछले दो दशकों के व्यवहार और भारतीय अर्थव्यवस्था के वर्तमान संकट के प्रति भारतीय हुक्मरानों के रवैये ने दिखलाया है कि नवउदारवादी नीतियों के व्यवहार पर आगे बढ़ना ही भारतीय बुर्जुआ वर्ग के पास एकमात्र राह थी और इससे पीछे की ओर लौटना न तो इसके लिए मुमकिन था और न ही इसकी चाहत थी। नयी आर्थिक नीतियों का इन संशोधनवादी पार्टियों का विरोध नकली था, और जिन राज्यों में इन तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टियों की सरकारें थीं वहाँ इन्होंने नयी आर्थिक नीतियों को ज़ोर-शोर से लागू किया। इन नीतियों का विरोध कर रही जनता (ख़ासकर बंगाल में) का निर्मम दमन किया गया और भारतीय बुर्जुआ वर्ग से इन संशोधनवादी पार्टियों को ख़ूब प्रशंसा हासिल हुई।

कार्ल मार्क्स ने लिखा था : "हेगेल ने किसी स्थान पर कहा है कि विश्व में बड़े महत्त्व वाले तथ्य एक तरह से दो बार घटित होते हैं। वह इसके साथ यह जोड़ना भूल गये, पहली बार त्रासदी के रूप में, दूसरी बार प्रहसन के रूप में।" (*लूई बोनापार्ट की अठारहवीं ब्रूमेर*)

हाँ, इतिहास ख़ुद को दोहराता है, लेकिन हू-ब-हू नहीं। भारत की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संकटों के रूप में भी इतिहास ख़ुद को दोहरा रहा है। 1991 में जिस आर्थिक संकट पर काबू पाने के लिए भारतीय हुक्मरानों ने साम्राज्यवादी संस्थाओं - अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक - के दिशा-निर्देशों के तहत आर्थिक सुधारों की शुरुआत की थी, उसी तरह का संकट, बल्कि उससे भी गहरा और व्यापक आर्थिक संकट दो दशकों के बाद फिर से भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाज़े पर दस्तक दे रहा है। वित्तीय वर्ष 2011-12 की आख़िरी तिमाही में भारत के सकल घरेलू उत्पादन में भारी गिरावट आयी। भारतीय बजट, व्यापार व चालू खाते घाटे में भारी वृद्धि दर्ज़ हुई। डॉलर के मुकाबले भारतीय मुद्रा लगातार लड़खड़ा रही है। आने वाले दिनों में भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट के और अधिक गहरे होने के अन्दाज़े लगाये जा रहे हैं। दरअसल 2007 से अमेरिकी सबप्राइम कर्ज़ संकट से शुरू हुआ विश्व पूँजीवाद का वर्तमान संकट अब भारत जैसी उभर रही अर्थव्यवस्थाओं (जो अभी तक न सिर्फ़ विश्व पूँजीवादी आर्थिक संकट की चपेट में आने से सापेक्षिक रूप से बची हुई थीं, बल्कि संकटग्रस्त विकसित पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं को भी राहत पहुँचा रही थीं) को भी अपनी चपेट में ले रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान परिस्थिति ने कई बुर्जुआ अख़बारों (इकोनॉमिक टाइम्स) को मोटी सुर्ख़ियों में यह छापने के लिए मज़बूर कर दिया कि 'अलविदा 2020, स्वागतम 1991'। भारतीय हुक्मरानों का दावा था कि 2020 तक भारत एक आर्थिक महाशक्ति बनकर उभरेगा। यह आर्थिक महाशक्ति तो नहीं बन पाया, लेकिन 1991 जैसी

संकटग्रस्त हालत में ज़रूर पहुँच गया है। बीते दिनों, रसोई गैस और डीज़ल पर सब्सिडी पर कटौती, परचून सहित अनेकों क्षेत्रों में साम्राज्यवादी पूँजी को छूटें देने के फैसले की हिफ़ाज़त करने के लिए प्रधानमन्त्री ने इलेक्ट्रॉनिक प्रचार माध्यमों के ज़रिये 'राष्ट्र' के नाम अपना सन्देश दिया। इस सन्देश में भी उन्होंने माना कि देश 1991 जैसी परिस्थिति से गुज़र रहा है। प्रधानमन्त्री के इस स्वीकार में हम इतनी बढ़ोत्तरी ज़रूर करना चाहेंगे कि भारतीय अर्थव्यवस्था का मौजूदा रोग 1991 से अधिक भयानक है। इसकी विस्तृत चर्चा हम इस लेख में आगे चलकर करेंगे।

इस लेख का मकसद गुज़रे दो दशकों के भारत का आर्थिक इतिहास लिखना या कोई अकादमिक कसरत नहीं है। हमारा मकसद गुज़रे दो दशकों के दौरान नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के भारतीय समाज और भारतीय अर्थव्यवस्था के चुनिन्दा क्षेत्रों पर पड़े प्रभावों की पड़ताल करना है और यह जानना है कि इसका भारत की समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने के लिए बनने वाले वर्गों के मोर्चे पर क्या असर पड़ेगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछले दो दशक तेज़ पूँजीवादी विकास के दशक रहे हैं। इस दौरान भारत के कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर (ख़ासकर इस सदी के पिछले दशक के दौरान) काफ़ी ऊँची रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था ने ऐसी वृद्धि दर आज़ादी के बाद पहले पन्द्रह वर्षों के दौरान ही देखी थी। 1951-1965 के दौरान भारत के औद्योगिक विकास की दर 7.8 प्रतिशत रही थी। 2001-2010 के दौरान भी भारत के कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर ऐसी ही रही। लेकिन इस विकास के फल आबादी के छोटे हिस्से ने ही चखे हैं। इस समय के दौरान नवधनिकों का एक नया वर्ग उभरा है। रिवायती अमीरों के धन में बेहिसाब वृद्धि हुई है। देशी-विदेशी पूँजीपतियों ने सत्ता की सरपरस्ती में देश के प्राकृतिक संसाधनों को दोनों हाथों से लूटा है। इन दो दशकों के दौरान भारतीय समाज के पोर-पोर में पूँजी की घुसपैठ और ज़्यादा बढ़ी है। पूँजी ने दूर-दराज़ के अब तक के अनछुए क्षेत्रों को अपनी चपेट में लिया है। भारतीय समाज पहले से कहीं अधिक ध्रुवीकृत हुआ है, छोटे मालिक बड़े स्तर पर उज़रती मज़दूरों की क़तारों में शामिल हुए हैं, जनता के ज़बरन विस्थापन, बेदख़ली में भारी वृद्धि हुई है। क्षेत्रीय असमानताएँ बढ़ी हैं।

इस लेख में आगे हम भारतीय अर्थव्यवस्था के उक्त रुझानों की विस्तृत चर्चा करेंगे। भारतीय अर्थव्यस्था और समाज पर नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की विस्तृत चर्चा से पहले इन सुधारों की पृष्ठभूमि को समझना ज़रूरी है जिससे गुज़रकर भारतीय अर्थव्यवस्था नवउदारवादी आर्थिक सुधारों तक पहुँची है।

नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की पृष्ठभूमि

भारत में नवउदारवादी नीतियों की आमद दो पड़ावों में हुई। पहले पड़ाव की शुरुआत 80 के दशक में हुई और दूसरे पड़ाव की शुरुआत 1991 में हुई जब प्रधानमन्त्री नरसिम्हा राव और तत्कालीन वित्तमन्त्री मनमोहन सिंह के नेतृत्व में उस समय की कांग्रेस सरकार 'नयी आर्थिक नीति' लेकर आयी थी। 1980 के दशक में जिन नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की शुरुआत हुई थी वे 1991 में 'नयी आर्थिक नीति' के रूप में सम्पूर्ण रूप में सामने आये। भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनायी गयी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों की जड़ दरअसल भारतीय अर्थव्यवस्था

के उस समय के गतिरोध में थी जिसका इसे 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1970 के दशक के दौरान सामना करना पड़ा। 1947 में भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने सत्ता पर काबिज़ होने के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण की जो राह पकड़ी थी, उसी का तार्किक नतीजा 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध और 70 दशक की आर्थिक मन्दी थी।

1947 में भारत की राज्यसत्ता पर काबिज़ हुए बुर्जुआ वर्ग के सामने तीन कार्यभार थे। एक तो यह था कि भारत की सामन्ती, अर्द्ध-सामन्ती अर्थव्यवस्था को पूँजीवादी दिशा में विकसित करना। दूसरा था, साम्राज्यवाद से अभी-अभी हासिल की राजनीतिक आज़ादी को बचाये रखना। 1947 का सत्ता परिवर्तन तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा वायलार, रॉयल इण्डियन नेवी के सैनिक विद्रोह आदि तूफ़ानी जनसंघर्षों के दौरान और किसी हद तक इन्हीं जनसंघर्षों की बदौलत हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से आज़ादी हासिल करने के लिए भारत की मेहनतकश जनता ने बेहिसाब क़ुर्बानियाँ दी थीं। और अब जब देश आज़ाद हो गया तो भारत की जनता को इस आज़ादी से बहुत उम्मीदें थीं। जनता को अब लूट-दमन, अपने जीवन के दुखों-कष्टों से मुक्ति मिलने की उम्मीद थी। सत्ता पर काबिज़ हुए भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सामने तीसरा कार्यभार भारत की मेहनतकश जनता की इन उम्मीदों को ठण्डा करना था।

कोई डेढ़ सौ वर्ष की उपनिवेशवादी लूट के बाद कंगाल हुए भारत की सत्ता पर काबिज़ हुए बुर्जुआ वर्ग के पास देश के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए पूँजी की बेहद कमी थी। भारत में पूँजीवादी विकास के लिए अवसंरचनागत विशाल ढाँचे का निर्माण करने की ज़रूरत थी। लेकिन भारतीय बुर्जुआ वर्ग के पास इसके लिए बेहद अपर्याप्त साधन थे। देश के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए शुरुआती पूँजी संचय करने के लिए भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सामने दो ही रास्ते थे। पहला था साम्राज्यवादी देशों, संस्थाओं से कर्ज़ या सहायता हासिल करना। लेकिन इसकी वजह से अभी-अभी हासिल की गयी आज़ादी ख़तरे में पड़ सकती थी, क्योंकि भारतीय बुर्जुआ वर्ग अभी काफ़ी कमज़ोर हालत में था। दूसरा रास्ता था भारत की मेहनतकश जनता की अधिक से अधिक लूट से पूँजी संग्रह किया जाये; ग़ौरतलब है कि पूँजी का दूसरा नाम 'मृत श्रम' ही होता है। भारतीय अर्थव्यवस्था का पूँजीवादी रूपान्तरण करने के लिए प्रारम्भिक पूँजी संचय के लिए यह दूसरा रास्ता था जो भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने अपनाया। भारत की मेहनतकश जनता द्वारा लम्बी जाँबाज़ लड़ाई के बाद आख़िर 1947 में देश आज़ाद हुआ था। अब देश के नयी दिशा में निर्माण के लिए जनता में काफ़ी उत्साह भी था। देश के नयी दिशा में निर्माण के इस उत्साह को भारतीय बुर्जुआ वर्ग अपने हित में इस्तेमाल कर सकता था और उसने बहुत कुशलता के साथ ऐसा किया भी।

देश के ऐसे ही माहौल की उपज वह रणनीति थी जो भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने देश के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए अपनायी। इस रणनीति का नाम 'बॉम्बे योजना' या 'टाटा-बिड़ला योजना' था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग की इस रणनीति के तहत भारत के पूँजीवादी रूपान्तरण में राज्य को एक अहम भूमिका अदा करनी थी। दूसरी ओर, यह वह समय था जब विश्व भर में कम्युनिस्ट आन्दोलन उभार पर था। समाजवाद के सपने धरती के करोड़ों मेहनतकशों की आँखों में तैर रहे थे। बेशुमार क़ुर्बानियों की बदौलत दूसरे विश्वयुद्ध में समाजवादी सोवियत संघ विजयी होकर निकला था। फासीवाद के भस्मासुर को सोवियत संघ ने मिट्टी में मिला दिया था। पूर्वी यूरोप के अनेकों देशों को सोवियत यूनियन ने फासीवाद के जुए से मुक्त कराया। आज़ादी के बाद इन देशों में भी कम्युनिस्ट हुकूमतें अस्तित्व में आयीं। कम्युनिस्ट पार्टी के

नेतृत्व में चीन की नयी जनवादी क्रान्ति जीत की दहलीज़ पर थी। कम्युनिज़्म का 'प्रेत' पूरे संसार के पूँजीवादी हुक़्मरानों को डरा रहा था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के बारे में भी यही सच है। लेकिन यहाँ की पार्टी (भाकपा) विचारधारात्मक-राजनीतिक तौर पर बेहद कमज़ोर पार्टी थी, लेकिन फिर भी भारत की मेहनतकश जनता पर इसका अच्छा-ख़ासा प्रभाव था। इस समय भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा दिया गया 'समाजवाद' का नारा इसी माहौल की उपज था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के नेताओं ने भारत में 'समाजवाद' के निर्माण को अपना उद्देश्य घोषित किया। उन्होंने कहा कि भारत में 'समाजवाद' के निर्माण की राह 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' की होगी। जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र भी होगा और निजी क्षेत्र भी, लेकिन इसमें निर्णायक भूमिका, 'कमाण्डिंग चोटी' पर सार्वजनिक क्षेत्र ही रहेगा। भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा दिया गया 'समाजवाद' का नारा, आज़ादी में से अपना हिस्सा माँग रही भारत की मेहनतकश जनता के साथ एक धोखा ही था, जिसकी वास्तविकता जल्द ही भारत की मेहनतकश जनता के सामने जाहिर भी हो गयी। भारत में आज़ादी के बाद खड़ा किया गया विशाल सार्वजनिक क्षेत्र भारत के बुर्जुआ वर्ग की उस रणनीति का अंग था जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए राज्य ने नेतृत्वकारी व प्रत्यक्ष भागीदारी भूमिका निभानी थी। 'समाजवाद' के नारे तले भारत की मेहनतकश जनता की ख़ून-पसीने की कमाई से सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण किया गया। भारतीय अर्थव्यवस्था का नियोजन इस तरह से किया गया कि भारी अवसंरचनागत ढाँचा और बड़े पूँजी निवेश वाले उद्योग - जहाँ से फटाफट मुनाफ़ा हासिल होने की उम्मीद नहीं थी - सार्वजनिक क्षेत्र में निर्मित किये गये। और उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन वाला उद्योग, जहाँ से फटाफट मुनाफ़ा हासिल होना था, वह निजी क्षेत्र के हवाले कर दिया गया। यानी अन्तिम रूप में निजी क्षेत्र की सेवा के लिए ही सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण किया गया था। यह थी नेहरू युग की 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' और नेहरूवादी 'समाजवाद' की वास्तविकता! इस 'समाजवादी' निर्माण के ज़रिये भारतीय बुर्जुआ वर्ग के चालाक प्रतिनिधियों ने एक तीर से दो निशाने साधे। एक तो उन्होंने भारत में पूँजीवादी विकास के लिए शुरुआती पूँजी संचय किया, दूसरा 'समाजवाद' के छल के ज़रिये वे भारत की मेहनतकश जनता को भरमाने में भी कामयाब रहे।

भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण की राह में एक और बड़ी रुकावट थी : सामन्ती-अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों में जकड़ी, पिछड़ी हुई कृषि। इसका पूँजीवादी रास्ते पर विकास भारतीय बुर्जुआ वर्ग के आगे एक बड़ी चुनौती थी। भारत के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए भारतीय बुर्जुआ वर्ग के समक्ष दो रास्ते थे। एक रास्ता था रैडिकल भूमि सुधारों का रास्ता, जिसमें किसानी को उभारा जाता और सामन्ती-अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को तहस-नहस कर दिया जाता। अगर भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण का यह रास्ता अपनाया होता तो भारत में पूँजीवादी विकास की रफ़्तार बहुत तेज़ होती और भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया भारत की मेहनतकश जनता के लिए काफ़ी कम पीड़ादायक होती। लेकिन उस समय की विशेष राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों में हर तरह के जनउभारों से थर-थर काँपता भारतीय बुर्जुआ वर्ग भारतीय कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण का यह रास्ता नहीं अपना सकता था।

भारतीय कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने दूसरा रास्ता अपनाया। मार्क्सवादी साहित्य में यह रास्ता कृषि में पूँजीवादी विकास के 'प्रशियाई रास्ते' के

नाम से जाना जाता है। यह रास्ता धीमे सुधारों का रास्ता है। एक धीमी प्रक्रिया में सामन्ती भूमिपतियों को पूँजीवादी भूमिपतियों में बदलने के लिए प्रेरित करने, मज़बूर करने का रास्ता है। 1947 के बाद भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने भारत में कृषि में पूँजीवादी विकास का यही रास्ता अपनाया। निश्चित तौर पर, पूँजीवादी विकास का यह रास्ता भारत की मेहनतकश जनता के लिए बेहद पीड़ादायक था। इस विकास प्रक्रिया की सारी दुख-मुसीबतें मेहनतकश जनता की झोली में पड़े। भारत की मेहनतकश जनता नयी बुराई (पूँजीवादी लूट) के साथ ही पुरानी बुराइयों (सामन्ती सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पीड़न) की भी शिकार रही। किसी हद तक यह आज के भारत के लिए भी सच है। आज भी भारत की मेहनतकश जनता पूँजीवादी लूट के साथ-साथ सामन्ती सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पीड़न की भी सतायी हुई है। 1860 के दशक के जर्मनी के बारे में कार्ल मार्क्स ने लिखा था, "हम, शेष सारे यूरोपीय महाद्वीप के पश्चिमी भाग की तरह, पूँजीवादी उत्पादन के विकास का ही नहीं, बल्कि इस विकास की अपूर्णता से पैदा होने वाली तकलीफ़ों का भी शिकार हैं। आधुनिक बुराइयों के साथ-साथ, विरासत में मिली बुराइयों का एक पूरा सिलसिला हम पर सितम बरपा रहा है। यह बुराइयाँ उत्पादन के उन प्राचीन निज़ामों के नतीजे से अभी तक बचे रहने के नतीजे के तौर पर पैदा होती हैं, जिनके साथ उनकी सामाजिक और राजनीतिक असंगतियाँ ज़रूरी तौर पर जुड़ी होती हैं। हम सिर्फ़ जीवितों से ही नहीं बल्कि मृत चीजों से भी पीड़ित हैं। मुर्दे जीवितों के लिए बोझ बने हुए हैं!" (**पूँजी** - पहले खण्ड की भूमिका से)। जो 1860 के दशक के जर्मनी के बारे में सच था, वह 1947 के बाद अब तक के पूरे दौर के भारत के लिए भी सच है। इसकी जड़ भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनाये गये पूँजीवादी विकास के उस मार्ग में है, जो किसी समय बिस्मार्क के राज्यकाल के दौरान जर्मनी के बुर्जुआ वर्ग ने अपनाया था।

भारतीय कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण का जो 'प्रशियाई मार्ग' भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने अपनाया था, उसमें उसका मकसद भूमि स्वामित्व की पुरानी व्यवस्था के साथ अधिक छेड़छाड़ करना नहीं था, बल्कि उसका मकसद तो कृषि के उत्पादन सम्बन्धों को बदलना था। इसलिए आज़ादी के बाद भी भूमि स्वामित्व की व्यवस्था लगभग हू-ब-हू कायम रही। आज़ादी के पहले और बाद में देश के कुछ भागों में हुए किसान विद्रोहों की बदौलत एक हद तक किसान ज़मीनों के मालिक बने, और कुछ जगहों पर आज़ादी के बाद बनी 'कांग्रेस भूमि सुधार समिति' की रहनुमाई में हुए सीमित भूमि सुधारों से मरूसी काश्तकार ज़मीन मालिक बने। हालाँकि, ग़ैर-हाज़िर भूमिपतिवाद की सबसे बुरी किस्मों का ख़ात्मा हुआ लेकिन भूमि स्वामित्व काफ़ी हद तक उसी तरह कायम रहा, जिसमें कृषि योग्य भूमि का बड़ा हिस्सा मुट्ठीभर हाथों में ही केन्द्रित रहा।

दूसरी ओर शुरुआती समय में औद्योगिक क्षेत्र में एकाधिकारी व्यवहार को एक हद तक रोका गया लेकिन इस क्षेत्र में भी सम्पत्ति लगातार कुछ हाथों में केन्द्रित होती गयी। अमीर और ग़रीब की खाई बहुत गहरी थी। आबादी की बड़ी बहुसंख्या ग़रीब मेहनतकश जनता की क्रय शक्ति बेहद सीमित थी, जिसके कारण पूँजीवादी बाज़ार के फैलाव की सम्भावनाएँ सीमित थीं। निजी क्षेत्र में रोज़गार और आय की वृद्धि सीमित थी। विशाल किसान आबादी सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों में जकड़ी हुई थी, भूमि का पट्टे पर मिलना अनिश्चित था, उपज का एक छोटा हिस्सा ही उन्हें मिलता था। ऐसे हालात में कृषि में पूँजी निवेश के न तो उनके पास साधन थे और न ही निवेश प्रेरणा। रैडिकल भूमि सुधारों की ग़ैर-हाज़िरी में, घरेलू बाज़ार,

ख़ासकर औद्योगिक उत्पादों के लिए, बहुत सीमित था। ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण क्षेत्र में – जहाँ आबादी की बड़ी बहुसंख्या बसती थी – उत्पादकता और आय को बढ़ाने की सम्भावनाएँ – ताकि घरेलू बाज़ार का विस्तार किया जा सके – बेहद सीमित थीं। लिहाज़ा, बाज़ार के विस्तार के लिए राजकीय ख़र्च में निरन्तर वृद्धि आवश्यक थी। आज़ादी के फ़ौरन बाद भारत का सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि दर को मुख्य शक्ति ख़ुद राज्य ने प्रदान की। राज्य ने पूँजीपतियों को विदेशी मुकाबले से सरंक्षण मुहैया कराकर (विदेशी माल की भारतीय बाज़ार में आमद पर कोटा और चुंगी की दर ऊँची रखकर रोकें लगायीं गयीं) और आयायित वस्तुओं को घरेलू वस्तुओं से स्थानान्तरित करके औद्योगिक माल के लिए बड़ा बाज़ार मुहैया कराया।

आज़ादी के तुरन्त बाद लगभग डेढ़ दशक तक भारतीय बुर्जुआ वर्ग की इस रणनीति ने अपना जलवा दिखाया। इस समय के दौरान विकास दर काफ़ी ऊँची रही, भारत में एक वैविध्यपूर्ण औद्योगिक ढाँचे का निर्माण हुआ, लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था के तेज़ विकास की गति बहुत देर तक बरकरार न रह पायी। कोई भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अपनी विकास दर लगातार कायम नहीं रख सकती। कुछ-कुछ समय बाद संकट का शिकार होना पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अटल नियम है। पूँजीवादी आर्थिक संकट अतिरिक्त उत्पादन का संकट होता है, जो चक्रीय क्रम में बारम्बार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के दरवाज़े पर दस्तक देता रहता है। आज़ादी के बाद निर्मित भारत की पूँजीवाद अर्थव्यवस्था में डेढ़ दशक (1951-65) की तेज़ी के पश्चात पहले आर्थिक संकट ने दस्तक दी। 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध (1965-70) में औद्योगिक विकास दर घटकर 3.3 प्रतिशत रह गयी। इसमें 70 के दशक में मामूली-सा इज़ाफ़ा हुआ और यह 4.4 प्रतिशत हो गयी। इस मन्दी से भारतीय अर्थव्यवस्था 80 के दशक में ही उबर पायी जब 80 के दशक के पूर्वार्द्ध में इसकी औद्योगिक विकास दर औसतन 5.7 प्रतिशत थी और इस दशक के उत्तरार्द्ध में यह बढ़कर औसतन सालाना 8.8 प्रतिशत हो गयी। इस तरह पन्द्रह वर्षों के तेज़ औद्योगिक विकास (1951-65) के बाद अगले पन्द्रह वर्षों (1965-80) के दौरान औद्योगिक विकास में गिरावट आयी। 80 के दशक के शुरू में हालाँकि औद्योगिक विकास दर बढ़ी लेकिन यह पहले पन्द्रह वर्षों (1951-65) के दौरान की विकास दर के आस-पास भी नहीं थी। 80 के दशक के उत्तरार्द्ध में ही औद्योगिक विकास दर और कुल घरेलू उत्पादन में पुनः उभार (Recovery) आया। भारतीय अर्थव्यवस्था में इस पुनःउभार को प्रेरणा (Stimulus) का कोई नया स्रोत नहीं मिला था। निर्यात में इस दौरान कोई ऐसी प्रगति नहीं हुई थी जो कि भारत जैसी बड़ी अर्थव्यवस्था के लिए प्रेरक का काम करे। भारत में घरेलू बाज़ार के फैलाव में रुकावट बने सभी कारक वैसे के वैसे थे। इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रेरणा पहले की तरह राज्य से ही मिली। दरअसल 1980 में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से लिए पाँच मिलियन डालर कर्ज़ के साथ भारत में नवउदारवाद के पहले दौर की शुरुआत होती है। अस्सी से दशक के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था की तीन ऐसी विशेषताएँ थीं जिन्होंने पहले दौर (1965-80) के गतिरोध को तोड़ा। पहली, सरकारी ख़र्च द्वारा अर्थव्यवस्था को दी जाती राजकोषीय प्रेरणा (Fiscal Stimulus) में बड़े स्तर पर वृद्धि होना। दूसरी, आयातों, ख़ासकर पूँजीगत वस्तुओं के आयात, में बड़ा उदारीकरण। तीसरी विशेषता थी, जो कि उक्त दोनों से जुड़ी हुई थी, वह थी उपरोक्त दोनों विशेषताओं के नतीजे के तौर पर बढ़ने वाले राजकोषीय और चालू खाते के घाटे को भरने के लिए राज्य की ओर से साम्राज्यवादी देशों और संस्थाओं से लिए गये कर्ज़ में वृद्धि। आइये, अब भारतीय अर्थव्यवस्था में इन

विशेषताओं की जरा विस्तार से चर्चा करते हैं।

अर्थव्यवस्था को राजकोषीय प्रेरक देने के कारण राष्ट्रीय आय के हिस्से के तौर पर राजकोषीय घाटे में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। केन्द्रीय व राज्य सरकारों का कुल राजकोषीय घाटा 1980 के मध्य में कुल घरेलू उत्पादन के 9.5 प्रतिशत तक पहुँच गया जो कि 1990-91 में बढ़कर 10.1 प्रतिशत हो गया। यह सार्वजनिक निवेश के हिस्से में वृद्धि के कारण नहीं हुआ, बल्कि सार्वजनिक बचतों में कमी के कारण हुआ। इसके चलते सरकार का सालाना राजस्व घाटा (Revenue Deficit) बढ़ा। 1985-86 से 1989-90 के बीच यह कुल घरेलू उत्पादन का 2.8 प्रतिशत था, जो कि 1990-91 में बढ़कर 4.5 प्रतिशत हो गया। अप्रत्यक्ष करों और प्रशासित क़ीमतों में वृद्धि के बावजूद राज्य के चालू ख़र्चे कर और ग़ैर-कर आय को पार कर गये।

इस दशक (1980) की दूसरी नयी विशेषता, बिजली और आटोमोबाइल जैसी ऐशो-आराम की वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूँजीगत वस्तुओं के आयात का उदारीकरण था। आज़ादी के बाद के तीन दशकों में हुए पूँजीवादी विकास की बदौलत यहाँ एक खाता-पीता मध्यवर्ग अस्तित्व में आया था जो साम्राज्यवादी देशों में उत्पादित होने वाले ऐशो-आराम के सामान की तरफ़ ललचायी नज़रों से देख रहा था। भारत की कुल आबादी के मुकाबले भले ही यह वर्ग छोटा ही था, लेकिन अपने आप में यह वर्ग कई यूरोपीय देशों की कुल आबादी से भी बड़ा था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के पास मौजूद तकनोलॉजी इस वर्ग की ज़रूरतें पूरी नहीं कर सकती थी। इसलिए यह ज़रूरी था कि इतनी बड़ी मण्डी को हथियाने के लिए साम्राज्यवादियों से गले मिला जाये और ऐशो-आराम का सामान बनाने वाला उद्योग बढ़ाया जाये। इसके पीछे सरकारी तर्क यह था कि भले ही यह औद्योगिकीकरण आबादी के छोटे हिस्से की ज़रूरतें पूरा करने के लिए होगा, लेकिन इसके साथ जो ऊपर के वर्गों में समृद्धि आयेगी, वह 'रिस-रिसकर' (Trickle down) समाज के ग़रीब तबकों तक भी पहुँचेगी। जैसे कि उदारीकरण के पिछले दो दशकों ने दिखाया है कि समृद्धि 'रिस-रिसकर' नीचे की तरफ़ नहीं आयी। यह सरकारी तर्क वैसे भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के नियम के विरुद्ध हैं। यह नियम है कि जैसे-जैसे पूँजीवाद विकसित होता है अधिक से अधिक धन कुछ हाथों में केन्द्रित होता जाता है और आबादी का बड़े से बड़ा हिस्सा कंगाल होता जाता है।

1980 के उत्तरार्द्ध में आयातों का उदारीकरण निर्यातों की वृद्धि के साथ जुड़ा हुआ नहीं था, बल्कि इसका मुख्य ज़ोर मुख्यत: घरेलू बाज़ार के लिए ऐशो-आराम के सामान का उत्पादन था। 1985-86 में, जो कि इस नीति की आमद का पहला वर्ष था, भुगतान सन्तुलन के घाटे में तीखी वृद्धि हुई और चालू खाते का घाटा बढ़कर कुल घरेलू उत्पादन के 2.26 प्रतिशत तक जा पहुँचा। जैसे ही व्यापार और चालू खाते का घाटा बढ़ा, साम्राज्यवादियों से कर्ज़ लेने में वृद्धि होने के इस दौर की भारतीय अर्थव्यवस्था की तीसरी विशेषता सामने आयी। इसके कारण थोड़े समय बाद कर्ज़ लौटाने (Debt Servicing) की ज़रूरत ने चालू खाते के घाटे को और बढ़ाया। इसका नतीजा और अधिक कर्ज़ लेने में निकला। जैसे ही पुराना कर्ज़ उतारने के लिए नये कर्ज़ की ज़रूरत बढ़ती गयी, कर्ज़ की शर्तें सख़्त होती गयी। कर्ज़ लौटाने की समयावधि कम होती गयी। नतीजे के तौर पर कर्ज़ की वृद्धि दर बढ़ती गयी। 1980 के दशक में भारत पर विदेशी कर्ज़ लगभग चार गुना बढ़ा। 1980 में यह 20 बिलियन डालर था जोकि 1990 में बढ़कर 82 बिलियन डालर हो गया। 1990 तक भारत की कर्ज़ लौटाने के

लिए अदायगियाँ कुल बरामद मूल्य का एक तिहाई हड़पने लगीं।

भारतीय अर्थव्यवस्था के 1965 से 1980 के दौरान के गतिरोध को तोड़ने के लिए भारतीय बुर्जुआज़ी ने 1980 से नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के पहले दौर की शुरुआत की। इन सुधारों की बदौलत अस्थायी तौर पर भले ही अर्थव्यवस्था में तेज़ी आयी, लेकिन फिर वही कहानी दोहरायी गयी जो कि नियम के तौर पर सभी पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में दोहरायी जाती है। एक तरह के संकट से जूझने के लिए बुर्जुआ वर्ग जो नीतियाँ अपनाता है, वह ऊँचे स्तर पर एक और संकट ले आती हैं। सारणी-1 दिखलाती है कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनायी गयी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों की बदौलत 1980 के दशक के दौरान सरकार के आमदनी खाते के घाटे में लगभग 10 गुना अधिक इज़ाफ़ा हुआ। भुगतान सन्तुलन के घाटे में (व्यापारिक खाता + चालू खाता) लगभग तीन गुना और कुल आयातों में तीन गुना से अधिक वद्धि हुई। इस दौरान अमेरिकी डॉलर के मुकाबले में भारतीय मुद्रा के मूल्य में दोगुने से भी अधिक गिरावट आयी। लम्बी मियाद का विदेशी कर्ज़ भी तीन गुना से अधिक बढ़ा।

अस्सी के दशक के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था में जो कुछ घटित हुआ उसे अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों से अलग करके नहीं बल्कि उनके अंग के तौर पर ही समझा जा सकता है। इसलिए इस अरसे के दौरान अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के मंच पर घटित महत्त्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा भी यहाँ प्रासंगिक होगी।

दूसरे विश्वयुद्ध (1939-1945) ने संकटग्रस्त पूँजीवाद को नया जीवन दान दिया था। यूरोप इस जंग में बुरी तरह तबाह हुआ। विश्व चौधरी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सूर्य अस्त हो गया। अब साम्राज्यवादी डाकू गिरोह की बागडोर अमेरिकी साम्राज्यवाद के हाथ में आ गयी। अमेरिका दूसरे विश्वयुद्ध से लगभग दूर रहा था। तबाह हुए यूरोप ने अमेरिकी पूँजी के निवेश के लिए बेशुमार सम्भावनाओं के द्वार खोल दिये। विश्व बाज़ार में अमेरिकी डालर का दबदबा कायम हुआ जो अब भी बरकरार है। दूसरे विश्वयुद्ध की बड़ी स्तर पर तबाही से पूँजी निवेश की जो सम्भावनाएँ पैदा हुईं, उसके चलते विकसित साम्राज्यवादी देशों में कुल घरेलू उत्पादन में रिकार्ड-तोड़ इज़ाफ़ा हुआ। इसका दूसरा कारण यह था कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की विशेष अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों में साम्राज्यवादियों के आपस के अन्तरविरोध अस्थायी तौर पर कुन्द हुए जिसके चलते इन देशों में परस्पर व्यापार और पूँजी निवेश की सम्भावनाएँ बढ़ीं। विश्व स्तर पर कम्युनिस्ट आन्दोलन का उभार भी साम्राज्यवादियों को भयभीत कर रहा था। इन देशों का संगठित मज़दूर वर्ग यहाँ की बुर्जुआ हुकूमतों के लिए चुनौती बन रहा था। इसलिए यहाँ के मज़दूर वर्ग को अधिक रियायतें देना इन देशों के बुर्जुआ हुक्मरानों की मज़बूरी थी। इसी प्रक्रिया के अंग के तौर पर इन देशों में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद कीन्सवादी 'कल्याणकारी राज्य' की नीतियाँ अपनायी गयी थीं। इन सभी कारणों की बदौलत दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विकसित साम्राज्यवादी देशों की विकास दर बहुत ऊँची रही। इसी दौर को पूँजीवाद के 'स्वर्ण युग' के नाम से भी जाना जाता है। लेकिन पूँजी के इस 'स्वर्ण युग' की चमक बहुत देर तक कायम न रह पायी। दो दशकों के पश्चात 1970 का दशक आते-आते इन अर्थव्यवस्थाओं पर मन्दी के बादल मँडराने लगे। विश्व अर्थव्यवस्था में वित्तीय पूँजी की चौधराहट कायम होना, इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

1970 के दशक की शुरुआत में अन्तरराष्ट्रीय निजी वित्तीय संस्थाओं के अतिरिक्त वित्त को तीसरी दुनिया के देशों की ओर भेजने में सीमित भूमिका ही थी। 'विकासशील' पूँजीवादी

सारणी-1: बजट व भुगतान संतुलन के सूचक

	1980-81	1990-91 (करोड़ रु.)
बजट घाटा		
राजस्व खाता	1775	18580
भुगतान सन्तुलन घाटा		
व्यापारिक खाते में	5967	12414*
चालू खाते में	1657	11382*
आयात		
कुल	12549	43190
पूँजीगत वस्तुएँ	1910	10470
विनिमय दर		
प्रति डालर रुपया	7.9	17.95
लम्बी अवधि का विदेशी कर्ज़		
कुल (बिलियन अमेरिकी डालर)	18.7	57.3

* नोट: 1989-90 के लिए, विनिमय दर दिसम्बर अन्त से सम्बन्धित, उदाहरण के लिए, 1980-81 के लिए दिसम्बर 1980
स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण 1992-93, भारत सरकार।

देशों में पूँजी का बहाव मुख्यत: द्विपक्षीय और बहुपक्षीय सरकारी साधनों के ज़रिये ही संचालित होता था। 1973 के पहले तेल झटके (Oil Shock) के बाद स्थिति में नाटकीय परिवर्तन आया। ओपेक देशों (तेल निर्यातक देशों का संगठन) को तेल से हासिल मुनाफ़े अधिकतर साम्राज्यवादी देशों की बैंकों में ही जमा हुए। 1981 तक देशों ने लगभग 475 बिलियन डालर कमाये, जिनमें से 400 बिलियन डालर विकसित पूँजीवादी देशों के बैंकों में जमा थे। इसलिए इन डालरों को कर्ज़ के रूप में देने में अब इन निजी बैंकों की भूमिका बढ़ी। इस समय तक विकसित पूँजीवादी देशों में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की तेज़ी ख़त्म हो चुकी थी। औद्योगिक विकास की दर धीमी थी। तेल झटकों (1973, 1980) ने इन अर्थव्यवस्थाओं की हालत और भी बिगाड़ दी थी। ऐसे समय में वित्तीय पूँजी की ताक़त में वृद्धि और भी महत्त्वपूर्ण थी। विश्व उत्पादन के अनुपात में अन्तरराष्ट्रीय बैंक कर्ज़े 1964 में 0.7 प्रतिशत से बढ़कर 1980 में 8 प्रतिशत और 1991 में 16.3 प्रतिशत हो गये। (विश्व बैंक, वर्ल्ड डेटा टेबल्स)

1970 के दशक में अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में तरलता बढ़ने में दो कारकों ने भूमिका अदा की। पहला था, ब्रेटन वुड्स के वर्षों के दौरान अमेरिका की अन्तरराष्ट्रीय देनदारियों में बड़ा इज़ाफ़ा हुआ। इन देनदारियों में वियतनाम जंग का ख़र्च और विश्व के अन्य देशों पर चौधराहट जमाने, विश्व पुलिसिये की भूमिका निभाने पर हुए ख़र्च भी शामिल हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिकी साम्राज्यवाद की चौधराहट स्थापित होने के बाद डालर को सोने के समान समझा जाने लगा था। डालर की इस चौधराहट के कारण अमेरिका राष्ट्रीय बजट की परवाह किये बिना अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर ख़र्च करता गया। नतीजा 1970 के दशक के मध्य में अमेरिकी बजट घाटा बढ़ने में सामने आया।

दूसरा कारण यह था कि 1990 से ही अमेरिका की औद्योगिक प्रतिस्पर्द्धा क्षमता घटने के कारण, विश्व में विदेशी मुद्रा भण्डार के रूप में एकमात्र मान्यता प्राप्त मुद्रा के रूप में डालर ने अपनी हैसियत वक़्ती तौर पर खो दी। नतीजे के तौर पर अन्य मुद्राओं की सौदेबाज़ी होने लगी। ऐसी सट्टेबाज़ी ब्याज़ दरों और विनिमय दरों की विभिन्नताओं से ख़ूब फायदा लेती है।

इसका नतीजा सरहदों के आर-पार पूँजी के बेहद अस्थिर बहाव में निकला। 1990 के दशक का मध्य आते-आते अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय बाज़ारों में मुद्राओं का लेन-देन रोज़ाना 1.2 ट्रिलियन डालर हो गया जो कि एक तिमाही में होने वाले विश्व व्यापार के बराबर था। 1980 के शुरू में घरेलू और विदेशी निवासियों के बीच बॉण्ड्स और सिक्योरिटीज़ का लेन-देन, अमेरिका, जापान और जर्मनी में कुल घरेलू उत्पादन का लगभग 10 प्रतिशत था। 1993 तक यह आँकड़ा अमेरिका के लिए 135 प्रतिशत, जर्मन के लिए 170 प्रतिशत और जापान के लिए 80 प्रतिशत हो गया। विकसित देशों में वित्तीय उदारीकरण ने तरलता में और इज़ाफ़ा किया। एक तो इसके साथ बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को कर्ज़ देने और निवेश करने के लिए अधिक छूट मिली और साथ ही हेज फण्ड (Hedge Fund) जैसी संस्थाओं का फैलाव हुआ, जो बैंकों की तरह विनियमित नहीं थीं। इसने 'सिक्योरिटाइजेशन' या कर्ज़ से अधिक स्टॉक्स और बाण्ड्स के रूप में वित्तीय पूँजी के प्रवाह को तेज़ किया और नये वित्तीय औजार या स्वॉप्स (Swaps), ऑप्शन्स और फ्यूचर्स (देखें : नोट) जैसे डेरिवेटिव अस्तित्व में आये।

अन्तरराष्ट्रीय तरलता में बड़े स्तर पर इज़ाफ़े ने बैंकों और ग़ैर बैंक वित्तीय संस्थाओं को अपनी पूँजी के प्रवाह को चलता रखने की दौड़ को जन्म दिया। पहले तो इसने विकसित पूँजीवादी देशों में उपभोक्ता कर्ज़ और मकान निर्माण कर्जों में तेज़ी (Boom) पैदा की, लेकिन जब वित्तीय पूँजी के लिए अवसर धीरे-धीरे ख़त्म होने लगे तो वित्तीय पूँजी तीसरी दुनिया की तथाकथित उभरती अर्थव्यवस्थाओं में सम्भावनाएँ तलाशने लगी। वित्तीय पूँजी का बहाव इन देशों की तरफ़ बढ़ने लगा। सबसे पहले साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी की आमद उन देशों में बढ़ी जिन्होंने सरहद के आर-पार पूँजी प्रवाह के लिए नियम-क़ानून जल्दी बदल लिए। तीसरी दुनिया के देशों ने सत्तर, अस्सी और नब्बे के दशकों के दौरान अधिक से अधिक नवउदारवादी नीतियाँ अपनायीं। साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थाओं ने कर्ज़ के साथ बड़े बजट घाटे उठाकर अपनी गतिरोधग्रस्त अर्थव्यवस्थाओं को गति प्रदान की। इसी रोशनी में भारतीय अर्थव्यवस्था में 1980 के दशक में पुन:उभार देखा जा सकता है। अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में वित्तीय पूँजी के दबदबे के कारण भारतीय बुर्जुआ वर्ग यहाँ की अर्थव्यवस्था को वित्तीय प्रेरक देने के लिए अधिक से अधिक विदेशी कर्ज़ पर निर्भर होती गयी। सरकार के ख़र्च तो बढ़ते गये लेकिन करों से आमदनी नहीं बढ़ी। बड़े घाटे उठाकर, सरकारी बजट के आमदनी खाते के घाटे सहित, अर्थव्यवस्था को वित्तीय प्रेरक मुहैया करवाये गये। ऐसे सरकारी ख़र्चों के कारण पैदा हुई माँग की पूर्ति आयातित पूँजीगत वस्तुओं की मदद से घरेलू उद्योग ने की। घरेलू उत्पादन के लिए आयातों पर निर्भरता बढ़ी। इन आयातों के लिए विदेशी मुद्रा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, साम्राज्यवादी देशों के बैंकों से आसानी से उपलब्ध हो सकती थी और भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने कर्ज़ के रूप में मुद्रा बड़े स्तर पर हासिल की। नतीजतन कर्ज़ का पहाड़ बड़ा होता गया। लगातार बढ़ते विदेशी कर्ज़ ने, जिसका बड़ा हिस्सा थोड़ी मियाद के कर्ज़ थे, भारतीय अर्थव्यवस्था को मुद्रा सट्टेबाज़ी के लिए उर्वर बना दिया जिसके साथ साम्राज्यवादी निवेशकों का भारतीय अर्थव्यवस्था में 'विश्वास संकट' पैदा हुआ। इसका नतीजा 1990-91 के भुगतान सन्तुलन के संकट में निकला। इस समय मुद्रास्फीति तेज़ी से बढ़ी, जिसकी मुख्य वजह मुद्रा की सट्टेबाज़ी और विदेशी निवेशकों ख़ासकर ग़ैर-निवासी भारतीयों द्वारा भारत में से अपनी पूँजी निकालना था। साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थाओं द्वारा भारत को कर्ज़ देना बन्द करने के साथ, भुगतान सन्तुलन का संकट पैदा हुआ।

यही वे परिस्थितियाँ हैं जिनमें भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक द्वारा तैयार किया गया नवउदारवादी कार्यक्रम अपनाया। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक के नीति-निर्माताओं और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के देशी समर्थकों ने 1990-91 के भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट की अपने ढंग से व्याख्या की। उनका कहना था कि इस संकट की पहली वजह तो अर्थव्यवस्था में हिस्सेदार और विनियामक (Regulator) के तौर पर सरकार का अस्तित्व था। दूसरी वजह थी, अधिक सरकारी कर्ज़ और नतीजतन बड़ा राजकोषीय घाटा। तीसरा कारण था, अर्थव्यवस्था का अधूरा उदारीकरण जिसके कारण भारतीय निर्यात तेज़ी से नहीं बढ़ पाये। इस तरह भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण के दूसरे बड़े दौर की शुरुआत हुई। अब सार्वजनिक क्षेत्र को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करना, सार्वजनिक सब्सिडियों में कटौती के ज़रिये राजकोषीय घाटा कम करना, विदेशी माल की भारत में आमद से कोटा व महसूल ख़त्म करना, देशी और विदेशी पूँजी के बढ़ने-फूलने की राह की सभी रुकावटें दूर करना, भारतीय बुर्जुआ वर्ग के एजण्डे पर सबसे ऊपर थीं। इन नीतियों के कुल जमा-जोड़ को नरसिम्हा राव-मनमोहन सिंह जोड़ी द्वारा 1991 में नयी आर्थिक नीति का नाम दिया गया।

नयी आर्थिक नीति की रूप रेखा

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की देखरेख में 1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के दूसरे दौर की शुरुआत हुई। 1991 में भारतीय हुक्मरान वर्ग द्वारा अपनायी गयी आर्थिक नीति विश्व बैंक के 'ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम' ख्ैजतनबजनतंस ।करनेजउमदज च्तवहतंउउम ब्ैाच्द्ध, पर आधारित थी।

1985 में विश्व बैंक ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर समग्रतापूर्ण खोज करवायी थी, जिसके निर्देशक राबर्ट जे. एण्डरसन और गेरी पुशेल थे। इस अध्ययन के आधार पर राबर्ट जे. एण्डरसन ने 30 नवम्बर, 1990 को भारत सरकार को एक ज्ञापन सौंपा जिसमें विश्व बैंक के 'ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम' के सभी तत्त्व मौजूद थे।

भारतीय अर्थव्यवस्था की 'कमाण्डिंग हाइट्स' से अब सार्वजनिक क्षेत्र को उतारकर निजी क्षेत्र को बिठाने का समय आ गया था। अर्थव्यवस्था में सरकार की मौजूदगी को अब देशी-विदेशी पूँजी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थी। सरकार के राजकोषीय घाटे को पूरा करने और इसी तरह निर्यात बढ़ाकर भुगतान सन्तुलन के घाटे को घटाना, बड़ा विदेशी मुद्रा भण्डार जमा करने को ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम में केन्द्रीय स्थान दिया गया।

सरकार के राजकोषीय घाटे, जो 1990-91 में कुल घरेलू उत्पादन में 8.3 प्रतिशत तक पहुँच गया था, को थोड़े समय में घटाकर 3-4 प्रतिशत तक लाने का लक्ष्य तय किया गया। राजकोषीय घाटा कम करने में सरकार की राह में कुछ 'रुकावटें' थीं। पहली 'रुकावट' तो यह थी कि 1980 के दशक में सरकारी कर्ज़ ऐसी सख़्त शर्तों पर लिया गया था कि 1991-92 में केन्द्र सरकार के ख़र्चे का एक तिहाई हिस्सा इस कर्ज़ का ब्याज़ चुकाने में ही चला जाता था। यह सरकारी ख़र्च कर्ज़ घटने के साथ ही घट सकता था। लेकिन इस समय जो वित्तीय उदारीकरण की नीतियाँ सरकार की कार्य-सूची में थीं उनके तहत सरकार को और भी महँगा कर्ज़ मिलना था। दूसरा, नयी आर्थिक नीतियों के तहत देशी-विदेशी पूँजीपतियों पर

सीधे टैक्स बढ़ाना सरकार की कार्य-सूची से ग़ैर-हाज़िर था, क्योंकि इसकी वजह से निजी क्षेत्र के पूँजी निवेश के लिए 'उत्साह धीमा' पड़ता था। इन ख़ुद ही पैदा की गयी 'रुकावटों' के कारण राजकोषीय घाटा घटाने के लिए पूँजीवादी हुक़्मरानों ने संकट का सारा बोझ साधारण जनता के सिर मढ़ने की तैयारी कर ली। अब राजकोषीय घाटा सार्वजनिक सब्सिडियों पर कटौती करके और 'सार्वजनिक क्षेत्र' को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करके घटाया जाना था।

आइये, अब, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में नयी आर्थिक नीति के तहत हुए सुधारों की चर्चा की ओर लौटते हैं।

1. नयी आर्थिक नीति :

नयी आर्थिक नीति के तहत औद्योगिक नीति के तीन अहम पक्ष थे। पहला था, निजी क्षेत्र द्वारा नये उद्योग लगाने या पहले से चल रहे उद्योगों की क्षमता बढ़ाने के लिए सरकारी लाइसेंस लेने की ज़रूरत का ख़ात्मा और अब तक 'सार्वजनिक क्षेत्र' के लिए आरक्षित क्षेत्रों में भी निजी उद्योग लगाने की छूट देना। इस नि:आरक्षण और 'लाइसेंस राज' के ख़ात्मे का ही नतीजा यह है कि 1997-98 तक सिर्फ़ नौ उद्योग थे जिनमें निजी क्षेत्र के दाख़िले को विनियमित किया गया था। अब देशी पूँजीपतियों को अनेकों उद्योगों (जो कि पहले विनियमित थे) में पूँजी लगाने की छूट मिली।

नयी औद्योगिक नीति का दूसरा पक्ष था, एकाधिकार व्यवहार रोकधाम क़ानून (MRTP) की धाराओं को नर्म करना, ताकि बड़े पूँजीपति समूहों से औद्योगिक विस्तार की रोकें हटायी जा सकें। 1991 से पहले एक ख़ास आकार (1985 में यह 100 करोड़ रुपये तय हुआ था) से बड़ी फर्में उपरोक्त क़ानून के दायरे में आती थीं और इनमें पूँजी निवेश के लिए विशेष प्रवानगी लेनी पड़ती थी। एम.आर.टी.पी. संशोधन क़ानून के तहत ऐसी सभी रोकें हटा दी गयीं। इस क़ानून का कोई मतलब नहीं रह गया था।

नयी औद्योगिक नीति का तीसरा पक्ष था, विदेशी निवेश के देश में आमद-सम्बन्धी नियमों का उदारीकरण। इस दिशा में पहला कदम था 51 प्रतिशत तक पूँजी निवेश को ऑटोमैटिक मंजूरी या प्रत्येक मामले में मंजूरी लेने से छूट। बाद में, विदेशी मुद्रा विनियमन क़ानून, फेरा (Foreign Exchange Regulation Act) में बदलाव किया गया कि वे कम्पनियाँ जिनमें विदेशी हिस्सेदारी 40 प्रतिशत से अधिक होगी, के साथ भारतीय कम्पनियों जैसा ही व्यवहार किया जायेगा। ग़ैर-निवासी भारतीयों और विदेशों में उनके स्वामित्व वाले कारोबारों को उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों में 100 प्रतिशत निवेश की छूट दी गयी। और इन्हें पूँजी वापस अपने देश ले जाने की भी अधिक छूट दी गयी। विदेशी निवेशकों को देश के भीतर अपने ट्रेडमार्क इस्तेमाल करने की छूट दी गयी। सरकार द्वारा नये बनाये गये विदेशी निवेश बोर्ड ने विदेशी निवेश के प्रस्तावों को धड़ाधड़ मंजूरी दी और कई क्षेत्रों में तो 100 प्रतिशत विदेशी निवेश को छूट दी। बाद में कुछ क्षेत्रों में 51 प्रतिशत से अधिक विदेशी पूँजी निवेश को ऑटोमैटिक मंजूरी दी गयी। उदाहरण के तौर पर दवा उद्योग में 100 प्रतिशत तक निवेश की ऑटोमेटिक मंजूरी की छूट दी गयी। इसके अलावा विलयों और अधिग्रहणों (Mergers and Acquisitions) सहित उनके जिनमें विदेशी फर्मों की भागीदारी होती थी, को भी टैक्स राहतें

और अन्य सहूलियतें दी गयीं।

2. नयी व्यापार नीति

नयी व्यापार नीति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पड़ाव-दर-पड़ाव निर्यातों का उदारीकरण था। इसलिए विदेशी माल से कोटा, चुंगी, लाइसेंस, जैसी रोकों का धीरे-धीरे ख़ात्मा करना था। इनमें से बहुत सारी रोकें अब तक ख़त्म की जा चुकी हैं। 1990 में विदेशी माल पर चुँगी की उच्चतम दर 300 प्रतिशत थी, जो कि 2001 में घटकर 40 प्रतिशत रह गयी थी। शुरू में सभी क्षेत्रों के लिए चुंगी घटायी (Tax deduction) एकसमान नहीं थी। सबसे पहले पूँजीगत वस्तुओं से बड़े स्तर पर महसूल घटाया गया। इन वस्तुओं को 'ओपन जनरल लाइसेंस' श्रेणी में रखा गया। इस श्रेणी में वे माल शामिल किये गये जिनके आयात के लिए लाइसेंस की ज़रूरत नहीं थी, बस निर्धारित चुंगी की अदायगी के ज़रिये ही इन सभी वस्तुओं का भारतीय बाज़ार में दाख़िला हो सकता था। और उन पूँजीगत वस्तुओं, जिनके आयात के साथ निर्यात बढ़ सकता था, पर चुंगी ख़त्म कर दिया गया। उपभोक्ता सामग्रियों के आयात पर शुरू में तो आयात-सम्बन्धी पाबन्दियाँ कायम रहीं, लेकिन 20वीं सदी का अन्त होते-होते इनके आयात को भी उदार बनाया गया।

3. कृषि क्षेत्र के सुधार

नयी आर्थिक नीति में कृषि क्षेत्र के सुधारों का कोई व्यवस्थित कार्यक्रम नहीं था। लेकिन इस क्षेत्र में भी नवउदारवादी दौर में बड़े बदलाव हुए। नयी आर्थिक नीति के तहत भारत के कृषि क्षेत्र को अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार के मुकाबले के लिए खोला गया। कृषि क्षेत्र में सरकारी निवेश कम हुआ। कृषि सब्सिडियों पर पड़ाव-दर-पड़ाव कटौती हुई। देश के भीतर विभिन्न राज्यों के बीच कृषि मालों के व्यापार पर पाबन्दियों को उदार बनाया गया और ख़त्म किया गया। कृषि मालों के विदेशी व्यापार का उदारीकरण किया गया। पहले तो कृषि मालों के निर्यात से रोकें हटायी गयीं और फिर कृषि वस्तुओं के आयात से कोटा रोकें हटा ली गयीं। कई कृषि मालों के आयात को निजी हाथों में दे दिया गया। भारत के कृषि क्षेत्र पर इन नवउदारवादी नीतियों के प्रभाव की हम आगे चलकर चर्चा करेंगे।

4. वित्तीय क्षेत्र के सुधार :

बैंकिंग क्षेत्र में जो भारतीय वित्तीय व्यवस्था में हावी हैसियत रखता है नयी आर्थिक नीतियों के तहत मुख्य रूप से तीन तरह के सुधार किये गये। पहला था, ऐसे कदम उठाने जिनके साथ बैंकों की कर्ज़ देने की क्षमता बढ़े। इन कदमों में क़ानूनी तरलता और नकद रिज़र्व अनुपात में कमी करना और साथ ही बैंकों में तरलता को इस्तेमाल करने की अधिक छूट देना। इसके साथ ही बैंकों में जमा होने वाली मुद्रा और कर्जों दोनों पर से ब्याज दरें तय करने की छूट दी गयी।

वित्तीय क्षेत्र के सुधारों में दूसरा पक्ष था बैंकिग क्षेत्र में निजी क्षेत्र का दाख़िला। राष्ट्रीकृत बैंकों, भारतीय स्टेट बैंक सहित, को अपने हिस्से निजी क्षेत्र को बेचने की मंजूरी दी गयी। निजी निवेशकों को बैंकिग क्षेत्र में निवेश करने की मंजूरी दी गयी। विदेशी बैंकों को घरेलू

बाज़ार में दाख़िले की छूट दी गयी।

इसका तीसरा पक्ष था, बैंकों को अपनी परिसम्पत्तियाँ तय करने की छूट दी गयी। बैंकों को शेयर बाज़ार में निवेश करने की छूट दी गयी। बैंकिग क्षेत्र के सुधारों के साथ-साथ वित्तीय बाज़ारों का उदारीकरण किया गया। इसके तहत कैपिटल इशू (कण्ट्रोल) क़ानून, 1947 और कण्ट्रोलर ऑफ कैपिटल इशू, विभाग का ख़ात्मा किया गया। नये बनाये गये 'सिक्योरिटीज़ एण्ड एक्सचेंज बोर्ड ऑफ इण्डिया' (सेबी) के नियमों और दिशा-निर्देशों के तहत, कम्पनियाँ वित्तीय बाज़ार में से खुलकर वित्त हासिल कर सकती थीं। चुनिन्दा भारतीय कम्पनियों को अन्तरराष्ट्रीय पूँजी बाज़ारों तक पहुँच की छूट दी गयी। कई ग़ैर बैंकिंग वित्तीय कम्पनियों, निजी म्युचल फण्ड कम्पनियों सहित, को काम करने की छूट दी गयी। ग़ैर-निवासी भारतीयों के निवेश सम्बन्धी क़ानूनों में ढील दी गयी, विदेशी संस्थागत निवेशकों को भारतीय शेयर बाज़ार में नाम दर्ज करवाने और निवेश करने की छूट दी गयी।

5. मुद्रा विनिमय दर नीति में सुधार

इस क्षेत्र में सरकार पड़ाववार प्रशासित विनिमय से, रुपये के बाज़ार द्वारा तय की जाने वाली विनिमय दर की तरफ़ बढ़ी जिसमें चालू खाते के लेन-देन में भारतीय मुद्रा पूरी तरह परिवर्तन योग्य थी। 1997-98 में दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के संकट के समय तक, भारत सरकार रुपये को पूरी तरह परिवर्तन योग्य बनाने पर उतारू थी। उपरोक्त संकट ने भारत सरकार के पूँजीगत खाते को पूरी तरह परिवर्तन-योग्य बनाने के फैसले को टाल दिया। लेकिन धीरे-धीरे इसकी कई धाराओं को ज़रूर नरम बनाया गया। वित्तीय क्षेत्र में सुधारों का एक नतीजा भारत के विदेशी संस्थागत निवेशकों और ग़ैर-निवासी भारतीयों के कम मियाद के अस्थिर निवेशों और ग़ैर-निवासी भारतीयों द्वारा कम मियाद के लिए भारत में जमा करवायी अस्थिर पूँजी पर निर्भरता बढ़ी। इसके साथ ही रुपये का मूल्य तय करना बाज़ार की शक्तियों के हवाले कर दिया गया। सरकार अब सिर्फ़ केन्द्रीय बैंक के ज़रिये विदेशी मुद्रा ख़रीदने और बेचने के ज़रिये ही रुपये के मूल्य को प्रभावित कर सकती थी। अब ख़र्च, ब्याज दरें, विनिमय दरें आदि घरेलू नीतियाँ तय करने में विदेशी निवेशकों की पसन्द-नापसन्द का अधिक ख़याल रखा जाने लगा।

नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के तहत भारतीय अर्थव्यवस्था की कारगुजारी

1965-80 के गतिरोध को तोड़ने के लिए भारतीय हुक्मरानों ने 1980 में भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के पहले दौर की शुरुआत की थी। जिसके साथ एक दशक तो भारतीय अर्थव्यवस्था में तेज़ी रही, लेकिन यह दशक ख़त्म होते-होते फिर से भारतीय अर्थव्यवस्था एक नये संकट में घिर गयी। जून 1991 में जब कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चे वाली सरकार ने अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक द्वारा निर्देशित 'नयी आर्थिक नीतियों' की शुरुआत की तब भारत अपनी अन्तरराष्ट्रीय देनदारियों के मामले में दिवालिया होने की कगार पर था। यहाँ तक कि इसे छोटे-मोटे कर्ज़ लेने के लिए सोना विदेशों को भेजना पड़ा। 1989-91 के दौरान अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा भारत को दी गयी 'मदद', कारोबारियों द्वारा

भारतीय अर्थव्यवस्था में पूँजी निकालने के चलते, छू-मन्तर हो गयी। भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपनायी गयी 'नयी आर्थिक नीति' का मुख्य ज़ोर ऊँची आर्थिक वृद्धि दर हासिल करने पर थी। 1991 में जब 'नयी आर्थिक नीति' अपनायी गयी तो भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर में गिरावट आयी, जबकि इसी समय मुद्रास्फीति तेज़ी से बढ़ी। (देखें : चित्र 1 और 2)

7बाद में 1990 के दशक के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था की औसत वृद्धि दर में और तेज़ी आयी और पाँच वर्ष तक यह वृद्धि दर रिकॉर्ड 8 प्रतिशत रही और बाद में विश्व आर्थिक संकट के प्रभाव में भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर फिर नीचे आने लगी और 2005 से मुद्रास्फीति की दर में भी उछाल आने लगा। उपरोक्त पाँच वर्षों की तेज़ विकास दर को देखकर सरकार और उदारीकरण के समर्थक बुद्धिजीवियों ने दावा किया कि नये दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर दो अंकों में होगी। लेकिन उनकी उम्मीद पूरी न हुई क्योंकि यह वृद्धि दर समाज के समृद्ध हिस्सों के उपभोग और निर्यातों पर आधारित थी और भारत के निर्यात विश्व अर्थव्यवस्था की अच्छे स्वास्थ्य पर निर्भर हैं। लेकिन 2007 से भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वास्थ्य लगातार बिगड़ता जा रहा है और अब विश्व अर्थव्यवस्था का संकट भारत को भी अपनी चपेट में ले रहा है। और समाज के खुशहाल हिस्सों का उपभोग भारतीय अर्थव्यवस्था के बढ़ने-फूलने की उम्मीदों पर निर्भर करता है और जब अर्थव्यवस्था के मन्दी की ओर बढ़ने की सम्भावनाएँ दिखायी देने लगती हैं तो यह उपभोग भी तेज़ी से घटता है। इन दिनों भारतीय अर्थव्यवस्था में यही कुछ घटित हो रहा है।

सारणी-2 दिखलाती है कि देशी-विदेशी पूँजी को अनेकों सहूलियतें दिये जाने के बावजूद अर्थव्यवस्था में 1991 के बाद निवेश दर में गिरावट आयी और 2003-04 में जाकर ही इसमें वृद्धि शुरू हुई। कुछ घरेलू बचतें 1991 के पश्चात लगभग स्थिर रहीं और इनमें से भी 2003-04 में वृद्धि हुई। इसके दौरान निर्यातों में भले ही वृद्धि हुई लेकिन आयात अधिक तेज़ी से बढ़े (इस पर हम आगे चलकर चर्चा करेंगे)। 1990-91 से 2007-08 के दरमियान कुल घरेलू उत्पादन में कृषि और सहायक धन्धों के हिस्से में तीखी गिरावट आयी, उद्योग का हिस्सा लगभग स्थिर रहा, जबकि सेवा क्षेत्र के हिस्से में बड़ी वृद्धि हुई है। सारणी-3, 2002 में कुछ विकास सूचकांकों के तहत विश्व में भारत का स्थान दिखलाती है।

आइये, अब नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था के कुछ प्रमुख क्षेत्रों की कारगुजारी पर एक नज़र डालते हैं।

1. मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर

नवउदारवादी नीतियों के अन्तर्गत तेज़ आर्थिक विकास दर हासिल करने के लिए भारतीय हुक्मरानों ने मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर के विकास पर विशेष उम्मीदें टिकाईं। निजी कॉरपोरेट सेक्टर को, जिसे राजकीय सरपरस्ती हासिल थी, इस विकास अभियान का हिरावल बनाया गया। प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश को छूट दी गयी, आज़ाद बहुपक्षीय व्यापार प्रबन्ध के अन्तर्गत मैन्यूफैक्चरिंग उत्पादों के निर्यात को छूट दी गयी और अवरचनागत ढाँचे में पूँजी निवेश बढ़ाया गया। निजी कॉरपोरेट सेक्टर संगठित मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर के बड़े हिस्से को नियन्त्रित करने और संचालित करने लगा। बाद में मैन्यूफैक्चरिंग से कुल घरेलू उत्पादन में संगठित मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर का हिस्सा बढ़ा। 2007-08 में यह 67.45 प्रतिशत था। इस क्षेत्र के

कॉरपोरेट घरानों को सरकार की ओर से अनेकों सहूलियतें प्रदान की गयीं जिनमें कुछ की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। जैसे कि सार्वजनिक क्षेत्र और छोटे उद्योगों के लिए आरक्षित उद्योगों को भी निजी कारपोरेट सेक्टर के लिए खोला गया। लाइसेंस राज का ख़ात्मा किया गया। उद्योग के स्थान, तकनोलॉजी, क़ीमतों आदि के बारे में फैसला लेने की निजी कारोबारियों को छूट दी गयी। टैक्स राहतों, पूँजीगत वस्तुओं का खुला आयात, पूँजी बाज़ार, बैंकों, वित्तीय संस्थाओं, विदेशी कर्ज़ लेने आदि की छूटों के अलावा, विशेष आर्थिक क्षेत्र स्थापित करने, उद्योग लगाने के लिए भूमि अधिग्रहण आसान बनाया गया। इस सभी परिवर्तनों का नतीजा क्या निकला? यह सारणी-4 से देखा जा सकता है।

चित्र-1 :

भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर (शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद) 1990 से 2008-09

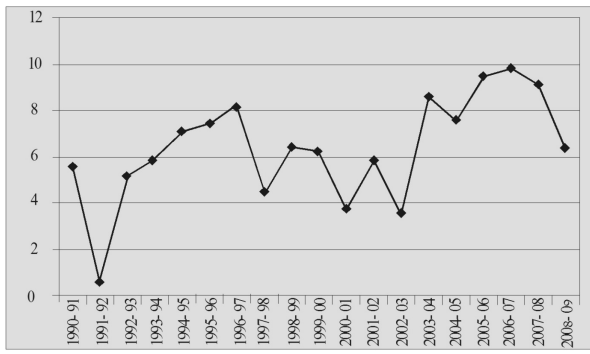

स्रोत - रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, हैण्डबुक आफ़ सटेटिस्टिक्स ऑफ़ इण्डियन इकानमी, 2004, 2009

सारणी-4 से देखा जा सकता है कि नवउदारवाद के पिछले दो दशकों के दौरान भारत के मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर की विकास दर काफ़ी उतारों-चढ़ावों से भरी रही है। 1990-91 में इसमें तेज़ इज़ाफ़ा दिखायी देता है, लेकिन उसके बाद तीखी गिरावट नज़र आती है। बाद में यह डाँवाडोल रहते हुए आगे बढ़ती है और 2004-2005 में इसमें तेज़ी आती है। 2008-09 में यह अपने शिखर पर जा पहुँचती है। और इसके बाद भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व आर्थिक संकट के भँवर में जा फँसती है। 2011-12 में मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर की विकास दर फिर तेज़ी के साथ गिरती है। नवउदारवादी नीतियों के पिछले दो दशकों के दौरान भारत में मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर में जो तेज़ी आयी वह मुख्यत: भारत में विश्व बाज़ार पर बढ़ी हुई निर्भरता का ही नतीजा थी। सारणी-5 से देखा जा सकता है कि मैन्यूफैक्चरिंग से हासिल कुल घरेलू उत्पादन के प्रतिशत के तौर पर भारत में मैन्यूफैक्चरिंग निर्यातों में तो तेज़ वृद्धि हुई ही लेकिन आयात उससे भी अधिक तेज़ी से बढ़े।

चित्र-2

वार्षिक मुद्रा स्फीति (थोक कीमत सूचक अंक) 1985 से 2009

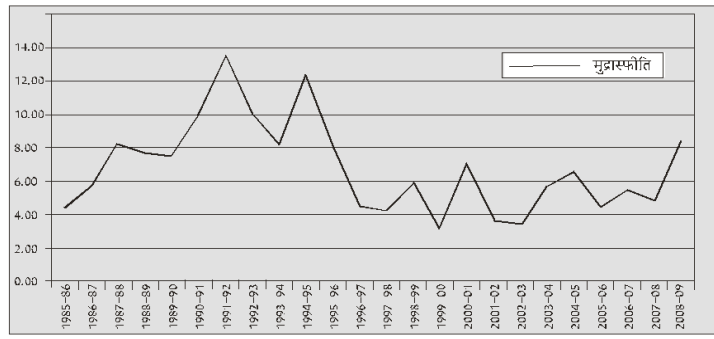

स्रोत - उपरोक्त

सारणी-5 दिखलाती है कि 1990-91 में भारत कुल मैन्यूफैक्चरिंग घरेलू उत्पाद का 28.

सारणी 2 : भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न सूचक (कुल घरेलू उत्पादन के % के तौर पर)

वर्ष	बचतें (कुल घरेलू बचतें)	निवेश (कुल घरेलू पूँजी निर्माण)	निर्यात	आयात	प्रत्यक्ष टेक्स	अप्रत्यक्ष टेक्स	कुल टेक्स	कृषि व अन्य सहायक धंधे	उद्योग	सेवा क्षेत्र
1985- 86	19.0	21.2	4.1	7.5	2.25	13.32	15.56	34.96	18.53	46.52
1986- 87	18.4	20.5	4.2	7.2	2.21	13.71	15.92	33.38	18.97	47.66
1987- 88	20.2	22.1	4.6	7.2	2.11	13.97	16.08	31.72	19.34	48.93
1988- 89	20.5	23.4	4.9	8.1	2.31	13.56	15.88	33.30	19.24	47.46
1989- 90	21.8	24.3	5.8	8.3	2.3	13.68	15.98	31.75	19.72	48.53
1990- 91	22.8	26.0	5.8	8.8	2.16	13.27	15.43	31.37	19.80	48.83
1991- 92	21.5	22.1	6.9	7.9	2.55	13.25	15.8	30.32	19.46	50.21
1992- 93	21.2	23.1	7.3	9.6	2.59	12.66	15.26	30.69	19.07	50.23
1993- 94	21.9	22.5	8.2	9.7	2.53	11.67	14.19	30.01	19.40	50.60
1994- 95	24.4	25.5	8.3	11.1	2.85	11.75	14.60	27.34	21.24	51.43
1995- 96	24.4	26.2	9.1	12.3	3.01	11.74	14.75	29.53	20.13	50.33
1996- 97	22.7	24.0	8.8	12.6	3	11.69	14.69	27.83	21.23	50.94
1997- 98	23.8	25.3	8.7	12.5	3.32	11.17	14.49	26.00	20.77	53.23
1998- 99	22.3	23.3	8.2	11.4	2.82	10.56	13.38	25.91	20.16	53.93
1999- 00	24.8	25.9	8.3	12.3	3.12	10.95	14.07	24.99	19.60	55.40
2000- 01	23.7	24.3	9.9	12.6	3.41	11.11	14.52	23.89	19.99	56.12
2001- 02	23.5	22.8	9.4	11.8	3.21	10.59	13.8	23.99	19.33	56.68
2002- 03	26.4	25.2	10.6	12.7	3.56	10.96	14.51	21.43	19.88	58.69
2003- 04	29.8	28.2	11	13.3	3.98	11.06	15.03	21.72	19.42	58.86
2004- 05	31.8	32.2	12.1	16.9	4.35	11.34	15.7	20.20	19.61	60.19

स्रोत – रिजर्व बैंक आफ़ इण्डिया, हैण्डबुक आफ स्टेटिस्टिक्स व इण्डिया पब्लिक फाइनेंस स्टेटिस्टिक्स।

60 प्रतिशत निर्यात करता था, जबकि 2008-09 में यह आँकड़ा बढ़कर 71.76 प्रतिशत हो गया। इस अरसे के दौरान मैन्यूफैक्चरिंग आयात, कुल मैन्यूफैक्चरिंग घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के तौर पर 37.90 प्रतिशत से बढकर 115.52 प्रतिशत हो गये। 2008-09 में भारत के मैन्यूफैक्चरिंग निर्यात, मैन्यूफैक्चरिंग आयातों का 62.12 प्रतिशत थे। यह आँकड़े दिखलाते हैं कि पिछले दो दशकों के दौरान भारत का औद्योगिक क्षेत्र किस हद तक अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर निर्भर हो गया और भारतीय अर्थव्यवस्था किस तरह वैश्वीकृत हो चुकी है जो अब अन्तरराष्ट्रीय उतारों-चढ़ावों से विलग नहीं रह सकती।

2. नवउदारवाद के तहत भारतीय कृषि

पिछले दो दशकों के दौरान भारत का कृषि क्षेत्र भी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के प्रभाव से मुक्त नहीं रहा। 1991 के बाद कृषि क्षेत्र में भारतीय बुर्जुआ वर्ग की नीतियों में कई बदलाव

सारणी-3 – 2002 में कुछ विकास सूचकांकों पर विश्व में भारत की स्थिति

क्रमांक	श्रेणी	भारत का स्थान
1	मानव विकास सूचक अंक	127
2	बच्चों की मौतें (प्रति हजार जन्मों की पीछे)	67
3	डालरों में प्रति व्यक्ति आय	487
4	वयस्क साक्षरता (15 वर्ष व इससे अधिक आयु के व्यक्तियों के प्रतिशत के तौर पर)	61.3
5	प्रति दिन 1 डालर से कम आय वाली आबादी का प्रतिशत	34.7
6	प्रति दिन 2 डालर से कम आय वाली आबादी का प्रतिशत	79.9
7	पाँचवी कक्षा में पहुँचने वाले बच्चे (पहली कक्षा में दाखिला लेने वाले बच्चों के प्रतिशत के तौर पर)	59
8	अरोग्यता व्यवस्था (सेनीटेशन) तक पहुँच वाली आबादी का प्रतिशत	28
9	जन्म के समय कम भार वाले बच्चों का प्रतिशत	30

स्रोत : संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 2004

भारतीय कृषि में आये बदलावों की चर्चा हमने पंजाबी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' में छपे एक निबन्ध में काफ़ी विस्तार से की है। (देखें 'प्रतिबद्ध' अंक 1-4)। उपरोक्त निबन्ध 2005-06 में लिखा गया था, निश्चित तौर पर उसके बाद भारतीय कृषि में कई बदलाव हुए हैं। लेकिन इसे मात्रात्मक इज़ाफ़ा ही कहा जा सकता है। भारतीय कृषि में 2005-06 के बाद हुए बदलावों की मूल दिशा वही रही है जिसकी निशानदेही हमने उपरोक्त निबन्ध में की थी। निश्चित तौर पर यह दिशा भारतीय कृषि में अधिक परिपक्व पूँजीवादी विकास की रही है। दोहराव से बचने के लिए हम यहाँ नवउदारवादी नीतियों के तहत भारतीय कृषि में हुए परिवर्तनों से सम्बन्धित कुछ बिन्दुओं तक ही ख़ुद को सीमित रखेंगे। भारत का कृषि क्षेत्र पिछले दो दशकों के दौरान बड़ी उथल-पुथल से होकर हुए। पहले तो यह कि हर क्षेत्र की तरह इस क्षेत्र से भी सरकार ने अपना हाथ खींच लिया। पहले सरकार कृषि के विकास के लिए जो निवेश करती थी वह अब लगातार घटने लगा, फिर सरकार ने कई ऐसे कदम उठाये जिन्होंने भारतीय कृषि को बड़े स्तर पर प्रभावित किया। ये कदम थे, विश्व व्यापार संगठन के निर्देशों के अन्तर्गत कृषि मालों के व्यापार से कोटा रोकें हटाना, कृषि मालों के बाज़ारीकरण और भोजन संसाधन उद्योग में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की आज्ञा देना। उच्च पूँजी प्रधान कृषि में निजी कॉरपोरेट क्षेत्र को शामिल करना, इसके साथ कृषि अनुसन्धान और विकास, तकनोलॉजी हस्तान्तरण, बाज़ारीकरण आदि में इस क्षेत्र की भागीदारी। पट्टेदारी क़ानून में फेर-बदल, ठेका कृषि को बढ़ावा देना, कृषि मालों की सट्टेबाज़ी को छूट देना आदि।

नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत

सारणी-4

तुलनात्मक वास्तविक ओद्योगिक विकास दर

वर्ष	कुल उद्योग (%)	मैनुफैक्चरिंग सेक्टर (%)	छोटे उद्योग (%)
1990-91	8.2	9.0	9.1
1991-92	0.6	-0.8	3.1
1992-93	2.3	2.2	5.6
1993-94	6.0	6.1	7.1
1994-95	8.4	8.5	10.1
1995-96	12.8	13.8	11.4
1996-97	5.6	6.7	11.3
1997-98	6.6	6.7	8.4
1998-99	4.0	4.4	7.7
1999-00	6.4	7.0	8.1
2000-01	5.0	5.3	8.2
2001-02	2.7	2.9	8.3
2002-03	5.7	6.0	8.6
2003-04	7.0	7.4	9.6
2004-05	8.3	9.0	10.8
2005-06	8.1	10.1	12.3
2006-07	11.5	11.3	12.6
2007-08	8	9.00	13
2008-09	15.1	16.2	-

केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन

सारणी –5

मैनुफेक्चरिंग निर्यातों, मैनुफेक्चरिंग आयातों, मैनुफेक्चरिंग से कुल घरेलु उत्पादन

वर्ष	कुल मैनुफेक्चरिंग निर्यात (1)	कुल मैनुफेक्चरिंग आयात (2)	मैनुफेक्चरिंग से कुल घरेलु उत्पादन (3)	3 के % के तौर पर 1	3 के % के तौर पर 2	2 के % के तौर पर 1
1970-71	860	1142	6088	14.13	18.76	75.29
1980-81	3948	8598	22159	17.82	38.80	45.92
1990-91	24596	32597	86006	28.60	37.90	75.46
2001-02	166442	158716	315314	52.79	50.34	104.87
2002-03	203905	187258	346029	58.93	54.12	108.89
2003-04	234232	247538	388549	60.28	63.71	94.62
2004-05	271049	325572	453225	59.80	71.83	83.25
2005-06	335569	442485	522146	64.27	84.74	75.84
2006-07	403047	575978	634304	63.54	90.80	69.98
2007-08	437139	697632	731078	59.79	95.43	62.66
2008-09	584133	940378	814025	71.76	115.52	62.12

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, भारत सरकार व केन्द्रीय आँकड़ा संस्थान, भारत सरकार

गुज़रा है। 1947 में भारत की राज्यसत्ता पर काबिज़ हुए बुर्जुआ वर्ग ने भारतीय कृषि के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण की जिस प्रक्रिया की शुरुआत की थी, वह प्रक्रिया पिछले दो दशकों के दौरान तेज़ी से आगे बढ़ी है। 1990–91 के दौरान भारत के कुल घरेलू उत्पादन में कृषि का योगदान 31.37 प्रतिशत था जो 2007–08 में घटकर 17.75 प्रतिशत रह गया। 2008–09 के दौरान यह 13.2 प्रतिशत था (जंगलात और मत्स्य पालन को छोड़कर)। कुल घरेलू उत्पादन में कृषि का हिस्सा घटने के बावजूद अभी भी कृषि पर भारत की श्रम शक्ति का काफ़ी बड़ा हिस्सा निर्भर है। जिस रफ़्तार के साथ कुल घरेलू उत्पादन में कृषि के हिस्से में कमी आयी है, उस रफ़्तार के साथ कृषि पर निर्भर आबादी की संख्या में कमी नहीं आयी है, लेकिन फिर भी गणना–योग्य हद तक कमी आयी है। 1991 में कृषि पर भारत की आबादी का 67.3 प्रतिशत हिस्सा निर्भर था जो कि 2008–09 में घटकर 52 प्रतिशत रह गया। 1991 से पहले के समय से तुलना की जाये तो यह बदलाव काफ़ी तीखा नज़र आता है। 1961 में कृषि पर निर्भर आबादी 72.28 प्रतिशत थी जो कि 1991 में घटकर 67.37 प्रतिशत रह गयी थी, यानी 30 वर्षों के अरसे में कृषि पर निर्भर आबादी की संख्या में सिर्फ़ 5 प्रतिशत ही कमी आयी थी, जबकि 1991–2009 के बीच के 18 वर्षों में यह कमी 15.3 प्रतिशत रही है।

पिछले दो दशक भारत में तेज़ विकिसानीकरण के भी दशक रहे हैं। 2001 की जनगणना के मुताबिक भारत की कुल श्रम शक्ति में किसानों (Cultivators) की संख्या 31 प्रतिशत थी। 2005 की भारत सरकार की एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत के कुल किसानों में से 40 प्रतिशत किसान कृषि छोड़ना चाहते थे। भारत की श्रम शक्ति में किसानों की संख्या के ताज़ा आँकड़े फिलहाल हमारे पास नहीं हैं। लेकिन यह नतीजा आसानी से निकाला जा सकता है कि 2001 के बाद निश्चित तौर पर किसानों की संख्या कम हो रही है और आने वाले समय में इसके और घटने के आसार हैं, जिससे नतीजा निकाला जा सकता है कि भारतीय क्रान्ति की नियति तय करने में इस वर्ग की भूमिका कम होती जायेगी। सारणी–6 से भी स्पष्ट है कि भारत की पेशागत (Occupational) सरंचना लगातार बदलती जा रही है।

3. विदेश व्यापार भुगतान सन्तुलन की बिगड़ती परिस्थिति

भारतीय हुक्मरानों की ओर से 1991 में अपनायी गयीं नवउदारवादी नीतियों के अन्तर्गत निर्यात बढ़ाने पर ज़ोर दिया गया। उन्हें उम्मीद थी कि अर्थव्यवस्था को विदेशी पूँजी के लिए खोलने, देशी पूँजी को और अधिक छूटें-सुविधाएँ देने, साम्राज्यवादी देशों की उन्नत तकनीक के भारत के सस्ते कच्चे माल और सस्ती श्रम शक्ति से मिलने से भारत से निर्यात बढ़ेंगे और ये बढ़ रहे निर्यात संकटग्रस्त भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास को बढ़ावा देंगे। इसके लिए भारतीय हुक्मरानों ने आयात-निर्यात नीतियों में बड़े फेर-बदल भी किये। अब विदेश व्यापार सम्बन्धी

सारणी -6 : खेतिहर व गैर खेतिहर पेशों में रोजगार वृद्धि के रुझान (%)

	खेतिहर			गैर खेतिहर		
	1993-94 से 1999-00	1990-00 से 2004-05	1993-94 से 2004 -05	1993-94 से 1999-00	1999-00 से 2004-05	1993-94 से 2004-05
रोज़गार	0.03	0.85	0.40	2.53	4.66	3.49
सकल घरेलू उत्पादन (वृद्धि दर)	2.88	1.76	2.37	8.11	7.22	7.71

स्रोत : एन.सी.इ.यू.एस. (भारत सरकार 2009)

इन बदलावों पर नज़र डालते हैं।

(क) भारत से निर्यात

भारत के निर्यातों की मात्रा में बढ़ोत्तरी दर देखने पर पता चलता है कि 1990 के दशक के दौरान भारत से निर्यातों की स्थिति 1980 के दशक से बहुत अलग नहीं थी। वर्तमान सदी के पिछले दशक के दौरान भारत के निर्यातों की हालत में कुछ सुधार आया वह भी इस दशक के 2002-2007 की अवधि के दौरान। विश्व निर्यातों में भारत का हिस्सा 1990-91 के दौरान 0. 5 प्रतिशत था जिसमें कि नवउदारवादी नीतियों के पहले दशक के दौरान मामूली इज़ाफ़ा हुआ था, जबकि 2001 में यह बढ़कर 0.7 प्रतिशत हो गया। 2005 में यह बढ़कर 1 प्रतिशत हो गया और 2007 तक इसमें कोई इज़ाफ़ा नहीं हुआ। 2008 में यह बढ़कर 1.1 प्रतिशत हो गया। यह आँकड़े दिखाते हैं कि निर्यातों में वृद्धि भारतीय हुक्मरानों की उम्मीदों पर पूरी नहीं उतरी।

(ख) व्यापार की शर्तें

निर्यात क़ीमतों और आयात क़ीमतों का अनुपात व्यापार की शुद्ध (छमज) शर्तें कहलाता है।

व्यापारिक आय को व्यापार की शुद्ध शर्तों और निर्यातों की उपज के तौर पर परिभाषित किया जाता है। कोई भी देश आयातों की ख़रीद के लिए निर्यात करता है। किसी वैकल्पिक स्रोत की ग़ैर-हाज़िरी में किसी देश की आयात क्षमता, निर्यातों के मूल्य और मात्रा पर निर्भर करती है। आयातों के लिए किसी देश के निर्यातों का बढ़ना बहुत ज़रूरी है। नहीं तो आयातों के लिए वैकल्पिक स्रोत के तौर पर किसी देश को कर्ज़ के लिए अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं के पास जाना पड़ता है, जिनसे कर्ज़ बहुत महँगा मिलता है, ऊपर से कर्ज़ के साथ बहुत सारी शर्तें भी जड़ी होती हैं। सारणी-7 से भारत के विदेश व्यापार की स्थिति देखी जा सकती है।

सारणी-7 से 2002-07 के बीच भारत के निर्यातों की कारगुजारी बेहतर नज़र आती है। लेकिन इन वर्षों में 2002-2003 और 2005-06 के बीच शुद्ध व्यापारिक शर्तें भारत के प्रतिकूल रहीं। व्यापार की इन प्रतिकूल शर्तों ने, भारत से निर्यातों के बढ़ने से होने वाले फायदों को कम किया। इस अरसे के दौरान आयातों की क़ीमतों, और भारत से निर्यातों की क़ीमतों से अधिक तेज़ी के साथ बढ़ीं।

व्यापार की आय शर्तें किसी बन्द अर्थव्यवस्था की आयात क्षमता को दिखलाती हैं। लेकिन असल में किसी देश का आयात निर्यात के तौर पर आयात क्षमता से भी अधिक हो सकता है। भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में यह बात लम्बे अरसे से सच है। 1981 में भारत की निर्यात व्यापार आय, व्यापारिक आयातों का 53 प्रतिशत थी, जो कि 1980 के दशक के दौरान बढ़कर लगभग 80 प्रतिशत हो गयी। 199-92 के दौरान यह और बढ़कर 92 प्रतिशत हो गयी। लेकिन उसके बाद इसमें लगातार गिरावट आती गयी। 2000-01 में यह घटकर 74 प्रतिशत रह गयी और 2008-09 में यह 59 प्रतिशत रह गयी, जो कि भारत की 1981 की निर्यात आय के बराबर थी। यानी इस मामले में भारतीय अर्थव्यवस्था तीन दशकों का चक्र पूरा करके पुनः पहली वाली जगह पर आ गयी।

21वीं सदी के पहले दशक के दौरान भारत की विश्व अर्थव्यवस्था में एकरूप होने की रफ़्तार भी काफ़ी तेज़ हुई है। भारत का औसत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार अनुपात (निर्यात + आयात) 1992-93 से 1994-95 के बीच 19 प्रतिशत था जो 2002-03 में बढ़कर 27 प्रतिशत हो गया। 2010-11 में यह अनुपात 48 प्रतिशत था। विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के तेज़ी से जुड़ने के इस अरसे में भारत के कुल आयात और इसी तरह तेल का आयात दोगुना हो गया। नतीजा, घरेलू उत्पादन में वृद्धि दर घटने के बावजूद निर्यात से आयात तेज़ी से बढ़े, जिसका नतीजा चालू खाते के बड़े घाटे में निकला।

भारतीय अर्थव्यवस्था की आयातों पर निर्भरता ने अर्थव्यवस्था के तीन क्षेत्रों को विभिन्न ढंग से प्रभावित किया क्योंकि इन तीनों क्षेत्रों का विश्व अर्थव्यवस्था में जुड़ाव अलग-अलग है। भारत का मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर विश्व अर्थव्यवस्था से सबसे अधिक जुड़ा हुआ है। 2010-11 में इसका औसत व्यापार अनुपात 180 प्रतिशत था। कृषि और सेवा क्षेत्र के लिए यह अनुपात 20 प्रतिशत था। अगर 'वित्तीय और बिज़नेस सेवाओं' को एक उप-क्षेत्र मान लें तो इसके लिए आँकड़ा 58 प्रतिशत था।

इन तीनों क्षेत्रों में मैन्यूफैक्चरिंग क्षेत्र सिर्फ़ ऐसा है जो व्यापार घाटे का शिकार है। 2010-11 में यह घाटा मैन्यूफैक्चरिंग से कुल घरेलू उत्पादन का 44 प्रतिशत था।

(ग) चालू खाते का घाटा

नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के दौरान भारत का चालू खाता कई उतारों-चढ़ावों से गुज़रा, लेकिन इसकी मुख्य दिशा चालू खाते का घाटा बढ़ने की रही है।

सारणी-9 से देखा जा सकता है कि व्यापारिक वस्तुओं के खाते में भारत को बड़ा घाटा झेलना पड़ा, जिसकी कुछ हद तक अदृश्यों (सेवाओं का एक हिस्सा) से होने वाली आय ने

सारणी-7 : विदेश व्यापार क्षेत्र की कारगुजारी (सालाना % परिवर्तन)

अवधि	निर्यातों में वृद्धि			आयातों में वृद्धि			व्यापार की शर्तें	
	मुल्य	मुल्य	इकाई मुल्य	मुल्य	मात्रा	इकाई मुल्य	शुद्ध (Net)	आय
1900-95	8.1	10.9	12.6	4.6	12.9	7.6	5.0	16.5
1995-00	7.3	10.2	4.3	12.0	11.9	6.9	-2.0	7
2000-01	21.0	23.9	3.3	1.7	-1.0	8.2	-4.5	18.3
2001-02	-1.6	3.7	-1.0	1.7	5.0	1.1	-2.1	1.5
2002-03	20.3	21.7	0.3	19.4	9.5	10.7	-9.4	10.3
2003-04	21.1	6.0	8.5	27.3	20.9	-0.1	8.6	15.1
2004-05	30.8	17.6	8.9	42.7	14.7	21.6	0.5	5.0
2005-06	23.4	45.4	20.4	33.8	-1.6	49.0	-27.4	-33.2
2006-07*	36.3	-	-	36.3	-	-	-	-

* नोट : आर्थिक सर्वेक्षण 2006-07

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2006-07

पूर्ति की कोशिश की लेकिन फिर भी चालू खाते की हालत 2004-05 के बाद लगातार बिगड़ती गयी।

चित्र-3 चालू खाते के घाटे के लिए जिम्मेदार कारकों की जानकारी देता है। चित्र-3

सारणी-8 आयातों के प्रतिशत के तौर पर निर्यात

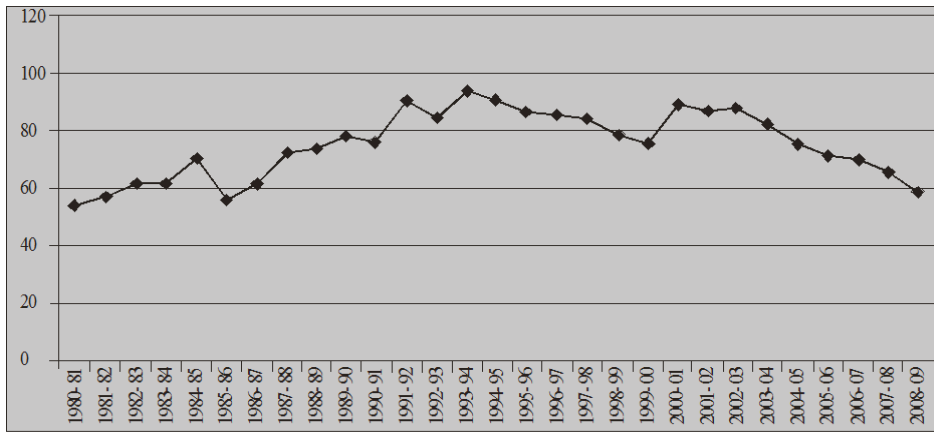

स्रोत : हैण्डबुक आफ स्टेटिस्टिक आफ इण्डियन इकानमी, 2010

दिखाता है कि चालू खाते के घाटे के लिए जिम्मेदार सबसे बड़ा कारक वस्तु आयात बिल था। वस्तुओं के आयात 2010-11 में 381 बिलियन डालर से बढ़कर 500 बिलियन डालर हो गये। 29 जून, 2012 को भारतीय रिजर्व बैंक ने अपने एक बयान में कहा कि, "2011-12 के दौरान चालू खाते का घाटा 78.2 बिलियन अमेरिकी डालर (भारतीय मुद्रा में यह 3,91,000 करोड़ अधिक बनेगा जबकि 2008-09 के दौरान यह 1,32,271 करोड़ रुपये था) हो गया (कुल घेरलू उत्पादन का 4.2 प्रतिशत) जो 2010-2011 के दौरान 46 बिलियन अमेरिकी डॉलर (कुल घरेलू उत्पादन का 2.7 प्रतिशत) था।"

(घ) सिकुड़ रहा विदेशी व्यापार मुद्रा भण्डार

1991 में भारत के भुगतान सन्तुलन का संकट इतना गहरा था कि विदेशी मुद्रा भण्डार खाली

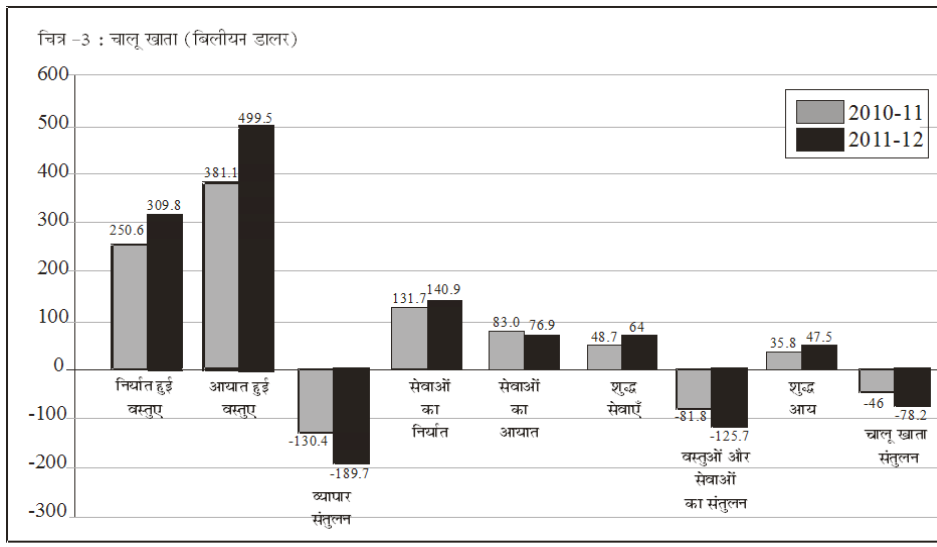

स्रोत : macroscan.org

हो गया था और भारत को आयात हासिल करने के लिए अपना सोना गिरवी रखना पड़ रहा था। 1991 में भारतीय हुक्मरानों द्वारा अपनायी गयीं नवउदारवादी नीतियों के पश्चात भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार में बड़ा इज़ाफ़ा हुआ। जून 2011 में भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार 315. 7 बिलियन अमेरिकी डालर था। भारत के हुक्मरान इस बड़े विदेशी मुद्रा भण्डार को नवउदारवादी नीतियों की कामयाबी के तौर पर पेश करते रहे हैं। लेकिन अब विश्वव्यापी आर्थिक संकट के दौर में भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार लगातार कम होता जा रहा है (हाल ही में सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट की प्रतिक्रिया के तौर पर जो विदेशी पूँजी को भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में छूटें दी हैं, उनकी बदौलत हो सकता है कि भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार की गिरावट का सिलसिला रुक जाये, या इसमें कुछ इज़ाफ़ा हो जाये। लेकिन ऐसा कोई भी बदलाव अल्पकालिक ही होगा)। (देखें : चित्र-4)

सारणी-9

चालू खाता शुद्ध संतुलन (Net Balance) की संरचना (करोड़ रु.)

वर्ष/ माल	व्यापारिक कुल (क)	अदृष्य कुल (ख)	अदृष्यों की संरचना					कुल चालू खाता (क+ख)
			सेवाएँ		हस्तांतरण		आय कुल	
			कुल सेवाएँ	इनमें से साफ्टवेयर सेवाएँ	कुल हस्तांतरण	इनमें से निजी हस्तांतरण		
1990-91	- 16933	- 433	1761	-	4539	3712	- 6733	- 17366
1991-92	- 6494	4259	3133	-	10522	9382	- 9396	- 2235
1992-93	- 17239	4475	2698	-	12280	11226	- 10503	- 12764
1993-94	- 12723	9089	1677	-	17670	16514	- 10258	- 3634
1994-95	- 28419	17836	1883	-	26726	25417	- 10773	- 10583
1995-96	- 38061	18415	- 702	-	29833	28660	- 10716	- 19646
1996-97	- 52561	36279	2621	-	45425	43969	- 11767	- 16282
1997-98	- 57805	36922	4943	-	45183	43765	- 13204	- 20883
1998-99	- 55478	38689	9114	-	44542	43242	- 14967	- 16789
1999-00	- 77359	57028	17670	-	54789	53132	- 15431	- 20331
2000-01	- 56737	45139	7905	26308	59967	58811	- 22733	- 11598
2001-02	- 54955	71381	15889	32836	75560	73363	- 20068	16426
2002-03	- 51697	82357	17644	42859	81403	79229	- 16690	30660
2003-04	- 63386	127369	46381	56606	101696	99165	- 20708	63983
2004-05	- 151765	139591	68831	75825	93135	91971	- 22375	- 12174
2005-06	- 229664	185927	102611	98678	109432	108565	- 26116	- 43737
2006-07	- 279962	235579	133064	131144	135749	134608	- 33234	- 44383
2007-08	- 368532	299618	151059	149721	168447	167495	- 19888	- 68914
2008-09	- 542113	409842	228778	202890	202180	201050	- 21116	- 132271

स्रोत : हैण्डबुक ऑफ स्टैटिस्टिक्स ऑफ इण्डियन इकॉनमी, 2010

इसी वर्ष (2012) 1 जून को भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार में 2.4 बिलियन डालर की गिरावट दर्ज़ हुई। 1 जून, 2012 तक पिछले एक वर्ष के अरसे के दौरान भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार में 9 प्रतिशत या 27 बिलियन डालर की गिरावट आयी। इस गिरावट का आंशिक कारण तो यूरो जैसी मुद्राओं (जो कि भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार का एक अंश हैं) का मूल्य घटना था। लेकिन विदेशी मुद्रा भण्डार में कमी का मुख्य कारण ऐसा मूल्य घटना नहीं था, बल्कि मुख्य कारण यह था कि भारतीय रिजर्व बैंक को डालर भण्डार का कुछ हिस्सा बेचना पड़ा। भारत की उदारीकृत मुद्रा विनिमय व्यवस्था में भारतीय रिजर्व बैंक विदेशी मुद्रा-सम्बन्धी प्रतिबद्धताओं को पूरा करने के लिए, या आयातों के लिए आवश्यक डालर की पूर्ति करने के लिए सीधे रूप में दख़ल नहीं दे सकता। इसलिए जिन्हें डालर की ज़रूरत होती है, उन्हें विदेशी मुद्रा के अधिकृत डीलरों तक पहुँच करनी पड़ती है। लेकिन जब बाज़ार में डालर की माँग अधिक हो और पूर्ति (विदेशों से आमद) कम हो तो डालर के मुकाबले रुपये का मूल्य घटता है और अगर डालर की पूर्ति माँग से अधिक हो तो इसके विपरीत घटता है। गुज़रे समय में भारत की समस्या विदेशी पूँजी की आमद बढ़ने से विदेशी मुद्रा की अधिक पूर्ति थी। इसके नतीजे के तौर पर रुपये का मूल्य बढ़ा, जिसके कारण अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में

भारत के निर्यातों की मुकाबला क्षमता घटी। इस हालत को बदलने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक को डालर ख़रीदकर विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ाने के लिए, (और रुपये की मूल्य वृद्धि पर लगाम कसने के लिए) एक से अधिक बार दख़ल देना पड़ा। लेकिन रिजर्व बैंक को ऐसी कार्रवाई की क़ीमत चुकानी पड़ती है। जितना ही रिजर्व बैंक की विदेशी मुद्रा परिसम्पत्तियों (एसेट्स) में वृद्धि, चलन (Circulation) में रुपये के रूप में इसकी देनदारियों में वद्धि के मुताबिक होता है, तो इस प्रक्रिया का नतीजा अर्थव्यवस्था में तरलता को सोखने के लिए रिजर्व बैंक को रुपये परिसम्पत्तियों के एक हिस्से (मुख्य तौर पर सरकारी सिक्योरिटीज़ के रूप में) को बेचना पड़ता है। उन सुरक्षित परिसम्पत्तियों, जिन्हें आसानी से बेचकर नकदी हासिल की जा सकती है, (जिनमें साधारणत: विदेशी भण्डार रखे जाते हैं) से ऐसी सिक्योरिटीज़ पर अधिक ब्याज़ देना पड़ता है। रिजर्व बैंक को इस घाटे की पूर्ति करनी पड़ती है।

अगर किसी देश के केन्द्रीय बैंक के पास बड़ा विदेशी मुद्रा भण्डार हो तो यह देश की अर्थव्यवस्था के लिए अच्छा होता है। लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था की अब समस्या यह है कि अब भारत की ओर विदेशी मुद्रा का बहाव कम हो गया है, जबकि भुगतान सन्तुलन के चालू खाते का घाटा लगातार बढ़ रहा है। चालू खाते के घाटे की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा की आमद घटने के साथ, विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ रही है, नतीजा रुपये के अवमूल्यन में निकल रहा है। रुपये के अवमूल्यन को रोकने के लिए रिज़र्व बैंक को विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने के लिए विदेशी मुद्रा का एक हिस्सा बेचना पड़ रहा है। जिसकी वजह से विदेशी मुद्रा भण्डार घटता जा रहा है। यहाँ भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार की कमज़ोरी भी सामने आती है। भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार चीन की तरह, विदेशी मुद्रा के सालाना ख़र्चों की तुलना में

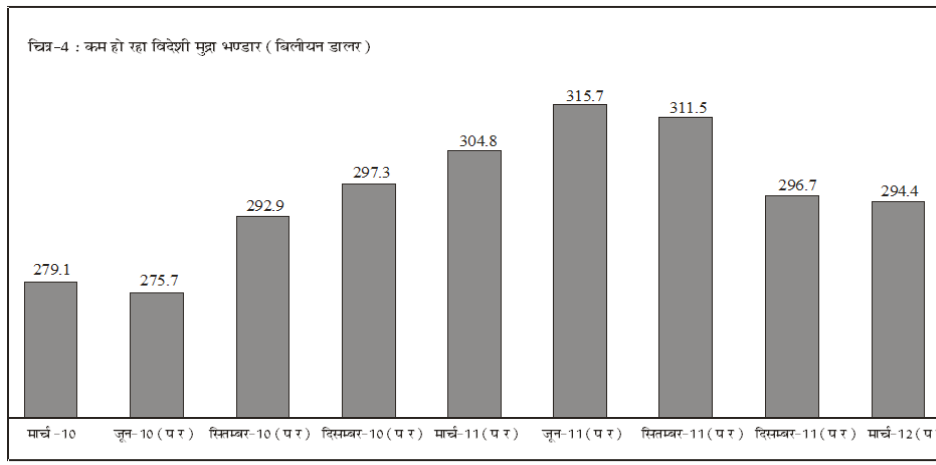

स्रोत : **macroscan.org**

विदेशी मुद्रा की अधिक कमाई से नहीं बना। 1991 के बाद के वित्तीय उदारीकरण की बदौलत देश में पोर्टफोलियो निवेश और कर्ज़ के रूप में विदेशी मुद्रा का प्रवाह बढ़ा। 31 दिसम्बर, 2011 को भारत का कुल विदेशी कर्ज़ 289.7 बिलियन अमेरिकी डालर था। भारतीय हुक्मरान जो बड़े विदेशी मुद्रा भण्डार के दावे करते थे, ये आँकड़े इन दावों की पोल खोलते

हैं। घाटे के वित्तीय पोषण से अधिक विदेशी पूँजी आने के कारण रिजर्व बैंक को विदेशी मुद्रा ख़रीद के आरक्षित भण्डार के तौर पर जमा करनी पड़ी। हाल के समय में, विश्व आर्थिक संकट और भारतीय अर्थव्यवस्था की सुस्ती के कारण विदेशी मुद्रा का भारत की ओर प्रवाह तो कम हुआ ही है बल्कि इसका एक हिस्सा यहाँ से बाहर भी जाने लगा है। ऊपर से सितम यह कि यह सब ऐसे समय में हो रहा है जब भारत के चालू खाते का घाटा बढ रहा है।

4. विदेशी पूँजी निवेश

भारत में विदेशी पूँजी की आमद मुख्यत: तीन ढंगों से होती है। एक है प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI), दूसरा है पोर्टफोलियो निवेश (FPEI), यानी शेयर बाज़ार में निवेश होने वाली पूँजी, और तीसरा है विदेश कर्ज़। इसके अलावा विदेशों में काम कर रहे भारतीय कामगारों द्वारा देश में भेजी जाने वाली अपनी कमाई भारत सरकार के लिए विदेशी मुद्रा का एक बड़ा ज़रिया है। 1991 के बाद भारतीय हुक्मरानों द्वारा विदेशी पूँजी को लगातार दी गयी छूटों-सहूलियतों की बदौलत भारत में विदेशी पूँजी की आमद में बड़े स्तर पर इज़ाफ़ा हुआ है। ए.टी.कीयर्ने रिपोर्ट के मुताबिक 2011 में विश्व स्तर पर विदेशी निवेश भरोसा सूचकांक में भारत का तीसरा स्थान था। यूरोपीय और उत्तरी अमेरिकी निवेशक भी इसे तीसरे स्थान पर रखते हैं जबकि एशिया-प्रशान्त के देश इसे चौथे स्थान पर रखते हैं। विदेशी (साम्राज्यवादी) पूँजी के लिए भारत के दरवाज़े कभी-भी पूरी तरह से बन्द नहीं रहे। आज़ादी के बाद लगातार यहाँ विदेशी पूँजी की आमद जारी रही। लेकिन 1991 से पहले इसकी आमद पर तरह-तरह की रोकें थीं और भारतीय अर्थव्यवस्था के अनेकों क्षेत्रों में इसके दाख़िले पर पूर्ण पाबन्दी थी। इसलिए भारत में विदेशी निवेश की आमद बहुत थोड़ी थी। 1948 के मध्य में भारत में 2.6 बिलियन रुपये का विदेशी निवेश हुआ, मार्च 1964 में यह बढ़कर 9.16 बिलियन हो गया। 1948-1990 के बीच भारत में कुल 53.84 बिलियन रुपये का विदेशी निवेश हुआ। 1991 के बाद भारत में विदेशी पूँजी की आमद में उभार नज़र आता है। 1991-2010 के अरसे में भारत में कुल 1418.64 बिलियन रुपये का विदेशी निवेश हुआ।

1991 में भारत में निवेश करने वाले देशों की सूची में सिर्फ़ 15 देश शामिल थे, जिनकी संख्या 2008 में बढ़कर 120 हो गयी। लेकिन भारत में विदेशी निवेश का बड़ा हिस्सा कुछ ही देशों से आता है। 1991-2008 के दौरान भारत में सबसे अधिक विदेशी पूँजी निवेश मारीशस से हुआ। दरअसल, मारीशस एक ऐसा देश है जहाँ से भारत में होने वाले पूँजी निवेश पर भारत सरकार की ओर से कई तरह की कर रियायतें दी जाती हैं। इसलिए साम्राज्यवादी देशी की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अक्सर मारीशस के रास्ते भारत में पूँजी लगाती हैं। मारीशस के बाद उपरोक्त अरसे के दौरान भारत में सबसे अधिक पूँजी निवेश अमेरिका से हुआ है। उपरोक्त अठारह वर्षों के दौरान भारत में विदेशी निवेश के आँकड़े दिखाते हैं कि इन वर्षों में 66 प्रतिशत विदेशी निवेश सिर्फ़ पाँच देशों मारीशस, अमेरिका, सिंगापुर, यूनाइटेड किंगडम व नीदरलैण्ड से हुआ है।

1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था के सिर्फ़ 16 सेक्टर ही विदेशी निवेश के लिए खुले थे, जिनकी संख्या 2011 में बढ़कर 63 हो गयी। 2010 तक जिन सेक्टरों में सबसे अधिक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश हुआ वे थे - अवसंरचनागत क्षेत्र (28.62 प्रतिशत), सेवा क्षेत्र (22.14

प्रतिशत), व कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर और हार्डवेयर सेक्टर (9.48 प्रतिशत)।

भारत में होने वाले विदेशी पूँजी निवेश में पोर्टफोलियो निवेश का हाथ ऊपर रहा है (देखें चित्र-5)। यह एक ऐसा निवेश है जो झट-फट मुनाफ़े हासिल करने के लिए आता है और संकट की घड़ी में कभी भी उडारी मार जाता है। इसीलिए इसे 'गर्म पैसा' भी कहते हैं।

भारत के विभिन्न राज्यों में विदेशी पूँजी की आमद बेहद असमान रही है। भारत में अप्रैल 2000 से जनवरी 2012 तक हुए प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में से 70 प्रतिशत निवेश सिर्फ़ चार राज्यों, महाराष्ट्र (34), नयी दिल्ली (20), कर्नाटक (6), तामिलनाडु (5), और गुज़रात (5) में ही हुआ है। इन राज्यों में भी यह निवेश अधिकतर बड़े महानगरों के आस-पास ही केन्द्रित रहा है।

जहाँ तक भारत के विदेशी कर्ज़ का प्रश्न है इसमें 2001 (मार्च अन्त) से 2011 (सितम्बर अन्त) के बीच लगभग तीन गुणा वृद्धि हुई है। 2001 (मार्च अन्त) में भारत में विभिन्न स्रोतों से कुछ विदेशी कर्ज़ 4,72,625 करोड़ रुपये (1,01,326 मिलियन डालर) था और 2011 (सितम्बर अन्त) में यह बढ़कर 15,17,752 करोड़ रुपये (3,26, 601 मिलियन डालर) हो गया। (भारत सरकार, आर्थिक सर्वेक्षण 2012)

5. मुद्रास्फीति व खाद्य सुरक्षा

हालाँकि कमरतोड़ महँगाई से भारत की मेहनतकश जनता को कभी-भी निजात नहीं मिली, लेकिन नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के दौरान तो महँगाई सभी हदें पार कर गयी है। भारत उन मुख्य देशों में शुमार होता है जहाँ मुद्रास्फीति की दर काफ़ी ऊँची चल रही है। 2009 के अन्त में भारत में खाद्य पदार्थों के मामले में मुद्रास्फीति की दर 20 प्रतिशत के ऊपर थी।

विश्व आर्थिक संकट के, 2008 के मध्य के धमाके से पहले विश्व के अधिकांश हिस्सों में उच्च मुद्रास्फीति आम थी। विश्व का माल मूल्यों में वृद्धि का धमाका तेल और खाद्य पदार्थों की बढ़ रही क़ीमतों में प्रकट हुआ। तेल 147 डालर प्रति बैरल की रिकॉर्ड दर पर पहुँच गया। चावल 1000 डालर प्रति टन तक जा पहुँचा। खाद्य पदार्थों की बढ़ी क़ीमतों की सबसे बड़ी मार तीसरी दुनिया के ग़रीबों पर पड़ी। उनकी क्रय शक्ति में बड़ी गिरावट आयी। विश्वव्यापी मन्दी के कारण तेल और खाद्य पदार्थों की क़ीमतों में गिरावट आयी, जिसके नतीजे के तौर पर मुद्रास्फीति के आँकड़े भी नीचे आये, लेकिन यह गिरावट अल्पकालिक ही थी। फरवरी 2010 में फिर से थोक क़ीमत सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति 10.06 प्रतिशत हो गयी। पिछले चार वर्षों से ही कुछ उतारों-चढ़ावों के बावजूद भारत में मुद्रास्फीति की दर 10 प्रतिशत के आस-पास ही झूल रही है।

थोक क़ीमत सूचकांक, जो कि 1993-94 की क़ीमतों पर आधारित है (यानी 1993-94 में यह 100 था) अप्रैल 2010 में एक रुपये की क्रय शक्ति, 1990-91 के 29 पैसों जितनी थी। (देखें सारणी-10)। दूसरे शब्दों में कहें तो रुपये ने इस अरसे के दौरान अपना 70 प्रतिशत मूल्य खो दिया। औद्योगिक मज़दूरों के लिए उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक के आधार पर देखें तो रुपये की क्रय शक्ति में अधिक गिरावट नज़र आती है। इस आधार पर अप्रैल 2010 में एक रुपये की क्रय शक्ति 1990-91 के 25 पैसों के बराबर थी।

थोक क़ीमत सूचकांक के आँकड़े, साधारण जनता के जीवन को बढ़ रही क़ीमतें जिस तरह से प्रभावित करती हैं, उस बारे में कई बार ग़लत जानकारी देते हैं। थोक क़ीमत सूचकांक

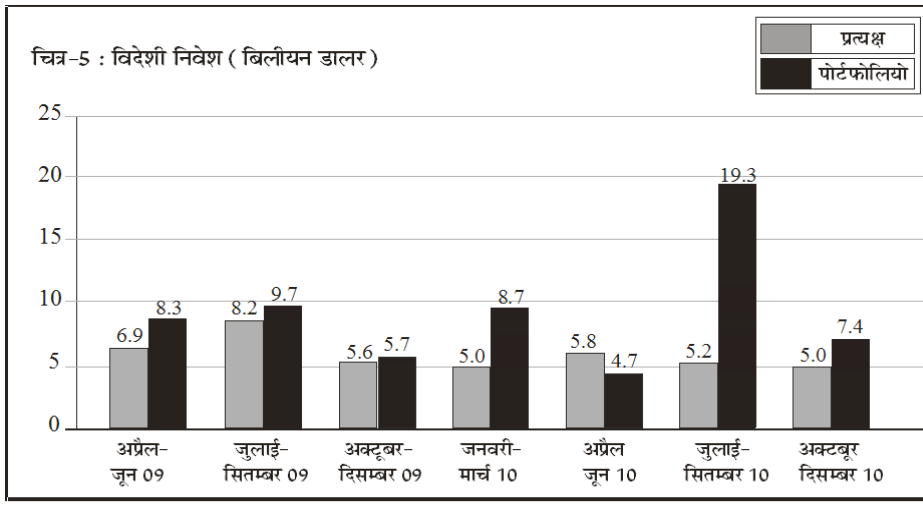

स्रोत : macroscan.org

(WPI) थोक क़ीमत पर आधारित होता है, लेकिन साधारण जनता थोक क़ीमत पर उपभोक्ता सामग्रियाँ नहीं ख़रीदती। थोक क़ीमत सूचकांक लागतों और उत्पादों दोनों की क़ीमतें मापता है। थोक क़ीमत सूचकांक का आधार बनाये जाते मालों में कई मध्यवर्ती उत्पाद भी होते हैं, जो कि अन्तिम उपभोग की वस्तु नहीं होते। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि, थोक क़ीमत सूचकांक सेवा क्षेत्र, मकान निर्माण व रियल एस्टेट को अपने दायरे में नहीं लेता। क़ीमतें बढ़ने से साधारण जनता पर पड़ने वाले प्रभावों को उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (CPI) की सहायता से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है, जो परचून मूल्यों पर आधारित होता है। इसकी क़ीमतें मापने के तरीक़े थोक क़ीमत सूचकांक से भिन्न होते हैं। सारणी-10 से देखा जा सकता है कि उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति की दरें, थोक क़ीमत सूचकांक पर आधारित दरों से लगातार पाँच महीने तक (जून से अक्टूबर 2009) दस प्रतिशत अधिक थीं। सारणी-10 दिखलाती है कि उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति 2008-2010 के दौरान काफ़ी ऊँची रही है। यह मुख्यत: खाद्य पदार्थों (अनाज, दालें, चीनी, सब्जियों और फलों आदि) की क़ीमतों में तेज़ वृद्धि के कारण थी। उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (औद्योगिक मज़दूर) पर आधारित खाद्य पदार्थों की मुद्रास्फीति दर 2008-09, 2009-10 के दौरान 10 प्रतिशत से ऊपर रही है। दिसम्बर 2009 में थोक क़ीमत सूचकांक, उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (ग्रामीण मज़दूर), उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (खेतिहर मज़दूर) और उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक (औद्योगिक मज़दूर) पर आधारित मुद्रास्फीति दरें क्रमश: इस प्रकार थीं - 19.71, 20.43, 20.22, 21.29 प्रतिशत।

सारणी-11 थोक क़ीमत सूचकांक के आधार पर 2009 की अन्तिम तिमाही के दौरान कुछ चुनिन्दा खाद्य पदार्थों के लिए मुद्रास्फीति की दरें दिखाती है। इससे खाद्य पदार्थों की महँगाई की भयंकरता का पता चलता है। 2009 के बाद भी मुद्रास्फीति दर में कोई ख़ास गिरावट नहीं आयी। 2010 के दौरान खाद्य पदार्थों में मुद्रास्फीति की दर 16 प्रतिशत से ऊपर थी। 1991-92 से लेकर 2008-09 तक भारत में उपभोक्ता सूचकांक (औद्योगिक मज़दूर) के

आधार पर मुद्रास्फीति की दर औसतन 6.82 प्रतिशत रही है।

1990 के शुरुआती वर्षों में यहाँ मुद्रास्फीति की दर काफ़ी ऊँची रही। 1990-91 और 1998-99 के बीच उपभोक्ता सामग्रियों की क़ीमतों में 115 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ और खाद्य पदार्थों की क़ीमतें (उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक - औद्योगिक मज़दूरों - के आधार पर) में और भी तेज़ वृद्धि हुई। इस अरसे में भोजन पदार्थों की क़ीमतें 124 प्रतिशत बढ़ीं। आज़ादी के पश्चात उच्च मुद्रास्फीति की इतनी लम्बी अवधि कभी नहीं देखी गयी। 1999-2000 से 2005-06 की अवधि के दौरान मुद्रास्फीति की दर कम रही। इसकी मुख्य वजह 2000 से 2003 के बीच की आर्थिक मन्दी थी। 2003-04 से जैसे ही अर्थव्यवस्था में तेज़ी आयी फिर से मुद्रास्फीति बढ़ने लगी। 2006-07 से थोक क़ीमत सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति और उपभोक्ता सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति में फर्क लगातार बढ़ता गया। जबकि थोक सूचकांक पर आधारित मुद्रास्फीति में, आर्थिक विकास दर के उतार-चढ़ाव के साथ, उतार-चढ़ाव आते रहे लेकिन उपभोक्ता वस्तुओं और खाद्य पदार्थों की क़ीमतों में लगातार वृद्धि जारी रही। यह संयोग नहीं, बल्कि सरकारी नीतियाँ इसके लिए जिम्मेवार थीं।

सारणी-10 : रुपये की पैसों में क्रय शक्ति (आधार 1990-91 = 100 पैसे)

मात्रा		
अवधि	थोक कीमत सूचक अंक के आधार पर	ओद्योगिक मज़दूरों के लिए उपभोक्ता कीमत सूचक अंक के आधार पर
1990- 91	100	100
1993- 94	74	75
1997- 98	55	53
2000- 01	47	43
2006- 07	36	34
2009- 10	30	26
अप्रैल- 2010	29	25

स्रोत : वित्त मंत्रालय

1991 के बाद के अरसे में सरकार ने बड़े पैमाने पर अर्थव्यवस्था में मुद्रा झोंकी। अर्थव्यवस्था में मुद्रा पूर्ति में 1990-91 से 2008-09 के अरसे के दौरान, 18 प्रतिशत सालाना की वृद्धि हुई, जिसने इस अरसे में क़ीमतें बढ़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत खाद्य अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन में देशी-विदेशी पूँजीपतियों की भूमिका बढ़ती गयी। देशी-विदेशी बड़ी निजी कम्पनियाँ खाद्य व्यापार के क्षेत्र में दाख़िल हुईं। दलालों, सट्टेबाज़ों, जमाखोरों की खाद्य की क़ीमतें जनता पर थोपने की क्षमता बढ़ी। 1990-91 से 2008-09 के अरसे के दौरान यहाँ खाद्य पदार्थों के उत्पादन की वृद्धि दर सालाना सिर्फ़ 1.56 प्रतिशत रही है। इसका नतीजा प्रति व्यक्ति खाद्य पदार्थों की उपलब्धता में कमी होने में निकला है। 2001-08 के दौरान प्रति व्यक्ति प्रतिदिन खाद्य की उपलब्धता 444 ग्राम थी, यह पी.एल. 480 के समझौते के तहत अमेरिका से बड़े स्तर पर गेहूँ मँगवाने वाले कुख्यात दशक के दौरान की औसत खपत से भी कम थी। भारत के ग्रामीण क्षेत्र में 23 करोड़ ग़रीब कुपोषण का शिकार हैं और विश्व के भुखमरी के शिकार लोगों में 50 प्रतिशत भारत के गाँवों में रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में खाद्य की उपलब्धता में कमी आना नवउदारवादी नीतियों के अमानवीय चेहरे को नंगा करता है। आज़ादी के बाद ग़रीबों को महँगाई के प्रभावों से 'बचाने' के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली का ढाँचा खड़ा किया गया था। इससे सीमित हद तक भारत के ग़रीबों को राहत मिली भी। लेकिन नवउदारवादी नीतियों के तहत भारतीय हुक्मरानों ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत ग़रीबों

सारणी-11 : आवश्यक वस्तुओं की मुद्रास्फीति दर

माल	महीना	मुद्रास्फीति की दर (%)
चावल	अक्टूबर 2009	14.29
गेहूँ	दिसम्बर 2009	12.66
दालें	दिसम्बर 2009	41.58
सब्जियाँ	दिसम्बर 2009	39.22
आलू	दिसम्बर 2009	123.85
प्याज	अक्टूबर 2009	33.10
फल	नवम्बर 2009	10.64
दूध	दिसम्बर 2009	13.36
अण्डे, मीट, मछली	नबम्बर 2009	29.75
चीनी	दिसम्बर 2009	53.98

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2009-10

को खाद्य पर दी जाने वाली सब्सिडी को भी निशाना बनाया। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत ग़रीबों को दिये जाने वाले खाद्य पदार्थों की क़ीमतों में 1991 के बाद कई बार वृद्धि की गयी। समाहार के तौर पर कहा जा सकता है कि नयी आर्थिक नीति के अन्तर्गत भारत के ग़रीबों की परिस्थिति बद से बदतर हुई है।

6. नवउदारवादी नीतियों के अन्तर्गत रोज़गार :

एक सम्मानजनक और स्थायी रोज़गार की भारत की मेहनतकश जनता की आकांक्षा बहुत पुरानी है और इसके लिए समय-समय पर उन्होंने जाँबाज लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं। लेकिन बेरोज़गारी का राक्षस, अभी-भी वैसे का वैसा ही मुँह फैलाये खड़ा है। आज़ादी के बाद भारतीय बुर्जुआज़ी द्वारा खड़े किये गये सार्वजनिक क्षेत्र में आबादी के एक छोटे हिस्से को स्थायी रोज़गार मिला था। इसी तरह निजी संगठित क्षेत्र में भी आबादी के एक छोटे से हिस्से को रोज़गार मिला, जहाँ वेतन आम तौर पर सापेक्षत: ऊँचे थे। भारतीय मेहनतकश जनता की बड़ी बहुसंख्या आज़ादी के बाद लगातार बेरोज़गारी, अर्द्ध-बेरोज़गारी, मौसमी बेरोज़गारी और छुपी हुई बेरोज़गारी की चक्की में पिसती रही है। 1991 के बाद भारतीय हुक्मरानों द्वारा अपनायी गयी नवउदारवादी नीतियों के तहत भारत में रोज़गार की हालत और भी बिगड़ी है। छोटे मालिकों (छोटे किसानों, दुकानदारों, दस्तकारों) आदि की बड़ी संख्या को इस अरसे के दौरान अपने उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से हाथ धोने पड़े हैं। ग्रामीण क्षेत्रों से विस्थापित होकर, मज़दूरों की क़तारों में शामिल हुए करोड़ों लोगों ने शहरों की ओर काफिले बाँधे हैं। लेकिन शहर इस सारी आबादी को समेट पाने में अक्षम हैं। पहले ही गुब्बारे की तरह फूल रहे शहरों में गाँवों से बेरोज़गारों के झुण्डों का लगातार आना भारतीय हुक्मरानों के लिए चिन्ता का विषय है। इसके कारण शहरी क्षेत्रों में हालात विस्फोटक रूप ले सकते हैं। इस परिस्थिति को सन्तुलित करने के लिए भारतीय हुक्मरानों द्वारा मनरेगा जैसी योजनाएँ शुरू की गयीं ताकि ग्रामीण आबादी को शहरों की ओर आने से रोका जा सके।

सार्वजनिक क्षेत्र का निजीकरण 1991 की नवउदारवादी नीतियों का एक अहम अंग है। 1991 से कदम-ब-कदम धीमी रफ़्तार से भारतीय जनता के ख़ून-पसीने की कमाई से निर्मित सार्वजनिक क्षेत्र को कौड़ियों के दाम देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले किया जाने लगा। निजीकरण की रफ़्तार धीमी होने का एक कारण यह था कि 1991 के बाद एक तो देश में निरन्तर अनिश्चितता का माहौल बना रहा। दूसरा, हुक्मरान इन नीतियों के लागू होने के नतीजे

के तौर पर फैलने वाले जनाक्रोश से भी भयभीत थे। इसलिए वे साम्राज्यवादी एजेंसियों द्वारा तैयार किये गये नवउदारवादी एक्सप्रेस वे पर धीमी रफ़्तार से ही चलना चाहते थे। भारत की संशोधनवादी पार्टियाँ भी इस मार्ग पर लगातार 'स्पीड-ब्रेकर' खड़ा करती रहीं हैं। और मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था की सुरक्षा के लिए चिन्तित इन पार्टियों के साथ जुड़े बुद्धिजीवी भी, नवउदारवादी नीतियों के मार्ग पर तेज़ रफ़्तार से दौड़ने के बुरे नतीजों के बारे में भारतीय हुक्मरानों को समय समय पर चेतावनियाँ देते रहे हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण ने भारत में रोज़गार की स्थिति को बद से बदतर बनाया है। सार्वजनिक क्षेत्र के मज़दूरों-मुलाजिमों की छँटनी, 'स्वैच्छिक' रिटायरमेण्ट योजना के अन्तर्गत लोगों को नौकरी से निकालना, नयी भर्तियों पर रोक व इस क्षेत्र की नौकरियों के एक हिस्से में ठेके पर भर्ती, पिछले दो दशकों के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण ख़ासियतें रही हैं। भारत की मेहनतकश जनता के छोटे-से हिस्से को सार्वजनिक क्षेत्र में पक्का रोज़गार मिलता था, वेतन भी सापेक्षत: ऊँचे थे, लेकिन पिछले दो दशकों के दौरान इस क्षेत्र में रोज़गार के अवसर बड़े स्तर पर सिकुड़े हैं।

वर्तमान सदी के पिछले दशक के कुछ चुनिन्दा वर्षों में भारत में बेरोज़गारी की दर इस प्रकार रही है। जनवरी 2006 में यह 8.35 प्रतिशत थी, जनवरी 2008 में 8 प्रतिशत, जनवरी 2010 और जनवरी 2011 में यह 9.4 प्रतिशत थी (www.tradingeconomics.org)। निश्चित तौर पर यह आँकड़े भारत में बेरोज़गारी की सही तस्वीर पेश नहीं करते। भारत में स्त्रियों की बड़ी बहुसंख्या घरेलू कामों में ही लगी हुई होने के चलते यह 'श्रम बाज़ार' से बाहर है। इसके अलावा करोड़ों वे लोग हैं जिन्हें वर्ष में कुछ महीने ही रोज़गार मिलता है, इन्हें अर्द्ध-बेरोज़गार कहा जाता है। इसके अलावा कृषि पर ज़रूरत से अधिक निर्भर करोड़ों लोग हैं, जो छिपी बेरोज़गारी की कोटि में आते हैं। इन सब तरह के बेरोज़गारों को जोड़ लिया जाये तो भारत में बेरोज़गारी का भयानक रूप सामने आता है।

नवउदारवादी नीतियों के पिछले दो दशकों के दौरान जो रोज़गार पैदा हुआ है वह अधिकतर अनौपचारिक, असंगठित क्षेत्र में ही पैदा हुआ है। जहाँ न तो रोज़गारी की निश्चितता ही है, न ही कोई श्रम क़ानून हैं और न ही जीवन की बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने लायक उजरतें ही हैं। इसलिए जिन्हें सरकार रोज़गारशुदा मानती है उनकी जीवन परिस्थितियाँ बेहद भयानक हैं। (देखें सारणी-12)

सारणी-12 से देखा जा सकता है कि 2004-05 में भारत के कुल 455.7 मिलियन (45 करोड़ 57 लाख) मज़दूरों में से 420.7 मिलियन या 92.3 प्रतिशत अनौपचारिक असंगठित मज़दूर थे और सिर्फ़ 35 मिलियन (साढ़े तीन करोड़) या 7.7 प्रतिशत ही औपचारिक संगठित मज़दूर थे। 1999-2000 में औपचारिक संगठित क्षेत्र में 23.1 मिलियन या 42.1 प्रतिशत अनौपचारिक ग़ैर-संगठित मज़दूर थे। 2004-05 में इनकी संख्या बढ़कर 28.9 मिलियन या 46.2 प्रतिशत हो गयी। दूसरी ओर इस अरसे के दौरान औपचारिक संगठित क्षेत्र में औपचारिक संगठित मज़दूर इस क्षेत्र के कुल मज़दूरों का 57.9 प्रतिशत से घटकर 53.8 प्रतिशत रह गये। यह आँकड़े सिर्फ़ 6 वर्ष की अवधि के हैं। लेकिन इनसे यह रुझान उभरकर सामने आता है कि भारत में जो मामूली-सा औपचारिक संगठित प्रकार का रोज़गार था, उसमें निरन्तर गिरावट होती रही है। निश्चित तौर पर 2005 के बाद इस रुझान में और वृद्धि हुई होगी। सरकार का दावा है कि नवउदारवाद के गुज़रे दो दशकों में अधिकांश समय तक भारत की 45 करोड़ से

अधिक व्यक्तियों की श्रम शक्ति में बेरोज़गारी की दर 6 से 8 प्रतिशत तक रही है जो कि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (NSSO) के देशव्यापी सर्वेक्षण पर आधारित अन्दाज़े हैं। इसके श्रेणियों, पैमानों और सर्वेक्षणों के आधार पर रोज़गारशुदा ग़रीब नाम का एक नयी श्रेणी को ईजाद किया गया है जो यह दिखाता है कि जनता की बड़ी संख्या का रोज़गार के बावजूद कम उजरतों के कारण, उपभोग ख़र्च इतना कम है कि वे ग़रीबी रेखा से नीचे वाली जनता में शामिल होते हैं। एक अन्दाज़े के मुताबिक ऐसे रोज़गारशुदा ग़रीबों की संख्या 10 करोड़ 50 लाख है जो कि कुल मज़दूरों का लगभग एक चौथाई बनते हैं (विश्व बैंक 2010)। लेकिन असल हक़ीक़त यह है कि ग़रीबों की संख्या इससे कहीं अधिक है। दरअसल उपरोक्त

सारणी -12 : सेक्टर व रोजगार की किस्म में सम्बन्ध
कुल मजदूर 1999-2000 से 2004-2005

		कुल रोजगार (मिलियन)		
		अनौपचारिक/ असंगठित मजदूर	औपचारिक/ संगठित मजदूर	कुल
1999-2000	अनौपचारिक/ असंगठित क्षेत्र	339.7 (99.5)	1.8 (0.5)	341.5 (100.00)
	औपचारिक/ संगठित क्षेत्र	23.1 (42.1)	31.8 (57.9)	54.9 (100.00)
	कुल	362.8 (91.5)	33.6 (8.5)	396.4 (100.00)
2004-2005	अनौपचारिक/ असंगठित क्षेत्र	391.8 (99.6)	1.4 (0.4)	393.2 (100.00)
	औपचारिक/ संगठित क्षेत्र	28.9 (46.2)	33.7 (53.8)	62.6 (100.00)
	कुल	420.7 (92.3)	35.0 (7.7)	455.7 (100.00)

नोट : ब्रेकेट वाली संख्याएँ % हैं।
स्रोत : NCEUS (2009)

आँकड़े उपभोग ख़र्च पर आधारित हैं, जो किसी भी सही जाँच-पड़ताल के सामने टिक नहीं सकते। सबसे कम गणना जिसे सरकारी दायरों से भी हिमायत मिलती नज़र आती है, भी 37 प्रतिशत है। सरकारी गणना की असल दिक्कत यह है कि जिन लोगों को रोज़गारशुदा ग़रीबों में नहीं गिना गया वे, वे लोग हैं जिनके पास या तो रोज़गार है ही नहीं या जिनके पास बहुत थोड़े समय के लिए रोज़गार होता है। स्पष्ट है कि वे अधिक ग़रीब हैं और उन्हें गुज़ारे के साधनों की भयंकर कमी से जूझना पड़ता है।

7. और अधिक तीखा हुआ वर्गीय ध्रुवीकरण

नवउदारवादी नीतियों के पिछले दो दशकों के दौरान भारतीय समाज का वर्गीय ध्रुवीकरण और अधिक तीखा हुआ है। कोई भ्रम न पैदा हो इसलिए यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि नवउदारवादी नीतियों की हमारी आलोचना का यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि 1991 से पहले भारत में सब कुछ ठीक था। न ही नवउदारवाद की हमारी आलोचना की ज़मीन नेहरूवादी "समाजवाद" है और न ही हम नवउदारवादी नीतियों की आलोचना करते हुए भारतीय

अर्थव्यवस्था के नेहरूवादी मॉडल की ओर लौटने के समाजिक जनवादी सिद्धान्त के पक्षधर हैं। हमारा मानना है कि भारतीय हुक्मरानों द्वारा 1991 में अपनायी गयी नयी आर्थिक नीति, 'पुरानी' आर्थिक नीति (1947-1980 या 1991) का ही तार्किक नतीजा थी। नयी या नवउदारवादी आर्थिक नीतियों ने भारतीय समाज की पहले से चली आ रही बुराइयों, ग़रीबी, बेरोज़गारी, कमरतोड़ महँगाई, अमीर-ग़रीब के बीच बढ़ रही असमानता, गाँव और शहर की असमानता, क्षेत्रीय सामाजिक, आर्थिक विकास की असामनता आदि को उनके शिखर पर पहुँचा दिया है। देश में पहले से ही जारी अमीर-ग़रीब की असमानता नवउदारवादी नीतियों के तहत नये शिखर छू रहे हैं। फोर्ब्स इण्डिया (दिसम्बर 2009) की एक रिपोर्ट के मुताबिक देश के 52 भारतीय अरबपतियों की कुल आय 2009 में 276 बिलियन अमेरिकी डालर थी जो कि कुल राष्ट्रीय आय का लगभग 25 प्रतिशत थी।

1991 में अपनायी गयी नवउदारवादी नीतियों के अन्तर्गत भारतीय हुक्मरानों का सबसे अधिक ज़ोर अर्थव्यवस्था की विकास दर बढ़ाने पर रहा जिस विकास का हिरावल मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर को बनाया गया। लेकिन यह आज़ादी के बाद अस्तित्व में आये समृद्ध मध्यवर्ग की ज़रूरतें (ऐशो-आराम) को समर्पित था और इस तथाकथित विकास से होने वाला सारा मुनाफ़ा देशी-विदेशी पूँजीपतियों की तिजोरियों में ही गया। भारत का उद्योग कैसे समृद्ध मध्यवर्ग और बुर्जुआ वर्ग की अय्याशी के के सामानों के उत्पादन में लगा हुआ है, यह इस तथ्य से ही स्पष्ट हो जाता है कि 2016 में भारत के कुल घरेलू उत्पादन में ऑटोमोबाइल सेक्टर का हिस्सा 10 प्रतिशत हो जायेगा। 2011 में मानव विकास सूचकांक में भारत का स्थान 134वाँ था जबकि ऑटोमोबाइल सेक्टर का 11वाँ स्थान था। इसके साथ जुड़ा हुआ तथ्य यह है कि 1980-81 से 1993-94 के बीच अमीरों के लिए उत्पादित वस्तुओं, यानी, टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं (Consumer durable) का मैन्यूफैक्चरिंग सेक्टर की मूल्य वृद्धि में हिस्सा दोगुना (2.55 से 5.37 प्रतिशत) हो गया। (दूसरी ओर सभी ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं (Consumer non-durable) भी सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं नहीं होतीं। ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं का कुल औद्योगिक उत्पादन में हिस्सा सिर्फ़ 23.30 प्रतिशत है।) देश में पिछले दो दशकों के 'आर्थिक बूम' के कारण जो समृद्ध वर्ग पैदा हुआ है, इसके विदेशी दौरे भी बढ़े हैं। 1990-91 में भारतीयों की विदेशी यात्राओं का ख़र्च 703 करोड़ रुपये था जो कि 2008-09 में बढ़कर 14,225 करोड़ रुपये हो गया अर्थात लगभग 134 गुणा वृद्धि। पिछले दो दशक भारत में घपलों-घोटालों के दशक भी रहे हैं। देशी-विदेशी पूँजीपतियों ने सरकारी सरपरस्ती के नीचे देश के प्राकृतिक संसाधनों को दोनों हाथों लूटा है। भारत में उपरोक्त 52 अरबपति सिर्फ़ 'इण्डस्ट्रियल बूम' की बदौलत ही अरबपति नहीं बने बल्कि सरकारी सरपरस्ती में ज़मीनों के बड़े टुकड़ों, खनिज पदार्थों और अन्य सरकारी ठेकों पर कब्ज़ों ने भी इनके अरबपति बनने में बड़ी भूमिका अदा की है। इन दो दशकों के दौरान संसद और विधानसभा में बैठने वाले 'जनता के प्रतिनिधि' भी मालामाल हुए हैं। इस समय के दौरान सांसदों और विधायकों की बहुसंख्या करोड़पतियों की है। विदेशी दौरों, देश के भीतर हवाई जहाज, हैलीकॉप्टर यात्राओं पर उन्होंने देश की मेहनतकश जनता की ख़ून-पसीने की कमाई अन्धाधुन्ध उड़ायी है।

नवउदारवाद के तहत 'विकास' की मुख्य एजेंसी रहा प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर पिछले दो दशकों के दौरान ख़ूब बढ़ा-फूला है। सरकारी क्षेत्र के बाद इसका दूसरा नम्बर है। इस सेक्टर

में आठ लाख कम्पनियाँ हैं जिनमें से आधी क़ानूनी तौर पर लाज़िमी रिपोर्टिंग भी नहीं करतीं। इस क्षेत्र में देश के सबसे अधिक आर्थिक व वित्तीय संसाधन संकेन्द्रित हैं और तकनीकी-प्रबन्धकीय अमले की सबसे बड़ी संख्या भी इसी क्षेत्र में है। इस सेक्टर को सरकार की ओर से 2008-2011 तक के तीन वित्तीय वर्षों के दौरान 12 लाख करोड़ की टैक्स छूट और अन्य प्रोत्साहन दिये गये हैं, जिनमें से पाँच लाख करोड़ की टैक्स राहत और अन्य प्रोत्साहन तो सिर्फ़ 2010-11 के वित्तीय वर्ष में ही दिये गये हैं जो कि इस वर्ष के बजट के कुल आकार का 45 प्रतिशत था। यह एक तरह का देश के सबसे बड़े अमीर तबके की सेवा के लिए सबसे बड़ा ख़र्च था। देश के करोड़ों मज़दूरों का अतिरिक्त मूल्य लूटकर कमाये बेहिसाब मुनाफ़ों और सरकारी सरपरस्ती में देश के प्राकृतिक माल खजानों की अन्धी लूट, टैक्स छूटों से हासिल मुनाफ़ों से अफरीं हुई 'देशी' कम्पनियाँ अब विदेशों में बड़े स्तर पर निवेश करने लगी हैं। ख़ासकर अमीर देशों में। 2010 में भारतीय कम्पनियाँ अमेरिका में तीसरी सबसे बड़ी निवेशक थीं। निजी कम्पनियों के मालिकों और मैनेजरों के जेब में जाने वाले ऑपरेटिंग अधिशेषों (Operating Surpluses) में नवउदारवाद के पिछले दो दशकों में तीखी वृद्धि हुई है। 1980 के दशक में शुद्ध घरेलू उत्पादन (NDP) का ये 45 प्रतिशत थे जबकि 1991 से 2007-08 के बीच यह लगभग 70 प्रतिशत थे। मार्च 2010 में ख़त्म हुए वित्तीय वर्ष में देश की चुनिन्दा 99 कम्पनियों की लाभांश आय 14945 करोड़ रुपये थी। इसमें टाटा ग्रुप का हिस्सा 3833.2 करोड़ रुपये था। इसमें टाटा ग्रुप के मुख्य एग्ज़ीक्युटिव अधिकारियों (सी.ई.ओ.) के वेतन और भत्ते शामिल नहीं थे। टाटा ग्रुप के 'प्रमोटरों' की यह लाभांश आमदनी ग़रीबी रेखा उपभोग (जो कि दयनीय 5475 रुपये सालाना है), जो कि 44 करोड़ भारतीयों की पहुँच से बाहर है, से 70 हजार गुणा अधिक है। अगर इसमें सी.ई.ओ. के वेतन और भत्ते भी जोड़ लिए जायें, तो देश में अमीर-ग़रीब की असमानता की भयानक परिस्थिति के दीदार किये जा सकते हैं।

दूसरी ओर देश की मेहनतकश जनता की गुज़रे दो दशकों के दौरान बद से बदतर हुई हालत की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। गुज़रे दो दशकों के दौरान देश में छोटे मालिकों की संख्या में बड़ी कमी आयी है और इनका बड़ा हिस्सा मज़दूरों की क़तारों में शामिल हुआ है। दूसरी ओर देश में एक बड़ा मध्यवर्ग अस्तित्व में आया है। मध्यवर्ग की इस वृद्धि में सेवा क्षेत्र के फैलाव ने बड़ी भूमिका अदा की है। यह मध्यवर्ग मुख्यत: शहरों (उनमें से भी बड़े शहरों) में संकेन्द्रित है। इस मध्यवर्ग की ऊपर की परत (उच्च मध्यवर्ग) पूरी तरह पूँजीवादी व्यवस्था से नाभिनालबद्ध हो चुकी है। इसका देश की मेहनतकश आबादी के साथ कोई साझापन नहीं रह गया है। यह पूँजीवादी व्यवस्था की सलामती चाहती है और इसे बदलने के हर जनान्दोलन की घोर विरोधी है। मध्यवर्ग का सबसे बड़ा हिस्सा निम्न मध्यवर्ग है, जिसकी आर्थिक स्थिति देश के बहुसंख्यक ग़रीबों से भले ही बेहतर है, लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के उतारों-चढ़ावों में इसकी गुज़र-बसर हमेशा अनिश्चित रहती है। मध्यवर्ग के इस हिस्से में अथाह क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ हैं। इस वर्ग को भारत की समाजवादी क्रान्ति के पक्ष में जीतना भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के सामने एक अहम कार्यभार है। इसी तरह मध्यवर्ग की मध्यवर्ती परत को तटस्थ बनाना भी भारत में क्रान्ति की जीत की गारण्टी करने के लिए बहुत अहम है।

'भारतीय' पूँजी आज पूरी तरह साम्राज्यवादी पूँजी के साथ घुलमिल चुकी है। भारतीय बुर्जुआज़ी आज साम्राज्यवाद के 'जूनियर पार्टनर' की भूमिका अदा कर रहा है। इसका कोई भी

हिस्सा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में किसी प्रकार का बदलाव नहीं चाहता और न ही इसके किसी भी हिस्से का साम्राज्यवाद के साथ कोई विरोध है। साम्राज्यवादी पूँजी और भारतीय बुर्जुआज़ी के हितों के बीच जो अन्तरविरोध हैं, वे उनके बीच के ग़ैर-शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध ही हैं। इसलिए आज भारतीय बुर्जुआज़ी के किसी हिस्से में से 'राष्ट्रीय' 'देशभक्त', 'साम्राज्यवाद विरोधी' बुर्जुआज़ी ढूँढना हद दर्ज़े का भोलापन है, जैसा कि हमारे देश के अधिकतर नव-नरोदनिक ग्रुप कर रहे हैं।

दूसरी ओर भारतीय ग्रामीण कृषि में पूँजीवादी विकास की मुख्य एजेंसी धनी किसान (ग्रामीण बुर्जुआज़ी) हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्र में हो रहे पूँजीवादी विकास के फल इसी वर्ग की झोली में गिरे हैं। वर्तमान व्यवस्था में किसी भी तरह के बदलाव का यह वर्ग घोर विरोधी है। भारत में वर्तमान किसान आबादी का बड़ा हिस्सा ग़रीब व मँझोले किसान हैं। भारत में ग़रीब किसान भारत के अर्द्ध-सर्वहारा हैं, जिन्हें हासिल थोड़ी-सी भूमि उनका गुज़ारा चला पाने में अक्षम है, इसलिए उन्हें उत्पादन के साधनों के मामूली स्वामित्व के बावजूद अपनी श्रम शक्ति बेचनी पड़ती है। भले ही भारत में हुए पूँजीवादी विकास के कारण भारत में किसानी की संख्या में तीखी गिरावट आयी है और भविष्य में इनकी संख्या और घटेगी लेकिन फिर भी अपने आप में (Absolute Numbers) यह एक बड़ा वर्ग है। और भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन भारत में विजयी क्रान्ति के लिए इस वर्ग की अनदेखी नहीं कर सकता। भारत में समाजवादी क्रान्ति में भारत का ग़रीब किसानी मज़दूर वर्ग की एक भरोसे योग्य संगी है। लेकिन हम यहाँ यह ज़रूर रेखांकित करना चाहेंगे कि भारतीय क्रान्ति की नियति तय करने में शहरी मध्यवर्ग (निम्न व मध्य-मध्यवर्ग) के मुकाबले किसानी की भूमिका घटती जा रही है और आने वाले समय में यह और घटेगी।

समाहार के तौर पर:
एक नये संकट की दहलीज पर भारत

1947 के बाद एक धीमी क्रमिक प्रक्रिया में भारत में विकसित हुई पूँजीवादी व्यवस्था अपने अन्तर्निहित नियमों के मुताबिक थोड़े-थोड़े अरसे के बाद संकटग्रस्त होती रही है। 1965 -80 के आर्थिक गतिरोध (मन्दी) को तोड़ने के लिए भारतीय बुर्जुआज़ी ने 1980 से नवउदारवादी (पहला दौर) नीतियों की शुरुआत की थी। इन नीतियों पर व्यवहार की बदौलत जब भारतीय अर्थव्यवस्था 1980 के अन्त में और अधिक गहरे संकट में जा फँसी तो 1991 से नवउदारवादी नीतियों (दूसरे दौर) पर सम्पूर्ण व्यवहार शुरू हुआ। नवउदारवाद के गुज़रे दो दशकों के दौरान जब जब भारतीय अर्थव्यवस्था संकट में घिरी तो भारतीय हुक्मरानों इसे और अधिक आर्थिक सुधारों (उदारीकरण, निजीकरण, भूमण्डलीकरण) के टीके लगाते रहे हैं। अब एक बार फिर भारत एक गहरे आर्थिक संकट की दहलीज़ पर है। इस बार यह संकट विश्वव्यापी है और भारत का आर्थिक संकट इस विश्वव्यापी आर्थिक संकट का अंग है।

भारत अपने निर्यातों के लिए काफ़ी हद तक (लगभग 31 प्रतिशत) अमेरिका और यूरोपीय यूनियन पर निर्भर है। पिछले पाँच वर्षों से यह क्षेत्र भयानक आर्थिक संकट का शिकार है। इसके कारण इन देशों को भारत से निर्यात भी कम हो रहे हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में निर्यातों की अहम भूमिका रही है। अब भारतीय उत्पादों के लिए निर्यात बाज़ार

सिकुड़ने से भारत की आर्थिक विकास दर भी सिकुड़ रही है। 2003-04 से 8 प्रतिशत के आस-पास चल रही भारत की कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर 2011-12 में 6.3 प्रतिशत रह गयी और इस वित्तीय वर्ष की अन्तिम तिमाही के दौरान यह 5.3 प्रतिशत थी। डालर के मुकाबले भारतीय मुद्रा का मूल्य लगातार लड़खड़ा रहा है। इसी वर्ष 31 मई को इसमें रिकॉर्ड गिरावट दर्ज़ की गयी जब डालर के मुकाबले इसका मूल्य 56.52 रुपये हो गया था। भारतीय अर्थव्यवस्था को डूबता देख कई विदेशी निवेशक भागने लगे। 2012 की पहली तिमाही में ही विदेशी निवेशकों ने यहाँ से 1000.7 करोड़ डालर की पूँजी निकाल ली जो कि इसी वर्ष यहाँ आयी कुल विदेशी पूँजी का 43 प्रतिशत थी। भारत का बजट व व्यापार घाटा नये शिखर छू रहा है।

इस हालत से निपटने के लिए भारतीय हुक्मरानों ने फिर वही पुराना नुस्खा अपनाया। यानी बीमार भारतीय अर्थव्यवस्था को आर्थिक सुधारों का एक और ज़ोरदार टीका लगाया। 13-14 सितम्बर 2012 को भारत सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था के परचून व्यापार सहित अन्य कई क्षेत्रों में विदेशी पूँजी को अधिक छूटें दी हैं। इसके साथ ही डीज़ल व रसोई गैस पर दी जाने वाली सब्सिडी पर बड़ा कट लगाया है। इसके साथ ही सरकारी संस्थानों के निजीकरण की रफ़्तार को भी तेज़ करने के फैसले लिए गये हैं। कहने का अर्थ यह है कि भारतीय हुक्मरानों ने आर्थिक संकट का बोझ एक बार फिर भारत की मेहनतकश जनता पर लाद दिया है।

उपरोक्त फैसलों के बाद भारत के वित्तीय मन्त्री चिदम्बरम ने घोषणा की है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के बुरे दिन ख़त्म हो गये हैं (पंजाबी ट्रिब्यून, 9 अक्टूबर 2010)। लेकिन वित्त मन्त्री के इस बयान में कुछ भी सच्चाई नज़र नहीं आती। भारत में निर्यातों में लगातार गिरावट जारी है। और व्यापार घाटा लगातार बढ़ता जा रहा है। सितम्बर महीने में भारत के निर्यात 10. 78 प्रतिशत गिरकर 23.69 बिलियन डालर रह गये। लेकिन इस समय आयातों में 5 प्रतिशत वृद्धि हुई है। सितम्बर 2012 में यह 41.71 बिलियन डालर हो गये जबकि सितम्बर 2011 में यह 39.75 बिलियन डालर थे। इसका नतीजा एक महीने में 18 बिलियन डालर का घाटा था जोकि पिछले 11 महीनों के दौरान सबसे अधिक था। (दि ट्रिब्यून, 12 अक्टूबर 2012)

सार्वजनिक सब्सिडियों पर बड़ी कटौतियों के बावजूद सरकार के राजकोषीय घाटे में वृद्धि जारी है। यह अप्रैल-अगस्त 2012 में 3.38 ट्रिलियन रुपये था या 2012-2013 के पूरे वित्तीय वर्ष के बजट लक्ष्य का 65.7 प्रतिशत था। (दि ट्रिब्यून, 29 सितम्बर 2012)

भारत सरकार के आर्थिक सुधारों के उपरोक्त फैसलों के बावजूद अन्तराष्ट्रीय मुद्राकोष और अन्य रेटिंग एजेंसियों ने भारत के कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर की भविष्यवाणियों में कमी की है। 2012-13 के वित्तीय वर्ष के लिए भारत के कुल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने 4.9 प्रतिशत, एशिया विकास बैंक ने 5.6 प्रतिशत, मारगन स्टैनली ने 5.1 प्रतिशत और मूडी ने 6 प्रतिशत रहने की भविष्यवाणी की है (द ट्रिब्यून, 10 अक्टूबर 2012)।

भारतीय अर्थव्यवस्था का वर्तमान संकट विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के संकट का अंग है और विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के फिलहाल इस संकट से उभरने की दूर-दूर तक सम्भावनाएँ नज़र नहीं आतीं। इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था के बुरे दिन जारी रहने और भविष्य में इसकी हालत और अधिक बिगड़ने की सम्भावनाएँ अधिक हैं।

टिप्पणियाँ

1. 'हेज फण्ड' वह माल, मुद्रा या वित्तीय विनिमय है जो किसी अन्य विनिमय से विपरीत प्रभाव पैदा करने की प्रवृत्ति रखता है, और पिछले से होने वाले नुकसान को कम से कम करने में भूमिका अदा करता है। इस तरह एक एजेण्ट के पास जमा मुद्रा के मूल्य में गिरावट के कारण होने वाले सम्भावित नुकसान की उसी मुद्रा की एक स्थिर क़ीमत पर पहले से ख़रीद करके पूर्ति की जा सकती है। 'फ्यूचर्स' और 'ऑप्शन्स' काण्ट्रैक्टों को मालों के और ऋणपत्रों के विनिमय को 'हेज' करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। हालाँकि कहीं भी हेज फण्डों की कोई प्रमाणित परिभाषा नहीं है, लेकिन उनमें कुछ बातें समान हैं। वे सीमित हिस्सेदारियों के रूप में होते हैं जो आम तौर पर विदेशों में होती हैं, इसलिए मोटे तौर पर अनियन्त्रित होते हैं। वे मोटी फीसें वसूल करते हैं, साधारणत: मुनाफ़े का 20 प्रतिशत तक वे सिर्फ़ अमीरों के लिए होते हैं जिनके सामने यह सापेक्ष कमाई के स्थान पर निरपेक्ष कमाई की सम्भावना पेश करते हैं - यानी कि वे पैसा कमाने पर केन्द्रित करते हैं, न कि किसी सूचक अंक को पीछे छोड़ने पर। क्या हेज फण्ड बड़े स्तर पर सट्टेबाजी चलाते हैं? बहुत सारे ख़ुद को सट्टेबाज नहीं बल्कि हुण्डी-व्यापारी समझते हैं। इसका मतलब यह है कि वे ऐसी परिसम्पत्तियों की तलाश में रहते हैं जिनकी क़ीमत वक़्ती तौर पर अपने बुनियादी मूल्य से नीचे होती है। जिन्हें बेचना वे बहुत महँगा समझते हैं या ख़रीदते हुए बहुत सस्ता करने के बारे में सोचते हैं। ऐसा करते हुए, सैद्धान्तिक तौर पर, हेज फण्ड बाज़ार को अधिक कुशल बनाते हैं। कुछ हेज फण्डों को पड़े घाटों के चलते, हुण्डी व्यापार अब बेरोक सट्टेबाज़ी के लिए किसी काल्पनिक शब्द जैसा लग सकता है। ('रिस्क बिजनेस, द इकनॉमिक टाइम्स, लण्डन, 17 अक्टूबर, 1998)

2. 'स्वॉप' एक ऐसा कारोबारी विनिमय है जिसमें एक ऋणपत्र एक ख़रीददार उसी मूल्य के किसी अन्य ऋणपत्र की ख़रीद के बदले में बेचता है। इसके पीछे के विचार दोनों पार्टियों द्वारा सम्भाले जा रहे पोर्टफोलियो की गुणवत्ता में दिखने योग्य बेहतरी लाने का होता है।

3. 'ऑप्शन्स' काण्ट्रैक्ट लाभपत्र को एक वित्तीय परिसम्पत्ति या माल को तयशुदा क़ीमत पर तयशुदा समय के भीतर ख़रीदने या बेचने का हक देता है। लाभपत्र या तो आप्शन्स का इस्तेमाल कर सकता है या फिर इसे ख़ारिज कर देता है। यह एक तरह से परिसम्पत्तियाँ माल की क़ीमत के परिवर्तनों की दर पर बाज़ी लगाने जैसा है।

4. 'फ्यूचर्स' काण्ट्रैक्ट मालिक को एक तयशुदा मात्रा में मालों या वित्तीय परिसम्पत्तियों को एक पहले से तय क़ीमत पर किसी ख़ास भविष्य की तारीख को ख़रीदने या बेचने का हक देता है। यह एक तरह से माल या परिसम्पत्ति की भावी क़ीमत पर बाज़ी लगाने जैसा है।

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन

● दीपायन बोस

(पहली किस्त)

(इस लेख की यह पहली किस्त सबसे पहले 'दायित्वबोध' के जनवरी-मार्च 2008 अंक में प्रकाशित हुई थी। अपरिहार्य कारणों से 'दायित्वबोध' का प्रकाशन बन्द हो जाने के कारण इसकी आगे की किस्तें नहीं छप सकीं। करीब पाँच वर्ष का समय बीत जाने के कारण हम इसकी पहली किस्त से ही फिर से इस महत्वपूर्ण लेख का प्रकाशन शुरू कर रहे हैं। – स.)

कुछ चीज़ें धकेल दी गयी हैं
अँधेरे में
उन्हें बाहर लाना है,
जड़ों तक जाना है
और वहाँ से ऊपर उठना है
टहनियों को फैलाते हुए
आकाश की ओर।
सदी के इस छोर से
उठानी है फिर आवाज़
'मुक्ति' शब्द को
एक घिसा हुआ सिक्का होने से
बचाना है।
जनता की सुषुप्त-अज्ञात मेधा तक जाना है
जो जड़-निर्जीव चीज़ों को
सक्रिय जीवन में रूपान्तरित करेगी
एक बार फिर।
जीवन से अपहृत चीज़ों की
बरामदगी होगी ही एक न एक दिन।
आकाश को प्राप्त होगा
उसका नीलापन,

वृक्षों को उनका हरापन,
तुषारनद को उसकी श्वेताभा
और सूर्योदय को उसकी लाली
तुम्हारे रक्त से...
(शशि प्रकाश)

इतिहास की कई एक हारी गयी लड़ाइयाँ ऐसी भी हैं जिन्होंने देश-विदेश के जीवन और भविष्य की दिशा को जीती गयी लड़ाइयों की तुलना में कम नहीं, बल्कि कभी-कभी तो कुछ अधिक ही प्रभावित किया। ऐसी अल्पजीवी घटनाएँ धूमकेतु के समान क्षितिज पर प्रकट हुईं और विलुप्त हो गयीं, लेकिन लोक-स्मृतियों में अपना अमिट स्थान सुरक्षित कर गयीं और आने वाली पीढ़ियों को लम्बे समय तक, इतिहास-निर्माण के लिए आगे डग भरने को प्रेरित करती रहीं। 1967 का नक्सलबाड़ी किसान-उभार भारतीय इतिहास के स्वातन्त्र्योत्तर काल की एक ऐसी ही महान ऐतिहासिक घटना थी।

नक्सलबाड़ी का क्रान्तिकारी जन-उभार एक ऐतिहासिक विस्फोट की तरह घटित हुआ जिसने भारतीय शासक वर्ग के प्रतिक्रियावादी चरित्र और नीतियों को एक झटके के साथ नंगा करने के साथ ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) सहित संशोधनवाद और संसदमार्गी वामपन्थ के विश्वासघाती जन-विरोधी चरित्र को उजागर करते हुए भारत के श्रमजीवी जनसमुदाय को यह सन्देश दिया कि सर्वहारा क्रान्ति के हरावल दस्ते के निर्माण एवं गठन के काम को नये सिरे से हाथ में लेना होगा। नक्सलबाड़ी के तत्काल बाद, सर्वहारा वर्ग की एक अखिल भारतीय पार्टी के गठन की दिशा में तूफ़ानी सरगर्मियों के साथ एक नयी शुरुआत हुई, लेकिन जल्दी ही यह नयी शुरुआत "वामपन्थी" आतंकवाद के भँवर में जा फँसी। तमाम घोषणाओं और दावों के बावजूद, कड़वा ऐतिहासिक तथ्य यह है कि देश स्तर पर सर्वहारा वर्ग की एक एकीकृत क्रान्तिकारी पार्टी नक्सलबाड़ी के उत्तरवर्ती प्रयासों के परिणामस्वरूप वस्तुतः अस्तित्व में आ ही नहीं सकी। 1969 में जिस भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले) की घोषणा हुई, वह पिछले सैंतीस वर्षों से कई ग्रुपों और संगठनों में बँटी हुई, एकता और फूट के अनवरत सिलसिले से गुजरती रही है। नक्सलबाड़ी की मूल प्रेरणा से गठित जो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन भाकपा (मा-ले) में शामिल नहीं हुए थे, उनकी भी यही स्थिति रही है। इन सभी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों के जिस समूह को कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर कहा जाता रहा है, उनमें से कुछ आज भी "वामपन्थी" दुस्साहसवादी निम्न-पूँजीवादी लाइन के संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण को अमल में ला रहे हैं, कुछ दक्षिणपन्थी सिरे की ओर विपथगमन की प्रक्रिया में हैं तो कुछ सीधे संसदमार्गी वामपन्थियों की पंगत में जा बैठे है, कुछ का अस्तित्व बस नाम को ही बचा हुआ है तो कुछ बाक़ायदा विसर्जित हो चुके हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो नववामपन्थी "मुक्त चिन्तन" की राह पकड़ कर चिन्तन कक्षों में मुक्ति के नये सूत्र ईजाद कर रहे हैं। इस त्रासद स्थिति के कारणों की पड़ताल ज़रूरी है और आगे हम ऐसा करने की एक कोशिश भी करेंगे, लेकिन इतना तय है कि नक्सलबाड़ी में 1967 में घटी घटना भारतीय इतिहास का एक मोड़-बिन्दु और भारतीय वामपन्थ के

इतिहास का एक सन्दर्भ-बिन्दु थी। इस घटना ने, और यहाँ से शुरू हुई मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीतिक धारा ने पूरे भारतीय राजनीतिक परिदृश्य को, सामाजिक ताने-बाने को और सांस्कृतिक-साहित्यिक आन्दोलन को गहराई से प्रभावित किया। भारतीय समाज और राजनीति का स्वरूप वैसा कत्तई नहीं रह गया जैसा कि वह पहले था। बुर्जुआ मीडिया ने क्रान्तिकारी वामपन्थ के लिए एक नया शब्द ईजाद किया – नक्सलवाद, और पश्चिम बंगाल के दार्जीलिंग जिले के उस सुदूर ग्रामीण अंचल ने इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित करा लिया। आज अपने ढंग से, बुर्जुआ राजनीतिज्ञ और व्यवस्था के सिद्धान्तकार-सलाहकार भी स्वीकार करते हैं कि "नक्सलवाद समस्या" कानून-व्यवस्था की नहीं बल्कि सामाजिक-आर्थिक है और इसका समाधान भी सामाजिक-आर्थिक ही हो सकता है।

नक्सलबाड़ी का क्रान्तिकारी जन-उभार भारत में क्रान्तिकारी वामपन्थ की नयी शुरुआत और संशोधनवादी राजनीति से निर्णायक विच्छेद की एक प्रतीक घटना सिद्ध हुआ। इसने मज़दूर-किसान जनता के सामने राज्यसत्ता के प्रश्न को एक बार फिर केन्द्रीय प्रश्न बना दिया। तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा वायलार और नौसेना विद्रोह के दिनों के बाद, एक बार फिर देशव्यापी स्तर पर जनसमुदाय की क्रान्तिकारी ऊर्जा और पहलक़दमी निर्बन्ध हुई, लेकिन "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के विचारधारात्मक विचलन और विरासत के तौर पर प्राप्त विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण भारतीय सामाजिक-आर्थिक संरचना एवं राज्यसत्ता की प्रकृति की ग़लत समझ और उस आधार पर निर्धारित क्रान्ति की ग़लत रणनीति एवं आम रणकौशल के परिणामस्वरूप यह धारा आगे बढ़ने के बजाय गतिरोध और विघटन का शिकार हो गयी। अब पिछले चार दशकों में गंगा में काफ़ी पानी बह चुका है। 1967 में सामाजिक संक्रमण की जो दिशा थी, उस दिशा में यात्रा काफ़ी आगे के एक सुनिश्चित मुक़ाम तक पहुँच चुकी है। प्रतिक्रान्तिकारी ढंग से, ऊपर से, क्रमिक विकास के रास्ते से, शासक वर्गों द्वारा किये पूँजीवादी भूमि-सुधारों ने किसान आबादी के विभेदीकरण, सर्वहाराकरण और विस्थापन को तीव्र करने के साथ ही गाँवों में भी पूँजी और श्रम के अन्तरविरोध को एकदम स्पष्ट और अत्यधिक तीखा बना दिया है। पूँजीवादी माल-उत्पादन की प्रणाली का वर्चस्व वहाँ निर्णायक ढंग से स्थापित हो चुका है और प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों का दायरा अत्यधिक संकुचित हो चुका है। देश में देशी-विदेशी पूँजीपतियों के उद्योग-धन्धों और औद्योगिक सर्वहारा आबादी का भारी विस्तार हुआ है। भूमण्डलीकरण के दौर की नवउदारवादी नीतियों को स्वीकार कर भारतीय पूँजीपति वर्ग ने राजकीय उद्योगों का लगातार, बड़े पैमाने पर निजीकरण किया है और विदेशी पूँजी के लिए राष्ट्रीय बाज़ार को लगभग पूरी तरह से खोल दिया गया है। भारतीय पूँजीपति वर्ग आज की नयी परिस्थितियों में, विश्व पूँजीवादी तन्त्र में साम्राज्यवादी लुटेरों के कनिष्ठ सहयोगी एवं भागीदार की भूमिका में व्यवस्थित हो चुका है। कृषि और उद्योग – दोनों ही क्षेत्रों में आज देशी-विदेशी पूँजी और श्रम के बीच का अन्तरविरोध एकदम स्पष्ट हो चुका है।

1960 के दशक में भी समाज-विकास की यही दिशा थी, लेकिन तब एक संक्रमणशील तरल परिस्थिति थी और विकासमान सारभूत यथार्थ को पहचानकर क्रान्ति की मंज़िल का निर्धारण उच्च विचारधारात्मक क्षमता वाले परिपक्व नेतृत्व, गहन पर्यवेक्षण एवं अध्ययन तथा राजनीतिक वाद-विवाद की एक लम्बी प्रक्रिया की माँग करता था। नक्सलबाड़ी से उभरा नेतृत्व

ऐसा नहीं था, और "वामपन्थी" संकीर्णतावाद ने जनवादी ढंग से विचारों के आदान-प्रदान की सम्भावनाओं का गला घोंट दिया। चीनी क्रान्ति के मार्ग के अनुसरण का नारा दिया गया, लेकिन उस पर भी यदि जनदिशा लागू करते हुए अमल किया जाता तो शायद अनुभवों के समाहार से सही नतीजों तक पहुँचा जा सकता था। पर पहले "वामपन्थी" आतंकवाद और फिर दक्षिणपन्थी विचलनों ने इस सम्भावना के द्वार भी रुद्ध कर दिये। आज पीछे मुड़कर जब हम इतिहास को देखते हैं और विश्लेषण-समाहार करते हैं, तो ज़ाहिर है कि चार दशक पहले के समय में पीछे लौटकर ग़लतियों को ठीक नहीं किया जा सकता। तब से भारतीय समाज काफ़ी आगे निकल आया है। जो 1967 या 1970 में हो सकता था या होना चाहिए था, आज उसकी स्थिति ही नहीं है। नक्सलबाड़ी किसान-उभार आज नहीं हो सकता। उस दौरान, जहाँ तक, जिस हद और मुकाम तक, चीज़ें सही ढंग से विकसित हुईं, वह हमारी विरासत है लेकिन उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती। इतिहास निरन्तरता और परिवर्तन के द्वन्द्व से आगे बढ़ता है। नक्सलबाड़ी और वहाँ से पैदा हुई क्रान्तिकारी वाम धारा के सन्दर्भ में, निरन्तरता के पहलू पर परिवर्तन का पहलू आज प्रधान है। यानी हम वस्तुगत परिस्थितियों और क्रान्ति की मनोगत शक्तियों – इन दोनों ही के सन्दर्भ में एक नये दौर में जी रहे हैं। फिर भी यह तय है कि उस दौर के इतिहास के सही, वस्तुपरक सार-संकलन के बिना, इस दौर में भी कोई नयी शुरुआत आगे नहीं बढ़ सकती। जो विचारधारात्मक भटकाव, पहुँच और पद्धति की जो ग़लतियाँ उस समय सही कार्यभार और सही मार्ग के निर्धारण में बाधक बनी थीं, उनका यदि सही-सटीक, बेलागलपेट विश्लेषण नहीं किया गया तो वही ग़लतियाँ किसी भी नयी यात्रा को बार-बार विपथगामी बनाती रहेंगी। यह जानना ही होगा कि अतीत के किन प्रेतों से हमें पीछा छुड़ाना है और अतीत की किस विरासत को आत्मसात करके उसे आगे विस्तार देना है।

इतिहासग्रस्त होकर इतिहास का निर्माण नहीं किया जा सकता। इतिहास के प्रेत तब तक किसी आन्दोलन या देश का पीछा करते रहते हैं जबतक कि उसके सभी सकारात्मक-नकारात्मक अनुभवों का समाहार करके उन्हें आत्मसात न कर लिया जाये और फिर इसके बाद भी, हम जब कभी नयी परिस्थितियों के रूबरू होते हैं तो नयी ज़मीन पर खड़े होकर, एक बार फिर इतिहास के साथ आलोचनात्मक रिश्ता क़ायम करते हैं। इतिहास, वस्तुतः अतीत के साथ वर्तमान का निरन्तर जारी संवाद होता है। इतिहासग्रस्तता से मुक्ति और नयी परिस्थितियों में भारत में सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी – इन दोनों ही उद्देश्यों से (जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं), आज नक्सलबाड़ी का आलोचनात्मक पुनरावलोकन ज़रूरी है। जैसा कि हम कह चुके हैं, आज नक्सलबाड़ी और वहाँ से शुरू हुई प्रक्रिया को, उसकी ग़लतियाँ सुधारकर दुहराया नहीं जा सकता। लेकिन नक्सलबाड़ी से शुरू हुई प्रक्रिया की विफलता और विपथगमन और तज्जन्य दीर्घकालिक गतिरोध के कुछ बुनियादी कारण ऐसे भी हैं जिन्हें समझना आज बेहद ज़रूरी है। इसी उद्देश्य से यहाँ हम नक्सलबाड़ी किसान-उभार और वहाँ से शुरू हुए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास की चर्चा करेंगे। ज़ाहिर है कि नक्सलबाड़ी की ऐतिहासिक महत्ता और विफलता के आधारभूत कारणों की पूरे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास की पृष्ठभूमि के बिना ठीक-ठीक शिनाख़्त नहीं की जा सकती। नक्सलबाड़ी भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का एक नया मुकाम था, पर यह उस इतिहास की निरन्तरता से विच्छिन्न कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यूँ कहें कि नक्सलबाड़ी और वहाँ से शुरू हुई कम्युनिस्ट क्रान्किारी धारा के सिर पर भी इतिहास का एक

बोझ था, जिससे वह उबर नहीं सकी। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का एक नया मोड़-बिन्दु होने के बावजूद, नक्सलबाड़ी और उससे जन्मी नयी धारा ऐतिहासिक निरन्तरता के कुछ बुनियादी नकारात्मक पक्षों से मुक्त नहीं हो सकी। आगे हम देखेंगे कि इन सभी नकारात्मक पक्षों की कुंजीभूत कड़ी थी विचारधारात्मक कमज़ोरी जिससे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन शुरू से ही ग्रस्त था। हम इस कमज़ोरी की निरन्तरता के वस्तुगत ऐतिहासिक कारण पर भी अपने कुछ अनन्तिम विचार संक्षेप में रखेंगे। यह चर्चा इसलिए भी ज़रूरी है कि हम समझ सकें कि नक्सलबाड़ी और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की सकारात्मक-नकारात्मक – दोनों ही उपलब्धियों के लिए ऐतिहासिक संयोग-दुर्योग या कुछ व्यक्तियों की भूमिका बुनियादी नहीं थी। हाँ, नेतृत्व की भूमिका इस मायने में ज़रूर अहम थी कि इतिहास का सही-सटीक समाहार करने और ठोस परिस्थितियों का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल तय करने का काम उसे ही करना था। हम यहाँ कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास के विस्तार में तो नहीं जा सकते, लेकिन इसके कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं और मुक़ामों का यहाँ पृष्ठभूमि के तौर पर उल्लेख ज़रूर करेंगे जो कहीं न कहीं नक्सलबाड़ी किसान उभार से जन्मे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्ता और विफलता के ऐतिहासिक मूल तक पहुँचने में हमारी मदद करेंगे।

भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास की कुछ बातें : एक सामान्य परिप्रेक्ष्य

भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का इतिहास लगभग नौ दशक पुराना है। नक्सलबाड़ी किसान उभार के समय तक यह आधी शताब्दी की यात्रा पूरी कर चुका था। इस पूरी यात्रा के दौरान इसने गौरवशाली संघर्षों और शौर्यपूर्ण बलिदानों के अनेक कीर्तिस्तम्भ स्थापित किये, लेकिन यह विचारणीय मुद्दा आज भी हमारे सामने यक्षप्रश्न की तरह खड़ा है कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन पर कम्युनिस्ट धारा अपना राजनीतिक वर्चस्व क्यों नहीं स्थापित कर पायी? वह भारतीय पूँजीपति वर्ग और उसकी प्रतिनिधि राजनीतिक पार्टी के हाथों से राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व क्यों नहीं छीन पायी? इसके कारण हम किसी ऐतिहासिक संयोग या कुछ व्यक्तियों की भूमिका में नहीं ढूँढ़ सकते। ऐसा करना अनैतिहासिक होगा।

बीसवीं शताब्दी के समूचे भारतीय इतिहास का यदि सिंहावलोकन किया जाये और उसके प्रमुख मोड़-बिन्दुओं की गहन पड़ताल की जाये तो कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता के बुनियादी कारणों की शिनाख़्त की जा सकती है। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की सारी कमज़ोरियों की कुंजीभूत कड़ी रही है इसकी विचारधारात्मक कमज़ोरी। इस कमज़ोरी के कारण ही, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, उस दौर में भी, जबकि यह संशोधनवाद के दलदल में नहीं जा धँसी थी और बुनियादी तौर पर इसका चरित्र सर्वहारावर्गीय था, कभी भी संगठन के बोल्शेविक उसूलों के अनुरूप इस्पाती साँचे में ढली हुई और जनवादी केन्द्रीयता पर अमल करने वाली पार्टी के रूप में काम नहीं करती रही थी। पार्टी-गठन के बाद लम्बे समय तक इसका ढाँचा ढीला-ढाला और संघात्मक बना रहा और लेनिनवादी अर्थों में इसका नेतृत्वकारी निकाय भी संगठित नहीं था। पहली बार, ब्रिटेन, जर्मनी और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों के

एक संयुक्त पत्र (मई, 1932), 'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल' में प्रकाशित एक लेख (फरवरी-मार्च, 1933), और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के एक और पत्र (जुलाई, 1933) द्वारा भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के ग्रुपों में बिखरे होने, ग़ैर बोल्शेविक ढाँचा एवं कार्यप्रणाली तथा पार्टी-निर्माण विषयक कार्यभारों की उपेक्षा की आलोचना करने और आवश्यक सुझाव दिये जाने के बाद, दिसम्बर 1933 में 'भाकपा की अस्थायी केन्द्रीय कमेटी के केन्द्रक' का गठन हुआ, जिसे कुछ और लोगों को सहयोजित करके बाद में केन्द्रीय कमेटी का नाम दे दिया गया। इसके बाद ढाई वर्षों तक पार्टी महासचिव पद के कामचलाऊ प्रबन्ध के तहत कोई न कोई सम्हालता रहा। अप्रैल 1936 में पी.सी. जोशी के महासचिव चुने जाने के बाद यह स्थिति समाप्त हो सकी। लेकिन इसके बाद भी पार्टी के बोल्शेविकीकरण की प्रक्रिया को कभी भी सहज ढंग से अंजाम नहीं दिया गया। पी.सी. जोशी के नेतृत्वकाल वाले दक्षिणपन्थी भटकाव के दौर में, पार्टी सदस्यता की शर्तों, कमेटी-व्यवस्था और गुप्त ढाँचे के मामले में पर्याप्त ढिलाई-लापरवाही बरती जाती थी जो 1942 में पार्टी के क़ानूनी घोषित किये जाने के बाद और बढ़ गयी थी। उल्लेखनीय है कि पार्टी की पहली कांग्रेस भी उसके क़ानूनी घोषित होने के बाद ही जाकर (23 मई-1 जून, 1943, मुम्बई) सम्भव हो सकी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत के कम्युनिस्ट राज्यसत्ता के दमन एवं ग़ैरक़ानूनी होने की स्थितियों में पार्टी कार्यों के सुचारू संचालन के लिए बोल्शेविकों और अन्य दक्ष लेनिनवादी पार्टियों की तरह तैयार नहीं थे। एक जनवादी केन्द्रीयता वाले बोल्शेविक ढाँचे के काफ़ी हद तक अभाव के चलते ही, संशोधनवादी विपथगमन की पूर्ववर्ती अवधि में भी दो लाइनों के संघर्ष के सुसंगत संचालन का पार्टी में सदा अभाव रहा। "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी अवसरवादी प्रवृत्तियों का सहअस्तित्व हमेशा बना रहा, कभी एक तो कभी दूसरी लाइन पार्टी पर हावी होती रही और कभी दोनों की विचित्र खिचड़ी पकायी जाती रही। संकीर्ण गुटवाद की प्रवृत्ति केन्द्रीय कमेटी के गठन के बाद भी, हर स्तर पर निरन्तर मौजूद रही। सच कहा जाये तो पार्टी नेतृत्व ने पार्टी निर्माण को कभी एक महत्त्वपूर्ण कार्यभार माना ही नहीं। कतारों की विचारधारात्मक-राजनीतिक-व्यावहारिक शिक्षा के ज़रिये बोल्शेविकीकरण और दोष-निवारण पर कभी ज़ोर नहीं दिया गया।

यह पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी और नेतृत्व की बौद्धिक अक्षमता-विपन्नता ही थी, जिसके कारण भारत की कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवाद की सार्वजनीन सच्चाइयों को भारत की ठोस परिस्थितियों में लागू करने में हमेशा न केवल विफल रही, बल्कि ऐसा प्रयास तक करने के बजाय हमेशा ही अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी एवं अनुभवी बिरादर पार्टियों का मुँह जोहती रही। ज़्यादातर कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के प्रस्तावों-सर्कुलरों, उसके मुखपत्रों में प्रकाशित लेखों, सोवियत पार्टी के लेखों और ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी के रजनीपाम दत्त जैसे लोगों के लेखों के प्रभाव में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अपनी नीतियाँ और रणनीति तय करती रही। इससे अधिक त्रासद विडम्बना भला और क्या हो सकती है कि 1951 तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के पास भारतीय क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक नहीं था, केवल कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल द्वारा प्रवर्तित आम दिशा और दिशा-निर्देशों के अनुरूप लिखे गये कुछ निबन्ध, प्रस्ताव और रणकौशल एवं नीति-विषयक दस्तावेज़ मात्र ही थे जो बताते थे कि भारत में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार सम्पन्न करना है। मुख्यतः भूमि क्रान्ति (एग्रेरियन रिवोल्यूशन) का कार्यभार होने के बावजूद, कोई भूमि कार्यक्रम (एग्रेरियन प्रोग्राम) तैयार करना तो दूर,

भूमि-सम्बन्धों की विशिष्टताओं को जानने-समझने के लिए कभी कोई विस्तृत जाँच-पड़ताल तक नहीं की गयी थी। ऐसी स्थिति के होते हुए, यदि पार्टी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की नेतृत्वकारी शक्ति नहीं बन सकी, अनुकूल स्थितियों का लाभ उठाने से बार-बार चूकती रही और जन संघर्षों में कम्युनिस्ट कतारों की साहसिक भागीदारी और अकूत कुर्बानियाँ व्यर्थ हो गयीं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पहली बार पार्टी नेतृत्व ने, अपने एक प्रतिनिधिमण्डल की स्तालिन और सोवियत पार्टी के अन्य नेताओं से वार्ता के बाद, 1951 में एक कार्यक्रम और नीति-विषयक वक्तव्य तैयार करके जारी किया जिसे अक्टूबर, 1951 में पार्टी के अखिल भारतीय सम्मेलन और फिर दिसम्बर, 1953 में तीसरी पार्टी कांग्रेस में पारित किया गया। क्रान्ति की मंज़िल और आम दिशा के बारे में मूलत: और मुख्यत: सही होते हुए भी लोक जनवादी क्रान्ति का यह कार्यक्रम कई मायनों में अन्तरविरोधों-विसंगतियों से भरा हुआ था। भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र तथा भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण एवं समाज-विकास की आम दिशा के बारे में इस कार्यक्रम के मूल्यांकन यथार्थ से मेल नहीं खाते थे, इसे आगे चलकर समय ने एकदम स्पष्ट कर दिया। यहीं पर इस तथ्य का उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि 1955-56 के दौरान पार्टी नेतृत्व का एक हिस्सा ऐसा सोचने और कहने लगा था कि भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता सामन्ती भूमि सम्बन्धों को ऊपर से, क्रमिक प्रक्रिया में (बिस्मार्ककालीन प्रशा और कमाल अतातुर्ककालीन तुर्की की तरह) रूपान्तरित करने और सामन्तवाद को नियन्त्रित करने का काम कर रही है। लेकिन अपनी बात को साहसपूर्वक उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाने के बजाय उन्होंने निहायत कायराना अवसरवाद के साथ चुप्पी साध ली। बहरहाल, इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस समय तक पूरी तरह से खुली और संसदमार्गी हो चुकी पार्टी संशोधनवाद की राह पर आगे बढ़ चुकी थी और कार्यक्रम के प्रश्न पर यदि सही दिशा में कुछ सोचा भी जाता तो उसका कोई मतलब नहीं था क्योंकि संसदीय वामपन्थियों के लिए क्रान्ति का कार्यक्रम केवल कोल्ड स्टोरेज में रखने की चीज़ होता है।

अपने विचारधारात्मक दिवालियेपन के चलते भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने औपनिवेशिक भारत के उत्पादन-सम्बन्धों और अधिरचना के सभी पहलुओं (जिनमें जाति व्यवस्था, स्त्री प्रश्न और राष्ट्रीयताओं का प्रश्न भी आता है) का ठोस अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल के निर्धारण की कोई स्वतन्त्र कोशिश वस्तुत: की ही नहीं और अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी बिरादर पार्टियों के आकलनों के हिसाब से ही हमेशा निर्णय लेता रहा। ऐसी स्थिति में वह संयुक्त मोर्चा, मज़दूर आन्दोलन और अन्य प्रश्नों पर बार-बार दो छोरों के भटकाव का शिकार होता रहा। ज़ाहिर है कि ऐसे में अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में समय-समय पर पैदा होने वाले विचलन और भारत-विषयक ग़लत या असन्तुलित मूल्यांकन भी भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को प्रभावित करते रहे। इस स्थिति की तुलना यदि हम चीन से करें तो बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है। चीन में 1921 में कम्युनिस्ट पार्टी ने एक निहायत कमज़ोर ज़मीन पर छोटी-सी ताक़त और वैचारिक अधकचरेपन के साथ शुरुआत की थी। लेकिन शुरू से ही चीन की पार्टी ने पार्टी-निर्माण के कार्यभारों पर – पार्टी के बोल्शेविकीकरण पर, कतारों की राजनीतिक शिक्षा पर, पार्टी कमेटियों के सुदृढ़ीकरण एवं कार्यप्रणाली पर, अनुशासन एवं अन्तर्पार्टी जनवाद पर विशेष ज़ोर दिया। चीनी पार्टी लगातार दो लाइनों के बीच संघर्ष के द्वारा आगे विकसित हुई। वह अपनी

ग़लतियों से सीखने में सक्षम थी और इसीलिए पराजय या विफलताओं के झटके कभी उसकी कमर नहीं तोड़ पाये। माओ त्से-तुङ ने कोमिण्टर्न द्वारा उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में लोक जनवादी कार्यक्रम की आम दिशा को स्वीकारते हुए, चीन की विशिष्ट स्थितियों के ठोस अध्ययन के आधार पर चीनी भूमि क्रान्ति के ठोस रूप और नारे तय किये, चीनी पूँजीपति वर्ग के दलाल और राष्ट्रीय हिस्सों की मौलिक ढंग से पहचान की तथा नवजनवादी क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल तथा दीर्घकालिक लोकयुद्ध के क्रान्ति-पथ की ठोस रूपरेखा तैयार की। ऐसा करते हुए कई बार उनके विचार कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल और स्तालिन के चीनी क्रान्ति विषयक सुझावों से कदापि मेल नहीं खाते थे, पर अपने देश की ठोस परिस्थितियों के ठोस अध्ययन और व्यवहार से निकले निष्कर्षों को साहसपूर्वक प्रस्तुत और लागू करने में उन्होंने कभी कोई हिचक नहीं दिखायी। चीनी क्रान्ति की सफलता के पीछे यही बुनियादी कारण था और इसी विशिष्टता का हमें भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व में नितान्त अभाव दीखता है। 1949 में चीनी नवजनवादी क्रान्ति की निर्णायक विजय होने तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अभी भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम तक प्रस्तुत नहीं कर पायी थी। हाँ, अब मुँह जोहने और अनुकरण करने के लिए उसे एक और बड़ी बिरादर पार्टी ज़रूर मिल गयी थी। चूँकि माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन की पार्टी ने ही ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष चलाया, इसलिए 1960 के दशक में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) से बाहर आये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के नये नेतृत्व को यह सर्वथा उचित लगा कि वह चीनी पार्टी द्वारा प्रतिपादित विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के दस्तावेज़ के ही हिसाब से भारत में भी साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति की मंज़िल मान ले और उत्पादन सम्बन्धों, वर्गीय संरचना और राज्यसत्ता के चरित्र के अध्ययन की कोई जहमत न उठाये। उससे भी आगे बढ़कर, चीनी पार्टी के भारत-विषयक आकलनों को हूबहू अपना लेने के बाद, क्रान्ति-पूर्व चीन जैसी ही वर्गीय संरचना की कल्पना करके चीनी क्रान्ति के मार्ग को हूबहू लागू करने की घोषणा करते हुए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले) ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की पुरानी परम्परा को ही आगे बढ़ाया था। इस स्थिति में बदलाव की सम्भावना तब और धूमिल हो गयी, जब पुरानी परम्परा के ही अनुसार, पेण्डुलम संशोधनवाद से हटता हुआ "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के दूसरे छोर तक जा पहुँचा और फिर उसके बाद "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी अवसरवाद के सहअस्तित्व के लम्बे दौर की शुरुआत हो गयी। बहरहाल, इस दौर की चर्चा हम आगे विस्तार से करेंगे।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाना भी स्वाभाविक है कि भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की बौद्धिक विपन्नता के वस्तुगत ऐतिहासिक कारण आखिरकार क्या थे? हालाँकि इस प्रश्न का सुसंगत उत्तर विस्तृत ऐतिहासिक-सामाजिक पड़ताल की माँग करता है, जो इस निबन्ध की सीमाओं को देखते हुए यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी भारत के कम्युनिस्ट नेतृत्व की विचारधारात्मक कमज़ोरी और अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व या बड़ी बिरादर पार्टियों का मुँह जोहने की प्रवृत्ति के सर्वाधिक मूलभूत कारण का संक्षिप्त उल्लेख तो यहाँ किया ही जा सकता है। किसी भी देश में कम्युनिस्ट आन्दोलन अचानक शून्य से नहीं पैदा हो गया और उसकी सफलता-असफलता या उसके नेतृत्व की परिपक्वता-अपरिपक्वता महज़ इत्तफ़ाक नहीं था। इन सबके पीछे देश-विशेष के इतिहास में वर्ग-संघर्ष के सुदीर्घ, गतिमान सिलसिले और उससे नि:सृत बौद्धिक-सांस्कृतिक विरासत की निरन्तरता का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म यदि यूरोप में हुआ और सबसे पहले उसने यूरोपीय मज़दूर-आन्दोलन में जड़ें जमायीं, तो इसके ऐतिहासिक वस्तुगत कारण थे। पुनर्जागरण काल ने मध्ययुगीन जड़ता को तोड़कर इतिहास की जिस तीव्र वेगवाही यात्रा की शुरुआत की थी, वह बीच के कुछ उत्क्रमणों-विपर्ययों की दशाब्दियों को छोड़कर, निरन्तर जारी रही और प्रबोधन काल और पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों के दौरों से होती हुई उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आ पहुँची, जहाँ बुर्जुआ वर्ग द्वारा धूल में फेंक दिये गये मुक्ति के लाल झण्डे को सर्वहारा वर्ग ने उठा लिया और वर्ग-संघर्ष के नये ऐतिहासिक युग में वैज्ञानिक समाजवाद उसका मार्गदर्शक सिद्धान्त बना। यूरोपीय मज़दूर वर्ग को विगत चार शताब्दियों के इतिहास की प्रचण्ड गतिमानता ने समृद्ध बौद्धिक-दार्शनिक विरासत से लैस किया था। मुख्यत: उपनिवेशों की लूट से घूस खाकर यूरोपीय मज़दूर वर्ग का उन्नत हिस्सा जब कुलीन और सुविधाजीवी हो गया तो क्रान्ति के तूफ़ानों का केन्द्र पश्चिम से पूर्व की ओर स्थानान्तरित होने लगा और पहली सर्वहारा क्रान्ति रूस में हुई जो पूर्व-पश्चिम सेतु पर स्थित था। रूस एक ऐसा देश था जो ज़ारशाही निरंकुशता और सामन्ती भूदासता की बेड़ियों में जकड़ा था, पर वहाँ पूँजीवाद का क्रमिक मन्थर विकास भी जारी था। वह कमज़ोर, उत्पीड़ित राष्ट्रों का जेलखाना और विशाल सैन्य शक्ति से सम्पन्न था, लेकिन पश्चिमी यूरोपीय देशों के शोषण का शिकार भी था। विकसित यूरोप की पूँजी का चरागाह होने के बावजूद वह एक स्वतन्त्र देश था जो स्वयं पड़ोसी पूर्वी यूरोपीय देशों का उत्पीड़क था। रूस में पूरब का पिछड़ापन और बर्बर शोषण-उत्पीड़न भी था और वहाँ का बौद्धिक समाज यूरोप के वैचारिक केन्द्रों की दार्शनिक-सांस्कृतिक-वैज्ञानिक सरगर्मियों से जीवन्त रूप से जुड़ा हुआ था। रूस कभी गुलाम नहीं बना, अपने अतीत से कभी विच्छिन्न नहीं हुआ और उसे अपने पिछड़ेपन का अहसास भी था। इसी ज़मीन पर उन्नीसवीं शताब्दी में रूस के महान क्रान्तिकारी यथार्थवादी साहित्यकार और बेलिंस्की, हर्ज़न, चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्यूबोव आदि जैसे महान क्रान्तिकारी जनवादी दार्शनिक पैदा हुए। लेनिन और उनके सहयोद्धाओं की पीढ़ी को यह महान वैचारिक-सांस्कृतिक सम्पदा विरासत के तौर पर मिली थी जिसने उन्हें स्वतन्त्र तर्कणा का साहस दिया था। चीन अपनी तमाम मध्ययुगीन जड़ता और एशियाई सुस्ती के बावजूद, अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति की निरन्तरता से कभी पूर्णत: विच्छिन्न नहीं हुआ था। कई साम्राज्यवादी देशों की लूट और आंशिक क़ब्ज़ों के बावजूद तथा कई पराजयों के बावजूद, चीन कभी पूर्णत: औपनिवेशिक गुलामी का शिकार नहीं हुआ। इसीलिए, वहाँ यदि एक दलाल पूँजीपति वर्ग था तो एक राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग भी था। यदि बुद्धिजीवी समाज का एक हिस्सा बौद्धिक उपनिवेशन का शिकार था, तो दूसरा, स्वतन्त्र चिन्तन का साहस रखने वाला राष्ट्रवादी हिस्सा भी था। बौद्धिक-वैचारिक सम्पदा की दृष्टि से चीन विगत कुछ शताब्दियों के दौरान पीछे छूट गया था, लेकिन गुलाम नहीं होने के कारण सुदूर अतीत की बौद्धिक-वैचारिक सम्पदा से चीन के राष्ट्रवादी बौद्धिक समाज का सम्बन्ध टूटा नहीं था और पश्चिम के अवदानों को सम्मोहित दास भाव से ग्रहण करने की प्रवृत्ति से भी वह मुक्त था। साथ ही, चीन के कम्युनिस्ट आन्दोलन को डा. सुन यात-सेन और 1911 की अधूरी जनवादी क्रान्ति की विरासत भी मिली थी। यही कारण था कि निहायत कमज़ोर विचारधारात्मक ज़मीन से शुरुआत करने के बावजूद, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का मुँह जोहने और भक्तिभाव से निर्देश-पालन की

बजाय अपने देश की ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण करके चीनी क्रान्ति का स्वरूप एवं मार्ग स्वयं निर्धारित करने का साहस किया।

भारत का प्राचीन इतिहास तूफ़ानी सामाजिक संघर्षों से भरा हुआ और विपुल दार्शनिक-सांस्कृतिक सम्पदा से समृद्ध रहा था। सुदीर्घ मध्यकालीन गतिरोध के टूटने के संकेत (पूँजीवादी विकास और निर्गुण भक्ति आन्दोलन से लेकर सतनामी विद्रोह जैसे किसान संघर्षों तक के रूप में) अभी मुखर हो ही रहे थे कि इसके उपनिवेशीकरण की शुरुआत हो गयी जो एक शताब्दी के दौरान (उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक) पूरी हो गयी। उपनिवेशीकरण ने भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति को पूरी तरह से नष्ट करके इसके ऊपर एक औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। इस आरोपित औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के घटक नये वर्ग इतिहास की अभिशप्त सन्तानें थे। भारतीय पूँजीपति वर्ग और भारत के बुद्धिजीवी किसी पुनर्जागरण और प्रबोधन की प्रक्रिया से विकसित नहीं हुए थे। वे ऐतिहासिक जड़ों से विच्छिन्न और औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना की उपज थे। यही कारण था कि भारतीय पूँजीपति वर्ग के किसी रैडिकल हिस्से ने भी कभी कोई क्रान्तिकारी संघर्ष नहीं किया और समूचे पूँजीपति वर्ग ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध आद्यन्त 'समझौता-दबाव-समझौता' की नीति अपनाई तथा जन संघर्षों और विश्व परिस्थितियों का लाभ उठाकर सत्ता हासिल की। उसके इस व्यवहार ने उसे जनता के साथ छल करने और शासन चलाने की करिश्माई कुटिलता तो सिखाई, लेकिन दार्शनिक-वैचारिक सम्पदा के मामले में वह कंगाल ही था। भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय का जो हिस्सा रैडिकल राष्ट्रीय जनवादी था, उसके राष्ट्रवाद और जनवाद को भी तर्कणा और भौतिकवाद की वह समृद्ध ज़मीन हासिल नहीं थी, जैसी यूरोपीय या रूसी बुद्धिजीवी वर्ग को थी। साथ ही, औपनिवेशिक मानसिकता के चलते स्वतन्त्र चिन्तन के बजाय यूरोप का अन्धानुकरण या अतीत की ज़मीन पर खड़े होकर यूरोपीय ज्ञान सम्पदा का कुण्ठित अन्ध-विरोध भारतीय बुद्धिजीवियों की आम प्रवृत्ति थी। भारत के मज़दूर वर्ग के सामने विरासत के तौर पर अपनाने के लिए बुर्जुआ पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की कोई सम्पदा नहीं थी। मध्यवर्गीय रैडिकल राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों का जो हिस्सा वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों का क़ायल होकर मज़दूर आन्दोलन से जुड़ा, वह भी औपनिवेशिक सामाजिक संरचना में जन्मे होने के ऐतिहासिक अभिशाप से मुक्त नहीं था। उसके पास न तो ऐतिहासिक निरन्तरता का बोध था, न ही किसी भी देश की क्रान्ति या वर्ग-संघर्ष के विचारधारात्मक सारतत्व को आसवित करने और अपने देश की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन करके उनमें उसे लागू करने का बौद्धिक विवेक एवं साहस था। मज़दूर आन्दोलन में वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा को लाने वाले इन बुद्धिजीवियों ने यही विरासत भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व को दी जिससे वह आज तक मुक्त नहीं हो सका है। औपनिवेशिक मानस भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व में इस रूप में मौजूद रहा है कि सफल क्रान्तियों, उन्हें नेतृत्व देने वाली पार्टियों एवं उनके नेताओं तथा अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का अन्धानुकरण लगातार, कमोबेश इसकी एक आम प्रवृत्ति रही है।

भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व के चिन्तन में मौलिकता, साहस और गहराई के अभाव के जिस कारण की हमने ऊपर चर्चा की है, ज़ाहिर है कि वह एकमात्र कारण नहीं है। अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन उपरोक्त कारण एक बुनियादी वस्तुगत ऐतिहासिक कारण है, इतना हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं। यह एक अप्रिय सत्य है, लेकिन उस ज़मीन

को पहचानना बेहद ज़रूरी है, जिस पर खड़े होकर हमें नयी शुरुआत करनी है। औपनिवेशिक अतीत की इस ज़मीन को पहचानकर हम उसके अभिशापों से आज अधिक सुगमता से मुक्त हो सकते हैं क्योंकि उस अतीत को हम आधी सदी पीछे छोड़ आये हैं। औपनिवेशिक या यांत्रिक भौतिकवादी इतिहास-दृष्टि से मुक्त होकर भारतीय इतिहास का अध्ययन करने के लिए परिस्थिति भी आज अधिक अनुकूल है। दूसरे, आज की दुनिया में देश-विदेश की ऐतिहासिक सीमाओं से मुक्त होकर सोचने और विश्व बौद्धिक सम्पदा को आत्मसात करने के लिए अधिक अनुकूल वस्तुगत परिस्थिति है। तीसरे, आज ऐसा कोई अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र या नेतृत्व या समाजवादी देश नहीं है, जिसका अन्धानुकरण किया जा सके, इसलिए परिस्थितियाँ स्वयं अपनी राह ढूँढ़ने के लिए बाध्य कर रही हैं। चौथे, देश-दुनिया के हालात में बदलाव इतने स्पष्ट हैं कि आधी सदी पहले की किसी क्रान्ति की नकल करने की कोशिश सिर्फ़ कोई जड़मति ही करेगा। यानी स्वतन्त्र रूप से ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के लिए परिस्थितियाँ आज अधिक अनुकूल हैं। नक्सलबाड़ी का समाहार करते हुए मूल प्रसंग से कुछ हटकर यह ऐतिहासिक चर्चा इसी आशा के साथ की गयी है कि नयी सदी की नयी सर्वहारा क्रान्तियों के इस दौर में भारत के सर्वहारा क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ी अतीत से सबक ले और भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को एक नयी दिशा दे।

पटभूमि के तौर पर इस चर्चा के बाद हम अब मुख्य विषय पर लौटते हैं। नक्सलबाड़ी किसान संघर्ष की कोख से जन्मे भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन या मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारा के सकारात्मक-नकारात्मक पहलुओं के विश्लेषण-समाहार से पहले संक्षेप में यह जान लेना ज़रूरी है कि भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर वे परिस्थितियाँ किस रूप में तैयार हुईं कि कम्युनिस्ट कतारों का बड़ा हिस्सा संशोधनवाद से विच्छेद और संशोधनवादी नेतृत्व के विद्रोह करने की स्थिति तक जा पहुँचा, नक्सलबाड़ी किसान उभार जिसका निमित्त बना। साथ ही, नक्सलबाड़ी में विस्फोट की परिस्थितियाँ किस रूप में तैयार हुईं, किसान-उभार का ज्वार किस प्रकार उठा और आगे बढ़ा, इन तथ्यों और घटना-क्रम से भी, संक्षेप में परिचित हो लेना ज़रूरी है।

निकट अतीत की पृष्ठभूमि : नक्सलबाड़ी-पूर्व दो दशकों के दौरान भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन

नक्सलबाड़ी में क्रान्तिकारी किसान-उभार के ऐतिहासिक महत्त्व के वस्तुगत आकलन के लिए यह जानना ज़रूरी है कि भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में ये हालात क्यों और किस प्रकार तैयार हुए कि पश्चिम बंगाल के एक सुदूर तराई अंचल में स्थानीय कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं के नेतृत्व में किसानों का हथियारबन्द जन-विद्रोह शुरू हुआ (जो बमुश्किल तमाम सिर्फ़ ढाई माह तक ही चला) और उसके पक्ष-विपक्ष में पूरे देश का कम्युनिस्ट आन्दोलन बँट गया तथा वह घटना संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद का मानक, प्रस्थान-बिन्दु, रूपक और प्रतीक-चिन्ह बन गयी। नक्सलबाड़ी तेलंगाना के छूटे हुए सिरे को पकड़कर आगे विस्तार दे सकता था, पर ऐसा नहीं हो सका। कई रूपों में नक्सलबाड़ी के बाद, मा.ले. आन्दोलन की मुख्य धारा ने रणदिवे-कालीन "वामपन्थी" संकीर्णतावाद को ही और अधिक विकृत भोंड़े रूप

में दुहराया। मज़दूर आन्दोलन संशोधनवादी पाप की कीमत अतिवामपन्थी भटकाव के दण्ड के रूप में चुकाता है। लेनिन की इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए 17 वर्षों लम्बे संशोधनवादी दौर की प्रतिक्रिया नक्सलबाड़ी किसान उभार के दो वर्षों बाद "वामपन्थी" आतंकवाद के रूप में सामने आयी। लेकिन इन बातों को अहसास के गहरे धरातल पर जाकर समझने के लिए तेलंगाना किसान संघर्ष और उसके उत्तरवर्ती सत्रह वर्षों के पार्टी इतिहास की अति संक्षिप्त चर्चा यहाँ ज़रूरी है। नक्सलबाड़ी के ऐतिहासिक महत्त्व और उसकी ऐतिहासिक विफलता – इन दोनों को ही समझने के लिए यह चर्चा ज़रूरी है।

नक्सलबाड़ी स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास के एक ऐसे दौर में हुआ जब नेहरू की पूँजीवादी नीतियों के समाजवादी मुखौटे की असलियत उजागर हो चुकी थी। महँगाई और बेरोज़गारी से त्रस्त आम लोग सड़कों पर उतर रहे थे। छात्र-युवा आन्दोलन, मज़दूर आन्दोलन और महँगाई-विरोधी जनान्दोलनों का अविराम क्रम जारी था। पूँजीवादी संसदीय राजनीति के दायरे के भीतर इस व्यापक मोहभंग और जनाक्रोश की अभिव्यक्ति 1967 के आम चुनावों के बाद, पहली बार देश के नौ राज्यों में गैरकांग्रेसी सरकारों के गठन के रूप में सामने आयी। लेकिन अहम बात यह थी कि 1947 के बाद के वर्षों में और तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा-वायलार और नौसेना-विद्रोह के दिनों के बाद, पहली बार देशव्यापी स्तर पर जनसमुदाय में व्यवस्था-विरोधी भावनाएँ और क्रान्तिकारी परिवर्तन की आकांक्षाएँ उमड़-घुमड़ रही थीं जिन्हें दिशा और नेतृत्व देने वाली कोई क्रान्तिकारी शक्ति राजनीतिक रंगमंच पर मौजूद नहीं थी। स्मरणीय है कि यही वह समय था जब वियतनामी क्रान्ति अमेरिकी साम्राज्यवादी के विरुद्ध विजयोन्मुख थी और पूरी दुनिया में, यहाँ तक कि पश्चिमी देशों में भी छात्र-युवा, बुद्धिजीवी और मेहनतकश सड़कों पर उतरकर उसका समर्थन कर रहे थे। अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष एक के बाद एक जीतें हासिल कर रहे थे और लातिन अमेरिका में भी सैनिक जुण्टाओं के विरुद्ध प्रतिरोध संघर्ष उफान पर थे। फ्रांस में छात्र आन्दोलन और अमेरिका में अश्वेतों, स्त्रियों और युवाओं के आन्दोलनों तथा युद्ध-विरोधी आन्दोलन का अविराम सिलसिला जारी था। सोवियत संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलायी गयी 'महान बहस' के बाद, 1966 से चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का तूफ़ान शुरू हो चुका था, जो न केवल पूरी दुनिया के मेहनतकशों और कम्युनिस्ट कतारों को संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करने और क्रान्ति का मार्ग चुनने के लिए प्रेरित कर रहा था, बल्कि बड़े पैमाने पर युवाओं और बुद्धिजीवियों को भी माओ के विचारों और चीनी सांस्कृतिक क्रान्ति के युगान्तरकारी प्रयोग की ओर आकृष्ट कर रहा था। यह अन्तरराष्ट्रीय माहौल भारत की उन्नत चेतना वाली कम्युनिस्ट कतारों को और रैडिकल छात्रों-युवाओं-बुद्धिजीवियों को भी गहराई से प्रभावित और प्रेरित कर रहा था। इधर देश के भीतर, संशोधनवादी नेतृत्व से कम्युनिस्ट कतारों का मोहभंग निराशा से आगे बढ़कर आक्रोश और विद्रोह की भावना में परिणत होता जा रहा था। 1964 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी में विभाजन के बाद नेतृत्व के एक हिस्से को संशोधनवादी घोषित करते हुए दूसरे हिस्से ने जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का गठन किया था तो रैडिकल कतारों का बहुलांश उसमें इस उम्मीद से शामिल हुआ था कि नयी पार्टी तेलंगाना की विरासत को आगे बढ़ाते हुए क्रान्तिकारी संघर्षों में उतरेगी, लेकिन जल्दी ही यह स्पष्ट होने लगा कि अपने तमाम भ्रामक रैडिकल तेवर के बावजूद माकपा का नेतृत्व भी अर्थवादी-संसदवादी सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए तैयार नहीं है। चीन की पार्टी द्वारा

ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष ('महान बहस') के दस्तावेज़ भारत के कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों को जब मिले (टूट के कगार पर खड़ी भाकपा के डांगेपन्थी धड़े ने ही नहीं बल्कि बासवपुनैया-सुन्दरैया-नम्बूदरीपाद-रणदिवे धड़े ने भी इस पॉलिमिक्स को कतारों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की, और उन्हें तब तक अँधेरे में रखा जब तक कि ये दस्तावेज़ अलग स्रोतों से कतारों तक नहीं पहुँच गये) और फिर इस बहस से भारत की कम्युनिस्ट कतारों के अग्रिम तत्व परिचित हुए, तो यहाँ भी संशोधनवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के लिए एक नयी दिशा मिली। 1966 में चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होते ही वहाँ पार्टी के भीतर के बुर्जुआ हेडक्वार्टर को ध्वस्त करने के माओ के आह्वान ने भारतीय कम्युनिस्ट कतारों को भी नेतृत्व पर काबिज़ संशोधनवादियों के विरुद्ध खुली बग़ावत की प्रेरणा दी।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष किसी न किसी रूप में तेलंगाना किसान संघर्ष के समय से ही जारी था। इसमें नेतृत्व का एक पक्ष संशोधनवादी विचलन का शिकार था और दूसरा पक्ष जो कतारों की क्रान्तिकारी आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता था, वह भी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण विसंगति, अनिर्णय और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट नेतृत्व और बड़ी पार्टियों पर मार्गदर्शन के लिए निर्भरता की प्रवृत्ति का शिकार था। इसके परिणामास्वरूप, यह दूसरा पक्ष भी 1950 का दशक शुरू होते-होते संशोधनवादी पंककुण्ड में जा गिरा और दोनों पक्षों के बीच मतभेद का मुद्दा सिर्फ़ यह रह गया कि राष्ट्रीय जनवाद के नारे के तहत नेहरू सरकार के प्रति सहयोग का रास्ता अपनाया जाये या लोक जनवाद के नारे के तहत मुख्यत: संसदीय विपक्ष की भूमिका निभाते हुए कुछ रैडिकल जनान्दोलन भी चलाये जायें।

तेलंगाना किसान संघर्ष कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चला पहला ऐसा सशस्त्र संघर्ष था जिसके परिणामस्वरूप 16000 वर्ग मील का क्षेत्र – जिसमें तीन हज़ार गाँव शामिल थे – मुक्त किया गया था और लगभग डेढ़ वर्षों तक इस क्षेत्र की सारी शासन-व्यवस्था किसानों की गाँव कमेटियों के हाथों में थी। कुल 4,000 किसान और पार्टी के छापामार इसमें शहीद हुए और दस हज़ार कम्युनिस्ट कार्यकर्ता तीन से चार वर्षों तक जेलों में बन्द रहे। इस दौरान कुल 30 लाख एकड़ ज़मीन किसानों में बाँटी गयी, बेदखली और बेगार प्रथा बन्द कर दी गयी और न्यूनतम मज़दूरी लागू कर दी गयी।

फरवरी-मार्च 1948 में जब भाकपा की दूसरी कांग्रेस में दक्षिणपन्थी पी.सी. जोशी को हटाकर बी.टी. रणदिवे को पार्टी महासचिव बनाया गया, उस समय तेलंगाना किसान संघर्ष सशस्त्र छापामार संघर्ष की मंज़िल तक पहुँच चुका था। ग़ौरतलब है तेलंगाना के प्रतिनिधियों के ज़ोर देने के बाद ही दूसरी कांग्रेस की थीसिस में तेलंगाना संघर्ष के महत्त्व का उल्लेख करते हुए उसे समर्थन दिया गया और पूरे देश में ऐसे संघर्ष संगठित करने तथा मज़दूर वर्ग से भी उनके समर्थन में आन्दोलन करने का आह्वान किया गया। लेकिन इस आह्वान के पीछे "वामपन्थी" अवसरवादी रणदिवे की यह सोच थी कि इससे पूरे देश में सशस्त्र आम विद्रोह की स्थिति पैदा हो जायेगी। रणदिवे ने युगोस्लाविया की टीटोपन्थी संशोधनवादी पार्टी के एक सिद्धान्तकार एडवर्ड कार्डेल्ज़ के विचार के आधार पर यह थीसिस पेश की कि जनवादी और समाजवादी क्रान्तियाँ एक साथ होनी चाहिए, और कम्युनिस्टों को न केवल बड़े बुर्जुआ को बल्कि सभी बुर्जुआओं को अपने हमले का निशाना बनाते हुए देशव्यापी आम हड़ताल और

सशस्त्र विद्रोह का मार्ग अपनाना चाहिए। इस "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को जो क्षति पहुँचायी, वह इतिहास का एक तथ्य है। साथ ही, इस लाइन ने तेलंगाना संघर्ष के अग्रवर्ती विकास को भी रोकने का काम किया। मई, 1948 में आन्ध्र की पार्टी इकाई ने रणदिवे थीसिस का विरोध करते हुए अपनी यह लाइन रखी कि भारतीय क्रान्ति का चरित्र रूसी क्रान्ति से भिन्न है और यह चीन में जारी नवजनवादी क्रान्ति से काफ़ी हद तक समानता रखती है, यहाँ चार वर्गों का संयुक्त मोर्चा बनाना होगा ओर दीर्घकालिक लोकयुद्ध का मार्ग अपनाना होगा। आन्ध्र थीसिस में माओ त्से-तुङ के नवजनवाद के सिद्धान्त को प्रासंगिक बताते हुए भारत में सर्वहारा क्रान्ति को दो अवस्थाओं में सम्पन्न करने की योजना प्रस्तुत की गयी। रणदिवे ने इस थीसिस का विरोध करते हुए माओ के विचारों का भी विरोध किया और उन्हें टीटो और अल-ब्राउडर की श्रेणी का संशोधनवादी तक कह डाला। दो वर्षों तक पार्टी पर रणदिवे-लाइन के वर्चस्व ने तेलंगाना संघर्ष को भारी क्षति पहुँचाई। देश के विभिन्न हिस्सों में किसान संघर्षों को तेलंगाना की राह पर आगे बढ़ाने और मज़दूर वर्ग के संघर्षों को उनके साथ जोड़ने के बजाय "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने पार्टी को जन समुदाय से अलग-थलग कर दिया और कतारों की पहलकदमी को पंगु बना दिया गया। 1949 में चीनी क्रान्ति के बाद, 1950 में कोमिन्फॉर्म ने माओ के नवजनवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया। सोवियत पार्टी के एक सिद्धान्तकार जुकोव ने उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में चार वर्गों के संश्रय को अनिवार्य बताया और दूसरे सिद्धान्तकार बालाबुशेविच ने तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष का समर्थन करते हुए उसे कृषि क्रान्ति का अग्रदूत और भारतीय जनता की लोक जनवादी सत्ता स्थापित करने का प्रथम प्रयास बताया। अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से नयी दिशा मिलते ही भारत में भी रणदिवे की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन रातोंरात अलग-थलग पड़ गयी। मई-जून 1950 में राजेश्वर राव पार्टी के महासचिव बने और पार्टी ने आन्ध्र-थीसिस को आधिकारिक लाइन के तौर पर स्वीकार किया। लेकिन इस समय तक, पहले ही काफ़ी देर हो चुकी थी। देशव्यापी स्तर पर संघर्ष के विस्तार की सम्भावनाओं का, ग़लत लाइन काफ़ी हद तक गला घोंट चुकी थी और नयी बुर्जुआ सत्ता को अपने सुदृढ़ीकरण के लिए तीन वर्षों का कीमती समय मिल चुका था। चूँकि "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन की पराजय पूरी पार्टी में चले दो लाइनों के अन्दरूनी संघर्ष की परिणति नहीं थी बल्कि कोमिन्फॉर्म और सोवियत पार्टी की अवस्थिति के हिसाब से चलने की प्रवृत्ति का नतीजा थी, इसलिए पार्टी कतारें सही-ग़लत के बारे में विभ्रमग्रस्त थीं। विभ्रम का यह सिलसिला पहले से ही चल रहा था और 1947 से तो लगातार जारी था। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं के प्रति ग़लत अवस्थिति अपनाने और फिर उन्हें आनन-फानन में उलट देने तथा पार्टी नेतृत्व में लगातार दो छोरों की विरोधी लाइनों की मौजूदगी के चलते कतारें निराश हो रही थीं। इसी समय भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया। निज़ाम के आत्मसमर्पण के बाद, भारतीय सेना ने कम्युनिस्ट छापामार दस्तों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। छोटे-छोटे छापामार दस्तों में बँटी जनता की सशस्त्र सेना का सामना अब उन्नत हथियारों से लैस 50-60 हज़ार संख्या वाली सेना से था। फिर भी बहुत कठिनाइयों और अभूतपूर्व दमन के बाद ही भारतीय सेना छापामार दस्तों को पीछे धकेल सकी। मलाया सरकार की ब्रिग्स योजना की ही तरह ऐसे गाँव बसाये गये जहाँ के निवासियों को सेना के नियन्त्रण में रहना था। जंगलों की दो हज़ार आदिवासी बस्तियों को नेस्तनाबूद कर दिया गया और लोगों को यातना शिविरों में रखा गया। छापामार गाँवों को छोड़कर निकटवर्ती जंगलों में चले गये

और वहाँ भी सेना का दबाव बढ़ने पर दूरवर्ती जंगली क्षेत्रों में बिखर गये।

उल्लेखनीय है कि पार्टी के बम्बई मुख्यालय में हावी एस.ए.डांगे, घाटे और अजय घोष आदि का दक्षिणपन्थी धड़ा शुरू से ही आन्ध्र लाइन का विरोध कर रहा था। तेलंगाना में सेना-प्रवेश के बाद वहाँ भी रवि नारायण रेड्डी के नेतृत्व में कुछ लोग संघर्ष को वापस लेने के लिए दबाव बनाने लगे, हालाँकि आन्ध्र कमेटी का बड़ा हिस्सा फिर भी संग्राम को जारी रखना चाहता था। उसका मानना था कि फ़ौरी तौर पर नुकसान के बावजूद, संघर्ष को जारी रखना और देश के अन्य अनुकूल परिस्थितियों वाले भूभागों में उसका फैलाव मुमकिन है। इस समय दक्षिणपन्थी धड़े का हाथ मज़बूत करने में ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी और उसके एक नेता रजनी पामदत्त ने विशेष भूमिका निभाई। दत्त का मानना था कि शीतयुद्ध की नयी विश्वपरिस्थितियों में भारत के कम्युनिस्टों को सशस्त्र संघर्ष के रास्ते को छोड़कर विश्व शान्ति आन्दोलन को मज़बूत बनाने का काम करना चाहिए और साम्राज्यवादी शिविर से भारत सरकार के दूर रहने और समाजवादी खेमे से नज़दीकी रिश्ता बनाने तथा कोरियाई जनयुद्ध का समर्थन करने के लिए नेहरू सरकार पर दबाव बनाना चाहिए। इसी विचार का विकसित रूप आगे चलकर भाकपा के दक्षिणपन्थी धड़े के राष्ट्रीय जनवादी मोर्चा की सोच और "प्रगतिशील" बुर्जुआ नेहरू सरकार के प्रति सहयोग-समर्थन की नीति के रूप में सामने आया। पार्टी के संशोधनवादियों ने आधिभौतिक निगमनात्मक पद्धति से अन्तरराष्ट्रीय अन्तरविरोधों के ही अनुसार राष्ट्रीय अन्तरविरोधों को भी देखने तथा दोनों में विरोध होने पर अन्तरराष्ट्रीय अन्तरविरोधों के हिसाब से अपना कार्यभार तय करने का काम एक बार फिर किया। यह ग़लती द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भी की गयी थी और उसके पहले भी की जाती रही थी। ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीतिक समिति ने भारतीय पार्टी को लिखे गये एक पत्र में अपने उपरोक्त सुझावों के साथ ही क़ानूनी कामों में लगने तथा डेढ़ वर्षों बाद होने वाले आगामी आम चुनाव पर ज़ोर दिया और साथ ही नेतृत्व को बदलने की भी राय दी क्योंकि राजेश्वर राव के नेतृत्व वाली केन्द्रीय कमेटी जनवादी तरीके से नहीं चुनी गयी थी। इन परिस्थितियों ने पार्टी में दक्षिणपन्थी नेतृत्व के हाथ मज़बूत करने का काम किया। 1 जुलाई, 1950 को राजेश्वर राव की जगह अजय घोष पार्टी के महासचिव बनाये गये।

पार्टी में मौजूद मतभेद, संकट और विभ्रम की स्थिति को दूर करने के लिए, एक बार फिर अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व पर भरोसा किया गया और चार सदस्यों का एक प्रतिनिधिमण्डल 1951 के प्रारम्भ में सोवियत पार्टी के नेतृत्व से बातचीत करने के लिए मास्को गया। इसमें दो – राजेश्वर राव और बासवपुनैया तेलंगाना संघर्ष के नेता थे, जबकि अन्य दो – अजय घोष और डांगे उसका विरोध कर रहे थे। सोवियत पार्टी की ओर से स्तालिन, मालेंकोव, मालरोव और सुस्लोव ने बातचीत की। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इस बातचीत के बाद भारतीय प्रतिनिधिमण्डल भारत लौटा तो पहली बार भारत में जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम का एक मसौदा तैयार किया गया और एक नीति-विषयक वक्तव्य जारी किया गया। नीति-विषयक वक्तव्य रणकौशलात्मक लाइन के वृहद दस्तावेज़ का ही एक अंश था जिसे क़ानूनी तौर पर प्रकाशित किया गया। उपरोक्त दोनों दस्तावेज़ों में हालाँकि सशस्त्र संघर्ष का जिक्र नहीं था लेकिन रणकौशल-विषयक दस्तावेज़ में "अपरिपक्व विद्रोह और जोखिम भरी कार्रवाइयों से सावधान रहते हुए" किसानों के छापामार युद्ध के साथ ही मज़दूरों की वर्गीय हड़तालों और संघर्ष के अन्य रूपों के इस्तेमाल की बात कही गयी थी। उसमें इस धारणा को भी ग़लत

ठहराया गया था कि देश के किसी हिस्से में सशस्त्र विद्रोह तभी शुरू किया जा सकता है, जब पूरे देश में विद्रोह की स्थिति तैयार हो। दस्तावेज़ के अनुसार, किसी एक बड़े भूभाग में किसान संघर्ष के ज़मीन-ज़ब्ती के स्तर पर पहुँचने के बाद, व्यापक जनान्दोलन और छापामार युद्ध यदि ठीक तरह से संगठित हों तो देश भर के किसानों को उद्वेलित करके संघर्ष को उच्च धरातल पर पहुँचा देना सम्भव है।

किसान-संघर्ष के बारे में सोवियत पार्टी के आम सुझाव सही थे, पर तेलंगाना संघर्ष के बारे में ठोस निर्णय भारतीय पार्टी के नेतृत्व को लेना था, जिस पर दक्षिणपन्थी अवसरवादी हावी हो चुके थे। केन्द्रीय कमेटी ने आन्ध्र की कमेटी को संघर्ष केवल तब तक जारी रखने को कहा जब तक पार्टी सरकार से उसे स्थगित करने की शर्तों पर बातचीत पूरी न कर ले। इन शर्तों में किसानों के क़ब्ज़े की ज़मीन ज़मीन्दारों को वापस न करना, कैदियों की रिहाई, मुकदमे वापस लेना और पार्टी से प्रतिबन्ध हटाना प्रमुख थीं। लेकिन केन्द्रीय कमेटी के इस निर्णय के विपरीत अजय घोष के नेतृत्व वाले दक्षिणपन्थी धड़े और आन्ध्र के रवि नारायण रेड्डी गुट ने बिना शर्त संघर्ष वापसी के लिए दबाव बनाना शुरू किया। पार्टी की इस स्थिति का लाभ उठाकर नेहरू सरकार ने किसी भी शर्त को मानने और बातचीत करने से इन्कार कर दिया। मई, 1951 तक केन्द्रीय कमेटी में आन्ध्र के सदस्य भी मान चुके थे कि अब आंशिक छापामार संघर्ष भी जारी रख पाना सम्भव नहीं है। अक्टूबर, 1951 में पार्टी ने बिना किसी शर्त, निहायत घुटनाटेकू ढंग से संघर्ष वापस लेने की घोषणा कर दी। जंगल के छापामार नेताओं को इसकी ख़बर बाद में लगी। पार्टी अब पूरी तरह से संसदीय राह पर चल पड़ी। दक्षिणपन्थी धड़े के सामने उसके विरोधियों ने आत्मसमर्पण कर दिया और कतारों में भारी पस्ती का माहौल फैल गया।

आज पश्चदृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि तेलंगाना संघष की तत्कालीन पराजय कई कारणों से उस समय लगभग तय हो चुकी थी। इसका सर्वोपरि कारण यह था कि पार्टी बोल्शेविक ढंग से एकीकृत नहीं थी और उसमें ऊपर से नीचे तक "वाम" और दक्षिण के धड़े मौजूद थे, इसलिए वह भारतीय क्रान्ति को नेतृत्व देने में अक्षम थी। 1946 से 1951 के बीच पहले पी.सी. जोशी काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने, फिर रणदिवे काल के "वामपन्थी" भटकाव ने और फिर अजय घोष काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने पूरे देश स्तर पर और तेलंगाना के स्तर पर पार्टी के कार्यों को काफ़ी नुकसान पहुँचाया था। यह एक ऐसा संक्रमण-काल था, जब नयी सत्ता के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई थीं लेकिन नौसेना-विद्रोह, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा वायलार के किसान संघर्षों और देशव्यापी मज़दूर आन्दोलनों को एक कड़ी में पिरोकर जनक्रान्ति की धारा को आगे बढ़ाने में पार्टी-नेतृत्व नाकाम रहा। यदि यह प्रक्रिया आगे बढ़ती तो कांग्रेस की समझौतापरस्ती का पहलू और नंगा होकर सामने आता और पार्टी के नेतृत्व में यदि जनवादी क्रान्ति जल्दी पूरी नहीं भी होती तो या तो दीर्घकालिक लोकयुद्ध मज़बूत आधार पर, आगे की मंज़िलों में प्रविष्ट हो गया होता या जनसंघर्षों के दबाव में नेहरू सरकार भूमि क्रान्ति के कार्यभारों को हालाँकि प्रशियाई मार्ग से ही सही और ऊपर से ही सही लेकिन तेज़ी के साथ पूरा करने को विवश हो जाती और तेज़ पूँजीवादी विकास के साथ भारत जल्दी ही समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रविष्ट हो जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। 1951 तक, पार्टी-नेतृत्व में मतभेद के चलते तेलंगाना संघर्ष को इतना नुकसान पहुँच चुका था कि कम से कम, फौरी तौर पर

उसकी पराजय सुनिश्चित हो चुकी थी। फिर भी, उस समय यदि नेतृत्व पर दक्षिणपन्थी धड़ा काबिज़ नहीं होता और पूरी तरह से आत्मसमर्पण करने की बजाय, फौरी तौर पर पीछे हटने और अपनी सैन्य शक्ति को दुर्गम जंगल क्षेत्रों में बिखरा देने के बाद, नये सिरे से उस क्षेत्र में तथा देश के अन्य ऐसे भूभागों में किसान-संघर्ष संगठित किये जाते, तो स्थिति को सँभालकर फिर से आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता। इस तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि राजेश्वर राव के नेतृत्व में जिस धड़े ने तेलंगाना में सही लाइन ली थी, वह भी विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर था। इसके चलते, कुछ समय तक केन्द्रीय कमेटी में प्रभावी होने के दौर में भी वह अपनी लाइन का देशव्यापी स्तर पर सुदृढ़ीकरण नहीं कर सका, विरोधी लाइन के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के बजाय उसने समझौता करने का रुख़ अपनाया और अन्ततः घुटने टेक दिये। इस बुनियादी तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि 1951 तक भारत की पार्टी के पास न तो जनवादी क्रान्ति का कोई सुसंगत कार्यक्रम था, न ही कोई भूमि-क्रान्ति का कार्यक्रम (एग्रेरियन प्रोग्राम)। 1951 में सोवियत पार्टी की राय से, जब कार्यक्रम और रणकौशलात्मक लाइन के दस्तावेज़ तैयार हुए तब तक नेतृत्व पर दक्षिणपन्थी काबिज़ हो चुके थे, पार्टी संशोधनवाद की राह पर आगे बढ़ चुकी थी और तेलंगाना संघर्ष की पराजय तय हो चुकी थी। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चीनी क्रान्ति जैसे दीर्घकालिक लोकयुद्ध के मार्ग का पक्षधर धड़ा, अपनी सही अवस्थिति के बावजूद, यदि स्थितियाँ उसके अनुकूल होतीं, तब भी संघर्ष को किस हद तक आगे ले जा पाता, यह संदिग्ध है, क्योंकि विचारधारात्मक रूप से यह धड़ा भी काफ़ी अपरिपक्व था और भारतीय परिस्थितियाँ हूबहू चीन जैसी नहीं थी। क्रान्ति पूर्व अर्द्धऔपनिवेशिक चीन एक प्राक्औपनिवेशिक मंज़िल में था, जबकि 1947 के बाद का भारत विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हो पाने के बावजूद एक उत्तर औपनिवेशिक समाज था, जिसकी एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता थी, जो एक ऐसे औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के हाथों में थी, जो चीन जैसा दलाल पूँजीपति वर्ग नहीं था। अपनी इस प्रकृति के चलते आगे चलकर राष्ट्रीय बाज़ार के निर्माण के लिए, प्रशियाई मार्ग से सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण का मार्ग अपनाना और साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार होते हुए भी अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार करना इसके लिए अपरिहार्य था। भारतीय पूँजीपति वर्ग के इस चरित्र की ओर सबसे पहले इतिहासकार डी.डी. कोसम्बी ने इंगित किया था। इस मायने में 1951 का कार्यक्रम वर्ग-सम्बन्धों की दृष्टि से तत्कालीन समय में क्रान्ति की मंज़िल और मार्ग का तो ठीक निर्धारण कर रहा था लेकिन भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र के मूल्यांकन में सटीकता और स्पष्टता की कमी के चलते वह भारतीय समाज के विकास की दिशा के बारे में कुछ नहीं कहता था। वह इस बात को स्पष्ट नहीं करता था कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति यदि सम्पन्न नहीं होती, तो भारतीय पूँजीपति वर्ग ग़ैरक्रान्तिकारी रास्ते से, ऊपर से क्रमशः भूमि सम्बन्धों को बदलने का काम करता ही, क्योंकि यह उसके वर्गहित का तक़ाज़ा था। वह इस बात को भी स्पष्ट नहीं करता था कि एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता और सापेक्षतः अधिक पूँजीवादी विकास के कारण, 1947-51 के दौरान राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंज़िल होते हुए भी, दीर्घकालिक लोकयुद्ध के चीनी रास्ते को हूबहू यहाँ लागू कर पाना सम्भव नहीं था। उस समय चीनी पार्टी ने भी आगाह किया था कि हर

उपनिवेश-अर्द्धउपनिवेश-नवउपनिवेश में छापामार किसान संघर्ष के चीनी अनुभव को आँख मूँदकर दुहराया नहीं जा सकता। इन जटिल, तरल संक्रमणकालीन स्थितियों में, यदि सब कुछ तेलंगाना में सही लाइन लागू करने वाले धड़े के अनुकूल होता, तो भी यह कह पाना मुश्किल है कि अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण, वह संघर्ष को कहाँ तक आगे ले जा पाता और चीनी क्रान्ति के मार्ग के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से बच पाता भी या नहीं। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के उत्तरवर्ती दौर का इतिहास तो यही बताता है कि ऐसा बहुत मुश्किल होता।

बहरहाल, इतिहास में जो घटित हुआ, वह यह कि पार्टी 1951 में ही शान्तिपूर्ण संविधानवाद का रास्ता अपना चुकी थी और मुख्यत: और मूलत: मेंशेविक और काउत्स्कीपन्थी यूरोपीय पार्टियों के साँचे में ढल चुकी थी। 1951 से लेकर 1962-63 तक इसमें दो लाइनों का संघर्ष वस्तुत: संसदवाद-अर्थवाद की नरम धारा और रैडिकल धारा के बीच संघर्ष के रूप में ही मौजूद रहा। कतारों का बड़ा हिस्सा क्रान्तिकारी आकांक्षाओं और चरित्र वाला था। (हालाँकि सुधारवादी तत्वों की नयी भरती लगातार जारी थी), लेकिन अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण वह नेतृत्व के रैडिकल संशोधनवादी धड़े को ही क्रान्तिकारी मानता था। जो नरमपन्थी उदारवादी धड़ा था, उसका नेतृत्व डांगे, मोहित सेन, भवानी सेन, भूपेश गुप्त, दामोदरन, जी. अधिकारी आदि के हाथों में था और मध्यमार्गी अजय घोष भी मूलत: उन्हीं के साथ थे। दूसरे धड़े का नेतृत्व सुन्दरैया, गोपालन, बासवपुनैया, प्रमोद दासगुप्ता आदि के हाथों में था। पहले धड़े की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की थीसिस यह थी कि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में मौजूद धड़ा प्रगतिशील राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की थीसिस यह थी कि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में मौजूद धड़ा प्रगतिशील राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि है और नेहरू सरकार विऔपनिवेशीकरण और भूमि-सुधारों के राष्ट्रीय जनवादी कार्यभारों को अंजाम दे रही है, इसलिए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को उसके प्रति मुख्यत: सहयोग का रुख अपनाना चाहिए। साथ ही, यह सरकार समाजवादी शिविर के प्रति भी दोस्ताना रुख़ रखती है। इसे मज़बूत बनाने के लिए और साथ ही विश्व शान्ति आन्दोलन को मज़बूत बनाकर शीतयुद्ध का प्रतिकार करने के लिए नेहरू सरकार के प्रति सहयोगी रुख़ अपनाना ज़रूरी है। दूसरी ओर रैडिकल संशोधनवादी धड़े का यह मानना था कि भारत में राज्यसत्ता का बड़ा साझीदार बड़ा पूँजीपति वर्ग है जो साम्राज्यवाद के साथ समझौते कर रहा है और राष्ट्रीय जनवादी कार्यभारों को कत्तई पूरा नहीं करना चाहता। इसके विरुद्ध चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के आधार पर लोक जनवादी क्रान्ति के लिए संघर्ष करना होगा, जिसका केन्द्रीय तत्व भूमि क्रान्ति होगा। ऊपरी तौर पर देखने पर यह कार्यक्रम क्रान्तिकारी लगता था, लेकिन वास्तविकता यह थी कि क्रान्तिकारी किसान संघर्ष को पुनस्संगठित करके तेलंगाना किसान-संघर्ष की परम्परा को आगे बढ़ाने की कोई ठोस कार्य-योजना इसके वाहक धड़े ने कभी प्रस्तुत नहीं की। जगह-जगह भूमिहीनों के बीच ग़ैरमजरुआ, पंचायती व सीलिंग से निकली ज़मीन बाँटने, सरकार पर भूमि-सुधारों की गति तेज़ करने के लिए दबाव बनाने, न्यूनतम मज़दूरी जैसी माँगों पर संघर्ष करने, संसद में नेहरू की नीतियों के ख़िलाफ़ रैडिकल भाषण देने और औद्योगिक मज़दूरों की बोनस, वेतनवृद्धि व अन्य सुविधाओं को लेकर आन्दोलन संगठित करने के अतिरिक्त लोक जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम देने वाले धड़े ने और कुछ भी नहीं किया। यहाँ यह उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि 1955-56 के दौरान अजय घोष, नम्बूदिरिपाद, डांगे, जगन्नाथ

सरकार, बालकृष्ण मेनन आदि कुछ लोग इस तरीके की बात कर रहे थे कि भारतीय सत्तारूढ़ बुर्जुआ भी बिस्मार्ककालीन प्रशा की तरह, ऊपर से, भूस्वामित्व ढाँचे का क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण कर रहा है, लेकिन फिर वे इस मसले पर कायराना और अवसरवादी ढंग से चुप्पी साध गये। यूँ तो एक संशोधनवादी पार्टी के लिए कार्यक्रम के सही-ग़लत होने का कोई मतलब नहीं होता, लेकिन यह ज़रूर है कि भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण से जुड़े पक्षों पर उस समय यदि बहस चली होती तो नक्सलबाड़ी के बाद, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच भी यह मुद्दा बहस के एजेण्डे पर आसानी से आ जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। कहा जा सकता है कि पहला धड़ा जहाँ एकदम सामाजिक जनवादी आचरण करते हुए पार्टी को बुर्जुआ वर्ग की गोद में बैठा देना चाहता था, वहीं दूसरा धड़ा रैडिकल अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी-संसदवादी विरोध की कार्रवाइयाँ चलाते हुए एक ज़िम्मेदार संसदीय विपक्ष, व्यवस्था के भीतर सक्रिय एक 'प्रेशर ब्लॉक' और व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति की भूमिका निभाना चाहता था। लेकिन इस धड़े के संशोधनवादी चरित्र को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि संसदीय और आर्थिक संघर्षों के अतिरिक्त इसने 1951 से 1964 तक किसानों के क्रान्तिकारी भूमि संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए तथा मज़दूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार एवं राजनीतिक संघर्ष संगठित करने के लिए कुछ भी नहीं किया। पूरी पार्टी के क़ानूनी बना दिये जाने और चवन्नियाँ सदस्यता सहित सभी मेंशेविक ढंग-ढर्रों को अपना लेने पर इस धड़े ने कभी कोई सवाल नहीं उठाया। 1958 में हुई पार्टी की पाँचवीं (विशेष) कांग्रेस (अमृतसर) में जब सोवियत पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में स्वीकृत ख्रुश्चेवी संशोधनवादी नीतियों को अपनाया गया और पार्टी संविधान की प्रस्तावना से 'क्रान्तिकारी हिंसा' शब्दावली को हटा दिया गया तो एक भी प्रतिनिधि ने इसका विरोध नहीं किया। नक्सलबाड़ी किसान-उभार से जन्मी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा के भी नेतृत्व की विचारधारात्मक कमज़ोरी को समझने के लिए यहीं पर यह उल्लेख भी ज़रूरी है कि इस कांग्रेस में भावी मा-ले नेतृत्व के कई लोग भी प्रतिनिधि के रूप में मौजूद थे। उनमें डी.वी. राव (केन्द्रीय कमेटी के सदस्य भी थे) और नागी रेड्डी तो राष्ट्रीय स्तर के नेता माने जाते थे जबकि कई अन्य राज्य स्तर के नेता थे। छठी कांग्रेस (विजयवाड़ा, 1961) में दो परस्पर-विरोधी कार्यक्रम के मसौदों पर अवश्य गम्भीर मतभेद सामने आया, लेकिन सोवियत प्रतिनिधिमण्डल के ख्रुश्चेवपन्थियों के बीच-बचाव से फूट को टाल दिया गया। उल्लेखनीय है कि 1956-61 के दौरान ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध परोक्ष रूप से करते हुए चीन की पार्टी स्तालिन और सर्वहारा क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी उसूलों के पक्ष में सकारात्मक तौर पर अपने मुखपत्रों में लिख रही थी, लेकिन संशोधनवाद पर खुला हमला बोलने की जगह वह पार्टी-स्तर पर बातचीत के ज़रिये मतभेदों को हल करने की कोशिश कर रही थी। उसे उम्मीद थी कि पूरी सोवियत पार्टी शायद ख्रुश्चेव के साथ न हो और बातचीत करके सोवियत पार्टी को सही रास्ते पर लाया जा सकता है तथा विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को फूट से बचाया जा सकता है। इसी प्रक्रिया में 1957 और 1960 के अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट सम्मेलनों द्वारा पारित दस्तावेज़ों में चीन की पार्टी ने अपनी अवस्थिति दर्ज़ कराने के बावजूद समझौते भी किये। इन विचारधारात्मक समझौतों के चलते इन दस्तावेज़ों में कई संशोधनवादी प्रस्थापनाएँ शामिल हो गयी थीं, जिनका पूरा लाभ पूरी दुनिया की पार्टियों के संशोधनवादियों ने उठाया। चीन की पार्टी की उम्मीदों का इतिहास के अनुभव समर्थन नहीं करते थे और उसका आचरण सुधारवाद और संशोधनवाद के विरुद्ध तत्क्षण संघर्ष छेड़ देने के

मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के आचरण से मेल नहीं खाता था। संशोधनवाद के विरुद्ध खुले संघर्ष में चीन की पार्टी द्वारा किये गये अनावश्यक विलम्ब से पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन में संशोधनवादियों को लाभ मिला। कतारों को दिग्भ्रमित करने और अपना सुदृढ़ीकरण करने में उन्होंने इस अन्तराल का भरपूर लाभ उठाया। भारत के कम्युनिस्ट नेतृत्व को तो दुनिया की किसी बड़ी पार्टी या मान्य अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से दिशा पाये बिना सोचने की आदत ही नहीं थी। ऐसे में, पाँचवीं और छठी कांग्रेस में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद पर सवाल उठाने का भला सवाल ही कहाँ उठता है? कतारों की क्रान्तिकारी स्पिरिट भी 1951 के बाद से लगातार क्षरित हो रही थी। अब स्तालिन की आलोचना और संसदीय मार्ग की स्वीकृति ने उनमें और अधिक पस्ती और निराशा पैदा करने का काम किया।

1962 में भारत के चीन युद्ध के समय डांगेपन्थी धड़े ने अपनी वर्ग-सहयोगी लाइन की तार्किक परिणति के तौर पर अन्धराष्ट्रवादी अवस्थिति अपनायी और चीन को हमलावर मानते हुए नेहरू सरकार की सीमानीति को पुरज़ोर समर्थन दिया। उस समय चीन पश्चिमी शक्तियों की घेरेबन्दी और कुत्साप्रचार के घटाटोप का शिकार था, फिर भी पश्चिमी मीडिया और पश्चिमी बुद्धिजीवियों का बहुलांश भारत-चीन सीमा विवाद में अमेरिका व अन्य पश्मिची देशों की शह और अपनी क्षेत्रीय विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा के चलते उकसावे और हमले की कार्रवाई के लिए भारत को ही ज़िम्मेदार मानता था। कई पुस्तकों में इन तथ्यों की सविस्तार चर्चा मिलती है जिसमें अमेरिकी पत्रकार नेविल मैक्सवेल की पुस्तक सर्वाधिक प्रसिद्ध है। भारत में भी पुराने क्रान्तिकारी पं. सुन्दरलाल सहित कई लोग नेहरू की विस्तारवादी नीतियों और हमले की कार्रवाई के कटु आलोचक थे और तथ्यों को सामने लाने वाली कई पुस्तकें व लेख यहाँ भी लिखे गये लेकिन अन्धराष्ट्रवादी प्रचार की लहर में वे व्यापक जनता तक नहीं पहुँच सके। भारत की कम्युनिस्ट कतारें सीमा-विवाद सम्बन्धी इस सारी सामग्री से परिचित नहीं थीं, लेकिन अपने सहज वर्ग-बोध से समाजवादी चीन को विस्तारवादी और हमलावर मानने को वे तैयार नहीं थी और भारतीय बुर्जुआ सत्ता के प्रतिक्रियावादी तथा विस्तारवादी चरित्र को भी वे भली-भाँति समझती थीं। भारी अन्धराष्ट्रवादी लहर का मुक़ाबला करते हुए भारत की कम्युनिस्ट कतारों के बड़े हिस्से ने नेहरू सरकार की हमलावर विस्तारवादी सीमा-नीति का विरोध किया। पार्टी-नेतृत्व के भीतर डांगेपन्थियों का विरोधी जो दूसरा धड़ा था (जो कि अल्पमत में था), उसने डांगेपन्थियों के बहुमत द्वारा ली गयी लाइन को मार्क्सवाद-विरोधी और बुर्जुआ राष्ट्रवाद के अवसरवादी सिद्धान्त पर आधारित घोषित किया। लेकिन आने वाले समय की घटनाओं ने सिद्ध किया कि ऐसा सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के प्रति प्रतिबद्धता के चलते नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी कतारों को अपने पक्ष में करने के लिए किया गया था। चीनी "हमले" के मिथक के पीछे की सच्चाइयों को साहसपूर्वक उजागर करने और अन्धराष्ट्रवाद-विरोधी प्रचार का कोई कार्यक्रम हाथ में लेने के बजाय, इस दूसरे धड़े की ओर से राममूर्ति ने पार्टी की राष्ट्रीय परिषद में एक वैकल्पिक प्रस्ताव पेश किया जिसमें सिर्फ़ इतना ही कहा गया था कि चीन और भारत दो महान पड़ोसी देश हैं, उन्हें आपसी युद्ध में नहीं उलझना चाहिए क्योंकि इससे दोनों देशों को तबाही-बर्बादी का सामना करना पड़ेगा। लेकिन इस कायराना जोड़तोड़ के बावजूद वे बच नहीं सके। भारत सरकार ने उनमें से अधिकांश को, डांगे द्वारा दी गयी सूची के आधार पर, गिरफ़्तार करके जेल भेज दिया।

1963 के उत्तरार्द्ध से, 'क्रान्ति या शान्तिपूर्ण संक्रमण?' के बुनियादी विचारधारात्मक प्रश्न पर, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में शायद पहली बार अभूतपूर्व आयामों वाली एक ऐसी बहस की शुरुआत हुई जिसने समूची पार्टी कतारों को अपनी ज़द में ले लिया। 1957 से 1962 के बीच सोवियत पार्टी और चीनी पार्टी का जो भी साहित्य भारत की कम्युनिस्ट कतारों के एक हिस्से तक पहुँच पा रहा था, उससे यह बात तो स्पष्ट हो ही चुकी थी कि चीन की पार्टी न केवल तोग्लियाती और टीटो के संशोधनवाद का विरोध करती है, बल्कि वह ख्रुश्चेव के तीन "शान्तिपूर्णों" के सिद्धान्त और उसके द्वारा प्रस्तुत स्तालिन की आलोचना को भी स्वीकार नहीं करती है। लेकिन पूरे देश की व्यापक कतारों तक सोवियत लेखन की ही पहुँच थी। चीनी पार्टी का साहित्य ज़्यादातर कुछ महानगरों के मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों और प्रबुद्ध कतारों तक ही पहुँच पाता था। पार्टी नेतृत्व अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के बीच जारी मतभेदों से परिचित था, लेकिन उसके दूसरे धड़े ने भी कभी चीनी पार्टी की अवस्थिति को कतारों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की। जून, 1963 में चीनी पार्टी ने पहली बार बहस को खुला करते हुए ख्रुश्चेवी लाइन के विरुद्ध विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की वैकल्पिक आम दिशा का दस्तावेज़ प्रस्तुत किया। इसके बाद सितम्बर 1963 से लेकर जुलाई 1964 के बीच क्रमशः नौ निबन्धों के ज़रिये चीनी पार्टी ने ख्रुश्चेवी नकली कम्युनिज़्म को पूरी तरह बेनक़ाब करते हुए सोवियत पार्टी को पूँजीवादी रास्ते का राही घोषित किया। यही बहस अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में 'महान बहस' नाम से प्रसिद्ध हुई। उस समय आधिकारिक पार्टी-लाइन का विरोध करने वाले धड़े का बड़ा हिस्सा जेल में था। जो लोग बाहर थे, उन्होंने 'महान बहस' के दस्तावेज़ों को पार्टी-कतारों तक पहुँचाने के लिए कुछ भी नहीं किया। ये दस्तावेज़ मुख्यतः बुद्धिजीवियों के बीच से पार्टी कतारों तक पहुँचे और फिर बात तेज़ी से फैली। अब पहलकदमी पूरी तरह से कतारों के हाथ में थी। जुझारू कतारों के बड़े हिस्से ने चीनी अवस्थिति का समर्थन किया। उसे यह समझते देर नहीं लगी कि चीनी "हमले" के दुष्प्रचार और अन्धराष्ट्रवादी लहर का निशाना दरअसल चीनी पार्टी की क्रान्तिकारी लाइन है, इसलिए कतारों ने अन्धराष्ट्रवाद के विरुद्ध साहसिक प्रचार-कार्य पूरी तरह से अपनी स्वतन्त्र पहल पर करना शुरू किया। यह मुहिम बंगाल में सर्वाधिक सशक्त थी। कलकत्ता के शहीद मैदान में एक भारी रैली हुई और फिर सड़कों पर जुलूस निकाला गया। जिसका प्रमुख नारा था : 'चीन का हौवा खड़ा करने वाले साम्राज्यवाद के एजेण्ट हैं।' पूरी स्थिति को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि पार्टी का बंगला मुखपत्र 'स्वाधीनता' नेतृत्व के आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी गुट के नियन्त्रण में होने के बावजूद इस पूरे मसले पर चुप्पी साधे हुए था। दूसरी ओर, पार्टी कतारों की पहल पर शुरू हुआ नया साप्ताहिक 'देशहितैषी' और नया मासिक 'नन्दन' इस पूरे प्रश्न पर जुझारू मुखरता के साथ स्टैण्ड लेकर लिख रहे थे और संशोधनवाद पर चोट कर रहे थे।

आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी पक्ष के नेतागण जब जेलों से बाहर आये तो स्थितियाँ उन्हें अपनी समझ और नियन्त्रण की सीमा से परे प्रतीत हुईं। जेल जाने से पहले वे चीनी लाइन के साथ जोड़कर देखे जाते थे, हालाँकि वे स्वयं ऐसा नहीं कहते थे। जेल में उनके भीतर भी मतभेद पैदा हो गये थे। कुछ उदारपन्थियों का कहना था कि सोवियत और चीनी पार्टी – दोनों की अवस्थितियाँ ग़लत हैं जबकि उनके विरोधियों का कहना था कि चीनी अवस्थिति मुख्यतः सही है। आधिकारिक लाइन विरोधी नेतृत्व का एक छोटा-सा हिस्सा जो

बंगाल में गिरफ़्तारी से बच गया था और भूमिगत होकर पार्टी की राज्य कमेटी के रूप में काम कर रहा था, उसने 'पृथ्वीराज' छद्मनाम से एक दस्तावेज़ निकाला था जिसमें यह स्पष्ट कहा गया था कि अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में मतभेद मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों पर हैं। लेकिन यह कहने के बावजूद, 'पृथ्वीराज' इकाई के एक सदस्य समर मुखर्जी ने स्पष्ट कर दिया था कि वे फूट के लिए अपनी ओर से कोई पहल नहीं करेंगे। जेल से बाहर आये नेताओं की भी यही सोच थी, लेकिन उन्होंने महसूस किया कि कतारों में यह भावना प्रचण्ड रूप में मौजूद है कि पार्टी नेतृत्व पर हावी डांगेपन्थियों के बहुमत के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में विचारधारात्मक मुद्दे से कतारों का ध्यान हटाने के लिए आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी धड़े ने राष्ट्रीय अभिलेखागार से डांगे का वह पत्र निकलवाकर ख़ूब ज़ोर-शोर से कतारों में बाँटना शुरू कर दिया, जो उसने ब्रिटिश सत्ता को जेल से माफ़ीनामे के तौर पर भेजा था। लेकिन यह जुगत काम न आयी। विचारधारात्मक संघर्ष और तीखा हो गया और इन नेताओं के सामने इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प शेष नहीं बचा कि वे एक नयी पार्टी के गठन की दिशा में आगे कदम बढ़ायें। इस उद्देश्य से तेनाली (आन्ध्र प्रदेश) में एक कन्वेंशन बुलाया गया। लेकिन नेताओं के इस धड़े की नीयत और चरित्र को इस बात से समझा जा सकता है कि इस कन्वेंशन के ऐन पहले ज्योति बसु समझौते का एक प्रस्ताव लेकर भूपेश गुप्त और राजेश्वर राव से मिलने उड़कर दिल्ली पहुँचे। उनकी शर्त थी कि यदि अगली पार्टी कांग्रेस 1962 की सदस्यता के आधार पर हो और यदि डांगे को पार्टी-चेयरमैन पद से हटा दिया जाये, तो नयी पार्टी बनाने का विचार छोड़ा जा सकता है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि ऐसे नेतृत्व के लिए, फूट का मुद्दा विचारधारात्मक-राजनीतिक नहीं था, बल्कि संसदीय राजनीति के दायरे में ही अधिक नरम या अधिक गरम नीतियों-रणनीतियों को लेकर था। 'पृथ्वीराज दस्तावेज़' में सोवियत व चीनी पार्टी के बीच के मतभेदों को विचारधारात्मक बताते हुए चीनी अवस्थिति का स्पष्ट समर्थन किया गया था जबकि राष्ट्रीय परिषद में हावी डांगेपन्थियों ने यह प्रस्ताव पारित करवाया था कि चीनी आक्रमणकारी है। इन दोनों लाइनों के एक ही पार्टी में सहअस्तित्व की बात सोचने वाले लोग परले दरजे के अवसरवादी ही हो सकते थे।

ऐसे अवसरवादी नेतृत्व के प्रति रैडिकल कतारें शुरू से ही सशंकित थीं, फिर भी उन्हें यही लगा कि डांगेपन्थियों से अलग होने के बाद इस नये नेतृत्व के ढुलमुलपन पर दबाव बनाकर नयी पार्टी को रास्ते पर लाया जा सकता है। कतारों को तब और आश्चर्य हुआ था जब, जिस नेतृत्व से एक क्रान्तिकारी लाइन लागू करने की अपेक्षा थी, वह दमनकारी राज्य मशीनरी की भरपूर सक्रियता के समय खुले तौर पर एक कांग्रेस के लिए एकत्र हुआ और फिर वही हुआ जो होना था। आधिकारिक-लाइन विरोधी सभी अग्रणी नेताओं को शान्तिपूर्वक उठाकर जेल में डाल दिया गया। जब अन्धराष्ट्रवादी लहर के ख़िलाफ़ रैडिकल कतारें सड़कों पर थीं, उस समय नेतृत्व के इस धड़े को जेल शायद अधिक महफ़ूज जगह लगी। कतारों की इस नये नेतृत्व के प्रति शंकाओं को तब और अधिक बल मिला जब नयी पार्टी (माकपा) के गठन के लिए प्रस्तावित कांग्रेस के लिए इसने मसौदा पार्टी कार्यक्रम वितरित किया। हालाँकि लोक जनवादी क्रान्ति की बात करते हुए इसमें मजदूर वर्ग के नेतृत्व, मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित संयुक्त मोर्चे और भूमि-क्रान्ति के धुरी होने की बात की गयी थी, लेकिन इसमें संशोधनवाद और सुधारवाद के कई तत्त्व थे और भविष्य में क्रान्तिकारी लाइन को पूरी तरह से

छोड़ देने की तमाम गुंजाइशें इसमें अन्तर्निहित थीं, जिन्हें रैडिकल कतारों के एक बड़े हिस्से ने भाँप लिया। नतीज़तन, कांग्रेस की तैयारी के लिए आयोजित पार्टी कन्वेंशन के सभी स्तरों पर तीखी बहसें उठ खड़ी हुईं। यहाँ तक कि पार्टी कांग्रेस तक में कार्यक्रम का एक वैकल्पिक मसौदा पेश किया गया, लेकिन पुराने नौकरशाहाना ढंग से, जोड़तोड़ के बहुमत के सहारे हर रैडिकल आलोचना को दबा दिया गया। पार्टी कार्यक्रम के मसौदे के सिर्फ़ कुछ शब्दों में छोटे-मोटे बदलाव किये गये।

इतना कुछ होने के बावजूद, रैडिकल कतारें यह समझने में विफल रहीं कि जो नयी पार्टी गठित की जा रही है, वह भी नेतृत्व और नीतियों की दृष्टि से एक संशोधनवादी पार्टी है। उन्हें अपेक्षा थी कि इस पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष चलाकर और मध्यमार्गियों को ठिकाने लगाकर इसे क्रान्तिकारी रास्ते पर उन्मुख किया जा सकता है। इस विभ्रम के लिए पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी का लम्बा इतिहास, राजनीतिक शिक्षा के अभाव की लम्बी परम्परा और निपट संशोधनवाद का चौदह वर्षों लम्बा दौर ज़िम्मेदार थे। नवगठित पार्टी ने सर्वहारा क्रान्ति के मूलभूत विचारधारात्मक प्रश्न पर जो अवस्थिति अपनायी उसकी सारवस्तु स्पष्टत: संशोधनवादी थी। ख्रुश्चेवी संशोधनवाद की आलोचना करने के बावजूद माकपा-नेतृत्व का मानना था कि चीनी पार्टी अतिवामपन्थी संकीर्णतावादी भटकाव की शिकार है। सोवियत संघ के बारे में उनका कहना था कि वहाँ की पार्टी संशोधनवादी भटकाव की शिकार है किन्तु राज्य और समाज का चरित्र अभी भी समाजवादी है। यह अवस्थिति अपने आप में हास्यास्पद रूप से विसंगतिपूर्ण थी। लेनिन की परिभाषा के अनुसार, संशोधनवादी पार्टी का मतलब है समाजवादी मुखौटे वाली बुर्जुआ पार्टी। ऐसी कोई पार्टी यदि राज्य पर काबिज़ हो तो राज्य का चरित्र सर्वहारा अधिनायकत्व का नहीं, बल्कि बुर्जुआ अधिनायकत्व का ही होगा और उस राज्य के होते समाजवादी समाज का विघटन केवल समय की बात होगी। 1955 से 1964 तक सोवियत संघ का समाजवादी तानाबाना पूरी तरह विघटित हो चुका था और उसका स्थान राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद ले चुका था। 1968 में चेकोस्लोवाकिया पर हमले के बाद, सोवियत संघ का साम्राज्यवादी चरित्र भी नंगा हो गया। बाद के दशक के दौरान, राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्षों को मदद देने के नाम पर उनमें फूट डालने, उन्हें सशस्त्र संघर्ष का रास्ता छोड़ समझौते की नसीहत देने, नवस्वाधीन देशों का सहायता के नाम पर शोषण करने और पूर्वी यूरोपीय देशों की जनता का शोषण करने की सोवियत नीति ने सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवादी चरित्र को दिन के उजाले की तरह साफ़ कर दिया। लेकिन माकपा नेतृत्व सोवियत संघ को तब तक समाजवादी मानता रहा जब तक राजकीय पूँजीवाद का स्थान पश्चिमी ढंग के निजी पूँजीवाद ने नहीं ले लिया और सोवियत संघ का विघटन नहीं हो गया। माकपा की थीसिस के अनुसार, पैंतीस वर्षों तक एक संशोधनवादी पार्टी के शासन में राज्य और समाज का चरित्र समाजवादी बना रहा। मार्क्सवाद के साथ इससे बड़ा मज़ाक भला और क्या हो सकता है! और बात केवल इतनी ही नहीं थी। धीरे-धीरे माकपा ने सोवियत पार्टी को संशोधनवादी कहना भी बन्द कर दिया।

पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों और समाजवादी संक्रमण की अवधि में जारी वर्ग संघर्ष की प्रकृति के बारे में माओ त्से-तुङ के विश्लेषण और सैद्धान्तिक निष्पत्तियों पर माकपा ने कभी विस्तार से कुछ नहीं लिखा, लेकिन महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रयोग को वह शुरू से अस्वीकार करती रही और ल्यू शाओ-ची व देङ सियाओ-पिङ के उत्पादक शक्तियों

के विकास के संशोधनवादी सिद्धान्त को मार्क्सवादी मानती रही। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह आज के चीन के "बाज़ार समाजवाद" नामधारी नग्न पूँजीवाद को समाजवाद मानती है और सांस्कृतिक क्रान्ति को देंगपन्थियों के सुर में सुर मिलाते हुए एक "अतिवामपन्थी भूल" और "महाविपदा" घोषित करती है। वैसे, आम तौर पर मध्यमार्ग अपनाने वाली हर संशोधनवादी पार्टी की तरह माकपा अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के हर अहम विचारधारात्मक मसले पर प्रायः चुप्पी का ही रवैया अख़्तियार करती रही है और विवश होने पर ही अपनी संशोधनवादी अवस्थिति को रखती रही है। 'महान बहस' में चीन की अवस्थिति को कथनी में सही मानते हुए भी उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों-नवउपनिवेशों में क्रान्ति सहित विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के बारे में चीनी पार्टी द्वारा 1963 में प्रस्तुत अवस्थिति की जगह उसने ख्रुश्चेवी संशोधनवादी आम दिशा को ही सारतः स्वीकार किया। माओ की मृत्यु के बाद, चीन में प्रतिक्रियावादी तख़्तापलट करके सत्तासीन हुए पूँजीवादी पथगामियों ने सोवियत पार्टी को जब बिरादराना पार्टी कहना शुरू कर दिया, तो माकपा ने इसका कोई विरोध नहीं किया और उनके इस कुटिल पैंतरापलट को चुपचाप स्वीकार कर लिया। माकपा का यह संशोधनवादी चरित्र समय बीतने के साथ ही ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता गया, लेकिन विचारधारात्मक अवस्थिति और पार्टी की प्रकृति की दृष्टि से देखें तो अपने जन्मकाल से ही यह एक संशोधनवादी पार्टी थी।

यानी संकीर्ण अनुभववादी पर्यवेक्षण के बजाय, यदि पार्टी संगठन के लेनिनवादी उसूलों के नज़रिये से देखा जाये तो माकपा का संशोधनवादी चरित्र 1964 में ही एकदम साफ़ था। 1951 से ही जारी पार्टी के एकदम खुले, क़ानूनी, संसदीय चरित्र और कार्यप्रणाली को माकपा ने यथावत जारी रखा। पार्टी-सदस्यता की प्रकृति इसमें मेंशेविकों से भी गयी-गुज़री थी। अमृतसर कांग्रेस में पार्टी संविधान में किया गया बदलाव भी 1964 की सातवीं कांग्रेस में यथावत क़ायम रखा गया। लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के अनुसार, क्रान्ति का मार्ग दीर्घकालिक लोकयुद्ध का ही हो सकता था, लेकिन इसका कोई उल्लेख करने की जगह पार्टी कार्यक्रम में कपटपूर्ण भाषा में "संसदीय और ग़ैरसंसदीय" रास्ते का उल्लेख किया गया। कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी बुर्जुआ संसदीय चुनावों का परिस्थिति अनुसार रणकौशल के तौर पर ही इस्तेमाल करती है। संसदीय रास्ते को ग़ैर संसदीय मार्ग के समकक्ष रखना अपने आप में संशोधनवाद है। यूँ बाद में मा-ले आन्दोलन की "वामपन्थी" दुस्साहसवादी धारा के चुनाव-बहिष्कार के नारे का विरोध करते हुए माकपा लेनिन के हवाले से यही कहती थी कि एक रणकौशल के तौर पर चुनाव का इस्तेमाल किया जा सकता है और वह यही कर रही है। लेकिन विगत तीन दशकों से बुर्जुआ व्यवस्था के अन्तर्गत एक राज्य में शासन करते हुए वह बुर्जुआ नीतियों को भरपूर वफ़ादारी के साथ लागू करती रही है और जनसंघर्षों की तैयारी के लिए चुनाव व संसदीय मंच का इस्तेमाल करने की जगह लगातार हर जनान्दोलन को कुचलने के लिए राज्यतन्त्र का बर्बर निरंकुश ढंग से इस्तेमाल करती रही है। अपना यह चरित्र वह नक्सलबाड़ी किसार उभार का बर्बर दमन करके साठ के दशक के अन्तिम वर्षों में ही नंगा कर चुकी थी।

जहाँ तक कार्यक्रम का प्रश्न है, माकपा ने अपने लोक-जनवादी कार्यक्रम के अन्तर्गत भारतीय बड़े पूँजीपति वर्ग का चरित्र दलाल न मानकर दोहरी प्रकृति का माना था और कुल मिलाकर इसकी स्थिति साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार की मानी थी, जो वास्तविकता के

अधिक निकट था। लेकिन सत्तारूढ़ पूँजीपति वर्ग के इस चरित्र का अन्तर्निहित तर्क यही हो सकता था कि वह अपने औद्योगिक-वित्तीय हितों के अनुरूप, ऊपर से, एक क्रमिक प्रक्रिया में, प्रशा के जुंकर-टाइप रूपान्तरण से मिलते-जुलते रास्ते से अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों को बदलने की कोशिश करे, सामन्ती भूस्वामियों को पूँजीवादी भूस्वामी बनने का अवसर दे (और जो ऐसा न करें, उन्हें उजड़ने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दे), धनी काश्तकारों को मुनाफ़ाख़ोर कुलक बना दे, अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर तथा आयात-प्रतिस्थापन की नीति अपनाकर अपने आर्थिक हितों की हिफ़ाज़त एवं विस्तार करे तथा सुदूरवर्ती गाँवों तक को एक राष्ट्रीय बाज़ार के अन्तर्गत लाने की कोशिश करे। वास्तव में हुआ भी यही (और यह प्रक्रिया 1964 में गति पकड़ चुकी थी)। माकपा से जुड़े अर्थशास्त्री देश में पूँजीवादी विकास की सच्चाई को अंशों में स्वीकारते भी रहे हैं, हालाँकि इस तर्क को उसकी स्वाभाविक निष्पत्ति तक पहुँचाने से कन्नी काटते रहे हैं। माकपा भारतीय पूँजीपति वर्ग के चरित्र-निरूपण से निगमित तर्क को उसके नतीजे तक पहुँचाने की जगह, आज तक यही मानती है कि भारत विगत आधी सदी से लोक जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में ही खड़ा है। वैसे किसी संशोधनवादी पार्टी के लिए क्रान्ति के कार्यक्रम का कोई ख़ास मतलब नहीं होता। भारत में समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल मानने वाली कई छोटी-छोटी संशोधनवादी पार्टियाँ भी हैं, जो गाँवों और शहरों के सर्वहाराओं को लेकर लगातार अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी क़वायद करती रहती हैं और संसद-विधानसभाओं के चुनाव लड़ती रहती हैं, या फिर मात्र सिद्धान्त-चर्वण करती रहती हैं। लेकिन माकपा सापेक्षत: एक बड़े सामाजिक आधार वाली पार्टी है, जिसे गाँवों में बड़े मँझोले मालिक किसानों को और शहरों में छोटे बुर्जुआओं और उच्च मध्यवर्ग को हर हाल में अपने साथ रखना है, वरना उसके वोट बैंक को भारी नुकसान पहुँचेगा (संगठित मज़दूरों के आर्थिक हितों को लेकर, मरियल ही सही, लेकिन क़ानूनी और अर्थवादी लड़ाइयाँ लड़कर तथा संसद में वेतन संशोधन, पी.एफ., पेंशन, सेवाशर्तों आदि पर सत्ता का विरोध करने का पाखण्ड करके वह उनमें अपना वोट बैंक बनाये रखती है, पर मात्र इसी आधार पर उसकी चुनावी गोट लाल नहीं हो सकती)। इसलिए गाँवों के बड़े मालिक किसानों, शहरों के छोटे बुर्जुआओं और उच्च मध्य वर्ग के प्रति वर्ग-सहयोगवादी रवैया अपनाने में लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम में निहित चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय की सोच माकपा को एक सैद्धान्तिक आड़ देने का काम करती है। इसीए माकपा आज भी लोक जनवादी कार्यक्रम की बात करती है।

बहरहाल, यह तो आगे की बात हुई। हमें 1964 के काल में वापस लौटना होगा। माकपा का जो संशोधनवादी चरित्र आज उसके घनघोर जनविरोधी सामाजिक-जनवादी चरित्र के रूप में एकदम नंगा हो चुका है, वह अपने जन्मकाल से वैसा ही था। लेकिन चूँकि माकपा नेतृत्व उस समय डांगेपन्थी संशोधनवादियों पर हमले कर रहा था और चूँकि वह दबी-जुबान से ही सही लेकिन खुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध करता प्रतीत हो रहा था इसलिए आनुभविक ढंग से चीज़ों को देखने के आदी, निम्न सैद्धान्तिक समझ और चेतना वाले कतारों के बड़े हिस्से ने उन्हें क्रान्तिकारी समझा। फिर भी यह एक निर्विवाद सच्चाई है कि कतारों का एक बड़ा हिस्सा उन्हें संशय की दृष्टि से देख रहा था और मध्यमार्गी ढुलमुलपन का शिकार मान रहा था। जो अधिक चेतनशील कार्यकर्ता थे, वे 1964 की कांग्रेस के बाद मायूस थे, पर उन्हें कोई विकल्प नहीं दीख रहा था। एक बड़ा हिस्सा ऐसा था जो नेतृत्व को संशोधनवादी मानते हुए

भी, पार्टी के साथ फ़िलहाली तौर पर ही था और इन्तज़ार की मानसिकता में था। बुद्धिजीवियों और कार्यकर्ताओं का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा ऐसा भी था, जो इस नये नेतृत्व से कोई उम्मीद नहीं रखने के कारण निष्क्रिय हो गया था। कुल मिलाकर कहें, तो एक सर्वभारतीय पार्टी के गठन से जिस उत्साह, उम्मीद और जोश का माहौल होना चाहिए था, वह कहीं भी नहीं था।

तैयार होती ज़मीन, वह ऐतिहासिक विस्फोट और उसके बाद

नवम्बर, 1964 में जब कलकत्ता के त्यागराज हॉल में पार्टी कांग्रेस हो रही थी, उस समय बाहर कुछ लोगों के एक छोटे से ग्रुप ने पर्चे बाँटकर नयी पार्टी के नेतृत्व पर भी मध्यमार्गी और संशोधनवादी भटकाव का शिकार होने का आरोप लगाया। पार्टी कांग्रेस से ज़्यादातर प्रतिनिधि निराश और संशयग्रस्त होकर लौटे। 1965 के जनवरी महीने में नवगठित माकपा के महासचिव पी. सुन्दरैया गिरफ़्तार हुए और फिर सरकारी अनुमति से इलाज के लिए सोवियत संघ गये। वहाँ से लौटने के बाद सोवियत नेतृत्व के कई सकारात्मक पहलू गिनाते हुए उन्होंने लिखा कि सोवियत पार्टी की बातों में भी दम है। इधर, महान बहस के दस्तावेज़ निचले स्तर के संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं तक भी पहुँचने लगे थे और उन्नत चेतना वाले कार्यकर्ताओं का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा यह समझने लगा था कि संशोधनवाद और मार्क्सवाद के बीच मध्यमार्ग अपनाने की कोई गुंजाइश ही नहीं है और ऐसा करने का एकमात्र मतलब होगा संशोधनवाद के पाले में खड़ा होना। यह समय था जब दक्षिण वियतनाम, फिलीप्पींस और मलाया से लेकर अफ्रीकी देशों और लातिन अमेरिकी देशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों और नवउपनिवेशवाद-विरोधी सशस्त्र संघर्षों में राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व माओ के दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति को लागू कर रहा था और इनमें से अधिकांश संघर्ष विजय की दहलीज़ पर खड़े थे। अफ्रीकी मुक्ति संघर्ष के अमिल्कर कबराल, क्वामे एन्क्रूमा, जूलियस न्यरेरे जैसे नेता माओ की सामरिक रणनीति के अवदान को घोषित तौर पर स्वीकार कर रहे थे। राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के साथ मोलतोल करके मदद करने तथा उन्हें शासकों के साथ बातचीत की टेबुल पर बैठकर मोलतोल करने और सुलह-सफ़ाई के ज़रिये सत्ता हासिल करने का सुझाव देने वाले ख्रुश्चेवी संशोधनवादी ज़्यादा से ज़्यादा बेनक़ाब होते जा रहे थे। क्यूबाई मिसाइल संकट के समय अमेरिकी धौंस के सामने ख्रुश्चेव के घुटने टेकने के बाद सोवियत शासन के चरित्र के बारे में दुनिया भर की कम्युनिस्ट कतारों के भीतर पहले ही सवाल पैदा हो चुका था। साम्राज्यवादियों के साथ लगातार सुलह-सफ़ाई की उसकी नीति भी उसे शंकाओं के घेरे में खड़ा कर रही थी। 1965 के अन्त में इण्डोनेशिया में कम्युनिस्टों का अभूतपूर्व बर्बर दमन हुआ और इस घटना ने भी भारत के कम्युनिस्ट कतारों के सामने स्पष्ट कर दिया कि यदि कोई पार्टी विशाल जनाधार और कैडर-शक्ति के बावजूद गुप्तता, कैडर-भरती, कार्य संस्कृति के अनुशासन और सामरिक तैयारी के मामले में ढिलाई बरतेगी तो बुर्जुआ राज्यसत्ता बर्बर सैन्यबल से उसे कुचलकर ख़ून के दलदल में धँसा देगी। इस घटना ने भारतीय कम्युनिस्ट कतारों को भी सोवियत और चीनी रास्तों के विचारधारात्मक फ़र्क को समझने में काफ़ी मदद की और वे इसी रोशनी में माकपा के नये नेतृत्व के बारे में भी सोचने लगे। 'महान बहस' के तत्काल के बाद चीन में 1964 से 'महान समाजवादी शिक्षा आन्दोलन' की शुरुआत हो चुकी

थी। यह आन्दोलन वस्तुतः समाजवादी निर्माण के प्रश्न पर चीनी पार्टी के भीतर संशोधनवाद और क्रान्तिकारी लाइन के बीच के संघर्ष का ही एक रूप था और इस दौरान महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार होने लगी थी। इस आन्दोलन से सम्बन्धित चीनी पार्टी के दस्तावेज़ भी माकपा से जुड़े बुद्धिजीवियों और चेतनशील कार्यकर्ताओं तक पहुँच रहे थे और चीज़ों को समझने में सहायक बन रहे थे। सातवीं कांग्रेस में जनान्दोलन की लम्बी-चौड़ी बातों के उलट, कांग्रेस के ठीक बाद कहीं भी भूमि संघर्ष संगठित करने या मज़दूरों की राजनीतिक-आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू आन्दोलन संगठित करने की नेतृत्व की ओर से कोई पहल नहीं दीख रही थी। नियमित अनुष्ठान से अलग क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार एवं शिक्षा की कोई कार्रवाई भी नहीं संगठित की जा रही थी, जो किसी नवगठित पार्टी के लिए आवश्यक कार्यभार होता है। पार्टी-नेतृत्व का मुख्य या लगभग पूरा ज़ोर कांग्रेस-विरोधी व्यापक संयुक्त मोर्चा बनाकर आगामी चुनावों में कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत करने की तैयारी पर था। हालाँकि अपने चुनावी चरित्र पर पर्दा डालने के लिए वह लगातार "जनान्दोलनों को मज़बूत बनाने वाली संक्रमणकालीन सरकारों की स्थापना" (वह "संक्रमणकाल" आज तक जारी है!) की ही बात कह रही थी। 1965 के भारत-पाक युद्ध के समय भी पार्टी ने बुर्जुआ अन्धराष्ट्रवाद-विरोधी और युद्ध-विरोधी क्रान्तिकारी प्रचार का कोई भी कार्यक्रम हाथ में लेने का साहस नहीं किया। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय पटल की ये सारी घटनाएँ और विश्व-इतिहास के उस दौर में चतुर्दिक आगे बढ़ते मुक्ति संघर्षों के ज्वार माकपा की कतारों की चेतना का क्रान्तिकारीकरण करने में, उन्हें संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बीच अन्तर करना सिखाने में तथा माकपा नेतृत्व के असली चरित्र को पहचानने में मदद पहुँचा रहे थे। पार्टी नेतृत्व का व्यवहार स्वयं उसके चरित्र को उजागर करता जा रहा था।

नवगठित पार्टी-नेतृत्व के चरित्र पर प्रश्न उठाने वाले कुछ लोगों ने सातवीं कांग्रेस के तत्काल बाद, पार्टी के भीतर गुप्त तरीके से (उनका आकलन था कि नौकरशाह पार्टी नेतृत्व पार्टी के भीतर उन्हें बुनियादी सैद्धान्तिक मुद्दों पर कत्तई बहस नहीं चलाने देगा और ऐसा करते ही उन्हें उग्रवादी और दुस्साहसवादी बताकर किनारे लगा दिया जायेगा। उनका यह सोचना एकदम ठीक था, तमाम मसलों पर माकपा नेतृत्व के बाद के व्यवहार ने यही सिद्ध किया) सैद्धान्तिक संघर्ष चलाने के लिए कन्हाई चटर्जी, अमूल्य सेन और चन्द्रशेखर दास की पहल पर, उन्हीं की अगुवाई में एक गुप्त क्रान्तिकारी केन्द्र का गठन किया। इस केन्द्र की ओर से मार्च, 1965 में 'चिन्ता' नामक बुलेटिन का पहला अंक निकला और पार्टी कतारों के बीच (विशेषकर बिहार और बंगाल में) इसे गुप्त रूप से बाँटा गया। ठीक इसी समय, चारू मजूमदार ने भी अपने प्रसिद्ध आठ दस्तावेज़ों की शृंखला का लेखन प्रारम्भ किया। 28 फरवरी, 1965 को इस शृंखला का पहला दस्तावेज़ 'वर्तमान स्थिति में हमारे कर्त्तव्य' उन्होंने पूरा किया। माकपा के नवसंशोधनवाद के विरुद्ध का बिगुल फूँकने वाली ये दो निर्णायक पहलकदमियाँ अलग-अलग, लेकिन एकदम एक ही समय में ली गयीं। इनके अतिरिक्त, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार और पंजाब के कई लोग सातवीं कांग्रेस के बाद से ही पार्टी नेतृत्व को संशोधनवादी रास्ते का राही मानने लगे थे और इस मसले पर सोच-विचार रहे थे कि पार्टी के भीतर संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाने का रास्ता क्या हो सकता है? कुछ लोग (विशेषकर पार्टी बुद्धिजीवी) ऐसे भी थे, जिन्होंने पार्टी को संशोधनवादी मानकर उसकी सदस्यता छोड़ दी थी या सदस्यता के बावजूद

निष्क्रिय हो गये थे।

मार्च, 1965 से लेकर 1966 के मध्य तक 'चिन्ता' बुलेटिन के कुल छह अंक निकले। इसके बाद इस क्रान्तिकारी केन्द्र के सूत्रधारों को उग्रवादी और दुस्साहसवादी क़रार देकर पार्टी से निष्कासित कर दिया गया। निष्कासन के बाद, संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष और भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल से जुड़े विविध प्रश्नों पर बहस को व्यापक आधार पर चलाने के लिए 1966 के मध्य से कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के नेतृत्व वाले इस ग्रुप ने 'दक्षिण देश' नाम से एक खुली पत्रिका का नियमित प्रकाशन शुरू किया। चारु मजूमदार अगस्त, 1966 तक अपनी 'आठ दस्तावेज़श्रृंखला' के छः दस्तावेज़ लिख चुके थे। सातवाँ और आठवाँ दस्तावेज़ उन्होंने क्रमशः 1967 के फरवरी और अप्रैल महीने में लिखा, जब नक्सलबाड़ी में किसानों के बड़े-बड़े जुलूस निकलने लगे थे और मई में शुरू होने वाले किसान-विद्रोह की ज़मीन तैयार हो चुकी थी। इन दस्तावेज़ों और 'चिन्ता' के अंकों की विषयवस्तु की चर्चा से पहले नक्सलबाड़ी के बारे में यह जानना ज़रूरी है कि इस विद्रोह की वस्तुगत परिस्थितियाँ किस प्रकार वहाँ मौजूद थीं और नक्सलबाड़ी में किसान संघर्षों और कम्युनिस्ट आन्दोलन की किस प्रकार पहले से ही एक परम्परा रही थी।

दार्जीलिंग ज़िले के सिलीगुड़ी सबडिवीज़न स्थित नक्सलबाड़ी क्षेत्र का ग्रामीण इलाका तराई अंचल है। वहीं से पहाड़ी क्षेत्र शुरू हो जाता है। खेती के अलावा इस इलाके में चायबागान भी हैं, जो गाँवों से एकदम लगे हुए हैं। इस क्षेत्र के किसानों और बागान मज़दूरों के बीच कम्युनिस्ट पार्टी ने व्यवस्थित ढंग से काम की शुरुआत 1951 में की। दार्जीलिंग ज़िला ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत एक 'नॉन-रेग्यूलेटेड एरिया' था। 1947 के बाद भी वहाँ के माहौल पर इसकी छाप थी। इलाके में चाय बागान मालिक प्लाण्टर-भूस्वामियों और जोतदारों (भूस्वामियों) की निरंकुश सत्ता क़ायम थी। बागान मज़दूरों की कोई यूनियन नहीं थी और बागान मालिकों का आतंक इतना था कि वे इस दिशा में सोच तक नहीं सकते थे। किसी भी राजनीतिक पार्टी का कार्यकर्ता जोतदारों की मर्ज़ी और इजाज़त के बग़ैर किसानों की झोंपड़ियों तक पहुँच भी नहीं सकता था। इन कठिन परिस्थितियों में पार्टी ने इस क्षेत्र में काम शुरू किया। चारु मजुमदार उस सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के नेता थे, जिसके अन्तर्गत नक्सलबाड़ी क्षेत्र आता था।

चारु मजुमदार 1930 के दशक में पाबना (अब बंगलादेश) के एडवर्ड कॉलेज में पढ़ते समय कम्युनिस्ट छात्र-छात्राओं के सम्पर्क में आये और कम्युनिस्ट बने। इण्टरमीडियट की फाइनल की परीक्षा छोड़कर वे जलपाईगुड़ी ज़िले के देवीगंज थाने (अब बंगलादेश) के पचागढ़ में किसानों के बीच काम करने लगे। कम्युनिज़्म की प्रारम्भिक शिक्षा उन्हें माधवदत्त से मिली और फिर वे जलपाईगुड़ी के कम्युनिस्ट नेता शचिन दासगुप्त और वीरेन दत्त के सम्पर्क में आये। किसानों के अधियार आन्दोलन में भागीदारी के बाद उन्होंने लालमनिहार जं. (दिनाजपुर ज़िला) से लेकर जलपाईगुड़ी तक के रेल मज़दूरों और दुआर के चायबागान के मज़दूरों के बीच संगठनकर्त्ता के रूप में काम किया। उत्तर बंगाल के क़रीब 70 लाख किसानों के प्रसिद्ध तेभागा आन्दोलन (1946-47) में भी वे सक्रिय रहे। उल्लेखनीय है कि तेभागा आन्दोलन का प्रत्यक्ष नेतृत्व जब बर्बर दमन का प्रतिरोध करने के लिए किसानों की सशस्त्र प्रतिरक्षा संगठित करने के बारे में सोच रहा था, उसी समय मुस्लिम लीग सरकार के कोरे आश्वासनों के बाद प्रादेशिक नेतृत्व ने आन्दोलन वापस ले लिया। तब प्रादेशिक नेतृत्व की

तीखी आलोचना करने वालों में चारु मजुमदार भी थे। 1947 में देश के विभाजन के बाद चारु मजुमदार का मुख्य कार्यक्षेत्र जब पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगलादेश) में चला गया तो वे जलपाईगुड़ी ज़िले के उस हिस्से में चाय बागान मज़दूरों, रेल मज़दूरों और आदिवासी किसानों के बीच काम करने लगे, जो भारत में आया था। रणदिवे काल की अतिवामपन्थी लाइन और पार्टी के ग़ैरक़ानूनी करार दिये जाने के दौर में चारु जेल में थे। वहीं उन्हें तेलंगाना संघर्ष के दौरान पार्टी में जारी बहस और आन्ध्र दस्तावेज़ के बारे में पता चला। जेल में उन्हें माओ और चीनी पार्टी की लाइन के पक्षधर के रूप में जाना जाता था। तेलंगाना संघर्ष वापस लिये जाने के बाद, मार्च 1952 में चारु जेल से रिहा हुए। अब उनका नया कार्यक्षेत्र दार्जीलिंग ज़िले का सिलीगुड़ी सब-डिवीज़न बना जहाँ की लोकल कमेटी का नेतृत्व चारु मजुमदार ने सम्हाला। 1951 में पार्टी ने नक्सलबाड़ी क्षेत्र के गाँवों के किसानों और चाय बागान मज़दूरों के बीच कामों की शुरुआत की। इसी समय कानू सान्याल ने भी यहाँ पूर्णकालिक संगठनकर्त्ता के रूप में काम करना शुरू किया और जंगल सन्थाल, कदम लाल मल्लिक, खोदनलाल मल्लिक आदि स्थानीय कार्यकर्ताओं की एक टीम तैयार हुई।

1951 से लेकर 1954 तक का दौर नक्सलबाड़ी में किसानों और बागान मज़दूरों के संगठित होने का प्रारम्भिक दौर था, लेकिन इलाके में जोतदारों के अत्याचार का इतना अधिक बोलबाला था कि उनके साथ ख़ूनी झड़पों के बिना शुरुआती काम भी असम्भव था। पार्टी संगठनकर्ताओं ने जोतदारों की अवैध वसूलियों और अत्याचारों के विरुद्ध किसानों को संगठित करते हुए निकटवर्ती चाय बागान मज़दूरों को भी उनके पक्ष में संगठित किया। इस तरह, स्थानीय स्तर पर, व्यवहार में मज़दूरों और किसानों का संयुक्त मोर्चा तैयार हुआ और 1955 से 1957 के बीच नक्सलबाड़ी के किसानों-मज़दूरों ने एक साथ मिलकर लगातार संघर्ष चलाये। जोतदारों और बागान मालिकों के निरंकुश अत्याचार के चलते इस इलाके के किसानों और मज़दूरों को शुरू से ही अपने आत्मरक्षार्थ परम्परागत हथियारों की मदद लेनी पड़ी। यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था कि नक्सलबाड़ी के किसानों में उस समय से ही क़ानूनी और शान्तिपूर्ण तरीकों के बारे में कोई भ्रम नहीं था। 1955 का चाय बागान मज़दूरों का बोनस आन्दोलन हालाँकि एक आर्थिक संघर्ष था, लेकिन हज़ारों मज़दूरों-किसानों ने इसमें भी अपनी जुझारू एकजुटता और लड़ाकूपन का प्रदर्शन किया और न केवल बाग़ान मालिकों के भाड़े के गुण्डों को बल्कि पुलिस को भी पीछे हटने पर मज़बूर कर दिया। एक मौक़े पर दस हज़ार हथियारबन्द बागान मज़दूरों और किसानों ने पुलिस बल को निःशस्त्र होने के लिए मज़बूर कर दिया था। नक्सलबाड़ी में वर्ग-संघर्ष के विकास की दृष्टि से 1955-56 का यह दूसरा दौर विशेष महत्त्व रखता है।

1958-62 के काल को नक्सलबाड़ी में किसानों-मज़दूरों के संघर्ष के विकास का तीसरा दौर कहा जा सकता है। इस दौरान पश्चिम बंगाल किसान सभा ने 'बेनामी' जमीन पर किसानों द्वारा फिर से क़ब्ज़ा का नारा दिया। लेकिन सिलीगुड़ी की सबडिवीज़नल किसान समिति के नक्सलबाड़ी में हुए सम्मेलन ने इस आह्वान को वास्तविक भूमि-सुधार की उद्देश्य-पूर्ति के लिए अधूरा मानते हुए जोतदारों की ज़मीन की कुल उपज ज़ब्त करने का आह्वान किया। सम्मेलन ने किसानों का आह्वान किया कि वे सारी फसल काटकर अपनी जगहों पर रखें, मालिकाना का सबूत पेश करने पर ही किसान समितियाँ जोतदारों को उनका हिस्सा दें और पुलिस एवं जोतदारों से फसल को बचाने के लिए किसान हथियारबन्द हो जायें। इस आन्दोलन

के दौरान, सिर्फ़ 1958-59 के वर्ष में दो हज़ार किसान गिरफ़्तार हुए और उन पर सात सौ आपराधिक मुकदमे पुलिस ने दर्ज़ किये। जोतदारों और पुलिस से किसानों की सशस्त्र झड़पें हुईं और जोतदारों के हथियार छीनने की कई घटनाएँ घटीं। किसान 80 फीसदी फसल अपने क़ब्ज़े में लेने और उसका बड़ा हिस्सा पुलिस द्वारा छीने जाने से बचाने में सफल रहे।

पूरे आन्दोलन के दौरान एक भी नेतृत्वकारी संगठनकर्ता को पुलिस गिरफ़्तार नहीं कर पायी। चारु मजुमदार इस आन्दोलन से सीधे नहीं जुड़े थे। उसके संगठनकर्ता कानू सान्याल, जंगल सन्थाल, कदम मल्लिक आदि थे। चारु मजुमदार की एक नकारात्मक भूमिका यह ज़रूर रही थी कि राज्य किसान सभा के नेताओं के निर्देश पर, संघर्ष के नेताओं और भागीदार किसान कार्यकर्ताओं से सलाह-मशविरा किये बिना ही, उन्होंने संघर्ष वापस लेने की घोषणा कर दी थी। इसके बावजूद, नक्सलबाड़ी के किसान कमोबेश 1962 तक इस संघर्ष की उपलब्धियों की हिफ़ाज़त में सफल रहे।

1962-64 के दौर को नक्सलबाड़ी में किसानों के संघर्ष और उनके बीच पार्टी कार्य के विकास का चौथा दौर माना जा सकता है। 1962 के भारत-चीन सीमा-युद्ध के समय और उसके बाद के वर्षों में घनघोर अन्धराष्ट्रवाद और कम्युनिज़्म-विरोध के माहौल में भी नक्सलबाड़ी क्षेत्र के कम्युनिस्ट कार्यकर्ता दृढ़तापूर्वक इस अवस्थिति पर खड़े रहे कि हमलावर चीन नहीं है और यह युद्ध साम्राज्यवादियों की शह और अपनी विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा से भारतीय शासक वर्ग ने छेड़ा है। किसानों-मज़दूरों में कम्युनिस्टों की साख इतनी मज़बूत थी कि वे दृढ़तापूर्वक उनके साथ खड़े थे। उस समय सही अवस्थिति लेने वाले कम्युनिस्टों की गिरफ़्तारी की जो मुहिम चली थी, उसके तहत अकेले नक्सलबाड़ी में सौ किसान-मज़दूर गिरफ़्तार हुए थे। इन कठिन वर्षों में भी जोतदारों और टी-प्लाण्टरों के हमलों और सत्ता के दमन का मुकाबला करते हुए इस क्षेत्र के किसान-मज़दूर अपनी सांगठनिक ताक़त को बनाये रखने में सफ़ल रहे थे। 1964 में दार्जीलिंग ज़िले के मज़दूर, किसान और मध्यवर्गीय कार्यकर्ताओं ने संशोधनवाद के विरुद्ध जमकर संघर्ष किया और डांगेपन्थियों को पूरी तरह से अलगाव में डाल दिया। सिलीगुड़ी सबडिवीज़न के कार्यकर्ता दृढ़तापूर्वक ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध कर रहे थे और चीनी पार्टी के पक्ष का समर्थन कर रहे थे।

नक्सलबाड़ी में जोतदारों-बागान मालिकों के बर्बर दमन की जो विशेष परिस्थितियाँ थीं और वहाँ के किसानों-मज़दूरों के बीच कम्युनिस्ट कतारों के काम और कम्युनिस्ट नेतृत्व में उनके जुझारू संघर्षों का जो डेढ़ दशक लम्बा इतिहास था, उसने नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह और उस पर क्रान्तिकारी कम्युनिज़्म के विचारधारात्मक-राजनीतिक वर्चस्व-स्थापना का आधार तैयार किया था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जुझारू संघर्षों का यह सिलसिला ही स्वत: विकसित होकर 1967 में नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के रूप में सामने आया। ऐसा मानना स्वयंस्फूर्ततावादी भटकाव होगा। नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह महज़ एक विद्रोह नहीं था। वह एक क्रान्तिकारी किसान-उभार था, जिसका नेतृत्व क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के हाथों में था। नक्सलबाड़ी ने संशोधनवाद को सहज वर्ग-प्रवृत्ति से ख़ारिज नहीं किया था, बल्कि उसके पीछे एक सचेतन विचारधारात्मक नेतृत्व की भूमिका थी, चाहे उस नेतृत्व की अपनी सैद्धान्तिक कमज़ोरियाँ-विसंगतियाँ जो भी रही हों। चारु मजुमदार की सकारात्मक और नकारात्मक भूमिका का सवाल इसी मुद्दे की विवेचना से जुड़ा हुआ है।

1964 में माकपा के गठन के बाद, पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले पूरे पश्चिम बंगाल में

कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारी हुई। अक्टूबर 1964 से लेकर 1965 के पूर्वार्द्ध तक सिलीगुड़ी सबडिवीज़न के लगभग सभी पार्टी कार्यकर्ता गिरफ़्तार किये जा चुके थे। चारु मजुमदार तबतक दिल की बीमारी से ग्रस्त हो चुके थे और बीमारी के कारण ही उन्हें गिरफ़्तार नहीं किया गया था। बाद में, 1965 के अन्त में उन्हें भी गिरफ़्तार कर लिया गया। 1964 से जून, 1966 के बीच जेल में रहने के दौरान दार्जीलिंग ज़िले के पार्टी कार्यकर्ताओं ने माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद को जानने-समझने का काम किया, उसके विरुद्ध दृढ़तापूर्वक स्टैण्ड लिया और इस नतीजे पर पहुँचे कि चीनी मार्ग ही भारतीय मुक्ति-संघर्ष का भी मार्ग होगा। जेल में बन्दी इन कार्यकर्ताओं ने संशोधनवाद के विरुद्ध अपनी राजनीतिक तैयारी भले की हो, लेकिन माकपा नेतृत्व के विरुद्ध उन्होंने कोई दस्तावेज़ लिखने और उसे कतारों के अन्य हिस्सों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की। यदि वे जेल से बाहर होते तो ऐसा करते या नहीं करते, यह अटकल की बात है और इतिहास की वस्तुगत सच्चाइयों की जाँच-पड़ताल करते हुए इस अटकल का कोई महत्त्व नहीं है। चारु मजुमदार का यह योगदान असन्दिग्ध है कि उन्होंने आठ दस्तावेज़ लिखकर माकपा के नवसंशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद में एक बुनियादी भूमिका निभायी। हाँ, इस बहुप्रचलित धारणा को ज़रूर संशोधित करने की ज़रूरत है कि ऐसा करने वाले वह अकेले व्यक्ति थे। ठीक उसी समय 'चिन्ता ग्रुप' (आगे चलकर 'दक्षिण देश' ग्रुप) ने भी अपनी बुलेटिन के ज़रिये कलकत्ता में यह काम शुरू कर दिया था और यह बुलेटिन चारु की दस्तावेज श्रृंखला की तुलना में पश्चिम बंगाल के कतारों की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या तक पहुँच रहा था। आगे चलकर नक्सलबाड़ी किसान-संघर्ष की चमक और उसके निर्माता के रूप में चारु मजुमदार और उनके आठ दस्तावेज़ों की ख्याति के चलते 'चिन्ता' ग्रुप के प्रयास अपने महत्त्व के समुचित मूल्यांकन से काफ़ी हद तक वंचित रह गये। जहाँ तक नक्सलबाड़ी किसान-संघर्ष के निर्माता के रूप में चारु की और उनके आठ दस्तावेजों की भूमिका का प्रश्न है, उसका सही मूल्यांकन उस समय के ठोस तथ्यों की पड़ताल के बाद ही किया जा सकता है। अत: उनकी हम यहाँ संक्षेप में चर्चा करेंगे।

फरवरी, से सितम्बर 1965 के बीच चारु मजुमदार ने तत्कालीन राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए और उन परिस्थितियों में कम्युनिस्टों के कार्यभारों का विश्लेषण करते हुए पाँच लेख लिखे : 'वर्तमान स्थिति में हमारे कर्त्तव्य', 'संशोधनवाद के खिलाफ़ संघर्ष कर जनता की जनवादी क्रान्ति को सफ़ल बनायें', 'भारत के स्वत:स्फूर्त क्रान्तिकारी सैलाब का स्रोत क्या है', 'आधुनिक संशोधनवाद के खिलाफ़ संघर्ष चलाते जायें' और '1965 किस सम्भावना का निर्देश दे रहा है।' इसके बाद वे गिरफ़्तार कर लिये गये। जेल में बीमारी गम्भीर हो जाने के कारण उन्हें कलकत्ता के एक अस्पताल में भर्ती किया गया और वहीं से वे 7 मई 1966 को रिहा कर दिये गये। अगस्त, 1966 में उन्होंने अपना छठवाँ लेख लिखा। प्रसिद्ध 'आठ दस्तावेज़ श्रृंखला' के इन छ: लेखों में चारु मजुमदार ने जो स्थापनाएँ दी थीं, संक्षेप में उनका उल्लेख यहाँ ज़रूरी है।

इन दस्तावेज़ों के अनुसार, किसान सभा और ट्रेड यूनियन के ज़रिये आंशिक माँगों पर आन्दोलन चलाते रहने के संकीर्ण दायरे से बाहर निकलकर राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष करना होगा। राजनीतिक सत्ता पर क़ब्ज़ा का अर्थ सरकार पर क़ब्ज़ा करना नहीं, बल्कि सशस्त्र संघर्ष द्वारा इलाकावार सत्ता-दख़ल करना है। चीन का रास्ता ही भारत की मुक्ति का रास्ता है

और सशस्त्र संघर्ष हमारा फौरी कार्यभार है। इसके लिए क्रान्तिकारी कार्यकर्ता तैयार करने होंगे और गुप्त ढाँचा खड़ा करना होगा, फिर गुप्त सशस्त्र दस्ते बनाने होंगे, जोतदारों पर हमले करने होंगे, उनके घरों में आग लगानी होगी, फसल क़ब्ज़ा करनी होगी और हथियार एकत्र करने होंगे। राजनीतिक प्रचार एवं उद्वेलन की कार्रवाई की पूरी उपेक्षा करते हुए इन लेखों में यह स्थापना दी गयी थी कि 'ऐक्शन' (जोतदारों पर 'काम्बैट ग्रुपों' के सशस्त्र व्यक्तिगत हमलों) के प्रभाव से ही जन-गोलबन्दी की शुरुआत हो जायेगी। यद्यपि इन दस्तावेज़ों में जन संगठनों और जनान्दोलनों को उसी तरह से सुधारवादी-संशोधनवादी काम नहीं करार दिया गया था, जैसाकि चारु मजुमदार ने कमोबेश 1969 से कहना शुरू कर दिया था, लेकिन सशस्त्र जनसंघर्षों के विकास में जनआन्दोलनों की कोई भूमिका बताने के बजाय सीधे गुप्त सशस्त्र दस्तों के निर्माण और ऐक्शन से ही कार्रवाई की बात की गयी थी, यानी पार्टी के कार्यभारों में जनआन्दोलन संगठित करने की कार्रवाई और राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई की सीधे-सीधे उपेक्षा की गयी थी और सीधे छापामार संघर्ष से शुरुआत की बात की गयी थी। दस्तावेज़ों में आर्थिक संघर्षों को ही अर्थवादी करार देते हुए उनकी आलोचना की गयी थी और कहा गया था कि मज़दूरों के आन्दोलनों को समर्थन देते हुए भी पार्टी ट्रेड यूनियन व क़ानूनी संघर्षों में अपना समय जाया नहीं करेगी। छठे दस्तावेज़ में माकपा को स्पष्ट शब्दों में एक संशोधनवादी पार्टी बताते हुए कतारों से उसके ढाँचे को तोड़कर नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान किया गया था और यह कहा गया था कि माकपा-नेतृत्व जनान्दोलनों को महज़ सरकार बनाने के लिए इस्तेमाल करना चाहता है और उसके कांग्रेस विरोधी संयुक्त मोर्चे के नारे का एकमात्र अर्थ है बुर्जुआ वर्ग का दुमछल्ला बनना। इसी दस्तावेज़ में यह भी स्पष्ट कहा गया था कि सोवियत पार्टी के संशोधनवाद की मुख़ालफ़त किये बिना क्रान्तिकारी संघर्ष आगे नहीं बढ़ सकता और आज की दुनिया में माओ ने लेनिन का स्थान ग्रहण कर लिया है, अतः उनका विरोध करने वाले वास्तव में संशोधनवाद के विरोधी नहीं हैं। दरअसल, इसकी पृष्ठभूमि में माकपा की केन्द्रीय कमेटी की हाल ही में हुई वह बैठक थी जिसमें एक प्रस्ताव पारित करके चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा भारत सरकार की आलोचना को ग़लत ठहराया गया था और यह भी कहा गया था कि सोवियत नेतृत्व की आलोचना करना अभी उचित नहीं है क्योंकि इससे लोगों के मन में समाजवाद के प्रति भरोसा घट जायेगा। इसके अतिरिक्त इन दस्तावेज़ों में, भारतीय व्यवस्था के संकट, गहराते दमन और बढ़ते जनाक्रोश की चर्चा के साथ ही चीन और पाकिस्तान के ख़िलाफ़ भारतीय शासक वर्ग द्वारा अन्धराष्ट्रवादी लहर उभाड़ने की कड़ी निन्दा की गयी थी तथा सोवियत संघ के सहयोग से बने सार्वजनिक क्षेत्र को भारतीय एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग के हित में खड़ा किया गया उपक्रम बताया गया था।

30 अगस्त '66 को जारी चारु का छठा दस्तावेज़ 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का माओवादी केन्द्र' की ओर से जारी किया गया था। वस्तुतः इस नाम का केवल प्रतीकात्मक महत्त्व था क्योंकि ऐसा कोई केन्द्र उस समय तक अस्तित्व में नहीं आया था और इस दस्तावेज़ का लेखन अकेले चारु ने ही किया था। चारु मजुमदार के पहले लेख से ही दार्जीलिंग की कम्युनिस्ट कतारों के बीच (जो जेल से बाहर थे), बहस की शुरुआत हो चुकी थी। चारु के जेल जाने तक उनके पाँच दस्तावेज़ सीमित लोगों तक ही पहुँच सके थे। मई में जेल से बाहर आने के बाद उन्होंने चुने हुए पाँच छः युवा कार्यकर्ताओं को पाँच दस्तावेज़ों में निरूपित लाइन के प्रचार के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में भेजा। बुर्जुआ प्रेस में भी इन

दस्तावेज़ों की ख़बरें प्रकाशित हुईं और इस तथ्य से अन्य इलाकों के माकपा कार्यकर्ता और जेल में बन्दी लोग भी परिचित हुए।

अगस्त 1966 तक प्रकाशित छः दस्तावेज़ों की अन्तर्वस्तु पर यदि ग़ौर करें तो अन्तरराष्ट्रीय संशोधनवाद और माकपा के नवसंशोधनवाद से रैडिकल विच्छेद की इनमें दो टूक शब्दों में चर्चा की गयी थी और माओ विचारधारा को क्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में स्थापित किया गया था। यह इनका मुख्य सकारात्मक पहलू था। लेकिन साथ ही, ये दस्तावेज़ भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम निर्धारित करने के कार्यभार की जगह उसे तयशुदा मानकर चलते थे और यह विचार रखते थे कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता पूरी तरह से चीनी क्रान्ति का रास्ता होगा। पर चीनी क्रान्ति में सशस्त्र छापामार युद्ध का रास्ता क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर विकसित हुआ था, जबकि चारु मजुमदार जनकार्रवाइयों की उपेक्षा करते हुए शुरू से ही गुप्त सशस्त्र दस्तों के निर्माण और उनके 'ऐक्शन' पर ज़ोर दे रहे थे और इन्हीं के द्वारा जन-गोलबन्दी पर बल दे रहे थे। उनके अनुसार, चूँकि इन कार्रवाइयों को व्यापक जन समुदाय का समर्थन प्राप्त होगा, अतः इन्हें आतंकवाद नहीं कहा जा सकता। यही लाइन आगे चलकर नग्न "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन के रूप में सामने आयी, लेकिन वस्तुतः इस भटकाव के तत्व इन छह दस्तावेज़ों में ही स्पष्ट रूप में मौजूद थे।

जेल से दार्जीलिंग के पार्टी कार्यकर्ताओं की रिहाई के बाद, सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के नेतृत्वकारी संगठनकर्ताओं के साथ चारु मजुमदार की बातचीत हुई। उनमें इस बात पर आम सहमति बनी कि माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करना होगा, भारत की मुक्ति का रास्ता चीन का रास्ता होगा, भूमि क्रान्ति को सशस्त्र संघर्ष के ज़रिये ही पूरा किया जा सकता है तथा, भूमि क्रान्ति की राजनीति का किसानों-मज़दूरों के बीच प्रचार करना होगा, उन्हें संगठित करना होगा और गुप्त पार्टी संगठन का निर्माण करना होगा। लेकिन कानू सान्याल सहित लोकल कमेटी के पार्टी संगठनकर्ताओं का विचार था कि मज़दूरों और किसानों के जन संगठन और जनान्दोलन अपरिहार्य हैं, राजनीतिक काम सशस्त्र कार्रवाई की तैयारी की अनिवार्य पूर्वशर्त है, 'पॉलिटिक्स इन कमाण्ड' के बिना 'ऐक्शन' का कोई मतलब नहीं है, जन संघर्षों के द्वारा ही संघर्ष के उच्चतर रूप विकसित किये जा सकते हैं और शहरी क्षेत्रों में भी जनसंगठन बनाने होंगे। चारु मजुमदार इस विचार से सहमत नहीं थे। ऐसी स्थिति में यह समझौता हुआ कि सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के संगठनकर्ता नक्सलबाड़ी में अपनी लाइन लागू करेंगे और चारु मजुमदार की लाइन को उनके पक्षधर नये कार्यकर्ता नक्सलबाड़ी से सटे पश्चिमी दिनाजपुर ज़िले के चतरहाट-इस्लामपुर इलाके में लागू करेंगे।

चतरहाट-इस्लामपुर में चारु मजुमदार के छः दस्तावेज़ों के आधार पर काम की शुरुआत हुई। गुप्त दस्तों ने कुछ जोतदारों के घरों को जलाया और कुछ फसल भी रात में काट ली गयी। जनसंगठन बनाने या जनान्दोलन की कोई कोशिश नहीं की गयी। जल्दी ही 'कॉम्बैट ग्रुप' लुम्पन तत्त्वों के जमावड़े बनने लगे। 1967 में, जब नक्सलबाड़ी उभार शिखर पर था, उस समय चतरहाट-इस्लामपुर में जोतदारों ने गुप्त 'कॉम्बैट ग्रुपों' के ज्ञात सदस्यों के घरों पर संगठित होकर हमला किया। पूरी किसान आबादी ने उनका समर्थन किया। ग्रुपों के कार्यकर्ता किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और ये गुप्त दस्ते जल्दी ही बिखर गये। इस तरह चारु की लाइन का पहला प्रयोग बुरी तरह विफल रहा।

नक्सलबाड़ी में जनदिशा लागू की गयी। जिला कमेटी में बहुमत को पक्ष में करने के लिए क्रान्तिकारी पार्टी कार्यकर्ताओं ने माकपा के भीतर विचारधारात्मक संघर्ष चलाने का निर्णय लिया। जिला कमेटी के 26 सदस्यों में से 20 ने सिलीगुड़ी लोकल कमेटी की राजनीतिक लाइन को स्वीकार किया और फिर जिला कमेटी के भीतर एक गुप्त कमेटी का गठन किया गया। व्यापक प्रचार के बाद, दार्जीलिंग जिले के पहाड़ी और मैदानी इलाकों के ज़्यादातर बागान मज़दूर गुप्त जिला कमेटी की राजनीतिक लाइन का समर्थन करने लगे थे। संशोधनवादी यूनियन नेताओं से असन्तुष्ट बागान मज़दूर आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू संघर्ष के लिए कमर कसने लगे। 1966 के उत्तरार्द्ध का पूरा समय ऐसा था जब दार्जीलिंग जिले में नक्सलबाड़ी किसान उभार की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। सितम्बर 1966 में चाय उद्योग में हुई नौ दिनों की आम हड़ताल इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जलपाईगुड़ी जिले में हड़ताल जब टूटने की ओर अग्रसर थी, उस समय भी दार्जीलिंग में मज़दूर डटे हुए थे। लाल झण्डा यूनियन के मज़दूरों के साथ ही अन्य यूनियनों के मज़दूर और बागानों के असंगठित मज़दूर भी हड़ताल में शामिल हो गये थे। इससे भयभीत संशोधनवादी नेता पूरी कोशिश कर रहे थे कि कोई 'सेटलमेण्ट' हो जाये। दार्जीलिंग में 25,000 से अधिक मज़दूरों ने दमन करने आयी पुलिस का जमकर मुकाबला किया जिसमें पुलिस की गोली से एक मज़दूर शहीद हुआ। इस पूरे दौरान, खेती-बाड़ी के व्यस्त समय के कामों के बावजूद, नक्सलबाड़ी के किसान दृढ़तापूर्वक हड़ताली मज़दूरों का साथ देते रहे। पुलिस के साथ कई बार उनकी झड़प भी हुई। बिना किसी बुनियादी माँग के पूरा हुए, हड़ताल वापस लेने की वजह से संशोधनवादी मज़दूरों में एकदम अलग-थलग पड़ गये। गुप्त जिला कमेटी और लोकल कमेटी के कार्यकर्ताओं ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। प्लाण्टेशन यूनियनों के शाखा सम्मेलनों ने भूमि क्रान्ति के कार्यक्रम के समर्थन में प्रस्ताव पारित किया। पर्वतीय क्षेत्र के चाय बागान मज़दूरों के वार्षिक सम्मेलन ने संशोधनवादी नेताओं की कठोर निन्दा करते हुए उन्हें ट्रेड यूनियनों से निकाल बाहर किया। नक्सलबाड़ी के प्लाण्टेशन मज़दूरों के वार्षिक सम्मेलन ने भूमि-संघर्ष शुरू करने के लिए किसानों का आह्वान करते हुए प्रस्ताव पारित किया। इस तरह, चारु मजुमदार की "वाम" संकीर्णतावादी लाइन का विरोध करते हुए नक्सलबाड़ी में और समग्रता में दार्जीलिंग जिले में, कानू सान्याल और अन्य पार्टी संगठनकर्ताओं ने जो लाइन लागू की, उसके परिणामस्वरूप इलाके में मज़दूरों और किसानों का जुझारू और मज़बूत संश्रय अस्तित्व में आया, पुरानी ट्रेड यूनियनों और जनसंगठनों पर क्रान्तिकारी लाइन का वर्चस्व स्थापित हुआ और नयी यूनियनों व अन्य जनसंगठनों का निर्माण हुआ। मज़दूर-किसान संश्रय की मज़बूती को इस बात से समझा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी उभार के दौरान चाय बागानों के मज़दूरों ने उसके समर्थन में तीन बार आम हड़तालें की थीं।

'आठ दस्तावेज़ शृंखला' के सातवें और आठवें दस्तावेज़ – 'संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष कर सशस्त्र पार्टीजन संघर्ष गठित करें' और 'संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष करके ही किसान संघर्ष को आगे बढ़ाना होगा' – चारु मजुमदार ने दार्जीलिंग जिले में, और विशेषकर सिलीगुड़ी के नक्सलबाड़ी क्षेत्र में मज़दूरों-किसानों के जनान्दोलनों की उपरोक्त घटनाओं के बाद लिखे। सातवाँ दस्तावेज़ फरवरी 1967 के आम चुनाव के ठीक पहले और आठवाँ दस्तावेज़ अप्रैल, 1967 में लिखा गया। दार्जीलिंग में विरोधी लाइन के सफल व्यवहार ने चारु मजुमदार को विवश किया कि वे अपने इन दस्तावेज़ों में खुली जनकार्रवाइयों, आर्थिक संघर्षों

और राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई का महत्त्व स्वीकार करें, लेकिन ये दस्तावेज़ भी अतिवामपन्थी भटकाव से मुक्त नहीं थे। इन दस्तावेज़ों में जनता को संगठित करने के प्रारम्भिक चरण से ही हथियार संग्रह और गुप्त सशस्त्र दस्ते संगठित करने की बात की गयी थी, जनकार्रवाइयों की और जनसंगठन बनाने की कोई स्पष्ट योजना नहीं रखी गयी थी, उन्हें प्रकारान्तर से सशस्त्र कार्रवाइयों के पूरक मात्र का दर्ज़ा दे दिया गया था, क्रान्तिकारी शहरी मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के समक्ष उनके वर्गीय माँगों पर संघर्ष या साझा संघर्ष का कोई कार्यक्रम नहीं रखा गया था, उनका एकमात्र कार्यभार भूमि संघर्ष का समर्थन करना और उसमें भागीदारी करना बताया गया था, तथा भूमि क्रान्ति के ठोस कार्यक्रम और नारे तय कने की आवश्यकता की जगह बस सशस्त्र दस्तों के द्वारा भूस्वामियों की फसल और ज़मीन पर क़ब्ज़े की बात की गयी थी। इन दस्तावेज़ों का सकारात्मक पक्ष यह था कि इनमें एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन पर ठोस रूप में ज़ोर दिया गया था तथा माकपा नेतृत्व की वर्ग सहयोगवादी राजनीति और हर प्रकार के संशोधनवाद के विरुद्ध समझौताहीन संघर्ष करते हुए किसान संघर्ष को आगे बढ़ाने की बात की गयी थी। आने वाले समय ने यह सिद्ध किया कि चारु ने जनदिशा पर सफल अमल और उससे निर्मित माहौल के दबाव में बस थोड़े समय के लिए अपने कदम पीछे खींच लिये थे, अन्यथा अपनी लाइन पर वे सर्वथा सुसंगत और दृढ़ थे। नक्सलबाड़ी में जनदिशा का नेतृत्व करने वाले लोगों की विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण जैसे ही आन्दोलन में गतिरोध पैदा हुआ, वैसे ही चारु ने विकल्प के तौर पर अपनी लाइन आगे बढ़ा दी, हर प्रकार के खुले, क़ानूनी और आर्थिक संघर्ष के रूपों, जनान्दोलनों और जनसंगठनों को संशोधनवाद बताते हुए गुप्त सशस्त्र दस्ते बनाकर वर्ग-शत्रुओं के सफाये को ही छापामार-युद्ध घोषित कर दिया और अत्यन्त भोंड़े विकृत रूप में आतंकवादी लाइन पेश की। लेकिन यह अभी आगे की बात है।

1966 में दार्जीलिंग जिले में, विशेषकर नक्सलबाड़ी क्षेत्र में संशोधनवाद के विरुद्ध जो संघर्ष चल रहा था और मज़दूरों-किसानों के जो जुझारू संघर्ष लगातार विकसित हो रहे थे, सिलीगुड़ी लोकल कमेटी का नेता और दार्जीलिंग जिला कमेटी का सदस्य होने के नाते इन सबमें नेतृत्वकारी भूमिका चारु मजुमदार की ही मानी जा रही थी। संशोधनवादी, दार्जीलिंग के बाहर की कम्युनिस्ट कतारें और बुर्जुआ दायरे के लोग भी यही समझ रहे थे। चारु मजुमदार और नक्सलबाड़ी के स्थानीय संगठनकर्ताओं के बीच के मतभेद की जानकारी दार्जीलिंग जिला कमेटी के भीतर काम कर रही 'गुप्त कमेटी' तक ही सीमित थी। अक्टूबर, 1966 में माकपा राज्य कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के कुछ नेतागण चारु मजुमदार को समझाने सिलीगुड़ी आये, पर उन्होंने उनकी बात मानने से इन्कार कर दिया। इसके पहले जुलाई, 1966 में भी बंगाल राज्य कमेटी के सचिव प्रमोद दास गुप्त उन्हें समझाने-बुझाने के लिए सिलीगुड़ी आये थे और विफल लौट गये थे।

नवम्बर, 1966 में दार्जीलिंग जिले में एक किसान सम्मेलन हुआ जिसमें यह तय हुआ कि बटाईदार किसान फसल का कोई भी हिस्सा जोतदारों को नहीं देंगे। फरवरी, 1967 में विधानसभा चुनाव हुए जिसमें जंगल सन्थाल और सौरेन बसु को क्रमशः फाँसीदेवा और सिलीगुड़ी से पार्टी का टिकट मिला। इस चुनाव के मसले पर भी दार्जीलिंग के पार्टी कार्यकर्ताओं और कुछ नये कार्यकर्ताओं में मतभेद था। दार्जीलिंग के कार्यकर्ताओं का निर्णय था कि इस चुनाव का इस्तेमाल क्रान्तिकारी राजनीति के प्रचार के लिए किया जाये और ऐसा ही

किया गया। इसका पर्याप्त लाभ मिला। चुनाव के ठीक बाद, बटाईदारों ने जोतदारों के विरुद्ध फसल-ज़ब्ती का आन्दोलन शुरू कर दिया। किसानों के कई इलाका सम्मेलन हुए जिनमें जोतदारों के क़ब्ज़े की ज़मीन जब्त करने का आन्दोलन शुरू करने के लिए प्रस्ताव पारित किये गये। 7 मई 1967 को सिलीगुड़ी सबडिवीज़नल किसान सम्मेलन हुआ जिसमें यह निर्णय लिया गया कि किसान जोतदारों की ज़मीन पर क़ब्ज़ा और किसान समितियों के माध्यम से उनके पुनर्वितरण का काम शुरू कर दें, जोतदारों के प्रतिरोध का मुक़ाबला करने के लिए हथियारबन्द हो जायें और गाँवों में किसान समितियाँ प्रशासन का काम अपने हाथों में ले लें। इस समय तक पश्चिम बंगाल में ग़ैरकांग्रेसी दलों की संयुक्त मोर्चे की सरकार सत्तारूढ़ हो चुकी थी जिसमें माकपा सबसे बड़ी पार्टनर थी और उसका चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता जा रहा था। 8 मई से नक्सलबाड़ी, खेरीबाड़ी, फाँसीदेवा और सिलीगुड़ी थानों के कई गाँवों से किसान-विद्रोह की शुरुआत हो गयी।

नक्सलबाड़ी किसान-उभार के विस्तार में जाने से पहले यह ज़रूरी है कि प. बंगाल में और देश के अन्य हिस्सों में माकपा के नवसंशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह की जो प्रक्रिया 1964 से लगातार आगे बढ़ रही थी, उसकी चर्चा के छूटे हुए सिरे को पकड़कर आगे बढ़ायें। ऊपर हमने कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के नेतृत्व वाले कम्युनिस्ट ग्रुप की और उसके द्वारा प्रकाशित 'चिन्ता' बुलेटिन के छः अंकों की चर्चा की है। 'चिन्ता' ने अपने अंकों में प्रकाशित लेखों में भूमि क्रान्ति के प्रश्न को और इसे पूरा करने के लिए सशस्त्र संघर्ष की अपरिहार्यता को, क्रान्ति के दीर्घकालिक लोकयुद्ध के मार्ग के प्रश्न को, भारतीय राष्ट्र के नवऔपनिवेशिक चरित्र के प्रश्न को और संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष के प्रश्न को व्यवस्थित ढंग से उठाया। कतारों के बीच वितरित होने वाला यह गुप्त प्रकाशन काफ़ी लोकप्रिय हो रहा था और बंगाल में संशोधनवादियों के लिए ख़ासा सिरदर्द पैदा कर रहा था। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि माकपा के केन्द्रीय मुखपत्र 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' और 'स्वाधीनता' में तथा राज्य कमेटी के मुखपत्र 'देशहितैषी' में 'चिन्ता' के लेखों के विरुद्ध कई लेख प्रकाशित हुए। 1966 के मध्य में 'चिन्ता' से जुड़े या उससे मिलते-जुलते विचार रखने वाले पश्चिम बंगाल के कई क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को "उग्रवादी" करार देकर संगठन से बाहर कर दिया गया। तब बहस को और व्यापक स्तर पर आम कतारों तक पहुँचाने के लिए कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के ग्रुप ने 'दक्षिण देश' नामक खुली पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। 1966 से लेकर अक्टूबर 1969 में 'माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र' के गठन तक 'दक्षिण देश' पत्रिका ने साम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद, भारतीय राष्ट्र के चरित्र, भारतीय क्रान्ति की रणनीति और रणकौशल सम्बन्धी समस्याओं, क्रान्तिकारी प्रचार कार्य की जनदिशा, छापामार संघर्ष, संशोधनवाद, अर्थवाद, संसदवाद, स्वत:स्फूर्ततावाद आदि विषयों पर कई महत्त्वपूर्ण लेख छापे। इन लेखों ने माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध कतारों की शिक्षा में विशेष मदद की। साथ ही, इसी पत्रिका के ज़रिये दक्षिण देश ग्रुप ने आगे चलकर ए.आई.सी.सी.सी.आर. पर हावी चारु मजुमदार गुट की लाइन की परोक्ष आलोचना रखते हुए मतभेद के प्रश्नों पर अपनी अवस्थिति भी रखी। इस कालखण्ड की चर्चा लेख में आगे आयेगी। पत्रिका ने इस ग्रुप के आरम्भिक राजनीतिक सुदृढ़ीकरण में काफी सहायता की और इसकी अवस्थिति से सहमत कार्यकर्ताओं को लेकर एक प्रारम्भिक सांगठनिक ढाँचा भी खड़ा हो गया, जिन्हें लेकर मज़दूरों, छात्रों, बुद्धिजीवियों

के बीच कामों की शुरुआत हुई। 1966 के अन्त से इस ग्रुप ने 24 परगना जिले के सोनारपुर इलाके में किसानों के बीच काम की शुरुआत की जहाँ 1967 के अक्टूबर में, नक्सलबाड़ी विद्रोह के पाँच महीने बाद किसानों का सशस्त्र संघर्ष भड़क उठा जिसे मोर्चा सरकार के बर्बर पुलिस दमन का सामना करना पड़ा।

1966 में ही बंगाल में स्वत:स्फूर्त ढंग से खाद्य आन्दोलन की शुरुआत हुई, जो विशेष रूप से कलकत्ता और निकटवर्ती क्षेत्रों में अधिक तेज़ था। उस समय माकपा के, बंगाल के केन्द्रीय और राज्य स्तरीय नेताओं की पूरी पुरानी पीढ़ी जेल में थी और पार्टी गतिविधियों के संचालन के लिए लगभग सभी युवा और नये चेहरों को लेकर एक नया राज्य स्तरीय नेतृत्व संगठित किया गया था। इस नये नेतृत्व ने खाद्य आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए सभी वाम पार्टियों का एक संयुक्त मोर्चा बनाया। लेकिन इस मोर्चे के नेता स्वयंस्फूर्त आन्दोलन को नेतृत्व देने के बजाय जनता के पीछे-पीछे रेंग रहे थे। ज़बर्दस्त पुलिस दमन से आन्दोलन तो बिखर गया, लेकिन माकपा के नये राज्यस्तरीय नेतृत्व की युवा पीढ़ी ने इसके समाहार के आधार पर, अन्य वाम दलों को छोड़कर, स्वयं अपने बूते पर इस आन्दोलन को पुनस्संगठित करने और आगे ले जाने की एक योजना बनाई। यह तय किया गया कि आन्दोलन को विस्तारित करके गाँवों तक ले जाया जाये, भूस्वामियों की फसल बलपूर्वक ज़ब्त करने का नारा दिया जाये और प्रभावी प्रतिरोध की तैयारी के लिए ज़रूरी संगठन खड़े किये जायें। इसी समय पुरानी पीढ़ी के नेतागण जेल से छूटकर बाहर आये। शहीद मैदान मीनार में जनता का गर्मजोशी भरा अभिनन्दन स्वीकार करते हुए इन नेताओं ने खाद्य आन्दोलन में जनता की जुझारू भागीदारी की प्रशंसा की और आन्दोलन को आगे बढ़ाने का संकल्प प्रकट किया। लेकिन मंच से नीचे उतरते ही उन्होंने आगामी फरवरी, 1967 में होने वाले चौथे आम चुनाव में संयुक्त मोर्चा बनाकर भागीदारी करने के लिए भाकपा नेताओं के साथ बन्द कमरों में मीटिंगें शुरू दीं। यह कतारों में व्याप्त भावना के एकदम विपरीत था, जो भाकपा को दुश्मन से कम कुछ भी नहीं समझती थीं। खाद्य आन्दोलन के जुझारू तेवर को भूख हड़ताल का नरम रास्ता अपनाकर कुन्द बनाने के भाकपा के प्रयासों का अनुभव अभी ताज़ा ही था। नतीज़तन, कतारों ने पुराने नेतृत्व की खिल्ली उड़ानी शुरू कर दी। जो नया युवा नेतृत्व था, उसने देखा कि जेल से लौटने के बाद पुरानी पीढ़ी के नेता 'देशहितैषी' और 'नन्दन' के सम्पादकमण्डल के कामों में कदम-कदम पर हस्तक्षेप कर रहे हैं और रोक लगा रहे हैं जो रैडिकल क्रान्तिकारी लाइन पर प्रचार-कार्य को जारी रखना चाहता था। खाद्य आन्दोलन में भाकपा की भूमिका को उजागर करने के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की ओर से प्रकाशित पुस्तिका 'भूख हड़ताल का दर्शन' के वितरण को रोक देने का निर्देश जारी किया गया। जेल जाने से पहले मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की शुरुआत का जिस नेतृत्व ने स्वागत किया था और समर्थन दिया था, उसी ने बाहर आने के बाद इसके कामों को तरह-तरह से रोकना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि बुनियादी मार्क्सवाद की विभिन्न स्तरों पर चलने वाली कक्षाएँ भी रोक दी गयीं और कहा गया कि कक्षाओं में केवल पार्टी कार्यक्रम के सूत्रों के औचित्य की ही व्याख्या की जानी चाहिए। खाद्य आन्दोलन को जुझारू ढंग से आगे बढ़ाने की सारी योजनाओं को स्थगित कर दिया गया। यहाँ तक कि जनता की क्रान्तिकारी पहलकदमी को खोलने वाले स्थानीय आंशिक संघर्षों को भी तरह-तरह की तिकड़मों से और नौकरशाहाना तौर-तरीकों से रोका

जाने लगा। इन सभी कार्रवाइयों के चलते, माकपा के गठन के समय से ही जारी अन्तर्पार्टी संघर्ष और अधिक गहरा हो गया। भाकपा के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की कोशिशें चुनाव के पहले तो परवान नहीं चढ़ सकीं लेकिन चुनाव के बाद भाकपा, कांग्रेस से अलग होकर बनी बांगला कांग्रेस और सभी गैर कांग्रेसी विपक्षी दलों को साथ लेकर माकपा ने संयुक्त मोर्चे की सरकार बनायी जिसमें गृह और पुलिस विभाग के मन्त्री ज्योति बसु बने। माकपा नेतृत्व का एकमात्र तर्क यह था कि मोर्चे की सरकार में पार्टी के शामिल होने से रैडिकल भूमि-सुधारों के लिए संघर्ष सहित वर्ग संघर्ष को गति मिलेगी और पुलिस दमन से जनता का बचाव होगा। लेकिन कतारों के सामने पार्टी नेतृत्व का संशोधनवादी-संसदवादी-अर्थवादी और नौकरशाह-चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता जा रहा था। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के फूट पड़ने की घटना और राज्य सरकार द्वारा उसके बर्बर पुलिस दमन ने माकपा नेतृत्व को कतारों के सामने पूरी तरह से नंगा कर दिया था। 1967-68 के दौरान कलकत्ता और कुछ जिलों में तो ऐसी स्थिति थी कि यदि नक्सलबाड़ी विद्रोह के बाद गठित 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ए.आई.सी.सी.सी.आर.) में चारु की वामपन्थी आतंकवादी लाइन हावी नहीं होती और यदि जनसंगठनों और जनकार्रवाइयों का पूर्ण परित्याग नहीं किया जाता तो मज़दूरों, किसानों, छात्रों, बुद्धिजीवियों के मोर्चे पर कार्यरत कतारों का बहुलांश क्रान्तिकारी धारा के साथ आ खड़ा होता और माकपा के लिए कम से कम प. बंगाल में, अस्तित्व का संकट पैदा हो जाता।

ज्ञातव्य है कि कलकत्ता में 1965 से ही माकपा के भीतर सुशीतल राय चौधरी, सरोज दत्त, परिमल दास गुप्त, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्त आदि ने 'अन्तर्पार्टी संशोधनवाद विरोधी कमेटी' बना रखी थी। इस कमेटी से चारु मजुमदार ने 1966 के मध्य में सम्पर्क स्थापित कर लिया था। 'पार्टी के भीतर पार्टी बनाने' का नारा उन दिनों खूब प्रचलित हुआ था और माकपा के भीतर इसी तरह के संशोधनवाद-विरोधी ग्रुप बंगाल के विभिन्न अंचलों के अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में भी अस्तित्व में आ चुके थे। 1966 के अन्त में दार्जीलिंग जिले के क्रान्तिकारी धड़े के साथ 'दक्षिण देश ग्रुप' का भी सम्पर्क स्थापित हो चुका था और 1967 के प्रारम्भ में चारु मजुमदार के साथ उनकी लम्बी बातचीत हुई। दक्षिण देश ग्रुप चुनाव में जंगल सन्थाल और सौरेन बसु को प्रत्याशी बनाये जाने के निर्णय से सहमत नहीं था, बावजूद इसके संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष को व्यापक बनाने, किसानों के बीच यथाशक्ति काम को मज़बूत बनाने और परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क रखने पर दोनों पक्षों में सहमति बनी थी।

3 मई 1967 की सुबह, नक्सलबाड़ी और निकटवर्ती तीन थानों के कुछ गाँवों से एक साथ किसान विद्रोह की शुरुआत हुई। बड़ी संख्या में तीर-धनुष से लैस किसान लाल झण्डा उड़ाते हुए जोतदारों के क़ब्ज़े की ज़मीनों और फसलों पर क़ब्ज़ा करने लगे। उनकी बन्दूकें भी ज़ब्त की जाने लगीं। इसी दौरान नक्सलबाड़ी थाने के एक गाँव में घटने वाली एक छोटी-सी घटना ने संघर्ष को नया मोड़ दे दिया। बिगुल नामक एक भूमिहीन किसान को दीवानी अदालत से कुछ ज़मीन पर अधिकार मिला था जिसे स्थानीय जोतदार ईश्वर टिर्की ने मार-पीटकर बेदख़ल करने की कोशिश की। इस पर स्थानीय किसानों ने एकजुट होकर ईश्वर टिर्की के लठैतों को मार भगाया। ख़बर मिलते ही, हमेशा की तरह 23 मई '67 को किसानों को सबक सिखाने और जोतदार की मदद करने जब पुलिस पहुँची तो तीर-धनुष से लैस तीन हज़ार किसानों ने उसे घेर लिया। इस झड़प में कई लोग घायल हुए

जिनमें पुलिस टुकड़ी के भी तीन आदमी थे। इनमें से इंस्पेक्टर सुनाम वांगदी की दो दिनों बाद अस्पताल में मौत हो गयी। विद्रोही किसानों को कुचलने के लिए उसी दिन, यानी 25 मई को पुलिस की एक बड़ी सशस्त्र टुकड़ी फिर गाँव में पहुँची। उस समय वहाँ किसान विद्रोह के पक्ष में स्त्रियों का एक जुलूस निकल रहा था, जिस पर पुलिस ने अन्धाधुन्ध फायरिंग की। इसमें सात स्त्रियों और दो बच्चों सहित दस लोग शहीद हो गये। इस घटना ने बारूद की ढेरी में पलीता लगाने का काम किया। देखते ही देखते पूरे नक्सलबाड़ी में विद्रोह की आग धधकने लगी। ज़मीन और फसल पर क़ब्ज़े की मुहिम तेज़ हो गयी। हज़ारों की तादाद में किसान जगह-जगह एकत्र होते थे, जोतदारों की ज़मीन पर झण्डे गाड़ते थे और ज़ालिम जोतदारों के घरों पर भी धावा बोलते थे। नक्सलबाड़ी पूरे देश में चर्चा का विषय बन गया। 25 मई हत्याकाण्ड के विरोध में चाय बागान मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। सिलीगुड़ी में रेल और बिजली मज़दूरों का एक बड़ा जुलूस निकला। शिक्षक, छात्र और आम मध्यवर्ग के लोग भी सड़क पर उतरे। सत्तारूढ़ माकपाई संशोधनवादियों में बदहवासी का आलम था। राज्य के तत्कालीन भूमि और भू-राजस्व मन्त्री हरे कृष्ण कोनार एक और मन्त्री, भाकपा के विश्वनाथ मुखर्जी को साथ लेकर भागे-भागे सिलीगुड़ी पहुँचे। कोनार अभी हाल ही में वियतनाम से वर्ग संघर्ष के अनुभवों से "लैस" होकर लौटे थे! भूमि-प्रश्न के पुराने विशेषज्ञ थे। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह की गम्भीर स्थिति से निपटने के लिए उनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति भला और कौन हो सकता था! कोनार सिलीगुड़ी पहुँचकर न तो दार्जीलिंग जिला कमेटी के लोगों से और न ही सिलीगुड़ी के किसान संगठनकर्ताओं से मिले। इसकी जगह सुखना फॉरेस्ट गेस्ट हाउस में शीर्ष पुलिस अधिकारियों के साथ गुप्त बैठक करके वे लौट गये। उधर माकपा के राज्यस्तरीय नेताओं ने सिलीगुड़ी के कई दौरे किये और भूमिगत किसान नेताओं के आत्मसमर्पण की कोशिशें करते रहे। उनका तर्क वही पुराना था कि चूँकि वे अब मन्त्रिमण्डल में हैं, इसलिए आन्दोलन वापस ले लिये जाने पर किसानों की शिकायतें दूर कर दी जायेंगी। लेकिन कार्यकर्ताओं को संशोधनवादी नेतृत्व पर अब रत्ती भर भी भरोसा नहीं रह गया था। ग़ौरतलब है कि माकपा नेताओं ने किसानों की हत्या पर कोई भी शोक नहीं जतलाया। इसके उलट, प्रमोद दासगुप्त ने बयान दिया कि इंस्पेक्टर सुनाम वांगदी की हत्या की प्रतिक्रिया में पुलिस ने उक्त कार्रवाई की थी।

आन्दोलन वापस लिये जाने की सरकारी कोशिशों की विफलता के बाद एक पखवारे का समय भी न बीता था कि राज्य पुलिस और केन्द्र सरकार के अर्द्धसैनिक बलों ने नक्सलबाड़ी में प्रचण्ड दमन चक्र की शुरुआत कर दी। दो हज़ार से भी कुछ अधिक लोग गिरफ़्तार कर लिये गये। फिर भी कानू सान्याल और जंगल सन्थाल सहित कुछ नेतृत्वकारी संगठनकर्ता भूमिगत रहकर संघर्ष को जारी रखने की कोशिश करते रहे। जंगल सन्थाल कुछ महीनों बाद गिरफ़्तार हुए। कानू सान्याल डेढ़ वर्ष बाद गिरफ़्तार किये जा सके। पूरे इलाके में आतंक-राज क़ायम किये जाने के बावजूद, इस किसान उभार को कुचलने में सरकार को तीन महीने से भी कुछ अधिक समय लग गया।

इस जन-विद्रोह ने नक्सलबाड़ी के किसानों की क्रान्तिकारी पहलकदमी और सर्जनात्मकमता को निर्बन्ध कर दिया। 'नक्सलबाड़ी कृषक समिति' द्वारा निर्धारित फौरी कार्यक्रम को लागू करते हुए किसानों ने जोतदारों के क़ब्ज़े की ज़मीन को अपने क़ब्ज़े में लेकर किसान समितियों के माध्यम से उसका पुनर्वितरण शुरू कर दिया। भू-स्वामित्व सम्बन्धी

पुराने सरकारी काग़ज़ात और कर्ज सम्बन्धी काग़ज़ात को सार्वजनिक सभाओं में जला दिया गया। जोतदारों और सूदखोरों के कर्जों को रद्द कर दिया गया और कर्ज़ के एवज़ में गिरवी पड़ी ज़मीनें व अन्य सामान किसानों से जब्त किये गये हल-बैल और अन्य सामान जब्त करके उन्हें किसानों में बाँट दिया गया। ज़ालिम जोतदारों, उनकी मदद करने वाले गुण्डों और सूदखोरों पर किसान समितियों ने खुली अदालतें लगाकर सज़ाएँ सुनायीं और उन्हें तामील किया। कुछ मामलों में मृत्युदण्ड भी दिये गये। बुर्जुआ कोर्ट-क़ानून-प्रशासन की मान्यता को ख़ारिज करते हुए किसान समितियों ने घोषित किया कि केन्द्रीय और इलाकाई क्रान्तिकारी कमेटियों के निर्णय ही क़ानून होंगे। गाँवों के आम प्रशासन – चौकीदारी, आपसी विवाद के निपटारे, स्कूलों की व्यवस्था आदि कामों को भी किसान समितियों ने अपने हाथों में लेने की घोषणा कर दी। जोतदारों के प्रतिरोध का किसानों ने हथियारबन्द होकर मुक़ाबला किया और इन कामों की शुरुआत की। लेकिन यह प्रक्रिया बहुत दिनों तक जारी नहीं रह सकी और बहुत आगे तक नहीं जा सकी। राज्य और केन्द्र के पुलिस बलों ने जब दमन की सुसंगठित मुहिम चलाई और नेतृत्व के ज़्यादातर लोगों को गिरफ़्तार कर लिया गया तो संघर्ष धीरे-धीरे कमज़ोर पड़ने लगा और बिखरने लगा। फिर भी सरकार को स्थिति पर पूरी तरह से नियन्त्रण स्थापित करने में सितम्बर माह तक का समय लग गया।

इस दौरान नक्सलबाड़ी पूरे देश में चर्चा का केन्द्रीय विषय बना रहा। देश के अखबारों में नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह और उसके नेतृत्व की कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति की खबरें प्रमुखता के साथ छपती रहीं। कैबिनेट सब-कमेटी ने नक्सलबाड़ी का दौरा किया। बुर्जुआ अर्थशास्त्री, राजनीतिक सिद्धान्तकार, पत्रकार, मार्क्सवादी व बुर्जुआ अकादमीशियन और सरकारी कम्युनिस्ट – सबकी कमोबेश एक ही राय थी कि यदि नक्सलबाड़ी जैसे विस्फोटों से और उनके सम्भावित "भयावह" नतीजों से बचना है तो बुर्जुआ भूमि-सुधारों की गति थोड़ी और तेज़ करनी होगी, भूमि हदबन्दी क़ानून को कम से कम कुछ हद तक प्रभावी बनाना होगा, किसानों के मालिकाने के सवाल के बुर्जुआ हल की दिशा में कुछ प्रभावी कदम उठाने होंगे और भूमिहीनों में ज़मीन वितरण के कुछ बुर्जुआ सुधारवादी कार्यक्रम सरकारी-ग़ैरसरकारी स्तर पर हाथ में लेने होंगे। यह वह समय था जब भारतीय पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय बाज़ार के दायरे और पहुँच-पकड़ के विस्तार के लिए गाँवों में प्राक्पूँजीवादी सम्बन्धों को बदलने की प्रक्रिया में ऊपर से, और क्रमिक परिवर्तन के "प्रशियाई मार्ग" पर धीरे-धीरे कदम बढ़ा रहा था। देश के कुछ हिस्सों में उभरे कुलकों-फार्मरों की प्रेशर-लॉबियाँ कांग्रेस पर इसके लिए दबाव भी बना रही थीं। इधर साम्राज्यवादी भी सीधे "सहायता" और अन्तरराष्ट्रीय एजेन्सियों के ज़रिये भारत सहित तीसरी दुनिया के अधिकांश महत्त्वपूर्ण देशों में गाँवों में पूँजीवादी विकास करके कृषि में पूँजी निवेश का स्कोप बढ़ाना चाह रहे थे और इसलिए "हरित क्रान्ति" मार्का कृषि-नीतियों पर अमल के लिए वे भारत, इण्डोनेशिया, मलयेशिया, फिलिप्पींस, श्रीलंका आदि देशों के बुर्जुआ वर्ग को पूरी मदद देने के लिए तत्पर थे। साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में साम्राज्यवादियों और भारतीय पूँजीपति वर्ग के अपने वर्ग-हितों के तक़ाजे से, पहले से ही जारी भूमि सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया एक नये दौर में प्रवेश कर रही थी। नक्सलबाड़ी किसान-उभार ने इस प्रक्रिया को और तेज़ करने और सुव्यवस्थित ढंग से बुर्जुआ भूमि-सुधार को लागू करने के लिए भारतीय शासक वर्ग पर दबाव बनाया जिसके चलते भारतीय समाज के पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया तेज़ हो गयी, देश के

जिन हिस्सों में अभी भी भूमि सम्बन्धों की प्रकृति मुख्यतः प्राक्पूँजीवादी थी, या जहाँ अभी भी प्राक्पूँजीवादी अवशेष बहुत अधिक थे, या फिर जहाँ एक संक्रमणशील पिछड़ी किसानी अर्थव्यवस्था मौजूद थी, उन सभी हिस्सों में पूँजीवादी संक्रमण की गति तेज़ हो गयी। सत्तर के दशक में ही देश के अधिकांश हिस्से में गाँवों में पूँजीवादी वर्गीय संरचना और पूँजीवादी ध्रुवीकरण की स्थिति एकदम स्पष्ट हो चुकी थी। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के तत्काल बाद, जयप्रकाश नारायण ने विनोबा के सर्वोदय, भूदान, ग्रामदान में कूदकर उसमें जान डालने की पूरी कोशिश की। यह अनायास नहीं कि मुशहरी (बिहार) में और देश के अन्य "नक्सल प्रभावित" इलाकों और भूमि-संघर्ष के सम्भावना सम्पन्न क्षेत्रों में ही जयप्रकाश नारायण ने डेरा डालकर ताकत लगाने का काम किया था और वर्ग संघर्ष की आग पर ठण्डे पानी के छींटे डालने का काम किया था। बंगाल में बरगादारों के पंजीकरण के द्वारा ज़मीन के मालिकाने को आंशिक ढंग से और बुर्जुआ रास्ते से हल करके माकपा के नेतृत्व वाली वाम सरकार ने गाँवों में पूँजीवादी विकास की राह बनाने का वही काम किया जो प्रशा के बिस्मार्क ने और ज़ार के मन्त्री स्तोलिपिन ने किया था। इससे भूमि संघर्षों का तनाव विघटित हो गया और गाँवों में वर्ग-सम्बन्धों में बदलाव के साथ ही बंगाल के गाँवों में नये पैदा हुए निरंकुश कुलकों में माकपा का नया सामाजिक आधार तैयार हुआ। कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी किसान-उभार का एक महत्त्वपूर्ण अनुवर्ती प्रभाव और उपजात (बाई प्रोडक्ट) यह था कि बुर्जुआ भूमि सुधार की गति तेज़ करने के लिए भारतीय शासक वर्ग पर एक दबाव निर्मित हुआ और भारतीय समाज के पूँजीवादीकरण की प्रक्रिया मुक़म्मल होने की समयावधि सिकुड़कर थोड़ी और छोटी हो गयी। बहरहाल, नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह का यह लक्ष्य नहीं बल्कि वस्तुगत प्रभाव था। लेकिन इस प्रभाव ने भी वस्तुगत तौर पर समाज-विकास की गति पर प्रगतिशील प्रभाव ही छोड़ा। पूँजीवादी वर्ग-सम्बन्धों के स्पष्ट और तीव्र होने के साथ ही यह समझना और तय कर पाना अधिक आसान हो गया कि भारतीय क्रान्ति की प्रकृति अब राष्ट्रीय जनवादी न होकर समाजवादी ही होगी।

पर जैसाकि ऊपर कहा गया है, उपरोक्त प्रक्रिया नक्सलबाड़ी का उपजात, अनुवर्ती प्रभाव था। यह एक ऐतिहासिक जनविद्रोह का शासक वर्ग की नीतियों पर पड़ने वाला प्रभाव था। देश के एक सुदूर छोटे-से अंचल के जनउभार ने शासक वर्ग को सोचने के लिए विवश ही इसलिए किया कि इसमें निहित क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ स्पष्ट थीं। नक्सलबाड़ी किसान-उभार के दमन और बिखराव के बावजूद, पूरे देश के कम्युनिस्ट आन्दोलन पर उसका जो प्रभाव पड़ा, उसने इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया। नक्सलबाड़ी कोई स्वयंस्फूर्त किसान-विद्रोह नहीं था। उसके पीछे ऐसे उदीयमान कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्व सक्रिय थे जो संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद करके नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन के लिए संकल्पबद्ध हो चुके थे। इन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्वों को ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की पार्टी द्वारा चलायी गयी 'महान बहस' से विचारधारात्मक दिशा मिली थी और 1966 से चीन में पार्टी और राज्य के पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध शुरू हुई 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' ने उन्हें यह राह सुझायी थी कि पार्टी के नेतृत्व पर हावी संशोधनवादियों के विरुद्ध विद्रोह करके नये क्रान्तिकारी केन्द्र की स्थापना ही एकमात्र उचित और सही रास्ता है। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में जारी विचारधारात्मक बहस में पक्ष न लेने वाले मध्यमार्गियों का संशोधनवादी चरित्र माकपा के गठन और उसके बाद नेतृत्व द्वारा उठाये गये

कदमों से काफी हद तक साफ हो चुका था। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के प्रति उनके रुख़ ने उन्हें एकदम नंगा कर दिया। यही कारण था कि नक्सलबाड़ी के तुरन्त बाद, पूरे देश में माकपा के भीतर कतारों में विद्रोह की लहर फैल गयी। पराजय के बावजूद, नक्सलबाड़ी ने ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से महान उपलब्धि हासिल की। देश के एक गुमनाम से ग्रामीण अंचल ने इतिहास को इस तरह प्रभावित किया कि वह क्रान्तिकारी कम्युनिज्म की धारा का एक प्रतीक और एक प्रस्थान-बिन्दु बन गया। लगभग अठारह वर्षों तक संसदवाद के पंककुण्ड में दबे रहने के बाद तेलंगाना की स्पिरिट और परम्परा फिर से नक्सलबाड़ी में उभर आयी और पूरे देश में फैल गयी। आगे चलकर, विचारधारात्मक कमज़ोरी और उससे पैदा हुए विविध नकारात्मक पक्षों के चलते नक्सलबाड़ी से उत्पन्न हुई राजनीति भारतीय क्रान्ति की नेतृत्वकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन तथा क्रान्ति के अग्रवर्ती विकास के रूप में भले ही आगे न बढ़ सकी हो, नक्सलबाड़ी से पैदा हुई क्रान्तिकारी वाम की धारा आगे चलकर भले ही फूट और विघटन का शिकार हो गयी हो, लेकिन भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में उस समय हावी संसदीय जड़वामनवाद पर नक्सलबाड़ी ने जो निर्णायक प्रभावी चोट की, उसका भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में हरदम महत्त्व बना रहेगा। नक्सलबाड़ी के कुछ और पहलुओं को समेटते हुए सांगोपांग समाहार से पहले यह ज़रूरी है कि नक्सलबाड़ी किसान-उभार के तुरत बाद वाम राजनीति के दायरे के घटना-प्रवाह पर चर्चा कर ली जाये।

जैसा कि चारु मजुमदार ने 11 नवम्बर 1967 को शहीद मीनार मैदान में हुई जनसभा में अपने भाषण में स्वयं स्वीकार किया था, नक्सलबाड़ी के नेता वे नहीं बल्कि कानू सान्याल, जंगल सन्थाल, कदम मल्लिक और खोकन मजुमदार आदि स्थानीय संगठनकर्ता थे। ऊपर यह चर्चा की जा चुकी है कि अपने आठ दस्तावेज़ों की शृंखला में चारु मजुमदार ने भूमि-क्रान्ति की शुरुआत जनदिशा के बजाय "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के आधार पर करने का जो प्रस्ताव रखा था, उसे ठुकराकर नक्सलबाड़ी का निर्माण हुआ था। नक्सलबाड़ी किसान-उभार वास्तव में क्रान्तिकारी जनदिशा का सत्यापन और "वाम" दुस्साहसवाद का मूर्त नकार था। लेकिन यह कहना ग़लत होगा कि इसमें चारु और उनके आठ दस्तावेज़ों की कोई भूमिका ही नहीं थी, क्योंकि 'आठ दस्तावेज' के दो पहलू थे। उसका अहम पहलू यह था कि उसने संशोधनवाद और संसदीय जड़वामनवाद पर निर्णायक चोट करते हुए एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी पार्टी के पुनर्निर्माण और पुनर्गठन का स्पष्ट प्रस्ताव एजेण्डे पर उपस्थित किया। उसका नकारात्मक पक्ष यह था कि उसने भारतीय आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक संरचना का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल के निर्धारण के बजाय, न केवल चीनी क्रान्ति के कार्यक्रम व मार्ग के अन्धानुकरण का नारा दिया बल्कि सभी प्रकार की जनकार्रवाइयों, जनसंगठनों के महत्त्व को रद्द करते हुए और आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक शिक्षा एवं प्रचार के महत्त्व को भी नकारते हुए छापामार किसान संघर्ष को सशस्त्र गुप्त दस्तों के 'ऐक्शन' का समानार्थक बनाकर प्रस्तुत किया। नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने इस दूसरे पहलू को ख़ारिज किया, लेकिन पहला पहलू उसका विचारधारात्मक-राजनीतिक आधार बना। कानू सान्याल आदि संगठनकर्ता भी जेल में रहने के दौरान माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद के विरुद्ध राजनीतिक तौर पर स्वयं को तैयार कर चुके थे, लेकिन उसके विरुद्ध दस्तावेज़ों की शृंखला लिखने, उसे कतारों तक ले जाने की कोशिश करने और कानू आदि के जेल से बाहर आने के बाद 'आठ दस्तावेज़' के रूप में माकपा नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह की कार्रवाई का सैद्धान्तिक

आधार मुहैया करने का काम तो चारु मजुमदार ने ही किया। यानी एक ओर यदि यह कहना ग़लत है कि नक्सलबाड़ी किसान उभार के नेता और निर्माता चारु थे, वहीं यह तो स्वीकारना ही होगा कि उसका विचारधारात्मक आधार तैयार करने में चारु की बुनियादी रूप से एक अहम भूमिका थी। कहा जा सकता है कि माकपा-राजनीति से निर्णायक विच्छेद करने में चारु की भूमिका निर्णायक थी। चारु नहीं होते तो मुमकिन था कि नक्सलबाड़ी संघर्ष साठ के दशक में उस इलाके में कम्युनिस्ट नेतृत्व में चले बहुतेरे रैडिकल आर्थिक और जनवादी (या संकुचित सीमा वाले राजनीतिक) माँगों पर चलने वाले जन संघर्षों की ही अगली कड़ी बनकर रह जाता। चारु की संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष की निर्णायकता के पीछे कहीं एक "वाम" दुस्साहसवादी का निम्न-बुर्जुआ अधैर्य हो सकता है (क्योंकि उनकी "वाम" दुस्साहसवादी लाइन आद्यन्त सुसंगत थी), लेकिन उस समय तो उस निर्णायकता का सकारात्मक पहलू ही प्रभावी था। कहा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी के बाद के दौर में क्रान्तिकारी वाम राजनीति के गतिरोध, पराभव और विघटन के लिए चारु की "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन ही ज़िम्मेदार बनी, लेकिन दूसरी ओर यह भी सच है कि चारु नहीं होते तो नक्सलबाड़ी किसान-उभार शायद क्रान्तिकारी वाम राजनीति का एक प्रस्थान बिन्दु और प्रतीक-चिह्न नहीं बन पाता। प्रसिद्ध उक्ति है कि संशोधनवाद करने के पाप का दण्ड मज़दूर आन्दोलन "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के रूप में भुगतता है। भारत में भी 18 वर्षों के संशोधनवादी दौर के बाद पेण्डुलम का सिरा दूसरे सिरे तक जाने का अन्देशा था और इतिहास की इस द्वन्द्वात्मक विडम्बना का व्यंग्य शायद यह होना था कि संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद की प्रक्रिया में एक ऐसे व्यक्ति को इतिहास के एक नायक का दर्ज़ा हासिल करना था, जिसकी विचारधारात्मक-राजनीतिक क्षमता नेतृत्वकारी स्तर तक की कदापि नहीं थी और जो अधैर्यशील, आदर्शवादी, भावुक निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिकारिता से ग्रस्त था। चारु के समस्त उपलब्ध राजनीतिक लेखन के आधार पर यह कहना ग़लत नहीं होगा।

नक्सलबाड़ी की घटना के क्रान्तिकारी प्रतीक-चिह्न बनने में जहाँ एक सकारात्मक पक्ष है, वहीं एक नकारात्मक पक्ष भी है। नक्सलबाड़ी किसान-उभार के बाद, पूरे देश की कम्युनिस्ट कतारों में संशोधनवाद के विरुद्ध विद्रोह की एक लहर फैल गयी। पूरे देश में माकपा की क्रान्तिकारी कतारें विद्रोह करने लगीं। अनुभवसंगत धरातल पर माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध जो शंका, अविश्वास और बेचैनी की भावना थी, उसे नक्सलबाड़ी ने विद्रोह की दिशा देकर तरल परिस्थिति को अवक्षेपित कर दिया। देश के विभिन्न राज्यों में क्रान्तिकारी पक्ष के जो नेतृत्वकारी संगठनकर्ता थे, वे तो 'महान बहस', चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति और माकपाई मध्यमार्ग की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु से कमोबेश वाक़िफ थे, लेकिन आम कतारों के लिए संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्ग के बीच फैसला करने का एकमात्र सीधा-सादा पैमाना बस यह बन गया कि कोई व्यक्ति नक्सलबाड़ी के पक्ष में है या विपक्ष में। इससे कतारों का ध्रुवीकरण तो तेज़ गति से हुआ, लेकिन ऐसे किसी भी विचारधारात्मक संघर्ष की सुदीर्घ प्रक्रिया में कतारों की जो विचारधारात्मक-राजनीतिक शिक्षा होती है और सांगठनिक सुदृढ़ीकरण से पूर्व विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की जो आवश्यक प्रक्रिया होती है, वह नहीं हुई। अपनी विचारधारात्मक-राजनीतिक कमज़ोरी के चलते क्रान्तिकारी नेतृत्व ने इस पर कोई बल भी नहीं दिया। यह भी एक कारण था कि आगे चलकर कतारें आसानी से "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की लहर में बह गयीं और अपनी पारी में, "वामपन्थी"

दुस्साहसवादी लाइन ने कतारों की विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया के आगे बढ़ने की रही-सही सम्भावना का गला भी घोंट दिया। कल्पना करें, यदि 1967 में नक्सलबाड़ी की घटना नहीं घटित हुई होती। तब क्या भारत में मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारा पैदा ही नहीं होती? ऐसा नहीं था। आठ दस्तावेज़ों का लेखन, 'चिन्ता' ग्रुप का संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष और माकपा के भीतर संशोधनवादी नेतृत्व के विरुद्ध कतारों के असन्तोष और संशोधनवाद-विरोधी धड़ेबन्दियों की विविध रूपों में नक्सलबाड़ी विद्रोह से पहले के दौर में मौजूदगी इस बात का संकेत देती हैं कि उस स्थिति में संशोधनवाद के विरुद्ध लम्बा विचारधारात्मक संघर्ष चलता जो अपनी तार्किक परिणति तक पहुँचकर किसी वैकल्पिक क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी केन्द्र को जन्म देता। ग़ौरतलब है कि एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के बहुतेरे देशों में (और यूरोप-अमेरिका में भी) साठ के दशक में 'महान बहस' और चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति से विचारधारात्मक मार्गदर्शन प्राप्त करके क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कतारें ने ख्रुश्चेवी संशोधनवादी नेतृत्व से विद्रोह करके मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों एवं संगठनों का गठन किया था। भारत में भी ऐसा ही होता, इसी की सम्भावना अधिक थी और उस स्थिति में लम्बे विचारधारात्मक संघर्ष के दौरान कतारों की राजनीतिक शिक्षा और सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया बेहतर ढंग से चलती। यानी नक्सलबाड़ी ने संशोधनवाद से विच्छेद और ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तीव्र और संक्षिप्त बना दिया, लेकिन इस तीव्रता और संक्षिप्तता ने दो लाइनों के सघन-सुदीर्घ संघर्ष की प्रक्रिया के दौरान होने वाले कतारों के विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव छोड़ा। आज वस्तुगत तौर पर, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का जो इतिहास हमारे सामने है, उसमें नक्सलबाड़ी एक मील के पत्थर का स्थान रखता है, लेकिन उसी से जुड़ा हुआ जो अन्तर्निहित दूसरा पहलू है, उसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। उसकी अनदेखी करके नक्सलबाड़ी की गौरवशाली क्रान्तिकारी परम्परा का पुनरुज्जीवन और विस्तार तो कतई सम्भव नहीं है, भावविह्वल परम्परा-पूजा का अनुष्ठान भले ही सम्पन्न कर लिया जाये।

नक्सलबाड़ी के ऐतिहासिक मूल्यांकन से ही जुड़ा एक और पहलू है, जिस पर यहाँ चर्चा ज़रूरी है क्योंकि चार दशक बाद पश्चदृष्टि से देखने पर चीज़ें आज अधिक साफ़ दीखती हैं। नक्सलबाड़ी उत्तर-औपनिवेशिक काल के एक ऐसे दौर में हुआ, जब पूरा भारत असमान रूप से एक संक्रमण से गुज़रते हुए एक लम्बी संक्रमण-अवधि के कमोबेश मध्यबिन्दु पर खड़ा था। सत्तारूढ़ भारतीय पूँजीपति वर्ग विगत दो दशक से बुर्जुआ सत्ता का सुदृढ़ीकरण करते हुए अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर तथा आयात-प्रतिस्थापन की नीतियों को लागू करते हुए अपने औद्योगिक-वित्तीय आधार का विस्तार कर रहा था और साथ ही वह गाँवों को पूँजीवादी राष्ट्रीय बाज़ार की चौहद्दी में समेट लेने के लिए भूमि सम्बन्धों को भी, ऊपर से, बुर्जुआ क्रमिक भूमि सुधार की नीतियों को लागू करते हुए, बदलने के लिए चेष्टाशील था। यह प्रक्रिया पूरे देश में असमान रूप से जारी थी। जैसे, जम्मू-कश्मीर में सापेक्षत: सर्वाधिक रैडिकल भूमि-सुधार सबसे पहले हुए। साठ के दशक के मध्य तक स्थिति यह थी कि पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में पूँजीवादी खेती की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ चुकी थी और कुलक वर्ग शक्तिशाली बन चुका था। देश के कई क्षेत्रों में सामन्ती भूस्वामियों की मौजूदगी के साथ ही उन्हीं के बीच से कुछ पूँजीवादी भूस्वामी भी पैदा हो चुके थे और बड़े काश्तकारों के बीच से कुछ कुलक भी पैदा

हो चुके थे। कुछ क्षेत्रों में सामन्ती अवशेष ज़्यादा थे, कुछ में कम थे, कुछ पिछड़ी हुई किसानी अर्थव्यवस्था की संक्रमणशील अवस्था में थे और कहीं अर्द्ध सामन्ती भूमि सम्बन्धों का पहलू ही अभी प्रधान था। बंगाल, बिहार, उड़ीसा जैसे राज्यों में उस समय, या तो अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों की प्रधानता थी या मज़बूत सामन्ती अवशेष मौजूद थे। बंगाल में जब तक बरगादारों के पंजीकरण के द्वारा मालिकाने का सवाल आंशिक तौर पर हल नहीं हुआ था तब तक भूमि-सम्बन्धों का अर्द्धसामन्ती स्वरूप मुख्यत: कायम था। नक्सलबाड़ी किसान-उभार ऐसे ही समय में हुआ। पूरे देश के क्रान्तिकारी कतारों को नक्सलबाड़ी टाइप भूमि-संघर्ष विकसित करने का नारा दिया गया। इस नारे की पहली विसंगति तो यही थी कि यह नक्सलबाड़ी की संशोधनवाद-विरोधी विचारधारात्मक विरासत की जगह नक्सलबाड़ी के रास्ते को ही पूरे भारत के लिए सामान्य बनाकर प्रस्तुत कर रहा था और विचारधारा और कार्यक्रम के प्रश्न को परस्पर गड्डमड्ड कर रहा था। उस पर से अतिरिक्त बात यह कि जब यह नारा दिया जा रहा था, उस समय नक्सलबाड़ी का लेबुल लगाकर वस्तुत: "वामपन्थी" आतंकवाद की लाइन बेची जा रही थी। लेकिन हम कहना यह चाहते हैं कि यदि पूरे देश में नक्सलबाड़ी की क्रान्तिकारी जनदिशा वास्तव में लागू भी की जाती तो सफ़ल नहीं होती। देश के जिन हिस्सों में पूँजीवादी भूमि-सम्बन्ध विकसित हो चुके थे और जहाँ संक्रमणशील अवस्था थी, वहाँ न तो चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के आधार पर भूमि-क्रान्ति को लागू कर पाना सम्भव था, न ही छापामार संघर्ष का विकास और आधार-क्षेत्र का निर्माण सम्भव था। पूरे देश की स्थिति उस समय भी ऐसी नहीं रह गयी थी कि देहातों में मुक्त क्षेत्र का निर्माण करके गाँवों से शहरों को घेरते हुए दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति को अमल में लाया जा सके। अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक चीन से भिन्न उत्तर-औपनिवेशिक दौर के भारत में एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता थी जिसके सामाजिक अवलम्ब व्यापक थे, अधिक विकसित राज्यसत्ता, सैन्यतन्त्र, और संचार-यातायात व्यवस्था थी। यहाँ न तो चीन जैसी स्थिति थी, न ही वियतनाम, कम्बोडिया और सैन्य तानाशाही वाले लातिन अमेरिकी देशों जैसी स्थिति थी। एक समस्या यह भी थी कि चीन की पार्टी के 1963 के विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा-विषयक दस्तावेज़ में या लिन प्याओ के 1965 के लेख 'लोकयुद्ध की विजय अमर रहे' में तीसरी दुनिया के देशों में लोक जनवादी क्रान्ति का जो आम सूत्रीकरण दिया था, वह एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों और नवउपनिवेशों के लिए तो ठीक था, (और आम तौर पर उस समय सही था) पर उसके फ्रेमवर्क या स्कीम में भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया, मलाया, आदि ऐसे नवस्वाधीन देश पूरी तरह से फिट नहीं होते थे जहाँ पूँजीवादी संक्रमण की प्रक्रिया जारी थी। चीन की पार्टी द्वारा भारतीय बड़े पूँजीपति वर्ग को दलाल और भारत को नवउपनिवेश मानने का सूत्रीकरण भी सच्चाई से मेल नहीं खाता था। समस्या यह थी कि उत्तर औपनिवेशिक समाजों के परिवर्तनशील यथार्थ की गतिकी को पकड़ने के बजाय उसे औपनिवेशिक दौर की निरन्तरता मानकर चलने की प्रवृत्ति अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में हावी रही थी और चीन की पार्टी के भारत-विषयक सूत्रीकरण भी इस दोष से मुक्त नहीं थे। समस्या यह भी थी कि बिस्मार्ककालीन प्रशा, ज़ारकालीन रूस या कमाल अतातुर्ककालीन तुर्की की स्थितियों से अलग एक उत्तरऔपनिवेशिक समाज में सत्तारूढ़ बुर्जुआ वर्ग (जो साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार था लेकिन राज्यसत्ता का स्वामी था और सीमित बुर्जुआ जनवाद को अमल में ला रहा था), पहली बार बुर्जुआ भूमि-सुधार की

वैसी ही नीतियाँ लागू कर रहा था, इसलिए इसे पुराने फ्रेमवर्क को तोड़कर ही समझा जा सकता था, जो नहीं हुआ। बहरहाल, मूल प्रसंग पर लौटते हुए, हम कहना यह चाहते हैं कि यदि नक्सलबाड़ी टाइप संघर्ष का मॉडल पूरे देश में वास्तव में लागू करने की कोशिश भी होती, यदि जनदिशा लागू भी होती, तो भी, 1967-70 में पूरे देश में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थी कि कोई सफलता मिल पाती। ज़्यादा से ज़्यादा, देश के अर्द्धसामती भूमि-सम्बन्धों वाले इलाकों में, मज़बूत सामन्ती अवशेषों वाले इलाकों में ही ऐसा हो पाता और उसकी तार्किक परिणति महज़ इसी रूप में सामने आती कि बुर्जुआ वर्ग उन क्षेत्रों में बुर्जुआ भूमि सुधारों की गति तेज़ कर देता। यह अनायास नहीं है कि आगे चलकर जिन मा-ले संगठनों ने क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर लोक जनवादी कार्यक्रम को लागू करने की कोशिश की भी, वे सफल नहीं हो सके और लम्बे गतिरोध की परिणति के तौर पर आज वे संगठन मालिक किसानों के लाभकारी मूल्य और लागत मूल्य की कमी की वर्गीय माँगों को लेकर लड़ने वाले मार्क्सवादी नरोदवादी बन चुके हैं। तात्पर्य यह कि 1967-70 में भी नक्सलबाड़ी पूरे देश के लिए एक सार्विक परिघटना नहीं हो सकता था। यूँ कहें कि, यदि क्रान्तिकारी जनदिशा लागू भी होती तो नक्सलबाड़ी के रास्ते की राष्ट्रव्यापी सफलता 1967 में सन्दिग्ध थी और इसलिए नक्सलबाड़ी भी बहुत दिनों तक टिका नहीं रह पाता। नक्सलबाड़ी के बाद गठित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी यदि अध्ययन और प्रयोग के आधार पर भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम के निर्धारण के अपने काम को पूरा करने में कोताही नहीं बरतती तो क्रान्तिकारी जनसंघर्ष निरन्तरता की प्रक्रिया में ही अपनी कार्यक्रममूलक दिशा बदल लेते। लेकिन उस स्थिति में भी, नक्सलबाड़ी किसान-उभार का ऐतिहासिक विचारधारात्मक महत्त्व संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद के मोड़-बिन्दु के रूप में अक्षुण्ण बना रहता।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह चारु मजुमदार की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन पर सही क्रान्तिकारी लाइन की विजय पर आधारित था। लेकिन सत्ता के दमन के बाद, संघर्ष जब गतिरोध का शिकार हुआ तो जनदिशा को लागू करने वाले कानू सान्याल आदि नेतृत्व के लोगों ने विचारधारात्मक अपरिपक्वता के चलते स्वयं को विकल्पहीन और किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में पाया। इस स्थिति में चारु मजुमदार ने अपनी आतंकवादी लाइन को फिर आगे बढ़ाया और नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने उसके आगे पूरी तरह से आत्मसमर्पण कर दिया। आर्थिक संघर्षों के महत्त्व को पूरी तरह नकारने वाले चारु मजुमदार का कहना था कि नक्सलबाड़ी में किसान ज़मीन या किसी आर्थिक माँग के लिए नहीं लड़कर राज्यसत्ता के लिए लड़े थे। सितम्बर 1968 में कानू सान्याल ने नक्सलबाड़ी का सार-संकलन करते हुए 'तराई क्षेत्र के किसान आन्दोलन पर रिपोर्ट' नामक जो दस्तावेज़ लिखा, उसमें उन्होंने चारु की इसी स्थापना को दुहराया। पुनः 1974 में अपनी अवस्थिति बदलकर उन्होंने "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की आलोचना करते हुए 'मोर अबाउट नक्सलबाड़ी' शीर्षक जो लेख लिखा उसमें यह लिखा कि भूमि क्रान्ति में ज़मीन और राज्यसत्ता के प्रश्न अन्तर्ग्रन्थित होते हैं और नक्सलबाड़ी में भी ऐसा ही था। यह न तो सैद्धान्तिक तौर पर सही है, न ही व्यावहारिक तौर पर ऐसा हुआ था। भूमि क्रान्ति के दौर में किसान ज़मीन के मालिकाने की माँग के लिए अपना संघर्ष शुरू करते हैं। पार्टी इस बात का लगातार प्रचार करती है कि इस प्रश्न को राज्यसत्ता के साथ संघर्ष करके ही हल किया जा सकता है। किसान पार्टी नेतृत्व में जब ज़मीन और फसल पर क़ब्ज़े की मुहिम चलाते हैं तो

उन्हें ज़मीन्दारों और राज्यसत्ता के दमनतन्त्र का सामना करना पड़ता है, जिसका मुक़ाबला करने के लिए वे हथियारबन्द होते हैं(स्वयंसेवक दस्ते जनमिलिशिया और छापामार दस्ते बनाते हैं और संघर्ष क्रमशः इलाक़ावार सत्ता दख़ल की मंज़िल तक विकसित होता है। इस प्रक्रिया में ज़मीन का सवाल आगे बढ़कर राज्यसत्ता का सवाल बन जाता है। नक्सलबाड़ी में भी यही प्रक्रिया जारी थी, जिसे कानू सान्याल ने न तो 1967 में समझा और न ही 1974 में समझा। 1974 में "वामपन्थी" आतंकवाद की आलोचना करते हुए दक्षिणपन्थी अवसरवादी भटकाव के दूसरे छोर पर जा खड़े हुए थे, जिसकी चर्चा इस लेख में आगे की जायेगी। तराई किसान रिपोर्ट में उन्होंने किसान सम्मेलन द्वारा निर्धारित "दस महान कार्यों" को पूरा करने में नेतृत्व देने में निम्न-पूँजीवादी भटकावग्रस्त नेतृत्व की विफलता, नेतृत्व का जनता में भरोसा न होने, एक शक्तिशाली जनाधार के अभाव, एक मज़बूत पार्टी ढाँचे के अभाव, राजनीतिक सत्ता की स्थापना और क्रान्तिकारी भूमि-सुधार के बारे में रूपवादी पहुँच और पुरानी संशोधनवादी सोच के असर तथा सामरिक मामलों की ग़ैरजानकारी को नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह की विफलता के लिए ज़िम्मेदार बताया था। वास्तव में यह एक सतही, रूपवादी और सार-संग्रहवादी समाहार था। सच्चाई यह है कि नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह शुरू होने से पहले नेतृत्व ने दूर की सोचकर कोई व्यवस्थित तैयारी की ही नहीं थी। किसानों की सशस्त्र प्रतिरक्षा आगे किस प्रकार छापामार दस्तों के निर्माण की अवस्था तक विकसित होगी और दमन की स्थिति में अपनी सशस्त्र शक्तियों को अन्य क्षेत्रों में किस प्रकार बिखराया जायेगा, इसकी कोई योजना नहीं थी। निकटवर्ती जंगलों और पर्वतीय क्षेत्रों में पृष्ठभागीय आधार बनाने की कोई योजना नहीं थी। उल्लेखनीय है कि स्थिति को सँभालने के लिए, काफ़ी बाद में, 1968 में मिरिक के पहाड़ी इलाक़े में एक पृष्ठभागीय क्षेत्र विकसित करने की कोशिश की गयी जो सफल नहीं हुई। इससे भी अहम बात यह थी कि स्थितियाँ तब तक सँभालने लायक़ रह ही नहीं गयीं थी। और इससे भी अहम बात यह थी कि एक सुसंगठित कम्युनिस्ट पार्टी के अभाव में दीर्घकालिक लोकयुद्ध की परिस्थिति होने पर भी उसे आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। ऐसी स्थिति में यदि एक योग्य नेतृत्व होता तो कुछ समय तक संघर्ष को स्थगित या विलम्बित करने के लिए रणकौशलात्मक स्तर पर शत्रु से कुछ समझौते की राह भी चुन सकता था, पर बिना जनता के बीच गहन राजनीतिक प्रचार और तैयारी के, यदि यह किया जाता तो निरुत्साह और बिखराव पैदा होना लाजिमी होता। नक्सलबाड़ी में भी यही स्थिति थी।

इन्हीं परिस्थितियों में नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने चारु की लाइन के आगे पूरी तरह से घुटने टेक दिये। तराई रिपोर्ट में कानू सान्याल ने नक्सलबाड़ी के पूर्व चारु की लाइन और जनदिशा के बीच के संघर्ष और चतरहाट-इस्लामपुर प्रसंग की कोई चर्चा नहीं की है और विशेष तौर पर नक्सलबाड़ी संघर्ष में चारु के योग्य नेतृत्व की भूमिका को रेखांकित किया है। इन तथ्यों का उल्लेख उन्होंने पहली बार 1974 में किया। विचारधारात्मक कमज़ोरी से जन्मी इस अवसरवादी आत्मसमर्पणकारी प्रवृत्ति ने "वामपन्थी" आतंकवाद के हावी होने में निश्चय ही काफ़ी मदद पहुँचायी।

बहरहाल, नक्सलबाड़ी का ऐतिहासिक महत्त्व उस घटना की स्थानीयता में निहित नहीं था। मुख्य बात यह थी कि उसने संशोधनवाद से निर्णायक संघर्ष और रैडिकल विच्छेद तथा एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन की अनिवार्य आवश्यकता के सन्देश को पूरे देश की कम्युनिस्ट क़तारों तक पहुँचा दिया था। कम्युनिस्ट क़तारों में एक नये उत्साह और

ऊर्जस्विता का संचार हो चुका था। संशोधनवादी बदहवास थे। बुर्जुआ वर्ग इस नयी लहर को गम्भीर चुनौती के रूप में देख रहा था।

एजेण्डा पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता का सवाल : एक सर्वभारतीय पार्टी के गठन की ओर

नक्सलबाड़ी में सशस्त्र किसान विद्रोह के विस्फोट के तुरत बाद पूरे देश में माकपा की पार्टी क़तारों में और पार्टी के बाहर के कम्युनिस्ट तत्वों के बीच संशोधनवाद के विरुद्ध विद्रोह की लहर दौड़ पड़ी। बंगाल से बाहर, उत्तर प्रदेश, बिहार, आन्ध्र प्रदेश, केरल, तमिलनाडु, पंजाब, जम्मू-कश्मीर, असम, उड़ीसा और त्रिपुरा में पार्टी-क़तारों के विद्रोह से अराजकता और विभाजन की स्थिति उत्पन्न होने लगी। भारी संख्या में नये युवा तत्व भी इस क्रान्तिकारी लहर की ओर आकृष्ट हुए। पार्टी के भीतर और बाहर, स्वयंस्फूर्त ढंग से क्रान्तिकारी ग्रुप बनने लगे। यदि केवल प. बंगाल का उदाहरण लें तो वहाँ 'निशान', 'पदातिक', 'भित्ति', 'सूर्यसेन', 'छात्र फ़ौज' आदि कई ग्रुप सक्रिय हो गये थे, जिन्होंने संशोधनवाद विरोधी सैद्धान्तिक संघर्ष और क्रान्तिकारी प्रचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1966 से ही सक्रिय 'चिन्ता ग्रुप' और पार्टी के भीतर गठित 'अन्तर्पार्टी संशोधनवाद विरोधी कमेटी' की पहले ही चर्चा की जा चुकी है।

अलग-अलग राज्यों में माकपा के भीतर संशोधनवादी संघर्ष को नेतृत्व देने वालों में आन्ध्र प्रदेश के डी. वी. राव और नागी रेड्डी तो राष्ट्रीय स्तर के नेता थे और केन्द्रीय कमेटी के सदस्य भी रह चुके थे। इनके अतिरिक्त बिहार में सत्यनारायण सिंह, उत्तर प्रदेश में शिवकुमार मिश्र, जम्मू-कश्मीर में आर. पी. सर्राफ सहित कई राज्य स्तरीय नेतृत्व के लोग भी थे। बंगाल में सुशीतल राय चौधरी और सरोज दत्त राज्य स्तरीय नेता थे, परिमल दास गुप्त और असित सेन प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता और सिद्धान्तवेत्ता थे। उपरोक्त राज्यों में क़तारों का बड़ा हिस्सा विद्रोहियों के साथ था।

14 जून 1967 को कलकत्ता के राममोहन लाइब्रेरी हॉल में नक्सलबाड़ी में किसानों की हत्या और दमन के विरोध में तथा संग्रामी किसानों के समर्थन में कुछ ऐसी मज़दूर यूनियनों के आह्वान पर एक जनसभा हुई, जिनका नेतृत्व माकपा की संशोधनवादी, अर्थवादी नीतियों से असन्तुष्ट था। इसमें एक प्रस्ताव पारित करके 'नक्सलबाड़ी और कृषक संग्राम सहायक कमेटी' की स्थापना की गयी जिसका सचिव प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता और माकपा की कलकत्ता ज़िला कमेटी के सदस्य परिमल दासगुप्त को बनाया गया। देश भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्वों से सम्पर्क स्थापित करने का काम सबसे पहले इसी कमेटी के बैनर तले शुरू किया गया।

प. बंगाल राज्य कमेटी के मुखपत्र 'देशहितैषी' का दफ़्तर उस समय क्रान्तिकारी तत्वों के नियन्त्रण में आ गया था। उसके सम्पादक मण्डल में सुशीतल रायचौधरी और सरोज दत्त शामिल थे और बहुमत भी उन्हीं के साथ था। 28 जून 1967 को माकपा नेतृत्व ने बलपूर्वक उन सबको निकाल बाहर करके दफ़्तर पर क़ब्ज़ा किया। इसके एक सप्ताह बाद बांगला साप्ताहिक 'देशव्रती' का प्रकाशन शुरू हुआ जो मार्क्सवादी-लेनिनवादियों का पहला मुखपत्र

था। इस समय तक माकपा नेतृत्व देशव्यापी छँटनी मुहिम शुरू कर चुका था। पूरे देश में नक्सलबाड़ी के पक्ष में मुखर एक हज़ार से भी अधिक नेताओं-कार्यकर्ताओं को पार्टी से निकाल बाहर किया गया। अकेले बंगाल में ही निष्कासित लोगों की संख्या चार सौ से अधिक थी। बंगाल के निष्कासित लोगों में चारु मजुमदार, कानू सान्याल, सौरेन बसु, सरोज दत, सुशीतल रायचौधरी, परिमल दासगुप्त, असित सेन, सुनीति कुमार घोष आदि प्रमुख थे। बिहार से सत्यनारायण सिंह, गुरुबख़्श सिंह, उत्तर प्रदेश से शिवकुमार मिश्र, महेन्द्र सिंह, श्रीनारायण चतुर्वेदी, आर.एन. उपाध्याय, पंजाब से दया सिंह, जगजीत सिंह सोहल, बलवन्त सिंह आदि कई नेता निष्कासित लोगों में शामिल थे। इसके बाद तो निष्कासन का यह सिलसिला 1969 तक कई किश्तों में लगातार चलता रहा। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के पक्ष में पीकिंग रेडियो के प्रसारणों ने भी कार्यकर्ताओं को पक्ष चुनने के लिए प्रेरित करने में एक अहम भूमिका निभायी। पाँच जुलाई, 1967 को 'पीपुल्स डेली' (चीनी पार्टी का मुखपत्र) में 'भारत में वसन्त का वज्रनाद' शीर्षक लेख छपा, जिसमें नक्सलबाड़ी का समर्थन करते हुए माकपा के नवसंशोधनवादियों को भी गद्दार और भारतीय शासक वर्ग का चाकर घोषित किया गया था। इसके बाद 'पीपुल्स डेली' में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के पक्ष में कई टिप्पणियाँ छपीं। इनका एक दूरगामी नकारात्मक प्रभाव यह था कि आगे चलकर चारु मजुमदार ने इसका लाभ अपनी लाइन की अन्तरराष्ट्रीय मान्यता के रूप में प्रचार करके उठाया। एक दूसरा नकारात्मक प्रभाव यह था कि चीनी पार्टी की धारणा के हिसाब से, भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने कार्यक्रम के प्रश्न पर सोच-विचार को एजेण्डे से ही हटा दिया और यह मानकर चलने लगे कि भारत में भी चीन की तरह नवजनवादी क्रान्ति और दीर्घकालिक लोकयुद्ध का रास्ता ही लागू होगा। लेकिन तात्कालिक तौर पर चीन की पार्टी की अवस्थिति ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तेज़ करके क्रान्तिकारी पक्ष की मदद की।

11 नवम्बर 1967 को 'नक्सलबाड़ी और कृषक संग्राम सहायक कमेटी' की ओर से अक्टूबर क्रान्ति दिवस मनाने और मार्क्सवादी-लेनिनवादी के प्रचार के लिए कलकता के शहीद मीनार मैदान में एक जनसभा बुलायी गयी जिसमें चारु मजुमदार ने खुले मंच से अपना अन्तिम भाषण दिया। इस सभा में पारित प्रस्ताव में सोवियत संशोधनवाद की भर्त्सना करते हुए चीन की पार्टी का समर्थन किया गया और माकपा को भी एक संशोधनवादी पार्टी बताते हुए उसकी निन्दा की गयी। इसके तुरन्त बाद, पूर्व योजना के अनुसार, सात राज्यों के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई जिसमें महत्त्वपूर्ण राजनीतिक-सांगठनिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श के बाद 'भा.क.पा. (मा.) के क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ऑल इण्डिया कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ दि रिवोल्यूशनरीज़ ऑफ़ दि सी.पी.आई. (एम.)) का गठन किया गया और उसकी ओर से एक घोषणा जारी की गयी। इस तालमेल कमेटी ने अपने चार मुख्य कार्यभार निर्धारित किये : (1) मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में सभी स्तरों पर जुझारू और क्रान्तिकारी संघर्षों का ख़ासकर नक्सलबाड़ी की तरह किसान-संघर्षों का विकास करना और उनके बीच तालमेल क़ायम करना, (2) मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकशों के जुझारू संघर्षों का विकास करना, अर्थवाद से लड़ना और इन संघर्षों को कृषि क्रान्ति की दिशा में मोड़ना, (3) संशोधनवाद और नवसंशोधनवाद के विरुद्ध समझौताहीन सैद्धान्तिक संघर्ष चलाना और माओ त्से-तुङ विचारधारा को, जो वर्तमान युग का मार्क्सवाद-लेनिनवाद है, लोकप्रिय बनाना और इसके आधार पर पार्टी के भीतर के और बाहर के सारे क्रान्तिकारी तत्वों

को ऐक्यबद्ध करना, और (4) माओ त्से-तुङ विचारधारा की रोशनी में भारतीय परिस्थिति के सुनिश्चित विश्लेषण के आधार पर क्रान्तिकारी कार्यक्रम और रणकौशल तैयार करने की ज़िम्मेदारी लेना।

देश के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से सम्पर्क स्थापित करने का काम पहले से ही मुख्यत: सुशीतल रायचौधरी कर रहे थे। उन्हें ही तालमेल कमेटी का सचिव चुना गया और उनके सम्पादन में अंग्रेज़ी मासिक मुखपत्र 'लिबरेशन' निकालने का निर्णय लिया गया। इसका पहला अंक नवम्बर, 1967 में प्रकाशित हुआ।

आन्ध्र प्रदेश में माकपा के शीर्ष नेताओं में से दो – टी. नागी रेड्डी और डी. वी. राव भी माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद के विरुद्ध शुरू से ही संघर्षरत थे। उन्होंने नक्सलबाड़ी का पक्ष लिया था। लेकिन उनका विचार था कि माकपा के भीतर जब तक सम्भव हो, रहते हुए संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया जाना चाहिए ताकि क़तारों के बड़े हिस्से को क्रान्तिकारी पक्ष के साथ खड़ा किया जा सके। इस मसले पर चारु मजुमदार के साथ उनका मतभेद था। अप्रैल, 1968 में माकपा का बर्दवान प्लेनम हुआ जो मुख्यत: विचारधारात्मक प्रश्न पर केन्द्रित था। प्लेनम में पारित होने वाले दस्तावेज़ 'विचारधारात्मक विचार-विमर्श के लिए' का मसौदा पहले वितरित हो चुका था और उस पर डी.वी.-नागी ने तीखे मतभेद दर्ज़ कराये थे। यही दस्तावेज़ प्लेनम में पारित हुआ। इसके अनुसार, सोवियत पार्टी जहाँ दक्षिणपन्थी भटकाव का शिकार थी वहीं चीन की पार्टी "वामपन्थी" संकीर्णतावादी भटकाव का शिकार थी। इसमें चीनी पार्टी पर माकपा के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप का आरोप भी लगाया था। माकपा के मध्यमार्ग का संशोधनवादी चरित्र अब एकदम नंगा हो चुका था। जम्मू-कश्मीर और आन्ध्र प्रदेश की राज्य कमेटियों ने दस्तावेज़ के मसौदे का विरोध किया। विरोध का एक मुद्दा यह भी था कि दस्तावेज़ में भारत सहित सभी पिछड़े देशों में लोकयुद्ध को संघर्ष के सार्वभौमिक रूप के तौर पर स्वीकार नहीं किया गया है और मुख्य लाइन के तौर पर भूमि क्रान्ति को ख़ारिज कर दिया गया है। बर्दमान प्लेनम के तुरत बाद तालमेल कमेटी ने 14 मई '68 को हुई अपनी दूसरी बैठक में अपने नाम से 'भा.क.पा. (मा.) के अन्दर के' वाक्यांश को हटाकर अपना नया नाम रखा 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ए.आई.सी.सी.सी.आर.) और इसका नेतृत्व चारु मजुमदार को सौंपा गया। दूसरी बैठक के बाद तालमेल कमेटी ने अपनी 'दूसरी घोषणा' जारी की जिसमें कहा गया था कि नवसंशोधनवादी भी डांगेपन्थियों की तरह प्रतिक्रान्तिकारी शिविर में शामिल हो चुके हैं, वे कृषि क्रान्ति की पीठ में सक्रिय रूप से छुरा भोंक रहे हैं और जो लोग अभी भी माकपा के भीतर अन्तर्पार्टी संघर्ष की सम्भावना देखते हैं वे संशोधनवाद के विरुद्ध लड़नेवालों में भ्रम का बीज बो रहे हैं तथा उनको संगठित और शक्तिशाली होने से रोक रहे हैं। इस अन्तिम वाक्यांश में वस्तुत: डी.वी.-नागी ग्रुप की परोक्ष आलोचना की गयी थी। तालमेल कमेटी की इस दूसरी बैठक में पंजाब के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी शामिल हुए थे।

बर्दवान प्लेनम के तुरत बाद, डी.वी.-नागी के नेतृत्व में माकपा की आन्ध्र कमेटी का बहुसंख्यक हिस्सा विद्रोह करके पार्टी से अलग हो गया। जम्मू-कश्मीर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी पार्टी से बाहर आ गये थे। डी.वी.-नागी द्वारा पार्टी के भीतर चलाये गये संघर्ष का नतीजा था कि आन्ध्र में बहुसंख्यक कार्यकर्ता पार्टी से बाहर आ गये थे। डी.वी. राव-नागी रेड्डी-चन्द्रपुल्ला रेड्डी आदि ने 'आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी' (ए.पी.आर.सी.

सी.) का गठन किया जो ए.आई.सी.सी.सी.आर. से जुड़कर उसकी आन्ध्र राज्य कमेटी के रूप में काम करने लगी। आन्ध्र ग्रुप और चारु मजुमदार के नेतृत्व के बीच शुरू ही कुछ अहम मतभेद मौजूद थे। चारु मजुमदार के नेतृत्व वाले हिस्से का मानना था कि नागी रेड्डी ग्रुप चीनी पार्टी की लाइन को पूरी तरह से स्वीकार नहीं करता है। इसका एक आधार यह था कि नागी रेड्डी ग्रुप सोवियत संघ को सामाजिक-साम्राज्यवादी न कहकर सिर्फ़ संशोधनवादी कहता था। यह प्रश्न बुनियादी विचारधारात्मक न होकर वस्तुगत आकलन का था, जिसे चीनी पार्टी के कठमुल्लावादी अनुकरण के चलते बुनियादी बना दिया गया। दूसरा अहम मतभेद यह था कि अखिल भारतीय तालमेल कमेटी चुनाव बहिष्कार को एक रणनीतिक प्रश्न मानती थी और उसे क्रान्ति की प्रक्रिया की शुरुआत से अन्त तक लागू करने की बात करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप इसे रणकौशल का प्रश्न मानता था और इस मामले में परिस्थिति-अनुसार निर्णय की बात करता था। इस प्रश्न पर उनकी अवस्थिति क्लासिकीय लेनिनवादी सूत्रीकरण के अनुरूप थी। तालमेल कमेटी नक्सलबाड़ी को माओ विचारधारा का भारत में पहला प्रयोग मानती थी, जबकि आन्ध्र ग्रुप का कहना था कि माओ विचारधारा का पहला प्रयोग तेलंगाना में हुआ था और नक्सलबाड़ी उसी की अगली कड़ी है। तालमेल कमेटी जनसंघर्ष के खुले रूपों, आर्थिक मुद्दों पर संघर्ष और जनसंगठनों की उपेक्षा कर रही थी, जिससे आन्ध्र ग्रुप सहमत नहीं था। तालमेल कमेटी का ज़ोर प्रारम्भिक मंज़िल से ही छापामार संघर्ष संगठित करने पर था, जबकि आन्ध्र ग्रुप का कहना था कि जनान्दोलन की प्रक्रिया में संघर्ष के उच्चतर रूप के तौर पर सशस्त्र संघर्ष शुरू होगा, स्वयंसेवक दस्ते, स्थानीय दस्ते और नियमित छापामार दस्ते अस्तित्व में आयेंगे और आधार-क्षेत्रों का निर्माण होगा। कुछ सशस्त्र दस्तों की कार्रवाई के बजाय उनका ज़ोर क्रान्तिकारी जनप्रदर्शनों, क्रान्तिकारी जनान्दोलनों, क्रान्तिकारी ग्राम सोवियतों की स्थापना और सशस्त्र जनसंघर्षों पर था। इस प्रश्न पर भी संघर्ष मूलत: "वाम" दुस्साहसवाद और जनदिशा के प्रश्न पर था। इन मूल मुद्दों के अतिरिक्त, दोनों पक्षों के बीच जनवादी कार्यक्रम (तालमेल कमेटी 'लोक जनवादी क्रान्ति' शब्दावली का प्रयोग करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप 'नव जनवादी क्रान्ति' शब्दावली का) की कुछ तफ़सीलों, व्याख्याओं और ज़ोर को लेकर था जो हालाँकि गौण था लेकिन यहाँ भी अप्रोच की भिन्नता महत्त्वपूर्ण थी। तालमेल कमेटी चीनी पार्टी के कार्यक्रम का अन्धानुकरण करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप उसकी आम दिशा और फ्रेमवर्क को मानते हुए भी, एक हद तक, भारतीय परिस्थिति की सच्चाइयों को उसमें समाहित करने की कोशिश करता था। तालमेल कमेटी का आन्ध्र ग्रुप पर एक आरोप यह भी था कि वह श्रीकाकुलम सशस्त्र संघर्ष को ज़ोर-शोर से नहीं, बल्कि महज़ रस्मी समर्थन दे रहा है। इस प्रश्न पर आगे चर्चा की जायेगी।

इन मतभेदों के बावजूद, पहली बैठक के बाद आन्ध्र प्रदेश की तालमेल कमेटी अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से जुड़ गयी। यह तय किया गया कि प्रयोग करते हुए मतभेद के मसलों पर बहस की प्रक्रिया जारी रहेगी क्योंकि तालमेल कमेटी का उद्देश्य ही यही है। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। 7 फ़रवरी, 1969 को निहायत एकतरफा और मनमाने तरीक़े से आन्ध्र प्रदेश कमेटी को अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से निकाल दिया गया और बातचीत करने के उनके बार-बार के अनुरोध पर कान तक नहीं दिया गया।

तालमेल कमेटी का गठन ही इस उद्देश्य से किया गया था कि माओ विचारधारा पर आम तौर पर सहमत देश भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आपस में बहस-मुबाहिसा करके और अपने

प्रयोगों के अनुभवों का आदान-प्रदान करते हुए भारतीय क्रान्ति की रणनीति, आम रणकौशल और रास्ते के सवाल पर एक राय बनायें तथा भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर कार्यक्रम तैयार करें। पर तालमेल कमेटी शुरुआत करते ही लक्ष्य विमुख हो गयी। नक्सलबाड़ी संघर्ष के नेतृत्व के "वामपन्थी" लाइन के आगे घुटने टेकने के बाद चारु मजुमदार ने इस लाइन को ज़ोर-शोर से पूरे देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच बढ़ावा दिया। आम क्रान्तिकारी क़तारों में यह धारणा थी कि नक्सलबाड़ी के निर्माता और नेता चारु मजुमदार ही थे और उनकी लाइन को चीनी पार्टी का पूरा समर्थन हासिल है। बंगाल का एक गुट, जिसमें विशेष तौर पर सरोज दत्त, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष शामिल थे, चारु को भारतीय क्रान्ति का महान नेता सिद्ध करने में जुट गया था। सत्यनारायण सिंह, कानू सान्याल आदि भी बढ़-चढ़कर उनकी प्रशंसा में जुटे थे। 'तराई किसान संघर्ष की रिपोर्ट' में हालाँकि चारु की लाइन के आगे कानू सान्याल आदि की जनदिशा की लाइन का आत्मसमर्पण मुख्य पहलू था, लेकिन उसमें व्यापक जनसंघर्ष के विकास का एक ब्योरा भी था। पर उस रिपोर्ट को तालमेल कमेटी ने देश भर के क्रान्तिकारियों के बीच न तो कभी चर्चा का विषय बनाया, न खुद ही कभी उस पर चर्चा की। इस पूरी स्थिति का लाभ उठाकर चारु मजुमदार तालमेल कमेटी को एक पार्टी की तरह चलाने लगे और स्वयं उसके स्वयंभू एकछत्र नेता जैसा व्यवहार करने लगे। तालमेल कमेटी विभिन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों के बीच तालमेल करने के बजाय पार्टी की केन्द्रीय कमेटी जैसा आचरण करने लगी। विभिन्न ग्रुपों को अपने मुखपत्र बन्द करने का निर्देश जारी किया जाने लगा। मतभेदों और उठाये जाने वाले सवालों पर स्वस्थ बहस के बजाय, अलग विचार प्रकट करने वाले लोगों व ग्रुपों के ख़िलाफ़ कुत्सा-प्रचार करके और उन पर तोहमतें लगाकर निकाल बाहर किया जाने लगा। तालमेल कमेटी ने भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण करके भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम और रणकौशल तय करने के बुनियादी कार्यभार को तो पूरी तरह से तिलांजलि दे दी। यह घोषित कर दिया गया कि भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम, रणकौशल और रास्ता हूबहू चीनी क्रान्ति जैसा होगा। लेकिन नक्सलबाड़ी टाइप किसान संघर्ष और चीनी रास्ते की दुहाई देते हुए चारु मजुमदार व्यवहार में घनघोर आतंकवादी लाइन लागू करने की बात कर रहे थे। मज़दूर वर्ग के नेतृत्व की बात करते हुए भी ट्रेड यूनियन कार्यों व मज़दूर वर्ग के बीच हर प्रकार की जनकार्रवाई को अर्थवाद-सुधारवाद कहकर खारिज किया जा रहा था। पार्टी को "देहात-आधारित पार्टी" होना था। और वहाँ भी, किसी प्रकार की जनकार्रवाई, आर्थिक संघर्ष और खुले राजनीतिक प्रचार से बचते हुए सीधे सशस्त्र दस्तों का निर्माण करके भूस्वामियों के ख़िलाफ़ 'ऐक्शन' करना था (जल्दी ही चारु ने इसे स्पष्ट करते हुए 'ख़ात्मे की लाइन' यानी वर्ग शत्रुओं की हत्या की लाइन दी जो व्यक्तिगत आतंकवाद का नग्न रूप था)।

आन्ध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम ज़िले के गिरिजन नक्सलबाड़ी की घटना के क़रीब आठ वर्ष पहले से भूस्वामियों के शोषण-उत्पीड़न और पुलिस उत्पीड़न के विरुद्ध आन्दोलन चला रहे थे। वह इलाक़ा डी. वी. राव.-नागी रेड्डी धड़े के प्रभाव क्षेत्र में नहीं था। कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवादियों ने इस संघर्ष को आगे विकसित करने की कभी कोई कोशिश नहीं की। नक्सलबाड़ी की ख्याति के बाद श्रीकाकुलम के नेताओं ने तालमेल कमेटी से सम्पर्क स्थापित किया और चारु मजुमदार को अपना नेतृत्व करने के लिए आमन्त्रित किया। जनवरी '69 में चारु मजुमदार श्रीकाकुलम गये और वहाँ सशस्त्र संग्राम को "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन

पर आगे बढ़ाने का दिशा-निर्देश दिया। श्रीकाकुलम में जनवरी '69 से भूस्वामियों के घरों-गोदामों पर छापामार दस्तों के हमलों और सफ़ाये के लाइन की शुरुआत हुई। चूँकि गिरिजनों का आन्दोलन लम्बे समय से जारी था इसलिए शुरुआती सशस्त्र कार्रवाइयों को व्यापक जनसमर्थन भी हासिल हुआ। बाथापुरम्, पद्मपुर, बूड़ीबांका, आकूपल्ली और गरुड़भद्र में छापामार हमलों और भूस्वामियों-सूदख़ोरों की हत्या की घटनाओं को काफ़ी ख्याति मिली। चारु मजुमदार गुट ने इसे लोकयुद्ध का संकेत बताया। चतरहाट-इस्लामपुर की विफलता के बाद, श्रीकाकुलम में पहली बार चारु मजुमदार की आतंकवादी लाइन व्यापक स्तर पर लागू हुई। पुलिस ने घनघोर दमन की कार्रवाई शुरू की। मई 1966 में, संघर्ष के एक मुख्य नेता पंचाद्रि कृष्णमूर्ति, उनकी पत्नी निर्मला और पाँच अन्य छापामार पुलिस मुठभेड़ में मारे गये। तमाम दमन के बावजूद श्रीकाकुलम संघर्ष 1970 तक जारी रहा। मई 1970 में भा.क.पा. (मा-ले) के स्थापना-सम्मेलन के कुछ महीने बाद ही गिरिजनों के लोकप्रिय नेता वेंकटापु सत्यनारायण और आदिमाटला कैलाशम् सहित कई और नेताओं की हत्या हो गयी तथा नागभूषण पटनायक और अप्पाला सूरी गिरफ़्तार हो गये। लगभग नेतृत्वविहीन हो चुका आन्दोलन फिर जल्दी ही बिखर गया। इस तरह एक व्यापक आधार वाले, लम्बे समय से जारी जनसंघर्ष को "आतंकवादी" रास्ते पर विमुख करके पराजय के गर्त में धकेल दिया गया।

जनवरी '69 में श्रीकाकुलम संघर्ष का नेतृत्व हाथ में आ जाने के बाद, चारु मजुमदार को यह उचित अवसर प्रतीत हुआ कि क्रान्तिकारी जनदिशा की पुरज़ोर वकालत करने वाले डी. वी.-नागी ग्रुप से छुटकारा पा लिया जाये और फिर फ़रवरी '69 में निहायत नौकरशाहाना तरीक़े से उन्हें तालमेल कमेटी से निकाल बाहर किया गया। डी.वी.-नागी के नेतृत्व में आन्ध्र प्रदेश में माकपा से पार्टी का बहुसंख्यक हिस्सा बाहर आया था। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति का इतना व्यापक जनाधार और कार्यकर्ताओं का आधार देश के किसी राज्य में नहीं था। आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी को निष्कासित करने में चारु को मिली सफलता कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक भारी धक्का थी जिसने पार्टी गठन की प्रक्रिया को शुरू होते ही गम्भीर नुकसान पहुँचाया।

तालमेल कमेटी में बहस-मुबाहिसे के जनवादी माहौल का गला घोंट दिये जाने और नौकरशाहाना और संकीर्ण गुटपरस्त कार्यशैली के हावी होने के बाद, बंगाल के और पूरे देश के कई छोटे-छोटे ग्रुप तो उसमें शामिल ही नहीं हुए। कई ग्रुप जो शुरू में इससे सम्बद्ध हुए थे, बाद में अलग हो गये। 'चिन्ता'/'दक्षिण देश' ग्रुप का उल्लेख पहले आ चुका है। नक्सलबाड़ी विद्रोह के पाँच महीने बाद इस ग्रुप ने 24 परगना ज़िले के सोनारपुर में किसान संघर्ष संगठित किया था जिसे ज़बर्दस्त पुलिस दमन का शिकार होना पड़ा था। इसमें ग्रुप के एक संस्थापक नेता चन्द्रशेखर दास की हत्या भी कर दी गयी थी। सोनारपुर के अतिरिक्त 1968-69 के दौरान इस ग्रुप ने हावड़ा, हुगली, मेदिनीपुर, बीरभूम, मालदा और बर्धमान ज़िले के कुछ क्षेत्रों में भी किसानों में काम संगठित किया तथा दक्षिणी कलकत्ता, आसनसोल और दुर्गापुर में औद्योगिक मज़दूरों के बीच ट्रेड यूनियन मोर्चे पर काम किया। दक्षिण देश ग्रुप के लोगों का 1966 के अन्त में ही चारु मजुमदार और दार्जिलिंग के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से सम्पर्क हो चुका था। नक्सलबाड़ी के तुरत बाद चारु मजुमदार से फिर उनकी बातचीत हुई। तालमेल कमेटी बनने के बाद चारु मजुमदार से कई अहम मतभेदों के बावजूद दक्षिण देश ग्रुप उससे सम्बद्ध हुआ, लेकिन नौकरशाहाना तौर-तरीक़ों के चलते और मतभेदों के सुलझने की

प्रक्रिया नहीं चलते देख, जल्दी ही उसे अलग हो जाना पड़ा। दक्षिण देश ग्रुप की राजनीतिक सोच कई मायनों में दकियानूसी और यान्त्रिक थी, लेकिन उन्होंने राजनीति और सांगठनिक कार्यशैली-विषयक कुछ बुनियादी महत्त्व के प्रश्न उठाये। जनसंगठन और पार्टी संगठन के अन्तरसम्बन्ध और छापामार संघर्ष के विकास, चुनाव के इस्तेमाल, वर्गों के रणनीतिक संश्रय के अमली रूप आदि कई प्रश्नों पर वे स्वयं अतिवामपन्थी भटकावों के शिकार थे, लेकिन बिना किसी राजनीतिक कार्य के गुप्त दस्तों के गठन और 'ऐक्शन' को छापामार-युद्ध बताने और सफ़ाये की लाइन को वे "वामपन्थी" दुस्साहसवाद मानते थे तथा साथ ही, चारु की लाइन को स्वयंस्फूर्ततावाद और अराजकतावाद का भी शिकार मानते थे। चीन की पार्टी के प्रति उनका रवैया अनुकरणवादी था और विभिन्न सांगठिनक प्रश्नों पर वे शुद्धतावादी रोमानी नज़रिये के शिकार थे, लेकिन इस प्रश्न को उन्होंने गम्भीरता के साथ रेखांकित किया कि तालमेल कमेटी को भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम एवं रणकौशल के निर्धारण के अपने लक्ष्य को पूरा करने पर विशेष ध्यान देना चाहिए जबकि वह उसकी उपेक्षा कर रही है। उनका भी यह मानना था कि नक्सलबाड़ी नहीं बल्कि तेलंगाना भारत में माओ विचारधारा का पहला प्रयोग था और नक्सलबाड़ी उसका जारी रूप है। इन प्रश्नों पर तालमेल कमेटी में जनवादी ढंग से बहस चलाने के बजाय चारु गुट ने उपेक्षा करने, कुत्सा प्रचार करने और लेबल चस्पाँ करने ('देशव्रती' में लिखकर भी) का काम किया। यही नहीं, तालमेल कमेटी का पार्टी की तरह इस्तेमाल करते हुए और स्वयं पार्टी नेतृत्व जैसा व्यवहार करते हुए चारु गुट ने 'दक्षिण देश' का प्रकाशन-वितरण बन्द करने के लिए भी कहना शुरू कर दिया। इस स्थिति में 'दक्षिण देश' ग्रुप ने तालमेल कमेटी से अपने को अलग कर लिया। लेकिन साथ ही यह निर्णय भी लिया कि ग़लत नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वे एकता क़ायम करने की कोशिशें जारी रखेंगे। आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी के निष्कासन और दक्षिण देश ग्रुप के अलग होने के बाद, तालमेल कमेटी के कामों की समीक्षा किये बगैर और बुनियादी लक्ष्यों को पूरा किये बगैर 22 अप्रैल, 1969 को जब अचानक भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना की घोषणा की गयी और एक वर्ष के भीतर पार्टी कांग्रेस का निर्णय लिया गया तो यह दक्षिण देश ग्रुप के लिए आश्चर्य की बात थी। अपने विचारों और मतभेदों को लेकर उसने भा.क.पा. (मा-ले) नेतृत्व को एक पत्र भेजा, जिसका उसने कोई उत्तर नहीं दिया। तब दक्षिण देश ग्रुप ने अलग राह पकड़ी और 20 अक्टूबर 1969 को 'माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र' नाम से एक अलग केन्द्र की स्थापना की।

क्रान्तिकारियों की पश्चिम बंगाल तालमेल कमेटी (डब्ल्यू.बी.सी.सी.आर.) ने भी अखिल भारतीय तालमेल कमेटी के समक्ष राजनीति, संगठन और कार्यप्रणाली-विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल उठाये और "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन के साथ अपने मतभेद रखे। उसके प्रश्नों और मतभेदों की भी पूरी तरह से अनदेखी की गयी और यह संगठन भी तालमेल कमेटी में शामिल नहीं हुआ।

मतभेद के बुनियादी और अहम मसले उठाने वाले अगले दो व्यक्ति थे परिमल दासगुप्त और असित सेन। परिमल दासगुप्त तालमेल कमेटी के काम के एक-डेढ़ वर्ष बाद ही आनन-फानन में पार्टी-गठन के निर्णय से सहमत नहीं थे। वे लम्बे सैद्धान्तिक संघर्ष और व्यावहारिक कामों के बाद संशोधनवाद और अवसरवाद से मुक्त क्रान्तिकारी पार्टी की स्थापना के पक्षधर थे। यह सही है कि कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी भटकावों से अन्तिम मुक्ति की

गारण्टी नहीं दे सकती और यह भटकाव पार्टी में सिर उठाते ही रहते हैं जिनके विरुद्ध पार्टी में सतत् दो लाइनों का संघर्ष चलाना पड़ता है। लेकिन इस आदर्शवादी विचलन के बावजूद परिमल दासगुप्त की अवस्थिति इस मायने में सही थी कि कार्यक्रम-निर्धारण के लिए भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन-विश्लेषण सहित अपने किसी भी लक्ष्य को तालमेल कमेटी ने वास्तव में अर्जित नहीं किया था और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच वास्तविक राजनीतिक एकता कायम करने के लिए वे बहस और अनुभवों के आदान-प्रदान की ज़िम्मेदारी लगभग पूरी तरह से छोड़ दी गयी थी। इस मतभेद के बाद परिमल दासगुप्त और उनके समर्थकों ने अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से अलग होकर एक समान्तर तालमेल कमेटी बनायी (जो कालान्तर में निष्क्रिय हो गयी) जिसने एक दस्तावेज़ निकालकर चारु मजुमदार के साथ अपने मतभेदों का उल्लेख किया। उक्त दस्तावेज़ में कहा गया था कि चारु मजुमदार माओ के रास्ते से भटककर चे ग्वेवारा के निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिवादी रास्ते का अनुसरण कर रहे हैं। माओ विचारधारा राजनीति के आधार पर जनगण को संगठित करने की बात करती है जबकि चे ग्वेवारा का रास्ता उसे मुठभेड़ों के जरिये संगठित करने का था। दस्तावेज़ के अनुसार, गुप्त दस्तों के जरिये छापामार युद्ध को क्रान्तिकारी आन्दोलन का एकमात्र रास्ता बताना, अर्थवाद से बचने के नाम पर ट्रेड यूनियन आन्दोलन का विरोध, देहाती क्षेत्रों में आधार क्षेत्र के निर्माण के नाम पर शहरी मज़दूरों और मध्य वर्ग के आन्दोलनों के प्रति घृणा-भाव, छोटे-छोटे ग्रुपों द्वारा संघर्षों के जरिये ही भूमि क्रान्ति को आगे बढ़ाने का प्रयास और वर्ग संगठन और जन संघर्षों के बिना ही क्रान्तिकारी संघर्ष की कोशिशें – चारु की लाइन के ये सभी संघटक अवयव चे ग्वेवारा से उधार लिये गये हैं, यह माओ विचारधारा का विकृतिकरण है और इन रुझानों को ठीक किये बिना बनायी जाने वाली पार्टी कालान्तर में एक आतंकवादी पार्टी बनकर रह जायेगी।

1 मई, 1969 को कलकता के शहीद मीनार मैदान की जिस जनसभा में कानू सान्याल ने भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना की घोषणा की थी उसकी अध्यक्षता असित सेन ने ही की थी, लेकिन कुछ सप्ताह बाद ही नेतृत्व के साथ पहले से ही चले आ रहे अपने गम्भीर मतभेदों के हल नहीं होने के कारण उन्हें अलग हो जाना पड़ा। चारु मजुमदार की लाइन के साथ असित सेन के मतभेद शुरुआती दौर से ही मौजूद थे। चारु मजुमदार का मानना था कि ज़मीन की लड़ाई किसानों को क्रान्तिकारी रास्ते से भटकाकर अर्थवाद और संशोधनवाद के दलदल में धँसा देती है, अतः उन्हें सिर्फ़ राज्यसत्ता पर अधिकार के लिए लड़ना चाहिए। उनका कहना था कि नक्सलबाड़ी में किसान ज़मीन के लिए नहीं बल्कि राज्यसत्ता पर अधिकार के लिए लड़ रहे थे। असित सेन का मानना था कि कोई भी वर्ग पहले अपनी वर्गीय माँग पर ही संगठित होता है, ज़मीन के लिए संघर्ष जनवादी क्रान्ति के लिए किसानों की तैयारी के लिए ज़रूरी पहला क़दम होता है। चारु मजुमदार की लाइन के विपरीत असित सेन ट्रेड यूनियनों को मज़दूरों के लिए क्रान्ति का प्राथमिक स्कूल मानते थे और मज़दूर वर्ग के आन्दोलनों और ट्रेड यूनियनों को आवश्यक मानते थे। वे "देहात-आधारित" पार्टी की अवधारणा का विरोध करते थे और पार्टी के मज़दूरवर्गीय हिरावल चरित्र पर बल देते थे। चारु मजुमदार गुट का तर्क था कि भा.क.पा. (मा-ले) विशुद्ध सर्वहारा पार्टी है क्योंकि उसके अधिकांश नेता सशस्त्र संघर्ष के क्षेत्र से आये हैं। असित सेन का तर्क था कि मात्र कुछ कॉमरेडों के सशस्त्र संघर्ष के क्षेत्र से जुड़े होने से पार्टी का निम्न-पूँजीवादी वर्ग-चरित्र बदल

नहीं जाता। मुख्य प्रश्न विचारधारा का है और मज़दूर वर्ग से पार्टी क़तारों में भरती का है। साथ ही, व्यापक वर्ग संघर्ष की उपेक्षा करके मात्र क्रान्तिकारी राजनीति देने पर भी क्रान्तिकारी सेना का हिरावल नहीं तैयार हो सकता। असित सेन का कहना था कि आर्थिक माँगों की लड़ाई को संशोधनवाद कहकर मज़दूर आन्दोलन से दूर हट जाना मज़दूर वर्ग को संशोधनवाद और हर तरह के प्रतिक्रियावादी विचारधारा के हवाले कर दिये जाने के समान है। व्यक्ति-हत्या या ख़ात्मे की लाइन को उन्होंने नरोदवाद और चे ग्वेवारा के निम्न-पूँजीवादी रोमानी सिद्धान्त का सम्मिश्रण बताया। असित सेन का कहना था कि वर्ग शत्रुओं की हत्या और जायदाद-ज़ब्ती कभी भी वर्ग संघर्ष का मुख्य रूप नहीं हो सकते। साथ ही, जिस प्रकार जनता के स्वत:स्फूर्त सशस्त्र संघर्ष और क्रान्तिकारी राजनीति के नेतृत्व में चलने वाले सशस्त्र संघर्ष में मौलिक अन्तर होता है, उसी प्रकार निम्न-पूँजीवादी क्रान्तिकारी दुस्साहसियों द्वारा प्रारम्भ किये गये सशस्त्र संघर्ष और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा से लैस मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में चलने वाले वर्ग-संघर्ष में भी मौलिक अन्तर होता है। हरेक बात छापामार संघर्ष के जरिये सोच-समझ ली जायेगी, चारु मजुमदार की इस धारणा का खण्डन करते हुए असित सेन ने अपने दस्तावेज़ में लिखा कि यदि सशस्त्र संग्राम करने से अपने आप सही क्रान्तिकारी पार्टी बन जानी होती तो भारत में क्रान्ति कभी की हो गयी होती। उन्होंने इस तथ्य को भी रेखांकित किया कि चारु की लाइन क्रान्तिकारी पार्टी के मुख्य तत्व – मज़दूर वर्ग को सशस्त्र संघर्ष से एकदम अलग कर देती है!

यह सही है कि परिमल दासगुप्त और असित सेनगुप्त द्वारा प्रस्तुत चारु मजुमदार की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन की आलोचना विचारधारात्मक रूप से उतनी सुसंगत और सांगोपांग नहीं थी, जैसी कि डी. वी. राव-नागी रेड्डी ग्रुप या आगे चलकर पंजाब क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी (हरभजन सिंह सोही ग्रुप) द्वारा प्रस्तुत आलोचना थी। फिर भी उन्होंने "वामपन्थी" दुस्साहवाद की प्रकृति, वर्ग-चरित्र और मुख्य अभिव्यक्तियों की बुनियादी तौर पर सही शिनाख़्त की थी। समस्या यह थी कि एक गहरी विचारधारात्मक समझ और सांगोपांग दृष्टि न होने के कारण उन्होंने सवाल काफ़ी देर से उठाये और अलग-अलग समयों पर उठाये। जब आन्ध्र कमेटी से मतभेद चला और उन्हें नौकरशाहाना ढंग से निकाल बाहर किया गया, उस समय उन्होंने सही अवस्थिति नहीं ली थी। यही नहीं, स्वयं अलग होने के बाद भी उन्होंने जनदिशा की बुनियादी एकता के बावजूद उनसे (यानी आन्ध्र कमेटी से) तालमेल बनाने की कोशिश नहीं की। अपनी स्वयं की विचारधारात्मक कमज़ोरी और विचलनों के चलते "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन का विरोध करने वाले ग्रुप और व्यक्ति आपस के गौण मतभेदों को अतिरिक्त अहमियत देते रहे और इस कारण से भी अतिवामपन्थ और जनदिशा के बीच ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रभावित हुई। यह भी एक तथ्य है कि संशोधनवादी भटकाव और कतिपय विचारधारात्मक उलझाव परिमल दासगुप्त और असित सेन के चिन्तन में भी मौजूद थे (जैसे परिमल दासगुप्त सोवियत पार्टी को संशोधनवादी तो मानते थे, लेकिन साथ ही उन्होंने "पश्चिमी साम्राज्यवादी दख़लन्दाज़ी के विरोध" के तर्क के आधार पर चेकोस्लोवाकिया पर सोवियत संघ के आक्रमण को उचित ठहराया था), लेकिन वे सुसंगत संशोधनवादी न होकर 'जेनुइन' मार्क्सवादी-लेनिनवादी ही थे। उनके जीवन के उत्तरवर्ती दौर ने इस बात को सही सिद्ध किया। दोनों जीवनपर्यन्त कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा से ही जुड़े रहे और 1996 में अपनी मृत्यु से पूर्व असित सेन भा.क.पा. (मा-ले) (जनशक्ति) ग्रुप के साथ जुड़े हुए थे।

मूल और मुख्य बात यह है कि यदि ए.आई.सी.सी.सी.आर. सही जनवादी ढंग से तालमेल और राजनीतिक बहस की भूमिका निभाती तो ऐसे योग्य और ईमानदार लोग बहस-मुबाहिसे के दौरान अपने भटकावों से मुक्त होकर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में शानदार भूमिका निभा सकते थे, लेकिन तालमेल कमेटी पर आतंकवादी लाइन के नौकरशाहाना वर्चस्व ने ऐसा होने नहीं दिया। ऐतिहासिक आकलन की दृष्टि से आज मुख्य बात यह है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को विघटन और तबाही की दिशा में धकेलने में जिस लाइन ने कुंजीभूत भूमिका निभायी, कतिपय कमियों के बावजूद परिमल दासगुप्त और असित सेन जैसे लोगों ने भी उस लाइन की मूल प्रकृति की निशानदेही की और उसकी आलोचना प्रस्तुत की।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. के काल में चारु मजुमदार की "वामपन्थी" लाइन की सुसंगत, तार्किक और सांगोपांग समालोचना प्रस्तुत करने वाले और दृढ़ विरोध करने वालों में आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी (डी. वी. राव-नागी रेड्डी ग्रुप) के बाद दूसरे स्थान पर पंजाब के एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धड़े का नाम आता है जिसका नेतृत्व हरभजन सिंह सोही कर रहे थे। 1970 के बाद, भा.क.पा. (मा-ले) काल में एक अलग ग्रुप के तौर पर काम करते हुए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के इस हिस्से ने जनदिशा को ठोस रूप में सफलतापूर्वक लागू करते हुए पंजाब में "वामपन्थी" आतंकवादी धारा को व्यवहार में भी फ़ैसलाकुन शिकस्त दी। मा.क.पा. की पंजाब इकाई में मतभेद और विवादों की शुरुआत नक्सलबाड़ी विद्रोह के तत्काल बाद हो गयी थी और जल्दी ही माओवादी रुझान वाले कार्यकर्ताओं को पार्टी से निकाल दिया गया। इन क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों ने राज्य स्तर पर एक तालमेल कमेटी गठित की जिसके सचिव दया सिंह थे। दया सिंह सुलझे हुए कम्युनिस्ट थे और "वामपन्थी" लाइन के बारे में उनके भी कुछ 'रिजर्वेशंस' थे। लेकिन कमोबेश 1968 के अन्त से तालमेल कमेटी में हावी "वामपन्थी" लहर का पंजाब में भी भारी प्रभाव था और उदारतावादी प्रवृत्ति के चलते दया सिंह बहुमत के हिसाब से चलने के हामी थे। आतंकवादी लाइन पर पंजाब में सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत 1969 में हुई। कुछ 'ऐक्शंस' के बाद ही पुलिस दमन, गिरफ़्तारियों और फर्ज़ी मुठभेड़ों का धुआँधार सिलसिला शुरू हो गया। मार्च 1970 के अन्त में भा.क.पा. (मा-ले) (तब तक पार्टी की घोषणा हो चुकी थी) की पंजाब राज्य कमेटी के सचिव दया सिंह, रोपड़ ज़िला कमेटी के सचिव बलवन्त सिंह, वयोवृद्ध गदरी बाबा और पटियाला के नेता हरिसिंह मृगेन्द्र की पुलिस ने फर्ज़ी मुठभेड़ में हत्या कर दी। पंजाब में मा-ले आन्दोलन से जुड़ने वाले गदर पार्टी के पुराने लोगों में बाबा निरंजन कालसा और बाबा भुजा सिंह भी थे। इनकी भी बाद में पुलिस ने गिरफ़्तारी के बाद फर्जी मुठभेड़ दिखाकर नृशंस हत्या कर दी। "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन पंजाब में पार्टी कांग्रेस के बाद भी कुछ दिनों तक जारी रही। क़रीब नब्बे के आसपास वर्ग शत्रुओं का सफ़ाया किया गया जिनमें अधिकांश सूदख़ोर थे। पंजाब में देश के अन्य कुछ पिछड़े हिस्सों की तरह ज़मीन और सामन्ती उत्पीड़न का सवाल 1967-70 के दौरान भी नहीं था, लेकिन सूदख़ोरों के ख़िलाफ़ न केवल ग़रीब बल्कि मँझोले किसानों में भी गहरी नफ़रत थी। पंजाबी समाज में राज्य के विरुद्ध जुझारू वीरतापूर्ण संघर्षों-कुर्बानियों की एक लम्बी परम्परा रही है। कम्युनिस्ट क़तारों में विचारधारात्मक समझ के अभाव में इस परम्परा ने "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के लिए खाद-पानी का काम किया। अकेले इस एक राज्य में 1974 तक फर्जी मुठभेड़ों में सौ से कुछ अधिक क्रान्तिकारी मौत के घाट उतारे जा चुके थे और दर्ज़नों क्रान्तिकारी जेलों में लम्बी सज़ाएँ भुगत रहे थे।

पंजाब में राज्य स्तरीय तालमेल कमेटी के गठन के बाद से ही भटिण्डा-फिरोज़पुर कमेटी के लोग सफ़ाये की लाइन, आर्थिक संघर्षों, जन संघर्षों और जन संगठन के निषेध की लाइन और लोक युद्ध के उद्गम और विकास की आतंकवादी समझ का दृढ़तापूर्वक विरोध कर रहे थे। क्रान्तिकारी संघर्षों के असमान विकास और मज़दूर वर्ग के नेतृत्व के प्रश्न पर भी उनकी चारु की लाइन से भिन्न राय थी और जनदिशा के अमल के प्रश्न पर वे अडिग थे। जब भा. क.पा. (मा-ले) के गठन और कांग्रेस की घोषणा हुई तो उन्होंने इस पर भी अपनी अलग राय रखी। कठिन अलगाव झेलकर और "गद्दार", "संशोधनवादी", "जनता के दुश्मन" आदि "उपाधियाँ" पाकर भी वे अपनी अवस्थिति पर दृढ़ रहे और क्रान्तिकारी आतंकवाद की शक्तिशाली लहर का सामना करते रहे। इसके बावजूद वे औपचारिक तौर पर पहले तालमेल कमेटी, और पार्टी-गठन की घोषणा के बाद भा.क.पा. (मा-ले) का हिस्सा बने रहे। फ़रवरी 1970 में, पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले भटिण्डा-फिरोजपुर कमेटी भा.क.पा. (मा-ले) से अलग हो गयी और 'पंजाब कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी' (पी.सी.आर.सी.) के नाम से इसने अपना पुनर्गठन किया। आगे चलकर उसने पंजाब में जनदिशा को सफलतापूर्वक और प्रभावी ढंग से लागू किया और चारुपन्थी धारा को एकदम अलग-थलग और निशक्त बना डाला। इसकी चर्चा आलेख में आगे यथास्थान आयेगी।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. के पूरे काल में, तालमेल कमेटी द्वारा निर्धारित सभी कार्यभारों को तिलांजलि देते हुए तालमेल कमेटी के स्वरूप को नकारकर उसे एक केन्द्रीकृत पार्टी की तरह इस्तेमाल करते हुए और स्वयं एकछत्र नेता सदृश नौकरशाहाना व्यवहार करते हुए तथा चीन की पार्टी के लेखों एवं प्रसारणों द्वारा मिलने वाली मान्यता एवं नक्सलबाड़ी के घोषित नेता होने की साख का लाभ उठाते हुए चारु मजुमदार ने एक-एक करके अपनी लाइन के विरोधी ग्रुपों और व्यक्तियों को ठिकाने लगाया और तालमेल कमेटी पर अपनी लाइन का वर्चस्व स्थापित होते ही पार्टी-गठन के लिए आगे बढ़ गये। इस प्रक्रिया में उन्हें इस बात से भी मदद मिली कि उनकी लाइन के कई विरोधी स्वयं या तो "वामपन्थी" या दक्षिणपन्थी विचलन के शिकार थे, उनकी (यानी चारु के लाइन के विरोधियों की) लाइन सुसंगत नहीं थी, विरोध के स्वर एकसाथ नहीं बल्कि अलग-अलग उठते रहे तथा जनदिशा के पक्षधर ग्रुपों और लोगों के बीच भी आपस में कई मसलों पर अहम या गौण मतभेद थे। जैसे-जैसे तालमेल कमेटी से विरोध-पक्ष का सफ़ाया होता गया, चारु की लाइन का "वामपन्थी" अवसरवादी चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नग्न और विकृत रूप में सामने आता चला गया। पहले वे गोलमोल भाषा में जनसंघर्षों की या भूमि क्रान्ति के कार्यक्रम की या मज़दूर वर्ग के संघर्षों की बात करते थे, लेकिन अब उन्होंने हर प्रकार की जनकार्रवाई, खुले काम, आर्थिक संघर्ष और राजनीतिक प्रचार-कार्य को सिरे से ख़ारिज करते हुए यह कहना शुरू किया कि "ख़ात्मे की लड़ाई ही वर्ग संघर्ष का उच्चतर रूप और छापामार संघर्ष का आरम्भ दोनों ही है", इसी के द्वारा भारी किसान जनसमुदाय जागृत होगा, इसी के द्वारा मुक्तांचल-निर्माण और क्रान्तिकारी सेना-निर्माण की समस्या हल होगी और इसी से प्रेरित प्रचण्ड स्वयंस्फूर्त जन-अभ्युत्थान राज्यसत्ता पर वज्राघात करेगा। पार्टी कांग्रेस से तीन माह पहले छापामार कार्रवाई के बारे में लिखे गये अपने एक लेख में उन्होंने लिखा कि छापामार दस्ते बिल्कुल गुप्त और स्वतन्त्र होंगे, उन पर पार्टी कमेटी का भी नियन्त्रण नहीं होगा, उनको बनाने का तरीक़ा एक-एक व्यक्ति को पकड़कर, उसके कान में फुसफुसाकर किया जायेगा, इसकी भनक पार्टी की राजनीतिक इकाइयों को भी

नहीं होगी और इसके लिए निम्न-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों को पहल करनी होगी। यही नहीं, लोकयुद्ध की दीर्घकालिक प्रवृत्ति को ठुकराते हुए उन्होंने ख़ात्मे की लाइन से प्रेरित प्रचण्ड देशव्यापी विद्रोह की भी कल्पना की और कांग्रेस के पहले के काल में ही, पार्टी-गठन की घोषणा के बाद, 1969 में सत्तर के दशक को मुक्ति के दशक में बदल देने का नारा दिया।

वस्तुतः यह रणदिवे काल के "वामपन्थी" भटकाव का ही एक अत्यधिक विकृत और भोंड़ा संस्करण था जिसका मार्क्सवाद-लेनिनवाद से और जनवादी क्रान्ति विषयक माओ के विचारों से कुछ भी लेना-देना नहीं था।

सिद्धान्त-निरूपण के साथ ही क्रान्तिकारी आतंकवाद का व्यवहार भी देश के विभिन्न हिस्सों में ज़ोर-शोर से जारी था। देश के विभिन्न हिस्सों में चारु की लाइन से प्रेरित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी छिटपुट, बिखरे हुए रूप में, दस्ते बनाकर 'ऐक्शन' और ख़ात्मे की लाइन लागू करते थे और कुछेक कार्रवाइयों के बाद ही सबकुछ बिखर जाता था। श्रीकाकुलम के बाद "वाम" दुस्साहवाद का दूसरा बड़ा प्रयोग बंगाल के मिदनापुर ज़िले के दो थानों डेबरा और गोपीवल्लभपुर में हुआ। उस समय तक तालमेल कमेटी पार्टी-गठन की घोषणा कर चुकी थी। सितम्बर '69 से यहाँ कार्रवाइयों की शुरुआत नवगठित पार्टी की प. बंगाल-बिहार-उड़ीसा सीमा आंचलिक कमेटी ने की थी जिसके सचिव असीम चटर्जी और मुख्य संगठनकर्ता सन्तोष राणा, मिहिर राणा, गुणधर मुर्मू आदि थे। उल्लेखनीय है कि शुरुआत यहाँ भी व्यापक जन पहलकदमी और जनान्दोलन के रूप में हुई। अत्याचारी ज़मीन्दारों के खेत काटने के अभियान में 40,000 किसानों ने हिस्सा लिया। गाँवों में किसान कमेटियों ने अपनी सत्ता क़ायम करके लोक अदालतें लगाकर ज़मीन्दारों, सूदख़ोरों को दण्डित किया। ज़मीन्दारों और धनी किसानों के खेतों में काम करने वाले मज़दूरों की मज़दूरी पाँच गुनी कर दी गयी। लेकिन इस शुरुआत के बाद दस्तों की आतंकवादी कार्रवाइयों ने जनान्दोलन को तबाह कर दिया। अप्रैल 1970 तक साठ वर्ग शत्रुओं की हत्या की जा चुकी थी। इस मुहिम को डेबरा और गोपीवल्लभपुर थानों से बाहर खड़गपुर लोकल, सांक्राइल, केशापुर और चाकुलिया में फैलाया गया। लेकिन बढ़ते दमन और गतिरोध के साथ ही नेतृत्व में मतभेद भी पैदा होने लगे और लाइन पर सवाल भी उठने लगे। 1970 के मध्य तक यह आन्दोलन बिखर चुका था।

बिहार के मुज़फ्फरपुर ज़िले के मुसहरी अंचल के लगभग बारह गाँवों में भी भूमि आन्दोलन की शुरुआत 1969 में जन आन्दोलन के रूप में हुई जिसमें लगभग दस हज़ार किसानों ने हिस्सा लिया। शुरुआती दौर के बाद वहाँ भी सफ़ाये की लाइन लागू हुई और फ़रवरी '70 तक दस वर्ग-शत्रुओं की हत्या कर दी गयी। यहाँ भी डेढ़ वर्ष के भीतर आन्दोलन गतिरोध का शिकार होकर बिखर गया।

उत्तर प्रदेश में लखीमपुर ज़िले के तराई अंचल के पालिया में जनवरी-फ़रवरी 1968 में किसानों का आन्दोलन जन-पहलकदमी और जन-भागीदारी के साथ शुरू हुआ। ग़रीब किसानों और मज़दूरों ने पीलीभीत तराई फार्म और पतियान, घोला, इब्राहीमपुर के फार्मों पर (यह एक दीगर प्रश्न है कि मुद्दा यहाँ ज़मीन का होना चाहिए था या नहीं, क्योंकि ये फार्म पूँजीवादी भूस्वामियों के फार्म थे जो मज़दूरों से काम लेकर मुनाफ़े की खेती करते थे) फार्म मालिकों के गुण्डा गिरोहों से मोर्चा लेकर ज़मीन पर क़ब्ज़ा किया। फिर "वामपन्थी" लाइन के हावी होने का दौर आया और दमन ने भी ज़ोर पकड़ा। एक वर्ष के भीतर यह आन्दोलन भी बिखर गया।

बावजूद इन विफलताओं के, मुक्ति संघर्ष के निरन्तर अग्रवर्ती विकास के चारु के दावे

जारी थे। कारण यह था कि एक जगह "वामपन्थी" लाइन की विफलता सामने आती थी, तब तक दूसरे किसी क्षेत्र में ज़ोर-शोर से इसका अमल शुरू हो चुका होता था। फिर भी 1970 के अन्त तक पूरे देश में मा-ले आन्दोलन की "वाम-" आतंकवादी मुहिम पिट चुकी थी और चतुर्दिक व्याप्त गतिरोध एक ओर क़तारों में निराशा पैदा कर रहा था, दूसरी ओर नेतृत्व में मतभेद और फूट की ज़मीन तैयार कर रहा था। इसकी चर्चा लेख के अगले हिस्से में पार्टी कांग्रेस के बाद के काल के घटना-प्रवाह के विवरण और समाहार के दौरान की जायेगी। यहाँ पार्टी-कांग्रेस तक का घटनाक्रम संक्षेप में बताकर हमें इस हिस्से का समापन करना होगा।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. से आन्ध्र प्रदेश कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी के निष्कासन (7 फ़रवरी '69) के बाद चारु को लगने लगा था कि "वामपन्थी" लाइन के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा हटायी जा चुकी है। अपने पहले के विचार को एकाएक बदलते हुए उन्होंने अचानक यह विचार रखना शुरू किया कि अब सर्वभारतीय पार्टी गठन का उपयुक्त समय आ गया है। तालमेल कमेटी के कामों की कोई भी समीक्षा नहीं हुई। कुछ लोगों ने विरोध किया, फिर सहमत हो गये। परिमल दासगुप्त को निकाले जाने के बाद इस निर्णय का एकमात्र शेष विरोधी भी रास्ते से हट गया। 22 अप्रैल 1969 को तालमेल कमेटी ने अपने को भंग कर भा. क.पा. (मा-ले) की स्थापना की और 1 मई 1969 को कलकता के शहीद मीनार मैदान में आयोजित जनसभा में कानू सान्याल ने इसकी घोषणा की। 27 अप्रैल के अधिवेशन में पार्टी की आरज़ी (कांग्रेस तक के लिए) नेतृत्वकारी कमेटी के रूप में केन्द्रीय सांगठनिक कमेटी का गठन किया गया जिसके कुल ग्यारह सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल रायचौधरी, सरोज दत्त, कानू सान्याल, सौरेन बसु, शिवकुमार मिश्र, सत्यनारायण सिंह, आर. पी. सर्राफ, पंचाद्रि कृष्णमूर्ति, चौधरी तेजेश्वर राव और एल. अप्पू। चारु मजुमदार को कमेटी का सचिव चुना गया। एक वर्ष के भीतर पार्टी कांग्रेस बुलाने का निर्णय लिया गया। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने पार्टी-स्थापना का स्वागत किया और उसे मान्यता प्रदान की। पीकिङ रेडियो से 22 अप्रैल '69 के प्रस्ताव का, 1 मई की जनसभा में कानू सान्याल के भाषण का और जनसभा में पारित प्रस्तावों का प्रसारण हुआ। इससे क़तारों में नवगठित पार्टी की मान्यता बढ़ी और नये उत्साह का संचार हुआ। 1969 के अन्त में एक पार्टी प्रतिनिधिमण्डल ने चीन की गुप्त यात्रा भी की।

अप्रैल 1970 में पार्टी कांग्रेस की तैयारी के लिए केन्द्रीय सांगठनिक कमेटी ने तीन दिनों की बैठक की। बैठक में सत्यनारायण सिंह, शिवकुमार मिश्र और सौरेन बसु को पार्टी कार्यक्रम का मसविदा तैयार करने की तथा सुशीतल रायचौधरी, आर. पी. सर्राफ और सरोज दत्त को राजनीतिक प्रस्ताव का मसौदा तैयार करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी।

भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना कांग्रेस (जिसे कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास की निरन्तरता की दृष्टि से आठवीं कांग्रेस कहा गया) 15-16 मई 1970 को कलकता में हुई जिसमें प. बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, असम, आन्ध्र, त्रिपुरा, तमिलनाडु, केरल, पंजाब और जम्मू-कश्मीर के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इसके पूर्व राजनीतिक प्रस्ताव के मसौदे पर उत्तर प्रदेश राज्य सम्मेलन में काफ़ी बहस हुई थी जिसमें छापामार संघर्ष के ही संघर्ष के एकमात्र रूप होने, सफ़ाये की लाइन और चीन की पार्टी के प्रति निष्ठा को क्रान्तिकारियों की एकरूपता की एकमात्र शर्त बनाने का विरोध किया गया था। कांग्रेस में आर. एन. उपाध्याय ने इस बहस की रिपोर्ट रखी। स्पष्ट था कि उ. प्र. में चारु की लाइन के विरोध का पक्ष प्रधान

था। लेकिन राजनीतिक प्रस्ताव के मसौदे के पक्ष में सत्यनारायण सिंह के वक्तव्य के बाद उसे पारित कर दिया गया। पार्टी-कार्यक्रम चीन की लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर आधारित था। इसमें भारतीय समाज को एक अर्द्धसामन्ती, अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज बताते हुए और आज़ादी को नकली आज़ादी बताते हुए अमेरिकी साम्राज्यवाद, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और दलाल-नौकरशाह पूँजी को भारतीय जनता के चार मुख्य शत्रु बताया गया था। भारत को अमेरिकी और सोवियत साम्राज्यवाद का (एकसाथ) नवउपनिवेश बताया गया था लेकिन तत्कालीन दौर का मुख्य अन्तरविरोध व्यापक भारतीय जनता और सामन्तवाद के रूप में बताया गया था। यह कार्यक्रम चीन की पार्टी के विश्व परिस्थितियों के आम आकलन को निगमनात्मक तरीक़े से भारत पर लागू करते हुए तैयार किया गया था और विसंगतियों से भरा हुआ था। इसके पीछे ठोस परिस्थितियों के स्वतन्त्र अध्ययन-विश्लेषण की कोई भूमिका नहीं थी। आगे लेख में नवजनवादी कार्यक्रम की तमाम विसंगतियों-अन्तरविरोधों की चर्चा उस स्थान पर की जायेगी जहाँ मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिविर में इस पर सवाल उठने का प्रसंग आयेगा, इसलिए यहाँ हम उसके विस्तार में नहीं जा रहे हैं। राजनीतिक प्रस्ताव भी इसी कार्यक्रम के अनुरूप था। साथ ही, उसमें रणकौशल और रास्ते से जुड़े विविध प्रश्नों पर रखी गयी अवस्थिति में "वाम" अवसरवादी लाइन की पूरी छाया मौजूद थी। रही-सही कोर-कसर चारु मजुमदार ने अपने वक्तव्य से पूरी कर दी जिसमें उन्होंने साफ़-साफ़ शब्दों में पुरजोर तरीक़े से आतंकवादी लाइन की हाँक लगायी थी।

यहाँ यह चर्चा भी ज़रूरी है कि कांग्रेस में सौरेन बसु ने (सरोज दत्त भी उनके साथ थे) चारु मजुमदार के व्यक्तिगत प्राधिकार को औपचारिक तौर पर स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। असीम चटर्जी ने प्रस्ताव के पक्ष में यहाँ तक कह डाला कि केन्द्रीय कमेटी और चारु मजुमदार के बीच विरोध होने पर मैं चारु मजुमदार का साथ दूँगा। कानू सान्याल ने बस इतना कहा कि तराई रिपोर्ट में चारु मजुमदार की भूमिका का और ज़्यादा उल्लेख करना ज़रूरी था। सत्यनारायण सिंह ने इसका मुखर विरोध किया। शिवकुमार मिश्र और आर. पी. सर्राफ ने भी दबी ज़ुबान से विरोध प्रकट किया। सुशीतल रायचौधरी ने माओ के उद्धरणों की पुस्तक से पार्टी कमेटी को शक्तिशाली बनाने सम्बन्धी सारे उद्धरण पढ़ सुनाये और इस प्रस्ताव को माओ की शिक्षाओं के विपरीत बताया। आम सहमति नहीं बनने के कारण यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका लेकिन बाद के दौर में केन्द्रीय कमेटी में मौजूद चारु समर्थक कॉकस ने वस्तुतः चारु के प्राधिकार वाली स्थिति को ही लागू किया, जिसके आगे केन्द्रीय कमेटी का कोई मतलब ही नहीं रह गया था। यह सर्वथा स्वाभाविक था क्योंकि "वामपन्थी" दुस्साहसवादी विचारधारात्मक-राजनीतिक लाइन केवल और केवल नौकरशाहाना और फरमानशाहाना केन्द्रीयता की सांगठनिक लाइन के माध्यम से ही प्रभावी हो सकती है।

कांग्रेस ने एक बीस-सदस्यीय केन्द्रीय कमेटी का चुनाव किया जिसके सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल रायचौधरी, सरोज दत्त, कानू सान्याल, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष, असीम चटर्जी (प. बंगाल), सत्यनारायण सिंह, गुरुबख़्श सिंह (बिहार), शिवकुमार मिश्र, महेन्द्र सिंह (उत्तर प्रदेश), वेंकटाप्पु सत्यनारायण, आदिमाटला कैलाशम्, नागभूषण पटनायक, अप्पाला सूरी (आन्ध्र प्रदेश), एल. अप्पू, कोदण्डरामन (तमिलनाडु), आम्बाडि (केरल), आर. पी. सर्राफ (जम्मू-कश्मीर), और जगजीत सिंह सोहल (पंजाब)। कमेटी के सचिव चारु मजुमदार चुने गये।

आठवीं कांगेस में स्वीकृत कार्यक्रम, राजनीतिक प्रस्ताव, राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट और चारु मजुमदार के वक्तव्य को यदि एकसाथ रखकर देखा जाये तो यह बात एकदम साफ़ हो जाती है कि कांग्रेस द्वारा स्वीकृत लाइन की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा के विपरीत थी। हम यहाँ कार्यक्रम में प्रस्तुत भारतीय समाज के विश्लेषण और चरित्र-निर्धारण का फिलहाल उल्लेख नहीं कर रहे हैं। मूल बात विचारधारा की है। यदि कोई क्रान्तिकारी पार्टी जनदिशा और जनवादी केन्द्रीयता की सांगठनिक लाइन को सुसंगत ढंग से लागू करती है तो अनुभवों के समाहार और अन्तर्पार्टी बहस-मुबाहिसे के द्वारा वह क्रान्ति के कार्यक्रम विषयक ग़लती को ठीक भी कर सकती है। लेकिन यदि पार्टी का विचाराधारात्मक आधार ही ग़लत हो तो सही कार्यक्रम भी महज कागज़ का टुकड़ा बनकर रह जायेगा। भा.क.पा. (मा-ले) का गठन मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आधार पर नहीं बल्कि "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के आधार पर हुआ था। आठवीं कांग्रेस ने एक सर्वभारतीय पार्टी-गठन के कार्यभार को क़तई पूरा नहीं किया। मूलत: और मुख्यत: क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करने वाले जो मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन थे (और जो संगठन "वामपन्थी" या दक्षिणपन्थी भटकाव के अपेक्षाकृत कम शिकार थे), वे भा.क.पा. (मा-ले) के बाहर ही रह गये थे। इसलिए, 1970 में गठित भा.क.पा. (मा-ले) के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा इतना ही कहा जा सकता है कि वह गम्भीर "वामपन्थी" अवसरवादी भटकाव से ग्रस्त एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन था, एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी क़तई नहीं था।

(अगले अंक में जारी)

अगले अंक में :

- भा.क.पा. (मा-ले) में गतिरोध, संकट और फूट-दर-फूट का अविराम सिलसिला
- मा-ले शिविर की दूसरी धारा का संकट और बिखराव
- एक नयी धारा का उद्भव और उसकी दुर्गम विकास-यात्रा
- वर्तमान स्थिति : मुख्य धाराएँ और प्रवृत्तियाँ
- ऐतिहासिक गतिरोध और विफलता के कारणों की समाहारमूलक पड़ताल : विचारधारा, कार्यक्रम और सांगठनिक लाइन के प्रश्न, पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन का प्रश्न
- नक्सलबाड़ी की विरासत और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के समक्ष इक्कीसवीं सदी की चुनौतियाँ, समस्याएँ, विकास की दिशाएँ और सम्भावनाएँ

'ख़तरनाक ढंग से सपने देखने' और निष्क्रिय, नुकसानदेह और नामुराद सैद्धान्तिकीकरण का वर्ष

स्लावोय ज़िज़ेक की नयी पुस्तक 'दि इयर ऑफ ड्रीमिंग डेंजरसली' पर

● अभिनव सिन्हा

स्लावोय ज़िज़ेक को कई लोग आज अन्तरराष्ट्रीय वाम का एल्विस प्रिसले कहते हैं। यह सूत्रीकरण आंशिक तौर पर सत्य है। लेकिन उनकी पिछली तमाम पुस्तकों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि उन्हें अन्तरराष्ट्रीय वाम का पेरिस हिल्टन कहना ज़्यादा उचित होगा! स्लावोय ज़िज़ेक की प्रसिद्धि अपनी रचनाओं की वास्तविक अन्तर्वस्तु के नयेपन के कारण कम है, और उनकी फैशनेबल उत्तरमार्क्सवादी, लकानियन, हेगेलियन अभिव्यक्ति शैली के कारण ज़्यादा है। आप ज़िज़ेक के बारे में कुछ भी कह सकते हैं लेकिन यह नहीं कह सकते हैं, कि वह बोर करते हैं। लेकिन ऐसी बात गोविन्दा के बारे में भी कही जा सकती है! ज़िज़ेक के पास एक सशक्त रूप है, जिसका वह कुशलता के साथ इस्तेमाल करते हैं। लेकिन वह इसका इस्तेमाल ऐसी बातें कहने में करते हैं, जो आम तौर पर सैद्धान्तिक तौर पर बेहद दरिद्र, कई बार तथ्यात्मक तौर पर ग़लत, और ख़राब किस्म के सार-संग्रहवाद की मिसालें होती हैं। उनकी नयी पुस्तक की इस समीक्षा में हम उनके कुछ सैद्धान्तिकीकरणों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालेंगे और उनकी पड़ताल करेंगे। वैसे तो ज़िज़ेक चलते-चलते जो तमाम बातें चुटकुलों और मान्य तथ्यों के तौर पर करते हैं, उनकी विकृतियों और असत्यता के बारे में बहुत-कुछ कहा जा सकता है, लेकिन यहाँ हम अपने

आपको एक राजनीतिक समीक्षा तक केन्द्रित रखेंगे। उनकी एक सम्पूर्ण दार्शनिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समालोचना को हम भविष्य के लिए सुरक्षित रखेंगे। हमारा ध्यान मुख्य तौर पर इस बात पर होगा कि ज़िज़ेक की राजनीति इस पुस्तक में किस तरह से उभरकर सामने आती है और अपने तमाम (मार्क्सवाद से ज़्यादा!) रैडिकल दावों के बाद अन्त में वह क्या सकारात्मक प्रस्ताव हमारे सामने रखते हैं।

उनकी नयी पुस्तक **'दि इयर ऑफ ड्रीमिंग डेंजरसली'** पिछले वर्ष के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित हुई है और उनकी हर पुस्तक की तरह यह चर्चा का विषय बनी हुई है। यह पुस्तक ज़्यादा मोटी नहीं है और दस अध्यायों में विभाजित है। लेकिन इन अध्यायों को 'अध्याय' कहना उचित नहीं होगा। इन्हें मिलती-जुलती विषयवस्तु पर लेखों का एक संकलन कहना ज़्यादा उचित होगा। मुख्य तौर पर ये लेख 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' आन्दोलन, लन्दन दंगों और अरब बसन्त पर केन्द्रित हैं, लेकिन साथ ही नॉर्वे में एण्डू ब्रेविक द्वारा किये गये नस्लवादी जनसंहार की भी बात करते हैं। ज़िज़ेक अपनी पसन्दीदा शैली का इस्तेमाल करते हुए इन सारी घटनाओं का विश्लेषण समकालीन सांस्कृतिक परिदृश्य, जैसे कि फिल्मों, टेलीविज़न कार्यक्रमों और संगीत आदि की आलोचनाओं के साथ जोड़ते हुए करते हैं, और ज़िज़ेक के लेखन का यह तत्व हमेशा की तरह उनके लेखन को उबाऊ नहीं होने देता है। लेकिन इस शैली का इस्तेमाल करते हुए वास्तव में वह जो करते हैं, वह मूलतः मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर हमला है। अपने विश्लेषण के दौरान वे तमाम अन्य बहेतू और सट्टेबाज़ उत्तर-मार्क्सवादी दार्शनिकों और चिन्तकों के समान बेहद बेतुकी दिखने वाली तुलनाएँ करते हैं और उनमें समानताएँ तलाशने की लॉटरी खेलते हैं। मिसाल के तौर पर, ज़िज़ेक अगर कीर्केगार्द, मार्क्स और हेनरिख़ हाइने की तुलना करें तो आपको अचम्भित नहीं होना चाहिए। वह ऐसी तुलनाओं के ज़रिये जो करते हैं, वह और कुछ नहीं है बल्कि ऐसी सामान्य परिघटनाओं का जटिल प्रस्तुतिकरण है, जिन्हें अन्य विचारकों, विशेष तौर पर मार्क्सवादी विचारकों, ने पहले ही सही ढंग से व्याख्यायित किया है। ऐसे प्रस्तुतिकरण के लिए वे हेगेलीय और लकाँवादी दार्शनिक और वैचारिक श्रेणियों का इस्तेमाल करते हैं। इन श्रेणियों के अतिरिक्त ज़िज़ेक सार-संग्रहवादी तरीके से किसी भी प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक या समकालीन विचारक की अवधारणाओं का इस्तेमाल कर सकते हैं—ताओ, बुद्ध और प्लेटो से लेकर लॉक और देकार्त तक; काण्ट, कीर्केगार्द, अडोर्नो, वॉल्टर बेंजामिन और हाइडेगर से लेकर देल्यूज़, नेग्री, हार्ट, बेज्यू और जुडित बटलर तक। हालाँकि, इन अवधारणाओं में आम तौर पर कुछ भी सामान्य/साझा नहीं होता, लेकिन किन्हीं भी दो अवधारणाओं, तथ्यों या वस्तुओं में समानताएँ निकाली जा सकती हैं; मसलन, गधे और आदमी, दोनों के ही दो कान और दो आँखें होती हैं! इस प्रकार के तर्क से ज़िज़ेक लगातार अलग-अलग दार्शनिक व्यवस्थाओं में समानान्तर रेखाएँ खींचते रहते हैं और फिर इन समानान्तर रेखाओं का इस्तेमाल समकालीन परिदृश्य की व्याख्या करने के लिए करते हैं। निश्चित तौर पर, कई मामलों में ऐसी समानान्तर रेखाएँ वास्तव में आंशिक तौर पर कारगर सिद्ध होती हैं, और कई बार ये हास्यास्पद होती हैं। बस ज़िज़ेक इस पूरे काम को बेहद मनोरंजक और दिलचस्प ढंग से अंजाम देते हैं, जो कि पाठक को उनके लेखन से बाँधे रहता है। इस तरीके से अलग-अलग जगहों से अलग-अलग तत्वों को अन्दाज़े से जोड़ने और जोड़कर उसे अपनी समकालीनता की व्याख्या में बिठाने को हम सट्टेबाज़ दार्शनिक पद्धति (स्पेक्युलेटिव फिलोसॉफिकल मेथड) कह सकते हैं। साथ ही, चूँकि यह विश्लेषण अन्त में

कहीं नहीं ले जाता है, और वास्तव में यह दुनिया बदलने की बात तो बहुत दूर, दुनिया की एक आंशिक तौर पर सही व्याख्या भी नहीं होती है, इसलिए हम ऐसे दार्शनिकों को 'बहेतू' (वैगाबॉण्ड) भी कह सकते हैं। कुल मिलाकर, लकाँ के मनोविश्लेषण, लेवी स्ट्रॉस के उत्तरसंरचनावाद, उत्तरआधुनिकतावाद और तमाम अन्य मार्क्सवाद-विरोधी विचार-सरणियों से मिलने वाली जूठन का इस्तेमाल करते हुए इनका दर्शन अपने आपको मार्क्स से ज़्यादा रैडिकल दिखलाने का प्रयास करता है, और लगातार यह दिखाने का प्रयास करता है कि मार्क्स क्या-क्या नहीं समझ पाए और कहाँ-कहाँ वह ग़लत थे।

ज़िज़ेक अपनी किताब की शुरुआत ऐसे ही एक प्रयास से करते हैं। वह दावा करते हैं कि मार्क्स का **'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान'** का वह प्रसिद्ध कथन, जिसमें उन्होंने उत्पादक सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों व आर्थिक आधार और अधिरचना के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में बताते हैं, वास्तव में इतिहासवाद और उद्‌भववाद का शिकार है। मार्क्स के उस उद्धरण को अगर आप स्वयं पढ़ें तो उसमें मार्क्स कहीं भी कोई इतिहासग्रस्त या नियतत्ववादी बात नहीं कह रहे हैं। जो वह कह रहे हैं वह सिर्फ इतना है: समाज में लोग प्रभावी उत्पादन व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी इच्छा से स्वतन्त्र निश्चित उत्पादन सम्बन्धों में बँधते हैं; एक दौर तक प्रभावी उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास को गति देते हैं, लेकिन इतिहास की एक निश्चित मंज़िल पर उत्पादक शक्तियों का विकास मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों के तहत सम्भव नहीं रह जाता; यहाँ से सामाजिक क्रान्ति का युग शुरू होता है (इसका यह अर्थ नहीं है, कि किसी पूर्वनिर्धारित मौके पर इस युग में क्रान्ति का सम्पन्न हो जाना तय है); आगे मार्क्स बताते हैं कि कोई भी व्यवस्था उत्पादक शक्तियों के विकास के मौजूदा ढाँचे के भीतर बाधित होने से पहले नष्ट नहीं हो सकती और नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि उसके लिए आवश्यक शर्तें मौजूदा व्यवस्था के भीतर ही पूरी न हो गयी हों (इसका यह अर्थ नहीं है कि वे उत्पादन सम्बन्ध ही पुरानी व्यवस्था के गर्भ में पूर्णत: पैदा हो चुके हों, यहाँ मार्क्स सिर्फ़ अनिवार्य पूर्वशर्तों की बात कर रहे हैं); और अन्त में मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मानवता अपने लिए वही लक्ष्य निर्धारित कर सकती है, जो लक्ष्य वह वास्तव में प्राप्त कर सकती है। इसका सिर्फ़ इतना ही अर्थ है कि दास समाज या सामन्ती समाज के उत्पीड़ित वर्ग साम्यवादी समाज का सपना नहीं देख सकते थे; इतिहास ने उनके सामने जो सम्भवना का क्षितिज उपस्थित किया था, उनकी कल्पना उसकी सीमा में ही अस्तित्वमान रह सकती थी। निश्चित तौर पर, इस सीमा के भीतर उनकी परिकल्पनाएँ एकाश्मीय या पूर्वनियोजित नहीं होंगी, बल्कि वैविध्यपूर्ण होंगी। लेकिन ज़िज़ेक के लिए ऐसी कोई सीमा नहीं है। एक सच्चे प्रत्ययवादी-हेगेलवादी के समान वह कहते हैं कि आज के दौर में भी भावी बेहतर समाज के बारे में कोई परिकल्पना नहीं निर्मित की जानी चाहिए। उसे पूरी तरह से गोपनीयता के राज्य की वस्तु माना जाना चाहिए, जिसे ज़िज़ेक *कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस* का नाम देते हैं। इसका अर्थ है एक ऐसा कम्युनिज़्म जिसके बारे में पहले से कोई नक्शा तैयार नहीं किया जाना चाहिए। यहाँ पर ज़िज़ेक एलेन बेज्यू के पदचिन्हों पर ही चल रहे हैं। बेज्यू के अनुसार, कम्युनिज़्म एक ऐसा विचार है जो अनादि-अनन्त है। यह मानवता के उद्‌भव के साथ ही जन्म ले चुका था। उनके लिए प्लेटो का *दि रिपब्लिक*, रूसो का *सोशल कॉण्ट्रैक्ट*, फ्रांसीसी क्रान्ति और जैकोबिन आतंक-राज्य, पेरिस कम्यून और मार्क्सवादी कम्युनिज़्म (जो बोल्शेविक क्रान्ति के साथ शुरू होता है और

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ ख़त्म होता है) कम्युनिज़्म के दिव्य विचार (इटर्नल आइडिया) की यात्रा के अलग-अलग पड़ाव या मील के पत्थर हैं। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ जो नया युग शुरू हुआ उसमें पार्टी, सर्वहारा तानाशाही आदि जैसी अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं। आगे जिस किस्म के कम्युनिस्ट समाज को आना है, उसके बारे में मार्क्सवाद की समझदारी अब पुरानी और अप्रासंगिक पड़ चुकी है और दुनिया उस 'क्षण' से आगे बढ़ चुकी है! ज़िज़ेक कहीं सीधे-सीधे यह नहीं कहते कि मार्क्सवाद, पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सोच पूरी तरह से अप्रासंगिक हो चुकी है। लेकिन वास्तव में वह जो करते हैं वह और भी ज़्यादा ख़तरनाक है। बेज्यू अपने इरादों में स्पष्ट हैं और उनकी आलोचना अपेक्षाकृत ज़्यादा आसान है। लेकिन ज़िज़ेक अपनी सभी बातों को स्वयं ही काटते चलते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि ज़िज़ेक कुछ नहीं कहते। वह जो कहते हैं उसे समझने के लिए थोड़ी कसरत करनी पड़ती है।

मिसाल के तौर पर, मार्क्स को उद्भववादी इतिहासवाद का शिकार बताते हुए एक अन्य जगह पर ज़िज़ेक कहते हैं कि मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की जो आलोचना की है, उसे आज दुहराने की ज़रूरत है, लेकिन कम्युनिज़्म की उस यूटोपियाई समझदारी के बग़ैर जो कि मार्क्स ने प्रस्तुत की। यहाँ पहली बात तो यह है कि मार्क्स ने पूँजीवाद की जो आलोचना प्रस्तुत की उसे फिर से दुहराने के लिए मार्क्स की उस आलोचना को समझना होगा; कम-से-कम उनकी बुनियादी आर्थिक रचनाओं का अध्ययन करना होगा। लेकिन आगे हम दिखलायेंगे कि ज़िज़ेक के राजनीतिक अर्थशास्त्र की समझ बेहद कमज़ोर है, इसलिए मार्क्स की जिस आलोचना को दुहराने की वह बात कर रहे हैं, वह उनके बस के बाहर है। इसी से जुड़ी हुई बात यह है कि ज़िज़ेक मार्क्स द्वारा राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना को न समझ पाने के कारण ही ऐसा समझते हैं कि मार्क्स की कम्युनिज़्म की समझदारी यूटोपियाई और फन्तासी के समान थी। कम्युनिज़्म की मार्क्सवादी परियोजना कोई पूर्वकल्पित या पूर्वनिर्धारित यूटोपिया या फन्तासी नहीं थी, बल्कि पूँजीवाद की वैज्ञानिक आलोचना का ही नतीजा थी। मार्क्स ने **'पूँजी'** के तीन खण्डों में जिस आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था को तार-तार करके हमारे सामने रखा है, उसकी आलोचना ही उन्हें कम्युनिस्ट समाज की एक वैज्ञानिक समझदारी तक ले गयी। जैसा कि मार्क्स कहते थे, **'कम्युनिज़्म कोई लक्ष्य नहीं है, जिसे हासिल किया जाना है। यह इतिहास की वास्तविक गति है।'** लेकिन ज़िज़ेक के लिए इतिहास की ऐसी कोई गति नहीं होती। उनका दावा है कि मार्क्स यह कहना ग़लत है कि मानवता अपने लिए वही लक्ष्य निर्धारित करती है, जिसकी प्राप्ति की सम्भावना के बीज रूप में पहले से ही मौजूद होती है। मार्क्स के इस कथन के खण्डन के लिए ज़िज़ेक कहते हैं कि मिसाल के तौर पर आज जो समस्याएँ मानवता के सामने खड़ी हैं, उसके समाधान की सम्भावनाएँ बीज रूप में भी मानवता के सामने मौजूद नहीं हैं। ज़िज़ेक के इस कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने मार्क्स के उक्त कथन का अर्थ ही नहीं समझा है, या जानबूझकर अपने पूर्वनियोजित नतीजे पर पहुँचने के लिए उसकी मनमानी व्याख्या की है। मार्क्स स्वयं कम्युनिस्ट समाज के एक-एक विवरण को पहले से निर्धारित करने के ख़िलाफ़ थे, और ऐसी किसी भी कवायद को वह अनुत्पादक मानते थे। वह उस बुनियादी आर्थिक-सामाजिक नियम के अलावा, भावी कम्युनिस्ट समाज के हरेक पहलू की व्याख्या नहीं करते थे, जिसके मुताबिक कम्युनिस्ट समाज प्रचुरता की वह मंज़िल होगी जब सभी लोग अपनी क्षमतानुसार कार्य करेंगे और

आवश्यकतानुसार प्राप्त करेंगे। लेकिन ज़िज़ेक कम्युनिस्ट समाज के विषय में मार्क्स के कुछ भी कहने को ग़ैर-मुनासिब मानते हैं! इसका वास्तविक कारण यही है कि ज़िज़ेक की मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धान्त की पढ़ाई बेहद कमज़ोर है। आगे हम इस बात को ही ज़िज़ेक की नयी पुस्तक में कही गयी कुछ बातों से प्रदर्शित करेंगे।

ज़िज़ेक कहते हैं कि मार्क्स का इतिहासवादी स्कीमा रद्द करने की ज़रूरत है और इसके लिए हमें आज के पूँजीवाद की **तीन चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं** पर नज़र डालने की ज़रूरत है। ज़िज़ेक के मुताबिक पहली सबसे प्रमुख आभिलाक्षणिकता है आज के पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े से लगान (वास्तव में, यहाँ जिन अर्थों में *रेण्ट* की बात की जा रही है, वह वास्तव में लगान नहीं है, लेकिन चूँकि अन्य कोई उपयुक्त शब्द इसके लिए मौजूद नहीं है इसलिए हम लगान शब्द का ही प्रयोग कर रहे हैं) की ओर संक्रमण या तब्दीली है। ज़िज़ेक यहाँ लगान के दो अर्थों में बात कर रहे हैं–साझा बौद्धिक सम्पत्ति और प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार से मिलने वाला लगान। लेकिन इस परिघटना में नया क्या है और इसकी खोज करने का दावा ज़िज़ेक क्यों कर रहे हैं, यह समझ से परे हैं। वास्तव में, इन दोनों परिघटनाओं को मार्क्स और लेनिन दोनों ने ही अपनी रचनाओं में दर्ज़ किया है। ज़िज़ेक का दावा है कि मार्क्स ने सामान्य बुद्धि **(जनरेल इण्टेलेक्ट)** के निजीकरण की कल्पना नहीं की थी। यह उनकी समझ से परे था कि यह सामान्य बुद्धि बढ़ने के साथ-साथ अधिक से अधिक निजी सम्पत्ति बनायी जायेगी। यह दावा पूरी तरह ग़लत और निराधार है। मार्क्स की दो अलग-अलग अवधारणाओं को मिलाकर ज़िज़ेक ज़बरन अपने मूर्खतापूर्ण कथन को आविष्कार साबित करने की कोशिश कर रहे हैं। मार्क्स ने कहा था कि उत्पादन के विकास के साथ पूँजीवादी समाज में मज़दूरों की सामान्य बुद्धि और कुशलता बढ़ती जाती है। इसके साथ ही उत्पादन की पूरी प्रक्रिया में न सिर्फ़ उत्पादन के ठोस कार्य, यानी कि शारीरिक श्रम से जुड़े कार्य मज़दूर करते हैं, बल्कि प्रबन्धन और नियोजन का कार्य भी धीरे-धीरे मज़दूरों के हाथ में आने लगता है। आज के युग में जब तकनोलॉजी के विकास ने उत्पादन की प्रक्रिया को बेहद छोटी-छोटी कार्रवाइयों में तोड़कर और उनका स्वचालन करके कुशल और अकुशल मज़दूर के बीच के अन्तर को काफ़ी हद तक कम कर दिया है, तो मार्क्स की यह भविष्यवाणी सही साबित हो रही है। इस प्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ पूँजीपति वर्ग (जिसमें कि मालिक और पूँजीवादी प्रबन्धन दोनों शामिल हैं) ग़ैर-ज़रूरी हो जाते हैं। लेकिन इस कुशल श्रमिकों की आबादी और आज के पूँजीवादी उपक्रमों के सी.ई.ओ., मैनेजरों और निदेशक मण्डलों में बैठने वाले निदेशकों के बीच ज़िज़ेक कोई अन्तर नहीं समझते हैं। वह दावा करते हैं कि यह वर्ग जिसके पास प्रबन्धन, एकाउण्टिंग और तकनीकी ज्ञान केन्द्रित है, यह एक वेतनभोगी बुर्जुआज़ी के तौर पर अस्तित्व में आया है। इसी को ज़िज़ेक समकालीन पूँजीवाद, या उनकी भाषा में उत्तरआधुनिक पूँजीवाद का दूसरा चारित्रिक गुण मानते हैं। इस पर हम आगे आएँगे।

ज़िज़ेक का यह दावा भी ग़लत है कि मार्क्स ने कभी नहीं सोचा था कि सामान्य बुद्धि का इस पैमाने पर निजीकरण होगा। मार्क्स स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हर प्रकार के श्रम के सभी उत्पाद सामाजिक सम्पत्ति हैं और ज्ञान भी एक सामाजिक सम्पत्ति है। लेकिन पूँजीवाद श्रम के भौतिक उत्पादों और बौद्धिक उत्पादों दोनों का ही निजीकरण करता है। प्राक्-पूँजीवादी युग में सामान्य बुद्धि के विकास का जो स्तर था, उसमें जाहिरा तौर पर बौद्धिक उत्पादों के निजीकरण की प्रवृत्ति कम ही होगी। इटली में व्यापारिक पूँजीवाद के उदय के साथ पहली बार पेटेण्ट

नियम और कानून अस्तित्व में आये। जैसे-जैसे पूँजीवादी उत्पादन पद्धति आगे बढ़ी, उत्पादक शक्तियों का विकास हुआ, उत्पादकों की राजनीतिक और तकनोलॉजिकल चेतना का स्तरोन्नयन हुआ, वैसे-वैसे उत्पादन में सूचना और तकनीकी पद्धति के ज्ञान का महत्व बढ़ता गया। पूँजीपतियों के बीच की प्रतिस्पर्द्धा और मज़दूर वर्ग की स्वायत्त चेतना (जो बुर्जुआ वर्चस्व से सापेक्षिक रूप से मुक्त हो) के उदय के डर ने बौद्धिक सम्पदा के निजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। नेग्री और हार्ट जिस अभौतिक उत्पादन, अभौतिक श्रम और अभौतिक पूँजीवाद की बात करते हैं, वह बकवास है, जिसके अनुसार आज पूँजीवादी विश्व में सूचना प्रमुख और प्रभावी उत्पाद/माल बन चुकी है, और इसके उत्पादन में लगी श्रमशक्ति प्रमुख श्रम शक्ति बन चुकी है। एक अभौतिक पूँजीवाद के नाश के लिए वह एक आकृतिविहीन, आकारविहीन *मल्टीट्यूड* की कल्पना करते हैं। यह *मल्टीट्यूड* एक उतने ही आकारहीन और आकृतिहीन किस्म के *शासकों* के समूह का तख्तापलट कर, कॉमंस (साझा सम्पदा) को निजी कब्ज़े से मुक्त करायेगा। यहाँ पूँजीवाद एक अवैयक्तिक (इम्पर्सनल) शक्ति बन जाता है, प्रतिरोध एक अमूर्त चीज़ बन जाती है और प्रतिरोध करने वाले भी आकृतिहीन वस्तु बन जाते हैं। यह पूरी अवधारणा बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर हमला करने के लिए ही गढ़ी गयी है, जैसे कि वर्ग की अवधारणा, निजी सम्पत्ति और पूँजी की अवधारणा, पार्टी और राज्य की अवधारणा, आदि। ज़िज़ेक इस मामले में ऊपरी तौर पर नेग्री और हार्ट का विरोध करते हुए भी, उन्हीं द्वारा तैयार की गयी सैद्धान्तिक ज़मीन पर खड़े हैं। जहाँ तक बौद्धिक सम्पदा के नयेपन और सूचना के सर्वशक्तिशाली बन जाने का प्रश्न है, तो यह मूर्खतापूर्ण दावा है। एक कुल्हाड़ी या चक्का बनाने में भी प्राचीनकाल में सूचना की आवश्यकता होती थी। यह सच है कि सामान्य बुद्धि के स्तरोन्नयन के साथ सूचना की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है, लेकिन उसका निजीकरण और उसका मालकरण कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिस पर उत्तरमार्क्सवादी चिन्तक हिरनी के समान चकित हैं। यहाँ वास्तव में, नेग्री, हार्ट और ज़िज़ेक जैसे लोग उत्तरऔद्योगिक समाज के सिद्धान्तकारों के पीछे चल रहे हैं। बस फर्क यह है कि सूचना पूँजीवाद के उदय के दोनों के नतीजों में कुछ भिन्नता है।

उत्तरऔद्योगिक समाज के सिद्धान्तकारों का मानना है कि सूचना पूँजीवाद के उदय के साथ सर्वहारा वर्ग ग़ायब हो गया है, और अगर वह है भी तो उसमें प्रतिरोध करने की कोई शक्ति नहीं बची है। उत्तरमार्क्सवादी विचारक यह मानते हैं प्रतिरोध के नये रूप पैदा हो गये हैं, जिनका नये तरीके से सैद्धान्तिकीकरण करने की ज़रूरत है। सामान्य तौर पर इस बात पर कोई आपत्ति नहीं करेगा। लेकिन जब आप देखते हैं कि उत्तरमार्क्सवादियों के इस नये सैद्धान्तिकीकरण में मूल बात क्या है, तो आप पाते हैं कि इसमें वर्ग, राज्य और अधिनायकत्व की अवधारणाओं को छोड़कर और सबकुछ है। पूँजीवाद के अर्थपूर्ण प्रतिरोध का अभिकरण सर्वहारा वर्ग से छीन लिया गया है। सर्वहारा वर्ग इनके लिए अनुपस्थित हो चुका है और टटपुँजिया वर्ग परिवर्तन का नया अगुआ है। ज़िज़ेक भी एक प्रकार से इसी थीम का अनुसरण करते हैं। शारीरिक श्रम करने वालों का उदाहरण देने में भी वह ज़्यादा से ज़्यादा फ्लाइट अटेण्डेण्ट का उदाहरण दे पाते हैं! औद्योगिक सर्वहारा का कहीं ज़िक्र भी नहीं होता। यहाँ पर भी हम देख सकते हैं कि सूचना के उत्पादन (अभौतिक उत्पादन) की सम्भावनासम्पन्नता के प्रति इन विचारकों में एक प्रकार की *फेटिश* है। इसके माध्यमों, जैसे कि इण्टरनेट, आदि को लेकर वह अचम्भित हैं। लेकिन एक बुनियादी बात वह भूल जाते हैं: एनक्रिप्शन करने वाले

सॉफ्टवेयर पेशेवर को भी खाने के लिए खाना, पहनने के लिए कपड़ा और रहने के लिए घर चाहिए। चाहे इन चीज़ों के उत्पादन में सूचना का कितना भी महत्व हो जाये (और ऐसा कब नहीं था!), भौतिक उत्पादन का महत्व और उसकी मानवीय जीवन के लिए अनिवार्यता किसी भी सूरत में कम नहीं हो सकती। अभौतिक उत्पादन एक उन्नत दुनिया का प्रतीक है; इसमें कोई शक़ नहीं। लेकिन कई सौ फुट ऊँची इमारत की भी एक बुनियाद होती है। हो सकता है वह बुनियाद ज़्यादा से ज़्यादा कुछ दर्ज़न फुट ही गहरी हो। लेकिन उसके बिना दस फुट की दीवार भी नहीं खड़ी की जा सकती है। यह बात अलग है कि पूँजीवादी व्यवस्था में भौतिक उत्पादन निकृष्ट बन गया है, और अभौतिक उत्पादन उस पर अपना वर्चस्व और प्रभुत्व स्थापित करके बैठा हुआ है। लेकिन पूँजीवाद में सीधा क्या है? जैसा कि मार्क्स ने कहा था, सबकुछ ही अपने सिर के बल खड़ा है! संक्षेप में कहें, तो ज़िज़ेक और उनके जैसे तमाम उत्तरमार्क्सवादियों ने सूचना पूँजीवाद के उदय के साथ आने वाले परिवर्तनों की जो समझदारी प्रस्तुत की है, वह वास्तव में मार्क्सवाद की बुनियादी श्रेणियों को रद्द करने के लिए की गयी है। इसमें तार्किक निरन्तरता की भारी कमी है, और थोड़ी ही पड़ताल पर उसका उथलापन और ओछापन सामने आ जाता है।

अब आते हैं एक नये किस्म की बुर्जुआज़ी के उदय बारे में ज़िज़ेक के दावे पर। इस नयी बुर्जुआज़ी की अवधारणा को वह एक लकानियन विचारक **ज्याँ क्लॉड मिल्नर** से उधार लेते हैं, और उसे अपने विचारधारात्मक खाँचे में फिट करते हैं। इस बुर्जुआज़ी में न सिर्फ डॉक्टर, इंजीनियर, आदि जैसे पेशे के लोग भी शामिल हैं, बल्कि इस वर्ग के सम्भावित उम्मीदवारों में ज़िज़ेक विश्वविद्यालय छात्रों को भी गिनते हैं। ज़िज़ेक का यह दावा है कि इस नयी बुर्जुआज़ी के ऊपरी हिस्से नियमित स्थायी रोज़गार, बेहद ऊँचे वेतनों और विशेषाधिकारों के स्वामी हैं। जबकि निचले हिस्से वे हैं जिनके सिर पर पूँजीवाद ने अनिश्चितता की तलवार लटका रखी है। ये निचले हिस्से ही हैं, जो कि 2011 में वे "ख़तरनाक सपने" देख रहे थे जिनकी बात ज़िज़ेक अपनी नयी पुस्तक में कर रहे हैं। ज़िज़ेक मानते हैं कि अरब जनउभार, ब्रिटिश छात्र-युवा आन्दोलन और निम्न वर्गों के दंगे, स्पेन और यूनान में चल रहे आन्दोलन और साथ ही 'ऑक्युपाई' आन्दोलन इन्हीं वर्गों की आकांक्षाओं की नुमाइन्दगी करते हैं। ज़िज़ेक इन आन्दोलनों को "वामपन्थी" अर्थों में क्रान्तिकारी नहीं मानते। उनका कहना है कि इन आन्दोलनों के पास कोई भविष्य दृष्टि नहीं है। इनका लक्ष्य कम्युनिज़्म नहीं है और वे किसी भी रूप में कम्युनिस्ट समाज की तरफ़ जाने की बात नहीं करते। **लेकिन ज़िज़ेक यहाँ एक विरोधाभास में फँस जाते हैं।** स्वयं ज़िज़ेक का मानना है कि कम्युनिस्ट समाज की कोई पूर्वकल्पित दृष्टि नहीं होनी चाहिए और वह *कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस* के रूप में होना चाहिए, यानी ऐसा कम्युनिस्ट समाज जिसके सभी तत्व भविष्य के गर्भ में होंगे। ऐसे में, वह किस ज़मीन पर खड़े होकर इन आन्दोलनों से भविष्य दृष्टि और भावी समाज के सकारात्मक प्रस्ताव की माँग कर रहे हैं? इस विरोधाभास को निपटाने के लिए ज़िज़ेक जो बात कहते हैं, वह उन्हें और भी ज़्यादा गहरे अन्तरविरोध में उलझा देता है। ज़िज़ेक कहते हैं कि इन आन्दोलनों को अलग-अलग विश्लेषित करना पड़ेगा और किसी पूर्वनिर्धारित अवधारणा के आधार पर नहीं बल्कि इनकी अपनी शर्तों पर। और इसी आधार पर विश्लेषण करने पर ज़िज़ेक को इन आन्दोलनों में "भविष्य के चिन्ह" भी दिखलायी देते हैं। अब अगर ज़िज़ेक से पूछा जाय कि इन आन्दोलनों के बारे में उनका दृष्टिकोण क्या है, तो वह क्या बताएँगे? ये

आन्दोलन "वेतनभोगी" बुर्जुआज़ी और सम्भावित रूप से भावी "वेतनभोगी" बुर्जुआज़ी के आन्दोलन हैं, जिनके पास कोई सर्वहारा या कम्युनिस्ट विज़न नहीं हैं (जिसको ज़िज़ेक अपनी *कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस* के सिद्धान्त के आधार पर स्वयं ही नकारते हैं!) लेकिन फिर भी वे "भविष्य के चिन्ह" हैं! इस बात का क्या अर्थ निकलता है? कुछ भी नहीं! शायद हमारी दृष्टि में वह हेगेलीय लकानीय *ट्विस्ट* नहीं है कि हम इसे समझ सकें!

ज़िज़ेक का यह दावा भी, कि यह वेतनभोगी बुर्जुआज़ी समकालीन पूँजीवाद की पैदावार है, व्यर्थ है। क्योंकि यह वेतनभोगी बुर्जुआज़ी आज की पैदावार नहीं है और यह साम्राज्यवाद के अस्तित्व में आने के साथ ही यह अस्तित्व में आयी। स्वयं लेनिन की रचना **'साम्राज्यवादः पूँजीवाद की चरम अवस्था'** में लेनिन इस परिघटना को रेखांकित करते हैं। वास्तव में, मार्क्स ने और उससे भी ज़्यादा एंगेल्स ने राजकीय पूँजीवाद और बैंकों की बढ़ती भूमिका के विश्लेषण के दौरान इस विशेष किस्म की बुर्जुआज़ी के उभार को रेखांकित किया था। एंगेल्स ने कहा था कि बैंकों या राज्य की देखरेख और पर्यवेक्षण में जो पूँजीवादी विकास होता है, उसमें एक ऐसी बुर्जुआज़ी अस्तित्व में आती है जो कि पूँजी की रखवाली करने और उसकी देखरेख करने का काम करती है। वह जिस पूँजी की रखवाली करती है, वह वास्तव में अक्सर किसी एक पूँजीपति की पूँजी/सम्पत्ति नहीं रह जाती बल्कि पूरे पूँजीपति वर्ग की "सामूहिक पूँजी" बन चुकी होती है। वास्तव में, न्यायिक-वैधिक सम्पत्ति सम्बन्ध असल उत्पादन सम्बन्ध को छिपाने लगते हैं। लेकिन यहाँ पर यह याद करना ज़रूरी है कि पूँजी वस्तुतः एक सामाजिक सम्बन्ध है। अपने आप में पूँजी और कुछ नहीं है, बल्कि भण्डारित श्रम है। यह श्रम शारीरिक हो सकता है या मानसिक। और इस भण्डारित श्रम को पूँजीपति वर्ग सामूहिक तौर पर हस्तगत कर सकता है, जैसा कि आम तौर पर साम्राज्यवाद के दौर में ट्रस्टों, कार्टेलों, जॉइण्ट स्टॉक कम्पनियों आदि के रूप में होता है, या फिर यह निजी पूँजीपतियों के रूप में कर सकता है, जैसा कि "मुक्त-व्यापार" पूँजीवाद के दौर में होता है। यहाँ पर यह भी याद रखना ज़रूरी है कि "मुक्त-व्यापार" पूँजीवाद में ही वह नैसर्गिक गति निहित होती है जो कि इज़ारेदार पूँजीवाद या साम्राज्यवाद की तरफ़ ले जाती है। ये दोनों ही वैश्विक पूँजीवाद के विकास और उद्भव के अलग-अलग क्षण है। साम्राज्यवाद के चरण में निजी सम्पत्ति के रूपों जो बदलाव आते हैं वे तमाम दृष्टिभ्रम पैदा करते हैं। और इन दृष्टिभ्रमों का शिकार ज़िज़ेक और उनके जैसे तमाम उत्तरमार्क्सवादी बुद्धिजीवी हो गये हैं। इसका प्रमुख कारण वही है जिसका हमने पहले ज़िक्र किया है: **इन तमाम बुद्धिजीवियों में जो बात सामान्य है वह है राजनीतिक अर्थशास्त्र की बेहद अधकचरी और सीमित समझदारी**, शायद उतनी ही जितनी इन बुद्धिजीवियों को अपनी विश्वविद्यालय शिक्षा के पाठ्यक्रम के अंग के तौर पर मिली थी। और **दूसरी जिस चीज़ की कमी इन बुद्धिजीवियों के सैद्धान्तिकीकरण में नज़र आती है, वह है ऐतिहासिक दृष्टि और इतिहास की जानकारी का अभाव।** मिसाल के तौर पर ज़िज़ेक समकालीन दुनिया के बारे में और उसमें हो रही घटनाओं की जानकारी तो रखते हैं, लेकिन बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध और उससे पहले के इतिहास के बारे में उनकी जानकारी ज़्यादा से ज़्यादा अखबारी कही जा सकती है। यहाँ पर बेज्यू की मिसाल दी जा सकती है। बेज्यू यथार्थ (**रियल**), काल्पनिक (**इमैजिनरी**) और प्रतीकात्मक (**सिम्बॉलिक**) की लकानियन त्रयी को लागू करते हुए कहते हैं कि इतिहास प्रतीक का क्षेत्र है, भविष्य की परियोजना (उनके लिए कम्युनिज़्म का विचार) काल्पनिक का

क्षेत्र है और राजनीति यथार्थ का क्षेत्र है। यानी कि कम्युनिज़्म की पूरी परियोजना एक आत्मगत कारक बन जाती है। मार्क्स के विचारों के विपरीत यह 'इतिहास की वास्तविक गति' नहीं रह जाती है। और हो भी कैसे सकती है! क्योंकि इतिहास तो महज़ एक प्रतीक है और मनोविश्लेषण के नियमों तहत एक समस्या है, बीमारी का लक्षण है। यह वास्तविक नहीं है। यह रचा जाता है, ताकि काल्पनिक को पुष्ट किया जा सके! यानी इतिहास को प्रतीक/लक्षण बना दिया गया, कम्युनिज़्म की परियोजना को काल्पनिक बना दिया गया और बची सिर्फ़ राजनीति जिसे यथार्थ करार दिया गया! अब यह राजनीति क्या है, इसके विश्लेषण के लिए यहाँ स्थान नहीं है, लेकिन बस इतना कहा जा सकता है कि यह नये रंगरोगन के साथ अराजकतावाद है। लेकिन इतिहास के बारे में उत्तरमार्क्सवादियों की अवस्थिति और उत्तरआधुनिकतावादियों की अवस्थिति में ज़्यादा फ़र्क नहीं रह जाता है, जोकि इतिहास को आत्मगत निर्मिति मानते हैं, भाषा का खेल मानते हैं। इतिहास के बारे में ज़िज़ेक के दृष्टिकोण पर हम थोड़ा आगे आयेंगे। पहले यह देख लिया जाय कि जिस वेतनभोगी बुर्जुआज़ी को ज़िज़ेक आज के पूँजीवाद की पैदावार मानते हैं, या कम-से-कम जिसके उभार को वह आज के पूँजीवादी समाज की परिघटना मानते हैं, उसके बारे में मार्क्स और लेनिन ने क्या लिखा था।

मार्क्स ने बैंकिंग पूँजी और बैंकिंग तन्त्र के उभार के बारे में **'पूँजी'** के तीसरे खण्ड में लिखा था कि बैंकिंग तन्त्र वास्तव में समूचे पूँजीपति वर्ग का साझा बहीखाता है और उत्पादन के साधनों का "सामाजिक पैमाने पर वितरण" है। मार्क्स ने बताया कि यह सामाजिक वितरण केवल रूप में ही सामाजिक है। धीरे-धीरे सामाजिक पैमाने पर उत्पादन के साधनों के इस पूँजीवादी वितरण में पूँजीपति वर्ग के साथ-साथ निम्न पूँजीपति वर्ग के विभिन्न हिस्से भी आ जाते हैं, और अक्सर पूँजीपति वर्ग इस वितरण में अपने रूप को मालिक की बजाय, पूँजी के प्रबन्धक के तौर पर पेश करता है। मार्क्स आगे बताते हैं कि वास्तव में यह वितरण निजी होता है और पूँजीपति वर्ग और उसके पिछलग्गुओं के हित में होता है। यह वितरण एक ऐसे समाज की तरफ़ ले जाता है जिसमें आम आबादी अभाव और ग़रीबी में जीने के लिए मजबूर होती है और बैंक एक सामूहिक पूँजीपति की तरह उससे हर रूप में अधिशेष विनियोजन करता है, चाहे वह मुनाफ़ा हो, लगान हो या फिर ब्याज़। लेनिन ने 'साम्राज्यवाद: पूँजीवाद की चरम अवस्था' में इस पूरे विकास के बारे में विस्तार से बताया है। एक जगह लेनिन लिखते हैं, **"तीस वर्ष पहले व्यवसायी एक दूसरे से मुक्त रूप से प्रतिस्पर्द्धा करते हुए, अपने व्यवसाय के शारीरिक श्रम को छोड़कर नब्बे प्रतिशत कार्य किया करते थे। वर्तमान में, यह नब्बे फीसदी "दिमागी काम" भी अधिकारी वर्ग द्वारा किया जाता है। बैंकिंग इस विकास की अग्रिम कतार में है।"** आगे लेनिन लिखते हैं, **"यह आम तौर पर पूँजीवाद की एक चारित्रिक आभिलाक्षणिकता है कि पूँजी का मालिकाना उत्पादन में पूँजी के लगाये जाने से अलग होता जाता है, कि मुद्रा पूँजी औद्योगिक या उत्पादक पूँजी से अलग होती जाती है और लगानजीवी वर्ग जो पूरी तरह से मुद्रा पूँजी की आमदनी पर जीता है, उद्यमी से और उन सभी लोगों से अलग होता जाता है जो कि पूँजी के प्रबन्धन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं। साम्राज्यवाद, या वित्त पूँजी का प्रभुत्व, पूँजीवाद की वह चरम अवस्था है जिसमें यह अलगाव विशाल पैमानों तक पहुँच जाता है। वित्त पूँजी के पूँजी के अन्य सभी रूपों पर प्रभुत्व का अर्थ है लगानजीवी वर्ग और वित्तीय अल्पतन्त्र का शासन...।"** यहाँ लेनिन स्पष्ट रूप से बता रहे हैं कि साम्राज्यवाद के उदय के साथ अधिशेष विनियोजन

में लगान और ब्याज़ का हिस्सा बढ़ता जायेगा। यह लगान पैदा होगा उत्पादन के साधनों पर एक वित्तीय अल्पतन्त्र की इज़ारेदारी से। वास्तव में, हर प्रकार का लगान सम्पत्ति पर एकाधिकार से ही पैदा होता है (सिवाय *डिफरेंशियल रेण्ट* के जो भू-लगान की एक किस्म है, जो कि दो अलग-अलग उर्वरता वाली ज़मीनों के बीच के अन्तर से पैदा होता है और जिसे बेशी अधिशेष कहना ज़्यादा उचित है; इस पर हम यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते)। साम्राज्यवाद के दौर में जब उत्पादन प्रचुरता की मंज़िल में पहुँच रहा होता है, लेकिन अतिरिक्त मूल्य के मुनाफ़े में तब्दील होने का संकट (रियलाइज़ेश क्राइसिस) गम्भीरतम रूपों में होता है, तो पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े की दर को बरकरार रखने के लिए अधिशेष के बड़े हिस्से को लगान और ब्याज़ में तब्दील करता है। मार्क्स ने स्पष्ट तौर पर बताया था कि अतिरिक्त मूल्य का पूँजीपति वर्ग के अलग-अलग हिस्सों में मुनाफ़े, लगान और ब्याज़ के रूप में बँटवारा होता है। मार्क्स और लेनिन दोनों ने दिखलाया था कि एकाधिकारी पूँजीवाद के अस्तित्व में आने के साथ मुनाफ़े की दर का गिरना अधिक तेज़ हो जायेगा, संकट का चक्र छोटा होता जायेगा और ढाँचागत संकट अपने आपको गम्भीरतम रूप में पेश करेगा। साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीपति वर्ग अतिरिक्त मूल्य के मुद्रा पूँजी के रूप में वास्तवीकृत (रियलाइज़) न होने के संकट को दूर करने के लिए ऋण वित्तपोषित उपभोग को बढ़ावा देता है और साथ ही साथ शेयर बाज़ार में सट्टेबाज़ी और ऐसे ही अन्य उपक्रमों के ज़रिये अपनी समृद्धि को कायम रखने और संकट को टालने का प्रयास करता है। ऐसे में, पूँजी का बड़ा हिस्सा वित्तीय पूँजी की सट्टेबाज़ी और उसके बुलबुले फुलाने में ख़र्च होता है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में अधिशेष के तीनों हिस्से में लगान और ब्याज़ का अनुपात बढ़ेगा और मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र कम-से-कम सवा सौ साल से इस सच्चाई से वाक़िफ़ है। **ऐसे में, ज़िज़ेक को इसमें नया क्या दिख गया?** न तो मुनाफ़े से लगान की तरफ़ संक्रमण में कुछ नया है, और न ही इस तथाकथित नयी वेतनभोगी बुर्जुआज़ी में कुछ नया है। ऐसे में ज़िज़ेक मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की ही पुरानी सिद्ध अवधारणाओं को नये शब्द देकर अपना आविष्कार सिद्ध कोशिश करने की कोशिश कर रहे हैं। यहाँ ज़िज़ेक ज्याँ पॉल सार्त्र की उस प्रसिद्ध उक्ति को शब्दशः सही सिद्ध कर रहे हैं कि आम तौर पर मार्क्सवाद के खण्डन के तौर पर जो कहा जाता है, वह मार्क्स-पूर्व विचारों को फिर से ज़िन्दा करने की कोशिश होती है (इस मामले में हेगेलीय प्रत्ययवादी) और उनमें जो सही होता है, वह वास्तव में मार्क्सवाद पहले ही कह चुका होता है।

मार्क्सवाद द्वारा पहले ही स्थापित सत्यों के नाम बदलकर उन पर अपना दावा करने के अलावा ज़िज़ेक जो कार्य करते हैं, वह है मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों की मनमानी व्याख्या करके उन्हें विकृत करना। मिसाल के तौर पर, अपनी पुस्तक के दूसरे अध्याय में मार्क्स की शानदार रचना **'नेपोलियन बोनापार्त की अट्ठारहवीं ब्रुमेयर'** के कुछ अंशों की मनमानी लकानियन व्याख्या करते हैं और दिखलाने की कोशिश करते हैं कि एक राज्यसत्ता कई वर्गों की नुमाइन्दगी कर सकती है। एक जगह तो वह बोनापार्तवाद का यह अर्थ समझ लेते हैं कि इतिहास में ऐसे मौके भी आ सकते हैं जब राज्यसत्ता स्वयं का ही प्रतिनिधित्व करेगी! मिसाल के तौर पर ज़िज़ेक इंग्लैण्ड की कुलीन वर्गीय राज्यसत्ता की, जो कि बुर्जुआ वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी कर रही थी और गृहयुद्ध के बाद के क्रान्तिकारी रूस की बात करते हैं जब कथित रूप से सर्वहारा वर्ग समाप्त हो गया था, लेकिन सर्वहारा राज्यसत्ता बरकरार थी, और खुद का

प्रतिनिधित्व कर रही थी। लेकिन इंग्लैण्ड के कुलीन वर्गों की बात केवल इस बात के आधार पर की गयी है कि राज्यसत्ता में बैठे लोगों का जन्म कुलीन परिवारों में हुआ था और रूस के मामले में यह दावा ही ग़लत है सर्वहारा वर्ग समाप्त हो गया था, वह सिर्फ़ आंशिक रूप से विसंगठित हुआ था। ज़िज़ेक भूल जाते हैं कि मार्क्स ने ही इंग्लैण्ड के इस कुलीन वर्ग के बुर्जुआकरण की ओर ध्यानाकर्षण किया था। इस रूप में राज्यसत्ता वास्तव में सामन्ती कुलीन वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी नहीं कर रही थी, बल्कि वास्तव में वह बुर्जुआ वर्ग के हितों की ही नुमाइन्दगी कर रही थी। आगे वह मार्क्स के अन्य कथनों का भी इसी प्रकार विकृतिकरण करते हैं, और एक प्रकार से मार्क्स का लकानियन विनियोजन करते हैं। नतीजतन, ज़िज़ेक का पूरा विश्लेषण एक सट्टेबाज़ मनोवैज्ञानिक-राजनीतिक खेल बन जाता है, जिसका आख़िरी मकसद कुछ भी नहीं सिर्फ़ बौद्धिक विलास है। उनका लेखन आम तौर पर आज के मनोरंजन उद्योग के समान है, जो वास्तव में अनुत्पादक है। ज़िज़ेक के लेखन में आपको लगातार यौनिक और *स्कैटोग्राफिकल* वक्रोक्तियाँ मिलती हैं। गम्भीर दार्शनिक और राजनीतिक विमर्श की गरिमा को और गम्भीरता को भी ज़िज़ेक देर तक बर्दाश्त नहीं कर पाते और थोड़ी ही देर में ऐसी वक्रोक्तियों के प्रयोग के गड्ढे में गिर पड़ते हैं। यह पाठक को एक 'कॉमिक रिलीफ' और एक प्रकार का *टिटिलेशन* देता है, और इसलिए ऊबने नहीं देता। लेकिन इस क्षणिक सुख के अलावा इसमें समृद्ध करने वाली कोई चीज़ बिरले ही मिलती है। जब कोई उपयोगी बात या अन्तर्दृष्टि मिलती भी है, तो उसमें ज़िज़ेक का कुछ भी मौलिक नहीं होता। **यानी, एक तरीके से कहा जा सकता है कि ज़िज़ेक के लेखन में जो कुछ भी काम का है, वह आम तौर पर उनका मौलिक नहीं है, और बाकी जो बचता है वह अक्सर सट्टेबाज़ बहेतू दर्शन का कचरा होता है।**

बेन्यू की ही तरह इतिहास के प्रति अवहेलना का दृष्टिकोण ज़िज़ेक का भी है, लेकिन अपने किस्म से। वह इतिहास को पूरी तरह प्रतीकात्मक तो नहीं मानते लेकिन वह बीसवीं सदी में मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये समाजवाद के प्रयोगों को बिना किसी विश्लेषण के एक त्रासदी मानते हैं, और इस रूप में उसे लक्षण के रूप में ही देखते हैं, जैसा कि बेन्यू कहते हैं। बेन्यू का भी यही विचार है कि लाक्षणिक (इतिहास) के विरुद्ध यथार्थ (राजनीतिक) और कल्पना (कम्युनिस्ट विचार) की एकता बनानी होगी। ज़िज़ेक के लिए भी बीसवीं सदी के समाजवाद की तरफ़ एक भी दृष्टि डाले हुए ही भावी कम्युनिस्ट समाज का निर्माण हो सकता है। ज़िज़ेक ने अपनी किसी भी रचना में बीसवीं सदी के समाजवाद को, विशेषकर रूस और चीन में समाजवादी प्रयोगों के अनुभवों को एक बुरे अनुभव, त्रासदी या विपदा के तौर पर चित्रित करने के लिए किसी वैज्ञानिक-ऐतिहासिक विश्लेषण का इस्तेमाल नहीं किया है। ज़िज़ेक के लेखन में यह नतीजा आकाशवाणी के समान (*एक्ज़ियोमैटिक*) है। आप अगर ज़िज़ेक को पढ़कर उसका कोई भी अर्थ निकालना चाहते हैं तो आपको भी इस बात को अपने प्रस्थान-बिन्दु के तौर पर चुनना पड़ेगा। ऐसा नहीं है कि ज़िज़ेक लेनिन और स्तालिन के बारे में हूबहू वही बातें कहते हैं, जो कि तमाम पश्चिमी साम्राज्यवादी प्रोपगैण्डा एजेण्ट बोला करते हैं। वह कुछ उनसे भी लेते हैं, और कुछ ऐसे स्रोतों से भी लेते हैं, जो कि लेनिन और स्तालिन की प्रशंसा करते हैं। नतीजतन, वह कभी अपने आपको लेनिनवादी और कभी-कभी तो स्तालिनवादी के तौर पर पेश करते हैं, तो कभी स्तालिन और लेनिन पर कीचड़ उछालने के निकृष्टतम प्रयास करते हैं। लेकिन वह सोवियत समाजवाद की राजनीतिक आलोचना या

विश्लेषण का काम कभी हाथ में नहीं लेते हैं। वह बस व्यक्तियों के बारे में अपनी "मनोरंजक" टिप्पणियाँ करते हैं। लेनिन की पूरी तस्वीर जो ज़िज़ेक को पढ़कर उभरती है और जिस चीज़ को ज़िज़ेक लेनिन की अपने द्वारा प्रशंसा का कारण बताते हैं, वह है एक मार्क्सवादी जैकोबिन की जो कि एक तपा-तपाया यथार्थवादी है। एक ऐसा व्यक्ति जो किसी राजनीतिक नीतिशास्त्र या आदर्शवाद से प्रस्थान नहीं करता, बल्कि ठोस राजनीतिक आवश्यकताओं के आधार पर कदम उठाता है। इसके अलावा, जहाँ कहीं भी लेनिन के विचारों का ज़िक्र होता है, वहाँ ज़िज़ेक उसकी अपनी एक मनोरंजक लकानीय व्याख्या करते हैं। लेकिन महान व्यक्तित्वों के कथनों की आधिभौतिक ढंग से अलग-अलग मनोविश्लेषणात्मक और हेगेलीय व्याख्याओं को छोड़ दिया जाय तो ज़िज़ेक कहीं भी लेनिनवादी पद्धति या समझदारी की कोई सुसंगत आलोचना नहीं रखते। लेनिनवाद और स्तालिनवाद जैसे शब्द *कैचवर्ड* की तरह इस्तेमाल किये जाते हैं। और इनका इस्तेमाल काफ़ी हद तक पूर्वी यूरोप में संशोधनवादी सत्ताओं के कुकर्म के जवाब में पैदा हुए पूर्वी यूरोपीय टटपुँजिया हास्य के आधार पर किया जाता है। और अगर सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों की आलोचना की बात करें तो हमें शक़ है कि ज़िज़ेक किस्सों के अलावा उसके बारे में गहराई से कुछ जानते हैं, सिवाय उसी पूर्वी यूरोपीय बुर्जुआ हास्य के जो कि सोवियत संघ और साथ ही पूर्वी यूरोप की संशोधनवादी कम्युनिस्ट सत्ताओं के ख़िलाफ़ पैदा हुआ था। लेकिन बिना किसी विश्लेषण के, बिना किसी सुसंगत आलोचना के ज़िज़ेक इस चीज़ को आकाशवाणी के समान स्वयंसिद्ध मानते हैं कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग एक विपदा या त्रासदी में समाप्त हुए। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि आज के समय में कम्युनिस्ट तब तक नया कुछ नहीं कर सकते, जब तक कि वह बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की तरफ़ देखना पूरी तरह से बन्द नहीं कर देते और यह मान नहीं लेते की वे पूर्ण असफलता में समाप्त हुए। इस इतिहास-दृष्टि के बारे में जितना कम कहा जाय, उतना बेहतर है। **हमने इसीलिए शुरू में कहा था कि मनोविश्लेषण और दर्शन के विद्यार्थी ज़िज़ेक का राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास के बारे में ज्ञान बेहद सीमित है, और जितना है वह भी अखबारी है या फिर नेशनल जियोग्राफिक, डिस्कवरी चैनल, हिस्ट्री चैनल आदि देखकर और रॉय मेदवेदेव और मार्क फेरो जैसों की किताबें पढ़कर निर्मित हुआ है।** ऐसे में, ज़िज़ेक से और कोई उम्मीद की भी नहीं जा सकती है।

ज़िज़ेक का मानना है कि समकालीन पूँजीवाद में बेरोज़गारी का स्वरूप बदल गया है। अब एक स्थायी क़रारनामे के तहत दीर्घकालिक रूप से शोषित होना एक विशेषाधिकार बन गया है। यानी कि स्थायी नौकरियाँ कम होती जा रही हैं, और एक ऐसा मज़दूर वर्ग पैदा हुआ है जो कि ढाँचागत तौर पर बेरोज़गारी में रहता है। स्पष्ट है कि ज़िज़ेक मज़दूर वर्ग के अनौपचारिकीकरण और एक विशाल असंगठित मज़दूर वर्ग के उदय की परिघटना को समझने में बिल्कुल नाकाम रहे हैं। साथ ही वह यह समझने में भी असफल रहे हैं कि मज़दूर वर्ग के अनौपचारिकीकरण की परिघटना कोई नयी चीज़ नहीं है। केवल फोर्डिस्ट और कल्याणकारी राज्य के दौर के पूँजीवाद में ही मज़दूर वर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को स्थायी रोज़गार का अधिकार मिल पाया था। फोर्डिस्ट असेम्बली लाइन के उदय के पहले का मज़दूर वर्ग भी मूल रूप से ढाँचागत बेरोज़गारी का शिकार था, और अक्सर वह उस प्रकार के पेशों के ज़रिये जीवनयापन करता था जिसे बुर्जुआ अर्थशास्त्री "स्वरोज़गार" की भ्रामक श्रेणी द्वारा व्याख्यायित

करते हैं। यह इत्तेफ़ाक नहीं था कि बीसवीं सदी के पहले के अधिकांश प्रमुख मज़दूर आन्दोलनों के केन्द्र में यही अनौपचारिक मज़दूर वर्ग था, जैसे कि 19वीं सदी के मध्य में यूरोप में मज़दूर मिलिटेंसी, पेरिस कम्यून, शिकागो का मज़दूर आन्दोलन वगैरह। इन मज़दूर आन्दोलनों में हिस्सा लेने वाला मज़दूर आम तौर पर स्थायी क़रार के तहत काम करने वाला मज़दूर नहीं था, बल्कि अनौपचारिक अस्थायी करार के तहत काम करने वाला मज़दूर था, या फिर स्वरोज़गार करने वाला मज़दूर था। उत्तर-फोर्डिस्ट दौर में अनौपचारिकीकरण एक नये रूप में और एक नये स्तर पर वापस लौटा है। इतिहास ने कुण्डलाकार गति की है। लेकिन जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं कि जिन बुनियादी वैचारिक तत्वों से ज़िज़ेक दयनीय रूप से महरूम हैं, उनमें एक इतिहासबोध भी है। नतीजतन, मौजूदा दौर में मज़दूर वर्ग के ढाँचे और स्वरूप में आने वाले बदलाव की ऐतिहासिकता (*हिस्टॉरिसिटी*) और उसकी नवीनता, दोनों को ही समझने में ज़िज़ेक नाकाम हैं। नतीजतन, एक और स्थापित मार्क्सवादी अवधारणा, यानी कि अतिरिक्त मज़दूर आबादी की अवधारणा को नाम बदलकर वह अपना आविष्कार क़रार देने पर आमादा हैं। लेकिन जिन लोगों को भी मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों का ज्ञान है, वह ज़िज़ेक पर हँस ही सकते हैं।

ज़िज़ेक कहते हैं कि आज जो पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलन हो रहे हैं वह बेहद अराजकतापूर्ण हैं और अस्त-व्यस्त (*मेसी*) हैं। लेकिन उन्हें इसी रूप में स्वीकार करने की ज़रूरत है। अस्त-व्यस्त आन्दोलनों के सैद्धान्तिकीकरण के व्यवस्थित होने का ज़िज़ेक विरोध करते हैं। यह भी एक विचित्र अवस्थिति है। **अगर वस्तुगत परिस्थिति में अराजकता, उथल-पुथल और अस्त-व्यस्तता है, तो इसका यह नतीजा कैसे निकाला जा सकता है उसका सैद्धान्तिक विश्लेषण भी अस्त-व्यस्त होना चाहिए?** समाज से लेकर प्रकृति तक में तमाम ऐसी परिघटनाएँ हैं जिनकी कारणात्मकता एकरेखीय नहीं है। लेकिन उनका सैद्धान्तिकीकरण व्यवस्थित है। बल्कि यह कहा जाना चाहिए कि जहाँ पर वस्तुगत परिस्थितियों में अराजकता का तत्व हावी है, वहाँ उनके सैद्धान्तिकीकरणों में अधिक व्यवस्था का तत्व होना चाहिए। ख़ैर, एक तरफ़ तो ज़िज़ेक मौजूदा प्रतिरोध-आन्दोलनों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने की हिमायत करते हैं, वहीं दूसरी ओर वह उसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि वह मौजूदा व्यवस्था का अंग हैं, और चूँकि उनके पास किसी भावी कम्युनिस्ट समाज का प्रस्ताव या *विज़न* नहीं है, इसलिए वह प्रगतिशील नहीं हैं, बल्कि वह उन वर्गों के आन्दोलन हैं जिन्हें अपनी विशेषाधिकार-प्राप्त सामाजिक स्थिति के खोने का भय है। इसके बाद वह यह भी कहते हैं कि भावी कम्युनिज़्म के बारे में कोई *विज़न* या ठोस प्रस्ताव होना ही नहीं चाहिए, और हमारा प्रस्ताव होना चाहिए कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस! अब आप ही बतायें कि ज़िज़ेक आख़िर कहना क्या चाहते हैं? कुछ नहीं! **यह सारा सैद्धान्तिक तमाशा एक निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद के अलावा और कुछ नहीं है, जिसे लकानियन शोरबे और हेगेलीय मसाले के साथ छद्म-मार्क्सवादी अंगीठी पर पकाकर परोसा जा रहा है।** इसका कोई *ऑपरेटिव पार्ट* नहीं है।

ज़िज़ेक जो कहते हैं उसे अगर सारांश में रखा जाय तो वह अन्तरविरोधी बातों का एक जंजाल बन जायेगा। **एक**–बीसवीं सदी का समाजवाद एक पूर्ण असफलता और विपदा के तौर समाप्त हुआ और आज की किसी भी प्रगतिशील परियोजना को इन प्रयोगों के अध्याय को ही बन्द नहीं करना चाहिए बल्कि उसे उठाकर कचरा-पेटी में फेंक देना चाहिए!

दो–फिर आज के दौर में भविष्य के उत्स कहाँ तलाशे जा सकते हैं? आज के प्रतिरोध आन्दोलनों में! और कम्युनिज़्म की किसी भी प्रकार की परिकल्पना नहीं की जानी चाहिए, और उसे नैसर्गिक तरीके से आने देना चाहिए! **तीन**–लेकिन आज के प्रतिरोध आन्दोलनों के पास कम्युनिज़्म की कोई परिकल्पना नहीं है और यह उनकी कमज़ोरी है; वह किसी प्रगतिशील यूटोपिया से अपनी गति ग्रहण नहीं करते, बल्कि "नयी" वेतनभोगी बुर्जुआज़ी के निचले संस्तरों और सम्भावित वेतनभोगी बुर्जुआज़ी के व्यवस्था से बहिष्कृत किये जाने के ख़िलाफ़ किये जाने वाले प्रतिरोध हैं; वे सर्वहारा प्रतिरोध नहीं हैं बल्कि सर्वहाराकरण के डर से पैदा होने वाले प्रतिरोध हैं। **चार**–आज के पूँजीवाद में लगान मुनाफ़े से ज़्यादा महत्वपूर्ण बन गया है और इस लगान का स्रोत है बौद्धिक सम्पदा (इण्टेलेक्चुअल कॉमंस) और प्राकृतिक सम्पदा (नैचुरल कॉमंस) पर इज़ारेदारी (जैसा कि हम दिखला चुके हैं, इसमें कुछ भी नया नहीं है)। इस पूरे सारांश में तमाम बातें एक-दूसरे को ही काटती हैं, और पाठक अन्त में किसी नतीजे पर नहीं पहुँचता। वास्तव में, ज़िज़ेक किसी नतीजे पर नहीं पहुँचते। लेकिन हम कहेंगे कि यही तो उनका नतीजा है! उन्हें किसी नतीजे पर पहुँचना ही नहीं था। उन्होंने किताब में 2011 को 'ख़तरनाक ढंग से सपने देखने' का वर्ष कहा है; हम कहेंगे कि यह ज़िज़ेक के लिए यह निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी और नुकसानदेह रूप से भ्रामक सैद्धान्तिकीकरण करने और दुनिया की एक दयनीय रूप से असफल व्याख्या करने का एक और वर्ष था!

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4

(नियम 8 के अन्तर्गत)

पत्रिका का नाम	दिशा सन्धान
पत्रिका की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	त्रैमासिक
पत्रिका का खुदरा बिक्री मूल्य	सौ रुपये
प्रकाशक का नाम	कात्यायनी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	कात्यायनी
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	प्रकाश पैकेजर्स, गोलागंज, लखनऊ
सम्पादक का नाम	कात्यायनी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज लखनऊ
स्वामी का नाम	कात्यायनी
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं कात्यायनी, यह घोषणा करती हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर

(कात्यायनी)

प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

आधुनिक यूनानी त्रासदी के त्रासद नायक के विरोधाभास

समाजवाद के जुमलों के तहत रैडिकल सुधारवाद का उदय

● सत्यम

आधुनिक यूनानी त्रासदी जारी है। इस त्रासदी के रचयिता अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, यूरोपीय संघ और विश्व बैंक हैं। इस त्रासदी के केन्द्र में जो देश है, उसे सहनशीलता की आख़िरी सीमाओं तक धकेल दिया गया है। विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का यह प्रयोग दिखला रहा है कि लोगों को जीवन के बुनियादी साधनों से वंचित करते हुए अधिक से अधिक पूँजी संचय करने और किसी भी तरीके से अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमा लेने की हवस किस हद तक जा सकती है। यूनान में एक सामाजिक विस्फोट की स्थिति पैदा हो चुकी है। सड़कों पर आप बेघर और बेरोज़गार लोगों के हुजूम देख सकते हैं; आप कूड़ेदानों पर भोजन की तलाश करते ग़रीब लोगों को देख सकते हैं; आप सार्वजनिक स्थानों पर हो रही आत्महत्याओं के साक्षी बन सकते हैं; और आप जनता के प्रतिरोध के साक्षी भी बन सकते हैं। वैश्विक आर्थिक संकट की शुरुआत के बाद से यूनान में 27 आम हड़तालें हो चुकी हैं; हर रोज़ देश की राजधानी एथेंस और अन्य बड़े शहरों में छोटे-बड़े प्रदर्शन होते रहते हैं। कई जगहों पर ये प्रदर्शन हिंस्र रूप ले रहे हैं और पुलिस से टकरा रहे हैं। यूनान आज जिस संकट के केन्द्र में है, वह वास्तव में 2007 में अमेरिका में सबप्राइम संकट के रूप में शुरू हुआ था। 2007 से ही पूरी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था भयंकर ढाँचागत संकट का शिकार है।

इस संकट का केन्द्र पश्चिम से पूर्व की ओर स्थानान्तरित हो रहा है। अमेरिका भी अभी मन्दी की चपेट में ही है, लेकिन संकट के सबसे गम्भीर परिणाम अब यूरोप की परिधिगत अर्थव्यवस्थाओं में देखने में आ रहे हैं जैसे आइसलैण्ड, आयरलैण्ड, पुर्तगाल, यूनान और स्पेन में। इनमें भी यूनान की हालत सबसे बुरी है।

संकट के यूरोप तक आने का अतिसंक्षिप्त ब्यौरा

सभी जानते हैं कि इस संकट का मूल कारण है वित्तीय पूँजी की सट्टेबाज़ी और उसके प्रभुत्व के तहत एक जुआघर अर्थव्यवस्था का निर्माण। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले तक पूँजीवादी संकट मुख्य तौर पर अपने आपको अति-उत्पादन के क्लासिकीय संकट के तौर पर पेश कर रहा था; द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त से लेकर 1973 में डॉलर-स्वर्ण मानक के पतन तक का दौर ऋण-वित्त पोषित आर्थिक तेज़ी का दौर था, जिसमें अति-उत्पादन के संकट से निकलने के लिए वित्तीय पूँजी ने ऋण से उपभोग का वित्त-पोषण किया; इसके ज़रिये कमाई का प्रमुख माध्यम ब्याज़ बन गया। इसके साथ ही, एक और ज़्यादा बड़ा और नये किस्म का वित्तीय बाज़ार अस्तित्व में आया। ऋण भी एक माल बन गया और उसे भी बेचा जाने लगा। हर माल के बाज़ार की तरह इस माल के बाज़ार में भी एक दिन अति-उत्पादन (आधिक्य) का संकट आना ही था। 1990 के दशक के अन्त तक वह संकट प्रकट होने लगा था। लेकिन 2000 के दशक में यह संकट नये वेग और गहराई के साथ प्रकट हुआ। एशियाई मौद्रिक संकट, डॉट कॉम बुलबुले और आवास बाज़ार बुलबुले के फूटने के बाद 2006 के अन्त से सबप्राइम ऋण के बाज़ार में संकट के चिन्ह दिखने लगे थे। सबप्राइम ऋण का आविष्कार वास्तव में ऋण के बाज़ार में अति-उत्पादन के संकट से निपटने के लिए ही किया गया था। पूँजी की प्रचुरता के कारण अब ऋण के पर्याप्त ख़रीदार खाते-पीते उपभोक्ताओं के बीच नहीं रह गये थे। यानी कि मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग का हिस्सा अब ऋण बाज़ार के लिए सन्तृप्ति बिन्दु तक पहुँच रहा था। नतीजतन, बैंकों और वित्तीय एजेंसियों को अपनी पूँजी की प्रचुरता का संकट ख़त्म करने के लिए और साथ ही औद्योगिक जगत के अति-उत्पादन के संकट को ख़त्म करने के लिए नये ऋण लेने वाले लोग चाहिए थे। और अब वे लोग केवल ग़रीब आबादी में मिल सकते थे। इसी आबादी के लिए जिस ऋण का आविष्कार किया गया, उसे सबप्राइम ऋण कहा गया, जो कि ऐसे लोगों को दिया जाता था जिनका ऋण इतिहास (बैंक बैलेंस) अच्छा नहीं रहा है। इस ऋण पर परिवर्तनशील ब्याज़ लगाया जाता था, जिससे कि बैंक मूल धन को शुरुआती कुछ किश्तों में ही ब्याज़ समेत वसूल ले। कई बार इस ऋण पर 30 प्रतिशत तक ब्याज़ भी वसूला जाता था। नवउदारवादी अर्थशास्त्र के कठमुल्लों के अनुसार सबप्राइम ऋण का सिद्धान्त बिल्कुल सही था, जिसे कि बैंक और वित्तीय संस्थाएँ सही ढंग से लागू नहीं कर पायीं। लेकिन वास्तविकता यह है कि एक व्यापक वित्तीय बाज़ार द्वारा जब यह रणनीति अपनायी जायेगी तो निश्चित तौर पर सभी आम ग़रीब वर्गों के लोग सबप्राइम ऋण की किश्तों का भुगतान नहीं कर पायेंगे। यही हुआ भी। शुरुआती दौर में यह रणनीति सही ढंग से काम करती रही। लेकिन जैसे ही सबप्राइम ऋण लेकर मकान, गाड़ी आदि ख़रीदने वाले लोगों ने डिफॉल्ट करना शुरू किया वैसे ही उनकी सम्पत्तियों को बैंकों ने नीलामी के ज़ब्त करना शुरू किया। लेकिन दिक्कत यह थी कि अब बाज़ार में ख़रीदार ही

नहीं बचे थे, जो कि इन घरों, कारों आदि को ख़रीदते। नतीजतन, बैंकों की पूँजी बाज़ार में फँस गयी और वित्तीय बाज़ार में तरलता का संकट पैदा हो गया। बैंक अपने खाताधारकों को पैसा देने में असफल होने लगे और इसी के साथ सबप्राइम ऋण संकट की शुरुआत हुई।

चूँकि द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले ही वित्तीय बाज़ार मोटे तौर पर वैश्विक हो चुके थे, इसलिए यह लाज़िमी था कि अमेरिकी वित्त बाज़ार में पैदा यह संकट देखते ही देखते पूरी दुनिया में फैल जायेगा। इसका कारण यह था कि सबप्राइम ऋण देने वाले तमाम बैंकों ने जो ऋण दिये थे, उन्हें अन्य अच्छी श्रेणी के ऋणों के साथ मिश्रित करके *कोलैटरल डेट ऑब्लिगेशन* नामक विशेष वित्तीय उपकरण के तौर पर दुनिया के अन्य बैंकों को भी बेच दिया। फिर उन बैंकों ने उन्हें अपने देश के सबप्राइम और अच्छी श्रेणी के ऋणों के साथ मिश्रित करके वित्तीय पैकेज के तौर पर अन्य देशों के बैंकों को बेच दिया। जिस ऋण पर मूलधन की भी वापसी नहीं हो पा रही थी, वह एक प्रकार से जहरीला वित्तीय कचरा था। बैंकों द्वारा वित्तीय सट्टेबाज़ियों के ज़रिये यह ज़हरीला वित्तीय कचरा पूरी दुनिया में फैल गया। ऐसे में, सबसे पहले उन देशों को ही तबाह होना था जिनकी अर्थव्यवस्थाएँ अपेक्षाकृत कमज़ोर थीं, या जिनके वित्तीय बाज़ार अभी वैश्विक पूँजी बाज़ारों के साथ पर्याप्त रूप से समेकित नहीं हुए थे। 2007 में संकट का केन्द्र अमेरिका था। अमेरिका के लिए भी यह संकट महामन्दी के बाद सबसे भयंकर संकट था, और अभी तक अमेरिका उससे उबर नहीं पाया है। लेकिन अपने वैश्विक साम्राज्यवादी वर्चस्व के कारण इस संकट के प्रभावों को वह कुछ हद तक यूरोपीय देशों की ओर स्थानान्तरित करने में सफल रहा है। पूँजी की प्रचुरता के बूते पर अमेरिका ने संकट को किसी तरीके से ख़तरनाक हदों के पार जाने से रोका हुआ है, हालाँकि अमेरिका में इस समय बेघर लोगों की समस्या और बेरोज़गार 1930 के दशक के बाद सबसे ज़्यादा है। जैसे ही यूरोप के बैंक ध्वस्त होने शुरू हुए, वैसे ही सबसे पहले वे अर्थव्यवस्थाएँ संकट की चपेट में आयीं जो कि सबसे कमज़ोर थीं। इन्हीं अर्थव्यवस्थाओं को अभी 'पिग्स' (पुर्तगाल, आइसलैण्ड, आयरलैण्ड, ग्रीस, स्पेन) कहा जा रहा है। यहाँ पर यह संकट सार्वभौम ऋण संकट के रूप में प्रकट हुआ है। यानी कि यूरोप के इन अपेक्षाकृत कमज़ोर आर्थिक ढाँचे वाले देशों की सरकारों पर अमेरिका और यूरोपीय संघ का ज़बर्दस्त दबाव है कि वे अपने बैंकों को 'बेल आउट' पैकेज देकर बचाएँ। इसका सीधा अर्थ यह है कि इन देशों के बैंक साम्राज्यवादी वित्तीय एजेंसियों और उन्नत साम्राज्यवादी देशों के बैंकों से लिये गये ऋणों (वित्तीय कचरे) का भुगतान करें। इन देशों की सरकारों के पास मौजूद विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के भीतर रहते हुए, इसके अलावा कोई चारा भी नहीं है। नतीजतन, ये सरकारें सार्वजनिक मदों में कटौती करके इन बैंकों को 'बेलआउट' पैकेज देने को मजबूर हैं। इसके लिए उन्हें 'किफायतशारी' (ऑस्टिेरिटी) की नीतियों को लागू करना पड़ रहा है। जाहिर है, कि यह किफायतशारी जनता के लिए होने वाले ख़र्चों में कटौती करके की जा रही है। जिन देशों की अर्थव्यवस्थाएँ सबसे कमज़ोर हैं, वहाँ पर सरकारों को सार्वजनिक मदों में इतनी कटौती करनी पड़ रही है कि उनके पास अगले वित्तीय वर्ष में सरकारी कर्मचारियों को वेतन देने, शिक्षा, चिकित्सा और आवास जैसे सार्वजनिक मदों में खर्च करने के लिए भी पैसे नहीं हैं। यही स्थिति यूनान में है। हाल ही में यूरोपीय संघ और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के दबाव में यूनान में पासोक और न्यू डेमोक्रेसी पार्टी की गठबन्धन सरकार ने नयी किफायतसारी की नीतियों को लागू करने का निर्णय लिया है, और यूनानी संसद को भंग न करवाकर

रैडिकल वामपन्थी पार्टी सिरिज़ा ने भी एक तरह से इसका मौन समर्थन किया है, क्योंकि अगर सिरिज़ा के सांसदों ने इस प्रस्ताव के ख़िलाफ़ संसद सदस्यता से इस्तीफ़ा दिया होता तो यूनानी संसद को भंग करना पड़ता और नये चुनाव कराने पड़ते। लेकिन सिरिज़ा के मौन समर्थन के चलते यूनानी जनता के लिए आने वाले वर्ष में और अधिक तकलीफ़ों का इन्तज़ाम कर दिया गया है।

इस समय पूँजीवादी विश्व व्यवस्था का संकट सान्द्र रूप में प्रकट हो रहा है। विश्व साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों की जो तमाम गाँठें इस समय दुनिया में पैदा हो रही हैं, उनमें से एक यूरोप और विशेषकर यूनान का सार्वभौम ऋण संकट है। इसका कारण यह है कि यह पूँजीवादी आर्थिक संकट अब एक सामाजिक और आर्थिक विस्फोट की तरफ़ जा रहा है और अभी कोई भी विकल्प यूनान की जनता के सामने नहीं है। फिलहाल, यूनान की जनता का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा एलेक्सिस सिप्रास के नेतृत्व वाली सिरिज़ा पार्टी को एक उम्मीद की किरण के तौर पर देख रहा है क्योंकि इस पार्टी ने अपने कार्यक्रम में जो प्रस्ताव रखे हैं, उसमें किफ़ायतसारी की नीतियों को सीमित करने, बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने, कल्याणकारी नीतियों (जैसे कि आबादी के एक हिस्से के लिए मुफ्त या सब्सिडाइज़्ड शिक्षा, चिकित्सा और आवास), नाटो से अलग होने, साम्राज्यवादी युद्धों में सहायता न करने आदि जैसी नीतियों की बात की गयी है। लेकिन सवाल यह है कि क्या सिरिज़ा पूँजीवादी व्यवस्था का विकल्प पेश करने की बात कर रही है? या फिर वह पूँजीवादी व्यवस्था को ही जनता के पक्ष में कल्याणकारी नीतियों के ज़रिये प्रबन्धित करने की बात कर रही है? कहने के लिए वह सामाजिक जनवाद की विरासत और नीतियों को ठुकरा रही है। लेकिन साथ ही वह 'शीत प्रासाद पर धावे' की रणनीति को भी दुस्साहसवाद मानती है। क्रान्तिकारी रास्ते से पूँजीवादी राज्यसत्ता के ध्वंस और समाजवादी राज्यसत्ता की स्थापना की बजाय वह अभी बुर्जुआ संसदवाद, रैडिकल सुधारवाद और साम्राज्यवाद से मोलभाव की नीतियों को ही तरजीह दे रही है। लेकिन साथ ही वह ऐसे जुमलों का इस्तेमाल भी कर रही है जो समाजवाद, कम्युनिज़्म और मज़दूर सत्ता का ज़िक्र कर रहे हैं। नतीजतन, सिरिज़ा की पूरी राजनीतिक अवस्थिति दुनिया में मार्क्सवादी-लेनिनवादी हलकों में एक भ्रम की स्थिति पैदा कर रहे हैं। इसके कारण समझने के लिए हमें सिरिज़ा की राजनीति, वर्ग आधार और इतिहास की थोड़ा करीबी से पड़ताल करनी होगी।

सिरिज़ा की राजनीति की दुविधा: रैडिकल सुधारवाद या समाजवादी क्रान्ति?

सिरिज़ा का अर्थ है 'रैडिकल वामपन्थी गठबन्धन'। इसकी शुरुआत औपचारिक तौर पर तो 2004 के चुनावों के पहले हुई थी। लेकिन जिन धाराओं के एक साथ आने पर यह पार्टी बनी थी, उन धाराओं का इतिहास जाने बग़ैर सिरिज़ा की वर्तमान राजनीति को समझना मुश्किल है। इसकी शुरुआत यूनानी कम्युनिस्ट पार्टी में 1968 में हुई फूट में देखी जा सकती है। यूनान की कम्युनिस्ट पार्टी में दो धड़ों के बीच 1968 में फूट हुई। यह फूट, यूरोप की अन्य कम्युनिस्ट पार्टियों में 1960 के दशक में हुई फूटों के समान ही, सोवियत संघ-समर्थक धड़े और

सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवाद का विरोध करने वाले धड़ों के बीच हुई। यूनान में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का विरोध यूरोकम्युनिस्ट कर रहे थे। वे यूनान की कम्युनिस्ट पार्टी से अलग हो गये। यहाँ पर भी हम यूरोप की अन्य कम्युनिस्ट पार्टियों से एक समानता देख सकते हैं। यहाँ पर जो लोग यूनान की कम्युनिस्ट पार्टी से अलग हुए वे सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद को बोल्शेविज़्म की नैसर्गिक परिणति के रूप में देख रहे थे और सोवियत साम्राज्यवाद के पूर्वी यूरोप में किये गये कुकर्मों की जड़ पार्टी, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और लेनिन के कथित "हिरावलवाद" में देख रहे थे। कई देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों में यह अवस्थिति यूरोप में पैदा हुए "माओवाद" ने अपनाई जिसके लिए "माओवाद" का अर्थ था पार्टी और राज्य के विरुद्ध क्रान्ति। ऐसे तमाम यूरोपीय "माओवादी" महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को पार्टी में मौजूद बुर्जुआ हेडक्वार्टर के ख़िलाफ़ क्रान्ति की बजाय, पार्टी के ही ख़िलाफ़ क्रान्ति समझते थे! कुछ अन्य देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के मुद्दे पर जो फूट हुई उसमें यह अवस्थिति अपनाने वाले "माओवादी" न होकर नवट्रॉट्स्कीपन्थी, यूरोकम्युनिस्ट, "वामपन्थी" सामाजिक जनवादी आदि थे। 1980 के दशक में ये दोनों धड़े एक बार फिर से साथ आये और उन्होंने वामपन्थी प्रगतिशील गठबन्धन (सिनास्पिमोस) का निर्माण किया। 1989 में पासोक (यूनान की सामाजिक जनवादी पार्टी) की सरकार में हुए घपलों-घोटालों के चलते उन्होंने 'न्यू डेमोक्रेसी' नामक पार्टी के साथ गठबन्धन सरकार बनायी। कुछ माह बाद ही इस गठबन्धन में पासोक फिर से शामिल हो गयी। इसके कारण सिनास्पिमोस के अधिकांश युवा रैडिकल लोगों ने पार्टी छोड़कर एक नया संगठन 'न्यू लेफ्ट करेण्ट' बना लिया, जो कि वर्तमान समय में एक अन्य वामपन्थी संगठन 'अन्तार्स्या' के अंग हैं। अन्तार्स्या का अर्थ है पूँजीवाद-विरोधी वामपन्थी गठबन्धन। इसमें भी विभिन्न किस्म के वामपन्थी हैं, लेकिन सबसे प्रभावी ट्रॉट्स्कीपन्थी हैं। इसके बाद सिनास्पिमोस में एक फूट पड़ी, जिसका एक धड़ा आगे चलकर ग्रीक कम्युनिस्ट पार्टी (के.के.ई.) बना और दूसरा हिस्सा जो कि यूरोपीय संघ का पक्षधर रहा, उसने सिनास्पिस्मोस नाम बरकरार रखा। 1992 में सिनास्पिस्मोस ने मास्ट्रिख़्ट सन्धि के पक्ष में वोट डाला। अगले चुनावों उसे ज़बर्दस्त नुकसान उठाना पड़ा। 2000 के दशक के आरम्भ में सिनास्पिस्मोस ने भूमण्डलीकरण-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों में भाग लिया, लेकिन ये प्रतिरोध आन्दोलन वैसे ही भूमण्डलीकरण का विरोध कर रहे थे, जैसे कि विश्व सामाजिक मंच करता है! यानी, पूँजीवाद का विरोध नहीं करके, सिर्फ भूमण्डलीकरण और नवउदारवाद का विरोध करना, मानो वे पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक परिणति न हों। दूसरे शब्दों में कहें तो अनकहे तौर पर एक 'मानवीय चेहरे वाले पूँजीवाद' की कल्पना करना। 2004 में सिनास्पिस्मोस ने कुछ अन्य छोटे वाम संगठनों के साथ एकता की, और इस नयी एकता को ही 'सिरिज़ा' नाम दिया गया। सिरिज़ा में अभी सिनास्पिस्मोस का धड़ा ही सबसे बड़ा है। अन्य छोटे धड़ों में ट्रॉट्स्कीपन्थी, "माओवादी", यूरोकम्युनिस्ट, पर्यावरणवादी मार्क्सवादी, "वामपन्थी" सामाजिक जनवादी शामिल हैं। सिरिज़ा के प्रमुख लोगों में 1989 की गठबन्धन सरकार के कुछ मन्त्री भी मौजूद हैं। साथ ही, कुछ ऐसे लोग भी हैं जो मज़दूर आन्दोलन से लम्बे समय से जुड़े रहे हैं। कुछ का कहना है कि यूनान को यूरोपीय संघ से बाहर हो जाना चाहिए। सिरिज़ा में दक्षिणपन्थी सामाजिक जनवादी अवसरवाद की ओर रुझान रखने वाला धड़ा ज्यादा शक्तिशाली है, और जो धड़ा अपने को "वामपन्थी" कहने का हक़दार है, वह भी ज़्यादा से ज़्यादा

रैडिकल वाम सुधारवादी ही है। सिरिज़ा का पब्लिक सेक्टर की कुछ ट्रेड यूनियनों पर कुछ प्रभाव है। लेकिन ज़्यादातर ट्रेड यूनियनें के.के.ई. के प्रभाव में हैं।

इस इतिहास से स्पष्ट है कि सिरिज़ा में जो "वाम" शक्तियाँ शामिल हैं, वे किसी भी रूप में मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं हैं, और उनमें जो "माओवादी" हैं, उनके माओवाद के संस्करण से माओ के विचारों का कोई लेना-देना नहीं हैं, और वह एक विशेष किस्म का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद ही है। जो धड़ा सिरिज़ा में सबसे शक्तिशाली है, यानी सिनास्पिस्मोस का धड़ा, वह यूरोकम्युनिज़्म की धारा से सबसे ज़्यादा प्रभावित है, जो कि और कुछ नहीं बल्कि सामाजिक-जनवाद का एक नया संस्करण है। सामाजिक-जनवाद कम-से-कम औपचारिक तौर पर राज्यसत्ता और सर्वहारा अधिनायकत्व की ज़रूरत से इंकार नहीं करता, या कम-से-कम उसमें महज़ परिवर्तन की बात करता है। लेकिन यूरोकम्युनिज़्म औपचारिक तौर पर भी मार्क्सवाद के इन कोर सिद्धान्तों को तिलांजलि देता है। सिरिज़ा ने अपना जो 40-बिन्दु वाला कार्यक्रम घोषित किया है, वह भी किसी भी रूप में एक कम्युनिस्ट कार्यक्रम नहीं है। उसे आप ज़्यादा से ज़्यादा एक सामाजिक-जनवादी और सुधारवादी कार्यक्रम कह सकते हैं, जो कि कल्याणकारी नीतियों को शुरू करने और यूरोपीय संघ से अलग हुए बग़ैर किफायतसारी की नीतियों को समाप्त करने की बात करता है। जाहिर है, यह एक यूटोपियाई योजना है। लेकिन जिन चीज़ों का प्रस्ताव इस कार्यक्रम में रखा गया है, उसमें यूरोपीय संघ से बाहर जाने और यूरो का परित्याग करने का कोई ज़िक्र नहीं है। वास्तव में, उसमें यह बात कही गयी है कि यूनान पर साम्राज्यवादी देशों और एजेंसियों द्वारा जो देनदारियाँ थोपी जा रही हैं, उनका फिर से ऑडिट कराया जाय। यानी कि साम्राज्यवादी ऋणों को (जो कि बिल्कुल अन्यायपूर्ण हैं और पश्चिम के वित्तीय सरदारों के जुए का ख़र्च यूनानी जनता पर थोपने के समान है) रद्द करने की कोई बात नहीं की गयी है, बस यह कहा गया है कि इन ऋणों की फिर से "सही" तरीके से गणना होनी चाहिए। साथ ही, हाल ही में सिरिज़ा के नेता एलेक्सिस सिप्रास ने जी20 के नेताओं से बातचीत करते हुए इस बात का आश्वासन दिया कि उन्हें सिरिज़ा से डरने की कोई ज़रूरत नहीं है। सिरिज़ा सिर्फ़ यूरोपीय संघ, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक से रिश्तों की शर्तों में कुछ संशोधन की बात कर रहा है; उसे इतना रैडिकल न समझा जाय कि वह आज की विश्व व्यवस्था में कहीं समायोजित नहीं हो पाये। सिरिज़ा के नेताओं का विचार है कि यूनान में कल्याणकारी नीतियों को लागू करने में एक और कारक उनकी सहायता करेगा और वह कारक है फ्रांस में फ्रांस्वा ओलान्दे की सरकार का आना! यह भी एक भ्रम है। ओलान्दे को आप ज़्यादा से ज़्यादा एक 'मानवीय चेहरे वाला साम्राज्यवादी' कह सकते हैं। अभी माली में फ्रांस ने जिस तरीके से साम्राज्यवादी हस्तक्षेप किया, उससे कम-से-कम सिरिज़ा जैसी पार्टियों की ग़फ़लत दूर हो जानी चाहिए। लेकिन फिर भी अभी तक सिरिज़ा ने ओलान्दे से उम्मीद बाँध रखी है, कि जर्मन दबाव के समक्ष वह उनकी मदद करेंगे। सिरिज़ा ने अपने कार्यक्रम में कहा है कि वह नाटो की कार्रवाइयों में भाग नहीं लेगा, यूनानी सैनिकों को यूनान की सीमा से बाहर कहीं नहीं भेजेगा, और 1967 की सीमाओं के अनुसार एक फिलिस्तीनी राज्य का समर्थन करेगा। लेकिन इसमें एक भी ऐसी बात नहीं है जो तमाम सामाजिक-जनवादी और सुधारवादी पार्टियाँ न कहती हों। यह अभी सामाजिक-जनवाद की सीमा का अतिक्रमण और एक समाजवादी कार्यक्रम की सीमा में प्रवेश किसी भी मानक से नहीं माना जायेगा।

सिरिज़ा को पिछले तीन चुनावों में ज़बर्दस्त फ़ायदा हुआ है और उसके वोटों का हिस्सा 4.6 प्रतिशत से 17 प्रतिशत और फिर हालिया चुनावों में 27 प्रतिशत हो गया है। सिरिज़ा इस समय दूसरी सबसे बड़ी पार्टी है और प्रमुख विपक्षी दल है। लेकिन इसके साथ ही जिस अन्य पार्टी के वोट प्रतिशत बढ़े हैं वह है 'गोल्डेन डॉन' जो कि यूनान के नवनात्सियों की पार्टी है। यह पार्टी प्रवासी मज़दूरों के ख़िलाफ लगातार नवनात्सी हरक़तें कर रही है; इसने अपनी ब्रिगेडें बना रखी हैं, जो प्रवासी मज़दूरों, और हर प्रकार के प्रतिरोध समूहों पर हमला करती है। अगर सिरिज़ा यूनान की समस्याओं का हल करने में असफल होती है, तो फिर गोल्डेन डॉन का तेज़ी से उभार तय है। और सिरिज़ा फिलहाल जिस राजनीति पर चल रही है, उसमें इस बात की पूरी गुंजाइश है कि अगले चुनावों में उसकी सरकार बनने के बाद, वह भी आर्थिक और राजनीतिक मोर्चे पर बुरी तरह से असफल होगी।

सिरिज़ा की राजनीति यह है कि वह संसद की राजनीति को सामाजिक आन्दोलनों के साथ चलायेगी। यानी एक ओर वह प्रतिनिधि बुर्जुआ जनवाद की संस्थाओं, यानी कि संसद व अन्य प्रातिनिधिक संस्थाओं में हिस्सेदारी करेगी, वहीं दूसरी ओर वह पार्टी को सरकार से अलग रखते हुए तमाम नये सामाजिक आन्दोलनों में हिस्सेदारी करेगी। नये सामाजिक आन्दोलनों से सिरिज़ा के नेताओं का क्या अर्थ है? बिल्कुल वही अर्थ है जो विश्व सामाजिक मंच के नेताओं का है! इन आन्दोलनों के "सामाजिक" पहलू पर यूँ ही ज़ोर नहीं डाला गया है; इसका मकसद है इसके राजनीतिक पहलू का दमन करना। यानी जनता सड़कों पर उतरे ज़रूर, आन्दोलन भी करे, वह आन्दोलन जुझारू और रैडिकल तेवर के साथ भी करे तो कोई दिक्कत नहीं है! लेकिन अन्त में, वह माँग करे! खुद पूँजीवादी सत्ता को उखाड़ फेंकने के चक्कर में न पड़े। यानी, सत्ता के प्रश्न को, जो कि मूल राजनीतिक प्रश्न है, न उठाये। दूसरे शब्दों में कहें, तो आन्दोलन को सामाजिक होना चाहिए, राजनीतिक नहीं। राजनीति का प्रश्न, या सत्ता का प्रश्न बुर्जुआ संसद के द्वारा ही हल होगा। साथ में, तृणमूल धरातल पर कुछ ऐसी चीज़ें होनी चाहिए जो कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के झटकों के असर को आंशिक तौर पर सोख लें, और जनता को विद्रोह की तरफ़ जाने से रोकें! मिसाल के तौर पर, सिरिज़ा ने अभी से ही ज़मीनी धरातल पर 'सॉलिडैरिटी नेटवर्क' नामक संस्थाएँ बना रखी हैं, जो कि सरकार और बाज़ार की प्रणाली से अलग, जनता के अलग-अलग हिस्सों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय में सहायता करती हैं, उनमें मध्यस्थ का काम करती हैं। इन्हें "वामपन्थी बाज़ार" कहा जा सकता है! ऐसे "वामपन्थी बाज़ारों" के ज़रिये और इसी प्रकार की अन्य सहकारी संस्थाओं के ज़रिये सिरिज़ा के लोग पूँजीवादी बाज़ार की आँच से जनता की रक्षा करना चाहते हैं! वे पूँजीवादी बाज़ार व्यवस्था को ख़त्म करने की बात कहीं नहीं करते। वे सिर्फ़ इतना कहते हैं कि 'अक्टूबर' बीते हुए ज़माने की बात है; अब शीत प्रासाद पर धावे की रणनीति काम नहीं आने वाली; अगर ऐसी रणनीति के ज़रिये कोई मज़दूर सत्ता अस्तित्व में आती है तो उसके सर्वसत्तावादी हो जाने की पूरी गुंजाइश होगी; और फिर वे कहते हैं कि 'देखिये सोवियत संघ का क्या हश्र हुआ!' इसलिए सिरिज़ा जो रास्ता सुझा रही है, जिसे वह इक्कीसवीं सदी का समाजवाद कह रही है, वह यह है कि बुर्जुआ संसदवाद के ज़रिये पहले एक प्रगतिशील सरकार बनायी जाये; उसके बाद सबसे पहले एक कल्याणकारी राज्य का निर्माण किया जाये; और उसके बाद एक विशेष किस्म के समाजवाद की तरफ़ क्रमिक संक्रमण किया जाय, जिसे

हम 'इक्कीसवीं सदी का समाजवाद' कह सकते हैं। यह पूरी सोच इस बात को एक आकाशवाणी-सरीखा सत्य मानती है कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग पूर्ण असफलता में समाप्त हुए और उनके आलोचनात्मक विवेचन की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इस मायने में उस पर उत्तरमार्क्सवादी चिन्तकों का, जैसे कि ज़िज़ेक, बेन्यू, आदि, सिरिज़ा पर गहरा प्रभाव है। यह इत्तेफाक नहीं है। वास्तव में, सिरिज़ा के भीतर ज़िज़ेक के भी कई अनुयायी हैं। हालाँकि, ज़िज़ेक का सिरिज़ा से कुछ मुद्दों पर मतभेद है (जिनका हमारे लिए कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि ज़िज़ेक भी एक 'अज्ञात कम्युनिज़्म' की बात करते हैं जिसके बारे में कोई भी परिकल्पना पहले से दिये जाने के वह एकदम ख़िलाफ़ हैं), जैसे कि एक मज़बूत राज्यसत्ता की ज़रूरत, तृणमूल जनवाद (ग्रासरूट डेमोक्रेसी), सामाजिक आन्दोलन, आदि। लेकिन चूँकि ज़िज़ेक के पास स्वयं कोई प्रस्ताव नहीं है, और चूँकि वह कोई भी क्रान्तिकारी प्रस्ताव रखने के ही ख़िलाफ़ हैं, इसलिए उनके सिरिज़ा से मतभेदों की कोई अहमियत नहीं है। वह सिर्फ़ सवाल उठा सकते हैं। अगर कोई प्रस्ताव रखा जाता है, तो भी ज़िज़ेक को खुजली उठती है कि कोई भी प्रस्ताव क्यों रखा गया; और अगर कोई प्रस्ताव नहीं रखा जाता है, तो भी उन्हें पेटदर्द होता है कि कोई प्रस्ताव क्यों नहीं रखा गया! लेकिन ज़िज़ेक को उनके 'कुर्सीतोड़ क्रान्तिकारी दर्शन' के साथ छोड़कर सिरिज़ा पर वापस आते हैं।

सिरिज़ा का मानना है कि संसद में सरकार बनाने और सामाजिक आन्दोलनों में शिरकत के साथ वह प्रातिनिधिक जनवाद और तृणमूल जनवाद का एक मिश्रण तैयार करेगी, जो कि पूँजीवादी जनवाद की समस्याओं का भी समाधान करेगा और समाजवादी राज्यसत्ता की समस्याओं का भी समाधान करेगा। लेकिन कुल मिलाकर यह खिचड़ी इसलिए पकायी गयी है, कि सामाजिक-जनवाद की समस्याओं का समाधान किया जाय। यूरोप में सामाजिक जनवाद की ग़द्दारी के करीब 100 वर्षों ने उस पर से जनता के भरोसे को काफ़ी हद तक ख़त्म कर दिया है। यूरोप में सामाजिक जनवादी ताक़तें जो राजनीतिक अवस्थितियाँ अपना रही हैं, उनके कारण उनमें और नवउदारवादी ताक़तों में फर्क करना मुश्किल हो गया है। ऐसे में, सामाजिक जनवाद को सिरिज़ा जैसी ताक़त की ज़रूरत थी, जिसमें कि तमाम नवट्रॉट्स्कीपन्थी, एनजीओ, नारीवादी, "माओवादी", यूरोकम्युनिस्ट, पर्यावरणवादी और तमाम किस्म के सुधारवादी शामिल हों। यह सिरिज़ा के सामाजिक जनवाद को एक रैडिकल सुधारवादी तेवर देता है। एक राजनीतिक शक्ति के तौर पर वामपन्थी रैडिकल सुधारवाद अभी एक ख़र्च ताक़त नहीं बना है और उसका सन्तृप्ति बिन्दु अभी नहीं आया है।

अगर अगले चुनावों में सिरिज़ा जीतती है और सरकार बनाती है, तो इस बात की पूरी उम्मीद की जा सकती है कि वह यूनान की नयी पासोक (सामाजिक जनवादी पार्टी) बन जायेगी। सिरिज़ा का नेतृत्व यह देख रहा है कि यूनानी समाज किस ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा है। एक ओर व्यापक निम्न मध्यवर्गीय आबादी का सर्वहाराकरण हो रहा है, सर्वहारा वर्ग की जीवन स्थितियाँ लगातार बद से बदतर होती जा रही हैं, और दूसरी तरफ एक नवधनाढ्य बुर्जुआज़ी पैदा हुई है जो पुराने कुलीन बुर्जुआ वर्ग के साथ मिलकर गोल्डेन डॉन जैसी नवनात्सी ताक़तों को प्रश्रय दे रही है। आबादी में बहुत छोटा हिस्सा अब ऐसा रह गया है, जो किसी 'सेण्ट्रिस्ट पोज़ीशन' पर खड़ा हो। आबादी का राजनीतिक गैल्वनीकरण आश्चर्यजनक तेज़ी के साथ हो रहा है और ज़्यादा से ज़्यादा लोग या तो वाम

पक्ष की तरफ़ जा रहे हैं, या फिर 'यूनान की समस्याओं के समाधान के लिए' गोल्डेन डॉन के पक्ष में खड़े हो रहे हैं। सिरिज़ा इस स्थिति में एक रैडिकल दिखने वाला विकल्प पेश कर रही है, जो कि अब पासोक में नहीं दिखायी देता है।

सिरिज़ा ने सिद्धान्ततः अपने आपको एक मास पार्टी घोषित किया है। सिरिज़ा की मीटिंगों में हिस्सेदारी कोई भी कर सकता है, यहाँ तक कि वह भी जो सदस्य नहीं है। ऐसे में, सिरिज़ा में ज़मीनी धरातल पर तरह-तरह के लोग घुस चुके हैं। एक पूरी तरह खुली हुई पार्टी के साथ जो कुछ होने की उम्मीद की जा सकती है, वह सबकुछ सिरिज़ा के साथ हो रहा है। सिरिज़ा का मानना है कि पुरानी सुधार बनाम क्रान्ति की बहस अब बेकार हो चुकी है। लेकिन वास्तव में सिरिज़ा यह कह रही है कि इस बहस में अब सुधारवाद का पक्ष विजयी हो चुका है। बस सिरिज़ा उसे 'नया क्रान्तिकारी रास्ता' करार दे रही है। सिरिज़ा ने 'यूनानी सामाजिक मंच' में भी हिस्सेदारी की थी। यह विश्व सामाजिक मंच का ही यूनानी अध्याय है। उसकी पूरी शब्दावली में वर्ग कहीं नहीं आता। सिरिज़ा की प्रिय सामाजिक श्रेणी है 'समुदाय'! इससे आप सिरिज़ा की राजनीति के एक और स्रोत को भी पकड़ सकते हैं, जो और कुछ नहीं बल्कि अस्मितावादी राजनीति है। वर्ग को एक आकृतिहीन निकाय यानी कि 'समुदाय' से प्रतिस्थापित कर दिया गया है। यह सिरिज़ा को यह घोषित करने में सहायता करता है कि वह 'पूरी जनता की पार्टी' है।

यूनान में जिन कम्युनिस्टों ने अभी भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद का झण्डा बुलन्द कर रखा है, उनका मानना है कि सिरिज़ा समझौतापरस्त है और उसमें ज़बर्दस्त दक्षिणपन्थी अवसरवादी रुझान है। वह राज्य के सवाल को उठाती ही नहीं है और पूरी तरह से संशोधनवाद के रास्ते पर चल रही है। वैसे तो सिरिज़ा के 40-बिन्दु कार्यक्रम में कोई सर्वहारा क्रान्तिकारी तत्व नहीं है, बस पूँजीवादी कल्याणवाद है, लेकिन अगर सिरिज़ा सरकार बनाती है, तो वह उतना भी लागू नहीं कर पायेगी। इसका कारण यह है कि यूनान की पूरी राज्यसत्ता बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी और फासीवादी है। यूनान में सेना का बड़ा हिस्सा बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी ताक़तों के साथ खड़ा है। पुलिस के आधे लोगों ने पिछले चुनावों में गोल्डेन डॉन को वोट दिया था। ऐसे में, हालाँकि सिरिज़ा पुलिस, फौज और नौकरशाही के लोगों से बातचीत करके उन्हें अपने पक्ष में लाने का प्रयास कर रही है, लेकिन स्पष्ट है कि सिरिज़ा का जो कार्यक्रम है, विशेष तौर पर प्रवासी मज़दूरों के प्रश्न पर, उसके कारण पुलिस और फौज़ का बड़ा हिस्सा उसके समर्थन में नहीं आयेगा। दूसरी बात यह है कि अगर बुर्जुआ वर्ग की राज्यसत्ता का ध्वंस नहीं किया जाता है, बुर्जुआ वर्ग की आर्थिक शक्ति का ध्वंस नहीं किया जाता है, सर्वहारा राज्यसत्ता और सामूहिक सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना नहीं की जाती है, तो आने वाले समय में बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद की सहायता से देश के सशस्त्र बलों, सेना, पुलिस और नौकरशाही को ख़रीद कर सिरिज़ा की भावी सरकार का तख्तापलट करेगा, जैसा कि चिली में सल्वादोर अयेन्दे की सरकार के साथ हुआ था। वह सरकार अभी समाजवादी व्यवस्था का निर्माण नहीं कर रही थी। उसने बस राष्ट्रीयकरण की कुछ नीतियों को लागू किया था, जो कि बुर्जुआ वर्ग भी कई देशों में करता है। लेकिन वह भी चिली की बुर्जुआज़ी को नागवाँर गुज़रा और अमेरिकी साम्राज्यवाद और चिली के प्रतिक्रियावादी सेना जनरलों और सेना की सहायता से चिली के बुर्जुआ वर्ग ने खूनी तख़्तापलट करवाया। जनता सशस्त्र नहीं थी, इसलिए उसका कत्लेआम किया गया और कई जगहों पर वह अयेन्दे के तख़्तापलट की निष्क्रिय तमाशबीन बनी रही।

अगर सिरिज़ा खुले तौर पर नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण की नीतियों को नहीं भी अपनाती है, और अगर वह कल्याणकारी राज्य की नीतियों को भी अपनाती है, तो ज़्यादा सम्भावना यही होगी कि साम्राज्यवादी हस्तक्षेप की सहायता से यूनान की बुर्जुआज़ी उसके ख़िलाफ़ तख़्तापलट करेगी।

अगर सिरिज़ा की सरकार अगले चुनावों में बनती है, तो राज्यसत्ता के सवाल की समझ न होने की कीमत सिरिज़ा को चुकानी पड़ेगी। इतिहास का यही सबक है। सिरिज़ा के पास दो ही रास्ते हैं: या तो वह भी पासोक की तरह खुले पूँजीवाद और ग़द्दार किस्म के सामाजिक जनवाद का रास्ता अख़्तियार करे, या फिर देशी बुर्जुआज़ी और साम्राज्यवाद के गठजोड़ के हाथों तख़्तापलट का इन्तज़ार करे। सिरिज़ा के बारे में सकारात्मक यह है कि इसका ढाँचा, इसकी कतारें और एक हद तक नेतृत्व बेहद बहुरंगी है। इसमें कई किस्म के लोग हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो राज्यसत्ता की समस्या और एक शत्रुतापूर्ण अन्तरराष्ट्रीय परिवेश में समाजवादी यूनान के अस्तित्व की समस्याओं के बारे में सोच रहे हैं। ऐसे लोगों को एक धड़े के तौर पर संगठित होकर सिप्रास के समझौतापरस्त और सामाजिक-जनवादी नेतृत्व के ख़िलाफ़ संघर्ष करना चाहिए और नये राजनीतिक विकल्प के निर्माण के बारे में सोचना चाहिए। उन्हें सिरिज़ा द्वारा पेश किये गये कार्यक्रम पर सवाल उठाना चाहिए। मिसाल के तौर पर बैंकों के राष्ट्रीयकरण से कुछ भी हासिल नहीं होने वाला है, क्योंकि बैंक पहले से ही दीवालिया हैं। कायदे से एक सही क्रान्तिकारी माँग यह बनती है कि बैंकों के 'बेल आउट' को फौरन रोका जाय; किफायतसारी की नीतियों को फौरन बन्द किया जाय; बैंकों की समस्त सम्पत्ति को ज़ब्त करके एक केन्द्रीकृत सार्वजनिक राष्ट्रीय बैंक के तहत लाया जाय; यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर आया जाय ताकि यूनान की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को मौद्रिक लचीलापन मिल सके। इसके बिना न तो वेतन, मज़दूरी और पेंशनों का भुगतान शुरू हो सकता है, और न ही अन्य जनपक्षधर नीतियों की शुरुआत की जा सकती है, जैसे कि नि:शुल्क शिक्षा, चिकित्सा और आवास आदि। पूर्ण रोज़गार की बात पूरे कार्यक्रम में कहीं नहीं की गयी है, जबकि समस्त उत्पादक गतिविधियों में सभी नागरिकों की भागीदारी सुनिश्चित करके पूर्ण रोज़गार का वायदा किया जाना चाहिए। लेकिन सिरिज़ा के कार्यक्रम में इसके बारे में कुछ नहीं कहा गया है।

वैसे सवाल यह भी नहीं है सिरिज़ा की सारी माँगें सही हैं, या ग़लत। अगर करीबी निगाह डाली जाय तो उनके चार्टर में कई ऐसी माँगें हैं, जो कि किसी मज़दूर सत्ता द्वारा भी पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण के दौर में अपनायी जा सकती हैं। मिसाल के तौर पर, सोवियत रूस में क्रान्ति के बाद के शुरुआती आठ माह में सोवियत सरकार ने कुछ ऐसे ही कदमों को उठाया था, जिनकी बात एक हद तक सिरिज़ा के कार्यक्रम में की गयी है; मार्क्सवादी-लेनिनवादी भी क्रान्ति के तुरन्त बाद एक झटके में समाजवाद को स्थापित कर देने की बात नहीं करते हैं। सबसे पहला काम सर्वहारा अधिनायकत्व का सुदृढ़ीकरण और जनता के मेहनतकश हिस्सों की सबसे गम्भीर और तकलीफ़देह दिक्कतों का फौरी समाधान होता है। लेकिन यह काम भी बुर्जुआ संसदवाद के ज़रिये बनी किसी कल्याणकारी सुधारवादी सरकार के बूते की बात नहीं है। यह 1917 में भी असम्भव था, और आज के भूमण्डलीकृत दुनिया में किसी एक देश में बिना समाजवादी क्रान्ति के किसी भी प्रगतिशील कल्याणकारी सरकार के लिए यह और भी ज़्यादा असम्भव और कल्पना से परे है।

निष्कर्ष: समाजवाद या बर्बरता! तीसरा कोई रास्ता नहीं है!

हम साफ़ तौर पर देख सकते हैं कि सिरिज़ा कुल मिलाकर अन्ततः एक रैडिकल सुधारवादी पार्टी है, जिसके जुमलों पर मार्क्सवाद की छाया है। एक तरीके से वह एक नव-सामाजिक जनवाद का प्रतिनिधित्व कर रही है। यह सच है कि सिरिज़ा की कतारों में कई गम्भीर कम्युनिस्ट भी खड़े हैं। लेकिन वे भी समझ रहे हैं कि सिरिज़ा के अन्दर दक्षिणपन्थी रुझान मौजूद है, जो भविष्य में इसे यूनान का नया पासोक बना सकती है। अभी से ही इस ख़तरे के कुछ लक्षण दिखलायी पड़ने लगे हैं, जैसे कि सिप्रास द्वारा विश्व पूँजीवाद के चौधरियों के दिये गये आश्वासन। कुल मिलाकर, सिरिज़ा यूनान में किसी कम्युनिस्ट सत्ता और समाजवाद की स्थापना नहीं करने वाली है। उसकी कतारों का एक हिस्सा रैडिकल सुधारवाद और समाजवाद के बीच झूल ज़रूर रहा है। लेकिन बड़ा हिस्सा एक सुधारवादी कल्याणवाद के कार्यक्रम पर सहमत है और अगर सिरिज़ा चुनाव जीतती है तो वह इसी यूटोपियाई सामाजिक जनवाद के कार्यक्रम पर अमल करने का असफल प्रयास करेगी, जिस पर इतिहास अपने दरवाज़े बन्द कर चुका है। इसका नतीजा या तो तख़्तापलट, सिरिज़ा का दमन और फिर नवनात्सियों के यूनान में उभार के तौर पर सामने आयेगा, या फिर सिरिज़ा स्वयं खुले सामाजिक जनवाद के पदचिन्हों पर चलते हुए अन्ततः प्रकारान्तर से नवउदारवादी भूमण्डलीकरण की नीतियों को अपना लेगी और विश्व पूँजीवाद की ऐसी सेवक बन जायेगी, जो कि यूरोप के अन्य सामाजिक जनवादियों से ज़्यादा भरोसेमन्द होगी।

लेकिन उस सूरत में यूनान जिस संकट के भँवर में फँसा हुआ है, उसमें और गहराई से फँसता जायेगा। अभी के हालात ही बता रहे हैं कि जनता का असन्तोष पहले से ही फूट पड़ने के बिन्दु की तरफ़ बढ़ रहा है। ऐसे में, अगर कोई क्रान्तिकारी विकल्प नहीं खड़ा होता है, जो कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के उसूलों को अपनाते हुए मज़दूर क्रान्ति की तरफ़ जाने के लिए जनता को तैयार करे और उसे नेतृत्व दे, तो फिर क्रान्ति की घड़ी बीत जायेगी। क्रान्तिकारी स्थिति हमेशा क्रान्तिकारी नेतृत्व और संगठन के खड़े होने का इन्तज़ार नहीं करेगी। हर पूँजीवादी संकट हमेशा की तरह यूनान में भी प्रतिक्रियावादी और क्रान्तिकारी, दोनों ही सम्भावनाओं को जन्म दे रहा है। अगर क्रान्तिकारी ताक़तें अपनी सम्भावना को हक़ीकत में तब्दील करने में नाकाम रहीं, तो यह काम प्रतिक्रियावादी ताक़तें करेंगी और यूनान की जनता को फासीवाद की सज़ा भुगतनी पड़ेगी। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की राज्यसत्ता और क्रान्ति के सम्बन्ध में स्थापित और सिद्ध शिक्षा पर अमल न करने की सज़ा इतिहास में पहले भी यूरोपीय जनता भोग चुकी है, और एक बार फिर इस बात की सम्भावना पैदा हो रही है। सिरिज़ा की असफलता यूनान के इतिहास में वही भूमिका निभायेगी, जो कि जर्मन सामाजिक जनवादियों की असफलता ने 1920 और 1930 के दशक में जर्मनी में निभायी थी। इसलिए यूनान में मौजूद मार्क्सवादी लेनिनवादी ताक़तों को संगठित होना होगा और अपने आपको विकल्प के तौर पर जनता के सामने पेश करना होगा।

(27.2.13)

दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड, जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट और सरकार का अपराध कानून (संशोधन) अध्यादेश, 2013

● कात्यायनी

16 दिसम्बर 2012 की रात दिल्ली में एक चलती चार्टर्ड बस में एक 23 वर्षीय पैरामेडिकल छात्रा के साथ हुए बर्बर सामूहिक बलात्कार और उसके बाद मृत्यु से लम्बे संघर्ष के बाद उस छात्रा की मृत्यु ने पूरे देश की अन्तरात्मा को झकझोर कर रख दिया था। इस घटना के तुरन्त बाद से ही छात्रों-युवाओं, स्त्रियों, मज़दूर संगठनों और न्यायप्रिय नागरिकों ने सड़कों पर उतरकर अपने गुस्से का इज़हार करना शुरू किया, जो आने वाले एक-डेढ़ महीने तक लगातार जारी रहा। जो लोग इस बर्बर घटना के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरे, उनमें से तमाम इस काण्ड के अपराधियों के ख़िलाफ़ मृत्यु दण्ड की माँग कर रहे थे, कुछ अन्य रासायनिक या शल्य-क्रिया द्वारा अपराधियों को बधिया कर देने की माँग कर रहे थे। देश के तमाम क्रान्तिकारी संगठनों और बुद्धिजीवियों ने इस तथ्य की ओर देश का ध्यानाकर्षित किया कि बढ़ते स्त्री-विरोधी अपराधों और विशेष तौर पर बलात्कार की घटनाओं के लिए समूचा पूँजीवादी पितृसत्तात्मक सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक ढाँचा ज़िम्मेदार है। मौजूद व्यवस्था ने ही समाज और राजनीति में ऐसे तत्वों, ऐसी मानसिकता और संस्कृति को जन्म दिया है जो ऐसे अपराधों को अंजाम दे रहे हैं। 1990 के दशक से पहले और 1990 के दशक के बाद से स्त्री-विरोधी अपराधों की संख्या में एक गुणात्मक परिवर्तन आया है। नयी आर्थिक नीतियों की शुरुआत

के बाद से ही देश में एक नवधनाढ्य वर्ग अस्तित्व में आया है, जिसमें ठेकेदारों, ट्रांसपोर्टरों, प्रापर्टी डीलर, शेयर मार्केट के दलाल, आई.टी. सेक्टर में काम करने वाला एक लम्पट मध्यम वर्ग, धनी किसान और कुलकों का वर्ग और व्यापारिक पेशों में लगा हुआ एक व्यापारिक टटपुँजिया वर्ग शामिल है। यही वह वर्ग है जो कि कारपोरेट कम्पनियों के बाद नयी आर्थिक नीतियों का सबसे बड़ा लाभप्राप्तकर्ता है। इस वर्ग के पास अचानक ढेर सारा पैसा आ गया है। वह कार, घर, टी.वी., तमाम इलेक्ट्रॉनिक गैजेटों से लेकर जीवन की हर भौतिक सुख-सुविधा को ख़रीद सकता है। इस वर्ग के अन्दर किसी भी कीमत पर सबकुछ हासिल कर लेने की हवस सबसे ज़्यादा है। इस हवस की ज़द में अब न सिर्फ़ वस्तुएँ हैं, बल्कि इंसान भी आ गये हैं। चाहे वह कुख्यात निठारी काण्ड हो या फिर 16 दिसम्बर की घटना, ऐसी तमाम घटनाएँ वास्तव में इस वर्ग की आपराधिक हो चुकी हवस को ही प्रतिबिम्बित कर रहीं हैं।

दूसरी तरफ़ पूँजीवादी कारपोरेट मीडिया इस अन्धी हवस की संस्कृति को खाद-पानी देने का काम व्यवस्थित रूप से कर रहा है। हनी सिंह जैसे अपराधी और स्त्री-विरोधी मानसिकता के गायकों से लेकर स्त्री-विरोधी फिल्मों और संगीत का पूरे समाज में अद्वितीय फैलाव हुआ है। सामन्ती युग में स्त्रियाँ भोग की वस्तु थीं, जिनका भोग पुरुष अपने दिव्य रूप से प्रदत्त अधिकार के तहत कर सकता था। औरतों की इस गुलामी को पूँजीवादी व्यवस्था और समाज ने अपने हिसाब से सहयोजित किया है। अब औरत महज़ भोग की वस्तु नहीं रह गयी है, बल्कि उपभोग और विनिमय की वस्तु या माल में तब्दील कर दी गयी है। इस पूँजीवादी मालकरण ने औरतों को वस्तुओं में भी निकृष्टतम कोटि की वस्तु बना दिया है। 16 दिसम्बर की घटना से पहले भी हरियाणा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में बलात्कार और विशेषकर सामूहिक बलात्कार की घटनाओं में ज़बर्दस्त वृद्धि हुई थी और 16 दिसम्बर के बाद भी पूरे देश से ऐसी घटनाओं की ख़बरों में कमी आने की बजाय बढ़ोत्तरी ही दर्ज़ की गयी है। यह दिखला रहा है कि समाज का यह खाता-पीता लम्पट मध्यवर्ग किसी भी प्रकार के नपुंसक विरोध प्रदर्शनों से रुकने वाला नहीं है। न तो कोई नया कानून इसे रोक सकता है और न ही नसीहतें और नैतिकीकरण की मुहिमें।

तीसरी चीज़ जो इस पूरे स्त्री-विरोधी परिवेश और मानसिकता को बढ़ावा दे रही है वह स्वयं इस देश के बुर्जुआ शासक वर्ग के तमाम हिस्सों के दिमाग़ में भरी हुई सड़ाँध, जो कि इस घटना के बाद किसी संक्रमित हो चुके फोड़े से निकल पड़ने वाली पीप के समान फूटकर बाहर आ गयी। चाहे वह प्रणब मुखर्जी के बेटे की 'डेण्टेड पेण्टेड औरतों' वाली टिप्पणी हो या फिर अपराधी धार्मिक बाबा आसाराम बापू का यह बयान हो कि उस लड़की को अपने बलात्कारियों से संघर्ष नहीं करना चाहिए था, बल्कि उन्हें 'भइया' कहकर रहम की भीख माँगनी चाहिए थी! शरद यादव, ममता बनर्जी समेत लगभग सभी पार्टियों के नेताओं ने औरतों को नैतिकता और संयम की नसीहतें जारी कर दीं और अपने असली रंग दिखला दिये! वहीं 'तहलका' पत्रिका के एक स्टिंग ऑपरेशन ने दिखलाया कि दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की पुलिस और नौकरशाही का यह मानना है कि औरतें स्वयं बलात्कारों की ज़िम्मेदार हैं! किसी का कहना था कि औरतें स्वयं ऐसी स्थितियों को छोटे कपड़े पहनकर और अपने पुरुष मित्रों के साथ बाहर निकलकर आमन्त्रण देती हैं, तो दूसरों का कहना था कि औरतों ने इसे एक व्यवसाय बना लिया है। जिन अमानवीकृत अपराधियों को 16 दिसम्बर के बलात्कार काण्ड के सिलसिले में गिरफ्तार किया गया, उनके बचाव

पक्ष के वकील ने यह दलील दी कि उसने आज तक ऐसी किसी भी "इज़्ज़तदार" महिला के बारे में नहीं सुना है, जिसका बलात्कार हुआ हो! ऐसे तमाम बयानों से क्या सामने आता है? ऐसे बयानों से इस देश के शासक वर्गों और उनके पिछलग्गुओं की पूरी सड़ी हुई और बदबू मारती हुई मानसिकता सामने आती है। जब देश की संसद में 26 बलात्कार के और दर्ज़नों अन्य स्त्री-विरोधी अपराधों के आरोपी बैठे हों, जब पुलिस थानों में बलात्कार हो रहा हो, और जब सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम और अशान्त क्षेत्र अधिनियम के तहत आने वाले प्रदेशों में बिना किसी सज़ा के डर के सेना उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं की स्त्रियों का बलात्कार कर रही हो, जब हरियाणा, राजस्थान, बिहार और उत्तर प्रदेश में दबंग उच्च जातियों के अपराधी दलित महिलाओं का बलात्कार कर रहे हों तो फिर आप इस पूरी दमनकारी, उत्पीड़नकारी और शोषक पूँजीवादी व्यवस्था से स्त्री-विरोधी अपराधों के ख़िलाफ़ कोई कदम उठाने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं? आप ऐसी कोई नादान आशा कैसे पाल सकते हैं कि यह बुर्जुआ वर्ग और उसकी राज्य मशीनरी स्त्री-विरोधी अपराधों पर कोई निर्णायक कदम उठायेगी?

ज़्यादा से ज़्यादा यह व्यवस्था क्या कर सकती है? जी हाँ, यह कोई समिति या आयोग बिठा सकती है। पिछले कुछ समयों में तमाम सरकारी समितियों और आयोगों ने वैसी ही रपटें और अनुशंसाएँ तैयार की हैं, जिनसे कि शासक वर्गों को कोई असुविधा न हो। इस मामले में यह मानना होगा कि जस्टिस वर्मा समिति की रपट कई मायनों में भिन्न है। इसने जो रिपोर्ट तैयार की है वह राज्यसत्ता और सरकार से स्वायत्त रहते हुए की है और इसने कई असुविधाजनक सवाल सरकार के सामने खड़े किये हैं। लेकिन इसके बावजूद इस समिति की रपट आने के बाद सरकार ने 3 फरवरी 2013 को जो अध्यादेश राष्ट्रपति से पास करवाया है, उसने इस रपट की सबसे केन्द्रीय और रैडिकल अनुशंसाओं पर साज़िशाना चुप्पी साध रखी है। वास्तव में, यह अध्यादेश स्त्री-विरोधी है और स्त्री-विरोधी ताक़तों के हाथ मज़बूत करता है।

सरकार ने जनान्दोलनों और व्यापक स्वत:स्फूर्त जन प्रतिरोध के कारण 16 दिसम्बर की घटना के बाद जस्टिस जे.एस. वर्मा के नेतृत्व में एक समिति बनायी जिसके सदस्यों में जस्टिस लीला सेठ और वरिष्ठ अधिवक्ता गोपाल सुब्रमन्यम भी शामिल थे। इस समिति ने ठीक एक माह में ही अपनी रिपोर्ट बनाकर सरकार को सौंप दी, जो कि एक रिकॉर्ड है। और यह रिकॉर्ड इस मायने में भी ग़ौरतलब है कि यह रिपोर्ट 631 पेजों की है, जिनमें आँकड़ों की तालिकाओं में बिरले ही कुछ पन्ने ख़र्च हुए हैं। कई मामलों में यह रिपोर्ट सरकारी समितियों द्वारा पेश की गयी रिपोर्टों में सबसे रैडिकल रिपोर्टों में गिनी जायेगी। इस रिपोर्ट की सबसे बड़ी ख़ासियत यह है कि यह सिर्फ इस सवाल तक सीमित नहीं रही है कि स्त्री-विरोधी विभिन्न अपराधों के लिए कैसी और कितनी सज़ा होनी चाहिए। यह रिपोर्ट बढ़ते स्त्री विरोधी अपराधों सामाजिक मूलों तक जाने का प्रयास करती है और साथ ही कानून व्यवस्था और संविधान के भीतर भी स्त्रियों के प्रति जो इरादतन या ग़ैर-इरादतन पूर्वाग्रह भरे हुए हैं, उनका अतिक्रमण करने का प्रयास करती है। इस मायने में निश्चित तौर पर इस रिपोर्ट का चरित्र प्रगतिशील है। लेकिन साथ ही इस रिपोर्ट का स्वर बुर्जुआ नारीवाद के उदारतावाद के साथ भी मेल खाता है। इस रिपोर्ट ने फाँसी की सज़ा का विरोध किया है और इसे अनुत्पादक और कई मामलों में अन्यायपूर्ण बताया है। इसके पीछे रिपोर्ट

में जो प्रमुख तर्क दिये गये हैं, वह इस समिति ने तमाम नारीवादी संगठनों से बातचीत करके अपनाये हैं। और ये तर्क वही हैं जो कि मृत्युदण्ड के सवाल पर वर्ग निरपेक्ष बुर्जुआ मानवतावाद लम्बे समय तक देता रहा है। लेकिन एक तर्क इस रिपोर्ट ने और भी रखा है जो कि विचारणीय है। वह तर्क यह है कि अगर बलात्कार के ऐसे अपराधों के लिए, जिसमें कि पीड़िता की मौत हो जाती है, फाँसी की सज़ा निर्धारित की जाती है, तो दोषसिद्धि की दर जो कि पहले ही बहुत दयनीय है, वह और भी ख़राब हो जायेगी। हम कह नहीं सकते कि इस तर्क में कितना दम है, लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि फिलहाल अगर बलात्कार के 'दुर्लभ में भी दुर्लभतम' मामलों में फाँसी की सज़ा तय कर भी दी जाये (जो कि निश्चित तौर पर की जा सकती है, बल्कि की जानी चाहिए और इसमें हमारा कोई भी बुर्जुआ मानवतावादी पूर्वाग्रह नहीं है) तो मुख्य सवाल इस बात का है, कि जिस राज्य मशीनरी (न्यायिक और कार्यकारी) को यह कानून लागू करना होगा, वह अधिकांश मामलों में क्या दोषसिद्धि कर भी पायेगा? वर्तमान स्थिति यह है कि बलात्कार के मामलों में मात्र 26 प्रतिशत में दोषसिद्धि हो पाती है। इसके लिए हमारी पूरी न्यायिक और विधिक व्यवस्था ज़िम्मेदार है। इस व्यवस्था में स्त्री-विरोधी पूर्वाग्रह गहरे तक जड़ जमाये हुए हैं। जहाँ तक पुलिस, सेना और नौकरशाही की बात है, तो हम जानते हैं कि इसमें बड़ी आबादी भी भयंकर पुरुषवादी मानसिकता वाले लोग भरे हुए हैं, जो पहले से ही हर स्त्री-विरोधी अपराध में औरत को ज़िम्मेदार मानकर चलते हैं। और न्यायपालिका की हालत भी कोई बड़ी अच्छी नहीं है। अगर भँवरी देवी मामले को याद करें तो हम पाते हैं कि न्यायालय ने यह कह कर आरोपियों को बरी कर दिया था कि उच्च जाति के पुरुष निम्न जाति की महिला के साथ बलात्कार कर ही नहीं सकते क्योंकि यह उनकी शुद्धता की अवधारणाओं के ख़िलाफ़ है! वहीं मथुरा केस में न्यायालय ने एक दलित स्त्री का थाने में सामूहिक बलात्कार करने वाले पुलिसवालों को यह कहकर बरी कर दिया था, कि यह दलित महिला पहले से यौन सम्बन्ध स्थापित करने की आदी है और उसका बलात्कार हो ही नहीं सकता है! इसमें यह निहित है कि यदि कोई युवती यौनिक तौर पर सक्रिय है तो उसका बलात्कार नहीं हो सकता। उसका हर यौन सम्बन्ध सहमति से बनाया हुआ यौन सम्बन्ध माना जायेगा। यही बात कानून के इस वाक्यांश में निहित है जो कहता है 'औरत के सतीत्व (मॉडेस्टी) का हरण करना'! इसके अनुसार, यदि कोई औरत जो कि शादीशुदा नहीं है, और यौनिक तौर पर सक्रिय है, तो उसका कभी बलात्कार नहीं हो सकता! यह सोच सीधे-सीधे पूरी कानून व्यवस्था को स्त्रियों के ख़िलाफ़ खड़ा कर देती है। यह स्त्रियों को अपने शरीर पर हक़ नहीं देती और उसे यह तय करने का अधिकार नहीं देती कि वह किसे अपने साथी के तौर पर चुने या किसके साथ सहवास करे। यह अधिकार सिर्फ़ पुरुष को दिया जाता है।

जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट इस अन्तर्निहित अवधारणा पर चोट करती है, जब वह कहती है कि खाप पंचायतों और इसी प्रकार की नैतिक पुलिसिंग करने वाली जातिगत व अन्य प्रकार की संस्थाओं को व्यक्तियों द्वारा, चाहे वह स्त्री हों या पुरुष, अपने जीवन-साथी का चुनाव करने के अधिकार में कोई हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। साथ ही समिति की रिपोर्ट कहती है कि यह सरकार की ज़िम्मेदारी है कि वह व्यक्तियों के इस अधिकार को सुनिश्चित करे और यह सुनिश्चित करे कि कोई भी समुदाय, जाति,

धर्म आदि की परम्पराओं का हवाला देकर इन अधिकारों का हनन न करे। लेकिन इस रिपोर्ट के आने के बाद सरकार ने जो अध्यादेश पास किया है, जिस पर कि 3 फरवरी को राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने हस्ताक्षर किये, उसमें खाप पंचायतों के कुकर्मों पर रोक लगाने के लिए कोई प्रावधान नहीं किया गया है। उल्टे इस अध्यादेश में एक ऐसी बात कही गयी है, जो कि खाप पंचायतों और तमाम नैतिक पुलिसिंग करने वाली संस्थाओं के हाथ कानूनी तौर पर मज़बूत करती है। इस अध्यादेश में वयस्कों और अवयस्कों के ख़िलाफ़ किये जाने वाले यौन अपराधों के बीच का फर्क समाप्त कर दिया गया है। ग़ौरतलब है कि अवयस्कों के साथ बनाया जाने वाला कोई भी यौन सम्बन्ध सहमति से बनाया गया यौन सम्बन्ध नहीं माना जाता है। लेकिन अगर इसी तर्क को वयस्कों के ऊपर लागू कर दिया जाता है तो अगर कोई दो युवा अपनी सहमति से यौन सम्बन्ध बनाते हैं तो उसे भी यौन अपराध के दायरे में लाया जा सकता है, कम-से-कम तकनीकी तौर पर। ऐसे में, यह कानून एक ऐसा गैप छोड़ देता है जिसका इस्तेमाल निश्चित तौर पर समाज की प्रतिक्रियावादी ताक़तें करेंगी, और विशेष तौर पर इसका इस्तेमाल युवाओं द्वारा अपने यौन और वैवाहिक साथियों को चुनने के अधिकार पर हमला करने के लिए किया जायेगा।

इस समिति के प्रस्तावों में जो एक अन्य सकारात्मक प्रस्ताव है, वह है कुछ दमनकारी कानूनों को लेकर। विशेष तौर पर समिति की रिपोर्ट सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून, अशान्त क्षेत्र कानून आदि को लेकर अपनी चिन्ता प्रकट करती है। इन कानूनों के अनुसार कश्मीर, छत्तीसगढ़ और उत्तर-पूर्व के राज्यों में सशस्त्र बलों के ख़िलाफ़ दण्डात्मक कार्रवाई नहीं हो पाती है। नतीजतन, सशस्त्र बल के जवान इन इलाकों की जनजातीय और दमित राष्ट्रीयताओं की स्त्रियों के साथ मनचाहा बर्ताव करने को आज़ाद होते हैं, और उन्हें सज़ा का भी कोई डर नहीं होता है। कश्मीर के कुनान पोशपुरा का सामूहिक बलात्कार काण्ड हो या मणिपुर में मनोरमा बलात्कार काण्ड, बार-बार सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून का जनद्रोही, जनविरोधी और दमनकारी चरित्र सामने आ चुका है। इसके बावजूद सरकार ने इस कानून को वापस लेने या रद्द करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया है। कभी इसके लिए सेना की असहमति का हवाला दिया जाता है तो कभी राष्ट्र की सुरक्षा का वास्ता दिया जाता है। नये अध्यादेश में भी सरकार ने जस्टिस वर्मा समिति द्वारा इन दमनकारी कानूनों को वापस लिये जाने और उन पर पुनर्विचार की सिफ़ारिश के बावजूद सरकार ने उसे पूरी तरह से नज़रअन्दाज़ कर दिया है। जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट सरकार को चेतावनी देती है कि अगर सरकार इन मसलों पर और विशेष तौर पर स्त्री-विरोधी अपराधों के मसले पर राजनीतिक घमण्ड और अहंकार के साथ प्रतिक्रिया देती है, तो आने वाले समय में पूरे राजनीतिक वर्ग से जनता की रही-सही आस्था भी ख़त्म हो जायेगी और इसका ख़ामियाज़ा जल्द ही व्यवस्था को भुगतना पड़ सकता है।

लेकिन कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने इस समस्या का अच्छा समाधान ढूँढा है। उसने जस्टिस वर्मा समिति की अहम सिफ़ारिशों पर कोई ख़ास ध्यान नहीं दिया है, और अध्यादेश में ऐसे तमाम प्रावधान रखे हैं जो बारीकी में स्त्रियों की स्थिति को और कमज़ोर बनाने का काम करते हैं और साथ ही साथ स्त्री-विरोधी ताक़तों को मज़बूत बनाने का काम करते हैं। लेकिन साथ में सरकार ने 16 दिसम्बर की घटना के बाद आम जनसमुदायों द्वारा बलात्कार के लिए फाँसी की सज़ा निर्धारित किये जाने की माँग के जवाब

में अध्यादेश में यह प्रावधान रखा है कि बलात्कार के जिन मामलों में पीड़िता की मौत हो जाती है, उनमें अधिकतम सज़ा फाँसी होगी। 16 दिसम्बर की घटना के तुरन्त बाद जस्टिस वर्मा समिति को नियुक्त करने और समिति की रिपोर्ट आने के तुरन्त बाद अध्यादेश को पेश करने के पीछे सरकार का मुख्य सरोकार था 2014 के आम चुनावों के लिए अपने रिकॉर्ड में एक उपलब्धि को जोड़ लेना, कि उसने बलात्कार और हत्या के अपराध के लिए नये अध्यादेश में फाँसी की सज़ा निर्धारित की है। लेकिन, वास्तव में इस सज़ा का कोई विशेष अर्थ नहीं होगा, जब तक कि मौजूद पूँजीवादी पितृसत्तात्मक शासन-व्यवस्था कायम है क्योंकि इस व्यवस्था के तहत दोषसिद्धि की दर कभी भी सन्तोषजनक नहीं हो सकती है। चाहे इसके लिए कितने ही फास्ट ट्रैक कोर्ट क्यों न बना दियें जायें। निश्चित तौर पर, स्त्री विरोधी अपराधों के मसलों के लिए फास्ट ट्रैक कोर्ट बनाने का कोई विरोध नहीं करेगा और निस्सन्देह इनकी ज़रूरत है। लेकिन इससे समस्या का स्थायी समाधान सम्भव नहीं है।

जस्टिस वर्मा समिति इस बात की भी सिफ़ारिश करती है कि अगर कहीं पर सेना या पुलिस के जवान स्त्री-विरोधी अपराध करते हैं और वे सज़ा से बच जाते हैं, तो उनके ऊपर मौजूद सिविल अधिकारी उसके लिए ज़िम्मेदार ठहराया जाय। समिति के इस प्रस्ताव पर भी सरकार का अध्यादेश शान्त है। समिति की रिपोर्ट कहती है कि विभिन्न प्रकार के यौनिक अपराधों में फर्क किया जाना चाहिए, जैसे कि स्त्रियों के ख़िलाफ़ किये जाने वाले यौन अपराध, पुरुषों के ख़िलाफ़ यौन अपराध, किन्नरों और ट्रांसजेण्डरों के ख़िलाफ़ किये जाने वाले यौन अपराध, और बच्चों के ख़िलाफ़ किये जाने वाले यौन अपराध। दूसरी बात यह कि समिति के अनुसार 'बलात्कार' शब्द के प्रयोग को छोड़ा नहीं जाना चाहिए, हालाँकि इसकी परिभाषा को और व्यापक बनाया जा सकता है। लेकिन सरकार ने जो अध्यादेश पेश किया है वह इन सभी सरोकारों की उपेक्षा करते हुए एक ओर तो यौन अपराधों में अपराधी को विशिष्ट तौर पर अलग-अलग मामलों में पुरुष या स्त्री के तौर पर चिन्हित नहीं करता और अपराधी को 'व्यक्ति' के तौर पर देखता है। सैद्धान्तिक तौर पर यह मानता है कि औरत भी बलात्कार कर सकती है! निश्चित तौर ऐसा हो भी सकता है, लेकिन अगर अलग-अलग मामलों में फर्क नहीं किया जायेगा तो यह एक ऐसी सामान्यता बन जायेगी, जिसका इस्तेमाल सभी बलात्कारी करेंगे। क्योंकि फिर जब भी कोई औरत बलात्कार की रपट दर्ज़ करायेगी तो अपराध करने वाला पुरुष उल्टे उस पर बलात्कार का आरोप लगायेगा। यह सामाजिक यथार्थ को सैद्धान्तिक सम्भावनाओं के नाम पर पलट देने का काम करता है और स्त्री-विरोधी अपराधों के मामलों में स्त्रियों के पक्ष को कमज़ोर करता है। सरकार ने अपने अध्यादेश में 'बलात्कार' शब्द की जगह 'यौनिक हिंसा' शब्द को अपनाया है, जबकि जस्टिस वर्मा समिति ने इस पक्ष में ठोस तर्क पेश किये थे कि 'बलात्कार' शब्द को कानून में बनाये रखने की क्या प्रासंगिकता है।

जस्टिस वर्मा समिति की इस अनुशंसा पर बहस हो सकती है कि फाँसी की सज़ा नहीं दी जानी चाहिए। इसके पक्ष में आम तौर पर तीन तर्क किये जाते हैं। एक, हर मानव जीवन कीमती होता है। इसके जवाब में यह कहा जा सकता है कि जिन अपराधियों ने मानव होने की बुनियादी शर्तों को भी खो दिया है, जैसे कि 16 दिसम्बर के अपराधी, उनके बारे में "मानवीय जीवन के मूल्य" की बात करना ही बेकार है। दूसरा तर्क यह है कि कानून का मकसद सुधार करना होना चाहिए, बदला लेना नहीं। लेकिन ऐसे

अपवादस्वरूप मामलों में सवाल सुधारने या बदला लेने का नहीं रहता। ऐसे बर्बर अमानवीकृत लोगों की न तो मानव समाज के लिए कोई उपयोगिता रह जाती है, और न ही पशु जगत के लिए। वास्तव में, जो इन अपराधियों ने किया था वह तो पशु भी नहीं करते हैं। तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि मौत की सज़ा देने से बलात्कार के मामलों में दोषसिद्धि की दर घट जायेगी। यह तर्क भी किसी ठोस ज़मीन पर नहीं खड़ा है, क्योंकि दोषसिद्धि न हो पाने का रिश्ता सीधे तौर पर इस बात से नहीं है कि सज़ा क्या है। यह एक बहस का मुद्दा है कि बलात्कार के मसले में, और ख़ास तौर पर उन मसलों में जिनमें पीड़िता की मौत हो जाती है, या वह जीवन भर के लिए हर प्रकार से निष्क्रिय हो जाती है, मौत की सज़ा दी जाये या नहीं। लेकिन एक बात तय है कि किसी निरपेक्षतावादी परिप्रेक्ष्य से मौत की सज़ा का सैद्धान्तिक विरोध व्यर्थ और हानिकारक है। और निश्चित तौर पर इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि बर्बरता और जघन्यता के ऐसे दुर्लभतम मामलों में मौत की सज़ा के विकल्प को ख़ारिज न किया जाय। जस्टिस वर्मा समिति ने इसे बुर्जुआ मानवतावादी ज़मीन से ख़ारिज कर दिया है।

जस्टिस वर्मा समिति विभिन्न प्रकार के स्त्री-विरोधी अपराधों के लिए अलग-अलग सज़ाओं का निर्धारण करती है जैसे कि पीछा करने और परेशान करने के लिए कम-से-कम एक वर्ष और अधिक से अधिक तीन वर्ष, दर्शनरति के लिए जुर्माने के साथ 1 से 3 वर्ष और बिना जुर्माने के 3 से 7 वर्ष, निर्वस्त्र करने के लिए 3 से 7 वर्ष, तेज़ाब से हमला करने के लिए 5 से 7 वर्ष और पीड़िता को मुआवज़ा देना, आदि। लेकिन सरकार के अध्यादेश में अलग-अलग अपराधों की विशिष्टता और उनके लिए अलग-अलग दण्डों का विस्तृत रूप से प्रावधान नहीं किया है। सही कहें तो सरकार ने अपना अध्यादेश तैयार करने में जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट पर बहुत कम ध्यान दिया है और कुछ मसलों पर तो एक षड्यन्त्रकारी चुप्पी साध रखी है, जैसे कि सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून। इसी से सरकार के असली इरादों के बारे में काफी-कुछ पता चलता है।

16 दिसम्बर के बाद आनन-फानन में जस्टिस वर्मा समिति का निर्माण और उसकी रिपोर्ट आने के बाद उतनी ही आनन-फानन में नये अध्यादेश को लाने में कांग्रेस का प्रमुख लक्ष्य यह था कि दिल्ली में हुई बर्बर घटना के विरोध में जनता का जो रोष भयंकर तरीके से सड़कों पर फूटा उसे सहयोजित कर लिया जाय और यह दिखा दिया जाय कि सरकार जनता की भावनाओं का कितना ख़याल करती है। यही कारण है कि सरकारी अध्यादेश में बलात्कार के उन मामलों के लिए अधिकतम सज़ा के तौर पर फाँसी की सज़ा का प्रावधान किया गया है। ऐसा इसलिए नहीं है कि सरकार बलात्कार के आरोपियों (जिनमें आम तौर पर नवधनाढ्य वर्ग के लम्पट, नेता-मन्त्री, नौकरशाह, व सेना तथा पुलिस के लोग होते हैं) के प्रति उतनी ही घृणा से भरी हुई है, जितनी कि आम जनता। क्योंकि ऐसा होता तो सरकार को सबसे पहले अपने ही नेताओं-मन्त्रियों और नौकरशाहों को अक्सर उम्रकैद या फाँसी की सज़ा देनी पड़ जायेगी! ऐसा सिर्फ़ इसलिए है कि सरकार को 2014 के आम चुनावों में पेश करने के लिए एक चमकता-दमकता रिपोर्ट कार्ड चाहिए। इस रिपोर्ट कार्ड में दर्ज़ करने के लिए सरकार के पास और तो कुछ है नहीं। इसलिए उसे कुछ लोकरंजक कदम उठाने ही थे। चाहे वह मध्यवर्ग के "राष्ट्रवाद" को तुष्ट करने के लिए अफज़ल गुरू को गोपनीय तरीके से फाँसी दे देने का प्रश्न हो या फिर आनन-फानन में अपराधी

कानून (संशोधन) अध्यादेश को पास कराने का मसला हो; कांग्रेस-नीत संप्रग सरकार का कोई जनसरोकार इसके पीछे नहीं है। यह शुद्ध रूप से चुनावी कवायद है और चुनावी राजनीतिक सरोकारों से उठाये गये कूटनीतिक कदम हैं।

चूँकि यह पूरा अध्यादेश स्त्री-विरोधी अपराधों के प्रश्न पर किसी संवेदनशीलता या राजनीतिक ईमानदारी से बना ही नहीं है, इसलिए इससे यह उम्मीद करना भी व्यर्थ है कि यह समस्याओं का कोई समाधान प्रस्तुत करेगा। वास्तव में, यह पूरी व्यवस्था ही स्त्री-प्रश्न का कोई समाधान पेश नहीं कर सकती है। स्त्री-प्रश्न के समाधान के लिए इस समूची पूँजीवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की सीमा का अतिक्रमण करते हुए सोचने की आवश्यकता है। अधिकारों के विमर्श में कैद और सीमित रहने की बजाय इस सीमा का तोड़ कर मुक्ति की परियोजना के बारे में गम्भीरता से सोचने की ज़रूरत है।

अफज़ल गुरू को फाँसी: बुर्जुआ "राष्ट्र" के सामूहिक अन्तःकरण की तुष्टि के लिए न्याय को तिलांजलि

● शिवानी

गत 9 फरवरी को सुबह अफज़ल गुरू को आख़िरकार दिल्ली की तिहाड़ जेल में फाँसी दे दी गयी। 13 दिसम्बर 2001 को संसद भवन पर हुए हमले के मामले में बतौर षड्यन्त्रकारी उसे "दोषी" पाया गया था। अफज़ल गुरू की फाँसी कई सवालों को जन्म देती है। और 9 फरवरी के बाद से ही इस मुद्दे पर बहस जारी है–क्या वाकई अफज़ल संसद भवन पर हमले की कार्रवाई में किसी भी रूप में शामिल था? क्या उसका मुकदमा बुर्जुआ न्याय के सिद्धान्तों की कसौटी पर भी खरा उतरता है? कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने उसे फाँसी देने का वक्त अभी ही क्यों चुना? फाँसी की सूचना को आख़िरी वक्त तक गोपनीय क्यों रखा गया? ये सभी मुद्दे तो उठे ही, साथ ही कुछ वृहद सैद्धान्तिक-दार्शनिक प्रश्न भी उठाये गये। क्या मृत्युदण्ड का प्रावधान होना चाहिए? क्या इसे पूरी तरह से समाप्त नहीं कर दिया जाना चाहिए? और इसी तरह के कुछ अन्य प्रश्न। इन सभी सवालों का उठना लाज़िमी भी है। क्योंकि वे जो छद्म बुर्जुआ राष्ट्रवाद की बयार में बहकर अपनी नैसर्गिक न्यायप्रियता और विवेक को नहीं खो बैठे हैं और जो "राष्ट्र" के सामूहिक अन्तःकरण से खुद को जोड़कर नहीं देखते, जिसकी तुष्टि के लिए माननीय उच्चतम न्यायालय ने अफज़ल की फाँसी की सज़ा को सही ठहराया था, उन्हें ये सभी प्रश्न निश्चित तौर पर परेशान करेंगे। इस लेख में इस

मसले से जुड़े इन्हीं सब पहलुओं की एक-एक करके चर्चा करेंगे।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि अफज़ल गुरू को 13 दिसम्बर 2001 को संसद भवन पर हुए हमले के मामले में दोषी करार दिया गया था। इस हमले में 9 लोग मारे गये थे जिनमें हमला करने वाले पाँचों आतंकवादी भी शामिल थे। अफज़ल इस हमले के दौरान मौजूद नहीं था। उसे हमले के कुछ दिनों के भीतर ही कश्मीर से पकड़कर दिल्ली लाया गया। अभियोजन पक्ष की दलील थी कि इस हमले के पीछे का मास्टरमाइण्ड वही था। ट्रायल कोर्ट और फिर उच्चतम न्यायालय ने उसे दोषी पाया और फाँसी की सज़ा सुनायी। हालाँकि, सर्वोच्च न्यायालय ने अपने फैसले में उसे मुख्य आरोपी नहीं, बल्कि षड्यन्त्रकारी ही माना। इस फैसले के ख़िलाफ़ 2006 में अफज़ल की पत्नी ने दया याचिका भी दायर की थी। जहाँ एक ओर पूर्व राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम और प्रतिभा पाटिल ने इस याचिका पर कोई फैसला नहीं दिया वहीं प्रणब मुखर्जी ने 3 फरवरी 2013 को इस याचिका को ख़ारिज कर दिया जिसके फलस्वरूप 9 फरवरी को अफज़ल को फाँसी दे दी गयी।

सरसरी निगाह से देखें तो दिसम्बर 2001 से फरवरी 2013 तक इस मामले से जुड़ा घटनाक्रम यही रहा है। लेकिन कोई भी अगर अन्धराष्ट्रभक्ति से पैदा हुए अपने पूर्वाग्रहों को दो मिनट के लिए किनारे रखे तो शुरू से अन्त तक यह पूरा मुकदमा ही विसंगतियों से भरा प्रतीत होता है। न्यायिक त्रुटियाँ, गढ़े गये साक्ष्य, और भारतीय राज्य की हर मशीनरी का कपटी चरित्र इस मामले की प्रमुख अभिलाक्षणिकताएँ बना रहा है। यह सच है कि अफज़ल गुरू एक समय में जम्मू एण्ड कश्मीर लिबरेशन फ्रण्ट (जेकेएलएफ) से जुड़ा था, लेकिन बाद में उसने आत्मसमर्पण कर दिया था। शायद इसी व्यक्तिगत इतिहास के कारण से उसे इस पूरे षड्यन्त्र में फँसाना आसान भी था। खुद उच्चतम न्यायालय ने अपने फैसले में यह टिप्पणी की थी कि चूँकि अफज़ल एक आत्मसमर्पण किया हुआ आतंकवादी था इसलिए बार-बार उसका राजद्रोह की कार्रवाइयों में संलिप्त होना लाज़िमी था। और इसी वजह से वह समाज के लिए ख़तरा है। इस तरह की टिप्पणी किस कानूनी तर्क पर खरी उतरती है, यह समझ से परे है। जहाँ तक स्वयं अफज़ल गुरू के बयान का सवाल है, तो उसने आरोप लगाया था कि जम्मू-कश्मीर की स्पेशल टास्क फोर्स के एक अधिकारी ने ही उसे मोहम्मद से मिलवाया था, जो कि संसद पर हमले में मारा गया था। अफज़ल से कहा गया था कि वह दिल्ली में घर ढूँढने में और गाड़ी ख़रीदने में उसकी मदद करे। इस दौरान अफज़ल नहीं जानता था कि यह सब उससे क्यों कराया जा रहा है। अदालत ने इस आरोप की जाँच करना ज़रा भी ज़रूरी नहीं समझा। बल्कि दिल्ली पुलिस की विशेष सेल के सामने दिये गये उसके इक़बालिया बयान को ही पूरे मामले में उसकी भूमिका की पुष्टि करने का आधार बनाया गया। खुद उच्चतम न्यायालय ने यह माना कि अफज़ल का इक़बाले-जुर्म कार्यविधिक रक्षा उपायों का उल्लंघन है और इसे मान्य साक्ष्य के रूप में नहीं लिया जा सकता है। लेकिन इसके बावजूद दोष सिद्ध करने के लिए इसे ही आधार बनाया गया था। इसके अलावा, जाँच और मुकदमे की पूरी प्रक्रिया के दौरान अफज़ल गुरू को सही कानूनी प्रतिनिधि न मुहैया कराया जाना इस पूरे मामले की सबसे बड़ी विसंगति थी। अदालत द्वारा नियुक्त किया गया वकील नीरज बंसल अफज़ल का मुकदमा लड़ने को ही तैयार नहीं था। अभियोजन पक्ष द्वारा पेश किये गये गवाहों के आरोपों का खण्डन करने के लिए उसने प्रतिप्रश्न तक नहीं किये। कुल 80 गवाहों में से केवल 22 को ही अदालत में तलब किया गया। बुर्जुआ न्यायिक व्यवस्था की असलियत और

कानून के समक्ष समानता के दावों का असली चेहरा यह है। और इन सभी न्यायिक विसंगतियों की श्रृंखला में चार चाँद लगाता है उच्चतम न्यायालय द्वारा मृत्यु-दण्ड को अनुमोदित करने का वह कारण जो उसने सज़ा सुनाते वक्त दिया–इस घटना ने पूरे "राष्ट्र" को झकझोर कर रख दिया है और सिर्फ़ मृत्यु दण्ड ही समाज के सामूहिक अन्त:करण की तुष्टि कर सकता है। यह राष्ट्र किसका है और यहाँ किसके अन्त:करण की तुष्टि की जा रही है, इस बहस में जाये बिना भी, देश की सर्वोच्च अदालत द्वारा दिये गये इस तर्क का क्या कानूनी आधार है, यह समझ से परे है। स्पष्ट है कि अफज़ल गुरू को पहले आरोपी सिद्ध करके, "राष्ट्र" के शत्रु के रूप में प्रचारित करके और फिर फाँसी देकर बुर्जुआ राष्ट्रवाद के विमर्श को संजीवनी प्रदान करने की ही सारी मशक्कत है।

तथाकथित धर्मनिरपेक्ष हलकों में कांग्रेस-नीत संप्रग सरकार के कार्यकाल के दौरान अफज़ल को फाँसी दिये जाने पर काफ़ी ताज्जुब ज़ाहिर किया जा रहा है। इस तरह के विस्मय का क्या भौतिक आधार है, यह समझ में नहीं आता। कांग्रेस का साम्प्रदायिक सौहार्द्र के मामलों में वैसे भी ट्रैक रिकॉर्ड कोई बहुत अच्छा नहीं है। ऐसे तमाम मसलों पर वह भाजपा पर बीस ही पड़ती रही है। लेकिन फिर भी इस बार अफज़ल गुरू और उससे पहले अजमल कसाब को फाँसी देने के पीछे तात्कालिक राजनीतिक समीकरण काम कर रहे थे। 2014 के आम चुनावों के मद्देनज़र भाजपा एक बार फिर से अपने कट्टर हिन्दुत्ववादी एजेण्डे पर वापस लौट रही है। कुम्भ मेले में राजनाथ सिंह की डुबकी और सन्तों के महासम्मेलन में राम मन्दिर बनाने के संकल्प को दुहराया जाना और साथ ही मोदी को प्रधानमन्त्री के उम्मीदवार के तौर पर अनौपचारिक तौर पर पेश करने के साथ ही भाजपा ने अपने मंसूबे साफ कर दिये हैं। इसी बीच 'हिन्दू आतंकवाद' को भाजपा से जोड़ने के अपने (सही) बयान पर शिन्दे को अफ़सोस जाहिर करना पड़ा और कांग्रेस थोड़ा बैकफुट पर भी आयी। ऐसे में, भाजपा एक बार फिर से हिन्दू राष्ट्रवाद की लहर पर सवार होकर अपने पक्ष में जनता की राय बनाने के प्रयासों में लग गयी। कांग्रेस को भी यह सिद्ध करना था कि वह "उदार" के साथ "कठोर" भी हो सकती है। और प्रणब बाबू ने एक के बाद एक दया याचिकाओं को ख़ारिज करके बता दिया, कि कांग्रेस "राष्ट्र" की सुरक्षा को लेकर कोई भी समझौता नहीं करना चाहती है। एक बार फिर से कांग्रेस ने भाजपा को अप्रासंगिक बना दिया। पहले नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को लागू करने में और फिर बुर्जुआ राष्ट्रवाद का ज़्यादा मुखर प्रतिनिधि बनकर कांग्रेस ने भाजपा के दोनों कोर मुद्दे हड़प लिए। अब जबकि इस बात के कुछ संकेत मिलने लगे हैं कि अगले चुनावों में नरेन्द्र मोदी को भाजपा अपना उम्मीदवार बना सकती है, तो कांग्रेस भी इस बात को समझ रही है कि मुसलमानों के वोट उस सूरत में उसके पक्ष में ही आयेंगे। और ऐसे में कांग्रेस फिलहाल अपने हिन्दू वोट बैंक को सुदृढ़ करना चाहती है। कसाब की फाँसी एक अलग मसला है। लेकिन अफज़ल गुरू के मुकदमे से लेकर फाँसी तक की प्रक्रिया न्याय के सिवा सबकुछ था। स्पष्ट है कि अचानक, बिना मीडिया को बताये तिहाड़ में अफज़ल को फाँसी दिये जाने का फैसला एक राजनीतिक फैसला था, जो कि कांग्रेस ने आने वाले चुनावों के लिए अपने राजनीतिक बायोडेटा को मज़बूत बनाने के लिए लिया था। ऐसे में, वे तमाम लोग जो कांग्रेस के इस रवैये से आहत नज़र आ रहे हैं, या तो कांग्रेस के अब तक इतिहास से नावाक़िफ़ हैं, या फिर निहायत ही भोले हैं।

पहले और कसाब की फाँसी और उसके बाद अफज़ल गुरू की फाँसी ने बौद्धिक

हलकों में इस बहस को भी शुरू कर दिया कि फाँसी की सज़ा होनी चाहिए या नहीं। वास्तव में, यह बहस 16 दिसम्बर को दिल्ली सामूहिक बलात्कार और हत्या के मसले के बाद से ही जारी है। कुछ लोगों का मानना है कि फाँसी की सज़ा न सिर्फ़ मानवीय गरिमा के ख़िलाफ़ है, बल्कि सभ्य समाज की अवधारणा के विपरीत खड़ी होती है। इन लोगों का मानना है कि हर मानव जीवन कीमती होता है और अपराध-सम्बन्धी न्याय प्रणाली का मकसद सुधार करना होना चाहिए, बदला लेना नहीं। लेकिन इस पूरे तर्क में यह बात अन्तर्निहित है कि हर *मानव जीवन* कीमती है। लेकिन जिस व्यक्ति ने मानव होने की शर्तें ही खो दीं हों, और वह सभ्य समाज के लिए एक पाशविक ख़तरा हो, उसके बारे में भी क्या यह बात कही जा सकती है? 16 दिसम्बर को दिल्ली में चलती बस में एक पैरामेडिकल छात्रा के साथ जिस दरिन्दगी और जघन्यता के साथ अपराध हुआ, उसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता है। उस अपराध को अंजाम देने वाले लोग असुधारणीय हैं और हर सभ्य मानव समाज के लिए ख़तरा हैं। ऐसे लोगों के लिए मृत्युदण्ड का प्रावधान हो सकता है। हमारा मानना है कि इस प्रश्न पर किसी निरपेक्षतावादी बुर्जुआ मानवतावादी दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जा सकता है।

यहाँ हम एक और तथ्य की ओर ध्यानाकर्षण करना चाहेंगे। तमाम मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, बुर्जुआ मानवतावादियों आदि के अलावा मृत्युदण्ड का निरपेक्ष तौर पर विरोध करने वालों में तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन भी शामिल थे! यह एक चौंकाने वाली बात थी, क्योंकि मृत्युदण्ड के प्रश्न पर यह अवस्थिति कम-से-कम लेनिन की तो नहीं थी। इस पर हम आगे आयेंगे। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि किसी भी समाजवादी व्यवस्था में भी ऐसे अमानवीय कृत्यों और साथ ही सर्वहारा राज्य के शत्रुओं में 'दुर्लभ में भी दुर्लभतम' मामलों में मृत्युदण्ड का प्रावधान हो सकता है। यहाँ सवाल सुधार या प्रतिशोध का है ही नहीं। मृत्युदण्ड का इस किस्म का निरपेक्षतावादी, बुर्जुआ मानवतावादी विरोध वर्ग विश्लेषण से ऊपर उठकर किया जाने वाला विरोध है और इस प्रकार का वर्ग-निरपेक्ष अराजकतावादी विरोध किसी मुकाम पर नहीं पहुँच सकता। 1918 में क्रान्ति के बाद समाजवादी रूस में भी मृत्युदण्ड को लेकर बोल्शेविकों और समाजवादी क्रान्तिकारियों/मेंशेविकों के बीच और साथ बोल्शेविकों के भीतर भी बहसें हुई थीं। लेनिन की अवस्थिति इस मसले पर इस उद्धरण से काफ़ी हद तक स्पष्ट हो जायेगी: **"जब हम गोलियों का इस्तेमाल करते हैं (मृत्युदण्ड देने के लिए) तो वे (मेंशेविक) अचानक तोलस्तोयपन्थी बन जाते हैं और हमारी कठोरता पर घड़ियाली आँसू बहाते हैं। वे लगता है यह भूल गये हैं कि तमाम गुप्त सन्धियों को अपनी जेबों में छिपाकर किस तरह मज़दूरों के कत्लेआम में उन्होंने केरेंस्की को मदद पहुँचायी थी।"** लेनिन का मत साफ़ है। वर्ग युद्ध में इस तरह की वारदातों से नहीं बचा जा सकता, न सिर्फ़ युद्ध के मोर्चों पर बल्कि मृत्युदण्ड के मामलों में भी। लेकिन इस सैद्धान्तिक अवस्थिति का यह अर्थ कतई नहीं लगाया जाना चाहिए कि मृत्युदण्ड के प्रति कम्युनिस्टों में कोई फेटिश है। इसका सिर्फ़ इतना अर्थ है कि सघन वर्ग युद्धों के दौरान दुर्लभ में भी दुर्लभतम मामलों में मृत्युदण्ड दिया जा सकता है, और कम्युनिस्ट इसका निरपेक्ष मानवतावादी विरोध नहीं करते हैं। बोल्शेविकों के व्यवहार से भी यह बात सिद्ध होती है। गृहयुद्ध और पार्टी के भीतर के आपातकाल को छोड़कर सोवियत रूस में मृत्युदण्ड आम तौर पर दुर्लभ था। तमाम मामलों में जिनमें क्रान्तिकारी ट्रिब्यूनलों ने मृत्युदण्ड दिया भी था, उनमें दण्ड को घटाकर कुछ वर्षों की कैद में तब्दील कर दिया गया था। ऐतिहासिक तथ्यों से चलें तो सोवियत संघ इस मामले में

बुर्जुआ जनवादी देशों में सबसे उदार देशों के मुकाबले पीछे ही था। हाँ, जो हिस्ट्री चैनल, डिस्कवरी चैनल और नेशनल जियोग्राफिक के कार्यक्रमों को ऐतिहासिक स्रोत मानते हैं, उनसे बहस में हम पहले ही अपनी हार स्वीकार करते हैं! उन्हें हम सहमत नहीं कर सकते। लेकिन हालिया नये शोधों ने अब इस तथ्य को सन्देह से परे स्थापित कर दिया है।

यहाँ हम एक बार फिर यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अफज़ल गुरू को फाँसी देना कतई ग़लत था। **क्योंकि जितने साक्ष्यों के आधार पर और जिन बिना पर अदालत इस फैसले पर पहुँची कि उसे फाँसी की सज़ा दी जानी चाहिए, उतने साक्ष्यों के आधार पर तो नरेन्द्र मोदी, जगदीश टाईटलर, अमित शाह सरीखे लोगों का भी यही अंजाम होना चाहिए था, और बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था।** कहने की ज़रूरत नहीं है कि इतना भर ही इस राज्य और व्यवस्था वर्ग पक्षधरता को ज़ाहिर करने के लिए काफ़ी है। अफज़ल गुरू की फाँसी बुर्जुआ चुनावी राजनीति के सरोकारों के तहत लिया गया एक राजनीतिक फैसला है। और बुर्जुआ राज्यसत्ता का पतनशील चरित्र अब इस हद तक गिर चुका है, कि वह अपने चुनावी फायदों के लिए फाँसी की राजनीति कर रही है, ताकि फासीवादी तरीके से भारतीय मध्यवर्गीय जनमानस, या "राष्ट्रीय" जनमानस, को अपने पक्ष में तैयार किया जा सके। इसके ज़रिये एक तीर से कई निशाने लगाये जा रहे हैं। जिस समय देश भर में आम मेहनतकश जनता में महँगाई, ग़रीबी, भ्रष्टाचार आदि के ख़िलाफ़ और भारतीय शासक वर्गों के ख़िलाफ़ गुस्सा भड़क रहा है, उस समय अन्धराष्ट्रवाद, साम्प्रदायिक फासीवाद और देशभक्ति के मसलों को उठाकर असली मुद्दों को ही विस्थापित कर दिया जाय–यही भारतीय शासक वर्ग की रणनीति है। यही काम भाजपा राम मन्दिर और हिन्दुत्व का मसला भड़का कर अपने तरीके से कर रही है, और कांग्रेस फाँसी की राजनीति करते हुए अपने तरीके से कर रही है। अफज़ल गुरू की फाँसी इसी बात की एक बानगी थी।

खाद्य सुरक्षा के नाम पर जनता के लिए खाद्य असुरक्षा पैदा करने की तैयारी

● तपीश मैन्दोला

खाद्य सुरक्षा अधिनियम के सवाल पर पूरे देश में सिविल सोसायटी संगठनों, संशोधनवादी पार्टियों और तमाम स्वयंसेवी संगठनों के बीच गरमा-गरम बहस जारी है। सरकार ने खाद्य सुरक्षा अधिनियम का जो मसौदा पेश किया है, उसे लेकर सरकार के अलग-अलग हिस्से भी बहस का स्वाँग कर रहे हैं। हाल ही में खाद्य सुरक्षा के मसले पर संसदीय स्टैण्डिंग कमेटी ने अपनी अनुशंसाएँ पेश की हैं। इस कमेटी के अलावा सोनिया गाँधी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने भी अपने सुझाव दिये थे। और अन्त में, मनमोहन सिंह ने सी.रंगराजन के नेतृत्व में जो विशेषज्ञ कमेटी बनायी थी, उसने भी अपनी सिफ़ारिशें सरकार के सामने रख दी हैं। इस प्रायोजित बहस के ज़रिये सरकार एक काम करने में सफल रही है। कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार का मक़सद यह था कि वह खाद्य सुरक्षा के मसले पर बहस के मूल मुद्दे को किनारे कर दे। मूल मुद्दा यह था कि एक सच्चे और ईमानदार खाद्य सुरक्षा अधिनियम को सार्वभौमिक खाद्य वितरण को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए या नहीं। ज़ाहिर है, कि संसदीय वामपन्थी जब भी सरकार का अंग नहीं होते हैं (बाहर से या अन्दर से) तो वे हमेशा कल्याणकारी नीतियों को छोर पर जाकर लागू करने की माँग करते हैं। मिसाल के तौर पर, इस मूल मुद्दे पर संशोधनवादियों की अवस्थिति यह थी कि सार्वभौमिक खाद्य वितरण की ज़िम्मेदारी सरकार को लेनी

चाहिए। लेकिन जिन-जिन राज्यों में संशोधनवादियों की सरकारें रही हैं, उन्होंने स्वयं ऐसा कदम कभी नहीं उठाया है, हालाँकि भारत का संघीय ढाँचा उन्हें इस बात की पूरी इजाज़त देता है कि वह अपने प्रदेश की आबादी के बड़े हिस्से को सब्सिडी पर खाद्यान्न उपलब्ध कराये। ख़ैर, यहाँ हमें संशोधनवादियों के इरादों और नीयत के बारे में चर्चा करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि अब देश के उन्नत मज़दूर भी उनकी असलियत को समझने लगे हैं।

हमारी चर्चा का मुख्य मुद्दा है खाद्य सुरक्षा अधिनियम के सरकारी मसौदे के पेश होने के बाद आये प्रस्ताव और उन पर चल रही बहस। सरकार ने मूल मुद्दे से बहस को खिसका दिया है, जो कि सार्वभौमिक सब्सिडाइज़्ड खाद्यान्न वितरण का था। अब बहस इस बात पर होने लगी है कि आबादी के कितने हिस्से को किस दर पर सब्सिडाइज़्ड खाद्यान्न मुहैया कराया जाय। तो पहली मुश्किल सरकार ने दूर कर ली है।

संसदीय स्टैण्डिंग कमेटी ने यह प्रस्ताव रखा है कि आबादी के 67 प्रतिशत हिस्से को सरकार छूट वाली दरों पर अनाज मुहैया कराये। इसके लिए उसने आबादी को दो हिस्सों में बाँटने का प्रस्ताव दिया है – "शामिल" और "ग़ैर-शामिल"। लेकिन इसने सभी शामिल परिवारों के लिए सब्सिडाइज़्ड अनाज की सीमा को 5 किलोग्राम पर निर्धारित करने का सुझाव दिया है। यानी कि अगर एक परिवार में 5 सदस्य हैं, तो उस परिवार को रियायती दरों पर कुल 25 किलोग्राम अनाज प्राप्त होगा। इसमें चावल की रियायती दर रु. 3/किग्रा होगी, गेहूँ की रु. 2/किग्रा और जौ की रु. 1/किग्रा। इस समिति के कुछ सदस्यों ने इस पर आपत्ति दर्ज़ करायी, जैसा कि हमेशा ही संसदीय कमेटियों में होता है। इन सदस्यों ने सही आपत्ति भी उठायी; ऐसा भी अक्सर होता ही है! इनका कहना था कि अगर खाद्य सुरक्षा अधिनियम के तहत सार्वभौमिक सब्सिडाइज़्ड खाद्य वितरण का लक्ष्य नहीं रखा जाता है, तो इस कानून का कोई फ़ायदा नहीं होगा। लेकिन जैसा कि होना था, उनकी आपत्तियों को ख़ारिज कर दिया गया।

सरकार ने जो मसौदा अधिनियम पेश किया था, उसके मुताबिक आबादी के 63.5 प्रतिशत हिस्से को सब्सिडाइज़्ड खाद्यान्न आपूर्ति के तहत रखा गया था। इसमें से 75 प्रतिशत आबादी ग्रामीण थी, जबकि 60 प्रतिशत आबादी शहरी। इन श्रेणियों को बाद में "प्राथमिकता" और "सामान्य" की उपश्रेणियों में विभाजित किया जाना था। इसमें से पहली श्रेणी को प्रति व्यक्ति प्रति माह 7 किलोग्राम खाद्यान्न की आपूर्ति रियायती दरों पर की जाती, जबकि दूसरी श्रेणी को 3 किलोग्राम खाद्यान्न की। ये रियायती दरें इस तरीके से निर्धारित होतीं कि वह सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दरों से कम से कम आधी होतीं।

सरकार के इस मसौदे पर संसद की स्टैण्डिंग कमेटी के अलावा सोनिया गाँधी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने भी अपने सुझाव दिये। जैसा कि हमेशा होता है, सोनिया गाँधी की कमेटी सबसे ज़्यादा कल्याणकारी सुझाव देती है। सोनिया गाँधी अपने आपको सरकार की ऐसी संरक्षक के रूप में पेश करना पसन्द करती हैं, जो कि जनता के प्रति बेहद उदार है! लेकिन उनकी सलाह बिरले ही मानी जाती है; अन्त में, सरकार कारपोरेटों के हितों के अनुसार ही निर्णय लेती है। ऐसा नहीं है कि सोनिया गाँधी को इससे कोई दु:ख पहुँचता है, क्योंकि वह भी जानती हैं कि होना यही है। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् तो महज़ एक उदार मुखौटा है जो दिखावे के लिए बनाया गया है। खाद्य सुरक्षा अधिनियम के सवाल पर राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् ने जो सुझाव दिये वे इस प्रकार हैं:

आबादी के 75 प्रतिशत को खाद्य सुरक्षा अधिनियम के घेरे में लाया जाय, जिसमें 90 प्रतिशत ग्रामीण आबादी हो, जबकि 50 प्रतिशत शहरी आबादी हो (यह भी एक मज़ाकिया प्रावधान है, क्योंकि कई सर्वेक्षण यह बता रहे हैं कि शहरी ग़रीबों में कुपोषण और भुखमरी कई मायनों में ग्रामीण ग़रीबों से ज़्यादा है, लेकिन वोट के समीकरण राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् को हमेशा गाँव की ओर खड़ा कर देते हैं!); इसके बाद शामिल की गयी आबादी को "प्राथमिकता" और "सामान्य" के श्रेणियों में विभाजित किया जाना चाहिए जिसमें से 46 प्रतिशत ग्रामीण और 28 प्रतिशत शहरी परिवार "प्राथमिकता" की श्रेणी में, और 39 प्रतिशत ग्रामीण और 12 प्रतिशत शहरी परिवार "सामान्य" के श्रेणी में आयेंगे। पहली श्रेणी के परिवारों को हर माह 35 किग्रा अनाज रियायती दरों पर मिलेगा; दूसरी श्रेणी के परिवारों को 20 किग्रा अनाज रियायती दरों पर मिलेगा। ये रियायती दरें न्यूनतम समर्थन मूल्य की कम-से-कम आधी होनी चाहिए।

इसके बाद प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने सी. रंगराजन के नेतृत्व में एक विशेषज्ञ कमेटी बनायी। इस विशेषज्ञ कमेटी ने तय किया कि आबादी को "वाकई ज़रूरतमन्द" व "अन्य" के हिस्सों में विभाजित किया जाय। जो "वाकई ज़रूरतमन्द" परिवार हैं, उन्हें रु. 3/किग्रा की रियायती दर से चावल और रु. 2/किग्रा की रियायती दर से गेहूँ मुहैया कराया जाय। बाकी बची आबादी को अनाज की उपलब्धता के आधार पर एक विशेष कार्यकारी आदेश के ज़रिये (सम्भव) रियायती दरों पर अनाज दिया जाय। "वाकई ज़रूरतमन्द" परिवारों की परिभाषा क्या है? तेन्दुलकर समिति द्वारा प्रस्तावित ग़रीबी रेखा (जो अभी भी मज़ाक का विषय बनी हुई है) से ऊपर 10 प्रतिशत परिवार और उसे रेखा से नीचे के सभी परिवार। इस समिति का प्रस्ताव सबसे दिलचस्प है। अगर यह माना जाता है तो निश्चित तौर पर रही-सही खाद्य सुरक्षा (अगर कोई बची है तो!) भी जनता के लिए समाप्त हो जायेगी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को ख़त्म कर आधार कार्ड के आधार पर नकदी खाद्य कूपन दिये जाने और व्यापारियों और जमाखोरों को लाभ पहुँचाने का पूरा इन्तज़ाम तो कर ही दिया गया है, और अब इस बात की गणना को भी सरकार पर छोड़ दिया गया है कि "वाकई ज़रूरतमन्द" परिवार कौन-से हैं!

हम देख सकते हैं कि सरकार को जनता के लिए खाद्य सुरक्षा से कुछ भी लेना-देना नहीं है। सरकार का मानना है कि अगर समूची जनता को खाद्य सुरक्षा अधिनियम के तहत लाया गया तो सरकारी बजट चरमरा जायेगा। सरकार का दूसरा तर्क यह है कि इसके लिए पर्याप्त खाद्यान्न आपूर्ति भी नहीं है। वास्तव में, यह दोनों ही तर्क बेकार हैं। पहली बात तो यह कि कृषि क्षेत्र के अपेक्षाकृत ख़राब प्रदर्शन के लिए सरकार की नीतियाँ ज़िम्मेदार हैं। सरकार ने खेती का जो अन्धाधुन्ध व्यापारीकरण किया है, उससे खेती में पूँजी निवेश का बड़ा हिस्सा नकदी फसलों की तरफ़ स्थानान्तरित हो गया है।

इसके अलावा, सरकार ने रियल एस्टेट के पूँजीपतियों को खुश करने के लिए और देश के उच्च मध्यवर्ग की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए खेती योग्य ज़मीनों को औने-पौने दामों पर विशेष आर्थिक क्षेत्र, अवसंरचनात्मक परियोजनाओं और पूँजीपतियों के कारखानों के लिए अधिग्रहीत करने की जो नीतियाँ लागू कर रखी हैं, उनका भी खेती पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। और अन्त में खाद्यान्न में 'फ्यूचर्स ट्रेड' जैसी घातक नीतियों को अपना कर सरकार ने खाद्यान्न सुरक्षा को हर प्रकार से ख़त्म करने का रास्ता अपनाया है,

वह भी सिर्फ़ इसलिए कि कृषि और सम्बन्धित क्षेत्र की कारपोरेट कम्पनियों को मुनाफ़ा पहुँचाया जा सके। लेकिन इन सबके बावजूद देश का खाद्यान्न उत्पादन लगभग हर वर्ष ही रिकार्ड तोड़ता है। और उसके बाद भी सरकार आपूर्ति की समस्या का रोना रोती है, तो इसे ढोंग न समझा जाय तो और क्या समझा जाय? अगर सरकार सूखे की समस्या से निपटने के लिए सिंचाई की उपयुक्त व्यवस्था करे और ऐसी परियोजनाओं में निवेश करे तो खाद्यान्न उत्पादन को और भी बढ़ाया जा सकता है। लेकिन ऐसा सरकार क्यों करने लगी? नतीजतन, कृषि क्षेत्र का प्रदर्शन अन्य क्षेत्रों के मुकाबले अपेक्षाकृत कमज़ोर रहता है। लेकिन निरपेक्ष रूप में देखा जाय तो देश का खाद्यान्न उत्पादन इस समय भी देश की आबादी का पेट भरने के लिए कम नहीं है। वर्तमान समय में तो अगर खाद्यान्न के भण्डारण और संरक्षण के काम को भी ठीक तरीके से अंजाम दिया जाय, और खाद्यान्न के उत्पादन को निरपेक्ष रूप से न भी बढ़ाया जाय तो देश की आबादी की ज़रूरतों को काफ़ी हद तक पूरा किया जा सकता है।

दूसरा तर्क जो सरकार देती है, वह भी एक सफेद झूठ है। सरकार बजट पर पड़ने वाले बोझ की बात करती है, जो कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली के चलते पड़ता है और सार्वभौमिक खाद्य सुरक्षा की वजह से और भी बढ़ जायेगा। हम आपको सिर्फ़ इतना बताते हैं कि सरकार सकल घरेलू उत्पाद के कितने हिस्से को केन्द्रीय खाद्यान्न सब्सिडी के रूप में खर्च करती है, और तस्वीर साफ़ हो जायेगी। सन 2000-01 में यह प्रतिशत 0.63 था, 2001-02 में 0.84 प्रतिशत, 2002-03 में 1.07 प्रतिशत, 2004-05 में 1.00 प्रतिशत, 2004-05 में 0.78 प्रतिशत, 2005-06 में 0.68 प्रतिशत, 2006-07 में 0.61 प्रतिशत, 2007-08 में 0.68 प्रतिशत, 2008-09 में 0.83 प्रतिशत, 2009-10 में 0.95 प्रतिशत, 2010-11 में 0.85 प्रतिशत और 2011-12 में 0.73 प्रतिशत। विश्व खाद्य कार्यक्रम के अनुसार भारत में विश्व की कुल भुखमरी से पीड़ित आबादी का एक-चौथाई हिस्सा रहता है, जबकि 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों की 43 प्रतिशत आबादी कुपोषित है।

ऐसे में, सकल घरेलू उत्पाद का कम-से-कम डेढ़ प्रतिशत हिस्सा केन्द्रीय खाद्य सब्सिडी के तौर पर नहीं दिया जायेगा तो यह स्थिति और बिगड़ेगी, बेहतर किसी सूरत में नहीं होगी। लेकिन सरकार इसके बावजूद कुछ निरपेक्ष आँकड़ों को पेश करती है। मिसाल के तौर पर, सी. रंगराजन विशेषज्ञ कमेटी ने कहा कि 2004-05 में खाद्यान्न सब्सिडी रु. 23,280 करोड़ थी, जो कि 2001-12 में बढ़कर रु. 60,573 करोड़ हो गयी। बस रंगराजन महोदय यह बताना भूल गये कि अगर मुद्रास्फीति से इस रकम को समायोजित किया जाय तो यह मात्र रु. 30,239 करोड़ बैठती है। और अगर हम इसे बढ़ती माँग के साथ समायोजित करें तो हम पायेंगे कि खाद्यान्न सब्सिडी में बढ़ोत्तरी शून्य है! अब अगर में बजट घाटे के मूल कारण की बात करें तो इससे साफ़ हो जाता है कि सरकार को बजट घाटा जनता के भोजन, शिक्षा, चिकित्सा और आवास पर होने वाले खर्चों के कारण नहीं होता है, क्योंकि इन सब पर कुल मिलाकर सरकारी बजट को एक छोटा हिस्सा ही ख़र्च किया जाता है। लेकिन सांसदों, विधायकों, विभिन्न पार्टी के नेताओं, पुलिस, सेना और नौकरशाही पर जो विराट खर्च होता है, वह बजट घाटे के तमाम कारणों में से एक है। यह खर्च महज़ इसलिए किया जाता है कि इस देश की आबादी को दबा और कुचलकर रखा जा सके और शासक वर्गों के हितों को सुरक्षित किया जा सके।

बजट घाटे का दूसरा कारण भी महत्वपूर्ण है। यह है लगातार धनी वर्गों पर से कर का बोझ हटाना और उसे अधिक से अधिक ग़रीब वर्गों पर डालना। मिसाल के लिए पिछले बजट में ही सरकार ने प्रत्यक्ष करों के तहत आने वाली आबादी को और भी सीमित कर दिया, जो कि कुल आबादी का बेहद छोटा सा हिस्सा है, जबकि अप्रत्यक्ष करों को हर स्लैब पर बढ़ा दिया जिसे कि इस देश के बहुसंख्यक ग़रीब आबादी देती है। इसके नतीजे के तौर पर महँगाई और भयंकर तरीके से बढ़ी है। स्पष्ट है कि सरकार अपनी 'ट्रिकल डाउन थियरी' पर काम करते हुए करों का सारा बोझ ग़रीब और निम्न मध्यवर्गीय आबादी पर डाल रही है, और धनपशुओं को इसके बोझ से मुक्त कर रही है, ताकि कारों, टीवी, मोटरसाईकिल, आवास, आदि की ख़रीद को बढ़ावा दिया जा सके और बड़े-बड़े पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाया जा सके। इसके साथ ही सरकार कारपोरेट घरानों को जो छूट दे रही है उसके चलते उसे ज़बर्दस्त घाटा हो रहा है। 2005-06 में कारपोरेट घरानों को दी गयी कर छूटों व अन्य छूटों के कारण हुआ नुकसान सकल घरेलू उत्पाद का 1.02 प्रतिशत था, 2006-07 में यह 1.14 प्रतिशत था, 2007-08 में यह 1.36 प्रतिशत था, 2008-09 में यह 1.27 प्रतिशत था, 2009-10 में 1.19 प्रतिशत, 2010-11 में 0.81 प्रतिशत, और 2011-12 में 0.62 प्रतिशत था।

अगर यह घाटा ख़त्म करके बचने वाली राशि को खाद्यान्न सुरक्षा पर ख़र्च किया जाय तो देश के हरेक नागरिक को रियायती दरों पर खाद्यान्न मुहैया कराया जा सकता है, भूख की समस्या से देश की आबादी को काफ़ी हद तक राहत पहुँचायी जा सकती है। लेकिन सरकार ऐसा नहीं करेगी। क्योंकि वास्तव में अगर देश में भूख की समस्या को समाप्त कर दिया गया, तो इससे पूँजीपतियों को कई तरीके से नुकसान पहुँचेगा। पहला तो यह कि कृषि व सम्बन्धित क्षेत्र के बड़े पूँजीपति तबाह हो जायेंगे, या कम-से-कम उनका मुनाफ़ा कम हो जायेगा। दूसरी बात यह कि अगर देश की बड़ी आबादी को भूख की समस्या से निजात दिला दी गयी तो कुल मिलाकर देश की ग़रीब मेहनतकश आबादी की मजबूरी कम होगी, पूँजीपतियों से उनकी मोलभाव करने की क्षमता में बढ़ोत्तरी होगी। इससे भी पूँजीपति वर्ग की लागत में बढ़ोत्तरी होगी और उनके मुनाफ़े में गिरावट आयेगी। फिर आख़िर पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली यह सरकार खाद्यान्न सुरक्षा अधिनियम को लेकर इतनी "मगजपच्ची" और हल्ला कर ही क्यों रही है? क्योंकि, चाहे कैसा भी कानून बने, उससे जनता को कोई ख़ास फायदा नहीं पहुँचने वाला है। ऐसा इसलिए भी है कि कानून बनना तो सिर्फ औपचारिक कदम है, असली सवाल तो यह है कि वह लागू किस प्रकार से होगा। हम ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना का हश्र देख चुके हैं। वही नौकरशाही जो तमाम योजनाओं को लागू करती है, इस योजना को भी लागू करेगी। इसलिए जो भी कानून बने, अन्ततः होगा वही, 'ढाक के तीन पात'! फिर यह हंगामा क्यों मचा हुआ है?

कारण साफ़ है–2014 में आने वाले लोकसभा चुनाव! कांग्रेस 2013 के अन्त तक खाद्यान्न सुरक्षा अधिनियम को लेकर बहस ही करती रहेगी। और चुनावों से ठीक पहले अधिकतम सम्भव लोकरंजक अधिनियम पास करके कानून बनायेगी, और उसका उससे भी ज़्यादा लोकरंजक प्रचार करेगी। जैसा कि उसने मनरेगा योजना के मामले में किया था। योजना से देश की जनता को कुछ खास नहीं मिला। लेकिन कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन को वोट ज़रूर मिल गये। इस योजना को लेकर भी कांग्रेस का यही मकसद है।

सही वक्त पर और सही तरीके से यह कानून पास होगा और कांग्रेस वोट की फसल काटेगी! खाद्यान्न सुरक्षा को लेकर सारी नकली बहस और पाखण्ड सिर्फ इसीलिए है। और जो कानून बनेगा वह अगर लागू भी हो जाये, तो ज़्यादा सम्भावना यही होगी कि उससे जनता को कुछ भी हासिल नहीं होगा। जो हासिल होगा, वह व्यापारियों और पूँजीपतियों को ही हासिल होगा। इसलिए यह वास्तव में खाद्यान्न सुरक्षा के नाम पर रही-सही खाद्यान्न सुरक्षा को भी ख़त्म करने की साज़िश है।

'दिशा सन्धान' के अगले अंक (जुलाई-सितम्बर, 2013) की प्रमुख सामग्री :

विशेष लेख

- सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ (दूसरी किस्त)
- नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन (दूसरी किस्त) (1970 का दशक)
- फ्रैंकफर्ट स्कूल: एक मार्क्सवादी आलोचना

समकालीन

- सर्वइस्लामवाद की प्रगतिशीलता का मिथक
- तीव्र होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा और गहराते अन्तरविरोध
- राजनीतिक-विचारधारात्मक अश्लीलता के चरम पर पूँजीवाद
- मुनाफ़े की हवस में बंगलादेश में सैकड़ों मज़दूरों की हत्या

पुस्तक समीक्षा

- एलेन बेज्यू की रचना 'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' की समीक्षा

अरविन्द स्मृति न्यास का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन

इक्कीसवीं सदी में भारत का मज़दूर आन्दोलन

● भूमण्डलीकरण के दौर में मज़दूर वर्ग के आन्दोलन और प्रतिरोध के नये रूप और रणनीतियाँ

● भारत का मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलनः अतीत के सबक़, वर्तमान समय की सम्भावनाएँ और चुनौतियाँ

● विश्व पूँजीवाद की संरचना एवं कार्यप्रणाली में बदलाव तथा भारत का मज़दूर आन्दोलनः क्रान्तिकारी पुनरुत्थान की चुनौतियाँ

● मज़दूर आन्दोलन की नयी दिशाः सम्भावनाएँ, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Working Class Movement in India in the Twenty-first Century

● New Forms and Strategies of the Working Class Movement and Resistance in the Era of Globalization

● The Working Class Movement and Communist Movement of India: Lessors from the Past; Possibilities and Challenges of the Present

● Changes in the Structure and modus-operandi of World Capitalism and the Working Class Movement of India: Challenges of a Revolutionary Resurgence

● New Orientation of the Working Class Movement: Prospects] Problems and Challenges

द्वितीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी में पेश आलेखों का संकलन
(हिन्दी व अंग्रेज़ी में उपलब्ध)

मूल्यः 40 रुपये

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:
जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फोनः (0522) 2786782

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

एक वैचारिक मुहिम, एक सांस्कृतिक अभियान

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फ़ुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। जनचेतना हिन्दी और पंजाबी क्षेत्र के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कला-सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

हिन्दी क्षेत्र में यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ़ के बिना, समर्पित वालण्टियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

आइये, आप सभी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।

***मुख्य केन्द्र :* डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
फ़ोन : 0522-2786782

अन्य केन्द्र

- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001, फ़ोन : 0551-2241922
- दिल्ली : 9971158783
- लुधियाना (पंजाब) फ़ोन : 09815587807
- नियमित स्टॉल : कॉफ़ी हाउस के पास, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)

राहुल फाउण्डेशन, परिकल्पना प्रकाशन, अनुराग ट्रस्ट, शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन, दस्तक प्रकाशन और अरविन्द स्मृति न्यास की पुस्तकों के मुख्य वितरक। विस्तृत पुस्तक-सूची के लिए सम्पर्क करें या ब्लॉग पर देखें।

ईमेल : janchetna@rediffmail.com

वेब : janchetnaa.blogspot.com (हिन्दी)
janchetnaaa.blogspot.com (English)

हिन्दी जगत के पाठकों के लिए एक बेहद ज़रूरी नयी पत्रिका

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

पिछले 25 वर्षों के दौरान, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जो बदलाव आये हैं, और इनमें जनसंचार माध्यमों, ख़ासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और 'नये मीडिया' का जो योगदान है, उस पर काफ़ी चर्चा होती रही है। सहमति और "असहमति" मैन्युफ़ैक्चर करने और विचार-निर्मिति के लिए शासक वर्गों के हाथों में यह एक बेहद प्रभावी हथियार है और इसकी प्रभाविता तथा पहुँच आज पहले से कई गुना बढ़ चुकी है। समाज के बौद्धिक तत्वों और उन्नत मस्तिष्कों को प्रभावित और अनुकूलित करने में इण्टरनेट-आधारित माध्यम बेहद कारगर साबित हो रहे हैं।...

मीडिया की वैचारिकी पर आज काफ़ी काम हो रहा है, मार्क्सवादी दृष्टि से भी और 'उत्तर' सरणियों से पैदा हुई दृष्टि से भी। उन सभी की विवेचनाओं में जाना भी ज़रूरी है।

इस परिदृश्य में एक वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की ज़रूरत और चुनौतियाँ पहले से कहीं ज़्यादा हैं। लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक परिवर्तन की परियोजनाओं के एक अंग के तौर पर वैकल्पिक मीडिया का ताना-बाना खड़ा करने की व्यापक सम्भावनाएँ भी आज मौजूद हैं। इस दृष्टि से नये मीडिया की नयी सम्भावनाओं के अन्वेषण और उपयोग के साथ ही इसकी सीमाओं-समस्याओं को भी विचार के दायरे में लाना होगा।...

हिन्दी में सुनिश्चित लक्ष्य पर केन्द्रित ऐसी एक विशिष्ट पत्रिका की शिद्दत के साथ ज़रूरत महसूस होती रही है। इस ज़रूरत को पूरा करने की यह एक विनम्र कोशिश है।

पत्रिका के पहले अंक की सामग्री इस प्रकार है:

- आधुनिक "जन" मीडिया का उद्भव और विकास, पूँजीपति वर्ग का वर्चस्व और एक क्रान्तिकारी वैकल्पिक मीडिया की ज़रूरत
- खाली समय – थियोडोर अडोर्नो
- यांत्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलात्मक रचना – वॉल्टर बेंजामिन
- मार्टिन स्कॉर्सेज़ी की फिल्म 'शटर आईलैण्ड' की समीक्षा: साम्राज्यवाद, दमन, शोषण, उत्पीड़न, यातना शिविर...? जी नहीं जनाब! ये सब आपकी आँखों का धोखा है!
- एकलसंस्कृतिकरण की प्रक्रिया के दौरान रोज़मर्रा के जीवन में बच्चों की भागीदारी और प्राथमिकताओं के चयन में मीडिया की भूमिका

सम्पादक: **कात्यायनी, सत्यम** मूल्य: 40 रुपये
वार्षिक सदस्यता : 160 रुपये (डाक व्यय अतिरिक्त), त्रैमासिक
सम्पादकीय पता: 69ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
ईमेल: naandipath@gmail.com, फोन: 9936650658/8853093555

"मार्क्सवाद को गणित की तरह एक अनमनीय रूपवाद में अपचयित नहीं किया जा सकता और न ही इसे स्वचालित लेथ मशीन पर काम करने जैसी मानक तकनीक के तौर पर लिया जा सकता है। मानव समाज में प्रस्तुत होने वाली सामग्री में अन्तहीन विविधताएँ होती हैं; प्रेक्षक स्वयं प्रेक्षित की जा रही आबादी का एक भाग होता है, जिसके साथ वह पुरज़ोर ढंग से और परस्पर अन्तर्क्रिया करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सिद्धान्त को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए विश्लेषणात्मक शक्ति, और किसी स्थिति में मूलभूत विशिष्टताओं को पहचानने की क्षमता का विकास करना आवश्यक होता है। इसे सिर्फ़ पुस्तकों से नहीं सीखा जा सकता। इसे सीखने का एकमात्र तरीका जनता के व्यापक तबकों के साथ निरन्तर सम्पर्क ही है।"

– डी.डी. कोसाम्बी

अंक 2, 100 रुपये

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

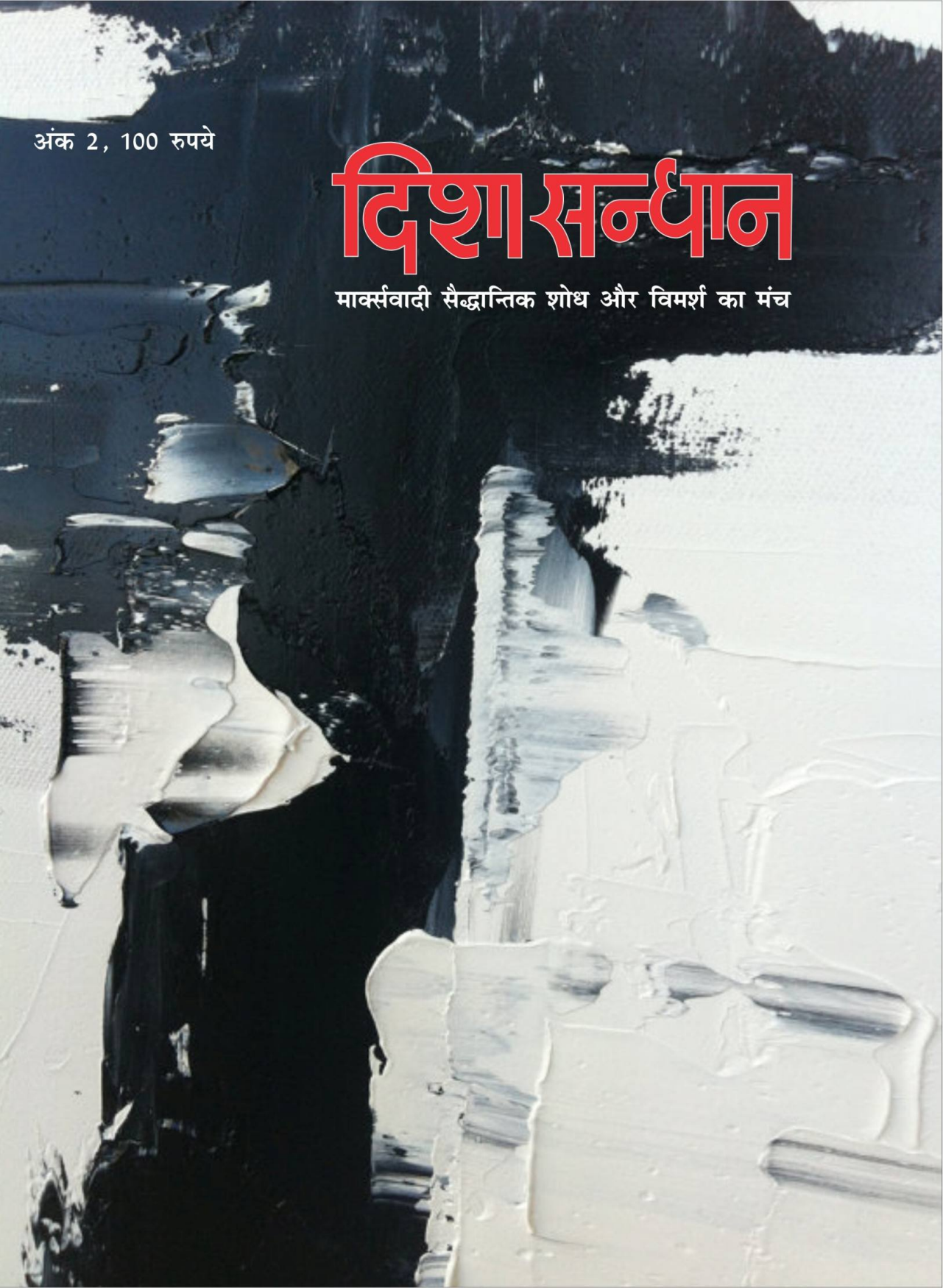

उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक क्रान्ति अतीत से नहीं वरन भविष्य से ही अपनी प्रेरणा प्राप्त कर सकती है। वह उस समय तक अपना समारम्भ नहीं कर सकती जब तक अतीत सम्बन्धी अपने सभी मूढ़ विश्वासों को दूर न कर ले। पहले की क्रान्तियों को स्वयं अपनी अन्तर्वस्तु के सम्बन्ध में अपने को मदहोश करने के लिए विगत विश्व इतिहास की स्मृतियों की आवश्यकता पड़ती थी। उन्नीसवीं शताब्दी की क्रान्ति के लिए ज़रूरी है कि अपनी अन्तर्वस्तु प्राप्त करने के लिए जो बीत गया है, उसे भुला दे। पहली क्रान्तियों के नारे उनकी अन्तर्वस्तु से आगे निकल गये थे; यहाँ अन्तर्वस्तु नारों से आगे निकल जाती है।

– कार्ल मार्क्स

(लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर)

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

2

जुलाई–सितम्बर, 2013

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

जुलाई-सितम्बर 2013

सम्पादक

कात्यायनी / सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :
69 ए-1, बाबा का पुरवा
पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226020
फ़ोन : 9936650658 / 8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रण : प्रकाश पैकेजर्स, गोलागंज, लखनऊ

प्रति अंक : 100 रुपये

वार्षिक सदस्यता: 400 रुपये (डाकखर्च सहित)

आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क **'दिशा सन्धान'** (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता ज़रूर बता दें।
चालू खाता सं. 0762002109003644
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,
आईएफ़एससी कोडः PUNB0076200

●

संपादन-संचालन पूर्णतः अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा चमन एंटरप्राइज़ेज़, दरियागंज, दिल्ली द्वारा मुद्रित

इस अंक में

अपनी बात **5**

आपकी बात **7**

विशेष लेख

सोवियत समाजवाद के अनुभवः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ (दूसरी किस्त) — अभिनव सिन्हा **13**

जाति प्रश्न और उसका समाधान : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण
— शोध टीम, अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान **141**

भारत में पूँजीवादी कृषि का विकास और मौजूदा अर्द्ध-सामन्ती सैद्धान्तिकीकरण की भ्रान्ति के बौद्धिक मूल
— अभिनव **209**

सामयिक

फासीवाद की बुनियादी समझ : नुक्तेवार कुछ बातें
— कात्यायनी **222**

नेपाली क्रान्तिः गतिरोध और विचलन के बाद विपर्यय और विघटन के दौर में *— आलोक रंजन* **233**

पुस्तक समीक्षा

'कम्युनिज़्म' का विचार या उग्रपरिवर्तनवाद के नाम पर परिवर्तन की हर परियोजना को तिलांजलि देने की सैद्धान्तिकी
— शिवानी **254**

समकालीन

नमो फासीवाद : नवउदारवादी पूँजीवाद की राजनीति और असाध्य संकटग्रस्त पूँजीवादी समाज में उभरा धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन
— *कविता कृष्णपल्लवी* **254**

आम आदमी पार्टी की राजनीति के उभार के निहितार्थ
— *शिशिर* **259**

गहराता वैश्विक पूँजीवादी संकट और जुझारू मज़दूर संघर्षों का तेज़ होता सिलसिला
— *सत्यम* **273**

नेल्सन मण्डेला
— *आनन्द सिंह* **279**

अपनी बात

'दिशा सन्धान' के प्रवेशांक में हमने पूँजीवाद के गहराते वैश्विक संकट और उससे पैदा होने वाले राजनीतिक संकट की चर्चा की थी। गुज़रे एक वर्ष के दौरान स्थितियाँ और गम्भीर हुई हैं। कई लोग अक्सर यह खुशफ़हमी पाल लेते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने संकटों के बोझ तले ख़ुद ही ढेर हो जायेगी। मगर यह बस खुशफ़हमी ही है। जबतक कि क्रान्ति का सचेतन हरावल दस्ता संगठित नहीं होगा, पूँजीवाद अपनेआप ध्वस्त नहीं होगा। इतना ही नहीं, पूँजीवादी संकट का यदि क्रान्तिकारी समाधान नहीं होगा तो इसका प्रतिक्रान्तिकारी समाधान फासीवाद के रूप में सामने आयेगा। भारतीय अर्थव्यवस्था का घनघोर संकट देश को इसी समाधान की ओर धकेलता दिखायी दे रहा है। बेशक़, आज की परिस्थितियों में भारत जैसे देशों में फासीवाद की शक़्ल हिटलर और मुसोलिनी के फासीवाद जैसी नहीं होगी, लेकिन पूँजीपति वर्ग जनता के विरुद्ध जंजीर में बँधे कुत्ते के समान इसका इस्तेमाल करने का विकल्प हमेशा अपने हाथ में रखेगा। यहूदियों के सफ़ाये जैसी परिघटना आज सम्भव नहीं लेकिन अल्पसंख्यकों पर अत्याचार और उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक बनाने में फ़ासिस्ट कोई कोर-कसर नहीं उठा छोड़ेंगे। मोदी का गुजरात इसका उदाहरण है। इससे भी अहम बात यह है कि फासीवाद का मुख्य हमला मेहनतकश हैं। उनकी यूनियनों और आन्दोलनों को फ़ासिस्ट शासन बर्बरता से कुचलेगा। 'नमो परिघटना' यह संकेत है कि दुनिया के कई देशों की तरह भारत में भी फासीवाद की धारा लगातार मज़बूत हो रही है, उसके नये सामाजिक अवलम्ब विकसित हुए हैं और सामाजिक आधार विस्तारित हुआ है। फासीवादी सत्ता में चाहे न भी आयें, उत्पात और आतंक मचाने की उनकी ताक़त बढ़ रही है।

दूसरी ओर, यह भी सच है कि खण्ड-खण्ड में बिखरा हुआ, गतिरुद्ध कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन आज विकल्प प्रस्तुत कर पाने की स्थिति में नहीं है। इसके भीतर, एक छोर पर

यदि "वामपंथी" दुस्साहसवाद का भटकाव है, तो दूसरे छोर पर तरह-तरह के रूपों में दक्षिणवादी विचलन है। दोनों के ही मूल में है विचारधारात्मक कमज़ोरी और कठमुल्लावाद। आज की दुनिया और भारत में पूँजीवादी संक्रमण की गतिकी को नहीं समझ पाने के चलते अधिकांश संगठन आज भी नयी सच्चाइयों को बीसवीं शताब्दी की लोकजनवादी क्रान्तियों के साँचे-खाँचे में फिट करने की निष्फल कोशिश करते रहे हैं। इस गतिरोध से उबरने के लिए पुरानी निरन्तरता को तोड़कर एक नयी साहसिक शुरुआत की ज़रूरत है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की गम्भीर समझ से लैस, सच्ची बोल्शेविक पार्टी के निर्माण के लिए संकल्पबद्ध कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ी ही इस काम को अंजाम दे सकती है। यह रास्ता लम्बा है मगर कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं। परिस्थितियाँ इस एकमात्र विकल्प को साहस के साथ स्वीकार करने के लिए लगातार दबाव बना रही हैं।

●

काफ़ी लम्बे अन्तराल के बाद 'दिशा सन्धान' का यह दूसरा अंक आपके बीच प्रस्तुत है। सम्पादकीय टीम की कुछ अप्रत्याशित व्यस्तताओं और पहले अंक में प्रकाशित दो धारावाहिक निबन्धों के लेखकों की कुछ आकस्मिक समस्याओं के कारण इसमें देर होती रही। हालाँकि 'नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक' की दूसरी किस्त हम इस बार भी नहीं दे पा रहे हैं। इसे जल्द प्रकाशित होने वाले अगले अंक से फिर शुरू किया जायेगा।

पत्रिका के पहले अंक का जिस उत्साह के साथ पाठकों ने स्वागत किया है उससे हमारा विश्वास दृढ़ हुआ है कि संक्रमण के इस दौर में खुलकर सोचने, बहस-मुबाहसा करने, आन्दोलन और विचारधारा के सवालों पर सकर्मक विमर्श करने के एक मंच के तौर इस प्रकार की पत्रिका की आज सख़्त ज़रूरत है। जैसा कि हमने पत्रिका के परिपत्र में कहा था, यह समय है कि ऐसे सभी लोगों के बीच एक सही विचारधारात्मक-राजनीतिक अवस्थिति के निःसरण के लिए खुले विचारधारात्मक-राजनीतिक विनिमय, विमर्श और बहस-मुबाहसे का आयोजन किया जाना चाहिए जो अभी भी संशयवाद के हामी नहीं बने हैं, जो अभी भी किसी क्रान्तिकारी परियोजना के साथ प्रतिबद्ध हैं और उसके प्रति एक वैज्ञानिक आशावाद रखते हैं और जिन्होंने ऐसी क्रान्तिकारी परियोजना के साथ किसी न किसी रूप में खड़े होने के संकल्प को छोड़ा नहीं है। 'दिशा सन्धान' विनम्रता के साथ ऐसे सभी साथियों के बीच एक संवाद स्थापित करने के प्रस्ताव के साथ आपके उपस्थित है। हमें यह देखकर खुशी है कि इस प्रस्ताव को नये-पुराने पाठकों से पुरज़ोर समर्थन मिला है।

पत्रिका का यह अंक हम एक बार फिर इस आग्रह के साथ आपके हाथों में दे रहे हैं कि इस पर अपनी बेलाग राय, प्रतिक्रिया और सुझाव हमें दें। अगर आपको यह एक ज़रूरी परियोजना लगती है तो इसके साथ जुड़ें, इसे हर प्रकार से सहयोग दें।

(4 मार्च 2014)

आपकी बात

प्रियवर,

'दिशा संधान' और 'नांदीपाठ' पत्रिकाओं के प्रवेशांक काफी लम्बी प्रतीक्षा व कठिनाई के बाद प्राप्त हुए। दोनों को पढ़ लिया है। पत्रिकाएँ निश्चित ही काफी श्रम और गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ निकाली गयी हैं। इसलिए इनमें वह सामग्री संकलित है जो अन्यत्र नहीं मिलती। आजकल साहित्य (वैचारिक और रचनात्मक) विभिन्न पत्रिकाओं में इस तरह परोसा जा रहा है गोया वह गम्भीर सोच-विचार की सामग्री नहीं चटपटी चाट हो। स्वाद लेकर खाइये और थोड़ी देर में भूल जाइये। साहित्य का वह उद्देश्य ही ग़ायब हो गया है जो कभी अन्यायी सत्ताओं के प्रति लोगों को खड़ा करने की भूमिका निभाया करता था। ऐसे में इन दोनों पत्रिकाओं का कैसा और कितना स्वागत होता है मैं कयास नहीं लगा पा रहा हूँ। बहरहाल मुझे ये पसन्द हैं, यद्यपि लेखों का बहुत अधिक अकादमिक होना व जगह-जगह अनुवाद सही न होना खटकता भी है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि इन्हीं विषयों पर मौलिक लिखने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया जाये। हो सकता है आप की भी कुछ कठिनाइयाँ हों फिर भी मैं चाहूँगा कि इस सुझाव पर विचार किया जाये।

– सुरेश पण्डित, अलवर

क्रान्तिकारी अभिवादन,

'दिशा सन्धान' व 'नान्दीपाठ' के ब्रोशर मिले। हिन्दी समाज में ऐसी गम्भीर पत्रकारिता निश्चय ही ज़रूरी कार्यभार है। इधर तो लोग सैद्धान्तिकी और चिन्तन से विरत होते जा रहे हैं। आप ही यह काम कर सकते हैं। लगता है देश आगे की बजाय पीछे की ओर जा रहा है। आने वाला समय हमारे लिए और मुश्किलों भरा हो सकता है। बहरहाल, हमसे जो सहयोग बन पड़ेगा, करेंगे।

– राजाराम भादू, जयपुर

'दिशा सन्धान' और 'नान्दीपाठ' के प्रवेशांक मिल गये हैं। सदस्यता शुल्क भेज रहा हूँ। दोनों ही पत्रिकाओं की सामग्री

प्रथमदृष्टया गम्भीर और वैचारिक है। आप और आपकी टीम लगातार काम कर रही है, जो अत्यन्त सुखद है। पत्रिकाएँ पढ़कर विस्तार से राय दूँगा।

– बसन्त त्रिपाठी, नागपुर

लाल सलाम,

'दिशा सन्धान' का पहला ही आलेख ऐतिहासिक आवश्यकता का प्रमाण है। यद्यपि बहुत सारे बिन्दु बहस के अपेक्षित मुद्दे हैं। बधाई। पत्रिका भेजने के लिए मित्रों के पते भेज रहा हूँ।

– डा. रमेशचन्द्र, आगरा

साथी, क्रान्तिकारी अभिवादन

मुझे 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' के प्रवेशांक समय पर मिल गये हैं। दोनों ही पत्रिकाओं के कवर पेज, छपाई और कागज़ बहुत ही अच्छी किस्म के हैं। इनमें प्रकाशित सामग्री मैंने अभी पूरी तो नहीं पढ़ी है, उसमें वक़्त लगेगा। लेकिन अंक मिलते ही मैंने दोनों के सम्पादकीय और काफी कुछ पढ़ लिया है जिससे यह तो समझ में आता ही है कि पत्रिकाओं ने अपने मकसद की ओर बहुत सधा और वैचारिक दृष्टि से समृद्ध पहला क़दम बढ़ाया है। उम्मीद ही नहीं भरोसा भी है कि ये क़दम-दर-क़दम ऐसे ही बढ़ती चलेगी। ये 'दायित्वबोध' की तरह शायद न रुकेंगी...!

लघु पत्रिकाओं को कभी एक आन्दोलन की तरह सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। लेकिन आज कई पत्रिकाओं को हम देख रहे हैं कि वे सिर्फ परिवार चलाने का एकमात्र जरिया बन कर रह गयी हैं। वे कैसी-कैसी फन्डिग एजन्सियों से सहायता ले रही हैं..? देशी-विदेशी पूँजीपति कम्पनियों के विज्ञापन छाप रही हैं और किन-किन जल, जंगल और भूमि माफियाओं तक से धन बटोर रही हैं। यहाँ जैक लंडन की कृति 'आयरन हील' की याद आ रही है।...

लेकिन 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' जैसी पत्रिकाएँ अभी कोई नहीं निकल रही है।...मुझे लगता है कि 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' कई पत्रिकाओं के सम्पादकों और उनमें लिखने वाले लेखकों की वैचारिक समझ को और समृद्ध करने का काम करेगी। जैसे कि 'दायित्वबोध' की भी कुछ ऐसी ही भूमिका थी। पर मैं आपको एक बात बताऊँ.. जब मैं 'दायित्वबोध' पढ़ता था, वह मुझे बहुत ही कम समझ में आती थी। मुझे उसे पढ़ते हुए खीज भी होती थी कि यह कैसी हिन्दी है, जो मुझे समझ नहीं आ रही है। तब हिन्दी मेरे लिए दूसरी भाषा थी। मेरी पहली भाषा-बोली तो 'मालवी' थी, जिसका मेरी कहनियाँ में भी भरपूर प्रयोग हुआ है। लेकिन तब मुझे हिन्दी की दूसरी पत्रिकाएँ पहल, हँस आदि समझ में आती थीं। और मैं 'दायित्वबोध' के सम्पादक और प्रकाशक को कोसता था कि यह पत्रिका किसके लिए निकालते हैं..? मुझे लगता है कि आज भी हिन्दी पढ़ने वाला ज़्यादतर पाठक वर्ग वैसा ही है, जिसकी पहली बोली-भाषा अपनी क्षेत्र में बोली जाने वाली है और दूसरी हिन्दी है। मैं यहाँ निवेदन करना चाहता हूँ कि आप 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' को 'दायित्वबोध' जैसी जटिल बनाने का प्रयास मत करना।।

मैं इस तर्क को स्वीकार करता हूँ कि आपको पारिभाषिक शब्दों को और जटिल विचार को बहुत सहज और सरल भाषा में प्रस्तुत करने में बहुत मुश्किल आती होगी और आती रहेगी। लेकिन इस विचार के प्रचार-प्रसार करने वालों को यह चुनौती भी स्वीकार करनी पड़ेगी..! अगर मैं ठीक हूँ तो मुझे याद आ रहा है, भाषा पर आपके ही प्रकाशन से एक अच्छी किताब प्रकाशित हुई थी। भाषा का मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र या ऐसा ही कुछ मिलता-जुलता उसका नाम था। वह मैंने अपने एक मित्र को दी थी, जो फिर कभी लौटी नहीं। मित्र के साथ स्थानांतरण पर चली गयी और फिर आउट ऑफ रीच हो गयी। भाषा पर लेनिन, स्तालिन और न्गुगी ने भी काम किया है। हमारे यहाँ रामविलास शर्मा जी का भी काम है। मैंने इनका जितना जो कुछ पढ़ा है, उससे भी और अपनी देहाती समझ से भी लगता है कि कितना ही कठिन विचार और मुद्दा हो... वह जितनी सहज, सरल भाषा और शिल्प में पाठकों के बीच जायेगा उतनी ही उसे स्वीकारोक्ति मिलेगी। उसको जानने, मानने और उस पर बहसियाने वाले बढ़ेंगे। मैं यहाँ कहना चाहता हूँ कि दायित्वबोध की तुलना में इन दोनों पत्रिकाओं की भाषा बहुत पठनीय और समझ में आने वाली है। थियोडोर अडोर्नो के लेख का अनुवाद 'ख़ाली समय' की भाषा भी ताज़गी भरी है। वरना कुछ मित्रों के अनुवाद इतने कठिन होते हैं, कि उससे सरल अँग्रेज़ी में पढ़ना होता है। 'ख़ाली समय' के लिए शिवानी का शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ।

आज कुकुरमुत्तों की तरह अँग्रेज़ी स्कूल और कॉलेज खुलने के बावजूद हिन्दी और क्षेत्रीय बोलियाँ बोलने वाले लोग ज़्यादा हैं। उन्हीं लोगों में देश के अलग-अलग हिस्सों में हिंसक/अहिंसक जनांदोलन भी चल रहे हैं। लेकिन उनके नेतृत्त्व और कार्यकर्ताओं की जनपक्षीय राजनीतिक दृष्टि पूर्ण रूप से विकसित न होने और समय पर मार्गदर्शन देने वाला और समझ में आने वाला राजनीतिक साहित्य उन तक न पहुँचने की वजह से शायद उनका संघर्ष अधबीच में दम तोड़ देता है या रास्ते से भटक जाता है या फिर धनपशुओं की ग़ुलाम सत्ताओं के आगे समर्पण कर देता है। हालाँकि जन संगठनों को भटकाने और ठिकाने लगवाने में एन.जी.ओ. ने अपनी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है और निभा रहा है। न सिर्फ जन संगठन, बल्कि कुछ लाल झण्डे वाली राजनीतिक पार्टियाँ जो थोड़ी-बहुत वामपंथी भी थीं, मार्क्स, लेनिन की माला भी जपती थीं, उनके भी न सिर्फ़ झण्डे का रंग धो-पोंछ दिया है, बल्कि अब उनमें और दूसरी साम्राज्यवादी पार्टियों में नाम के अलावा थोड़ा-बहुत ही फर्क रह गया है, जो भविष्य में जल्दी ही मिटने की सम्भावना है। उनकी पसली से निकले सांस्कृतिक और लेखक संगठन अपने पतन की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं। उन पर एन.जी.ओ. कर्मियों और छद्म प्रगतिशीलों ने कब्ज़ा कर लिया है। वहाँ ईमानदार और जनपक्षीय रचनाकारों को धीरे-धीरे बाहर धकेला जा रहा है। उनके साथ उपेक्षित और द्वेषतापूर्ण बरताव किया जा रहा है।... आज भी छद्म तरक्कीपसंद संगठनों और संस्थाओं की स्थिति में कोई सुधार नहीं आया है, बल्कि वे और ज़्यादा भ्रष्ट और दक्षिणपंथी होते जा रहे हैं। ऐसे परिदृश्य में 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' से अपेक्षाएँ और ज़्यादा बढ़ जाती हैं। और अब जबकि 'दायित्वबोध' को बन्द हुए एक लम्बा अर्सा हो गया है, उसके शुरू होने और बन्द होने के अनुभवों ने आपको काफी समृद्ध भी किया ही होगा। ऐसी स्थिति में जब यह पत्रिकाएँ आपने शुरू की हैं, तो गहरी सूझ-बूझ और एक व्यवस्थित ढाँचा बनाकर ही शुरू की होंगी, ऐसा मैं समझ रहा हूँ। और यह कोशिश लम्बे समय तक हिन्दी के लेखक, पाठक और सामाजिक, सांस्कृतिक,

राजनीतिक कार्यकर्ताओं को दृष्टि प्रदान करती रहेगी।

मैं अंग्रेज़ी का पाठक नहीं और वह मुझे आती भी नहीं है। मैंने अंग्रेज़ी का जो कुछ पढ़ा, अनुवाद ही पढ़ा है। हावर्ड फास्ट, टी.एस. इलियट, क्रिस्टोफर कॉडवेल और ग्यॉर्गी लुकाच जैसे जिस किसी का भी लिखा पढ़ा, वह हिन्दी अनुवाद ही पढ़ा है। मुझे हिन्दी में एक कमी अच्छी आलोचना की लगातार खलती रही है, हालाँकि सुरेन्द्र चौधरी, नामवर सिंह, शिव कुमार मिश्र, डॉ. राम विलास शर्मा और अरुण प्रकाश जी हुए हैं। हिन्दी आलोचना की नयी पीढ़ी में रोहिणी अग्रवाल, पल्लव और वैभव सिंह के काम में भी मेहनत नज़र आती है। फिर भी मुझे अपने समय, समाज और देश में चल रहे सांस्कृतिक और जनान्दोलनों की मार्क्सवादी आलोचना-समालोचना की बड़ी कमी खलती रही है। आलोचना में पिछले दस-पन्द्रह सालों में उभरे आलोचकों-समीक्षकों में कुछ तो चारण भाट और हरबोलों की परम्परा के लगते हैं। पिछले बीस सालों के कथा, उपन्यास और कविता जैसे साहित्य की आलोचना-समालोचना प्रायोजित लगती है। वह हमारे नये रचनाकारों को तराशकर नयी दिशा और दृष्टि प्रदान करने में बुरी तरह से असफल रही है। बल्कि असफल तो वह होता है, जो सही दिशा में सफल होने के लिए संघर्ष करता है। यहाँ तो ऐसा कुछ है ही नहीं। ऐसा कोई नज़र ही नहीं आता, जो हमारे समय, समाज और समाज में होने वाले हिंसक/अहिंसक आन्दोलनों की ऐसी व्याख्या, आलोचना-समालोचना करे कि हम जैसे नवोदित किस्सा-कहानी कहने वालों को रोशनी मिले। भले ही गोर्की, लू शुन, लाओ शु, ब्रेष्ट आदि की टक्कर के नहीं...पर अपने काल के किस्से-कहानी ठीक-ठाक कह सकने की समझ तो हासिल कर सकें...!

मुझे लगता है कि एक रचनाकार की अच्छी गुरू तो अच्छी आलोचना ही हो सकती है। 'नान्दीपाठ' में जब मैंने टेलीविज़न समीक्षा, फिल्म समीक्षा देखी और पढ़ी। 'दिशा सन्धान' में पुस्तक समीक्षा: 'खतरनाक ढंग से सपने देखने और निष्क्रिय, नुकसानदेह और नामुराद सैद्धान्तिकीकरण का वर्ष (अभिनव सिन्हा), आधुनिक यूनानी त्रासदी के त्रासद नायक के विरोधाभास (सत्यम), दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड, जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट और सरकार का अपराध कानून/संशोधन अध्यादेश (कात्यायनी), अफ़ज़ल गुरू को फाँसी, खाद्य सुरक्षा, तो ये जो मुद्दे और घटनाएँ आपने शामिल किये हैं, मुझे लगता है कि यह कोशिश एक लम्बे समय से खलती ख़ामी को भरने की दिशा में उठा क़दम साबित होगी। मुझे लगता है कि यह एक बेहद ज़रूरी और सही काम है, इससे मुझ जैसे अनेक नवोदित लेखकों को अपनी दृष्टि को लगातार माँजने और पैनी करने में निश्चित ही मदद मिलेगी। जैसे 'फिलहाल' 'समयांतर', और 'नागरिक' भी अपने सीमित संसाधनों में लगतार और नियमित अच्छा काम कर ही रही हैं।

अंग्रेज़ी में ई.पी.डब्ल्यू और मंथली रिव्यू जैसी कुछ पत्रिकाएँ हैं, पर उनका लाभ मेरे जैसे गावदी और हिन्दी भाषी नहीं ले पा रहे हैं। मुझे लगता है कि 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' हम हिन्दी भाषियों को ई.पी.डब्लू और मंथली रिव्यू जैसी पत्रिकाओं की कमी महसूस नहीं होने देगी, बल्कि अपने पाठकों से आगे ले जायेगी। उन्हें एक बेहतर व्यवस्था के निर्माण के लिए न सिर्फ उकसाने का काम करेंगी, बल्कि नेतृत्व भी प्रदान करेंगी। मैं खुले हृदय और युवा जोश से इन दोनों पत्रिकाओं का स्वागत करता हूँ।

मैं 'नान्दीपाठ' और 'दिशा सन्धान' के सिर्फ उन साथियों को ही नहीं, जिनके नाम

पत्रिका में किसी न किसी रूप में छपे हैं, बल्कि उन सभी को शुक्रिया और सलाम कहना चाहता हूँ, जिन्होंने दोनों पत्रिकाओं को पाठकों तक इस ख़ूबसूरती से पहुँचाया है।

— सत्यनारायण पटेल, इन्दौर

पहले 'दायित्वबोध' के रूप में प्रकाशित होती रही पत्रिका को फिर से आगे बढ़ाने के आपके प्रयास का मैं दिल से स्वागत करता हूँ। मैं मार्क्सवाद-लेनिनवाद की हिफ़ाज़त और विचारधारा के अहम सवालों पर पोलेमिक में इसके ज़बर्दस्त योगदान को भूल नहीं सकता। आज सर्वहारा अधिनायकत्व और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के मूलभूत सिद्धान्तों की हिफ़ाज़त और इस प्रकार मार्क्स, लेनिन और माओ की शिक्षाओं की जीजान से रक्षा करने के लिए ऐसी पत्रिका की अत्यन्त आवश्यकता है। आज आर.सी.पी.,यू.एस.ए., कसामा प्रोजेक्ट से लेकर लीडिंग लाइट कम्युनिस्ट आर्गनाइज़ेशन तक अनेक शक्तियों की एक धारा मार्क्स, लेनिन, स्तालिन और माओ के बुनियादी उसूलों को तोड़-मरोड़ रही है। माइक एली के नेतृत्व में कसामा प्रोजेक्ट माओवाद को अपनेआप में स्वतंत्र, लेनिनवाद से अलग इकाई के रूप में पेश करता है। वे एक मार्क्सवादी सिद्धान्तकार के रूप में स्तालिन के योगदान की शायद ही कभी हिफ़ाज़त करते हैं और माओवाद को लगभग स्तालिनवाद की एण्टी-थीसिस मानते हैं। दूसरी ओर, लीडिंग लाइट जैसी शक्तियाँ प्रथम विश्व के सर्वहारा की भूमिका को ही ख़ारिज करती हैं और केवल तृतीय विश्व के सर्वहारा को मान्यता देती हैं। ये दोनों ही रुझानें आर.सी.पी., यू. एस.ए. की तीव्र आलोचक हैं।

आर.सी.पी., यू.एस.ए. के नेता बॉब अवाकियन ने शुरू में काफी योगदान किया था, लेकिन आगे चलकर उन्होंने क्रान्तिकारी अन्तरराष्ट्रीयतावादी आन्दोलन (रिम) में अपनी पार्टी की नीतियाँ थोपकर विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को काफी धक्का पहुँचाया। का. अवाकियन ने समाजवादी समाज में विरोध और बहस के सवाल पर कुछ महत्वपूर्ण बातें उठायीं। यह कहा जा सकता है कि स्तालिन काल में मत-विरोध को दबाया गया और हालाँकि सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान स्तालिन की चूकों को ठीक करने के महती प्रयास किये गये लेकिन बहस-मुबाहसे या मत-विरोध के लिए पर्याप्त स्थान नहीं दिया गया। कलाकारों, संगीतकारों, लेखकों और बुद्धिजीवियों के मामले में ऐसा रवैया बहुत प्रकट था। लेकिन अवाकियन माओ के नेतृत्व में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी पर तीन दुनियाओं का सिद्धान्त पेश करने का ग़लत आरोप लगाते हैं। वह अपनी 'न्यू सिन्थेसिस' को भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की उच्चतर अवस्था मानते हैं, जो बिल्कुल आधारहीन है। अवाकियन ने अध्यक्ष माओ की तरह, समाजवादी समाज में क्रान्ति तो दूर, किसी भी क्रान्ति का नेतृत्व नहीं किया है। वास्तव में, उनका लेखन कुल मिलाकर कामरेड माओ की क्रान्तिकारी लाइन की हिफ़ाज़त करने में विफल रहता है। हमें 'इम्मॉर्टल कंट्रीब्यूशन्स ऑफ माओ त्से-तुङ : द ग्रेटेस्ट रिवोल्यूशनरी ऑफ अवर टाइम' में पार्टी की हिरावल भूमिका और माओ के अवदानों की रक्षा करने में उनके योगदान की सराहना करनी चाहिए, लेकिन बाद में आर.सी.पी. ने स्तालिन की उपलब्धियों की शायद ही कभी हिफ़ाज़त की और यहाँ तक कि अन्तरराष्ट्रीय लाइन की हिफ़ाज़त में का. माओ के अवदान का मज़ाक भी उड़ाया। इस सन्दर्भ में हमें देङपंथी चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और अनवर होजा के ग़लत विचारों का खण्डन करने में का. हरभजन सिंह सोही के अवदान को याद करना चाहिए। कसामा प्रोजेक्ट जैसी शक्तियाँ अमेरिका और शेष विश्व में साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्षों के

समर्थन और एकजुटता के लिए अच्छा काम कर रही हैं। वे वाद-विवाद और मत-विरोध की स्पिरिट को भी बढ़ावा देती हैं जिसकी आज कम्युनिस्ट आन्दोलन में बहुत ज़रूरत है। लेकिन उनमें लेनिनवाद के सवाल पर बहुत वैचारिक ढीलापन है और हिरावल की पार्टी की भूमिका, और लेनिनवाद के अन्य बुनियादी उसूलों, ख़ासकर सर्वहारा अधिनायकत्व पर सवाल उठाये जाते हैं। एलेन बेज्यू के विचारों जैसी नव वाम की रुझानों को बढ़ावा दिया जाता है।

भारत में बर्नार्ड डिमेलो जैसे लेखक और बुद्धिजीवी भी हैं जो मार्क्स, लेनिन और माओ को क्रान्तिकारी नहीं बल्कि रैडिकल डेमोक्रेट के रूप में देखते हैं। अपने लेखों में वह माओवाद को कुछ ऐसी चीज़ के बतौर पेश करते हैं जिसे स्तालिनवाद के चंगुल से मुक्त होने की ज़रूरत है, और बुर्जुआ बहुदलीय जनवाद की वक़ालत करते हैं।

ऐसे में हमें आज मार्क्स, लेनिन, स्तालिन और माओ के अवदानों की जीजान से हिफ़ाज़त करनी है। यह 1963 की अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम कार्यदिशा का 50वाँ वर्ष है और आपकी पत्रिका को एक बड़ी भूमिका निभानी है। साथ ही, मैं आशा करता हूँ कि समाजवाद के भविष्य के लिए मत-विरोध और वाद-विवाद की स्पिरिट को काफी प्रोत्साहित किया जायेगा।

आपके प्रयासों को लाल सलाम।

– हर्ष ठाकोर, मुम्बई

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

● अभिनव सिन्हा

(दूसरी किस्त)

IV. क्रान्ति-पूर्व रूस की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन का उद्‌भव और विकास

पिछले अध्याय में 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और विसर्जनवादी सोच की आलोचना के बाद हम सोवियत समाजवादी प्रयोगों के अपने सकारात्मक आलोचनात्मक विश्लेषण की ओर आगे बढ़ सकते हैं। बताने की ज़रूरत नहीं है कि 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' कोई अलग-थलग अकेला उदाहरण नहीं है, बल्कि आज पूरे देश और दुनिया भर के कम्युनिस्ट आन्दोलन में हम इस प्रकार की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी प्रवृत्ति के उभार को देख सकते है। इसलिए हमारी आलोचना महज़ 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' जैसे राजनीतिक नौदौलतियों पर लक्षित नहीं है, बल्कि यह इस पूरी रुझान की आलोचना है, जिसका सुजीत दास जैसे अधकचरे "सिद्धान्तकार" महज़ एक छोटी-सी मिसाल हैं।

जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि सोवियत समाजवाद के प्रयोगों पर सकारात्मक तौर पर अपना दृष्टिकोण रखने की प्रक्रिया में हम 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' द्वारा किये गये

तथ्यों के विकृतिकरण को अनावृत्त करेंगे, सोवियत समाजवाद के कुछ प्रमुख अध्ययनों का आलोचनात्मक विवेचन और साथ ही सोवियत समाजवाद की समस्याओं की व्याख्या के कुछ नवीन प्रयासों पर अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी पेश करेंगे। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें हम इस बारे में कुछ स्पष्टीकरण देना चाहेंगे कि आप इस रचना से क्या अपेक्षा न करें।

यह अध्ययन सोवियत संघ में समाजवाद का विस्तृत तथ्यात्मक व आख्यानात्मक इतिहास आपके समक्ष नहीं रखेगा। सोवियत संघ के विस्तृत आख्यानात्मक इतिहास के कुछ महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय अध्ययन मौजूद हैं और सम्पूर्ण आख्यानात्मक इतिहास में दिलचस्पी रखने वाला कोई भी पाठक इन पुस्तकों को पढ़ सकता है। **मॉरिस डॉब, ई.एच.कार, इसाक डॉइशर, चार्ल्स बेतेलहाइम** और **पॉल स्वीज़ी** ने अपने-अपने दृष्टिकोण से सोवियत समाजवादी प्रयोगों के ऐतिहासिक ब्यौरे पेश किये हैं और आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर और ख़ास तौर पर लेनिन, स्तालिन व अन्य बोल्शेविक नेताओं की रचनाओं और साथ ही बोल्शेविक पार्टी के दस्तावेज़ों के साथ इन्हें पढ़ने पर सोवियत संघ में समाजवाद के पूरे इतिहास को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। इसलिए दोबारा सोवियत संघ में समाजवाद के इतिहास का सम्पूर्ण तथ्यात्मक ब्यौरा पेश करना एक ग़ैर-ज़रूरी कवायद होगी और इसे करने का कोई अर्थ नहीं है। इसलिए आप ऐसी अपेक्षा इस अध्ययन से नहीं कर सकते हैं। **हम तथ्यात्मक ब्यौरों में केवल वहीं जाएँगे जहाँ हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हो।**

हमारा उद्देश्य इस अध्ययन में सोवियत समाजवादी प्रयोग के विश्लेषण के ज़रिये सिद्धान्त और इतिहास के कुछ अहम सवालों को उठाना और उस पर अपनी अवस्थिति को पेश करना है जो कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के विज्ञान और विशेष तौर पर समाजवादी संक्रमण की समस्याओं, और समाजवादी संक्रमण के पहले और उसके दौरान वर्ग और पार्टी के बीच, वर्ग और राज्यसत्ता के बीच, और पार्टी और राज्यसत्ता के बीच के अन्तर्सम्बन्धों की एक वैज्ञानिक समझदारी के लिए सामान्य रूप में महत्व रखते हैं। जहाँ कहीं इन प्रश्नों की चर्चा और व्याख्या के लिए तथ्यों का विवरण पेश करना होगा, वहाँ हम तथ्यों का सीमित विवरण पेश करेंगे और प्रासंगिक उपयोगी सन्दर्भों का सुझाव पेश करेंगे। इसके अतिरिक्त, हमारा ज़ोर विशेष तौर पर सोवियत समाजवादी क्रान्ति को नेतृत्व देने वाली बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष के पूरे इतिहास के पुनरावलोकन और उस पर अपनी अवस्थिति पेश करने, सोवियत समाजवादी प्रयोगों को लेकर अतीत में चलीं और आज भी जारी महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक बहसों का विवेचन और उस पर अपनी अवस्थिति पेश करने और साथ ही सोवियत समाजवाद के इतिहास को लेकर मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी संगठनों के बीच जारी बहसों पर अपनी अवस्थिति पेश करने पर होगा। ज़ाहिर है, इस प्रक्रिया में हम सोवियत समाजवाद के कुछ अग्रणी अध्येताओं के अध्ययन के बारे में अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण पेश करेंगे, जैसे कि **मॉरिस डॉब, ई.एच.कार, चार्ल्स बेतेलहाइम, पॉल स्वीज़ी, रणधीर सिंह** आदि। और साथ ही हम कुछ नव-मार्क्सवादी और संशोधनवादी सिद्धान्तकारों द्वारा सोवियत समाजवाद की आलोचना के प्रयासों का भी आलोचनात्मक मूल्यांकन पेश करेंगे, जैसे कि **लियो पैनिच, माइकल लेबोवित्ज़** व कुछ नव-संशोधनवादी सिद्धान्तकार।

हमारा मानना है कि सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों की सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक

समस्याओं के विश्लेषण के लिए सबसे पहले सोवियत समाजवाद के इतिहास के दो महत्वपूर्ण आयामों या पहलुओं को समझना है: **पहला,** क्रान्ति से पहले रूस में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन का उद्भव और विकास और **दूसरा,** क्रान्ति से पहले रूस की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का एक ब्यौरा। क्रान्ति से पहले रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन के उद्भव और विकास को समझना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि क्रान्ति के बाद के दौर में बोल्शेविक पार्टी के भीतर जो दो लाइनों का संघर्ष विभिन्न मुद्दों को लेकर चला, उसका प्राक्-इतिहास कुछ मायनों में रूस में क्रान्ति-पूर्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के उद्भव और विकास में देखा जा सकता है। किसी भी देश में कम्युनिस्ट आन्दोलन का विकास भी एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होता है जो कि खुले तौर पर बुर्जुआ विचारों और क्रान्तिकारी विचारधारा के भीतर भेस बदलकर घुसपैठ करने वाले बुर्जुआ विचारों के विरुद्ध विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष के रूप में चलता है। रूस में मार्क्सवादी विचारधारा के आने और आगे बढ़ने की प्रक्रिया भी विभिन्न बुर्जुआ विचारधाराओं, टुटपुँजिया विचारधाराओं के विरुद्ध संघर्ष के रूप में चली। ये विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष दीर्घकालिक ऐतिहासिक महत्व रखने वाले थे क्योंकि सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी के भीतर जारी दो लाइनों के संघर्ष पर इन क्रान्ति-पूर्व विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्षों की छाया लम्बे समय तक देखी जा सकती है। क्रान्ति-पूर्व रूस के सामाजिक-आर्थिक विकास के स्तर का एक ब्यौरा पेश करना ठीक इसीलिए ज़रूरी है कि इस ब्यौरे के बिना उस विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्ष को भी सही ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर नहीं देखा जा सकता, जो कि क्रान्ति से पहले रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन के निर्मित होने की प्रक्रिया में जारी थे, या यूँ कहें कि जिन संघर्षों के ज़रिये ही कम्युनिस्ट आन्दोलन संघटित हुआ। इसलिए हम शुरुआत रूस में क्रान्ति से पहले मौजूद सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के एक संक्षिप्त ब्यौरे और उसके बाद क्रान्ति से पहले रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन के उद्भव और विकास के विवरण के साथ करेंगे।

1. क्रान्ति-पूर्व रूस में सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों की एक संक्षिप्त तस्वीर और सम्बन्धित इतिहास-लेखन का आलोचनात्मक ब्यौरा

जिस बिन्दु को हम क्रान्ति-पूर्व रूस की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के ब्यौरे के लिए आरम्भ-बिन्दु के तौर पर चुन सकते हैं, वह है **1861 में भूदास प्रथा का उन्मूलन।** क्योंकि यही वह बिन्दु था जिससे कि रूस में पूँजीवादी विकास का रास्ता खुला और साथ ही रूस में मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट आन्दोलन के विकास की ज़मीन तैयार हुई। 1861 में भूदास प्रथा उन्मूलन का रूस में पूँजीवाद के विकास के लिए वही महत्व था जो कि एक अलग रूप में और अलग ऐतिहासिक सन्दर्भ में इंग्लैण्ड में बाड़ेबन्दी कानूनों का था। पूँजीवाद के उद्भव के लिए जिस आदिम पूँजी संचय और दोहरे अर्थों में "मुक्त" श्रम की ज़रूरत होती है, उस ज़रूरत को पूरा करने में 1861 के भूदास प्रथा उन्मूलन कानून की अहम भूमिका थी। रूस में पश्चिमी यूरोप के देशों के समान एक स्वतन्त्र बुर्जुआ उद्यमी वर्ग बड़े पैमाने पर मौजूद नहीं था, जो कि दस्तकारी से विकसित होते हुए गिल्ड व्यवस्था के रास्ते और फिर मैन्युफैक्चर और कारखाना-व्यवस्था के रास्ते से होता हुआ पूँजीपति वर्ग के रूप में विकसित हुआ हो। निरंकुश सामन्ती राजतन्त्र की मौजूदगी और कुछ अन्य विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों

से वह प्रक्रिया रूस में बहुत आगे नहीं बढ़ पायी थी। पूँजीवाद के विकास में जो भूमिका पश्चिमी यूरोप में स्वतन्त्र उद्यमी बुर्जुआ वर्ग ने निभायी थी, वह भूमिका रूस में राज्य और बैंकों ने निभायी। 1860 के दशक से 1910 के दशक तक रूसी उद्योग के विकास का एक संक्षिप्त ब्यौरा हम आगे पेश करेंगे। लेकिन उससे पहले रूस में भूदास प्रथा उन्मूलन कानून पर और उसके बाद रूसी कृषि में 1910 के दशक के मध्य तक हुए पूँजीवादी विकास का ब्यौरा पेश करना ज़्यादा ज़रूरी है क्योंकि रूस में कृषि में पूँजीवादी विकास और किसान प्रश्न ही रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के उद्‌भव और विकास में प्रमुख भूमिका निभाने वाले थे।

क) रूसी कृषि में क्रान्ति-पूर्व दौर में पूँजीवादी सम्बन्धों का विकास

भूदास प्रथा उन्मूलन कानून ने रूस में सामन्ती सम्बन्धों पर एक प्राणान्तक चोट की। ऐतिहासिक तौर पर इसकी भूमिका निस्सन्देह रूप में प्रगतिशील थी और इसने रूसी ग्रामीण सामन्ती और टुटपुँजिया किसान अर्थव्यवस्था के ताबूत पर पहली कील का काम किया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि यह पूँजीवादी सुधार किसी क्रान्तिकारी प्रक्रिया से किया गया था। भूदास प्रथा के उन्मूलन के कानून के प्रावधान भूदासों को अपनी मुक्ति के लिए एक निश्चित कीमत अपने पूर्व-स्वामी को अदा करने के लिए बाध्य करते थे। इस देनदारी का नतीजा यह था कि भूदास प्रथा के उन्मूलन के बावजूद किसानों की विशाल बहुसंख्या को यह कीमत अपनी ज़मीन गिरवी रखकर या भूस्वामियों को बेचकर चुकानी पड़ी और नतीजतन इस भूदास प्रथा के उन्मूलन से किसानों की बहुसंख्यक आबादी को कुछ भी नहीं मिला। जो किसान निर्भर किसान आबादी के अंग के तौर पर कुछ ज़मीन के भोगाधिकार के स्वामी थे, उन्होंने अधिकांश मामलों में अपना भोगाधिकार भी खो दिया। इस कानून के अमल का नतीजा यह हुआ कि रूस के किसानों में वर्ग विभाजन की शुरुआत हुई। एक बेहद छोटी आबादी ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के रूप में उभरी जिनमें जुंकर भूस्वामी, कुलकों और धनी किसानों का वर्ग था। इस वर्ग को निर्मित करने वाली ताक़तों में एक था सामन्ती भूस्वामियों का वर्ग। इसके एक हिस्से ने अपने आपको पूँजीवादी भूस्वामियों में रूपान्तरित कर लिया और वे भूतपूर्व भूदासों से नव-निर्मित ग्रामीण मज़दूरों की आबादी को मज़दूरी पर रखकर बाज़ार के लिए खेती करने लगे। जो अपने आपको पूँजीवादी कुलक के रूप में रूपान्तरित नहीं करना चाहते थे, या किन्हीं कारणों से नहीं कर पाये, वे धीरे-धीरे अपनी ही ऐयाशी और पुरानी सामन्ती जीवन शैली के कारण ऋण के बोझ तले दबते गये और विलुप्त हो गये। नयी ग्रामीण बुर्जुआज़ी का निर्माण करने वाला दूसरा वर्ग था धनी मालिक किसानों व काश्तकार किसानों का एक वर्ग जो कि उजरती मज़दूरों को काम पर रख कर बाज़ार के लिए उत्पादन करने लगा। ग्रामीण बुर्जुआज़ी के निर्माण के साथ पूरक प्रक्रिया के तौर पर एक विशाल ग्रामीण सर्वहारा वर्ग और ग़रीब और मँझोले निर्भर किसानों का एक वर्ग तैयार हुआ। इस रूप में रूस के किसानों के बीच वर्ग विभेदीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। प्लेखानोव ने इस पूरी प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए कहा था कि 1861 के भूदास प्रथा उन्मूलन कानून के पहले रूस की किसान आबादी एक वर्ग नहीं बल्कि एक 'एस्टेट' (वबपंस मेजंजमधे*वेसवअपम*) के समान थी; 1861 के सुधार ने इसे पूँजीवादी भूस्वामियों और भूमिहीन मज़दूरों और ग़रीब किसानों के वर्गों में विभाजित कर दिया।

1861 के सुधार के बाद रूस में कृषि में पूँजीवाद का जो रास्ता अख़्तियार किया गया था वह रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधारों का रास्ता नहीं था जो छोटे और मँझोले मालिक किसानों के एक विशाल वर्ग को जन्म देता। यह रास्ता फ्रांसीसी क्रान्ति या अमेरिकी क्रान्ति द्वारा अपनाये गये भूमि सुधार का रास्ता नहीं था जो कि 'जो ज़मीन को जोते-बोए, वह ज़मीन का मालिक होए' के नारे पर समझौता-विहीन ढंग से अमल करता। वस्तुतः रूसी पूँजीपति वर्ग सामन्ती भूस्वामी वर्ग से सीधे और खुले युद्ध का रास्ता अपनाने की स्थिति में था ही नहीं। निरंकुश ज़ारशाही सामन्ती भूस्वामियों और उदीयमान पूँजीपति वर्ग और देशी-विदेशी वित्त पूँजी दोनों के ही हितों के बीच एक असुविधाजनक सन्तुलन को अंजाम दे रही थी। ज़ाहिर है कि यह सन्तुलन बहुत समय तक बरक़रार नहीं रह सकता था। रूसी राज्यसत्ता में देशी-विदेशी पूँजीपति वर्ग और वित्त पूँजी का असर धीरे-धीरे सामन्ती भूस्वामी वर्ग के हितों की तुलना में बढ़ने लगा और 1860 के दशक से लेकर 1910 के दशक तक निरंकुश ज़ारशाही तन्त्र के दायरे के भीतर जो क्रमिक पूँजीवादी विकास हुआ वह इसी बदलते वर्ग सन्तुलन को प्रतिबिम्बित करता था। लेनिन ने 1905 में इस पूरी स्थिति को बेहद सटीक तरीके से चित्रित किया था। लेनिन ने लिखा था कि रूस में मुट्ठी भर सामन्ती भूस्वामियों का नेतृत्व ज़ारशाही करती है जो कि वित्तीय पूँजी के दैत्यों के साथ करीबी तालमेल में काम करती है। यह वित्तीय पूँजीपति वर्ग अक्सर पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवाद के एजेण्ट में रूप में काम करता है। लेनिन ने आगे कहा कि रूसी ज़ारशाही के "सैन्य-सामन्ती चरित्र" को इन्हीं वर्ग सम्बन्धों के आधार पर समझा जा सकता है। लेनिन ने लिखा कि रूस में एक ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसमें **"आधुनिकतम पूँजीवादी साम्राज्यवाद एक प्रकार से विशेष रूप से सघन प्राक्-पूँजीवादी सम्बन्धों के एक जाल के साथ अन्तर्गुन्थित है...जिसमें बेहद पिछड़ी हुई कृषि और बेहद आदिम ग्राम समुदाय, बेहद उन्नत औद्योगिक और वित्तीय पूँजीवाद के साथ सहअस्तित्वमान है।"** (वी.आई. लेनिन, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19*, पृ. 136 और *खण्ड 20*, पृ. 570, अंग्रेजी संस्करण, *अनुवाद हमारा*)

पूँजीवादी भूमि सुधार का जो रास्ता रूसी शासक वर्ग ने अपनाया उसे लेनिन ने प्रशा के ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर **प्रशियाई पथ** का नाम दिया था, और इसकी तुलना बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों द्वारा फ्रांस और अमेरिका में लागू किये गये रैडिकल भूमि सुधार से की थी, जिसे लेनिन ने भूमि सुधार के **अमेरिकी पथ** का नाम दिया था। रूस द्वारा भूमि सुधार का जो रास्ता अख़्तियार किया गया था वह बेहद पिछड़े पूँजीवादी सम्बन्धों को ही पैदा कर सकता था। रूस में 1905 तक कृषि में पूँजीवादी विकास और किसानों की दशा पर निगाह डालने से इसकी एक तस्वीर उपस्थित होती है। **मॉरिस डॉब** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917'** में लिखा है कि रूस में जीवन स्तर के बेहद नीचे होने का कारण कृषि का बेहद पिछड़ा और उत्पादकता का बेहद निम्न स्तर पर होना था; निश्चित तौर पर, यह एक तथ्यात्मक सत्य है लेकिन असल बात यह थी कि रूसी कृषि में प्रभावी उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास में ठहराव का प्रमुख कारण थे और जिस रास्ते से रूस में भूमि सुधार हुए वे इस ठहराव को प्रभावी और तात्कालिक तौर पर तोड़ भी नहीं सकते थे। ग़ौरतलब है कि रूस की कुल आबादी का करीब अस्सी फीसदी हिस्सा इस समय तक खेती पर ही निर्भर था। उस समय रूस में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय 102 रूबल प्रति वर्ष थी जो कि जर्मनी से तीन गुणा, इंग्लैण्ड से चार गुणा और अमेरिका से सात

गुणा कम थी। उन्नीसवीं सदी के अन्त पर यूरोपीय रूस का जनसंख्या घनत्व भी दुनिया के तमाम उन्नत पूँजीवादी देशों के मुकाबले ज़्यादा था, जबकि कृषि के तहत लायी गयी भूमि इन देशों के मुकाबले कहीं कम थी। कुल खेती के तहत भूमि रूस के कुल क्षेत्रफल का मुश्किल से 25 फीसदी थी, जबकि फ्रांस और जर्मनी में यह 40 प्रतिशत के करीब था। नतीजतन, प्रति व्यक्ति उपलब्ध कृषि भूमि रूस में मात्र 3 एकड़ के करीब थी, जो कि अमेरिका में 13 एकड़, डेनमार्क में 8 एकड़ और फ्रांस और जर्मनी में 4 एकड़ थी। प्रति एकड़ उत्पादकता भी इंग्लैण्ड की एक-चौथाई, जर्मनी की एक तिहाई और फ्रांस की तुलना में आधी थी। गेहूँ की पैदावार इटली और सर्बिया से भी कम थी और ऑस्ट्रिया-हंगरी के मुकाबले यह आधी थी। उस समय गेहूँ की पैदावार की दर भारत में गेहूँ की पैदावार के दर के बराबर थी। (सभी आँकड़े मॉरिस डॉब की उपरोक्त पुस्तक से, पृ 39-40)। **ऐसा नहीं था कि रूस में उत्पादकता पर कुछ प्राकृतिक सीमाएँ थीं।** कई क्षेत्रों में रूस में मृदा उत्पादकता दुनिया में सबसे ज़्यादा थी।

कृषि के इस पिछड़ेपन के पीछे प्राकृतिक कारक नहीं बल्कि रूस के पिछड़े पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध ज़िम्मेदार थे। प्रशियाई पथ से हुए भूमि सुधारों ने रूसी ग्राम समुदाय *मीर* को ज्यों का त्यों छोड़ दिया था, जो कि आवर्ती भूमि पुनर्वितरण किया करता था। एक तो यह आवर्ती भूमि पुनर्वितरण पूरी तरह से धनी किसानों, काश्तकारों और कुलकों के पक्ष में किया जाता था और दूसरे, यह बेहद अवैज्ञानिक तरीके से किया जाता था जिससे कि किसानों के पास जो भूमि होती थी वह एक जगह केन्द्रित होने की बजाय बिखरी हुई होती थी। यह उत्पादकता को बहुत कम करता था। चूँकि एक बड़ी किसान आबादी बेहद ग़रीब, निम्न मँझोले और मँझोले किसानों की थी जिसके पास पूँजीवादी कुलकों और धनी किसानों द्वारा भारी भूमि लगान के ज़रिये, ऋण और सूद के ज़रिये लूटे जाने के बाद लगभग कुछ भी नहीं बचता था। इसलिए इनके बीच बाज़ार के लिए खेती की रुझान कम ही थी और ज़्यादातर वे जीवन निर्वाह के लिए खेती करते थे। नतीजतन, पिछड़े उत्पादन सम्बन्धों के कारण इस आबादी में खेती के तकनीकी स्तरोन्नयन के लिए कोई भौतिक प्रोत्साहन मौजूद नहीं था। दूसरी तरफ़, भूमि के अलावा अन्य कृषि-सम्बन्धी उत्पादन के साधनों में भी भयंकर असमानता बरक़रार थी। पशुधन, कृषि के उपकरण और चरागाह बड़े भूस्वामियों के स्वामित्व में थे या उनके नियन्त्रण में थे। एक तो भूस्वामित्व में भारी असमानता पहले से ही मौजूद थी, वहीं जिन मँझोले किसानों के पास कुछ भूमि होती भी थी, वे पशुधन और उपकरणों की कमी के कारण भयंकर दरिद्रता और भुखमरी की स्थिति में जीने को मजबूर थे। किसानों की विशाल बहुसंख्या के पास पूँजी भी नहीं थी जिससे कि वे खेती के स्तर को और अपनी आजीविका को बेहतर बना पाते। नतीजतन, अधिकांश कार्य शारीरिक श्रम से करने पड़ते थे और यान्त्रिकीकरण लगभग नहीं के बराबर था। केवल धनी किसानों और कुलकों की एक छोटी-सी आबादी थी जो बड़े पैमाने की खेती करती थी, मशीनों का इस्तेमाल करती थी और बाज़ार के लिए, ख़ास तौर पर निर्यात के लिए पैदा करती थी। **हम देख सकते हैं कि रूस में खेती की उत्पादकता बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक कम रहने का मूल कारण प्राकृतिक कारक नहीं थे बल्कि सामाजिक-आर्थिक कारक, यानी कि अर्द्धसामन्ती और पिछड़े पूँजीवादी सम्बन्ध थे।**

लेकिन इसके बावजूद किसानों के बीच विभेदीकरण काफ़ी अधिक विकसित हो

चुका था। 1905 में एक सरकारी सांख्यिकी समिति द्वारा किये गये सर्वेक्षण के मुताबिक ऊपर के 10 प्रतिशत धनी किसान कुल ज़मीन के 35 प्रतिशत के स्वामी थे; जबकि नीचे की आधी किसान आबादी कुल भूमि के मात्र 20 प्रतिशत की स्वामी थी। सबसे ग़रीब किसान आबादी जो कुल किसान आबादी करीब 16 प्रतिशत थी, वह कुल भूमि के मात्र 4 प्रतिशत की मालिक थी। करीब 33 प्रतिशत सबसे ग़रीब किसान परिवारों के पास कोई पशुधन नहीं था और उन्हें हल चलाने के लिए पशु धनी कुलकों और किसानों से किराये पर लेने पड़ते थे, जिसके कारण उनके उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा भूमि लगान या किराये के रूप में चला जाता था। यह धनी किसान या कुलक धीरे-धीरे लगान, ऋण और सूद का ऐसा भयंकर दबाव ग़रीब और मँझोले किसानों पर निर्मित करते थे कि वे सभी व्यावहारिक अर्थों में एक प्रकार से उनके उजरती गुलाम बनकर रह जाते थे। इसी निर्भर किसानों की आबादी को लेनिन ने रूस का अर्द्ध-सर्वहारा कहा था। कुलकों और धनी किसान आबादी के बारे में रूसी किसानों के अध्येता **स्तेपनियाक** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'रूसी किसान'** में जो टिप्पणी की है, वह इस वर्ग के पूरे चरित्र को समझने के लिए काफ़ी उपयोगी है। स्तेपनियाक के अनुसार रूसी कुलक एक प्राणी है जिसकी पहचान **"एक बिल्कुल अशिक्षित व्यक्ति की कठोर, अटल क्रूरता से की जा सकती है...जो किसी भी माध्यम से पैसे कमाने को एकमात्र लक्ष्य मानता है और मानता है कि किसी भी तार्किक व्यक्ति को अपने आपको इसी काम के लिए समर्पित कर देना चाहिए...और जो आर्थिक विकास की उस हिंस्र और लुटेरी मंज़िल के पर्याप्त नमूने"** पेश करता है, **"जो कि राजनीतिक इतिहास में वही स्थान रखते हैं जो कि मध्य युग के दौर में जारी हिंस्र लूट का है।"** (डॉब की उपरोक्त पुस्तक में उद्धृत, पृ. 44, *अनुवाद हमारा*)।" वास्तव में, कुलक शब्द का अर्थ ही होता है 'मुट्ठी'!

1861 से 1907 तक रूसी कृषि में पूँजीवाद के विकास की जो प्रक्रिया भूदास प्रथा के उन्मूलन के साथ शुरू हुई उसने एक बेहद पिछड़ी पूँजीवादी खेती को जन्म दिया जिसके तहत ग्रामीण आबादी बेहद धनी किसानों और कुलकों की एक मुट्ठी भर आबादी और भूमिहीन मज़दूरों, बेहद ग़रीब और मँझोले किसानों की आबादी में विभाजित हो गयी। सबसे ग़रीब भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों और निम्न किसानों की आबादी का जीवन भयंकर भूख, बेकारी और कुपोषण का शिकार था। इसके कारण ही एक आबादी शहरों, उद्योगों और खदानों में काम हासिल करने के लिए प्रवास कर गयी। साथ ही, ज़्यादा उन्नत खेती वाले क्षेत्रों में मज़दूरी पाने के लिए एक ग्रामीण क्षेत्र से दूसरे ग्रामीण क्षेत्रों में भी काफ़ी बड़े पैमाने पर प्रवास होता था। इसके अलावा जो आबादी प्रवासी नहीं बनती थी, वह भी भयंकर दरिद्रता में जीवन व्यतीत करती थी। यह जीवन स्थितियाँ ही थीं जिनके कारण किसानों की आबादी में विद्रोह की भावना लम्बे समय से पनप रही थी। 1905 में जब शहरों के मज़दूरों की हड़तालों की लहर शुरू हुई तो साथ ही गाँवों में किसानों के विद्रोह की लहर भी शुरू हो गयी। 1905 की असफल रूसी क्रान्ति में हम शहरों के मज़दूरों के उभार और गाँवों के किसान विद्रोहों के बीच एक ढीला-ढाला तालमेल देख सकते हैं।

मॉरिस डॉब ने ठीक ही कहा है कि इस किसान असन्तोष और विद्रोह के पीछे सबसे बुनियादी कारण था 1861 का भूदास मुक्ति कानून। इस कानून ने मुक्ति की जो शर्तें निर्धारित कीं उनके कारण किसानों को ज़्यादा कुछ हासिल नहीं हुआ। **इन सुधारों ने एक तरफ सर्वहाराकरण की प्रक्रिया और दूसरी तरफ जुंकरीकरण की प्रक्रिया को चलाया और**

एक लम्बे दौर में एक विशाल ग्रामीण मज़दूर वर्ग और ग़रीब व मँझोले किसानों के वर्ग और साथ ही एक बेहद छोटे ग्रामीण पूँजीपति वर्ग को जन्म दिया। इस पूरी प्रक्रिया के आँकड़ों समेत एक सटीक विवरण के लिए मॉरिस डॉब की पुस्तक 'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917' को देखें (पृ. 45-51)।

1861 से लेकर 1907-8 तक हम भूमि लगान के पूँजीवादी रूपान्तरण को देख सकते हैं। **कृषि सम्बन्धों का चरित्र-निर्धारण करने वाला सबसे महत्वपूर्ण कारक भूमि लगान का चरित्र होता है।** 1860 के दशक में रूस के कुछ उन्नत हिस्सों में तो पहले ही मुद्रा लगान आ चुका था, जो कि सामन्ती भूमि सम्बन्धों पर चोट कर रहा था। लेकिन 1861 के पहले रूस के बड़े हिस्सों में अभी भी श्रम लगान और जिंस लगान की मौजूदगी को देखा जा सकता था। लेकिन 1861 के बाद जो प्रक्रिया शुरू हुई उसने एक तरफ श्रम लगान और जिंस लगान को तेज़ी से ख़त्म किया, वहीं इसने पूँजीवादी काश्तकारी के बहुविध रूपों को जन्म दिया। सामन्ती भूस्वामी की जगह अब पूँजीवादी भूस्वामी ने ले ली थी। भूमि लगान लेने वाला वर्ग अब विखण्डित राज्यसत्ता (parcellized state) की भूमिका में नहीं था। निश्चित रूप से बंधुआ श्रम के कई रूप अभी मौजूद थे। लेकिन वे आर्थिक शोषण और बाध्यता पर ज़्यादा और आर्थिकेतर उत्पीड़न पर कम निर्भर करते थे। कई लोग यह कल्पना करते हैं कि पूर्ण रूप से दोहरे अर्थों में मुक्त श्रम की मौजूदगी पर ही पूँजीवादी विकास को स्वीकार किया जा सकता है और ऋण बंधुआ प्रथा (debt bondage) और निर्भर काश्तकारी की मौजूदगी तक भूमि सम्बन्धों को सामन्ती या अर्द्धसामन्ती ही माना जा सकता है; ये लोग यह भूल जाते हैं कि दोहरे अर्थों में मुक्त श्रम की बात करते हुए मार्क्स ने मुक्त को हमेशा दोहरे उद्धरण चिन्हों के बीच रखा है। **कई लोग श्रम के "मुक्त" होने को शाब्दिक तौर पर पूँजीवाद की पूर्वशर्त मान बैठते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि उन्नत से उन्नत पूँजीवाद हमेशा ही उद्योगों और कृषि, दोनों में ही अस्वतन्त्र श्रम के कई रूपों को जन्म और सरंक्षण देते हैं और उनके साथ शान्तिपूर्ण रूप से सहअस्तित्वमान रहते हैं। बल्कि कहना चाहिए कि श्रम के अस्वतन्त्र और निर्भर रूपों के बग़ैर पूँजीवाद कभी विकसित हो ही नहीं सकता है।** यह बात उन्नीसवीं सदी के रूस क्या, बीसवीं सदी के अमेरिकी, ब्रिटेन और फ्रांस पर भी लागू होती है। ख़ैर, रूस में भूमि लगान एक क्रमिक प्रक्रिया में पूँजीवादी रूपान्तरण से होकर गुज़रा और 1907-8 तक हम कह सकते हैं कि रूस में भूमि लगान मुख्य रूप से पूँजीवादी रूप अख़्तियार कर चुका था।

1907-8 में रूसी खेती में पूँजीवादी विकास के समक्ष मौजूद दूसरी बाधा को भी रूसी शासक वर्ग ने हटा दिया। 1906 में स्तोलिपिन के सुधार कानूनों ने रूसी ग्राम समुदाय *मीर* से मुक्त होने का अधिकार उभरते धनी किसानों के वर्ग को दे दिया जिसका कि पुराने ग्राम समुदाय के दायरे के भीतर अब दम घुट रहा था। स्तोलिपिन के सुधार को लागू करने के दो कारण थे। एक कारण यह था कि 1905 की असफल रूसी क्रान्ति ने रूस के शासक वर्गों को भी एक सबक दिया था। रूस का शासक वर्ग समझ रहा था कि किसानों के बीच विद्रोह की लहर को नियन्त्रित करने के लिए यह ज़रूरी है कि गाँवों में एक मज़बूत वर्ग मित्र ढूँढा जाय। जहाँ यह राजनीतिक तौर पर क्रान्तिकारी उभार से निपटने के लिए ज़रूरी था, वहीं यह आर्थिक तौर पर भी ज़रूरी था क्योंकि मुख्य रूप से अनाज का निर्यात करने वाली रूसी अर्थव्यवस्था को निर्यात हेतु अधिक अनाज उत्पादन की ज़रूरत थी। यह बढ़ोत्तरी कृषि के

पूँजीवादी विकास को बढ़ावा देकर ही सम्भव थी, जो कि धनी उद्यमी किसानों के वर्ग को आर्थिक और राजनीतिक संरक्षण देना शुरू करके ही किया जा सकता था। इसके अलावा रूस के पूँजीपति वर्ग को पूँजीवादी औद्योगिक और शहरी विकास के कारण शहरों की बढ़ती आबादी का पेट भरने के लिए भी पर्याप्त अनाज की आवश्यकता थी। यह भी कृषि के पूँजीवादी विकास और धनी किसानों के वर्ग को संरक्षण के साथ ही सम्भव था। स्तोलिपिन के सुधारों ने कृषि में तीव्र पूँजीवादी विकास को बढ़ावा दिया और रूसी शासक वर्ग को तेज़ी से विकसित होते पूँजीवादी कुलकों के रूप में एक वर्ग मित्र भी दिया। **इन सुधारों के कारण 1917 के आने तक पचास फीसदी से अधिक किसान परिवार ऐसे काश्तकार परिवारों में तब्दील हो चुके थे जिनकी ज़मीन का पुनर्वितरण नहीं किया जा सकता था।** यानी कि उनका भूस्वामित्व आनुवांशिक हो चुका था। कहने की ज़रूरत नहीं कि पूरे रूसी साम्राज्य में खेती में यह पूँजीवादी विकास समान रूप से नहीं हुआ था और अधिकांश एशियाई रूस अभी भी सामन्ती भूमि सम्बन्धों के अधीन ही था। यहाँ तक कि यूरोपीय रूस के भीतर भी यह पूँजीवादी विकास बेहद असमान रूप से हुआ था। **लेकिन इन सबके बावजूद पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध अब कृषि के क्षेत्र में प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन चुके थे, इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया था।**

रूसी कृषि में पूँजीवादी विकास की पूरी प्रक्रिया का विवरण देते हुए रूसी इतिहास के तमाम अध्येताओं ने अलग-अलग दृष्टिकोण पेश किये हैं, जिनमें से कुछ की आलोचनात्मक समीक्षा करना यहाँ उपयोगी होगा, क्योंकि वे कई अहम सैद्धान्तिक प्रश्नों को उठाते हैं, जो कि सामान्य महत्व रखते हैं। हम शुरुआत **ई.एच.कार** से करते हैं, क्योंकि आज भी सोवियत संघ में समाजवाद के इतिहास का सबसे विस्तृत और तमाम अर्द्ध-त्रात्स्कीपंथी विचलनों के बावजूद हमारे विचार में सबसे उपयोगी अध्ययन उन्हीं का है। कार के इतिहास-लेखन पर ब्रिटिश अनुभववाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। **इज़ाक डॉइशर** के प्रभाव के कारण सोवियत समाजवाद के कार द्वारा लिखे गये इतिहास में कई स्थानों पर त्रात्स्की के प्रति स्पष्ट रूप में सहानुभूति देखी जा सकती है। एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी न होने के कारण कई जगह कार के विश्लेषण में उदार बुर्जुआ विचारों का प्रभाव भी देखा जा सकता है। **लेकिन इसके बावजूद कार द्वारा लिखा गया सोवियत समाजवाद का इतिहास सबसे वस्तुपरक माना जा सकता है।** कार तथ्यों का चुनाव अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार नहीं करते, वरन् वह अपनी रचना के लिखे जाने तक उपलब्ध सभी तथ्यों को पाठक के समक्ष खोलकर रख देते हैं। वह अपने विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों के आधार पर तथ्यों का चुनाव या उनका विकृतिकरण नहीं करते। इसके बाद, उनके पास विश्लेषणात्मक उपकरणों की कमी है, जो कई जगह उन्हें ग़लत नतीजों तक पहुँचा देती है। क्रान्ति-पूर्व दौर में रूस में पूँजीवादी विकास के विषय में कार का पूरा ब्यौरा कहीं-कहीं ग़लत नतीजों तक पहुँच जाता है। कुछ मिसालों से हम इसे स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे।

जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया था, लेनिन ने रूस में कृषि में पूँजीवादी विकास के रास्ते को प्रशियाई पथ का नाम दिया था और उसकी तुलना पूँजीवादी भूमि सुधार के अमेरिकी पथ से की थी। ई.एच.कार इस विभाजन के सैद्धान्तिक आधार को नहीं समझ पाते हैं। इसका कारण यह है कि वह लेनिन द्वारा किये गये इस विभाजन के बुनियादी तर्क को ही नहीं समझ पाये हैं। कार कहते हैं कि लेनिन ने भूस्वामियों के हितों में किये जाने वाले भूमि सुधार को

प्रशियाई पथ का नाम दिया, जिसमें कि सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी भूस्वामियों में तब्दील हो जाने का मौका मिलता है और भूमि का ग़रीब किसानों और भूमिहीन मज़दूरों के बीच वितरण नहीं किया जाता; भूमि के रैडिकल रूप से किसानों के बीच कमोबेश समानतापूर्ण वितरण करने वाले पूँजीवादी भूमि सुधार को लेनिन ने अमेरिकी पथ का नाम दिया। लेनिन ने दिखलाया कि रूस में शासक वर्गों ने पूँजीवादी भूमि सुधार का प्रशियाई पथ चुना था। **कार का मानना है कि लेनिन द्वारा किया गया यह वर्गीकरण उपयुक्त नहीं है और रूसी भूमि सुधार को प्रशियाई पथ से किया गया भूमि सुधार नहीं माना जा सकता है।** कार इसके लिए जो कारण देते हैं उसका रिश्ता सिर्फ़ उत्पादकता से है। उनकी दलील है कि प्रशा में जो पूँजीवादी भूमि सुधार लागू किया गया उसने वहाँ बड़े पैमाने की युंकर खेती को जन्म दिया जो कि बेहद उत्पादक थी और साथ ही उसमें कुशलता का स्तर भी काफ़ी ऊँचा था। जबकि रूस में भूमि सुधारों में ऐसा कुछ नहीं हुआ। यहाँ हम कार पर ब्रिटिश अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी इतिहास-लेखन का प्रभाव स्पष्ट रूप में देख सकते हैं, जिसकी विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु बेहद दरिद्र है। तथ्यों के प्रति अपने सम्मोह के कारण कई बार वह बेहद ज़ाहिर और मुख़्तसर सी बातों को नहीं देख पाते। हम आगे इसके अन्य उदाहरण भी देंगे, लेकिन फिलहाल इस विशिष्ट उदाहरण पर कुछ बातें। **लेनिन द्वारा प्रशियाई पथ और अमेरिकी पथ में किये जाने वाले फर्क का वास्तव में उत्पादकता या कुशलता के स्तर से कोई रिश्ता नहीं है। इस वर्गीकरण का मूल और मुख्य आधार है वर्ग सम्बन्ध और उत्पादन सम्बन्ध।** प्रशियाई पथ हमेशा ज़्यादा उत्पादक होगा या अमेरिकी पथ ज़्यादा उत्पादक होगा, यह कभी मुद्दा था ही नहीं। मिसाल के तौर पर अमेरिकी पूँजीवादी कृषि की उत्पादकता बेहद कम थी। प्रति एकड़ उपज को पैमाना मानें तो ब्रिटिश पूँजीवादी खेती और यहाँ तक कि फ्रांसीसी पूँजीवादी खेती उससे आगे थी। पूँजी के संकेन्द्रण और भूमि के चन्द हाथों में केन्द्रित होने के साथ जब विशालकाय फार्म अमेरिकी पूँजीवादी खेती की चारित्रिक अभिलाक्षणिकता बन गये, तब जाकर प्रति एकड़ उपज में ज़्यादा बढ़ोत्तरी हुई। ठीक उसी प्रकार प्रशा जैसे भूमि सुधारों ने कुछ देशों में अधिक उत्पादक खेती को जन्म दिया तो अन्य देशों में बेहद पिछड़ी और आदिम खेती को जन्म दिया। इसका कारण यह है कि उत्पादकता और कुशलता के स्तरों का रिश्ता कई अन्य कारकों पर भी निर्भर करता है, जैसे कि अलग-अलग देशों के कुलक वर्ग की प्रकृति, विश्व अर्थव्यवस्था में सम्बन्धित देश का स्थान, भूमिहीन मज़दूरों और किसानों के वर्ग का चरित्र, वगैरह। प्रशियाई पथ इस रूप में प्रतिक्रियावादी पथ है कि यह किसानों की विशाल बहुसंख्या को दरिद्रता और भुखमरी में ही जीते रहने को बाध्य करता है। उसके जनवादी अधिकार भी उसे आधे-अधूरे तौर पर हासिल होते हैं। कानूनी तौर पर भूदासत्व और बंधुआ मज़दूरी के ख़ात्मे के बावजूद इस प्रकार के भूमि सुधारों के बाद भी वह कर्ज़ में डूबा रहता है और पूँजी और भूमि की भयंकर असमानता के कारण वह पूँजीवादी कुलकों पर निर्भर ही रहता है। यह निर्भरता कई मामलों में श्रम के अस्वतन्त्र रूपों को जन्म देती है, जो कि कई लोगों के लिए सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों का 'ऑप्टिकल' भ्रम पैदा करते हैं (भारत में आज भी चीन जैसी नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल मानने वाले तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी समूह इसी भ्रम से पीड़ित हैं)। इसी वजह से लेनिन ने स्तोलिपिन के सुधारों की आलोचना की थी और अमेरिकी पथ के भूमि सुधारों को ज़्यादा प्रगतिशील बताया था। अमेरिकी पथ से होने वाले भूमि सुधारों में ज़मीन को जोतने-बोने वालों

को ही भूमि का स्वामी बनाया जाता है, भूमि को सामन्ती भूस्वामियों, चर्च और राज्य के हाथ से छीन कर किसानों के बीच (समानतापूर्ण रूप से या कुछ असमानतापूर्ण रूप से) वितरित कर दिया जाता है। यह छोटे पैमाने की खेती करने वाले विशाल किसान वर्ग को जन्म देता है, जो कि सामन्ती उत्पीड़न, भूदासता और बंधुआ मज़दूरी से सही मायने में मुक्त होता है। निश्चित रूप से यह पूँजीवादी भूमि सुधार ही होते हैं मगर यह ज़्यादा प्रगतिशील होते हैं। लेनिन ने स्तोलिपिन सुधारों की आलोचना करते हुए कहा कि इनसे आम ग़रीब किसानों और भूमिहीन मज़दूरों को कुछ नहीं हासिल होगा। इन सुधारों का लाभ कुलकों और धनी किसानों को होगा। **यहाँ पर भी कार एक भ्रम का शिकार हो जाते हैं।** कार लिखते हैं कि एक तरफ़ तो लेनिन ने अपने सैद्धान्तिक लेखन में स्तोलिपिन के सुधारों को ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील बताया तो वहीं दूसरी ओर जनता के बीच उद्वेलन और प्रचार हेतु किये गये लेखन में उसकी कटु आलोचना की। **इस विरोधाभास को व्याख्यायित करने के लिए कार 'प्रचारक लेनिन' और 'मार्क्सवादी, अर्थशास्त्री लेनिन' में विभेदीकरण करते हैं!** कार दलील देते हैं कि जनता को उद्वेलित करने और आन्दोलित करने के लिए लेनिन ने स्तोलिपिन के सुधारों को भूस्वामी-समर्थक और प्रतिक्रियावादी बताते हुए जनता को इसके ख़िलाफ़ लड़ने के लिए प्रेरित किया; स्तोलिपिन का उद्देश्य कुलकों और युंकरों को भूमि का स्वामी बनाकर और उनके विकास से सारी बाधाएँ हटाकर रूसी कृषि का पूँजीवादी विकास द्रुत गति से करना और इस प्रकार गाँवों में उबल रहे किसान विद्रोह को शान्त करना था, लेकिन लेनिन जानते थे कि इस प्रकार के भूमि सुधारों से यह उद्देश्य पूरा होने वाला नहीं है। इससे रूसी खेती में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध तो हावी हो जायेंगे लेकिन किसानों के भीतर पनप रहा विस्फोटक असन्तोष इससे शान्त नहीं होने वाला है, और न ही कुलकों और युंकरों को समर्थन देकर रूसी शासक वर्ग अपना कोई इतना शक्तिशाली वर्ग मित्र पैदा कर सकता है, जो कि करोड़ों किसानों के जनसैलाब की ताक़त को प्रति-सन्तुलित कर दे। इसलिए ऐतिहासिक तौर पर सामन्ती अवशेषों को एक हद तक झाड़-बुहारकर किनारे करने की भूमिका के चलते स्तोलिपिन के सुधार प्रगतिशील थे, लेकिन उद्वेलनात्मक उद्देश्यों के लिए लेनिन ने इनकी आलोचना की और इनके ख़िलाफ़ किसानों के बीच संघर्ष करने का आह्वान किया। स्पष्ट है कि कार लेनिन की समझदारी की द्वन्द्वात्मक एकता को समझ पाने में वैचारिक तौर पर असफल रहे हैं। कार यह नहीं समझ पाये कि स्तोलिपिन के सुधारों की प्रगतिशीलता इस बात में भी निहित थी कि उसने आम ग़रीब और मँझोली किसान आबादी और भूमिहीन किसानों की आबादी की आकांक्षाओं पर तुषारापात किया और पूँजीवादी भूमि सुधारों को रैडिकल अमेरिकी पथ से अंजाम नहीं दिया।

यहाँ पर कार के विश्लेषण की एक और समस्या हमारे सामने आती है। अपने पूरे लेखन में लेनिन के बारे में लिखते हुए कार, निश्चित रूप से प्रशंसा करने के इरादे से, कई बार लेनिन के व्यक्तिगत दूरदर्शी विवेक, रणनीतिक और कूटनीतिक कौशल की तारीफ़ करते हैं और उसे सिद्धान्तकार और मार्क्सवादी लेनिन से अलग करते हैं। कृषि प्रश्न पर लेनिन द्वारा किये गये सैद्धान्तिकीकरण पर कार की अवस्थिति केवल एक उदाहरण है। ऐसा कार सोवियत समाजवाद के अपने इतिहास-लेखन में बार-बार करते हैं, ख़ास तौर पर पहले तीन खण्डों में ('दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन', खण्ड 1, 2, 3) जो लेनिन की मृत्यु तक के कालखण्ड को समेटते हैं। मिसाल के तौर पर, आपको कार की इस प्रकार की टिप्पणियाँ बीच-बीच में मिल

जाएँगी, 'लेनिन एक ठोस यथार्थवादी थे', 'यह लेनिन की असाधारण रणनीतिक प्रतिभा थी', वगैरह। अलग से कार 'सिद्धान्तकार, दार्शनिक मार्क्सवादी लेनिन' की भी प्रशंसा में ऐसी ही अभिव्यक्तियाँ देते हैं। **लेकिन कार के लिए यह दो अलग-अलग प्रशंसनीय लेनिन हैं।** कार लेनिन को उनके चिन्तन (दार्शनिक, विचारधारात्मक और राजनीतिक और साथ ही रणनीतिक, रणकौशलात्मक भी) की एकता में नहीं समझ पाते हैं और यह नहीं देख पाते कि लेनिन के सैद्धान्तिक और दार्शनिक नतीजे उन्हीं रणनीतिक और रणकौशलात्मक नतीजों में रूपान्तरित हो सकते थे जिनमें कि वे हुए, यानी, वे उनकी नैसर्गिक परिणति थे।

कृषि में पूँजीवादी विकास का ब्यौरा देते हुए हम कुछ बातें और स्पष्ट करना चाहेंगे, जो आगे रूस में सामाजिक-जनवादी आन्दोलन और उसके द्वारा अपनाये गये कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रम को समझने के लिए आवश्यक हैं। अगर हम उत्पादन सम्बन्धों की बात करें तो उपरोक्त ब्यौरे से स्पष्ट है कि रूसी खेती में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन चुके थे। चूँकि कृषि में पूँजीवादी विकास का जो रास्ता रूस में शासक वर्ग ने चुना था, वह रैडिकल और किसान-केन्द्रित भूमि सुधार का नहीं बल्कि युंकरीकरण के प्रशियाई पथ से किये जाने वाले भूमि सुधार का था, इसलिए निश्चित तौर पर कई सामन्ती अवशेष रूसी कृषि में बचे रह गये थे; जो पूँजीवादी कृषि उभरकर सामने आ भी रही थी उसकी चारित्रिक अभिलाक्षणिकता थी अत्यधिक भूमि असमानता, निर्भर किसानों की एक विशालकाय आबादी, पिछड़ापन, उत्पादकता का बेहद निम्न स्तर और ग्रामीण सर्वहारा और ग़रीब किसानों का भयंकर और बर्बर आर्थिक और आर्थिकेतर शोषण। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं था कि रूस में खेती में पूँजीवादी विकास नहीं हुआ था, या वह चीनी अर्थों में अर्द्ध-सामन्ती थी। न ही इसका यह अर्थ था कि चूँकि रूसी खेती में सामन्ती अवशेष बहुत ज़्यादा थे इसीलिए बोल्शेविक क्रान्ति ने जो भूमि कार्यक्रम लागू किया वह मूलतः जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूर्ण करता था। कई अध्येता यहीं पर चूक कर जाते हैं, जैसे कि **चार्ल्स बेतेलहाइम**। उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है कि रूस में बोल्शेविक क्रान्ति का दोहरा चरित्र था: गाँवों में यह जनवादी क्रान्ति थी और शहरों में समाजवादी क्रान्ति! **इस पूरी थीसिस का विस्तृत खण्डन हम आगे करेंगे, लेकिन अभी इतना बताना पर्याप्त होगा कि जिन देशों में पूँजीवादी भूमि सुधार किसी रैडिकल बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के रास्ते न होकर क्रमिक दीर्घकालिक पथ से होंगे, वहाँ अगर किन्हीं अपवादस्वरूप परिस्थितियों में कृषि में पूँजीवादी सम्बन्धों के लम्बे समय तक परिपक्व हुए बग़ैर ही समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ पैदा हो जाती हैं, तो निश्चय ही उस क्रान्ति को बहुत से छूटे-फटके जनवादी कार्यभार पूरे करने पड़ते हैं।** रूस में ऐसा ही हुआ था।

यदि रूसी क्रान्ति युद्ध, अकाल और सोवियतों के स्वतःस्फूर्त उभार के कारण पैदा हुई अपवादस्वरूप परिस्थितियों में 1917 में न होकर तीन या चार दशक बाद सम्पन्न होती, तो प्रशियाई पथ से होने वाले कृषि पूँजीवाद के विकास के बावजूद रूसी क्रान्ति को कुछ ही छूटे जनवादी कार्यों को पूरा करना होता। मिसाल के तौर पर, 1920 के दशक में सम्भावित जर्मन सर्वहारा क्रान्ति को शायद ही ज़्यादा जनवादी कार्यभार पूरे करने पड़ते, क्योंकि वहाँ प्रशियाई पथ से हुए भूमि सुधार कई दशकों की परिपक्वता हासिल कर चुके थे। या आज के भारत में समाजवादी क्रान्ति के पास पूरे करने के लिए छूटे हुए जनवादी कार्यभार इने-गिने ही होंगे। लेकिन रूस में 1917 में ही अपवादस्वरूप स्थितियों में समाजवादी क्रान्ति की

परिस्थितियों के तैयार होने के कारण बोल्शेविकों को जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी भी निभानी पड़ी। **लेकिन बेतेलहाइम द्वारा इसे जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों का अन्तर्गुंथन कहना एक सैद्धान्तिक भूल है। ऐसा दावा वस्तुगत तौर पर बेतेलहाइम को त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के करीब ले जाता है, हालाँकि बेतेलहाइम त्रात्स्की के समान किसानों को 'अज्ञात चर राशि' या 'बीजगणितीय अज्ञात' नहीं मानते थे। त्रात्स्की की विस्तृत आलोचना हम इस अध्याय के अन्तिम खण्ड में रखेंगे।**

दूसरी अहम बात जो इसी से जुड़ी हुई है, उसे भी समझ लेना यहाँ अनिवार्य है क्योंकि यह विषयवस्तु आगे बार-बार प्रकट होने वाली है। **किसी देश में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के कृषि में हावी होने के बाद भी समाजवादी क्रान्ति तत्काल किस प्रकार का भूमि कार्यक्रम लागू करेगी, यह आर्थिक आधार पर नहीं बल्कि राजनीतिक आधार पर ही निर्धारित हो सकता है।** मिसाल के तौर पर, रूस में 1917 में कृषि में पूँजीवादी सम्बन्ध मूल और मुख्य रूप से प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन चुके थे। लेकिन चूँकि ये पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध कृषि में किसी रैडिकल भूमि सुधार के द्वारा नहीं बल्कि क्रमिक प्रशियाई पथ से हुए थे, इसलिए किसानों के बीच भूमिहीनता बड़े पैमाने पर थी और अभी उनकी ज़मीन की भूख बरकरार थी। निश्चित तौर पर, ज़मीन की भूख बरकरार रहने का एक कारण नरोदवादी समाजवादी क्रान्तिकारियों का किसानों में ज़्यादा और बोल्शेविकों का कम असर भी था। लेकिन ज़्यादा अहम कारण यह था कि रूस के किसानों ने कृषि में (किसी भी रास्ते से आये) पूँजीवाद का दीर्घकालिक अनुभव हासिल नहीं किया था, और वे राजनीतिक तौर पर अभी भी जनवादी आकांक्षाएँ ही रखते थे। सामन्ती उत्पीड़न, ऋण-दासत्व, आर्थिकेतर शोषण व उत्पीड़न, बंधुआ मज़दूरी अभी उनकी स्मृति में बहुत दूर नहीं हुई थीं। इसलिए उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर पूँजीवाद में प्रवेश कर जाने के बाद भी रूसी किसान आबादी राजनीतिक तौर पर समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के लिए तैयार नहीं थी। यही कारण है कि लेनिन ने 1917 में स्पष्ट किया कि बोल्शेविकों ने समाजवादी क्रान्तिकारियों के रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को अपना लिया, क्योंकि किसानों की व्यापक बहुसंख्या राजनीतिक तौर पर अभी इसी के लिए तैयार थी, और आबादी के 75 फीसदी हिस्से पर आप समाजवाद थोप नहीं सकते हैं। चूँकि यह भूमि कार्यक्रम भूमि के राष्ट्रीयकरण की बात करता था, इसलिए यह जनवादी क्रान्ति के दायरे में सबसे रैडिकल भूमि कार्यक्रम था, जो कि कानूनी तौर पर भूमि में निजी मालिकाने को समाप्त करता था; लेकिन साथ ही यह समान पुनर्वितरण के ज़रिये किसानों की व्यापक जनसंख्या को छोटी-छोटी जोतों का भोगाधिकार देता था, जो प्रभावी तौर पर मालिकाना ही था। लेनिन का मानना था कि इस रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से कालान्तर में समाजवादी भूमि कार्यक्रम तक जाना ज़्यादा सहज होगा और किसानों को एक लम्बी प्रक्रिया में अपने अनुभव से सीखने दिया जाय कि छोटी जोत की किसानी उन्हें भुखमरी, ग़रीबी और दरिद्रता से मुक्ति नहीं दिला सकती है। **इस पूरे मामले पर लेनिन की अवस्थिति जिस बात को साफ़ कर रही थी वह यह थी कि क्रान्ति के अहम फैसलाकुन प्रश्नों पर निर्णय राजनीतिक आधार पर होता है, न कि आर्थिक तौर पर।** यही बात अपनी अलग-अलग विजातीय पहुँचों के कारण काऊत्स्की, रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग, "वामपंथी" कम्युनिस्ट भी नहीं समझ पाये और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और चार्ल्स बेतेलहाइम जैसे सिद्धान्तकार भी, जो कि माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में लेनिनवादी भी नहीं रह गये! वास्तव में,

अक्टूबर 1917 में रूसी किसान आबादी आर्थिक तौर पर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों में प्रवेश कर चुकी थी, लेकिन राजनीतिक तौर पर अभी भी उसकी भूमि-क्षुधा और जनवादी आकांक्षाएँ जीवित थीं और वह समाजवादी भूमि कार्यक्रम के लिए पूरी तरह तैयार नहीं था। इस पर हम आगे और विस्तार से चर्चा करेंगे, लेकिन अभी यह स्पष्टीकरण देना आवश्यक था ताकि आगे तथ्यों का विवरण ज़्यादा साफ़ तौर पर दिया जा सके।

ख) क्रान्ति-पूर्व रूस में औद्योगिक विकास और सम्बन्धित इतिहास-लेखन का आलोचनात्मक ब्यौरा

क्रान्ति से पहले कृषि में हुए परिवर्तनों के बाद हम औद्योगिक विकास और अवसंरचनागत ढाँचे पर चर्चा कर सकते हैं। उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के पहले दशक में रूसी उद्योग किस स्थिति में था, इसे समझने के लिए इस औद्योगिक विकास की पृष्ठभूमि संक्षेप में जान लेना उपयोगी होगा।

रूस में उद्योगीकरण की शुरुआत सही मायने में अट्ठारहवीं सदी के मध्य में **पीटर महान** के शासन के दौरान हुई थी। पीटर महान आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण का समर्थक था। उसने जो पश्चिमीकरण अभियान चलाया उसके तहत पहली बार अट्ठारहवीं सदी के मध्य में रूस के कुछ क्षेत्रों में खानें-खदानें खुलनी शुरू हुईं। ये खानें शुरुआत में मुख्य रूप से लोहे की थीं। इनका मालिकाना मुख्य तौर पर राज्य या फिर बड़े सामन्तों के हाथ में था। कुछेक उद्यमी पूँजीपति भी थे, जो मुख्य रूप से वाणिज्य व व्यापार से सम्बन्ध रखते थे, जो कि इन खानों-खदानों के मालिक बने थे। लेकिन अट्ठारहवीं सदी में उनके लिए इन खानों को चलाना लगभग नामुमकिन था क्योंकि श्रम आपूर्ति बेहद कम थी। अभी तक भूदासत्व उन्मूलन नहीं हुआ था और राज्य या बड़े सामन्त इन खानों-खदानों में भूदास श्रम और बंधुआ श्रम द्वारा ही काम करवाते थे। जिन क्षेत्रों में ये खानें थीं, वे मॉस्को के निकट पड़ने वाले केन्द्रीय प्रान्तों से काफ़ी दूर थे, जैसे कि उराल का क्षेत्र। इसलिए मुक्त श्रम के मिलने की गुंजाइश वैसे भी कम थी, क्योंकि केन्द्रीय प्रान्तों के इलाके में सीमित पैमाने पर कुछ मुक्त श्रम मुक्त कर दिये गये या भाग आये भूदासों या फिर बरबाद हो चुके कारीगरों व दस्तकारों के रूप में उद्यमी पूँजीपतियों को मिल जाता था। लेकिन दूरस्थ क्षेत्रों में उनकी उपलब्धता नगण्य थी। बीसवीं सदी की शुरुआत आते-आते भी अगर रूस में पूँजीवादी विकास की अगुवाई एक स्वतन्त्र उद्यमशील पूँजीपति वर्ग नहीं कर सका, तो इसके कारण हमें अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही मिलते हैं। अट्ठारहवीं सदी में अपने भूदास श्रम और आदिम तकनीक के ज़रिये भी रूस का लोहा उत्पादन इंग्लैण्ड से भी आगे था और वह इसके निर्यात के मामले में स्वीडन से प्रतिस्पर्द्धा कर रहा था। लेकिन अट्ठारहवीं सदी के अन्त में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के बाद यह बढ़त समाप्त हो गयी और रूस में राजनीतिक परिवर्तन न होने के कारण आर्थिक-सामाजिक तौर पर भी रूस पिछड़ता गया। इस प्रकार अगर अट्ठारहवीं सदी में शुरू हुए उद्योगीकरण को देखें तो वह राज्य द्वारा ऊपर से किया गया सीमित उद्योगीकरण था, जो कि अभी मुख्य रूप से खनन के क्षेत्र में हो रहा था।

जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया, केन्द्रीय प्रान्तों में मुक्त श्रम की सीमित उपलब्धता

के आधार पर कुछ उद्योग लगने शुरू हुए। मुख्य तौर पर यह कपड़ा उद्योग था। सूत उत्पादन इसमें प्रमुख था। कुछ कारखाने अट्ठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लग चुके थे, लेकिन अभी भी ज़्यादातर **'पुटिंग आउट'** व्यवस्था ही लागू होती थी जिसमें कि उत्पादन के कार्य को वाणिज्यिक पूँजीपति घरों में, ग्रामीण कुटीर उद्योग में और छोटी-छोटी वर्कशॉपों में दिया करते थे, जहाँ उत्पादक अपने उत्पादन के उपकरणों के साथ काम करते थे। लेकिन 1840 के दशक में पावरलूम आने के साथ यह व्यवस्था धीरे-धीरे ख़त्म होती गयी और कारखाना व्यवस्था प्रभावी होती गयी। शुरुआती दौर में जो अधिकांश कारखाने लगे थे वे विदेशी निवेशकों के थे। 1860 के दशक में भूदासत्व उन्मूलन कानून विदेशी वित्तीय पूँजी और राजकीय वित्तीय पूँजी के लिए ज़रूरी था क्योंकि इन कारखानों को श्रम चाहिए था, जो कि भूदासों की मुक्ति के बिना सम्भव नहीं था। 1861 में भूदासों की मुक्ति के द्वारा रूसी निरंकुश राजतन्त्र ने वित्त पूँजी की ज़रूरतों को पूरा किया। 1860 के दशक से लेकर इस सदी के अन्त तक रूस में सूती उद्योग में लगी श्रम शक्ति में तीन गुने की बढ़ोत्तरी हुई। इस उद्योग में पूँजी का संकेन्द्रण ज़बर्दस्त था। उपभोग में भी 1910 तक करीब 12 गुना की बढ़ोत्तरी हुई। उराल का खनन उद्योग अट्ठारहवीं सदी के अन्त तक काफ़ी कमज़ोर हो गया था क्योंकि वहाँ कोयला बेहद कम था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में खनन उद्योग फिर से पुनर्जीवित होना शुरू हुआ, लेकिन इस बार यह दक्षिण में दोनेत्ज़ और द्नीपर के बीच के इलाके में था, न कि उराल में। इसके पुनर्जीवित होने का एक बड़ा कारण 1860 और 1870 के दशक में बड़े पैमाने पर राज्यसत्ता द्वारा रेलवे का निर्माण था जो कि सूती उद्योग और साथ ही कृषि उत्पादों के निर्यात के लिए अनिवार्य था। 1890 से लेकर 1914 तक रूसी उद्योग, खनन और रेलवे में ज़बर्दस्त विकास हुआ। हालाँकि ज़्यादातर क्षेत्रों में यह अभी भी ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के पीछे था, लेकिन बीच का अन्तर काफ़ी घट चुका था।

कुल मिलाकर रूस का आर्थिक विकास यूरोप के उन्नत देशों और एशिया के पिछड़े देशों के बीच खड़ा था। यह स्थिति विशेष तौर पर पिछड़ी खेती के कारण थी। लेकिन जहाँ तक रूस के औद्योगिक विकास का प्रश्न था, यहाँ बेहद उन्नत और आधुनिक उद्योग पूँजी के अत्यधिक संकेन्द्रण के साथ मौजूद थे। विशेष तौर पर, यूरोपीय रूस के कई हिस्सों में औद्योगिक विकास यूरोप के कई उन्नत देशों के औद्योगिक विकास से पीछे नहीं था, विशेष तौर पर, दक्षिण में द्नीपर और दोनेत्ज़ के क्षेत्र में और साथ ही मॉस्को और पीटर्सबर्ग के क्षेत्र में। कई क्षेत्रों में पूँजी का संकेन्द्रण इस कदर ज़्यादा था कि 1914 आते-आते पूरे रूस में 500 से अधिक मज़दूरों वाले कारखानों का हिस्सा कुल कारखानों में करीब 53 प्रतिशत हो चुका था; ग़ौरतलब है कि इसी समय अमेरिका में कुल कारखानों में केवल 31 प्रतिशत ऐसे थे जिनमें कि 500 मज़दूरों से ज़्यादा काम करते थे। निश्चित तौर पर, इससे कुल औद्योगिक उत्पादन की कोई तस्वीर नहीं उपस्थित होती है। अमेरिका कुल औद्योगिक उत्पादन में उस समय कहीं आगे था। लेकिन रूस में जो औद्योगिक विकास हुआ था उसके चरित्र को समझने के लिए यह आँकड़ा महत्वपूर्ण है। रूस में खानों-खदानों में, विशेष तौर पर कोयले और लोहे की खदानों का आकार, उनमें पूँजी का संकेन्द्रण और प्रति इकाई मज़दूरों की संख्या जर्मनी से ज़्यादा थी, अमेरिका के मुकाबले लगभग आधा और इंग्लैण्ड की तुलना में करीब 60 प्रतिशत थी। 1913 में मात्र नौ लोहा व इस्पात संयन्त्र

कुल कच्चे लोहा उत्पादन के करीब आधे का उत्पादन करते थे; रेल उत्पादन का करीब 90 प्रतिशत केवल सात कम्पनियाँ करती थीं और बाकू क्षेत्र में होने वाले कुल तेल उत्पादन का करीब 70 प्रतिशत मात्र छह कम्पनियाँ करती थीं। इन आँकड़ों से हम इन कम्पनियों के आकार का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। इनके कारखाने दैत्याकार हुआ करते थे जिनमें कई बार कई हज़ार मज़दूर एक साथ काम किया करते थे। वास्तव में, रूस में बड़े पैमाने के उद्योगों का संकेन्द्रण उस समय यूरोप के किसी भी देश से ज़्यादा था। एक आकलन के अनुसार 1913 में रूसी औद्योगिक मज़दूरों का करीब 25 प्रतिशत हिस्सा उन कारखानों में काम करता था जिनमें हज़ार से ज़्यादा मज़दूर थे और करीब 10 प्रतिशत हिस्सा ऐसे कारखानों में काम करता था जिनमें 500 से 1000 मज़दूर काम करते थे। इसी समय कुल औद्योगिक विकास में रूस से कहीं आगे खड़े जर्मनी में 1000 से ज़्यादा मज़दूरों वाले कारखानों में जर्मन औद्योगिक मज़दूर वर्ग का मात्र 8 प्रतिशत और 500 से 1000 मज़दूरों वाले कारखाने में 6 प्रतिशत काम करता था। यानी रूस में औद्योगिक मज़दूर वर्ग का 35 प्रतिशत हिस्सा ऐसे कारखानों में काम करता था जिनमें 500 से ज़्यादा मज़दूर थे, जबकि उसी समय जर्मनी में यह हिस्सा मात्र 14 प्रतिशत था।

रूस में उद्योगों का विकास दस्तकारी से होते हुए कारखाना व्यवस्था तक नहीं पहुँचा था। यह औद्योगिक विकास ऊपर से राज्य और बैंकों द्वारा किया गया था। रूसी वित्तीय पूँजी के अलावा विदेशी वित्तीय पूँजी निवेश का स्तर रूस में काफ़ी ज़्यादा था। 1914 में रूसी उद्योगों में लगी विदेशी वित्तीय पूँजी का परिमाण करीब 2 अरब रूबल था, जिसमें से करीब 32.6 प्रतिशत हिस्सा फ्रांसीसी, 22.6 प्रतिशत ब्रिटिश, 19.7 प्रतिशत जर्मन, 14.3 प्रतिशत बेल्जियन और 5.2 प्रतिशत अमेरिकी वित्तीय पूँजी का था। ज़ाहिर है कि विदेशी वित्तीय पूँजी निवेश के साथ विदेशी तकनीक और मशीनें भी रूसी उद्योग में शुरू से ही आयीं।

इस पूँजीवादी विकास से जो रूसी सर्वहारा वर्ग अस्तित्व में आया था, उसके चरित्र को समझ लेना भी आवश्यक है क्योंकि यह चरित्र ही आने वाले समय में काफ़ी हद तक उनके बर्ताव और प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करने वाला था। यह सच है कि रूसी सर्वहारा वर्ग क्रान्ति के ठीक पहले तक कुल रूसी आबादी का मात्र 13 प्रतिशत था, लेकिन यह बेहद बड़े कारखानों में काम करता था और उसकी वर्ग चेतना के विकास के लिए रूसी उद्योग में स्थितियाँ काफ़ी अनुकूल थीं। हालाँकि, इस मज़दूर वर्ग का एक हिस्सा ऐसा भी था जो अभी भी नाम भर के लिए गाँव में एक छोटी-सी जोत का मालिक था और गाँव से जीवन्त सम्पर्क कायम रखता था और साथ ही मन्दी या बेरोज़गारी के समय गाँव वापस भी चला जाता था। लेकिन यह भी सच है कि बड़े पैमाने के उद्योगों में, विशेषकर बड़े सूत के कारखानों, धातु कार्य के कारखानों और खनन में लगी एक बड़ी आबादी अब पूरी तरह से शहरी बन चुकी थी और गाँव से उसका रिश्ता अब नगण्य ही था। सर्वहारा वर्ग की जीवन स्थितियाँ नारकीय थीं। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के दूसरे दशक तक मज़दूर वर्ग की भयंकर जीवन स्थितियों का ज़िक्र तत्कालीन अकादमिक और साहित्यिक रचनाओं में हमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गोर्की की तमाम रचनाएँ, जैसे कि 'तलछट', 'फोमा गोर्दयेव' और उनकी तीन खण्डों की जीवनी इसी शहरी सर्वहारा वर्ग के जीवन की दर्दनाक हालत का जीवन्त यथार्थवादी चित्रण करती हैं और कई मायने में किसी भी इतिहास या समाजशास्त्र की रचना की बजाय ज़्यादा अच्छी तरह से इन हालात का बयान करती हैं। यह मज़दूर वर्ग 1895 में

पहली बार हड़तालों में उतरा। मज़दूर वर्ग की राजनीतिक गतिविधियों की शुरुआत का ब्यौरा हम आगे देंगे, लेकिन पहले क्रान्ति-पूर्व रूस के सामाजिक-आर्थिक विकास के इतिहास लेखन के कुछ विवादास्पद मुद्दों पर आलोचनात्मक चर्चा ज़रूरी है।

ई.एच. कार का मानना है कि दो अलग रास्तों से हुए पूँजीवादी औद्योगिक विकास के कारण रूसी उद्योगों और मज़दूर वर्ग और यूरोपीय उद्योगों और मज़दूर वर्ग, दोनों का ही चरित्र काफ़ी अलग था। इस विषय-वस्तु पर हम थोड़ा आगे आएँगे, लेकिन यहाँ सामान्य महत्व की एक बात समझ लेनी चाहिए। आधुनिक विश्व का आर्थिक इतिहास स्पष्टत: उद्योगीकरण के कई रास्तों की मिसालें पेश करता है। **लेकिन इन सभी रास्तों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।** सबसे पहले जिन देशों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियाँ हुई वहाँ पूँजीपति वर्ग नीचे से विकसित हुआ था; दस्तकारी, वर्कशॉपों, गिल्ड व्यवस्था से होते हुए मैन्युफैक्चर और मशीनोफैक्चर या कारखाना व्यवस्था तक की यात्रा तय की गयी थी। यह एक दीर्घकालिक ऐतिहासिक प्रक्रिया थी जो कि यूरोप के कुछ देशों में 11वीं-12वीं सदी से जारी थी। इन देशों में सबसे पहले औद्योगिक क्रान्तियाँ/उद्योगीकरण हुआ। यहाँ पर उद्योगीकरण एक लम्बे वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया में हुआ जिसमें उदीयमान उद्यमशील बुर्जुआ वर्ग ने सामन्तों को पराजित किया और बुर्जुआ जनवादी राज्यसत्ता और पूँजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व को स्थापित किया। पूँजीवादी व्यवस्था के एक विश्व व्यवस्था के तौर पर उभरने के बाद विश्व के जो हिस्से पीछे रह गये थे उनमें उद्योगीकरण का एक अलग रास्ता अपनाया गया। यहाँ पूँजीवादी विकास की अगुवाई एक उद्यमशील उदीयमान बुर्जुआ वर्ग नहीं कर रहा था, बल्कि राज्य और/या बैंक कर रहे थे। **ई.एच. कार** ने भी इस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षित किया है और इससे ही कुछ ऐसे नतीजे निकाले हैं जो कि दिक्कततलब हैं और जिन पर हम आगे अपने विचार रखेंगे। फिलहाल, यह समझना ज़रूरी है कि इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है कि पहले उद्योगीकृत होने वाले और बाद में उद्योगीकृत होने वाले देशों में उद्योगीकरण के रास्ते अलग थे। यह नैसर्गिक था। ज़ाहिर है कि बाद में उद्योगीकृत होने वाले जर्मनी, जापान या एक बिल्कुल अलग अर्थ में सोवियत संघ को वही रास्ता अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी जो कि इंग्लैण्ड या हॉलैण्ड ने अपनाया था। जर्मनी, जापान या बिल्कुल अलग सन्दर्भ में सोवियत संघ में पूँजीवादी उद्योगीकरण या तो देशी-विदेशी वित्तीय पूँजी की सहायता से हुआ था, या फिर राज्यसत्ता द्वारा किये गये पूँजी संचय के द्वारा। भारत के सन्दर्भ में बात करें तो स्वातन्त्र्योत्तर भारत में भी पूँजीवादी राज्यसत्ता द्वारा किये गये पूँजी संचय की सहायता से ही बुर्जुआ वर्ग को उसके पैरों पर खड़ा किया गया और साथ ही विदेशी वित्त पूँजी की भी सहायता लेकर पूँजीवादी उद्योगीकरण किया गया। जैसा कि प्रसिद्ध उक्रेनी-अमेरिकी अर्थशास्त्री **अलेक्ज़ैण्डर गर्शेनक्रॉन** ने देर से उद्योगीकृत होने वाले देशों के अपने अध्ययनों में दिखलाया था, कई मायने में वे एक लाभ की स्थिति में रहते हैं। उन्हें सभी तकनीकी कुशलताएँ और तौर-तरीके, प्रबन्धन के रास्ते फिर से नहीं ढूँढने होते हैं। एक पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के अस्तित्व में आने के बाद तकनीकी ज्ञान, पूँजी, प्रबन्धकीय ज्ञान और कौशल आसानी से राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार जा सकते थे और इन देशों में उद्योगीकरण अभूतपूर्व तेज़ रफ़्तार से हो सकता था। इन देशों में आम तौर पर यह विकास राज्य और/या बैंकों द्वारा किया जाता है। जापान और जर्मनी ने 19वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इस बात को सही साबित किया। अलेक्ज़ैण्डर गर्शेनक्रॉन के **आर्थिक पिछड़ेपन के लाभ के**

सिद्धान्त को ज्यों का त्यों सोवियत संघ में होने वाले उद्योगीकरण पर तो नहीं लागू किया जा सकता है, लेकिन क्रान्ति से पहले रूस में हुए पूँजीवादी उद्योगीकरण पर एक सीमित अर्थ में यह सिद्धान्त लागू होता है। कुछ लोगों ने इसे सोवियत संघ में हुए उद्योगीकरण पर भी लागू करने का प्रयास किया है। लेकिन सोवियत संघ में हुआ उद्योगीकरण वास्तव में सोवियत जनता के अकूत साहस, बलिदान और श्रम के बूते हुआ था। निश्चित तौर पर, इसमें अभिकर्ता राज्यसत्ता थी लेकिन यह राज्यसत्ता मज़दूर वर्ग की हिरावल पार्टी के हाथों में थी और सोवियत संघ में हुआ उद्योगीकरण राज्य और/या बैंक द्वारा जनता की इच्छा से स्वतन्त्र ऊपर से किया गया उद्योगीकरण नहीं था। **इसलिए पूँजीवादी उद्योगीकरण के अलग-अलग मॉडलों को समझने के लिए गर्शेनक्रॉन के आर्थिक पिछड़ेपन के लाभों का सिद्धान्त निश्चित तौर पर फायदेमन्द है, लेकिन सोवियत संघ में उद्योगीकरण के तकनीकी पहलू को आंशिक तौर पर व्याख्यायित करने के बावजूद, यह उस महान ऐतिहासिक घटना को सन्तोषजनक रूप से स्पष्ट नहीं कर सकता है।**

बहरहाल, क्रान्ति से पहले रूस में हुए उद्योगीकरण को यूरोप के कुछ उन्नत देशों में हुए उद्योगीकरण के बरक्स रखते हुए **ई.एच.कार** ने कुछ दिलचस्प प्रेक्षण सामने रखे हैं। कार अपनी पुस्तक **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन, 1917-23'** के दूसरे खण्ड में लिखते हैं कि रूस में पूँजीवादी विकास वित्तीय पूँजी के ज़रिये हुआ था, जिसका एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी से आता था। यह पूँजीवादी विकास दस्तकारी और गिल्ड व्यवस्था के रास्ते नहीं हुआ था और इसकी अगुवाई करने वाली आबादी का अतीत दस्तकारी में नहीं था, बल्कि वित्तीय पूँजी में था। चूँकि पश्चिमी यूरोप में दस्तकारों की ही एक आबादी पूँजीपति वर्ग में और दूसरा हिस्सा सर्वहारा वर्ग में तब्दील हुआ था इसलिए वहाँ का मज़दूर वर्ग अभी भी अपने शहरी दस्तकारी के अतीत की स्मृतियों से जुड़ा हुआ था, और उसके भीतर "पूँजीवाद के फलों" में भरोसा था। कार आगे लिखते हैं कि रूस का मज़दूर वर्ग इससे बिल्कुल भिन्न था। उसका ग्रामीण किसान अतीत उससे अभी बहुत दूर नहीं हुआ था और शहरों में प्रवासी औद्योगिक मज़दूर बनने के बाद भी वह गाँव और किसान वर्ग से करीबी से जुड़ा हुआ था। यह मज़दूर वर्ग किसानों की उस विशाल बहुसंख्या से जुड़ा हुआ था जो कि भूस्वामियों और ज़ारशाही का भयंकर दमन झेल रहा था। यह पश्चिम के मज़दूर वर्ग के समान शिक्षित, कुशल और पूँजीवादी जनवाद के फलों में यक़ीन रखने वाला मज़दूर वर्ग नहीं था, बल्कि एक ऐसा मज़दूर वर्ग था जो कुछ दशकों या यहाँ तक कि कुछ वर्षों पहले तक किसान था और किसानों से बहुत करीबी से जुड़ा हुआ भी था; तमाम मज़दूर ऐसे थे जो मन्दी के दौरान या निकाले जाने पर गाँव वापस चले जाते थे और खेती में लग जाते थे। **कार के मुताबिक इस विशेष चरित्र के कारण रूस में मज़दूरों और किसानों के हितों में काफ़ी हद तक समानता थी और ठीक इसीलिए यहाँ पर क्रान्तिकारी प्रचार के लिए ज़्यादा मुफ़ीद ज़मीन मौजूद थी।** यानी, अगर रूस का मज़दूर वर्ग भी यूरोप के मज़दूर वर्ग के समान दस्तकारी की ज़मीन से पैदा हुआ होता और किसान अतीत रखने वाला न होता, अति-शोषित न होता, किसान वर्ग से करीबी रखने वाला न होता तो उसमें क्रान्तिकारी प्रचार का असर कम होता और एक क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन खड़ा हो पाना मुश्किल होता। कार के तर्क के अनुसार यूरोप का मज़दूर वर्ग क्रान्तिकारी इसलिए नहीं था क्योंकि उसने पूँजीवाद के फल अगर चखे नहीं तो कम-से-कम देखे थे क्योंकि मध्यकालीन और उत्तर-मध्यकालीन दस्तकार

वर्ग की ही एक अल्पसंख्या पूँजीपति वर्ग में तब्दील हुई थी और बाकी हिस्सा सर्वहारा वर्ग में तब्दील हुआ था; यह मज़दूर वर्ग भी शिक्षित, कुशल और शहरी था, किसान वर्ग से अलग था। इसलिए वहाँ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी प्रचार का मज़दूर वर्ग में वह असर नहीं होने वाला था जो कि रूस में हुआ।

ई.एच. कार का यह पूरा विश्लेषण कई स्तरों पर ग़लत है। तथ्यात्मक तौर पर दिये गये ब्यौरे में कहीं कोई कमी नहीं है और वह एकदम सटीक है। लेकिन विश्लेषण विचारधारा-अन्धता के कारण कई स्तरों पर भयंकर ग़लतियाँ करता है। मिसाल के तौर पर, यूरोप का ही मज़दूर वर्ग था जिसने साम्राज्यवाद के प्रभावी परिघटना में तब्दील हो जाने के ठीक पहले इन्हीं उन्नत पश्चिमी पूँजीवादी देशों में पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी आन्दोलन खड़े किये थे। चाहे वह 1848 की यूरोपीय क्रान्तियाँ हों जिसमें सर्वहारा वर्ग ने पहली बार पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति के प्रयास किये थे, या फिर 1871 का पेरिस कम्यून हो। ये मज़दूर वर्ग के आर्थिक आन्दोलन नहीं थे, बल्कि राजनीतिक आन्दोलन थे और सत्ता का प्रश्न उठाते थे। और इस समय तो कोई सुगठित कम्युनिस्ट पार्टी भी नहीं मौजूद थी जो इस मज़दूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी प्रयास करती। साथ ही, दस्तकारी के अतीत से भी यह मज़दूर अब आगे आ चुका था और पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग में विभाजित हो चुका था। समान वर्ग मूल रखने के बावजूद उदीयमान सर्वहारा वर्ग ने नये बुर्जुआ वर्ग के ख़िलाफ़ अपनी जंग छेड़ दी थी। **यदि, कार के शब्दों में 'पूँजीवाद के फलों में भरोसा' यूरोपीय मज़दूर वर्ग को क्रान्तिकारी आन्दोलन की ओर जाने से रोकता तो वह 1840 के दशक से लेकर 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक भी उस मज़दूर वर्ग को पूँजीवाद-विरोध बग़ावतों की ओर जाने से रोकता।** पश्चिमी यूरोप और विशेष तौर पर जर्मनी और फ्रांस के मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं के क्षीण पड़ने के पीछे मज़दूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के समान वर्ग मूल का होना (जर्मनी में तो ऐसा पूरी तरह था भी नहीं) या फिर 'पूँजीवाद के फलों में भरोसा होना' नहीं था। इसका कारण 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में वित्त पूँजी का पूँजी के संघटन में निर्णायक तौर पर हावी होना और साम्राज्यवाद के दौर की शुरुआत होना था। लेनिन ने **'दूसरे इण्टरनेशनल का पतन', 'सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की', 'साम्राज्यवाद: पूँजीवाद की चरम अवस्था', 'तथाकथित बाज़ार प्रश्न पर'** आदि जैसी रचनाओं में साम्राज्यवाद के उदय, कुलीन मज़दूर वर्ग और संशोधनवाद के उदय के बीच के सम्बन्धों को स्पष्ट किया है। **पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवाद के मॉडल में नैसर्गिक तौर पर कुछ ऐसा नहीं था कि उसने क्रान्तिकारी सम्भावना खो दी थी; यह साम्राज्यवाद के दौर की एक विशिष्टता थी जिसके कारण यूरोप का मज़दूर आन्दोलन संशोधनवाद और सुधारवाद के गड्ढे में जा गिरा था।** इंग्लैण्ड में कुलीन श्रमिक वर्ग का उद्भव पहले होता हैं, क्योंकि वित्तीय पूँजी और साम्राज्यवाद के मामले में भी यह देश सबसे आगे और सबसे पहले था। यहाँ पर मज़दूर आन्दोलन के ही एक हिस्से के पूँजीवादीकरण के बारे में तो एंगेल्स ने ही लिखा था। ई.एच. कार साम्राज्यवाद की परिघटना और यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन पर उसके प्रभाव को समझने में पूरी तरह से असफल रहे हैं। **इसी कारण से कार समाजवाद का एक पूर्वी और औपनिवेशिक, अर्द्धऔपनिवेशिक या पिछड़े देशों की परिघटना के रूप में सारभूतीकरण (एसेंशियलाइज़ेशन) या नैसर्गिकीकरण (नैचुरलाइज़ेशन) करते हैं।**

वास्तव में, कुछ जगहों पर यह विश्लेषण तथ्यात्मक ग़लतियाँ भी करता है। मिसाल के तौर पर, पूरा का पूरा सर्वहारा वर्ग इंग्लैण्ड, फ्रांस या जर्मनी में भी सिर्फ़ दस्तकारों के बीच से पैदा नहीं हुआ था। इन सभी देशों में अलग-अलग समय पर बाड़ेबन्दी के कानूनों के ज़रिये कृषि में लगी अतिरिक्त आबादी को उद्योगों में काम करने के लिए मुक्त किया गया था और उनका सर्वहाराकरण किया गया था। इसलिए इन सभी देशों में 19वीं सदी के अन्त में जो सर्वहारा वर्ग मौजूद था, उसका अच्छा-ख़ासा हिस्सा विकिसानीकृत (depeasantize) होकर आया था और उसका अतीत दस्तकारी में नहीं बल्कि कृषि में था। इस पूरे उदाहरण में भी हम देख सकते हैं कि ई.एच.कार का पूरा विश्लेषण विचारधारा के प्रति एक सन्देह रखने और तथ्यों और आनुभविक सामग्री के प्रति अति-आग्रह रखने के कारण एक बड़ी भूल करता है।

रूस का परिवहन तन्त्र 1880 से 1910 के दशकों के बीच अच्छा-ख़ासा विकसित हुआ। इसी बीच 4000 मील लम्बी ट्रांस-साइबेरिया रेलवे लाइन का निर्माण हुआ था। रेलवे का करीब दो-तिहाई हिस्सा सरकार के नियन्त्रण में था। देश के अन्य हिस्सों में भी 1914 तक रूस में 48 हज़ार मील की रेलवे लाइनें बन चुकी थीं। अलग से देखा जाये तो 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर 20वीं सदी के पहले दशक तक रेलवे का विकास विचारणीय था, लेकिन कुल मिलाकर यह पश्चिमी यूरोप के लगभग हर देश से पीछे था। सड़कों के मामले में भी रूस अभी बहुत पीछे था। मॉरिस डॉब ने अपनी पुस्तक 'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917' में दिखलाया है कि सड़क परिवहन के मामले में रूस 1910 के दशक में वहीं खड़ा था, जहाँ इंग्लैण्ड अट्ठारवीं सदी के अन्त तक पहुँचा था।

जहाँ तक व्यापार का प्रश्न है तो रूस मूलत: अनाज और कच्चे माल का निर्यात करता था और उत्पादित मैन्युफैक्चर किये गये मालों का मुख्य रूप से आयात करता था। रूस पूँजी के आयात और निर्यात के मामले में मुख्य तौर पर पूँजी का आयातक था। पूँजी का कुल आयात पूँजी के कुल निर्यात से कहीं ज़्यादा था। रूस उस समय पूरे पश्चिमी यूरोप के गेहूँ के करीब एक तिहाई की आपूर्ति करता था। अन्य खाद्यान्नों के निर्यात में भी रूस की स्थिति अग्रणी थी। खाद्यान्न निर्यात रूस के कुल निर्यात का करीब 50 फीसदी था, जबकि अन्य कच्चे मालों व अर्द्धनिर्मित मालों का निर्यात करीब 36 फीसदी था। रूस में कृषि में जो विकास 19वीं सदी में हुआ था उसके लिए निर्यातोन्मुख अर्थव्यवस्था काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार थी। **लेकिन मॉरिस डॉब का ज़ोर इस निर्यात के बाह्य कारक पर थोड़ा ज़्यादा है।** रूस में कृषि के विकास का एक कारण यह भी था कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से औद्योगिक विकास में जो तेज़ी आयी और भूदास प्रथा के उन्मूलन के साथ पैदा होने वाले विशाल भूमिहीन मज़दूरों के वर्ग के एक हिस्से के शहरों की ओर पलायन के कारण शहरों की कुल आबादी में जो बढ़ोत्तरी हुई, उसका पेट भरने के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाना ज़रूरी था। इसलिए निर्यात के साथ-साथ यह आन्तरिक कारण भी रूसी कृषि में होने वाले परिवर्तनों के लिए काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार था। रूस में उत्पादित मालों का बाज़ार सीमित था। यह मात्र पश्चिमी रूस के कुछ बड़े शहरों और औद्योगिक केन्द्रों तक सिमटा हुआ था। ख़ैर, इन उत्पादित मालों का बड़ा हिस्सा आयात के ज़रिये आता था। बीसवीं सदी के पहले दशक के ख़त्म होने तक रूस मूल रूप से खाद्यान्न और कच्चे माल का निर्यातक और उत्पादित मालों और पूँजी का आयातक था। विदेशी पूँजी निवेश का ब्यौरा हम ऊपर दे आये हैं। वित्तीय पूँजी

के क्षेत्र में भी अगर विदेशी निवेश की बात करें तो हम पाते हैं कि रूस के 18 अग्रणी जॉइण्ट स्टॉक बैंकों की कुल पूँजी का करीब 42 फीसदी विदेशी पूँजी था। इसमें प्रमुख हिस्सा उस समय फ्रांस और जर्मनी का था। लेकिन इस पूरे चित्रण से ऐसा ज़ाहिर नहीं होना चाहिए कि रूस की स्थिति पश्चिमी यूरोप के उन्नत देशों के बरक्स एक अर्द्धउपनिवेश की थी। मॉरिस डॉब ने ठीक ही लिखा है कि इन उन्नत देशों की तुलना में रूस की स्थिति अगर अर्द्धऔपनिवेशिक जैसी दिखती है तो दूसरी ओर दक्षिणी-पूर्वी यूरोप, मध्य एशिया और सुदूर पूर्व के देशों के लिए उसकी स्थिति एक साम्राज्यवादी शक्ति की थी। इन देशों में सैन्य हस्तक्षेप और कब्ज़े के अलावा रूस का छोटा किन्तु संगठित पूँजीपति वर्ग इन देशों के बाज़ारों में निवेश कर रहा था, पूँजी का निर्यात कर रहा था और उत्पादित माल भी बेच रहा था। 1905 में लिखते हुए लेनिन ने कहा था कि रूस में राज्यसत्ता पर ज़ार के नेतृत्व में मुट्ठी भर सामन्तों का कब्ज़ा है जो कि विशाल वित्तीय पूँजीपतियों के साथ मिलकर देश पर शासन कर रहे हैं। यही कारण है कि रूस की ज़ारशाही और उसकी नीतियों का चरित्र "सैन्य-सामन्ती" है। लेनिन के शब्दों में रूस की अर्थव्यवस्था उस समय अत्यधिक उन्नत पूँजीवाद व साम्राज्यवाद तथा प्राक्-पूँजीवादी सम्बन्धों का एक मिश्रण है जिसमें बेहद पिछड़ी कृषि और आदिम गाँव बेहद उन्नत उद्योग व वित्तीय पूँजी के साथ सह-अस्तित्वमान हैं। ज़ाहिर है कि 1916 आते-आते रूस का पूँजीवादी विकास काफी अधिक हो चुका था। 1906 में स्तोलिपिन के सुधार कानूनों के आने के बाद पूँजीवादी विकास ने रूस में और तीव्र गति पकड़ ली थी। **स्तोलिपिन, सर्गेई विट्टे जैसे लोगों को ज़ार के मन्त्रीमण्डल में नियुक्त किया जाना, दूमा के राजनीतिक प्रभाव का बढ़ना श्रम विनियमनों का आना, यह सब दिखलाता था कि निरंकुश राजशाही तन्त्र में बुर्जुआ वर्ग का प्रभाव धीरे-धीरे विस्तारित हो रहा है, या कहें कि उसमें उसकी हिस्सेदारी बढ़ रही है।**

यहाँ दो सामान्य महत्व की बातों पर ध्यान देना ज़रूरी है: पहली बात यह कि निरंकुश राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र को लेकर एक बहस मार्क्सवादी सिद्धान्त के अन्दर मौजूद है। **पेरी एण्डरसन** ने अपनी पुस्तक **'लीनियेजेज़ ऑफ़ दि एब्सॉल्यूटिस्ट स्टेट'** में यह दावा किया था कि मार्क्स और एंगेल्स ने निरंकुश राज्यतन्त्र को सामन्ती न मानकर मुख्यत: पूँजीवादी माना है और यह उनकी भूल थी क्योंकि इतिहास दिखलाता है कि निरंकुश राज्यतन्त्र का वर्ग चरित्र मूलत: सामन्ती था। लेकिन यह पूरा तर्क तथ्यत: भी ग़लत है और पद्धति के धरातल पर भी। हमें मार्क्स और एंगेल्स के लेखन में दोनों ही प्रकार के निरंकुश राज्यतन्त्रों का ब्यौरा मिलता है; एक, जहाँ पूँजीपति वर्ग राज्यसत्ता पर हावी हो चुका था और दूसरा जहाँ अभी भी सामन्ती भूस्वामियों का वर्ग राज्यसत्ता पर मुख्य रूप से काबिज़ था, हालाँकि पूँजीपति वर्ग भी उसमें हिस्सेदार बन चुका था। वास्तव में, निरंकुश राज्यतन्त्र जिस प्रकार का स्वायत्त बर्ताव करते थे उससे कई बार ऐसा दृष्टिभ्रम पैदा हो जाता था, मानों वे वर्गेतर हों। एंगेल्स ने 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' में लिखा था, **"...प्राचीन काल का राज्य सर्वप्रथम दासों को दबाकर रखने के उद्देश्य से बना दास-स्वामियों का राज्य था, जैसे कि सामन्ती राज्य भूदासों और बंधुआ आबादी के शोषण का एक उपकरण था और आधुनिक प्रातिनिधिक राज्य पूँजी द्वारा उजरती श्रम के शोषण का एक उपकरण है। यद्यपि, अपवादस्वरूप, ऐसे काल आते हैं जब युद्धरत वर्ग एक दूसरे को इस कदर करीबी से सन्तुलित करते हैं कि राज्यसत्ता, एक प्रतीतिगत मध्यस्थ के रूप में, क्षण भर के लिए**

दोनों से ही एक निश्चित हद तक स्वतन्त्रता हासिल कर लेती है। सत्रहवीं और अट्ठारहवीं सदी के निरंकुश राज्यतन्त्र ऐसे ही थे जो कि कुलीन वर्ग और बर्गरों के वर्ग के बीच सन्तुलन रखते थे; पहले और उससे भी ज़्यादा दूसरे फ्रांसीसी साम्राज्य का बोनापार्तवाद भी ऐसा ही था, बुर्जुआ वर्ग को सर्वहारा वर्ग से और सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग से भिड़ा देता था।" (एंगेल्स, *'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्यसत्ता की उत्पत्ति'*, 1978, फॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, पीकिङ, पृ. 208, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद हमारा*) इसी प्रकार के निरंकुश राज्यसत्ता के नवीनतम उदाहरण के तौर पर बिस्मार्क के दौर के जर्मनी की बात एंगेल्स ने आगे की है। रूस में जो निरंकुश राज्यतन्त्र आया वह हूबहू ऐसा नहीं था। इतिहास में कभी घटनाओं का हूबहू दुहराव नहीं होता। रूसी निरंकुश राज्य की अपनी विशिष्टताएँ थीं। लेकिन निरंकुश राज्यसत्ता दोनों ही वर्गों के प्रतीतिगत सन्तुलन को क्षण भर के लिए दिखला सकती है। अन्ततः उस पर या तो सामन्ती वर्ग को हावी होना होता है या फिर बुर्जुआ वर्ग को। चूँकि इस राज्यसत्ता में दोनों ही वर्गों की हिस्सेदारी होती है ठीक इसीलिए निरंकुश राज्यसत्ता कई बार इन वर्गों के बीच की मध्यस्थ प्रतीत होती है। निरंकुश राज्यसत्ता अक्सर एक तरल और संक्रमणशील ऐतिहासिक दौर में बदलते वर्ग शक्ति सन्तुलन का प्रतीक होती है। रूस में भी सामन्त वर्ग और पूँजी की शक्तियों के बीच के बदलते शक्ति सन्तुलन को ज़ार की सत्ता अभिव्यक्त करती थी। इस सन्तुलन में धीरे-धीरे पलड़ा एक ओर से दूसरी ओर झुकता गया। इस प्रक्रिया के अपने अन्तर्विरोध होते हैं और बुर्जुआ वर्ग का पलड़ा भारी होते ही पारम्परिक राजतन्त्र के भीतर बुर्जुआ राजनीतिक व्यवस्था का उत्तरोत्तर विकास असम्भव हो जाता है। इसलिए या तो राजतन्त्र एक प्रतीकात्मक चीज़ बनकर रह जाती है, जैसा कि इंग्लैण्ड में हुआ; या फिर जर्मनी या रूस जैसी स्थिति पैदा होती है जब पूँजीपति वर्ग भूतपूर्व सामन्ती भूस्वामियों (जो कि अब पूँजीवादी युंकर/कुलक में तब्दील हो चुके हैं) के साथ मिलकर एक ऐसी बुर्जुआ क्रान्ति या क्रमिक सुधार करता है जिसमें जनवादी कुछ भी नहीं होता; मज़दूरों और व्यापक किसान आबादी को कुछ भी नहीं मिलता। रूस में काफ़ी हद तक ऐसा ही हुआ था।

दूसरी बात जो यहाँ समझना ज़रूरी है वह यह कि इस प्रकार के संक्रमण दो शोषणकारी व्यवस्थाओं, दो शोषणकारी वर्गों के बीच हो सकते हैं। ग्यॉर्गी लूकाच ने लिखा था कि बुर्जुआ क्रान्तियाँ अभूतपूर्व सुगमता (पूजी इतपससपंदज कसंद) के साथ आगे बढ़ती हैं क्योंकि एक पुरानी शोषणकारी व्यवस्था के गर्भ में ही नयी शोषणकारी व्यवस्था का आर्थिक और भौतिक विकास काफ़ी हद तक हो चुका होता है; बुर्जुआ क्रान्तियों को केवल राजनीतिक परिवर्तनों को अंजाम देना होता है; लूकाच के शब्दों में उन्हें बस कानून पास करने होते हैं। इन क्रान्तियों के सम्पन्न होने के लिए कोई उथल-पुथलकारी, हिंस्र विद्रोह या इंसरेक्शन (सशस्त्र विद्रोह) होना अनिवार्य नहीं होता। कई बार किसी एक विशाल आमूलगामी विद्रोह या उथल-पुथल की कोई प्रक्रिया घटित नहीं होती और यह कई दशकों के छोटे-मोटे उथल-पुथल (जो कानूनों, विनियमनों, छोटे विद्रोहों के रूप में हो सकती है) के रूप में विस्तारित होती है। ऐसी प्रक्रिया ज़ाहिरा तौर पर पूँजीवाद के इने-गिने सकारात्मक ही लाती है, नकारात्मक ज़्यादा देती है। जैसा कि मार्क्स ने एक बार मज़ाक में कहा था, "जर्मनी में हम पूँजीवाद के विकास से उतना पीड़ित नहीं हैं, जितना कि पूँजीवाद का विकास न होने से।" इस रूपक से मार्क्स का इशारा पूँजीवादी रूपान्तरण के उस रास्ते से है जो कि किसी जनवादी

क्रान्ति द्वारा सम्पन्न नहीं होता, बल्कि एक पीड़ादायी, दीर्घकालिक और क्रमिक प्रक्रिया में सम्पन्न होता है और जिसमें पूँजीवाद के सकारात्मक जनसमुदायों को हासिल नहीं होते, लेकिन नकारात्मक सारे मिलते हैं। रूस में काफ़ी हद तक ऐसा ही हुआ था। फरवरी क्रान्ति के दस माह बाद ही सर्वहारा क्रान्ति के होने के पीछे युद्ध, भूख और सोवियतों के स्वत:स्फूर्त उदय के अलावा एक कारण यह भी था कि एक अपूर्ण किस्म की जनवादी क्रान्ति को फरवरी क्रान्ति के बाद बनी बुर्जुआ सरकार पूर्णता तक पहुँचाने में अक्षम थी, क्योंकि इस सरकार का वर्ग चरित्र पूँजीपति-युंकर गठजोड़ था। पूँजीपति वर्ग अब भूस्वामी वर्ग से शक्ति सन्तुलन में आगे निकल चुका था लेकिन पूँजीपति वर्ग का नेतृत्व यह समझता था उसकी शक्ति अभी इतनी भी ज़्यादा नहीं थी कि वह भूस्वामी वर्ग के ख़िलाफ़ चलायमान युद्ध छेड़ पाता और साथ ही वह आम मेहनतकश जनता की क्रान्तिकारी पहलकदमी के खुलने से भयभीत भी था। और यही कारण था कि लेनिन ने 'अप्रैल थीसीज़' में स्पष्ट किया कि रूस आने वाली आपदा से सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति के रास्ते ही बच सकता है।

1860 के दशक से लेकर 1914 में प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने के समय तक रूस की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के इस संक्षिप्त ब्यौरे और इससे जुड़े इतिहास-लेखन की कुछ समस्याओं पर आलोचनात्मक विवेचन के बाद हम रूस में मज़दूर आन्दोलन, किसान विद्रोहों के शुरू होने और इस दौरान प्रमुख राजनीतिक रुझानों पर चर्चा कर सकते हैं। रूस में मज़दूर आन्दोलन और किसान विद्रोहों की शुरुआत का संक्षिप्त विवरण के बाद राजनीतिक विकास का जो ब्यौरा हम पेश करेंगे, उसमें हमारा ज़ोर रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन के विकास और पार्टी के जन्म और विकास पर होगा। ख़ास तौर पर 1895 से लेकर 1917 तक कम्युनिस्ट आन्दोलन और पार्टी के विकास की पूरी प्रक्रिया को समझना बेहद ज़रूरी है। हमारा मानना है कि क्रान्ति के बाद विशेष तौर पर 1917 से लेकर 1923 तक और उसके बाद भी कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर राज्य, पार्टी और वर्ग के बीच के रिश्तों को लेकर जो गम्भीर बहसें चलीं, उसे समझने के लिए क्रान्ति से पहले दो लाइनों के संघर्ष के उस पूरे इतिहास को समझना बेहद ज़रूरी है, जिसके ज़रिये पार्टी विकसित हुई। पार्टी के भीतर "वामपंथी" भटकाव और दक्षिणपंथी अवसरवाद के बीच के संघर्ष के ज़रिये ही लेनिनवादी अवस्थिति नि:सृत हुई और इसके बाद भी यह लेनिनवादी कार्यदिशा लगातार "वामपंथी" और दक्षिणपंथी भटकावों से सतत् संघर्षरत रही। सोवियत रूस (आर.एस.एफ.एस.आर.) में और फिर सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण की समस्याओं को समझने का सबसे उपयुक्त तरीका हमारे विचार में यही होगा कि पार्टी के भीतर सतत् जारी दो लाइनों के संघर्ष को समझा जाय और यह समझा जाय कि इस संघर्ष में समाजवादी संक्रमण की समस्याएँ और उनके प्रति अप्रोच किस रूप में प्रतिबिम्बित हो रहे थे। यह बात भी अहम है कि इन संघर्षों को महज़ उस समय की विशिष्ट समस्याओं पर चलने वाली बहसों के रूप में समझने की बजाय सामान्य ऐतिहासिक, विचारधारात्मक और राजनीतिक महत्व रखने वाले मुद्दों पर चली बहसों के रूप में समझा जाय। अन्यथा, इन बहसों का महत्व ऐतिहासिक आकस्मिकता के दायरे में सिमट कर रह जाता है जबकि वास्तव में ये बहसें किसी भी देश में समाजवादी संक्रमण के दौरान सही अवस्थिति के नि:सरण के लिए बेहद महत्वपूर्ण हैं।

2. फरवरी क्रान्ति से पहले रूस में किसान विद्रोह, मज़दूर आन्दोलन और प्रारम्भिक राजनीतिक आन्दोलन व संगठन

जैसा कि हम ऊपर विवरण दे चुके हैं, रूस में प्रशियाई पथ से हुए भूमि सुधार ने सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी भूस्वामियों में तब्दील होने का अवसर दिया। भूदासों की मुक्ति के बाद जिन शर्तों पर किसानों को मुक्त किया गया था और ज़मीनें दी गयी थीं, वे ऐसी थीं कि उन किसानों का भूमिहीन मज़दूरों में तब्दील हो जाना या फिर निर्भर किसान आबादी या अर्द्धसर्वहारा आबादी में तब्दील हो जाना अवश्यम्भावी था। किसानों को अपनी मुक्ति के एवज़ में अपने सामन्ती भूस्वामी को एक रकम अदा करनी पड़ती थी। आम तौर पर यह रकम इतनी ज़्यादा होती थी कि किसानों को इन भूस्वामियों की भूमि पर श्रम करके चुकानी पड़ती थी, या फिर अपनी ज़मीनें खोकर। ज़मीन का एक अधूरा और निष्प्रभावी पुनर्वितरण सीमित रूप में हुआ लेकिन उत्पादन के अन्य साधनों जैसे कि पशुधन, कृषि के उपकरण आदि का कोई पुनर्वितरण या ज़ब्ती नहीं हुई। नतीजतन, कुछ इलाकों में यदि किसानों को कुछ ज़मीनें हासिल भी हुई तो उस पर खेती करने के लिए न तो उनके पास घोड़े थे, न हल और न ही पूँजी। वास्तव में, उत्पादन के अन्य साधनों के पुनर्वितरण की माँग को किसानों या उनके भावी राजनीतिक प्रतिनिधियों ने कभी उठाया ही नहीं, जो कि किसान आन्दोलन में राजनीतिक चेतना की दुर्वस्था का प्रतीक था। लेकिन अभी हम इस विवरण में जाने की बजाय 1861 से 1907-8 तक किसानों पर इस क्रमिक प्रक्रिया से होने वाले भूमि सुधार के असर पर अपनी चर्चा केन्द्रित करेंगे। भूमि सुधार का असर पूरे रूस में एकसमान नहीं था। अलग-अलग इलाकों में यह अलग-अलग तरीके से लागू हुआ और इसके प्रभावों में भी वैविध्य रहा। लेकिन इस सारे वैविध्य के बावजूद किसान आबादी को इन भूमि सुधारों से कुछ ख़ास हासिल नहीं हुआ। दूसरी तरफ़ जिन सामन्ती भूस्वामियों ने अपने आपको पूँजीवादी कुलक में तब्दील करने में दिलचस्पी नहीं दिखलायी वे भी एक क्रमिक प्रक्रिया में समाप्त हो गये। 1906 के स्तोलिपिन सुधार कानून ने रूसी ग्राम समुदाय मीर के बन्धनों से किसानों को अलग होने की आज़ादी दी; लेकिन इसका लाभ भी ज़ाहिरा तौर पर पूँजीवादी कुलकों और धनी किसानों के छोटे-से वर्ग को ही मिलना था, जिसका कि अब ग्राम समुदाय की चौहद्दियों में दम घुटने लगा था। स्तोलिपिन का मक़सद था कि खेती के संकट को ख़त्म करने के लिए ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग को मुक्त किया जाय; भूमि सुधार को कोई रैडिकल स्वरूप देना उसका मकसद कतई नहीं था। यह बात दीगर है कि इसके बाद कुछ वर्षों तक खेती के क्षेत्र में आयी तेज़ी को छोड़ दें तो रूसी कृषि का ढाँचागत संकट समाप्त नहीं हुआ और 1913 आते-आते फिर से रूस के गाँवों में किसान विद्रोहों की आग भड़कने लगी थी। इस प्रकार से हुए भूमि सुधारों ने करोड़ों किसानों के जीवन को नारकीय स्थिति में पहुँचा दिया था और 1890 के दशक से किसानों के विद्रोहों की बारम्बारता में बढ़ोत्तरी और 1905 की असफल रूसी क्रान्ति के दौरान इनका शीर्ष पर पहुँचना इन्हीं जीवन स्थितियों के कारण हुआ था।

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक केवल दो-तिहाई किसान परिवारों के पास खेती के लिए घोड़े थे, और उनमें से भी अधिकांश के पास एक या दो घोड़े हुआ करते थे, जो अगर किसी वजह से मर जाते थे तो ज़मीन होने के बावजूद किसान के पास मज़दूरी करने या फिर किराये पर धनी किसानों या कुलकों से घोड़े लेने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचता था। कृषि के

उपकरणों या पशुओं के लिए धनी किसानों और कुलकों द्वारा लिया जाने वाला किराया इतना ज़्यादा होता था कि किसान जल्द ही ऋण के तले दब जाता था, या निर्भर किसान में तब्दील होकर धनी किसानों व कुलकों के खेतों पर श्रम करता था, या फिर ज़मीन बेच कर पूरी तरह खेतिहर मज़दूर या औद्योगिक मज़दूर में तब्दील हो जाता था। 1895 में यूरोपीय रूस के 46 प्रान्तों के सर्वेक्षण में पता चला कि आधे से अधिक किसानों को भर पेट भोजन भी नहीं मिल पाता है। किसानों की खेती से औसत वार्षिक आय 150 से 180 रूबल के बीच थी। इन्हीं जीवन स्थितियों और कुलकों और धनी किसानों के हाथों होने वाले शोषण के ख़िलाफ़ 1890 के दशक के उत्तरार्द्ध से किसान विद्रोहों ने गति पकड़ी और 1905 में किसान विद्रोहों की लहर ने रूस के अच्छे-ख़ासे हिस्से को अपनी चपेट में ले लिया था। कहने की ज़रूरत नहीं कि ये किसान विद्रोह राजनीतिक चेतना की कमी का शिकार थे और अक्सर उनके निशाने पर पूरी ज़ारशाही नहीं बल्कि स्थानीय भूस्वामी हुआ करते थे। लेकिन धीरे-धीरे उनमें राजनीतिक चेतना प्रवेश कर रही थी। 1905 की रूसी क्रान्ति के समय तक किसान आन्दोलन में समाजवादी-क्रान्तिकारियों का असर पर्याप्त हो चुका था और वे अपने भूमि सुधार के कार्यक्रम के इर्द-गिर्द किसानों को एक हद तक संगठित कर रहे थे। 1905 की क्रान्ति मज़दूर आन्दोलन और किसान विद्रोहों के बीच तालमेल का पहला प्रयास था जो कि बहुत व्यवस्थित नहीं था। अभी मज़दूर वर्ग का हिरावल भी बहुत व्यवस्थित तरीके से विचारधारात्मक और राजनीतिक तौर पर संगठित नहीं हो पाया था।

मज़दूर वर्ग की स्थिति की चर्चा हम संक्षेप में ऊपर कर चुके हैं। ज़्यादातर मज़दूर मुक्त हुए भूदास थे और जहाँ कहीं नियोक्ता राज्यसत्ता नहीं थी, वहाँ अधिकांश पूँजीपति वास्तव में भूतपूर्व सामन्त थे। **मान्या गॉर्डन** ने अपनी पुस्तक **'वर्कर्स बिफोर एण्ड आफ्टर लेनिन'** में लिखा है कि वास्तव में इन औद्योगिक मज़दूरों का शोषण किसी भी रूप में भूदासों के शोषण से कम नहीं था। मज़दूरों पर पूँजीपति मनमाने तरीके से जुर्माने लगाते थे और उनके विरुद्ध मज़दूर कुछ भी नहीं कर सकते थे। 12 घण्टे का कार्यदिवस अपवाद था क्योंकि अधिकांश जगहों पर मज़दूर 13 घण्टे से ज़्यादा काम करते थे। मज़दूरों को उनके काम के लिए भुगतान साल में दो या चार बार किया जाता था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में इस शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध पहली बार मज़दूरों ने आवाज़ उठानी शुरू की। लेकिन अभी ये मज़दूर बग़ावतें स्वत:स्फूर्त थीं और आम तौर पर कारखाने में तोड़-फोड़ आदि जैसी गतिविधियों तक सीमित थीं। 1870 के दशक के अन्त से मज़दूरों ने हड़तालें शुरू कीं और 1880 के दशक में इन हड़तालों की बारम्बारता तेज़ी से बढ़ी। 1881 से 1886 के बीच 48 हड़तालें हुईं जो कि उस समय के मानकों से काफ़ी ज़्यादा मानी जाएँगी और ख़ास तौर पर इसलिए भी क्योंकि रूस में विशालकाय औद्योगिक इकाइयाँ ज़्यादा थीं, जिनमें मज़दूर अक्सर हज़ारों की संख्या में काम करते थे। लेकिन अभी भी यह मज़दूर आन्दोलन पूर्णत: स्वत:स्फूर्त ही था। रूसी इतिहास के लगभग सभी प्रमुख अध्येता इस बात पर सहमत हैं कि 1893 से पहले रूसी मज़दूर आन्दोलन में सामाजिक-जनवादियों या अन्य रैडिकल ग्रुपों का कोई असर नहीं था। 1890 के दशक से पहले रूस का क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी वर्ग अपनी राजनीतिक गतिविधियों को मुख्य तौर पर किसानों के बीच केन्द्रित कर रहा था। इसी मध्यवर्गीय क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी वर्ग के बीच से पहला आतंकवादी राजनीतिक ग्रुप **नरोद्नाया वोल्या** पैदा हुआ था, जो कि रूस में किसान आबादी को भावी समतामूलक व्यवस्था की नेतृत्वकारी ताक़त मानता था और मानता था कि

आने वाले समय में अपने समतामूलक ग्राम समुदाय मीर के बूते रूस पूँजीवाद के चरण को लाँघकर समाजवादी व्यवस्था में प्रवेश कर जायेगा। इसी ग्रुप के राजनीतिक उत्तराधिकारी थे रूस के **समाजवादी-क्रान्तिकारी** जिन पर हम आगे चर्चा करेंगे। 1890 के दशक में बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण के कारण शहरों में एक विशाल मज़दूर वर्ग पैदा हुआ और इनमें से एक अच्छी-ख़ासी आबादी ऐसी थी, जो पूरी तरह शहरी बन चुकी थी। यह नया सर्वहारा वर्ग नये राजनीतिक अप्रोच और नये राजनीतिक संगठन की माँग कर रहा था। नतीजतन, 1890 के दशक में पहला सामाजिक जनवादी प्रकाशन **'नया युग'** प्रकट होता है और पहले सामाजिक-जनवादी समूह रूस के अलग-अलग शहरों में बनना शुरू होते हैं। इनका ब्यौरा हम आगे देंगे, लेकिन पहले मज़दूर आन्दोलन में सामाजिक-जनवादी चेतना के प्रवेश के प्रभाव पर बात करना उपयोगी होगा।

1895 की हड़तालों में सामाजिक-जनवादियों की मौजूदगी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती थी। इन हड़तालों के विरुद्ध ज़ारशाही ने बर्बर दमन का रुख़ अपनाया। लेकिन इसके बावजूद इनकी दर बढ़ती गयी। 1881 से 1886 के बीच हुई 48 हड़तालों से तुलना करें तो इस वृद्धि के पैमाने का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। 1896 में 118, 1897 मे 145, 1898 में 215, 1899 में 189 और 1900 में 125 हड़तालें हुईं। 1901 आते-आते हड़तालों के माँगपत्रकों और उनके प्रदर्शनों ने स्पष्ट रूप से एक राजनीतिक चरित्र धारण कर लिया था। अब वे महज़ वेतन और कार्यस्थितियों के मुद्दे नहीं उठा रही थीं, बल्कि पूरे पूँजीपति वर्ग और ज़ारशाही पर प्रश्न खड़े कर रही थीं। 1903 में करीब 550 बड़ी हड़तालें हुईं। यहाँ प्रसंगवश बता दें कि 1898 में मिंस्क में **रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी** की स्थापना कांग्रेस हुई और 1901 में **'इस्क्रा'** का पहला अंक प्रकाशित हुआ। 1903 में दूसरी कांग्रेस हुई जिसमें कि सांगठनिक प्रश्न और मज़दूर वर्ग में कार्य के अप्रोच को लेकर सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में पहली फूट पड़ी और बोल्शेविक और मेंशेविक धड़े अस्तित्व में आये। इनके विवरणों में हम आगे जाएँगे जब रूस में पार्टी के उद्भव और विकास पर चर्चा करेंगे।

1902-3 तक रूसी मज़दूर आन्दोलन के विकास और उसमें सामाजिक-जनवादियों के बढ़ते प्रभाव को प्रतिसन्तुलित करने के लिए रूस के शासक वर्ग ने एक नायाब प्रयोग किया जो अन्त में बुरी तरह असफल हुआ। रूस के शासक वर्ग ने खुफिया पुलिस को मज़दूर आन्दोलन के राजनीतिकरण को रोकने के लिए इस्तेमाल करने का प्रयास किया। ज़ार की राज्यसत्ता के कुछ "उदार" तत्वों का मानना था कि बढ़ते मज़दूर असन्तोष और कम्युनिस्टों के प्रभाव को प्रतिसन्तुलित करने के लिए कुछ सुधारों की आवश्यकता है। हालाँकि, स्वयं ज़ार और कुछ प्रतिक्रियावादी मन्त्री ऐसा नहीं मानते थे। लेकिन इसके बावजूद मॉस्को की खुफिया पुलिस के प्रमुख सर्गेई जुबातोव ने एक प्रयोग शुरू किया। जुबातोव खुद आन्दोलन का भगोड़ा था जिसे अपने साथियों के ख़िलाफ़ ग़द्दारी करने के लिए ज़ारशाही ने मॉस्को खुफिया पुलिस का प्रमुख बनाकर ईनाम दिया। 1902 में जुबातोव आधिकारिक पदानुक्रम के शीर्ष पर पहुँच गया था और एक राजनीतिक व्यक्ति होने के कारण वह समझ रहा था कि बढ़ता मज़दूर असन्तोष ज़ारशाही के लिए ख़तरा बन सकता है। उसने मज़दूर आन्दोलन में से क्रान्तिकारी तत्वों को किनारे लगाकर मज़दूरों की यूनियनें बनवाने का निर्णय किया। ये यूनियनें मज़दूरों के आर्थिक हक़ों की बातें करतीं लेकिन उन्हें किसी भी प्रकार के राजनीतिकरण से बचातीं थीं। मॉस्को में पुलिस द्वारा प्रायोजित ये यूनियनें काफी सफल हो गयीं और इनमें मज़दूरों की

भागीदारी भी काफ़ी बढ़ गयी। कई मौकों पर जुबातोव ने इन यूनियनों से प्रदर्शन भी करवाये। लेकिन जल्द ही ये प्रदर्शन इतने बड़े होने लगे कि रूसी पूँजीपति वर्ग इससे घबरा गया। घबराना वाजिब भी था क्योंकि जुबातोव ने एक ऐसा प्रयोग शुरू कर दिया था जिसे नियन्त्रित कर पाना उसके बूते की बात नहीं था। जुबातोव को पीटर्सबर्ग स्थानान्तरित कर दिया गया, लेकिन तब तक मॉस्को में मज़दूरों ने एकता और संगठन का स्वाद चख लिया था। पीटर्सबर्ग में भी जुबातोव ने एक **'सोसायटी ऑफ दि रशियन फैक्टरी एण्ड मिल वर्कर्स'** बनायी और पादरी गेपॉन को इसका निदेशक नियुक्त कर दिया। पादरी गेपॉन स्वयं खुफिया पुलिस का एक सदस्य था। लेकिन पादरी गेपॉन में लोकरंजकता के प्रति झुकाव था। 1905 में रूस-जापान युद्ध के कारण जनता में असन्तोष बड़े पैमाने पर बढ़ा। पहले इस नये संगठन का काम था मज़दूरों की सांस्कृतिक व अन्य गैर-राजनीतिक गतिविधियाँ आयोजित करना और साथ ही मज़दूरों के सहकारी संघ जैसे निकाय बनाना जो कि संकट में 'शॉक एब्ज़ॉर्बर' का काम करें और मज़दूर वर्ग के रैडिकलाइज़ेशन को रोकें। लेकिन 1904 के अन्त से ही इस संगठन का चरित्र बदलने लगा और यह मज़दूरों की आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू किस्म के प्रदर्शन करने लगा। अभी भी संगठन का घोषित तौर पर ज़ारशाही से अपील करने में और उससे सुधारों की उम्मीद करने में यक़ीन था। पादरी गेपॉन के नेतृत्व में मज़दूरों के प्रदर्शन विशालकाय होते गये और उनका चरित्र भी अधिक से अधिक जुझारू होता गया। जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि पादरी गेपॉन इन मज़दूरों का नेतृत्व नहीं कर रहा था, बल्कि मज़दूर आन्दोलन पादरी गेपॉन का नेतृत्व कर रहा था। पादरी गेपॉन के भाषणों की अन्तर्वस्तु जल्द ही राजनीतिक रुख़ अख़्तियार करने लगी और ज़ार से अपील का स्वर याचना से बदलकर जुझारू माँग में तब्दील होने लगा। पादरी गेपॉन ने पूँजीपतियों से वेतन वृद्धि और कार्यस्थितियों में सुधार को लेकर माँगें कीं, जिन्हें पूँजीपतियों ने ठुकरा दिया। इसके बाद गेपॉन ने अपनी उम्मीदें ज़ारशाही पर लगायीं और एक नया माँगपत्रक बनाया जो कि ज़ार को सम्बोधित था। यह नया माँगपत्रक राजनीतिक स्वर अख़्तियार कर चुका था, और शायद गेपॉन स्वयं इसे लेकर सचेत नहीं था। गेपॉन ने इस माँगपत्रक के साथ 22 जनवरी 1905 को ज़ार के दरवाज़े पर दस्तक देने का एलान किया और इस बाबत 21 जनवरी को एक पत्र गृह मन्त्री को भेजा। ज़ार ने जुलूस की इजाज़त नहीं दी, लेकिन तब तक मज़दूरों की चेतना गेपॉन के नियन्त्रण से बाहर निकल चुकी थी। 22 जनवरी को हज़ारों की तादाद में पीटर्सबर्ग के मज़दूर और आम मेहनतकश इस उम्मीद में ज़ार के महल की ओर बढ़े कि उनकी माँगों की सुनवाई होगी और ज़ार उनकी जीवन स्थितियों में सुधार के लिए ज़रूरी क़दम उठायेगा। लेकिन वहाँ पर मज़दूरों पर ताबड़तोड़ गोलियाँ चलायीं गयीं। सैंकड़ों मज़दूर और आम लोग मारे गये जिनमें बच्चे और औरतें भी शामिल थे। यह दिन **खूनी रविवार** के नाम से इतिहास में दर्ज़ हुआ। इस घटना का पूरे रूस में आम जनता पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा। इसके बाद ज़ार ने अपनी छवि सुधारने के लिए कुछ मज़दूर प्रतिनिधियों से मुलाकात कर मामले को सम्भालने की कोशिश की लेकिन तब तक मामला हाथ से निकल चुका था। जनता के बीच ज़ारशाही के उदार और दयालु होने और उसकी ओर से कोई सुधार किये जाने को लेकर जो आखिरी भ्रम बचा हुआ था, वह निर्णायक रूप से टूट चुका था।

1905 के बाकी ग्यारह महीने रूस में अभूतपूर्व हड़तालों के महीने बने। सरातोव में रेल मज़दूरों की हड़ताल से शुरू हुआ सिलसिला जल्द ही लगभग सभी शहरों में मज़दूरों के

बीच फैल गया। मज़दूर राजनीतिक स्वतन्त्रता की माँग कर रहे थे और उनकी यह माँग उनके माँगपत्रक में तमाम आर्थिक माँगों के पहले दर्ज़ थी। 1905 में ही किसान विद्रोह भी अपने चरम पर थे। लेकिन एक बात स्पष्ट तौर पर दिखलायी दे रही थी: रूस में जनवादी क्रान्ति के संघर्ष में मज़दूर नेतृत्वकारी स्थिति में थे। ज़ारशाही ने हर जगह हड़तालों और मज़दूर बग़ावतों का भीषण दमन किया। लेकिन दमन जितना बढ़ता विद्रोह की आग उतनी ही भड़कती। लेकिन 1905 में पार्टी एक स्पष्ट नज़रिये के साथ मज़दूरों को नेतृत्व देने के लिए तैयार नहीं थी; न ही किसानों के विद्रोह की धारा के साथ शहरों का मज़दूर विद्रोह सही तरीके से जुड़ पाया था। 14 अक्टूबर 1905 में पीटर्सबर्ग सोवियत संगठित हुई थी। यह सोवियत मूल और मुख्य रूप से जनसमुदायों की स्वत:स्फूर्त पहलकदमी पर संगठित हुई थी, लेकिन इसके करीब 50 दिनों के जीवन में इस पर मेंशेविकों का प्रभाव बोल्शेविकों के मुकाबले ज़्यादा था। पूरे रूस में तमाम क्षेत्रों में सोवियतें संगठित हुईं और स्वत:स्फूर्त रूप से इन्होंने राजनीतिक कार्रवाइयों में हिस्सेदारी की। अभी बोल्शेविक पार्टी की सोवियतों के आन्दोलन पर कोई विशेष पकड़ नहीं थी। लेनिन अभी सोवियतों को जनता की सत्ता के निकाय के रूप में नहीं देख रहे थे। वह इन संस्थाओं को जनसमुदायों के विशिष्ट राजनीतिक लक्ष्यों को हासिल करने के लिए उपयोगी संस्था के रूप में देख रहे थे। कुछ अध्येताओं ने दावा किया है कि त्रात्स्की शुरू से ही सोवियतों को जनता की सत्ता का निकाय मानते थे, लेकिन तथ्य कुछ और ही सिद्ध करते हैं। त्रात्स्की ने स्वयं ही अपनी रचना **'वर्ष 1905'** में कहा था कि पीटर्सबर्ग सोवियत की पहली बैठक से ही साफ़ था कि इसकी भूमिका संसद से ज़्यादा एक युद्ध परिषद् की है। इस समय बोल्शेविकों की **लन्दन कांग्रेस** में यह निर्णय लिया गया कि सर्वहारा वर्ग को निरंकुश ज़ारशाही के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह के लिए तैयार किया जाय और आरज़ी क्रान्तिकारी सरकार में भागीदारी के लिए तैयार रहा जाय। लगभग इसी समय मेंशेविकों ने जिनेवा में एक सम्मेलन किया और तय किया कि पार्टी को अभी सत्ता पर कब्ज़ा करने का लक्ष्य निर्धारित नहीं करना चाहिए और न ही किसी आरज़ी सरकार में हिस्सेदारी को लक्ष्य बनाना चाहिए; उसे अतिरेकपूर्ण क्रान्तिकारी विरोध की पार्टी बने रहना चाहिए। खैर, इस राजनीतिक संघर्ष का 1905 में क्रान्ति की ओर बढ़ते आन्दोलन पर और विशेष तौर पर सोवियतों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं था। सोवियतों में सक्रिय सामाजिक जनवादी राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर अभी 1903 की बोल्शेविक-मेंशेविक फूट का विशेष प्रभाव नहीं था और ज़्यादातर व्यावहारिक मसलों पर वे तालमेल करते हुए ही काम कर रहे थे। दिसम्बर में पीटर्सबर्ग सोवियत की सशस्त्र बग़ावत का प्रयास ज़ारशाही ने आसानी से कुचल दिया। शहर की बग़ावत में शामिल मज़दूर न तो हथियारबन्द थे, न सेना और पुलिस अभी उनके पक्ष में थी और न ही किसान विद्रोह की शक्ति के साथ कोई उपयुक्त तालमेल बिठाने का प्रयास किया गया था। वास्तव में, उस समय लेनिन का सोवियतों की शक्ति के प्रति रुझान बिल्कुल सही था। 1905 की सोवियतों और 1917 में सोवियतों के पुनर्जागरण के बीच बहुत फर्क था, जिस पर हम आगे त्रात्स्कीपंथ की आलोचना पर केन्द्रित हिस्से में चर्चा करेंगे। 1905 की क्रान्ति की असफलता ने लेनिन की कार्यदिशा के सहीपन और त्रात्स्की की वामपंथी कार्यदिशा और "स्थायी क्रान्ति" के सिद्धान्त के दीवालियेपन को सिद्ध किया। क्रान्ति के लेनिनवादी सिद्धान्त और त्रात्स्कीपंथी सिद्धान्त के बीच के विचारधारात्मक-राजनीतिक संघर्ष पर हम

आगे चर्चा करेंगे। फिलहाल, 1905 की क्रान्ति की असफलता के बाद के दौर पर अपनी चर्चा को हम जारी रखेंगे।

दिसम्बर 1905 में पीटर्सबर्ग में मज़दूर बग़ावत के कुचले जाने और इसके प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के बाद भी देश के अलग-अलग हिस्सों में बिखरे हुए मज़दूर विद्रोह, हड़तालें और किसान विद्रोह होते रहे। 1905 की असफल क्रान्ति के ठीक पहले ज़ार ने एक संवैधानिक राजतन्त्र और दूमा का वायदा किया था। 1905 के बाद जारी सामाजिक असन्तोष के बरक्स ज़ारशाही ने बर्बर दमन और प्रतिक्रिया का रास्ता अपनाया और 1907 आते-आते यह साफ़ हो गया था कि जिन जनवादी अधिकारों का ज़ारशाही ने वायदा किया था, वे या तो अपूर्ण रूप में मिले हैं या निष्प्रभावी हैं। 1907 से लेकर 1912 तक का दौर प्रतिक्रिया का दौर था। इस दौर में मज़दूर आन्दोलन पीछे गया। किसान विद्रोह भी उस बारम्बारता के साथ नहीं हो रहे थे। इस दौर में बोल्शेविक पार्टी का विकास जारी रहा लेकिन आन्दोलन कमज़ोर पड़ा। 1912 आते-आते मज़दूरों का सब्र फिर से जवाब दे रहा था। किसानों के बीच भी असन्तोष एक बार फिर से बढ़ रहा था। 1912 में लेना की सोने की खानों में मज़दूरों के प्रदर्शन पर गोलियाँ बरसायी गयीं जिसमें करीब 500 मज़दूर मारे गये। यह जनवरी 1905 के 'खूनी रविवार' के बाद दमन का सबसे भयंकर मौका था। इसके साथ ही मज़दूर आन्दोलन का फिर से उभार शुरू हुआ। 1912 ही वह वर्ष था जब बोल्शेविक पार्टी का औपचारिक तौर पर मेंशेविकों से अलग, एक नयी पार्टी के रूप में गठन हुआ। 1912 से देश के मज़दूर आन्दोलन में एक नया दौर शुरू होता है। 1914 में युद्ध की शुरुआत ने आम मेहनतकश जनता के बीच के असन्तोष को नये सिरे से बढ़ाने का काम किया।

1913 से ही हम विभिन्न पूँजीवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं में युद्ध के अनुसार तैयारियाँ देख सकते हैं। रूस में भी 1914 की शुरुआत से ही युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गयी थीं। 1913 से 1917 के बीच रूस के औद्योगिक मज़दूरों का करीब 20 प्रतिशत युद्ध के लिए गोलबन्द किया जा चुका था। नतीजतन, औद्योगिक मज़दूरों में महिलाओं का हिस्सा 1913 के 39 प्रतिशत से बढ़कर 44 प्रतिशत हो गया। इसके साथ ही किशोरों और बच्चों को भी बड़े पैमाने पर उद्योगों में लगाया गया। 1916 में कुल पुरुष मज़दूरों का करीब 11 प्रतिशत किशोरवय लड़के थे। महिलाओं को पुरुषों को मिलने वाली मज़दूरों का एक-तिहाई और किशोरों को करीब आधी मज़दूरी मिलती थी। युद्ध में रूस की भागीदारी के परिणाम भयंकर साबित हो रहे थे। एक तरफ़ मोर्चों पर पराजय और दूसरी तरफ़ रूस में कृषि और उद्योग दोनों का ही ध्वंस आम मेहनतकश जनता के लिए असहनीय स्थिति पैदा कर रहा था। युद्ध में ज़बरन सेना में भर्ती किये गये मज़दूर सेना के भीतर युद्ध-विरोधी राजनीतिक प्रचार का केन्द्र बन रहे थे। सेना जो कि राज्यसत्ता के साम्राज्यवादी सैन्यवाद का उपकरण थी, वह युद्ध में होने वाली मौतों और हताहतों की बढ़ती संख्या के साथ तेज़ी से क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार का केन्द्र बनती जा रही थी। 1915 आते-आते सेना के भीतर और देश के आम मेहनतकश आबादी के भीतर युद्ध-विरोधी भावना ज़ोर पकड़ती जा रही थी। लेनिन ने 1915 को वह वर्ष बताया जब देश में बड़े पैमाने पर जन गोलबन्दी शुरू हुई। तमाम मज़दूर संगठनों और ट्रेड यूनियनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था; सामाजिक जनवादी आन्दोलन के अधिक से अधिक नेताओं को गिरफ्तार करके निर्वासन में भेजा जा रहा था। मार्च 1915 से पहले हड़तालों और बड़े प्रदर्शनों की संख्या कम थी। लेकिन गर्मियाँ शुरू होते ही मज़दूर आन्दोलन तेज़ी पकड़ने

लगा। युद्ध के दौरान बोल्शेविकों का असर रूस के मज़दूर वर्ग पर तेज़ी से बढ़ा। लेनिन ने लिखा था, **"प्राव्दावादी अखबारों और 'मुरानोव शैली' के कार्य ने रूस के लगभग 80 फीसदी वर्ग सचेत मज़दूरों को एकजुट कर दिया है। करीब चालीस हज़ार मज़दूर *प्राव्दा* ख़रीदते हैं; इससे कहीं ज़्यादा इसे पढ़ते हैं। अगर युद्ध, जेल, साईबेरिया और कठोर श्रम इसके पाँच गुने या दस गुने को भी बरबाद कर दें–तो भी मज़दूर खत्म *नहीं हो सकते।* वे जीवित हैं। वे क्रान्तिकारी भावना से ओत-प्रोत हैं, कट्टरता-विरोधी हैं। *केवल* वे ही जनसमुदायों के बीच खड़े रह सकते हैं, उनके भीतर गहरी जड़ों के साथ, मेहनतकशों, शोषितों और उत्पीड़ितों के अन्तरराष्ट्रीयतावाद के हिमायती के रूप में। केवल यही वर्ग अर्द्धसर्वहारा तत्वों को कैडेटों, त्रुदोविकों, प्लेखानोव और *नाशा ज़ार्या* के सामाजिक-कट्टरवाद से दूर और समाजवाद की ओर ले जा रहा है।"** (वी.आई. लेनिन, **"रूसी सामाजिक-जनवादी श्रम दूमा समूह के मुकदमे से क्या ज़ाहिर हुआ है"**, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 21,* 1964, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 176, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद हमारा*)। 1915 में रूस में केन्द्रीय कमेटी का रूसी ब्यूरो गिरफ्तारियों और दमन के कारण भंग हो गया था। 1916 आते-आते कुछ नये और युवा बोल्शेविकों के बूते यह फिर से स्थापित हो गया। बोल्शेविक प्रचार तेज़ी से जनसमुदायों के आन्दोलन का क्रान्तिकारी राजनीतिकरण कर रहा था। फरवरी 1917 से पहले बोल्शेविकों ने करीब 580 पर्चे छापे और उन्हें 20 लाख की संख्या में वितरित किया। पेत्रोग्राद में मज़दूरों का राजनीतिक संगठन सबसे तेज़ी से बढ़ रहा था। बोल्शेविकों का असर पेत्रोग्राद के मज़दूरों मे तेज़ी से बढ़ रहा था और वहाँ पर उनका पार्टी ढाँचा जल्द ही मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से आगे निकल चुका था, आकार में भी और गतिविधियों में भी। रूस के मज़दूर वर्ग में बोल्शेविकों के बढ़ते असर को 1915 और 1916 में हड़तालों में बढ़ोत्तरी के रूप में देखा जा सकता था। 1916 में 1410 हड़तालें हुई जिनमें करीब 11 लाख मज़दूरों ने शिरकत की। इनमें से 243 हड़तालें शुद्ध रूप से राजनीतिक मुद्दों पर हुई थीं, जबकि 1167 हड़तालों ने आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही मुद्दे उठाये थे। सर्वहारा वर्ग के हड़ताल आन्दोलन के बढ़ने का असर रूस के ग्रामीण क्षेत्रों पर भी होना 1915 से ही शुरू हो चुका था। 1914 के पहले भी किसानों के बीच असन्तोष जब-तब फूटने लगा था। लेकिन 1915 और 1916 में ये छोटे-मोटे अव्यवस्थित किसान उपद्रव बड़े पैमाने के किसान विद्रोहों में तब्दील होने लगे। 1915 में 117 किसान बग़ावतें रूस के अलग-अलग हिस्सों में हुई और 1916 में यह संख्या बढ़कर 294 हो गयी। रूस में मेहनतकश जनता के आन्दोलन विभिन्न बिखरे किसान विद्रोहों और सर्वहारा वर्ग द्वारा चलाये जा रहे हड़ताल आन्दोलन (जो समय के साथ अधिक से अधिक राजनीतिक और संगठित होता जा रहा था) 1916 के अन्त तक अपने चरम पर पहुँच चुके थे।

इसी दौरान सैनिकों के भीतर भी विद्रोह बढ़ रहा था। तमाम हिस्सों में नौसेना और फौज में बग़ावतें हो रही थीं। सेना का बड़ा हिस्सा अब युद्ध के ख़िलाफ़ खड़ा था और जनान्दोलनों से जुड़ रहा था। इस पूरे आन्दोलन में सर्वहारा वर्ग अग्रणी स्थिति में था। अक्टूबर 1916 में बोल्शेविकों के नेतृत्व में हड़ताल आन्दोलन की तीन बड़ी लहरें उठीं। जल्द ही इन हड़तालों में मज़दूरों की संख्या बढ़ कर ढाई लाख तक पहुँच गयी। यह हड़ताल ही आने वाले समय में फरवरी की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में तब्दील होने वाली थीं। पेत्रोग्राद के मज़दूर वर्ग का आन्दोलन पूरे रूस के मेहनतकशों के लिए अनुसरण करने

के लिए एक उदाहरण में तब्दील हो रहा था। इस दौरान रूस में आर्थिक विघटन और अव्यवस्था अपने चरम पर थी। शहरों में भोजन का अभाव इस हद तक पहुँच रहा था कि उसे अकाल का नाम दिया जा सकता था। पेत्रोग्राद में भोजन के लिए लम्बी कतारें लगी हुई थीं। अलग-अलग हड़तालें जल्द ही आपस में जुड़ने लगीं और मज़दूर वर्ग के बीच आम हड़ताल का नारा धीरे-धीरे जड़ पकड़ने लगा। जनवरी-फरवरी 1917 में हड़तालियों की संख्या सात लाख के करीब पहुँच रही थी। यह हड़ताल सेना में मौजूद असन्तोष और गाँवों में चल रहे किसान विद्रोहों के साथ जनवरी के अन्त तक मज़बूती से जुड़ने लगी और इसी ने फरवरी में रूस में क्रान्तिकारी परिस्थिति को जन्म दिया। मज़दूर आन्दोलन में बोल्शेविक पार्टी निर्विवाद नेतृत्व के रूप में उभर चुकी थी। लेकिन दो प्रमुख कारणों से फरवरी क्रान्ति सर्वहारा वर्ग और किसान वर्ग के हाथों में सत्ता नहीं पहुँचा सकी। पहला कारण यह था कि बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के अधिकांश सदस्य जेल में थे, लेनिन अभी भी निर्वासन में और पार्टी के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक रूप से सचेत मज़दूरों में से तमाम मज़दूर मोर्चे पर थे या फिर जेल में। यही कारण था कि बोल्शेविक पार्टी मज़दूर वर्ग के निर्विवाद नेतृत्व में होने के बावजूद पूरी क्रान्ति को नेतृत्व देते हुए उसे मज़दूर वर्ग और किसानों की जनवादी तानाशाही के मुकाम तक नहीं पहुँचा सकी। दूसरा कारण यह था कि किसानों और रूस की विशाल टुटपुँजिया आबादी में बोल्शेविक पार्टी का प्रभाव तो दूर उपस्थिति भी नाममात्र की थी। इनमें मुख्य रूप से समाजवादी-क्रान्तिकारी और मेंशेविकों का प्रभाव था। नतीजतन, जैसे ही मज़दूर वर्ग के जुझारू आन्दोलन के साथ इन वर्गों के आन्दोलन जुड़े और जनवादी क्रान्ति की परिस्थिति जनवादी क्रान्ति में तब्दील होने की मंज़िल में आयी तो बोल्शेविक इस सम्पूर्ण उभार को बिना किसी चुनौती के नेतृत्व देने की स्थिति में नहीं थे। नतीजतन, फरवरी 1917 में जो क्रान्ति शुरू हुई वह धीरे-धीरे मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के वर्चस्व के तहत आ गयी। बोल्शेविकों का प्रस्ताव मज़दूरों व सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियत को आरज़ी सरकार घोषित करने और इन्हें देश का संविधान बनाने की ज़िम्मेदारी देने का था। यही रास्ता मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही को स्थापित कर सकता था। लेकिन किसानों और टुटपुँजिया आबादी के बीच प्रभाव के बूते और मज़दूर वर्ग के भी एक हिस्से पर प्रभाव के बूते मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों से समझौता करके दूमा समिति को आरज़ी सरकार बनाने का कार्यभार सौंपने के प्रस्ताव को लागू करवाया। हालाँकि, क्रान्तिकारी जनसमुदायों के दबाव में समझौतापरस्त बुर्जुआज़ी द्वारा राजतन्त्र की पुनर्स्थापना या उसके साथ समझौते की कोशिशें नाकाम हो गयीं, आरज़ी सरकार को तमाम नागरिक व जनवादी स्वतन्त्रताएँ देनी पड़ीं, बोल्शेविकों को जेल से मुक्त करना पड़ा और मज़दूरों से वे शस्त्र भी नहीं रखवा पाये। मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के समझौतापरस्त रुख़ के कारण सर्वहारा वर्ग और किसान वर्ग ने स्वेच्छा से सत्ता बुर्जुआ वर्ग के हाथों सौंप दी। लेकिन फरवरी क्रान्ति ने जिस बुर्जुआ वर्ग को सत्ता में बिठाया था वह न तो युद्ध से मुक्ति दिला सकता था, न रैडिकल भूमि सुधार लागू कर सकता था और न ही देश को भुखमरी से मुक्त करा सकता था। वास्तव में, नयी सरकार सबसे बुनियादी जनवादी अधिकारों के मुद्दे पर चुप थी जैसे कि आठ घण्टे का कार्यदिवस, भूमि की ज़ब्ती और राष्ट्रीयकरण। इन सभी को आरज़ी सरकार ने संविधान सभा बुलाये जाने तक स्थगित कर दिया था। साथ

ही यदि सोवियत सत्ता एकमात्र सत्ता के तौर पर नहीं उभरी तो वह 1905 की तरह ख़त्म भी नहीं हुई। मज़दूर हथियारबन्द थे, सैनिक सोवियतों के पक्ष में थे, राजनीतिक कैदी कैद और निर्वासन से मुक्त हो चुके थे, राज्यसत्ता का पुलिस तन्त्र लगभग तबाह हो चुका था, और नयी बुर्जुआ सरकार के पास सोवियत सत्ता को कुचलने का कोई शक्तिशाली उपकरण नहीं बचा था। फरवरी के बाद "दोहरी सत्ता" की जो स्थिति पैदा हुई उस स्थिति का द्वन्द्व ही अन्ततः अक्टूबर क्रान्ति तक जाना था। बोल्शेविकों के नेतृत्व में जनता ने बहुत कुछ हासिल किया, हालाँकि जनता की सोवियत सत्ता अकेली और निर्विवाद सत्ता के रूप में रूस में अभी स्थापित नहीं हो पायी।

ई.एच.कार ने फरवरी क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया को मुख्य रूप से स्वतःस्फूर्त करार दिया है जिसमें युद्ध, भुखमरी और भूमि असमानता से त्रस्त रूसी मज़दूरों, सैनिकों और किसानों ने ज़ार की सत्ता को उखाड़ फेंका था। लेकिन यह दृष्टिकोण पूरी तरह से सन्तुलित नहीं है क्योंकि पेत्रोग्राद और मॉस्को जैसे प्रमुख शहरी और औद्योगिक केन्द्रों में सर्वहारा वर्ग के हड़ताल आन्दोलन की बात करें, तो इसमें बोल्शेविक स्पष्ट रूप से मौजूद थे और उसे नेतृत्व दे रहे थे। यह एक दीगर बात है कि केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो (जिसके सदस्य कुछ तुलनात्मक रूप से कम तजुरबे वाले श्ल्याप्निकोव, मोलोतोव और ज़ालुत्स्की थे) अभी केन्द्रीय कमेटी से जीवन्त सम्पर्क कायम नहीं कर पाये थे। साथ ही अन्य अधिक अनुभवी बोल्शेविक नेता भी फरवरी क्रान्ति से पहले साईबेरिया में निर्वासन पर थे और उनसे सम्पर्क स्थापित करना भी मुश्किल था। ऐसे में एक अनुभवहीन और अपेक्षाकृत युवा नेतृत्व ने पीटर्सबर्ग और मॉस्को में बोल्शेविकों की गतिविधियों को काबिले-तारीफ़ ढंग से नेतृत्व दिया था और मज़दूरों के वर्ग सचेत और राजनीतिक हिस्से पर अपने वर्चस्व को निर्विवाद रूप से स्थापित किया था। फरवरी क्रान्ति की समय-सीमा निर्धारित करना तो किसी भी राजनीतिक शक्ति के बूते की बात नहीं थी, लेकिन 1916 के अन्त में ही लेनिन ने रूस में पैदा होती क्रान्तिकारी परिस्थिति की बात की थी और साथ ही हड़ताल आन्दोलन को आगे बढ़ाने, ग्रामीण आबादी के बीच राजनीतिक कार्य और सेना को क्रान्ति के पक्ष में खड़ा करने को सामाजिक-जनवादियों के समक्ष सबसे प्रमुख कार्य बताया था। निश्चित रूप से, जिस गति से और जिस स्वतःस्फूर्तता से फरवरी क्रान्ति सम्पन्न हुई, उसने सभी राजनीतिक शक्तियों को एक हद तक चकित कर दिया था। लेकिन जिस दीर्घकालिक प्रक्रिया का चरम-बिन्दु फरवरी क्रान्ति थी, उस पूरी प्रक्रिया में बोल्शेविक राजनीतिक प्रचार कार्य और संगठन का केन्द्रीय महत्व था, ख़ास तौर पर मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में। इसलिए **ई.एच. कार** का दृष्टिकोण कि फरवरी क्रान्ति पूर्णतः स्वतःस्फूर्त थी जिसने सभी राजनीतिक शक्तियों के मूल्यांकनों को ध्वस्त कर दिया, थोड़ा अतिरेकपूर्ण है। इस विषय में चार्ल्स बेतेलहाइम के पूरे दृष्किोण की आलोचना हम इस अध्याय के परिशिष्ट में रखेंगे।

फरवरी से लेकर अक्टूबर तक का इतिहास बेहद दिलचस्प है और क्रान्ति की गतिकी और उसमें हिरावल की भूमिका को समझने के लिए बेहद महत्वपूर्ण है। लेकिन हम फरवरी से अक्टूबर तक के इतिहास पर अगले अध्याय में आयेंगे। फिलहाल, हम 1890 के दशक से 1917 तक रूस में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन और पार्टी के विकास पर चर्चा करेंगे और इस पूरे दौर में दो लाइनों के उस संघर्ष का आलोचनात्मक विवेचन करेंगे जो अक्टूबर क्रान्ति के बाद भी बोल्शेविक पार्टी की कार्यदिशा को काफ़ी हद तक निर्धारित करने वाले थे।

समाजवादी संक्रमण के दौर में बोल्शेविक पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका की सफलताओं और असफलताओं को समझने के लिए रूस के सामाजिक जनवादी आन्दोलन में राजनीतिक रुझानों और कार्यदिशाओं के संघर्ष को 1890 के दशक से ही समझना होगा।

3. रूस में क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन और उसके भीतर दो कार्यदिशाओं के संघर्ष का इतिहास

1890 के दशक से फरवरी क्रान्ति तक रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकास कई महत्वपूर्ण चरणों से होकर गुज़रा और उसे बारीकी से समझना पूरे सोवियत समाजवाद के प्रयोग के दौरान बोल्शेविक पार्टी के राजनीतिक और विचारधारात्मक व्यवहार को समझने के लिए ज़रूरी है।

रूस में मार्क्सवाद का विकास विजातीय राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रवृत्तियों से संघर्ष की प्रक्रिया में हुआ। हम ऊपर 1860 से लेकर फरवरी 1917 तक रूस में हुए सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का संक्षेप में ज़िक्र कर चुके हैं। इन सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप हम रूस में किसानों के विद्रोहों और मज़दूरों के आन्दोलन के शुरुआत का भी ज़िक्र कर चुके हैं। इन आन्दोलनों में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की शिरकत 1870 के दशक से बढ़ने लगी थी। पहले भी आधुनिकता और पश्चिमी प्रगति के समर्थक कुछ बुद्धिजीवी तत्व रूसी राज्यसत्ता की नौकरशाही में और ख़ास तौर पर पेशेवर मध्यवर्ग के बीच मौजूद थे, जैसे कि वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, शोधकर्ता, साहित्यकार आदि। लेकिन जनान्दोलनों में बौद्धिक वर्ग की शिरकत बड़े पैमाने पर उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में ही शुरू हुई। **पहले-पहल प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की भागीदारी मज़दूर आन्दोलनों में नहीं हुई, बल्कि किसान विद्रोहों में हुई।** मज़दूर आन्दोलन में सामाजिक जनवाद को ले जाने का काम करने वाले राजनीतिक कार्यकर्ताओं की दख़ल का 1890 के दशक से पहले हमें कोई विचारणीय उदाहरण नहीं मिलता है। आगे हम रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए इस विषय पर इतिहास-लेखन की प्रमुख रुझानों का एक आलोचनात्मक मूल्यांकन भी रखेंगे, विशेष तौर पर, **ई.एच.कार, चार्ल्स बेतेलहाइम** और **मॉरिस डॉब** के लेखन का।

क) रूस में सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के विकास का प्राक्-इतिहास: नरोदवाद से संघर्ष की प्रक्रिया में रूस में क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी चिन्तन और आन्दोलन का आरम्भिक विकास

रूस में पीटर महान के काल में पश्चिमीकरण की मुहिम शुरू होने के बाद से ही बौद्धिक और राजनीतिक हलकों में एक बहस जारी थी। यह बहस उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इस सवाल पर हो रही थी कि रूस आगे पश्चिमी यूरोप के विकास के रास्ते को अपनायेगा या फिर उसके विकास का रास्ता पश्चिम से अलग स्लाव देशों की एक अलग और विशिष्ट संस्कृति पर आधारित होगा। जो पश्चिम के विकास के रास्ते की हिमायत कर रहे थे और कह रहे थे कि रूस को भी ब्रिटेन और फ्रांस के समान औद्योगिक पूँजीवादी विकास का रास्ता

अपनाना चाहिए और यही रूस को आने वाले समय उसकी सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से निजात दिलायेगा, उस धड़े को **'वेस्टर्नर्स'** कहा गया। दूसरा धड़ा यह मानता था कि समूचे स्लाव जगत में ज़मीन को जोतने वाले को ही उसका स्वामी मानने की एक अन्तर्जात संस्कृति है। यहाँ पर एक समानतामूलक ग्राम समुदाय है जो यह सुनिश्चित करता है ज़मीन कुछ हाथों में संकेन्द्रित नहीं होती है और इसका बँटवारा समानतापूर्ण होता है। इस धड़े का मानना था कि रूस में यूरोपीय किस्म का सामन्तवाद है ही नहीं जिसका मुख्य कारण वे रूसी ग्राम समुदाय मीर की उपस्थिति को बताते थे। इस धड़े का यक़ीन था कि एक बार सामन्ती भूस्वामियों और राजतन्त्रवादी कुलीन वर्ग का प्रभुत्व समाप्त हो जाये तो अपने समतामूलक ग्राम समुदाय के बूते रूस औद्योगिक पूँजीवाद की कुरूपताओं से बच सकता है और सीधे छलाँग लगाकर एक कृषक साम्यवाद में प्रवेश कर सकता है। इस स्लावप्रेमी धड़े ने आगे चलकर अपने आपको *नरोद्निकी* कहा। एक नरोदवादी लेखक **स्तेपनियाक** ने कहा था कि रूसी ग्राम समुदाय ने इस विचार को जीवित रखा है कि ज़मीन उसी की होती है जो उसे जोतता-बोता है और यह विचार एक **"विशिष्ट रूप से रूसी विचार है...जो कि समूचे स्लाव जगत में गहराई से जड़ जमाये हुए है।"** (मॉरिस डॉब, *सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917,* 1972, रूटलेज एण्ड कीगनपॉल, लन्दन, में उद्धृत, पृ. 61, *अनुवाद हमारा*) यह नरोद्निकी नाम उन्नीसवीं सदी की एक बौद्धिक राजनीतिक धारा से निकला था जो अपने आपको **वी नरोद** कहती थी। यह युवा मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का एक रोमाण्टिक किस्म का आन्दोलन था जो मानता था कि बुद्धिजीवियों को किसान वर्ग के बीच जाना चाहिए, उसे जागृत करना चाहिए, उससे सीखना चाहिए और उसे पुरानी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए जगाना चाहिए। इस आन्दोलन का किसानों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हो पाया था। किसान उन्हें भला मानते थे, लेकिन साथ ही उन्हें शहर से आने वाले अव्यावहारिक बुद्धिजीवी मानते थे। वे अक्सर किसानों के बीच मज़ाक का विषय होते थे और कई बार किसान उन्हें तंग करने वाली तमाम गतिविधियाँ भी किया करते थे। जल्द ही इस धारा को ज़ार की पुलिस ने कुचल दिया। 1876 में नये सिरे से ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाने वाला एक नया राजनीतिक समूह बना जिसका नाम था **ज़ेम्ल्या ई वोल्या** जिसका अर्थ था **'भूमि और स्वतन्त्रता'**। इस समूह ने समानतामूलक भूमि पुनर्वितरण की ठोस माँग रखी और इसके पक्ष में किसानों के बीच प्रचार किया। यह समूह जल्द ही दो धड़ों में विभाजित हो गया। एक समूह था **चोर्नी पेरेदेल** जो कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शान्तिपूर्ण और संवैधानिक रास्ते की वकालत करता था, और दूसरा समूह था **नरोद्नाया वोल्या** जो कि आतंकवादी गतिविधियों जैसे कि राजतन्त्रवादियों, मन्त्रियों और पुलिस अधिकारियों आदि की हत्या में यक़ीन रखता था। **ग्यॉर्गी प्लेखानोव** *चोर्नी पेरेदेल* से जुड़े हुए थे। लेकिन वह व्यक्तिगत आतंकवाद के मुद्दे पर 1870 के दशक के अन्त में *चोर्नी पेरेदेल* से अलग हो गये। प्लेखानोव विदेश चले गये और 1883 में उन्होंने स्विट्ज़रलैण्ड में वेरा ज़ासुलिच व एक्सेलरोद के साथ मिलकर **'दि लिबरेशन ऑफ़ लेबर'** (कई स्थानों पर इसका अनुवाद 'दि इमैंसिपेशन ऑफ लेबर' भी किया गया है, इससे भ्रम पैदा न हो इसके लिए दोनों अंग्रेज़ी अनुवादों से परिचित होना आवश्यक है) नामक एक ग्रुप बनाया जिसका मक़सद था मार्क्सवाद का अध्ययन और उसका रूस में प्रचार-प्रसार। **'पूँजी'** का पहला रूसी संस्करण 1872 में प्रकाशित हुआ और जल्द ही यह रूसी बौद्धिक दायरों में काफ़ी प्रभावी हो गया। **प्लेखानोव द्वारा इस समूह के निर्माण के साथ नरोदवादी धारा के साथ मार्क्सवाद**

का संघर्ष शुरू हुआ और यह इस मायने में एक अहम मील का पत्थर था।

जब **लेनिन** राजनीतिक दृश्यपटल पर आते हैं, उस समय तक प्लेखानोव नरोदवाद के विरुद्ध अपने राजनीतिक संघर्ष को आगे ले जा चुके थे। लेकिन नरोदवाद की निर्णायक विचारधारात्मक पराजय लेनिन के आने के साथ हुई। नरोदवाद के ही उत्तराधिकारी के रूप में **समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी** 1902 में रूस में बनी थी। यह मार्क्सवाद से कई जुमलों को और अवधारणाओं को उधार लेती थी और यह मानने को तैयार थी कि किसानों के साथ सर्वहारा वर्ग भी क्रान्ति में मुख्य भूमिका में रहेगा। लेकिन उनका भूमि के "समाजीकरण" का कार्यक्रम वास्तव में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के एक रैडिकल संस्करण से आगे नहीं जाता था। दरअसल, "समाजीकरण" शब्द का उपयोग वे बेजा ही कर रहे थे; उनका कार्यक्रम वास्तव में भूमि के समान पुनर्वितरण का कार्यक्रम का था, जिसे वे समाजीकरण का नाम दे रहे थे। बहरहाल, प्लेखानोव के ग्रुप ने 1883 के बाद आने वाले करीब डेढ़ दशक तक नरोदवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष जारी रखा। प्लेखानोव ने अपनी आलोचना में स्पष्ट किया कि औद्योगिक पूँजीवाद की मंज़िल को लाँघा नहीं जा सकता है और ज़ारशाही और कुलीन वर्ग के शासन की जगह ग्राम समुदायों की व्यवस्था को नहीं लाया जा सकता है। रूस में क्रान्ति औद्योगिक पूँजीवाद की स्थापना के बाद और सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रान्तिकारी आन्दोलन के ज़रिये ही हो सकती है। 1880 और 1890 के दशक में रूस में तेज़ी से होने वाले औद्योगिक विकास और औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के द्रुत विकास ने एक प्रकार से प्लेखानोव के दृष्टिकोण की पुष्टि की। लेकिन किसानों को प्लेखानोव भी उस समय किसी सम्भावना-सम्पन्न क्रान्तिकारी वर्ग और सर्वहारा वर्ग के सक्रिय भावी मित्र के तौर पर नहीं देख रहे थे। उस समय तक की उनकी सोच यही थी कि उदीयमान रूस में दो वर्ग क्रान्तिकारी सम्भावना रखते हैं: प्रगतिशील बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग। बाद में, लेनिन ने वर्ग संश्रय की इस अवधारणा पर प्रश्न खड़ा किया और रूस और रूस जैसे अन्य पिछड़े पूँजीवादी देशों की ठोस परिस्थितियों के मूल्यांकन के आधार पर जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में किसान आबादी को प्रमुख वर्ग मित्र के रूप में चिन्हित किया। लेकिन इस चर्चा पर हम आगे आयेंगे।

लेनिन के रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में प्रवेश की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। **यहाँ लेनिन का नया जीवन वृत्त लिखना हमारा लक्ष्य नहीं है, बल्कि उस प्रक्रिया को समझना हमारा मकसद है जिसने लेनिन के उत्तरवर्ती राजनीतिक चिन्तन की एक मज़बूत बुनियाद तैयार की।** सही मायनों में जीवन-पर्यन्त लेनिन का राजनीतिक चिन्तन इसी बुनियाद पर निर्मित होता रहा। 1890 के दशक के मध्य में लेनिन का राजनीतिक दृश्यपटल पर प्रवेश होता है। लेनिन अपने बड़े भाई की पुस्तकों को पढ़कर मार्क्सवाद के सम्पर्क में आते हैं, जो कि *नरोद्नाया वोल्या* से जुड़े हुए थे। उन्हें अलेक्ज़ैण्डर द्वितीय की हत्या के षड्यन्त्र से जुड़े होने के कारण ज़ारशाही ने मृत्युदण्ड दिया था। लेनिन तब एक स्कूली बालक थे और उनकी बहन ने अपने संस्मरण में लिखा था कि अपने भाई की फाँसी की ख़बर सुनकर लेनिन बुदबुदाये थे, **"हमें उस रास्ते पर नहीं जाना चाहिए, हमें उस रास्ते पर जाने की कोई ज़रूरत नहीं है।"** मार्क्सवादी विचारों से परिचय के बाद लेनिन कज़ान में उच्च शिक्षा के लिए गये जहाँ से उन्हें राजनीतिक गतिविधियों में संलग्नता के कारण निकाल दिया गया। अपनी उच्च शिक्षा पूरी करने के लिए वह राजधानी पीटर्सबर्ग गये और कानून की डिग्री हासिल की। लेकिन पीटर्सबर्ग में उन्होंने अपनी राजनीतिक गतिविधियों की बाक़ायदा

शुरुआत की और पीटर्सबर्ग के मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी प्रचार शुरू किया। यहीं पर उन्होंने अपने राजनीतिक लेखन की भी शुरुआत की। उनका शुरुआती लेखन नरोदवाद के प्लेखानोव द्वारा खण्डन का ही विस्तार था। इस समय तक लेनिन वैचारिक तौर पर प्लेखानोव के शिष्य बन चुके थे। इस समय वे युवा मार्क्सवादियों के बीच प्लेखानोव की उस समय की एक प्रसिद्ध रचना **'ऑन दि क्वेश्चन ऑफ डेवेलपमेण्ट ऑफ मोनिस्ट व्यू ऑफ हिस्ट्री'** का सरलीकरण और व्याख्या कर रहे थे। इसी बीच वह एक अग्रणी नरोदवादी **वोरोन्तसोव** के साथ बहस में उलझे और उन्होंने नरोदवादी विचारों का खण्डन करते हुए अपनी पहली अहम राजनीतिक रचना का लेखन किया जो कि **"व्हाट दि 'फ्रेण्ड्स ऑफ दि पीपुल' आर एण्ड हाउ दे फाइट दि सोशल-डेमोक्रैट्स"** नाम से प्रकाशित हुई। इस रचना की तैयारी लेनिन ने **समारा मार्क्सवादी अध्ययन चक्र** में 1892-93 में कर दी थी। वास्तव में, यह उसी अध्ययन चक्र में लेनिन द्वारा नरोदवादी विचारों पर दिये गये व्याख्यानों को समेटती थी। क्रुप्सकाया उस अध्ययन चक्र की एक सदस्य थीं और उन्होंने **'रेमिनिसेंसेज़ ऑफ़ लेनिन'** में लिखा है कि इस रचना के पहले संस्करण का अध्ययन चक्र के भीतर वितरण हुआ और बाद में यह रूस के विभिन्न मार्क्सवादी समूहों में प्रसारित हुई। क्रुप्सकाया बताती हैं कि इसका रूस के मार्क्सवादी दायरों पर गहरा असर पड़ा था, **"मुझे याद है कि इसने हमें कैसे रोमांचित कर दिया था। संघर्ष के लक्ष्यों को इस पुस्तिका में प्रशंसनीय स्पष्टता के साथ रखा गया था। इसकी हेक्टोग्राफ की गयी प्रतिलिपियाँ बाद में "दि येलो कॉपी बुक्स" के नाम से प्रसारित हुई थीं। उन पर अभी लेखक का नाम नहीं था। इन्हें काफ़ी व्यापक तौर पर पढ़ा गया और निस्सन्देह रूप से इसका उस समय के मार्क्सवादी युवा वर्ग पर गहरा असर पड़ा था।"** (नदेज़्दा क्रुप्सकाया, *रेमिनिसेंसेज़ ऑफ़ लेनिन,* मॉस्को, 1959, पृ. 15, *अनुवाद हमारा*) **ई.एच.कार** ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि इस रचना में लेनिन ने केवल प्लेखानोव द्वारा की गयी नरोदवादियों की आलोचना को आगे बढ़ाने का काम नहीं किया, बल्कि ***"नरोदवादियों* के विरुद्ध लेनिन की शुरुआती रचनाओं ने प्लेखानोव के तर्कों को मुकाम तक पहुँचाने से कुछ ज़्यादा काम किया। इनमें से बिल्कुल पहले ही लेखन में उन्होंने युवत्वपूर्ण ज़ोर के साथ सर्वहारा वर्ग में अपनी क्रान्तिकारी आस्था की घोषणा की..."** (ई.एच. कार, *दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन,* खण्ड-1, नॉर्टन, न्यूयॉर्क, पृ. 8, *अनुवाद हमारा*) आगे ई.एच.कार लेनिन का एक उद्धरण देते हैं जो शुरू से ही जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी सर्वहारा वर्ग की अगुवा भूमिका पर लेनिन के ज़ोर को स्पष्ट करता है। यह उद्धरण आगे हमने प्रस्तुत किया है। वास्तव में लेनिन का यह नज़रिया ही था जो उस समय सामाजिक-जनवादियों के बीच मौजूद दो अन्य रुझानों से, यानी कि **अर्थवादियों** और **"कानूनी" मार्क्सवादियों** से लेनिन को अलग करता था। इन रुझानों पर हम आगे चर्चा करेंगे और यह भी देखेंगे कि आज के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और संशोधनवादियों में इन विचार सरणियों से क्या साझा है। लेकिन पहले लेनिन के इस महत्वपूर्ण उद्धरण पर ग़ौर करें:

"यह औद्योगिक मज़दूर वर्ग है जिस पर सामाजिक-जनवादी अपना ध्यान और गतिविधि केन्द्रित करते हैं। जब उस वर्ग के उन्नत सदस्य वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों और इतिहास में रूसी मज़दूर की भूमिका के विचार को आत्मसात कर लेंगे, जब उनके विचार व्यापक तौर पर फैल जाएँगे और मज़दूरों ने स्थिर संगठन बना लिये होंगे जो कि आज के विभाजित आर्थिक युद्ध को एक सचेत वर्ग संघर्ष में तब्दील करेंगे–तब

रूसी *मज़दूर* सभी जनवादी तत्वों के नेतृत्व में आते हुए, निरंकुश तन्त्र को उखाड़ फेंकेगा और (सभी देशों के सर्वहारा वर्ग के साथ) रूसी सर्वहारा वर्ग को *विजयी कम्युनिस्ट क्रान्ति* की ओर खुले राजनीतिक संघर्ष के सीधे रास्ते पर ले जायेगा।" (वी.आई. लेनिन, **"व्हाट दि फ्रेण्ड्स ऑफ पीपुल आर एण्ड हाउ दे फाइट दि सोशल-डेमोक्रैट्स"**, *कलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड-1, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, चौथा संस्करण, 1977, पृ. 300, *अनुवाद हमारा*)

यह रचना नरोदवादी दृष्टिकोण पर तीखा हमला थी। इसमें लेनिन ने नरोदवाद को एक प्रतिक्रियावादी रुझान बताया था जो कि अतीतग्रस्त था, प्रगति-विरोधी था और अपने तमाम क्रान्तिकारी जुमलों के बावजूद यथास्थितिवादी था। लेनिन को 1897 में साईबेरिया निर्वासित कर दिया गया। यहाँ पर उन्होंने नरोदवादी विचारों का और अधिक विस्तार से खण्डन करने वाली और रूस में पूँजीवाद के विकास को औद्योगिक क्षेत्र से लेकर कृषि के क्षेत्र तक में प्रमाण सहित प्रदर्शित करने वाली वृहत् रचना **'रूस में पूँजीवाद का विकास'** को पूरा किया। सबसे पहले लेनिन ने इसमें नरोदवादियों के इस विचार का खण्डन किया कि पूँजीवाद रूस में एक कृत्रिम और ऊपर से थोपी गयी परिघटना है और इसके विकास के पीछे मूलत: और मुख्यत: विदेशी पूँजी और विदेशी बाज़ार का हाथ है। लेनिन ने दिखाया कि विदेशी पूँजी और विदेशी बाज़ार केवल सहायक कारक हैं और रूस में पूँजीवाद आन्तरिक अन्तरविरोधों के परिणामस्वरूप विकसित हो रहा है। **'रूस में पूँजीवाद का विकास' आज भी उत्पादन सम्बन्धों के विश्लेषण की पहुँच और पद्धति की सही मार्क्सवादी समझदारी का एक प्रातिनिधिक उदाहरण है।** इस रचना का बड़ा हिस्सा लेनिन ने कृषि में होने वाले पूँजीवादी विकास को समर्पित किया। लेनिन का मूल तर्क इस रचना में यह था कि रूस में पूँजीवाद का ऐतिहासिक मिशन है सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्तियों का विकास और रूस में छोटे पैमाने के उत्पादन का ध्वंस कर बड़े पैमाने के उत्पादन को स्थापित करना और उत्पादन और श्रम का समाजीकरण करना। पूँजीवाद रूस में प्राक्-पूँजीवादी व्यवस्था में मौजूद निजी, व्यक्तिगत निर्भरताओं को ख़त्म करेगा जो कि वास्तव में शोषण और उत्पीड़न में सहायता करती हैं, उत्पादक की स्थिति को अधिक से अधिक नीचे गिराती जाती हैं और प्राच्य निरंकुशता के अनगिनत रूपों को जन्म देती हैं। यहाँ लेनिन का इशारा नरोदवादियों के प्रिय रूसी ग्राम समुदाय *मीर* की ओर था, जहाँ सामुदायिक खेती की आड़ में कुलकों और धनी किसानों का प्रभुत्व और खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों का शोषण और उत्पीड़न चलता था। लेनिन ने सप्रमाण प्रदर्शित किया कि गाँवों की करीब 20 प्रतिशत आबादी पहले ही आजीविका के लिए मुख्य रूप से उजरती श्रम पर निर्भर है और सर्वहारा या अर्द्धसर्वहारा में तब्दील हो चुकी है। दूसरे छोर पर पूँजीवादी कुलकों और धनी किसानों का वर्ग है जो कि बाज़ार सम्बन्धों में उतर चुका है और खेती में अधिक से अधिक पूँजीवादी तौर-तरीकों का इस्तेमाल कर रहा है। हालाँकि, पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों की तुलना में पूँजीवाद का विकास मद्धिम था, लेकिन फिर भी रूसी कृषि में मौजूद अर्द्धसामन्ती सम्बन्धों और सामुदायिक सम्बन्धों के अवशेष को किनारे लगाने के लिए यह रफ़्तार भी पर्याप्त थी। लेनिन ने लिखा कि नरोदवादियों की यह प्रतिक्रियावादी सोच कि इन अवशेषों को बचाया जाना चाहिए केवल **"अर्द्ध-भूदास, अर्द्ध-मुक्त श्रम की पुरानी भली व्यवस्था को ही आगे बढ़ायेगा–जो**

कि एक ऐसी व्यवस्था है जो शोषण और उत्पीड़न की हर भयावहता को अपने अन्दर समेटे हुए है, लेकिन उससे बच निकलने की कोई सम्भावना नहीं रखती।" (*वही*, पृ. 243, *अनुवाद हमारा*)

इस प्रकार लेनिन ने नरोदवाद की आलोचना को नयी वैचारिक ऊँचाइयों तक पहुँचाया और 19वीं सदी के अन्त तक लेनिन ने यह नतीजा निकाला कि रूसी क्रान्ति का अग्रणी वर्ग किसान वर्ग नहीं बल्कि सर्वहारा वर्ग होगा; नरोदवादियों की यह उम्मीद कि पूँजीवाद को आने से रोका जा सकता है और ग्राम समुदायों के बूते सीधे कृषि साम्यवाद जैसी किसी व्यवस्था में प्रवेश किया जा सकता है, न केवल अनैतिहासिक और अव्यावहारिक है बल्कि यह प्रतिक्रियावादी भी है जो व्यवहारतः यथास्थिति को मामूली परिवर्तनों के साथ बनाये रखने की बात करती है। **लेनिन ने स्पष्ट किया कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी सामाजिक-जनवादियों (यानी कम्युनिस्टों) को सर्वहारा वर्ग के स्वतन्त्र राजनीतिक संगठन और स्वतन्त्र संघर्षों को निर्मित करने पर बल देना चाहिए।** पूँजीवाद की ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील भूमिका की बात करते हुए लेनिन ने साफ़ शब्दों में कहा कि इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक गतिविधियाँ किसी भी रूप में रूस के बुर्जुआ वर्ग के लक्ष्यों के अनुसार संगठित की जानी चाहिए। लेनिन ने कहा कि सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने के लिए रूस के पूँजीपति वर्ग की पूँछ पकड़कर नहीं चलेगा, जैसा कि **"कानूनी" मार्क्सवादी पीटर स्त्रूवे** का मानना था। सर्वहारा वर्ग समाजवाद के लिए संघर्ष में जनवादी अधिकारों, भूमि सुधारों और नागरिक स्वतन्त्रता के संघर्ष को शामिल करेगा और हर ऐसे जनसंघर्ष में नेतृत्वकारी भूमिका अदा करेगा जो जनवादी क्रान्ति के इन कार्यभारों को पूरा करने के लिए लड़े जायेंगे। 1897 में लेनिन ने लिखा, **"हमारा काम प्राथमिकतः और मुख्यतः शहरी कारखाना मज़दूर पर केन्द्रित है। रूसी सामाजिक जनवादियों को अपनी शक्तियों का अपव्यय नहीं होने देना चाहिए... लेकिन इस बात को मानते हुए भी कि हमारे लिए कारखाना मज़दूरों पर केन्द्रित करना महत्वपूर्ण है और हमें अपनी शक्ति विसर्जित नहीं होने देनी चाहिए, हम एक क्षण के लिए भी यह सुझाव नहीं दे रहे हैं कि रूसी सामाजिक जनवादियों को सर्वहारा वर्ग और मज़दूर वर्ग के अन्य संस्तरों की उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसा कुछ भी नहीं है।"** (वी.आई. लेनिन, **"दि टास्क्स ऑफ रशियन सोशल-डेमोक्रैट्स"**, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-2*, पृ. 330, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद हमारा*)। इसी बीच, 1898 में रूस के विभिन्न सामाजिक-जनवादी समूहों ने मिलकर एक कांग्रेस की और रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी की स्थापना की। पार्टी गठन की चर्चा करते हुए हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे। बहरहाल, अपने राजनीतिक चिन्तन को पूर्ववत जारी रखते हुए 1899 में लेनिन ने लिखा, **"सर्वहारा वर्ग को अन्य वर्गों और पार्टियों को 'सजातीय प्रतिक्रियावादी समुदाय' (जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी के गोथा कार्यक्रम में उपयोग किया गया शब्द जिसकी मार्क्स ने आलोचना की थी) नहीं मानना चाहिएः इसके विपरीत, उसे समूचे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हिस्सा लेना चाहिए, प्रगतिशील वर्गों और पार्टियों का समर्थन करना चाहिए, मौजूद व्यवस्था के विरुद्ध हर क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करना चाहिए, हर दमित राष्ट्रीयता या नस्ल, हर सताये गये धर्म, वोट के अधिकार से वंचित हर लैंगिक समुदाय, आदि का समर्थन करना चाहिए।"** (वी.आई. लेनिन, **"ए प्रोटेस्ट बाई**

रशियन सोशल-डेमोक्रैट्स", *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-4*, पृ. 177, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद* हमारा) लेकिन लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि रूसी पूँजीपति वर्ग का चरित्र प्रगतिशील रैडिकल बुर्जुआ वर्ग जैसा होने की बजाय एक कमज़ोर बुर्जुआ वर्ग का है जो सामन्त वर्ग और ज़ारशाही के विरुद्ध चलायमान युद्ध छेड़ ही नहीं सकता (इसके कारणों की हम ऊपर चर्चा कर आये हैं कि रूसी बुर्जुआ वर्ग का ऐसा चरित्र क्यों था); उल्टे वह सर्वहारा वर्ग के संघर्षों के उठते ज्वार के समक्ष प्रतिक्रियावादी वर्गों की शरण में जायेगा और उनसे एकता बनायेगा। लेनिन के अनुसार रूस में सर्वहारा वर्ग पूरे किसान वर्ग के साथ मिलकर ज़ारशाही के विरुद्ध जनवादी क्रान्ति करेगा और मज़दूरों और किसानों के जनवादी अधिनायकत्व को स्थापित करेगा और ऐसा करके वह रुकेगा नहीं बल्कि 'सतत् क्रान्ति' (uninterrupted revolution) करते हुए आगे बढ़ेगा और ग़रीब किसानों, यानी कि अर्द्धसर्वहारा और ग्रामीण सर्वहारा वर्ग के साथ मिलकर समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ेगा। कई अध्येता लेनिन द्वारा 'सतत् क्रान्ति' के सिद्धान्त को त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' से गड्ड-मड्ड कर बैठे हैं, जैसे कि एक हद तक ई.एच.कार और इज़ाक डॉइशर और एक दूसरे अर्थ में चार्ल्स बेतेलहाइम भी। लेकिन इन दोनों के बीच ज़मीन-आसमान का फ़र्क है जिस पर हम इस अध्याय के आख़िरी खण्ड में त्रात्स्की के साथ लेनिन के विचारधारात्मक-राजनीतिक संघर्ष की चर्चा करते हुए करेंगे। साथ ही, कुछ अध्येता इस भ्रम का भी शिकार हैं कि 'सतत् क्रान्ति' के सिद्धान्त से लेनिन का यह अर्थ था कि क्रान्ति के जनवादी और समाजवादी चरणों के बीच कोई अन्तराल नहीं होगा और जनवादी क्रान्ति विकसित होकर अनिवार्यत: तत्काल ही समाजवादी क्रान्ति में रूपान्तरित हो जायेगी। लेकिन लेनिन के 'सतत् क्रान्ति' के सिद्धान्त का दोनों चरणों के बीच की कालावधि से भी कोई रिश्ता नहीं है। अध्याय के आख़िरी खण्ड में हम इस पर भी चर्चा करेंगे।

बहरहाल, 1905 की रूसी क्रान्ति ने लेनिन के इस पूरे विश्लेषण को सटीक तौर पर सही साबित किया। लेनिन ने रूस में दो चरणों में क्रान्ति के अपने पूरे सिद्धान्त को विस्तार से अपनी प्रसिद्ध रचना **'जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ'** में स्पष्ट रूप में रखा, जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे।

इस प्रकार रूस में मार्क्सवाद ने अपनी पहली विचारधारात्मक विजय हासिल की, जो कि नरोदवाद के ख़िलाफ़ थी। नरोद्निकी की धारा धीरे-धीरे विघटित होती गयी और 1902 में यह एक नये अवतार में सामने आयी जब रूस में समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की स्थापना हुई। इस पार्टी की स्थापना करने वाले प्रमुख लोगों में **विक्तोर चेर्नोव** और **प्योत्र लावरोव** थे (जो कि प्लेखानोव के गुरू रह चुके थे)। इस पार्टी की विचारधारा में नरोदवाद के साथ मार्क्सवाद की कुछ अवधारणाओं को मिश्रित करने का प्रयास किया गया। इस पार्टी ने शहरों के सर्वहारा वर्ग में भी काम करने का प्रयास शुरू किया लेकिन उनका ज़ोर किसानों के बीच ही था क्योंकि अभी भी वे रूस की क्रान्ति में किसानों की ही भूमिका को प्रधान मानते थे। उनका विश्वास बड़े पैमाने के उत्पादन में नहीं था और वैज्ञानिक समाजवाद के आर्थिक मॉडल से भी वे सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि छोटे पैमाने की आर्थिक इकाइयाँ ज़्यादा व्यावहारिक और प्रभावी होती हैं और रूस में जो कृषि कार्यक्रम या किसानों का माँगपत्रक उन्होंने पेश किया वह भी भूमि के "समाजीकरण" के नाम पर भूमि का रैडिकल बुर्जुआ राष्ट्रीयकरण और समानतामूलक पुनर्वितरण करने की ही बात करता था। इस

पार्टी का अक्टूबर क्रान्ति के समय भी किसानों के बीच सबसे ज़्यादा आधार था। किसानों की व्यापक आबादी के अक्टूबर क्रान्ति के बाद बोल्शेविकों के समाजवादी भूमि कार्यक्रम पर सहमत न होने का एक कारण उनके बीच इस पार्टी का लम्बा प्रचार कार्य और आधार भी था। लेकिन फिर भी रूस के पूरे क्रान्तिकारी आन्दोलन में बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग की भूमिका ही अग्रणी बनी और किसानों की भी व्यापक बहुसंख्या का नेतृत्व क्रान्ति के समय विचारधारात्मक तौर पर तो नहीं लेकिन राजनीतिक तौर पर बोल्शेविकों के हाथ ही आया, क्योंकि स्वयं समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी रूसी बुर्जुआ वर्ग का ढुलमुल चरित्र प्रदर्शित करते हुए अपने ही रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम पर अमल करने में टाल-मटोल कर रही थी और उनका एक हिस्सा भूस्वामियों को मुआवज़ा देने तक की बात कर रहा था और साथ ही वे किसानों को ज़मीन-दख़ल करने से मना कर रहे थे और संविधान सभा का इन्तज़ार करने को कह रहे थे। दूसरी ओर, बोल्शेविकों ने किसानों के रैडिकल ज़मीन दख़ल आन्दोलन का पूर्ण समर्थन किया क्योंकि वह बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के एक कार्यभार को पूरा करने की ओर निर्देशित था और जल्द ही राजनीतिक तौर पर किसान आबादी का समर्थन बोल्शेविकों को मिलने लगा था। नरोदवाद की टुटपुँजिया विचारधारा की निर्णायक पराजय विचारधारात्मक तौर पर 20वीं सदी के शुरू में ही हो चुकी थी और इसकी राजनीतिक पराजय होने में दो दशक का समय और लगा। **लेकिन यह भी सच है किसानों की व्यापक बहुसंख्या का विचारधारात्मक नेतृत्व क्रान्ति के बाद भी जल्दी बोल्शेविकों के हाथों में नहीं आया और उनके बीच समाजवादी-क्रान्तिकारियों के निम्न पूँजीवादी विचारों का प्रभाव बना रहा।** इस पर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे। फिलहाल, हम उस दूसरे प्रमुख संघर्ष पर आते हैं जिसके ज़रिये मार्क्सवाद ने रूस में अपने विचारधारात्मक और राजनीतिक वर्चस्व को स्थापित किया।

ख) रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में दो कार्यदिशाओं के संघर्ष की शुरुआत: "कानूनी" मार्क्सवादियों और अर्थवाद से संघर्ष और अराजकतावाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के अंकुरण

हम ऊपर **"कानूनी" मार्क्सवादियों** का ज़िक्र कर चुके हैं। "कानूनी" मार्क्सवादी 1890 के दशक में अस्तित्व में आया एक बुद्धिजीवियों का समूह था जो कि किताबों और लेखों के ज़रिये मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहा था। इनका लेखन इस तरह से संरचनाबद्ध था कि ज़ारशाही की सेंसरशिप से बच सके। मार्क्सवाद का प्रचार 1890 के दशक में रूसी बुद्धिजीवियों के बीच तेज़ी से हुआ था और इसका कारण यह था कि इसी दशक में रूस में उद्योगों और सर्वहारा वर्ग का द्रुत विकास हुआ था। **ई.एच.कार** इस कारक को स्वीकार करते हैं लेकिन साथ में यह भी जोड़ देते हैं कि **चूँकि रूस में इस समय कोई उदार बुर्जुआ विचारधारा भी मौजूद नहीं थी इसलिए भी मार्क्सवाद का प्रचार-प्रसार इस दौर में तेज़ी से हुआ!** कार का निहितार्थ यह है कि यदि कोई उदारवादी बुर्जुआ विचारधारा पश्चिमी यूरोप के समान रूस में भी मौजूद होती तो रूस में मार्क्सवाद का इस गति से विकास नहीं हुआ होता! दूसरे शब्दों में, कार के अनुसार, किसी भी राजनीतिक चुनौती के अभाव में रूस में मार्क्सवादी आन्दोलन का विकास हुआ! यह दृष्टिकोण तथ्यों से पुष्ट नहीं होता है। पहली बात

यह कि 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध से ही रूस में पश्चिमी तार्किकता और उदार व आधुनिक बुर्जुआ जनवादी विचारों का प्रचार-प्रसार शुरू हो गया था। वास्तव में, **हर्ज़ेन, बेलिंस्की, चेर्नीशेव्स्की** और **दोब्रोल्यूबोव** जनपक्षधर रैडिकल बुर्जुआ विचारक ही थे और उस समय इनका रूस के बौद्धिक दायरों पर अच्छा-ख़ासा प्रभाव था। रूस में 19वीं सदी के अन्त में मार्क्सवाद के तेज़ प्रचार-प्रसार का कारण रूस में मार्क्सवाद का प्रवर्तन करने वाली नेतृत्वकारी शक्तियों की विचारधारात्मक और राजनीतिक समझ और साथ ही सर्वहारा वर्ग से उनका जीवन्त जुड़ाव भी था। **मार्क्सवाद के द्रुत गति से रूस में पाँव जमाने का कारण किसी बाह्य कारक की मौजूदगी या ग़ैर-मौजूदगी नहीं थी बल्कि रूस में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के अपने आन्तरिक अन्तरविरोध थे।** यहाँ एक बार फिर ई.एच.कार की अनुभववादी पहुँच उजागर होती है। ई.एच. कार इस बात को समझने में बिल्कुल नाकाम रहते हैं कि वास्तव में "कानूनी" मार्क्सवाद स्वयं एक उदार बुर्जुआ विचारधारा ही था जो मार्क्सवाद के भेस में उस दौर में पैदा हुआ था।

बहरहाल, "कानूनी" मार्क्सवाद की धारा रूसी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के एक हिस्से में प्रभावी हुई। यह बौद्धिक वर्ग सामन्तवाद-विरोधी था और इसने मार्क्सवाद को अपनाने में इसके सामन्तवाद-विरोध को अपनाया। **इनके लिए मार्क्सवाद का सबसे अहम पहलू था पूँजीवाद की ऐतिहासिक प्रगतिशीलता में आस्था।** लेकिन उन्होंने इस राजनीतिक-ऐतिहासिक तथ्य को पूँजीवाद के समर्थन में तब्दील कर दिया। "कानूनी" मार्क्सवादियों ने मार्क्सवाद को अपनाने में उसकी पूरी क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को ख़त्म कर दिया। इनमें से सबसे प्रमुख थे **पीटर स्त्रूवे** जो 1902 तक रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी के साथ ही थे और दरअसल 1898 की पहली पार्टी कांग्रेस का घोषणापत्र भी इन्होंने ही लिखा था। लेकिन 1902 के बाद इन्होंने पार्टी से रिश्ता पूरी तरह से तोड़ लिया। इस घटनाक्रम पर हम बाद में आयेंगे। स्त्रूवे ने 1894 में ही एक पुस्तक लिखी थी–**'क्रिटिकल नोट्स ऑन दि क्वेश्चन ऑफ दि इकोनॉमिक डेवेलपमेण्ट ऑफ रशिया'।** इस पुस्तक में स्त्रूवे ने स्पष्ट शब्दों में किसी भी क्रान्तिकारी कार्यक्रम को नकारा था और कहा था कि क्रान्तिकारियों को **"स्वर्ग पर हमला करने"** के ख़्वाब नहीं देखने चाहिए और सर्वहारा वर्ग को पहले **"पूँजीवाद की पाठशाला में सीखना चाहिए।"** जहाँ तक नरोदवाद से संघर्ष का सवाल था वे लेनिन के साथ खड़े थे; लेकिन 1902 में मुद्दा अर्थवाद, मज़दूर वर्ग की स्वत:स्फूर्तता और सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी भूमिका का था। नतीजतन, उनके बीच सम्बन्ध-विच्छेद होना ही था।

"कानूनी" मार्क्सवादियों ने रूस में पूँजीवाद के विकास के कुछ प्रशंसनीय अध्ययन किये, जैसे कि **तुगान-बारानोव्स्की** जिनका रूसी उद्योग पर अग्रणी शोध था। "कानूनी" मार्क्सवादी लेनिन और प्लेखानोव से इस बात पर पूर्णत: सहमत थे कि पूँजीवाद के चरण को लाँघकर रूस किसी "किसान साम्यवाद" में नहीं पहुँच सकता है, रूस में पूँजीवाद का विकास आन्तरिक गति से उद्योग और कृषि दोनों में ही हो रहा है। नरोदवाद की "कानूनी" मार्क्सवादियों ने कठोर आलोचना की। **लेकिन चूँकि पूँजीवाद को एक ऐतिहासिक वस्तुगत तथ्य से उन्होंने एक वांछित चरण बना दिया था, इसलिए वे नरोदवाद के विपरीत छोर पर चले गये।** इनका मानना था कि रूस में सर्वहारा वर्ग को किसान वर्ग से कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए और उसे पूँजीवादी विकास और जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों की पूर्ति के लिए पूँजीपति वर्ग का सहायक बनना चाहिए। इन कार्यभारों की पूर्ति के लिए भी वे क्रान्तिकारी

रास्ते के समर्थक नहीं थे, बल्कि सुधारों की हिमायत करते थे। और पूँजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण के लिए भी वे सुधारवादी रास्ते की ही हिमायत करते थे। **हम देख सकते हैं कि कई अर्थों में "कानूनी" मार्क्सवादी उन बातों को ही कह रहे थे जो बाद में संशोधनवाद ने कही।** इस रूप में वे मार्क्सवाद को उसकी क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु से रिक्त कर उसे एक बुर्जुआ विचारधारा में ही तब्दील कर रहे थे। बाद में लेनिन ने इस धारा का विश्लेषण करते हुए लिखा था, **"वे बुर्जुआ जनवादी थे जिनके लिए *नरोदवाद* से अलग होने का अर्थ टुटपुँजिया (या किसान) समाजवाद से सर्वहारा समाजवाद में संक्रमण की बजाय (जैसा कि हमारे मामले में हुआ) बुर्जुआ उदारवाद में संक्रमण था।"** (वी.आई. लेनिन, **"प्रेफेस टू दि कलेक्शन ट्वेल्व इयर्स"**, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-13*, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, 1972, पृ. 94, *अनुवाद हमारा*) लेनिन ने अपने निबन्ध **'नरोदवाद की आर्थिक अन्तर्वस्तु और श्रीमान स्त्रूवे की पुस्तक में इसकी आलोचना'** में जहाँ नरोदवाद की धज्जियाँ उड़ायीं वहीं उदार बुर्जुआ "कानूनी" मार्क्सवाद द्वारा पूँजीवाद की हिमायत की भी आलोचना की। 1890 के दशक के अन्तिम वर्षों में ही लेनिन ने "कानूनी" मार्क्सवाद की तमाम लेखों में आलोचना शुरू कर दी थी और 1902 में यह आलोचना **'क्या करें?'** के प्रकाशन के साथ उस मुकाम पर पहुँच गयी जहाँ पर "कानूनी" मार्क्सवादियों और कम्युनिस्टों के बीच का गठजोड़ टूटना ही था। जब तक नरोदवाद से संघर्ष प्रमुख एजेण्डा था तब तक ही यह एकता कायम रह सकती थी। जैसे ही नरोदवाद की निर्णायक पराजय हुई वैसे ही लेनिन के एजेण्डे पर "कानूनी" मार्क्सवाद और अर्थवाद की आलोचना का प्रश्न आ गया।

अर्थवाद सामाजिक जनवादी पार्टी के भीतर ही एक शक्तिशाली रुझान के रूप में पैदा हुआ था। अर्थवाद का सारतत्व लेनिन के अनुसार उस विचारधारात्मक रुझान में निहित था जो कि मार्क्सवाद को महज़ एक "आर्थिक सिद्धान्त" में तब्दील कर देता था। वास्तव में, "कानूनी" मार्क्सवाद और अर्थवाद में बहुत-सी समानताएँ थीं, लेकिन उनमें कुछ बुनियादी फर्क भी थे, जिन पर हम आगे आएँगे। अर्थवाद के अनुसार सभी सामाजिक परिवर्तनों की व्याख्या केवल आर्थिक कारकों के विकास के ज़रिये की जा सकती है। अर्थवाद उत्पादक शक्तियों के विकास को गैर-द्वन्द्वात्मक रूप से इतिहास की प्रेरक शक्ति के रूप में देखता है और मानता है कि आर्थिक कारकों में होने वाले परिवर्तनों के ज़रिये सामाजिक शक्तियाँ अपने आप, स्वत:स्फूर्त रूप से परिवर्तन की ओर क्रमिक प्रक्रिया में आगे बढ़ती हैं। निश्चित तौर पर, व्यापक तौर पर उत्पादक शक्तियों का पहलू इतिहास में अधिक गतिशील कारकों की भूमिका निभाता है, लेकिन सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन/क्रान्ति के बाद उत्पादन सम्बन्धों का कारक भी पलटकर उत्पादक शक्तियों के विकास को प्रेरणा प्रदान करता है। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होता है और मार्क्स ने 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान' और 'पूँजी' जैसी रचनाओं में इस द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को सटीक तरीके से सूत्रबद्ध किया है। यहाँ पर यह स्पष्टीकरण अनिवार्य था क्योंकि अर्थवाद की समूची प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए चार्ल्स बेतेलहाइम और कोस्तास मावराकिस जैसे कई तथाकथित "माओवादी" अध्येता मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के सिद्धान्तों का हेगेलीय भाववादी हस्तगतीकरण करते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि सम्पूर्ण मानव इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों का पहलू प्राथमिक प्रेरक तत्व होता है। ऐसे भाववादी नियोजकों से पूछा जा सकता है कि किसी विशिष्ट ऐतिहासिक युग में मानव जन कोई विशिष्ट उत्पादन

सम्बन्ध किस आधार पर बनाते हैं? वे कोई अन्य उत्पादन सम्बन्ध क्यों नहीं बना लेते? वहीं जो उत्पादक शक्तियों के उत्पादन सम्बन्धों से द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को न समझकर मानते हैं कि उत्पादक शक्तियाँ विकसित होती रहती हैं और उत्पादन सम्बन्ध निष्क्रिय कारक के समान उनके पीछे घिसटते हुए आगे बढ़ते रहते हैं, उनसे भी पूछा जा सकता है उत्पादक शक्तियों के उत्तरोत्तर विकास के पीछे कौन-से कारक काम करते हैं और एक निश्चित मंज़िल पर पहुँचकर उनका विकास पुराने उत्पादन सम्बन्धों के ढाँचे में बाधित क्यों हो जाता है और उस ढाँचे के क्रान्तिकारी परिवर्तन के ज़रिये बदलने पर उत्पादक शक्तियों का विकास फिर से निर्बन्ध किस कारक से प्रेरणा मिलने के कारण होता है? यदि किसी भी सामाजिक उत्पादन व्यवस्था के भीतर उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को सही ढंग से व्याख्यायित न किया जाय तो वह या तो यूरोपीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की अर्थवाद की पुरानी ग़लती को दुहरायेगा जो कि मानता है कि उत्पादक शक्तियों विकसित होती जाती हैं और उनके अनुरूप उत्पादन सम्बन्ध बदलते जाते हैं (यह दृष्टिकोण उत्पादक शक्तियों में भी मनुष्य को प्रमुख और प्राथमिक कारक नहीं मानता, बल्कि तकनोलॉजी, यंत्रों और उपकरणों को प्रमुख और प्राथमिक कारक मानता है); या फिर वह चार्ल्स बेतेलहाइम जैसे "अतिमाओवादियों" की ग़लती का शिकार होगा जिसके अनुसार मानव जन किसी "परम भाव" से प्रेरित होकर पहले कोई उत्पादन सम्बन्ध बनाते हैं और उनके अनुसार उत्पादक शक्तियों का विकास करते हैं। ये दोनों ही छोर यांत्रिक अर्थवाद और यांत्रिक भाववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं और मार्क्स, लेनिन और माओ की समझदारी इससे बिल्कुल भिन्न थी। चार्ल्स बेतेलहाइम में "अतिमाओवाद" की आलोचना रखते हुए हम उनकी सम्पूर्ण हेगेलीय भाववादी अवस्थिति की आलोचना रखेंगे।

बहरहाल, हम रूस के अर्थवादियों की चर्चा पर वापस लौटते हैं। वर्गों के बीच का संघर्ष अर्थवादियों के लिए आर्थिक कारकों में होने वाले परिवर्तन का सीधा और प्रत्यक्ष परिणाम होता था। **कुल मिलाकर, उनका नतीजा यह था कि जब आर्थिक परिस्थितियाँ उपयुक्त और अनुकूल हो जाती हैं तो सामाजिक परिवर्तन स्वयं ही हो जाते हैं।** यानी कि मज़दूर वर्ग को सचेतन तौर पर संगठित करने और इस काम के लिए किसी अनुशासित, गुप्त और संगठित हिरावल की कोई ज़रूरत नहीं है। मज़दूर वर्ग को महज़ अपने आर्थिक हक़ों के लिए ट्रेड यूनियन संघर्ष करना चाहिए। अर्थवाद रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी के भीतर ही एक रुझान के रूप में पैदा हुआ और लम्बे समय तक इसका असर मौजूद रहा। अपने तमाम विकृतिकरणों और "अतिमाओवाद" के बावजूद, **बेतेलहाइम** ने सही ही कहा है कि **अर्थवाद "जब भी व्यवस्थित नहीं होता तो यह सापेक्षिक रूप से एक गौण भूमिका निभा सकता है, और तब हम "अर्थवाद के प्रति रुझान" की बात कर सकते हैं।"** (चार्ल्स बेतेलहाइम, **"प्रेफेस"**, *क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियड: 1917-23*, पृ. 33, 1976, मन्थली रिव्यू प्रेस, *अनुवाद हमारा*) एक रुझान के तौर पर अलग-अलग रूपों में अर्थवाद बोल्शेविक पार्टी के भीतर एक पूँजीवादी और निम्न-पूँजीवादी भटकाव के रूप में लम्बे समय तक मौजूद रहा, बल्कि कहना चाहिए कि सोवियत संघ में समाजवाद के जीवित रहते भी यह रुझान किसी न किसी रूप में पार्टी में मौजूद रहा। अर्थवादियों का मानना था कि मज़दूरों की राजनीतिक मुद्दों में कोई दिलचस्पी नहीं होती और राजनीति पार्टी के बौद्धिक नेताओं का काम है। मज़दूरों की रुचि तो केवल

उनके आर्थिक हितों की लड़ाई में होती है, यानी कि उन संघर्षों में जो ट्रेड यूनियन के ज़रिये लड़े जाते हैं। इस प्रकार मज़दूर वर्ग की समूची गतिविधि को उसकी आर्थिक ट्रेड यूनियन गतिविधियों तक सीमित कर दिया जाता है, यानी कि मालिकों से बेहतर मज़दूरी और कार्यस्थितियों के लिए संघर्ष तक। ज़ाहिर है कि यह संघर्ष मौजूदा व्यवस्था के ढाँचे के भीतर लड़ा जा सकता है। अर्थवादी सैद्धान्तिक तौर पर क्रान्ति की अनिवार्यता को ख़ारिज नहीं करते थे। लेकिन चूँकि रूस अभी जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में था इसलिए एकमात्र राजनीतिक कार्यक्रम जिसकी कल्पना की जा सकती थी वह पूँजीवादी जनवादी सुधारों का कार्यक्रम था, जिसके लिए कि उदार पूँजीपति वर्ग का सहयोग किया जाना चाहिए था और दूसरी बात यह कि मज़दूर वर्ग स्वयं पूँजीपति वर्ग से बेहतर वेतन और कार्यस्थितियों की माँगों के अलावा किसी अन्य माँग के लिए संघर्ष नहीं कर सकता। इन अर्थवादियों के अनुसार पूँजीवादी जनवाद और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के मुकम्मिल तौर पर स्थापित होने के बाद पूँजीवाद अपनी नैसर्गिक गति से मज़दूरों के आर्थिक संघर्षों को इस हद तक सघन और जुझारू बनाता जायेगा कि यह संघर्ष स्वत:स्फूर्त ढंग से राजनीतिक संघर्ष में तब्दील हो जायेगा। एक प्रमुख अर्थवादी और "क्रीडो" मतावलम्बी सिद्धान्तकार कुस्कोवा के शब्दों में, **"एक स्वतन्त्र मज़दूरों की राजनीतिक पार्टी के बारे में चर्चा विदेशी कार्यभारों और विदेशी उपलब्धियों को हमारी ज़मीन पर स्थानान्तरित करने के परिणाम के अलावा और कुछ नहीं है...ऐतिहासिक स्थितियों का एक पूरा समुच्चय हमें पश्चिमी मार्क्सवादी होने से रोकता है और हमसे एक अलग मार्क्सवाद की माँग करता है जो कि रूसी स्थितियों में उपयुक्त और आवश्यक है। हरेक रूसी नागरिक में राजनीतिक भावना और समझ की कमी साफ़ तौर पर राजनीति के बारे में चर्चाओं से या अनुपस्थित ताक़तों के नाम अपीलों के ज़रिये पूरी नहीं हो सकती। यह राजनीतिक बोध केवल उस प्रशिक्षण के ज़रिये हासिल किया जा सकता है (चाहे यह कितना भी ग़ैर-मार्क्सवादी क्यों न हो) जो कि रूसी यथार्थ हमारे सामने पेश कर रहा है...रूसी मार्क्सवादी के सामने केवल एक ही रास्ता है: सर्वहारा वर्ग के आर्थिक संघर्ष का समर्थन करना और उदार विपक्ष की गतिविधियों में हिस्सेदारी करना।"** (ई.एच. कार, *दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन* में उद्धृत, पृ. 11)

लेनिन ने अर्थवाद पर 1899 से ही तीख़ा हमला बोलना शुरू कर दिया था। लेनिन का मानना था कि रूस में जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिए उदार पूँजीपति वर्ग के भरोसे नहीं रहा जा सकता है, जो सर्वहारा वर्ग के संघर्षों के समक्ष किसी भी समय प्रतिक्रियावाद की गोद में बैठने को तैयार है। लेनिन के शब्दों में रूस में **"राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करने का कार्यभार भी सर्वहारा वर्ग के मज़बूत कन्धों पर आ पड़ा था।"** प्लेखानोव और मार्तोव ने भी अर्थवाद की आलोचना में महत्वपूर्ण योगदान किया लेकिन अर्थवाद की विचारधारात्मक-राजनीतिक जड़ों पर सबसे मज़बूत हमला लेनिन ने अपने 1899 से लेकर 1903 तक की तमाम रचनाओं में किया। 1902 में लेनिन की प्रसिद्ध रचना **'क्या करें?'** प्रकाशित हुई। इस रचना में लेनिन ने "कानूनी" मार्क्सवाद की संक्षिप्त आलोचना के बाद अर्थवाद की चीरफाड़ की और दिखलाया कि किस प्रकार अर्थवाद मार्क्सवाद को विकृत करने वाली एक बुर्जुआ विचारधारा है। **अर्थवाद की पहचान मूल तौर पर दो चीज़ों पर ज़ोर से की जा सकती है: पहला, इसका मज़दूर वर्ग के आर्थिक संघर्षों को सर्वोपरि मानने पर**

ज़ोर और दूसरा मज़दूर वर्ग की स्वत:स्फूर्तता पर ज़ोर। 'क्या करें?' में लेनिन ने इन्हीं दोनों चीज़ों पर हमला बोला। लेनिन ने कहा कि एक सामाजिक जनवादी की चेतना महज़ एक ट्रेड यूनियन सचिव की नहीं होती, बल्कि जनता के हिरावल की होती है। मज़दूर वर्ग की पूरी राजनीति को ट्रेड यूनियन की राजनीति तक सीमित कर देना वास्तव में मज़दूर वर्ग की राजनीति के एक पूँजीवादी संस्करण की बात करना होगा। लेनिन के लिए आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों के बीच कोई 'चीन की दीवार' नहीं थी, क्योंकि उनके लिए हर आर्थिक संघर्ष भी मूल तौर पर राजनीतिक था। लेनिन का मानना था कि राजनीतिक चेतना मज़दूर वर्ग के भीतर आर्थिक संघर्षों के ज़रिये स्वयं ही नहीं पैदा हो जायेगी। बिना किसी बाह्य राजनीतिक अभिकर्ता (यानी, सामाजिक-जनवादी बुद्धिजीवियों) के हस्तक्षेप के मज़दूर वर्ग अपने आप केवल ट्रेड यूनियन चेतना तक ही पैदा कर सकता है। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि मज़दूर वर्ग अपने राजनीतिक सिद्धान्तकार नहीं पैदा कर सकता है। इस बात को काऊत्स्की ने सही तरीके से स्पष्ट नहीं किया था और लेनिन ने काऊत्स्की की इस चूक को 'क्या करें?' में दुरुस्त किया था। **यहाँ लेनिन ने स्पष्ट किया कि एक मज़दूर जब आर्थिक संघर्षों से अलग मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक राजनीतिक लक्ष्यों की बात करता है तो वास्तव में वह महज़ एक सामान्य मज़दूर नहीं होता बल्कि मज़दूर वर्ग के राजनीतिक सिद्धान्तकार की भूमिका निभा रहा होता है। लेकिन एक वर्ग के तौर पर समूचा मज़दूर वर्ग स्वत:स्फूर्त रूप से ऐसी चेतना, यानी कि राजनीतिक वर्ग चेतना, को जन्म नहीं दे सकता है।** यह कम्युनिस्ट चेतना मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में बाहर से ही आती है और यह कम्युनिस्ट चेतना इतिहास की वैज्ञानिक समझदारी और तार्किकता के मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों के साथ मेल के साथ पैदा होती है। काऊत्स्की ने बताया था कि ऐतिहासिक तौर पर तार्किकता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के वाहक का काम इतिहास में बुर्जुआ बौद्धिक वर्ग के एक छोटे-से हिस्से ने किया था इसलिए सामान्य रूप में इतिहास की वैज्ञानिक समझदारी के ज़रिये वैज्ञानिक समाजवाद तक पहुँचने का काम भी इस बौद्धिक वर्ग का एक जनपक्षधर हिस्सा ही करेगा। लेनिन ने अर्थवाद का खण्डन करते हुए कहा कि मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना स्वत:स्फूर्त रूप से नहीं पैदा होगी, बल्कि उसमें इस चेतना को पैदा करना एक हिरावल का सचेतन कार्य होगा। वास्तव में, 'कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र' में भी मार्क्स व एंगेल्स ने काल्पनिक समाजवादियों की आलोचना करते हुए कहा था कि सर्वहारा वर्ग का संगठन क्रमिक स्वत:स्फूर्त प्रक्रिया में नहीं पैदा हो सकता है। स्वत:स्फूर्तता पर अर्थवादियों का ज़ोर अन्त में इस मंज़िल तक जाता है कि वह किसी भी प्रकार के राजनीतिक हिरावल की भूमिका को ही नकारने लगते हैं क्योंकि उनकी दलील ही यह है कि सर्वहारा वर्ग की आर्थिक कार्रवाइयाँ जैसे कि ट्रेड यूनियन गतिविधियाँ और हड़तालें अन्तत: उन्हें क्रान्ति के लिए तैयार कर देती हैं। लेनिन और प्लेखानोव के अलावा अलग से स्तालिन ने भी मज़दूर वर्ग को सचेतन तौर पर राजनीतिक रूप से संगठित करने की ज़रूरत पर बल दिया। 1901 में लिखी गयी स्तालिन की रचना **'दि रशियन सोशल-डेमोक्रैटिक पार्टी एण्ड इट्स इमीडियेट टास्क्स'** में स्तालिन ने लिखा था कि सामाजिक जनवाद से पहले रूस में मज़दूरों का आन्दोलन स्वत:स्फूर्तता के दायरे से बाहर नहीं आया था; सामाजिक जनवादियों ने पहली बार रूस में मज़दूर वर्ग को क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना से लैस करने काम अपने हाथों में लिया। अर्थवादियों के बारे में स्तालिन ने इस रचना में लिखा, **"स्वत:स्फूर्त आन्दोलन को नेतृत्व देने**

की बजाय, जनसमुदायों को सामाजिक-जनवादी आदर्शों से ओत-प्रोत करने की बजाय और हमारे अन्तिम लक्ष्य की ओर उन्हें निर्देशित करने की बजाय, रूसी सामाजिक-जनवादियों का यह हिस्सा इस आन्दोलन का अन्धा उपकरण बन गया; यह मज़दूरों के अनुपयुक्त रूप से शिक्षित हिस्से के पीछे आँख मूँदकर चलता रहा और इसने अपने आपको उन आवश्यकताओं और ज़रूरतों को सूत्रबद्ध करने तक सीमित कर दिया जिनके प्रति मज़दूरों के जनसमुदाय उस समय सचेत थे। संक्षेप में, यह खड़ा होकर एक खुले दरवाज़े को खटखटाता रहा, और घर में प्रवेश करने का साहस नहीं कर पाया। यह मज़दूरों के जनसमुदायों को न तो अन्तिम लक्ष्य–यानी कि समाजवाद–के बारे में समझा पाया और न ही तात्कालिक लक्ष्य–यानी कि निरंकुश तन्त्र को उखाड़ फेंकने–के बारे में; और इससे भी ज़्यादा निन्दनीय बात यह थी कि इसने इन दोनों ही लक्ष्यों को बेकार, बल्कि नुकसानदेह तक माना। यह रूसी मज़दूरों को बच्चों की तरह मानता था और उसे डर था कि वह कहीं ऐसे विचारों से उन्हें डरा न दे। यही नहीं, सामाजिक-जनवाद के कुछ दायरों में समाजवाद लाने के लिए भी क्रान्तिकारी संघर्ष की आवश्यकता नहीं थी, बल्कि उनकी राय में जिस चीज़ की ज़रूरत थी वह था महज़ आर्थिक संघर्ष–हड़तालें और ट्रेड यूनियन, उपभोक्ता व उत्पादक सहकारी संघ, और बस, यह रहा समाजवाद।" (जोसेफ़ स्तालिन, **"दि रशियन सोशल-डेमोक्रैटिक पार्टी एण्ड इट्स इमीडियेट टास्क्स"**, *वर्क्स*, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मॉस्को, 1954, पृ. 15-16, *अनुवाद हमारा*) **यहाँ ग़ौरतलब बात यह है कि अभी तक स्तालिन की लेनिन से मुलाकात नहीं हुई थी और स्तालिन लेनिन की कुछ रचनाओं से ही परिचित थे। अर्थवाद के बारे में इन नतीजों तक स्तालिन काफ़ी हद तक स्वतन्त्र रूप से पहुँचे थे।**

अर्थवादियों के विरुद्ध लेनिन ने जो संघर्ष चलाया उसमें बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच होने वाले विभाजन के बीज थे। 1903 में बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच विभाजन हुआ और इस विभाजन का मूल मुद्दा वास्तव में "स्वत:स्फूर्तता" और सचेतनता का प्रश्न, कम्युनिस्ट पार्टी की ज़रूरत और उसके सांगठनिक सिद्धान्त का प्रश्न और क्रान्तिकारी विचारधारा और अर्थवाद के बीच का संघर्ष था। 'क्या करें?' में इस बहस को लेनिन ने निर्णायक तौर पर मुकाम पर पहुँचाया और उसकी राजनीतिक परिणति 1903 की पार्टी कांग्रेस में हुई। 'क्या करें?' में लेनिन ने उस स्वत:स्फूर्ततावाद और पुछल्लेवाद की जो आलोचना की जिसका प्रवचन अर्थवादियों द्वारा दिया जा रहा था। इस पर हम पिछले अध्याय में 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' की आलोचना रखते हुए बात कर चुके हैं और उसे हम यहाँ दुहरायेंगे नहीं। लेकिन 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रूस के अर्थवादियों, मेंशेविकों और "कानूनी" मार्क्सवादियों के समान बुर्जुआ वर्ग से सहयोग करने या क्रान्तिकारी संघर्ष को छोड़ने की बात नहीं कर रहे हैं। वे सचेतन संशोधनवादी नहीं हैं। फिर यह समानता क्यों? यहाँ पर हम अर्थवाद के बारे में कुछ अहम नुक्तों पर चर्चा करना ज़रूरी समझते हैं।

अर्थवाद का भटकाव रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में और दुनिया के किसी भी देश के कम्युनिस्ट आन्दोलन में दोनों ही रूपों में प्रकट होता है: दक्षिणपंथी अवसरवाद के रूप में (जैसे कि रूस के मेंशेविक, अर्थवादी और "कानूनी" मार्क्सवादी या भारत में भाकपा, माकपा आदि जैसी संशोधनवादी पार्टियाँ) और "वामपंथी" भटकाव (जैसे कि रूस में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, 'वर्कर्स

अपोज़ीशन', बुखारिन का "वामपंथी" विपक्ष और भारत में 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' व इसी प्रकार के तमाम ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी)। इन दोनों ही भटकावों में जो बात साझा है वह यह है कि ये दोनों ही आर्थिक कारकों को राजनीतिक कारकों पर प्रधानता देते हैं और इस रूप में मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षा से प्रस्थान करते हैं। संशोधनवादी अर्थवाद आर्थिक कारकों की प्रधानता का हवाला देकर क्रान्ति की ज़रूरत को ही नकारता है; आर्थिक संघर्षों का अनालोचनात्मक महिमा-मण्डन करते हुए उनके ही राजनीतिक संघर्ष में बदल जाने की बात करता है; ट्रेड यूनियन संघर्ष और हड़तालों को मज़दूर वर्ग का एकमात्र लक्ष्य बनाकर राजनीतिक सत्ता के प्रश्न को मज़दूर वर्ग के एजेण्डे से बाहर कर देता है; बुर्जुआ वर्ग से सहयोग-सहकार की बात करते हुए वर्ग संघर्ष की बजाय वर्ग सहयोग की अवस्थिति पर जाकर खड़ा हो जाता है। "वामपंथी" अर्थवाद क्रान्ति को नकारता नहीं और न ही सत्ता के प्रश्न को मज़दूर वर्ग की राजनीति से बाहर करता है, लेकिन यह इस पूरी राजनीति में हिरावल की भूमिका को औपचारिक या अनौपचारिक तौर पर नकारता है; इस रूप में इसका नतीजा भी काफ़ी कुछ यही होता है कि मज़दूर वर्ग को क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना में प्रवेश के लिए किसी "बाह्य" हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती और मज़दूर वर्ग अपने अनुभवों के ज़रिये इस चेतना को हासिल कर सकता है; अगर ऐसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी पार्टी की ज़रूरत को नाम लेकर नहीं नकारते तो भी वे पार्टी की भूमिका को एक सुदूर मार्गदर्शक के रूप में सीमित कर देते हैं, जैसा कि 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास जैसे अराजकतावाद-संघाधिपत्यवादी करते हैं; समाजवादी संक्रमण के दौरान भी आर्थिक कारकों को राजनीति पर प्रधानता देने के कारण "वामपंथी" अर्थवाद पार्टी की भूमिका को नकारता है और "उत्पादकों के उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण" की बात करता है; उनके लिए समाजवाद का पूरा प्रश्न अलग-अलग बिखरी उत्पादकों या उत्पादक समुदायों का उत्पादन के साधनों पर "प्रत्यक्ष नियन्त्रण" है। रूस में **स्मिर्नोव, ओसिंस्की** आदि का वामपंथी विपक्षी धड़ा, **बुखारिन** व **प्रियोब्रेज़ेंस्की** का वामपंथी विपक्षी धड़ा (जो कि बाद में, "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में, दक्षिणपंथी अर्थवाद का शिकार हो गया था) और उसके बाद **श्ल्याप्निकोव** और **कोलोन्ताई** का **'वर्कर्स अपोज़ीशन'** इसी वामपंथी अर्थवाद का शिकार था। क्रान्ति के पहले क्रीडो मतावलम्बी, 1911 में एक्सेलरोद का मज़दूर कांग्रेस का प्रस्ताव इसी प्रकार के वामपंथी अर्थवाद का शिकार था। अपने दोनों ही रूपों में अर्थवाद एक बुर्जुआ भटकाव या विकृति के तौर पर दुनिया के हर देश के कम्युनिस्ट आन्दोलन में बार-बार प्रकट होता रहा है। रूस में भी क्रान्ति के पहले और क्रान्ति के बाद अर्थवाद का भटकाव दोनों ही अवतारों में बार-बार प्रकट होता रहा। यह कहा जा सकता है कि समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि के दौरान अर्थवाद का भटकाव बार-बार प्रकट होगा ही क्योंकि इसका कारण है समाज में मौजूद वर्ग संघर्ष जो कि समाजवादी संक्रमण के ऐतिहासिक दौर में रूप बदलकर लेकिन और भी अधिक सघनता और कटुता के साथ बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच जारी रहता है। बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा अर्थवाद के भटकाव के रूप में ही मज़दूर वर्ग की पार्टी और राज्यसत्ता में प्रवेश करती है। मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में अर्थवाद के भटकाव की शुरुआत ही उन लोगों के द्वारा हुई थी जो बुर्जुआ सत्ता के साथ सहयोग की लाइन अपना चुके थे या जिनका स्पष्ट तौर पर बुर्जुआकरण हो चुका था। बाद में समाजवादी संक्रमण के दौरान

भी राजकीय बुर्जुआ वर्ग ने अर्थवाद को सबसे प्रमुख रूप में संरक्षण प्रदान किया। अर्थवाद के वाहक कम्युनिस्ट आन्दोलन में अक्सर पूँजीवादी रास्ते को अपना चुके लोग ही बनते हैं।

यहाँ पर हम **ई.एच.कार** के एक और विश्लेषण की चर्चा करते हुए आगे बढ़ेंगे। ई.एच. कार अर्थवाद के विरुद्ध मार्क्सवाद के संघर्ष की चर्चा करते हुए सभी सही तथ्यों का ज़िक्र करते हैं, लेकिन उनकी व्याख्या एक बार फिर अनुभववाद के गड्ढे में जा गिरती है। कार बताते हैं कि अर्थवाद के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष के ज़रिये ही लेनिन ने मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी सिद्धान्त को भी विकसित किया और साथ ही हिरावल पार्टी के बोल्शेविक सिद्धान्त को भी। वास्तव में, अर्थवाद जन पार्टी की सभी अवधारणाओं की जड़ में कहीं न कहीं मौजूद होता है। ज़ाहिर है, जो भी मज़दूर वर्ग की राजनीति को ट्रेड यूनियनवाद पर लाकर केन्द्रित कर देगा, वह एक गोपनीय ढाँचे वाली अनुशासित पार्टी की ज़रूरत को क्यों समझेगा? बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच फूट का तात्कालिक मुद्दा पार्टी सदस्यता की शर्तों का प्रश्न था, लेकिन उसके मूल में मेंशेविकों का अर्थवाद ही था। कार बताते हैं कि मार्क्स भी मानते थे कि कम्युनिस्ट पार्टी और पूरे मज़दूर वर्ग में अन्तर है; कम्युनिस्ट मज़दूर वर्ग के सबसे उन्नत, दृढ़ और प्रगतिशील तत्व हैं और वे ही पूरे मज़दूर वर्ग को उसके संघर्षों में क्रान्तिकारी नेतृत्व दे सकते हैं। मज़दूर वर्ग स्वयं यह कार्य स्वत:स्फूर्त रूप से नहीं कर सकता है। **लेकिन कार कहते हैं कि राजनीतिक चेतना से मज़दूर वर्ग को लैस करने वाली पार्टी कैसी होगी इसके बारे में मार्क्स व एंगेल्स के विचार परिस्थितियों के मुताबिक बदलते रहे। कार का कहना है कि जब मार्क्स व एंगेल्स जर्मनी में थे जहाँ पर उदार बुर्जुआ जनवाद नहीं था तब वे 'कम्युनिस्ट लीग' जैसे संगठन में यक़ीन रखते थे, जो कि कोई जन पार्टी जैसा संगठन नहीं था। लेकिन जब वे इंग्लैण्ड आये तो उन्होंने 'इण्टरनेशनल वर्किंग मेंस एसोसियेशन' बनाया जो कि एक व्यापक जन (मास) संगठन जैसा था। यानी, कार यह नतीजा निकाल रहे हैं कि मार्क्स व एंगेल्स के मुताबिक पार्टी का ढाँचा इस बात पर निर्भर करता था कि बुर्जुआ जनवाद कितना उदार या कितना ग़ैर-जनवादी व तानाशाहाना है! इसीलिए जर्मनी और रूस में निरंकुश शासन की चौकसी से बचकर कार्य करने के लिए एक गोपनीय और अनुशासित पार्टी की ज़रूरत होगी, लेकिन इंग्लैण्ड, डेनमार्क, हॉलैण्ड या फ्रांस जैसे देशों में ऐसी पार्टी की ज़रूरत नहीं होगी, बल्कि एक जन पार्टी जैसी पार्टी वांछित होगी। और इसी तर्क के मुताबिक जिस दिन भारत जैसे देशों में भी बुर्जुआ जनवादी 'स्पेस' विस्तारित हो जायेगा, उस दिन से वहाँ भी एक लेनिनवादी बोल्शेविक पार्टी की ज़रूरत ख़त्म हो जायेगी! आप देख सकते हैं कि मूल रूप में यह वही तर्क है जो कि दुनिया भर के संशोधनवादी और संसदवादी वामपंथी देते हैं।** लेकिन यहाँ कार एक अनैतिहासिक नज़रिया अपना रहे हैं। पहली बात तो यह है कि मार्क्स और एंगेल्स के काल में बुर्जुआ राज्यसत्ता का पूरा ढाँचा उस कदर व्यापक, व्यवस्थित और सुदृढ़ीकृत नहीं हुआ था, जिस कदर वह लेनिन के काल में हो चुका था। एंगेल्स के जीवनकाल के उत्तरार्द्ध में ऐसी कम्युनिस्ट पार्टियाँ बनने लगी थीं, जो अगर बोल्शेविक पार्टी जैसी नहीं थीं तो जन पार्टी जैसी भी नहीं थीं। लेनिन ने पार्टी सिद्धान्त को पहली बार व्यवस्थित किया, बल्कि कहना चाहिए कि मार्क्सवाद के पार्टी सिद्धान्त के निर्माता लेनिन ही थे। लेनिन ने स्पष्ट तौर पर बताया कि एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी हर हालत में अपना गोपनीय ढाँचा कायम रखेगी। वह किस हद तक संसदीय कार्य और अन्य खुले

राजनीतिक कार्यों के रूपों का इस्तेमाल करेगी, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि बुर्जुआ राज्यसत्ता कितने जनवादी अधिकार और जनवादी 'स्पेस' जनता को देती है। लेकिन उदार से उदार बुर्जुआ जनवादी गणराज्य में भी काम करने वाली कम्युनिस्ट पार्टी अपने समूचे ढाँचे को कभी पूरी तरह खुला नहीं कर सकती है। ऐसा करने का अर्थ होगा पार्टी और इस प्रकार क्रान्ति के भविष्य को बुर्जुआ राज्यसत्ता की दया पर रखना। **लेनिन की इस महान ऐतिहासिक शिक्षा को इतिहास ने सही साबित किया है और दिखलाया है कि पूँजीवाद जब आर्थिक और राजनीतिक संकट का शिकार होता है तो उदार से उदार बुर्जुआ राज्यसत्ताएँ जनवाद और स्वतन्त्रता के मुखौटों को नोचकर फेंक देती हैं और मज़दूर वर्ग के समक्ष अपने 'खाने के दाँतों', यानी कि फौज, पुलिस व सशस्त्र बलों के साथ उपस्थित हो जाती हैं।** लेकिन कार इस पूरे सैद्धान्तिक प्रश्न को एक व्यावहारिक प्रश्न बना देते हैं, और इस बात को सिद्ध करने के लिए यह दलील देते हैं कि मार्क्स और एंगेल्स का इस प्रश्न पर कोई एकरूप और निरन्तरतापूर्ण व्यवहार नहीं रहा था। इसी को हम ऐतिहासिक दृष्टि की कमी कह रहे थे। मार्क्स और एंगेल्स से पार्टी के ढाँचे के प्रश्न पर निरन्तरतापूर्ण राजनीतिक व्यवहार की उम्मीद करना ही अनैतिहासिक है। उन्होंने हिरावल की ज़रूरत पर पर्याप्त बल दिया था। लेकिन यह हिरावल किस प्रकार का होगा यह बुर्जुआ सत्ताओं की शासन कला और शिल्प के विकास के मुकम्मिल मंज़िल पर पहुँचने के साथ ही तय हो सकता था। मार्क्स व एंगेल्स से बोल्शेविक पार्टी के उसूलों के ईज़ाद की उम्मीद करना वैसे ही होगा, जैसे कि हम उनसे साम्राज्यवाद के सम्पूर्ण मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रतिपादन की उम्मीद करें। ई.एच. कार इस प्रकार के अनैतिहासिक विश्लेषण की ग़लती अन्य कई जगहों पर करते हैं। उन पर हम उपयुक्त स्थानों पर चर्चा करेंगे। फिलहाल, हम उन शुरुआती राजनीतिक संघर्षों की चर्चा पर वापस लौटते हैं, जिन्होंने शुरुआती वर्षों में रूस में कम्युनिस्ट आन्दोलन और बोल्शेविक पार्टी को आकार दिया।

अर्थवाद के विरुद्ध लेनिन के संघर्ष की यह केवल शुरुआत थी। रूसी पार्टी के पूरे इतिहास में अर्थवाद का विचलन कभी "वामपंथी" तो कभी दक्षिणपंथी भटकाव के रूप में बार-बार प्रकट होता रहा। इसके ख़िलाफ़ लेनिन ने अपने जीवित रहते दृढ़तापूर्वक संघर्ष चलाया, जिसकी टुकड़ों-टुकड़ों में हमने पिछले अध्याय में 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अर्थवाद की आलोचना रखते समय चर्चा की थी। आगे हम अलग-अलग समय इसके ख़िलाफ़ चले संघर्षों में से एक-एक पर अलग-अलग अपना विश्लेषण रखेंगे और यह भी प्रदर्शित करने का प्रयास करेंगे कि अर्थवाद का भटकाव आज भी कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर भी एक अहम चुनौती के तौर पर मौजूद है।

बहरहाल, ये तीन प्रमुख संघर्ष थे जिन्होंने शुरुआती वर्षों में बोल्शेविक पार्टी को ठोस रूप देने का काम किया, यानी कि नरोदवाद, "कानूनी" मार्क्सवाद और अर्थवाद के विरुद्ध संघर्ष। आगे बढ़ने से पहले इन तीनों को समझना इसलिए भी ज़रूरी था क्योंकि 1900-1901 से लेकर 1917 तक पार्टी के भीतर चले दो लाइनों के संघर्ष, अन्य राजनीतिक शक्तियों से बोल्शेविक पार्टी के राजनीतिक संघर्ष और विभिन्न दार्शनिक विचलनों के विरुद्ध विशेष तौर पर लेनिन के संघर्ष कुछ मायनों में इन तीन प्रमुख शुरुआती राजनीतिक संघर्ष का विस्तार और उन्नत रूप थे। ई.एच. कार ने इन तीनों संघर्षों को ठीक ही **'बोल्शेविज़्म की बुनियाद'** का नाम दिया है। चार्ल्स बेतेलहाइम ने रूसी सामाजिक जनवादी आन्दोलन में दो

लाइनों के संघर्ष का जो ब्यौरा दिया है, उसमें द्वन्द्वात्मक विश्लेषण की गम्भीर कमी है और तथ्यों का चयन भी मनमाने ढंग से किया गया है। बेतेलहाइम के ब्यौरे पर हम आगे आएँगे, लेकिन पहले हम इन तीन बुनियादी संघर्षों के दौरान पार्टी संगठन के विकास और उसके बाद हुए प्रमुख राजनीतिक संघर्षों की चर्चा करेंगे।

4. पार्टी का निर्माण और गठन

हमने ऊपर 1880 और 1890 के दशक में रूस और रूस के बाहर रूसी मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के छोटे समूहों के संगठन की चर्चा की थी। अब इन पर थोड़े विस्तार से चर्चा करना राजनीतिक संघर्षों के आगे की रूपरेखा देने के लिए ज़रूरी होगा। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया था, प्लेखानोव 1870 के दशक के अन्त में *चोर्नी पेरेदेल* नामक नरोदवादी समूह से अलग हुए थे। प्लेखानोव ने अन्य दो रूसी मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों वेरा ज़ासुलिच व एक्सेलरोद के साथ मिलकर ज़्यूरिख (स्विट्ज़रलैण्ड) में 'लिबरेशन ऑफ लेबर' नामक मार्क्सवादी समूह की स्थापना की और नरोदवाद के साथ सैद्धान्तिक संघर्ष की शुरुआत की, जिसका हम ऊपर ब्यौरा दे चुके हैं। प्लेखानोव का यह लेखन रूस के राजनीतिक दायरों में भी पहुँच रहा था। साथ ही, 1872 में 'पूँजी' के पहले रूसी संस्करण के प्रकाशन के साथ स्वत:स्फूर्त तरीके से रूस में कुछ अन्य मार्क्सवादी समूह भी अस्तित्व में आ चुके थे। ऐसा ही एक समूह था **'लीग ऑफ स्ट्रगल फॉर लिबरेशन ऑफ वर्किंग क्लास'**। इस संगठन के संस्थापक सदस्यों में एक व्लादीमिर इल्यीच लेनिन थे। लेनिन जब पीटर्सबर्ग में थे तो वे एक छात्र समूह **'ओल्ड मेन'** में शामिल हुए। जल्दी ही वह इसके नेता बन गये। इसके बाद उनका पीटर्सबर्ग के कुछ राजनीतिक मज़दूरों से परिचय हुआ, जिसमें से **इवान बाबुश्किन** भी एक थे। उस समय ही लेनिन ने लोकरंजकतावाद और नरोदवाद के विरुद्ध अपने सैद्धान्तिक संघर्ष की शुरुआत की। 1894 में लेनिन के प्रस्ताव पर इस समूह ने पीटर्सबर्ग के मज़दूरों के हड़ताल आन्दोलन में हस्तक्षेप करना शुरू किया। उस समय **'दि यूथ्स'** नामक एक छात्र समूह जिसमें कि इंजीनियरिंग व मेडिकल के छात्र शामिल थे, मज़दूरों के बीच अर्थवादी सोच के साथ काम कर रहा था। लेनिन ने इनके अर्थवाद की कठोर आलोचना की, जो कि मज़दूरों की गतिविधियों को केवल आर्थिक माँगों के लिए संघर्ष तक सीमित करना चाहता था। 1895 में पीटर्सबर्ग के मार्क्सवादियों के एक हिस्से ने मिलकर लेनिन को प्लेखानोव के 'लिबरेशन ऑफ लेबर' समूह से सम्पर्क करने के लिए विदेश भेजा। विदेश जाने पर लेनिन ने यूरोप के सामाजिक जनवादी आन्दोलन का भी गहरा अध्ययन किया और प्लेखानोव से मुलाकात कर राजनीतिक एकता स्थापित की। लेनिन के वापस आने के बाद पीटर्सबर्ग के सभी मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के बीच एकता स्थापित हुई और **'लीग ऑफ स्ट्रगल फॉर लिबरेशन ऑफ वर्किंग क्लास'** की नवम्बर 1895 में स्थापना हुई। **यह एक मील का पत्थर था क्योंकि पहली बार मार्क्सवादियों का एक ऐसा समूह अस्तित्व में आया था जो महज़ वैचारिक और सैद्धान्तिक बहसों में संलग्न नहीं था बल्कि मज़दूर वर्ग के बीच व्यावहारिक राजनीतिक गतिविधियों में लगा हुआ था।** जहाँ तक ऐतिहासिक तथ्य मौजूद हैं, वह यह स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि इस मायने में 'लीग ऑफ स्ट्रगल' रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में एक मील का पत्थर था। लेनिन के अलावा इस संगठन की स्थापना या उसके कुछ समय बाद ही

इससे जुड़ गये शुरुआती सदस्यों में **मार्तोव** और **क्रुप्सकाया** भी शामिल थे।

सही मायने में कहें तो कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन के बारे में लेनिन के विचारों के व्यवस्थित होने की शुरुआत इसी समय हो गयी थी। **यह लीग एक गोपनीय और अनुशासित संगठन था जिसका कि एक केन्द्रीकृत नेतृत्व था।** इस ढाँचे की व्याख्या इस बात से नहीं की जा सकती है कि पश्चिमी बुर्जुआ जनवादी देशों के विपरीत रूस में एक निरंकुश राजतन्त्र था और इसलिए ऐसा सांगठनिक ढाँचा रूस के क्रान्तिकारियों के लिए एक मजबूरी था। क्योंकि उसी समय ऐसे अन्य कई मार्क्सवादी समूह थे जो इन उसूलों का पालन नहीं करते थे। निश्चित रूप से ज़ारशाही का चौकसी तन्त्र खुले राजनीतिक कार्य को मुश्किल बनाता था और हरेक राजनीतिक ग्रुप को (यदि वह कोई व्यावहारिक राजनीतिक गतिविधि करता था) सावधान रहना पड़ता था। **लेकिन लीग का सांगठनिक ढाँचा एक सकारात्मक प्रस्ताव था।** यह सिर्फ बाहरी राजनीतिक गतिविधियों को ज़ारशाही की खुफिया पुलिस से बचकर करने के लिए नहीं था। यह गोपनीयता और अनुशासन की अनिवार्यता को स्वतन्त्र रूप से समझता था। **इस रूप में लेनिन की सांगठनिक लाइन भ्रूण रूप में 1895 में ही विकसित होना शुरू हो चुकी थी।** खैर, लीग की बढ़ती राजनीतिक गतिविधियाँ खुफिया पुलिस की निगाह में आने लगी थीं और वह इस संगठन को लेकर सचेत भी हो गयी थी। अगस्त 1896 तक अलग-अलग मौकों पर लीग के करीब 100 सदस्य गिरफ़्तार किये जा चुके थे जिसमें कि लेनिन, क्रुप्सकाया, मार्तोव और बाबुश्किन शामिल थे। लीग का संगठन काफी हद तक तबाह हो गया था। लेकिन लेनिन ने जेल से अपनी गतिविधियाँ और सैद्धान्तिक कार्य जारी रखा। जेल से लेनिन ने लीग के उन सदस्यों से सम्पर्क बनाये रखा जो अभी बाहर थे और सक्रिय थे। जेल से ही उन्होंने कई हड़तालों के दौरान मज़दूरों में वितरण के लिए पर्चे और मई दिवस का पर्चा भी लिखा। जल्द ही लीग ने कियेव, नीज़्नी नोवोग्राद, मॉस्को आदि के मार्क्सवादी मण्डलों से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया और राष्ट्रीय स्तर पर एक सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारियों के केन्द्र के रूप में काम करने लगा। लेकिन 1897 तक लीग के सभी प्रमुख मार्क्सवादी गिरफ्तार हो चुके थे। नेतृत्वकारी निकाय के अभाव में लीग को नेतृत्व देने मे लिए 'दि यूथ्स' के सदस्य आये। इनमें से ज़्यादातर मार्क्सवाद से ज़्यादा बर्नस्टीनवाद से प्रेरित थे और संशोधनवादी अर्थवाद की सोच पर काम करते थे। **यही कोर समूह था जो अर्थवाद की धारा का प्रमुख नुमाइन्दा बना। लेकिन लेनिन की 'लीग ऑफ स्ट्रगल' अपना काम कर चुकी थी और तब तक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट विचार रूस के मज़दूर आन्दोलन में पाँव जमा चुके थे। रूस में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के ज़ोर पकड़ने के साथ लीग अप्रासंगिक होती गयी, जिस पर अब अर्थवाद का वर्चस्व कायम हो चुका था।**

मार्च 1898 में मिन्स्क में **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी** की स्थापना कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस में मात्र 9 लोग शामिल थे जो कि पीटर्सबर्ग, मॉस्को, कियेव, और एकातेरिनोस्लाव के स्थानीय मार्क्सवादी संगठनों और रूस और पोलैण्ड की यहूदी जनरल मज़दूर यूनियन के, जिन्हें आम तौर पर "बुण्ड" कहा जाता था, प्रतिनिधि थे। कांग्रेस 1 से 3 मार्च तक, यानी तीन दिन चली। इसने एक केन्द्रीय कमेटी को नियुक्त किया और एक पार्टी पत्र निकालने का निर्णय लिया। लेकिन इसके आगे कुछ और ठोस हो पाता, पुलिस ने सभी प्रमुख भागीदारों को गिरफ़्तार कर लिया। नतीजतन, इस स्थापना कांग्रेस ने कोई कार्यक्रम भी नहीं निर्धारित किया था। **लेकिन इसकी एक उपलब्धि यह थी कि जिन स्थानीय**

मार्क्सवादी समूहों ने इसमें भागीदारी की थी उन्हें अब एक साझा पार्टी नाम मिल गया था और अब वे इसी साझा नाम का प्रयोग करने लगे थे। हालाँकि, जैसा कि ई.एच. कार ने बताया है कि इन तमाम अलग-अलग स्थानीय संगठनों में से कई में आपस में अभी कोई सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाया था। जो नौ प्रतिनिधि इस स्थापना कांग्रेस में शामिल हुए थे, उनमें से कोई भी पार्टी के निर्माण के लिए आगे चलने वाले दो लाइनों के संघर्ष में कोई भूमिका नहीं निभाने वाला था। कांग्रेस के सम्पन्न हो जाने के बाद **पीटर स्त्रूवे** ("कानूनी" मार्क्सवादी, जिनका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं) ने रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी का एक घोषणापत्र लिखा। इस घोषणापत्र में स्त्रूवे ने माना कि रूस में जनवादी कार्यभारों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी का बड़ा हिस्सा भी सर्वहारा वर्ग के कन्धों पर आ गया है क्योंकि, **"आप यूरोप में जितना पूरब की तरफ़ जाते हैं, राजनीतिक अर्थों में बुर्जुआ वर्ग उतना ही कमज़ोर, दुष्ट और कायर होता जाता है, और सर्वहारा वर्ग पर सांस्कृतिक और राजनीतिक कार्यभार उतने ही ज़्यादा बढ़ते जाते हैं। अपने मज़बूत कन्धों पर रूसी मज़दूर वर्ग को राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करने के कार्य को उठाना चाहिए और उसे उठाना ही होगा। यह एक बुनियादी क़दम हैं, लेकिन केवल पहला क़दम, सर्वहारा वर्ग के उस महान ऐतिहासिक मिशन को पूरा करने की ओर, एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए जिसमें आदमी के हाथों आदमी के शोषण का कोई स्थान नहीं रहेगा।"** (ई.एच.कार, *दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन,* खण्ड-2 में उद्धृत, नॉर्टन, न्यूयॉर्क, 1985, पृ. 4, *अनुवाद हमारा*)। जैसा कि हम देख सकते हैं कि इस घोषणापत्र में दो चरणों में क्रान्ति के सम्पन्न होने की बात की गयी है। ताज्जुब की बात है कि स्त्रूवे ने उस समय बुर्जुआ वर्ग की कमज़ोरी और कायरता की और साथ ही सर्वहारा वर्ग पर जनवादी कार्यभारों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी की भी बात की थी। लेकिन बाद में स्त्रूवे पूरी तरह से बुर्जुआ वर्ग का पुछल्ला बन जाने की नीति की हिमायत करने लगे और यह कहने लगे कि बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों के पूरा होने तक सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग की पूँछ पकड़कर चलना चाहिए। **बहरहाल, दो अहम मुद्दों पर यह घोषणापत्र कुछ भी नहीं कहता था: एक सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का पूरे घोषणापत्र में कहीं ज़िक्र नहीं था और दूसरा, कोई तात्कालिक या दूरगामी ठोस कार्यक्रम इस घोषणापत्र में नहीं रखा गया था। कार ने ठीक ही कहा है कि यह घोषणापत्र एक अकादमिक कवायद बनकर रह गया।**

इस बीच 1900 में लेनिन अपने निर्वासन से मुक्त हो चुके थे। अपने निर्वासन के दौरान ही वह मार्तोव, पोत्रेसोव और क्रुप्सकाया के साथ एक राजनीतिक मज़दूर अखबार की योजना बना रहे थे। लेनिन का मानना था कि एक पार्टी अख़बार के बग़ैर रूसी सामाजिक-जनवादी सर्वहारा वर्ग के उन्नत तत्वों को संगठित करने का काम नहीं कर सकते हैं। इसके बाद लेनिन, मार्तोव और पोत्रेसोव जिनेवा में प्लेखानोव से मिले। उन्होंने पार्टी अख़बार की योजना पर बात की और उनके बीच इसे लेकर एक राय बनी। इसके बाद यह तय हुआ कि दो पार्टी ऑर्गन निकाले जाएँगे: पहला एक राजनीतिक मज़दूर अख़बार, ***इस्क्रा*** और दूसरा एक सैद्धान्तिक पार्टी ऑर्गन, ***ज़ार्या***। इन पार्टी मुखपत्रों के लिए जो सम्पादक मण्डल तय हुआ उसमें **प्लेखानोव, लेनिन, मार्तोव, एक्सेरोद, वेरा ज़ासुलिच** और **पोत्रेसोव** शामिल थे।

इस्क्रा का पहला अंक स्टटगार्ड में 1 दिसम्बर, 1900 को छपा। *ज़ार्या* का पहला अंक 1 अप्रैल 1901 को छपकर आया। इन दोनों ही मुखपत्रों में सम्पादक मण्डल के सिर्फ़ तीन

वरिष्ठ सदस्यों का नाम प्रकाशित होता था: प्लेखानोव, एक्सेलरोद और वेरा ज़ासुलिच। लेनिन, मार्तोव और पेत्रोव अभी भी प्लेखानोव को अपना विचारधारात्मक गुरू मानते थे और रूसी मार्क्सवादियों के नेता के तौर पर दुनिया में लोग प्लेखानोव को ही जानते थे। लेकिन लेनिन इस समय तक *इस्क्रा* और *ज़ार्या* के सबसे प्रमुख लेखक बन चुके थे। दिसम्बर 1901 से पहले लेनिन कुछ अन्य नामों से लिखा करते थे जैसे 'पेत्रोव', 'फ्रेई' आदि। दिसम्बर 1901 में *ज़ार्या* में पहली बार 'लेनिन' नाम से उनका एक लेख प्रकाशित हुआ। 1901 के अन्त तक लेनिन अपनी विचारधारात्मक और राजनीतिक स्पष्टता, दृढ़ता और निर्णायकता के चलते समूह के प्रमुख नेता के रूप में उभरने लगे थे। **लेनिन के नेतृत्व में क्रान्तिकारियों के इस समूह का दो लक्ष्य थाः पहला, एक सुदृढ़ क्रान्तिकारी विचारधारा का विकास जिस पर कि रूसी मार्क्सवादियों के अधिकतम सम्भव हिस्से को सहमत किया जा सके और दूसरा 1898 में शुरू हुई पार्टी गठन की प्रक्रिया को फिर से शुरू करते हुए एक नयी पार्टी कांग्रेस बुलाना।** पहले काम में *इस्क्रा* और *ज़ार्या* में निरन्तर राजनीतिक लेखन और बहसें जारी रखने के अलावा रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी का एक कार्यक्रम तय करना भी शामिल था। *इस्क्रा* का घोषित लक्ष्य था बिखरे हुए रूसी सामाजिक जनवादी आन्दोलन को "एक निश्चित संगठन और मुखाकृति" प्रदान करना था। लेकिन रूसी सामाजिक जनवादियों को संगठित करने में लेनिन किसी भी किस्म का राजनीतिक समझौता नहीं चाहते थे, न ही विचारधारात्मक-राजनीतिक मुद्दों पर और न ही सांगठनिक उसूलों पर। हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं कि एक केन्द्रीकृत और अनुशासित सर्वहारा हिरावल पार्टी की सोच लेनिन के दिमाग़ में 1895 में पीटर्सबर्ग में 'लीग ऑफ स्ट्रगल' की स्थापना के समय ही पैदा हो चुकी थी। इसलिए *इस्क्रा* के शुरू होने की घोषणा में लेनिन ने लिखा, **"एकजुट होने से पहले, और एकजुट होने के लिए, हमें पहले निर्णायक और सुनिश्चित तौर पर सीमा रेखाएँ खींच लेनी चाहिए। अन्यथा हमारी एकता महज़ एक कपोल कल्पना होगी जो कि मौजूदा भ्रम को ढँकने का काम करेगी और इसके आमूलगामी ढंग से सफ़ाये को रोकेगी। इसलिए यह समझ लिया जाय कि हम अपने मुखपत्र को वैविध्यपूर्ण रायों का एक संग्रह मात्र बनाने का इरादा नहीं रखते। इसके विपरीत, इसे एक सख़्ती से निर्धारित नीति की भावना में संचालित करेंगे।"** (वी.आई.लेनिन, *कलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड 5, मॉस्को, 1960, पृ. 430, *अनुवाद हमारा*)

लेनिन में शुरू से ही यह दृढ़ता और लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठा मौजूद थी। साथ ही, जिस तरीके से वह राजनीतिक बहस चलाते थे, विरोधियों पर हमला करते थे और पार्टी की गतिविधियों को नेतृत्व देते थे, उसमें किसी किस्म का आडम्बर या आत्मश्लाघा नहीं था। उनकी बात हमेशा सीधी और सटीक हुआ करती थी और बेहद नपे-तुले शब्दों में। मिसाल के तौर पर *क्या करें?* के प्रकाशन के बाद दूसरी पार्टी कांग्रेस में लेनिन ने अर्थवादियों की अपनी इस आलोचना के पक्ष में दलील रखते हुए कहा था, **"अर्थवादियों ने छड़ी को एक तरफ़ मोड़ दिया था। छड़ी को सीधा करने के लिए उसे दूसरी ओर मोड़ना ज़रूरी था; मैंने बस यही किया।"** लेनिन की बात की यही निर्णायकता उन्हें रूसी जनता और कम्युनिस्ट पार्टी का नेता बनाती थी। लेनिन की ज़बर्दस्त बौद्धिक क्षमता, विचारधारात्मक समझ, दार्शनिक अध्ययन, विश्लेषणात्मक कौशल और राजनीतिक निर्णायकता ही थी कि *इस्क्रा* 1902 तक रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी का एक कार्यक्रम प्रस्तावित करने में सफल रहा। लगभग इसी समय

लेनिन की प्रसिद्ध रचना 'क्या करें?' का प्रकाशन हुआ जो कि अर्थवादियों और "कानूनी" मार्क्सवादियों की निर्णायक आलोचना थी; लेकिन हमारा मानना है कि इस रचना को 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' और अन्य जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी रुझानों की आलोचना के तौर पर भी पढ़ा जाना चाहिए, जो कि पिछले एक दशक में विशेष तौर पर देश के मज़दूर आन्दोलन के अलग-अलग हिस्सों में उग आये हैं। इनमें से अधिकांश रुझान लेनिनवाद का नाम लेते हुए वास्तव में लेनिनवाद के कोर उसूलों पर हमला करते हैं। वास्तव में, इसे सामान्य तौर पर अर्थवाद और "कानूनी" मार्क्सवाद के साथ हर प्रकार के ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद की आलोचना के तौर पर भी पढ़ा जाना चाहिए। लेनिन के नेतृत्व में *इस्क्रा* के प्रकाशन और 'क्या करें?' के प्रकाशन ने विचारधारात्मक-राजनीतिक तौर पर दूसरी पार्टी कांग्रेस की ज़मीन तैयार कर दी थी। 1902 में 'क्या करें?' के प्रकाशन के साथ तीन प्रमुख राजनीतिक विरोधियों, यानी कि नरोदवाद, अर्थवाद और "कानूनी" मार्क्सवाद पर निर्णायक रूप से विजय प्राप्त कर ली गयी थी। साथ ही, इस समय तक मज़दूर वर्ग के बीच सतत् राजनीतिक कार्य ने पार्टी संगठन का भी बुनियादी ढाँचा खड़ा कर दिया था।

1903 की पार्टी कांग्रेस ने रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में पहली फूट को जन्म दिया जो कि कुछ अहम राजनीतिक और सांगठनिक सवालों को लेकर हुई थी। इस फूट ने दो नये राजनीतिक संघर्षों को जन्म दिया जो कि रूसी क्रान्ति के बाद भी चलते रहे: बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच का संघर्ष और बोल्शेविकों व त्रात्स्कीपंथ के बीच संघर्ष। जिन तीन बुनियादी संघर्षों ने बोल्शेविज़्म और लेनिनवाद की बुनियाद रखी (जिनका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं) उन तीनों की छाया अगले दो बड़े राजनीतिक संघर्षों में भी हमें दिखती है, जो कि लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी और मेंशेविकों तथा बोल्शेविक पार्टी और त्रात्स्कीपंथ के बीच हुआ।

1903 से रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के इतिहास का एक नया चरण शुरू होता है। इस चरण की शुरुआत मेंशेविकों से फूट के साथ हुई। इस फूट के बाद का इतिहास नये राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्षों का इतिहास है, जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे। इस इतिहास की शुरुआत मेंशेविज़्म से संघर्ष के साथ होती है। सही मायनों में, मेंशेविज़्म पुराने अर्थवादियों और "कानूनी" मार्क्सवादियों का वंशज था और मेंशेविज़्म के साथ सांगठनिक लाइन पर लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों का जो टकराव हुआ वह राजनीतिक अन्तरविरोधों का ही नतीजा था और इन राजनीतिक अन्तरविरोधों का मूल अर्थवाद और रूस में क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल को लेकर ही था।

5. पार्टी के गठन के बाद पार्टी के भीतर दो कार्यदिशाओं का संघर्ष

क) मेंशेविज़्म से संघर्ष

1900 से लेकर 1903 तक *इस्क्रा* को आधार बनाकर जो राजनीतिक कार्य लेनिन के नेतृत्व में हुआ, उससे वह सांगठनिक और राजनीतिक ज़मीन तैयार हुई जिसकी बुनियाद पर 1903 में दूसरी पार्टी कांग्रेस हुई। सही मायने में यह पार्टी कांग्रेस स्थापना कांग्रेस मानी जानी चाहिए क्योंकि 1898 में पहली पार्टी कांग्रेस में जो पहल शुरू हुई थी, उसका अब कुछ नहीं बचा था। सिर्फ एक नाम बचा था जिसे कि दूसरी पार्टी कांग्रेस में भी अपनाया गया।

इस पार्टी कांग्रेस से पहले लेनिन व प्लेखानोव के नेतृत्व में काम कर रहे सामाजिक जनवादियों में पार्टी कार्यक्रम और पार्टी संहिता को लेकर बहस शुरू हुई, जिन्हें अब *इस्क्रा* समूह के नाम से जाना जाता था। *इस्क्रा* समूह के भीतर पार्टी कार्यक्रम और पार्टी संहिता को लेकर जो चर्चाएँ शुरू हुईं उसमें लेनिन और प्लेखानोव के बीच कुछ गम्भीर मतभेद उभरकर सामने आये। प्लेखानोव ने पार्टी कार्यक्रम का पहला मसविदा पेश किया, जिसमें कि सैद्धान्तिक तौर पर कुछ ग़लत नहीं था, लेकिन रूस में पूँजीवाद के विकास को लेकर और इसके परिणामस्वरूप रूस में क्रान्ति की तैयार होती परिस्थितियों की विवेचना ढीली-ढाली थी। नतीजतन, इससे कोई ठोस व्यावहारिक कार्यक्रम नहीं निकलता था। किसान प्रश्न पर भी प्लेखानोव के मसौदे में कुछ ख़ास नहीं था। लेनिन ने इस मसौदे का विरोध करते हुए कहा, **"यह व्यावहारिक संघर्ष में संलग्न किसी पार्टी का कार्यक्रम नहीं हैं बल्कि सिद्धान्तों का घोषणापत्र है–बल्कि छात्रों के लिए एक कार्यक्रम है।"** लेनिन ने इस मसौदे के जवाब में एक वैकल्पिक मसौदा पेश किया जो कि सभी सैद्धान्तिक मसलों पर ज़्यादा ठोस और सटीक अवस्थिति अपनाता था। लेकिन *इस्क्रा* समूह में रूसी सामाजिक जनवादियों के सबसे पुराने और सम्मानित नेता के तौर पर प्लेखानोव की प्रतिष्ठा अत्यधिक थी और लेनिन अभी 33 वर्ष के एक युवा थे। संगठन ने इसके बाद इस प्रश्न के निपटारे के लिए आयोग बनाया जिसका काम दोनों मसौदों को मिलाकर एक मसौदा तैयार करना था। दोनों मसौदों को मिलाकर जो पार्टी कार्यक्रम तैयार हुआ उसमें लेनिन के मसौदे के लगभग सभी बिन्दुओं को प्लेखानोव द्वारा कुछ मामूली संशोधनों के साथ स्वीकार किया गया था, और प्लेखानोव के मसौदे के उन सभी बिन्दुओं पर लेनिन के संशोधन शामिल किये गये थे, जो सैद्धान्तिक तौर पर कमज़ोर थे। कार्यक्रम का भूमि कार्यक्रम का पूरा हिस्सा लेनिन ने लिखा था। लेनिन उस समय ही भूमि के राष्ट्रीयकरण को कार्यक्रम में शामिल करना चाहते थे, जबकि प्लेखानोव इस पर सहमत नहीं थे। अन्त में, इस बात पर सहमति बनी कि किसानों को वे सारी ज़मीनें बिना मुआवज़ा वापस करने की माँग कार्यक्रम में शामिल की जाये जो कि भूदास मुक्ति के समय उनसे ले ली गयी थी। सर्वहारा अधिनायकत्व और क्रान्ति में मज़दूर वर्ग की नेतृत्वकारी भूमिका पर भी लेनिन के प्रस्ताव को कार्यक्रम में शामिल किया गया। **इस समय लेनिन और प्लेखानोव के बीच जो मतभेद हुए थे, वास्तव में वही मतभेद आगे प्लेखानोव को मेंशेविकों के पक्ष में खड़ा करने वाले थे।** अन्तिम तौर पर अपनाये गये कार्यक्रम का विचारधारात्मक हिस्सा मानता था रूस में पूँजीवाद अब आगे की प्रगति के लिए बाधा है। उसके अन्तरविरोधों के बढ़ने के साथ सर्वहारा वर्ग की "संख्या और एकजुटता बढ़ रही है और शोषकों के साथ उसका संघर्ष और तीखा होता जा रहा है।" कार्यक्रम ने इस बात का ज़िक्र किया कि पूँजीवाद के अन्तरविरोधों के तीव्र होते जाने के साथ समाजवादी क्रान्ति की ज़मीन तेज़ी से तैयार हो रही है। यह पहला कार्यक्रम था जिसने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की बात की। कार्यक्रम का वह हिस्सा जो रूसी क्रान्ति के तात्कालिक लक्ष्यों से सम्बन्धित था, मूल तौर पर निरंकुश राजतन्त्र के ख़ात्मे, संविधान सभा बुलाने, जनवादी अधिकारों (जैसे कि अभिव्यक्ति, समान व सार्वभौमिक मताधिकार, संगठित होने और एकत्र होने की स्वतन्त्रता और न्यायाधीशों के चुनाव का अधिकार), और चर्च व राज्य के अलगाव की बात करता था। इन राजनीतिक अधिकारों के अलावा एक हिस्सा आर्थिक माँगों को समर्पित था जिसमें कि आठ घण्टे का

कार्यदिवस, बाल श्रम पर प्रतिबंध, बुजुर्गों के लिए राज्य बीमा, और जुर्मानों पर रोक की माँगें शामिल थीं। किसानों की आर्थिक माँगों में उनसे भूदास उन्मूलन के समय छीनी गयी ज़मीनों को वापस करने की माँग प्रमुख थी। ज़ाहिर है कि यह कार्यक्रम जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिए था और इसे रैडिकल बुर्जुआ और किसानों को साथ लेने को ध्यान में रखकर तैयार किया गया था। साथ ही कार्यक्रम में हर उस आन्दोलन को समर्थन देने की बात की गयी थी जो कि मौजूद व्यवस्था के वास्तविक रूप में ख़िलाफ़ था। **इस कार्यक्रम को कुछ मामूली संशोधनों के साथ 1903 की कांग्रेस में पास कर लिया गया था और यह 1919 तक मूल रूप में बदला नहीं गया था।**

दूसरी पार्टी कांग्रेस में करीब 25 सामाजिक जनवादी संगठनों के प्रतिनिधियों ने भागीदारी की। हर प्रतिनिधि को दो वोट देने का अधिकार था। यहूदी बुण्ड को कांग्रेस ने स्वायत्त संगठन की विशेष स्थिति प्रदान की थी और उनके प्रतिनिधियों को 3 वोट का अधिकार दिया गया था। कुछ संगठन एक ही प्रतिनिधि भेज पाये इसलिए अन्ततः कांग्रेस में कुल 43 वोट देने का अधिकार रखने वाले प्रतिनिधि आये जिनके पास 51 वोट डालने का अधिकार था। इसके अलावा कुछ अन्य संगठनों के 14 प्रतिनिधि और भी थे, लेकिन उनके पास वोट डालने का अधिकार नहीं था। इस कांग्रेस में 30 प्रतिनिधि ऐसे थे जो कि *इस्क्रा* समूह से थे या उसकी कार्यदिशा से घोषित तौर पर सहमत थे। लेकिन ऐसा नहीं था कि इस्क्रावादियों के बीच की एकता कोई एकाश्मी एकता थी; वास्तव में, शुरू से ही इस्क्रावादियों को लेनिन-नीत इस्क्रावादियों और अन्य इस्क्रावादियों के बीच विभाजित किया जा सकता था। यह बात कांग्रेस में कार्यक्रम पर चर्चा और उसे अपनाये जाते समय पूरी तरह खुलकर सामने नहीं आयी। **नतीजतन, कांग्रेस में कार्यक्रम पर चर्चा तक सभी इस्क्रावादियों का धड़ा ही बहुमत में था।** जिन स्रोतों से कुछ विरोध आ सकता था वह यहूदी बुण्ड के प्रतिनिधि थे जो कि पार्टी में सिर्फ़ अपने जातीय अल्पसंख्यक होने के अधिकारों और स्वायत्ता के विशिष्ट अधिकारों की रक्षा में दिलचस्पी रखते थे। इसके अलावा 2 अर्थवादी रुझान रखने वाले प्रतिनिधि थे, **एकिमोव** और **मार्तीनोव।** इन प्रतिनिधियों की तरफ़ से सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के प्रश्न पर सवाल उठाये गये।

'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' (1936) के अनुसार कुछ अर्थवादी रुझान वाले समूह अपनी पहचान को छिपाकर कांग्रेस में आये थे और सभी अहम सैद्धान्तिक मुद्दों पर उनकी अवस्थिति डावाँडोल होती रही। लेकिन एकिमोव और मार्तीनोव खुले तौर पर शुरू से अर्थवादी रुझान की नुमाइन्दगी कर रहे थे। ये दोनों विदेशी रूसी सामाजिक जनवादी यूनियन की नुमाइन्दगी कर रहे थे। दो विरोध के वोटों के साथ *इस्क्रा* को पार्टी का मुखपत्र स्वीकार किया गया। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अलावा, कार्यक्रम के जिन हिस्सों पर कुछ बहस हुई उनमें एक था सर्वहारा वर्ग की चेतना का प्रश्न। **कार्यक्रम एक जगह सर्वहारा वर्ग की बढ़ती संख्या और एकजुटता का ज़िक्र कर रहा था; वहाँ पर मार्तीनोव ने 'चेतना' शब्द जोड़ने का प्रस्ताव रखा।** यह वास्तव में उसी बहस का असर था जो पिछले वर्ष 'क्या करें?' के प्रकाशन के साथ अपने चरम पर पहुँच चुकी थी। अर्थवादियों का मानना था कि सर्वहारा वर्ग स्वतःस्फूर्त ढंग से राजनीतिक चेतना पैदा कर सकता है, जबकि लेनिन ने इसकी आलोचना करते हुए स्पष्ट किया था कि सर्वहारा वर्ग अपने आप महज़ ट्रेड यूनियन चेतना पैदा कर सकता है; सामाजिक-जनवादी चेतना मज़दूर आन्दोलन में हमेशा बाहर से आती है। इस कांग्रेस

में अपने इसी अर्थवादी रुझान के कारण मार्तीनोव ने सर्वहारा वर्ग की स्वत:स्फूर्त रूप से बढ़ती चेतना का ज़िक्र करने का प्रस्ताव रखा था। इस प्रस्ताव को रखते हुए मार्तीनोव ने लेनिन की रचना 'क्या करें?' की आलोचना रखी। लेनिन ने अपनी कार्यदिशा में पक्ष में पुरज़ोर तर्क रखे और **प्लेखानोव, मार्तोव** और **त्रात्स्की** ने लेनिन के पक्ष में हस्तक्षेप किया। नतीजतन, मार्तीनोव के संशोधन का प्रस्ताव ख़ारिज हो गया। इसके अलावा अवसरवादी तत्वों ने किसान प्रश्न को पार्टी कार्यक्रम में शामिल करने पर भी प्रश्न उठाया। बुण्डवादियों और पोलिश सामाजिक-जनवादियों ने राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को पार्टी कार्यक्रम में शामिल करने का विरोध किया। लेकिन ये सभी आपत्तियाँ कांग्रेस में अन्तत: पराजित हुईं। पार्टी के दूरगामी कार्यक्रम (यानी, समाजवादी क्रान्ति) और तात्कालिक न्यूनतम कार्यक्रम (यानी, निरंकुश राजतन्त्र का ख़ात्मा और संविधान सभा बुलाना, जनवादी गणराज्य की स्थापना, किसानों को ज़ब्त ज़मीनें लौटाना, आठ घण्टे का कार्यदिवस आदि) पर कोई विशेष विवाद नहीं हुआ। कुल मिलाकर, कार्यक्रम का हिस्सा छोटी-मोटी बहसों, आपत्तियों और चर्चा के बाद सहज तरीके से अनुमोदित हो गया।

मुख्य विवाद हुआ पार्टी संहिता पर। दरअसल, जिस आयोग ने पार्टी संहिता के प्रश्न पर मसौदा तैयार किया था, उसमें ही एक अहम सैद्धान्तिक मसले पर विवाद हो गया था और इस वजह से इस आयोग ने दो मसौदे पेश किये थे। यह विवाद लेनिन और मार्तोव के बीच हुआ था। विवाद का मूल मुद्दा पार्टी सदस्यता की शर्तों से सम्बन्धित था। संहिता के पहले ही पैराग्राफ में पार्टी की सदस्यता की शर्तों को लेकर बात की गयी थी। जिस पार्टी आयोग को पार्टी संहिता का मसौदा तैयार करने का उत्तरदायित्व दिया गया था, उसमें ही विवाद पैदा हो गया। लेनिन और मार्तोव ने वैकल्पिक मसौदे पेश किये। देखने में दोनों के मसौदों के पहले वाक्य में बहुत बड़ा फर्क नहीं लगता, लेकिन ग़ौर किया जाय तो यह एक बुनियादी फ़र्क था। लेनिन द्वारा पार्टी सदस्यता की शर्तों पर प्रस्तावित वाक्य इस प्रकार था:

"पार्टी का सदस्य वह है जो कि इसके कार्यक्रम को स्वीकार करता है और दोनों प्रकार से, यानी भौतिक तौर पर और इसके किसी संगठन में भागीदारी के ज़रिये व्यक्तिगत भागीदारी करके, पार्टी का समर्थन करता है।"

मार्तोव का मसौदा इस शर्त को इस प्रकार रखता था:

"रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी का सदस्य वह है जो इसके कार्यक्रम को स्वीकार करता है और दोनों प्रकार से, यानी भौतिक तौर पर और इसके किसी संगठन के नेतृत्व में नियमित सहकार के ज़रिये, पार्टी का समर्थन करता है।"

यह अन्तर शुरू में किसी को मामूली लगता है लेकिन इनके पीछे कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन और ढाँचे को लेकर दो अलग अवधारणाएँ मौजूद हैं। लेनिन की सोच एक केन्द्रीकृत, गोपनीय और लौह अनुशासन में कसी हुई पार्टी की थी। इसलिए उनके मसौदे में शामिल सदस्यता-सम्बन्धी शर्त पार्टी सदस्यता के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं करती है। लेनिन के अनुसार पार्टी की सदस्यता के लिए महज़ पार्टी के कार्यक्रम में भरोसा करना और उसे भौतिक और वित्तीय तौर पर सहयोग देना पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके लिए अमुक व्यक्ति को पार्टी के किसी न किसी संगठन का सदस्य होना और उसके अनुशासन में काम करना होगा। मार्तोव के मसौदे के अनुसार पार्टी का सदस्य होने के लिए किसी को किसी पार्टी संगठन के सदस्य के तौर पर और उसके अनुशासन में बंधकर काम करना आवश्यक नहीं है। इसके अनुसार,

पार्टी का सदस्य कोई भी ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो किसी पार्टी संगठन के अनुशासन में न हो, लेकिन वह कार्यक्रम को स्वीकार करता हो और वित्तीय सहयोग करता हो। यदि इस शर्त को अपनाया जाय तो सदस्यों के लिए पार्टी अनुशासन का पालन करना बाध्यताकारी नहीं रह जायेगा। किसी पार्टी संगठन का हिस्सा हुए बग़ैर पार्टी का सदस्य होने का अर्थ होगा एक ऐसे व्यक्ति का पार्टी सदस्य बनना जो कि पार्टी अनुशासन का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। लेनिन ने इसका सख़्त विरोध किया। उनका मानना था कि ऐसे में पार्टी में तमाम किस्म के अस्थिर और ग़ैर-सर्वहारा तत्व भर जायेंगे और पार्टी मज़दूर वर्ग का एक उन्नत दस्ता नहीं रह जायेगी; वह एक यूरोपीय शैली की सामाजिक-जनवादी या समाजवादी पार्टी बन जायेगी। हमेशा ही क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करने वाले और कई बार उसे भौतिक सहायता देने वाले ऐसे तमाम सदस्य होते हैं जो कि पार्टी अनुशासन में बंधने को तैयार नहीं होते, या कहें कि, बंध ही नहीं सकते। तमाम ऐसे बुद्धिजीवी, शिक्षक आदि होते हैं जो मुद्दा-आधारित समर्थन पार्टी को देते हैं। मार्तोव के अनुसार, ऐसे सभी तत्वों को पार्टी सदस्यता दी जानी चाहिए और उन पर अनुशासन का पालन करने की बाध्यता नहीं लादी जानी चाहिए। लेनिन का कहना था कि ऐसे लोग ग़ैर-सदस्य समर्थकों के दायरे में ही रह सकते हैं और सर्वहारा वर्ग के हिरावल दस्ते के तौर पर पार्टी की राजनीतिक-सांगठनिक शुद्धता पर समझौता नहीं किया जा सकता है। इसी बहस में दृढ़ इस्क्रावादियों और अस्थिर इस्क्रावादियों के बीच एक फूट पैदा हुई और यही फूट कांग्रेस में आगे चलकर बोल्शेविक और मेंशेविक धड़ों के बीच की फूट में तब्दील हो गयी। मार्तोव का कहना था कि "संगठन" और "पार्टी" के बीच फर्क किया जाना चाहिए; संगठन को सख़्त गोपनीयता के ढाँचे में ढाला जाना चाहिए लेकिन पार्टी को हमदर्दों का एक विशाल दायरा होना चाहिए। लेनिन का कहना था कि अगर इस प्रस्ताव पर अमल किया जाता है तो पार्टी व्यर्थ वितण्डा करने वाले बातूनी तत्वों का जमावड़ा बन जायेगी और पार्टी का जुझारू, सैन्य चरित्र जाता रहेगा।

इस्क्रावादियों के बीच फूट के कारण कांग्रेस में अवसरवादी, अर्थवादी और बीच का रास्ता निकालने का प्रयास करने वाले अस्थिर तत्वों की ताक़त लेनिन के इस्क्रावादी धड़े से बढ़ गयी। प्लेखानोव एक प्रकार से बेमन से लेनिन के पक्ष में आये। *इस्क्रा* के पुराने सम्पादक मण्डल में से एक्सेलरोद खुले तौर पर मार्तोव के पक्ष में आ गये। वेरा ज़ासुलिच और पोत्रेसोव ने कुछ बोला नहीं लेकिन उनका मौन समर्थन मार्तोवपंथियों के साथ ही था। त्रात्स्की, जिसने कि कार्यक्रम के मसले पर लेनिन की अवस्थिति का बचाव करते हुए मार्तीनोव व अन्य अर्थवादियों का विरोध किया था, मार्तोव के पक्ष में आ गया। नतीजतन, लेनिन के मसौदे के पक्ष में 22 वोट पड़े जबकि मार्तोव के मसौदे का 28 वोट मिले। एक प्रतिनिधि ने वोट नहीं डाला। कांग्रेस ने मार्तोव के मसौदे को स्वीकार किया। बुण्ड, अर्थवादियों और अस्थिर (ग़ैर-लेनिनवादी) इस्क्रावादियों के वोट मिलकर लेनिनवादी इस्क्रावादी धड़े के कुल वोटों से ज़्यादा सिद्ध हुए। लेकिन यहाँ ग़ौर करने की बात यह है कि रूस भर में जो तमाम सामाजिक-जनवादी संगठन कांग्रेस में शामिल हुए थे, उनमें लेनिन की कार्यदिशा का प्रभाव अधिक था। अगर बुण्ड और प्रच्छन्न और खुले अर्थवादियों के वोटों को हटा दें (जो हर तरह से एक कमज़ोर और ग़ैर-हिरावल पार्टी की हिमायत करते थे) तो मार्तोवपंथियों का इन सामाजिक-जनवादी समूहों पर प्रभाव लेनिन के मुकाबले कम था। इस मुद्दे पर वोट ने पार्टी सिद्धान्त के प्रश्न पर त्रात्स्की के मेंशेविक रुझान को भी उघाड़कर रख दिया। यहीं से लेनिन

का त्रात्स्की के बारे में मूल्यांकन बदलना शुरू होता है। त्रात्स्की के साथ लेनिन के संघर्ष की चर्चा हम अलग से करेंगे, क्योंकि आम तौर पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में हावी इस मूल्यांकन से हम सहमत नहीं हैं कि त्रात्स्की एक सतत् मेंशेविक था। निश्चित तौर पर, त्रात्स्की पर मेंशेविज़्म का प्रभाव था, लेकिन त्रात्स्की की पहुँच और पद्धति को केवल मेंशेविज़्म के रूप में अपचयित करना एक सटीक द्वन्द्वात्मक मूल्यांकन नहीं होगा। ख़ैर, पार्टी सदस्यता के प्रश्न पर विवाद के इस वाकये के बाद के घटनाक्रम ने कांग्रेस के पूरे रुझान को बदल डाला।

संहिता के प्रश्न पर फैसले के बाद पार्टी के विभिन्न केन्द्रीय संगठनों में चुनाव का प्रश्न उपस्थित हुआ। इनमें केन्द्रीय कमेटी और *इस्क्रा* के सम्पादक मण्डल के चुनाव का प्रश्न प्रमुख था जिसे कि कांग्रेस ने आधिकारिक तौर पर पार्टी का मुखपत्र स्वीकार किया था। इन संगठनों में चुनाव के पहले कांग्रेस को बुण्ड के प्रश्न पर अपनी अवस्थिति को स्पष्ट करना था। बुण्ड एक जातीय आधार पर बना मज़दूर संगठन था जो कि पार्टी में अपनी स्वायत्त स्थिति को कायम रखना चाहता था और यहूदी मज़दूरों के प्रतिनिधित्व को अपना एकाधिकार मानता था। इस प्रश्न पर कांग्रेस में शामिल ज़्यादातर प्रतिनिधि सहमत थे। उनका मानना था कि किसी भी रूप में एक सामाजिक-जनवादी पार्टी में कोई जातीय समूह इस प्रकार की स्वायत्तता नहीं रख सकता है। कांग्रेस ने बुण्ड के यहूदी मज़दूरों के प्रतिनिधित्व के एकाधिकार को मानने से इंकार किया। नतीजतन, बुण्ड के प्रतिनिधि कांग्रेस से उठकर चले गये। इसके बाद कांग्रेस ने तय किया कि रूसी सामाजिक-जनवादियों के केवल एक विदेशी समूह को पार्टी संगठन की मान्यता दी जायेगी। इसमें 'लीग ऑफ रिवोल्यूशनरी सोशल-डेमोक्रेसी' को चुना गया, न कि एकिमोव और मार्तीनोव के अर्थवादी संगठन 'यूनियन ऑफ रशियन सोशल-डेमोक्रैट्स अब्रोड' को। नतीजतन, यह अर्थवादी संगठन भी कांग्रेस से उठकर चला गया। **नतीजतन, अब मार्तोवपंथी और मध्यमार्गियों का बहुमत समाप्त हो गया और लेनिनवादी इस्क्रावादी धड़ा बहुमत में आ गया। ग़ौर करने की बात यह है कि बुण्ड और अर्थवादियों को बाहर करने के निर्णय पर सभी इस्क्रावादी साथ थे।**

इसके बाद, *इस्क्रा* के सम्पादक मण्डल के चुनाव की बारी आयी। इस सम्पादक मण्डल की स्थिति पार्टी में एक प्रकार से विचारधारात्मक-राजनीतिक मार्गदर्शक जैसी थी, जबकि केन्द्रीय कमेटी शीर्षतम केन्द्रीय पार्टी संगठन था। लेनिन ने कांग्रेस से पहले ही *इस्क्रा* के सम्पादक मण्डल के समक्ष यह प्रस्ताव रखा था कि केन्द्रीय कमेटी और *इस्क्रा* के सम्पादक मण्डल में सदस्यों की संख्या तीन-तीन कर दी जाय। *इस्क्रा* के सम्पादक मण्डल में उस समय छह सदस्य हुआ करते थे। उस समय मार्तोव, एक्सेलरोद या ज़ासुलिच ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की थी। लेकिन जब कांग्रेस में लेनिन ने सम्पादक मण्डल के सदस्यों के तौर पर प्लेखानोव, अपना और मार्तोव का नाम प्रस्तावित किया तो मार्तोव ने इसका विरोध किया। इस समय तक लेनिन की कार्यदिशा हर तौर पर बहुमत में आ चुकी थी। इस सम्पादक मण्डल के प्रस्ताव को 2 के मुकाबले 25 वोटों से विजय मिली। 17 लोगों ने वोट नहीं डाला। मार्तोव ने इस सम्पादक मण्डल में शामिल होने से इंकार कर दिया और लेनिन पर आरोप लगाया कि उनके धड़े ने कांग्रेस में "मार्शल लॉ लागू कर दिया है" और "कुछ विशिष्ट समूहों के विरुद्ध आपात कानून" लगा दिया गया है। इसके जवाब में लेनिन ने कहा, "मैं "मार्शल कानून" और "विशिष्ट व्यक्तियों और समूहों के विरुद्ध असाधारण कानून" के बारे में बड़े-बड़े शब्दों से बिल्कुल नहीं डरता। लेनिन का कहना था कि **अस्थिर और ढुलमुलयकीन तत्वों के साथ**

निपटने के लिए हम न सिर्फ "मार्शल कानून" लागू कर सकते हैं, बल्कि हम ऐसा करने को बाध्य हैं, और हमारी पूरी पार्टी संहिता, "केन्द्रीयता" की पूरी नीति, जिसके की कांग्रेस ने अभी-अभी अनुमोदित किया है, वह और कुछ नहीं बल्कि राजनीतिक अनुशासनहीनता के ऐसे तमाम स्रोतों से निपटने के लिए "मार्शल कानून" ही तो हैं। राजनीतिक अनुशासनहीनता के प्रति विशेष, बल्कि असाधारण कानूनों की आवश्यकता है; और कांग्रेस द्वारा उठाये गये क़दम ने ऐसे कानूनों और ऐसे क़दमों के लिए एक ठोस आधार तैयार करके सही राजनीतिक दिशा निर्धारित की है।" (**इकतीसवाँ सत्र**, *दूसरी कांग्रेस,* रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी, 1903) इसके बाद कांग्रेस के चुनावों में मार्तोव के समर्थकों ने हिस्सा नहीं लिया और दोनों धड़ों ने अपनी अलग-अलग बैठकें शुरू कर दीं। नयी केन्द्रीय कमेटी में सभी लेनिन के इस्क्रावादी धड़े के लोग चुने गये। प्लेखानोव को पार्टी परिषद् का अध्यक्ष चुना गया। **यहीं से जो लोग लेनिन-नीत बहुमत के पक्ष में थे उन्हें बोल्शेविक (*बोल्शिन्त्स्वो* जिसका अर्थ है बहुमत) और जो मार्तोव के अल्पमत के पक्ष में थे उन्हें मेंशेविक (*मेंशिन्त्स्वो,* यानी अल्पमत) कहा गया।**

दूसरी पार्टी कांग्रेस बोल्शेविक और मेंशेविक धड़ों के बीच संघर्ष की शुरुआत थी। **कांग्रेस के तुरन्त बाद प्लेखानोव ने अपना पक्ष बदल लिया।** हालाँकि कांग्रेस में जब एक प्रतिनिधि ने लेनिन के ज़्यादा दृढ़ विचारों और प्लेखानोव के विचारों के बीच फर्क करने की कोशिश की थी, तो प्लेखानोव ने जवाब दिया था कि उन्हें लेनिन से अलग कर पाना असम्भव है। लेकिन कांग्रेस के पहले ही पार्टी कार्यक्रम के मसले पर लेनिन और प्लेखानोव के बीच जो विवाद हुआ था उसने दिखला दिया था कि एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण और गठन की प्रक्रिया में विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक मसलों पर जिस दृढ़ता और स्पष्टता की ज़रूरत है, उसकी प्लेखानोव में कमी है। वैसे भी कांग्रेस के दौरान लेनिन और मार्तोव के धड़ों के बीच जो फूट पड़ी उसमें प्लेखानोव दुखी मन से ही लेनिन के पक्ष में आये थे, क्योंकि वह किसी भी कीमत पर पार्टी की एकता को बचाना चाहते थे। जबकि लेनिन का मानना था किसी ढीले-ढाले सांगठनिक उसूलों पर एक विशालकाय पार्टी बनी रहे, इससे बेहतर होगा कि दृढ़ उसूलों पर एक छोटी पार्टी बने। लेनिन का एकता के प्रति दृष्टिकोण साफ़ था: एकता से पहले मतभेद के बिन्दुओं को रेखांकित किया जाना चाहिए ताकि एकता अधिक मज़बूत और स्थायी हो, यदि वह बन पाती है। प्लेखानोव द्वारा अवसरवादियों के साथ एकता बनाये रखने का प्रयास जल्द ही स्वयं अवसरवाद में तब्दील हो गया। **ई.एच. कार** के मुताबिक कांग्रेस में लेनिन अपने मत की विजय के बाद जितनी तेज़ी से इस विजय का लाभ उठाने के लिए आगे बढ़े उससे प्लेखानोव चकित रह गये; लेकिन यह प्रमुख कारण नहीं था। लेनिन ने कांग्रेस में ही मार्तोव के इस आरोप पर, कि लेनिन पार्टी संगठन पर अपने धड़े का प्रभाव बढ़ाना चाहते हैं, कहा कि यह सच है, और विभिन्न राजनीतिक प्रवृत्तियों के बीच जो संघर्ष जारी है वह पार्टी संगठन पर प्रभाव बढ़ाने के लिए ही तो है। लेनिन एक दृढ़, अनुशासित और गोपनीय पार्टी के सिद्धान्त पर अटल थे क्योंकि लेनिन बौद्धिक सिद्धान्त दुहराते रहने वाले व्यक्ति नहीं थे; उनके सभी सिद्धान्त और विचारधारात्मक अन्वेषण सिर्फ़ इसलिए थे कि वे क्रान्तिकारी व्यवहार की सेवा कर पायें। लेनिन इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि ज़ारशाही के राज्य तन्त्र के ख़िलाफ़ कोई भी ऐसी पार्टी जिसका ढाँचा ढीला-ढाला हो, नहीं टिक सकती है। कई लोगों ने इस बात को इस प्रकार से व्याख्यायित

किया है कि ऐसे सख़्त गोपनीयता और अनुशासन वाले पार्टी ढाँचे की आवश्यकता उन देशों मे नहीं पड़ेगी, जहाँ उदार बुर्जुआ जनवाद होगा। लेकिन यह एक ग़लतफ़हमी है। **लेनिन ने जिस आधार पर एक दृढ़, गुप्त और अनुशासित पार्टी ढाँचे की हिमायत की थी, उस आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि 20वीं सदी ने पूँजीवादी राज्य तन्त्र और संरचना में जिस प्रकार के बदलाव देखे हैं, पूँजीपति वर्ग ने क्रान्तियों से सबक लेकर अपने राज्य तन्त्र को जिस तरह चाक-चौबन्द किया है, जिस प्रकार से आधुनिक बुर्जुआ खुफ़िया तन्त्र विकसित हुआ है, उसके मद्देनज़र एक सख़्त बोल्शेविक उसूलों वाली पार्टी की आवश्यकता आज पहले हमेशा से कहीं ज़्यादा है।** निश्चित तौर पर, बुर्जुआ जनवाद यदि ज़्यादा जनवादी 'स्पेस' मुहैया कराता है, तो कोई भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी उसका जनता की राजनीतिक चेतना के स्तरोन्नयन और जनान्दोलनों को आगे बढ़ाने के लिए पूरा इस्तेमाल करेगी। लेकिन निश्चित तौर पर, ऐसी पार्टी अपने समूचे ढाँचे को खुला नहीं कर सकती। ऐसा करने का अर्थ होगा राज्यसत्ता के रहमोकरम पर रहना। और पिछली सदी में ऐसी ग़लती का ख़ामियाज़ा कई देशों की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टियों ने भुगता है। इसलिए लेनिन के पार्टी सिद्धान्त को तत्कालीन रूस के राज्यतन्त्र और राजनीतिक स्थितियों की विशिष्ट परिस्थितियों के लिए जायज़ बताना लेनिन के पूरे सांगठनिक सिद्धान्त को न समझ पाना है। ई. एच. कार भी इस ग़लती के शिकार हैं।

बहरहाल, कांग्रेस के बाद मार्तोव, एक्सेलरोद और त्रात्स्की ने **'फॉरेन लीग ऑफ रशियन सोशल-डेमोक्रैट्स'** के बैनर तले मार्तोव के शब्दों में "लेनिनवाद के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।" लेनिन के अनुसार इन मेंशेविकों ने पार्टी की गतिविधियों में व्यवधान पैदा करने, लक्ष्य को नुकसान पहुँचाने से लेकर पार्टी में बिखराव पैदा करने तक हर सम्भव प्रयास किये। कांग्रेस के तुरन्त बाद ही प्लेखानोव ने अपना पक्ष बदल लिया और मेंशेविकों के पक्ष में चले गये। इसका कारण यह था कि मेंशेविक धड़े ने उन्हें चेतावनी दी थी कि वे पार्टी में फूट डालेंगे। प्लेखानोव ने पार्टी में फूट के डर से अवसरवाद का पक्ष ले लिया। इसके बाद तमाम मुद्दों पर उन्होंने अपनी अवस्थितियाँ लेनिन से अलग कर लीं, जो कि थोड़ा शर्मनाक था क्योंकि अभी एक वर्ष पहले तक ही वह उन सभी अवस्थितियों पर लेनिन का समर्थन कर रहे थे। उन्होंने *इस्क्रा* के सम्पादक मण्डल में उन सभी मेंशेविकों को शामिल करने की माँग की जिन्हें कांग्रेस ठुकरा चुकी थी। जैसा कि ई.एच. कार ने लिखा है, **"लेनिन जिन मेंशेविकों को बाहर करना चाहते थे, उनमें प्लेखानोव के पुराने दोस्त और सहयोगी थे। लेनिन के सख़्त पार्टी अनुशासन का प्लेखानोव ने सैद्धान्तिक तौर पर समर्थन किया था, लेकिन जब इसे लागू करने की बात आयी, तो यह अनुशासन राजनीतिक संगठन की उन कम कठोर धारणाओं के विरुद्ध साबित हुआ जिन्हें प्लेखानोव ने पश्चिम में अपने लम्बे प्रवास के दौरान आत्मसात कर लिया था।"** (कार, *दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन,* खण्ड-1, 1985, नॉर्टन, न्यूयॉर्क, पृ. 32, *अनुवाद हमारा*) निश्चित तौर पर, इस कथन में पूरी सच्चाई नहीं है लेकिन यह आंशिक तौर पर एक यही तस्वीर पेश करता है। लेकिन यह सिर्फ़ व्यक्ति की "किस्म" की बात नहीं थी, जैसा कि कार कई बार बना देते हैं। प्लेखानोव के विचार नरोदवाद के विरुद्ध संघर्ष में, अर्थवाद के विरुद्ध संघर्ष में पुरज़ोर तरीके से मार्क्सवादी सिद्धान्तों की हिफ़ाज़त करते थे; लेकिन रूस की ठोस परिस्थितियों के ठोस मूल्यांकन में प्लेखानोव लेनिन से कहीं पीछे थे। मिसाल के तौर पर, किसान प्रश्न पर उनकी अवस्थिति मार्क्सवाद की एक

सही समझदारी की कमी को दर्शाती थी। साथ ही, सांगठनिक उसूलों के मामले में उनकी अवस्थिति यूरोपीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन से ज़्यादा प्रेरित थे। लेकिन यह प्रश्न, जैसा कि कार मानते हैं, महज़ अलग-अलग देशों का फ़र्क नहीं था, क्योंकि अगर ऐसा होता तो लेनिन के विचार भी ऐसे ही होते क्योंकि उन्होंने भी क्रान्ति से पहले राजनीतिक जीवन का बड़ा हिस्सा विदेशों में ही बिताया। यहाँ लेनिन का मतान्तर प्लेखानोव के उदारवाद और अवसरवाद से था। और इस मायने में विदेश में रहने या न रहने से कोई फर्क नहीं पड़ता था। सवाल मार्क्सवादी विचारधारा, राजनीति और सांगठनिक उसूलों की एक सही द्वन्द्वात्मक समझदारी का था।

प्लेखानोव द्वारा मेंशेविकों का पक्ष लिये जाने पर लेनिन ने 1903 में ही *इस्क्रा* के सम्पादक मण्डल से इस्तीफ़ा दे दिया। अपने बावनवें अंक से *इस्क्रा* मेंशेविकों के हाथ में चला गया। यहीं से पुराने *इस्क्रा* (यानी कि लेनिनवादी *इस्क्रा*) और नये *इस्क्रा* (यानी कि मेंशेविक *इस्क्रा*) के बीच अन्तर किया जाने लगा। *इस्क्रा* का सम्पादक मण्डल एक प्रकार से पार्टी का मार्गदर्शक नेतृत्वकारी निकाय था, जिसकी भूमिका वास्तव में केन्द्रीय कमेटी से भी ज़्यादा थी। चूँकि अब *इस्क्रा* पर मेंशेविक धड़े का कब्ज़ा हो चुका था इसलिए एक प्रकार से नेतृत्वकारी व शीर्ष पार्टी संगठनों पर भी मेंशेविकों का प्रभाव बढ़ गया था। यहीं से लेनिन ने पार्टी के भीतर अपने बोल्शेविक धड़े को अलग से संगठित करने की शुरुआत की और साथ ही मेंशेविज़्म के साथ निर्णायक संघर्ष छेड़ दिया। अगले एक वर्ष तक *इस्क्रा* में लेनिन के बोल्शेविक धड़े पर तीखा हमला बोलते हुए मार्तोव, प्लेखानोव, त्रात्स्की आदि के लेख प्रकाशित होते रहे। लगभग हर अंक में ही प्रमुख ज़ोर लेनिन पर चोट करना था। इसी समय से मेंशेविज़्म अपने पूरे रंग में सामने आने लगा।

वास्तव में, मेंशेविज़्म और बोल्शेविज़्म में बुनियादी राजनीतिक फर्क था, जो कांग्रेस में महज़ सांगठनिक कार्यदिशा के फ़र्क के रूप में सामने आया था। दरअसल, फ़र्क सिर्फ इस बात का नहीं था कि लेनिन सदस्यता की ज़्यादा दृढ़ शर्तें चाहते थे जबकि मार्तोव कुछ उदार शर्तें। जिस प्रकार के पार्टी ढाँचे की माँग थी, लेनिन उसे पूरा करने की बात कर रहे थे क्योंकि उनके पास रूस में क्रान्ति का एक सही कार्यक्रम और विश्लेषण मौजूद था और यह पूरी समझदारी क्रान्तिकारी व्यवहार को उन्नत बनाने पर केन्द्रित थी। जबकि मेंशेविक एक ढीले-ढाले ढाँचे की बात कर रहे थे क्योंकि क्रान्ति के सबसे केन्द्रीय प्रश्नों पर उनकी समझदारी ग़लत या अधूरी थी, जैसे कि किसान प्रश्न, मज़दूर वर्ग के बीच में राजनीतिक कार्य के तौर-तरीके, जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में मित्र वर्गों का प्रश्न, हिरावल पार्टी के चरित्र का प्रश्न, सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रश्न, आदि। ये विचलन पहले पूरी तरह खुलकर सामने नहीं आये थे। लेकिन 1903 से लेकर 1904 तक लेनिन की अवस्थिति पर सतत् हमला करने की प्रक्रिया में ये विचलन अपने नंगे रूप में खुलकर सामने आ गये। **और इनके साथ ही यह बात उजागर हुई कि मेंशेविज़्म वास्तव में उन दो पुराने भटकावों का सक्षम वारिस है जिनके ख़िलाफ़ रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों ने संघर्ष किया था, यानी कि अर्थवाद और "कानूनी" मार्क्सवाद।**

इस दौर में प्लेखानोव ने लेनिन पर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को 'सर्वहारा वर्ग पर अधिनायकत्व' से गड्डमड्ड करने का आरोप लगाया और कहा कि लेनिन में बोनापार्तवाद के तत्व हैं। मार्तोव ने एक बार फिर पार्टी में "मार्शल लॉ" और उसके विरुद्ध संघर्ष करते हुए

पार्टी के अपने उसूलों की हिमायत की और लेनिन में निरंकुशता की प्रवृत्ति होने का आरोप लगाया। **वेरा ज़ासुलिच** ने लिखा कि लेनिन का पार्टी की अवधारणा वही है, जो लुई चौदहवें की राज्यसत्ता की थी। (फ्रांस के निरंकुश शासक लुई चौदहवें ने कहा था, "मैं ही राज्य हूँ और मैं जो बोलता हूँ वह कानून है।") लेनिन पर सबसे लम्बा हमला **त्रात्स्की** ने किया जिसने एक अलग पुस्तिका लिखी: *हमारे राजनीतिक कार्यभार।* **इस पुस्तिका को त्रात्स्की ने अपने "प्रिय शिक्षक पाव्ल बोरिसोविच एक्सेलरोद" को समर्पित किया।** त्रात्स्की ने लेनिन पर **जैकोबिनवाद के प्रहसन** होने, पार्टी को पार्टी के संगठन, पार्टी के संगठन को केन्द्रीय कमेटी और केन्द्रीय कमेटी को एक तानाशाह से प्रतिस्थापित करने का आरोप लगाया। त्रात्स्की ने भी प्लेखानोव का अनुसरण करते हुए लेनिन पर **प्रतिस्थापनवाद** (substitutionism) का आरोप लगाया। उनकी पुस्तिका के आख़िरी अध्याय का नाम ही *'सर्वहारा वर्ग पर तानाशाही'* था। करीब तीन दशक बाद त्रात्स्की ने अपनी इस अवस्थिति के बारे में लिखा था कि वह सही नहीं थी और लेनिन की अवस्थिति सही थी। लेकिन इसका कारण ईमानदार आत्मालोचना या ग़लती का अहसास कम था और उस समय विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के समक्ष स्तालिन को एक क्रूर तानाशाह और अपने आपको लेनिन का उचित उत्तराधिकारी घोषित करना ज़्यादा था। साथ ही, त्रात्स्की की यह "आत्मालोचना" कितनी सतही थी और किस प्रकार त्रात्स्की मूल तौर पर अभी भी अपने पुराने सांगठनिक उसूलों पर खड़े थे, यह भी ज़ाहिर हो गया। जल्द ही मेंशेविकों को जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के नेता काऊत्स्की के रूप में एक प्रबल समर्थक मिल गया। काऊत्स्की ने मेंशेविकों का पक्ष लिया और अपने मुखपत्र में लेनिन का जवाब छापने से भी इंकार कर दिया। काऊत्स्की, जो कि उस समय यूरोपीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के निर्विवाद नेता थे, के समर्थन ने मेंशेविकों को यूरोप और बाहरी दुनिया में रूसी सामाजिक-जनवादियों का स्वीकार्य प्रतिनिधि बना दिया। इसके बाद जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के ही मुखपत्र में **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** ने लेनिन पर हमला बोलते हुए लिखा कि लेनिन का पार्टी में केन्द्रीयता पर अतिशय ज़ोर पार्टी के भीतर जनवाद का निषेध है और यह नेतृत्व की तानाशाही की ओर ले जायेगा। हालाँकि, उस समय कुछ सामाजिक-जनवादियों ने बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच सुलह कराने की पेशकश भी की, लेकिन ऐसे प्रस्तावों को लेनिन ने ही सबसे पहले ख़ारिज कर दिया। दूसरी ओर, मेंशेविक ऐसे मध्यस्थता के प्रस्तावों को तत्परता के साथ मान गये थे। पूरे 1903 के वर्ष और 1904 के शुरुआती दौर तक देश-विदेश में सामाजिक-जनवादी लेनिन पर लगातार हमला बोलते रहे। इस पूरे दौर में संगठन के सिद्धान्त के प्रश्न पर अब मेंशेविक खुले तौर पर बुण्डवादियों और अर्थवादियों जैसी बातें करने लगे थे। हम आगे दिखलायेंगे कि इसका कारण मेंशेविकों की राजनीतिक समझदारी में निहित था, जो कि अर्थवाद और "कानूनी" मार्क्सवाद के मिश्रण का एक विशिष्ट संस्करण तैयार करती थी। मेंशेविक धड़ा अब खुलकर संगठन में अल्पमत के बहुमत के तहत रहने, केन्द्रीय कमेटी के अनुशासन और नेतृत्व और सांगठनिक अनुशासन के सिद्धान्त का विरोध कर रहा था। वास्तव में, सांगठनिक उसूलों पर बहस के दौरान सदस्यता की शर्तों पर बहस में मेंशेविकों ने मार्तोव के नेतृत्व में जो कार्यदिशा पेश की थी, अब वह अपनी तार्किक परिणति को पहुँच चुकी थी। प्लेखानोव जो पहले पार्टी के अनुशासन और केन्द्रीयता के उसूलों पर आधारित होने पर लेनिन के साथ खड़े थे वह भी अपनी राजनीतिक ढुलमुलपन और मेलमिलाप की सोच के कारण अवसरवादियों और मेंशेविकों के साथ खड़े थे।

मेंशेविकों ने *इस्क्रा* के सम्पादक मण्डल पर तो कब्ज़ा कर ही लिया था, उन्होंने आगे केन्द्रीय कमेटी पर भी अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया, क्योंकि उसके दो बोल्शेविक सदस्य **क्रासिन** और **नोस्कोव** अपने ढुलमुलपन के साथ मेंशेविकों के साथ जा खड़े हुए।

अब बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच का अन्तर इतना बढ़ चुका था कि उसे कम कर पाना सम्भव नहीं था। 1903 में मेंशेविकों और सामाजिक-जनवादियों द्वारा यूरोप भर से किये जा रहे हमलों के जवाब में लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे'** लिखी। इस पुस्तक में लेनिन ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से व्यवस्थित रूप से पार्टी के संगठन और ढाँचे पर पेश किये गये सिद्धान्त बने और आगे चलकर विश्व भर में मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों ने इन्हीं सिद्धान्तों को कम-से-कम सैद्धान्तिक तौर पर स्वीकार किया और कुछ ने सही मायनों में लागू भी किया।

लेनिन ने इस पुस्तक में मेंशेविकों पर हमला बोलते हुए कहा कि अगर मार्तोवपंथियों के सिद्धान्त लागू हुए तो एक आम हड़ताली और ऐसे प्रोफेसर, छात्र आदि भी पार्टी के सदस्य बन जायेंगे जो कि पार्टी अनुशासन को स्वीकार नहीं करना चाहते। ऐसे में पार्टी सर्वहारा वर्ग का हिरावल होने और उसका उन्नत दस्ता होने के अपने चरित्र को खो देगी। **किसी वर्ग की समूची आम आबादी और उसके उन्नत दस्ते, यानी कि हिरावल पार्टी में हमेशा फर्क होगा। हिरावल पार्टी उस वर्ग के विश्व दृष्टिकोण का मूर्त रूप होती है और वह उस वर्ग के सबसे उन्नत तत्वों को अपने अन्दर समाहित करती है।** यह हिरावल पार्टी का फर्ज़ बनता है कि वह वर्ग के अधिक से अधिक वर्ग सचेत तत्वों को सामाजिक-जनवादी राजनीतिक वर्ग चेतना के स्तर तक, पार्टी के स्तर तक लाये; न कि इसके विपरीत स्वयं एक आम हड़ताली मज़दूर के स्तर पर उतर जाये। ऐसा करने वाली पार्टी वर्ग का हिरावल नहीं बल्कि उसका पुछल्ला बनेगी। मार्तोव ने लेनिन पर हमला करते हुए स्वयं ही मेंशेविक सिद्धान्तों को नंगा कर दिया। मार्तोव ने कहा कि अगर लेनिन का सिद्धान्त लागू हुआ तो पार्टी में वे बुद्धिजीवी, अध्यापक और छात्र नहीं शामिल हो पायेंगे जो कि पार्टी के अनुशासन को नहीं मानना चाहते। लेनिन ने इसका तीख़ा जवाब देते हुए कहा कि हमें ऐसे तत्वों की कोई आवश्यकता पार्टी के भीतर नहीं है, और वे बाहर रहकर ही पार्टी की सहायता जारी रख सकते हैं। अनुशासन में बँधने के लिए मज़दूर वर्ग तैयार है; टुटपुँजिया बौद्धिक वर्ग पार्टी संगठन के अनुशासन में इसलिए नहीं बँधना चाहता क्योंकि यह उसकी वर्ग चेतना है, जो उसे किसी पार्टी संगठन के अनुशासन में बँधकर काम करने, वह भी किसी स्थानीय पार्टी निकाय के अनुशासन में बँधकर काम करने को अपने अहं पर चोट मानती है, अपनी शान के ख़िलाफ़ मानती है। ऐसे तत्वों को पार्टी में शामिल करने की मेंशेविक माँग इस अराजकतावादी-सर्वखण्डनवादी टुटपुँजिया वर्ग के लिए विशेषाधिकारों की माँग करना है; यह टुटपुँजिया बुद्धिजीवियों को बिना कोई कर्तव्य निभाये पार्टी सदस्यता के सभी हक़ देने की माँग करना है। लेनिन की दलील थी कि यदि ऐसे सदस्यों को पार्टी सदस्यता में जगह दी गयी तो जल्द ही पार्टी अर्कमण्य, बातूनी तत्वों का जमावड़ा बन जायेगी और अपना हिरावल चरित्र खो बैठेगी।

दूसरी बात जो लेनिन ने अपनी इस रचना में रखी वह यह थी कि पार्टी न सिर्फ़ वर्ग का राजनीतिक वर्ग चेतना से लैस हिरावल दस्ता है, बल्कि यह एक सुसंगठित और अनुशासित हिरावल दस्ता है। मेंशेविकों का कहना था कि वे पार्टी में केन्द्रीयता और केन्द्रीय कमेटी के नियन्त्रण के विरुद्ध हैं और वे "अराजकतावादी स्वायत्तता" की माँग करते हैं।

लेनिन ने कहा कि एक क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी पार्टी अपने हिरावल चरित्र और जुझारू प्रवृत्ति को तभी कायम रख सकती है, जब वह लौह अनुशासन पर आधारित हो। पूँजी की संगठित ताक़त का क्रान्ति पूर्व दौर में मुकाबला करने के लिए सर्वहारा वर्ग के पास केवल एक हथियार है: **संगठन और अनुशासन।** लेनिन लिखते हैं: **"सत्ता के लिए संघर्ष में सर्वहारा वर्ग के पास संगठन के अलावा और कोई हथियार नहीं है। पूँजीवादी विश्व में प्रतिस्पर्द्धा के अराजकतापूर्ण नियम द्वारा विसंगठित, पूँजी के लिए बँधुआ श्रम द्वारा कुचला गया, भयंकर दरिद्रता, पाशविकता और पतन की ओर लगातार धकेला जाने वाला सर्वहारा वर्ग एक अपराजेय शक्ति तभी बन सकता है, और अवश्यम्भावी रूप से बनेगा, जब मार्क्सवाद के सिद्धान्तों पर इसकी विचारधारात्मक एकजुटता एक ऐसे संगठन की भौतिक एकजुटता द्वारा सुदृढ़ होगी जो लाखों मेहनतकशों को मज़दूर वर्ग की एक सेना के रूप में जोड़ देगा। न तो ज़ारशाही का जर्जर शासन और न ही अन्तरराष्ट्रीय पूँजी का डगमगाता शासन इस सेना के सामने टिक पायेगा।"** (वी.आई. लेनिन, *सेलेक्टेड वर्क्स,* खण्ड 2, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 466, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद हमारा*) पार्टी के नियमों और अनुशासन के प्रति मार्तोवपंथियों का प्रतिरोध वास्तव में पार्टी के भीतर सर्वहारा कार्यदिशा और बौद्धिकतावादी कुलीन पूँजीवादी कार्यदिशा के बीच के संघर्ष का परिणाम था। लेनिन ने इसके बारे में लिखा, **"यह कुलीनतावादी अराजकतावाद रूसी सर्वखण्डनवाद की विशिष्ट चारित्रिक आभिलाक्षणिकता है। वह पार्टी संगठन को एक 'दानवी' कारखाने के रूप में देखता है; यह अंश के पूर्ण और अल्पमत के बहुमत के मातहत होने को दासता मानता है...एक केन्द्र के अन्तर्गत श्रम विभाजन उसमें इन त्रासद-कामदीय चीखों को जन्म देता है कि लोगों को 'दाँतों और पहियों' में तब्दील किया जा रहा है।** (*वही,* पृ. 442-43, *अनुवाद हमारा*)

लेनिन ने अपने जनवादी केन्द्रीयता के उसूल को विस्तारित करते हुए लिखा कि एक क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी पार्टी के सांगठनिक उसूल में केन्द्रीय कमेटी को दो पार्टी कांग्रेसों के बीच सर्वोच्च निकाय माना जाना चाहिए, जिसके निर्णय हरेक पार्टी सदस्य पर बाध्यताकारी होने चाहिए। निश्चित तौर पर, पार्टी कांग्रेस में प्रतिनिधि केन्द्रीय कमेटी से असहमत होने पर नयी केन्द्रीय कमेटी का चुनाव कर सकते हैं। लेनिन 'आलोचना की पूर्ण स्वतन्त्रता' और 'अराजकतावादी स्वायत्तता' को यदि कांग्रेसों के बीच भी लागू किया जायेगा तो वह पार्टी सर्वहारा वर्ग का एक उन्नत दस्ता, हिरावल और सैन्य दस्ता नहीं रह जायेगी बल्कि 'विज्ञान की अकादमी' (विडम्बना की बात यह है कि ये शब्द प्लेखानोव ने कहे थे, जब वह सांगठनिक उसूलों के संघर्ष में लेनिन के साथ थे और अवसरवादी नहीं बने थे!), क्लब या बौद्धिक मण्डली बन जायेगी। ऐसे में, पार्टी या तो संशोधनवाद के रास्ते पर जायेगी अथवा विसर्जित हो जायेगी। लेनिन के अनुसार पार्टी कांग्रेस सर्वोच्च निकाय है और दो कांग्रेसों के बीच केन्द्रीय कमेटी सर्वोच्च निकाय है; सभी कमेटियों को केन्द्रीय कमेटी के अन्तर्गत होना चाहिए और नीचे की कमेटियों को ऊपर की कमेटियों के मातहत होना चाहिए; केवल उसी व्यक्ति को पार्टी सदस्यता दी जा सकती है जो पार्टी कार्यक्रम को मानने के अलावा किसी पार्टी इकाई (कमेटी, फ्रैक्शन, या कोई भी अन्य पार्टी संगठन) का सदस्य हो और उसके अनुशासन में काम करता हो।

लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि ऐसी हिरावल पार्टी यदि सतत् जनता से सम्पर्क में नहीं

होगी, तो वह एक संकीर्ण दायरे की मानसिकता रखने वाले एक समूह में तब्दील हो जायेगी और जनता का विश्वास खो बैठेगी। इसलिए पार्टी को जनता से सतत् सम्पर्क बनाये रखना चाहिए। लेनिन का मानना था कि मज़दूर वर्ग के कई संगठन हो सकते हैं लेकिन उसका राजनीतिक नेतृत्वकारी संगठन केवल पार्टी हो सकती है। यह पार्टी को मज़दूर वर्ग के अन्य सभी संगठनों से अलग करता है क्योंकि पार्टी वर्ग से सबसे उन्नत, मार्क्सवादी विज्ञान से लैस तत्वों को अपने अन्दर शामिल करती है, जो इसे वर्ग का हिरावल होने की क्षमता प्रदान करती है। लेकिन ऐसी पार्टी अपनी नेतृत्वकारी भूमिका तभी अमल में उतार सकती है जब वह लाखों-लाख मज़दूरों से सतत् सम्पर्क स्थापित करे। लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि पार्टी में सदस्यों के लिए जो नियम तय होने चाहिए वे सभी सदस्यों के लिए समान होने चाहिए। वास्तव में, मेंशेविक अलग-अलग वर्ग के सदस्यों के लिए अनुशासन के अलग-अलग मानकों की माँग कर रहे थे। पार्टी संगठन के सदस्य मज़दूरों को तो पार्टी अनुशासन के मातहत रहना था लेकिन पार्टी के ऐसे सदस्य जो किसी संगठन के अनुशासन में नहीं थे, उन्हें भी सदस्यता के सभी अधिकार प्राप्त होते! लेनिन ने इसी पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, **"मार्तोव का सूत्रीकरण *दिखने में* सर्वहारा वर्ग के व्यापक संस्तरों के हितों की हिफ़ाज़त करता है, लेकिन *वास्तव में* यह बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के हितों की सेवा करता है, जो सर्वहारा अनुशासन और संगठन से भाग खड़े होते हैं। इस बात का खण्डन करने का कोई प्रयास नहीं करेगा कि यह उसका *व्यक्तिवाद ही है* और उसकी संगठन और अनुशासन के प्रति अक्षमता ही है, जो *बौद्धिक वर्ग को आधुनिक पूँजीवादी समाज के एक अलग संस्तर के रूप में* अलग करती है।"** (वी.आई. लेनिन, *कलेक्टेड वर्क्स*, रूसी संस्करण, खण्ड-6, पृ. 205-6, *अनुवाद हमारा*)

त्रात्स्की ने लेनिन पर जैकोबिनवाद का आरोप लगाया था और पूरी तरह से मेंशेविकों के सांगठनिक सिद्धान्त का पक्ष लिया था। लेनिन ने त्रात्स्की के अवसरवाद पर करारा प्रहार करते हुए लिखा, **"अपने वर्ग हितों के प्रति सचेत सर्वहारा वर्ग के संगठन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ जैकोबिनवादी–यही तो है क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी।"** लेनिन ने 'एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे' में मेंशेविकों के सांगठनिक सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ायीं और दिखलाया कि पार्टी सर्वहारा वर्ग की हिरावल होती है और सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों को अपने में समाहित करती है; पार्टी को न सिर्फ़ विचारधारात्मक-राजनीतिक तौर पर नेतृत्व देने वाला हिरावल होना चाहिए, बल्कि उसे संगठित हिरावल होना चाहिए; पार्टी सर्वहारा वर्ग के संगठन का एकमात्र तो नहीं लेकिन उच्चतम रूप है और सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक केन्द्र की भूमिका केवल पार्टी ही निभा सकती है; पार्टी का अनुशासन सभी के लिए समान होना चाहिए और पार्टी के भीतर जनवादी केन्द्रीयता का उसूल लागू होना चाहिए। रूस भर के सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारियों के दायरे में लेनिन की इस रचना के वितरण के साथ ही तेज़ी से तमाम सामाजिक-जनवादी समूह लेनिन के धड़े के पक्ष में आने लगे। लेनिन की आलोचना मेंशेविकों के धड़े के लिए विचारधारात्मक रूप से विध्वंसकारी थी और जल्द ही लेनिन ने सांगठनिक तौर पर अपनी कार्यदिशा के पक्ष में सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारियों को गोलबन्द करना शुरू किया। लेनिन मेंशेविकों से किसी भी शर्त पर एकता के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि उनके द्वारा प्रतिपादित सांगठनिक सिद्धान्त में किसी भी किस्म की मिलावट सर्वहारा वर्ग की पार्टी की हिरावल भूमिका के साथ समझौता करना होगा।

इसलिए समझौते या बीच का रास्ता निकालने के सभी प्रयासों को लेनिन ने ठुकरा दिया। लेनिन ने 1904 से ही बोल्शेविकों को संगठित करना शुरू किया और अगस्त 1904 में उन्होंने बाइस बोल्शेविकों की एक बैठक बुलायी। इस सम्मेलन ने **"पार्टी के नाम"** नामक एक अपील को पास किया जिसमें कि तीसरी पार्टी कांग्रेस बुलाने की तैयारियों की बात की गयी थी। बोल्शेविक कमेटियों के तीन क्षेत्रीय सम्मेलनों में एक "बहुमत की कमेटियों का ब्यूरो" का चुनाव किया गया। इस ब्यूरो को बोल्शेविकों के केन्द्रीय संगठन का कार्य सौंपा गया। इसके बाद 4 जनवरी 1905 को बोल्शेविकों के नये मुखपत्र *वेपेर्योद* का प्रकाशन शुरू हुआ। चूँकि अब बोल्शेविकों के पास अपना मुखपत्र था और पुरानी केन्द्रीय कमेटी उनके हाथों से निकल चुकी थी, इसलिए लेनिन के नेतृत्व में उनके सभी प्रयास अब तीसरी पार्टी कांग्रेस करने पर केन्द्रित थे। नतीजतन, अप्रैल 1905 में लन्दन में बोल्शेविकों ने अपनी नयी पार्टी कांग्रेस की और उसे तीसरी पार्टी कांग्रेस का नाम दिया। इस कांग्रेस का मेंशेविकों ने बहिष्कार किया और जेनेवा में अपना समानान्तर पार्टी सम्मेलन किया। **इसके साथ ही बोल्शेविकों और मेंशेविकों का बँटवारा अपनी तार्किक परिणति पर पहुँच गया।**

यही वह दौर था जब रूस में क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ तैयार हो रही थीं, जो कि अन्त में 1905 की असफल रूसी क्रान्ति तक गयीं। इन परिस्थितियों का हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। 1900 से 1903 तक आर्थिक संकट, 1905 में युद्ध में जापान से हार और मज़दूरों और किसानों के बढ़ते हुए आन्दोलनों ने 1905 में क्रान्तिकारी परिस्थितियों को जन्म दिया था। लगभग यही समय था जब बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच का अलगाव अपने चरम पर पहुँच रहा था। 1905 की पहली रूसी क्रान्ति के साथ ही क्रान्ति की रणनीति को लेकर भी मेंशेविकों से अन्तरविरोध सामने आने लगे थे। इन अन्तरविरोधों के सामने आने के साथ ही यह साफ़ हो गया था कि 1903 में बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच सांगठनिक कार्यदिशा को लेकर हुए विवाद के पीछे वास्तव में विचारधारात्मक-राजनीतिक अन्तरविरोध थे। मेंशेविकों की अवस्थिति पूरी तरह से "कानूनी" मार्क्सवादियों और अर्थवादियों की अवस्थितियों का एक मिश्रण था। लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध रचना **'जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ'** में इसी अवस्थिति पर चोट की और बोल्शेविक अवस्थिति को स्पष्ट किया। क्रान्ति की रणनीति और कार्यनीति को लेकर विवाद में यह स्पष्ट तौर पर सामने आ गया कि मेंशेविक लगभग वही बातें नये स्वरूप में कर रहे थे जो कि "कानूनी" मार्क्सवादी और अर्थवादी पहले करते रहे थे। जैसे कि मेंशेविकों का मानना था कि 1905 में रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल है जिसमें कि मुख्य नेतृत्वकारी भूमिका उदार बुर्जुआ वर्ग की होगी और सर्वहारा वर्ग को अभी ऐसा कोई कार्यक्रम अमल में नहीं लाना चाहिए जो कि उदार बुर्जुआ वर्ग को दूर कर दे या डरा दे; उनके अनुसार, सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने तक बुर्जुआ वर्ग के एक सहायक की भूमिका निभानी चाहिए और ज़्यादा से ज़्यादा सर्वहारा वर्ग के मुख्यत: आर्थिक अधिकारों (जैसे कि वेतन, कार्यदिवस, ट्रेड यूनियन बनाने के हक़, आदि) के लिए लड़ना चाहिए और उसे सीधे राजनीतिक सत्ता के प्रश्न को नहीं उठाना चाहिए; ज़ारशाही के विरुद्ध सशस्त्र बग़ावत की रणनीति, मेंशेविकों के अनुसार ग़लत थी क्योंकि यह उदार बुर्जुआ वर्ग को डरा देती और दूर कर देती; मेंशेविक किसानों को बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग की मित्र शक्ति के तौर पर नहीं देखते थे, और न ही उन्हें

सक्रिय क्रान्तिकारी शक्ति के तौर पर देखते थे; क्रान्ति की मंज़िल पर अलग राय रखते हुए भी किसानों के प्रति अविश्वास के मामले में मेंशेविकों और त्रात्स्की के विचार मिलते-जुलते थे। उनके अनुसार क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग के हाथों में तभी आ सकता है जबकि वह पूँजीवाद के तहत आर्थिक संघर्षों में परिपक्व हुआ हो और उसकी संख्या शक्ति इतनी बड़ी हो चुकी हो कि वह अपने दम पर समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न कर सके। लेनिन ने मेंशेविकों के इन विचारों का विश्लेषण करते हुए दिखलाया कि ये विचार वास्तव में पश्चिमी यूरोप की सामाजिक-जनवादी (संशोधनवादी) पार्टियों के विचार हैं जो वर्ग की एक अर्थवादी अवधारणा को मानते हैं; मेंशेविक इतिहास की एक विकासवादी (एवोल्यूशनिस्ट) व्याख्या करते हैं, जिसमें क्रान्तिकारी आत्मगत शक्तियों की भूमिका नगण्य हो जाती है और क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया में सचेतनता का तत्व ग़ायब कर दिया जाता है और वह एक स्वत:स्फूर्त प्रक्रिया बन जाती है। **ई.एच.कार** ने बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच के फर्क की चर्चा करते हुए लिखा है कि उनके बीच का फर्क पश्चिम और पूरब का फर्क था। एक बार फिर ई.एच.कार ने राजनीतिक रुझानों का भौगोलिक सारभूतीकरण किया है। उनके अनुसार मेंशेविक इस मायने में अधिक "पश्चिमी" थे कि वे रूस के हूबहू उसी विकास-पथ में यक़ीन रखते थे, जिस पर पश्चिमी यूरोप के देश चले थे। यानी कि पूँजीवाद की दीर्घकालिक अवधि, जिस दौरान सर्वहारा वर्ग अपने आर्थिक अधिकारों के लिए संघर्ष करता है; सामन्तवाद-विरोधी बुर्जुआ क्रान्तियों के तुरन्त बाद समाजवादी क्रान्ति में संक्रमण को वे ग़लत मानते थे; जबकि, ई.एच.कार के अनुसार लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों का मानना था कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति भी रूस में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व और किसान आबादी की सक्रिय भागीदारी से सम्पन्न होगी। ई.एच.कार यहाँ राजनीतिक कार्यदिशाओं के संघर्ष और ऐतिहासिक सन्दर्भ के अन्तर को बिल्कुल नहीं समझ पाये हैं। पश्चिमी यूरोप में भी सर्वहारा वर्ग का पहला प्रयास बुर्जुआ क्रान्तियों के तुरन्त बाद सतत् क्रान्ति (अनइण्टरप्टेड रिवोल्यूशन) के ज़रिये समाजवादी क्रान्तियों की ओर आगे बढ़ने का ही था, जो कि 1848 में विफल हो गया था क्योंकि सर्वहारा वर्ग के पास पर्याप्त मज़बूत संगठन और किसान विद्रोह के साथ उसका उपयुक्त रूप से संलयन नहीं हुआ था। **मार्क्स ने एक बार एंगेल्स को एक पत्र में लिखा था कि सर्वहारा क्रान्ति का भविष्य जर्मनी में इस बात पर निर्भर करता है कि उसे किसान विद्रोह का समर्थन मिलता है या नहीं।** लेकिन इन प्रथम असफल प्रयासों के बाद यूरोप के उन्नत पूँजीवादी देश साम्राज्यवाद की मंज़िल में प्रवेश करते हैं और इसके बाद इन देशों के मज़दूर वर्ग में एक कुलीन मज़दूर वर्ग का प्रादुर्भाव बड़े पैमाने पर हुआ और सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में बुर्जुआ अर्थवादी रुझान ने जड़ जमायी। इसी प्रक्रिया की तार्किक परिणति खुले तौर पर संशोधनवाद और दूसरे इण्टरनेशनल के पतन के रूप में सामने आयी। ई.एच.कार इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझने की बजाय बोल्शेविज़्म और संशोधनवादी मेंशेविज़्म के फर्क को पूरब और पश्चिम के बीच के फर्क के रूप में सारभूतीकृत कर देते हैं, जो कि तथ्यवादी स्कीम में बिल्कुल फिट बैठता है लेकिन न तो मेंशेविज़्म के कोर सिद्धान्तों की पूर्ण रूप से सही व्याख्या कर पाता है और न ही बोल्शेविज़्म की पूरी क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को सही तरीके से समझ पाता है। ई.एच.कार आश्चर्य जताते हैं कि मेंशेविकों की पकड़ रूसी मज़दूर वर्ग के सबसे संगठित, कुशल और शिक्षित हिस्से में थी, जैसे कि रेलवे

मज़दूर, प्रिण्टर, आदि जबकि बोल्शेविकों का आधार मुख्य तौर पर असंगठित कारखाना मज़दूरों में था। लेनिन ने लिखा था कि अर्थवादियों की अपील मज़दूर वर्ग के राजनीतिक तौर पर सबसे पिछड़े हिस्सों में कारगर थी। ई.एच.कार कहते हैं कि लेनिन की यह बात अनुभवों की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। **यहाँ भी कार यह नहीं समझते कि राजनीतिक तौर पर उन्नत होने का रिश्ता बड़े, उन्नत और सरकारी उद्योगों में काम करना नहीं है।** ख़ैर, सिर्फ़ ई.एच.कार ही नहीं आज भारत के तमाम समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल को स्वीकारने वाले संगठन भी यह मानते हैं उन्नत मज़दूर का अर्थ है बड़े उपक्रमों में काम करने वाला संगठित मज़दूर! मज़दूर वर्ग में काम की दिशा को लेकर अभी भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन में जो बहस जारी है उसमें एक धड़े का यह मानना है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन को भारत के 93 फीसदी असंगठित/अनौपचारिक मज़दूर आबादी में मुख्य रूप से ज़ोर देना चाहिए, जबकि कुछ अर्थवादी संगठनों का यह मानना है कि सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्व केवल संगठित मज़दूर आबादी में होते हैं जो कि बड़े उद्योगों में काम करती है और सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी केवल तभी बन सकती है, जब इन बड़े संगठित क्षेत्र के उद्योगों के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट काम करें! इस सोच का वास्तव में मार्क्सवाद-लेनिनवाद से कोई लेना-देना रहा ही नहीं है और यह 1930 के दशक से 1970 के दशक के बीच पैदा हुआ एक फोर्डवादी पूर्वाग्रह है जिसे संशोधनवादी पार्टियों ने कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर प्रविष्ट करा दिया है। (इस पूरी बहस के लिए देखें, अभिनव सिन्हा, **"न्यू फॉर्म्स एण्ड स्ट्रैटेजीज़ ऑफ़ दि वर्किंग क्लास मूवमेण्ट एण्ड रेज़िस्टेंस इन दि एरा ऑफ़ ग्लोबलाइज़ेशन"**, *दि वर्किंग क्लास मूवमेण्ट इन इण्डिया इन दि ट्वेण्टी फर्स्ट सेंचुरी*, 2013, अरविन्द मेमोरियल ट्रस्ट, लखनऊ) ऐसे उपक्रमों में काम करना तो राजनीतिक तौर पर पिछड़े हुए कुलीन मज़दूर वर्ग को भी जन्म दे सकता है। राजनीतिक चेतना के उन्नत होने से लेनिन का अर्थ था मज़दूरों का अपनी राजनीतिक माँगों और सत्ता के प्रश्न के प्रति सचेत होना। मेंशेविकों की असफलता का कारण ई.एच.कार के लिए यह था कि मेंशेविक समझ नहीं पाये कि रूस में पश्चिमी यूरोप की तरह उन्नत और उदार बुर्जुआ जनवाद के पनपने की ज़मीन मौजूद नहीं थी; बोल्शेविक इस पूरब और पश्चिम के पूँजीवादों के अन्तर को समझने में सफल रहे और इसीलिए रूस में सर्वहारा वर्ग और किसानों, दोनों को ही वे एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम दे सके। यहाँ पर एक बार फिर कार भूल रहे हैं कि साम्राज्यवाद के उदय से पहले पश्चिमी यूरोप में भी बुर्जुआ वर्ग ने सर्वहारा वर्ग के उभार से डर कर प्रतिक्रिया का पक्ष लिया था और वहाँ भी बुर्जुआ क्रान्तियों के तुरन्त बाद ही सर्वहारा वर्ग ने सत्ता पर कब्ज़ा करने का प्रयास किया था। कार का यह नतीजा आंशिक रूप से सही है कि यूरोप में बुर्जुआ क्रान्तियों के तेज़ी से सर्वहारा क्रान्ति में तब्दील होने की जो घटनाएँ घटी थीं, उनसे विश्व के अन्य देशों के बुर्जुआ वर्ग ने सबक लिया था और बुर्जुआ क्रान्तियों के आमूलगामी चरित्र को कम कर सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध प्रतिक्रियावाद का पक्ष लेना शुरू कर दिया था। इसी मायने में इतिहास अपने आपको कभी दुहराता नहीं। पश्चिम में जो नाटक उन्नीसवीं सदी में मध्य में खेला जा चुका था वह बीसवीं सदी की शुरुआत में रूस में दुहराया नहीं जा सकता था। कार इसी तरीके से कई बार टुकड़ों में सटीक बातें कहते हैं, लेकिन उनका अकादमिक प्रशिक्षण अन्त में उन्हें भौगोलिक या वैयक्तिक सारभूतीकरण की ओर ले जाता है। मिसाल के तौर पर, मेंशेविकों

और विशेषकर प्लेखानोव के 'पश्चिमी चरित्र' के लिए उन्होंने पश्चिम यूरोप में उनके लम्बे प्रवास जीवन को भी ज़िम्मेदार ठहराया है; लेकिन अगर यह कारण होता तो लेनिन को भी मेंशेविक कार्यदिशा में यक़ीन करना चाहिए था क्योंकि लेनिन के भी क्रान्तिकारी जीवन का बड़ा हिस्सा विदेशों में प्रवास में ही बीता था। इसी प्रकार, ई.एच. कार एक स्थान पर लिखते हैं कि रूसी क्रान्ति की रणनीति और कार्यदिशा को लेकर मेंशेविक कार्यक्रम जितना अयथार्थवादी था (जो कि रूस में यूरोप जैसे बुर्जुआ जनवाद की स्थापना के सपने देखता था) उतना ही बोल्शेविक कार्यक्रम भी था क्योंकि वह पहले चरण में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों और बुर्जुआ जनवाद को स्थापित करने को ही अपना लक्ष्य मानता था, और इसके बाद समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ने की बात करता था। कार पूछते हैं कि जिस जनवाद का आधार बुर्जुआ वर्ग है ही नहीं, वह बुर्जुआ जनवाद कैसे हो सकता है? कार कहते हैं कि यहाँ पर लेनिन अन्तरविरोधों के शिकार हैं। यहाँ वास्तव में कार बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में बुर्जुआ जनवाद और मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही के तहत क्रान्तिकारी जनता के जनवाद के बीच के अन्तर को नहीं समझ पाये हैं। पहली बात तो यह कि मालिक किसानों का वर्ग वास्तव में दार्शनिक और राजनीतिक तौर पर बुर्जुआ वर्ग की अवस्थिति को ही अपनाता है। यह टुटपुँजिया वर्ग सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में होने वाली जनता की जनवादी क्रान्ति में आर्थिक तौर पर लगभग वही स्थान रखता है जो कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग रखता है, और इसकी माँगों की प्रधानता के कारण ही सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में होने वाली जनवादी क्रान्ति बुर्जुआ जनवाद के दायरे से आगे नहीं जाती। निश्चित तौर पर, सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति जनवादी कार्यभारों को बुर्जुआ वर्ग से भी अधिक आमूलगामी रूप से पूरा करते हुए ज़मीन का राष्ट्रीयकरण और समान पुनर्वितरण करती है, आठ घण्टे के कार्यदिवस और न्यूनतम मज़दूरी को लागू करती है, जनवादी गणराज्य की स्थापना करती है, समझौताविहीन तरीके से सामन्ती वर्गों का सम्पत्ति-हरण करती है। लेकिन वह जो कार्यक्रम लागू करती है, वह राजनीतिक-विचारधारात्मक तौर पर बुर्जुआ जनवाद से आगे नहीं जाता। **ज़ाहिर है कि कार एक बार फिर अपने अनुभववाद के कारण इतिहास की सैद्धान्तिक समस्याओं को नहीं समझ पाये हैं।** कार आगे अपनी ग़लत समझदारी को चरम पर पहुँचाते हुए दावा करते हैं कि बोल्शेविक स्कीम में विरोधाभास का करण मूल मार्क्सवादी योजना में विरोधाभास था। उनके अनुसार मार्क्स ने यह कहा था कि हर जगह पूँजीवाद उन्नत होते-होते सन्तृप्ति बिन्दु तक पहुँचेगा और उसके अन्तरविरोध तीव्र होते-होते विस्फोट की हदों तक पहुँचेंगे; इस पूरे दौर में सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ संविधान के तहत प्रशिक्षित होगा, वर्ग सचेत और राजनीतिक बनेगा और अन्ततः संगठित हो, बुर्जुआ सत्ता के विरुद्ध समाजवादी क्रान्ति करेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और पश्चिमी यूरोप के उन्नत पूँजीवादी देशों में मज़दूर वर्ग के ही एक हिस्से को बुर्जुआ सत्ता द्वारा सहयोजित कर लिया गया और इस प्रकार बुर्जुआ वर्ग ने अपने शासन को दीर्घजीवी बना लिया, और क्रान्तियाँ इन उन्नत देशों में न होकर पिछड़े पूँजीवादी देशों में हुईं जिसके कारण मार्क्सवादी स्कीम के समक्ष शर्मिन्दगी की एक स्थिति पैदा हो गयी! रूस में सर्वहारा वर्ग सत्ता में आने पर नौसिखुआ साबित हुआ और समाजवाद मार्क्सवाद के पुराने दावे के विपरीत "प्रचुरता" की बजाय "अभाव" के साथ सहअस्तित्व में था। **ज़ाहिर है कि कार ने न तो मार्क्स के पूरे**

विश्लेषण को समझा है और न ही लेनिन के साम्राज्यवाद के दौर में सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल के सिद्धान्त को।

पहली बात यह है कि मार्क्स ने ऐसी कोई स्कीम नहीं पेश की थी जो कि हर देश में पूँजीवाद के उन्नत हो जाने के बाद सर्वहारा क्रान्ति के स्वत: सम्पन्न होने की बात करती थी। मार्क्स जब जर्मनी में सम्भावित सर्वहारा क्रान्ति की बात कर रहे थे, उस समय पूँजीवादी विकास की दौड़ में जर्मनी कहीं पीछे था; उसी समय मार्क्स ने किसान युद्ध के दूसरे संस्करण की अपेक्षा की थी, जो पूरी न हो सकी। दूसरी बात, मार्क्स पूँजीवाद को एक विश्व अर्थव्यवस्था के रूप में समझते थे। मार्क्स ने लिखा था कि पूँजीवाद मानव इतिहास की अब तक की सबसे गतिशील उत्पादन पद्धति है और यह जल्द ही राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण कर पूरी दुनिया में कच्चे माल और श्रम के दोहन के लिए विचरण करेगी और उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करेगी। साम्राज्यवाद का दौर वास्तव में पूँजीवाद के अन्तरविरोधों के विश्व स्तर पर तीव्र होने जाने की ही निशानी हैं। इस दौर में निश्चित तौर पर क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में परिवर्तन आ जायेगा। लेकिन मार्क्स की यह भविष्यवाणी बिल्कुल सही थी कि सर्वहारा क्रान्तियाँ पूँजीवाद के अन्तरविरोधों के तीव्रतर होते जाने का परिणाम होंगी। मार्क्स ने पूँजीवाद की इस पूरी कार्यपद्धति को दिखलाने के लिए ब्रिटिश और एक हद तक जर्मन और फ्रांसीसी पूँजीवाद का विश्लेषण किया था। इसका यह अर्थ कतई नहीं था कि हरेक देश में अलग-अलग सर्वहारा क्रान्तियों की वह स्कीम अमल में आयेगी, जिसका मार्क्स ने एक आम प्रवृत्ति के तौर पर ज़िक्र किया था। कार का विश्लेषण प्रत्यक्षवादी व अनुभववादी तथ्यवाद के प्रभाव में रहने के कारण एक सही कालानुक्रम में सभी तथ्यों को पाठक के सामने सटीक तरीके से पेश करता है, लेकिन एक द्वन्द्वात्मक दृष्टि न होने के कारण यह कार के नतीजे को कई बार हास्यास्पद नतीजों तक पहुँचा देता है, जिसका आप कार जैसे इतिहासकार से उम्मीद नहीं करते लेकिन फिर भी चकित हुए बिना भी नहीं रह पाते। **नतीजतन, ई.एच. कार की पूरी समझदारी एक प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी समझदारी के रूप में सामने आती है, जो कि एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी इतिहासकार को अन्तर्दृष्टियाँ दे सकती है, लेकिन अपने आप में एक पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाती।**

बहरहाल, मेंशेविज़्म द्वारा रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में एक अर्थवादी और संशोधनवादी रणनीति और आम कार्यदिशा प्रस्तुत किये जाने के जवाब में तीसरी पार्टी कांग्रेस में लेनिन ने आलोचना रखी और उसके दो माह बाद ही अपनी प्रसिद्ध रचना 'जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' लिखी। यह वास्तव में लेनिन द्वारा 1905 की स्थितियों का एक समाहार था। 1905 के जारी घटनाक्रम के मद्देनज़र लेनिन ने तत्कालीन रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की रणनीति और आम रणकौशल को स्पष्ट किया था। यह मेंशेविकों के उस दृष्टिकोण का खण्डन था जिसका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। इसी समय त्रात्स्की ने 1905 को लेकर मेंशेविकों और लेनिन, दोनों से अलग अवस्थिति अपनायी थी। लेकिन त्रात्स्कीपंथ से लेनिन के संघर्ष पर हम अलग से पूरी चर्चा करेंगे, जिसमें कि 1903 से लेकर 1917 तक लेनिन और त्रात्सी के बीच विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक कार्यदिशा के फर्क का विश्लेषण करेंगे। लेकिन अभी लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों द्वारा मेंशेविकों से चलाये गये संघर्ष पर हम अपनी चर्चा को जारी रखेंगे। इसमें लेनिन की

उपरोक्त रचना का सबसे अहम योगदान था और इस रचना में प्रस्तुत कार्यदिशा पर विचार करते हुए ही हम आगे बढ़ेंगे।

'जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' में लेनिन ने जो सबसे अहम मुद्दा उठाया वह था **जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग की भूमिका।** मेंशेविकों की आलोचना रखते हुए लेनिन ने कहा कि रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग को न सिर्फ़ सक्रिय भागीदारी करनी चाहिए, बल्कि वही उसे सक्षम नेतृत्व दे सकता है। रूस का बुर्जुआ वर्ग जो ज़ारशाही की राज्यसत्ता और वित्तीय पूँजी द्वारा ऊपर से किये गये विकास से पैदा हुआ है, ज़ारशाही और भूस्वामी वर्ग के विरुद्ध सीधा युद्ध छेड़ने की न तो ताक़त रखता है और न ही इच्छा शक्ति। उल्टे वह सर्वहारा वर्ग के बढ़ते आन्दोलन से ज़्यादा भयभीत है और प्रतिक्रियावादी ताक़तों से समझौता करने को तत्पर है। ऐसे में रूस में सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथों में लेना ही होगा। लेनिन ने लिखा, **"मार्क्सवाद सर्वहारा को बुर्जुआ क्रान्ति से अलग-थलग रहना, इसके प्रति तटस्थ रहना और क्रान्ति के नेतृत्व को बुर्जुआ वर्ग द्वारा हथियाने देना नहीं सिखाता; उल्टे, वह उसे इसमें सबसे ऊर्जावान तरीके से भाग लेना, निरन्तरतापूर्ण सर्वहारा जनवाद के लिए सबसे दृढ़ता से लड़ना सिखाता है ताकि क्रान्ति को उसकी परिणति तक पहुँचाया जा सके। हम रूसी क्रान्ति की बुर्जुआ-जनवादी सीमाओं को लाँघ नहीं सकते लेकिन हम इसे व्यापक तौर पर विस्तारित कर सकते हैं, और इन सीमाओं के भीतर हम सर्वहारा वर्ग के हितों के लिए, उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए और भावी पूर्ण विजय के लिए इसकी शक्तियों की तैयारी को सम्भव बनाने वाली स्थितियों के लिए लड़ सकते हैं और हमें लड़ना ही चाहिए।"** (वी.आई.लेनिन, *जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ,* विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिंग, 1965, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 46, *अनुवाद हमारा*) आगे लेनिन ने स्पष्ट किया कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति दो प्रकार के बुर्जुआ जनवाद को जन्म दे सकती है। एक, जिसमें कि राजतन्त्र को निर्णायक तरीके से उखाड़ फेंका गया हो और जनवादी गणराज्य की मज़बूती से स्थापना की गयी हो; और दूसरा, जिसमें कि राजतन्त्र कायम रहे, बस उसे संवैधानिक राजतन्त्र में तब्दील कर दिया जाय और जिसमें बुर्जुआ वर्ग राजतन्त्र के साथ समझौता कर एक अधूरी, विकलांग बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को जन्म दे। लेनिन का कहना था कि हर सूरत में पहली स्थिति सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक और आर्थिक संघर्षों और अन्ततः समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार के लिए ज़्यादा बेहतर है। लेकिन यह पहली सम्भावना एक यथार्थ में तभी तब्दील हो सकती है जबकि रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग के हाथों में हो। सर्वहारा वर्ग सबसे क्रान्तिकारी वर्ग था और उसे बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बनने की कोई आवश्यकता नहीं थी; सर्वहारा वर्ग के पास अपनी राजनीतिक पार्टी थी जो कि बुर्जुआ वर्ग से स्वतन्त्र थी, और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को आमूलगामी ढंग से अपनी पूर्णता तक पहुँचाने में सर्वहारा वर्ग का ज़्यादा लाभ था। लेनिन ने स्पष्ट किया कि जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग किसे नेतृत्व देगा यह सबसे अहम सवाल था जिस पर कि मेंशेविकों की अवस्थिति एकदम ग़लत थी। लेनिन का कहना था कि जनवादी क्रान्ति में जिस वर्ग को ज़ारशाही के निर्णायक ख़ात्मे और रैडिकल तरीके से जनवादी सुधारों के लागू होने से लाभ था, वह था पूरा किसान वर्ग।

सर्वहारा वर्ग को रूस में जनवादी क्रान्ति में पूरे किसान वर्ग के साथ मोर्चा बनाना चाहिए और बुर्जुआ वर्ग को अलग-थलग कर नेतृत्व में नहीं आने देना चाहिए। प्लेखानोव सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व की बात तक स्वीकार करने को तैयार थे, लेकिन किसान आबादी को मुख्य मित्र बनाने और उदार बुर्जुआ वर्ग को अलग-थलग करने के प्रश्न पर वह लेनिन से सहमत नहीं थे। उनकी स्थिति उदार बुर्जुआ वर्ग को मित्र बनाने, उसे नाराज़ न करने की थी और किसान वर्ग को क्रान्ति के मज़बूत मित्र के तौर पर देखने को लेकर वह संशयवादी थे। नतीजतन, अन्त में उनकी अवस्थिति क्लासिकीय मेंशेविक स्थिति के साथ ही खड़ी होती थी, जो कि "कानूनी" मार्क्सवादियों और अर्थवादियों की अवस्थितियों का मिश्रण थी।

दूसरी बात जो लेनिन ने 'दो कार्यनीतियाँ' में रखी वह यह थी कि जनता की जनवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने के लिए सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में सशस्त्र विद्रोह को संगठित किया जाना चाहिए। इसके लिए एक आम हड़ताल आन्दोलन की शुरुआत की जानी चाहिए जो अन्त में जन राजनीतिक हड़तालों के ज़रिये सशस्त्र विद्रोह की मंज़िल तक जाए। लेनिन ने कहा कि जनता के समक्ष रैडिकल तरीके से आठ घण्टे के कार्यदिवस, भूमि सुधार आदि जैसे जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के नारे दिये जाने चाहिए, जो कि समझौतापरस्त बुर्जुआ कानूनी दायरे का उल्लंघन करते हों। साथ ही, मज़दूरों को हथियारबन्द करने का नारा दिया जाना चाहिए। लेनिन ने स्पष्ट किया कि इस रूप में जनवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के फलस्वरूप जो राज्यसत्ता आयेगी वह निश्चित तौर पर किसी वर्ग अधिनायकत्व के द्वारा ही पहचानी जायेगी। ऐसी जनवादी क्रान्ति के नतीजे के तौर पर जो राज्यसत्ता अस्तित्व में आयेगी वह जनता की जनवादी तानाशाही या *मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही* होगी। **जनता की जनवादी तानाशाही का सिद्धान्त भी इस रचना में लेनिन का एक नया योगदान था।** इस सवाल पर लेनिन और त्रात्स्की के बीच मतभेद था, जिस पर हम आगे आयेंगे। एक अन्य प्रश्न जिस पर लेनिन ने मेंशेविकों का खण्डन किया वह था क्रान्ति के बाद क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार में हिस्सेदारी का प्रश्न। इस पर लेनिन और त्रात्स्की के बीच भी मतभेद था, जिस पर हम त्रात्स्कीपंथ पर केन्द्रित हिस्से में चर्चा करेंगे। लेनिन ने स्पष्ट किया कि वैसे तो ऐसी सरकार में भागीदारी के प्रश्न को पहले से तय कर पाना मुश्किल है, लेकिन अगर सर्वहारा वर्गों के हितों के पोषण और जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए पार्टी को आरज़ी सरकार में भागीदारी करनी पड़े, तो इसमें कोई हर्ज़ नहीं है। मेंशेविकों की अवस्थिति थी कि सामाजिक-जनवादियों को किसी भी सूरत में आरज़ी सरकार में हिस्सेदारी नहीं करनी चाहिए और "अति क्रान्तिकारी विरोध" की पार्टी बने रहना चाहिए। आरज़ी सरकार में शामिल होने को उन्होंने उसी प्रकार की ग़लती माना जैसी कि फ्रांस के समाजवादियों ने की थी। लेनिन ने स्पष्ट किया कि फ्रांस में प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ सरकार में ग़ैर-क्रान्तिकारी स्थिति में समाजवादियों ने भागीदारी की थी जो कि निश्चित रूप से ग़लत थी; लेकिन एक क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार में क्रान्तिकारी परिस्थितियों में भागीदारी करना एक अलग प्रश्न है और यह स्थितियों के मद्देनज़र की जा सकती है।

आख़िरी महत्वपूर्ण बात जो लेनिन ने इस रचना में कही वह यह थी कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने के बाद सर्वहारा वर्ग को वहीं रुकना नहीं चाहिए और तत्काल समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयारियाँ शुरू कर देनी चाहिए। निश्चित रूप से, लेनिन

बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल को लाँघने के पक्ष में नहीं थे। न ही उन्होंने बुर्जुआ क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के बीच की कालावधि बतायी। लेकिन उन्होंने इतना स्पष्ट किया कि बुर्जुआ क्रान्ति के सम्पन्न होने के बाद सर्वहारा वर्ग सतत् क्रान्ति करते हुए समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ सकता है और उसे बढ़ना चाहिए। ज़ाहिर है कि ऐसी समाजवादी क्रान्ति के बाद वह तत्काल समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकता है, बल्कि प्रारम्भिक दौर में समाजवाद की ओर कुछ क़दम उठा सकता है। लेनिन ने कहा कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में पूरी किसान आबादी के साथ मिलकर और उसके बाद समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में बुर्जुआ वर्ग और किसान आबादी के ढुलमुल तत्वों की अस्थिरता के विरुद्ध ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी को साथ लेकर सर्वहारा वर्ग को आगे बढ़ना चाहिए। वास्तव में, सतत् क्रान्ति का सिद्धान्त मार्क्स ने ही प्रतिपादित किया था। मार्क्स ने एंगेल्स को लिखे एक पत्र में कहा था जर्मनी में सर्वहारा क्रान्ति का भविष्य किसान युद्ध के दूसरे संस्करण पर निर्भर करता है। मार्क्स ने कहा था कि जर्मनी में बुर्जुआ क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने के बाद सर्वहारा वर्ग को ग्रामीण सर्वहारा और ग़रीब किसान आबादी को साथ लेकर तत्काल ही सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ना चाहिए। इसी को मार्क्स ने सतत् क्रान्ति कहा था। मार्क्स द्वारा इस्तेमाल किया गया शब्द 'पर्मानेण्ट रिवोल्यूशन' था जिसका 'स्थायी क्रान्ति' और 'सतत् क्रान्ति' दोनों ही रूप में अनुवाद होता है। इन दोनों अनुवादों के उपयोग को लेकर भी एक प्रकरण था जिस पर हम त्रात्स्कीपंथ की आलोचना पर केन्द्रित उपशीर्षक में चर्चा करेंगे। बहरहाल, 1856 के बाद मार्क्स के क्रान्ति के बारे में विचारों का यह पहलू एक तरह से नेपथ्य में चला गया था, जिसे कि रूस के सन्दर्भ में लेनिन ने पुनर्जीवित किया और आगे विकसित किया। लेनिन ने भी सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया और रूसी स्थितियों में इसके लागू होने की शर्तों और स्थितियों पर विचार किया। **कई लोगों ने, जिसमें कि ई. एच.कार शामिल हैं और *अचेतन रूप से* चार्ल्स बेतेलहाइम भी शामिल हैं, यह कोशिश की है कि त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त की तुलना मार्क्स और लेनिन के सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त से करें और उन्हें वास्तव में एक सिद्ध करें।** लेकिन लेनिन के सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त और त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त में बहुत बड़ा अन्तर है। इस पर हम आगे चर्चा करेंगे, जब हम त्रात्स्कीपंथ से लेनिन के संघर्ष का अलग से विस्तार में ब्यौरा देंगे। लेनिन ने सतत् क्रान्ति में वर्ग मोर्चे को स्पष्ट करते हुए लिखा, **"सर्वहारा वर्ग को किसानों के जनसमुदायों के साथ गठजोड़ बनाते हुए जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक ले जाना चाहिए ताकि वह निरंकुश तन्त्र के प्रतिरोध को कुचल सके और बुर्जुआ वर्ग के अस्थिर तत्वों को निष्क्रिय कर सके। सर्वहारा वर्ग को जनसंख्या के अर्द्धसर्वहारा जनसमुदायों के साथ मिलकर समाजवादी क्रान्ति को पूर्ण करना चाहिए, ताकि वह बुर्जुआ वर्ग के प्रतिरोध को कुचल सके और किसानों और टुटपुँजिया वर्गों की अस्थिरता को निष्क्रिय किया जा सके।"** (*वही*, पृ. 109-110, *अनुवाद हमारा*)

इस रचना के प्रकाशन के बाद रूस के घटनाक्रम में लेनिन के सिद्धान्तों की पुष्टि की। 1905 की असफल क्रान्ति में नेतृत्वकारी भूमिका मज़दूर वर्ग के हाथों में थी, लेकिन किसानों के विद्रोहों के साथ सही तरीके से समन्वय न स्थापित होने के कारण और वर्दीधारी किसानों, यानी कि सैनिकों, के ज़ारशाही के पक्ष में खड़े होने के कारण 1905 की क्रान्ति कुचल दी गयी। दिसम्बर 1905 के बाद भी देश भर में किसान व मज़दूरों के छोटे-छोटे विद्रोहों और

आन्दोलनों जैसी घटनाएँ घटती रहीं, लेकिन मुख्य और मूल तौर पर क्रान्ति कुचली जा चुकी थी। लेकिन इस अधूरी क्रान्ति ने एक संविधान और दूमा देने के लिए ज़ार को मजबूर कर दिया। हालाँकि, ये अधिकार आधे-अधूरे थे, लेकिन फिर भी यह साफ़ हो गया था कि ज़ारशाही को कुछ सुधार के क़दम उठाने ही पड़ेंगे। यह एक दीगर बात है कि 1907 में स्तोलिपिन के प्रतिक्रियावाद के दौर के शुरू होने के बाद इन आधे-अधूरे सुधारों का भी कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया था। 1907 से लेकर 1911 तक का दौर रूसी मज़दूर आन्दोलन में भाटे का दौर था। 1905 में क्रान्ति के कुचले जाने के बाद 1906 में बोल्शेविकों और मेंशेविकों में एक एकता कांग्रेस हुई। चूँकि मेंशेविकों ने बोल्शेविकों द्वारा आयोजित तीसरी कांग्रेस को उस समय मान्यता नहीं दी थी, इसलिए एकता कांग्रेस को उस समय चौथी कांग्रेस नहीं कहा गया। बाद में पार्टी इतिहास में इसे चौथी कांग्रेस के नाम से ही जाना गया। 1905 की क्रान्ति के बाद जब पीटर्सबर्ग सोवियत को कुचला गया तो बोल्शेविकों और मेंशेविकों ने मिलकर इसका संयुक्त रूप से विरोध किया। इस सोवियत में मुख्य तौर पर मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी सक्रिय थे, लेकिन निश्चित तौर पर बोल्शेविकों का भी अच्छा-ख़ासा प्रभाव था। पहले अध्यक्ष के गिरफ़्तार होने के बाद त्रात्स्की इसके दूसरे अध्यक्ष बने थे क्योंकि बोल्शेविकों और मेंशेविकों, दोनों को ही त्रात्स्की के नाम पर आपत्ति नहीं थी। **क्रासिन** के ब्यौरे के मुताबिक, 1903 में बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच हुई फूट अभी रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में पूरी तरह लागू नहीं हो पायी थी, और 1905 की क्रान्ति के दौरान पीटर्सबर्ग में बोल्शेविक और मेंशेविक ज़्यादातर ज़मीनी व्यावहारिक मसले पर साथ ही काम कर रहे थे। इस बात में कोई शक़ नहीं है कि इसमें बोल्शेविकों से ज़्यादा मेंशेविकों का प्रभाव था और इन दोनों के अलावा समाजवादी-क्रान्तिकारी व अराजकतावादी भी इसमें सक्रिय थे। शुरुआत में लेनिन या त्रात्स्की ने सोवियतों को समानान्तर सर्वहारा सत्ता की संस्था के रूप में नहीं देखा था। लेनिन ने कहीं भी सैद्धान्तिक तौर पर सोवियतों को सर्वहारा सत्ता की एकमात्र सत्ता के रूप में मान्यता नहीं दी थी। लेनिन का सोवियतों के बारे में दृष्टिकोण बदलता रहा था। **क्रान्ति के पहले और क्रान्ति के बाद, दोनों ही दौरों में लेनिन के सोवियतों के बारे में दृष्टिकोण के बारे में हम आगे विस्तार से लिखेंगे क्योंकि सोवियतें सर्वहारा सत्ता का मुख्य निकाय होंगी, यह सिद्धान्त का मसला नहीं है। निश्चित तौर पर, इस प्रकार का कोई जनमंच सर्वहारा अधिनायकत्व को तृणमूल धरातल पर पहुँचाने का कार्य करेगा, लेकिन यह निकाय क्या होगा, किस प्रकार का होगा, इसके बारे में *ए प्रायोरी* किसी निर्णय तक नहीं पहुँचा जा सकता है।**

दिसम्बर 1905 में टैमर्सफोर्स में बोल्शेविकों ने एक सम्मेलन किया और तय किया कि व्यावहारिक मसलों में एकजुटता की आवश्यकता है और इसलिए बोल्शेविक और मेंशेविक केन्द्रीय कमेटियों को मिला दिया जाना चाहिए। इसी सम्मेलन में **जोसेफ़ स्तालिन** पहली बार रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के राष्ट्रीय दृश्यपटल पर आते हैं और यहीं पर स्तालिन की पहली बार लेनिन से मुलाकात होती है। इस सम्मेलन में एक संयुक्त एकता कांग्रेस करने के प्रस्ताव पर सहमति जतायी गयी। 1906 की जनवरी और फरवरी में एक संयुक्त केन्द्रीय कमेटी ने कांग्रेस की तैयारी की घोषणा की और स्टॉकहोम में अप्रैल में यह एकता कांग्रेस हुई जिसे बाद में चौथी कांग्रेस के रूप में जाना गया। इसके बाद 1907 के अप्रैल-मई में एक और संयुक्त कांग्रेस हुई जिसे बाद में पाँचवीं कांग्रेस का दर्ज़ा दिया गया। स्टॉकहोम एकता

कांग्रेस में मेंशेविक बहुमत में थे, जबकि लन्दन कांग्रेस (पाँचवीं कांग्रेस) तक बोल्शेविक बहुमत में आ चुके थे। त्रात्स्की इस समय दोनों धड़ों के बीच में दोलन करते हुए और मुख्य रूप से मेंशेविकों की ओर झुकाव रखते हुए अपने आपको "पार्टी गुटों से अलग" बता रहे थे। अधिकांश मसलों में उनकी अवस्थिति मेंशेविकों के साथ जाकर खड़ी होती थी। 1907 आते-आते यह दिखने लगा था कि बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच कोई एकता सम्भव नहीं है, और दूरगामी तौर पर लेनिन की कार्यदिशा एकदम सही और सटीक साबित हो रही थी। **लेनिन का स्पष्ट मानना था कि सांगठनिक कार्यदिशा के प्रश्न पर अन्तरविरोध वास्तव में कोई तकनीकी नहीं बल्कि रूसी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल को लेकर मेंशेविकों से एक बुनियादी राजनीतिक अन्तरविरोध था, और उनके साथ किसी भी प्रश्न पर समझौते की बजाय फूट बेहतर थी।**

1905 के बाद की विशिष्ट परिस्थितियों में एकता हुई थी और यह 1911 तक ही टिक पायी। 1907 में लन्दन कांग्रेस के बाद ही स्तोलिपिन की प्रतिक्रिया का दौर शुरू हुआ। इस कांग्रेस से ठीक पहले मेंशेविकों ने एक श्रमिक कांग्रेस का प्रस्ताव रखा था जिसमें कि सामाजिक-जनवादी, समाजवादी-क्रान्तिकारी और अराजकतावादी सभी को शामिल किये जाने का प्रस्ताव था। इसकी अवधारणा एक "गैर-पक्षधर पार्टी" की अवधारणा थी। लेनिन ने इस सोच पर पुरज़ोर शब्दों में हमला करते हुए इस सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी को विसर्जित करने का प्रयास बताया और विसर्जनवाद का दरिद्र उदाहरण बताया। 1908 के दिसम्बर में पेरिस में एक सम्मेलन हुआ जिसमें बोल्शेविकों और मेंशेविकों की औपचारिक एकता जारी रही। 1909 में सामाजिक-जनवादी पार्टी के दोनों धड़ों का संयुक्त मुखपत्र *सोत्सियल-डेमोक्रेट* के कई अंक प्रकाशित हुए, जिसके सम्पादक मण्डल में **मार्तोव, लेनिन, कामेनेव** व **ज़िनोवियेव** बैठते थे। कामेनेव और ज़िनोवियेव बोल्शेविक पार्टी में हाल ही में सक्रिय हुए थे। इसी दौर में लेनिन अलग बोल्शेविक केन्द्र और अलग बोल्शेविक मुखपत्र *प्रोलेतारी* को चला रहे थे। इस एकता के दौर में भी लेनिन का पूरा ज़ोर बोल्शेविकों को अलग से संगठित रखने का था।

1909 में बोल्शेविकों के बीच भी एक दो लाइनों का अहम संघर्ष चला। बोल्शेविक धड़े में ही **बोग्दानोव, लूनाचार्स्की** और **गोर्की** नवकाण्टवादी माखवाद से प्रेरित होकर मार्क्सवाद के भीतर भाववादी विकृति पैदा कर रहे थे और धर्म के साथ मार्क्सवाद का संलयन करने का प्रयास कर रहे थे। यह समूह राजनीतिक तौर पर एक "वामपंथी" कार्यदिशा पेश कर रहा था और तीसरी दूमा के सामाजिक-जनवादियों के बहिष्कार की माँग कर रहा था। लेनिन ने इस दार्शनिक प्रवृत्ति की अपनी प्रसिद्ध रचना **'भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना'** में धज्जियाँ उड़ा दीं और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की हिफ़ाज़त की। लेनिन ने इनकी राजनीतिक कार्यदिशा की भी सख़्त आलोचना पेश की। बाद में लेनिन ने माखवादी भटकाव को बोल्शेविक पार्टी के भीतर "वामपंथी" भटकाव का पहला उदाहरण बताया था। इसके बाद, आन्दोलन के लगभग हर अहम प्रश्न पर "वामपंथी" कार्यदिशा से बोल्शेविकों का संघर्ष जारी रहा हालाँकि इस कार्यदिशा के वाहक अलग-अलग मौकों पर अलग-अलग लोग थे। बहरहाल, यहाँ हमें अपने विशिष्ट उद्देश्यों के मद्देनज़र माख़वादियों के साथ चली बहस के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है; बस इतना जान लेना ज़रूरी है कि यह रुझान दार्शनिक धरातल पर एक भाववादी और अज्ञेयवादी भटकाव का मार्क्सवाद से मेल करने का प्रयास कर रहा था, जबकि राजनीतिक-विचारधारात्मक धरातल पर इसकी अवस्थिति एक

"वामपंथी" बचकाना अवस्थिति थी।

1910 में लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी की बैठक में बोल्शेविकों और मेंशेविकों के सांगठनिक तौर पर अलग हो जाने का प्रस्ताव रखा, लेकिन केन्द्रीय कमेटी ने उसे पास नहीं किया। लेनिन ख़ास तौर पर अलग बोल्शेविक केन्द्र और मुखपत्र को बन्द करने के फैसले से सहमत नहीं थे। बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच की यह असुविधाजनक औपचारिक एकता ज़्यादा समय तक नहीं चल सकती थी। अन्ततः जनवरी, 1912 में लेनिन ने प्राग में अपनी कार्यदिशा के पक्ष में खड़े बोल्शेविकों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में 14 वोट करने वाले सदस्य थे और इसमें स्तोलिपिन की प्रतिक्रिया के दौर के परिणामस्वरूप पार्टी संगठन में आयी कमी को चिन्हित किया गया। इस सम्मेलन ने अपने आपको कांग्रेस का दर्ज़ा देते हुए नयी केन्द्रीय कमेटी का चुनाव किया जिसमें **लेनिन, ज़िनोवियेव, ओर्ज़ोनिकिद्ज़े** थे और साथ ही पाँच उम्मीदवार थे। **'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास'** (1939) के अनुसार केन्द्रीय कमेटी में सम्मेलन के दौरान ही **स्तालिन** और **स्वेर्दलोव** को भी चुना गया था, लेकिन क्रुप्सकाया ने 'लेनिन एक संस्मरण' में लिखा है कि स्तालिन को सम्मेलन के तुरन्त बाद केन्द्रीय कमेटी में सहयोजित किया गया था। ई.एच.कार ने भी अपनी किताब में क्रुप्सकाया की सूचना को ही ज़्यादा भरोसेमन्द बताया है। ख़ैर, जो भी हो, **1912 में बोल्शेविक पार्टी एक अलग पार्टी के रूप में स्थापित हो गयी और इसकी केन्द्रीय कमेटी में पार्टी के दो भावी कद्दावर नेता लेनिन और स्तालिन मौजूद थे।** 1912 ही रूस में मज़दूर आन्दोलन में पसरे सन्नाटे के टूटने का वर्ष भी था। अप्रैल में लेना सोने की खान के मज़दूरों पर ज़ार की पुलिस ने गोलियाँ बरसायीं जिसमें करीब 500 मज़दूर मारे गये। 1905 के खूनी रविवार के बाद यह सबसे भयंकर हत्याकाण्ड था। इसके साथ ही रूस में मज़दूर आन्दोलन और सामाजिक-जनवादी आन्दोलन तेज़ी से बढ़ने लगा। 1912 में नये बोल्शेविक अखबार *प्राव्दा* की स्थापना सघन होती सामाजिक-जनवादी राजनीतिक गतिविधियों का ही एक लक्षण था। 1912 में त्रात्स्की ने तथाकथित तौर पर सामाजिक-जनवादियों की औपचारिक एकता को कायम रखने के लिए अगस्त महीने में मेंशेविकों, त्रात्स्कीपंथियों और कुछ अन्य सामाजिक-जनवादी संगठनों का एक सम्मेलन वियेना में किया, जो कि वास्तव में बोल्शेविक-विरोधी गुटवाद के अलावा और कुछ नहीं था। लेकिन बोल्शेविकों ने इसका विरोध किया और सिद्धान्तों पर समझौते से इंकार कर दिया। 'अगस्त ब्लॉक' के नाम से जानी गयी त्रात्स्की की यह कवायद ठीक से बन पाने के पहले ही बिखर गयी क्योंकि आम तौर पर अवसरवादियों में कोई एकता लम्बे समय तक कायम नहीं रह पाती है।

1914 में प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत ने रूस में मज़दूर आन्दोलन और सामाजिक-जनवादी गतिविधियों को और अधिक सघनता प्रदान की। 1914 में युद्ध पर अवस्थिति के प्रश्न पर भी मेंशेविकों और बोल्शेविकों मे टकराव हुआ। युद्ध शुरू होते ही बोल्शेविकों ने युद्ध-विरोधी प्रचार शुरू कर दिया। नतीजतन, ज़ार की पुलिस ने जल्द ही *प्राव्दा* का दमन कर दिया और कई बोल्शेविकों को गिरफ्तार कर लिया और निर्वासित कर दिया। इसके बाद बोल्शेविकों ने स्विट्ज़रलैण्ड में बर्न में अपना नया केन्द्र स्थापित किया और वहाँ से क्रान्तिकारी साहित्य को रूस में भेजने का इंतज़ाम करना शुरू कर दिया। 1914 में यूरोप के तमाम सामाजिक-जनवादी सामाजिक कट्टरवादी अवस्थिति पर जा खड़े हुए और "पितृभूमि की रक्षा" करने की बात शुरू कर दी। लेनिन ने इसे निकृष्टतम कोटि की ग़द्दारी

बताया और अपनी राष्ट्रीय सरकार को हराने की बोल्शेविक नीति को आगे बढ़ाने का काम जारी रखा। नवम्बर 1914 में लेनिन ने पार्टी मुखपत्र *सोत्सियल डेमोक्रेट* में युद्ध को लेकर अपनी थीसिस प्रकाशित की, जिसमें लिखा था: **"सेना से लेकर सैन्य कार्रवाइयों के स्थानों पर समाजवादी क्रान्ति और अपने हथियारों को अन्य देशों के भाड़े के गुलामों, यानी अपने ही भाइयों की तरफ़ नहीं, बल्कि सभी देशों की प्रतिक्रियावादी और पूँजीवादी सरकारों की ओर मोड़ देने का सार्वभौमिक प्रचार करना होगा। सभी भाषाओं में ऐसे प्रचार के लिए सभी राष्ट्रों की सेनाओं में गैर-कानूनी सेल और समूह संगठित किये जाने की बिना शर्त ज़रूरत है। निरपवाद रूप से सभी देशों के पूँजीपति वर्गों के कट्टरतावाद और देशभक्ति के विरुद्ध कठोर संघर्ष।"** इस थीसिस को लेनिन ने सितम्बर 1914 में बर्न में कुछ बोल्शेविकों के समक्ष प्रस्तुत किया था। फरवरी 1915 में बोल्शेविकों के एक अपेक्षाकृत बड़े सम्मेलन में इस थीसिस को पेश किया जिसे कि सम्मेलन ने पास कर दिया। इस सम्मेलन में **बुखारिन, प्याताकोव, क्राइलेंको** और **ज़िनोवियेव** मौजूद थे। बोल्शेविकों ने स्पष्ट शब्दों में युद्ध-विरोधी अवस्थिति अपनायी थी। लेकिन मेंशेविकों के बीच युद्ध के प्रश्न को लेकर दो गुट उभर आये। एक के नेतृत्व में प्लेखानोव थे जिन्होंने खुले तौर पर एक सामाजिक कट्टरवादी अवस्थिति अपना ली थी और कह रहे थे कि राष्ट्र-रक्षा आगे के सुधारों के लिए अनिवार्य है। लेकिन मार्तोव ने प्लेखानोव से अलग अवस्थिति अपनाते हुए युद्ध का विरोध किया। वाम मेंशेविकों और बोल्शेविकों के बीच युद्ध-विरोध के प्रश्न को लेकर एकता हुई और लेनिन और मार्तोव दोनों ने ही प्रसिद्ध **ज़िम्मरवॉल्ड सम्मेलन** में हिस्सा लिया, जिसमें कि सभी युद्ध विरोधी सामाजिक-जनवादियों ने भागीदारी की थी। लेकिन वाम मेंशेविकों और बोल्शेविकों के लिए युद्ध-विरोध का अलग-अलग अर्थ था। **लेनिन के लिए युद्ध का विरोध करने का अर्थ था अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों को हराते हुए समाजवादी सर्वहारा क्रान्ति की ओर जाना; जबकि मार्तोव जैसे लोगों के लिए युद्ध विरोध का आधार था राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ जनवादी शान्ति।** जल्द ही इस अन्तर ने युद्ध के प्रश्न पर हुए अस्थायी समझौते को अर्थहीन बना दिया। दूमा में बोल्शेविक प्रतिनिधियों और रूस के विभिन्न हिस्से से आये बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने मिलकर लेनिन की युद्ध विरोधी थीसिस के समर्थन में प्रस्ताव पास किया। यह सितम्बर 1914 में एक गुप्त सम्मेलन में फिनलैण्ड में हुआ। एक माह बाद ही कई बोल्शेविक नेताओं और दूमा सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार बोल्शेविकों में कामेनेव भी शामिल थे। बाद में पता चला कि इन बोल्शेविकों पर चले मुकदमे में कामेनेव बोल्शेविक अवस्थिति से हिल गये थे और उन्होंने कहा था कि वह लेनिन के युद्ध-विरोधी प्रस्ताव के उस हिस्से से सहमत नहीं है, जिसमें अपनी सरकार को हराने की बात कही गयी थी। लेनिन ने कामेनेव की इस कमज़ोरी के लिए बाद में उनकी कड़े शब्दों में निन्दा की थी। बोल्शेविकों के एक बेहद छोटे हिस्से में लेनिन की कार्यदिशा को लेकर वह दृढ़ता नहीं थी, जो कि स्तालिन, बुखारिन जैसे बोल्शेविकों में थी। लेकिन अन्ततः बोल्शेविक युद्ध-विरोध की लेनिनवादी कार्यदिशा पर सहमत हो गये थे। वहीं दूसरी ओर युद्ध के दौरान मेंशेविक अपना बचा-खुचा आमूलगामी चरित्र भी पूरी तरह से खो बैठे थे। उनके और अन्य तथाकथित प्रगतिशील सामाजिक-जनवादियों के बीच फर्क करना मुश्किल हो गया था, जो कि राष्ट्रीय रक्षा और जनवादी सुधार की बीन बजाये जा रहे थे। रूस के मेंशेविकों ने लगभग पूरी तरह से काऊत्स्की की अवस्थिति को अपना लिया था

और बोल्शेविकों के बढ़ते प्रभाव के समक्ष वे अधिक से अधिक अप्रासंगिक होते चले गये।

मेंशेविज़्म से संघर्ष क्रान्ति के पहले इस बिन्दु तक पहुँच चुका था। फरवरी क्रान्ति के बाद भी मेंशेविकों से तमाम प्रश्नों पर राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्ष जारी रहा। फरवरी से लेकर अक्टूबर क्रान्ति तक के संघर्ष का ब्यौरा हम अगले अध्याय में देंगे। लेनिनवाद का एक अन्य रुझान से भी सतत् संघर्ष 1903-4 से जारी हो चुका था; यह रुझान था **त्रात्स्कीपंथ** का रुझान जो कि दक्षिणपंथी अवसरवाद और "वामपंथी" बचकानेपन का एक विचित्र मिश्रण था। हम त्रात्स्कीपंथ से लेनिनवाद के संघर्ष पर थोड़ा आगे आएँगे और यह भी प्रदर्शित करेंगे कि आज के अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद त्रात्स्कीपंथ से भी काफ़ी-कुछ उधार लेते हैं। त्रात्स्कीपंथ दार्शनिक धरातल पर एक कठमुल्लावादी, ग़ैर-द्वन्द्वात्मक, निगमनात्मक पद्धति का अनुसरण करने वाली प्रवृत्ति है, जबकि राजनीतिक धरातल पर यह "वामपंथी" कम्युनिज़्म (रूप के मामले में) और दक्षिणपंथी अवसरवाद (अन्तर्वस्तु के मामले में) का मिश्रण है, जैसा कि आम तौर पर सभी "वामपंथी" और दक्षिणपंथी भटकाव हुआ करते हैं। लेकिन त्रात्स्कीपंथ पर थोड़ा आगे।

●

1915 की शुरुआत तक रूस में मौजूद सभी प्रमुख बोल्शेविक नेता गिरफ्तार हो चुके थे। बोल्शेविकों का रूस में संगठन ज़ारशाही के दमन के समक्ष नष्ट हो गया था। लेनिन ने **श्ल्याप्निकोव** नामक एक पार्टी कार्यकर्ता को बर्न से पार्टी साहित्य को गुप्त रूप से रूस तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी सौंपी। श्ल्याप्निकोव ने 1916 में दो अन्य बोल्शेविकों के साथ मिलकर बिखर चुके बोल्शेविक रूसी ब्यूरो को पुनर्गठित किया। ये दो बोल्शेविक थे **मोलोतोव** और **ज़ालुत्स्की।** जल्द ही इस नये रूसी ब्यूरो ने देश के अन्य बोल्शेविक पार्टी संगठनों से सम्पर्क स्थापित कर लिया था। बस दिक्कत यह थी कि बर्न में बोल्शेविक केन्द्रीय नेतृत्व से सम्पर्क बीच-बीच में ही हो पाता था और नियमित तौर पर दिशा-निर्देश ले पाना सम्भव नहीं था। इस बीच लेनिन ने स्विट्ज़रलैण्ड में अपना निवास बर्न से ज़्यूरिख़ में स्थानान्तरित कर लिया। यहाँ लेनिन को साम्राज्यवाद पर अपने अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल गयी और उन्होंने अपनी कालजयी रचना **'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था'** पूरी की। इस बीच उन्होंने सामाजिक-जनवादियों के पतन और संशोधनवाद के विरुद्ध भी काफ़ी-कुछ लिखा। अप्रैल 1916 में उन्होंने कियेंथाल में ज़िम्मरवॉल्ड समूह के दूसरे सम्मेलन में भागीदारी की। इस सम्मेलन में लेनिन के विचारों के पक्ष में पहले से ज़्यादा लोग आये, लेकिन अभी भी कोई मज़बूत एकता नहीं स्थापित हो पायी थी। लेनिन अपनी कार्यदिशा पर दृढ़ थे, स्थितियों पर निगाह रखे हुए थे, सैद्धान्तिक-राजनीतिक कार्य कर रहे थे और इन्तज़ार कर रहे थे। **फरवरी 1917 में रूस में क्रान्ति की शुरुआत के साथ यह इन्तज़ार ख़त्म हो गया।** अप्रैल 1917 में लेनिन करीब बीस अन्य बोल्शेविकों के साथ पीटर्सबर्ग पहुँचे। इन बोल्शेविकों में **ज़िनोवियेव, सोकोलनिकोव, रादेक**, आदि शामिल थे। इसके साथ ही रूसी क्रान्ति का एक नया दौर शुरू हुआ। इस पूरे दौर में क्रान्ति द्रुत गति से आगे बढ़ी और फरवरी से लेकर अक्टूबर तक के नौ महीने में बोल्शेविकों के राजनीतिक-सांगठनिक और विचारधारात्मक कार्य और मेंशेविकों, त्रात्स्कीपंथियों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से वर्चस्व के लिए उनके संघर्ष का

आलोचनात्मक मूल्यांकन हम अगले अध्याय में करेंगे। लेकिन पहले त्रात्स्कीपंथ के साथ क्रान्ति से पहले के पूरे दौर में लेनिन के संघर्ष को समझना ज़रूरी है क्योंकि त्रात्स्की की वामपंथी-दक्षिणपंथी प्रवृत्तियाँ क्रान्ति के बाद के दौर में भी बार-बार सिर उठाती रहीं और उसके ख़िलाफ़ पहले लेनिन और बाद में स्तालिन ने संघर्ष जारी रखा। त्रात्स्कीपंथ से संघर्ष के बाद इस अध्याय के परिशिष्ट में क्रान्ति से पहले के पूरे दौर में रूस के कम्युनिस्ट आन्दोलन और बोल्शेविक पार्टी के उद्‌भव और विकास के बारे में हम चार्ल्स बेतेलहाइम के पूरे ब्यौरे का भी एक आलोचनात्मक मूल्यांकन पेश करेंगे।

ख) त्रात्स्कीपंथ से लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों का संघर्ष

नरोदवाद से संघर्ष ने रूस में सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की नींव डालने का काम किया। इसके बाद सामाजिक-जनवादी आन्दोलन को अपने शुरुआती दौर में "कानूनी" मार्क्सवाद और अर्थवाद से संघर्ष करना पड़ा। इन दो शुरुआती विचारधारात्मक संघर्षों ने भी रूस में सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के उत्तरवर्ती विकास और साथ ही लेनिनवाद के कुछ बुनियादी सिद्धान्तों के उद्‌भव में अहम भूमिका निभाई। मेंशेविकों से संघर्ष में अर्थवाद और "कानूनी" मार्क्सवाद से चले विचारधारात्मक संघर्ष की ही एक नये स्तर पर पुनरावृत्ति हुई। लेकिन सांगठनिक उसूल मेंशेविकों और बोल्शेविकों के बीच फूट का मूल कारण बने। मेंशेविकों से संघर्ष बाद तक जारी रहा, लेकिन संघर्ष के मूल मुद्‌दे शुरू में ही रेखांकित हो चुके थे। इसके बाद जो विचारधारात्मक संघर्ष रूसी कम्युनिस्ट आन्दोलन और लेनिनवाद के विकास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान रखता है, वह है **त्रात्स्कीपंथ से संघर्ष।**

यहाँ हम फरवरी 1917 तक के दौर में त्रात्स्कीपंथ से चले संघर्ष का ब्यौरा पेश करेंगे। फरवरी 1917 से लेकर लेनिन की मृत्यु तक और उसके बाद स्तालिन के साथ त्रात्स्की के संघर्ष का ब्यौरा हम आगे पेश करेंगे। फिलहाल, अक्तूबर क्रान्ति से पहले फरवरी 1917 तक त्रात्स्की और लेनिनवाद के बीच चले संघर्ष का ब्यौरा ही हमारे लिए प्रासंगिक है। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके बाद त्रात्स्की से लेनिन का और उसके बाद स्तालिन का जो संघर्ष चला, उसके मूल मुद्‌दे वास्तव में 1903 से 1917 के बीच ही रेखांकित हो चुके थे। समय के साथ संघर्ष का सन्दर्भ बदला, लेकिन मूल मुद्‌दे वही रहे। फरवरी 1917 तक त्रात्स्की के साथ लेनिन को दो अहम मसलों पर संघर्ष हुआ–**पहला, क्रान्ति के सिद्धान्त के प्रश्न पर और दूसरा पार्टी के सांगठनिक उसूलों के प्रश्न पर।** इससे पहले कि हम इन दोनों विचारधारात्मक संघर्षों का ब्यौरा पेश करें और साथ ही इसके विषय में इतिहास-लेखन पर अपना आलोचनात्मक विश्लेषण पेश करें, हम त्रात्स्कीपंथ के सम्बन्ध में कुछ ज़रूरी मुद्‌दों पर बात करना चाहेंगे।

सबसे अहम बात यह है कि **क्या त्रात्स्कीपंथ अथवा त्रात्स्कीवाद जैसी किसी चीज़ के बारे में बात की जा सकती है?** दूसरे शब्दों में, क्या त्रात्स्कीपंथ/त्रात्स्कीवाद जैसी कोई चीज़ है? क्या ऐसे किसी अलग विचारधारात्मक अप्रोच व पद्धति की बात की जा सकती है? जहाँ तक स्वयं त्रात्स्कीपंथियों और यहाँ तक कि त्रात्स्की का दावा है, त्रात्स्कीपंथ जैसी कोई चीज़ नहीं होती। लेकिन ऐसा दावा करने के पीछे उनका असल मक़सद होता है यह सम्प्रेषित करना कि त्रात्स्कीपंथ दरअसल लेनिनवाद ही है। त्रात्स्की और अधिकांश त्रात्स्कीपंथियों के इस दावे

के बावजूद अगर हम त्रात्स्की के विचारधारात्मक-राजनीतिक लेखन व व्यवहार का अध्ययन करें तो हम देखते हैं कि **त्रात्स्की की एक विशिष्ट पहुँच और पद्धति है;** कह सकते हैं कि *'इस पागलपन में एक पद्धति है!'* बहरहाल, स्वयं त्रात्स्की व उनके अनुयायियों का कहना है कि त्रात्स्कीपंथ शब्द स्तालिन व "स्तालिनवादियों" की पैदावार है। हालाँकि, यह दावा कतई सच नहीं है, लेकिन यह सच होता भी तो भी इतना तय है कि हम विशिष्ट त्रात्स्कीपंथी पहुँच और पद्धति की बात कर सकते हैं। **अर्नेस्ट मैण्डेल** और **इज़ाक डॉइशर** जैसे त्रात्स्कीपंथी बुद्धिजीवियों ने तो यहाँ तक कहा है कि जब लेनिन ने 'अप्रैल थीसीज़' पेश की, उस समय रूस में लेनिन से बेहतर कोई 'त्रात्स्कीपंथी' नहीं था! उनका यह दावा है कि लेनिन चोर दरवाज़े से त्रात्स्की के क्रान्ति के सिद्धान्त, यानी कि 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त, पर चले गये थे! ख़ैर, चमचे हमेशा मालिक से ज़्यादा शोर मचाते हैं! यह देखना दिलचस्प होगा कि स्वयं त्रात्स्की का इस मसले पर क्या कहना था। त्रात्स्की का कहना था कि **'सिद्धान्त के मामले में मैं मार्क्स का शिष्य हूँ, जबकि पद्धति के मामले में मैंने लेनिन के विद्यालय में शिक्षा ग्रहण की है।'** अगर यह कथन सच है तो कहा जा सकता है कि मार्क्स की पाठशाला में त्रात्स्की मुश्किल से 'ग्रेस मार्क्स' पाकर लेनिन के विद्यालय में पहुँचे थे, जहाँ वह बुरी तरह से फेल हो गये! पूरा त्रात्स्कीपंथ इसी औसतपन और विफलता की कहानी है।

हम त्रात्स्कीपंथ की बात निश्चित तौर पर कर सकते हैं। यह एक ऐसी विचार-सरणि है जो कि सारसंग्रहवादी ढंग से एकत्र किये गये विचारों का समुच्चय है। यह सिद्धान्तों का एक ऐसा समुच्चय है जो किसी भी रूप में क्रान्तिकारी 'प्रैक्टिस' का मार्गदर्शन नहीं कर सकता है। त्रात्स्की किताबी ज्ञान से सत्य का निवारण करते हैं। आम तौर पर **कोस्तास मावराकिस** द्वारा लेनिन व स्तालिन के बेतेलहाइमीय "अति-माओवादी" नियोजन पर आप सहमत नहीं हो सकते, लेकिन त्रात्स्की की आलोचना में टुकड़ों-टुकड़ों में उन्होंने कुछ सटीक प्रेक्षण रखे हैं। कोस्तास मावराकिस के अनुसार **"त्रात्स्की उत्तर-क्लासिकीय युग में ज़िन्दा बच गये एक 'क्लासिकीय' क्रान्तिकारी थे।"** (कोस्तास मावराकिस, *'ऑन ट्रॉट्स्कीज़्म'*, 1976, रूटलेज कीगन पॉल लि., पृ. 3, *अनुवाद हमारा*) मावराकिस मार्क्सवाद के विकास को तीन मंज़िलों में विभाजित करते हैं और कहते हैं कि मार्क्स के दौर का मार्क्सवाद पहली मंज़िल, लेनिन के दौर का मार्क्सवाद (लेनिनवाद) दूसरी मंज़िल, जबकि माओ के दौर का मार्क्सवाद (मावराकिस के शब्दों में माओ त्से-तुङ विचारधारा) मार्क्सवाद के विकास की तीसरी मंज़िल थी। ज़ाहिर है, ये तीन मंज़िलें अलग-अलग युगों में सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम कार्यनीति का प्रतिनिधित्व करती हैं। लेनिनवाद साम्राज्यवाद के युग का मार्क्सवाद है और आज भी हम साम्राज्यवाद के ही एक नये युग (भूमण्डलीकरण) के युग में जी रहे हैं। ऐसे में कोई यह प्रश्न पूछ सकता है कि फिर 'माओ-वाद' किस युग के मार्क्सवाद का प्रतिनिधित्व करता है? माओ का युगान्तरकारी योगदान था 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का सिद्धान्त जो कि समाजवादी संक्रमण की पूरी ऐतिहासिक अवधि के दौरान सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने की कार्यदिशा प्रस्तुत करता है। ऐसा नहीं है कि माओ से पहले समाजवादी संक्रमण पर कोई चिन्तन नहीं हुआ था, लेकिन यह भी सच है कि समाजवादी संक्रमण के कई केन्द्रीय असमाधित प्रश्नों को माओ ने हल किया और एक सुसंगत और पूर्ण सिद्धान्त पेश किया। सम्भव है कि लेनिन जीवित रहे होते या स्तालिन को परिस्थितियों ने मौका दिया होता तो वे भी अन्त में इसी नतीजे पर पहुँचते। लेकिन जैसा कि हमने पहले भी कहा है सैद्धान्तिक और

ऐतिहासिक मसलों में प्रति-तथ्यात्मक इतिहास के लिए ज़्यादा स्थान नहीं होता है। इस रूप में माओ ने समाजवादी संक्रमण का युग, जिसका कि एक हिस्सा साम्राज्यवाद के युग अतिच्छादित करता है, में सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने की रणनीति और आम कार्यनीति को सूत्रबद्ध किया। इसलिए हम मावराकिस के 'माओ त्से-तुङ विचारधारा' से आगे जाकर माओवाद की बात कर सकते हैं, क्योंकि मावराकिस की सैद्धान्तिक बुनियाद हमारी सैद्धान्तिक बुनियाद से बिल्कुल भिन्न है।

बहरहाल, मावराकिस कहते हैं कि मार्क्सवाद के विकास की तीसरी मंज़िल के दौर में त्रात्स्की पहली मंज़िल पर ही खड़े थे। हम इस कथन पर प्रश्न खड़ा कर सकते हैं कि **त्रात्स्की मार्क्स के दौर के मार्क्सवाद पर भी किस हद तक खड़े थे और आगे हम प्रदर्शित भी करेंगे कि वास्तव में त्रात्स्की मार्क्सवाद की किसी मंज़िल पर नहीं, बल्कि मार्क्सवादी पहुँच और पद्धति से अलग खड़े थे।** लेकिन इतना ज़रूर है कि त्रात्स्की एक कठमुल्लावादी थे जो कि किताबी सिद्धान्त के अनुसार वास्तविकता का निर्धारण करते थे। त्रात्स्की सामान्य विचारधारात्मक अवस्थितियों से राजनीतिक कार्यक्रमों को निगमित करते थे; यथार्थ में मौजूद अन्तरविरोधों के स्वतन्त्र रूप से मार्क्सवादी विश्लेषण की बजाय, किन्हीं और परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर निकाले गये सामान्य नतीजों को त्रात्स्की जड़सूत्र के रूप में देखते थे, और अपने राजनीतिक कार्यक्रम निर्धारित करते थे। त्रात्स्की की पूरी पहुँच और पद्धति की बात करें तो उसे **निगमनवादी, कठमुल्लावादी, आधिभौतिकवादी और यान्त्रिक पहुँच और पद्धति** कहा जा सकता है। यही कारण है कि त्रात्स्कीपंथ रूप के धरातल पर तमाम "वामपंथी" भाव-भंगिमाओं के बावजूद वास्तव में एक दक्षिणपंथी और (यदि मार्क्सवादी-विरोधी नहीं तो) गैर-मार्क्सवादी विचार-सरणि है।

हर "वामपंथी" भटकाव वास्तव में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु के मामले में कई दक्षिणपंथी तत्वों को भी समेकित करता है। त्रात्स्कीपंथ अलग-अलग दौरों में अलग-अलग रूपों में दिखता है। कभी दक्षिणपंथी अवसरवाद के रूप में तो कभी "वामपंथी" बचकानेपन के रूप में। इसका कारण यह है कि त्रात्स्कीपंथ में इन दोनों के ही तत्व निहित हैं। यही कारण है कि आज दुनिया भर के त्रात्स्कीपंथी संगठनों और समूहों को मोटे तौर पर दक्षिणपंथी त्रात्स्कीपंथी और "वामपंथी" त्रात्स्कीपंथी समूहों में बाँटा जा सकता है। दोनों ही प्रकार के विचलनों को अपने वैधीकरण हेतु स्रोत-सामग्री स्वयं त्रात्स्की के ही लेखन में मिल जाती है। मिसाल के तौर पर **स्पार्टकसवादी** जैसे "वामपंथी" त्रात्स्कीपंथी हैं जो त्रात्स्की के कठमुल्लावाद का कठमुल्लावादी तरीके से अनुसरण करते हैं और ऐसे किसी भी जनान्दोलन को प्रतिक्रियावादी मानते हैं जो सीधे समाजवादी क्रान्ति के प्रश्न को एजेण्डे पर नहीं रखता है। लेकिन साथ ही, इस किस्म के "वामपंथी" त्रात्स्कीपंथी यह भी मानते हैं कि संशोधनवादी ट्रेड यूनियनें मज़दूरों की नैसर्गिक नेता हैं! "वामपंथी" त्रात्स्कीपंथियों के बरक्स हमें दक्षिणपंथी अवसरवादी त्रात्स्कीवादी भी मिल जाएँगे, जिन्हें हम "त्रात्स्कीपंथ का संशोधनवादी" (!) कह सकते हैं। मिसाल के तौर पर, ब्रिटेन व अमेरिका की **सोशलिस्ट वर्कर्स पार्टी।** ये पार्टियाँ त्रात्स्की को तमाम क्रान्तिकारी चिन्तकों में से एक मानती हैं और त्रात्स्की की भी कई मसलों पर आलोचना करती हैं। ये पार्टियाँ अक्सर पतित सामाजिक-जनवादी पार्टियों से भी मेल-मिलाप करती हैं और उनके साथ संलयित हो जाने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। खैर, सुधारवाद और संशोधनवाद के प्रति इस नज़रिये के लिए हम इन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते क्योंकि यह प्रवृत्ति

स्वयं त्रात्स्की में थी क्योंकि त्रात्स्की का सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी के निर्माण और गठन के बारे में कोई सिद्धान्त या चिन्तन तक नहीं था। इसका हम आगे विश्लेषण भी करेंगे।

त्रात्स्की के "वामपंथी" दक्षिणपंथ को समझने के लिए कुछ केन्द्रीय महत्व के प्रश्नों पर त्रात्स्की की अवस्थिति को देखा जा सकता है। "वामपंथी" कम्युनिस्टों के समान त्रात्स्की यह मानने को तैयार थे कि क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के लिए एक हिरावल पार्टी की आवश्यकता है; लेकिन "वामपंथी" कम्युनिस्टों के इस बचकानेपन को भी त्रात्स्की साझा करते हैं कि क्रान्ति के 'अधिकतम कार्यक्रम' के अतिरिक्त कोई 'न्यूनतम कार्यक्रम' नहीं होता! उनके अनुसार, पूँजीवाद के मौजूदा युग में सुधार की माँगें पूर्णत: अप्रासंगिक हो चुकी हैं, क्योंकि पूँजीवाद अपनी 'मृत्यु-पीड़ा' से गुज़र रहा है और वह किसी भी प्रकार की सुधार की क्षमता खो चुका है! ज़ाहिर है, ऐसी कोई भी सोच व्यवहार में लागू नहीं हो सकती है। पूँजीवादी जनवाद की मरणासन्न अवस्था में भी पूँजीवादी जनवाद के औपचारिक वायदों के साथ **अति-अभिज्ञान (over-identification)** कर उन वायदों को पूर्ण करवाने के लिए लड़ने की प्रक्रिया में ही जनता सर्वहारा क्रान्ति की अनिवार्यता को भी ग्रहण करती है। यानी, 'अधिकतम कार्यक्रम' और 'न्यूनतम कार्यक्रम' के बीच कोई चीन की दीवार नहीं हो सकती। निश्चित तौर पर, जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में कम्युनिस्ट पार्टी का 'न्यूनतम कार्यक्रम' भी एक क्रान्ति का कार्यक्रम होता है (जैसा कि रूस में सामाजिक-जनवादी पार्टी का 1917 की क्रान्ति के पहले था)। लेकिन किसी भी किस्म के पूँजीवादी जनवाद की स्थापना के बाद भी एक 'न्यूनतम कार्यक्रम' रहेगा ही, जो कि पूँजीवादी जनवाद के भीतर भी सर्वहारा वर्ग के जनवादी अधिकारों के दायरे को और अधिक विस्तारित करने के लिए संघर्ष पर आधारित होगा। इस संघर्ष के बिना सर्वहारा वर्ग सीधे आम बग़ावत के लिए तैयार नहीं हो सकता है। सुधारों के लिए क्रान्तिकारी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए चलाया जाने वाला यह संघर्ष सुधारवाद नहीं है, बल्कि क्रान्तिकारी जनदिशा पर अमल है।

लेकिन साथ ही त्रात्स्की इस मायने में "वामपंथी" कम्युनिस्टों से भिन्न थे और दक्षिणपंथी अवसरवादियों और संशोधनवादियों से ज़्यादा करीबी रखते थे, क्योंकि त्रात्स्की के लिए समाजवाद का अर्थ था **सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण।** यदि किसी अर्थव्यवस्था में कानूनी तौर पर निजी सम्पत्ति समाप्त हो चुकी है तो त्रात्स्की के लिए वही समाजवाद का अन्तिम पैमाना है। राज्य का चरित्र भी यहाँ त्रात्स्की के लिए गौण हो जाता है। यहाँ हम देख सकते हैं कि उत्पादक शक्तियों के विकास के सिद्धान्त के शिकार त्रात्स्की स्तालिन से कहीं ज़्यादा थे। वास्तव में, अपनी मृत्यु से ठीक पहले स्तालिन अपनी समझदारी को दुरुस्त कर रहे थे और उनकी आख़िरी दौर के लेखन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह आनुभविक तौर पर इस नतीजे पर पहुँचने लगे थे कि निजी सम्पत्ति के कानूनी ख़ात्मे के बाद भी समाजवाद को स्थापित करने का लम्बा कार्य बाकी रहता है। **लेकिन त्रात्स्की इस मामले में न सिर्फ़ अर्थवाद के भटकाव के शिकार थे, बल्कि वह कठमुल्लावादी अर्थवादी थे।** इसलिए जब त्रात्स्की यह भी मानने लगे थे कि सोवियत राज्यसत्ता एक 'विकृत मज़दूर राज्य' में तब्दील हो चुकी है, राज्यसत्ता पर नौकरशाही का कब्ज़ा हो चुका है तो भी वह यह मानते रहे कि सोवियत संघ एक समाजवादी मज़दूर राज्य ही है! यह बात दीगर है, कि त्रात्स्की का यह नतीजा सही था! लेकिन इसका कारण सोवियत संघ में समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों का स्थापित हो जाना बाद में था, जबकि राज्य पर एक सर्वहारा पार्टी और स्तालिन के रूप में

एक सर्वहारा नेतृत्व का मौजूद होना इसका प्रमुख कारण था। त्रात्स्की की पद्धति से चलें तो 1953 और 1956 के बाद भी सोवियत संघ को एक मज़दूर राज्य माना जाना चाहिए क्योंकि कानूनी तौर पर निजी सम्पत्ति की पुनर्स्थापना तुरन्त नहीं हुई थी, बल्कि सोवियत संघ के विघटन के कुछ वर्षों पहले ही हुआ था। लेकिन चूँकि त्रात्स्की के लिए अर्थव्यवस्था का राष्ट्रीयकरण ही समाजवाद का दूसरा नाम था, इसलिए वह सोवियत संघ का जीते-जी भी कोई सही विश्लेषण नहीं कर पाये और उनके मरने के बाद त्रात्स्कीपंथी भी सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का कोई सुसंगत विश्लेषण नहीं पेश कर पाये। त्रात्स्की का विश्लेषण अन्त में उन्हें मज़ाकिया नतीजों तक ले गया। मिसाल के तौर पर, जब सोवियत संघ में समाजवाद के पतन या तथाकथित "स्तालिनवादी नौकरशाही" के तख़्तापलट की त्रात्स्की की भविष्यवाणी सही न सिद्ध हो सकी और सोवियत संघ में समाजवाद का विकास जारी रहा तो त्रात्स्की तीस के दशक के उत्तरार्द्ध में यह कहने लगे कि सोवियत संघ में सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति सम्पन्न हो गयी है, और अब मज़दूर वर्ग को "स्तालिनवादी नौकरशाही" के ख़िलाफ़ राजनीतिक क्रान्ति करनी होगी! हम पिछले अध्याय में इसका ज़िक्र कर चुके हैं कि सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति और राजनीतिक क्रान्ति के बीच में भेद करना किस प्रकार त्रात्स्की को काऊत्स्की के बगल में बिठा देता है। क्रान्ति के बाद के दौर में त्रात्स्की और त्रात्स्कीपंथी विचारधारा के एक प्रतिक्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में पतन और साम्राज्यवादियों के साथ त्रात्स्की और त्रात्स्कीपंथियों के अपवित्र गठजोड़ स्थापित होने की चर्चा करते समय हम इस थीम पर वापस लौटेंगे। **अभी इतना बताना पर्याप्त है कि समाजवाद की पहचान करने की त्रात्स्कीपंथी पद्धति एक निहायत कठमुल्लावादी किस्म की अर्थवादी पद्धति है।**

अर्थवाद और वर्ग विश्लेषण के बीच का अन्तरविरोध समाजवादी सत्ताओं या उनके पतन के विश्लेषणों में बार-बार प्रकट हुआ है। मिसाल के तौर पर, 1956 के बाद सोवियत संघ के ही चरित्र निर्धारण को लेकर जो बहसें चली हैं ज़रा उन पर निगाह डालिये–नियोजित अर्थव्यवस्था बनाम बाज़ार अर्थव्यवस्था बहस; सार्वजनिक क्षेत्र बनाम निजी क्षेत्र बहस; सामूहिकीकरण बनाम निजी सम्पत्ति अर्थव्यवस्था बहस! ये सभी बहसें राज्यसत्ता के प्रश्न और क्रान्ति के कार्यक्रम के प्रश्न को उठाती ही नहीं हैं और केवल अर्थव्यवस्था के रूपगत विश्लेषण को किसी सामाजिक संरचना के चरित्र-निर्धारण का पैमाना बनाती हैं। त्रात्स्कीपंथ किस रूप में मार्क्सवाद के विरोध में खड़ी एक चिन्तन-प्रणाली है, किस रूप में यह निगमनवादी, ग़ैर-द्वन्द्वात्मक आधिभौतिकवादी, अनुभववादी कठमुल्लावादी और उद्भववादी पद्धति है, इसे हम क्रान्ति से पहले के दौर में त्रात्स्की के चिन्तन के विकास और लेनिन से त्रात्स्की के विचारधारात्मक संघर्ष के ज़रिये ही समझेंगे। यह दौर इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि जिस विचार-समुच्चय को त्रात्स्कीपंथ का नाम दिया जा सकता है, उसकी मूल चारित्रिक विशेषताओं ने इसी दौर में रूप ग्रहण किया था। बाद में, त्रात्स्की के चिन्तन में सिर्फ़ एक अहम पहलू जुड़ता है, जो 'एक देश में समाजवाद के विकसित होने की असंभाव्यता' की बात करता है। लेकिन उस पर हम बाद में ही चर्चा करेंगे, क्योंकि, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इतिहास का भी सही अध्ययन ऐतिहासिक तौर पर ही किया जा सकता है।

अब हम फरवरी 1917 से पहले लेनिन के साथ दो अहम मसले पर त्रात्स्की के विवादों के ज़रिये त्रात्स्कीपंथ की इन चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं को समझने का प्रयास करेंगे, और

साथ ही यह भी दिखलायेंगे कि आज के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' जैसे भ्रमित 'मार्क्सवादियों' पर त्रात्स्की का भी गहरा असर है। वास्तव में, 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास की कई सूचनाएँ एक त्रात्स्कीपंथी लेखक टोनी क्लिफ़ की रचनाओं से ही आती हैं! बहरहाल, त्रात्स्कीपंथ 1903 से 1917 के बीच ही रूप ग्रहण करता है, जब दो अहम प्रश्नों पर त्रात्स्की का लेनिन से मतान्तर होता है। फिलहाल, हम इन दोनों विवादों का विश्लेषण करेंगे।

i) क्रान्ति का मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त और त्रात्स्की का 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त

त्रात्स्की के मौलिक सिद्धान्त कम ही थे; जिन्हें एक हद तक मौलिक कहा जा सकता है, वे भी वास्तव में विकृत रूप में अन्य लोगों के सिद्धान्त थे। जिस सिद्धान्त के लिए त्रात्स्की को सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि मिली, वह था **'स्थायी क्रान्ति'** का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त को मौलिक तौर पर एक मेंशेविक रूसी सामाजिक-जनवादी **एलेक्ज़ैण्डर हेल्पहैण्ड पार्वस** ने पेश किया था। त्रात्स्की ने निश्चित तौर पर पूरे सिद्धान्त को हूबहू नहीं अपनाया और आगे चलकर इसमें कई बदलाव किये। लेकिन 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त का मूल ढाँचा वही रहा जो कि पार्वस ने तैयार किया था।

1903 में त्रात्स्की और लेनिन के बीच पार्टी सिद्धान्त और हिरावल पार्टी के चरित्र को लेकर विवाद हो चुका था। 1903 से लेकर 1905 में मेंशेविकों के कब्ज़े में जा चुके 'इस्क्रा' में अगर किसी एक व्यक्ति ने लेनिन के ख़िलाफ़ सबसे ज़्यादा ज़हर उगला, तो वह त्रात्स्की थे। पार्टी संगठन और हिरावल पार्टी के चरित्र के बारे में त्रात्स्की की एकता मेंशेविकों के साथ बनी थी, हालाँकि त्रात्स्की का सिद्धान्त पूर्णत: वही नहीं था, जो कि मेंशेविकों का था। चूँकि रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी की तीसरी कांग्रेस में पार्टी सिद्धान्त पर हुए बँटवारे में त्रात्स्की ने अन्तत: मेंशेविकों का पक्ष लिया था, इसलिए अक्सर त्रात्स्की को बस एक मेंशेविक क़रार दिया जाता है। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं था। न तो पार्टी सिद्धान्त के प्रश्न पर (क्योंकि पार्टी निर्माण और गठन को लेकर त्रात्स्की का कोई सिद्धान्त था ही नहीं, सिवाय व्यवहारवाद के, जिसके कारण कभी त्रात्स्की गुटवाद (factionalism) और नौकरशाहाना केन्द्रीयता के बीच दोलन करते रहते हैं) और न ही क्रान्ति के व्यापक सिद्धान्त और क्रान्ति की मंज़िल को लेकर। त्रात्स्की राजनीतिक व्यवहार में पूरी तरह अवसरवादी थे, और इसलिए उन्हें अलग-अलग समय पर अलग-अलग जगह पर खड़ा देखा जा सकता है। कभी मेंशेविकों के साथ, तो कभी "निष्पक्ष सुलहकर्ता" के रूप में, फिर बोल्शेविकों के साथ और अन्तत: फिर से बोल्शेविकों के विरोध के छोर पर। त्रात्स्की के राजनीतिक बर्ताव के इस 'कुण्डलाकार विकास' के कारणों पर हम आगे चर्चा करेंगे! **अभी इतना समझ लेना ज़रूरी है कि अगर त्रात्स्की को सीधे मेंशेविक क़रार दे दिया जाय, तो त्रात्स्की की एक सुसंगत मार्क्सवादी आलोचना पेश ही नहीं की जा सकती।** इसलिए त्रात्स्की की पहुँच और पद्धति को *सिर्फ़* उनके राजनीतिक व्यवहार की अनियतता के आधार विश्लेषित नहीं किया जा सकता। इसके लिए अलग-अलग मुद्दों पर त्रात्स्की के लेखन का आलोचनात्मक विश्लेषण भी ज़रूरी है। इसलिए हम त्रात्स्की का विश्लेषण एक आम मेंशेविक के रूप में नहीं करेंगे। अब हम

'स्थायी क्रान्ति' के त्रात्स्की के सिद्धान्त के उद्गम और विकास की चर्चा पर वापस लौटते हैं।

1903 में दूसरी पार्टी कांग्रेस में सांगठनिक उसूल के मसले पर बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच का अन्तर पैदा हुआ। इस विवाद में कांग्रेस के शुरुआती दौर में त्रात्स्की लेनिन का साथ दे रहे थे, लेकिन अचानक उन्होंने अपनी अवस्थिति बदली और सांगठनिक प्रश्न पर मेंशेविकों के साथ जा खड़े हुए। कांग्रेस के तुरन्त बाद मेंशेविकों ने 'इस्क्रा' पर कब्ज़ा कर लिया। 1905 तक तमाम मेंशेविक और विशेष तौर पर एक्सेलरोद, मार्तोव व ज़ासुलिच और साथ ही त्रात्स्की ने लेनिन पर हर प्रकार से हमला बोला। ये हमले कई बार विचारधारात्मक न होकर व्यक्तिगत भी होते थे। लेनिन किसी भी व्यक्तिगत हमले का जवाब देने की बजाय सांगठनिक उसूल के मसले पर मेंशेविकों की सशक्त आलोचना पेश करते रहे। लेकिन दो अवसरवादियों में भी कभी बहुत दिनों तक पूर्ण सामंजस्य नहीं रह पाता है। 1904 में प्लेखानोव ने त्रात्स्की को 'इस्क्रा' के सम्पादक मण्डल में शामिल न करने पर बल दिया। इसके पहले, जब मेंशेविकों और बोल्शेविकों का बँटवारा नहीं हुआ था, तब स्वयं लेनिन ने प्लेखानोव के समक्ष यह सुझाव रखा था कि त्रात्स्की को सम्पादक मण्डल में शामिल किया जा सकता है। लेकिन तब भी प्लेखानोव ने इसका विरोध किया था। बहरहाल, त्रात्स्की 1904 में म्यूनिख़ गये। यहाँ पर त्रात्स्की की मुलाकात एक पुराने रूसी सामाजिक-जनवादी एलेक्ज़ैण्डर हेल्पहैण्ड से हुई, जिनका राजनीतिक नाम पार्वस था।

पार्वस ने मेंशेविकों और बोल्शेविकों के बीच एक मेल-मिलाप कराने वाले वार्ताकार जैसी भूमिका अपना रखी थी। त्रात्स्की ने भी पार्वस के प्रभाव में अपने लिए तथाकथित "गुटों से ऊपर खड़े एक पंच" की भूमिका का दावा किया। हालाँकि इस भूमिका को न तो बोल्शेविक मान्यता देते थे और न ही मेंशेविक। लेकिन फिर भी सभी व्यावहारिक मसलों पर, विशेष तौर पर पार्टी सिद्धान्त से सम्बन्धित तमाम मसलों पर त्रात्स्की की एकता मेंशेविकों के साथ ही बनती थी। यही स्थिति पार्वस की भी थी। त्रात्स्की करीब आधे वर्ष तक पार्वस के साथ रहे और इस बीच पार्वस का त्रात्स्की पर गहरा असर पड़ा। इसी दौर में त्रात्स्की ने अपने 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के मूल तत्व पार्वस से उधार लिये। **'युद्ध और क्रान्ति'** नामक अपने लेखों की श्रृंखला में त्रात्स्की ने तर्क पेश किया कि राष्ट्र-राज्य का युग अब बीत रहा है। औद्योगिक पूँजीवाद व "मुक्त व्यापार" के युग ने राष्ट्र-राज्य को जन्म दिया था लेकिन एक एकीकृत विश्व बाज़ार के पैदा होने के साथ ही राष्ट्र-राज्यों के बीच का फर्क अपने मायने खोता जा रहा है और राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता को जन्म दे रहा है। त्रात्स्की के इस सिद्धान्त पर हम काऊत्स्की के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त की छाया देख सकते हैं, हालाँकि काऊत्स्की का सिद्धान्त औपचारिक तौर पर 1914 में आया था। 1905 की क्रान्ति के आरम्भ में पार्वस ने त्रात्स्की की पुस्तक **'हमारे राजनीतिक कार्यभार'** की प्रस्तावना लिखी। यही वह प्रस्तावना है जिसमें त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के मूल तत्व हमें मिलते हैं।

इसमें पार्वस ने लिखा कि 1905 की आसन्न क्रान्ति के बाद जो आरज़ी सरकार आयेगी वह वास्तव में मज़दूर सरकार होगी और इसके शीर्ष पर सामाजिक-जनवादी क्रान्ति होगी; यह सरकार सीधे समाजवाद के निर्माण को अपने हाथों में लेगी। पार्वस का ऐसा मानना इसलिए था क्योंकि सरकार सामाजिक-जनवादी पार्टी के हाथों में होगी। यह एक **निगमनवादी पद्धति** है जिसके अनुसार किसी आन्दोलन का राजनीतिक एजेण्डा, वर्गों का मोर्चा और उसका लक्ष्य कुछ भी हो, लेकिन यदि नेतृत्व सामाजिक-जनवादी पार्टी है, तो वह समाजवादी सत्ता की

स्थापना करेगी और यह समाजवादी मज़दूर राज्य सीधे समाजवाद का निर्माण करेगा। यानी, 1905 में रूस में यदि ज़ार-विरोधी, जनवादी आन्दोलन में रूसी मज़दूर वर्ग और समूची किसान आबादी का नेतृत्व सामाजिक-जनवादी पार्टी करेगी, तो उस क्रान्ति का चरित्र इसी बात से निर्धारित हो जायेगा कि नेतृत्व समाजवादी शक्तियों के हाथों में है। **वास्तव में, त्रात्स्की ने जनवादी मंज़िल को लाँघने की यह कार्यदिशा पार्वस से ही अपनायी थी।** यहीं से त्रात्स्की ने 'स्थायी क्रान्ति' के अपने सिद्धान्त के बुनियादी तत्व लिए।

स्पष्ट है कि सांगठनिक उसूलों पर मेंशेविकों के साथ खड़ा होने के बावजूद क्रान्ति के मंज़िल के बारे में त्रात्स्की की समझदारी बिल्कुल भिन्न थी। मेंशेविक और बोल्शेविक दोनों ही मानते थे कि 1905 में रूस में क्रान्ति की मंज़िल मूलत: जनवादी है। मेंशेविकों का मानना था कि इस जनवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने की ज़िम्मेदारी मुख्यत: और मूलत: उदार बुर्जुआ वर्ग की है। पहले सामाजिक-जनवादियों को जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूर्ण करने में उदार बुर्जुआ वर्ग का साथ देना चाहिए और उसके बाद पूँजीवादी जनवाद के तहत रूसी मज़दूर वर्ग का शिक्षण-प्रशिक्षण होना चाहिए, जिससे कि वह समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार हो सके। इस पूरी मेंशेविक स्कीम में किसान कहीं भी नहीं थे, और किसानों के प्रति इस संशय के नज़रिये को अपने तरीके से त्रात्स्की भी साझा करते थे। बोल्शेविकों का मानना था कि रूस में जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को रूसी उदार बुर्जुआ वर्ग क्रान्तिकारी रूप से नहीं निभायेगा, और प्रतिक्रियावादी तरीके से क्रमिक रूपान्तरण का पीड़ादायी रास्ता चुनेगा। रूसी मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी उभार से घबराकर यह बुर्जुआ वर्ग ज़ारशाही की बगल में जा बैठा है, यह नौकरशाही में जगहें बना रहा है, भूस्वामियों से सहयोग-सहकार की नीति अपना रहा है। चूँकि मज़दूर वर्ग से घबराया रूसी बुर्जुआ वर्ग ज़ारशाही की गोद में जा बैठा है, इसलिए लेनिन के अनुसार, रूस की वास्तविक परिस्थितियों में जनवादी क्रान्ति मज़दूर वर्ग और समूची किसान आबादी के मोर्चे के ज़रिये सम्पन्न होगी, जिसमें कि राजनीतिक नेतृत्व अपनी हिरावल पार्टी के ज़रिये मज़दूर वर्ग के हाथों में होगा। साथ ही, लेनिन ने यह भी बताया कि जनवादी क्रान्ति को सर्वाधिक आमूलवादी रास्ते से पूर्णता तक पहुँचाने के बाद सामाजिक-जनवादियों को तत्काल ही समाजवादी क्रान्ति के प्रयास शुरू कर देने होंगे और बिना रुके समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ना शुरू कर देना होगा। लेनिन ने 'दो कार्यनीतियाँ' में बताया कि पहली मंज़िल में यानी सामन्तवाद, राजतन्त्र और निरंकुशतावाद के विरुद्ध समूची किसान आबादी को मज़दूर वर्ग को साथ लेना होगा, जबकि क्रान्ति के समाजवादी चरण में प्रवेश के बाद मज़दूर वर्ग के मित्र ग्रामीण अर्द्धसर्वहारा व ग़रीब और निम्न मँझोले किसान (जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते) बनेंगे। **यही लेनिन का दो चरणों में सर्वहारा क्रान्ति के सिद्धान्त की मूल अन्तर्वस्तु है।** इस पर हम पहले चर्चा कर चुके हैं इसलिए यहाँ पर और अधिक विस्तार में जाने की बजाय, त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त की व्याख्या पर वापस लौटते हैं।

त्रात्स्की का मानना था कि रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन का चरित्र जनवादी हो, उसमें भूमि प्रश्न की प्रधानता हो, मज़दूर वर्ग अभी अपने जनवादी व आर्थिक अधिकारों (न्यूनतम कार्यक्रम) के लिए ही लड़ने के लिए तैयार हो, मगर यदि नेतृत्व सामाजिक-जनवादी पार्टी के हाथ में हो, तो यह क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति ही होगी और इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप एक समाजवादी मज़दूर सरकार अस्तित्व में आयेगी और तत्काल समाजवाद के निर्माण के कार्य को अपने हाथों में लेगी। आगे त्रात्स्की इस

सिद्धान्त को विकसित करते हैं और कहते हैं कि आज के दौर में (यानी विश्व बाज़ार और इज़ारेदारियों के अस्तित्व में आने के साथ) पूरी दुनिया में हर जगह कोई भी क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति ही होगी; किसी भी अन्य किस्म की क्रान्ति या तो प्रतिक्रिया में समाप्त होगी, या फिर असफलता में। चूँकि पूरी दुनिया में श्रम और पूँजी का अन्तरविरोध सामान्य तौर पर मुख्य अन्तरविरोध बन चुका है, इसलिए आज पूरी दुनिया में राजनीतिक एजेण्डा पर समाजवादी मज़दूर क्रान्तियाँ हैं; किसी देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन किन्हीं भी मुद्दों को लेकर हो रहा हो, वर्ग शक्तियों का सन्तुलन और आपसी सम्बन्ध किसी भी किस्म के हों, आर्थिक विकास का स्तर चाहे कुछ भी हो, क्रान्ति को समाजवादी ही होना होगा। साथ ही, त्रात्स्की ने यह भी दावा किया कि कोई भी कम्युनिस्ट यदि किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन को बुर्जुआ जनवादी फ्रेमवर्क में देखता है, तो वह मज़दूर वर्ग को बुर्जुआ वर्ग के हाथों बेच रहा है, उसका पिछलग्गू बना रहा है, और वास्तव में मज़दूर वर्ग के साथ विश्वासघात कर रहा है। त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' की सबसे मूल प्रस्थापना यही है, लेकिन हमें इस सिद्धान्त के विस्तृत विश्लेषण की आवश्यकता है। इसके लिए लेनिन के शब्दों में "शुरू से ही शुरुआत करनी चाहिए।" इसलिए पहले हम इस शब्द 'स्थायी क्रान्ति' के इतिहास पर ही चर्चा करेंगे क्योंकि इस शब्द के उपयोग और दुरुपयोग के कारण काफ़ी भ्रम पैदा किया गया है।

त्रात्स्की और बाद में त्रात्स्कीपंथियों ने यह दावा किया कि त्रात्स्की ने 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को मार्क्स से लिया था, और इस मार्क्सवादी विरासत पर खड़े होकर उन्होंने लेनिन के चरणों में सर्वहारा क्रान्ति के सिद्धान्त को ख़ारिज किया। यह सच है कि मार्क्स ने 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का इस्तेमाल किया है। लेकिन तब से इस शब्द का बहुत से अर्थों को सम्प्रेषित करने के लिए इस्तेमाल किया गया है, और त्रात्स्की द्वारा इस शब्द का प्रयोग उनमें से एक है। **त्रात्स्की जिन अर्थों में 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का इस्तेमाल कर रहे थे, मार्क्स ने कभी भी उन अर्थों स्थायी क्रान्ति शब्द का इस्तेमाल नहीं किया।** त्रात्स्की ने इस सिद्धान्त के वैध जनक, यानी कि पार्वस को इसका श्रेय इसलिए नहीं दिया क्योंकि पार्वस को कुछ ही वर्षों में यह सच्चाई सामने आ गयी कि पार्वस जर्मन सरकार के एजेण्ट, हथियार विक्रेता और सट्टेबाज़ की भूमिका निभा रहा था और **त्रात्स्की के लिए यही बेहतर था कि वह इस सिद्धान्त के मूल किसी तरह से मार्क्स के भीतर निकालें।** और इसीलिए विचारधारात्मक द्रविड़ प्राणायाम करते हुए त्रात्स्की ने यह बार-बार सिद्ध करने का प्रयास किया कि उनका 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त वास्तव में मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त का ही विस्तार या उसका एक विकसित संस्करण है। त्रात्स्की के लिए यह सम्भव था क्योंकि मार्क्स ने वाकई 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का इस्तेमाल किया है। **'फ्रांस में वर्ग संघर्ष, 1848-50'** में मार्क्स ने इस शब्द का इस्तेमाल किया था। लेकिन उन्होंने इस शब्द का इस्तेमाल बेहद सामान्य अर्थों में किया था। **कोस्तास मावराकिस** यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि मार्क्स ने 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का प्रयोग लगभग उन्हीं अर्थों में किया था जिन अर्थों में माओ त्से तुङ ने 'सांस्कृतिक क्रान्ति' शब्द का प्रयोग किया था। लेकिन यह दावा सच्चाई से काफ़ी दूर है। मार्क्स जहाँ इस शब्द का इस्तेमाल करते हैं वहाँ वह इसकी कोई विस्तृत व्याख्या पेश नहीं करते। लेकिन मार्क्स द्वारा इस शब्द के इस्तेमाल से जो अर्थ निकलता है वह 'सतत् क्रान्ति' या 'निरन्तर क्रान्ति' का है, जिसमें क्रान्ति जनवादी चरण को पूर्ण करने के बाद पूँजीवाद के परिपक्व होने का इन्तज़ार नहीं करेगी, बल्कि मज़दूर वर्ग के राजनीतिक तौर पर संगठित होने की सूरत में सीधे सर्वहारा

समाजवादी क्रान्ति के चरण में प्रवेश करेगी। वास्तव में, उन्नीसवीं सदी के मध्य में यूरोपीय, विशेषकर महाद्वीपीय यूरोपीय देशों में ऐसी सतत् क्रान्ति होने की परिस्थितियाँ मौजूद भी थीं। **लेकिन मार्क्स ने किसी भी रूप में इसका प्रयोग उन अर्थों में नहीं किया था, जिन अर्थों में त्रात्स्की इस शब्द का इस्तेमाल करते हैं।**

क्रान्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त कहता है कि क्रान्तियाँ विशिष्ट प्रकार के वर्ग अन्तरविरोधों और उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के विशिष्ट प्रकार के अन्तरविरोधों और विशिष्ट वर्ग चरित्र और संरचना वाली राज्यसत्ता की परिणति होती हैं। अलग-अलग प्रकार के अन्तरविरोध अलग-अलग प्रकार की क्रान्तियों को जन्म देते हैं। सामन्तवाद और व्यापक जन समुदायों (मज़दूरों, किसानों व टुटपुँजिया वर्गों) के बीच का अन्तरविरोध किसी न किसी प्रकार की जनवादी क्रान्ति को जन्म देता है; मज़दूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का अन्तरविरोध समाजवादी क्रान्ति की ज़मीन तैयार करता है। बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति पूँजीवाद के दायरों का अतिक्रमण नहीं करती, लेकिन एक आमूलगामी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति समाजवाद के लिए संघर्ष हेतु मज़दूर वर्ग के लिए ज़्यादा मुफ़ीद ज़मीन तैयार करती है। साथ ही, सर्वहारा वर्ग को जनवादी क्रान्ति में भी सक्रिय और सचेतन हिस्सेदारी करनी चाहिए, उसे महज़ जनवादी क्रान्ति की अगुवाई करने वाले पूँजीपति वर्ग की पूँछ पकड़कर नहीं चलना चाहिए। वास्तव में, मार्क्स ने जब 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का प्रयोग किया था तो उनका यही अर्थ था कि आमूलगामी बुर्जुआ क्रान्तियों के दौरान भी सर्वहारा वर्ग को न सिर्फ़ इन क्रान्तियों में हिस्सेदारी करनी चाहिए, बल्कि अपने आपको स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित करना चाहिए और बुर्जुआ क्रान्ति के सम्पन्न होने के बाद रुकना नहीं चाहिए बल्कि तत्काल ही समाजवाद के लिए संघर्ष की शुरुआत कर देनी चाहिए। मार्क्स ने दोनों चरणों के बीच अन्तराल होने या न होने के बारे में भी कोई सिद्धान्त नहीं पेश किया क्योंकि इस विषय में कोई भी समाज-वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं पेश कर सकता है। मार्क्स का पूरा बल इस बात पर था कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के दौरान भी बुर्जुआ वर्ग का पुछल्ला नहीं बनेगा, बल्कि अपने स्वतन्त्र राजनीतिक अभिकरण के साथ बुर्जुआ क्रान्ति को भी पूर्णता तक पहुँचायेगा और फिर वहाँ रुकने की बजाय अपने राजनीतिक प्रयासों के ज़रिये 'क्रान्ति को जारी रखेगा' और समाजवाद तक लेकर जायेगा, यानी स्थायी क्रान्ति को अंजाम देगा। मार्क्स का 'स्थायी क्रान्ति' से सिर्फ़ इतना मतलब था; उनका मतलब कतई जनवादी क्रान्ति के चरण को लाँघना नहीं था। सर्वहारा वर्ग को जनवादी क्रान्ति में भी अपने आपको एक स्वतन्त्र राजनीतिक प्रवृत्ति के रूप में संगठित करना चाहिए; ऐसा किये बिना सर्वहारा वर्ग समाजवादी क्रान्ति की भावी लड़ाई को बेहतर तरीके से नहीं लड़ सकता और जनवादी क्रान्ति के बाद एक स्वतन्त्र समाजवादी मज़दूर आन्दोलन को संगठित नहीं कर सकता।

लेनिन ने दिखलाया कि कुछ निश्चित अनुकूल परिस्थितियों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति बिना रुके समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश कर सकती है। लेकिन उस सूरत में भी वे दो अलग चरण ही रहेंगे क्योंकि दोनों चरणों में क्रान्तिकारी वर्ग संश्रय बदल जायेगा। कुछ बेहद अपवादस्वरूप परिस्थितियों में, बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति अपनी पूर्णता पर पहुँचे बग़ैर समाजवादी क्रान्ति में रूपान्तरित हो सकती है (जैसा कि रूस में हुआ) और फिर समाजवादी क्रान्ति को ही बुर्जुआ क्रान्ति को भी पूर्णता तक पहुँचाने का कार्यभार पूरा करना पड़ता है। चार्ल्स बेतेलहाइम, कोस्तास मावराकिस व कुछ अन्य बुद्धिजीवियों ने इसे **'क्रान्तियों**

का अन्तर्गुंथन' कहा है, लेकिन यह सूत्रीकरण सटीक नहीं है और यह कहीं न कहीं त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के निकट चला जाता है या त्रात्स्कीपंथ को साँस लेने की जगह देता है। निश्चित तौर पर, ऊपर से देखने में यह बुर्जुआ जनवादी और समाजवादी क्रान्ति/प्रक्रियाओं का अन्तर्गुंथन दिख सकता है, लेकिन वास्तव में बुर्जुआ क्रान्ति के कार्यभारों के एक हद तक सम्पन्न होने के बाद ही समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश हो सकता है। यदि फरवरी क्रान्ति में मज़दूरों और किसानों का क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व आंशिक रूप से सोवियतों के रूप में चरितार्थ नहीं होता, तो अक्टूबर क्रान्ति की स्थितियाँ उस रूप में पैदा नहीं हो सकती थीं, जिस रूप में वे पैदा हुईं। इसीलिए लेनिन अक्तूबर क्रान्ति के बाद बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों को पूरा करने और समाजवादी रूपान्तरण के कार्य के साथ में शुरू होने के बावजूद इसे 'क्रान्तियों के अन्तर्गुंथन' के रूप में नहीं देखते। जो भी हो एक बात क्रान्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त में बिल्कुल स्पष्ट है: **बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के चरण को लाँघकर सीधे 'एक ही चोट में' समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करना सम्भव नहीं है; अगर बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के बिना रुके समाजवादी क्रान्ति के मंज़िल में प्रवेश करने के लिए अनुकूल स्थितियाँ मौजूद हैं और ऐसा होता है, तो भी दोनों चरणों के बीच वर्ग संश्रय और कार्यक्रम के स्तर पर स्पष्ट अन्तर मौजूद रहता है।**

त्रात्स्की ने क्रान्ति के इस मार्क्सवादी सिद्धान्त को ठुकराया। उन्होंने कहा कि एक विश्व बाज़ार और इज़ारेदारी के पैदा होने के बाद पूरे विश्व में श्रम और पूँजी का अन्तरविरोध ही प्रमुख है और पूरी दुनिया में, हर देश में आज समाजवादी क्रान्ति ही हो सकती है और सर्वहारा वर्ग की दिलचस्पी सिर्फ़ सीधे समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करने में ही होनी चाहिए। 1905 से पहले लेनिन और त्रात्स्की के बीच इस मुद्दे को लेकर जो अन्तर था वह प्रकट नहीं हुआ था। वास्तव में, लेनिन ने स्वयं 'स्थायी क्रान्ति' शब्द का प्रयोग किया था, हालाँकि उनके निहितार्थ बिल्कुल भिन्न थे। लेकिन जब 1905 में त्रात्स्की ने मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त को अपने तरीके से विनियोजित किया, तो फिर लेनिन त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को हमेशा उद्धरण चिन्हों के बीच रखने लगे और स्वयं वे इस शब्द के एक दूसरे अनुवाद 'सतत् क्रान्ति' (uninterrupted revolution) का इस्तेमाल करने लगे। त्रात्स्की वास्तव में क्रान्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त का एक **लासालवादी हस्तगतीकरण** करते हैं। लासाल ने कहा था कि मज़दूर वर्ग एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग है और यूरोप में कोई भी क्रान्तिकारी संघर्ष सफल नहीं हो सकता अगर वह पहले दिन से ही समाजवादी संघर्ष नहीं है। कोस्तास मावराकिस ने ठीक ही कहा है कि **अगर पार्वस त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त का पिता था, तो लासाल इसके पितामह थे!** त्रात्स्की और पार्वस ने मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त का एक लासालपंथी हस्तगतीकरण किया और बाद में त्रात्स्की ने इसे पूरी तरह मार्क्स पर ही थोप दिया। एक ही चोट में समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करने का सिद्धान्त पेश करके त्रात्स्की एक "वामपंथी" दुस्साहसवादी प्रवृत्ति की बुनियाद तैयार करते हैं, जो कि अपनी अन्तर्वस्तु में दक्षिणपंथी अवसरवादी भी है। वास्तव में, "वामपंथी" और दक्षिणपंथी भटकाव हमेशा ही एक सिक्के के दो पहलुओं के रूप में प्रकट होते हैं और त्रात्स्कीपंथ के बारे में यह बात ख़ास तौर पर लागू होती है।

जैसा कि हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं, क्रान्ति की मंज़िल, उसके सिद्धान्त और क्रान्तिकारी वर्ग संश्रय को लेकर बोल्शेविकों, मेंशेविकों और त्रात्स्की के बीच में विवाद 1905

की क्रान्ति और उसके द्वारा खड़े किये गये प्रश्नों के बाद शुरू हुआ। लेनिन ने अपनी पूरी अवस्थिति 'जनवादी क्रान्ति के चरण में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' नामक पुस्तिका में स्पष्ट की। लेनिन का मानना था कि 1905 में रूसी क्रान्ति बुर्जुआ जनवादी मंज़िल में थी। मेंशेविकों का भी यही मानना था। लेकिन लेनिन ने मेंशेविकों के इस विचार का खण्डन किया कि जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने का काम रूस में पूँजीपति वर्ग करेगा और सर्वहारा वर्ग को महज़ इसमें उसका सहयोग करना चाहिए। लेनिन का मानना था कि रूस में पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग के रैडिकल उभार से भयाक्रान्त होकर प्रतिक्रियावाद के पक्ष में जा खड़ा हुआ है और वह किसी ज़ारशाही और सामन्तवाद के ख़िलाफ़ कोई खुली लड़ाई नहीं छेड़ेगा, बल्कि क्रमिक प्रक्रिया से पूँजीवादी रूपान्तरण का रास्ता चुनेगा। साथ ही, लेनिन ने कहा कि सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में किसी वर्ग का पिछलग्गू नहीं बनेगा, बल्कि क्रान्ति की अगुवाई के कार्य को स्वयं अपने हाथों में लेगा। जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूर्ण करने के लिए सर्वहारा वर्ग समूचे किसान वर्ग को अपने साथ लेगा और पहले सामन्तवाद और निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध एक अधिकतम सम्भव आमूलगामी जनवादी क्रान्ति को अंजाम देगा; **यह क्रान्ति मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही को स्थापित करेगी।** इसके बाद, सर्वहारा वर्ग इसी मंज़िल पर रुकेगा नहीं और सतत् क्रान्ति करते हुए समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ेगा; समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग ग़रीब किसानों और ग्रामीण अर्द्धसर्वहारा वर्ग को साथ लेगा, मँझोले और उच्च मँझोले किसानों के ढुलमुलपन को निष्प्रभावी/तटस्थ करेगा और समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर अमल करेगा। मेंशेविकों का मानना था कि रूसी पूँजीपति वर्ग जब तक जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूर्ण नहीं करता, तब तक सर्वहारा वर्ग को उसका सहयोग व समर्थन करना चाहिए और तब तक अपने आर्थिक संघर्षों को ही लड़ना चाहिए। साथ ही, मेंशेविकों का मानना था कि जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों के पूर्ण हो जाने के बाद सर्वहारा वर्ग को पूँजीवाद के तहत शिक्षित-प्रशिक्षित होना होगा, अपने आर्थिक संघर्षों को लड़ना होगा, ट्रेड यूनियन संघर्ष करने होंगे और इस प्रक्रिया में समाजवादी क्रान्ति करने के लिए तैयार होना होगा; यानी, मेंशेविक लेनिन से अलग यह मान रहे थे कि जनवादी क्रान्ति के बाद तत्काल समाजवाद के लिए संघर्ष नहीं शुरू किया जायेगा और पहले मज़दूर वर्ग "पूँजीवाद की पाठशाला" में दीक्षित होगा। हम देख सकते हैं कि मेंशेविज़्म में अर्थवाद और "कानूनी" मार्क्सवाद की धाराएँ मिल गयी थीं। मेंशेविक कुछ परिवर्तनों के साथ लगभग वही बात कह रहे थे जो पहले अर्थवादी और "कानूनी" मार्क्सवादी कहते रहे थे। इसलिए क्रान्ति की मंज़िल पर एक राय रखने के बावजूद बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच वर्ग संश्रय और क्रान्ति की रणनीति और आम कार्यनीति को लेकर गम्भीर अन्तर थे।

त्रात्स्की ने लेनिन के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा कि रूस में जो क्रान्ति होगी वह मज़दूर सरकार को स्थापित करेगी, जो कि त्रात्स्की के लिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का ही दूसरा नाम था। त्रात्स्की ने पूछा कि मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही में क्या सरकार में कई पार्टियों के बीच गठजोड़ होगा? क्या मज़दूर वर्ग की पार्टी अकेले सरकार में होगी? यदि वह अकेले सरकार में होगी, तो वह मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही को कैसे स्थापित करेगी? त्रात्स्की ने इस बात का मज़ाक उड़ाया कि क्रान्ति की अगुवाई करते हुए उसे सम्पन्न करने के बाद मज़दूर वर्ग उस

सत्ता को छोड़ देगा या उसे अन्य ताक़तों के साथ साझा कर लेगा। त्रात्स्की ने कहा कि लेनिन का सिद्धान्त एक 'पहेली' को अनसुलझा छोड़ देता है। त्रात्स्की के अनुसार किसान आबादी एक **'अज्ञात चर राशि'** थी; और लेनिन की क्रान्ति की परियोजना में इस 'अज्ञात चर राशि' पर काफ़ी-कुछ निर्भर करता है। **त्रात्स्की का अर्थ यह था कि किसान आबादी अपने आप में किसी सचेतन राजनीतिक अभिकरण को संगठित करने में असमर्थ है।** किसान जिस अनभिज्ञता या अचेतनता के साथ ज़ार के साथ जा सकते हैं, उसी अचेतना और अनभिज्ञता के साथ मज़दूरों द्वारा सत्ता पर कब्ज़ा कर लिये जाने के बाद, वे मज़दूर सत्ता के पक्ष में चले जायेंगे। लेकिन क्रान्ति सम्पन्न करने में किसान आबादी पर निर्भर करना, त्रात्स्की के अनुसार, एक ऐसी शक्ति पर निर्भर करना था, जो अन्तिम समय में किसी भी ओर जा सकती है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए त्रात्स्की ने आत्मगत रूप से तथ्यों का चयन किया और 1905 में पूरे रूस में उठ रही किसान विद्रोहों की लहर की उपेक्षा करते हुए कहा कि 1905 की मज़दूर क्रान्ति को किसानों की संगीनों द्वारा कुचला गया था। त्रात्स्की बाद में अक्टूबर 1917 और 1905 में सोवियतों की भूमिका के बीच एक अवैज्ञानिक तुलना करते हैं और कहते हैं कि अक्टूबर 1917 में रूस में जो कुछ हुआ उसने त्रात्स्की के क्रान्ति के सिद्धान्त को सही सिद्ध किया, क्योंकि अक्टूबर क्रान्ति ने किसी मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही को स्थापित करने की बजाय सीधे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को स्थापित किया। इसमें त्रात्स्की कई तथ्यों और ऐतिहासिक परिवर्तनों को लाँघ गये हैं, मिसाल के तौर पर **फरवरी 1917 में क्या हुआ था? 1905 की सोवियतों और 1917 की सोवियतों में क्या कोई फर्क नहीं था?** इससे पहले कि त्रात्स्की के सिद्धान्त पर चर्चा को आगे बढ़ायें, यह समझ लेना ज़रूरी है कि 1905 और 1917 में जो कुछ रूस में हुआ उसके बीच कोई सादृश्य निरूपण किया ही नहीं जा सकता है।

फरवरी 1917 में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति रैडिकल तरीके से अपनी पूर्णता तक नहीं पहुँच पायी। इसका कारण यह था कि सोवियतों में बोल्शेविकों से अधिक संख्या में मौजूद मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने स्वेच्छा से पहल बुर्जुआ ताक़तों, विशेष तौर पर कैडेट पार्टी के हाथों में सौंप दी। जनता ने ज़ार को उखाड़ फेंका लेकिन उसके बाद मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के राजनीतिक प्रभाव के कारण आरज़ी सरकार को बनाने और संविधान सभा बुलाकर संविधान तैयार करने के कार्य को बुर्जुआ ताक़तों के हाथों में सौंप दिया। नतीजतन, आरज़ी सरकार प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामी वर्ग की सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार के रूप में अस्तित्व में आयी। लेकिन इसके बावजूद सोवियतें निष्क्रिय नहीं हुई और जनता की पहलकदमी सोवियतों के रूप में ज़िन्दा रही। सोवियतें मज़दूरों और किसानों की सत्ता की नुमाइन्दगी कर रही थीं। **लेनिन ने उस समय कहा कि मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही आंशिक रूप से अस्तित्व में आ चुकी है और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति भी आंशिक रूप से सम्पन्न हुई है।** अब बुर्जुआ वर्ग इस जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक ले जाने का तैयार नहीं था और न ही वह ले जा सकता था। साथ ही, युद्ध और भुखमरी ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जिसने समाजवादी क्रान्ति को एजेण्डे पर ला दिया है और अब समाजवादी क्रान्ति ही बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक ले जा सकती है। लेनिन ने आर्थिक विश्लेषण के ज़रिये भी दिखलाया कि अगर अब रूस में समाजवादी क्रान्ति को एजेण्डे पर नहीं रखा गया तो रूस पूर्ण विनाश की ओर

बढ़ रहा है और अब समाजवादी क्रान्ति के अलावा कोई अन्य विकल्प बचा ही नहीं है। वास्तव में, जनवादी क्रान्ति के सबसे प्रमुख कार्यभार भूमि क्रान्ति को भी अब समाजवादी क्रान्ति के बिना नहीं पूरा किया जा सकता था। लेनिन ने दिखलाया कि अधिकांश भूस्वामियों की बड़ी जागीरें बैंकों को गिरवी रख दी गयी हैं; अगर भूमि पुनर्वितरण के कार्यक्रम को लागू करने के लिए क़दम उठाये जाते हैं तो सीधा सामना बैंकों यानी कि वित्त पूँजी की ताक़त से होगा। बैंकों का राष्ट्रीयकरण किये बिना अब भूमि सुधार सम्भव ही नहीं रह गया था। इसलिए युद्ध और आर्थिक आपदा ने एक ऐसा सन्धि-बिन्दु पैदा कर दिया था, जिसमें अब बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने का काम समाजवादी क्रान्ति द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता था। अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए यह अनिवार्य हो चुका था कि पूर्ण अर्थव्यवस्था को राज्य नियन्त्रण के तहत लाया जाय। मज़दूरों की कारखाना समितियाँ पहले से ही कारखानों पर कब्ज़ा कर रही थीं, साथ ही किसानों की भूमि समितियाँ ज़बरन ज़मीन दख़ल और पुनर्वितरण कर रही थीं। ये भूमि समितियाँ आरज़ी सरकार और समाजवादी-क्रान्तिकारियों की (जो कि इन भूमि-समितियों के नेतृत्व में थे!) की इन अपीलों को नज़रन्दाज़ कर रही थीं कि किसान पहले संविधान सभा के बैठने और फिर कानूनी तौर पर भूमि सुधार का इन्तज़ार करें। मज़दूरों द्वारा कारखानों पर कब्ज़े पर भी आरज़ी सरकार कोई रोक नहीं लगा पा रही थी। यह स्थिति 1905 में नहीं थी। इसका कारण यह था कि उस समय न तो सैनिकों की सोवियतें मौजूद थीं और न ही जनता हथियार-बन्द थी। जबकि फरवरी 1917 के बाद आरज़ी सरकार जनता को निःशस्त्र भी नहीं कर सकी और न ही सैनिकों की सोवियतों पर नियन्त्रण स्थापित कर पायी। फरवरी 1917 के बाद 'द्वैध सत्ता' की जो स्थिति पैदा हुई थी उसका एक कारण सैनिकों की सोवियतों की मौजूदगी और मेहनतकश आबादी के विचारणीय हिस्से का सशस्त्र होना भी था। इसके बिना, 'द्वैध सत्ता' जैसी स्थिति पैदा हो ही नहीं सकती थी। स्थितियाँ जिस दिशा में विकसित हो रही थीं, लेनिन ने उनका एक यथार्थवादी विश्लेषण किया और बताया कि फरवरी 1917 की क्रान्ति ने बुर्जुआ क्रान्ति के कार्यभारों को आंशिक तौर पर पूरा किया और इसी समय युद्ध, अकाल और आर्थिक आपदा ने और साथ ही सोवियतों के रूप में एक दोहरी सत्ता की मौजूदगी ने एक विशिष्ट स्थिति में समाजवादी क्रान्ति की स्थिति पैदा कर दी। **निश्चित तौर पर, इस रूप में बुर्जुआ क्रान्ति के पूर्ण हुए बग़ैर समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश एक सामान्य व सार्वभौमिक नियम नहीं बनाया जा सकता, और न ही लेनिन ने ऐसा किया।** उन्होंने स्पष्ट किया था कि युद्ध और दोहरी सत्ता वे दो मूल कारण थे, जिनके कारण रूस ने अपने आपको एक अपवादस्वरूप सम्भावना-सम्पन्न स्थिति में पाया। पहला कारण था युद्ध और सोवियतों के रूप में दोहरी सत्ता का उदय और साथ ही दूसरा ऐतिहासिक कारण था रूस में पहले से खेती में पूँजीवादी विकास का मौजूद होना। जब लेनिन कहते हैं कि जनता की जनवादी क्रान्ति सम्पन्न करने के बाद सर्वहारा शक्तियों को बिना रुके समाजवादी क्रान्ति के कार्यभारों को हाथों में लेना चाहिए, तो यहाँ पर लेनिन दोनों क्रान्तियों के बीच के अन्तराल के बारे में कुछ भी नहीं बोल रहे थे। वह सिर्फ़ उस पुराने अर्थवादी तर्क का खण्डन कर रहे थे जो कि मेंशेविक, अर्थवादी और "कानूनी" मार्क्सवादी पेश करते रहे थे, जिसके अनुसार, जनवादी क्रान्ति के बाद सर्वहारा वर्ग को पूँजीवाद के तहत शिक्षित-प्रशिक्षित होना चाहिए और आर्थिक संघर्षों की प्रक्रिया में मज़दूर वर्ग एक दिन स्वतः समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार होगा। **हम इस बात को इसलिए स्पष्ट कर रहे हैं कि क्रान्ति के सतत् होने**

के लेनिन के तर्क को कई लोगों ने एक कालिकता (temporality) का तर्क बना दिया है, और इसमें बेतेलहाइम, मावराकिस जैसे तमाम "अति-माओवादी" सिद्धान्तकार भी शामिल हैं। लेनिन का तर्क स्पष्ट था: सर्वहारा शक्तियों को जनवादी क्रान्ति के दौरान अपने आपको स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित करके उसे मुकम्मिल मुकाम तक पहुँचाना चाहिए और जनवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के तत्काल बाद ही समाजवादी क्रान्ति की राजनीतिक-सांगठनिक तैयारियाँ शुरू कर देनी चाहिए। **अनुकूल स्थितियों में दोनों चरणों के बीच का अन्तराल बेहद कम हो सकता है; अपवादस्वरूप स्थितियों में दोनों चरणों के बीच एक निरन्तरता दिखलायी दे सकती है और ऐसा दृष्टि-भ्रम पैदा हो सकता है कि दोनों चरण "अन्तर्गुथित" हैं, जैसा कि बेतेलहाइम जैसे लोगों के साथ हुआ है। लेकिन किसी भी हालत में दोनों चरणों में वर्गों का संश्रय भिन्न होगा और क्रान्ति का सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम भिन्न होगा।**

1905 में जब लेनिन ने मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही का नारा दिया था, तो वह उस समय की परिस्थितियों के अनुसार बिल्कुल सटीक था और तत्कालीन वर्ग शक्ति सन्तुलन को सही रूप में प्रकट करता था। जब लेनिन अक्टूबर 1917 में मज़दूर वर्ग की तानाशाही का नारा दिया तो वह उस समय की परिस्थितियों को सटीकता से प्रतिबिम्बित करता था। 1905 में सोवियतों का बनना और फिर 1917 से पहले उनका पुनर्जीवित होना दो अलग-अलग परिघटनाएँ थीं और लेनिन ने इस फर्क को समझा। दूसरी बात यह कि फरवरी क्रान्ति ने मज़दूरों व किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही को आंशिक तौर पर एक असलियत में तब्दील कर दिया था। इसलिए 'अप्रैल थीसीज़' में लेनिन सारी सत्ता सोवियतों को सौंपने की बात करते हैं, लेकिन अब वे यह बात बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में नहीं कर रहे थे, बल्कि समाजवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में बात कर रहे थे। अक्टूबर 1917 में जो समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न हुई उसके सामने एक ओर समाजवाद की दिशा में कुछ शुरुआती क़दम उठाने का कार्यभार था, तो वहीं बुर्जुआ क्रान्ति के कार्यभारों विशेष तौर पर भूमि सुधार को अंजाम देने का काम भी था। रूसी समाजवादी क्रान्ति के समक्ष जो जटिल प्रश्न इतिहास ने उपस्थित किये थे, उसका मूल कारण वे अपवादस्वरूप पैदा हुई परिस्थितियाँ थीं, जिनमें यह क्रान्ति सम्पन्न हुई थी। 1917 से लेकर 1920 और फिर 1921 से लेकर 1929 तक रूस में समाजवाद के निर्माण में मौजूद जटिलताएँ और विरोधाभास भी इसी कारण से थे। लेकिन समाजवाद के निर्माण के इस बेहद जटिल रास्ते के बावजूद रूस में लेनिन के क्रान्तिकारी यथार्थवाद और और फिर स्तालिन की दृढ़ता के बूते पर रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में रूसी मज़दूर वर्ग ने इस रास्ते को तय किया और स्तालिन की मृत्यु तक तमाम विच्युतियों के बावजूद मूल व मुख्य रूप में रूस में समाजवाद के निर्माण के काम को जारी रखा।

बहरहाल, त्रात्स्की 1905 और 1917 को अलग करते हैं और फिर उनके बीच एक मज़ाकिया सादृश्य निरूपण कर देते हैं। **वह 1905 और 1917 के बीच हुए परिवर्तनों और विशेष तौर पर फरवरी 1917 में हुए परिवर्तन को नज़रअन्दाज कर देते हैं।** त्रात्स्की कहते हैं कि अक्टूबर क्रान्ति के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और समाजवादी सरकार के स्थापित होने के साथ ही उनका 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त सही साबित हो गया क्योंकि वह तो 1905 से ही कह रहे थे कि क्रान्ति के बाद मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही नहीं

बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व अस्तित्व में आयेगा! **लेकिन वह भूल गये कि 1905 में पहले से कोई मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही मौजूद नहीं थी, जबकि अक्टूबर 1917 में मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही आंशिक तौर पर स्थापित हो चुकी थी।** त्रात्स्की अपनी बात को सही साबित करने के लिए लेनिन के मुँह में यह बात ठूँसने की कोशिश करते हैं कि लेनिन ने फरवरी 1917 की क्रान्ति के बाद स्थापित हुई बुर्जुआज़ी और भूस्वामियों की आरज़ी सरकार को मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही का नाम दिया था, जबकि लेनिन ने सोवियत सत्ता को मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही का नाम दिया था! त्रात्स्की इस बात के लिए लेनिन पर हमला करते हैं और पूछते हैं कि प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामियों की आरज़ी सरकार में क्या जनवादी और क्रान्तिकारी है? स्पष्ट है कि त्रात्स्की अपनी बात को सही साबित करने के उन्माद में बहस की बुनियादी नैतिकता और आचार को भी भूल गये थे। इसका कारण त्रात्स्की के अपने अहंकार और व्यक्तिवाद में था, जिस पर हम बाद में आयेंगे। लेकिन इस बहस में त्रात्स्की की अवस्थिति की दरिद्रता को पहले ठीक से समझ लेना ज़रूरी है।

त्रात्स्की ने लेनिन से पूछा था कि मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही स्थापित होने पर सरकार में कौन-सी पार्टी/पार्टियाँ रहेंगी? अगर सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी सरकार में होगी तो फिर यह राज्य मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही क्यों होगा? यह सर्वहारा अधिनायकत्व क्यों नहीं होगा? स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है त्रात्स्की यहाँ कई धरातलों पर ग़लत हैं और यहाँ उनकी निगमनवादी पद्धति एकदम खुलकर सामने आ गयी है। इन प्रश्नों में कुछ ग़लत मान्यताएँ निहित हैं। **पहली ग़लत मान्यता यह है कि सरकार का रूप और राज्य का चरित्र एक ही चीज़ होती हैं। दूसरी मान्यता यह है कि क्रान्ति का चरित्र सिर्फ़ इस बात से तय हो जाता है कि क्रान्ति का नेतृत्व कौन-सी पार्टी कर रही है और राज्य का चरित्र इस बात से तय हो जाता है कि कौन सी पार्टी के हाथ में सरकार है। यानी कि पार्टी सरकार का चरित्र तय करती है, सरकार राज्यसत्ता का चरित्र तय करती है, और राज्यसत्ता क्रान्ति का चरित्र तय करती है। यानी कि नेतृत्व के चरित्र से सबकुछ निगमित (deduce) कर दिया जाता है।** लेनिन का जवाब था कि यह प्रश्न ही ग़लत है कि सरकार में कौन-सी पार्टियाँ होंगी क्योंकि क्रान्ति के पहले इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता है। लेनिन मानते थे कि जनता की जनवादी क्रान्ति के बाद केवल कम्युनिस्ट पार्टी भी सत्ता में हो सकती है, या फिर कम्युनिस्ट पार्टी व अन्य जनवादी पार्टियों का गठबन्धन सरकार में हो सकता है, जिसमें कि नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में हो। लेकिन सिर्फ़ इसी बात से पूरी क्रान्ति का चरित्र नहीं तय हो जाता। क्रान्ति का चरित्र इस बात से तय होता है कि क्रान्ति किन वर्गों की सत्ता के ख़िलाफ़ है और कौन-से वर्ग क्रान्ति के मित्र वर्ग हैं; क्रान्ति का कार्यक्रम इसी से निर्धारित होता है, और **इसलिए क्रान्ति का चरित्र निर्धारण महज़ क्रान्तिकारी आन्दोलन की नेतृत्वकारी शक्ति और सरकार में मौजूद पार्टी से नहीं किया जा सकता है, बल्कि यह क्रान्ति के वर्ग संश्रय और कार्यक्रम से तय किया जा सकता है।** इसलिए निगमनवादी पद्धति पर अमल करने वाले त्रात्स्की के लिए यह समझना मुश्किल था कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति भी हो सकती है, क्योंकि उनके लिए क्रान्ति का चरित्र समाज में वर्ग संघर्ष और उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध के स्तर से नहीं तय होता, न ही यह क्रान्ति के शत्रु व मित्र वर्गों से तय होता है

और न ही क्रान्ति के कार्यक्रम से! त्रात्स्की के लिए बस यह पूछना पर्याप्त है कि कौन-सी पार्टी क्रान्ति के नेतृत्व में थी।

लेनिन इस सवाल पर बिल्कुल स्पष्ट थे। उनका मानना था कि मज़दूरों और किसानों की संयुक्त तानाशाही में नेतृत्व मज़दूर वर्ग और उसकी पार्टी के हाथों में ही होगा। लेकिन अगर सरकार में कम्युनिस्ट पार्टी अकेले भी होती है, तो वह तत्काल समाजवादी कार्यक्रम लागू नहीं कर सकती है। वह औद्योगिक क्षेत्र और कृषि क्षेत्र दोनों में ही पहले पार्टी का 'न्यूनतम कार्यक्रम' (जनवादी कार्यक्रम) ही लागू कर सकती है। वह सबसे पहले बुर्जुआ जनवादी कार्यक्रम को सर्वाधिक आमूलगामी और क्रान्तिकारी ढंग से लागू करेगी। लेनिन ने इस पूरे कार्य में किसानों व टुटपुँजिया वर्गों की रैडिकल निम्न पूँजीवादी पार्टियों के साथ सहकार की सम्भावना को भी इस मंज़िल में ख़ारिज नहीं किया है। यही कारण था कि लेनिन ने समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के भूमि कार्यक्रम का जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में समर्थन किया और कहा कि इस कार्यक्रम के साथ एकमात्र समस्या यह है कि इसे समाजवादी-क्रान्तिकारी समाजवादी भूमि कार्यक्रम मानते हैं जबकि भूमि के राष्ट्रीयकरण व समान पुनर्वितरण का यह कार्यक्रम एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम के दायरे से आगे नहीं जाता है। लेकिन जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में यह कार्यक्रम सही था और बोल्शेविकों ने इसका समर्थन किया। यह बात दीगर है कि बोल्शेविक क्रान्ति की विशिष्टता के कारण समाजवादी क्रान्ति के बाद भी सर्वहारा सत्ता को पहले यही कार्यक्रम लागू करना पड़ा, क्योंकि बुर्जुआ वर्ग भूमि क्रान्ति के कार्यभार को अंजाम देने में अक्षम सिद्ध हुआ और इसी बीच युद्ध और अकाल की अपवादस्वरूप स्थितियों ने समाजवादी क्रान्ति की ज़मीन तैयार कर दी। लेनिन मानते थे कि यह जनवादी क्रान्ति के बाद की वास्तविक परिस्थितियाँ तय करेंगी कि सरकार में केवल कम्युनिस्ट पार्टी मौजूद होगी या फिर कम्युनिस्ट पार्टी उसमें कुछ रैडिकल निम्न बुर्जुआ व किसान पार्टियों को भी आमन्त्रित करेगी। अगर फरवरी 1917 में सर्वहारा वर्ग और अन्य मेहनतकश वर्ग पहल को अपने हाथों से बुर्जुआ वर्ग के हाथों में नहीं सौंपते, अगर बोल्शेविक पार्टी उस क्रान्ति को नेतृत्व देने और फिर आरज़ी सरकार बनाने की स्थिति में होती और फिर बोल्शेविक पार्टी अकेले या फिर कुछ अन्य पार्टियों के साथ मिलकर आरज़ी सरकार बनाती, तो राज्य सत्ता वास्तव में मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही होती और तत्काल समाजवादी कार्यक्रम नहीं लागू किया जाता, बल्कि एक क्रान्तिकारी आमूलगामी जनवादी कार्यक्रम ही लागू किया जाता। लेकिन ऐसा हो नहीं सका, और रूस में फरवरी की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति पूर्णता तक पहुँच ही नहीं पायी। फरवरी के बाद जो विशिष्ट स्थिति रूस में पैदा हुई, उसमें बुर्जुआ क्रान्ति के पूर्णता तक पहुँचने के लिए समाजवादी क्रान्ति का होना अनिवार्य हो गया। **इसलिए अक्टूबर क्रान्ति को बुर्जुआ क्रान्ति के कई केन्द्रीय और अहम कार्यभारों को भी पूरा करना पड़ा।** इसी वजह से काऊत्स्की ने रूसी क्रान्ति और बोल्शेविक पार्टी की आलोचना करते हुए यह आरोप लगाया कि वास्तव में बोल्शेविक क्रान्ति एक जनवादी क्रान्ति ही है। लेकिन लेनिन इस विषय में स्पष्ट थे। उनका मानना था कि निश्चित तौर पर बोल्शेविक क्रान्ति ने एक रैडिकल बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम लागू किया। लेकिन साथ ही यह भी सच था कि समाजवादी मज़दूर सत्ता पहले दिन से ही समाजवादी रूपान्तरण की मंशा के साथ काम कर रही थी, जिसके तहत क्रान्ति के तुरन्त बाद ही कुछ मॉडल राज्य फार्म और सामूहिक व सहकारी फार्म भी स्थापित किये गये। यह बात

सच है कि उनका हिस्सा कुल खेती में मात्र 5 प्रतिशत के करीब था। लेकिन यहाँ समाजवादी खेती के रूपों की मात्रा या परिमाण प्रमुख नहीं है। मात्रा कुछ भी हो यह राज्यसत्ता की मंशा और चरित्र को ज़ाहिर करता था और पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के निषेध की शुरुआत को दिखलाता था। वास्तव में, भारत व कई अन्य देशों में दास प्रथा के उत्पादन की कार्रवाइयों में प्राचीन यूनान या रोम के पैमाने पर इस्तेमाल न होने के कारण कई अध्येताओं ने यह दावा किया था कि भारत में दास प्रथा कभी थी ही नहीं; इस तर्क पर **डी.डी. कोसाम्बी** द्वारा दिया गया उत्तर ग़ौरतलब है। कोसाम्बी ने कहा कि दास श्रम का किसी भी पैमाने पर उपयोग वास्तव में सामुदायिक उत्पादन पद्धति के विघटित होने का लक्षण था और इस रूप में दास श्रम का परिमाण उतना महत्व नहीं रखता जितना कि यह तथ्य की दास श्रम का इस्तेमाल उत्पादक व अनुत्पादक, दोनों ही कार्रवाइयों में शुरू किया जा चुका था। यह तर्क इतिहास की तथ्यवादी, परिमाणात्मक और नियतत्ववादी व्याख्या का खण्डन है और इस तर्क को हम आम तौर पर सामाजिक संरचनाओं और राजनीतिक सत्ताओं के विश्लेषण में लागू कर सकते हैं। क्रान्ति के बाद के रूस में स्थापित सामाजिक संरचना और राजनीतिक सत्ता के विषय में दूसरी बात यह भी थी कि किसान आबादी आर्थिक तौर पर समाजवादी रूपान्तरण के लिए तैयार थी, लेकिन राजनीतिक तौर पर नहीं। किसान आबादी के बीच बोल्शेविक पार्टी की पहुँच समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की तुलना में बेहद कम थी और किसानों की राजनीतिक चेतना काफ़ी हद तक समाजवादी-क्रान्तिकारियों के कार्यक्रम तक ही पहुँची थी। खेती के सामूहिकीकरण तक पहुँचने की रूस की प्रक्रिया बेहद उतार-चढ़ाव और जटिलता से भरी रही, जिस पर हम आगे के अध्यायों में चर्चा करेंगे। लेकिन यहाँ यह समझ लेना महत्वपूर्ण है कि रूस में यदि फरवरी 1917 में ही बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में होती तो फिर समाजवादी क्रान्ति के बाद रूस को जितनी समस्याओं का सामना खेती के समाजवादी रूपान्तरण में करना पड़ा, शायद उतनी समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता।

1904 में तीसरी पार्टी कांग्रेस में लेनिन ने स्पष्ट किया था कि जनवादी क्रान्ति के बाद क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार में सामाजिक-जनवादियों को शामिल होना चाहिए। लेनिन इस बात को समझ रहे थे कि जनवादी क्रान्ति रूस में कई रूपों में सम्पन्न हो सकती है और पहले से इस बात के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है कि आरज़ी सरकार किस प्रकार की होगी। लेकिन लेनिन यह भी समझते थे कि अगर सर्वहारा नेतृत्व जनवादी क्रान्ति सम्पन्न होती है तो फिर समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में सतत् प्रक्रिया में प्रवेश ज़्यादा सहज होगा। साथ ही, इस सतत् प्रक्रिया के बारे में लेनिन इसलिए भी आशान्वित थे क्योंकि रूस में खेती में पूँजीवादी विकास पहले ही प्रशियाई पथ से काफ़ी आगे बढ़ चुका था और किसानों का विभेदीकरण भी काफ़ी उन्नत स्तर पर पहुँच चुका था। **त्रात्स्की ने लेनिन के क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार में शामिल होने के प्रस्ताव का विरोध किया था और कहा था कि सामाजिक-जनवादी किसी भी ऐसी सरकार का अंग नहीं बनेंगे जो कि शुरू से ही समाजवादी कार्यक्रम पर अमल न करे।** त्रात्स्की ने साथ ही यह भी कहा कि ऐसी किसी भी सरकार में शामिल होना मज़दूर वर्ग के साथ और समाजवाद के लक्ष्य के साथ ग़द्दारी होगी। त्रात्स्की का मानना था कि कोई भी मज़दूर सरकार अगर आज के दौर में अपना न्यूनतम कार्यक्रम भी लागू करना चाहेगी तो उसे अन्ततः समाजवादी कार्यक्रम ही लागू करना पड़ेगा। इसके लिए उन्होंने आठ घण्टे के कार्यदिवस की माँग का उदाहरण दिया और कहा कि अगर मज़दूरों व किसानों की

जनवादी तानाशाही न्यूनतम कार्यक्रम के तहत आठ घण्टे के कार्यदिवस की माँग को लागू करने की कोशिश करेगी तो उसे पूँजीपतियों के कठोर विरोध का सामना करना पड़ेगा और अन्ततः इसका समाधान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से होगा, जो कि वास्तव में समाजवादी कार्यक्रम होगा। लेकिन यहाँ पर त्रात्स्की समाजवाद के पैमाने को ही ग़लत तौर पर पेश कर रहे हैं। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अपने आप में समाजवादी अर्थव्यवस्था का लक्षण नहीं है। वास्तव में, कई कल्याणकारी और युद्ध-निर्देशित अर्थव्यवस्थाओं ने उस समय भी उद्योगों का बड़े पैमाने का राष्ट्रीयकरण किया था। और आज तक का इतिहास तो साफ़ तौर पर इस बात को दिखलाता है कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अपने आप में पूँजीवाद की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता है। इस तरह त्रात्स्की का आरज़ी सरकार में शामिल न होने के बारे में यह तर्क था कि कम्युनिस्ट केवल सर्वहारा अधिनायकत्व वाली सरकार में ही प्रवेश करेंगे। त्रात्स्की का कहना था कि क्रान्ति के बाद जो आरज़ी क्रान्तिकारी सरकार बनती है, अगर उसमें कम्युनिस्ट बहुमत में नहीं हैं तो वे समाजवादी कार्यक्रम लागू नहीं कर पायेंगे और फिर अन्ततः मज़दूर वर्ग के हितों के साथ धोखा करेंगे; इसलिए जनता की जनवादी तानाशाही जैसी कोई चीज़ हर सूरत में प्रतिक्रियावादी होगी! और अगर कम्युनिस्ट ऐसी आरज़ी सरकार में बहुमत में होंगे तो फिर वह सरकार सर्वहारा वर्ग की तानाशाही ही होगी और वह जनवादी कार्यभारों को पूरा करने पर रुक ही नहीं पायेगी क्योंकि ज्यों ही ऐसी सरकार जनवादी कार्यभारों को लागू करने का प्रयास करेगी, वैसे ही पूँजीपतियों के विरोध के कारण उसे राष्ट्रीयकरण की समाजवादी नीति लागू करनी पड़ेगी, क्योंकि त्रात्स्की के लिए राष्ट्रीयकरण अपने आपमें समाजवादी व्यवस्था का प्रतीक था।

अब किसानों के बारे में त्रात्स्की के दृष्किोण पर भी थोड़ी चर्चा ज़रूरी है। **त्रात्स्की का किसानों बारे में नज़रिया भी एकदम अयथार्थवादी था।** त्रात्स्की का मानना था कि किसान मज़दूर वर्ग द्वारा सत्ता पर कब्ज़े के बाद स्वयं ही सर्वहारा सत्ता के पक्ष में आ जायेंगे। लेकिन क्रान्ति की प्रक्रिया में किसानों की कोई सचेतन भागीदारी नहीं हो सकती। उनके विद्रोह वस्तुगत तौर पर सर्वहारा क्रान्ति को मदद पहुँचा सकते हैं क्योंकि वे सत्ता को कमज़ोर करेंगे, लेकिन किसान सचेतन तौर पर किसी राजनीतिक लक्ष्य के लिए संगठित नहीं हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में किसानों के पास कोई स्वतन्त्र राजनीतिक अभिकरण (एजेंसी) नहीं होती है। इसीलिए, त्रात्स्की के अनुसार, किसानों का कारक एक 'अज्ञात चर राशि' है, जिस पर क्रान्ति सम्पन्न करने के लिए निर्भर नहीं रहा जा सकता है। मज़दूर वर्ग अपनी पार्टी के बूते सत्ता स्थापित करेगा और सीधे समाजवाद का निर्माण शुरू करेगा, और किसान बाद में उसी अचेतनता के साथ सर्वहारा सत्ता के पक्ष में आ जायेंगे जिस अचेतनता के साथ वे ज़ारशाही के पक्ष में चले जाते थे! लेनिन इस प्रश्न पर त्रात्स्की से बिल्कुल अलग राय रखते थे। लेनिन का मानना था कि रूस में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न करने के लिए समूची किसान आबादी और फिर समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करने के लिए ग़रीब व निम्न मध्यम किसान व ग्रामीण अर्द्धसर्वहारा आबादी को पहले से ही सर्वहारा नेतृत्व के तहत संगठित करना अनिवार्य है और इसके बिना रूस में न तो जनवादी क्रान्ति सम्भव है और न ही समाजवादी क्रान्ति। यह सच है कि किसान वर्ग प्रकृति से पश्चद्रष्टा (millenarian) वर्ग होता है और **यह भी सच है कि किसान आबादी यदि किसी पार्टी के तहत सचेतन तौर पर राजनीतिक रूप से संगठित हो भी जाये, तो उसके पास चुनने के लिए या तो पूँजीवाद होता है या फिर समाजवाद और वे**

अपना कोई 'किसान विकल्प' नहीं पेश कर सकती। लेकिन ठीक इसीलिए किसान आबादी को संगठित करना सर्वहारा क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए अनिवार्य है, क्योंकि यदि वे उन्हें अपने राजनीतिक वर्चस्व के तहत नहीं लेंगी तो फिर अन्ततः बुर्जुआ राजनीतिक वर्चस्व के तहत जायेंगी और फिर उनकी भूमिका प्रतिक्रान्तिकारी ही बनेगी। त्रात्स्की किसानों के प्रति अपने दृष्टिकोण को सही साबित करने के लिए भी मार्क्स से वैधता प्राप्त करने की कोशिश करते थे, लेकिन सही बात यह थी कि मार्क्स व एंगेल्स दोनों ही इस बात को समझते थे कि जर्मनी में सर्वहारा क्रान्ति का भविष्य काफ़ी हद तक इस बात पर निर्भर करता था कि सर्वहारा क्रान्ति को किसान युद्धों के दूसरे संस्करण से मदद मिलेगी या नहीं। मार्क्स ने जर्मनी और फ्रांस में फरवरी क्रान्ति की असफलता के बाद एंगेल्स को एक पत्र में लिखा, **"जर्मनी में पूरी बात अब इस पर निर्भर करेगी कि सर्वहारा क्रान्ति को किसान युद्धों के किसी दूसरे संस्करण से समर्थन पहुँचाना सम्भव है या नहीं।"** (मार्क्स-एंगेल्स, **"मैनचेस्टर में एंगेल्स को मार्क्स का पत्र"**, *संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड-40*, 1983, मॉस्को, पृ. 37, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद हमारा*) लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स के चिन्तन के इसी सिरे को आगे बढ़ाया और कहा कि जनवादी क्रान्ति के लिए समूची किसान आबादी की सर्वहारा नेतृत्व के तहत क्रान्तिकारी आन्दोलन में भागीदारी और समाजवादी क्रान्ति के लिए ग़रीब किसानों और अर्द्धसर्वहारा वर्ग की सर्वहारा नेतृत्व के तहत क्रान्तिकारी आन्दोलन में भागीदारी अनिवार्य है। यह इन क्रान्तियों की पूर्वशर्त है। त्रात्स्की यहाँ पर एक हिरावलपंथी अवस्थिति अपनाते हैं। 'स्थायी क्रान्ति' के त्रात्स्की के सिद्धान्त के अनुसार मज़दूर वर्ग अपनी पार्टी के नेतृत्व में पहले सत्ता पर कब्ज़ा कर लेगा और तत्काल समाजवादी कार्यक्रम को लागू करना शुरू कर देगा और उसके बाद किसान आबादी समाजवादी सत्ता के पक्ष में आ जायेगी। स्पष्ट तौर पर, त्रात्स्की बदलते ऐतिहासिक युगों में कुल मिलाकर किसानों की भूमिका और अलग-अलग वर्गों के किसानों की भूमिका के विषय में कोई समझ नहीं रखते हैं। उनके लिए किसान आबादी एक एकाश्मी आबादी है जो किसी भी राजनीतिक अभिकरण से वंचित है। यहाँ पर त्रात्स्की अपने श्रेष्ठ लासालवादी रूप में हैं; उनके अनुसार मज़दूर वर्ग एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग है और किसी भी आन्दोलन को आज के समय में यदि क्रान्तिकारी होना है तो उसे शुरू से ही समाजवादी होना होगा। त्रात्स्की कहते हैं कि **'जो अधिकतम प्राप्त कर सकता है, वह न्यूनतम भी प्राप्त कर सकता है।'** यानी, जो समाजवादी क्रान्ति कर सकता है, वह जनवादी क्रान्ति को स्वतः ही सम्पन्न कर देगा! दूसरे शब्दों में, जनवादी और समाजवादी क्रान्ति एक ही चोट में सम्पन्न की जायेगी और यह कार्य मज़दूर वर्ग अपने हिरावल के नेतृत्व में करेगा; किसान विद्रोहों की एक वस्तुगत सहायक कारक की भूमिका बन सकती है, लेकिन किसानों की कोई सचेतन राजनीतिक हिस्सेदारी नहीं होगी। इस एक चोट में सम्पन्न क्रान्ति के बाद सीधे मज़दूर सरकार (जो कि त्रात्स्की के लिए सर्वहारा अधिनायकत्व का पर्यायवाची है) अस्तित्व में आयेगी और सीधे समाजवादी रूपान्तरण के कार्यों को हाथों में लेगी। त्रात्स्की ने किसानों के साथ संश्रय और फिर मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही को सर्वहारा वर्ग द्वारा "आत्म-सीमाबद्धीकरण" (self-limitation) क़रार दिया। मज़दूर सरकार स्थापित होने के बाद त्रात्स्की के अनुसार किसानों को कोई भी रियायत या छूट नहीं दी जानी चाहिए और समाजवादी कार्यक्रम पर तत्काल अमल किया जाना चाहिए।

ऐसा नहीं कि त्रात्स्की जनवादी कार्यभारों या माँगों की चर्चा नहीं करते। वे

कहीं-कहीं जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों की बात करते हैं, लेकिन उनके लिए जनवादी क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति के शुरुआती दिनों से ज़्यादा कुछ भी नहीं है; त्रात्स्की के अनुसार जनवादी माँगों का महज़ एक "उद्वेलनात्मक चरित्र" (agitational character) होता है जिनका सामाजिक-जनवादियों को व्यापक जनसमुदायों का समर्थन जीतने के लिए इस्तेमाल करना चाहिए। लेकिन त्रात्स्की के लिए इस "जनवादी दौर" का ज़्यादा कोई अर्थ नहीं है कि क्योंकि इससे क्रान्ति के वर्ग चरित्र और सामाजिक अन्तर्वस्तु पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा, जो कि राज्यसत्ता पर काबिज़ और आन्दोलन की अगुवाई करने वाली पार्टी के चरित्र से निर्धारित हो जाता है। त्रात्स्की के लिए इतना ही जानना पर्याप्त था कि मज़दूर वर्ग की पार्टी आन्दोलन की अगुवाई में है या नहीं और क्रान्ति के बाद मज़दूर सरकार बनायी जाती है या नहीं। अगर ऐसा होता है तो वह समाजवादी क्रान्ति है और अगर ऐसा नहीं है तो त्रात्स्की के मुताबिक मज़दूर वर्ग के साथ ग़द्दारी की जा रही है! **त्रात्स्की के दिमाग़ में कभी यह बात नहीं आयी कि यदि किसी देश में व्यापक जनसमुदाय जनवादी कार्यभारों को पूर्ण करने के लिए ही तैयार है और बुर्जुआ वर्ग समझौतापरस्त हो चुका है या प्रतिक्रियावादी हो चुका है और वह जनवादी कार्यभारों को पूरा करने में कोई दिलचस्पी नहीं रखता तो सर्वहारा वर्ग को ही जनता की जनवादी क्रान्ति में भी जनता की अगुवाई करनी पड़ेगी, और इस चरण के कार्यभारों को पूरा करने के बाद समाजवादी क्रान्ति की तैयारियाँ करनी होंगी।** त्रात्स्की इस बात को मान्यता नहीं देते थे कि किसी भी क्रान्ति का चरित्र उस क्रान्ति के कार्यक्रम से तय होगा, जो कि स्वयं वर्ग संघर्ष के स्तर से निर्धारित होता है। उनके लिए आन्दोलन के नेतृत्व और फिर सरकार का रूप राज्यसत्ता और क्रान्ति के चरित्र को निर्णायक रूप से निर्धारित कर देता है।

त्रात्स्की ने लेनिन के संयुक्त जनवादी तानाशाही के सिद्धान्त के बारे में कहा कि यह नाम सिर्फ़ व्यापक किसान आबादी के समर्थन के साथ खड़े सर्वहारा अधिनायकत्व को ही दिया जा सकता है। लेकिन ऐसा सूत्रीकरण दो चरणों के बीच की विभाजक रेखा और उन दो चरणों के वर्ग संश्रयों के बीच के फर्क को मिटा देता है। साथ ही, इस किस्म का सूत्रीकरण वास्तव में हर शब्द को अर्थ से रिक्त बना देता है; मिसाल के तौर पर, सर्वहारा अधिनायकत्व के विशिष्ट अर्थ हैं, और त्रात्स्की की समझदारी से चलें तो ये विशिष्ट अर्थ समाप्त हो जाते हैं और सर्वहारा अधिनायकत्व एक सामान्य अवधारणा बन जाती है, जिसका अर्थ महज़ मज़दूर सरकार है! अक्टूबर क्रान्ति के बाद एक बार लेनिन ने ग़लती से सोवियत सत्ता को मज़दूरों व किसानों की संयुक्त तानाशाही का नाम दे दिया था। लेकिन बुखारिन द्वारा इस सूत्रीकरण पर आपत्ति के बाद अपने एक लेख **'पार्टी का संकट'** में लेनिन ने इस ग़लती को दुरुस्त कर लिया था और स्पष्ट किया था कि उनका मक़सद यह स्पष्ट करना था कि सोवियत सत्ता स्थापित होने के बाद इसका टिके रहना इस बात पर निर्भर करता है कि अभी लम्बे समय तक इसे व्यापक किसान आबादी (ग़रीब व मँझोले किसान) का समर्थन प्राप्त होता है या नहीं। सोवियत सत्ता एक ऐसा सर्वहारा अधिनायकत्व है जो कि मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित है। यह सारी बातें 'नयी आर्थिक नीतियाँ' लागू होने के पहले लेनिन ने कही थीं, जब 'युद्ध कम्युनिज़्म' का दौर समाप्त हुआ था, मज़दूर-किसान संश्रय टूटने की कगार पर था, और पार्टी के सामने यह चुनौती थी कि सर्वहारा सत्ता की हिफ़ाज़त करने के लिए मज़दूर-किसान संश्रय को सुदृढ़ कैसे किया जाय। इसी के लिए लेनिन ने कुछ समय के लिए 'रणनीतिक तौर पर

क़दम पीछे हटाने' की बात की थी और कहा था कि कुछ समय के लिए नियन्त्रित तौर पर मँझोले और ऊपरी मँझोले किसानों तथा व्यापारियों को कुछ खुला हाथ देना होगा, और इस बीच पार्टी को विशेष तौर पर ग़रीब और उन मँझोले किसानों के बीच अपने आधार को मज़बूत करना होगा जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते, ताकि आगे सामूहिकीकरण की ज़मीन तैयार की जा सके। इसके लिए मँझोले किसानों को साथ लेने और उनके बड़े हिस्से को समाजवाद पर राज़ी करने पर लेनिन ने काफ़ी ज़ोर दिया। अगर उस दौर के कुछ लेखों को अलग से उद्धृत किया जाय तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि लेनिन समूची मँझोली किसानी को समाजवाद पर राज़ी करने की बात कर रहे हैं। **लेकिन लेनिन के उतने ही लेख और अन्य सन्दर्भ मिल जायेंगे, जिसमें लेनिन ने मँझोली किसानी के दोहरे चरित्र की चर्चा की है और स्पष्ट किया है कि मँझोले किसानों में उज़रती श्रम का शोषण करके मुनाफ़ा कमाने वाला और जमाखोरी करने वाला सर्वहारा सत्ता का दुश्मन है।** दरअसल, लेनिन उस समय पार्टी के भीतर 'नई आर्थिक नीतियों' के प्रश्न पर लड़ रहे थे। "वामपंथी" कम्युनिस्ट विरोध पक्ष इन नीतियों को पूँजीवाद की ओर वापसी क़रार दे रहा था और यह प्रचार कर रहा था कि 'युद्ध कम्युनिज़्म' अपवादस्वरूप पैदा हुई स्थितियों की नीतियाँ नहीं थीं, बल्कि वे ही सही कम्युनिस्ट नीतियाँ थीं! कुछ ने तो यहाँ तक कहा कि अगर कुछ और वर्षों तक 'युद्ध कम्युनिज़्म' की नीतियाँ लागू की जायें तो कम्युनिस्ट समाज की मंज़िल में प्रवेश किया जा सकता है! उस समय शुरुआत में त्रात्स्की भी इस "वामपंथी" भटकाव के साथ खड़े थे, जिसका नेतृत्व बुखारिन, ओसिंस्की आदि जैसे लोग कर रहे थे। इसलिए एक दूसरे सन्दर्भ में अर्थवादियों व ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादियों के विरुद्ध लेनिन द्वारा ही दिये गये रूपक को उधार लेकर कहा जा सकता है कि "वामपंथी" कम्युनिस्टों ने छड़ी को एक ओर मोड़ दिया था, और उसे सीधा करने के लिए लेनिन को उसे दूसरी ओर मोड़ना पड़ा। **लेकिन बेतेलहाइम और मावराकिस जैसे लोग इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ की चर्चा किये बग़ैर लेनिन का "अति-माओवादी" हस्तगतीकरण करते हैं और दावा करते हैं कि लेनिन ने भी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में समूची मँझोली किसानी को साथ लेने का नारा दिया था और फिर इसकी तुलना माओ के लेख 'जनता के बीच अन्तरविरोधों को सही ढंग से लागू करने के बारे में' के उस तर्क से करते हैं जिसके अनुसार समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग भी मित्र वर्ग होगा, जिसे समझा-बुझाकर या "बदलने पर बाध्य करके" समाजवाद के पक्ष में खड़ा किया जा सकता है।** वास्तव में, यह माओ की एक चूक थी, जिसे व्यवहारत: माओ ने दुरुस्त भी कर लिया था। लेकिन सैद्धान्तिक तौर पर राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग को "बदलने पर बाध्य" करने की ही बात की गयी थी। मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र स्पष्ट तौर पर दिखलाता है कि किसी शत्रु वर्ग के कुछ निश्चित व्यक्तियों को बदला जा सकता है या "बदलने पर बाध्य" किया जा सकता है; लेकिन समूचे वर्ग को हम "बदलने पर बाध्य" नहीं कर सकते। यह बात वर्ग संघर्ष के नियम का निषेध करती है। माओ और चीनी पार्टी की इस चूक के कारण बेतेलहाइम व मावराकिस जैसे लोगों को समाजवादी संक्रमण की मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझदारी को विकृत करने और उसका हेगेलीय भाववादी हस्तगतीकरण करने का मौका मिला। लेकिन माओ ने तमाम जगहों पर ऐसी बात भी कही है कि मँझोले किसान वर्ग का एक छोटा हिस्सा ही समाजवादी क्रान्ति के पक्ष में खड़ा होगा; **'सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना'** में तो माओ यहाँ तक कहते हैं कि

जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी निम्न मँझोली किसानी पर ही कम्युनिस्ट पार्टी को निर्भर करना चाहिए और वे स्तालिन की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उनके दौर के सोवियत लेखन में मँझोले किसानों को एक एकाश्मी वर्ग के तौर पर पेश किया गया है। लेकिन टुकड़ों-टुकड़ों में पेश किये गये सही सूत्रीकरण के बावजूद अधिकांश पार्टी दस्तावेज़ों और महत्वपूर्ण लेखन में राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के प्रति समाजवाद के दौर में पार्टी के रवैये को लेकर ज़्यादातर एक ग़लत और ग़ैर-लेनिनवादी अवस्थिति प्रकट हुई है। फिलहाल, हम चीनी समाजवाद के प्रयोग के सकारात्मकों व नकारात्मकों के विषय में विस्तृत चर्चा नहीं कर सकते हैं इसलिए त्रात्स्की के सिद्धान्त की चर्चा पर वापस लौटते हैं।

त्रात्स्की ने 1905 में लेनिन के चरणों में क्रान्ति के सिद्धान्त का खुले तौर पर विरोध किया और इसे सर्वहारा वर्ग के साथ ग़द्दारी तक क़रार दिया। एक जगह त्रात्स्की लेनिन को रूसी बुर्जुआ वर्ग के "वामपंथी" धड़े का नेता बनने का प्रयास करने वाला जैकोबिन कहते हैं; एक अन्य जगह त्रात्स्की लेनिन को रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के प्रतिक्रियावादी धड़े का नेता बताते हैं; लेकिन क्रान्ति के ठीक पहले बोल्शेविकों के साथ आने के बाद त्रात्स्की चोर-दरवाज़े से अपने 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त और लेनिन के क्रान्ति के सिद्धान्त की अपनी आलोचना में कुछ परिवर्तन करते हैं। 1917 में त्रात्स्की लिखते हैं कि लेनिन का संयुक्त जनवादी तानाशाही का सिद्धान्त एक आरज़ी परिकल्पना (provisional hypothesis) थी, जो कुछ समय के लिए सही थी, जिसका महान ऐतिहासिक मूल्य था। लेकिन त्रात्स्की के अनुसार 1905 और फिर 1917 के अनुभवों ने इस परिकल्पना का अनुमोदन नहीं किया। हम पहले ही दिखला चुके हैं कि त्रात्स्की किस प्रकार 1905 और अक्टूबर 1917 के बीच एक बेतुके किस्म का सादृश्य निरूपण करते हैं, ताकि वे अपने 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को सही सिद्ध कर सकें। फिर त्रात्स्की ने कहा कि लेनिन के मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही का सिद्धान्त वास्तव में सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त को ही दूसरे अर्थों में पेश करता है। लेकिन यहाँ त्रात्स्की लेनिन के साथ सीधा संघर्ष करने का साहस खो चुके हैं और अब अपने आप को सही सिद्ध करने और क्रान्ति के लेनिनवादी सिद्धान्त को ग़लत सिद्ध करने के लिए लेनिन के साथ 'शैडो-बॉक्सिंग' कर रहे हैं। यहाँ उनका मक़सद दोस्ताना शब्दों में अपने क्रान्ति के सिद्धान्त को सही बताना और लेनिनवादी सिद्धान्त को ग़लत बताना है और यह सिद्ध करना है कि 'अप्रैल थीसीज़' में लेनिन चुपके से त्रात्स्कीपंथी बन गये थे! वास्तव में, कई त्रात्स्कीपंथी जैसे कि अर्नेस्ट मैण्डेल व इज़ाक डॉइशर यह मानते हैं कि अक्टूबर में लेनिन से बेहतर कोई त्रात्स्कीपंथी नहीं था! लेकिन इन कपोल-कल्पनाओं और खुद को खुश करने के ख़्यालों के बरक्स सच्चाई कुछ और ही थी।

त्रात्स्की यहाँ मज़दूरों व किसानों की संयुक्त तानाशाही और सर्वहारा अधिनायकत्व के बीच के अन्तर को धुंधला कर रहे हैं ताकि वे जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के चरणों के बीच की विभाजक रेखा को मिटा सकें और यह सिद्ध कर सकें कि आज के युग में समाजवादी क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी क्रान्ति की बात करना सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बनाना है। लेकिन वास्तव में लेनिन का सिद्धान्त ठीक यही था कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू नहीं बनना चाहिए और ठीक इसीलिए जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी सर्वहारा वर्ग को अपने आपको एक स्वतन्त्र राजनीतिक प्रवृत्ति के रूप में संगठित करना चाहिए। लेनिन का सिद्धान्त वास्तव

में जनवादी क्रान्ति को सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक नेतृत्व में सबसे क्रान्तिकारी और आमूलगामी सीमाओं तक ले जाने और फिर वहाँ से समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश करने का सिद्धान्त था। उल्टे त्रात्स्की के सिद्धान्त के बारे में यह ज़रूर कहा जा सकता है कि वह सर्वहारा वर्ग के हिरावलपंथी नेतृत्व का दावा करते हुए वास्तव में सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बनाता है। इसका कारण यह है कि त्रात्स्की या तो हर क्रान्तिकारी आन्दोलन को समाजवादी मानते थे या फिर उस क्रान्तिकारी आन्दोलन को प्रतिक्रियावादी क़रार देकर सर्वहारा वर्ग को उससे अलग रहने की नसीहत देते थे; यानी अगर कोई आन्दोलन बुर्जुआ जनवादी दायरों की माँग उठाता था तो त्रात्स्की उसे भी समाजवादी ही क़रार देते थे, और इस प्रकार बुर्जुआ लक्ष्यों को ही समाजवादी लक्ष्यों की संज्ञा देते हुए वही काम करते थे, जो कि संशोधनवादी और दक्षिणपंथी अवसरवादी करते हैं; या फिर वह उसे प्रतिक्रियावादी क़रार देकर सर्वहारा वर्ग को उससे अलग रहने की सलाह देते, जिस सूरत में, बुर्जुआ वर्ग को अपने आपको जनवादी अधिकारों का सबसे बड़ा हिमायती और नायक के रूप में पेश करने का मौका मिलता और सर्वहारा वर्ग राजनीति के मंच पर दरकिनार कर दिया जाता।

चूँकि संशोधनवादी भी कोई समाजवादी संघर्ष खड़ा नहीं करते और जनवादी दायरे से आगे नहीं जाना चाहते इसलिए जनवादी कार्यभारों को पूर्ण करने के लिए होने वाले आन्दोलनों व संघर्षों को ही समाजवादी क़रार देते हैं और मज़दूर वर्ग में बुर्जुआ विभ्रम का प्रसार करते हैं और वास्तव में सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू और समूचे मज़दूर आन्दोलन को वस्तुतः बुर्जुआ वर्ग का "वामपंथी" धड़ा बना देते हैं; जाने-अनजाने और "वामपंथी" अवस्थिति की आड़ में त्रात्स्की यही करते हैं। वहीं दूसरी ओर, अगर त्रात्स्की बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों या अधिकारों को पूरा करने वाले किसी आन्दोलन को समाजवादी क़रार नहीं दे पाते, तो वे उसे प्रतिक्रियावादी और पश्चगामी क़रार देते हैं और कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग को इसमें शिरक़त ही नहीं करनी चाहिए। यह जनवादी आन्दोलन में सर्वहारा वर्ग को पूर्णतः निष्क्रिय बना देता है क्योंकि वह जनवादी आन्दोलन के भीतर एक अलग क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के रूप में अपने आपको संगठित नहीं कर पाता (और वास्तव में इसी कारण से वह जनवादी क्रान्ति के बाद समाजवादी क्रान्ति की तैयारियों के लिए भी संगठित नहीं हो पाता) और बुर्जुआ वर्ग को इस आन्दोलन पर बिना किसी चुनौती वर्चस्व स्थापित करने और अन्त में अपने आपको जनवाद और जनता के जनवादी अधिकारों का हिमायती बताकर जनता के सामने राजनीतिक नुमाइश करने का मौका देता है।

इसी प्रकार त्रात्स्की यह मानते हैं कि 'स्थायी क्रान्ति' के बाद समाजवादी रूपान्तरण के कार्य को ऊपर से राज्यसत्ता द्वारा कार्यकारी निर्णयों के ज़रिये लागू कर दिया जाना चाहिए। त्रात्स्की कहते हैं कि समाजवादी रूपान्तरण के लिए जनता तैयार हो या न हो (यानी कि क्रान्ति की मंज़िल जनवादी हो या समाजवादी हो), यदि मज़दूरों की सरकार बनती है तो पार्टी वह सरकार चलायेगी और किसी भी सूरत में समाजवादी रूपान्तरण को तब तक लागू करेगी जब तक कि उसे सशस्त्र शक्ति से कुचल न दिया जाय! समाजवादी सत्ता स्थापित होने के बाद त्रात्स्की के अनुसार किसानों के साथ कोई रियायत नहीं बरती जानी चाहिए। लेनिन का इस बारे में मानना था कि मज़दूर वर्ग को जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी नेतृत्व अपने हाथों में लेने का प्रयास करना चाहिए और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को सर्वाधिक क्रान्तिकारी तरीके से पूरा करना चाहिए; साथ ही लेनिन का यह भी मानना था कि समाजवादी

क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थापित होने के बाद भी क्रान्तिकारी वर्ग संश्रय में अपने राजनीतिक वर्चस्व और नेतृत्व को कायम रखने के लिए कई बार सर्वहारा वर्ग को अपने तात्कालिक वर्ग हितों को त्यागना पड़ता है। अगर सर्वहारा वर्ग ऐसा न करे तो फिर क्रान्तिकारी वर्ग संश्रय टूटता है, सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक नेतृत्व खण्डित होता है और किसानों के बीच बुर्जुआ वर्चस्व और नेतृत्व स्थापित होते देर नहीं लगती। लेकिन त्रात्स्की के लिए यह सर्वहारा सत्ता का "आत्म-सीमाबद्धीकरण" होगा! वास्तव में त्रात्स्की की नीति लागू होती तो 1920 के दशक में ही सोवियत संघ में सर्वहारा वर्ग पहल, नेतृत्व और वर्चस्व खो बैठता और समाजवादी सत्ता का पतन हो जाता। **इसलिए वास्तव में 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के तहत तमाम आमूलगामी और "वामपंथी" जुमलेबाज़ी करने के बावजूद वास्तव में व्यवहारतः त्रात्स्की मज़दूर वर्ग से क्रान्ति के दोनों ही चरणों में हर प्रकार का अभिकरण छीन लेते हैं और उसे बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बना देते हैं।** लेनिन की कार्यदिशा इस मामले में बिल्कुल स्पष्ट थी: लेनिन के अनुसार सर्वहारा वर्ग न तो जनवादी आन्दोलनों का बहिष्कार करेगा और न ही उन्हें समाजवादी क़रार देकर अपने आपको जनवादी आन्दोलनों के अधीनस्थ में तब्दील करेगा। सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति या आन्दोलन में भी एक स्वतन्त्र क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के रूप में अपने आपको संगठित करेगा और जनवादी कार्यभारों को सर्वाधिक क्रान्तिकारी तरीके से पूर्ण करने के लिए और साथ ही विशिष्ट मज़दूर अधिकारों के लिए लड़ेगा। जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों के पूरा होने के बाद ऐसा सर्वहारा वर्ग ही सही मायनों में समाजवादी क्रान्ति के कार्यभारों की ओर बढ़ने के लिए अपने आपको संगठित और गोलबन्द कर सकता है।

त्रात्स्की क्रान्ति को वर्गों के बीच के संघर्षों के किसी निश्चित मंज़िल पर पहुँचने की परिणति की बजाय मज़दूर वर्ग के हिरावल की एक आत्मगत गतिविधि बना देते हैं, जो वस्तुगत परिस्थितियों की अवहेलना करते हुए अपने "दिव्य रूप से प्रदत्त या निर्धारित कार्यभार" को पूरा करता है! और क्रान्ति के बाद भी हिरावल पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग अपने आपको किसी अवैयक्तिक, आदर्शीकृत, परकीकृत "इतिहास द्वारा सौंपे गये कार्यभार" पूरे करने होते हैं, और इसमें उस समय के वर्ग संघर्ष और विभिन्न मित्र वर्गों की इच्छा की कोई भूमिका नहीं होती है। जनता की इच्छा की अवहेलना को त्रात्स्की वैध ठहराते हुए लिखते हैं कि **वर्ग संघर्ष के "वास्तविक पथ" को जनता के बदलते मिजाज़ पर निर्भर नहीं बनाया जा सकता है।** त्रात्स्की के अनुसार, **"सर्वहारा वर्ग क्रान्ति की नियति को सबसे अचेतन और अभी तक और सोये हुए जनसमुदायों के बदलते मिजाज़ पर कभी भी निर्भर नहीं होने देगा।"** (लियोन त्रात्स्की, *'रिज़ल्ट्स एण्ड प्रॉस्पेक्ट्स'*, 1919 की प्रस्तावना, पृ. 33-4) यानी कि त्रात्स्की के अनुसार समाजवादी सत्ता को व्यापक मेहनतकश जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं होना चाहिए, बल्कि हिरावलों की इच्छा की अभिव्यक्ति होनी चाहिए! यही कारण है कि त्रात्स्की सोवियत रूस में समाजवाद की विजय के लिए व्यापक मेहनतकश जनता के समर्थन पर निर्भर नहीं थे, बल्कि उन्नत पूँजीवादी देशों में क्रान्ति पर निर्भर थे!

त्रात्स्की का स्पष्ट मानना था कि सर्वहारा क्रान्ति वैश्विक तौर पर सम्पन्न होगी। 1906 में त्रात्स्की ने लिखा था कि अगर रूस में क्रान्ति होती है तो जर्मनी और ऑस्ट्रिया-हंगरी रूस में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप करेंगे, जो कि क्रान्ति की ज्वाला को इन देशों में ले जायेगा और फिर एक 'चेन रिऐक्शन' शुरू होगा जो कि वैश्विक सर्वहारा क्रान्ति में परिणत होगा। त्रात्स्की का

मानना था कि अगर ऐसा नहीं हुआ तो एक देश में समाजवाद का निर्माण हो पाना सम्भव नहीं है, और ख़ास तौर पर रूस जैसे पिछड़े देश में तो बिल्कुल ही असम्भव है, क्योंकि रूसी क्रान्ति को साम्राज्यवादी शक्तियों के समक्ष राजनीतिक चेतना से वंचित बल्कि राजनीतिक चेतना प्राप्त करने में अक्षम किसान आबादी के क्षणभंगुर समर्थन पर निर्भर करना पड़ेगा। **बाद में, त्रात्स्की को अपनी इस बात को बदलना पड़ा।** 1936 में रूस में सामूहिकीकरण सम्पन्न होने के बाद त्रात्स्की ने 1939 में माना कि रूस में उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण/सामूहिकीकरण ने समाजवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण किया है। हालाँकि, यह सच है कि स्तालिन के समय तक रूस में समाजवादी सत्ता मौजूद थी, लेकिन त्रात्स्की द्वारा इसे समाजवादी मानने का आधार राज्यसत्ता में सर्वहारा वर्ग का अपनी पार्टी के नेतृत्व में कब्ज़ा नहीं था, बल्कि उत्पादन का राष्ट्रीयकरण था, जो कि अपने आप में पूँजीवाद के दायरों का अतिक्रमण नहीं करता। इसीलिए बाद में त्रात्स्की ने कहा था रूस में सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति सम्पन्न हो चुकी है और अब रूसी मज़दूर वर्ग को नौकरशाही के विरुद्ध तख़्तापलट कर सोवियत रूस में राजनीतिक क्रान्ति सम्पन्न करनी चाहिए। सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक क्रान्ति में विभेद का विचार त्रात्स्की ने काऊत्स्की से उधार लिया था। एक देश में समाजवादी निर्माण को लेकर बहस पर हम आगे के अध्यायों में चर्चा करेंगे। अभी हमने इसकी चर्चा सिर्फ़ त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के एक परिशिष्ट के रूप में की थी क्योंकि उनके इस 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त का मूल तर्क यही था कि अगर उत्पादन सम्बन्ध और राज्य की संरचना सामन्ती हो तो भी सीधे मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी क्रान्ति होगी और सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना होगी क्योंकि विश्व के पैमाने पर एक कमोबेश एकीकृत बाज़ार के पैदा होने और इज़ारेदारियों के पैदा होने के साथ पूरी दुनिया में श्रम और पूँजी का ही अन्तरविरोध एकमात्र मुख्य अन्तरविरोध बन गया है; इसलिए सीधे समाजवादी क्रान्ति ही होगी और यह किसान वर्ग के किसी भी हिस्से से सचेतन और संगठित समर्थन के बिना होगी क्योंकि किसान वर्ग का कोई स्वतन्त्र राजनीतिक अभिकरण नहीं होता है और वह नियति से ही एक राजनीतिक तौर पर अचेत वर्ग है जो उसी अचेतना के साथ क्रान्ति के बाद मज़दूर सत्ता के पक्ष में आ जायेगा, जिस अचेतनता के साथ वह ज़ार या किसी बुर्जुआ सत्ता के पक्ष में जाता; तीसरी बात यह कि ऐसी कोई भी 'स्थायी क्रान्ति' जो कि एक ही झटके में जनवादी और समाजवादी क्रान्ति होगी (क्योंकि 'जो अधिकतम कर सकता है, वह न्यूनतम भी कर सकता है!') वह हर-हमेशा एक विश्व क्रान्ति होगी क्योंकि एक देश में राजनीतिक रूप से अचेत किसान आबादी के क्षणभंगुर समर्थन के बूते पर साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के समक्ष समाजवाद का निर्माण हो ही नहीं सकता। इसलिए जब तक विशेष तौर पर पिछड़े देशों में समाजवाद व सर्वहारा अधिनायकत्व की सहायता के लिए उन्नत देशों का सर्वहारा वर्ग नहीं आता तब तक एक देश में समाजवाद के निर्माण की उम्मीद करना व्यर्थ है। त्रात्स्की के एक देश में समाजवाद के निर्माण के असम्भाव्यता के प्रश्न पर और भी कई आर्थिक कारकों की बात त्रात्स्की करते हैं, जिन पर हम यहाँ केवल संक्षेप में बात करेंगे और आगे के अध्यायों में विस्तार से चर्चा करेंगे।

त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को बाद में त्रात्स्कीपंथियों ने ज़बरन चीनी इतिहास पर थोपने का भी प्रयास किया। त्रात्स्की ने कहा था कि आने वाली चीनी क्रान्ति में कोई भी "जनवादी दौर" नहीं होगा, और न ही उसमें कोई मज़दूरों व किसानों की संयुक्त

तानाशाही स्थापित होगी। आने वाली चीनी क्रान्ति सीधे सर्वहारा अधिनायकत्व को स्थापित करके समाजवाद का निर्माण करेगी। चीनी क्रान्ति के 1949 में सम्पन्न होने के बाद से ही विश्व भर में त्रात्स्कीपंथी त्रात्स्की की भविष्यवाणी को सही सिद्ध करने की कवायद में लग गये। कइयों ने तो यहाँ तक कहा कि सतत् क्रान्ति (perpetual revolution) का माओ का सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त वास्तव में त्रात्स्की का 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त है! ज़ाहिर है कि माओ के अधिरचना में सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त को त्रात्स्कीपंथियों ने समझा ही नहीं था और 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को सही सिद्ध करने के उन्माद में वे कुछ भी बक गये हैं! जहाँ तक 1949 में नवजनवादी क्रान्ति के 'स्थायी क्रान्ति' होने या न होने का प्रश्न है तो माओ और चीनी पार्टी ने बार-बार स्पष्ट किया था कि 1949 में चीन में जो क्रान्ति हुई वह एक क्रान्तिकारी जनता के जनवाद के दायरे से आगे नहीं जाती थी; चाहे वह भूमि सुधार का प्रश्न हो (क्रान्ति के तुरन्त बाद चीन के 30 करोड़ किसानों में भूमि का पुनर्वितरण किया गया था) या फिर एक जनवादी गणराज्य की स्थापना का प्रश्न हो, चीनी क्रान्ति 1950 के दशक के मध्य से पहले किसी भी रूप में समाजवादी चरण में नहीं मानी जा सकती है। स्वयं माओ ने 1952 में घोषणा की कि अब चीनी क्रान्ति को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश करना होगा। लेकिन व्यावहारिक तौर पर 1950 के दशक के अन्त में खेती के व्यापक सहकारीकरण और सामूहिकीकरण का कार्य शुरू हुआ जो आने वाले दशक में जारी रहा। चीनी पार्टी और माओ ने अपने तमाम लेखन में कहीं भी 'पर्मानेण्ट रिवोल्यूशन' (स्थायी क्रान्ति) शब्द का इस्तेमाल नहीं किया, बल्कि 'अनइण्टरप्टेड रिवोल्यूशन' का इस्तेमाल किया। दरअसल, जर्मन भाषा में मार्क्स ने जिस शब्द का प्रयोग किया था उसका अनुवाद दोनों ही रूपों में सम्भव है, 'स्थायी क्रान्ति' और 'सतत् क्रान्ति'। 1905 के पहले अधिकांश मार्क्सवादी 'स्थायी क्रान्ति' और 'सतत् क्रान्ति' दोनों का ही प्रयोग करते थे। मार्क्स ने पहली बार इस शब्द का प्रयोग 1844 में नेपोलियन के सन्दर्भ में किया था जब उन्होंने कहा था कि नेपोलियन ने **'स्थायी क्रान्ति की जगह स्थायी युद्ध को दे दी थी'।** (मार्क्स-एंगेल्स, अध्याय 6, भाग 3, *होली फैमिली, ऑर दि क्रिटीक ऑफ क्रिटिकल क्रिटिसिज़्म. अगेंस्ट ब्रूनो बावर एण्ड कम्पनी*, अनुवाद हमारा) यहाँ पर स्थायी क्रान्ति से मार्क्स व एंगेल्स का अभिप्राय किसी भी क्रान्ति के अपने लक्ष्यों तक पहुँचने से था। इसके बाद मार्क्स ने 1850 में इसका प्रयोग कम्युनिस्ट लीग की केन्द्रीय कमेटी को अपने भाषण में भी किया और साथ ही 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष 1848-50' में भी इसका प्रयोग किया। **लेकिन उनके प्रयोग से ही साफ़ था कि उनका अर्थ सिर्फ़ इतना था कि (1) जनवादी क्रान्ति के दौर में भी सर्वहारा वर्ग को अपने आपको स्वायत्त रूप से संगठित करना चाहिए और (2) कि सर्वहारा वर्ग को जनवादी क्रान्ति के पूर्ण हो जाने पर रुकना नहीं चाहिए बल्कि उसके बाद इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए उसे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और समाजवाद तक जाना चाहिए।** मार्क्स का तर्क कतई जनवादी क्रान्ति की मंज़िल को लाँघने का नहीं था, बल्कि यह था कि यदि सर्वहारा वर्ग अपने आपको स्वतन्त्र रूप से संगठित नहीं करता तो फिर वह जनवादी क्रान्ति पर ही रुक जायेगा जबकि सर्वहारा वर्ग की ज़िम्मेदारी है जनवादी क्रान्ति पर रुके बग़ैर समाजवाद और सर्वहारा अधिनायकत्व तक जाना। मार्क्स द्वारा इस्तेमाल किये गये शब्द का रूसी में दो सम्भव अनुवाद है: पहला, ***'पर्मानेण्टनाया'*** और दूसरा ***'नेप्रेरिव्नाया'।*** पहले शब्द का अनुवाद 'स्थायी' होगा जबकि दूसरे का 'सतत्'। जब तक त्रात्स्की ने मार्क्स

का लासालवादी नियोजन करने का प्रयास करते हुए अपना 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त नहीं पेश किया था तब तक कोई विवाद नहीं था। लेकिन जब उन्होंने ऐसा कर दिया तो लेनिन ने भी हर जगह 'सतत् क्रान्ति' शब्द का प्रयोग किया और माओ और चीनी पार्टी ने भी इस परम्परा को जारी रखा ताकि त्रात्स्कीपंथी हिरावलपंथ के साथ कोई भ्रम न पैदा हो। माओ और चीनी पार्टी ने चीनी क्रान्ति के दोनों चरणों की हमेशा स्पष्ट पहचान की और उनके तहत बनने वाले दोनों प्रकार के वर्ग संश्रयों में भी फर्क किया, हालाँकि राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग और धनी किसानों को लेकर सैद्धान्तिक तौर पर चीनी पार्टी और माओ के लेखन में एक विचलन भी देखने को मिलता है। बहरहाल, किसी भी अर्थ में माओ व चीनी पार्टी ने चीनी क्रान्ति को 'स्थायी क्रान्ति' के रूप में नहीं बल्कि चरणों में सम्पन्न हुई क्रान्ति के रूप में ही देखा। त्रात्स्कीपंथियों का 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को चीनी इतिहास और माओ के लेखन पर थोपने का प्रयास हास्यास्पद है। माओ ने स्पष्ट किया कि पहला चरण सर्वहारा वर्ग शहरी और ग्रामीण निम्न पूँजीपति वर्ग के साथ मोर्चा बनाकर सम्पन्न करेगा जबकि दूसरे चरण में चीनी समाजवादी क्रान्ति मुख्य रूप से सर्वहारा वर्ग, अर्द्धसर्वहारा वर्ग और ग़रीब व निम्न मँझोले किसानों पर निर्भर करेगी।

यहाँ आगे बढ़ने से पहले हम एक नुक्ते पर कुछ स्पष्टीकरण देना चाहेंगे। निश्चित रूप से, जिन भी देशों में सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को पूरा करती वहाँ पर जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में संक्रमण बेहद जटिल होता, जैसा कि चीन में हुआ। इसका कारण स्पष्ट है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न होती है जिसमें कि मज़दूर वर्ग, ग्रामीण व शहरी निम्न पूँजीपति वर्ग और मध्यवर्ग कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में क्रान्ति में हिस्सेदारी करते हैं। इसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता में आती है और सभी जनवादी कार्यभारों को सर्वाधिक आमूलगामी ढंग से सम्पन्न करती है और इसके बाद समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल की शुरुआत होती है। अभी भी कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व और सरकार कायम रहते हैं लेकिन वर्ग संश्रय में से ग्रामीण व शहरी निम्न पूँजीपति वर्ग यानी कि छोटा राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग और धनी किसान अलग हो जाते हैं क्योंकि पूरे के पूरे वर्ग को सामूहिकीकरण और राष्ट्रीयकरण पर सहमत नहीं किया जा सकता है, उसके कुछ सदस्यों को ही समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत किया जा सकता है। ऐसे में, जनवादी क्रान्ति में मित्र वर्गों की भूमिका में रहने वाले ये वर्ग समाजवादी क्रान्ति के विरुद्ध अवस्थिति अपनायेंगे और वहाँ से सत्ता का चरित्र मज़दूरों व किसानों की संयुक्त तानाशाही नहीं हो सकता, बल्कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही ही हो सकता है। दूसरी बात, यह पूरी संक्रमण की प्रक्रिया सहज-सरल नहीं हो सकती; यह निश्चित तौर पर बेहद उथल-पुथल भरी होगी जिसमें कि समाज में जारी वर्ग संघर्ष बेहद तीखा हो जायेगा और यह हिंस्र रूप भी अख़्तियार कर सकता है। **चीन में 1956-57 से लेकर माओ की मृत्यु तक पार्टी के भीतर और बाहर जो भयंकर वर्ग संघर्ष चला वह वास्तव में नवजनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में संक्रमण की जटिलताओं और बाधाओं का ही परिणाम था।** भले ही स्वयं माओ और चीनी पार्टी के दस्तावेज़ों में समूचे राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग को "बदलने के लिए बाध्य" करने की बात की गयी हो, लेकिन वास्तव में यह वर्ग का बदलना नहीं बल्कि वर्गों का संघर्ष था जो अपने आपको पार्टी के भीतर भी भयंकर संघर्ष के रूप में पेश कर रहा था और

समाज में भी भयंकर राजनीतिक संघर्ष के रूप में पेश कर रहा था।

इसी से जुड़ी हुई यह बात भी है कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति (यानी कि नवजनवादी क्रान्ति या जनता की जनवादी क्रान्ति) की स्थिति इतिहास में कोई स्थायी स्थिति नहीं हो सकती थी; दूसरे शब्दों में, नवजनवादी क्रान्ति का सिद्धान्त एक बेहद विशिष्ट स्थिति में पैदा हुआ सिद्धान्त था और उस स्थिति के लिए वह बिल्कुल सटीक था, लेकिन यह कोई सामान्य मॉडल नहीं हो सकता। श्रम और पूँजी के बीच अन्तरविरोध के पूरे इतिहास में नवजनवादी/जनता की जनवादी क्रान्ति की मंज़िल एक छोटा दौर या क्षण ही हो सकती थी और वह क्षण अब बीत चुका है। क्रान्तिकारी अथवा ग़ैर-क्रान्तिकारी रास्ते से लगभग समूचे विश्व में साम्राज्यवाद के उपनिवेशवादी दौर के बीतने के साथ और पिछड़े पूँजीवादी देशों में क्रमिक प्रक्रिया अथवा द्रुत गति से/झटके से सामन्ती सम्बन्धों के ख़ात्मे और पूँजीवादी रूपान्तरण के साथ कई ऐसे जटिल प्रश्न द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक गति से हल हो चुके हैं, जो कि बीसवीं सदी के एक ख़ास दौर में इतिहास ने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष पेश किये थे। आज दुनिया भर के तमाम उत्तर-औपनिवेशिक समाज किसी न किसी हद तक पूँजीवादी विकास कर चुके हैं और वहाँ सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध या तो समाप्त हो चुके हैं या फिर उनके अवशेष मात्र बाकी हैं। आज दुनिया के इन तमाम देशों में नये प्रकार की समाजवादी क्रान्तियों की मंज़िल है। इस विषय पर विस्तृत चर्चा करने के लिए यह जगह उपयुक्त नहीं है और आगे हम नयी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल पर अपनी अवस्थिति को स्पष्ट करेंगे। लेकिन फिलहाल हम त्रात्स्कीपंथ की आलोचना के मुद्दे पर लौटते हैं।

त्रात्स्की के लिए नवजनवादी क्रान्ति की कोई मंज़िल नहीं होगी और मज़दूर वर्ग अपनी हिरावल पार्टी के नेतृत्व सत्ता पर कब्ज़ा कर सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवाद की स्थापना करेगा। त्रात्स्की के लिए किसी भी सामाजिक संरचना में प्रधान अन्तरविरोध श्रम और पूँजी के बीच का अन्तरविरोध ही होगा क्योंकि विश्व पैमाने पर यह अन्तरविरोध प्रमुख बन चुका है। सामन्तवाद और जनसमुदायों के बीच और साम्राज्यवाद और जनसमुदायों की बीच के अन्तरविरोधों को या तो नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है या फिर उन्हें भी श्रम और पूँजी के अन्तरविरोध में ही अपचयित कर दिया जाता है। **इस प्रकार त्रात्स्की दिक् और काल से स्वतन्त्र एक कठमुल्लावाद का अनुसरण करते हैं।** त्रात्स्की मानते हैं कि किसी एक देश में समाजवाद का निर्माण नहीं हो सकता है और अगर किसी पिछड़े देश में समाजवादी क्रान्ति होती है तो फिर उसका जीवित रहना इस बात पर निर्भर करता है कि उन्नत देशों में क्रान्ति होती है या नहीं। इस प्रकार त्रात्स्की प्रमुख अभिकरण 'कमज़ोर कड़ियों' को नहीं बल्कि 'मज़बूत कड़ियों' को देते हैं, यानी कि उन्नत देशों के सर्वहारा वर्ग को। यह सिद्धान्त स्पष्टत: लेनिन के क्रान्ति के सिद्धान्त के विरोध में खड़ा है, जिसके अनुसार पहले विश्व पूँजीवाद की 'कमज़ोर कड़ियाँ' टूटेंगी; लेनिन के काल में ये कमज़ोर कड़ियाँ औपनिवेशीकृत देश थे जहाँ के राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध लगातार साम्राज्यवाद पर चोट कर रहे थे, और आज के युग में उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज वे कमज़ोर कड़ियाँ हैं, जहाँ देशी और विदेशी पूँजी का गठजोड़ सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग को लूट रहा है। लेनिन ने उस दौर में कहा था कि सर्वहारा वर्ग को इन राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों में अपने आपको एक स्वतन्त्र प्रवृति के रूप में संगठित करना चाहिए और इस पहले चरण को पूरा करके दूसरे चरण यानी कि समाजवाद के

लिए संघर्ष की ओर बढ़ना चाहिए।

अन्त में कह सकते हैं कि त्रात्स्की का 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के विरोध में खड़ा एक सिद्धान्त है जो कि किसी भी समाज के विशिष्ट अन्तरविरोधों को नज़रअन्दाज़ करते हुए विश्व पैमाने पर प्रमुख बन चुके अन्तरविरोध से उस समाज के क्रान्ति की मंज़िल को निगमित करता है। **यह सिद्धान्त जनवादी क्रान्ति की मंज़िल को लाँघने की वकालत करता है और कहता है कि वर्ग संघर्ष की ऐतिहासिक प्रक्रिया आम तौर पर कई चरणों को लाँघकर आगे बढ़ती है।** त्रात्स्की इस बात को समझने में असफल रहे कि अगर किन्हीं विशेष परिस्थितियों में जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति के बीच की प्रक्रिया सतत् या निरन्तर बन जाये तो भी दोनों चरणों के बीच फर्क होगा क्योंकि दोनों चरणों में क्रान्ति के मित्र व शत्रु वर्गों में फर्क आ जायेगा और इस प्रकार वर्ग संश्रय बदल जायेगा। **त्रात्स्की किसी भी समाज में विशिष्ट अन्तरविरोधों को नहीं समझ सकते हैं, क्योंकि उनके लिए विशिष्ट अन्तरविरोध सामान्य व सार्वभौमिक अन्तरविरोध से निर्धारित हो जाते हैं।** यानी कि अगर विश्व के पैमाने पर पूँजी और श्रम का अन्तरविरोध प्रमुख बन चुका है तो हर देश में समाजवादी क्रान्ति की ही मंज़िल है! इस समझदारी का नतीजा यह होता है कि त्रात्स्कीपंथी किसी भी देश में क्रान्ति के ठोस प्रश्नों पर कभी कोई ठोस चिन्तन नहीं कर पाते और इसीलिए वे अपने सिद्धान्त को परखने के लिए भी अपने प्रयोगों पर निर्भर नहीं कर सकते। क्योंकि वे अपने कोई प्रयोग कर ही नहीं पाते हैं! और दूसरों के प्रयोगों को वे किसी भी तरह ज़बरन 'स्थायी क्रान्ति' के ढाँचे में बिठाने की कोशिश करते हैं जैसा कि उन्होंने चीनी क्रान्ति के मामले में किया। त्रात्स्कीपंथी किसी भी देश की विशिष्ट परिस्थितियों को भूल जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि क्रान्ति का प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न है और विश्व बाज़ार और इज़ारेदारियों के अस्तित्व में आने के बाद भी पूँजीवादी दुनिया में राज्यसत्ता राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित है, और साम्राज्यवाद के उन्नत से उन्नत दौर में यही हो सकता है; किसी एकध्रुवीय साम्राज्यवादी विश्व या अति-साम्राज्यवाद की बात करना काऊत्स्की की साम्राज्यवाद की थीसिस की ओर जाना है; लेनिन के साम्राज्यवाद का सिद्धान्त इज़ारेदारियों के उदय को प्रतिस्पर्द्धा के ख़ात्मे के तौर पर नहीं देखता, बल्कि इसे प्रतिस्पर्द्धा के और ज़्यादा गलाकाटू और सघन होते जाने की अभिव्यक्ति मानता है; यह "मुक्त व्यापार" और "मुक्त प्रतियोगिता" के आदर्शीकृत बुर्जुआ सिद्धान्त का निषेध भी है और विस्तार भी; या कह सकते हैं कि इज़ारेदार पूँजीवाद "मुक्त व्यापार" पूँजीवाद का विस्तार है और ठीक इसीलिए उसका निषेध भी है। लेनिन साम्राज्यवाद के उदय में पूँजीवाद के असमाधेय होने की हद तक तीखे होते अन्तरविरोधों को देखते हैं और मानते हैं कि ऐसी कोई मंज़िल नहीं आयेगी जब किसी एक साम्राज्यवादी शक्ति के मातहत किसी एकध्रुवीय विश्व का उदय होगा। साम्राज्यवाद के दौर में राष्ट्र-राज्यों की भूमिका *बदल* जाती है, *समाप्त* नहीं होती और शायद इसीलिए त्रात्स्की के समय से लेकर आज तक कई सिद्धान्तकारों के लिए इस बदलती भूमिका ने समाप्त होने का दृष्टिभ्रम पैदा किया है। वास्तव में, आज भी यदि किसी भी देश में क्रान्ति करनी है तो उस देश की राज्यसत्ता के विशिष्ट चरित्र, वहाँ के उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर और उनके संघर्ष के फलस्वरूप होने वाले वर्ग संघर्ष के चरित्र को समझना होगा और उसके अनुसार ही क्रान्ति का कार्यक्रम निर्धारित करना होगा। यानी, सम्बन्धित देश की ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करना

होगा; अन्तरविरोधों की सार्वभौमिकता और विशिष्टता दोनों को ही समझना होगा। **लेकिन त्रात्स्की इस द्वन्द्वात्मक विश्लेषण में यक़ीन ही नहीं रखते। उनकी पद्धति कठमुल्लावादी आधिभौतिकवाद और निगमनवाद की पद्धति है।** त्रात्स्की सिद्धान्त और व्यवहार के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को समझने में नाकाम रहे। उनके लिए एक बार प्रतिपादित कर दिये गये सिद्धान्त हमेशा के लिए व्यवहार का निर्देशन करने का काम करते हैं। यह सच है क्रान्तिकारी सिद्धान्त क्रान्तिकारी व्यवहार का मार्गदर्शन करते हैं, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि यह क्रान्तिकारी सिद्धान्त स्वयं सामाजिक व्यवहार के लम्बे अनुभवों का ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सामान्यीकरण होते हैं और यह कि इन क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को क्रान्तिकारी व्यवहार द्वारा बार-बार उन्नत और विकसित होना होता है। **त्रात्स्की के लिए सिद्धान्त हमेशा के लिए एक बार समाधान उपस्थित कर देता है जिसे कि व्यवहार में लागू किया जाना होता है।**

त्रात्स्की कभी अन्तरविरोधों के सन्धि-बिन्दु (conjuncture) को नहीं समझ पाते थे। उनके लिए बुनियादी अन्तरविरोध हर सूरत में प्रधान अन्तरविरोध होता था। इसका कारण यह था कि वह हमेशा एक सिद्धान्तवादी अवस्थिति से प्रस्थान करते थे। जैसा कि लेनिन ने कहा था, त्रात्स्की हमेशा सामान्य सिद्धान्तों से चिपके रहते थे। वह कभी नहीं समझ पाते थे कि किसी भी स्थिति में कई अन्तरविरोध होते हैं, उनमें से कुछ मुख्य होते हैं, जबकि एक अन्तरविरोध प्रधान होता है और प्रधान अन्तरविरोध का एक प्रधान पहलू होता है। उनके लिए प्रधान अन्तरविरोध हमेशा एक कठमुल्लावादी, किताबी तरीके से निर्धारित हो जाता है। वह यह भी नहीं समझ पाते थे कि प्रधान और गौण पहलू कई बार बदल जाया करते हैं। इसलिए वह हमेशा 'सामान्य'/'सार्वभौमिक' को समझते थे लेकिन हमेशा 'विशिष्ट' को देखने से चूक जाते थे। इसलिए त्रात्स्की के प्रेक्षण वहाँ-वहाँ सही प्रतीत होते हैं जहाँ 'सामान्य' और 'विशिष्ट' एक दूसरे को अतिच्छादित करते हैं। **चूँकि त्रात्स्की अपने समाधानों/विकल्पों का निर्माण वास्तविक अन्तरविरोधों के आधार पर नहीं करते बल्कि एक कठमुल्लावादी सिद्धान्तवादी ढंग से करते हैं, इसलिए वे इन समाधानों को लागू करने के लिए राजनीति और जनदिशा पर भरोसा नहीं करते, बल्कि ऊपर से किसी प्रशासनिक समाधान का रास्ता तलाशते हैं।** इसका कारण यह है कि त्रात्स्की क्रान्ति का सिद्धान्त वास्तविक अन्तरविरोधों के आधार पर नहीं निर्मित करते; इसके विपरीत वह वास्तविक जगत में सिद्धान्त की एक दर्पण छवि का निर्माण करने के मंसूबे बनाते हैं, हालाँकि सिद्धान्त भी उन्होंने विकृत रूप में समझे होते हैं या फिर समझे ही नहीं होते।

क्रान्ति के सिद्धान्त को लेकर त्रात्स्की और लेनिन के बीच जो विवाद हुआ वह फरवरी क्रान्ति से पूर्व त्रात्स्कीपंथ से बोल्शेविज़्म के संघर्ष का सबसे प्रमुख मुद्दा बना। लेनिन का क्रान्ति का सिद्धान्त 1905 से लेकर 1917 तक के ऐतिहासिक अनुभवों से सही सिद्ध हुआ और बाद में त्रात्स्की ने तरह-तरह की बौद्धिक कलाबाज़ियाँ करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अक्टूबर 1917 की घटनाओं ने उनके 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को सही सिद्ध किया और साथ ही यह भी साबित करने का प्रयास किया कि लेनिन ने बाद में त्रात्स्की के क्रान्ति के सिद्धान्त को अपना लिया। लेकिन यह प्रयास त्रात्स्की ने खुलकर लेनिन की मृत्यु के बाद किये। 1924 में त्रात्स्की ने **'लेसंस ऑफ अक्टूबर'** नामक रचना में बोल्शेविक क्रान्ति को 'स्थायी क्रान्ति' सिद्ध करने का प्रयास किया। लेकिन उनकी इस रचना की आलोचना करने हुए स्तालिन, क्रुप्सकाया, बुखारिन, ज़िनोवियेव, आदि ने कई लेख लिखे

और त्रात्स्की के इन प्रयासों को अनावृत्त किया। 'स्थायी क्रान्ति' के पूरे सिद्धान्त पर विस्तार से चर्चा की इसलिए ज़रूरत थी क्योंकि यह त्रात्स्की का सबसे अहम सिद्धान्त है जिसमें कि उनकी पूरी पहुँच और पद्धति साफ़ तौर पर दिखलायी देती है। त्रात्स्की की अन्य प्रश्नों पर अवस्थिति को भी समझना हमारे लिए आसान हो जायेगा, अगर हम 'स्थायी क्रान्ति' के त्रात्स्कीपंथी सिद्धान्त और उसके पूरे सन्दर्भ को अच्छे तरीके से समझ लें। फरवरी 1917 से पहले जो दूसरा अहम विवाद (वास्तव में यह विवाद क्रान्ति की मंज़िल और चरित्र के प्रश्न पर हुए मतभेद से पहले ही हो गया था) त्रात्स्की और लेनिन के बीच हुआ, वह था पार्टी सिद्धान्त को लेकर।

ii) सांगठनिक कार्यदिशा के प्रश्न पर त्रात्स्की से लेनिन का संघर्ष

त्रात्स्की के साथ जिस मुद्दे पर संघर्ष की शुरुआत हुई वह वास्तव में त्रात्स्की का 'स्थायी क्रान्ति' का ग़ैर-मार्क्सवादी सिद्धान्त नहीं था, बल्कि सांगठनिक कार्यदिशा का प्रश्न था। सांगठनिक दिशा के प्रश्न पर अक्सर त्रात्स्की को आम तौर पर बस एक मेंशेविक ठहरा दिया जाता है क्योंकि 1903 से लेकर 1917 के बीच त्रात्स्की की अवस्थिति व्यवहारत: अक्सर मेंशेविकों की अवस्थिति से मेल खाती थी। लेकिन त्रात्स्की को महज़ मेंशेविक बता देना पूरे मसले का अतिसरलीकरण होगा और विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार के मसले में कार्यकर्ताओं का उद्वेलन करने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए, जैसा कि मार्क्सवाद-विरोधियों के सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए कई बार क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी कर बैठती हैं।

त्रात्स्की का वास्तव में कोई सांगठनिक सिद्धान्त था ही नहीं, या यूँ कहें कि कोई सांगठनिक सिद्धान्त न होना ही त्रात्स्की का सांगठनिक सिद्धान्त था। अपने पूरे राजनीतिक जीवन में त्रात्स्की अपनी ज़रूरत के मुताबिक ग़ैर-पार्टीवाद और अतिकेन्द्रीयता के बीच; नौकरशाहाना केन्द्रीयता और गुटवाद (factionalism); हिरावलपंथ और स्वत:स्फूर्ततावाद के बीच झूलते रहे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि त्रात्स्की का सांगठनिक सिद्धान्त व्यवहारवाद और अवसरवाद था। त्रात्स्की ने जब खुले तौर पर जनवादी केन्द्रीयता के लेनिनवादी उसूलों का विरोध किया तब भी वह सांगठनिक सिद्धान्त की किसी समझदारी के बिना ऐसा कर रहे थे, और जब 1917 में त्रात्स्की ने बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने का फैसला किया और उसके पार्टी सिद्धान्त को "अपनाया" तब भी त्रात्स्की ने न तो कोई विचारधारात्मक रूप से सुसूचित अवस्थिति अपनायी थी, और न ही पहले के दौर में बोल्शेविक पार्टी सिद्धान्त का विरोध करने पर अपनी कोई अर्थपूर्ण आत्मालोचना रखी थी।

जनवादी केन्द्रीयता का सिद्धान्त किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन के लिए केन्द्रीय महत्व का प्रश्न है। एक ऐसी पार्टी जिसने जनता के साथ जीवन्त रिश्ता बरक़रार रखते हुए यानी कि क्रान्तिकारी जनदिशा लागू करते हुए अपनी कार्यदिशा निर्धारित की हो, और जिसके पास कार्यदिशा निर्धारित हो जाने का बाद उस पर निर्णायक अमल के लिए एक अनुशासित और केन्द्रीकृत सांगठनिक ढाँचा और नेतृत्व है, वही पार्टी जनता के बिखरे हुए जनसंघर्षों को एक सूत्र में पिरोकर उसे पूँजीवाद-विरोधी समाजवादी क्रान्ति का रूप दे सकती है। कम्युनिस्ट पार्टी में जनवाद और केन्द्रीयता के बीच एक द्वन्द्वात्मक रिश्ता होता है। जहाँ एक ओर पार्टी की कार्यदिशा और नेतृत्व को निर्धारित करने की प्रक्रिया में जनता से पार्टी का

जीवन्त सम्बन्ध और कार्यकर्ताओं की भूमिका अहम होती है, वहीं एक बार कार्यदिशा और नेतृत्व के निर्धारित होने के बाद पार्टी पूर्ण केन्द्रीयता और अनुशासन के साथ उसे लागू करती है। इस पार्टी सिद्धान्त का विकास यूरोपीय सामाजिक जनवादी आन्दोलन के शुरुआती दौर में ही भ्रूण रूप में होने लगा था, लेकिन इस सिद्धान्त को मुकम्मिल तौर पर विकसित करने का कार्य लेनिन ने किया। त्रात्स्की लेनिन के इस सांगठनिक सिद्धान्त को समझने में असफल रहे।

सांगठनिक उसूलों के प्रश्न पर त्रात्स्की की अवस्थिति लगातार बदलती रही। त्रात्स्की इस मामले में हमेशा "वाम" और दक्षिण के बीच में एक पक्के व्यवहारवादी, अवसरवादी और व्यक्तिवादी के रूप में दोलन करते रहे। **इसका मूल कारण यह था कि त्रात्स्की पार्टी और वर्ग के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को कभी समझ ही नहीं सके।** कभी तो वे इन दोनों, यानी पार्टी और वर्ग, में फ़र्क ही नहीं कर पाते थे और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी व ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद की अवस्थिति अपना लेते थे, तो कभी वे नौकरशाहाना केन्द्रीयता व हिरावलपंथी अवस्थिति अपना लेते थे। साथ ही, त्रात्स्की पार्टी के भीतर भी नेतृत्व और काडर के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को कभी नहीं समझ पाये। कभी वह केन्द्रीयता के नाम पर नेतृत्व की नौकरशाहाना तानाशाही का समर्थन करते थे तो कभी पार्टी में जनवाद के रूप में गुटवाद का समर्थन करते थे। इसका मूल कारण त्रात्स्की के ग़ैर-द्वन्द्वात्मक निगमनवादी पद्धति में निहित था, जो उन्हें कभी किसी नतीजे पर पहुँचाती थी तो कभी किसी और नतीजे पर। साथ ही, त्रात्स्की का व्यक्तिवादी और अहंवादी व्यक्तित्व भी उनकी समूची समझदारी को निर्धारित करने में एक सहायक कारक की भूमिका निभाता था। पार्टी सिद्धान्त पर त्रात्स्की के नज़रिये को ऐतिहासिक तौर पर देखने से उसे ज़्यादा बेहतर तरीके से समझा जा सकता है।

1901 में त्रात्स्की ने पहली बार पार्टी सिद्धान्त पर अपने कुछ बिखरे हुए विचार पेश किये। इसमें त्रात्स्की ने एकदम स्पष्ट शब्दों में एक प्रकार की नौकरशाहाना केन्द्रीयता की वकालत की। 1901 में लिखे गये इस लेख से लिए गये इस उद्धरण पर ग़ौर करें: **"अगर कोई स्थानीय संगठन...केन्द्रीय कमेटी की पूर्ण शक्तियों को मान्यता देने से इंकार करता है, तो केन्द्रीय कमेटी इससे अपने सम्बन्ध ख़त्म कर लेगी और इस प्रकार उस संगठन को क्रान्ति के समूचे विश्व से काट देगी।"** (लियोन त्रात्स्की, *इन डिफेन्स ऑफ़ मार्क्सिज़्म*, मेरिट पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, पृ. 49, *अनुवाद हमारा*)। त्रात्स्की यहाँ महज़ एक क्रान्तिकारी संगठन के अनुशासन की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि एक नौकरशाहाना केन्द्रीयता और निरंकुशता की बात कर रहे हैं। निश्चित तौर पर, दो लाइनों के संघर्ष के बाद भी यदि कोई स्थानीय इकाई या कमेटी केन्द्रीय कमेटी के प्राधिकार को स्वीकार नहीं करती है, तो केन्द्रीय कमेटी उससे अपने सम्बन्ध तोड़ लेगी। लेकिन "क्रान्ति के पूरे विश्व" से उस संगठन को काट देने का क्या अर्थ हो सकता है?

1903 में त्रात्स्की रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी की दूसरी कांग्रेस में शामिल हुए थे। इस कांग्रेस में शुरुआती दौर में त्रात्स्की ने लेनिन के पक्ष में खड़े होकर अर्थवादियों की आलोचना की और एक बार फिर से कठोर शब्दों में नौकरशाहाना केन्द्रीयता का समर्थन किया। उन्होंने अर्थवादियों पर लेनिन से भी ज़्यादा कठोरता के साथ हमला किया और इसके कारण कांग्रेस में वह लेनिन की कार्यदिशा के सेनापति प्रतीत हो रहे थे। त्रात्स्की के हमलों के कारण अर्थवादियों ने बोल्शेविक नेतृत्व और इस्क्रावादियों पर ग़ैर-जनवादी और तानाशाहाना रवैये का आरोप लगाया। त्रात्स्की ने यहाँ तक कहा कि **पार्टी संहिताओं को "पार्टी सदस्यों पर नेतृत्व**

के संगठित अविश्वास को अभिव्यक्त करना चाहिए, एक ऐसा अविश्वास जो कि अपने आपको पार्टी में ऊपर से निगरानी और नियन्त्रण के रूप में अभिव्यक्त करेगा।" लेकिन जल्द ही त्रात्स्की ने अचानक एक पलटी खायी और लेनिन के पार्टी सिद्धान्त और हिरावल पार्टी की अवधारणा पर पुरज़ोर शब्दों में हमला शुरू कर दिया। त्रात्स्की ने दलील दी कि पार्टी और वर्ग के बीच सम्बन्ध के बारे में लेनिन द्वारा 'क्या करें?' में प्रस्तुत किया गया विचार ग़लत है। **'रिपोर्ट ऑफ़ दि साईबेरियन डेलीगेशन'** (1903) में त्रात्स्की ने लेनिन के सांगठनिक सिद्धान्त पर हमला बोलते हुए कहा कि लेनिन एक जैकोबिनवादी और प्रतिस्थापनवादी हैं; अगर लेनिन का सांगठनिक सिद्धान्त लागू हुआ तो पार्टी वर्ग को प्रतिस्थापित कर देगी, केन्द्रीय कमेटी पार्टी को प्रतिस्थापित कर देगी और अन्ततः एक तानाशाह केन्द्रीय कमेटी को विस्थापित कर देगा। त्रात्स्की ने लेनिन के इस विचार का भी विरोध किया कि मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना बाहर से प्रवेश करती है और मज़दूर वर्ग स्वतःस्फूर्त तौर पर ट्रेडयूनियनवादी चेतना से आगे नहीं जा सकता है और इस तरह त्रात्स्की उन्हीं स्वतःस्फूर्ततावादी अर्थवादियों के पक्ष में जा खड़े हुए जिन पर अभी कुछ ही समय पहले त्रात्स्की इतने हमले कर रहे थे! त्रात्स्की ने लेनिन पर मार्क्सवाद और जैकोबिनवाद का मिश्रण करने का आरोप लगाया। त्रात्स्की ने लेनिन पर गालियों की बौछार करते हुए उन्हें 'रॉब्सपियेर का कैरीकेचर', 'हमारी पार्टी के प्रतिक्रियावादी धड़े का नेता', 'केन्द्रीयता का संरक्षक' कहा। अपनी रचना **'हमारे राजनीतिक कार्यभार'** (1904) में त्रात्स्की ने लेनिन पर आक्षेप लगाते हुए कहा कि लेनिन मार्क्सवाद को छोड़ रहे हैं और रूसी बुर्जुआ जनवाद के "वामपंथी" धड़े का नेता बनने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में, शुरुआत में लेनिन पर यह आरोप एक्सेलरोद ने लगाया था और त्रात्स्की ने यह बात ज्यों की त्यों एक्सेलरोद से उधार ले ली थी। त्रात्स्की के विचार हिरावल पार्टी की अवधारणा के प्रश्न पर मेंशेविकों की सोच, **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** की सोच और जर्मन कम्युनिस्ट आन्दोलन के "वामपंथी" धड़े का एक विकृत मिश्रण थे जिनका यह मानना था कि पूरे के पूरे वर्ग बिना किसी अभिकर्ता की मध्यस्थता के बिना प्रत्यक्ष राजनीतिक कार्रवाई में सक्षम होते हैं। 'हमारे राजनीतिक कार्यभार' में त्रात्स्की ने दलील दी कि लेनिन का यह सिद्धान्त कि मज़दूर आन्दोलन में समाजवादी विचारधारा बाहर से आती है, एक प्रकार का *"रूढ़िवादी धर्मतन्त्र" (orthodox theocracy)* है और यह पार्टी द्वारा मज़दूर वर्ग की इच्छाओं की अवहेलना करने का दूसरा नाम है। आप देख सकते हैं कि यहाँ त्रात्स्की की अवस्थिति अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के बिल्कुल निकट पड़ती है, जिनकी आलोचना हम पिछले अध्याय में पेश कर चुके हैं। **यह ताज्जुब की बात नहीं है कि 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों को अपने ज़्यादातर तर्क और तथ्य 'वर्कर्स अपोज़ीशन' जैसे खुले अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के अलावा टोनी क्लिफ़ जैसे त्रात्स्कीपंथियों से भी मिलते हैं!**

'रिज़ल्ट्स एण्ड प्रॉस्पेक्ट्स' (1906) नामक अपनी रचना में त्रात्स्की ने लिखा, **"सामाजिक जनवाद क्रान्तिकारी वर्ग के सचेतन कार्रवाई के तौर पर सत्ता पर विजय की कल्पना करता है।"** (इज़ाक डॉइशर *दि प्रॉफेट आर्म्ड* में पृ. 375 पर उद्धृत, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1970, *अनुवाद हमारा*) दूसरी पार्टी कांग्रेस में त्रात्स्की ने दावा किया कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व उस दिन सम्भव होगा जब मज़दूर वर्ग और पार्टी लगभग समान

वस्तुएँ बन जायेंगे। त्रात्स्की की पूरी सोच यहाँ पर बोल्शेविक क्रान्ति के बाद पार्टी के भीतर अस्तित्व में आये कुछ "वामपंथी", अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी धड़ों, जैसे कि 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' ग्रुप, बुखारिन का "वामपंथी" विपक्ष धड़ा और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' धड़े की सोच के करीब पड़ती है। यह ताज्जुब की बात है क्योंकि क्रान्ति के बाद और ख़ास तौर पर 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर में त्रात्स्की इन धाराओं पर जमकर हमला करते हैं और मज़दूर वर्ग के 'सैन्यकरण' और ट्रेड यूनियनों के 'राजकीयकरण' की थीसीज़ पेश करते हैं। **लेकिन क्रान्ति से पहले के दौर में और विशेष तौर पर 1903 से 1917 के बीच त्रात्स्की की पूरी अवस्थिति सारतः एक ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी अवस्थिति थी।** वास्तव में, त्रात्स्की का अपना कोई पार्टी सिद्धान्त था ही नहीं। त्रात्स्की के लिए इस दौर में पार्टी एक उपकरण के समान थी जो कतिपय लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होती है। लेकिन पार्टी का निर्माण किस प्रकार हो, पार्टी का ढाँचा कैसा हो, और पार्टी का वर्ग से किस प्रकार का रिश्ता हो, इसके बारे में त्रात्स्की के पास कभी कोई सुसंगत सिद्धान्त नहीं था। पार्टी किस प्रकार की हो, यह त्रात्स्की के लिए कभी अहम सवाल था ही नहीं। इसीलिए त्रात्स्की अपने पूरे राजनीतिक कैरियर के दौरान विभिन्न प्रकार की सामाजिक-जनवादी पार्टियों के नेतृत्व के लिए संघर्ष करते रहे। उनके लिए इस दौर में जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों पर काम करने वाली लेनिनवादी पार्टी वर्ग की पहलकदमी को रोकने वाली पार्टी थी, वर्ग की इच्छाओं की अवहेलना करने वाली पार्टी थी और इस प्रकार लेनिनवादी पार्टी की नियति ही यह थी कि वह प्रतिस्थापनवाद के गड्ढे में जा गिरे। 1903 से 1917 के बीच त्रात्स्की लेनिन के हिरावल पार्टी की अवधारणा और वर्ग से ऐसी पार्टी के सम्बन्धों की सोच पर हमला करते रहे। उनके अनुसार, 'क्या करें?' और 'एक क़दम आगे और दो क़दम पीछे' में लेनिन द्वारा रखी गयी सोच ग़लत थी। **यहाँ यह समझना आवश्यक है कि लेनिन का यह मानना कतई नहीं था कि मज़दूर वर्ग स्वयं राजनीतिक नहीं बन सकता।** मज़दूर वर्ग का अपने वर्ग संघर्ष के अनुभवों के ज़रिये सचेत बनना और फिर ट्रेड यूनियनों में संगठित होने की चेतना तक जाना भी उसकी राजनीतिक चेतना के विकास के ही अलग-अलग चरण हैं। **लेनिन का सिर्फ़ यह कहना था मज़दूर वर्ग के स्वतःस्फूर्त आन्दोलन चाहे कितने भी जुझारू क्यों न हों, वे क्रान्तिकारी सिद्धान्त यानी कि सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना को जन्म नहीं दे सकते। सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना से लेनिन का क्या अर्थ था? सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना का अर्थ था वह राजनीतिक चेतना जो पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के विकल्प की परिकल्पना पेश करे।** निश्चित तौर पर, मज़दूर वर्ग अपने वर्ग संघर्षों से इतना राजनीतिक हो जाता है कि वह पूँजीवाद-विरोध तक पहुँच जाये, लेकिन उन्नत से उन्नत स्वतःस्फूर्त मज़दूर आन्दोलन अपने भीतर से वह सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना नहीं पैदा कर सकता है जो कि पूँजीवाद के व्यावहारिक व वैज्ञानिक विकल्प के प्रश्न को उठा दे और उसे हल भी कर दे। यहाँ लेनिन का यह अर्थ भी नहीं था कि कोई मज़दूर समाजवाद विचारक या चिन्तक नहीं बन सकता। लेनिन ने 'क्या करें?' में काऊत्स्की की इस ग़लती को दुरुस्त करते हुए लिखा था कि कोई मज़दूर भी समाजवाद के सिद्धान्त पर पहुँच सकता है, लेकिन उस समय वह एक सामान्य मज़दूर नहीं बल्कि समाजवादी चिन्तक की भूमिका में होता है। पूरा का पूरा वर्ग स्वतःस्फूर्त रूप से इस नतीजे पर नहीं पहुँच सकता। इसके लिए एक सचेतन तौर पर संगठित एक सामाजिक-जनवादी पार्टी

की ज़रूरत होती है। लेनिन का तर्क महज़ इतना था कि एक हिरावल पार्टी के बग़ैर मज़दूर आन्दोलन स्वयं क्रान्तिकारी सिद्धान्त तक नहीं पहुँच सकता है। और इसके कारण अलगाव के पूरे मार्क्सवादी सिद्धान्त में हैं। लेनिन के इस सिद्धान्त के कारणों की व्याख्या में दोबारा नहीं जायेंगे क्योंकि हम पिछले अध्याय में इन तर्कों पर चर्चा कर चुके हैं। **लेकिन यहाँ यह स्पष्टीकरण देना ज़रूरी था क्योंकि सोवियत संघ के इतिहास के कई अध्येताओं ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'क्या करें?' में लेनिन की अवस्थिति सन्तुलित नहीं थी और बाद में लेनिन स्वयं इसे मानने लगे थे।** मिसाल के तौर पर, कोस्तास मावराकिस स्वयं ऐसा प्रयास करते हैं। मावराकिस यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि बाद में लेनिन मानने लगे थे कि वर्ग स्वयं राजनीतिक बन सकते हैं! निश्चित तौर पर, वर्ग राजनीतिक बन सकते हैं! लेकिन सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना कोई भी राजनीतिक चेतना नहीं है। मावराकिस लेनिन के इस उद्धरण को कि 'क्या करें?' में उन्होंने छड़ी को दूसरे छोर तक मोड़ा है क्योंकि अर्थवादियों ने उसे ग़लत छोर तक मोड़ दिया था, इस बात के सबूत के तौर पर लेते हैं कि लेनिन बाद में 'क्या करें?' में अपनी अवस्थिति को असन्तुलित मानने लगे थे। स्तालिन और माओ को ग़लत ढंग से उद्धृत करते हुए मावराकिस अपने गुरू बेतेलहाइम के पदचिन्हों पर चलते हैं और लेनिन, स्तालिन व स्वयं माओ का "अति-माओवादी" नियोजन करने का प्रयास करते हैं। मावराकिस बताते हैं कि 1921 में लेनिन ने 'क्या करें?' के अनुवाद के साथ एक अच्छी टिप्पणी जोड़ने की वकालत की थी ताकि इसकी अवस्थिति का ग़लत इस्तेमाल न हो। मावराकिस के अनुसार यह इस बात का प्रमाण है कि लेनिन 'क्या करें?' की अपनी थीसिस को ग़लत या असन्तुलित मानते थे! **यह कमाल का तर्क है क्योंकि 1921 में लेनिन, बोल्शेविक पार्टी, सोवियत समाजवाद और रूसी मज़दूर आन्दोलन जिस मंज़िल में खड़े थे, वहाँ सत्तासीन पार्टी को जनता से सीखने और सिखाने दोनों की ही बेतरह ज़रूरत थी;** निश्चित तौर पर, 'क्या करें?' का बुनियादी सिद्धान्त अभी भी पूर्णत: वैध और सार्वभौमिक तौर पर लागू करने योग्य था, लेकिन समाजवादी संक्रमण और सर्वहारा अधिनायकत्व के जिस नाजुक मुकाम पर पार्टी उस समय खड़ी थी, उसमें नौकरशाही और हिरावलपंथ की प्रवृत्तियों के हावी होने का पूरा ख़तरा था। हम यह भी नहीं भूल सकते कि 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर को बीते हुए अभी साल भी पूरा नहीं हुआ था, जब त्रात्स्की और बुखारिन पार्टी और वर्ग के सम्बन्धों और समाजवादी निर्माण को लेकर अपनी दक्षिणपंथी-वामपंथी थीसीज़ पेश कर रहे थे। बेतेलहाइम और मावराकिस जैसे तथाकथित "माओवादी" माओ के विचारों का किस प्रकार हेगेलीय भाववादी नियोजन करते हैं, इसके बारे में हम इस अध्याय के परिशिष्ट में विस्तार से चर्चा करेंगे। अभी फिलहाल हम सांगठनिक कार्यदिशा पर त्रात्स्की के चिन्तन के दीवालियापन पर वापस लौटते हैं।

जैसा कि हमने बताया एक संगठित और केन्द्रीयतावादी पार्टी के बारे में त्रात्स्की की कोई समझदारी नहीं थी। वास्तव में इस केन्द्रीय महत्व रखने वाले मुद्दे पर त्रात्स्की के पास कहने के लिए कुछ था ही नहीं। त्रात्स्की बस जर्मन "वामपंथी" कम्युनिस्टों और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का अनुसरण करते हुए इतना मानते थे कि किसी भी केन्द्रीकृत और अनुशासित पार्टी की ज़रूरत नहीं है क्योंकि ऐसी पार्टी वर्ग के ऊपर तानाशाही के समान होगी और यह कि एक पूँजीवादी समाज में आर्थिक और राजनीतिक शक्तियाँ सर्वहारा वर्ग को स्वत:स्फूर्त क्रान्तिकारी संगठन की ओर ले जाती हैं और इसके लिए किसी सचेतन प्रयास की

आवश्यकता नहीं है। **त्रात्स्की के अनुसार एक लेनिनवादी क्रान्तिकारी पार्टी अन्त में अनिवार्यतः एक प्रतिस्थापनवादी पार्टी बन जायेगी।**

त्रात्स्की ने 1905 में सोवियतों को मज़दूर वर्ग की स्वतःस्फूर्तता की मिसाल माना। इसका कारण यह था कि सोवियतों में किसी भी एक पार्टी का पूर्ण वर्चस्व उस समय स्थापित नहीं हो सका था। मेंशेविक, बोल्शेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी व कुछ अन्य छोटे दल सोवियतों में सक्रिय थे। बोल्शेविकों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम था, लेकिन फिर भी विचारणीय था। त्रात्स्की को पीटर्सबर्ग सोवियत (जिसने एक प्रकार से 1905 में भी और 1917 में भी सोवियतों के आन्दोलन का प्रवर्तन और अगुवाई की थी) को सभी राजनीतिक समूहों ने पीटर्सबर्ग सोवियत के अध्यक्ष के रूप में स्वीकार किया क्योंकि उस समय त्रात्स्की अपने आपको किसी राजनीतिक धड़े से नहीं जोड़ते थे और उन्होंने अपने आपको "राजनीतिक गुटों के ऊपर" एक मध्यस्थ की भूमिका सौंप रखी थी, हालाँकि अधिकांश मसलों पर उनकी अवस्थिति व्यवहारतः मेंशेविकों से मेल खाती थी, विशेष तौर पर पार्टी सिद्धान्त के प्रश्न पर। उस समय त्रात्स्की मेंशेविक अवसरवाद से लेनिन के संघर्ष में लेनिन के ख़िलाफ़ खड़े थे। त्रात्स्की उस समय यह हवाई विचार प्रतिपादित कर रहे थे कि मज़दूर आन्दोलन की लहर बोल्शेविकों और मेंशेविकों को अन्ततः साथ आने के लिए मजबूर कर देगी! यह भी एक प्रकार की स्वतःस्फूर्ततावादी सोच थी। आगे हम इस सोच की रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की सोच से करीबी पर भी चर्चा करेंगे। **त्रात्स्की का यह मानना था कि सोवियतों का आन्दोलन 1905 में रूसी क्रान्ति का प्रमुख प्रेरक तत्व और नेतृत्वकारी कारक था; चूँकि त्रात्स्की नेतृत्वकारी सोवियत यानी कि पीटर्सबर्ग सोवियत के अध्यक्ष चुने गये थे इसलिए त्रात्स्की 1905 की रूसी क्रान्ति के नैसर्गिक नेता थे!** यहाँ पर त्रात्स्की अपने अहंकार और अत्यधिक अति-आत्मविश्वास के कारण यह नहीं समझ पाये कि उस समय मौजूद राजनीतिक दलों, और विशेष तौर पर बोल्शेविकों और मेंशेविकों के राजनीतिक प्रचार और उद्वेलन के बिना पीटर्सबर्ग सोवियतें इस भूमिका में कभी नहीं आ सकती थीं। वास्तव में, अगर पीटर्सबर्ग सोवियत कुछ समय और जीवित रही होती तो उसमें भी राजनीतिक गैल्वनीकरण प्रारम्भ हो गया होता और जनता की स्वतःस्फूर्तता की त्रात्स्की की अन्धभक्ति सम्भवतः खण्डित हो गयी होती।

रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग का त्रात्स्की के सांगठनिक उसूलों पर चिन्तन पर ज़बर्दस्त प्रभाव था। लक्ज़ेमबर्ग ने भी हिरावल पार्टी की भूमिका की उपेक्षा करते हुए व्यापक जन हड़तालों और जनान्दोलनों पर बल दिया था। यह बात दीगर है कि रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने यह अवस्थिति जर्मन सामाजिक जनवादी आन्दोलन में मौजूद दक्षिणपंथी नेतृत्व के प्रति एक "वामपंथी" प्रतिक्रिया देते हुए अपनायी थी। जर्मन सामाजिक-जनवादी नेतृत्व की रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग द्वारा प्रस्तुत आलोचना के कई नुक्ते बिल्कुल सही थे, जिन पर हम पिछले अध्याय में एक संक्षिप्त चर्चा कर चुके हैं। लेकिन सामाजिक-जनवादी नेतृत्व के दक्षिणपंथी अवसरवाद की आलोचना करते हुए वे पार्टी सिद्धान्त की ही उपेक्षा करने के "वामपंथी" और अराजकतावादी छोर पर चली गयी थीं। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग को यह उम्मीद थी कि दक्षिणपंथी अवसरवादी नेतृत्व जनता के आन्दोलनों के दबाव में अन्ततः क्रान्ति के पक्ष में जाने का तैयार हो जायेगा, ठीक वैसे ही जैसे कि त्रात्स्की को यह उम्मीद थी कि रूसी सामाजिक-जनवाद के अलग-अलग धड़े अन्ततः मज़दूर आन्दोलन की लहर के दबाव में एक हो जायेंगे। लेकिन न तो रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग

की उम्मीदें पूरी हो सकीं और न ही त्रात्स्की की! जर्मन सामाजिक-जनवादी नेतृत्व ने मौका आने पर एक सामाजिक कट्टरवादी और साम्राज्यवाद की सेवा करने वाली अवस्थिति अपना ली, जबकि रूसी क्रान्ति में मेंशेविक धड़ा अक्तूबर क्रान्ति को सम्पन्न करने की पूरी प्रक्रिया से न सिर्फ़ अलग रहा, बल्कि उसने काऊत्स्कीपंथी अवस्थिति से बोल्शेविक क्रान्ति की आलोचना भी की।

अक्तूबर क्रान्ति से ठीक पहले त्रात्स्की ने सांगठनिक उसूलों पर एकदम से 'यू-टर्न' लिया और एक ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी, "वामपंथी", स्वत:स्फूर्ततावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अवस्थिति से उन्होंने एक अतिकेन्द्रीयतावादी, बल्कि नौकरशाहाना केन्द्रीयतावादी अवस्थिति अपना ली, जो उतनी ही लेनिनवाद-विरोधी है जितनी कि उनकी पुरानी अवस्थिति। लेकिन त्रात्स्की का नौकरशाहाना केन्द्रीयतावाद तत्काल उजागर नहीं हुआ और वह धीरे-धीरे सामने आया। 'युद्ध कम्युनिज़्म' की मंज़िल आते-आते त्रात्स्की एक नये स्तर पर अपनी पुरानी नौकरशाहाना केन्द्रीयतावादी अवस्थिति पर लौट चुके थे; ज़ाहिरा तौर पर यह इतिहास का दुहराव नहीं था। जो पहले त्रासदी के रूप में घटित हुआ था, वह अब एक विडम्बनापूर्ण प्रहसन के रूप में घटित हो रहा था! गृहयुद्ध और 'युद्ध कम्युनिज़्म' का दौर आते-आते त्रात्स्की पार्टी के भीतर सबसे सर्वसत्तावादी और नौकरशाहाना केन्द्रीयतावादी के रूप में कुख्यात हो चुके थे। स्वयं त्रात्स्कीपंथी **डॉइशर** ने स्वीकार किया है कि **'सत्ता में त्रात्स्की नौकरशाहों के कुलपिता'** के समान थे! गृहयुद्ध व 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर में त्रात्स्की ने श्रम के सैन्यकरण और ट्रेड यूनियनों के राजकीयकरण का कुख्यात सिद्धान्त दिया जिसका लेनिन ने पुरज़ोर शब्दों में खण्डन किया और उसे एक दक्षिणपंथी भटकाव बताया। बाद में जब स्वयं त्रात्स्की की अपनी स्थिति एक शीर्ष नौकरशाह की नहीं रह गयी और पार्टी के भीतर दो लाइनों के निर्णायक संघर्ष में स्तालिन के हाथों उन्हें करारी शिकस्त का सामना करना पड़ा तो वह अचानक पार्टी के आन्तरिक जनवाद के प्रति चिन्तित हो गये! अगर इतिहास के तथ्यों पर निगाह दौड़ायें तो हम पाते हैं कि 1917 के बाद त्रात्स्की को पहली बार पार्टी के भीतर जनवाद और नौकरशाही के विरोध की याद तभी आयी थी जब वह स्वयं शीर्ष नौकरशाह नहीं रह गये थे और ज़्यादातर प्रश्नों पर पार्टी दो लाइनों के संघर्ष में वह अल्पसंख्यक की स्थिति में पहुँच गये थे। **और इस समय भी त्रात्स्की ने पार्टी के भीतर जनवाद के लिए संघर्ष की ख़ातिर सबसे अहम उपकरण किसे माना? गुटवाद (फैक्शनलिज़्म) को! पहले भी त्रात्स्की का मानना रहा था कि पार्टी के भीतर ग़लत विचारों के प्रतिरोध के लिए सबसे उपयुक्त उपकरण गुटबाज़ी है।** 1917 के बाद त्रात्स्की पार्टी के भीतर सांगठनिक उसूलों के मसले पर इन्हीं दो छोरों के बीच दोलन करते रहे: नौकरशाहाना-तानाशाहाना केन्द्रीयता और गुटवाद। इस पर थोड़े विस्तार से चर्चा की आवश्यकता है, ताकि त्रात्स्की के चिन्तन के पूरे चरित्र को व्यवस्थित तौर पर समझा जा सके।

1917 के ठीक पहले तक त्रात्स्की लेनिन के जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त और सम्पूर्ण पार्टी सिद्धान्त के ख़िलाफ़ कटुता के साथ लड़ते रहे। 1917 के बाद यानी बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने के बाद पार्टी सिद्धान्त पर दक्षिण और "वाम" अराजकतावादी छोरों के बीच अपने व्यक्तिवादी आग्रहों के मुताबिक दोलन करते रहे। जब त्रात्स्की अपने नौकरशाहाना केन्द्रीयतावाद के छोर पर थे, तब भी लेनिन ने त्रात्स्की की कठोर आलोचना की थी और कहा था कि त्रात्स्की के भीतर चीज़ों के प्रशासनिक पहलू के प्रति एक अन्धभक्ति का भाव है।

'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर में त्रात्स्की के श्रम के सैन्यकरण और ट्रेड यूनियनों के राजकीयकरण के सिद्धान्त को लेनिन ने एक दक्षिणपंथी भटकाव बताया। त्रात्स्की के ये सिद्धान्त एक प्रकार के **कठमुल्लावादी रूपवाद** को दर्शाते थे, जिसके अनुसार समस्याओं का समाधान वर्ग संघर्ष और राजनीति के ज़रिये नहीं बल्कि ऊपर से कार्यकारी निर्देशों और नौकरशाहाना फ़रमानों के ज़रिये, यानी रूपवादी उपायों के ज़रिये किया जाता है। जैसा कि हमने पहले बताया कि त्रात्स्की ने पार्टी के भीतर उस समय से पहली बार कथित तौर पर नौकरशाही और वास्तव में केन्द्रीयता और अनुशासन का विरोध करना शुरू किया जब त्रात्स्की की स्थिति स्वयं पार्टी में अलग-थलग पड़ गयी। लेनिन की मृत्यु से ठीक पहले लेनिन ने जॉर्जियाई मसले पर स्तालिन और ओर्जोनिकिद्ज़े के नौकरशाहाना रवैये पर त्रात्स्की से हस्तक्षेप करने को कहा था, लेकिन त्रात्स्की ने अवसरवाद दिखलाते हुए इस मसले पर हस्तक्षेप करने से इंकार कर दिया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि त्रात्स्की यदि स्तालिन की जगह रहे होते तो वे जॉर्जियाई मसले में और भी ज़्यादा नौकरशाहाना रुख़ अख़्तियार करते क्योंकि उनकी अवस्थिति इस प्रश्न पर निरंकुशतापूर्ण होती।

जब त्रात्स्की अचानक पार्टी के भीतर "जनवाद" के प्रश्न को लेकर चिन्तित हो गये, उसके बाद से उन्होंने पार्टी के भीतर गुट/धड़े बनाने की राजनीति का सहारा लिया। हालाँकि पार्टी की दसवीं कांग्रेस में गुटवाद पर स्पष्ट रूप में प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, लेकिन इसके बावजूद त्रात्स्की ने विभिन्न प्रवृत्तियों और उनके आधार पर समूहों की मौजूदगी को आज़ादी देने की बात की थी। हालाँकि बाद में तेरहवीं पार्टी कांग्रेस में त्रात्स्की ने खुद स्वीकार किया कि "प्रवृत्तियों" और "समूहों" तथा गुटों के बीच वास्तव में व्यवहारत: कोई फर्क नहीं होता। **इस प्रकार त्रात्स्की अपनी सुविधानुसार कभी "जनवाद" (गुटवाद) और "केन्द्रीयता" (नौकरशाही) का पक्ष लेते रहे।** त्रात्स्की कभी नहीं समझ पाये कि पार्टी सिद्धान्त यानी कि जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त में जनवाद और केन्द्रीयता के बीच एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। यदि पार्टी स्वत:स्फूर्ततावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद और उदारवाद का विरोध करती है तो साथ ही पार्टी नौकरशाहाना केन्द्रीयता, फरमानशाही और जनता से सीखे बग़ैर जनता को सिखाने और उस पर ऊपर से अपनी इच्छा को थोपने का भी विरोध करती है। जैसा कि हमने शुरू में कहा, जो पार्टी जनता से जीवन्त सम्पर्क बनाते हुए, सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों के साथ एकरूप होते हुए और उन्हें अपने आप में सम्मिलित करते हुए, जनता से सीखते और फिर उसे सिखाते हुए निर्मित होती है, वही सही मायने में सच्ची केन्द्रीयता को भी लागू कर सकती है; जिस पार्टी में नेतृत्व कार्यकर्ताओं से जीवन्त सम्पर्क बनाये रखता है, जहाँ नेतृत्व पर कार्यकर्ता उचित पार्टी संस्थाओं के ज़रिये निगरानी रखते हैं केवल वही नेतृत्व संगठन में पूर्ण अनुशासन और केन्द्रीयता को लागू कर सकता है। यानी, एक जनदिशा लागू करने वाली पार्टी ही सच्चे मायने में जनवादी केन्द्रीयता के लेनिनवादी उसूलों पर अमल कर सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जनदिशा और जनवादी केन्द्रीयता एक ही चीज़ हैं, जैसा कि कोस्तास मावराकिस जैसे "अति-माओवादी" सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस अध्याय के परिशिष्ट में हम मावराकिस और बेतेलहाइम जैसे लोगों द्वारा पार्टी के लेनिनवादी सिद्धान्त के विकृतिकरण पर विस्तार से चर्चा करेंगे। लेकिन यहाँ इतना स्पष्ट करना उपयोगी होगा कि **आम तौर पर पार्टी सिद्धान्त की बात करते हुए अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और विभिन्न प्रकार के**

ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादियों द्वारा जनवाद और केन्द्रीयता और साथ चेतना/संगठन व स्वत:स्फूर्तता के बीच जिस प्रकार का विरोध खड़ा किया जाता है, वह बिल्कुल कृत्रिम और अवास्तविक होता है। वास्तव में, किसी भी पार्टी में सही मायने में जनवाद तभी हो सकता है, जबकि उसमें केन्द्रीयता हो। जनवाद का आधार पार्टी में जितना व्यापक होगा, केन्द्रीयता का शीर्ष उतना ही मज़बूत होगा। पार्टी के भीतर जनवाद के व्यापक आधार के बग़ैर केन्द्रीयता नौकरशाही में तब्दील हो जायेगी; और केन्द्रीयता के सही तरीके से कार्यान्वयन के बिना मुक्त जनवाद पार्टी को क्लब या सोसायटी जैसे निकाय में तब्दील कर देगा। ठीक उसी प्रकार यदि पार्टी में राजनीतिक चेतना का स्तर ऊपर होगा तो ही जनवाद का स्तर भी ऊँचा हो सकता है, और तभी पार्टी अपनी रोज़मर्रा की कार्रवाई में ज़्यादा स्वत:स्फूर्तता और स्वतन्त्रता के साथ काम कर सकती है। पार्टी में राजनीतिक चेतना के स्तर के उन्नयन के लिए पार्टी को अपने समाज के वर्ग संघर्ष में सतत् हिस्सेदारी करनी होगी और सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों को अपने अन्दर सम्मिलित करना होगा और उनके साथ एकरूप होना होगा। इन सभी पहलुओं को अलग-अलग करके आधिभौतिक तरीके से नहीं देखा जा सकता है, अन्यथा, चाहे जनवाद हो या केन्द्रीयता हो, वह एक कार्यभार बन जायेगा जिन्हें कार्यकारी निर्णयों से पूरा करने का प्रयास किया जायेगा और **जनवाद** अन्तत: गुटवाद, क्लब-सोसायटी की संकीर्ण मानसिकता और निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद में परिणत हो जायेगा, जबकि **केन्द्रीयता** अन्तत: फरमानशाही और नौकरशाहाना केन्द्रीयता में परिणत हो जायेगी। त्रात्स्की पार्टी सिद्धान्त की इस द्वन्द्वात्मकता को कभी नहीं समझ पाये और इसका कारण त्रात्स्की की पूरी पहुँच और पद्धति में था जो कि वास्तव में ग़ैर-द्वन्द्वात्मक, आधिभौतिकवादी, निगमनवादी, सारसंग्रहवादी और यान्त्रिक है।

त्रात्स्की की इस पूरी समझदारी को बोल्शेविक पार्टी के निर्माण और बोल्शेविकों द्वारा मेंशेविकों के ख़िलाफ़ चलाये गये संघर्ष के बारे में उनकी राय में भी देखा जा सकता है। 1903 में त्रात्स्की ने कई ऐसे सिद्धान्त पेश किये जो कि लेनिन के पार्टी निर्माण के सिद्धान्त को ख़ारिज तो करते ही थे, साथ ही वे किसी भी प्रकार के पार्टी निर्माण के सिद्धान्त की अनुपस्थिति को वांछित मानते थे। त्रात्स्की ने लेनिन के अनुशासित, ठोस और केन्द्रीयतावादी पार्टी संगठन के सिद्धान्त का विरोध किया और मेंशेविकों के ढीले-ढाले और आकारहीन-आकृतिहीन किस्म के ढाँचे का समर्थन किया। वास्तव में, त्रात्स्की हमेशा से ही सांगठनिक पद्धति के तौर पर गुटबाज़ी (factionalism) पर अमल करते रहे थे। जब त्रात्स्की ने मेंशेविकों, विसर्जनवादियों और हर प्रकार बोल्शेविक-विरोधियों को मिलाकर 'अगस्त ब्लॉक' बनाया, तो भी त्रात्स्की यही कर रहे थे। इस गुटबाज़ी के सिद्धान्त की नज़र से ही वह बोल्शेविक पार्टी के निर्माण को भी देखते थे। 1903 से लेकर 1917 तक बोल्शेविक पार्टी का निर्माण उनके लिए एक गुट का निर्माण था। 1903 से लेकर 1912 तक बोल्शेविकों ने औपचारिक तौर पर मेंशेविकों से अलग पार्टी नहीं बनायी थी, और एक ही पार्टी में बोल्शेविक व मेंशेविक दो गुटों के रूप में काम कर रहे थे। **लेकिन बोल्शेविकों का एक असंगठित ढाँचे वाली पार्टी में गुट के रूप में सक्रिय होना गुटबाज़ी नहीं थी; इसका कारण यह है कि इस दौर में इस गुट के ज़रिये एक सही किस्म की पार्टी बनाने के लिए ही मेंशेविक अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष चल रहा था।** यह दिखलाता है कि एक सर्वहारा हिरावल पार्टी के बनने के पहले अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष में कई बार गुट बनाने पड़ते हैं।

लेकिन बोल्शेविकों का गुट पार्टी निर्माण को समर्पित था, न कि पार्टी के विसर्जन को या उसके संशोधनवादी बना दिये जाने को। लेकिन 1903 से 1912 तक त्रात्स्की बोल्शेविकों पर गुटबाज़ी का आरोप लगाते हैं, जिसे कि तब त्रात्स्की ग़लत मानते थे। वैसे इस पूरे दौर में अगर संकीर्णतावादी गुटबाज़ी पर अमल करने का कोई सभी कीर्तिमान ध्वस्त कर रहा था, तो वह त्रात्स्की थे, हालाँकि उनका दावा था कि वह गुटों के ऊपर विभिन्न गुटों के बीच एक मध्यस्थ के समान हैं! लेकिन इतिहास दिखलाता है कि गुटों से "ऊपर या परे" होने वाले लोग लगभग हमेशा सबसे बड़े गुटबाज़ होते हैं। कम-से-कम त्रात्स्की के विषय में यह बात एकदम सही साबित होती है। ख़ैर, त्रात्स्की के लिए 1903 से 1912 तक बोल्शेविक गुटबाज़ी के अपराध के दोषी थे। जब 1912 में बोल्शेविकों ने अलग पार्टी बना ली तो त्रात्स्की ने उन्हें फूट डालने वाला घोषित कर दिया। बाद में, 1917 में जब त्रात्स्की ने बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने का निर्णय लिया तो उन्होंने अवसरवाद के विरुद्ध बोल्शेविकों के संघर्ष को सही माना, लेकिन तब भी त्रात्स्की का यही मानना था कि बोल्शेविक इस पूरे दौर में एक गुट का निर्माण करते रहे थे। **पहले की तरह वह अवसरवाद और गुटबाज़ी के बीच के संघर्ष को ही देख रहे थे, लेकिन बस अब फर्क यह था कि वह अवसरवाद की बजाय गुटबाज़ी का पक्ष ले रहे थे!** वास्तव में, त्रात्स्की ने बोल्शेविक पार्टी के निर्माण की प्रक्रिया को कभी समझा ही नहीं क्योंकि उनके लिए पार्टी निर्माण का कोई सिद्धान्त होना ही अवांछित था। इसलिए वह "जनवाद" (अवसरवाद और गुटबाज़ी) तथा "केन्द्रीयता" (नौकरशाही और फरमानशाही) के छोरों के बीच झूलते रहे। सच्चाई यह है कि अगर बोल्शेविक केवल गुटबाज़ी कर रहे होते तो वे ऐसी पार्टी खड़ी कर ही नहीं पाते जो कि अक्तूबर क्रान्ति को अंजाम दे सके और जो 1905 से लेकर 1914 और फिर 1914 से लेकर 1917 तक के दौरों के भीषण कठिनाइयों और जटिलताओं को झेल पाते। **यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि 1903 से ही बोल्शेविकों के गुट के रूप में हम भ्रूण रूप में रूसी कम्युनिस्ट पार्टी को देखते हैं।** यह महज़ गुट नहीं था, बल्कि भविष्य की सर्वहारा हिरावल पार्टी का भ्रूण था, जो विकसित होते-होते अन्ततः 1912 में जन्म लेता है। अन्य गुट जो रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी के भीतर सक्रिय थे, उनके लक्ष्य या उद्देश्यों में एक अलग किस्म की पार्टी का निर्माण कभी नहीं था। इसलिए बोल्शेविकों का गुट बनाना वास्तव में गुटबाज़ी था ही नहीं। और इस रूप में यह कहा जाना चाहिए कि 1921 में दसवीं कांग्रेस में बोल्शेविक पार्टी ने औपचारिक तौर पर गुटबाज़ी पर प्रतिबन्ध लगा दिया, लेकिन वास्तव में बोल्शेविक कभी भी गुटबाज़ी का समर्थन नहीं करते थे। बहुत से मार्क्सवादी प्रेक्षक भी 1921 में और उसके पहले के बोल्शेविक स्टैण्ड में फर्क देखते हैं, क्योंकि वे भी बोल्शेविक पार्टी के निर्माण की पूरी प्रक्रिया को सही ढंग से नहीं समझ पाते हैं। नतीजतन, उनमें से कुछ 1921 के निर्णय पर उंगलियाँ उठाते हैं (जैसे कि **चार्ल्स बेतेलहाइम** जैसे "अति-माओवादी") तो दूसरे 1921 के पहले की बोल्शेविक अवस्थिति को अपेक्षा से कम कठोर मानते हैं! वे बोल्शेविकों की राजनीतिक *प्रैक्टिस* में निहित एकता को नहीं देख पाते, इसलिए उन्हें बोल्शेविकों की अवस्थितियों में अनिरन्तरता नज़र आती है। नतीजतन, **ई.एच. कार** जैसे लोग लेनिन को एक "कठोर यथार्थवादी" करार देते हैं, जिसने हर प्रकार की भाववादी नैतिकता को अपने ठोस लक्ष्य के अधीन कर दिया और समय के साथ अपनी अवस्थितियों को 180 डिग्री तक बदल डालने में कोई हिचक नहीं दिखायी। ई.एच.कार और

इज़ाक डॉइशर जैसे लोगों को पढ़कर समझ नहीं आता कि वे इस बात के लिए लेनिन की निन्दा कर रहे हैं या प्रशंसा! इन प्रेक्षकों के ग़लत प्रेक्षणों का मूल कारण यही है कि वे भी पार्टी निर्माण के लेनिनवादी सिद्धान्त और सांगठनिक प्रश्न पर बोल्शेविकों के व्यवहार की निरन्तरता को नहीं समझ पाते। **1903 से 1917 तक बोल्शेविकों ने पार्टी निर्माण की नयी शैली और पद्धति ईज़ाद की जो कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में एक ईज़ाफ़ा था।** 1912 में उन्होंने पार्टी के विसर्जनवादी हिस्से को बाहर कर अपनी अलग पार्टी बना ली और इसने बोल्शेविकों को अपने पार्टी ढाँचे को और अधिक सुदृढ़, तपा-तपाया और ठोस बनाने में मदद की। 1903 से ही बोल्शेविकों का लक्ष्य गुट बनाना नहीं बल्कि एक नये किस्म की सर्वहारा हिरावल पार्टी बनाना था, जो कि दूसरे इण्टरनेशनल की पार्टियों के तर्ज़ पर न होकर एक अलग केन्द्रीयतावादी और अनुशासित ढाँचे पर आधारित हो। लेकिन त्रात्स्की इस बात को न तो 1917 के पहले समझ पाये और न ही 1917 के बाद। त्रात्स्की का ही अनुसरण करते हुए **टोनी क्लिफ़** जैसे त्रात्स्कीपंथी दुख प्रकट करते हैं कि त्रात्स्की 1903 से लेकर 1917 तक गुट बनाने के बहुमूल्य अनुभव और व्यवहार से वंचित रह गये (!) जबकि इसी दौर में बोल्शेविकों ने इस गुटबाज़ी में महारत हासिल कर ली थी। यही कारण था कि संगठन के मामले में बोल्शेविक सफल रहे और त्रात्स्की की अवस्थिति इसमें ग़लत रही! यह पूरा तर्क बहुत से स्तरों पर मज़ाकिया है। एक तो बोल्शेविक गुटबाज़ी नहीं बल्कि पार्टी निर्माण कर रहे थे। दूसरी बात यह कि 1903 से लेकर 1917 तक त्रात्स्की ने गुटबाज़ी में जितना अनुभव और महारत हासिल की, उतनी तो किसी खुले मेंशेविक ने भी नहीं की थी!

त्रात्स्की ने औपचारिक तौर पर गुटबाज़ी का विरोध किया और बार-बार घोषणा की कि उनका अख़बार गुटों से अलग और गुटों ऊपर है। लेकिन त्रात्स्की लगातार अपना अलग गुट बनाने का प्रयास करते रहे और उसके "गुटबाज़ी-विरोधी गुट" (anti-factionalist faction) क़रार देते रहे! उनकी पूरे राजनीतिक जीवन पर निगाह डालें तो वह एक गुट से दूसरे गुट के नेतृत्व में शामिल होने के लिए संघर्ष करते रहे क्योंकि पार्टी निर्माण की पूरी प्रक्रिया को चलाना उनके अनुसार ग़ैर-ज़रूरी था और साथ ही वह एक संगठित अनुशासित पार्टी की ज़रूरत पर भी सवाल खड़ा करते थे। इसका कारण यह भी था कि त्रात्स्की को जिस प्रकार के सांगठनिक जोड़-तोड़ और दाँव-पेच करने की आदत थी, उसकी ऐसी किसी भी संगठित हिरावल पार्टी में कोई गुंजाइश नहीं थी। इसीलिए त्रात्स्की को मेंशेविकों का ढीला-ढाला पार्टी ढाँचा बहुत सुहाता था जिसमें कि तमाम गुट और समूह आराम से मौजूद रह सकते थे! **यही कारण था कि त्रात्स्की ने एक बार एक्सेलरोद के समान यह प्रस्ताव रखा था कि पार्टी की जगह एक कानूनी मज़दूर कांग्रेस को दे दी जाय।** यह प्रस्ताव काफ़ी-कुछ वैसा ही था जैसा कि **'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन'** के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रखते हैं, जो कि एक प्रकार की 'मज़दूर परिषद्' बनाने की बात करते हैं जो कि समाज में मार्क्सवाद के प्राधिकार को स्थापित करेगी (यानी कि पार्टी का कार्य करेगी), चुनाव लड़ेगी (यानी कि पार्टी के दूमा धड़े का काम करेगी), मज़दूर वर्ग की आर्थिक लड़ाइयाँ लड़ेगी (यानी कि ट्रेड यूनियन का काम करेगी), और आम जनता इन परिषदों में फैसला लेना सीखेगी (यानी कि सोवियत का काम करेगी)! यह 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का कमाल का नुस्खा है! लेकिन इसमें एक ही समस्या है: अगर मज़दूर परिषद् यह सारे काम करेगी, तो पार्टी क्या करेगी? यह ठीक उसी प्रकार का

विसर्जनवाद है जिस विसर्जनवाद की बात एक समय में एक्सेलरोद और फिर त्रात्स्की ने की थी। हम देख सकते हैं कि सुजीत दास जैसे लोगों के विचारधारात्मक पूर्वजों में वर्कर्स अपोज़ीशन, काउंसिल कम्युनिस्ट, अराजकतावादियों, अराजकतावादी संघाधिपत्यवादियों के साथ-साथ त्रात्स्की भी शामिल हैं!

1912 में त्रात्स्की ने सभी बोल्शेविक-विरोधी अवसरवादियों, विसर्जनवादियों आदि को एकत्र करके "अगस्त ब्लॉक" बनाया और दम भरा कि अब वे सब मिलकर एक नयी पार्टी एकता की मिसाल स्थापित करेंगे और फूट डालने वाले बोल्शेविकों को ग़लत सिद्ध करेंगे! लेकिन यह "अगस्त ब्लॉक" जिस गति से बना उससे भी तेज़ गति से बिखर गया! त्रात्स्की के गुटबाज़ी-विरोध के दावे और व्यापक पार्टी एकता की भाववादी अपीलों के पीछे सबसे संकीर्णतावादी किस्म की गुटबाज़ी छिपी हुई थी। आम तौर पर, सभी अवसरवादियों पर यह बात लागू होती है जो गौरवपूर्ण शब्दों में फूटवादियों और गुटवादियों की आलोचना करते रहते हैं, और अन्दरखाने गुटबाज़ी के निकृष्टतम उदाहरण पेश करते रहते हैं।

जब त्रात्स्की ने 1917 में बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने का निर्णय लिया तो वह अचानक मेंशेविकों और विसर्जनवादियों के विरुद्ध कठोरतम संघर्ष चलाने की बात करने लगे। **लेकिन इसके साथ उन्होंने अपनी कोई आलोचना पेश नहीं की, सिवाय इसके कि वह पहले "अपेक्षा से कम केन्द्रीयतावादी" थे और उनका विभिन्न नेताओं के बारे में मूल्यांकन ग़लत था!** त्रात्स्की की केन्द्रीयता की सोच क्या थी? पहले त्रात्स्की ने लेनिन पर जैकोबिन होने का आरोप लगाया था और लेनिन के इस कथन की आलोचना की थी कि सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के हिरावल से एकरूप हो चुका जैकोबिन है। उस समय त्रात्स्की ने लेनिन को "नया रॉब्सपियेर" और "रॉब्सपियेर का कैरीकेचर" घोषित किया था। लेकिन अब अचानक त्रात्स्की इसी बात के लिए लेनिन की प्रशंसा करने लगे! **त्रात्स्की ने फिर से लेनिन को सर्वहारा वर्ग का रॉब्सपियेर कहा; उससे भी आगे बढ़ते हुए त्रात्स्की ने लेनिन को बीसवीं सदी का सर्वहारा क्रॉमवेल कहा!** यानी रूपक वही थे लेकिन पहले त्रात्स्की ने उनका प्रयोग निन्दा के लिए किया था और अब प्रशंसा के लिए कर रहे थे! अब त्रात्स्की ठीक उन्हीं चीज़ों के लिए लेनिन की तारीफ़ कर रहे थे, जिनके लिए कुछ वर्षों पहले वह लेनिन पर गालियों की बौछार कर रहे थे। **इस विरोधाभास को कैसे समझा जाय?** दरअसल, त्रात्स्की जब केन्द्रीयतावाद पर आये भी तो केन्द्रीयता पर उनकी सोच जनवादी केन्द्रीयतावादी नहीं बल्कि तानाशाहाना और नौकरशाहाना सोच थी। उनके अनुसार सर्वहारा संगठन में एक सक्षम नेता को एक ऐसा प्राधिकार सौंपा जाना चाहिए जो कि प्रश्नों से परे हो। उन्होंने ऐसे नेताओं को विशिष्ट शक्तियाँ और प्राधिकार देने की वकालत की और इस सोच को गम्भीर सिद्धान्त का जामा पहनाया। वह वास्तव में वर्ग अधिनायकत्व का नहीं बल्कि व्यक्तिगत अधिनायकत्व का समर्थन कर रहे थे। यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि रॉब्सपियेर और क्रॉमवेल की भूमिका भी इतिहास में दोहरी थी, जिन्होंने एक ओर बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने में कोई समझौतापरस्ती नहीं बरती लेकिन साथ ही उन्होंने उस समय क्रान्ति के संगठित व सामूहिक अभिकर्ताओं का नाश भी किया। लेकिन यहाँ हम इनकी चर्चा में नहीं जा सकते। यहाँ दूसरी बात जो ग़ौरतलब है वह यह कि त्रात्स्की इतिहास की महान क्रान्तियों की उपलब्धियों के पीछे महान नेताओं की भूमिका को प्रमुख मानते हैं, न कि क्रान्तिकारी वर्गों की संगठित राजनीतिक कार्रवाई को, जिसमें कि महान

नेताओं की एक अहम भूमिका होती है। एक ऐतिहासिक द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण छोड़कर त्रात्स्की व्यक्ति-केन्द्रित विश्लेषण की ओर प्रस्थान कर जाते हैं। **यही कारण है कि त्रात्स्की के लिए पार्टी के भीतर भी अनुशासन और केन्द्रीयता का अर्थ एक महान नेता का ऐसा नेतृत्व और प्राधिकार होता है, जो प्रश्नों से परे होता है क्योंकि त्रात्स्की के अनुसार ऐसे महान नेता अपने युग के क्रान्तिकारी हितों का सर्वश्रेष्ठ रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं।** त्रात्स्की का पूरा विश्लेषण किस कदर ग़ैर-मार्क्सवादी है यह 1917 के बाद के उनके लेखन में भी साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। (क्रॉमवेल व रॉब्सपियेर की लेनिन से तुलना और वर्ग अधिनायकत्व की बजाय व्यक्तिगत अधिनायकत्व की त्रात्स्की द्वारा वकालत के लिए देखें, *लियॉन ट्रॉट्स्की ऑन ब्रिटेन*, 1973, पाथफाइण्डर प्रेस, न्यूयॉर्क)।

लेनिन का दृष्टिकोण इस प्रश्न पर बिल्कुल भिन्न था। उनके अनुसार एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कोई भी आम केन्द्रीयता-समर्थक क्रान्तिकारी नहीं होता, बल्कि वह सर्वहारा वर्ग के संगठन से संलयित केन्द्रीयतावादी होता है, वह एक जनवादी-केन्द्रीयतावादी होता है। लेनिन के लिए एक सर्वहारा क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों के साथ एकरूप हो चुका **जैकोबिन** होता है। ग़ौर करें, कि यहाँ लेनिन रॉब्सपियेर के नाम का उल्लेख नहीं करते क्योंकि जैकोबिन दल के भी तीन धड़े थे। रॉब्सपियेर के धड़े ने अन्य दो धड़ों को पराजित कर दिया था जिनमें से एक एबर्ट का वामपंथी धड़ा था तो दूसरा दाँते का दक्षिणपंथी धड़ा। रॉब्सपियेर ने बुर्जुआ क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने के आगे क्रान्तिकारी आतंक के दौर में जो कुछ किया उसे एंगेल्स ने "पागलपन का दौरा" कहा था, जिसमें कि रॉब्सपियेर ने 'कमेटी ऑफ पब्लिक सेफ्टी' पर पूर्ण प्राधिकार स्थापित कर अन्य जैकोबिन नेताओं को ही मृत्यु-दण्ड दे दिया था। रॉब्सपियेर की प्रगतिशील और बाद में नकारात्मक भूमिका को समझे बग़ैर रॉब्सपियेर का सन्तुलित मूल्यांकन नहीं हो सकता और इसीलिए रॉब्सपियेर के ऐतिहासिक रूपक का इस्तेमाल दुधारी तलवार के रूप में हो सकता है। **जब लेनिन ने 'जैकोबिन' के रूपक का प्रयोग किया तो वह किसी व्यक्तिगत अधिनायकत्व का समर्थन नहीं कर रहे थे, बल्कि वे जैकोबिन दल की सर्वश्रेष्ठ क्रान्तिकारी परम्पराओं के विस्तार की बात कर रहे थे।** लेकिन त्रात्स्की के निहितार्थ बिल्कुल भिन्न थे।

यहाँ कुछ शब्द त्रात्स्की के व्यक्तिगत अवसरवाद, अहंकार और संकीर्णतावाद पर भी कहे जाने चाहिए। त्रात्स्की ने 1903 से 1917 के बीच की अपनी अवस्थिति को 1917 में बोल्शेविक पार्टी में शामिल होते समय बिल्कुल बदल दिया। लेकिन अपनी पुरानी स्वत:स्फूर्ततावाद, केन्द्रीयता-विरोधी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अवस्थिति के बारे में त्रात्स्की ने कभी कोई सुसंगत आत्मालोचना नहीं पेश की। **अपनी आत्मकथा में त्रात्स्की इस पूरे प्रकरण को ऐसे पेश करते हैं, जिससे कि वह अपनी इज़्ज़त बचा सकें! त्रात्स्की कहते हैं कि वह हमेशा से ही केन्द्रीयता के समर्थक रहे थे लेकिन बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने से पहले बस वह यह नहीं समझ पाये थे कि एक पार्टी के भीतर जितनी केन्द्रीयता की वह अपेक्षा करते थे उससे कहीं ज़्यादा केन्द्रीयता की ज़रूरत होती है! साथ ही, त्रात्स्की ने कतिपय नेताओं के विषय में अपने मूल्यांकन को ग़लत माना और कहा कि वह उन नेताओं के बारे में ग़लत राय रखने के कारण कई बार सही पक्ष नहीं चुन पाये और मेंशेविक अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष में भी उनका रवैया ढीला रहा। त्रात्स्की के अनुसार कुछ निश्चित मेंशेविकों के प्रति उनका व्यक्तिगत अनुराग-भाव भी**

संघर्ष के आड़े आ गया! आप देख सकते हैं कि त्रात्स्की कहीं भी अपने सांगठनिक सिद्धान्त की आलोचना नहीं पेश करते हैं। यह एक 'आकस्मिकतावादी' किस्म की आत्मालोचना है, जिसमें कहीं भी व्यक्ति की कार्रवाइयों का कार्य-कारण सम्बन्ध का कोई विश्लेषण नहीं किया गया है।

लेकिन दूसरे लोगों के विश्लेषण में त्रात्स्की एक दूसरा ही रवैया अपनाते थे। जो उनसे सहमत होता था और जो उनसे असहमत होता था, उसके आधार पर उनकी आलोचना या विश्लेषण का रवैया निर्धारित हो जाता था। जो उनसे सहमत होता था त्रात्स्की उनके व्यक्तित्वों की अत्युक्ति अलंकार के साथ बड़ाई करते थे; उन्हें शानदार क्रान्तिकारी चरित्र और असाधारण प्रतिभा का धनी बताया जाता था। लेकिन अगर वे ही लोग उनसे असहमत हो जाते थे, तो उन पर निहायत व्यक्तिगत किस्म के और अनैतिक किस्म के हमले किये जाते थे; मिसाल के तौर पर, उनके ऊपर सर्वहारा वर्ग के साथ अपराधपूर्ण ग़द्दारी करने, लक्ष्य से च्युत हो जाने, बेईमान हो जाने, बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बन जाने के आरोप लगाये जाते थे! जिन लोगों ने त्रात्स्की का साथ दिया था, मिसाल के तौर पर **विक्तोर सर्ज** जैसे लोग, उन्होंने भी जब त्रात्स्की से अपना मतान्तर पेश करने का प्रयास किया तो अचानक त्रात्स्की ने उन्हें असाधारण चरित्र के क्रान्तिकारी से भ्रमित भाववादी, पार्टी को पतन की ओर ले जाने वाले बातूनी मूर्ख की संज्ञा दे डाली। सर्ज के अलावा त्रात्स्की ने दुनिया के अन्य त्रात्स्कीपंथी संगठनों के हरेक ऐसे सदस्य के साथ यही बर्ताव किया जिसने त्रात्स्की से मतान्तर रखने का साहस किया। विश्व त्रात्स्कीपंथी आन्दोलन में त्रात्स्की के बेटे **लियोन सेदोव** भी थे, जिन्होंने अपनी माँ को लिखे पत्र में कहा था, **"मुझे लगता है कि बूढ़े होने के साथ पिता जी की कमज़ोरियाँ कम नहीं हुई हैं, बल्कि अलगाव में रहने के कारण वे और भी ज़्यादा मुश्किल, अभूतपूर्व रूप से मुश्किल और ख़राब हो गयी हैं। उनमें सहिष्णुता का अभाव, बदमिजाज़ी, अनिरन्तरतापूर्ण व्यवहार, रुक्षता, अपमानित करने, चोट पहुँचाने और यहाँ तक कि बरबाद कर देने की उनकी इच्छा बढ़ गयी है। यह कोई 'व्यक्तिगत' गुण नहीं है, बल्कि उनकी पद्धति है और यह सांगठनिक काम के लिए कोई बहुत अच्छी चीज़ नहीं है।"** (सं-डेविड कॉटरिल, *दि सर्ज-ट्रॉट्स्की पेपर्स,* 1994, प्लूटो प्रेस, पृ. 155, *अनुवाद हमारा*)

यह व्यक्तिवादी संकीर्णतावादी तरीका त्रात्स्की का कोई लघुकालिक विचलन नहीं था, बल्कि उनकी पद्धति थी। 1902 में दूसरी पार्टी कांग्रेस में लेनिन से मतभेद के बाद और उसके पहले त्रात्स्की ने जिन शब्दों में लेनिन के बारे में अपनी राय रखी उनमें ज़मीन-आसमान का अन्तर था। 1902 में मतभेदों के उजागर होने के बाद अगले तीन वर्षों तक मेंशेविकों ने नये *इस्क्रा* के ज़रिये लेनिन के ख़िलाफ़ जो कुत्साप्रचार और गाली-गलौच की मुहिम चलायी, उसमें त्रात्स्की ने पुराने मेंशेविकों को भी काफ़ी पीछे छोड़ दिया था। त्रात्स्की ने इन वर्षों के अपने लेखन में लेनिन को "रॉब्सपियेर का कैरीकेचर", "वीभत्स", "लम्पट", "दलपति", "दुर्भावनापूर्ण व नैतिक रूप से विकर्षक" व्यक्ति और "अंह-केन्द्रीयतावादी" क़रार दिया! निश्चित तौर पर, राजनीतिक संघर्ष में कभी-कभी असन्तुलित भाषा और व्यक्तिगत आक्षेपों का प्रयोग हो जाता है; लेकिन औरों के लिए अगर यह चूक के रूप में होता था, तो त्रात्स्की के लिए यह एक नियम, एक पद्धति थी। यहाँ तक कि त्रात्स्कीपंथी **टोनी क्लिफ़** ने भी माना है कि मेंशेविकों और बोल्शेविकों के बीच फूट के बाद त्रात्स्की कीचड़ उछालने के मामले में

सबसे आगे थे और उन्होंने मार्तोव, प्लेखानोव और ज़ासुलिच जैसे पुराने मेंशेविकों को भी काफ़ी पीछे छोड़ दिया था। त्रात्स्की ने 1917 के ठीक पहले तक लेनिन पर लगातार हमले करना जारी रखा। 1913 में एक मेंशेविक नेता **चखीद्ज़े** को लिखे गये एक पत्र में त्रात्स्की ने लिखा था कि **"लेनिनवाद का पूरा ढाँचा इस समय झूठों और फरेबों पर आधारित है और स्वयं इसके भीतर ही इसके पतन के तत्व मौजूद हैं।"** त्रात्स्की ने इस दौर में लेनिन को **"रूसी मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में मौजूद हर पिछड़ेपन का चतुराई से इस्तेमाल करने वाला"** व्यक्ति बताया! अगर कोई त्रात्स्की के ऐसे शब्दों को पढ़ता है जिसमें उन्होंने लेनिन पर व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप लगाये हैं, तो उसे लग सकता है कि त्रात्स्की हमेशा से ही लेनिन के संगठन-सम्बन्धी विचारों और व्यक्तित्व को लेकर सशंकित रहे होंगे और उनकी यह शंका 1903 में दूसरी पार्टी कांग्रेस के बाद पुष्ट हो गयी होगी; लेकिन ऐसा नहीं है। 1903 के पहले त्रात्स्की लगभग इन्हीं मुद्दों पर लेनिन की अवस्थिति के प्रशंसक थे! लेकिन 1903 के बाद अचानक त्रात्स्की के रवैये में परिवर्तन आया जो कि 1917 तक कायम रहा। लेकिन ताज्जुब की बात यह है कि 1917 में त्रात्स्की ने अपनी इन आलोचनाओं को वापस तो लिया लेकिन उस पूरे दौर में अपने इस रवैये की कोई सुसंगत आलोचना नहीं रखी। इससे साफ़ दिखता है कि त्रात्स्की के पास लेनिन पर कीचड़ उछालने के लिए इसके सिवाय कोई और कारण नहीं था, कि अब त्रात्स्की और लेनिन के बीच राजनीतिक मतभेद था। ऐसा लगता है कि त्रात्स्की का यह मानना था कि केवल ग़लत राजनीतिक चरित्र, व्यक्तित्व और समझदारी वाले लोग ही उनसे असहमत हो सकते हैं क्योंकि बाद में भी त्रात्स्की ने उनसे असहमत लोगों के प्रति यही रवैया अपनाया था।

त्रात्स्की ने 1903 की पार्टी कांग्रेस में शुरुआत में लेनिन से भी ज़्यादा कठोर शब्दों में अर्थवादियों की आलोचना की थी और *इस्क्रा* द्वारा अर्थवादियों के ख़िलाफ़ चलाये जा रहे संघर्ष का पक्ष लिया था। लेकिन जैसे ही लेनिन के साथ उनका मतभेद हुआ वैसे ही उन्होंने न सिर्फ़ लेनिन पर आरोपों की बौछार शुरू की, बल्कि अर्थवादियों के ख़िलाफ़ *इस्क्रा* द्वारा चलाये गये संघर्ष को भी क्रान्तिकारियों, बुद्धिजीवियों पर प्रभाव के लिए चलाया जाने वाला संघर्ष क़रार दे दिया जिसके लिए सर्वहारा वर्ग का संघर्ष पृष्ठभूमि में था। 1905 की क्रान्ति के बाद जब पार्टी में ही कुछ विसर्जनवादी पैदा हुए और ज़ारशाही के दमन के समक्ष पूरी तरह कानूनी बन जाने की वकालत करने लगे, तो लेनिन ने इनके ख़िलाफ़ कठोर संघर्ष चलाया। **लेकिन विसर्जनवादी अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष को भी त्रात्स्की ने "मार्क्सवादी बौद्धिकतावादियों" का "एक अपरिवपक्व सर्वहारा वर्ग पर प्रभाव" के लिए संघर्ष बताया!** निश्चित तौर पर, इन अवस्थितियों के पीछे पार्टी निर्माण के प्रश्न पर त्रात्स्की का राजनीतिक दीवालियापन भी था, जिस पर हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। लेकिन यहाँ पर त्रात्स्की का व्यक्तिगत संकीर्णतावाद भी था, जो कि उनके हमलों के स्वर को निर्धारित कर रहा था।

●

फरवरी क्रान्ति तक त्रात्स्की से जिन दो प्रश्नों पर लेनिन का संघर्ष हुआ वे प्रश्न थे 'स्थायी क्रान्ति' की त्रात्स्की की ग़ैर-मार्क्सवादी अवधारणा और सांगठनिक उसूलों या पार्टी सिद्धान्त

का प्रश्न। हमने देखा कि ऊपर से औपचारिक तौर पर त्रात्स्की ने 1917 में बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने के बाद चाहे अपनी पुरानी अवधारणाओं को त्याग देने का दावा किया हो और लेनिन की अवस्थिति को अपना लेने का दावा किया हो, लेकिन वास्तव में त्रात्स्की अन्दर से न तो लेनिन के क्रान्ति के सिद्धान्त को कभी समझ पाये और न ही लेनिन के पार्टी सिद्धान्त को। यही कारण था कि लेनिन की मृत्यु के तुरन्त बाद ही त्रात्स्की ने एक रचना लिखकर प्रच्छन्न तौर पर यह दावा किया कि अक्तूबर क्रान्ति के अनुभवों ने त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को सही साबित किया है, और वास्तव में लेनिन ने बाद में यह सिद्धान्त अपना लिया था। इसके ख़िलाफ़ पार्टी के भीतर ही त्रात्स्की की बुखारिन, स्तालिन, क्रुप्सकाया, ज़िनोवियेव जैसे वरिष्ठ नेताओं ने कड़ी आलोचना की। साथ ही, त्रात्स्की ने राजनीतिक अल्पसंख्या में आते ही नौकरशाहाना केन्द्रीयता छोड़ गुटबाज़ी की हरक़तें शुरू कर दी थीं। न तो क्रान्ति के सिद्धान्त के प्रश्न पर त्रात्स्की कभी सही अवस्थिति अपना पाये और न ही सांगठनिक उसूलों के प्रश्न पर। क्रान्ति के बाद 'एक देश में समाजवाद के निर्माण' को लेकर त्रात्स्की ने स्तालिन से बहस चलायी और उस बहस में भी त्रात्स्की के इस सिद्धान्त का मार्क्सवाद-लेनिननवाद विरोधी चरित्र खुलकर सामने आ गया कि 'एक देश में समाजवाद का निर्माण' हो ही नहीं सकता। वास्तव में, त्रात्स्की ने बाद में 1936 में सामूहिकीकरण के आन्दोलन के सफल होने का बाद स्वयं ही मान लिया था कि सोवियत संघ में समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं! **लेकिन 'एक देश में समाजवाद के निर्माण' की असम्भाव्यता के त्रात्स्की के सिद्धान्त की जड़ भी त्रात्स्की की दो ग़लत अवधारणओं में थीः पहला, त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' का सिद्धान्त और दूसरा त्रात्स्की का अर्थवाद।** जैसा कि हमने ऊपर दिखलाया है, 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के अनुसार त्रात्स्की का मानना था कि किसान आबादी मज़दूर वर्ग द्वारा अपनी पार्टी के नेतृत्व में सत्ता पर कब्ज़े में कोई सचेतन राजनीतिक भूमिका नहीं निभा सकती है और मज़दूर सत्ता स्थापित हो जाने के बाद वह उसी अज्ञान और मूढ़ता के साथ समाजवादी सत्ता के पक्ष में आ जायेगी, जिस अज्ञान और मूढ़ता के साथ वह ज़ार के पक्ष में खड़ी हो जाती है; यानी कि किसान आबादी का कोई सचेत राजनीतिक अभिकरण नहीं होता और सर्वहारा वर्ग द्वारा सही राजनीतिक नेतृत्व दिये जाने पर भी वह क्रान्तिकारी आन्दोलन में सचेतन हिस्सेदारी नहीं कर सकती। नतीजतन, क्रान्ति के बाद भी किसानों का समाजवादी सत्ता को जो समर्थन मिलता है वह टिकाऊ नहीं होता बल्कि क्षणभंगुर होता है; ऐसे में, त्रात्स्की के अनुसार, यदि उन्नत पूँजीवादी देशों का सर्वहारा वर्ग क्रान्ति करके रूसी सर्वहारा सत्ता की मदद के लिए नहीं आता, तो फिर रूस जैसे पिछड़े देश में किसानों के अनिश्चितातापूर्ण समर्थन पर सोवियत सत्ता लम्बे समय तक नहीं टिक सकती और जैसे ही समाजवाद के निर्माण का कार्यक्रम आगे बढ़ेगा, वैसे ही किसान आबादी ही सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ जा खड़ी होगी, जो कि पहले से साम्राज्यवादी घेराबन्दी झेल रही सोवियत सत्ता के लिए प्राणान्तक सिद्ध होगा! **दूसरा कारण** जिसके चलते त्रात्स्की एक पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले देश में समाजवाद के निर्माण को असम्भव मानते थे वह यह था कि पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले देश में उत्पादन आवश्यकता से कम होगा जिसके कारण अभाव की समस्या होगी; इस अभाव की समस्या के कारण वितरण के कार्य को नियन्त्रित करने के लिए एक संस्था की ज़रूरत पड़ेगी, जिसकी भूमिका पुलिस जैसी हो जायेगी। यह संस्था राज्य होगी। ऐसे में राज्य में नौकरशाहाना प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी जो कि अन्त में

मज़दूर राज्य को 'विकृत मज़दूर राज्य' में तब्दील कर देंगी। इसके लिए त्रात्स्की ने वस्तुओं के लिए दुकान में लगने वाली लोगों की लाइन का उदाहरण दिया और कहा कि अगर वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में पैदा नहीं हो रही हैं तो उसके लिए लाइन लगानी पड़ेगी और ऐसी लाइन को नियंत्रित करने के लिए एक कांस्टेबल की आवश्यकता होगी और यही सर्वहारा राज्यसत्ता के नौकरशाहाना पतन का कारण बनेगा। त्रात्स्की ने लिखा, **"नौकरशाहाना शासन का आधार समाज में उपभोग की वस्तुओं का अभाव होता है, जिसका नतीजा होता है आपस में संघर्ष। जब किसी दुकान में खरीदने के लिए पर्याप्त सामान हों तो ख़रीदार जब चाहें आ सकते हैं। जब सामान कम हों तो ख़रीदारों को पंक्ति में खड़ा होने का बाध्य होना पड़ता है। जब पंक्तियाँ बहुत लम्बी हों तो व्यवस्था बनाये रखने के लिए एक पुलिस वाले को रखना पड़ता है। सोवियत नौकरशाही का आरम्भ-बिन्दु यही है। इसे 'पता है' कि किसे कुछ मिलना है, और किसे अभी इन्तज़ार करता है।...ऐसा कोई भी जिसे समृद्धि का वितरण करना हो, वह अपने आपको उस वितरण से कभी बाहर नहीं करता। इस प्रकार सामाजिक आवश्यकता से एक ऐसा अंग पैदा होता है जो अपने सामाजिक रूप से आवश्यक प्रकार्य से आगे निकल जाता है और एक स्वतन्त्र कारक बन जाता है और इस प्रकार पूरे शरीर के लिए एक विशाल ख़तरा बन जाता है।"** (लियोन त्रॉत्स्की, *दि रिवोल्यूशन बिट्रेड. व्हाट इज़ दि सोवियत यूनियन एण्ड व्हेयर इज़ इट गोइंग.* 1937, लन्दन, फेबर एण्ड फेबर, पृ. 110-11, *अनुवाद हमारा*)

इतिहास ने दिखला दिया है कि त्रात्स्की के दोनों तर्क ही ग़लत थे। पहला तर्क वर्ग विश्लेषण से रिक्त लासालवाद, "वामपंथी" दुस्साहसवाद और ग़ैर-द्वन्द्ववादी नज़रिये की पैदावार है, जबकि दूसरा तर्क भोंड़े किस्म का अर्थवाद है, जिसके अनुसार सोवियत संघ में मज़दूर राज्य में विकृति इसलिए आ गयी क्योंकि उत्पादन कम था! लेकिन तथ्यत: जिस दौर की बात त्रात्स्की कर रहे हैं उस दौर में सोवियत संघ दुनिया की सबसे बड़ी औद्योगिक शक्तियों में से एक बन चुका था। हम त्रात्स्की के 'एक देश में समाजवाद के निर्माण' के तर्कों का आगे के अध्यायों में और विस्तार से विश्लेषण करेंगे। **लेकिन यहाँ इतना समझना ज़रूरी है कि त्रात्स्की का 'एक देश में समाजवाद के निर्माण' की असम्भाव्यता का तर्क उनके 'स्थायी क्रान्ति' के ग़ैर-द्वन्द्वात्मक लासालवादी और "वामपंथी" दुस्साहसवादी सिद्धान्त से ही निकलने वाला एक दक्षिणपंथी तर्क है।**

●

पार्टी निर्माण और गठन के पहले नरोदवाद, "कानूनी" मार्क्सवाद और अर्थवाद से चले संघर्ष और पार्टी गठन के बाद मेंशेविकों और त्रात्स्कीपंथियों से चले संघर्ष वे प्रमुख राजनीतिक संघर्ष थे, जिन्होंने एक ओर शुरुआती दौर में रूस में क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के आकार और आकृति को निर्धारित किया, वहीं पार्टी गठन के बाद पार्टी के निर्माण की पूरी प्रक्रिया को निर्धारित किया। इस पूरे संघर्ष में लेनिन की भूमिका कम-से-कम 1898-99 से निर्धारक की बन चुकी थी। लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति होगा कि करीब दो से ढाई दशक तक चले इस राजनीतिक संघर्ष को महज़ लेनिन के योगदानों की श्रृंखला के तौर देखा जा सकता है। **लेनिन के नेतृत्व में समूचे**

बोल्शेविक नेतृत्व ने यह संघर्ष चलाया। निश्चित तौर पर, कई मौकों पर इस नेतृत्व में लेनिन स्वयं अकेले पड़ जाते थे, लेकिन अन्ततः यह बोल्शेविक नेताओं की कोर कुल मिलाकर लेनिन की अवस्थिति को अपनाती थी और अन्य विजातीय विचारधारात्मक प्रवृत्तियों से संघर्ष में लेनिन के साथ खड़ी होती थी। कोई भी कम्युनिस्ट एकता इसी प्रकार कार्य करती है। वह किसी भी सूरत में एकाश्मी नहीं हो सकती और द्वन्द्वात्मक गति से आगे बढ़ती है। **लेनिन की महानता इस पूरे राजनीतिक संघर्ष को अपनी विचारधारात्मक व राजनीतिक समझदारी और नेतृत्व में सही दिशा में आगे ले जाने में निहित थी।**

इस अध्याय के परिशिष्ट के तौर पर हम **चार्ल्स बेतेलहाइम** और **कोस्तास मावराकिस** जैसे "अतिमाओवादियों" का आलोचनात्मक विश्लेषण पेश करेंगे, जिन्होंने मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद का एक हेगेलीय भाववादी नियोजन किया है और सोवियत संघ के पूरे इतिहास का एक निहायत भाववादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और कहीं-कहीं पर त्रात्स्कीपंथी संस्करण और विश्लेषण पेश किया है। और यह सारा कार्य माओवाद के नाम पर किया गया है। यही कारण है कि हम इनकी एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी आलोचना के साथ आगे बढ़ेंगे और 1917 तक के दौर के बारे में विशेष तौर पर बेतेलहाइम ने जो कुछ लिखा है, उस पर अपना दृष्टिकोण रखेंगे।

An Important Book from Rahul Foundation

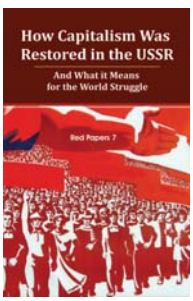

How Capitalism was Restored in the USSR

And What It Means for the World Struggle

The ideological significance of this book is indisputable from the perspective of building a thorough and well-defined Marxist-Leninist understanding on the problems of socialism and capitalist restoration. It holds immense significance even today for ideological preparation of all those who are committed to the reconstruction of the socialist project.

Price: Rs. 175 **ISBN 978-93-80303-55-0**

For copies contact:

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow - 226020

Phone: 0522-2786782

Email: info@janchetnabooks.org, Website: janchetnabooks.org

जाति प्रश्न और उसका समाधान : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण

शोध टीम, अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान

भारतीय समाज को शोषणमुक्त बनाने की कोई भी क्रान्तिकारी परियोजना जाति प्रश्न को छोड़कर नहीं बनायी जा सकती। इस धारणा को सिरे से ख़ारिज करने के पर्याप्त आधार हैं कि पहले सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर कुछ सुनिश्चित सचेतन प्रयासों से जाति-व्यवस्था को समाप्त किया जाना चाहिए, इसके बाद ही जनता के विभिन्न वर्गों की क्रान्तिकारी लामबन्दी सम्भव हो सकती है। इसके विपरीत, यह धारणा भी उतनी ही ग़लत है कि वर्गों की क्रान्तिकारी लामबन्दी और सर्वहारा क्रान्ति की प्रक्रिया जाति-व्यवस्था को स्वत: समाप्त कर देगी, अत: यह प्रश्न अलग से कोई अहम मुद्दा बनता ही नहीं है। हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी की प्रक्रिया जाति-आधारित उत्पीड़न के विविध रूपों और उनकी कारक-वाहक संस्थाओं को स्पष्ट निशाना बनाये बिना आगे बढ़ ही नहीं सकती, इसके बिना जातियों में बँटी हुई और सामाजिक पार्थक्य की शिकार व्यापक मेहनतकश जनता के विभिन्न वर्गों की चेतना का क्रान्तिकारीकरण और लामबन्दी सम्भव नहीं। साथ ही, क्रान्ति के हरावलों को जाति-उन्मूलन की एक ऐतिहासिक-वैज्ञानिक, तर्कसंगत परियोजना प्रस्तुत करनी होगी, जो भले ही दीर्घकालिक (स्वाभाविक है कि ऐसी ही होगी) हो, पर जिसके कुछ ठोस तात्कालिक कार्यभार भी हों। हाँ, इतना तय है कि जाति-व्यवस्था के अन्तिम तौर पर, समूल नाश के लिए, सर्वहारा राज्य की स्थापना के बाद भी, उत्पादन-सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण और समाजवादी

यह लेख 'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' विषय पर चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी (12-16 मार्च, चण्डीगढ़) में आधार आलेख के तौर पर प्रस्तुत किया गया था।

सामाजिक-राजनीतिक-शैक्षिक-सांस्कृतिक ढाँचे के क्रमशः उन्नततर होते जाने की सुदीर्घ प्रक्रिया के साथ-साथ विचार और संस्कृति के धरातल पर भी सतत क्रान्ति की प्रक्रिया चलानी होगी। इस आलेख में हम आगे अपनी इस प्रस्थापना की विस्तार से चर्चा करेंगे और इस सन्दर्भ में, हमारे हिसाब से, जो ग़लत, अधूरी, अस्पष्ट और भ्रामक प्रस्थापनाएँ प्रचलित हैं, उनका खण्डन भी करेंगे।

यदि ठोस अमल की दिशा में आगे बढ़ना हो तो हमारे सामने सवाल कई हैं। पूँजीपति, बड़े-मँझोले व्यापारी, कुलक, फार्मर, नौकरशाहों से लेकर विभिन्न उच्च मध्य वर्ग के लोग और अन्य परजीवी जमातें – जो शासक वर्ग और उनके पक्षधर वर्ग हैं, उनके हितों में आपसी टकराव भी हैं, लेकिन व्यापक मेहनतकश जनता के विरुद्ध राजनीतिक नीतिगत निर्णय और कार्रवाई में वे एकजुट हैं। दूसरी ओर, जो गाँव और शहर के सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा हैं, निम्न मध्य वर्ग और निम्न मध्यम किसान हैं – जो क्रान्ति की मुख्य ताक़त हैं, उनकी एकजुटता की राह में अन्य समस्याओं के अतिरिक्त एक अहम समस्या यह है कि वे जातियों में बँटे हुए हैं, उनके बीच कई स्तरों पर सामाजिक पार्थक्य {segregation} की छोटी-बड़ी दीवारें हैं। सवाल है कि जो जातिगत पूर्वाग्रह और अन्तरविरोध भारतीय समाज में, किसी न किसी रूप में लगभग सर्वव्याप्त हैं, उनके पीछे केवल अधिरचनात्मक कारण (पुराने संस्कार या कुछ लोगों के शब्दों में, ब्राह्मणवादी संस्कृति का प्रभाव) ही मुख्य कारण है, या कुछ आर्थिक कारण हैं जो अधिरचनात्मक कारणों को सम्बल और बल देने का काम करते रहते हैं? अक्सर देखने में आता है कि किसी जातिगत टकराव या दलित उत्पीड़न की घटना के पीछे, कम या ज़्यादा गहराई में वर्गों के आर्थिक हितों का टकराव मुख्य कारण होता है, लेकिन उस मामले पर समाज में जो ध्रुवीकरण होता है, वह जातिगत आधार पर ही होता है! भारत में वोट बैंक की बुर्जुआ संसदीय राजनीति जाति-ध्रुवीकरण को अपना एक मुख्य साधन बनाती है, लेकिन क्या वही तीखे जाति-अन्तरविरोधों का मुख्य कारण है? जाति यदि केवल अतीत का बोझ है, सामन्ती अवशेष है या "ब्राह्मणवादी" संस्कृति का प्रभाव है तो कुछ आमूलगामी सामाजिक आन्दोलन ही इसे कुछ समय में उखाड़ फेंकते। लेकिन ऐसा लगता नहीं है। जाति-व्यवस्था अपनेआप में उतनी जड़ नहीं है, जितनी लगती है। इसमें एक खास क़िस्म की आन्तरिक गतिशीलता है, जिसके चलते प्राचीन भारत में पैदा होकर मध्य काल और औपनिवेशिक दौर के ऐतिहासिक कालखण्डों को पार करती हुई यह आज भी अपनी प्रभावी उपस्थिति बनाये हुए है। हर सामाजिक- आर्थिक संरचना के अनुरूप ढल पाने में यह सक्षम थी और अलग-अलग ऐतिहासिक दौरों के शासक वर्गों ने हितपूर्ति के लिए इसे अनुकूलित कर लिया है।

जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों को लेकर कुछ विभ्रम तो किताबी पण्डितों की अपनी समस्या के नाते हैं, कुछ मार्क्सवाद के प्रति अज्ञानतापूर्ण पूर्वाग्रह से भरे उत्पीड़ित जातियों के अतीत के मान्य नेताओं के विचारों के प्रभाव के चलते हैं, कुछ विभ्रम अमेरिकी समाजशास्त्रीय विचारों और 'अस्मिता की राजनीति' जैसी उत्तर-आधुनिकतावादी बुर्जुआ विचारधाराओं के चलते हैं, कुछ दलित जातियों से उभरे निम्न-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के अपने वर्ग हितों से प्रेरित होकर गढ़े गये सिद्धान्तों के चलते हैं, कुछ अधकचरे और संशोधनवादी मार्क्सवादियों के यान्त्रिक भौतिकवादी विश्लेषणों और कुकृत्यों के चलते हैं और कुछ इसलिए भी हैं कि अतीत में कम्युनिस्ट आन्दोलन ने, जैसे भारतीय क्रान्ति के अन्य बुनियादी प्रश्नों पर,

वैसे ही जाति प्रश्न पर भी, सांगोपांग विश्लेषण करके ठोस कार्यक्रम नहीं रखा। लेकिन, इन विभ्रमों के कई ठोस वस्तुगत आधार भी हैं। जैसे, एक प्रमुख वस्तुगत आधार यह है कि दलित जातियों का बहुतायत सर्वहारा और अर्द्ध-सर्वहारा (ज़्यादातर ग्रामीण और लगातार बढ़ती तादाद में शहरी) है, पर सर्वहारा और अर्द्ध-सर्वहारा वर्गों का बहुतायत दलित जातियों से नहीं आता। आज गाँवों में जो कुलक हैं, वे ज़्यादातर मध्य जातियों के हैं और दलितों का उत्पीड़न करने में वे सवर्ण जातियों के भूतपूर्व सामन्ती भू-स्वामियों से कहीं आगे हैं, लेकिन उन्हीं मध्य जातियों की बहुसंख्यक आबादी ग़रीब या निम्न मध्य किसान है और मज़दूर वर्गों में भी आ चुकी है। पूँजीपतियों में सभी जातियों के लोग हैं (दलित नाममात्र के ही हैं), पर नौकरशाही और बौद्धिक पेशों पर, विशेषकर उच्च स्तरों पर आज भी मुख्यत: सवर्णों का वर्चस्व है। आरक्षण के चलते इस दायरे में दलितों और कुछ मध्य जातियों की भी पहुँच बनी है, पर आबादी के अनुपात में उनका प्रतिशत बहुत कम है और निम्न से उच्च पदों की ओर वह प्रतिशत तेज़ी से घटता गया है। ऐसे में, यह व्यावहारिक सवाल बनता है कि जाति-व्यवस्था विरोधी कोई संयुक्त मोर्चा कैसे बने? सवर्ण और अन्य जातियों के ग़रीब मेहनतकशों को क्रान्तिकारी प्रचार के द्वारा जनवादी चेतना दिये बिना और साझा आर्थिक-राजनीतिक हितों के मुद्दों पर उन्हें लामबन्द किये बिना क्या यह सम्भव है? और जब तक इस प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ाया जायेगा, तब तक जनता के विभिन्न वर्गों की क्रान्तिकारी लामबन्दी और रणनीतिक संयुक्त मोर्चा बना पाना भी क्या सम्भव हो सकेगा? क्या जातिगत आधार पर सिर्फ़ दलितों की लामबन्दी उनकी वास्तविक मुक्ति या जाति उन्मूलन की मंजिल तक हमें पहुँचा सकती है?

सवाल यह भी है कि दलित जातियों को कुछ रियायतें, सहूलियतें और सुरक्षा के लिए संवैधानिक-वैधिक प्रावधान एक बात है और दलित-उत्पीड़न, उनके सामाजिक पार्थक्य, अपमान और दोयम दर्जे की सामाजिक स्थिति का पूर्णत: ख़ात्मा तथा जाति प्रथा का नाश सर्वथा अलग बात है। क्या आरक्षण जैसी रियायतों का रास्ता अन्तत: दलित-मुक्ति और जाति-उन्मूलन तक जाता है? क्या भारतीय संविधान के दायरे (62 वर्षों का अमल हमारे सामने है) या उपनिवेशवाद के गर्भ से पैदा हुए और साम्राज्यवाद के युग में पले-बढ़े, अतिसीमित, विकृत, विरूपित भारतीय पूँजीवादी जनवाद के दायरे में, दूर-दूर तक हमें ऐसी कोई सम्भावना नज़र आती है? छह दशकों में दलितों को आरक्षण से कितना लाभ मिला है और इस रफ़्तार से वे अपनी स्थिति से कब तक उबर पायेंगे? आरक्षण जब दिया गया तब एक बुर्जुआ जनवादी अधिकार के रूप में वह सर्वथा उचित था, पर अब कहीं वह बुर्जुआ जनवादी अधिकार से अधिक बुर्जुआ जनवादी विभ्रम पैदा करने का साधन बनकर तो नहीं रह गया है? क्या यह भी सवाल नहीं है कि आरक्षण के ज़रिए ऊपर उठकर शहरी मध्यवर्ग में शामिल दलित बुद्धिजीवियों का गाँव और शहर के दलित सर्वहाराओं के साथ साझा हित नहीं बनता है और शासन-प्रदत्त रियायतों का लाभ ज़्यादातर उन्हें ही मिलता है, इसीलिए जाति-प्रथा के विरुद्ध तमाम आग उगलने के बावजूद, वे आरक्षण और संविधान के दायरे से बाहर जाति-नाश और दलित मुक्ति की किसी परियोजना पर सोचने को प्राय: तैयार नहीं होते, अतीत के दलित आन्दोलनों और उनके सैद्धान्तिक आधारों और उनके सिद्धान्तकारों की भूमिका पर सोचने-विचारने के लिए तैयार नहीं होते और वर्तमान में भी कभी, दलितों में से पूँजीपति पैदा करने की थीसिस देते हैं, कभी "बहुजन समाज" के संयुक्त मोर्चा या हर पार्टी में दलित नेताओं की संख्या बढ़ाने का विचार देते हैं, तो कभी अधिक सैद्धान्तिक स्तर पर जातिगत

अस्मिताओं का जश्न मनाने लगते हैं। अस्मिताओं के उभार का नतीजा यह देखने में आ रहा है कि पहले से ही जातियों-उपजातियों में बँटे दलितों के बीच विग्रह और पार्थक्य बढ़ गये हैं। आरक्षण में भागीदारी और आरक्षण के भीतर आरक्षण को लेकर उनमें आपस में तीखे संघर्ष हो रहे हैं। यह एक कड़वा सच है, जिसकी अनदेखी करके हम किसी सही नतीजे तक नहीं पहुँच सकते।

पूर्वाग्रह मुक्त होकर वैज्ञानिक वस्तुपरकता के साथ हमें डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा, इतिहास दृष्टि, आर्थिक विचारों, राजनीतिक विचारों और उनके द्वारा प्रस्तुत दलित मुक्ति की परियोजना का विश्लेषण-समाहार करना होगा। मूर्ति पूजा या नेताओं को अवतार बनाना ब्राह्मणवादी और पूँजीवादी नायकवादी वृत्ति है, इससे बचा जाना चाहिए। यह भी विचार का विषय है कि रिपब्लिकन पार्टी, दलित पैन्थर्स, बसपा, पुथिया तमिझगम और दलित राजनीति की ऐसी उन तमाम छोटी-बड़ी पुरोधा पार्टियों की राजनीति के पतन या विघटन के कारण क्या थे, जो दलित राजनीति के उत्तर-अम्बेडकर दौर में समय-समय पर रैडिकल तेवर लेकर उभरती रही हैं और फिर इस या उस मुख्य बुर्जुआ पार्टी (उनकी विश्लेषण-दृष्टि से, सवर्ण या मध्यजातीय वर्चस्व वाली पार्टियों) के साथ गाँठ जोड़ लेती रही हैं। जो बहुतेरे रैडिकल दलित सिद्धान्तकार हैं, व्यापक सामाजिक आधार वाला कोई जाति-विरोधी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने की उन्होंने क्यों कोई कोशिश तक नहीं की? हमें इस सवाल का उत्तर ढूँढ़ना ही होगा कि रैडिकल दलित राजनीति और नयी-पुरानी दलितवादी सैद्धान्तिकियों के पास दलित मुक्ति और जाति-व्यवस्था के आमूल नाश की परियोजना क्या है और उसके अमली रूप क्या हैं?

ज़्यादातर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट भी आजकल अपराधबोध और आत्मभर्त्सना की मुद्रा में यह स्वीकार करते हैं कि कम्युनिस्ट आन्दोलन ने अतीत में जाति प्रश्न की घोर उपेक्षा की और इसके प्रति यान्त्रिक अर्थवादी या वर्ग-अपचयनवादी रवैया अपनाया। यह बात प्रायः बहुत सामान्यीकृत ढंग से कही जाती है या फिर इतिहास के ठोस तथ्यों का ठोस विश्लेषण करने के बजाय सार-संग्रहवादी ढंग से कुछ घटनाएँ गिना दी जाती हैं। अतीत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की यह कमज़ोरी पूरी लाइन और व्यवहार में किस रूप में थी और यह एक स्वतन्त्र चीज़ थी या भारत की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों के ठोस विश्लेषण से क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल (strategy and general tactics) विकसित न कर पाने की आम कमज़ोरी का ही एक अंग थी? फिर भी क्या दलित-मुक्ति आन्दोलन में कम्युनिस्ट आन्दोलन का कुछ योगदान रहा है? यह भी इन दिनों एक चालू चलन वाला बयान है कि दलित नेताओं और आन्दोलनों के प्रति कम्युनिस्टों ने ग़लत रुख अपनाया। इस निष्कर्ष पर तफ़सील से विचार की ज़रूरत है, तभी ठोस ग़लतियाँ-कमियाँ पता चलेंगी। देखना होगा कि तत्कालीन ज्वलन्त प्रश्नों पर राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान कम्युनिस्ट नेतृत्व और दलित नेतृत्व की अवस्थितियों में क्या अन्तर थे और कौन-सी अवस्थिति सही थी? देखना यह भी होगा कि दलित आन्दोलन के नेतृत्व का कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रति, कम्युनिज़्म की विचारधारा के प्रति क्या रुख था।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में इन दिनों कई प्रवृत्तियाँ चलन में हैं। अतीत के वर्ग-अपचयनवादी दृष्टिकोण को कोसते हुए जाति को अधिरचना की श्रेणी में डालने की भीषण ग़लती (यह नहीं पता चलता कि किसने डाला और कब डाला!) को मानते हुए कोई "मूलाधार-अधिरचना रूपक" विषयक मान्य मार्क्सवादी धारणा को ही यान्त्रिक मानता है, कोई

इसकी यान्त्रिक समझ को जिम्मेदार मानता है, कोई उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग की जगह उत्पादन-प्रणाली को मूलाधार बताता है, कोई जाति प्रथा से उत्पादन-सम्बन्ध को निर्धारित बताता है, कोई जाति प्रथा में उत्पादन-सम्बन्ध के परावर्तन की बात करता है, कोई इतिहास में जाति प्रथा को ही उत्पादन-सम्बन्ध बताता है, कोई चीज़ों के परिघटनात्मक धरातल और संरचनात्मक धरातल की बात करते हुए यह थीसिस दे देता है कि आज के जटिल पूँजीवादी समाज में वर्ग संघर्ष सामाजिक आन्दोलनों (जैसे जाति, जेण्डर, पर्यावरण आदि के आन्दोलन) के रूप में ही होगा। यानी भीषण सैद्धान्तिक गड़बड़झाला है। इसकी सफ़ाई की कोशिश के बिना और कोई उपाय नहीं है। एक प्रवृत्ति आम चलन में और है, हालाँकि उसके कई रूप हैं। वह है मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद में समन्वय की प्रवृत्ति। ऐसा करते हुए दलितों के हित में अम्बेडकर के अवदानों की चर्चा तो की जाती है, पर अम्बेडकर की दार्शनिक अवस्थिति, जाति-उन्मूलन की उनकी ठोस परियोजनाओं, उनकी अर्थनीति, उनकी समस्यामूलक राजनीतिक अवस्थितियों, संविधान निर्माता और विधि मन्त्री के रूप में उनकी भूमिका और मार्क्सवाद के बारे में उनके विचार की विस्तृत चर्चा नहीं की जाती, कुशलतापूर्वक उनके कुछ उद्धरण चुनकर कम्युनिस्ट धारा से उनकी नज़दीकी बनने की सम्भावना सिद्ध कर दी जाती है। दरअसल, अलग-अलग तरीक़े से यह उपक्रम दलित आबादी का दिल जीतने के लिए, उन्हें साथ लेने के लिए किया जाता है कि हमने तुम्हारे नायक को अपना लिया, अब तो साथ आ जाओ! इस प्रकार के भावनात्मक रणकौशलात्मक जोड़-तोड़ (tactical manoeuver) से जन मुक्ति संघर्ष में आबादी का कोई हिस्सा साथ नहीं आ जायेगा। यदि आप उसे सिद्धान्त और व्यवहार में कायल कर सकें कि आपके पास ही उसकी मुक्ति का सही और तर्कसंगत मार्ग है, तभी वह साथ आयेगा। हाँ, यह प्रक्रिया थोड़ी कठिन और लम्बी हो सकती है। अम्बेडकरवाद से समन्वय में कोई एतराज़ नहीं है, न ही अम्बेडकर की भूमिका को सिरे से ख़ारिज़ किया जा सकता है, लेकिन यह तो देखना ही होगा कि अम्बेडकर के विचारों में वे कौन-कौन-सी चीज़ें हैं, जिन्हें लेकर मार्क्सवाद अपनी कमियाँ दूर कर सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से लैस लोग कभी भावनाओं की राजनीति नहीं खेलते, विज्ञान ठोस तथ्यपरकता और वस्तुपरकता की माँग करता है। उत्पादन-सम्बन्धों के समुच्चय के व्यापक और सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि भारत एक पिछड़ा हुआ पूँजीवादी देश है और यहाँ साम्राज्यवाद-सामन्तवाद और तमाम प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों का ख़ात्मा करने वाली समाजवादी क्रान्ति को तैयारी के दौर से ही जाति-व्यवस्था के नाश की परियोजना प्रस्तुत करते हुए उसके तात्कालिक और दूरगामी कार्यभार तय करने होंगे। जाति सामन्ती अवशेष मात्र नहीं है। इसका पूँजीवाद ने अपने ढाँचे के साथ तन्तुबद्धीकरण (articulation) कर लिया है, अपने हितोचित बदले रूप में इसे अपना लिया है। यह एक पूँजीवादी जाति-व्यवस्था है। यह आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) में सावयवी (organic) ढंग से गुँथी-बुनी है तथा वैचारिक-राजनीतिक- सामाजिक अधिरचना में इसकी प्रभावी उपस्थिति बनी हुई है।

इस आलेख की यह सीमा है कि इसमें हम अपनी अवस्थितियाँ संक्षेप में ही प्रस्तुत कर सकते हैं। फिर भी, नये सिरे से, एक लम्बी, सार्थक बहस शुरू करने के लिए इतना शायद काफ़ी होगा। इस निबन्ध में हम मुख्यत: अपनी अवस्थिति सकारात्मक तौर पर रखेंगे। स्थान की सीमा के चलते इसकी प्रकृति पोलेमिकल नहीं होगी फिर भी कुछ प्रमुख ग़लत अवस्थितियों और आम भ्रान्त धारणाओं की यथास्थान समालोचना प्रस्तुत की जायेगी। इसके

पीछे हमारा उद्देश्य एक स्वस्थ बहस की शुरुआत करना है। बेशक यह बहस लम्बी हो, पर अन्ततः कुछ सुनिश्चित नतीजों तक तो पहुँचना ही होगा।

जाति के उद्भव और विकास पर एक ऐतिहासिक-भौतिकवादी दृष्टिकोण

यहाँ जाति-व्यवस्था का पूरा इतिहास प्रस्तुत करना हमारा अभीष्ट नहीं है। उत्पादन-सम्बन्ध से जाति के सम्बन्ध को, जाति और वर्ग के सम्बन्ध को, तथा 'मूलाधार-अधिरचना' के मार्क्सवादी रूपक में जाति-व्यवस्था कैसे और कहाँ अवस्थित होती है, इस बात को समझने के लिए इतिहास की थोड़ी चर्चा की जायेगी।

पहली बात, जाति-व्यवस्था अपने इस विशिष्ट रूप में भारत में ही क्यों पैदा हुई और विकसित हुई, इसके ठोस वस्तुगत कारणों के बारे में कुछ सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अब तक हुए शोध इस दिशा में कुछ स्पष्ट संकेत नहीं देते। प्रारम्भिक या आदिम क़िस्म का सामाजिक श्रम-विभाजन उन्हीं वस्तुगत सामाजिक आधारों से उपजे धार्मिक-रीति-विधान आधारित सामाजिक आचारों के माध्यम से भारत में जाति-व्यवस्था के रूप में अश्मीभूत (fossilize) हुआ। इसी तरह से मिस्र में भी सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) और वंशानुगत पेशों के आधार पर जाति-व्यवस्था से मिलती-जुलती व्यवस्था गिल्ड-व्यवस्था के रूप में अस्थिभूत (ossify) हुई थी, लेकिन शायद उसके पीछे धर्म-आधारित सामाजिक आचार-व्यवहार का उतना व्यवस्थित संहिताबद्ध आधार नहीं था और सामाजिक-आर्थिक संरचना में होने वाले बदलावों के अनुरूप ख़ुद को ढालते जाने का लचीलापन नहीं था, इसलिए वह जाति-व्यवस्था जैसी दीर्घजीवी नहीं सिद्ध हुई। जाति-व्यवस्था के भारत में ही उद्भव और विकास के मूल कारणों की तलाश करते हुए हम यहाँ मौसम, जलवायु, जीवन और कृषि-उत्पादन की अधिक अनुकूल परिस्थितियों, उससे पैदा होने वाली इतिहास की और श्रम प्रक्रिया की मन्थर गति, श्रम विभाजन के दायरे में शुरुआत से ही बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम के अधिक कुशल विभाजन (और फिर शारीरिक श्रम के दायरे के भीतर के उप-विभाजन) और अत्यधिक खाली समय के उपभोगी परजीवी बौद्धिकों (ब्राह्मण पुरोहितों) द्वारा सामाजिक आचार-शास्त्र के निर्माण में बरती गयी पटुता एवं दूरदर्शिता जैसे कारकों के बारे में सोच सकते हैं। लेकिन यह इतिहास का नहीं, बल्कि अनुमान से लेकर अटकलबाज़ी तक का दायरा होगा। जाति-व्यवस्था कैसे पैदा हुई और इतिहास के बदलते युगों के साथ अपना समायोजन-अनुकूलन करते हुए क्यों और किस प्रकार बनी रही, ऐतिहासिक शोधों के आधार पर इस पर ज़रूर चर्चा की जा सकती है। और संक्षेप में हम यही करेंगे, क्योंकि वर्तमान स्थिति और जाति उन्मूलन की किसी परियोजना पर बहस के लिए इतना तो ज़रूरी है।

दूसरी बात, अक्सर बहुत चलताऊ ढंग से मार्क्सवादियों पर यह आरोप चस्पाँ कर दिया जाता है कि वे ऐतिहासिक समाज-विकास की मार्क्स-एंगेल्स द्वारा चिन्हित अवस्थाओं (दास प्रथा-सामन्तवाद- पूँजीवाद) और उनकी 'एशियाई उत्पादन-प्रणाली' और 'आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों की गतिहीनता' की धारणा को यान्त्रिक ढंग से भारत पर लागू करते हैं। यह कोरा अज्ञान है। आज से आधी सदी पहले ही (सबसे पहले **कोसम्बी** द्वारा) एशियाई

उत्पादन-प्रणाली और भारत में यूनान और रोम जैसी दास प्रथा की मौजूदगी की धारणा ख़ारिज की जा चुकी थी और आज, तफ़सीलों के मतभेदों को छोड़ दें तो इस पर प्रायः सभी मार्क्सवादी इतिहासकारों की आम सहमति है। यही बात, कमोबेश, भारतीय ग्राम समुदायों की गतिहीनता पर भी लागू होती है। हालाँकि यह तथ्य आज भी स्थापित है कि तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, पहले से मौजूद भारतीय सामन्तवाद की संरचना में कुछ ऐसे बदलाव आये जो मार्क्स की 'प्राच्य स्वेच्छाचारिता' (oriental despotism) के लक्षणों से मेल खाते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि एशियाई ग्राम समुदायों की समरसता और गतिहीनता के बारे में 1850 के दशक में मार्क्स के जो विचार थे उनमें 1870 के दशक में महत्वपूर्ण बदलाव आये थे। इस विषय पर **इरफ़ान हबीब, सुनीति कुमार घोष** सहित कई विद्वानों के निबन्ध 1980 के दशक में ही प्रकाशित हो चुके हैं। एक और बात की चर्चा यहाँ प्रासंगिक है। प्रायः ऐसी बातें की जाती हैं कि मार्क्सवाद का अध्ययन मॉडल यूरोप था, अतः मार्क्सवाद भारतीय समाज और उसकी जाति-व्यवस्था जैसी विशिष्टताओं के अध्ययन में असमर्थ सिद्ध हुआ है। यह एक सतही नज़रिया है। मार्क्सवाद का जन्म मुख्यतः यूरोपीय इतिहास की गतिकी के अध्ययन से हुआ (जो पूँजीवादी विकास का क्लासिकी मॉडल था) और जर्मन दर्शन, ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा फ्रांसीसी समाजवाद उसके मुख्य स्रोत थे। पर पूरे विश्व इतिहास के विकास की सामान्य दिशा भी मार्क्स-एंगेल्स की दृष्टि में थी। ऐतिहासिक घटनाक्रम-विकास के सामान्यीकरण से निःसृत द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद एक विश्वदृष्टि (worldview) और एक प्रणाली-विज्ञान (methodology) है, जो जीवन और प्रकृति के अध्ययन और उनमें सचेतन हस्तक्षेप का मार्ग बताता है। यही कारण है कि रूस, चीन से लेकर एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के कई देशों में सामाजिक-आर्थिक संरचना के विविध पक्षों के अध्ययन और वर्ग संघर्ष की रणनीति विकसित करने में इसका प्रयोग हुआ है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। प्रसंगवश, यहाँ यह भी बताते चलें कि **मार्क्स और एंगेल्स** ने **जर्मन विचारधारा** (The German Ideology, 1845.46) से लेकर, **पूँजी, खण्ड 1** तक छह या सात स्थानों पर जाति-व्यवस्था पर कुछ टिप्पणियाँ की हैं और कुछ व्याख्याएँ दी हैं, जो जाति प्रश्न की समझ बनाने के लिए महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि देती हैं (इन टिप्पणियों-व्याख्याओं के लिए **बी.आर. बापूजी** का शोध निबन्ध **Conception of Caste in Marx** और **रंगनायकम्मा** का लेख **Marx on Caste** द्रष्टव्य हैं)।

अभी तक प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर ज़्यादा स्वीकार्य स्थापना यही है कि हड़प्पा-मुअनजोदड़ो की सैन्धव/सारस्वत नागर सभ्यता आर्यों के आक्रमण से नष्ट नहीं हुई, बल्कि उसके कारण कुछ और थे (नदियों की धारा बदलना, आन्तरिक गतिहीनता या आन्तरिक वर्ग संघर्ष-कुछ भी हो सकता है)। उत्तर-पूर्व से घुमन्तू पशुचारी आर्य जनजातियों के भारत में प्रवेश का सिलसिला हड़प्पा सभ्यता के पराभव के कुछ शताब्दियों बाद शुरू हुआ। घुमन्तू जनजातियों के लिए रक्त की शुद्धता का कोई मतलब नहीं था और आनुवंशिक तौर पर आर्य कोई एक नस्ल नहीं थे लेकिन नृजातीय (Ethnic) अर्थों में वे अपनी पृथक अस्मिता के प्रति सचेत अवश्य थे। आर्यों के उपमहाद्वीप में प्रवेश के समय सिन्धु घाटी की नागर सभ्यता भले ही विघटित हो चुकी हो, लेकिन उसकी प्राक-आर्य आबादी अपने पुरोहितों और आम जनों सहित सम्भवतः जंगलों और छोटी बस्तियों में बिखर गयी थी। आर्यों के साथ उनके संघर्ष और उनकी पराजय के बाद उन्हें *दास* बनाये जाने के प्रचुर प्रमाण ऋग्वेद में

मौजूद हैं। यही नहीं, आगे बढ़ते हुए अन्य अनार्य कबीलों से भी आर्यों के टकराव और उन्हें पराभूत करके अपनी सामाजिक व्यवस्था में घुला-मिला लेने की ओर मिथकीय और भाषा-शास्त्रीय साक्ष्य इंगित करते हैं। मुअनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों तथा 2,300-2,000 ईस्वी पूर्व के दौरान मेलुहा (सिन्धु घाटी) से मेसोपोटामिया को हुए दासों के निर्यात से साबित हो चुका है कि सिन्धु घाटी के शहरों में एक वर्ग समाज मौजूद था जिसमें दासता की संस्था मौजूद थी। दासों को बल-प्रयोग और धर्म-आधारित सामाजिक रीति-विधानों द्वारा नियन्त्रित किया जाता था, अतः उस सभ्यता की बिखरी हुई आबादी के पुरोहित, घुमन्तू पशुचारक आर्यों के कबीलाई पुरोहितों से टोटम और वर्जनाओं (totems and taboos) और धार्मिक अनुष्ठानों के मामले में उन्नत थे। नतीजतन, पशुपालन से कृषि और बस्तियाँ बनाने की ओर उन्मुख आर्य जनजातियों के पुरोहित समुदाय के साथ प्राक्-आर्य और अन्य अनार्य जनजातियों के पुरोहितों के घुल-मिल जाने की प्रक्रिया अकाट्य तथ्य प्रतीत होती है और ब्राह्मण वर्ण के उद्गम को इसी प्रक्रिया में देखा जा सकता है। आगे चलकर कई विदेशी, विशेषकर सीथियन पुरोहिती समुदायों के भी ब्राह्मण वर्ण में घुल-मिल जाने (कढ़दा या मग ब्राह्मण) के ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं। उपनिषदीय विमर्श के केन्द्र, वर्तमान पूर्वी उत्तर प्रदेश तक आते-आते रंग और नाक-नक़्श के हिसाब से ब्राह्मणों की आबादी एकदम मिलीजुली होने के साक्ष्य हमें वृहदारण्यक उपनिषद और पातंजलि से मिलते हैं।

सबसे प्रारम्भिक वैदिक साक्ष्यों से हमें *आर्य* और *दास* या *दस्यु* दो वर्णों का उल्लेख मिलता है। इनमें परस्पर विवाह नहीं होते थे। दास प्राक्-आर्य और अनार्य समाज के वे सामान्य जन थे जिनकी स्थिति रोम की चैटेल दासता (chattel slavery) जैसी नहीं थी जिसमें दास व्यक्तिगत दास स्वामियों की निजी सम्पत्ति होते थे, बल्कि स्पार्टा के हेलॉट जैसी मातहती (helot like servitude) थी क्योंकि आर्यों का पशुधन कबीले की सामुदायिक सम्पत्ति हुआ करती थी और निजी सम्पत्ति की परिघटना अभी विकसित नहीं हुई थी। जो ज़मीन भी वे जोतने-बोने लगे थे, वह तब तक कबीले की साझा सम्पत्ति ही थी। पशुपालन से कृषि की ओर बढ़ते हुए अधिशेष (surplus) के उत्पादन और श्रम विभाजन के आदि-प्ररूप (proto-type) का धीरे-धीरे विकास हुआ और इसी के साथ समाज में सामाजिक-आर्थिक विभेदीकरण और वर्गों के बनने की प्रक्रिया शुरू हुई और आगे बढ़ी। दान-स्तुतियों में जनजातीय मुखियों के कुछ विशिष्ट समूहों को भेंटस्वरूप दास देने के हवाले मिलते हैं। अधीनस्थ श्रम और खाद्य उत्पादन की परिष्कृत तकनीकों के साथ आर्य जनजातियाँ पूरब की ओर दोआब क्षेत्र में आगे बढ़ीं और नयी स्थायी बस्तियाँ बसाने लगीं। इस दौरान जनजातीय कबीलाई संगठन के भीतर उत्पादन-सम्बन्ध चार *वर्ण*-जातियों – ब्राह्मण (पुरोहितगण), राजन्य या क्षत्रिय (योद्धा और शासक), विश (सामान्य जन, मुख्यतः किसान) और शूद्र (अनार्य मूल के हेलॉट टाइप सेवकगण) के रूप में थे। चातुर्वर्ण्य का सबसे शुरुआती उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में मिलता है हालाँकि यह हिस्सा ऋग्वेद में बाद में प्रक्षिप्त लगता है। ज़्यादा सम्भावना यह है कि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था अपने सुस्पष्ट रूप में परवर्ती वैदिक काल – यजुर्वेद, अथर्ववेद और प्रारम्भिक ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में उभरकर सामने आयी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच विभाजन का एक भौतिक आधार पशुपालन के ही दौर से मौजूद था। पशुपालक कबीलों में प्रायः दो अभिजात श्रेणियाँ उभरती देखी गयी हैं – एक जो पशुओं के रेवड़ लूटने और अपने रेवड़ों की सुरक्षा का दायित्व सँभालते थे और दूसरे वे जो पशुधन की

समृद्धि के लिए दैवी कृपा हेतु पशुबलि और अपने समाज की क़ीमती चीज़ें देवताओं को भेंट करने के अनुष्ठानों के विशेषज्ञ हुआ करते थे। कृषि की अवस्था में भी धार्मिक अनुष्ठानों की महत्ता मौजूद थी, देवता बढ़ गये थे और पूजा के रीति-विधान जटिल हो गये थे। साथ ही समाज व्यवस्था संचालन के लिए धार्मिक आचार संहिता बनाने का महत्व बढ़ गया था। पुरोहिती और वर्ण व्यवस्था को संरक्षण देने के अतिरिक्त कृषि कार्य के नियमन के लिए पंचांग के महत्व और इस विद्या पर ब्राह्मणों के एकाधिकार ने भी ब्राह्मणों की स्थिति को मज़बूत बनाया।

उल्लेखनीय है कि चातुर्वर्ण्य में घुलने-मिलने की क्रिया केवल ब्राह्मणों के स्तर पर ही नहीं हुई। राजन्य या क्षत्रिय भी इससे उतने ही प्रभावित थे क्योंकि आक्रमणों और विद्रोहों के कारण सशस्त्र शक्ति पर वंशगत एकाधिकार बनाये रख पाना कठिन था। विजित जनजातियों के मुखियाओं को भी कई बार राजन्य वर्ण में शामिल कर लिया जाता था। आगे चलकर नये भूभाग पर (अथवा विद्रोह करके) अपनी सत्ता स्थापित करने वाले कई शूद्र राजा भी क्षत्रिय मान लिये गये। उसके बाद तक बाहर से आक्रमण करके राज्य स्थापित करने वाले शासकों के कालान्तर में क्षत्रिय मान लिये जाने के साक्ष्य मिलते हैं। पुरोहितों और शासकों को कुछ सुनिश्चित भेंट देकर शूद्रों के स्वतन्त्र कृषक बन जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। अब शूद्रों और वैश्यों के बारे में कुछ बातें। वैश्य वर्ण के लोग पहले ग्राम समुदायों में कृषि-कार्य करते थे और शूद्र हेलॉट टाइप सेवकों के रूप में खेतों में काम करते थे। कृषि के क्षेत्र-विस्तार और उत्पादन प्रक्रिया में प्रगति के साथ श्रम-विभाजन संश्लिष्ट हुआ और विनिमय का महत्व बढ़ता चला गया। वैश्यों का एक हिस्सा व्यापार में जा लगा। यह प्रक्रिया बढ़ती गयी। बौद्ध मत के उदय की पूर्वबेला में अनेक उत्पादन कौशलों और उपकरणों के विकास के परिणामस्वरूप जो द्वितीय नगरीय क्रान्ति हुई उसमें व्यापार के विस्तार और विविधीकरण के चलते व्यापार क्षेत्र ने वैश्यों के अधिकांश भाग को अवशोषित कर लिया और कई नयी वणिक जातियाँ भी इस वर्ण में शामिल हो गयीं। खेती का काम अब ज़्यादातर शूद्र वर्ण का काम हो गया। और धीरे-धीरे हेलॉट जैसी उनकी स्थिति में भी थोड़ा बदलाव आया।

अब उन अन्त्यज जातियों के उद्भव की प्रक्रिया देखें जो चातुर्वर्ण्य के भी बाहर, सबसे नीचे थीं, जिन्हें समाज में व्यवस्थित होने के बाद, अशुद्ध काम करने वाले अस्पृश्यों और अन्य 'नीची' श्रेणी का काम करने वाली दास जातियों का दर्जा मिला। आर्यों द्वारा पराभूत होने वाले कई भोजन-संग्राही गण ही 'निम्नतम' जातियों में रूपान्तरित हुए। वे इतना नीचे थे कि चातुर्वर्ण्य के बाहर थे। मनुस्मृति में पशु फँसाने वाले सैरन्ध्र, नाविक कैवर्त, मछली पालने-पकड़ने वाले निषाद, जंगली जानवरों का शिकार करने वाले मेद, आन्ध्र, चुंचु और माद्गू, बिलों में रहने वाले जानवरों का शिकार करने वाले क्षत्री, पुक्कस और उग्र, बेंत का काम करने वाले पाण्डु, सोपाक और चमड़े का काम करने वाले कारावर और धिग्वण को 'संकर' जाति की श्रेणी में रखा गया है। मनु ने इन्हें चातुर्वर्ण्य के बाहर पन्द्रह *हीन वर्णों* की भी संज्ञा दी है। बौद्ध ग्रन्थों में चाण्डालों और निषादों का शिकारियों के रूप में वर्णन मिलता है। ये मूल अस्पृश्य जातियाँ थीं, जो शुरू से ही ग्राम समुदायों में आवासीय पृथग्वासन (aparthied) का शिकार थीं। जातक कथाओं में भी हमें शिल्पियों (धातुकर्मियों, काष्ठकारों) के भी अलग गाँव के उल्लेख मिलते हैं और मनुस्मृति में काष्ठकारों, रथकारों, चिकित्सकों को भी 'संकर' जातियों में रखा गया है। मुमकिन है कि द्वितीय नगरीय क्रान्ति के समय, उदीयमान

श्रम विभाजन के दबाव में, व्यापकतर समाज में अवशोषित हो रहे कबीलों के कुछ भाग अलग होकर हस्तशिल्पियों की अलग जातियाँ बन गये हों और उन्हें अन्त्यज या संकर की कोटि में रख दिया गया हो।

उपलब्ध साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि शुरू में चार वर्णों के भीतर, विशेषकर ऊपर के तीन वर्णों के भीतर, अन्त:विवाह या सगोत्रीय विवाह (Endogamy) के नियम नहीं थे। पर बाद में ये अन्त:विवाह के नियम से बँध गये। सम्भावना यह भी है कि जब कबीलों का व्यापकतर समाज में अवशोषण हुआ हो तो वे अपनी अन्त:विवाह-सम्बन्धी परम्पराओं को भी साथ लाये हों। वर्णों के भीतर अलग उपसमूहों के रूप में जातियों का उद्‌भव विभिन्न ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का परिणाम था। इसका मुख्य भौतिक आधार था, उत्पादक शक्तियों के साथ क्रमश: जटिल होता श्रम-विभाजन, जिसे सुव्यवस्थित करने के लिए राजनीतिक व्यवस्था के अतिरिक्त धार्मिक आवरण में सुनिश्चित सामाजिक आचार, पदानुक्रम और श्रेणी-विभाजन ज़रूरी था। अन्य जनजातीय समुदायों का वर्ण-व्यवस्था में समायोजन तभी सम्भव था जबकि उसके मूल्यतन्त्र को बनाये रखते हुए उन समुदायों की सीमारेखाएँ सुनिश्चित कर दी जायें। मनुस्मृति में ज़ोर देकर कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य *द्विजाति* (द्विज) हैं, शूद्र *एकजाति* हैं। पन्द्रह हीन वर्णों की चर्चा बाद में इनके भी बाहर की गयी है। इस प्रकार ऊपर के तीन वर्णों और शूद्रों के बीच और सवर्णों (शूद्र सहित) और अवर्णों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींच दी गयी। ब्राह्मण विधि-निर्माताओं द्वारा 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' कार्यों के नज़रिये से जो सामाजिक पद-सोपानक्रम निर्धारित किया गया, अस्पृश्यता उसकी तार्किक परिणति थी। 'नीची' जातियाँ वंशानुगत आधार पर अशुद्ध और दासोचित काम करने के लिए बाध्य थीं। लेकिन मुख्य बात यह थी कि वे अस्पृश्य जातियाँ किसानों या श्रेष्ठतर भू-स्वामियों के लिए कम से कम लागत पर कठिन श्रम करने के लिए उपलब्ध थीं और उन्हें स्वामित्व के अधिकार या नियमित किसान होने की मान्यता मिलने की कोई गुंजाइश नहीं थी। इन जातियों के प्रति शेष समाज में जो गहरी शत्रुता का भाव था उसका मूल स्रोत हितों का यही मूल टकराव था और 'शुद्धता'-'अशुद्धता' की धारणाएँ इसी तथ्य के औचित्य-प्रतिपादन का साधन थीं।

वैदिक कालों में दासों की संख्या बहुत कम थी। कृषि अर्थव्यवस्था के प्रारम्भिक दौर में ज़्यादातर दास उत्पादक श्रम के बजाय घरेलू कामों में लगे थे। चार सौ ईस्वी पूर्व से 100 ईस्वी पूर्व तक के पालि ग्रन्थों और **कौटिल्य** के **अर्थशास्त्र** के अनुसार, उत्तर-वैदिक और मौर्य काल में उत्तर-पूर्वी भारत में बड़े पैमाने पर दासों और कर्मकारों (भाड़े के मज़दूरों) का खेती के काम में इस्तेमाल किया जाता था। मौर्य काल में *राष्ट्रभूमि* (किसानों की ज़मीन) पर किसान भी दासों और भाड़े के मज़दूरों का इस्तेमाल करते थे और *सीताभूमि* (राजकीय फार्मों) का तो सारा काम ही इन्हीं के द्वारा होता था।

यह सही है कि जाति-सिद्धान्त को धर्म का अंग बनाकर और जातियों के सामाजिक आचार एवं पार्थक्य के धार्मिक नियम-विधान बनाकर ब्राह्मणों ने जाति-व्यवस्था को सार्वभौम बनाने और उसके रूप में सामाजिक श्रम-विभाजन को अश्मीभूत बनाने में सबसे मुख्य भूमिका निभायी। लेकिन इस प्रक्रिया में बौद्ध धर्म और जैन धर्म की सहायक भूमिका की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। आत्मा के गमनागमन का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का एक बुनियादी आधार था। यह जाति प्रथा का प्रकारान्तर से औचित्य-प्रतिपादन करता था और जाति प्रथा से

सर्वाधिक पीड़ित लोगों को विश्वास दिलाता था कि उनकी दुरवस्था उन्हीं के पूर्वजन्म के कर्मों का फल है और अपना कर्म करते हुए ही वे अगले जन्म में इससे मुक्त हो सकते हैं। मनुस्मृति में यह सिद्धान्त जाति प्रथा की विचारधारा का अभिन्न अंग है। पशुपालन की जगह कृषि के स्थापित हो जाने के बाद, और ब्राह्मणों द्वारा बड़े पैमाने पर पशुबलि का चलन नुकसानदेह हो जाने के बाद, बौद्ध धर्म द्वारा अहिंसा के सिद्धान्त-प्रतिपादन का एक भौतिक आधार था और पशुपालक वैश्यों में इसकी लोकप्रियता स्वाभाविक थी, लेकिन इसी के चलते भोजन-संग्राही गणों को दासता और निकृष्टता की दशा में धकेलने का नया औचित्य भी मिल गया। ब्राह्मण ग्रन्थों की ही तरह बौद्ध ग्रन्थ में भी पशु हत्या करने वाली जातियों को हीन बताया गया है। अहिंसा के इसी सिद्धान्त के चलते शूद्रों के अतिरिक्त जो वैश्य खेती में लगे थे, वे भी शूद्र माने जाने लगे। जिस प्रकार मनुस्मृति ने हल की लोहे की नोक से जीव-हत्या की निन्दा की और बौधायन ने वेद पढ़ने वालों को खेती से दूर रहने को कहा, उसी प्रकार बुद्ध ने भी हल चलाने और खेत की सिंचाई से जीवन की क्षति होने के कारण भिक्षुओं को खेती से दूर रहने का आदेश दिया। अहिंसा का सिद्धान्त जैन धर्म का भी था और उसका भी तात्कालिक सामाजिक जीवन पर यही प्रभाव पड़ा। इससे भी आगे बढ़कर, जैन धर्म ने ब्राह्मणवाद जैसी ही कठोर जाति-व्यवस्था विकसित की। **जिनसेन** के **आदिपुराण** और **हेमचन्द्र** के **आदिश्वरचरित** के अनुसार आदिनाथ ऋषभ ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः अपनी बाँहों, जाँघों और पैरों से पैदा किया और जैन नीति-वचनों के अनुसार, उनके पुत्र और उत्तराधिकारी भरत ने धार्मिक कार्य सम्पन्न करने के लिए ब्राह्मणों का निर्माण किया। जैन धर्म भी ब्राह्मण विधि-निर्माताओं की ही तरह जातिगत पेशों के वंशानुगत निर्धारण की बात करता है, शूद्रों और दस्तकारों के प्रति समान धार्मिक पूर्वाग्रह दिखाता है और चाण्डालों को 'अशुद्ध' बताता है।

भारत के प्राक-सामन्ती समाज में ही बौद्ध मत के उदय (500 ईस्वी पूर्व के आसपास) से लेकर गुप्त साम्राज्य (चौथी-पाँचवीं सदी ईस्वी) तक के दौरान बढ़ते और जटिल होते श्रम विभाजन और अनार्य गणसमूहों के व्यापकतर आर्यगण समाज में अवशोषण की लम्बी प्रक्रिया के स्वरूप चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से कई जातियों वाली जाति-व्यवस्था अपने सुव्यवस्थित नियम-विधानों सहित अस्तित्व में आ चुकी थी। इनमें से कुछ जातियाँ चार वर्णों के सोपानक्रम के भीतर थीं, पर यह पहले जैसा चातुर्वर्ण्य नहीं था और कुछ अवर्ण जातियाँ (उनमें भी ऊँच-नीच और छूत-अछूत का पदानुक्रम था) इससे बाहर रखी गयी थीं। 'शुद्ध'-'अशुद्ध' की स्पष्ट विभाजक रेखा बनायी जा चुकी थी। अन्तःजातीय विवाह (Intracaste marriage) के नियम रूढ़ हो चुके थे। यहाँ यह उल्लेख ज़रूरी है कि श्रम विभाजन की जिस प्रगति के साथ जाति-व्यवस्था संघटित हुई थी, उसी प्रक्रिया की एक परिणति के तौर पर समाज में स्त्रियों की मातहती पैदा हुई थी और सजातीय-सगोत्रीय अन्तःविवाह की प्रथा स्थापित हुई थी, जिसने, आर्थिक स्तर पर, मुख्य लक्ष्य "विशेष कौशल" को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचित करने में अहम भूमिका निभायी, लेकिन दूसरी ओर समाज में क्षैतिज गतिशीलता की सम्भावनाएँ भी कम हो गयीं। कबीलाई व्यवस्था के भीतर से जनपदों के छोटे राज्य और फिर साम्राज्य विकसित हुए। इस तरह राज्यसत्ता का विकास हुआ। नगरों में तो निजी सम्पत्ति का स्वरूप अधिक स्पष्ट था, पर ग्राम समुदायों में भी जातिगत विशेषाधिकारों और पेशों के आधार पर काम के, उत्पादों और सुविधाओं के बँटवारे के आधार पर निजी स्वामित्व का पहलू मौजूद

था। इस तरह यहाँ सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) और स्त्रियों की पराधीनता आधारित परिवारों, निजी स्वामित्व और राज्यसत्ता के आविर्भाव की ऐतिहासिक प्रक्रिया घटित हुई। सापेक्षत: कठोर श्रम-विभाजन, स्वामित्व के रूपों का निर्धारण और वितरण के नियमों का निर्धारण – इन तीन पहलुओं को देखें, तो जाति-व्यवस्था अपनेआप में उत्पादन-सम्बन्ध बनती थी। इस उत्पादन-सम्बन्ध से उत्पन्न और फिर इसे प्रभावित करने वाली तथा संचालित करने वाली धार्मिक विचारों-संस्थाओं की धर्म आधारित राजनीतिक-सामाजिक संस्थाओं एवं आचारों की एक अधिरचनात्मक अट्टालिका थी। अलग-अलग जातियों के समूहों से ही वर्ग संघटित हुए थे। शासक वर्ग (मुख्यत: क्षत्रिय), सत्ता के नीति नियामक सिद्धान्तकार (ब्राह्मण), व्यापारी (वैश्य), किसान जातियाँ (शूद्र) और फिर कृषि कार्य व अन्य विविध शिल्पों से जुड़ी अवर्ण/अन्त्यज/अस्पृश्य जातियों की दास (निश्चय ही अपने होमेरिक समकक्षों जैसे नहीं) या बँधे हुए, पराधीन मज़दूरों की आबादी जिसे केवल श्रम करके जीवन-यापन का अधिकार था, अन्य कोई आर्थिक या सामाजिक अधिकार नहीं था। इस तरह, प्राचीन भारत में वर्ग और जाति एक-दूसरे को अतिच्छादित (overlap) करते थे, फ़र्क यह था कि जातियाँ ऐसे वर्ग थीं, जो वंशानुगतता/अन्त:विवाह के कारण अचल थीं, रूढ़ थीं। जाति-व्यवस्था का तन्त्र ऐसा था कि कम से कम बलप्रयोग करके उत्पादकों से अधिकतम अधिशेष निचोड़ा जा सकता था, पर किसान और उनसे भी अधिक, अस्पृश्य कामगार जातियों के प्रति रोज़मर्रा के जीवन में बर्बर हिंसा और अपमान का व्यवहार निहित था। धार्मिक अधिरचना का वर्चस्व विद्रोहों की सम्भावना को क्षीण बनाना था (फिर भी हमें कुछ विद्रोहों के संकेत मिलते हैं)।

सामन्तवाद के विभिन्न दौरों में जाति-व्यवस्था

उत्पादक शक्तियों के मन्थर गति से विकसित होने के बावजूद, एक दौर आया जब उनके दबाव से प्राक्-सामन्ती भारत के उत्पादन-सम्बन्ध चरमराने और फिर टूटने लगे, जिसकी परिणति भारतीय सामन्तवाद के उद्भव के रूप में सामने आये। यहाँ प्रारम्भिक मध्यकाल में सामन्तवाद के उद्भव और विकास की प्रक्रिया के बारे में इतिहासकारों के बीच मौजूद मतभेदों की चर्चा सम्भव नहीं, न ही जाति-विषयक हमारे विमर्श में उसकी कोई विशेष आवश्यकता है। विस्तृत होते भूभागों पर कृषि उत्पादन पर नियन्त्रण बनाये रख पाना कालान्तर में साम्राज्यों की राज्यसत्ता के लिए असम्भव होता चला गया, अत: विकेन्द्रीकरण के लिए दबाव बढ़ा और बड़े पैमाने पर मन्दिरों और बौद्ध मठों को ज़मीनें दानस्वरूप दी गयीं। मठ और मन्दिर इन ज़मीनों पर निचली जातियों के भाड़े के मज़दूरों, सेवकों और ग़रीब किसान जातियों से काम कराते थे, या ग्राम समुदायों को पट्टे पर दे देते थे। राजकीय स्वामित्व और ग्राम समुदायों के स्वामित्व की ज़मीनें भी थीं। सम्राट या बड़े राजे अपने मातहत शासकों से कर वसूलते थे और वे शासक अपने क्षेत्र के ग्राम समुदायों पर शासन करते थे। मुमकिन है कि कालान्तर में गाँवों के भीतर से भी भू-स्वामियों का एक वर्ग उभरा हो जो सशस्त्र शक्ति रखता हो तथा राज्य और किसानों के बीच लगानजीवी मध्यवर्ती की भूमिका निभाता हो। स्थिति चाहे जो भी हो, इन परिवर्तनों से ग्राम समुदायों की आन्तरिक संरचना पर, विशेषकर किसान जातियों और 'निम्नतम' श्रेणी के दस्तकारों, अस्पृश्य जातियों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

दक्षिण भारतीय समाज पर भी यदि दृष्टि डालें (जो सातवाहनों के समय ही ब्राह्मणवाद

के प्रभाव में आ चुका था), तो वहाँ भी, ईसा पश्चात पहली सहस्राब्दी के मध्य तक ग्राम समुदायों की किसान आबादी शक्तिशाली सामन्तों के कमरतोड़ लगान के नीचे पिस रही थी, पहले समुदायों में उपभोग किये जाने वाले अधिकारों से भी वे वंचित हो चुके थे और समुदायों के मुखिया धीरे-धीरे सामन्ती ज़मींदारों जैसी हैसियत पा चुके थे। जाति संरचना यहाँ थोड़ी भिन्न थी। क्षत्रिय श्रेणी की कोई जाति यहाँ नहीं थी। ऊपर ब्राह्मणों के नीचे किसान (शूद्र) जातियाँ थीं और निचली जातियों की नारकीय स्थिति उत्तर जैसी ही थी। यहाँ के सामन्त किसान जातियों से ही उभरे थे। दक्षिण की अर्थव्यवस्था में तटवर्ती नगरों की विशेष भूमिका थी। यहाँ पल्लवों, चालुक्यों, चोलों के विशाल साम्राज्यों के अन्तर्गत ज़मीन पर राजकीय स्वामित्व मौजूद रहा और ज़्यादातर सामन्तों की स्थिति गैर-मौरूसी ज़मींदारों की थी।

पूर्वी भारत (बंगाल से त्रिपुरा तक का क्षेत्र, जो प्राक्-सामन्ती काल में – गुप्त वंश के शासनकाल तक ब्राह्मणवाद के प्रभाव में आ चुका था) में भी सामन्ती भूमि सम्बन्धों का विकास हुआ। यहाँ भी क्षत्रिय और वैश्य जातियाँ नहीं थीं और सत्ता के लिए टकराव और समझौते ब्राह्मणों और शूद्रों के बीच हुए। यहाँ ज़्यादातर शूद्र राजा थे जिन्होंने क्षत्रिय बनने की नाकामयाब कोशिश भी की। संस्कृतीकरण की इस प्रक्रिया का बस इतना परिणाम हुआ कि कुछ शूद्र जातियों की स्थिति अन्यों से बेहतर हो गयी। जहाँ तक "निम्न" जातियों की बात है, तो उनकी सामाजिक स्थिति शेष भारत से एकदम भिन्न नहीं थी।

छठी शताब्दी के बाद, कई कारणों से, जिनकी चर्चा यहाँ अवान्तर प्रसंग होगा, सामन्ती भारत में, कुछ आगे-पीछे, व्यापार और नगरों के शिल्प में गिरावट की प्रक्रिया शुरू हुई और विनगरीकरण या ग्रामीणीकरण की प्रक्रिया तेज़ होती चली गयी। (हालाँकि दक्षिण-भारत में तटवर्ती नगरों से व्यापार जारी रहने के चलते वहाँ स्थिति थोड़ी भिन्न थी।) काफ़ी कारीगर आजीविका के लिए गाँवों में वापस जाकर कुछ खेती और कुछ दस्तकारी में लग गये। जातियों का और अधिक विभेदीकरण और उपविभेदीकरण हुआ और यह नयी आबादी 'निम्न' शूद्र और उसके नीचे की जातियों के रूप में व्यवस्थित हो गयीं। ग्यारहवीं सदी में **अलबरूनी** ने बुनकरों-मोचियों सहित आठ जातियों को समाज बहिष्कृत अन्त्यज जातियों की श्रेणी में रखा था। कारीगरों के शहरी गिल्ड समाप्त हो गये। जाति-व्यवस्था में पेशों की वंशानुगतता के चलते अतीत में उत्पादक शक्तियों के विकास में जो भी मदद मिली थी, वह स्थिति भी अब नहीं रही। ग्राम समुदाय अलग-थलग और आत्मनिर्भर हो गये। विनिमय काफ़ी हद तक गाँव की सीमाओं में सिमट गया और ग्राम समुदायों को अपने आयातों के बदले अधिक फालतू उपज देने की ज़रूरत नहीं रही। केवल नमक और धातु जैसी कुछ चीज़ें ही बाहर से मँगानी पड़ती थीं। इन बदलावों से ग्राम समुदाय शासक वर्ग को अधिक अधिशेष दे पाने में सक्षम हो गये। पहले से भी अधिक रूढ़ हो चली जाति-व्यवस्था का स्वरूप पूरे ग्राम समुदाय के सेवक 'निम्न' जातियों और उन्हीं में शामिल दस्तकारों के लिए और अधिक उत्पीड़क हो गया जो वस्तु रूप या भूमिदान के रूप में अपने श्रम का भुगतान पाते थे। इसे मैक्सवेबर ने "दैवी श्रम" का नाम दिया है। इसी समय जजमानी और बलूतदारी प्रथा का भी विकास हुआ जिसे मा-ले धारा के कई लेखकों और अन्य शोधकर्ताओं ने अपने लेखों में मध्ययुगीन सामन्ती शोषण का मुख्य रूप माना है। लेकिन दस्तावेज़ी साक्ष्य बताते हैं कि जजमानी केवल परिवार के पुरोहितों पर लागू होती थी। बढ़ई, लोहार, नाई, मोची आदि बारह पारम्परिक "बलूत" पूरे ग्राम समुदाय के लिए काम करते थे और अपना पारिश्रमिक भूमिदान या फसल के भाग के

रूप में पाते थे। मध्य युग के दौरान भी बहुत सारी जनजातियों के जाति-व्यवस्था में निचले पायदान पर अस्पृश्य या *अतिशूद्र* के रूप में शामिल होने की प्रक्रिया मध्य भारत से लेकर गुजरात-महाराष्ट्र तक जारी रही। भोजन-संग्राही, पशुपालक और प्रारम्भिक खेती करने वाली जो जनजातियाँ इस व्यवस्था से अलग रहीं उन्हें भी ब्राह्मण नीच और अछूत मानते रहे और उन्हें 'म्लेच्छ' कहा जाता रहा। इनका एक छोटा हिस्सा ही ब्रिटिश काल में ईसाइयत के प्रभाव में आया। आज भी आदिवासी समुदाय का अलग अस्तित्व कायम है और हिन्दुत्ववादी फासिस्ट उनके "हिन्दूकरण" के लिए काफ़ी प्रयासरत हैं और कहीं-कहीं उन्हें सीमित सफलता भी मिली है। ब्राह्मण धर्म के लिए हिन्दू धर्म संज्ञा का इस्तेमाल भी मध्ययुग में ही चलन में आया।

तेरहवीं सदी के आरम्भ से भारतीय सामन्तवाद की संरचना में कुछ महत्वपूर्ण बदलाव आने शुरू हुए, जिनका एक कारण इस्लाम का आगमन भी था, लेकिन इससे जाति-व्यवस्था में पद-सोपानक्रम में कुछ जातियों के ऊपर-नीचे होने और कुछ नयी जातियों-उपजातियों के अस्तित्व में आने के अतिरिक्त कोई मूलभूत अन्तर नहीं आया। इस्लाम द्वारा बहुदेववाद और मूर्तिपूजा की वर्जना तथा मुक्त व्यक्ति और दास तथा स्त्री-पुरुष के अन्तर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के अन्तर की अस्वीकृति के बावजूद, जाति-व्यवस्था इस्लामी शासकों को ग्राम समुदायों से राजस्व वसूलने और नगरों से उजरत रूपी लागत को कम रखने में विशेष सहायक प्रतीत हुई। इसलिए युद्धों और विद्रोहों के दमन में मन्दिरों के ध्वंस या हिन्दू आबादी के दमन के अतिरिक्त उन्होंने आबादी के धर्मान्तरण की कोई कोशिश नहीं की, जाति-व्यवस्था में निहित दमन के प्रति उदासीन रहे, 'उच्च' जाति के हिन्दुओं को प्रशासन में अहम स्थान दिये और मातहती स्वीकारने वाले हिन्दू राजाओं के प्रति मैत्री भाव रखा। नये शासकों के साथ दस्तकारी की व्यापक नयी तकनोलॉजी आयी, नये व्यवसायों के चलते दस्तकार आबादी का काफ़ी विस्तार हुआ और भारतीय इतिहास की तीसरी "नगरीय क्रान्ति" की शुरुआत हुई। शुरू में नये व्यवसायों व निर्माण कार्यों के लिए बड़े पैमाने पर दासों का व्यापार भी हुआ। 13वीं-14वीं शताब्दियों में दास श्रम नगरीय श्रम का महत्वपूर्ण घटक था। इस्लाम स्वीकार करने के बाद इन दासों को कोई भी हुनर सिखाकर किसी भी काम में लगाया जा सकता था। कालान्तर में दासता से मुक्त होकर ये लोग शहरी दस्तकार और अनेक मेहनतकश समुदायों के प्रमुख बन गये। कुछ स्वतन्त्र लोगों ने भी इस्लाम स्वीकार किया और हिन्दू धर्म की 'निम्न' जातियों के उन लोगों ने भी धर्मान्तरण किया जो अपनी हीन स्थिति से उबरकर ऐसे पेशे अपनाना चाहते थे जो पहले वे नहीं कर सकते थे। इस तरह मुस्लिम आबादी में भी काफ़ी बढ़ोत्तरी हुई। पर धर्मान्तरित आबादी अपने साथ जाति-व्यवस्था का प्रभाव लेकर आयी। बुनकरों, कसाइयों, हज्जामों आदि में अन्त:विवाह की प्रथा चलन में थी। मुसलमानों में भी 'नीची' हिन्दू जातियों के समकक्ष 'कमीन' समुदाय विकसित हुए। फिर भी मुस्लिम आबादी का कुछ भाग जातिगत संरचना से बाहर रहा और जो इससे प्रभावित थे, उनके लिए भी व्यवसाय परिवर्तन या अन्त:विवाह नियम का उल्लंघन सम्भव था। कालान्तर में यह आबादी जब पूरे देश के गाँवों-शहरों में फैली तो "कमीन" समुदाय के मुस्लिम दस्तकारों और मज़दूरों को सवर्ण हिन्दू समाज अछूतों के ही समकक्ष देखता था और उनकी आर्थिक स्थिति भी वैसी ही हो गयी। आगे चलकर, ब्रिटिश शासन में भी ज़मींदारियाँ और ऊँची नौकरियाँ शेख-सैयद-पठानों को ही मिलीं। व्यापक मुस्लिम आबादी की स्थिति बद से बदतर होती गयी

और आज़ाद भारत में भी आजतक "कमीन" मुसलमानों की स्थिति कमोबेश दलितों के ही समकक्ष है।

पीछे, अपनी चर्चा के काल पर वापस लौटें। सापेक्षत: जातिविहीन मुस्लिम आबादी की उपस्थिति से हिन्दू जाति-व्यवस्था की ताक़त पर कोई फ़र्क नहीं पड़ा। फ़र्क बस इतना पड़ा कि व्यवसायों के विस्तार से कुछ जातियाँ नयी उपजातियों में विखण्डित हो गयीं और अन्त:विवाह को अपनाकर स्थायी बन गयीं। कुछ जातियों के ऊपर चढ़ने के साथ 'संस्कृतीकरण' की प्रक्रिया भी घटित हुई। जैसे, जाट 8वीं सदी में चाण्डालों के समकक्ष पशुपालक कबीला थे, 11वीं सदी तक उनकी स्थिति शूद्र की हो गयी और 17वीं सदी तक वे खुदकाश्त खेती करने वाले वैश्य श्रेणी के श्रेष्ठ किसान बन चुके थे। सत्रहवीं सदी के जाट विद्रोहों के बाद कुछ जाट, ज़मींदारों और राजपूतों की सामाजिक स्थिति हासिल करने की कोशिश करने लगे। लोक एकेश्वरवादी आन्दोलनों (निर्गुण भक्ति आन्दोलन, जिसकी चर्चा आगे 'निम्न' जातियों के आन्दोलनों के सन्दर्भ में आयेगी) का भी एक प्रभाव यह हुआ कि कुछ जातियाँ जाति-व्यवस्था के दायरे से बाहर जाकर जब वापस लौटीं तो उच्चतर श्रेणी में लौटीं। कुल मिलाकर, पूरे मध्यकाल के दौरान, गतिशीलता और प्रतिस्पर्धा के कुछ तत्वों की मौजूदगी के बावजूद, जाति-व्यवस्था का ढाँचा लगभग अक्षुण्ण बना रहा, श्रम-प्रक्रिया के स्वरूप को वही निर्धारित करती रही।

लेकिन यहीं पर हम परवर्ती मध्यकाल में आये कुछ ऐसे बदलावों की ओर ध्यान केन्द्रित करना चाहेंगे जो उपनिवेशीकरण न हो पाने की स्थिति में पूँजीवादी विकास की ऐसी सम्भावनाओं के द्वार खोल सकते थे, जो जाति-व्यवस्था को भी विघटन की दिशा में धकेल सकती थीं। इस मुद्दे की प्राय: या तो अनदेखी की गयी है या फिर अधूरी-असन्तुलित व्याख्याएँ की गयी हैं। अग्रणी मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच आज इस स्थापना पर आम सहमति है कि एक सापेक्षत: अलग-थलग इकाई होने के बावजूद भारतीय गाँवों के जनसमुदाय में श्रेणी-विभाजन और स्तर-विन्यासीकरण मार्क्स की सोच से बहुत अधिक था और वर्ग-विभेद जनित टकरावों की आन्तरिक गति मौजूद थी। व्यक्तिगत अधीनस्थता सामूहिक अधीनस्थता के साथ विविध रूपों में जुड़ी हुई थी। यह सही है कि लगान और राजस्व के एकीभूत हो जाने के कारण राज्य ही भू-स्वामी था, लेकिन गाँवों का अतिरिक्त उत्पादन समग्रत: राज्य (या उसके सुपुर्ददारों) के हाथों में नहीं जाता था, बल्कि वंशानुगत रूप से उसमें हिस्सा बाँटने वाला एक समूचा वर्ग मौजूद था जिसे मुगलकाल में ज़मींदार कहते थे। राजस्व वसूलने वाले सुपुर्ददार बड़े लोगों ने भी खुदकाश्त और मीरासदार के तौर पर अपनी ज़मीन पर भाड़े की खेती करानी शुरू कर दी थी। ऐसी व्यक्तिगत अधीनस्थता का मुख्य कारण जाति-व्यवस्था ही थी जिसने ग्रामीण मज़दूरों का एक विशाल वर्ग संघटित किया था। किसान ज़मींदारों को खेतों का मालिक समझते थे और ज़मींदार उन्हें खेतों से बेदख़ल भी कर सकते थे। ज़मींदारों, मीरासदारों और खुदकाश्तों के अधिकार में स्पष्टत: निजी भू-स्वामित्व के तत्व मौजूद थे। यह कुछ-कुछ उस सामन्ती भू-स्वामित्व जैसा ही था जो 'फ़ीफ़' और 'मेनर' प्रणालियों के लोप के उपरान्त यूरोप में पैदा हुआ था। यह स्वाभाविक ही है कि मुगल साम्राज्य का पतन मूलत: कृषि संकट के कारण हुआ। सजातीय बड़े किसानों और मीरासदारों की सहायता से प्राय: ज़मींदारों ने साम्राज्य की केन्द्रीभूत निरंकुश सत्ता के विरुद्ध किसान विद्रोहों का नेतृत्व किया और उसके पतन के बाद किसानों पर अपने अधिकार को व्यापक

और सुदृढ़ बना लिया। एशियाई उत्पादन-प्रणाली और निश्चल ग्राम समुदायों के बारे में स्वयं मार्क्स की धारणाएँ भी परिवर्तनशील रहीं। उन्होंने बाद में माना था कि ग्राम समुदाय एक निश्चल और गतिहीन प्रणाली के रूप में शायद ही कभी अस्तित्व में रहे हों। उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में भी सामुदायिक कृषि व्यवस्था का व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था में रूपान्तरण गति पकड़ चुका था।

प्राक्-औपनिवेशिक भारत में मुद्रा के रूप में लगान भुगतान, ज़मींदारी के अधिकार का विक्रेय हो जाना, वाणिज्य, बैंकिंग, बीमा (धन-निक्षेप, हुण्डियों और विनिमय पत्रों के व्यापक उपयोग) और सुदूर बाज़ारों के लिए उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करने वाले शहरी केन्द्रों का पर्याप्त विकास हो चुका था। फिर भी मुख्यतः ग्राम समुदायों के अतिरिक्त उत्पादन का ही अधिकांश उत्पादन सामग्रियों में रूपान्तरित हो पाना तथा नगर और वाणिज्य का राज्य द्वारा लागू खेती के शोषण की प्रणाली पर निर्भर बने होना पूँजीवादी विकास की राह की एक बाधा थी। साथ ही, तीव्र और व्यापक वाणिज्यिक गतिविधियों को अपने आप में पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली नहीं माना जा सकता। भारत में विकसित व्यापारिक पूँजी दादनी प्रथा के ज़रिए कारीगरों पर अपना नियन्त्रण रखती थी। यानी व्यापारी ही कारीगरों को ज़रूरत लायक़ उत्पादन के लिए कर्ज़ और कच्चा माल देते थे। इस नियन्त्रण और बेहद कम मज़दूरी के चलते ऐसी नयी तकनीक और औज़ार अपनाने की सम्भावना कम हो जाती थी जो कम श्रम से अधिक काम सम्भव बना सके। **इरफ़ान हबीब** इसे मध्यकालीन भारत में पूँजीवादी विकास की राह की सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। लेकिन आश्चर्य है कि उन्होंने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया है कि भारत में दादनी प्रथा से अलग भी उत्पादन के संगठन मौजूद थे जहाँ स्वतन्त्र उस्ताद दस्तकारों की कार्यशालाओं में श्रम का बँटवारा मौजूद था (जो पूँजीवाद के अंकुरण की पूर्वशर्त है)। अकबर के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक बंगाल, बिहार, अवध, सूरत और कश्मीर में ऐसे समृद्ध उस्ताद बुनकरों, प्रिण्टरों, बढ़इयों की स्वतन्त्र कार्यशालाओं के प्रभूत प्रमाण मिले हैं जहाँ कई-कई सौ अप्रेण्टिस और भाड़े के मज़दूर काम करते थे। **सतीशचन्द्र** के अनुसार, प्राक्-औपनिवेशिक भारत में गुजरात, कोरोमण्डल और मलाबार के समुद्रतटीय क्षेत्र पूँजीवादी विकास की प्रारम्भिक मंज़िल में प्रविष्ट हो चुके थे। तटवर्ती क्षेत्रों पर अंग्रेज़ों के अधिकार के बाद विदेश व्यापार और आन्तरिक व्यापार का ताना-बाना छिन्न-भिन्न होने से ये उद्यम नष्ट हो गये। इतिहासकार **पाव्लोव** ने इस बात पर भी उचित ही आश्चर्य व्यक्त किया है कि आबादी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली देहाती दस्तकारियों के भीतर निहित पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं की ओर **इरफ़ान हबीब** ने ध्यान ही नहीं दिया है। यह प्रस्थापना समाज की आन्तरिक गतिकी का निषेध करने वाली प्रस्थापना है कि यदि उपनिवेशीकरण नहीं होता तो भारत में पूँजीवादी विकास होता ही नहीं। पूँजीवाद विश्व इतिहास की पहली सार्विक और सर्वसमावेशी प्रवृत्ति है, जो हर प्रकार की प्राक्-पूँजीवादी संरचना को येन-केन-प्रकारेण तोड़ डालने या अधीन कर लेने की क्षमता रखती है। राह चाहे जो हो, गति चाहे जितनी मन्थर हो, एक बार किसी समाज में जब माल-उत्पादन की और स्वयं श्रम शक्ति के माल बन जाने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है तथा मौद्रिक सम्बन्धों और बाज़ार का विकास तेज़ हो जाता है तो यह प्रवृत्ति प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के सारे बन्धनों को तोड़ते हुए पूरे समाज को अपने आगोश में ले ही लेती है। यदि भारत का उपनिवेशीकरण नहीं हुआ होता तो भारत में भी दस्तकारी से मैन्यूफैक्चरिंग की ओर जो यात्रा शुरू हो रही थी, वह

आगे बढ़ती, निरन्तर विकसित उत्पादक शक्तियाँ प्राक-पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों को तोड़ देतीं, पूँजी समाज के पोर-पोर में घुस जाती, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों के तथा मूलाधार और अधिरचना के टकराव वर्ग संघर्षों के रूप में फूट पड़ते, अन्ततः नया मूलाधार स्थापित होता और पुरानी बिखरती सामाजिक-सांस्कृतिक अधिरचना पर नयी अधिरचना हावी होती चली जाती। इस प्रक्रिया में जाति-व्यवस्था का भी नैसर्गिक ढंग से क्षरण-विघटन हो जाता। उपनिवेशवाद ने इस प्रक्रिया को नष्ट कर दिया और अर्द्धसामन्ती-औपनिवेशिक संरचना में जाति-व्यवस्था थोड़े बदलावों के साथ मूलाधार और अधिरचना में बनी रही।

लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन की अन्तर्वस्तु : एक पुनर्मूल्यांकन

यहीं पर, आवश्यकता इस बात की है कि हम लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन (निर्गुण भक्ति आन्दोलन) का एक ऐतिहासिक पुनर्मूल्यांकन करें। इस आन्दोलन के नेता सत्ताश्रित और जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विशेषाधिकार-प्राप्त बौद्धिक समुदाय के सदस्य नहीं थे। वे छीपी, जुलाहा, चमार, धुनिया, नाई जैसी किसी 'निम्न' जाति के या छोटे किसानों की किसी 'निम्न' जाति के सदस्य थे। वर्ग दृष्टि से उनका सामाजिक आधार भूमिहीन खेत मज़दूरों, दस्तकारों और छोटे व्यापारियों में था। इरफ़ान हबीब की शिकायत है कि इस आन्दोलन के विविध धार्मिक पन्थों के अनुयायियों ने स्वयं को कभी किसान नहीं समझा और किसानों के किसी भी हिस्से की आर्थिक या सामाजिक माँगों को नहीं उठाया। एक जाति के किसान दूसरी जाति के किसानों से जुड़ नहीं सके और किसानों की वर्ग-चेतना के विकास में बाधा पहुँची। इस सन्दर्भ में, पहली बात तो यह ग़ौरतलब है कि यह आन्दोलन केवल किसानों का आन्दोलन नहीं था, इसकी विविध उपधाराएँ थीं। इनमें तमाम दस्तकार और कामगार शामिल थे जो सबसे नीचे की जातियों से आते थे। इनका साझा मुद्दा बनता था उस जाति-व्यवस्था को आधार देने वाले धार्मिक विधि-विधानों पर चोट करना जो उत्पादन-सम्बन्धों को भी निर्धारित करती थी और सामाजिक उत्पीड़न का भी बर्बर रूप थी। यदि यूरोपीय धर्मसुधार आन्दोलन को भी देखें तो उसमें भी लूथर की धारा उदारवादी धारा थी, मुंजर की उग्र-परिवर्तनवादी धारा ने किसानों की माँगों को भी उठाया और काल्वैं की धारा सर्वाधिक आमूल परिवर्तनवादी उदीयमान बुर्जुआ वर्ग की माँगों का प्रतिनिधित्व करती थी। लूथर ने आरम्भिक बुर्जुआ दृष्टिकोण प्रकट करने के बाद आरम्भिक बुर्जुआ मानवतावाद और मुक्त व्यापार के सिद्धान्त की आलोचना की और 1525 के महान किसान युद्ध में सत्ताधारियों का पक्ष लिया। धार्मिक किसान नेता मुंजर आमूलगामी किसान-प्लेबियन पक्ष का प्रतिनिधि था और उसका राजनीतिक कार्यक्रम समतावादी यूटोपियाई कम्युनिज़्म के काफ़ी निकट था। यह सही है कि केन्द्रीभूत सत्ता के विरुद्ध मराठों के विद्रोह के परिणामस्वरूप स्थापित मराठा राज्य कोई 'किसान राज्य' नहीं था। उसने मराठा ज़मींदारों की सत्ता को जन्म दिया, मीरास पट्टेदारियों का विस्तार हुआ और कुनबियों और निचली जातियों की स्थिति प्रायः वही बनी रही। समता और जनवाद के मामले में, जाट किसानों के विद्रोह को स्वर देने वाले सिख धर्म का चरित्र सर्वाधिक रैडिकल था, पर उसके परिणामस्वरूप क़ायम सिख राज्य भी किसी किस्म का 'किसानी राज्य' नहीं था और आगे चलकर सिख धर्म भी ऊँच-नीच जातियों के भेद से अछूता नहीं रहा। लेकिन हमें याद रखना होगा कि यूरोपीय धर्म सुधार आन्दोलन का इस्तेमाल भी आगे चलकर कई रियासतों के

राजकुमारों ने तथा इंग्लैण्ड, स्कैण्डेनेविया और (राजा की निरंकुश सत्ता के विरुद्ध) फ्रांस के सामन्ती कुलीनों ने किया। जैसे मध्य सोलहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप में 'काउण्टर रिफॉर्मेशन' ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के प्रसार को रोक दिया, उसी तरह भारत में भी सुधरी हुई जाति-व्यवस्था, ब्राह्मणों की सर्वोच्चता और मूर्ति पूजा के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए हमें तुलसीदास की सगुण भक्ति धारा दीखती है। हमारा उद्देश्य यहाँ यूरोपीय धर्म सुधार आन्दोलन में लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन का प्रतिरूप ढूँढ़ना नहीं है। सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं में भिन्नता के हिसाब से दोनों में भिन्नताएँ थीं। हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करना है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में वर्ग संघर्ष की अपनी एक स्वतन्त्र आर्थिक गतिकी मौजूद थी, जिसमें (उपनिवेशीकरण न होने की स्थिति में) ऐसे पूँजीवादी विकास की सम्भावनाएँ मौजूद थीं जो जाति-व्यवस्था को ध्वस्त कर सकती थीं क्योंकि तत्कालीन भारत में जाति समूहों और वर्गों के वर्णक्रम एक-दूसरे को लगभग अतिच्छादित (overlap) करते थे। सम्भव है कि उपनिवेशीकरण न होने की स्थिति में भारत में अठारहवीं शताब्दी के गतिरोध के भीतर से मानवतावाद के मूल्यों के वाहक किसी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का जन्म होता। या फिर रूस की तरह, मन्थर गति से बुर्जुआ विकास के साथ-साथ मानववाद, राष्ट्रवाद और क्रान्तिकारी जनवाद के मूल्य विकसित होते। स्थिति चाहे जो भी होती, जाति-व्यवस्था के क्षरण-विघटन की परिणति तो अवश्यम्भावी होती। यह सवाल केवल लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन के पुनर्मूल्यांकन का ही नहीं है, इसी आलोक में इस तथ्य को ठीक से समझा जा सकता है कि उपनिवेशीकरण ने किस तरह भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति की हत्या कर दी और जाति-व्यवस्था को दीर्घजीवी होने के लिए नयी ताक़त दी।

औपनिवेशिक दौर में जाति-व्यवस्था

यूरोपीय कम्पनियाँ जब भारत में आयीं उस समय वे भारत में उत्पादित माल यूरोप के बाज़ारों में ले जाकर बेचती थीं। जल्दी ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने युद्धों में और व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में अन्य यूरोपीय कम्पनियों को पीछे धकेल दिया और भारतीय सामन्तों की फूट-कलह और कमज़ोरी का लाभ उठाकर देश के अलग-अलग भूभागों को कब्ज़े में लेने की भी शुरुआत कर दी। प्लासी और फिर बक्सर की लड़ाइयों के बाद वह देश की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति बन गयी। राजाओं-महाराजाओं, सेठों-व्यापारियों से अकूत सम्पदा लूटकर ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति के लिए आद्य-पूँजी संचय का अम्बार जुटाया जाने लगा। कारीगरों और दस्तकारों के साथ स्वेच्छाचारिता लूट की हद तक पहुँच गयी। फिर वह दौर आया जब ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति आगे क़दम बढ़ा चुकी थी। बड़े पैमाने का कारख़ाना-उत्पादन भारतीय दस्तकारी को अब प्रतियोगिता में पछाड़ सकता था। ब्रिटिश मालों के भारत में आयात के गति पकड़ते ही भारतीय दस्तकारी तबाह हो गयी। ढाका और सूरत जैसे शहर वीरान हो गये। बड़े पैमाने पर ग्रामीणीकरण का सिलसिला शुरू हुआ और कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ता चला गया। कृषि पहले से ही बर्बाद हो रही थी क्योंकि कम्पनी की सारी लूट की भरपाई सामन्त बेहिसाब लगान वसूली से ही कर रहे थे। कम्पनी ने भी अपने शासित क्षेत्रों से भू-राजस्व की बेलगाम उगाही शुरू की। जल्दी ही उसे समझ में आ गया कि इस विशाल कृषि प्रधान समाज से भू-राजस्व की उगाही लूट का एक अकूत स्रोत है, अतः इसकी प्रणाली को व्यवस्थित करना ज़रूरी है। ज़मींदारी, रैयतवारी और महालवारी व्यवस्थाओं के द्वारा इस काम

को अंजाम दिया गया। इन व्यवस्थाओं ने ग्राम समुदायों के पूरे ढाँचे को तबाह करके एक नयी, अर्द्ध-सामन्ती वर्ग-संरचना की स्थापना की, लेकिन इस बदलाव ने जाति-व्यवस्था के बुनियादी ढाँचे पर नाममात्र का ही असर डाला। ज़मींदारी व्यवस्था ने ज़मीन को ज़मींदारों की निजी सम्पत्ति बना दिया। ये नये सामन्त 'ऊँची' जातियों के ही लोग हुआ करते थे जिनका काम काश्तकार किसानों से वसूले गये लगान का 9/10 भाग सरकारी ख़जाने में जमा करना होता था। ज़मींदार काश्तकारों को निचोड़ने में किसी नियम-कानून का ख़याल नहीं करते थे। काश्तकार किसान ज़्यादातर मध्य जातियों के लोग थे। सबसे नीचे भूमिहीन दलित जातियों के लोग थे जो ज़मींदार की ख़ुदकाश्त ज़मीन पर बेगारी करते थे, उनकी चाकरी करते थे और बड़े काश्तकारों की ज़मीन पर मज़दूरी भी करते थे। इस तरह जो जातिगत सामाजिक ढाँचा था, वह यथावत बना रहा। औपनिवेशिक अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था ने ग्राम समुदायों के आर्थिक ताने-बाने को तो नष्ट कर दिया लेकिन जाति-व्यवस्था बनी रही, नयी व्यवस्था के साथ उसका तन्तुबद्धीकरण (articulation) हो गया। ज़मींदार प्रायः भू-लगान वसूलने का अपना अधिकार पट्टेदारों को और फिर वे उप-पट्टेदारों को बेच देते थे। ये पट्टेदार अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए काश्तकारों पर ज़्यादा से ज़्यादा दबाव बनाते थे और दलितों पर ज़्यादा से ज़्यादा अत्याचार करके बेगारी करवाते थे। यह पट्टेदारी भी वंशानुगत हुआ करती थी। कभी-कभी जब किसानों की कंगाली और अपनी ऐयाशी के कारण ज़मींदार भू-राजस्व की अदायगी नहीं कर पाते थे, तो उनकी ज़मींदारियाँ नीलाम होती थीं जिन्हें कम्पनी के भारतीय कारिन्दे, अदालतों के कर्मचारी और बड़े महाजन ख़रीद लेते थे और नये सामन्तों की क़तार में शामिल हो जाते थे। बंगाल-बिहार में तो भू-सम्पत्ति का अधिकांश तेज़ी से ऐसे शहरी धनिकों के हाथों में चला गया जिनके पास अतिरिक्त पूँजी थी और वे उसे तत्काल ज़मीन में लगा देते थे। बताने की आवश्यकता नहीं कि तबाह होते किसान अक्सर विद्रोह करते रहते थे जिन्हें बर्बरतापूर्वक कुचल दिया जाता था।

रैयतवारी प्रणाली के अन्तर्गत ब्रिटिश शासकों ने ज़मींदारों को ही नहीं, बल्कि मीरासदारों (यानी ग्राम समुदायों के उन सदस्यों को, जो दाय योग्य हिस्सों के मालिक थे) और किसानों की उन सभी श्रेणियों को वैध भू-स्वामियों के रूप में मान्यता प्रदान की जो राज्य को सीधे भू-राजस्व अदा करते थे। कभी-कभी तो पूरा ही गाँव एक मीरासदार के मातहत आ जाता था और उसकी स्थिति एक सामन्त की हो जाती थी। धीरे-धीरे सभी मीरासदार छोटे भू-स्वामी बन गये जिनकी ज़मीनों को उनकी सम्पत्ति माना जाने लगा। बाहर से आये किसान, दास और अछूत दस्तकार बहुत सारे मामले में अधिकार-रहित काश्तकार या बटाईदार बन गये जिनकी काश्तों पर लगान कभी भी बढ़ाया जा सकता था और जिन्हें कभी भी बेदख़ल किया जा सकता था। भूमि को राज्य की सम्पत्ति मानते हुए अंग्रेज़ अधिकारी रैयतों को अपना ऐसा स्थायी काश्तकार मानने लगे जिनसे लगान की मनमानी रक़म माँगी जा सकती थी और जिन पर मनमाना राजस्व थोपा जा सकता था। रैयतवारी प्रणाली के अन्तर्गत पूर्ववर्ती ग्राम समुदायों के अधिकार वाले चरागाहों और परती ज़मीन को राज्य ने ज़ब्त कर लिया, जिसका सबसे अधिक प्रभाव दलित भूमिहीनों पर पड़ा जो अब न तो अपने पशु चरा सकते थे न जलावन की लकड़ी पा सकते थे। नतीजतन भू-स्वामियों पर उनकी निर्भरता और अधिक बढ़ गयी।

मौजावार या मालगुज़ारी प्रणाली के अन्तर्गत समग्र रूप से ग्राम समुदाय को एक वित्तीय इकाई या भू-स्वामी माना जाता था। लेकिन अलग-अलग खेत पर कर लगाया जाता था और

एक भी काश्तकार का राजस्व बकाया रह जाने पर पूरे गाँव की ज़मीन नीलाम कर दी जाती थी जिन्हें सामान्यत: अदालती और माल विभाग के अधिकारी ख़रीद लेते थे और इस तरह ज़मींदार की हैसियत प्राप्त कर लेते थे।

1843 में सिन्ध पर कब्ज़े के बाद ऊपरी सिन्ध में रैयतवारी प्रणाली लागू की गयी जबकि निचले सिन्ध में ज़मींदारों को वैध भू-स्वामियों के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। 1845-48 के दौरान पंजाब की विजय के बाद, अंग्रेज़ों ने शुरुआती दौर में ग्राम समुदायों की संरचना में कोई परिवर्तन नहीं किया, हालाँकि सामुदायिक भूमि पर धनी काश्तकारों को तथाकथित मालिकाना हक़ (यानी अपनी काश्तों पर खेती करने का स्थायी अधिकार, बशर्ते कि वे लगान देते रहें) दे दिया गया। पूरे पंजाब में जिन्स-रूप लगान को अनिवार्यत: नक़दी बना देने से किसान अपनी पैदावार बाज़ार में बेचने को मजबूर हो गये, जिससे खाद्यान्न क़ीमतों में गिरावट आयी, किसानों की दशा बिगड़ती गयी और महाजनों का प्रभाव बढ़ता गया। सिख सामन्त, जिनके मालिकाना हक़ मज़बूत हुए थे, वे ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के लिए भरोसेमन्द सामाजिक आधार बन गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में नयी पैमाइश और लगान बन्दोबस्ती के द्वारा सामन्ती भू-स्वामियों के विभिन्न समूहों के मालिकाना अधिकारों को पूरी तरह निजी स्वामित्व बना दिया गया। भू-राजस्व प्रणालियों में सुधार किया गया। 1857 के विद्रोह प्रभावित क्षेत्रों में ज़्यादातर गाँव ताल्लुकदारों को लौटा दिये गये। साथ ही ग्राम समुदायों के उच्च संस्तरों के अन्य लोगों को मालगुज़ारों और भू-स्वामियों के बीच उपस्वामियों-बिचौलियों का दर्जा प्रदान किया गया। रैयतवारी बन्दोबस्त के क्षेत्रों में सामन्ती भू-स्वामित्व के अतिरिक्त छोटे पैमाने के किसानी स्वामित्व को भी सुव्यवस्थित किया गया। पंजाब में भूतपूर्व ग्रामीण समुदायों के उच्च संस्तरों के हितों पर ध्यान दिया गया। जागीरदारों और इनामदारों की ज़मीनें भी कम की गयीं और ताल्लुकदारों को राज्य पोषित पेंशनर बना दिया गया। सिन्ध में सशर्त अनुदानों के मालिक जागीरदारों को बड़ी ज़मीनों पर साम्पत्तिक अधिकार तो दिये गये लेकिन लगान वसूली के काम से उन्हें अलग कर दिया गया। बम्बई प्रेसिडेंसी में इनामों और जागीरों की संख्या तथा इनामदारों और जागीरदारों की भू-सम्पत्ति में कटौती की गयी। मध्य प्रान्त में भू-स्वामित्व का अधिकार पुराने सामन्ती अभिजातों के अतिरिक्त, सीधे राज्य को भू-राजस्व देने के लिए ज़िम्मेदार मालगुज़ारों को भी दिया गया। इन सभी क़दमों के द्वारा, एक ओर ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने पुराने सामन्तों के अतिरिक्त नये सामन्तों की एक क़तार विकसित करके तथा मालिक किसानों की एक वफ़ादार आबादी पैदा करके अपने सामाजिक आधार को विस्तृत एवं सुदृढ़ बनाया, दूसरी ओर भूमि पर औपनिवेशिक सामन्ती एकाधिकार को एक सुनिश्चित रूप दिया। इसका ज़्यादातर लाभ 'ऊँची' जातियों के सामन्तों को ही मिला। एक हद तक कुछ इलाकों में मध्य जाति के किसान लाभान्वित हुए और उनमें 'संस्कृतीकरण' की प्रवृत्ति पैदा हुई। ज़्यादातर मध्य जाति के मध्यम और ग़रीब काश्तकारों और दलित जातियों के भूमिहीन मज़दूरों तथा बचे-खुचे दस्तकारों का अमानवीय शोषण-उत्पीड़न बदस्तूर जारी रहा। इस तरह नये परिवर्तनों ने जाति-व्यवस्था को लगभग अप्रभावित छोड़ दिया।

भारतीय समाज के लिए उपनिवेशीकरण का सबसे बड़ा सामाजिक अभिशाप यह था कि इसने जाति-व्यवस्था की प्राचीन बुराई को तो पुन:संस्कारित करके अपने हित में बनाये रखा, लेकिन पुराने भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके ऊपर से औपनिवेशिक

सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। पुराने समाज के गर्भ में नैसर्गिक विकास के जो भ्रूण पल रहे थे – वे नष्ट हो गये। 'कृषि-दस्तकारी- मैन्यूफैक्चरिंग-मशीनोफैक्चरिंग' की स्वाभाविक विकास-यात्रा की सम्भावनाएँ नष्ट हो गयीं। जाति-व्यवस्था औपनिवेशिक-अर्द्धसामन्ती शोषण प्रणाली के लिए भी अनुकूल थी और सामाजिक-राजनीतिक तौर पर भी जनता को बाँटने के लिए, उसकी वर्ग-चेतना को कुन्द करने के लिए कारगर हथियार थी (दूसरा कारगर हथियार साम्प्रदायिकता को उभाड़ना था)। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में भी चूँकि देशी पूँजीपति वर्ग मेहनतकश अवाम की पहलक़दमी बढ़ने से लगातार डरता था और अपने वर्ग हितों को लेकर शुरू से ही सजग था, इसलिए आन्दोलनों में जनशक्ति का इस्तेमाल करने के बावजूद, जाति उन्मूलन के प्रश्न पर वह कोई रैडिकल अवस्थिति कदापि नहीं ले सकता था, उल्टे जातियों के बीच के दुरावों-तनावों का इस्तेमाल करना और फिर मेल-जोल, सुधार, 'हरिजन-उत्थान' आदि की नीति अपनाना उसकी आम प्रवृत्ति थी। सामन्तों के अतिरिक्त मध्य जातियों के जो धनी काश्तकार थे (जो अपने खेतों में दलितों से मज़दूरी भी करवाते थे), वे भी दलितों से दुराव रखते थे और पिछड़ी चेतना वाले मध्य जाति के मध्यम और ग़रीब काश्तकार भी उनसे दूरी बरतते थे। छूत-अछूत, गन्दे काम-साफ़ काम की धारणाएँ यथावत मौजूद थीं। इसके प्रचुर दस्तावेज़ी साक्ष्य मौजूद हैं कि ब्रिटिश नीति निर्धारकों की यह सुविचारित नीति थी कि हिन्दू धर्म और जाति-व्यवस्था के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की जानी चाहिए, पुराने शासक वर्गों को सहयोगी बनाने और सामाजिक उथल-पुथल से बचने के लिए यह सबसे ज़रूरी है। दूसरी बात यह कि भू-राजस्व की मनमानी उगाही औपनिवेशिक लूट का एक प्रमुख माध्यम था जो भूमि बन्दोबस्त के अर्द्ध-सामन्ती उत्पीड़न को बनाये रखने से ही सम्भव था और यही जातिगत उत्पीड़न का मुख्य आधार था।

1857 : मूल्यांकन विषयक कुछ अहम सवाल

यहीं पर 1857 के बारे में भी कुछ बातें ज़रूरी हैं। यह महाविद्रोह इतिहास के एक ऐसे सन्धि-बिन्दु पर हुआ था जब औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना से पैदा होने वाले वर्ग सुनिश्चित रूप-रंग ग्रहण नहीं कर पाये थे और प्राक्-औपनिवेशिक भारत की वर्गीय संरचना पूरी तरह से नष्ट नहीं हुई थी। इस संघर्ष में राष्ट्रीय मुक्ति चेतना के कुछ बीज थे, लेकिन मुख्यत: यह पुराने भारत का प्रतिरोध संघर्ष था। कहीं-कहीं किसानों, दलितों और जनजातियों के क्षेत्रीय नायकों की भी अहम भूमिका थी, लेकिन मुख्य नेतृत्वकारी शक्ति सामन्त ही थे। संघर्ष की मुख्य ताक़त विद्रोही सैनिक (जो आम किसानों के बेटे थे), किसान और उजड़े दस्तकार थे। उपनिवेशवाद उनका मुश्तरका दुश्मन था। सुनिश्चित योजना के अभाव में, पुरानी ज़मीन पर खड़े होकर लड़ी गयी यह लड़ाई जीती नहीं जा सकी और अपनी नैसर्गिक भूमि पर नैसर्गिक गति से निषेध का निषेध करती हुई आगे बढ़ने वाली इतिहास की स्वाभाविक गति मर गयी। यह ऐसा नुकसान था, जिसकी भरपाई आज तक नहीं हो सकी है। पुराने भारत के सामन्ती उत्पीड़न के निकट अतीत को देखते हुए ज्योतिबा फुले यदि सन्तुलित इतिहास दृष्टि से 1857 को नहीं देख सके तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। उनका मानना था कि विद्रोहियों की जीत पुराने पेशवाई राज्य और दलितों के बर्बर उत्पीड़न की वापसी होगी। लेकिन आज भी ज़्यादातर दलित और कुछ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी सामन्ती नेतृत्व के मद्देनज़र

1857 के विद्रोह को प्रतिगामी चरित्र वाला मानते हैं। यह नितान्त आधिभौतिक इतिहास-दृष्टि है। यदि इस महासंग्राम में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की पराजय होती, तो भी यह सम्भव ही नहीं था कि भारत मध्यकालीन अतीत के अँधेरे में वापस लौट जाता। ब्रिटिश सत्ता की पराजय के बाद, बहुत कम सम्भव था कि भारत में एक सुदृढ़ केन्द्रीय सामन्ती सत्ता बहाल हो पाती। और यदि ऐसा होता भी तो उसके अन्तर्गत (उन्नीसवीं सदी के ज़ारकालीन रूस की तरह) पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया चल पड़ती और जाति प्रथा की जड़ों पर कुठाराघात करने वाले क्रान्तिकारी जनवादी सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन फूट पड़ते। मुमकिन था कि किसी केन्द्रीय सत्ता की नामौजूदगी या नाममात्र मौजूदगी की स्थिति में भारतीय समाज अलग-अलग सामन्ती अधिपतियों के शासन के अन्तर्गत आ जाता, लेकिन उस स्थिति में भी सामाजिक अन्तरविरोधों का उग्र होते जाना और पूँजीवादी विकास-प्रक्रिया का नैसर्गिक गति से आगे डग भरना लाज़िमी था (जैसा प्राक्-औपनिवेशिक भारत में हो रहा था)। यह भी एक सम्भावना है कि ब्रिटिश पराजय के बाद भी देश में औपनिवेशिक दख़लन्दाज़ी समाप्त नहीं होती, पूरा देश अलग-अलग औपनिवेशिक ताक़तों के प्रत्यक्ष-परोक्ष नियन्त्रण के क्षेत्रों में बँट जाता और चीन से मिलती-जुलती अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना अस्तित्व में आती। इनमें से जो भी स्थिति होती होती, वह केन्द्रीकृत औपनिवेशिक सत्ता से काफ़ी बेहतर होती। भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति नष्ट नहीं होती और देश का इतिहास कुछ और होता। 1857 ने आम जनता की जिस पहलक़दमी एवं ऊर्जा को निर्बन्ध किया था, उसे किसी भी स्थिति में समाप्त नहीं किया जा सकता था और इतिहास निर्माण की सक्रिय शक्ति बनने से रोका नहीं जा सकता था।

औपनिवेशिक काल की वर्गीय संरचना, विविध राजनीतिक धाराएँ और जाति प्रश्न

ब्रिटिश औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर से शिक्षित मध्यवर्ग की जो पहली पीढ़ी पैदा हुई, उसने यूरोपीय समाज में जनवाद के आदर्शों से प्रेरित होकर हिन्दू धर्म की बुराइयों के विरुद्ध जो भी आवाज़ें उठायीं और आन्दोलन चलाये उनका दायरा शहरी मध्यवर्ग तक सीमित था और शहरी ग़रीबों के प्रति उनका दृष्टिकोण दया-करुणा से आगे नहीं जाता था। वस्तुत: ब्रिटिश सत्ता के प्रति वफ़ादार इन सुधारकों का बहुलांश स्वयं भू-स्वामी था और गाँवों के दलितों की स्थिति सुधारना तो दूर, ये अन्य भू-स्वामियों की तरह ही उनके उत्पीड़क थे। ज्योतिबा फुले की स्थिति उनसे भिन्न थी। न केवल प्रचार के स्तर पर जाति प्रथा के विरुद्ध उनका रैडिकल तेवर था, बल्कि पहली बार उन्होंने अछूतों और स्त्रियों की शिक्षा के लिए संस्थाएँ खड़ी करने का उद्यम किया। किसानों और अस्पृश्य भूमिहीनों पर 'ऊँची' जाति के लोगों और देशमुखों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों और उनके शोषण का उन्होंने लगातार विरोध किया। लेकिन इस रैडिकल समाज-सुधारक ने भी अर्द्ध-सामन्ती भूमि व्यवस्था की निर्मात्री और पोषक के रूप में औपनिवेशिक सत्ता को नहीं देखा, बल्कि उसे शूद्रों-अछूतों की हितैषी के रूप में देखा और कभी उसका विरोध नहीं किया। फुले द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज बाद में एक सामन्त शाहूजी महाराज के नेतृत्व में आ गया जिनका मुख्य लक्ष्य क्षत्रिय के रूप में मान्यता पाना था। पर इसका एक छोटा-सा हिस्सा कुछ दिनों तक किसानों और मज़दूरों को संगठित करने में लगा रहा। 1890 में फुले के एक अनुयायी लोखण्डे ने 'बॉम्बे

मिल हैण्ड्स एसोसिएशन' नामक मज़दूरों का एक संगठन बनाया था, हालाँकि यह मज़दूरों की दशा में सुधार हेतु बनाया गया अनौपचारिक (विधान-विहीन) क़िस्म का संगठन था। लोखण्डे सरकार द्वारा बनाये गये 'फैक्ट्री लेबर कमीशन' के भी सदस्य थे।

शहरी दलित जाति के लोग ईसाई अंग्रेज़ साहबों के रोज़मर्रा के व्यवहार में छुआछूत न मानने से प्रभावित होते थे, हालाँकि नौकरी उन्हें चौकीदार, माली, खानसामा, नौकर की ही मिलती थी। मिशनरी स्कूलों में उनके बच्चों के साथ भेदभाव नहीं होता था। सरकारी स्कूलों में भी वे जाते थे, पर वहाँ उन्हें बहुत अपमान झेलना पड़ता था। इन स्कूलों से पढ़कर पढ़े-लिखे दलितों की भी (विशेषकर महाराष्ट्र में) एक आबादी तैयार हुई जिसे बाबूगिरी तक की नौकरियाँ मिल जाती थीं। फिर भी, शहरों में नीचे दर्जे की नौकरियाँ प्रायः उन्हें ही मिलती थीं। सफाई का काम सिर्फ़ उनका था। फैक्ट्रियों में भी उन्हें सबसे नीचे दर्जे का काम मिलता था और गैर-दलित जातियों के भेदभाव का भी सामना करना पड़ता था। पूरे देश में सिर्फ़ एक महार रेजिमेण्ट बनायी गयी, शेष सारी रेजिमेण्टों में दलितों को साफ़-सफ़ाई आदि के असैनिक काम ही ज़्यादातर मिलते थे। ये जो अतिसीमित बदलाव थे, इनका प्रभाव भी बमुश्किल तमाम दो प्रतिशत दलित आबादी पर ही था। जो बहुसंख्यक दलित आबादी गाँवों में रहती थी वह सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत पूर्ववत् शोषण-उत्पीड़न का शिकार थी। कुछ बड़े काश्तकारों को छोड़कर मध्य या पिछड़ी जातियों के काश्तकारों-भूमिहीनों के लिए भी सामन्ती शोषण के साथ जातिगत भेदभाव और उत्पीड़न की स्थिति बरक़रार थी, हालाँकि उनकी स्थिति दलितों से भिन्न थी और वे भी (कुछ अति पिछड़ी जातियों को छोड़कर) दलितों के प्रति दूरी और घृणा का भाव रखते थे। औपनिवेशिक भारत में एक छोटा-सा जो दलित मध्य वर्ग पैदा हुआ था, उसी की आकांक्षाओं को मुखर करने वाले दलित राजनीतिक नेतृत्व ने पूरे दलित समुदाय के नेतृत्व की दावेदारी प्रस्तुत की और जातिगत उत्पीड़न को मुद्दा बनाकर उसका समर्थन भी हासिल किया, लेकिन उसने जाति-व्यवस्था की बुनियाद भूमि-व्यवस्था के विरुद्ध न तो कोई आर्थिक-राजनीतिक कार्यक्रम दिया, न ही उस भूमि-व्यवस्था के पोषक उपनिवेशवाद को अपना निशाना बनाया। इस सन्दर्भ में डॉ. अम्बेडकर और पेरियार की चर्चा हम आगे यथास्थान करेंगे।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने क़ानून-व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था और प्रशासन का जो एकरूप देशव्यापी तन्त्र स्थापित किया, उसका दार्शनिक आधार बुर्जुआ तर्कसंगति थी, लेकिन संकीर्ण औपनिवेशिक हितों के चलते वह हज़ारों तरीक़े से बाधित, नियन्त्रित और विरूपित की जाती थी। प्रशासन और क़ानून का आधार अब जाति-व्यवस्था और ईश्वरीय स्वीकृति नहीं थी, पर सामाजिक जीवन में जाति-व्यवस्था को छेड़ा नहीं गया (भूमि व्यवस्था द्वारा उसे नया आर्थिक आधार देने की चर्चा तो ऊपर की ही जा चुकी है) क्योंकि इससे पैदा होने वाली सामाजिक उथल-पुथल औपनिवेशिक सत्ता की स्थिरता के लिए ख़तरा हो सकती थी। उपनिवेशवादियों ने पूर्ववर्ती शासकों के बीच से ही अपने सामाजिक अवलम्ब विकसित किये। नौकरशाही में पुराने भू-स्वामियों के वंशज सवर्ण जातियों के नये शहरी मध्यवर्ग को व्यवस्थित किया गया। स्वतन्त्र बौद्धिक पेशों में भी उन्हीं का वर्चस्व था। आगे चलकर इसी मध्य वर्ग के एक हिस्से के भीतर यदि राष्ट्रवादी भावनाओं-विचारों का अंकुरण हुआ तो वह शासक वर्ग की इच्छा के विपरीत समाज-विकास की वस्तुगत गति में निहित अन्तरविरोधों के चलते हुआ। हालाँकि ये राष्ट्रवादी विचार भी या तो मरियल सुधारवादी विचार थे या फिर उनमें पुनरुत्थानवाद और

परम्परावाद के तत्त्व थे। जुझारू जनवादी विचारों की जगह इनके विचार या तो सुधारवादी थे या फिर घोर रूढ़िवादी। समाज-विकास जब कुछ और आगे बढ़ा तो मध्यवर्ग की क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी धारा का भी विकास हुआ और एक हिस्सा वैज्ञानिक समाजवाद को अपनाकर मज़दूर वर्ग से भी जुड़ा। लेकिन इन धाराओं के शरीर पर भी औपनिवेशिक सामाजिक संरचना से पैदा होने के इतने जन्म-चिन्ह तो थे ही कि इनका सैद्धान्तिक आधार अत्यन्त कमज़ोर था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में रेलवे और कपड़ा एवं जूट मिलों के निर्माण में ब्रिटिश पूँजी निवेश शुरू हुआ। इसका मूल उद्देश्य भारत के कच्चे माल से भारत में ही कम लागत पर माल तैयार करके विश्व-बाज़ार की प्रतिस्पर्धा में अपनी बढ़त बनाये रखना था। दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र उन क्षेत्रों में सिंचाई नहरों का निर्माण करना था जहाँ निर्यात के लिए फसलें (जैसे सिन्ध और पंजाब में कपास और गेहूँ की खेती) उगायी जाती थीं। तीसरा निवेश का क्षेत्र खनन उद्योग और चौथा चाय, कॉफी और रबर के बागान बने। अगला दौर इस्पात के कारख़ानों, अन्य अवरचनागत उद्योगों और उपभोक्ता सामग्रियों का उत्पादन करने वाले कारख़ानों का था। इन कारख़ानों के लिए सर्वहारा आबादी की आपूर्ति यूरोप की तरह गाँवों में पूँजीवादी विकास के चलते उजड़ने वाली आबादी से नहीं हुई। उजड़ी हुई दस्तकारियों के तबाह दस्तकारों, सामन्ती उत्पीड़न से त्रस्त गाँवों की दलित आबादी, दिवालिया छोटे किसानों तथा औपनिवेशिक लूट से लगातार जारी रहने वाले अकालों व भुखमरी के शिकार लोगों से ब्रिटिश उद्योगों को यूरोप के मुक़ाबले कई गुनी सस्ती श्रम-शक्ति मिलती रही। गाँवों की जातिगत सामाजिक व्यवस्था पर इससे कोई असर नहीं पड़ा। इन उद्योगों के साथ ही देशी बिचौलियों, व्यापारियों, महाजनों और कमीशन एजेण्टों ने भी काफ़ी धन संचय कर लिया। प्रायः ये मारवाड़ी, पारसी, गुज़राती और जैन व्यापारी थे। फिर इन दलाल पूँजीपतियों ने ब्रिटिश उद्योगों के सहायक उद्यमों और वित्तीय क्षेत्र में पूँजी लगानी शुरू की। इनका चरित्र क्रमशः बदलने लगा। विश्व पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा और संकटों में उपनिवेशवादियों के उलझाव, पहले महायुद्ध, आर्थिक महामन्दी और फिर दूसरे महायुद्ध का लाभ उठाकर भारतीय औद्योगिक पूँजीपति वर्ग ने अपने उद्योगों का विस्तार किया और बाज़ार में प्रतिस्पर्धा की उसकी आकांक्षाएँ भी बढ़ीं। हर पूँजीपति वर्ग की तरह भारतीय पूँजीपति वर्ग का राष्ट्रवाद भी मण्डी में पैदा हुआ। यह पूँजीपति वर्ग 'कृषि-दस्तकारी-मैन्यूफैक्चरिंग' की यात्रा से नहीं बल्कि औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना में दलाल और व्यापारी के रूप में विकसित होकर औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के रूप में विकसित हुआ था। पुनर्जागरण (Renaissance) का मानववाद और प्रबोधन (Enlightenment) की तर्कणा एवं जुझारू जनवाद इसकी विरासत नहीं थे। इसका रास्ता बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का, या यहाँ तक कि जुझारू राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का भी रास्ता नहीं था। इसने क्रमशः अपनी बढ़ती ताक़त के हिसाब से 'दबाव-समझौता-दबाव' की रणनीति अपनाते हुए और अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा और उपनिवेशवादियों के संकट का लाभ उठाते हुए राजनीतिक आज़ादी हासिल करने का रास्ता चुना। इस प्रक्रिया में इसने क़दम-क़दम पर जनता की पहलक़दमी को दबाया, क़दम-क़दम पर बढ़ते जनसंघर्षों को समझौतों में धकेलकर धोखाधड़ी की। यह अनायास नहीं कि इसकी प्रमुख पार्टी कांग्रेस के नेतृत्व में शहरी उच्च मध्य वर्ग के अतिरिक्त सवर्ण भू-स्वामियों और धनी काश्तकारों के प्रतिनिधि थे। यह अनायास नहीं कि इसके अग्रणी सिद्धान्तकार गाँधी के सामाजिक विचार नितान्त दकियानूसी थे, वे स्वयं को वर्णाश्रम धर्म के सुधरे हुए रूप के कट्टर समर्थक सनातन हिन्दू बताते थे,

दलितों के प्रति उनका कार्यक्रम "अछूतोद्धार" से आगे नहीं जाता था, उनका सेक्यूलरिज़्म हिन्दू-मुस्लिम भाईचारा से आगे नहीं जाता था। उनका मानववाद धार्मिक चाशनी में लिथड़ा हुआ और पुनरुत्थानवाद की गन्द में सना हुआ था। इस मायने में वे अपने गुरुओं – रस्किन, थोरो, तोल्स्तोय – से काफ़ी पीछे थे, उनके एक "सनातन हिन्दू" अनुयायी थे। ग्राम स्वराज्य, मशीनी संस्कृति का विरोध, अछूतोद्धार, ट्रस्टीशिप का गाँधीवादी युटोपिया ग़रीबों को राष्ट्रीय आन्दोलन में साथ लेने और अस्पृश्यों के ज़ख्मों पर मरहम लगाने के लिए था, वर्ग संघर्ष के दबाव को कम करके जनसमुदाय को बुर्जुआ नेतृत्व के पीछे खड़ा करने के लिए था। उसका अमली रूप पूँजीवाद ही हो सकता था और नेहरू के नेतृत्व में आगे चलकर वही हुआ। कांग्रेस एक ओर किसानों को भूमि सुधार का आश्वासन देती थी, दूसरी ओर भू-स्वामियों को भी उनके हितों का ख़याल रखने की गारण्टी देती थी। मज़दूर वर्ग के संघर्षों के प्रति तो उसका रुख सदा ही विरोध का, समझौते के लिए दबाव बनाने का और विश्वासघात करने का रहा। ऐसे बुर्जुआ वर्ग की ऐसी राजनीतिक पार्टी जाति-व्यवस्था की जड़ों पर प्रहार करने वाला (अर्द्ध-सामन्ती भूमि व्यवस्था विरोधी) कोई आमूलगामी आर्थिक कार्यक्रम ले ही नहीं सकती थी, न ही वह इसके विरुद्ध कोई जुझारू जनवादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा कर सकती थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में कम्युनिस्ट धारा

राष्ट्रीय आन्दोलन की दूसरी मुख्य धारा कम्युनिस्ट पार्टी की थी, अतः यह देखना ज़रूरी है कि जाति प्रश्न को लेकर उसका दृष्टिकोण और व्यवहार क्या था। इसको भलीभाँति समझने के लिए यह जानना ज़रूरी है कि भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन अपनी किन कमज़ोरियों के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा नहीं बन सका और लोक जनवादी क्रान्ति का कार्यभार सम्पन्न नहीं कर सका। कम्युनिस्ट आन्दोलन का विचारधारात्मक आधार भारत में शुरू से ही कमज़ोर था (इतिहास-विकास में निहित जिसके वस्तुगत कारण की हमने ऊपर चर्चा की है) और यह कमज़ोरी लगातार बनी रही। पार्टी की स्थापना की घोषणा 1920 में ताशकन्द में हुई और 1925 में कानपुर में एक बेहद ढीले-ढाले संघटन वाला अखिल भारतीय कम्युनिस्ट सम्मेलन भी हुआ, पर इसके बाद भी देश के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय कम्युनिस्ट ग्रुप एक केन्द्रीकृत नेतृत्व के मातहत संगठित नहीं हो सके। जो भी ढीला-ढाला नेतृत्व था, वह ठोस परिस्थितियों की जाँच-पड़ताल करके भारत की साम्राज्यवाद-विरोधी, सामन्तवाद-विरोधी क्रान्ति का कार्यक्रम और मार्ग तय करने के बजाय ज़्यादातर कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के मुखपत्र 'इम्प्रेकोर' में और सोवियत पार्टी के पत्रों में छपे भारत विषयक लेखों को और ब्रिटिश पार्टी के रजनीपाम दत्त के लेखों को अपने फैसलों और कार्रवाइयों का आधार बनाता था। पहली बार, कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल और चीन, ब्रिटेन तथा जर्मनी की पार्टियों के सुझाव पर 1933 में लेनिनवादी पार्टी ढाँचा तैयार करने के लिए एक आरज़ी केन्द्रीय कमेटी का गठन हुआ। कहा जा सकता है कि पार्टी गठन की प्रारम्भिक प्रक्रिया ही 1933 में पूरी हुई। इसके बाद भी, पार्टी की पहली कांग्रेस 1943 में, दस वर्ष बाद हुई। विडम्बना यह कि तब भी पार्टी के पास क्रान्ति का न कोई कार्यक्रम था, न ही भूमि-कार्यक्रम (Agrarian Programme) था। पहली बार, मास्को में स्तालिन और सोवियत पार्टी के प्रतिनिधियों से बातचीत के बाद, भारतीय कम्युनिस्ट नेतृत्व ने 1951 में एक नीति-विषयक वक्तव्य और एक कार्यक्रम का दस्तावेज़ जारी किया जिसे 1951 के अखिल भारतीय पार्टी सम्मेलन और 1953 की तीसरी पार्टी कांग्रेस

में पारित किया गया। क्रान्ति की मंजिल और आम दिशा के बारे में मूलत: और मुख्यत: सही होने के बावजूद, भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र तथा भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण और समाज-विकास की आम दिशा के बारे में इस कार्यक्रम के मूल्यांकन यथार्थ से मेल नहीं खाते थे, इसे आगे चलकर समय ने एकदम स्पष्ट कर दिया। बहरहाल, यह कार्यक्रम भी अब केवल कोल्ड स्टोरेज में रखे रहने के लिए ही था क्योंकि तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद पार्टी अब पूरी तरह से संशोधनवाद की राह पर चल चुकी थी और एक खुली संसदीय पार्टी बन चुकी थी। फिर 1956 में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद से इसे अन्तरराष्ट्रीय सर्टिफ़िकेट भी हासिल हो गया।

इसी विचारधारात्मक कमज़ोरी के चलते राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान पार्टी बार-बार अनुकूल अवसर का लाभ उठाने से चूकती रही और राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा का नेतृत्व गाँधी-नेहरू की कांग्रेस से छीनने में विफल रही। 1920 के दशक के उतरार्द्ध में जब असहयोग आन्दोलन की वापसी से खोयी साख गाँधी अभी भी हासिल नहीं कर पाये थे और स्वराज पार्टी का असेम्बलीवादी समझौतापरस्त चरित्र नंगा हो चुका था, वह 'वर्कर्स एण्ड पीज़ेण्ट्स पार्टी' गठित करने और उसके तेज़ प्रभाव-विस्तार का दौर था, पर पार्टी संगठित और सुस्पष्ट समझ से युक्त थी ही नहीं कि उसका लाभ उठा सके। 'गाँधी-इरविन समझौते' और उसके बाद 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट' के विरुद्ध देशव्यापी भण्डाफोड़ और जनलामबन्दी संगठित न कर पाना भी पार्टी की सांगठनिक कमज़ोरी के नाते था। उसके बाद पी.सी. जोशी के दक्षिणपन्थी रुझान वाले दौर में पहलक़दमी हाथ में लेने के अनेक अवसर पार्टी चूकी। संयुक्त मोर्चे की द्वन्द्वात्मक नीति के अभाव में बुर्जुआ राष्ट्रीय नेतृत्व के प्रति समझौतापरस्ती का रुख पैदा होना लाज़िमी था। जब कांग्रेस और लीग की प्रान्तीय सरकारें जनता में व्यापक मोहभंग पैदा कर रही थीं, उस समय पार्टी आगे बढ़कर व्यापक जनान्दोलन संगठित कर सकती थी और पहल अपने हाथ में ले सकती थी, पर ऐसा न हो सका। सबसे अफ़सोसनाक दौर था 1946 से लेकर 1950 तक का लम्बा संक्रमणकालीन दौर, जब एक ओर भारतीय बुर्जुआ वर्ग की पार्टी कांग्रेस और लीग देश के विभाजन और सत्ता-हस्तान्तरण के लिए मोल-तोल की वार्ताओं में लगी थीं, मात्र 11 प्रतिशत कुलीनों के प्रतिनिधित्व वाली संविधान सभा भावी आज़ाद देश का संविधान बना रही थी और दूसरी ओर यही दौर देशव्यापी मज़दूर हड़तालों, नौसेना विद्रोह, सेना और वायुसेना में भी विद्रोह की सुगबुगाहटों तथा सबसे बढ़कर, तेलंगाना, तेभागा और पुनप्रा-वायलार के महान किसान संघर्षों का दौर था। देश के अन्य हिस्सों में भी कई छोटे-छोटे किसान संघर्ष चल रहे थे। यदि सच्चे अर्थों में एक संगठित लेनिनवादी पार्टी होती तो आज देश का इतिहास कुछ और होता। लेकिन यही दौर था जब रणदिवे एक ओर "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की लाइन चला रहे थे और दूसरी ओर यूगोस्लावियाई संशोधनवादी कार्देल्ज़ से आइडिया लेकर जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति की मंजिलों को एक में मिला देने की खिचड़ी पका रहे थे। उधर बम्बई में डांगे गुट पहले से ही अर्थवाद के पंककुण्ड में धँसा था। आन्ध्र की पार्टी कमेटी सापेक्षत: सही रास्ते पर थी और चीन की तरह लोकयुद्ध के देशव्यापी विस्तार पर बल दे रही थी पर केन्द्रीय नेतृत्व ने 'आन्ध्र थीसिस' को ख़ारिज कर दिया। मज़दूरों-किसानों के इन सभी संघर्षों में कम्युनिस्ट क़तारें बेमिसाल शौर्य और बलिदान के साथ अगली पाँतों में थीं पर ऐसा केन्द्रीय नेतृत्व नहीं था जो इन संघर्षों को एक कड़ी में पिरोकर देशव्यापी बना सके। अन्तत: सभी अलग-अलग संघर्ष या

तो बिखर गये या कुचल दिये गये। नेहरू ने सेना भेजकर तेलंगाना किसान संघर्ष का बर्बर दमन कराया।

बहुत सारे दलित बुद्धिजीवी कम्युनिस्ट आन्दोलन पर जाति प्रश्न की अनदेखी करने का (और कभी-कभी तो जातिगत पूर्वाग्रह तक का) आरोप लगाते रहे हैं और इन दिनों कुछ नौदौलतिये मार्क्सवादी बौद्धिकों में भी यह चलन आम हो चला है। कुछ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी ऐसा कहते हुए मानो अतीत के पाप-प्रक्षालन के लिए बिना विस्तृत विश्लेषण में गये मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के समन्वय की अलग-अलग तजवीजें पेश कर रहे हैं, मानो ऐसा करके ही वे दलित आबादी का दिल जीत लेंगे। यह या तो पराजय बोध है या फिर सस्ता लोकरंजकतावाद (populism)। ऐसा नहीं है कि भारतीय समाज के अन्य पक्षों और क्रान्ति की अन्य समस्याओं पर तो कम्युनिस्ट पार्टी ने यथोचित सैद्धान्तिक कार्य किया और व्यवस्थित ढंग से अपनी नीति-रणनीति तय की और सिर्फ जाति प्रश्न की ही उसने अनदेखी कर दी। जिस पार्टी के पास 1951 तक भारतीय क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक न हो, भूमि-कार्यक्रम (Agrarian programme) का कोई दस्तावेज़ तक न हो, उससे सिर्फ़ जाति प्रश्न पर सांगोपांग अवस्थिति दस्तावेज़ और सुस्पष्ट दिशा की अपेक्षा भला कैसे की जा सकती है? यानी जाति प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन की जो कमी थी, वह उसकी भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम विषयक आम कमज़ोरी का एक हिस्सा मात्र थी। फिर भी इस तथ्य का उल्लेख ज़रूरी है कि 1930 में 'कार्रवाई के लिए संयुक्त मंच' के अपने दस्तावेज़ में पार्टी ने जाति प्रथा और अस्पृश्यता की तफ़सील से चर्चा की है, जाति प्रथा विरोधी संघर्ष को सामन्तवाद और ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्ष से जोड़ा है और मेहनतकश "अछूत" जनता को जातिगत आधार पर बाँटने की चालों से बचते हुए देश भर के मज़दूरों के साथ मिलकर सामन्तवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ने का आह्वान किया है। साथ ही उसने जाति प्रथा और हर प्रकार की जातिगत असमानता के विरुद्ध लड़ने की घोषणा की है। पुनः 1948 में हुई पार्टी की दूसरी कांग्रेस की राजनीतिक थीसिस के दस्तावेज़ में भी इस प्रश्न को उठाया गया है और पाँच पैराग्राफ अस्पृश्यों की समस्या पर दिया गया है। इस दस्तावेज़ में अस्पृश्यों को 'ऊँची' जातियों के बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध समझौताहीन संघर्ष चलाते हुए उन अवसरवादी और अलगाववादी नेताओं के विरुद्ध भी संघर्ष की बात कही गयी है जो शोषक वर्गों के साथ खड़े होकर अस्पृश्यों को इस संघर्ष से अलग करते हैं। जाहिर है कि यहाँ इशारा अन्य दलित कांग्रेसी नेताओं और पेरियार के साथ ही मुख्यतः अम्बेडकर की ओर है। **सुभाष गाताडे** (देखें, उनका लेख **'Cast Away Caste: Breaking New Grounds,'** countercurrent.org) और उन जैसे बहुतों को तक़लीफ है कि जाति उन्मूलन का ठोस कार्यक्रम दिये बग़ैर कम्युनिस्ट पार्टी ने अस्पृश्यता से लड़ने की बात करते हुए अम्बेडकर को अलगाववादी, अवसरवादी और ब्रिटिश समर्थक क़रार दे दिया जिससे जातिगत पूर्वाग्रह पैदा हुए। यह अलग बात है कि कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति उन्मूलन का ठोस कार्यक्रम नहीं निरूपित किया। वह तो अम्बेडकर ने भी नहीं किया, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। पर जो उस समय की सच्चाई थी, उससे मुँह भला कैसे चुराया जा सकता था। डॉ. अम्बेडकर ने कांग्रेसी 'उच्च' जातीय नेतृत्व का विरोध करते हुए दलितों को उनकी माँगों पर न सवर्ण ज़मींदारों के विरुद्ध संगठित किया, न ही उनके पालक-पोषक उपनिवेशवादियों के विरुद्ध। वे उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष से ही अलग रहे, स्वाधीनता-प्राप्ति का विरोध करते रहे, फिर पहले लीग और फिर कांग्रेस के समर्थन से 11

प्रतिशत कुलीनों के प्रतिनिधित्व वाली संविधान सभा में बैठकर उस समय संविधान बना रहे थे और सहयोग के लिए कांग्रेस का बार-बार आभार प्रकट कर रहे थे (देखिये, संविधान सभा में उनके भाषण), जब तेलंगाना में नेहरू की सरकार किसानों-भूमिहीनों का बर्बर दमन कर रही थी। समग्रता में उनकी भूमिका का मूल्यांकन अभी अलग बात है, 1948 में उन्हें अवसरवादी और अलगाववादी के अतिरिक्त और भला क्या कहा जा सकता था? दलित जातियों को साथ लेने के लिए सच्चाई पर लीपापोती करके अम्बेडकर को साथ लेने की नहीं, बल्कि जनवादी क्रान्ति के कार्यभार में अस्पृश्यता और जाति प्रथा उन्मूलन के दीर्घकालिक संघर्ष के ठोस कार्यभारों को निरूपित करने की ज़रूरत थी। कम्युनिस्ट पार्टी ने यह नहीं किया, वह उसकी कमी थी। यह उल्लेख भी यहाँ ज़रूरी है कि एटक ने भी अपने चौथे-पाँचवे-छठे अधिवेशन में अस्पृश्यता और जातिगत भेदभाव को मुद्दा बनाया था और बाद में भी इसे 'मज़दूर वर्ग के चार्टर' में शामिल किया गया था। किसान सभा की केन्द्रीय परिषद ने भी सितम्बर 1945 में अपने माँगपत्रक में अस्पृश्यता विरोधी माँग शामिल की थी। इन तथ्यों की सिरे से अनदेखी नहीं की जानी चाहिए, पर इसका यह मतलब नहीं कि कमी या कमज़ोरी नहीं थी। कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति प्रथा के उद्भव और औपनिवेशिक काल तक उसकी मौजूदगी के सामाजिक आधारों का तथा जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों का मार्क्सवादी विश्लेषण करते हुए जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में जाति के प्रश्न पर संघर्ष की ठोस रणनीति की कोई रूपरेखा नहीं प्रस्तुत की, जातिगत सामाजिक बँटवारे और भेदभाव की संस्कृति के विरुद्ध सतत, व्यापक, सुव्यवस्थित आन्दोलन का कार्यक्रम नहीं दिया और यह भी नहीं बताया कि सर्वहारा राज्य की स्थापना होने के बाद जाति के पूर्णरूपेण उन्मूलन की प्रक्रिया क्या होगी या उसकी आम दिशा क्या होगी! यह कमज़ोरी अकेली या अलग-थलग नहीं थी, यह उस व्यापक विचारधारात्मक कमज़ोरी के ही चलते थी जिसके चलते पार्टी के पास 1947 के चार वर्षों बाद तक क्रान्ति के कार्यक्रम का कोई दस्तावेज़ ही नहीं था।

लेकिन इतिहास के साथ न्याय तभी होगा जब तस्वीर के दूसरे पहलू की भी अनदेखी न की जाये। विचारधारा और लाइन की कमज़ोरी के बावजूद, बीसवीं शताब्दी में दलित और अन्य उत्पीड़ित जातियों के उत्पीड़न और भेदभाव के विरुद्ध कम्युनिस्ट हर उस क्षेत्र में बहादुरी से लड़े जहाँ उनका प्रभाव था। उनसे अधिक यह काम किसी ने नहीं किया। बिहार और उत्तर प्रदेश के सवर्ण भू-स्वामी तो हिक़ारत से कम्युनिस्ट पार्टी को 'चमारों-दुसाधों की पार्टी' कहा ही करते थे। कम्युनिस्टों का मुख्य सामाजिक आधार ही गाँव के भूमिहीनों में था, जो ज़्यादातर दलित थे। किसान सभाओं में काश्तकार कम्युनिस्टों के साथ आते थे, क्योंकि वे ही जुझारू ढंग से उनकी माँगें उठाते थे (हालाँकि किसानों में कांग्रेस का प्रभाव कहीं अधिक था), लेकिन वे (काश्तकार) भी उन्हें भूमिहीन दलितों का ही अधिक हितैषी मानते थे। देश के सैकड़ों स्थानों पर कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं ने दलितों के साथ भेदभाव या उनके उत्पीड़न के विरुद्ध आन्दोलन चलाये। 1951-52 तक पेशेवर क्रान्तिकारियों की परम्परा वास्तविक अर्थों में मौजूद थी और सवर्ण जातियों से आने वाले ऐसे कार्यकर्ता भी दलित बस्तियों में ही रहते थे। यह परम्परा संशोधनवाद के दौर में भी कुछ समय तक बनी रही। यह याद रखना होगा कि तेलंगाना किसान संघर्ष की पूर्वपीठिका बनाते हुए आन्ध्र महासभा में काम करने के दौरान कम्युनिस्टों ने अन्य सामाजिक बुराइयों के अतिरिक्त जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता, धार्मिक रूढ़ियों और स्त्रियों की गुलामी को भी मुद्दा बनाया था और शक्तिशाली सामाजिक आन्दोलन

के ज़रिए वर्गीय एकजुटता को मज़बूत बनाया था। इसलिए एकदम झाड़ू-बुहारू ढंग से कम्युनिस्ट आन्दोलन पर आरोप मढ़ने की जगह मुद्दे की गहराई में जाने की ज़रूरत है। मूल कारण कम्युनिस्ट आन्दोलन की विचारधारात्मक कमज़ोरी थी और उसे उसी रूप में देखा जाना चाहिए।

अम्बेडकर और पेरियार की धारा

इसके बाद हम राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में अम्बेडकर और पेरियार की भूमिका पर आते हैं। अम्बेडकर ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था के कारण दलितों की एक छोटी आबादी को मिले अवसर और उद्योगों के विकास के चलते जातिगत पेशों से दलितों के बँधे से होने से मुक्त होने की सम्भावनाओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखते थे और उन्हें उम्मीद थी कि ब्रिटिश सत्ता के बने रहते दलितों की स्थिति बदलेगी और सवर्ण जातियों की ब्राह्मणवादी जकड़ टूटेगी। वे इस सच्चाई को समझने में विफल रहे कि इन क़दमों से मात्र इतना होगा कि दलितों के एक अत्यन्त छोटे हिस्से के भीतर से एक मध्य वर्ग पैदा होगा और शहरी दलितों के नग्न जातिगत उत्पीड़न में कुछ कमी आयेगी। बहुसंख्यक दलित आबादी गाँवों में जिन सवर्ण भू-स्वामियों के शोषण-उत्पीड़न का शिकार थी, वे उसी अर्द्ध-सामन्ती भूमि व्यवस्था की उपज थे जो अंग्रेज़ों ने लागू की थी। उस भूमि व्यवस्था की जड़ों पर क्रान्तिकारी चोट किये बिना व्यापक दलित समुदाय की मुक्ति असम्भव थी और भूमि क्रान्ति का ऐसा कोई कार्यक्रम अम्बेडकर के पास कभी नहीं था। उपनिवेशवाद के विरुद्ध कभी तो वे अतिशय कृतज्ञता प्रकट करते थे, कभी इस बात के लिए क्षोभ प्रकट करते थे कि अंग्रेज़ों ने अस्पृश्यों की स्थिति सुधारने के लिए अपेक्षित प्रयास नहीं किये और कभी अकाल, ग़रीबी और देश की लूट की चर्चा करते हुए उद्योग-व्यापार के विकास में बाधक बनने के लिए ब्रिटिश नीतियों की भर्त्सना करते थे। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जब वे कटु होते थे, उस समय भी उनका स्टैण्ड यही होता था कि हम एकसाथ दो शत्रुओं से नहीं लड़ सकते, अतः ब्राह्मणवाद से लड़ना ही अभी हमारी प्राथमिकता है। कांग्रेसी नेतृत्व के बुर्जुआ वर्ग-चरित्र की उन्होंने कभी चर्चा नहीं की, उन्हें उसमें सवर्णों और विशेषकर ब्राह्मणों के वर्चस्व पर आपत्ति थी। पूरी सामाजिक-आर्थिक संरचना में निहित जाति-व्यवस्था की जड़ों को पहचानने की जगह अम्बेडकर की मुख्य समझ यह थी कि सत्ता में दलितों की हिस्सेदारी उनकी स्थिति में बदलाव ला सकती है। उनकी समझ थी कि उपनिवेशवाद के समाप्त होने से भारत में ब्राह्मणवादी निज़ाम क़ायम हो जायेगा, इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन से वे हमेशा अलग रहे। यदि राष्ट्रीय आन्दोलन की कांग्रेसी धारा का नेतृत्व ब्राह्मणवादी था और औपनिवेशिक शासन भी दलितों के हक़ में नहीं था तो उपनिवेशवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध दलितों को एक अलग धारा के रूप में एक रैडिकल कार्यक्रम पर संगठित किया जा सकता था, पर ऐसा करने के बजाय अम्बेडकर ने राष्ट्रीय आन्दोलन से ही किनारा करके अंग्रेज़ों से वार्ता और मोल-तोल करते हुए मुख्यतः उनके साथ खड़ा रहने का विकल्प चुना। जहाँ तक सामाजिक आन्दोलन का प्रश्न है, अम्बेडकर की सारी परियोजना ब्राह्मणवाद-विरोधी छोटे-मोटे आन्दोलनों से लेकर धर्म-परिवर्तन में जाति समस्या का समाधान ढूँढ़ने तक सिमटी रही।

जिस समय पूरे देश की जनता साइमन कमीशन का बॉयकाट कर रही थी, अम्बेडकर उसके समक्ष ज्ञापन प्रस्तुत कर रहे थे। 1926 से 1934 तक वे बम्बई विधान परिषद के

मनोनीत सदस्य थे। गोलमेज़ सम्मेलन में उन्होंने कहा कि दलितों ने रूढ़िवादी हिन्दुओं के सदियों पुराने ज़ुल्मों से मुक्ति दिलाने वाले लोगों के रूप में अंग्रेज़ों का स्वागत किया और हिन्दुओं-मुसलमानों-सिखों के विरुद्ध लड़कर यह साम्राज्य उन्हें दिया (हालाँकि यह तथ्यत: ग़लत है कि कम्पनी की सेना में ज़्यादातर दलित सैनिक थे, वे बहुत ही कम थे), अत: दलित और अंग्रेज़ एक असाधारण बन्धन में बँधे हुए हैं और अंग्रेज़ दलितों के संरक्षक हैं (**अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 5,** पृष्ठ 16)। इसके बाद जब वे ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आलोचना कर रहे थे, उस समय भी स्वतन्त्रता संघर्ष में दलितों की भागीदारी का इस तर्क से विरोध कर रहे थे कि यह संघर्ष सवर्ण हिन्दुओं की सत्ता स्थापना के लिए हो रहा है।

अक्सर कुछ दलित और नव-मार्क्सवादी अध्येता यह स्थापना देते हैं कि 1929 में बम्बई की प्रसिद्ध कपड़ा मिल हड़ताल इसलिए टूटी क्योंकि कम्युनिस्ट नेतृत्व वाली यूनियन ने दलित मज़दूरों की माँगों की अनदेखी की थी और वे हड़ताल से अलग हो गये। तथ्यों के पुनरावलोकन की ज़रूरत है। हड़ताल इस बात पर हुई थी कि नयी मशीनें आने के बाद एक ही मज़दूर से तीन लूम चलवाये जा रहे थे और मज़दूरों की छँटनी हो रही थी। दलित मज़दूर हड़ताल में साथ थे। यह सच है कि मिल में दलित मज़दूरों के साथ भेदभाव था और छुआछूत के आधार पर कुछ काम उन्हें नहीं करने दिये जाते थे। यह एक अलग मुद्दा है कि कम्युनिस्ट पार्टी को ऐसे मुद्दों को लेकर भी मज़दूरों के बीच सतत शिक्षा एवं प्रचार कार्य करना चाहिए था और प्रबन्धन के सामने भी माँगें रखनी चाहिए थीं। लेकिन उस समय एक आसन्न संकट को लेकर जब सभी मज़दूर हड़ताल पर चले गये तब अम्बेडकर ने चार्टर में दलित मज़दूरों की विशिष्ट माँगों को जोड़ने की ज़िद पकड़ी और दलित मज़दूर काम पर लौट गये, जिससे हड़ताल टूट गयी। दरअसल, जीवनीकार **धनंजय कीर** के अनुसार, अम्बेडकर हड़तालों को आर्थिक लड़ाई से अधिक राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित मानते थे और मानते थे कि इससे दलितों की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है। 1926 से लेकर 1934 तक वे दलितों के प्रतिनिधि के रूप में बम्बई असेम्बली के मनोनीत सदस्य थे। 1935 के कुख्यात 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' के देशव्यापी विरोध में भी अम्बेडकर शामिल नहीं थे। इसके तहत होने वाले असेम्बली चुनावों में भागीदारी के लिए उन्होंने 'स्वतन्त्र मज़दूर पार्टी' (इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी) बनायी, जिसका प्रभाव केवल बम्बई प्रान्त में था। असेम्बली में वे विपक्ष में बैठे। केवल यही वह दौर था जब कम्युनिस्टों से घोर घृणा करने वाले अम्बेडकर ने मज़दूरों और किसानों के आन्दोलनों में उनके साथ शिरक़त की। 'ट्रेड डिस्प्यूट बिल' विरोधी हड़ताल में उन्होंने दलित मज़दूरों के शामिल होने की कोई शर्त नहीं रखी और व्यापक मज़दूर एकजुटता के चलते इस हड़ताल की विजय भी हुई। इस समय उन्होंने हड़ताल के जनवादी अधिकार के पक्ष में बयान दिये और यहाँ तक कहा कि यदि कांग्रेस वास्तव में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष करे तो वे उसमें शामिल हो जायेंगे। लेकिन उनका यह रैडिकल तेवर अल्पकालिक था। दूसरे विश्वयुद्ध के समय जैसे ही यह लगने लगा कि संकटग्रस्त अंग्रेज़ भारत छोड़कर जा सकते हैं और 'वैवेल प्लान' सामने आया, वैसे ही स्वतन्त्र मज़दूर पार्टी को अम्बेडकर ने भंग कर दिया और 'अनुसूचित जाति संघ' बनाकर 'राज्य और अल्पसंख्यक' नामक प्रस्ताव तैयार किया जिसे बाद में संविधान सभा के सामने प्रस्तुत किया गया। इस दौरान, 1942 से 1946 तक वे श्रम विभाग में गवर्नर जनरल के प्रशासक रहे। साम्राज्यवाद से संघर्ष करने की बातें काफ़ी पीछे छूट चुकी थीं। अम्बेडकर का नया स्टैण्ड यह था कि दलितों की हिफ़ाज़त की समुचित व्यवस्था से

पहले अंग्रेज़ों को भारत नहीं छोड़ना चाहिए। यही समय था जब वे एक हिन्दू और एक मुस्लिम राष्ट्र के रूप में भारत के विभाजन के पुरज़ोर समर्थक हो गये थे (बाद में संविधान सभा में शामिल होने पर उनका स्टैण्ड बदलकर कांग्रेस जैसा हो गया था), जिससे ब्रिटिश शासक और मुस्लिम लीग को ही नहीं, सावरकर को भी काफ़ी प्रसन्नता हुई थी।

1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' के तहत जब मात्र 11 प्रतिशत लोगों के निर्वाचक मण्डल द्वारा संविधान सभा का चुनाव हुआ, तो यूरोपीय-अमेरिकी जनवाद के क़ायल अम्बेडकर को सार्विक मताधिकार की कोई याद नहीं आयी और वे बंगाल से लीग के समर्थन से निर्वाचित होकर संविधान सभा के सदस्य बने। पाकिस्तान बनने के बाद जब संविधान सभा विभाजित हुई तो अम्बेडकर के लिए झटपट एक सीट ख़ाली करवाकर कांग्रेस ने बम्बई से उन्हें चुनवा लिया। कांग्रेस ने उन्हें ड्राफ़्टिंग कमेटी का अध्यक्ष बनाया। 1935 के क़ानून के आधार पर दो नौकरशाहों ने एक ड्राफ़्ट तैयार करके अम्बेडकर को सौंपा, अम्बेडकर ने उसी को सजा-धजाकर संविधान का अन्तिम ड्राफ़्ट तैयार किया। संविधान सभा में अम्बेडकर के भाषणों को पढ़ना अपनेआप में एक दिलचस्प अनुभव है। कांग्रेस के प्रति तो वे कृतज्ञता और एकजुटता से ओत-प्रोत दिखते हैं, सभा के अनुदारवादी सदस्यों (जिनमें सामन्ती कुलीनों के प्रतिनिधि भी शामिल थे) के प्रति भी वे कृतज्ञता ज्ञापित करते नहीं थकते। ग़ौरतलब है कि अम्बेडकर जब संविधान का ड्राफ़्ट तैयार करने में तल्लीन थे, यही वह समय था जब देशव्यापी जनउभार चल रहे थे, मज़दूर हड़तालें हो रही थीं, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा-वायलार के किसान संघर्ष चल रहे थे और नेहरू की भेजी सेना ने तेलंगाना के संघर्ष का बर्बर रक्तपातपूर्ण दमन भी इसी दौरान किया। तेलंगाना में ज़मींदारों के गुण्डा गिरोहों, निज़ाम के रज़ाकारों और फिर भारतीय सेना ने जिन रैयतों और भूमिहीनों पर वहशियाना ज़ुल्म ढाये, वे ज़्यादातर शूद्र और दलित जातियों के ही लोग थे। पर अम्बेडकर न कुछ देख रहे थे, न सुन रहे थे, न बोल रहे थे, वे संविधान लिख रहे थे और नेहरू के मन्त्रिमण्डल में क़ानून मन्त्री के पद पर विराजमान थे। संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत उनके ज़्यादातर प्रस्तावों को संविधान सभा ने ख़ारिज कर दिया, इस पर अम्बेडकर को उस समय कोई शिक़ायत नहीं हुई। यह वही संविधान है जो सर्वोपरि तौर पर निजी सम्पत्ति की सुरक्षा की गारण्टी देता है (सम्पत्तिहीन दलितों को इससे क्या लाभ था?)। जनता द्वारा किसी भी चुनौती से निपटने के लिए रहे-सहे जनवाद को भी ताक पर धरकर आपातकाल लागू कर देने का प्रावधान इसी संविधान में मौजूद है। हर पाँच वर्षों बाद पूँजी की ताक़त से जन-प्रतिनिधि चुनने का जो नाटक आज वीभत्सतम रूप ले चुका है, वह इसी संविधान का प्रावधान है। अस्पृश्यता समाप्त करने का प्रावधान इस संविधान में ही मौजूद है (और 1955 में ऐसा क़ानून भी बना), पर यह महज एक काग़ज़ी बात थी। आज अस्पृश्यता में जो भी कमी आयी है, उसका कारण संवैधानिक या वैधिक प्रावधान नहीं, बल्कि पूँजीवादी विकास की अपनी स्वतन्त्र गति है। राजे-रजवाड़ों की सम्पत्ति के अधिग्रहण के बदले उन्हें मुआवज़े देने और प्रिवी पर्स के प्रावधान से अम्बेडकर की पूर्ण सहमति थी। संविधान में चाहे जनवाद का जितना भी ढकोसला किया गया हो, आम जनता का रोज़मर्रा के जीवन में क़ानून-व्यवस्था से ही वास्ता होता है और भारतीय बुर्जुआ वर्ग की सत्ता ने उस क़ानून व्यवस्था (आई.पी.सी., सीआर.पी.सी., जेल मैनुअल, पुलिस मैनुअल, सम्पत्ति विषयक क़ानून) आदि का औपनिवेशिक ढाँचा यथावत बरक़रार रखा (बाद में उसमें एक के बाद एक नये-नये काले क़ानून जुड़ते चले गये)। कराधान की प्रणाली शुरू से ही

ऐसी थी जिसका पूँजीपति मनमाना लाभ उठा सकें तथा राजकाज का सारा बोझ परोक्ष करों के ज़रिए आम जनता पर पड़े। अम्बेडकर स्वयं क़ानून मन्त्री थे, पर ऐसे किसी भी प्रश्न पर उनकी कोई आपत्ति नहीं थी। कांग्रेस से अम्बेडकर की दूरी बनने का कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं था, बल्कि यह था कि वे विधि के बजाय श्रम मन्त्रालय चाहते थे और काफी इन्तज़ार के बाद भी नेहरू ने उनकी इच्छा पूरी नहीं की। फिर 1955 में अम्बेडकर ने इस्तीफ़ा दे दिया। अब वे संविधान सभा के अपने भाषणों के एकदम विपरीत, संविधान निर्माण के दौरान की अपनी विवशताओं की चर्चा करने लगे और संविधान उन्हें इतना निरर्थक लगने लगा कि उन्होंने घोषणा कर दी कि *'इस संविधान को जलाने वाला मैं पहला व्यक्ति होऊँगा।'* जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने रिपब्लिकन पार्टी बनाने की घोषणा की (जो उनके मरणोपरान्त अस्तित्व में आयी)। इस नयी पार्टी के पास भी दलित मुक्ति का कोई रैडिकल सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम नहीं था और मात्र चुनाव के ज़रिए सत्ता में दलितों की दावेदारी बढ़ाकर उनकी स्थिति बदल देने का दिवास्वप्न ही इस पार्टी का कार्यक्रम था। आश्चर्य नहीं कि रिपब्लिकन पार्टी के विभिन्न धड़ों और बाद में पैदा हुई तमाम अम्बेडकरवादी पार्टियों ने सत्ता में भागीदारी के इसी तर्क के आधार पर कांग्रेस, हिन्दुत्ववादी फासिस्ट भा.ज.पा., शिवसेना, दलितों के उत्पीड़क मध्यजातीय कुलकों-फार्मरों की पार्टी स.पा. और कुलकों एवं क्षेत्रीय भू-स्वामियों की द्रमुक, अन्नाद्रमुक जैसी किसी भी जाति से समय-समय पर गाँठ जोड़ने में कोई हिचक नहीं दिखायी। दरअसल, ये पार्टियाँ दलितों के बीच से उभरे बुर्जुआ वर्ग और निम्न-बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्हें जाति और अम्बेडकर के नाम पर दलित वोट तो मिल जाते हैं लेकिन बहुसंख्यक दलित मेहनतकशों के हितों से जिनका कोई लेना-देना नहीं है। इन पार्टियों का आचरण अम्बेडकर के रास्ते से विचलन नहीं है बल्कि उसी की तार्किक परिणति और विस्तार है।

राजकीय समाजवाद के नाम पर अम्बेडकर की जो आर्थिक नीति थी (देखिये, संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत उनके प्रस्ताव), वह फेबियन समाजवादी भी नहीं थी। उसमें कुछ यूटोपियाई प्रस्ताव थे और शेष जो बचता था वह नेहरू के उस कथित समाजवाद से कत्तई भिन्न नहीं था जो राजकीय पूँजीवाद और निजी पूँजीवाद का मिला-जुला रूप – मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला पूँजीवाद था। अम्बेडकर का प्रस्ताव था कि सभी प्रमुख उद्योग और बीमा राज्य के स्वामित्व में होंगे, बुनियादी उद्योग राज्य के निगमों के स्वामित्व में होंगे। सारी खेती का राष्ट्रीकरण कर दिया जायेगा। पर वे इतना जोड़ना नहीं भूले कि पूँजीपतियों और भू-स्वामियों को उनके स्वामित्व वाले कारख़ानों-ज़मीनों का अधिग्रहण करते समय मुआवज़ा दिया जायेगा। छोटे उद्यम निजी स्वामित्व में होंगे। राजकीय खेती गाँवों के परिवारों को बिना किसी भेदभाव के पट्टे पर दी जायेगी। पहली बात यह कि इस व्यवस्था में ब्याज, किराया और व्यक्तिगत स्वामित्व पूर्ववत बने रहने थे, बस सबसे बड़ा वैयक्तिक स्वामी राज्य को होना था। अर्थशास्त्र का सामान्य विद्यार्थी भी बता सकता है कि यह राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद से भिन्न और कुछ भी नहीं होता। यह शोषण-सम्बन्धों को समाप्त करने की जगह और बड़े पैमाने पर जन्म देता, नौकरशाह पूँजीपतियों की एक शक्तिशाली जमात खड़ी करता, छोटे पैमाने के निजी उद्यमों को भी बड़ा बनने का अवसर देता और एक निरंकुश सर्वसत्तावादी राज्य का सामाजिक आधार तैयार करता। इन प्रस्तावित राजकीय उद्यमों और कृषि में भी दलित उजरती गुलाम ही होते। जहाँ तक खेती को राजकीय उद्यम बना देने का प्रश्न है, पूँजीपति वर्ग

भी यही चाहता है, पर उसकी राज्यसत्ता यह कर नहीं सकती क्योंकि पूँजीपति वर्ग के निकटतम वर्ग सहयोगी और सत्ता के छोटे पार्टनर कुलक-फार्मर-भूस्वामी ऐसा कभी नहीं चाहेंगे। अम्बेडकर घोर कम्युनिज़्म विरोधी अमेरिकी विचारक जॉन डेवी से (वे उसके छात्र भी रहे थे) तो शुरू से प्रभावित थे, पर 1952 में (शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के चुनाव घोषणापत्र में), उनका "राजकीय समाजवाद" अपना रूप बदलकर डेवियन प्रैग्मेटिज़्म के और अधिक निकट आ गया था। अब उनका कहना था कि तेज़ औद्योगिक विकास ज़रूरी है, जहाँ राजकीय नियन्त्रण बेहतर हो, वहाँ वह लागू किया जाये और जहाँ निजी स्वामित्व ज़्यादा कारगर हो, वहाँ उसे लागू किया जाये। कृषि के राष्ट्रीकरण के हवाई ख़यालात पीछे रह गये थे और अब अम्बेडकर शत-प्रतिशत नेहरू की आर्थिक नीतियों की अवस्थिति पर आ गये थे। अम्बेडकर नहीं भी कहते तो पूँजीपति वर्ग हर तरह से तेज़ औद्योगिक विकास को आतुर था। पूँजी की इस स्वाभाविक गति से जाति-व्यवस्था को जितना कमज़ोर होना था उतना वह हुई। पर मुख्य पहलू यह है कि पूँजीवाद ने अपने हित में जाति-व्यवस्था का अपनी संरचना के साथ तन्तुबद्धीकरण (articulation) कर लिया, इसे परिष्कृत करके अपना लिया, बहुसंख्यक दलित आबादी का उत्पीड़न, अलगाव और अपमान गाँवों में ही नहीं शहरों में भी जारी रहा और एक छोटी-सी बुर्जुआ और मध्यवर्गीय दलित आबादी शासक वर्ग के अंग और सामाजिक अवलम्ब के रूप में व्यवस्था में सहयोजित कर ली गयी। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

पश्चिमी बुर्जुआ जनवादी व्यवस्था के प्रति अम्बेडकर की अटूट आस्था थी, उनकी सोच उसकी सीमा का कभी अतिक्रमण नहीं कर सकी। उसमें भी उनके आदर्श दिदेरो, वॉल्तेयर या टॉम पेन नहीं थे, फेबियन सोशलिस्ट जॉर्ज बर्नार्ड शॉ भी नहीं थे। उनके प्रेरणा स्रोतों का वर्णक्रम एडमण्ड बर्क से लेकर प्रैग्मेटिस्ट अमेरिकी विचारक जॉन डेवी तक फैला हुआ था। वर्ग-निरपेक्ष जनवाद की उनकी समझ बुर्जुआ राजनीति-शास्त्र के तर्कों से अलग कुछ नहीं थी। वे इस बात को समझने में एकदम विफल रहे कि हर जनवाद का एक वर्ग-चरित्र होता है। वह या तो बुर्जुआ जनवाद होता है या समाजवादी जनवाद होता है। बुर्जुआ जनवाद बहुसंख्यक जनता पर बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकत्व होता है और सर्वहारा जनवाद अल्पसंख्यक शोषकों पर मज़दूर वर्ग का (अन्य मेहनतकश वर्गों के सहयोग से) अधिनायकत्व होता है। सर्वहारा तानाशाही से वह यूँ बिदकते हैं मानो वह जनवाद का निषेध हो या पार्टी की निरंकुश सत्ता हो। मार्क्सवाद पर उनके लेखन को पढ़कर यह विश्वास हो जाता है कि उन्होंने बुर्जुआ समाजशास्त्रियों की सतही आलोचनाओं और उसमें दिये गये उद्धरणों के अतिरिक्त मार्क्सवाद की किसी भी क्लासिकी कृति का अध्ययन नहीं किया था। सर्वहारा अधिनायकत्व वह है ही नहीं, जैसा वह बयान करते हैं। समाजवाद और साम्यवाद के बीच का अन्तर भी उन्हें स्पष्ट नहीं था। राज्यसत्ता के वर्ग-चरित्र की समझदारी नहीं होने से ही वे इस बात को नहीं समझ सके कि राज्यसत्ता का बुर्जुआ चरित्र रहते यदि खेती और उद्योगों का राष्ट्रीकरण कर भी दिया जाये तो वह समाजवाद नहीं बल्कि राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद ही होगा, न ही वह यह समझ सके कि एक वर्ग की राज्यसत्ता का बलात ध्वंस करके ही दूसरा वर्ग अपनी सत्ता क़ायम कर सकता है। इतिहास में किसी भी शासक वर्ग ने शान्तिपूर्वक सत्ता हस्तान्तरित नहीं की है। क्रान्तिकारी वर्ग युद्ध में हिंसा एक अनिवार्यता है, किसी की इच्छा नहीं। कम्युनिस्ट जब हिंसा की बात करते हैं तो उनका अर्थ व्यक्तिगत हिंसा नहीं वर्ग हिंसा है, बल द्वारा स्थापित, बल

द्वारा संचालित और बल-प्रयोग के माध्यम से क़ायम राज्यसत्ता को बल द्वारा चकनाचूर करना होता है (इस प्रक्रिया में रक्तपात न हो तो भी बल का प्रयोग होगा जो दार्शनिक अर्थ में हिंसा ही होगी)। इसी तरह, अम्बेडकर को माल-उत्पादन, अधिशेष के विनियोजन या पूँजी-संचय की प्रक्रिया की मार्क्सवादी व्याख्या के बारे में अर्थशास्त्री होते हुए भी कोई जानकारी नहीं थी। आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) और अधिरचना के द्वन्द्व के बारे में, उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के सतत द्वन्द्व में गुणात्मक उछाल और उत्पादक शक्तियों द्वारा उत्पादन-सम्बन्धों को तोड़कर नये उत्पादन-सम्बन्धों की स्थापना के रूप में सामाजिक क्रान्ति की परिभाषा से वे अवगत ही नहीं थे। जो मार्क्सवाद यान्त्रिक भौतिकवाद की उत्पत्ति – आर्थिक नियतत्ववाद से संघर्ष करते हुए ही विकसित हुआ था उसी पर वे चलताऊ कलमघसीटों की तरह आर्थिक नियतत्ववादी होने का आरोप लगाते हुए कहते हैं कि मार्क्सवादी मनुष्य को केवल आर्थिक प्राणी मानते हैं। मार्क्सवाद सिर्फ़ यह कहता है कि उत्पादक कार्रवाई मनुष्य की बुनियादी कार्रवाई है जिसके लिए मनुष्य सुनिश्चित उत्पादन-सम्बन्धों में बँधता है। इन्हीं उत्पादन-सम्बन्धों का समुच्चय समाज का मूलाधार है जिस पर राजनीतिक-वैचारिक-सांस्कृतिक- सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों की विराट अधिरचनात्मक अट्टालिका खड़ी हो जाती है। एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद अधिरचना की अपनी स्वतन्त्र गति होती है, वह अपनी पारी में मूलाधार को भी प्रभावित करती है और एक सुनिश्चित मूलाधार के नष्ट होने के बाद भी पुरानी अधिरचना बनी रहती है, और नये मूलाधार से तथा नयी अधिरचना से उसका टकराव जारी रहता है। समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में पूँजीवादी मूलाधार के विविध रूप बचे रहते हैं, उनके सतत रूपान्तरण की लम्बी क्रिया के साथ पुरानी अधिरचनाओं के विरुद्ध भी सतत क्रान्ति जारी रहती है। इस प्रस्थापना को नहीं जानने के कारण **अम्बेडकर** 1938 में **जनता** में लिखे गये एक लेख में यह बचकानी टिप्पणी करते हैं कि यदि सांस्कृतिक और धार्मिक उपादानों की इमारत आर्थिक बुनियाद पर टिकी है तो उस बुनियाद को नष्ट करने के लिए भी पहले इमारत ही तोड़नी पड़ती। यह आलोचना भी बिना जाने की गयी आलोचना है। आर्थिक बुनियाद को नष्ट करने के लिए कम्युनिज़्म भी पहले केन्द्रीय राजनीतिक अधिरचनात्मक संस्था – राज्यसत्ता का ही ध्वंस करने की बात करता है और राज्यसत्ता के ध्वंस की मंज़िल तक जनता की चेतना को उन्नत और संगठित करने के लिए आर्थिक-राजनीतिक प्रचार और संघर्ष के साथ ही जनमानस में वर्चस्व जमाये सभी धार्मिक-वैधिक-नैतिक मूल्यों-मान्यताओं और संस्थाओं के विरुद्ध सतत संघर्ष करना होता है। मार्क्सवाद सिर्फ़ यह कहता है कि किसी भी अधिरचनात्मक तन्त्र को पूर्णत: और अन्तिम तौर पर तभी ध्वस्त किया जा सकता है जब उसके आर्थिक मूलाधार को तोड़ा जा चुका हो। मार्क्सवाद सिर्फ़ यह कहता है कि अन्ततोगत्वा निर्णायक उपादान मूलाधार ही होता है। इस चर्चा पर हम आगे भी आयेंगे। अम्बेडकर मनुष्य को सिर्फ़ "आर्थिक प्राणी" होने की अवधारणा को ख़ारिज करते हुए किसी भी नागरिक समाज के लिए धर्म को अनिवार्य बताते हैं। अम्बेडकर का यह "नागरिक समाज" हेगेल ही नहीं, लॉक और रूसो के नागरिक समाज की अवधारणा से भी पीछे है जो तर्कणा के राज्य का आदर्शीकृत रूप था और सामाजिक-राजनीतिक स्पेस में धर्म की उपस्थिति को सिरे से ख़ारिज करता था। दरअसल, मार्क्स के पहले के जुझारू भौतिकवादी बुर्जुआ विचारकों ने भी मानव द्वारा विशेष परिस्थितियों में धर्म के निर्माण के बारे में और धर्म के इतिहास के बारे में जो सोचा था, अम्बेडकर उससे

अनभिज्ञ थे। धर्म को वे एक मानवेतर, शाश्वत निदेशक सिद्धान्त मानते थे और उसके सामाजिक उद्गम से अनभिज्ञ थे। इस मामले में वे गाँधी जितने ही दकियानूस थे। उनकी तलाश केवल हिन्दू धर्म से बेहतर धर्म की थी जो 2000 साल पुराने आद्य-बौद्ध धर्म पर जाकर ख़त्म हुई। आजीवक, लोकायत या सांख्य जैसे ब्राह्मणवाद-विरोधी प्राचीन भौतिकवादी दर्शनों की ओर वे इसलिए नहीं गये क्योंकि वे संगठित धर्म नहीं थे। अम्बेडकर की आत्मिक (spritual) वंचना यह थी कि वे सिर्फ़ धर्म को ही आत्मिक सम्पदा समझते थे। मार्क्सवाद मनुष्य को सिर्फ़ "आर्थिक प्राणी" मानना तो दूर, आत्मिक सम्पदा से रिक्त मनुष्य को मनुष्य होने की शर्तों से रिक्त मानता है और उसका लक्ष्य यह है कि वह सामाजिक ढाँचा नष्ट होना चाहिए, जिसमें सारा समय जीने मात्र के लिए खटने में लगाने के चलते बहुसंख्यक आबादी आत्मिक सम्पदा से वंचित है और दूसरी ओर श्रम के नैसर्गिक मानवीय गुण से रिक्त परजीवी वर्गों के पास भी आत्मिक सम्पदा के नाम पर केवल भोग-विलास और स्वार्थपरता की निकृष्ट संस्कृति है। मार्क्सवाद संस्कृति, कला-साहित्य, संगीत, दर्शन इन सभी को आत्मिक सम्पदा मानता है, मानवीय सारतत्व (Human Essence) मानता है। यदि उन्होंने **मार्क्स-एंगेल्स** की **1844 की दार्शनिक-आर्थिक पाण्डुलिपियाँ, पवित्र परिवार, जर्मन विचारधारा, राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** जैसी (**ग्रुण्ड्रिस्से** तो उनके जीवनकाल में नहीं छपा था) रचनाएँ पढ़ी होतीं, यदि वे **पूँजी** में यहाँ-वहाँ आये सन्दर्भों से परिचित होते, यदि उन्हें लेनिन, स्तालिन, माओ से लेकर गोर्की, लुनाचार्स्की, ब्रेष्ट, लुकाच, वोरोव्स्की, वोरोन्स्की आदि दर्जनों लोगों द्वारा भाषा, साहित्य, कला, संगीत आदि की सैद्धान्तिकी पर 1950 तक हुए कामों की और समाजवादी कला-साहित्य-संगीत-सिनेमा के क्षेत्र में हुए प्रयोगों के सौवें हिस्से की भी जानकारी होती तो मार्क्सवाद की आत्मिक सम्पदा के बारे में उनके विचार इतने उथले नहीं होते।

आख़िरकार अम्बेडकर का दलित मुक्ति का प्रोजेक्ट था क्या? तेज़ उद्योगीकरण। वह तो पूँजीवाद ख़ुद चाहेगा, पर अपनी पूँजी की ताक़त की औक़ात और इतिहास के रंगमंच की सीमा का अतिक्रमण करके वह इसे नहीं कर सकता था। जितना कर सकता था, उतना उसने साठ वर्षों में किया है। परिणाम क्या है? दस प्रतिशत दलित मध्यवर्गीय हो गये (सामाजिक पार्थक्य और अलगाव उन्हें भी झेलना पड़ता है), कुछ व्यवस्था के सामाजिक अवलम्ब बन गये और 90 प्रतिशत आबादी गाँवों और शहरों में उजरती ग़ुलामी करती है और जातिगत भेदभाव, पार्थक्य, अपमान और उत्पीड़न झेलती है, फ़र्क इतना है कि स्थिति पहले से बेहतर है। हम एक परिष्कृत, पूँजीवादी चरित्र वाली जाति-व्यवस्था के रूबरू हैं। जो भी बेहतर स्थिति है, वह केवल उद्योगीकरण के चलते नहीं है, आरक्षण की भी इसमें एक भूमिका है। यह अम्बेडकर का एक योगदान ज़रूर था। जब आरक्षण की माँग की गयी और वह लागू हुआ तो दलितों की (और पिछड़ों की भी) स्थिति देखते हुए वह एक बुर्जुआ जनवादी माँग थी। आज तो आरक्षण एक भँवरजाल बन गया है। आरक्षण के बँटवारे को लेकर दलितों और पिछड़ों के बीच, दलित जातियों-उपजातियों के बीच आपस में और पिछड़ी मानी जाने वाली जातियों के बीच आपस में सबसे अधिक टकराव हो रहे हैं। वह भी तब जब नवउदारवाद के दौर में सरकारी नौकरियाँ लगातार घटती जा रही हैं। साठ वर्षों में आरक्षण ने दस प्रतिशत दलितों को मध्य वर्ग और उनमें से भी दो प्रतिशत को उच्च मध्य वर्ग और बुर्जुआ वर्ग बनाया है। अब आरक्षण की पहुँच इन्हीं तक है और यही मुखर तबका दलित उत्पीड़न पर आग तो

बहुत उगलता है लेकिन व्यवस्था में सहयोजित (co-opt) होकर या व्यवस्था का सामाजिक अवलम्ब बनकर शेष नब्बे फीसदी दलित आबादी से दूर हो चुका है। सहयोजन और सामाजिक अवलम्ब-विस्तार का यह काम हर पूँजीवादी व्यवस्था करती है। आरक्षण-विरोध प्रायः सवर्ण प्रतिक्रियावादी मानसिकता से किया जाता है, पर आरक्षण ही यदि दलित संघर्ष के एजेण्डे पर प्रधान हो जाता है और हवाई आशा के नाम पर उन्हें बाँटने लगता है तो यह मानना ही पड़ेगा कि बुर्जुआ जनवादी माँग से अधिक यह बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों को बनाये रखने का उपकरण बन गया है। आरक्षण आज एक ग़ैर-मुद्दा (non-issue) है, दलित मुक्ति के एजेण्डे पर इसे विस्थापित करके 'समान शिक्षा, सबको रोज़गार' के मुद्दे को स्थान देना होगा। अभी तक हम नौकरियों में आरक्षण की बात कर रहे थे। जहाँ तक सत्ता-तन्त्र में (चुनावी सीटों पर) आरक्षण की बात है, यह एक प्रतिक्रियावादी दलित-विरोधी माँग है। कुछ दलितों के संसद और सरकार में पहुँच जाने से बस इतना होता है कि वे बुर्जुआ राज्यसत्ता के पुर्ज़े बन जाते हैं, पूरे फ्रेमवर्क का अतिक्रमण करके दलितों के लिए कुछ रैडिकल सुधार भी वे नहीं करवा सकते। छह दशकों का अनुभव भी इसी बात की पुष्टि करता है।

जहाँ तक जाति-व्यवस्था के समूल नाश की किसी परियोजना की बात है, अम्बेडकर के पास कभी भी उसकी सांगोपांग सोच नहीं थी। 1936 का उनका प्रसिद्ध निबन्ध **जाति उन्मूलन** अन्तरविरोधी बातों का भँवरजाल है जिसका अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि जाति का उन्मूलन असम्भव है। उनका कहना है कि प्रत्येक देश में बुद्धिजीवी वर्ग ही सर्वाधिक प्रभावी वर्ग होता है और हिन्दुओं में बुद्धिजीवी सिर्फ़ ब्राह्मण हैं जो जाति प्रथा के ख़ात्मे के लिए कतई तैयार नहीं होंगे। धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मण भी आपसी रिश्तेदारी से जुड़े होने के चलते पुरोहित ब्राह्मणों के विरुद्ध नहीं खड़े होंगे। शेष हिन्दू समाज की जातियाँ भी जाति प्रथा की समाप्ति के लिए तैयार नहीं होंगी। फिर वे अन्तरजातीय विवाह (Intercaste marriage) को इसका उपचार बताते हैं, लेकिन चूँकि यह धार्मिक सिद्धान्तों व आस्थाओं के प्रतिकूल है अतः लोगों के मानस को धर्म और शास्त्रों की जकड़ से मुक्त किये बिना यह सम्भव नहीं है। इस काम के लिए अम्बेडकर सांस्कृतिक आन्दोलन नहीं सुझाते, बल्कि यह कहते हैं कि जाति प्रथा समाप्त करना लगभग असम्भव है और इसमें कई युग लग जायेंगे। सही है कि इसके बाद तो युगों तक इन्तज़ार का रास्ता ही बचता है। तब तक इसी व्यवस्था के भीतर कुछ राहतों-रियायतों के लिए दबाव बनाया जाये और पूँजीवादी विकास (उद्योगीकरण) के साथ जाति-व्यवस्था का प्रभाव कम होते जाने का इन्तज़ार किया जाये।

धर्मान्तरण को भी एक उपाय के रूप में उन्होंने देखा और अन्तिम दिनों में बौद्ध बन गये। हालाँकि बहुत कम दलितों ने उनकी बात मानी, पर जिन्होंने मानी, उनकी सामाजिक स्थिति पर कोई फ़र्क नहीं पड़ा, बस 'नवबौद्ध' दलित जाति का एक प्रवर्ग बनकर रह गया। मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध के बारे में बौद्ध धर्म का जो भौतिकवादी नज़रिया था, उससे तो अम्बेडकर ने कुछ नहीं लिया, परन्तु व्यक्तिगत और सामाजिक आचार संहिता के सन्दर्भ में उसकी आधिभौतिक प्रत्ययवादी आख्यानों की एक भक्त की तरह विशद चर्चा की। यह किसी भी तरह से स्पष्ट नहीं होता कि बुद्ध के अष्टांग मार्ग पर आचरण करने से दलितों की सामाजिक स्थिति पर क्या फ़र्क पड़ेगा। उन्हें इतिहास के इस तथ्य की पता नहीं जानकारी थी या नहीं कि अस्पृश्यों की निम्न सामाजिक स्थिति बनाने में बौद्ध और जैन धर्मों की भी भूमिका थी और किसानों, दासों और स्त्रियों की दोयम सामाजिक स्थिति को वह भी मान्यता

देते थे। बाद में जिन शासकों ने इसे अपनाया वे कम उत्पीड़क नहीं थे। अम्बेडकर का ध्यान पता नहीं इस ओर गया था कि नहीं कि फ़ासिस्ट (और आज का साम्राज्यवादी) जापान, क्रान्ति-पूर्व चीन और अन्य बौद्ध मतावलम्बी देश पूँजीवादी लूट-मार, अन्याय-अनाचार में किसी अन्य पूँजीवादी देश से कभी कम नहीं रहे। यह अम्बेडकर का विचित्र अन्तरविरोध था कि एक ओर तो वे पश्चिमी देशों की जनवादी व्यवस्था और संविधानवाद के कट्टर समर्थक, एडमण्ड बर्क के प्रशंसक और जॉन डेवी के अनुयायी थे, दूसरी ओर अन्ततोगत्वा सबसे अहम सामाजिक समस्या का समाधान उन्हें 2,000 साल पुराने, प्राचीन जनपदीय गणराज्यों के काल के एक धर्म में दिखायी दिया। अम्बेडकर की पूरी इतिहास-दृष्टि पर यहाँ चर्चा सम्भव नहीं है, पर इतना ज़रूर ही कहा जा सकता है कि अपने समय से 150 वर्ष पहले पैदा हुए पुनःस्थापन काल के इतिहासकारों – त्येरी, मिन्ये, गिज़ो और तियेर ही नहीं, बल्कि प्रबोधनकाल के दिदेरो, वॉल्तेयर, रूसो आदि से भी वे मीलों पीछे थे। यूँ कहें कि उनकी इतिहास-दृष्टि भौंड़े भाववाद और अटकलबाज़ी से अधिक कुछ नहीं थी। समाज के उत्पादन-सम्बन्धों के भौतिक आधार की पड़ताल के बजाय, वे जाति-व्यवस्था की जड़ सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) मानते हैं जिसे ब्राह्मणों ने शुरू किया (यानी वे जाति प्रथा के पहले से ही मौजूद थे)। इसी तरह, बौद्ध धर्म की उत्पत्ति का कारण वे आर्यों की सभ्यता की पतनशीलता बताते हैं। फिर बौद्ध धर्म के पराभव का भी कोई सामाजिक कारण नहीं बताते और बस यह नतीजा दे देते हैं कि बौद्ध धर्म पर विजय के बाद ब्राह्मणवाद की सत्ता और जाति-व्यवस्था दृढ़ता से स्थापित हो गयी। ऊपर हम मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर इतिहास-चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य मात्र यह स्पष्ट करना है कि इतिहास, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र – इन सभी क्षेत्रों में अम्बेडकर का चिन्तन अमौलिक था, अगम्भीर था, अन्तरविरोधों से भरा था और बहुधा ग़लत था। मूलतः और मुख्यतः वे एक बुर्जुआ सुधारवादी थे (यह कहना उनकी हेठी करना नहीं, बल्कि उनके विचारों का प्रवर्ग निर्धारित करना है), एक प्रतिबद्ध संविधानवादी थे, इतिहास के निर्माण की कारक शक्ति वे जनता को नहीं बल्कि महापुरुषों और बुद्धिजीवियों को मानते थे तथा इतिहास-विकास के सुनिश्चित विज्ञान की खोज में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी क्योंकि वे मानते ही नहीं थे कि समाज-परिवर्तन के कुछ सुनिश्चित वस्तुगत नियम होते हैं। निश्चय ही दलित आबादी में जागृति पैदा करने में, कांग्रेसी नेतृत्व का एक हद तक पर्दाफ़ाश करने में और तत्कालीन समय में आरक्षण जैसा बुर्जुआ जनवादी अधिकार हासिल करने में उनकी सकारात्मक भूमिका थी। पर उनकी नकारात्मक भूमिकाओं की भी अनदेखी से दलित जातियों का कुछ भला होने वाला नहीं। आज अम्बेडकर को अप्रश्नेय बना देने, उन पर तर्कसंगत ढंग से बहस करने पर दलित-विरोधी होने का ठप्पा लगा देने और "संविधान निर्माता" अम्बेडकर को मसीहा बना देने से शासक वर्गों का ख़ूब हित-पोषण हो रहा है, अपनी मुक्ति और जाति-उन्मूलन की किसी क्रान्तिकारी परियोजना पर कोई संवाद या दलित आबादी तक कोई बात तक पहुँचाना दुष्कर होता जा रहा है, दलित आबादी सुधारों के भँवरजाल और बुर्जुआ संसदीय राजनीति की भूल-भुलैया में ही घूमती रह जा रही है और इस काम में सत्ता द्वारा सहयोजित दलित बुद्धिजीवियों की एक छोटी-सी आबादी बहुत अहम भूमिका निभा रही है। विचारों के विश्लेषण के विस्तार और गहराई में गये बिना जो मार्क्सवादी बुद्धिजीवी और ग्रुप सार-संग्रहवादी (eclectic) ढंग से यहाँ-वहाँ से कुछ उद्धरण चुनकर या कम्युनिस्ट आन्दोलन

को ही कोसकर ईसाई ढंग का कन्फेशन करते हुए अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद की अमूर्त खिचड़ी पकाने की भाँति-भाँति की तजवीजें पेश कर रहे हैं, वे जादुई बीन बजाकर सबको लुभा लेने का ख़्वाब पाले गगनविहारी लोग हैं। फिर अस्मितावाद की नयी बिरयानी परोसने वाले कुछ शातिर बुद्धिजीवी हैं। इनकी चर्चा आगे की जायेगी।

यहाँ अम्बेडकर पर चर्चा-समापन के बाद हम पेरियार की राजनीति पर आते हैं, जो उन्हीं के समकालीन थे। पेरियार का पूरा राजनीतिक जीवन नितान्त विसंगतिपूर्ण रहा। 1919 में शुरुआत उन्होंने कांग्रेस पार्टी की राजनीति से की फिर कांग्रेसी नेतृत्व पर सवर्ण मानसिकता हावी होने और सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध सामाजिक आन्दोलन न चलाने के विरोधस्वरूप वे अलग हो गये। 1926 में उन्होंने 'आत्मसम्मान लीग' की स्थापना की और ब्राह्मणवाद और सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध सामाजिक आन्दोलन चलाये। वे कट्टर निरीश्वरवादी थे। 1932 में उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा की और लौटकर कुछ दिनों तक सिंगरावेलु शेट्टियार के साथ समाजवाद का प्रचार भी किया। पर कुछ ही दिनों बाद वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी हो गये, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की उपस्थिति को शूद्र और दलित जातियों के लिए अनुकूल मानने लगे और 1934 में ब्रिटिश समर्थक जस्टिस पार्टी में शामिल हो गये। इसके बाद उन्होंने 'द्रविड़ कषगम' की स्थापना की। इतिहास के तथ्यों से परे, पेरियार की धारणा थी कि ब्राह्मण बाहरी आक्रान्ता आर्यों के वंशज हैं जबकि ग़ैर-ब्राह्मण द्रविड़ मूल के लोग हैं। 15 अगस्त, 1947 को उन्होंने 'ब्राह्मणराज की स्थापना' का दिन मानते हुए शोक दिवस मनाया और जाति-उन्मूलन के प्रश्न पर मौन रहने के कारण 1957 में संविधान भी जलाया। पेरियार तर्कबुद्धिवाद के पक्षधर थे और समतामूलक समाज की बात भी करते थे, लेकिन व्यवहारतः उनकी राजनीति उत्तर-विरोध, हिन्दी-विरोध, ब्राह्मण-विरोध और धर्म-विरोधी प्रचार तक ही सीमित थी। भारतीय संघ में अधिक स्वतन्त्रता वाले पृथक तमिलनाडु की माँग वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले से ही करते आ रहे थे। लेकिन पेरियार के तर्कबुद्धिवाद और निरीश्वरवाद के विचार जातिभेद की समस्या का हल निकालने और दलितों की मुक्ति की दिशा में कुछ भी कारगर नहीं सिद्ध हो सके क्योंकि सामाजिक अन्तरविरोधों की उनकी समझ ग़लत थी और उनके पास कोई भी ठोस सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम नहीं था। उनका राजनीतिक व्यवहार भी इसीलिए अन्तरविरोधों से भरा था। उन्होंने नाडार जाति के कांग्रेसी मुख्यमन्त्री कामराज का समर्थन किया। जब द्रविड़ कषगम से ही निकली हुई द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम की अन्नादुरै सरकार शासन में आयी तो उन्होंने उसका समर्थन किया। पेरियार के राजनीतिक जीवनकाल के प्रथम चरण का समय वह था जब तमिल क्षेत्रों में ब्राह्मणों का सामाजिक वर्चस्व क़ायम था, लेकिन ग़ैर-ब्राह्मण जातियों में भी आर्थिक समृद्धि आ रही थी। इन्हीं जातियों के बीच से स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद धनी मालिक किसानों-कुलकों और क्षेत्रीय पूँजीपतियों के वर्ग विकसित हुए, द्रमुक और अन्नाद्रमुक जैसी पार्टियाँ इन्हीं वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थीं और उत्तर-विरोध की राजनीति केन्द्र में सत्तारूढ़ बड़े पूँजीपतियों पर दबाव बनाने और सौदा करने में इनके लिए सहायक थी। इन पार्टियों का जनाधार जिन कथित शूद्र जातियों में था, वे दलित-उत्पीड़न में ब्राह्मणों से पीछे नहीं थीं। आगे चलकर इनमें से कई पार्टियाँ फूटकर निकलीं जिनका अलग-अलग जातियों में आधार था। इन पार्टियों को आपस में तथा कांग्रेस और भाजपा जैसी पार्टियों से जोड़-तोड़ और गठबन्धन करने में कभी कोई परहेज़ नहीं रहा। इनसे मोहभंग के बाद दलित जातियों की कई छोटी-छोटी पार्टियाँ भी उभरीं,

पर वे भी कभी द्रमुक तो कभी अन्नाद्रमुक गठबन्धन में पुछल्ला बनने की ही भूमिका निभाती रहीं।

उत्तर-औपनिवेशिक भारत में पूँजीवादी विकास और जाति-व्यवस्था

भारतीय पूँजीपति वर्ग औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना से जन्मा और साम्राज्यवादी विश्व में पला-बढ़ा एक ऐसा पूँजीपति वर्ग था जो न तो साम्राज्यवादी हितों को अधिक क्षति पहुँचा सकता था (निर्णायक विच्छेद तो नव-स्वाधीन देशों का रैडिकल से रैडिकल पूँजीपति वर्ग भी नहीं कर सकता था), न ही रैडिकल ढंग से बुर्जुआ भूमि-सुधारों का कार्यभार ही पूरा कर सकता था। अंग्रेज़ों से इसे एक एकीकृत देश का प्रशासन-तन्त्र और क़ानून व्यवस्था विरासत में मिली थी। एक मरियल बुर्जुआ संविधान भी इसने तैयार कर लिया था।

शुरू में इस पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजी का प्रभाव अधिक था, पर धीरे-धीरे इसने अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का इस्तेमाल करते हुए अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार किया और बेहतर से बेहतर शर्तों पर पूँजी, तकनोलॉजी हासिल करने की कोशिश की। फिर उसी तकनोलॉजी का भारतीयकरण करके अपनी तकनोलॉजी भी विकसित की। यहाँ के पूँजीपति वर्ग के पास पूँजी की कमी होने के कारण और विदेशी पूँजी का दबाव कम करने के लिए इसने जनता के ख़ून-पसीने की कमाई निचोड़कर राजकीय पूँजीवादी दायरे में बुनियादी और अवरचनागत उद्योगों का ढाँचा खड़ा किया ताकि निजी क्षेत्र में विकास तेज़ हो। यह 'इम्पोर्ट सब्स्टीट्यूशन इण्डस्ट्रियलाइज़ेशन' का रास्ता था। पूँजीपतियों को ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी मुहैया कराने के लिए बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया। समाज में खुशहाल मध्यवर्गीय संस्तरों के विकास के साथ ही शेयर बाज़ार से पूँजी का विपुल अम्बार जुटाने का मार्ग भी प्रशस्त होता चला गया। जब भारतीय पूँजीपति वर्ग की पूँजी की शक्ति काफ़ी बढ़ गयी तो राजकीय उद्यमों को उन्हें औने-पौने दामों पर सौंपने की प्रक्रिया शुरू हो गयी। निजीकरण-उदारीकरण का यह दौर भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत, विवशता और बढ़े हुए आत्मविश्वास – तीनों का ही परिचायक था। नव-उदारवाद के इस दौर में संकटग्रस्त अन्तरराष्ट्रीय पूँजी ने भी संरक्षणवादी नीतियाँ समाप्त करने का पूरा दबाव बनाया। भारतीय पूँजीवाद ने एक ओर विशाल और सतत फैलते भारतीय बाज़ार में हिस्सा बाँटने के लिए साम्राज्यवादियों को ज़्यादा खुले मौक़े दिये, दूसरी ओर वह न केवल उनके साथ सहकार और प्रतिस्पर्धा करता रहा बल्कि भूमण्डलीकृत विश्व-बाज़ार में उसने स्वयं भी देश के बाहर क्रमशः ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी निवेश करना शुरू किया। भारतीय पूँजीपति वर्ग की स्थिति विश्व पूँजीवादी तन्त्र में साम्राज्यवादियों के 'जूनियर पार्टनर' की है। विश्व स्तर पर निचोड़े गये अधिशेष का यह बहुत छोटा हिस्सा पाता है, पर देश स्तर पर अधिशेष का बड़ा भागीदार आज भी यह ख़ुद है। उत्तर-औपनिवेशिक और उत्तर-नवऔपनिवेशिक देशों में यह सापेक्षतः अधिक विकसित उत्पादक शक्तियों वाले देशों की क़तार में खड़ा है।

ऐतिहासिक परिस्थितियों में भारतीय पूँजीपति वर्ग का जैसा चरित्र विकसित हुआ था, यह रैडिकल भूमि-सुधार करके छोटे-बड़े भू-स्वामियों के हितों पर निर्णायक चोट कर ही नहीं सकता था। इसलिए इसने जर्मनी के जुंकर-टाइप रूपान्तरण और रूस के स्तालिपिन-टाइप भूमि-सुधारों का एक मिला-जुला भारतीय संस्करण भारत में लागू किया। इसने पुराने शोषकों

को अवसर दिया कि वे अपने शोषण के तौर-तरीक़ों को बदल लें। जो पुराने राजे-रजवाड़े थे, उनकी रियासतें ले ली गयीं, पर अकूत सम्पत्ति, महल-बंगले, भू-सम्पत्ति छोड़ दी गयी। साथ ही दो दशकों तक उन्हें प्रिवी पर्स भी दिया गया। इस सम्पदा के बूते ज़्यादा राजे-रजवाड़े या तो होटल मालिक या उद्योगों के बड़े शेयर-होल्डर के रूप में देश के बड़े पूँजीपतियों की क़तार में 'स्लीपिंग पार्टनर' के रूप में शामिल हो गये, या फिर बड़े पूँजीवादी भू-स्वामी बन गये। ज़मींदारी उन्मूलन को धीमी गति से लागू करते हुए गाँवों के सामन्ती भू-स्वामियों को पूरा अवसर दिया गया कि वे अपना लगानजीवी चरित्र बदलकर बाज़ार के लिए पैदा करने वाले बुर्जुआ भू-स्वामी बन जायें, तीन-तिकड़म से हदबन्दी से अपनी ज़्यादा से ज़्यादा भूमि बचा लें या फिर शहरी उच्च मध्य वर्ग की कतारों में शामिल हो जायें। जो पहले के धनी और मध्यम काश्तकार थे, उनका भी बड़ा हिस्सा खेतों का मालिक बनने के साथ ही पूँजीवादी किसान-कुलक बन गया। इनमें से ज़्यादातर मध्य जातियों के किसान थे – रेड्डी, कम्मा, थेवर, मराठा, जाट, कुर्मी, कुशवाहा, सैंथवार आदि इनके मात्र कुछ उदाहरण हैं। आर्थिक स्थिति ठीक होते ही इनके 'संस्कृतीकरण' की क्रिया भी आगे बढ़ी। बुर्जुआ पार्टियों में कुलकों-फार्मरों के ब्लॉक बने और क्षेत्रीय स्तर पर उनकी पार्टियाँ अस्तित्व में आयीं, जिनका चुनावी जनाधार तैयार करने में जाति सबसे अहम भूमिका निभाती थी। ये मध्य जातियों (कथित शूद्र जातियों) के किसान दलितों का उत्पीड़न करने में सवर्ण पृष्ठभूमि के उन बुर्जुआ भू-स्वामियों से कहीं आगे थे जो पुराने सामन्ती भू-स्वामियों के वंशज थे।

तथाकथित हरी-सफेद क्रान्ति ने एक ओर गाँवों में पूँजी-प्रवेश और एग्री बिज़नेस के लिए उर्वर ज़मीन तैयार कर दी, दूसरी ओर पूँजीवादी भूस्वामियों-कुलकों को भी पूँजी की ताक़त के हिसाब से अधिशेष निचोड़ने के प्रचुर अवसर दिये। 'एग्रो-बेस्ड और अलायड सेक्टर' का देशव्यापी विकास हुआ। शहर के धनिकों ने भी संचित पूँजी का खेती में निवेश किया। पूँजी-सघन आधुनिक खेती की प्रवृत्ति आगे बढ़ी। किसान आबादी का विभेदीकरण तेज़ हो गया। प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के रहे-सहे अवशेष और स्थानीय बाज़ार समाप्त हो गये और देश के सुदूरवर्ती कोने तक राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार से जुड़ गये। जहाँ पुरानी भूमि-काश्तकारी व्यवस्था थी, वह भी (जैसा कि मार्क्स और लेनिन ने भी स्पष्ट कहा था) पूँजीवादी विकास की राह की बाधा नहीं बनी। लगान (rent) का चरित्र यदि देखें, तो वह पूरी तरह से पूँजीवादी हो चुका है। कृषि में पूँजीवाद ने तमाम प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं को या तो तोड़ दिया है या सहयोजित कर लिया है। प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों की मौजूदगी का दायरा सिकुड़ता चला गया। इस प्रवृत्ति ने गाँवों से बड़े पैमाने पर (लगातार बढ़ती रफ़्तार के साथ) मज़दूर आप्रवासन (labour migration) को जन्म दिया। औद्योगिक पूँजीपतियों के लिए सस्ती से सस्ती दरों पर श्रम-शक्ति ख़रीदना सुगम हो गया। औद्योगिक महानगरों की नारकीय मज़दूर बस्तियाँ अस्थायी, दिहाड़ी, कैज़ुअल, ठेका और पीस-रेट मज़दूरों से और भारी अर्द्ध-सर्वहारा आबादी से पट गयीं।

इस तरह विकास के एक मध्यम, विकृत-विरूपित, दुस्सह पीड़ादायी मार्ग से भारत में एक ऐसा पूँजीवाद विकसित हुआ, जिसने तमाम प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं को या तो क्रमिक-प्रक्रिया में तोड़ दिया या अपने अधीनस्थ कर लिया, सहयोजित कर लिया। ऐसा पूँजीवाद स्वस्थ जनवादी मूल्यों-मान्यताओं के सृजन में सर्वथा असमर्थ था। इसका जनवाद स्वयं अतिसीमित और विकृत-विरूपित था। इसीलिए इसने प्राक्-पूँजीवादी मूल्यों-संस्थाओं के

साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की। खाप पंचायतें और जाति पंचायतें बनी रहीं, जीवन पर रूढ़ियों की जकड़ बनी रही। यदि ये कुछ कमज़ोर हुई। तो इनके पीछे राज्य के सचेतन प्रयास या संविधान के अनुच्छेदों की नहीं बल्कि पूँजीवादी विकास की स्वतन्त्र वस्तुगत गति की भूमिका थी। सामाजिक जीवन में धर्म की दख़लन्दाज़ी कम नहीं हुई है बल्कि कुछ ढीली मात्र पड़ी है। दूसरी ओर कुछ नये-नये आधुनिक पन्थ पैदा हुए हैं जो अन्धविश्वास और यथास्थितिवाद के प्रचार के प्रभावी माध्यम तो हैं ही, पूँजी संचय और निवेश के भी साधन हैं। पूँजीवादी समाज में जनता में धर्म की सत्ता का वस्तुगत आधार माल-उत्पादन की अदृश्य शक्ति है और धर्म आज भी शासक वर्ग के राजनीतिक वर्चस्व में सहायक अतिप्रभावी अधिरचनात्मक उपकरण है। लेकिन जाति-व्यवस्था का सवाल केवल अधिरचनात्मक धरातल से जुड़ा हुआ नहीं है। पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों के साथ यह गहराई से गुँथी-बँधी है, तन्तुबद्धीकृत हो गयी है। मामला केवल सामन्ती अवशेष या सामन्ती अधिरचना के प्रभावशाली बने रहने का ही नहीं है। जातिगत मूल्यों-मान्यताओं, पार्थक्यों-पूर्वाग्रहों का नया आर्थिक आधार तैयार हुआ है।

इसका कारण यह है कि आबादी के विभिन्न हिस्सों के जातिगत समीकरण को तोड़े बिना पूँजीवादी उत्पादन एवं वितरण व्यवस्था ने अपना प्रभुत्व क़ायम किया है। जैसे, जो पुराने सवर्ण हैं, आज नौकरशाही और स्वतन्त्र बौद्धिक पेशों पर उनका लगभग वर्चस्व है और अपने साझा हितों की रक्षा के लिए जाति उनकी एकता का एक सूत्र बनती है। प्रतिकार-स्वरूप जो दलित या पिछड़ी जातियों के अफ़सर-क्लर्क और स्वतन्त्र बौद्धिक हैं वे जातिगत आधारों पर ब्लॉक बनाकर संगठित होते हैं। गाँवों में जो सवर्ण पूँजीवादी भू-स्वामी हैं और मध्य जाति के कुलक-फार्मर हैं, वे दलित मज़दूरों और ग़रीब किसानों को दबाने के लिए जातिगत गोलबन्दी करते हैं। इस जातिगत गोलबन्दी का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि सवर्ण ग़रीब और मध्य जातियों के ग़रीब भी अपने सजातीय शोषकों के साथ सक्रिय या निष्क्रिय पक्षधरता के स्तर पर जा खड़े होते हैं। दलित भी अपनी पहचान और स्वाभिमान के सवाल पर, या प्रतिरक्षात्मक एकजुटता के लिए अम्बेडकर की विरासतदार किसी पार्टी के नेता के पीछे जा खड़े होते हैं।

शहरों में स्थिति थोड़ी भिन्न है। पर जातिगत पार्थक्य यहाँ भी मौजूद है और उसका भौतिक आधार भी है। बेहतर जीवन-स्थिति वाले संगठित मज़दूरों की आबादी में दलितों का अनुपात बहुत कम है। असंगठित मज़दूरों में उनकी बड़ी संख्या है, पर वहाँ भी 'अस्वच्छ' माने जाने वाले सभी कामों पर उन्हीं का एकाधिकार है। इसके अतिरिक्त ज़्यादातर कठिन और कम दिहाड़ी वाले काम उन्हें करने होते हैं। सरकारी नौकरियों में भी सफ़ाईकर्मी दलित ही होते हैं। आरक्षण से दस प्रतिशत दलित आबादी लाभान्वित हुई है पर नौकरियों में ऊपर की ओर उनकी प्रतिशत भागीदारी घटकर एक और दो प्रतिशत तक पहुँच जाती है। प्रशासन, सेना, पुलिस, न्यायपालिका और स्वतन्त्र बौद्धिक पेशे – सभी जगह यही स्थिति है। उनके समकक्ष यदि किसी समुदाय की स्थिति है तो वे मुसलमान हैं जिनका अधिसंख्य भाग बेहद ग़रीब है और ज़्यादातर स्वतन्त्र दस्तकारी पेशे में लगे हुए हैं।

कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों में सवर्ण और मध्य जातियों के ऐसे मज़दूरों की बहुत बड़ी संख्या है जो गाँवों से पूरी तरह उजड़ी नहीं है। गाँवों में उनकी थोड़ी-बहुत खेती बची हुई है, उस घाटे की खेती को वे अपनी मज़दूरी से जिलाये रखते हैं। ऐसे मज़दूरों के सर्वहारा चरित्र में किसानी मिलावट साफ़ दिखती है, जो उनकी वर्ग चेतना को कुन्द करती है और जातिगत पूर्वाग्रहों को बनाये रखती है। ज़्यादातर दलित मज़दूर या तो गाँवों से पूरी तरह

उजड़े होते हैं या जुड़े भी होते हैं तो गाँव में उनके परिवार की स्थिति ग्रामीण सर्वहारा या अर्द्ध-सर्वहारा की ही होती है। लेकिन जातिगत पार्थक्य और अपमान उनके भीतर भी जातिगत आधार पर एकजुट होने की चेतना पैदा करता है। गाँवों जितना तो नहीं, लेकिन शहरों में भी दलित जातियों का आवासीय पृथग्वासन (aparthied) स्पष्ट दिखता है – मज़दूर बस्तियों में ही नहीं, मध्य वर्ग में भी। आवासीय सहकारी सोसाइटियों में दलितों और मुसलमानों का सदस्य बन पाना असम्भवप्रायः होता है। किराये पर मक़ान मिलने में भी सबसे बड़ी बाधा महानगरों तक में जाति की (या धर्म की) आती है।

भारत की बुर्जुआ संसदीय राजनीति आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम से तो एकदम नहीं चलती है, पूँजी के खुले खेल और कुछ सस्ते लोकरंजक वायदों या सामयिक भावनाओं की लहर के सहारे चलती है, पर इसका सबसे प्रमुख स्तम्भ समाज में जातिगत ध्रुवीकरण है। बुर्जुआ पार्टियाँ नीतियों से किसी जाति की नहीं, बल्कि समूचे शासक वर्गों की सेवा करती हैं। उनमें बड़े-छोटे पूँजीपतियों, कुलको-भूस्वामियों के ब्लॉक होते हैं, कुलकों और क्षेत्रीय पूँजीपतियों की क्षेत्रीय पार्टियाँ भी होती हैं, उनके वर्ग-हितों के आपसी टकराव होते हैं, पर आम बुर्जुआ आर्थिक नीतियों और संसदीय प्रणाली पर उनकी आम सहमति होती है। लेकिन जातिगत समीकरणों का लाभ उठाने के लिए हर बड़ी बुर्जुआ पार्टी में अलग-अलग जातियों के नेता होते हैं और चुनाव क्षेत्रों में जनसंख्या में जातियों का अनुपात देखकर उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं। जो क्षेत्रीय पूँजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टियाँ हैं, उनका तो मुख्य वोट बैंक ही मध्य जातियों के बीच है। दलित प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली जितनी भी संसदीय पार्टियाँ हैं, वे नीतियों के स्तर पर धुर अवसरवादी पार्टियाँ हैं, उनकी नेताशाही में खुशहाल दलित मध्यवर्ग स्थान पाता है, दलित नौकरशाह और बुद्धिजीवी इनमें से इस या उस पार्टी को समर्थन और वैचारिक आधार देते हैं और सहस्राब्दियों से उत्पीड़ित दलित आबादी को जातिगत आधार पर ये अपना वोट बैंक बनाते हैं। ये पार्टियाँ रैडिकल तेवर लेकर नयी उम्मीदें जगाती हैं और मौक़ा आने पर कांग्रेस, भाजपा या किसी भी दल से गठबन्धन करने को तैयार रहती हैं। गठबन्धनों की बुर्जुआ राजनीति में इनकी भूमिका तराजू के इस या उस पलड़े पर चढ़ने वाले बटखरे की होती है। "सत्ता में दावेदारी के बल पर" उत्पीड़न-अपमान की सामाजिक स्थिति से निजात पाने का राजनीतिक तर्क साठ वर्षों में यहीं तक पहुँचा है, जिस पर अस्मिता राजनीति (Identity politics) के वैचारिक खोमचे वाले दलित अस्मिता के उभार का सभागृहों में चाहे जितना जश्न मना लें, आम बहुसंख्यक मेहनतकश दलित आबादी को हासिल कुछ नहीं होने वाला है। न हुआ है, न होगा।

जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्ध और 'मूलाधार-अधिरचना' रूपक : मार्क्सवादी सूत्रीकरण

स्वतन्त्र भारत में जाति प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन की सोच और भूमिका की चर्चा और दलित प्रश्न पर कुछ "दलितवादी/अम्बेडकरवादी-मार्क्सवादी" तथा कुछ नयी दलितवादी विचार-सरणियों की समालोचना प्रस्तुत करने से पहले ज़्यादा उचित यह होगा कि हम जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्ध और मूलाधार-अधिरचना रूपक के फ्रेमवर्क में सकारात्मक रूप से अपनी अवस्थिति प्रस्तुत करें।

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की यह बुनियादी समझ है कि उत्पादन-सम्बन्धों के तीन पहलू होते हैं : (i) स्वामित्व का स्वरूप, (ii) उत्पादन में लोगों की भूमिका और उनके आपसी सम्बन्ध (श्रम-विभाजन), और (iii) उत्पाद के वितरण का स्वरूप। इन तीनों ही दृष्टियों से प्राचीन भारत से लेकर परवर्ती मध्यकाल (उपनिवेशीकरण से पूर्व) तक जाति-व्यवस्था, उत्पादन-सम्बन्ध का ही एक रूप थी। यूँ कहें कि सापेक्षिक आन्तरिक गतिशीलता और कुछ जातियों के 'संस्कृतीकरण' के बावजूद, इस लम्बी अवधि तक जाति-व्यवस्था ही उत्पादन-सम्बन्ध थी। मुसलमानों के आने के बाद स्थिति में थोड़ा बदलाव आया, जाति-व्यवस्था का ही एक प्रतिरूप उनमें भी विकसित हो गया। एक हद तक यही सिख धर्म के साथ भी हुआ। यानी जाति-व्यवस्था मध्यकाल तक समाज का आर्थिक मूलाधार थी और राजनीतिक-धार्मिक- सामाजिक अधिरचना उससे सापेक्षिक अनुरूपता रखती थी, यानी सामाजिक जीवन में जातिभेद के मूल्य निर्णायक भूमिका निभाते थे। कहा जा सकता है कि जाति-समूहों का जो वर्णक्रम (spectrum) था, वह वर्गों के वर्णक्रम को कमोबेश पूरी तरह अतिच्छादित (overlap) करता था। जाति-समूहों की स्थितियों, वंशानुगतता और अन्त:जातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) के चलते अचल या अपरिवर्तनीय वर्गों की थी। यह स्थिति रूढ़ और कठोर श्रम-विभाजन से पैदा होती थी और इस मायने में दुनिया के किसी भी समाज के वर्ग-विभाजन से भिन्न थी। मुसलमानों और सिखों की स्थिति थोड़ी भिन्न थी, पर हिन्दू धर्म मानने वालों में तो जाति-समूह ही वर्ग थे जिनमें दलित जातियाँ भूमिहीन मेहनतकश थीं, मध्य जातियाँ किसान थीं, वणिक जातियाँ व्यापारी थीं और सवर्ण जातियाँ भू-स्वामी वर्ग और बौद्धिक वर्ग में बँटी थीं।

औपनिवेशिक आर्थिक-सामाजिक संरचना में, विशेषकर उद्योग-धन्धों और प्रशासन-तन्त्र और विविध नागर पेशों के विकास के बाद, पहली बार थोड़ी हलचल हुई। जाति-समूहों के वर्णक्रम और वर्ग-समूहों के वर्णक्रम एक-दूसरे को लगभग पूरी तरह से अतिच्छादित करने के बजाय कुछ हद तक स्थानान्तरित हो गये। ज़्यादातर सवर्ण अब भी भू-स्वामी थे और बौद्धिक समुदाय सहित जो निम्न बुर्जुआ वर्ग विकसित हुआ वह उन्हीं के बीच से था। पर दलितों और मध्य जातियों के भीतर से भी पढ़े-लिखे निम्न बुर्जुआ वर्ग के विभिन्न संस्तर पैदा हुए, हालाँकि इनका अनुपात बहुत ही कम था। ज़्यादातर मध्य जातियाँ रैयत-काश्तकार थीं और दलित जातियाँ खेत मज़दूर और अन्य 'नीचा' और 'अस्वच्छ' काम करने वाली कामगार जमातों में आती थीं। दूसरी ओर, उद्योग-धन्धों में धीरे-धीरे उजड़े सवर्णों और मध्य जाति के तबाह काश्तकारों का भी प्रवेश हुआ और उनकी संख्या क्रमश: बढ़ती चली गयी। गाँवों में उस समय भी श्रम-विभाजन और सम्पत्ति-सम्बन्धों का जातिगत आधार अधिक मज़बूत था। इस तरह जाति और वर्ग के अतिच्छादन की स्थिति विघटित होने लगी। यानी, जाति-व्यवस्था अब भी आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) का अंग थी, पर वही अकेले आर्थिक मूलाधार नहीं रह गयी थी। जहाँ तक अधिरचना का प्रश्न है, वह मुख्यत: और मूलत: सामन्ती अधिरचना बनी रही जिसका मुख्य आधार अर्द्ध-सामन्ती भूमि सम्बन्ध थे। जो मरियल पूँजीवादी विचार और संस्थाएँ जन्मीं, उनमें जाति-व्यवस्था को प्रभावित करने की ताक़त नहीं थी। पढ़े-लिखे निम्न बुर्जुआ वर्ग के लोग जो सामाजिक आधार के कुछ क्षेत्रों में आधुनिक थे, वे भी धार्मिक आचारों का न केवल निष्ठापूर्वक पालन करते थे बल्कि सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) और जातिगत भेदभाव की परम्पराओं में आस्था

रखते थे। यह चर्चा हम ऊपर कर आये हैं कि हिन्दू धर्म और जाति-व्यवस्था से छेड़छाड़ न करना औपनिवेशिक सत्ता की सचेतन नीति थी।

उत्तर-औपनिवेशिक भारत में सर्वतोमुखी पूँजीवादी विकास ने स्थिति में काफ़ी बदलाव पैदा किये। उद्योग-धन्धों के व्यापक फैलाव के साथ ही एक विशाल सेवा-क्षेत्र भी विकसित हुआ और भूमि-सम्बन्धों के पूँजीवादीकरण ने किसान आबादी के विभेदीकरण, सर्वहाराकरण और ग्रामीण आबादी के आप्रवासन को लगातार तीव्र से तीव्रतर बनाने का काम किया। जाति और वर्ग के परस्पर अन्तर्भेदन और अन्तर्ग्रन्थन की स्थिति बनी। सवर्ण जातियाँ ही अभी भी नौकरशाही और स्वतन्त्र बौद्धिक पेशों पर हावी हैं, लेकिन इन क्षेत्रों में दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों की भी दख़ल हुई है। भू-स्वामी, कुलक और फार्मर मुख्यत: सवर्ण और मध्य जातियों के लोग हैं, पर मध्य जातियों के निम्न मध्यम और छोटे किसान भी हैं और मज़दूर भी हैं। मध्य जातियों की बड़ी आबादी मध्यम और छोटे किसानों की ही है। दलितों की 90 फ़ीसदी आबादी गाँव और शहर की सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी है, पर सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी का बहुसंख्यक दलित नहीं है। हाँ, कथित 'अस्वच्छ' काम अभी भी दलितों के ज़िम्मे है। दस्तकारी का सेक्टर एकदम सिकुड़ गया है, पर उसमें अभी भी "कमीन" मुस्लिम जातियाँ और दलित-अतिपिछड़ी दस्तकार जातियाँ ही काम करती हैं, अन्य जातियों की दख़ल नगण्य है। इस स्थिति को किस रूप में सूत्रबद्ध किया जाये? 'उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग' (आर्थिक मूलाधार) में एक हिस्सा अभी भी जातिगत श्रम विभाजन का और जातिगत स्वामित्व के रूपों का है। यानी जाति-व्यवस्था अभी भी मूलाधार का एक हिस्सा है, पर एक छोटा हिस्सा है। हाँ, अधिरचनात्मक धरातल पर अभी भी उसकी प्रबल मौजूदगी है, प्रभावी मौजूदगी है। अभी भी आधुनिक मूल्यों और जनवादी मूल्यों के चलते बनी हुई स्त्रियों की बर्बर पराधीनता और पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली से नयी पौष्टिक ख़ुराक पाये धार्मिक मूल्यों-मान्यताओं के चलते अन्तरजातीय (intercaste) शादियाँ विरल होती हैं, अन्त:जातीय (intracaste) शादियाँ ही प्रमुख प्रवृत्ति है। समान आर्थिक स्थिति वाली अलग-अलग जातियों में विवाह कठिन होते हैं। 'ऑनर किलिंग' और खाप पंचायतों-जाति पंचायतों की निरंकुश सत्ता ऐसी वस्तुगत सच्चाइयाँ हैं जो बुर्जुआ संविधान प्रदत्त नागरिक अधिकार को भी काग़ज़ी बना देती हैं। यानी जाति-व्यवस्था आर्थिक मूलाधार का तो एक छोटा हिस्सा है, लेकिन अधिरचना के धरातल पर एक सामाजिक ढाँचे के रूप में रूढ़ और मज़बूत रूप में बनी हुई है। यह केवल पुरानी जड़ता की शक्ति से ही नहीं बची हुई है, बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था ने इसे नयी ऊर्जा दी है। अस्पृश्यता और रोज़मर्रा के दमन के रूप कम बचे हैं, लेकिन दलितों का सामाजिक पार्थक्य और अपमान अभी भी बरक़रार है और उन पर अत्याचार की बर्बर घटनाएँ घटती रहती हैं। गाँवों में प्राय: सवर्ण पूँजीवादी भू-स्वामी और उनसे भी अधिक मध्य जातियों के कुलक दलित मज़दूरों पर अत्याचार करते हैं और फिर जातिगत गोलबन्दी करके अपनी स्थिति मज़बूत बना लेते हैं। दलित मेहनतकशों के पक्ष में अन्य जातियों के मेहनतकश नहीं आते। इस तरह आर्थिक हितों के टकराव पर जातिगत रंग चढ़ जाता है। वर्ग संघर्ष की अन्तर्वस्तु होती है और उसकी विरूपित अभिव्यक्ति जाति संघर्ष के रूप में होती रहती है। चूँकि सवर्ण और मध्य जातियों के भू-स्वामी सत्ता के छोटे भागीदार हैं, अत: उन पर क़ानूनी कार्रवाई खानापूर्ति के नाम पर या चुनावी राजनीति की विवशता के चलते ही होती है। जो निरंकुश खाप पंचायतें हैं, उनकी कोई अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है

(जैसाकि न्यू सोशलिस्ट इनीशिएटिव के सिद्धान्तकारों जैसे कुछ नव-मार्क्सवादी समझते हैं), वे बुर्जुआ राष्ट्र-राज्य के मज़बूत सामाजिक अवलम्ब हैं, बुर्जुआ राजनीति से नाभिनालबद्ध हैं। जैसा कि ऊपर हम चर्चा कर चुके हैं, बुर्जुआ संसदीय राजनीति में वोट बैंक का सारा खेल जातिगत और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण पर खेला जाता है, फिर अपनी पारी में यह खेल जातियों के पारस्परिक वैमनस्य को और पार्थक्य को बढ़ाकर जाति के सामाजिक ढाँचे को मज़बूती देता है, जिसका शिकार, ज़ाहिर है कि, सबसे अधिक दलित जातियाँ होती हैं। गाँवों में जहाँ जाति-व्यवस्था वर्ग संघर्ष को विरूपित-विकृत बनाती है और व्यापक मेहनतकश एकता को तोड़ती है, वहीं शहर में भी मेहनतकशों की वर्गीय एकजुटता में यह एक बाधा बनती है। हालाँकि गाँवों की तरह यहाँ यह प्रमुख बाधा नहीं है। हाल के वर्षों में असंगठित मज़दूरों के जितने भी स्वयंस्फूर्त या संगठित संघर्ष हुए, उनमें कहीं भी जातिगत भेदभाव एकता की समस्या बनकर नहीं आया। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि जातिगत भेदभाव और पार्थक्य की दीवारें शहरी मज़दूरों के बीच भी हैं और बुर्जुआ पार्टियों के ट्रेड-यूनियन नेता उनका इस्तेमाल करते हैं। दूसरी बात यह कि कथित 'अस्वच्छ' कामों में लगे दलित मज़दूर एकदम अलग-थलग होते हैं – संघर्षों में भी और सामाजिक जीवन में भी।

सारे ब्योरे को समेटकर सूत्रवत यह कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था भारतीय पूँजीवाद के आर्थिक मूलाधार का आज भी एक हिस्सा है और सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक अधिरचना के स्तर पर इसकी मौजूदगी प्रचण्ड रूप से प्रभावी है। यह प्राक्-पूँजीवादी अधिरचना या उसका अवशेष नहीं है। यह एक पूँजीवादी अधिरचना है। यह एक पूँजीवादी जाति-व्यवस्था है। जाति-व्यवस्था पूँजीवाद द्वारा तन्तुबद्ध ढंग से सहयोजित कर ली गयी है। हेगेलीय शब्दावली का इस्तेमाल करें, तो कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था का उत्सादन (sublation) हो गया है, यानी निम्न स्तर की परिघटना (phenomenon) से यह उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन गयी है जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अन्तर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित है। जाति-समूहों और वर्गों के वर्णक्रम के छोटे हिस्से अभी भी एक-दूसरे को अतिच्छादित करते हैं।

जाति के प्रश्न पर कुछ ग़लत और कुछ अधूरे-अधकचरे सूत्रीकरणों के बारे में

उत्पादन-सम्बन्ध और सामाजिक अधिरचना के सन्दर्भ में जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों का सटीक मार्क्सवादी सूत्रीकरण कम्युनिस्ट आन्दोलन के आधिकारिक दस्तावेज़ों में और लेखों में शुरू से लेकर संशोधनवाद के पूरे दौर तक देखने को नहीं मिलता, बस कुछ सामान्य ब्योरे और कार्यभारों की चर्चा मिलती है। 1970 के दशक में कभी लिखे गये अपने लेख **जाति, वर्ग और सम्पत्ति सम्बन्ध** में **बी.टी. रणदिवे** भी शीर्षक में उल्लिखित बात को ही सैद्धान्तिक रूप से सूत्रीकृत करने से बच निकले हैं। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जाति और उत्पादन-सम्बन्धों को लेकर कोसम्बी, आर.एस. शर्मा और इरफ़ान हबीब जैसे इतिहासकारों ने स्पष्ट और काफी हद तक सटीक सूत्रीकरण दिये हैं, लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक भारत में पूँजीवादी विकास के बाद इन्हें समझने की कोशिश काफ़ी देर से शुरू हुई। गत शताब्दी से लेकर अब तक इस प्रश्न पर विभिन्न कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी ग्रुपों ने काफी लिखा है, और नवमार्क्सवादी-उत्तरआधुनिक मार्क्सवादी "विचारकों" ने भी काफ़ी विमर्श किया है।

कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी ग्रुपों के सूत्रीकरण में यान्त्रिकता और मार्क्सवाद-विरोधी अवस्थितियों की भरमार है तथा काफ़ी भ्रमोत्पादक बातें हैं। दूसरी ओर, नव-मार्क्सवादी गिरोह ने जो घोल-मठ्ठा किया है, वह तो एक "नया मार्क्सवाद" गढ़ने के द्रविड़ प्राणायाम से अधिक कुछ नहीं है। यहाँ कुछ प्रतिनिधि प्रवृत्तियों की ही चर्चा सम्भव है, अत: हम वही करेंगे।

सबसे पहले हम भाकपा (मा.ले.) (लिबरेशन) के दिवंगत महासचिव विनोद मिश्र के एक सूत्रीकरण को लेते हैं जो मूलाधार और अधिरचना की बुनियादी मार्क्सवादी समझ को ही उलट-पुलट देता है। 'लिबरेशन' के अप्रैल 1994 के अंक में **थॉमस मैथ्यू** की पुस्तक **Caste and Class Dynamics – Radical Ambedkarite Praxis** की समालोचना लिखते हुए वे अम्बेडकरवादी-मार्क्सवाद के एक संस्करण के बारे में, 'दलित जनवादी क्रान्ति' की अवधारणा के बारे में और अम्बेडकर के बारे में कई सही आलोचनाएँ रखते हैं, पर साथ ही कुछ आश्चर्यजनक प्रस्थापनाएँ भी देते हैं। इसमें एक जगह वे लिखते हैं : *"अत: वर्ग बुनियादी प्रवर्ग है। कुछ विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में यह अपने को जाति के रूप में अभिव्यक्त करता है, कुछ दूसरी परिस्थितियों में दोनों परस्पर गुँथे होते हैं, परस्पर अतिच्छादित होते हैं और साथ ही एक-दूसरे को आड़े-तिरछे काटते होते हैं, और फिर एक दूसरी परिस्थिति में जातियाँ विघटित होकर वर्गों में क्रिस्टलीकृत (Crystalise) हो जाती हैं। इस तरह दोनों के बीच एण्टी-थीसिस तब तक चलता है जब तक कि वितरण की प्रणाली के विनियामक (regulator) के रूप में जाति का उन्मूलन नहीं हो जाता।"*

यहाँ हमें पता चलता है कि जाति श्रम-विभाजन या सम्पत्ति-सम्बन्ध में नहीं है, बल्कि वितरण की प्रणाली का विनियामक है। अब प्रश्न आता है कि इस "विनियामक" को कहाँ रखें, वितरण की प्रणाली के अंग के रूप में आर्थिक मूलाधार में या उसके बाहर। इसका उत्तर वे तब देते हैं जब अपनी समालोचना के मैथ्यू द्वारा दिये गये उत्तर पर पुन: 'लिबरेशन' के जनवरी 1995 अंक में टिप्पणी लिखते हैं। इसमें वे कहते हैं : *"मेरे विचार से, जाति प्रथा अपने आप में एक सुनिश्चित उत्पादन-प्रणाली और तदनुरूप उत्पादन-सम्बन्धों के स्तर की उपज है। वर्ग-सम्बन्ध यहाँ जातियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं, जिसे, अपनी पारी में, पुरोहितों द्वारा दैवी स्वीकृति दे दी जाती है। फिर भी, उनका 'स्थायित्व' मुख्यत: किसी दैवी स्वीकृति द्वारा नहीं, बल्कि ग्राम-समुदायों के गतिहीन सामाजिक संगठन द्वारा तय होता है जो कि उत्पादन-सम्बन्धों के एक सुनिश्चित स्तर की ही उपज होता है। जाति और वर्ग यहाँ एक स्पष्ट सामंजस्य में दिखते हैं। वर्ग और जाति के बीच का यह सामंजस्य, मूलाधार और अधिरचना की यह अनुरूपता स्पष्ट है क्योंकि दोनों सर्वथा पृथक प्रवर्ग हैं जिनकी जड़ें क्रमश: मूलाधार और अधिरचना में, उत्पादन की प्रणाली और वितरण के विनियमन में है।"* (अनुवाद हमारा)

अब तक, विशेषकर **मार्क्स** की कृति **राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** की प्रस्तावना के प्रसिद्ध उद्धरण से हम यही जानते थे कि मार्क्स आर्थिक मूलाधार उत्पादन-प्रणाली को नहीं, बल्कि उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग को मानते थे। उत्पादन-प्रणाली उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों की एकता को कहते हैं जो काल-विशेष में उत्पादन के साधनों और उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन के अर्जित स्तर को दर्शाता है। उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों का द्वन्द्व ही वर्ग समाज का बुनियादी अन्तरविरोध है। उत्पादन-प्रणाली को मूलाधार बताने का घाल-मेल तो बहुतेरे मार्क्सवादी करते

हैं। लेकिन विनोद मिश्र सबसे "मौलिक" प्रस्थापना यह देते हैं कि उत्पादन-प्रणाली को मूलाधार और वितरण के विनियमन को अधिरचना बताते हैं। मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का ककहरा बताता है कि स्वामित्व के रूप, उत्पादन में लोगों की भूमिका एवं आपसी सम्बन्ध और उत्पाद के वितरण का स्वरूप – ये तीनों उत्पादन-सम्बन्धों के ही तीन पहलू हैं। विनोद मिश्र ने वितरण के विनियमन (यानी स्वरूप) को अधिरचना के खाने में डालकर नया मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र रचा है, जबकि मार्क्सवाद अब तक अधिरचना के दायरे में राजनीतिक-वैधिक-सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं और सामाजिक चेतना (विचारधारा, मूल्य आदि) के निश्चित रूपों को ही रखता रहा है। मार्क्स ने भी ऐसा ही लिखा था, यानी, विनोद मिश्र की ग़लतियों की श्रृंखला इस प्रकार बनती है : उत्पादन-प्रणाली (उत्पादन-सम्बन्ध + उत्पादक शक्तियाँ) मूलाधार है (ग़लत), वितरण का विनियमन अधिरचना है (ग़लत), जाति का सम्बन्ध उत्पादन की प्रणाली से नहीं, बल्कि वितरण के विनियमन मात्र से है (यह भी ग़लत)। अब वे सुगमता से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वर्ग और जाति का द्वन्द्व मूलाधार और अधिरचना का द्वन्द्व है। आगे वे लिखते हैं : *"जैसे-जैसे उत्पादक शक्तियों का विकास होता है, और उत्पादन-प्रणाली में धीमी गति से बदलाव आता है, सामंजस्य टूट जाता है, वर्ग और जाति, मूलाधार और अधिरचना परस्पर टकराव की स्थिति में आ जाते हैं, प्रत्येक दूसरे को परिभाषित करने की कोशिश करने लगता है।"* (अनुवाद हमारा)

अब यहाँ यह भी ध्वनित होता है कि वर्ग मूलाधार में अवस्थित है (और जाति अधिरचना में)। फिर एक भ्रान्ति। कई और लोग भी यह ग़लती करते हैं कि वर्ग को आर्थिक प्रवर्ग मात्र बताते हैं या उसे ही मूलाधार बता देते हैं। वर्ग एक बुनियादी सामाजिक प्रवर्ग है। उत्पादन-सम्बन्ध उसके जन्म और निर्धारण के कारक हैं। लेनिन के शब्दों में *"वर्ग लोगों के बड़े-बड़े ग्रुपों को कहते हैं, जो सामाजिक उत्पादन की इतिहास द्वारा निर्धारित पद्धति में अपने स्थान की दृष्टि से, उत्पादन के साधनों के प्रति अपने सम्बन्धों की दृष्टि से (अधिकांश मामलों में क़ानूनों में निश्चित तथा प्रतिपादित), श्रम के सामाजिक संगठन में अपनी भूमिका की दृष्टि से और फलस्वरूप सामाजिक सम्पदा के अपने भाग की प्राप्ति तथा आकार की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। वर्ग लोगों के वे ग्रुप हैं जिनमें से एक ग्रुप सामाजिक अर्थव्यवस्था की निश्चित पद्धति में अपने स्थान की बदौलत दूसरे ग्रुप के श्रम को हथिया सकता है।"* (लेनिन, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 29, पृष्ठ 421)। उपरोल्लिखित पुस्तक की प्रसिद्ध प्रस्तावना में जैसा मार्क्स ने लिखा था, *"अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्ध क़ायम करते हैं जो लाज़िमी होते हैं और उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं।"* इन सम्बन्धों को क़ायम करने के बाद मनुष्य वर्गों में बँट जाते हैं। वर्ग अपनेआप में उत्पादन-सम्बन्ध नहीं हैं कि उसे ही मूलाधार कह दिया जाये।

नव-मार्क्सवादियों की एक धारा तो मूलाधार-अधिरचना रूपक को ही यान्त्रिक बताकर ख़ारिज कर देती है और जाति या जेण्डर जैसे प्रश्नों को समझने के लिए उसे नाकाफ़ी बताती है।

इस धारा के दो प्रतिनिधियों, **सुभाष गाताडे** और **उमाशंकर** के एक लेख **दलित मुक्ति का प्रश्न** ('सन्धान-1' में प्रकाशित, चण्डीगढ़ में साझा सांस्कृतिक अभियान की संगोष्ठी में पठित पेपर) इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है। वर्ग और जाति के प्रश्न पर जब वे आते हैं तो पहले तो लगता है कि विचारक-द्वय को शिक़ायत आर्थिक मूलाधार और अधिरचना की यान्त्रिक

समझदारी से तथा वर्ग-संघर्ष की अर्थवादी समझ से है। पर बाद में स्पष्ट हो जाता है कि वे इन चीज़ों को ही ख़ारिज करने के उद्देश्य से प्रेरित हैं। उनकी तर्कप्रणाली देखिये। वे बताते हैं कि हर चीज़ का एक परिघटनात्मक धरातल (phenomenal level) होता है और एक अन्तरभूत संरचनात्मक धरातल (structural level) होता है। ऐन्द्रिक गोचरता (sense perception) से हम संरचनात्मक धरातल तक सीधे नहीं पहुँच सकते। इसके लिए अमूर्तन (abstraction) की प्रक्रिया से गुज़रना होता है। आगे वे बताते हैं कि उत्पादन-प्रणाली एक अन्तरभूत सामाजिक संरचना है और उससे संरचनात्मक स्तर पर सम्बन्ध होने के चलते वर्ग एक संरचनात्मक अवधारणा है, महज़ एक आर्थिक अवधारणा नहीं। सामाजिक संरचना जितनी जटिल होती है, उसका संरचनात्मक स्तर उतने ही गहरे में छिपा होता है और परिघटनात्मक सतह तक पहुँचते-पहुँचते उसका प्रभाव उतने ही अधिक जटिल और वैविध्यपूर्ण गुणों को जन्म देता है। अन्तिम निष्कर्ष यह है कि आज के पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की जटिल बनावट में *"संरचनात्मक स्तर का वर्ग संघर्ष प्रत्यक्ष और अलग से प्रगट नहीं होगा। वह प्रायः सामाजिक संघर्षों के उलझे और विविध रूप में ही सामने आयेगा।"* यानी, वर्ग संघर्ष अब जाति, जेण्डर और पर्यावरण आदि पर केन्द्रित सामाजिक आन्दोलनों के रूप में **ही** होगा।

इस नतीजे तक पहुँचने के लिए पहले तो मार्क्सवादी ज्ञान-मीमांसा का ककहरा पढ़ाया गया है। हर मार्क्सवादी जानता है कि हर चीज़ का एक परिघटनात्मक स्तर होता है, प्रतीति (appearance) का स्तर होता है और ऐन्द्रिक गोचरता के द्वारा हम उस चीज़ के बोध या इन्द्रियग्राह्यता (perception) के धरातल तक पहुँचते हैं। दूसरा धरातल संरचनात्मक धरातल होता है, सारवस्तु का धरातल होता है, जहाँ तक हम अमूर्तन की क्रिया से गुज़रकर पहुँचते हैं, यह धारणा (conception) या बुद्धिसंगत ज्ञान (conceptual knowledge) की मंज़िल होती है। यहाँ तक तो ठीक है। घपला इसके आगे है। प्रकृति और समाज की हर चीज़ का एक संरचनात्मक और एक परिघटनात्मक धरातल होता है। ऐसा नहीं है कि वर्ग संघर्ष संरचनात्मक अवधारणा है जिसका परिघटनात्मक स्तर सामाजिक आन्दोलन हैं। वर्ग का एक परिघटनात्मक स्तर (बोध का स्तर) है, एक संरचनात्मक स्तर (धारणा का स्तर) है। उत्पादन-प्रणाली का एक परिघटनात्मक स्तर है और एक संरचनात्मक स्तर है। जाति का एक परिघटनात्मक स्तर है और एक संरचनात्मक स्तर है। जब एक आम आदमी कहता है कि हम मज़दूर हैं और अपने हक़ के लिए लड़ रहे हैं, या कहता है कि पूँजीवाद लुटेरा है, या कहता है हम फलाँ जाति के हैं, या हम जाति को नहीं मानते, तो वह परिघटनात्मक स्तर पर, बोध के स्तर पर होता है। जब एक आदमी समाज-विश्लेषण करके मज़दूर वर्ग की परिभाषा और भूमिका तक पहुँचता है, गहन अध्ययन-विश्लेषण करके उत्पादन-प्रणाली विशेष के गुणधर्मों और अन्तरविरोधों के बारे में बताता है, जाति के ऐतिहासिक सामाजिक-आर्थिक आधार को समझकर बात करता है, तो वह संरचनात्मक स्तर पर या धारणा के स्तर पर बात कर रहा होता है। घपला यहाँ किया गया है। यह नयी ज्ञान-मीमांसा है। यदि वर्ग संघर्ष अब केवल सामाजिक आन्दोलनों के ही रूप में सामने आयेगा तो पूछा जाना चाहिए कि अपनी वर्गीय आर्थिक-राजनीतिक माँगों को लेकर जो तमाम स्वयंस्फूर्त और संगठित मज़दूर आन्दोलन हो रहे हैं, या मालिक किसान लागत मूल्य-लाभकारी मूल्य की अपनी वर्गीय माँगों को लेकर आन्दोलन करते हैं, क्या वे वर्गों के आन्दोलन नहीं हैं?

इसी तर्क के सिलसिले में विचारक-द्वय आवेश में कह उठते हैं : "कुछ लोग सोचने लगते हैं कि आर्थिक मूलाधार एक प्रकार की नींव है जिस पर अधिरचनात्मक अट्टालिका खड़ी होती है। यह सब ग़लत समझदारी पर आधारित शब्दों का खेल है। समाज को खोदने से अन्दर उत्पादन-प्रणाली दिखायी नहीं पड़ने लगेगी या अधिरचना को भेदकर ठोस मूलाधार को प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।" इनमें से पहला वाक्य यदि शब्दों का खेल है तो यह खेल मार्क्स से लेकर माओ तक सबने खेला। यही सच है। इस रूपक के ज़रिए **मार्क्स** ने जो कहना चाहा वह **राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** की प्रस्तावना से स्पष्ट है। हर रूपक, तुलना या सादृश्य निरूपण अधूरा होता है, लंगड़ा होता है। लेनिन ने भी यही कहा था। रूपक को अभिधा में लेना किसी तर्क को मूर्खता की सीमा तक खींचना होता है। अभिधा में ही प्रतितर्क किया जा सकता है कि समाज को खोदेंगे किस कुदाल से? अधिरचना को भेदेंगे किस तीर से? उत्पादन-प्रणाली का अध्ययन कोई मार्क्सवादी अधिरचना को भेदकर नहीं करता बल्कि आर्थिक तथ्यों का अध्ययन-विश्लेषण करके परिघटना से संरचना के स्तर पर पहुँचने की प्रणाली से करता है। उत्पादन-प्रणाली के अध्ययन का अर्थ होता है उत्पादन-सम्बन्धों (स्वामित्व के रूप + श्रम-विभाजन + वितरण के स्वरूप) और उत्पादक शक्तियों के विकास का अध्ययन और उन दोनों के मध्य जारी अन्तरविरोधों के विकास का अध्ययन। अधिरचना का अध्ययन भी वह इसी तरह करता है और मूलाधार विषयक अपने निष्कर्षों का सत्यापन करता है। तदनन्तर वह मूलाधार और अधिरचना के अन्तरविरोधों को समझने की कोशिश करता है। यहाँ एक घपला और है। मूलाधार उत्पादन-प्रणाली को बताया गया है, न कि उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग को। उत्पादन-प्रणाली से उत्पादन-सम्बन्धों को विस्थापित करने का मतलब है, उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग और उत्पादक शक्तियों के बीच के उस अन्तरविरोध को गोल कर जाना, जिसकी अभिव्यक्ति सामाजिक वर्ग संघर्ष के रूप में होती है। यही गड़बड़ी विनोद मिश्र भी करते हैं। बहरहाल, विचारक-द्वय का मूल उद्देश्य तो यह है कि कथित सामाजिक आन्दोलनों को ही वर्ग संघर्ष का एकमात्र रूप बताया जाये।

विचारक-द्वय वस्तुतः कूपमण्डूक कम्युनिस्ट का एक काल्पनिक पात्र खड़ा करते हैं, उसके मुँह से कुछ मूर्खतापूर्ण बातें कहलवाते हैं, और फिर उन्हें काटते हुए कुछ सही बातें कहते हुए उन बातों को "नयी" ज्ञान-मीमांसा के द्वारा अपनी अभीष्ट निष्पत्तियों तक पहुँचा देते हैं। उनका अपना निष्कर्ष तो स्पष्ट है कि वर्ग संघर्ष की परिघटनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति अब सामाजिक आन्दोलनों के रूप में ही होगी। कम्युनिस्टों पर वे आरोप लगाते हैं कि वे हड़तालों और भूमि-संघर्ष को तो वर्ग संघर्ष मानते हैं, पर दलित-उत्पीड़न विरोधी संघर्ष या नारी-मुक्ति संघर्ष जैसे संघर्ष को वर्ग संघर्ष से इतर मान लेते हैं, फिर भी, वे इन सामाजिक आन्दोलनों में शिरक़त करते हैं क्योंकि क्रान्तिकारियों को सामाजिक आन्दोलनों में शिरक़त करनी होती है। कोई औसत समझदारी वाला कम्युनिस्ट भी ऐसा नहीं सोचता। मार्क्सवाद की एक आम समझ है कि हर सामाजिक आन्दोलन की एक वर्ग अन्तर्वस्तु होती है। वह वर्ग संघर्ष का परोक्ष या विरूपित रूप होता है जो समाज-विशेष के सामाजिक अन्तरविरोधों से ही पैदा होता है। कम्युनिस्ट नेतृत्व उस संघर्ष में भागीदारी के द्वारा उक्त अन्तरविरोध को मुख्य अन्तरविरोध की अधीनस्थ सहायक भूमिका में लाने का प्रयास करता है क्योंकि अन्तिम तौर पर, वह अन्तरविरोध मूल अन्तरविरोध के हल होने के साथ ही हल हो सकता है। हर

सामाजिक आन्दोलन पर बुर्जुआ और सर्वहारा अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए संघर्ष करते हैं। उदाहरण लें। राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं का आन्दोलन राष्ट्रीय बुर्जुआ या निम्न-बुर्जुआ के नेतृत्व में, बहुराष्ट्रीय देश के शासक बड़े बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध उस राष्ट्र या राष्ट्रीयता की जनता का आन्दोलन होता है। कम्युनिस्ट उसका समर्थन करते हैं क्योंकि वह बुर्जुआ राज्यसत्ता के विरुद्ध है। साथ ही वे उस राष्ट्र की जनता को सतत प्रचार द्वारा आत्मनिर्णय का अधिकार देने के साथ यह भी बताते हैं कि मूल समस्या का हल राष्ट्रीय आज़ादी से आगे समाजवाद में निहित है। छात्र आन्दोलन की एक स्पष्ट वर्गीय अन्तर्वस्तु होती है, वह अन्तर्वस्तु की दृष्टि से मध्य वर्ग और जनता के अन्य वर्गों का संयुक्त मोर्चा होता है। बुर्जुआ राजनीति बुर्जुआ छात्र संगठनों के द्वारा उस पर अपना वर्चस्व जमाने की कोशिश करती है और सर्वहारा राजनीति उस पर अपना वर्चस्व जमाकर व्यापक आम छात्रों के संघर्ष को सर्वहारा संघर्ष से जोड़ने की कोशिश करती है। स्त्री आन्दोलन भी सभी वर्गों की स्त्रियों का आन्दोलन होता है। बुर्जुआ स्त्री आन्दोलन के विविध रूप इसी व्यवस्था के भीतर कुछ राहतों-सुधारों के लिए लड़ते हैं, जबकि सर्वहारा राजनीति से निर्देशित स्त्री आन्दोलन इन संघर्षों में भागीदारी करते हुए उन्हें समाजवाद के लिए संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ाता है, वह लगातार बताता है कि अन्तिम तौर पर सभी वर्गों की स्त्रियों की पराधीनता समाजवादी संक्रमण के दौरान ही समाप्त हो सकती है, वह बहुसंख्यक मेहनतकश स्त्रियों और निम्न मध्यवर्गीय स्त्रियों को संगठित करने पर अधिक बल देता है क्योंकि अपने वर्ग हित के चलते उच्चतर वर्ग की स्त्रियाँ समाजवाद के नारे और संघर्ष के रैडिकल रास्ते को स्वीकार नहीं करतीं और क़ानूनी सुधारों और अस्मिता का जश्न मनाने में ही डूबी रहती हैं। जातियों के जो आपसी टकराव होते हैं, वे वस्तुतः वर्ग संघर्ष के ही विकृत-विरूपित रूप होते हैं। दलित संगठनों पर यदि बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ नेतृत्व हावी होता है तो व्यापक दलित आबादी को इसी व्यवस्था में कुछ सुधारों तक केन्द्रित कर देता है, उनके नुस्ख़े अलबत्ता अलग-अलग होते हैं। सर्वहारा राजनीति का काम है बहुसंख्यक दलित-मेहनतकश आबादी के उत्पीड़न के विरुद्ध जनवादी अधिकारों के दायरे के भीतर संघर्ष करना, और साथ ही उसे अन्य जातियों की व्यापक मेहनतकश आबादी के साथ साझा माँगों पर जोड़ना, जाति-उन्मूलन की पूरी योजना प्रस्तुत करना और अधिरचनात्मक धरातल पर जातिगत पार्थक्य और पूर्वाग्रहों को तोड़ने के लिए सतत प्रचार एवं आन्दोलन की कार्रवाई चलाना।

विचारक-द्वय की थीसिस थोड़े और परिष्कृत रूप में, ज़्यादा खुले मन्तव्यों के साथ 'न्यू सोशलिस्ट इनीशिएटिव' के मसौदा घोषणापत्र (जनवरी, 2011) में हमें देखने को मिलती है। घोषणापत्र में एक बदलाव यह तो दीखता है कि इस अवस्थिति का परित्याग कर दिया गया है कि वर्ग संघर्ष केवल सामाजिक आन्दोलनों के रूप में ही प्रकट होंगे। घोषणापत्र मज़दूरों और मेहनतकशों के आन्दोलनों को भी वर्ग संघर्ष के रूप में मान्यता देता है, पर साथ ही, बड़ी सफ़ाई से मार्क्सवादी तर्कों की सीढ़ी से अस्मिता राजनीति (Identity Politics) का एक नया संस्करण रचने की मंज़िल तक जा पहुँचता है। घोषणापत्र बताता है कि एक व्यक्ति की केवल वर्गीय पहचान नहीं, बल्कि कई पहचानें होती हैं। *"एक सामाजिक इकाई के रूप में प्रत्येक व्यक्ति कई धुरियों पर खड़ा होता है"* और *"कई पहचानें लेकर चलता है।"* यानी, धुरियाँ कई हैं जिनमें से वर्ग एक धुरी है। फिर आगे, *"जेण्डर, जाति, नस्ल, नृजातीयता, राष्ट्रीयता और धार्मिक पहचान उन सामाजिक सम्बन्धों के अहम उदाहरण हैं जो वर्ग सम्बन्धों*

की धुरी को विभिन्न प्रकार से काटते हैं और उसके साथ ही सामाजिक यथार्थ को गढ़ते हैं।" यानी, ये रेखाएँ स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं और वर्ग सम्बन्ध की धुरी को काटती हैं। पहले यह भी कहा गया है कि ये ख़ुद धुरियाँ हैं। मार्क्सवादी विश्लेषण से अलग विमर्श की यह वैकल्पिक भाषा अपने आप में काफ़ी भ्रामक है। पर इसका मन्तव्य स्पष्ट है और वह है मुख्य सामाजिक अन्तरविरोध के इर्द-गिर्द जनसमुदाय के वर्ग संघर्ष संगठित करने और अन्य अन्तरविरोधों को इसके मातहत हल करने की बात करने की बजाय सभी अन्तरविरोधों को समकक्ष बना देना और सामाजिक संघर्षों को, अस्मिताओं के संघर्ष के रूप में विखण्डित कर देना। मार्क्सवाद बताता है कि इन तमाम कथित पहचानों में से कई अतीत का बोझ हैं, जिन्हें वर्ग-ध्रुवीकरण रोकने के लिए सचेतन तौर पर बनाये रखा गया है। कुछ अवशेष अधिरचना के धरातल पर हैं और कुछ की जड़ें नये उत्पादन-सम्बन्धों के मूलाधार में भी हैं। कुछ कल्पित पहचानें हैं, जो या तो अतीत के अवशेष हैं या गढ़ी गयी हैं। कुछ पूरे वर्ग समाज के दौरान बने रहने वाले अन्तरविरोध हैं, जैसे जेण्डर का सवाल। स्त्रियों की पराधीनता का पहले सामन्ती चरित्र था, आज पूँजीवादी चरित्र है। कुछ अन्तरविरोध सारतः पूँजीवादी समाज के बहुस्तरीय, विविधरूपा अन्तरविरोधों की श्रेणी में आते हैं। पूँजीवाद ने कई प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं को पुनःसंसाधित करके अपना लिया है, इससे कुछ अन्तरविरोधों की प्रतीतिगत पुरानी निरन्तरता होती है, पर उनका वर्गीय संरचनात्मक सार बदल चुका होता है। चूँकि उत्पादक कार्रवाई ही बुनियादी मानवीय कार्रवाई है, अतः उत्पादन-सम्बन्ध ही समाज के मूलाधार हो सकते हैं और उनसे बनने वाले वर्ग ही बुनियादी प्रवर्ग हो सकते हैं और अन्य सामाजिक प्रवर्गों के मूल में यह वर्गीय अन्तर्य किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य की सभी अस्मिताओं में वर्ग अस्मिता ही ओवरराइडिंग अस्मिता है। इसी आधार पर व्यापक जन-गोलबन्दी हो सकती है। वर्ग अस्मिता को मज़बूत बनाने का अर्थ अन्य अस्मिताओं को छोड़ देना नहीं है, बल्कि राष्ट्रीयता, जाति, जेण्डर आदि से जुड़े न्यायसंगत प्रश्नों पर भी संघर्ष करते हुए जनसमुदाय को मूल संघर्ष से जोड़ देना है। वर्ग अस्मिता ही वह सार्विक अस्मिता है जो सभी अस्मिताओं को आच्छादित कर लेती है। पूँजीवाद अन्य सभी अस्मिताओं के सवाल को अपने ढंग से तन्तुबद्ध करके उनके संघर्षों को 'सेफ़्टी वॉल्व,' धोखे की टट्टी और वर्ग ध्रुवीकरण कम करने के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करता है। सर्वहारा का हरावल इनके वर्ग-अन्तर्य को समझकर इन्हें व्यापक क्रान्तिकारी संघर्ष का अधीनस्थ बनाता है, उसका संघटक अवयव बनाता है। आज नव-मार्क्सवादी चिन्तन की एक पूरी धारा है जो वर्ग विश्लेषण, वर्ग संघर्ष, पार्टी, राज्य और क्रान्ति के प्रश्नों पर मूल प्रस्थापनाओं से बचने या हटने के लिए उत्तर-आधुनिक विमर्श (जिनमें अस्मिता राजनीति भी एक है) की शब्दावली का इस्तेमाल कर रही है। इस धारा के सुभाष गाताडे ब्राण्ड विचारक दलितों के विभिन्न छोटे-छोटे संगठनों एवं आन्दोलनों में उनकी आत्म-अस्मिता का नया उभार देखकर ख़ूब तालियाँ बजाते हैं, पर वे यह नहीं देखते कि ये तमाम संगठन कुछ ही दिनों में किस तरह संसदीय राजनीति के घृणित अवसरवादी खिलाड़ी बन जाते हैं। वे यह नहीं देखते कि इन अस्मिता उभारों की एक परिणति दलित जातियों-उपजातियों के आपसी टकरावों (जैसे आन्ध्र प्रदेश में माला-मादिगा संघर्ष) और पार्थक्य के रूप में सामने आ रही है। वे यह नहीं बताते कि दलित अस्मिता के इन उभारों से दलित मुक्ति और जाति उन्मूलन की कोई परियोजना कैसे विकसित होगी? दलित अस्मिता का अहसास पैदा करने और दलितों में सामाजिक उत्पीड़न के

विरुद्ध जागृति लाने के लिए वे अम्बेडकर के प्रति श्रद्धा-विह्वल रहा करते हैं और जाति प्रश्न की उपेक्षा तथा अम्बेडकर से दुराव के लिए कम्युनिस्टों की लानत-मलामत करने से उनका मन कभी नहीं भरता, लेकिन कहीं भी अम्बेडकर की राजनीतिक दृष्टि, राजनीतिक भूमिका, दलित मुक्ति की उनकी परियोजना, उनकी अर्थनीति और इतिहास-दृष्टि की विवेचना उन्होंने नहीं की है। वे यह भी नहीं बताते कि "सुअरों के दर्शन" मार्क्सवाद के बारे में, सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में, धर्म के बारे में और मार्क्सवाद के मुक़ाबले बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता के बारे में अम्बेडकर के विचार कितने तथ्यसंगत और तर्कसंगत थे। ऐसे लोगों की धारणा ही यह है कि दलितों को साथ लेने के लिए अम्बेडकर-स्तुति ज़रूरी है और राह चलते कम्युनिस्ट आन्दोलन की भर्त्सना तो जैसे उनके संस्कार बन चुके हैं। कोई उत्पीड़ित समुदाय उसके पुराने नायक की निर्मित प्रतिमा को ढोने से साथ नहीं आ जाता, उसे संघर्ष का एक ठोस कार्यक्रम, मुक्ति की एक स्पष्ट परियोजना देनी होती है। क्रान्ति की मनोगत शक्तियाँ अन्य विविध वस्तुगत-मनोगत कारणों से कमज़ोर हों तो इस काम में लम्बा समय लग सकता है, पर दूसरा कोई विकल्प भी नहीं है। यह सोच सिरे से ग़लत है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता का मुख्य कारण जाति-प्रश्न की नासमझदारी या उपेक्षा रही है। कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता का मूल कारण विचारधारात्मक कमज़ोरी के चलते भारतीय समाज के मूलाधार और अधिरचना का गहन अध्ययन-विश्लेषण न कर पाना और भारतीय क्रान्ति का एक सांगोपांग कार्यक्रम – रणनीति और आम रणकौशल नहीं विकसित कर पाना रहा है। जाति प्रश्न का सही विश्लेषण करके ठोस कार्यभार न तय कर पाने की कमी इसी मूल कमी का एक अंग है या एक उत्पाद है।

भारत के जितने क्रान्तिकारी ग्रुप हैं, उनमें से कई ने जाति प्रश्न की विगत दो दशकों के दौरान व्याख्या करने की कोशिश की है लेकिन वे प्रायः सतही, अधूरी या ग़लत हैं। कोई कहता है कि अतीत में उत्पादन-सम्बन्ध जाति-व्यवस्था पर आधारित थे (तो फिर जाति-व्यवस्था किस चीज़ पर आधारित थी?)। कोई कहता है कि जाति प्रथा पर श्रम विभाजन आधारित था (आधारित था या जाति श्रम विभाजन की ही एक रूढ़ व्यवस्था थी, और क्या केवल श्रम विभाजन था या जाति स्वामित्व के रूप और वितरण के तौर-तरीके भी तय करती थी?)। कोई कहता है कि जाति उत्पादन-सम्बन्धों से जुड़ी थी (सिर्फ़ जुड़ी थी या उसका हिस्सा थी और उसका प्रवर्ग क्या था – मूलाधार का, अधिरचना का, या वह दोनों में उपस्थित थी)। कुछ ऐसे भी हैं जो हर काल में जाति को अधिरचना ही मानते हैं जिसका मूलाधार सामन्ती उत्पादन-सम्बन्ध था (और है)। जाति प्रथा के उद्भव और विकास का इतिहास देते हुए भी कई (स्थापित मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा अमान्य) ग़लत प्रस्थापनाएँ दी गयी हैं, पर उन पर यहाँ चर्चा सम्भव नहीं है। औपनिवेशिक काल में, सामन्तवाद की मौजूदगी के बावजूद, औद्योगिक पूँजी के प्रवेश ने जाति-व्यवस्था को बनाये भी रखा और उसकी जड़ों पर कुछ चोट भी की, जाति-समूहों के वर्णक्रम और वर्गों के वर्णक्रम का अतिच्छादन सीमित हद तक भंग हुआ और उत्तर-औपनिवेशिक काल में तो यह अतिच्छादन बहुत सिकुड़ गया। इस प्रक्रिया पर स्पष्टता का कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों के लेखन में अभाव दिखता है।

मूलाधार और अधिरचना के स्तर पर सही ढंग से जाति प्रश्न को सूत्रबद्ध न कर पाने वाले कुछ मा-ले ग्रुप इसे अर्द्ध-सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के आधार पर टिकी प्राक्-पूँजीवादी अधिरचना

(सामाजिक संरचना) मानते हैं तो कुछ भूमि-सम्बन्धों के मूलाधार के ताने-बाने में भी उसकी मौजूदगी देखते हैं। समस्या यह है कि भू-लगान की प्रकृति, किसानों के मालिकाना मिल जाने के बाद बाज़ार के लिए उत्पादन करने की प्रमुख प्रवृत्ति, अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार से जुड़े राष्ट्रीय बाज़ार की मौजूदगी, किसान आबादी के ध्रुवीकरण, विभेदीकरण और सर्वहाराकरण की प्रवृत्ति, कृषि में पूँजी की बढ़ती घुसपैठ, तथा औद्योगिक- वित्तीय पूँजी के विस्तार के सभी आँकड़ों की अनदेखी करते हुए भूमि- काश्तकारी व्यवस्था, महाजनी और सामन्ती अवशेषों की गणना करते हुए ऐसे सारे ग्रुप मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी पैमानों को ताक पर रखकर आज के भारत में चीनी नव-जनवादी क्रान्ति के मॉडल पर क्रान्ति करने की ज़िद पर बयालीस वर्षों से अड़े हुए हैं और 1963 की विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा विषयक दस्तावेज से पचास वर्षों बाद भी चिपके हुए हैं। भारतीय क्रान्ति का प्रोमेथियस अभी भी जड़सूत्रवाद (dogma) की ज़ंजीरों से नव-जनवादी क्रान्ति की चट्टान से बँधा हुआ है। ऐसे ग्रुपों में से कुछ की मान्यता है कि दलित प्रश्न/जाति प्रश्न अपनी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से भूमि प्रश्न है। यानी एक रैडिकल जनवादी भूमि कार्यक्रम इस प्रश्न को हल कर सकता है। अब समझने की ज़रूरत यह है कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल हो, तो भी (जैसा कि लेनिन ने स्पष्ट किया है) भूमि विषयक आम नीति के तौर पर भूमिहीन ग्रामीण मज़दूरों को निजी परिवार के स्तर पर ज़मीन बाँटकर उन्हें छोटे पैमाने का माल-उत्पादक बनाना कम्युनिस्टों का उद्देश्य कदापि नहीं हो सकता। जनवादी क्रान्ति का भूमि कार्यक्रम सर्वोपरि तौर पर किसानों को मालिकाने का हक़ देता है, राज्य और किसानों के बीच लगानजीवी भू-स्वामियों के संस्तर को समाप्त करता है, किसानों को सहकारी खेती और फिर सामूहिक खेती के लिए प्रेरित करता है, फालतू ज़मीनों और बड़ी जागीरों पर राजकीय फार्म (जो नज़ीर बनते हैं) बनाता है, सामन्ती भू-स्वामियों की छीनी गयी ख़ुदकाश्त ज़मीनों पर भूमिहीन ग्रामीण मज़दूरों के सामूहिक फार्म बनाता है (किन्हीं विशेष स्थितियों में अधिक पिछड़े देशों में यदि ज़मीन बाँटनी भी पड़ती है तो सहकारिता संगठित की जाती है) और खेती में श्रम-शक्ति की ख़रीद-फरोख़्त को प्रतिबन्धित कर देता है। जो मँझोले मालिक निजी खेती तुरत छोड़ने को तैयार नहीं होते, वे भी मज़दूर लगाकर काम नहीं करा सकते। भारत की स्थिति देखें। किसान मालिक बन चुके हैं और बड़े किसानों ने छोटे किसानों के बड़े हिस्से को सर्वहारा बना दिया है। सामन्ती लगान और लगानजीवी भू-स्वामी समाप्त हो चुके हैं। आज की व्यावहारिक स्थिति यह है कि किसी जादुई तरक़ीब से यदि सिर्फ़ गाँव के भूमिहीनों को सारी परती ज़मीन और सीलिंग सख़्ती से लागू करके निकली जमीन बाँट भी दी जाये (जो सत्ता का कनिष्ठ साझीदार बुर्जुआ भू-स्वामी वर्ग कभी न होने देगा) तो भी प्रति भूमिहीन परिवार डेढ़ से दो बीघा ज़मीन आयेगी और जल्दी ही पूँजी का चुम्बक इसे खींचकर बड़े भू-स्वामियों के पास ला देगा। (यदि सारी ज़मीन सभी ग्रामीण परिवारों में बराबर-बराबर बाँट दी जाये तो प्रति परिवार 3.68 एकड़ ज़मीन आयेगी, पर यह हवाई किला बनेगा कैसे और यदि सर्वहारा सत्ता को ही करना हो तो वह ऐसा क्यों करेगी?) दूसरी बात, आज की खेती में क्षेत्रफल से अधिक उसमें लगी पूँजी का महत्व होता है। पूँजी के अभाव में छोटे मालिक किसान बनने के बाद भूमिहीनों की जीवन-स्थिति कारख़ाना मज़दूरों से भी बदतर होगी। यह हम आज भी देख सकते हैं। इसलिए आज भी ग्रामीण मज़दूरों को पट्टे पर ज़मीन बाँटने जैसी जो फौरी माँगें उठायी जाती हैं वे उतनी ही प्रतिक्रियावादी हैं जितनी मालिक किसानों की लागत मूल्य और लाभकारी मूल्य से जुड़ी माँगें। जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में सोचने वाली कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी जमातें

जाति-व्यवस्था को एक ओर भूमि प्रश्न तो दूसरी ओर सामन्ती अधिरचना के रूप में देखती हैं। जाति-व्यवस्था के बदले हुए पूँजीवादी रूप को वे नहीं देख पातीं।

एक और बड़ी विचित्र धारा है जो पहले तो समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल मानती थी, पर अब पलट गयी है। उसका मानना है कि राजा-रजवाड़ों का बड़ा सामन्तवाद तो ख़त्म हो गया (उसके अवशेष रह गये हैं), पर गाँव-गाँव तक छोटा सामन्तवाद आज के भू-स्वामियों और जोतदारों के रूप में बरक़रार है (यह धारा यह नहीं बताती कि इन भूस्वामियों-जोतदारों को सामन्ती कैसे माना जाये?) जाति की समस्या इसी छोटे सामन्तवाद से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। ज़्यादा बड़ी जोतें 'ऊँची' जाति के भू-स्वामियों के पास हैं (यह ग़लत है, ज़्यादा बड़ी जोतें और पूँजी सघन खेती आज मध्य जातियों के बड़े किसानों के पास हैं)। छोटा सामन्तवाद, मन्दिरों-मस्जिदों-वक़्फों-गिरजाघरों-गुरुद्वारों की मौजूदगी, बड़े सामन्तवाद के अवशेष और जाति-समस्या – यह कुल मिलाकर सामन्तवाद को मौलिक अन्तरविरोध बनाते हैं। यानी राजनीतिक अर्थशास्त्र गया छुट्टी पर, सरल जोड़ से ही अन्तरविरोध तय हो गया। जाति समस्या के हल के लिए यह धारा नुस्ख़ा सुझाती है कि समाजवादी राज्य समूची ज़मीन का राष्ट्रीकरण (इसके लिए तो सीधे गाँव की निम्न मध्य किसान आबादी भी साथ नहीं आयेगी) करके जाति-व्यवस्था के सबसे नीचे पड़े पायदान पर खड़े लोगों से बाँटते हुए ऊपर के ग़रीबों की तरफ़ जायेगा (सबको इकट्ठे बराबर-बराबर क्यों नहीं दे देगा?), फिर सहकारी खेती से कम्यून तक की यात्रा पूरी करते हुए जनवादी क्रान्ति पूरी करेगा (राज्य समाजवादी होगा, क्रान्ति जनवादी करेगा!), इसी प्रक्रिया में अधिरचना के धरातल पर भी लगातार संघर्ष होगा और जाति-समस्या का समूल उन्मूलन हो जायेगा। इतने सतही, गगनविहारी, प्रहसनात्मक मार्क्सवादी सपनों पर भला क्या टिप्पणी की जाये? लेकिन कोई आन्दोलन जब बिखरता है, तो अत्यन्त मूर्खतापूर्ण मौलिक स्थापनाओं को भी पढ़ने-सुनने के लिए तैयार रहना पड़ता है।

भारत को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में मानने वाला एक अन्य ग्रुप पूँजीवादी विकास के साथ पुरानी जाति-व्यवस्था में पड़ी दरारों और जातियों में बढ़ते वर्ग-विभाजन की काफ़ी हद तक सही चर्चा करते हुए आज भी जाति-व्यवस्था की प्रभावी मौजूदगी को रेखांकित करता है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं करता कि इस प्रभावी मौजूदगी के पीछे नवीकरण और पुनर्संसाधन की कोई गतिकी है या महज़ यह इसलिए है कि हमारे देश में पूँजीवाद का विकास मन्थर, विरूपित, ग़ैर-क्रान्तिकारी मार्ग से हुआ है। यदि जाति-व्यवस्था एक बुर्जुआ व्यवस्था के रूप में पुनर्नवा नहीं हुई है तो इस तर्क की निष्पत्ति यह होगी कि पूँजीवाद ही यदि बहुत दिनों तक बना रहा तो जाति-व्यवस्था धीरे-धीरे तिरोहित हो जायेगी। दूसरे, यह ग्रुप सटीक ढंग से मूलाधार और अधिरचना के भीतर जाति-व्यवस्था को अवस्थित नहीं करता। सच यह है कि पूँजी की एक स्वतन्त्र गति जाति-व्यवस्था को ढीला कर रही है, दूसरी ओर आर्थिक और अधिरचनात्मक दोनों ही स्तरों पर इसकी विरोधी गति उसे नवीकृत-परिष्कृत-अनुकूलित करके पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना में उसका तन्तुबद्धीकरण कर रही है। इस प्रश्न पर अपनी अवस्थिति हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। यह धारा अम्बेडकर, पेरियार, दलित उभार परिघटना, अम्बेडकर-मार्क्सवाद समन्वय की प्रवृत्ति और अस्मितावादी नव-मार्क्सवादियों की आलोचना करते हुए मोटे तौर पर सही अवस्थिति अपनाती है, लेकिन जाति-उन्मूलन का रास्ता सुझाते हुए यह जाति आधारित संगठन बनाने का विरोध करने, दलित पूँजीवादी पार्टियों के नेताओं का पर्दाफ़ाश करने, एन.जी.ओ. संचालित दलित अस्मिता की

राजनीति और नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोणों का पर्दाफ़ाश करने पर सबसे अधिक बल देती है। सकारात्मक तौर पर बस यह समाजवाद के लिए संघर्ष के एक हिस्से के तौर पर जातिगत उत्पीड़न-अत्याचार का विरोध करने और जाति-व्यवस्था के विरुद्ध सांस्कृतिक प्रचार हेतु विशेष किस्म के मंच के निर्माण (जातिगत आधार पर नहीं) को उचित मानती है तथा अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) को प्रोत्साहित करने पर बल देती है। यानी मुख्य ज़ोर यह हुआ कि यदि सही वर्गीय लामबन्दी होगी तो जाति की समस्या एक अहम बाधा नहीं रह जायेगी। यह संगठन इस प्रश्न पर मौन है कि समाजवादी क्रान्ति की तैयारी की प्रक्रिया में प्रोपेगैण्डा और एजिटेशन के कुछ नारे क्या सीधे जाति को निशाना बनायेंगे? दलित मेहनतकशों को हम मौक़ापरस्त दलित नेतृत्व से अलग करने के लिए समाजवादी व्यवस्था में जाति के उन्मूलन के भौतिक आधार और सचेतन कार्रवाइयों के बारे में किस प्रकार बतायेंगे और फ़ौरी तौर पर भी क्या कुछ ऐसी माँगें (जनवादी माँगों के दायरे में) बनती हैं जो दलितों की दुरवस्था को कम करने में सहायक हों तथा जो सभी जातियों के मेहनतकशों की वर्गीय एकजुटता को मज़बूत बनायें?

बहुत सारे, बल्कि अधिकांश मा-ले संगठनों में इन दिनों मार्क्सवाद- अम्बेडकरवाद में समन्वय करने या कम या ज़्यादा मात्रा में अम्बेडकर से कुछ ले लेने का आग्रह बहुत प्रबल दीखता है। यह बहुत पहले शरद पाटील की सत्यशोधक कम्युनिस्ट पार्टी ने फुले-पेरियार-अम्बेडकर-मार्क्स की विचारधारा को अपनाकर किया था। पहली बात तो यह कि इस पार्टी को विचारधारा का शायद अर्थ ही नहीं स्पष्ट था। स्वयं फुले-पेरियार-अम्बेडकर के दर्शनों में भिन्नता है और दार्शनिक अन्तर्वस्तु के तौर पर मार्क्सवाद से तो कोई कड़ी ही नहीं जुड़ती। केवल अम्बेडकर के ही सवाल को लें। उनके विश्व-दृष्टिकोण, इतिहास-दृष्टि, राजनीति, अर्थनीति, दलित मुक्ति के उपायों आदि की हम सविस्तार चर्चा कर चुके हैं। कोई भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुप यह स्पष्ट नहीं करता कि अम्बेडकर से क्या लेना है? एक बात यह साझा है कि प्रायः ये सभी ग्रुप आरक्षण का समर्थन करते हैं, जो अम्बेडकर का योगदान था। पर वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि आज यह बुर्जुआ जनवादी अधिकार से अधिक बुर्जुआ जनवाद के प्रति विभ्रम पैदा करने का उपकरण बन गया है। दूसरे, कुछ ग्रुप कहते हैं कि कम्युनिस्टों की धारा के साथ सामाजिक (जातिगत) मसलों पर आन्दोलन चलाने की अम्बेडकरवादी सोच को समाहित कर लेना चाहिए। पहली बात यह कि प्रश्न जाति का हो, जेण्डर का या पर्यावरण का, मार्क्सवाद का सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क इन सभी सामाजिक आन्दोलनों को वर्ग संघर्ष का अनिवार्य हिस्सा मानता है और इन्हें सतत चलाने पर बल देता है। भारतीय कम्युनिस्टों ने अतीत में इस पर सही या उचित बल नहीं दिया (ऐसा नहीं कि कुछ किया ही नहीं), यह एक अलग बात है। पर सैद्धान्तिक धरातल पर, इस मसले पर मार्क्सवाद की अपनी समझ काफ़ी समृद्ध है। दूसरी बात, अम्बेडकर ने सामाजिक आन्दोलन तो बहुत कम किये, दलितों को संगठित करके औपनिवेशिक सत्ता से मोल-तोल और संवैधानिक दायरे में रहते हुए क़ानूनी उपायों से सुधार की बात अधिक की। इसके अतिरिक्त उन्होंने उद्योगीकरण पर बल दिया (वह तो पूँजीपति वर्ग कर ही रहा है) तथा धर्मान्तरण का मार्ग सुझाया (जो फ्लॉप सिद्ध हुआ)।

हाँ, ऐसे अधिकांश मा-ले ग्रुप, गेल ओमवेत, आनन्द तेलतुम्बड़े, सुभाष गाताडे आदि-आदि अम्बेडकर के इस मौलिक सैद्धान्तिक अवदान पर विस्फारित-नेत्र रह जाते हैं कि

जाति-व्यवस्था महज श्रम विभाजन नहीं बल्कि श्रमिकों का भी विभाजन है और यह चीज़ भारत की विशिष्टता है। नासमझी हमें सामान्य बातों को भी मौलिक मानकर चकित होने के लिए मज़बूर करती है। श्रम विभाजन की तार्किक परिणति दुनिया में कहीं भी श्रमिकों के पदानुक्रमिक विभाजन के रूप में ही होती है। पहले सामान्य उदाहरण लें। मानसिक श्रम करने वाले शारीरिक श्रम करने वाले से, कुशल श्रमिक अकुशल श्रमिक से, स्थायी मज़दूर अस्थायी मज़दूर से, हल्के काम वाले भारी काम वाले से ऊपर होते हैं। इंग्लैण्ड में ब्रिटिश मज़दूर आयरिश मज़दूर से ऊपर होते थे। अमेरिका में श्वेत मज़दूर अश्वेत मज़दूरों, मुलैटो-चिकानो आदि मूल के मज़दूरों और आप्रवासी मज़दूरों से ऊपर होते हैं। पूँजीवादी समाज में यह होगा ही। भारत में श्रमिकों के विभाजन में केवल यह बात जुड़ जाती है कि 'अस्वच्छ' काम, भारी काम और कम तनख़्वाह वाले 'नीचे' के काम ज़्यादातर दलित जातियों को करने होते हैं और कार्यस्थल पर भी उन्हें अमेरिका के किसी अश्वेत या मेक्सिकन मज़दूर के मुक़ाबले सामाजिक पार्थक्य का सामना अधिक करना पड़ता है। अत: यह अम्बेडकर की कोई मौलिक खोज नहीं है, पूँजीवादी श्रम विभाजन की एक सामान्य विशिष्टता है।

श्रमिक मुक्ति दल की गेल ओमवेत के अपने कुछ मौलिक तर्क हैं। भारतीय कम्युनिस्टों को तो वे असुधारणीय यान्त्रिक भौतिकवादी मानती हैं। उनका कहना है कि वे जाति को "वर्ग" में अवशोषित मानते हैं और "शोषण" की शुद्ध आर्थिक व्याख्या करते हुए जाति के सन्दर्भ में इसे नहीं देखते। **मार्क्स** की पुस्तक **राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** की प्रसिद्ध प्रस्तावना की नयी व्याख्या करते हुए वे कहती हैं कि सामाजिक उत्पादन के जिन सम्बन्धों में मनुष्य के बँधने की बात मार्क्स करते हैं, वे वर्गीय उत्पादन-सम्बन्धों के अतिरिक्त ग़ैर-वर्गीय उत्पादन-सम्बन्ध भी होते हैं (यानी जाति उत्पादन-सम्बन्ध)। मार्क्स की यह बात भारत पर लागू नहीं होती है कि *'अब तक का सारा ज्ञात इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।'*

इन सूत्रीकरणों में आद्यन्त अशुद्धियाँ हैं। पहली बात यह कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत में श्रम-विभाजन जातिगत ही था, यूँ कहें कि श्रम विभाजन ने ही जाति को जन्म दिया और जाति वर्ग के समकक्ष थी। औपनिवेशिक काल में यह स्थिति टूटी। पूँजीवादी विकास के दौर में और तेज़ी से टूटी। पूँजीवादी श्रम-विभाजन ने जो वर्गीय संरचना पैदा की, उसमें पुरानी जाति संरचना के प्रबल तत्त्व थे, पर दोनों अब समानार्थी नहीं रह गये थे। जाति वर्ग में अवशोषित नहीं हो गयी है, बल्कि वर्गों में जाति-विभाजन है और जातियों में वर्ग विभाजन है, लेकिन दलित जातियों की बहुसंख्या दोनों ही विभाजनों में सबसे निचले पायदान पर है। मज़दूर के रूप में उनके बाजू में अन्य जातियों के लोग भी खड़े हैं, पर उनसे उनका पार्थक्य है और काम की दृष्टि से भी वे कठिन, 'नीचा' माने जाने वाला काम करते हैं। जहाँ तक शोषण का सवाल है, शोषण सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में अधिशेष निचोड़ने की कार्रवाई है, यह वर्गीय धरातल पर ही होती है। यहाँ कम और ज़्यादा शोषण की भी बात नहीं है। हो सकता है कि उन्नत मशीन पर ज़्यादा उत्पादन करने वाले मज़दूर को ज़्यादा पगार मिलती हो, उससे अधिशेष भी अधिक निचोड़ा जाता हो। दूसरी ओर, भारी और 'अस्वच्छ' काम करने वाले की कुल उत्पादित मूल्य में औसत भागीदारी कम हो, यानी वह कम पैदा करता हो और कम पगार मिलने के बावजूद उससे कम अधिशेष निचोड़ा जाता हो। "शोषण" एक सुपरिभाषित आर्थिक प्रवर्ग है, इसका उत्पीड़न या दमन के किसी रूप के साथ घालमेल नहीं किया जाना चाहिए।

दलित मज़दूर कारख़ाने में भी उत्पीड़ित होता है, पर शोषण उसका वर्ग के रूप में ही होता है।

श्रमिक मुक्ति दल का सूत्रीकरण है कि आज बुर्जुआ जाति-व्यवस्था का एक पद-सोपानक्रम विकसित हुआ है जिसमें दलित और जनजातियाँ अकुशल, कठिन और 'अस्वच्छ' कामों में लगी हैं, मध्य जातियाँ 'ब्लू कॉलर' औद्योगिक नौकरियों और अलाभकारी कठिन कृषि कार्यों में लगी हैं और 'ऊँची' जातियों के लोग सफ़ेद कॉलर ऊँची नौकरियों और प्रबन्धकीय पेशों में लगे हैं। आरक्षण और पूँजीवादी विकास ने इस जातिगत श्रम विभाजन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाला है। इस ढाँचे में अधिशेष नीचे से निचुड़ता हुआ ऊपर बुर्जुआ वर्ग तक जाता है। इस पूरी स्कीम में वस्तुगत स्थिति का सटीक परावर्तन नहीं है। 'अस्वच्छ' कामों को छोड़ दें तो अकुशल और कठिन काम करने वाले असंगठित मज़दूरों की कुल आबादी में आज दलितों और जनजातियों से बहुत अधिक संख्या ग़ैर-दलित जातियों और ग़ैर-जनजाति आबादी की है। दूसरे, कृषि कार्य में लगी आबादी का विभेदीकरण किया ही नहीं गया है। मध्य जाति और सवर्ण कुलकों-भूस्वामियों-फार्मरों का हिस्सा बर्बर शोषक है, वह श्रम-शक्ति ख़रीदकर काम कराता है, उसका यदि कोई संकट है तो कृषि पूँजीवाद का संकट है। मध्य जातियों, कुछ सवर्ण जातियों और थोड़ी-सी दलित जातियों-जनजातियों के बीच से तबाही की ओर घिसटती छोटे-मँझोले किसानों की आबादी है। हाँ, ऊपर की नौकरियों में अभी भी सवर्णों की बहुतायत ज़्यादा है। जहाँ तक अधिशेष निचोड़े जाने का सवाल है, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, वह सामाजिक जीवन की कठिनाइयों से नहीं बल्कि क्षेत्र विशेष की उत्पादकता से तय होता है।

इस स्कीम के आधार पर पार्टी का जो कार्यक्रम है, वह नितान्त सामाजिक जनवादी कार्यक्रम है। उसमें क्रान्ति और समाजवाद के कार्यक्रम का तो नामोनिशान नहीं है। यह पार्टी बुर्जुआ जाति-व्यवस्था का भौतिक आधार ख़त्म करने के लिए भू-स्वामित्व व उत्पादन के साधनों के पुनर्वितरण के भूमि कार्यक्रम में भूमिहीन मज़दूरों को भूमि और पानी के पुनर्वितरण की बात जोड़ने तथा सहकारी समाजवादी खेती की दिशा में आगे बढ़ने की बात करती है। यह, विशेषकर निम्न जाति के मेहनतकशों को बीज, खेती के उपकरण आदि सस्ती दरों पर मुहैया कराने, दस्तकार जातियों की पारम्परिक दक्षता को उन्नत बनाने के लिए विशेष प्रशिक्षण देने की, उन्हें आधुनिक सहकारी कृषि-औद्योगिक क्षेत्र में विकसित होने के लिए ऋण और प्रोत्साहन पैकेज देने की और दलित जातियों-जनजातियों को 'ऑर्गेनिक' खेती की ट्रेनिंग देने की माँग करती है। इसके अतिरिक्त यह आरक्षण को जारी रखने और अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) को प्रोत्साहन देने की माँग रखती है। यह किसी भी संशोधनवादी पार्टी, "सामाजिक आन्दोलन," एन.जी.ओ. या बुर्जुआ पार्टी के मेनिफेस्टो का हिस्सा हो सकता है। गेल ओमवेत का सारा नया द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक, भारतीय परिस्थितियों वाला भौतिकवाद अमली कामों के स्तर तक पहुँचकर अपने घोर बुर्जुआ सुधारवादी रूप में नंगा हो जाता है।

मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद में समन्वय के एक और प्रमुख प्रस्तोता आनन्द तेलतुम्बड़े एक ओर तो यह मानते हैं कि जाति उन्मूलन की अम्बेडकर की सारी परियोजनाएँ निष्फल सिद्ध हुई। फिर भी न जाने क्यों **अम्बेडकर** की पुस्तक **जाति उन्मूलन** को (जिसकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं) भारत में 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' जितना महत्वपूर्ण बताते हैं।*

तेलतुम्बड़े आरक्षण को एक भँवरजाल मानते हैं और लगातार घटती नौकरियों के इस दौर में उसे निरर्थकप्राय मानते हैं। अस्मिता-राजनीति के भी वे कटु आलोचक हैं। लेकिन मूलाधार-अधिरचना रूपक के फ्रेमवर्क में जाति को समझने के बजाय वे इस फ्रेमवर्क को ही जाति और वर्ग के सम्बन्धों को समझने की राह में बाधा समझते हैं और भारतीय क्रान्ति के लिए जाति को वर्ग संघर्ष से न जोड़ पाना भारतीय कम्युनिस्टों की अक्षम्य भूल मानते हैं। मूलाधार-अधिरचना के प्रश्न पर हम अपनी बात ऊपर कह चुके हैं। तेलतुम्बड़े से भी हमें जाति उन्मूलन की कोई दिशा नहीं मिलती, न ही यह पता चलता है कि जाति को वर्ग संघर्ष की रणनीति से जोड़ने के लिए अम्बेडकर से मार्क्सवाद को क्या अवदान हासिल होगा!

जो कथित दलित सिद्धान्तकार हैं, उनकी दलीलें तो इतनी लचर और बोदी हैं कि उन पर ज़्यादा तर्क-वितर्क सम्भव ही नहीं। ले-देकर एक अस्मिता राजनीति वाले हैं जो जाति सहित तमाम अस्मिताओं के एन.जी.ओ.-पोषित खण्डित सामाजिक आन्दोलनों में और शोध संस्थानों में शोध करने में लगे रहते हैं और दलित अस्मिता के उभार पर जश्न मनाते रहते हैं। इस प्रजाति की थोड़ी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इनका वैचारिक आधार उत्तर-आधुनिकतावाद की विचार-सरणियों में ढूँढ़ा जा सकता है।

एक अन्य विचारक कांचा इल्लैया हैं जो बिना नीतियों के विश्लेषण में गये राष्ट्रवाद की तीन श्रेणियाँ गिनाते हैं – ब्राह्मणवादी कम्युनिस्ट राष्ट्रवाद, हिन्दू राष्ट्रवाद (तिलक, गोखले, गोलवलकर, एस.पी. मुखर्जी आदि एकसाथ) और दलित बहुजन राष्ट्रवाद (फुले, पेरियार, अम्बेडकर आदि)। दलित बहुजन राष्ट्रवाद की इसी थीसिस का एक अमली रूप कांशीराम-मायावती की राजनीति थी। शूद्र जातियों की पार्टी (सपा) से गँठजोड़ थीसिस को और पुष्ट करता था। पर वह गठबन्धन टूटना ही था। फिर मायावती ने ब्राह्मणों को साथ लेने और सर्वजन की बात करनी शुरू कर दी। अब कांचा इल्लैया की थीसिस बदलकर यह हो गयी कि दलितों को सभी पार्टियों में अपनी पैठ बढ़ानी चाहिए ताकि सत्ता पर उनकी दावेदारी मज़बूत हो।

एक अन्य सिद्धान्तकार चन्द्रभान प्रसाद हैं जो दलित पूँजीवाद को बढ़ावा देना दलित मुक्ति का रास्ता बताते हैं, उपनिवेशवाद को आज भी दलितों का मुक्तिदाता मानते हैं और अंग्रेज़ी देवी की मूर्ति लगवाते हैं। वे यह नहीं बताते कि जो चन्द दलित पूँजीपति पैदा होंगे, वे अपने कारख़ाने में दलित मज़दूरों को निचोड़ेंगे या नहीं और क्या वे लूटे गये मुनाफ़े को दलितों में बाँटकर उनकी स्थिति ठीक कर देंगे? वे और कुछ अन्य दलित चिन्तक केनेडी के 'अफर्मेटिव ऐक्शन' जैसे क़दम के द्वारा निजी प्रतिष्ठानों में दलितों को आगे बढ़ाने का प्रस्ताव देते हैं। अव्वलन तो यह एक ख़याली पुलाव है। दूसरे इन लोगों को पता नहीं कि लिंकन की दास-मुक्ति से लेकर और केनेडी के 'अफर्मेटिव ऐक्शन' तक की एक शताब्दी और अश्वेतों के तमाम रंगभेद विरोधी आन्दोलनों के बावजूद, एक अश्वेत राष्ट्रपति, सेनाध्यक्ष, विदेश मन्त्री और कई अश्वेत स्टार खिलाड़ी-कलाकार होने के बावजूद अमेरिकी लोकतन्त्र में आज भी बहुसंख्यक अश्वेत मज़दूर सबसे कठिन व कम पगार वाले काम करते हैं, नारकीय घेट्टो में रहते हैं, आबादी के अनुपात में बेरोज़गारों में उनका प्रतिशत बहुत अधिक है, अमेरिकी जेलों में बन्द लोगों में 70 प्रतिशत अश्वेत और अन्य आप्रवासी हैं और रंगभेद की अनेक बारीक़ अभिव्यक्तियाँ अभी भी मौजूद हैं।

ज़्यादातर अन्य दलित विचारक अम्बेडकर की अन्धभक्ति करते हैं और संसद और सुधार

के दायरे के बाहर किसी रैडिकल गतिविधि तक से परहेज़ करते हैं। दलित-मुक्ति और जाति उन्मूलन की उनके पास कोई परियोजना नहीं है। यदि आप उनसे तर्क और विज्ञान की बात करें और आप दलित नहीं हैं (भले ही आपने जाति त्याग दी हो) तो वे आपके ऊपर 'जाति शॉविनिस्ट' का ठप्पा लगा देंगे।

दरअसल, दलित बुद्धिजीवी समुदाय के ये मुखर लोग ज़्यादातर दलित बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। बहुसंख्यक दलित आबादी की दशा या मुक्ति के किसी संघर्ष से इन्हें कुछ नहीं लेना-देना। ये उनसे बहुत दूर आ चुके हैं। इनके भीतर, अपनी सामाजिक स्थिति और जातिगत आधार के बूते बहुसंख्यक दलित आबादी का अगुआ बनने की प्रवृत्ति होती है। फिर भी खुशहाल परिवेश में रहते हुए इन्हें सवर्ण सहकर्मियों से जो सूक्ष्म अपमान, उपेक्षा या पार्थक्य झेलना पड़ता है, उससे इनके अन्दर जो आवेश पैदा होता है, वही इनकी वक्तृता और इनके लेखन में अभिव्यक्त होता है। इनकी वास्तविक भूमिका आज पूँजीवादी व्यवस्था के सामाजिक अवलम्ब की बन चुकी है। **मार्क्स** का यह कथन इनके ऊपर काफ़ी हद तक लागू होता है, *"शासक वर्ग शासित वर्ग की अग्रतम मेधाओं को आत्मसात करने में जितना अधिक समर्थ होता है, उसका शासन भी उतना ही अधिक स्थिर और घातक होता है।"* (पूँजी, खण्ड 3, पृष्ठ 601)

आज़ाद भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन और जाति प्रश्न : एक सिंहावलोकन

तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवादी विपथगमन तक की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। बाद में भाकपा से एक और संशोधनवादी माकपा 1964 में फूटकर अलग हुई। फिर इसी क़तार में 1980 के दशक में भाकपा (मा-ले) (लिबरेशन) भी जा शामिल हुई।

संसदीय राजनीति में होने और ट्रेड यूनियन राजनीति में हावी होने के चलते साठ वर्षों से देश की जनता के सामने कम्युनिस्ट के नाम पर इन्हीं पार्टियों का चेहरा और व्यवहार रहा है। इन पार्टियों के दस्तावेज़ों और मुखपत्रों में जाति प्रश्न पर चर्चाएँ होती रही हैं, पर व्यवहार में इन्होंने दलित-उत्पीड़न विरोधी कुछ घटनाओं पर कुछ बयानबाज़ी और कुछ रस्मी विरोध-प्रदर्शनों के अतिरिक्त कुछ नहीं किया। जब कोई पार्टी संसदीय राजनीति और ट्रेड यूनियन की अर्थवादी कवायदों को ही अपना एकमात्र काम बना लेती है, तो वह जनता के बीच सामाजिक मसलों पर भी जुझारू तेवर के साथ प्रचार और आन्दोलन का साहस खो देती है। जाति प्रश्न को दृढ़ता के साथ उठाकर सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने या कम्युनिस्ट प्रचार तक चलाने में ये डरती हैं कि कहीं ग़ैर-दलित जातियाँ नाराज़ न हों। खास तौर पर इन्हें मध्य जातियों के किसानों के नाराज़ होने का भय रहता है जिनकी माँगों को गाँवों में ये प्रमुखता से उठाते हैं। साथ ही (ज़्यादातर दलित) खेत मज़दूरों के तुष्टीकरण के लिए उनकी माँगों और जाति उत्पीड़न के मुद्दों को उठाने का ज़ुबानी जमाख़र्च भी जारी रहता है, हालाँकि इनके बीच इनका पुराना जनाधार खिसक चुका है और उस पर बसपा जैसी पार्टियाँ काबिज़ हो गयी हैं। शहरों में इनका मुख्य आधार व्हाइट कॉलर (बैंक-बीमा आदि) मज़दूर और संगठित ब्लू कॉलर मज़दूर हैं जिनकी आर्थिक माँगों को लेकर इनकी रस्मी कवायदें होती रही

हैं। ऐसे मज़दूरों में दलित जाति के मज़दूर कम हैं। अभी भी कुछ ग़रीब मेहनतकश शिकायतें होते हुए भी इनके साथ या तो कुछ आर्थिक राहत या सुरक्षा की आस में या फिर इसीलिए लगे रहते हैं क्योंकि पीढ़ियों से लाल झण्डा उनको अपना लगता रहा है। जाति के प्रश्न पर सबसे अधिक घृणा पैदा करने वाला तो इन पार्टियों के नेताओं-कार्यकर्ताओं का जीवन होता है। अधिकांशत: ये सभी (समाज से कट जाने का तर्क देकर) धार्मिक रस्मो-रिवाज़ के साथ सजातीय शादियाँ करते हैं, जीवन-मरण के धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, दबे-छिपे बिरादरीवाद भी करते हैं और चुनावी उम्मीदवार तय करते समय इलाक़ों के जातीय समीकरण का भी ख़याल करते हैं। इनके नेता समाज के अभिजन संस्तरों में व्यवस्थित होते हैं और अपने बेटे-बेटियों को व्यवस्था में बेहतर से बेहतर ढंग से सेट करने के लिए तिकड़में भिड़ाते हैं। 1950 तक पार्टी जीवन के जो उसूल और परम्पराएँ थीं, धीरे-धीरे वे सब मिट्टी में मिल चुकी हैं। ये संशोधनवादी इसी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति हैं। इनका जीवन इनकी राजनीति के ही अनुरूप है, पर आम लोगों के सामने कम्युनिस्ट के रूप में ज़्यादातर इन्हीं लोगों का चेहरा होता है, इसीलिए, यह सही है कि दलित जातियों के बीच कम्युनिज़्म की छवि गिरी है, इनके बीच मौजूद आधार छिन्न-भिन्न हुआ है और नये-नये दलित नेता-विचारकों के कम्युनिज़्म-विरोधी प्रचारों को ग्रहण करने की अनुकूल ज़मीन तैयार हुई है।

1967 के नक्सलबाड़ी किसान उभार से जिस कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का जन्म हुआ, उसने नयी आशाओं का सूत्रपात किया। इस लहर का देश के हर हिस्से तक फैलाव हुआ। गाँव के ग़रीबों (जिनमें दलितों की बहुतायत थी) में इसका ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा। उत्पीड़कों को सार्वजनिक दण्ड दिये गये। भू-स्वामियों की ज़मीनें छीनी गयीं। पर 1970 में भाकपा (मा-ले) बनने तक आन्दोलन पर "वामपन्थी" दुस्साहसवाद का भटकाव हावी हो चुका था। इसने गाँव के ग़रीबों के जनउभार जैसी स्थिति का गला घोंट दिया। आन्दोलन बिखर गया और बिखरता ही चला गया। इसका मूल कारण विचारधारात्मक कमज़ोरी और उससे पैदा हुई भारतीय समाज की प्रकृति और क्रान्ति के कार्यक्रम (मंज़िल) की ग़लत समझदारी थी। नयी सच्चाइयों को देखने-समझने की बजाय उन्हें जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में अलग-अलग तरह से फिट करने की कोशिश की जाती रही और फूट और बिखराव की प्रकृति मुख्य बनी रही। लम्बे समय के गतिरोध ने विचारधारात्मक विचलनों को भी बढ़ावा दिया। अतिवामपन्थ के बरक्स दक्षिणपन्थ की रुझानें-प्रवृत्तियाँ भी पैदा हुईं। जिन कुछ संगठनों ने 1970 के ही समय से "वामपन्थी" दुस्साहसवाद का विरोध करके क्रान्तिकारी जनदिशा अपनायी थी, वे भी भारतीय समाज की प्रकृति और कार्यक्रम की ग़लत समझ के कारण ठहराव-बिखराव के शिकार हो गये। मा-ले शिविर की एक धारा ने भारतीय समाज के पूँजीवादी विकास और समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल की सही समझ विकसित करते हुए एक नयी राह खोली, पर यह धारा भी अपनी अधूरी समझ, निम्न पूँजीवादी भटकावों, और लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों एवं कार्यप्रणाली के अभाव के चलते बिखराव का शिकार हुई, जिससे उबरकर आगे बढ़ने की जद्दोजहद अभी भी जारी है। आज भी कुछ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुप दक्षिणपन्थी रुझान के साथ जनदिशा लागू कर रहे हैं, एक सशक्त धारा "वामपन्थी" दुस्साहवाद की है और कुछ समाजवादी क्रान्ति की लाइन पर पार्टी बनाने और सामाजिक प्रयोगों को आगे बढ़ाने की चुनौती से जूझ रहे हैं।

इस कठिन और खराब स्थिति के बावजूद जब जाति प्रश्न के सन्दर्भ में कम्युनिस्ट

क्रान्तिकारी आन्दोलन के भारतीय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव की बात आयेगी, तो इसके कुछ सकारात्मक पक्षों को अवश्य रेखांकित किया जाना चाहिए। आन्ध्र, बिहार, बंगाल, छत्तीसगढ़ और देश के कुछ अन्य राज्यों के कुछ हिस्सों में (पंजाब की चर्चा अलग से करेंगे) जनदिशा लागू करने वाले और "वामपन्थी" लाइन लागू करने वाले – दोनों ही प्रकार के संगठनों का ग्रामीण क्षेत्रों में मुख्य आधार भूमिहीन ग़रीबों में, और उनमें भी मुख्यत: दलितों में था। भू-स्वामियों की ज़मीनें कब्जा करके ग़रीबों में बाँटी गयीं, लाइन की दृष्टि से यह भले ही ग़लत हो लेकिन दलितों में एक नयी चेतना लाने में और अन्य ग़रीबों के साथ एकता बनाने में इसका एक सकारात्मक प्रभाव पड़ा। न केवल उत्पीड़क भू-स्वामियों को दण्डित किया गया, बल्कि उनकी गुण्डा-सेनाओं द्वारा संगठित बर्बर नरसंहारों का भी बदला लिया गया। "वामपन्थी" आतंकवाद की लाइन होने के बावजूद, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एक धारा ने छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखण्ड, महाराष्ट्र और आन्ध्र के जंगली इलाकों और बंगाल के एक क्षेत्र में आदिवासी जनजातियों को पहली बार संगठित होकर प्रतिरोध करना सिखाया। इन सबका प्रभाव यह रहा कि आज इस आन्दोलन के तमाम ठहराव-बिखराव के बावजूद जहाँ भी आन्दोलन का प्रभाव था या अभी भी है, वहाँ दलितों की स्थिति देश के अन्य हिस्सों से भिन्न है। वहाँ दलितों पर सवर्ण और मध्य जातियों के भू-स्वामियों का आतंक और दबदबा बहुत कम रह गया है। दलित वहाँ ज़्यादा स्वाभिमान से सिर उठाकर चलते हैं। अपनी तमाम सैद्धान्तिक कमज़ोरियों के बावजूद कुल मिलाकर पूरे देश में दलितों के सामाजिक उत्पीड़न को कम करने में कम्युनिस्ट आन्दोलन की (इसमें संशोधनवादी पार्टियों को न गिनें) जो भूमिका रही है, वह किसी भी दलितवादी आन्दोलन या सुधार आन्दोलन की नहीं रही है। सारे कम्युनिस्टों को पानी पी-पीकर कोसने वाले अभिजात दलित बुद्धिजीवी तो उन दक्खिन टोलों (दलित बस्तियों) और शहर की मलिन बस्तियों से बहुत दूर हो चुके हैं, जहाँ बिखरी-टूटी हालत के बावजूद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनकर्ता, चाहे वे जितने भी हों, आज भी रहकर काम करते हैं। पंजाब की स्थिति थोड़ी भिन्न रही। अर्द्ध-सामन्ती भूमि सम्बन्धों के जमाने में यहाँ के कम्युनिस्टों का जाट किसानों में मुख्य आधार था, मज़दूरों और गाँव के भूमिहीनों में कम था। भूमि सम्बन्ध बदले और जाट किसानों का बड़ा हिस्सा धनी और उच्च मध्य किसान हो गया। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह जनाधार विरासत में मिला था, कार्यकर्ता भी ज़्यादातर ऐसे ही घरों से आते थे। मज़दूरों और गाँव के भूमिहीनों में नया आधार सीमित पैमाने पर ही बना। दलित आबादी, ज़्यादातर, (पूर्णत: नहीं) इस धारा से दूर रही। अब जनवादी क्रान्ति की मंज़िल मानने वालों के लिए ज़मीन ज़ब्ती और बँटवारा तो पंजाब में वैसे भी सम्भव नहीं था। जनाधार और कैडर-लीडर कम्पोज़िशन भी इसमें दिक्कत पैदा कर सकते थे। नतीजतन, शहरों-गाँवों की दलित मज़दूर आबादी और लाखों आप्रवासी मज़दूरों में नया जनाधार विकसित करने का साहस जुटाने की बजाय, यहाँ के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के एक बड़े हिस्से ने मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र को दरकिनार करके किसानों की लागत मूल्य-लाभकारी मूल्य जैसी सर्वहारा विरोधी माँगों का परचम उठा लिया और सारत: लड़ाकू किसान संगठन बनकर रह गये। शहरों-गाँवों के मज़दूरों में उनका काम हमेशा सिकुड़ा रहा। नतीजतन, दलित आबादी, जो ज़्यादातर मज़दूर और निम्न मध्य वर्ग है, उनसे दूर ही रही। लेकिन पूरे भारत के सन्दर्भ में यदि बात करें तो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का मुख्य आधार गाँव के ग़रीब, और उनमें भी, दलित थे, दलित उत्पीड़न के सवाल पर उसने जुझारू लड़ाइयाँ लड़ीं, और जहाँ कहीं भी

आन्दोलन का प्रभाव था, वहाँ के दलितों की सामाजिक स्थिति कोई आज भी जाकर देख सकता है। यह बात महज़ हम कुर्सीतोड़ बुद्धिजीवियों की तोहमतों और बुर्जुआ दलितवादी राजनीति के रहनुमाओं के कम्युनिज़्म विरोधी कुत्सा प्रचार का जवाब देने के लिए कह रहे हैं।

समस्या इस धरातल पर रही ही नहीं है। मूल समस्या इस गुत्थी को सुलझाने की रही है कि मार्क्सवादी वर्ग-विश्लेषण की दृष्टि से जाति प्रश्न को कैसे समझें, वर्गीय आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों को संगठित करने के अतिरिक्त जाति प्रश्न पर सामाजिक आन्दोलन के रूप क्या बनते हैं, उन्हें क्रान्ति के कार्यक्रम में कितना महत्वपूर्ण स्थान दिया जाये, जाति प्रश्न पर आज हमारे प्रोपेगैण्डा और एजिटेशन के नारे क्या होंगे, जातिगत पार्थक्य को तोड़कर मेहनतकश एकता कैसे बनायी जाये, जनता को इस प्रश्न पर आज का कार्यभार कैसे बताया जाये, जाति उन्मूलन की हमारी परियोजना क्या है और दलित, जनजाति, ग़रीब मुस्लिम समुदायों ("कमीन" जातियाँ) को प्रोपेगैण्डा और शिक्षा और नज़ीर द्वारा कैसे क़ायल किया जाये कि समाजवाद इन-इन बदलावों द्वारा, एक प्रक्रिया से गुज़रकर जाति-व्यवस्था को समाज के ताने-बाने से रेशा-रेशा करके समाप्त कर देगा। इसलिए आज की फ़ौरी कार्रवाइयों का सिलसिला भी उसी लक्ष्य की दिशा में निर्देशित होना चाहिए।

इस सिलसिले में विभिन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों की अवस्थितियों की सामान्य-संक्षिप्त समालोचना हम कर चुके हैं। इसलिए अब हम वहाँ आ पहुँचे हैं कि जाति-उन्मूलन की परियोजना और फ़ौरी कार्यभारों की अपनी समझ आपके सामने प्रस्तुत करें।

हम भारतीय समाज को मूलत: और मुख्यत: एक पिछड़ा हुआ पूँजीवादी देश मानते हैं। यह पूँजीवाद उन्नीसवीं सदी-बीसवीं सदी के यूरोप और 1917 तक के रूस से भिन्न है। अत: इस कारण से, और आज के विश्व पूँजीवाद की संरचना एवं कार्यप्रणाली में आये बदलावों के कारण से, तथा गत सर्वहारा क्रान्तियों के समाहार के आलोक में, इस उत्तर-औपनिवेशिक समाज की साम्राज्यवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति, अक्टूबर क्रान्ति से स्वरूप एवं राह की दृष्टि से भिन्न होगी। साथ ही, समाजवादी संक्रमण की प्रक्रिया भी, विगत अनुभवों के समाहार के आधार पर, किंचित भिन्न होगी। इसीलिए हम इसे नयी समाजवादी क्रान्ति कहते हैं। यहाँ हम इस क्रान्ति के कार्यक्रम के केवल उन पक्षों की चर्चा करेंगे जो जाति-उन्मूलन के प्रश्न से जुड़े हुए हैं। सुविधा की दृष्टि से पहले हम यह चर्चा करेंगे कि समाजवाद किन रास्तों से जाति के समूल नाश की दिशा में आगे बढ़ेगा। इसके बाद इस सन्दर्भ में सर्वहारा वर्ग की पार्टी के फ़ौरी कार्यभारों की चर्चा करेंगे।

जाति उन्मूलन की समाजवादी परियोजना

सर्वहारा सत्ता सभी तरह के बुर्जुआ राजकीय फार्मों, पुरानी जागीरों की विशाल खेती की ज़मीनों, शहरों के उद्योगपतियों-व्यापारियों-नौकरशाहों की भू-सम्पत्तियों, बड़े फार्मरों के फार्मों और बाग़ानों का (बिना मुआवज़ा दिये) राजकीयकरण कर देगी, राजकीय उद्योगों की तरह उनमें लोग काम करेंगे और प्रबन्धन का काम सभी काम करने वालों की चुनी हुई कमेटियाँ पार्टी के नेतृत्व में सँभालेंगी। गाँवों के कुलकों-भूस्वामियों-फार्मरों की भू-सम्पत्ति बिना मुआवज़ा ज़ब्त करके उन पर सामूहिक फार्म बनाये जायेंगे। राजकीय और सामूहिक फार्मों में सभी भूमिहीन काम करेंगे और बराबरी की हैसियत से सामूहिक प्रबन्धन के काम में हिस्सा लेंगे। जो छोटे मालिक किसान अपनी खेती सामूहिक फार्मों में शामिल करने को तैयार नहीं

होंगे, उन्हें सहकारीकरण के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित किया जायेगा। कहीं-कहीं जो सहकारी खेती के लिए भी तैयार नहीं होंगे वे अपनी निजी खेती के लिए श्रम-शक्ति नहीं खरीद सकेंगे। श्रम-शक्ति की ख़रीद-फरोख़्त प्रतिबन्धित होगी। निजी खेती करने वालों को बीज, पानी, बिजली, खाद आदि के मामले में सामूहिक फार्मों को प्राप्त छूटें-सुविधाएँ हासिल नहीं होंगी। धीरे-धीरे आर्थिक सुरक्षा के प्रति आश्वस्ति, राजकीय और सामूहिक फार्मों के कामगारों की खुशहाली और समाजवाद के प्रति बढ़ते भरोसे के चलते निजी और सहकारी खेती वाले भी सामूहिकीकरण के लिए प्रेरित होंगे। इस प्रक्रिया की अन्तिम मंज़िल सारी खेती का राजकीयकरण होगा। इस तरह भूमि के निजी स्वामित्व और दलितों की सहस्राब्दियों की भूमिहीनता को समाप्त करके समाजवाद जाति-व्यवस्था के एक प्रमुख ग्रामीण अवलम्ब को नष्ट कर देगा।

बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस करते ही सर्वहारा सत्ता सभी देशी-विदेशी छोटे-बड़े उद्योगों और बैंकों को ज़ब्त करके उनका राजकीयकरण कर देगी जिसका प्रबन्धन पार्टी के नेतृत्व में मज़दूरों-तकनीशियनों की चुनी हुई कमेटियाँ सँभालेंगी। कारख़ानों में बहुविध प्रशिक्षण के सहारे लचीला और गतिमान श्रम-विभाजन होगा, जिसमें सभी के ज़िम्मे (तकनीकी विशेषज्ञता के कामों को छोड़कर) सभी काम आयेंगे और इस तरह "ऊँच-नीच" और "स्वच्छ- अस्वच्छ" कामों का भेद मिटता चला जायेगा। मशीनीकरण और ड्रेनेज-सीवरेज ट्रीटमेण्ट प्लाण्ट्स की नियोजित राजकीय व्यवस्था भी "अस्वच्छ" कामों की श्रेणी का स्वरूप बदल डालेगी। फिर बढ़ती समाजवादी चेतना भी लोगों के भीतर से इस भेद के संस्कार को ख़त्म करेगी, जिससे लचीले श्रम-विभाजन में काम बाँटते हुए दबाव की आवश्यकता कम पड़ेगी। और यदि थोड़े-से लोगों पर दबाव भी डालना पड़े तो यह न्यायसंगत है।

शेयर बाज़ार तत्काल बन्द हो जायेंगे। व्यापार-क्षेत्र का राजकीयकरण होने से विनिमय पर जनता की सत्ता का नियन्त्रण क़ायम हो जायेगा। इससे जमाख़ोरी-मुनाफाख़ोरी-दलाली तो समाप्त होगी ही, खानदानी पेशों की रूढ़ व्यवस्था टूटने से जाति प्रथा पर प्रभाव पड़ेगा। निजी सूदख़ोरी प्रतिबन्धित और कठोर दण्डनीय होगी। किसी भी आपत्ति में ज़रूरतमन्द को राजकीय, सामूहिक उपक्रम की प्रबन्धन कमेटी से सहायता मिलेगी।

आर्थिक भेदभाव के साथ शिक्षा संस्थान जातिगत भेदभाव के भी अहम केन्द्र हैं। समाजवादी राज्य द्वारा तुरत किये जाने वाले कामों में से यह एक है कि सभी तरह के निजी शिक्षा संस्थानों का राजकीयकरण कर दिया जाता है, कोचिंग संस्थान प्रतिबन्धित हो जाते हैं और नीचे से ऊपर तक सभी नागरिकों को निःशुल्क और समान शिक्षा समाजवादी राज्य की सर्वोपरि ज़िम्मेदारियों में से एक होती है। वैज्ञानिक शिक्षा प्रणाली में अभिरुचि और नैसर्गिक योग्यता के हिसाब से छात्रों को विशिष्ट क्षेत्रों की शिक्षा में लगाया जाता है, उनमें कई योग्यताएँ पैदा की जाती हैं, लचीला श्रम-विभाजन आगे चलकर उन्हें पेशे बदलने और कई काम कर पाने की सहूलियत देता है, और क्रमशः समान होते वेतन, समान होते जीवन-स्तर और शारीरिक-मानसिक श्रम के बीच के घटते अन्तर के कारण, पेशे से सामाजिक हैसियत को जोड़ने के संस्कार समाप्त हो जाते हैं। समाजवादी शिक्षा श्रम की संस्कृति को सर्वोच्च स्थान देने के साथ ही सभी युवाओं के सांस्कृतिक स्तरोन्नयन पर अत्यधिक बल देती है। आर्थिक स्तर की मिटती असमानता के साथ जब शिक्षा-संस्कृति के क्षेत्र में भी अन्तर मिट जायेगा तो जातिभेद की दीवार ढहने में और अधिक आसानी हो जायेगी।

फिर स्वास्थ्य का मामला आता है। समाजवाद में प्राइवेट प्रैक्टिस, निजी चिकित्सालय, निजी मेडिकल कॉलेज पूर्णत: प्रतिबन्धित होंगे। पूरी स्वास्थ्य सेवा राज्य के नियन्त्रण में होगी। समाजवाद साम्राज्यवादी पेटेण्ट क़ानूनों को नहीं मानता। सभी दवाओं का उत्पादन वह देश में करेगा। पूरी स्वास्थ्य सेवा सभी नागरिकों के लिए नि:शुल्क होगी। इस क्षेत्र में सोवियत संघ, समाजवादी चीन और क्यूबा तक ने जितना शानदार काम किया था, उसे पढ़कर कोई समाजवादी स्वास्थ्य नीति के बारे में सहज जान सकता है। नि:शुल्क मेडिकल शिक्षा और नि:शुल्क समान स्वास्थ्य सेवा से भी दलित मेहनतकशों की सामाजिक स्थिति में फर्क आयेगा।

जातिभेद को दूर करने में समाजवादी आवास-नीति की अहम भूमिका होगी। समाजवादी राज्य आवास निर्माण का पूरा काम अपने हाथ में ले लेगा। बिल्डर-ठेकेदार सामान्य कामकाजू नागरिक बन जायेंगे। सर्वहारा सत्ता का पहला काम होगा, सभी बेघरों को और झुग्गी-झोपड़ीवासियों के लिए सुविधाजनक आवास मुहैया कराना। यह काम पुराने महलों, कई घरों के मालिकों के अतिरिक्त मकान ज़ब्त करके, पाँच सितारा होटलों, बारातघरों जैसे इफ़रात विलासिता के अड्डों को आवासीय कॉम्प्लैक्स बनाकर, और बड़े-बड़े घरों में रहने वालों के घरों का एक हिस्सा लेकर पूरा किया जायेगा। इसके साथ ही आवासीय कालोनियों का निर्माण बड़े पैमाने पर किया जायेगा। शुरू में, यानी समाजवादी शिक्षा प्राप्त वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, विशेषज्ञों की एक पीढ़ी तैयार होने तक, समाजवादी उत्पादन तन्त्र के संचालन के लिए इन जमातों को वेतन ही नहीं, आवासों के मामले में भी कुछ छूट देनी पड़ती है। बाद में इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रारम्भिक दौर बीतते ही समाजवादी राज्य सभी आवासों को राजकीय स्वामित्व में ला देता है और हर नागरिक को सुविधा-सम्पन्न आवास की गारण्टी देता है। आवासों को समान सुविधा-युक्त बनाने के लिए, पहले की बस्तियों को पुनर्नियोजित करने के लिए और नयी कालोनियाँ बसाने के लिए, श्रम-शक्ति लामबन्द करके, उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ बड़े पैमाने पर निर्माण कार्य लगातार करना होगा। बेतरतीब बसे गाँवों को हर बुनियादी सुविधा से युक्त आधुनिक कालोनियों में ढालकर बहुत सारी फ़ाज़िल ज़मीन अन्य कामों हेतु निकाल ली जायेगी। राजकीय स्वामित्व के समान सुविधा-युक्त आवासों के (एकल परिवार के आधार पर) आबंटन से दलितों (और अन्य मज़दूरों के भी) पृथग्वासन की समस्या हल हो जायेगी, जो सामाजिक पार्थक्य का एक अहम कारण है।

खेती और उद्योग के राजकीयकरण, गाँवों और शहरों के समान सुविधा-युक्त आवासों (और संचार-परिवहन-मनोरंजन सुविधा) से कृषि और उद्योग तथा गाँव और शहर के बीच के अन्तर मिटने लगेंगे। इसी प्रक्रिया में मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच का अन्तर भी कम होता जायेगा। ये तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ समाजवादी समाज में बुर्जुआ विशेषाधिकारों का भौतिक आधार होती हैं। इनके मिटते जाने के साथ बुर्जुआ विशेषाधिकार भी समाप्त होते जायेंगे और परिणामत: बुर्जुआ जाति-व्यवस्था भी मरणोन्मुख होती जायेगी।

बुर्जुआ समाज में धर्म भी अपना बुर्जुआकरण करके बुर्जुआ जाति-व्यवस्था का एक खम्भा बना हुआ है। समाजवादी समाज में कम्युनिस्ट पार्टी तो लगातार धर्म-विरोधी तथा वैज्ञानिक तर्कणा का प्रचार करेगी लेकिन समाजवादी राज्य नागरिक अधिकार के तौर पर हर नागरिक की निजी आस्था और पूजा-पाठ, अरदास-नमाज़ आदि के अधिकार का सम्मान करेगा। हाँ, राजनीतिक-सामाजिक जीवन में धर्म का दख़ल पूर्ण वर्जित होगा। शिलान्यासों-उद्घाटनों में धार्मिक अनुष्ठान, स्कूलों में प्रार्थना, माइक लगाकर कीर्तन, बारात

और धार्मिक जुलूस निकालकर सार्वजनिक जीवन को बाधित करना, धार्मिक स्कूल, सार्वजनिक स्थल किराये पर लेकर समागम आदि करने में सामाजिक सम्पदा की फ़िज़ूलख़र्ची – इन सब पर पूर्ण प्रतिबन्ध होगा। जो पुराने स्थापित धर्म-स्थल हैं, उन्हें लोगों की भावनाओं का ख़याल रखते हुए बने रहने दिया जायेगा, लेकिन उनका नियन्त्रण ट्रस्टों और मठाधीशों से राज्य छीन लेगा, मठों-मन्दिरों-वक़्फों-गुरुद्वारों- चर्चों आदि की सारी ज़मीनें और धन-सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जायेगी। (इस अकूत धन से, देशी-विदेशी कम्पनियों और बैंकों के अधिग्रहण से, धनी घरों से खोजकर ज़ब्त किये गये सोने और काले धन से समाजवादी आद्य-पूँजी संचय का एक हिस्सा एकत्र होगा।) धार्मिक संगठन बनाना या धर्म के आधार पर किसी प्रकार की सामाजिक-राजनीतिक गोलबन्दी करना दण्डनीय अपराध होगा। किसी को अपने घर में धार्मिक रीति-रिवाज़ से शादी करने का हक़ होगा, पर राज्य शादियों को पंजीकरण के बाद ही मान्यता देगा। स्त्रियों की स्वीकृति के बिना कोई शादी मान्य नहीं होगी। तलाक की क़ानूनी प्रक्रिया भी सहज होगी। दहेज एक कठोर दण्डनीय अपराध होगा। इस तरह सामाजिक जीवन में धर्म की दख़ल कम होने से जाति उन्मूलन की प्रक्रिया तेज़ हो जायेगी।

स्त्रियों की पराधीनता परिवार के बुर्जुआ ढाँचे और अन्त:जातीय विवाहों (Intracaste marriage) का आधार है। सार्विक समान नि:शुल्क शिक्षा की अनिवार्यता और सबको रोज़गार की गारण्टी के अतिरक्त गाँवों-शहरों में बड़े पैमाने पर पालनाघरों, किंडरगार्डेनों और सामूहिक भोजनशालाओं आदि का निर्माण करके घरेलू कामों की घृणित दासता से स्त्रियों को मुक्त कर दिया जायेगा। फलत: सार्वजनिक जीवन में उनकी भागीदारी बढ़ेगी। पिता (और पति) पर उनकी निर्भरता समाप्त हो जायेगी और वे अपनी ज़िन्दगी के फैसले बिना किसी दबाव के ले सकेंगी। इससे प्रेम विवाहों और अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) का चलन प्रधान हो जायेगा और जाति की दीवारें भरभराकर गिरने लगेंगी।

समाजवादी राज्य सभी जाति पंचायतों, खाप पंचायतों, जाति सभाओं और जाति संगठनों को ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर देगा और ऐसा कोई भी प्रयास कठोर दण्डनीय अपराध होगा।

समाजवादी राज्य शिक्षा व्यवस्था के अतिरिक्त सभी सांस्कृतिक माध्यमों और मीडिया के ज़रिए समाजवादी मूल्यों के साथ काफ़ी ज़ोर देकर जाति-व्यवस्था विरोधी सतत प्रचार करेगा ताकि नये समाज के नये नागरिकों के दिलो-दिमाग़ में इन घृणित संस्कारों के लिए कोई स्थान न हो।

इस तरह समाजवाद उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ उत्पादन-सम्बन्धों में भी लगातार बदलाव लाते हुए और उसके साथ-साथ, पूरा ज़ोर देकर अधिरचना के क्षेत्र में भी सतत क्रान्ति चलाते हुए मूलाधार और अधिरचना से जाति-व्यवस्था का समूल नाश कर देगा। समाजवादी संक्रमण की कम्युनिज़्म तक की यात्रा तो काफ़ी लम्बी होगी, लेकिन जाति-व्यवस्था का उन्मूलन तो समाजवादी समाज में कुछ दशकों का ही काम होगा।

हमारे फ़ौरी कार्यभार

अब तक तो हमने यह चर्चा की कि समाजवाद के दौर में जाति-उन्मूलन कैसे होगा पर इसका मतलब यह नहीं कि पहले समाजवाद के लिए लड़ा जाये, फिर जाति-व्यवस्था का नाश तो हो ही जायेगा। यदि समाजवाद के लिए संघर्ष की प्रक्रिया में ही जाति प्रश्न हमारे एजेण्डे पर

नहीं होगा और हमारे कुछ फ़ौरी कार्यभार नहीं होंगे तो क्रान्ति का नेतृत्वकारी वर्ग ही जातिगत भेदभाव और बुर्जुआ जातिवादी चुनावी और सुधारवादी प्रचारकों-नेताओं के प्रचार का शिकार बना रहेगा। दलित मेहनतकश की विराट क्रान्तिकारी शक्ति सोयी रहेगी और इस या उस जातिवादी नेता के पीछे भटकती रहेगी। यही स्थिति सर्वहारा के मित्र वर्गों की भी होगी। इसलिए जाति-व्यवस्था का अन्तिम तौर पर उन्मूलन भले ही समाजवाद के दौर में ही सम्भव हो, वर्ग संघर्ष की तैयारी और प्रगति के दौरान हमें इसका प्रभाव कम करने के लिए सचेतन प्रयास भी करने होंगे (फिर वर्ग संघर्ष के उभार का अपना वस्तुगत प्रभाव भी पड़ेगा और वर्गीय लामबन्दी जातिगत लामबन्दी को पीछे धकेलने का काम करेगी)।

सबसे पहला काम तो यही है कि जाति प्रश्न के समाजवाद द्वारा समाधान के बारे में, जाति-उन्मूलन के समाजवादी कार्यक्रम के बारे में तरह-तरह से निरन्तर, सघन और व्यापक प्रचार चलाया जाये। कम्युनिस्ट आन्दोलन की कमज़ोरियों और संशोधनवादियों के कुकर्मों के चलते (और थोड़ी हम लोगों की अस्पष्टता के चलते) मेहनतकश जनता, विशेषकर दलित मेहनतकश ठीक से जानते ही नहीं कि कम्युनिस्ट जाति-उन्मूलन की राह क्या बताते हैं। इस काम के लिए सर्वहारा वर्ग की पार्टी को सैकड़ों, बल्कि हज़ारों प्रखर, प्रभावी कम्युनिस्ट प्रचारकों की ज़रूरत होगी, पर्चों-पुस्तिकाओं-सांस्कृतिक कार्यक्रमों, छोटी-छोटी शिक्षा मण्डलियों की ज़रूरत होगी। ख़ैर, अभी तो सर्व-भारतीय पार्टी बनने की मंज़िल ही दूर लगती है। इसे सतत प्रयासों से निकट लाना होगा। लेकिन कम्युनिस्ट यदि एक ग्रुप या संगठन के रूप में भी संगठित हैं तो उन्हें इस काम को अभी से यथाशक्ति हाथ में लेना होगा।

कुछ काम ऐसे हैं जो आज भी हाथ में लिये जा सकते हैं। कुछ माँगें ऐसी हैं जिन्हें प्रोपेगैण्डा, एजिटेशन और आन्दोलन के स्तर पर आज ही उठाया जा सकता है।

एक क्रान्तिकारी संगठन के प्रभाव वाली क्रान्तिकारी यूनियनों को, छात्रों और युवाओं के संगठनों को, स्त्री संगठनों को, ग्रामीण मेहनतकश संगठनों को व सभी जन-संगठनों को अपने कार्यक्रम में जाति प्रश्न को महज रस्मी तौर पर नहीं शामिल करना चाहिए, बल्कि इस प्रश्न पर लगातार प्रचार करना चाहिए, जाति-पाँति तोड़क भोज-भात आदि आयोजन करने चाहिए, मज़दूर आन्दोलनों के माँगपत्रकों में दलित मज़दूरों की माँगों को प्रमुखता से स्थान देना चाहिए और दलित मज़दूरों (जैसे सफ़ाईकर्मियों) के आन्दोलनों में बढ़-चढ़कर शिरकत करते हुए उनके पक्ष में अन्य मज़दूरों को खड़ा करने की जी-तोड़ कोशिश करनी चाहिए। ग्रामीण मज़दूरों को संगठित करते हुए उनके पारस्परिक जातिगत पार्थक्य को तोड़ने के लिए हर सम्भव कोशिश करनी चाहिए। सांस्कृतिक संगठनों को अपने प्रचार कार्य में जाति विरोध को अलग से विशेष महत्व देना चाहिए। जनवादी अधिकार आन्दोलन को जाँच टीम, हस्ताक्षर अभियान, विरोध-पत्र के रस्मी बौद्धिक दायरे से बाहर निकालकर व्यापक सामाजिक आधार पर संगठित करना होगा जो जाति उत्पीड़न की घटनाओं, खाप पंचायतों आदि के साथ क़ानूनी लड़ाई के साथ ही आन्दोलनात्मक हस्तक्षेप में भी सक्षम हों।

सार्विक, समान, निःशुल्क शिक्षा और सबको रोज़गार एक दूरगामी माँग है, पर इसी नारे को केन्द्र में रखकर सभी जातियों के छात्रों-युवाओं को एकसाथ संगठित करना होगा और दलित छात्रों-युवाओं को साथ लेने पर विशेष ज़ोर देना होगा। शिक्षा संस्थानों में जातिगत भेदभाव को मुद्दा बनाना होगा। छात्रों-युवाओं के बीच आरक्षण के प्रश्न पर नौकरियों के आँकड़ों और साठ वर्षों के परिणामों के तथ्यों सहित अपनी अवस्थिति स्पष्ट करके रखनी

होगी। उन्हें बताना होगा कि हम पहले से मिली इस जनवादी माँग को छीनने की माँग का समर्थन नहीं करते, हम इसे लागू करने में होने वाली धाँधली का भी विरोध करते हैं, पर आज यह माँग बुर्जुआ जनवाद के प्रति विभ्रम पैदा करती है, आज इसका व्यापक ग़रीब दलित आबादी के लिए कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया है, उल्टे यह न केवल सभी आम लोगों को, बल्कि दलित जातियों को भी आपस में बाँटने-लड़ाने का काम भी कर रही है।

हमें बुर्जुआ दलित राजनीति की हर क़िस्म और बुर्जुआ दलित विचारकों के तर्कों का तर्कसम्मत, धैर्यपूर्ण उत्तर देते हुए निरन्तर प्रचार करना चाहिए।

हमें अख़बारों में जाति आधारित वैवाहिक विज्ञापनों के प्रकाशन पर रोक लगाने की माँग करनी चाहिए। अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) और प्रेम विवाहों को खुलकर समर्थन देना चाहिए, हर परिवार की आधी सम्पत्ति स्त्रियों के नाम होने की क़ानूनी माँग उठानी चाहिए।

हमें जाति संगठनों, जाति सभाओं, खाप व जाति पंचायतों पर क़ानूनी प्रबन्ध और उन पर सख़्ती से अमल के लिए आन्दोलन संगठित करना चाहिए।

हमें सार्वजनिक धर्म समागमों पर रोक लगाने की माँग करनी चाहिए, परम्परागत मेलों-त्यौहारों के लिए मठों-मन्दिरों पर विशेष टैक्स लगाने की माँग करनी चाहिए तथा सरकारी दफ़्तरों-स्कूलों-आयोजनों में धार्मिक कर्मकाण्डों पर रोक लगाने की माँग करनी चाहिए।

हम दलित जातियों के अलग संगठन बनाने को तो ग़लत मानते हैं, लेकिन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के पास यदि पर्याप्त ताक़त हो तो उन्हें अलग से जाति उन्मूलन मंच अवश्य बनाने चाहिए, जिसमें दलितों के अलावा अन्य जातियों के जनवादी चेतना वाले नागरिक शामिल हों। यह मंच लगातार जाति-विरोधी प्रचार सभाएँ करेगा, पुस्तक-पुस्तिकाएँ निकालेगा, आयोजन-समारोह करेगा, अन्तरजातीय विवाह (Intercaste marriages) आयोजित करेगा और दलित उत्पीड़न की घटनाओं का सक्रिय विरोध करेगा।

अन्त में, एक बात और बहुत महत्वपूर्ण है। बहुत सारे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ऐसे हैं, जो समाज से कट जाने का तर्क देते हुए, अपने निजी-पारिवारिक जीवन में (शादी-ब्याह, जन्म-मरण, यज्ञोपवीत-उपनयन आदि-आदि) धार्मिक कर्मकाण्डों में शामिल होते हैं। ये कर्मकाण्ड जाति के दायरे में सिमटे होते हैं और भिन्न-भिन्न जातियों के भिन्न-भिन्न होते हैं। उपरोक्त तर्क के ही आधार पर बहुतेरे कम्युनिस्ट धार्मिक चिन्ह धारण करते हैं और पुराने धार्मिक नायकों की परम्परा से भी भाषणों में अपने को जोड़ते हैं। यह एक सामाजिक कायरता है और सिद्धान्तविहीन लोकरंजकता भी। उल्टे, इससे लोगों में कम्युनिस्टों के दुरंगे होने का प्रभाव जाता है। हम लोग अपने लम्बे अनुभव से बता सकते हैं कि धार्मिक कर्मकाण्डों से विनम्रतापूर्वक दूर रहने, बिना कर्मकाण्ड के शादी करने और मरने पर भी कर्मकाण्ड न करने की वसीयत छोड़ जाने के कम्युनिस्ट आचरण से समाज से कटाव नहीं होता, बल्कि कम्युनिस्टों की साख बढ़ती है। हम किसी पर अपनी विचारधारा नहीं थोपते, पर अपने ऊपर तो लागू कर ही सकते हैं। यह तो बुर्जुआ जनवाद भी कहता है और इस देश का संविधान भी। यह बात हम इसलिए कर रहे हैं कि धार्मिक आचरण का सवाल जाति के सवाल से जुड़ा हुआ है। यदि कम्युनिस्टों का आचरण निजी आचार-व्यवहार में भी अधार्मिक होगा तो दलितों को विश्वास होगा कि यह व्यक्ति वाकई दिल से जाति को नहीं मानता है।

जाति का प्रश्न सहस्राब्दियों पुराना प्रश्न है। इसे चुटकियों में हल करने का कोई रामबाण नुस्ख़ा नहीं हो सकता। यह एक लम्बी, श्रमसाध्य प्रक्रिया की माँग करता है। यह सवाल पूँजीवाद के नाश के साथ जुड़ा हुआ है। आज के समय में जाति उन्मूलन की किसी परियोजना की दिशा में आगे क़दम बढ़ाना एक साहसिक काम होगा। लेकिन हर कठिन काम साहसिकता की माँग तो करता ही है। आज जाति उन्मूलन स्वप्न जैसा लग सकता है, लेकिन उस स्वप्न का यदि वैज्ञानिक आधार हो तो उसे यथार्थ में बदला ही जा सकता है। ऐसा सपना तो हर सच्चे क्रान्तिकारी को देखना चाहिए।

राहुल फाउण्डेशन का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन

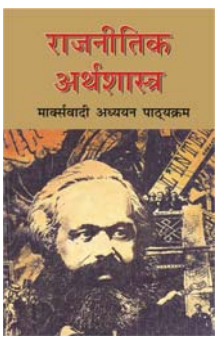

राजनीतिक अर्थशास्त्र, *मार्क्सवादी अध्ययन पाठ्यक्रम* को मूल रूप में ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से 1932-33 के दौरान पैम्फलेटों की शृंखला के रूप में प्रकाशित किया गया था। इसका उद्देश्य पार्टी कार्यकर्ताओं और मज़दूर अध्ययन-मण्डलों के लिए मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक सरल पाठ्यपुस्तक की बुनियादी ज़रूरत को पूरा करना था। इसकी गणना अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में राजनीतिक अर्थशास्त्र की सर्वश्रेष्ठ पाठ्यपुस्तकों में की जाती रही है। ख्रुश्चोवी संशोधनवाद की लहर के हावी होने से पहले यह पुस्तक ब्रिटेन के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य देशों की कम्युनिस्ट क़तारों के बीच काफ़ी लोकप्रिय थी।

यह शानदार पाठ्यपुस्तक पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियादी कार्यप्रणाली का गहन-गम्भीर, और साथ ही व्यापक एवं सरल विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए पूँजीवादी शोषण के क्षुद्र रहस्य को उद्घाटित करती है, उसकी तार्किक समालोचना प्रस्तुत करती है और पूँजीवादी समाज की प्रकृति की तुलना तत्कालीन सोवियत संघ में लेनिन और स्तालिन के नेतृत्व में निर्माणाधीन समाजवाद से करती है।

यह पुस्तक जब लिखी गयी थी, तब समूची पूँजीवादी दुनिया 1930 के दशक की महामन्दी में धँसी हुई थी। आज की पूँजीवादी दुनिया विगत कई दशकों से कभी तेज़ तो कभी मन्द होती जिस दीर्घकालिक मन्दी से जूझती रही है और इसका असाध्य ढाँचागत संकट आज जिन रूपों में सामने आ रहा है, उनकी प्रक्रिया एवं प्रकृति 1930 के दशक की महामन्दी से भिन्न है। इसके बावजूद, इस पुस्तक में पूँजीवाद और इसके संकटों का जो सामान्य विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, वह आज भी बहुत उपयोगी है। यह पूँजीवाद की गतिकी के नियमों और उसके बुनियादी अन्तरविरोधों का उत्कृष्ट सामान्य निरूपण, व्याख्या और समालोचना प्रस्तुत करती है।

पृष्ठ : 488, मूल्य : 250

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोन: (0522) 2786782

ईमेल: info@janchetnabooks.org, वेबसाइट: janchetnabooks.org

भारत में पूँजीवादी कृषि का विकास और मौजूदा अर्द्ध-सामन्ती सैद्धान्तिकीकरण की भ्रान्ति के बौद्धिक मूल

● अभिनव सिन्हा

भूमिका

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास का प्रश्न लम्बे समय से मार्क्सवादी अकादमीशियनों और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शिविर में एक विवादित विषय बना हुआ है। आज़ादी के छह दशकों बाद भी कई मार्क्सवादी अकादमीशियन (अमित भादुरी, टी. नागीरेड्डी, के. बालगोपाल, डी. वेंकटेश्वर राव, प्रधान एच. प्रसाद इत्यादि) और अधिकांश मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी पार्टियाँ/संगठन/ग्रुप भारतीय सामाजिक संरचना को मुख्य रूप से एक अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक संरचना मानते हैं। उनके अनुसार जो कारण हमें भारतीय सामाजिक संरचना को अर्द्धसामन्ती मानने की ओर ले जाते हैं, उनमें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता, काश्तकारी का प्रचलन, उत्पादक शक्तियों का पिछड़ापन, सूदखोर पूँजी की प्रधानता मुख्य हैं और यहाँ तक कि कुछ तो सामाजिक जीवन में धार्मिक और जातिगत चेतना की प्रधानता को भी अर्द्धसामन्ती थीसिस के पक्ष में एक साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि, ऐसे विश्लेषण अक्सर मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की विशेष श्रेणियों की शुद्धता की उपेक्षा करते हैं या उन्हें मनमाने तरीके से इस्तेमाल करते हैं। रूस में पूँजीवाद के विकास के अपने शानदार अध्ययन में लेनिन ने दिखाया है कि किस प्रकार उन्हीं आँकड़ों का प्रयोग रूस में कृषि में पूँजीवाद के विकास को सत्यापित करने के लिए किया जा सकता है जिनका

प्रयोग नरोदनिक यह साबित करने के लिए कर रहे थे कि रूसी कृषि में पूँजीवाद नहीं था, और यह भी कि रूसी गाँवों की किसानी अर्थव्यवस्था में काम करने वाले तथाकथित समानतामूलक नियमों व रूसी किसान आबादी के तथाकथित समरूप/अविभेदीकृत चरित्र के कारण रूस के विशिष्ट मामले में पूँजीवादी विकास की मंजिल को लाँघ सकना सम्भव है! लेनिन ने यह भी बताया कि कृषि में पूँजीवाद के विकास की जटिलताएँ कई प्रकार के विभ्रमों को जन्म दे सकती है। हमारी समझ में, भारत में अर्द्धसामन्ती सैद्धान्तिकीकरण मुख्य रूप से इन्हीं विभ्रमों का परिणाम है। यहाँ हम मार्क्सवादी सैद्धान्तिक ढाँचे के उन मूलभूत तत्वों की चर्चा करेंगे जिनसे यह तय किया जाता है कि कोई विशेष सामाजिक संरचना अर्द्धसामन्ती है या पूँजीवादी। उसके बाद हम ग्रामीण भारत में उत्पादन के सम्बन्धों और अधिशेष विनियोजन की पद्धतियों से जुड़े आर्थिक प्रमाणों पर एक संक्षिप्त विवरण देंगे, जिसमें आदिम पूँजी संचय और भूमि सुधार, एक घरेलू बाज़ार और खेतिहर उजरती मज़दूरों के वर्ग का निर्माण, काश्तकारी का प्रश्न, सूदखोर पूँजी की भूमिका और ग्रामीण ऋण की संरचना, भूमि लगान का चरित्र, भूमि सम्पत्ति का उद्भव और चरित्र, दास/बंधुआ/अस्वतन्त्र श्रम का प्रश्न और बाजार/उपभोग के लिए उत्पादन का प्रश्न शामिल होंगे।

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क तथा मौजूदा अर्द्धसामन्ती सैद्धान्तिकीकरणों के नव-नरोदनिक-सिस्मोन्दीय स्रोत

आदिम संचय और इसके नतीजों का प्रश्न

पूँजी, खण्ड-3 में मार्क्स कृषि में पूँजीवादी विकास और पूँजीवादी भूमि लगान के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं। हमें वही से शुरू करना चाहिए और इसके बाद इस विषय पर काऊत्स्की और लेनिन के मतों पर आना चाहिए। मार्क्स तर्क करते हैं कि सम्पत्ति सम्बन्ध और अधिशेष विनियोजन की पद्धतियाँ उत्पादन पद्धति को निर्धारित करती है। सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों का सार सामन्ती लगान में अभिव्यक्त होता है। सामन्ती लगान श्रम, वस्तु तथा मुद्रा तीनों रूपों में विद्यमान हो सकता है। मुद्रा लगान सामन्ती उत्पादन पद्धति के ढलान के दौर में अस्तित्व में आया क्योंकि मुद्रा परिचलन के एक विचारणीय स्तर तक विकसित होने और बाज़ार तन्त्र के साथ ही यह अस्तित्व में आ सकता था। मुद्रा लगान ने किसानों को काफी स्वायत्तता प्रदान की क्योंकि अब वे उत्पादन और बिक्री योग्य अधिशेष बढ़ाकर पूँजी संचय कर सकते थे। फिर भी, मार्क्स स्पष्ट करते हैं कि किसी भी रूप में लगान (मुद्रा लगान भी) सामन्ती लगान ही रहता है जब तक कि **भूस्वामी-भूदास सम्बन्ध** विद्यमान रहते हैं; जबतक कृषि श्रम अमुक्त हो; *सामन्ती जमीन्दार* मुद्रा, वस्तु या श्रम के रूप में लगान वसूल करे; किसान उत्पादन-सम्बन्धित निर्णयों को लेने के लिए आज़ाद न हो; भूदास/काश्तकार/किसान उत्पादन के साधनों से अलग नहीं हुए हों; सामन्ती जमीन्दार विधायिका, कार्यकारिणी और न्यायपालिका की शक्तियों के साथ वस्तुतः एक खण्डित राज्य की तरह कार्य करता हो; किसान का आर्थिकेत्तर उत्पीड़न मौजूद हो; और उत्पादन मुख्यतः किसान के परिवार के उपभोग के लिए किया जाता हो और अधिशेष को बदले में कुछ लिए बिना ही ज़मीन्दार के हवाले कर दिया जाता हो। मार्क्स आगे बताते हैं कि पूँजीवादी कृषि के विकास का मुख्य पैमाना **कृषि सर्वहारा का निर्माण** है। देहाती उजरती मज़दूरों का यह वर्ग **आदिम-संचय** की

प्रक्रिया द्वारा निर्मित होता है, जो कि साथ ही साथ पूँजी के लिए **घरेलू बाज़ार** का भी निर्माण करता है। घरेलू बाज़ार का निर्माण इसीलिए होता है क्योंकि श्रम स्वयं एक माल बन जाता है, सामन्तवाद के अन्तर्गत किसानों के उपभोग के संसाधन अब विक्रय के लिए उपलब्ध होते हैं, उत्पादन के साधनों का उत्पादक से अलगाव हो चुका होता है और इसलिए उन्हें अब खरीदा और बेचा जाना होता है, और अब उत्पादन मुनाफ़े और बाज़ार के लिए किया जाता है। मार्क्स आदिम संचय की प्रक्रिया को विस्तार से समझाते हैं और यह दिखाते हैं कि किस प्रकार 13वीं और 16वीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैण्ड में माटायर्स (अर्द्धकिसान) और सामान्य माल उत्पादकों के मध्यवर्ती संस्तर से होकर सामन्ती ज़मीन्दार, भू-दास और सामन्ती काश्तकार के वर्ग संकुल (class complex)से पूँजीवादी लगानजीवी जमीन्दार, पूँजीवादी किसान जमीन्दार, पूँजीवादी काश्तकार किसान और खेतिहर उजरती मज़दूरों के वर्ग संकुल में संक्रमण हुआ। हम यहाँ पर स्थानाभाव के कारण इस प्रक्रिया की बारीकियों में नहीं जा सकते और पाठक इसके एक विस्तृत और चित्रात्मक वर्णन के लिए **पूँजी, खण्ड-3** देख सकते हैं।

पूँजीवादी भूमि लगान का प्रश्न तथा इस प्रश्न पर कि नव-उदारवादी व मौजूदा अर्द्धसामन्ती सिद्धान्तकारों में क्या साझा है?

इसके बाद, मार्क्स **पूँजीवादी भूमि लगान** के रूपों पर चर्चा की ओर बढ़ते हैं। मार्क्स भूमि लगान की एडम स्मिथ द्वारा दी गयी परिभाषा को स्वीकार करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि भूमि लगान की रिकार्डो की संकल्पना असल में अतिरिक्त-मुनाफ़ा है जो विभिन्न फार्मों में उत्पादन की अलग-अलग स्थितियों की मौजूदगी के कारण अस्तित्व में आता है और ठीक इसी वजह से "लगान" का यह रूप उद्योगों में भी हो सकता है। मार्क्स स्मिथ की संकल्पना को **निरपेक्ष भूमि लगान** कहते हैं और रिकार्डो की संकल्पना को **विभेदक भूमि लगान** कहते हैं। विभेदक भूमि लगान वास्तव में उन किसानों का अतिरिक्त मुनाफ़ा है जिनकी उत्पादन की लागत औसत लागत से कम और जिनकी मुनाफ़े की दर उस सेक्टर में प्रचलित औसत मुनाफ़े की दर से अधिक है। उद्योगों से अलग (जहाँ उत्पादन की औसत किस्म की परिस्थितियाँ मुनाफ़े की औसत दर को निर्धारित करती है), कृषि में निम्नतम कोटि की ज़मीन उत्पादन की औसत दर को निर्धारित करती है। अत:, इस निम्नतम कोटि की भूमि से बेहतर भूमि वाले सभी फार्मों पर अतिरिक्त मुनाफ़ा प्राप्त होगा क्योंकि सामान्य बाज़ार मूल्य निम्नतम कोटि की ज़मीन से तय होंगे। रिकार्डो यह तर्क पेश करते हैं कि लगान का एकमात्र रूप यह अतिरिक्त मुनाफ़ा ही है, जिसे *वह* लगान कहते हैं। अत: रिकार्डो के अनुसार, निम्नतम कोटि की ज़मीन से कोई अतिरिक्त मुनाफ़ा/विभेदक लगान नहीं उत्पादित होगा और इसलिए यह ज़मीन कभी भी जुताई के अन्तर्गत नहीं आएगी क्योंकि कोई भी पूँजीवादी भूस्वामी मुफ़्त में अपनी ज़मीन नहीं देगा। वह ऐसा केवल लगान के बदले में ही करेगा। स्मिथ, रिचर्ड जोन्स और बाद में मार्क्स यह प्रदर्शित करते हैं कि निम्नतम कोटि की ज़मीन भी खेती के काम लायी जाती है और वह लगान भी उत्पादित करती है। यह लगान वास्तव में **निरपेक्ष भूमि लगान** है और पूँजीवाद के तहत ज़मीन के निज़ी मालिकाने में विद्यमान एकाधिकार के कारण अस्तित्व में आता है। यह भूमि लगान तब भी मौजूद रहता है जब भूस्वामी द्वारा भूमि की गुणवत्ता में

सुधार के लिए कोई पूँजी निवेश नहीं किया जाता, जब कोई अतिरिक्त मुनाफ़ा नहीं होता और जब कोई उत्पादन/खेती नहीं होता (और भूमि का उपयोग लकड़ी, टिम्बर, जल प्रपात आदि प्राकृतिक सम्पदाओं के दोहन के लिए किया जाता है)। मार्क्स यह प्रदर्शित करते हैं कि रिकार्डो इस संकल्पना को समझने में असफल रहते हैं क्योंकि वे **मूल्य और दाम के बीच के अन्तर और अतिरिक्त मूल्य और मुनाफ़े के बीच के अन्तर** को नहीं समझ पाते। उन्होंने सोचा कि अगर किसी माल के बाज़ार मूल्य में उसकी उत्पादन लागत से अधिक कुछ भी और शामिल है खस्थिर पूँजी+परिवर्तनशील पूँजी+औसत मुनाफ़ा (इक्वलाइज़्ड बेशी मूल्य),, तो मूल्य का श्रम सिद्धान्त का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। लेकिन मार्क्स ने यह दिखलाया है कि रिकार्डो की यह भयाकुलता इस ग़लत आधार धारणा पर आधारित है कि – दाम मूल्य है! उन्होंने यह दिखलाया कि माल की बाज़ार कीमत उसकी उत्पादन कीमत से उस स्तर तक ज़रूर ऊपर उठनी चाहिए कि वह भूस्वामी को लगान (निरपेक्ष) उपल्बध करा सके। अत: मूल्य के श्रम सिद्धान्त का प्रकार्य बाज़ार तन्त्र की मध्यस्थता के ज़रिये क्रियान्वित होता है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि मूल्य के श्रम सिद्धान्त ने काम करना बन्द कर दिया है। यह सिर्फ प्रदर्शित करता है कि अलग-अलग सेक्टरों में, मुनाफ़ा अधिक, कम या (दुर्लभ स्थितियों में) अतिरिक्त मूल्य के बराबर हो सकता है, लेकिन कुल मुनाफ़ा हमेशा कुल अतिरिक्त मूल्य के बराबर ही रहेगा। काऊत्स्की कृषि में पूँजीवाद के अपने शानदार अध्ययन में इसे स्पष्ट रूप से समझाते हैं। वह बताते हैं, "मालों का मूल्य केवल एक *प्रवृति* के रूप में प्रकट होता है, एक नियमबद्ध गति के रूप में जो विनिमय या बिक्री की प्रक्रिया को विनियमित करने की ओर उन्मुख हो। इस प्रक्रिया का *उत्पाद* वास्तविक विनिमय-अनुपात या बाज़ार में प्राप्त होने वाला दाम होता है। स्वाभाविक रूप से, कोई नियम और उसके परिणाम दो अलग-अलग चीजें है।" ('द कैपिटलिस्ट कैरेक्टर ऑफ माडर्न एग्रीकल्चर', द एग्रेरियन क्वेश्चन, काऊत्स्की, उत्सा पटनायक (संपादित) 'द एग्रेरियन क्वेश्चन इन मार्क्स एण्ड हिस सक्सेसर्स', खण्ड-1, पेज 188, *अनुवाद हमारा*)। एक अन्य जगह, "परिणामत:, "उत्पादन की लागतों" द्वारा निर्धारित उत्पादन की कीमतें उत्पादों के मूल्यों से भिन्न हो जाती हैं है: हालाँकि यह केवल मूल्य के नियम का एक संशोधन है, उसका निष्प्रभावन नहीं। उत्पादन की क़ीमत के पीछे यह अपना विनियमनकारी प्रकार्य जारी रखता है और मालों की सम्पूर्णता व अधिशेष-मूल्य के कुल योग लिए यह अपनी सम्पूर्ण वैधता कायम रखता है, और इस प्रकार वह कीमतों और मुनाफ़े की दर के लिए आधार उपल्ब्ध कराता रहता है – जो इसकी अनुपस्थिति में हवा में तैरते रह जाएंगे।" (पेज 202-03, *वही*)। अत: यह स्पष्ट है कि निरपेक्ष लगान के कारण उत्पादन कीमतों में वृद्धि मूल्य के श्रम सिद्धान्त की सेहत और तन्दुरुस्ती को रत्ती भर हानि नहीं पहुँचाती है और रिकार्डो बिना किसी ठोस कारण के विचलित हो गए और निरपेक्ष लगान के अस्तित्व को ख़ारिज कर दिया। रिकार्डो का विभेदक लगान केवल उसी सूरत में अस्तित्वमान हो सकता है जब मालिक और उत्पादक दो अलग-अलग व्यक्ति हों क्योंकि केवल तभी निरपेक्ष लगान के साथ अतिरिक्त मुनाफ़ा भूस्वामी को हस्तान्तरित किया जाएगा। जैसा कि काऊत्स्की प्रदर्शित करते हैं, भूस्वामी को लगान हस्तान्तरित किए जाने के बाद निरपेक्ष और विभेदक लगान में भेद करना बेहद मुश्किल है। 'रूस में पूँजीवादी विकास' में लेनिन भी निरपेक्ष लगान और विभेदक लगान के सवाल को काफी महत्व देते हैं। वह पूँजीवादी लगान (निरपेक्ष और विभेदक लगान) और सामन्ती लगान

के बीच अन्तर को समझाते हैं। काऊत्स्की भी इस अन्तर को काफी स्पष्ट रूप से दिखाते हैं, "पूँजीवादी भूमि लगान को सामन्ती कुलीन-तन्त्र द्वारा किसानों पर लादे गए बोझों के साथ घालमेल नहीं करना चाहिए। शुरूआती दौर में, और कमोबेश पूरे मध्यकाल में, ये वे महत्वपूर्ण प्रकार्य थे जो मालिक को पूरे करने पड़ते थे–वे प्रकार्य जो कि बाद में राज्य द्वारा अपने हाथों में ले लिये गये और जिनके लिए किसानों को कर अदा करने होते थे। सामन्ती भूस्वामियों के वर्ग को न्याय व्यवस्था की निगरानी करनी होती थी, पुलिस उपल्ब्ध करानी होती थी और बाह्यजगत के समक्ष अपने मातहती जागीरदारों के हितों का प्रतिनिधित्व करना पड़ता था, हथियारों की ताबेदारी के द्वारा उनकी रक्षा करनी पड़ती थी और उनकी ओर से सैनिक सेवा पूरी करनी पड़ती थी।

"इनमें से कोई भी चिन्ता या सरोकार पूँजीवादी समाज के भूस्वामी के लिए प्रासंगिक नहीं है। विभेदक लगान के रूप में, भूमि लगान प्रतिस्पर्धा का उत्पाद है; निरपेक्ष लगान के रूप में यह एकाधिकार का उत्पाद है। यह तथ्य कि ये लगान भूस्वामी को प्राप्त होते हैं, उसके किन्हीं सामाजिक प्रकार्यों के कारण नहीं बल्कि केवल और केवल भूमि और ज़मीन में निजी सम्पत्ति का परिणाम होते हैं।" (पेज 216, वही)

उत्सा पटनायक ने उचित ही इंगित किया है कि अर्द्धसामन्ती थीसिस के पुरोधाओं के ग़लत विचार इस कारण से हैं कि वे निरपेक्ष भूमि लगान की अवधारणा को नहीं समझते हैं और आश्चर्य की बात यह है कि अपनी इस मिथ्याधारणा को वे नव-उदारवादी अर्थशास्त्रियों के साथ साझा करते हैं! नव-उदारवादी सैद्धान्तिकीकरणों में, काश्तकार किसान मुद्रा में उज़रत पाने वाले मज़दूर के समतुल्य समझा जाता है, बस इतने फर्क के साथ कि काश्तकार किसान की उज़रत मुद्रा में नहीं बल्कि वस्तु (जिंस) के रूप में होती है। वे इस तथ्य की पूरी तरह उपेक्षा कर देते हैं कि एक काश्तकार अपने उत्पादन के साधनों का मालिक होता है, वह पूँजी निवेश करता है, श्रम प्रक्रिया को नियंत्रित करता है और उत्पादन सम्बन्धी निर्णय लेता है। इसका कारण यह है कि नव-उदारवादी अर्थशास्त्री निरपेक्ष भूमि लगान से अपरिचित, बल्कि कहना चाहिए कि अनभिज्ञ होते हैं। पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी (capitalist rentier landlord-सी.आर.एल.एल.) को पूँजीवादी किसान को कह दिया जाता है; काश्तकार को मज़दूर (उजरती मजदूर) कह दिया जाता है; और लगान को मुनाफे के साथ गड्डमड्ड कर दिया जाता है; बटाईदार काश्तकार के हिस्से को मनमाने तरीके से उजरत (चाहे नकद में या वस्तु के रूप में, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता!) कह दिया जाता है; और यह सारा गड़बड़झाला इसलिए होता है कि नव-उदारवादी अर्थशास्त्री केवल पूँजीवादी किसान भूस्वामी और उजरती मज़दूर के सम्बन्धों को ही जानते हैं, वे केवल मुनाफे की अवधारणा को ही समझते हैं, लगान को नहीं। अब हम इसकी तुलना भारत में प्रचलित अर्द्धसामन्ती सैद्धान्तिकीकरणों की भ्रान्ति से कर सकते हैं।

अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकार इस काश्तकार को एक ऐसा 'लगभग मजदूर' कहते हैं जो दरिद्र है, कंगाल है, जिसका उत्पादन निर्णयों और श्रम प्रक्रिया पर कोई नियंत्रण नहीं है; इसलिए वह "सामन्ती" ज़मींदारों और सूदखोरों के जुए तले दबा हुआ है और इसलिए "अस्वतन्त्र" है। जैसा कि हम देख सकते हैं, वे भी निरपेक्ष लगान की अवधारणा को नहीं समझते और पूँजीवादी काश्तकार को अस्वतन्त्र, ग़ैर-पूँजीवादी मज़दूर या लगभग मज़दूर, करीब-करीब एक भूदास/बँधुआ मज़दूर समझने की ग़लती करते हैं। वे पूँजीवाद के अन्तर्गत

कृषि उत्पादन में सूदखोर पूँजी की भूमिका को भी नहीं समझते हैं। इस पर हम बाद में आएँगे। उनके लिए यह काश्तकार एक अस्वतन्त्र, कंगाल श्रमिक है, न कि एक पूँजीवादी काश्तकार किसान जो कि उत्पादन के साधनों का स्वामी है। भूस्वामी केवल पूँजी लगाता है और साझेदार काश्तकार केवल श्रम! यह कंगाल बटाईदार केवल वस्तु के रूप में मज़दूरी प्राप्त करता है और ज़मींदार लगान (रिकार्डो वाला!)। लेकिन अगर हम नज़दीकी से देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे ये सिद्धान्तकार "मजदूरी" कहते हैं वह असल में पूँजीवादी काश्तकार किसान का मुनाफा है; जिसे वे "लगान" कहते हैं वह वास्तव में भूस्वामी द्वारा दी गयी पूँजी पर ब्याज़ के रूप में मिलने वाला मुनाफा है। उदाहरण के लिए, **अमित भादुरी** की भारतीय बटाईदार काश्तकार (sharecropper) के विषय में अवधारणा यह है कि यह बटाईदार काश्तकार वह है जिसके पास बहुत थोड़े उत्पादन के साधन हों या फिर बिल्कुल न हों, कोई बचत न हो, उत्तरजीविता के कोई साधन न हों, अत: वह ज़मींदार से "उपभोक्ता ऋण" लेता हो। लेकिन वास्तविकता में यह "उपभोक्ता कर्ज" और कुछ नहीं बल्कि पहले से दी गयी अग्रिम मज़दूरी है जो उपज में से ब्याज़ सहित वसूल ली जाती है। प्रत्यक्षत: जिसे भादुरी "लगान" कहते हैं वह असल में पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी द्वारा उजरती मज़दूर को दी गयी अग्रिम पूँजी पर होने वाला मुनाफ़ा है। जिसे भादुरी "काश्तकार" कहते हैं वह असल में मज़दूर है, जिसे वह "लगान" कहते हैं वह प्राप्त होने वाला मुनाफा है; जिसे वह "उपभोक्ता ऋण" कहते हैं वह असल में अग्रिम मजदूरी है जो बाद में उपज के हिस्से के रूप में मजदूरी (harvest share wage) में से ब्याज सहित समायोजित कर ली जाती है।

भारत की ठोस सच्चाई इस प्रकार है (जिसे हम बाद में तथ्यों द्वारा भी सत्यापित करेंगे): निरपेक्ष भूमि लगान पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी द्वारा ले लिया जाता है, चाहे वह काश्तकार को अग्रिम पूँजी को ऋण के रूप में देता हो या न देता हो। ज़मीन और उत्पादन में किए जाने वाले किसी भी पूँजी निवेश के बदले में वह जो ले सकता है वह और कुछ नहीं बल्कि पूँजीवादी काश्तकार किसान को दिए गए अग्रिम कर्ज़ पर ब्याज़ है। काश्तकार किसान उजरती मज़दूर नहीं है। वह अधिशेष का उत्पादन अपने स्वयं के उत्पादन के साधनों, अपने परिवार व भाड़े के श्रम और पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी द्वारा पट्टे पर दी गयी ज़मीन पर अपने खुद के निवेश द्वारा करता है और इस ज़मीन के बदले वह लगान अदा करता है जो कि अधिशेष का ही एक हिस्सा होता है जिसे वह उत्पादन लागत के ऊपर पैदा करता है जिसमें कि उसके जीवन-निर्वाह की लागत भी शामिल होती है।

अब, उत्पादन की परिस्थितियों के अनुसार पूँजीवादी कृषि पर पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी या पूँजीवादी फार्मर भूस्वामी (Capitalist Farmer Landlord- सी.एफ.एल.एल.) का अधिक प्रभाव हो सकता है। जब तकनीकी विकास और भूमि में सुधार के द्वारा लगान इतना बढ़ जाए कि पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी के पास निवेश के लिए पर्याप्त पूँजी हो तो पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी खुद पूँजीवादी फार्मर भूस्वामी में परिवर्तित हो सकता है। लेकिन, यह परिवर्तन किसी भी तरह से अनुत्क्रमणीय (irreversible) नहीं है ओर अनेक प्रकार के कारणों से पूँजीवादी फार्मर भूस्वामी वापस अपने आप को पुन: पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी में बदल सकता है। उत्सा पटनायक ने इस रूपान्तरण की अस्थिरता को दर्शाया है। वह तर्क देती हैं कि हरित क्रान्ति के दौरान, लगान अवरोध (तमदज इंततपमत) का अतिक्रमण हो गया था और कई लगानजीवी भूस्वामी खेती की ओर मुड़ गए थे। आज

परिस्थिति भिन्न है। भूमण्डलीकरण के दौर में आज हम कृषि में एक पूँजीवादी संकट से गुज़र रहे हैं (जिसे अर्द्धसामन्ती सिद्धान्तकार अर्द्धसामन्ती सम्बन्धों के लिए एक साक्ष्य के रूप में लेते हैं, जबकि हक़ीकत में, जैसा कि मार्क्स, काऊत्स्की और लेनिन पहले ही दिखला चुके हैं, यह कृषि में पूँजीवादी विकास का प्रमाण होता है, पूँजीवादी संकट के सार्वभौमिक प्रक्रिया का कृषि क्षण होता है)। इस समय तो हम फिर से लगानजीविता की ओर वापसी और निवेश के अन्य क्षेत्रों जैसे रियल एस्टेट, सूदखोरी और सट्टेबाज़ वित्तीय पूँजी की ओर झुकाव के प्रत्यक्षदर्शी बन रहे हैं। इस दौर में काश्तकारी का प्रश्न महत्वपूर्ण बन जाता है, इसलिए अब हम काश्तकारी के सवाल पर आत हैं।

काश्तकारी का प्रश्न

सबसे पहले तो यह समझना ज़रूरी है कि **कृषि अर्थव्यवस्था में काश्तकारी की प्रधानता का अपने आप में अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों से कुछ भी लेना-देना नहीं है**, जैसा कि अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकार दावा करते हैं। काऊत्स्की अपनी रचनाओं में 19वीं शताब्दी के अन्त के इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका और उत्तरी अटलाण्टिक संघ के उदाहरणों से प्रचुर मात्रा में साक्ष्य देते हुए दर्शाते हैं कि पूँजीवादी कृषि के विकास के साथ काश्तकारी प्रथा अधिकाधिक प्रचलित होती जाती है। वह दर्शाते हैं कि पूँजीवादी कृषि में स्वत्वधारी खेत (स्वामी किसानों के खेत) और साथ ही साथ काश्तकार किसानों के भी खेत होते हैं। काश्तकार किसान पट्टे पर लिए गए खेत पर अपने परिवार और भाड़े के मज़दूरों के साथ अधिशेष का उत्पादन करते हैं। इस अधिशेष का एक हिस्सा भूस्वामी को लगान के रूप में, एक हिस्सा सूदखोर/ऋणदाता को ब्याज़ के रूप में जाता है और शेष वह अपने मुनाफे के रूप में रख लेता है; स्वत्वधारी किसान यदि कोई ऋण है, तो उस पर ब्याज़ के भुगतान के बाद अपना मुनाफा प्राप्त करता है और पूँजीवादी भूस्वामी अपना लगान प्राप्त करता है। हालाँकि काऊत्स्की इंगित करते हैं कि स्वत्वधारी किसान के स्वामित्व के अधिकार पूँजीवादी कृषि के विकास के साथ केवल एक औपचारिक न्यायिक-वैधिक तथ्य बनकर रह जाते हैं। स्वत्वधारी किसान को बाज़ार की प्रतिस्पर्द्धा में टिके रहने के लिए अधिकाधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। वह इसे अपनी सम्पत्ति पर रेहन ऋण (mortgage loan) के रूप में प्राप्त करता है। इस ऋण के बदले में उसे रेहन ऋणदाता (mortgage creditor) को अपना भूमि लगान हस्तान्तरित करना पड़ता है और यह रेहन ऋणदाता एक राजकीय संस्था या फिर एक गैर-संस्थागत ऋणदाता जैसे सूदखोर हो सकता है। वास्तविकता में, यह उत्पादक का ज़मीन से अलगाव होना है। काऊत्स्की इसे इस प्रकार समझाते हैं, "भूस्वामी और उद्यमी के बीच विभाजन अब भी मौजूद होता है, यद्यपि विशेष न्यायिक-वैधिक रूपों के पीछे छिपे हुए रूप में। पट्टेदारी प्रथा के अन्तर्गत भूमि-स्वामी को प्राप्त होने वाला भूमि लगान रेहनदारी प्रथा के अन्तर्गत रेहन ऋणदाता के पास पहुँचता है। परिणामत: भूमि लगान के मालिक के रूप में, वह (रेहन ऋणदाता) परिणामत: ज़मीन का असली मालिक होता है। इसके उलट, ज़मीन का नाममात्र का मालिक पूँजीवादी उद्यमी है जो उद्यम पर मुनाफ़ा और भूमि लगान प्राप्त करता है और फिर रेहन ऋणदाता को रेहन ऋण पर ब्याज़ के रूप में भुगतान करता है...पट्टेदारी प्रथा और रेहनदारी प्रथा में अन्तर यह होता है कि रेहनदारी प्रथा में ज़मीन के वास्तविक मालिक को पूँजीपति कहा जाता है और वास्तविक पूँजीवादी उद्यमी को एक भूस्वामी। इसी भ्रम की

कृपा से हमारे फार्मर (*यहाँ कोई भारत में अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकारों/नव-नरोदनिकों को पढ़ सकता है--लेखक*), जो कि वास्तव में स्वयं पूँजीवादी कार्यकलापों को अंजाम देते हैं, "चलायमान पूँजी" अर्थात रेहन ऋणदाता के द्वारा किये जाने वाले शोषण पर काफी गुस्से में आ जाते हैं, जो वास्तव में वहीं आर्थिक भूमिका निभाता है जो पट्टेदारी प्रथा के तहत भूस्वामी निभाता है।" (पेज 225, *वही*)। वह तर्क देते हैं कि इस प्रक्रिया से सम्पत्तिधारी सर्वहारा में नहीं, बल्कि एक काश्तकार किसान में रूपान्तरित हो जाते हैं। काऊत्स्की आगे स्पष्ट करते हैं, "फिर भी, कृषि में प्रगति और समृद्धि अपने आपको अपरिहार्य रूप से रेहन ऋणग्रस्तता की बढ़ोत्तरी के रूप में अभिव्यक्त करती है, पहले तो इस वजह से कि ऐसी वृद्धि पूँजी की बढ़ती आवश्यकता को जन्म देती है और दूसरा इस वजह से कि कृषि ऋण का विस्तार भूमि-लगान को बढ़ने देता है।" (पृष्ठ 226, *वही*) ऐसा पूँजीवादी रूपान्तरण को अक्सर ग़लती से खेती की तबाही के रूप में देखा जाता है और कुछ लोगों को "किसानों को बचाओ" के आह्वान तक लेता जाता है। लेनिन इस भ्रम को साफ़-साफ़ खण्डित करते हैं ओर काऊत्स्की को उद्धृत करते हैं, "किसानों के संरक्षण (*der Bauernschutz*) का अर्थ *व्यक्ति* किसान (the person of peasant) का संरक्षण नहीं होता (अवश्य ही कोई भी इसका विरोध नहीं करेगा), बल्कि किसानों की *सम्पत्ति* का संरक्षण होता है। वैसे वास्तव में यह ठीक किसान की सम्पत्ति ही है जो उसके दरिद्रीकरण और उसके दुर्दशा का मुख्य कारण होती है। भाड़े के खेतिहर मज़दूर अब अक्सर ही छोटे किसानों की तुलना में बेहतर स्थिति में होते हैं। किसानों की सुरक्षा गरीबी से सुरक्षा नहीं है बल्कि उन बेड़ियों की सुरक्षा है जो उसको गरीबी में जकड़े हुए हैं।" (लेनिन, रिव्यू ऑफ काउत्स्कीज़ *डी अग्रारफ्रगे,* पेज 226, *वही*)। और "इस प्रक्रिया को रोकने के प्रयास प्रतिक्रियावादी और नुकसानदेह होंगे। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वर्तमान समाज में इस प्रक्रिया के परिणाम कितने कष्टदायक होते हैं, इस प्रक्रिया को रोकने के परिणाम और भी बदतर होंगे और मेहनतकश आबादी को और भी दयनीय और निराशाजनक स्थिति में पहुँचा देंगे।" (पेज 267, *वही*)

माओ का अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक सामाजिक संरचना का सिद्धान्त और वर्तमान अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकारों द्वारा इसका त्रासद विनियोजन

स्पष्टत:, पर्याप्त मात्रा में काश्तकारी अपने आप में अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों की सूचक नहीं है। माओ ने साफ-साफ परिभाषित किया है कि अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों से उनका क्या तात्पर्य है। माओ दलील देते हैं कि क्रान्ति-पूर्व चीन में अधिकांश भूमि ज़मींदारों, कुलीन वर्ग और सम्राट के मालिकाने में थी; किसानों को दासों के रूप में काम करने के लिए बाध्य किया जाता था; प्राकृतिक आत्म-निर्भर अर्थव्यवस्था के आधारों को नष्ट किया जा रहा था लेकिन सामन्ती ज़मींदारों द्वारा किसान आबादी का आर्थिकेतर शोषण जस का तस बरकरार रखा गया था और यह दलाल पूँजीपति वर्ग और सूदखोर पूँजी से जुड़ गया था। (माओ, संकलित रचनाएं, खण्ड 2, 1976, पृष्ठ सं. 312-13) माओ के लिए अर्द्ध-सामन्तवाद एक पृथक उत्पादन पद्धति नहीं बल्कि साररूप में यह पूँजीवाद की ओर संक्रमणशील अवस्था या रूप में सामन्तवाद है, लेकिन एक ऐसा संक्रमण जो सामन्ती ज़मींदारों, दलाल बुर्जुआ और साम्राज्यवाद द्वारा अवरुद्ध

कर दिया गया था, और इसी कारण यह संक्रमण नव-जनवादी क्रान्ति के बिना पूरा नहीं हो सकता था। यहाँ वह चीज जो सबसे मूलभूत महत्व की है वह है लगान का सामन्ती चरित्र, अस्वतन्त्र दास श्रम, सामन्ती वर्ग की विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियों के रूप में विखण्डित राज्य की मौजूदगी, दलाल बुर्जुआ और साम्राज्यवाद का प्रभुत्व। स्पष्टत: अर्द्ध सामन्ती सम्बन्ध मार्क्सवादी सिद्धान्त और राजनीतिक अर्थशास्त्र की विशेष श्रेणियाँ हैं और इन्हें भारतीय वास्तविकता पर आज के अर्द्धसामन्ती सिद्धान्तकारों की सनक व कल्पनाओं के अनुसार लादा नहीं जा सकता। क्या हम कह सकते हैं कि भारत में भूस्वामी-भूदास सम्बन्ध कृषि सम्बन्धों का प्रभावी रूप है? तथाकथित बंधुआ श्रम ग्रामीण श्रम शक्ति का एक प्रतिशत भी नहीं है। अन्यत्रवासी ज़मींदारी भाड़े के श्रम से स्वयं कृषि उत्पादन (self-cultivation) द्वारा, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, विस्थापित हो रही है। और अगर ऐसा विस्थापन न हो रहा होता तो भी इसे अनिवार्य रूप से सामन्तवाद के एक प्रमाण के रूप में नहीं लिया जा सकता।

सांख्यिकीय तथ्यों के आइने में वास्तविकता

काश्तकार खेती के अन्तर्गत आने वाला क्षेत्रफल भारत में 1951-52 में 12 प्रतिशत से गिरकर 1991-92 में 8.28 प्रतिशत पर आ गया है। अपंजीकृत काश्तकारी भी अपनी ढलान पर है। बटाईदारी वाली खेती काश्तकारी का प्रमुख रूप है। उत्तर और पूर्वी भारत के 334 गाँवों के अपने नमूना सर्वेक्षण में बर्धन ने दिखाया है कि बटाईदार खेती अधिकांशत: 50:50 के आधार पर की जाती है (**पी. बर्धन**, 'टर्म्स एण्ड कण्डीशंस ऑफ शेयरक्रॉपिंग कॉण्ट्रैक्ट्स', जर्नल ऑफ डेवेलपमेण्ट स्टडीज़, खण्ड-16, 1977)। यह एक बहुत बड़ी भ्रामक सोच है कि बटाईदार खेती वाली काश्तकारी अर्द्ध-सामन्तवाद का एक प्रमाण है। बटाईदारी खेती वाली काश्तकारी के अन्तर्गत भूस्वामी कृषि के सुधार में रुचि दिखाता है। अन्यत्रवासी भूस्वामी से भिन्न, नया भूस्वामी अक्सर कृषि में पूँजी का निवेश बीज, खाद, मशीन आदि के लिए करता है। वह केवल ज़मीन का मालिक ही नहीं होता बल्कि पूँजी उधार देने वाला भी होता है। **अशोक रूद्रा और पी. बर्धन** ने दर्शाया है कि तथाकथित अटैचमेण्ट/सेमीअटैचमेण्ट (खेतिहर मज़दूर और भूस्वामी के बीच क़रारनामे की एक किस्म जिसके कई संस्करण पाये जाते हैं) श्रम की सुनिश्चित और समयबद्ध आपूर्ति के लिए भूस्वामी की चिन्ता को दिखाता है, न कि आर्थिकेत्तर उत्पीड़न को। (**बर्धन, रूद्रा,** 'लेबर एम्प्लॉयमेण्ट एण्ड वेजेस इन एग्रीकल्चर', इपीडब्लू, नवम्बर 1980)। भूस्वामी की आय का अधिकांश हिस्सा सूदखोरी से नहीं बल्कि लगान और मुनाफे से आता है। 1952 में गैर-संस्थागत ऋण का हिस्सा 95 प्रतिशत था जो 1981-82 तक घट कर 60 प्रतिशत हो गया। यद्यपि, पिछले दो दशकों के दौरान यह बढ़ा है, लेकिन नए सूदखोर पेशेवर सूदखोर नहीं हैं, बल्कि पेशेवर निम्न-पूँजीपति वर्ग के अन्य सदस्य हैं जैसा कि **बसोले** और **बसु** ने अपने शानदार अध्ययन ('रीलेशन्स ऑफ प्रोडक्शन एण्ड मोड ऑफ सरप्लस एक्सट्रैक्शन इन इण्डिया', अमित बसोले एण्ड दीपांकर बसु, अर्थशास्त्र विभाग, मैसाच्युसेट्स यूनिवर्सिटी, एमहर्स्ट, एम.ए., यू.एस.ए.) में दर्शाया है। इसके अलावा, यह ऋण प्रणाली के निजीकरण और ऋण सेवाओं से राज्य के हाथ वापस लेने के कारण अधिक है। लेकिन, यह किसानी (काश्तकार और मालिक किसान दोनों) के सूदखोर पूँजी द्वारा सामन्ती प्रभुत्व के समान नहीं है। जैसा कि हम पहले ही दिखा चुके हैं, अगर अस्वतन्त्र/दास श्रम नहीं है तो ग्रामीण ऋणग्रस्तता अपने आप में अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों का

प्रमाण नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, यहाँ तक कि पूँजीवाद के अन्तर्गत भी श्रम पूरी तरह "स्वतन्त्र" नहीं होता है। जैसा कि **टॉम ब्रास** और **उत्सा पटनायक** ने तर्क पेश किया है कि सभी पूँजीवादी करारनामों अन्तर्निहित रूप से विभिन्न प्रकार की अस्वतन्त्रताएँ मौजूद रहती हैं। श्रम की स्वतंत्रता सामान्य नियम या प्रवृत्ति होते हैं। लेकिन जो कोई भी इसे शब्दश: लेता है वह एक भारी भ्रम का शिकार है। इसलिए ग्रामीण ऋणग्रस्तता और सूदखोर पूँजी कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण की को और अधिक सघन बना सकते हैं, बशर्ते कि पूँजीवादी विकास की अन्य पूर्वशर्तें पूरी होती हों (उदाहरण के लिए, श्रम शक्ति और जमीन का माल में तब्दील होना, पूँजीवादी भूमि लगान का अस्तित्व में आना, एकीकृत घरेलू बाज़ार का निर्माण, इत्यादि)। आइए इस विषय पर मार्क्स के विचार देखते हैं। मार्क्स कहते हैं कि सूदखोरी उत्पादन के कोने-कोने में व्याप्त होती है; यह पूँजी होती है क्योंकि यह अधिशेष श्रम को विनियोजित करती है, लेकिन उत्पादन पद्धति से बिना कोई सम्बन्ध रखे हुए ही; यह उसी उत्पादन-पद्धति को और अधिक निन्दनीय बनाकर मजबूत करती है, चाहे वह सामन्ती हो या पूँजीवादी। सूदखोर पूँजी मुद्रा पूँजी है जो उत्पादन प्रक्रिया के नियंत्रण/संगठन के द्वारा अधिशेष को विनियोजित नहीं करती है, बल्कि ब्याज़ के उपकरण के ज़रिए ऐसा करती है; यह उत्पादक का स्वामित्वहरण करती है लेकिन उन्हें एक बड़ी उत्पादक गतिविधि में संकेन्द्रित नहीं करती और उन्हें बिखरा हुआ व और भी अधिक दरिद्र, ऋणग्रस्त छोटे उत्पादक के रूप में छोड़ देती है। **लेकिन**, सूदखोरी पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के तहत भी जारी रहती है और यहाँ तक कि पूँजीवादी विकास का एक उपकरण बन सकती हैं अगर पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की अन्य शर्तें मौजूद हों। (**कार्ल मार्क्स,** पूँजी, खण्ड-3, मास्को, फॉरेन लैंग्वेजेज़ पब्लिशिंग हाउस, 1959, पेज 580-599)

बसु और **बसोले** ने यह भी दिखलाया है कि **समग्रता में काश्तकारी अपनी ढलान पर है**। वे इसके लिए पर्याप्त तथ्य देते हैं। पट्टे पर भूमि देने वाले परिवारों का हिस्सा 1971-72 में 25 प्रतिशत से गिरकर 2003 में 12 प्रतिशत हो गया; पट्टे पर दी गयी भूमि का क्षेत्रफल 1971-72 में 12 प्रतिशत से घटकर 2003 में 7 प्रतिशत हो गया; आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से पट्टे पर दी गयी जमीन का हिस्सा 1960-61 में 24 प्रतिशत से गिरकर 2002-03 में 10 प्रतिशत हो गया; सम्पूर्ण प्रयुक्त क्षेत्रफल में पट्टे पर चढ़ी भूमि का हिस्सा 10.7 प्रतिशत से घटकर 2002-03 में 6.5 प्रतिशत हो गया। **अत: अविवादित रूप से काश्तकारी खेतों से भाड़े को श्रम की सहायता से की जाने वाली स्व-उत्पादित कृषि की ओर परिवर्तन हुआ है।** अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकार दावा कर सकते हैं कि छोटे उत्पादकों में काश्तकारी बढ़ी है। लेकिन ऐसा मामला भी नहीं है। सभी क्षेत्रफल प्रवर्गों में काश्तकार जोत का हिस्सा घटा है। वास्तव में बड़ी जोतों में काश्तकारी बढ़ी है, जो पूँजीवादी काश्तकारी के पूर्ण प्रभुत्व को दर्शाता है। 2003 में, काश्तकारी भूमियों का 70 प्रतिशत बड़ी जोतों (झ 2.5 एकड़) द्वारा संचालित किया जाता था, अर्थात सभी संचालित जोतों के केवल 3 प्रतिशत द्वारा। **काश्तकारी की शर्तें साफ़-साफ़ दिखाती हैं कि पूँजीवादी सम्बन्ध निस्सन्देह रूप से प्रभावी बन चुके हैं**। तय लगान (मुद्रा रूप में और वस्तु रूप में) 2002-03 में कुल लगान का 51 प्रतिशत बनाता था, जो 1960-61 में 38 प्रतिशत था। फसल हिस्सेदारी (बटाईदारी) 2002-03 में 40 प्रतिशत थी जो 1960-61 में 40 प्रतिशत थी। पंजाब और हरियाणा, जो सर्वाधिक विकसित पूँजीवादी कृषि वाले राज्य हैं, में अधिकतम काश्तकारी पायी गयी। **विपरीत काश्तकारी** सभी

राज्यों में अब पर्याप्त रूप से विचारणीय परिघटना बन चुकी है। बसु और बसोले ने यह भी दिखाया है कि गैर-संस्थागत ऋण की मात्रा में हालिया वृद्धि को मुख्यत: सर्वाधिक उन्नत पूँजीवादी कृषि वाले राज्यों से आया हुआ माना जा सकता है (पंजाब, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश)। ऐसा इसलिए क्योंकि गैर-संस्थागत ऋण में यह वृद्धि और कुछ नहीं बल्कि ऋण प्रणाली का पूँजीवादी निजीकरण और वित्तीयकरण है। फिर भी, अभी भी कृषि में सम्पूर्ण ऋण का आधा हिस्सा संस्थागत स्रोतों से आता है।

कृषि में बाज़ार का प्रवेश भी आँकड़ों के माध्यम से देखा जा सकता है। अधिकांश खाद्य फसलों में अधिशेष का 85 प्रतिशत से भी अधिक विपणित कर दिया जाता है। कुल कृषि उत्पादन में कृषकों के विभिन्न वर्गों के लिए विपणित अधिशेष इस प्रकार है: प्रभावी रूप से भूमिहीन के लिए 44 प्रतिशत; सीमान्त किसानों के लिए 54 प्रतिशत; छोटे किसानों के लिए 65 प्रतिशत; मध्यवर्ती किसानों के लिए 66 प्रतिशत; और बड़े किसानों के लिए 71 प्रतिशत। कृषि में सकल पूँजी निर्माण (ळतवे ब्ंचपजंस थ्वतउंजपवद पद ।हतपबनसजनतम) 1961 और 1999 के बीच 3 प्रतिशत की दर से बढ़ा है जो अपने आप में एक विचारणीय वृद्धि है।

किसानों के विभेदीकरण को समझने के लिए, जो कि लेनिन के अनुसार कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण के लिए सबसे महत्वपूर्ण पैमाना है, हमें **भूमिहीनता और भूमि मालिकाने की संरचना** से भी सम्बन्धित आँकड़ों को देखने की ज़रूरत है। कृषि श्रम का 62 प्रतिशत उन घरों से आता है जो 0.025 से लेकर 1 एकड़ जमीन तक के मालिक हैं। ये "प्रभावी रूप से भूमिहीन" हैं; ये परिवार अपनी आय का 60 प्रतिशत से भी अधिक हिस्सा उजरत के रूप में पाते हैं, और उनके उत्पादन का 44 प्रतिशत विपणित होता है, जो कि भूमिहीन आबादी के इस वर्ग के लिए पर्याप्त रूप से बड़ा हिस्सा है। 2004-5 में 1 एकड़ से कम भूमि वाले परिवारों का हिस्सा 76.6 प्रतिशत था; 1-2 एकड़ जमीन वाले परिवारों का हिस्सा 12.2 प्रतिशत था; 2 एकड़ से अधिक जमीन वालों का हिस्सा 11.2 प्रतिशत था। प्रभावी भूमिहीनता 1960-61 में 44.2 प्रतिशत से बढ़कर 2002-3 में बढ़ कर 60.1 प्रतिशत हो गयी; ग़रीब ग्रामीण परिवारों का 60 प्रतिशत खेती के अंतर्गत जमीन के मात्र 6 प्रतिशत का स्वामित्व रखते हैं। प्रभावी रूप से भूमिहीन और सीमान्त किसानी का हिस्सा कुल ग्रामीण परिवारों के 1961 में 66 प्रतिशत से बढ़कर 2003 में 80 प्रतिशत हो गया; बहुत बड़े खेतों (झ10 एकड़) का हिस्सा 1961 में 12 प्रतिशत से घटकर 2003 में 3.6 प्रतिशत हो गया; 2. 5-10 एकड़ वाले किसान भूमि का हिस्सा 1961 में 23 प्रतिशत से घट कर 2003 में 17 प्रतिशत हो गया; छोटे किसान परिवारों (2.5 एकड़ से कम) के स्वामित्व की भूमि 1961 में 8 प्रतिशत से बढ़कर 2003 में 23 प्रतिशत हो गया; बड़े किसानों (झ10 एकड़) का हिस्सा 1961 में 60 प्रतिशत से घटकर 2003 में 35 प्रतिशत हो गया और मध्यवर्ती किसानों (2. 5-10 एकड़) का हिस्सा 1961 में 33 प्रतिशत से बढ़ कर 2003 में 42 प्रतिशत हो गया।

निष्कर्ष

ये आँकड़े स्पष्ट रूप से किसानों के विभेदीकरण और खेतिहर उजरती मज़दूरों के एक विशाल वर्ग के निर्माण को दर्शाता है। हम बाजार के लिए उत्पादन, ऋण प्रणाली और जमीन के मालकरण (बवउउवकपपिबंजपवद) के प्रभुत्व से जुड़े हुए आँकड़े भी पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। ये आँकड़े भारत में लागू भूमि-सुधारों की प्रकृति को भी दर्शाते हैं। हम निश्चित रूप

से **भूमि-सुधार के प्रशियन पथ** के साक्षी बने हैं, जिसमें भूमि काश्तकारों और भूमिहीन मज़दूरों को पुनर्वितरित नहीं की गयी; पहले के सामन्ती ज़मींदारों को अपने आपको पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी या पूँजीवादी फार्मर भूस्वामी में रूपान्तरित होने दिया गया। कृषि के बाज़ारीकरण, संस्थागत और गैर-संस्थागत पूँजीवादी ऋण प्रणाली के विकास, किसानों के विभेदीकरण, एक एकीकृत घरेलू बाजार के निर्माण, आदि से जुड़े हुए आँकड़ों को प्रचुर मात्रा में पेश किया जा सकता है। लेकिन दुर्भाग्य से जगह की कमी हमें इस लेख में ऐसा करने की आज्ञा नहीं देती।

इससे पहले कि हम उपसंहार करें, एक और ग़ौरतलब सवाल सामने रख दिया जाना चाहिए। हमारे विचार में, कृषि के पूँजीवादी रूपान्तरण की बात को निश्चित ही अनम्य और पुराने पड़ चुके अर्द्ध-सामन्ती सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क से कोई चुनौती नहीं दी जा सकती है, जैसा कि उपरोक्त तथ्यों से साफ-साफ दर्शाते हैं; लेकिन अर्द्ध-सामन्ती थीसिस की अरक्षणीयता और अन्तरविरोधों के कारण अर्द्ध-सामन्ती सिद्धान्तकारों का पूरा तर्क **बुर्जुआज़ी के चरित्र** पर आकर अटक जाता है। इस विषय के लिए अलग से विस्तृत लेख की ज़रूरत पड़ेगी, लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है: **पिछले 6 दशकों के दौरान भारतीय बुर्जुआज़ी का व्यवहार किसी भी तरह से दलाल बुर्जुआज़ी का बर्ताव नहीं रहा है;** भारतीय राज्य एक विशेष प्रकार का उत्तर-औपनिवेशिक (देरिदियन अर्थों में नहीं) पूँजीवादी राज्य है जो एक ऐसी बुर्जुआज़ी द्वारा पहचाना जा सकता है जो कि न तो राष्ट्रीय है (क्योंकि इसका कोई भी हित भारतीय जनता के साथ साझा नहीं होता), न ही दलाल (क्योंकि, यह राजनीतिक रूप से आश्रित नहीं है और स्वेज़ नहर विवाद, सोवियत एशिया मैत्री संघ के मुद्दे से लेकर कोपेनहेगेन शिखर बैठक आदि तक के मामलों में इसने मेट्रोपोलिटन साम्राज्यवादी बुर्जुआज़ी के विरोध में जाकर अपने स्वतन्त्र राजनीतिक निर्णय लिए हैं), और न ही एक साम्राज्यवादी बुर्जुआज़ी (क्योंकि भारतीय बुर्जुआज़ी का पूँजी आयात अभी भी इसके पूँजी निर्यात से कहीं ज़्यादा है जो कि निश्चित रूप से पिछले दो दशकों के दौरान लगातार वृद्धि करता रहा है) है। तो फिर भारतीय बुर्जुआजी का चरित्र क्या है? हमारे विचार भारतीय बुर्जुआज़ी साम्राज्यवादियों के **जूनियर पार्टनर** के रूप में पहचानी जा सकती है (किसी एक अकेले साम्राज्यवादी देश की नहीं, बल्कि पूरी साम्राज्यवादी व्यवस्था की); यह राजनीतिक रूप से स्वतंत्र है लेकिन आर्थिक रूप से आश्रित; मेट्रोपोलिटन बुर्जुआज़ी द्वारा कभी-कभी इसकी बाँहें मरोड़ी जाती हैं (क्योंकि यह जूनियर पार्टनर है!) लेकिन यह अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता कभी नहीं छोड़ता है और विभिन्न साम्राज्यवादी शिविरों के बीच मोलतोल के द्वारा अपने "राष्ट्रीय" वर्ग हितों में संतुलन और प्रति-संतुलन बनाते हुए एक 'टाइट रोप वॉकिंग' करता है। साम्राज्यवादी विश्व की एकध्रुवीयता केवल अस्थायी और भ्रामक परिघटना ही हो सकती है। जैसा कि लेनिन ने दर्शाया है एकाधिकार अपनी विरोधी गति यानी कि प्रतिस्पर्द्धा के साथ-साथ चलता है और यह द्वंद्व अन्य कारकों के साथ मिलकर क्रान्तिकारी परिस्थिति का निर्माण करता है।

उपसंहार करते हुए हम इतना कहेंगे कि अगर भारतीय मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन को प्रगति करनी है तो उसे अर्द्धसामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक सैद्धान्तिकीकरण की बेड़ियों को तोड़ना होगा। हमारे विचार में अधिकांश माले पार्टियों और बुद्धिजीवियों को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक सैद्धान्तिकीकरणों की वर्तमान भारतीय परिस्थिति और साथ ही भारतीय इतिहास पर भी इसकी प्रयोज्यता पर दोबारा सोचने की ज़रूरत है। कार्यक्रम के सवाल को

विचारधारा के सवाल में नहीं बदल दिया जाना चाहिए, जैसा कि भारत में कठमुल्लावादी वाम ने किया है। अगर कोई पूँजीवादी विकास या समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल की बात करता है तो उन्हें अक्सर त्रात्स्कीपंथी कह दिया जाता है क्योंकि यह लगभग एक आकाशवाणी या स्वयंसिद्ध तथ्य जैसा बन चुका है कि ऐसा कहना ही लेनिन के दो चरणों में क्रान्ति के सिद्धान्त को खारिज करने के समान है! यह एक विडम्बना की, बल्कि त्रासदी की, स्थिति है, जिससे जितनी जल्दी हो सके छुटकारा पा लिया जाना चाहिए।

(प्रसिद्ध बांग्ला पत्रिका 'अनीक' के अंक अक्टूबर 2012 में प्रकाशित)
(इस लेख का अंग्रेज़ी संस्करण इस लिंक पर पढ़ा जा सकता है:
http://redpolemique.wordpress.com/2012/11/11/development-of-capitalist-agriculture-in-india-and-the-intellectual-origins-of-the-fallacy-of-present-semi-feudal-thesis/)

हिन्दी अनुवाद: प्रशान्त

An Important Book from Rahul Foundation

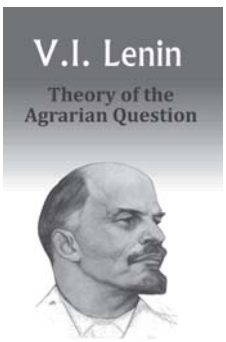

Theory of the Agrarian Question

This collection contains Lenin's principal writings on capitalism in agriculture. The contents include the complete texts of the following works: "The Agrarian Question and the 'Critics of Marx,'" "Capitalism in Agriculture," "Capitalism and Agriculture in the United States of America," "The Theoretical Principles of Nationalisation and Municipalisation." It also includes a number of articles on the subject.

Price: Rs. 160 , Pages: 344 **ISBN 978-93-80303-62-8**

For copies contact:
Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow - 226020
Phone: 0522-2786782
Email: info@janchetnabooks.org, Website: janchetnabooks.org

फासीवाद की बुनियादी समझ
नुक्तेवार कुछ बातें

● कात्यायनी

1. ' फासीवाद सड़ता हुआ पूँजीवाद है' (लेनिन)। यह एक परिघटना है जो साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीवाद के आम संकट के गहराने के साथ जन्मी थी। अब विश्व पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत संकट और उससे निजात पाने के "नवउदारवादी" नुस्खों के दौर में फासीवादी राजनीति सभी पूँजीवादी देशों में विविध रूपों में सिर उठा रही है और विशेषकर भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में धार्मिक कट्टरपंथी फासीवाद एक शक्तिशाली उभार के रूप में सामने आ रहा है।

2. पूँजी के इज़ारेदाराना रूप परजीवी पतनशीलता के तत्वों को जन्म देते हैं। इजारेदार पूँजी में उत्पादक शक्तियों के विकास को बाधित और मन्द करने की आम प्रवृत्ति होती है। इस सापेक्षिक ठहराव और क्षरण की प्रवृत्ति से समाज में जनवाद-विरोधी, वैज्ञानिक तर्कणा-विरोधी प्रतिगामी शक्तियों के फलने-फूलने की ज़मीन तैयार होती है। मुनाफ़े की गिरती दर को रोकने के लिए पूँजीपति और उनकी राज्यसत्ता बड़े पैमाने पर उत्पादक शक्तियों का विनाश भी करती है, जो कि क्षयमान पूँजीवाद की एक अभिलाक्षणिकता है।

3. जब परजीवी-परभक्षी वित्तीय पूँजी का सर्वग्रासी वर्चस्व बड़े पैमाने पर अनुत्पादक उद्देश्यों के लिए पूँजी-निवेश को बढ़ावा देता है, जब "रेण्टियर" और "रेण्टियर स्टेट" का विकास तेज़ हो जाता है, जब वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश के मुक़ाबले शेयर बाज़ार, मनोरंजन उद्योग, युद्ध उद्योग आदि में अनुत्पादक निवेश बहुत अधिक होने लगता है तो वित्तीय पूँजी का सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी रूप फासीवादी विचारों और राजनीति के रूप में

अधिरचना के क्षेत्र में ज़्यादा से ज़्यादा प्रभावी होता चला जाता है।

4. वित्तीय पूँजी की सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी राजनीति – फासीवाद का व्यापारिक पूँजीपतियों, दलालों और ठेकेदारों की परजीवी जमातों में सबसे सुस्थिर सामाजिक आधार होता है। पिछड़े पूँजीवादी देशों में एक क्रमिक बदलाव की प्रक्रिया में सामंती भूस्वामी से पूँजीवादी भूस्वामी में रूपान्तरित वर्ग भी विचारों से घोर ग़ैरजनवादी होता है और फासीवाद के सामाजिक आधार का काम करता है। पूँजीवादी क्रमिक विकास की प्रक्रिया में काश्तकारों के बीच से कुलकों (धनी मालिक किसानों) और खुशहाल मध्यवर्गीय मालिक किसानों का जो तबका पैदा होता है, पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के गहराने के फलस्वरूप उसकी किसान राजनीति का नरोदवादी यूटोपिया जब छिन्न-भिन्न हो जाता है, तो वह धुरप्रतिक्रियावादी राजनीतिक अवस्थिति अपना लेता है और फासीवाद का नया सामाजिक आधार बन जाता है।

5. पूँजीवादी विकास ने विशेषाधिकार-प्राप्त अल्पसंख्यक उपभोक्ता वर्ग के रूप में परजीवी उच्च मध्य वर्ग की सामाजिक परत का जो विस्तार किया है, वह, विशेषकर पूँजीवादी संकट के दौर में फासीवाद के मज़बूत सामाजिक आधार का काम करने लगता है। सफ़ेद कालर वाले "कुलीन" मज़दूरों की पक्षत्यागी जमात का एक बड़ा हिस्सा भी फासीवाद को समर्थन देने लगता है।

3. निराश और अवसादग्रस्त, पीले-बीमार चेहरे वाले, बेरोज़गारी या अर्द्धबेरोज़गारी के शिकार निम्न-मध्यवर्गीय युवाओं की भारी आबादी अपनी समस्याओं की मूल जड़ को न समझ पाने के कारण और किसी प्रकार के क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव के कारण फासीवादी मिथ्या प्रचार और लोकलुभावन तथा उन्मादी नारों (निराश लोगों को उन्मादी बनाना आसान होता है) के प्रभाव में आसानी से आ जाती है और एक मिथ्याचेतना से ग्रस्त होकर फासीवादी प्रचार से प्रक्षेपित "काल्पनिक शत्रु" को ही अपनी सारी समस्याओं का कारण समझने लगती है। इसके चलते वह फासीवादियों की गुण्डा-वाहिनियों में जाकर शामिल हो जाती है।

7. पूँजीवादी संकट के दौर में, मज़दूरों की एक भारी आबादी उत्पादन की संगठित प्रक्रिया से ही पूर्णत: या अंशत: बाहर कर दी जाती है। इस आबादी का एक बड़ा हिस्सा विमानवीयकरण का शिकार हो जाता है, उसकी सर्वहारा चेतना विघटित हो जाती है और उसका लम्पटीकरण हो जाता है। ऐसी आबादी फासीवादी प्रचार के सहज प्रभाव में आ जाती है और फासीवादी गुण्डा वाहिनियों में बड़े पैमाने पर शामिल हो जाती है।

8. इस तरह, फासीवाद एक ऐसा चरम प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है, जिसमें कई प्रकार के बेमेल तत्व शामल होते हैं। बुर्जुआ चुनावी राजनीति फासीवाद के लक्ष्यसिद्धि के लिए मात्र एक मोर्चा होता है। सामाजिक लामबन्दी के लिए फासीवादी नाना प्रकार के सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन बनाकर तृणमूल स्तर पर लगातार काम करते रहते हैं।

9. पिछड़े पूँजीवादी देशों में, जहाँ पूँजीवाद का विकास 'पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति' की प्रक्रिया से न होकर औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ से हुआ है और उत्तर-औपनिवेशिक काल में मंथर क्रमिक विकास की राह से हुआ है, वहाँ की राजनीतिक अधिरचना में और सामाजिक ताने-बाने में जनवाद के तत्व नितान्त न्यून हैं, वैज्ञानिक तर्कणा का घोर अभाव है। ऐसे देशों में पूँजीवादी जीवन-पद्धति के साथ तमाम निरंकुश स्वेच्छाचारी मध्ययुगीन मूल्य-मान्यताएँ-संस्थाएँ बची हुई हैं। ऐसे देशों में नवउदारवाद के दौर का सापेक्षत:

तीव्र पूँजीवादी विकास स्वस्थ बुर्जुआ जनवादी मूल्यों के बजाय रुग्ण निरंकुशता और अलगाव के मूल्य लेकर ही आया है। इन देशों में पूँजीवादी संकट की गहनता से पैदा हुए फासीवादी आन्दोलन को अपना आधार मज़बूत करने और तेज़ी से बढ़ाने में आज अधिक अनुकूल परिस्थिति मिल रही है।

10. पूँजीवादी संकट का क्रान्तिकारी समाधान मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवाद के लिए आगे बढ़ता संघर्ष प्रस्तुत करता है। यदि क्रान्तिकारी समाधान-प्रस्तुति का यह उपक्रम विफल हुआ, पराजित हुआ या बिखर गया और पूँजीवादी संकट जारी रहा तो उसका प्रतिक्रान्तिकारी समाधान लाज़िमी तौर पर फासीवाद के रूप में सामने आता है। यूँ कहें कि क्रान्ति न कर पाने का दण्ड मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनसमुदाय को फासीवाद के रूप में चुकाना पड़ता है। क्रान्तिकारी संकट के कठिन दौर में समाजवाद की सम्भावना यदि फलीभूत नहीं होती तो फासीवादी बर्बरता ही एकमात्र विकल्प बचती है।

11. फासीवाद के फलने-फूलने की ज़मीन तैयार करने में, वस्तुगत तौर पर, सामाजिक-जनवादी और संशोधनवादी पार्टियों की एक महत्वपूर्ण भूमिका बन जाती है। ये पार्टियाँ संगठित मज़दूर वर्ग को लगातार आर्थिक संघर्षों और सौदेबाजियों में उलझाये रखती हैं, उसके बीच कोई राजनीतिक काम नहीं करतीं, राजनीतिक संघर्षों को ये संसदीय चौहद्दी और चन्द रस्मी धरना-प्रदर्शनों तक सीमित कर देती हैं। असंगठित मज़दूर आबादी तक इनकी पहुँच न के बराबर होती हैं। इस तरह ये पार्टियाँ मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना को कुन्द करने और उनकी जुझारू वर्ग-चेतना को विघटित करने का काम करती हैं। फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष को व्यापक सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष बनाने की जगह ये पार्टियाँ उसे सिर्फ़ चुनावी हार-जीत और गठबन्धन का खेल बना देती हैं। नतीज़तन, मज़दूर वर्ग फासीवाद के विरुद्ध निष्क्रिय और निश्शस्त्र हो जाता है। ये पार्टियाँ बुर्जआ संविधान और लोकतंत्र की हिफ़ाज़त की दुहाई देते हुए फासीवाद के विरुद्ध कुछ रस्मी बौद्धिक-सांस्कृतिक कवायद करती रहती हैं। इनसे उम्मीद पालने वाला समाज का सेक्युलर, प्रगतिशील बौद्धिक तबका फासीवादी उभार के समय घबराहट और निराशा का शिकार हो जाता है और फासीवादी आतंक के समक्ष आतंकित होकर चुप्पी साध लेता है। जब फासीवाद सत्ता में आता है तो आम मेहनतकश आबादी, धार्मिक-नस्ली अल्पसंख्यकों, आप्रवासियों और क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के साथ ही संशोधनवादी कम्युनिस्टों और सामाजिक जनवादियों को भी अपना निशाना बनाता है। ऐसे में सामाजिक जनवादियों का एक ऐसा पतित हिस्सा भी होता है जो प्रत्यक्षत:-परोक्षत: फासीवाद का समर्थक बन जाता है या सीधे उसकी कतारों में जा खड़ा होता है।

(12) फासीवाद आन्दोलन एक 'कैडर-आधारित' आन्दोलन होता है और इसलिए इसका प्रचार-तंत्र अन्य बुर्जुआ जनवादी पार्टियों से अधिक प्रभावी होता है। इसका मुख्य विचारधारात्मक-राजनीतिक केन्द्र कई प्रकार के अनुषंगी संगठन बनाकर समाज के विभिन्न वर्गों-तबकों के बीच तृणमूल स्तर पर लगातार काम करता रहता है। वे धार्मिक, नस्ली, जातिगत आधारों पर मंच, मोर्चा, संगठन आदि बनाकर काम करने के साथ ही ग़रीब आबादी के बीच सुधार की तमाम कार्रवाइयाँ चलाते हुए अपनी विचारधारा का लगातार प्रचार करते रहते हैं। फासीवाद प्राय: संस्कृति का खोल पहनकर आता है। संस्कृति को वह हमेशा नस्ली और धार्मिक आधार पर परिभाषित करता है और "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" के नारे देता हुआ धार्मिक

या नस्ली अल्पसंख्यकों को 'अन्य' के रूप में प्रस्तुत करता है, उन्हें "राष्ट्रीय पराभव" का मूल कारण बताता है और बहुसंख्यक धार्मिक आबादी के सामने उनकी 'शत्रु' की छवि प्रक्षेपित करता है। फासीवाद राष्ट्रवाद को एक बुर्जुआ परिघटना मानने के बजाय प्राचीन काल से ही अस्तित्व में मानता है। 'स्वदेशी' और 'राष्ट्रीय गौरव' के नाम पर पिछड़े, उत्तर-औपनिवेशिक समाजों का फासीवाद अतीत का मिथ्या आदर्शीकरण करता है (जैसे भारत के हिन्दुत्ववादी "स्वर्णिम हिन्दू भारत" का एक मिथ्या इतिहास रचते हैं, आर्यों के भारतीय मूल का दावा करते हैं और एक नस्ल न होते हुए भी सभी सवर्ण हिन्दुओं के आर्य नस्ल का होने का दावा करते हैं), इतिहास को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करता है, धार्मिक मिथकों को इतिहास का तथ्य बताता है, मध्यकालीन आक्रमणों और फिर बसकर समाज में घुल-मिल जाने की परिघटना को उपनिवेशन और राष्ट्रीय गुलामी के रूप में प्रस्तुत करता है। दूसरी ओर इन सभी उत्तर औपेनिवेशिक समाजों के (जैसे कि भारत के) फासीवादियों ने अतीत में उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलनों में कभी हिस्सा नहीं लिया। वर्तमान में भी उनका 'स्वदेशी' का नारा केवल एक धोखा होता है, अपनी आर्थिक नीतियों में साम्राज्यवादी पूँजी के साथ सहकार और नवउदारवाद के दो सुसंगत और कट्टर पक्षधर होते हैं। उनका 'स्वदेशी' का प्रतिगामी यूटोपिया केवल पूँजीवादी उद्यमियों, मालिक किसानों और छोटे व्यापारियों को लुभाकर अपने साथ लेने के लिए होता है। संस्कृति और इतिहास की फासीवादी अवधारणा को जनमानस में पैठाने के लिए फासीवादी शक्तियाँ शिक्षा और संस्कृति के प्रतिष्ठान स्थापित करने पर विशेष बल देती हैं और विशेषकर प्राथमिक और माध्यमिक स्तर तक के शिक्षा संस्थानों का व्यापक नेटवर्क व्यापारियों और पूँजीपतियों के वित्तपोषण से ट्रस्ट आदि बनाकर चलाती हैं। इस तरह वे युवा मानस की निर्मिति को ही प्रभावित-अनुकूलित करने का योजनाबद्ध प्रयास करती हैं। अपना मीडिया-तंत्र संगठित करने के साथ ही फासीवादी मुख्य धारा की बुर्जुआ मीडिया और संस्कृति के शासकीय तंत्र में बड़ी कुशलता से अपने दृढ़ प्रतिबद्ध और दक्षिणपंथी बुद्धिजीवियों को पैठाते रहते हैं। ऐसा ही वे शिक्षा के तंत्र में, विशेषकर उसके नीतिनिर्माता संस्तरों पर भी करते हैं। अपनी यूनियनों, छात्र-युवा संगठनों, विभिन्न सांस्कृतिक-सामाजिक संगठनों के अतिरिक्त फासीवादी कई स्तरों पर, विकेन्द्रित रूप में अपनी गुण्डावाहिनियाँ संगठित करते हैं, उन्हें सैन्य शिक्षा देते हैं और देश-विशेष की परिस्थिति इजाज़त दे तो मिलिटरी स्कूल भी खोलते-चलाते हैं। सामान्य दिनों में आतंक पैदा करने, दंगों के समय ख़ून-ख़राबा करने तथा हड़तालों और आन्दोलनों को कुचलने में इन गुण्डावाहिनियों की अहम भूमिका होती है। फासीवाद कई बेमेल राजनीतिक विचारों का घालमेल होता है, लेकिन उग्र अंधराष्ट्रवाद वह केन्द्रीय विचार है जो सभी को जोड़ने का काम करता है। भारतीय फासीवादियों का उग्र अंधराष्ट्रवाद विश्वविजय के सपने नहीं देख सकता, क्योंकि साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार भारतीय बुर्जुआ वर्ग विश्व बाज़ार पर युद्ध द्वारा कब्जा का ख़्वाब नहीं देख सकता। यह ज़्यादा से ज़्यादा अपने कमज़ोर पड़ोसी देशों पर धौंसपट्टी जमा सकता है और 'हिन्दू राष्ट्रवाद' के नाम पर देश के भीतर धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपने उन्माद का निशाना बना सकता है। देश-विशेष की मुख्य फासीवादी ताक़त अपने अनुषंगी संगठनों के अतिरिक्त अन्य धार्मिक कट्टरपंथी संगठनों, बिखरे हुए क्षेत्रीय धार्मिक कट्टरपंथी राजनीतिक दलों (जैसे भारत में शिवसेना, अकाली दल आदि), बिखरी हुई क्षेत्रीय गुण्डावाहिनियाँ (जैसे श्रीराम सेने आदि), धार्मिक आन्दोलनों, धार्मिक

आयोजनों, धर्माधिकारियों (संतों-महंतों), धर्म के साथ उग्र राष्ट्रवाद के नारे देने वाले आन्दोलनों या लोगों (जैसे आर्य समाज और बाबा रामदेव) तथा राष्ट्रवादी तेवरों के साथ लोकलुभावन उग्र सुधारवादी नारे देने वाले आन्दोलनों (जैसे अन्ना-केजरीवाल के आन्दोलन) का भी सफलतापूर्वक अपने पक्ष में इस्तेमाल करती है।

(13) चूँकि फासीवादी आन्दोलन जनता को उसकी पिछड़ी चेतना के आधार पर संगठित करता है, अत: इतिहास-बोध को कुण्ठित-विरूपित करने के लिए वह आधुनिकता के बुर्जुआ जनवादी ऐतिहासिक प्रोजेक्ट को ही रद्द करता है, वह वैज्ञानिक तर्कणा को सामाजिक जीवन पर लागू नहीं करता और क्रान्तियों को इतिहास-विकास की स्वाभाविक गति नहीं मानता। वित्तीय पूँजी की सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी राजनीतिक अभिव्यक्ति होने के नाते फासीवाद कम्युनिज़्म को अपना घोरतम शत्रु मानता है। 'पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति' की पूरी विरासत और प्रबोधनकालीन आदर्शों को खारिज़ करते हुए वह न केवल वैज्ञानिक तर्कणा और जनवाद को खारिज़ करता है, बल्कि उस परम्परा के वारिस - वैज्ञानिक भौतिकवाद और सर्वहारा क्रान्ति की परियोजना को भी खारिज़ करता है। इसलिए यह आश्चर्य नहीं कि नीत्शे हिटलर का एक वैचारिक प्रेरणा-स्रोत था। आज की नवफासीवादी धाराओं का दार्शनिक आधार उत्तर-आधुनिकतावाद और इसकी सहोदरा उत्तर-विचार सरणियों में आसानी से ढूँढ़ा जा सकता है। असाध्य संकटग्रस्त वयोवृद्ध पूँजीवाद की जो ज़मीन तरह-तरह की सर्वसत्तावादी निरंकुश प्रवृत्तियों और फासीवाद को जन्म दे रही हैं, वही उत्तर आधुनिकतावाद जैसी नवनीत्शेवादी विचारधाराओं को भी जन्म दे रही हैं।

(14) किसी भी देश में धार्मिक अल्पसंख्यक आबादी केवल सच्चे वास्तविक सेक्युलरिज़्म (यानी धर्म का राजनीतिक-सामाजिक स्पेस में कोई दख़ल न हो ओर केवल निजी विश्वास के रूप में ही धर्म की आज़ादी हो) के रहते ही सुरक्षित जीवन बिता सकती है। बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों का युग बीतने के बाद, वास्तविक सेक्युलरिज्म की लड़ाई समाजवाद के लिए लड़ाई का अंग बन चुकी है। प्राय: धार्मिक बहुसंख्यक आबादी के धर्म को राष्ट्रीय संस्कृति का अंग बताने वाली धार्मिक कट्टरपंथी फासीवादी धारा का विरोध जब धार्मिक अल्पसंख्यकों की धर्मध्वजा को उठाने वाली दूसरी धार्मिक कट्टरपंथी फासीवादी धारा करती है तो वह अपनी विरोधी धारा को ही मज़बूत बनाने का काम करती है। भारत का उदाहरण लें। हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथ का विरोध करने वाली इस्लामी जेहादी कट्टरपंथियों के विभिन्न नरम और उग्र संगठन हिन्दुत्ववादियों को यह अवसर देते हैं कि उनके बहाने वे पूरी मुस्लिम आबादी को निशाना बना सकें, उन्हें राष्ट्रद्रोही और आतंकवादी सिद्ध कर सकें और पिछड़ी चेतना की हिन्दू आबादी को साम्प्रदायिक उन्माद के प्रभाव में ले सकें। इसके भयावह दुष्परिणाम पूरी आम मुस्लिम आबादी को झेलने पड़ते हैं। पूरी मुस्लिम आबादी के स्वयंभू नेता बनते हुए मुस्लिम धार्मिक नेता शरिया और फतवे जारी करते हुए उसे मध्ययुगीन जड़ता-बर्बरता के अँधेरे में धकेल देना चाहते हैं। सलाफ़ी और वहाबी विचारों के अनुयायी मुस्लिम कट्टरपंथी न केवल आम मुस्लिम आबादी को हिन्दुत्ववादियों का निशाना बनाने में मददगार बनते हैं, बल्कि उसे प्रगतिशील मूल्यों से हर क़ीमत पर दूर करके पूँजीवाद-विरोधी संघर्षों में शामिल होने से रोकते हैं।

(15) भारतीय संदर्भ में जातिगत ध्रुवीकरण की राजनीति ऊपरी तौरपर धार्मिक ध्रुवीकरण

की राजनीति से प्रतिस्पर्द्धा करती है, पर वास्तव में दोनों ही विभिन्न स्तरों पर एक-दूसरे को बल प्रदान करने का काम करती हैं।

(16) फासीवाद, अपने जन्मकाल से अब तक, सार्वजनिक रूप से चरम पुरुषवर्चस्वादी रहा है। उसके जनवाद-विरोधी विचार पुरुषस्वामित्ववाद की जड़ में होते हैं। यूँ तो पूँजीवाद स्त्रियों की श्रमशक्ति सस्ती से सस्ती दरों पर निचोड़ने के लिए उसे पुरुषों के मुक़ाबले हमेशा दोयम दर्जे की नागरिक बनाये रखना चाहता है। पर चरम संकटग्रस्त पूँजीवाद उन्हें और अधिक निकृष्ट उजरती ग़ुलाम बनाये रखने के लिए उनकी घरेलू ग़ुलामी की ज़ंजीरों को भी और मज़बूत बना देना चाहता है। एक ओर वह पुरुष मज़दूरों की मोलतोल की क्षमता घटनाने के लिए स्त्रियों को उत्पादक कार्रवाइयों में लाना चाहता है, दूसरी ओर दोयम दर्जे की नागरिक के रूप में उनकी श्रमशक्ति को सस्ती से सस्ती दरों पर निचोड़ना चाहता है। पूँजीवाद का यही बुनियादी तर्क फासीवादियों की उग्र स्त्री-विरोधी धारणाओं-मान्यताओं का भौतिक आधार होता है।

(17) अब भारत में धार्मिक कट्टरपंथ, विशेष तौर पर हिन्दुत्ववादी फासीवाद के उभार के इतिहास और कार्यप्रणाली पर कुछ बातें। भारत में औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर जिस बुर्जुआ वर्ग, निम्न बुर्जुआ वर्ग और उनकी मरियल राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ, उसमें प्रारम्भ से ही जनवादी मूल्यों की कमी थी। अतीत के महिमामण्डन और पुरातनपंथी धार्मिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता बीसवीं सदी के प्रारम्भ के गरम दली कांग्रेसी नेताओं से लेकर गाँधी के दौर के अनुदारवादी कांग्रेसी नेताओं - मालवीय, पी.डी. टण्डन, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद आदि तक की धारा में स्पष्ट दिखती है। कांग्रेस के जो सेक्युलर जनवादी नेता था, उनका सेक्युलरिज़्म भी पुसंत्वहीन था। स्वयं गाँधी 'सर्वधर्मसद्भाव' की सीमा से कहीं भी आगे नहीं जाते थे और स्वयं एक सनातनी हिन्दू के पारम्परिक मूल्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को स्पष्ट शब्दों में रखते रहते थे। भारतीय बुर्जुआ वर्ग की विचारधारात्मक कमज़ोरी और राष्ट्रीय आन्दोलन में जुझारू भौतिकवादी तर्कणा और क्रान्तिकारी जनवादी मूल्यों के अभाव ने आगे चलकर धार्मिक कट्टरपंथी फासीवादी ताक़तों को फलने-फूलने की उर्वर ज़मीन मुहैया कराई। उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के दौरान "स्वर्णिम अतीत के गौरव की पुनर्स्थापना" की अतीतोन्मुखी-पुनरुत्थानवादी दृष्टि की भले ही सकारात्मक भूमिका रही हो, कालान्तर में यह अपने विपरीत में बदल गया और अपना "राष्ट्रीय इतिहास" गढ़ते हुए फासीवादी ताक़तों ने "प्राचीन आर्य गौरव", "रामराज्य", "गुप्त वंश के स्वर्ण युग", राणा प्रताप और शिवाजी की "राष्ट्रीय नायक" की छवि के मिथक गढ़ते हुए फासीवादी ताक़तों ने न केवल तिलक, दयानन्द, विवेकानन्द, बंकिमचन्द्र आदि को अपनी परम्परा-सरणि में शामिल कर लिया, बल्कि आगे चलकर नेहरू के शुरुआती हवाई "फेबियन समाजवादी आदर्शों" और उनके पब्लिक सेक्टर के राजकीय इजारेदार पूँजीवाद के "समाजवादी" चेहरे को ध्वस्त करने के लिए गाँधी के धार्मिक प्रत्ययवाद, पारम्परिकता और अतीतोन्मुखता के साथ ही सरदार पटेल के दक्षिणपंथी अनुदारवादी राजनीतिक विचारों का भी इस्तेमाल किया। रियासतों के विलय और कश्मीर के विलय के सन्दर्भ में पटेल की भूमिका को विशेष उग्र राष्ट्रवादी रंग में चित्रित करके प्रस्तुत करने से हिन्दुत्ववादी फासीवादियों के उग्र राष्ट्रवाद, "हिन्दू राष्ट्रवाद" और "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" के जुनूनी नारों को विशेष बल मिलता है।

यह इतिहास का स्थापित तथ्य है कि 1857 के महा जनविद्रोह के बाद ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने 'बाँटो और राज करो" की सुनियोजित नीति के तहत साम्प्रदायिकता की राजनीति की शुरुआत की थी। 1890 के दशक से हिन्दू और मुस्लिम पुनरुत्थानवादियों के कारण हिन्दू-मुस्लिम तनाव की स्थिति पैदा हुई जो बाद में दशकों में क्रमशः बढ़ती चली गयी। फिर भी असहयोग आन्दोलन के वापस लिये जाने तक हिन्दुओं-मुस्लिमों के बीच सामान्यतः सौहार्द्र की स्थिति थी और वे अपने साझा दुश्मन के तौर पर औपनिवेशिक सत्ता को ही देखते थे। गत शताब्दी के तीसरे दशक में साम्प्रदायिक पार्थक्य और साम्प्रदायिकता की राजनीति ने गति पकड़ी। चौथा दशक मुस्लिम लीग और कांग्रेस की राजनीति में बढ़ते टकराव का और असेम्बली में भागीदारी की राजनीति में बढ़ते टकराव का और असेम्बली में भागीदारी की राजनीति का दशक था। अंग्रेजी ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बुर्जुआ नेतृत्व की सत्ता-प्राप्ति के लिए उतावली का लाभ उठाने के साथ ही भारतीय समाज में मौजूद धार्मिक मूल्यों-पूर्वाग्रहों का भी भरपूर लाभ उठाया, जिसकी तार्किक परिणति सदी के सबसे बड़े साम्प्रदायिक ख़ून खराबे, विभाजन, आधुनिक इतिहास के सबसे बड़े पैमाने विस्थापन के साथ ही भारत और पाकिस्तान की राजनीतिक स्वतंत्रता के रूप में सामने आयी। मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक राजनीति के पीछे इस्लामी कट्टरपंथी फासीवादी संगठन यदि पूरी तरह से खड़े थे, तो कांग्रेस के भीतर का अनुदारवादी धड़ा भी आर.एस.एस. और हिन्दू महासभा के साथ सहयोग-समर्थन का रिश्ता रखता था। इन हालात में कम्युनिस्टों ने साम्प्रदायिकता की राजनीति और साम्प्रदायिक दंगों का डटकर मुक़ाबला किया। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि जहाँ भी मेहनतकश आबादी उनके नेतृत्व में संगठित होकर लड़ रही थी, वहाँ दंगे होने तो दूर, साम्प्रदायिक तनाव भी नहीं पैदा हुआ। लेकिन अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को अंजाम देने में विफल रही और भीषण रक्तपात के साथ विभाजन की त्रासदी को भी नहीं रोक सकी। अपनी इसी कमज़ोरी के कारण वह फासीवाद के विरुद्ध ज़मीनी संघर्ष की कोई सुसंगत रणनीति भी नहीं अपना सकी।

भारत में हिन्दुत्ववादी फासीवादियों के संगठित होने का इतिहास 1925 से शुरू होता है जब केशव बलिराम हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की। उनके निकट सहयोगी मुंजे ने 1931 में इटली जाकर मुसोलिनी से मुलाक़ात की और उसीसमय से आर.एस.एस. ने फासीवादी सांगठनिक ढाँचे और तौर-तरीक़े को अपनाकर काम करना शुरू किया। चौथे दशक के अन्त तक इन भारतीय फासीवादियों ने बम्बई स्थित इतालवी कौन्सुलेट में मौजूद फासीवादियों से भी निकट सम्पर्क क़ायम कर लिया था। लगभग इसी समय हिन्दू महासभा से जुड़े एक अन्य धार्मिक कट्टरपंथी विनायक दामोदर सावरकर ने जर्मनी के नात्सियों से सम्पर्क स्थापित कर लिया था। सावरकर के बड़े भाई आर.एस.एस. के संस्थापकों में से एक थे। 1939 में हेडगेवार ने गुरु गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। 1940 से 1973 तक गोलवलकर आर.एस.एस. के सुप्रीमो रहे। सावरकर, मुंजे और हेडगेवार ने लगातार कई लेख लिखकर मुसोलिनी और हिटलर की अंधराष्ट्रवादी नीतियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और नात्सियों द्वारा यहूदियों के सफ़ाये को सही ठहराते हुए भारत में भी मुसलमानों की "समस्या" के समाधान के लिए यही रास्ता सुझाया। बाद में गोलवलकर ने भी अपनी पुस्तकों 'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफाइण्ड' और 'बंच ऑफ थॉट्स' में ऐसे ही विचार रखे। आर.एस.एस. ने

अंग्रेजों के विरुद्ध किसी भी संघर्ष में कभी भी हिस्सा नहीं लिया। उल्टे इसके नेताओं द्वारा मुखबिरी और माफ़ीनामों का लम्बा काला इतिहास रहा है। हमेशा इनके निशाने पर मुसलमान, ईसाई और कम्युनिस्ट ही रहे हैं। मज़दूर आन्दोलन को विघटित करने के लिए आर.एस.एस. हमेशा सक्रिय रहता है। संघी ट्रेड यूनियन 'भारतीय मज़दूर संघ' मुसोलिनी की ही भाँति औद्योगिक विवादों के निपटारे के लिए कारपोरेटवादी समाधान सुझाता है। संघ का एक अन्य अनुषंगशी संगठन 'सेवा भारती' मज़दूरों की वर्ग चेतना को कुन्द करने के लिए उनके बीच 'कमेटी' डालने जैसी गतिविधियों को बढ़ावा देता है, हिन्दू मज़दूरों को अलग से संगठित करके उनमें साम्प्रदायिक ज़हर फैलाता है और उनके बीच सुधार की कार्रवाइयों के साथ धार्मिक आयोजनों को बढ़ावा देता है। हड़तालों को तोड़ने के लिए शिवसेना के अतिरिक्त विहिप और बजरंग दल जैसे संघ के अनुषंगी संगठनों के गुण्डों की गतिविधियाँ जगजाहिर रही हैं। प्रचार तंत्र के सुव्यवस्थित इस्तेमाल में भारतीय फासीवादी भी अपने जर्मन और इतालवी मार्गदर्शकों के तौर-तरीक़ों का ही इस्तेमाल करते हैं। शाखाओं-शिशुमन्दिरों और धार्मिक त्योहारों का इस्तेमाल करके ये मिथकों को समाज के 'कामन सेंस' के रूप में स्थापित कर देने की हर चन्द कोशिश करते हैं तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों, कम्युनिस्टों और नास्तिकों के विरुद्ध ज़हरीले पूर्वाग्रहों को स्थापित करने के लिए तरह-तरह के झूठ और अफ़वाहें लगातार फैलाते रहते हैं।

भारत में 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में हिन्दुत्ववादी फासीवाद के त्वरित व्यापक उभार और फैलाव को देश की पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक के असाध्य ढाँचागत संकट और नवउदारवादी अर्थनीति की शुरुआत से जोड़कर समझा जा सकता है। उदारीकरण और निजीकरण की नीतियाँ एक अधिक निरंकुश बुर्जुआ राज्य की माँग करती हैं। यही कारण है कि भारतीय राज्य का रहा-सहा बुर्जुआ जनवादी चरित्र भी विगत ढाई-दशकों में तेज़ी से क्षरित हुआ है। साथ ही, समाज में फासीवाद के सामाजिक आधार के विस्तार और फासीवादी त्तवों के पैदा होने की उर्वर ज़मीन तैयार हुई है। गाँवों में चरण सिंह की राजनीति की धारा के बिखरने के बाद धनी और खुशहाल मध्यम किसान प्राय: जातिगत आधार पर संगठित क्षेत्रीय पार्टियों के अतिरिक्त हिन्दुत्वादी राजनीति के एक मज़बूत सामाजिक अवलम्ब के रूप में तैयार हुए हैं। देश की अधिकांश क्षेत्रीय पार्टियाँ क्षेत्रीय पूँजीपतियों और कुलकों की पार्टियाँ हैं, जो अपनी प्रकृति से अति सीमित बुर्जुआ जनवादी और घोर अवसरवादी हैं। सत्ता में भागीदारी के लिए आज किसी संसदीय "सेक्युलर" फ्रण्ट में शामिल होने और कल भाजपा का दामन थाम्ह लेने में इन्हें ज़रा भी देर नहीं लगती। धुर प्रतिक्रियावादी दलित बुर्जुआ और निम्न-बुर्जुआ वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली और दलित आबादी में जातिगत वोट बैंक रखने वाली बसपा भी ऐसी ही पार्टी है। इन सभी क्षेत्रीय बुर्जुआ पार्टियों का समूचा बुर्जुआ वर्ग संसदीय राजनीति के नापजोख के खेल में छोटे बटखरों की तरह इस्तेमाल करता है। इन पार्टियों का हिन्दुत्ववादी फासीवाद अपने खेल में बख़ूबी इस्तेमाल करता है।

कारपोरेट संस्कृति के मुरीद नवधनाढ्य खुशहाल मध्यवर्ग और व्यापारियों-छोटे पूँजीपतियों और दलालों-शेयर ब्रोकरों के परम्परागत आधार के साथ ही, नवउदारवादी नीतियों के परिणामस्वरूप उजड़े हुए, तबाह-बर्बाद और अनिश्चितता के शिकार मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से का भी, हिन्दुत्वादी फासीवाद ने अपनी ओर उसी तरह आकृष्ट किया है, जिस प्रकार जर्मनी और इटली में हुआ था। एक संगठित कम्युनिस्ट क्रान्तिकाकरी आन्दोलन की

अनुपस्थिति और संशोधनवादियों द्वारा मज़दूरों को फासीवाद के विरुद्ध जुझारू ढंग से लामबंद करने के बजाय मात्र चुनावी संयुक्त मोर्चे बनाते रहने की सामाजिक-जनवादी नीति के कारण भी निराश-पस्त मज़दूरों, निम्न मध्य वर्ग और अर्द्धसर्वहाराओं के बीच पैठ बनाने में फासिस्टों को मदद मिली है।

वर्तमान स्थिति में, नवउदारवाद की नीतियों को तेज़ गति से लागू करने और हर सम्भावित जन-प्रतिरोध को कुचल डालने के लिए भारत के इजारेदार पूँजीपति वर्ग का बड़ा हिस्सा हिन्दुत्ववाद के एक मॉडर्न संस्करण के रूप में नरेन्द्र मोदी को भी विकल्प के रूप में आजमाने को तैयार है। उससे भी अधिक, साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी आज इसके लिए तैयार है। निश्चय ही ढाँचागत संकट के इस दौर में पूँजीपति वर्ग इस प्रश्न पर एकमत नहीं है और यह भी तय है कि कांग्रेस नीति या कांग्रेसी समर्थन वाला कोई गठबन्धन भी इन्हीं नीतियों को निर्द्वंद्व भाव से लागू करेगा, पर पूँजीपति वर्ग इस प्रश्न पर आज पूर्ण आश्वस्ति चाहता है। जाहिरा तौर पर, यदि नरेन्द्र मोदी सत्ता में आता है तो यहूदियों के सफ़ाये और 'गुजरात - 2002 जैसी कोई चीज़ पूरे देश के स्तर पर दुहराना सम्भव नहीं होगा। पर धार्मिक बहुसंख्यावाद की राजनीति, यहाँ-वहाँ दंगों और आतंक के माहौल में धार्मिक अल्पसंख्यक निश्चय ही दोयम दर्जे के नागरिक के रूप में जियेंगे। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति भी बदतर हो जायेगी। इससे आबादी के एक बड़े हिस्से की सस्ती से सस्ती श्रमशक्ति को निचोड़ना आसान हो जायेगा और "कल्याणकारी" कार्यों पर राज्य का खर्च भी घटाने में आसानी हो जायेगी। इससे भी अहम बात यह फासीवाद मज़दूरों के प्रतिरोध, क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन और प्रगतिशील-जनवादी बौद्धिक स्वरों को बर्बर ढंग से कुचलेगा। पूँजीपतियों को प्राकृतिक सम्पदा की लूट और फैक्ट्रियाँ लगाने का अवसर देने के लिए हाउसिंग प्रोजेक्ट्स और इन्फ्रास्ट्रक्चर के लिए उजाड़े जा रहे करोड़ों लोगों के प्रतिरोध से निपटने के लिए 'पुलिस स्टेट' का रणकौशल अपनाया जायेगा। राष्ट्रीयताओं के जारी संघर्षों के क्षेत्रों में सैनिक शासन की स्थिति मुकम्मल बना दी जायेगी।

भाजपा गठबन्धन की सरकार 2014 में बने या न बने, हिन्दुत्ववादी फासीवाद की प्रबल उपस्थिति आने वाले दिनों में भारतीय सामाजिक-राजनीतिक पटल पर बनी रहेगी। भारतीय पूँजीपति वर्ग ज़ंजीर में बँधे शिकारी कुत्ते की तरह इसे बनाये रखेगा और इस सम्भावना को फिर भी पूरी तरह इंकार नहीं किया जा सकता कि बीच-बीच में स्वयं भी यह कुत्ता ज़ंजीर छुड़ाकर उत्पात मचाता रहे। बुर्जुआ व्यवस्था और राजनीति की गति अपने अन्तरविरोधों के चलते कभी-कभी पूँजीपति वर्ग की इच्छा से स्वतंत्र भी हो जाती है।

(18) भारतीय सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य पर लगातार ख़तरनाक सम्भावनाओं के साथ उपस्थित हिन्दुत्ववादी फासीवाद का सामना केवल संगठित मज़दूर वर्ग ही कर सकता है। जब मज़दूर वर्ग संगठित होगा, तभी वह अन्य मेहनतकश वर्गों और परेशानहाल मध्यवर्ग को साथ लेकर एक व्यापक, जुझारू संयुक्त मोर्चा बना सकता है। साम्राज्यवादी संकट की चर्चा के बिना फासीवाद की चर्चा नहीं की जा सकती - इस मार्क्सवादी प्रस्थापना को विस्तार देते हुए कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकशों तथा रैडिकल मध्यवर्ग की जुझारू लामबंदी को आगे बढ़ाये बिना फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई की तैयारी भी मंसूबों, नारों और खोखले प्रचार तक ही सिमट कर रह जायेगी।

आज यदि कोई एकीकृत क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी होती तो फासीवाद के विरुद्ध मज़दूर

वर्ग और अन्य क्रान्तिपक्षीय वर्गों का मोर्चा बनाते हुए संसद के मंच का भी इस्तेमाल करती और संसदीय जड़वामन संशोधनवादियों और सामाजिक जनवादियों पर भी फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा में शामिल होने के लिए भारी जन-दबाव बना सकती थी। जब ऐसे तत्व ढुलमुलपन दिखाते तो इनके कथित फासीवाद-विरोधी "सेक्युलर" चरित्र का पर्दाफाश होता और इनकी कतारें मोहभंग के कारण टूटकर अलग होने लगतीं। लेकिन फिलहाल ऐसी कोई स्थिति नहीं है। ऐसे में एकमात्र रास्ता यही बचता है कि जो भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुप और संगठन हैं वे अपनी पहल पर व्यापक मेहनतकश जनता और मध्यवर्गीय बौद्धिक समुदाय के बीच फासीवाद-विरोधी जुझारू संघर्ष की लम्बी तैयारी के लिए तृणमूल स्तर पर सत्-सघन राजनीतिक काम करें।

जिस स्तर पर भी सम्भव हो, प्रगतिशील, सेक्युलर आम मध्यवर्गीय युवाओं और मज़दूरों को (इनमें स्त्री समुदाय भी शामिल है) ऐसे दस्तों में संगठित करने की राह निकालनी होगी, जो तृणमूल स्तर पर लम्पट-असामाजिक-आपराधिक तत्वों और फासीवादी गुण्डों से निपटने को तैयार हों।

बस्तियों-मुहल्लों में पुस्तकालय, क्रान्तिकारी उत्सव आदि विविध सांस्कृतिक उपक्रमों के ज़रिए राहुल, भगतसिंह आदि की क्रान्तिकारी विरासत के प्रति जागरूकता पैदा करते हुए सेक्युलरिज़्म की जुझारू क्रान्तिकारी विचारधारा का सामाजिक आधार व्यापक बनाना होगा।

कथित प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के बड़े हिस्से ने धार्मिक कट्टरपंथ-विरोध को ज्ञापनों-प्रतिवेदनों और सभाकक्षों में सीमित वैचारिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों के रूप में शर्मनाक, 'पैस्सिव', कुलीन कर्मकाण्ड बना दिया है। किताबों पर प्रतिबंध, आयोजनों में तोड़-फोड़ हंगामे जैसी फासीवादी गुण्डा हरक़तों का वामपंथी बुद्धिजीवियों को जुझारू प्रतिवाद करना होगा और सड़कों पर उतरना होगा। इतिहास और संस्कृति-विषयक फासीवादी विकृतिकरण और दुष्प्रचार का प्रतिवाद केवल गम्भीर शोधपत्रों, संगोष्ठियों से ही नहीं किया जा सकता और कायर-कुलीन "प्रगतिशील" इसे कर भी नहीं सकते। हमें व्यापक जन प्रचार के तरीक़े अपनाने होंगे, वैकल्पिक जन-मीडिया संगठित करना होगा और हर मोर्चे पर उन अतार्किक, अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक विचारों के खिलाफ़ प्रचार चलाना होगा, जिनका इस्तेमाल करके फासीवादी ताक़ते निराश और पिछड़ी चेतना वाले मध्य वर्ग और मज़दूरों के बीच अपना सामाजिक आधार बनाने का काम करती हैं।

जो संशोधनवादी पार्टियाँ फासीवाद-विरोध को मात्र चुनावी गँठजोड़ों तक सीमित कर देती हैं और सिर्फ़ संसद में गत्ते की तलवारें भाँजती हैं, इनके असली चरित्र को मेहनतकश जनता के सामने लाना सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यभार है। यही वे पार्टियाँ हैं जिन्होंने अर्थवाद, सुधारवाद और ट्रेड यूनियनवाद की राजनीति का मज़दूर आन्दोलन पर वर्चस्व स्थापित करके फासीवादी बर्बरता की चुनौती के सामने मज़दूर वर्ग को वैचारिक-राजनीतिक रूप से निश्शस्त्र और अरक्षित बना दिया है। मज़दूर वर्ग की राजनीतिक तेयारी के बिना फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष महज एक खोखला नारा बना रहेगा।

मौजूदा फासीवादी उभार कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए एक चेतावनी है कि हमें साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष की तैयारी के लिए मज़दूर वर्ग की राजनीतिक तैयारी के काम को तेज़, बहुत तेज़ करना होगा। हमें मज़दूर वर्ग की एक एकीकृत पार्टी के पुनर्निर्माण के

काम को पूरी ताक़त लगाकर आगे बढ़ाना होगा। इस प्रक्रिया के दौरान, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को इस प्रश्न पर भी गम्भीरता से सोचना होगा कि विचारधारा और लाइन के प्रश्नों पर बहस जारी रखते हुए, कम से कम फासीवादी हमलों के कारगर प्रतिरोध के लिए वे किस प्रकार एक साथ खड़े हों।

क्रान्ति की मनोगत शक्तियों के बिखराव और मज़दूर वर्ग में उनके आधार के कमज़ोर होने के कारण हालात कठिन और चुनौतीपूर्ण ज़रूर हैं। साम्राज्यवाद के असाध्य ढाँचागत संकट के इस दौर में पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष की तैयारी के साथ फासीवाद के कारगर प्रतिरोध का सवाल और अधिक गहराई के साथ जुड़ गया है। यह एक लम्बी लड़ाई है, जिसमें एक दिन के लिए भी ढीला नहीं पड़ा जा सकता।

An Important Book from Rahul Foundation

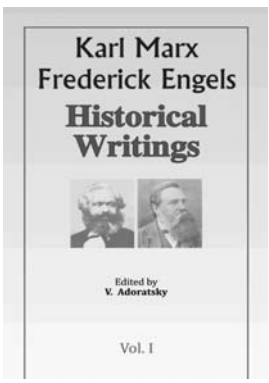

Price: Rs. 700 (Set)
Pages: 1248

ISBN 978-93-80303-58-1
978-93-80303-59-8

Historical Writings

Karl Marx & Frederick Engels, ***2 Volumes***

These historical writings by Karl Marx and Frederick Engels were written immediately after the events of which they treat. On the basis of concrete material, Marx and Engels give striking examples of the materialist explanation of history. But the theoretical analysis of the events does not by any means exhaust the significance of these historical works. Marx's work as historical investigator is intimately bound up with the practical struggle of the proletariat. The writings and documents collected in this edition also give the reader sufficient material for studying the foundations of the theory and policy of scientific communism as created and developed by Marx and Engels.

For copies contact:

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow - 226020

Phone: 0522-2786782

Email: info@janchetnabooks.org, Website: janchetnabooks.org

नेपाली क्रान्तिः गतिरोध और विचलन के बाद विपर्यय और विघटन के दौर में

● आलोक रंजन

नेपाल में संविधान सभा के चुनावों में नेपाल की एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) की भारी पराजय से अनुभववादी आशावादी भावुक क्रान्तिवादियों को काफ़ी सदमा लगा है। लेकिन जो हुआ है, वह एनेकपा (माओवादी) की राजनीति का ही तार्किक परिणाम है।

बुर्जुआ संसदीय जनवाद के खेल के प्रति एनेकपा (माओवादी) का बहुत भरोसा था, तो अब उसके नतीजों को भी स्वीकार करने/भुगतने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए था। अब पार्टी का कहना है कि मतपेटियों को गणना के पहले रात भर सेना के बैरक में रखना रहस्यपूर्ण था और इस चुनाव में भारी घपला हुआ। लेकिन प्रचण्ड और भट्टराई यदि समझते थे कि ऐसे घपले बुर्जुआ संसदीय चुनावों में नहीं होंगे, पिछले चुनावों से सबक लेकर शासक वर्ग और सेना इस बार उनकी पार्टी को हाशिए पर धकेल देने का इंतजाम नहीं करेंगी, तो यह उनका मुग़ालता था। बुर्जुआ राज्यसत्ता के बारे में यदि वे सामाजिक जनवादी विभ्रमों में डूब गये थे, तो उन्हें इसकी कीमत तो चुकानी ही थी।

सच तो यह है कि संविधान सभा के पहले चुनाव के समय भारी जनसमर्थन का दबाव नेकपा (माओवादी) के पक्ष में था और जनमुक्ति सेना भी तब वजूद में थी, इसलिए चाहकर भी शासक वर्ग तब अपनी मनचाही नहीं कर सकता था। 2013 में परिस्थिति एकदम भिन्न थी। पार्टी अपने पुराने इलाकाई आधारों से उखड़

चुकी थी। यहाँ तक कि लोकयुद्ध के दौरान जो ज़मीनें भूस्वामियों से छीनकर किसानों में बाँटी गयी थी, वे सरकार में रहते हुए, शासक वर्ग के दबाव में, वापस फिर भूस्वामियों को दे दी गयी थी, इस आश्वासन के साथ कि नया संविधान बनने के बाद रैडिकल भूमि सुधार लागू करके फिर से ज़मीनों का पुनर्वितरण किया जायेगा। पूर्ववर्ती मुक्तक्षेत्रों में लोकसत्ता के जो रूप पैदा हुए थे, वे सभी छिन्न-भिन्न हो चुके थे। जनमुक्ति सेना शासक वर्ग की अन्य पार्टियों के लम्बे दबाव की नीति के आगे झुकते हुए, विलय के पुराने ख़ाके को छोड़कर, विलय के नाम पर विसर्जित की जा चुकी थी। संसद में बैठने और सरकार चलाने के दौरान काठमाण्डू में बैठे पार्टी नेतृत्व का बुर्जुआ जीवन और भ्रष्टाचार के उदाहरण कतारों और जनता में भारी पस्ती और गुस्से का सबब बन रहे थे। प्रचण्ड-भट्टराई धड़ों को संशोधनवादी बताते हुए किरण वैद्य-गजुरेल-बादल धड़े के अलग होकर नेकपा (माओवादी) के पुर्नगठन और इस नयी पार्टी द्वारा 33 अन्य दलों के साथ मिलकर चुनाव बहिष्कार करने का भी परिणाम एनेकपा (माओवादी) को भुगतना ही था। मधेसी पार्टियों की अनुपस्थिति और बिखराव का फ़ायदा उठाने के लिए एनेकपा (मा.) ने पर्वतीय अंचलों के पुराने प्रभाव क्षेत्रों को छोड़कर तराई क्षेत्र में अपनी ज़्यादा ताक़त झोंकी थी, क्योंकि उन्हें भय था कि पूर्ववर्ती प्रभावक्षेत्रों की आक्रोशित जनता शायद इस बार उनका साथ उस हद तक न दे। नतीजा, दोनों ही जगहों पर उन्हें कुछ ख़ास हासिल नहीं हुआ। यह आकलन नेपाल की ठोस परिस्थितियों को देखकर सही नहीं लगता कि एनेकपा (मा.) की हार सिर्फ़ चुनावी घपले का नतीज़ा है। घपले की एक हद तक की भूमिका हो सकती है, लेकिन यदि घपला नहीं भी होता तो इस बार पार्टी का बहुमत ला पाना मुश्किल था, असम्भवप्राय था। नेपाल की ज़मीनी हक़ीकत जानने वालों को यह चुनाव के पहले ही आभास होने लगा था।

संसदीय जनवाद के प्रति प्रचण्ड-भट्टराई-नारायण काजी श्रेष्ठ जो भ्रम, बल्कि यूँ कहें कि निष्ठा पाल बैठे थे, उसका एक परिणाम तो उनके सामने है। पर बात केवल इतनी ही नहीं है। यदि संविधान सभा में वे बहुमत में आ भी जाते तो संविधान सभा की संरचना और कार्यप्रणाली को देखते हुए, एक बुर्जुआ संविधान ही बना सकते थे, फ़र्क सिर्फ़ यह होता कि उसमें जनवाद का पक्ष कुछ ज़्यादा होता। बुर्जुआ जनवाद का आंशिक रैडिकल अतिक्रमण भी सेना और अन्य बुर्जुआ पार्टियों को (यूँ कहें कि नेपाली बुर्जुआ वर्ग, भूस्वामी वर्ग, भारतीय बुर्जुआ वर्ग और अन्य साम्राज्यवादी ताकतों को) कत्तई स्वीकार्य नहीं होता। शासक वर्ग पर दबाव बनाने के लिए बाहर मौजूदा वर्ग-संघर्ष का जो इस्तेमाल किया जा सकता था, उसे पार्टी पहले ही एक तरह से तिलांजलि दे चुकी थी। देहाती इलाकों में आधार और छापामार इलाके थे नहीं, लोक सत्ता के विकासमान स्थानीय रूप टूट चुके थे, जन मुक्ति सेना विसर्जित हो चुकी थी। इसलिए, हमारा यह स्पष्ट मानना है कि एनेकपा (मा.) के बहुमत पाने की स्थिति में भी नेपाल की जनवादी क्रान्ति के अग्रवर्ती विकास के द्वार खुल जाते, यह मानना भी एक मुग़ालता ही होगा।

वास्तव में नेपाल क्रान्ति की अग्रगति तो उस समय ही रुक गयी थी और उसका वह भविष्य तय हो चुका था (जो आज का वर्तमान है) जब नेपाल की और आज की दुनिया की "ठोस परिस्थितियों" के नाम पर प्रचण्ड ने और उनसे भी आगे बढ़कर भट्टराई ने सर्वहारा अधिनायकत्व के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों को "संशोधित" करते हुए सोवियत सत्ता

जैसी किसी प्रणाली के बरक्स बहुदलीय जनतंत्र के मॉडल को प्रस्तुत करना शुरू किया था। फिर उन्होंने जनता के जनवादी गणराज्य के पहले संघात्मक जनवादी गणराज्य जैसी एक और संक्रमणकालिक अवस्था का सिद्धान्त देना शुरू कर दिया ताकि संविधान सभा में अपने समझौतों, जोड़ों-तोड़ों और हर हाल में बने रहने का औचित्य-प्रतिपादन किया जा सके। पार्टी पहली संविधान सभा के मंच का रणकौशल (टेक्टिक्स) के रूप में इस्तेमाल करने की बात करती थी, लेकिन कालांतर में, किसी भी सूरत में संविधान-निर्माण और नये संविधान के तहत चुनाव लड़कर सत्तासीन होना ही उसका मुख्य उद्देश्य हो गया। जनमुक्ति सेना और आधार क्षेत्रों का विघटन-विसर्जन इसका स्पष्ट संकेत था। यानी चुनाव और संसद का इस्तेमाल पार्टी के लिए रणकौशल के बजाय रणनीति (स्ट्रैटेजी) का सवाल बन गया। जंगलों-पहाड़ों से चलकर "प्रचण्ड पथ" संसद के गलियारों में खो गया। हर संशोधनवादी पार्टी की तरह नेपाली पार्टी के नेता अलग-अलग बयानों में परस्पर-विरोधी बातें कहते रहे, अन्तरविरोधी बातें कहते रहते और बुनियादी विचारधारात्मक प्रश्नों पर या तो 'नरो वा कुंजरो' की भाषा में बात करते रहे, या फिर उनसे कन्नी काटते रहे। भट्टराई को कभी तो यह लगता था कि क्रान्ति के लिए फिलहाल नेपाल में उत्पादक शक्तियों का विकास (यानी पूँजीवादी विकास) बहुत ज़रूरी है (देङ सियाओ पिङ की भाषा) और कभी अपनी अवस्थिति को सही ठहराने के लिए एक पिछड़े देश में समाजवाद तो दूर लोक जनवादी क्रान्ति की भी असम्भवता सिद्ध करने के लिए उन्हें त्रॉत्स्की तक की अवस्थिति सही लगने लगती थी। यह अनायास नहीं था कि इस पूरी अवधि के दौरान पार्टी चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति जैसे प्रश्नों पर चुप्पी साधे रहती थी और उसके मुखपत्रों में भी इन विषयों पर या वर्तमान चीन के "बाज़ार समाजवाद" नामधारी मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले पूँजीवाद पर कभी कोई लेख नहीं आया। निचोड़ के तौर पर कहा जा सकता है कि वर्ग संघर्ष, सर्वहारा अधिनायकत्व और सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतगर्त सतत् क्रान्ति की सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की बुनियादी शिक्षा को तत्कालीन नेकपा (माओवादी)–आज की एनेकपा (माओवादी), छोड़ चुकी थी। वह चुनाव और संविधान-निर्माण के मार्ग, बहुदलीय संसदीय प्रणाली के सिद्धान्त और उत्पादक शक्तियों के विकास के सिद्धान्त को अपना चुकी थी। विचारधारात्मक भटकाव बरसों पहले ही विचारधारात्मक प्रस्थान बन चुका था। लेकिन मिथ्या आशा के स्रोतों की तलाश करते बहुतेरे भावुक क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी इस प्रस्थान को महज छोटी-मोटी रणनीतिक या रणकौशलात्मक चूक मानते हुए और गड़बड़ियों की जड़ नेतृत्व के इस या उस व्यक्तित्व में तलाशते हुए यह भ्रम पालने के हठ पर अड़े रहे कि सगरमाथा पर एक दिन लाल झण्डा फहराकर रहेगा। अभी भी एनेकपा (मा.) की भारी चुनावी हार से क्षुब्ध ऐसे बुद्धिजीवी पूरी पार्टी के विचाराधारात्मक पतन और रणनीतिक समझौतों पर सोचने के बजाय सारी गड़बड़ियों की जड़ सिर्फ़ यह मानते हैं कि सेना की मदद से बड़े पैमाने पर चुनावी धाँधली हुई। ऐसी बातों का मार्क्सवादी-वैज्ञानिक विश्लेषण से कुछ भी लेना-देना नहीं है। एनेकपा (मा.) के सामने फरवरी 1917 की क्रान्ति के बाद क़ायम होने के बाद आरजी सरकार के और उसके घटक दलों के व्यवहार का इतिहास था, संविधान सभा और सोवियत को लेकर बोल्शेविक पार्टी के व्यवहार का इतिहास था, जर्मनी क्रान्ति को कुचल दिये जाने का इतिहास था, 1920के दशक में कुओमिताङ के साथ चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के संयुक्त मोर्चा बनने और

टूटने का इतिहास था। उसके सामने इण्डोनेशिया की पार्टी द्वारा बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों का शिकार होने की ऐतिहासिक भूल और उसकी क़ीमत चुकाने का इतिहास था, चीले में अलेन्दे की सत्ता के सैनिक तख़्तापलट का इतिहास था, लेकिन चुनाव और बुर्जुआ जनवाद के बारे में लेनिनवादी निष्पत्तियों का बार-बार सत्यापन करने वाली घटनाओं से उन्होंने कुछ भी नही सीखा। यह आत्मधर्माभिमान, अतिशय आत्मविश्वास और विचारधारात्मक कमज़ोरी से पैदा हुआ बुर्जुआ विभ्रम था या संसदीय जनवाद के खेल में लम्बे समय तक उलझे रहने से पार्टी के चरित्र में आया स्खलन और साहस का अभाव (पराजय-बोध) था, यह निश्चयपूर्वक कहना मुश्किल है। हो सकता है कि ये सभी उपादान नेतृत्व के विभिन्न लोगों के बीच अलग-अलग रूपों और परिमाण में मौजूद हों। उल्लेखनीय है कि 2006 से 2013 के बीच पार्टी के लेनिनवादी ढाँचे और कार्यप्रणाली भी क्रमशः विघटित होती चली गयी थी। जनवादी केन्द्रीयता के आधार पर सुगठन की जगह पार्टी का ढाँचा संघात्मक और ढीला-ढाला हो गया था। सदस्यता के मानक ढीले हो गये थे। पूरी पार्टी ऊपर से नीचे तक एक खुली जन-पार्टी जैसी ही हो गयी थी। विभिन्न संशोधनवादी पार्टियों से छिटके धड़ों को मिलाकर ताकत बढ़ा लेने की हड़बड़ी में पार्टी की राजनीतिक संस्कृति में तेजी से पतन आया था। शीर्ष नेतृत्व के कई लोग भी अपनी जीवन-शैली और भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद के आरोपों के चलते विवादास्पद बन चुके थे। राजनीतिक मतभेदों को हल करने के लिए बहस और पारदर्शी सांगठनिक तौर-तरीकों की जगह जोड़तोड़, गुटबाजी और सांगठनिक छल-नियोजन (मैनिपुलेशन) का चलन आम हो चला था।

आमतौर पर इतिहास में पहले भी यह देखा गया है कि कोई पार्टी यदि अपने "वामपंथी" भटकाव को साहसपूर्ण आत्मालोचना और दोष-निवारण द्वारा दूर नहीं करती है, तो पेण्डुलम फिर दूसरे छोर तक, यानी दक्षिणपंथी भटकाव तक जाता ही है। एनेकपा (माओवादी) के साथ भी ऐसा ही हुआ। प्रचण्ड की लाइन में लोकयुद्ध के पूरे दौर में "वामपंथी" भटकाव एक सैन्यवादी लाइन के रूप में मौजूद था, राजनीति के ऊपर बन्दूक की प्रधानता थी, जुझारू कार्यकर्ताओं की राजनीतिक शिक्षा पर और उन्हें बोल्शेविक संस्कृति में ढालने पर ज़ोर बहुत कम था। ऐसी पार्टी जब बुर्जुआ जनवाद के दाँवपेंच में उतरी तो फिर पूरी पार्टी उसी भँवर में उलझकर रह गयी।

दिलचस्प बात यह है कि नेकपा (मा.) में विलय के पूर्व प्रकाश उर्फ नारायण काजी श्रेष्ठ के नेतृत्व वाली नेकपा (एकता केन्द्र-मसाल) प्रचण्ड की लाइन के "वामपंथी" भटकाव की तथा 'प्रचण्ड पथ' के सूत्रीकरण की काफ़ी हद तक सही आलोचना रख रही थी और इस भटकाव के दूसरे छोर तक जाने की अन्तर्निहित संभावनाओं की भी शिनाख़्त कर रही थी। लेकिन विलय के बाद उस धड़े की मुख्य भूमिका प्रचण्ड और भट्टराई गुट के बीच सन्तुलन स्थापित करने की रह गयी और फिर प्रचण्ड और भट्टराई के साथ उतने ही जोर-शोर के साथ नारायण काजी श्रेष्ठ भी संसदीय मार्ग के अनुगामी बने। पश्चदृष्टि से देखकर कहा जा सकता है कि प्रचण्ड की लाइन की मूलतः सही आलोचना रखते हुए भी नेकपा (एकता केन्द्र-मसाल) में सही क्रान्तिकारी जनदिशा का विकल्प खड़ा कर पाने की क्षमता नहीं थी। इसके भीतर निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद (पैस्सिव रैडीकलिज़्म) की विच्युति निर्मल लामा के दौर की ही विरासत थी, जनान्दोलनों के साथ लम्बे दौर की संसदीय भागीदारी ने इस विच्युति को

गम्भीर विचलन बनाने में गंभीर भूमिका निभायी, पार्टी में कतिपय बुद्धिजीवियों ने नेतृत्व तक को प्रभावित करना शुरू कर दिया। नेकपा (मा.) के साथ एकता केन्द्र की एकता एक अवसरवादी एकता थी, जो बुनियादी उसूली मसलों को दरकिनार करके हुई थी। यह एकता-केन्द्र का आत्मसमर्पण अधिक था, हालाँकि लोकयुद्ध को 'रणनीतिक आक्रमण' की मंजिल तक पहुँच जाने की अतिउत्साही घोषणा के बाद उस समय तक प्रचण्ड को भी लगने लगा था कि काठमाण्डू तक पहुँचना इतना आसान नहीं है, संघर्ष में गतिरोध आने लगा था और शासक वर्ग की पार्टियों के साथ समझौता और संविधान सभा के चुनाव में उतरना नेकपा (मा.) को भी एकमात्र विकल्प दीखने लगा था। पहली संविधान सभा के चुनाव के बाद, नेकपा (मा.) की लोकप्रियता की लहर के प्रमाण मिल चुके थे। एकता केन्द्र ने इन्हीं स्थितियों में एकता का मार्ग चुना। इस अवसरवाद के पीछे नारायण काजी श्रेष्ठ की और उनके संगठन की जो कमज़ोरियाँ थी, वे सबसे अधिक नग्न रूप में तब सामने आयीं जब प्रचण्ड और भट्टराई के साथ वे संसदीय मार्ग के तीसरे प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में सामने आये।

निश्चय ही आज, किरण वैद्य, गजुरेल, बादल आदि के धड़े ने एनेकपा (मा.) के संशोधनवाद का विरोध करते हुए पुराने जुझारू संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं के एक अच्छे खासे हिस्से को नेकपा (माओवादी) का पुनर्गठन करके गोलबंद कर लिया है। आज यह संगठन एनेकपा (माओवादी) को नेकपा (ए.मा.ले.) जैसी ही संशोधनवादी मानता है, लेकिन अभी यह उम्मीद बाँधने का कोई आधार नहीं दीखता कि यह पार्टी विपर्यय और बिखराव की शिकार नेपाली क्रान्ति की धारा को निकट भविष्य में जल्दी आगे की ओर गति दे पायेगी। इस संशय के पीछे वस्तुगत से अधिक मनोगत उपादानों की भूमिका है। स्मरणीय है कि 'प्रचण्ड पथ' के एक उत्साही पैरोकार किरण वैद्य लम्बे समय तक रहे। पार्टी जब एक ओर धड़ेबंदी का शिकार थी और दूसरी ओर संसदीय भटकाव की ओर तेज़ी से फिसल रही थी, उस समय बुनियादी विचारधारात्मक सवालों को उठाने के बजाय किरण वैद्य भी सांगठनिक जोड़तोड़ में ही व्यस्त थे। प्रचण्ड जिस समय बहुदलीय संसदीय प्रणाली की बात को आगे बढ़ाते हुए सर्वहारा अधिनायकत्व की बुनियादी अवधारणा को "संशोधित" कर रहे थे, उस समय भी किरण वैद्य का विरोध मुखर नहीं था। विरोध सर्वाधिक मुखर होकर 'जनता का जनवाद' बनाम 'संघीय जनवाद' की बहस के दौरान सामने आया और उसे भी किरण वैद्य ने समझौता फार्मूले से हल करने की कोशिश की। इस धड़े का अप्रोच बुनियादी विचारधारात्मक मसलों को भी मुख्यत: 'आर्गनाईज़ेशन इन कमाण्ड' की दृष्टि से हल करने का रहा। अभी भी यह स्पष्ट नहीं है कि इस पुनर्गठित पार्टी की रणनीति और कार्ययोजना क्या है?

आज की विश्व परिस्थितियों और नेपाल की ठोस परिस्थितियों में, नेपाल की लोक जनवादी क्रान्ति का रास्ता पहले भी लम्बा और कठिन था। शुरुआती चक्र की सफलताओं से पैदा हुई अतिआशावादी जल्दबाज़ी में विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर पार्टी ने दीर्घकालिक लोकयुद्ध के लम्बे रास्ते को छोटा करने की ग़लती की और इस ग़लती के अहसास के बाद, समझौते और चुनाव के चक्र में उतरकर संसदीय विभ्रमों का शिकार हो गयी। कहा जा सकता है कि साम्राज्यवादी ताकतों, भारतीय प्रभुत्ववादियों और नेपाली शासक वर्ग ने अपना खेल अधिक कुशलता और धीरज के साथ खेला और दमन के बजाय सर्वहारा क्रान्ति की हरावल शक्ति की कमज़ोरियों का लाभ उठाकर उसे विघटित करके अपने मक़सद में क़ामयाबी

हासिल की।

नेपाली जनता और कम्युनिस्ट कतारों में आज पस्ती और निराश व्याप्त है। लेकिन मुक्ति की आकांक्षाएँ अभी मरी नहीं हैं। मर भी नहीं सकती।

अभी भी विभिन्न संगठनों में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कार्यकर्ता मौजूद हैं। ज़रूरत है एक ऐसे नेतृत्व की, जिसमें गुजरे समय के इतिहास का साहसपूर्वक सार-संकलन करने और कतारों के सामने रखने का साहस हो, जो नेपाली क्रान्ति को पुनस्संगठित करने की एक स्पष्ट कार्ययोजना प्रस्तुत कर सके, जो नये सिरे से बोल्शेविक साँचे-खाँचे में ढली, विचारधारात्मक पक्ष पर सर्वोपरि ज़ोर देने वाली पार्टी के पुनर्निर्माण के भगीरथ-प्रयास में जुट जाने का साहस रखता हो।

एक नयी शुरुआत काफ़ी पीछे लौटकर करती होगी।

इसके लिए धारा के विरुद्ध तैरने का साहस रखने वाले एक वास्तविक माओवादी नेतृत्व की ज़रूरत होगी।

राहुल फाउण्डेशन का प्रकाशन

नेपाली क्रान्ति :

इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार

आलोक रंजन

भारत और नेपाल में जारी वर्ग संघर्ष एक दूसरे को गहराई से प्रभावित करते हैं, इसलिए नेपाली क्रान्ति के सफ़रनामे से गहराई से परिचित होना भारत के जागरूक मुक्तिकामी जनों के लिए बेहद ज़रूरी है। साथ ही, नेपाल में क्रान्ति के रास्ते के प्रश्न पर संसदीय मार्ग बनाम क्रान्तिकारी मार्ग की जो बहस नये सिरे से उठ खड़ी हुई है, उसका सार्व- भौमिक विचारधारात्मक महत्त्व है। नेपाल के हालिया घटनाक्रम से इस पुस्तिका की विषयवस्तु और भी प्रासंगिक हो गयी है। **मूल्य : 55 रुपये**

अंग्रेज़ी संस्करण भी उपलब्ध (मूल्य : 75 रुपये)

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोनः (0522) 2786782

ईमेलः info@janchetnabooks.org, वेबसाइटः janchetnabooks.org

'कम्युनिज़्म' का विचार या उग्रपरिवर्तनवाद के नाम पर परिवर्तन की हर परियोजना को तिलांजलि देने की सैद्धान्तिकी

एलेन बेज्यू की पुस्तक 'द कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' पर

● शिवानी

विचार
जब सिर्फ विचार होते हैं
अस्पष्ट होते हैं
प्रशंसनीय होते हैं।
विचार जब
व्यापकता पाते हैं
योजनाओं में ढलते हैं,
योजनाएँ जब
गतिशील होती हैं
आपत्तियाँ सिर उठाती हैं।

– ब्रेष्ट

"मार्क्सवाद, मज़दूर आन्दोलन, सामूहिक जनवाद, लेनिनवाद, सर्वहारा वर्ग की पार्टी, समाजवादी राज्य – ये सभी जो बीसवीं शताब्दी के आविष्कार हैं – अब हमारे लिए अपनी उपयोगिता खो चुके हैं। सैद्धान्तिक धरातल पर ये ज़रूर अध्ययन और समीक्षा की माँग करते हैं – लेकिन व्यावहारिक राजनीति में अब ये किसी काम के नहीं रह गये हैं।"

–एलेन बेज्यू, 2008

एलेन बेज्यू की 2010 में प्रकाशित पुस्तक **'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस'** पिछले कुछ समय से आम बौद्धिक-अकादमिक हलकों में ही नहीं बल्कि वामपंथी दायरों में भी चर्चा का विषय बनी हुई है। कुछ इसे 'कम्युनिज़्म की वापसी' की उद्घोषणा करने वाली पथ-अन्वेषक रचना कह रहे हैं, तो कुछ बेज्यू को इस दौर का सबसे बड़ा 'कम्युनिस्ट' दार्शनिक बता रहे हैं।

वैसे 'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' अलग से लिखी गई कोई किताब नहीं है, बल्कि बेज्यू द्वारा अलग-अलग समय पर लिखे गए लेखों या दिये गये व्याख्यानों का संकलन है। इस किताब का मुख्य स्रोत 2008 में बेज्यू द्वारा **'न्यू लेफ्ट रव्यू'** के लिए इसी नाम से लिखा गया वह निबन्ध है जिसमें बेज्यू 2007 के राष्ट्रपति चुनावों में निकोलस सारकोज़ी की जीत के ऐतिहासिक महत्व की पड़ताल करते हैं और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सारकोज़ी की जीत से सम्पूर्ण फ्रांसिसी राजनीतिक जीवन की संरचना को धक्का पहुँचा है और उसकी दशा-दिशा गड़बड़ा गयी है। इसी निबन्ध में वह **'कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस (परिकल्पना)'** की अपनी अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। इसके अलावा, मार्च 2009 में लंदन में **'कम्युनिज़्म का विचार' ('दि आइडिया ऑफ कम्युनिज़्म')** नाम से आयोजित एक कांफ्रेंस में बेज्यू द्वारा प्रस्तुत किया गया वक्तव्य भी इस पुस्तक का एक स्रोत है। यहाँ बताते चलें कि इस सम्मेलन में बेज्यू के अलावा **स्लावोय ज़िज़ेक, जुडित बालसो, ब्रूनो बोस्तील्स, टेरी ईगलटन, पीटर हॉलवर्ड, माइकल हार्ट, एण्टोनियो नेग्री, जाक रैन्शिये, एलेक्सांद्रो रूसो, एल्बर्टो टस्कानो, जियानी वातिमो** जैसे तमाम किस्म के मार्क्सवादियों, नव-मार्क्सवादियों और उत्तर-मार्क्सवादियों ने शिरकत की थी।

●

दार्शनिकों ने
दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है
पर सवाल उसको बदलने का है।
लेकिन हम खुद सोचेंगे
सभी सवालों पर फिर से,
नये ढंग से।
हर पुरानी चीज़ पर
सवाल उठाना है हमें
जैसे कि इस कथन पर भी
कि दार्शनिकों ने... ...
-कात्यायनी ('दुनिया बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनतों के विविध विचार-6)

'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' की विस्तृत समीक्षा में जाने से पहले यहाँ कुछेक बातें स्पष्ट करना आवश्यक है। **पहली बात** यह कि **बेज्यू का कम्युनिज़्म का विचार या सिद्धान्त एक गैर-मार्क्सवादी कम्युनिज़्म** की बात करता है और मार्क्सवादी विचारधारा को भविष्य की मुक्तिकामी राजनीति (emancipatory politics) के लिए अपर्याप्त, अप्रासंगिक और गैर-ज़रूरी मानता है। **दूसरी बात** यह कि **बेज्यू का कम्युनिज़्म का विचार**

अनैतिहासिक है। बेज्यू के अनुसार कम्युनिज़्म का यह विचार अनादि-अनन्त है। यह मानवता के उद्‌भव के साथ ही जन्म ले चुका था। उनके लिए प्लेटो का *दि रिपब्लिक*, रूसो का *सोशल कॉण्ट्रैक्ट*, फ्रांसीसी क्रान्ति और जैकोबिन आतंक-राज्य, पेरिस कम्यून और मार्क्सवादी कम्युनिज़्म (जो 1917 की बोल्शेविक क्रांति के साथ शुरू होता है और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के साथ खत्म होता है) कम्युनिज़्म के दिव्य विचार (eternal ide) की यात्रा के अलग-अलग क्षण, पड़ाव या मील के पत्थर हैं। **तीसरी बात** यह कि बेज्यू के अनुसार बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग दुर्गति/विपदा में समाप्त हुए। उनका मानना है कि सोवियत संघ और चीन में क्रान्तियों की मुक्तिकामी सम्भावना-सम्पन्नता को पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क, हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व और समाजवादी राज्यसत्ता ने पहले बाधित किया और फिर पूरी तरह नष्ट कर दिया। और **चौथी बात** यह कि इस सारे "विश्लेषण" से बेज्यू इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कम्युनिज़्म के विचार और मुक्ति की राजनीति को क्रान्ति के 'पैराडाइम' में अवस्थित नहीं किया जा सकता है और न ही पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क का 'बन्दी' बनाया जा सकता है। और यह भी कि "क्रान्तियों का युग" बीत चुका है। अपनी पुस्तक 'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' में बेज्यू इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस पुस्तक की अपनी समीक्षा में हम बेज्यू के राजनीतिक दर्शन से जुड़े सैद्धान्तिकीकरणों की पड़ताल करेंगे। उनकी दार्शनिक समालोचना इस समीक्षा की विषय-वस्तु नहीं है और राजनीतिक-विचारधारात्मक मुद्दों पर बेज्यू की आलोचना के लिए जहाँ हमें उनके दार्शनिक मूलों पर जाना पड़ा, केवल वहीं हम उनके दर्शन का ज़िक्र करेंगे। वैसे राजनीतिक-विचारधारात्मक समालोचना अपने आप में बेज्यू के दर्शन के बारे में भी काफ़ी कुछ बताती है।

'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' चार अध्यायों में विभाजित पुस्तक है, लेकिन इन चारों अध्यायों में किसी किस्म की निरन्तरता या प्रवाहमयता मौजूद नहीं है। इतना ज़रूर है कि इन चारों ही अध्यायों में बेज्यू अलग-अलग तरीक़े से 'कम्युनिज़्म' के विचार पर "विचार" करते हुए, बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की 'विफलता' का ठीकरा पार्टी-राज्य के पूरे फ्रेमवर्क पर फोड़ते नज़र आते हैं। पहले तीन अध्यायों में बेज्यू क्रमशः मई 1968 में फ्रांस के छात्र और मज़दूर आन्दोलनों, चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और पेरिस कम्यून की चर्चा करते हैं। चौथा अध्याय 2009 लंदन सम्मेलन में उनके द्वारा दिये गये "कम्युनिज़्म का विचार" नामक वक्तव्य का पाठ है। इन चारों अध्यायों के अतिरिक्त इस पुस्तक में एक प्रस्तावना और परिशिष्ट के रूप में बेज्यू द्वारा स्लावोय ज़िज़ेक के नाम लिखा गया एक पत्र भी है। अपनी समीक्षा की शुरूआत हम इस पुस्तक की प्रस्तावना से ही करेंगे। प्रस्तावना का नाम है - **"विफलता किसे कहते हैं?"**

बेज्यू अपनी प्रस्तावना की शुरुआत में कहते हैं कि 1970 की 'लाल दशाब्दी' के अन्त के साथ पश्चिमी पूँजीवादी देशों का कम्युनिज़्म-विरोध एक बार फिर ज़ोर-शोर के साथ सामने आया। 'नये दर्शन' के हिमायतियों ने समाजवादी राज्यों की 'निरंकुशता और सर्वसत्तावाद' पर ख़ूब शोर मचाया और बुर्जुआ संसदवाद और प्रातिनिधिक जनवाद की अच्छाइयों को गिनाना शुरू कर दिया। इस उन्मादी हर्षोल्लास के पीछे जो तर्क काम कर रहा था वह यह था कि समाजवाद, जो कि कम्युनिस्ट विचार का एकमात्र मूर्त रूप था, बीसवीं सदी में पूरी तरह विफल हो गया। इसके बाद बेज्यू कहते हैं कि इसलिए विफलता के विचार पर आज "विचार" करने की आवश्यकता है। बेज्यू पूछते हैं कि जब हम कहते हैं कि

कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस (प्राक्कल्पना) के अमलीकरण के तौर पर जो समाजवादी प्रयोग हुए, उनका अन्त 'विफलता' में हुआ, तो हमारा मतलब क्या होता है? क्या वे पूरी तरह से असफल हुए? क्या इसका मतलब है कि हम इस प्राक्कल्पना को ही त्याग दें या मुक्ति की पूरी समस्या को ही तिलांजलि दे दें? बेज्यू को यहाँ तक पढ़ने पर पाठक के मन में उम्मीदें जगने लगती हैं, लेकिन ये उम्मीदें ज़्यादा देर तक नहीं ठहरतीं। क्योंकि इसके बाद बेज्यू जो स्वर अपनाते हैं, वह वही पुराना राग है - **चूँकि बीसवीं सदी की क्रान्तियाँ पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क में क़ैद थीं, इसलिए वे असफल होने के लिए अभिशप्त थीं।** यह प्रश्न बेज्यू यहाँ इस प्रकार उठाते हैं कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों ने जो रूप अपनाया और जो रास्ता अख़्तियार किया, क्या उसी में तो इस 'विफलता' के कारण अन्तर्निहित नहीं हैं और इसलिए 'विफलता' उनकी नियति थी? यहाँ यह बात जोड़नी ज़रूरी है कि **इस पूरी पुस्तक में, या फिर बेज्यू की अन्य सभी कृतियों में भी, बीसवीं सदी में मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये समाजवाद के प्रयोगों को बिना किसी वैज्ञानिक-ऐतिहासिक विश्लेषण को इस्तेमाल किये ही एक 'त्रासदी' या 'आपदा' मान लिया गया है।** ज़िज़ेक के लेखन की तरह यहाँ भी यह नतीजा आकाशवाणी के समान (axiomatic) है।

दूसरी बात यह कि रूस और चीन में समाजवादी प्रयोगों का पतन या विफलता किस दौर में शुरू होती है, इसकी भी कोई समझदारी बेज्यू के लेखन में आपको नहीं मिलेगी। पश्चिमी साम्राज्यवादी प्रोपगैण्डा मशीनरी की तरह यहाँ पर भी 1990 में सोवियत संघ के विघटन तक समाजवाद का दौर कायम माना जाता है! 1956 के बाद सोवियत संघ की अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक साम्राज्यवादी भूमिका और देश के अन्दर जनता के ख़िलाफ एक सामाजिक फासीवादी भूमिका को ही समाजवाद के रूप में चित्रित किया जाता है। हालाँकि बेज्यू के लिए कम्युनिज़्म की अपनी परिकल्पना के लिए इस 'विफलता' की कालिकता या स्थानिकता (temporality and spatiality) को स्पष्ट करना ज़रूरी नहीं है क्योंकि इस परिकल्पना के अनुसार तो 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के साथ ही समाजवाद की 'विफलता' का दौर शुरू हो गया था; आख़िर इस क्रान्ति ने ही तो कम्बख़्त पार्टी-राज्य के 'पैराडाइम' को संस्थाबद्ध और सुव्यवस्थित किया था! **इसलिए बेज्यू इस पुस्तक में और अन्यत्र भी, 1917 से 1953 तक के दौर की कभी चर्चा नहीं करते।** इस पूरे दौर का समाहार वह यह कह कर देते हैं कि पार्टी-राज्य ने एक नयी किस्म की "निरंकुशता" को जन्म दिया जिसकी मुख्य आभिलाक्षणिकताएँ थीं- 'पुलिस द्वारा दमन' और 'आन्तरिक नौकरशाहाना जड़ता'। **क्या यह ठीक वही आलोचना नहीं है जो लियॉन त्रात्स्की, रॉय मेदवेदेव, इसाक डॉइशर, मार्क फेरो जैसे लोग करते हैं? हालाँकि इन सबमें काफ़ी मतान्तर और विविधता है लेकिन रूसी क्रान्ति और समाजवादी मज़दूर सत्ता को और विशेष तौर पर स्तालिन के नेतृत्व में समाजवाद के निर्माण को कोसने में गहरी एकता है?**

वापस पुस्तक की प्रस्तावना पर लौटते हैं। बेज्यू आगे कहते हैं कि "क्रान्ति", "सर्वहारा", "समाजवाद" जैसी जातिवाचक संज्ञाएँ (common nouns) मुक्ति की राजनीति के लिए अपना महत्व खो चुकी हैं। इसके बाद बेज्यू अपने उपन्यास **'दि रेड स्कार्फ'** और नाटक **'दि इन्सिडेण्ट इन एण्टियॉक'** के कुछ हिस्से उद्धृत करते हैं। इन उद्धरणों के जरिये वह दो बातें रेखांकित करना चाहते हैं। **पहली बात** यह कि कम्युनिज़्म एक निरपेक्ष सत्य है जिसकी निरपेक्ष यात्रा शताब्दी दर शताब्दी, प्राचीन काल से ही चली आ रही है। और **दूसरी बात** यह कि जो

क्रान्तियाँ विजयी भी हुई उन्होंने सत्ता और दमन के नए रूपों को ही जन्म दिया क्योंकि ये क्रान्तियाँ पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क में बँध कर रह गयीं। इसके बाद बेज्यू **तीन प्रकार की विफलताओं** की बात करते हैं। पहली प्रकार की 'विफलता' वह है जिसमें क्रान्तिकारी कुछ समय के लिए किसी देश या किसी विशिष्ट इलाके में सत्ता पर काबिज़ होते हैं लेकिन हथियारबन्द प्रतिक्रान्तिकारी ताक़तों के द्वारा कुचल दिये जाते हैं। इस 'विफलता' के तौर पर वह **पेरिस कम्यून** और रोज़ा लक्ज़मबर्ग और कार्ल लीबनेख़्त के नेतृत्व में प्रथम-विश्वयुद्ध के बाद की **स्पार्टकिस्ट बग़ावत** का उदाहरण देते हैं। दूसरे प्रकार की 'विफलता' के उपशीर्षक के तहत वे उन व्यापक जनान्दोलनों को गिनाते हैं जिनका मकसद सत्ता हथियाना होता ही नहीं है, हालाँकि ये आन्दोलन कुछ समय के लिए राज्य की प्रतिक्रियावादी ताकतों को रक्षात्मक मुद्रा में आने के लिए बाध्य करते हैं। इसके उदाहरण के तौर पर वह **मई 1968 का आन्दोलन** गिनाते हैं। फिर बेज्यू तीसरे प्रकार की 'विफलता' का चर्चा करते हैं जिसके तहत वे बिना कोई फ़र्क किये बीसवीं सदी के सभी समाजवादी प्रयोगों को गिनाते हैं जिनमें कम्युनिस्ट परिकल्पना के अमलीकरण के नाम पर "पार्टी-राज्य का आतंक राज्य कायम हुआ" और कम्युनिज़्म के विचार को ही त्याग दिया गया! अपनी प्रस्तावना का अन्त बेज्यू **"प्वाइण्ट" (बिन्दु या क्षण)** की अपनी अवधारणा से करते हैं। आम तौर पर भी इस पुस्तक में जहाँ-तहाँ बेज्यू उत्तर मार्क्सवादियों की पसंदीदा हेगेलीय दर्शन और लकानीय मनोविश्लेषण की श्रेणियों का इस्तेमाल करते नज़र आते हैं, उदाहरण के लिए बेज्यू की "ट्रूथ-प्रोसीजर", "इवेण्ट", "सब्जेक्ट" इत्यादि की अवधारणा आदि मगर फिलहाल हम पहले "प्वाइण्ट" की बेज्यू की अवधारणा पर विचार करते हैं। "पवाइण्ट" की अवधारणा को व्याख्यायित करते हुए बेज्यू कहते हैं कि किसी भी मुक्तिकामी राजनीति के क्रम या शृंखला में (यानी कि किसी भी क्रान्ति के दौरान) यह वह क्षण होता है जिसमें विकल्प की 'बाइनरी' पर (यानी कि इस प्रश्न पर कि विकल्प 'क' अपनाया जाय या विकल्प 'ख') उस पूरी प्रक्रिया का भविष्य निर्भर करता है। वे आगे कहते हैं कि हमें यह समझना होगा कि सभी "विफलताओं" का कारण इसी क्षण पर लिये गये फैसलों में अन्तर्निहित है। सीधे-साफ शब्दों में कहें तो **बेज्यू के कहने का अभिप्राय यह है कि पेरिस कम्यून के अनुभवों के बाद, पहले मार्क्स और फिर लेनिन द्वारा, हिरावल पार्टी और सर्वहारा राज्य-सत्ता (सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व) की प्रस्थापनाओं का प्रतिपादन ही इस क्षण पर लिये गये ग़लत फैसले थे। यह 'मूल पाप' था; नाजुक मौके पर ग़लत फैसला! और यहीं से सारी ग़लती और विफलता की शुरुआत होती है!** बेज्यू अपनी इसी थीसिस को इस पुस्तक के बाकी हिस्सों में स्पष्ट करते चलते हैं और हर स्पष्ट अवधारणा को इस प्रक्रिया में अस्पष्ट करते जाते हैं।

इस पुस्तक के पहले अध्याय का नाम है – **"हम अभी भी मई 1968 की समकालीनता में हैं।"** इस अध्याय के तीन भाग हैं। पहला भाग मई 2008 में 1968 के चालीस वर्ष पूरे होने पर आयोजित एक कार्यक्रम में बेज्यू द्वारा दिया गया व्याख्यान है। बेज्यू कहते हैं कि मई 1968 की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। इसके बाद बेज्यू मई 1968 की विजातीयता और बहुलता की बात करते हुए कहते हैं कि मई 1968 कोई एकाश्मी परिघटना नहीं थी बल्कि चार अलग-अलग परिघटनाओं की जटिलता लिये हुए थी (बेज्यू स्वयं भी इस आन्दोलन का हिस्सा थे)। **पहला** मई 1968 वह था जिसमें विश्वविद्यालय और स्कूलों के छात्र-छात्राएँ हिस्सा ले रहे थे, यानी कि जिसका मुख्य तत्व **छात्र-आन्दोलन** था। **दूसरा** मई 1968 **मज़दूर आन्दोलन**

के इर्द-गिर्द केन्द्रित था, जिसमें सी.जी.टी. (जनरल कन्फेडरेशन ऑफ लेबर - एक संशोधनवादी ट्रेड यूनियन संघ) और अन्य यूनियनों द्वारा आयोजित हड़तालों के साथ ही परम्परागत यूनियन के सांगठनिक ढाँचे के बाहर भी मज़दूरों द्वारा आयोजित हड़तालें थीं, जिन्हें "वाइल्डकैट स्ट्राइक्स" की संज्ञा दी जाती थी। इस दौरान फैक्ट्रियों पर कब्ज़ा आम बात थी। **तीसरे** मई 1968 को **स्वच्छन्तावादी (लिबर्टेरियन) मई** कहा जा सकता है जिसमें पेटी बुर्जुआ वर्ग की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मुद्दा अहम था। इसकी अभिव्यक्ति उस दौर के कला साहित्य, सिनेमा में भी नज़र आती है। इसके बाद बेज्यू **चौथे मई 1968** की चर्चा पर आते हैं, जो उनके अनुसार उपरोक्त सभी से कहीं ज़्यादा ज़रूरी था। बेज्यू के अनुसार यह इसलिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी है क्योंकि यह राजनीति की पुरानी क्लासिकीय अवधारणाओं पर - जैसे पार्टी, यूनियन आदि पर - सवाल उठा रहा था। इस कथन में आंशिक सच्चाई है। 1960 के दशक से ही फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी (पी.सी.एफ.) संशोधनवाद का रास्ता पकड़ चुकी थी। फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी 1953 में सोवियत संघ में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद आने के बाद भी उसका समर्थन कर रही थी और हंगरी, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया जैसे पूर्वी यूरोप के तमाम देशों में सोवियत साम्राज्यवाद के कुकृत्यों को लेकर चुप थी और समझौतापरस्त अवस्थिति अपना रही थी। जहाँ तक सी.जी.टी. जैसी संशोधनवादी, अराजकतादी-संघातिपत्यवादी यूनियनों का सवाल था, तो उनकी स्थिति और अवस्थिति बहुत कुछ वर्तमान भारत में सीटू, ऐटक जैसी यूनियनों के जैसी ही थी। **ऐसे में, पार्टी और यूनियनों का जो मॉडल मौजूद था, उससे मोहभंग होना लाज़िमी था और चूँकि उस समय कोई क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद नहीं था जो इन स्वत:स्फूर्त जनउभार की कार्रवाइयों को संगठित कर सकता इसलिए मई 1968 बस मई 1968 बनकर ही रह गया।** केवल विद्रोह की सफलता और असफलता की बात की जाय तो इसका अन्त उसी हताशा में हुआ, जिस हताशा में 'ऑक्युपाई' आन्दोलन और अरब बसन्त का हुआ है, हालाँकि मई 1968 का महत्व इस रूप में भी था कि इसके बाद तमाम ऐसी विचार-सरणियाँ पैदा हुई जिनका अन्त 'उत्तर'-वादी विचार-सरणियों में हो गया; मई 1968 ने जो विचारधारात्मक विभ्रम पैदा किया वह उसे आज के असफल आन्दोलनों या विद्रोहों से अलग करता है। मई 1968 में यूरोपीय वाम और यूरोपीय रैडिकल बुद्धिजीवी वर्ग ने सोवियत संशोधनवाद और उसके कुकर्मों और यूरोपीय सामाजिक-जनवादी पार्टियों के सुधारवाद और बुर्जुआ सत्ता से प्रणय पर जो प्रतिक्रिया दी, वह एक *पैथोलॉजिकल* प्रतिक्रिया थी, क्योंकि उसमें कोई आलोचनात्मक विवेक नहीं था। सोवियत संशोधनवादी पार्टी और सामाजिक साम्राज्यवादी व सामाजिक फासीवादी राज्य के अपराधों को पार्टी, राज्य और वर्ग अधिनायकत्व की अवधारणा पर ही आरोपित कर दिया गया। बेज्यू भी इसी *पैथोलॉजिकल* प्रतिक्रिया का अंग थे। शायद बेज्यू बिल्कुल इन्हीं कारणों से मई 1968 को लेकर इतना *नॉस्टैल्जिक* हैं, क्योंकि मई 1968 ने पार्टी, राज्य और वर्ग अधिनायकत्व की बुनियादी अवधारणाओं पर प्रश्न उठाना शुरू किया। इस दौर में पुरानी क्लासिकीय अवधारणाओं पर खड़े हो रहे सवालों के तर्क को बेज्यू बढ़ाते हुए मार्क्सवाद और क्रान्ति के विज्ञान को ख़ारिज करने तक ले जाते हैं। बेज्यू कहते हैं कि "धीरे-धीरे यह सत्य उजागर होने लगा था कि जो सामान्य भाषा, जिसका द्योतक लाल झण्डा था, हम सब बोल रहे थे, वह दरअसल मृत्यु को प्राप्त हो रही थी।" **मई 1968 की असली अहमियत बेज्यू के लिए यहाँ छिपी है।**

अब तक कि अपनी समीक्षा में हम देख चुके हैं कि **बेज्यू जैसे तमाम**

उत्तर-मार्क्सवादियों का हमला मूलतः मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर है। इस विषय में बेज्यू की स्पष्टवादिता की दाद देनी पड़ेगी कि वह सीधे-सीधे यह कह भी देते हैं कि मार्क्सवाद, पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सोच पूरी तरह अप्रासंगिक हो चुकी है। चीन में 1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का भी बेज्यू एक ग़ैर-पार्टीवादी विनियोजन करते हैं। बेज्यू के अनुसार **महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** के साथ जो नया युग शुरू हुआ उसमें पार्टी-राज्य का फ्रेमवर्क (यानी हिरावल पार्टी और सर्वहारा तानाशाही की मार्क्सवादी अवधारणाएँ) अब बेकार हो चुका है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पर बेज्यू के विचारों की चर्चा हम आगे करेंगे। लेकिन यहाँ इस बात को रेखांकित करना ज़रूरी है कि मार्क्सवादी कम्युनिज़्म के बरक्स बेज्यू के "कम्युनिज़्म" के काण्टीय, हेगेलीय, लकानीय विचार के बावजूद और शायद इसी वजह से भी उनका निशाना एकदम ठीक वे अवधारणाएँ हैं जो मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अर्न्तवस्तु का निर्माण करती हैं; मिसाल के तौर पर, **वर्ग की अवधारणा, सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा, वर्ग के हिरावल के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी की अवधारणा आदि।** साथ ही बेज्यू का यह भी मानना है कि क्रान्तियों का युग अब बीत चुका है।

जैसा कि हमने पहले कहा, दूसरी अहम बात जो हमें समझनी होगी वह यह है कि **बेज्यू जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों की वर्तमान राजनीतिक अवस्थिति यूरोपीय वामपंथी बुद्धिजीवी वर्ग का संशोधनवाद और सामाजिक फासीवाद के कुकृत्यों से पैदा हुए राजनीतिक *ट्रॉमा* की ही अभिव्यक्ति है।** यह इस वर्ग की एक किस्म की *पैथोलॉजिकल* प्रतिक्रिया है। यूरोप में और विशेषकर फ्रांस में तमाम ऐसे राजनीतिक और दार्शनिक चिन्तक थे, जिनकी विचारधारात्मक शुरुआत एक मार्क्सवादी के रूप में हुई थी। (*बेज्यू की इसी पुस्तक में मई 1968 पर लिखे गए एक अन्य लेख ,जो उसी दौर में लिखा गया था, से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उस समय बेज्यू खुद को एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी ही कहते थे और अभी मार्क्सवाद पर वह वे सब "सवाल'नहीं उठा रहे थे जो आज उठा रहे हैं और न ही सर्वहारा, क्रान्तियों को "आपदा'" क़रार दे रहे थे। हालाँकि उस लेख को अपनी इस पुस्तक में शामिल करने के कारण बेज्यू को लेख से पहले एक लम्बी-चौड़ी टिप्पणी भी जोड़नी पड़ी और मानना पड़ा कि उस लेख में पुराने पड़ चुके मार्क्सवादी-लेनिनवादी विज्ञान का ज़िक्र बार-बार आता है; कि उस वक्त मार्क्सवादी-लेनिनवादी उसूलों पर गठित पार्टी को ही सभी समस्याओं की कुंजी मान लेने की भूल की गयी है; कि अब यह स्पष्ट हो चुका है कि पार्टी के सांगठनिक स्वरूप को ही त्यागना होगा, इत्यादि। इस टिप्पणी को पढ़ने के बाद लगता है कि बेज्यू उस समय की अपनी राजनीतिक अवस्थिति को लेकर आज तक शर्मिन्दा हैं!)* लेकिन सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के पूर्वी यूरोप में किये गये हस्तक्षेप और पूर्वी यूरोप के छद्म समाजवादी देशों में जनता का अनुभव 1960 के दशक में सोवियत समाजवाद के पूरे दौर के प्रति पूर्वाग्रहों का कारण बना जिसके चलते ऐसे तमाम चिन्तकों और बुद्धिजीवियों का मोहभंग स्वयं मार्क्सवाद से ही हो गया क्योंकि वे क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच फर्क नहीं कर पाये। साथ ही उसी समय चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति भी जारी थी, जिसे यूरोप में बहुतों ने 'पार्टी के विरुद्ध क्रान्ति' समझा (स्वयं बेज्यू भी इसी समझदारी से ग्रस्त हैं।) कुल मिलाकर नतीजा यह हुआ कि सारी बुराई की जड़ पार्टी और सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त को ही समझा जाने लगा। यही कारण है कि बेज्यू बीसवीं

सदी के समाजवादी प्रयोगों की 'विफलताओं' को पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क के मत्थे मढ़ते नज़र आते हैं। उनकी वर्तमान राजनीतिक अवस्थिति के ईंधन का स्रोत दार्शनिक भ्रम-विभ्रम की यही भट्ठी है।

मई 1968 पर केन्द्रित अपने अध्याय के तीसरे खण्ड में बेज्यू वर्तमान पूँजीवादी संकट पर अपने विचार रखते हैं। राजनीतिक अर्थशास्त्र की बेहद अधकचरी और सीमित समझदारी के चलते वह संकट के विषय में कुछ सामान्य-सी बातें करते हैं जो कि कई त्रुटियों और विकृतियों से भरी हैं। **मसलन, बेज्यू एक जगह कहते हैं कि वित्तीय पूँजीवाद पिछले 500 सालों से पूँजीवाद का एक केन्द्रीय संघटक अवयव रहा है!** काश कि बेज्यू ने लेनिन की **"साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की चरम अवस्था"** एक बार ठीक से पढ़ी होती तो इस तरह के मज़ाकिया सिद्धान्त प्रतिपादनों से वह बच सकते थे! लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवादी विज्ञान को तो उन्होंने पहले ही इतिहास की कचरा-पेटी के हवाले कर दिया है। हालाँकि कोई गैर-मार्क्सवादी भी उपनिवेशवाद के प्राक्-वित्तीय दौर और वित्तीय दौर में फ़र्क करेगा, लेकिन बेल्यू ऐसा नहीं कर पाते। क्योंकि, लकाँ और हेगेल के पोथों के बीच ही वे दब-से गये हैं! वैसे, सभी उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तकों के बारे में एक बात दावे से कही जा सकती है–इन्हें राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'क ख ग' भी नहीं आता है। इस कमी को इतिहास की सुसंगत जानकारी और एक सन्तुलित ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव के रूप में भी देखा जा सकता है। और कमी को ये बेज्यू पूरा कैसे करते हैं? फ्रांसीसी फैशनेबल उत्तर-वाम की लच्छेदार शब्दावली में ऐतिहासिक तथ्यों के विकृतीकरण के अद्वितीय हुनर के ज़रिये! आमतौर पर बेज्यू इतिहास के प्रति अवहेलना का दृष्टिकोण ही अपनाते हैं। लेकिन अपने राजनीतिक-दार्शनिक हित-साधन के लिए वह आत्मगत चयन करते हुए ऐतिहासिक तथ्यों का ब्यौरा देने से बाज़ नहीं आते हैं। वह इन तथ्यों को इस तरह तोड़-मरोड़ कर और मनमाने ढंग से पेश करते हैं कि उनकी अन्तर्वस्तु ही बदल जाती है। मसलन, महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पर अपने विचार रखते हुए वे जमकर तथ्यों का ब्यौरा देते हैं, लेकिन यह आत्मगत पूर्वाग्रहों के साथ किया गया इतिहास का एक पाठ है, जिसमें नतीजे पहले ही तय कर लिये गये हैं और उनके आधार पर तथ्यों का चयन बाद में किया गया है।

बहरहाल, अभी हम पूँजीवादी आर्थिक संकट पर बेज्यू के विचारों पर वापस आते हैं। बेज्यू अपने चिर-परिचित लकानीय अन्दाज में बताते हैं कि मौजूदा आर्थिक संकट तो महज 'स्पेक्टेकल' (तमाशा या कौतुक-स्वाँग) है जो पूँजीवाद के यथार्थ (Real) पर पर्दा डालने का काम कर रहा है। इसके बाद बेज्यू एक टुटपुँजिया स्वच्छन्दतावादी की तरह (जो कि वह हैं!) रूमानीपन का प्रदर्शन करते हैं और छद्म आशावाद से ग्रस्त हो कर कहते हैं कि आज सबसे अहम है विचारों और एक सामान्य परिकल्पना के प्रति अपने जुनून को एक बार फिर तलाशना (!), इस विश्वास के साथ की एक दूसरी दुनिया संभव है! "हमें पूँजीवाद के घृणित तमाशे के बरक्स लोगों का, लोगों के जीवन का और विचारों के आन्दोलन का यथार्थ खड़ा करना होगा।" यह कैसे खड़ा होगा यह बताना बेज्यू ज़रूरी नहीं समझते लेकिन अपनी पुरानी थीम पर वह ज़रूर एक बार फिर लौटते हैं (ऐसा करना वह कभी नहीं भूलते!)। वे कहते हैं कि हालाँकि 'कम्युनिज़्म' शब्द को "सस्ता और वेश्या बना दिया गया है" लेकिन हम इसे लुप्त नहीं होने देंगे। क्योंकि बेज्यू "कम्युनिज़्म" के इस विचार के तारणहार हैं, इसलिए वह "कम्युनिज़्म" को बचायेंगे! एलेन बेज्यू उसे अतीत के सारे अनुभवों से, क्रान्ति

के सिद्धान्त से, समाजवादी राज्य से और हिरावल पार्टी के भारी-भरकम बोझ से इस "दिव्य" विचार को भारमुक्त करेंगे और "मुक्ति की नयी राजनीति" गढ़ेंगे! जो क्या होगी यह बेज्यू नहीं बताएँगे क्योंकि वह खुद भी इससे अपरिचित हैं!

इस पुस्तक का अगला अध्याय **महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** पर केन्द्रित है। इसका नाम है-**'सांस्कृतिक क्रान्ति : अन्तिम क्रांति?'**। इस अध्याय की शुरुआत में बेज्यू बताते हैं कि 1967 से 1976 तक सांस्कृतिक क्रान्ति पूरी दुनिया में और विशेषकर फ्रांस में जुझारू क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए एक सन्दर्भ-बिन्दु बनी। **इसके बाद बेज्यू माओ का, माओवाद का और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का निकृष्ट किस्म का हस्तगतीकरण (appropriation) और विकृतिकरण (distortion) करते हैं।** वह कहते हैं कि सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पार्टी-राज्य के स्वरूप के संतृप्तिकरण (saturation) का प्रारूपिक उदाहरण है। इसके बाद वे जोड़ते हैं कि हालाँकि यह स्वयं (सांस्कृतिक क्रान्ति) पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क के भीतर ही काम कर रही थी और इसीलिए "विफल" हुई, लेकिन इसने आने वाले दिनों के लिए कुछ ज़रूरी सबक़ दिये। बेज्यू के अनुसार यह ज़रूरी सबक थे – सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के मार्क्सवादी सिद्धान्त को तिलांजलि देने का वांछितता। अपने इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बेज्यू सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर की कई घटनाओं का ब्यौरा टुकड़ों-टुकड़ों में देते हैं, मनमाने ढंग से उन घटनाक्रमों की व्याख्या करते हैं और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का विकृतिकरण करते हैं। बेज्यू द्वारा माओ और सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के विनियोजन की पड़ताल से पहले यह जानना यहाँ प्रासंगिक होगा कि माओ का महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का युगान्तकरकारी सिद्धान्त था क्या? यह जानना इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि हाल तक बेज्यू खुद को माओवादी कहते रहे हैं। साथ ही, इस चर्चा के बाद हमें बेज्यू के एक-एक तर्क और विकृतिकरण को अलग से ख़ारिज करने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

माओ का महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का युगान्तरकारी सिद्धान्त समाजवादी संक्रमण के दौरान पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने और कम्युनिज़्म की दिशा में अग्रसर होने का पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त है। माओ ने बताया कि समाजवादी संक्रमण एक सुदीर्घ ऐतिहासिक अवधि है जिसके दौरान वर्ग संघर्ष ही सर्वहारा क्रान्तिकारियों के लिए कुंजीभूत कड़ी है। लेनिन ने ही बताया था कि समाजवादी समाज में सर्वहारा वर्ग सत्ता में आ चुकी होती है, लेकिन बुर्जुआ वर्ग समाज में मौजूद रहेगा और अपने खोए हुए स्वर्ग को प्राप्त करने की कोशिश जारी रखता है और वर्ग संघर्ष नये रूपों में और भी सघन रूप में जारी रहता है। माओ ने बताया कि उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का काम निजी सम्पत्ति के कानूनी ख़ात्मे के साथ शुरू होता है, ख़त्म नहीं, क्योंकि निजी सम्पत्ति का कानूनी ख़ात्मा महज़ मालिकाने के सवाल को हल करता है। यह न तो वितरण के सवाल को पूरी तरह से हल करता है और न ही उत्पादन और वितरण की पूरी प्रक्रिया में मौजूद तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को, यानी कि, मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच का अन्तरविरोध; शहर और गाँव के बीच का अन्तरविरोध; और, उद्योग और कृषि के बीच का अन्तरविरोध। जब तक ये असमानताएँ मौजूद रहती हैं तब तक पूँजीवादी विशेषाधिकार मौजूद रहते हैं; वस्तुओं का विनिमय मौजूद रहता है और इस प्रकार वस्तुओं का अस्तित्व महज़ उपयोग मूल्य के रूप में (यानी कि केवल उपयोग हेतु) नहीं बल्कि माल के रूप में होता है; और बुर्जुआ

अधिकारों की मौजूदगी में वितरण के सम्बन्धों में असमानता बनी रहती है; पूँजीवादी विशेषाधिकार से सम्पन्न पार्टी कमिसारों और संगठनकर्ताओं का वर्ग पार्टी के भीतर एक नये किस्म के पूँजीपति वर्ग का सृजन करता है और पार्टी के भीतर बुर्जुआ हेडक्वार्टर स्थापित करता है; विशेषज्ञों, प्रबन्धकों, पर्यवेक्षकों का वर्ग समाज के भीतर एक विशेषाधिकार-सम्पन्न तबका बनता है और पार्टी के भीतर मौजूद बुर्जुआ वर्ग के साथ साँठ-गाँठ कर एक ऐसी शक्ति का सृजन करता है जिसका समाजवाद और सर्वहारा वर्ग से अन्तरविरोध होता है। ये तत्व अपनी वर्ग प्रकृति और स्वभाव से हर समाजवादी प्रयोग के रास्ते में बाधा पैदा करते हैं, षड्यन्त्र करते हैं और सर्वहारा सत्ता का तख़्ता-पलट करने की फ़िराक़ में रहते हैं। यदि इन वर्गों के ख़िलाफ़ सर्वतोमुखी सर्वहारा अधिनायकत्व को नहीं लागू किया गया तो ये वर्ग अन्ततोगत्वा सर्वहारा सत्ता को पलटकर एक पूँजीवादी सत्ता मे तब्दील कर देंगे। माओ ने बताया कि पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने के लिए क्रान्ति को सतत् जारी रखना होगा। समाज मे मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच, शहर और गाँव के बीच और उद्योग और कृषि के बीच के विभेद समाजवादी समाज में मौजूद रहते हैं; पूँजीवादी विशेषाधिकार मौजूद रहते हैं; इन सबके ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग की लड़ाई महज़ पूँजीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई नहीं है। इनके ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग की लड़ाई वर्ग समाज के चार हजार वर्षों के पूरे इतिहास के ख़िलाफ़ एक महान युगान्तरकारी संघर्ष है। इसके लिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की ज़रूरत है। अधिरचना के क्षेत्र में, यानी कि संस्कृति, शिक्षा, कला, मनोविज्ञान, राजनीति, आदतों, मूल्यों, मान्यताओं आदि सभी क्षेत्रों में सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने की ज़रूरत है; यानी कि इन सभी क्षेत्रों में उपरोक्त तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के विरुद्ध सतत् प्रचार, संघर्ष और प्रचार के जरिये क्रमिक ख़ात्मा और साथ ही उत्पादक शक्तियों का भी साथ में विकास करते जाना; बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वहारा वर्ग का सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करना; पार्टी के भीतर आलोचना-आत्मालोचना, शुद्धीकरण आदि के अभियानों के जरिये बुर्जुआ कचरे की समय-समय पर सफ़ाई करना; मार्क्सवाद-लेनिनवाद के उसूलों को जनता के बीच लगातार प्राधिकार बनाना; टुटपुँजिया उत्पादन पद्धतियों का क्रमिक ख़ात्मा करना; उत्पादन को बढ़ाने पर जोर देना, लेकिन इस तरह से नहीं कि मानसिक और शारीरिक श्रम, शहर और गाँव, उद्योग और कृषि के बीच का अन्तरविरोध और अधिक बढ़े। इसीलिए माओ ने नारा दिया था, **'क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखो और उत्पादन को बढ़ाओ।'** उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच की द्वन्द्वात्मकता को सही ढंग से समझे बिना समाजवादी निर्माण और संक्रमण की एक सुसंगत समझदारी नहीं हासिल की जा सकती। माओ ने चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होने के बाद ही कहा था कि इसके बाद भी इस बात का फैसला होने में अभी लम्बा समय लगेगा कि चीन में पहले चक्र में पूँजीवाद जीतेगा या समाजवाद। समाजवाद की अन्तिम विजय को सुनिश्चित करने के लिए कई सांस्कृतिक क्रान्तियों की आवश्यकता पड़ेगी। यहाँ यह भी रेखांकित करने की ज़रूरत है कि अपनी अपूर्णताओं और असफलताओं के बावजूद महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का पहला प्रयोग समाजवाद की समस्याओं और उनके समाधान के बारे में सर्वहारा वर्ग की समझदारी में युगान्तरकारी छलाँग लगा गया।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद इतना तो स्पष्ट है कि न तो यह 'पार्टी के विरुद्ध क्रान्ति' थी और न ही पार्टी-राज्य पैराडाइम का

सन्तृप्तिकरण, जिस रूप में बेन्ज्यू इसे चित्रित करने पर तुले हैं। बेन्ज्यू माओ की जनदिशा को सिर के बल खड़ा करने की पुरज़ोर कोशिश करते नज़र आते हैं। उस दौर के तमाम तथ्यों और उदाहरणों (जैसे शंघाई कम्यून, वूहान की घटना आदि) का प्रयोग वह यह सिद्ध करने में करते हैं कि माओ स्वत:स्फूर्ततावाद के पूजक थेऔर पार्टी एवं सर्वहारा राज्य के प्राधिकार के विरुद्ध खड़े थे। **बेन्ज्यू माओ का पेटी बुर्जुआ लोकरंजकतावादी विनियोजन करके उन्हें हिरावल पार्टी की अवधारणा के विरुद्ध खड़ा करने का प्रयास करते हैं।** हालाँकि यह दीगर बात है कि इस उपक्रम में वह कोई विशेष सफलता हासिल नहीं कर पाते हैं। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को समझने की उम्मीद हम बेन्ज्यू जैसे उत्तर-मार्क्सवादी और उत्तर-माओवादी (क्योंकि बकौल बेन्ज्यू पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क की क़ैद से कम्युनिज़्म के विचार को मुक्त कराने में वे माओ से भी आगे निकल गये हैं!) से कर भी नहीं सकते हैं। इस अध्याय के अन्त में वे कहते हैं, "आज हम जानते हैं कि हर किस्म की मुक्तिकामी राजनीति को पार्टी के मॉडल के आगे सोचना होगा और पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क के अध्याय को अन्तिम और निर्णायक तौर पर बन्द कर देना होगा। भविष्य की राजनीति पार्टी के बिना होगी..." लेकिन, भविष्य की यह राजनीति क्या होगी, बेन्ज्यू एक बार फिर इस प्रश्न पर चुप्पी साधे हुए हैं।

अगले अध्याय में बेन्ज्यू **पेरिस कम्यून** की चर्चा पर आते हैं। यहाँ पर एक बार फिर बेन्ज्यू ऐतिहासिक विवरणों और तथ्यों का खूब प्रयोग करते हैं। पेरिस कम्यून से जुड़े तमाम तथ्यों को बेन्ज्यू दर्शन और मनोविश्लेषण की श्रेणियों के ज़रिये पेश करते हैं। "सिंग्युलैरिटी", "साइट", "ऑण्टोलॉजी", "लॉजिग" जैसी श्रेणियों का इस अध्याय में खूब इस्तेमाल किया गया है। इन ऐतिहासिक तथ्यों के ब्यौरे में हम नहीं जाएँगे। हमारा मकसद यहाँ इस बात की पड़ताल करना है कि आखिर क्यों बेन्ज्यू पेरिस कम्यून के मॉडल का इतना समर्थन करते हैं? कारण स्पष्ट है- क्योंकि पेरिस कम्यून के वक्त हिरावल पार्टी और सर्वहारा राज्य की अवधारणा उतनी सुस्पष्ट नहीं थी जितना कि मज़दूर वर्ग के राजनीतिक सत्ता पर क़ाबिज होने के इस पहले प्रयोग के समाहार के बाद वह हुई। बेन्ज्यू के शब्दों में कहें तो कम्यून पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क का बन्दी नहीं था। मार्क्स ने कम्यून की परिस्थितियों, कारणों और अनुभवों का निचोड़ निकालते हुए जो निष्कर्ष निकाला, उसे भी याद करना यहाँ ज़रूरी है। मार्क्स ने कहा था, **"मज़दूर वर्ग बनी-बनायी राज्य मशीनरी को ज्यों का त्यों हाथ में नहीं ले सकता और उसे अपना मक़सद पूरा करने के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता।"** उन्होंने बताया कि सर्वहारा वर्ग को पुरानी राज्य मशीनरी को "तोड़ने" और "चकनाचूर करने के लिए" क्रान्तिकारी हिंसा का इस्तेमाल करना चाहिए तथा "सर्वहारा अधिनायकत्व" को लागू करना चाहिए। बेन्ज्यू का कहना कि मार्क्स कम्यून के अपने आकलन में सुस्पष्ट नहीं थे, कोरी लफ्फ़ाजी है। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सर्वहारा राज्यसत्ता के विषय में मार्क्स के विचार वास्तव में क्या थे। यह बेन्ज्यू का स्वत:स्फूर्ततावाद और पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क से उनकी 'एलर्जी' है जो उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है। बेन्ज्यू के अनुसार एक दूसरी दुनिया का भ्रूण कम्यून के मॉडल में ही आकार ले रहा है क्योंकि यह मॉडल पार्टी-राज्य के स्वरूप से मुक्त है। यह इतिहास के चक्के को पीछे धकेलना नहीं तो और क्या है? पेरिस कम्यून का प्रयोग ठीक यही दिखलाता था कि सर्वहारा वर्ग को क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी संगठन की आवश्यकता है और उनके ज़रिये ही वह बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस कर सर्वहारा वर्ग के

अधिनायकत्व को क़ायम कर सकता है। मज़दूर वर्ग व अन्य मेहनतकश वर्गों के विरुद्ध हिंसा के संगठित उपकरण का ध्वंस संगठित क्रान्तिकारी हिंसा के ज़रिये ही किया जा सकता है। लेकिन बेज्यू के लिए पेरिस कम्यून का मॉडल राज्य, पार्टी आदि की अशुद्धताओं से मुक्त था! यह तथ्यत: भी ग़लत है। दस सप्ताह से कुछ ज़्यादा समय तक पेरिस में मज़दूरों की सत्ता ने जो कुछ किया वह क्रान्तिकारी हिंसा और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ही था! बल्कि, मार्क्स के शब्दों को उधार लेते हुए कहा जा सकता है कि भ्रूण रूप में सर्वहारा सत्ता और शासन का एक नमूना पेश करने के बावजूद, पेरिस कम्यून की सबसे बड़ी ग़लती यही रही कि उसने क्रान्तिकारी हिंसा और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को पर्याप्त हद तक लागू नहीं किया। लेकिन बेज्यू हर ऐतिहासिक घटना की तरह पेरिस कम्यून का ज़िक्र करते हुए भी मनमाने ढंग से तथ्यों का चयन और व्याख्या करते हैं ताकि अपने पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया को और राजनीतिक सदमे को अभिव्यक्ति दे सकें। बेज्यू का काम आसान है: नतीजे पहले से तय हैं, बस तथ्यों को उसमें फिट करना है।

●

दार्शनिकों ने
दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है
पर सवाल उसको बदलने का है,
मानता हूँ।
लेकिन फ़िलहाल मैं असन्तुष्ट हूँ
दुनिया की व्याख्याओं से
और मानता हूँ कि
नये बदलावों की हो रही व्याख्याएँ
या तो नाकाफ़ी या फिर ग़लत हैं
और यह कि
रुका हुआ है आज
दुनिया को बदलने का काम भी।
इसलिए अभी तो मैं
दुनिया की एक और व्याख्या कर रहा हूँ।
-कात्यायनी ('दुनिया बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनतों के विविध विचार-1)

अन्तिम अध्याय में आखिरकार बेज्यू "कम्युनिज़्म" के अपने विचार पर आते हैं। बेज्यू के "कम्युनिज़्म" का विचार क्या है, इसकी चर्चा हम पहले कर आए हैं। अपने "कम्युनिज़्म" के विचार को परिभाषित करने के लिए बेज्यू यथार्थ (the Real), काल्पनिक (the Imaginary) और प्रतीकात्मक (the Symbolic) की लकानियन त्रयी को लागू करते हैं। उनके अनुसार इतिहास 'प्रतीक' का क्षेत्र है, भविष्य की परियोजना (उनके लिए कम्युनिज़्म का विचार) 'काल्पनिक' का क्षेत्र है और राजनीति 'यथार्थ' का क्षेत्र है! आप इस बँटवारे के पीछे बेज्यू की पूरी हेगेलीय-लकानीय समझदारी को देख सकते हैं। यदि कम्युनिज़्म की परियोजना 'काल्पनिक' का क्षेत्र है तो कम्युनिज़्म की पूरी परियोजना एक आत्मगत कारक बन

जाती है। इसके अलावा बेज्यू का कम्युनिज़्म एक काण्टीय नियामक विचार (Regulative Idea) है जिसके लिए यथार्थ के अनुरूप होना या उसका प्रतिनिधित्व करना अनिवार्य नहीं है। यह एक लोकोत्तर विचार (transcendental Idea) है। **इसलिए बेज्यू के कम्युनिज़्म का विचार महज़ एक विचार है, यह किसी किस्म के अमलीकरण या मूर्तीकरण का मोहताज नहीं है!** ऐसा क्यों है इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

बेज्यू के दो अन्य सैद्धान्तिकरणों पर भी यहाँ चर्चा करना आवश्यक है। ठीक उसी प्रकार इतिहास को 'प्रतीकात्मक' के रूप में और राजनीतिक को 'यथार्थ' के रूप में चित्रित करने के पीछे भी जो सोच काम कर रही है, वह वही हेगेलीय-लकानियन समझदारी है। इसके अनुसार, इतिहास प्रतीकात्मक का प्रतिनिधित्व करता है। लकानीय त्रयी में अगर हम यथार्थ, प्रतीकात्मक और काल्पनिक के सम्बन्ध को समझ लें तो बेज्यू का हेगेलीय भाववाद खुलकर सामने आ जाता है। लकाँ के मुताबिक 'यथार्थ' (the Real) 'वास्तविकता' (the reality) से अलग वस्तु है। यथार्थ वह स्थिति हैं जिससे हम उस क्षण हमेशा के लिए काट दिये जाते हैं, जिस दिन हम भाषा के जगत में प्रवेश करते हैं। यानी कि अपनी छवि के प्रति सचेत होने के पहले (लकाँ का 'मिरर स्टेज' का सिद्धान्त जिसमें कि एक बच्चा पहली बार अपनी एक छवि को देखता है, जो कि वास्तव में बच्चे की असल छवि नहीं होती है, बल्कि एक काल्पनिक छवि होती है, और यह बच्चे की इस फन्तासीनुमा छवि को भरने का कार्य कोई ऐसी छवि करती है, जो बच्चा अपने लिए गढ़ता है, जिसका आधार कोई ऐसा व्यक्ति होता है जो कि वह बच्चा बन जाना चाहता है) एक नवजात शिशु 'यथार्थ' के जगत में होता है। इस मंज़िल में बच्चा सिर्फ़ आवश्यकता और उसकी पूर्ति को पहचानता है। वह अभी अपने, अपनी माँ या बाह्य जगत में अन्तर नहीं जानता है। लकाँ के लिए यह मंज़िल पूर्णता (completeness या fullness) की मंज़िल है। यह बोध भाषा में बच्चे के प्रवेश के साथ खो जाता है। भाषा के जगत में प्रवेश करते ही आवश्यकता माँग बन जाती है। यथार्थ से यह अलगाव स्थायी होता है और इसीलिए लकाँ का कहना था कि मनुष्यों के लिए यथार्थ असम्भव है, क्योंकि इसे भाषा में अभिव्यक्त ही नहीं किया जा सकता है। लेकिन लकाँ के मुताबिक यथार्थ हमेशा एक भूमिका अदा करता रहता है और 'काल्पनिक' और 'प्रतीकात्मक' 'यथार्थ' के पत्थर से बार-बार टकराते हैं और असफल होते रहते हैं। 'काल्पनिक' की अवस्था 'मिरर स्टेज' की अवस्था है जिसमें *सब्जेक्ट* आदिम आवश्यकता से "माँग" की मंज़िल में प्रवेश करता है। आवश्यकता पूरी हो सकती है, लेकिन "माँग" कभी पूरी नहीं हो सकती है। इसकी वजह से एक 'अभाव/कमी' का बोध जन्म लेता है। जैसे ही किसी को अपने अस्तित्व के दुनिया से अलग होने का पता चलता है वैसे ही एक अकुलाहट की भावना जन्म लेती है, जिसके पीछे कुछ 'खो' जाने का बोध काम करता है। बच्चा जैसे ही इस मंज़िल में पहुँचता है, उसकी "माँग" होती है इस अन्यता के घेरे में आ चुकी दुनिया को अपना अंग बनाना, जैसा कि बच्चे के नवजात अवस्था में हुआ करता था, जब बच्चा भाषा में प्रवेश के साथ अपने आपको दुनिया से अलग नहीं देखता था। यह "माँग" अपूरणीय होती है, क्योंकि यह उस छवि (image) पर आधारित है जो बच्चे ने अपने मन में बनायी है, यह छवि सुसंगत है, पूर्ण है, और स्थिरतापूर्ण है, लेकिन यह छवि उस वास्तविक बच्चे जैसी नहीं है। यह छवि एक कल्पना है जो बच्चे ने अपनी माँग के आधार पर बनायी है और इस रूप में अपूरणीय है। यह छवि किसी भी ऐसे व्यक्ति की हो सकती है जो कि बच्चा बनना चाहता

हो; और इस रूप में अपनी 'काल्पनिक' छवि से उसका सम्बन्ध *नारसिसिस्टिक* है। अब आते हैं लकाँ के 'प्रतीकात्मक' के सिद्धान्त पर। प्रतीकात्मक का सिद्धान्त वास्तव में 'यथार्थ' की 'काल्पनिक' के सहायता से भाषा के माध्यम के ज़रिये की गयी एक श्रेणीबद्ध प्रस्तुति है। मिसाल के तौर पर, 'काल्पनिक' के विश्व में हम अच्छे-बुरे, दुख-आनन्द, आदि के बारे में आदर्शीकृत धारणाएँ रखते हैं और अच्छा बुरे का, दुख आनन्द का बहिष्कार करता है; उनमें से एक ही स्वीकार्य होता है; यह वह धरातल होता है जहाँ हम चयन करते हैं। लेकिन 'प्रतीकात्मक' के जगत में इन दोनों का अस्तित्व सम्भव होता है; हालाँकि उनके बीच हम भेद करते हैं, मगर हम उन दोनों के अस्तित्वों को स्वीकार करते हैं। 'यथार्थ' में ऐसी श्रेणियाँ होती ही नहीं हैं; चूँकि 'यथार्थ' उस दौर का प्रतिनिधित्व करता है जब/जहाँ भाषा नहीं थी और इसलिए विचारधारा भी नहीं थी। बाद में, भाषा के प्रवेश के साथ और अपनी 'कल्पनाओं' की श्रेणियों की सहायता से हम 'यथार्थ' का 'वास्तविकता' के रूप में पुनरुत्पादन करते हैं। यह सारा झमेला दरअसल यह कह रहा है कि 'काल्पनिक' मानसिक निर्मिति है, जो कि भाषा के जगत में प्रवेश के समय 'स्व' और 'अन्य' में भेद के साथ पैदा होती है; इस दौर के पहले 'स्व' और 'अन्य' एक व पूर्ण होते हैं और यह 'यथार्थ' की मंज़िल होती है; इसके बाद, भाषा (विचारधारा) के माध्यम से हम 'यथार्थ' को समझने के प्रयास में उसे श्रेणीबद्ध करते हैं, उसे समझने के लिए विभेदीकृत करते हैं (जो कि 'यथार्थ' दरअसल होता ही नहीं है!) और इस प्रक्रिया में अपने लिए एक 'वास्तविकता' का निर्माण करते हैं जो कि एक निर्मिति ही होती है और यह 'प्रतीकात्मक' का आधार है! यथार्थ अज्ञेय है! और इसीलिए जैसे ही हमारा 'काल्पनिक' और 'प्रतीकात्मक' इस 'यथार्थ' से टकराते हैं, वैसे ही वे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, और इसके साथ ही नये 'काल्पनिक' और नये 'प्रतीकात्मक' की रचना होती है, जो एक नयी 'वास्तविकता' के रूप में एक नयी निर्मिति का निर्माण करते हैं, जो कि और कुछ नहीं बल्कि 'यथार्थ' की एक छद्म प्रस्तुति ही होती है।

अब ज़रा याद करें कि बेज्यू ने इस लकानियन त्रयी में किसे क्या कहा है–इतिहास 'प्रतीकात्मक' का प्रतिनिधित्व करता है; कम्युनिज़्म का विचार 'काल्पनिक' का प्रतिनिधित्व करता है; और राजनीति 'यथार्थ' का प्रतिनिधित्व करती है! यानी कि इतिहास भाषा और पाठ का क्षेत्र है, वास्तव में इतिहास ('ऐसा हुआ था') का कोई अस्तित्व नहीं है, यह आपकी कल्पनाओं की मदद से इतिहास की भाषाई निर्मिति है! कम्युनिज़्म का विचार कल्पनाओं का क्षेत्र है जिसमें मानवता अपनी वह "माँग" रखती है, जो कि एक आदर्श मनोगत छवि और यथार्थ के टकराव या विरोध से पैदा हुई है, और जो ठीक इसीलिए पूर्ण नहीं हो सकती; नतीजतन, इस "माँग" को अनन्त रूप से (eternally) यथार्थ से टकराते रहना है, भंग होते रहना है और पुनर्निमित होते रहना है! कम्युनिज़्म के विचार की यह अनन्त यात्रा है, जिसमें अब पुरानी "माँगें" (पार्टी, राज्य, वर्ग आदि) यथार्थ से टकरा कर भंग हो चुकी हैं और अब नयी "माँगें" यथार्थ के साथ नये द्वन्द्व में निर्मित हो रही हैं और "इच्छाओं" के रूप में अपने आपको भाषा/विचारधारा में अभिव्यक्त कर रही हैं। और यथार्थ क्या है? वह समकालीन राजनीति है जिसकी संरचना को भाषा या विचारधारा में नहीं बाँधा जा सकता है; यह 'यथार्थ' भाषा-पूर्व युग की वस्तु है और भाषा में कल्पना के सहारे इसकी निर्मिति उसकी छद्म प्रस्तुति ही होगी, एक 'वास्तविकता' का निर्माण होगा! तो फिर आप राजनीति सचेतन तौर पर और योजनाबद्ध रूप में करें क्या? बेज्यू का जवाब सीधा है–कुछ नहीं! यह यथार्थ स्वायत्त रूप से

विकसित होना है और इसमें जो बदलाव होंगे उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, और यहीं से हम बेज्यू के कुछ अन्य निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी प्रतिपादनों पर आ सकते हैं, जिसमें सबसे अहम है "इवेण्ट" की अवधारणा। बेज्यू के "इवेण्ट"(घटना/संयोग) की अवधारणा के अनुसार समाज में होनेवाले सभी बदलाव **आकस्मिक** होते हैं और उनका सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जा सकता। अब आप इस बात को बेज्यू की 'यथार्थ' की अवधारणा से जोड़ सकते हैं। चूँकि यथार्थ सैद्धान्तिकीकरण से परे है (क्योंकि सैद्धान्तिकीकरण का माध्यम भाषा और पाठ है) इसलिए यथार्थ में होने वाले परिवर्तनों के बारे में भी कुछ पहले से नहीं कहा जा सकता, उनका सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जा सकता और इन्हीं परिवर्तनों को व्याख्यायित करने के लिए "इवेण्ट" की अवधारणा बेज्यू द्वारा रची गयी है। यह "इवेण्ट" ही नयी सम्भावनाओं को जन्म देता है, लेकिन "इवेण्ट" का होना संयोग या इत्तेफ़ाक की बात है, इसलिए आमूलगामी सामाजिक परिवर्तन की पूरी परियोजना ही बेज्यू द्वारा संयोग के क्षेत्र में धकेल दी गयी है। इसमें सचेतन योजना और राजनीति का स्थान नहीं है या अगर है तो वह एक निष्प्रभावी स्वत:स्फूर्ततावादी उपस्थिति है। और इस तरह से क्रान्ति या कहें कि परिवर्तन से हर प्रकार का अभिकरण छीन लिया गया है। क्योंकि किसी सचेतन अभिकर्ता की आवश्यकता ही नहीं है! इसी निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद की मदद के लिए एक अन्य सैद्धान्तिकरण जो बेज्यू यहाँ प्रस्तुत करते हैं वह है उनका "सबट्रैक्शन" (व्यवकलन) का सिद्धान्त। इसके अनुसार आज कम्युनिज़्म का लक्ष्य राज्य का विलोपीकरण नहीं है (क्योंकि यह एक असीमित, अपरिमित प्रक्रिया है!), बल्कि "राज्य से दूरी बनाये रखने की राजनीति" है–जो किसी भी राज्य में किसी भी रूप में सम्मिलित होने को नकारती है। "सबट्रैक्शन" के अपने सैद्धान्तिकीकरण के ज़रिये एक बार फिर बेज्यू सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा पर हमला करते हैं और दरअसल क्रान्ति करने के सिद्धान्त पर ही हमला बोलते हैं। बेज्यू का असली मकसद है अति–आमूलगामी शब्दावली में आमूलगामिता की हर सम्भावना या समझदारी पर चोट की जाय और इसीलिए उनके हर सिद्धान्त का असल निशान मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी कोर अन्तर्वस्तु यानी कि वर्ग, राज्य, और पार्टी का सिद्धान्त है।

अन्त में हम सारांश के रूप में इतना ही कहना चाहेंगे कि "कम्युनिज़्म" की अपनी प्राक्कलपना और विचार के नाम पर बेज्यू मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं और क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को ख़ारिज करने का काम करते हैं। वह अतीत के सभी समाजवादी प्रयोगों पर "विफलता", "त्रासदी" और ''आपदा'' का लेबल तो चस्पाँ कर देते हैं, जो कि बेज्यू के लिए आकाशवाणी–समान सत्य है, लेकिन न तो उन प्रयोगों का कोई आलोचनात्मक मूल्यांकन पेश करते हैं और न ही सामाजिक परिवर्तन का अपना कोई सकारात्मक मॉडल पेश करते हैं। वह एक ऐसे कम्युनिज़्म की बात करते हैं जो मार्क्सवादी नहीं होगा। लेकिन, अकेले बेज्यू इस अनैतिहासिक, ग़ैर–द्वन्द्वात्मक, प्रत्ययवादी सैद्धान्तिकीकरण का शिकार नहीं हैं, बल्कि उत्तर–मार्क्सवादी "रैडिकल" दार्शनिकों की पूरी धारा है जो मार्क्सवाद पर हमला बोल रही है। **अकर्मण्यता और निष्क्रियता के इन सिद्धान्तकारों को हम दुनिया की "नयी व्याख्या" करनेवाले उनके "विचारों" के बीच ही छोड़ देते हैं, क्योंकि दुनिया को बदलने का काम अभी भी बाकी है।**

नमो फासीवाद

नवउदारवादी पूँजीवाद की राजनीति और असाध्य संकटग्रस्त पूँजीवादी समाज में उभरा धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन

● कविता कृष्णपल्लवी

2014 के लोकसभा चुनावों की सरगर्मियाँ तेज़ होने के साथ ही पैंतरापलट और ध्रुवीकरणों का घृणित नाटकीय खेल तेज़ हो चुका है। संसदीय दलितवादी राजनीति के पुराने घाघ खिलाड़ी रामविलास पासवान अचानक "सेक्युलजिरज़्म" का कुर्ता उतारकर फिर एन.डी.ए. में शामिल हो गये। रामदास अठावले पहले ही अपने "अम्बेडकरवाद" को हिन्दुत्ववादी फासीवाद के दरबार में पहुँचा चुके हैं। उदित राज ने तो पार्टी का भाजपा में विलय ही करा दिया। अन्ना द्रमुक जब चुनावी "सेक्युलर" नौटंकी पार्टी में गयीं, तो करुणानिधि ने भाजपा-गठबन्धन से निकटता बढ़ा ली। आगे भाजपा या कांग्रेस किसी से भी मोलतोल की जा सके, इसके लिए मायावती ने हमेशा की तरह इस बार भी अपने विकल्प खुले रखे हैं। शिवसेना, अकाली दल पूर्ववत् भाजपा के साथ हैं और अब चौटाला और कुलदीप विश्नोई की पार्टियाँ भी साथ आ गयी हैं। भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन के पुराने पुरोधा अन्ना हज़ारे ममता बनर्जी का प्रचार कर रहे हैं। उनके कई पूर्व सहयोगी भाजपा में जा चुके हैं और चुनाव पश्चात के समीकरणों में ममता बनर्जी के भी भाजपा-गठबन्धन के साथ ही खड़ा होने की सम्भावना अधिक है। भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन की उपज 'आप' पार्टी खुशहाल मध्यवर्ग के प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ यूटोपिया और निम्न मध्य वर्ग की बुर्जुआ सुधारवादी यूटोपिया को व्यक्त कर रहीथी, इसने अब अपने

नवउदारवादी आर्थिक एजेण्डे को एकदम खुला कर दिया है। बुर्जुआ वर्ग और उसके पक्ष में खड़े वर्गों के सामने "कठोर नवउदारवाद" के साथ "साफ-सुथरे नवउदारवाद" का एक विकल्प है जो समय आने पर तीसरे मोर्चे के साथ खड़ा होकर उनको आश्वस्त कर सकता है या संसद में एक 'प्रेशर ब्लॉक की भूमिका निभा सकता है। लेकिन इस पूरी चुनावी नौटंकी के बीच सर्वप्रमुख बात यह है कि भारतीय राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य पर हिन्दुत्ववादी फासीवाद का एक नया आक्रामक उभार सामने आया है। 1992 और गुजरात 2002 के बाद अब एक नया दौर शुरू हो रहा हैं भाजपा यदि इस बार केन्द्र में सत्तासीन नहीं भी हो पाये तो राजनीतिक परिदृश्य पर मज़बूती से बनी रहेगी और इससे भी अहम बात यह है कि एक फासीवादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में इसकी बर्बरताएँ जारी रहेंगी।

हालात इस सच्चाई को दिन के उजाले की तरह साफ कर चुके हैं कि लड़ाई आज महज साम्प्रदायिक राजनीति के ख़िलाफ़ नहीं है, बल्कि हिन्दुत्ववादी फासीवाद के ख़िलाफ़ है, जिसके साथ निगमवाद पूरी ताक़त के साथ खड़ा है। राष्ट्रपारीय निगमों और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय महाप्रभुओं की भारी जमात आज नरेन्द्र मोदी के पक्ष में दीख रही है। देशी औद्योगिक घरानों का बड़ा हिस्सा तो पहले ही उसके पक्ष में मुखर हो चुका है। स्पष्ट है कि हिन्दुत्वादी फासीवाद के विरुद्ध तभी कारगर ढंग से लड़ी जा सकती है जब वह नवउदारवाद के विरुद्ध भी हो। तभी व्यापक मेहनतक़श आबादी को साथ लेकर यह लड़ाई लड़ी जा सकती है। व्यापक परिप्रेक्ष्य में यह लड़ाई देशी-विदेशी पूँजी की निरंकुश होती जा रही उस सत्ता के विरुद्ध है जो ज़्यादा से ज़्यादा अधिशेष निचोड़ने की ग़रज से जनता पर फासीवादी भेड़िये को छोड़ देने के लिए उसकी ज़ंज़ीर ढीली छोड़ देने के लिए तैयार खड़ा है।

इतालवी कम्युनिस्ट नेता तोग्लियाती जब संशोधनवादीनहीं बना था तब उसने फासीवाद का अच्छा विश्लेषण रखा था। उसने कहा था कि साम्राज्यवाद और उसके संकट को समझे बिना फासीवाद को नहीं समझा जा सकता। चरम संकट की स्थिति में बुर्जुआ जनवाद को पूँजीपति वर्ग तिलांजलि दे देता है और फासीवाद के रूप में उसका प्रतिक्रियावाद नग्न निरंकुश होकर सामने आता है। तोग्लियाती के अनुसार, 'किसी भी समय में मौजूद वर्ग-सम्बन्धों और अपने मुनाफ़े की रक्षा के लिए पूँजीपतियों को मज़दूरों पर ज़्यादा से ज़्यादा दबाव डालने के तरीक़े खोज निकालने पड़ते हैं। इसके अलावा, पूँजीपतियों के आगे बढ़े हुए तबके अर्थात इजारेदार इतने उच्च संकेन्द्रण तक पहुँच जाते हैं कि शासन के पुराने रूप उनके प्रसार में बाधा बनने लगते हैं। इसीलिए पूँजीपति वर्ग अपने ही बनाये ढाँचे का विरोध करने लगता है।'

मन्दी और मुनाफ़े की गिरती दर का पुराना पूँजीवादी रोग आज विश्व पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत संकट के दौर में अभूतपूर्व रूप से गम्भीर हो चुका हैं यह अनायास नहीं है कि विकसित पश्चिम में भी आज नवफासीवादी दल और आन्दोलन सिर उठा रहे हैं और तीसरी दुनिया के पिछड़े पूँजीवादी देशों में तरह-तरह की धार्मिक कट्टरपंथी, नस्लवादी, कबीलावादी और उग्र जातिवादी ताक़तें अपनी उग्र उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। भारतीय पूँजीपति वर्ग के सामने पूँजीवादी विकास के मौजूदा मॉडल से पीछे हटने का विकल्प ही नहीं है। नवउदारवादी नीतियों को कुछ "मानवीय चेहरे" के साथ प्रस्तुत करने का स्कोप भी काफ़ी संकुचित हो चुका है। व्यापक जनअसंतोष के विस्फोट का ख़तरा और चुनावी राजनीति के लोकरंजक आग्रह उसे कुछ कथित "कल्याणकारी" क़दम उठाने की ओर ले जाते हैं, दूसरी

ओर पूँजीवादी संकट का वस्तुगत दबाव उसे विवश करता है कि वह बाज़ार की शक्तियों को निर्बंध कर दे और मज़दूरों की श्रमशक्ति की लूट के लिए श्रम क़ानूनों को ज़्यादा से ज़्यादा लचीला बनादे। पूँजीपति वर्ग की यह दुविधा सबसे पुरानी और विश्वस्त बुर्जुआ पार्टी कांग्रेस की नीतियों में दीखती है, हालाँकि उसका झुकाव भी क्रमशः ज़्यादा से ज़्यादा निरंकुश सर्वसत्तावादी होने की दिशा में ही है।

भाजपा की दृष्टि एकदम साफ है। वह नवउदारवाद की नीतियों की उस समय से पैरोकारी करती रही है, जब इन नीतियों की विश्वव्यापी लहर आयी भी नहीं थी। इसीलिए, मोदी का 'गुजरात मॉडल' देशी-विदेशी पूँजीपतियों को लुभा रहा है। नरेन्द्र मोदी डीरेग्यूलेशन, टैक्स ब्रेक और पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप की खुली और पुरजोर वक़ालत करता है। वह श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर कारखाना मालिकों को लूटमार की खुली छूट देता है। जहाँ तक इन नीतयों से उपजे जनअसंतोष के विस्फोट से निपटने का सवाल है, भाजपा मज़दूरों के आन्दोलनों के दमन के लिए एक 'पुलिस स्टेट' तक क़ायम कर देने के लिए तैयार पार्टी है। बस एक बार सत्ता में आने की बात है। जहाँ तक चुनाव जीतने की बात है, हमें भूलना नहीं चाहिए कि हिटलर भी लोकरंजक नारों और नस्ली उन्माद के सहारे चुनाव जीतकर प्रबल बहुमत से सत्ता में आया था। जर्मन इजारेदार पूँजीपतियों की थैली की ताक़त उसके साथ थी ही।

अब भारत के परिदृश्य को देखिये। मज़दूर आन्दोलन असंगठित और टूटी-फूटी अवस्था में है। संशोधनवादी पार्टियों ने केवल 'चुनाव-चुनाव' का खेल खेलकर तथा अर्थवादी रस्मी आन्दोलन और दुअन्नी-चवन्नी की सौदेबाजी करके मज़दूर वर्ग की संगठित वर्ग-चेतना को विसर्जित कर दिया है और उसकी राजनीतिक चेतना को कुन्द कर दिया है। 95 प्रतिशत मज़दूर आबादी असंगठित है। जो संगठित "कुलीन" मज़दूर हैं, उनकी चेतना पतित होकर ग़ैर जनवादी निम्न पूँजीवादी चेतना बन चुकी है। क्रान्तिकारी वाम शक्तियाँ कमज़ोर और बिखरी हुई हैं। वे मज़दूर आन्दोलन को प्रभावित कर पाने में फिलहाल अक्षम हैं और मज़दूरों को संगठित करने के मामले में उनमें से अधिकांश की दिशा ही स्पष्ट नहीं है। वे या तो माालिक किसानों की लड़ाइयाँ लड़ने में उलझी हैं या ज़मीनों के पुनर्वितरण का सवाल उठा रही हैं या फिर "वाम" दुस्साहसवादी कार्रवाइयों में मुब्तिला हैं। उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों ने मज़दूरों की जिस भारी आबादी को उत्पादन-प्रक्रिया से बाहर धकेलकर बेरोज़गार या अर्द्धबेरोज़गार बना दिया है, उसके एक हिस्से का विमानवीकरण हो रहा है और उन्मादी फासिस्ट नारों से उसके प्रभावित होने की ज़मीन तैयार है। किसी क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव में बेरोज़गारी और परेशानी झेल रही निम्नमध्यवर्गीय आबादी भी फासीवादी उन्माद और लोकरंजक नारों से प्रभावित हो रही है। कारपोरेट कल्चर में रचे-पगे खाते-पीते मध्यवर्गीय युवाओं के लिए मोदी एक ऐसा नायक है, जो देश को चीन जैसी "प्रगति" की रफ़्तार देने में सक्षम है। व्यापारियों और रूढ़िवादी सवर्णों (भूस्वामी एवं मध्यवर्गीय आबादी) के बीच भाजपा का पुराना सामाजिक आधार अभी भी क़ायम है। अब कुलक भी उसके पक्ष में आ रहे हैं और इसके लिए भाजपा शातिराने ढंग से पिछड़ी जाति का कार्ड खेल रही है।

जनता की वर्गीय एकजुटता को छिन्न-भिन्न करने के लिए भारत में कट्टर हिन्दुत्ववाद की राजनीति सबसे प्रभावी है, इसके लिए मन्दिर कार्ड खेला जा रहा है, तालिबानी आतंकवाद

का हौवा खड़ा करके पूरी मुस्लिम आबादी को अलगाव में डालने की साज़िशें की जा रही हैं, दंगे भड़काये जा रहे हैं और साम्प्रदायिक तनाव का देशव्यापी माहौल पैदा किया जा रहा है। इसके साथ ही, चीन और पाकिस्तान के साथ सीमा-विवाद और कश्मीर के प्रश्न को ज़्यादा से ज़्यादा तूल देते हुए, उग्र अन्धराष्ट्रवाद को भी ख़ूब हवा दिया जा रहा है और इसमें मीडिया भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। एक धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में फासीवाद का चरित्र-चित्रण करते हुए तोग्लियाती ने बताया था कि "फासीवाद विभिन्न रुझानों का मिश्रण है और सभी जगह फासीवादी-आन्दोलनों में एक सामान्य तत्व है उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा।" उसके अनुसार, "फासीवादी विचारधारा में कई प्रकार के बेमेल तत्व शामिल हैं। यह विचारधारा मेहनतक़शों पर अपनी तानाशाही क़ायम करने के लिए विभिन्न गुटों को साथ लेकर चलती है। इस काम के लिए यह एक व्यापक आन्दोलन निर्मित करती है... विचारधारा का राष्ट्रवादी हिस्सा सीधे पूँजीपति वर्ग की सेवा करता है और अन्य तत्व आपस में जोड़ने का काम करते हैं। इसके बावजूद फासीवादी विचारधारा को एक समान, ठोस और सम्पूर्ण नहीं मानना चाहिए। यह गिरगिट के समान रंग बदलती है। यह विशेष परिस्थितियों में विशेष उद्देश्य तक पहुँचने का साधन है।"

भाजपा को लेकर देशी-विदेशी पूँजीपतियों की चिन्ता और दुविधा सिर्फ़ यह है कि साम्प्रदायिक दंगों का विस्फोट यदि पूरे देश में अशान्ति का माहौल पैदा कर देगा तो पूँजी निवेश के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं रह जायेंगी। मोदी इस मामले में उन्हें अपने 'गुजरात मॉडल' से आश्वस्त कर रहा है। उसका तर्क यह है कि दंगों और राज्य-प्रायोजित नरसंहारों से अल्पसंख्यकों को आतंकित करके दोयम दर्ज़े के नागरिकों जैसी स्थिति में धकेलने के बाद लगातार सामाजिक अशान्ति की स्थिति नहीं बनी रहेगी। वे अपनी सस्ती से सस्ती श्रमशक्ति बेचने को मजबूर होंगे और साथ ही धार्मिक अलगाव पैदा करके ग़रीबों की वर्गीय एकजुटता भी बनने से रोकी जा सकेगी। उसकी बात पूँजीपतियों के लिए 'कनविंसिंग' है। 2002 के बाद गुजरात में दंगे नहीं हुए, पर आम मुस्लिम-हिन्दू आबादी के बीच अलगाव की मज़बूत दीवारें हैं, मुस्लिम आबादी वहाँ दोयम दर्ज़े की नागरिक है (आँकड़े बताते हैं) और शहरों में मुस्लिम आबादी का 'घेट्टोकरण' हो रहा है, असुरक्षा-बोध के चलते मुस्लिम आबादी एक साथ रहने के लिए घनी और सुविधाहीन बस्तियों में संकेन्द्रित होती जा रही है।

पिछले दिनों 'नीलसन-इकोनॉमिक टाइम्स सर्वेक्षण' के दौरान भारत के सौ कारपोरेट लीडरों से जब बात की गयी तो उनमें से 74 ने मोदी को प्रधानमंत्री के रूप में देखना पसन्द किया। 'सी.एल.एस.ए.' और 'गोल्डमैन सॉक्स' के बाद अब जापानी ब्रोकरेज कम्पनी 'नोमुरा' को भी भारत में 'मोदी लहर' चलती दिख रही है यानी ज़्यादातर विदेशी कारपोरेट महाप्रभु भी फिलवक्त मोदी पर ही दाँव खेलने के पक्ष में हैं। पूँजीपति तो सभी बुर्जुआ दलों को उनकी औक़ात के हिसाब से पैसे देते हैं, पर इस बार उन्होंने भाजपा के लिए अपनी थैलियों का मुँह कुछ ज़्यादा ही खोल दिया है। यह तथ्य सार्वजनिक न हो जाये, इसके लिए इण्डिया इंक. नये कम्पनी क़ानून के सेक्शन 182 (3) में बदलाव चाहता है और यह माँग कर रहा है कि यह बतलाने के लिए बाध्य न किया जाये कि किस पार्टी को किस घराने ने कितना चन्दा दिया।

ज़ाहिर है कि मोदी का फासीवाद हूबहू हिटलर-मुसोलिनी का फासीवाद नहीं हो सकता। भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश का आज का फासीवाद बीसवीं शताब्दी के जर्मनी और इटली

का फासीवाद नहीं हो सकता। भारतीय पूँजीवाद, जो साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार है, यह युद्ध द्वारा विश्व बाज़ार पर कब्जे के मंसूबे नहीं पाल सकता', ज़्यादा से ज़्यादा अपने कमज़ोर पड़ोसियों को दबाने-डराने का काम कर सकता है। इसका मुख्य निशाना देश की आम मेहनतक़श आबादी होगी और धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय होंगे। धार्मिक अल्पसंख्यकों को ये दोयम दर्ज़े का नागरिक बना देगा। मज़दूरों और आम मेहनतक़श आबादी को यह लोहे के हाथों से कुचलने का काम करेगा। जम्मू कश्मीर और उत्तर-पूर्व में तथा छत्तीसगढ़ जैसे इलाक़ों में सेना और पुलिस का और भी दमनकारी शासन चलेगा। रही-सही ट्रेड यूनियन गतिविधियों पर भी अंकुश लग जायेगा। संसदीय जनवाद और अधिक रस्मी हो जायेगा और जनता के रहे-सहे जनवादी अधिकार भी छीन लिये जायेंगे। यदि मोदी की अगुवाई में संघी फासीवादी दिल्ली की गद्दी तक पहुँचने में कामयाब नहीं भी हुए, तो भी एक धुर प्रतिक्रियावादी, मुस्लिम-विरोधी, कम्युनिस्ट-विरोधी सामाजिक आन्दोलन के रूप में भारतीय सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य पर हिन्दुत्ववादी फासीवादी लहर का वजूद बना रहेगा। पूँजीवाद ज़ंजीर से बँधे कुत्ते की तरह इसे बनाये रखेगा, ताकि आगे कभी भी इसका इस्तेमाल किया जा सके।

इस नवफासीवादी लहर का मुक़ाबला न तो कुछ पैस्सिव क़िस्म की बौद्धिक-सांस्कृतिक गतिविधियों से किया जा सकता है, न ही 'सर्वधर्मसमभाव' की अपीलों से। यह केवल संसदीय चुनाव के दायरे में जीत-हार का सवाल भी नहीं है। सत्ता में न रहते हुए भी ये फासीवादी जनता को बाँटने की साज़िशें और दंगे भड़काने का ख़ूनी खेल जारी रखेंगे। जो जेनुइन सेक्युलर बुद्धिजीवी हैं, उन्हें अपने आरामगाहों ओर अध्ययन कक्षों से बाहर आकर, प्रतिदिन, लगातार, पूरे समाज में और मेहनतक़श तबकों में जाना होगा, तरह-तरह से उपक्रमों से धार्मिक कट्टरपंथ के विरुद्ध प्रचार करना होगा, साथ ही जनता को उसके जनवादी माँगों पर लड़ना सिखाना होगा, मज़दूरों को नये सिरे से जुझारू संगठनों में संगठित होने की शिक्षा देनी होगी, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के ऐतिहासिक मिशन से उन्हें परिचित कराना होगा, उन्हें भगतसिंह, राहुल और मज़दूर संघर्षों की गौरवशाली विरासत से परिचित कराना होगां मज़दूर वर्ग के अग्रिम तत्वों और क्रान्तिकारी वाम की कतारों को तृणमूल स्तर पर जनता के बीच ये कार्रवाईयाँ चलाते हुए संघ परिवार के ज़मीनी तैयारी के कामों का प्रतिकार करना होगा। यह लड़ाई सिर्फ़ 2014 के चुनावों तक की ही नहीं है। यह एक लम्बी लड़ाई है।

आम आदमी पार्टी की राजनीति के उभार के निहितार्थ

● शिशिर

अरविन्द केजरीवाल आजकल लोकसभा चुनावों में देश के दौरे पर हैं। केजरीवाल अपनी चुनावी सभाओं में दावा कर रहे हैं कि आम आदमी पार्टी को आने वाले लोकसभा चुनावों में 100 से 200 सीटें तक मिलने वाली हैं। केजरीवाल का निशाना अब कांग्रेस से ज़्यादा भाजपा और विशेषकर नरेन्द्र मोदी हो गये हैं। बात तो यहाँ तक की जा रही है कि आने वाले चुनावों में अरविन्द केजरीवाल नरेन्द्र मोदी के ख़िलाफ़ चुनाव लड़ने वाले हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि आम आदमी पार्टी के आने से बुर्जुआ चुनावी राजनीति के समीकरणों में थोड़ा परिवर्तन आया है। आम आदमी पार्टी के उभार के कारणों की सही मार्क्सवादी समझदारी न होने के कारण कई मार्क्सवादी और यहाँ तक मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठनों के क्रान्तिकारियों में दो दिलचस्प किस्म की प्रतिक्रियाएँ देखने को मिल रही हैं। संशोधनवादी पार्टियों, जैसे कि माकपा व भाकपा, के नेता कई मंचों पर चिन्तित दिखे कि आम आदमी पार्टी ने तो उनके राजनीतिक आधार और एजेण्डे में सेंध लगा दी; एक मंच से तो प्रकाश करात ने आम आदमी पार्टी से सीखने की सलाह तक दे दी! ज़ाहिर है, एक ग़ैर-वामपंथी और दक्षिणपंथ की सशक्त छाप रखने वाले लोकरंजक सुधारवाद के उदय ने संसदीय वामपंथियों और सुधारवादियों के दिल में कम-से-कम कुछ समय के लिए बेरोज़गार होने का भय पैदा कर दिया है! जहाँ तक भाकपा (माले) जैसी धुर अवसरवादी संशोधनवादी पार्टी का प्रश्न है, तो वह अपने अवसरवाद की कीमत खुद चुका रही है; कई भाकपा (माले) के नेता, कार्यकर्ता और इनके छात्र विंग के नेता आम आदमी पार्टी में शामिल होने की होड़ में लग गये हैं! कह सकते हैं कि भाकपा (माले) के घर में थोड़ी भगदड़ मच गयी है। लेकिन इसके लिए थोड़ा ज़्यादा गर्म संशोधनवाद परोसने वाले ये "वामपंथी" विदूषक किसी और को दोष कैसे दे सकते हैं? क्या स्वयं भाकपा (माले) के केन्द्रीय कमेटी सदस्य अण्णा हज़ारे

के अनशन के दौरान उनके मंच पर जगह पाने के लिए भागे-भागे नहीं गये थे? लेकिन एक सतत् दक्षिणपंथी पुनरुत्थानवादी (अण्णा हज़ारे एण्ड कम्पनी) ने असतत् "वामपंथी" अवसरवादी को भगा दिया! जब अण्णा हज़ारे के भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन में भाकपा (माले) को दरबान की भूमिका भी नहीं मिली, तो इन्होंने अपना भ्रष्टाचार-विरोधी मंच बनाया-'स्टूडेण्ट्स-यूथ अगेंस्ट करप्शन'! भाकपा (माले) अपने राजनीतिक अवसरवाद के कारण यह सब कवायद कर रही थी। मामला यह था कि उस समय मीडिया समर्थित भ्रष्टाचार-विरोधी "धर्मयुद्ध" ने पूरी व्यवस्था के विरुद्ध जनता के अवचेतन असन्तोष को भ्रष्टचार-विरोध की पश्चगामी बुर्जुआ राजनीति के वर्चस्व तहत ला दिया था, बल्कि कह सकते हैं कि विनियोजित कर लिया था। ऐसे में, आम तौर पर जो भ्रष्टचार-विरोधी माहौल बना था, भाकपा (माले) उसका लाभ उठाने के लिए मचल गयी थी! वैसे भाकपा (माले) के "वामपंथी" अवसरवादी विदूषक किसी भी किस्म की लहर उठने पर उसकी सवारी करने के लिए हमेशा ही मचल जाते हैं! लेकिन हम भाकपा (माले) की ही बात क्यों करें, कई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट समूहों में भी 'आप' के उभार को लेकर हताशा का माहौल व्याप्त था और साथ ही उनमें से भी कई लोगों ने आम आदमी पार्टी में शामिल होने का फैसला किया। यह आन्दोलन में मौजूद ठहराव और उसके कारण बढ़ती निराशा को भी दिखला रहा था। कई कट्टरपंथी होज़ापंथी लोग तक आम आदमी पार्टी में शामिल हो गये, बल्कि उसके नेतृत्व में पहुँच गये! यह जो सारा तमाशा चला इससे आम आदमी पार्टी की राजनीति के उभार की पूरी परिघटना के बारे में काफ़ी-कुछ ज़ाहिर होता है।

दिल्ली के चुनावों के बाद, काफ़ी ड्रामे के बाद अन्ततः आम आदमी पार्टी ने दिल्ली में सरकार बनायी। दिल्ली विधानसभा में किसी को भी स्पष्ट बहुमत न मिलने के कारण करीब 16 दिनों तक अनिश्चितता की स्थिति बनी रही। अन्ततः आम आदमी पार्टी ने कांग्रेस का समर्थन स्वीकार किया और सरकार बनाने का फैसला किया। 'आप' सरकार बनाने को लेकर ऊहापोह में थी। इसका कारण यह था कि सभी की तरह स्वयं 'आप' ने भी ऐसे चुनावी नतीजों की उम्मीद नहीं की थी। एक नयी पार्टी के तौर पर 'आप' का प्रदर्शन चौंकाने वाला था। चुनाव लड़ने से पहले भी स्वयं 'आप' के ज़्यादातर 'थिंकटैंक' यही मानकर चल रहे थे कि एक लम्बे दौर में 'आप' भारतीय चुनावी राजनीति में अपनी जगह बनायेगी। लेकिन पुरानी मुख्य धारा की चुनावी पार्टियों से जनता का मोहभंग इतना ज़बर्दस्त था कि पहले ही प्रयास में 'आप' को 70 में से 28 सीटें हासिल हो गयीं! कांग्रेस ने अपने अनुभव का इस्तेमाल किया और बिना शर्त 'आप' को समर्थन दे दिया। अब 'आप' के लिए एक 'धर्मसंकट' की स्थिति पैदा हो गयी। 'आप' के श्रीमान सुथरे अरविन्द केजरीवाल शुरू से यह दावा करते रहे हैं कि उनकी पार्टी 'मुद्दा-आधारित' राजनीति करती है और विचारधाराओं और 'लेफ्ट-राइट-सेण्टर' से परे है! चूँकि कांग्रेस ने 'आप' को अपने चुनावी वायदे पूरे करने के लिए बिना शर्त समर्थन दिया इसलिए अब भागने का कोई रास्ता नहीं बचा था। एक प्रयास 18-सूत्रीय पत्र के रूप में 'आप' ने किया, जो कि उन्होंने भाजपा और कांग्रेस को भेजा। भाजपा ने तो जवाब देने से ही इंकार कर दिया, लेकिन कांग्रेस ने स्पष्ट जवाब दिया और कहा कि 18 माँगों में से 16 माँगें ऐसी हैं, जो कि प्रशासनिक मुद्दे हैं, और सरकार बनने के बाद 'आप' को उन विशिष्ट मुद्दों पर कांग्रेस के समर्थन की आवश्यकता नहीं है, और दो मुद्दे ऐसे हैं जो कि कांग्रेस के चुनावी घोषणापत्र में भी थे और कांग्रेस उन पर 'आप' को बिना शर्त समर्थन देगी। इसके बाद 'आप'

ने कहा कि वह जनता के बीच जनमत सर्वेक्षण करेगी ताकि यह पता लगा सके कि जनता उनके द्वारा सरकार बनाये जाने के पक्ष में है या नहीं! सभी जनसभाओं में और मीडिया पोल में 'जनता' की राय यह सामने आयी कि केजरीवाल को सरकार बनानी चाहिए। कारण यह था कि जनता केजरीवाल द्वारा किये गये वायदों को पूरा करने का इन्तज़ार कर रही थी; मसलन, बिजली का बिल 50 फीसदी कम करना और 700 लीटर प्रतिदिन मुफ्त पानी हर घर में पहुँचाना, 500 नये स्कूल खोलना और सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता को निजी स्कूलों से बेहतर बनाना, सभी साढ़े तीन लाख सरकारी और 50 लाख से ज़्यादा गैर-सरकारी ठेका कर्मचारियों को स्थायी करना, आदि। इनमें से पहले दो वायदे ऐसे हैं जिनका पूरा होने का दिल्ली की आम जनता बेसब्री से इन्तज़ार कर रही थी और केजरीवाल ने अपने बच्चों की कसम खाकर कहा था कि अगर उनकी सरकार बनती है तो वे अपने चुनावी वायदों में आधे एक माह में पूरे कर देंगे और बाकी छह महीनों में। अब 'आप' के लोग कांग्रेस को कुछ नहीं कह सकते थे (मसलन, कि कांग्रेस की तो आदत ही सरकार गिराने की है, वगैरह) क्योंकि एक या दो महीने में तो कांग्रेस सरकार गिराने नहीं जा रही थी और केजरीवाल ने अपने आधे वायदे पूरे करने के लिए इतना ही वक्त माँगा था! लुब्बोलुआब यह कि सरकार बनाने के अलावा केजरीवाल के पास और कोई रास्ता नहीं बचा था और अब समस्या यह थी कि केजरीवाल और उनके सारे "समाजवादी" सलाहकार भी जानते थे कि केजरीवाल सरकार ये वायदे पूरे कर ही नहीं सकती। केजरीवाल अब इस उम्मीद में थे कि अगर वे वायदों के 10 प्रतिशत को आधा पूरा कर दें और बाकी 90 प्रतिशत जमकर गर्मागर्म नौटंकी और लोकरंजकतावादी जुमलों की राजनीति करके एक-डेढ़ महीने काट दें तो जनता के बीच में कुछ वाहवाही हो जायेगी और आने वाले लोकसभा चुनावों में आम आदमी पार्टी अपनी बढ़ी हुई लोकप्रियता के साथ जा पायेगी। लेकिन दिक्कत यह है कि केजरीवाल जिस आदर्शवादी, श्रीमान सुथरा की छवि बनाकर और कांग्रेस और भाजपा को जिस भाषा में कोसते हुए सत्ता में पहुँचे थे वह सबकुछ बड़े बारीक सन्तुलन पर खड़ा था, और एक हल्के धक्के से आप की 'छवियों के कौतुक-स्वाँग की राजनीति' का सन्तुलन गड़बड़ा सकता है। यही कारण था कि सरकार बनाने के फैसले की घोषणा करने के लिए 'आप' ने जो प्रेस कान्फ्रेंस की उसमें केजरीवाल समेत सारे 'आम आदमियों' के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं! केजरीवाल ने अपनी 49 दिनों की सरकार में जो धोखा और नौटंकी की वह अब धीरे-धीरे लोगों के सामने आ रही है। सबसे बड़ा धोखा केजरीवाल ने दिल्ली के ठेका मज़दूरों और कर्मचारियों के साथ किया; 6 फरवरी को हज़ारों ठेका मज़दूरों के विशाल प्रदर्शन के समक्ष केजरीवाल सरकार के श्रम मन्त्री गिरीश सोनी (जो कि खुद एक चमड़े के कारखाने का मालिक है!) के मुँह से निकल गया कि केजरीवाल सरकार दिल्ली राज्य ठेका उन्मूलन कानून नहीं पेश करेगी। और जब मज़दूरों का प्रतिनिधि-मण्डल अलग से श्रम मन्त्री से मिला तो उसने साफ़ बोल दिया कि ठेका प्रथा उन्मूलन विधेयक इसलिए नहीं पेश किया जा सकता क्योंकि इससे नियोक्ताओं और ठेकेदारों का नुकसान होगा! ज़ाहिर-सी बात है कि एक कारखाना-मालिक श्रम मन्त्री यही बोलेगा! बहरहाल, ठेका मज़दूरों से किये गये धोखे के कारण केजरीवाल की काफ़ी फजीहत हुई। डीटीसी कर्मचारियों के प्रदर्शन में मज़दूरों ने केजरीवाल को दौड़ा लिया और उसे वहाँ से भागना पड़ा; ठेका शिक्षकों को केजरीवाल ने ज़बरन दिल्ली सचिवालय से हटवा दिया; ठेके पर काम करने वाले होमगार्डों ने केजरीवाल के निवास के बाहर प्रदर्शन किया।

दूसरा धोखा केजरीवाल ने पानी और बिजली के मसले पर किया। बाद में पता चला कि बिजली और पानी की सब्सिडियाँ केवल 31 मार्च तक के लिए दी गयी थीं और उसके बाद उस पर सरकार को पुनर्विचार करना था! यानी कि 31 मार्च तक के लिए सब्सिडी देने के क़दम को मीडिया में चमकाओ, यह मत बताओ की यह स्थायी तौर पर दी गयी सब्सिडी नहीं है और उसके बाद 31 मार्च से पहले ही भाग जाओ! बिजली पर दी गयी 50 प्रतिशत सब्सिडी का एक हिस्सा ही केजरीवाल सरकार ने दिया, क्योंकि लगभग आधी सब्सिडी शीला दीक्षित सरकार के समय से ही दी जा रही थी; और केजरीवाल सरकार ने जो 372 करोड़ रुपये की सब्सिडी दी है अगर कोई सरकार 31 मार्च के बाद उसे जारी रखती है, तो इससे फ़ायदा अम्बानी और टाटा को ही होगा! क्योंकि टाटा और अम्बानी बिजली के वितरण के लिए उसी दर से रकम सरकार से वसूलेंगे; सरकार जो सब्सिडी देगी वह उसे जनता की जेब से ही करों को बढ़ाकर वसूलेगी! इसके अलावा कोई रास्ता ही नहीं है! केजरीवाल के तमाम झूठ भी पकड़ में आये जिसमें टाटा की डिस्कॉम कम्पनी एनडीपीएल की ओर से 29 जनवरी को बिजली के दर बढ़ाने के लिए केजरीवाल को लिखा गया पत्र, जिसके बारे में केजरीवाल ने टाटा के ख़िलाफ़ कुछ नहीं बोला और केवल अम्बानी के ख़िलाफ़ बोलता रहा। क्योंकि केजरीवाल के लिए टाटा साफ़-सुथरे पूँजीवाद और अम्बानी साँठ-गाँठ करने वाले पूँजीवाद की निशानी है! और केजरीवाल को साफ़ वाला पूँजीवाद मँगता है! केजरीवाल उस समय टाटा-राडिया टेप भूल गये; इस पर केजरीवाल ने कोई मुकदमा नहीं किया; जबकि अम्बानी और वीरप्पा मोईली पर किया! केजरीवाल ने जनलोकपाल विधेयक से पहले जो भी निर्णय पेश किये उन पर रज़ामन्दी प्राप्त करने के लिए उन्हें दिल्ली के उपराज्यपाल के पास भेजा, जैसे कि पानी और बिजली पर लिये गये निर्णय। लेकिन जनलोकपाल के विधेयक पर पूर्वसहमति न लेने पर केजरीवाल अड़ गया क्योंकि उस समय उसे भागना था! योगेन्द्र यादव जैसे चिकने-चुपड़े "समाजवादी" और आनन्द कुमार जैसे मरे-गिरे "समाजवादी" केजरीवाल के कन्धे पर बैठकर लगातार उसे बता रहे थे कि कब किसे 'टीप' मार कर भागो! उन्होंने केजरीवाल को फरवरी माह के मध्य में समझा दिया कि अब 'जनता' को ही टीप मारकर भाग लो, नहीं तो कुछ दिन सिर पर दिल्ली के मुख्यमन्त्री के काँटों का ताज रहा तो इज़्ज़त ढाँपने के लिए एक रुमाल भी नहीं मिलेगा!

लेकिन इस सारी छीछालेदर के बावजूद किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीय पूँजीवादी राजनीति में आम आदमी पार्टी की भूमिका ख़त्म हो गयी है। बुर्जुआ राजनीति के हर नये चुनावी खिलाड़ी का रंगरोगन कुछ दिनों में थोड़ा तो उतरता ही है! और दूसरी बात यह कि अभी भारतीय पूँजीवादी राजनीति को आम आदमी पार्टी की टुटपुँजिया, अवसरवादी, दक्षिणपंथी लोकरंजकतावादी और सुधारवादी राजनीति की ज़रूरत है। जनअसन्तोष आने वाले समय में और भी बढ़ने वाला है; बुर्जुआ राजनीति पहले ही इस कदर अपनी विश्वस्नीयता खो चुकी है कि अब पूँजीवादी राजनीति में एक नये टुटपुँजिया, सदाचारी, आत्मिक उभार की ज़रूरत है, जो कि भ्रष्टाचार-विरोध की यथास्थितिवादी राजनीति के रूप में आम आदमी पार्टी मुहैया करा रही है। यहाँ हम इस तर्क के विस्तार में नहीं जायेंगे कि भ्रष्टाचार पूँजीवाद का विचलन नहीं बल्कि नियम है; जिस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का बुनियादी प्रेरक तत्व और तर्क ही निजी मुनाफ़ा, निजी सम्पत्ति और निजी पूँजी संचय है वहाँ यह मुनाफ़ा बुर्जुआ संविधान और संहिताओं के नियमों-कानूनों के दायरे में ही सीमित नहीं रहेगा; वह निश्चित तौर

पर उसका बार-बार अतिक्रमण करेगा; कोई सख़्त से सख़्त कानून भी इस भ्रष्टाचार पर कुछ समय के लिए कुछ परिमाणात्मक रोक लगा सकता है; लेकिन ऐसी कोई भ्रष्टाचार-विरोधी कानून, संस्था, प्राधिकार या अधिकारी अन्त में पूँजी की शक्ति के आगे नतमस्तक होगा ही! ऐसे में, समूची पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध किये बिना यदि कोई सिर्फ़ भ्रष्टाचारी, 'साँठ-गाँठ करने वाले' पूँजीवाद का विरोध कर रहा है और एक सदाचारी सन्त पूँजीवाद का भ्रम फैला रहा है, तो या तो वह खुद मूर्ख है या जनता को मूर्ख बना रहा है। निश्चित तौर पर अरविन्द केजरीवाल और योगेन्द्र यादव जैसे उसके चिकने-चुपड़े-चाशनी में डूबे "समाजवादी" सलाहकार मूर्ख नहीं हैं! आम आदमी पार्टी की पूरी राजनीति के चरित्र को मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों को गहरायी से समझना चाहिए। यह आन्दोलन के समक्ष एक दोहरी सम्भावना पैदा कर रही है–एक सम्भावना इनके लोकरंजकतावादी दक्षिणपंथी अवसरवाद और सुधारवाद को बेनक़ाब करने की चुनौती के रूप में है, तो दूसरी सम्भावना इस अवसर के रूप में है कि इनके कहीं भी सत्ता में आने पर पूरी बुर्जुआ व्यवस्था की सीमाओं को जनता के सामने उजागर करने का एक मौका क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को मिलता है। लेकिन इस दोहरी सम्भावना को समझने की बजाय कई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी समूहों में आम आदमी पार्टी के उभार को लेकर एक राजनीतिक भयाक्रान्तता या फिर निराशा, पराजयबोध और "बेरोज़गार हो जाने के ख़तरे" का बोध पैदा हो गया है! इसका कारण यही है कि 'आप' के उभार की परिघटना का कोई ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक विश्लेषण इनके पास मौजूद नहीं है।

एक बात तय है कि भारतीय पूँजीवादी चुनावी राजनीति में 'आप' का उभार एक परिघटना है। 'आप' के उभार के क्या मायने हैं? 'आप' का राजनीतिक चरित्र क्या है? 'आप' की पूँजीवादी राजनीति में क्या प्रासंगिकता है? 'आप' क्या कोई लघुजीवी परिघटना है या फिर यह भारतीय राजनीति में एक दीर्घकालिक परिघटना के रूप में आयी है? इस टिप्पणी में हम इन्हीं केन्द्रीय मुद्दों पर चर्चा करेंगे।

आम आदमी पार्टी के उभार का कालभ्रमित प्राक्-इतिहास

कई राजनीतिक विश्लेषक यह दावा कर रहे हैं कि 'आप' का उभार भारतीय राजनीति में एक नयी परिघटना है। उनका मानना है कि इससे भारत में पूँजीवादी चुनावी राजनीति ज़्यादा साफ़-सुथरी बनेगी, ज़्यादा भागीदारीपूर्ण बनेगी, अन्य चुनावी पार्टियों को भी 'साफ़' राजनीति करने पर मजबूर होना पड़ेगा, वगैरह। लेकिन हमें इस पूरे विश्लेषण पर गहरा सन्देह है क्योंकि ऐतिहासिक तथ्य इस विश्लेषण को ग़लत ठहराते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था अपने संकट के दौरों में हमेशा ही निम्न मध्यमवर्गीय आदर्शवाद और उच्च मध्यमवर्गीय प्रतिक्रियावाद का इस्तेमाल करती है। 'आप' के मौजूदा उभार के सन्दर्भ में हम पाठकों को सत्तर के दशक के जेपी आन्दोलन और 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के जुमले और उसके बाद जनसंघ के उभार और जनता पार्टी और उसके बाद भाजपा के उदय की याद दिलाना चाहते हैं। सत्तर का दशक वह समय था जब नक्सलबाड़ी आन्दोलन को कुचलने की प्रक्रिया जारी थी, रेलवे की प्रसिद्ध हड़ताल हुई थी, इन्दिरा गाँधी की सरकार ने आपातकाल लागू किया था और पूरे के पूरे पूँजीवादी शासन के प्रति एक गहरा अविश्वास, मोहभंग और नापसन्दगी का माहौल था। यह पूँजीवादी शासन के प्रति यह मोहभंग जल्द ही पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति मोहभंग में तब्दील हो सकता था। पाठकों को शायद यह भी याद हो कि भारतीय अर्थव्यवस्था भी उस समय संकट का शिकार थी और बेरोज़गारी, महँगाई और भ्रष्टाचार चरम पर था। पूँजीवाद को उस समय एक

ऐसे सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन की ज़रूरत थी, जो कि आम मेहनतकश और निम्न मध्यमवर्गीय जनता के असन्तोष को सुरक्षित चैनलों में अपचयित कर सके। जेपी आन्दोलन ने इसी काम को अंजाम दिया। जेपी आन्दोलन ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को फिर से मुख्यधारा में लाया और उसके परिणामस्वरूप जनसंघ और फिर जनता पार्टी के उभार के बारे में सभी जानते हैं। इस उभार के पीछे एक ओर धुर दक्षिणपंथी ताक़तें खड़ी थीं, तो दूसरी ओर विभिन्न प्रकार के समाजवादी भी खड़े थे। यहाँ पर सामाजिक-जनवाद और फासीवाद के बीच के जैविक सम्बन्ध शायद इतिहास में सबसे खुले तौर पर उजागर हुए थे।

आज भी 'आप' के उभार के पीछे जो दिमाग़ काम कर रहे हैं उनमें से अधिकांश जेपी-ब्राण्ड समाजवादी हैं, या फिर लोहियावादी समाजवादी। मिसाल के तौर पर, योगेन्द्र यादव और प्रोफेसर आनन्द कुमार। वहीं दूसरी ओर इस उभार के पीछे तमाम भूतपूर्व मार्क्सवादी, ख़ास तौर पर कथित पूर्व नक्सलवादी, और पूर्व एमएल के लोग, जो अब बेशर्म किस्म के दलाल बन चुके हैं, भी इस उभार के पीछे हैं। मिसाल के तौर पर, अभय कुमार दुबे और सीएसडीएस (सेण्टर फॉर स्टडी ऑफ डेवेलपिंग सोसायटीज़) में बैठे अन्य घाघ राजनीतिक चिन्तक-विश्लेषक। यह भी कोई इत्तेफ़ाक नहीं है कि सीएसडीएस के संस्थापक रजनी कोठारी थे, जो कि साम्राज्यवाद के एजेण्ट के रूप में भारत के वामपंथ में घुसाये गये व्यक्ति थे। यह भी अपवाद नहीं है कि सीएसडीएस द्वारा चलायी जाने वाली मीडिया पहल 'सराय' की फण्डिंग साम्राज्यवादी फण्डिंग एजेंसियों, विशेष तौर पर, डच फण्डिंग एजेंसी डीवाग से आती है। और अन्त में, यह भी अपवाद नहीं है कि विश्व बैंक ने भारत में शुरू हुए भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन 'इण्डिया अगेंस्ट करप्शन' को समर्थन दिया था, जिससे कि अरविन्द केजरीवाल और उनकी 'आप' का जन्म हुआ। इस समय पूँजीवादी संकट को विद्रोहों और क्रान्तियों की ओर जाने से रोकने के लिए 'आप' जैसी पार्टियों की ज़रूरत पूँजीवादी शासक वर्ग को है, और यही बात जेपी आन्दोलन और उसके नतीजे के तौर पर पैदा हुए राजनीतिक दलों पर भी लागू होती है। जेपी आन्दोलन की ही तरह आम आदमी पार्टी की राजनीति भी गर्म जुमलों की राजनीति करती है; अगर जेपी आन्दोलन 'सम्पूर्ण क्रान्ति' (क्या कोई क्रान्ति असम्पूर्ण भी होती है!?) तो आम आदमी पार्टी 'नयी आज़ादी' और 'पूर्ण स्वराज' का नारा उछालती है! लेकिन यह 'नयी आज़ादी' और 'पूर्ण स्वराज' क्या है? यह है एक जनलोकपाल कानून + तथाकथित 'तृणमूल' जनवाद (मोहल्ला सभा आदि) + व्यवसाय जगत पर से हर प्रकार के राजकीय विनियमन का ख़ात्मा + और श्रम और पूँजी के बीच एक कल्पित राक्षस (भ्रष्टाचार) के विरुद्ध गठजोड़ की राजनीति की आड़ में पूँजीपतियों की सेवा + औद्योगिक-वित्तीय पूँजी और नौकरशाह पूँजीपति वर्ग के बीच अधिशेष के बँटवारे की लड़ाई में औद्योगिक-वित्तीय पूँजी का हिस्सा बढ़ाने की राजनीति। हाल ही में, लोकसभा चुनावों के लिए चन्दे की भीख माँगने के लिए अरविन्द केजरीवाल सीआईआई के मंच पर पहुँचा। वहाँ पर केजरीवाल की हालत उस बिल्ली जैसी दिख रही थी, जिस पर मछली वाले पानी की बाल्टी उड़ेल दी हो! हर वाक्य के शुरू और अन्त में 'सर जी', 'जी-जी' लगाकर केजरीवाल पूँजीपतियों से आम आदमी पार्टी के लिए सहयोग की माँग कर रहा था। और बदले में क्या देने का वायदा कर रहा था? केजरीवाल ने पूँजीपतियों से वायदा किया कि अगर वह 'आप' की सरकार बनती है तो वह उद्योग-व्यवसाय पर से हर प्रकार का विनियमन समाप्त करेगा (दूसरे शब्दों में वही बात जो राजीव गाँधी और उसके बाद तमाम पार्टियों ने कही थी, यानी इंस्पेक्टर राज ख़त्म करना!) और 'देश में धंधा लगाने

और चलाने की रास्ते की सभी बाधाओं को समाप्त कर देगा; केजरीवाल ने कहा कि पूँजीपति देश की सम्पदा पैदा करते हैं (तो मज़दूर क्या करते हैं!?) और उनकी "मेहनत" की फसल भ्रष्टाचारी नेता और नौकरशाह लेते जाते हैं! केजरीवाल ने पूँजीपतियों के "दुख-तक़लीफ़" पर काफ़ी आँसू बहाये और इस बार आँसू घड़ियाली नहीं लग रहे थे! ऐसा लग रहा था मानो एकदम दिल से बात निकल रही है! केजरीवाल ने यह भी कहा कि अम्बानी से उनकी कोई दुश्मनी नहीं है! आगे उसने कई साक्षात्कारों ने बोला कि तेल निकालने पर प्रति इकाई एक डॉलर का ख़र्च आता है और उसके लिए रिलायंस अभी 4 डॉलर ले रही है और इसे आगे 8 डॉलर करने के लिए कह रही है; इस पर केजरीवाल की आपत्ति यह नहीं थी कि देश के तेल को किसी पूँजीपति को निकालने के लिए दें ही क्यों जब देश की सरकार यह कार्य देश के करोड़ों बेरोज़गार नौजवानों में से तमाम को नौकरी देकर कर सकती है? क्या यह ठेका उचित है? केजरीवाल के मुताबिक उचित है क्योंकि 'सरकार का काम धंधा करना नहीं होना चाहिए!' ('दि गवर्नमेण्ट शुड हैव नो बिज़नेस इन बिज़नेस') केजरीवाल का रिलायंस से यह कहना है कि 1 डॉलर की जगह 2 डॉलर ले लो, 2.50 डॉलर ले लो, 3 डॉलर ले लो! क्या 4 डॉलर या 8 डॉलर लेकर लूटोगे? लेकिन किस तर्क से 2 या 3 डॉलर लूट नहीं है और 4 डॉलर लूट है? यह तो लूट की मात्रा को कम करने की माँग है, लूट को ख़त्म करने की नहीं! केजरीवाल की आर्थिक नीति कांग्रेस द्वारा 1991 में पेश की गयी आर्थिक नीति का ही एक शुद्धतावादी संस्करण है, यानी कि निजीकरण-उदारीकरण, बिना भ्रष्टाचार के! और केजरीवाल जब भ्रष्टाचार की भी बात उठाते हैं तो पूँजीपतियों के तलवे चाटते हुए सारी ज़िम्मेदारी सरकार और नौकरशाही पर डालकर पूँजीपति वर्ग को पापमुक्त करते हैं! यानी अगर कोई कम्पनी घूस देकर सरकार से कम दाम पर स्पेक्ट्रम ख़रीदती है और फिर उसे कई गुना दाम पर बेचती है, तो यह केवल सरकारी भ्रष्टाचार है; इस मामले में बेचारा पूँजीपति तो भ्रष्टाचार करने को सरकार व नौकरशाही द्वारा 'मजबूर' किया गया है। केजरीवाल एण्ड कम्पनी एक 'फ्री एण्ड फेयर' प्रतियोगिता वाले मुक्त व्यापार पूँजीवाद की हिमायत करते हैं। यह पूँजीवाद के उत्तर-क्लासिकीय युग में क्लासिकीय पूँजीवाद के किताबी सपने की बात करना है (क्योंकि पूँजीवाद अपने किसी भी युग में पूर्ण रूप से 'फ्री एण्ड फेयर' प्रतियोगिता की स्थितियाँ नहीं मुहैया कराता था और इस प्रकार के 'न्यायपूर्ण प्रतियोगितावादी' पूँजीवाद का उदाहरण केवल क्लासिकीय बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों की किताबों में मिलती है, पूँजीवाद के असल इतिहास में कभी नहीं।) इसलिए केजरीवाल की नौटंकी पार्टी का काम केवल भ्रष्ट और साँठ-गाँठ करने वाले पूँजीवाद की बात करके, पूँजीवाद को दोषमुक्त करना है। ठीक वही काम जो कि जेपी आन्दोलन ने किया था।

ज़ाहिर है, इतिहास कभी अपने आपको हूबहू दुहराता नहीं है। लिहाज़ा, 'आप' का जेपी आन्दोलन, जनसंघ और जनता पार्टी के साथ कोई सादृश्य निरूपण नहीं किया जा सकता है। न ही आज के पूँजीवादी संकट का सादृश्य निरूपण सत्तर के दशक के पूँजीवादी संकट के साथ किया जा सकता है। यहाँ तथ्यों, घटनाओं और दलों में समानता देखने की बजाय, पूँजीवाद की कार्यप्रणाली पर निगाह डालने की आवश्यकता है। इस रूप में 'आप' का उभार मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था की एक ज़रूरत के रूप में समझा जा सकता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था के विभ्रमों को तोड़ने का नहीं, बल्कि उन्हें बनाये रखने और दीर्घजीवी बनाने का काम करता है। आगे 'आप' की पूरी राजनीति को अनावृत्त करते हुए हम इस बात को पुष्ट करेंगे।

'आप' की राजनीति का चरित्र और उसका सामाजिक आधार

अगर हम 'आप' के सामाजिक आधार और उसके घोषणपत्र पर निगाह डालें तो हमें उसकी प्रकृति और चरित्र को समझने में सहायता मिलेगी। जैसा कि हम बता चुके हैं, 'आप' की जड़ अण्णा हज़ारे द्वारा शुरू किये गये भ्रष्टाचार-विरोधी आन्दोलन में थी। यह आन्दोलन 26/11 के आतंकवादी हमले के बाद शुरू हुआ था। देश में उस समय भी शासक वर्ग के नग्न भ्रष्टाचार के विरुद्ध गहरा रोष था; आम मेहनतकश जनता महँगाई और बेरोज़गारी के बोझ तले कराह रही थी; देश के निर्धनतम लोग भुखमरी और कुपोषण से मर रहे थे। ऐसे समय में, जब देश के पूँजीवादी राजनीतिक वर्गों के साथ मोहभंग अपने चरम पर था, अण्णा हज़ारे अवतरित होते हैं! अण्णा हज़ारे का पूरा आन्दोलन एक ग़ैर-जनवादी आन्दोलन था; यह बुर्जुआ जनवाद की विफलता को हर प्रकार के जनवाद के नकार और एक तानाशाही जैसी व्यवस्था के समर्थन तक ले जाता था। पाठकों को याद होगा कि अण्णा हज़ारे का जनलोकपाल का प्रस्ताव चुनाव के सिद्धान्त को ख़ारिज करता था; विद्वत लोगों की परिषद् को जनलोकपाल चुनने की ज़िम्मेदारी देता था; उसे सभी चुने गये प्रतिनिधि (चाहे यह प्रतिनिधित्व कितना भी सीमित हो!) निकायों के ऊपर वरीयता और प्राधिकार देता था। अण्णा हज़ारे खुद कहते थे कि इस जनता के ऊपर कुछ भी कैसे छोड़ा जा सकता है जो टीवी और साड़ी के बदले अपना वोट दे आती है! रालेगण सिद्धि में अण्णा हज़ारे का प्रयोग भी दिखलाता था कि जनवाद के सिद्धान्त में अण्णा हज़ारे का कोई भरोसा नहीं है। उनके लिए परिवर्तन, विकास और सुधार का कार्य जनता नहीं कर सकती जो कि मूढ़ और अज्ञानी है; यह काम समाज के लिए कुछ विद्वतजन करते हैं और उनकी परिषद् को ही यह उत्तरदायित्व सौंपा जा सकता है, जो दण्ड और अनुशासन के ज़रिये जनता को रास्ते पर रखे! इसी आन्दोलन में अरविन्द केजरीवाल और उसकी वानर सेना भी शामिल थी। अण्णा हज़ारे तो महज़ एक 'लांच पैड' थे! इसी आन्दोलन से निकलकर अरविन्द केजरीवाल ने चुनावी दल बनाने का फैसला किया क्योंकि अण्णा हज़ारे का आन्दोलन अपने सन्तृप्ति बिन्दु पर पहुँच रहा था। अब जनता का भी एक हिस्सा समझ रहा था कि केवल धरना-अनशन कर कुछ हासिल नहीं होगा। ठीक इसी समय पर अरविन्द केजरीवाल ने अपना 'मास्टर स्ट्रोक' खेला। हालाँकि, इसके पीछे दिमाग़ योगेन्द्र यादव, आनन्द कुमार, अभय कुमार दुबे, प्रशान्त भूषण आदि जैसे सुधारवादियों, समाजवादियों का था। यहीं से अण्णा हज़ारे और केजरीवाल के रास्ते अलग हो गये। वास्तव में, यह पूँजीवादी शासक वर्ग के लिए अच्छा ही था क्योंकि उसे इन दोनों ही मदारियों की ज़रूरत है!

अण्णा हज़ारे के समर्थन में तमाम टुटपुँजिया वर्ग इकट्ठा हुए थे, जिनकी पहचान राजनीतिक चेतना के त्रासद अभाव से की जा सकती है। एक तरफ़ उच्च मध्यवर्ग की प्रतिक्रिया अण्णा हज़ारे के आन्दोलन के साथ खड़ी थी, जिसे कि अण्णा हज़ारे का जनवाद-नकार बहुत रास आ रहा था; वहीं, निम्न मध्यमवर्गीय आबादी भी महँगाई, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार आदि से तंग होकर इस आन्दोलन के पक्ष में खड़ी थी, क्योंकि अपनी चेतना की कमी के कारण वह इन समस्याओं के मूल कारण को नहीं देख पा रही थी और उसे लग रहा था कि अण्णा हज़ारे जैसा कोई 'विजिलाण्टे', रखवाला, रक्षक, महात्मा इन समस्याओं का जादू की छड़ी से समाधान कर देगा। हर समस्या को भ्रष्टाचार और हर निम्न मध्यवर्गीय असन्तोष को 'भारत माता की जय' और 'वन्दे मातरम' जैसे जुमलों में अपचयित कर दिया गया।

केजरीवाल का सामाजिक आधार भी इसी प्रकार है, हालाँकि अनुपात बदल गये हैं। केजरीवाल और उसकी 'आप' शुरुआत में शहरी उच्च और मध्य मध्यमवर्गीय आबादी में आधार बनाते हुए सामने आये। आई.आई.टी., मेडिकल, मैनेजमेण्ट के छात्र, सिविल सेवा के आकांक्षी युवा, विश्वविद्यालय आदि में पढ़ने वाले उच्च मध्यवर्गीय नौजवान केजरीवाल की 'आप' के शुरुआती सामाजिक आधार का निर्माण करते थे। इन वर्गों के भीतर जो प्रतिक्रियावाद मौजूद था वह केजरीवाल की सबसे अधिक सहायता कर रहा था। लेकिन योगेन्द्र यादव और आनन्द कुमार जैसे समाजवादियों ने इस उच्च मध्यवर्गीय परिघटना को निम्न मध्यम वर्गों और एक हद तक ग़रीब मज़दूर आबादी के एक हिस्से पर अपना वर्चस्व कायम करने के योग्य बनाया। यही वे लोग थे जो इस बात का समझ रहे थे कि पढ़े-लिखे शहरी मध्यवर्ग के 'विकास', 'टेक्नोक्रैटिक एफिशियेंसी', सामाजिक डार्विनवाद, 'मुक्त' प्रतियोगिता आदि के प्रति प्रतिक्रियावादी आग्रह के बूते पर ही 'आप' का चुनावी प्रयोग सफल नहीं हो सकता है। इन्होंने 'आप' के एजेण्डे में ग़रीब आबादी की माँगों को समेकित करने का काम किया। मिसाल के तौर पर, बिजली और पानी के सवाल के अलावा, अनधिकृत कालोनियों को नियमित करना, सभी झुग्गी निवासियों को पक्के मकान देना, सभी ठेका कर्मचारियों को नियमित करना, 500 नये सरकारी स्कूल बनवाना आदि जैसी माँगों को अलग-अलग समय पर 'आप' अपने माँगपत्रक में शामिल करती गयी। जिन समस्याओं का ज़िक्र 'आप' ने अपने घोषणापत्रों और पर्चों आदि में किया उनमें से एक के लिए भी पूरी पूँजीवादी व्यवस्था, उसमें निहित असमानता, संसाधनों के असमान वितरण, सम्पत्ति सम्बन्धों को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया गया। इन सबके लिए केवल कांग्रेस, भाजपा जैसी पार्टियाँ और उनका भ्रष्टाचार ज़िम्मेदार था! हर समस्या का एक ही कारण–भ्रष्टाचार! यहाँ तक कि ग़रीबी के लिए भी काले धन को ज़िम्मेदार ठहराया गया जो कि विदेश चला जाता है! इस बात पर कोई सवाल नहीं उठाया गया कि जो अकूत सम्पदा देश के बाहर नहीं जाती उसका असमान वितरण क्यों होता है, और यह कि अगर विदेशों में जमा काला धन वापिस आ गया तो क्या वही भी उसी अनुपात में विभाजित नहीं होगा, जिस अनुपात में देश में ही रहने वाली सम्पदा होती है? लेकिन अमीरी-ग़रीबी, असमानता के बुनियादी सामाजिक-आर्थिक मुद्दे और इस सवाल को कि इसके लिए ज़िम्मेदार वास्तव में कौन है, केजरीवाल कभी उठाते ही नहीं और अगर कभी इस पर दो शब्द बोलते भी हैं तो इसे भी भ्रष्टाचार का परिणाम बता देते हैं! क्यों? इसे समझना ज़रूरी है।

चुप-चुप बैठे हो ज़रूर कोई बात है!

केजरीवाल दावा करते हैं कि 'आप' न तो वामपंथी है, न दक्षिणपंथी और न ही मध्यमार्गी! वह विचारधारा प्रेरित राजनीति नहीं करती है। उसकी राजनीति एक उत्तर-विचारधारा और उत्तर-राजनीति के दौर की राजनीति है! इतिहास गवाह है कि अन्ततः ऐसी सभी तथाकथित उत्तर-विचारधारा राजनीतियाँ दक्षिणपंथी राजनीति के किसी नये संस्करण की शुरुआत के पीछे काम करने वाले बहाने होते हैं। हम 'आप' के प्रतिक्रियावादी और दक्षिणपंथी चरित्र को दिखलाने के लिए 'आप' की कुछ चुप्पियों की ओर आपका ध्यानाकर्षित करना चाहेंगे।

'आप' का खुद का सर्वेक्षण बताता है कि दिल्ली में उसके अधिकांश समर्थकों का कहना है कि वे दिल्ली में केजरीवाल को मुख्यमन्त्री पद पर देखना चाहते हैं, जबकि केन्द्र में वे मोदी को वोट करने वाले हैं। यह अनायास नहीं है। इसके पीछे गहरे कारण हैं।

'आप' जिन मुद्दों पर चुप है या कोई अवस्थिति नहीं अपनाती है, या फिर जिन मुद्दों को बस वह भ्रष्टाचार का नतीजा बताकर कन्धे उचका देती है, वे अहम मुद्दे हैं। मिसाल के तौर पर, जब 'आप' का चुनाव प्रचार जारी था उसी समय मुज़फ्फरनगर में दंगे हुए। अब इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि ये दंगे सोचे-समझे तौर पर संघी गिरोह ने करवाये थे। लेकिन अरविन्द केजरीवाल और 'आप' इस पर एक अहम बयान भी जारी नहीं करते! क्या यह चुप्पी चौंकाने वाली नहीं है? केजरीवाल उस सबसे बड़े ख़तरे पर चुप हैं जो आज भारत के सामने खड़ा है–मोदी के नेतृत्व में नया साम्प्रदायिक फासीवादी उभार! इस पर केजरीवाल एक शब्द तक नहीं बोलते। वह कांग्रेस की जो आलोचना करते हैं, वही आलोचना वह भाजपा की भी करते हैं जो भ्रष्टाचार के मुद्दे से कहीं आगे नहीं जाती है।

केजरीवाल 'यूथ फॉर इक्वॉलिटी' जैसे समूहों की राजनीति पर भी चुप हैं जो कि सवर्णवादी अवस्थिति से आरक्षण का विरोध करते हैं। यह भी बताया जाता है कि केजरीवाल खुद 'यूथ फॉर इक्वॉलिटी' के सदस्य थे! यह कोई चौंकाने वाली बात नहीं है क्योंकि केजरीवाल जिस उच्च मध्यवर्गीय प्रतिक्रियावादी राजनीति की नुमाइन्दगी करते हैं, उसकी नैसर्गिक एकता इसी प्रकार की राजनीति से बनती है। स्त्रियों और पुरुषों के बीच की असमानता पर भी केजरीवाल का कोई स्टैण्ड नहीं है। वह महिलाओं की सुरक्षा के लिए कमाण्डो दस्ते बनाने की बात करते हैं। लेकिन यह पुरुषों द्वारा महिलाओं को दी जाने वाली सुरक्षा ही होगी। यह अपने आपमें पूरी की पूरी पितृसत्तात्मक सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था पर प्रश्न नहीं है।

केजरीवाल की 'आप' कश्मीर और उत्तर-पूर्व में दमित राष्ट्रीयताओं के उत्पीड़न पर, आफ्स्पा, डिस्टर्ब्ड एरियाज़ एक्ट, पोटा, टाडा, यूएपीए, मकोका, आदि जैसे कानूनों पर बिल्कुल शान्त है! छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, उड़ीसा और झारखण्ड में आदिवासियों के कत्लेआम पर 'आप' चुप है! और इससे भी ख़तरनाक बात यह है कि इन सारे मुद्दों को केजरीवाल हमेशा भ्रष्टाचार पर अपचयित करने, इसके लिए भ्रष्ट कांग्रेस और भाजपा को ज़िम्मेदार ठहराने के लिए तत्पर रहता है। इस प्रकार भ्रष्टाचार का पूरा मुद्दा एक ऐसा उपकरण बन जाता है जो कि समस्याओं के असली कारण और हल तक पहुँचने की बजाय, उन मूल समस्याओं को ढँकने और छिपाने का उपकरण बन जाता है।

जिन मुद्दों पर 'आप' चुप है, वे सभी वे मुद्दे हैं जिन पर बोलना मोदी की फासीवादी राजनीति को 'अनसेटल' कर सकता है। मोदी इन मुद्दों पर सीधे एक प्रतिक्रियावादी अवस्थिति को बोलता है; 'आप' इन पर सीधे नहीं बोलती (इसके लिए भी सम्भवत: योगेन्द्र यादव और आनन्द कुमार जैसे समाजवादी दल्लों को धन्यवाद देना चाहिए!)। लेकिन इन पर एक साज़िशाना चुप्पी कायम रखती है। या फिर इन मुद्दों को भी भ्रष्टाचार की पैदावार बता देती है। तो सारा मसला अन्त में एक जनलोकपाल बनाने और भ्रष्टाचार का सफ़ाया करने पर आकर केन्द्रित हो जाता है! यह पूरी राजनीति सचेतन तौर पर न भी सही, तो वस्तुगत तौर पर अन्त में फासीवादी राजनीति की मदद करती है, क्योंकि 'आप' जिस प्रकार के राजनीतिक दल के तौर पर उभरी है, उसी रूप में उसका भारतीय पूँजीवादी राजनीति में बने रह पाना सम्भव नहीं है; या तो यह पार्टी ही बिखर जायेगी और इसके अधिकांश तत्व दक्षिणपंथी उभार के पक्ष में जाकर खड़े हो जायेंगे, या फिर इस पार्टी का स्वरूप काफ़ी हद तक कांग्रेस, भाजपा जैसा ही हो जायेगा। **इन दो**

सम्भावनाओं के अलावा हमें और कोई सम्भावना नज़र नहीं आती।

'आप' पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को कभी कठघरे में खड़ा नहीं करती। केजरीवाल ने एक कारपोरेट घराने के 'काम करने के तरीकों' पर सवाल उठाना शुरू किया था, लेकिन इस मुद्दे पर जल्द ही वह चुप्पी साध गये। बाद में जब उसी कारपोरेट घराने के 'क्रोनी कैपिटलिज़्म' के बारे में फिर से बोलते हैं, तो उसी समय 372 करोड़ रुपये बिजली सब्सिडी के नाम पर उस कम्पनी की जेब में डाल देते हैं और साथ ही उनकी पार्टी बोलती है कि इस कारपोरेट घराने से चुनावी चन्दा लेने में आम आदमी पार्टी को कोई एतराज़ नहीं है। बाकी कारपोरेट घरानों पर केजरीवाल ने कभी मुँह तक नहीं खोला। उल्टे पूँजीपति वर्ग को भी वह 'विक्टिम' और पीड़ित के रूप में दिखलाते हैं! अपने घोषणापत्र में केजरीवाल लिखते हैं कि कांग्रेस और भाजपा जैसी भ्रष्ट पार्टियों के कारण मजबूर होकर पूँजीपतियों को भ्रष्टाचार करना पड़ता है! यह दोगलेपन की इन्तहाँ नहीं तो क्या है? आप देख सकते हैं कि भ्रष्टाचार के मुद्दे को किस प्रकार नंगी और बर्बर पूँजीवादी लूट को छिपाने के लिए इस्तेमाल किया गया है। पूँजीपति जो श्रम कानूनों का उल्लंघन करते हैं क्या वह मजबूरी के कारण करते हैं? ठेकाकरण क्या वह भ्रष्टाचार से मजबूर होकर करते हैं? यह तो पूरी तस्वीर को ही सिर के बल खड़ा करना है। वास्तव में, सरकार (चाहे किसी की भी हो!) और पूँजीपति वर्ग मिलकर मज़दूरों के विरुद्ध लूट और हिंसा को अंजाम देते हैं! केजरीवाल की इस महानौटंकी के पहले अध्याय के लिखे जाते समय ही दिल्ली के पड़ोस में मारुति सुज़ुकी के मज़दूरों का संघर्ष चल रहा था लेकिन केजरीवाल ने इस पर एक शब्द नहीं कहा; दिल्ली में ही मेट्रो के रेल मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी और ठेका प्रथा ख़त्म करने के लिए संघर्ष चल रहा था, इस पर भी केजरीवाल ने एक बयान तक नहीं दिया! केजरीवाल की सरकार के सामने दिल्ली के हज़ारों ठेका मज़दूरों ने 6 फरवरी को प्रदर्शन किया। केजरीवाल का श्रम मन्त्री मज़दूरों से किये गये सारे वायदों से मुकर गया! क्या केजरीवाल को यह सारी चीज़ें पता नहीं है? ऐसा नहीं है! यह एक सोची-समझी चुप्पी है! मज़दूरों के लिए कुछ कल्याणकारी क़दमों जैसे कि पक्के मकान देना आदि की बात करना एक बात है, और मज़दूरों के सभी श्रम अधिकारों के संघर्षों को समर्थन देना एक दूसरी बात। केजरीवाल कहीं भी पूरी पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीपति वर्ग पर हमला नहीं करते। उनके लिए पूँजीपति वर्ग शासक वर्ग नहीं है; मेहनतकश जनता तो ख़ैर शासक वर्ग है ही नहीं! तो फिर शासक वर्ग है कौन? यह एक भ्रष्ट राजनीतिक व नौकरशाह वर्ग है जो किसी वर्ग की नुमाइन्दगी नहीं करता, बल्कि अपनी ही सेवा में संलग्न है! और पूँजीपति वर्ग और मज़दूर वर्ग एक दूसरे के दुश्मन नहीं है, बल्कि वे दोनों ही पीड़ित वर्ग है; भ्रष्टाचारियों से पीड़ित! यहाँ भी आप देख सकते हैं कि असली सवाल को ढाँपने के लिए भ्रष्टाचार के जुमले का कैसे इस्तेमाल किया गया है। केजरीवाल के लिए इस पूरी व्यवस्था में कोई दिक्कत नहीं है! बस इसमें से भ्रष्टाचार के सफ़ाये की ज़रूरत है! अगर ग़रीबों को रोटी और रोज़गार नहीं मिलता तो यह पूँजीवादी व्यवस्था की समस्या नहीं है; पूँजीवादी व्यवस्था तो उन्हें रोटी और रोज़गार देती है, लेकिन वह भ्रष्टाचारियों के कारण उन तक पहुँच नहीं पाता! इसलिए समस्या आपूर्ति की है! केजरीवाल इस समस्या को कैसे दूर करेंगे? एक साक्षात्कार में वह कहते हैं कि पटेल जैसी राजनीति करके; शास्त्री जैसी राजनीति करके! नेहरू का नाम सोचे-समझे तौर पर इस सूची

से ग़ायब है। समझने वाले समझ सकते हैं कि क्यों! निश्चित तौर पर, नेहरू भी भारतीय प्रतिक्रियावादी पूँजीपति वर्ग के ही नुमाइन्दे हैं, लेकिन उनमें प्रबोधन, सेक्युलरिज़्म और प्रगतिशीलता के कुछ वास्तविक और कुछ प्रतीतिगत तत्व हैं, जो कि 'आप' की टुटपुँजिया आत्मिक उभार और आदर्शवादी पुनरुत्थानवाद की प्रतिक्रियावादी राजनीति से मेल नहीं खाते। यही कारण है कि आम आदमी पार्टी अन्य चुनावी पार्टियों की तरह खापों का समर्थन करती है! केजरीवाल बोलता है कि खाप तो एनजीओ के समान है! पुराने एनजीओपंथी केजरीवाल की इस बात पर हम इस पर एक त्यौरी उठाकर 'बिल्कुल!' की बोल सकते हैं!

इस समूचे आदर्शवादी भ्रष्टाचार-विरोध का मिश्रण किया जाता है अन्धराष्ट्रवादी जुमलों के साथ। 'आप' का एक चुनाव उम्मीदवार एक सैनिक था, जो कि सीमा पर झड़प में विकलांग हो गया था। उससे केजरीवाल ने कहा कि आप अब तक देश के बाहर के आतंकवादियों से लड़ रहे थे, अब आप 'आप' की ओर से चुनाव लड़कर देश के भीतर के आतंकवादियों के विरुद्ध लड़िये। यह पूरी जुमलेबाज़ी और भाषा एक दक्षिणपंथी अन्धराष्ट्रवाद की है। इसमें वास्तविक मुद्दों और सच्चाइयों को आदर्शवादी, अन्धराष्ट्रवादी और प्रतिक्रियावादी जुमलों के तहत छिपा दिया गया है।

'आप' तृणमूल और भागीदारीपूर्ण जनवाद की बात करती है। 'आप' का कहना है कि वह सत्ता में आयेगी तो स्थानीय विकास कार्यों आदि को लेकर मोहल्ला सभाओं को सारे अधिकार दे देगी। यह एक राजनीतिक जनवाद की बात है। लेकिन अगर मौजूद सम्पत्ति सम्बन्धों, असमानतापूर्ण सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों को और उत्पादन के साधन पर मालिकाने और नियन्त्रण तक पहुँच के सम्बन्धों को छेड़े बग़ैर मोहल्लों में सभाएँ बनाकर उन्हें नियन्त्रण सौंप भी दिया जाये, तो अन्ततः उसमें किन लोगों की चलेगी? ज़ाहिर सी बात है, मोहल्लों में रहने वाले ठेकेदारों, दल्लों, छुटभैया मालिकों, पैसेवालों, और अमीरों की ही चलेगी! आम ग़रीब और निम्न मध्यवर्गीय आबादी उनके पीछे-पीछे चलेगी। ऐसे में, यह राजनीतिक जनवाद का अधिकार भी अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता जब तक कि आर्थिक सम्बन्धों को भी आमूल-चूल रूप में न बदला जाये! लेकिन 'आप' तो इन सम्बन्धों को किसी भी तरह से बहस और चर्चा से दूर रखना चाहती है!

'आप' की पूरी राजनीति वास्तव में देश की आम मेहनतकश आबादी की ज़िन्दगी की समस्याओं के मूल कारणों को छिपाने और ढँकने का काम ज़्यादा करती है। इसके लिए जिस उपकरण का इस्तेमाल किया जाता है वह है भ्रष्टाचार-विरोध, देश-सेवा आदि के नाम पर की जाने वाली प्रतिक्रियावादी, दक्षिणपंथी राजनीति। 'आप' एक ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था की हिमायत करती है जिसमें कोई भ्रष्टाचार न हो, सभी नागरिक सम्भावित उद्यमी हों, मुक्त व्यापार और मुक्त प्रतिस्पर्द्धा हो, उपयुक्ततम की उत्तरजीविता हो, और यह सारा क्रिया-व्यापार अपनी सैद्धान्तिक शुद्धता में चले! यह एजेण्डा आज के दौर में एक तकनोशाहाना कुशलता वाले उद्यमी पूँजीवाद का सपना दिखाता है जो कि उद्यमी बनने की आकांक्षा रखने वाले टुटपुँजिया वर्गों को आकृष्ट करता है। ज़ाहिर है, यह एक शेखचिल्लीवादी सपना है जो कभी पूरा नहीं हो सकता। लेकिन इसी रूप में इस राजनीति का चल पाना बहुत मुश्किल है। इसके कारणों की चर्चा हम 'आप' के घोषणापत्र के मुद्दों के चरित्र और उसके सामाजिक आधार के चरित्र के द्वारा कर सकते हैं।

आम आदमी पार्टी के राजनीतिक भविष्य पर कुछ ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक *सिम्युलेशन*

'आप' आज भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत है। लेकिन 'आप' का पूरा राजनीतिक घोषणापत्र, माँगपत्रक और यहाँ तक कि उसका सामाजिक आधार मूलतः योगात्मक (एग्रीगेटिव) है; यानी कि उनमें कोई जैविक एकता नहीं है। 'आप' ने उच्च मध्यवर्गीय प्रतिक्रियावाद के वर्चस्व को निम्न मध्यवर्गीय आदर्शवाद पर स्थापित किया और एक ऐसा माँगपत्रक तैयार किया है जो कि प्रकृति से ही एक योगात्मक समुच्चय है और उसके पीछे कोई एक सुसंगत विचारधारात्मक दृष्टि नहीं है। अगर 'आप' पार्टी इनमें से कुछ मुद्दों और वायदों पर ही अमल शुरू करती तो एक ओर 'आप' पार्टी के भीतर ही टूट-फूट और बिखराव की प्रक्रिया शुरू हो जाती, वहीं उसके सामाजिक आधार में भी बिखराव शुरू हो जाता। 'आप' सरकार ने सिर्फ़ दिखावे के लिए जितना किया, उतने में ही उसका अपना संघटन और आधार तमाम किस्म की दरारों का शिकार हो गया। अगर वह वाकई कुछ करती तब तो उसका अस्तित्व कुछ महीनों की चीज़ बन जाता। मिसाल के तौर पर, 'आप' ने छोटे मालिकों और व्यापारियों को 'सरकार द्वारा वसूली' (यानी कर और विनियमन) और भ्रष्टाचार से छूट दिलाने का वायदा किया है; यही कारण है कि छोटे मालिकों और व्यापारियों के वोट बड़े पैमाने पर 'आप' को मिले। लेकिन साथ ही, 'आप' ने ठेका प्रथा समाप्त करने और दिल्ली के साढ़े तीन लाख ठेका कर्मचारियों को स्थायी करने का वायदा भी किया है। लेकिन इन 50-60 लाख ठेका कर्मचारियों की मेहनत को ही लूटने का काम तो ये छोटे मालिक और ठेकेदार सबसे ज़्यादा करते हैं। ठेका प्रथा का अगर कोई सबसे बड़ा लाभप्राप्तकर्ता है, तो वह छोटा मालिक और ठेकेदार वर्ग है। स्पष्ट है कि ये दोनों वायदे अन्तरविरोधी हैं और इन पर अमल के साथ ही छोटा मालिक वर्ग 'आप' का साथ छोड़कर निरंकुश तरीके से भूमण्डलीकरण, निजीकरण, ठेकाकरण की नीतियों को लागू करने वाली फासीवादी ताक़तों के पक्ष में जा खड़ा होगा।

उसी प्रकार 'आप' का यह वायदा कि वह बिजली के बिल आधे कर देगी एक ही सूरत में सम्भव हो सकता था। और वह है विद्युत वितरण का निजीकरण समाप्त किया जाना और उसके बाद भी सरकारी ख़ज़ाने से पर्याप्त सब्सिडी दी जाय। उसी प्रकार हर दिन हर नागरिक को 700 लीटर मुफ़्त पानी भी वास्तव में (केजरीवाल की धोखाधड़ी की तरह नहीं!) तभी दिया जा सकता था, जब सब्सिडी दी जाय। ऐसी सब्सिडी देने के लिए राजस्व सिर्फ़ भ्रष्टाचार ख़त्म करने से आ ही नहीं सकता है। यह केवल कर का बोझ दिल्ली के अमीरज़ादों पर डालकर ही सम्भव है, क्योंकि मेहनतकश आबादी पर प्रत्यक्ष करों का बोझ डाला ही नहीं जा सकता है और अप्रत्यक्ष कर पहले से ही काफ़ी ज़्यादा हैं। ऊपर से, 'आप' वैट को भी ख़त्म करने की बात कर रही है। अगर कराधान का बोझ दिल्ली के उच्च मध्यवर्ग पर बढ़ता है, तो वह भी जल्द ही 'आप' से छिटक जायेगा।

स्पष्ट है, अगर 'आप' अपने वायदों के 20 प्रतिशत पर भी अमल करती तो उसके संगठन और सामाजिक आधार का बिखराव शुरू हो जाता। ऐसे में, या तो 'आप' खुलकर पूँजीवादी व्यवस्था और खुली उदारवादी नीतियों के समर्थन में खड़ी होगी, जिस सूरत में वह अप्रासंगिक हो जायेगी क्योंकि यह काम करने वाली मुख्य धारा की पूँजीवादी पार्टियाँ पहले से

मौजूद हैं; या फिर, उसका हश्र वही होगा जो जनता पार्टी का हुआ था: वह खण्ड-खण्ड हो जायेगी और उसके ज़्यादातर धड़े अन्ततः मोदी के फासीवादी उभार के साथ जा खड़े होंगे। 'आप' का भविष्य फिलहाल इसी रूप में दिख रहा है, बशर्ते कि वह अपने मुख्य राजनीतिक मुद्दे भ्रष्टाचार को छोड़कर कांग्रेस, भाजपा जैसी ही एक चुनावी पार्टी न बन जाये। मौजूदा राजनीतिक माँगपत्रक और घोषणापत्र के साथ इसी रूप में यह पार्टी बनी नहीं रह सकती है क्योंकि उसका योगात्मक चरित्र इस बात ही इजाज़त ही नहीं देता है।

लेकिन इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि आज भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए 'आप' की प्रासंगिकता नहीं है। वास्तव में, पूँजीवादी राजनीति और अर्थव्यवस्था जिस संकट से गुज़र रही है और विश्वस्नीयता का संकट जिस हद तक जा चुका है, उसमें 'आप' की सख़्त ज़रूरत है। यह पूँजीवादी व्यवस्था को कठघरे में खड़ा किये बग़ैर जनता के गुस्से को निकलने का एक सुरक्षित 'आउटलेट' देती है। इस रूप में 'आप' आज एक नये अर्थ और रूप में वही भूमिका निभा रही है जो एक दौर में जेपी आन्दोलन और फिर जनता पार्टी ने निभायी थी। जैसा कि हम पहले इंगित कर आये हैं, 'आप' के उभार में योगेन्द्र यादव और आनन्द कुमार जैसे समाजवादी मदारी जो भूमिका निभा रहे हैं, वह वास्तव में वही भूमिका है, जो कि पूँजीवादी व्यवस्था को संकट के दौर में बचाने के लिए सभी समाजवादी (हर ब्राण्ड के!), सुधारवादी और संशोधनवादी निभाते हैं। लेकिन यह भी सच है कि 'आप' जैसी किसी भी परिघटना की प्रासंगिकता उसी रूप में दीर्घकालिक नहीं हो सकती है। या तो वह अपना रूप बदलकर पारम्परिक चुनावी पूँजीवादी पार्टी बनकर किसी हद तक कायम रख सकती है, या फिर उसकी नियति में बिखराव होता है। ऐसे बिखराव के बाद कुल मिलाकर फायदा फासीवादी राजनीति को ही पहुँचता है। जैसा कि जनता पार्टी के बिखराव के बाद हुआ था। भारत में चुनावी राजनीति के दायरे में सही मायने में दक्षिणपंथी उभार के लिए तो जयप्रकाश नारायण और उसके लग्गू-भग्गुओं को ही दोषी ठहराया जाना चाहिए, जिसने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का भ्रामक नारा देकर जनता की क्रान्तिकारी ऊर्जा को सुरक्षित चैनलों में दिशा-निर्देशित कर दिया और अन्ततः यह सबकुछ दक्षिणपंथी फासीवादी राजनीति के पक्ष में जा खड़ा हुआ।

इसलिए 'आप' की पूरी परिघटना में गुणात्मक रूप से कुछ भी अनोखा और नया नहीं है। चर राशियाँ तो हमेशा ही बदल जाया करती हैं और इसीलिए कोई भी घटना इतिहास में दुहरायी नहीं जाती है। जैसा कि मार्क्स ने कहा था, "हर अहम घटना या व्यक्तित्व, इतिहास में दो बार घटित होते हैं, पहले त्रासदी के रूप में तो दूसरी बार प्रहसन के रूप में।" आज आम आदमी पार्टी की राजनीति पुरानी जेपी-ब्राण्ड राजनीति का एक प्रहसनात्मक संस्करण ही तो है। केजरीवाल के किसी भी एक साक्षात्कार या भाषण को सुन लें तो प्रहसन शब्द का अर्थ समझ में आ जाता है!

आज के पूँजीवादी संकट के दौर में आदर्शवादी, प्रतिक्रियावादी मध्यवर्गीय राजनीति का पूँजीपति वर्ग द्वारा इस्तेमाल किया जाना लाज़िमी है। पूँजीवादी संकट विद्रोह की तरफ़ न जा सके, इसके लिए पूँजीपति वर्ग हमेशा ही टुटपुँजिया वर्ग के आत्मिक व रूमानी उभारों का इस्तेमाल करता रहा है। कभी यह खुले फासीवादी उभार के रूप में होता है, तो कभी 'आप' जैसे प्रच्छन्न, लोकरंजकतावादी प्रतिक्रियावाद के रूप में। और अन्त में उसकी नियति भी वही होती है जिसकी हमने चर्चा की है। देखना यह है कि यह सारी प्रक्रिया अब किसी रूप में घटित होती है।

गहराता वैश्विक पूँजीवादी संकट और जुझारू मज़दूर संघर्षों का तेज़ होता सिलसिला

● सत्यम

वर्ष 2006 से जिस विश्वव्यापी मन्दी ने पूँजीवादी व्यवस्था को अपनी जकड़ में ले रखा है उससे उबरने के अभी कोई आसार नज़र नहीं आ रहे हैं। संकट को टालने के लिए पूँजीवाद के नीम-हक़ीमों और वैद्यों ने जितने नुस्खे सुझाये हैं उनके कारण संकट की नये रूपों में फिर वापसी ही होती रही है। इन सभी उपायों की एक आम विशेषता यह रही है कि पूँजीपतियों और उच्च वर्गों को राहत देने के लिए संकट का ज़्यादा से ज़्यादा बोझ मेहनतकशों और आम लोगों पर डाल दिया जाये। इसके कारण लगभग सभी देशों में सामाजिक सुरक्षा के व्यय में भारी कटौती, वास्तविक मज़दूरी में गिरावट, व्यापक पैमाने पर छँटनी, तालाबन्दी आदि का कहर मेहनतकश आबादी पर टूटा है। पिछले दो-ढाई दशकों के दौरान पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में आये बदलावों के चलते भारी मज़दूर आबादी जिस तरह असंगठित और खण्ड-खण्ड में बिखेर दी गयी है उस कारण पूँजी के इन हमलों के आगे वह लाचार और बेबस-सी दिखती रही है। लेकिन पिछले दो-तीन वर्षों में तस्वीर बदलती दिखायी दे रही है।

दुनिया भर में मज़दूर इस बर्बर लूट का जमकर प्रतिरोध कर रहे हैं और अपने अधिकारों के लिए सड़कों पर उतर रहे हैं। वैसे तो संकट की शुरुआत के साथ सरकारी ख़र्च घटाने के विभिन्न क़दमों के विरोध में अमेरिका और यूरोप के अनेक देशों

में व्यापक प्रदर्शनों और हड़तालों का सिलसिला शुरू हो गया था जो अब भी जारी है। लेकिन पिछले 2-3 वर्षों के दौरान तीसरी दुनिया के पूँजीवादी देशों में उभर रहे मज़दूर संघर्षों की प्रकृति इनसे काफी अलग है। उन्नत पूँजीवादी देशों के मज़दूर, जो ज़्यादातर यूनियनों में संगठित हैं, मुख्यतया अपनी सुविधाओं में कटौती और रोज़गार के घटते अवसरों के विरुद्ध सड़कों पर उतर रहे हैं। इनका बड़ा हिस्सा उस अभिजन मज़दूर वर्ग का है जिसे तीसरी दुनिया की जनता की बर्बर लूट से कुछ टुकड़े मिलते रहे थे और इसका जीवन काफी हद तक सुखी और सुरक्षित था। ग्रीस जैसे देशों की स्थिति अलग है जो पहले भी दूसरी दुनिया के देशों की निचली कतार में थे और वित्तीय संकट की मार से लगभग तीसरी दुनिया की हालत में पहुँच गये हैं। मगर भारत, बंगलादेश, पाकिस्तान से लेकर मलेशिया, इण्डोनेशिया, कोरिया, दक्षिण अफ्रीका, ब्राज़ील, मेक्सिको, चीन आदि देशों में एक के बाद उठ रहे जुझारू आन्दोलन इन देशों के उस मज़दूर वर्ग की बढ़ती बेचैनी और राजनीतिक चेतना का संकेत दे रहे हैं जो हर तरह के अधिकारों से वंचित और सबसे बर्बर शोषण का शिकार है। बेहद कम मज़दूरी पर और बहुत ख़राब व ख़तरनाक स्थितियों में 12-14 घण्टे रोज़, अक्सर बिना साप्ताहिक अवकाश के काम करने वाली यह विशाल मज़दूर आबादी तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में मज़दूरों के 90 प्रतिशत से अधिक है। इनका भारी हिस्सा असंगठित है और ठेका, दिहाड़ी, कैजुअल या पीसरेट पर काम करने वाले मज़दूरों का है। इन देशों में हो रहा पूँजीवादी विकास इसी विराट मज़दूर आबादी की अस्थि-मज्जा को निचोड़कर हो रहा है। विकसित पूँजीवादी देशों की कम्पनियों के मुनाफ़े का स्रोत भी इन्हीं रसातलवासी मज़दूरों से चूसा गया ख़ून है। बिखराव, संगठनविहीनता और पिछड़ी चेतना का शिकार यह मज़दूर वर्ग अब तक प्रायः कुछ रक्षात्मक संघर्षों या बीच-बीच में फूट पड़ने वाली उग्र झड़पों के विस्फोट तक सीमित रहा था। लेकिन दुनिया भर में जगह-जगह हो रहे आन्दोलन बताते हैं कि इसमें तेज़ी से अपने अधिकारों और एकजुटता की चेतना का संचार हो रहा है और यह पूँजी की ताक़तों से लोहा लेने के लिए तैयार हो रहा है। यह अलग बात है कि संघर्ष की दिशा, दूरगामी रणनीति और तैयारी के अभाव में ये आन्दोलन अभी ज़्यादा दूर नहीं जा पा रहे।

दुनिया का शायद सबसे विशाल सर्वहारा वर्ग, चीन के मज़दूर कम्युनिस्ट नामधारी पूँजीवादी शासकों की लुटेरी नीतियों के ख़िलाफ़ लगातार लड़ रहे हैं। नयी "महाशक्ति" के रूप में उभरते चीन के विकास की कहानी दुनियाभर की बड़ी-बड़ी कम्पनियों के लिए सस्ता और भरपूर उपलब्ध श्रम मुहैया कराने की चीनी शासकों की कुशलता पर टिकी है। बीजिंग, शंघाई, ग्वांगझाउ, चेंगदू, शेनझेन जैसे दर्जनों औद्योगिक इलाक़ों में करोड़ों-करोड़ मज़दूर भारत के मज़दूरों जैसे हालात में काम कर रहे हैं। बेहद कम मज़दूरी और भयंकर दमघोटू माहौल में 12-14 घण्टे काम, किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा नहीं, दड़बे जैसे कमरों में नर्क जैसी ज़िन्दगी। अन्धाधुन्ध मुनाफ़े की हवस में सारे सुरक्षा उपाय ताक पर धरकर कराये जाने वाले उत्पादन के चलते औद्योगिक दुर्घटनाओं में चीन पूरी दुनिया में सबसे आगे है। सरकारी ट्रेड यूनियनें मज़दूरों को कठोर नियन्त्रण में रखने के औज़ार भर हैं। वैसे भारी असंगठित मज़दूर आबादी इनसे बाहर है और उसे यूनियन बनाने का अधिकार ही नहीं है। विशाल और बेहद संगठित सरकारी दमनतन्त्र के साथ ही उद्योगपतियों की निजी सुरक्षा सेनाएँ मज़दूरों को आतंकित और नियन्त्रित करने के लिए तैनात रहती हैं। कठोर सरकारी नियन्त्रण में चलने वाले मीडिया में उनकी आवाज़ नहीं के बराबर आती है। लेकिन तमाम बन्दिशों के बावजूद चीन

मज़दूर लड़ाई के रास्ते पर हैं। चाइना लेबर बुलेटिन की एक रिपोर्ट के मुताबिक 2011 के मध्य से 2013 के अन्त तक चीन में मज़दूरों की 1170 हड़तालें और अन्य सामूहिक कार्रवाइयाँ हुईं। इनमें से 40 प्रतिशत से अधिक हड़तालें मैन्युफैक्चरिंग सेक्टर में हुईं। सीएलबी के अनुसार वास्तविक संख्या इससे कहीं ज़्यादा है। निर्माण क्षेत्र के मज़दूरों ने पिछले कुछ महीनों में ही सैकड़ों हड़तालें और विरोध प्रदर्शन किये हैं। एप्पल कम्पनी के लिए आईपैड और आईफोन बनाने वाली कुख्यात चीनी कम्पनी फॉक्सकॉन की कई फैक्टरियों में पिछले वर्ष मज़दूरों ने एक साथ की गयी हड़तालों की बदौलत कई माँगों पर कम्पनी को झुकने के लिए मजबूर कर दिया था। होण्डा की चीन स्थित कई इकाइयों के मज़दूरों ने भी एक साथ की गयी कार्रवाइयों से अपनी ताक़त दिखायी थी। इन दोनों ही मामलों में चीनी मज़दूरों ने मोबाइल और इण्टरनेट के ज़रिये एक-दूसरे से सम्पर्क और तालमेल करने का रास्ता निकाला था। इस रास्ते का इस्तेमाल अब चीनी मज़दूर बड़े पैमाने पर करने लगे हैं। मज़दूरों की कार्रवाइयों की सिर्फ़ संख्या और जुझारूपन ही नहीं बढ़ रहे हैं बल्कि सीएलबी के अनुसार उनमें राजनीतिक चेतना भी तेज़ी से बढ़ रही है। सरकारी नियन्त्रण से छन-छनाकर आने वाली कुछ छोटी-छोटी ख़बरों से पता चलता है कि पार्टी और राज्य पर क़ब्ज़ा जमाये संशोधनवादियों के ख़िलाफ़ क्रान्तिकारी माओवादी ग्रुप भी मज़दूरों के बीच सक्रिय हैं। मज़दूरों के बढ़ते जुझारूपन का ही नतीजा है कि चीनी सरकार को एक के बाद एक कई सेक्टरों में मज़दूरी में बढ़ोत्तरी और सेवादशाओं में सुधार की घोषणाएँ करनी पड़ी हैं।

यूरोप में वित्तीय संकट की सबसे बुरी मार झेल रहे ग्रीस में मज़दूरों ने पिछले तीन वर्षों के दौरान लगभग दो दर्जन देशव्यापी आम हड़तालें करके सरकार को मज़दूरी और सामाजिक सुरक्षा में प्रस्तावित कटौतियाँ लागू करने से कई बार रोकने में सफलता हासिल की है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, यूरोपीय यूनियन और यूरोपीय केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक क्षेत्र में बड़े पैमाने पर छँटनी और वेतन-भत्तों में कटौती के लिए ग्रीस की सत्ता पर लगातार दबाव डाल रहे हैं। सत्ता के दलाल यूनियन नेताओं की टालमटोल और कई बार हड़ताल से सीधे इन्कार के बावजूद मज़दूरों के भारी दबाव में उन्हें आम हड़तालों के आह्वान का समर्थन करने पर मजबूर होना पड़ा है। मज़दूरों ने स्थानीय स्तर पर स्वतन्त्र हड़ताल समितियाँ गठित करके हड़तालों को अनुष्ठानिक बना देने की नेताओं की कोशिशों को भी नाकाम कर दिया है। ग्रीस में नवनाज़ीवाद के उभार के विरुद्ध जुझारू लड़ाई में भी मज़दूर बढ़चढ़कर आगे रहे हैं। भूतपूर्व समाजवादी देशों में खुले पूँजीवाद के आने के बाद से अमीर-ग़रीब के बीच ध्रुवीकरण तेज़ी से बढ़ा है और महँगाई तथा बेरोज़गारी ने मज़दूरों की ज़िन्दगी बेहाल कर दी है। इनमें से कई देशों में भी पिछले दिनों जुझारू मज़दूर आन्दोलन हुए हैं। 44 प्रतिशत बेरोज़गारी झेल रहे बोस्निया में पिछले दिनों कई शहरों में हुए मज़दूरों के उग्र प्रदर्शनों में हज़ारों मज़दूरों ने पुलिस से मोर्चा लिया जिसमें करीब डेढ़ सौ पुलिसवाले ज़ख़्मी हो गये।

बंगलादेश में पिछले वर्ष राना प्लाज़ा की इमारत गिरने से 1100 से अधिक मज़दूरों की मौत के बाद से गारमेण्ट मज़दूरों के आन्दोलनों का सिलसिला थमने का नाम नहीं ले रहा है। बंगलादेश में क़रीब 40 लाख मज़दूर बेहद ख़राब हालात में गारमेण्ट उद्योग में काम करते हैं। इस घटना से कुछ ही महीने पहले ढाका की एक गारमेण्ट फैक्ट्री में आग से 150 मज़दूर मारे गये थे। बंगलादेश में इस घटना से पहले पिछले 3 वर्ष में आग लगने या इमारत गिरने से 1800 से ज़्यादा गारमेण्ट मज़दूरों की मौत हो चुकी थी। राना प्लाज़ा की घटना के बाद सरकार

और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की ओर से कुछ दिखावटी घोषणाओं के अलावा कोई ठोस कार्रवाई न होने से क्रुद्ध मज़दूरों ने मई दिवस के दिन देश के कई शहरों में जुझारू विशाल प्रदर्शन किये। उसके बाद सितम्बर और नवम्बर में भी गारमेण्ट मज़दूरों ने व्यापक विरोध प्रदर्शन आयोजित किये जिसके दबाव में सरकार को उनकी न्यूनतम मज़दूरी में 77 प्रतिशत बढ़ोत्तरी करनी पड़ी (हालाँकि अब भी यह बेहद कम है)। अभी हाल में आयी एक स्वतन्त्र रिपोर्ट के अनुसार बंगलादेश के कारख़ानों में मज़दूरों के साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती पहले की ही तरह जारी है। मन्दी के दौर में बढ़ती प्रतिस्पर्धा के चलते ज़्यादातर कम्पनियाँ बढ़ी हुई मज़दूरी देने को तैयार नहीं हैं और काम के ख़तरनाक हालात अब भी बने हुए हैं। पाकिस्तान में भी गारमेण्ट मज़दूरों, रेलवे मज़दूरों और बन्दरगाह मज़दूरों के जुझारू आन्दोलन पिछले दिनों हुए हैं।

इण्डोनशिया, पापुआ-न्यू गिनी, फिलिप्पीन्स, मलेशिया आदि में पिछले दो वर्षों के दौरान अनेक जुझारू और लम्बे चलने वाले मज़दर आन्दोलन हुए हैं। कम्पूचिया में जनवरी 2014 में हुए मज़दूरों के प्रदर्शनों के हिंसक दमन, जिसमें कम से कम पाँच मज़दूर पुलिस की गोली से मारे गये, के बावजूद मज़दूर संघर्षों का सिलसिला तेज़ हो रहा है। फरवरी के अन्तिम सप्ताह में 200 कारख़ानों के एक लाख से अधिक मज़दूरों ने ओवरटाइम करने से इन्कार कर दिया जो 12 मार्च को होने वाली आम हड़ताल तक जारी रहेगा। कोरिया में मज़दूरों के जुझारू प्रदर्शनों का सिलसिला पिछले 2-3 साल से लगातार जारी है।

दक्षिण अफ्रीका में सबसे बड़ी यूनियन, सत्तारूढ़ अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस से जुड़ी कोसाटू का चरित्र पार्टी के सत्ता में आने और पूँजीवादी विकास का रास्ता अपनाने के साथ ही बदल चुका था। इसके कई नेता तो ख़ुद कम्पनियों के मोटे शेयरधारक बन चुके हैं। मगर वहाँ मज़दूरों की भारी आबादी सत्ताधर्मी यूनियनों से अलग हटकर अपनी बेहद बुरी स्थितियों के विरुद्ध संघर्ष कर रही है। पिछले वर्ष मरिकाना प्लेटिनम खदान में मज़दूरों के बर्बर हत्याकाण्ड के बाद से इसमें और तेज़ी आयी है और कोसाटू का चरित्र और नंगा हुआ है। पिछले दिनों मेटलवर्कर्स की सबसे बड़ी यूनियन भी उससे अलग हो गयी है और खदान मज़दूरों की यूनियनों तथा अन्य वाम झुकाव वाले संगठनों से साथ आने का उसने आह्वान किया है।

मिस्र में जनवरी 2011 के प्रदर्शनों में भी मज़दूरों ने बढ़चढ़कर हिस्सा लिया था, हालाँकि हुस्नी मुबारक को अपदस्थ करने वाले आन्दोलन में उन्हें उचित श्रेय नहीं दिया गया। उसके बाद भी मिस्र के मज़दूर लगातार अपनी आर्थिक और राजनीतिक माँगों को लेकर संघर्षरत हैं।

भारत में भी मज़दूरों की जुझारू लड़ाइयाँ देश के अलग-अलग कोनों में फूट पड़ रही हैं। इनमें भी असंगठित मज़दूरों या बड़ी यूनियनों से स्वतन्त्र छोटी-छोटी यूनियनों के नेतृत्व में लड़ रहे मज़दूरों की संख्या अधिक है। पिछले वर्ष केन्द्रीय यूनियनों द्वारा आयोजित अनुष्ठानिक हड़ताल में भी नेताओं की उम्मीद से आगे जाकर असंगठित मज़दूरों ने कई जगह उग्र और जुझारू कार्रवाइयाँ कीं। अकेले ऑटोमोबाइल सेक्टर में पिछले दो-तीन साल में देशभर में 100 से अधिक हड़तालें और उग्र सामूहिक कार्रवाइयाँ दर्ज हुई हैं। तय ही है कि आने वाले समय में ऐसे संघर्षों का सिलसिला और तेज़ होगा। अपने असहनीय हालात के ख़िलाफ़ आज जगह-जगह मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त संघर्ष उठ रहे हैं। लेकिन इन संघर्षों में हस्तक्षेप करके उन्हें एक क्रान्तिकारी दिशा देने की कोशिश करने के बजाय अनेक क्रान्तिकारी संगठनों में इस स्वत:स्फूर्तता का जश्न मनाने की प्रवृत्ति दिखायी दे रही है। इसके विरुद्ध संघर्ष करना आज बेहद ज़रूरी है।

आज पूँजीवाद के बढ़ते संकट के दौर में अपना मुनाफ़ा बनाये रखने के लिए पूँजीपति मज़दूरों की हड्डियाँ तक निचोड़ डाल रहे हैं। लेकिन मज़दूर भी अब चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर रहे। पूरी दुनिया में सन्नाटा टूट रहा है। मज़दूर वर्ग नये सिरे से जाग रहा है। ऐसे में मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी हरावलों के सामने मज़दूर आन्दोलन के क्रान्तिकारी पुनर्जागरण में जी-जान से जुट जाने की चुनौती है। अनौपचारिक क्षेत्र के जो मज़दूर और औपचारिक क्षेत्र के जो अनौपचारिक मज़दूर अदृश्य 'ग्लोबल असेम्बली लाइन' पर उजरती ग़ुलामों की भाँति खट रहे हैं, वे सोचते हैं कि वे बहुत कम हैं, बिखरे हुए हैं, इसलिए मजबूर और कमज़ोर हैं। लेकिन यह उनकी मिथ्याभासी चेतना है। इस मिथ्याभासी चेतना को यदि तोड़ दिया जाये तो उन्हें इस सच्चाई का अहसास कराया जा सकता है कि एक अदृश्य भूमण्डलीय शृंखला के ज़रिए हजारों मील दूर, यहाँ तक कि अलग-अलग देशों में काम करने वाले समान नियति वाले उजरती ग़ुलाम आज एक दूसरे से जुड़ गये हैं। जापान या कोरिया की किसी एक कार निर्माता कम्पनी के भारत में चार या पाँच जगहों पर स्थित संयन्त्रों और पूरी दुनिया में स्थित दर्ज़नों संयन्त्रों में खटने वाले मज़दूर एक दूसरे को न जानते हुए भी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। बिखराव की मिथ्याभासी चेतना को भेदकर जुड़ाव की वास्तविक चेतना तक पहुँचने के लिए, उसे मुखर बनाने के लिए मज़दूर वर्ग के हरावल दस्तों को उनके बीच, बीसवीं शताब्दी के मज़दूर आन्दोलनों की अपेक्षा ज़्यादा सघन, ज़्यादा विविधतापूर्ण, ज़्यादा रचनात्मक, ज़्यादा सूक्ष्म, ज़्यादा व्यापक और ज़्यादा दीर्घकालिक राजनीतिक प्रचार, शिक्षा एवं उद्वेलन की कार्रवाई चलानी होगी। यह सबसे बड़ी चुनौती है। इसे वही अंजाम दे सकते हैं जो नयी परिस्थितियों का पूर्वाग्रहमुक्त, साहसी वैज्ञानिक विश्लेषण कर सकते हैं, जो अनुभववादी कूपमण्डूकता और अतीत के अनुभवों को हूबहू दुहराने की कठमुल्लावादी ज़िद से अपने को मुक्त कर सकते हैं।

यह समझने की ज़रूरत है कि पिछले बीस वर्षों के दौरान उत्पादन के ढाँचों में बदलाव करके पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग की संगठित शक्ति को बिखराने में काफ़ी हद तक कामयाब हुआ है। कारखानों में अधिकांश काम अब ठेका, दिहाड़ी या कैजुअल मज़दूरों से कराना आम चलन बन चुका है। मज़दूर वर्ग के इस भौतिक बिखराव ने उसकी चेतना पर भी काफ़ी नकारात्मक असर डाला है। वह अपनी ताक़त को बँटा हुआ और पूँजीपति वर्ग की संगठित शक्ति के सामने खुद को कमज़ोर, असहाय और निरुपाय महसूस कर रहा है। आज मज़दूर आबादी को संगठित करने की व्यावहारिक चुनौतियाँ बढ़ गयी हैं और संगठन के पुराने प्रचलित तरीकों और रूपों से काम नहीं चलने वाला है। लेकिन कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं हो सकती कि बुर्जुआ वर्ग द्वारा उपस्थित की गयी चुनौती के सामने सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि हाथ खड़े कर दें। मज़दूर वर्ग को संगठित करने के नये रूपों और तरीक़ों को ईजाद करने की ज़रूरत है। दरअसल कारख़ाना-केन्द्रित ट्रेड यूनियनवाद से पीछा छुड़ाये बिना आज मज़दूर आन्दोलन को नये सिरे से संगठित ही नहीं किया जा सकता। मज़दूरों को संगठित करने की तात्कालिक व्यावहारिक चुनौतियों से निपटना मज़दूरों के क्रान्तिकारी हरावलों का काम है। ज़मीनी संगठनकर्ताओं को पुरानी रूढ़ियों से मुक्त होकर सर्जनात्मक तरीके से संगठन के नये-नये रूप और तरीक़े खोज निकालने होंगे।

अगर आज की परिस्थिति पर थोड़ा गहराई से विचार किया जाये तो हमें वे छुपी हुई क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ नज़र आयेंगी जो आँखों से ओझल होने पर सामने मौजूद फ़ौरी चुनौतियाँ ज़्यादा कठिन लगने लगती हैं। आज के दौर में औद्योगिक क्षेत्रों में मज़दूर वर्ग के

काम के जो हालात हैं और पूँजीपतियों का समूचा गिरोह, उनकी सरकारें और पुलिस-क़ानून-अदालतें जिस तरह उसके ऊपर एकजुट होकर हमले कर रही हैं उससे मज़दूर वर्ग स्वयं यह सीखता जा रहा है कि उसकी लड़ाई अलग-अलग पूँजीपतियों से नहीं बल्कि समूची व्यवस्था से है। यह ज़मीनी सच्चाई अर्थवाद के आधार को अपनेआप ही कमज़ोर बना रही है और मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना के उन्नत होने के लिए अनुकूल ज़मीन मुहैया करा रही है। इसकी सही पहचान करना और इस आधार पर मज़दूर आबादी के बीच घनीभूत एवं व्यापक राजनीतिक प्रचार की कार्रवाइयाँ संचालित करना ज़रूरी है। मज़दूरों की व्यापक आबादी को यह भी बताया जाना चाहिए कि असेम्बली लाइन का बिखराव आज भले ही मज़दूरों को संगठित करने में बाधक है लेकिन दूरगामी तौर पर यह फ़ायदेमन्द है। यह मज़दूर वर्ग की ज़्यादा व्यापक एकता का आधार तैयार कर रहा है और कारख़ाना-केन्द्रित और पेशागत संकुचित मनोवृत्ति को दूर करने में भी मददगार साबित होगा। इसने मज़दूर वर्ग की विश्वव्यापी एकजुटता का आधार भी मज़बूत किया है। अब 'दुनिया के मज़दूरो, एक हो!' का विश्व ऐतिहासिक नारा एक व्यावहारिक नारे की ओर बढ़ता जा रहा है।

अरविन्द स्मृति न्यास के तीन महत्वपूर्ण प्रकाशन

अरविन्द स्मृति संगोष्ठियों में प्रस्तुत आलेखों के संकलन

(हिन्दी व अंग्रेज़ी में उपलब्ध)

इक्कीसवीं सदी में भारत का मज़दूर आन्दोलन : निरन्तरता और परिवर्तन, दिशा और सम्भावनाएँ, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Working Class Movement in India in the Twenty-first Century: Continuity and Change, Orientation and Possibilities, Problems and Challenges

मूल्य: 40 रुपये

भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन: दिशा, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Democratic Rights Movement in India: Orientation, Problems and Challenges

मूल्य: रु. 80

जाति प्रश्न और मार्क्सवाद

Caste Question and Marxism

मूल्य: रु. 150

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोन: (0522) 2786782

ईमेल: info@janchetnabooks.org, वेबसाइट: janchetnabooks.org

नेल्सन मण्डेला

● आनन्द सिंह

गुज़रे 5 दिसम्बर को नेल्सन मण्डेला की मृत्यु के बाद पूँजीवादी और साम्राज्यवादी मीडिया में उनके जीवन और योगदान का एकतरफ़ा ब्योरा देकर गौरवगान तो हो ही रहा था, लेकिन इसके साथ ही साथ विभिन्न क़िस्म के वामपंथी भी मुख्यधारा के मीडिया से लेकर सोशल मीडिया तक उनका अनालोचनात्मक महिमामण्डन करने में लगे हुए थे। निश्चित रूप से नेल्सन मण्डेला का जीवन (विशेष रूप से जेल से रिहाई से पहले तक) रंगभेद के ख़िलाफ़ अश्वेतों के संघर्ष का प्रतीक बन गया था। परन्तु यदि उनके जीवन के दूसरे पहलू यानी जेल से बाहर निकलने के बाद अश्वेतों की मुक्ति के स्वप्न के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात को नहीं उजागर किया जाता है, तो यह इतिहास के साथ अन्याय होगा। 27 वर्षों तक रंगभेदी हुकूमत की क़ैद में रहने के बाद एक समझौते के तहत रिहा होने के बाद नेल्सन मण्डेला ने जिस क़दर साम्राज्यवाद के सामने घुटने टेके उससे वह तीसरी दुनिया के देशों के राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के नायकों के खण्डित गौरव की त्रासदी का भी प्रतीक बन गये। मण्डेला ने अश्वेतों की मुक्ति के जिस स्वप्न के लिए संघर्ष किया, वक़्त आने पर उसी से उन्होंने आश्चर्यजनक तरीक़े से मुँह मोड़ लिया। यदि मण्डेला अपनी ज़िन्दगी के एक दौर में अफ्रीका ही नहीं बल्कि एशिया और लातिन अमेरिका के तमाम देशों की उत्पीड़ित जनता के लिए उम्मीद की किरण बनकर उभरे तो अपनी ज़िन्दगी के आख़िरी दो दशकों में जनता की निराशा और हताशा का कारण भी बने। इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि नेल्सन मण्डेला के समूचे राजनीतिक जीवन को एकतरफ़ा नज़रिये से देखने की बजाय उसका सांगोपांग विश्लेषण किया जाये।

नेल्सन मण्डेला का जन्म 18 जुलाई 1918 को एक कबीलाई शासक परिवार में हुआ था। उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत 1940 के दशक में मध्यवर्गीय अश्वेतों के चन्द अधिकारों

की माँग उठाने वाली सुधारवादी राजनीति से की। परन्तु इन सुधारवादी माँगों के प्रति रंगभेदी सरकार के ठण्डे रवैये के चलते मण्डेला रैडिकल राजनीति की ओर आकर्षित होते चले गये। ग़ौरतलब है कि यह वही दौर था जब चीनी क्रान्ति के बाद एशिया अफ्रीका और लातिन अमेरिका तीसरी दुनिया के तमाम देशों में क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी थी। कोरिया, वियतनाम, अल्जीरिया सहित तमाम देशों में साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष अपने उफ़ान पर था। हालाँकि मण्डेला इस दौर में 'रैडिकलाइज़' तो हुए परन्तु सैद्धान्तिक समझ और सशस्त्र संघर्ष के प्रति प्रतिबद्धता के मामले में वे क्वामे एन्क्रूमा, पैट्रिस लुमुम्बा, अमिल्कर कबराल, जूलियस न्येरेरे, लियोपोल्ड सेंघोर, ऑगस्तिनो नेतो, बेन बेला, हबीब बुर्ग़ीबा जैसे तीसरी दुनिया के नेताओं जितने रैडिकल नहीं थे। 1960 के कुख़्यात शार्पविले नरसंहार के बाद मण्डेला ने दक्षिण अफ्रीका की कम्युनिस्ट पार्टी (एसएसीपी) के सहयोग से 1961 में अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस (एएनसी) की सशस्त्र विंग 'उमखोंतो वी सिज़वे' ('राष्ट्र का भाला') भी बनायी। यहाँ तक कि उन्होंने मोरक्को और इथियोपिया में सैन्य परीक्षण भी प्राप्त किया। परन्तु सैन्य परीक्षण के बाद दक्षिण अफ्रीका लौटते ही 5 अगस्त 1962 को उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। तब से लेकर फ़रवरी 1990 तक वे रंगभेदी हुकूमत की क़ैद में ही रहे। इस प्रकार मण्डेला एक छोटे अंतराल के दौरान ही सशस्त्र संघर्ष की राह पर चल पाये।

फ़रवरी 1990 में जब मण्डेला क़ैद से रिहा हुए तब तक समूचा दिक्काल परिपेक्ष्य ही बदल चुका था और एक बिल्कुल नयी दुनिया सामने थी। तीसरी दुनिया के रैडिकल बुर्जुआ वर्ग की ऊर्जस्विता और आवेग का क्षरण और विघटन हो चुका था और वह पतित होकर विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में अपने आपको व्यवस्थित कर रहा था। चीन में पूँजीवाद की पुर्नस्थापना हुए एक दशक से भी ज़्यादा समय बीत चुका था, सोवियत संघ में नकली समाजवाद भी ढहने की कग़ार पर था। इस प्रकार अमेरिका के एकछत्र साम्राज्यवादी वर्चस्व वाली एक नयी दुनिया का पदार्पण हो रहा था। यह भूमण्डलीकरण का नवउदारवादी युग था। हालाँकि रिहा होने के तुरन्त बाद मण्डेला ने एएनसी के 1955 के प्रसिद्ध फ्रीडम चार्टर को लागू करने की बात कही थी जिसमें खदानों और उद्योग-धन्धों के आंशिक राष्ट्रीकरण की बात कही गयी थी। परन्तु जल्द ही मण्डेला अपने ही वायदे से मुकर गये और नवउदारीकरण को गले लगा लिया। प्रसिद्ध पत्रकार जॉन पिल्जर द्वारा इस बाबत सवाल पूछे जाने पर मण्डेला का जवाब था, ''हमारे इस देश में निजीकरण एक बुनियादी नीति है''। इस जवाब से मण्डेला की पूँजी के प्रति पक्षधरता साफ़ उजागर होती है और इसलिए यह कतई आश्चर्य की बात नहीं कि उनकी मृत्यु के बाद दुनिया भर के पूँजीवादी हुक्मरान उनकी शान में कसीदे गढ़ रहे हैं।

मण्डेला की रिहाई के कई साल पहले से ही दक्षिण अफ्रीका के रंगभेदी हुक्मरान समझौता वार्ता कर रहे थे। 1970 के दशक में दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों का विद्रोह उग्र रूप धारण करने लगा था। छात्र, युवा, मज़दूर, किसान, खनिक सभी बर्बर पुलिसिया दमन के बावजूद राजनीतिक हड़तालों मे शामिल हो रहे थे। राष्ट्रपति बोथा ने स्थिति को काबू में लाने के लिए बर्बर दमन के साथ ही साथ कुछ सामाजिक कल्याण की नीतियाँ भी लागू करने की कोशिश की। इसके अलावा उसने रंगभेद विरोधी गुटों में फूट डालने की तमाम साजिशें भी रचीं, परन्तु उसकी रणनीति कारगर होती नहीं दिखायी दे रही थी। स्थिति इतनी ख़राब हो चुकी थी कि रंगभेदी सरकार ने 1986 में आपातकाल की घोषणा कर विद्रोह के केन्द्रों में कर्फ़्यू लगाने का आदेश दे दिया। सुरक्षा बलों ने हज़ारों लोगों को मौत के घाट उतार दिया।

1988 में 31 अश्वेत राजनीतिक संगठनों पर पाबन्दी लगा दी गयी। परन्तु इसके बावजूद अश्वेतों का संघर्ष रुकने की बजाय बढ़ता ही गया। यह वह परिदृश्य था जिसमें दक्षिण अफ्रीका के रंगभेदी शासकों ने पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों की सलाह पर नेल्सन मण्डेला से समझौते की रणनीति अपनानी पड़ी। 1982 में ही मण्डेला को रॉबेन टापू के जेल से हटाकर पोल्समूर जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया जहाँ पर वह अतिथियों से मिल सकते थे। जहाँ एक ओर रंगभेदी शासन के उच्च अधिकारी मण्डेला से समझौता वार्ताएँ कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर दक्षिण अफ्रीका के अरबपति उद्योगपति और खान मालिक यूरोपीय देशों में निर्वासन पर रह रहे एएनसी के अन्य नेताओं जैसे थाबो एमबेकी (जो मण्डेला के बाद दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रपति भी बने) से पश्चिम की शह पर वार्ताएँ कर रहे थे और उन्हें भाँति-भाँति के प्रलोभन दे रहे थे।

समझौता वार्ताओं के परिणामस्वरूप फरवरी 1990 में नेल्सन मण्डेला जेल से रिहा हुए। इस प्रकार आधिकारिक तौर पर रंगभेदी शासन के युग की समाप्ति हुई और एक बुर्जुआ जनवादी गणतांत्रिक ढाँचे का निर्माण हुआ। पहली बार अश्वेतों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ। 1994 में सम्पन्न हुए चुनावों के बाद नेल्सन मण्डेला दक्षिण अफ्रीका के पहले अश्वेत राष्ट्रपति बने। इस समझौते के तहत मण्डेला ने शुरुआत में श्वेतों की पार्टी नेशनल पार्टी के साथ संयुक्त सरकार भी बनायी। 1993 में उन्हें नेशनल पार्टी के नेता और रंगभेदी शासन के अन्तिम राष्ट्रपति एफ डी क्लर्क के साथ संयुक्त रूप से नोबल शान्ति पुरस्कार से भी नवाजा गया। इस समझौते का दूसरा पहलू यह था सम्पत्ति सम्बन्धों में कोई बदलाव नहीं किये गये। श्वेतों की सम्पत्ति को छेड़ा नहीं गया। श्वेत बुर्जुआ वर्ग ने समझौते से पहले ही योजनाबद्ध तरीक़े से अश्वेतों में एक छोटा से तबका पूँजीपति वर्ग और निम्न पूँजीपति वर्ग के रूप में विकसित किया जिनके हित श्वेतों के हित से मेल खाते थे। राष्ट्रपति बनने के तुरन्त बाद मानो मण्डेला ने श्वेत और अश्वेत बुर्जुआ वर्ग के हितों के मद्देनज़र अश्वेतों की मुक्ति के स्वप्न का परित्याग कर दिया और नवउदारवादी पूँजीवाद को सरेआम गले लगा लिया। भूमि सुधार न के बराबर हुआ। 1994 के बाद से अब तक सिर्फ़ 3 फ़ीसदी जमीन का हस्तान्तरण अश्वेतों को किया गया। कृषि योग्य भूमि का लगभग पूरे हिस्से का स्वामित्व 60,000 श्वेतों के पास है।

मण्डेला के इस ऐतिहासिक विश्वासघात का नतीजा यह हुआ कि औपचारिक रूप से रंगभेद की समाप्ति के दो दशकों के बाद भी दक्षिण अफ्रीका में वर्गभेद पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ा है। बस अन्तर यह आया है कि धनिक शासक वर्ग में श्वेतों के अतिरिक्त अश्वेतों की एक बारीक़ परत भी जुड़ गयी है। आज दक्षिण अफ्रीका दुनिया के सबसे असमान देशों में से एक है (लेसोथो के बाद दूसरे स्थान पर)। सरकारी आँकड़ों के अनुसार वहाँ की लगभग आधी आबादी ग़रीबी रेखा से नीचे रहती है। अश्वेतों की आबादी कुल आबादी का 80 फ़ीसदी होने के बावजूद दक्षिण अफ्रीका की कुल सम्पदा के मात्र 5 फ़ीसदी पर उनका नियंत्रण है। जहाँ श्वेत यूरोपीय नगरों जैसे आलीशान वातावरण में रहते हैं वहीं अधिकांश अश्वेत झुग्गियों की नारकीय परिस्थिति में गुजर-बसर करने को मज़बूर हैं। सरकारी आँकड़ों के अनुसार दक्षिण अफ्रीका में लगभग 25 फ़ीसदी लोग बेरोज़गार हैं। अश्वेतों में यह आँकड़ा 50 फ़ीसदी है। नवउदारवादी नीतियों की वजह से श्रम का अनौपचारिकीकरण भी बड़े पैमाने पर हुआ है। खनिक और श्रमिक अमानवीय परिस्थितियों में खटने को मज़बूर हैं और आवाज़

उठाने पर उनका बर्बर तरीक़े से दमन किया जाता है। इसकी एक मिसाल अगस्त 2012 में मरिकाना की प्लैटिनम खदान में देखने को मिली जब संघर्षरत खनिकों पर राज्य की पुलिस ने अन्धाधुन्ध फायरिंग की जिसमें 34 खनिक मौत के घाट उतार दिये गये। ग़ौरतलब है कि जो ब्रिटिश कम्पनी इस खदान की मालिक है उसके बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स में पूर्व यूनियन नेता और एएनसी का उपाध्यक्ष सिरिल रामफोसा भी है जो अरबपति है। रामफोसा जैसे तमाम अरबपति भ्रष्ट नेता नेल्सन मण्डेला के क़रीबी समझे जाते थे। मौजूदा परिस्थिति यह है कि एएनसी (अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस), एसएसीपी (दक्षिण अफ्रीका की कम्युनिस्ट पार्टी) और कोसाटू (ट्रेड यूनियन फेडरेशन) का गन्दा त्रिगुटा मिलकर जनता को लूट-खसोट रहा है। एक ओर इनके नेता भ्रष्टाचार, विलासिता और व्यभिचार के सारे कीर्तिमान धवस्त कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर आम जनता के जीवन के हालात बद से बदतर होती जा रही है। यही वे हालात हैं जिनके बीच नेल्सन मण्डेला का देहावसान हुआ। हालात को इस मुक़ाम तक पहुँचाने में नेल्सन मण्डेला की भूमिका की अनदेखी करना इतिहास के साथ नाइंसाफ़ी होगी।

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है

औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के ख़तरों के बारे में एक विचारोत्तेजक, शोधपूर्ण, आँखें खोल देने वाली पुस्तक।

प्रकाशक : राहुल फाउण्डेशन **मूल्य : 100 रुपये**

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:
जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फोन: (0522) 2786782
ईमेल: info@janchetnabooks.org, वेबसाइट: janchetnabooks.org

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

एक वैचारिक मुहिम, एक सांस्कृतिक अभियान

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फ़ुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। जनचेतना हिन्दी और पंजाबी क्षेत्र के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कला-सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

हिन्दी क्षेत्र में यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ़ के बिना, समर्पित वालण्टियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

आइये, आप सभी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।

***मुख्य केन्द्र :* डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
फ़ोन : 0522-2786782

अन्य केन्द्र

- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001, फ़ोन : 0551-2241922
- दिल्ली : 9971158783
- लुधियाना (पंजाब) फ़ोन : 09815587807
- नियमित स्टॉल : कॉफ़ी हाउस के पास, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)

राहुल फाउण्डेशन, परिकल्पना प्रकाशन, अनुराग ट्रस्ट, शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन, दस्तक प्रकाशन और अरविन्द स्मृति न्यास की पुस्तकों के मुख्य वितरक। विस्तृत पुस्तक-सूची के लिए सम्पर्क करें या हमारी वेबसाइट देखें।

ईमेल : info@janchetnabooks.org

वेबसाइट : http:èkèkjanchetnabooks.org

ग्रंथशिल्पी प्रकाशन ही नहीं, राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलन भी है

इतिहास, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र

स्वामी सहजानन्द
मेरा जीवन संघर्ष 550.00/200.00
किसान कैसे लड़ते हैं? 225.00/95.00
क्रांति और संयुक्त मोर्चा 350.00/125.00
खेत मज़दूर और झारखंड के किसान 225.00
किसान क्या करें? 650.00/350.00
किसान आंदोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि 1225.00/550.00

अंतोनिया ग्राम्शी
सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार 1250. 00/595.00

एंथनी ब्रेवर
साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धांत 725.00/350.00

कृष्णमोहन श्रीमाली
धर्म, समाज और संस्कृति 525.00

समीर अमीन
भूमंडलीय के युग में पूंजीवाद 250.00

माइकेले सिवट्जेल
आर्यों के भारतीय मूल की कल्पना *325.00*

वी.आई.लेनिन
क्या करें? 425.00/760.00

जेल्डा के. कोट्स
एंगेल्स : जीवन और कार्य 50.00

फ्रेडरिक एंगेल्स
परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति 375.00/160.00

मोहम्मद हबीब
दिल्ली सल्तनत का राजनीतिक सिद्धांत 650.00/325.00
भारतीय इतिहास का आरंभिक मध्यकाल 450.00
भारत के आरंभिक मध्यकाल में राजनीति 750.00
जीवनचरित, भारत के बाहर इस्लामी संस्कृति व ऐतिहासिक पद्धति 725.00

सुकोमल सेन
भारत का मज़दूर वर्ग 1475.00/525.00

प्रभात कुमार शुक्ल (सं.)
इतिहास लेखन की विभिन्न दृष्टियां 1250.00/575.00

अरविंद सिन्हा
संक्रांतिकालीन यूरोप (सामंतवादसे औद्योगिक क्रांति तक) 1050. 00/575/

रजनी पामदत्त
आज का भारत (अनु. रामविलास शर्मा) 850.00/350.00
फासीवाद और सामाजिक क्रांति 450.00
विश्व का राजनीतिक परिदृश्य 375.00

इम्तियाज़ अहमद
भारत के मुसलमानों में जाति व्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण 425/
आधुनिक समाज में वर्ग 200.00

इरविंग एम.जेटलिन
विचारधारा और समाजशास्त्रीय सिद्धांत का विकास 925.00/425.00

एंथनी गिडेन्स
पूंजीवाद और आधुनिक सामाजिक सिद्धांत 500.00/175.00
समाजशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय *275.00*
समाजशास्त्रीय पद्धतियों के नये नियम 350.00

मार्क ब्लाख
सामंती समाज (दो भागों का सेट) 950.00
इतिहासकार का शिल्प 450.00/225.00

ए.आई. चिचेरोव
मुग़लकालीन भारत की आर्थिक संरचना 575.00/275.00

दामोदर धर्मानंद कोसंबी
मिथक और यथार्थ 450.00

सुचेता महाजन
स्वाधीनता और विभाजन 750.00/375.00

आनंद तेलतुमड़े
साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन 425.00
सत्ता समाज और दलित 425.00/195.00

रमानाथ मिश्र
भारतीय मूर्तिकला का इतिहास 600.00

आनन्दस्वरूप वर्मा (सं.)
एवरेस्ट पर लाल झंडा 725.00/350.00

आर्नल्ड हाउजर
कला का इतिहासदर्शन 625.00

नीहार रंजन राय
भारतीय कला विवेचन की प्रस्तावना 475.00

रोजा लग्जमबर्ग
सुधार अथवा क्रांति 225.00

जॉर्ज लूकाच
इतिहास दृष्टि और ऐतिहासिक उपन्यास 725.00

मिशेल बो
पूंजीवाद का इतिहास (1500-2000) 975.00/575.00

कृष्णकांत मिश्र
समाजवादी चिंतन का इतिहास (तीन भागों का सेट) 3000/1200
राजनीतिक सिद्धांत और शासन 850.00/250.00
भारतीय शासन और राजनीति 750.00/195.00
बीसवीं सदी का चीन : राष्ट्रवाद और साम्यवाद 550.00

एम.एन.राय
संक्रांति के दौर का भारत 350.00

एंथनी ब्रेवर
साम्राज्यवाद की मार्क्सवादी व्याख्याएं 725.00/350.00

ताराचंद
भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव 450.00

केन सारो विवा
तानाशाह की कैद में (प्रकाश्य)

पूरनचंद्र जोशी
भारत में भूमि सुधार अध्ययनों का सर्वेक्षण 275.00/125.00
भारत में सामाजिक परिवर्तन व आर्थिक विकास (समाजशास्त्रीय दृष्टि) 275.00/125.00 (प्रकाश्य)

इलेन मिकसिन्स वुड
पूंजीवाद का उद्भव 175.00

इलेन मिकसिन्स वुड, जॉन बेलेमी फास्टर
इतिहास के पक्ष में 375.00

विश्वंभर शरण पाठक
भारत के प्राचीन इतिहासकार 350.00

ज्यॉर्ज लेफेब्रे
फ्रांसीसी क्रांति 750.00/225.00

जॉन रॉबिन्सन
स्वाधीनता और आवश्यकता 225.00

वृंदा करात
भारतीय नारी : संघर्ष और मुक्ति 395.00/175.00

सुधा सिंह
ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ 650.00

उमा चक्रवर्ती
जाति समाज में पितृसत्ता 325.00/795.00

रणधीर सिंह
मार्क्सवाद, समाजवाद और भारतीय राजनीति 925.00/450.00

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें
ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी-7, सरस्वती काम्प्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली - 110092
फोन : 22025140, 65179059, (त) 64688542, 22731014
E&mail : granthshilpi.delthi@gmail.com, Website: www.granthshilpi.com

हिन्दी जगत के पाठकों के लिए एक बेहद ज़रूरी नयी पत्रिका

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

पिछले 25 वर्षों के दौरान, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जो बदलाव आये हैं, और इनमें जनसंचार माध्यमों, ख़ासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और 'नये मीडिया' का जो योगदान है, उस पर काफ़ी चर्चा होती रही है। सहमति और "असहमति" मैन्युफ़ैक्चर करने और विचार-निर्मिति के लिए शासक वर्गों के हाथों में यह एक बेहद प्रभावी हथियार है और इसकी प्रभाविता तथा पहुँच आज पहले से कई गुना बढ़ चुकी है। समाज के बौद्धिक तत्वों और उन्नत मस्तिष्कों को प्रभावित और अनुकूलित करने में इण्टरनेट-आधारित माध्यम बेहद कारगर साबित हो रहे हैं।...

मीडिया की वैचारिकी पर आज काफ़ी काम हो रहा है, मार्क्सवादी दृष्टि से भी और 'उत्तर' सरणियों से पैदा हुई दृष्टि से भी। उन सभी की विवेचनाओं में जाना भी ज़रूरी है।

इस परिदृश्य में एक वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की ज़रूरत और चुनौतियाँ पहले से कहीं ज़्यादा हैं। लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक परिवर्तन की परियोजनाओं के एक अंग के तौर पर वैकल्पिक मीडिया का ताना-बाना खड़ा करने की व्यापक सम्भावनाएँ भी आज मौजूद हैं। इस दृष्टि से नये मीडिया की नयी सम्भावनाओं के अन्वेषण और उपयोग के साथ ही इसकी सीमाओं-समस्याओं को भी विचार के दायरे में लाना होगा।...

हिन्दी में सुनिश्चित लक्ष्य पर केन्द्रित ऐसी एक विशिष्ट पत्रिका की शिद्दत के साथ ज़रूरत महसूस होती रही है। इस ज़रूरत को पूरा करने की यह एक विनम्र कोशिश है।

पत्रिका के दूसरे अंक की सामग्री इस प्रकार है:

- समकालीन पूँजीवादी समाज और अपराध – कात्यायनी
- पूँजीवाद का संकट और 'सुपर हीरो' व 'एंग्री यंग मैन' की वापसी – अभिनव सिन्हा
- संस्कृति, मीडिया और विचारधारात्मक प्रभाव – स्टुअर्ट हाल
- राज्य के साथ कला का संघर्ष : लेखक और उत्तर-औपनिवेशिक समाज के संरक्षक – न्गूगी वा थ्योंगो
- चिनुआ अचेबे, पीट सीगर और अमीरी बराका पर लेख

सम्पादक: **कात्यायनी, सत्यम** मूल्य: 40 रुपये
वार्षिक सदस्यता : 160 रुपये (डाक व्यय अतिरिक्त), त्रैमासिक
सम्पादकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
ईमेल: naandipath@gmail.com, फोन: 9936650658/8853093555
वेबसाइट: http://naandipath.in फेसबुक: www.facebook.com/naandipath

RNI Title Code: UPHIN43949
Disha Sandhan, Issue No. 2

जो लोग पूँजीवाद का विरोध किये बिना फ़ासीवाद का विरोध करते हैं, जो उस बर्बरता पर दुखी होते हैं जो बर्बरता के कारण पैदा होती है, वे ऐसे लोगों के समान हैं जो बछड़े को जिबह किये बिना ही मांस खाना चाहते हैं। वे बछड़े को खाने के इच्छुक हैं लेकिन उन्हें ख़ून देखना नापसन्द है। वे आसानी से सन्तुष्ट हो जाते हैं अगर कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेता है। वे उन सम्पत्ति सम्बन्धों के ख़िलाफ़ नहीं हैं जो बर्बरता को जन्म देते हैं, वे केवल अपनेआप में बर्बरता के ख़िलाफ़ हैं। वे बर्बरता के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं, और वे उन देशों में ऐसा करते हैं जहाँ ठीक ऐसे ही सम्पत्ति सम्बन्ध हावी हैं, लेकिन जहाँ कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेते हैं।

– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

('सच लिखने के बारे में पाँच कठिनाइयाँ')

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

अक्टूबर-दिसम्बर 2015
अंक 3 100 रुपये

जीवन का तकाज़ा पूरा होकर रहेगा। बुर्जुआ वर्ग को भागदौड़ करने दो, पागलपन की हद तक क्रुद्ध होने दो, हद पार करने दो, मूर्खताएँ करने दो, कम्युनिस्टों से पेशगी में ही प्रतिशोध लेने दो, गुज़रे कल के और आने वाले कल के सैकड़ों, हज़ारों, लाखों कम्युनिस्टों को (हिन्दुस्तान में, हंगरी में, जर्मनी में, आदि) क़त्ल करने का प्रयत्न करने दो। ऐसा करके, बुर्जुआ वर्ग उन्हीं वर्गों की तरह पेश आ रहा है जिनके लिए इतिहास मौत का हुक्म सुना चुका है। कम्युनिस्टों को जानना चाहिए कि भविष्य हर हाल में उनका है, इसलिए हम महान क्रान्तिकारी संघर्ष में उग्रतम उत्साह के साथ-साथ बहुत शान्ति और बहुत धीरज से बुर्जुआ वर्ग की पागलपनभरी भागदौड़ का मूल्यांकन कर सकते हैं, और हमें करना ही चाहिए।

– लेनिन

("वामपन्थी" कम्युनिज़्म : एक बचकाना मर्ज़)

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

3

अक्टूबर–दिसम्बर 2015

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

अक्टूबर-दिसम्बर 2015

सम्पादक

कात्यायनी / सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :
69 ए-1, बाबा का पुरवा
पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 9936650658 / 8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

प्रति अंक : 100 रुपये

वार्षिक सदस्यता: 400 रुपये (डाकखर्च 160 रुपये)

आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क **'दिशा सन्धान'** (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता ज़रूर बता दें।
चालू खाता सं. 0762002109003644
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,
आईएफ़एससी कोडः PUNB0076200

●

संपादन-संचालन पूर्णतः अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा क्रिएटिव प्रिंटर्स, 628/5-28, शक्तिनगर, लखनऊ द्वारा मुद्रित

इस अंक में

सम्पादकीय की एवज में **5**

आपकी बात **11**

विशेष लेख

सोवियत समाजवाद के अनुभवः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ (तीसरी किस्त) — *अभिनव सिन्हा* **13**

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशकः एक सिंहावलोकन (दूसरी किस्त) — *दीपायन बोस* **203**

महान बहस के 50 वर्ष — *राजकुमार* **261**

प्रतिवाद

उन समझदारों के लिए सबक जो हमेशा हाशिये पर पड़े रहना चाहते हैं — *अभिनव सिन्हा* ***216***

पुस्तक समीक्षा

वामपंथी आन्दोलन के समक्ष कुछ विचारणीय प्रश्न — *सुखविन्दर* **285**

सामयिक

भावुकतावादी क्रान्तिवाद बनाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी अप्रोच एवं पद्धति — *कात्यायनी* **318**

समकालीन

मोदी सरकार के कार्यकाल का एक सालः विकास का विद्रूप प्रहसन — *मीनाक्षी* **327**

इस्लामिक स्टेट का उभार और मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का नया दौर
— *आनन्द* **337**

यूनानी त्रासदी के भरतवाक्य के लेखन की तैयारी
— *शिशिर* **345**

भूमण्डलीकरण के दौर में तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा
— *आनन्द सिंह* **357**

कश्मीर में बाढ़, भारत में अन्धराष्ट्रवाद की आँधी और कश्मीरी जनता का बढ़ता अलगाव
— *पुरुषोत्तम* **363**

सम्पादकीय की एवज में

माओ त्से-तुङ ने एक बार कहा था, "आकाश के नीचे सबकुछ भयंकर अराजकता में है। एक शानदार स्थिति!" पिछले करीब 8 वर्षों से अभूतपूर्व आर्थिक मन्दी की मार से कराहता पूँजीवाद हर रोज़ अपनी मरणासन्नता और खोखलेपन के नये लक्षण प्रदर्शित कर रहा है। जब 'दिशा सन्धान' के तीसरे अंक के साथ हम आपसे मुख़ातिब हो रहे हैं, तो दुनिया एक नये संक्रान्तिकाल में प्रवेश करती प्रतीत हो रही है। यह संक्रान्तिकाल तत्काल ही किसी क्रान्तिकारी स्थिति की ओर ले जाये, यह ज़रूरी नहीं है। लेकिन यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगा कि जो परिवर्तन आज दुनिया के पैमाने पर हमारे सामने घटित हो रहे हैं, वे साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को और भी ज़्यादा कमज़ोर और खोखला बना रहे हैं। वैसे तो दुनिया भर में इस नये संक्रान्तिकाल के कई प्रातिनिधिक लक्षण हमारे सामने हैं, लेकिन हम दो सबसे प्रमुख लक्षणों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे, जो सम्भवत: सबसे महत्वपूर्ण हैं।

पहला अहम परिवर्तन है फ़िलिस्तीन में तीसरे इन्तिफ़ादा की शुरुआत के संकेत। वैसे तो फ़िलस्तीन की जनता हत्यारे इज़रायली ज़ायनवादी कब्ज़े, नस्लवादी 'अपार्थाइड' और बार-बार किये जाने वाले बर्बर हत्याकाण्डों के ख़िलाफ़ लगातार ही सुलगती और उबलती रहती है। लेकिन जब हम ये शब्द लिख रहे हैं, ठीक उसी समय यह उबाल एक विस्फोट की शक्ल लेता नज़र आ रहा है। फ़िलिस्तीन की जनता ने न सिर्फ़ गाज़ा में बल्कि पश्चिमी तट में एक ज़बर्दस्त विद्रोह की शुरुआत की है। पिछले एक सप्ताह में करीब 8 इज़रायली मारे जा चुके हैं और साथ ही इज़रायली ज़ायनवादी पुलिस व सेटलरों ने करीब 50 फ़िलस्तीनियों की हत्या की है। मगर दमनकारियों की मौतें हमेशा ज़्यादा भारी होती हैं। यह समझने की ज़रूरत है कि एक औपनिवेशिक दमनकारी सत्ता के लोगों के मारे जाने और एक दमित जनता के लोगों के मारे जाने के अलग निहितार्थ होते हैं।

फ़िलिस्तीन की जनता पिछले सात दशकों से लगातार कुर्बानियाँ और शहादतें देती आ रही है। अमेरिकी साम्राज्यवाद के बल पर मध्य-पूर्व में लठैती करने वाली ज़ायनवादी नात्सी सत्ता तमाम हथियारों के ज़खीरों, तमाम हत्याकाण्डों और निरन्तर दमन और अपमान थोपने के बावजूद फ़िलिस्तीन की जनता को झुका पाने में नाकामयाब रही है। अनगिनत कुर्बानियाँ, असीम दुख और तकलीफ़ें झेलने वाले फ़िलिस्तीनी लोगों का साहस और सहनशक्ति चट्टान के समान मज़बूत हो चुका है। लेकिन वहीं ज़ायनवादी फासीवादी इज़रायल की सत्ता अपनी हिफ़ाज़त के दुनिया भर के साजो-सामान के बावजूद बुरी तरह कायर और डरपोक हो चुकी है। इसलिए आठ इज़रायलियों का मारा जाना पूरे इज़रायली समाज में एक भयंकर डर का माहौल पैदा कर रहा है, एक किस्म की स्थायी भयाक्रान्तता। वैसे तो साम्राज्यवादी और फासीवादी फ़ितरत से ही कायर होते हैं, लेकिन जब दबाये गये, कुचले गये लोग बग़ावत करते हैं और हिंस्र तरीके से लड़ने लगते हैं तो उनकी भयाक्रान्तता सारी हदें पार कर जाती है। 13 अक्टूबर को यरुशलम में हुई एक घटना इसी का प्रतीक है। एक ज़ायनवादी ने एक दूसरे ज़ायनवादी को फ़िलिस्तीनी अरब समझकर मार डाला। उसके अगले दिन ही ठीक ऐसी ही एक और घटना घटी। यह ज़ायनवादियों में व्याप्त भय का माहौल ही है जो ऐसी घटनाओं की तरफ़ ले जा रहा है। नेतन्याहू से लेकर तमाम ज़ायनवादी राजनीतिज्ञ व नेता इज़रायलियों को हमेशा साथ में बन्दूक रखने और शक़ होने पर ही गोली मार देने की सलाहें दे रहे हैं। नतीजा यह है कि सारे साम्राज्यवादी हरबे-हथियारों और सुरक्षा के बावजूद इज़रायली समाज के लोग शान्ति के साथ जीने का केवल सपना ही देख सकते हैं। उनका 'आयरन डोम' मिसाइल सुरक्षा तन्त्र गाज़ा से आने वाले रॉकेटों को एक हद तक रोक सकता है (हालाँकि एक रॉकेट का भी इज़रायल के भीतर गिरना ज़ायनवादियों की रीढ़ की हड्डी तक कँपकँपी पैदा कर जाता है) लेकिन वे लोगों को कैसे रोक सकते हैं? इज़रायल की बसों, दुकानों, सड़कों और सार्वजनिक स्थानों पर हमले हो रहे हैं। आप सम्भावित हमलावरों को पहचान नहीं सकते। कब किस ओर से हमला हो सकता है, कोई नहीं जानता। इस नये फ़िलिस्तीनी विद्रोह ने, जिसे शायद भविष्य में तीसरे इन्तिफ़ादा का नाम दिया जाने लगे, इज़रायली औपनिवेशिक सेटलर समाज की कमज़ोर नस पर हाथ रख दिया है। यही कारण है कि अक्टूबर के दूसरे सप्ताह में नेतन्याहू की नीतियों के ख़िलाफ़ यरुशलम में एक बड़ा प्रदर्शन हुआ।

इसके विपरीत इज़रायल में ही एक धुर नात्सी ज़ायनवादी प्रतिक्रिया भी मौजूद है, जो कि फ़िलिस्तीनी कौम का जातीय सफ़ाया कर 'अन्तिम समाधान' कर देने के सपने देखती है। ज़ाहिर है, यह सम्भव नहीं है। इज़रायल, गाज़ा और पश्चिमी तट की कुल आबादी को मिला दिया जाय तो उसमें इस समय करीब 63 लाख यहूदी आबादी है और अरब फ़िलिस्तीनी आबादी करीब 61 लाख है। इसके अलावा जॉर्डन में करीब 20 लाख फ़िलिस्तीनी शरणार्थी हैं, और लेबनॉन में 4.5 लाख, सीरिया में 4.7 लाख फ़िलिस्तीनी शरणार्थी हैं। इसके अलावा, पूरे अरब विश्व में लाखों फ़िलिस्तीनी शरणार्थी मौजूद हैं जिनमें से एक अच्छी-ख़ासी आबादी मज़दूरों की और छोटे-मोटे काम करने वाले लोगों की है। सिर्फ़ ऐतिहासिक फ़िलिस्तीन, यानी इज़रायल, पश्चिमी तट और गाज़ा, के भीतर इज़रायली सर्वेक्षण के ही अनुसार फ़िलिस्तीनी आबादी 2016 तक यहूदियों से ज़्यादा हो जायेगी। ऐसे में, पूर्ण जातीय सफ़ाये के सपने किसी सूरत में सफल होने वाले नहीं हैं और ऐसा करने का कोई प्रयास पूरे अरब जगत में भयंकर विस्फोटक स्थिति पैदा करेगा क्योंकि बहुसंख्यक अरब जनता भावनात्मक तौर पर फ़िलिस्तीन

के साथ जुड़ी हुई है और उसके साथ गहरी हमदर्दी रखती है। फ़िलिस्तीन के साथ हुई नाइंसाफ़ी अरब विश्व में इज़रायल और अमेरिका के ख़िलाफ़ बेपनाह नफ़रत का एक प्रमुख कारण है और एक अच्छी-ख़ासी आबादी अरब जनता की मुक्ति में फ़िलिस्तीन के प्रश्न को केन्द्रीय प्रश्न मानती है।

इन तमाम कारणों से इज़रायल में भी जिनका दिमाग़ सही जगह पर है वे मौजूद फ़िलिस्तीनी विद्रोह से चिन्तित हैं और नेतन्याहू की नीतियों की एक उदार ज़ायनवादी आलोचना कर रहे हैं। ज़ाहिर है, उदार ज़ायनवादी भी अगर सत्ता में होंगे तो फ़िलिस्तीनी जनता का वैसा ही दमन करेंगे, जैसा कि नेतन्याहू कर रहा है और इसका कारण यह है कि इज़रायली राज्य मध्य-पूर्व में साम्राज्यवाद द्वारा आयातित एक कृत्रिम वस्तु है और फ़िलिस्तीनी जनता का लगातार दमन और उत्पीड़न इसके अस्तित्व की एक शर्त है। यह मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हितों की रखवाली के लिए और एक दौर में साम्राज्यवादी अरब जनउभार को प्रतिसन्तुलित करने के लिए पैदा किया गया एक उपकरण था। आज भी इज़रायल और ज़ायनवाद का औचित्य-प्रतिपादन केवल और केवल इसी तर्क से किया जा सकता है। मौजूद फ़िलिस्तीनी बग़ावत इज़रायली कब्ज़े को ख़त्म करने के लिए लड़ रही है और यह दिखला रही है कि फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष दमन की लाख बर्बर हरकतों के बाद भी ख़त्म नहीं होने वाला है और इज़रायली ज़ायनवादी चैन से बैठने का कभी सपना भी नहीं देख सकते हैं। इतिहास में पहले भी इज़रायल अमेरिकी साम्राज्यवादी मदद और समर्थन के बिना एक सप्ताह भी नहीं कायम रह सकता था और अब भी यह बात उतनी ही सच है। मध्य-पूर्व में अमेरिकी साम्राज्यवादी प्रभुत्व और इज़रायली ज़ायनवादी सत्ता एक-दूसरे के अस्तित्व को बचाये रखने का काम करते हैं।

लेकिन चिन्ता की बात यह है कि आर्थिक मन्दी के कारण तीखी होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप मध्य-पूर्व में जो नये साम्राज्यवादी समीकरण उपस्थित हो रहे हैं, वे मध्य-पूर्व में साम्राज्यवाद की पूरी संरचना में कुछ बुनियादी बदलाव लाने की दिशा में विकसित होने की सम्भावना रखते हैं। यहीं से हम आज की वैश्विक परिस्थिति में एक संक्रान्ति-काल के आरम्भ होने के दूसरे प्रमुख लक्षण पर आ सकते हैं। यह दूसरा लक्षण सीरिया में जारी युद्ध में प्रकट हो रहा है। अब यह सारी दुनिया के सामने साफ़ हो चुका है कि ओबामा सरकार ने बशर अल-असद की सरकार को गिराने और सीरिया में अपने लिए अनुकूल कोई सरकार बिठाने के लिए आईएस (इस्लामिक स्टेट) को खड़ा किया है। आईएस के सरगना बग़दादी की अमेरिकी प्रशासन और इज़रायली एजेंसी मोसाद के अधिकारियों के साथ तस्वीरें अब सोशल मीडिया पर सार्वजनिक हो चुकी हैं; आईएस के पास भारी मात्रा में अमेरिकी हथियारों और टोयोटा ट्रकों की मौजूदगी भी यह बात साफ़ कर चुकी है। अमेरिका का मंसूबा था कि रूस और ईरान के साथ करीबी रखने वाले असद का तख़्तापलट करवाया जाये लेकिन यह खेल रूस ने सैनिक हस्तक्षेप करके फिलहाल तो बुरी तरह से बिगाड़ दिया है। सीरिया में असद शासन को पलटना अमेरिका के लिए इसलिए भी ज़रूरी हो गया था क्योंकि इराक़ को लेकर उसके सारे मंसूबे धरे के धरे रह गये थे। 2003 में इराक़ पर हमला इस उद्देश्य से किया गया था कि इराक़ में अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रति अनुकूल रवैया रखने वाले किसी शासन को स्थापित किया जाय। मगर इराक़ी प्रतिरोध युद्ध के कारण पहले तो अमेरिकी सेना को इराक़ छोड़कर भागना पड़ा और उसके जाने के बाद जो सरकार वहाँ सत्ता

में आयी उसने ईरान से करीबी बढ़ा ली और असद के प्रश्न पर भी वह ईरान के साथ है। नतीजतन, अमेरिका के पास मध्य-पूर्व में अब दो ही समर्थक रह गये हैं–सऊदी अरब और इज़रायल और इन दोनों के ही समर्थन पर अति-निर्भरता अमेरिकी साम्राज्यवाद के लिए मध्य-पूर्व में भारी दिक़्क़तें पैदा कर रही है। सीरिया में हस्तक्षेप, इराक़ में ही हस्तक्षेप के ही समान, इस कमी को दूर करने के लिए शुरू किया गया था। लेकिन रूस ने अपनी वायुसेना और नौसेना के ज़रिये प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर वाशिंगटन का 'गेम प्लान' ही बिगाड़ दिया है। इस हस्तक्षेप के कारण असद की सेनाओं ने आईएस को तमाम इलाकों से पीछे धकेल दिया है और आईएस तमाम अन्य इलाकों से भी भाग रहा है। वहीं उत्तर-पश्चिम में कुर्द लड़ाकों ने 'कुर्दिश वर्कर्स पार्टी' और वाई.पी.जी. के नेतृत्व में अपनी लड़ाई जारी रखी है और आईएस से मुक्त किये गये अपने क्षेत्र में उसे वापस घुसने नहीं दिया है। इसके अलावा, अमेरिका के लिए चिन्ता के और भी कई कारण हैं। चीन ने भी सीरिया में रूस की सहायता के लिए अपने सैन्य विशेषज्ञों को भेजा है और आने वाले समय में उसके प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से भी इंकार नहीं किया जा सकता है। सीरिया के आकाश से इज़रायली जेट ग़ायब हो गये हैं क्योंकि रूस ने स्पष्ट चेतावनी दी थी कि अगर इज़रायली जेट दिखायी पड़ेंगे तो उन्हें गिरा दिया जायेगा। ग़ौरतलब है कि इज़रायल हर रोज़ बार-बार दूसरे देशों के हवाई क्षेत्र में घुसपैठ कर अन्तरराष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन करता है। इसके अलावा, जो सबसे अहम बात है वह यह है कि रूस, इराक़, ईरान और सीरिया ने आईएस के विरुद्ध सूचना साझा करने व अन्य कार्रवाइयों के लिए एक आधिकारिक मोर्चा बना लिया है।

यूरोपीय संघ भी इस मसले पर खुलकर अमेरिका के साथ नहीं आ रहा है। सिवाय ब्रिटेन के, जो कि रूसी हस्तक्षेप के विरुद्ध आक्रामक भाषा में बात कर रहा है, कोई भी रूसी सैन्य अभियान पर ज़्यादा खुलकर नहीं बोल रहा है। यूरोपीय आयोग के अध्यक्ष ज्याँ-क्लोद युंकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यूरोपीय संघ के पास रूसी सैन्य अभियान का विरोध करने की कोई ज़मीन नहीं है और यूरोपीय संघ को रूस के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाने से पहले सोचना चाहिए। इसका कारण यह भी है यूरोपीय संघ को प्राकृतिक गैस की आपूर्ति प्रमुख तौर पर रूस से होती है और अपनी ऊर्जा आवश्यकताओं के लिए अधिकांश देश रूस पर निर्भर हैं। नतीजतन, फ्रांस द्वारा सीरिया में कुछ हवाई हमलों को छोड़ दें तो कोई भी यूरोपीय देश सीरिया में सीधे कोई भी कार्रवाई करने से बच रहा है और फ्रांस के हवाई हमलों का निशाना भी असद के सैन्य बल नहीं थे, बल्कि आईएस के ठिकाने थे।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मध्य-पूर्व में अमेरिका के विकल्प लगातार कम होते गये हैं और अब उसके पास दो ऐसी शक्तियों के अलावा मध्य-पूर्व में कोई भी मित्र नहीं बचा है जिनमें से एक फ़िलिस्तीनी जनता के नात्सियों से भी गये-गुज़रे दमन के लिए कुख्यात है और जिसका दुनिया के कई देश बहिष्कार कर चुके हैं और दूसरा एक राजतन्त्र है जो कि अपनी मध्ययुगीन बर्बरता, मेहनतकशों की गुलामी और अश्लील पूँजीवादी आधुनिकता के लिए कुख्यात है। ऐसे में, दुनिया भर में लोकतन्त्र का निर्यात करने का दावा करने वाले अमेरिका के लिए तमाम राजनीतिक दिक्कतें पैदा होती हैं, विदेशों में भी और अपने घर में भी। अमेरिका के विकल्पों के कम होते जाने के साथ जो कहानी जारी है वह यह है कि रूसी-चीनी साम्राज्यवादी धुरी अपनी आर्थिक और सैन्य शक्तिमत्ता में बढ़ोत्तरी के साथ मध्य-पूर्व में अभी तक एक प्रकार से प्रश्नेतर रहे अमेरिकी प्रभुत्व को चुनौती दे रही है और

वहाँ पर अपने हिस्से को विस्तारित करने के लिए पहले से ज़्यादा खुले तौर पर हस्तक्षेप कर रही है। अमेरिका इस चुनौती के समक्ष इस समय ज़्यादा कुछ कर भी नहीं पा रहा है और जो कुछ कर रहा है वह उसके साम्राज्यवादी मंसूबों को दुनिया के सामने और ज़्यादा नंगा कर रहा है। मिसाल के तौर पर, 12 अक्टूबर को अमेरिका सेना ने उत्तरी सीरिया में 50 टन हथियार गिराये जो कि कहने के लिए "नरम विद्रोहियों" (गैर-आईएस असद-विरोधी विद्रोहियों के लिए ईजाद किया गया शब्द) के लिए थे, मगर कुछ ही घण्टों में यह स्पष्ट हो गया कि यह दुम दबाकर भाग रहे आईएस आतंकवादियों को पहुँचायी जा रही मदद है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मध्य-पूर्व में अमेरिकी प्रभुत्व एक गम्भीर चुनौती झेल रहा है और सीरिया युद्ध में उसका 'बैकफुट' पर जाना बदलती परिस्थितियों का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। निश्चित तौर पर, यह कहना अभी जल्दबाज़ी होगा कि अमेरिकी साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के दिन मध्य-पूर्व में अब गिने हुए हैं क्योंकि पूरी दुनिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद की चौधराहट का एक अहम आधार मध्य-पूर्व पर उसका भू-राजनीतिक प्रभुत्व है। यही कारण है कि मित्र शक्तियों के नये विकल्प न खड़े होने की सूरत में अमेरिकी साम्राज्यवाद सऊदी राजतन्त्र और इज़रायली ज़ायनवादियों के ज़रिये ही अपने प्रभुत्व को बनाये रखने का प्रयास करेगा। लेकिन इससे अमेरिकी साम्राज्यवाद की अरब विश्व में मौजूदगी को वैचारिक आधार देना और भी कठिन हो जायेगा और पूरे अरब विश्व में इस अमेरिकी धुरी के लिए तमाम मुश्किलें पैदा होंगी। इराक़ अमेरिकी प्रभाव-क्षेत्र से बाहर जा रहा है (ग़ौरतलब है कि इराक़ी सेना ने 13 अक्टूबर को दावा किया कि उसने आईएस की मदद के लिए जा रही अमेरिकी हथियारों की खेप को ज़ब्त किया है और इस विषय में उसने अमेरिकी विदेश विभाग से स्पष्टीकरण माँगा है), ईरान पहले ही अमेरिकी गुट के बाहर था, सीरिया अमेरिका के ख़िलाफ़ है। लेबनान में हिज़बुल्ला की सशक्त मौजूदगी (यह भी ग़ौरतलब है कि 13 अक्टूबर को हिज़बुल्ला के सैन्य दस्ते आईएस के विरुद्ध लड़ने के लिए अलेप्पो समेत सीरिया के दो शहरों में पहुँचे हैं) लेबनान की किसी भी सरकार के लिए अमेरिका के मुखर समर्थन को असम्भव बना देती है और साथ ही लेबनानी जनता में इज़रायल-विरोधी सशक्त भावना के कारण भी यह असम्भव है। जॉर्डन अगर मुखर अमेरिका-विरोध के खेमे में नहीं जाता है तो यह भी साफ़ है कि इज़रायली ज़ायनवाद के प्रति वहाँ के लोगों में ज़बर्दस्त नफ़रत के कारण वह अमेरिकी-धुरी के किसी मुखर समर्थन के छोर की ओर कतई नहीं जा सकता है।

मौजूदा स्थिति यह है कि अमेरिकी साम्राज्यवाद रूस, बल्कि कहना चाहिए कि रूसी-चीनी साम्राज्यवादी धुरी के मध्य-पूर्व में खुले हस्तक्षेप और ताज़ा फ़िलिस्तीनी बग़ावत के कारण एक मुश्किल हालत में है। इसका यह अर्थ कतई नहीं लगाया जा सकता है कि मध्य-पूर्व में अमेरिकी साम्राज्यवाद और ज़ायनवाद के दिन पूरे हो गये हैं। यह भी ग़ौर करने लायक बात है कि रूस ने इज़रायल के विरुद्ध कोई खुला आक्रामक रुख़ नहीं अपनाया है और इज़रायल ने हाल ही में रूस के साथ आईएस के विषय में सूचना साझा करने की पेशकश भी की थी, हालाँकि इस पर रूस ने ज़्यादा गर्मजोशी नहीं दिखलायी। लेकिन रूस ने साथ ही यह भी कहा है कि वह एक फ़िलिस्तीनी राज्य के प्रति प्रतिबद्ध है। कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि मौजूदा सीरियाई युद्ध के ख़त्म होने के बाद मध्य-पूर्व में कोई नया साम्राज्यवादी समीकरण उभर सकता है जिसमें कि रूस-चीन धुरी अपने प्रभाव-क्षेत्र और हिस्सेदारी को विस्तारित करे। यूरोपीय संघ अभी इस स्थिति में नहीं है कि वह खुले तौर पर

कोई ऐसी आक्रामक अवस्थिति अपनाये जो कि रूस-चीन धुरी के विरुद्ध हो। ऐसे में, अमेरिकी साम्राज्यवादी प्रभुत्व का मध्य-पूर्व में कमज़ोर होना तय है।

पिछले कुछ वर्षों में, विशेष तौर पर दूसरे इराक़ युद्ध के बाद से अमेरिकी साम्राज्यवाद मध्य-पूर्व में सतही तौर पर ज़्यादा आक्रामक, हस्तक्षेपकारी और हत्यारा हुआ है लेकिन अगर सतह से नीचे देखें तो यह मध्य-पूर्व में कमज़ोर हुआ है। इसके विकल्प कम होते गये हैं और इज़रायल और सऊदी अरब को छोड़ इसके अन्य मित्र इसका साथ छोड़कर या तो इसके विरोध में खड़े हो चुके हैं या फिर एक प्रतिकूल तटस्थता अपना चुके हैं। दूसरी ओर रूस-चीन धुरी ने अपने आपको मध्य-पूर्व में मज़बूत किया है। अगर मध्य-पूर्व में आने वाले कुछेक वर्षों में अमेरिकी साम्राज्यवाद और कमज़ोर होता है और निर्णायक और एकतरफ़ा प्रभुत्व ख़त्म होता है तो इसके प्रभाव मध्य-पूर्व ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया में महसूस किये जायेंगे। निश्चित तौर पर, जनपक्षधर और प्रगतिशील परिप्रेक्ष्य से हम एक साम्राज्यवादी धुरी की जगह दूसरी साम्राज्यवादी धुरी का प्रभुत्व नहीं चाहेंगे। मगर यह भी स्पष्ट है कि संकट के फलस्वरूप दुनिया में तीख़ी होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ जनता के संघर्षों और क्रान्तिकारी आन्दोलनों को मिलेगा।

मिसाल के तौर पर मध्य-पूर्व में अमेरिकी प्रभुत्व के कमज़ोर होने का एक महत्वपूर्ण उपोत्पाद होगा ज़ायनवादी इज़रायल का कमज़ोर होना। ज़ायनवादी इज़रायल के कमज़ोर होने का अर्थ होगा फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष का मज़बूत होना। निकट भविष्य में फ़िलिस्तीन के प्रश्न का कोई समाधान हो जायेगा (जो कि हमारे विचार में केवल एक ही हो सकता है–एक समाजवादी फ़िलिस्तीनी गणराज्य जिसमें कि मुसलमान, ईसाई और यहूदी साथ रह सकें) ऐसा उम्मीद करने की अभी कोई ठोस वजह हमारे पास नहीं है। लेकिन इतना तय है कि साम्राज्यवाद आम तौर पर मध्य-पूर्व में कमज़ोर होगा और यह जनसंघर्षों के लिए मिस्र और लीबिया से लेकर फ़िलिस्तीन और सीरिया तक नयी सम्भावनाएँ पैदा करेगा। हम अभी यह पूर्वानुमान नहीं लगा सकते हैं कि आने वाले समय में पैदा होने वाला राजनीतिक समीकरण ठीक-ठीक किस प्रकार का होगा। लेकिन साम्राज्यवाद जिस स्थिति में है और जिस नाज़ुक सन्तुलन पर टिका हुआ है, उसके मद्देनज़र इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि किसी भी किस्म का बड़ा बदलाव उसके लिए गम्भीर दिक्कतें पैदा करेगा, न सिर्फ़ मध्य-पूर्व में बल्कि पूरी दुनिया में। इन अर्थों में हम कह सकते हैं कि दुनिया एक संक्रमणकाल में प्रवेश करती दिख रही है। चाहे यह संक्रमणकाल जनक्रान्तियों के किसी नये चक्र का तत्काल उद्घाटन न भी करे तो यह दुनिया भर में साम्राज्यवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी संघर्षों के लिए बेहतर सिद्ध होगा। साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के बढ़ने के साथ विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तरविरोध निश्चय ही और ज़्यादा गहराएँगे और नयी प्रगतिशील सम्भावनाओं को जन्म देंगे।

(15 अक्टूबर, 2015)

आपकी बात

दिशा सन्धान के दोनों अंक मैंने पढ़े। अभिनव सिन्हा का धारावाही लेख 'सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव : इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ' बेहद महत्वपूर्ण है। आज विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के सामने जो गम्भीर राजनीतिक सवाल मौजूद हैं, उनके हल के लिए ज़रूरी है कि इतिहास का गहराई और गम्भीरता के साथ और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अध्ययन किया जाये। ख़ास तौर पर समाजवादी निर्माण के महान प्रयोगों के सकारात्मक और नकारात्मक अनुभवों को नये सिरे से जानने-समझने की ज़रूरत है। हमारे यहाँ यह काम प्रायः बहुत सतही ढंग से होता रहा है। आधे-अधूरे ऐतिहासिक तथ्यों को लेकर मनचाहे नतीजे भी निकाले जाते रहे हैं। आपने जिस विस्तार में जाकर चीज़ों को उठाया है और जितने ब्यौरेवार तथ्यों के साथ विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह बहुत ज़रूरी है। बहुत से तथ्यों से भी कम से कम भारत में ज़्यादातर लोग वाकिफ़ नहीं हैं। रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन के भीतर दो कार्यदिशाओं के संघर्ष का विस्तृत ब्यौरा बहुत उपयोगी है। "कानूनी" मार्क्सवादियों और अर्थवाद, अराजकतावाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के साथ चले वैचारिक संघर्ष को जानने की महत्ता आज इसलिए भी बढ़ गयी है क्योंकि ये पिटी हुई प्रवृत्तियाँ आज कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर फिर से सिर उठाने लगी हैं। त्रात्स्कीपंथ से लेनिन के नेतृत्व में चले बोल्शेविकों के संघर्ष का ब्यौरा और उनके बारे में लेखक की 'इनसाइट्स' भी बहुत शिक्षाप्रद हैं। आगामी अंक में चार्ल्स बेतेलहाइम के विचारों की आलोचना के प्रति उत्सुकता बनी हुई है क्योंकि इस विषय पर हिन्दी में तो मेरी जानकारी में नगण्य सामग्री है।

जाति प्रश्न और मार्क्सवाद पर लम्बा आलेख मैं अन्यत्र पढ़ चुका था लेकिन एलेन बेज्यू की पुस्तक की समीक्षा, फासीवाद, नेपाल की राजनीतिक स्थिति और आम आदमी पार्टी की चुनावी जीत पर टिप्पणियाँ भी काफी विचारोत्तेजक लगीं। आशा है,

पत्रिका की वैचारिक गहराई और तीक्ष्णता का स्तर ऐसा ही बना रहेगा।

– शरदेन्दु चौधरी, नई दिल्ली

'दिशा सन्धान' का दूसरा अंक प्रवेशांक द्वारा जगायी उम्मीदों पर खरा उतरा है। सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभवों पर लेख की दूसरी किस्त उस दौर के अहम सवालों और घटनाओं का जैसा प्रखर विश्लेषण तथ्यों के साथ करती है वैसा मैंने पहले कहीं नहीं पढ़ा है। इसमें सोचने के लिए काफी मसाला है और बहुत से मुद्दे बहसतलब भी हैं, इन पर बहस चले तो अच्छा होगा। मुश्किल सवालों पर चुप रहने या कन्नी काटने से काम नहीं चलेगा। दाग़िस्तानी कवि अबू तालिब कह गये हैं कि अगर तुम अतीत पर पिस्तौल से गोली दागोगे तो भविष्य तुम पर तोप से गोले बरसायेगा। लेकिन अगर हम अतीत के सवालों से आँख चुरायेंगे तो भी हमारा हश्र कोई बेहतर नहीं होने वाला! नक्सलबाड़ी पर आलोकरंजन के लेख की दूसरी किस्त नहीं मिल पाना दुर्भाग्यपूर्ण रहा। उस लेख की विशेषता भी मुझे यही लगी कि विस्तृत तथ्यों के साथ ही भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का विश्लेषण भी दिया गया है। आगामी अंक में इसकी अगली कड़ी की प्रतीक्षा रहेगी।

– संजय कुमार, लखनऊ

हम लोग कई वर्षों से आपकी पत्रिका 'दायित्वबोध' के पाठक रहे हैं। नेपाल के कम्युनिस्ट आन्दोलन से जुड़े बहुत से लोगों के लिए यह वैचारिक सामग्री का महत्वपूर्ण स्रोत रही है। साथी अरविन्द जी के निधन के बाद से इसका प्रकाशन बन्द रहा लेकिन 'दिशा सन्धान' के द्वारा आप लोगों ने इस सिलसिले को आगे बढ़ाया है। यह नयी पत्रिका ज़्यादा गम्भीर है और कुछ लोगों के लिए गरिष्ठ भी हो सकती है। मगर मुझे लगता है कि आज हमारे देश में और आपके भी मुल्क में कम्युनिस्ट आन्दोलन की जो हालत हुई है उसके लिए वैचारिक कमज़ोरी सबसे बड़ा कारण है। इसे दूर करने के लिए पढ़ाई-लिखाई, बहस-मुबाहसे और गहराई में उतरकर चिन्तन की संस्कृति फिर से बहाल करनी होगी।

– आपका एक पाठक, नेपाल

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

● अभिनव सिन्हा

(तीसरी किस्त)

अध्याय IV.
परिशिष्ट

चार्ल्स बेतेलहाइम का "मार्क्सवाद" : माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद को तिलांजलि

सोवियत समाजवादी प्रयोगों के अध्येताओं में चार्ल्स बेतेलहाइम का नाम काफ़ी चर्चित है। बेतेलहाइम ने सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर कई पुस्तकें लिखी हैं और साथ ही चे गुएवारा, पॉल स्वीज़ी आदि समेत कई अन्य चिन्तकों के साथ बहसों में भी हिस्सा लिया है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि सोवियत समाजवाद के अध्ययन में चार्ल्स बेतेलहाइम का अहम योगदान है। लेकिन उनका योगदान आम तौर पर कुछ अहम प्रश्नों को उठाने तक ही सीमित रहता है। अलग-अलग दौरों में बेतेलहाइम ने सोवियत संघ के समाजवादी प्रयोग पर जो रचनाएँ लिखी हैं, उन पर अलग-अलग किस्म के विजातीय प्रभाव स्पष्ट तौर पर देखे जा सकते हैं। त्रात्स्कीपन्थ, खुश्चेवी संशोधनवाद, अल्थूसरवादी उत्तर-संरचनावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद,

कीन्सीय "मार्क्सवाद", बुखारिनपन्थ और साथ ही उनके उत्तरवर्ती दौर की रचनाओं पर एक प्रकार के छद्म-माओवाद का प्रभाव देखा जा सकता है। **लेकिन अगर चार्ल्स बेतेलहाइम के पूरे अप्रोच और उनकी पद्धति पर सम्पूर्णता में किसी चीज़ का असर है तो वह है हेगेलीय भाववाद, अधिभूतवाद, यान्त्रिकतावाद और मनोगतवाद का।** दार्शनिक धरातल पर बेतेलहाइम पर भाववाद और अधिभूतवाद के असर के कारण ही उन्हें 1930 के दशक के उत्तरार्द्ध से लेकर 1980 के दशक तक कभी हम त्रात्स्कीपन्थ, खुश्चेवी संशोधनवाद और कीन्सीय "मार्क्सवाद" के छोर पर खड़ा देख सकते हैं तो कभी बुखारिनपन्थ और छद्म-माओवाद के छोर पर।

चार्ल्स बेतेलहाइम के "मार्क्सवाद" के विश्लेषण को हम विशेष तौर पर आवश्यक मानते हैं। इसका **पहला कारण** यह है कि सोवियत समाजवाद पर चार्ल्स बेतेलहाइम का उत्तरवर्ती लेखन माओवादी और चीनी समाजवादी प्रयोगों से प्रभावित माना गया है। कई टिप्पणीकारों और समीक्षकों ने बेतेलहाइम की रचना **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर'** को सोवियत संघ के इतिहास की माओवादी व्याख्या क़रार दिया है, विशेष तौर पर पहले और एक हद तक दूसरे खण्ड को। हमारे विचार में यह एक नुक़सानदेह भ्रम है, जो कई मायनों में माओ के अवदानों और माओवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी तत्वों के लिए ख़तरनाक है। निश्चित तौर पर, माओवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों और विशेष तौर पर समाजवादी संक्रमण की माओवादी समझदारी का अलग से आलोचनात्मक विवेचन किया जा सकता है और किसी भी संजीदा मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी के लिए यह एक ज़रूरी कार्यभार है। लेकिन हमारे विचार में इतना स्पष्ट है कि माओ के सिद्धान्तों के अध्ययन और समझदारी के लिए अगर कोई बेतेलहाइम की पुस्तकों (सोवियत रूस पर भी और साथ ही चीन पर भी) को अपनी बुनियादी सन्दर्भ में रखता है, तो निश्चित तौर पर वह बाद में अपने आपको भयंकर विचारधारात्मक और राजनीतिक गड़बड़झाले में पायेगा। माओ के मौलिक सिद्धान्तों की एक आलोचनात्मक समझदारी के लिए किसी भी गम्भीर मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति या संगठन के लिए माओ और चीनी पार्टी का मौलिक लेखन और साथ ही चीन में समाजवादी प्रयोगों का इतिहास ही सर्वश्रेष्ठ स्रोत है। कारण यह है कि चीनी समाजवादी प्रयोग के विवरण विशेष तौर पर सबसे ज़्यादा विकृतिकरणों, अज्ञानता और मूर्खतापूर्ण सूत्रीकरणों से भरे पड़े हैं, चाहे वह **एलेन बेदियू** जैसे लोगों द्वारा माओवाद और चीनी समाजवादी प्रयोग की उत्तर-मार्क्सवादी व्याख्या हो, या फिर चार्ल्स बेतेलहाइम और उनके शिष्यों, मसलन, **कोस्तास मावराकिस** जैसे लोगों द्वारा माओवाद की हेगेलीय भाववादी और मनोगतवादी व्याख्या हो। यहाँ हम माओ और उनके अवदानों के आलोचनात्मक विवेचन को अपने कार्यभार के तौर पर नहीं लेंगे, लेकिन बेतेलहाइम द्वारा माओ की शिक्षाओं के विकृतिकरणों का खण्डन करते हुए हम प्रसंगवश माओवाद के मूल सिद्धान्तों पर संक्षेप में चर्चा करेंगे। हमारा मूल उद्देश्य यहाँ बेतेलहाइम के "मार्क्सवाद" की आलोचना पेश करना है।

दूसरा कारण जिसके चलते हम बेतेलहाइम के लेखन की आलोचनात्मक पड़ताल ज़रूरी समझते हैं, वह यह है कि बेतेलहाइम द्वारा माओवाद के हेगेलीय विनियोजन का लाभ उठाते हुए कई होज़ापन्थी और कठमुल्लावादी मार्क्सवादी-लेनिनवादी माओवाद को निशाना बनाते हैं। वे बेतेलहाइम के इस दावे को सीधे स्वीकार करते हैं कि सोवियत समाजवादी प्रयोगों की उनकी आलोचना माओवाद और चीनी समाजवादी प्रयोगों की रोशनी में की गयी है और इसके बाद बेतेलहाइम को सामने खड़ा करके वे माओवाद और चीनी समाजवादी प्रयोगों की एक

ग़लत व्याख्या करते हैं और फिर उन्हें निशाना बनाते हैं। हम समझते हैं कि माओवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र और चीनी समाजवादी प्रयोगों की आलोचना की वांछनीयता के बावजूद ये कठमुल्लावादी आलोचनाएँ वास्तव में माओवाद को विकृत करती हैं। वे माओवाद का एक छद्म संस्करण निर्मित करती हैं (जिसमें बेतेलहाइम और मावराकिस जैसे अध्येताओं से उन्हें पर्याप्त मदद मिलती है) और फिर उस छद्म संस्करण के बहाने माओ और चीनी समाजवादी प्रयोगों पर बाण-वर्षा करती हैं। इससे न तो समाजवादी संक्रमण की मार्क्सवादी समझदारी को उन्नत करने में कोई सहायता मिलती है और न ही चीनी और साथ ही सोवियत समाजवादी प्रयोगों के बारे में कोई सन्तुलित नज़रिया निर्मित हो पाता है। बेतेलहाइम के हेगेलीय भाववाद और अधिभूतवाद की आलोचना कठमुल्लावादी और यान्त्रिक मार्क्सवाद के ज़रिये नहीं की जा सकती है। इसलिए भी बेतेलहाइम की एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी आलोचना को हम वांछनीय मानते हैं।

तीसरा कारण जिसके चलते हमें बेतेलहाइम के रचना-कर्म की आलोचना की ज़रूरत महसूस करते हैं वह यह है कि बेतेलहाइम अपनी तमाम रचनाओं में न सिर्फ़ माओवाद के विशिष्ट योगदानों को विकृत करने का काम करते हैं बल्कि वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों पर भी हमला बोलते हैं, हालाँकि इन तमाम हमलों को वे अपनी रचनाओं में माओ द्वारा करवाते हैं। मिसाल के तौर पर, मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों को विकसित करने और समाजवादी संक्रमण के वस्तुगत नियमों की खोज करने के नाम पर बेतेलहाइम मार्क्सवादी दर्शन और अर्थशास्त्र की बुनियाद पर हमला करते हैं। **इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या का बेतेलहाइम भाववादी विनियोजन करते हैं और मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों की बेतेलहाइम संशोधनवादी व्याख्या करते हैं।** और हमेशा की तरह इन ग़लत व्याख्याओं के लिए बेतेलहाइम माओ और चीनी पार्टी से वैधता लेने का प्रयास करते हैं।

बेतेलहाइम की रचनाओं का आज भी विशेष तौर पर दुनिया भर के माओवादी आन्दोलन पर विशेष प्रभाव है। ऐसा नहीं है कि बेतेलहाइम की आलोचनाएँ नहीं की गयी हैं। मार्क्सवादी-लेनिनवाद-माओवादी संगठनों और बुद्धिजीवियों ने और साथ ही तमाम मार्क्सवादी अकादमिकों ने बेतेलहाइम की आलोचनाएँ पेश की हैं। इन आलोचनाओं में कई सही नुक़्तों को भी पकड़ा गया है। लेकिन कुल मिलाकर ये आलोचनाएँ या तो बेतेलहाइम की एकतरफ़ा कठमुल्लावादी, होज़ापन्थी निन्दा पर ख़त्म होती हैं और तमाम प्रश्न अनुत्तरित छोड़ देती हैं, या फिर ये आलोचनाएँ इस नतीजे पर पहुँचती हैं कि बेतेलहाइम का दृष्टिकोण अपने ऐतिहासिक विवरणों और कई अलग-अलग मुद्दों पर ग़लत है और त्रात्स्कीपन्थ और बुखारिनपन्थ का असर लिए हुए हैं, लेकिन अप्रोच और पद्धति के मामले में कुल मिलाकर बेतेलहाइम को माओवादी माना जाना चाहिए और कुल मिलाकर यह माना जाना चाहिए कि सोवियत समाजवाद के अध्ययन में बेतेलहाइम का योगदान उनकी ग़लतियों से ज़्यादा महत्वपूर्ण है। हमारा मानना है कि बेतेलहाइम ने निश्चित तौर पर बेहद महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्न उठाये हैं और समाजवादी संक्रमण पर गम्भीर चिन्तन को प्रेरित किया है, लेकिन **सोवियत संघ के स्वयं उनके इतिहास-लेखन को न तो मौलिक माना जा सकता है और न ही सटीक।** विशेष तौर पर, उनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' को अधिकतम सम्भव उदारता के साथ एक **बुरा इतिहास-लेखन** कहा जा सकता है। इसके कई कारण हैं। बेतेलहाइम अपने इतिहास-लेखन के लिए जो स्रोत चुनते हैं और जिन स्रोतों के तथ्यों को वे

अनालोचनात्मक तरीके से अपनाते हैं वे आम तौर पर बुर्जुआ अकादमिक, स्तालिन-विरोधी और त्रात्स्कीपन्थी और कई बार मार्क्सवाद-विरोधी स्रोत हैं और सोवियत इतिहास का न सिर्फ़ विकृतिकरण करते हैं बल्कि उसमें कई ऐसी घटनाएँ या तथ्य जोड़ देते हैं, जो वास्तव में हुए ही नहीं थे और केवल उनके दिमाग़ों के आविष्कार हैं। दूसरा कारण यह है कि इन स्रोतों से भी बेतेलहाइम तथ्यों का बेहद मनमाने ढंग से चयन करते हैं, सन्दर्भों से काटकर उन्हें पेश करते हैं और अक्सर उनकी एकदम ग़लत व्याख्या करते हैं। तीसरा कारण यह है कि बेतेलहाइम अपने अध्ययन के नतीजों को कई जगहों पर पहले से तय किये हुए हैं और इसी वजह से तथ्यों और उद्धरणों का उनका चुनाव बेहद मनोगतवादी है और अपनी पूर्वनिर्मित व्याख्या को पुष्ट करने के लिए किया गया है। चौथा कारण यह है कि बेतेलहाइम कई जगहों पर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन, माओ और यहाँ तक कि त्रात्स्की, बुखारिन और ज़िनोवियेव आदि तक के उद्धरणों की ग़लत और मनमानी व्याख्या करते हैं। इस प्रक्रिया में बेतेलहाइम भले ही कई सही प्रश्न उठायें और स्तालिन के दौर की कई ग़लतियों की ओर इंगित करें, लेकिन उनके जवाब न सिर्फ़ ग़लत होते हैं बल्कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों और समाजवादी प्रयोगों के इतिहास का विकृतिकरण करते हैं। आगे हम इन बातों को तथ्यों व उद्धरणों के साथ पुष्ट करेंगे।

चार्ल्स बेतेलहाइम के रचना-कर्म का हम कोई कालानुक्रमीय ब्यौरा नहीं पेश करेंगे। हम बेतेलहाइम की सबसे बाद की रचनाओं में से एक और सबसे अहम मानी जाने वाली रचना 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड से शुरुआत करेंगे और बीच-बीच में सन्दर्भ आने पर उनकी पुरानी रचनाओं में पेश किये गये कुछ सूत्रीकरणों व सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त विवेचन पेश करेंगे और प्रदर्शित करेंगे कि "अति-माओवाद" के चोंगे में छिपे बेतेलहाइम के ग़ैर-मार्क्सवादी विचारों के स्रोतों को एक हद तक उनकी पुरानी रचनाओं में देखा जा सकता है। इसलिए हम यहाँ पर ज़्यादातर जगहों पर उनकी उपरोक्त रचना के आलोचनात्मक विवेचन को ही पेश करेंगे। पहले हम 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड की आलोचना पेश करेंगे क्योंकि कई मायनों में यह खण्ड, (जिसमें कहने को बेतेलहाइम का "माओवाद" सबसे प्रखर तौर पर प्रकट होता है!) सोवियत समाजवाद और स्तालिन पर बेतेलहाइम के मार्क्सवाद-विरोधी हमलों की ज़मीन तैयार करता है। आगे के अध्यायों के परिशिष्ट में हम बेतेलहाइम की इस रचना के बाद के दोनों खण्डों की आलोचना भी पेश करेंगे। पहले खण्ड की एक विस्तृत आलोचना की आवश्यकता इसलिए भी है क्योंकि इसके प्रतीतिगत "माओवाद" ने कई ईमानदार मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों को भी प्रभावित किया है और साथ ही कठमुल्लावादी मार्क्सवादियों को माओ और माओवाद की असन्तुलित और अक्सर ग़लत आलोचना करने का अवसर दिया है। सबसे पहले हम बेतेलहाइम की पहुँच और पद्धति से जुड़े हुए कुछ प्रश्नों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

चार्ल्स बेतेलहाइम का "मार्क्सवाद": पहुँच और पद्धति से जुड़े बुनियादी प्रश्न

'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड की 'प्राक्कथन' और 'प्रस्तावना' में चार्ल्स बेतेलहाइम पहुँच और पद्धति के बारे में अपने विचारों को स्पष्ट करते हैं। इसमें बतायी गयी पहुँच और पद्धति स्वयं भयंकर विचलनों का शिकार है, मगर यह टुकड़ों-टुकड़ों में कुछ

अहम प्रश्न भी उठाती है और कुछ स्थानों पर कुछ सही नुक्तों को पकड़ती है। लेकिन रचना के बाकी हिस्से में वह इस पहुँच और पद्धति पर भी पूरी तरह अमल नहीं करते और मार्क्सवाद-लेनिनवाद से और भी ज़्यादा दूर जाकर खड़े हो जाते हैं। वह समाजवादी संक्रमण के मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अपनी समझदारी को अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन और सोवियत संघ में बोल्शेविक पार्टी में (विशेष तौर पर लेनिन की मृत्यु के बाद) हावी ग़लत अवधारणाओं का खण्डन करते हुए स्पष्ट करते हैं। बेतेलहाइम सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों में अपनी रुचि और अध्ययन की शुरुआत का इतिहास बताने के साथ शुरुआत करते हैं।

चार्ल्स बेतेलहाइम कहते हैं कि 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध और उसके बाद के दौर में सोवियत संघ के सामाजिक-साम्राज्यवादी विस्तारवाद ने उन्हें यह सोचने के लिए मजबूर किया कि सोवियत संघ का चरित्र अब क्या हो चुका है। लेकिन सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण के बारे में उनके अध्ययन की शुरुआत 1930 के दशक में हुई थी। 1936 में बेतेलहाइम पहली बार सोवियत संघ के दौरे पर गये और 1946 में सोवियत आर्थिक नियोजन पर उनकी पहली पुस्तक ('ला प्लानिफिकेशन सोवियेतीक') आयी। इसके बाद, 1950 में सोवियत अर्थव्यवस्था पर ही उनकी दूसरी पुस्तक ('दि सोवियत इकोनॉमी') का भी प्रकाशन हुआ। 1950 के बाद चार्ल्स बेतेलहाइम ने समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर दो अहम पुस्तकें लिखीं जिनमें कि, उनके ही अनुसार, क्यूबा की क्रान्ति के बाद समाजवादी निर्माण पर चे गुएवारा के साथ चली उनकी बहस, माओ के विचारों और **लुई अल्थूसर** के विचारों के प्रभाव को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। यहीं से बेतेलहाइम के अनुसार मार्क्सवाद की "अर्थवादी" व्याख्या के साथ उनका विच्छेद शुरू हुआ। बेतेलहाइम बताते हैं कि चूँकि वह 1936 के प्रसिद्ध मुकदमों के दौरान मॉस्को में थे, इसलिए उनके दिमाग़ में कुछ प्रश्न आये थे लेकिन फिर भी वह ***"अभी भी"*** मानते थे कि अक्टूबर क्रान्ति ने मानवता के इतिहास में एक नये दौर की शुरुआत की है। उनके अनुसार, सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों का ही वह अध्ययन कर रहे थे। एक ओर हिटलर पर विजय, लोगों के जीवन स्तर में सुधार, आदि था तो दूसरी ओर बढ़ते वेतन-अन्तर, दमन आदि था। लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार उनकी समझदारी "अर्थवाद" के प्रभाव के कारण स्पष्ट नहीं थी।

1956 की बीसवीं कांग्रेस के बारे में बेतेलहाइम लिखते हैं कि शुरुआत में उन्होंने इसे एक सकारात्मक परिवर्तन के तौर पर देखा जो उनके लिए इस बात का सबूत थी कि बोल्शेविक पार्टी में अभी भी आत्मालोचना करने की क्षमता बरक़रार है, और बेतेलहाइम इस बात का ज़िक्र करते हैं कि खुद चीनी पार्टी और माओ ने शुरुआत में (अप्रैल और दिसम्बर 1956 के दो लेखों में) बीसवीं कांग्रेस का स्वागत किया था और कहा था कि स्तालिन सर्वहारा अधिनायकत्व और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को दूसरे छोर पर और आवश्यकता से आगे लेते गये थे। बाद में चीनी पार्टी और माओ ने अपनी अवस्थिति में परिवर्तन किया और ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष की शुरुआत की। बेतेलहाइम बताते हैं कि बाद में उन्हें भी यह समझ में आया कि बीसवीं कांग्रेस ने सोवियत संघ में हुई तमाम गड़बड़ियों के लिए स्तालिन के "कल्ट" के सिद्धान्त का सहारा लिया और सारा दोष स्तालिन पर ही मढ़ दिया। बेतेलहाइम के अनुसार, यह बोल्शेविक पार्टी द्वारा मार्क्सवादी विश्लेषण से प्रस्थान था क्योंकि किसी भी व्यापक सामाजिक-आर्थिक परिघटना के

कारणों की पड़ताल मार्क्सवाद व्यक्तियों में नहीं करता बल्कि ढाँचागत सामाजिक-आर्थिक कारकों (बेतेलहाइम के लिए वर्ग संघर्ष) में करता है। इस ग़लत विश्लेषण के कारण बोल्शेविक पार्टी के भीतर बुर्जुआ कुलीन और नौकरशाह तत्व और मज़बूत हो गये और अन्ततः सोवियत संघ के खुले तौर पर बुर्जुआ देश बनने और "जनवादी किस्म के नहीं" बल्कि एक सामाजिक-फासीवादी बुर्जुआ देश बनने की ओर ले गये। नये संशोधनवादी और सामाजिक-फासीवादी शासन ने देश के भीतर मज़दूरों पर तानाशाहाना नियन्त्रण, दमन, सर्वसत्तावाद को बढ़ावा दिया तो देश के बाहर महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा, सामाजिक साम्राज्यवादी विस्तारवाद आदि को जन्म दिया। बेतेलहाइम के अनुसार इन सारे परिवर्तनों से सोवियत समाज के भीतर के अन्तरविरोध तीखे होते गये, आर्थिक संकट बढ़ता गया जिसने कि सोवियत व्यवस्था के भीतर और तेज़ी से बुर्जुआ रूपान्तरण को बढ़ाया और उसे और अधिक सर्वसत्तावादी, दमनकारी और शोषक चरित्र का बनाया।

बेतेलहाइम "अर्थवाद" की सारी आलोचना पेश करते हुए स्वयं अर्थवाद के शिकार हैं। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि 1956 के बाद सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय देशों में बुर्जुआ आर्थिक सुधारों को सत्तारूढ़ पार्टियों ने इसलिए लागू किया क्योंकि इन देशों में आर्थिक संकट था! **बार-बार नेतृत्वकारी विचारधारा और पार्टी के चरित्र की अहमियत की बात करने वाले बेतेलहाइम यहाँ पूँजीवादी आर्थिक सुधारों के लागू होने के पीछे सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय देशों में सत्तारूढ़ संशोधनवादी पार्टियों के विचारधारात्मक चरित्र को नहीं देखते हैं, बल्कि इन देशों के आर्थिक संकट को देखते हैं।** जबकि सोवियत संघ के इतिहास को देखें तो हम पाते हैं कि वह क्रान्ति के बाद के लगभग एक दशक में सबसे ज़्यादा आर्थिक संकट का शिकार था। अगर आर्थिक संकट ही बुर्जुआ आर्थिक सुधारों का प्रमुख कारण होता तो इस सवाल का जवाब देना होगा कि 1950 के दशक के मध्य से कहीं ज़्यादा गम्भीर आर्थिक संकट के दौर में ये बुर्जुआ आर्थिक सुधार क्यों नहीं हुए? उस समय पार्टी और राज्यसत्ता का चरित्र बुर्जुआ क्यों नहीं हुआ? लेकिन बेतेलहाइम की इस व्याख्या के पीछे उनकी मंशा जल्द ही साफ़ हो जाती है। **आगे हम देखते हैं कि बेतेलहाइम हर स्थान पर राज्यसत्ता और पार्टी के चरित्र के बारे में चर्चा करते हुए किसी पूँजीवादी पुनर्स्थापना का ज़िक्र करने या उसका काल-निर्धारण करने से बच निकलते हैं।** और यह सबकुछ विचारधारा की अहमियत के नाम पर किया जाता है!

अपने 'प्राक्कथन' में बेतेलहाइम आगे लिखते हैं कि मौजूदा रचना (यानी कि 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष') के पहले की उनकी रचनाओं में तमाम कमियाँ थीं, लेकिन इनमें से प्रमुख कमी थी "अर्थवाद" का असर। पहले की रचनाओं जैसे कि 'इकोनॉमिक कैल्कुलस' और 'ट्रांज़िशन टू सोशलिस्ट इकोनॉमी' में, बेतेलहाइम मानते थे कि समाजवादी समाज में से मुद्रा सम्बन्ध और माल सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ समाप्त हो जाएँगे। बाद में, बेतेलहाइम के अनुसार, 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के प्रभाव में उन्होंने इस "अर्थवादी" समझदारी से अपना नाता तोड़ा, जिसने यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन को लम्बे समय से प्रभावित कर रखा था। उनके इस रूपान्तरण की प्रक्रिया में पॉल स्वीज़ी से सोवियत संघ के चरित्र पर चली उनकी बहस ने भी एक अहम भूमिका निभायी। लेकिन इसके बावजूद बेतेलहाइम को सोवियत संघ के पूँजीवादी रूपान्तरण के ऐतिहासिक सन्दर्भ के अध्ययन की ज़रूरत महसूस हुई और इसीलिए उन्होंने इस पुस्तक को लिखने का निर्णय लिया। इसका मक़सद था 1917 से सोवियत समाज में वर्ग संघर्ष का अध्ययन करना और यह दिखलाना कि

किस प्रकार यह वर्ग संघर्ष पूँजीवादी रूपान्तरण की ओर ले गया।

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, पहले 'प्राक्कथन' के इस शुरुआती हिस्से में प्रकट विचारों की एक आलोचनात्मक समीक्षा कर लें।

बेतेलहाइम आगे जो करने वाले हैं, उसके संकेत वह काफ़ी पहले से देते हैं। 'प्राक्कथन' के इस पहले हिस्से में कई बातें विशेष तौर पर ग़ौर करने वाली हैं। **पहली बात तो यह है कि चार्ल्स बेतेलहाइम ने सोवियत समाजवाद के बारे में अपनी समझदारी के विकास के इतिहास का एक सही ब्यौरा नहीं दिया है।** मिसाल के तौर पर, शुरुआती दौर में बेतेलहाइम का पूरा नज़रिया क्या था और अलग-अलग दौरों में उनमें क्या परिवर्तन आये, इसे बेतेलहाइम ने सिर्फ़ एक ही कसौटी पर परखा है: वह पहले कितने "अर्थवादी" थे और बाद में वह कैसे कदम-दर-कदम "अर्थवाद" से मुक्त होते गये! **लेकिन बेतेलहाइम की विचारधारात्मक यात्रा इस प्रकार की थी ही नहीं, जैसा कि वह दावा कर रहे हैं।** हम यह नहीं कह सकते कि चार्ल्स बेतेलहाइम के अतीत के पुरातत्वान्वेषण से ही उनकी मौजूदा रचना के बारे में कोई फैसला दिया जा सकता है, क्योंकि कई होज़ापंथियों की आलोचना में और यहाँ तक कि *'रिवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी, यूएसए'* द्वारा पेश आलोचना में भी, बेतेलहाइम के त्रात्स्कीपन्थी अतीत पर काफ़ी बल दिया गया है। हमारा मानना है कि इस अतीत के आधार पर ही बेतेलहाइम की इस पुस्तक का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। सवाल यहाँ यह है ही नहीं कि बेतेलहाइम कभी त्रात्स्की के प्रभाव में थे या नहीं। ऐसा हो सकता है कि बेतेलहाइम उस प्रभाव को छोड़कर एक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी अवस्थिति पर आ गये हों! **मुद्दे की बात यहाँ यह है कि बेतेलहाइम खुद ही अपने अतीत की पुरातात्विक छानबीन आपके सामने रखते हैं और वह अपूर्ण और भ्रामक है। वे अगर अपने अतीत का ब्यौरा न रखते तो ज़्यादा बेहतर होता क्योंकि पाठक उनसे ऐसी माँग नहीं कर रहे थे! ऐसा करके उन्होंने अपने आपको विरोधाभासों के गड़बड़झाले में डाल दिया।** इस पर थोड़ा ग़ौर करने की आवश्यकता है।

बेतेलहाइम सोवियत संघ के बारे में अपने अध्ययन और नतीजों के अलग-अलग दौरों में त्रात्स्की, पॉल स्वीज़ी व पॉल बरान के कीन्सीय मार्क्सवाद, आदि से प्रभावित होने की बात को पूरी तरह गोल कर गये हैं! हमें उस अतीत पर एक निगाह डालने की ज़रूरत है, इसलिए नहीं कि इस अतीत के आधार पर ही उनकी मौजूदा रचना को ख़ारिज कर दिया जाय, बल्कि इसलिए कि यह जाँच की जा सके कि 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' में उनके ग़लत सूत्रीकरणों पर उनके विचारधारात्मक अतीत का असर मौजूद है या नहीं, या अगर है तो कितना है।

1939 में चार्ल्स बेतेलहाइम ने सोवियत आर्थिक नियोजन पर जो पुस्तक लिखी (*'ऑन सोवियत प्लानिंग'*) उसमें उनके विचारों पर त्रात्स्कीपन्थ का प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। इसमें बेतेलहाइम ने यह दावा किया है कि 1939 तक सोवियत राज्यसत्ता के बारे में यह बात कही जा सकती थी कि उस पर विशेषाधिकार प्राप्त नौकरशाहों-तकनोशाहों का कब्ज़ा था और वही उसे चला रहे थे। यह पूरा संस्तर एक नौकरशाहाना 'जाति' (bureaucratic caste) का निर्माण करता था। इसके साथ, त्रात्स्की को 1929 तक सोवियत पार्टी में "वामपन्थी" विरोध-पक्ष का नेता क़रार दिया गया है। इस पुस्तक के बाद के दौर में 1945-46 में बेतेलहाइम **डेविड रूसे** द्वारा शुरू किये गये जर्नल *'रेव्यू इण्टरनेशनाले'* से जुड़े। इसके सम्पादक मण्डल में **पॉल स्वीज़ी** व **पॉल बरान** भी थे। रूसे स्वयं एक त्रात्स्कीपन्थी थे

जिनका नारा था कि मार्क्सवादियों को "स्तालिनवाद के शव" को पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाना चाहिए! कहने के लिए इस पत्रिका के प्रमुख नारों में कठमुल्लावाद का विरोध करने और "आलोचना की स्वतन्त्रता" की भी बात की गयी थी। इस पत्रिका के चरित्र को कुल मिलाकर और व्यापक अर्थों में त्रात्स्कीपन्थ के दायरे में माना जा सकता है। इस पत्रिका में त्रात्स्कीपन्थी, कीन्सीय मार्क्सवादियों से लेकर बुर्जुआ अकादमिक तक लिखते थे और आम तौर पर इसकी विषय-वस्तु सोवियत संघ में हो रहे परिवर्तन होते थे। इस पत्रिका में लिखे लेखों में भी बेतेलहाइम ने 1930 के दशक के सोवियत राज्यसत्ता को एक विशेषाधिकार-प्राप्त नौकरशाह वर्ग के अधीन बताया था। लेकिन साथ ही बेतेलहाइम ने कुछ लेखों में इस समस्या पर भी विचार किया था कि पूँजीवादी समाज से समाजवादी समाज को मानसिक और शारीरिक श्रम का जो बँटवारा विरासत के तौर पर मिलता है, वह उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ किस प्रकार समाप्त हो सकता है। इस थीसिस पर भी त्रात्स्की के प्रभाव को देखा जा सकता है, जिनका मानना था कि सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण की असम्भाव्यता इस बात पर निर्भर करती है कि उत्पादक शक्तियों का विकास अपर्याप्त है, जिसके कारण अन्ततः राज्यसत्ता में नौकरशाहाना तत्वों का पैदा होना अनिवार्य है। त्रात्स्की के अनुसार जब उत्पादक शक्तियों का विकास कम होता है तो अभाव की स्थिति होती है; जब अभाव की स्थिति होती है तो वितरण के लिए पंक्तियों की व्यवस्था करनी पड़ती है और जब पंक्तियों की व्यवस्था होती है, तो उसे व्यवस्थित रखने के लिए एक पुलिसवाले की आवश्यकता वस्तुगत यथार्थ या बाध्यता बन जाती है। इस रूपक के ज़रिये त्रात्स्की नौकरशाही को उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर का उपोत्पाद बताते हैं।

इसी दौर में, चार्ल्स बेतेलहाइम ने अपने बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों को भी उजागर किया। बेतेलहाइम का मानना था कि चूँकि समाजवादी समाज में असमानताएँ होती हैं, माल उत्पादन और मुद्रा सम्बन्ध विद्यमान रहते हैं, इसलिए सर्वहारा वर्ग के भीतर भी विभिन्न संस्तर मौजूद होते हैं। ये संस्तर अपने अन्तरविरोधों को एक ही प्रकार से हल कर सकते हैं: "जनवाद"। कहने की ज़रूरत नहीं है कि बेतेलहाइम यहाँ पर औपचारिक जनवादी संस्थाओं की बात कर रहे थे और बुर्जुआ जनवाद के प्रति अपने *'फेटिश'* को अनावृत्त कर रहे थे। इस विचार का प्रभाव बेतेलहाइम में बाद के दौर तक शक्तिशाली रूपों में मौजूद रहा, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

'रेव्यू इण्टरनेशनाले' के बन्द होने के बाद चार्ल्स बेतेलहाइम पर कुछ समय के लिए पॉल स्वीज़ी और पॉल बरान के **कीन्सीय मार्क्सवाद** का भी गहरा असर रहा। स्वीज़ी व बरान के कीन्सीय मार्क्सवाद का ज़ोर उत्पादन सम्बन्धों की बजाय विनिमय सम्बन्धों पर रहा है। इस मामले में *'मन्थली रिव्यू'* स्कूल के मार्क्सवाद की समझदारी निरन्तरतापूर्ण रही है। चाहे **मॉरिस डॉब** के साथ सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण पर चली प्रसिद्ध बहस हो (जिसमें स्वीज़ी का तर्क यह था कि इस संक्रमण में बाज़ार सम्बन्धों, वाणिज्य व व्यापार की भूमिका प्रमुख थी न कि समाज के आन्तरिक अन्तरविरोधों की। यानी कि उत्पादन सम्बन्धों व उत्पादक शक्तियों के बीच के अन्तरविरोध की, जो कि अपने आपको वर्ग संघर्ष में अभिव्यक्त कर रहा था, भूमिका गौण थी और यूरोप में 13वीं-14वीं सदी के बाद व्यापार, मुद्रा अर्थव्यवस्था और शहरी केन्द्रों के विकास की भूमिका इस संक्रमण में प्रधान थी) या फिर स्वयं बेतेलहाइम के साथ स्वीज़ी की समाजवादी संक्रमण पर चली बहस हो, जिसमें स्वीज़ी का मानना था कि समाजवादी संक्रमण में बुनियादी प्रश्न यह है कि बाज़ार की प्रणाली अर्थव्यवस्था का

विनियमन कर रही है या फिर राज्यसत्ता द्वारा नियोजन अर्थव्यवस्था का विनियमन कर रहा है। स्वीज़ी व पूरे 'मन्थली रिव्यू' स्कूल का कीन्सीय मार्क्सवाद (जिस पर त्रात्स्कीपन्थ के स्पष्ट प्रभाव से भी इंकार नहीं किया जा सकता है) इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों को अध्ययन की मुख्य विषय-वस्तु मानने की बजाय विनिमय सम्बन्धों, यानी कि मुद्रा सम्बन्धों व बाज़ार को अध्ययन की मुख्य विषय-वस्तु मानता है। यही थीसिस बरान व स्वीज़ी की विभिन्न रचनाओं में अलग-अलग तरीके से प्रकट हुई है। पॉल बरान की प्रसिद्ध पुस्तक **'पोलिटिकल इकोनॉमी ऑफ ग्रोथ'** की बेतेलहाइम ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और इसकी कुछ अवधारणाओं को अपनाया भी था। इस पुस्तक की थीसिस यह थी कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अतार्किक और अनैतिहासिक होने का मूल कारण यह है कि उत्पादित अधिशेष का उपभोग तार्किक नहीं है। यानी कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की आलोचना का मूल कारण अधिशेष के उत्पादन में नहीं है, बल्कि उस अधिशेष के अतार्किक उपभोग अथवा वितरण में है। पूँजीवादी संकट का मूल कारण पूँजीवादी समाज में उत्पादन सम्बन्धों में नहीं बल्कि विनिमय सम्बन्धों में देखा गया है। यह पूरा तर्क एक नये किस्म का **कीन्सीय व हॉब्सनियन अल्प-उपभोगवाद** है, जिसे मार्क्सवाद के साथ मिश्रित करने का प्रयास किया गया है।

हम यहाँ स्वीज़ी-बरान थीसिस की आलोचना के विस्तार में नहीं जा सकते हैं। लेकिन इस संक्षिप्त विवरण के साथ यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि बेतेलहाइम पर इस पूरी थीसिस का काफ़ी प्रभाव पड़ा। यह थीसिस अन्ततः **'नियोजन बनाम बाज़ार'** के अन्तरविरोध के अध्ययन पर ले जाती है, न कि उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध व वर्ग अन्तरविरोध के अध्ययन पर। यह इस बात को समझने में नाकाम रहती है कि नियोजन और बाज़ार दोनों ही समाजवादी या पूँजीवादी किस्म के हो सकते हैं और 'बाज़ार' अपने आपमें पूँजीवाद का और 'नियोजन' अपने आप में समाजवाद का लक्षण नहीं है। बहरहाल, इस दौर में बेतेलहाइम समाजवादी नियोजन के सिद्धान्त के मुरीद बन गये थे और नियोजन को वह पूँजीवादी बाज़ार की अराजकता का सही जवाब मानते थे। समाजवाद की मूल अन्तर्वस्तु इस पूरे दृष्टिकोण के अनुसार नियोजन बन जाती है और समाजवाद अपने आपमें सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और उसके तहत चलने वाले वर्ग संघर्ष, उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण और क्रमिक प्रक्रिया में उत्पादन व श्रम प्रक्रिया में बुर्जुआ अधिकारों के विलोपन का नाम नहीं रह जाता, बल्कि महज़ एक बेहतर आर्थिक व्यवस्था और प्रबन्धन का पर्याय बन जाता है। **समाजवाद बस पूँजीवाद से अधिक तार्किक और वैज्ञानिक आर्थिक व्यवस्था बनकर रह जाता है, जिसका आधार नियोजन है न कि बाज़ार।** इस पूरे दृष्टिकोण से वर्ग विश्लेषण, उत्पादन सम्बन्धों का अध्ययन और ऐतिहासिक दृष्टि ग़ायब है, और इसमें जुमले को छोड़ दें, तो कुछ भी मार्क्सवादी नहीं है। लेकिन बेतेलहाइम अपने इस दौर के बारे में चुप हैं। **या तो अपनी 'प्रस्तावना' में उन्हें अपने इतिहास का मसला उठाना ही नहीं चाहिए था, या फिर उसका पूरा और ईमानदार विवरण देना चाहिए था।**

1960 के दशक के पूर्वार्द्ध में बेतेलहाइम ने समाजवादी समाज के बारे में एक नयी थीसिस दी जिसे **'संक्रमणशील समाज'** की थीसिस कहा जा सकता है। इस पर विशेष रूप से ग़ौर करने की ज़रूरत है क्योंकि बेतेलहाइम पर अन्त तक इस थीसिस का एक गहरा असर स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। **बेतेलहाइम ने समाजवाद की पहचान के पैमाने को अपनी इस थीसिस में धूमिल कर दिया है।** समाजवादी समाज को एक 'संक्रमणशील समाज' बताया गया है, जो कि 'समाजवाद' की ओर संक्रमणशील है। सर्वहारा वर्ग के

अधिनायकत्व के अन्तर्गत इस संक्रमणशील समाज को बेतेलहाइम समाजवाद की संज्ञा नहीं देते। यानी कि सर्वहारा अधिनायकत्व को समाजवादी समाज का बुनियादी पैमाना नहीं माना गया है; यह भी नहीं माना गया है कि समाजवादी समाज में सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत साम्यवाद की ओर संक्रमण होता है। **इस 'संक्रमणशील समाज' को न तो समाजवादी बताया गया है और न ही पूँजीवादी।** इस पूरी सोच में समाजवादी समाज की ही एक ग़लत समझदारी निहित है, जो कि समाजवादी सामाजिक संरचना को एक स्थायी सामाजिक संरचना के तौर पर देखती है, न कि कम्युनिस्ट समाज की ओर संक्रमणशील समाज के तौर पर। 'समाजवाद की ओर संक्रमण' की बात की गयी है। इसमें यह अन्तर्निहित है कि समाजवादी निर्माण के पूर्णता तक पहुँचने की कोई मंज़िल होगी! बहरहाल, बेतेलहाइम के मुताबिक उनके इस 'संक्रमणशील समाज' की पहचान उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच मौजूद 'असंगतता' (non-correspondence) है और यह अपने आपको विनियोजन के स्वरूप और सम्पत्ति के स्वरूप के बीच अन्तरविरोध के रूप में अभिव्यक्त करती है। यानी कि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध तो स्थापित हो जाते हैं लेकिन विनियोजन में अभी भी असमानताएँ बनी रहती हैं क्योंकि मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच अन्तर मौजूद रहता है, जिससे कि बुर्जुआ अधिकार पैदा होते हैं। और इसीलिए इसे 'संक्रमणशील समाज' कहा जाना चाहिए, यानी कि तब तक जब तक कि यह 'असंगतता' बनी रहती है। यह एकदम बेतुकी बात है और थोड़ा करीबी से इसकी पड़ताल करने से इसका बेतुकापन ज़ाहिर हो जाता है।

पहली बात तो यह है कि ऐसे किसी समाजवादी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें यह 'असंगतता' पूरी तरह समाप्त हो जाये। सही मायनों में ऐसे किसी कम्युनिस्ट समाज की भी कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें यह 'असंगतता' पूरी तरह समाप्त हो जायेगी; बस कम्युनिस्ट समाज में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच मौजूद 'असंगतता' या अन्तरविरोध अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध के रूप में अभिव्यक्त नहीं करेगा। यह कहना भाववाद होगा कि कम्युनिस्ट समाज में यह 'असंगतता' पूरी तरह समाप्त हो जायेगी। अगर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को प्रमुख पैमाना न माना जाये तो समाजवादी सामाजिक संरचना की पहचान करना ही असम्भव हो जायेगा। इस विषय पर विस्तृत चर्चा के लिए तीसरे अध्याय में 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास की आलोचना को देखें। (**'दिशा सन्धान'**, अंक-1, अप्रैल-जून 2013, पृ. 20-113) दूसरी बात यह है कि बेतेलहाइम की यह थीसिस आगे उन्हें संशोधनवादी नतीजों तक ले जाती है जिसमें कि इस आधार पर बेतेलहाइम समाजवादी समाज में माल सम्बन्धों, मुद्रा और बुर्जुआ अधिकारों और साथ ही बाज़ार द्वारा अर्थव्यवस्था के विनियमन को *बचाये रखने* के उसी संशोधनवादी तर्क पर पहुँच जाते हैं जो 1956 से ख्रुश्चेवी संशोधनवादी दे रहे थे, कि 'संक्रमणशील समाज' की पूरी अवधि में माल उत्पादन, मुद्रा सम्बन्ध और बाज़ार बने रहते हैं और उत्पादक शक्तियों का विकास जारी रहता है।

'संक्रमणशील समाज' की अपनी थीसिस के आधार पर बेतेलहाइम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि 'समाजवाद की ओर संक्रमणशील समाज' में उत्पादक शक्तियों के विकास के सीमित होने के कारण माल उत्पादन, मुद्रा सम्बन्ध और बाज़ार बने रहेंगे; मूल्य के श्रम सिद्धान्त के विनियमन की भूमिका बनी रहेगी और इसीलिए तब तक उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के कार्यभार को निलम्बित किया जा सकता है, जब तक कि उत्पादक शक्तियों के विकास उपयुक्त स्तर तक न पहुँच जाये। **इस तरह से ख्रुश्चेवी संशोधनवाद**

द्वारा किये जाने वाले "सुधारों" को एक प्रकार से बेतेलहाइम ने उससे भी ज़्यादा मज़बूत सैद्धान्तिक आधार दिया जितना कि कोई भी सोवियत संशोधनवादी अर्थशास्त्री दे सकता था। 'ट्रांज़िशन टू सोशलिस्ट इकोनॉमी' में बेतेलहाइम अपनी इस थीसिस को विस्तार देते हैं। 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' में प्रस्तुत विचारों की समीक्षा करते हुए हम बीच-बीच में सन्दर्भ के अनुसार बेतेलहाइम की इस थीसिस और उसके बाद तक मौजूद प्रभाव पर बात रखेंगे, ताकि बेतेलहाइम के पूरे चिन्तन में निरन्तरता और विच्छेद दोनों के तत्वों की पहचान कर सकें। बहरहाल, बेतेलहाइम ने 'संक्रमणशील समाज' के सिद्धान्त और औपचारिक बुर्जुआ जनवाद के प्रति अपने अनुराग के चलते 20वीं कांग्रेस और बाद में ख्रुश्चेव व लीबरमान द्वारा किये गये पूँजीवादी "सुधारों" की हिमायत की, हालाँकि बाद में 'महान बहस' और चीनी पार्टी की अवस्थिति के प्रभाव में उन्होंने अपने इस समर्थन को वापस लिया और सोवियत संघ के पूँजीवादी रूपान्तरण की बात करने लगे। **लेकिन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि चीनी पार्टी और माओ के विश्लेषण से बिल्कुल अलग, बेतेलहाइम किसी पूँजीवादी पुनर्स्थापना की बात नहीं करते। यानी कि 1953 या 1956 बेतेलहाइम के लिए किसी गुणात्मक परिवर्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। अपनी किसी भी रचना में ख्रुश्चेव के सत्ता में आने को बेतेलहाइम ने पूँजीवादी पुनर्स्थापना के रूप में चित्रित नहीं किया है।** इसका कारण भी बेतेलहाइम के 'संक्रमणशील समाज' के सिद्धान्त में मौजूद है जो किसी भी सामाजिक संरचना की पहचान में राज्यसत्ता के चरित्र और किसी भी राज्यसत्ता की पहचान में उस पर काबिज़ पार्टी के चरित्र पर पर्याप्त बल नहीं देते। इसलिए अन्त में, यानी कि अपनी आख़िरी प्रमुख रचना में पहले तो इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बीज 1929 में नयी आर्थिक नीति के परित्याग के साथ पड़ गये थे, फिर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता के पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया गृहयुद्ध और 'युद्ध कम्युनिज़्म' के बाद ही शुरू हो गयी थी, और अपनी इस रचना के तीसरे खण्ड में इस नतीजे पर जा पहुँचते हैं कि सोवियत संघ के अन्ततः पूँजीवाद के रास्ते पर आने के पीछे जो 'मूल पाप' है, वह तो स्वयं अक्टूबर क्रान्ति है! इस पर हम बाद में आयेंगे। लेकिन पहले बेतेलहाइम की इस रचना के पहले खण्ड पर चर्चा को जारी रखते हैं।

'महान बहस' और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के बाद माओ के सिद्धान्तों का प्रभाव दुनिया भर के मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारियों और अकादमिकों पर पड़ा। बेतेलहाइम भी ऐसे ही एक अकादमिक थे। लेकिन बेतेलहाइम पर यह प्रभाव बेहद कृत्रिम रूप में पड़ा था और उन्होंने माओवाद की मूल अन्तर्वस्तु को कभी पकड़ा ही नहीं। उनके लिए माओवाद का क्या अर्थ था, यह आगे स्पष्ट किया जायेगा और साथ ही यह भी साफ़ किया जायेगा कि माओवाद के मूल सिद्धान्त वास्तव में बेतेलहाइम के चिन्तन से बिल्कुल अलग खड़े हैं। लेकिन माओवाद का यह प्रतीतिगत प्रभाव एकदम साफ़ तौर पर बेतेलहाइम की रचना **'इकोनॉमिक कैल्कुलेशंस एण्ड फॉर्म्स ऑफ प्रॉपर्टी'** के प्रकाशन के साथ दिखलायी पड़ने लगता है, जिसमें बेतेलहाइम अपनी विकासाधीन "माओवादी" समझदारी का प्रदर्शन करते हैं, जिसके अनुसार समाजवादी संक्रमण के दौरान उत्पादन सम्बन्धों की भूमिका प्रमुख बन जाती है और निम्न उत्पादक शक्तियों के बावजूद समाजवाद का विकास हो सकता है। लेकिन अभी भी बेतेलहाइम उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के प्रश्न को हल नहीं कर पाये थे और तथाकथित "अर्थवादी" समझदारी का असर अभी भी उन पर देखा जा सकता था। बेतेलहाइम अपने पूर्ण "माओवादी" रूप में अपनी रचना 'सोवियत संघ में वर्ग

संघर्ष' के पहले खण्ड में आते हैं जो कि 1974 में प्रकाशित हुई।

समाजवादी संक्रमण की समस्याओं के बारे में अपनी समझदारी के विकास का एक मनोगतवादी ब्यौरा रखने के बाद इस रचना के प्राक्कथन के दूसरे हिस्से में चार्ल्स बेतेलहाइम पहुँच और पद्धति से जुड़े सवालों पर अपना नज़रिया रखते हैं। जैसा कि हमने पहले ही इंगित किया, बेतेलहाइम जिस तरीके से सोवियत संघ के इतिहास में अपनी दिलचस्पी का अतीत बताते हैं, उसमें कहीं भी वह सोवियत संघ में किसी पूँजीवादी प्रतिक्रान्ति या पुनर्स्थापना की बात नहीं करते हैं। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि बेतेलहाइम यह कहते हैं कि 20वीं कांग्रेस ने सोवियत संघ में जो कुछ 1956 तक हुआ उसका कोई मार्क्सवादी विश्लेषण नहीं किया, बल्कि उसे एक व्यक्ति, यानी कि स्तालिन पर मढ़ दिया। **इस प्रस्तुति में यह अन्तर्निहित है कि स्तालिन के दौर में सोवियत संघ में जो कुछ हुआ वह सब गड़बड़ था, बस इसके लिए स्तालिन को व्यक्ति के तौर पर ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है** (हालाँकि बाद में बेतेलहाइम का ही विश्लेषण हर सकारात्मक के लिए लेनिन और लगभग हर नकारात्मक के लिए स्तालिन को ज़िम्मेदार ठहराता है!)। यह वास्तव में दूसरे इण्टरनेशनल के तमाम संशोधनवादियों और सुधारवादियों की कार्यदिशा है, जो यह मानते थे कि 20वीं कांग्रेस का "विश्लेषण" *अपर्याप्त* है! यानी कि वे ख्रुश्चेव जैसे संशोधनवादियों से यह उम्मीद करते थे कि वे स्तालिन के दौर की "विपदा" (catastrophe) का मार्क्सवादी विश्लेषण करेंगे। आप देख सकते हैं कि बेतेलहाइम कितनी चतुराई के साथ बिना स्तालिन पर कोई व्यक्तिगत लांछन लगाये हुए उनकी पूरी विरासत को कचरा-पेटी के हवाले कर रहे हैं। बाद में जहाँ-तहाँ स्तालिन के बारे में कुछ प्रशंसा के शब्द भी कहे गये हैं, लेकिन अगर बेतेलहाइम उन शब्दों को न कहते तो स्तालिन की क्रान्तिकारी विरासत के साथ ज़्यादा न्याय हुआ होता! लेकिन बेतेलहाइम के 'प्राक्कथन' में इस बात को दिव्य रूप से प्रदत्त तथ्य या सहज ज्ञान (intuitive) मान लिया गया है कि स्तालिन का दौर एक "विपदा" था, बस उसके सही विश्लेषण की ज़रूरत है जो कि बीसवीं कांग्रेस नहीं पेश कर सकी! यह पूरा तर्क किस कदर ग़ैर-मार्क्सवादी है इसे देखा जा सकता है। **बेतेलहाइम के लिए सामूहिकीकरण, औद्योगिकीकरण, समाजवादी नियोजन और समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना के पहले कदम, यानी कि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना में कुछ भी सकारात्मक नहीं है! वास्तव में, बाद में बेतेलहाइम (दूसरे खण्ड में) अपने सारे पत्ते खोलते हैं और बताते हैं कि वास्तव में 'नयी आर्थिक नीतियों' (नेप) को छोड़ना स्तालिन काल में हुई सबसे बड़ी भूल थी और 'नेप' को ही समाजवादी समाज (बेतेलहाइम के लिए 'संक्रमणशील समाज') की आम नीति के तौर पर नैसर्गिकीकृत कर दिया जाना चाहिए! बेतेलहाइम नहीं मानते कि 'नेप' रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाना था, जैसा कि लेनिन ने कहा था।** उनका मानना था कि यही समाजवादी संक्रमण की आम नीति है। बेतेलहाइम की यह सोच उन्हें सोवियत संशोधनवादियों और चीनी संशोधनवादियों के करीब लाकर खड़ा कर देती है, बल्कि कहना चाहिए कि सभी संशोधनवादियों के करीब लाकर खड़ा कर देती है, क्योंकि प्रभात पटनायक जैसे संशोधनवादी अर्थशास्त्री भी 'नेप' का हवाला देकर अपने संशोधनवादी बुर्जुआ अर्थशास्त्र को वैध ठहराने का प्रयास करते हैं। **बेतेलहाइम का तर्क है कि चूँकि समाजवादी संक्रमण के दौरान माल उत्पादन, मुद्रा सम्बन्ध और मूल्य के श्रम सिद्धान्त की विनियमनकारी भूमिका बनी रहती है, इसलिए इस दौर में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को स्थापित करने की**

प्रक्रिया में कोई आमूलगामी कदम नहीं उठाना चाहिए, बल्कि एक क्रमिक प्रक्रिया में "जनवाद" के ज़रिये, राज्यसत्ता पर मज़दूर वर्ग के "जनवादी नियन्त्रण" के ज़रिये, और समूची किसान आबादी को समाजवाद पर राज़ी करके समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए! इस विषय पर हम विस्तार से आगे चर्चा करेंगे, लेकिन इतना स्पष्ट है कि बेतेलहाइम समाजवादी संक्रमण की एक सुधारवादी और उद्भववादी (evolutionary) समझदारी के शिकार हैं, जिसके अनुसार समाजवादी राज्य उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण में कभी किसी आक्रमण (offensive) पर नहीं जायेगा, और संक्रमण की पूरी प्रक्रिया क्रमिक, बेहद लम्बी, और एकरेखीय होगी। यह पूरी सोच लेनिन की समझदारी के विपरीत है, जिसके अनुसार समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को कभी समाजवादी आक्रमण (socialist offensive) संगठित करना होगा, तो कभी रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने होंगे। समाजवादी संक्रमण और समाजवादी निर्माण की प्रक्रिया कभी भी एकरेखीय, उद्भववादी, या योगात्मक (aggregative) नहीं हो सकती, बल्कि यह सतत् अन्तरविरोधों से भरी होगी और सतत् निषेध का निषेध करते हुए आगे बढ़ेगी। बेतेलहाइम यहाँ अपने सुधारवाद और संशोधनवाद को पूरी तरह से अनावृत्त कर देते हैं। बहरहाल, इस नुक्ते पर आगे बात रखेंगे, अभी हम बेतेलहाइम द्वारा इस पुस्तक के 'प्राक्कथन' में प्रतिपादित पहुँच और पद्धति पर चर्चा को जारी रखेंगे।

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि उन्होंने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और माओ की शिक्षाओं के आलोक में मार्क्सवाद की "अर्थवादी" समझदारी से निजात पायी। और उनके दावे के मुताबिक उनकी यह पुस्तक क्यूबाई क्रान्ति, अल्थूसर के विचारों के प्रभाव और विशेष तौर पर चीनी समाजवादी प्रयोग की शिक्षाओं के प्रभावों की परिणति है, जिसके बूते उन्होंने मार्क्सवाद की "अर्थवादी" व्याख्या को समझा और उसका खण्डन किया। बेतेलहाइम के अनुसार 1930 के दशक में तृतीय इण्टरनेशनल ही लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्तों से प्रस्थान करने लगा था और उसके भीतर उन तत्वों को बीज-रूप में देखा जा सकता है, जो कि आगे चलकर आधुनिक संशोधनवाद का रूप लेते हैं। पहली बात तो यह है कि यह पूरा दावा ही बेहद ग़ैर-द्वन्द्वात्मक है। यह सच है कि तीसरे इण्टरनेशनल में कुछ ग़ैर-लेनिनवादी और कुछ अर्थों में संशोधनवादी प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं; लेकिन सच का दूसरा पहलू यह भी है कि इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध स्तालिन व अन्य मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों ने तमाम वस्तुगत सीमाओं, युद्ध के दबाव, आन्तरिक संकटों के बावजूद संघर्ष चलाया। यह एक अलग मुद्दा है कि संशोधनवादी और अर्थवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध स्तालिन के विचारधारात्मक संघर्ष की अपनी कमज़ोरियाँ हो सकती हैं और उन पर बहस भी की जा सकती है। लेकिन यह कहना कि तीसरा इण्टरनेशनल एकाश्मी तौर पर अर्थवादी, संशोधनवादी या ग़ैर-लेनिनवादी रुझानों का प्रतिनिधित्व कर रहा था, तथ्यतः ग़लत है और 1930 के दशक के उत्तरार्द्ध से लेकर स्तालिन की मृत्यु तक चली तमाम बहसों का हवाला दिया जा सकता है, जो कि विचारधारात्मक तौर पर बेहद अहम थीं। इन बहसों में स्तालिन की पूरी चिन्तन-प्रक्रिया भी नज़र आती है। स्तालिन धीरे-धीरे समाजवादी संक्रमण की समस्याओं की एक ज़्यादा सन्तुलित समझदारी की ओर अग्रसर थे। **माओ के पास सोवियत समाजवाद के प्रयोगों की सफलताओं और साथ ही असफलताओं की मिसाल मौजूद थी। स्तालिन के पास ऐसी कोई मिसाल नहीं मौजूद थी।** भयंकर बाह्य और आन्तरिक संकटों और दबावों ने स्तालिन को कभी ठहरकर सोचने का लम्बा मौका नहीं दिया। इसके बावजूद, स्तालिन ने समाजवादी समाज के गति के नियमों का

अन्वेषण जारी रखा और मृत्यु से पहले तक ज़्यादातर प्रश्नों पर उनकी समझदारी काफ़ी उन्नत हो चुकी थी। यह स्तालिन की अद्वितीय मेधा ही थी कि उन्होंने एक अभूतपूर्व रूप से कठिन और संकटग्रस्त दौर में (जिस दौर से चीनी पार्टी और माओ *एक हद तक* मुक्त रहे) उन्होंने समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर अपना अध्ययन और अन्वेषण जारी रखा और अधिकांश मुद्दों पर राजनीतिक अर्थशास्त्र में उनकी अवस्थिति एकदम दुरुस्त है। यह सच है कि कुछ मुद्दों पर स्तालिन की अवस्थिति ग़लत या असन्तुलित है। माओ ने स्तालिन के चिन्तन के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों को ही समझते हुए समाजवादी संक्रमण पर मार्क्सवादी चिन्तन को नयी ऊँचाइयों तक पहुँचाया। माओ के राजनीतिक अर्थशास्त्र और समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर चिन्तन में भी कुछ गम्भीर कमियाँ हैं जिन पर हम यहाँ चर्चा नहीं कर सकते हैं और आगे कहीं इस विषय पर हम अलग से और विस्तार से अपने विचार रखेंगे। **लेकिन इतना तय है कि स्तालिन के प्रश्न पर बेतेलहाइम संशोधनवादियों के साथ खड़े हैं, क्योंकि वह स्तालिन पर बीसवीं कांग्रेस द्वारा किये गये हमले पर चुप हैं; वह स्तालिन के पूरे दौर को "विपदा" के तौर चित्रित किये जाने की प्रवृत्ति का कोई उत्तर नहीं देते, बल्कि उसे चुपके से स्वीकार करते हैं। इस मामले में बेतेलहाइम लगभग वहीं खड़े हैं जहाँ पामीरो तोग्लियाती खड़े थे।** इस तरह की तर्क-पटुता बेतेलहाइम कई जगहों पर दिखाते हैं और स्तालिन और उनके अन्तर्गत समाजवादी निर्माण के सकारात्मकों को या तो दिखाते ही नहीं हैं या उन्हें कोई विशेष महत्व नहीं देते हैं।

बहरहाल, बेतेलहाइम के अनुसार तीसरे इण्टरनेशनल द्वारा मार्क्सवाद-लेनिनवाद से प्रस्थान का सबसे बुनियादी तत्व था "अर्थवाद" जो कि आगे चलकर आधुनिक संशोधनवाद में परिणत हुआ। इस "अर्थवाद" की उनके अनुसार तीन बुनियादी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएँ थीं। **पहला,** सम्पत्ति के कानूनी रूपों को वर्ग सम्बन्धों का आधार मानना; **दूसरा,** उत्पादक शक्तियों की प्राथमिकता (primacy of productive forces) का सिद्धान्त; और **तीसरा,** राज्यसत्ता के अस्तित्व और उसके विलोपन की पूर्वशर्तें। बेतेलहाइम के अनुसार 1936 में स्तालिन द्वारा समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों के वैधिक तौर पर स्थापित हो जाने को वर्ग सम्बन्धों में बदलाव का आधार मानना पहली ग़लती की मिसाल है। इसके कारण सोवियत राज्यसत्ता और पार्टी की निगरानी कमज़ोर पड़ गयी और पार्टी और राज्यसत्ता के भीतर मौजूद राजकीय पूँजीपति वर्ग को सुदृढ़ीकृत होने का मौका मिला। बेतेलहाइम का कहना है कि उत्पादन सम्बन्ध और वर्ग सम्पत्ति के कानूनी रूपों पर नहीं निर्भर करते बल्कि विनियोजन की सामाजिक प्रक्रिया और श्रम के सामाजिक विभाजन पर निर्भर करते हैं। बेतेलहाइम के अनुसार तीसरे इण्टरनेशनल और स्तालिन के तहत बोल्शेविक पार्टी के मार्क्सवाद की दूसरी सबसे बड़ी ख़ामी थी उत्पादक शक्तियों की प्राथमिकता का सिद्धान्त। बेतेलहाइम का कहना है कि इतिहास की चालक शक्ति मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादक शक्तियों का विकास नहीं बल्कि वर्ग संघर्ष है। समाजवादी संक्रमण के बारे में इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादक शक्तियों का विकास सबसे अहम कारक नहीं है बल्कि उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण सबसे अहम कारक है। बेतेलहाइम के अनुसार यह "अर्थवादी" सिद्धान्त स्तालिन ने नहीं निर्मित किया था; यह यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन में लम्बे समय से मौजूद रहा था; स्तालिन ने अपने ज़बरदस्त प्राधिकार के कारण इसे एक सशक्त वैधीकरण प्रदान कर दिया। यह कमज़ोरी बेतेलहाइम के अनुसार मार्क्स के एक ग़लत पाठ के कारण आन्दोलन के भीतर जड़ जमाने में सफल हुई थी। मार्क्सवाद मार्क्स और लेनिन के दौर में इससे संघर्ष करता रहा, मगर स्तालिन

के दौर में यह "अर्थवाद" बोल्शेविक पार्टी और तीसरे इण्टरनेशनल पर हावी हो गया। चलते-चलते बेतेलहाइम ने त्रात्स्की की भी आलोचना की है और कहा है कि त्रात्स्की का "अर्थवाद" स्तालिन के "अर्थवाद" से ज़्यादा भोंड़ा और कठमुल्लावादी है क्योंकि वह एक देश में समाजवाद के निर्माण के रास्ते में कम उत्पादकता को ही बाधक के तौर पर देखता है; चूँकि सम्पत्ति के कानूनी रूप ही त्रात्स्की के लिए समाजवाद या पूँजीवाद की पहचान का मानक है, इसलिए त्रात्स्की किसी पूँजीवादी प्रतिक्रान्ति की सम्भावना को भी नहीं देखते हैं। बेतेलहाइम के अनुसार तीसरी "अर्थवादी" ग़लती राज्यसत्ता के अस्तित्व और विलोपन की शर्तों के प्रश्न पर सामने आयी। 1936 में स्तालिन ने दावा किया कि समाजवादी सम्पत्ति के पूर्ण रूप से स्थापित होने और एक वर्ग के रूप में पूँजीपति वर्ग के स्वत्वहरण के साथ ही सोवियत समाज में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं रह गये थे। यदि शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं थे, तो राज्यसत्ता की ज़रूरत क्यों थी, इसके जवाब में स्तालिन ने 1939 में कहा कि विश्व पैमाने पर पूँजीवादी-साम्राज्यवादी घेरेबन्दी और साम्राज्यवादी एजेण्टों की तोड़-फोड़ के कारण सोवियत संघ को एक बेहद मज़बूत राज्यसत्ता की ज़रूरत है। स्तालिन ने 1939 में पार्टी में पेश सचिव की रिपोर्ट में यह भी कहा कि समाजवादी संक्रमण का कोई मूर्त रूप सामने न होने की सूरत में राज्यसत्ता के बारे में मार्क्सवादी समझदारी पर्याप्त रूप से विकसित नहीं है और समाजवादी रूस के ठोस अनुभवों के आधार पर इसे विकसित किये जाने की ज़रूरत है। त्रात्स्की ने राज्यसत्ता की मौजूदगी के लिए भी उत्पादकता की कमी को ही ज़िम्मेदार बताया, और बताया कि अभाव की स्थिति हमेशा ही राज्यसत्ता और नौकरशाही को जन्म देती है। बेतेलहाइम इन दोनों छोरों को "अर्थवाद" के भटकाव के तौर पर देखते हैं और दावा करते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता की मौजूदगी को आन्तरिक वर्ग संघर्ष के अलावा किसी और कारण के ज़रिये व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है।

बेतेलहाइम की यह पूरी व्याख्या पहली नज़र किसी पाठक को वाकई सोवियत संघ में स्तालिन के दौर में आए "अर्थवादी" विचलन से विच्छेद करने का एक "माओवादी" प्रयास नज़र आ सकती है। लेकिन अगर करीबी से "अर्थवाद" पर बेतेलहाइम की पूरी थीसिस पर निगाह डालें तो हम पाते हैं कि "अर्थवाद" के विचलन की आलोचना करने की आड़ में वास्तव में बेतेलहाइम मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों से ही प्रस्थान कर रहे हैं और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के उसूलों का एक हेगेलीय प्रत्ययवादी विनियोजन कर रहे हैं।

बेतेलहाइम इस "अर्थवादी" विचलन की आलोचना की शुरुआत "अर्थवाद" को परिभाषित करने के साथ करते हैं और यहीं से सारी गड़बड़ी की शुरुआत होती है। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन ने अपने जीवित रहते हुए "अर्थवाद" के विरुद्ध संघर्ष चलाया लेकिन बोल्शेविक पार्टी में एक रुझान के तौर पर "अर्थवाद" मौजूद रहा। लेनिन की मृत्यु के बाद "अर्थवाद" के विरुद्ध संघर्ष बोल्शेविक पार्टी में रुक गया। बेतेलहाइम लिखते हैं:

"यह याद रखा जाना चाहिए कि लेनिन ने "अर्थवाद" शब्द का प्रयोग मार्क्सवाद की एक ऐसी अवधारणा के आलोचनात्मक चित्रण के लिए किया था जो कि मार्क्सवाद को महज़ एक "आर्थिक सिद्धान्त" में अपचयित कर देने का प्रयास करती थी जिसके ज़रिये सभी सामाजिक परिवर्तनों की व्याख्या की जा सकती थी। ऐसी अवधारणा कई प्रकार के रूप ग्रहण कर सकती है। जब व्यवस्थित न हो, तो यह एक सापेक्षिक तौर पर गौण भूमिका निभा सकती है, और तब हम "अर्थवाद की ओर रुझान" की बात कर

सकते हैं।

"चूँकि अर्थवाद उत्पादक शक्तियों के विकास को इतिहास की चालक शक्ति मानता है, इसलिए इसके प्रमुख प्रभावों में से एक है वर्गों के बीच के राजनीतिक संघर्ष को आर्थिक अन्तरविरोधों के प्रत्यक्ष और तात्कालिक नतीजे के तौर पर चित्रित करना। इस प्रकार यह माना जाता है कि ये आर्थिक अन्तरविरोध अपने आप में ही सामाजिक परिवर्तनों को "पैदा करने" और जब "वक़्त सही हो" तो क्रान्तिकारी संघर्षों को पैदा करने में सक्षम होते हैं। इस प्रकार मज़दूर वर्ग स्वतःस्फूर्त रूप से क्रान्ति करने को प्रेरित होता दिखता है (इसलिए एक सर्वहारा पार्टी बनाने की आवश्यकता नहीं है)। यही *प्रॉब्लेमैटिक* सर्वहारा वर्ग के अलावा अन्य शोषित और दमित वर्गों को समाजवाद के लिए संघर्ष करने में सक्षम होने से इंकार करता है।

"विश्लेषण के एक अन्य स्तर पर, अर्थवाद की पहचान इस तथ्य से की जा सकती है कि यह उत्पादक शक्तियों को उत्पादन के भौतिक साधनों के समतुल्य मानने की प्रवृत्ति रखता है, और इस प्रकार इस बात से इंकार करता है कि प्रमुख उत्पादक शक्ति स्वयं उत्पादक हैं, और लिहाज़ा, अर्थवाद समाजवाद के निर्माण में मेहनतकश जनता की पहल की बजाय नये उत्पादन के साधनों और तकनीकी ज्ञान को प्रमुख भूमिका देता है।" (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976 **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** दि हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 33-34, *अनुवाद हमारा*)

निश्चित तौर पर, इस पूरी व्याख्या में कई सही नुक़्तों को उठाया गया है और एक हद तक "अर्थवाद" के कुछ प्रमुख लक्षणों की पहचान भी की गयी है। लेकिन सम्पूर्णता में इस पूरी बात में बहुत-सी समस्याएँ हैं। **पहली बात तो यह है कि तीसरे इण्टरनेशनल और सोवियत संघ में स्तालिन के पूरे दौर में "अर्थवाद" की ऐसी सीमित व्याख्या स्तालिन की किसी रचना तो दूर किसी पाठ्यपुस्तक में भी नहीं मिलती है।** बाद में बेतेलहाइम बेहद चयनात्मक (selectively) ढंग से स्तालिन की कुछ रचनाओं और साथ ही मार्क्स की कुछ रचनाओं को उद्धृत करते हैं, जिसके आधार पर वह सिद्ध करना चाहते हैं कि "अर्थवाद" उपरोक्त रूप में उस समय चीनी पार्टी और माओ के अपवाद को छोड़कर विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन पर हावी हो गया था। लेकिन अगर उस दौर के स्तालिन के लेखन और बोल्शेविक पार्टी के दस्तावेज़ों को देखें तो इस रूप में "अर्थवाद" नहीं मिलता, जिसका कतई यह अर्थ नहीं है कि उस समय पार्टी के भीतर "अर्थवादी" भटकाव मौजूद नहीं था। **यहाँ मुद्दे की बात यह है कि बेतेलहाइम इरादतन "अर्थवाद" की एक बेहद प्रतिबन्धात्मक (restrictive) परिभाषा पेश करते हैं, जिसका प्रयोग बाद में सोवियत समाजवादी प्रयोगों पर एक सर्वसमावेशी और ग़ैर-लेनिनवादी हमला करने के लिए किया गया है।** बेतेलहाइम सोवियत समाजवाद की सभी समस्याओं के लिए "अर्थवाद" की अपनी "माओवादी" आलोचना को एक रामबाण नुस्खे के तौर पर पेश करते हैं। यह सोवियत समाजवाद और आम तौर पर समाजवाद की हरेक समस्या के विश्लेषण को "अर्थवाद" की आलोचना पर अपचयित (reduce) कर देता है। इस प्रक्रिया में एक बेहद जटिल ऐतिहासिक परिघटना की एक अतिसरलीकृत व्याख्या पेश की जाती है, जिसके लिए वास्तव में एक ज़्यादा संजीदा, गहरे और सूक्ष्म आलोचनात्मक विश्लेषण की माँग की जानी चाहिए।

दूसरी ग़लती बेतेलहाइम यह करते हैं कि वर्ग संघर्ष पर बल डालने के प्रयास में वह वर्ग संघर्ष को उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोधों से पृथक कर

देते हैं। यानी कि बुनियादी अन्तरविरोध के प्रधान अन्तरविरोध से सारे रिश्ते तोड़ दिये जाते हैं। इस प्रक्रिया में बेतेलहाइम "आर्थिक कारकों" (हालाँकि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के लिए कोई शुद्धतः आर्थिक कारक नहीं होता है!) की महत्ता को बेहद कम कर देते हैं और उनका एक बेहद हानिकारक न्यूनानुमान (under-estimation) करते हैं। इस प्रक्रिया में "अर्थवाद" के अपने अतिवादी संस्करण के पुतले पर हमला करने के चक्कर में बेतेलहाइम अन्त में हेगेलीय प्रत्ययवाद और *वॉलण्टरिज़्म* के छोर पर पहुँच जाते हैं। **बेतेलहाइम की इस गम्भीर रूप से असन्तुलित समझदारी के पीछे वास्तव में चीनी समाजवादी प्रयोग की एक अनालोचनात्मक और ग़लत समझदारी काम कर रही है।** चीनी समाजवादी प्रयोगों के प्रति अति-आशावादी नज़रिया उन्हें कई चीज़ों के प्रति अन्धा बना देता है और सबसे बड़ी विडम्बना की बात तो यह है कि बेतेलहाइम इस अतिआशावाद के चलते जिस चीज़ को सबसे ज़्यादा नुक़सान पहुँचाते हैं, वह है माओवाद और चीनी समाजवादी प्रयोगों का एक सही विश्लेषण। अगर हम चीनी समाजवादी प्रयोगों और चीनी पार्टी के रवैये का करीबी विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि सोवियत समाजवादी प्रयोगों के दौरान बोल्शेविक पार्टी के अर्थवादी विचलन की आलोचना करते हुए (जिसके हरेक नुक्ते से सहमत नहीं हुआ जा सकता है, लेकिन हम उस आलोचना की आलोचना के कार्यभार को यहाँ एजेण्डे पर नहीं रख सकते हैं, और उसे अलग से विश्लेषण के लिए आगे लिया जायेगा) **चीनी पार्टी ने कभी यह दावा नहीं किया था कि समाजवाद का उत्तरोत्तर विकास उत्पादक शक्तियों के निम्न स्तर के साथ किया जा सकता है।** वास्तव में माओ और चीनी पार्टी ने हमेशा उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास को एक सम्बद्ध कार्यभार के तौर पर देखा था। जब 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान यह नारा दिया गया कि 'क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखो और उत्पादन को बढ़ावा दो' तो इसका यही अर्थ था। यही समझदारी थी जिसके आधार पर माओ का मानना था कि उत्पादन सम्बन्धों के सचेतन क्रान्तिकारी रूपान्तरण को नज़रअन्दाज़ करके या उसकी क़ीमत पर उत्पादक शक्तियों व उत्पादन का विकास अपने आप में समाजवादी निर्माण को आगे नहीं बढ़ा सकता है। बेतेलहाइम दावा करते हैं:

"चीन में जो कुछ हो रहा है वह सिद्ध करता है कि उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर सामाजिक सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के रास्ते में कोई बाधा नहीं है, और इसके लिए आदिम संचय के रूपों से गुज़रना, और सामाजिक असमानताओं आदि को बढ़ाना अनिवार्य नहीं है।

"चीन का उदाहरण दिखलाता है कि *सबसे पहले* समाजवादी समाज की भौतिक बुनियाद का निर्माण करने की चाहत रखना ज़रूरी नहीं है (और, निश्चित तौर पर, यह ख़तरनाक है), और तब तक सामाजिक सम्बन्धों के रूपान्तरण को टाला जा सकता है, और बाद में उन्हें बेहद विकसित उत्पादक शक्तियों के अनुकूल बनाया जा सकता है।" (*वही*, पृ. 42)

बाद में बेतेलहाइम चलते-चलते यह बताते हैं कि चीन के उदाहरण ने यह दिखलाया कि उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ अधिरचना के रूपान्तरण के काम को जारी रहना चाहिए। लेकिन यह चलते-चलाते की गयी टिप्पणी चीनी प्रयोग के बारे में उनके ग़ैर-द्वन्द्वात्मक विश्लेषण को सन्तुलित नहीं कर पाती है। **चीनी प्रयोग ने जहाँ यह दिखलाया कि उत्पादक शक्तियों के स्तर का नीचा होना समाजवादी प्रयोगों में नवोन्मेष के रास्ते को बन्द नहीं कर देता, बस सीमित करता है, वहीं चीनी प्रयोग ने ऐतिहासिक तौर पर**

यह भी दिखलाया कि उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर निम्न होने से समाजवादी निर्माण के एक हद से आगे बढ़ने में क्या-क्या चुनौतियाँ सामने आती हैं। उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर को ऐतिहासिक तौर पर एक संरचनागत बाधा के रूप में देखना अपने आप में "अर्थवाद" नहीं है (जिसके लिए बेतेलहाइम के अनुसार मार्क्स और एंगेल्स भी दोषी हैं!)। **निश्चित तौर पर, अन्तिम विश्लेषण में उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर समाजवाद के निर्माण को एक स्तर से आगे ले जाने में एक वस्तुगत बाधा पैदा करेगा। अगर हम इस बुनियादी तथ्य को ही मानने से इंकार कर दें, तो समाजवाद का निर्माण पूरी तरह मनोगत इच्छाओं का मसला बन जायेगा; समाजवाद की ऐतिहासिकता का निर्धारण करना असम्भव हो जायेगा; इस सवाल का कोई जवाब नहीं होगा कि समाजवादी क्रान्ति जिस युग में हुई, उसी युग में क्यों हुई, किसी और युग में क्यों नहीं हुई?** बेतेलहाइम इसका एक उथला जवाब दे सकते हैं कि वर्ग संघर्ष की मंज़िल से समाजवादी क्रान्ति के दिक् और काल का निर्धारण होता है। लेकिन उसके बाद यह प्रश्न भी उठता है कि वर्ग संघर्ष को निर्धारित करने वाली शक्ति कौन-सी है? वर्ग संघर्ष और उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध के बीच के द्वन्द्वात्मक तौर पर *मीडियेटेड (mediated)* सम्बन्ध पर बेतेलहाइम के ग़ैर-मार्क्सवादी और हेगेलीय प्रत्ययवादी विचारों पर हम आगे आयेंगे। पहले इस बात पर एक संक्षिप्त चर्चा कि समाजवादी निर्माण के दौरान उत्पादक शक्तियों के विकास और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के विषय में वास्तव में माओ ने क्या कहा था। क्या उन्होंने कभी यह कहा था कि उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर के साथ समाजवाद का विकास किया जा सकता है? आइये देखें।

चीनी प्रयोग के दौरान चीनी पार्टी या माओ ने कभी भी यह नहीं कहा कि उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर समाजवाद के निर्माण में कोई बाधा नहीं है। **माओ ने महज़ चीनी पार्टी के भीतर मौजूद इस रुझान का विरोध किया जो मानती थी कि उत्पादक शक्तियों के निम्न स्तर के कारण समाजवादी निर्माण में किसी भी तौर पर कदम आगे बढ़ाने या नवोन्मेष की कोई गुंजाइश नहीं है।** वास्तव में, इस बहस का भी एक ऐतिहासिक सन्दर्भ था, जिसे बेतेलहाइम पाठकों को बताना ज़रूरी नहीं समझते, हालाँकि उन्हें इस बहस की निश्चित तौर पर जानकारी होगी क्योंकि उन्होंने चीनी समाजवादी प्रयोगों का भी अध्ययन किया है और वहाँ के औद्योगिक संगठन पर एक किताब भी लिखी है (जो माओ के विचारों का एक और विकृतिकरण है)। चीन में नवजनवादी क्रान्ति और 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध में समाजवादी क्रान्ति के आरम्भ के बाद औद्योगिक निर्माण और आर्थिक विकास की सम्पूर्ण परियोजना में सोवियत संघ ने पूँजी और तकनीकी कौशल प्रदान करने के रूप में भारी मदद दी थी। 1956-57 तक हज़ारों सोवियत इंजीनियर चीन में काम कर रहे थे और चीनी समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ने में मदद कर रहे थे। ख्रुश्चेव के सत्ता में आने के बाद कुछ ही समय के भीतर इस सारी सहायता को अचानक वापस ले लिया गया। चीनी समाजवादी निर्माण के लिए यह एक भारी झटका था, जिसके कारण एक संकट पैदा हो गया। इस संकट के बाद पार्टी के भीतर एक धड़े ने यह कहा कि सोवियत सहायता के अभाव में समाजवादी निर्माण के पथ पर आगे बढ़ने के कार्य को निलम्बित करके पहले जिस भी रास्ते से आर्थिक विकास हो, उस रास्ते को अपना लिया जाना चाहिए, चाहे वह पूँजीवादी हो या समाजवादी क्योंकि चीन में उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर इतना निम्न है कि समाजवादी निर्माण के कार्य को निलम्बित कर दिया जाना चाहिए; अभी भौतिक प्रोत्साहन और बाज़ार के रास्ते

विकास का मार्ग चुनना उचित है। माओ ने इस कार्यदिशा का पुरज़ोर विरोध करते हुए कहा कि निश्चित तौर पर सोवियत संघ द्वारा दी जा रही भारी सहायता के वापस लिये जाने से चीन बहुत-सी आर्थिक मुश्किलों से घिर गया है; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम समाजवादी पथ को और समाजवादी निर्माण के कार्य को निलम्बित कर दें। माओ का कहना था कि समाजवादी निर्माण का एक अलग रास्ता अख़्तियार करना होगा, जनता की पहलकदमी को उन्नत करना होगा, यदि तात्कालिक तौर पर बड़े और भारी उद्योग नहीं लगाये जा सकते तो छोटे पैमाने के उद्योगों को लगाया जाना चाहिए और जनता पर भरोसा करते हुए समाजवाद के दुर्ग को सुरक्षित रखा जाना चाहिए। **माओ के पूरे तर्क का सार यह था कि उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर एक ढाँचागत सीमा ज़रूर है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि समाजवादी निर्माण में आगे बढ़ने और नवोन्मेष के सारे रास्ते बन्द हो चुके हैं; निश्चित तौर पर उत्पादक शक्तियों का विकास करना होगा लेकिन यह काम उत्पादन सम्बन्धों और अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के कार्य को निलम्बित या रद्द करके या उनकी क़ीमत पर नहीं किया जा सकता है; और दूसरी बात यह कि इस पूरे काम के लिए जनसमुदायों की पहलकदमी को जागृत किया जाना चाहिए और जनता पर भरोसा किया जाना चाहिए।** माओ के लिए यहाँ "अर्थवादी" भटकाव इस रूप में मौजूद था कि उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर की ऐतिहासिक और वस्तुगत बाधा को इतने संकीर्ण तौर पर पेश किया जा रहा था कि समाजवादी निर्माण और नवोन्मेष की कोई गुंजाइश ही नहीं बचती थी। लेकिन माओ की वह अवस्थिति कतई नहीं थी जो कि बेतेलहाइम बता रहे हैं, यानी कि आम तौर पर यह कहना कि उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर के साथ समाजवाद का निर्माण हो सकता है। **अगर ऐसा है तो समाजवाद का निर्माण किसी भी युग में हो सकता था, बस क्रान्तिकारी विचारधारा (क्योंकि बेतेलहाइम के लिए वर्ग संघर्ष *हमेशा* विचारधारात्मक संघर्ष के रूप में *ही* होता है!) और क्रान्तिकारी हिरावल की आवश्यकता है! यानी कि समाजवादी क्रान्ति इतिहास की गति के वस्तुगत नियमों से नहीं बल्कि क्रान्तिकारी विचारधारा और पार्टी की मौजूदगी की आकस्मिकता (contingency) से निर्धारित होती है!** आगे हम दिखलायेंगे कि बेतेलहाइम की इस विचार-पद्धति को उनके त्रात्स्कीपन्थी अतीत से अलग नहीं किया जा सकता है और किस प्रकार बेतेलहाइम के विचार अन्ततः त्रात्स्कीपन्थ, बुखारिनपन्थ और "अतिमाओवाद" की एक घालमेल खिचड़ी बन जाते हैं।

बेतेलहाइम की परिभाषा "अर्थवाद" के विचलन के सार को नहीं पकड़ती है। इस सार का एक अहम अंग है यह पूर्वाग्रह कि उत्पादक शक्तियों का विकास स्वतः ही नये उत्पादन सम्बन्ध को जन्म दे देता है। बेतेलहाइम के हेगेलीय प्रत्ययवाद और मनोगतवाद की ही तरह "अर्थवाद" भी वर्ग संघर्ष और उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध के बीच के रिश्ते को नहीं समझता। अर्थवादी विचलन वर्ग संघर्ष और राजनीति की भूमिका को नज़रअन्दाज़ करता है। इस रूप में अर्थवादी विचलन का असली निशाना सर्वहारा वर्ग की राजनीति, उसकी पार्टी (हालाँकि पार्टी स्वयं भी अर्थवाद की वाहक बन सकती है), सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और क्रान्ति करने के सचेतन और संगठित प्रयास है। यह हर प्रकार के अवसरवाद का आधार है, चाहे वह "वामपन्थी" हो या फिर दक्षिणपन्थी, और इस मुद्दे पर बेतेलहाइम एक सही प्रेक्षण रखते हुए 1920-21 के **ट्रेड यूनियन विवाद** का हवाला देते हैं, जिसमें अर्थवाद के "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी छोर, दोनों ही प्रकट रूप में सामने आये थे

और जिनकी लेनिन ने विस्तृत आलोचना की थी। बेतेलहाइम ऐसे सटीक प्रेक्षण अलग-अलग कई मुद्दों पर देते हैं, लेकिन उनकी स्वयं की थीसिस इन प्रेक्षणों से एकदम उल्टे-सीधे नतीजे निकालती नज़र आती है। वास्तव में, अर्थवाद मार्क्सवाद को महज़ एक आर्थिक सिद्धान्त में तब्दील नहीं करता है। अर्थवाद स्वयं एक विचारधारात्मक-राजनीतिक भटकाव है जो मार्क्सवाद को राजनीतिक तौर पर विकृत करता है। बहरहाल, अर्थवादी विचलन के दो बुनियादी तत्व यही हैं: एक यह कि उत्पादक शक्तियों द्वारा पेश की जाने वाली ऐतिहासिक वस्तुगत सीमा को बेहद संकीर्णतावादी तरीके से पेश करके किसी भी प्रकार समाजवादी नवोन्मेष की गुंजाइश से इंकार करना और दूसरा यह कि उत्पादक शक्तियों का विकास स्वत: ही नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना करता है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के अनुसार अर्थवादी विचलन के मुख्यत: और मूलत: यही दो आधारभूत पैमाने हैं।

अर्थवादी विचलन और बेतेलहाइम का "माओवाद" (वास्तव में, हेगेलीय प्रत्ययवाद और युवा हेगेलपन्थी मनोगतवाद) उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच अन्तरविरोध की मार्क्सवादी समझदारी से दो विपरीत छोरों के भटकाव को दिखलाता है। एक छोर उत्पादक शक्तियों के विकास को इतिहास की चालक शक्ति के तौर पर ग़ैर-द्वन्द्वात्मक और यान्त्रिक रूप में पेश करता है जबकि दूसरा छोर यह दावा करता है कि इतिहास की चालक शक्ति अन्तिम तौर पर वर्ग संघर्ष होता है और उत्पादन सम्बन्ध इतिहास में आम तौर पर निर्धारक तत्व की भूमिका अदा करते हैं। इससे पहले कि हम उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के द्वन्द्व के विषय में मार्क्सवादी समझदारी पर चर्चा करें, यह बताना ज़रूरी है कि चार्ल्स बेतेलहाइम स्तालिन और बोल्शेविक पार्टी की आलोचना करते हुए यह दावा करते हैं कि उन्होंने कानूनी सम्पत्ति सम्बन्धों को उत्पादन सम्बन्ध समझने की भूल की थी और इस प्रक्रिया में बेतेलहाइम यहाँ तक चले जाते हैं कि वे सम्पत्ति सम्बन्धों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच ही सम्बन्ध-विच्छेद कर देते हैं। निश्चित तौर पर, सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी रूप ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते। लेकिन क्या इस बात से इंकार किया जा सकता है कि स्वामित्व के कानूनी रूपों को बदले बिना, यानी कि निजी सम्पत्ति का कानूनी ख़ात्मा किये बिना उत्पादन सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण किया जा सकता है? बेतेलहाइम की थीसिस अन्त में यहीं तक जाती है। **सम्पत्ति सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के साथ ही उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण की शुरुआत की जा सकती है।** यदि सम्पत्ति सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण नहीं होता तो क्या अधिशेष के सामाजिक विनियोजन या वितरण सम्बन्धों का रूपान्तरण हो सकता है? क्या श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया में मौजूद पूँजीवादी तत्वों व बुर्जुआ अधिकारों का विलोपन समाजवादी सम्पत्ति की स्थापना के बग़ैर हो सकता है? बेतेलहाइम बोल्शेविक पार्टी और स्तालिन द्वारा की गयी ग़लती की ओर संकेत करते हैं (हालाँकि इस विचलन की प्रस्तुति में वह ईमानदार नहीं हैं और स्तालिन पर उन ग़लतियों को भी थोप देते हैं, जो स्तालिन ने नहीं की थीं), लेकिन इसे दुरुस्त करने के उनके प्रयास के बारे में जितना कम कहा जाये उतना अच्छा है। बेतेलहाइम पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का अवैयक्तिकीकरण (impersonalization) करते हैं। उत्पादन सम्बन्धों का सबसे अहम प्रश्न उत्पादन के साधनों के मालिकाने और उस तक पहुँच का प्रश्न है; उत्पाद तक पहुँच यानी विनियोजन और वितरण का प्रश्न उसके बाद ही आता है और काफ़ी हद तक उस पर निर्भर भी है। यदि इस प्रश्न को पहले उठाया जाय और स्वामित्व के कानूनी रूपों के समाजवादी रूपान्तरण के प्रश्न को गौण बना दिया जाय तो मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र

के बुनियादी सिद्धान्तों का इससे बुरा विकृतिकरण नहीं हो सकता है।

उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व और वर्ग संघर्ष से उसके रिश्ते के विषय में मार्क्सवादी समझदारी का प्रश्न बेतेलहाइम की इस भयंकर भूल को और अच्छी तरह स्पष्ट कर सकता है। मार्क्स और एंगेल्स के लेखन से बेतेलहाइम कई उद्धरण पेश करते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि इतिहास की चालक शक्ति वर्ग संघर्ष है न कि उत्पादक शक्तियों का विकास। आप इस दावे में पर ग़ौर करें तो देख सकते हैं कि बेतेलहाइम वर्ग संघर्ष और उत्पादक शक्तियों के विकास (और इसीलिए उत्पादन सम्बन्धों से उसके द्वन्द्व) को दो अलग चीज़ें मानते हैं। यह इतिहास की अद्वैतवादी (monist) और अधिभूतवाद-विरोधी मार्क्सवादी समझदारी के विपरीत खड़ा दृष्टिकोण है। निश्चित तौर पर, वर्ग संघर्ष तात्कालिक तौर पर इतिहास की निर्धारक शक्ति होती है और समाज के विज्ञान के मुताबिक समाज का प्रधान अन्तरविरोध होता है। लेकिन यहाँ दो बातें ग़ौर करने वाली हैं। **पहली बात** यह कि यह वर्ग अन्तरविरोध (और अपने आप में वर्ग) आसमान से नहीं टपकता बल्कि यह उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध के एक ख़ास दौर में ही अस्तित्व में आता है और उसकी ही विचारधारात्मक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति होता है। यदि हम यह नहीं मानते तो हम कभी भी वर्गविहीन समाज से वर्ग समाज में संक्रमण को नहीं समझा सकते हैं। **अगर वर्ग संघर्ष अन्तिम विश्लेषण में समूचे मानव इतिहास की चालक शक्ति है, तो फिर वर्गविहीन समाज के गति के नियमों के मूल में कौन-सा अन्तरविरोध था? हम वर्गों के उद्भव की व्याख्या कैसे करेंगे?** आदिम साम्यवादी समाज के विघटन और वर्गों के उद्भव के पीछे उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध काम करता है। आगे बढ़ते हैं।

उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के इस द्वन्द्व में *आम तौर पर* उत्पादक शक्तियों का पहलू अधिक *गतिमान* (हर-हमेशा निर्धारक नहीं!) पहलू होता है। क्या कम्युनिस्ट समाज में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच पूर्ण सामंजस्य या 'पूर्ण संगति' स्थापित हो जायेगी? नहीं! लेकिन कम्युनिस्ट समाज में यह अन्तरविरोध अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध के रूप में अभिव्यक्त नहीं करेगा। हम ऊपर भी दिखला आये हैं कि चार्ल्स बेतेलहाइम 'संक्रमणशील समाज' की अपनी थीसिस में किस प्रकार अप्रत्यक्षत: इस भ्रम का शिकार हैं कि कम्युनिस्ट समाज में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जायेगा। **इसलिए आम तौर पर पूरे मानव इतिहास में निर्धारक तत्व उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच का अन्तरविरोध होता है, जो कि वर्ग समाज में अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध के रूप में अभिव्यक्त करता है। दूसरी बात** यह है कि निश्चित तौर पर वर्ग अन्तरविरोध अपने आपको आर्थिक के अतिरिक्त राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और विचारधारात्मक तौर पर भी अभिव्यक्त करते हैं और अधिरचनात्मक धरातल पर अभिव्यक्त होने वाले ये वर्ग अन्तरविरोध हर क्षण, तात्कालिक तौर पर और एकतरफ़ा तरीके से उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध द्वारा निर्धारित नहीं होते हैं, और ऐतिहासिक तौर पर कई अन्य कारकों से **अतिनिर्धारित (over-determine)** भी होते हैं। और यह भी स्पष्ट तौर पर समझा जाना चाहिए कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद का बुनियादी सिद्धान्त ही यही है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के असमाधेय हो चुके अन्तरविरोध वास्तविक (real) और सापेक्षिक (relative) तौर पर (आदर्श (ideal) और निरपेक्ष (absolute) रूप से नहीं!) वर्ग संघर्ष के ज़रिये, सर्वहारा वर्ग की राजनीति और

विचारधारा और उसके मूर्त रूप, यानी कि उसकी पार्टी, के सचेतन क्रान्तिकारी हस्तक्षेप के ज़रिये ही हल हो सकते हैं। लेनिन के कथनों "राजनीति अर्थशास्त्र की सान्द्र अभिव्यक्ति है" और "राजनीति निर्धारक होती है" का यही अर्थ है। **माओ के शब्दों को उधार लें तो कह सकते हैं कि उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध मानव इतिहास में आम तौर पर बुनियादी अन्तरविरोध की भूमिका निभाता हैं, जबकि वर्ग संघर्ष प्रधान अन्तरविरोध की।**

बुनियादी अन्तरविरोध तो मानव समाज में लगातार ही मौजूद रहते हैं, इसलिए केवल बुनियादी अन्तरविरोध के आधार पर इतिहास के उन **सन्धि-बिन्दुओं (conjunctures)** की व्याख्या नहीं की जा सकती जिन्हें हम 'क्रान्ति' या 'क्रान्तिकारी रूपान्तरण' के नाम से जानते हैं। इतिहास के इन सन्धि-बिन्दुओं की व्याख्या प्रधान अन्तरविरोध, यानी कि वर्ग संघर्ष के द्वारा ही की जा सकती है। दूसरे शब्दों में कहें तो उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का द्वन्द्व मानव इतिहास में अन्तिम तौर पर निर्धारक तत्व की भूमिका निभाते हैं जबकि वर्ग संघर्ष (वर्ग) समाज के इतिहास में तात्कालिक निर्धारक तत्वों की भूमिका निभाते हैं। इन दोनों के बीच के संगति (निश्चित तौर पर दोनों के बीच 'बराबर' का चिन्ह नहीं लगाया जा सकता है) के रिश्ते को न समझना या तो द्वैतवाद के छोर पर ले जायेगा या फिर इनके बीच एक यान्त्रिक किस्म के सम्बन्ध की समझदारी की ओर ले जायेगा।

बेतेलहाइम स्तालिन पर यह आरोप लगाते हैं कि स्तालिन ने वर्ग संघर्ष को उचित महत्व नहीं दिया और उनके विश्लेषण में वर्ग विश्लेषण नेपथ्य में चला जाता है। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि स्तालिन वर्ग संघर्ष की बजाय उत्पादक शक्तियों के विकास को अधिक अहमियत देते हैं। बेतेलहाइम यहाँ भी एक सही प्रश्न की ओर संकेत करते हैं लेकिन उनकी आलोचना का प्रस्थान-बिन्दु एकदम ग़ैर-मार्क्सवादी है। बेतेलहाइम यहाँ स्पष्ट रूप से वर्ग संघर्ष को उत्पादक शक्तियों के विकास (और उत्पादन सम्बन्धों के साथ उसके अन्तरविरोध) से पूरी तरह काट देते हैं और उनके बीच के संगति के सम्बन्ध को समझने में पूरी तरह असफल रहते हैं। चूँकि इस मुद्दे पर बेतेलहाइम आधारभूत मार्क्सवादी समझदारी से प्रस्थान कर जाते हैं, इसलिए बेतेलहाइम के वे आलोचक जो कि स्तालिन का अनालोचनात्मक बचाव करते हैं, उन्हें इस बिन्दु पर घेरते हैं और कुछ इस तरह से मामले को प्रस्तुत करते हैं, मानो इस विषय पर स्तालिन के सूत्रीकरणों के किसी आलोचनात्मक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। इस प्रक्रिया में वे स्तालिन के कई यान्त्रिकतापूर्ण सूत्रीकरणों की भी लगन से हिफ़ाज़त करते हैं, मिसाल के तौर पर 'द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद' का वह प्रसिद्ध सूत्रीकरण जो उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध को व्याख्यायित करता है। वहीं दूसरे छोर पर खड़े बेतेलहाइम स्तालिन पर आरोप लगाते हैं कि स्तालिन वर्ग संघर्ष की भूमिका को नकारते हैं, जो कि तथ्यत: ग़लत है। **इन दोनों छोरों पर खड़े होकर स्तालिन के सूत्रीकरणों के विषय में कोई आलोचनात्मक चर्चा हो ही नहीं सकती है।** जहाँ बेतेलहाइम "अर्थवाद" की एक इरादतन सीमित परिभाषा देकर स्तालिन पर अनैतिक आक्रमण करते हैं, वहीं स्तालिन के अनालोचनात्मक रक्षक उन मुद्दों पर भी स्तालिन के सूत्रीकरण की रक्षा का बीड़ा उठाये रहते हैं, जिन पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति से स्तालिन के सूत्रीकरणों की हिफ़ाज़त नहीं की जा सकती है।

यहाँ एक और तथ्य यह है कि स्तालिन वास्तव में सचेतन तौर पर उत्पादक शक्तियों की प्राथमिकता के अर्थवादी सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते थे, जैसा कि

बेतेलहाइम स्तालिन के कुछ उद्धरणों को पूर्वाग्रहों के साथ चुनकर सिद्ध करना चाहते हैं, बल्कि उसका विरोध करते थे। बेतेलहाइम यह बात भी छिपा जाते हैं कि 1936 से लेकर 1952 के बीच समाजवादी की समस्याओं और उसमें उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के द्वन्द्व और वर्ग संघर्ष के बारे में उनके विचारों में लगातार विकास भी हुआ था। मिसाल के तौर पर, स्तालिन के इन उद्धरणों पर ग़ौर करें:

"कॉमरेड यारोशेंको की प्रमुख ग़लती यह है कि वे उत्पादक शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों की समाज के विकास में भूमिका के बारे में मार्क्सवादी अवस्थिति को भूल जाते हैं, कि वह उत्पादक शक्तियों की भूमिका को बेहद ज़्यादा बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं और उतना ही ज़्यादा उत्पादन के सम्बन्धों के महत्व को घटाकर पेश करते हैं, और अन्त में यह घोषणा कर देते हैं कि समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के ही संघटक अंग होते हैं।"

आगे स्तालिन लिखते हैं, **"कॉमरेड यारोशेंको "शत्रुतापूर्ण वर्ग अन्तरविरोधों" की स्थितियों में उत्पादन के सम्बन्धों को एक निश्चित भूमिका देने को तैयार हैं, इस हद तक कि उत्पादन के सम्बन्ध "उत्पादक शक्तियों के विकास के विरोध में होते हैं।" लेकिन वह इसे एक शुद्ध रूप से नकारात्मक भूमिका तक सीमित रखते हैं, एक ऐसे कारक की भूमिका जोकि उत्पादक शक्तियों के विकास को रोकता है, उनके विकास के पैरों में बेड़ियाँ है। कॉमरेड यारोशेंको, उत्पादन सम्बन्धों के कोई अन्य प्रकार्य, सकारात्मक प्रकार्य देखने में असफल रहते हैं।**

"जहाँ कि समाजवादी व्यवस्था की बात है, जहाँ "शत्रुतापूर्ण वर्ग अन्तरविरोध" अब मौजूद नहीं होते, और जहाँ उत्पादन के सम्बन्ध "उत्पादक शक्तियों के विरोध में नहीं खड़े होते," वहाँ कॉमरेड यारोशेंको के अनुसार उत्पादन के सम्बन्ध किसी भी स्वतन्त्र भूमिका से पूर्णतः रहित होते हैं, वे विकास का कोई गम्भीर कारक नहीं रह जाते हैं, और उत्पादक शक्तियों द्वारा समाहित कर लिये जाते हैं, उनका संघटक अंग बन जाते हैं।...यह वास्तव में बताता है कि क्यों कॉमरेड यारोशेंको समाजवादी व्यवस्था के ऐसे आर्थिक प्रश्नों में दिलचस्पी नहीं रखते जैसे कि हमारी अर्थव्यवस्था में विभिन्न प्रकार के सम्पत्ति रूप, माल संचरण, मूल्य का नियम, आदि जो कि उनके लिए मामूली प्रश्न हैं जो केवल बौद्धिकतावादी विवादों को जन्म देते हैं।"

समाजवाद की समस्याओं के राजनीतिक अर्थशास्त्र की इस समझदारी की खिल्ली उड़ाते हुए स्तालिन कहते हैं, **"संक्षेप में, बिना आर्थिक समस्याओं वाला एक राजनीतिक अर्थशास्त्र।...तब ऐसा लगने लगता है कि कम्युनिस्ट व्यवस्था "उत्पादक शक्तियों के तार्किक संगठन" से ही शुरू और ख़त्म होती है।...इस धारणा के बारे में क्या कहा जा सकता है?"**

इसके बाद स्तालिन सकारात्मक तौर पर अपनी समझदारी को सामने रखते हैं, **"पहली बात तो यह कि यह सच नहीं है कि समाज के इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों की भूमिका केवल एक रुकावट, उत्पादक शक्तियों के विकास में बेड़ी की बन चुकी है। जब मार्क्सवादी उत्पादन सम्बन्धों के विलम्बित करने वाली भूमिका की बात करते हैं, तो उनके दिमाग़ में सभी उत्पादन सम्बन्ध नहीं बल्कि पुराने उत्पादन सम्बन्ध होते हैं, जो कि उत्पादक शक्तियों में हुई वृद्धि से मेल नहीं खाते और लिहाज़ा उनके विकास को विलम्बित करते हैं। लेकिन, जैसा कि हम जानते हैं, पुराने के अलावा, नये उत्पादन**

सम्बन्ध भी होते हैं (यहाँ स्तालिन का इशारा संक्रमणशील समाजवादी समाज की ओर है–लेखक) जो पुराने सम्बन्धों की जगह ले लेते हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि नये उत्पादन सम्बन्धों की भूमिका उत्पादक शक्तियों पर रोक लगाने की होती है? नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत, नये उत्पादन सम्बन्ध *प्रमुख* और निर्णायक शक्ति होते हैं, वे शक्ति जो वास्तव में उत्पादक शक्तियों के आगे के, और पहले से भी ज़्यादा शक्तिशाली विकास को निर्धारित करते हैं, और इसके बिना उत्पादक शक्तियाँ ठहराव के लिए अभिशप्त हो जायेंगे, जैसा कि आज पूँजीवादी देशों के साथ हो रहा है।

"कोई हमारे सोवियत उद्योग की उत्पादक शक्तियों के विकास द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान भरी गयी छलाँगों से इंकार नहीं कर सकता है। लेकिन यह विकास सम्भव नहीं होता, अगर हमाने अक्टूबर 1917 में, पुराने, पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की जगह नये, समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को स्थापित नहीं किया होता।" (**जोसेफ़ स्तालिन**, 1972, *इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स ऑफ सोशलिज़्म इन दि यूएसएसआर,* प्रथम संस्करण, फॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, पीकिंग, पृ. 60-63, *अनुवाद हमारा*)

बेतेलहाइम ने स्तालिन की पुस्तिका 'द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद' के कुछ सूत्रीकरणों को भी सन्दर्भ काटकर मनमानी व्याख्या करते हुए आलोचना का विषय बनाया है। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम ने स्तालिन के उस कथन को उद्धृत किया है जिसमें स्तालिन कहते हैं कि पहले समाज की उत्पादक शक्तियों का विकास होता है और फिर उसके अनुसार नये उत्पादन सम्बन्धों में इस विकास के आधार पर परिवर्तन आता है। बेतेलहाइम का कहना है कि स्तालिन की थीसिस में वर्ग संघर्ष को गौण बना दिया गया है या उसकी उपेक्षा कर दी गयी है। यह दावा सही नहीं है क्योंकि स्तालिन यह नहीं कह रहे हैं कि उत्पादक शक्तियों में विकास के आधार पर उत्पादन सम्बन्धों में खुद-ब-खुद बदलाव आ जाता है और इस प्रक्रिया में कहीं वर्ग संघर्ष का हस्तक्षेप नहीं होता। यहाँ पर स्तालिन केवल उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व की बात कर रहे हैं। **हम निश्चित तौर पर उस तरीके की आलोचना कर सकते हैं, जिससे कि स्तालिन इस द्वन्द्व को पेश करते हैं। निश्चित तौर पर, इस प्रस्तुति पर यान्त्रिक भौतिकवाद का असर है।** लेकिन इस प्रस्तुति की आलोचना इसी मुद्दे पर की जानी चाहिए न कि आलोचना को एक आनन-फानन में चलाया जाने वाला महाभियोग बनाया जाना चाहिए जैसा कि बेतेलहाइम करते हैं। वास्तव में, इसी पुस्तक में स्तालिन उत्पादक शक्तियों के उस संशोधनवादी सिद्धान्त की पुरज़ोर मुख़ालफ़त करते हैं, जो कि नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना में वर्ग संघर्ष और क्रान्ति की भूमिका को नहीं देखता। यह ज़रूर है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का स्तालिन द्वारा किया गया चित्रण कुछ यान्त्रिक और तकनोलॉजिकल निर्धारणवादी (technological determinist) है। ऐसा नहीं है कि स्तालिन उनके बीच के द्वन्द्व को नकारते हैं, लेकिन 1938 में उनकी अवस्थिति जहाँ खड़ी थी, उससे स्तालिन ने इस द्वन्द्व का एक ऐसा चित्र पेश किया है जो कि उत्पादक शक्तियों के निर्धारक/निर्णायक होने पर असन्तुलित ज़ोर है। स्तालिन समाजवादी संक्रमण के दौरान उत्पादक शक्तियों और उत्पादक सम्बन्धों के बीच के रिश्ते के बारे में असन्तुलित सूत्रीकरण देते हैं, जिनमें से कुछ को बाद में स्तालिन ने सुधार लिया था। मिसाल के तौर पर, स्तालिन इस पुस्तिका में एक स्थान पर यह लिखते हैं कि समाजवादी संक्रमण के दौरान उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियाँ "पूर्ण संगति" (full conformity) में होती हैं। लेकिन अपनी इस अवस्थिति को स्तालिन ने बाद में दुरुस्त कर लिया था और इस कथन को शाब्दिक

तौर पर लेने के लिए नॉटकिन की आलोचना की थी। इन सब के बावजूद बेतेलहाइम उन चीज़ों के लिए स्तालिन की आलोचना कर रहे हैं, जिनके लिए स्तालिन की आलोचना नहीं की जा सकती है। मिसाल के तौर पर यह बात कि स्तालिन वर्ग संघर्ष को गौण बना देते हैं! यह कथन अपने आप में मूर्खतापूर्ण है क्योंकि यह उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध तथा वर्ग संघर्ष के बीच के सम्बन्ध को नकारता है। लेकिन अहम बात यहाँ यह है कि वर्ग संघर्ष के महत्व के प्रश्न पर बेतेलहाइम स्तालिन पर एक ग़लत आरोप लगाते हैं।

हमने इतने विस्तार से स्तालिन के उद्धरणों को इसलिए पेश किया ताकि स्तालिन पर बेतेलहाइम द्वारा किये गये एक बेहद सिद्धान्तहीन किस्म के हमले का जवाब दिया जा सके। बेतेलहाइम का स्तालिन पर हमला स्पष्ट रूप से साफ़ अंतश्चेतना के साथ नहीं किया गया है, क्योंकि यह नहीं माना जा सकता कि बेतेलहाइम ने स्तालिन की इस (शायद सबसे ज़्यादा) प्रसिद्ध पुस्तक को नहीं पढ़ा होगा। इस पुस्तक के बारे में प्रसिद्ध राजनीतिक अर्थशास्त्री **रोनाल्ड मीक** ने ठीक ही लिखा था, **"*इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स* में प्रमुख सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएँ जिन पर मैंने ऊपर विचार किया है उनके पीछे स्तालिन का इरादा सम्भवतः उक्त समस्याओं का अन्तिम समाधान पेश करने का दावा नहीं था, बल्कि नये रास्तों की ओर संकेत करना था जिन नये रास्तों पर आगे के शोध को चलना चाहिए।"** (**रोनाल्ड एल. मीक**, 2009, *स्टडीज़ इन दि लेबर थियरी ऑफ वैल्यू*, आकार बुक्स, दिल्ली, पृ. 282) अपनी इसी पुस्तक में रोनाल्ड मीक ने यह भी प्रदर्शित किया है कि 1936 से 1943 और फिर 1943 से 1953 के बीच समाजवाद की समस्याओं पर स्तालिन का चिन्तन किस दिशा में आगे बढ़ रहा था और किस प्रकार स्तालिन के लेखन और सोवियत अर्थशास्त्रियों द्वारा किये गये लेखन में अवस्थितियों का फर्क है, हालाँकि तमाम सोवियत अर्थशास्त्री स्तालिन के ही पुराने लेखों से प्राधिकार प्राप्त करने का प्रयास करते थे।

स्तालिन के अन्तिम दौर के लेखन से स्पष्ट पता चलता है कि स्तालिन समाजवाद की समस्याओं पर सही दिशा में सोच रहे थे। वैसे तो प्रति-तथ्यात्मक इतिहास लेखन मार्क्सवादियों का काम नहीं होता है, लेकिन फिर भी हम अपने आपको यह कहने से नहीं रोक पा रहे हैं कि यदि जीवन ने मौका दिया होता तो स्तालिन समाजवाद की समस्याओं के तमाम नुक़्तों पर बेहद सटीक नतीजों तक पहुँच सकते थे। **यहाँ हम पाठकों का इस ओर भी ध्यानाकर्षित करना चाहेंगे कि यारोशेंको की आलोचना करते हुए स्तालिन जहाँ कहीं भी समाजवाद में शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोधों की मौजूदगी या ग़ैर-मौजूदगी की बात कर रहे हैं, वहाँ उन्होंने उद्धरण चिन्हों का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि स्तालिन 1936 की इस प्रस्थापना पर भी पुनर्विचार कर रहे थे कि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में स्थापना के साथ शत्रुतापूर्ण वर्ग सोवियत समाज से समाप्त हो गये हैं।** ऐसी अटकल लगाना बिल्कुल अतार्किक या मनोगत कवायद या फिर प्रतितथ्यात्मक अटकलबाज़ी भी नहीं मानी जायेगी क्योंकि अगर स्तालिन 1953 तक इस समझदारी तक पहुँच चुके थे कि समाजवाद में माल उत्पादन और माल सम्बन्ध मौजूद रहते हैं (हालाँकि इसके कारण के तौर पर अभी स्तालिन केवल दो प्रकार के समाजवादी सम्पत्ति रूपों की मौजूदगी को ही देख रहे थे), मूल्य का नियम एक प्रभावकारी कारक व सीमित अर्थों में विनियामक की भूमिका निभाता है, और गाँव और शहर के बीच का अन्तर का काम करता है (हालाँकि मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच के अन्तर को स्तालिन ने उतना महत्व नहीं दिया है), तो ज़्यादा सम्भावना यही है कि स्तालिन (अगर उन्हें अपने इस चिन्तन को आगे बढ़ाने का मौका

मिलता) इसी नतीजे पर पहुँचते कि समाजवादी समाज में भी कुंजीभूत कड़ी वर्ग संघर्ष होता है, बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी पार्टी और राज्य के भीतर राजकीय बुर्जुआज़ी को जन्म देती है, तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ बुर्जुआ अधिकारों और विनिमय सम्बन्धों को जन्म देती हैं, इस वजह से श्रम शक्ति अभी भी एक माल होती है और समाजवाद की इन समस्याओं के लिए जहाँ उत्पादक शक्तियों का द्रुत विकास करना होगा वहीं उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को आगे बढ़ाना होगा और साथ ही अधिरचना के क्षेत्र में सतत् क्रान्ति के कार्यभार को हाथों में लेना होगा। ज़ाहिर है, स्तालिन अपने तरीके और किसी अलहदा रास्ते से इन्हीं नतीजों पर पहुँच सकते थे जो शायद माओ के विचारों और चिन्तन प्रक्रिया के रास्ते से अलग होती। **लेकिन इन अटकलबाज़ियों या प्रति-तथ्यात्मक इतिहास को एक तरफ़ भी रख दें तो स्तालिन के अन्तिम दौर का लेखन यह दिखलाता है कि समाजवाद की समस्याओं पर उनके चिन्तन की दिशा कमोबेश दुरुस्त थी।**

इसके बरक्स अगर हम स्तालिन पर बेतेलहाइम की टिप्पणियों को देखें तो हम पाते हैं कि वह पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर की गयी हैं और ऐसा लगता है कि पहले ही तय कर लिया गया था कि स्तालिन के विषय में किस नतीजे तक पहुँचना है। बेतेलहाइम का प्रमुख मक़सद स्तालिन की सैद्धान्तिक क्षमताओं पर प्रश्न खड़ा करना, उन्हें पार्टी के भीतर विजातीय प्रवृत्तियों का वाहक या उन्हें वैध ठहराने वाली शक्ति के रूप में चित्रित करना है। इस मामले में बेतेलहाइम और त्रात्स्की के विचारों में कुछ समानता नज़र आती है। त्रात्स्की ने कहा था कि स्तालिन ने सोवियत पार्टी में नौकरशाह प्रतिक्रिया की संस्थापना नहीं की थी, बल्कि पहले से मौजूद नौकरशाह प्रतिक्रिया को स्तालिन के रूप में एक मुफ़ीद उम्मीदवार मिल गया था। अब इस कथन की तुलना बेतेलहाइम के इस दावे से करें जिसमें वह कहते हैं कि सोवियत पार्टी या मज़दूर आन्दोलन में अर्थवाद स्तालिन की पैदावार नहीं थी, लेकिन स्तालिन ने अर्थवादी भटकाव को ज़बरदस्त स्वीकार्यता और प्राधिकार दे दिया। **इस पूरे विश्लेषण में बस त्रात्स्की के 'नौकरशाह प्रतिक्रिया' की जगह बेतेलहाइम के 'अर्थवाद' को रख दें, तो ज़्यादा कुछ अन्तर नहीं है।** बस यही कहा जा सकता है कि शायद बेतेलहाइम का ग़लत विश्लेषण त्रात्स्की के ग़लत विश्लेषण से कम सतही है और बौद्धिक निरन्तरता पर इसका दावा त्रात्स्की के विश्लेषण से ज़्यादा है। लेकिन दोनों ही ग़लत हैं और पूर्वाग्रह-ग्रसित होकर किये गये हैं या इरादतन तथ्यों के साथ दुराचार करते हैं।

हम उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच के द्वन्द्व के विषय में मार्क्सवादी समझदारी के बारे में चर्चा को भी ज़रूरी समझते हैं क्योंकि इस विषय पर बेतेलहाइम और उनके आलोचक आम तौर पर दो छोरों पर खड़े नज़र आते हैं। इन दोनों छोरों में एक बात सामान्य है: ये दोनों ही छोर इस द्वन्द्व को एक स्थैतिक (static) द्वन्द्व के रूप में देखते हैं, न कि एक गतिमान और परिवर्तनीय द्वन्द्व के रूप में। बेतेलहाइम का दावा है कि इस द्वन्द्व में आम तौर पर उत्पादन सम्बन्धों का पहलू हर-हमेशा प्रमुख है, जबकि उनके आलोचकों[1] का दावा है कि इस द्वन्द्व में उत्पादक शक्तियाँ हर-हमेशा निर्धारक भूमिका निभाती हैं। बेतेलहाइम के आलोचकों, विशेष तौर पर होज़ापन्थी और स्तालिन का अनालोचनात्मक बचाव करने वाले कठमुल्लावादी मार्क्सवादियों ने बेतेलहाइम की एक ऐसी आलोचना पेश की है जो कि एक आम पाठक की निगाह में बेतेलहाइम की अवस्थिति की स्वीकार्यता को बढ़ाने का ही काम करती है। मिसाल के तौर पर, एक आलोचक सुनील सेन लिखते हैं, **"जिस 'अर्थवाद' के विरुद्ध लेनिन से संघर्ष किया उसका इतिहास की**

भौतिकवादी अवधारणा में आर्थिक कारक की समझदारी से कोई लेना-देना नहीं था। वास्तव में, 'अर्थवादियों' को युद्ध सामग्री मुहैया कराने वाले और उन्हें सैद्धान्तिक टिकाऊपन मुहैया कराने वाले बर्नस्टाइन ने 'आर्थिक भौतिकवाद' या मार्क्सवादियों द्वारा आर्थिक कारकों को दिये जाने वाले महत्व की पुरज़ोर आलोचना की और आरोप लगाया कि मार्क्सवाद अर्थव्यवस्था को *एकमात्र* निर्धारक कारक मानता है।" (सुनील सेन, **'मार्क्सिज़्म एण्ड मि. बेतेलहाइम'**, *रिवोल्यूशनरी डेमोक्रेसी*, सितम्बर 2000, *अनुवाद हमारा*) बेतेलहाइम द्वारा "अर्थवाद" की एक सीमित किस्म की परिभाषा के जवाब में सुनील सेन ने अर्थवाद की उससे भी ज़्यादा सीमित किस्म की परिभाषा दी है ताकि वह बेतेलहाइम को ग़लत सिद्ध करते हुए यह बता सकें कि ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के अनुसार आर्थिक कारक ही इतिहास में निर्धारक तत्व की भूमिका अदा करता है। इसके पक्ष में सुनील सेन मार्क्स के कई उद्धरणों को पेश करते हैं, जिसमें मार्क्स इतिहास की प्रत्ययवादी और अधिभूतवादी व्याख्याओं का खण्डन करते हुए आर्थिक कारक के महत्व को बता रहे हैं। लेकिन मार्क्स कहीं भी यह नहीं कहते कि आर्थिक कारक हर-हमेशा निर्धारक कारक की भूमिका निभाता है। **एंगेल्स** ने एक जगह स्पष्ट किया है, **"इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार, इतिहास में अन्तिम मौके पर जो चीज़ निर्णायक होती है, वह है वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन। इसके ज़्यादा न तो मार्क्स ने कहीं कहा है और न ही मैंने। लेकिन जब इसको विकृत करके ऐसे पढ़ता है कि आर्थिक कारक ही एकमात्र तत्व है, तो वह इस कथन को एक अर्थहीन, अमूर्त, अनर्गल जुमले में तब्दील कर देता है। आर्थिक स्थिति आधार है, लेकिन उनके परिणामों के विभिन्न तत्व, संविधान-कानूनी रूप, और साथ ही भागीदारों के दिमाग़ों में इन सभी प्रतिक्रियाओं के बीच वास्तविक संघर्ष, राजनीतिक, कानूनी, दार्शनिक, धार्मिक विचार-ये सभी ऐतिहासिक संघर्षों के विकास पर प्रभाव डालते हैं, और कुछ मौकों पर उनके रूपों को निर्धारित भी करते हैं।"** (एंगेल्स, 1972, **जे. ब्लॉक को पत्र**, सितम्बर 21, 1890, *'हिस्टॉरिकल मैटीरियलिज़्म-मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन'* में संकलित, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 294, *अनुवाद हमारा*)

दूसरी बात यह है कि सुनील सेन ने अर्थवाद की जो परिभाषा दी है, वह अर्थवाद का केवल एक विशिष्ट रूप था जिसके विरुद्ध लेनिन ने 1901-02 में संघर्ष शुरू किया था। इस तथ्य की ओर कुछ अन्य टिप्पणीकारों ने भी इशारा किया है, हालाँकि अक्सर वे बेतेलहाइम का हिमायती बन दूसरे छोर पर जा खड़े हुए हैं। बहरहाल, अर्थवाद के इस विशिष्ट रूप के विरुद्ध संघर्ष के साथ ही लेनिन अर्थवाद को एक आम विजातीय रुझान भी मानते थे जिसके कई अन्य रूप हो सकते हैं और लेनिन के ही जीवन काल में कई ऐसे अन्य रूप सामने भी आये। मिसाल के तौर पर, साम्राज्यवादी अर्थवाद और काऊत्स्की की अति-साम्राज्यवाद की थीसिस के मूल में भी अर्थवाद ही था, और यहाँ पर अर्थवाद मूलत: और मुख्यत: उत्पादक शक्तियों की प्राथमिकता के सिद्धान्त के तौर पर ही प्रकट हुआ था। लेनिन ने अन्य कई अर्थवादी रुझानों की पहचान की थी और इसीलिए आम तौर पर अर्थवाद को लेनिन ने इस रूप में परिभाषित किया था, ***"राजनीतिक प्रश्न उठाने से इंकार करने की वही पुरानी अर्थवादी प्रवृत्ति।"*** और एक अन्य जगह लेनिन अर्थवाद को ***"राजनीतिक प्रश्न उठाने में अक्षमता"*** के रूप में भी परिभाषित करते हैं (लेनिन, 1964, **दि नेसेण्ट ट्रेण्ड ऑफ इम्पीरियलिस्ट इकोनॉमिज़्म**, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-23, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ.

13-21, *अनुवाद हमारा*)। लेनिन के ऐसे ढेरों उद्धरण पेश किये जा सकते हैं जो कि अर्थवाद को एक *आम* विजातीय रुझान के तौर पर व्याख्यायित करते हैं। लेकिन बेतेलहाइम की सख़्त से सख़्त आलोचना करने के प्रयास में कठमुल्लावादी मार्क्सवादी आलोचना अन्त में बेतेलहाइम जैसे हेगेलीय प्रत्ययवादियों की अवस्थिति को लाभ ही पहुँचाता है। मार्क्स और एंगेल्स की रचनाएँ भी इस तथ्य के प्रति विशेष जागरूकता को प्रदर्शित करती हैं कि इतिहास में ऐसे दौर आते हैं, विशेष तौर पर, आमूलगामी और युगान्तरकारी परिवर्तनों के दौर, जब अधिरचना का पहलू और उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण का पहलू प्रमुख भूमिका निभाता है। सेन एक स्थान पर लिखते हैं कि बेतेलहाइम के शर्मिन्दा रक्षकों (मिसाल के तौर पर, तमाम तथाकथित माओवादी लेखक, आलोचक आदि) ने उत्पादन सम्बन्धों को आम तौर पर प्राथमिक और निर्धारक तत्व सिद्ध करने के प्रयास में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व की इस तरीके से पेशकश की है, जिसमें कोई भी निर्णायक तत्व या निर्धारक तत्व नहीं होता है, और यह केवल एक "अनिर्धारित" द्वन्द्व के समान होता है; सेन का यह कहना बिल्कुल सही है कि यह सापेक्षतावाद (relativism) के गड्ढे में गिरना है। **लेकिन इस द्वन्द्व का एक स्थैतिक चित्र पेश करना भी कठमुल्लावाद के गड्ढे में गिरने के समान है, जिसमें उत्पादक शक्तियाँ हर क्षण निर्धारक तत्वों की भूमिका में होती हैं।** वास्तव में, इसी कमज़ोरी का लाभ सेन की आलोचना करने वाले कुछ बेतेलहाइम के समर्थकों ने उठाया भी है, हालाँकि कुल मिलाकर उनकी अवस्थिति अपेक्षाकृत रूप से कमज़ोर ठहरती है।

मार्क्स और एंगेल्स और उसके बाद लेनिन और माओ की रचनाओं में हमें इस प्रकार की कोई प्रश्नोत्तरी तो नहीं मिलेगी जिसमें उन्होंने सीधे-सीधे इस प्रश्न का जवाब दिया हो कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों में कौन सा कारक हर-हमेशा निर्धारक की भूमिका निभाता है, लेकिन उनके पूरे रचना कर्म से हम इस विषय पर एक सन्तुलित मार्क्सवादी-लेनिनवाद-माओवादी अवस्थिति को निःसृत कर सकते हैं। **क्योंकि महान शिक्षकों की रचनाओं में से सन्दर्भ से काटते हुए दोनों ही पक्ष अपने समर्थन में उद्धरणों के ढेर लगा सकते हैं, लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवाद पहुँच और पद्धति को इस प्रकार की धुरीविहीन और सन्दर्भरहित उद्धरणबाज़ी से नहीं समझा जा सकता है।**

हम समझते हैं कि अगर आम तौर पर मानव इतिहास की बात की जाये तो उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के द्वन्द्व में प्रधान और गौण कारकों का कोई *स्थायी* बँटवारा नहीं होता; **प्रधान कारक गौण बन जाते हैं और गौण कारक प्रधान में तब्दील हो जाते हैं। हर अन्तरविरोध के बारे में यह बात सत्य है और उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के विषय में भी यह बात उतनी ही सत्य है। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का यह द्वन्द्व सतत् गतिमान होता है, परिवर्तनशील होता है। अगर मानव समाज के पूरे इतिहास में उद्भवात्मक विकास (evolutionary development) की बात करें तो निश्चित तौर पर उत्पादक शक्तियों का विकास एक अधिक गतिमान तत्व है और *इस रूप में* आम तौर पर वह एक निर्धारक भूमिका निभाता है। लेकिन अगर हम आमूलगामी परिवर्तनों, अनिरन्तरताओं या विच्छेदों के दौरों की बात करें तो निश्चित तौर पर उत्पादन सम्बन्धों का पहलू उस समय प्रधान कारक की भूमिका में होता है।** वैसे तो सभी क्रान्तियों के दौरों के लिए यह बात सही है, लेकिन समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थापना के बाद के एक लम्बे दौर के लिए यह बात विशेष तौर पर सही है। समाजवादी क्रान्तियों की विशिष्टता पर हम थोड़ा आगे आयेंगे।

निश्चित तौर पर, उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच द्वन्द्व *लगातार* मौजूद रहता है, चाहे प्रधान पहलू कोई भी हो, अन्यथा किसी द्वन्द्व की बात ही नहीं जा सकती है। इसीलिए उत्पादक शक्तियों के विकास के लिए अनुकूल उत्पादन सम्बन्धों द्वारा प्रेरण एक पूर्वशर्त है, और साथ ही किसी भी प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना उत्पादक शक्तियों और उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों के एक स्तर की माँग करता है। अगर यह बात न समझी जाय तो न तो यह बताना सम्भव होगा कि उत्पादक शक्तियों का विकास कैसे होता है और न ही यह बताना सम्भव होगा कि उत्पादन सम्बन्धों की ऐतिहासिकता (historicity) क्या है? किसी विशेष दौर में विशेष किस्म के उत्पादन सम्बन्ध ही क्यों बने, किसी और किस्म के क्यों नहीं? उत्पादन सम्बन्ध या तो उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधा की भूमिका निभायेंगे या फिर उत्प्रेरण की। मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों में बँधे होते हैं, यह मार्क्सवाद की खोज नहीं थी; मार्क्सवाद ने जिस बुनियादी प्रश्न का जवाब दिया वह यह था कि ये सामाजिक उत्पादन सम्बन्ध किस प्रकार निर्धारित होते हैं? मनुष्य किसी विशेष दौर में किसी विशेष प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों में ही क्यों बँधते हैं? क्या यह आकस्मिकता या संयोग का मामला है? या फिर यह मनुष्यों की मनोगत इच्छा या मंशा का मसला है? बेतेलहाइम इसी सवाल पर फँस जाते हैं। यदि उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों के द्वन्द्ववाद में कोई उत्पादन सम्बन्धों को हर-हमेशा निर्धारक तत्व माने तो वह इस प्रश्न का जवाब नहीं दे सकता है और अन्ततः प्रत्ययवाद और मनोगतवाद के गड्ढे में जाकर गिरता है। वहीं अगर कोई यह मानता है कि इस द्वन्द्व में उत्पादक शक्तियों का विकास हर-हमेशा निर्धारक कारक की भूमिका निभाता है तो उसे उत्पादक शक्तियों के विकास को एक प्राकृतिक शक्ति मानना होगा, जो स्वतः अपनी ही आन्तरिक अन्तर्क्रिया से विकसित होती है। उसके लिए उत्पादक शक्तियों का विकास एक स्वायत्त परिघटना बन जायेगी और इस सूरत में उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के रथ के पीछे घिसटने वाली चीज़ बन जायेंगे। **ये दोनों ही छोर किसी द्वन्द्व की बात नहीं कर रहे हैं, और अगर द्वन्द्व की बात कर रहे हैं, तो वे एक "स्थैतिक द्वन्द्व" की बात कर रहे हैं, और यह शब्द ही एक ग़लत शब्द (misnomer) है।** कोई द्वन्द्व स्थैतिक नहीं होता, और अगर किसी स्थैतिक द्वन्द्व की बात की जा रही है तो वह ठीक इसी कारण से द्वन्द्व नहीं होगा क्योंकि वह स्थैतिक है।

चार्ल्स बेतेलहाइम इसमें पहली वाली ग़लती को अंजाम देते हैं। उनके मुताबिक इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों की भूमिका निर्धारक होती है। अगर यह पूछा जाये कि उत्पादन सम्बन्धों को कौन-सा कारक निर्धारित करता है, तो वह वर्ग संघर्ष का नाम लेते हैं। अगर उनसे पूछा जाय कि वर्ग संघर्ष के चरित्र का निर्धारण कैसे होता है, तो वह अन्ततः विचारधारा की शरण में जाते हैं क्योंकि उनके अनुसार हर वर्ग संघर्ष विचारधारात्मक रूपों में ही होता है! चिन्तन की यह दिशा बेतेलहाइम को अन्त में हेगेलीय प्रत्ययवाद और युवा-हेगेलीय मनोगतवाद के एक विचित्र मिश्रण के गड्ढे में जा गिराता है। **मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के अनुसार मानव समाज में सबसे बुनियादी चीज़ होती है भौतिक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन।** मनुष्य उत्पादन की प्रक्रिया में प्रकृति से और स्वयं आपस में निश्चित सम्बन्ध कायम करते हैं। वे आपस में एक निश्चित किस्म के सहकार के ज़रिये ही उत्पादन कर सकते हैं। इन सम्बन्धों के दायरे के भीतर ही वे उत्पादन करते हैं और प्रकृति पर अपनी मानवीय कार्रवाई को अंजाम देते हैं। इन सम्बन्धों का चरित्र अन्तिम तौर पर *उत्पादन की प्रभावी भौतिक परिस्थितियों और उत्पादन के साधनों* पर निर्भर करता है। भौतिक उत्पादन के

आरम्भ में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के सम्बन्ध में सापेक्षिक संगति का पहलू प्रधान होता है और अनुकूल उत्पादन सम्बन्धों के सन्दर्भ में उत्पादक शक्तियों का विकास होता है; लेकिन उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों में उत्पादक शक्तियों की भूमिका ज़्यादा गतिमान होती है। इसी कारण से उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की सापेक्षिक संगति का पहलू गौण होता जाता है और उनकी असंगति का पहलू प्रधान बनता जाता है। एक वर्ग समाज में उन्नत होती उत्पादक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले नये सामाजिक वर्ग पुराने सामाजिक ढाँचे को नयी परिस्थितियों के अनुसार ढालने का प्रयास करते हैं। यह अन्तरविरोध उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच बढ़ते अन्तरविरोधों के साथ असमाधेय होता जाता है और सामाजिक क्रान्ति या रूपान्तरण के युग की शुरुआत होती है। निश्चित तौर पर, इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रान्ति इस प्रक्रिया में स्वत: सम्पन्न हो जाती है। असमाधेय हो चुके अन्तरविरोध तीखे होते सामाजिक वर्ग संघर्ष में प्रतिबिम्बित होते हैं, हालाँकि यह प्रतिबिम्बन बेहद जटिल होता है और आर्थिक क्षेत्र के अतिरिक्त विचारधारा, राजनीति, संस्कृति और मूल्यों के क्षेत्र में भी होता है, जो कि निश्चित तौर पर आपस में सतत् अन्तर्क्रिया करते रहते हैं और वास्तविकता में उनके बीच रेखाएँ खींचकर कोई बँटवारा नहीं किया जा सकता है। बहुविध रूपों में होने वाला यह वर्ग संघर्ष ही समाज की गति को तात्कालिक तौर पर निर्धारित करता है और यही तय करता है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के असमाधेय हो चुके अन्तरविरोध का समाधान एक सामाजिक क्रान्ति के तौर पर होगा या फिर उत्पादक शक्तियों के विनाश और प्रतिक्रिया के एक दौर के रूप में होगा। और यहीं पर क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी हिरावल की भूमिका अहम हो जाती है। आप मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन या माओ से यह उम्मीद नहीं कर सकते हैं कि वे किसी भी विषय विशेष पर चर्चा करते हुए इन सभी नुक्तों पर विस्तारों और व्याख्याओं में जायें। इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी समझदारी की बात करते हुए मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन व माओ ने एक भाषा में लिखा है तो क्रान्ति की परिस्थितियों, उसकी पूर्वशर्तों, वर्ग संघर्ष और वर्ग अधिनायकत्व पर विशेष तौर पर चर्चा करते हुए उनका ज़ोर अलग दिखता है। अगर उनके लेखन को सम्पूर्णता में न देखा जाये, तो बेतेलहाइम जैसे हेगेलीय प्रत्ययवादियों को भी अपनी अवस्थिति को सिद्ध करने के लिए उद्धरण मिल जायेंगे, और स्तालिन के अनालोचनात्मक रक्षकों को भी अपने समर्थन में कुछ उद्धरण मिल ही जायेंगे। बेतेलहाइम के मार्क्सवाद पर चली बहसों में आम तौर पर हमें मार्क्सवादी-लेनिनवादी पहुँच और पद्धति पर वैज्ञानिक चर्चा की बजाय इसी किस्म की यान्त्रिक, सार-संग्रहवादी (eclectic) और चयनवादी (selective) उद्धरणबाज़ी मिलती है।

यहाँ पर बेतेलहाइम के कठमुल्लावादी मार्क्सवादी आलोचकों के विषय में एक बात और भी ग़ौर की जानी चाहिए। ऐसे आलोचक उत्पादक शक्तियों पर चर्चा करते समय हमेशा जाने या अनजाने उत्पादन के भौतिक साधनों, तकनोलॉजी व वैज्ञानिक ज्ञान व कुशलता को केन्द्रीय उपादान के तौर पर पेश करते हैं। मानव उपादान का या तो ज़िक्र ही नहीं किया जाता है या फिर उसका सबसे अन्त में नाम लिया जाता है। **उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों पर बिल्कुल पृथक तौर पर विचार करना सम्भव ही नहीं है। ऐसा कोई प्रयास एक अर्थहीन अमूर्तन होगा क्योंकि उत्पादक शक्तियों का केन्द्रीय उपादान स्वयं मनुष्य है और यह मनुष्य ही उत्पादन सम्बन्धों में बँधता है।** अगर इस बुनियादी तथ्य पर से निगाह हट जाये तो कुछ अवैयक्तिक उत्पादक शक्तियों और कुछ अवैयक्तिक उत्पादन सम्बन्धों की

बेतुकी चर्चा में फँसने का ख़तरा रहता है। **ऐसा इसलिए भी है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अध्ययन एक-दूसरे से उनके द्वन्द्व के रूप में ही किया जा सकता है; उनका अध्ययन एक-दूसरे से उनके रिश्ते के तौर पर ही किया जा सकता है; निश्चित तौर पर इन सैद्धान्तिक श्रेणियों को गड्डमड्ड नहीं किया जा सकता है, लेकिन ऐसी किसी भी वैज्ञानिक श्रेणी का अध्ययन अन्य श्रेणियों से उसके रिश्ते के रूप में ही किया जा सकता है क्योंकि ये श्रेणियाँ निरपेक्ष और आदर्श (absolute and ideal) रूप में नहीं बल्कि सापेक्ष और यथार्थ (relative and real) रूप में मौजूद होती हैं।** मार्क्स ने प्रूधों की आलोचना करते हुए इस तथ्य को इस प्रकार रेखांकित किया है:

"आर्थिक श्रेणियाँ केवल सैद्धान्तिक अभिव्यक्तियाँ होती हैं, उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के अमूर्तीकरण। एम. प्रूधों एक सच्चे दार्शनिक के समान चीज़ों को सिर के बल खड़ा रखते हुए वास्तविक सम्बन्धों में और कुछ नहीं बल्कि इन सिद्धान्तों, इन श्रेणियों का अवतरण देखते हैं, जो कि–तो दार्शनिक एम. प्रूधों हमें बताते हैं–"मानवता की अवैयक्तिक तर्कणा" के आलिंगन में झपकी ले रही थीं।" (कार्ल मार्क्स, 1977, **दि पावर्टी ऑफ फिलॉसफी,** तीसरा संस्करण, फॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, पीकिंग, पृ. 102-03, *अनुवाद हमारा*) वास्तविकता स्वयं इन श्रेणियों के रूप में विद्यमान नहीं होती बल्कि ये श्रेणियाँ वास्तविकता के वैज्ञानिक अध्ययन से नि:सृत होती हैं और इन श्रेणियों के आपसी सम्बन्धों और द्वन्द्व में ही यथार्थ को समझा जा सकता है। यही बात उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बारे में और उनके द्वन्द्व के बारे में भी लागू होती है। और यही कारण है कि इनके द्वन्द्व में प्रधान पहलू को लेकर चलने वाली बहसों में इनके द्वन्द्व पर विचार करने की बजाय इन श्रेणियों पर आदर्श व निरपेक्ष रूप में विचार करने के कारण मार्क्सवादी समझदारी के बारे में कोई स्पष्टता पैदा होने की बजाय भ्रम पैदा होता है। बेतेलहाइम और उनके आलोचकों के बीच की बहस पर भी यह बात एक हद तक लागू होती है।

उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व पर विचार करते हुए यहाँ समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व पर अलग से विचार किया जाना चाहिए। हमने तीसरे अध्याय में एक दूसरे सन्दर्भ में इस प्रश्न पर विचार किया था। समाजवादी क्रान्ति कई अर्थों में पूर्ववर्ती सामाजिक क्रान्तियों और रूपान्तरणों से भिन्न है। यह पहली क्रान्ति है जो कि शोषक वर्गों की अल्पसंख्या पर बहुसंख्यक आबादी के अधिनायकत्व को स्थापित करती है। इस रूप में इस क्रान्ति के साथ मानव इतिहास के एक नये युग की शुरुआत होती है। ऐसा इसलिए भी है कि यह क्रान्ति जिस समाज को स्थापित करती है, वह सामाजिक संरचना कोई स्थायी सामाजिक संरचना नहीं होती, जो कि बाद में किसी बलपूर्वक की जाने वाली क्रान्ति के ज़रिये समाप्त हो, बल्कि यह एक संक्रमण की दीर्घकालिक अवधि का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत वर्ग संघर्ष के ज़रिये समाज अन्ततः वर्गविहीन समाज, यानी कि कम्युनिस्ट समाज की ओर जाता है। **चूँकि इन अर्थों में समाजवादी क्रान्ति पूर्ववर्ती सामाजिक क्रान्तियों और परिवर्तनों से भिन्न हैं इसीलिए समाजवादी समाज के उत्पादन सम्बन्ध मूलतः और मुख्यतः पूँजीवादी समाज के गर्भ में ही नहीं पैदा हो जाते; क्योंकि यहाँ क्रान्ति के ज़रिये एक शोषक वर्ग को दूसरे शोषक वर्ग का स्थान नहीं लेना होता है।** पूँजीवादी समाज के दायरे के भीतर समाजवाद की कुछ पूर्वशर्तें ही पूरी होती हैं जैसे कि अभूतपूर्व रूप से विशाल पैमाने पर उत्पादन का समाजीकरण और एक विशाल सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा वर्ग का उदय। इन उत्पादक शक्तियों

के विकास के अलावा पूँजीवादी समाज में समाजवाद के तत्व कम ही होते हैं, विशेष तौर पर उत्पादन सम्बन्धों के धरातल पर बेहद नगण्य, जिन्हें भ्रूण रूप में श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया के कुछ पहलुओं के देखा जा सकता है। इसके विपरीत अगर हम सामन्ती समाज और पूँजीवादी क्रान्तियों की बात करें तो हम पाते हैं कि सामन्ती समाज के गर्भ में ही पूँजीवादी उत्पादक शक्तियों ही नहीं बल्कि एक हद तक पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का भी एक ढाँचा रूप ग्रहण करने लगा था। यही कारण है कि बुर्जुआ क्रान्तियों के बाद उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की प्रक्रिया **ग्यॉर्गी लूकाच** के शब्दों में "अभूतपूर्व सहजता" और "उत्कृष्टता" के साथ आगे बढ़ती है; ऐसा लगता है मानो पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियाँ बस एक आवरण को फाड़कर सामने आ गये हैं। लेकिन समाजवादी क्रान्ति के साथ ऐसा नहीं होता। बुर्जुआ राज्यसत्ता के ध्वंस और सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना, निजी सम्पत्ति का कानूनी उन्मूलन और उसके बाद उत्पादन की प्रक्रिया पर क्रमिक गति से स्वयं प्रत्यक्ष उत्पादकों के नियन्त्रण का कायम होना, आदि, सबकुछ बेहद सचेतन तौर पर अंजाम दिया जाता है और यह पूरी प्रक्रिया बेहद उथल-पुथल से भरी होती है। समाजवादी क्रान्ति के बाद उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का कार्य पहले की क्रान्तियों की अपेक्षा एक लम्बा, जटिल और दुरूह कार्य होता है। **इस रूप में या कहें कि यही कारण है कि समाजवादी क्रान्ति के बाद और सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना के बाद उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू लम्बे समय तक प्रधान पहलू की भूमिका निभाता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच का द्वन्द्व स्थैतिक और पूर्वनिर्धारित होता है। इस दीर्घकालिक संक्रमण के दौरान भी यह द्वन्द्व बदलता है, प्रधान पहलू गौण बन जाता है, और गौण पहलू प्रधान।** समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना का कार्य कई मंज़िलों से होकर गुज़रता है जिसमें सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना और फिर निजी सम्पत्ति का उन्मूलन आधारभूत भूमिका निभाते हैं। इस बुनियाद के बिना उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण का कार्य एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता और आप सीधे विनियोजन की सामाजिक प्रक्रियाओं, श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया के समाजवादी रूपान्तरण की बात भी नहीं कर सकते हैं।

बेतेलहाइम द्वारा चीनी प्रयोग से अनुचित रूप से वैधता ग्रहण करने का प्रयास करते हुए यह दावा किया जाना कि निजी सम्पत्ति के कानूनी रूपों का ख़ात्मा कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था में भी ऐसा होना सम्भव है, एक भयंकर विभ्रम पैदा करता है और राज्य के चरित्र के पूरे प्रश्न को नहीं समझता। निश्चित तौर पर, पूँजीवाद निजी पूँजीपति वर्ग के बिना अस्तित्वमान रह सकता है; लेकिन अगर स्तालिन के दौर सोवियत संघ को राजकीय पूँजीवादी क़रार दिया जाता है तो फिर यह मानना होगा कि सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण कभी शुरू ही नहीं हुआ, समाजवाद कभी वहाँ अस्तित्वमान ही नहीं था; यहाँ बेतेलहाइम जो बात नज़रअन्दाज़ कर रहे हैं वह है (तमाम बुर्जुआ विकृतियों और नौकरशाहाना विरूपताओं के बावजूद, और जिसकी ओर स्तालिन ने भी ध्यानाकर्षित किया था) एक सर्वहारा राज्यसत्ता की मौजूदगी। **राज्य के चरित्र के प्रश्न पर तमाम बड़े-बड़े जुमलों और क्लासिकीय मार्क्सवाद से उद्धरणों का ढेर लगाने के बावजूद बेतेलहाइम इसी वजह से सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना या प्रति-क्रान्ति की किसी 'घटना' (event) की कहीं पहचान नहीं कर पाते।** कम-से-कम उनके रचना-कर्म में ऐसी

किसी पूँजीवादी प्रतिक्रान्ति का ज़िक्र नहीं मिलता; उल्टे अन्त में बेतेलहाइम यहाँ जा पहुँचते हैं कि सोवियत संघ में अन्ततः पूँजीवादी रूपान्तरण कुछ ऐसी प्रवृत्तियों की परिणति थी, जो कि फरवरी 1917 के बाद से ही मौजूद थीं, और विकसित हो रही थीं! बेतेलहाइम राज्यसत्ता के प्रश्न को समझने में बुरी तरह नाकाम रहने के कारण एक भारी विचारधारात्मक और राजनीतिक क़ीमत चुकाते हैं।

बहरहाल, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व के बारे में हेगेलीय प्रत्ययवाद और युवा हेगेलीय मनोगतवाद तथा कठमुल्लावादी मार्क्सवादी, यान्त्रिक भौतिकवादी और होज़ापन्थी अवस्थितियों के दोनों छोरों के विपरीत एक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को अपनाना बहुत महत्वपूर्ण है। इसका एक कारण यह भी है कि आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच के द्वन्द्व का प्रश्न भी इस प्रश्न से जुड़ा हुआ है। इस प्रश्न पर भी एक साफ़ दृष्टिकोण का होना ज़रूरी है और निश्चित तौर पर बेतेलहाइम को पढ़कर इस विषय में एक सन्तुलित समझदारी का बन पाना मुश्किल ही है।

अधिरचना की भूमिका पर भी बेतेलहाइम का ज़ोर गैर-द्वन्द्वात्मक है। बेतेलहाइम का यह मानना कि वर्ग संघर्ष इतिहास की निर्धारक शक्ति होती है, उत्पादक शक्तियों का विकास नहीं (द्वैतवाद!), वर्ग संघर्ष विचारधारात्मक रूपों में होता है और विचारधारा अधिरचना का अंग होती है, बेतेलहाइम को अप्रत्यक्ष तौर पर और बाद में प्रत्यक्ष तौर पर इस नतीजे पर पहुँचा देती है कि इतिहास की आम तौर पर निर्धारक शक्ति अधिरचना होती है। इस अवस्थिति की तुलना आप एंगेल्स के उस कथन से कर सकते हैं, जो ऊपर हमने ब्लॉक को लिखे गये उनके पत्र से उद्धृत किया है। आर्थिक आधार और अधिरचना के द्वन्द्व में *अन्तिम विश्लेषण में* आर्थिक आधार का पहलू निर्धारक पहलू निभाता है; लेकिन क्रान्तिकारी सन्धि-बिन्दुओं या ऐतिहासिक उथल-पुथल या रूपान्तरणों के दौर में अधिरचना का पहलू निर्धारक भूमिका निभा सकता है। लेनिन ने बताया था कि क्रान्ति का प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न है; यदि क्रान्ति का प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न है तो निश्चित तौर पर इतिहास में क्रान्तिकारी घड़ियों में अधिरचना का पहलू प्रधान हो जाता है। न सिर्फ़ राजकीय अधिरचना का पहलू ऐसे दौरों में अहम हो जाता है, बल्कि विचारधारात्मक अधिरचना का पहलू भी इन दौरों में निर्णायक भूमिका निभाता है। अधिरचना के क्षेत्र में वर्ग संघर्ष, बुर्जुआ राज्यसत्ता के ध्वंस और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना के बग़ैर आर्थिक आधार (यानी कि विशिष्टतः उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग, और उत्पादक शक्तियों) का क्रान्तिकारी रूपान्तरण शुरू नहीं किया जा सकता है। निश्चित तौर पर, यह शुरुआत आर्थिक सम्बन्धों के कानूनी रूपों के रूपान्तरण के साथ ही शुरू हो सकता है, जिसे बेतेलहाइम कोई विशेष महत्व नहीं देते हैं। **सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना और निजी सम्पत्ति के कानूनी रूपों का उन्मूलनः इसे हम समाजवादी निर्माण या समाजवादी रूपान्तरण की पहली मंज़िल कह सकते हैं।** हमारा मानना है कि स्तालिन के दौर में समाजवादी सोवियत संघ में, तमाम नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं के बावजूद यह मंज़िल पूरी की गयी थी। इसके बाद समाजवादी रूपान्तरण के काम को जारी रखने के लिए बुर्जुआ अधिकारों का उन्मूलन और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को समाप्त करने का कार्यभार अहम हो जाता है; इस कार्यभार के लिए जहाँ लगातार आर्थिक आधार में उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के विकास के कार्य को अंजाम देना होता है, वहीं अधिरचना में सतत् क्रान्ति के कार्यभार को भी पूरा करना होता है। उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के

द्रुत विकास के कार्य में केन्द्रीय उपादान राजकीय व कार्यकारी निर्णय, तकनोलॉजी, मशीनरी आदि नहीं होते (हालाँकि, वे निश्चित रूप से अहम होते हैं) बल्कि मानव उपादान होता है। इसीलिए विचारधारात्मक अधिरचना के विभिन्न क्षेत्रों में वर्ग संघर्ष को सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत चलाना बेहद महत्वपूर्ण हो जाता है। इस रूप में समाजवादी निर्माण के एक पूरे दौर में अधिरचना का पहलू अहम भूमिका निभाने लगता है। **लेकिन बेतेलहाइम अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के विलोपन के पूरे कार्यभार को केवल विचारधारात्मक अधिरचना तक ही सीमित कर देते हैं।** मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम, गाँव और शहर, उद्योग और कृषि के बीच की असमानताएँ उत्पादन की एक विशेष मंज़िल में पैदा हुई थीं। उनके पैदा होने के साथ ही अधिरचनात्मक क्षेत्र में उनसे संगति रखने वाले विचार, मूल्य, मान्यताएँ, आदतें, आदि भी रूप ग्रहण करते हैं। हर नयी सामाजिक संरचना के उदय के साथ इन तीन बुनियादी असमानताओं और उसके नतीजे के तौर पर होने वाले श्रम विभाजन ने अपने रूप बदले। सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण के साथ इन असमानताओं के रूप और अन्तर्वस्तु में फर्क आये। इसके साथ ही इनसे संगति रखने वाली अधिरचनात्मक अभिव्यक्तियों में भी फर्क आया। पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण में भी यह प्रक्रिया घटित होगी। लेकिन समाजवादी सामाजिक संरचना इस मायने में पूर्ववर्ती सामाजिक संरचनाओं से भिन्न है कि यह शोषक अल्पसंख्या पर उत्पादक बहुसंख्या के अधिनायकत्व/शासन द्वारा पहचानी जाती है और यह इस बात के प्रति "सचेत" होती है कि यह वर्ग-विहीन समाज की ओर प्रयाण की एक संक्रमण अवधि है। सर्वहारा वर्ग अपने सर्वतोमुखी अधिनायकत्व को बुर्जुआ वर्गों पर लागू करता है और सचेतन तौर पर बुर्जुआ मूल्यों, मान्यताओं, विचारों, आदतों, बुर्जुआ श्रम विभाजन, बुर्जुआ अधिकारों आदि के विरुद्ध संघर्ष चलाता है। इस पूरी प्रक्रिया को जहाँ आर्थिक आधार में जारी रखना होता है, वहीं अधिरचना के क्षेत्र में भी सचेतन और सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त को लागू करना होता है। **यदि कोई यह दावा करता है कि पूरे समाजवादी संक्रमण के दौर में अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और विशेष तौर पर विचारधारात्मक अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू ही प्रधान रहता है, जैसा कि बेतेलहाइम दावा करते हैं; या, यदि कोई यह दावा करता है कि पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान आर्थिक आधार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू ही प्रधान पहलू बना रहेगा, जैसा कि यान्त्रिक और अधिभूतवादी मार्क्सवादी दावा करते हैं, तो यह पूरे के पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान आर्थिक आधार और अधिरचना के एक ऐसे द्वन्द्व की कल्पना करते हैं जो कि स्थैतिक होगा।** समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि कोई एकाश्मी या सजातीय (monolithic and homogeneous) अवधि नहीं होगी, बल्कि यह कई चरणों से होकर गुज़रेगी; कहने की ज़रूरत नहीं है कि एक चरण से दूसरे चरण का फर्क उनमें मौजूद अन्तरविरोधों की विशिष्टता पर निर्भर करेगा। जैसा कि माओ ने बताया था कि अन्तरविरोध के प्रधान और गौण पहलू परस्पर बहिष्कारवादी (mutually exclusivist) नहीं होते, बल्कि एक दूसरे में परिवर्तित होने योग्य (transmutable) होते हैं। समाजवादी संक्रमण के दौर में भी अन्तरविरोध को उसकी गति में ही देखा जा सकता है। **ऐसा कोई फार्मुला पेश कर देना कि समाजवादी संक्रमण के दौरान हमेशा अधिरचना का पहलू ही प्रधान रहेगा, या कि पूरे इतिहास में आर्थिक आधार का पहलू ही हमेशा निर्णायक और निर्धारक भूमिका निभाता है, इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी समझदारी नहीं बल्कि एक कठमुल्लावादी और**

यान्त्रिक समझदारी है। और इस रूप में अपने तमाम *वॉलण्टरिज़्म* और मनोगतवाद के बावजूद चार्ल्स बेतेलहाइम की इतिहास की समझदारी एक सिर के बल खड़ा कठमुल्लावाद (inverted dogmatism) है। **अगर तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं का समाप्त करने का मुद्दा आर्थिक आधार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और उत्पादक शक्तियों के विकास का मुद्दा नहीं है और यह केवल विचारधारात्मक अधिरचना का मुद्दा है तो यह कार्य किसी भी युग में हो सकता था, बशर्ते कि कम्युनिस्ट पार्टी और उसकी सत्ता अस्तित्व में होती!** इतिहास की मार्क्सवादी समझदारी विशेष तौर पर किसी भी परिघटना को उसके दिक् और काल में अवस्थित करती है। यह बताती है कि कम्युनिज़्म के सिद्धान्त एक विशेष युग की पैदावार हैं; सर्वहारा वर्ग एक निश्चित ऐतिहासिक और सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भ में पैदा हुआ; यह बताता है कि वर्ग इतिहास के एक निश्चित सन्धि-बिन्दु पर पैदा हुए और एक निश्चित समय पर इनका विलोपन हो जायेगा; यह बताता है कि श्रम विभाजन भी उत्पादन की एक विशेष मंज़िल (जिसका अर्थ केवल उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर नहीं है, जैसा कि यान्त्रिक भौतिकवादी और होज़ापन्थी टिप्पणीकार दावा करते हैं) में पैदा हुआ है और एक अन्य विशेष मंज़िल में ही इनका विलोपन हो सकता है। यह केवल मनुष्य की मनोगत इच्छाओं के ज़रिये नहीं ख़त्म की जा सकती है। निश्चित तौर पर, मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाता है, लेकिन वह इसे अपनी मनमर्ज़ी से नहीं बनाता है। जो इस बात कोई नहीं समझता है वह ऐतिहासिक भौतिकवाद के एक बुनियादी सिद्धान्त यानी कि आवश्यकता और स्वतन्त्रता (freedom and necessity) के सिद्धान्त से नावाक़िफ़ है और उसी ग़लती को अंजाम दे रहा है जिस ग़लती को युवा हेगेलपंथियों ने अंजाम दिया था।

चूँकि ये असमानताएँ उत्पादन की एक विशेष मंज़िल में पैदा हुई थीं और उनकी एक ऐतिहासिकता है, इसलिए इन असमानताओं और बुर्जुआ अधिकारों को केवल विचारधारात्मक प्रचार और शिक्षण से समाप्त नहीं किया जा सकता है। लेकिन साथ ही जो प्रेक्षक या अध्येता यह दावा करते हैं कि विचारधारात्मक अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का कार्य समाजवादी संक्रमण की ऐतिहासिक अवधि के किसी बिन्दु पर प्रधान अन्तरविरोध नहीं बनता है, वे भी उतनी ही भयंकर भूल कर रहे हैं। इसलिए आर्थिक आधार और अधिरचना के द्वन्द्व के प्रश्न पर भी बेतेलहाइम एक युवा हेगेलीय मतिभ्रम के शिकार हैं, जबकि उनके यान्त्रिक भौतिकवादी और अर्थवादी आलोचक आर्थिक आधार के प्रति भावनात्मक मोह में फँसे हुए हैं। **इन ग़लत अवस्थितियों के युग्म के पीछे वास्तव में एक ही अधिभूतवादी और यान्त्रिक पद्धति छिपी हुई है जो कि मार्क्सवादी पद्धति से कोसों दूर है।** हमारा मानना है कि समाजवादी संक्रमण की समस्याओं की एक अपेक्षाकृत सन्तुलित समझदारी विकसित करने के लिए समाजवादी संक्रमण के दौरान समाजवादी समाज में मौजूद अन्तरविरोधों की एक सही समझदारी होना ज़रूरी है और ऐसी कोई भी समझदारी समाजवादी समाज में तात्कालिक निर्धारक कारक के तौर पर वर्ग संघर्ष और अन्तिम तौर पर निर्धारक तत्व के तौर पर उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के द्वन्द्व को स्थैतिक द्वन्द्व के तौर पर नहीं बल्कि एक गतिमान द्वन्द्व के रूप में ही देख सकती है।

आधार और अधिरचना के बीच सम्बन्धों के विषय में बेतेलहाइम तथ्यों और अवधारणाओं, दोनों के ही स्तरों पर कई नुक़सानदेह विकृतिकरण पैदा करते हैं। इसमें एक अहम विकृतिकरण वह अपने ग़ैर-मार्क्सवादी सूत्रीकरणों को माओ पर थोपकर करते हैं। मिसाल के तौर पर, उन्होंने अपनी इस पुस्तक में भी और अन्य कई रचनाओं में भी यह दावा

किया है कि माओ ने आर्थिक आधार और अधिरचना के सम्बन्धों के विषय में पुराने कठमुल्लावादी मार्क्सवादी सूत्रीकरण का खण्डन किया और यह दिखलाया कि अधिरचना के बिना आर्थिक आधार का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता और अन्तिम विश्लेषण में अधिरचना आर्थिक आधार को निर्धारित करती है। इसमें किसी भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी को कोई भ्रम नहीं होना चाहिए कि आर्थिक आधार एकतरफ़ा तरीके से अधिरचना को निर्धारित नहीं करता है और वह केवल अन्तिम विश्लेषण में ही अधिरचना को निर्धारित करता है। स्वयं मार्क्स और एंगेल्स ने तमाम जगहों पर इस तथ्य को रेखांकित किया है। ख़ास तौर पर, एंगेल्स द्वारा 1880 के दशक से उनके जीवन के अन्त तक कई लोगों को लिखे गये पत्रों में एंगेल्स ने इस बात की ओर विशेष तौर पर ध्यानाकर्षण किया था कि इतिहास के कई मौकों पर और ख़ास तौर पर क्रान्तिकारी सन्धि-बिन्दुओं पर अधिरचना निर्धारक कारक की भूमिका निभाती है। लेकिन बेतेलहाइम द्वारा यह दावा किया जाना कि यह तथ्य माओ की खोज थी, इस विषय पर माओ-पूर्व मार्क्सवादी चिन्तन को कूड़े की टोकरी के हवाले करना है। माओ ने स्वयं कभी इस खोज का दावा नहीं किया था कि इतिहास में अधिरचना भी कई मौकों पर निर्धारक की भूमिका निभाती है। माओ का विशिष्ट योगदान इस प्रश्न पर क्या था, उस पर हम थोड़ा आगे आएँगे। लेकिन पहले हम इस तथ्य की ओर विशेष तौर पर ध्यान दिलाना चाहेंगे कि लेनिन ने भी अधिरचना और आधार के गतिमान द्वन्द्व को कई रचनाओं में रेखांकित किया था। मिसाल के तौर पर, लेनिन ने मृत्यु से पहले के अपने लेखन में सोवियत संघ में समाजवाद की समस्याओं में से एक प्रमुख समस्या यह बतायी थी कि सोवियत मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता की सांस्कृतिक चेतना का स्तर बेहद निम्न है और इसके स्तरोन्नयन के बिना केवल उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास से समाजवाद का निर्माण नहीं किया जा सकता है। लेनिन ने निश्चित तौर पर 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का सुसंगत विज्ञान नहीं पेश किया था, लेकिन समाजवाद और संस्कृति के प्रश्न पर चिन्तन लेनिन जीवन के अन्तिम दौर में शुरू कर चुके थे। 'सहकार के बारे में' में लेनिन लिखते हैं:

"हमारे विरोधियों ने हमें बार-बार बताया कि हमने एक अपर्याप्त रूप से संस्कृति-सम्पन्न देश में समाजवाद को बो देने का उपक्रम हाथ में लेने की जल्दबाज़ी की। लेकिन हमारे उस छोर के विपरीत छोर से शुरुआत करने से वे भ्रमित हो गये थे जिस छोर की अनुशंसा सिद्धान्त (हर प्रकार के विद्याडम्बरियों के सिद्धान्त) करते हैं, क्योंकि हमारे देश में राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति सांस्कृतिक क्रान्ति के पहले सम्पन्न हुई, वही सांस्कृतिक क्रान्ति जो अब हमारा कार्यभार बन गयी है।" (वी.आई. लेनिन, 1966, **ऑन कोऑपरेशन**, *कलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड-33, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 474-75, *अनुवाद हमारा*)

बताने की आवश्यकता नहीं है कि माओ के सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त एक अलग सिद्धान्त है। लेकिन यहाँ लेनिन जिस चीज़ की बात कर रहे हैं, वह विचारधारात्मक अधिरचना के क्षेत्र में समाजवादी रूपान्तरण का ही एक पहलू है। लेनिन के एक और उद्धरण पर ग़ौर करें:

"अगर समाजवाद के निर्माण के लिए संस्कृति के एक निश्चित स्तर की आवश्यकता है (हालाँकि कोई बता नहीं सकता कि वह "संस्कृति का वह निश्चित स्तर" क्या है, क्योंकि यह हर पश्चिमी यूरोपीय देश में भिन्न है) तो हम पहले क्रान्तिकारी तरीके से संस्कृति के उस निश्चित स्तर की पूर्वशर्तों को पूरा करने के साथ

शुरुआत क्यों नहीं कर सकते, और फिर, मज़दूरों व किसानों की सरकार और सोवियत तन्त्र की सहायता से अन्य राष्ट्रों से आगे क्यों नहीं निकल सकते?" (वी. आई. लेनिन, 1966, **हमारी क्रान्ति**, *कलेक्टेड वर्क्स*, खण्ड-33, चौथा संस्करण, पृ. 478-79, *अनुवाद हमारा*)

निश्चित तौर पर, अधिरचना और आर्थिक आधार के द्वन्द्व की एक गतिमान समझदारी माओ के पूर्व भी हम मार्क्सवादी चिन्तन में स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं। वहीं दूसरी ओर माओ पर जिस विचार को बेतेलहाइम थोपने का प्रयास कर रहे हैं, उसके बरक्स अगर हम माओ के ही लेखन को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि माओ का उस विचार से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। 1930 के दशक के उत्तरार्द्ध में माओ ने चीनी पार्टी के भीतर कठमुल्लावाद का विरोध करते हुए कुछ लेख लिखे जो अब दर्शन पर लिखे गये माओ के प्रमुख लेखों के रूप में जाने जाते हैं। इनमें से एक लेख **'अन्तरविरोध के बारे में'** विशेष तौर पर महत्वपूर्ण है। **इस लेख में माओ बताते हैं कि एक भौतिकवादी वही होता है जो कि यह माने कि इतिहास में अन्तिम तौर पर आर्थिक आधार निर्णायक की भूमिका निभाता है। लेकिन एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी वही होता है जो कि यह समझता है कि निर्धारित होने के बाद अधिरचना स्वयं एक निर्धारक की भूमिका अदा करती है।** जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच का द्वन्द्व कोई स्थैतिक द्वन्द्व नहीं होता। आइये देखें कि माओ इस बात को किस तरह से स्पष्ट करते हैं:

"यह सही है कि उत्पादक शक्तियाँ, व्यवहार और आर्थिक आधार आम तौर पर प्रधान और निर्णायक भूमिका अदा करते हैं; जो भी इससे इंकार करता है वह भौतिकवादी नहीं है। लेकिन यह भी माना जाना चाहिए कि कुछ विशेष स्थितियों में, उत्पादन सम्बन्धों, सिद्धान्त और अधिरचना जैसे पहलू भी पलटकर अपने आपको प्रधान और निर्णायक भूमिका में पेश करते हैं। जब उत्पादक शक्तियों के लिए उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन के बिना विकसित होना असम्भव हो जाता है, तो उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन प्रधान और निर्णायक भूमिका अदा करता है।...क्या ऐसा कहकर हम भौतिकवाद के ख़िलाफ़ जा रहे हैं? नहीं। इसका कारण यह है कि जब हम यह स्वीकारते हैं कि इतिहास के सामान्य विकास में भौतिक तत्व मानसिक तत्व को और सामाजिक अस्तित्व सामाजिक चेतना को निर्धारित करता है, तो हमें-निश्चित तौर पर अवश्य ही-भौतिक चीज़ों पर मानसिक चीज़ों, सामाजिक चेतना का सामाजिक अस्तित्व और अधिरचना के आर्थिक आधार पर प्रतिक्रिया को भी स्वीकारना चाहिए। यह भौतिकवाद के विरुद्ध नहीं जाता; उल्टे, यह यान्त्रिक भौतिकवाद की ग़लती से बचाता है और मज़बूती से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को कायम रखता है।" (माओ त्से तुंग, 1967, **अन्तरविरोध के बारे में**, *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ माओ त्से तुंग*, खण्ड-1, फॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, पीकिंग, पृ. 336, *अनुवाद हमारा*)

इस उद्धरण से ही स्पष्ट है कि बेतेलहाइम माओ पर हेगेलीय व युवा हेगेलीय विचारों के जिस मिश्रण को थोपने का प्रयास कर रहे हैं, माओ ने उसकी निरन्तरतापूर्ण आलोचना पेश की है और एक द्वन्द्वात्मक समझदारी को पेश किया है। बेतेलहाइम इसी तरीके से माओ के विचारों को बार-बार विकृत करके पेश करते हैं, ताकि अपनी उस समझदारी को "माओवाद" का जामा पहना सकें जो दार्शनिक तौर पर हेगेलीय प्रत्ययवाद, युवा हेगेलवाद और अधिभूतवाद और राजनीतिक तौर पर संशोधनवाद, अराजकतावाद,

अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, बुखारिनपन्थ, त्रात्स्कीपन्थ और स्वीज़ीपन्थी मार्क्सवाद की एक विचित्र घालमेल खिचड़ी है।

जहाँ तक माओ के विशिष्ट अवदान का प्रश्न है तो समाजवादी संक्रमण के दौरान आर्थिक आधार और अधिरचना के गतिमान द्वन्द्व के बारे में माओ ने जो समझदारी पेश की वह माओ का विशिष्ट अवदान था और 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का सिद्धान्त इस रूप में समाजवादी समाज के गति के नियमों के विषय में मार्क्सवादी समझदारी को गुणात्मक रूप से विकसित करता है। माओ ने बताया कि समाजवादी सामाजिक संरचना के तहत आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच एक अन्तरविरोध का सम्बन्ध बरक़रार रहता है और उनके बीच "पूर्ण संगति" नहीं आती है। समाजवादी अधिरचना के अंग के तौर पर समाजवादी राज्यसत्ता, समाजवादी कानून और समाजवादी विचारधारा आर्थिक आधार में मौजूद समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के साथ सापेक्षिक संगति में होते हैं और उसकी सेवा करते हैं। लेकिन इसके साथ ही अधिरचना में बुर्जुआ विचारधारा, मूल्य-मान्यताओं, आदतों की मौजूदगी बरक़रार रहती है। साथ ही, बुर्जुआ श्रम विभाजन और उसके कारण बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी के कारण बुर्जुआ विचारधारा का एक भौतिक आधार भी समाज में मौजूद रहता है। माओ ने बताया कि जहाँ आर्थिक आधार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का कार्य जारी रखना ज़रूरी है, वहीं यह भी ज़रूरी है कि अधिरचना के धरातल पर सतत् क्रान्ति को जारी रखते हुए बुर्जुआ विचारधारा के प्राधिकार को निर्णायक रूप से तोड़ा जा सके; साथ ही, माओ ने यह भी बताया कि समाजवादी संक्रमण के दौरान समाजवादी निर्माण में ऐसे दौरों को आना लाज़िमी है जब अधिरचना के धरातल पर सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने का पहलू प्रधान होगा। वास्तव में, आर्थिक आधार में भी समाजवादी रूपान्तरण को जारी रखने के लिए कई बार सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति एक पूर्वशर्त बन जायेगी। तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं की समाप्ति का काम *केवल* उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण से ही नहीं हो सकता है; इस युगों पुराने श्रम विभाजन की अधिरचनात्मक अभिव्यक्तियों के विरुद्ध सतत् संघर्ष भी इस बात को सुनिश्चित करेगा कि इन श्रम विभाजनों का विलोपन हो सके। अधिरचना के धरातल पर मौजूद पुराने तत्व नये आर्थिक आधार की स्थापना की शुरुआत के साथ खुद-ब-खुद नहीं बदलने लग जायेंगे। उनके लिए भी सर्वहारा पार्टी और राज्य को सचेतन प्रयास करने होंगे। यही प्रयास राज्य और पार्टी के भीतर एक राजकीय बुर्जुआ वर्ग को सुदृढ़ीकृत होने से भी रोकेंगे (जिनके चरित्र का फैसला केवल उनकी विचारधारा और सर्वहारा या ग़ैर-सर्वहारा प्रथाओं से ही नहीं होगा, जैसा कि बेतेलहाइम बताने का प्रयास करते हैं, बल्कि वितरण सम्बन्धों और विनियोजन के सम्बन्धों के ज़रिये होगा, जिनका बेतेलहाइम ज़िक्र तो करते हैं लेकिन उन्हें विचारधारा पर अपचयित कर देते हैं)। माओ ने बताया कि समाजवादी आर्थिक आधार को बरक़रार रखने और आर्थिक आधार में समाजवादी रूपान्तरण को जारी रखने के लिए अधिरचना के धरातल पर सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के प्राधिकार को निर्णायक तौर पर स्थापित करना अनिवार्य है और इसलिए समाजवादी संक्रमण की दीर्घकालिक अवधि में निश्चय ही ऐसे दौर आयेंगे जब अधिरचना के समाजवादी रूपान्तरण का पहलू प्रधान होगा, ठीक वैसे ही जैसे कि ऐसे दौर भी होंगे, जब आर्थिक आधार के समाजवादी रूपान्तरण का पहलू प्रधान होगा। माओ के महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त कहीं आसमान से नहीं टपका, बल्कि कई मायनों में वह समाजवादी संक्रमण की समस्याओं के बारे में लेनिन के चिन्तन की निरन्तरता में

ही था; **निश्चित तौर पर, समाजवादी समाज में सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखने की रणनीति और आम रणकौशल को एक सुसंगत सिद्धान्त के तौर पर सूत्रबद्ध करने का श्रेय माओ को ही जायेगा और इस रूप में माओ के अवदानों को 'माओवाद' का नाम दिया जाना चाहिए।**

●

हम देख सकते हैं कि "अर्थवाद" के अपने विशिष्ट तौर पर निर्मित संस्करण को बेतेलहाइम किस तरीके से बोल्शेविक पार्टी और विशेष तौर पर स्तालिन पर थोपते हैं; किस तरह से इस तथाकथित आलोचना की चपेट में वह चलते-चलाते मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन को भी ले लेते हैं; और किस प्रकार वह यह दावा करते हैं कि इन प्रश्नों पर उनके ज्ञान चक्षु तब खुले जब माओ ने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त देते हुए, मार्क्सवादी-लेनिनवादी चिन्तन में मौजूद "अर्थवाद" का पुख़्ता जवाब दिया और चीनी समाजवादी प्रयोगों के ज़रिये यह दिखला दिया कि उत्पादक शक्तियों के विकास के निम्न स्तर के बावजूद समाजवाद का निर्माण हो सकता है! हम देख चुके हैं कि ये सारे दावे वास्तव में सच्चाई से काफ़ी दूर हैं। पूरी समस्या की इस रूप में प्रस्तुति वास्तव में अर्थवाद के विचलन की पहचान ही ग़लत तरीके से करती है, उसकी ग़लत परिभाषा और व्याख्या पेश करती है, उस ग़लत परिभाषा और व्याख्या को ग़लत तरीके से बोल्शेविक पार्टी और स्तालिन पर थोपती है (जिनमें निहित अर्थवादी रुझानों की निश्चित तौर पर आलोचना की जा सकती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि चीनी समाजवादी निर्माण और चीनी पार्टी की तमाम प्रस्थापनाओं की इन प्रश्नों पर एक सर्वथा अलग आलोचना पेश की जा सकती है) और अन्त में चीनी समाजवादी प्रयोगों का एक काल्पनिक ब्यौरा पेश करते हुए पूरे सोवियत समाजवादी प्रयोगों को ग़लत तरीके से निशाने पर रखती है। **इस रूप में बेतेलहाइम की समस्या-प्रस्तुति (problematic) और साथ ही *थीमैटिक* (thematic का अर्थ मोटे तौर पर यहाँ विश्लेषण के लिए इस्तेमाल की गयी पद्धति या नियमों से है) वास्तव में समस्या के मूल तक जाना और उसकी आलोचना पेश करना तो दूर समस्या की पहचान करने और परिभाषा पेश करने के कार्यभार को ही नहीं पूरा कर पाती।** बेतेलहाइम द्वारा समस्याओं की यह प्रस्तुति और उनके विश्लेषण के लिए इस्तेमाल की गयी विचित्र पद्धति उन्हें विचित्र परिणामों तक पहुँचा देती है। मसलन, बेतेलहाइम का यह दृष्टिकोण कि वर्ग संघर्ष हर-हमेशा विचारधारात्मक रूप में ही होते हैं। यानी कि वर्ग संघर्ष को पूरी तरह से विचारधाराओं के संघर्ष में अपचयित कर दिया गया है। **यह कहना कि वर्ग संघर्ष सामान्य तौर पर विचारधारात्मक रूपों में अनिवार्य रूप से अभिव्यक्ति पाता है, एक बात है, लेकिन यह कहना कि वर्ग संघर्ष विचारधारात्मक रूप में *ही* होते हैं, एक बिल्कुल अलग बात है।** अगर कोई कहता है कि वर्ग संघर्ष केवल विचारधारात्मक रूप में होते हैं, तो वह वर्ग संघर्ष को उसकी भौतिक पृष्ठभूमि से काट रहा है। बेतेलहाइम वर्ग संघर्ष को उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध से न जोड़कर उसे पूर्ण रूप से विचारधारात्मक मसला बना देते हैं। यह विचारधारात्मक अधिरचना के लिए सापेक्षिक स्वायत्तता का दावा करना नहीं है, बल्कि उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता का दावा करना है। ऐसा कोई भी दावा अन्ततः हेगेलीय मनोगतवाद की ओर ही ले जा सकता है। बेतेलहाइम अन्त में यहीं पहुँच गये हैं। यह सच है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध इतिहास में हर क्षण हर विचारधारात्मक संघर्ष को तात्कालिक तौर पर *निर्धारित* नहीं करते हैं; लेकिन यह भी सच है कि किसी भी

विचारधारात्मक संघर्ष की ऐतिहासिकता (historicity) अन्ततः इसी कारक से निर्धारित होती है।

हर वर्ग संघर्ष विचारधारात्मक संघर्ष के रूप में ही होता है, यह दावा करते हुए बेतेलहाइम 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' को भी एक महज़ सांस्कृतिक व विचारधारात्मक क्रान्ति में अपचयित कर देते हैं, जबकि 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' मूलतः और व्यवहारतः एक शुद्धतः राजनीतिक और भौतिक क्रान्ति थी! निश्चित तौर पर हर विचारधारात्मक संघर्ष वर्ग संघर्ष ही होता है और यही हो सकता है, लेकिन बेतेलहाइम इस बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्त को सिर के बल खड़ा कर देते हैं और फिर उसे किसी भी प्रकार की ऐतिहासिकता और भौतिक पृष्ठभूमि से वंचित कर देते हैं। विचारधारात्मक संघर्ष केवल विचारों, मूल्यों-मान्यताओं, आदतों आदि के धरातल पर चलने वाला संघर्ष बन जाता है; तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ भी महज़ विचारों, आदतों, प्रथाओं (practices) आदि का मसला बन जाता है। चूँकि ये सभी विचारों के धरातल पर होते हैं इसलिए इन्हें बदलने के काम को भी बेतेलहाइम के अनुसार विचारों के धरातल पर ही किया जाना होता है। इसलिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का कार्यभार बेतेलहाइम के लिए निश्चित तौर पर उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण है, लेकिन इस पूरे कार्यभार को पूरा करने के लिए अधिरचना और विशेष तौर पर विचारधारात्मक अधिरचना के स्तर पर ही क्रान्ति को जारी रखना होता है। यानी कि आर्थिक आधार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के कार्यभार को बेतेलहाइम एक हद तक अनदेखा कर देते हैं। यही वह हेगेलीय प्रत्ययवाद है जिसके कारण बेतेलहाइम पार्टी और विचारधारा की भूमिका को इस हद तक बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं, कि भौतिक कारकों से उनका रिश्ता ही टूट जाता है। **मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम का यह मानना कि अक्टूबर क्रान्ति का वर्ग चरित्र इस बात से तय होता था कि इस क्रान्ति का नेतृत्व बोल्शेविक पार्टी ने किया था; या उनका यह मानना कि सर्वहारा पार्टी और विचारधारा के बिना सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग से नहीं लड़ सकता (सर्वहारा वर्ग कम्युनिस्ट पार्टी या विचारधारा के बिना भी बुर्जुआ वर्ग से लड़ता है; लेनिनवादी अवस्थिति सिर्फ़ यह है कि हिरावल पार्टी के बिना सर्वहारा वर्ग स्वतःस्फूर्त ढंग से समाजवादी वर्ग चेतना नहीं हासिल कर सकता है।) उसी प्रकार बोल्शेविकों के नेतृत्व में होने से फरवरी क्रान्ति सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति नहीं बन सकती थी, जैसा कि बेतेलहाइम का विचार है; यहाँ भी बेतेलहाइम आर्थिक आधार की भूमिका को पूरी तरह से नज़रन्दाज़ कर देते हैं।** क्रान्ति का चरित्र केवल इस बात से नहीं तय होता है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेतृत्व में कौन है, बल्कि इस बात से तय होता है कि राज्यसत्ता और सामाजिक संरचना का चरित्र क्या है। यहाँ बेतेलहाइम पर त्रात्स्कीपन्थी तर्क के प्रभाव को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

राजकीय पूँजीपति वर्ग (state bourgeoisie) के बारे में भी बेतेलहाइम की थीसिस एकदम हेगेलीय प्रत्ययवादी है। राजकीय बुर्जुआ वर्ग किस प्रकार पैदा होता है? ऐसे एक नये वर्ग का सामाजिक-आर्थिक आधार क्या है या इसकी भौतिक पृष्ठभूमि क्या है, इस विषय में भी बेतेलहाइम ने कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं दी है। बेतेलहाइम राजकीय बुर्जुआ वर्ग की पहचान के लिए जो एकमात्र पैमाना देते हैं, वह यह है कि समाजवादी राज्यसत्ता और कम्युनिस्ट पार्टी के पूरे ढाँचे में कौन-से व्यक्ति बुर्जुआ मूल्यों-मान्यताओं, प्रथाओं या व्यवहार पर अमल कर रहे हैं, और कौन-से व्यक्ति सर्वहारा विचारों, मूल्यों-मान्यताओं पर। बेतेलहाइम स्वयं मानते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता की मशीनरी में मौजूद सभी पार्टी कार्यकर्ता या कमिसार

राजकीय बुर्जुआज़ी का निर्माण नहीं करते थे। कुछ ऐसे भी थे राजकीय बुर्जुआ वर्ग से अलग थे। **तो फिर सवाल यह उठता है कि वह निर्धारक पैमाना क्या है जिसके आधार पर राजकीय बुर्जुआ वर्ग की पहचान की जाय?** बेतेलहाइम का जवाब है विचारधारा। लेकिन कौन किस विचारधारा पर अमल कर रहा है या कौन-सी मूल्य-मान्यताएँ बुर्जुआ हैं और कौन-सी सर्वहारा, यह निर्धारण कैसे होगा और कौन करेगा? अगर यह तय पार्टी या राज्यसत्ता को ही करना है (जिसमें बुर्जुआ विचारधारा हावी हो रही है या बुर्जुआ मुख्यालय बन रहा है), तो फिर तो बात घूम-फिरकर वहीं आ जाती है और यह पूरा सवाल ही एक 'ट्रिक' प्रश्न बन जाता है। **राजकीय बुर्जुआ वर्ग के किसी भी सिद्धान्त को भौतिक पृष्ठभूमि और समाज में जारी वर्ग संघर्ष से भी जोड़ना होगा।** अन्यथा, इसकी पहचान का प्रश्न एक पूर्णतः मनोगत प्रश्न बन जायेगा। समाज में राजकीय बुर्जुआ वर्ग का भौतिक आधार उत्पादन में श्रम विभाजन, अन्तरवैयक्तिक असमानताओं और बुर्जुआ अधिकारों के रूप में मौजूद होता है। लेनिन ने बार-बार नौकरशाही के पैदा होने की भौतिक पृष्ठभूमि और उसके राजनीतिक अर्थशास्त्र को चिन्हित किया था। यह उनके लिए महज़ पुरानी विचारधारा, आदतों, मूल्य-मान्यताओं के उत्तरजीवन का प्रश्न नहीं था। निश्चित तौर पर, पुरानी बुर्जुआ विचारधारा का मौजूद रहना और इसके प्राधिकार का निर्णायक तौर पर खण्डित न होना एक अहम कारण है। लेकिन इसे भौतिक पृष्ठभूमि से काट देने से विचारधारा का प्रश्न ही एक अर्थहीन अमूर्तन बन जाता है। बेतेलहाइम पार्टी और राज्य के भीतर राजकीय बुर्जुआ वर्ग की पहचान और उससे संघर्ष के प्रश्न पर आर्थिक आधार में मौजूद अन्तरविरोध और समाज में मौजूद वर्ग संघर्ष के साथ विचारधारा के प्रश्न को जोड़ नहीं पाते हैं और राजकीय बुर्जुआ वर्ग के पैदा होने और सुदृढ़ीकृत होने के प्रश्न को सही ढंग से नहीं समझ पाते हैं।

चार्ल्स बेतेलहाइम के पूरे रचना कर्म में हम **एक महान नेता के प्रति अन्धभक्ति** के दृष्टिकोण को साफ़ तौर पर देख सकते हैं। 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड में ही हम इस प्रवृत्ति के तमाम उदाहरण देख सकते हैं। सबसे पहले तो हम लेनिन के लिए उन विशेषणों का इस्तेमाल देख सकते हैं, जो कि इस रचना के लेखन के समय माओ के लिए किये जा रहे थे। लेकिन यह सबसे प्रातिनिधिक उदाहरण नहीं है। चार्ल्स बेतेलहाइम मानते हैं कि बोल्शेविक पार्टी में "अर्थवाद" के भटकाव के विरुद्ध तीन कारक सक्रिय थेः पहला था पार्टी और राज्य के भीतर मौजूद कम्युनिस्ट अल्पसंख्या, दूसरा था मज़दूर वर्ग का वर्ग संघर्ष (जो कि अपने आप में इतना शक्तिशाली नहीं था कि "अर्थवादी" रुझान का मुकाबला कर पाये) और तीसरा कारक था लेनिन के रूप में एक महान नेता की मौजूदगी।

यह सच है कि लेनिन ने अपने जीवित रहते तमाम ग़ैर-सर्वहारा और विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध पार्टी के भीतर संघर्ष चलाया। **लेकिन बेतेलहाइम बोल्शेविक पार्टी और लेनिन को ज़्यादातर मौकों पर एक-दूसरे के सामने और एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देते हैं और पार्टी के पूरे इतिहास को ऐसे पेश करते हैं, मानो पार्टी लगातार पतित हो जाने, अर्थवादी हो जाने और "वाम" या दक्षिण अवसरवाद के गड्ढे में गिरने को तैयार खड़ी रहती थी, और बस लेनिन उसे अकेले अपने दम पर रोके रहते थे!** लेनिन के पार्टी के भीतर विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध शानदार संघर्ष को बोल्शेविक पार्टी के पूरे इतिहास के विकृतिकरण की क़ीमत वसूल कर पेश किया गया है। सोवियत इतिहास से परिचित कोई भी अध्येता जानता है कि बोल्शेविक पार्टी का इतिहास दो लाइनों के शानदार संघर्षों से भरा हुआ है। जब तक लेनिन जीवित थे तो अक्सर वह इन बहसों के केन्द्र में हुआ करते थे और उनका

योगदान केन्द्रीय महत्व का हुआ करता था। लेकिन ऐसा नहीं है कि अन्य विलक्षण और प्रतिभावान बोल्शेविक नेताओं की भूमिका पार्टी की कार्यदिशा के विकास में कमतर थी, चाहे इन नेताओं ने भविष्य में ग़लत राजनीति और विचारधारा का ही पक्ष क्यों न चुन लिया हो। मिसाल के तौर पर, स्तालिन, बुखारिन, त्रात्स्की, रादेक, टॉम्स्की, रियाज़ानोव, प्रियोब्रेज़ेंस्की, ज़िनोवियेव आदि ने बोल्शेविक पार्टी के विचारधारात्मक और राजनीतिक विकास में अभूतपूर्व योगदान किया था। स्वयं लेनिन ने इन बोल्शेविकों के योगदान को मानते थे और सराहते थे और कई बार उन्होंने इनमें से कई बोल्शेविकों के योगदान से सीखा और उसे परिष्कृत भी किया। **लेकिन अगर कोई बेतेलहाइम का ब्यौरा पढ़ता है, तो उसे ऐसा लग सकता है कि पूरी की पूरी बोल्शेविक पार्टी औसत बौद्धिक क्षमता के लोगों से भरी हुई थी और यह तो लेनिन का व्यक्तित्व और बौद्धिक क्षमता थी कि उनके जीवित रहते हुए पार्टी सही रास्ते पर बनी रही। लेकिन उनकी मृत्यु के बाद ही पार्टी अर्थवाद, नौकरशाही, फरमानशाही आदि का शिकार हो गयी और 1930 के दशक की शुरुआत होते-होते पार्टी में वे प्रवृत्तियाँ हावी हो चुकी थीं, जो अन्त में संशोधनवाद के रूप में परिणत हुईं। यह पूरे सोवियत इतिहास का भयंकर विकृतिकरण है।**

इस इतिहास में स्तालिन का शानदार नेतृत्व, सामूहिकीकरण आन्दोलन, समाजवादी नियोजन, समाजवादी उद्योगीकरण की अभूतपूर्व उपलब्धियों की भूमिका या तो ग़ायब है, या फिर उसे उपयुक्त रूप से रेखांकित ही नहीं किया गया है। कोई भी व्यक्ति यदि लेनिन की अवस्थिति को तत्काल और पूर्ण समर्थन नहीं देता, तो वह बेतेलहाइम की निगाह में पूँजीवादी पथगामी हो जाता है या फिर भविष्य में उसके पूँजीवादी पथगामी हो जाने के बीज इसी बात में तलाशे जाते हैं कि फलाँ वर्ष में उसने लेनिन का विरोध किया था, या तत्काल लेनिन को समर्थन नहीं दिया था। यह शैली भी कहीं न कहीं बेतेलहाइम ने चीनी पार्टी के पार्टी इतिहास-लेखन से उधार ली है। यह पूरी पद्धति अन्त में एक ख़राब इतिहास-लेखन में परिणत होती है। **बेतेलहाइम की पुस्तक को वास्तव में इतिहास-लेखन क़रार दिया भी नहीं जा सकता है। यह एक प्रचार की रचना (work of propaganda) ज़्यादा है।** इसके नतीजे पहले से तय थे (हालाँकि बेतेलहाइम तीसरे खण्ड पर जाते-जाते उन तय नतीजों से भी ज़्यादा बुरे नतीजों पर जा पहुँचे हैं!) और उन तय नतीजों के अनुसार इतिहास के तथ्यों का चयन और छँटाई की गयी है। यही कारण है कि यह पुस्तक थोड़े समय बाद बेहद ऊबाऊ बन जाती है।

इसके अलावा हम 'प्राक्कथन' में बेतेलहाइम द्वारा की गयी तथ्यात्मक ग़लतियों का विस्तार से ज़िक्र किये बग़ैर आगे बढ़ना चाहेंगे, जैसे कि पेरिस कम्यून की नेतृत्वकारी विचारधारा सर्वहारा विचारधारा थी, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का बेतेलहाइम का मज़ाकिया विश्लेषण (जिसमें सोवियत साम्राज्यवाद द्वारा पूँजी के निर्यात और उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों को प्राप्त करने के प्रयासों की प्रमुख भूमिका नहीं था, बल्कि महाशक्तियों के बीच की प्रतिस्पर्द्धा और शस्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा की भूमिका थी! ये कार्रवाइयाँ कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा की गयी मूर्ख ग़लतियाँ थीं, न कि साम्राज्यवादी विस्तारवाद और अर्थनीति की पैदावार!), या फिर बेतेलहाइम का यह दावा कि रूस में मेंशेविक अर्थवादी जर्मनी या अन्य यूरोपीय देशों के समान राजनीतिक तौर पर विजयी नहीं हो सके क्योंकि रूस में एक सर्वसत्तावादी राज्य सत्ता थी; ज़ारशाही के रूप में एक निरंकुश राजतन्त्र और ग़ैर-जनवादी शासन की मौजूदगी के कारण बोल्शेविकों ने अर्थवादी प्रवृत्तियों को राजनीतिक तौर पर शिकस्त देने में कामयाबी

पायी! वास्तव में तमाम पश्चिमी अध्येता रूस में कम्युनिस्ट पार्टी की सफलता के लिए ज़ारशाही को दोषी ठहराने की प्रवृत्ति का शिकार हैं। मिसाल के तौर पर, **ई.एच. कार** भी यह दलील देते हैं कि रूस में बोल्शेविक इसलिए सफल हो गये क्योंकि रूस में उदार बुर्जुआ जनवाद नहीं था। चूँकि पश्चिमी देशों में उदार बुर्जुआ जनवाद था, इसलिए वहाँ कम्युनिस्ट सफल हो ही नहीं सकते थे! यह पूरा तर्क स्वयं एक उदार बुर्जुआ तर्क और इस पर यूरो-केन्द्रित दृष्टिकोण का गहरा असर है। **यह मानता है कि रूस में समाजवाद का आना वास्तव में रूसी शासकों को उदार बुर्जुआ संसदीय प्रणाली न अपनाने की सज़ा थी! यानी कि अगर रूस के शासकों ने फ्रांस, इंगलैण्ड और एक हद तक जर्मनी के शासकों से सीखा होता तो फिर उन्हें बोल्शेविक क्रान्ति की आपदा नहीं झेलनी पड़ती। बेतेलहाइम सीधे यह बात न कहकर भी इन उदार बुर्जुआ इतिहासकारों की अवस्थिति पर जाकर खड़े हो गये हैं। बोल्शेविक पार्टी की सफलता का कारण आन्तरिक नहीं बल्कि बाह्य था, यानी कि एक ऐसी राज्यसत्ता की मौजूदगी जिसने अपनी निरंकुशता और तानाशाही के कारण मज़दूर आन्दोलन और किसान आन्दोलन को जोड़ दिया और अपनी ही कब्र खोद दी।** आप देख सकते हैं कि यह तर्क किस प्रकार बेतेलहाइम के "अति-माओवादी" तर्क के साथ मेल खाता है, जिसके अनुसार समूची किसान आबादी (कुलकों को छोड़कर) की सक्रिय हिस्सेदारी के बिना समाजवादी क्रान्ति अव्वलन तो हो नहीं सकती, और अगर हो गयी तो टिक नहीं सकती। बेतेलहाइम अपने इसी तर्क को लागू करते हुए 1929 में 'नयी आर्थिक नीतियों' के परित्याग को एक ग़लत कदम बताते हैं, और 'नेप' को पूरे समाजवादी संक्रमण की आम सही नीति के तौर पर सामान्यीकृत करते हैं। इस पर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे। लेकिन फिलहाल इस प्रश्न पर हम बेतेलहाइम की सिरे से ग़लत अवस्थिति पर केन्द्रित करेंगे।

बेतेलहाइम तमाम पश्चिमी बुर्जुआ इतिहासकारों का अनुसरण करते हुए दावा करते हैं कि रूस में मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट पार्टी इसलिए कामयाब हो सके क्योंकि उनके अनुसार अगर रूस में किसी खुले मज़दूर आन्दोलन की गुंजाइश होती तो फिर उसकी नियति भी यही होती कि उसमें काऊत्स्की-शैली के अर्थवाद और संशोधनवाद की विजय होती। **यह पूरी अवस्थिति मार्क्सवादी विश्लेषण पद्धति को नहीं बल्कि एक अधिभूतवादी पद्धति को प्रदर्शित करती है, जिसमें बाह्य कारकों को प्रमुख भूमिका दे दी गयी है।** अगर यह अवस्थिति सही है, तो रूस ही नहीं बल्कि कई ऐसे देशों में सर्वहारा समाजवादी क्रान्तियाँ होनी चाहिए थीं, जहाँ प्राच्य निरंकुश राजतन्त्र या किसी अन्य प्रकार गैर-जनवादी राज्यसत्ता मौजूद थी मिसाल के तौर पर तत्कालीन टर्की या पूर्वी यूरोप के कई देश। निश्चित तौर पर, बाह्य कारक किसी भी परिवर्तन में एक भूमिका निभाते हैं, लेकिन बाह्य कारक आन्तरिक कारकों के ज़रिये ही गतिमान होते हैं। यहाँ बेतेलहाइम का अधिभूतवाद स्पष्ट रूप में सामने आ गया है।

अपने प्राक्कथन में ही बेतेलहाइम स्तालिन और उनके पूरे दौर की उपलब्धियों को कचरा-पेटी के हवाले करने की भूमिका तैयार करते नज़र आते हैं। मिसाल के तौर पर, जब बेतेलहाइम बोल्शेविक पार्टी में लेनिन के बाद और विशेष तौर पर पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान "अर्थवादी" थीसिस के सुदृढ़ीकरण के कारणों की चर्चा करते हैं, तो बताते हैं कि इसके मूल रूप से दो कारण थे: पहला था 1917 से 1929 के बीच पार्टी में आये ढाँचागत परिवर्तन और दूसरा था स्तालिन के समर्थन द्वारा "अर्थवाद" को ज़बरदस्त प्राधिकार और

वैधीकरण मिलना। वास्तव में, ये दोनों ही कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्तालिन को कठघरे में खड़ा करते हैं। बेतेलहाइम यहाँ एक ही झटके में सभी महान समाजवादी प्रयोगों को ख़ारिज कर देते हैं, जैसे कि सामूहिकीकरण, उद्योगीकरण, पंचवर्षीय योजनाएँ, आदि। उनके अनुसार, 1929 में स्तालिन द्वारा 'नेप' का परित्याग समाजवादी निर्माण में हुई भूल थी! बेतेलहाइम सामूहिकीकरण और उद्योगीकरण को लेकर पार्टी के भीतर चल रही बहस में बुखारिन का पक्ष लेते हैं, हालाँकि "माओवाद" का सच्चा अनुयायी बनने के लिए बेतेलहाइम के लिए यह ज़रूरी था कि वह बुखारिन के विरोध को भी "वामपन्थी" और अधूरा क़रार दें! बेतेलहाइम का दावा है कि पार्टी के भीतर स्तालिन का प्राधिकार सिर्फ़ इसलिए था, क्योंकि उन्होंने त्रात्स्की के विपरीत सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण के लेनिन के रास्ते का समर्थन किया था। यह सरासर ग़लत तथ्य है। स्तालिन का पार्टी में प्राधिकार केवल लेनिन की कार्यदिशा का समर्थन करने वाले व्यक्ति के रूप में ही नहीं था। **ग़ौरतलब है कि कई प्रश्नों पर स्तालिन की अवस्थिति लेनिन से पूरी तरह नहीं मिलती थी, मिसाल के तौर पर, समाजवाद के अन्तर्गत विदेशी व्यापार की राजकीय इज़ारेदारी का प्रश्न या फिर राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का प्रश्न (जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे), आदि।** पार्टी में स्तालिन की स्वीकार्यता और प्राधिकार इस वजह से थी क्योंकि स्तालिन ने क्रान्तिकारी व्यवहार में अपने आपको एक अग्रणी और शानदार बोल्शेविक सिद्ध किया था। यही कारण था कि लेनिन के जीवित रहते, विशेष तौर पर, दसवीं कांग्रेस के आते-आते स्तालिन को पार्टी ने विशेष तौर पर लेनिन के आग्रह के आधार पर वैविध्यपूर्ण ज़िम्मेदारियाँ सौंप दी थीं, जैसे कि पोलित ब्यूरो, ऑर्ग ब्यूरो और कण्ट्रोल कमिशन आदि की एक साथ सदस्यता, आदि। इस पर भी बेतेलहाइम काफ़ी नाराज़ दिखते हैं और इसे नौकरशाही की प्रवृत्तियाँ पैदा होने का एक कारण बताते हैं! अगर ऐसा है तो बेतेलहाइम को इसके लिए प्रथमतः लेनिन को ज़िम्मेदार ठहराना चाहिए! बेतेलहाइम आगे स्तालिन पर किये जाने वाले हमले की पृष्ठभूमि 'प्राक्कथन' में ही तैयार कर देते हैं। इस प्रक्रिया में बेतेलहाइम तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने से लेकर ग़लत तरीके से उद्धृत करने तक, हर पैंतरा अपनाते हैं।

यह बात सही है कि बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष की जीवन्त परम्परा 1930 के दशक की अपेक्षा में कम हुई; लेकिन इसके लिए बस स्तालिन को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। वास्तव में, समाजवादी निर्माण की ऐतिहासिक प्रक्रिया सोवियत संघ में जिस रूप में गुज़री, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मोर्चे पर उसे जिन भयंकर चुनौतियों का सामना करना पड़ा और उससे भी महत्वपूर्ण, समाजवादी निर्माण की जो अवधारणा पार्टी में हावी थी, उसमें ऐसा होने की सम्भावना मौजूद थी, चाहें नेतृत्व में कोई भी होता। बेतेलहाइम स्तालिन के बारे में कहते हैं कि उनमें धारा के विरुद्ध जाने की प्रवृत्ति नहीं थी और इसीलिए वह पार्टी में हावी विजातीय प्रवृत्तियों के नुमाइन्दे बन गये। यह विशेष तौर पर 1924 से लेकर 1930 तक और फिर 1930 से लेकर स्तालिन की मृत्यु तक पार्टी में चले दो लाइनों के संघर्ष को नज़रन्दाज़ करता है।

यहाँ यह समझना ज़रूरी है कि सामूहिकीकरण और उद्योगीकरण तथा पंचवर्षीय योजनाएँ समाजवादी रूपान्तरण के लिए उठाये गये बिल्कुल वाजिब कदम थे और इन कदमों ने सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की पहली मंज़िल को पूरा किया, यानी कि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना। **ये कदम अपने आप में बिल्कुल सही थे।** बेतेलहाइम के अनुसार ये कदम ही ग़लत थे और समाजवादी संक्रमण की आम नीति 'नेप' की नीति होनी

चाहिए थी; बेतेलहाइम यहाँ राजनीतिक अर्थशास्त्र के मामले में संशोधनवादियों के साथ खड़े हैं और माओ की क्रान्तिकारी राजनीतिक अर्थशास्त्र का ग़लत विनियोजन (misappropriation) कर रहे हैं। उनके अनुसार अगर पार्टी और राज्यसत्ता क्रान्तिकारी बने हुए हैं, तो फिर माल उत्पादन, मुद्रा संचरण आदि के बने रहने से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। यह सत्य का केवल एक पहलू है। निश्चित रूप से, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की यही समझदारी थी और 1921 में यह सही भी थी। लेकिन यह केवल एक रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने और जीते हुए बुर्जो को कायम रखने, और कुछ समय सुस्ताकर नया समाजवादी आक्रमण शुरू करने की ताक़त जुटाने की नीति थी। बेतेलहाइम इसे पूरे समाजवादी संक्रमण पर विस्तारित कर देते हैं जो कि अन्त में संशोधनवाद के वस्तुगत समर्थन में तब्दील हो जाता है।

समस्या सामूहिकीकरण और उद्योगीकरण के कदमों में नहीं थी; समस्या उन अवधारणाओं के साथ थी जो कि इन कदमों के साथ सोवियत संघ में जोड़ दी गयी थीं; ये कदम उत्पादक शक्तियों का विकास करते हुए स्वत: कम्युनिज़्म की ओर जाने के प्रवेश द्वार के रूप में देखे जा रहे थे; इस रूप में जो धारणाएँ समाजवादी निर्माण के इन शानदार कदमों के साथ जोड़ दी गयीं थीं, उन्होंने कहीं न कहीं पूँजीवादी पुनर्स्थापना के प्रति पार्टी की चौकसी को प्रभावित किया; 1936 में स्तालिन द्वारा यह घोषणा करना कि सोवियत संघ में *शत्रुतापूर्ण* वर्ग नहीं हैं, और फिर 1939 में यह दावा करना कि राज्यसत्ता की मार्क्सवादी अवधारणा को समाजवाद के प्रयोगों की रोशनी में विकसित करना होगा और यह समझना होगा कि शत्रुतापूर्ण वर्गों के न होने के बावजूद सोवियत संघ में विदेशी एजेण्टों और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के कारण राज्यसत्ता की मौजूदगी ज़रूरी है, सर्वहारा चौकसी को कमज़ोर करने के समान था। लेकिन बेतेलहाइम असली समस्या पर तो संक्षेप में बात करते हैं, मगर स्तालिन के नेतृत्व में किये गये समाजवाद के शानदार प्रयोगों को कहीं-कहीं कुछ सकारात्मक टिप्पणियों के बावजूद कुल मिलाकर ग़लत क़रार देते हैं। 'प्राक्कथन' ओर 'प्रस्तावना' में अपने भावी "विश्लेषण" की ज़मीन तैयार करने के बाद बेतेलहाइम सोवियत संघ का जो ऐतिहासिक ब्यौरा पेश करते हैं, वह तथ्यात्मक भूलों, आत्मगतवादी चयन पद्धति, और ग़लत व्याख्याओं से भरा हुआ है। **इसे हम सोवियत संघ का एक बुरा और भ्रामक इतिहास कह सकते हैं।**

सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष का एक बुरा इतिहास

1. पहला भाग – अक्टूबर क्रान्ति और सोवियत सत्ता की स्थापना

पहले भाग में बेतेलहाइम द्वारा की गयी कई तथ्यात्मक ग़लतियों या कुछ अहम तथ्यों पर ध्यान न दिये जाने को छोड़ कर हम सीधे बेतेलहाइम द्वारा बोल्शेविक क्रान्ति के इतिहास की व्याख्या पर अपनी बात केन्द्रित करेंगे। पहले भाग में ही बेतेलहाइम बोल्शेविक क्रान्ति के "दोहरे" चरित्र की या उसमें **जनवादी और समाजवादी क्रान्ति की प्रक्रियाओं के अन्तर्गुन्थन (interweaving)** की बात करते हैं। हम पिछले अध्याय में इस ग़लती की ओर इशारा कर चुके हैं। यह विचित्र नतीजा बेतेलहाइम अपनी अर्थवादी पद्धति से निकालते हैं

क्योंकि वह इस बुनियादी लेनिनवादी सिद्धान्त को नहीं समझ पाते हैं कि किसी भी क्रान्ति या क्रान्तिकारी आन्दोलन के चरित्र को निर्धारित करने का सबसे पहला पैमाना राजनीतिक होता है, आर्थिक नहीं। सिर्फ इस वजह से कि रूस की समाजवादी क्रान्ति ने कई छूटे हुए जनवादी कार्यभारों को पूरा किया, इस क्रान्ति को समाजवादी और जनवादी क्रान्तिकारी प्रक्रियाओं का अन्तर्गुन्थन नहीं कह सकते हैं; वैसे भी साम्राज्यवाद के दौर के जारी रहते जिन देशों में समाजवादी क्रान्तियाँ होंगी उनके पास पूरे करने के लिए कुछ जनवादी कार्यभार अवश्य ही हो सकते हैं। हमने पिछले अध्याय में देखा था कि अगर उत्पादन सम्बन्धों के चरित्र की बात करें तो 1908-09 तक रूसी कृषि में पूँजीवादी विकास विचारणीय स्तर तक पहुँच चुका था, हालाँकि प्रशियाई पथ से भूमि सुधार के कारण बदलते हुए चरित्र के साथ बड़ी ज़मीन्दारी कायम थी और अलग-अलग मात्रा में ग़रीब किसान आबादी की अस्वतन्त्रता भी अभी देखी जा सकती थी। अत्यधिक भूमि असमानता और पिछड़ापन अभी रूसी खेती में बाकी था, लेकिन सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध मुख्य और मूल रूप से टूट चुके थे। जिन भी देशों में भूमि सुधार किसी रैडिकल बुर्जुआ क्रान्ति के रास्ते न होकर, क्रमिक सुधारों के रास्ते होगा, वहाँ सामन्ती अवशेषों की मौजूदगी लम्बे समय तक होगी। अगर ऐसे देशों में समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आज जाने पर समाजवादी क्रान्ति को तमाम छूटे हुए जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे। जैसा कि हमने पहले भी इंगित किया है, अगर रूसी क्रान्ति विश्व युद्ध और अकाल की परिस्थितियों और साथ ही सोवियत आन्दोलन के स्वत:स्फूर्त उभार के कारण अक्टूबर 1917 में न हुई होती, और वहाँ क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ तीन या चार दशक बाद पैदा हुई होतीं तो उसके पास पूरे करने को उतने जनवादी कार्यभार न होते। **मिसाल के तौर पर, 1920 के दशक में जर्मनी में सम्भावित समाजवादी क्रान्ति के पास भी उतने जनवादी कार्यभार न होते।** लेकिन रूस में 1917 में ही अपवादस्वरूप स्थितियों के कारण समाजवादी क्रान्ति की परिस्थितियाँ तैयार होने के कारण बोल्शेविकों को जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी भी उठानी पड़ी। रूस में जनवादी क्रान्ति की जो प्रक्रिया फरवरी क्रान्ति के ठीक पहले शुरू हुई थी, वह अब पूँजीपतियों और ज़मीन्दारों की नुमाइन्दगी करने वाली आरज़ी सरकार के रहते पूर्णता तक नहीं पहुँच सकती थी। बेतेलहाइम का यह कहना सही है कि रूस में समाजवादी क्रान्ति ने जनवादी क्रान्ति को बचाया; लेकिन यह बेतेलहाइम का कोई मौलिक सूत्रीकरण नहीं है और उसी दौर में तमाम बोल्शेविकों ने विशेष तौर पर काऊत्स्की और मेंशेविकों द्वारा बोल्शेविक क्रान्ति की आलोचनाओं पर जवाब देते हुए यह बात कही थी। ख़ैर, इस बाबत बेतेलहाइम के विवरणों में कहीं कोई बड़ी भूल नहीं है। **लेकिन जब बेतेलहाइम अक्टूबर क्रान्ति में जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों के अन्तर्गुन्थन की बात करते हैं तो यह एक बड़े राजनीतिक विभ्रम की ओर ले जाता है। एक तो यह त्रात्स्कीपन्थी 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त की अनुगूँज देता है।** बस फर्क इतना है कि त्रात्स्की के लिए किसान ऐसे अराजनीतिक सामाजिक वर्ग थे जो कोई भी सचेतन राजनीतिक अवस्थिति अपनाने में अक्षम थे, जबकि बेतेलहाइम के लिए किसान एक ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, जो कि एक वर्ग के तौर पर समाजवादी कार्यक्रम पर आ सकते थे। दोनों ही छोर ग़लत हैं और किसानों के सामाजिक संस्तर को एकाश्मी और सजातीय तौर पर पेश करते हैं। लेकिन जनवादी और समाजवादी क्रान्ति के अन्तर्गुन्थन की बात बेतेलहाइम को त्रात्स्की के करीब ले जाकर खड़ा कर देती है।

अन्तर्गुन्थन के इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि यह क्रान्ति के चरित्र

का निर्धारण करते हुए राजनीति को प्रमुख पैमाना नहीं मानती है। किसी देश में समाजवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के बाद सर्वहारा सत्ता किस प्रकार का कृषि/भूमि कार्यक्रम लागू करेगी, यह सिर्फ़ इस बात से तय नहीं होगा कि उत्पादन सम्बन्धों का चरित्र क्या हो चुका है। रूस में कृषि के मुख्य और मूल रूप से पूँजीवादी स्वरूप अख़्तियार करने के बावजूद किसान आबादी समाजवादी कार्यक्रम के लिए राजनीतिक तौर पर तैयार नहीं थी। इसके दो कारण थे: एक वस्तुगत और दूसरा मनोगत। वस्तुगत कारण का हम ज़िक्र कर चुके हैं। एक तो रूस में जो भूमि सुधार हुए थे, वे प्रशियाई पथ से हुए युंकर-शैली के भूमि सुधार थे, जो कि किसानों की ज़मीन की भूख को शान्त नहीं करते, बल्कि सामन्ती ज़मीन्दारों को ही पूँजीवादी भूस्वामी में तब्दील होने का अवसर देते हैं। इसके अलावा यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि ये प्रशियाई शैली के भूमि सुधार भी रूस में अभी परिपक्व नहीं हुए थे।

दूसरा कारण मनोगत था और वह था रूसी किसान आबादी में बोल्शेविक पार्टी का बेहद सीमित आधार। बोल्शेविक राजनीति और विचारों ने रूस के सर्वहारा वर्ग के उन्नततम हिस्से में अपना प्राधिकार कायम कर लिया था, लेकिन किसान आबादी में अभी भी नरोदवादियों के राजनीतिक वंशज, यानी कि समाजवादी-क्रान्तिकारियों का ही ज़्यादा आधार था। क्रान्ति के दौरान किसान आबादी कुछ सीमित प्रश्नों पर (भूमि कब्ज़ा करने और शान्ति के मुद्दे पर) बोल्शेविकों के साथ आये क्योंकि इन प्रश्नों पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों का ढुलमुल रवैया सामने आ गया था। लेकिन उस वक़्त भी किसानों की व्यापक बहुसंख्या समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर राज़ी नहीं थी। इन दोनों कारणों के चलते रूसी किसानों की आकांक्षाएँ अभी भी जनवादी थीं, समाजवादी नहीं। यही कारण है कि लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति से पहले रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को अपना लिया क्योंकि किसानों की बहुसंख्या अभी राजनीतिक तौर पर इसी कार्यक्रम के लिए तैयार थी, और इस बहुसंख्या पर समाजवादी कार्यक्रम थोपा नहीं जा सकता था। रूसी किसानी आर्थिक तौर पर पूँजीवादी सम्बन्धों में प्रवेश कर चुकी थी, लेकिन राजनीतिक तौर पर वस्तुगत और आत्मगत कारणों के चलते वह तैयार नहीं थी। **लेकिन यहाँ जो बात ग़ौर करने वाली है वह यह है कि समाजवादी सत्ता की स्थापना होते ही जहाँ कहीं सम्भव था वहाँ राजकीय और सामूहिक फार्मों का निर्माण किया गया, बाग़ों आदि का राजकीयकरण किया गया।** सर्वहारा राज्यसत्ता की मंशा समाजवादी कार्यक्रम को लागू करने की थी और उसने जहाँ कहीं भी सम्भव था मॉडल फार्मों और सामूहिक फार्मों का निर्माण किया। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कुल खेती में इनका हिस्सा मुश्किल से चार प्रतिशत था। यहाँ इनका असली महत्व यह है कि ये खेती में पूँजीवादी सम्बन्धों के निषेध का प्रतिनिधित्व करते हैं। **डी.डी. कोसाम्बी** ने प्राचीन भारत में दास प्रथा को लेकर चली बहस के बारे में एक बार कहा था कि भारत में दास उत्पादन पद्धति का कुल उत्पादन में कितना योगदान था, या दासों की संख्या यूनान या रोम की तुलना में कम थी, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। मूल बात यहाँ यह है कि दास प्रथा का किसी भी रूप या आकार में शुरू होना सामुदायिक उत्पादन पद्धति के टूटने को दिखलाता था और इस रूप में भारत में दास प्रथा का उद्भव और विकास ऐतिहासिक महत्व रखता है। ठीक उसी प्रकार 1917 में रूसी खेती में सामूहिक खेती और राजकीय खेती की मात्रा से उतना फर्क नहीं पड़ता जितना कि इस बात से पड़ता है कि सामूहिक और राजकीय खेती की शुरुआत हो गयी थी। दूसरी बात यह है कि सोवियत राज्यसत्ता के लिए एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम चयन का मसला नहीं था। एक अन्य पहलू जिसकी चर्चा करना ज़रूरी है, वह यह है कि उद्योग और राष्ट्रीय

अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में सर्वहारा राज्यसत्ता ने शुरू से ही समाजवादी नीतियों को लागू करना शुरू कर दिया था। यह ज़रूर है कि गृहयुद्ध और 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर के कारण लेनिन ने जिस चरणबद्ध प्रक्रिया से इन समाजवादी नीतियों को लागू करने का प्रस्ताव रखा था, उस प्रक्रिया से ये नीतियाँ लागू नहीं हो सकीं। लेकिन इतना तय था कि बोल्शेविक सत्ता उद्योग, वित्त व व्यापार के क्षेत्र में समाजवादी नीतियों को ही लागू कर रही थी। **जिन अपवादस्वरूप स्थितियों में रूसी क्रान्ति हुई थी, उनमें राजनीतिक तौर पर एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम ही लागू हो सकता था। इस मायने में रूसी क्रान्ति और चीनी नवजनवादी क्रान्ति में बुनियादी अन्तर है, और बेतेलहाइम बिना नाम लिये, इन दोनों ऐतिहासिक क्रान्तियों के बीच कुछ समानान्तर रेखाएँ खींचने का प्रयास कर रहे हैं, जो कि रूसी क्रान्ति के इतिहास का एक अनर्थकारी विनियोजन है।** सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना, उद्योग, व्यापार व वित्त के समाजवादी रूपान्तरण और सामूहिक व राजकीय खेती की शुरुआत (चाहे किसी भी स्तर पर) यह दिखलाता है कि बोल्शेविक क्रान्ति एक समाजवादी क्रान्ति थी जिसने जनवादी क्रान्ति के कई अधूरे कार्यभारों को पूरा किया। बेतेलहाइम द्वारा इसे जनवादी और समाजवादी क्रान्ति की प्रक्रियाओं का अन्तर्गुन्थन बोलना, अनावश्यक भ्रम पैदा करता है और त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के लिए साँस लेने की जगह छोड़ता है।

हम पहले भी बेतेलहाइम की हेगेलीय प्रत्ययवादी पद्धति की चर्चा कर चुके हैं। पहले खण्ड के पहले ही हिस्से में बेतेलहाइम इस पद्धति का कार्यान्वयन करते हुए भी नज़र आ जाते हैं। सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश जनसमुदायों में पार्टी का नेतृत्व किस रूप में स्थापित हुआ और उसकी क्या कमज़ोरियाँ थीं, इसकी चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग के उन्नततम हिस्से में पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका स्थापित हो चुकी थी, जिसका अर्थ यह था कि सर्वहारा विचारों का वर्चस्व उनके बीच स्थापित हो चुका था; बेतेलहाइम आगाह करते हैं कि इस वर्चस्व को 'प्रभुत्व' न समझा जाय जो कि सर्वहारा सत्ता की स्थापना के बाद ही स्थापित हो सकता है। **पहली बात तो यह है कि यहाँ 'वर्चस्व' और 'प्रभुत्व' के सिद्धान्त को बेतेलहाइम ने बेतुके तरीके से इस्तेमाल किया है।** सर्वहारा सत्ता के स्थापित होने के बाद भी सर्वहारा विचारों के 'प्रभुत्व' की बात नहीं की जा सकती है; प्रभुत्व और वर्चस्व के बीच मार्क्सवाद जो फर्क करता है, उसका रिश्ता मात्रा से नहीं है, बल्कि गुण से है। यहाँ सर्वहारा वर्ग के बीच सर्वहारा विचारों के वर्चस्व का अर्थ यह है कि सर्वहारा वर्ग उन्हें स्वयं स्वीकार करता है, जबकि प्रभुत्व का अर्थ होता है (बशर्ते कि बेतेलहाइम किसी नयी अवधारणा का आविष्कार न कर रहे हों!) कि सर्वहारा वर्ग की 'सहमति' या 'असहमति' के बावजूद सर्वहारा विचारों को थोपा जाना। निश्चित तौर पर, अगर प्रभुत्व और वर्चस्व के मार्क्सवादी विज्ञान में स्वीकृत अर्थों के आधार पर बात की जाय, तो बेतेलहाइम द्वारा किया गया विभाजन यहाँ विचित्र है। बहरहाल, बेतेलहाइम पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका के स्थापित होने के बावजूद उसकी दो कमियाँ बताते हैं: एक तो यह कि किसान आबादी में सर्वहारा वर्ग की पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका नहीं स्थापित हो सकी थी और दूसरी कमी यह कि मज़दूर वर्ग में भी बोल्शेविक पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका का चरित्र विचारधारात्मक नहीं था, बल्कि राजनीतिक था और यही कारण था कि सोवियत सत्ता क्रान्ति के तुरन्त बाद समाजवाद में संक्रमण नहीं कर सकी, बल्कि 'समाजवाद की ओर कुछ कदमों' तक ही सीमित रह गयी। बेतेलहाइम लिखते हैं: **"बोल्शेविक पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका की दूसरी सीमा यह थी**

कि मज़दूरों के बीच भी पार्टी की नेतृत्वकारी विचारधारात्मक भूमिका मूलतः राजनीतिक थी। मज़दूर वर्ग के जनसमुदायों के निर्णायक हिस्से में जो चीज़ काफ़ी हद तक प्रविष्ट हुई थी, वह क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बुनियादी विचार नहीं थे–जो कि समाजवाद के रास्ते को प्रकाशित करते हैं और जो बताते हैं कि कम्युनिज़्म तक जाने के लिए क्या ज़रूरी है–बल्कि वे विचार थे जो कि उन्हीं कदमों के लिए पर्याप्त थे जिन्हें लेनिन ने "तात्कालिक कदम" कहा था।

"नेतृत्वकारी भूमिका की इन विभिन्न सीमाओं के कारण, और क्रान्ति के तात्कालिक कार्यभारों के कारण, बोल्शेविक पार्टी सोवियत सत्ता के स्थापित होने के बाद सीधे समाजवादी रूपान्तरण के कार्यभारों का लक्ष्य नहीं रख सकी।" (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** दि हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 95, *अनुवाद हमारा*)

यह पूरा दृष्टिकोण सिरे से प्रत्ययवादी और मनोगतवादी है। बेतेलहाइम के अनुसार मज़दूर वर्ग में विचारधारात्मक नेतृत्व का अर्थ यह होता है कि मज़दूर वर्ग का बड़ा हिस्सा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को मानता हो! ज़ाहिर है कि क्रान्ति के बाद भी लम्बे समय तक ऐसी स्थिति नहीं पैदा हो सकती है। इसका सिर्फ़ इतना अर्थ हो सकता है कि मज़दूर वर्ग के उन्नततम हिस्से ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद को अपने प्राधिकार के तौर पर स्वीकार किया हो, यानी कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्व दृष्टिकोण और पद्धति को स्वीकार किया हो। **मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदाय मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे, तभी समाजवादी रूपान्तरण सम्भव है, यह विचार ही मूर्खतापूर्ण है।** साथ ही, बेतेलहाइम का यह कहना कि इसी "विचारधारात्मक नेतृत्व की कमी" के कारण क्रान्ति के बाद मज़दूर वर्ग केवल 'समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदम' उठाने के लिए ही तैयार था, समाजवादी रूपान्तरण के लिए नहीं। यह कतई लेनिन के मूल्यांकन से भिन्न अवस्थिति है।

लेनिन ने स्पष्ट किया था कि क्रान्ति के बाद तत्काल समाजवादी नीतियों को लागू न कर सकने के कई कारण थे, जिसमें युद्ध और अकाल के कारण पैदा हुआ आर्थिक बिखराव और मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक चेतना की कमी था। मज़दूर वर्ग की यह अक्षमता यह नहीं थी कि उसके व्यापक जनसमुदाय मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं बने थे; इसका अर्थ यह था कि रूसी मज़दूर वर्ग अभी राजनीतिक वर्ग चेतना की कमी और पिछड़ेपन का शिकार था। **मज़दूर वर्ग का पुख़्ता तौर पर और सचेतन रूप से पूँजीवाद-विरोधी बनना और उसका मार्क्सवादी-लेनिनवादी बनना दो अलग चीज़ें हैं।** सचेतन रूप से पूँजीवाद-विरोधी, पूँजीपति वर्ग को अपने दुश्मन के तौर पर देखने वाला वर्ग सचेत मज़दूर, हो सकता है कि, अभी मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा को समझने और मानने वाला न बना हो। लेकिन निश्चित तौर पर वह समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ सकता है। रूस में मज़दूर वर्ग युद्ध और अकाल के कारण बिखरा हुआ था, और क्रान्ति के बाद गृहयुद्ध के दौरान उसे और भी अधिक बिखराव का सामना करना पड़ा। एक वर्ग के तौर पर रूसी मज़दूर वर्ग अभी संगठित तौर पर समाजवादी अर्थव्यवस्था के संचालन के लिए तैयार नहीं था और इसीलिए लेनिन ने वस्तुगत सीमाओं के कारण तत्काल समाजवादी नीतियों को लागू करने की बजाय, 'समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदमों' की बात की थी। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि तत्काल समाजवादी नीतियों को लागू न करने का कारण आर्थिक बिखराव नहीं

था, क्योंकि जब "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान पार्टी ने स्वयं सचेतन तौर पर समाजवादी नीतियों को लागू करने का प्रयास किया तो वह विफल रही। **हम देख सकते हैं कि बेतेलहाइम अपनी बात को सिद्ध करने के लिए एक बिल्कुल ग़लत उदाहरण दे रहे हैं।** गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में समाजवादी रूपान्तरण को तत्काल अंजाम देना पार्टी की कोई सुचिन्तित नीति नहीं थी, बल्कि वस्तुगत परिस्थितियों द्वारा थोपी गयी एक बाध्यता थी। बेतेलहाइम के लिए 'नेप' की नीतियों का 1921 में अपनाया जाना बोल्शेविक पार्टी द्वारा इस बात की स्वीकृति थी कि अभी समाजवादी रूपान्तरण को तत्काल लागू नहीं किया जा सकता है और बोल्शेविक पार्टी द्वारा अक्टूबर 1917 से मई 1918 के 'समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदमों' की ओर वापस जाना मात्र नहीं था, बल्कि यह एक सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के लेनिन के सिद्धान्त से अलग एक नया विचार था! यह सोवियत रूस के इतिहास का भयंकर विकृतिकरण है। बोल्शेविक पार्टी पर गृहयुद्ध के दौरान "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों का थोपा जाने और फिर 1921 में उसकी वजह से हुए नुक़सानों की भरपाई के लिए 'नेप' की नीतियों का अपनाया जाने को बेतेलहाइम अपने नतीजों को सिद्ध करने के लिए ग़लत तरीके से विनियोजित करते हैं। 'नेप' पर बेतेलहाइम के संशोधनवादी विचारों पर हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

लेनिन का नज़रिया इस विषय में बिल्कुल साफ़ था। **लेनिन का मानना था कि समाजवादी क्रान्ति के बाद रूस जैसे देश में, जहाँ टटपुँजिया उत्पादन और टटपुँजिया वर्गों का बोलबाला हो, पहले बड़े पैमाने के उत्पादन को कायम करना होगा।** इसके लिए देश को पहले सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के एक दौर से गुज़रना होगा। इस दौर में समाजवाद के सबसे बड़े दुश्मन, यानी कि छोटे पैमाने के माल उत्पादन और उससे हर मिनट, हर घण्टे पैदा होने वाले टटपुँजिया तत्वों, से निपटना होगा; इस दौर में मज़दूर वर्ग स्वयं उद्योगों और खाना-खदानों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं कायम करेगा, बल्कि वह बही-खातों के ज़रिये अपने नियन्त्रण और विनियमन को लागू करेगा और साथ ही इस दौर में वह बुर्जुआ विशेषज्ञों से उत्पादन की पूरी प्रक्रिया को संचालित करने की बारीकियों को सीखेगा। तकनीकी और सांस्कृतिक तौर पर पिछड़ा हुआ यह मज़दूर वर्ग अगर विचारधारात्मक तौर पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्तों को स्वीकार भी कर लेता तो वह समाजवादी उद्योगों का संचालन नहीं कर लेता।

संक्षेप में, लेनिन ने रूस में समाजवाद के चरणबद्ध विकास का जो रास्ता सुझाया था, उसके मूल कारण वस्तुगत थे; मनोगत कारण गौण थे। क्रान्ति से पूर्व मज़दूर वर्ग के जनसमुदायों के बीच बोल्शेविक पार्टी का राजनीतिक और विचारधारात्मक नेतृत्व क्रान्ति का नेतृत्व करने के लिए उपयुक्त था। निश्चित तौर पर, इस नेतृत्वकारी भूमिका के लिए उपयुक्त होने के बावजूद समाजवादी रूपान्तरण की पूरी प्रक्रिया किसी भी देश में, और विशेष तौर पर रूस में, एकरेखीय और सुगम नहीं हो सकती थी। इस रूपान्तरण की प्रक्रिया की जटिलता को पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका पर थोप देना बेतेलहाइम की मार्क्सवादी भौतिकवादी विश्लेषण कर पाने की अक्षमता को दिखलाता है। सोवियत रूस में समाजवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया वस्तुगत तौर पर भी भयंकर जटिलताओं से गुज़र रही थी, जो कि इस क्रान्ति की अपवादस्वरूप स्थितियों के कारण था, और साथ ही ये जटिलताएँ पार्टी के भीतर भी लगातार तीखे दो लाइनों के संघर्ष को जन्म दे रही थी, जो कि 1918 से ही "वामपन्थी" विपक्ष, त्रात्स्कीपन्थ, बुखारिनपन्थ से बहसों के रूप में अभिव्यक्त हो रहा था। यह ज़रूर है कि

किसानों के बीच बोल्शेविक पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका अभी स्थापित नहीं हो पायी थी, हालाँकि क्रान्ति से पहले से ही बोल्शेविक पार्टी अपनी इस कमज़ोरी पर अपनी ताक़त के मुताबिक काम कर रही थी। लेकिन किसी भी रूप में बेतेलहाइम का तर्क यहाँ बिल्कुल ग़लत है और ऐतिहासिक तथ्य उसकी पुष्टि नहीं करते।

बेतेलहाइम की यह विचित्र तर्क पद्धति कुछ आगे ही फिर से दिखलायी पड़ती है। तमाम प्रश्नों पर बेतेलहाइम कुछ सही प्रस्थापनाएँ देते हैं या सही दिशा में आगे बढ़ते दिखायी देते हैं, लेकिन बहुत जल्द ही उनका विश्लेषण प्रत्ययवाद और मनोगतवाद के गड्ढे में जा गिरता है। **बेतेलहाइम एक स्थान पर राजनीतिक सत्ता (political power) और राज्यसत्ता के बीच एक सही अवधारणात्मक अन्तर की चर्चा करते हैं।** बेतेलहाइम लिखते हैं कि राजनीतिक सत्ता *सर्वप्रथम* वर्गों के बीच के सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करती है, और वह कई प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं के रूप में संस्थाबद्ध हो सकती है। लेकिन इसके बाद वे राजनीतिक सत्ता और उसके संस्थाबद्ध रूपों के बीच ऐसी दीवार खड़ी कर देते हैं कि वे दो भिन्न, बल्कि, विपरीत वस्तुएँ बन जाती हैं। बेतेलहाइम कहते हैं कि राजनीतिक सत्ता कई रूपों में संस्थाबद्ध हो सकती है, जो कि अपने आप में सही है। **लेकिन यह संस्थाबद्धीकरण अन्ततः किसी न किसी राज्य रूप को ही ग्रहण करेगा, या फिर वह राजनीतिक सत्ता स्वयं भी समाप्त हो जायेगी।** बेतेलहाइम द्वारा राजनीतिक सत्ता और राज्यसत्ता के बीच फर्क को ग़लत छोर तक ले जाने के पीछे उनकी मंशा जल्द ही साफ़ हो जाती है। बेतेलहाइम कहते हैं कि बोल्शेविक पार्टी ने क्रान्ति के बाद सर्वहारा राजनीतिक सत्ता को राज्य का रूप प्रदान किया। लेकिन यह राज्यसत्ता हर-हमेशा वह नहीं करती थी, जो कि सर्वहारा राजनीतिक सत्ता चाहती थी। कुछ मौकों पर इसका कारण अन्य वर्गों द्वारा डाला जाने वाला दबाव होता था, जबकि कई बार पार्टी की राजनीतिक ग़लतियों के कारण भी राज्यसत्ता सर्वहारा हितों की विपरीत काम करती थी। वर्ग की राजनीतिक सत्ता और राज्यसत्ता के बीच फ़र्क मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बुनियादी शिक्षा है। लेकिन इनके बीच के संगति और अन्तरविरोध का द्वन्द्वात्मक रिश्ता भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की एक बुनियादी शिक्षा है। बेतेलहाइम सोवियत राज्यसत्ता और सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता के बीच इस प्रकार की दीवार खड़ी करके आगे यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता अन्ततः सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही थी, बल्कि उस पर नौकरशाह राजकीय बुर्जुआ वर्ग का वर्चस्व स्थापित हो गया था। यहाँ बेतेलहाइम का विश्लेषण कई स्तरों पर ग़लत है।

पहली ग़लती यह है कि बेतेलहाइम वर्ग के राजनीतिक संगठन और वर्ग की राजनीतिक सत्ता को गड्ड-मड्ड कर देते हैं। क्रान्ति से पहले सर्वहारा वर्ग बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में राजनीतिक तौर पर संगठित हुआ; यही कारण था कि अन्त में सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग की राज्यसत्ता को चकनाचूर करके अपनी राजनीतिक सत्ता को स्थापित कर पाया। सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता की स्थापना से पहले सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक शक्ति या सत्ता अमूर्त रूप में सिर्फ़ वर्गों के सम्बन्धों के रूप में विद्यमान नहीं रह सकती थी। बेतेलहाइम का यह कहना सही है कि सर्वहारा राज्यसत्ता कई बार सर्वहारा वर्ग के हितों के विपरीत काम कर सकती है, जिसका कारण अन्य वर्गों का दबाव या पार्टी की राजनीतिक ग़लतियाँ हो सकती हैं। लेकिन सर्वहारा राज्यसत्ता *वास्तविकता* में इसी तरह से काम करेगी। **यहाँ बेतेलहाइम सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता का आदर्शीकरण/निरपेक्षीकरण करते हैं, जिसके अनुसार सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता (जो कि राज्यसत्ता से भिन्न है) ग़लतियों से**

परे है; ग़लतियाँ तो तब होती हैं जब सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता राज्यसत्ता का रूप ग्रहण करती है! यहाँ पर सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता हेगेलीय 'परम विचार' (demi urgos) बन जाती है और राज्यसत्ता उसका परकीकृत (reified) अशुद्ध रूप। यह सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता का एक हेगेलीय प्रत्ययवादी दृष्टिकोण है। यदि सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता बिना किसी स्वायत्तता के शुद्ध रूप से सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करे तो भी ग़लतियाँ होना लाज़िमी है। बेतेलहाइम सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता की अपनी प्रत्ययवादी अवधारणा की ज़मीन पर खड़े होकर सोवियत राज्यसत्ता की एक ग़लत आलोचना पेश करते हैं। अगर यह मान भी लिया जाये कि राज्यसत्ता और वर्ग की राजनीतिक सत्ता में अवधारणात्मक अन्तर होता है, तो भी उनके बीच में कोई चीन की दीवार नहीं होती; **एक वर्ग का राजनीतिक तौर पर संगठित होना और आगे अपनी राज्यसत्ता की स्थापना करना उसकी राजनीतिक सत्ता के वास्तवीकरण (realization) की दो मंज़िलें हैं।** किसी भी मंज़िल में यह नहीं कहा जा सकता है कि सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता हेगेलीय 'परम विचार' के समान शुद्ध और बेदाग़ आचरण कर रही थी। हर मंज़िल में सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक आन्दोलन में विच्युतियाँ और विचलन मौजूद होंगे, उनके विरुद्ध सही कार्यदिशा का संघर्ष मौजूद होगा। अगर यह न समझा जाय तो हम सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सत्ता की एक अयथार्थवादी, प्रत्ययवादी समझदारी बना बैठेंगे।

सोवियत राज्यसत्ता के चरित्र और उसकी संरचना की बात करते हुए भी बेतेलहाइम कई तथ्यात्मक और अवधारणात्मक ग़लतियाँ करते हैं। बेतेलहाइम स्वीकार करते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण पार्टी ही होती है। त्रात्स्की और बुखारिन से ट्रेड यूनियनों और सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी मशीनरी में उनकी भूमिका पर लेनिन द्वारा चलायी गयी बहस का सन्दर्भ देते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि ट्रेड यूनियनें सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण नहीं हो सकती हैं बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व की मशीनरी में वे पार्टी और जनसमुदायों के बीच की कड़ी हो सकती हैं। यहाँ बेतेलहाइम एक तथ्यात्मक भूल कर रहे हैं। **लेनिन ने ट्रेड यूनियनों को आम मेहनतकश जनसमुदायों और पार्टी के बीच की कड़ी नहीं बल्कि मज़दूर वर्ग के जनसमुदायों और पार्टी के बीच की कड़ी करार दिया था। सोवियतें आम मेहनतकश जनसमुदाय और पार्टी के बीच की कड़ी की भूमिका निभाती हैं।** इसीलिए ट्रेड यूनियनों को लेनिन ने समाजवादी संक्रमण के दौरान "सर्वहारा सत्ता का भण्डार" और "कम्युनिज़्म और प्रबन्धन की पाठशाला" कहा था। इसी पाठशाला में मज़दूर वर्ग के वे सिपाही प्रशिक्षित होंगे जो कि सर्वहारा वर्ग के विचारधारात्मक और राजनीतिक प्राधिकार को आम मेहनतकश जनसमुदायों के बीच स्थापित करेंगे। बेतेलहाइम की यह तथ्यात्मक भूल सर्वहारा अधिनायकत्व की संरचना के बारे में लेनिनवादी समझदारी का एक ग़लत विनियोजन करती है। इसके बाद, बेतेलहाइम दावा करते हैं कि ट्रेड यूनियनें सोवियत संघ में ऐसी भूमिका कभी निभा नहीं सकीं और इसका कारण ट्रेड यूनियनों के नैसर्गिक चरित्र में ही निहित है। बेतेलहाइम के अनुसार ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग के बीच कुछ विशेष किस्म के बँटवारे पैदा करती हैं। **स्पष्ट है कि बेतेलहाइम पूँजीवादी व्यवस्था में ट्रेड यूनियनों की भूमिका और चरित्र और समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की भूमिका और चरित्र के बीच फर्क को नहीं समझ रहे हैं।** लेनिन ने स्पष्ट तौर पर समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की बदली हुई भूमिका को रेखांकित किया था। लेनिन ने कारखाना समितियों को ट्रेड यूनियन के ढाँचे के मातहत लाने, ट्रेड यूनियनों को आर्थिक नियोजन और

प्रबन्धन की ज़िम्मेदारियाँ सौंपने और मज़दूर वर्ग को समाजवादी निर्माण की दिशा में शिक्षित-प्रशिक्षित करने की अहम ज़िम्मेदारी देने की बात कही थी। साथ ही, लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता में मौजूद नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं के विरुद्ध संघर्ष को ट्रेड यूनियनों के राजनीतिक कार्यभारों में से एक बताया था। पूँजीवाद के तहत ट्रेड यूनियनों का मकसद होता है पूँजी के हमलों के बरक्स मज़दूर वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त करना। इस विशिष्ट कार्यभार के कारण भी ट्रेड यूनियनें पेशागत तौर पर संगठित होती हैं और यह विभाजन इतना अनमनीय होता है कि पेशागत संकुचन की मानसिकता को भी पैदा करता है। लेकिन समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की भूमिका को सचेतन तौर पर बदले जाने की ज़रूरत होती है। **ट्रेड यूनियनों के किसी अन्तर्निहित नैसर्गिक चरित्र या गुण की बात करना बेमानी होगा।** बदली हुई सामाजिक संरचना के अन्तर्गत उनकी भूमिका स्वतः ही बदल जायेगी और बदल दी जायेगी। सोवियत संघ में ऐसा ही हुआ था। यह एक दीगर प्रश्न है कि ट्रेड यूनियनों की जिस भूमिका, उनकी जिस राजनीतिक स्वायत्तता की लेनिन ने कल्पना की थी, उनकी वह भूमिका और राजनीतिक स्वायत्ता बन सकी या नहीं। लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि बेतेलहाइम द्वारा ट्रेडयूनियनों के चरित्र और उनकी भूमिका का सारभूतीकरण (esssentialization) निश्चित तौर पर ग़लत और अनैतिहासिक है।

आगे बेतेलहाइम लिखते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता कोई शुद्धतः मज़दूर राज्य नहीं थी, बल्कि यह एक "मज़दूर-किसान राज्य" थी। इसके समर्थन में वह लेनिन के कथन को उद्धृत करते हैं, जिसमें लेनिन ने बुखारिन और त्रात्स्की के वामपन्थी भटकाव का जवाब देते हुए कहा था कि सोवियत राज्यसत्ता एक मज़दूर-किसान राज्यसत्ता है। इस पर बुखारिन ने आपत्ति की थी और कहा था कि मज़दूर-किसान राज्यसत्ता की अवधारणा ही ग़लत है और उसे केवल उसी अर्थ में लागू किया जा सकता है जिन अर्थों में जनता की जनवादी क्रान्ति के बाद मज़दूरों और किसानों का जनवादी अधिनायकत्व स्थापित होता है। **'पार्टी में संकट' नामक अपने लेख में लेनिन ने स्वीकार किया कि मज़दूर-किसान राज्य सोवियत राज्यसत्ता के चरित्र की व्याख्या करने के लिए सही अवधारणा नहीं है और सोवियत राज्यसत्ता एक मज़दूर राज्य ही है।** लेकिन लेनिन ने कहा कि उन्होंने जब मज़दूर-किसान राज्य की बात की थी तो उनका मक़सद यह सम्प्रेषित करना था कि सोवियत रूस में समाजवादी क्रान्ति के बाद एक ऐसे देश में मज़दूर राज्य अस्तित्व में आया है, जहाँ बहुसंख्यक आबादी किसानों की है और एक ऐसे देश में मज़दूर राज्यसत्ता मज़दूर-किसान संश्रय पर ही टिक सकती है; ऐसे में, मज़दूर राज्य को अपने नीति-निर्धारण और समाजवादी निर्माण के रास्ते के निर्धारण में इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा। उसे व्यापक ग़रीब किसान आबादी को अपने पक्ष में लेना होगा, मँझोली किसान आबादी को जीतने या फिर उसे तटस्थ बनाना होगा और धनी किसानों और कुलक आबादी को अलग-थलग करना होगा। एक लम्बी प्रक्रिया में किसानों के बीच राजनीतिक वर्ग विभाजन की प्रक्रिया को अंजाम देते हुए ही सोवियत रूस समाजवादी निर्माण की दिशा में आगे बढ़ सकता है। लेनिन ने उपरोक्त लेख में दलील दी कि इस रूप में उनके नतीजों में कोई फर्क नहीं पड़ता, हालाँकि सैद्धान्तिक तौर पर मज़दूर-किसान राज्य का सूत्रीकरण ग़लत है। **लेकिन बेतेलहाइम इस पूरे सन्दर्भ को पेश करने की बजाय मज़दूर-किसान राज्य की बात को लेनिन पर आरोपित कर दिया है, जबकि उस बहस में लेनिन का मक़सद "वामपन्थी" कम्युनिज़्म के मरीज़ों के सामने यह स्पष्ट करना था कि सोवियत संघ में समाजवादी राज्य की उत्तरजीविता के लिए मज़दूर-किसान संश्रय**

(smytchka) का कायम रहना ज़रूरी है और इसलिए सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रतिनिधित्व करने वाली राज्यसत्ता को इस संश्रय को बचाना होगा। बेतेलहाइम जानबूझकर यहाँ इस पूरे सन्दर्भ को गोल कर जाते हैं, क्योंकि उस सूरत में लेनिन की अवस्थिति का "अति-माओवादी" विनियोजन सम्भव हो जाता है, जिसके अनुसार 'नेप' की नीतियाँ समाजवादी संक्रमण की आम नैसर्गिक नीति होगी और समूची मँझोली किसान आबादी समाजवाद पर सहमत हो जायेगी!

बेतेलहाइम आगे कहते हैं कि लेनिन ने सोवियत राज्य के मज़दूर-किसान राज्य होने और उसमें नौकरशाहाना विकृति होने की बात को स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया था, जबकि बाद के दौर में (यानी कि स्तालिन के दौर में) इस प्रकार की बेलाग-बेलौस स्वीकृतियाँ नहीं मिलती हैं! यह तथ्यात्मक तौर पर ग़लत है। यह कहना कि स्तालिन ने सोवियत राज्यसत्ता में मौजूद नौकरशाहाना विकृतियों की ओर ध्यानाकर्षण नहीं किया था, एक झूठ होगा। लेकिन इस तरीके से सोवियत राज्य में नौकरशाहाना विकृतियों की बात करने का श्रेय पहले लेनिन को जाता है, और फिर बाद में त्रात्स्की को! नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष में स्तालिन का योगदान पूरी तरह ग़ायब हो जाता है। स्तालिन के नौकरशाही-विरोधी संघर्ष की अवधारणात्मक कमियों की बात करना एक बात है, लेकिन यह कहना कि स्तालिन ने नौकरशाही के विरुद्ध सोवियत राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी के भीतर संघर्ष ही नहीं चलाया, एक कोरा झूठ होगा। नये शोधकार्यों ने इस सच्चाई से सन्देह की गुंजाइशें ख़त्म कर दी हैं।

बेतेलहाइम थोड़ा आगे जाकर लेनिन द्वारा मज़दूर-किसान राज्य के सूत्रीकरण को दुरुस्त करने का चलते-चलाते ज़िक्र करते हैं, लेकिन साथ में इस नतीजे को जोड़ देते हैं कि लेनिन के दौर में किसानों से संश्रय बचाने और मज़दूरों और किसानों के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के कार्यभार को सही तरीके से अंजाम दिया गया, जबकि बाद के दौर में इस अन्तरविरोध को पार्टी सही ढंग से हल नहीं कर पायी। **यहाँ लेनिन की अवस्थिति का ज़बरन "माओवादी" विनियोजन का करने का प्रयास किया जा रहा है।** बेतेलहाइम दावा करते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता को अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए किसानों को लगातार रियायतें और छूटें देनी पड़ती थीं, और अगर ऐसा न किया जाता तो फिर पार्टी और राज्य के भीतर अति-केन्द्रीकरण होता जाता और पार्टी और राज्य के भीतर बुर्जुआ सम्बन्ध हावी हो जाते! **यानी कि बेतेलहाइम के अनुसार कृषि के समाजवादी रूपान्तरण के कार्य में किसान आबादी के किसी भी हिस्से के साथ कभी भी, किसी भी किस्म की कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं की जानी चाहिए और अगर ऐसा किया जाता है तो वह पार्टी और राज्य के भीतर बुर्जुआ विकृतियों को बढ़ावा देगा!** चिन्तन के इसी सिलसिले को आगे बेतेलहाइम 'नेप' की नीति के बिना शर्त समर्थन और उसे समाजवादी संक्रमण की आम नीति के तौर पर पेश करने से जोड़ देते हैं और साथ ही लेनिन द्वारा "मज़दूर-किसान संश्रय" के सूत्रीकरण से भी जोड़ देते हैं! बेतेलहाइम लगभग यह कहने तक पहुँच जाते हैं कि लेनिन को समाजवादी क्रान्ति के बाद 'मज़दूर-किसान राज्य' के इस ग़लत सूत्रीकरण में सुधार करने की कोई आवश्यकता नहीं थी और वास्तव में यही सूत्रीकरण सही था!

बेतेलहाइम यहाँ कई स्तरों पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद का विकृतिकरण कर रहे हैं और साथ ही माओ की अवस्थिति को भी ग़लत तरीके से पेश कर रहे हैं, क्योंकि उनकी शब्दावली (मज़दूरों और किसानों के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करना) स्पष्ट तौर पर उनके तथाकथित "माओवादी" रुझान की ओर संकेत करते हैं।

बेतेलहाइम किसान आबादी को समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में अविभेदीकृत वर्ग के तौर पर देखते हैं और विश्लेषण में उसे इसी तौर पर इस्तेमाल करते हैं। लेनिन ने स्पष्ट तौर पर कहा था कि जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग समूची किसान आबादी को साथ लेगा और समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में वह खेतिहर सर्वहारा और ग़रीब किसानों (अर्द्धसर्वहारा) के साथ मज़बूती के साथ वर्ग एकता कायम करेगा। मँझोले किसानों के दोहरे चरित्र की लेनिन ने बार-बार चर्चा की है। वह कहते हैं कि मँझोले किसान एक ओर अपने ख़ून-पसीने से उत्पादन करते हैं तो वहीं कई बार वे उजरती श्रम का शोषण भी करते हैं। ऐसे में, वे मँझोले किसान *आम तौर पर* समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत किये जा सकते हैं जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते हैं, जबकि वे मँझोले किसान जो कि उजरती श्रम का शोषण करते हैं, उन्हें पहले सहमत करने का प्रयास किया जाना चाहिए और अगर वे सहमत न हों तो उन्हें तटस्थ करने का प्रयास किया जाना चाहिए। बाद के दौर में वास्तव में लेनिन उन्हीं किसानों को मँझोले किसानों में गिन रहे थे जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते थे। इस उद्धरण पर ग़ौर करें, **"जवाब में हम कहते हैं कि मध्यम किसान वह किसान है जो कि दूसरे के श्रम का शोषण नहीं करता, दूसरों के श्रम पर नहीं ज़िन्दा रहता है, जो दूसरों की मेहनत के फल को किसी भी आकार या रूप में नहीं लेता है, बल्कि स्वयं काम करता है, और अपनी मेहनत पर जीता है। - कहने की आवयश्कता नहीं है कि यह मध्यम किसान तत्काल समाजवाद को नहीं अपनायेगा, क्योंकि वह उस चीज़ से चिपका रहता है जिसकी उसे आदत होती है, हर नवोन्मेष के बारे में वह बहुत सावधान रहता है, जो भी उसे दिया जाता है उसे तथ्यात्मक, व्यावहारिक तौर पर परखता है और अपनी जीवन-शैली बदलने का फैसला तब तक नहीं करता है जब तक कि वह सहमत न हो जाये कि यह परिवर्तन अनिवार्य है।"** (लेनिन, 1972, **'मध्यम किसान'**, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-29,* चौथा अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 246, *अनुवाद हमारा*) लेनिन ने 1919 के अपने इस लेख में स्पष्ट किया है कि सोवियत सर्वहारा सत्ता को उन मँझोले किसानों पर ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करनी चाहिए और उन पर समाजवाद को थोपने का प्रयास नहीं करना चाहिए जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते हैं। इन मँझोले किसानों को उदारहण पेश करके और सामूहिक व सहकारी किसानी के उनके लिए ज़्यादा फ़ायदेमन्द होने की मिसालें पेश करके समाजवादी कार्यक्रम तक लाना होगा। **यह एक दीगर बात है कि सोवियत सत्ता को इस नीति को अंजाम देने का कभी अवसर ही नहीं मिला, और बाद में आपात स्थितियों में उन मँझोले किसानों पर भी अक्सर ज़ोर-ज़बरदस्ती का असर पड़ा जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते थे। यही कारण था कि बाद में सोवियत सत्ता को क्षति-नियन्त्रण के लिए कुछ शर्तों के साथ सीमित रूप में उजरती श्रम के शोषण की भी कुछ समय के लिए (नेप के दौरान) इजाज़त देनी पड़ी।** कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस रणनीतिक तौर पर पीछे कदम हटाने की अपनी क़ीमतें थीं, जो कि 1926-27 तक विशेष तौर पर सामने आने लगी थीं। इसके बाद, सामूहिकीकरण के आन्दोलन के दौरान नेप की नीतियों के फलस्वरूप पैदा हुए बुर्जुआ तत्वों तक एक हद तक ज़ोर-ज़बरदस्ती भी करनी पड़ी। **लेकिन 1917 से 1930 तक के इतिहास की बात करें तो उसमें सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ में बिरले ही कुछ नैसर्गिक और स्वस्थ प्रक्रिया से हो पाया था!** बहरहाल, लेनिन का मँझोले किसानों के बारे में अप्रोच स्पष्ट था और वे उजरती श्रम का शोषण करने या न करने को सर्वहारा सत्ता के आम रवैये को तय करने का मुख्य आधार मानते

थे। आगे इस प्रश्न पर हम लेनिन के विचारों को थोड़ा और विस्तार से पेश करेंगे।

अब आइये इस विषय में माओ के विचारों पर भी एक निगाह डाल लें, जिनके प्राधिकार का बार-बार आवाहन करने का स्वाँग बेतेलहाइम की इस रचना में किया जाता है। माओ ने **'सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना'** में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी उच्च मध्यम किसान हमारा मज़बूत दोस्त नहीं बनेगा, बल्कि निम्न मध्यम किसान हमारा साथी बनेगा। माओ सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की पुस्तक की आलोचना पेश करते हुए लिखते हैं, **"यह पुस्तक मध्यम किसानों का कोई विश्लेषण नहीं करती है। हम उच्च और निम्न मध्यम किसानों और साथ ही पुराने और नये मध्यम किसानों के बीच फर्क करते हैं, और उनमें से नये को थोड़ा बेहतर मानते हैं। अभियान के बाद अभियान के अनुभवों ने दिखलाया है कि ग़रीब किसान, नये निम्न मध्यम किसान और पुराने निम्न मध्यम किसानों का राजनीतिक रवैया तुलनात्मक रूप से बेहतर है। वे लोग जन कम्यूनों को अपनाते हैं। उच्च मध्यम और खाते-पीते मध्यम किसानों के बीच एक समूह है जो कम्यूनों का समर्थन करता है, तो दूसरा उसका विरोध करता है।"** फिर माओ बताते हैं कि कम्यून बनाने के अभियानों में नेतृत्व कई बार उच्च मध्यम किसानों और अवांछित तत्वों के हाथ में आ जाता है जिसके कारण कई किसान समूह कम्यून बनाने पर राज़ी नहीं होते। माओ सोवियत पुस्तक की आलोचना जारी रखते हुए कहते हैं, **"पृष्ठ 340 पर किताब कहती है कि "मूलतः मध्यम किसान का दोहरा चरित्र होता है।" इस प्रश्न के ठोस विश्लेषण की आवश्यकता है। ग़रीब, निम्न मध्यम, उच्च मध्यम और ख़ुशहाल मध्यम किसान सभी एक अर्थ में कामगार हैं, लेकिन एक दूसरे अर्थ में वे निजी मालिक भी है। निजी मालिक के तौर पर उनके दृष्टिकोण अलग-अलग होते हैं। ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों को अर्द्ध-निजी मालिक कह सकते हैं, जिसका दृष्टिकोण सापेक्षतः आसानी से बदला जा सकता है। इसके विपरीत उच्च मध्यम और ख़ुशहाल किसानों का निजी स्वामित्व वाला दृष्टिकोण ज़्यादा मज़बूत होता है, और उन्होंने ही सहकारीकरण का लगातार विरोध किया है।" (सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना, पृ. 37, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ)**

माओ के इन विचारों पर निगाह डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि बेतेलहाइम विशेष तौर पर किसान प्रश्न पर माओ की अवस्थिति का बार-बार ग़लत तरीके से विनियोजन करते हैं। स्पष्ट है कि समाजवाद की मंज़िल में तो आम तौर पर उच्च मध्यम किसान समाजवादी भूमि कार्यक्रम के विरोध में खड़ा होगा। सोवियत संघ में क्रान्ति के अपवादस्वरूप स्थितियों में होने, उसके बाद गृहयुद्ध और चार वर्षों के दौरान मज़दूर-किसान संश्रय के कमज़ोर पड़ने और किसान आबादी में आम तौर पर बोल्शेविक पार्टी की कमज़ोर मौजूदगी के विशेष कारणों के चलते सोवियत राज्यसत्ता को बचाने के लिए बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता ने समाजवादी रूपान्तरण के कदमों को रोका और रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाये। यह रणनीतिक तौर पर पीछे कदम हटाना 'नेप' की नीतियों के रूप में सामने आया जिसमें कि मँझोले किसानों को निर्धारित जिंस कर देने के बाद मुक्त बाज़ार में अपने अधिशेष के विपणन की आज़ादी दी गयी और साथ ही निजी व्यापारियों के वर्ग को भी कुछ आज़ादी दी गयी। लेकिन निश्चित तौर पर यह एक समाजवादी आक्रमण के बाद जीते गये बुर्जों को सुदृढ़ करने, कुछ ऐसे बुर्जों को छोड़कर हटने जिन पर कायम रहना सम्भव नहीं था और कुछ समय के लिए सुस्ताने की नीति थी, क्योंकि चार वर्षों के गृहयुद्ध ने सर्वहारा वर्ग

को बुरी तरह से क्लान्त कर दिया था। आम तौर पर, समाजवादी संक्रमण इसी रूप में ही हो सकता है, जिसमें समाजवादी आक्रमणों के कुछ दौर होंगे और रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने के कुछ दौर होंगे। लेनिन ने इसी वजह से 'नेप' की नीतियों को रणनीतिक तौर पर अस्थायी रूप से कुछ कदम पीछे हटाने की संज्ञा दी थी। लेकिन बेतेलहाइम इस रूपक से सहमत नहीं हैं और लेनिन के जीवन के कुछ आखिरी लेखों से सन्दर्भ से काटकर वह कुछ उद्धरण पेश करते हैं जिससे कि यह साबित कर सकें कि लेनिन अपने आख़िरी दिनों में 'नेप' की नीति को ही समाजवादी संक्रमण की आम नैसर्गिक नीति मानने लगे थे। इस पर हम आगे विस्तार से अपनी बात रखेंगे और दिखलायेंगे कि इस प्रश्न पर बेतेलहाइम बिल्कुल वहीं खड़े हैं जहाँ दुनिया भर के संशोधनवादी खड़े हैं और किस प्रकार बेतेलहाइम माओ को भी एक संशोधनवादी बना देते हैं!

लेकिन यहाँ हम पहले किसानों को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में अविभेदीकृत वर्ग के तौर पर देखने की बेतेलहाइम की ग़लती पर वापस आते हैं। हमने ऊपर इस बात की चर्चा की है कि लेनिन और माओ किस तरह से समाजवादी क्रान्ति के दौर में मँझोली किसान आबादी के दोहरे चरित्र की बात करते थे। वास्तव में, लेनिन ने गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी देशों द्वारा घेरेबन्दी की शुरुआत के बाद ही किसान आबादी को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करने की नीति की अनुशंसा करनी शुरू कर दी थी। लेनिन का कहना था कि गाँवों में समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने का वक़्त आ गया है और इसके लिए ग़रीब किसान समितियों का निर्माण करना चाहिए और ग़रीब किसानों को अलग पंचायतों में संगठित किया जाना चाहिए। पार्टी ने गृहयुद्ध के ठीक पहले और उसके दौरान यह कार्य हाथ में लिया भी और कुछ समय तक यह कार्य सही ढंग से भी चला। लेकिन गृहयुद्ध के दौरान पार्टी के भीतर पैदा हुए "वामपन्थी" विचलन ने इस कार्य को सही ढंग से आगे नहीं बढ़ने दिया और ग़रीब किसान समितियों के संचालन को कुछ इस तरह से अंजाम दिया गया कि मँझोले किसानों की एक अच्छी-ख़ासी आबादी जिसे कि जीता जा सकता था या तटस्थ किया जा सकता था, उसे भी शत्रु खेमे की ओर धकेल दिया गया। साथ ही एक वस्तुगत सीमा यह थी कि ग़रीब किसान समितियों के कामकाज को सही ढंग से राजनीतिक निर्देशन देने के लिए पर्याप्त बोल्शेविक संगठनकर्ता मौजूद नहीं थे। नतीजतन, कई जगहों पर ये समितियाँ बिल्कुल स्वायत्त तरीके से काम करती रहीं और कई बार अपनी वर्ग भावना से प्रस्थान करते हुए निम्न मँझोले किसानों को भी निशाना बनाती रहीं।

बहरहाल, ग़रीब किसान समितियों और ग़रीब किसानों की अलग सोवियतों की परिकल्पना रखते हुए इन निकायों को लेनिन ने प्राथमिक तौर पर राजनीतिक निकायों के रूप में सोचा था जो कि क्रान्तिकारी प्रचार के ज़रिये कुलकों और धनी किसानों को अलग-थलग करतीं और निम्न मँझोले किसानों की बड़ी आबादी को अपने पक्ष में करतीं या फिर तटस्थ करती। **इस रूप में गाँवों में वर्ग संघर्ष एक ऐसी दिशा में आगे बढ़ता जिसमें कि समाजवादी निर्माण के कार्यों को गाँवों में आगे बढ़ाया जा पाता और सोवियत सत्ता का एक मज़बूत अवलम्ब गाँवों में खड़ा हो जाता। लेकिन चीज़ें उस रूप में आगे नहीं बढ़ पायीं और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में बुखारिन और त्रात्स्की के धड़े द्वारा की गयी ग़लतियों और पर्याप्त और उपयुक्त बोल्शेविक निर्देशन के अभाव के कारण ये ग़रीब किसान समितियाँ और ग़रीब किसानों की सोवियतें महज़ फसल वसूली की टुकड़ियाँ बन गयीं जो उचित राजनीतिक निर्देशन के अभाव में मँझोले किसानों के उन हिस्सों पर भी**

वार कर रही थीं, जिन्हें जीता जा सकता था या तटस्थ बनाया जा सकता था। ऐसे में, गाँवों में वर्ग शक्ति सन्तुलन कुछ इस प्रकार का बनने लगा जो कि सोवियत सत्ता के लिए ख़तरनाक हो गया। जब यह प्रक्रिया चरम पर पहुँची तो बहुत से गाँवों में बोल्शेविकों की टुकड़ियों और ग़रीब किसान समितियों पर हमले हुए और कई जगह धनी और मँझोले किसानों के साथ सशस्त्र झड़पें हुईं। क्रोंस्टाट विद्रोह में एक पहलू मँझोली किसान आबादी के बड़े हिस्से का सोवियत सत्ता से दूर होना भी था जिसका कि अराजकतावादियों, मेंशविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने लाभ उठाया था। **लेकिन इतना स्पष्ट है कि लेनिन की मूल कार्यदिशा बोल्शेविक क्रान्ति के कुछ समय बाद ही किसान आबादी को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करने की थी, जो कि गृहयुद्ध के दौर और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई ग़लतियों (जिनमें से कुछ से नहीं बचा सकता था जबकि कुछ से बचा जा सकता था) के कारण सही तरीके से लागू नहीं की जा सकी।** निश्चित तौर पर, लेनिन रूस में समाजवाद के निर्माण की विशिष्ट परिस्थितियों में मँझोले किसानों की आबादी को एक समय तक रियायतें देने और कई बार सर्वहारा वर्ग की हितों की क़ीमत पर उनके हितों को प्राथमिकता देने की बाध्यता को समझते थे, लेकिन साथ ही लेनिन यह भी समझते थे कि गाँवों में किसानों की आबादी का राजनीतिक विभेदीकरण तेज़ी से करके इसी स्थिति को जल्द से जल्द समाप्त भी करना होगा। चूँकि तथ्यों और लेनिन के विचारों को बेतेलहाइम पूरी तरह विकृत नहीं कर पाते इसलिए एक जगह वह लेनिन के दौर में भी किसान प्रश्न को हल करने के तरीके पर असन्तोष और आपत्ति जताते हैं। यहाँ पर बेतेलहाइम का हेगेलीय प्रत्ययवाद और किसानवाद स्पष्ट तौर पर सामने आता है, जिसे वह माओवाद का जामा पहनाने का प्रयास करते हैं।

बेतेलहाइम एक स्थान पर सोवियत राज्यसत्ता के सर्वहारा और "जनवादी" होने की बात करते हैं। यह एक बेतुकी बात है। निश्चित तौर पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व सर्वहारा वर्ग का जनवाद भी होगा और अलग से "जनवादी" विशेषण के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। वैसे भी राज्यसत्ता के लिए 'जनवादी' विशेषण का प्रयोग वास्तव में क्रान्ति के जनवादी मंज़िल में होने के लिए किया जाता है। मिसाल के तौर पर, बुर्जुआ जनवादी राज्य, जनता का जनवादी राज्य या फिर मज़दूरों और किसानों का जनवादी अधिनायकत्व। बोल्शेविक क्रान्ति एक समाजवादी क्रान्ति थी जो कि एक ऐसे देश में हुई थी जहाँ सर्वहारा आबादी कुल आबादी का एक छोटा सा हिस्सा थी। इसके कारण सोवियत सत्ता मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित थी, लेकिन इसके कारण वह मज़दूरों-किसानों की जनवादी तानाशाही या फिर 'सर्वहारा और जनवादी राज्य' नहीं बन जाता है। बेतेलहाइम कहते हैं कि सोवियत रूस में किसान आबादी को सोवियतों से बाहर नहीं रखा जा सकता था क्योंकि उस सूरत में शक्ति/सत्ता कुछ हाथों में केन्द्रित हो जाती और यह राज्यसत्ता समाजवादी राज्यसत्ता नहीं रह जाती क्योंकि उसमें 'अराज्य' का तत्व नहीं होता! यह पूरी तर्कपद्धति विचित्र है और इस पर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का असर देखा जा सकता है। यहाँ बेतेलहाइम एक बार फिर से किसानों को अविभेदीकृत वर्ग के तौर पर पेश कर रहे हैं, जबकि लेनिन ग़रीब किसानों की अलग सोवियतें और समितियाँ बनाने की बात कर रहे थे। लेनिन ने तब भी कहा था कि सोवियतों में आबादी में हिस्सेदारी के अनुपात में प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। इसीलिए मज़दूर सोवियतों में मज़दूरों के प्रतिनिधित्व का अनुपात कम रखा गया था, जबकि किसान सोवियतों में यह अनुपात कहीं ज़्यादा था। ऐसी नीति बोल्शेविक पार्टी ने इसीलिए अपनायी थी

कि सोवियत सत्ता में मज़दूरों का प्रतिनिधित्व किसानों से ज़्यादा हो। बेतेलहाइम लेनिन की इस नीति को खुले तौर पर खण्डित नहीं करते हैं लेकिन उनकी कार्यदिशा स्पष्ट तौर पर लेनिन की इस नीति का नकार करती है। उनके अनुसार लेनिन की नीति सत्ता का केन्द्रीकरण कर रही थी और यह सोवियत राज्यसत्ता में बुर्जुआ विकृति और नौकरशाहाना विरूपताओं को बढ़ावा दे रही थी। **बेतेलहाइम का राज्यसत्ता के "जनवादी" चरित्र को लेकर मचाये जाने वाले हो-हल्ले के पीछे असल सोच यह है।** हालाँकि, बेतेलहाइम का पूरा ब्यौरा अन्तरविरोधों से भरा हुआ है। मिसाल के तौर पर, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की संरचना के बारे में चर्चा करते हुए बेतेलहाइम एक सटीक प्रेक्षण रखते हैं। वह बताते हैं कि सोवियतें सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की संरचना में एक केन्द्रीय स्थान रखेंगी या नहीं रखेंगी, इस विषय में लेनिन का चिन्तन बदलता रहा था। मिसाल के तौर पर, **'राजनीतिक स्थिति'** नामक लेख में लेनिन ने लिखा था कि 'सारी सत्ता सोवियतों को' का नारा जुलाई 1917 तक ही प्रासंगिक था, क्योंकि उसके बाद मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने खुले तौर पर क्रान्ति से ग़द्दारी कर दी थी और अधिकांश सोवियतों में वे ही वर्चस्वकारी स्थिति में थे। लेकिन सितम्बर के बाद लेनिन ने फिर से सोवियतों के हाथों में सत्ता के हस्तान्तरण की वकालत की क्योंकि उस समय तक सोवियतों में बोल्शेविकों की स्थिति सुदृढ़ हो गयी थी और भूमि पर कब्ज़ा करने और शान्ति के प्रश्न पर मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी दोनों ही बेनक़ाब हो गये थे और उनकी स्वीकार्यता घट चुकी थी। **लेनिन की अवस्थिति बिल्कुल स्पष्ट थी: सोवियतों को सत्ता देने के नारे की प्रासंगिकता इस बात पर निर्भर करती थी कि सोवियतों पर किसका राजनीतिक वर्चस्व है; यानी कि सोवियत टटपुँजिया वर्ग की राजनीति के मातहत हैं या फिर सर्वहारा वर्ग की राजनीति के मातहत।** इसीलिए बेतेलहाइम का यह कहना सही है कि सोवियतें सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता में क्या स्थान रखेंगी, इसका कोई बना-बनाया सूत्र नहीं हो सकता और लेनिन में सोवियतों को लेकर कोई अन्धभक्ति (fetish) नहीं थी। लेनिन की यह समझदारी भी थी कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में सोवियतों का जो भी स्थान हो, लेकिन उसके प्रधान उपकरण का काम कोई ऐसा निकाय ही कर सकता है, जिसका विश्व दृष्टिकोण सर्वहारा हो, यानी कि सर्वहारा वर्ग की पार्टी। यही कारण था कि सोवियत राज्यसत्ता का जो ढाँचा क्रान्ति के बाद उभरकर सामने आया उसमें **सोवनार्कोम (जन कमिसार परिषद्)** की भूमिका सबसे अहम थी, जिसकी संरचना बोल्शेविक पार्टी तय करती थी। निश्चित तौर पर, यह परिषद् जो कि सरकार की भूमिका निभाती थी, वह अपने निर्णयों को **सोवियतों की अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारी समिति (वी.टी.एस.आई.के.)** में पारित करवाती थी और वी.टी.एस.आई.के. अपने सभी निर्णयों को **अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस** में पारित करवाती थी। लेकिन सरकार के रोज़मर्रा के कार्यों के निष्पादन की ज़िम्मेदारी सोवनार्कोम के रूप में एक ऐसे निकाय की थी, जिसे राजनीतिक तौर पर बोल्शेविक पार्टी नियन्त्रित करती थी। सोवियत सत्ता या सोवियत रूस में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व इस रूप में काम करता था और इसी रूप में काम कर सकता था, जिसमें कि प्रधान उपकरण की भूमिका पार्टी निभाती थी और वह कई संचरण पट्टियों के ज़रिये सर्वहारा अधिनायकत्व की मशीनरी के अन्य निकायों, जैसे कि सोवियत, ट्रेड यूनियनों आदि से जुड़ी हुई थी, जो कि स्वयं कई अन्य संचरण पट्टियों द्वारा मज़दूरों के जनसमुदायों और आम मेहनतकश जनता के जनसमुदायों से जुड़ी हुई थीं। लेकिन बेतेलहाइम टुकड़ों-टुकड़ों में कुछ सही प्रेक्षण देने के बाद अन्त में फिर से अपने हेगेलीय प्रत्ययवाद, मनोगतवाद और किसानवाद के गड्ढे में जा गिरते हैं।

बेतेलहाइम बताते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी के भीतर केन्द्रीकरण की एक प्रक्रिया चल रही थी। सोवियत सत्ता में शक्ति सोवनार्कोम के हाथों में केन्द्रित हो रही थी और पार्टी के भीतर केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो के हाथों में केन्द्रित हो रही थी; सोवनार्कोम सीधे पार्टी के नियन्त्रण में था। बेतेलहाइम मानते हैं कि इस केन्द्रीकरण में अपने आप में कुछ ग़लत नहीं था और एक ऐसी मशीनरी के तहत ही पार्टी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण बन सकती थी। लेकिन यहाँ पर भी बेतेलहाइम कुछ बातें जोड़ देते हैं जिसके पीछे उनकी मंशा बाद में समझ में आती है। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि पार्टी का पूर्ण प्राधिकार लेनिन के जीवन काल में राज्यसत्ता पर स्थापित नहीं हो पाया था और इसलिए सर्वहारा राज्यसत्ता कई बार पार्टी की इच्छा से स्वायत्त बर्ताव करती थी। **अपने आप में यह दावा मासूम लग सकता है, लेकिन वास्तव में इसके पीछे बेतेलहाइम की मंशा यह सिद्ध करने की है कि लेनिन के जीवन काल में सोवियत सत्ता जब-जब सर्वहारा वर्ग के हितों के विपरीत काम कर रही थी तब उसका कारण यह था कि पार्टी का राज्यसत्ता पर पूर्ण प्राधिकार स्थापित नहीं हुआ था, लेकिन स्तालिन काल में तो पार्टी का राज्यसत्ता पर पूर्ण प्राधिकार स्थापित हो चुका था; इसलिए स्तालिन काल में राज्यसत्ता के नौकरशाहाना बर्ताव और प्रवृत्तियों के लिए राज्यसत्ता को नहीं बल्कि स्वयं पार्टी और स्तालिन के नेतृत्व को दोषी ठहराया जाना चाहिए!** तथ्यात्मक तौर पर भी यह बात ग़लत है। पार्टी के भीतर केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो का प्राधिकार और राज्यसत्ता के निकायों पर पार्टी का प्राधिकार दसवीं कांग्रेस (1921) के बाद मज़बूती के साथ स्थापित होने लगा था। और सैद्धान्तिक तौर पर भी यह दावा सही नतीजों तक नहीं ले जाता है क्योंकि राज्यसत्ता पर पार्टी का अधिकतम सम्भव प्राधिकार स्थापित हो जाने के बाद भी पार्टी यह सुनिश्चित नहीं कर सकती है कि राज्यसत्ता की पूरी मशीनरी हमेशा उसके निर्णयों के अनुसार ही व्यवहार करेगी और उसकी कोई स्वायत्तता नहीं होगी। तब भी राज्यसत्ता के व्यवहार में तमाम विचलन और विकृतियाँ मौजूद रहेंगी। वास्तव में, यह पूरा दावा इसलिए किया गया है क्योंकि बेतेलहाइम वास्तव में बोल्शेविक पार्टी की *जिन* चीज़ों की आलोचना कर रहे हैं, उसके लिए उन्हें लेनिन की भी आलोचना पेश करनी पड़ेगी और कई जगह दबे शब्दों में उन्होंने लेनिन की आलोचना की भी है; लेकिन लेनिन की आलोचना से बेतेलहाइम बचना चाहते हैं और उन्हें माओ का सही पूर्वज ठहराना चाहते हैं। इसलिए तमाम चीज़ों का दोष स्तालिन पर थोप दिया गया है (जिनके स्तालिन दोषी नहीं थे) क्योंकि स्तालिन सभी बुर्जुआ अकादमिकों के लिए एक नरम निशाना (soft target) होते हैं। अभी तो हम यह प्रश्न भी नहीं उठा रहे कि अधिकांश मुद्दे ही बेतेलहाइम ने ग़लत उठाये हैं, और जहाँ कहीं उन्होंने सही मुद्दे उठाये हैं वहाँ उनकी आलोचना मार्क्सवाद-लेनिनवाद के मूल सिद्धान्तों के अनुसार ग़लत है।

बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि प्रशासनिक ढाँचा भी राज्यसत्ता के शीर्ष निकायों से स्वायत्त रूप से बर्ताव कर रहा था। क्रान्ति के बाद, विशेष रूप से गृहयुद्ध के दौर में पार्टी द्वारा प्रतिपादित नीति, सोवनार्कोम द्वारा लागू की जाने वाली नीति, और फिर प्रशासनिक ढाँचे द्वारा कार्यान्वित नीति में फर्क होता था। कारण यह था कि बोल्शेविकों को क्रान्ति के बाद एक नया प्रशासनिक तन्त्र खड़ा कर पाने का अवसर नहीं मिला था और ऐसे में वे पुराने प्रशासनिक ढाँचे को इस्तेमाल करने के लिए बाध्य थे। इसलिए प्रशासनिक तन्त्र में पुराने अधिकारियों और विशेषज्ञों को विशेषाधिकार और अधिक वेतन देकर रखा गया। यह पूरा प्रशासनिक तन्त्र कई

बार सोवियत सत्ता और आम जनसमुदायों के बीच एक धूम्रावरण खड़ा कर देता था। इसे नियन्त्रित करने का पहला प्रयास पार्टी ने तब किया जब नियन्त्रण कमिसारियत की स्थापना की गयी। लेकिन बेतेलहाइम का मानना है कि प्रशासनिक तन्त्र को नियन्त्रित करने के लिए एक और प्रशासनिक उपकरण निर्मित करना व्यर्थ था। **यहाँ पर भी बेतेलहाइम का विश्लेषण कई स्तरों पर ग़लत है।** पहली बात तो यह है कि ऐसा नहीं था कि बोल्शेविकों ने राज्य तन्त्र को सम्भालने के लिए नये सर्वहारा तत्वों की तैयारी नहीं की थी। यह ज़रूर है कि गृहयुद्ध के दबाव में बोल्शेविक पार्टी ऐसे पर्याप्त तत्व तैयार नहीं कर पायी थी और न ही उन्हें उपयुक्त रूप से प्रशासनिक कार्यों में प्रशिक्षित कर पायी थी; ऐसे में, सोवियत सत्ता को पुराने प्रशासनिक ढाँचे और तत्वों का भी उपयोग करना पड़ा। अगर हम क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी के काडरों के कार्य-विभाजन को देखें तो हम पाते हैं कि पार्टी का सबसे बड़ा हिस्सा राज्य के विभिन्न निकायों में काम कर रहा था, जैसे कि सेना, राज्य के अन्य आधिकारिक निकाय, तमाम कमिसारियतें आदि। वास्तव में, बेतेलहाइम बाद में इस पर भी आपत्ति करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी अपनी ताक़त का इतना बड़ा हिस्सा राज्यतन्त्र को सम्भालने में क्यों लगा रही थी! ख़ैर, मूल बात यह है कि बोल्शेविक पार्टी इस समस्या के प्रति सचेत थी और अवसर मिलने पर वह लगातार राज्यतन्त्र में सर्वहारा तत्वों और पार्टी तत्वों की भर्ती, शिक्षण और प्रशिक्षण कर रही थी। यह ज़रूर है कि इस दौर में लेनिन ने स्वयं इस बात पर बल दिया था कि अभी रूस का सर्वहारा वर्ग स्वयं राज्यतन्त्र की सारी ज़िम्मेदारियों का वहन करने के लिए राजनीतिक और तकनीकी तौर पर तैयार नहीं है। ऐसे में, कुछ समय तक सोवियत सत्ता को बुर्जुआ विशेषज्ञों का इस्तेमाल करना चाहिए और शासन-प्रशासन के तकनीकी पहलुओं को उनसे सीखना चाहिए, भले ही इसके लिए उन्हें अधिक वेतन और अन्य विशेषाधिकार देने पड़ें। लेनिन ने इस कदम की वकालत आर्थिक प्रबन्धन, प्रशासन और सेना तक में की। लेनिन एक यथार्थवादी थे, न कि प्रत्ययवादी। वह समझते थे कि जब तक सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण के तौर पर बोल्शेविक पार्टी काबिज़ है, तब तक राज्यसत्ता में पुराने बुर्जुआ विशेषज्ञों और उन्हें मिलने वाले विशेषाधिकारों से हमें घबराना नहीं चाहिए; हमें उनसे काम करवाना चाहिए, उनसे सीखना चाहिए और उन्हें नियन्त्रण में रखना चाहिए। **दूसरी बात यह है कि राज्यतन्त्र और प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए जो नियन्त्रण कमिसारियत खड़ी की गयी, वह वास्तव में कोई प्रशासनिक संस्था नहीं थी, बल्कि पार्टी संस्था थी और पूर्ण रूप से पार्टी के नियन्त्रण में थी।** यहाँ पर भी अप्रत्यक्ष निशाना स्तालिन ही हैं, क्योंकि इस कमिसारियत में उनकी अहम भूमिका थी। बहरहाल, नियन्त्रण कमिसारियत जिस हद तक प्रशासनिक ढाँचे और राज्यतन्त्र का नियन्त्रित करने का काम कर सकती थी, वह कर रही थी। गृहयुद्ध की आपात स्थितियों में उससे इससे ज़्यादा उम्मीद करना अयथार्थवादी होगा। लेकिन बेतेलहाइम का इशारा यहाँ सम्भवत: राज्यतन्त्र पर जनसमुदायों द्वारा प्रत्यक्ष नियन्त्रण की तरफ़ है और इस मामले में सम्भवत: वह चीन के उदाहरण और 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का अनुसरण कर रहे हैं। **लेकिन बोल्शेविक क्रान्ति का विश्लेषण चीनी क्रान्ति की स्थितियों और शर्तों के आधार पर नहीं किया जा सकता है।** सोवियत रूस में उस समय जनसमुदायों द्वारा राज्यसत्ता पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण की बात करना बेमानी था। उस समय जनसमुदाय आम सहमति से तमाम बुर्जुआ विकृतियों और नौकरशाहाना विरूपताओं को अनुमोदित कर सकते थे। बहुसंख्यक किसान आबादी में बोल्शेविक पार्टी का राजनीतिक-विचारधारात्मक वर्चस्व अभी स्थापित नहीं हुआ था; मज़दूर

आबादी गृहयुद्ध से बुरी तरह थकी हुए और बिखरी हुई थी। ऐसे में, राज्यतन्त्र और प्रशासनिक तन्त्र का स्वायत्त रूप से व्यवहार करना नैसर्गिक था और उस पर नियन्त्रण करने के लिए पार्टी द्वारा एक विनियामक संस्था का निर्माण भी उतना ही नैसर्गिक था। यहाँ बेतेलहाइम पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भों को ध्यान में लिये बग़ैर बोल्शेविक पार्टी और रूसी क्रान्ति से चीनी रास्ते पर चलने की उम्मीद कर रहे हैं, जो कि न सिर्फ़ अनैतिहासिक है बल्कि मूर्खतापूर्ण भी है। वास्तव में, 1921 के बाद बोल्शेविक पार्टी ने राज्यतन्त्र और प्रशासनिक ढाँचे के रूपान्तरण के काम को भी एक हद तक हाथ में लिया और उसे प्रभावी ढंग से पूरा भी किया। इस पर हम अगले अध्यायों में आयेंगे।

बुर्जुआ विशेषज्ञों का इस्तेमाल, उनसे सीखने और फिर अपने सर्वहारा तत्वों को तैयार करने की वांछनीयता को लेनिन ने केवल प्रशासनिक तन्त्र के लिए रेखांकित नहीं किया था, बल्कि गृहयुद्ध के दौरान यह प्रक्रिया पूरे के पूरे सोवियत राज्यतन्त्र में चली, जिसमें कि लाल सेना भी शामिल थी; हालाँकि बेतेलहाइम भी मानते हैं कि लाल सेना, विदेशी मामलों की कमिसारियत और चेका पर पार्टी का नियन्त्रण अन्य प्रशासनिक तन्त्रों के मुकाबले सन्तोषजनक था। बेतेलहाइम बताते हैं कि क्रान्ति के तत्काल बाद बोल्शेविकों के पास जन मिलिशिया थी जिन्हें जोड़कर बाद में लाल गाड्र्स का निर्माण किया गया। जब गृहयुद्ध शुरू हुआ तो लाल सेना को खड़ा करने की ज़िम्मेदारी त्रात्स्की को सौंपी गयी। जब लाल सेना का निर्माण हुआ तो उसमें ज़ार की सेना और आरज़ी सरकार की सेना के तमाम अफ़सरों को विशेषाधिकार, अधिक वेतन आदि के साथ सेना में पुनर्स्थापित किया गया और साथ ही उच्च दर्जे के अधिकारियों को सम्मान जताने वाले पुराने सलाम करने के तरीकों को भी फिर से लागू कर दिया गया। **बेतेलहाइम इन परिवर्तनों के कारणों की व्याख्या किये बिना इनकी आलोचना करते हैं।** इस पूरी प्रक्रिया में गृहयुद्ध द्वारा पैदा हुई आपात स्थिति की कितनी भूमिका थी और त्रात्स्की की नौकरशाहाना और हिरावलपन्थी प्रवृत्ति को इसके लिए किस हद तक ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है? अगर इन बुनियादी प्रश्नों का जवाब न दें तो पूरा सन्दर्भ हमारे सामने साफ़ नहीं होता और ऐसा समझ में आता है कि बोल्शेविक पार्टी ने सोच-समझकर इन कामों को किया था। पूरा सन्दर्भ यह था कि सोवियत सत्ता को गृहयुद्ध में सैन्य अनुभव और कुशलता की ज़रूरत थी जो कि पुराने अफसरों के पास था। इसलिए पुराने अफसरों को विशेषाधिकारों और अधिक वेतनों के साथ वापस सेना में शामिल किया गया। लेकिन यह कोई अलग-थलग प्रक्रिया नहीं थी। आर्थिक विखण्डन, बिखराव और प्रशासनिक अराजकता से निपटने के लिए अर्थव्यवस्था और प्रशासन में भी बुर्जुआ विशेषज्ञों की सहायता लेनी पड़ रही थी हालाँकि इन कदमों के कारण वेतन का अन्तर और बुर्जुआ अधिकार बढ़ रहे थे। लेनिन ने उसी समय स्पष्ट किया था कि यदि सर्वहारा अधिनायकत्व को कायम रखा जाये और इन बुर्जुआ अधिकारों को सीमित दायरे में रखा जाये, तो इनसे घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। साथ ही, लेनिन ने क्रान्ति के बाद सोवियत सत्ता के लिए चार वर्षों तक मौजूद रहे अस्तित्व के संकट की ओर भी ध्यानाकर्षित किया और बताया कि इसके अलावा सोवियत सत्ता के सामने कोई और रास्ता ही नहीं था। **लेनिन ने गृहयुद्ध के दौरान ही बताया था कि रूस जैसे देश में समाजवादी संक्रमण के शुरुआती लम्बे दौर में एक पारम्परिक सेना की आवश्यकता बनी रहेगी; साथ ही, प्रशासन और अर्थव्यवस्था को प्रबन्धित करने के कार्य को भी सर्वहारा वर्ग को शुरुआती दौर में बुर्जुआ विशेषज्ञों से ही सीखना पड़ेगा; असल चीज़ यह है कि सर्वहारा वर्ग राजनीतिक सत्ता पर अपनी मज़बूत पकड़ बनाये रखे और बुर्जुआ अधिकारों और वेतन के अन्तर जैसी असमानताओं को**

विनियमित करे। लेनिन ने बताया कि सोवियत सत्ता के शुरुआती दौर के लिए ये कदम वांछनीय हैं और जो इस बात को नहीं समझता वह "वामपन्थी" बचकानेपन का शिकार है। किसी भी युद्ध में रणनीतिक कुशलता, अनुभव और सैन्य कौशल की आवश्यकता होती है; सोवियत सत्ता तत्काल अपने बूते पर ऐसी सेना नहीं खड़ा कर सकती है। ऐसे में, सेना में भी बुर्जुआ विशेषज्ञों की सहायता और सेवाएँ लेनी होंगी और उनसे सीखना होगा। समाजवादी संक्रमण के बहुत आगे की मंज़िल में पहुँचने के बाद ही एक स्थायी सेना की आवश्यकता का विलोपीकरण होगा और मज़दूर वर्ग की चेतना इस हद तक विकसित हो सकेगी कि वह स्वत:स्फूर्त रूप से युद्धों का संचालन और नियोजन कर सके और समूची सशस्त्र जनता अनुशासन के साथ निर्धारित रणनीति और योजना के तहत युद्ध लड़ सके। समाजवादी संक्रमण की आरम्भिक मंज़िल में ही स्थायी सेना की ज़रूरत को ख़त्म करने की उम्मीद करना ख़्याली पुलाव पकाने के समान है।

बेतेलहाइम अपनी इस रचना में कई स्थान पर जनवादी क्रान्ति के समाजवादी क्रान्ति में रूपान्तरित हो जाने या उनके अन्तर्गुन्थन की इस बात करते हैं जिससे कि इन दोनों चरणों के बीच की राजनीतिक, विचारधारात्मक और ऐतिहासिक विभाजन रेखा को लोप हो जाता है। यह शब्दावली हमारे विचार में सटीक नहीं है और इससे त्रात्स्कीपन्थ की बू आती है। मिसाल के तौर पर, 'बोल्शेविक पार्टी और उसकी नेतृत्वकारी भूमिका' नामक उपशीर्षक में बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष का इतिहास बताते हुए बेतेलहाइम लेनिन की रचना 'जनवादी क्रान्ति में सामाजिक जनवादी की दो कार्यनीतियाँ' पर चर्चा करते हुए दावा करते हैं कि लेनिन ने इसमें जनवादी क्रान्ति के समाजवादी क्रान्ति में रूपान्तरित हो जाने की सम्भावना की ओर इंगित किया था। लेकिन वास्तव में अगर स्वयं लेनिन की शब्दावली देखें तो हम पाते हैं कि वे क्रान्ति के दोनों चरणों में स्पष्ट अन्तर करते हैं, और साथ में यह कहते हैं कि एक चरण से बिना रुके हुए, 'अविरत क्रान्ति' (uninterrupted revolution) करते हुए दूसरे चरण तक जाया जा सकता है। वास्तव में, इस सम्भावना की बात मार्क्स और एंगेल्स ने भी की थी। लेकिन यहाँ पर शब्दों का चयन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि दोनों चरणों के बीच का फर्क रेखांकित हो क्योंकि दोनों चरणों में क्रान्तिकारी वर्ग मोर्चा बदल जाता है, जैसा कि लेनिन ने बताया था। जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग समूची किसान आबादी के साथ संश्रय कायम करके जनता की जनवादी तानाशाही कायम करेगा और फिर बिना रुके आगे बढ़ेगा और खेतिहर सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा को मुख्य मित्र बनाते हुए समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करेगा और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को कायम करेगा। साथ ही, एक चरण से बिना रुके दूसरे चरण में प्रविष्ट होने का सवाल भी कोई सिद्धान्त का प्रश्न नहीं था और लेनिन तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का एक यथार्थवादी मूल्यांकन पेश करते हुए इस सम्भावना की बात कर रहे थे कि सर्वहारा वर्ग क्रान्ति को एक चरण से बिना रुके दूसरे चरण में ले जा सकता है। **लेकिन इसे लेनिनवाद का बुनियादी नियम बना देना कठमुल्लावाद होगा और कार्यक्रम के प्रश्न को सिद्धान्त का प्रश्न बना देना होगा।** बहरहाल, बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन की इस रचना ने लासाल की इस अवधारणा को निर्णायक तौर पर ध्वस्त किया कि सर्वहारा वर्ग एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग है। निश्चित तौर पर, लेनिन की इस रचना ने इस लासाल की इस "वामपन्थी" समझदारी को निर्णायक रूप से खण्डित किया, लेकिन मार्क्स और एंगेल्स ने पहले ही लासाल की इस समझदारी को ख़ारिज कर दिया था। मार्क्स और एंगेल्स ने एक पत्र व्यवहार में इस बात पर विचार किया था कि जर्मनी में सर्वहारा क्रान्ति का भविष्य काफ़ी हद तक किसान युद्धों के नये संस्करणों पर भी निर्भर करता है। इस तरह बेतेलहाइम यहाँ एक तथ्यात्मक

अस्पष्टता पैदा कर रहे हैं।

बेतेलहाइम पार्टी इतिहास का जो ब्यौरा पेश करते हैं वह काफ़ी हद तक उनके अनैतिहासिक और प्रत्ययवादी नज़रिये को दिखलाता है। साथ ही, वह कुछ तथ्यात्मक भूलें भी करते हैं। मिसाल के तौर पर, 'पार्टी के निर्माण के लिए राजनीतिक संघर्ष' नामक उपशीर्षक में बेतेलहाइम एक जगह लिखते हैं कि 1905 के बाद पार्टी का विकास काफ़ी तेज़ गति से हुआ। लेकिन वास्तव में 1905 की क्रान्ति की पराजय और उसके बाद स्तोलिपिन की प्रतिक्रिया के दौर को रूसी मज़दूर वर्ग के आन्दोलन और पार्टी के विकास के इतिहास में एक गिरावट के दौर के रूप में देखा जा सकता है। वास्तव में, 1911-12 के बाद ही आन्दोलन और पार्टी दोनों के विकास ने एक बार फिर से गति पकड़ी। **साथ ही, बेतेलहाइम दावा करते हैं कि फरवरी क्रान्ति के बाद जो पूँजीवादी आरज़ी सरकार बनी, शुरू में स्तालिन ने भी उसका समर्थन कर दिया था। लेकिन इस तथ्य का वह कोई स्रोत नहीं बताते और अन्य स्रोतों से इस तथ्य की पुष्टि नहीं हो पाती और बस इस बात की पुष्टि हो पाती है कि स्तालिन समेत कई बोल्शेविकों में शुरुआती दौर में आरज़ी बुर्जुआ सरकार के प्रति भ्रम और अनिर्णय की स्थिति बनी हुई थी।** आगे बेतेलहाइम लिखते हैं कि बोल्शेविक पार्टी अपनी केन्द्रीय कमेटी के मातहत एकजुट थी, लेकिन वास्तव में केन्द्रीय कमेटी के भीतर स्वयं लेनिन को अपने विचारों को स्वीकार करवाने के लिए काफ़ी संघर्ष करना पड़ता था। इस आधार पर बेतेलहाइम यह नतीजा निकालते हैं कि बोल्शेविक पार्टी मूलतः एक लेनिनवादी पार्टी नहीं थी। इसके ज़रिये बेतेलहाइम लेनिन को देवतुल्य बनाने और बोल्शेविक पार्टी को ग़ैर-लेनिनवादी क़रार देने की अपनी परियोजना को ही आगे बढ़ाते हैं। यह दावा निहायत अनैतिहासिक और बेतुका है। क्या बोल्शेविक पार्टी के लेनिनवादी होने का यह अर्थ है कि उस पार्टी में लेनिन के विचार बिना बहस या विवाद के स्वीकार लिये जायेंगे? क्या इसका अर्थ है कि पार्टी में कोई दो लाइनों का संघर्ष नहीं होगा? बिल्कुल नहीं! लेनिनवादी पार्टी की यह समझदारी एक निहायत एकांगी और एकाश्मी किस्म की समझदारी है। वास्तव में पार्टी के भीतर दो लाइनों के राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्ष के बाद पार्टी का अन्ततः आम तौर पर लेनिन के विचारों पर सहमत होना, उस पार्टी के जीवन्त जनवादी केन्द्रीयतावादी चरित्र को सिद्ध करता है और यह दिखलाता है कि बोल्शेविक पार्टी निस्सन्देह एक लेनिनवादी पार्टी थी। **बोल्शेविक पार्टी में यह आन्तरिक राजनीतिक और विचारधारात्मक शक्ति थी कि वह कटु और तीव्र राजनीतिक संघर्षों को चला सकती थी और अन्त में एक सही कार्यदिशा तक पहुँच सकती थी।** बेतेलहाइम की लेनिनवादी पार्टी की एक अवधारणा एक आदर्शीकृत अवधारणा है।

पहले भाग के अन्त में बेतेलहाइम एक अन्य तथ्यात्मक और अवधारणात्मक भूल करते हैं। बेतेलहाइम बताते हैं कि 1917 से 1921 के बीच बोल्शेविक पार्टी और सोवियत सत्ता को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उनके पीछे मुख्य कारण थे व्यापक किसान जनसमुदायों में पार्टी की सीमित पहुँच, भौगोलिक तौर पर पार्टी की सीमित पहुँच, अनुभव की कमी, कुशल राजनीतिक कार्यकर्ताओं की कमी, आदि। उनका यह कहना सही है कि किसानों के बीच बोल्शेविकों के समर्थन का कारण बोल्शेविकों द्वारा एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम का समर्थन और युद्ध और शान्ति के प्रश्न पर उनकी नीति थी। लेकिन इससे बेतेलहाइम यह नतीजा निकालते हैं कि यही कारण थे जिनके चलते बोल्शेविक पार्टी क्रान्ति के बाद तत्काल समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने की बजाय 'समाजवाद की ओर कुछ कदम' तक सीमित रही। **यानी**

कि सोवियत रूस में क्रान्ति के बाद 'समाजवाद की ओर कुछ कदमों' के साथ समाजवादी निर्माण की शुरुआत करने के सारे कारण मनोगत थे, उनका कोई वस्तुगत पहलू नहीं था; पार्टी की कुछ निश्चित कमियों-कमज़ोरियों के कारण ही तत्काल समाजवादी नीतियों का कार्यान्वयन नहीं किया जा सका। यह पूरा दृष्टिकोण एक बार फिर से बेतेलहाइम के मनोगतवादी रवैये को दिखलाता है। वास्तव में, जहाँ तक सर्वहारा वर्ग और उद्योगों का प्रश्न था, तो उत्पादन और उत्पादन के साधनों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण सीधे मज़दूरों के हाथों में सौंपने की नीति न अपनाये जाने का मूल कारण पार्टी की सर्वहारा वर्ग में कम पहुँच नहीं थी; इसके दो वस्तुगत कारण थे, जैसा कि लेनिन ने बताया था। एक था क्रान्ति के पहले से ही जारी आर्थिक बिखराव और विखण्डन और दूसरा कारण (जो कि पहले कारण से जुड़ा हुआ ही था) सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक और तकनीकी तौर पर ज़्यादा कुशल न होना। यही कारण था कि सर्वहारा वर्ग का स्वत:स्फूर्त रूप से कारखानों को अपनी कारखाना समितियों के तहत लेकर उत्पादन और उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण करने का प्रयास असफल हो गया था। इसके बाद, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की नीति की लेनिन ने वकालत की थी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो चुका था और मज़दूर वर्ग को सधे हुए कदमों से समाजवाद के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ना था। लेकिन इसमें पहली मंज़िल थी लेखा और खाता-बही द्वारा उत्पादन का मज़दूर वर्ग द्वारा नियन्त्रण। इस दौर में मज़दूर वर्ग की सत्ता के लिए यह बाध्यता थी कि वह बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाएँ ले, उससे उत्पादन की पूरी प्रक्रिया के संचालन को सीखे और इस बीच सक्षम मज़दूर प्रबन्धक, तकनीशियन आदि तैयार करे। लेनिन ने बताया कि बड़ी पूँजी की सत्ता को चकनाचूर करने के बाद रूस में समाजवादी सत्ता के समक्ष सबसे बड़ा दुश्मन टटपुँजिया वर्ग और टटपुँजिया उत्पादन है और इसे ख़त्म करके ही समाजवादी निर्माण की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। इसके लिए सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के एक दौर से गुज़रना वांछनीय था। जब "वामपन्थी" कम्युनिस्टों बुखारिन, ओसिंस्की, स्मिर्नोव ने बुर्जुआ विशेषज्ञों को काम पर रखने, उन्हें अधिक वेतन और विशेषाधिकार देने और प्रत्यक्ष उत्पादकों के हाथों में उत्पादन के साधनों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण तत्काल न सौंपे जाने की आलोचना की तो लेनिन ने उनकी खूब खिल्ली उड़ायी और उन्हें शेखचिल्ली क़रार दिया था। लेनिन ने याद दिलाया कि जब तक सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम है, तब तक ऐसे कुछ संक्रमणकालीन कदमों से डरने की कोई ज़रूरत नहीं है और ये संक्रमणकालीन कदम सोवियत सत्ता के अस्तित्व की पूर्वशर्त हैं। चार्ल्स बेतेलहाइम यह भी नहीं समझते कि कृषि के क्षेत्र में तो सोवियत सत्ता ने अभी 'समाजवाद की ओर कुछ कदम' भी नहीं उठाये थे, सिवाय कुछ मॉडल राजकीय फार्मों और कुछ सामूहिक व सहकारी फार्मों के निर्माण के अतिरिक्त। कृषि के क्षेत्र में सोवियत समाजवादी सत्ता ने जनवादी क्रान्ति को सबसे रैडिकल तरीके से पूर्णता तक पहुँचाया था। लेनिन की यह कार्यदिशा थी कि जनवादी क्रान्ति को रैडिकल तरीके से पूर्णता तक पहुँचाने के बाद पार्टी का तात्कालिक कार्यभार यह है कि वह किसानों को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करे, खेतिहर सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा के साथ मज़बूत एकता कायम करके कृषि क्षेत्र में समाजवादी रूपान्तरण की ओर आगे बढ़े। लेकिन गृहयुद्ध ने इस पूरी योजना और कार्यदिशा पर अमल करने का अवसर पार्टी को नहीं दिया। लेकिन इस पूरे घटनाक्रम को बेतेलहाइम अपने तरीके से पेश करते हैं, जिससे कि लेनिन की मूल कार्यदिशा छिप जाती है जो कि समाजवादी निर्माण की एक चरणबद्ध रूपरेखा प्रस्तुत करती थी; और 1921 में अपनायी गयी समाजवादी संक्रमण की आम नैसर्गिक नीति के रूप में 'नयी आर्थिक नीतियाँ' (नेप)

लेनिन की मूल कार्यदिशा बन जाती है। **यह तथ्यों का विकृतिकरण है और बेतेलहाइम यहाँ पर भी अपनी संशोधनवादी कार्यदिशा को "माओवाद" और बुखारिनपन्थ के मिश्रण के तौर पर पेश कर रहे हैं।**

2. दूसरा भाग – सोवियत सत्ता और 1917 और 1921 के बीच वर्ग सम्बन्धों का रूपान्तरण

बोल्शेविक क्रान्ति के बाद वर्ग सम्बन्धों में आये परिवर्तनों और स्वयं वर्गों में आये परिवर्तनों की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना और निजी सम्पत्ति के कानूनी रूपों के ख़ात्मे के साथ बुर्जुआ वर्ग को पराजय का सामना करना पड़ा था, लेकिन बुर्जुआ वर्ग समाज से समाप्त नहीं हुआ था। उत्पादन सम्बन्धों के धरातल पर बुर्जुआ श्रम विभाजन और अधिरचना के धरातल पर बुर्जुआ विचारधारा की मौजूदगी बनी हुई थी। लेकिन अब ये चीज़ें सर्वहारा चौकसी और शासन के अन्तर्गत थीं। इसलिए पूरी प्रक्रिया, बेतेलहाइम के शब्दों में, "रूपान्तरित हो गयी थी, लेकिन उन्मूलित नहीं हुई थी।" निश्चित तौर पर, कोई भी क्रान्ति पूर्ववर्ती सामाजिक सम्बन्धों का उन्मूलन नहीं करती है, बल्कि सम्पत्ति सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के साथ उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के रूपान्तरण के कार्य की शुरुआत करती है और इसे अलग से रेखांकित करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। **लेकिन यह कहना कि पूरी प्रक्रिया "रूपान्तरित हो गयी थी, उन्मूलित नहीं" आपको इस सवाल का जवाब देने का बाध्य करती है कि किस चीज़ में रूपान्तरित हो गयी थी?** बेतेलहाइम इस प्रश्न का कहीं जवाब नहीं देते जो कि वास्तव में समाजवादी समाज के एक "संक्रमणशील समाज" (जो न तो पूँजीवादी कहा जा सकता है और न ही समाजवादी!) की पुरानी थीसिस से मेल खाता है। बहरहाल, बेतेलहाइम भी इतना मानते हैं कि सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी-वैधिक रूपों के रूपान्तरण की पूर्वशर्त को पूरा किये बग़ैर उत्पादन सम्बन्धों क्रान्तिकारी रूपान्तरण की दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। लेकिन इसके बाद बेतेलहाइम मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के अपने पुराने हेगेलीय प्रत्ययवादी और प्रतीतिगत तौर पर "माओवादी" विकृतिकरण पर आ जाते हैं।

बेतेलहाइम लिखते हैं कि उत्पादन सम्बन्धों के स्वरूप और संरचना का निर्धारण सामाजिक उत्पादन की वास्तविक स्थितियों, यानी कि उत्पादन और संचरण की संरचना, से होता है। सामाजिक उत्पादन की वास्तविक स्थितियाँ श्रम के सामाजिक विभाजन और उत्पादन के उपकरणों में प्रकट होती हैं; और ये श्रम विभाजन और उत्पादन के उपकरण पिछले दौर के वर्ग संघर्ष के उपोत्पाद या प्रभाव होते हैं। **दूसरे शब्दों में, बेतेलहाइम के अनुसार, उत्पादक शक्तियों का चरित्र वर्ग संघर्ष द्वारा निर्धारित होता है। वर्ग संघर्ष के चरित्र का निर्धारण बेतेलहाइम के अनुसार उन *निर्धारित भौतिक बुनियादों* के आधार पर होता है, जिनमें यह वर्ग संघर्ष होता है। अब सवाल यह पैदा होता है कि ये भौतिक बुनियाद क्या है, अगर यह स्वयं उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध नहीं है? यदि वर्ग संघर्ष उत्पादक शक्तियों के विकास और चरित्र को निर्धारित करता है तो वर्ग संघर्ष किस कारक से निर्धारित होता है?** निश्चित तौर पर, वर्ग संघर्ष किसी भी युग में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के अन्तरविरोध को हल करता है। क्रान्तिकारी वर्ग संघर्ष के हस्तक्षेप के बिना उत्पादक शक्तियों का विकास निर्बन्ध नहीं हो सकता और पुराने

उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण नहीं हो सकता है क्योंकि वर्ग संघर्ष के ज़रिये ही शासक वर्ग की राज्यसत्ता का ध्वंस होता है, जो कि पहले से मौजूद आर्थिक आधार (उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग) की हिफ़ाज़त करती है। **लेकिन यह कहना कि किसी भी समाज में उत्पादक शक्तियों (और उत्पादन सम्बन्धों) का चरित्र वर्ग संघर्ष द्वारा निर्धारित होता है और वर्ग संघर्ष का चरित्र *भौतिक परिस्थितियों* द्वारा निर्धारित होता है, एक अर्थहीन गोल चक्कर में घूमने के समान है। अपने हेगेलीय प्रत्ययवाद और मनोगतवाद के चलते बेतेलहाइम इसी गोल चक्कर में घूम गये हैं और अफ़सोस की बात यह है कि इस गोल चक्कर को वह माओ की रचना मानते हैं!**

बेतेलहाइम अपने इस गोल चक्कर में घूमते हुए यह सही सूत्र वाक्य दुहराते रहते हैं कि केवल सम्पत्ति सम्बन्धों के रूपान्तरण से उत्पादन सम्बन्धों का रूपान्तरण पूरा नहीं होता है। उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण के लिए बुर्जुआ श्रम विभाजन और वितरण सम्बन्धों में समानता स्थापित होना आवश्यक है। यह सही है और इस तथ्य को मार्क्स से लेकर माओ तक सभी महान शिक्षकों ने अलग-अलग तरीके से स्पष्ट और रेखांकित किया है। लेकिन इस सही नतीजे तक पहुँचने के लिए उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व और वर्ग संघर्ष की भूमिका के विकृतिकरण की कोई आवश्यकता नहीं थी। माओ से अधिक माओवादी बनने के प्रयास में बेतेलहाइम इस बुनियादी मार्क्सवादी समझदारी को भूल गये हैं कि इतिहास में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध अन्तिम तौर पर निर्धारक शक्ति की भूमिका निभाता है; यह द्वन्द्व एक गत्यात्मक द्वन्द्व (dynamic dialectic) है जिसमें कि प्रधान पहलू और गौण पहलू एक-दूसरे में रूपान्तरित/परिवर्तित होते रहते हैं; यह अन्तरविरोध ही अपने आपको वर्ग समाज के पूरे दौर में वर्ग संघर्ष के रूप में अभिव्यक्त करता है, जो कि इतिहास की तात्कालिक निर्धारक शक्ति होता है। इन बुनियादी सिद्धान्तों का बेतेलहाइम माओ और माओवाद के नाम पर हेगेलीय विकृतिकरण करते हैं और यह उनकी रचना में बार-बार होता है।

जैसा कि हमने पहले भी कहा है, बेतेलहाइम कई जगहों पर कुछ सटीक प्रेक्षण देते हैं, लेकिन अन्ततः वह प्रत्ययवाद की शरण में ही पहुँच जाते हैं। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम का यह कहना एकदम दुरुस्त है कि समाजवाद की स्थापना का अर्थ पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का "उन्मूलन" नहीं होता, बल्कि इसका अर्थ होता है सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना और उसके तहत उत्पादन सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण का निरन्तर जारी रहना। बेतेलहाइम का यह कहना भी बिल्कुल सही है कि उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण का अर्थ केवल सम्पत्ति सम्बन्धों, या दूसरे शब्दों में मालिकाने के सम्बन्धों का रूपान्तरण नहीं है। सम्पत्ति सम्बन्धों के रूपान्तरण के साथ तो सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के ख़ात्मे की मात्र पूर्वशर्त पूरी करता है। इसके बाद सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ श्रम विभाजन को ख़त्म करते हुए लगातार उन सभी चीज़ों से अपने अलगाव को ख़त्म करना होता है, जिनसे पूँजीवादी उत्पादन ने उन्हें काट दिया होता है। यह कार्य सर्वहारा वर्ग द्वारा अपने सर्वतोमुखी अधिनायकत्व को बुर्जुआ वर्ग (जिसका सम्पत्तिहरण हुआ है, लेकिन जो समाज में अभी भी मौजूद है) पर लागू करते हुए उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को श्रम विभाजन को ख़त्म करने और वितरण सम्बन्धों को समानतामूलक बनाने तक ले जाना होता है। इस प्रक्रिया को अगर आगे नहीं बढ़ाया गया तो बुर्जुआ वर्ग ऐतिहासिक रूप से निर्धारित नये रूपों में (राजकीय बुर्जुआ वर्ग के रूप में) फिर से वर्चस्वकारी स्थिति में आ सकता है, और

सर्वहारा वर्ग उन बुर्ज़ों को एक बार फिर से हार सकता है, जिन्हें उसने जीता है। आगे बेतेलहाइम लेनिन द्वारा 'एक महान शुरुआत' नामक लेख में दी गयी वर्ग की परिभाषा को उद्धृत करते हुए यह बताते हैं कि कानून कई बार उत्पादन सम्बन्धों की मूल अन्तर्वस्तु को अभिव्यक्त करने की बजाय उसे छिपाते हैं, मिसाल के तौर पर, पूँजीवाद के तहत राजकीय सम्पत्ति, जो कि औपचारिक तौर पर सारी जनता की सम्पत्ति होता है, लेकिन वस्तुतः वह सामूहिक पूँजीपति वर्ग की संचित पूँजी होता है। **लेकिन यहाँ पर दो दिक्कतें हैं।**

एक तो यह कि बेतेलहाइम सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत जारी वर्ग संघर्ष के ज़रिये उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण की जिस प्रक्रिया का विवरण देते हैं, वह एकांगी और एकरेखीय है। समाजवादी संक्रमण के दौरान रूपान्तरण की यह प्रक्रिया सम रफ्तार से नहीं जारी रहती है। वह कई बार ठहराव और यहाँ तक कि विपर्यय से भी गुज़रती है। समाजवादी संक्रमण के दौरान सर्वहारा वर्ग अपनी पार्टी के नेतृत्व में और अपने अधिनायकत्व के ज़रिये कभी समाजवादी आक्रमण (socialist offensive) को संचालित करता है, कभी जीते हुए किलों की हिफ़ाज़त करते हुए कदम अड़ा देता है, तो कभी वह रणनीतिक तौर पर कदम पीछे भी हटाता है (strategic retreat)। समाजवादी संक्रमण की प्रक्रिया जारी है या फिर ठहरावग्रस्त हो गयी है, इसका फैसला किसी छोटे कालखण्ड में नहीं किया जा सकता है और सच कहें तो समाजवादी रूपान्तरण के जारी रहने, ठहर जाने या पीछे की ओर जाने का हमेशा इस रूप में परिमाणात्मक मूल्यांकन करना सम्भव ही नहीं है। *मिसाल के तौर पर, अक्टूबर 1917 से मई 1918 के दौरान सोवियत रूस में सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना और 'समाजवाद की ओर' कुछ सधे हुए कदम बढ़ाया जाना; मई 1918 से लेकर 1921 तक गृहयुद्ध और 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर में पार्टी का वक़्त से पहले समाजवादी रूपान्तरण की कुछ आगे की नीतियों को लागू करने पर बाध्य होना और इस दौर में कुछ "वामपन्थी" बचकानेपन की ग़लतियों का होना; 'युद्ध कम्युनिज़्म' के दौर में समाजवादी रूपान्तरण की सही और सन्तुलित प्रक्रिया के जारी न रह पाने के कारण हुए नुक़सान की भरपाई के लिए रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाना और 'नेप' की नीतियों का लागू किया जाना; 1926 तक के दौर में 'नेप' की नीतियों की बदौलत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पटरी पर लौटना और साथ ही 'नेप' के तहत किसानों और व्यापारियों को दी गयी छूट के रूप में बाज़ार की शक्तियों को दी गयी छूटों के कारण एक नये कृषक पूँजीपति वर्ग और उसके साथ नत्थी निजी व्यापारी पूँजीपति वर्ग का पैदा होना, जो कि समाजवादी राज्यसत्ता द्वारा विनियमन का विभिन्न रूपों में विरोध कर रहा था और असहयोग और तोड़-फोड़ तक की नीतियों को अपनाना शुरू कर रहा था; 1929 में 'नेप' की नीतियों की अनावश्यक उत्तरजीविता के कारण आर्थिक संकट का पैदा होना और पार्टी द्वारा आपातकालीन कदमों को उठाया जाना; और फिर 1930-31 से सामूहिकीकरण आन्दोलन की शुरुआत के रूप में सर्वहारा वर्ग का एक बार फिर से समाजवादी आक्रमण पर जाना*–ये सभी समाजवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया के अलग-अलग चरण या दौर थे, जिसमें सर्वहारा वर्ग कभी आगे कदम बढ़ाता हुआ तो कभी पीछे कदम हटाता हुआ दिखता है। 1936 में सामूहिकीकरण आन्दोलन के साथ सोवियत अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र से पूँजीवादी सम्पत्ति का ख़ात्मा हो गया और यह मानना होगा कि 1936 तक सोवियत संघ में समाजवादी रूपान्तरण तमाम उतार-चढ़ावों से होता हुआ *गुणात्मक रूप से* आगे बढ़ा। और यह भी नहीं भूलना चाहिए कि समाजवादी रूपान्तरण की इस प्रक्रिया को अपनी पार्टी के सक्रिय और संस्थाबद्ध नेतृत्व में

सर्वहारा वर्ग ने आम तौर पर लगभग हमेशा ही आपात स्थितियों में रहते हुए आगे बढ़ाया। क्योंकि केवल इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही हम 1917 से 1936 के बीच बोल्शेविक पार्टी और स्तालिन के चिन्तन, विशेष तौर पर, समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर हुए चिन्तन की कमज़ोरियों और विचलनों को समझ सकते हैं। स्तालिन के तहत सोवियत समाजवाद की समस्याओं पर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे और कुछ प्रश्नों पर हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं। **लेकिन बेतेलहाइम द्वारा स्तालिन के दौर में समाजवादी निर्माण की समस्याओं पर चर्चा एक ग़लत ज़मीन से की जाती है। इसे बेतेलहाइम माओवादी आलोचना की ज़मीन के तौर पर पेश करते हैं, लेकिन यह वास्तव में हेगेलीय प्रत्ययवाद, युवा-हेगेलीय मनोगतवाद, बुखारिनपन्थ, त्रात्स्कीपन्थ, अल्थूसरीय उत्तर-संरचनावाद, और संशोधनवाद की ज़मीन है।**

दूसरी बात यह कि बेतेलहाइम वर्ग की परिभाषा के विषय में लेनिन का जो उद्धरण पेश करते हैं, उसे भी अपने अन्दाज़ में विनियोजित करते हैं। मिसाल के तौर पर, लेनिन अपने उद्धरण में कहते हैं कि उत्पादन सम्बन्धों में सम्पत्ति सम्बन्ध का पहलू अधिकांश मामलों में कानून द्वारा निर्धारित और सूत्रबद्ध होता है। **कानून उत्पादन सम्बन्धों की मूल अन्तर्वस्तु को छिपाते हैं, यह बात लेनिन ने नहीं लिखी है, बल्कि इसे बेतेलहाइम लेनिन पर आरोपित कर देते हैं।** लेनिन ने सिर्फ इतना कहा है कि आम तौर पर कानून सम्पत्ति सम्बन्धों को औपचारिक और निर्धारित रूप देते हैं, और कुछ मामलों में ऐसा नहीं भी हो सकता है, जिस सूरत में वे उत्पादन सम्बन्ध की मूल अन्तर्वस्तु को छिपा भी सकते हैं। लेकिन वे हर-हमेशा ऐसा ही करेंगे, लेनिन ने ऐसा कहीं नहीं लिखा है। लेनिन की अवस्थिति कहीं ज़्यादा द्वन्द्वात्मक और सन्तुलित है। अपने एकांगी दृष्टिकोण को सिद्ध करने के लिए बेतेलहाइम पूँजीवाद के तहत राजकीय सम्पत्ति का उदाहरण देते हैं, जिसे जनता की सम्पत्ति क़रार दिया जाता है। लेकिन कानून वास्तव में यहाँ सम्पत्ति सम्बन्धों की मूल अन्तर्वस्तु को पूर्ण रूप से छिपा पाने में कामयाब नहीं हो पाता क्योंकि पूँजीवादी समाज में *आम तौर पर* सर्वहारा वर्ग यह जानता या महसूस करता है कि राज्यसत्ता पर कौन काबिज़ है, और इसीलिए राजकीय सम्पत्ति का औपचारिक तौर पर मौजूद होना उसके लिए कोई विशेष महत्व नहीं रखता। **बहरहाल, यहाँ पर बेतेलहाइम जिस भावी चोट की ज़मीन तैयार कर रहे हैं वह यह है कि सोवियत संघ में निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे से उत्पादन सम्बन्धों में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और दूसरा यह कि सोवियत राज्यसत्ता में 1930 के दशक की शुरुआत तक राजकीय बुर्जुआ वर्ग मज़बूती से काबिज़ हो चुका था, इसलिए उद्योगों में राजकीय सम्पत्ति की मौजूदगी के बाद भी उत्पादन के साधनों का प्रबन्धन सर्वहारा वर्ग के हाथों में नहीं था और उत्पादन के साधनों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण और फैसला लेने की ताक़त से तो वह मीलों दूर था। यह 1920 और 1930 के दशक के सोवियत समाजवाद के अनुभवों का एक न सिर्फ़ अतिवादी चित्रण है बल्कि ग़लत चित्रण है, जो सच्चाई से बेहद दूर है।** यह सच है कि सोवियत समाजवाद की समस्याओं का 1920 के दशक और 1930 के दशक में बोल्शेविक पार्टी सटीक तरह से हल नहीं निकाल सकी और उसकी समझदारी पर अर्थवाद का स्पष्ट प्रभाव था; यह भी सच है कि इस अर्थवादी विचलन के कारण स्तालिन और बोल्शेविक पार्टी से कई परिघटनाओं के मूल्यांकन में गम्भीर भूलें भी इस दौर में हुईं; जहाँ एक ओर इस दौर सोवियत संघ में मज़दूर वर्ग के जीवन स्तर में गुणात्मक छलाँग लगी, स्त्री-पुरुष समानता की स्थिति में युगान्तरकारी बदलाव आया और मज़दूर वर्ग

की रचनात्मकता और पहलकदमी से समाजवादी निर्माण और समाजवादी उत्पादन के विकास में सोवियत संघ में चमत्कारिक छलाँगें लगायीं, वहीं यह भी सच था कि उत्पादक शक्तियों के विकास पर एकांगी ज़ोर और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के पहलू पर कम ज़ोर होने के कारण वेतन असमानता बढ़ी, मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना का सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को सर्वतोमुखी रूप से लागू करने के लिए उपयुक्त रूप से स्तरोन्नयन नहीं हो सकता और कुछ मामलों में मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चौकसी में कमी भी आयी। यह पूरी स्थिति यदि सभी पहलुओं के साथ बयान न की जाय तो बेतेलहाइम का यह दृष्टिकोण सोवियत संघ के इतिहास से अपरिचित किसी नये पाठक को सही लग सकता है कि 1917 के बाद से ही जारी कुछ विजातीय रुझानें विशेष तौर पर लेनिन की मृत्यु के बाद से बढ़ती रहीं और 1930 के दशक में ये रुझानें मुख्य रूप से सोवियत सत्ता पर हावी हो चुकी थीं; सोवियत सत्ता 1930 के दशक के उत्तरार्द्ध में राजकीय बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व के मातहत आ गयी थी, मज़दूर वर्ग की पहलकदमी समाप्त हो चुकी थी और वे अब राजकीय बुर्जुआ वर्ग की पूँजी संचय को बढ़ाने के लिए अपनी श्रम शक्ति बेचने वाला एक उजरती मज़दूर वर्ग बन चुका था। **यह सोवियत संघ के इतिहास का एक ख़तरनाक विकृतिकरण है और सोवियत समाजवादी निर्माण के पूरे दौर में जारी परस्पर विरोधी रुझानों को सम्पूर्णता में और उनके अन्तरविरोधों में नहीं पेश करता है।**

बेतेलहाइम यह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी तर्क देने के छोर पर भी जाते हैं कि सर्वहारा वर्ग 1930 के दशक में उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं रखता था। निश्चित तौर पर, सर्वहारा वर्ग उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण समाजवादी निर्माण की बेहद ऊँची मंज़िलों में ही रख सकेगा; तब तक सर्वहारा राज्यसत्ता की मध्यस्थता के ज़रिये ही सर्वहारा वर्ग राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर अपना नियन्त्रण रखेगा; इस दौर में आर्थिक परिघटना के तौर पर अलगाव इस हद तक मौजूद रहेगा कि अभी श्रम विभाजन, विनिमय सम्बन्ध मौजूद रहेंगे और इसलिए अधिशेष का विनियोजन होगा। लेकिन उसका स्वरूप बदल चुका होगा क्योंकि अब विनियोजित होने वाले और विनियोजित करने वाले का स्वरूप बदल चुका होगा और उनके बीच शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध नहीं होगा, हालाँकि दोनों के बीच एक अन्तर के रूप में अन्तरविरोध मौजूद रहेगा। इस अन्तरविरोध को सही ढंग से हल नहीं करने की सूरत में चीज़ें ग़लत मोड़ ले सकती हैं और इस रूप में इस पूरे संक्रमण के दौर में पूँजीवादी पुनर्स्थापना की सम्भावना मौजूद रहती है। लेकिन इसके बावजूद यह एक बहुत बड़ा बदलाव है और अलगाव के चरित्र में यह बुनियादी और गुणात्मक परिवर्तन कर देता है और वस्तुतः अलगाव की पूरी परिघटना के विलोपन की दिशा में एक महान अग्रवर्ती कदम होता है। लेकिन बेतेलहाइम एक सच्चे अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी के समान इस बात को समझने में नाकाम रहते हैं और "प्रत्यक्ष नियन्त्रण" के पुराने अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी गाने को बीच-बीच में गुनगुनाते रहते हैं।

दूसरी बात यह कि समाजवादी निर्माण की उत्तरवर्ती मंज़िलों में भी, जब सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना इतनी उन्नत हो चुकी होगी कि वह संकीर्ण आर्थिक हितों से ऊपर उठकर पूरे सर्वहारा वर्ग के हितों को स्वयं समझने लगेगा और पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन के कामों को क्रमिक प्रक्रिया में अपने प्रत्यक्ष नियन्त्रण में लेता जायेगा, तब भी नेतृत्व करने वाले लोगों और नेतृत्व स्वीकार करने वाले लोगों का फ़र्क मौजूद होगा; बस फर्क इतना होगा कि यह अन्तर किसी बुर्जुआ अधिकार का आधार नहीं बनेगा और

नेतृत्व कोई विशेषाधिकार नहीं होगा बल्कि महज़ एक भूमिका होगी; दूसरी बात यह कि अब यह श्रम विभाजन अनमनीय और कठोर नहीं रह जायेगा, बल्कि तरल और परिवर्तनीय होगा। वास्तव में, मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के विभेद के मिटने की क्रमिक और दीर्घकालिक प्रक्रिया का भी यही अर्थ हो सकता है। मिसाल के तौर पर मानसिक श्रम मानसिक श्रम ही रहेगा और शारीरिक श्रम शारीरिक श्रम ही रहेगा, लेकिन समाजवादी निर्माण के उच्चतर मंज़िलों में पहुँचने के साथ शारीरिक श्रम करने वालों और मानसिक श्रम करने वालों के बीच कोई कठोर और अनमनीय बँटवारा नहीं होगा और उनकी भूमिकाएँ अपरिवर्तनीय नहीं होंगी बल्कि परस्पर परिवर्तनीय होंगी। निश्चित तौर पर, तब भी ऐसे लोग होंगे जो कि शारीरिक श्रम में अधिक निपुण होंगे और कुछ ऐसे लोग होंगे जो कि मानसिक श्रम में अधिक निपुण होंगे, लेकिन शारीरिक श्रम तब अपमान का नहीं बल्कि गौरव का विषय होगा, शारीरिक श्रम की गरिमा बहाल हो चुकी होगी और बुर्जुआ श्रम विभाजन समाप्त होने की दिशा में आगे बढ़ चुका होगा। बेतेलहाइम अपनी ज़रूरत के अनुसार इस बात की पुष्टि भी करते हैं और फिर अपनी ज़रूरत के ही अनुसार "प्रत्यक्ष उत्पादक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण" की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी शब्दावली का अवसरवादी इस्तेमाल भी करते हैं, ताकि सोवियत संघ में स्तालिन के दौर में समाजवादी निर्माण के अग्रवर्ती विकास पर प्रश्न खड़ा किया जा सके।

1917 से 1923 के बीच शहरों में वर्ग सम्बन्धों में आये परिवर्तनों के बारे में चर्चा करते हुए बेतेलहाइम पूँजीपति वर्ग के एक प्रभुत्वशाली वर्ग के तौर पर ख़ात्मे की बात करते हैं; लेकिन वह आगाह करते हैं कि पूँजीपति वर्ग को प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में सत्ताच्युत करने की प्रक्रिया पूर्ण नहीं थी और न ही यह झटके से हुई। जैसा कि हम बता चुके हैं, राजकीय पूँजीपति वर्ग की पूरी अवधारणा का बेतेलहाइम ने बेहद लापरवाह किस्म से इस्तेमाल किया है। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के बारे में लिखते हुए वह हर चीज़ में ही राजकीय बुर्जुआज़ी की मौजूदगी को सूँघ लेते हैं। मिसाल के तौर पर, इस दौर के लिए बेतेलहाइम कहते हैं कि 1917 से 1923 के बीच में क्रान्ति की चुनौतियों के कारण एक राजकीय बुर्जुआ वर्ग का निर्माण हो गया था। यह इस पूरी अवधारणा का सटीक इस्तेमाल नहीं है। 1917 से 1923 के बीच राज्य और प्रशासन के लिए सर्वहारा सत्ता को पुराने बुर्जुआ विशेषज्ञों का इस्तेमाल करना पड़ा, उन्हें अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन से लेकर सेना तक में अहम पद देने पड़े, अधिक वेतन व सुविधाएँ देनी पड़ीं और यह कहा जा सकता है कि पुरानी बुर्जुआ राज्यसत्ता के प्रशासनिक ढाँचे को पूरी तरह से प्रतिस्थापित करने की क्षमता अभी रूसी सर्वहारा वर्ग के पास नहीं थी; इसके ऐतिहासिक कारण उन अपवादस्वरूप पैदा हुई स्थितियों में थे जिसमें कि बोल्शेविक क्रान्ति सम्पन्न हुई थी और जिनका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। लेनिन बोल्शेविक क्रान्ति के विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझते थे; साथ ही क्रान्ति के कुछ माह के अनुभवों के बाद ही लेनिन यह भी समझ गये थे कि रूसी सर्वहारा वर्ग अभी अपनी राज्यसत्ता के सुचारू संचालन में सक्षम नहीं है। वस्तुगत स्थितियों के अलावा तत्काल समाजवादी नीतियों की शुरुआत न करके समाजवाद की ओर कुछ कदम बढ़ाने के पीछे एक कारण यह कमज़ोरी भी थी। इसी के मद्देनज़र लेनिन ने समाजवादी निर्माण के पहले दौर के तौर पर रूस में सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की हिमायत की और बताया कि रूसी सर्वहारा वर्ग को अभी प्रबन्धन और नियोजन (आर्थिक और तकनीकी दोनों ही) के कई कामों को सीखने के लिए बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवा लेनी चाहिए और इसमें कोई हर्ज़

नहीं है; इस पहले दौर में पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा राज्यसत्ता को इन सभी कामों को सम्भालने के लिए सक्षम सर्वहारा तत्वों को तैयार करना चाहिए; जब तक सर्वहारा वर्ग राज्यसत्ता पर मज़बूती से काबिज़ है, बुर्जुआ विशेषज्ञों की राज्यसत्ता के आर्थिक और प्रशासनिक ढाँचे में मौजूदगी और उन्हें मिलने वाले बुर्जुआ अधिकारों से घबराने की आवश्यकता नहीं है। **लेकिन वास्तव में इन बुर्जुआ विशेषज्ञों को ही विशिष्ट अर्थों में सोवियत रूस में क्रान्ति के तत्काल बाद पैदा हो गयी 'राजकीय बुर्जुआज़ी' की संज्ञा देना भ्रामक होगा। राजकीय पूँजीपति वर्ग समाजवादी संक्रमण के दौरान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं और बुर्जुआ श्रम विभाजन के कारण पार्टी और राज्यसत्ता के भीतर से पैदा होता है। पहले से मौजूद बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं को सर्वहारा राज्यसत्ता द्वारा अस्थायी तौर पर इस्तेमाल करने के परिणामस्वरूप राज्यसत्ता की प्रशासनिक और आर्थिक संरचना में बुर्जुआ तत्वों की मौजूदगी को सीधे तौर पर राजकीय बुर्जुआ वर्ग की संज्ञा दे देना, इस पूरी अवधारणा का भी बचकाना सरलीकरण और साथ ही उस समय सोवियत रूस में समाजवादी निर्माण की स्थिति की भी एक बचकानी सरलीकृत व्याख्या है।**

बेतेलहाइम यहाँ भी अपने भावी आक्रमण की ज़मीन तैयार कर रहे हैं जिसके मुताबिक वह सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना की किसी घटना (event) का ज़िक्र नहीं करते और न ही यह बताते हैं कि वास्तव में सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना कब हुई थी; वह उसे 1917 के बाद से ही जारी रुझानों की ही तार्किक परिणति के तौर पर देखते हैं। जैसा कि हम पहले भी इंगित कर चुके हैं, यह सोच 'संक्रमणशील समाज' की उनकी थीसिस से भी मेल खाती है। बेतेलहाइम का यह पूरा सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क माओ की समझदारी को सोवियत समाजवादी निर्माण पर लागू करने के नाम पर भयंकर सैद्धान्तिक गड़बड़झाला फैलाता है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के बुनियादी सिद्धान्तों का विकृतिकरण करता है।

मज़दूर नियन्त्रण और सोवियत सत्ता द्वारा क्रान्ति के तत्काल बाद इस पर जारी की गयी आज्ञप्ति की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम दिखलाते हैं कि सोवियत समाजवादी निर्माण का एक बुरा इतिहास कैसे लिखा जाय। वास्तव में, बेतेलहाइम सोवियत समाजवाद के विषय में तथ्यों, तर्कों और प्रमाणों के प्रति एक लापरवाह रवैया अक्सर इसलिए अपनाते नज़र आते हैं क्योंकि उनकी इस रचना में उनकी मूल मंशा एक वस्तुपरक इतिहास लिखना नहीं है, बल्कि सोवियत समाजवादी के विषय में अपनी पूर्वनिर्धारित "माओवादी" आलोचना को सिद्ध करना है। यही कारण है कि वह तसल्लीबख़्श विश्लेषण करने के समय लेने वाले कार्य को जैसे-तैसे करते हैं और तथ्यों के विवरण और उनकी व्याख्या से तेज़ी से फिसलते हुए उन मूल्य-आधारित निर्णयों तक पहुँच जाते हैं, जो पहले से तय हैं और जिनका वह बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे थे! **थियोडोर अडोर्नो** ने एक बार कहा था कि किसी भी आलोचनात्मक अध्ययन का उद्देश्य वास्तव में अध्ययन की प्रक्रिया में ही स्पष्ट होता है; चाहे अध्येता कितनी भी पूर्वनिर्धारित मान्यताएँ लेकर चले, ठोस तथ्यों का उसका प्रेक्षण और व्याख्या बार-बार उद्देश्य को नये रूप में परिभाषित और पुनर्परिभाषित करता रहता है। एक मायने में यह बात सच है, हालाँकि इस तर्क को एक छोर तक बढ़ा दिया जाय तो इस बात पर भी सन्देह किया जा सकता है कि लेखक की कोई *ए प्रायोरी* पक्षधरता होनी चाहिए। बेतेलहाइम पर अडोर्नो की यह टिप्पणी मुश्किल से ही लागू होती है। बेतेलहाइम के नतीजे पहले से तय हैं और तथ्यों को काट-छाँटकर और विकृत करके उनकी पूर्वनिर्धारित व्याख्या में फिट कर दिया गया है। लेकिन

इस हद तक अडोर्नो की यह बात बेतेलहाइम पर लागू भी होती है क्योंकि पहले खण्ड में बेतेलहाइम जिन नतीजों तक पहुँचना चाहते हैं, तीसरे खण्ड तक वह उससे कहीं ज़्यादा गैर-लेनिनवादी विश्लेषण और नतीजे तक पहुँच गये हैं। लेकिन इतना तय है किसी भी विषय-वस्तु के अध्ययन के आरम्भ से पहले, ए *प्रायोरी (a priori)*, केवल पहुँच और पद्धति तय की जा सकती है, नतीजे नहीं। यही कारण है कि यह पुस्तक बुरे इतिहास-लेखन का एक प्रातिनिधिक उदाहरण है।

मज़दूर नियन्त्रण की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम मानते हैं कि क्रान्ति के बाद फैक्टरी समितियों का आन्दोलन उनके भीतर मौजूद अराजकतावादी, संघाधिपत्यवादी और अर्थवादी रुझानों के कारण असफल हो गया था। उनके असफल होने के कारण उद्योगों में एक अव्यवस्था फैल गयी थी, जिसके कारण आर्थिक बिखराव पैदा हो रहा था। इससे निपटने के लिए मज़दूर नियन्त्रण की आज्ञप्ति लायी गयी जिसके तहत एक अखिल रूसी मज़दूर नियन्त्रण परिषद् का निर्माण किया गया। लेकिन इसके बाद बेतेलहाइम फैक्टरी कमेटियों की असफलता पर अपने दुख को छिपा नहीं पाते, क्योंकि उनके भीतर मौजूद अराजकातवादी-संघाधिपत्यवादी प्रवृत्तियों (जिसे बेतेलहाइम ग़लती से माओवादी जनदिशा समझ बैठे हैं!) के लिए फैक्टरी समितियाँ रूस में आर्थिक प्रबन्धन और नियोजन के लिए ज़्यादा मुफ़ीद निकाय थीं, जो कि "प्रत्यक्ष उत्पादक के उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण" को ज़्यादा बेहतर तरीके से सुनिश्चित करतीं! बेतेलहाइम अप्रत्यक्ष खेद के साथ लिखते हैं कि मज़दूर नियन्त्रण हेतु बनायी गयी परिषद् में फैक्टरी कमेटियाँ अल्पसंख्या में थीं। यह सच है। लेकिन यह भी सच है कि इस परिषद् में ट्रेड यूनियन के प्रतिनिधियों के अलावा तकनीशियनों, वीटीएसआईके, व फैक्टरी कमेटियों के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। निश्चित तौर पर ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों के संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी। **लेकिन बोल्शेविकों के लिए इसके दो कारण थे। एक तो यह था कि ट्रेड यूनियनें मज़दूरों की ज़्यादा बड़ी और व्यापक इकाई, यानी कि पूरे उद्योग या पेशे का प्रतिनिधित्व करती थीं, जबकि फैक्टरी कमेटियाँ अलग-अलग कारखानों के मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करती थीं, जो कि वास्तव में मज़दूरों को एक वर्ग के तौर पर नहीं बल्कि एक-एक कारखाने के मज़दूरों के तौर पर अलग-अलग संगठित करती थीं।** वास्तव में, जिस दौर में फैक्टरी कमेटियों ने कारखानों पर कब्ज़ा करके चलाया, उस दौर के अनुभवों ने बोल्शेविकों को दिखला दिया था कि फैक्टरी कमेटियाँ वास्तव में हर कारखाने के मज़दूरों को एक 'सामूहिक पूँजीपति' में तब्दील कर रही थीं, न कि "प्रत्यक्ष उत्पादक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण" को कायम कर रही थीं। फैक्टरी कमेटियों की असफलता पर चर्चा के लिए आप तीसरे अध्याय (**'दिशा सन्धान'**, अंक-1, अप्रैल-जून, 2013, पृ. 34-59) को देख सकते हैं। इन अनुभवों से मिले सबक को देखते हुए बोल्शेविक नेतृत्व ने सही नतीजा निकाला और तय किया कि उद्योगों के प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए ट्रेड यूनियनें ज़्यादा सही निकाय हैं।

दूसरा कारण यह था कि ट्रेड यूनियनों के अखिल रूसी संगठन पर अब बोल्शेविकों ने अपना वर्चस्व कायम करना शुरू कर दिया था। ज्ञात हो कि इस संगठन पर पहले मेंशेविकों का वर्चस्व था। इन दोनों कारणों से बोल्शेविक सोवियत अर्थव्यवस्था के नियोजन व प्रबन्धन के अधिकार को फैक्टरी कमेटियों का नैसर्गिक अधिकार नहीं मानते थे। ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग के अधिक व्यापक संगठन का प्रतिनिधित्व करने के नाते इसके लिए अधिक उपयुक्त थीं। साथ ही, वीटीएसआईके के प्रतिनिधि इस परिषद् में उच्चतम राजनीतिक प्राधिकार के

प्रतिनिधि के रूप में मौजूद थे।

बेतेलहाइम यह भी कहते हैं कि मेंशेविकों ने फैक्टरी कमेटियों के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का समर्थन किया था। यह बात तथ्यतः सही प्रतीत नहीं होती। सच यह है कि मेंशेविकों का वर्चस्व पारम्परिक तौर पर ट्रेड यूनियनों में ज़्यादा था और उन्होंने फैक्टरी कमेटियों द्वारा कारखानों के नियन्त्रण का शुरू से यह कहकर विरोध किया था कि यह आर्थिक अराजकता और अव्यवस्था फैला देगा। लेनिन ने भी फैक्टरी कमेटी आन्दोलन का क्रान्ति के पहले एक स्वतःस्फूर्त क्रान्तिकारी लहर के तौर पर समर्थन किया था, वह इसे कभी भी मज़दूर नियन्त्रण के नैसर्गिक उपकरण के तौर पर नहीं देखते थे; लेनिन के लिए यह इस बात पर निर्भर करता था कि इन कमेटियों की राजनीतिक चेतना का स्तर क्या है। अपने आप में उन्हें "प्रत्यक्ष नियन्त्रण" का दिव्य अधिकार नहीं प्राप्त था। बेतेलहाइम यहाँ एकदम ग़लत तथ्य पेश कर रहे हैं। मेंशेविकों में से कुछ आर्थिक विशेषज्ञों ने क्रान्ति के बाद बोल्शेविकों में शामिल होने का निर्णय लिया था, उन्हें बाद में आर्थिक प्रबन्धन व नियोजन की ज़िम्मेदारियाँ सौंपी भी गयीं थीं। जब फैक्टरी कमेटियों की बजाय आर्थिक प्रबन्धन में बोल्शेविक सत्ता ने ट्रेड यूनियनों को प्राथमिकता दी तो मेंशेविकों ने इसका स्वागत किया था क्योंकि वे शुरू से ही इसकी माँग कर रहे थे। **शुरू से ही मेंशेविक ट्रेड यूनियनों के हाथों में नियन्त्रण सौंपने के पक्षधर थे, जबकि "वामपन्थी" कम्युनिस्ट, अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी फैक्टरी कमेटियों का समर्थन कर रहे थे।** लेकिन लेनिन ज़बरन ऊपर से कारखानों का नियन्त्रण फैक्टरी कमेटियों के हाथों से लेने के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था कि अनुभव स्वयं मज़दूर वर्ग को सिखला देगा कि फैक्टरी कमेटियों के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के रास्ते मज़दूर वर्ग अर्थव्यवस्था पर अपना नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सकता। जल्द ही यह सिद्ध भी हो गया और फैक्टरी कमेटियों की स्पष्ट असफलता के बाद उनके हाथों से नियन्त्रण लेकर ट्रेड यूनियनों के हाथों में सौंपा गया और फैक्टरी कमेटियों का भी एक राष्ट्रीय संगठन बनाया गया और उसे ट्रेड यूनियनों के राष्ट्रीय संगठन के मातहत लाया गया। वास्तव में फैक्टरी कमेटियों की असफलता को नज़र में रखते हुए ही अखिल रूसी मज़दूर नियन्त्रण परिषद् का निर्माण किया गया था। **बेतेलहाइम इन सारे तथ्यों को नज़रन्दाज़ कर देते हैं।**

आगे बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि जब अखिल रूसी मज़दूर नियन्त्रण परिषद् की प्रणाली राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन में कारगर नहीं साबित हुई तो फिर सर्वोच्च आर्थिक परिषद् (वेसेंखा) का निर्माण किया गया। **यह भी तथ्यों की ग़लत प्रस्तुति है।** वास्तव में वेसेंखा स्वयं भी सोवनार्कोम, वीटीएसआईके और ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों द्वारा ही बनी थी। वेसेंखा के बनने से सिर्फ़ इतना फर्क पड़ा कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन का कार्य और साथ ही ट्रेड यूनियनों का पूरा ढाँचा (जिनकी कि आर्थिक प्रबन्धन में भूमिका अधिक से अधिक महत्वपूर्ण होती जा रही थी) अधिक से अधिक सोवनार्कोम और इस प्रकार पार्टी के नियन्त्रण के अधीन आता गया। **वेसेंखा के निर्माण का मुख्य कारण अखिल रूसी आर्थिक परिषद् की सफलता या असफलता नहीं था, बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व को सर्वतोमुखी रूप से प्रभावी तौर पर स्थापित करना था।** बेतेलहाइम यहाँ आर्थिक प्रबन्धन में लाये गये बदलावों की एक ग़लत व्याख्या पेश करते हैं जो कि तथ्यों की प्रस्तुति के धरातल पर भी ग़लत है।

वेसेंखा और उस समय उत्पादन और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संगठन की बात करते हुए

बेतेलहाइम बताते हैं कि किस प्रकार वेसेंखा के ज़रिये आर्थिक मामलों के प्रबन्धन पर पार्टी का नियन्त्रण कायम हुआ और किस प्रकार उस समय बुर्जुआ विशेषज्ञों को तमाम विशेषाधिकार देने पड़े क्योंकि सर्वहारा वर्ग स्वयं तमाम तकनीकी व प्रबन्धन-सम्बन्धी कार्यों को अंजाम देने की काबिलियत नहीं रखता था। लेकिन आगे वे कुछ ऐसे प्रेक्षण रखते हैं, जिसे सुनकर आप विस्मय में पड़ सकते हैं। बेतेलहाइम लिखते हैं, *"वेसेंखा के संगठन और उत्पादन की इकाइयों से इसके सम्बन्धों के विषय में ठोस इंतज़ामात में से कुछ इंतज़ामों पर उस दौर की विशिष्ट स्थितियों की स्पष्ट छाप थी जिसमें वेसेंखा का निर्माण हुआ था। ये स्थितियाँ जनवादी केन्द्रीयता की बजाय प्रशासनिक केन्द्रीयता का समर्थन करती थीं। लेकिन, उन स्थितियों के तहत किये गये इन्तज़ाम मुख्य तौर पर बाद के दौर में भी कायम रखे गये और उन्हें हम राजकीय योजना आयोग या गॉस्प्लैन में भी देख सकते थे जो 22 फरवरी, 1921 को बना था (21 फरवरी 1920 को बने अखिल रूसी विद्युतीकरण आयोग, या गोएलरो के विकास के रूप में)। गॉस्प्लैन शुरुआत में एक मामूली "तकनीकी उपकरण" था, जिसका कार्यभार था आर्थिक विकास के लिए योजना तैयार करने के दृष्टिकोण से अध्ययन करना। केवल काफ़ी बाद में, फरवरी 1925 में, "विकेन्द्रीकृत" उपकरणों से लैस होकर यह कुछ हद तक वेसेंखा की जगह लेने में सक्षम हुआ।"* (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, 1917-1923, फर्स्ट पीरियड'**, हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 153, *अनुवाद हमारा*)

आप देख सकते हैं कि बेतेलहाइम की समझदारी यहाँ क्या है। बेतेलहाइम का मानना है कि उस दौर में राजकीय आर्थिक प्रबन्धन में जनवादी केन्द्रीयता नहीं बल्कि प्रशासनिक केन्द्रीयता की ही स्थितियाँ थीं। **कोई भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति जानता है कि जनवादी केन्द्रीयता मूलतः कम्युनिस्ट पार्टी का सांगठनिक सिद्धान्त है; चाहें स्थितियाँ कैसी भी हों, समाजवादी संक्रमण के दौरान राजकीय उपकरणों (चाहे वे तकनीकी मामलों के लिए हों या आर्थिक मामलों के लिए) में तब तक जनवादी केन्द्रीयता का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता है, जब तक कि राज्यसत्ता के उपकरणों का चरित्र और उसमें तैनात लोगों का संघटन निर्णायक रूप से सर्वहारा न हो जाये। बेतेलहाइम स्वयं स्वीकार करते हैं कि राज्यसत्ता के उपकरणों में तमाम पदों पर पुराने बुर्जुआ तत्वों की मौजूदगी बनी हुई थी। ऐसे में, राजकीय उपकरणों में जनवादी केन्द्रीयता के उसूल को लागू करते हुए राज्यसत्ता पर सर्वहारा नियन्त्रण को किस प्रकार क़ायम रखा जा सकता था? बेतेलहाइम इस सवाल का जवाब देने में अक्षम हैं। ज़ाहिर है, सोवियत रूस में क्रान्ति के बाद लम्बे समय तक ऐसी स्थिति की उम्मीद करना व्यर्थ है जिसमें कि राज्यसत्ता के उपकरण के सर्वहारा चरित्र को सुनिश्चित किया गया होता और जनवादी केन्द्रीयता के उसूल को सर्वहारा राज्यसत्ता के उपकरणों में भी लागू किया जा सकता।** अगर सर्वहारा वर्ग अपने अधिनायकत्व के तहत राजकीय अंगों में जनवादी केन्द्रीयता का सिद्धान्त लागू करेगा तो यह उसके अधिनायकत्व को कभी भी सर्वतोमुखी नहीं बनने देगा। ऐसे में, सर्वहारा वर्ग अपने अधिनायकत्व को कमज़ोर ही करेगा और उसे बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी तौर पर लागू नहीं कर सकेगा। अभी अगर हम गॉस्प्लैन के बनने और "बाद में" उसके वेसेंखा को प्रतिस्थापित करने में सक्षम होने के बारे में बेतेलहाइम के तथ्यों की अशुद्धता की बात छोड़ भी दें, तो इस विषय में बेतेलहाइम की समझदारी बेहद गड्ड-मड्ड है। वास्तव में, बेतेलहाइम का बुर्जुआ जनवादी विभ्रम जिस पर हम पहले भी कुछ प्रसंगान्तर करते हुए चर्चा कर चुके हैं, और आगे भी विस्तार से चर्चा करेंगे, यहाँ भी अपना सिर उठाते हुए देखा

जा सकता है। राजकीय ढाँचे में जनवादी केन्द्रीयता लागू करने की समझदारी किसी बुर्जुआ विभ्रम के असुधारणीय मरीज़ की ही समझदारी हो सकती है। बेतेलहाइम वैसे तो अलग से बुखारिन के "वामपन्थी" कम्युनिज़्म के शेखचिल्लीपन की आलोचना करते हैं (जो कि पार्टी और राज्य में केन्द्रीकरण का विरोध कर रहा था) और लेनिन के यथार्थवाद की हिमायत करते हैं, लेकिन वास्तव में वे राज्य और पार्टी में केन्द्रीकरण को केवल उस समय की स्थितियों द्वारा थोपी गयी एक मजबूरी के रूप में पेश करते हैं और लेनिन की प्रतिभा बेतेलहाइम के लिए इस बात में प्रतिबिम्बित होती है कि उन्होंने इस मजबूरी को पहचान लिया! बेतेलहाइम बताते हैं कि वेसेंखा से बुखारिन को हटाकर लारिन और मिल्यूतिन को उसकी ज़िम्मेदारी सौंप दी गयी जो कि राज्य और अर्थव्यवस्था में केन्द्रीकरण की वकालत करते थे। लेकिन बेतेलहाइम यहाँ यह नहीं बताते कि समाजवादी निर्माण की शुरुआती मंज़िलों (जो कि लेनिन के अनुसार एक लम्बे कालखण्ड तक जारी रहने वाली थीं) में लेनिन स्वयं राज्य और अर्थव्यवस्था में केन्द्रीकरण की वकालत करते थे। लेनिन ने 'राज्य और क्रान्ति' में लिखा था कि सर्वहारा राज्यसत्ता में शुरू से ही 'अराज्य' का तत्व होगा। लेकिन बोल्शेविक क्रान्ति के बाद के करीब दो-ढाई वर्षों के अनुभव के बाद ही लेनिन ने अपने इस विचार को बदल लिया था और कहा था कि जो भी क्रान्ति के तत्काल बाद राज्य को कमज़ोर करने की बात करता है, वह वास्तव में सर्वहारा अधिनायकत्व को कमज़ोर करने की बात कर रहा है। लेनिन स्पष्ट करते हैं कि समाजवादी निर्माण की शुरुआती मंज़िलों में राज्य का तत्व मज़बूत ही होगा। 'अराज्य' का तत्व विकसित होने की प्रक्रिया कोई एकरेखीय प्रक्रिया नहीं होगी। जब तक बुर्जुआ वर्ग के प्रतिरोध को निर्णायक रूप से तोड़ नहीं दिया जाता, जब तक मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना का इतना स्तरोन्नयन नहीं हो जाता कि वह स्वयं एक वर्ग के तौर पर पार्टी के *संस्थाबद्ध* नेतृत्व के बग़ैर राज्य और अर्थव्यवस्था का संचालन करने के योग्य हो जाये, जब तक सर्वहारा वर्ग तकनीकी तौर पर भी उत्पादन और राज-काज की सम्पूर्ण प्रक्रिया के संचालन के योग्य नहीं हो जाता है, तब तक सर्वहारा राज्यसत्ता के 'राज्य' के तत्व को कमज़ोर करने की बात और 'अराज्य' के तत्व को बढ़ाने की बात करना बेमानी है। इस पूरे दौर में राज्य का तत्व सर्वहारा राज्यसत्ता में सुदृढ़ होगा। **विकेन्द्रीकरण और 'अराज्य' के तत्व के विकसित होने का प्रश्न सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना के स्तर और तैयारी से जुड़ा हुआ प्रश्न है। इसे एक अमूर्त लक्ष्य बना देना अन्त में सर्वहारा अधिनायकत्व को कमज़ोर करेगा। यह फिर से बेतेलहाइम के बुर्जुआ जनवादी विभ्रम और अराजकतावाद को ही दिखलाता है।** यही कारण है कि बेतेलहाइम लेनिन की अवस्थिति का अराजकतावादी विनियोजन करते हैं, उसमें क्रान्ति के अनुभवों के साथ आये बदलावों की चर्चा नहीं करते और यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि शुरुआती दौर में सोवियत राज्यसत्ता और अर्थव्यवस्था में केन्द्रीकरण लेनिन के लिए केवल एक अफ़सोसनाक मजबूरी थी, जो कि वस्तुगत परिस्थितियों द्वारा पार्टी पर थोप दी गयी थी! यह तथ्यों और लेनिन की अवस्थितियों की एक विकृत तस्वीर पेश करने के समान है।

बेतेलहाइम आगे वेसेंखा के तहत पैदा हुए प्रशासनिक ढाँचे की चर्चा करते हुए बताते हैं कि उद्योग की हर शाखा के लिए एक केन्द्र (ग्लाव्की) का निर्माण किया गया। इस *ग्लाव्की* में सोवियत सरकार यानी सोवनार्कोम की ओर से एक जनकमिसार की नियुक्ति होती थी। इसके अतिरिक्त, एक प्रशासनिक और एक तकनीकी प्रबन्धक की नियुक्ति की जाती थी। बेतेलहाइम शिकायत करते हैं कि मज़दूर नियन्त्रण के निकाय, यानी कि फैक्टरी समिति,

प्रशासनिक प्रबन्धन के कदमों पर प्रश्न तो उठा सकते थे, लेकिन तकनीकी प्रबन्धन पर नहीं; इसके अलावा, फैक्टरी समिति के प्रस्ताव प्रशासनिक आर्थिक परिषद् को सौंपे जाते थे, जिसमें मज़दूरों का बहुमत नहीं होता था, और जिसमें जनकमिसार द्वारा नियुक्त प्रबन्धक, तकनीशियन, आदि होते थे, जो कि कई बार भूतपूर्व पूँजीवादी प्रबन्धक/मालिक भी हुआ करते थे। बेतेलहाइम इस पूरी चीज़ पर सीधे हमला करने से कतराते हैं क्योंकि यह लेनिन के निर्देशन में ही हो रहा था, लेकिन वह पूरे मसले को ऐसे पेश करते हैं, जिससे की पाठक को लगेगा कि इन कदमों से मज़दूरों का नियन्त्रण ख़त्म हो रहा था और राजकीय बुर्जुआ वर्ग का नियन्त्रण बढ़ रहा था। लेकिन यहाँ बेतेलहाइम ग्लाव्की व वेसेंखा के पूरे ढाँचे की कुंजीभूत कड़ी को जानबूझकर नज़रन्दाज़ कर रहे हैं। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण तथ्य ये नहीं हैं कि प्रशासनिक और तकनीकी प्रबन्धकों की नियुक्ति या प्रशासनिक आर्थिक परिषद् में मज़दूर अल्पमत में थे या फिर मज़दूरों के प्रस्तावों को इस परिषद् के समक्ष रखा जाता था या नहीं। **यहाँ सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि इस पूरे ढाँचे के शीर्ष पर एक जनकमिसार था जो कि पार्टी द्वारा नियुक्त किया जाता था और इस पूरी मशीनरी को नियन्त्रित करता था। उस दौर में सर्वहारा नियन्त्रण को इसी रूप में स्थापित किया जा सकता था।** इस पूरे तथ्य पर बेतेलहाइम कोई ज़ोर नहीं डालते।

दूसरी बात यह है कि गृहयुद्ध के दौर में उद्योगों के विसंगठन का एक बहुत बड़ा कारण मज़दूरों का गाँव वापस चले जाना, उत्पादन में अनुशासन का न होना, और उनके अनुपस्थितिवाद (absenteeism) था; उत्पादन के बिखराव से निपटना उस समय पहली प्राथमिकता थी और उसके बिना गृहयुद्ध में विजय पाना बोल्शेविक सत्ता के लिए असम्भव था। इसलिए फैक्टरी कमेटियों के प्रस्तावों को प्रशासनिक आर्थिक परिषद् के समक्ष रखा जाता था। तकनीकी प्रबन्धक उत्पादन की ठोस गतिविधियों और प्रक्रियाओं का निर्धारण करता था; उत्पादन में अनुशासन कायम रखने के लिए उस समय उसे फैक्टरी समितियों के नियन्त्रण के तहत नहीं रखा जा सकता था क्योंकि फैक्टरी समितियों में उस समय स्वयं अनुशासनहीनता, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और अर्थवाद का ज़बरदस्त असर था। **असली चीज़ थी जनकमिसार का नियन्त्रण और निर्णय और उसके आधार पर प्रशासनिक प्रबन्धन द्वारा उत्पादन को प्रबन्धित करने के निर्णय लेना (जिस पर मज़दूर प्रश्न खड़ा कर सकते थे); तकनीकी प्रबन्धन की भूमिका सबसे बाद में आती थी जो कि उत्पादन के तकनीकी कुशलता के पहलुओं से सरोकार रखता था।** जब मज़दूर वर्ग स्वयं राजनीतिक और तकनीकी कौशल न रखता हो, और अराजकतावादी रुझानों का शिकार हो, उस दौर में तकनीकी प्रबन्धन पर मज़दूरों के "प्रत्यक्ष" नियन्त्रण की बात करना बेमानी है। **लेकिन बेतेलहाइम इस तथ्य को गोल कर जाते हैं कि इस पूरे तन्त्र पर जनकमिसार का नियन्त्रण वास्तव में क्या था? उसका चरित्र क्या था? अगर इस कुंजीभूत तथ्य को ग़ायब कर दिया जाये तो वास्तव में आप सिमोन वील और ब्रूनो रिज़्ज़ी** (तीसरा अध्याय देखें–**'दिशा सन्धान'**, अंक-1, अप्रैल-जून 2013, पृ. 78-79) **जैसे लोगों के सिद्धान्त पर पहुँच जायेंगे।** बेतेलहाइम वहाँ तक तो नहीं जाते लेकिन पाठक को उन अर्थहीन सिद्धान्तों और व्याख्याओं की ओर जाने को प्रेरित ज़रूर कर देते हैं। विडम्बना की बात यह है कि यह सब "माओवादी" जनदिशा के नाम पर किया जाता है!

बुखारिन जब अपने शुरुआती "वामपन्थी" भटकाव को छोड़कर त्रात्स्की के दक्षिणपन्थी भटकाव के छोर पर आते हैं और राज्य में केन्द्रीकरण और अर्थव्यवस्था के राजकीय नियन्त्रण

की वकालत करते हैं, तो बेतेलहाइम उन पर तीख़ा हमला करते हैं, और यह हमला भी वह प्रतीतिगत तौर पर एक "माओवादी" अवस्थिति से करते हैं। बुखारिन अपनी रचना **'इकोनॉमिक्स ऑफ दि ट्रांज़िशनल पीरियड'** में "युद्ध कम्युनिज़्म" की आपात नीतियों की आम तौर पर हिमायत करते हुए उन्हें कम्युनिज़्म की ओर संक्रमण का सही रास्ता क़रार देते हैं। यह निश्चित तौर पर ग़लत था क्योंकि इसके तहत श्रम के सैन्यकरण, प्रशासन व अर्थव्यवस्था में बुर्जुआ विशेषज्ञों को रखने, ज़बरन फसल वसूली आदि को वांछनीय कदम क़रार दिया गया है। मुद्रा को सचेतन तौर पर ख़त्म करने के कार्यकारी निर्णय को बुखारिन ने सही ठहराया है और कहा है कि समाजवादी राज्य मुद्रा के अवमूल्यन के द्वारा उसकी प्रासंगिकता को ही समाप्त कर देगा और बाद में मुद्रा के विनिमय के द्वारा वस्तुओं में राज्य द्वारा प्रबन्धित वस्तु विनिमय होगा। ज़ाहिर है कि बुखारिन का "वामपन्थी" शेखचिल्लीपन और दक्षिणपन्थी विचलन इस रचना में मिश्रित होकर आया है और इस रूप में इसकी बेतेलहाइम ने सही पहचान की है। लेकिन बेतेलहाइम इस रचना के ज़रिये बुखारिन पर एकतरफ़ा हमला करते हैं और इस तथ्य को छिपा जाते हैं कि इस रचना के कई पहलुओं की लेनिन ने प्रशंसा की थी और कहा था कि समाजवादी निर्माण की कई भावी नीतियों का इसमें सही तरीके से पूर्वानुमान लगाया गया है। **लेनिन ने बुखारिन की आलोचना इसलिए की थी कि वह समाजवादी निर्माण की उन नीतियों को तत्काल ही लागू करने के पक्षधर थे, जिन्हें कि केवल भविष्य में ही लागू किया जा सकता था।** दूसरी बात यह कि इन नीतियों को तत्काल लागू करने के लिए वे "युद्ध कम्युनिज़्म" की उन आपातकालीन नीतियों को समाजवादी निर्माण की स्वाभाविक नीतियाँ बता रहे थे, जो कि गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के कारण सोवियत राज्यसत्ता पर थोप दी गयीं थीं। बुखारिन का मानना था कि जब सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जाता है, तो अर्थव्यवस्था और कुशलता का मुद्दा प्रमुख मुद्दा बन जाता है। इस प्रकार बुखारिन अपने पुराने "वामपन्थी" बचकानेपन और त्रात्स्कीपन्थी दक्षिणपन्थी भटकाव का एक मिश्रण कर रहे थे और राजनीति की केन्द्रीयता को नकार रहे थे। लेकिन जहाँ तक ठोस आर्थिक नीतियों की बात है, उन्होंने कई भावी समाजवादी नीतियों का इस रचना में काफ़ी हद तक सही अनुमान लगाया था और इस रचना की मूलभूत कमज़ोरियों के बावजूद इस मायने में लेनिन ने इसकी प्रशंसा भी की थी। बेतेलहाइम इस रचना और बुखारिन व त्रात्स्की की पूरी अवस्थिति की एक दक्षिणपन्थी, किसानवादी, अराजकतावादी अवस्थिति से आलोचना करते हुए उन्हें एकतरफ़ा तरीके से ख़ारिज कर देते हैं; यह लेनिन का तरीका नहीं था। लेनिन ने बुखारिन और त्रात्स्की की ग़लती के सही चरित्र को पकड़ते हुए एक सटीक व्याख्या की थी। लेकिन निश्चित तौर पर अगर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी छोर से तुलना करें तो लेनिन इस दूसरे छोर (बुखारिन-त्रात्स्की धड़ा) के ज़्यादा सकारात्मकों और कम नकारात्मकों को देख रहे थे। इसका एक नैसर्गिक कारण था। कारण यह था कि अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और "वाम" धड़ा पार्टी और राज्यसत्ता के सुदृढ़ीकरण की आवश्यकता को नकारते हुए स्वत:स्फूर्ततावाद की वकालत कर रहा था, जबकि बुखारिन-त्रात्स्की धड़ा पार्टी और राज्य की भूमिका को अतिरेखांकित कर रहा था और जनसमुदायों की भूमिका को पूरी तरह से नज़रन्दाज़ कर रहा था। **ये मनोगत और वस्तुगत, हिरावल और वर्ग, और चेतना और स्वत:स्फूर्तता के बीच के द्वन्द्व को नहीं समझ पा रहे थे और इसीलिए लेनिन ने कहा कि ये दोनों ही अर्थवाद के दो संस्करण हैं, एक-दूसरे की छाया (mirror image) हैं, और राजनीति की प्राथमिकता के सिद्धान्त को नहीं समझते हैं।**

बुखारिन पर एक ग़लत और अवसरवादी हमला करते हुए बेतेलहाइम दावा करते हैं कि

अपने "वाम"-दक्षिण भटकाव के कारण ही बुखारिन लेनिन के 'मज़दूर-किसान राज्य' की थीसिस को नहीं समझ पाये थे; हम पहले ही दिखला चुके हैं कि लेनिन ने इस सूत्रीकरण को बाद में स्वयं ही ग़लत कहा था। हालाँकि जिस वजह से लेनिन ने सोवियत राज्य को 'मज़दूर-किसान राज्य' कहा था वह वजह सही थी, यानी कि सोवियत सर्वहारा राज्यसत्ता का मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित होना और इस संश्रय की हिफ़ाज़त करने की ज़रूरत, जिसे सोवियत सत्ता को केवल मज़दूर राज्य मानते हुए भी बुखारिन नहीं समझ पा रहे थे (इस नुक्ते पर चर्चा के लिए इसी परिशिष्ट में वर्तमान अंक में देखें पृ. 65-67)। लेकिन बेतेलहाइम अवसरवादी ढंग से अपने किसानवाद को सामने लाते हैं और इस बहस के पूरे सन्दर्भ को ग़ायब करके सोवियत सत्ता को मज़दूर-किसान राज्य के रूप में पेश करने का प्रयास करते हैं और ग़लत कारणों के लिए बुखारिन की निन्दा करते हैं। बाद में बेतेलहाइम यह भी जोड़ देते हैं कि स्वयं स्तालिन बाद में इस "वाम"-दक्षिण भटकाव के शिकार हो गये थे और पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान स्तालिन की भी यही समझदारी थी; यही कारण था कि स्तालिन ने 1936 में कहा था कि सोवियत संघ में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं थे और इसी के कारण बाद में पार्टी में संशोधनवाद पैदा हुआ। स्पष्ट है कि बेतेलहाइम यहाँ समाजवादी निर्माण की समस्याओं और संशोधनवाद के पैदा होने के कारणों की व्याख्या करते हुए अतिवादी मूल्यांकन कर रहे हैं और पूरे मसले का अतिसरलीकरण कर रहे हैं। ये सारा विकृतिकरण भी बेतेलहाइम "माओवाद" और "जनदिशा" के नाम पर करते हैं जबकि वास्तव में इस प्रक्रिया में वह अपने किसानवाद, हेगेलीय प्रत्ययवाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद को ही बेनक़ाब कर देते हैं।

जैसा कि हमने पहले ज़िक्र किया था, बेतेलहाइम राजकीय पूँजीपति वर्ग के निर्माण की अवधारणा का बेहद लापरवाह इस्तेमाल करते हैं। किसी भी जगह और हर जगह राजकीय पूँजीपति वर्ग की गंध तुरन्त ही बेतेलहाइम तक पहुँच जाती है। मिसाल के तौर पर, उनकी दलील है कि 1917 से 1923 के बीच एक ओर तो पुराने पूँजीपति वर्ग का आर्थिक और सामाजिक आधार नष्ट हो गया, वहीं राज्यसत्ता के भीतर एक नयी बुर्जुआज़ी पैदा हो गयी। यहाँ बेतेलहाइम उन लोगों के वर्ग को राजकीय बुर्जुआज़ी की संज्ञा दे रहे हैं जो कि पेशेवर शहरी मध्यवर्ग के लोग थे और जिन्हें सोवियत सत्ता को शुरुआत में ऊँचे वेतनों और सुविधाओं के साथ प्रशासन और अर्थव्यवस्था-सम्बन्धी कामों में रखना पड़ा था। बाद में दौर में, बेतेलहाइम खुद ही कहते हैं कि वर्ग मूल का प्रश्न गौण बन गया था और राजकीय बुर्जुआज़ी का मुख्य आधार बुर्जुआ अधिकार और बुर्जुआ प्रथाएँ बन गयीं थीं और कुशल और अकुशल मज़दूरों के बीच का अन्तर, उत्पादक और प्रबन्धकीय गतिविधियों के बीच का अन्तर एक नयी राजकीय बुर्जुआज़ी को जन्म दे रहा था। यह पूरा सैद्धान्तिकीकरण शायद बेतेलहाइम को बाद में खुद ही एकतरफ़ा किस्म का लगा, इसलिए बाद में वह एक 'आवश्यक सूचना' जोड़ देते हैं और बताते हैं कि राज्यसत्ता में मौजूद सारे पदधारी लोग राजकीय पूँजीपति वर्ग नहीं थे! अब बेतेलहाइम अपनी ही बातों में फँस जाते हैं। **फिर वास्तव में राजकीय बुर्जुआज़ी को किस रूप में परिभाषित किया जाय? कौन राजकीय पूँजीपति वर्ग का सदस्य है और कौन नहीं, यह कौन तय करेगा और कैसे तय करेगा?** यानी कि राज्यसत्ता के सभी प्रशासनिक पदाधिकारी या उच्च पदों पर आसीन लोगों में से कुछ राजकीय पूँजीपति वर्ग हैं और कुछ नहीं; **तो फिर तय करने का बुनियादी पैमाना क्या है?** यहीं पर राजकीय पूँजीपति वर्ग की पूरी अवधारणा का बेतेलहाइम द्वारा बेतहाशा लापरवाह इस्तेमाल सामने आता है। **पहली बात** तो यह कि सोवियत राज्यसत्ता ने टटपुँजिया वर्ग के पेशेवरों (यानी कि

तकनीशियनों, प्रबन्धकों, आदि) और साथ ही पुराने पूँजीपति वर्ग से आर्थिक और प्रशासनिक स्तर पर बुर्जुआ अधिकारों को देते हुए जो सुविधाएँ ली थीं, उनके कारण तुरन्त ही सोवियत राज्यसत्ता में कोई राजकीय पूँजीपति वर्ग पैदा होने लगा, यह बात अपने आपमें वर्ग की पूरी अवधारणा की एक ग़लत समझदारी पेश करता है। यह सैद्धान्तिक तौर पर बिल्कुल सही है कि बुर्जुआ श्रम विभाजन राजकीय पूँजीपति वर्ग को जन्म देते हैं। लेकिन इस सिद्धान्त का बेतेलहाइम द्वारा इस्तेमाल दुरुस्त नहीं है। राजकीय पूँजीपति वर्ग के पैदा होने का फैसला सोवियत सत्ता के स्थापित होने के तुरन्त बाद ऊँचे वेतनों और सुविधाओं के साथ रखे गये बुर्जुआ विशेषज्ञों से नहीं हो जाता है। ये बुर्जुआ विशेषज्ञ बाद में निकाले जा सकते थे, या बदल सकते थे। कइयों के साथ ऐसा हुआ था। जैसे-जैसे बोल्शेविक पार्टी ने अपने काडरों के बीच से तकनीकी और प्रशासनिक ज़िम्मेदारियाँ उठाने के लिए लोगों को तैयार किया, वैसे-वैसे उन बुर्जुआ तकनीशियनों और विशेषज्ञों को सोवियत राज्यसत्ता से बाहर भी किया गया या वे खुद ही बाहर हो गये (प्रशासन के भीतर किस प्रकार एक वर्ग संघर्ष जारी था और किस प्रकार नये मज़दूर कार्यकर्ताओं और संगठनकर्ताओं ने कई बार ग़लत तरीके से भी बुर्जुआ विशेषज्ञों को प्रशासन से बाहर जाने को बाध्य कर दिया और किस प्रकार लेनिन समेत कुछ बोल्शेविक नेताओं ने इस पर आपत्ति भी की, इसके पूरे विवरण के लिए देखें **ई.एच. कार** की पुस्तक **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन, 1917-1923' खण्ड-1**)। सोवियत सत्ता ने बाध्यतापूर्ण स्थितियों में क्रान्ति के बाद बुर्जुआ विशेषज्ञों से एक समझौता किया। लेकिन यह अपने आप में इस बात का प्रमाण नहीं है कि तत्काल एक राजकीय बुर्जुआज़ी पैदा होने लगी; यह ज़रूर सच है कि बाद में पार्टी और राज्यसत्ता के भीतर बुर्जुआ श्रम विभाजन और बाद में उसके बढ़ने और अनमनीय बन जाने के कारण एक राजकीय पूँजीपत वर्ग पैदा हुआ। लेकिन इसे जिस तरीके से बेतेलहाइम ने दिखलाया है, वह तरीका स्पष्टत: बचकाना है।

दूसरी बात यह कि सोवियत राज्यसत्ता में राजकीय बुर्जुआ वर्ग पैदा होने के साथ एक दूसरी प्रक्रिया भी जारी थी, जो कि उसके विपरीत काम कर रही थी। लेकिन इसका बेतेलहाइम बहुत ही चलते-चलाते ज़िक्र करते हैं। लेनिन ने स्पष्ट किया था कि बुर्जुआ विशेषज्ञों को काम पर रखने मात्र से सोवियत सत्ता को घबराने की ज़रूरत नहीं है। जब तक सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और सर्वहारा चौकसी कायम है, तब तक बुर्जुआ विशेषज्ञों को रखने मात्र से सोवियत सत्ता को ख़तरा नहीं है। कहने का अर्थ स्पष्ट है। **केवल इतने से ही कोई नया बुर्जुआ वर्ग तुरन्त राज्यसत्ता में सुदृढ़ीकृत नहीं होने लगेगा, हालाँकि जब तक यह अवांछित स्थिति मौजूद रहेगी, तब तक सर्वहारा राज्यसत्ता में बुर्जुआ विकृतियाँ मौजूद रहेंगी।** लेनिन ने स्पष्ट किया कि कुछ समय तक इन बुर्जुआ विशेषज्ञों का रखना सोवियत सत्ता की बाध्यता है और इस दौर में ही सोवियत सत्ता को ऐसे नये लोग तैयार करने होंगे जो इन प्रबन्धकीय और तकनीकी कार्यभारों को उठाने में सक्षम हों। दूसरी बात यह है कि यह विशिष्ट स्थिति सोवियत रूस में अधिक तीव्रता के साथ मौजूद थी, लेकिन किसी भी देश में समाजवादी क्रान्ति के बाद कुछ समय के लिए ऐसी स्थिति का होना अपेक्षित माना जा सकता है। विशेष तौर पर, आज जिन देशों में नये सिरे से समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ तैयार हो रही हैं, वहाँ भी कम-से-कम कुछ समय के लिए बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाएँ लेने की स्थिति मौजूद रहेगी। लेकिन केवल इतने से ही यह कहना कि राजकीय पूँजीपति वर्ग पैदा होने लगा है, ग़लत होगा। **ऐसा तब निश्चित तौर पर कहा जा सकता है जब सर्वहारा राज्यसत्ता इसे एक नैसर्गिक और वांछित स्थिति बताने लगे और इस स्थिति को**

सैद्धान्तिक वैधीकरण प्रदान करने लगे। सोवियत रूस में 1917 से 1923 के बीच ही ऐसा हो रहा हो, इसके प्रमाण मौजूद नहीं है। इसके विपरीत प्रमाण ज़रूर मौजूद हैं। जैसे कि वेतन के बीच मौजूद अन्तर को समाप्त करने का सोवियत सत्ता लगातार प्रयास कर रही थी। गृहयुद्ध के दौरान यह चीज़ बहुत स्पष्ट तौर पर दिखलायी नहीं पड़ती है, क्योंकि उस समय मुद्रा का इस कदर अवमूल्यन हो गया था कि इस बात का कोई विशेष महत्व नहीं रह गया था कि किसी का मौद्रिक वेतन क्या है। बेतेलहाइम इस बात की ओर भी इशारा करते हैं कि पार्टी के ज़िम्मेदार लोगों का वेतन ज़्यादा था मगर गृहयुद्ध के दौर में इसका कोई विशेष अर्थ नहीं था। उस समय जिस चीज़ का मतलब था वह था राज्य द्वारा वस्तुओं के रूप में किया जा रहा वितरण जो कि मुख्य रूप से मज़दूर वर्ग को मिल रहा था। वास्तव में, पार्टी के कार्यकर्ता और ज़िम्मेदार लोग इस दौर में बहुत ही ख़राब स्थितियों में जी रहे थे। गृहयुद्ध के बाद वेतन अन्तर को घटाने के सोवियत राज्यसत्ता और पार्टी के सचेतन प्रयासों के स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं। कई विभागों में इस अन्तर को नगण्य बना दिया गया था। इस पूरे इतिहास का बेतेलहाइम ज़िक्र नहीं करते हैं और वह बढ़ते वेतन अन्तर या बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी की एक ऐसी एकतरफ़ा तस्वीर पेश करते हैं, मानो सोवियत राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी इसके बारे में सचेत नहीं थी और इसे सन्तुलित करने के लिए कोई कदम नहीं उठा रही थी। इन कदमों की प्रभाविता पर अलग से चर्चा की जा सकती है, लेकिन इन कदमों पर ही चर्चा न करना एक ग़लत तस्वीर पेश करता है। यह भी बेतेलहाइम की उस थीसिस के साथ फिट बैठता है जिसके अनुसार 1917 के बाद से ही पूँजीवादी पुनर्स्थापना की रुझानें मौजद थीं, जो कि बाद में, विशेष तौर पर स्तालिन के दौर के उत्तरार्द्ध (तीस के दशक) में हावी हो गयीं। **हम देख सकते हैं कि बेहद मासूम से दिखने वाले असन्तुलित प्रेक्षणों में वास्तव में बेतेलहाइम स्तालिन के दौर पर हमले की ही तैयारी कर रहे हैं।** जैसे-जैसे आप पुस्तक आगे पढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे यह बात और भी स्पष्ट होती जाती है।

यहाँ यह समझना अहम है कि समाजवादी समाज के आरम्भिक दौर में ज़्यादा सम्भावना यही है कि बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं को सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता को लेना पड़ेगा, चाहे शुरुआती दौर में उसके लिए इन बुर्जुआ विशेषज्ञों को कुछ ऊँचे वेतन और विशेषाधिकार ही क्यों न देने पड़ें। जो बात सबसे अहम है वह यह है कि यह अपने आप में तत्काल ही किसी राजकीय पूँजीपति वर्ग का निर्माण करने लगेगा, ऐसा नहीं है। दो बातें यहाँ समझना आवश्यक है। एक तो यह कि सबसे अहम है इस विशिष्ट दौर में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और उसकी चौकसी का मज़बूती से कायम रहना और ऐसे पार्टी संगठनकर्ताओं का तेज़ी से शिक्षण-प्रशिक्षण जो कि बुर्जुआ विशेषज्ञों को दी जाने वाली छूटों को अप्रासंगिक और अनावश्यक बना दें। और दूसरी बात यह कि बुर्जुआ श्रम विभाजन को ख़त्म करने के लिए सचेतन तौर पर विचारधारात्मक और सांस्कृतिक स्तर पर क्रान्ति को जारी रखने की आवश्यकता होती है; इसके बग़ैर बुर्जुआ श्रम विभाजन को समाप्त नहीं किया जा सकता है और जब तक बुर्जुआ श्रम विभाजन मौजूद रहेगा तब तक राजकीय बुर्जुआ वर्ग के पैदा होने और पूँजीवादी पुनर्स्थापना की ज़मीन भी मौजूद रहेगी। गृहयुद्ध के दौर में सोवियत राज्यसत्ता पहले कार्यभार को अधूरे तौर पर समझ पायी और एक हद तक उस दिशा में कुछ काम कर सकी। लेकिन दूसरे कार्यभार को समझने का अवसर बोल्शेविक पार्टी को गृहयुद्ध के दौर में मिलना सम्भव नहीं था। गृहयुद्ध के ख़त्म होने के बाद और नयी आर्थिक नीतियों (नेप) की शुरुआत के बाद क्रमिक प्रक्रिया में पार्टी के भीतर अलग-अलग किस्म की कुछ अर्थवादी

रुझानें हावी होने लगीं और सांस्कृतिक क्रान्ति के कार्यभार को सही ढंग से समझने का काम नहीं किया जा सका। 1930 के दशक के मध्य से सोवियत संघ युद्ध की तैयारियों की शुरुआत कर चुका था। इसके बाद के दौर में स्तालिन के चिन्तन में यान्त्रिकतावादी भटकाव और अपवादस्वरूप भौतिक परिस्थितियों ने बोल्शेविक पार्टी को समाजवादी की समस्याओं पर रचनात्मक और अग्रवर्ती चिन्तन करने का अवसर नहीं दिया। इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ ही बोल्शेविक पार्टी और सोवियत राज्यसत्ता के भीतर एक राजकीय पूँजीपति वर्ग के पैदा होने की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। **राजकीय पूँजीपति वर्ग का जो सबसे बड़ा लक्षण है, वह है इस वर्ग का पूँजीवादी पथगामी होना। यह वर्ग सचेतन तौर पर पूँजीवाद के रास्ते को चुनता है और इसके शीर्ष विचारक इसके पक्ष में तर्क और सिद्धान्त गढ़ते हैं।** 1917 से 1923 के बीच क्या हम बुखारिन या त्रात्स्की पर भी यह आरोप लगा सकते हैं, चाहे उनके कितने भी गम्भीर विचारधारात्मक भटकाव क्यों न हों?

यही कारण है कि हम सोवियत रूस में राजकीय पूँजीपति वर्ग के पैदा होने और विकसित होने के बेतेलहाइम के विश्लेषण को बचकाना मानते हैं। ऐसा लगता है कि बेतेलहाइम अपने अध्ययन की शुरुआत के पहले से ही राजकीय पूँजीपति वर्ग को सोवियत रूस की राज्यसत्ता में खोज निकालने पर आमादा हैं और इसलिए उन्हें रस्सी भी साँप नज़र आ रही है! राजकीय पूँजीपति वर्ग की माओवादी अवधारणा को बेतेलहाइम बेहद मनमाने ढंग से लागू करते हैं और यह एक ऐसी परिघटना का बेहद सतही विश्लेषण करते हैं, जो कि कहीं ज़्यादा गम्भीर विश्लेषण और अन्तर्दृष्टि की माँग करता है।

क्रान्ति के बाद की शिक्षा व्यवस्था के बारे में भी बेतेलहाइम के प्रेक्षण दिलचस्प हैं और आप समझ नहीं पाते हैं कि आख़िर उनकी शिक़ायत क्या है? अगर सोवियत राज्यसत्ता मज़दूर वर्ग के बीच से विशेषज्ञों को प्रशिक्षित करती है और उन्हें तकनीकी और प्रशासनिक ज़िम्मदारियाँ उठाने के लिए तैयार करती है, तो बेतेलहाइम इस पर यह कहकर आपत्ति करते हैं कि मज़दूर वर्ग के बीच से विश्वविद्यालय तन्त्र में जाने वाले लोग कम थे, और ज़्यादातर लोग औद्योगिक और तकनीकी प्रशिक्षण ले रहे थे। अगर सोवियत सत्ता पुराने बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं को लेती है, तो बेतेलहाइम को इस पर शिकायत है कि यह काम मज़दूर वर्ग को क्यों नहीं सौंपे गये और इसके कारण राजकीय पूँजीपति वर्ग पैदा हो गया! आप अचरज करते हैं कि बेतेलहाइम के अनुसार क्रान्ति के बाद और विशेष तौर पर गृहयुद्ध के दौर में सोवियत राज्यसत्ता को करना क्या चाहिए था!

बेतेलहाइम लिखते हैं कि क्रान्ति के बाद सोवियत रूस में स्कूल व्यवस्था एक प्रमुख स्रोत थी जो कि बुर्जुआ विचारधारा और मूल्य-मान्यताओं का पुनरुत्पादन कर रही थी क्योंकि अधिकांश शिक्षक सोवियत सत्ता के विरोधी थे और वे किसी न किसी रूप में तोड़-फोड़ करते थे, असहयोग करते थे या फिर पुरानी बुर्जुआ शिक्षण पद्धतियों का इस्तेमाल करते थे। वैसे क्रान्ति के तत्काल बाद और गृहयुद्ध के दौर में सोवियत सत्ता किस प्रकार तुरन्त इस स्कूल तन्त्र को बदल डालती, इसके बारे में बेतेलहाइम कोई सकारात्मक सुझाव नहीं देते हैं। वह क्रुप्सकाया और लुनाचार्स्की के बीच स्कूल व्यवस्था को लेकर चली बहस का हवाला देते हैं। क्रुप्सकाया का मानना था कि स्कूल तन्त्र में श्रम स्कूल, शारीरिक श्रम का प्रशिक्षण, चुने गये अध्यापकों की व्यवस्था की जानी चाहिए और "कम्युनिस्ट शिक्षा" दी जानी चाहिए। लुनाचार्स्की का मानना था कि सोवियत राज्यसत्ता को स्कूल व्यवस्था में पहले मानवतावाद और जनवाद की शिक्षा देनी चाहिए और राज्यसत्ता को इसे केन्द्रीय तौर पर विनियमित करना

चाहिए। इस मामले में बेतेलहाइम क्रुप्सकाया का पक्ष लेते हैं। लेकिन ऐसा लगता है कि लुनाचार्स्की की अवस्थिति इसमें ज़्यादा सन्तुलित थी और क्रुप्सकाया की अवस्थिति पर थोड़ा "वामपन्थी" असर है, हालाँकि शारीरिक श्रम के प्रशिक्षण के बारे में उनकी बात सही है। समाजवादी सत्ता स्कूल व्यवस्था में बच्चों को कम्युनिस्ट विचारधारा की शिक्षा भी देने लगे तो इससे पूरी पीढ़ी कम्युनिस्ट नहीं बन जायेगी। हम यहाँ शिक्षाशास्त्रीय बहस में ज़्यादा विस्तार में नहीं जा सकते हैं, लेकिन इतना इंगित करना पर्याप्त होगा कि बच्चों को पहले मानवतावादी और जनवादी बनाना ज़रूरी है और उसके बाद ही वह समाजवाद को समझ सकते हैं। इन दो पूर्ववर्ती मंज़िलों के बिना समाजवादी विचारधारा को बच्चों को ज़बरन पिला दिया जाये, तो नतीजे बहुत वांछित नहीं होंगे, इतना दावे के साथ कहा जा सकता है। पूरी बहस में लुनाचार्स्की और क्रुप्सकाया की अवस्थितियाँ क्या रहीं, यह हमारे शोध का प्रमुख विषय नहीं है और इसलिए हम उन पर कोई अन्तिम टिप्पणी नहीं कर सकते हैं। निश्चित तौर पर, शिक्षा के प्रश्न पर सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ में चली बहसें एक अलग विशद विमर्श का विषय हैं।

इसके बाद बेतेलहाइम कहते हैं कि गृहयुद्ध के अन्त के बाद भी स्कूल तन्त्र और आम तौर पर पूरी शिक्षा व्यवस्था विशेषज्ञों को तैयार करने पर ज़्यादा ज़ोर दे रही थी। व्यवहारत: विश्वविद्यालय मज़दूरों के लिए नहीं खुला था क्योंकि विश्वविद्यालय अभी भी जिस प्रकार की कुशलता और प्रशिक्षण की माँग करते थे, वह अभी मज़दूरों के पास नहीं था। लेकिन इस स्थिति के निवारण के लिए सोवियत रूस में **राबफैक** (मज़दूर फैकल्टी) का निर्माण किया गया जिसमें कि मज़दूरों को दाखिला दिया गया। इनमें प्रशिक्षण की अवधि छोटी होती थी और ज़्यादातर तकनीकी और औद्योगिक प्रशिक्षण पर बल दिया जाता था। इस प्रयोग को ज़बरदस्त सफलता मिली। लेकिन बाद में इनमें भी विशेषज्ञों को तैयार करने पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाने लगा। लेकिन समझ में नहीं आता कि इसमें बेतेलहाइम को आपत्ति क्या है? अगर मज़दूर वर्ग के भीतर से तकनीकी ज़िम्मेदारियों को सम्भालने के लिए विशेषज्ञों को तैयार किया जा रहा था तो यही तो उन बुर्जुआ विशेषज्ञों की अपरिहार्यता को समाप्त कर सकता था, जिनकी सेवाएँ सोवियत सत्ता को अभी बाध्यतावश लेनी पड़ रही थीं। निश्चित तौर पर, महज़ इस बात से राजकीय पूँजीपति वर्ग के मूल पर चोट करने का काम पूरा नहीं हो जाता कि मज़दूर वर्ग के भीतर से विशेषज्ञ पैदा हों, और यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि इन नये मज़दूर विशेषज्ञों का विचारधारात्मक प्रशिक्षण भी होना चाहिए। **लेकिन अपने आप में मज़दूर वर्ग के भीतर से विशेषज्ञों को तैयार करने पर आपत्ति का क्या आधार हो सकता है?** वास्तव में, राजकीय पूँजीपति वर्ग के सुदृढ़ीकरण को रोकने के लिए तमाम कदमों में से यह कदम विशेष तौर पर महत्वपूर्ण है।

बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि विश्वविद्यालय में मज़दूर फैकल्टी से आने वाले छात्रों के लिए दाख़िला आसान था क्योंकि उन्हें प्रवेश परीक्षाएँ नहीं देनी पड़ती थीं। लेकिन विश्वविद्यालय की शिक्षा और परीक्षा ही ऐसी थी कि मज़दूर वर्ग से कम ही स्नातक पैदा हो पाते थे। क्रान्ति के तुरन्त बाद और गृहयुद्ध के दौर के लिए, या कहना चाहिए कि 1920 के दशक के मध्य या अन्त तक के लिए यह बात बिल्कुल सही है। लेकिन इस पूरे दौर के लिए हमारी उम्मीदें क्या होनी चाहिए? क्या क्रान्ति के बाद के कुछ वर्षों में आप कई लाख मज़दूर स्नातकों की उम्मीद कर रहे हैं? क्या यह उम्मीद ही शेखचिल्लीवादी नहीं है? और इस उम्मीद के पूरा न होने के आधार पर कोई सोवियत सत्ता पर प्रश्न खड़ा करे, तो क्या यह

बचकाना नहीं होगा? सही बात यह है कि मज़दूर ऐतिहासिक तौर पर शिक्षा और ज्ञान को लेकर जिस पूर्वाग्रह के बोझे को ढो रहे होते हैं, उसमें तुरन्त स्वयं मज़दूरों से भी यह उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वे आम तौर पर विश्वविद्यालय की शिक्षा आदि को लेकर बहुत उत्साह दिखलायेंगे। इन ऐतिहासिक पूर्वधारणाओं के मिटने में वक़्त लगेगा। ऐसी स्थिति पैदा होने में कई वर्ष लगेंगे कि विश्वविद्यालयों से हर वर्ष बड़े पैमाने पर मज़दूर वर्ग के स्नातक निकलें। **लेकिन बेतेलहाइम स्कूल व्यवस्था और विश्वविद्यालय व्यवस्था तक में बुर्जुआ विचारधारा, मूल्य और मान्यताओं के स्रोतों को ढूँढ निकालने के प्रति पहले से ही प्रतिबद्ध हैं। ऐसे में, उन्हें इस लक्ष्य को पूरा करने से रोक पाना मुश्किल है!** निश्चित रूप से, लेनिन या बोल्शेविक पार्टी के अन्य नेता भी क्रान्ति के बाद सोवियत स्कूल व विश्वविद्यालय व्यवस्था से कतई सन्तुष्ट नहीं थे। 1921 के बाद, यानी कि गृहयुद्ध के बाद भी समाजवादी शिक्षा पद्धति कैसी हो इसे लेकर पार्टी के भीतर और बाहर लगातार बहस-मुबाहिसे चल रहे थे। पार्टी निश्चित तौर पर केवल यह नहीं सोच रही थी कि आर्थिक, तकनीकी व प्रशासनिक लक्ष्यों को पूरा करने के लिए स्कूल व विश्वविद्यालय कैसे होने चाहिए, हालाँकि यह भी एक सरोकार था। लेकिन अगर कोई यह दावा करता है कि इन विषयों पर चिन्तन करते हुए पार्टी राजनीतिक और विचारधारात्मक तौर पर नहीं सोच रही थी, तो यह तथ्यों के साथ दुराचार होगा। बेतेलहाइम जाने-अनजाने यही कर बैठते हैं। जैसा कि **राल्फ़ मिलिबैण्ड** ने बेतेलहाइम के विषय में कहा है, बेतेलहाइम चीनी क्रान्ति के अनुभवों के बारे में अपने असन्तुलित किस्म के उत्साह में बह कर सोवियत रूस का इतिहास लिखते हैं। हम कह सकते हैं कि इसी "प्रवाह" में बेतेलहाइम तथ्यों के चयन की बाबत अपना सन्तुलन खो बैठते हैं क्योंकि ज़्यादातर मुद्दों पर उनके नतीजे तय हैं और वे उसके अनुसार तथ्यों को खोज लेते हैं। **वे चीनी क्रान्ति के इतिहास की शर्तों पर रूसी क्रान्ति का अध्ययन करना चाहते हैं, जो कि उन्हें कई बार मज़ाकिया विरोधाभासों में ले जाकर गिरा देता है।**

गृहयुद्ध के दौरान और उसके अन्त के समय मज़दूर वर्ग की जीवन स्थितियों और मज़दूरी के प्रश्न की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम स्वीकार करते हैं कि समाजवादी राज्य के स्थापित होते ही मज़दूरों के जीवन में गुणात्मक सुधार आया। इसका कारण यह था कि तत्काल ही आठ घण्टे के कार्यदिवस को लागू कर दिया गया, मज़दूरी को बढ़ाया गया, कारखाने के भीतर मौजूद दमनकारी नियम-कायदों को समाप्त कर दिया गया। **लेकिन साथ में बेतेलहाइम यह कहकर इन शानदार कदमों का श्रेय सर्वहारा राज्य से छीनने का प्रयास करते हैं कि ये वही प्रक्रियाएँ थीं, जो कि अक्टूबर से भी पहले, यानी कि फरवरी क्रान्ति के समय से ही जारी थीं।** यह दावा तथ्यों के आईने में हास्यास्पद साबित होता है। सच यह है कि फरवरी से अक्टूबर के दौरान, हालाँकि औपचारिक तौर पर कुछ कानूनी सुधार किये गये, लेकिन वास्तव में इनमें से एक भी लागू नहीं हुए। युद्ध के लिए आपूर्ति हेतु मज़दूर वर्ग पर भारी दबाव डाला जा रहा था, जिसके विरुद्ध मज़दूर आन्दोलन तीव्रतर होता जा रहा था। मज़दूरों की हड़तालों का सिलसिला इस दौर में नये स्तर पर पहुँच गया था। बेतेलहाइम अपनी इस रचना के तीसरे खण्ड तक जाते-जाते आरज़ी बुर्जुआ-भूस्वामी सरकार के प्रति अपनी सहानुभूति को छिपाने में पूरी तरह से नाकामयाब हो गये हैं, लेकिन पहले ही खण्ड में हम यहाँ उनकी इस प्रवृत्ति की छाया को देख सकते हैं। बहरहाल, बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि जब गृहयुद्ध शुरू हुआ तो मज़दूरों के लिए स्थिति ख़राब हुई क्योंकि गृहयुद्ध के दबाव में "युद्ध कम्युनिज़्म" की जो नीतियाँ लागू हुईं उनके कारण मज़दूरों पर श्रम अनुशासन, 'पीस रेट' पर

कार्य, बोनसों की व्यवस्था, वगैरह को लागू कर दिया गया। बेतेलहाइम का कहना है कि गृहयुद्ध के दौरान पैदा हुए आर्थिक विसंगठन से निपटने के लिए ये कदम अनिवार्य थे। स्वयं लेनिन ने इन कदमों की हिमायत की और कहा कि हमें अमेरिकी टेलर व्यवस्था के भी प्रगतिशील तत्वों को अपना लेना चाहिए। इसी सन्दर्भ में लेनिन ने रूसी मज़दूरों की श्रमशीलता और अमेरिकी कार्य संस्कृति को मिश्रित करने की बात कही थी। लेनिन के इन्हीं तर्कों का बुखारिन, रादेक व ओसिंस्की जैसे "वामपन्थी" कम्युनिस्टों ने यह कहकर विरोध किया था कि यह पूँजीवादी प्रबन्धन तन्त्र की वापसी है। लेनिन ने इस तीखी आलोचना करते हुए कहा था कि रूसी मज़दूर वर्ग अभी तुरन्त समाजवाद के आर्थिक तन्त्र को पूरी तरह से लागू करने के लिए तैयार नहीं है और अभी रूसी मज़दूर वर्ग का प्रमुख शत्रु बड़े पैमाने का 'राजकीय पूँजीवादी' उत्पादन या पूँजीवादी प्रबन्धन नहीं है, बल्कि टटपुँजिया पूँजीवाद है। इस टटपुँजिया पूँजीवाद के ख़ात्मे के लिए पहले सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत 'राजकीय पूँजीवाद' की मंज़िल से गुज़रना होगा। इस दौर में ही मज़दूर वर्ग राष्ट्रीय पैमाने पर उत्पादन को एक वर्ग के तौर पर सम्भालने के लिए शिक्षित-प्रशिक्षित होगा, अपनी राजनीतिक चेतना और अपनी आर्थिक व तकनीकी कुशलता दोनों को बढ़ायेगा। लेकिन तब तक बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी, बुर्जुआ विशेषज्ञों को काम पर रखने की मजबूरी, वेतन के अन्तर, बोनसों की व्यवस्था, आदि व अन्य भौतिक प्रोत्साहन मौजूद रहेंगे।

"युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में श्रम अनुशासन को भी लागू किया गया। **बेतेलहाइम का दावा है कि गृहयुद्ध के दौरान लागू हुई ये सभी नीतियाँ केवल एक बाह्य कारक, यानी कि गृहयुद्ध के कारण लागू की गयी थीं अन्यथा सकारात्मक तौर पर सोवियत राज्यसत्ता ये नीतियाँ (श्रम अनुशासन, भौतिक प्रोत्साहन, बुर्जुआ अधिकार, आदि) नहीं लागू करती। यह अवस्थिति लेनिन की अवस्थिति का विकृतिकरण है।** लेनिन का दृष्टिकोण इस मसले पर स्पष्ट था। गृहयुद्ध के अन्त पर लेनिन ने सार-संक्षेप करते हुए कहा था कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर की कई नीतियाँ अपने आप में ग़लत नहीं थीं, लेकिन युद्ध द्वारा पैदा की गयी आपात स्थिति में उनका कार्यान्वयन उस रूप में नहीं हुआ जिस रूप में आम तौर पर होता और अक्सर वक़्त से पहले हुआ। गृहयुद्ध होता या न होता, रूस में समाजवादी राज्यसत्ता स्थापित होने के बाद सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत 'राजकीय पूँजीवाद' की एक मंज़िल निश्चित तौर पर मौजूद होती। वास्तव में, गृहयुद्ध शुरू होने से पहले ही लेनिन ने स्पष्ट कर दिया था कि पहली प्राथमिकता बड़े पैमाने के उत्पादन को स्थापित करना, टटपुँजिया पूँजीवादी उत्पादन का ख़ात्मा और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पुनर्संगठन है, जिसके लिए रूसी मज़दूर वर्ग स्वतन्त्र तौर पर अभी सक्षम नहीं है। इस दौर में, वेतन अन्तरों का मौजूद होना, बुर्जुआ विशेषज्ञों को काम पर रखा जाना और उन्हें विशेषाधिकार दिया जाना, एक व्यक्ति वाले प्रबन्धन को लागू किया जाना, स्वाभाविक होगा। साथ ही, ऐसा भी नहीं है कि समाजवादी व्यवस्था के स्थापित होने के बाद श्रम अनुशासन लागू नहीं किया जायेगा। मज़दूर वर्ग अपने राजनीतिक संगठन और नेतृत्व के ज़रिये मज़दूर वर्ग के ही उन सदस्यों पर श्रम अनुशासन को लागू करता है, जो कि राजनीतिक चेतना से लैस न होने के चलते काम से भाग जाते हैं, घुमन्तू मज़दूर बनने की प्रवृत्ति या गाँव में पलायन के रुझान का शिकार होते हैं। ऐसे में, मज़दूरों को *कॉमरेडाना ट्रिब्यूनल* स्थापित किये जाते हैं, जिसे कि मज़दूर वर्ग के ही अगुवा तत्व चलाते हैं। बेतेलहाइम के अनुसार, सोवियत रूस में यह सब केवल गृहयुद्ध द्वारा पैदा हुई आपात स्थितियों के कारण हुआ। न तो यह सच है और न ही यह लेनिन का दृष्टिकोण था।

ये चीज़ें बिना गृहयुद्ध के भी होतीं। गृहयुद्ध के कारण यह ज़रूर हुआ कि इन नीतियों का कार्यान्वयन कई बार विकृत रूप में हुआ। इसके लिए आंशिक तौर पर वस्तुगत स्थितियाँ ज़िम्मेदार थीं, और आंशिक तौर पर त्रात्स्की-बुखारिन धड़े का दक्षिण-"वाम" भटकाव भी। निश्चित तौर पर, गृहयुद्ध के दौर में कई आपात नीतियाँ भी लागू हुईं, जैसे कि ज़बरन फसल वसूली; यह भी हुआ कि कई नीतियाँ जो कि भविष्य में लागू की जानी थीं, मजबूरी में उन्हें समय से पहले लागू करना पड़ा अन्यथा आर्थिक बिखराव को रोकना असम्भव था। जैसा कि लेनिन ने एक बार कहा था, "युद्ध कम्युनिज़्म" की तमाम नीतियाँ अपने आप में ग़लत नहीं थीं, बल्कि उनमें से कई नीतियाँ वास्तव में भविष्य की समाजवादी नीतियाँ थीं, जिन्हें वस्तुगत स्थितियों ने समय से पहले सोवियत सत्ता पर थोप दिया था और साथ ही त्रात्स्की के "श्रम के सैन्यकरण" की थीसिस ने उनके कार्यान्वयन को भी विकृत कर दिया था।

दूसरी बात, बेतेलहाइम यह नहीं समझ पाते कि "युद्ध कम्युनिज़्म" ने जहाँ मज़दूरों के लिए कई कठिनाइयाँ पैदा कीं, वहीं इसी दौर में 5 मज़दूरों तक के वर्कशॉपों तक का राष्ट्रीकरण हो गया और पूँजीपति वर्ग का लगभग पूर्ण रूप में सम्पत्ति-हरण कर लिया गया था। यहाँ अभी हम कृषक पूँजीपति वर्ग की बात नहीं कर रहे हैं। कृषि के क्षेत्र में केवल बड़े भूस्वामियों की सम्पत्ति छीनी गयी थी और उन्हें किसानों में पुनर्वितरित किया गया था। इन भूमि सुधारों ने धनी किसानों की ज़मीनें नहीं छीनीं थीं और साथ ही मँझोले और उच्च मँझोले किसानों का एक विशाल वर्ग पैदा किया था। लेकिन जहाँ तक उद्योगों का सवाल है, उनके राष्ट्रीकरण का कार्य गृहयुद्ध के दौर में ही पूरा हुआ था। गृहयुद्ध के दौरान वक्त से पहले लागू हुई कुछ समाजवादी नीतियों और उनके कार्यान्वयन में हुए अतिवादी भटकाव के कारण ही, नयी आर्थिक नीतियों के रूप में सोवियत सत्ता को रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने पड़े। लेकिन जब 'नेप' की नीतियाँ लागू हुईं तो क्या उन्होंने भौतिक प्रोत्साहन व बुर्जुआ अधिकारों को व्यवस्था को समाप्त कर दिया? नहीं! 'नेप' ने वास्तव में इन नीतियों को औपचारिक रूप दे दिया। 'नेप' ने कुलकों, धनी किसानों और व्यापारियों के वर्ग को तमाम छूटें दीं। इसके कारणों की चर्चा हम बिखरे तौर पर करते रहे हैं और आगे उपयुक्त स्थान पर इसकी विस्तार से भी चर्चा करेंगे। लेकिन अभी इतना कहना पर्याप्त होगा कि लेनिन के लिए 'नेप' की नीतियाँ "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई अतिवादी ग़लतियों के कारण मज़दूर-किसान संश्रय के टूटने के ख़तरे को दूर करने के लिए रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने की पर्याय थीं। साथ ही "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में यह भी स्पष्ट हो गया था कि गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी ने भविष्य की कुछ समाजवादी नीतियों को अपरिपक्व तौर पर लागू करने के लिए सोवियत सत्ता को बाध्य कर दिया था, लेकिन अभी रूसी मज़दूर वर्ग समाजवादी निर्माण के कार्य को तेज़ी से आगे बढ़ाने की स्थिति में नहीं है; वर्ग संघर्ष अभी इस मंज़िल में नहीं था कि विचारधारात्मक-राजनीतिक मार्गदर्शन में जनसमुदाय स्वयं समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की ओर तेज़ी से आगे बढ़ पायें। इसके लिए सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत 'राजकीय पूँजीवाद' की नीतियों से गुज़रना अनिवार्य था। 'नेप' की नीतियों ने इसी को व्यवस्थित और औपचारिक रूप प्रदान किया। बेतेलहाइम यह नहीं बता पाते हैं कि अगर बुर्जुआ अधिकार, वेतन में अन्तर, आदि गृहयुद्ध के कारण बनाये रखे गये थे, तो फिर गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद उन्हें कायम क्यों रखा गया? वह यह भी नहीं बता पाते कि श्रम अनुशासन को भी नये रूपों में कायम क्यों रखा गया, हालाँकि उनका स्वरूप अब "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर से बिल्कुल अलग था? वास्तव में, 'नेप' की नीतियों के दौरान ट्रेड

यूनियनों की भूमिका पर लेनिन ने स्पष्ट कहा था कि वे आर्थिक प्रबन्धन के उन कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं डालेंगी जो कि एक-व्यक्ति वाले प्रबन्धन को सौंपे गये हैं; उनका कार्य होगा मज़दूर वर्ग को आर्थिक पुनर्निर्माण और समाजवादी निर्माण के कार्य के लिए अनुशासित करना और उन्हें गोलबन्द करना। लेनिन श्रम अनुशासन को लागू करने के कतई विरुद्ध नहीं थे, बल्कि उस तरीके की आलोचना करते थे जो कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में स्थितियों द्वारा पैदा की गयी बाध्यताओं में अपनाने पड़े थे। यहाँ पर बेतेलहाइम बड़ी असुविधाजनक स्थिति में फँस जाते हैं। जब भी बेतेलहाइम ऐसी स्थिति में फँसते हैं, तो वे लगभग हमेशा यह कहकर अपने विश्लेषण का मान बचाते हैं कि 'इन प्रश्नों को विचारधारात्मक वर्ग संघर्ष के मुद्दों को समझे बग़ैर नहीं समझा जा सकता है।'

बेतेलहाइम आगे लिखते हैं कि उद्योग में श्रम अनुशासन की आवश्यकता होती है लेकिन कारखाने के भीतर पूँजीवादी श्रम अनुशासन और समाजवादी श्रम अनुशासन की बीच फर्क होता है। बेतेलहाइम स्वीकार करते हैं कि पूँजीवादी श्रम अनुशासन से समाजवादी श्रम अनुशासन के बीच का संक्रमण एकरेखीय नहीं होता है, बल्कि जटिल होता है। पूँजीवादी श्रम अनुशासन वह होता है जो कि मज़दूर वर्ग पर ऊपर से पूँजीपति वर्ग द्वारा थोपा जाता है, जबकि समाजवादी श्रम अनुशासन वह होता है जो कि मज़दूर वर्ग स्वेच्छा से अपने ऊपर लागू करता है। लेकिन बेतेलहाइम यह नहीं बताते कि समाजवादी संक्रमण के दौरान, जबकि वर्ग मौजूद होते हैं, शारीरिक और मानसिक श्रम के बीच का अन्तर मौजूद होता है, और साथ ही अन्य अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ मौजूद होती हैं, तब क्या कोई ऐसा समाजवादी श्रम अनुशासन लागू हो सकता है जो कि *पूरे मज़दूर वर्ग* द्वारा सामूहिक तौर पर और स्वेच्छा से अपनाया जाता हो? अब तक के समाजवादी प्रयोगों से हम जानते हैं कि जब तक मज़दूरों के बीच पेशागत अन्तर, कुशल व अकुशल के बीच का अन्तर और साथ ही विशेष तौर पर टटपुँजिया विचारों का असर मौजूद रहेगा, तब तक ऐसी आदर्श स्थिति की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। वस्तुतः इस बात पर ही सन्देह किया जा सकता है कि समाजवादी संक्रमण के आरम्भिक दौर में ऐसी स्थिति पैदा होगी या नहीं। **लेकिन बेतेलहाइम के तर्क में यह अन्तर्निहित है कि समाजवादी श्रम अनुशासन के लागू होने के बाद समूचा मज़दूर वर्ग सर्वसम्मति से अपने ऊपर श्रम अनुशासन को लागू कर लेगा। वास्तव में, यह शेखचिल्ली का सपना है। समाजवादी श्रम अनुशासन के लागू होने के बाद भी मज़दूर वर्ग का अगुवा और वर्ग सचेत हिस्सा विशेष तौर पर पहलकदमी लेगा और मज़दूर वर्ग के अन्य सदस्यों को उस अनुशासन को लागू करने के लिए प्रेरित करेगा और कार्य छोड़कर भागने, परजीवीपन और अनुपस्थित रहने की प्रवृत्ति के शिकार सदस्यों पर बलपूर्वक भी इस अनुशासन को लागू करेगा।** सोवियत रूस में यदि गृहयुद्ध द्वारा कोई आपात स्थिति न भी पैदा होती तो मज़दूर वर्ग सर्वसम्मति से समाजवादी श्रम अनुशासन को लागू करने की स्थिति में नहीं पहुँच जाता। **बेतेलहाइम पूरे मसले को यूँ पेश करते हैं मानो गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी से पैदा हुई आपात स्थितियों के न होने की सूरत में मज़दूर वर्ग के किसी सदस्य पर श्रम अनुशासन को लागू करने के लिए कोई प्रयास न करना पड़ता और मज़दूर वर्ग यदि तत्काल नहीं तो जल्द ही समाजवादी श्रम अनुशासन को स्वयं स्वेच्छा से लागू करने की स्थिति में पहुँच जाता।** यदि ऐसा होता तो 'नेप' के दौर में समाजवादी राज्यसत्ता को न तो ट्रेड यूनियनों को श्रम अनुशासन लागू करने की ज़िम्मेदारी देनी पड़ती और न ही भौतिक प्रोत्साहनों की व्यवस्था को लागू करना पड़ता।

बेतेलहाइम का यह कहना सही है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण के मालिकाने के सम्बन्धों को बदलने के साथ शुरुआत के बाद श्रम प्रक्रिया व उत्पादन प्रक्रिया के रूपान्तरण और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं का ख़ात्मा अनिवार्य होता है। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया के दौरान जनसमुदायों के भी कुछ हिस्सों के ऊपर मज़दूर सत्ता कुछ ज़ोर-ज़बरदस्ती कर सकती है और लेनिन ने भी क्रोंस्टाट विद्रोह के सन्दर्भ में बात करते हुए इस बात की ताईद की थी। लेनिन ने बताया था कि औद्योगिक बिखराव रोकने के लिए कुछ समय के लिए श्रम अनुशासन के कुछ सख़्त रूपों और साथ ही बुर्जुआ विशेषज्ञों का विशेषाधिकार की व्यवस्था को अपनाना ही पड़ेगा। लेनिन ने यह बात केवल गृहयुद्ध के शुरू होने के कारण नहीं की थी, बल्कि एक पिछड़े पूँजीवादी देश में अपवादस्वरूप पैदा हुई स्थितियों में समाजवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के सन्दर्भों में कही थी। और आज कहा जा सकता है कि रूस में तो यह समय थोड़ा ज़्यादा लम्बा होना ही था, लेकिन आज भी जिन देशों में नयी समाजवादी क्रान्तियाँ अपेक्षित हैं, वहाँ भी समाजवादी क्रान्ति के बाद एक ऐसा दौर अवश्य होगा। इसीलिए लेनिन ने कहा कि इस दौर में यदि सोवियत सत्ता दो कार्यों को अंजाम देती है, तो इन विशेष कदमों से घबराने की कोई बात नहीं है–एक, सर्वहारा अधिनायकत्व को अधिक से अधिक सुदृढ़ किया जाय और दूसरा, तेज़ी से ऐसे सर्वहारा तत्वों को तैयार किया जाय जो कि प्रबन्धन और नियोजन की कुशलता से लैस हों और बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं को अप्रासंगिक बना दें। बेतेलहाइम इस बात पर सन्देह करते हैं कि सोवियत रूस ऐसा कुछ भी सफलतापूर्वक कर पाया, क्योंकि उन्हें बाद में यह सिद्ध करना है कि लेनिन ने जिन शर्तों के आधार पर इन आपात कदमों की आज्ञा दी थी, स्तालिन के दौर में उन शर्तों को पूरा नहीं किया गया। वास्तव में, यह शक़ ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर अनावश्यक सिद्ध होता है। सोवियत रूस के इतिहास के विभिन्न स्रोतों का अध्ययन करें और विशेष तौर पर लेनिन के जीवन-काल में ही पार्टी और स्वयं लेनिन के लेखन को देखें तो हम पाते हैं कि पार्टी ने प्रबन्धन और नियोजन के कार्यभारों को सम्भालने के लिए तेज़ी से कम्युनिस्ट व सर्वहारा तत्वों को तैयार किया (वास्तव में, बेतेलहाइम एक जगह खुद ही मानते हैं कि जितने मज़दूर कम्युनिस्ट तैयार हो रहे थे वे सभी पार्टी और राज्य के कार्यों में खप जा रहे थे और इस पर असन्तोष व्यक्त करते हैं कि कारखाने के भीतर पर्याप्त कम्युनिस्ट मज़दूर नहीं हो पा रहे थे!)। यह एक दीगर बात है कि इस तेज़ रफ्तार के बावजूद ऐसे कम्युनिस्ट मज़दूर संगठनकर्ताओं की व्यापक कमी को पूरा करने में पार्टी लम्बे समय तक कामयाब नहीं हो पायी। लेकिन यह कहना कि पार्टी ने ऐसा किया ही नहीं, तथ्यों के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती करना होगा।

बेतेलहाइम प्रच्छन्न तौर पर 1918 से 1923 तक और विशेष तौर पर 1921 तक के लेनिन के रवैये पर भी हमला करते हैं। यह हमला स्पष्ट रूप में नहीं होता है, लेकिन सोवियत इतिहास के बारे में जानकारी रखने वाला सुसूचित पाठक समझ सकता है कि निशाना लेनिन ही हैं। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम श्रम अनुशासन और ट्रेड यूनियनों को इस बाबत दी गयी भूमिका का ज़िक्र करते हुए बताते हैं कि जनवरी 1919 में दूसरी अखिल रूसी ट्रेड यूनियन कांग्रेस में लेनिन ने ट्रेड यूनियनों के "सरकारीकरण" (govermentalization) की बात की थी और साथ ही यह भी कहा था कि श्रम अनुशासन के लिए यह आवश्यक है। लेकिन बेतेलहाइम यह स्पष्टीकरण कहीं नहीं देते कि लेनिन ने जब ट्रेड यूनियनों के "सरकारीकरण" की बात की थी तो उनका अर्थ कतई वह नहीं था जो कि त्रात्स्की का था जब उन्होंने

बुखारिन के साथ मिलकर ट्रेड यूनियनों के "राजकीयकरण" (statization) की बात की थी। लेनिन हमेशा से ही इस बात के पक्षधर थे कि ट्रेड यूनियनों की सापेक्षिक स्वायत्तता होनी चाहिए और उनकी एक सरकारी भूमिका भी होनी चाहिए। वह ट्रेड यूनियनों को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की उस पूरी मशीनरी के एक अंग के तौर पर देखते थे, जिसका प्रधान उपकरण पार्टी थी। लेनिन ने त्रात्स्की और बुखारिन की इस थीसिस का विरोध किया था कि ट्रेड यूनियनों की कोई सापेक्षिक स्वायत्तता भी नहीं होनी चाहिए और वे पूरी तरह से राज्य के अधीन होनीं चाहिए। साथ ही, लेनिन ने श्ल्याप्निकोव व कोलोन्ताई के दूसरे छोर की ग़लती का भी खण्डन किया था जो कि ट्रेड यूनियनों की पूर्ण स्वायत्तता की बात कर रहे थे। लेनिन की अवस्थिति ट्रेड यूनियनों की पूरी भूमिका के बारे में बेहद द्वन्द्वात्मक थी। त्रात्स्की और बुखारिन की अवस्थिति से लेनिन की अवस्थिति एक और मायने में बिल्कुल भिन्न थी। त्रात्स्की और बुखारिन "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों को साम्यवाद में संक्रमण की आम नीति के तौर पर देखते थे, जैसे कि श्रम के सैन्यकरण, आम ज़बरन फसल वसूली और ट्रेड यूनियनों का राजकीयकरण आदि, जबकि लेनिन इन नीतियों को गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी की विशिष्ट अपरिहार्यताओं के तौर पर देखते थे। यह सच है कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की कार्यदिशा के मुकाबले लेनिन त्रात्स्की-बुखारिन की कार्यदिशा के ज़्यादा नज़दीक थे, क्योंकि कम-से-कम उसमें तात्कालिक व्यावहारिकता का गुण था। लेकिन लेनिन त्रात्स्की-बुखारिन की कार्यदिशा को आम तौर पर दक्षिणपन्थी-वामपन्थी विचलन का शिकार मानते थे। **बेतेलहाइम जब लेनिन द्वारा ट्रेड यूनियनों के "सरकारीकरण" के ज़िक्र का हवाला देते हैं तो वह इन नुक़्तों का ज़िक्र तक नहीं करते जो कि लेनिन को त्रात्स्की की कार्यदिशा का समर्थक जैसा बना देता है, कम-से-कम 1919 के दौर तक।** 1920 की नौवीं पार्टी कांग्रेस में भी लेनिन ने स्पष्ट किया था कि समाजवादी संक्रमण के दौर में ट्रेड यूनियनों की मुख्य भूमिका मज़दूर प्रतिरोध की नहीं बल्कि आर्थिक संगठन और श्रम अनुशासन में योगदान की होगी, लेकिन लेनिन यह भी मानते थे कि उनकी गौण भूमिका मज़दूर राज्य में नौकरशाहाना विकृतियों का मुकाबला करना भी होगा और इस रूप में वह ट्रेड यूनियनों की सापेक्षिक स्वायत्तता की वकालत करते थे। **बेतेलहाइम स्पष्ट तौर पर 1920-21 में लेनिन और त्रात्स्की के मतभेदों के खुलकर सामने आने के पहले के दौर में उनकी अवस्थितियों के बीच मौजूद बुनियादी अन्तरों को समझने में पूरी तरह से नाकाम साबित होते हैं।**

बेतेलहाइम मानते हैं कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के दौर में उद्योग और अर्थव्यवस्था के अन्य सभी क्षेत्रों में सख़्त अनुशासन की आवश्यकता थी और इसलिए मज़दूर राज्य को मज़दूर वर्ग के ही कुछ हिस्सों पर ज़ोर-ज़बरदस्ती भी करनी पड़ी; लेकिन सोवियत इतिहास और बोल्शेविक पार्टी के इतिहास के अपने प्रतीतिगत तौर पर "माओवादी" पाठ की परियोजना को आगे बढ़ाते हुए **बेतेलहाइम यह जोड़ देते हैं कि पार्टी के पास मज़दूर वर्ग को सहमत करने की पर्याप्त क्षमता नहीं थी और यही कारण था कि सोवियत सत्ता को मज़दूर वर्ग के भी एक हिस्से पर ज़ोर-ज़बरदस्ती का इस्तेमाल करना पड़ा। यहाँ पर बेतेलहाइम का हेगेलीय मनोगतवाद एक बार फिर खुलकर सामने आ जाता है। बेतेलहाइम की दलील का यह अर्थ हुआ कि अगर पार्टी के पास मज़दूर वर्ग को सहमत करने की पर्याप्त क्षमता होती तो सर्वहारा राज्य को मज़दूर वर्ग के किसी हिस्से पर गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी की आपात स्थितियों में भी कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं**

करनी पड़ती। यह पूरा तर्क उस दौर के अन्तरविरोधों को नहीं समझता और हर सकारात्मक या नकारात्मक पहलू की ज़िम्मेदारी एकतरफ़ा तरीके से बोल्शेविक पार्टी पर थोप देता है। यदि सोवियत इतिहास के उस दौर पर करीबी नज़र दौड़ायी जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि कम-से-कम 1918 से 1921 तक के दौर में वस्तुगत परिस्थितियों का दबाव ही निर्धारक भूमिका निभा रहा था और बोल्शेविक पार्टी की अधिकांश नीतियाँ समाजवादी निर्माण की सकारात्मक सिद्धान्तों या समझदारी से नहीं बल्कि गृहयुद्ध द्वारा पैदा हुई आपात स्थितियों से तय हो रही थीं। अगर ऐसी कोई स्थिति न होती तो क्या बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में मज़दूर राज्य को मज़दूर वर्ग के किसी भी हिस्से के साथ कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती करने की ज़रूरत नहीं पड़ती? कम-से-कम गृहयुद्ध ख़त्म होने के बाद के दौर का इतिहास यह सिद्ध नहीं करता है। गृहयुद्ध से सिर्फ़ इतना फर्क पड़ा कि ज़ोर-ज़बरदस्ती के इन कदमों ने कई बार अतिरेकपूर्ण रूप धारण कर लिया और पार्टी इस बात को लेकर सचेत और चिन्तित भी थी। लेकिन उस समय पहली प्राथमिकता थी सर्वहारा सत्ता की हिफ़ाज़त और इस मक़सद को पूरा करने के लिए पार्टी को वे कदम उठाने पड़े। यह अलग से एक चर्चा का विषय हो सकता है कि पार्टी का विचारधारात्मक वर्चस्व मज़दूर वर्ग में कितना मज़बूत था, लेकिन यह कहना कि पार्टी को ज़ोर-ज़बरदस्ती के कदम इसलिए उठाने पड़े कि यह वर्चस्व मज़बूत नहीं था एकदम बेतुकी बात होगी। वास्तव में, बेतेलहाइम ही अपनी रचना के पहले खण्ड के शुरुआती हिस्से में यह स्वीकार करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी की मज़दूर वर्ग के बीच नेतृत्वकारी विचारधारात्मक-राजनीतिक भूमिका बेहद मज़बूत था और यही कारण था कि बोल्शेविक पार्टी योजनाबद्ध तरीके से आम बग़ावत को अक्टूबर 1917 में अंजाम दे सकी। बेतेलहाइम चूँकि नतीजे तय करके विश्लेषण शुरू करते हैं, इसलिए उनकी अवस्थिति में निरन्तरता की बेहद कमी दिखती है।

बेतेलहाइम जब मज़दूर वर्ग के कुछ हिस्सों पर लागू की गयी ज़ोर-ज़बरदस्ती की चर्चा करते हैं तो उसमें उन नीतियों को भी गिना देते हैं, जो कि समाजवादी संक्रमण की बिल्कुल सही नीतियाँ हैं। मिसाल के तौर पर, यह नीति कि सभी को काम करना होगा और जो कार्य राज्य द्वारा उपलब्ध कराया जायेगा वह कार्य बाध्यताकारी होगा; वास्तव में, सोवियत राज्यसत्ता ने **'मेहनतकश व शोषित जनता के अधिकारों के घोषणापत्र'** में ही इसका ज़िक्र किया था। लेनिन ने इसका समर्थन किया था और इसे आम नीति के तौर पर पेश किया था। वास्तव में, सामान्य दौरों में इस कदम से मज़दूर वर्ग को नहीं बल्कि बुर्जुआ व पेटी-बुर्जुआ वर्ग को ही तक़लीफ़ होती है जो परजीवी जीवन व्यतीत करने के आदी होते हैं। सोवियत सत्ता काम करने की अनिवार्यता के नियम के साथ यह भी नियम लागू कर रही थी कि यदि राज्य कार्य देने में अक्षम साबित होता है तो वह गुज़ारे योग्य बेरोज़गारी भत्ता देगा। बेतेलहाइम इस पूरे दौर में बोल्शेविक पार्टी और सोवियत सत्ता की एक ऐसी तस्वीर पेश करते हैं कि पाठक उसके सर्वहारा चरित्र पर ही शक़ करने लगे, हालाँकि अन्त में वह कुछ वाक्य बोल्शेविक पार्टी और सोवियत सत्ता के सर्वहारा चरित्र के बारे में जोड़ देते हैं और स्वीकार करते हैं कि इस दौर में मुख्य पहलू यह था कि सर्वहारा वर्ग अब शासक वर्ग बन चुका था। लेकिन इस 'बॉटमलाइन' का पढ़ने वाले पर उतना असर नहीं पड़ता है, जितना कि पहले दिये गये विवरण का।

बेतेलहाइम लिखते हैं कि लेनिन को जनदिशा की अहमियत अच्छी तरह पता थी और इसीलिए वह बार-बार कहते हैं कि पार्टी को जनता से करीबी रिश्ता बनाये रखना चाहिए,

उसके मिजाज़ को समझना चाहिए आदि। साथ ही लेनिन यह भी कहते हैं कि पार्टी को ग़ैर-सर्वहारा जनसमुदायों से भी करीबी रिश्ता कायम रखना चाहिए। लेकिन बेतेलहाइम के मुताबिक पार्टी आपात स्थितियों में ऐसा नहीं कर सकी और किसानों के साथ पार्टी का अन्तरविरोध इसी कारण से पैदा हुआ। **यह पूरा तर्क वास्तव में पार्टी और खाते-पीते मँझोले किसानों समेत पूरे किसान वर्ग के बीच के अन्तरविरोधों के लिए पार्टी द्वारा जनदिशा को लागू (निश्चित तौर पर आपात स्थितियों में!) न कर पाने को ज़िम्मेदार ठहराता है। यानी एक बार फिर पार्टी की मनोगत भूमिका को कठघरे में खड़ा कर दिया जाता है!** बेतेलहाइम के अनुसार, इसमें किसान वर्ग के नैसर्गिक वर्ग चरित्र की कोई भूमिका नहीं है। बेतेलहाइम का यह किसानवाद आगे और मुखर तौर पर आता है। लेकिन फिलहाल बेतेलहाइम के इस तर्क पर ही थोड़ा करीबी नज़र डालते हैं। **यदि आपात स्थितियों में पार्टी द्वारा जनदिशा का लागू न किया जा पाना किसान वर्ग से अन्तरविरोध का कारण था तो फिर 1921 के बाद, यानी कि 'नेप' के लागू होने के बाद किसान वर्ग और पार्टी का अन्तरविरोध क्यों बना रहा?** 1925-26 आते-आते धनी किसानों का एक पूरा वर्ग व्यापारियों और बाज़ार की ताक़तों के साथ मिलकर सोवियत सत्ता के प्रच्छन्न विरोध और तोड़-फोड़ की गतिविधियाँ क्यों चलाने लगा? मँझोले किसानों के वर्ग तक का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा जमाखोरी क्यों करने लगा? अगर किसान वर्ग के साथ पार्टी के अन्तरविरोध का कारण आपात स्थितियों में जनदिशा के कार्यान्वयन का अभाव था तो फिर 1928-29 में सोवियत सत्ता को आपात कदम क्यों उठाने पड़े? वैसे तो बेतेलहाइम इस दौर में भी किसान वर्ग और सोवियत सत्ता के बीच के अन्तरविरोध के कुछ नये और अलग कारण बताते हैं, लेकिन उन पर बाद में चर्चा करेंगे। फिलहाल, इतना कहना पर्याप्त होगा कि छद्म-माओवाद के आवरण में बेतेलहाइम किसानवाद की तस्करी करने का कोई अवसर नहीं चूकते हैं।

मिसाल के तौर पर, एक जगह बेतेलहाइम पार्टी और जनसमुदायों के जुड़ाव का ज़िक्र करते हुए बताते हैं कि पार्टी की सदस्यता में 1917 से 1921 के बीच भारी इज़ाफ़ा हुआ और 1921 से 1923 के बीच शुद्धीकरण अभियानों के चलते थोड़ी गिरावट आयी। लेकिन इस बीच पार्टी के मज़दूर सदस्यों के अनुपात में भारी बढ़ोत्तरी आयी। बेतेलहाइम को यह मानना पड़ता है कि किसानों की सदस्यता में भारी बढ़ोत्तरी हुई लेकिन फिर बेतेलहाइम यह भी जोड़ देते हैं कि जिस देश में 70 प्रतिशत आबादी किसानों की हो, उसमें यह बढ़ोत्तरी मामूली मानी जायेगी! **इस तर्क में यह अन्तर्निहित है कि कुल मेहनतकश आबादी में विभिन्न हिस्सों के अनुपात (यानी कि मज़दूरों और किसानों का अनुपात) एक हद तक पार्टी सदस्यता में प्रतिबिम्बित होने चाहिए।** यह विचार वास्तव में माओ के विचारों के एकदम ख़िलाफ़ पड़ता है। एक किसान-बहुल देश में भी कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता में मज़दूर वर्ग की हिस्सेदारी और उनकी भूमिका ही प्रमुख होगी। इसके बग़ैर पार्टी के सर्वहारा चरित्र को कायम नहीं रखा जा सकता है। वास्तव में, नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी मज़दूर वर्ग ही नेतृत्वकारी शक्ति होगा, हालाँकि किसान वर्ग मुख्य शक्ति होगा; और यह समीकरण पार्टी के भीतर इसी रूप में अभिव्यक्त होगा कि मज़दूर सदस्यता पार्टी की कुल सदस्यता के प्रमुख हिस्से का निर्माण करेगी जबकि पार्टी का किसानों के बीच भारी समर्थन आधार होगा। लेकिन माओ के इन बुनियादी विचारों को बेतेलहाइम तिलांजलि दे देते हैं। विडम्बना की बात यह है कि बेतेलहाइम यह सब एक कट्टर माओवादी के चोगे में करते हैं और इस रूप में माओवादी सिद्धान्तों को भी हानि पहुँचाते हैं।

बेतेलहाइम पार्टी की सदस्यता की संरचना और चरित्र की बात करते हुए बताते हैं कि क्रान्ति के बाद पार्टी के मज़दूर सदस्यों की भारी बहुसंख्या पार्टी कार्यों, प्रशासनिक कार्यों और लाल सेना में लग गयी और मुश्किल से 10 प्रतिशत मज़दूर सदस्य कारखानों में काम कर रहे थे। बेतेलहाइम इसे एक नकारात्मक के तौर पर देखते हैं। बेतेलहाइम इसे भी नकारात्मक के तौर पर देखते हैं कि क्रान्ति के बाद और विशेष तौर पर गृहयुद्ध के दौर में तमाम आर्थिक और प्रशासनिक कार्यों में बुर्जुआ विशेषज्ञों को लगाना पड़ा! लेकिन इस नकारात्मक को दूर करने के लिए ही बोल्शेविक पार्टी ने मज़दूर वर्ग से भर्ती को बढ़ाया, मज़दूर संगठनकर्ताओं को शिक्षित और प्रशिक्षित किया, ताकि उन तमाम कार्यों को मज़दूर संगठनकर्ताओं को सौंपा जा सके; लेकिन जब बोल्शेविक पार्टी अपने मज़दूर सदस्यों को प्रशासनिक और आर्थिक प्रबन्धन में लगाती है तो उस पर भी बेतेलहाइम को एतराज़ है। बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि चूँकि राज्य मशीनरी में उस समय बुर्जुआ तत्व पर्याप्त संख्या में मौजूद थे, इसलिए राज्य मशीनरी के कार्य-कलाप में लगाये जाने वाले मज़दूरों पर उनका प्रभाव पड़ता था और उनका बुर्जुआ रूपान्तरण होने लगता था। लेनिन ने इसीलिए कहा था कि राज्य मशीनरी में लगे हुए मज़दूरों को हर चार माह के बाद एक माह के लिए कारखानों में काम के लिए भेजा जाना चाहिए। गृहयुद्ध के दौरान यह सम्भव नहीं था और उसके बाद, बकौल बेतेलहाइम, लेनिन की यह शिक्षा भुला दी गयी और पार्टी को इसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी। यहाँ पर बेतेलहाइम का दृष्टिकोण यान्त्रिकता का शिकार हो गया है, जिसके कारण वह केवल आंशिक सत्य को ही देख पा रहे हैं। वास्तव में, राज्य मशीनरी में बुर्जुआ मूल के लोगों की मौजूदगी सर्वहारा तत्वों के बुर्जुआकरण का प्रमुख कारण नहीं थी। एक काल्पनिक स्थिति के बारे में सोचें। यदि पार्टी के पास पर्याप्त मज़दूर कम्युनिस्ट होते जो कि क्रान्ति के बाद राज्य मशीनरी के कार्यकलापों को पूरी तरह सम्भाल लेते और बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती, तो क्या राज्य मशीनरी में लगे सर्वहारा तत्वों के बुर्जुआ रूपान्तरण का जोखिम मौजूद नहीं रहता? कतई ऐसा नहीं है! समाजवाद के एक ऐसे दौर में जब अभी बुर्जुआ अधिकार बने हुए हैं, वेतन का अन्तर बना हुआ है, क्योंकि अभी कार्य के अनुसार भुगतान किया जा रहा है, माल उत्पादन और विनिमय सम्बन्ध बरक़रार हैं, भौतिक प्रोत्साहन की व्यवस्था अभी बनी हुई है; ऐसे में, मज़दूर राज्य कीचड़ में कमलवत् अस्तित्वमान नहीं रह सकता है, चाहे उसकी मशीनरी को चलाने वाले सभी तत्व सर्वहारा मूल के ही क्यों न हों। माओ ने बताया था कि असल बात यह है कि ऐसे दौर में बुर्जुआ प्रथाओं की मौजूदगी होगी और राज्य मशीनरी में मौजूद मज़दूर तत्वों में बुर्जुआ रुझानों के विकास की सम्भावना बनी रहेगी। बेतेलहाइम के "माओवाद" का चरित्र भी यहाँ उजागर हो जाता है। **बेतेलहाइम के लिए सोवियत राज्य मशीनरी में बुर्जुआ विकृतियों के पैदा होने का कारण था उसमें बुर्जुआ मूल के लोगों की मौजूदगी, जबकि माओ और साथ ही लेनिन के लिए यह कभी भी *प्रमुख* पहलू नहीं था। उनके लिए सर्वहारा राज्य में बुर्जुआ विरूपताओं की मौजूदगी का प्रश्न इस बात से जुड़ा हुआ था कि समाजवादी संक्रमण किस मंज़िल में है।** पार्टी अपने मनोगत प्रयासों से ही सर्वहारा राज्य का शुद्धीकरण नहीं कर सकती है। उसे राज्य के सर्वहारा चरित्र को बनाये रखने के लिए मनोगत तौर पर प्रयास जारी रखने होंगे, लेकिन राज्य का सर्वहारा चरित्र किस हद तक विकसित होता है, यह मनोगत और वस्तुगत कारकों के द्वन्द्व से निर्धारित होता है।

यहाँ बेतेलहाइम दो महत्वपूर्ण कारकों की अनदेखी भी कर रहे हैं। पहली बात तो यह कि गृहयुद्ध के बाद भी पार्टी ने राज्य के सर्वहारा चरित्र को कायम रखने के प्रति अपनी

चौकसी को बरक़रार रखा था, जैसा कि हम गृहयुद्ध के बाद पार्टी में चलाये गये शुद्धीकरण अभियानों में देखा जा सकता था। ऐसा नहीं था कि गृहयुद्ध के बाद ही राज्य के सर्वहारा चरित्र को कायम रखने के प्रति पार्टी अपना सरोकार खो बैठी थी और इसकी उसे बाद में "भारी क़ीमत चुकानी पड़ी।" दूसरी बात यह कि लेनिन ने जब राज्य मशीनरी में लगे कम्युनिस्ट मज़दूरों को हर चार माह के बाद कारखानों में काम करने के लिए भेजने की बात की थी, तो उसके पीछे मुख्य कारण यह नहीं था कि चार माह में उनके भीतर राज्य मशीनरी में लगे बुर्जुआ तत्वों द्वारा जितना प्रदूषण डाल दिया गया हो, उसे प्रक्षालित किया जा सके! **लेनिन ने यह दलील मुख्य तौर पर इसलिए दी थी कि ये कम्युनिस्ट मज़दूर कारखाने में गैर-पार्टी मज़दूरों के बीच राजनीतिक कार्य कर सकें, उन्हें कम्युनिस्ट बना सकें, पार्टी सदस्य बना सकें, और उन्हें राजकीय और प्रशासनिक कार्यों के लिए भी तैयार कर सकें।** यहाँ पर कम्युनिस्ट मज़दूरों को बीच-बीच में कारखाने भेजने के पीछे मुख्य कारण यह था कि पार्टी को कारखानों में काम करने वाली व्यापक ग़ैर-पार्टी मज़दूर आबादी के बीच राजनीतिक प्रचारकर्ताओं की सख़्त ज़रूरत थी और यदि पार्टी सदस्य मज़दूरों की भारी संख्या राजकीय मशीनरी में ख़र्च होती रहती तो यह ज़रूरत पूरी कर पाना सम्भव नहीं था। यह सच है कि पार्टी वास्तव में इस ज़रूरत को सही ढंग से पूरा नहीं कर पायी जिसके मुख्य रूप से वस्तुगत कारण थे। हालाँकि पार्टी सदस्य मज़दूरों का अच्छा-ख़ासा हिस्सा लाल सेना, प्रशासनिक ढाँचे आदि में लगा हुआ था, लेकिन फिर भी सर्वहारा राज्यसत्ता के पास मज़दूर कार्यकर्ताओं की भारी कमी थी। यह स्वाभाविक था कि पार्टी सदस्य मज़दूरों का मात्र दस प्रतिशत हिस्सा ही कारखानों में काम कर रहा था, जिस पर कि बेतेलहाइम को काफ़ी एतराज़ है। लेकिन उन्हें इस बात पर भी एतराज़ है कि राज्य मशीनरी में पर्याप्त मज़दूर नहीं थे! स्पष्ट है कि यह पूरी स्थिति आदर्श नहीं थी, लेकिन रूसी क्रान्ति का वस्तुगत ऐतिहासिक सन्दर्भ जिस किस्म का था, उसमें हम और किसी चीज़ की उम्मीद नहीं कर सकते हैं। साथ ही, बेहद कठिन ऐतिहासिक परिस्थितियों में बोल्शेविक पार्टी ने जिस तरीके से क्रान्ति और सर्वहारा राज्य की रक्षा की, वह सबसे शत्रुतापूर्ण रुख़ रखने वाले प्रेक्षक को भी चकित कर देता है। लेकिन बेतेलहाइम अपने छद्म माओवाद के पैमाने पर रूसी क्रान्ति को ज़बरन कसने की कोशिश करते हैं, और अन्त में विचित्र अन्तरविरोधों में फँस जाते हैं।

जहाँ बेतेलहाइम सोवियत रूस में समाजवादी श्रम अनुशासन और कम्युनिस्ट कार्य के पैदा होने की बात करते हैं, वहाँ वे इसे पूरी तरह से विचारधारात्मक क्रान्ति का मुद्दा बना देते हैं। उनके अनुसार सचेतन तौर पर उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के ज़रिये ही कम्युनिस्ट कार्य और समाजवादी श्रम अनुशासन पैदा हो सकता है। इस तर्क के अनुसार उत्पादक शक्तियों के विकास की किसी भी मंज़िल में एक सही पार्टी के द्वारा सही तरीके से विचारधारात्मक कार्य किये जाने और उत्पादन सम्बन्धों के सचेतन तौर पर क्रान्तिकारी रूपान्तरण किये जाने पर कम्युनिस्ट कार्य और समाजवादी श्रम अनुशासन पैदा हो सकता है। यह तर्क हास्यास्पद है और माओ की समझदारी से इसका दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि 'क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखो और उत्पादन को बढ़ाओ' के नारे में माओ की समझदारी सही तरीके से प्रकट होती है। इस नारे को पूरा पढ़ने से पहले ही बेतेलहाइम का धैर्य जवाब दे जाता है। **वह यह समझने में पूरी तरह नाकाम रहते हैं कि कम्युनिस्ट कार्य और समाजवादी श्रम अनुशासन का विकसित होना जहाँ उत्पादन सम्बन्धों के सचेतन क्रान्तिकारी रूपान्तरण पर निर्भर करता है, तो वहीं वह उत्पादक**

शक्तियों के विकास पर भी निर्भर करता है। समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि में कभी कोई पहलू प्रधान हो सकता है, तो कभी कोई। लेकिन बेतेलहाइम को उत्पादक शक्तियों के विकास के पहलू का ज़िक्र भी स्वीकार नहीं है। लेनिन को चुनिन्दा तरीके से उद्धृत करके बेतेलहाइम लेनिन को अपने किस्म का "माओवादी" बनाने का पूरा प्रयास करते हैं, लेकिन जिन्होंने भी समाजवादी संक्रमण के बारे में लेनिन के लेखन को पढ़ा है, वे जानते हैं कि लेनिन ने उत्पादक शक्तियों के विकास पर पर्याप्त ज़ोर दिया था और साथ ही उत्पादन सम्बन्धों के सचेतन रूपान्तरण की ज़रूरत को भी बार-बारे रेखांकित किया था। हम देख सकते हैं कि किस तरह से माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में बेतेलहाइम लेनिनवादी भी नहीं रह जाते हैं। यही नहीं, बेतेलहाइम स्तालिन को एक भोण्डा अर्थवादी बनाने का प्रयास भी करते हैं। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन ने क्रान्ति के बाद यह समझ लिया था कि प्रमुख कार्य है उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण। लेकिन बेतेलहाइम यह नहीं बताते कि लेनिन उत्पादक शक्तियों के द्रुत विकास और उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को जुड़वाँ कार्यभार मानते थे; मिसाल के तौर पर, हम लेनिन के विद्युतीकरण और भारी उद्योगों के विकास के बारे में विचारों को याद कर सकते हैं। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन के लेखन से अपने काम की चीज़ छाँट लेते हैं! आगे बेतेलहाइम कहते हैं कि लेनिन का यह मानना नहीं था कि जब तक उत्पादक शक्तियों का विकास दबाव न पैदा करे, तब तक उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन नहीं हो सकता है। यह बात इस रूप में कही गयी है, मानो वह स्तालिन की समझदारी हो, हालाँकि ऐसी भोंड़ी सोच किसी भी संजीदा मार्क्सवादी-लेनिनवादी की नहीं रही है। यह सच है कि स्तालिन की समझदारी में उत्पादक शक्तियों को ग़ैर-द्वन्द्वात्मक ज़ोर स्पष्ट तौर पर मौजूद है। लेकिन स्तालिन की समझदारी को इस रूप में पेश करना कि उन्होंने उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण पर कोई ज़ोर नहीं दिया या उसे पूरी तरह उत्पादक शक्तियों के विकास पर निर्भर मान लिया, स्तालिन के साथ अन्याय होगा। **उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के गतिमान द्वन्द्व के बारे में स्तालिन की समझदारी यान्त्रिक थी, लेकिन बेतेलहाइम उनकी समझदारी को जिस रूप में पेश करते हैं, वह बिल्कुल अनुचित है और स्वयं उनकी समझदारी यान्त्रिकता के दूसरे छोर का शिकार है।**

बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान अति-केन्द्रीकरण के प्रयासों के कारण जनसमुदायों द्वारा पैदा हुई पहलकदमी समाप्त होती गयी, हालाँकि इसके लिए वस्तुगत परिस्थितियाँ ज़िम्मेदार थीं। यहाँ भी बेतेलहाइम तथ्यों को गड्डमड्ड कर रहे हैं। **पहली बात** तो यह है कि जनसमुदायों द्वारा कम्युनिस्ट पहलकदमी का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यानी कि सुब्बोतनिक जुलाई 1919 में पैदा हुआ था, जब गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियाँ अभी जारी थीं। **दूसरी बात** यह कि 1917 से 1921 के बीच आम तौर पर सर्वहारा जनसमुदायों ने कम्युनिस्ट पहलकदमी के बहुत-से उदाहरण नहीं पेश किये थे। लेनिन ने स्वयं 1921 के पहले और बाद के दौर में रूसी सर्वहारा वर्ग में टटपुँजिया विचारों के प्रभाव के कारण कम्युनिस्ट पहलकदमी के अभाव पर बार-बार खेद प्रकट किया था। इसलिए "युद्ध कम्युनिज़्म" के अति-केन्द्रीकरण के पास ख़त्म करने के लिए कम्युनिस्ट पहलकदमियों के बहुत से उदाहरण थे ही नहीं। बेतेलहाइम एक उदाहरण की बात करते हैं। वह कहते हैं कि जब कम्युनिस्ट शनिवार (सुब्बोतनिक) को एक नियम में तब्दील कर दिया गया और मज़दूरों के लिए इसे बाध्यताकारी बना दिया गया तो उसमें कुछ भी कम्युनिस्ट नहीं रह गया, क्योंकि

अब यह पूरी तरह स्वैच्छिक नहीं रह गया और इसलिए यह कम्युनिस्ट भी नहीं रह गया। यह अब सामूहिक स्वानुशासन नहीं था, बल्कि थोपा हुआ अनुशासन था। बेतेलहाइम यह भी कहते हैं पार्टी और लेनिन ने भी इस कदम का समर्थन किया। **यहाँ बेतेलहाइम एक बार फिर से भाववाद के गड्ढे में जा गिरते हैं।** यह सच है कि 1919 में पहला कम्युनिस्ट सुब्बोतनिक मज़दूरों की अपनी स्वायत्त पहलकदमी पर पैदा हुआ। लेकिन इसके बाद यह उम्मीद करना कि यह स्वत:स्फूर्त रूप से पूरे देश में फैल जायेगा और अलग-अलग जगह इसकी तर्ज़ पर सुब्बोतनिक आयोजित किये जायेंगे, एकदम भाववादी समझदारी है। मज़दूर वर्ग की इस शानदार पहलकदमी को प्रसारित करने, उसे आयोजित करने और उसे मज़दूर वर्ग के बीच संस्थाबद्ध करने के कार्य में पार्टी की सचेतन भूमिका का एक कारक भी होगा। यह दीगर बात है कि इसके बाद वस्तुगत परिस्थितियाँ ऐसे किसी रूप के फलने-फूलने के लिए पर्याप्त ईंधन मुहैया कराती हैं या नहीं। लेकिन यदि वस्तुगत परिस्थितियाँ पर्याप्त ईंधन मुहैया कराती भी हों, तो इसे पूरे देश के पैमाने पर फैलाने में पार्टी के सचेतन और संस्थाबद्ध नेतृत्व की भी एक भूमिका निश्चित तौर पर होगी। **लेकिन बेतेलहाइम इस विषय पर ऐसी समझदारी रखते हैं कि पार्टी के इसमें किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप या भूमिका कम्युनिस्ट पहलकदमी का यह शुद्ध रूप प्रदूषित हो जायेगा।**

इसके बाद बेतेलहाइम गाँवों में सामाजिक उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण पर आते हैं। यहाँ बेतेलहाइम सबसे पहले अपने जनवादी और समाजवादी क्रान्ति के अन्तर्गुन्थन के सिद्धान्त पर आते हैं, जिसके अनुसार बोल्शेविक क्रान्ति शहरों में समाजवादी और गाँवों में जनवादी क्रान्ति थी। हम इस भ्रामक सिद्धान्त का जवाब ऊपर दे चुके हैं और दिखला चुके हैं कि बेतेलहाइम के इस सिद्धान्त पर त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त का गहरा असर है। उस आलोचना को दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

क्रान्ति से पहले रूसी गाँवों में प्रभावी सामाजिक उत्पादन सम्बन्धों की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कई सही प्रेक्षण प्रस्तुत करते हैं। वह दिखलाते हैं कि रूसी कृषि में पूँजीवादी सम्बन्धों का विकास हो गया था लेकिन रूसी ग्राम समुदाय *मीर* की मौजूदगी ने किसानों की वर्ग चेतना को कुन्द करने का काम किया और उसे अल्प-विकसित बनाये रखा। इसके कारण किसान अपने सही वर्ग शत्रुओं की पहचान नहीं कर पा रहे थे और ज़ारशाही राज्य के चरित्र को भी नहीं समझ पा रहे थे। इस प्रकार ग्राम समुदाय किसानों की वर्ग चेतना को भोथरा बनाये रखने का एक विचारधारात्मक-राजनीतिक उपकरण बना हुआ था जिसके कारण ग्राम पितृभूमि-भक्ति और टटपुँजिया ग्राम्य अहंवाद पैदा हो रहा था। वास्तव में *मीर* ग्रामीण बुर्जुआज़ी के प्रभुत्व को बनाये रखने का एक कारगर औज़ार साबित हो रहा था। यहाँ तक बात एकदम सटीक है। लेकिन इसके बाद बेतेलहाइम *मीर* को कोसते हुए किसान वर्ग के लिए एक क्षमापत्र पेश करते हैं। उनके मुताबिक किसानों की शहर के मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी की समस्याओं, भुखमरी और अनाज की कमी के प्रति तटस्थता इसी वजह से थी कि एक ओर *मीर* जैसी संस्थाओं ने किसानों की वर्ग चेतना को भोथरा बना रखा था, तो वहीं किसानों के बीच बोल्शेविकों की पकड़ और प्रचार-कार्य बेहद कमज़ोर था। **ये दोनों कारक किसानों की तटस्थता को केवल आंशिक रूप से ही व्याख्यायित करते हैं। अगर हम किसान वर्ग के स्वाभाविक टटपुँजिया चरित्र की पहचान नहीं करते, तो यह विश्लेषण अधूरा रहेगा।** अगर *मीर* जैसी कोई संस्था नहीं होती और बोल्शेविक पार्टी का किसान आबादी के बीच आधार होता तो क्या किसान आबादी इस प्रकार की कोई तटस्थता या

संकीर्ण हितों के प्रति सरोकार या स्वार्थ नहीं प्रदर्शित करती? हमें इस बात पर सन्देह है। यहाँ एक बार फिर बेतेलहाइम किसानों के समूचे वर्ग के चरित्र की मार्क्सवादी व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं और माओ से भी काफ़ी दूर नवनरोदवाद के छोर पर खड़े हैं। यह बात आगे और स्पष्ट हो जाती है। प्रतीतिगत तौर पर बेतेलहाइम **टियोडोर शैनिन** जैसे बुद्धिजीवियों की इस थीसिस का खण्डन करते हैं कि रूसी ग्राम समुदाय *मीर* के आधार पर समाजवादी सामूहिक खेती की शुरुआत की जा सकती थी। हम देख सकते हैं कि शैनिन जैसे लोग नरोदवादी थीसिस को ही नये रूप में पेश कर रहे हैं। **ऊपरी तौर पर इस थीसिस का विरोध करते हुए बेतेलहाइम अन्त में धीरे से यह दलील घुसा देते हैं कि अगर पार्टी की गाँवों गहरी जड़ें होतीं तो सामूहिक खेती की शुरुआत करने में *मीर* उपयोगी हो सकता था! यह पूरी दलील अन्त में नरोदवाद के पक्ष में जाकर खड़ी होती है।** साथ ही, लेनिन द्वारा मीर को समाजवादी खेती का आधार बनाने के विरोध में पेश किये गये तर्कों को समझने में यह दलील पूरी तरह नाकाम रहती है। सवाल पार्टी का गाँवों में आधार होने या न होने का था ही नहीं; **वास्तव में, मीर ढाँचागत तौर पर समाजवादी सामूहिक खेती का आधार बन पाने में अक्षम संस्था थी।** समाजवादी सामूहिक खेती/मालिकाने और प्राक्-पूँजीवादी सामुदायिक मालिकाने के बीच किसी किस्म का पुल नहीं बनाया जा सकता है। लेकिन बेतेलहाइम यहाँ अपने नरोदवादी-किसानवादी तर्क को उघाड़कर रख देते हैं, क्योंकि उनके तर्कों का अर्थ कुल मिलाकर यह निकलता है कि किसान समस्या के सही ढंग से समाधान न होने पीछे मनोगत कारक, यानी कि पार्टी ज़िम्मेदार थी। किसान वर्ग के स्वाभाविक चरित्र और प्रकृति को पूरी तरह कठघरे के बाहर कर दिया गया है।

बेतेलहाइम रूस में क्रान्ति के बाद जनवादी कृषि-सम्बन्धी कार्यभारों के पूरा होने का जो ब्यौरा पेश करते हैं वह कतई सटीक नहीं हैं और उसमें तथ्यों की भी काफ़ी ग़लतियाँ हैं। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि भूमि पुनर्वितरण की आज्ञप्ति को लागू करने का कार्यभार *मीर* को सौंपा गया था, जो कि सटीक तथ्य नहीं है। दरअसल, यह ज़िम्मेदारी मुख्यतः और मूलतः भूमि समितियों (land committees) को सौंपी गयी थी जिन्हें समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने उस समय बनाया था, जब वे फरवरी क्रान्ति के उपरान्त बनी आरज़ी सरकार में भागीदार बने थे। बेतेलहाइम द्वारा पेश यह तथ्य भी ग़लत है कि भूमि पुनर्वितरण अक्टूबर क्रान्ति के बाद ग्राम समुदायों में उसी तर्ज़ पर किया जा रहा था, जिस तर्ज़ पर वह फरवरी क्रान्ति के बाद किया जा रहा था, यानी कि परिवार के पैमाने पर। **ई.एच. कार** क्रान्ति के बाद बोल्शेविकों के बीच जारी एक बहस का ब्यौरा देते हैं। बोल्शेविकों के बीच इस बात को लेकर विवाद था कि भूमि पुनर्वितरण में उपभोग सिद्धान्त (consumption principle) लागू किया जाय (यानी कि परिवार के उपभोग के आकार के आधार पर भूमि वितरण किया जाय) या फिर कार्य सिद्धान्त (work principle) को लागू किया जाय (यानी कि काम करने वाले हाथों के आधार पर भूमि वितरण किया जाय)। वास्तव में, पूरे रूस में एक ही मॉडल पर भूमि वितरण हुआ ही नहीं था, जैसा कि बेतेलहाइम के ब्यौरे से ध्वनित होता है। लेकिन एक बात तय है कि फरवरी क्रान्ति और अक्टूबर क्रान्ति के बीच जिस तर्ज़ पर भूमि सुधार हुआ था, अक्टूबर क्रान्ति के बाद भूमि समितियों द्वारा लागू किये गये भूमि सुधार की उससे कोई तुलना नहीं की जा सकती है। लेकिन बेतेलहाइम यहाँ तक दावा करते हैं कि मीर में ग्रामीण बुर्जुआज़ी के प्रभुत्व में भूमि सुधारों के लागू होने के बाद कोई विशेष अन्तर नहीं आया और ग्रामीण वर्ग संरचना कमोबेश वैसी ही बनी रही जैसी

कि क्रान्ति के पहले थी। लेकिन साथ ही बेतेलहाइम यह भी कहते हैं कि किसान आबादी में मँझोले किसानों का हिस्सा पहले से बढ़ गया। **ये दोनों बातें अन्तरविरोधी हैं।** यदि **मॉरिस डॉब** और **ई.एच. कार** के ब्यौरे से इसकी तुलना करें तो हम पाते हैं कि बोल्शेविकों द्वारा लागू किये गये भूमि सुधारों के कारण गाँवों की वर्ग संरचना में बुनियादी बदलाव आये। **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** ने तो यहाँ तक कहा था कि बुर्जुआ भूमि सुधार लागू करके बोल्शेविकों ने मध्यम किसानों के रूप में अपना सबसे बड़ा भावी शत्रु पैदा कर लिया था।

आगे बेतेलहाइम गाँवों में समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने के बोल्शेविक प्रयासों का ब्यौरा देते हुए कहते हैं कि बोल्शेविक गाँवों में वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए मूलत: ग़रीब किसानों पर अपने प्रयासों को केन्द्रित कर रहे थे और 1918 की गर्मियों से ये प्रयास शुरू भी हो गये थे। इसी समय से पार्टी ने गाँवों में ग़रीब किसानों के स्वतन्त्र आन्दोलन को विकसित करने के प्रयास शुरू किये थे। यह बात सही भी है। लेकिन यहाँ भी बेतेलहाइम का पूरा ब्यौरा बेहद असन्तुलित है। बेतेलहाइम यह बुनियादी तथ्य दर्ज़ करने से चूक जाते हैं कि 1918 की गर्मियों के पहले से ही बोल्शेविकों ने अपने सारे प्रयासों का केन्द्र बिन्दु ग़रीब किसानों को बनाया था। 'अप्रैल थीसिस' में ही लेनिन ने गाँवों में वर्ग संघर्ष में ग़रीब किसानों को समाजवादी क्रान्ति का सबसे भरोसेमन्द मित्र बताया था और बुर्जुआ भूमि सुधारों को लागू करते समय भी बोल्शेविकों ने ग़रीब किसानों को केन्द्र में रख कर ही सारे कदम उठाये। यही कारण था कि गृहयुद्ध के दौरान ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों के बीच भूस्वामियों के प्रतिक्रियावादी विद्रोह को कुचलने के लिए पार्टी का समर्थन आधार बरक़रार था। गृहयुद्ध शुरू होने के बाद भोजन की उपलब्धता को बनाये रखना सबसे बड़ी चुनौती था, न केवल शहर की आबादी और सैनिकों का पेट भरने के लिए बल्कि इसलिए भी कि भूस्वामियों के राज की पुनर्स्थापना को रोका जा सके। इस दौर में शहरी सर्वहारा के पास गाँव के अनाज से विनिमय करने के लिए पर्याप्त उत्पादन नहीं था क्योंकि युद्ध और आर्थिक बिखराव के कारण उत्पादन नीचे चला गया था। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि 1918 में कृषि उत्पादन में भारी गिरावट आयी; यह बात तथ्यत: ग़लत है। **1918 में जिस चीज़ में गिरावट आयी थी, वह अनाज की प्राप्ति था न कि उत्पादन।** किसान अनाज पैदा कर रहे थे लेकिन विनिमय में कुछ न मिलने की सूरत में वे अनाज देने को तैयार नहीं थे। यही कारण था कि पार्टी ने इस मौके पर किसानों के बीच राजनीतिक तौर पर वर्ग विभेदीकरण को अंजाम देने की योजना हाथ में ली। इससे पहले बोल्शेविकों ने सचेतन तौर पर ऐसे कोई कदम नहीं उठाये थे क्योंकि अभी जनवादी कार्यभारों को पूरा करने का पहलू गाँवों में प्रधान बना हुआ था। लेकिन अब लेनिन ने साफ़ किया कि किसान आबादी में राजनीतिक विभेदीकरण को अंजाम देने का वक़्त आ गया है। धनी और मँझोले किसान वर्ग की टटपुँजिया स्वार्थपूर्ण वर्ग प्रवृत्तियाँ सामने थीं। जून-जुलाई 1918 में पहली बार **ग़रीब किसान समितियों** का निर्माण किया गया ताकि धनी और उच्च मध्यम किसानों से अतिरिक्त अनाज ज़ब्त किया जा सके। धनी और उच्च मध्यम किसानों ने कई जगहों पर सशस्त्र रूप से इन समितियों का प्रतिरोध किया और कई जगहों पर सशस्त्र टकराव के बाद ही अनाज प्राप्त किया जा सका। बेतेलहाइम पार्टी के इस कदम का विरोध करते हुए इसे किसान आबादी में विभेदीकरण करने के प्रति अति-आशावाद क़रार देते हैं। उनका मानना है कि लेनिन ने भी स्वयं किसानों द्वारा समाजवादी सम्बन्धों की स्थापना की बात की थी, न कि ज़ोर-ज़बरदस्ती से। **यहाँ बेतेलहाइम लेनिन की समझदारी का किसानवादी विनियोजन कर रहे हैं।** लेनिन ने यह बात ग़रीब किसानों और ग्रामीण सर्वहारा और निम्न

मध्यम किसानों के बारे में कही थी, न कि धनी व उच्च मध्यम किसानों के बारे में! धनी और उच्च मध्यम किसान स्वेच्छा से समाजवादी सम्बन्धों की स्थापना क्यों करेंगे? बेतेलहाइम के अनुसार पार्टी द्वारा विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार के ज़रिये! यह हेगेलीय भाववाद और मनोगतवाद नहीं तो और क्या है?

आगे बेतेलहाइम कहते हैं कि ग़रीब किसान समितियाँ 1918 में किसान आबादी में राजनीतिक विभेदीकरण के कार्य को अंजाम देने की स्थिति में नहीं थीं। यह बात भी ग़रीब किसान समितियों के कालान्तर में आंशिक तौर पर असफल होने के कारणों की सही व्याख्या नहीं करती। यह सच है कि ग़रीब किसान समितियों को जो कार्यभार सौंपा गया था, उसे वे सही ढंग से अंजाम नहीं दे पायीं। लेकिन इसका कारण यह था कि पार्टी ग़रीब किसान समितियों के कार्यों को सही तरीके से संचालित और दिशा-निर्देशित नहीं कर पायी। नतीजतन, जिन प्रहारों का निशाना कुलकों और धनी किसानों को बनाया जाना था, उनका निशाना अक्सर मँझोले किसान बन गये। लेनिन की यह समझदारी थी कि ग़रीब किसान समितियों को मँझोले किसानों को जीतना होगा या फिर उन्हें तटस्थ बनाना होगा ताकि धनी किसानों और कुलकों को अलगावग्रस्त किया जा सके। लेकिन कई मौकों पर इन समितियों के दिशाहीन प्रहारों की ज़द में मँझोले किसान भी आ गये और इसने मँझोले किसानों को, जो कि अब किसान आबादी के प्रमुख घटक थे, बोल्शेविकों से दूर किया और धनी किसानों से संश्रय बनाने को प्रेरित किया। लेकिन बेतेलहाइम इन सारी बारीकियों को नज़रन्दाज़ करना पसन्द किया है ताकि वे इस गैर-लेनिनवादी और गैर-माओवादी विचार को स्थापित कर सकें कि पूरी की पूरी किसान आबादी समाजवादी रूपान्तरण पर सहमत हो सकती है, या स्वेच्छा से समाजवाद की ओर जा सकती है और इसीलिए वह ग़रीब किसान समितियों के बनाये जाने को ही एक ग़लत कदम मानते हैं। लेनिन जानते थे कि समाजवादी निर्माण का सबसे मज़बूत आधार गाँवों में ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी है। धनी किसानों को अलगावग्रस्त करने के लिए मध्यम किसान आबादी को कम-से-कम तटस्थ बनाना होगा। यह मध्यम किसानों की आबादी आगे राजनीतिक तौर पर विभाजित होगी। अपनी मेहनत के आधार पर खेती करने वाले और उजरती श्रम का शोषण न करने वाले अधिकांश मध्यम किसानों को समाजवाद पर राज़ी किया जा सकता है और वे समाजवाद की ओर आ सकते हैं। लेकिन वह उच्च मध्यम किसान आबादी जो कि उजरती श्रम का शोषण करती है, उसका एक छोटा हिस्सा ही समाजवाद पर सहमत होगा। माओ ने भी 'सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना' में स्पष्ट किया था कि मध्यम किसान वर्ग कोई एकाश्मी वर्ग नहीं है और जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी उच्च मध्यम किसान उतने मज़बूत मित्र नहीं साबित होंगे जितने कि निम्न मध्यम किसान। बेतेलहाइम ग़रीब किसान समितियों को पूर्ण असफलता क़रार देते हैं। यह भी लेनिन की समझदारी के बिल्कुल विपरीत है, जो कि कई ठोस कार्यभारों में असफलता के बावजूद ग़रीब किसान समितियों के निर्माण को एक महत्वपूर्ण राजनीतिक कदम मानते थे।

बेतेलहाइम की दलील है कि इस तथाकथित असफलता के कारण ही ग़रीब किसान समितियों को बाद में किसान सोवियतों के साथ मिला दिया गया, जिसमें कि मध्यम किसान बहुसंख्या में थे। यह सारी बातें तथ्यों को बुरी तरह तोड़-मरोड़ देती हैं। ग़रीब किसानों की राजनीतिक भागीदारी और पहलकदमी को जागृत करने में ग़रीब किसान समितियाँ निश्चित तौर पर सफल रही थीं। बेतेलहाइम कहते हैं कि भूमि सुधारों के बाद मध्यम किसानों की आबादी बढ़ने के कारण पार्टी का ध्यान ग़रीब किसानों से स्थानान्तरित होकर मँझोले किसानों पर चला

गया। यह भी तथ्यत: ग़लत है। मध्यम किसानों को पार्टी ने कई रियायतें दीं क्योंकि गृहयुद्ध के दौरान उनका बड़ा हिस्सा सोवियत सत्ता से अलगावग्रस्त हो गया था और यह सोवियत सत्ता के अस्तित्व के लिए ख़तरा बन सकता था। **इसका यह अर्थ कतई नहीं था कि पार्टी गाँवों में मध्यम किसानों को क्रान्ति का प्रमुख वर्ग मित्र मानने लगी थी।** पार्टी अभी भी ग़रीब किसानों को ही समाजवादी क्रान्ति का प्रमुख वर्ग मित्र मानती थी और उस पर निर्भर करती थी। रूसी क्रान्ति ने 1918 से 1921 तक अपने आपको जिस ऐतिहासिक स्थिति में पाया, उसमें मँझोले किसानों को रियायत देने की नीति पर जाना सोवियत सर्वहारा सत्ता के लिए बाध्यता का विषय था, न कि चयन का। बेतेलहाइम की यही ग़लत समझदारी अन्त में उन्हें इस नतीजे पर ले जाती है कि 1921 में लेनिन के नेतृत्व में पार्टी द्वारा लागू की गयी 'नयी आर्थिक नीति' समाजवादी निर्माण की आदर्श नीति है! और इसके बावजूद वह लेनिनवादी और माओवादी होने का दावा करते हैं! **यह पूरा तर्क वास्तव में बेतेलहाइम को संशोधनवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की ओर ले जाता है। लेनिन ने 'नयी आर्थिक नीति' को सोवियत सत्ता की मजबूरी बताते हुए रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने की संज्ञा दी थी और वह अन्त तक इसी समझदारी पर बरक़रार रहे थे।** लेकिन बेतेलहाइम को लेनिन की इस संज्ञा पर आपत्ति है।

मँझोले किसानों पर रुख़ को लेकर आठवीं पार्टी कांग्रेस (1919) में लेनिन ने अपना पूरा दृष्टिकोण रखा और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई उन भयंकर भूलों की ओर पार्टी कार्यकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया, जिनकी हमने ऊपर संक्षेप में चर्चा की है। लेनिन ने बताया कि क्लासिकीय समाजवादी नीति मँझोले किसानों को तटस्थ बनाने और धनी किसानों को अलगावग्रस्त करने की होती है, लेकिन रूसी क्रान्ति का अनुभव बताता है कि विशिष्ट परिस्थितियों में हमें मँझोले किसानों के साथ मज़बूत संश्रय बनाना होगा, क्योंकि यह वर्तमान रूसी समाज में सबसे बड़ा वर्ग है और सोवियत सत्ता का भविष्य काफ़ी हद तक इस वर्ग के साथ हमारे रिश्ते पर निर्भर है। मँझोले किसानों से सुदृढ़ संश्रय बनाने के लिए कांग्रेस में एक प्रस्ताव भी पारित किया गया। **बेतेलहाइम लेनिन के इस दृष्टिकोण को आम तौर पर मँझोले किसान के प्रति रुख़ के मामले में मार्क्सवादी सिद्धान्त में एक इज़ाफ़े के तौर पेश करते हैं, जबकि लेनिन मँझोले किसानों से मज़बूत संश्रय बनाने की बात रूसी क्रान्ति के विशिष्ट अनुभवों के सन्दर्भ में कर रहे थे।** लेनिन इस संश्रय को कायम करने पर अतिशय ज़ोर इसलिए दे रहे थे क्योंकि त्रात्स्की के अतिवामपन्थी-दक्षिणपन्थी भटकाव का पार्टी के अच्छे-ख़ासे हिस्से पर प्रभाव था और इस भटकाव के कारण ही "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में कुछ अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ हुई थीं। लेनिन ने ज़ोर देकर कहा कि फसल वसूली के कार्यक्रम में ज़ोर-ज़बरदस्ती केवल धनी किसानों और कुलकों के वर्ग के लिए आरक्षित है। इसकी ज़द में मँझोले किसान कतई नहीं आने चाहिए। लेनिन के इस ज़ोर की व्याख्या बेतेलहाइम अपने किसानवादी दृष्टिकोण से करते हैं और मँझोले किसानों के समूचे वर्ग को समाजवाद का स्वाभाविक मित्र बना डालते हैं! जबकि लेनिन के इस ज़ोर का विशिष्ट सन्दर्भ था "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर की अतिरेकपूर्ण ग़लतियों के कारण मँझोले किसानों का पार्टी से अलगाव जो कि सोवियत सत्ता के लिए प्राणान्तक हो सकता था, जैसा कि एक वर्ष के भीतर स्पष्ट भी हो गया। लेनिन की पूरी समझदारी का चरित्र यहाँ पर रणनीतिक नहीं बल्कि रणकौशलात्मक था। **मँझोले किसानों के बारे में लेनिन के पूरे लेखन को किनारे करके गृहयुद्ध के दौरान और उसके ठीक बाद की आपातस्थितियों में और विशेष तौर पर**

आठवीं कांग्रेस में इस बाबत उनके भाषण को सन्दर्भों से काटकर बेतेलहाइम ग़लत तरीके से व्याख्यायित करते हैं, ताकि लेनिन की अवस्थिति का किसानवादी विनियोजन किया जा सके।

आगे बढ़ने से पहले 1919 से मृत्यु तक लेनिन के किसान प्रश्न के बारे में चिन्तन पर थोड़ा विचार कर लेना उपयोगी होगा। **'सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थशास्त्र और राजनीति', 'आर.सी.पी. (बी) के आठवें अखिल रूसी सम्मेलन में रिपोर्ट', 'कृषि कम्यूनों और कृषि आर्तेलों की प्रथम कांग्रेस पर भाषण', 'नवीं पार्टी कांग्रेस में पेश रिपोर्ट', 'आठवीं अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में रिपोर्ट', 'टैक्स इन काइण्ड'** और **'अक्तूबर क्रान्ति की चौथी वर्षगाँठ'** जैसी रचनाओं में लेनिन ने किसान प्रश्न पर लिखा है। इनमें लेनिन मँझोले किसानों से मज़बूत गठजोड़ बनाने की बात करते हैं। लेकिन यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लेनिन की यह अवस्थिति उन परिस्थितियों के कारण थी जिनमें रूसी क्रान्ति ने अपने आपको पाया था। **पहली बात** तो यह है कि लेनिन मँझोले किसानों के दोहरे चरित्र के बारे में शुरू से स्पष्ट थे। यानी कि एक ओर अपने ख़ून-पसीने पर जीने वाला मेहनतकश और दूसरी ओर उजरती श्रम का शोषण करने वाला टटपुँजिया उत्पादक। लेनिन मँझोले किसानों के वर्ग के इन दो हिस्सों के बीच स्पष्ट फर्क करते हैं। लेनिन ने 1919 के बाद बार-बार स्पष्ट किया कि मँझोला किसान अब कुल रूसी किसान आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा है और उसके साथ एक मज़बूत गठजोड़ सोवियत सत्ता के अस्तित्व को बनाये रखने की एक पूर्वशर्त है। शुरुआत में इस प्रश्न के हल के लिए लेनिन की उम्मीदें यूरोप के कुछ उन्नत देशों और विशेष तौर पर जर्मनी में क्रान्ति पर टिकी थीं, जिसके बाद सोवियत मज़दूर सत्ता अपने आपको टिकाने की स्थिति में आ सकती थी। लेकिन 1920 का अन्त होते-होते ये उम्मीदें बिखर चुकी थीं। इसके बाद भी लेनिन का यह भरोसा था कि रूस में समाजवाद का निर्माण हो सकता है, हालाँकि यह प्रक्रिया पहले की अपेक्षा ज़्यादा जटिल और लम्बी होगी। इस दौर में सोवियत सत्ता को मँझोले किसानों से सुदृढ़ संश्रय बनाने के लिए उन्हें रियायतें देनी होंगी, मुक्त व्यापार को छूट देनी होगी, और इस प्रकार पूँजीवाद को थोड़ी छूट देनी होगी, लेकिन इसी के साथ सोवियत राज्यसत्ता को राजकीय मालिकाने के तहत तीव्र उद्योगीकरण करना होगा और लघु किसान अर्थव्यवस्था और राजकीय उद्योग के बीच विनिमय को संचालित करना होगा। इसके अतिरिक्त, सोवियत राज्यसत्ता को इस पूँजीवाद को सतत् नियन्त्रण में रखना होगा और उसे चोरी, जमाखोरी आदि की इजाज़त नहीं देनी होगी और साथ ही उसे बही-खातों यानी लेखा के ज़रिये आर्थिक तौर पर विनियमित करना होगा। और साथ ही इस बीच सोवियत सत्ता को ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों को सबसे पहले सहकारी, सामूहिक और फिर राजकीय खेती के लिए राज़ी करना होगा, लेकिन बिना ज़ोर-ज़बरदस्ती के। लेनिन इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि 'नयी आर्थिक नीति' के इन प्रावधानों के लागू होने पर मध्यम किसानों के बीच से ही धनी किसानों का एक वर्ग पैदा होगा और किसान आबादी का विभेदीकरण बढ़ेगा। लेनिन के मृत्यु के कुछ महीनों बाद ही 'नेपमैन' के वर्ग के पैदा होने की चर्चा होने लगी थी, जिनमें कि धनी किसानों और व्यापारियों का वर्ग प्रमुख था। लेनिन इस वर्ग के पैदा होने की समस्या को नियन्त्रित करने के बारे में अपनी मृत्यु के पहले भी सोच ही रहे थे। लेकिन उनके चिन्तन की दिशा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि वह जीवित रहते तो एक बार फिर वह किसान वर्ग को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करने के उस नतीजे पर ही पहुँचते जिस पर वे 1918 के मध्य में पहुँचे थे। और इस विभेदीकरण के साथ ही

सामूहिकीकरण की मुहिम को चलाया जा सकता था। **लेनिन ने एक बार कहा था कि आप एक पूरे वर्ग को मूर्ख नहीं बना सकते।** उसी प्रकार पूरी की पूरी मँझोली किसानी को समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी नहीं किया जा सकता है। समाजवादी कार्यक्रम पर निम्न मँझोले किसानों के वर्ग के बड़े हिस्से को सहमत किया जा सकता है जो कि अपनी मेहनत के बूते जीता है; लेकिन उच्च मध्यम किसानों का छोटा हिस्सा ही समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी हो सकता है।

'नेप' की नीति की तार्किक परिणति यही हो सकती थी कि एक ऐसा दौर आता जब कि सोवियत सत्ता और समाजवाद को बचाने के लिए सामूहिकीकरण की नीति को लागू करना ही पड़ता, जिसमें कि ग़रीब किसानों और निम्न मध्यम किसानों के वर्ग को मुख्य तौर पर साथ में लेना होता। लेनिन ने 'नेप' के पूरे दौर में सोवियत सर्वहारा सत्ता के सतत् सुदृढ़ीकरण पर विशेष बल दिया था ताकि सही रणनीतिक क्षण में नये समाजवादी आक्रमण (socialist offensive) को आयोजित किया जा सके। लेनिन के अन्तिम दौर के लेखन से ये सारी चीज़ें एकदम स्पष्ट तौर पर सामने नहीं आती हैं। **लेकिन अगर लेनिन के इस विषय पर लेखन को समग्रता में और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखा जाय तो उसे सन्दर्भित करने और उनके चिन्तन की दिशा को समझने में मदद मिलती है।** 1919 से 1923 तक लेनिन के लेखन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक सर्वहारा यथार्थवादी क्रान्तिकारी के तौर पर वह रूसी क्रान्ति की जटिल स्थिति को समझ रहे थे और इसी परिप्रेक्ष्य में मध्यम किसानों से संश्रय कायम करने की बात उन्होंने कही है। उनके लिए सबसे प्रमुख बात थी सर्वहारा राजनीतिक सत्ता को कायम रखना और अन्य देशों में सर्वहारा क्रान्तियाँ न होने की सूरत में सधे हुए कदमों से रूस में समाजवाद के निर्माण की ओर आगे बढ़ना। निश्चित तौर पर, लेनिन उन समस्याओं का समाधान पहले ही नहीं पेश कर सकते थे जो कि सोवियत सत्ता को 1927 से 1930 के बीच में झेलनी पड़ीं, जिसका कारण था 'नेप' की नीतियों का ज़रूरत से ज़्यादा खिंच जाना और 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने' की प्रक्रिया को सही समय पर न रोकना। इसी के कारण 'नेपमैन' का वर्ग सुदृढ़ीकृत हुआ, पार्टी में उसके विचारधारात्मक और राजनीतिक प्रतिनिधि पैदा हुए और 1929 आते-आते उन्होंने सोवियत सत्ता के लिए अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया।

1930 में सामूहिकीकरण के अभियान के शुरू होने के बाद, देर से ही सही, इस समस्या का सही दिशा में समाधान स्तालिन ने शुरू किया। लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार यह एक भयंकर भूल थी और 'नेप' की नीतियों को ही जारी रखा जाना चाहिए था, ताकि किसानों के पूरे वर्ग के साथ मज़बूत गठजोड़ बना रहे, जो कि बकौल बेतेलहाइम लेनिन की नीति थी! **यहाँ पर बेतेलहाइम लगभग वही तर्क देते हैं जो कि संशोधनवादियों ने बार-बार दिये हैं। मिसाल के तौर पर, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) की बीसवीं कांग्रेस में माकपा के संशोधनवादियों ने 'नेप' की नीतियों का क्लासिकीय समाजवादी नीतियों के रूप में नैसर्गिकीकरण करने का प्रयास किया था। चीन में भी संशोधनवादियों ने ऐसा ही किया था। किसान प्रश्न पर बेतेलहाइम नरोदवादी-किसानवादी दृष्टिकोण से शुरुआत करते हैं और संशोधनवादी अर्थशास्त्र पर जाकर ठहरते हैं।**

यह बेतेलहाइम का नरोदवादी-किसानवाद ही है जिसे वह "माओवाद" के तौर पर पेश करते हैं। इसी पहुँच के कारण गृहयुद्ध के दौर में ज़बरन फसल वसूली की समस्या की चर्चा

करते हुए बेतेलहाइम दावा करते हैं कि मँझोले किसानों के समर्थन के बिना सोवियत सत्ता श्वेत गार्डों की सेनाओं से नहीं जीत सकती थी। **लेकिन बेतेलहाइम इस ऐतिहासिक तथ्य को नहीं बताते कि अधिकांश मामलों में मँझोले किसान बोल्शेविकों के समर्थन में तब आये थे, जब उन्होंने श्वेत जनरलों के शोषण, दमन और उत्पीड़न को देख लिया था। ई.एच. कार** ने किसानों के द्वारा तमाम जगहों पर पाला बदलने का दिलचस्प ब्यौरा दिया है। उस दौर की घटनाओं का चित्रण करने वाले रूसी उपन्यासों में भी इसकी चर्चा मिलती है। बोल्शेविकों के पक्ष में आना और उनका समर्थन करना बहुसंख्यक मँझोले और विशेष तौर पर खाते-पीते मँझोले किसानों का नैसर्गिक वर्गीय व्यवहार नहीं था। बेतेलहाइम भी मानते हैं कि मँझोले किसानों का दोहरा चरित्र होता है और इसीलिए लेनिन ने 1919 में कहा था कि फसल वसूली की नीति को मँझोले किसानों के इस दोहरे चरित्र को ध्यान में रखते हुए दो तरह से लागू करना होगा। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 1919 में आठवीं कांग्रेस में मध्यम किसान के प्रति रुख़ को लेकर लेनिन की अवस्थिति का पूरा सन्दर्भ क्या था। लेनिन ने बार-बार स्पष्ट किया था कि हम मँझोले किसानों पर समाजवाद को थोपेंगे नहीं लेकिन उसे भी हम उजरती श्रम का शोषण करने की आज़ादी नहीं देंगे। 'नेप' के दौर में पूँजीवादी शक्तियों को नियन्त्रित तरीके से छूट दी गयी। इस दौर में मध्यम किसानों के पूरे वर्ग का विभेदीकरण अवश्यम्भावी था, यानी कि उसके एक हिस्से का बाज़ार में पिछड़ कर ग़रीबी में जाना तो एक छोटे-से हिस्से का एक नये कुलक वर्ग के रूप में उभरना। इसके साथ ही गाँवों में वर्ग संघर्ष तीव्रतर होता जायेगा क्योंकि धनी किसानों का वर्ग उजरती श्रम के शोषण की माँग करेगा। इस नये वर्ग संघर्ष के साथ ही नये समाजवादी आक्रमण की ज़मीन तैयार होगी। इस दौर में भी एक मँझोली किसानी होगी और उसके बड़े हिस्से को पार्टी को जीतना होगा या तटस्थ बनाना होगा। इस नये वर्ग संघर्ष की परिणति अन्ततः कुलकों और धनी किसानों वर्ग के एक वर्ग के तौर पर उन्मूलन और समाजवादी सामूहिकीकरण के रूप में ही हो सकती है। बेतेलहाइम लेनिन के इस पूरे दृष्टिकोण का मनमाने तरीके से विकृतिकरण करते हैं और स्तालिन के दौर में सामूहिकीकरण अभियान के शुरू किये जाने को लेनिनवादी नीति का परित्याग मानते हैं।

बहरहाल, बेतेलहाइम मानते हैं कि 1918 में गृहयुद्ध के शुरू होने के बाद ज़बरन फसल वसूली के अतिरिक्त सोवियत सत्ता के पास कोई रास्ता नहीं बचा था। लेकिन आगे वह यह जोड़ देते हैं कि जिस रूप में ज़ोर-ज़बरदस्ती हुई उसका एक कारण बोल्शेविकों और किसान वर्ग के बीच का सम्बन्ध भी था। यहाँ एक बार फिर धनी और उच्च मध्यम किसानों को कठघरे से बाहर कर दिया गया है और ज़ोर-ज़बरदस्ती की घटनाओं के लिए केवल बोल्शेविक पार्टी को ज़िम्मेदार ठहरा दिया गया है। **इस वर्ग की टटपुँजिया प्रवृत्ति के बारे में बेतेलहाइम ख़ामोश हैं, जिसके कारण वह बिना कुछ दिये कुछ भी लेने को तो तैयार होता है लेकिन बिना कुछ लिये कुछ भी देने को तैयार नहीं होता है।** यह सोवियत सत्ता थी जिसने इस वर्ग को भूमि का स्वामी बनाया था। लेकिन इसके बावजूद श्वेत गार्डों से भुखमरी और अकाल झेलते हुए लड़ रहे लाल सैनिकों और मज़दूरों को बेशी उत्पादन देने के लिए यह वर्ग तैयार नहीं था, हालाँकि सोवियत सत्ता उनके हक़ के लिए भी लड़ रही थी। ज़बरन फसल वसूली के दौरान भी बोल्शेविकों ने किसानों पर से दबाव कम करने के सारे प्रयास किये लेकिन गृहयुद्ध के जारी रहते हुए वे ऐसा करने में बहुत सफल नहीं हो पाये। इसके कारण 1920 का अन्त होते-होते यहाँ-वहाँ कुछ छोटे-बड़े किसान विद्रोह भी हुए। क्रोंस्टाट नौसेना विद्रोह भी वर्ग चरित्र के अनुसार एक किसान विद्रोह ही था। इसी के बाद

लेनिन ने 'नयी आर्थिक नीतियों' को शुरू करने का प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार पूँजीवादी शक्तियों को नियन्त्रित छूट प्रदान की गयी। लेनिन ने इसे रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाना कहा। लेकिन बेतेलहाइम इसे पार्टी की किसान प्रश्न पर कार्यदिशा को दुरुस्त करने का नाम देते हैं!

'नयी आर्थिक नीतियों' के तहत आये बदलावों की व्याख्या में बेतेलहाइम तथ्यों की कई ग़लतियाँ करते हैं। मिसाल के तौर पर, वह कहते हैं कि 1922 और 1923 के कृषि-सम्बन्धी विधेयकों ने *मीर* को मान्यता दे दी और उन्हें भूमि संघ का नाम दे दिया। **यह तथ्य सटीक नहीं है।** यह सही है कि इन विधेयकों ने कृषि कम्यूनों, आर्तेलों के साथ-साथ *मीर* को भी मान्यता प्रदान की जिसके तहत भूमि के भोगाधिकार को संचालित किया जाता था। लेकिन इस कानूनी मान्यता के साथ *मीर* के कार्य करने के तरीकों को सोवियत राज्य ने विनियमित भी किया। मिसाल के तौर पर, *मीर* से अलग होकर वैयक्तिक तौर पर खेती करने के अधिकार पर पहले जो पाबन्दियाँ थीं, सोवियत राज्य ने उन्हें समाप्त किया। बेतेलहाइम का कहना सही है कि *मीर* में आम तौर पर धनी किसानों का वर्चस्व होता था और उसकी विधायिका या पंचायत, जिसे *स्खोद* कहते थे, में प्रधान अक्सर कोई धनी किसान ही हुआ करता था। इसके कारण कई बार *मीर* ग़रीब किसानों से यह कहकर उनकी ज़मीन ले लेता था कि वह उस पर खेती नहीं कर पा रहा है। यह भी सही है कि 1922 और 1923 के विधेयकों ने बहुत-सी पाबन्दियों के साथ पट्टे पर ज़मीन देने और उजरती श्रम को लगाने की इजाज़त दी। लेकिन उजरती श्रम वही किसान लगा सकता था जो कि ज़मीन पर मज़दूर की स्थितियों में ही काम भी करता हो। यह सभी कदम 'नयी आर्थिक नीतियों' के तहत उठाये ही जाने थे। लेकिन *मीर* के तहत आम तौर पर ग़रीब किसान और ख़राब हालत में चले जाते थे, जबकि धनी और खाते-पीते मँझोले किसान और बेहतर हालत में। **बेतेलहाइम स्वयं मानते हैं कि सामूहिकीकरण तक यह स्थिति बनी रही।** इसके बावजूद वह सामूहिकीकरण को लेनिनवादी नीति से प्रस्थान मानते हैं और 'नेप' को समाजवाद की नैसर्गिक नीति मानते हैं! इसका कारण समझ नहीं आता।

गृहयुद्ध के बाद किसानों की स्थिति की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम एक बार यह स्वीकार करते हैं कि किसानों की स्थिति में गिरावट केवल वस्तुगत कारकों के कारण नहीं जारी रही। इसके लिए स्वयं मँझोले किसानों की वर्ग प्रकृति भी ज़िम्मेदार थी जो कि शहरों और लाल सेना और यहाँ तक कि उन क्षेत्रों के किसानों के लिए भी अतिरिक्त उत्पादन करने को तैयार नहीं थे, जहाँ फसल किन्हीं वजहों से ख़राब हो गयी थी। वे उतनी ही बुआई करते थे जितनी उनकी ज़रूरत होती थी। **बेतेलहाइम यह मानते हुए भी कि किसानों का टटपुँजिया वर्ग चरित्र काफ़ी हद तक उनकी और सोवियत रूस की समस्याओं के लिए ज़िम्मेदार था, अन्त में सारा ठीकरा बोल्शेविक पार्टी के सिर फोड़ देते हैं और दावा करते हैं कि चूँकि बोल्शेविक पार्टी का किसानों में नेतृत्व केवल राजनीतिक नेतृत्व था, न कि विचारधारात्मक नेतृत्व, इसलिए किसानों का व्यवहार वैसा बना रहा।** अगर पार्टी का विचारधारात्मक नेतृत्व किसानों के बीच मौजूद होता तो उनके इस वर्ग चरित्र को बदला जा सकता था। यह मार्क्सवादी सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत जाने वाली दलील है कि किसी समूचे वर्ग के व्यवहार को उस वर्ग की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रकृति और संरचना को बदले बग़ैर, यानी कि उस वर्ग को ही ढाँचागत तौर पर बदले बग़ैर बदला जा सकता है। **यह शुद्ध हेगेलीय भाववाद है, जिसका प्रदर्शन बेतेलहाइम अपनी इस रचना में**

बार-बार करते हैं। ऊपर से वह दावा करते हैं कि चीन में किसान वर्ग को पार्टी के विचारधारात्मक नेतृत्व ने बदल दिया था और चीनी उदाहरण इस बात का सिद्ध करता है। इस दावे की वैधता की पड़ताल अलग से चर्चा का विषय है, लेकिन इतना स्पष्ट है कि चीनी क्रान्ति की मंज़िल, उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ और दिक् व काल में ऐसे बुनियादी अन्तर हैं कि इस प्रकार का सादृश्य निरूपण मूर्खतापूर्ण होगा। मध्यम किसानों के टटपुँजिया वर्ग चरित्र के लिए अपनी क्षमा-याचना को बेतेलहाइम आगे भी जारी रखते हैं। वह दावा करते हैं कि मध्यम किसान जो भी बेशी उत्पादन बेचता था वह केवल उसके उपभोग, उत्पादक व "ग़ैर-उत्पादक" आवश्यकताओं के लिए था, मुनाफ़े के लिए नहीं! यानी रूसी मँझोले किसानों में मुनाफ़ा कमाने, धनी किसान बनने की चाहत रखने और पूँजी संचय करने जैसी पूँजीवादी प्रवृत्तियाँ नहीं थीं और उसके लिए खेती केवल उपभोग का मसला था! यह ऐतिहासिक तथ्यों का भयंकर विकृतिकरण है। कुछ ही पंक्तियों के बाद बेतेलहाइम अलग से यह स्वीकार भी करते हैं कि रूसी मध्यम किसान आबादी में धनी किसान बनने की बुर्जुआ चाहत मौजूद थी। लेकिन वह इस बात का ज़िक्र नहीं करते कि धनी किसानों के अलावा मध्यम किसानों का भी एक हिस्सा उतनी ही निर्ममता से उजरती श्रम का शोषण करता था। साथ ही, यह मध्यम किसान आबादी *मीर* की विधायिका *स्खोद* में अधिकांशतः धनी किसानों के समर्थन में खड़ी होती थी। सोवियत सत्ता के सुदृढ़ीकरण के बाद भी इन धनी व उच्च मध्यम किसानों द्वारा ग़रीब किसानों के आर्थिक शोषण और उन पर राजनीतिक प्रभुत्व ने नये रूप ग्रहण कर लिये, समाप्त नहीं हुए। यह स्थिति सामूहिकीकरण तक बनी रही।

संक्षेप में कहें, तो किसान प्रश्न पर बेतेलहाइम लेनिन और माओ की शिक्षाओं से बहुत दूर खड़े हैं। वे ज़बरन अपनी अवस्थिति को माओवाद का जामा पहनाना चाहते हैं। लेकिन रूस और चीन के समाजवादी प्रयोगों और लेनिन व माओ के लेखन से वाक़िफ़ कोई भी पाठक समझ सकता है कि बेतेलहाइम की पूरी अवस्थिति "अति-माओवाद" के भेस में वास्तव में संशोधनवाद, नवनरोदवाद, सिस्मोन्दीवाद, अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और हेगेलीय भाववाद का मिश्रण है।

3. तीसरा भागः सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरणों का रूपान्तरण

बेतेलहाइम मानते हैं कि बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सोवियत रूस के उत्पादन सम्बन्धों में बहुत मामूली बदलाव ही आया। इसका कारण यह था कि अभी सतत् क्रान्ति के कार्यभार को पूरा नहीं किया गया था जिससे कि तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ ख़त्म होतीं और अधिरचना का क्रान्तिकारी रूपान्तरण किया जाता। इस कार्यभार को पूरा करने के लिए हिरावल पार्टी के निरन्तर राजनीतिक और विचारधारात्मक नेतृत्व और मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार यह कार्यभार बोल्शेविक पार्टी सही तरीके से अंजाम नहीं दे सकी, जिसके मुख्य कारण वस्तुगत थे, लेकिन मनोगत कारक भी थे।

बेतेलहाइम मानते हैं कि इस कार्यभार के पूरा न हो पाने के कारण सोवियत रूस में राज्य के उपकरणों में कुछ ऐसे परिवर्तन हो गये जो कि बाद में घातक सिद्ध हुए। **बेतेलहाइम के इस पूरी तर्क प्रणाली की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि वह बुर्जुआ राज्य सत्ता के ध्वंस, सर्वहारा राज्य सत्ता की स्थापना, उत्पादन के साधनों पर से निजी स्वामित्व के**

उन्मूलन को उत्पादन सम्बन्धों में बुनियादी परिवर्तन नहीं मानते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि इस परिवर्तन के बाद अधिरचना के क्षेत्र में सतत् क्रान्ति और तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को ख़त्म करने की आवश्यकता बनी रहती है, ताकि बुर्जुआ विचारधारा के वर्चस्व को निर्णायक रूप से ध्वस्त किया जा सके और बुर्जुआ अधिकारों और बुर्जुआ श्रम विभाजन को समाप्त किया जा सके। लेकिन यह कहना कि राज्य सत्ता के प्रश्न का हल किया जाना और निजी स्वामित्व के उन्मूलन से उत्पादन सम्बन्धों में केवल मामूली परिवर्तन हुआ, बेतुके नतीजों तक ले जाता है। उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण के काम में प्राथमिक और मूलभूत कार्य को मामूली क़रार देने से मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्त विकृत होते हैं और बेतेलहाइम यही करते हैं। अधिरचना के क्षेत्र में सतत् क्रान्ति के माओ के सिद्धान्त को इस तरह से लागू किया जायेगा, निश्चित रूप से माओ ने कभी ऐसा नहीं सोचा था। बोल्शेविक क्रान्ति ने जो किया वह बुनियादी पूर्वशर्त को पूरा करना था और उत्पादन सम्बन्धों के सबसे अहम पहलू, यानी कि स्वामित्व के सम्बन्धों का रूपान्तरण करना था। इसके बग़ैर अधिरचना में सतत् क्रान्ति का प्रश्न ही अप्रासंगिक हो जाता है।

आगे बेतेलहाइम दावा करते हैं कि बोल्शेविक क्रान्ति के तुरन्त बाद सोवियत राज्यसत्ता ने जो रूप धारण किया वह लेनिन की 'राज्य और क्रान्ति' की अवधारणा से काफ़ी अलग था। यह बात सच है। लेकिन बेतेलहाइम यह नहीं बताते कि बोल्शेविक क्रान्ति के दो वर्षों के अनुभव के बाद लेनिन ने स्वयं स्पष्ट किया था कि 'राज्य और क्रान्ति' में लेनिन ने जिस प्रकार की सर्वहारा सत्ता की कल्पना की थी और उसके स्थापना के लिए आवश्यक जिस कालावधि की अपेक्षा की थी, उसमें काफ़ी परिवर्तन की ज़रूरत है। यह वास्तव में बौद्धिक बेईमानी है। 'राज्य और क्रान्ति' में लेनिन का मानना था कि पेरिस कम्यून जैसी मज़दूर सत्ता की स्थापना करने में कुछ ही दिनों का समय लगेगा क्योंकि बुनियादी गणित समझने वाला कोई भी मज़दूर राज्य सत्ता के कार्यकलापों को शीघ्र ही स्वायत्त रूप से सम्भाल लेगा। लेकिन आगे लेनिन ने अपने इस आकलन को स्वयं ग़लत बताया और स्पष्ट किया कि मज़दूर वर्ग तकनीकी कुशलताओं के आधार पर नहीं बल्कि सही राजनीतिक वर्ग दृष्टि के बूते राज्य सत्ता के कार्यकलापों को सम्भाल सकता है और उन्नत से उन्नत देश में मज़दूर वर्ग टटपुँजिया विचारों के प्रभाव में है, कहीं ज़्यादा तो कहीं कम। ऐसे में, पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण होगी और उसे लम्बे समय तक संस्थाबद्ध नेतृत्व प्रदान करना होगा। इसके बिना सर्वहारा अधिनायकत्व कुछ महीनों भी नहीं टिक सकता है। **बेतेलहाइम राज्य के प्रश्न पर लेनिन के चिन्तन में हुए परिवर्तनों को जानबूझकर नज़रन्दाज़ करते हैं क्योंकि राज्य के प्रश्न पर लेनिन के उत्तरवर्ती चिन्तन को उन्होंने अपनी रचना में अपनी आवश्यकता के अनुसार स्वयं उद्धृत किया है।**

बेतेलहाइम अन्त में दावा करते हैं कि लेनिन को सोवियतों से सोवियतों की कांग्रेसों, सोवियतों की कांग्रेसों से वीटीएसआईके, वीटीएसआईके से सोवनार्कोम और फिर सोवनार्कोम से पार्टी के हाथों में सत्ता के केन्द्रीकरण पर बहुत अफ़सोस था। **यह बात भी तथ्यतः ग़लत है।** बेतेलहाइम एक अन्य स्थान पर स्वयं मानते हैं कि लेनिन ने सर्वहारा सत्ता के निकायों के तौर पर कभी भी सोवियतों का आदर्शीकरण नहीं किया था और सोवियतों के प्रभावी वर्ग चरित्र के आधार पर ही उन्होंने सोवियतों को सर्वहारा सत्ता के प्रमुख निकाय माना था या फिर मानने से इंकार किया था। लेनिन और अन्य प्रमुख बोल्शेविक नेताओं ने 1919 से ही बार-बार स्पष्ट किया था कि पार्टी और राज्य के संलयन (fusion) से बचा नहीं जा सकता है और

इससे बचने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। **लेकिन बेतेलहाइम इन सारे सन्दर्भों को अपनी सुविधानुसार पेश करते हैं और अपनी सुविधानुसार ग़ायब कर देते हैं।**

इसके बाद बेतेलहाइम अन्य बुर्जुआ व निम्न-बुर्जुआ पार्टियों के दमन का ब्यौरा देते हैं और बताते हैं कि कैडेट पार्टी को छोड़कर अन्य टटपुँजिया पार्टियों व राजनीतिक समूहों जैसे समाजवादी-क्रान्तिकारी, वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी और अराजकतावादियों के प्रति बोल्शेविक पार्टी का रुख़ शुरू से दमन का नहीं था। बोल्शेविक पार्टी उनके प्रति अपना रुख़ इस बात से तय करती थी कि उनका रुख़ सोवियत सत्ता के प्रति क्या है। कुछ वर्षों तक तो समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी और विशेष तौर पर किसान प्रश्न पर उनसे अलग हुई वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ने सोवियतों में यहाँ तक कि सरकार में शिरक़त भी की। लेकिन अलग-अलग समय पर अलग-अलग विवादों के कारण इन पार्टियों ने सोवियत सत्ता के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख़ अख़्तियार किया और फिर सोवियत सत्ता को उन पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। यही बात इन पार्टियों के मुखपत्रों व प्रेस पर भी लागू हुई, जिन्हें कुछ देर से ही सही, मगर प्रतिबन्धित कर दिया गया। इनमें से कुछ, मिसाल के तौर पर वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी सोवियत सत्ता के विरुद्ध आतंकवादी कार्रवाइयों को भी अंजाम दे रहे थे। सोवियत सत्ता ने आख़िरी विकल्प के तौर पर प्रतिबन्ध लगाया। मेंशेविकों को भी बाद में सोवियत तन्त्र से बाहर कर दिया गया था, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट तौर पर प्रतिक्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लिया था। बेतेलहाइम का यह कहना भी सही है कि अच्छे-ख़ासे समय तक सोवियत सत्ता ने इन पार्टियों पर औपचारिक तौर पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया था, लेकिन उनकी गतिविधियों पर इस प्रकार की पाबन्दियाँ लगायीं थीं कि उनके लिए अस्तित्वमान रहना सम्भव नहीं रह गया था। 1921 आते-आते सभी बुर्जुआ व टटपुँजिया पार्टियाँ सोवियत राज्य तन्त्र से बाहर हो चुकी थीं, चाहे उन पर औपचारिक प्रतिबन्ध लगाया गया हो या नहीं। बेतेलहाइम मानते हैं कि लेनिन का दृष्टिकोण शुरू में ही प्रतिबन्ध लगाने का नहीं था बल्कि यह था कि अगर कोई पार्टी सोवियत सत्ता का विरोध नहीं करती तो पहले उसे सोवियतों के कार्यकलापों में हिस्सेदारी करने दी जाय, अगर वह प्रतिक्रान्तिकारी गतिविधियों में संलग्न हो तो उसे बाहर कर दिया जाय, उसके ख़िलाफ़ खुला विचारधारात्मक संघर्ष चलाया जाय। लेकिन ऐसा करने पर भी अन्त में वही पार्टी सोवियतों और राज्य सत्ता के तन्त्र में बाकी बचेगी जो कि पूरी तरह से सर्वहारा सत्ता का समर्थन करती है, उसका नेतृत्व करती है और उसका मार्गदर्शन करती है, यानी कि बोल्शेविक पार्टी और इस प्रकार से सोवियत समाजवादी तन्त्र को अन्ततः एक एक-पार्टी व्यवस्था में तब्दील होना ही था। यह ब्यौरा कमोबेश सही है। **लेकिन इससे लेनिन जो राजनीतिक निचोड़ निकाला उसके बारे में बेतेलहाइम कहीं चर्चा नहीं करते।**

लेनिन ने बोल्शेविक क्रान्ति के बाद समाजवादी जनवाद के व्यवहार का निचोड़ निकाला और इस नतीजे पर पहुँचे कि सर्वहारा जनवाद का अस्तित्व-रूप (modus vivendi) एक-पार्टी व्यवस्था ही हो सकती है और बुर्जुआ जनवाद की क्लासिकीय व्यवस्था (हालाँकि अपवादस्वरूप अस्तित्व के संकटों के दौर में यह फासीवादी एक-पार्टी तन्त्र में तब्दील हो सकता है, लेकिन यह बुर्जुआ जनवाद का सामान्य और दीर्घकालिक अस्तित्व-रूप नहीं हो सकता है) बहुपार्टी संसदीय व्यवस्था ही हो सकती है। इसका कारण सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के अन्तर में और उनके बीच होने वाले वर्ग संघर्ष के रूप हैं। बुर्जुआ वर्ग एक वर्ग के तौर पर आपसी प्रतिस्पर्द्धा और मुनाफे की औसत दर द्वारा संगठित होता है। अपनी प्रकृति से ही उसे कई राजनीतिक पार्टियों की आवश्यकता

होती है। हम इसमें एक दूसरा कारण जोड़ सकते हैं, जो कि पहले कारण से ही निगमित होता है। पूँजीवाद भी अपनी पूर्ववर्ती वर्ग व्यवस्थाओं के समान शोषित बहुसंख्या पर शोषक अल्पसंख्या का शासन है, लेकिन एक मायने में यह अन्य पूर्ववर्ती वर्ग व्यवस्थाओं से भिन्न होता है। पूँजीपति वर्ग का शासन महज़ शुद्ध प्रभुत्व (dominance) पर नहीं बल्कि वर्चस्व (hegemony) पर आधारित होता है। पूँजीपति वर्ग जनसमुदायों से सहमति लेकर शासन करता है, हालाँकि यह सहमति वर्चस्वकारी प्रणालियों द्वारा उत्पादित व पुनरुत्पादित की जाती है। ऐसे में, पूँजीवाद के लिए एक बहुपार्टी संसदीय जनतन्त्र ही सबसे सही अस्तित्व-रूप हो सकता है। **एक पार्टी तन्त्र पूँजीपति वर्ग के वर्चस्व के तन्त्र को बेहद कमज़ोर, क्षणभंगुर और लघुजीवी बना देगा।** ऐसे में, सरकार में पार्टियों की (आम तौर पर) आवर्ती चक्रीय अदला-बदली पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक वर्चस्व को आंशिक तौर पर पुनर्नवीकृत कर देती है। **पूँजीपति वर्ग के शासन की तुलना में सर्वहारा वर्ग का शासन गुणात्मक रूप से भिन्न होता है।** समाजवाद पहली वर्ग व्यवस्था है जो शोषक अल्पसंख्या पर शोषित बहुसंख्या के शासन द्वारा पहचानी जाती है। सर्वहारा वर्ग क्रान्ति के पहले और क्रान्ति के बाद भी आपसी प्रतिस्पर्द्धा द्वारा संघटित व संगठित नहीं होता है, बल्कि वह प्रतिस्पर्द्धा जो कि पूँजी का तर्क उस पर थोप देता है, वह उसके संघटन और संगठन को बाधित करता है। यह जैविक व अजैविक उत्पादन व पुनरुत्पादन के समाजीकरण व सामान्यीकरण के ज़रिये एक वर्ग के तौर पर संघटित व संगठित होता है और वर्ग सामूहिकता ही उसके संघर्ष और विजय की पूर्वशर्त होती है। जब तक यह राजनीतिक वर्ग चेतना उसके भीतर नहीं होती है, तब तक न सिर्फ़ शासक वर्ग के तौर पर स्वयं को संगठित कर पाने में असमर्थ होता है, बल्कि वह एक शासित वर्ग के तौर पर प्रतिरोध का युद्ध संगठित करने में भी असमर्थ होता है। **यही कारण है कि सर्वहारा वर्ग की कई कम्युनिस्ट पार्टियाँ नहीं हो सकती हैं।** मज़दूर वर्ग की कई पार्टियों में से भी सही कम्युनिस्ट पार्टी एक ही हो सकती है। **और यही कारण है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक-पार्टी व्यवस्था का रूप ही ले सकता है, बहु-पार्टी संसदीय लोकतन्त्र का नहीं।** बोल्शेविक क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी के पास यह शिक्षा बने-बनाये रूप में मौजूद नहीं थी, बल्कि क्रान्ति के बाद सर्वहारा अधिनायकत्व के कुछ वर्षों के अनुभवों के बाद ही लेनिन इस बात को अनुभवों से निःसृत कर सके।

एक-पार्टी तन्त्र का अर्थ यह नहीं है कि सर्वहारा जनवाद चर्चाओं, बहसों और विचारधारात्मक संघर्षों की आज्ञा नहीं देता है, जैसा कि बुर्जुआ प्रचार-तन्त्र हमें बताता रहता है। इसका कारण यह है कि यहाँ बहसें और संघर्ष बहुदलीय संसद या विधानसभा की व्यर्थ वितण्डा नहीं होती। यहाँ इन बहसों की जगह कम्यून/सोवियतें या जन-सत्ता के अन्य सम्भव निकाय होते हैं, जहाँ बुर्जुआ विचारों और सर्वहारा विचारों के बीच का संघर्ष क्रान्ति के कई वर्षों बाद तक भी जारी रहता है। इन बहसों में पार्टी व ग़ैर-पार्टी तत्व हिस्सेदारी करते हैं और यहीं पर पार्टी के राजनीतिक कार्य और सांगठनिक कार्य के अहम प्रश्न भी उपस्थित होते हैं। सोवियत संघ में यह प्रक्रिया कहाँ तक चल पायी या नहीं चल पायी, यह अभी हमारी चर्चा का विषय नहीं है। अभी बस इतना कहा जा सकता है कि निश्चित तौर पर सोवियतों व अन्य जन निकायों का राजनीतिक जीवन 1920 के दशक के अन्त से सुषुप्त होना शुरू हो गया था और द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक पहले तक इसकी स्थिति काफ़ी ख़राब हो चुकी थी। **इसके कुछ वस्तुगत और कुछ आत्मगत कारण थे, और बेतेलहाइम के विपरीत, हम मानते हैं कि इसमें मनोगत कारण प्रमुख थे।** लेकिन बेतेलहाइम ने इसके जो कारण प्रस्तुत किये हैं, वे

निश्चित तौर पर किसी मार्क्सवादी विश्लेषण का नतीजा नहीं हैं। **मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम का मानना है कि अन्य बुर्जुआ व टटपुँजिया पार्टियों की मौजूदगी और उनके द्वारा आलोचना से बोल्शेविक पार्टी को मदद मिलती। बेतेलहाइम विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्षों की जीवन्तता और प्राणशक्ति के स्रोत पार्टी के भीतर नहीं बल्कि पार्टी के बाहर तलाशते हैं। इस अवस्थिति में यह अन्तर्निहित है कि पार्टी एक राजनीतिक एकाश्म (monolith) है।** यही अवस्थिति 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास जैसे व अन्य कई अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों ने अपनायी है। यह समझ केवल राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक बेहद दरिद्र गैर-मार्क्सवादी समझदारी को ही दिखलाती है। लेनिनवादी अवस्थिति यह है कि पार्टी को जनसमुदायों से जीवन्त रिश्ता बनाये रखना चाहिए, उनसे सीखना चाहिए और फिर उन्हें सिखाना चाहिए, अपने आपको जनसमुदायों के बीच आलोचना हेतु प्रस्तुत करना चाहिए, पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष को सही ढंग से संचालित करना चाहिए, सभी विचारधारात्मक व राजनीतिक मसलों को समूचे काडरों के बीच व साथ ही जनसमुदायों के बीच खुला कर देना चाहिए। हमारा मानना है कि इस प्रकार के राजनीतिक खुलेपन से पार्टी की एक एकाश्म की छवि खण्डित होती है, जो वास्तव में पार्टी के राजनीतिक व विचारधारात्मक वर्चस्व को सशक्त बनाती है न कि कमज़ोर करती है। इस राजनीतिक खुलेपन के साथ पार्टी तय नुक़्तों पर और बहुसंख्या द्वारा तय कार्यदिशा को लौह-अनुशासन के साथ लागू करती है। पार्टी यदि इन बुनियादी उसूलों को लागू नहीं करती है, तो निश्चित तौर पर स्थिति गम्भीर हो सकती है। लेकिन इसका जो समाधान बेतेलहाइम और उनका अनुसरण करते हुए 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' जैसे अन्य अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी सुझा रहे हैं, वह रूप और संरचना के धरातल पर समस्याओं को देख रहा है और उसी स्तर पर उसका एक रूपवादी-संरचनावादी समाधान सुझा रहा है, जबकि मसला सारतत्व का है। यह एक सतत् राजनीतिक वर्ग संघर्ष का मसला है, जिसे सतत् राजनीतिक वर्ग संघर्ष से ही हल किया जा सकता है। इसे हल करने का कोई हक़ीम लुकमान का नुस्खा नहीं है। **सर्वहारा जनवाद/अधिनायकत्व का अस्तित्व रूप एक-पार्टी व्यवस्था ही हो सकती है और इसके कारणों को समझने के लिए आपको सामान्य राजनीतिक विमर्श से आगे बढ़कर राजनीतिक अर्थशास्त्र के स्तर पर जाना होगा।**

सोवियतों का क्रान्ति के बाद कम जीवन्त होते जाना एक सच्चाई था। 1917 से 1921 तक इस बाबत पार्टी ज़्यादा कुछ नहीं कर सकती थी। ई.एच. कार और **मॉरिस डॉब** भी इस प्रक्रिया का चित्रण करते हैं, जिसके तहत सोवियतों के हाथ से नियन्त्रण सोवियतों की कार्यकारी समितियों, कार्यकारी समितियों से केन्द्रीय सरकारी निकायों और अन्त में केन्द्रीय सरकारी निकायों से पार्टी के हाथ में चला गया। इसमें एक पहलू की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। पार्टी के हाथ में राजनीतिक नियन्त्रण होने और पार्टी द्वारा सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण होने की भूमिका को निभाये जाने से लेनिन को कोई दिक्कत नहीं थी; उल्टे उनका यह मानना था कि यह बिल्कुल नैसर्गिक है। इस बहस पर हम लेनिन के विचारों को 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्टशन' की आलोचना रखते हुए विस्तार से रख चुके हैं। जो बात दिक्कततलब थी वह यह थी कि पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण और संस्थाबद्ध नेतृत्व की भूमिका को निभाते हुए सोवियतों के स्तर पर, कम्यूनों के स्तर पर और जनता की सत्ता के अन्य निकायों के स्तर पर अपने संस्थाबद्ध नेतृत्व की अपरिहार्यता को समाप्त भी करती जाती है, यानी कि वह सर्वहारा वर्ग को राजनीतिक निर्णय लेने और सत्ता

सम्भालने के कार्यभार में राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्षों और सांगठनिक कार्यों के ज़रिये सक्षम बनाती जाती है और 1917 से 1921 के बीच पार्टी गृहयुद्ध की आपात-स्थितियों में इस कार्यभार को पूरा नहीं कर सकती थी। लेकिन निश्चित तौर पर इस कार्यभार पर पार्टी की निगाह थी। 1921 के बाद क्या पार्टी इस कार्य को सही तरीके से अंजाम दे पायी? नहीं! इसका कारण यह था कि 1921 के बाद भी स्थितियाँ तुरन्त सम्भली नहीं थीं। और उसके अलावा पार्टी के भीतर स्वयं एक प्रकार की अर्थवादी प्रवृत्ति हावी होने लगी थी, विशेष तौर पर लेनिन के स्वास्थ्य कारणों के चलते निष्क्रिय होने और फिर उनकी मृत्यु के बाद। एक ओर पार्टी के नेतृत्व के भीतर स्वयं अर्थवादी और उत्पादनवादी (productivist) रुझानें थीं और वहीं दूसरी ओर पार्टी के भीतर जारी भयंकर राजनीतिक-सांगठनिक संघर्ष, षड्यन्त्रों और खुली बुर्जुआ कार्यदिशाओं के विरुद्ध संघर्ष ने पार्टी नेतृत्व और विशेष तौर पर स्तालिन को इन प्रवृत्तियों पर ठहरकर सोचने का अवसर ही नहीं दिया। पार्टी के भीतर के राजनीतिक संकट के अलावा 1926-27 आते-आते सोवियत अर्थव्यवस्था 'नेप' की नीतियों के उत्तरजीवन के कारण संकटग्रस्त हो चुकी थी। 1929 में आपात कदमों और 1930 के सामूहिकीकरण अभियान की शुरुआत के दौरान भी पार्टी और पूरा देश भयंकर उथल-पुथल से गुज़रते रहे। इस पूरे दौर में पार्टी के नेतृत्व में समाजवाद ने तमाम आर्थिक समस्याओं को तो हल किया; जनसमुदायों के जीवन स्तर में गुणात्मक सुधार ला दिया और ज़बरदस्त विकास हुआ, लेकिन साथ ही जनसमुदाय और सोवियत व अन्य ऐसे निकाय राजनीतिक तौर पर निष्क्रिय होते गये। इसके अलावा आर्थिक धरातल पर भी बुर्जुआ श्रम विभाजन और बुर्जुआ अधिकार सूक्ष्म रूपों में सुदृढ़ होते गये। जर्मनी में हिटलर के सत्ता में आने के कुछ समय बाद ही सोवियत संघ भी युद्ध मशीनरी के निर्माण में लग गया और द्वितीय विश्वयुद्ध में अप्रतिम शौर्य और त्याग दिखलाते हुए सोवियत जनता ने समाजवाद की हिफ़ाज़त की। द्वितीय विश्वयुद्ध के समापन के कुछ वर्षों में ही सोवियत जनता ने पुनर्निर्माण के कार्यभार को भी पूरा किया। इस पूरे कार्य में स्तालिन ने प्रत्यक्ष नेतृत्व दिया। 1948-49 तक सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों की समस्याओं पर आलोचनात्मक चिन्तन करने का अवसर स्तालिन को ठीक से नहीं मिल सका। 1948 से लेकर मृत्यु तक स्तालिन के चिन्तन की दिशा काफ़ी हद तक सही थी और सोवियत समाजवाद की समस्याओं के बारे में उनका चिन्तन काफ़ी विकसित भी हुआ था। लेकिन यह भी मानना होगा कि स्तालिन के चिन्तन में स्वयं कुछ अर्थवादी और यान्त्रिक रुझान पहले से मौजूद थे, हालाँकि स्तालिन का चिन्तन लगातार इन रुझानों को दूर करने की दिशा में भी बढ़ रहा था। बेतेलहाइम सोवियतों के राजनीतिक तौर पर निष्क्रिय होने की परिघटना का पूरे सन्दर्भ के साथ विश्लेषण नहीं करते हैं। नतीजतन, उनका विश्लेषण अन्त में हर समस्या के लिए पार्टी और पार्टी नेतृत्व को ज़िम्मेदार ठहरा देता है, हालाँकि अन्त में वस्तुगत कारकों के प्रधान होने के बारे में वह एक वाक्य जोड़ देते हैं।

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि क्रान्ति के बाद राज्य की मशीनरी पार्टी से स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करने लगी थी। चूँकि राज्य मशीनरी में तमाम बुर्जुआ विशेषज्ञ थे इसलिए पार्टी और सरकार के तमाम निर्देशों के बावजूद वह स्वायत्त तरीके से काम करती थी। इस बात में केवल आंशिक सच्चाई है। निश्चित तौर पर, राज्य मशीनरी में बुर्जुआ विशेषज्ञों की मौजूदगी के कारण पार्टी और सरकार के लिए उस पर पूरी तरह नियन्त्रण रख पाना एक समस्या थी। लेकिन बेतेलहाइम स्वयं भी मानते हैं कि इस समस्या पर पार्टी की निगाह थी और बीच-बीच में पार्टी राज्य मशीनरी के लिए नियन्त्रण कमिसारियत और मज़दूर-किसान

जाँच समितियों जैसे उपकरणों द्वारा इस समस्या को हल करने का भी प्रयास किया। लेकिन यह समस्या समाजवाद के विकास की आरम्भिक मंज़िलों में और विशेष तौर पर गृहयुद्ध की आपात स्थितियों में सही ढंग से हल नहीं की जा सकती थी। जिन कारणों से एक पूर्ण रूप से नयी राज्य मशीनरी का निर्माण तुरन्त नहीं हो सकता था, उन्हीं कारणों से एक पूर्ण रूप से नयी समाजवादी लाल सेना का निर्माण भी पूरी तरह से तुरन्त नहीं हो सकता था। बेतेलहाइम कहते हैं रेड गार्ड्स का चरित्र राजनीतिक था लेकिन वह बहुत छोटा सैन्य निकाय था। गृहयुद्ध ने पुरानी सेना के उपकरण को अनुकूलित कर समाजवादी राज्य की रक्षा के कार्य में उसे लगाने को एक बाध्यता बना दिया था। रेड गार्ड्स को इसी सेना में शामिल कर दिया गया। इस नये सैन्य निकाय में पुराने सैन्य अधिकारी थे, जो कि सेना को नियन्त्रित करते थे और युद्ध में नेतृत्व देते थे। लेकिन इनके ऊपर पार्टी द्वारा नियुक्त एक पार्टी कमिसार भी होता था। लेकिन सैन्य व तकनीकी मसलों में नये व पुराने अधिकारियों की राय सर्वोच्च होती थी। बेतेलहाइम इसे बोल्शेविक पार्टी का तकनीकवादी अप्रोच बताते हैं और दावा करते हैं कि जनसमुदायों पर कम भरोसा रखने की यह प्रवृत्ति त्रात्स्की द्वारा और ज़्यादा बढ़ायी गयी। अधिकारी चुने नहीं जाते थे और सेना के भीतर पदानुक्रम का बोलबाला था। इसलिए बेतेलहाइम के अनुसार लाल सेना 'लाल' केवल इसलिए थी क्योंकि वह सर्वहारा अधिनायकत्व के मातहत थी। यहाँ भी बेतेलहाइम की बात में सत्यांश है। लेकिन इन बातों में लाल सेना का जो मॉडल बेतेलहाइम पेश कर रहे हैं, वह भी समाजवादी संक्रमण की शुरुआती मंज़िलों में शायद ही हक़ीकत में उतारा जा सकता है। दूसरी बात यह कि त्रात्स्की द्वारा लाल सेना के भीतर लागू की गयी दक्षिणपन्थी नीति के कुछ कारण समाजवादी संक्रमण के बारे में त्रात्स्की की अवधारणा में थे, तो कुछ कारण उस समय की वस्तुगत परिस्थिति में भी थे। इतना स्पष्ट है और बेतेलहाइम भी इसे अन्त में मानते हैं कि लाल सेना जिस रूप में संगठित हुई, गृहयुद्ध के दौर में उसके अलावा कुछ भी सम्भव नहीं था। जहाँ राज्य मशीनरी के अन्य निकायों में सोवियत सत्ता को बुर्जुआ विशेषज्ञों की आवश्यकता थी, तो वहीं सेना के भीतर भी उसे बुर्जुआ विशेषज्ञों की आवश्यकता थी। जिस प्रकार राज्य के अन्य अंगों में बुर्जुआ विशेषज्ञों को विशेषाधिकार देने पड़े, उसी प्रकार लाल सेना में भी उन्हें विशेषाधिकार देने पड़े। मूल बात उस समय इन विशेषाधिकारों और बुर्जुआ तत्वों को सर्वहारा अधिनायकत्व के नियन्त्रण में रखना था। यह कार्य बोल्शेविक सत्ता ने कमोबेश पूरा किया।

लेकिन चाहे कोई भी स्थिति हो, समाजवादी राज्यसत्ता को लम्बे समय तक एक स्थायी सेना की आवश्यकता होगी; उसे इस स्थायी सेना में एक संरचना की भी आवश्यकता होगी, जिसे आप पदानुक्रम भी कह सकते हैं, लेकिन निश्चित तौर पर वह पदानुक्रम पूँजीवादी सेना के पदानुक्रम से भिन्न होगा। बेतेलहाइम का यह कहना दुरुस्त है कि लाल सेना ने बहादुरी के साथ गृहयुद्ध में श्वेत सेनाओं का मुकाबला किया क्योंकि भूस्वामियों और पूँजीपतियों के विरुद्ध वह क्रान्ति के साथ खड़ी थी और इसलिए यह एक जनता की सेना थी, लेकिन सर्वहारा सेना नहीं। क्योंकि यह बोल्शेविकों के राजनीतिक नेतृत्व के तहत थी, लेकिन विचारधारात्मक नेतृत्व के तहत नहीं। लेकिन यह अपेक्षा ही अपने आपमें अयथार्थवादी है कि 1918 में एक सोवियत रूस के पास एक स्थायी सर्वहारा सेना मौजूद होती। अगर पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को हटाकर लाल सेना और पार्टी द्वारा उसके राजनीतिक व विचारधारात्मक नेतृत्व का विश्लेषण किया जाय तो उसका कोई अर्थ नहीं होगा।

लाल सेना की तरह ही चेका का बेतेलहाइम द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण भी यथार्थवादी

और ऐतिहासिक नहीं बल्कि भाववादी है। चेका का जन्म सैन्य क्रान्तिकारी समिति से हुआ था और वह कालान्तर में प्रतिक्रान्तिकारी बुर्जुआ शक्तियों के विरुद्ध लाल आतंक का प्रमुख उपकरण बनी। बेतेलहाइम यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि चेका की गतिविधियों और लेनिन की कार्यदिशा में अन्तरविरोध था। यह सच है कि गृहयुद्ध के दौरान चेका की गतिविधियाँ कई बार अतिरेकपूर्ण छोरों तक गयीं। लेकिन गृहयुद्ध के दौर में और कुछ भी सम्भव नहीं था। सर्वहारा सत्ता पर अस्तित्व का संकट था और उसे बचाना बोल्शेविक पार्टी की पहली प्राथमिकता थी। चेका की जवाबदेही सीधे सोवनार्कोम के प्रति थी। गृहयुद्ध के ख़त्म होने के बाद चेका की जगह जी.पी.यू. (राजकीय राजनीतिक प्रशासन) ने ली। जी.पी.यू. की स्थापना के बाद खुफ़िया पुलिस की गतिविधियाँ बेहतर राजनीतिक नियन्त्रण के तहत जारी रहीं। **ई.एच. कार** भी इस बात को स्वीकार करते हैं। लेकिन बेतेलहाइम इससे इंकार करते हैं और दावा करते हैं कि बाद में इस उपकरण का प्रयोग पार्टी के भीतर विरोध को कुचलने में भी किया जाने लगा था और इसकी गतिविधियाँ ज्यादा से ज़्यादा पार्टी के नियन्त्रण आयोग से मिश्रित होने लगी थीं और यह लेनिन की समझदारी के विपरीत था। **पहली बात तो यह है कि 1917 से 1923 के बीच चेका/जी.पी.यू. का प्रयोग पार्टी के भीतर विरोध को कुचलने के लिए किया गया हो, इसका बेतेलहाइम कोई सन्दर्भ नहीं पेश करते हैं और दूसरी बात यह कि लेनिन की समझदारी क्या थी और वह किस रूप में इस उपकरण के कार्य-कलाप के विरुद्ध थी, इसका भी बेतेलहाइम कोई सन्दर्भ नहीं पेश करते हैं।** लेनिन ने इस उपकरण की अतिरेकपूर्ण कार्रवाइयों की ओर ध्यानाकर्षित किया था और उसकी आलोचना भी की थी और पार्टी के भीतर इस समस्या के समाधान के लिए चर्चा भी हुई थी। लेकिन यह कहना एक अलग बात है कि चेका का गठन व गतिविधियाँ लेनिन की कार्यदिशा के विपरीत या विरुद्ध थीं।

बेतेलहाइम आगे लिखते हैं कि पार्टी क्रान्ति के पहले ज़्यादा चुस्त-दुरुस्त और मज़बूत थी। क्रान्ति के बाद पार्टी को सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रधान उपकरण के तौर पर राज्यसत्ता के कार्यकलाप सम्भालने थे। चूँकि इन कार्यकलापों को अंजाम देने के लिए पार्टी के पास पर्याप्त राजनीतिक कार्यकर्ता मौजूद नहीं थे, इसलिए उसे बुर्जुआ विशेषज्ञों को अधिक वेतन और सुविधाओं के साथ काम पर रखना पड़ा। इसके अलावा, पार्टी में भारी संख्या में नये सदस्य शामिल हुए। 1921-22 तक पार्टी की सदस्यता में लगातार बढ़ोत्तरी हुई, जिसके बाद पार्टी ने शुद्धीकरण अभियान चला कर अवांछित तत्वों की कटाई-छँटाई की। **बेतेलहाइम के अनुसार पार्टी के चरित्र में कुछ अवांछनीय परिवर्तन क्रान्ति के बाद के दौर में हुए। उनके लिए इन परिवर्तनों के लिए जो चीज़ सबसे ज़्यादा ज़िम्मेदार थी वह था सरकार के काम-काज में पार्टी की जीवन्त भागीदारी।** चूँकि राज्य मशीनरी का चरित्र बेतेलहाइम के अनुसार मुख्य तौर पर बुर्जुआ था, इसलिए पार्टी की इसमें जीवन्त भागीदारी उसकी राजनीतिक सेहत के लिए उपयुक्त नहीं थी। **यह पूरा तर्क कई स्तरों पर ग़लत है।**

पहली बात तो यह कि किसी भी देश में क्रान्ति के बाद बुर्जुआ सत्ता के ध्वंस और सर्वहारा सत्ता के निर्माण का यह अर्थ कतई नहीं होता कि तत्काल किसी शुद्ध-बुद्ध सर्वहारा सत्ता का निर्माण हो जाता है। किसी भी देश में शायद ही ऐसा सम्भव हो। दूसरी बात यह कि यदि सर्वहारा राज्यसत्ता तमाम नौकरशाहाना और बुर्जुआ विकृतियों के साथ अस्तित्व में आयेगी, तो पार्टी क्या करेगी? निश्चित तौर पर, वह राज्यसत्ता की मशीनरी के संचालन में जीवन्त भागीदारी करेगी और साथ ही उसे संस्थाबद्ध नेतृत्व प्रदान करेगी। इसके अलावा आप उस

राज्यसत्ता के मूलत: और मुख्यत: सर्वहारा चरित्र को भला कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं? **राज्यसत्ता के कार्यकलाप बेतेलहाइम के लिए वह ख़तरनाक डगर है जिस पर चलने से पार्टी का *आदर्श खण्डित हो जायेगा* या उसकी शुद्धता ख़राब हो जायेगी।** ज़ाहिर है कि बोल्शेविक पार्टी ने राज्यसत्ता की मशीनरी पर सर्वहारा वर्ग के वर्चस्व को बनाये रखने के लिए राज्यसत्ता के कार्यकलापों में संस्थाबद्ध और जीवन्त भागीदारी की और यह एक बिल्कुल दुरुस्त कदम था। ज़रा कल्पना करें यदि पार्टी ऐसा न करती तो क्या होता? दूसरी बात जो कि बेतेलहाइम यहाँ नहीं देख पा रहे हैं वह यह है कि पार्टी के राजनीतिक संगठनकर्ताओं द्वारा राज्य के कार्यकलापों के भागीदारी का असर दो-तरफ़ा था। इस असर में निश्चित तौर पर पार्टी का असर निर्णायक था। पार्टी द्वारा राज्यसत्ता के कार्यकलापों में भागीदारी ने बहुत से नये सर्वहारा तत्व भी तैयार किये और बहुत से लोगों ने राज्यसत्ता के कार्यकलापों में बोल्शेविकों की ईमानदारी नीतियों को देखकर अपना पक्ष बदल लिया। कहने की आवश्यकता नहीं है कि राज्यसत्ता के कार्यकलापों में भागीदारी ने पार्टी के भीतर भी विजातीय वर्ग प्रवृत्तियों को जन्म दिया ही होगा। लेकिन समाजवादी संक्रमण के दौरान पार्टी समाज में ही रहेगी और यदि वह राज्यसत्ता के कार्यकलापों में कोई हिस्सेदारी न भी करे तो भी विजातीय वर्ग प्रवृत्तियाँ अन्य स्रोतों से पार्टी में घुसपैठ करेंगी। **प्रश्न सतत् आत्मालोचनात्मकता और संघर्ष का है न कि इस बात का कि पार्टी के लिए कोई ऐसा स्थान ढूँढ लिया जाय जहाँ से वह विजातीय प्रवृत्तियों से प्रभावित हुए बिना क्रान्ति का निर्देशन कर सके।** इसलिए सोवियत रूस में क्रान्ति के बाद पार्टी ने वही किया जो वह कर सकती थी और उसे करना चाहिए था और निश्चित तौर पर इस दौर में पार्टी ने कई ग़लतियाँ भी कीं, लेकिन राज्यसत्ता के कार्यकलाप में प्रत्यक्ष और संस्थाबद्ध भागीदारी अपने आप में कोई ग़लती नहीं थी, जैसा कि बेतेलहाइम हमें यकीन दिलाना चाहते हैं।

बेतेलहाइम का यह प्रेक्षण दुरुस्त है कि क्रान्ति के बाद तमाम गाँवों और छोटे शहरों में पार्टी का कोई व्यापक सामाजिक आधार या सांगठनिक ढाँचा नहीं था। इन जगहों पर सोवियतें भी या तो मौजूद नहीं थीं या उनका नाममात्र का अस्तित्व था। जहाँ कहीं सोवियतें थीं वहाँ भी उसका प्रशासनिक ढाँचा बुर्जुआ तत्वों से भरा हुआ था। ऐसे में, पार्टी ने बड़े औद्योगिक और शहरी केन्द्रों से मँझे हुए राजनीतिक कार्यकर्ताओं को पार्टी इकाई और साथ ही सोवियतों के कामों के संचालन के लिए भेजा। चूँकि बहुत-सी जगह कोई पार्टी इकाई विकसित नहीं हुई थी, इसलिए ये बोल्शेविक संगठनकर्ता कतारों द्वारा चौकसी से स्वतन्त्र थे। ऊपर से उनके पार्टी संगठनकर्ता के कार्य और सरकारी कार्य आपस में मिश्रित हो गये। इसके कारण पार्टी के भीतर नौकरशाहाना प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। साथ ही, पार्टी के पास न तो पहले से पर्याप्त ऐसे संगठनकर्ता थे जो इन कार्यों को सम्भाल सकें और न ही 1921 से पहले पार्टी को ऐसे नये राजनीतिक संगठनकर्ताओं को तैयार करने का वक़्त मिला। इन ऐतिहासिक सीमाओं के कारण सर्वहारा राज्यसत्ता में बुर्जुआ विकृतियाँ और नौकरशाहाना विरूपताएँ पैदा हो रही थीं। पार्टी कई बार राज्य मशीनरी से वांछित कार्यभारों को पूरा करवा पाने में अक्षम रहती थी। लेनिन ने 11वीं पार्टी कांग्रेस में इस ख़तरे की ओर इशारा किया था कि अगर पार्टी राज्यसत्ता पर पूर्ण नियन्त्रण कायम नहीं करती तो फिर सर्वहारा राज्यसत्ता के भीतर से बुर्जुआ तख़्तापलट की सम्भावना बढ़ती जायेगी। वास्तव में, कुछ अप्रवासी रूसी बुर्जुआ समूह थे जो कि सचेतन तौर पर सोवियत राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी के भीतर अपने तत्वों को घुसा रहे थे। इनमें सबसे प्रमुख था **उस्त्र्यालेव स्मेनोवेख** का समूह जिसका मानना था कि बोल्शेविक

क्रान्ति ने रूस में एक नये आक्रामक, राष्ट्रवादी पूँजीवाद की स्थापना की ज़मीन तैयार की है। लेकिन ऐसा नहीं था कि पार्टी का सोवियत सत्ता के समक्ष खड़े इन ख़तरों पर ध्यान नहीं था। लेनिन ने ग्यारहवीं पार्टी कांग्रेस के अलावा उस दौर के अपने लेखन में भी बार-बार इन ख़तरों की ओर इशारा किया था। साथ ही, लेनिन ने संस्कृति और राजनीतिक शिक्षा के सवाल पर भी इस दृष्टिकोण से बल दिया था। वास्तव में, **बुखारिन** की उस दौर की एक रचना **'सर्वहारा क्रान्ति और संस्कृति'** में हमें सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त के कुछ बीज देखने को मिल सकते हैं। पार्टी और उसका शीर्ष नेतृत्व सर्वहारा राज्यसत्ता में मौजूद बुर्जुआ विकृतियों और उनके स्रोतों के बारे में निरन्तर सोच रहा था। लेकिन कम-से-कम गृहयुद्ध के अन्त और 'नेप' की समाप्ति तक पार्टी के पास इस समस्या के समाधान की दिशा में कोई विशेष प्रभावी कदम उठाने का अवसर नहीं था। **मूल बात यह है, जिस पर बेतेलहाइम ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है, कि पार्टी इन समस्याओं के प्रति बेहद सचेत थी और उन पर सोच रही थी। दूसरी बात यह है कि बेतेलहाइम के पूरे ब्यौरे से ऐसा लगता है कि ये समस्याएँ इसलिए पैदा हुईं क्योंकि पार्टी ने राज्यसत्ता और शासन के कार्यकलापों में भागीदारी करनी शुरू कर दी।** यह समझदारी कतई ग़लत है। पार्टी ने राज्यसत्ता और शासन के कार्यकलापों में भागीदारी करके बिल्कुल सही किया और किसी भी देश में क्रान्ति के बाद के लम्बे दौर में राज्यसत्ता के चरित्र को सर्वहारा बनाये रखने के लिए किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी को यह करना ही होगा; ज़ाहिर है कि उन्नत पूँजीवादी देशों में समाजवादी सत्ता के लिए यह दौर अपेक्षाकृत छोटा होगा और पिछड़े व उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी देशों में ज़्यादा। राज्यसत्ता के कार्यकलापों से राजनीतिक सतीत्व और शुचिता के खण्डित हो जाने का भय बेतेलहाइम को बिना वजह ही सता रहा है। इस ग़लत विश्लेषण के कारण वह समस्याओं के सही मूल और स्रोत की तलाश नहीं कर पाते। हम यहाँ अभी इस बात पर चर्चा नहीं कर सकते कि 1921 के बाद और विशेष तौर पर लेनिन की मृत्यु के बाद पार्टी कहाँ तक इस समस्या के समाधान की दिशा में काम कर पायी। लेकिन इतना स्पष्ट है बेतेलहाइम द्वारा प्रस्तुत कार्य-कारण सम्बन्ध सही नहीं है।

बोल्शेविक पार्टी में आन्तरिक सम्बन्धों की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि क्रान्ति के बाद इनमें भारी बदलाव आया। क्रान्ति के पहले बोल्शेविक पार्टी में खुली राजनीतिक बहसों और चर्चाओं की संस्कृति थी। अल्पसंख्या भी अपने विचारों को खुले तौर पर अभिव्यक्त कर सकती थी और यहाँ तक कि अपने अलग प्रकाशन भी निकाल सकती थी। राजनीतिक व विचारधारात्मक बहसों में पार्टी नेतृत्व की ओर से कभी कोई रोक-टोक नहीं होती थी। लेकिन विशेष तौर पर 1918 के बाद यह स्थिति बदलने लगी। गृहयुद्ध की आपात स्थितियों ने पार्टी को एक व्यापक सांगठनिक ढाँचा तैयार करने के लिए बाध्य किया। बेतेलहाइम इन परिवर्तनों को शक़ की निगाह से देखते हैं। उनके अनुसार इन परिवर्तनों के कारण पार्टी के भीतर आन्तरिक जनवाद खण्डित हुआ। **बेतेलहाइम का तर्क यहाँ अनैतिहासिक है।** सबसे पहली बात तो यह कि बेतेलहाइम क्रान्ति को अंजाम देने में लगी पार्टी और क्रान्ति के बाद सर्वहारा राज्यसत्ता को सम्भालने और शासन चलाने वाली पार्टी के बीच के फर्क को समझने में पूरी तरह से नाकाम रहते हैं। लेनिनवादी पार्टी सिद्धान्त किसी धार्मिक ग्रन्थ का अपरिवर्तनीय सिद्धान्त नहीं था। पार्टी का सांगठनिक सिद्धान्त बोल्शेविक पार्टी के विकास के पूरे इतिहास के अलग-अलग दौरों की अलग-अलग विशिष्टताओं और उनके सामान्य समाहार के आधार पर विकसित होता रहा था। और क्रान्ति के बाद के दौर के

अनुभवों के आधार पर इसमें उत्तरोत्तर विकास हुआ। हम किन्हीं परिवर्तनों को ग़लत ठहरा सकते हैं। लेकिन जिस आधार पर बेतेलहाइम किसी भी परिवर्तन को ग़लत ठहरा रहे हैं वह अनैतिहासिक है। क्रान्ति के बाद और विशेष तौर पर गृहयुद्ध के कठिन दौर में पार्टी को सर्वहारा राज्यसत्ता को निर्मित करने, उसे चलाने और विकसित करने के कार्यभार को अंजाम देना था। पार्टी के पास क्रान्ति की योजना तैयार करने और उसे अंजाम देने के लिए एक मँझे हुए संगठनकर्ताओं का समूह था, लेकिन शासन-प्रशासन सम्भाल सकने वाले राजनीतिक संगठनकर्ताओं की पार्टी के पास बेहद कमी थी। **इन परिवर्तनों के मद्देनज़र पार्टी की आठवीं कांग्रेस में पार्टी ने अपने आन्तरिक ढाँचे में कई अहम बदलाव किये।** एक नयी केन्द्रीय कमेटी का गठन हुआ; एक पोलित ब्यूरो का निर्माण किया गया ताकि जब केन्द्रीय कमेटी सत्र में न हो तो अहम राजनीतिक, सांगठनिक और शासन-सम्बन्धी निर्णय लिये जा सकें; बाद में, एक सांगठनिक ब्यूरो (ऑर्ग-ब्यूरो) का भी गठन किया गया ताकि क्रान्ति के बाद के दौर में जब कि पार्टी शासन में थी और खुली हुई थी, तो पार्टी के सांगठनिक मसलों को सुचारू रूप से निपटाया जा सके; यह सांगठनिक ब्यूरो स्वयं एक राजनीतिक निकाय था, जिसे सबसे अनुभवी और विवेकवान बोल्शेविक सम्भालते थे; इसके बाद केन्द्रीय कमेटी के एक सेक्रेटैरियट (सचिवालय) का निर्माण किया गया। बाद में, अप्रैल 1922 में इसी निकाय से पार्टी के महासचिव के पद का उद्‌भव हुआ। सांगठनिक मसलों को चुस्त-दुरुस्त तरीके से संचालित करने के लिए एक व्यापक संरचना विकसित हुई, पार्टी के कार्यकर्ताओं का एक पूरा डेटाबेस तैयार किया गया। बेतेलहाइम इन सभी परिवर्तनों से भयाक्रान्त हैं। उनका मानना है कि इससे पार्टी का आन्तरिक जीवन अधिक से अधिक नौकरशाहाना होता गया। यह सच है कि अगर पार्टी जनसमुदायों के साथ जीवन्त रिश्ता नहीं रखती है और अगर वह सभी राजनीतिक-विचारधारात्मक मसलों को खुला नहीं करती है, तो इस विराट ढाँचे के एक नौकरशाहाना ढाँचे में तब्दील होने का ख़तरा मौजूद रहेगा। **लेकिन यह समस्या एक क्रान्तिकारी जनदिशा को कायम रखने की और समाजवादी संक्रमण की एक सही समझदारी की समस्या है, न कि किसी विशेष संरचना की।** निश्चित तौर पर, किसी भी पार्टी को क्रान्ति के बाद के दौर में जब कि बुर्जुआ वर्ग अनगिनत तरीकों से समाजवाद को गिराने, भीतर से पतित करने और तोड़-फोड़ की गतिविधियाँ संचालित करता है, एक व्यापक सांगठनिक ढाँचे की आवश्यकता होगी। इससे बचा नहीं जा सकता है। लेकिन यह सांगठनिक ढाँचा अपने आपमें नौकरशाही का स्रोत नहीं बन सकता, बशर्ते कि पार्टी ही जनता से कट जाये। अगर यह पूरा सांगठनिक ढाँचा पार्टी के विचारधारात्मक-राजनीतिक नियन्त्रण में कार्य करता है और अगर पार्टी एक सही जनदिशा को लागू करती है, तो इस ढाँचे से अपने आप में कोई समस्या नहीं उत्पन्न होती है। क्रान्ति के बाद के दौर में, पोलित ब्यूरो व ऑर्ग ब्यूरो केन्द्रीय कमेटी के विचारधारात्मक व राजनीतिक नियन्त्रण में ही काम कर रहे थे। वे स्वायत्त या स्वतन्त्र नहीं थे।

दूसरी बात, जो कि बेतेलहाइम भूल जाते हैं वह यह है कि इन सभी पार्टी संगठनों में लगभग समान लोग ही थे। यानी कि केन्द्रीय कमेटी के अलग-अलग सदस्यों को मिलाकर ही ये ब्यूरो और सचिवालय तैयार किये गये थे। इसलिए किसी भी रूप में इन सांगठनिक निकायों का केन्द्रीय कमेटी के राजनीतिक नियन्त्रण से बाहर हो जाना सम्भव नहीं था। ये निकाय पार्टी के राजनीतिक निकाय थे, न कि ऊपर से और बाहर से थोपी गयी नौकरशाहाना संरचनाएँ। इनकी पार्टी के सर्वोच्च नेतृत्व के प्रति जवाबदेही थी और पार्टी कांग्रेसों, सम्मेलनों

व महाधिवेशनों के दौरान पार्टी की कतारों के समक्ष केन्द्रीय कमेटी की जवाबदेही थी। इस पूरी प्रणाली का कार्य कभी भी बेदाग़ और सटीक नहीं हो सकता है। इस प्रणाली के लगातार सही तरीके से काम करने को सुनिश्चित करने के लिए एक सतत् आत्मालोचनात्मकता और क्रान्तिकारी जनदिशा की आवश्यकता होती है। यह कार्य लेनिन के दौर में और उनके बाद किस हद तक बोल्शेविक पार्टी सही तरीके से अंजाम दे पायी, यह हम इतिहास के उस दौर की चर्चा करने वाले सम्बन्धित अध्याय में करेंगे। **लेकिन बेतेलहाइम समस्याओं के कारणों को संरचनाओं में ढूँढते हैं, न कि राजनीति और विचारधाराओं में।**

समाजवादी संक्रमण के दौरान वर्ग संघर्ष के नये, जटिल और दुरूह रूपों के मद्देनज़र पार्टी और सर्वहारा राज्य को विभिन्न संरचनाओं को विकसित करना ही पड़ेगा। लेकिन बेतेलहाइम पार्टी अनुशासन या राज्यसत्ता की हरेक संरचना को एक टटपुँजिया अविश्वास के साथ देखते हैं। पार्टी हर उपस्थित होने वाले मसले के लिए समूची कतारों से या व्यापक जनसमुदायों से परामर्श नहीं कर सकती है। ऐसे में, पार्टी विचार-विमर्श क्लब बन जायेगी। इसलिए पार्टी को मसलों के निपटारे के लिए एक जनवादी केन्द्रीयतावादी संरचना तैयार करनी होगी। यह संरचना स्थैतिक नहीं हो सकती है। इसके बुनियादी उसूल समान होंगे, मगर रूप और संरचना के धरातल पर बदलते ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ इसमें निश्चित ही बदलाव होंगे। लेकिन बेतेलहाइम के लिए ऐसा कोई भी बदलाव नौकरशाहाना प्रवृत्तियों की ओर ले जाता है। अपने तर्क को सही साबित करने के लिए वह लेनिन को उद्धृत करते हैं, जहाँ लेनिन नौकरशाही के ख़तरों की बात करते हैं। लेनिन ने निश्चित तौर पर इस ख़तरे की ओर बार-बार इशारा किया था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि लेनिन पार्टी संगठन की नयी संरचनाओं में उसका स्रोत देखते थे। अगर ऐसा होता तो लेनिन इन संरचनाओं के निर्माण का ही विरोध करते, क्योंकि ये संरचनाएँ उनके जीवन काल में और उनकी सहमति और कई बार उन्हीं के प्रस्ताव पर बनायी गयी थीं। लेकिन बेतेलहाइम एक ऐसी तस्वीर पेश करते हैं जिसमें कि ऑर्ग ब्यूरो और सचिवालय केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो के नियन्त्रण से बाहर हो गये थे। हम पहले ही बता चुके हैं कि इन सभी निकायों के सदस्य कुछ-कुछ अन्तर से समान थे। ऐसे में, बेतेलहाइम का दावा आधारहीन है। साथ ही, बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि ऑर्ग ब्यूरो व सचिवालय चुने हुए निकाय नहीं थे। लेकिन यह बात तो पोलित ब्यूरो पर भी लागू की जा सकती है। वास्तव में, इन सभी निकायों को पार्टी कांग्रेस द्वारा चुनी गयी केन्द्रीय कमेटी ने नियुक्त किया था। **लेकिन ऑर्ग ब्यूरो व सचिवालय पर विशिष्ट तौर निशाना साधने के पीछे बेतेलहाइम के कारण अलग हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों निकायों की मुख्य ज़िम्मेदारी स्तालिन को सौंपी गयी थी।** और बेतेलहाइम आगे यही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि लेनिन के जीवन-काल में वस्तुगत परिस्थितियों के दबाव में जो ग़लतियाँ हुई हों, उनको छोड़ दें तो लेनिन लगभग उसी कार्यदिशा का अनुसरण कर रहे थे, जो बेतेलहाइम के अनुसार माओ ने प्रतिपादित की थी (कालानुक्रम की परवाह न करें क्योंकि बेतेलहाइम को पढ़ते हुए ऐसा करना मुश्किल है)! और गड़बड़ी तब शुरू हुई जब पार्टी के आन्तरिक जीवन में स्तालिन वर्चस्वकारी स्थिति में पहुँच गये। यह बात सही है कि 1919 से 1921 के दौरान ऑर्ग ब्यूरो व सचिवालय के ज़रिये कई विरोधी कार्यदिशाओं का पार्टी के भीतर दमन हुआ। लेकिन यह प्रक्रिया लेनिन की जानकारी के बाहर चल रही हो, ऐसा नहीं था। और दूसरी बात यह है कि विरोधी लाइनों को दबाये जाने की ये घटनाएँ एक व्यापक तौर पर जारी प्रक्रिया का हिस्सा थीं, जो कि पार्टी और सर्वहारा राज्यसत्ता पर वस्तुगत

परिस्थितियों द्वारा थोप दी गयीं थीं।

दसवीं कांग्रेस में लेनिन ने स्वयं पार्टी के भीतर गुट बनाने पर प्रतिबन्ध लगाने की बात कही थी, जिसका अर्थ था कि पार्टी के भीतर कोई समूह अपने अलग आन्तरिक अनुशासन के साथ अस्तित्वमान नहीं रह सकता है; यह पार्टी के भीतर पार्टी होने जैसा होगा। लेनिन ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के कॉमरेडों को स्पष्ट शब्दों में बताया कि समाजवाद चारों ओर से संकट से घिरा हुआ है और पार्टी में जनवादी तौर पर कार्यदिशा निर्धारित होने की प्रक्रिया पूरी हो चुकी है; यदि इसके बाद भी कोई संघर्ष चलाये जाने का आग्रह है तो आप संगीनें उठायें और मोर्चे पर संघर्ष चलायें। बेतेलहाइम के मुताबिक, गुट बनाने पर पाबन्दी अस्थायी थी। **लेकिन दसवीं कांग्रेस में पारित 'पार्टी एकता पर प्रस्ताव' में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो इसे अस्थायी बताता हो।** स्पष्ट है कि बेतेलहाइम का वास्तविक निशाना स्तालिन हैं और इसीलिए लेनिन की मृत्यु तक बोल्शेविक पार्टी में हुए परिवर्तनों और उसके द्वारा अपनायी गयी नीतियों की आलोचना करने के लिए बेतेलहाइम को बार-बार द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ता है और तथ्यों की उलट-फेर करनी पड़ती है।

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि पार्टी के भीतर उपरोक्त परिवर्तनों के कारण पार्टी की आन्तरिक संस्कृति में फरमानशाही, नौकरशाही और ग़ैर-जनवादी कार्यशैली का बोलबाला हो गया और इसने बहसों, चर्चाओं आदि का माहौल ख़त्म कर दिया। पार्टी के कार्यकर्ता सवाल उठाना, विश्लेषण करना और सोचना भूल गये और पार्टी और राज्यसत्ता के आज्ञाकारी दास बन गये और इन परिवर्तनों के फलस्वरूप जो पूरा विराट पार्टी-राज्य उपकरण पैदा हुआ, उसे ही *अपराचिकी (apratchiki)* कहा गया। यहाँ बेतेलहाइम माओ का अनुसरण करने का स्वाँग करते-करते सिमोन वील और नव-त्रात्स्कीपंथियों की कतार में जा खड़े होते हैं। गृहयुद्ध के जारी रहते हुए भी, जबकि बोल्शेविक पार्टी प्राणान्तक आन्तरिक संकटों से जूझ रही थी और पार्टी की मशीनरी को अधिक से अधिक चुस्त-दुरुस्त बना रही थी, पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने पार्टी के भीतर जनवाद के प्रश्न पर दो प्रस्ताव पारित किये थे। उस दौर में यह अपने आप में यह दर्शाता था कि पार्टी के भीतर एक जीवन्त राजनीतिक जीवन की स्थापना पार्टी नेतृत्व के निगाह में थी। उस दौर में पार्टी इतना ही कर सकती थी। यह कहना कतई तथ्यों के साथ बदसलूकी होगा कि पार्टी के भीतर जनवाद ख़त्म हो गया था, काडर पार्टी व राज्य के दासत्वपूर्ण उपकरण के समान हो गया था, बहस चलाना और विश्लेषण करना भूल गया था। यदि ऐसा होता तो 1921 के पहले और बाद में पार्टी के भीतर बार-बार घोषित व अघोषित विरोध पक्षों का निर्माण नहीं होता। यह कहना भी ग़लत होगा कि पार्टी के भीतर ग़ैर-जनवादी कार्यशैली और फरमानशाही का बोलबाला हो गया था। गृहयुद्ध के दौरान सोवियत सत्ता के अस्तित्व को बचाने के लिए पार्टी के भीतर निर्णय लेने की प्रक्रिया में कई बार जनवादी पद्धति को दरकिनार ज़रूर किया गया था, लेकिन यह उन आपात स्थितियों की ही विशिष्टता थी, न कि बोल्शेविक पार्टी के राजनीतिक जीवन का सामान्य गुण।

बेतेलहाइम नौकरशाही के अपने विश्लेषण में भी एक ग़ैर-मार्क्सवादी अवस्थिति पर खड़े हैं जो कि सिमोन वील व ब्रूनो रिज़्ज़ी की अवस्थिति से कुछ समानता रखती है। **उनके अनुसार, नौकरशाही बुर्जुआ प्रवृत्तियों और प्रथाओं के कारण नहीं पैदा हुई बल्कि बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ और प्रथाएँ नौकरशाही के कारण पैदा हुई।** समाजवादी संक्रमण के दौर में सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष नये रूपों में जारी रहता है और कई मायनों में पहले से ज़्यादा तीव्र हो जाता है। समाज में जारी वर्ग संघर्ष पार्टी और राज्यसत्ता में भी

अभिव्यक्त होता है। बुर्जुआ अधिकारों और श्रम विभाजन की मौजूदगी नौकरशाही की प्रवृत्तियों को जन्म देती है। **अगर नौकरशाही को बुर्जुआ प्रवृत्तियों व प्रथाओं का स्रोत मानें, तो फिर नौकरशाही का स्रोत क्या होगा?** इस नौकरशाही के स्रोत को बेतेलहाइम पार्टी व राज्य के भीतर एक ऐसे समूह के पैदा होने में देखते हैं जो कि प्रभुत्वशाली वर्ग और शासित वर्ग दोनों से ही स्वतन्त्र होने लगता है। यह ठीक वही विश्लेषण है जो कि तमाम ग़ैर-मार्क्सवादी विश्लेषकों ने रखा है। इस विश्लेषण में बेतेलहाइम इतना मार्क्सवाद जोड़ देते हैं कि वह अन्त में नौकरशाही को एक नया वर्ग या एक नया सामाजिक संस्तर नहीं घोषित करते, बल्कि एक नये वर्ग के उद्भव, यानी कि राजकीय बुर्जुआ वर्ग के उद्भव का कारण बताते हैं। लेकिन फिर भी नौकरशाही के उद्भव और विकास का उनका विश्लेषण वह विश्लेषण नहीं है जो कि लेनिन और माओ ने प्रस्तुत किया था। **यह विश्लेषण त्रात्स्की व रैकोव्स्की द्वारा पेश किये गये विश्लेषण के नज़दीक पड़ता है और साथ ही इस पर सिमोन वील व ब्रूनो रिज्जी जैसे बुद्धिजीवियों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।** लेनिन और माओ ने नौकरशाही की समस्या के उत्स उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के द्वन्द्व में तलाशे थे और स्पष्ट किया था कि बुर्जुआ श्रम विभाजन, बुर्जुआ अधिकारों और साथ ही अधिरचना के क्षेत्र में बुर्जुआ विचारधारा के प्रभाव बने रहते हुए, नौकरशाही के बार-बार पैदा होने का ख़तरा लगातार बना रहेगा। ऊपरी तौर पर, विशेष तौर पर जहाँ पर बेतेलहाइम माओ या लेनिन के विचारों की बात करते हैं, वहाँ वह भी नौकरशाही के विषय में इन्हीं विचारों को स्वीकार करते हैं। लेकिन जहाँ वह स्वतन्त्र तौर पर सोवियत रूस में राज्य व पार्टी में नौकरशाहाना प्रवृत्तियों के पैदा होने की चर्चा करते हैं, वहाँ उनका विश्लेषण मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण से काफ़ी दूर जा खड़ा होता है और एक बार फिर से समस्या के मूल की तलाश संरचनाओं में करता है।

बोल्शेविक पार्टी की सदस्यता के सामाजिक संघटन और आकार में क्रान्ति के बाद आने वाले परिवर्तनों को लेकर बेतेलहाइम जो तर्क रखते हैं, उस पर कोई भी पाठक सोचने लगता है कि आख़िर बोल्शेविक पार्टी क्या करती जिसकी बेतेलहाइम आलोचना नहीं करते! बेतेलहाइम कहते हैं कि 1919 के बाद पार्टी की सदस्यता में भारी बढ़ोत्तरी हुई और तमाम बुर्जुआ और टटपुँजिया तत्व पार्टी में घुस गये। लेकिन इसके साथ बेतेलहाइम इस बात पर सन्देह प्रकट करते हैं कि इसके कारण पार्टी सदस्यता में मज़दूर वर्ग के काडर बहुसंख्या में नहीं रह गये। **पहली बात तो यह कि यह तथ्यतः ग़लत है।** अगर ठोस तथ्यों पर निगाह डालें तो पता चलता है कि शुद्धीकरण अभियानों के पहले औद्योगिक प्रान्तों में पार्टी सदस्यता में सर्वहारा वर्ग का हिस्सा 47 प्रतिशत था, जो कि बाद में मामूली सी बढ़ोत्तरी के साथ 53 प्रतिशत हो गया था, जबकि ग्रामीण का कृषि प्रान्तों में पहले मज़दूरों व ग़रीब किसानों का हिस्सा 31 प्रतिशत था जो बाद में बढ़कर 48 प्रतिशत हो गया। लेकिन कुल मिलाकर शुद्धीकरण अभियानों के पहले और बाद में सर्वहारा सदस्यता के प्रतिशत में कोई व्यापक परिवर्तन नहीं हुआ था। दूसरी बात यह है कि सर्वहारा सदस्यों की संख्या निरपेक्ष तौर पर लगातार बढ़ी थी। लेकिन क्रान्ति के बाद किसानों के बीच पार्टी की सदस्यता तेज़ी से बढ़ी। इसके कारण हिस्सेदारी के प्रतिशत को देखकर ऐसा लग सकता है कि सर्वहारा तत्वों की संख्या घटी है। 1921 से 1923 तक सर्वहारा तत्वों के हिस्सेदारी का प्रतिशत भी बढ़ा। **जिस देश में किसान 80 प्रतिशत से ज़्यादा हों और मज़दूर वर्ग बमुश्किल तमाम 10 प्रतिशत हो, वहाँ पार्टी सदस्यता में अगर 1923 में 45 प्रतिशत मज़दूर, 25 प्रतिशत किसान और**

लगभग 30 प्रतिशत पढ़े-लिखे मध्यवर्ग के लोग हों, तो क्या यह कहा जा सकता है कि पार्टी का सर्वहारा चरित्र कमज़ोर हुआ है? पहले शुद्धीकरण अभियान के पहले भी और बाद में भी पार्टी सदस्यता का सबसे बड़ा हिस्सा सर्वहारा वर्ग था और बाद में भी सबसे बड़ा हिस्सा सर्वहारा वर्ग का ही था, बस कुछ परिमाणात्मक परिवर्तन हुए थे। यह ज़रूर सच है कि जो टटपुँजिया तत्व 1919 के बाद पार्टी में भर्ती हुए थे, उनमें से अधिकांश सदस्यता के योग्य नहीं थे और वास्तव में मार्च 1919 में आठवीं पार्टी कांग्रेस में ही केन्द्रीय कमेटी के एक सदस्य नोगिन ने इन नये सदस्यों के ग़ैर-सर्वहारा चरित्र के बारे में एक बयान दिया था। कांग्रेस ने अपने एक प्रस्ताव में स्पष्ट किया कि जल्द ही पार्टी और राज्य के निकायों में एक अहम शुद्धीकरण किया जायेगा। इससे साफ़ पता चलता है कि जो परिमाणात्मक अन्तर भी पैदा हुए थे पार्टी उनके प्रति सचेत थी और पहला अवसर मिलते ही पार्टी ने शुद्धीकरण करके इस समस्या के समाधान के लिए कदम उठा दिये थे। लेकिन बेतेलहाइम इन शुद्धीकरण अभियानों से भी नाराज़ हैं! **उनका कहना है कि चूँकि ये शुद्धीकरण सीधे जनसमुदायों द्वारा नहीं किये गये बल्कि पार्टी नेतृत्व द्वारा किये गये, इसलिए इनसे पार्टी में नौकरशाही की जड़ें और मज़बूत हुईं। यह ग़ज़ब का तर्क है।**

यहाँ हम एक बार फिर से स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं कि बेतेलहाइम 1974 में लिखी गयी इस रचना में माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में किस प्रकार लेनिनवादी सांगठनिक सिद्धान्त के बुनियादी तत्वों को भी भूल गये हैं। यहाँ बेतेलहाइम 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान पार्टी में मज़बूत हो चुके बुर्जुआ हेडक्वार्टर को ध्वस्त करने की माओवादी नीति को बोल्शेविक पार्टी पर लागू करना चाह रहे हैं, जिसमें अभी ऐसा कोई बुर्जुआ हेडक्वार्टर नहीं निर्मित हुआ था। **निश्चित तौर पर, पार्टी नेतृत्व ही शुद्धीकरण अभियान चलायेगा न कि आम जनसमुदाय, बशर्ते कि बुर्जुआ हेडक्वार्टर द्वारा पार्टी का चरित्र ही बदल दिये जाने का स्पष्ट और सामने उपस्थित ख़तरा न हो। 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान पार्टी और राज्य के अधिकारियों की सीधे जनता द्वारा आलोचना और उनके विरुद्ध शुद्धीकरण अभियान किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी की शुद्धीकरण की आम नीति नहीं हो सकती है।** अगर 1919 के सोवियत रूस में तथाकथित जनसमुदायों (जिनमें मँझोले किसान जनसमुदायों की बहुलता थी और जो उस समय बोल्शेविकों और समूची सर्वहारा सत्ता के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख़ अपनाये हुए थे) द्वारा पार्टी का शुद्धीकरण करवाया जाता तो शायद केन्द्रीय कमेटी के अधिकांश उम्दा बोल्शेविक ही पार्टी के बाहर हो जाते, जिनमें सम्भवत: लेनिन, त्रात्स्की और स्तालिन भी शामिल होते!

शुद्धीकरण अभियानों के बाद पार्टी में ताज़ा भर्ती अभियानों पर भी बेतेलहाइम को आपत्ति है। उन्हें इस बात पर भी आपत्ति है कि अधिकांश पार्टी सदस्यों को पार्टी व राज्य की अहम ज़िम्मेदारियाँ सौंप दी गयी थीं, और उन्हें इस बात पर भी एतराज़ है कि राज्य मशीनरी में बुर्जुआ तत्वों की मौजूदगी बनी हुई थी! बेतेलहाइम इस बात पर आँसू बहाते हैं कि राज्य मशीनरी का चरित्र विशिष्ट रूप से सर्वहारा नहीं था, लेकिन जब पार्टी ने सर्वहारा तत्वों को राज्य मशीनरी के कामकाज सम्भालने के लिए तैयार किया और राज्य मशीनरी का सर्वहाराकरण करने का अभियान शुरू किया तो इस पर भी बेतेलहाइम यह कहकर उंगली उठाते हैं कि सवाल सर्वहारा वर्ग से आने वाले लोगों की संख्या या हिस्सेदारी का नहीं बल्कि राज्य मशीनरी में किसी भी वर्ग से आने वाले लोगों के सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण का है। लेकिन फिर वह यह नहीं बताते कि पार्टी और राज्य मशीनरी में जिन

राजनीतिक संगठनकर्ताओं को ज़िम्मेदारियाँ सौंपी गयी थीं, उनका विश्व दृष्टिकोण क्या था? लेनिन का पार्टी में भर्ती और काडर के प्रशिक्षण के बारे में स्पष्ट दृष्टिकोण था कि पार्टी को ऐसे किसी भी सामाजिक संस्तर से भर्ती करनी चाहिए जहाँ से मार्क्सवादियों को भर्ती कर उन्हें पार्टी कार्यकर्ता के रूप में प्रशिक्षित किया जा सकता है। पंक्तियों के बीच मौजूद अर्थों को पकड़ने वाला कोई भी पाठक देख सकता है कि बेतेलहाइम के विश्लेषण की कोई धुरी नहीं है। उनके नतीजे तय हैं और उन नतीजों पर पहुँचने के लिए वह ऐतिहासिक तथ्यों जैसी मामूली चीज़ों पर ध्यान नहीं देते! **उनका नतीजा यह है कि 1918 से ही सोवियत रूस में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बीज पड़ गये थे। यही कारण है कि बेतेलहाइम सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के समय निर्धारण (यानी कि बीसवीं कांग्रेस की घटना) के बारे में लगभग हमेशा चुप रहते हैं। इसका कारण यह है कि बेतेलहाइम के लिए यह प्रक्रिया 1918 में ही शुरू हो गयी थी और 1930 के दशक में यह मुख्य तौर पर पूरी हो चुकी थी।** इन अनैतिहासिक नतीजों को सिद्ध करने के लिए बेतेलहाइम बार-बार माओ और चीनी उदाहरण को बीच में घसीट लाते हैं, जो कि माओ की शिक्षाओं का विकृतिकरण ही करता है। अपनी इसी पहुँच और पद्धति से बेतेलहाइम सदस्यता के प्रश्न पर इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि 1919-20 में ही पार्टी में बिना सोचे-समझे भर्ती और पार्टी की नौकरशाह मशीनरी (जिसके शीर्ष पर उनके अनुसार स्तालिन थे!) द्वारा शुद्धीकरण के कारण पार्टी के काडरों का सर्वहारा चरित्र खण्डित हुआ, उनका सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण क्षरित हुआ और पार्टी का सर्वहारा चरित्र अधिक से अधिक क्षणभंगुर और खोखला होता गया और अन्ततः उसके भीतर नौकरशाही मज़बूत होती गयी। ऐतिहासिक तथ्य भाड़ में जायें! आगे अपने नतीजों के सहीपन को सिद्ध करने के लिए बेतेलहाइम लेनिन के आख़िरी दौर के कुछ पत्रों का हवाला देते हैं जिसमें उन्होंने स्तालिन और त्रात्स्की के बीच अन्तरविरोध को पार्टी की एकता के लिए ख़तरनाक बताया था और एक बार फिर से पार्टी में सर्वहारा तत्वों की हिस्सेदारी को और ज़्यादा बढ़ाने पर ज़ोर दिया था, हालाँकि इन पत्रों से ऐसा कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता जो बेतेलहाइम सिद्ध करना चाहते हैं।

पुस्तक के पहले खण्ड के तीसरे हिस्से के तीसरे अध्याय में बेतेलहाइम उस प्रक्रिया की व्याख्या करने के दावा करते हैं जिसके तहत उनके अनुसार सर्वहारा अधिनायकत्व की राज्य मशीनरी ने स्वतन्त्रता व स्वायत्तता हासिल कर ली। **बेतेलहाइम की राज्यसत्ता द्वारा पार्टी से और सर्वहारा वर्ग से स्वायत्तता हासिल कर लेने की पूरी अवधारणा, जैसा कि हम दिखला चुके हैं, कतई मार्क्सवादी नहीं है। यह वर्ग विश्लेषण से प्रस्थान है। अगर राज्य मशीनरी बुर्जुआ वर्ग की सेवा नहीं कर रही थी और वह सर्वहारा वर्ग से भी स्वायत्त हो गयी थी, तो फिर उसका वर्ग चरित्र क्या था?** इस पूरी अवधारणा में सर्वहारा राज्यसत्ता के एक आदर्श-रूप की अपेक्षा भी अन्तर्निहित है। सबसे अच्छी स्थिति में भी उन्नत से उन्नत देश में समाजवादी संक्रमण के लम्बे दौर तक सर्वहारा राज्यसत्ता तमाम बुर्जुआ व नौकरशाहाना विकृतियों और विरूपताओं के साथ ही अस्तित्वमान रहेगी। बल्कि कह सकते हैं कि सर्वहारा राज्यसत्ता का ऐसा कोई दौर नहीं होगा जब वह इन विकृतियों और विरूपताओं से पूरी तरह मुक्त होगी। जिस दिन ऐसा होगा वह राज्यसत्ता वास्तव में 'राज्यसत्ता' नहीं रह जायेगी! लेकिन बेतेलहाइम को अगर ऐसी शुद्ध-बुद्ध सर्वहारा राज्यसत्ता नहीं मिलती तो वह यह निर्णय सुना देते हैं कि अब इस राज्यसत्ता की चारित्रिक आभिलाक्षणिकता सर्वहारा अधिनायकत्व नहीं रह गयी है, जैसा कि इस अध्याय में उन्होंने किया है! **हर जगह उनके विश्लेषण का पैमाना**

'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के सबसे उथल-पुथल वाले दौर की चीनी पार्टी और चीनी राज्यसत्ता हैं, जो उस भयंकर उथल-पुथल के दौर में एक पूर्ण राज्यसत्ता और एक पूर्ण पार्टी के रूप में मौजूद ही नहीं थे! चीनी उदाहरण की एक विचारधारात्मक रूप से प्रसंसाधित छवि (ideologically processed image) बेतेलहाइम के पूरे विश्लेषण पर एक छाया की तरह मौजूद रहती है।

बेतेलहाइम इस अध्याय की शुरुआत सोवियतों को सत्ता देने के प्रश्न पर लेनिन की अवस्थिति के विनियोजन के साथ करते हैं। वह कहते हैं कि लेनिन उस राज्यसत्ता से सत्ता छीन कर सोवियतों को देना चाहते थे जो कि ज़ारवादी और बुर्जुआ राज्यसत्ताओं की खिचड़ी थी। **लेकिन यहाँ भी ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बदसलूकी की गयी है।** लेनिन इस राज्य मशीनरी के मौजूद होने का लेकर ज़्यादा चिन्तित नहीं थे, बल्कि वह इसकी मौजूदगी के पक्षधर थे। उनके लिए असली समस्या थी इस राज्य मशीनरी के संचालन और पर्यवेक्षण के लिए पर्याप्त पार्टी संगठनकर्ताओं की कमी, क्योंकि सर्वहारा अधिनायकत्व को बरक़रार रखने के लिए समाजवाद को इस राज्य मशीनरी की ज़रूरत थी। लेनिन ने "वामपन्थी" कम्युनिस्टों को क़रारा जवाब दिया था जो कि यह दलील दे रहे थे कि समाजवादी क्रान्ति के बाद तो राज्य के 'अराज्य' में तब्दील होने का पहलू हावी हो जाना चाहिए लेकिन बोल्शेविक क्रान्ति के बाद तो राज्य और भी मज़बूत हो गया है। लेनिन ने कहा था कि समाजवादी संक्रमण के लम्बे दौर तक सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ वर्ग पर अधिनायकत्व को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए एक शक्तिशाली राज्यसत्ता की आवश्यकता होगी, खुफिया पुलिस की आवश्यकता होगी, सज़ाओं और मृत्युदण्ड की भी आवश्यकता होगी। यह सच है कि एक सशक्त राज्यसत्ता की मौजूदगी नौकरशाहाना प्रवृत्तियों के जोखिम को पैदा करेगी, लेकिन असल समस्या ही यही है कि पार्टी अपने सतत्, सचेतन और संस्थाबद्ध राजनीतिक व विचारधारात्मक नेतृत्व के ज़रिये राज्यसत्ता के सर्वहारा चरित्र को बरक़रार रखे। यह कोई ऐसा कार्यभार नहीं है जो किन्हीं कार्यकारी निर्णयों से निपट जाये। यह समाजवादी संक्रमण के दौरान सतत् जारी प्रक्रिया है, एक सतत् संघर्ष का प्रश्न है। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन की पूरी अवस्थिति का विनियोजन करते हैं और लेनिन को सोवियतों को सत्ता *हस्तान्तरित* करने का पक्षधर व्यक्ति बना देते हैं। लेनिन इस बात को मानते थे कि सोवियतों में जनसमुदायों के राजनीतिक व विचारधारात्मक प्रशिक्षण को उस मंज़िल तक पहुँचाया जाय कि समस्त सरकारी कार्यों को उन्हें क्रमिक प्रक्रिया में हस्तान्तरित किया जा सके। लेकिन अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले तक भी लेनिन इस सच्चाई से वाक़िफ़ थे कि सोवियतें फिलहाल पार्टी व राज्यसत्ता के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप व नेतृत्व के बिना इन कार्यों को अंजाम देने के लिए तैयार नहीं हैं। संकट यह था कि सोवियतें अभी इन कार्यों को नहीं सम्भाल सकती थीं और राज्य मशीनरी कई बार पार्टी के नेतृत्व और निर्देशों को नज़रन्दाज़ करती थी। इस संकट का कोई तात्कालिक समाधान पार्टी के पास मौजूद नहीं था क्योंकि यह उस समय सम्भव ही नहीं था। रूसी क्रान्ति की ऐतिहासिक समस्याओं की हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं। इतिहास द्वारा प्रस्तुत सीमाओं में पार्टी ने जो किया वह आश्चर्यजनक लगता है। सोवियत रूस में समाजवादी संक्रमण के इतिहास का अध्ययन महज़ सैद्धान्तिक आदर्श-रूपों (ideal types) से तुलना करके नहीं किया जा सकता, बल्कि यथार्थवादी तरीके से ही किया जा सकता है क्योंकि आदर्शवादी अपेक्षाओं, मंशाओं और वास्तविक सम्भावनाओं और सीमाओं के बीच द्वन्द्व बना ही रहता है।

बेतेलहाइम का पूरा विश्लेषण द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि यान्त्रिक भाववादी है।

बेतेलहाइम इन समस्याओं के कारण पैदा होने वाले संकट को ऐतिहासिक सन्दर्भ में नहीं देखते और अन्त में इसका ठीकरा पार्टी और विशेष तौर पर स्तालिन के सिर पर फोड़ देते हैं। यह वास्तव में स्तालिन की ग़लतियों का भी एक सही विश्लेषण करने से पाठक को रोक देता है और उसके स्थान पर एक छद्म विश्लेषण दे देता है। **और इस छद्म विश्लेषण के निशाने पर वास्तव में स्तालिन नहीं बल्कि लेनिन और समूची बोल्शेविक पार्टी है।** लेकिन लेनिन पर सीधा हमला करने की बजाय बेतेलहाइम अन्त में यह नतीजा निकालते हैं कि सर्वहारा अधिनायकत्व लगातार कमज़ोर होता गया और लेनिन की मृत्यु के समय तक सर्वहारा अधिनायकत्व मूलतः और मुख्यतः समाप्त हो रहा था क्योंकि सत्ता सोवियतों को नहीं सौंपी गयी! 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास भी यही रोना रो रहे हैं! और सुजीत दास ही क्यों "अति-माओवाद" के विभिन्न संस्करणों, अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, "वामपन्थी" कम्युनिज़्म, 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की अवस्थितियों, 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' समूह की अवस्थितियों, टोनी क्लिफ-मार्का त्रात्स्कीपन्थ के शिकार तमाम लोगों का यही स्यापा है। इन सारे विश्लेषणों की ख़ासियत वही यांत्रिक भाववाद व मनोगतवाद है, जिसके आदर्श सोवियत रूस का इतिहास पढ़ते समय बार-बार खण्डित हो जाते हैं!

बेतेलहाइम का मानना है कि राज्य मशीनरी ने स्वायत्तता हासिल कर लेने का वस्तुगत आधार था। **उनके अनुसार यह वस्तुगत कारण यह था कि रूसी क्रान्ति 1923 तक मूलतः जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में थी** (पृ. 332, खण्ड-1)! हम बेतेलहाइम के इस तर्क का पहले ही जवाब दे चुके हैं और उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। एक तरफ़ बेतेलहाइम क्रान्ति के मूलतः जनवादी मंज़िल में होने का दावा करते हैं और वहीं दूसरी ओर वह सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच जारी वर्ग संघर्ष की बात करते हैं! यह हास्यास्पद है। क्योंकि अगर ऐसा होता तो बुर्जुआ वर्ग का कोई न कोई हिस्सा सर्वहारा वर्ग का रणनीतिक मित्र होता! मिसाल के तौर पर, यहाँ धनी किसानों का वर्ग और छोटा पूँजीपति वर्ग क्रान्ति का मित्र होता! जबकि लेनिन ने स्पष्ट तौर पर कहा था कि इस समय हमारा प्रमुख दुश्मन बड़े पैमाने का राजकीय पूँजीवाद नहीं है (बशर्ते कि वह सर्वहारा अधिनायकत्व के मातहत हो) बल्कि हमारा सबसे ख़तरनाक दुश्मन टटपुँजिया वर्ग है। **'नेप' के दौर में मँझोले किसानों के साथ बने मोर्चे का भी प्रधान चरित्र रणकौशलात्मक था, न कि रणनीतिक। ज़ाहिर है, बेतेलहाइम राज्यसत्ता के स्वतन्त्र हो जाने के अपने बेतुके दावे को सिद्ध करने के लिए कई और बेतुकी दलीलें देने को मजबूर हो जाते हैं।** सोवियत राज्यसत्ता को जिन चुनौतियों का सामना करना पड़ा उसका मुख्य कारण यह नहीं था कि खेती के क्षेत्र में बोल्शेविक क्रान्ति को किसान आबादी के राजनीतिक तौर पर समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी न होने के कारण जनवादी कार्यभारों को पूरा करना पड़ा। इन चुनौतियों का मूल कारण यह था कि 1917 से लेकर 1920 के दशक के पूर्वार्द्ध तक सोवियत सत्ता को अपने अस्तित्व के लिए लड़ना पड़ा। इस अस्तित्व की लड़ाई को जीतने में कुंजीभूत कड़ी थी लम्बे समय तक 'स्मिच्का' यानी कि मज़दूर-किसान संश्रय को बचाये रखना। **इन अनिवार्यता के पहलू ने सोवियत सर्वहारा राज्यसत्ता के लिए बहुत सी दिक्कतें पैदा कीं और इसे मजबूर किया कि हर नये समाजवादी आक्रमण के पहले रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे लिये जायें और शक्ति संचित की जाये। इसने सोवियत रूस में समाजवाद के निर्माण के हर पहलू को ही प्रतिकूल तौर पर प्रभावित किया।**

ग्रामीण आबादी और बोल्शेविक पार्टी के बीच सम्बन्धों के बारे में बेतेलहाइम ठीक ही

कहते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में बोल्शेविक पार्टी की पकड़ ज़्यादा गहरी नहीं थी और ग्रामीण आबादी में ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग और टटपुँजिया वर्ग का राजनीतिक और विचारधारात्मक वर्चस्व था। पार्टी के पास मँझोले किसानों को सहमत करने की या फिर उन्हें तटस्थ करने की राजनीतिक क्षमता अभी नहीं थी। और साथ ही राज्य मशीनरी को सम्भालने के लिए पर्याप्त राजनीतिक कार्यकर्ता न होने के कारण पार्टी को उसमें पुराने बुर्जुआ विशेषज्ञों की भी सेवा लेनी पड़ी। इन दो कारणों के चलते, बेतेलहाइम के अनुसार, राज्य की मशीनरी और व्यापक जनसमुदायों के बीच एक अविश्वास पैदा हुआ। **यहाँ बेतेलहाइम एक बार फिर से बिना किसी ऐतिहासिक सन्दर्भ को पेश किये अपने मनचाहे नतीजों पर मनमाने तरीके से पहुँच जाते हैं।** यहाँ भी पार्टी की ग्रामीण आबादी में कम उपस्थिति और राज्य मशीनरी में बुर्जुआ तत्वों की मौजूदगी को पार्टी व राज्य तथा किसान जनसमुदायों के बीच घर्षण पैदा होने का कारण ठहराया गया है। इसका अर्थ यह है कि अगर पार्टी की ग्रामीण आबादी के भीतर अपेक्षाकृत ज़्यादा मौजूदगी होती और पूरी राज्य मशीनरी सर्वहारा तत्वों से भरी होती तो फिर व्यापक किसान आबादी और सर्वहारा राज्यसत्ता के बीच कोई अविश्वास या घर्षण न मौजूद होता। जैसा कि हम पहले दिखला चुके हैं, बेतेलहाइम मँझोले और खाते-पीते मँझोले किसानों के वर्ग चरित्र पर कहीं आलोचनात्मक तौर पर विचार नहीं करते। उनके लिए यह पूरा वर्ग क्रमिक प्रक्रिया में समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत किया जा सकता था और अगर वह नहीं किया जा सका तो इसके लिए सर्वहारा वर्ग की पार्टी और राज्य मशीनरी ज़िम्मेदार थी! दूसरी बात यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी की मौजूदगी तेज़ी से बढ़ी थी, जिसे कि बेतेलहाइम भी मानते हैं, हालाँकि यह मौजूदगी क्रान्ति के बाद बढ़ना उनके लिए पर्याप्त नहीं है। तीसरी बात यह कि राज्य मशीनरी का चरित्र बुर्जुआ था, इस बात को उन्होंने अपनी रचना के पहले खण्ड का अन्त होते-होते एक स्वाभाविक तथ्य या आकाशवाणी के समान बना दिया है। इस विषय में भी हम पहले ही दिखला चुके हैं कि बेतेलहाइम का इस बारे में विश्लेषण (यदि उसे विश्लेषण कहा जा सके) और नतीजे बिल्कुल ग़लत और अनैतिहासिक हैं। राज्य मशीनरी का चरित्र प्रथमत: इस बात से निर्धारित होता है कि कौन-सा वर्ग अपने हिरावल/अगुवा दस्ते के ज़रिये उसे नियन्त्रित कर रहा है; सोवियत सर्वहारा राज्य ने यदि आपात स्थितियों में बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवा ली तो इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि उस राज्य मशीनरी का चरित्र ही प्रमुखत: बुर्जुआ हो गया! यह ज़रूर है कि आपात स्थितियों में बुर्जुआ विशेषज्ञों की सेवा लेने की बाध्यता ने पार्टी और सर्वहारा राज्य के लिए राज्य की मशीनरी पर नियन्त्रण को सतत् बनाये रखने को एक चुनौतीपूर्ण कार्यभार में तब्दील कर दिया। पार्टी के लिए यह चुनौती लम्बे समय तक बनी रही। **गोरान थरबॉर्न** ने अपनी पुस्तक **'व्हाट डज़ दि रूलिंग क्लास डू व्हेन इट रूल्स'** में बेतेलहाइम की एक सही आलोचना रखी है, हालाँकि इस पुस्तक के अन्य कई तर्कों से सहमत होना कठिन है। **थरबॉर्न कहते हैं कि बेतेलहाइम एक आदर्श स्थिति की कल्पना करते हैं और उसके बाद यथार्थ को उस कल्पित आदर्श स्थिति की कसौटी पर परखने लगते हैं। जब पार्टी बेतेलहाइम द्वारा कल्पित/अपेक्षित आदर्श स्थिति पर खरी नहीं उतरती तो वह पार्टी को खरी-खोटी सुनाने लगते हैं। और तो और जिस आदर्श स्थिति की कल्पना बेतेलहाइम करते हैं वह एक सही द्वन्द्वात्मक आदर्श स्थिति है भी नहीं बल्कि एक मनोगत भाववादी आदर्श स्थिति है!** बेतेलहाइम पार्टी की ग़लतियों के बारे में चलते-चलते यह कहते हैं और इस प्रक्रिया में अपने आपको माओ का सच्चा अनुयायी दिखलाने का प्रयास करते हैं कि

बोल्शेविक पार्टी से ग़लतियाँ होना लाज़िमी था क्योंकि 'सही विचार आसमान से नहीं टपकते'! बोल्शेविक पार्टी के पास कोई पुराना अनुभव नहीं था और इसलिए उसे असफल प्रयोगों से ही सीखना था! सही बात है! **लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि बोल्शेविक पार्टी ने केवल असफल प्रयोग किये, जिससे बस आज नकारात्मक शिक्षा ली जा सकती है, जैसा कि बेतेलहाइम की रचना पढ़ते हुए आपको लगने लगता है! जब बेतेलहाइम विशिष्ट तौर पर पार्टी की सैद्धान्तिक ग़लतियों की बात करते हैं तो उनके "माओवाद" की कलई खुल जाती है।**

बेतेलहाइम वस्तुगत कारकों को मुख्य तौर पर ज़िम्मेदार रखते हुए भी यह दलील देते हैं कि पार्टी के भीतर केन्द्रीकरण का रुझान मौजूद था और यह वास्तव में द्वितीय इण्टरनेशनल की विरासत थी। यह पूरा तर्क भयंकर रूप से ग़लत और अनैतिहासिक है। वास्तव में, काऊत्स्की के नेतृत्व में द्वितीय इण्टरनेशनल द्वारा बोल्शेविक पार्टी की जो आलोचनाएँ पेश की गयी थीं, उनमें से एक आलोचना यह भी थी कि पार्टी के भीतर केन्द्रीकरण का रुझान है। **वास्तव में, यहाँ बेतेलहाइम का निशाना द्वितीय इण्टरनेशनल नहीं बल्कि लेनिन की 'क्या करें?' की थीसिस है,** हालाँकि एक जगह पर बेतेलहाइम 'क्या करें?' से एक उद्धरण भी पेश करते हैं! **बेतेलहाइम की पूरी थीसिस देखिये: बोल्शेविक पार्टी की कई सैद्धान्तिक अवधारणाएँ ग़लत थीं, क्योंकि वह एक सैद्धान्तिक रूप से ग़लत स्रोत से निकली थी, यानी कि द्वितीय इण्टरनेशनल (यहाँ द्वितीय इण्टरनेशनल के इतिहास के साथ भी नाइंसाफ़ी की गयी है क्योंकि काऊत्स्की और द्वितीय इण्टरनेशनल का एक सकारात्मक इतिहास भी था और पार्टी सिद्धान्त को विकसित करने में एक समय इनका एक अहम योगदान था); चूँकि बोल्शेविक पार्टी एक अशुद्ध स्रोत से निकली थी इसलिए वह इस स्रोत से विरासत में प्राप्त अशुद्ध विचारों से निजात नहीं पा सकी; ये अशुद्ध विचार थे पार्टी में केन्द्रीयता का सिद्धान्त जो कि जनवादी नहीं था और साथ ही राज्यसत्ता में केन्द्रीकरण का सिद्धान्त जो कि जनसमुदायों को अपने अनुभवों से नहीं सीखने देता था; इसका कारण यह था कि बोल्शेविक क्रान्ति मुख्य तौर पर जनवादी क्रान्ति के मंज़िल में थी और इसलिए कई मामलों में उसकी समानता फ्रांसीसी क्रान्ति से थी; फ्रांसीसी क्रान्ति से समानता की ओर रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने ध्यानाकर्षित किया था; इन समानताओं में एक प्रमुख समानता थी जैकोबिनवाद की प्रवृत्ति और बोल्शेविक पार्टी में यही प्रवृत्ति थी; इस प्रवृत्ति के कारण ही बोल्शेविक पार्टी ने सोवियतों को सुषुप्त बना दिया, उनके राजनीतिक जीवन को कमज़ोर बना दिया। इस प्रकार बेतेलहाइम की थीसिस अपने राजनीतिक निर्वाण पर पहुँचती है। वह रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की शुरुआती अवस्थिति के आधार पर अपने आपको सही ठहराने का प्रयास करते हैं जिन अवस्थितियों को स्वयं रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने बाद में त्याग दिया था, जैसा कि हमने तीसरे अध्याय में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग द्वारा बोल्शेविक पार्टी की आलोचना पर चर्चा करते हुए दिखलाया था।**

अपने वैधीकरण के दूसरे स्रोत के तौर पर बेतेलहाइम चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी समाजवादी प्रयोगों का इस्तेमाल करते हैं। हालाँकि, बाद में चीनी प्रयोग के बारे में भी बेतेलहाइम इसी भाषा और इसी अन्दाज़ में लिखते हैं। इसका कारण यह है कि बेतेलहाइम के पूरे चिन्तन में अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, "वामपन्थी" कम्युनिज़्म, नवत्रात्स्कीपन्थ, ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, स्वत:स्फूर्ततावाद और हेगेलीय भाववाद व मनोगतवाद की

प्रवृत्तियाँ उनकी 1974 की इस रचना में ही स्पष्ट तौर पर देखी जा सकती हैं। **चीनी क्रान्ति के उस क्षण (moment) से बेतेलहाइम प्रभावित हैं, जिस क्षण में कम-से-कम प्रतीतिगत तौर पर हम पार्टी के सिद्धान्त को खण्डित होता देख सकते हैं और संयोग से यही वह क्षण था जब सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद विश्व के पैमाने पर और सोवियत संशोधनवादी पार्टी सोवियत संघ के भीतर उन कुकर्मों का अंजाम दे रहे थे, जिन्हें बाद में 'पार्टी-राज्य' के ऊपर थोप दिया गया।** बेतेलहाइम का निशाना वास्तव में लेनिनवादी पार्टी सिद्धान्त और समाजवादी संक्रमण व निर्माण के बारे में लेनिनवादी समझदारी है, जिसमें निश्चित तौर पर, केन्द्रीयता और केन्द्रीकरण का एक अहम स्थान है। विश्लेषण की अपनी एक गति होती है और जैसा कि एक बार थियोडोर अडोर्नो ने कहा था, किसी भी अध्ययन या शोध के उद्देश्य पहले से कुछ भी तय हों, वास्तव में वे अध्ययन की प्रक्रिया में निर्धारित होते हैं। बेतेलहाइम की रचना पर भी यह बात काफ़ी हद तक लागू होती है। लेनिन की आलोचना करना उनका लक्ष्य या उद्देश्य कहीं नहीं था; लेकिन यदि पहुँच और पद्धति अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, "वामपन्थी" कम्युनिस्ट, स्वत:स्फूर्ततावादी और भाववादी मनोगतावादी हो, तो फिर सोवियत रूस के इतिहास का अध्ययन अन्ततः लेनिन की आलोचना तक ही ले जायेगा। **यही कारण है कि अपनी रचना के पहले खण्ड के अन्त तक जाते-जाते ही बेतेलहाइम के निशाने पर लेनिन आ जाते हैं और उन पर अति-केन्द्रीयतावाद, जैकोबिनवाद, राज्यवाद आदि के आरोप मढ़ दिये जाते हैं।**

4. चौथा भागः बोल्शेविक पार्टी के भीतर विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्ष

इस खण्ड की शुरुआत बेतेलहाइम लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के बीच एक खाई बनाते हुए करते हैं। बेतेलहाइम के अनुसार लेनिन के अन्दर जनसमुदायों की बात को सुनने की प्रवृत्ति, गहरी सैद्धान्तिक समझदारी और धारा के विरुद्ध जाने का साहस था। यह बात सही है कि लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के बीच एक अन्तर था, लेकिन यह अन्तर वही अन्तर था जो कि सामान्य तौर पर नेतृत्व देने वाले और नेतृत्व प्राप्त करने वाले के बीच होता है। ऐसा नहीं था कि बोल्शेविक पार्टी सैद्धान्तिक प्रशिक्षण और जनसमुदायों से रिश्ता कायम करने में अल्पविकसित थी। और यह कहना भी बोल्शेविक पार्टी के पूरे इतिहास के साथ तोड़-मरोड़ करना होगा कि रूसी क्रान्ति और उसके बाद जो कुछ सकारात्मक हुआ उसके ज़िम्मेदार लेनिन थे, जबकि जो कुछ नकारात्मक हुआ उसके लिए बाकी पार्टी ज़िम्मेदार थी। बोल्शेविक पार्टी ने क्रान्ति को संगठित करने और उसके बाद समाजवाद के निर्माण की प्रक्रिया में सामूहिक नेतृत्व प्रदान किया, जिसमें निश्चित तौर पर लेनिन की अग्रणी भूमिका थी। लेकिन लेनिन और शेष पार्टी नेतृत्व के बीच पहुँच और पद्धति के प्रश्न पर इस प्रकार की खाई पैदा करना, बेतेलहाइम की उसी प्रवृत्ति को उजागर करता है जिसे हमने पहले 'महान नेता अन्धभक्ति' (great leader fetishism) का नाम दिया था। **इस प्रवृत्ति के पीछे वास्तविक निशाना बोल्शेविज़्म है, जैसा कि बेतेलहाइम के उत्तरवर्ती विश्लेषण से साफ़ हो जाता है।**

बेतेलहाइम पार्टी के भीतर कार्यदिशाओं के संघर्ष की चर्चा शुरू करने से पहले विभिन्न वर्गों के साथ पार्टी के बदलते सम्बन्धों पर चर्चा करते हैं। चूँकि मँझोले किसानों से रिश्ते का

प्रश्न सबसे अहम था, इसलिए सबसे पहले किसान प्रश्न पर चर्चा की जाती है। बेतेलहाइम अपने पुराने तर्कों को दुहराते हुए दावा करते हैं कि 1918 में ही ग़रीब किसान समितियों का निर्माण एक वक़्त से पहले उठाया गया कदम था और यही कारण था कि इन समितियों से पार्टी को जो उम्मीद थी, वह उम्मीद वे पूरा नहीं कर सकीं। **यहाँ बेतेलहाइम यह नहीं बतलाते हैं कि इन समितियों के निर्माण का प्रस्ताव लेनिन का था!** बहरहाल, इस प्रश्न पर बेतेलहाइम तथ्यों को दरकिनार करके बात करते हैं। लेनिन का मानना था कि क्रान्ति के ठीक बाद भूमि-सम्बन्धी आज्ञप्ति में पार्टी को समाजवादी-क्रान्तिकारियों का रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम लागू करना पड़ा था, क्योंकि आर्थिक तौर पर विभेदीकृत होने के बावजूद दो कारणों से रूसी किसान आबादी अभी राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत नहीं थी। पहला कारण था प्रशियाई पथ से हुए युंकर शैली के भूमि सुधारों का परिपक्व न होना और किसानों में इस वजह से ज़मीन की भूख का पर्याप्त मात्रा में मौजूद होना और दूसरा कारण था किसानों के बीच बोल्शेविक पार्टी को अपना आधार विकसित करने का अवसर ही नहीं मिला था, और प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत के साथ रूस में राजनीतिक संकट गहरा गया था और क्रान्तिकारी स्थिति पैदा हो गयी थी। यही कारण था कि रूस में समाजवादी क्रान्ति को गाँवों में जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाना पड़ा। इस मंज़िल में पूरी किसान आबादी को साथ लेना ज़रूरी था और लेनिन की यह कार्यदिशा उसी समय से थी जब उन्होंने 'जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' नामक अपनी प्रसिद्ध रचना लिखी थी। लेनिन की यह पहुँच भी पहले से ही स्पष्ट थी कि जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के बाद तत्काल पार्टी को किसान आबादी में राजनीतिक दो-फाड़ करनी होगी और ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी को साथ लेकर और मँझोली किसान आबादी को कम-से-कम तटस्थ बनाते हुए समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ना होगा। इसी सोच के तहत गृहयुद्ध के शुरू होने से पहले ही लेनिन ने इस दिशा में सोचना और लिखना शुरू कर दिया था।

दूसरा सवाल यह है कि क्या ग़रीब किसान समितियाँ अपने अपेक्षित कार्यभार को पूरा कर सकीं? बेतेलहाइम का जवाब इसमें मुख़्तसर है–नहीं! लेकिन स्वयं लेनिन और बोल्शेविक पार्टी का यह मूल्यांकन नहीं था। निश्चित तौर पर, ग़रीब किसान समितियों ने उन सारे कार्यभारों को पूरा नहीं किया जिनके लिए उनका निर्माण किया गया था। इसका एक कारण यह भी था कि गृहयुद्ध ने उनके ऊपर तमाम तात्कालिक आपात कार्य भी लाद दिये थे। लेकिन वह अपने राजनीतिक कार्यभारों को अन्य कई कारणों से भी पूरी तरह से पूर्ण नहीं कर पायीं। इन समितियों ने गृहयुद्ध के दौरान गाँवों में कुलकों और धनी किसानों के प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध निश्चित तौर पर एक प्रतिशक्ति का निर्माण किया। इन समितियों ने ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों को संगठित किया और उनके बीच बोल्शेविक पार्टी का ज़बरदस्त आधार तैयार किया। 1918 से 1919 के बीच किसानों के बीच बोल्शेविक पार्टी का आधार और सदस्यता बढ़ने के पीछे सबसे बड़ा कारक गाँवों की सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी का इन समितियों के तहत संगठित होना भी था। लेकिन ज़बरन फसल वसूली के कार्यभार को पूरा करते हुए इन समितियों के प्रहारों के दायरे में मँझोले किसान भी आ गये। इसके पीछे एक बड़ा कारण यह था कि गाँवों में ग़रीब किसान समितियों के कार्यों को संचालित करने के लिए पार्टी के पास पर्याप्त बोल्शेविक संगठनकर्ता नहीं थे। प्रत्यक्ष राजनीतिक नेतृत्व के अभाव में ग़रीब किसान समितियाँ कई बार अतिरेकपूर्ण कार्यवाहियाँ करती थीं। इनके कारण मँझोले किसानों का वर्ग, जो कि भूमि सुधारों के बाद अब किसान आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा था,

कुलकों और धनी किसानों से अन्तरविरोधों के बावजूद पार्टी से अलगावग्रस्त होता गया। **कोम्बेडी** (ग़रीब किसान समिति) ने अपना कार्य तो किया लेकिन साथ ही अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ कीं जिससे कि किसानों का वह हिस्सा मौन असहयोग और बाद में बोल्शेविकों से शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध की तरफ़ गया जिसे कि तटस्थ बनाना था। बेतेलहाइम का कहना है कि कोम्बेडी का प्रयोग इसलिए असफल हो गया क्योंकि यह वक़्त से पहले किया गया; रूसी क्रान्ति अभी जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में थी और इसलिए पूरी किसानी को साथ लेने की कार्यदिशा को अपनाया जाना चाहिए था। यही कारण था कि दिसम्बर 1918 में इन समितियों को किसान सोवियतों में मिला दिया गया। साथ ही, बेतेलहाइम यह भी दावा करते हैं कि लेनिन अभी किसानों के बीच राजनीतिक वर्ग विभाजन पैदा करने के पक्ष में नहीं थे। ये सारे दावे तथ्यत: ग़लत हैं। लेनिन ने सातवीं पार्टी कांग्रेस में मार्च 1918 में ही कहा था:

"कृषि प्रश्न को इन अर्थों में रूपान्तरित करना होगा कि हम छोटे किसानों के आन्दोलन के पहले कदमों के साक्षी बन रहे हैं, जो सर्वहारा के पक्ष में आना चाहते हैं, जो समाजवादी क्रान्ति में मदद करना चाहते हैं, जो अपने तमाम पूर्वाग्रहों के बावजूद, अपनी तमाम पुरानी आस्थाओं के बावजूद समाजवाद में संक्रमण के कार्यभार में मदद करना चाहते हैं...किसानों ने न केवल कथनी में नहीं बल्कि करनी में भी दिखलाया है कि यह उस सर्वहारा वर्ग की समाजवाद को हक़ीकत में तब्दील करने में सहायता करना चाहते हैं, जिसने सत्ता जीती है।" (ई.एच. कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'** खण्ड-2 में उद्धृत, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 51, *अनुवाद हमारा*) मई 1918 में लेनिन ने फिर से कहा, **"हमें ग़रीबों को, यानी कि आबादी की बहुसंख्या या अर्द्धसर्वहारा को सचेतन सर्वहारा हिरावल के इर्द-गिर्द संगठित करना होगा।"** (वही) **यहाँ ग़ौरतलब है कि अभी गृहयुद्ध शुरू नहीं हुआ था, तभी लेनिन किसानों के बीच राजनीतिक वर्ग विभेदीकरण पैदा करने की नीति की शुरुआत की बात कर रहे थे।** जैसा कि **ई.एच. कार** ने दिखलाया है, बोल्शेविकों के एजेण्डे में यह कार्य क्रान्ति के तुरन्त बाद से ही था, जिसे ग्रामीण क्षेत्रों में सीमित राजनीतिक व सांगठनिक मौजूदगी के कारण वे शुरू नहीं कर पाये थे। यह भी ग़ौर करने वाली बात है कि खाते-पीते मँझोले और धनी किसानों ने बोल्शेविक सत्ता के ज़रिये भूमि हासिल करने के बावजूद सोवियत सत्ता से असहयोग शुरू कर दिया था। ई.एच. कार बताते हैं कि लेनिन ने उन किसानों के प्रति "खाद्य तानाशाही" लागू करने की वकालत की थी, जो अनाज छिपा रहे थे और जमाखोरी कर रहे थे, जबकि शहरों में और साथ ही उन गाँवों में ग़रीब आबादी भुखमरी का शिकार थी, जहाँ फसलें ख़राब हो गयी थीं। गृहयुद्ध ने स्थिति को और ख़राब कर दी जिसके बाद 11 जून 1918 की एक आज्ञप्ति के ज़रिये कोम्बेडी, यानी ग़रीब किसान समितियों का निर्माण शुरू हुआ। कुलकों, धनी किसानों और उजरती श्रम का शोषण करने वाले खाते-पीते किसानों के अलावा हर ग्रामीण नागरिक इन समितियों में चुने जाने का अधिकारी था। **ई.एच. कार** ने दिखलाया है कि इन समितियों के गठन को लेनिन बेहद अहम मानते थे। (देखें पृ. 50-55, वही) लेनिन ने बताया कि थोड़ी देर से सही लेकिन देश के गाँवों ने इन समितियों के गठन के साथ अपने 'अक्टूबर' का अनुभव करना शुरू किया था। लेनिन ने कहा था इन समितियों के गठन का **"इतिहास के मोड़ बिन्दु के रूप में महान महत्व है, खास तौर पर हमारी क्रान्ति के निर्माण और विकास की पूरी प्रक्रिया में।"**

ई.एच. कार ने ठीक ही कहा है कि समाजवादी आक्रमण (socialist offesive) गृहयुद्ध के पहले ही शुरू कर दिया गया था। लेकिन गृहयुद्ध ने इस पूरी प्रक्रिया की

गति तेज़ करने की बाध्यता बोल्शेविकों पर थोप दी। इसके कारण यह प्रक्रिया नैसर्गिक तरीके से आगे बढ़ने की बजाय विकृत हो गयी और युद्ध की तात्कालिक ज़रूरतों ने इस प्रक्रिया का सही राजनीतिक ढंग से संचालन करने का अवसर बोल्शेविक पार्टी को नहीं दिया। त्रात्स्की और बुखारिन की ग़लती यह थी कि उन्होंने युद्ध द्वारा थोपी गयी आपात आवश्यकताओं के दबाव में समाजवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया को ज़रूरत से तेज़ गति से विकसित करने को समाजवाद के विकास का आम नियम बनाने की दलील पेश की। "युद्ध कम्युनिज़्म" और गृहयुद्ध के दौरान तमाम अतिरेकपूर्ण भूलें हुईं, जिनमें से निश्चित तौर पर कुछ वस्तुगत सीमाओं के कारण हुईं थीं। लेकिन त्रात्स्की की ग़लत अवधारणाओं के कारण भी तमाम भूलें हुईं और कई नीतियों के ग़लत तरीके से संचालन में इनका भी इसमें योगदान था। बहरहाल, "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई मनोगत भूलों और वस्तुगत संकट के कारण 1921 में पार्टी को विशेष तौर पर गाँवों रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने पड़े और खाते-पीते मँझोले किसानों तक को मुक्त व्यापार और मुनाफ़ा कमाने की और यहाँ तक कि कुछ कठिन शर्तों को पूरा करने पर सीमित रूप से उजरती श्रम के शोषण की भी इजाज़त देनी पड़ी। लेकिन बेतेलहाइम के लिए यह प्रक्रिया किसान प्रश्न पर बोल्शेविकों द्वारा सही अवस्थिति को अपनाने के समान था। **उनके लिए नयी आर्थिक नीतियाँ रणनीतिक तौर पर पीछे कदम हटाना नहीं था, बल्कि समाजवादी निर्माण की स्वाभाविक और सामान्य नीति थी! और त्रासद बात यह है कि अपनी इस संशोधनवादी कार्यदिशा को वह लेनिन पर आरोपित कर देते हैं!**

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि ग़रीब किसान समितियाँ असफल रहीं और लेनिन व अन्य बोल्शेविक इसके पक्ष में नहीं थे। इसके बारे में वह कोई तथ्यात्मक ब्यौरा नहीं देते। कारण यह है कि सच्चाई इसके बिल्कुल विपरीत थी। इस सच्चाई का तिथिवार तथ्यात्मक ब्यौरे के लिए पाठक ई.एच. कार की पुस्तक 'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन' के खण्ड-2 के पृष्ठ 157 से 172 को सन्दर्भित कर सकते हैं। सच्चाई यह है कि ग़रीब किसान समितियों को किसी राजनीतिक या विचारधारात्मक कारण के लिए भंग नहीं किया गया। उन्हें केवल मँझोले किसानों को एक मित्रता का सन्देश भेजने के लिए भंग किया गया था। वास्तव में, उन्हें भंग भी नहीं किया गया था। उन्हें अधिकांशतः स्थानीय सोवियत में शामिल कर दिया गया था। और इसके नुक़सान से ज़्यादा फ़ायदे थे। ग़रीब किसान समितियों के आन्दोलन के मज़बूत होने के साथ इन समितियों के अर्द्धसर्वहारा यह माँग भी उठाने लगे कि स्थानीय किसान सोवियत के सारे कार्यभार और अधिकार उन्हें सौंप दिये जाने चाहिए। इसके साथ गाँवों में सत्ता के दो केन्द्र विकसित होने लगे। मँझोले किसान की बहुसंख्या सोवियतों में थी। इसलिए बोल्शेविक पार्टी ने सत्ता के इन दोनों केन्द्रों को मिश्रित कर दिया। इससे स्थानीय किसान सोवियतों का चरित्र भी कुछ बदला और इसके साथ ही उनमें वर्ग संघर्ष की एक प्रक्रिया भी शुरू हुई। साथ ही, गृहयुद्ध के दौरान स्थानीय किसान सोवियतों में शामिल हुए तमाम ग़रीब किसानों ने मुखबिरों की भूमिका भी अपनायी। उनके कारण कुलकों और खाते-पीते किसानों से फसल वसूली में भी काफ़ी मदद मिली। लेकिन इसके बाद भी फसल वसूली में अतिरेक होते रहे और इसके कारण मँझोले किसानों की आबादी का बड़ा हिस्सा बोल्शेविकों से दूर हुआ। इसके कारण 1921 आते-आते सोवियत सत्ता के अस्तित्व के लिए ख़तरा पैदा हो गया था। इस हानि को पूरा करने के लिए नयी आर्थिक नीतियों के साथ कुछ कदम पीछे हटाने पड़े और मध्यम किसानों और खाते-पीते किसानों तक को व्यापार की आज़ादी देनी पड़ी। **लेकिन ग़रीब किसान समितियों**

के गठन का 1918 के मध्य में लिया गया फैसला बिल्कुल सही था और अपरिपक्व कतई नहीं था। न ही इन समितियों को पूर्ण असफल प्रयोग कहा जा सकता है, जैसा कि बेतेलहाइम दिखलाना चाहते हैं। ग़रीब किसान समितियों के गठन के इतिहास और उसके विषय में लेनिन के विचारों के बारे में बेतेलहाइम का पूरा ब्यौरा ख़राब इतिहास-लेखन और तयशुदा नतीजों पर पहुँचने के लिए तथ्यों के विकृतिकरण का प्रातिनिधिक उदाहरण है।

ज़बरन फसल वसूली की गृहयुद्ध के दौर की नीति के बारे में भी बेतेलहाइम खाते-पीते मँझोले किसानों का बचाव करने के लिए तथ्यों के साथ खिलवाड़ करते हैं। उनका कहना है कि गृहयुद्ध के दौरान ज़बरन फसल वसूली के अलावा सोवियत सत्ता के पास कोई और विकल्प नहीं था और साथ ही किसान भी इस ज़बरन फसल वसूली के लिए गृहयुद्ध के जारी रहते तैयार थे! यह क्या तर्क है? **अगर बहुसंख्यक किसान (यानी कि मँझोले किसानों की व्यापक बहुसंख्या क्योंकि 1918 में सोवियत राज्यसत्ता के अनुमान के मुताबिक रूसी किसान आबादी का 50 प्रतिशत मँझोले किसान थे) ज़बरन फसल वसूली के लिए तैयार थी, तो वह फसल वसूली 'ज़बरन' कैसे हुई?** फिर तो किसानों को सरकार द्वारा तय फसल कर या फसल अधिशेष स्वयं सोवियत सत्ता को दे देना चाहिए था, फसल वसूली के लिए ग़रीब किसान समितियाँ और खाद्य ब्रिगेड बनाने की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? बेतेलहाइम दावा करते हैं कि यह स्थिति 1920 से बदलना शुरू हो गयी जब किसानों ने इसका कई बार हिंस्र तरीके से विरोध करना शुरू किया क्योंकि उन्हें लगने लगा था कि गृहयुद्ध के समापन के साथ फसल वसूली बन्द हो जानी चाहिए! अपनी गल्पकथा को आगे बढ़ाते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि ज़बरन फसल वसूली उसके बाद भी जारी रही क्योंकि उस समय "युद्ध कम्युनिज़्म" की ग़लत अवधारणाएँ पार्टी पर हावी थीं। इसमें वह लेनिन को भी समेटते हुए कहते हैं कि लेनिन ने भी बुखारिन की रचना **'दि इकोनॉमिक्स ऑफ दि ट्रांज़िशनल पीरियड'** की प्रशंसा कर रहे थे और मान रहे थे कि समाजवादी सत्ता को क्रान्ति के ढुलमुल मित्र वर्गों के कुछ हिस्सों के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती करनी पड़ सकती है। लेनिन ने अपने इस विचार को कभी बदला नहीं था, जैसा कि बेतेलहाइम हमें बाद में यक़ीन दिलाने का प्रयास करते हैं। लेनिन ने 1921 की रूसी क्रान्ति की विशिष्ट स्थितियों में इस बात पर ज़ोर दिया था कि मँझोले किसान वर्ग के साथ अभी लम्बे समय तक मज़बूत मोर्चा बनाना पड़ेगा भले ही उसकी एवज़ में उसे तमाम बुर्जुआ रियायतें भी क्यों न देनी पड़ें। **लेकिन सैद्धान्तिक तौर पर लेनिन इस बिन्दु पर स्पष्ट थे कि मध्यम किसानों के एक हिस्से के साथ सर्वहारा सत्ता को कुछ ज़ोर-ज़बरदस्ती करनी पड़ेगी, विशेष तौर पर वह हिस्सा जो उजरती श्रम का शोषण करना है और लाभ कमाता है। निश्चित तौर लेनिन बुखारिन के इस विचार से सहमत नहीं थे कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के ज़रिये कम्युनिज़्म में संक्रमण सम्भव है, लेकिन साथ ही लेनिन सैद्धान्तिक तौर पर यह मानते थे कि समाजवादी राज्य टटपुँजिया वर्गों के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती कर सकता है, चाहे यह 1921 के रूस में सम्भव हो या न हो।** लेकिन बेतेलहाइम की रचना पढ़कर लेनिन की पूरी अवस्थिति को समझना असम्भव है। न तो लेनिन त्रात्स्की-बुखारिन की अवस्थिति पर खड़े थे और न ही वे बेतेलहाइम जैसी नवनरोदवादी किसानवादी अवस्थिति पर खड़े थे। **मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम 'नयी आर्थिक नीतियों' की शुरुआत को "युद्ध कम्युनिज़्म" के अन्त पर लेनिन द्वारा आत्मालोचना और अपनी ग़लतियों को सुधारने के तौर पर पेश**

करते हैं। यह तथ्यों के साथ बदसलूकी है। **लेनिन "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई उन ग़लतियों पर पार्टी ओर से एक आत्मालोचना पेश कर रहे थे, जिनमें से अधिकांश ग़लतियों से बच पाना गृहयुद्ध के दौर में असम्भव था; साथ ही, लेनिन त्रात्स्की-बुखारिन की कार्यदिशा की आलोचना पेश कर रहे थे जिनके कारण कुछ ऐसी ग़लतियाँ भी हुईं जिनसे बचा जा सकता था।** पार्टी वर्ग शक्तियों के सन्तुलन का सही आकलन बनाने में असफल रही थी और कुछ ऐसी ग़लतियाँ हुईं जिनके कारण मध्यम किसानों को जीतने और तटस्थ बनाने की बजाय सर्वहारा वर्ग ने उससे शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध पैदा कर लिये थे। यह पूरी आलोचना उस दौर के विशिष्ट अन्तरविरोधों को हल करने में बोल्शेविक पार्टी द्वारा हुई ग़लतियों पर केन्द्रित थी, न कि किसान प्रश्न पर लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के सामान्य चिन्तन की। लेकिन बेतेलहाइम इसे ऐसे पेश करते हैं मानो लेनिन के विचारों में किसान प्रश्न पर कोई निर्णायक विच्छेद या प्रस्थान हुआ हो और उन्होंने किसान प्रश्न पर ग़लत चिन्तन को दुरुस्त कर समाजवादी निर्माण के दौरान इस प्रश्न को हल करने की आम दिशा में कोई परिवर्तन कर दिया हो। यही कारण है कि बेतेलहाइम, चीनी संशोधनवादियों, रूसी संशोधनवादियों व हमारे भारत में माकपा-मार्का संशोधनवादियों के समान 'नयी आर्थिक नीति' को समाजवादी निर्माण पर चिन्तन में एक भारी इज़ाफ़ा मानते हैं, हालाँकि लेनिन स्वयं इसे रूस में समाजवादी संक्रमण की विशिष्ट स्थितियों में रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने की संज्ञा देते थे। इसके पीछे लेनिन की सोच यह थी कि गृहयुद्ध के दौर की समाप्ति के बाद सर्वहारा सत्ता को साँस लेने और अगले समाजवादी आक्रमण के लिए शक्ति और ऊर्जा जुटाने के लिए वक़्त की ज़रूरत है। इस दौर में सर्वहारा अधिनायकत्व को कायम रखना पहली प्राथमिकता है और उसके लिए मध्यम किसानों को कुछ बुर्जुआ छूटें भी देनी पड़ती हैं, तो दी जानी चाहिए। साथ ही इस दौर में सर्वहारा सत्ता को अधिक से अधिक मध्यम किसानों को जीतना होगा और सही अवसर पर किसानों के बीच राजनीतिक दो-फाड़ करने और फिर सामूहिकीकरण की ओर आगे बढ़ने के साथ नये समाजवादी आक्रमण की शुरुआत करनी होगी। ज़ाहिर है कि 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने' के रूपक का अर्थ ही यही था कि इस दौर के बाद कदम आगे बढ़ाने थे। लेकिन बेतेलहाइम की गल्प कथा अलग लीक पर ही चलती है।

बेतेलहाइम मानते हैं कि मज़दूर वर्ग के व्यापक हिस्से गृहयुद्ध की आपात स्थितियों में लगातार पार्टी के साथ खड़े थे और उसका एक छोटा-सा हिस्सा ही था, जो भूख और युद्ध से पैदा हुई श्रान्ति के कारण पार्टी से दूर हुआ था। इस दूर हुए हिस्से को भी पार्टी ने अपने काबिल प्रचारकर्ताओं द्वारा चलाये गये प्रचार अभियानों के ज़रिये वापस जीत लिया था। लेकिन साथ ही बेतेलहाइम यह दावा भी करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी हर-हमेशा लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों का पालन नहीं कर पाती थी, हालाँकि इसके लिए वस्तुगत परिस्थितियाँ ज़िम्मेदार थीं। उनके अनुसार लेनिनवादी उसूल वही हैं जिन्हें बाद में माओ ने 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के दौरान प्रतिपादित किया था, यानी, पूरे मज़दूर वर्ग को सहमत करना, उन्हें अपने अनुभवों से सीखने देना, आदि। लेकिन यहाँ बेतेलहाइम सांगठनिक उसूलों के बारे में लेनिन और साथ ही चीनी पार्टी की बुनियादी समझदारी का उदारतावादी विनियोजन करते हैं। ज़ाहिर है कि किसी भी हिरावल पार्टी का यह कार्यभार होता है कि वह वर्ग को शिक्षित करे, उसका मार्गदर्शन करे, उसे अपने अनुभवों से सीखने दे। लेकिन निश्चित तौर पर पार्टी वर्ग के सबसे उन्नत तत्वों के दस्ते और सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण के मूर्त रूप के तौर पर

हमेशा वर्ग के मिज़ाज का अनुसरण नहीं करती है। न ही वह हर स्थिति में पूरे वर्ग की राय ले सकती है। **वास्तव में, स्वयं मज़दूर वर्ग भी पार्टी से ऐसी उम्मीद नहीं करता। ऐसी उम्मीद आम तौर पर टटपुँजिया बुद्धिजीवी ही पार्टी से करते हैं!** इसलिए लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों और उसकी नेतृत्व की शैली के प्रश्न पर लेनिन के चिन्तन को सम्पूर्णता में देखना है, तो हमें उस बहस में लेनिन के कथनों को देखना चाहिए जिसमें वह बोल्शेविक पार्टी के उन आलोचकों का जवाब दे रहे थे जिनका यह कहना था कि बोल्शेविक पार्टी ने रूसी सर्वहारा वर्ग को प्रतिस्थापित कर दिया है, या पार्टी वर्ग के ऊपर शासन करने लगी है, वगैरह। इनमें से कुछ को हमने तीसरे अध्याय में पेश किया है।

नेतृत्व की जिस शैली की बात बेतेलहाइम कर रहे हैं, इतिहास किसी भी हिरावल पार्टी को उस रूप में नेतृत्व करने का विलासितापूर्ण विशेषाधिकार नहीं देता है, चाहे वैसा कोई गृहयुद्ध न भी हो, जिसका सामना रूसी क्रान्ति और रूसी सर्वहारा सत्ता को अपनी शैशवावस्था में ही करना पड़ा। बेतेलहाइम लेनिनवादी सांगठनिक सिद्धान्तों का भी अपनी चिर-परिचित शैली में आदर्शीकरण करते हैं और वास्तविक व्यवहार में बोल्शेविक पार्टी के उस आदर्शीकृत पैमाने पर खरे न उतरने पर यह फैसला देते हैं कि बोल्शेविक पार्टी हर-हमेशा लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों को लागू नहीं कर पायी!

पार्टी के भीतर राजनीतिक व विचारधारात्मक संघर्ष की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि जनवादी केन्द्रीयता का लेनिनवादी उसूल यह है कि अधिकतम सम्भव बहस और चर्चाओं के बाद कार्यदिशा का निर्धारण और कार्यदिशा के निर्धारित हो जाने के बाद अधिकतम सम्भव अनुशासन के साथ उसका कार्यान्वयन। लेकिन उनका मानना है कि यह उसूल क्रान्ति के कुछ वर्षों बाद तक ही लागू हो पाया। इस दावे की असलियत पर हम आगे विचार करेंगे। लेकिन सबसे पहले बेतेलहाइम द्वारा स्तालिन को ग़लत रोशनी में पेश करने के लिए तथ्यों के साथ की गयी बदसलूकी की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है।

फरवरी से अक्टूबर के बीच पार्टी में जारी दो लाइनों के संघर्ष की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम दावा करते हैं कि स्तालिन और कामेनेव 'राष्ट्र की रक्षा' की कार्यदिशा को अपनाते हुए बुर्जुआ आरज़ी सरकार का समर्थन कर रहे थे, जबकि लेनिन की कार्यदिशा इस बुर्जुआ आरज़ी सरकार के विरुद्ध समाजवादी क्रान्ति की शुरुआत करने की थी। यह तथ्य बिल्कुल ग़लत है। यह सही है कि लेनिन के रूस आने और 'अप्रैल थीसिस' के प्रकाशन के पहले बोल्शेविक पार्टी में आरज़ी सरकार के प्रति रुख़ को लेकर भ्रम की स्थिति बनी हुई थी। लेकिन बोल्शेविक नेतृत्व में केवल एक प्रमुख नेता राष्ट्र-रक्षा और आरज़ी सरकार के खुले समर्थन की बात कर रहा था, वह थे कामनेव। स्तालिन ने लेनिन की 'अप्रैल थीसिस' आने के समय तक आरज़ी सरकार के ख़िलाफ़ समाजवादी क्रान्ति की कार्यदिशा को नहीं अपनाया था। उनकी कार्यदिशा यह थी कि फिलहाल आरज़ी सरकार का समर्थन भी नहीं किया जाना चाहिए और उसके विरुद्ध आम बग़ावत की बात करना भी अपरिपक्वता होगी। **स्तालिन और कामनेव, दोनों ही 'प्राव्दा' के सम्पादक मण्डल में थे, जिसमें कि कामनेव अकेले आरज़ी सरकार के समर्थन की बात कर रहे थे और स्तालिन व मुरानोव ने इस अवस्थिति का पुरज़ोर विरोध किया था।** स्तालिन का मानना था कि युद्ध में रूस की भागीदारी को जारी रखने के प्रश्न पर आरज़ी सरकार की मुख़ालफ़त की जानी चाहिए और केवल उन मुद्दों पर आरज़ी सरकार को बाशर्त समर्थन दिया जाना चाहिए जिन पर आरज़ी सरकार मज़दूर वर्ग को लाभ पहुँचाने वाले कदम उठा रही है। इस कार्यदिशा के पीछे स्तालिन

की सोच यह थी कि पार्टी अपने लिए कुछ मोहलत ले और इस बीच 'ज़िम्मरवॉल्ड-कियेन्थेल' लाइन के समर्थन में खड़े सभी सामजिक-जनवादियों को एकजुट करे और उसके बाद समाजवादी क्रान्ति की दिशा में आगे बढ़े। **लेकिन स्तालिन फरवरी से लेकर अक्टूबर तक एक बार भी राष्ट्र-रक्षा की कार्यदिशा के पक्ष में नहीं थे, जैसा कि बेतेलहाइम दावा करते हैं। इसके पक्ष में वह कोई प्रमाण भी नहीं रखते। यह स्तालिन के विषय में इतिहास का विकृतिकरण नहीं तो और क्या है?** इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्तालिन की अवस्थिति इस प्रश्न पर एक सटीक अवस्थिति नहीं थी। लेकिन इसका एक कारण यह भी था कि लेनिन के रूस वापस आने से पहले अभी बोल्शेविक पार्टी में कोई भी इस स्पष्ट अवस्थिति पर नहीं था कि फरवरी क्रान्ति के बाद दोहरी सत्ता के पैदा होने के साथ समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आ चुकी है। लेकिन जहाँ तक आरज़ी सरकार के बिना शर्त समर्थन का प्रश्न है, कामनेव को छोड़कर किसी भी मुख्य बोल्शेविक नेता की यह अवस्थिति नहीं थी। स्तालिन पर यह दोष मढ़ना एक झूठ का प्रचार करना है। स्तालिन ने बाद में अपनी ग़लत अवस्थिति के लिए आत्मालोचना करते हुए इसके कारणों की चर्चा इस प्रकार की थी:

"पार्टी–पार्टी की बहुसंख्या ने–...शान्ति के प्रश्न पर सोवियतों द्वारा आरज़ी सरकार पर दबाव बनाने की नीति अपनायी थी, और इसने सर्वहारा वर्ग और किसानों की तानाशाही के पुराने नारे से सोवियतों को सत्ता हस्तान्तरित करने के नये नारे की ओर कदम बढ़ाने का निर्णय तुरन्त नहीं लिया था। इस आधी-अधूरी नीति का इरादा था कि सोवियतों को शान्ति के ठोस प्रश्नों पर आरज़ी सरकार की साम्राज्यवादी प्रकृति को पहचानने और अपने आपको उससे अलग करने का अवसर मिले। लेकिन यह भयंकर रूप से ग़लत अवस्थिति थी क्योंकि यह शान्तिवादी विभ्रम को जन्म देती थी, रक्षावाद की लहर को ईंधन देती थी और जनसमुदायों के क्रान्तिकारी उभार को बाधित करती थी। मेरी यह ग़लत अवस्थिति अन्य पार्टी कॉमरेडों के साथ साझा थी और अप्रैल के मध्य में मैंने इसे पूर्ण रूप से त्याग दिया था जब मैंने लेनिन की थीसीज़ को अपना लिया था।" (ई.एच. कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन, 1917-23'** खण्ड-1 में उद्धृत, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 76-77, *अनुवाद हमारा*) कार ने यह भी बतलाया है कि 'प्राव्दा' के सम्पादकीय मण्डल में जारी चर्चाओं में स्तालिन और मुरानोव ने राष्ट्र-रक्षा और आरज़ी सरकार के समर्थन का पुरज़ोर विरोध किया था (देखें पृ 76, *वही*)। स्तालिन द्वारा बाद में पेश की गयी आत्मालोचना पर भी बेतेलहाइम आपत्ति करते हैं क्योंकि स्तालिन ने इस आत्मालोचना में इस तथ्य का ज़िक्र किया था कि पार्टी के अधिकांश लोग लेनिन के आने से पहले समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ने की कार्यदिशा को अपनाने का साहस नहीं जुटा पाये थे। सामान्य तौर पर कहें तो अपनी इस रचना के पहले खण्ड में बेतेलहाइम एक ओर अगले खण्डों पर स्तालिन पर खुले हमले की ज़मीन तैयार करते हैं और दूसरी ओर वे हर सही लेनिनवादी कार्यदिशा को स्तालिन का आविष्कार बताते हुए उस पर हमला करते हैं। इस प्रक्रिया में न तो वह स्तालिन की ग़लतियों की सही पहचान और पड़ताल कर पाते हैं और न ही लेनिनवादी कार्यदिशा को पुष्ट कर पाते हैं। बल्कि सही कहें तो वह माओवादी कार्यदिशा का भी ग़लत विनियोजन करते हुए अपनी अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और "वामपन्थी" अवस्थितियों को माओ की कार्यदिशा के रूप में पेश करने का प्रयास करते हैं।

बेतेलहाइम संक्षेप में क्रान्ति के बाद समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों के साथ

साझा सरकार बनाने के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी में चली बहस और फिर ब्रेस्त-लितोव्स्क संधि को लेकर चली बहस की चर्चा करते हैं। इसमें साझा सरकार के प्रश्न पर चली बहस के प्रश्न पर बेतेलहाइम चलते-चलते बताते हैं कि ज़िनोवियेव, कामनेव और राइकोव साझा सरकार के पक्ष में थे, जबकि लेनिन एक पार्टी यानी कि बोल्शेविक पार्टी की सरकार के पक्ष में थे। यहाँ यह ब्यौरा चलते-चलते आया है लेकिन बेतेलहाइम यह नहीं बताते कि स्वयं उनका एक-पार्टी व्यवस्था पर क्या विचार है। हम ऊपर बता चुके हैं कि बेतेलहाइम का यह विचार था कि एक-पार्टी व्यवस्था की बजाय अगर सोवियत रूस में बहु-पार्टी व्यवस्था अपनायी गयी होती तो बोल्शेविक पार्टी के भीतर विच्युतियों और विचलनों के पैदा होने की कम गुंजाइश होती क्योंकि बुर्जुआ और निम्न-बुर्जुआ पार्टियों द्वारा होने वाली आलोचना से बोल्शेविक पार्टी को सहायता मिलती! यही वह विचार है जिसे कई अन्य मेंशेविक और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों ने रखा था और जिसे आज के दौर में 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के सुजीत दास जैसे राजनीतिक नौदौलतिये ले उड़े हैं और सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त पर डगमगाये तमाम कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी समूह भी अपना रहे हैं। त्रासद है कि इस विषय में लेनिन के चिन्तन से या तो ऐसे लोग नावाकिफ़ हैं या फिर उसे सही ढंग से समझने में नाकाम रहे हैं। इसके बाद बेतेलहाइम ब्रेस्त-लितोव्स्क के बाद पार्टी के भी "वामपन्थी" कम्युनिस्ट गुट के निर्माण और उनसे चले संघर्ष का ब्यौरा देते हैं।

"वामपन्थी" कम्युनिस्टों से लेनिन का संघर्ष 1918 के शुरु में आरम्भ हुआ। इस गुट के नेताओं में बुखारिन व ओसिंस्की प्रमुख थे। इनका मानना था कि उन बुर्जुआ विशेषज्ञों के साथ सोवियत सत्ता का समझौता ग़लत था जो सोवियत सत्ता से बाशर्त सहयोग के लिए तैयार थे। उनका मानना था कि बुर्जुआ विशेषज्ञों को मिले विशेषाधिकार और साथ ही श्रम अनुशासन की नीति उन्हें मज़दूरों को दास बना देगी। उनके अनुसार, यदि मज़दूर अभी स्वयं समाजवाद के निर्माण के लिए तैयार नहीं हैं तो फिर उनके लिए *कोई और* समाजवाद का निर्माण नहीं कर सकता है। वे लेनिन की सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की नीति के ख़िलाफ़ थे। लेकिन लेनिन का मानना था कि समाजवाद का निर्माण रूसी क्रान्ति के सामने उपस्थित तात्कालिक प्रश्न नहीं है। तात्कालिक प्रश्न है टटपुँजिया बिखरे हुए उत्पादन की जगह बड़े पैमाने के उत्पादन की शुरुआत करना। इस कार्यभार में मज़दूर वर्ग स्वयं को सक्षम सिद्ध नहीं कर पाया था, जैसा कि कारखाना समितियों के प्रयोग से सिद्ध हुआ था। लेनिन का विचार था कि टटपुँजिया उत्पादन और मज़दूर वर्ग के अच्छे-ख़ासे में प्रभावी टटपुँजिया मनोवृत्ति का ख़ात्मा पहला तात्कालिक कार्यभार है और इसके लिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की नीति सबसे मुफ़ीद है। लेनिन का स्पष्ट मानना था कि जब तक सर्वहारा अधिनायकत्व सुरक्षित है, तब तक राजकीय पूँजीवाद से भयाक्रान्त होने की कोई आवश्यकता नहीं है और इसी के ज़रिये रूसी मज़दूर वर्ग समाजवाद के निर्माण के लिए तैयार होगा। इतिहास ने लेनिन की अवस्थिति को सही सिद्ध किया। मार्च 1918 में सातवीं पार्टी कांग्रेस में "वामपन्थी" कम्युनिस्ट गुट को निर्णायक रूप से परास्त कर दिया गया। लेकिन बेतेलहाइम कहते हैं कि इस समूह ने नौकरशाहाना केन्द्रीयता का प्रश्न उठाया था और बाद के तमाम विरोधी गुटों ने बार-बार इस प्रश्न को उठाया। यहाँ बेतेलहाइम इशारा करते हैं कि यह प्रश्न पार्टी में बार-बार इसलिए उठता रहा क्योंकि यह एक वैध प्रश्न था और पार्टी जनवादी केन्द्रीयता के उसूल से धीरे-धीरे प्रस्थान कर रही थी। लेकिन लेनिन की अवस्थिति यह थी कि यह प्रश्न तमाम गुटों ने उठाया क्योंकि पार्टी और साथ ही मज़दूर वर्ग के एक

हिस्से में टटपुँजिया रूमानी सोच और भाववादी दृष्टिकोण प्रभावी था, जोकि रूस में समाजवादी निर्माण के विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझने में नाकाम था। **बेतेलहाइम अपने अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और "वामपन्थी" दृष्टिकोण को आने से रोक नहीं पाते। बेतेलहाइम चलते-चलते यह भी कहते हैं कि "वामपन्थी" कम्युनिस्टों का प्रभाव कांग्रेस के बाद पार्टी में इसलिए भी घट गया क्योंकि पार्टी नेतृत्व ने सांगठनिक तरीकों को अपना कर काडरों का इस तरह से पार्टी के भीतर स्थानान्तरण किया कि उनका प्रभाव ख़त्म हो गया! यानी कि इस विरोधी गुट को हराने के लिए लेनिन ने सांगठनिक ज़रियों का इस्तेमाल किया, न कि राजनीतिक संघर्ष का। "वामपन्थी" कम्युनिस्टों की अवस्थितियों से बेतेलहाइम की हमदर्दी छिपाये नहीं छिपती है।** लेकिन चूँकि इस दौर में बेतेलहाइम को लेनिन और उनके नेतृत्व वाली बोल्शेविक पार्टी के पक्ष में भी कुछ बातें कहनी हैं, इसलिए वह अन्त में जोड़ देते हैं कि इस गुट से संघर्ष का इतिहास दिखलाता है कि बोल्शेविक पार्टी में अभी भी खुले विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष का 'स्पेस' था और उसके अन्दर आत्मालोचनात्मक क्षमता थी। इस टिप्पणी के पीछे भी बेतेलहाइम की भावी कार्ययोजना है। यह कार्ययोजना है 1921 की दसवीं पार्टी कांग्रेस में गुटों के निर्माण पर पाबन्दी और ख़ास तौर पर लेनिन की मृत्यु के बाद और स्तालिन के पार्टी के नेतृत्व में स्थापित होने के बाद बोल्शेविक पार्टी की यह आलोचना करना कि इस दौर के बाद बोल्शेविक पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता की जगह नौकरशाहाना केन्द्रीयता ने ले ली और बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष का 'स्पेस' समाप्त हो गया, पार्टी जनसमुदायों से रिश्ता खो बैठी, वगैरह।

●

इसके बाद बेतेलहाइम "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में पार्टी के भीतर चले विचारधारात्मक-राजनीतिक संघर्षों पर चर्चा करते हैं। इसमें सबसे पहले वह राष्ट्रीयता के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी के भीतर मौजूद बहस पर विचार करते हैं। यहाँ पर हम बेतेलहाइम द्वारा सोवियत इतिहास के विकृतिकरण का एक प्रातिनिधिक नमूना देखते हैं। बेतेलहाइम यह दिखलाना चाहते हैं कि स्तालिन की कार्यदिशा राष्ट्रीयता के प्रश्न पर लेनिन से अलग थी। जहाँ लेनिन राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को पूर्ण रूप से लागू करना चाहते थे, वहीं स्तालिन महान रूसी राष्ट्रीय कट्टरपन्थ के शिकार थे! **यह साबित करने के चक्कर में बेतेलहाइम ने तथ्यों का ऐसा घालमेल किया है कि कोई भी गम्भीर इतिहासकार बेतेलहाइम के पूरे इतिहास-लेखन की भरोसेमन्दी पर गहरा शक़ करेगा। आइये देखें कि बेतेलहाइम ने किस प्रकार न सिर्फ़ विभिन्न तथ्यों को सन्दर्भ से काटकर गड्ड-मड्ड कर दिया है, बल्कि सिरे से ग़लत तथ्य भी पेश किये हैं।**

बेतेलहाइम लिखते हैं कि यूक्रेन में एक बोल्शेविक नेता स्क्राइपनिक के नेतृत्व में अप्रैल 1918 में एक सोवियत गणराज्य का गठन हुआ और इसके गठन के बाद स्क्राइपनिक ने स्तालिन द्वारा अलग यूक्रेनी सोवियत गणराज्य के स्थापना का कड़ा विरोध किया; बेतेलहाइम यह भी दावा करते हैं कि स्तालिन ने यह विरोध इस यूक्रेनी सोवियत गणराज्य के स्थापना के बाद तत्काल लेनिन द्वारा भेजे गये बधाई सन्देश के बावजूद किया! **अब अगर आप इस घटना को सोवियत रूस के इतिहास में ढूँढेंगे तो आपको बड़ी भारी निराशा हाथ लगेगी क्योंकि यूक्रेन में अप्रैल 1918 में किसी सोवियत गणराज्य के स्थापना की घोषणा नहीं हुई थी!** यूक्रेन में तीन बार सोवियत गणराज्य की स्थापना के प्रयास हुए और तीसरा प्रयास सफल

हुआ। इसका ब्यौरा हम अभी थोड़ी देर में देंगे लेकिन प्रश्न यह उठता है कि बेतेलहाइम को यह विचित्र सूचना कहाँ से मिली? जब आप उनकी सन्दर्भ टिप्पणियों को देखते हैं, तो आपको पता चलता है। **बेतेलहाइम को यह सूचना रॉय मेदवेदेव की कुख्यात पुस्तक *लेट हिस्ट्री* जज से मिलती है!** अगर आप इस तथ्य को सोवियत रूस के सबसे भरोसेमन्द और प्रातिनिधिक इतिहास-लेखन में खोजेंगे, जैसे कि ई.एच. कार, मॉरिस डॉब आदि तो आपको यह कहीं नहीं मिलेगा। अब यूक्रेन में सोवियत गणराज्य की स्थापना पर आते हैं। बोल्शेविक क्रान्ति के तुरन्त बाद नवम्बर में ही यूक्रेन की बुर्जुआ संसद राडा ने यूक्रेन को एक अलग गणराज्य घोषित कर दिया। इस बुर्जुआ यूक्रेनी सरकार का प्रधानमन्त्री था विनीचेंको और सैन्य मन्त्री था जनरल पेत्ल्यूरा। यूक्रेन में सोवियतें भी पैदा हो चुकी थीं यूक्रेन की बुर्जुआ सरकार ने गृहयुद्ध में खुले तौर पर श्वेत गार्डों का साथ देना शुरू कर दिया था। विनीचेंको राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के बोल्शेविक सिद्धान्त का लाभ उठा रहा था। कई अन्य छोटे गणराज्यों की बुर्जुआज़ी भी ऐसा प्रयास कर रही थी और इसी वजह से स्तालिन और लेनिन के बीच राष्ट्रीयता के प्रश्न को लेकर बहस भी हुई थी, जिसमें स्तालिन ने यह दलील पेश की थी कि राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को समाजवाद के हितों के मातहत रखा जाना चाहिए और हमें इसे हर देश के मेहनतकश अवाम द्वारा आत्मनिर्णय का अधिकार मानना चाहिए; इसके जवाब में लेनिन ने यह पूछा कि जिन देशों में वर्गों के बीच का राजनीतिक विभेदीकरण स्पष्ट नहीं है और जनवादी क्रान्ति की मंज़िल है और जहाँ मेहनतकश वर्ग बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में चल रहे हैं, वहाँ इस सिद्धान्त को कैसे लागू किया जायेगा? स्तालिन का मानना था कि जिन देशों में मज़दूर वर्ग का राजनीतिक आन्दोलन बुर्जुआ वर्ग से अलग संगठित है कम-से-कम वहाँ राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का बुर्जुआ वर्ग को प्रतिक्रान्तिकारी इस्तेमाल करने की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। राष्ट्रीयता के मसलों के कमिसार के तौर पर गृहयुद्ध के दौरान विभिन्न राष्ट्रीयताओं की बुर्जुआज़ी से स्तालिन को सीधे तौर पर निपटना पड़ रहा था, जो कि अक्सर देनीकिन, कोल्चाक और रैंगल का साथ दे रही थीं, या फिर जर्मन या पोलिश साम्राज्यवादियों का। **ऐसे में, स्तालिन की अवस्थिति लेनिन से गुणात्मक तौर पर भिन्न नहीं थी, लेकिन निश्चित तौर पर उसमें कुछ फर्क था।** इस विवाद पर हम विस्तार से उपयुक्त अध्याय में चर्चा करेंगे। लेकिन अभी हम यूक्रेन के बेतेलहाइम द्वारा प्रस्तुत काल्पनिक इतिहास पर लौटते हैं।

बेतेलहाइम के दावों के विपरीत यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की स्थापना का पहला प्रयास दिसम्बर 1917 में हुआ जब राडा के विरुद्ध यूक्रेनी बोल्शेविकों ने कियेव से हटकर खारकोव में एक सोवियत कांग्रेस की और एक सोवियत कार्यकारी समिति का निर्माण किया और पेत्रोग्राद की बोल्शेविक सोवियत सरकार को टेलीग्राम भेजा कि उन्होंने यूक्रेन में सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया है। फरवरी 1918 में राडा की सरकार को उखाड़ फेंका गया और पहले यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की स्थापना का एलान किया गया। लेकिन यह गणराज्य मात्र तीन सप्ताह तक टिका। यूक्रेनी बुर्जुआ वर्ग ने जर्मनी की मदद माँगी और जर्मनी ने यूक्रेन पर हमला करके सोवियत गणराज्य को समाप्त कर दिया और वहाँ राडा के शासन की पुनर्स्थापना कर दी। अप्रैल 1918 में राडा की सरकार को गिराकर जर्मनी ने वहाँ स्कोरोपैड्स्की नामक एक व्यक्ति के मातहत अपनी कठपुतली सरकार बिठा दी। इस नयी सरकार ने यूक्रेन के किसानों और मज़दूरों का भयंकर दमन शुरू किया और जल्द ही इसके ख़िलाफ़ यूक्रेनी जनता में विद्रोह की स्थिति पैदा हो गयी। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की सैन्य पराजय के साथ इस

सरकार का पतन हुआ और फिर से यूक्रेनी बुर्जुआ राष्ट्रवादियों की सरकार राडा के तहत बन गयी। लेकिन 29 नवम्बर 1918 को प्याताकोव के नेतृत्व में फिर से सोवियत गणराज्य की स्थापना हुई। बाद में रैकोव्स्की इस नये सोवियत गणराज्य के प्रमुख बने। मार्च 1919 में यूक्रेनी सोवियत गणराज्य का संविधान बना जो कि काफ़ी कुछ सोवियत रूस के संविधान जैसा ही था। बाद में सितम्बर 1919 में देनीकिन की सेनाओं ने हमला किया और कियेव एक बार फिर हाथ से निकल गया। यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की स्थापना का दूसरा प्रयास असफल हो गया। लेकिन दिसम्बर 1919 में बोल्शेविकों ने देनीकिन की सेनाओं को निर्णायक रूप से परास्त कर दिया और कियेव पर फिर से कब्ज़ा कर लिया। यह तीसरा और अन्तिम प्रयास था जिसके बाद रैकोव्स्की के नेतृत्व में यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की स्थापना हो गयी। विभिन्न प्रतिक्रियावादी ताक़तों के प्रतिरोध को यूक्रेन में अगस्त 1921 तक निर्णायक रूप से कुचल दिया गया। स्क्राइपनिक कभी भी यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की सरकार के प्रमुख नहीं थे, जैसा कि बेतेलहाइम दावा करते हैं! **बेतेलहाइम का यह इतिहास-लेखन सोवियत इतिहास के विद्यार्थियों के लिए ख़तरनाक है! स्क्राइपनिक एक यूक्रेनी बोल्शेविक थे जिन्होंने बारहवीं पार्टी कांग्रेस (1923) और चौदहवीं पार्टी कांग्रेस (1925) में पार्टी के भीतर महान रूसी भावना पर बात रखी थी और उनके समर्थन में रैकोव्स्की के साथ-साथ स्तालिन ने भी एक लम्बा बयान दिया था।** स्तालिन द्वारा सोवियत संघ की स्थापना के ठीक पहले और बाद में राष्ट्रों के बीच मौजूद असमानता को समाप्त करने के प्रयासों और उनके विचारों के लिए आप ई.एच. कार की पुस्तक 'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन, 1917-23' के खण्ड-1 के पृष्ठ 364 से 379 तक का सन्दर्भ देख सकते हैं।

बेतेलहाइम इसके ठीक बाद रॉय मेदवेदेव की किताब को अपना प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ बनाकर कई काल्पनिक तथ्य पेश करते हैं। जैसे कि यह तथ्य कि पार्टी में एक अघोषित सैन्य विरोध गुट मौजूद था जिसके सदस्य वोरोशिलोव, यारोस्लाव्स्की, कामेंस्की और *मिलिन (इस व्यक्ति का कोई सन्दर्भ आपको सोवियत रूस के अन्य इतिहास-लेखन में नहीं मिलेगा)* थे और ये सभी स्तालिन के बहुत करीब थे। इन लोगों ने सेना में बुर्जुआ विशेषज्ञों का विरोध किया था। **ऐसे किसी विरोधी गुट का कोई सन्दर्भ आपको कहीं नहीं मिलेगा, सिवाय बेतेलहाइम और रॉय मेदवेदेव के!** इसके बाद बेतेलहाइम दावा करते हैं कि स्तालिन को 'रिवोल्यूशनरी वॉर काउंसिल ऑफ दि सदर्न फ्रण्ट' से हटा दिया गया था क्योंकि वह त्सारित्सिन मोर्चे पर इस सैन्य विरोधी गुट के पक्ष में निर्णय ले रहे थे और पार्टी के नेतृत्व के निर्देशों को अमल में नहीं ला रहे थे। इसके बाद बेतेलहाइम आठवीं कांग्रेस में लेनिन द्वारा दिये गये एक *अप्रकाशित* भाषण की चर्चा करते हैं, जिसमें स्तालिन को लेनिन ने काफ़ी खरी-खोटी सुनायी थी! **इन सभी सूचनाओं का सिर्फ़ एक ही स्रोत है: रॉय मेदवेदेव! न तो ई.एच.कार की पुस्तक में इसकी कोई चर्चा मिलती है, न डॉब की और न ही किसी अन्य पार्टी स्रोत में!** निश्चित तौर पर एक सैन्य विरोध पक्ष मौजूद था जो कि त्रात्स्की द्वारा गृहयुद्ध के दौरान सेना में पुराने विशेषज्ञों की भर्ती का विरोध कर रहा था। लेकिन किसी भी स्रोत में आपको स्तालिन की इस गुट से करीबी का कोई सन्दर्भ नहीं मिलेगा। यह रिश्ता रॉय मेदवेदेव और चार्ल्स बेतेलहाइम का आविष्कार है! स्तालिन को किसी मोर्चे से असफलता या पार्टी निर्देशों के उल्लंघन की वजह से हटाये जाने का भी कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। हाँ, ऐसी घटनाओं का ज़िक्र ज़रूर मिलता है कि स्तालिन को किसी अन्य जगह ज़्यादा ज़रूरत होने के कारण पुरानी ज़िम्मेदारी से हटाया गया हो। **लेकिन बेतेलहाइम न सिर्फ़ स्तालिन पर कीचड़**

उछालने का कोई अवसर नहीं गँवाते, बल्कि कोई अवसर न होने पर अवसर "पैदा" भी कर लेते हैं। अफ़सोस की बात यह है कि बेतेलहाइम यह सारा कार्य माओ के "सच्चे शिष्य" के चोगे में करते हैं।

आठवीं कांग्रेस और उसमें जनवादी केन्द्रीयता के लिए संघर्ष के प्रश्न को भी बेतेलहाइम ने नौवीं कांग्रेस में हुई बहस के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया है। बेतेलहाइम का कहना है कि "वामपन्थी" विरोध पक्ष की अवस्थितियों को कांग्रेस में स्मिर्नोव, ओसिंस्की व साप्रोनोव ने रखा और उनकी मुख्य आपत्ति कारखानों के प्रबन्धन में बुर्जुआ विशेषज्ञों को शामिल करने पर थी और साथ ही ये लोग केन्द्रीय कमेटी में मज़दूरों को शामिल करने और जनवादीकरण की बात कर रहे थे। लेकिन तथ्य इससे काफ़ी भिन्न हैं। वास्तव में, यह मसला मुख्य तौर पर नौवीं कांग्रेस में उठा था जिसमें कि "डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म" नामक समूह ने एक व्यक्ति वाले प्रबन्धन की व्यवस्था का विरोध किया था। आठवीं कांग्रेस में ओसिंस्की ने जिस बात की आलोचना की थी उसके निशाने पर लेनिन और स्वेर्दलोव थे, जिनकी कांग्रेस के शुरू होने के ठीक पहले मृत्यु हो गयी थी। ओसिंस्की का कहना था कि पार्टी का राजनीतिक कार्य केन्द्रीय कमेटी और उसमें भी लेनिन और स्वेर्दलोव के बीच अति-केन्द्रीकृत हो गया है, जो कि आपसी चर्चा से अहम निर्णय ले लेते हैं। इस आलोचना पर लम्बी चर्चा के बाद पार्टी ने अर्थव्यवस्था और राज्य उपकरण में बिखराव को रोकने और गृहयुद्ध की आपात स्थितियों से निपटने के लिए केन्द्रीकरण को बढ़ाने और पार्टी के नियन्त्रण को और मज़बूत करने का निर्णय लिया और इस कांग्रेस में "वामपन्थी" विपक्ष की निर्णायक पराजय हुई। इस कांग्रेस में अभी केन्द्रीय कमेटी के संघटन का मुद्दा अहम बन ही नहीं पाया था और मज़दूरों को केन्द्रीय कमेटी में शामिल करने का सवाल बाद में उपस्थित हुआ था, जैसा कि बेतेलहाइम ने लिखा है।

दूसरी बात यह कि लेनिन ने चार वर्ष बाद ओसिंस्की या स्मिर्नोव की बात को स्वीकार करते हुए या दुहराते हुए यह नहीं कहा था कि केन्द्रीय कमेटी में मज़दूरों को शामिल किया जाना चाहिए, जैसा कि बेतेलहाइम दावा करते हैं। लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी को मृत्यु से पहले और विस्तारित और बड़ा करने की बात कही थी, जिसका मुख्य कारण समकालीन सन्दर्भ में था। 1923 तक सोवियत सत्ता स्थिरीकृत और सुदृढ़ हो चुकी थी। 1922 और 1923 में खेती में उत्पादन बढ़ा था और आर्थिक संकट सम्भलने लगा था। लेनिन उस समय इस बात की ज़रूरत महसूस कर रहे थे कि गृहयुद्ध और विदेशी सैन्य घेरेबन्दी की आपात स्थितियों के गुज़रने के बाद पार्टी को कतारों और आम जनसमुदायों के राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण, पार्टी के भीतर अधिक जनवाद और ज़िम्मेदारियों के विस्तार पर ध्यान देना चाहिए। लेनिन का मानना था कि राजनीतिक चेतना का स्तर जितना ऊपर उठेगा पार्टी में जनवाद और केन्द्रीयता के बीच उतना ही सही द्वन्द्वात्मक तालमेल स्थापित होगा। बेतेलहाइम यहाँ लेनिन की पूरी अवस्थिति को तोड़-मरोड़ रहे हैं और साथ ही सन्दर्भों से उसे काटकर लेनिन को एक "वामपन्थी" कम्युनिस्ट में तब्दील करने की कोशिश कर रहे हैं। **लेनिन की ऐसी तस्वीर पेश की जा रही है मानो उन्हें तमाम अराजकतावाद-संघाधिपत्यवादियों, "वामपन्थी" विपक्षों की बात देर से समझ में आयी!**

बेतेलहाइम तथ्यों के विकृतिकरण की अपनी परियोजना को आगे बढ़ाते हुए दावा करते हैं कि आठवीं कांग्रेस में अपनाये गये नये कार्यक्रम के आर्थिक हिस्से के बिन्दु 5 में ट्रेड यूनियनों को आर्थिक प्रबन्धन में अधिक भूमिका, ज़िम्मेदारी और अधिकार देने

का प्रावधान "वामंपथी" विपक्ष के दबाव में किया गया था। यह कथन पूर्णतः ग़लत है और दिखलाता है कि सोवियत रूस के इतिहास का बेतेलहाइम का प्रस्तुतिकरण अनैतिहासिक और तथ्यतः अपूर्ण है। नये पार्टी कार्यक्रम ने "वामपन्थी" विपक्ष की अवस्थिति को पूरी तरह ठुकरा दिया था और यह कार्यक्रम के दो प्रमुख पहलुओं में देखा जा सकता है। पहली बात तो यह कि पार्टी कार्यक्रम ने बुर्जुआ विशेषज्ञों को आर्थिक प्रबन्धन में केन्द्रीय स्थान देने की हिमायत की थी, जो कि "वामपन्थी" विपक्ष की अवस्थिति को पुरज़ोर नकार था। निश्चित तौर पर, एक व्यक्ति वाले प्रबन्धन और बुर्जुआ विशेषज्ञों को केन्द्रीय स्थान देने वाली औद्योगिक प्रबन्धन की प्रणाली पर कम्युनिस्ट कमिसारों का नियन्त्रण होता था। दूसरा प्रमुख पहलू था ट्रेड यूनियनों को आर्थिक प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी देना और साथ ही ट्रेड यूनियनों के सोवनार्कोम व वेसेंखा के साथ करीबी तालमेल में काम करने पर ज़ोर दिया जाना। बेतेलहाइम का मानना है कि यह "वामपन्थी" कम्युनिस्टों के प्रभाव को दिखलाने वाला बिन्दु था! वास्तव में, यह उसके बिल्कुल विपरीत था। ट्रेड यूनियनों को 1919 की पार्टी कांग्रेस में अपनाये गये नये कार्यक्रम में जो भूमिका सौंपी गयी थी, वह काफ़ी हद तक एक सरकारी निकाय के तौर पर श्रम अनुशासन को स्थापित करने और बुर्जुआ विशेषज्ञों के साथ तालमेल स्थापित करते हुए काम करने के लिए सौंपी गयी थी। दूसरी बात यह कि ट्रेड यूनियनों को यह भूमिका इसलिए सौंपी गयी थी क्योंकि कारखाना समितियों की तुलना में वे ज़्यादा व्यापक औद्योगिक संगठन थे जो कि पूरे के पूरे उद्योग की इकाई में काम करते थे। "वामपन्थी" कम्युनिस्ट कारखाना समितियों के आन्दोलन के हिमायती रहे थे। बाद में "डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म" समूह के सदस्य भी कारखाना समितियों द्वारा कारखानों के नियन्त्रण के हिमायती रहे थे। कारखाना समिति आन्दोलन के बुरी तरह से असफल होने के बाद नियन्त्रण के उपकरण के तौर पर ट्रेड यूनियनों को ज़िम्मेदारियाँ सौंपने का फैसला लिया गया, हालाँकि इस पर विचार पार्टी के भीतर पहले से ही चल रहा था। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ट्रेड यूनियनों को यह भूमिका सौंपने पर राज़ी था लेकिन वह ट्रेड यूनियनों को सरकार और पार्टी से पूर्ण स्वायत्तता देने की बात करता था। आठवीं कांग्रेस में अपनाये गये जिस आर्थिक कार्यक्रम की बात बेतेलहाइम कर रहे हैं उस समय तक 'वर्कर्स अपोज़ीशन' समूह से बहस शुरू भी नहीं हुई और अभी इस समूह का निर्माण भी नहीं हुआ था। **"वामपन्थी" कम्युनिस्टों से इस कांग्रेस में पुरज़ोर बहस हुई थी और ट्रेड यूनियनों को आर्थिक प्रबन्धन में अहम भूमिका सौंपने का फैसला उनके दबाव में नहीं बल्कि उनके विरोध में लिया गया था।** इस दौर में लेनिन ने स्वयं ट्रेड यूनियनों की सरकारी भूमिका पर बल दिया था। **बेतेलहाइम आठवीं कांग्रेस की एक ग़लत तस्वीर पेश करते हैं ताकि "वामपन्थी" कम्युनिस्ट विपक्ष को सही ठहराया जा सके और यह दिखलाया जा सके कि इनकी अवस्थितियों को ही बाद में लेनिन ने बिना श्रेय दिये अपना लिया था। यह तथ्यतः भी ग़लत है और लेनिन की अवस्थिति का भयंकर विकृतिकरण है।**

"वामपन्थी" कम्युनिस्ट विपक्ष की पराजय के बाद बेतेलहाइम "डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म" समूह के साथ विवाद का प्रश्न उठाते हैं। और इसके साथ ही मार्च 1920 की नौवीं पार्टी कांग्रेस में त्रात्स्की-बुखारिन के दक्षिणपन्थी भटकाव के साथ लेनिन के संघर्ष का ब्यौरा भी देते हैं। इसमें भी तथ्यों की ज़बरदस्त हेर-फेर है। मिसाल के तौर पर, त्रात्स्की और बुखारिन के "श्रम के सैन्यकरण" की थीसिस का प्रस्तुतिकरण ईमानदारी के साथ नहीं किया गया है; निश्चित तौर पर, लेनिन ने त्रात्स्की व बुखारिन की अवस्थितियों की कड़ी आलोचना की थी

और कहा था कि युद्ध की आपात स्थितियों में सर्वहारा अधिनायकत्व की रक्षा के लिए उठाये गये कदमों के अलावा ऐसे कदमों को समाजवादी संक्रमण की आम नीति कतई नहीं बनाया जा सकता है। **बुखारिन की पुस्तक *इकोनॉमिक्स ऑफ दि ट्रांज़िशनल पीरियड* को बेतेलहाइम इस दक्षिणपन्थी थीसिस की प्रातिनिधिक कृति मानकर पूरी तरह से ख़ारिज कर देते हैं। लेकिन बेतेलहाइम यह तथ्य बताना आवश्यक नहीं समझते हैं कि लेनिन का इस पुस्तक के बारे में यह दृष्टिकोण नहीं था और लेनिन इसमें सुझायी गयी कई नीतियों को आम तौर पर सही मानते थे।** लेकिन लेनिन का यह मानना ज़रूर था कि इनमें से कई नीतियों को समकालीन समाजवादी रूस में लागू कर पाना सम्भव नहीं था; मिसाल के तौर पर, मुद्रा का इस हद तक अवमूल्यन करना कि उसकी प्रासंगिकता समाप्त हो जाये और उसके बाद वस्तुओं का राजकीय वितरण होने लगे। लेनिन का मानना था कि फिलहाल रूस में यह सम्भव नहीं है और अभी पहले बाज़ार की प्रणाली के द्वारा गाँवों और शहरों के बीच टूट चुके विनिमय को पुनर्स्थापित करना होगा, जिसके लिए खाते-पीते किसानों को भी पूँजीवादी छूटें देनी होंगी। लेनिन यह भी मानते थे कि बुखारिन की पुस्तक समाजवादी संक्रमण के आम नियमों के बारे में कई मार्के की बातें कहती है। लेकिन बेतेलहाइम ने इन तथ्यों का ज़िक्र किये बिना उस पर अपनी काल्पनिक अवधारणाएँ थोप दी हैं; **जैसे कि बेतेलहाइम दावा करते हैं कि त्रात्स्की व बुखारिन का मानना था कि क्रान्ति के बाद पार्टी मज़दूर वर्ग की हिरावल से उसको नियन्त्रित करने वाली एक श्रेष्ठतर शक्ति में तब्दील हो जाती है! अगर आप त्रात्स्की और बुखारिन की उस दौर की रचनाओं में उनकी पूरी थीसिस को पढ़ें तो आप पाते हैं कि उन्होंने ऐसा कहीं भी नहीं कहा था।** निश्चित तौर पर, ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर, मज़दूर वर्ग के आत्मानुशासन और श्रम के सैन्यकरण के प्रश्न पर उनकी थीसिस एकदम ग़लत थी और यह पार्टी की अगुवा भूमिका को और क्रान्ति में मज़दूर वर्ग की अगुवा भूमिका को नहीं समझती थी। यही कारण है कि उनकी थीसिस दक्षिणपन्थी होने के साथ-साथ वामपन्थी दुस्साहसवादी व हिरावलपन्थी थीसिस भी थी, जिस पहलू को बेतेलहाइम नहीं समझ पाते हैं। नवीं कांग्रेस में और उसके बाद के दौर में त्रात्स्की और बुखारिन का विपक्ष निर्णायक तौर पर पराजित हुआ। केवल नवीं कांग्रेस में ही इस विपक्ष की पराजय का सिलसिला पूरा नहीं हुआ था। वास्तव में, त्रात्स्की ने ट्रेड यूनियनों पर अपनी पूरी थीसिस नवीं कांग्रेस के बाद रखी थी और इस पर लेनिन के पक्ष के साथ खुली बहस भी वास्तव में नवीं और दसवीं कांग्रेस के बीच चली थी। यह बहस तमाम ट्रेड यूनियन कांग्रेसों व सम्मेलनों में और साथ ही बोल्शेविक मुखपत्रों में चली थी। यही कारण था कि दसवीं कांग्रेस तक त्रात्स्की का पक्ष निर्णायक रूप से परास्त हो चुका था और दसवीं कांग्रेस में लेनिन की आलोचना का मुख्य निशाना त्रात्स्की का गुट नहीं बल्कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' था। 'वर्कर्स अपोज़ीशन' समूह ने ठोस रूप ही नवीं कांग्रेस के बाद ग्रहण किया था और ट्रेड यूनियनों के प्रश्न पर विवाद की शुरुआत वास्तव में 'वर्कर्स अपोज़ीशन' और त्रात्स्की के बीच हुई थी, जिसमें पहला गुट अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के छोर पर था तो दूसरा समूह दक्षिणपन्थी-वामपन्थी दुस्साहसवाद और हिरावलपन्थ के छोर पर। लेनिन ने इन दोनों गुटों से अलग अपनी पूरी कार्यदिशा दसवीं कांग्रेस में रखी और पार्टी ने उसे अनुमोदित किया। इस पूरे विवाद के बारे में विस्तार से जानने के लिए तीसरे अध्याय को देखें ('दिशा सन्धान', अंक-1, अप्रैल-जून, 2013, पृ. 43-59)।

लेकिन बेतेलहाइम सारे तथ्यों को गड्ड-मड्ड कर देते हैं। मिसाल के तौर पर,

बेतेलहाइम मानते हैं कि 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' गुट ने मुख्य तौर पर पार्टी के बीच प्राधिकारवाद और ग़ैर-जनवादी तौर-तरीकों का मुद्दा उठाया था और उनके दबाव के कारण एक नियंत्रण आयोग का गठन किया गया था। यह पूरा तथ्य ही ग़लत है। पहली बात तो यह कि नवीं कांग्रेस में इस गुट की प्रमुख आपत्ति एक-व्यक्ति वाले प्रबन्धन को उद्योगों में लागू किये जाने पर थी, अन्य बातें परिधिगत थीं। दूसरी बात यह कि न तो नवीं पार्टी कांग्रेस में कोई नियन्त्रण आयोग गठित किया गया था और न ही बाद में इसे इस गुट के दबाव में गठित किया गया था। यह आयोग 1920 की गर्मियों के अन्त में बनाया गया था। वैसे भी, अगर 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म' गुट के दबाव में यह आयोग बना होता तो उसकी ज़िम्मेदारी मुख्य तौर पर द्ज़र्जेंस्की, प्रियोब्रेज़ेंस्की और मुरानोव को न सौंपी जाती। वास्तव में, इस नियन्त्रण आयोग को बनाये जाने का कारण पार्टी के भीतर कतारों और मज़दूर इकाइयों में गृहयुद्ध के दबाव में लागू किये गये अति-केन्द्रीकरण और अति-अनुशासन के प्रति असन्तोष था, जिसके कारण कई इकाइयाँ पार्टी निर्देशों को नज़रन्दाज़ कर रही थीं और साथ ही कई जगहों पर पार्टी पदाधिकारी ग़ैर-जनवादी तौर-तरीकों का इस्तेमाल कर रहे थे। पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने इस प्रश्न पर 1920 की गर्मियों में पेश की गयी अपनी रिपोर्ट पर विचार किया था और इसी के बाद यह आयोग बनाया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य था पार्टी के नेतृत्व और कतारों के बीच अधिक जीवन्त रिश्ते को स्थापित करना और इसीलिए जिस सर्कुलर से इस आयोग ने अपना काम शुरू किया उसमें पार्टी सदस्यों को अपनी शिकायतों और सुझावों को दर्ज़ कराने के लिए आमन्त्रित किया गया था।

'वर्कर्स अपोज़ीशन' की पूरी थीसिस की प्रस्तुति में भी बेतेलहाइम बड़ी भूलें करते हैं। मिसाल के तौर पर, बेतेलहाइम के अनुसार 'वर्कर्स अपोज़ीशन' कारखाना समितियों की भूमिका को बढ़ाना चाहता था। वास्तव में, इस गुट का पूरा ज़ोर ट्रेड यूनियनों की भूमिका को बढ़ाने और सरकार की ज़िम्मेदारियाँ उन्हें स्वायत्त तौर पर सौंप दिये जाने पर था। इस प्रकार की कई छोटी-बड़ी तथ्यात्मक भूलें बेतेलहाइम के ब्यौरे में मिलती हैं। **लेकिन सबसे अहम बात यह है कि बेतेलहाइम 'डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म', 'वर्कर्स अपोज़ीशन' और "वामपन्थी" कम्युनिस्ट गुट की अवस्थितियों से अपनी हमदर्दी छिपा नहीं पाते हैं।** निश्चित तौर पर कोई भी लेनिनवादी-माओवादी त्रात्स्की और बुखारिन की उस दौर की अवस्थितियों से सहमत नहीं हो सकता है। लेकिन यह मानना होगा कि अगर 'वर्कर्स अपोज़ीशन' आदि जैसे गुटों की अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी अवस्थितियों से तुलना करें तो लेनिन की अवस्थिति बुखारिन और त्रात्स्की के ज़्यादा नज़दीक पड़ती थी। इसका कारण यह है कि त्रात्स्की और बुखारिन की ग़लती मुख्यत: पार्टी को अचूक और अमोघ संस्था के तौर पर पेश करने में निहित थी, जबकि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' आदि जैसे गुटों की ग़लती पार्टी की भूमिका को नकारने या नज़रन्दाज़ करने में निहित थी; दूसरे शब्दों में, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का ज़ोर हमेशा की तरह स्वत:स्फूर्ततावाद पर था और सचेतनता के कारक का वे नकार कर रहे थे, जबकि त्रात्स्की व बुखारिन की अवस्थिति में मनोगत कारकों पर अतिशय ज़ोर था और वस्तुगत सन्दर्भ का सन्तुलित मूल्यांकन नहीं था। **लिहाज़ा, लेनिन इन दोनों अवस्थितियों का नकार करते हुए भी हमेशा की तरह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद से अपेक्षाकृत कहीं ज़्यादा दूर खड़े थे। बेतेलहाइम ने इस पूरी सच्चाई को उलट दिया है और लेनिन को अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों का गुप्त शुभचिन्तक बना दिया है! वास्तव में, बेतेलहाइम स्वयं**

अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के गुप्त हमदर्द हैं, और तमाम प्रयासों के बावजूद वे अपनी हमदर्दी को लेनिन के शब्दों में 'तमाम विवादों की दरारों से रिसकर टपक पड़ने' से रोक नहीं पाते हैं।

इसके बाद बेतेलहाइम 'युद्ध कम्युनिज़्म' के अन्त और 'नेप' की शुरुआत के दौर में पार्टी के भीतर चले विचारधारात्मक संघर्षों की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार 1920-21 के विवादों के बाद पार्टी में दो परिवर्तन आये। पहला था त्रात्स्की की कार्यदिशा की पराजय, हालाँकि त्रात्स्की की कार्यदिशा पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान स्तालिन द्वारा फिर से पुनर्जीवित कर दी गयी। दूसरा परिवर्तन था पार्टी में दसवीं कांग्रेस के बाद खुले बहस-मुबाहिसे की बोल्शेविक संस्कृति से विच्छेद क्योंकि इस कांग्रेस के बाद विभिन्न विपक्षी धड़ों ने अपनी आलोचनाएँ खुले तौर पर रखना बन्द कर दिया। ये दोनों ही दावे कम-से-कम अंशत: ग़लत हैं और एक विशेष रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। **पहली बात तो यह है कि त्रात्स्की की ट्रेड यूनियनों और राज्य सत्ता के सम्बन्ध के विषय में समझदारी को बिना वजह स्तालिन पर थोप दिया गया है।** पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान क्या हुआ था और क्या ट्रेड यूनियनें राज्य सत्ता के प्रति दासवत् बना दिये जाने के कारण सुषुप्त हो गयी थीं, या फिर ट्रेड यूनियनें सुषुप्त हुई थीं या नहीं, या फिर उस दौर में ट्रेड यूनियनों और राज्य के सम्बन्ध में लेनिन की थीसिस प्रभावी थी या नहीं, इस विषय पर हम विस्तार से बाद में उपयुक्त स्थान पर अपनी बात रखेंगे। लेकिन यह कहना तथ्यत: ग़लत है कि पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान त्रात्स्की की कार्यदिशा स्तालिन ने अपना ली थी। आर्थिक निर्माण के कार्यों में ट्रेड यूनियनों की सरकारी भूमिका की लेनिन ने भी हिमायत की थी; लेकिन लेनिन इसका अर्थ ट्रेड यूनियनों की स्वायत्तता को ख़त्म करना या फिर उन्हें राज्य का दासवत् उपकरण बना देना नहीं था; लेनिन के लिए ट्रेड यूनियनों की भूमिका राज्य सत्ता के सापेक्षिक स्वायत्तता ही रख सकती है, पूर्ण स्वायत्तता नहीं। इसीलिए लेनिन एक ओर दसवीं कांग्रेस के एक प्रस्ताव में ट्रेड यूनियनों द्वारा आर्थिक प्रबन्धन और निर्माण के कार्य को अनुशासित और सुचारू रूप से चलाने की बात कहते हैं, तो वहीं ट्रेड यूनियनों को 'कम्युनिज़्म की पाठशाला' और सर्वहारा राज्यसत्ता का नौकरशाहाना प्रवृत्तियों को प्रतिसन्तुलित करने का उपकरण भी मानते हैं। लेकिन ट्रेड यूनियनों की पार्टी और राज्य से पूर्ण स्वायत्तता का लेनिन ने पुरज़ोर शब्दों में विरोध किया था और इसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव क़रार दिया था। स्तालिन के दौर में ट्रेड यूनियनों के आंशिक और सापेक्षिक तौर पर सुषुप्त होने का कारण राज्यसत्ता द्वारा उसे दासवत् बना लिया जाना नहीं था, बल्कि उत्पादनवादी (productivist) भटकाव और उत्पादक शक्तियों के विकास पर असन्तुलित ज़ोर के कारण उसके भीतर राजनीतिक कार्य और राजनीतिक संघर्ष की कमी और नतीजतन उसके भीतर राजनीतिक चेतना के स्तर का अवनयन था। इसके पीछे वर्ग संघर्ष की कुंजीभूत कड़ी को न पकड़ पाने की बोल्शेविक पार्टी की ग़लती थी। लेकिन इस वास्तविक कमी का कोई अर्थपूर्ण विश्लेषण करने की बजाय, बेतेलहाइम एक छद्म-विश्लेषण पेश करते हैं और स्तालिन और त्रात्स्की को एक खेमे में खड़ा कर देते हैं।

बेतेलहाइम का यह दावा भी बेबुनियाद है कि दसवीं कांग्रेस के बाद पार्टी के भीतर अपनी राय को रखने की आज़ादी समाप्त हो गयी, जो कि बोल्शेविक परम्परा रही थी। दसवीं कांग्रेस में पार्टी एकता को लेकर एक अहम प्रस्ताव पास हुआ जिसमें कि गुट बनाने का निषेध किया गया था। इसका अर्थ पार्टी की केन्द्रीय कमेटी द्वारा प्रतिपादित लाइन पर बहस या चर्चा की निषेधाज्ञा नहीं थी। **प्रस्ताव में स्पष्ट रूप में कहा गया था कि पार्टी के भीतर**

पार्टी के समान कोई गुट नहीं बनाया जाना चाहिए। यानी कि पार्टी के भीतर अपना अलग अनुशासन रखने वाला कोई गुट नहीं बनाया जा सकता और पार्टी सम्मेलनों, कांग्रेसों आदि में गुट के रूप में शिरकत करना या अपनी अवस्थिति का प्रचार करना पार्टी की एकता पर चोट है। लेनिन का मानना था कि पार्टी कार्यदिशा पर जो भी चर्चा या बहस होनी है, वह एक गुट में नहीं या गुटों के बीच नहीं बल्कि सभी पार्टी कार्यकर्ताओं के बीच होनी चाहिए। साथ ही, पार्टी चर्चाओं और बहसों के लिए अलग मंचों और ऑर्गनों का निर्माण किया जाना चाहिए। लेकिन बहसों में हिस्सेदारी पार्टी के वैयक्तिक सदस्य के रूप में होनी चाहिए, न कि एक बने-बनाये गुट के रूप में। **निश्चित तौर पर, अलग-अलग लोग अलग-अलग कार्यदिशाओं पर सहमत होंगे और वस्तुगत तौर पर कुछ धड़े बनेंगे। लेकिन ये धड़े आपस में विचार-विमर्श करके पार्टी की सामूहिक चर्चाओं या पार्टी सम्मेलनों में शिरकत नहीं करेंगे, बल्कि वैयक्तिक तौर पर करेंगे।** इस प्रावधान में कुछ भी ऐसा नहीं था जो कि पार्टी के भीतर अपनी राय रखने, बहस करने आदि पर रोक लगाता हो। लेकिन साथ ही यह 'पार्टी के भीतर पार्टी बनाने' पर निर्णायक रोक लगाता था। पार्टी के भीतर का तत्कालीन संकट वास्तव में इसी गुटबाज़ी के कारण पैदा हुआ था। यहाँ बेतेलहाइम एक बार फिर वास्तव में लेनिन पर हमला कर रहे हैं और उनकी सांगठनिक कार्यदिशा पर हमला कर रहे हैं। लेकिन इन सबका ठीकरा वह पार्टी के भीतर मौजूद नौकरशाही पर थोप देते हैं, जिसके मुख्य अगुवा लोग थे स्तालिन, त्रात्स्की और बुखारिन। इतिहास के तथ्यों के साथ बेतेलहाइम खुल्लमखुल्ला ज़ोर-ज़बरदस्ती करते हैं, ताकि अपनी प्रतीतिगत "माओवादी" अवस्थिति को दुरुस्त साबित कर सकें।

'वर्कर्स अपोज़ीशन' के लेनिन द्वारा किये गये पुरज़ोर खण्डन का बेतेलहाइम समर्थन करते हैं। लेकिन इसके बावजूद 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के प्रति अपनी हमदर्दी को वह छिपा नहीं पाते हैं! **उनका मानना है कि वर्कर्स अपोज़ीशन की पराजय के पीछे एक कारण था कांग्रेस की नौकरशाहाना तैयारी!** उनके अनुसार, कांग्रेस में हुई वोटिंग में वर्कर्स अपोज़ीशन के लिए गिने-चुने लोगों ने वोट डाला क्योंकि पार्टी के भीतर नौकरशाही का काफ़ी असर था और यह इस बात में प्रतिबिम्बित होता था कि त्रात्स्की और बुखारिन की थीसिस की कांग्रेस के पहले ही निर्णायक राजनीतिक पराजय के बावजूद, उन्हें 'वर्कर्स अपोज़ीशन' से काफ़ी ज़्यादा वोट मिले। लेनिन की कार्यदिशा को ज़्यादा वोट इसलिए मिले क्योंकि पार्टी के कार्यकर्ता एक संकट के दौर में पार्टी की एकता प्रति अपना योगदान करने के लिए बेचैन थे; इसलिए उन्होंने लेनिन की कार्यदिशा के पक्ष में भारी संख्या में वोट डाला! इस सारी प्रस्तुति का अर्थ यह है कि बोल्शेविक पार्टी के काडर राजनीतिक तौर पर पिछड़े हुए थे और ग़ैर-राजनीतिक कारणों के प्रभाव में वोट डालते थे! हालाँकि, बेतेलहाइम के ही अनुसार बोल्शेविक पार्टी के भीतर ऐसी स्थिति स्तालिन के नेतृत्व के दौर में हुई थी और दसवीं कांग्रेस के पहले तो बोल्शेविक पार्टी में बिल्कुल निर्भीक और खुले बहस-मुबाहिसे का माहौल था! इन बातों में ही बेतेलहाइम का अन्तरविरोध नज़र आ जाता है। साथ ही, बेतेलहाइम यह दिखलाने की कोशिश करते हैं कि मन-ही-मन लेनिन 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का समर्थन करते थे या उसके ज़्यादा करीब थे! ये सारे दावे बेतेलहाइम इसलिए कर रहे हैं क्योंकि अन्त में वह इस नतीजे पर पहुँचाना चाहते हैं कि पार्टी में जनदिशा लागू करने वालों का भी एक धड़ा था (वर्कर्स अपोज़ीशन, डेमोक्रेटिक सेण्ट्रलिज़्म समूह, आदि); और लेनिन वास्तव में उनके ही समर्थन में थे! तो फिर लेनिन ने खुलकर

उनका समर्थन क्यों नहीं किया? इसकी बेतेलहाइम कोई व्याख्या पेश करना ज़रूरी नहीं समझते।

सच्चाई यह थी कि त्रात्स्की और बुखारिन के धड़े को किसी नौकरशाहाना जोड़-तोड़ के कारण 'वर्कर्स अपोज़ीशन' से ज़्यादा वोट नहीं मिले थे; इसका कारण यह है कि बेतेलहाइम के दावे के विपरीत लेनिन और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के मतभेद ज़्यादा बुनियादी थे, जबकि त्रात्स्की और बुखारिन का धड़ा अपने हिरावलपन्थी भटकाव के बावजूद लेनिन से *अपेक्षतया* कम दूर था। इसका कारण यह था कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी भटकाव सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी संरचना में पार्टी की भूमिका को बेहद कम करके देखता था, जबकि त्रात्स्की-बुखारिन धड़े का पार्टी की भूमिका पर अतिशय ज़ोर था और वे पार्टी को अचूक और अमोघ मानते थे, जैसा कि हमने ऊपर प्रदर्शित किया है; लेनिन ने इन दोनों ग़ैर-द्वन्द्वात्मक छोरों का खण्डन किया। लेकिन निश्चित तौर पर उनकी दूरी उनसे ज़्यादा बनती थी जो कि पार्टी की भूमिका को नज़रन्दाज़ कर रहे थे। लेकिन बेतेलहाइम तथ्यों को मनमुआफ़िक तरीके से तोड़ते-मरोड़ते हैं, ताकि लेनिन और स्तालिन के पार्टी-सम्बन्धी नज़रिये की विश्वस्नीयता पर प्रश्न खड़ा किया जा सके, या फिर उसका छद्म-माओवादी विनियोजन किया जा सके, जो कि वास्तव में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विनियोजन है। **अपनी बात को सही साबित करने के लिए बेतेलहाइम पृष्ठ 398 पर लेनिन का एक उद्धरण पेश करते हैं! लेकिन आप उद्धरण पढ़कर ताज्जुब में पड़ जाते हैं क्योंकि लेनिन वहाँ जो बात कह रहे हैं वह बेतेलहाइम की कार्यदिशा का खण्डन करती है:**

"रूसी कम्युनिस्ट पार्टी बिना शर्त अपने केन्द्रीय और स्थानीय संगठनों के द्वारा ट्रेड यूनियन कार्य के सभी विचारधारात्मक पक्षों का निर्देशन करना जारी रखेगी। - ट्रेड यूनियन के अगुवा पदधारकों का चुनाव पार्टी के मार्गदर्शन और पर्यवेक्षण में होना चाहिए। लेकिन, पार्टी संगठन को ट्रेड यूनियनों में सर्वहारा जनवाद की सामान्य प्रणालियों को लागू करने पर विशेष तौर पर ध्यान देना चाहिए, जिसमें कि नेताओं का चुनाव, सर्वोपरि, संगठित जनसमुदायों द्वारा किया जाना चाहिए।" (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** दि हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 398, *अनुवाद हमारा*)

'नेप' के तहत ट्रेड यूनियनों के कार्यभार पर लेनिन द्वारा तैयार किये गये प्रस्ताव में उन्होंने स्पष्ट किया था कि समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की भूमिका में एक विरोधाभास मौजूद रहेगा। जहाँ उन्हें मज़दूरों के हितों की रक्षा करने की ज़िम्मेदारी उठानी होगी वहीं उन्हें एक सर्वहारा राज्यसत्ता द्वारा आर्थिक निर्माण के कार्यभार में अनुशासन को लागू करने की ज़िम्मेदारी भी लेनी होगी। जहाँ वे मज़दूरों के हितों को ध्यान में रखते हुए हड़ताल का अधिकार रखेंगी, वहीं उन्हें यह भी ध्यान रखना होगा कि एक सर्वहारा राज्यसत्ता के समक्ष हड़ताल को केवल एक ही आधार पर सही ठहराया जा सकता है: राज्य में मौजूद बुर्जुआ विरूपताएँ और नौकरशाहाना विकृतियाँ। इसलिए पूँजीवाद के विपरीत समाजवादी संक्रमण के दौरान ट्रेड यूनियनों की एक दोहरी भूमिका होगी और इसी वजह से न तो वे पूर्ण रूप से स्वायत्त हो सकती हैं और न ही राज्यसत्ता की दासवत् उपकरण। लेकिन लेनिन की इस पूरी समझदारी को बेतेलहाइम विकृत करते हैं।

इसके बाद दसवीं कांग्रेस में पार्टी एकता पर पारित प्रस्ताव के इतिहास को विकृत करने

के लिए बेतेलहाइम आगे बढ़ते हैं। **उनके अनुसार यह प्रस्ताव (जो कि 'पार्टी के भीतर पार्टी' के रूप में, यानी कि अपना अलग अनुशासन रखने वाले गुटों पर पाबन्दी लगाता था) केवल अस्थायी तौर पर गुटों पर पाबन्दी लगाता था। यह असत्य है। इस प्रस्ताव में ऐसा कोई प्रावधान नहीं था जो कि गुटों पर पाबन्दी को अस्थायी बताता हो; न ही लेनिन के लेखन में इसके अस्थायी होने की बात की गयी है।** यह पार्टी में बहसों और चर्चाओं पर रोक नहीं लगाता था, बल्कि उसे गुटों के बीच चलाये जाने का निषेध करता था। इस रूप में यह गुटों पर पाबन्दी का प्रावधान पार्टी की सांगठनिक कार्यदिशा में एक स्थायी इज़ाफ़ा था। आगे बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन बहस-मुबाहिसे को अन्य रूपों और मंचों पर जारी रखने के पक्ष में थे, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद पार्टी के भीतर मौजूद जनवाद को समाप्त करने के लिए स्तालिन ने इस प्रस्ताव का इस्तेमाल किया क्योंकि इस प्रस्ताव ने पोलित ब्यूरो के हाथ में शक्ति संकेन्द्रित कर दी थी और केन्द्रीय कमेटी को शक्तिहीन बना दिया था। बेतेलहाइम के अनुसार जब 'नेप' की नीतियों के दौरान पार्टी में बुर्जुआ वर्ग मज़बूती से जम गया तो पार्टी के भीतर 'नेप' को लेकर बहस को दबाने के लिए भी दसवीं कांग्रेस के इस प्रस्ताव का इस्तेमाल किया गया। बेतेलहाइम इन दावों के लिए भी कोई सन्दर्भ पेश करना ज़रूरी नहीं समझते हैं। बेतेलहाइम का दावा है कि पार्टी एकता पर पारित प्रस्ताव केवल अपवादस्वरूप संकटकालीन दौर के लिए था और इसके पक्ष में लेनिन का एक उद्धरण पेश करते हैं। लेकिन जब हम उस उद्धरण की जाँच करते हैं तो पता चलता है कि लेनिन यहाँ केन्द्रीय कमेटी और उसके विस्तारित निकाय को अपने संघटन को परिवर्तित करने के अधिकार की बात कर रहे हैं। लेनिन के अनुसार यह अधिकार आपात संकट के दौर में दिया गया है और ऐसा पार्टी में पहले कभी नहीं किया गया था। यहाँ लेनिन गुटों के निर्माण पर पाबन्दी की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि इस पाबन्दी का उल्लंघन करने पर बिना पार्टी कार्यकर्ताओं से अनुमोदन के केन्द्रीय कमेटी के किसी भी सदस्य को बाहर तक निकालने के अधिकार की बात कर रहे हैं। लेकिन बेतेलहाइम इस पूरी बात को ऐसे पेश करते हैं, मानो कि लेनिन पार्टी एकता के पूरे प्रस्ताव को ही अस्थायी मानते थे!

बेतेलहाइम ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसीज़ की लेनिन से करीबी और उसके साथ लेनिन के मतभेदों के "सीमित चरित्र" को प्रदर्शित करने के लिए एक पूरा उपशीर्षक ख़र्च किया है। बेतेलहाइम यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की पराजय के पीछे जो कारक सक्रिय थे वे थे 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसीज़ का एक ग़लत समय पर सामने आना, यानी कि गृहयुद्ध और क्रोंस्टाट विद्रोह के समय में सामने आना; उनके दृष्टिकोणों का सही ढंग से अभिव्यक्त न किया जाना और उनमें सैद्धान्तिक स्पष्टता का अभाव का होना; और तीसरा कारण था सर्वहारा वर्ग की अगुवा हिरावल भूमिका को न समझना, वह भी एक ऐसे देश में जिसमें किसान आबादी की बहुलता हो। यह एक बार फिर तथ्यों के साथ दुराचार है और साथ ही लेनिन की राजनीतिक समझदारी पर भी प्रश्नचिन्ह खड़ा करना है। लेनिन किसी विजातीय प्रवृत्ति की आलोचना की ख़राब अभिव्यक्ति या सैद्धान्तिक अस्पष्टता की वजह से नहीं करते थे, बल्कि उसकी विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु के कारण करते थे। लेनिन ने 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के सदस्यों द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में त्रात्स्की और बुखारिन की कार्यदिशा के फलस्वरूप पैदा हुए अति-केन्द्रीकरण, नौकरशाही और ग़ैर-जनवादी प्रवृत्तियों के विरोध का समर्थन किया था और उनकी चिन्ताओं को जायज़ ठहराया था; लेकिन साथ ही लेनिन यह भी समझ रहे थे कि त्रात्स्की-बुखारिन के वामपन्थी

दुस्साहसवादी और साथ ही दक्षिणपन्थी भटकाव की प्रतिक्रिया में पैदा हुआ दूसरा अतिरेकी छोर है, जो औपचारिक मज़दूर जनवाद के नाम पर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विचारों का प्रचार कर रहा है। लेकिन बेतेलहाइम को लगता है कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की थीसीज़ में सीधे तौर पर कोई अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद नहीं था, हालाँकि "अगर उनकी थीसीज़ के तर्क को उनके अन्तिम नतीजे तक पहुँचाया जाय' तो फिर वे वही नतीजे थे, जो कि अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी निकालते हैं।" (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** दि हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 403, अनुवाद हमारा) इस वाक्य का क्या अर्थ है!? स्पष्ट है, बेतेलहाइम 'वर्कर्स अपोज़ीशन' के प्रति अपनी हमदर्दी को छिपा नहीं पा रहे हैं। यहाँ तक तो कोई समस्या नहीं है लेकिन लेनिन को भी 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की अवस्थितियों का हमदर्द बना देना इतिहास के साथ दुर्व्यवहार है।

गैर-पार्टी सम्मेलनों के विषय में भी बेतेलहाइम लेनिन के दृष्टिकोण का विकृतिकरण करते हैं। वे 'टैक्स इन काइण्ड' पुस्तिका के तैयारी की स्कीम से लेनिन का एक वाक्य उद्धृत करते हैं, जिसमें लेनिन ने कहा है कि ऐसे सम्मेलन अनिवार्य तौर पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों के उपकरण नहीं होते हैं। लेकिन स्वयं पुस्तिका के भीतर लेनिन ने ऐसे सम्मेलनों के प्रति किसी भी *फेटिश* पर चोट करते हुए कहा है कि आज के दौर में समाजवादी-क्रान्तिकारी और मेंशेविक ग़ैर-पार्टी मुखौटा लगाये इन सम्मेलनों का सोवियत राज्य-विरोधी गतिविधियों में इस्तेमाल करते हैं। निश्चित तौर पर, समय की नज़ाकत ऐसी थी कि लेनिन ऐसे सम्मेलनों के प्रति एक अविश्वास का नज़रिया रखते थे। बेतेलहाइम भी इस बात को स्वीकार करते हैं। लेकिन बेतेलहाइम इस पूरे वाकये को ऐसे पेश करते हैं, मानो लेनिन पुस्तिका की *सिनॉप्सिस* बनाते समय ज़्यादा रैडिकल तरीके से सोच रहे थे और पुस्तिका लिखते वक़्त समय की नज़ाकत को देखते हुए उन्होंने अपने स्वर की आमूलगामिता को अवरुद्ध कर दिया! **पहली बात तो यह है कि किसी *सिनॉप्सिस, कांस्पेक्टस* आदि से उद्धृत करना किसी व्यक्ति के दार्शनिक चिन्तन प्रक्रिया को समझने के लिए तो उचित है, लेकिन जिस रूप में बेतेलहाइम इसका इस्तेमाल करते हैं, वह अकादमिक मानकों के अनुरूप उचित नहीं है।** इसे भी क्रान्तिकारी जनदिशा के प्रति लेनिन के सरोकार और चिन्ता को प्रदर्शित करने के लिए इस्तेमाल किया गया है। निश्चित तौर पर, लेनिन का अप्रोच क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करने का ही था; लेकिन बेतेलहाइम क्रान्तिकारी जनदिशा की ओट में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और विसर्जनवाद की तस्करी करते हैं और उसे लेनिन पर आरोपित कर देते हैं।

बेतेलहाइम मानते हैं कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ने ट्रेड यूनियनों को राज्य के पूर्णतः मातहत करने का विरोध करके और साथ ही सोवियत संस्थाओं को जीवन्त बनाने और उन्हें जनवादी बनाने के कार्य को किसी सुदूर भविष्य के लिए (जब मज़दूर पर्याप्त रूप से शिक्षित हो जायेंगे!) निलम्बित किये जाने का विरोध करके सही किया! लेकिन वे नहीं बता पाये कि मज़दूर वर्ग की स्वशिक्षा किस प्रकार आयोजित की जायेगी! बेतेलहाइम इस शिक्षा में पार्टी की भूमिका को दरकिनार कर देते हैं और 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की इस ग़लती को भी अर्थवाद का नाम देते हैं! और बेतेलहाइम चलते-चलते यह मानते हैं कि सर्वहारा वर्ग की स्वतःस्फूर्त चेतना सर्वहारा नहीं होती है। लेकिन चेतना के सर्वहाराकरण के विषय में 'वर्कर्स अपोज़ीशन' की सही समझदारी नहीं थी। यानी कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' ने सही नुक्तों पर सोवियत राज्यसत्ता और पार्टी की आलोचना की लेकिन वे भी एक किस्म के अर्थवाद का शिकार होने के कारण

समाधान नहीं सुझा सके! बेतेलहाइम लेनिन की भी आलोचना करते हुए कहते हैं कि लेनिन का यह मानना था कि जनता सोवियत राज्यसत्ता और अर्थव्यवस्था के कार्यों में इस वजह से नहीं शामिल हो रही है क्योंकि आर्थिक विसंगठन बहुत ज़्यादा है; साथ ही लेनिन का मानना था कि इस आर्थिक विसंगठन के कारण पैदा हुए अभाव और दिक्कतों के कारण नौकरशाही पैदा हुई, जिसका यह अर्थ निकलता है कि जब आर्थिक दिक्कतें समाप्त हो जायेंगी तो नौकरशाही खुद-ब-खुद समाप्त हो जायेगी।

लेकिन जब हम 'वर्कर्स अपोज़ीशन' और साथ ही लेनिन की पूरी थीसीज़ पर ग़ौर करते हैं तो हम पाते हैं कि 'वर्कर्स अपोज़ीशन' स्वत:स्फूर्ततावाद का शिकार ठीक इस वजह से था क्योंकि वह सर्वहारा वर्ग की स्वत:स्फूर्त चेतना को सर्वहारा मानता था और उनकी राजनीतिक शिक्षा में पार्टी की भूमिका को नकारता था। उसके इस विचार का आधार, कि राज्य को ट्रेड यूनियनों के मातहत कर दिया जाना चाहिए और उसके कार्यों को ट्रेडयूनियनों को सौंप दिया जाना चाहिए, यही स्वत:स्फूर्ततावाद था। अगर करीबी तौर पर देखें तो जिन समस्याओं को 'वर्कर्स अपोज़ीशन' देख रहा था, उन्हें लेनिन और कुछ अन्य पार्टी नेताओं ने भी इंगित किया था। उन्हें पहली बार पार्टी के सामने रखना 'वर्कर्स अपोज़ीशन' का योगदान नहीं था। दूसरी बात यह कि इन समस्याओं का 'वर्कर्स अपोज़ीशन' जो समाधान सुझा रहा था, वह अव्वलन तो उस दौर में लागू किया जाना सम्भव ही नहीं था और वह राजनीतिक तौर पर ग़लत भी था। लेकिन बेतेलहाइम के इस प्रकार के वामपन्थी विपक्ष समूहों से हमेशा हमदर्दी रहती है जो औपचारिक मज़दूर जनवाद, मज़दूरों की स्वशिक्षा आदि की बातें करते हैं। जहाँ तक लेनिन को अर्थवाद का शिकार क़रार दिये जाने का प्रश्न है, बेतेलहाइम ने एक बार फिर से इतिहास के तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ की है। जिस रचना 'टैक्स इन काइण्ड' का सन्दर्भ बेतेलहाइम देते हैं, उसमें लेनिन ने यह नहीं कहा है कि नौकरशाही के पैदा होने का कारण उत्पादक शक्तियों के विकास का निम्न स्तर और आर्थिक विसंगठन ही है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है:

"नौकरशाही के आर्थिक पहलू की ओर देखते हैं। - उनकी आर्थिक जड़ें क्या हैं? - हमारे देश में नौकरशाहाना प्रथाओं का की अलग आर्थिक जड़ें हैं, यानी कि छोटे उत्पादकों की एटमीकृत होने और बिखराव की स्थिति जो कि ग़रीबी, अशिक्षा, संस्कृति के अभाव, सड़कों की अनुपस्थिति, कृषि और उद्योगों के बीच विनिमय के अभाव, उनके बीच सम्बन्ध और अन्तर्क्रिया की अनुपस्थिति के शिकार हैं।" (लेनिन, 1973, **'टैक्स इन काइण्ड'**, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-32*, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 351, *अनुवाद हमारा*)

इस उद्धरण से किस प्रकार सिद्ध होता है कि लेनिन अर्थवादी थे? वे नौकरशाही की आर्थिक जड़ों की ही बात कर रहे थे और इसमें कोई दो राय नहीं है कि छोटे माल उत्पादन के प्रभावी बने रहने को समाजवादी संक्रमण के दौरान बुर्जुआ वर्ग के निरन्तर पैदा होते रहने का स्रोत माना गया है। लेनिन से लेकर माओ तक का यह मानना था कि समाजवादी समाज में बुर्जुआ तत्वों के बार-बार जन्म लेने के पीछे एक कारण है छोटे पैमाने के उत्पादन की मौजूदगी। त्रात्स्की की ग़लती यह नहीं थी कि उन्होंने भी इस आर्थिक कारण को पहचाना था; बल्कि उनकी ग़लती यह थी कि उत्पादक शक्तियों के विकास का कम स्तर ही उनके लिए सभी समाजवादी समस्याओं का मूल कारण था और उनका पूरा विश्लेषण इस रूप में उत्पादक शक्तियों के विकास के कारक पर अपचयित हो जाता है। स्तालिन का विश्लेषण इस रूप में उत्पादक शक्तियों के विकास पर सारी समस्याओं को अपचयित नहीं करता है,

हालाँकि उत्पादक शक्तियों के विकास पर उनका ज़ोर ग़ैर-द्वन्द्वात्मक रूप से ज़्यादा है। जहाँ तक लेनिन का प्रश्न है, उनके लेखन में इस प्रकार के अर्थवाद या अर्थवादी प्रवृत्ति का असर नहीं मिलता है। वे संस्कृति की कमी और अशिक्षा को भी नौकरशाही के स्रोतों में गिनते थे। उन्होंने पार्टी और राज्य में नौकरशाहाना प्रवृत्तियों और बुर्जुआ रुझानों के पैदा होने के कारणों का उस रूप में विस्तृत सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जिस रूप में माओ ने आगे चलकर किया। लेकिन निश्चित तौर पर उन्होंने बार-बार मानसिक और शारीरिक श्रम के विभेद और कृषि व उद्योग के बीच की असमानता को इसके स्रोत के रूप में देखा था। यह भी सच है कि इस समस्या को हल करने के एक पहलू के रूप में उन्होंने उत्पादक शक्तियों के विकास को भी चिन्हित किया था, जिसमें कि कुछ भी ग़लत नहीं है। माओ ने भी इस समस्या को चिन्हित किया था, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। लेकिन बेतेलहाइम के लिए इन कारकों को चिन्हित करना ही अर्थवाद है। माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में बेतेलहाइम किस तरह से लेनिनवाद और माओवाद को तिलांजलि देते हैं, यह स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

आगे बेतेलहाइम यह सिद्ध करने के लिए कि बोल्शेविक पार्टी में लेनिन की मृत्यु के बाद एक सही जनवादी केन्द्रीयतावादी सांगठनिक कार्यदिशा लागू नहीं हो रही थी, काफ़ी विस्तार से पार्टी में सही कार्यदिशा के प्रतिपादन, उसमें विचारधारात्मक संघर्ष की भूमिका, सर्वहारा कार्यदिशा की परिभाषा, बुर्जुआ कार्यदिशा की परिभाषा और कई बार सही कार्यदिशा के शुरुआत में अल्पसंख्या में होने के बारे में लिखते हैं। उनके अनुसार, इसके कारण से विचारधारात्मक संघर्ष और आलोचना-आत्मालोचना का स्पेस संकुचित हो गया था। चूँकि पार्टी एक ऐसा प्रयोग कर रही थी, जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं थी इसलिए तमाम कार्यदिशाओं में से सही कार्यदिशा का निर्णय करने के लिए खुले बहस-मुबाहिसे की आज़ादी होनी चाहिए थी और ऐसा न होने के कारण पार्टी में ग़लत कार्यदिशा प्रभावी बनने लगी। शुरू के दौर में बुर्जुआ कार्यदिशा के वाहक अचेतन तौर पर एक ग़लत कार्यदिशा को सामने रख रहे थे। लेकिन लम्बे समय तक ग़लत राजनीतिक कार्यदिशा को लागू करने से सही विचारधारात्मक अवस्थिति से भी पार्टी का प्रस्थान हो जाता है। इन सारे गम्भीर प्रेक्षणों और विचारों को पाठकों को सुनाने के पीछे बेतेलहाइम की जो मंशा है, वह कुछ समय बाद ही स्पष्ट हो जाती है। **यहाँ बेतेलहाइम पाठकों को जिस नतीजे की ओर ले जाना चाहते हैं वह यह है कि लेनिन के बाद, स्तालिन के दौर में जनवादी केन्द्रीयता समाप्त होने के कारण सही कार्यदिशा के निर्धारण की प्रणाली पार्टी के भीतर सही तरीके से काम करना बन्द कर चुकी थी।** यही कारण था कि शुरुआत में तमाम ग़लत कार्यदिशाओं के वाहक अचेतन तौर पर पार्टी के भीतर ग़लत कार्यदिशा का समर्थन कर रहे थे; लेकिन बाद में लम्बे समय तक ग़लत कार्यदिशा पर अमल ने पार्टी को विचारधारात्मक तौर पर भी ग़लत रास्ते पर पहुँचा दिया।

बेतेलहाइम का मानना है कि एक कम्युनिस्ट पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता में *हमेशा* जनवाद का पहलू प्रधान रहता है ताकि विचारधारात्मक बहस-मुबाहिसे की जगह बनी रहे और सही कार्यदिशा का निर्धारण होता रहे। बेतेलहाइम की जनवादी केन्द्रीयता की अवधारणा किस कदर यान्त्रिक है, वह यहाँ दिख जाता है। किसी भी द्वन्द्व में हर-हमेशा एक पहलू प्रधान बना रहे यह सम्भव ही नहीं है। ऐसा होगा तो उसे द्वन्द्व कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि जैसा कि हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं, कोई भी द्वन्द्व अपनी परिभाषा से ही

स्थैतिक नहीं होता बल्कि सतत् गतिमान होता है। जनवादी केन्द्रीयता को कमोबेश सही ढंग से लागू करने वाली पार्टी में कई स्थितियों में जनवाद का पहलू होता है तो अन्य स्थितियों में केन्द्रीयता का पहलू हावी होता है। **दूसरी बात यह कि पार्टी में राजनीतिक चेतना का स्तर जितना उन्नत होगा, जनवाद भी उतना ही उन्नत होगा और केन्द्रीयता भी उतनी ही उन्नत होगी। जनवाद के आधार के अधिकतम सम्भव व्यापक हुए बग़ैर केन्द्रीयता का शिखर ज़्यादा उन्नत नहीं हो सकता है। लेकिन केन्द्रीयता के शिखर के बिना जनवाद के आधार के व्यापक होने का एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी में कोई अर्थ नहीं होगा।** राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्ष, बहसों और चर्चाओं में अधिकतम सम्भव जनवाद और निर्णय लिये जाने के बाद कार्रवाई में अधिकतम सम्भव केन्द्रीयता: यही लेनिन के जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त का मर्म है। राजनीतिक-विचारधारात्मक संघर्ष यदि गुटों के बीच चलेगा, तो वास्तव में वह सही तरीके से नहीं चल सकता। इस रूप में दसवीं कांग्रेस द्वारा गुटों के निर्माण पर पाबन्दी बिल्कुल दुरुस्त थी। 1920 के दशक के उत्तरार्द्ध से बोल्शेविक पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता का सिद्धान्त किस हद तक लागू हो सका और किस रूप में लागू नहीं हो सका, यह अलग चर्चा का विषय है और आगे हम इस पर विस्तार से लिखेंगे। लेकिन असल बात यह है कि बेतेलहाइम जनवादी केन्द्रीयता की एक ग़लत अवधारणा पेश कर रहे हैं जिसके अनुसार जनवाद का पहलू हमेशा प्रधान होता है। यदि ऐसा होगा तो कोई भी पार्टी 'कार्रवाई में एकता' (unity in action) के सिद्धान्त पर अमल नहीं कर सकेगी। मूल बात यह है कि 'कार्रवाई में एकता' के सिद्धान्तों को 'विचारों में बाध्यताकारी एकता' के सिद्धान्त में तब्दील नहीं किया जाना चाहिए और न ही विपक्षी अल्पसंख्या को बहुसंख्या के विचारों को जपने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। यदि ऐसा होता है, तो निश्चित तौर पर वह जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों के ख़िलाफ़ होगा। लेकिन बेतेलहाइम इन पहलुओं का कोई विश्लेषण पेश किये बग़ैर दसवीं कांग्रेस को जनवादी केन्द्रीयता के उसूल को ख़त्म करने वाली घटना के रूप में पेश करते हैं; वह नाम लेकर लेनिन को निशाना नहीं बनाते हैं और इसके लिए स्तालिन को ज़िम्मेदार ठहराते हैं; लेकिन बेतेलहाइम का वास्तविक निशाना लेनिनवादी सांगठनिक उसूल ही हैं।

इसके अलावा, बेतेलहाइम कुछ आम सत्यों का बयान करते हैं जिससे कि हर मार्क्सवादी-लेनिनवाद सहमत होगा; मिसाल के तौर पर, सही कार्यदिशा का निर्धारण खुले विचारधारात्मक संघर्ष और व्यवहार के लम्बे अनुभव के बाद ही सम्भव है और इस दौर में कई बार सही कार्यदिशा शुरुआत में अल्पसंख्या में हो सकती है, विशेष तौर पर, तब जबकि पार्टी के समक्ष कोई अद्वितीय और अभूतपूर्व स्थिति पैदा हो गयी हो। लेकिन इन आम बातों को कहने की प्रक्रिया में ही बेतेलहाइम बीच में कोई ऐसी बात डाल देते हैं, जो उनके कथित "माओवाद" को पुष्ट करती हो। **मिसाल के तौर पर, एक स्थान पर बेतेलहाइम कहते हैं कि सर्वहारा कार्यदिशा वह होती है जो कि किसी प्रदत्त अवधि में सर्वहारा वर्ग के हितों की सर्वश्रेष्ठ रूप में सेवा करती है; बुर्जुआ कार्यदिशा वह होती है जो कि किसी प्रदत्त अवधि में बुर्जुआ वर्ग के हितों की सर्वश्रेष्ठ रूप में सेवा करती है; इन दोनों कार्यदिशाओं के सापेक्ष अन्य कार्यदिशाएँ "वाम" अथवा दक्षिणपन्थी अवसरवादी कार्यदिशाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं! यह पूरा रूपक ही ग़लत है।** बुर्जुआ कार्यदिशा एक कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर "वाम" अथवा दक्षिणपन्थी प्रवृत्तियों/कार्यदिशाओं के रूप में ही प्रवेश करती हैं। खुले तौर पर बुर्जुआ कार्यदिशा कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर अस्तित्वमान रह

ही नहीं सकती है। यह ज़रूर है कि कोई "वाम" अथवा दक्षिणपन्थी बुर्जुआ अथवा निम्न-बुर्जुआ प्रवृत्ति अभी पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी कार्यदिशा न बनी हो और उस रूप में उसकी पहचान एक अलग बुर्जुआ कार्यदिशा के रूप में करना सम्भव न हो। यह भी सही है कि विचारधारात्मक संघर्ष और क्रान्तिकारी व्यवहार की प्रक्रिया में ही ऐसी कार्यदिशा की पहचान होती है। और यह भी सही है कि "वाम" या दक्षिणपन्थी भटकाव या विचलन के वाहक शुरू से बेईमान या प्रतिक्रियावादी नहीं घोषित किये जा सकते हैं। ऐसा लगता है कि बिना किसी प्रसंग या सन्दर्भ के ये आम सच्चाइयाँ बेतेलहाइम यूँ ही बयान कर रहे हैं। लेकिन ऐसा है नहीं। वास्तव में, वह इस पूरे बयान को इस नतीजे तक पहुँचाते हैं कि चूँकि लेनिन के बाद पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता के इन बुनियादी उसूलों का पालन नहीं हो रहा था इसलिए वहाँ अघोषित विपक्षी धड़े पैदा हुए, जो कि 'धारा के विरुद्ध जाने' का साहस नहीं कर सके और इसी वजह से दो लाइनों के संघर्ष को भी वे सही तरीके से नहीं चला सके! **अपने प्रसंगेतर लगने वाले विमर्श में बेतेलहाइम लगातार 1920 के दशक के मध्य से पार्टी में प्रतिक्रान्ति की धारा के प्रमुख हो जाने के अपने दावे को पुष्ट करने की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं और इसके लिए तथ्यों के साथ लगातार ज़ोर-ज़बरदस्ती करते हैं।**

बेतेलहाइम के अनुसार, पहला अघोषित विपक्षी धड़ा वास्तव में स्तालिन के नेतृत्व में खड़ा एक दक्षिणपन्थी धड़ा था, जिसमें बुखारिन, ज़िनोवियेव व सोकोलनिकोव शामिल थे, और जिसने विदेश व्यापार पर राजकीय इज़ारेदारी के प्रश्न पर लेनिन के साथ एक छाया-युद्ध लड़ा और अन्त में जब लेनिन ने त्रात्स्की को साथ लेकर इस प्रश्न पर निर्णायक संघर्ष की तैयारी को स्तालिन व केन्द्रीय कमेटी के अन्य दक्षिणपन्थी तत्वों ने घुटने टेक दिये। यह भी तथ्यों के साथ भयंकर दुराचार है। स्तालिन निश्चित तौर पर लेनिन द्वारा विदेश व्यापार की राजकीय इज़ारेदारी को ज्यों का त्यों बनाये रखने के शुरुआत से पक्षधर नहीं थे। लेकिन स्तालिन ने हर बार लेनिन के आग्रह पर अन्ततः लेनिन की कार्यदिशा पर ही अमल किया, हालाँकि उन्होंने अपनी राय को स्पष्ट तौर पर सभी केन्द्रीय कमेटी सदस्यों के समक्ष रखा। दूसरी बात यह है कि विदेश व्यापार पर राजकीय इज़ारेदारी के प्रश्न पर कमेटी के नेतृत्वकारी लोगों में ही तीन पक्ष मौजूद थे। अगर इस पूरे प्रकरण को विस्तार से न समझा जाय तो सारी केन्द्रीय कमेटी को दो खेमे में बाँटकर और फिर लेनिन के खेमे के सापेक्ष बाकी सभी को विचलनकारी या भटकाव का शिकार घोषित किया जा सकता है। ज़रा देखते हैं कि वास्तव में इस प्रश्न पर स्थिति क्या थी। बुखारिन, प्याताकोव और सोकोलनिकोव राजकीय इज़ारेदारी को समाप्त करने के पक्ष में थे। स्तालिन, ज़िनोवियेव और कामनेव इसे कुछ ढीला करने के पक्ष में थे और लेनिन, क्रासिन और त्रात्स्की इसे कायम रखने के पक्ष में थे।

स्तालिन भी राजकीय इज़ारेदारी को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन वह इसमें ढील देने की बात कर रहे थे। बुखारिन और सोकोलनिकोव विशेष तौर पर राजकीय इज़ारेदारी को समाप्त करने की बात कर रहे थे। त्रात्स्की का प्रस्ताव एक अलग ही प्रस्ताव था, जिसमें कि वह राजकीय इज़ारेदारी को कायम रखने की तो बात कर रहे थे, लेकिन साथ ही विदेश व्यापार की कमिसारियत को भंग करके विदेश व्यापार के मसले को भी एक केन्द्रीय आर्थिक संगठन के तहत रखने का प्रस्ताव रख रहे थे। लेनिन त्रात्स्की के इस पूरे प्रस्ताव पर सहमत नहीं थे। लेकिन विदेश व्यापार की राजकीय इज़ारेदारी के प्रश्न पर लेनिन की एकता त्रात्स्की के साथ बन रही थी। लेकिन स्तालिन भी इस प्रश्न पर बाद में सहमत हो चुके थे; और किसी भी सूरत में उनकी अवस्थिति बुखारिन और सोकोलनिकोव की अवस्थिति

नहीं थी। स्तालिन ने 'प्रथम अमेरिकी मज़दूर प्रतिनिधि मण्डल' के एक सदस्य के विदेश व्यापार पर राजकीय इज़ारेदारी से सम्बन्धित प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था:

"क्योंकि विदेश व्यापार पर इज़ारेदारी का प्रश्न सोवियत सरकार के "प्लेटफॉर्म" की ऐसी बुनियाद है जिसे हटाया नहीं जा सकता है...निश्चित तौर पर सोवियत संघ में ऐसे तत्व हैं जो इस इज़ारेदारी को ख़त्म करने की माँग करते हैं। ये नेपमैन, कुलक और हराये जा चुके शोषक वर्गों के अवशेष, आदि हैं...मज़दूरों के लिए विदेश व्यापार पर राजकीय इज़ारेदारी को समाप्त करने का क्या अर्थ होगा? उनके लिए इसका अर्थ होगा देश के उद्योगीकरण को छोड़ देना, नये कार्यों और कारखानों के निर्माण को और पुराने कार्यों और कारखानों के विस्तार को रोक देना। उनके लिए इसका अर्थ यह होगा कि सोवियत संघ को पूँजीवादी देशों के माल से पाट दिया जाये, हमारे उद्योग नष्ट हो जायें, क्योंकि वे सापेक्षिक तौर पर कमज़ोर हैं; बेरोज़गारी में बढ़ोत्तरी, मज़दूर वर्ग के भौतिक हालात में गिरावट, और उनकी आर्थिक व राजनीतिक स्थितियों में गिरावट। आखिरी विश्लेषण में इसका अर्थ होगा नेपमैन और नयी बुर्जुआज़ी को आम तौर पर मज़बूत करना। क्या सोवियत संघ का सर्वहारा वर्ग इस तरह से आत्महत्या करना स्वीकार करेगा? स्पष्ट तौर पर ऐसा नहीं होगा।" (स्तालिन, 1954, **'पहले अमेरिकी मज़दूर प्रतिनिधि मण्डल से साक्षात्कार 1927'**, *वर्क्स*, खण्ड-10, फॉरेन लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 115-116 *अनुवाद हमारा*)

स्पष्ट है कि बेतेलहाइम पूरी सच्चाई नहीं बता रहे हैं, ताकि स्तालिन पर कीचड़ उछाला जा सके। अपने अपूर्ण विवरण में वह स्तालिन को एक षड्यन्त्रकारी के तौर पर पेश करते हैं जो कि अपने आपको आगे किये बिना, बुखारिन, प्याताकोव आदि को आगे करके लेनिन की सही सर्वहारा कार्यदिशा के विरुद्ध एक छाया-युद्ध चला रहे थे। यदि ऐसा होता तो, बेतेलहाइम द्वारा प्रस्तुत स्तालिन के चित्र के ही अनुसार, फिर 1927 में विदेश व्यापार से राजकीय इज़ारेदारी को ख़त्म करने से स्तालिन को कौन रोक सकता था? अगर ऐसा होता तो फिर स्तालिन ने लेनिन के व्यक्तिगत आग्रह पर इज़ारेदारी में ढील देने के केन्द्रीय कमेटी के फैसले को लागू करने के ख़िलाफ़ क्यों वोट किया, हालाँकि वह लेनिन से सहमत भी नहीं थे और केन्द्रीय कमेटी में बहुसंख्या उनके साथ थी? **इसी से स्पष्ट हो जाता है बेतेलहाइम 1922 से ही स्तालिन, ज़िनोवियेव और कामनेव की दक्षिणपन्थी त्रयी के उदय के त्रात्स्कीपन्थी दावों के साथ अन्दर ही अन्दर सहमत हैं। लेकिन बेतेलहाइम यह विश्लेषण "माओवादी" विश्लेषण के तौर पर करने के दावे के साथ पेश करते हैं, इसलिए त्रात्स्की के प्रति उनका रवैया खुले तौर पर और पूरी तरह मित्रतापूर्ण नहीं हो सकता है।**

●

बेतेलहाइम के अनुसार, राष्ट्रीयता के प्रश्न पर एक अन्य अघोषित विरोध-पक्ष पार्टी में मौजूद था, जोकि लेनिन की बिना शर्त राष्ट्र के आत्मनिर्णय की कार्यदिशा का विरोध कर रहा था। बेतेलहाइम ने स्तालिन को इस कार्यदिशा के नेतृत्व के तौर पर पेश किया है और एक प्रकार से बेईमान तरीकों से और चुपचाप अपनी कार्यदिशा को पार्टी पर थोपने का आरोप भी स्तालिन पर मढ़ दिया है। बेतेलहाइम राष्ट्रीयता के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की अवस्थिति का कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं देते हैं; न ही वह सटीक तरीके से यह बताते हैं कि पार्टी के भीतर राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर जो अलग-अलग अवस्थितियाँ मौजूद थीं, वे क्या थीं; बेतेलहाइम स्तालिन और लेनिन के बीच राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर मौजूद ज़ोर के

फ़र्क को एक सैद्धान्तिक अन्तर बताते हुए स्तालिन को दक्षिणपन्थी अवसरवादी क़रार देते हैं; इसका आधार वह लेनिन के उस दौर के लेखन को बनाते हैं, जिस दौर में लेनिन अस्वस्थता के कारण पार्टी के रोज़मर्रा के मामलों के नियोजन में भागीदारी नहीं कर पा रहे थे और उन तक पहुँचने वाली ख़बरें भी विभिन्न प्रकार के स्रोतों से छन-छनाकर आ रही थीं। बेतेलहाइम के अनुसार लेनिन ने स्तालिन की कार्यदिशा को राष्ट्रीय-समाजवादी क़रार दिया और सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के लिए संघर्ष किया। उन्होंने विभिन्न सोवियत गणराज्यों के "स्वायत्तीकरण" (जिसके अनुसार अन्य सोवियत गणराज्य गौण स्थिति में आर.एस.एफ़.एस.आर. से सम्बद्ध हो जाते) का विरोध किया और इसके स्थान पर एक संघ की वकालत की जिसकी सरकार वास्तव में सोवियत रूस की सरकार नहीं होगी; इस संघ का नाम उन्होंने 'यूरोप व एशिया के सोवियत गणराज्यों का संघ' रखने का प्रस्ताव रखा। बेतेलहाइम के अनुसार, इस सुझाव को स्तालिन ने केन्द्रीय कमेटी तक पहुँचने ही नहीं दिया और जोड़-तोड़ के रास्ते लेनिन के कुछ सुझावों को नये प्रस्ताव में औपचारिक तौर पर स्थान दिया और सोवियत संघ की एक ऐसी रूपरेखा पेश की जिसमें कि रूसी प्रभुत्व बना रहेगा। ऐसे नतीजे निकालने के लिए बेतेलहाइम **मोशे लेविन** जैसे इतिहासकारों का भी सहारा लेते हैं और लेनिन के लेखन से सन्दर्भों से काटकर उद्धरण भी पेश करते हैं। स्तालिन को बेतेलहाइम एक महान रूसी राष्ट्रवादी कट्टरपन्थ का प्रतिनिधि क़रार देते हैं, जिन्होंने द्ज़र्ज़ेंस्की और ओर्ज़ोनिकिद्ज़े के साथ मिलकर अपनी दक्षिणपन्थी अवसरवादी कार्यदिशा को पार्टी पर आरोपित किया; पार्टी स्वयं गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" के अनुभवों के बाद ऐसी प्रवृत्तियों के सामने कमज़ोर पड़ने की प्रवृत्ति का शिकार थी। और इस प्रकार लेनिन की मृत्यु के बाद पार्टी में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर इस दक्षिणपन्थी कार्यदिशा की विजय हुई। बेतेलहाइम के अनुसार बुखारिन, प्रियोब्रेज़ेंस्की, प्याताकोव और स्तालिन बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के ख़िलाफ़ थे और मज़दूर वर्ग और मेहनतकशों के आत्मनिर्णय की बात कर रहे थे। दूसरी ओर लेनिन का यह मानना था कि लम्बे अर्से से जो औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक दमन राष्ट्रीयताओं पर थोपा गया है, उसके कारण तमाम राष्ट्रीयताओं में रूसी अवाम के प्रति एक पूर्वाग्रह है और बुर्जुआ वर्ग इन राष्ट्रीयताओं के इन पूर्वाग्रहों का इस्तेमाल करके इनके मज़दूरों व मेहनतकशों को भी सोवियत सत्ता का शत्रु बना सकती हैं। लेनिन का यह मानना था कि मज़दूर वर्ग के आत्मनिर्णय का अधिकार उस समय की ठोस परिस्थितियों में लागू ही नहीं हो सकता था और अगर ऐसे किसी सिद्धान्त को ज़बरन थोपने का प्रयास किया गया तो उपरोक्त पूर्वाग्रह तेज़ी से बढ़ सकते हैं और इन दमित राष्ट्रीयताओं का बुर्जुआ वर्ग उनका इस्तेमाल कर सकता है। बेतेलहाइम के अनुसार, स्तालिन की दक्षिणपन्थी अवसरवादी कार्यदिशा बाद में बोल्शेविक पार्टी में प्रभुत्वशाली हो गयी।

अब आइये वास्तविक तथ्यों और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर होने वाले विवादों के ऐतिहासिक सन्दर्भ पर संक्षिप्त निगाह डालें। साथ ही, हमें यह भी देखना होगा कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की अवस्थितियाँ ऐतिहासिक तौर पर क्या-क्या रही थीं और इनमें किस दौर में और किन कारणों से उनमें परिवर्तन आये। हमें यह भी देखना होगा कि जो अलग-अलग अप्रोच पार्टी में मौजूद थे, उनके उत्स क्या थे। इसके अलावा, लेनिन की अवस्थिति भी इस प्रश्न पर हमेशा से एक नहीं रही थी और हमें यह देखना होगा कि उनमें किस दौर में क्या परिवर्तन आये; साथ ही, यह समझना ज़रूरी है कि लेनिनवादी अप्रोच और पद्धति को अपनाना एक बात है और हर नुक्ते पर लेनिन की हर

अवस्थिति को हर सन्दर्भ में सहीपन का पैमाना मानना एक अलग बात है।

बेतेलहाइम राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर चले अन्तःपार्टी संघर्ष को पार्टी में मौजूद केन्द्रीयतावादी, महान रूसी राष्ट्रवादी और नौकरशाहाना दक्षिणपन्थी रुझानों पर अपचयित कर देते हैं, जबकि इस प्रश्न पर चले विवादों के गहरे सैद्धान्तिक आधार थे और उनकी एक ऐतिहासिकता थी। बोल्शेविक क्रान्ति से पहले बोल्शेविक पार्टी में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त शुद्ध रूप से बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त नहीं था। अक्टूबर 1917 से पहले राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के उद्भव और विकास पर एक नज़र डालना ज़रूरी है, अन्यथा अक्टूबर क्रान्ति के बाद की लेनिन की अवस्थिति की ऐतिहासिकता को समझना सम्भव नहीं होगा और न ही स्तालिन की समझदारी के बारे में कोई न्यायपूर्ण आकलन करना सम्भव होगा।

अक्टूबर क्रान्ति से पहले अप्रैल 1917 में हुए पार्टी सम्मेलन में स्तालिन पहली बार राष्ट्रीय प्रश्न के विशेषज्ञ के तौर पर उपस्थित हुए। इस समय तक स्तालिन का विचार यह था कि राष्ट्र मुक्ति या आत्मनिर्णय का प्रश्न वास्तव में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का प्रश्न है और इसे बुर्जुआ जनवाद के अन्तर्गत प्रगतिशील रूप में हल किया जा सकता है। प्याताकोव, जिन्हें कि बेतेलहाइम ने राष्ट्रीय प्रश्न पर स्तालिन के तथाकथित दक्षिणपन्थी धड़े का अंग बताया है, ने स्तालिन की आलोचना की और कहा कि स्तालिन ने केवल पुराने किस्म के राष्ट्रीय उत्पीड़न पर विचार किया है, लेकिन साथ ही प्याताकोव ने **पोलिश अपसिद्धान्त (polish heresy)** (राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की अवस्थिति से प्रभावित सिद्धान्त, देखें, **'दिशा सन्धान',** अंक-1, अप्रैल-जून 2013, पृ. 70-71) का अनुमोदन किया और कहा कि किसी भी किस्म का राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त एक बुर्जुआ सिद्धान्त है और सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयातवाद के लिए इसका कोई मूल्य नहीं है। प्याताकोव के अनुसार सर्वहारा वर्ग का नारा होना चाहिए सीमाओं का ख़ात्मा और उसे बड़ी राज्य संरचनाओं को छोटी संरचनाओं में तब्दील नहीं करना चाहिए। **यहाँ पहली बात जिस पर ग़ौर किया जाना चाहिए वह यह है कि प्याताकोव और स्तालिन के विचार राष्ट्रीय प्रश्न पर एकसमान नहीं थे, बल्कि उनमें गुणात्मक अन्तर था।** बहरहाल, लेनिन ने प्याताकोव के विचारों पर तीख़ा हमला किया और लेनिन द्वारा चलायी गयी बहस के नतीजे के तौर पर इस पार्टी सम्मेलन ने अलग होने के अधिकार समेत बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया। इसके साथ, इस सम्मेलन ने ऑस्ट्रियाई मार्क्सवादियों के **"राष्ट्रीय सांस्कृतिक स्वायत्तता"** (देखें स्तालिन, *'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न'* का अध्याय-4, **'सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता'** और लेनिन, 1972, अध्याय-4, **"कल्चरल-नेशनल अटॉनमी"**, *'क्रिटिकल रिमार्क्स ऑन दि नेशनल क्वेश्चन'*, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-20, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 33-39) के ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादियों ओटो बावर व कार्ल रेनर द्वारा प्रतिपादित अर्थहीन सिद्धान्त को भी नकार दिया। लेनिन के इस कथन में उनके विचारों का सार अभिव्यक्त होता है:

"वे हमें बताते हैं कि रूस का विभाजन हो जायेगा, वह अलग-अलग गणराज्यों में टूट जायेगा, लेकिन हमारे पास इससे डरने का कोई कारण नहीं है। चाहें कितने भी स्वतन्त्र गणराज्य बन जायें, हमें इससे डरना नहीं चाहिए। जो बात हमारे लिए अहम है वह यह नहीं है कि राज्यों की सीमाएँ कहाँ से गुज़रती है, बल्कि यह है कि सभी राष्ट्रों के मज़दूरों की एकता को किसी भी राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग के साथ संघर्ष में बचाया

जाना चाहिए।" (ई.एच. कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'** खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 263, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद हमारा*)

राष्ट्रीय प्रश्न पर लेनिन की पहुँच और पद्धति का असली मकसद था यह दिखलाना कि हालाँकि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का प्रणेता बुर्जुआ वर्ग था, लेकिन साम्राज्यवाद के दौर में किसी भी देश का बुर्जुआ वर्ग इस सिद्धान्त पर अमल नहीं कर सकता है, और केवल समाजवाद ही वास्तव में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर ईमानदारी से अमल कर सकता है।

लेकिन गृहयुद्ध और उसके ठीक बाद के दौर में बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अमल की विशिष्ट जटिलताएँ भी सामने आयीं, जिनका स्तालिन ने पहले ही पूर्वानुमान लगाया था। दिसम्बर 1917 में स्तालिन ने ट्रांसकॉकेशिया के अलग होने के प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण कुछ इस प्रकार रखा था:

"ट्रांसकॉकेशिया और रूस में विकास के आम स्तर, सर्वहारा वर्ग के संघर्ष और अन्य बातों को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत तौर पर मैं ट्रांसकॉकेशिया के अलग होने का विरोध करूँगा। लेकिन अगर फिर भी ट्रांसकॉकेशिया की जनता अलग होने की माँग करेगी, तो निश्चित तौर पर वह अलग हो सकती है और इस मामले में उन्हें हमारी ओर से विरोध का कोई सामना नहीं करना पड़ेगा।" (*वही*, पृ. 264, *अनुवाद हमारा*)

1913 में ही स्तालिन ने यह प्रश्न पूछा था कि अगर ट्रांसकॉकेशिया में मुल्ले और धार्मिक नेता जनता को अपने पीछे लेकर पुराने सामन्ती तन्त्र की स्थापना करते हैं, तो सामाजिक-जनवाद को इसमें रचनात्मक तौर पर जनसमुदायों की राय को अलग करने का प्रयास करना चाहिए या नहीं? स्तालिन ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया कि यह किसी भी दौर में उपस्थित ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। दिसम्बर 1917 में स्तालिन ने जो बात कही वह स्पष्ट करती है कि स्तालिन भी बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के पक्ष में थे। दिसम्बर 1917 में यूक्रेनी सरकार का ठोस प्रश्न सोवियत सत्ता के सामने खड़ा था। यूक्रेनी बुर्जुआ सरकार के आत्मनिर्णय के दावे को सोवियत सत्ता ने चुनौती नहीं दी थी। इस सरकार ने सोवियत सत्ता के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण रुख़ अपनाते हुए साम्राज्यवादियों और श्वेत सेनाओं का साथ देना शुरू कर दिया था। स्तालिन ने इस पर सख़्त रुख़ अपनाते हुए कहा था कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के नाम पर कालेदिन के विद्रोह को समर्थन देना, यूक्रेन की सोवियत सेनाओं का निःशस्त्रीकरण करके उनको कुचलना, वास्तव में, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का मखौल बनाना था। ऐसे में, कुछ ने बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रति सोवियत सरकार की निष्ठा पर प्रश्न उठाया। तीसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में मार्तोव ने राष्ट्रीय प्रश्न पर सोवियत नीति पर स्पष्टीकरण माँगा। इस पर प्रियोब्रेज़ेंस्की ने जवाब देते हुए कहा कि पोलैण्ड, लिथुआनिया, आदि में अभी भी बुर्जुआ जनवादी कार्यभार पूरे नहीं हुए हैं और इसलिए वहाँ राष्ट्रीय जनमत संग्रह की बात करना जायज़ है, जबकि कॉकेशस, यूक्रेन आदि बुर्जुआ जनवादी मंज़िल में प्रवेश कर चुके हैं इसलिए वहाँ राष्ट्रीय प्रश्न पर वोट करने का हक़ केवल मेहनतकश अवाम को मिलना चाहिए। स्तालिन ने स्पष्ट किया कि उन देशों में सोवियत सत्ता की माँग करना हास्यास्पद है जहाँ अभी सोवियतें अस्तित्व में आयी ही नहीं हैं। ई.एच. कार ने अपनी रचना में दिखलाते हैं कि गृहयुद्ध के दौर में यह स्पष्ट हो गया था कि किसी भी राष्ट्रीयता के मामले में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू करते हुए उस राष्ट्रीयता और देश के विकास के स्तर और साथ ही वर्ग संघर्ष के मसलों पर विचार करना

होगा। इस मामले में मूल बोल्शेविक सिद्धान्त में कुछ सुधार करने की आवश्यकता थी।

दिसम्बर 1917 में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में रिपोर्ट पेश करते हुए स्तालिन ने बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार के कार्यान्वयन में कुछ ज़रूरी परिवर्तनों की चर्चा करते हुए दिखलाया कि सोवियत सत्ता और कुछ सीमान्त प्रदेशों के बीच टकराव का कारण वास्तव में राष्ट्रीय प्रश्न नहीं बल्कि राजनीतिक सत्ता का प्रश्न है। बुर्जुआ सरकारें इस प्रश्न को राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में पेश करने का प्रयास कर रही हैं, ताकि मज़दूर वर्ग की सत्ता के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष को छिपा सकें। स्तालिन ने कहा:

"ये सभी चीज़ें बुर्जुआ वर्ग नहीं बल्कि दिये गये राष्ट्र के मेहनतकश अवाम के अधिकार के तौर राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की व्याख्या की ओर इशारा कर रही हैं। राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार समाजवाद के लिए संघर्ष में एक उपकरण होना चाहिए और इसे समाजवाद के सिद्धान्तों के अधीन होना चाहिए।" (*वही*, पृ. 266, *अनुवाद हमारा*)

यह वास्तव में वही सिद्धान्त था जो कि बुखारिन पेश कर रहे थे और बोल्शेविक पार्टी में जिसका काफ़ी समर्थन मौजूद था। हालाँकि, पार्टी के आम दायरों में कई बार लोग प्याताकोव के 'पोलिश अपसिद्धान्त' और स्तालिन के 'हर राष्ट्र के मेहनतकशों के लिए आत्मनिर्णय' के अन्तर को नहीं समझ पाते थे, लेकिन निश्चित तौर पर दोनों सिद्धान्तों में अन्तर था। 1920 तक स्तालिन ने गृहयुद्ध के दौरान कई बार इस सिद्धान्त को लागू किया। 1920 में कारेलियन जनता के नाम सन्देश में स्तालिन ने इसका ज़िक्र भी किया। 1920 तक इस सिद्धान्त का कार्यान्वयन अधिकांश मामलों में सफल था, जैसा कि कार ने दिखलाया है। लेकिन कुछ स्थानों पर इस कार्यान्वयन सम्भव नहीं था, विशेष तौर पर वहाँ जहाँ कि अभी सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच राजनीतिक विभाजन स्पष्ट तौर पर मौजूद नहीं था और सर्वहारा वर्ग का एक अलग और स्वतन्त्र राजनीतिक आन्दोलन मौजूद नहीं था। व्यावहारिक तौर पर, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का मामला 1917 से लेकर 1920 के अन्त तक आम तौर पर गृहयुद्ध के साथ जुड़ गया था। ई.एच. कार दिखलाते हैं कि किस प्रकार तमाम बुर्जुआ गणराज्यों ने इसका इस्तेमाल सोवियत सत्ता पर साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर हमले के लिए किया। **लेकिन ग़ौर करने वाली बात यह है कि स्वयं लेनिन ने 1905 में सर्वहारा वर्ग के आत्मनिर्णय के अधिकार ही बात की थी।** लेनिन एक स्थान पर लिखते हैं:

"अगर हम अपने पक्ष की बात करें तो स्वयं हमारा सरोकार जनताओं या राष्ट्रों के नहीं बल्कि हर राष्ट्रीयता के सर्वहारा वर्ग के आत्म निर्णय से होना चाहिए।" (*वही*, पृ. 267 के तीसरे फुटनोट में, *अनुवाद हमारा*)

यह बात लेनिन ने 1905 में कही थी और इस रूप में लेनिन ने दोबारा इस प्रश्न को सूत्रबद्ध नहीं किया था। **लेकिन एक बात स्पष्ट है कि 'हर राष्ट्रीयता के सर्वहारा वर्ग के आत्मनिर्णय के अधिकार' के सिद्धान्त के प्रणेता स्वयं स्तालिन या बुखारिन नहीं थे।** अप्रैल, 1917 के पहले कई बार पार्टी में सर्वहारा वर्ग के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय और साथ ही राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के समाजवादी क्रान्ति के हितों के मातहत होने की बात बार-बार होती रही थी। अप्रैल, 1917 में उपस्थिति ठोस स्थिति में लेनिन ने बुर्जुआ सरकारों के आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ धोखे को ज़ारवादी रूसी साम्राज्य की दमित राष्ट्रीयताओं के समक्ष बेनक़ाब करने के लिए इसे अधिकतम सम्भव बिना शर्त लागू करने की बात कही थी और लेनिन ने इस विशेष ठोस परिस्थिति को स्पष्ट भी किया था। जैसा कि ई.एच. कार

ने दिखलाया है गृहयुद्ध के दौरान स्वयं लेनिन ने बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को निरपेक्ष रूप में नहीं लिया था और उसे गृहयुद्ध के विशिष्ट सन्दर्भ में रखकर लागू करने का पक्ष लिया था। कार यह भी दिखलाते हैं कि 1918 और 1919 के दौरान लेनिन ने मज़दूर वर्ग के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को व्यावहारिक तौर पर स्वीकार किया था और उसका अनुमोदन किया था। कार लिखते हैं, **"हर जगह, और चाहें किसी भी रूप में संघर्ष हो रहा था, उसमें जो असली मुद्दा दाँव पर लगा था वह था क्रान्ति का जीवन अथवा मृत्यु। लेनिन इस दौर में किसी भी दूसरे बोल्शेविक–या किसी भी बोल्शेविक-विरोधी–के ही समान राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को किसी अमूर्त सिद्धान्त के तौर पर गृहयुद्ध के सन्दर्भ से काटकर देखने को तैयार नहीं थे।"** (कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'**, खण्ड-1, पृ. 268, अंग्रेज़ी संस्करण, *अनुवाद हमारा*)

यह विवाद वास्तव में तब शुरू हुआ जब एक व्यावहारिक समस्या उत्पन्न हुई। वास्तव में, मज़दूर वर्ग और मेहनतकश अवाम के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त एक ऐसा सामान्य सिद्धान्त नहीं हो सकता था, जो कि सभी देशों पर लागू हो सके। जिन देशों में कोई अच्छे-ख़ासे आकार का मज़दूर वर्ग अभी पैदा ही नहीं हुआ था, या जहाँ यह नगण्य था, या फिर जहाँ पर मज़दूर वर्ग की स्वतन्त्र क्रान्तिकारी राजनीति और बुर्जुआ वर्ग से उसके राजनीतिक विलगाव की स्थितियाँ पैदा नहीं हुई थीं, वहाँ क्या किया जाय? मिसाल के तौर पर, मज़दूर वर्ग के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त लात्विया, लिथुआनिया और यूक्रेन के अतिरिक्त कहीं भी लागू हो पाना मुश्किल था। यह प्रश्न 1919 से ही बोल्शेविकों के समक्ष उपस्थित होना शुरू हो गया था। पार्टी की आठवीं कांग्रेस में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के प्रश्न पर लेनिन ने 1913 के लचीले रुख़ को ही अपनाया। स्तालिन उस दौर में सैन्य ज़िम्मेदारियों से घिरे हुए थे और उन्होंने इस प्रश्न पर कुछ नहीं बोला। बुखारिन ने दिसम्बर 1917 में सोवियत कांग्रेस में स्तालिन द्वारा रखी गयी रपट को उद्धृत किया और मज़दूर वर्ग के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की माँग की। उन्होंने कहा कि हमें हर दमित राष्ट्रीयता के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार करना चाहिए, लेकिन पोलिश बुर्जुआ वर्ग और उसी प्रकार के प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग के दावों को नहीं स्वीकार करना चाहिए। प्याताकोव ने अपनी पुरानी अवस्थिति दुहराते हुए कहा कि समाजवादी कार्यक्रम में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का कोई स्थान नहीं है क्योंकि यह बुर्जुआ वर्ग की माँग है। लेनिन ने प्याताकोव पर तीख़ा हमला करते हुए कहा कि उन स्थानों पर मज़दूर वर्ग के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं लागू हो सकता है जहाँ पर कोई मज़दूर वर्ग है ही नहीं, या फिर जहाँ मज़दूर वर्ग का नेतृत्व कम्युनिस्टों के हाथ में नहीं है। **इसलिए व्यावहारिक तौर पर बोल्शेविकों को हर मामले में कम से कम सैद्धान्तिक तौर पर बिना शर्त और अलग होने के अधिकार समेत राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना चाहिए।** लेनिन के अनुसार, जिन मामलों में प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ और सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ श्वेत शक्तियों और साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर इस सिद्धान्त का दुरुपयोग करता है वहाँ बात अलग है और वहाँ इस प्रश्न को हल करने का व्यावहारिक तरीका भिन्न हो सकता है। लेकिन राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार को मज़दूर वर्ग के आत्मनिर्णय के आम सिद्धान्त के तौर पर प्रतिपादित करने के लेनिन ख़िलाफ़ थे और इस बाबत उनकी अवस्थिति दुरुस्त थी। लेनिन की अवस्थिति को आठवीं कांग्रेस में विजय मिली। लेनिन की अवस्थिति को सही तरीके से समझने के लिए उस कांग्रेस में राष्ट्रीय प्रश्न पर पारित प्रस्ताव के पहले, दूसरे और चौथे बिन्दु

पर निगाह डालना ज़रूरी है। राष्ट्रीय प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी की नीति के लक्ष्यों को इस प्रकार सूत्रबद्ध किया गया:

"1. इसकी आधारशिला होगा भूस्वामियों और बुर्जुआ वर्ग की सत्ता को उखाड़ फेंकने के संयुक्त क्रान्तिकारी संघर्ष को चलाने के उद्देश्य से विभिन्न राष्ट्रीयताओं के सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग को साथ लाने की नीति।

"2. दमित देशों के मेहनतकश जनसमुदायों द्वारा इन देशों को दबाने वाले राज्यों के सर्वहारा वर्ग के प्रति जो अविश्वास की भावना है उस पर विजय पाने के लिए, यह ज़रूरी है कि किसी भी राष्ट्रीय समूह को मिले विशेषाधिकारों का उन्मूलन कर दिया जाय, सभी राष्ट्रीयताओं के बीच अधिकारों की पूर्ण समानता स्थापित की जाय, उपनिवेशों और ग़ैर-सम्प्रभु राष्ट्रों के अलग होने के अधिकार को स्वीकार किया जाय।"

दो वर्षों बाद स्तालिन ने इस प्रस्ताव के बारे में कहा था कि इसने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अस्पष्ट नारे को अलग होने का अधिकार शामिल करके एक ठोस और वास्तविक नारा बना दिया था। इस प्रस्ताव के तीसरे बिन्दु ने सोवियत गणराज्यों के एक संघ की वांछनीयता की ओर इशारा किया। **लेकिन सबसे महत्वपूर्ण था चौथा बिन्दु जो दिखलाता है कि लेनिन ने भी आठवीं कांग्रेस में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के कार्यान्वयन में राष्ट्रीयता के विकास के ऐतिहासिक स्तर और वर्ग संघर्ष पर ग़ौर करने की बात का समर्थन किया था।** चौथा बिन्दु इस प्रकार था:

"4. इस प्रश्न पर कि अलग होने की राष्ट्र की इच्छा को कौन अभिव्यक्त करेगा, रूसी कम्युनिस्ट पार्टी वर्ग-ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अपनाती है, और किसी भी राष्ट्र के ऐतिहासिक विकास के चरण पर ध्यान देती है: यानी यह मध्ययुगीनता से बुर्जुआ जनवाद की ओर बढ़ रहा है या फिर बुर्जुआ जनवाद से सोवियत या सर्वहारा जनवाद, आदि की ओर बढ़ रहा है।"

अन्त में प्रस्ताव में एक अतिरिक्त पैराग्राफ़ जोड़कर इस बात की ताईद की गयी जो कि "दमनकारी" राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग को साम्राज्यवादी रवैये से बचने का प्रयास करना चाहिए और दमित राष्ट्रों के मेहनतकश अवाम में राष्ट्रवादी भावना के अवशेष होने के प्रति सावधान रहना चाहिए। लेकिन चौथे बिन्दु से एक बात स्पष्ट हो जाती है। **लेनिन का राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त भी किसी भी राष्ट्र के ऐतिहासिक विकास की मंज़िल को ध्यान में लेने की बात करता था और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय को अभिव्यक्त करने का अभिकरण बुर्जुआ वर्ग का होगा या फिर सर्वहारा वर्ग का वह इसी बात पर निर्भर करता था। बेतेलहाइम इस पूरे इतिहास को नज़रन्दाज़ करते हैं और अपना पाठ उन बिन्दुओं से शुरू करते हैं, जिनसे शुरुआत करने पर, स्तालिन एक अवसरवादी के तौर पर पेश किये जा सकते हैं। यह चौथा बिन्दु वह स्थान दिखला रहा है जहाँ लेनिन और स्तालिन के दृष्टिकोण मिलते हैं।** ई.एच. कार ने सही ही लिखा है, **"यह सबसे अहम चौथा पैरा था जिसने बुर्जुआ से सर्वहारा जनवाद की ओर संक्रमण का सूत्र प्रदान किया। जब तक राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग अपने आपको "मध्ययुगीनता" से मुक्त करने के लिए संघर्ष कर रहा है, तब तक वह "राष्ट्र के अलग होने की इच्छा" का वैध वाहक है और उसे सर्वहारा का समर्थन हासिल है...लेकिन जब मध्ययुगीनता के विरुद्ध संघर्ष (यानी, बुर्जुआ क्रान्ति) पूर्ण हो जाता है, और "बुर्जुआ जनवाद से सोवियत या सर्वहारा जनवाद की ओर संक्रमण" का मंच सज जाता है, तो सर्वहारा "राष्ट्र के अलग होने की इच्छा" का**

एकमात्र वैध वाहक बन जाता है।" (कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'**, खण्ड-1, पृ. 271, *अनुवाद हमारा*) कार आगे स्पष्ट करते हैं कि व्यवहारत: दोनों ही नीतियों, यानी कि बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय और मज़दूर वर्ग के लिए आत्मनिर्णय की नीतियों को लागू किया गया और इसकी अपनी जटिलताएँ रहीं। **जो भी हो, एक बात स्पष्ट है कि बेतेलहाइम लेनिन की अवस्थिति की ऐतिहासिकता को किनारे कर देते हैं और विशेष घटना, जॉर्जियाई मामले, के सन्दर्भ में लेनिन की अवस्थिति को लेनिन की आम अवस्थिति के तौर पर पेश करते हैं और इस प्रश्न पर लेनिन को एक उदारपन्थी बना देते हैं।** लेनिन इस बात पर राज़ी थे कि आम सैद्धान्तिक नीति निश्चित तौर पर अलग होने के अधिकार समेत बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार है, लेकिन विशिष्ट मामलों में जहाँ कहीं समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल हो और सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में हो, वहाँ मज़दूर वर्ग को आत्मनिर्णय का अधिकार मिलना चाहिए।

बेतेलहाइम का दावा है कि स्तालिन ने आम तौर पर बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू नहीं किया और महान रूसी कट्टरपन्थी रवैये को लागू किया। इसके लिए भी बेतेलहाइम जॉर्जियाई मामले के दौरान लेनिन के कुछ पत्रों और लेखन का हवाला देते हैं, जिनके आलोचनात्मक विवेचन पर हम आगे आयेंगे। पहले यह देखते हैं कि स्तालिन ने आम तौर पर लेनिन द्वारा प्रतिपादित बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू किया या नहीं।

राष्ट्रीय प्रश्न के सही ढंग से समाधान के लिए सोवियत सत्ता ने एक अलग कमिसारियत **नार्कोमनैट्स** बनायी थी। इसके मातहत अलग-अलग राष्ट्रों की कमिसारियतें थीं और उनमें अहम पदों पर सम्बन्धित राष्ट्रीयता के लोगों को ही नियुक्त किया गया था। इनका काम न सिर्फ़ सामन्ती और साम्राज्यवादी दमन के ख़िलाफ़ जनता को गोलबन्द करना था, बल्कि क्रान्तिकारी प्रचार करना भी था। पार्टी के भीतर भी राष्ट्रीय प्रखण्ड बनाये गये थे जिन्हें "ब्यूरो" कहा जाता था। स्तालिन नार्कोमनैट्स का नेतृत्व सम्भाल रहे थे। उनके मातहत पेस्तकोव्स्की थे जोकि उप जनकमिसार थे। उन्होंने नार्कोमनैट्स के भीतर बोल्शेविकों के बीच चल रहे संघर्ष का एक ब्यौरा दिया है। उनके मुताबिक, कमिसारियत में तमाम दमित राष्ट्रीयताओं का प्रतिनिधित्व करने वाले तमाम कमिसार वास्तव में रूसीकृत हो गये थे और कई बार रूसियों से भी ज़्यादा रूसी कट्टरपन्थ का प्रदर्शन करते थे। नार्कोमनैट्स के कॉलेजियम में अधिकांश ये ही लोग थे जो कि बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मानने की बजाय रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के अमूर्त अन्तरराष्ट्रीयतावादी सिद्धान्त, जिसे "पोलिश अपसिद्धान्त" का भी नाम दिया गया था, मानते थे। पेस्तकोव्स्की के विस्तृत ब्यौरे से पता चलता है कि स्तालिन मज़बूती से लेनिन की कार्यदिशा की हिफ़ाज़त करते थे और कॉलेजियम में अधिकांशत: अलग-थलग पड़ जाते थे। जब कई राष्ट्रीयताओं के गणराज्यों की स्थापना में स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत सत्ता ने योगदान किया और एक अतिरेकी छोर तक जाकर बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू किया, तो स्तालिन पर हवा में नयी राष्ट्रीयताएँ "पैदा" करने तक का आरोप लगाया गया जैसे कि तातार-बशकीर गणराज्य का निर्माण करना। कई मामलों में वास्तव में जो गणराज्य बनाये गये थे, वे किसी एक दमित राष्ट्रीयता का नेतृत्व नहीं करते थे; कुछ जगहों पर बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग दोनों ही काफ़ी कमज़ोर थे और वहाँ एक अलग राष्ट्र-राज्य बनाये जाने की माँग की कोई विशिष्ट अपील भी नहीं थी। लेकिन लेनिन की यही नीति थी कि अलग-अलग राष्ट्रीयताओं में

विभाजित सर्वहारा वर्ग की दूरगामी अन्तरराष्ट्रीयतावादी एकता पैदा करने के लिए अलग होने के अधिकार समेत बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का सामान्य दौरों में पालन किया जाय। लेनिन की यह नीति सही भी साबित हुई। गृहयुद्ध के दौरान राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का प्रश्न कुछ जगहों पर बुर्जुआ ताक़तों ने सत्ता के प्रश्न के साथ उलझा दिया था; उन मामलों में निश्चित तौर पर किसी आदर्श सिद्धान्त का कार्यान्वयन होना मुश्किल था, क्योंकि कोई सामान्य या आदर्श स्थिति मौजूद नहीं थी। फिर भी सोवियत सत्ता ने बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का उल्लंघन नहीं किया। कुछ स्थानों पर मज़दूर वर्ग के लिए आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू किया गया, जिसे कि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में राष्ट्रीय इच्छा का वैध वाहक माना गया। **अगर स्तालिन की भूमिका के एक प्रातिनिधिक मामले पर ग़ौर करना हो, तो वह था फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता का मसला।** स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत सत्ता ने फिनलैण्ड के बुर्जुआ वर्ग के दावे पर उसे बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय और अलग होने का अधिकार दिया, हालाँकि वहाँ का सर्वहारा वर्ग वहाँ की सामाजिक-जनवादी पार्टी के नेतृत्व में अच्छा-ख़ासा संगठित था। स्तालिन ने उस समय वीटीएसआईके की बैठक में कहा था:

"दरअसल जनकमिसार परिषद् ने अपनी इच्छा के विरुद्ध जनता को नहीं बल्कि फिनलैण्ड की बुर्जुआज़ी को आज़ादी दी, जिसे कि परिस्थितियों के एक विचित्र मिश्रण के कारण समाजवादी रूस के हाथों आज़ादी मिली। फिनिश मज़दूरों व सामाजिक-जनवादियों ने अपने आपको एक ऐसी स्थिति में पाया जिसमें कि उन्हें सीधे समाजवादियों के हाथों से नहीं, बल्कि फिनिश बुर्जुआ वर्ग की सहायता से आज़ादी मिली।" (कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'** खण्ड-1 में उद्धृत, पृ. 288, *अनुवाद हमारा*)

कार बताते हैं कि स्तालिन ने इस वाकये को "फिनिश सर्वहारा वर्ग की त्रासदी" कहा और इसके लिए फिनिश सामाजिक-जनवादियों के अनिर्णय और कायरता को ज़िम्मेदार ठहराया। बाद में, इस आलोचना के प्रभाव में फिनिश सामाजिक-जनवादियों ने सत्ता पर कब्ज़ा करने का प्रयास किया और कुछ समय के लिए एक अजीब स्थिति पैदा हुई, जिसमें कि सोवियत सत्ता ने फिनिश बुर्जुआ गणराज्य को भी मान्यता दी थी और साथ ही भ्रूण रूप में पैदा हो रहे फिनिश मज़दूर सोवियत गणराज्य को भी मान्यता दी थी! कुछ ही समय पहले ऐसी ही स्थिति यूक्रेन में भी पैदा हुई थी। बहरहाल, बाद में जर्मन सहायता से फिनिश मज़दूर सोवियत को कुचल दिया गया और बुर्जआ सत्ता वहाँ मज़बूती से स्थापित हो गयी। ऐसे और बहुत से ब्यौरे दिये जा सकते हैं जिससे लेनिन के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रति स्तालिन की प्रतिबद्धता को सिद्ध किया जा सकता है। लेकिन बेतेलहाइम ने अपनी सुविधानुसार तथ्यों को छाँटकर पेश किया है, जिससे कि स्तालिन पर भावी हमले की ज़मीन तैयार की जा सके, जो कि वह वास्तव में अपनी रचना के खण्ड 2 और खण्ड 3 में करते हैं। बहरहाल, यहाँ हम उनकी रचना के पहले खण्ड तक ही अपने आपको सीमित रखेंगे। **इस मामले में बेतेलहाइम के ख़राब इतिहास-लेखन को साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। अब हम जॉर्जियाई मसले पर निगाह डालते हैं और देखते हैं कि वाकई में हुआ क्या था और लेनिन और स्तालिन के बीच के संघर्ष का वास्तविक सन्दर्भ और उसके वास्तविक मुद्दे क्या थे।**

जॉर्जियाई मसला: जॉर्जिया ट्रांसकॉकेशिया का एक अंग था, जिसमें उसके अलावा कुल

7 अन्य राष्ट्रीयताएँ थीं। इनमें प्रमुख दो थीं आर्मेनियाई व अज़रबैज़ानी राष्ट्रीयताएँ। जॉर्जियाई, आर्मेनियाई व अज़रबैज़ानी राष्ट्रीयताओं की कुल आबादी 60 लाख से कुछ कम थी। समस्या यह थी कि ये तीनों राष्ट्रीयताएँ पूरे ट्रांसकॉकेशिया में बिखरी हुई थीं, विशेष तौर पर आर्मेनियाई। पूरे ट्रांसकॉकेशिया की वर्ग संरचना और राष्ट्रीय प्रोफाइल जटिल था जिसके कारण तीनों प्रमुख राष्ट्रीयताओं के लिए अलग-अलग गणराज्यों की सीमाएँ तक तय कर पाना एक बेहद मुश्किल काम था। मिसाल के तौर पर, जॉर्जिया की राजधानी तिफ़लिस में जॉर्जियाई लोगों से ज़्यादा आर्मेनियाई आबादी थी और वास्तव में ट्रांसकॉकेशिया के किसी भी शहर के मुकाबले इस शहर में सबसे ज़्यादा आर्मेनियाई आबादी थी। ऐसे में, ट्रांसकॉकेशिया में रूस-विरोधी राष्ट्रवाद से ज़्यादा इन तीन राष्ट्रीयाताओं के बीच के अन्तरविरोध थे। इसको 1912 में स्तालिन ने इस तरह से व्याख्यायित किया था:

"अगर...जॉर्जिया में कोई गम्भीर *रूसी-विरोधी* राष्ट्रवाद नहीं है तो इसका प्राथमिक कारण यह है कि यहाँ रूसी भूस्वामी नहीं हैं और न ही रूसी बड़ा पूँजीपति वर्ग है, जो कि जनसमुदायों में ऐसे राष्ट्रवाद को ईंधन मुहैया कराता। जॉर्जिया में एक *आर्मेनियाई-विरोधी* राष्ट्रवाद है; लेकिन इसका कारण यह है कि यहाँ एक आर्मेनियाई बड़ा पूँजीपति वर्ग है जो कि छोटे और अभी भी कमज़ोर जॉर्जियाई पूँजीपति वर्ग को दबाता है और इसे एक आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद की ओर धकेलता है। " (स्तालिन, 1954, **'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न'**, संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड-2, अंग्रेज़ी संस्करण, फॉरेन लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 317-318, *अनुवाद हमारा*)

इन्हीं जटिलताओं के कारण कॉकेशियाई बोल्शेविकों ने सितम्बर 1917 में स्पष्ट किया था कि यहाँ राज्यों का बँटवारा प्रस्तावित करना अव्यावहारिक है। अक्टूबर क्रान्ति के बाद तिफ़लिस में ट्रांसकॉकेशियाई कमिसारियत की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त वहाँ एक मज़दूर, किसानों व सैनिकों की सोवियत भी अस्तित्व में आ चुकी थी, जिसकी अगुवाई एक मेंशेविक नेता **जॉर्डेनिया** कर रहे थे। संविधान सभा के भंग किये जाने के बाद कमिसारियत ने सोवियत सत्ता को मान्यता देने से इंकार कर दिया। इस कमिसारियत में मुख्यत: अज़रबैज़ानी मुखिया, जॉर्जियाई भूस्वामी और बुर्जुआ राष्ट्रवादी मुख्य भूमिका में और बहुसंख्या में थे। जब ब्रेस्त-लितोव्स्क समझौता हुआ उसके कुछ समय बाद एक ट्रांसकॉकेशियाई संघीय गणराज्य अस्तित्व में आया लेकिन यह ज़्यादा दिनों तक नहीं टिका क्योंकि जॉर्जियाई, आर्मेनियाई और अज़रबैज़ानी गुटों के बीच तीखे अन्तरविरोध मौजूद थे। मई 1918 में तीनों प्रमुख राष्ट्रीयताओं ने तीन दिनों के भीतर तीन अलग-अलग गणराज्यों की घोषणा कर दी। इन गणराज्यों की स्वतन्त्रता और भी क्षणभंगुर साबित हुई। साम्राज्यवादी तुर्की ने कुछ ही समय में आर्मेनिया और अज़रबैज़ान के बड़े हिस्से पर अपनी फौजें दौड़ा दीं। आर्मेनिया का अस्तित्व तो नाममात्र का भी नहीं रहा; अज़रबैज़ान में एक तुर्की कठपुतली सरकार बैठा दी गयी। जॉर्जिया ने इस स्थिति से बचने के लिए तुर्की के सहयोगी जर्मनी की सहायता ली और बदले में जर्मनी को युद्ध के दौरान अपने संसाधनों व रेलवे का इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी। जॉर्जिया में 1918 में मेंशेविक जॉर्डेनिया के नेतृत्व में सत्ता स्थापित हो चुकी थी। इस मेंशेविक सत्ता ने सोवियत सत्ता के विरुद्ध हर सम्भव कदम उठाया। जर्मन सामाजिक-जनवादी भी रूस के विरुद्ध इस सत्ता को खुला समर्थन दे रहे थे। बहरहाल, यह स्थिति ज़्यादा दिनों तक कायम नहीं रही। प्रथम विश्व युद्ध में धुरी शक्तियों की पराजय के बाद ये गणराज्य भरभरा कर गिरने लगे। अज़रबैज़ान में जनवरी 1920 में कम्युनिस्टों ने आम बग़ावत कर सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया।

बाकू में सत्ता में आये बोल्शेविकों ने रूसी सोवियत सत्ता के साथ अपनी पक्षधरता जता दी। जहाँ तक जॉर्जिया का प्रश्न है, वहाँ की मेंशेविक सत्ता ने बोल्शेविक सोवियत सत्ता के विरुद्ध अपनी कार्रवाइयाँ जारी रखीं। इसी बीच **काऊत्स्की, वेण्डरवेल्डे** और **रैमसे मैकडॉनल्ड** जैसे सामाजिक-जनवादी नेताओं ने जॉर्जिया का दौरा किया। जॉर्जियाई मेंशेविक सत्ता ने कम्युनिस्टों का ज़बरदस्त दमन शुरू कर दिया। साथ ही जॉर्जिया ने अज़रबैज़ान और आर्मेनिया, जहाँ बोल्शेविक सत्ताएँ अस्तित्व में आ चुकी थीं, के ख़िलाफ़ सैन्य गतिविधियाँ और घुसपैठ शुरू कर दी थी। जब अज़रबैज़ान और जॉर्जिया के बीच खुले तौर पर युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी तब 1921 की फरवरी में सोवियत रूसी और जॉर्जियाई बोल्शेविकों ने जॉर्जिया की सीमा पार की और फरवरी के अन्त तक जॉर्जिया में सोवियत सत्ता की स्थापना हुई। यह वास्तव में लाल सेना की आख़िरी कार्रवाइयों में से एक था। इसके बाद स्तालिन के नेतृत्व में सभी सोवियत गणराज्यों के समान विकास के लिए समानतामूलक आर्थिक विकास और सहकार की नीतियों पर अमल की व्यवस्थित शुरुआत हुई। हम उसके विस्तार में गये बग़ैर जॉर्जियाई मामले में उपस्थित हुए अन्तरविरोधों पर आते हैं।

युद्ध के बाद पुराने रूसी साम्राज्य की लगभग सभी राष्ट्रीयताओं के गणराज्यों की स्थापना और सोवियत रूसी सत्ता के साथ उनकी एकता की स्थापना की शुरुआत के समय ही **लेनिन ने यह स्पष्ट किया था कि पूरे ट्रांसकॉकेशिया के समेकित विकास के लिए एक ट्रांसकॉकेशियाई सोवियत गणराज्य की स्थापना आवश्यक है** क्योंकि इसी से ट्रांसकॉकेशिया की अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के अन्तरविरोध के मसलों का समाधान हो सकता है। **लेनिन ने सबसे पहले एक एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई आर्थिक संगठन की माँग की।** बोल्शेविक पार्टी ने जब इस योजना पर काम शुरू किया तो जॉर्जियाई बोल्शेविकों के एक हिस्से, जिसका नेतृत्व **मदिवानी** और **मकारद्ज़े** कर रहे थे, ने इसका विरोध किया। इस विरोध के पीछे यह सोच काम कर रही थी कि जॉर्जियाई राष्ट्र आर्मेनियाई या अज़रबैज़ानी राष्ट्र के मुकाबले आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक तौर पर ज़्यादा समृद्ध है और इस एकीकरण से वह उनके समान हो जायेगा या उनसे पिछड़ जायेगा। इस राष्ट्रवादी भटकाव के विरुद्ध बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने कड़े कदम उठाये। आर्मेनिया व अज़रबैज़ान एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्यों के संघ के पक्ष में थे। कुछ समय बाद इस जॉर्जियाई राष्ट्रवादी समाजवादी धड़े के विरोध के बावजूद पहले **द्ज़र्जेंस्की** के हस्तक्षेप के साथ ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्यों के संघ की स्थापना हुई और लेनिन की एकीकृत आर्थिक संगठन की माँग पूरी हुई। लेकिन कुछ ही समय में यह स्पष्ट हो गया कि ऐसे एकीकृत आर्थिक संगठन के लिए *ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्यों के संघ* की बजाय एक *संघीय ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य* की आवश्यकता है और यह कार के शब्दों में **"एक आर्थिक अपरिहार्यता"** के रूप में सामने आ चुका था। जब एक एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य की स्थापना के प्रयास शुरू हुए तो मदिवानी और मकारद्ज़े के नेतृत्व में राष्ट्रवादी विचलन के शिकार बोल्शेविक धड़े ने एक प्रकार का विद्रोह कर दिया। इसके बाद अनुशासन को पुनर्स्थापित करने के लिए द्ज़र्जेंस्की व स्तालिन ने ओर्ज़ोनिकिद्ज़े को जॉर्जिया भेजा। वहाँ एक बैठक में जॉर्जियाई राष्ट्रवादी बोल्शेविकों द्वारा दुव्यर्वहार के जवाब में ओर्ज़ोनिकिद्ज़े ने उनके एक सदस्य कबानिद्ज़े पर हाथ उठा दिया। निश्चित तौर पर यह एक भयंकर भूल थी और रूसी पार्टी में रूसीकृत हो चुके जॉर्जियाई बोल्शेविकों पर महान रूसी सोच के प्रभाव को दिखलाता था। ख़ैर, अन्ततः मदिवानी व मकारद्ज़े को उनके पदों से हटा दिया गया और एकीकृत

ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य की स्थापना हुई। लेकिन वास्तव में इसके कुछ समय पहले और बाद जो कुछ हो रहा था, उसमें स्तालिन की अवस्थिति और लेनिन की अवस्थिति और पूरे सन्दर्भ पर करीबी नज़र डालने की आवश्यकता है।

पहली बात जो स्पष्ट तौर पर दिखती है कि वास्तव में मदिवानी और मकारद्ज़े का धड़ा लेनिन के आर्थिक एकीकरण और क्रमिक प्रक्रिया में एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य की स्थापना के ख़िलाफ़ था और इसके लिए लगातार प्रचार कार्रवाइयाँ और पार्टी के भीतर तोड़-फोड़ की कार्रवाइयाँ कर रहा था। ग़ौर करने की बात यह है कि यह धड़ा एक स्वतन्त्र गणराज्य के तौर पर समाजवादी सोवियत गणराज्यों के संघ में शामिल होने को तैयार था, लेकिन ट्रांसकॉकेशियाई संघ में शामिल नहीं होना चाहता था क्योंकि फिर जॉर्जिया को बातम जैसा पोर्ट और तिफलिस जैसा रेलवे जंक्शन आर्मेनिया और अज़रबैज़ान के साथ साझा करना पड़ता। इसके अलावा, एक अलग गणराज्य होने पर जॉर्जिया तिफलिस में मौजूद भारी आर्मेनियाई आबादी, जो कि जॉर्जियाई आबादी से भी ज़्यादा थी, को स्थानान्तरित कर सकता था। **ये सारे कदम पूरे ट्रांसकॉकेशिया में भयंकर उथल-पुथल और एक गृहयुद्ध जैसी स्थिति पैदा कर देते। यही कारण था कि लेनिन और स्तालिन दोनों ही ट्रांसकॉकेशिया में शान्ति के लिए एक एकीकृत संघीय गणराज्य की आवश्यकता को समझते थे।** स्तालिन की अवस्थिति इस प्रश्न पर लेनिन के साथ ही थी। लेकिन स्तालिन और द्ज़र्ज़ेंस्की के नेतृत्व में इस समस्या का समाधान करने के लिए जो ठोस कदम उठाये गये, उनमें जल्दबाज़ी थी और यह जल्दबाज़ी ही अन्त में एक अप्रियकर घटना का कारण बनी, हालाँकि स्तालिन इसके लिए प्रत्यक्ष तौर पर उत्तरदायी नहीं थे। लेनिन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि एकीकृत ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य के प्रस्ताव को कुछ समय के लिए टाला जाना चाहिए था। इसे रद्द करने के हक़ में वह भी नहीं थे क्योंकि लेनिन तो शुरू से ही एक ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य के पक्ष में थे। **बेतेलहाइम इस असल प्रश्न पर स्तालिन और लेनिन की अवस्थितियों पर चुप्पी साधे रहते हैं और केवल इस मसले को हल करने के तौर-तरीके में हुई भूलों पर केन्द्रित करते हैं और उसके आधार पर स्तालिन पर दक्षिणपन्थी अवसरवादी होने का आरोप मढ़ देते हैं, जो कि लेनिन से सीधा बैर मोल लिये बग़ैर अन्य व्यक्तियों के ज़रिये जॉर्जिया के प्रश्न पर अपनी अलग कार्यदिशा को थोप रहे थे। यह बात तथ्यतः ग़लत है और बेतेलहाइम के ख़राब इतिहास-लेखन का जीता-जागता नमूना है।**

जॉर्जियाई विचलनकारी जॉर्जिया की पार्टी में अल्पसंख्या में थे, लेकिन पार्टी की केन्द्रीय कमेटी में बहुसंख्या में थे। मदिवानी धड़ा इसी बात का लाभ उठा रहा था। 1922 और 1923 में हुई दो जॉर्जियाई बोल्शेविक पार्टी कांग्रेसों में मदिवानी के ट्रांसकॉकेशियाई संघीय गणराज्य को ख़ारिज करने की कार्यदिशा को भयंकर पराजय का सामना करना पड़ा था। एक बार उसे 122 वोटों में से 18 वोट मिले थे और दूसरी बार 144 वोटों में से 20 वोट मिले थे। **स्पष्ट था कि मदिवानी और मकारद्ज़े अपनी प्रतिक्रियावादी कार्यदिशा को जॉर्जियाई पार्टी पर थोप रहे थे।** जॉर्जियाई राष्ट्रवादी समाजवादियों ने अक्टूबर 1922 में रूसी बोल्शेविक पार्टी, विशेषकर ओज़ोनिकिद्ज़े पर ज़ोर-ज़बरदस्ती और ट्रांसकॉकेशियाई गणराज्य की योजना को थोपने और जॉर्जियाई राष्ट्र की सम्प्रभुता पर हमले का आरोप लगाते हुए टेलीग्राम भेजा। इसका 21 अक्टूबर 1922 को लेनिन ने यह जवाब दिया:

"मुझे त्सित्साद्ज़े और अन्य लोगों द्वारा भेजे गये प्रत्यक्ष तार सन्देश के अशोभनीय स्वर पर आश्चर्य है...मुझे पक्का यकीन था कि केन्द्रीय कमेटी के महाधिवेशन द्वारा

सारे अन्तरविरोधों का निपटारा हो गया था जिसमें मेरी अप्रत्यक्ष और मदिवानी की प्रत्यक्ष भागीदारी थी। इसीलिए मैं ओर्ज़ोनिकिद्ज़े के ख़िलाफ़ अभद्र भाषा के प्रयोग की कड़ी निन्दा करता हूँ और ज़ोर देकर कहता हूँ कि आपके विवाद को भद्र और वफ़ादार भाषा में निपटारे के लिए आर.सी.पी. के केन्द्रीय कमेटी के सचिवालय को सन्दर्भित किया जाना चाहिए।" (लेनिन, 1976, **कलेक्टेड वर्क्स** खण्ड-45, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 582, *अनुवाद हमारा*)

इसके बाद ही द्ज़र्जेंस्की के नेतृत्व में एक आयोग को इस मामले के निपटारे के लिए भेजा गया था। इस समय तक लेनिन पूरी तरह से स्तालिन के पक्ष में थे और मदिवानी धड़े के ख़िलाफ़ खड़े थे। यह ग़ौरतलब है कि 11वीं पार्टी कांग्रेस में **मार्च 1922** में लेनिन ने ही स्तालिन को राष्ट्रीय मसलों का कमिसार बनाने का प्रस्ताव रखा था और प्रियोब्रेज़ेंस्की की आलोचना के समक्ष स्तालिन का बचाव किया था। उस समय लेनिन ने कहा था कि तुर्केस्तान और कॉकेशिया की समस्या को हल करने के लिए **"हमें एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जिसके पास इनमें से किसी भी राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि जा सकते हैं और विस्तार से अपनी परेशानियों पर चर्चा कर सकते हैं। हमें ऐसा आदमी कहाँ मिलेगा? मुझे नहीं लगता कि कॉमरेड प्रियोब्रजेंस्की इसके लिए कॉमरेड स्तालिन से बेहतर कोई उम्मीदवार सुझा सकते हैं।"** (लेनिन, 1966, **कलेक्टेड वर्क्स,** खण्ड 33, अंग्रेज़ी संस्करण, फॉरेन लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 315, *अनुवाद हमारा*)

इसके बाद, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं, अक्टूबर 1922 तक लेनिन ने मदिवानी धड़े के राष्ट्रवादी समाजवाद पर हमला किया था और स्तालिन, द्ज़र्जेंस्की और ओर्ज़ोनिकिद्ज़े का बचाव किया था, क्योंकि वे वास्तव में लेनिन की ट्रांसकॉकेशियाई संघ की नीति का ही कार्यान्वयन कर रहे थे। इसके बाद, ओर्ज़ोनिकिद्ज़े की ग़लती के साथ सम्भवत: लेनिन की अवस्थिति और रवैये में कुछ परिवर्तन आया। इसके साथ ही इस दौर में व्यक्तिगत सम्बन्धों के धरातल पर जो कुछ घट रहा था, उसके कारण भी लेनिन का रवैया स्तालिन के प्रति बदला था। कुछ अध्येताओं जैसे कि **डब्ल्यू. बी. ब्लैण्ड** ने इसमें लेनिन की तबियत दो भयंकर दौरों के बाद ज़्यादा बिगड़ने, राजनीतिक कार्यकलापों में उनकी प्रत्यक्ष भागीदारी की समाप्ति और उन तक छन-छनाकर सूचनाओं के पहुँचने और विशेष तौर पर क्रुप्सकाया द्वारा पूर्वाग्रहों के साथ इन सूचनाओं के पहुँचने को ज़िम्मेदार माना है। लेकिन इस मसले पर अटकलबाज़ी नहीं की जानी चाहिए और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका महत्व ज़्यादा से ज़्यादा गौण होगा। सिद्धान्त के मसले पर बात करें, तो हम कुछ बातें स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं।

पहली बात यह कि जॉर्जियाई राष्ट्रवादी-समाजवादी मदिवानी धड़े के ख़िलाफ़ सैद्धान्तिक संघर्ष में स्तालिन बिल्कुल सही थे और उनकी सैद्धान्तिक अवस्थिति लेनिन से बिल्कुल भिन्न नहीं थी। दूसरी बात यह कि इस मामले के निपटारे में स्तालिन के नेतृत्व में जो कार्रवाइयाँ द्ज़र्जेंस्की और विशेष तौर पर ओर्ज़ोनिकिद्ज़े ने कीं, उनमें निश्चित तौर पर जल्दबाज़ी थी और इसके पीछे एक महान रूसी मानसिकता की उपस्थिति की सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। स्तालिन ने स्वयं 1923 में इस पर चोट की थी और इस ख़तरे की ओर पार्टी को आगाह किया था कि पार्टी के भीतर भी इस मानसिकता के शिकार लोग मौजूद हैं और यह सोवियत गणराज्यों के संघ की एकता के लिए घातक हो सकता है (देखें ई.एच. कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'**, खण्ड-1 में स्तालिन का

उद्धरण, पृ. 371-72)। बाद में लेनिन ने मदिवानी धड़े के प्रति अपने रवैये में एकाएक बदलाव किया, जिसकी जो भी व्याख्या की जाये, लेकिन इतना स्पष्ट है कि अक्टूबर 1922 के बाद लेनिन की अवस्थिति इस प्रश्न पर सही नहीं थी जबकि स्तालिन की अवस्थिति सापेक्षत: अधिक दुरुस्त थी। बाद के दौर में हुए परिवर्तनों ने दिखला दिया कि मदिवानी समूह वास्तव में बोल्शेविक पार्टी में एक भयंकर विचलन का प्रतिनिधित्व करता था। ग़ौरतलब है कि बाद में मदिवानी ने त्रात्स्कीपन्थी विपक्ष का साथ दिया था और त्रात्स्की, जिन्होंने कि जॉर्जियाई मसले पर हस्तक्षेप करने की लेनिन की गुज़ारिश को ख़राब स्वास्थ्य का हवाला देकर ठुकरा दिया था, बाद में इस मसले का स्तालिन के ख़िलाफ़ इस्तेमाल कर रहे थे। दिसम्बर 1926 में त्रात्स्की द्वारा इस प्रश्न पर आलोचना किये जाने पर स्तालिन ने जवाब देते हुए कहा था कि यह सच है कि **"कॉमरेड लेनिन ने मदिवानी के किस्म के जॉर्जियाई अर्द्ध-राष्ट्रवादी, अर्द्ध-कम्युनिस्टों के प्रति कुछ ज़्यादा ही सख़्त सांगठनिक नीति को अपनाने के लिए मुझे फटकारा था...कि मैं उन्हें "उत्पीड़ित" कर रहा था। बाद के दौर के तथ्यों ने दिखलाया कि तथाकथित "विचलनवादी" यानी मदिवानी की किस्म के लोग वास्तव में उससे ज़्यादा सख़्त व्यवहार के अधिकारी थे.....बाद की घटनाओं ने दिखलाया कि "विचलनवादी" सर्वाधिक निम्न कोटि के अवसरवाद के पतित होते धड़े से ज़्यादा कुछ नहीं थे। त्रात्स्की को यह सिद्ध करने दें कि ऐसा नहीं है। लेनिन इन तथ्यों से वाक़िफ़ नहीं थे, और हो भी नहीं सकते थे, क्योंकि वह बीमार थे, बिस्तर पर थे और उनके पास घटनाओं पर करीबी से ग़ौर करने का मौका नहीं था।"** (स्तालिन, 1974, **ई.सी.सी.आई. का सातवां विस्तृत महाधिवेशन**, *'ऑन ऑपोज़ीशन'*, फॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, पीकिंग, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 577, *अनुवाद हमारा*)

ग़ौरतलब है कि 1928 में मदिवानी को पार्टी से निकाल दिया गया था। अगर हम मुड़कर उस समय की घटनाओं को देखें तो स्पष्ट है कि जॉर्जियाई मसले पर सैद्धान्तिक तौर पर लेनिन की अवस्थिति ग़लत थी। दूसरी बात यह है कि अगर लेनिन की अवस्थिति सही भी थी तो लेनिन को इस मसले को पोलित ब्यूरो और केन्द्रीय कमेटी पास ले जाना चाहिए था। लेकिन उन्होंने त्रात्स्की व कामेनेव को पत्र लिखा और त्रात्स्की से इस मसले पर हस्तक्षेप करने के लिए कहा, जिससे कि त्रात्स्की ने इंकार कर दिया। ऐसा लगता है कि जीवन के अन्तिम दौर में, विशेष तौर पर, दिसम्बर 1922 के बाद लेनिन इस बात को लेकर आश्वस्त हो गये थे कि स्तालिन जॉर्जियाई मसले पर कुछ सही नहीं कर रहे हैं, हालाँकि उन तक जो सूचनाएँ पहुँची थीं, वे बेहद चुनिन्दा थीं। बहरहाल, जो भी हो, पूरा मसला उपरोक्त तरीके से घटित हुआ था।

बेतेलहाइम इस पूरे सन्दर्भ को पेश किये बिना और पूरे मसले को खोलकर पेश किये बिना अवसरवादी तरीके से स्तालिन को भला-बुरा कहते हैं और उन्हें दक्षिणपन्थी अवसरवादी घोषित करने की हद तक चले जाते हैं। और ख़तरनाक बात यह है कि यह कार्य भी एक पक्का "माओवादी" होने के दावे के साथ किया जाता है! इस पूरे मसले की प्रस्तुति एक बार फिर दिखलाती है कि बेतेलहाइम के सोवियत संघ के इतिहास-लेखन को अधिकतम सम्भव उदारता बरतते हुए ख़राब और प्रोपगैण्डा-लेखन कहा जा सकता है, जिसका निशाना स्तालिन और उनके नेतृत्व में सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण है। इस प्रक्रिया में स्तालिन पर तथ्यत: झूठे आरोप लगाये जाते हैं और स्रोत के तौर पर बेतेलहाइम रॉय मेदवेदेव और मोशे लेविन से लेकर तमाम त्रात्स्कीपन्थी स्रोतों पर निर्भर रहते हैं। **मिसाल के तौर पर, यह आरोप की स्तालिन ने फिनलैण्ड के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का विरोध**

किया था; प्याताकोव, बुखारिन और स्तालिन की अवस्थितियों को एक बताना; केन्द्रीय कमेटी को स्तालिन के विरुद्ध दिखलाना; लेनिन को हर सूरत में बिना शर्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का समर्थक बताना और गृहयुद्ध के दौरान और ट्रांसकॉकेशियाई संघ के प्रश्न पर लेनिन की अवस्थिति को एकदम गोल कर जाना; आठवीं कांग्रेस में राष्ट्रीयता के प्रश्न पर पारित प्रस्ताव को ग़लत तौर पर पेश करना; ये तो ख़राब इतिहास-लेखन की महज़ चन्द मिसालें हैं जिनका हमने ऊपर खण्डन भी किया है।

●

आगे बेतेलहाइम स्तालिन पर प्रशासनिक केन्द्रीयतावाद का आरोप लगाते हैं और यह दिखलाने की कोशिश करते हैं कि नौकरशाही के ख़िलाफ़ लेनिन का संघर्ष शुरू से ही वास्तव में मुख्य तौर पर स्तालिन के विरुद्ध संघर्ष था! बेतेलहाइम *अक्टूबर 1922 के बाद के दौर में* लेनिन के लेखन का हवाला देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि लेनिन ने स्तालिन के नेतृत्व में पार्टी में मौजूद नौकरशाहाना भटकाव, दक्षिणपन्थी अवसरवादी विचलन और ग़ैर-जनवादी प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ संघर्ष चला रखा था; कि लेनिन द्वारा केन्द्रीय कमेटी में मज़दूरों और ग़रीब किसानों को 50 से 100 की संख्या में शामिल करने की वकालत वास्तव में स्तालिन को नियन्त्रित करने के लिए की गयी थी; लेनिन के तथाकथित "वसीयतनामे" का बेतेलहाइम उसी तरह प्रयोग करते हुए, जैसा कि तमाम बुर्जुआ व त्रात्स्कीपन्थी कुत्साप्रचारक करते हैं, यह दावा करते हैं कि उसमें लेनिन ने स्तालिन की ग़ैर-जनवादी प्रवृत्तियों पर हमला किया लेकिन लेनिन द्वारा दिये गये सुझावों और निर्देशों को स्तालिन ने नज़रन्दाज़ कर दिया और पार्टी में लेनिन की मृत्यु के बाद दक्षिणपन्थी-अवसरवादी धड़ा हावी हो गया। **यहाँ बेतेलहाइम सीधे स्तालिन को दक्षिणपन्थी अवसरवाद का नेता क़रार देते हैं और दिखलाने का प्रयास करते हैं कि स्तालिन लेनिनवादी नहीं थे, बल्कि संशोधनवादी पुनर्स्थापना के अभिकर्ता थे। बेतेलहाइम यह भी दिखलाते हैं कि स्तालिन के नेतृत्व में इस दक्षिणपन्थी अवसरवादी धड़े ने लेनिन द्वारा की गयी आलोचनाओं और दिये गये सुझावों को जानबूझकर गुप्त रखा!**

बेतेलहाइम का यह पूरा ब्यौरा न सिर्फ़ ऐतिहासिक तौर पर ग़लत है, बल्कि यह ग़लत मंशा से स्तालिन पर कीचड़ उछालने का प्रयास है। अगर उस दौर के तथ्यों पर निगाह डालें तो चीज़ें थोड़ी स्पष्ट होती हैं। हम पहले भी दिखला चुके हैं कि अक्टूबर 1922 के बाद सम्भवत: दो कारणों से लेनिन के रवैये में एक आकस्मिक परिवर्तन हुआ था। ये दो कारण थे जॉर्जियाई प्रकरण में ओर्ज़ोनिकिद्ज़े का ग़लत आचरण और साथ ही व्यक्तिगत रिश्तों के धरातल पर स्तालिन के प्रति लेनिन के मन में पैदा हुआ शत्रुतापूर्ण भाव। अगर इन दो सम्भावित कारणों पर विचार न किया जाय तो अक्टूबर 1922 के ठीक पहले लेनिन का ठीक उन्हीं मुद्दों पर बिल्कुल विपरीत अवस्थितियों को अपनाने की व्याख्या नहीं की जा सकती, जिन पर लेनिन अक्टूबर 1922 के बाद स्तालिन की निन्दा करते हुए नज़र आते हैं। बेतेलहाइम तथ्यों को ऐसे प्रकट करते हैं मानो स्तालिन के एक साथ केन्द्रीय कमेटी, पोलित ब्यूरो, ऑर्ग ब्यूरो आदि के सदस्य होने के विरोधी थे और इसे स्तालिन द्वारा अपने हाथों में सत्ता केन्द्रित करने का प्रयास मानते थे। लेकिन अगर तथ्यों पर निगाह दौड़ायें तो हम पाते हैं कि स्तालिन 1919 से इनमें से अधिकांश निकायों के सदस्य थे और इनके लिए आम तौर पर सर्वसम्मति से या लेनिन के प्रस्ताव पर ही उनकी नियुक्ति हुई थी। जब **मार्च 1922** में ग्यारहवीं पार्टी कांग्रेस में प्रियोब्रेज़ेंस्की द्वारा स्तालिन के इन कई निकायों के एक साथ सदस्य

होने पर प्रश्न उठाया गया था, तो लेनिन ने इसका सख़्त विरोध किया था और कहा था कि इन भूमिकाओं को सम्भालने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो पार्टी के कार्यकर्ताओं को स्वीकार हो और जिसमें इन भूमिकाओं को कारगर तरीके से निभाने की क्षमता हो; जो अपने हितों से ऊपर उठकर पार्टी हितों को सर्वोपरि बना सकता हो; फिर लेनिन ने प्रियोब्रेज़ेंस्की से ही पूछा था कि क्या स्वयं प्रियोब्रेज़ेंस्की इसके लिए स्तालिन से बेहतर किसी उम्मीदवार के बारे में सोच सकते हैं? लेनिन ने राबक्रिन, यानी मज़दूर-किसान जाँच समितियों के नेतृत्व के लिए भी स्तालिन को ही चुना था। **अप्रैल 1922** में केन्द्रीय कमेटी के सचिवालय की अगुवाई की ज़िम्मेदारी भी लेनिन के प्रस्ताव और ज़ोर देने पर स्तालिन को सौंपी गयी थी। **मई 1922** में लेनिन को पहला दौरा पड़ा। इसके बाद वे उबरे ज़रूर लेकिन उनका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था। **अक्टूबर 1922** में लेनिन ने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय को लेकर हुए जॉर्जियाई विवाद में पहले लगातार स्तालिन और द्ज़र्जेंस्की का पक्ष लिया लेकिन उसके बाद उनके पक्ष में आकस्मिक परिवर्तन हुआ, विशेष तौर पर, जॉर्जियाई राष्ट्रवादी-समाजवादियों द्वारा किये गये दुर्व्यवहार के जवाब में ओर्ज़ोनिकिद्ज़े द्वारा हाथ उठाने के बाद और लेनिन की तबीयत ज़्यादा गड़बड़ होने के बाद। लेनिन की तबीयत के बिगड़ने के बाद और विशेष तौर पर **दिसम्बर 1922** में पड़े एक बड़े आघात के बाद डॉक्टरों ने लेनिन को हर प्रकार के राजनीतिक घटनाक्रम या उसकी सूचनाओं के सख़्ती से काटने की सलाह दी। पोलित ब्यूरो ने यह ज़िम्मेदारी स्तालिन को सौंपी।

लेनिन पार्टी और सोवियत समाजवादी निर्माण के प्रति अपने सरोकारों के चलते लगातार पार्टी रिपोर्टों, अखबारों और कुछ कॉमरेडों से मिलने की माँग करते रहते थे। लेकिन स्तालिन पोलित ब्यूरो के आदेशों से बँधे हुए थे और यह समझ रहे थे कि किसी भी किस्म का तनाव लेनिन के लिए प्राणान्तक सिद्ध हो सकता है, जैसा कि डॉक्टरों ने कहा था। सूचनाओं के अभाव में लेनिन कई मसलों के लेकर काफ़ी बेचैन और चिन्तित थे। ऐसे में, उस व्यक्ति के प्रति उनकी नाराज़गी होना, जिसे लेनिन को राजनीतिक घटनाक्रम अथवा उसकी सूचनाओं से दूर रखने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी थी, नैसर्गिक था। इसी बीच क्रुप्सकाया ने इस इन्तज़ाम का उल्लंघन कर लेनिन तक कुछ सूचनाएँ पहुँचायीं और इस पर स्तालिन ने उन्हें झिड़का था। इस पर क्रुप्सकाया ने त्रात्स्की और कामेनेव से शिक़ायत की थी। इसके बाद ऐसी एक घटना की पुनरावृत्ति पर स्तालिन ने कड़े शब्दों में क्रुप्सकाया की भर्त्सना की थी। जब क्रुप्सकाया ने इस घटना की ख़बर लेनिन तक पहुँचायी तो लेनिन ने सम्बन्ध-विच्छेद की धमकी देते हुए स्तालिन को एक पत्र भेजा। इस सारे घटनाक्रम के दौरान स्तालिन ने लेनिन के डॉक्टरों के निर्देशों के कार्यान्वयन के उत्तरदायित्व से छूट माँगी थी, मगर केन्द्रीय कमेटी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। इन अपवादस्वरूप स्थितियों में अक्टूबर 1922 के बाद लेनिन की अवस्थितियों और स्तालिन के प्रति उनके रवैये में आये आकस्मिक परिवर्तनों के विशिष्ट और अलग से विश्लेषण की आवश्यकता है। **लेकिन इतना तय है कि इस दौर में, यानी कि अक्टूबर 1922 के बाद, लेनिन द्वारा लिखे गये पत्रों, पार्टी कांग्रेस को दिये गये सुझावों के आधार पर स्तालिन या पार्टी के अन्य नेताओं के विषय में कोई पुख़्ता राय बनाना उचित नहीं होगा।** इस दौर के लेनिन के पत्रों और टिप्पणियों को विशिष्ट तौर पर छाँटकर और सन्दर्भों से काटकर बेतेलहाइम ने स्तालिन के विरुद्ध आरोप-पत्र तैयार करने के लिए इस्तेमाल किया है और इस प्रक्रिया में बौद्धिक नैतिकता को भी एक हद तक तिलांजलि दे दी है।

लेनिन की तथाकथित "वसीयत" का हवाला देते हुए 1925 में अमेरिकी त्रात्स्कीपन्थी

मैक्स ईस्टमैन ने त्रात्स्की की हिमायत की थी। उस समय त्रात्स्की ने उसका विरोध करते हुए **'बोल्शेविक'** अख़बार में एक स्पष्टीकरण छापा था और लिखा था:

"ईस्टमैन दावा करता है कि...तथाकथित 'वसीयतनामे' को....केन्द्रीय कमेटी द्वारा पार्टी से 'छिपाया' गया...इसे हमारी पार्टी के ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार के अलावा और कोई नाम नहीं दिया जा सकता है। व्लादिमीर इल्यीच ने कोई वसीयतनामा नहीं छोड़ा है, और हमारी पार्टी के चरित्र से ही स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे किसी 'वसीयतनामे' की कोई गुंजाइश नहीं है। प्रवासी रूसी व विदेशी बुर्जुआ व मेंशेविक प्रेस में जिस चीज़ को 'वसीयतनामा' कहा गया है (इस तरह से गड़बड़झाला करके जिससे कि उसे पहचाना भी नहीं जा सकता है) वह सांगठनिक मसलों पर सुझाव देने वाला व्लादीमिर इल्यीच का एक पत्र है। तेरहवीं पार्टी कांग्रेस ने उस पर अधिकतम सम्भव ध्यान दिया है...उसे छिपाने या किसी 'वसीयत' को पूर्ण न करने की सारी बातें दुष्टतापूर्ण आविष्कार हैं।" (लूडो मार्टेंस, **'अनदर व्यू ऑफ़ स्तालिन'**, में उद्धृत, पृ. 22, libgen.org पर उपलब्ध संस्करण, *अनुवाद हमारा*)

हालाँकि, कुछ वर्ष बाद ये ही त्रात्स्की अपनी इस बात से पलट गये और स्तालिन के ख़िलाफ़ कुत्सा-प्रचार में इस हद तक गिर गये कि उन्होंने स्तालिन पर लेनिन की हत्या तक का आरोप लगा दिया!

अगर लेनिन की उन आख़िरी टिप्पणियों और पत्रों पर भी ग़ौर करें, जिन्हें बुर्जुआ व त्रात्स्कीपन्थी कुत्साप्रचारकों अपने घटिया कुत्साप्रचार के लिए स्तालिन के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया है, तो भी यह स्पष्ट हो जाता है कि बेतेलहाइम का यह दावा बिल्कुल हास्यास्पद है कि जब लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी की संख्या बढ़ाने और उसमें मज़दूरों की संख्या बढ़ाने की बात की थी, तो उनका निशाना स्तालिन थे। लेनिन ने स्पष्ट तौर पर लिखा था कि केन्द्रीय कमेटी में शीर्ष नेतृत्व के अलग-अलग हिस्सों के बीच उस ख़तरनाक टकराव रोकने के लिए केन्द्रीय कमेटी के विस्तार की आवश्यकता है जो कि भावी पार्टी फूट का कारण बन सकता है; साथ ही, लेनिन का मानना था कि समूची प्रशासनिक मशीनरी के सहज तरीके से काम करने के लिए भी केन्द्रीय कमेटी के विस्तार की आवश्यकता है। लेकिन बेतेलहाइम इस पूरे सुझाव को स्तालिन पर बिना नाम लिये किये गये हमले के तौर पर पेश करते हैं। इसके अतिरिक्त, इस सुझाव पर अमल करना भी सम्भव नहीं था। उस दौर में 50 से लेकर 100 मज़दूरों तक को एकाएक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी का सदस्य कैसे बनाया जा सकता था?

लेनिन के सुझाव के आधार पर केन्द्रीय कमेटी का बाद में विस्तार किया गया लेकिन बेतेलहाइम इस बात पर शिकायत करते हैं कि इनमें एक भी बिल्कुल आम या साधारण मज़दूर नहीं था! यह भी एक अजीब बात है क्योंकि पार्टी की केन्द्रीय कमेटी में नये सदस्यों को सहयोजित करने का आधार सिर्फ़ किसी का मज़दूर होना नहीं हो सकता है। लेनिन का यह सुझाव स्पष्ट तौर पर व्यावहारिक नहीं था और इस दौर में लेनिन की पूरी स्थिति को समझे बग़ैर इस घटनाक्रम के पूरे सन्दर्भ को नहीं समझा जा सकता है। स्तालिन को महासचिव के पद से हटाने की सुझाव देते हुए भी लेनिन ने केवल उनके व्यक्तिगत रवैये या उनके रूखे बर्ताव की बात की थी। बल्कि लेनिन ने यहाँ तक कहा था कि इस एक गुण के अतिरिक्त नये महासचिव में वे सभी गुण होने चाहिए जो कि स्तालिन में हैं। **लेकिन बेतेलहाइम यहाँ पूरे मसले को ऐसे पेश करते हैं कि स्तालिन को दक्षिणपन्थी अवसरवादी और लेनिन को उसके ख़िलाफ़ एक 'सांस्कृतिक क्रान्ति' का आह्वान करने**

वाले रूप में पेश कर पायें।

ज़ाहिर है कि बेतेलहाइम का पूरा ब्यौरा नतीजे पहले से तय करके लिखा गया है। तमाम तथ्यों को सन्दर्भों से काटकर पेश किया गया है जिसका एकमात्र लक्ष्य है यह सिद्ध करना कि सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना की शुरुआत स्तालिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी में दक्षिणपन्थी अवसरवादी धड़े के हावी हो जाने के कारण हुई थी! राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्तालिन की आलोचना करते समय भी बेतेलहाइम अन्त में पाठक को इस नतीजे तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं कि स्तालिन के राजनीतिक अर्थशास्त्र में ही संशोधनवाद के बीज मौजूद थे। ठीक उसी प्रकार पार्टी के भीतर जनवादी केन्द्रीयता को लागू करने के प्रश्न पर भी बेतेलहाइम स्तालिन पर नौकरशाहाना केन्द्रीयता को लागू करने का आरोप लगाते हैं। सोवियत इतिहास के हरेक मसले पर बेतेलहाइम अन्त में स्तालिन के विषय में इसी प्रकार के नतीजों पर पहुँचते हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि ये नतीजे पहले से ही तय होते हैं और बेतेलहाइम उन नतीजों के अनुसार तथ्यों का सन्दर्भों से काटकर चुनाव करते हैं।

5. पाँचवाँ भागः क्रान्ति के पाँच वर्षों का लेखा-जोखा और लेनिन की मृत्यु की पूर्वसंध्या पर क्रान्ति के समक्ष मौजूद सम्भावनाएँ

इस आख़िरी भाग में चार्ल्स बेतेलहाइम की ग़ैर-मार्क्सवादी अवधारणाएँ सबसे नग्न रूप में खुल कर सामने आ जाती हैं। इस पूरे हिस्से में चार्ल्स बेतेलहाइम अपने "माओवाद" के चोगे में लेनिन को एक सामान्य नरोदवादी, लोकरंजकतावादी, अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी में तब्दील कर देते हैं। स्वयं लेनिन की रचनाओं और कथनों की मनमाने तरीके से और जानबूझकर ग़लत व्याख्या की गयी है और जहाँ कहीं बेतेलहाइम ऐसा करने में असफल रहे हैं, वहाँ लेनिन पर ही उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त को मानने और राज्यवादी होने का आरोप मढ़ दिया गया है।

शुरू में ही बेतेलहाइम लेनिन पर यह आरोप लगा देते हैं कि क्रान्ति के पाँच वर्षों का समाहार लेनिन ने उस पुरानी शब्दावली में किया है (मार्क्सवादी-लेनिनवादी शब्दावली पढ़ें!) जो कि अब क्रान्ति की समस्याओं को समझने के लिए अपर्याप्त थी; और इस वजह से, बकौल बेतेलहाइम, लेनिन की रचनाओं की एक 'पारम्परिक' व्याख्या करना सम्भव हो जाता है! बेतेलहाइम की यह भूमिका वास्तव में आगे चलकर लेनिन के संशोधनवादी और प्रतीतिगत रूप से "माओवादी" विनियोजन की भूमिका तैयार करने का प्रयास सिद्ध होता है।

पहले अध्याय की शुरुआत में ही बेतेलहाइम "क्रान्तियों के अन्तर्गुन्थन" के अपने त्रात्स्कीपन्थी फार्मुले को दुहराते हैं, जिस पर हम ऊपर अपनी बात रख चुके हैं। **बेतेलहाइम आगे दावा करते हैं कि 'नयी आर्थिक नीतियाँ' (नेप) समाजवादी संक्रमण की नैसर्गिक नीति है। उनके अनुसार, सभी एशियाई देशों में जनवादी और समाजवादी क्रान्तियाँ एक साथ सम्पन्न होंगी; यहाँ वह त्रात्स्की का नाम नहीं लेते लेकिन वास्तव में त्रात्स्कीपन्थी अवस्थिति पर जाकर खड़े हो जाते हैं।** बेतेलहाइम यह सिद्ध करने के लिए, कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान किसानों के पार्टी से दूर होने का एकमात्र कारण पार्टी की ग़लत नीतियाँ थीं, लेनिन का एक उद्धरण देते हैं। लेकिन वास्तव में अगर उस उद्धरण पर ग़ौर करें, तो

लेनिन वस्तुगत धरातल पर अन्तरविरोधों को समझने में पार्टी द्वारा हुई भूल और "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान हुए अतिरेकों के अलावा मुख्य तौर पर मँझोले किसानों के नैसर्गिक वर्ग चरित्र की ओर इशारा कर रहे हैं (देखें, चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फर्स्ट पीरियडः 1917-23,** हार्वेस्टर प्रेस, पृ. 442, *अनुवाद हमारा*)। इसके बाद बेतेलहाइम दोबारा अपने इस पुराने तर्क को दुहराते हैं कि अगर मँझोले किसानों के साथ मज़बूत संश्रय बनाया जाय तो पूरा का पूरा मँझोला किसान वर्ग कालान्तर में समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी हो सकता है। समाजवादी निर्माण का कार्य बेतेलहाइम के अनुसार एकरेखीय तरीके से, और बिना किसी निरन्तरता और विच्छेद अथवा छलाँगों की प्रक्रिया के उन्नत मंज़िलों में पहुँच सकता है! सच्चाई यह है कि समूचे मँझोले किसानों से 1921 में एक मज़बूत संश्रय कायम करना और गाँवों के वर्ग युद्ध को कुछ समय के लिए स्थगित करना, सोवियत सत्ता की बाध्यता थी। इसका कारण यह था कि मँझोले किसानों के प्रति "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में सही नीति का निष्पादन नहीं हो पाया था, जिसका एक कारण यह भी था कि ग़रीब किसान समितियों के कार्यों का प्रत्यक्ष राजनीतिक नेतृत्व कर पाने में बोल्शेविक पार्टी असफल रही थी।

आगे बेतेलहाइम लिखते हैं कि समाजवादी क्रान्ति के बाद रूसी क्रान्ति ने अपने तीन सर्वहारा कार्यों को भी अंजाम दिया। उनके अनुसार ये तीन कार्य थे साम्राज्यवादी युद्ध से अलग होना, सर्वहारा अधिनायकत्व के सोवियत तन्त्र का निर्माण और समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक आधार का निर्माण। बेतेलहाइम के अनुसार, आख़िरी दोनों कार्य 1921 में ही शुरू हो सके। **यह बात भी तथ्यतः ग़लत है।** उद्योगों के राष्ट्रीकरण का कार्य मूल और मुख्य तौर पर 1919-20 तक पूरा हो चुका था; सोवियत राज्यतन्त्र किस प्रकार कार्य करेगा उसका बुनियादी ढाँचा, यानी कि राज्यसत्ता के विभिन्न अंगों-उपांगों की रचना भी मूल व मुख्य तौर पर 1921 तक हो चुकी थी। वास्तव में, बेतेलहाइम यह दावा कि ये दोनों कार्य 1921 के बाद हुए, इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें 'नेप' को एक प्रतिष्ठित स्थान देना है और अपनी इस बात को पुष्ट करना है कि 'नेप' की नीति रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने की नीति नहीं थी, बल्कि यह समाजवादी संक्रमण की सही नैसर्गिक नीति थी और एक 'महान अग्रवर्ती छलाँग' थी!

बेतेलहाइम इस बात को समझने में नाकाम रहते हैं कि मज़दूर-किसान संश्रय का प्रश्न और इस रूप में 'नेप' की नीतियों का प्रश्न वास्तव में आर्थिक से ज़्यादा से राजनीतिक प्रश्न था। 'नेप' की नीति को एक वांछनीय समाजवादी निर्माण की नीति के तौर पर पेश किया गया है, बजाय एक विशिष्ट परिस्थिति में पैदा हुई राजनीतिक आवश्यकता के तौर पर। लेनिन ने जब उन लोगों की आलोचना की थी जो कि 'नेप' की आवश्यकता को नहीं समझ रहे थे, तब वह सैद्धान्तिक तौर पर 'नेप' को समाजवादी निर्माण की आम नीति के तौर पर नहीं पेश कर रहे थे। उनकी आलोचना का निशाना वे लोग थे, जो कि 'नेप' के तौर पर फौरी तौर पर और रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने की आवश्यकता को नहीं समझ रहे थे; जो यह नहीं समझ रहे थे कि समाजवादी संक्रमण के दौरान बार-बार समाजवादी आक्रमणों और रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने के दौर (periods of strategic retreats and offensives) आयेंगे; जो समाजवादी निर्माण की किसी एकरेखीय प्रक्रिया की समझदारी के शिकार थे; जो "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों को जारी रखने की वकालत कर रहे थे या उसे महज़ कुछ कम करने की बात कर रहे थे। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन द्वारा 'नेप'

की नीतियों को सूत्रीकरण को समाजवादी निर्माण की आम नीति की खोज के तौर पर पेश करते हैं!

बोल्शेविक क्रान्ति के दूसरे कार्यभार की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सोवियत सत्ता के तौर पर सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना ज़रूर हुई लेकिन यह सर्वहारा अधिनायकत्व बहुत टिकाऊ नहीं था क्योंकि राज्य का पूरा ढाँचा अभी भी बुर्जुआ तत्वों से भरा हुआ था और उसमें काफ़ी हद तक ज़ार के दौर के तत्व भी मौजूद थे; उनके अनुसार पार्टी में पुराने मँझे हुए सर्वहारा राजनीतिज्ञों की मौजूदगी उसके सर्वहारा चरित्र को बनाये हुए थी, लेकिन ये पुराने सर्वहारा राजनीतिज्ञ भी अक्सर "वाम" अथवा दक्षिण भटकावों के शिकार होते रहते थे और इसलिए यह सर्वहारा चरित्र भी बेहद क्षणभंगुर था; लेकिन लेनिन के दौर तक कभी ये भटकाव हावी नहीं हो पाये क्योंकि लेनिन ने इनके विरुद्ध संघर्ष चलाया; इसलिए पार्टी और राज्य दोनों का ही सर्वहारा चरित्र बेहद कमज़ोर और क्षणभंगुर था और वह लेनिन के जीवन-काल तक इसलिए कायम रहा क्योंकि लेनिन ने तमाम भटकावों के विरुद्ध संघर्ष किया। **यह पूरा विश्लेषण एक व्यक्ति पर केन्द्रित है और पार्टी और राज्य का सर्वहारा चरित्र बनाये रखने का श्रेय एक व्यक्ति को देता है। यह बोल्शेविक पार्टी के इतिहास के साथ अन्याय है क्योंकि यह बोल्शेविक पार्टी के तमाम अहम नेताओं के महती योगदान को दरकिनार करता है; कोई सही कार्यदिशा कहीं बाहर से या किसी एक प्रतिभावान नेता के मस्तिष्क से ही नहीं आती बल्कि तमाम अन्य कार्यदिशाओं से अन्तर्क्रिया करते हुए जन्म लेती है।** दो लाइनों के संघर्ष और इस रूप में पार्टी की राजनीतिक जीवन रेखा के बारे में एक बेहद ग़ैर-द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण को बेतेलहाइम के पूरे इतिहास-लेखन में देखा जा सकता है। साथ ही, बेतेलहाइम बार-बार इशारों में यह कहने का प्रयास करते हैं कि लेनिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में समाजवादी संक्रमण में विपर्यय (reversal) का दौर शुरू हो गया था। ज़ाहिर है, निशाना स्तालिन हैं। लेकिन स्तालिन को लगातार निशाना बनाने की प्रक्रिया में सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के इतिहास के साथ भयंकर अन्याय होता है क्योंकि सोवियत संघ में समाजवादी व्यवस्था के निर्माण का कार्य स्तालिन की ही अगुवाई में हुआ था, चाहे हम उसके आलोचनात्मक विश्लेषण की वांछनीयता को स्वीकार भी करें, जो कि निश्चित रूप से किया जाना चाहिए।

बेतेलहाइम रूसी क्रान्ति के चरणों की बात करते हैं और दिखलाते हैं कि सोवियत राज्यसत्ता की स्थापना के बाद दूसरा चरण था "युद्ध कम्युनिज़्म" का दौर। **इस दौर के बारे में, बेतेलहाइम के अनुसार, लेनिन के भी कुछ भ्रम थे।** लेनिन का प्रमुख भ्रम यह था कि गाँवों में किसानों को राजनीतिक तौर पर विभेदीकृत करने का सर्वहारा कार्य शुरू हो सकता था। यहाँ बेतेलहाइम लेनिन के इस प्रस्ताव की ओर इशारा कर रहे हैं जिसमें लेनिन ने ग़रीब किसान समितियों को बनाने और गाँवों में सर्वहारा वर्ग संघर्ष को तेज़ करने का सुझाव रखा था। बेतेलहाइम अन्त में इस प्रयोग को पूर्ण रूप से असफल क़रार देते हैं, जो कि तथ्यत: ग़लत है, और इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि लेनिन की यह अपेक्षा ग़लत थी। बेतेलहाइम के अनुसार, लेनिन ने बाद में इस ग़लती को स्वीकार करते हुए मँझोले किसानों से मज़बूत संश्रय बनाने और उन्हें समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी करने की नीति को प्रतिपादित करते हुए 'नेप' का सिद्धान्त दिया। एक बार फिर बेतेलहाइम लेनिन और पूरे सोवियत इतिहास के साथ बदसलूकी जारी रखते हैं। लेनिन ने ग़रीब किसान समितियों के प्रयोग की शुरुआत गृहयुद्ध के दौर के पहले ही शुरू करने की बात कर दी थी और वास्तव में ये प्रयोग सफलतापूर्वक शुरू भी हो गये थे।

इस मायने में लेनिन की अवस्थिति बिल्कुल निरन्तरतापूर्ण थी, जो कि उन्होंने 1905 में 'सामाजिक जनवाद की दो कार्यनीतियाँ' नामक पुस्तक में पेश की थी। यानी कि जनवादी कार्यभारों के पूर्ण होने तक पूरी किसानी को साथ लेने की ज़रूरत और फिर किसानों में से विशेष तौर पर अर्द्धसर्वहारा वर्ग और सर्वहारा वर्ग को, यानी कि भूमिहीन मज़दूरों व ग़रीब किसानों को साथ लेकर समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ने की ज़रूरत। लेनिन ने रूस की विशिष्ट स्थिति में इस प्रक्रिया के अबाधित और निरन्तरतापूर्ण (uninterrupted) होने की भी बात पहले ही कही थी। लेनिन की यह नीति सही भी सिद्ध हुई थी। गृहयुद्ध की शुरुआत और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों की शुरुआत के बाद ग़रीब किसान समितियों को फसल वसूली का भी कार्य सौंपा गया और साथ ही उन्हें राजनीतिक प्रचार का कार्य भी दिया गया। पार्टी के प्रमुख नेता व संगठनकर्ता युद्ध के दौर में आम तौर पर सैन्य व अन्य आपात ज़िम्मेदारियों को पूरा करने में उलझे हुए थे; वास्तव में, पार्टी के पास गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के दौर में इन सारे कार्यों को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त राजनीतिक संगठनकर्ता मौजूद नहीं थे। ऐसे में, ग़रीब किसान समितियों के कार्यों को राजनीतिक रूप से मार्गदर्शित करने के कार्य को बोल्शेविक पार्टी सही ढंग से अंजाम नहीं दे सकी। नतीजतन, ग़रीब किसान समितियाँ मँझोले किसानों के प्रश्न को सही रूप से निष्पादित नहीं कर सकीं। मँझोले किसानों को जीतने (मूलत: निम्न मँझोले किसान) या फिर उन्हें तटस्थ बनाने (मूलत: उच्च व खाते-पीते मँझोले किसान) की समाजवादी नीति पर सही ढंग से अमल नहीं हो सका। नतीजतन, मँझोले किसानों के वर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से का सोवियत सत्ता से विलगाव हो गया। **लेकिन ग़रीब किसान समितियों के निर्माण की शुरुआत लेनिन के मुताबिक बिल्कुल सही कदम था।** यदि गृहयुद्ध और "युद्ध कम्युनिज़्म" का दौर न होता तो बोल्शेविक पार्टी ग़रीब किसान समितियों के द्वारा किसानों के बीच राजनीतिक विभेद पैदा कर गाँवों में समाजवादी कार्यक्रम के कार्यान्वयन के प्रश्न पर आगे बढ़ सकती थी। अपने पूर्ण रूप से सफल न होने के बावजूद ग़रीब किसान समितियों ने एक भूमिका निभायी और साथ ही उनके किसान सोवियतों में विलय के कारण इन सोवियतों में बोल्शेविकों की स्थिति कुछ मज़बूत हुई। लेकिन फिर भी कुल मिलाकर 1918 से 1920 तक की आपात स्थितियों में जो अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ हुईं उनके कारण सोवियत सत्ता को 1921 में रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने पड़े।

लेकिन अगर लेनिन द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के समाहार पर निगाह डालें तो हम पाते हैं कि वह बेतेलहाइम के प्रस्तुतिकरण के विपरीत, सकारात्मक और नकारात्मक दोनों की ही बात करता है। हम इसकी ऊपर चर्चा कर चुके हैं और इसलिए उनके विस्तार में नहीं जायेंगे। एक बात स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर बेतेलहाइम लेनिन की पूरी अवस्थिति को ग़लत तरीके से विनियोजित करते हैं और साथ ही 'नेप' के बारे में लेनिन की समझदारी को भी तोड़ते-मरोड़ते हैं।

"युद्ध कम्युनिज़्म" के विषय में लेनिन की अगुवाई में पार्टी द्वारा की गयी आत्मालोचना का पहले तो बेतेलहाइम मनमाने तरीके से अर्थ निकालने का प्रयास करते हैं, और जब वह ऐसा नहीं कर पाते हैं तो इस आत्मालोचना को "अपर्याप्त" करार दे देते हैं! लेनिन की अवस्थिति को देखें तो हम पाते हैं कि वह "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में लागू की गयी नीतियों के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं को समझते थे। उनके अनुसार, इसके दो पहलू थे। पहला यह कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की कई नीतियाँ अपने आप में ग़लत

नहीं थीं, मगर उसमें कुछ का समय अभी आया नहीं था और युद्ध के दबाव के कारण उन्हें समय से पहले लागू करना पड़ा था; इससे जुड़ी हुई कमज़ोरी यह थी कि पार्टी के कई अगुवा नेता इस बात को नहीं समझ पा रहे थे और "युद्ध कम्युनिज़्म" की सभी नीतियों को समाजवादी निर्माण की आम नीतियों के तौर पर पेश कर रहे थे। दूसरा पहलू यह था कि इन नीतियों के कार्यान्वयन में कई बार पार्टी से अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ हुईं, जिनके पीछे वास्तव में त्रात्स्की व बुखारिन जैसे नेताओं की "वामपंथी"-दक्षिणपंथी अवधारणाओं की भी एक भूमिका थी। लेकिन लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया था कि जहाँ एक ओर कुछ अतिरेकपूर्ण ग़लतियाँ पार्टी के नेताओं की ग़लत अवधारणाओं के कारण हुईं, लेकिन कुछ ग़लतियाँ आपात व अपवादस्वरूप पैदा हुई वस्तुगत परिस्थितियों ने पार्टी पर थोप भी दीं थीं, जिनसे बचना सम्भव नहीं था। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन की इस पूरी अवस्थिति को इस कदर तोड़-मरोड़ देते हैं कि उसे पहचानना भी सम्भव नहीं रह जाता है!

"युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर की नीतियों के प्रभावों की चर्चा करते हुए बेतेलहाइम दावा करते हैं कि उसके बाद जारी की गयी 'नेप' की नीतियाँ समाजवाद की ओर संक्रमण के लिए लेनिन द्वारा प्रस्तावित सकारात्मक नीतियाँ थीं। लेनिन का यह मानना था कि रूस तत्काल समाजवादी नीतियों के कार्यान्वयन के लिए तैयार नहीं था और उसके लिए पहले तात्कालिक तौर पर समाजवाद की ओर संक्रमण की कुछ मध्यवर्ती नीतियों को लागू करना होगा। यह सच है कि लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति के बाद तत्काल समाजवादी कार्यक्रम को लागू करने की बजाय समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदमों की बात की थी। लेकिन ये कदम अक्टूबर 1917 से मई 1918 के बीच काफ़ी हद तक लागू किये गये थे और उसके बाद "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में कुछ अन्य कदमों को उठाया गया था।

"युद्ध कम्युनिज़्म" के ठीक पहले और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के दौरान ही बोल्शेविकों ने गाँवों में समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ने के कदमों को उठाना शुरू कर दिया था, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं। लेकिन "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों में हुई ग़लतियों के कारण जो नुक़सान हुआ, यानी कि मँझोले किसानों के विशाल वर्ग का सोवियत सत्ता से जो अलगाव हुआ, उसकी क्षति-पूर्ति के लिए 'नेप' की नीतियों को लागू करना पड़ा। यह बोल्शेविकों के लिए चयन का मसला कम और बाध्यता का मसला ज़्यादा था और इसीलिए लेनिन ने उसे 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने' का नाम दिया था। लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार यह संज्ञा ग़लत थी और 'नेप' की नीति एक सकारात्मक कदम थी, एक ऐसा कदम जो कि समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर के लिए वैध था।

आगे बेतेलहाइम दावा करते हैं कि सोवियतों का निष्क्रिय हो जाना वास्तव में "युद्ध कम्युनिज़्म" की ग़लत नीतियों का परिणाम था। यह भी इतिहास के साथ बदसलूकी है। लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व के बहुलांश के समक्ष यह बात स्पष्ट थी कि पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व के बिना सोवियतें स्वयं सर्वहारा राज्यसत्ता के कार्यकलापों को नहीं सम्भाल सकती हैं और इस बारे में लेनिन ने सकारात्मक तौर पर अपनी राय रखते हुए कहा था कि ढाई वर्षों के सोवियतों के कार्यकलापों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पार्टी सर्वहारा राज्यसत्ता का प्रधान उपकरण होगी और सोवियतें उसके संस्थाबद्ध नेतृत्व के बिना सर्वहारा सत्ता के कार्यकलापों को अंजाम नहीं दे सकती हैं। वास्तव में, बेतेलहाइम स्वयं एक स्थान पर इस बात को स्वीकार करते हैं। लेकिन 'नेप' की नीतियों को समाजवादी संक्रमण की आम नीति के तौर पर पेश करने और "युद्ध कम्युनिज़्म" की

नीतियों की एक ग़लत आलोचना पेश करने के लिए अपनी इस बात को बदल देते हैं और सोवियतों के निष्क्रिय होने के लिए "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों को ज़िम्मेदार ठहराते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि अगर "युद्ध कम्युनिज़्म" का अवांछित कालखण्ड न भी होता तो सोवियतें स्वायत्त रूप से सर्वहारा वर्ग के शासन के कार्यभारों को नहीं सम्भाल सकती थीं। बेतेलहाइम एक अन्य मुद्दे पर भी अन्तरविरोधों के गड्ढे में गिर जाते हैं। बेतेलहाइम का मानना है कि सोवियत राज्यसत्ता के उपकरणों में बुर्जुआ तत्वों और बुर्जुआ प्रथाओं का हावी होना "युद्ध कम्युनिज़्म" की ग़लतियों का कारण था। राज्यसत्ता पार्टी नेतृत्व से स्वायत्त होकर आचरण कर रही थी। लेकिन एक दूसरे स्थान पर बेतेलहाइम त्रात्स्की व बुखारिन के "युद्ध कम्युनिज़्म" के ज़रिये समाजवाद में "सीधे संक्रमण" की अवधारणा के पार्टी में हावी होने को भी ज़िम्मेदार बताते हैं; साथ ही, वह यह भी मानते हैं कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में ज़बरन फसल वसूली के लिए बनाये गये मज़दूर दस्तों द्वारा की गयी अतिरेकपूर्ण कार्रवाइयाँ ग़लतियों का प्रमुख कारण थी। बेतेलहाइम यह बताने में असफल रहते हैं कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई ग़लतियों का मुख्य कारण क्या था, राज्यसत्ता के उपकरणों में बुर्जुआ तत्वों की प्रधानता और इस वजह से उसका पार्टी नेतृत्व से स्वायत्त होना, या फिर त्रात्स्की-बुखारिन धड़े की दक्षिणपन्थी-"वामपन्थी" समझदारी का हावी होना या फिर मज़दूर वर्ग द्वारा अतिरेकपूर्ण कार्रवाइयों का किया जाना! बेतेलहाइम इस बात की ओर कहीं भी इशारा नहीं करते कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई अधिकांश ग़लतियों के प्रमुख कारण अपवादस्वरूप वस्तुगत परिस्थितियों का दबाव था। जैसा कि लेनिन का मानना था कि कुछ ग़लतियों से पार्टी बच सकती थी लेकिन त्रात्स्की-बुखारिन धड़े की ग़लत समझदारी के असर के कारण नहीं बच सकी; लेकिन लेनिन के अनुसार "युद्ध कम्युनिज़्म" की अधिकांश ग़लतियों से बचना सम्भव ही नहीं था क्योंकि 1918 से 1920 तक बोल्शेविक पार्टी और सोवियत राज्यसत्ता ने अपने आपको जिस अस्तित्व के संघर्ष में उलझा हुआ पाया उसमें ये ग़लतियाँ सम्भावित थीं। **बेतेलहाइम "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई अतिरेकपूर्ण ग़लतियों को पूर्ण रूप से मनोगत कारकों के ज़रिये व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं ताकि 'नेप' की नीतियों को समाजवादी संक्रमण की आम नीति के तौर पर पुष्ट कर सकें।**

यही कारण है कि जब बेतेलहाइम लेनिन द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" की ग़लतियों की व्याख्या की चर्चा करते हैं तो लेनिन की व्याख्या को अपर्याप्त और आंशिक रूप से ग़लत ठहराते हैं। इसका कारण यह है कि लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों की आलोचना और फिर 'नेप' की ओर संक्रमण की जो व्याख्या पेश की थी, वह बिल्कुल दुरुस्त थी। लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" की व्याख्या एक रूपक से की थी जिसमें कि पूँजीवाद एक किले के समान है, जिस पर सर्वहारा वर्ग ने सीधा हमला किया; लेकिन पहले हमले के दौरान सर्वहारा वर्ग के पास इसकी शक्ति को लेकर पर्याप्त सूचनाएँ नहीं थीं और इस कारण से उसका यह हमला पूँजीवाद के किले को पूर्णत: ध्वस्त करने में सफल नहीं हो पाया; ऐसे में अब इस किले पर घेरा डालने की आवश्यकता है और इस दौरान सर्वहारा वर्ग को अपनी ताक़त फिर से संचित करने की ज़रूरत है ताकि आगे फिर पूरी ताक़त के साथ उस पर हमला किया जा सके। बेतेलहाइम को इस रूपक पर आपत्ति है क्योंकि इस रूपक से यह स्पष्ट है कि 'नेप' लेनिन के लिए कदम पीछे हटाने के समान था। लेनिन समाजवादी संक्रमण की किसी भी एकरेखीय समझदारी का विरोध करते थे और उनका मानना था कि समाजवादी

संक्रमण के दौर में सर्वहारा वर्ग राज्यसत्ता पर काबिज़ रहते हुए कभी हमले कर सकता है, तो कभी समझौते भी कर सकता है और कदम पीछे भी हटा सकता है। लेनिन का मानना था कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियाँ बोल्शेविक पार्टी पर युद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी ने थोप दी थीं, और उस समय सोवियत सत्ता के सामने कोई अन्य विकल्प नहीं था। लेनिन का यह भी मानना था कि इस दौर में कई बोल्शेविकों को यह भ्रम पैदा हो गया था कि आपात स्थितियों के बीत जाने के बाद भी "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के द्वारा और ऊपर से राज्य के हस्तक्षेप द्वारा समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना की जा सकती है। दसवीं कांग्रेस में लेनिन ने कहा:

"फसल वसूली की जगह खाद्य कर की व्यवस्था करने का प्रश्न प्रथमतः एक राजनीतिक प्रश्न है। इसका सार मज़दूर और किसान के बीच के सम्बन्ध में है। इन वर्गों के हित एकसमान नहीं हैं: छोटा किसान वह नहीं चाहता है जिसके लिए मज़दूर संघर्ष कर रहा है। फिर भी, किसानों के साथ सहमति कायम करके ही हम समाजवादी क्रान्ति को बचा सकते हैं। या तो हम मँझोले किसान को आर्थिक तौर पर सन्तुष्ट करें और मुक्त व्यापार की पुनर्स्थापना करें, या फिर हम मज़दूर वर्ग की सत्ता कायम रखने में असफल रहेंगे...अगर कुछ कम्युनिस्ट ऐसा सोच रहे थे कि तीन वर्षों में पूरी आर्थिक बुनियाद का रूपान्तरण हो जायेगा, कृषि को जड़ से बदला जा सकता है, तो वे निश्चित तौर पर स्वप्नद्रष्टा थे और हमें मानना चाहिए कि ऐसे कुछ स्वप्नद्रष्टा हमारे बीच मौजूद हैं।" (मॉरिस डॉब, 1948, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917'** में उद्धृत, रूटलेज एण्ड कीगनपॉल लि., लन्दन, पृ. 130, *अनुवाद हमारा*)

ई.एच. कार और साथ ही मॉरिस डॉब ने भी यह स्पष्ट किया है कि लेनिन के लेखन में हमें 'नेप' की नीतियों को अपनाने और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों की आलोचना के विषय में दो किस्म के दृष्टिकोण मिलते हैं, जो हमारी राय में जुड़े हुए हैं। एक ओर लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" को शेखचिल्लियों के सपने के तौर पर देखा और ऊपर से समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को संस्थापित करने का अव्यावहारिक प्रयास क़रार दिया। यहाँ लेनिन "युद्ध कम्युनिज़्म" को एक सैन्य अनिवार्यता के तौर पर देख रहे थे और कुछ बोल्शेविकों द्वारा इसे समाजवाद की आम नीति के तौर पर देखे जाने की आलोचना पेश कर रहे थे और साथ ही इन्हीं लोगों द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में हुई अतिरेकपूर्ण ग़लतियों की भी आलोचना कर रहे थे, जिनसे कि बचा जा सकता था। लेकिन साथ ही लेनिन के लेखन में हमें स्पष्ट तौर पर ऐसी व्याख्या भी मिलती है जिसके अनुसार "युद्ध कम्युनिज़्म" की कई नीतियाँ अपने आप में ग़लत नहीं थीं, लेकिन उन्हें समय से पहले अमल में लाने का प्रयास किया था, जिसकी ताक़त अभी सर्वहारा वर्ग के पास नहीं थी। ई.एच. कार ने ठीक ही लिखा है, **"जिस हद तक युद्ध कम्युनिज़्म को समाजवाद की उन्नततर मंज़िल तक तेज़ी से जाने का एक अत्यधिक उतावला, अतिउत्साही प्रयास माना गया था, जो कि बेशक अपरिपक्व था, लेकिन अन्यथा वह वांछनीय था, उस हद तक नेप उन अवस्थितियों से अस्थायी तौर पर कदम पीछे हटाना था, जिन पर कायम रहना फिलहाल असम्भव सिद्ध हो गया था, मगर जिन पर आगे कब्ज़ा करना ही होगा..."** (ई.एच.कार, 1985, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन'** खण्ड-1, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, पृ. 275, *अनुवाद हमारा*)

'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में पार्टी नेतृत्व दो छोरों की ग़लतियों की बात करते हुए बताता है कि जब लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों का परित्याग कर 'नेप' की नीतियों

को अपनाने की बात की तो कुछ लोगों ने इसे समाजवादी संक्रमण की आम नीति के तौर पर पेश करने का प्रयास किया तो कुछ अन्य लोगों ने इसे केवल 'पीछे कदम हटाने' के तौर पर ही देखा। 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में लिखा गया है:

"युद्ध कम्युनिज़्म शहर और गाँव में पूँजीवादी तत्वों के किले को हमले के ज़रिये, सीधे हमले के ज़रिये ध्वस्त करने का प्रयास था। इस हमले में पार्टी कुछ ज़्यादा ही आगे चली गयी, और इसके अपने आधार से कट जाने का ख़तरा पैदा हो गया। अब लेनिन ने कुछ कदम पीछे हटाने, कुछ समय अपने आधार के करीब की ओर वापस जाने, किले पर सीधे हमले की बजाय इस पर घेरा डालने के अपेक्षाकृत धीमे तरीके को अपनाने का प्रस्ताव रखा, ताकि हमले को फिर से शुरू करने की ताक़त जुटायी जा सके।

"त्रात्स्कीपंथियों और अन्य विरोधियों ने कहा नेप *और कुछ नहीं बल्कि बस कदम पीछे हटाना* ही है। यह व्याख्या उनके उद्देश्यों के अनुरूप थी, क्योंकि उनकी कार्यदिशा ही पूँजीवाद की पुनर्स्थापना करना था। यह नेप की बेहद नुक़्सानदेह, लेनिनवाद-विरोधी व्याख्या थी। तथ्य यह है कि नेप के लाये जाने के एक वर्ष बाद ही लेनिन ने ग्यारहवीं पार्टी कांग्रेस में एलान किया कि *कदम पीछे हटाने की प्रक्रिया अब समाप्त हो गयी है* और उन्होंने नारा दिया: *"निजी पूँजी पर हमले की तैयारी करो।"* (लेनिन, *संग्रहीत रचनाएँ*, रूसी संस्करण, खण्ड-27, (पृ. 213))...जहाँ तक कदम पीछे हटाने का प्रश्न है तो कदम पीछे हटाने और कदम पीछे हटाने में फर्क होता है। कई बार ऐसा समय आता है जब किसी पार्टी या सेना को हार का सामना करने के कारण कदम पीछे हटाना पड़ता है। ऐसे मामलों में, पार्टी या सेना अपने आपको और अपनी कतारों को सुरक्षित रखने के लिए पीछे हटती है ताकि नयी लड़ाइयाँ लड़ सके। जब नेप की शुरुआत हुई तो लेनिन इस रूप में कदम पीछे हटाने की बात नहीं कर रहे थे क्योंकि पार्टी ने हारने या मात खाने के विपरीत, स्वयं हस्तक्षेपकारियों और श्वेत गार्डों को गृहयुद्ध में हराया था। लेकिन कई बार ऐसा भी होता है कि कोई विजयी पार्टी या सेना आगे बढ़ने की प्रक्रिया में कुछ ज़्यादा ही आगे बढ़ जाती है, और पीछे अपने लिए एक पर्याप्त आधार नहीं छोड़ती। यह एक गम्भीर ख़तरा पैदा करता है। अपने आधार से सम्बन्ध न खो देने के लिए कोई पार्टी या सेना आम तौर पर ऐसी स्थितियों में आम तौर पर कुछ पीछे हटना ज़रूरी पाती है, ताकि अपने आधार के करीब जा सके और उससे बेहतर सम्पर्क स्थापित कर सके, अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके और फिर अधिक आत्मविश्वास के साथ और सफलता की बेहतर गारण्टी के साथ अपने हमले की शुरुआत कर सके। लेनिन ने नेप के ज़रिये इसी प्रकार के अस्थायी तौर पर कदम पीछे हटाने की हिमायत की थी। कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की चौथी कांग्रेस में रिपोर्ट पेश करते हुए नेप के लागू करने के कारणों की चर्चा करते हुए लेनिन ने कहा था, "अपने आर्थिक हमले में हम कुछ ज़्यादा ही दूर निकल गये थे, हमने अपने लिए उपयुक्त आधार को सुरक्षित नहीं रखा था," और इसलिए एक सुरक्षित आधार की ओर अस्थायी तौर पर वापस जाना अनिवार्य था।" (सी.सी. ऑफ दि सी.पी.एस.यू. (बी), 1952, अध्याय 9, **हिस्ट्री ऑफ दि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ दि सोवियत यूनियन (बोल्शेविक्स)**, फॉरेन लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, *अनुवाद हमारा*)

"युद्ध कम्युनिज़्म" से नेप की ओर संक्रमण के कारणों का यह कमोबेश सटीक विश्लेषण है। लेकिन बेतेलहाइम लेनिन की अवस्थिति को मनमाने तरीके से तोड़ते-मरोड़ते हैं

और यह दिखलाना चाहते हैं कि अन्त में आते-आते लेनिन ने अपनी ग़लती को दुरुस्त करते हुए 'नेप' की नीति को समाजवादी संक्रमण की आम नीति मान लिया था, हालाँकि शुरू में लागू हुए 'नेप' का संस्करण कम-से-कम मंशा के धरातल पर केवल सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के उस दौर की ओर वापसी था, जो कि अक्टूबर 1917 से मई-जून 1918 तक लागू हुआ था। 'नेप' को समाजवादी निर्माण के सम्पूर्ण दौर की आम नीति क़रार देते हुए बेतेलहाइम ने अन्त में स्तालिन के नेतृत्व में हुए सामूहिकीकरण को ग़लत ठहराया है! एक तरह से बेतेलहाइम यहाँ अपनी तथाकथित "माओवादी" अवस्थिति और बुखारिन के विपक्षी धड़े की अवस्थिति का एक ख़राब मिश्रण तैयार किया है, और उसे अन्त में लेनिन पर थोप दिया है।

लेनिन एक यथार्थवादी सर्वहारा राजनीतिज्ञ थे और जानते थे कि रूस में सर्वहारा सत्ता को कायम रखना पहली प्राथमिकता है। समाजवादी निर्माण के कार्य को *द्रुत गति से और निरन्तर समाजवादी आक्रमणों के ज़रिये* आगे बढ़ा पाना तभी सम्भव होता जब यूरोप के कई उन्नत देशों में सर्वहारा क्रान्तियाँ हो जातीं। लेकिन 1920 के अन्त तक ये उम्मीदें समाप्त हो चुकी थीं। गृहयुद्ध में विजय तो मिल गयी थी लेकिन मज़दूरों और किसानों के बीच का संश्रय टूटने की कगार पर था। भूमि सुधारों ने रूस में मँझोले मालिक किसानों को किसानों के वर्ग में भी सबसे बड़ा वर्ग बना दिया था। अगर इसे तात्कालिक तौर पर तुष्ट न किया जाता और इसके साथ एक संश्रय न कायम किया जाता, तो सर्वहारा सत्ता को कायम रख पाना भी मुश्किल हो जाता। ऐसे में, लेनिन जानते थे कि सर्वहारा सत्ता को कुछ कदम पीछे हटाने होंगे और अपने लिए कुछ मोहलत हासिल करनी होगी। इस दौर में मँझोले किसानों के वर्ग को कुछ छूट देनी होगी और इसी का एक अंग यह भी था कि व्यापारियों के एक वर्ग को मुक्त व्यापार की छूट देनी होगी, उपभोक्ता सामग्री बनाने वाले छोटे उद्योगों को राजकीय नियन्त्रण से मुक्त करना होगा और आगे चलकर बड़े उद्योगों को भी ट्रस्टों के मातहत संगठित करके व्यापारिक सिद्धान्त पर चलाना होगा। इस पूरे विनिमय तन्त्र पर सर्वहारा सत्ता अपना नियन्त्रण कायम रखेगी और उसे सीमित छूट देगी; साथ ही, सबसे अहम रणनीतिक महत्व वाले उद्योगों पर और साथ ही विदेश व्यापार पर राज्य अपना नियन्त्रण रखेगा। **लेकिन यह स्थिति हमेशा कायम नहीं रह सकती है।** लेनिन इस बात को अच्छी तरह से समझते थे। वह जानते थे कि सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के इस विशिष्ट दौर, यानी कि नेप के दौर में, अन्ततः किसान आबादी के बीच फिर से राजनीतिक विभेदीकरण होगा, मज़दूर वर्ग के बीच भी बेरोज़गारी आदि जैसी समस्याएँ पैदा होंगी। लेनिन समझते थे कि अन्ततः सर्वहारा राज्य को नये समाजवादी आक्रमण की ओर बढ़ना होगा। लेकिन तब तक निम्न मँझोले किसानों और ग़रीब किसानों और विशेष तौर पर खेतिहर मज़दूरों के साथ सर्वहारा वर्ग को अपने संश्रय को मज़बूत बनाना होगा और कुलकों व व्यापारियों के साथ ही उच्च मँझोले किसानों को अलग-थलग करना होगा। **लेकिन बेतेलहाइम के अनुसार समाजवादी संक्रमण की पूरी अवधि में समाजवादी आक्रमण का कोई दौर नहीं आयेगा और नेप की नीति समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर की आम नीति बनी रहेगी और इस दौर में सर्वहारा सत्ता पूरे के पूरे मँझोले किसान वर्ग को, बल्कि पूरे के पूरे किसान वर्ग को समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत करके शान्तिपूर्ण प्रक्रिया से समाजवाद पर राज़ी कर लेगी! इस सोच के पीछे जो राजनीतिक अर्थशास्त्र काम कर रहा है, वह वास्तव में संशोधनवादी**

अर्थशास्त्र है। यह समाजवादी संक्रमण की पूरी प्रक्रिया की द्वन्द्वात्मकता को नहीं समझती और उसे एकरेखीय तौर पर देखती है। मज़दूर-किसान संश्रय का स्वरूप भी ठोस परिस्थितियों के अनुसार पूरे समाजवादी संक्रमण के अलग-अलग दौरों में अलग-अलग रूप धारण करता है। मगर बेतेलहाइम के लिए ऐसा नहीं है। उनके लिए नेप ने जिस रूप में मज़दूर-किसान संश्रय को स्थापित किया (जिसमें बाध्यता की काफ़ी बड़ी भूमिका थी) वह स्थायी था और उसके इसी रूप में बने रहते हुए सोवियत रूस को समाजवादी निर्माण की उन्नततर मंज़िलों में चले जाना था। **यहाँ पर हम चीनी क्रान्ति द्वारा चीन की विशिष्ट स्थितियों में अपनाये गये रास्ते और उसकी शर्तों को अनैतिहासिक तौर पर ज़बरन रूसी क्रान्ति पर थोपने का प्रयास भी स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं।** 'नेप' और "युद्ध कम्युनिज़्म" के प्रश्न पर बेतेलहाइम की समझदारी सबसे ज़्यादा बचकानी और ख़तरनाक है और अन्त में सभी प्रकार के संशोधनवादियों की मदद करती है। मिसाल के तौर पर, माकपा ने अपनी बीसवीं कांग्रेस में नेप की नीतियों की ठीक इसी तरीके से वकालत की है और उसे समाजवाद की आम नीति करार दिया है! यह संयोग नहीं है।

बहरहाल, "युद्ध कम्युनिज़्म" के बारे में लेनिन समेत तमाम बोल्शेविकों में पैदा हुए "भ्रम" के बारे में बेतेलहाइम आगे कुछ ऐसे "मौलिक" विचार पेश करते हैं जो कि उन्हें उन तमाम ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादियों और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों के साथ खड़ा कर देते हैं जो कि बोल्शेविक पार्टी पर प्रतिस्थापनवाद का आरोप लगाते हैं, हालाँकि बेतेलहाइम अपने आरोप-पत्र में इस शब्द का इस्तेमाल नहीं करते हैं। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी में पार्टी की गतिविधि या कार्रवाई को जनसमुदायों की गतिविधि और कार्रवाई समझ लेने का भटकाव मौजूद था। इस भटकाव के विचारधारात्मक तौर पर पार्टी में मौजूद होने का कोई प्रमाण या उद्धरण उपस्थित करना बेतेलहाइम आवश्यक नहीं समझते हैं। यहाँ बेतेलहाइम का तर्क इस विचार की सीमा पर पहुँच जाता है जिसके अनुसार पार्टी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का प्रधान उपकरण नहीं होती, हालाँकि अन्यत्र वह इस विषय पर लेनिन की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते हैं। पार्टी और वर्ग के बीच एक अन्तर अनिवार्य रूप में मौजूद रहता है। यदि पार्टी अपनी क्रान्तिकारी जनदिशा के ज़रिये जनता से सीखने और फिर जनता को सिखाने की प्रक्रिया को अंजाम दे रही है, तो यह अन्तर एक शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध में तब्दील नहीं होगा। कई बार आपात स्थितियाँ भी पार्टी को इस बात की इजाज़त नहीं देतीं कि वह इस प्रक्रिया को स्वस्थ रूप में अंजाम दे सके। ऐसे में, कई बार पार्टी और वर्ग के बीच अन्तर बढ़ता है। लेकिन समाजवादी संक्रमण के जटिल और दुरूह कालखण्ड में ऐसी अवधि न आने की कोई गारण्टी नहीं हो सकती है बल्कि कहा जा सकता है कि ज़्यादा सम्भावना यही है कि बीच-बीच में ऐसी अवधियाँ आ सकती हैं। लेकिन समाजवादी संक्रमण के बारे में एक यथार्थवादी और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दूर बेतेलहाइम "युद्ध कम्युनिज़्म" की अपवाद स्थिति के आधार पर वास्तव में पूरी बोल्शेविक पार्टी पर बिना नाम लिये प्रतिस्थापनवाद का आरोप लगाते हैं और इस आरोप के दायरे से लेनिन भी बाहर नहीं हैं।

इसके बाद बेतेलहाइम लेनिन और साथ ही पूरी बोल्शेविक पार्टी पर यह आरोप लगाते हैं कि उसने राजकीय स्वामित्व को ही समाजवाद समझ लिया था। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए बेतेलहाइम लेनिन के 'राज्य और क्रान्ति' से समाजवादी राज्य के लगातार 'अराज्य' बनते जाने वाले उद्धरण और एंगेल्स के लेखन से भी ऐसे ही उद्धरण पेश करते हैं। लेकिन समाजवादी क्रान्ति के बाद पहले समाजवादी प्रयोग के प्रारम्भिक वर्षों के बाद लेनिन ने

समाजवादी राज्यसत्ता के बारे में क्या लिखा इसके बारे में बेतेलहाइम साज़िशाना चुप्पी बनाये रखते हैं। लेनिन ने बोल्शेविक क्रान्ति के लगभग ढाई-तीन वर्ष बाद ही स्पष्ट किया था यह सोचना नादानी होगी कि समाजवादी राज्य समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में लगातार 'अराज्य' में तब्दील होता जायेगा और यह कोई एकरेखीय प्रक्रिया होगा (लेनिन के प्रासंगिक उद्धरणों के लिए देखें, **'दिशा सन्धान'**, अंक-1, अप्रैल-जून 2013, पृ. 103-104 और पृ. 106)। समाजवादी क्रान्ति के बाद और विशेष तौर पर रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश में समाजवादी क्रान्ति के बाद एक लम्बे समय तक बुर्जुआ वर्ग द्वारा नये रूपों में छेड़े जा रहे तीखे वर्ग युद्ध से निपटने और साथ ही समाजवादी निर्माण की बेहद जटिल प्रक्रिया को संचालित करने के लिए समाजवादी राज्यसत्ता को मज़बूत किया जाना चाहिए; **पूरे के पूरे समाजवादी संक्रमण की ऐतिहासिक अवधि केवल एकरेखीय रूप से 'अराज्य' का तत्व बढ़ने का पर्याय नहीं हो सकती है। समाजवादी संक्रमण का पहला लम्बा हिस्सा समाजवादी राज्यसत्ता के सुदृढ़ीकरण से पहचाना जा सकता है। निश्चित तौर पर, इसके फलस्वरूप सर्वहारा राज्यसत्ता में नौकरशाहाना विचलन पैदा हो सकते हैं और बुर्जुआ विरूपताएँ जन्म ले सकती हैं; लेकिन यह सतत् वर्ग संघर्ष का मसला है और इस समस्या का कोई सीधा-सरल या कार्यकारी समाधान सम्भव नहीं है, जिसके ज़रिये सर्वहारा राज्यसत्ता की वर्ग शुचिता को समाजवादी संक्रमण के दौर में नौकरशाहाना भटकावों और बुर्जुआ विरूपताओं से साफ़-साफ़ बचा ले जाया जाय! समाजवादी संक्रमण की उन्नततर मंज़िलों में ही सर्वहारा राज्यसत्ता में 'अराज्य' का पहलू बढ़ सकता है; जिस हद तक जनता की राजनीतिक चेतना का स्तर उन्नत होगा, जिस हद तक तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं कम होंगी, जिस हद तक जनसमुदाय उत्पादन व शासन सम्बन्धी निर्णय स्वतःस्फूर्त रूप से लेने की मंज़िल में पहुँचेंगे और जिस हद तक उत्पादक शक्तियों और उत्पादन का द्रुत विकास होगा, केवल उसी हद तक 'अराज्य' के पहलू के प्रधान होने की कोई कम्युनिस्ट चर्चा कर सकता है।**

बेतेलहाइम एक भाववादी और किताबी तर्क पेश कर रहे हैं। यह सच है कि पहले समाजवादी प्रयोग के पहले एंगेल्स और लेनिन जैसे महान शिक्षकों के सामने भी समाजवादी संक्रमण की दीर्घकालिकता और जटिलता को लेकर एक सुसंगत समझदारी नहीं थी और स्वयं लेनिन ने बाद में इस बात को स्वीकार किया था। अब अगर आज कोई 'राज्य और क्रान्ति' के आधार पर किसी समाजवादी प्रयोग से यह उम्मीद करे कि वह अगले दिन से ही पेरिस कम्यून के मॉडल को देश के पैमाने पर लागू कर देगा, तो यह नादानी नहीं तो और क्या है? लेकिन बेतेलहाइम निश्चित तौर पर नादान नहीं हैं क्योंकि अपनी इसी रचना में वह खुद भी कई स्थानों पर लेनिन के विचारों को बेमन से स्वीकार करते हुए नज़र आते हैं। लेकिन अलग से वह इस पूरी लेनिनवादी समझदारी पर हमला करते हैं। वह यहाँ प्रतीतिगत तौर पर 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के माओवादी सिद्धान्त के नज़रिये से सोवियत समाजवादी प्रयोग की आलोचना करते दिखने का प्रयास करते नज़र आते हैं, लेकिन वास्तव में उनकी यह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी स्थिति माओवादी अवस्थिति से बहुत दूर है।

यहाँ ग़ौर करने वाली दूसरी बात यह है कि बेतेलहाइम समाजवाद को एक स्थायी सामाजिक संरचना के तौर पर देखते हैं और राजकीय मालिकाने और समाजवाद के बीच के अन्तरविरोध की बात करते हैं। निश्चित तौर पर, राजकीय मालिकाने और उत्पादन के साधनों के समाजीकरण में फर्क होता है। लेकिन समाजवादी सामाजिक संरचना के तहत

समाजवादी मालिकाने के जो विभिन्न रूप मौजूद होते हैं, राजकीय मालिकाना उसका सबसे उन्नत रूप है। अन्य रूप *कोऑपरेटिव* व *कलेक्टिव* होते हैं। उद्योगों के क्षेत्र में राजकीय मालिकाने की मंज़िल का आम तौर पर तेज़ी से आना सामान्य होता है क्योंकि उसमें पहले ही उत्पादन का काफ़ी हद तक समाजीकरण हो चुका होता है। खेती के क्षेत्र में कई बार लम्बे समय तक समाजवादी मालिकाने के विभिन्न रूप या ज़्यादा सटीकता से कहें तो विभिन्न मंज़िलें सहअस्तित्वमान रह सकती हैं। वहाँ भी राजकीय मालिकाने तक पहुँचना समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना की उच्चतम मंज़िल है। **राजकीय मालिकाने की स्थापना के बाद ही आम तौर पर उत्पादन के साधनों के समाजीकरण की कल्पना की जा सकती है।** समाजवादी संक्रमण के आम राजनीतिक अर्थशास्त्र के तौर पर यह एक सर्वमान्य तथ्य है। **लेकिन किन्हीं विशेष स्थितियों में यह राजकीय मालिकाना एक प्रतिगामी कदम बन सकता है।** मिसाल के तौर पर, यदि सर्वहारा राज्यसत्ता का पतन होता है और पार्टी और राज्यसत्ता पर संशोधनवादी नेतृत्व काबिज़ हो जाता है, या, अगर सर्वहारा राज्यसत्ता में नौकरशाहाना विकृतियाँ और बुर्जुआ विरूपताएँ बेहद ज़्यादा हैं, जिसके कारण से सर्वहारा राज्यसत्ता पार्टी के सर्वहारा नेतृत्व से स्वायत्त होकर आचरण कर रही हो, तो राजकीय मालिकाने की बजाय *विशिष्ट क्षेत्र में और विशिष्ट रूपों में कलेक्टिव या कोऑपरेटिव के मालिकाने की बाशर्त हिमायत की जा सकती है।* लेकिन इन विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़ दें तो इस बात में कोई दो राय नहीं कि राजकीय मालिकाना समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों का उन्नततर रूप है। **लेकिन बेतेलहाइम यहाँ पूरे मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक संशोधनवादी विनियोजन करते हैं और राजकीय मालिकाने और समाजवाद को ही 'एण्टी-थीसिस' के तौर पर पेश करते हैं। यह मार्क्सवाद का भयंकर विकृतिकरण है।** इसी से "युद्ध कम्युनिज़्म" को जोड़ते हुए बेतेलहाइम कहते हैं कि इसी "ग़लतफ़हमी" के कारण बोल्शेविक पार्टी में "युद्ध कम्युनिज़्म" की राजकीय मालिकाने और वितरण की व्यवस्था को कम्युनिज़्म समझने की भूल हुई और इसी वजह से लेनिन ने 'नेप' के लागू होने को 'कदम पीछे हटाना' और जून 1918 की स्थिति की ओर वापस लौटने की संज्ञा दी। बेतेलहाइम के लिए 'नेप' एक महान अग्रवर्ती छलाँग के समान था! **यह तथ्यों का, लेनिन के लेखन का और बोल्शेविक पार्टी के इतिहास का भयंकर विकृतिकरण है।**

बोल्शेविक पार्टी में त्रात्स्की, बुखारिन व प्रियोब्रेज़ेंस्की जैसे लोगों का एक धड़ा था जो कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों के ज़रिये ऊपर से कम्युनिज़्म को थोपकर तीन वर्षों में देश के आर्थिक आधार को रूपान्तरित कर देने का भ्रम पाले हुआ था। 1920 आते-आते इस धड़े के अधिकांश लोगों का भी यह भ्रम दूर हो चुका था। साथ ही, लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" के तहत हुए अतिरकों की इसलिए आलोचना नहीं की थी कि उनके कारण राजकीय सम्पत्ति को स्थापित करने की बात की गयी थी या राजकीय सम्पत्ति और सम्पत्ति के समाजीकरण को गड्ड-मड्ड कर दिया गया था। उन्होंने "युद्ध कम्युनिज़्म" का समाहार करते हुए जो बातें कहीं थीं, उनका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं और बेतेलहाइम द्वारा "युद्ध कम्युनिज़्म" के लेनिन द्वारा किये गये आलोचनात्मक समाहार को राजकीय सम्पत्ति की आलोचना या उसे ख़ारिज किये जाने के तौर पर पेश करना, बेतेलहाइम द्वारा तथ्यों का विकृतिकरण है। बहरहाल, लेनिन इस भ्रम के शिकार कभी नहीं थे कि तीन वर्षों में देश के आर्थिक आधार को पूर्णत: रूपान्तरित किया जा सकता है। "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान समाजवादी आक्रमण को वक़्त से पहले ज़रूरत से आगे बढ़ा दिया गया था और अब उन अवस्थितियों पर टिके रह पाना सम्भव

नहीं था। इसीलिए रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाकर अगले समाजवादी आक्रमण के लिए शक्ति संचित करने की आवश्यकता थी और इसीलिए लेनिन 'नेप' को कदम पीछे हटाने की संज्ञा देते। **बेतेलहाइम का इतिहास-लेखन, जैसा कि हमने पहले भी लिखा है, अधिकतम उदारता के साथ एक ख़राब और मिथकीकरण करने वाला इतिहास-लेखन कहा जा सकता है।**

इसके बाद बेतेलहाइम सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के लेनिन की अवधारणा पर आते हैं और अपने विकृतिकरण की परियोजना को आगे बढ़ाते हैं। लेनिन का यह मानना था कि रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश में समाजवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के साथ समाजवादी संक्रमण की समस्याएँ जटिल रूप में पेश होती हैं। उन्होंने सितम्बर 1917 में ही कहा था कि सत्ता पर कब्ज़ा करने के बाद सर्वहारा सत्ता का कार्यभार तत्काल समाजवादी रूपान्तरण के कार्य को अंजाम देना नहीं होगा, बल्कि 'समाजवाद की ओर कुछ तात्कालिक कदम' बढ़ाना मात्र होगा। लेनिन रूस में समाजवादी व्यवस्था के निर्माण को एक चरणबद्ध प्रक्रिया के रूप में देखते थे। **इस प्रक्रिया में पहला चरण था सर्वहारा सत्ता की स्थापना और उसका सुदृढ़ीकरण।** इसके लिए सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना और उसके बाद अर्थव्यवस्था के रणनीतिक रूप से सबसे महत्वपूर्ण अंगों पर नियन्त्रण कायम करना आवश्यक था। **दूसरा चरण था समूची अर्थव्यवस्था, यानी कि उत्पादन और वितरण पर सर्वहारा राज्यसत्ता के नियन्त्रण को कायम करना;** इसका मूल उद्देश्य था रूस के भीतर टटपुँजिया उत्पादन पर सर्वहारा नियन्त्रण कायम करना और क्रमिक प्रक्रिया में बड़े पैमाने के उत्पादन की ओर जाना; इस दौर में, समूची श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया का समाजवादी रूपान्तरण सर्वहारा सत्ता के एजेण्डा पर नहीं था, बल्कि रूस में बिखरे हुए टटपुँजिया उत्पादन का संकेन्द्रीकरण करते हुए बड़े पैमाने के उत्पादन की ओर जाना और उस पर राजकीय नियन्त्रण को कायम करना था। **इसी दौर को लेनिन ने सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद का दौर कहा था।** 1918 में बुखारिन व ओसिंस्की जैसे "वामपन्थी" भटकाव के शिकार कम्युनिस्टों को जवाब देते हुए लेनिन ने कहा था कि राजकीय पूँजीवाद रूस की परिस्थिति में एक आगे बढ़ा हुआ कदम होगा क्योंकि रूस में सर्वहारा सत्ता के ख़िलाफ़ जो ताक़त तात्कालिक तौर पर खड़ी है वह टटपुँजिया उत्पादन का विशाल और बिखरा हुआ जाल और साथ ही टटपुँजिया वर्ग है जो सर्वहारा सत्ता द्वारा हर प्रकार के नियन्त्रण या विनियमन के विरुद्ध खड़ा है। यही वह वर्ग है जो कि सर्वहारा सत्ता के लिए एक प्राणान्तक ख़तरा बन सकता है। रूस में पिछड़ी प्राकृतिक व्यवस्था और टटपुँजिया उत्पादन दोनों मिलकर राजकीय पूँजीवाद और समाजावाद का विरोध कर रहे हैं। लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि राजकीय पूँजीवाद को पारम्परिक अर्थों में नहीं समझा जाना चाहिए क्योंकि रूस में यह राजकीय पूँजीवाद सर्वहारा अधिनायकत्व से पहचाने जाने वाले राज्य के मातहत होगा। लेनिन के अनुसार, समाजवाद के लिए *आवश्यक पूर्वशर्तें* इसी प्रकार से पूरी होती हैं; यानी, कि राज्यसत्ता के सर्वहारा वर्ग के हाथों में होना और समूची अर्थव्यवस्था पर राजकीय नियन्त्रण का होना। इसके बाद ही उत्पादन सम्बन्धों के ज़मीनी समाजवादी रूपान्तरण का कार्य रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश में शुरू हो सकता है।

राजकीय पूँजीवाद का दौर रूस जैसे देश में लेनिन के अनुसार इसलिए भी ज़रूरी था क्योंकि मज़दूर वर्ग अभी स्वयं समूचे उद्योग को बड़े पैमाने पर संगठित करने, उसका संचालन करने और टटपुँजिया उत्पादन पर विनियमन और नियन्त्रण कायम

करने में सक्षम नहीं था और उसे ये चीज़ें बुर्जुआ वर्ग से सीखने की आवश्यकता थी। लेनिन की यह बात अक्टूबर 1917 से लेकर 1920 तक के दौर में शत-प्रतिशत सही भी सिद्ध हुई जबकि कारखाना समितियों ने सर्वहारा राज्यसत्ता की इच्छा के अक्सर विपरीत जाते हुए कारखानों का राष्ट्रीकरण कर दिया। लेकिन कुछ ही समय में यह सिद्ध हो गया कि मज़दूर वर्ग स्वत:स्फूर्त रूप से संघाधिपत्यवाद का शिकार था और उद्योगों के राष्ट्रीय पैमाने पर संचालन में सक्षम नहीं था। यह दीगर बात है कि गृहयुद्ध, साम्राज्यवादी घेरेबन्दी और रूसी पूँजीपति वर्ग द्वारा सहकार से पूर्ण रूप से इंकार किये जाने के कारण स्वयं सर्वहारा राज्यसत्ता को जून 1918 के बाद से बड़े पैमाने पर पूँजीपति वर्ग का स्वत्वहरण कर उद्योगों का राष्ट्रीकरण करना पड़ा। लेकिन जैसे ही गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी पर सोवियत रूस ने विजय प्राप्त की और "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों की प्रासंगिकता समाप्त हो गयी, वैसे ही लेनिन ने अक्टूबर 1917 से जून 1918 के सात-आठ महीने के दौर में उठाये गये सावधान कदमों और राजकीय पूँजीवाद के दौर की ओर वापसी की वकालत की और 'नयी आर्थिक नीति' (नेप) को सूत्रबद्ध किया और दसवीं पार्टी कांग्रेस ने इसे पारित किया। निश्चित तौर पर, इतिहास में पीछे नहीं लौटा जा सकता और जब नेप की नीतियाँ लागू हुईं जो सोवियत सत्ता को क्रान्ति के बाद के पहले सात-आठ महीनों की तुलना में कदम कहीं ज़्यादा पीछे हटाने पड़े। इसका कारण यह था कि गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के दबाव में और साथ ही पार्टी में त्रात्स्की व बुखारिन के "वामपन्थी" धड़े के प्रभाव के कारण "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर में पार्टी व उसके नेतृत्व में सर्वहारा राज्यसत्ता ज़रूरत से ज़्यादा आगे बढ़ गये थे। इन अतिरेकपूर्ण अवस्थितियों पर कायम रह पाना सम्भव नहीं था। जैसे ही वस्तुगत बाध्यता समाप्त हुई और साथ ही पार्टी के भीतर मौजूद "वामपन्थी" भटकाव के विरुद्ध संघर्ष एक मुकम्मिल मुक़ाम तक पहुँचा, वैसे ही लेनिन ने नेतृत्व में पार्टी ने सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की ज़्यादा सावधान और सधी हुई नीति की ओर वापस लौटने का निर्णय किया। **लेकिन जैसा कि हम सभी जानते हैं, इतिहास में 'वापस लौटना' कभी सम्भव नहीं होता और लेनिन भी पहले आठ महीनों के दौर में वापस लौटने की बात नहीं कर रहे थे, बल्कि उस दौर में अमल में लायी गयी पहुँच (अप्रोच) और रणनीति की ओर लौटने की बात कर रहे थे। कहने की आवश्यकता नहीं है कि "युद्ध कम्युनिज़्म" के उथल-पुथल भरे तीन से साढ़े तीन वर्ष के दौर के बाद हूबहू उस स्थिति में लौटना सम्भव नहीं था, जिस स्थिति में रूसी क्रान्ति अपने पहले आठ माह के दौरान थी। इसी वजह से बेतेलहाइम समेत कई प्रेक्षकों को यह दृष्टि-भ्रम हो गया है कि 'नेप' के तहत लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की समझदारी ही बदल गयी थी।** यह सच है कि राजकीय पूँजीवाद के दौर की नीतियों के विषय में लेनिन ने 'नेप' के दौर में कई ऐसी युक्तियाँ और कदम सुझाये थे, जो कि पहले आठ माह के दौरान नहीं सुझाये थे। निश्चित तौर पर, लेनिन द्वारा सुझायी गयी कई नयी नीतियों व युक्तियों का मकसद "युद्ध कम्युनिज़्म" के असाधारण दौर में हुई क्षतियों की पूर्ति करना भी था। लेकिन जहाँ तक अप्रोच और पद्धति का प्रश्न है, लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा में कोई गुणात्मक या बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ था। लेकिन बेतेलहाइम सिर्फ़ यह ग़लती नहीं करते, बल्कि अन्य कई अध्येताओं ने भी यह भूल की है। बेतेलहाइम लेनिन की पूरी अवस्थिति का ही विकृतिकरण करते हैं और फिर उसकी एक प्रतीतिगत तौर पर "माओवादी" आलोचना पेश करते हैं। कुछ

मिसालों पर ग़ौर करते हैं।

बेतेलहाइम का दावा है कि लेनिन का मानना था कि सर्वहारा अधिनायकत्व और राजकीय पूँजीवाद ही वास्तव में समाजवाद हैं और इसके लिए बेतेलहाइम लेनिन की "माओवादी" आलोचना करते हैं! पहली बात तो यह है कि लेनिन ने ऐसा कहीं नहीं लिखा है। लेनिन ने सिर्फ़ और सिर्फ़ यह कहा है कि सर्वहारा अधिनायकत्व और साथ में राजकीय पूँजीवाद मिलकर **समाजवाद के निर्माण की पूर्वशर्तों** को पूर्ण करते हैं। इतना लेनिन भी जानते थे कि समाजवादी निर्माण व रूपान्तरण के आगे बढ़ने का अर्थ यह होगा कि उत्पादन की समूची प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया पर सर्वहारा वर्ग नियन्त्रण स्थापित करता है, उसे रूपान्तरित करता है और उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ बुर्जुआ श्रम विभाजन पर भी चोट करता जाता है। वास्तव में श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया को अपने मातहत लाने के लिए कोई भी नयी व्यवस्था इन्हीं कदमों से गुज़र सकती है। यही कारण है कि श्रम के औपचारिक और वास्तविक समाविष्टीकरण (formal and realubsumption of labour) में मार्क्स ने फर्क किया था और बताया था कि पूँजी पहले औपचारिक समाविष्टीकरण करती है और आगे चलकर वास्तविक समाविष्टीकरण करती है। कमोबेश उसी प्रकार सर्वहारा वर्ग और समाजवादी व्यवस्था भी आम तौर पर पहले श्रम और उत्पादन प्रक्रिया का औपचारिक तौर पर समाविष्टीकरण करती हैं और आगे वास्तविक तौर पर। निश्चित तौर पर, समाजवादी निर्माण के प्रक्रिया को अन्ततः समूची श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया के वास्तविक समाविष्टीकरण की ओर, यानी कि बुर्जुआ श्रम विभाजन को समाप्त करने, वितरण सम्बन्धों में असमानता को समाप्त करने, विनिमय सम्बन्धों को समाप्त करने की ओर आगे बढ़ना होगा या फिर पीछे की ओर जाना होगा; दूसरे शब्दों में कहें तो समाजवादी निर्माण के आगे बढ़ने के लिए उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को जारी रखना होगा और निजी सम्पत्ति के कानूनी उन्मूलन से आगे जाना होगा। लेकिन यह कहना मूर्खतापूर्ण होगा कि निजी सम्पत्ति के कानूनी उन्मूलन के बिना ही उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण किया जा सकता है। निश्चित तौर पर, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की मंज़िल से गुज़रना उन देशों में सम्पत्ति सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की पहली मंज़िल को पूरा करने के लिए अनिवार्य होगा जिसमें टटपुँजिया उत्पादन का बाहुल्य होगा। लेकिन बेतेलहाइम ऐसा प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि लेनिन सर्वहारा अधिनायकत्व और राजकीय पूँजीवाद के योग को ही समाजवाद मानते थे! यह तथ्यों को भयंकर रूप से तोड़ना-मरोड़ना है।

बेतेलहाइम यह सदिच्छा रखते हैं कि सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना के बाद रूस में उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण के कार्य को तत्काल शुरू हो जाना चाहिए था और इसे तत्काल ही श्रम विभाजन और उत्पादन प्रक्रिया पर ज़मीनी नियन्त्रण के प्रश्न को भी उठा देना चाहिए था और जब उनकी यह अव्यावहारिक सदिच्छा पूर्ण नहीं होती तो वह लेनिन, बोल्शेविक पार्टी और सोवियत समाजवाद की "माओवादी" आलोचना के कार्यभार को अपने हाथ में ले लेते हैं!

बेतेलहाइम का मानना है कि लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा में कई बार गुणात्मक परिवर्तन हुए। पहली अवधारणा का दौर था अक्तूबर 1917 से लेकर मार्च 1918 तक का दौर जब लेनिन ने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीकरण या ज़ब्ती की बात नहीं की थी और इस दौर में केवल सर्वहारा राज्य द्वारा विनियमन और नियन्त्रण की बात की गयी थी। इस दौर में लेनिन ने राजकीय पूँजीवाद को समाजवादी आक्रमण में एक तात्कालिक विराम के

तौर पर देखा था और उसे समाजवादी निर्माण के एक चरण के रूप में सूत्रबद्ध नहीं किया था। बाद में, यानी कि ब्रेस्त-लितोव्स्क के बाद लेनिन ने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीकरण और ज़ब्ती की वकालत की। इस नयी अवधारणा में सम्पत्ति सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण तो हो गया था लेकिन अभी उद्योग पूँजीवादी तौर-तरीकों से ही संगठित और संचालित हो रहे थे। **वास्तव में, लेनिन के राजकीय पूँजीवाद की पूरी अवधारणा का यहाँ बेतेलहाइम बुरी तरह से विकृतिकरण करते हैं।** इस विकृतिकरण में दो पहलुओं को नज़रन्दाज़ कर अपने मनमाने नतीजों तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। पहली बात तो यह है कि लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की पूरी अवधारणा कभी भी इतनी संकीर्ण नहीं थी कि वह इसे समाजवादी आक्रमण में महज़ एक तात्कालिक विराम के रूप में देखें। ऐसा लेनिन के अक्तूबर 1917 के पहले और बाद के लेखन में स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। लेनिन ने रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश में, जहाँ कि बिखरे हुए टटपुँजिया उत्पादन का एक जटिल और विराट जंजाल मौजूद था, समाजवादी निर्माण के एक अनिवार्य चरण के रूप में हमेशा ही राजकीय पूँजीवाद को महत्वपूर्ण और एक अग्रवर्ती कदम माना था। दूसरी बात यह है कि बेतेलहाइम इस तथ्य को नज़रन्दाज़ कर रहे हैं कि मार्च 1918 के पहले और बाद, दोनों ही दौरों में कारखानों का राष्ट्रीकरण हो रहा था, हालाँकि किसी पूरे उद्योग के राष्ट्रीकरण की नीति अभी सर्वहारा राज्य की ओर से प्रस्तुत नहीं की गयी थी। **लेकिन दो कारणों से अलग-अलग कारखानों का राष्ट्रीकरण हो रहा था।** पहला कारण था मज़दूरों के कारखाना समिति आन्दोलन का गति पकड़ना, जिसे तमाम अध्येताओं ने 'क्रान्ति की तात्विक प्रवृत्ति' (elemental tendencies of the revolution) का नाम भी दिया है, जिसके कारण सर्वहारा राज्यसत्ता की इच्छा के विपरीत कई जगहों पर मज़दूरों ने कारखाने का राष्ट्रीकरण कर दिया। और दूसरा कारण था कई कारखानों के पूँजीपति वर्ग द्वारा सहयोग करने से इंकार करना, कारखाने का बन्द करके भाग जाना या फिर कारखाने को चलाने से इंकार कर देना। ऐसे कारखानों का सोवियत सत्ता ने राष्ट्रीकरण कर दिया। ज़ाहिर है, इसके सिवा कोई अन्य विकल्प भी नहीं था। स्पष्ट है कि मार्च 1918 के बाद अपेक्षाकृत तेज़ गति से और सर्वहारा राज्य के द्वारा हुए राष्ट्रीकरण का प्रश्न लेनिन, पार्टी और सोवियत राज्यसत्ता के लिए कोई चयन का प्रश्न नहीं था और न ही सचेतन तौर पर इसके विषय में कोई निर्णय लिया गया था। लेकिन बेतेलहाइम यह प्रदर्शित करने के प्रयास में इन सभी तथ्यों को नज़रन्दाज़ कर देते हैं, कि लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा में कई गुणात्मक परिवर्तन आये।

वास्तव में, चार्ल्स बेतेलहाइम राजकीय पूँजीवाद के जिस दो संस्करणों की बात कर रहे हैं (यानी मार्च 1918 से पहले और बाद में), वे और कुछ नहीं बल्कि लेनिन के राजकीय पूँजीवाद के दौर के ही दो चरण थे। पहले चरण में उद्योगों में सम्पत्ति सम्बन्धों में परिवर्तन का कार्य पूरा नहीं हुआ था, जबकि दूसरे दौर में यह कार्य पूरा हो चुका था; मगर उद्योगों के संगठन और संचालन का तौर-तरीका अभी भी पूँजीवादी था, श्रम विभाजन और उत्पादन प्रक्रिया का समाजवादी रूपान्तरण अभी शुरू नहीं हुआ था। बस इस पूरे उपकरण का नियन्त्रण ऊपर से सर्वहारा राज्यसत्ता कर रही थी और निजी सम्पत्ति का कानूनी उन्मूलन हो चुका था। लेकिन इन दो तार्किक रूप से जुड़े हुए चरणों के बीच बेतेलहाइम जबरन एक विच्छेद पैदा करते हैं और इसके पीछे लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा में आये गुणात्मक परिवर्तन को ज़िम्मेदार ठहराते हैं! यह दावा तथ्यों

की कसौटी पर कतई खरा नहीं उतरता है।

आगे बेतेलहाइम यह दावा करते हैं कि 'नेप' के लागू होने के बाद राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा का परित्याग कर दिया गया। उनके अनुसार, 'नेप' वास्तव में राजकीय पूँजीवाद की नीतियों से *आगे* जाता है। साथ ही, बेतेलहाइम यह भी मानते हैं कि अब राजकीय पूँजीवाद को समाजवादी निर्माण में एक महत्वपूर्ण और *अनिवार्य चरण* के रूप में नहीं बल्कि एक *दीर्घकालिक नीति* के रूप में देखा जा रहा था। ये परिवर्तन लेनिन की 'नेप' की अवधारणा में आये बदलावों के कारण हुए। अपने दावों को पुष्ट करने के लिए बेतेलहाइम सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा के मूल को प्रदर्शित करने की कवायद करते हैं। **लेकिन हम जल्द ही देखते हैं कि यह कवायद यूँ ही नहीं की जा रही है, बल्कि यह लेनिन के ऊपर काऊत्स्कीपन्थ और उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त के असर का आरोप लगाने की तैयारी मात्र है।** यह साबित करने के लिए कि 'नेप' की अवधारणा राजकीय पूँजीवाद के सिद्धान्त का एक हद तक परित्याग करती थी, बेतेलहाइम यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि 'नेप' के लागू होने के बाद कुछ ऐसे कदम उठाये गये जो कि निजी पूँजी को छूट देते थे, जो कि राजकीय पूँजीवाद की अवधारणा के विपरीत था। **बेतेलहाइम यहाँ दो बातें समझ पाने में असफल रहते हैं।** एक तो यह कि राजकीय पूँजीवाद के उस दौर की ओर वापसी "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौर के बाद सम्भव नहीं थी जो कि अक्तूबर 1917 से जून 1918 के बीच मौजूद था। इसके बाद के दौर में क्षति-पूर्ति और क्षतियों को नियन्त्रित करने के प्रयास में सोवियत सत्ता के सामने रणनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे हटाने के अलावा कोई चारा नहीं था। दूसरी बात यह है कि आर्थिक विघटन को रोकने और गाँव और शहर के बीच के विनिमय को आयोजित करने के लिए राज्य के नियन्त्रण में निजी व्यापार और किसानों को छूट देना अपरिहार्य हो गया था। **लेकिन क्या इसका अर्थ राजकीय पूँजीवाद की नीति का परित्याग था? यह बेहद यान्त्रिक समझदारी है और यह ग़लती से अपनायी गयी यान्त्रिक समझदारी नहीं है बल्कि इरादतन की गयी यान्त्रिक व्याख्या है।** इसका मक़सद अन्त में 'नेप' की नीति को समाजवादी निर्माण की आम नीति के तौर पर सिद्ध करना है, न कि एक अनिवार्य चरण के रूप में जो कि समाजवादी आक्रमण के नये दौर की शुरुआत के साथ समाप्त हो जायेगा। लेनिन के राजकीय पूँजीवाद और फिर 'नेप' की अवधारणा में होने वाले परिवर्तनों और उसके कई संस्करणों को लेकर जो लम्बे-चौड़े सिद्धान्त बेतेलहाइम द्वारा पेश किये गये हैं उसके पीछे असली मन्तव्य यह है जो कि अन्त में बेतेलहाइम को संशोधनवादी अर्थशास्त्र के नतीजों की ओर ले जाता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

बेतेलहाइम रूस में समाजवादी निर्माण के लिए राजकीय पूँजीवाद को एक अस्थायी चरण के रूप में देखने के लिए लेनिन की आलोचना करते हैं। बेतेलहाइम इसी रूप में 'नेप' की नीति को एक आगे बढ़ा हुआ कदम मानते हैं और उसे 'कदम पीछे हटाने' की संज्ञा देने की आलोचना करते हैं; बकौल बेतेलहाइम 'नेप' समाजवादी निर्माण की आम नीति है और इसी नीति पर लम्बे दौर तक अमल करने के दौरान किसानों के पूरे वर्ग को समझा-बुझाकर समाजवादी कार्यक्रम पर लाया जायेगा। यानी कि समाजवादी निर्माण की पूरी प्रक्रिया में 'कदम पीछे हटाने' के बाद किसी 'ऑफेंसिव' का कोई दौर नहीं आयेगा और नेप की नीतियों को जारी रखते हुए ही समूचे मेहनतकश जनसमुदायों (किसानों व टटपुँजिया वर्गों समेत) को समाजवादी कार्यक्रम पर सहज व सुगम तरीके से लाया जायेगा; इस पूरी प्रक्रिया

में सर्वहारा राज्यसत्ता को कभी कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करनी होगी और इस रूप में एक दमनकारी निकाय के रूप में उसका अस्तित्व ही धूमिल होता जायेगा; जैसा कि एंगेल्स और एक समय में लेनिन ने भी उम्मीद की थी कि समाजवादी क्रान्ति के बाद राज्य में 'अराज्य' का तत्व लगातार बढ़ता जायेगा। बेतेलहाइम इस बात को छिपा जाते हैं कि सोवियत अनुभवों की रोशनी में लेनिन ने इस सिद्धान्त में इज़ाफ़ा करते हुए बताया था कि 'अराज्य' का पहलू समाजवादी संक्रमण के शुरू होने के साथ ही नहीं बढ़ने लगेगा, बल्कि समाजवादी संक्रमण के पहले हिस्से में सर्वहारा राज्यसत्ता लगातार मज़बूत होगी और सुदृढ़ीकृत होगी। इस रूप में नौकरशाहाना भटकावों और बुर्जुआ विरूपताओं की सम्भावना भी बनी रहेगी, जिसे क्रान्तिकारी जनदिशा के ज़रिये लगातार प्रति-सन्तुलित करना होगा और उसके ख़िलाफ़ संघर्ष जारी रखना होगा। लेकिन लेनिन के अनुसार इस समस्या का कोई कार्यकारी समाधान नहीं है और समाजवादी संक्रमण के दौरान यह एक सतत् संघर्ष का मसला बना रहता है, जैसा कि हमने ऊपर भी प्रदर्शित किया था। **लेकिन बेतेलहाइम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, संशोधनवाद, बुखारिनपन्थ और छद्म माओवाद का ऐसा मिश्रण तैयार करते हैं, जो कि उन्हें विचित्र नतीजों तक ले जाता है।**

बेतेलहाइम का आरोप है कि राजकीय पूँजीवाद की अपनी पूरी अवधारणा में लेनिन स्वयं उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त और काऊत्स्कीपन्थ के शिकार थे क्योंकि उन्होंने सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद को ही समाजवाद माना है और राजकीय आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन सम्बन्धों के ज़मीनी रूपान्तरण की ज़रूरत को नहीं समझा है क्योंकि वह बस राज्यसत्ता पर सर्वहारा वर्ग के काबिज़ होने और अर्थव्यवस्था पर राजकीय इज़ारेदारी स्थापित होने को ही समाजवाद मानते हैं। यह लेनिन की पूरी अवस्थिति का भयंकर विकृतिकरण है। लेनिन ने विशेष तौर पर रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के मातहत राजकीय पूँजीवाद के चरण को समाजवादी निर्माण का एक अनिवार्य चरण और उसकी पूर्वशर्तों का पूरा होना माना था। लेनिन ने यहीं पर समाजवादी निर्माण या संक्रमण को पूरा नहीं माना था, जैसा कि बेतेलहाइम दावा कर रहे हैं। आगे बेतेलहाइम लेनिन के कुछ उद्धरणों को पेश करते हैं जिसमें लेनिन ने रूस में समाजवादी निर्माण के लिए उत्पादक शक्तियों के विकास की आवश्यकता को रेखांकित किया है और इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि लेनिन उत्पादक शक्तियों की प्रधानता के सिद्धान्त को मानते थे, या कम-से-कम उसका उन पर असर था। अगर ऐसा होता तो लेनिन कभी भी 'अप्रैल थीसिस' नहीं पेश करते और रूस में समाजवादी क्रान्ति की बात नहीं करते। ज़ाहिर है, बेतेलहाइम एक बार फिर से माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में लेनिन की एक मनोगतवादी, हेगेलीय आलोचना पेश कर रहे हैं। बेतेलहाइम के अनुसार, इतिहास में हर-हमेशा उत्पादन सम्बन्ध ही प्राथमिक प्रेरक तत्व होते हैं। इस सिद्धान्त की आलोचना हम ऊपर पेश कर चुके हैं और उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट है लेनिन इतिहास में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच के सम्बन्धों की एक द्वन्द्वात्मक समझदारी रखते थे और जानते थे कि कभी एक का पहलू प्रधान होता है तो कभी दूसरे का; **साथ ही, लेनिन यह भी जानते थे कि कितनी भी सयानी हिरावल पार्टी मौजूद हो, कुटीर उद्योगों और दस्तकारी के युग में समाजवादी क्रान्ति और समाजवाद का निर्माण नहीं हो सकता है, अन्यथा क्रान्ति के चरण का मसला पूरी तरह से क्रान्तिकारी शक्तियों की मनोगत समझदारी**

का मसला बन जाता है। लेकिन बेतेलहाइम अपनी कथित "माओवादी" समझदारी को पूरे इतिहास पर थोपने पर आमादा हैं और उसे सही साबित करने के लिए इतिहास के किसी भी तथ्य या व्यक्तित्व के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती करने को हमेशा तैयार रहते हैं। **इसीलिए अन्त में वह अपने 'ऐतिहासिक ब्यौरे' के बाद इस मनमाने नतीजे पर पहुँचते हैं कि लेनिन की राजकीय पूँजीवाद की शुरुआती समझदारी, यानी कि इसे समाजवादी निर्माण के एक चरण के रूप में देखने की प्रवृत्ति, एक अर्थवादी प्रवृत्ति थी और बाद में लेनिन ने इसे दुरुस्त किया और 'नेप' को समाजवादी निर्माण आम नीति के रूप में सूत्रबद्ध किया, बजाय महज़ एक चरण के!**

सच्चाई यह है कि लेनिन ने हमेशा ही 'नेप' को सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद की समझदारी के दायरे में ही अवस्थित किया था; निश्चित तौर पर, 1921 मे सोवियत समाजवाद राजकीय पूँजीवाद के उस दौर में वापस नहीं जा सकता था जो कि अक्तूबर 1917 से जून 1918 के बीच मौजूद था, जैसा कि हम पहले ही इंगित कर चुके हैं। लेकिन इससे यह नतीजा निकालना कि अब लेनिन राजकीय पूँजीवाद को रूस में समाजवादी निर्माण के एक ज़रूरी चरण के रूप में नहीं देखते थे, 'नेप' को रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाना नहीं मानते थे, और साथ ही 'नेप' की नीति को समाजवादी निर्माण की आम नीति के रूप में देखते थे और किसी भावी समाजवादी 'ऑफेंसिव' की आवश्यकता को नहीं मानते थे, या तो भयंकर मूर्खता होगी या फिर जानबूझकर लेनिन के विचारों का विकृतिकरण।

बेतेलहाइम लेनिन के विचारों का विकृतिकरण करने में इस कदर लापरवाह हैं कि वे जिन लेखों को या रचनाओं को उद्धृत करते हैं, वे अक्सर उनके द्वारा किये जा रहे सैद्धान्तिकीकरणों को ग़लत ठहराती हैं। मिसाल के तौर पर, राजकीय पूँजीवाद और नेप के प्रश्न पर अपनी विचित्र अवस्थिति को सिद्ध करने के लिए वह लेनिन ने प्रसिद्ध लेख 'सहकार के बारे में' का नाम लेते हैं। लेकिन जब आप लेनिन का 1923 का यह लेख पढ़ते हैं तो आप पाते हैं कि लेनिन 'नेप' को राजकीय पूँजीवाद का ही दौर मानते थे; निश्चित तौर पर, यह राजकीय पूँजीवाद का दौर क्रान्ति के पहले आठ महीनों के राजकीय पूँजीवाद से कुछ भिन्न था, जिसके कारण हम ऊपर इंगित कर चुके हैं। लेकिन लेनिन स्पष्ट तौर पर 'नेप' की नीतियों को मूलत: सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद के अपने सिद्धान्त के फ्रेमवर्क में देखते थे और उपरोक्त लेख में लेनिन ठीक यही दलील पेश कर रहे हैं कि राजकीय पूँजीवाद के दौर में सहकारी संघों का विशेष महत्व होगा क्योंकि ये छोटी किसानी अर्थव्यवस्था और टटपुँजिया अर्थव्यवस्था के अन्य रूपों को समाप्त कर उत्पादन का संकेन्द्रीकरण करेगा। लेनिन ने इसी लेख में यह भी इशारा किया है कि सहकारी संघ विशेष तौर पर वांछनीय इसलिए हैं क्योंकि समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध का यही रूप अभी किसानों को स्वीकार्य है और अगर इस विनम्र रूप को अपना कर छोटी किसानी अर्थव्यवस्था या गुज़ारा अर्थव्यवस्था को समाप्त किया जा सकता है, तो यह हर क़ीमत पर किया जाना चाहिए। वित्त और उत्पादन के प्रमुख साधनों का स्वामी सर्वहारा वर्ग है, इसलिए ऐसे सहकारी संघ सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण के लिए एक अग्रवर्ती कदम होंगे। सहकारी संघ बोल्शेविकों के लिए सकारात्मक तौर पर वांछनीय विकल्प नहीं था, बल्कि वह सबसे कम बुरा उपलब्ध विकल्प था। लेकिन इन सारी बातों को नज़रन्दाज़ करते हुए बेतेलहाइम मनमानी व्याख्याएँ करते हैं। और वह यहीं रुकते नहीं

हैं! **बेतेलहाइम का दावा है कि मार्क्स व एंगेल्स ने जब कम्युनिस्ट समाज को स्वतन्त्र उत्पादकों के सहयोग/संघ के रूप में व्याख्यायित किया था तो उनका अर्थ सहकारी संघ बनाना था! इस प्रकार से बेतेलहाइम मार्क्स, एंगेल्स व लेनिन को एक साधारण सहकारवादी (co-operativist) बना देते हैं! बेतेलहाइम इन सहकारी संघों को राज्यसत्ता और राजकीय सम्पत्ति के प्रति-सन्तुलन या उसके निषेध के रूप में देखते हैं और इस दृष्टिकोण को लेनिन पर भी थोप देते हैं! और इस प्रकार सामान्य सहकार को सर्वहारा राज्यसत्ता में 'अराज्य' के तत्व को बढ़ाने वाला एक महत्वपूर्ण कारक बना दिया जाता है!**

आगे बेतेलहाइम लेनिन द्वारा अपने जीवन के अन्तिम दौर में सोवियत राज्य उपकरण में मौजूद नौकरशाहाना विचलनों की आलोचना की भी मनमानी किसानवादी व्याख्या करते हुए यह नतीजा निकालते हैं कि समाजवादी निर्माण के समूचे दौर में सर्वहारा राज्य को किसानों के किसी भी हिस्से के साथ, विशेष तौर पर मँझोले किसानों के किसी भी हिस्से के साथ कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करनी चाहिए। यह ज़ोर-ज़बरदस्ती केवल सर्वहारा राज्यसत्ता में मौजूद नौकरशाहाना विचलनों और बुर्जुआ विकृतियों के कारण होता है। यदि राज्य उपकरण की इन कमियों को दूर कर दिया जाय, तो पार्टी और सर्वहारा राज्य समूचे मँझोले किसानों को समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत कर लेगी और यह पूरा काम 'नेप' की नीतियों द्वारा होगा! साथ ही, बेतेलहाइम लेनिन को छोटे उद्योगों के चीनी मॉडल का समर्थक बना देते हैं और इसके लिए लेनिन के एक लेख का सन्दर्भ भी देते हैं! चीन के मामले में माओ ने छोटे उद्योगों की ज़रूरत पर क्यों बल दिया था और चीन की स्थितियों में किस प्रकार का आर्थिक मॉडल लागू किया गया, यह अलग चर्चा का विषय है। लेकिन लेनिन के उस पूरे लेख को देखें तो हम पाते हैं कि लेनिन ने केवल कुछ समय के लिए छोटे उद्योगों को लगाने की बात की थी। इसके दो कारण थे: एक, किसानों को उनकी ज़रूरत के सामान तत्काल देने के लिए यह आवश्यक था, ताकि गृहयुद्ध के बाद के आर्थिक विघटन को गाँव और शहर के बीच के विनिमय को तुरन्त पुनर्स्थापित कर दूर किया जा सके; और दूसरा, उपभोक्ता आवश्कयता की सामग्री को तत्काल मुहैया कराने के लिए, जिसकी शहरों और गाँवों दोनों में ही काफ़ी ज़रूरत थी। लेनिन इसे बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना के लिए एक मध्यवर्ती कदम माना था। आइये लेनिन के उस पूरे उद्धरण को देखें, जिसका हवाला बेतेलहाइम ने दिया है:

"सभी पार्टी और सोवियत कार्यकर्ताओं को आर्थिक विकास में अत्यधिक स्थानीय पहल पैदा करने पर अपने प्रयासों और ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए–गुबेर्नियाओं में, उससे भी ज़्यादा उयेज़्दों में, और सबसे ज़्यादा वोलोस्त व गाँवों में–ताकि किसान खेती को तत्काल बेहतर बनाने का विशेष उद्देश्य पूरा हो सके, चाहे वह "छोटे" ज़रियों से, छोटे पैमाने पर, छोटे स्थानीय उद्योग का विकास कर इसकी सहायता करके ही क्यों न हो। समेकित राजकीय आर्थिक योजना माँग करती है कि इसे हमारे सरोकार और "प्राथमिकता" प्रयास का केन्द्र होना चाहिए। <u>इस क्षेत्र में कुछ सुधार, यानी व्यापकतम और गहनतम "बुनियाद" के सबसे करीब, बड़े पैमाने के उद्योगों के अधिक जीवन्त और सफलतापूर्ण पुनर्स्थापना की ओर तेज़ी से संक्रमण करने का हमें मौका देगा।</u>" (लेनिन, 1973, **'टैक्स इन काइण्ड'**, *कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-32*, अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 352-53, *ज़ोर हमारा, अनुवाद हमारा*)

स्पष्ट है कि बेतेलहाइम मनमाने तरीके से उद्धरण पेश करते हैं और उसकी मनमानी

व्याख्या करते हैं। इसके आगे बेतेलहाइम लेनिन को एक अराजकतावादी में भी तब्दील कर देते हैं। पृ. 493 से 495 में बेतेलहाइम ने दलीलें और व्याख्याएँ पेश की हैं, वे इस कदर बचकानी हैं कि उन्हें आलोचना के योग्य भी नहीं माना जा सकता है। **बेतेलहाइम लेनिन को एक ऐसे अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी के तौर पर पेश करते हैं जो कि किसानों और मज़दूरों को नौकरशाह सोवियत राज्य सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए भड़का रहा है!** बेतेलहाइम यह साबित करने का प्रयास करते हैं कि लेनिन ने पार्टी और कम्युनिस्टों पर ग़ैर-पार्टी जनता के नियन्त्रण की बात की थी और इसके लिए एक बार फिर सन्दर्भों से काटकर लेनिन के कुछ उद्धरण पेश किये जाते हैं। अगर आप इन उद्धरणों को मूल रचनाओं में देखें और उसके पूरे सन्दर्भ पर ग़ौर करें तो एक बार फिर आप पाते हैं कि बेतेलहाइम लेनिन को अपनी नस्ल का प्रतीतिगत "माओवादी" और वास्तव में नवनरोदवादी, बुखारिनपन्थी, अराजकतावादी, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और संशोधनवादी बनाने पर आमादा हैं!

किसानों की क्रान्तिकारी भूमिका की बात करते हुए बेतेलहाइम पृष्ठ 495 से 497 तक मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र और क्रान्ति के सिद्धान्त को तिलांजलि दे देते हैं। **लेकिन वह यहीं रुकते नहीं और अपने संशोधनवादी अर्थशास्त्र को लेनिन पर आरोपित करते हुए दावा करते हैं कि 'नेप' के आने के साथ किसान प्रश्न पर लेनिन के विचार "बदल" गये और उन्होंने बताया कि समूचा किसान वर्ग न सिर्फ़ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में बल्कि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी मज़दूर वर्ग का मित्र बना रहेगा, बशर्ते कि उसे सही तरीके से नेतृत्व देने में (यानी समाजवाद को तिलांजलि देकर समझौते करने में!) सर्वहारा वर्ग सफल हो जाये!** बेतेलहाइम का मानना है कि 'नेप' के बाद लेनिन ने किसान प्रश्न पर अपने पुराने विचारों को त्याग दिया था जिनके अनुसार जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में समूचा किसान वर्ग क्रान्ति का मित्र होगा, जबकि समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में खाते-पीते किसान क्रान्ति का साथ छोड़ देंगे, मध्यम किसान ढुलमुल-यक़ीन मित्र होंगे और अन्ततः राजनीतिक तौर पर दो हिस्सों में विभेदीकृत हो जायेंगे और समाजावादी क्रान्ति का मज़बूत आधार बनेंगे खेतिहर सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा, यानी कि ग़रीब किसान वर्ग। बेतेलहाइम के अनुसार, लेनिन ने 'नेप' के लागू होने के बाद यह मान लिया था कि समूचा किसान वर्ग क्रमिक प्रक्रिया में 'नेप' की नीतियों के ज़रिये समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी हो जायेगा! यह लेनिन के विचारों का भयंकर विकृतिकरण है। लेनिन ने रूसी क्रान्ति के सामने मौजूद विशिष्ट संकट के कारण जिस नीति को एक बाध्यता और 'कदम पीछे हटाने की संज्ञा' दी थी, उसे लेनिन द्वारा आम तौर पर प्रस्तावित नीति क़रार दे दिया गया है। लेनिन ने पार्टी के भीतर मौजूद "वामपन्थी" कम्युनिस्ट भटकाव के कारण इस बात पर 'नेप' के लागू होने का बाद काफ़ी बल दिया था कि मध्यम किसानों के विशाल वर्ग से अभी लम्बे समय तक संश्रय बना रहना चाहिए, लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट किया था कि इसका प्रमुख कारण यह है कि किसानों के वर्ग और सर्वहारा वर्ग के हित अलग-अलग हैं और सर्वहारा सत्ता को बरक़रार रखने के लिए किसानों के वर्ग के साथ संश्रय बनाकर रखना ज़रूरी है। इस दौर में सर्वहारा सत्ता को गाँवों होने वाले विभेदीकरण के साथ ग़रीब किसानों और खेतिहर सर्वहारा वर्ग से नये सिरे से मज़बूत संश्रय क़ायम करना होगा, निम्न मँझोले किसानों के बड़े हिस्से को जीतना होगा और उच्च मध्यम किसान वर्ग और उच्च किसान वर्ग को अलग-थलग करना

होगा। लेकिन 1921 में पहला कार्यभार था "युद्ध कम्युनिज़्म" के दौरान ख़तरनाक रूप से कमज़ोर हुए मज़दूर-किसान संश्रय को मज़बूत करना और लेनिन का मानना था कि अगर इसके लिए पूँजी की शक्तियों को कुछ छूट देनी पड़े और उसे सर्वहारा नियन्त्रण में थोड़ा खुला हाथ देना पड़े तो ऐसा किया जाना चाहिए। बोल्शेविक पार्टी के भीतर एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा "वामपन्थी" विचलन के कारण इस बात को पचा नहीं पा रहा था और इसे समाजवादी कार्यक्रम को तिलांजलि देना समझ रहा था। इस हिस्से पर चोट करने के लिए लेनिन ने विशेष तौर पर लम्बे समय तक मध्यम किसानों से संश्रय की ज़रूरत पर बल दिया। **लेकिन लेनिन ने साथ ही 1923 में ही 'नेप' के रणनीतिक 'रिट्रीट' को ख़त्म करने की बात भी शुरू कर दी थी।** वास्तव में 1927 में जो संकट सोवियत संघ में पैदा हुए उसका मूल कारण 'नेप' का आवश्यकता से अधिक उत्तरजीवन था। अभी हम इस नुक्ते को विस्तार नहीं दे सकते और उपयुक्त स्थान पर हम इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे। मूल बात यह है कि बेतेलहाइम ने किसान प्रश्न पर लेनिन के पूरे चिन्तन को सन्दर्भों से काटकर उसका किसानवादी, नरोदवादी, अराजकतावादी और संघाधिपत्यवादी विनियोजन करने का प्रयास किया है और इस विनियोजन को "माओवादी" सिद्ध करने के लिए बार-बार चीनी क्रान्ति के मॉडल और माओ का हवाला दिया है। यह इतिहास और लेनिन के चिन्तन के साथ और साथ ही माओ की शिक्षाओं और चीनी क्रान्ति के इतिहास के साथ भी, भयंकर अन्याय है और इसीलिए हमारा समझना है कि बेतेलहाइम का इतिहास-लेखन एक बुरा और विकृतिकरणों से भरा हुआ इतिहास-लेखन है।

आगे बेतेलहाइम बताते हैं कि पार्टी में 'नेप' की नीति की अर्थवादी व्याख्या हावी थी। बेतेलहाइम के अनुसार इसके दो कारण थे। पहला यह कि लेनिन ने स्वयं 'नेप' को 'कदम पीछे हटाने' की संज्ञा दी थी और बेतेलहाइम के अनुसार यह एक ग़लती थी। दूसरा कारण यह था कि पार्टी में यह अवधारणा हावी थी कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियाँ महज़ एक फ़ौरी और समय के दबाव में हुआ एक छोटा-सा विचलन था और एक विशेष समय में असफल होने के बावजूद अपने आप में उन नीतियों में कुछ भी ग़लत नहीं था; बस उन नीतियों के लिए अभी समय उचित नहीं था। जबकि बेतेलहाइम के अनुसार "युद्ध कम्युनिज़्म" अपने आप में एक पूर्णत: ग़लत नीति थी और इसका समाजवाद से कोई लेना-देना नहीं था; बेतेलहाइम के अनुसार "युद्ध कम्युनिज़्म" पूर्ण रूप से एक विफलता थी। अगर हम लेनिन के लेखन पर ग़ौर करें तो हम पाते हैं कि लेनिन "युद्ध कम्युनिज़्म" की वस्तुगत बाध्यता को रेखांकित करते हैं और साथ ही वह उन मनोगत ग़लतियों को भी चिन्हित करते हैं जो कि पार्टी के "वामपन्थी" भटकाव के कारण हुई थीं। लेकिन साथ ही लेनिन का यह भी मानना था कि "युद्ध कम्युनिज़्म" की कई नीतियाँ सही समाजवादी नीतियाँ थीं और भविष्य में सर्वहारा राज्य को उन्हें लागू करना पड़ेगा, जैसा कि हम ऊपर इंगित कर चुके हैं। लेनिन ने "युद्ध कम्युनिज़्म" को एक पूर्ण ग़लती कभी नहीं क़रार दिया था और हर जगह इसे ग़लती क़रार देते हुए उनका इशाना उन "सपनों में जीने वालों" की ओर था जो मानते थे कि इन नीतियों के ज़रिये सोवियत रूस में ढाई-तीन वर्ष में समाजवाद का निर्माण कर दिया जायेगा। **दूसरी बात यह कि लेनिन 'नेप' को 'कदम पीछे हटाना' ही मानते थे और इस बात पर लेनिन हमेशा कायम रहे।** बेतेलहाइम लेनिन की इस बात पर आलोचना करते हुए दावा करते हैं कि चूँकि "युद्ध कम्युनिज़्म" पूर्णत: एक विफलता में समाप्त हुआ, इसलिए 'नेप' की नीति वास्तव में एक अग्रवर्ती छलाँग था और

समाजवादी निर्माण की दीर्घकालिक आम नीति थी और इस तरह अन्त में बेतेलहाइम राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसी नतीजे पर आते हैं, जिस पर सारे संशोधनवादी पहुँचते हैं।

अपने इन्हीं विकृतिकरणों के आधार पर पहले खण्ड के अन्तिम अध्याय में बेतेलहाइम इस विषय में अपने "सैद्धान्तिकीकरण" पेश करते हैं कि लेनिन ने अपनी मृत्यु के पहले पार्टी और राज्य के समक्ष क्या कार्यभार पेश किये थे। ज़ाहिर है, जिस प्रकार लेनिन के विचारों को तोड़ा-मरोड़ा गया है, उसी प्रकार ये कार्यभार भी बेतेलहाइम ने तोड़-मरोड़कर और मनमाने तरीके से पेश किये हैं। इनमें कोई नयी बात नहीं कही गयी बल्कि पुरानी बातों का ही दुहराव है। मसलन, लेनिन राज्यसत्ता का आकार घटाने, नौकरशाही के ख़तरे से लड़ने, 'नेप' की नीति को लम्बे समय तक समाजवादी निर्माण की आम नीति के तौर पर लागू करके समूचे किसान वर्ग को समाजवादी कार्यक्रम पर राज़ी करने, उत्पादन को फिर से पुराने स्तर तक पहुँचाने आदि की बात कर रहे थे। इनमें से कई बातें लेनिन ने वाकई कहीं थीं, लेकिन उन सन्दर्भों में नहीं जिनमें बेतेलहाइम उन्हें मनमाने तरीके से अवस्थित कर देते हैं। मसलन, लेनिन ने नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष और राज्यसत्ता की अतिवृद्धि (overgrowth) को समाप्त करने की बात कही थी, लेकिन इस समझदारी के तहत नहीं कि समाजवादी क्रान्ति के तत्काल बाद सर्वहारा राज्यसत्ता में 'अराज्य' का तत्व बढ़ने लग जाता है! उल्टे लेनिन ठीक इसलिए नौकरशाहाना विचलनों के विरुद्ध संघर्ष की बात कर रहे थे कि सर्वहारा अधिनायकत्व को सर्वहारा राज्यसत्ता ज़्यादा बेहतर तरीके से और मज़बूती के साथ लागू कर सके। लेनिन सर्वहारा राज्यसत्ता को और अधिक मज़बूत बनाने के लिए नौकरशाहाना भटकावों से लड़ने और उन्हें दूर करने की बात कर रहे थे, न कि राज्यसत्ता के विलोपन की उद्भवात्मक प्रक्रिया (evolutionary process) को क्रान्ति के बाद तुरन्त शुरू कर देने और उसे हर बीतते दिन के साथ अधिक से अधिक 'अराज्य' में तब्दील करने के लिए, जैसा कि बेतेलहाइम पाठकों को बता रहे हैं! इसी प्रकार लेनिन के अन्य कथनों को भी सन्दर्भ से काटकर बेतेलहाइम ने मनमाने नतीजे निकाल लिए हैं।

बेतेलहाइम दावा करते हैं कि लेनिन सत्ता के विषैले प्रभावों को पार्टी पर देख रहे थे और इसीलिए वे क्रान्तिकारी जनदिशा की वकालत कर रहे थे। लेकिन पार्टी ने ही इस बात में विशेष दिलचस्पी नहीं ली और लेनिन के निर्देशों की अवहेलना की। यह बात भी बिना किसी तथ्यात्मक पुष्टि के और कुछ बिखरे वाकयों और बातों को सन्दर्भों से काटकर कही गयी है। बहरहाल, इन सारी चीज़ों के पीछे बेतेलहाइम जिस चीज़ को देखते हैं वह यह है कि बोल्शेविक पार्टी के भीतर किसानों के लेकर भरोसा नहीं था। दूसरी विचारधारात्मक बाधा बेतेलहाइम के अनुसार यह थी कि लेनिन को छोड़कर अन्य बोल्शेविक नेताओं ने राज्य में मौजूद नौकरशाहाना भटकावों का वर्ग विश्लेषण नहीं किया। स्तालिन ने इसे महज़ सांस्कृतिक स्तरोन्नयन का मसला बताया जबकि त्रात्स्की ने इसे उत्पादक शक्तियों के अपर्याप्त विकास का मसला। लेनिन ने इससे आगे जाते हुए कई बार सोवियत राज्य उपकरण के 'बुर्जुआ' या 'ज़ारवादी' चरित्र की बात की थी। निश्चित तौर पर, लेनिन ने अन्य बोल्शेविक नेताओं के मुकाबले नौकरशाही की समस्या का कहीं बेहतर वर्ग विश्लेषण किया था। लेकिन लेनिन भी नौकरशाही की समस्या को सांस्कृतिक पिछड़ेपन से जोड़ते थे और यह बात स्तालिन ने लेनिन से सीखते हुए ही कही थी; साथ ही, लेनिन ने नौकरशाही की समस्या को उत्पादक शक्तियों के पिछड़ेपन से भी जोड़ा था। वहीं दूसरी ओर ऐसा भी

नहीं था कि स्तालिन और त्रात्स्की ने अपने लेखन में नौकरशाही की समस्या के वर्ग चरित्र की कहीं बात ही नहीं की! बेतेलहाइम का मक़सद यहाँ यह दिखलाना है कि बोल्शेविक पार्टी और लेनिन के बीच का अन्तर इतना ज़्यादा है कि वास्तव में बोल्शेविक पार्टी को एक लेनिनवादी पार्टी कहा ही नहीं जा सकता है। ज़ाहिर है, अगले खण्ड में स्तालिन पर खुला हमला करने की पृष्ठभूमि बेतेलहाइम पहले खण्ड के अन्तिम हिस्से में ही निर्मित कर रहे हैं। बेतेलहाइम दावा करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी ने लेनिन की अवधारणाओं को सही ढंग से नहीं समझा और इसकी एक मिसाल यह थी कि पार्टी ने राष्ट्रीकरण या राजकीय मालिकाने को ही उत्पादन के साधनों का समाजीकरण समझ लिया था! इस दावे को पुष्ट करने के लिए बेतेलहाइम ने कोई तथ्यात्मक प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। यहाँ बेतेलहाइम राजकीय मालिकाने के महत्व को एकदम समाप्त कर देते हैं और मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के इस बुनियादी सिद्धान्त को दरकिनार कर देते हैं कि राजकीय मालिकाना समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों का एक उन्नततर रूप है। चूँकि समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में सर्वहारा राज्य कोई आदर्श निकाय नहीं होगा जो कि पूरी तरह से सर्वहारा विश्व दृष्टिकोण का मूर्त रूप हो, इसलिए समाजवादी निर्माण में राजकीय मालिकाने की अहमियत को ही नकार देना, बेतेलहाइम की समझदारी के विषय में काफ़ी-कुछ बताता है।

पार्टी के समक्ष उपलब्ध राजनीतिक चुनौतियों का ज़िक्र करते हुए बेतेलहाइम वे ही बातें कहते हैं जो बोल्शेविक पार्टी के तमाम आलोचक कहते हैं। बिना इस शब्द का इस्तेमाल किये हुए बेतेलहाइम पार्टी पर प्रतिस्थापनवाद का आरोप लगाते हैं और दावा करते हैं पार्टी सर्वहारा राज्य की गतिविधि को जनसमुदायों की गतिविधि मानने की ग़लती करती थी। दूसरे शब्दों में जनसमुदाय की गतिविधि का स्थान पार्टी/राज्य की गतिविधि ने ले लिया था। उसी प्रकार बेतेलहाइम दावा करते हैं कि पार्टी के भीतर के राजनीतिक जीवन का दमन कर दिया गया था; इसके अलावा, बाहर भी राजनीतिक जीवन का दम घुट रहा था। दूसरी पार्टियों के दमन को भी बेतेलहाइम ग़लत ठहराते हैं। वास्तव में, यहाँ बेतेलहाइम रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की शुरुआती आलोचना (जिसके बड़े हिस्से को बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने स्वयं ख़ारिज कर दिया था), पॉल लेवी द्वारा की गयी आलोचना और तमाम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों द्वारा की गयी आलोचनाओं को मिश्रित किया है और उसे "माओवाद" का जामा पहनाने का प्रयास किया है। निश्चित तौर पर, सर्वहारा राज्यसत्ता और बोल्शेविक पार्टी के भीतर तमाम बुर्जुआ और नौकरशाहाना विचलन व विरूपताएँ मौजूद थीं। लेकिन इनका किसी कार्यकारी निर्णय द्वारा समाधान नहीं हो सकता था; न ही इनका समाधान पार्टी और राज्य की भूमिकाओं को कम या हल्का करके हो सकता था। सतत् राजनीतिक वर्ग संघर्ष के मसले को बेतेलहाइम ने महज़ नीचे से जनसमुदायों की पहलकदमी का मसला बना दिया है। सोवियत इतिहास के तथ्यों और शख़्सियतों के साथ बेतेलहाइम ने जो बदसलूकी की है वह तो अलग ही मसला है।

हमारा विचार है कि 'सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष' के पहले खण्ड में ही उन नतीजों के बीज नज़र आ जाते हैं जो कि बेतेलहाइम दूसरे और अन्ततः तीसरे खण्ड में निकालते हैं। दरअसल बेतेलहाइम का असली निशाना न सिर्फ़ स्तालिन हैं, बल्कि स्वयं लेनिन हैं। **यही कारण है कि तीसरे खण्ड में अन्ततः बेतेलहाइम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति के ज़रिये सत्ता पर कब्ज़ा करने का निर्णय ही ग़लत था; उसी प्रकार संविधान सभा को भंग करने का निर्णय भी ग़लत था।** तमाम प्रेक्षकों ने कम-से-कम पहले खण्ड को सोवियत प्रयोग की माओवादी व्याख्या माना है। यह बिल्कुल ग़लत है और **सोवियत**

इतिहास की बेतेलहाइम की व्याख्या का वस्तुतः माओ के उसूलों से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। माओ द्वारा सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना में क्या उचित है और क्या आलोचनीय है, यह अलग विमर्श का विषय है, जिसमें हम अभी नहीं जा सकते हैं। लेकिन इतना हम दावे के साथ कह सकते हैं कि बेतेलहाइम के विचारों का माओ की कार्यदिशा से कोई वास्तविक रिश्ता नहीं है। बेतेलहाइम चीनी क्रान्ति, चीनी पार्टी और माओ के लेखन से कुछ जुमलों को उधार लेते हैं और उनका भयंकर बेतरतीब तरीके से दुरुपयोग करते हैं, मसलन, 'क्रान्तिकारी जनदिशा', 'नीचे से आलोचना', 'जनसमुदायों की पहलकदमी', 'राजकीय बुर्जुआ वर्ग', इत्यादि। अन्त में यही कहा जा सकता है कि बेतेलहाइम की यह रचना सोवियत संघ के इतिहास को समझने के लिए उतनी ही बुरी है, जितनी की यह माओ विचारों को जानने के लिए ख़राब है। यह एक शुद्ध रूप से विचारधारात्मक प्रोपगैण्डा की रचना है और इतिहास-लेखन के विज्ञान और शिल्प से इसका दूर का रिश्ता भी नहीं है।

●

आगे के अध्यायों के परिशिष्ट के तौर पर हम बेतेलहाइम की इस रचना के अन्य दो खण्डों की आलोचना भी देंगे। लेकिन वे आलोचनाएँ अपेक्षाकृत संक्षिप्त होंगी क्योंकि उन रचनाओं में बेतेलहाइम एक लेनिनवादी होने का चोगा भी उतार देते हैं और उनकी आलोचना करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। इसके अलावा, मौजूदा परिशिष्ट में हमने बेतेलहाइम के अप्रोच और पद्धतिशास्त्र की एक आलोचना पेश कर दी है और आगे इसे दुहराने की आवश्यकता नहीं होगी। आगे के खण्डों में बेतेलहाइम जो सिद्धान्त और सोवियत इतिहास का जो पाठ पेश करते हैं, वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी उसूलों से उनके विच्युति, विचलन और फिर प्रस्थान को और ज़्यादा खुले और स्पष्ट तौर पर रखता है लेकिन यह भी सच है कि पहले, दूसरे और तीसरे खण्ड में एक प्रकार की एकता (unity) भी मौजूद है और वास्तव में तीसरे खण्ड में बेतेलहाइम अन्ततः जहाँ पहुँचते हैं वह उनके द्वारा पहले खण्ड में ही अपनायी गयी दिशा की परिणति है। पहले खण्ड में निर्मित बुनियाद की विस्तृत छानबीन और विश्लेषण के बाद बेतेलहाइम की इस रचना के दूसरे और तीसरे खण्ड की आलोचना का कार्य अपेक्षाकृत सुगम हो जाता है। पहले खण्ड की विस्तृत आलोचना इसलिए भी ज़रूरी थी क्योंकि यह तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी कार्यकर्ताओं व बुद्धिजीवियों में कहीं ज़्यादा गम्भीर रूप में एक दृष्टिभ्रम पैदा करती है: यानी कि बेतेलहाइम द्वारा सोवियत संघ का राजनीतिक इतिहास लिखे जाने का दृष्टिभ्रम। कारण यह है कि बेतेलहाइम की यह रचना माओ और चीनी समाजवादी प्रयोग की ग़लत ज़मीन से की गयी आलोचनाओं का आधार बनती है और माओ और चीनी समाजवादी प्रयोग के आलोचनात्मक मूल्यांकन के गम्भीर और वांछनीय कार्यभार को क्षति पहुँचाती है।

(अगले अंक में पाँचवाँ अध्याय)

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक: एक सिंहावलोकन

(दूसरी किस्त)

● दीपायन बोस

श्रीकाकुलम में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन की विफलता

निबन्ध में पहले इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि मई 1970 में हुई पार्टी कांग्रेस के पहले ही श्रीकाकुलम में पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों द्वारा घेरेबन्दी और दमन के सतत् अभियान तथा कई अग्रणी संगठनकर्ताओं की वास्तविक या फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में हत्या के बाद "वाम" दुस्साहसवादी लाइन (सफाये की लाइन) पर जारी छापामार संघर्ष गम्भीर संकट और गतिरोध का शिकार हो चुका था। फिर भी, विशेषकर उद्दानम और एजेंसी एरिया में, आन्दोलन अभी भी जारी था। कांग्रेस के तुरन्त बाद, 10 जुलाई 1970 को केन्द्रीय कमेटी के दो सदस्य वेंपटाप्पु सत्यनारायण और आदिभाटला कैलाशम तथा 30 जुलाई को मल्लिकार्जुनुडु, अप्पालास्वामी और मल्लेश्वर राव जैसे अग्रणी संगठनकर्ता फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में शहीद हो गये। केन्द्रीय कमेटी के आन्ध्र के बचे हुए दो सदस्य अप्पाला सूरी और नागभूषण पटनायक उस समय चारु मजुमदार से मिलने कलकत्ता गये हुए थे और इन शहादतों की सूचना उन्हें रेडियो से वहीं मिली। इसके बाद ही वे दोनों भी गिरफ़्तार कर लिये गये।

यहाँ यह उल्लेख ज़रूरी है कि श्रीकाकुलम से सटे ओडीशा के कोरापुट ज़िले में भी 1969 में चारु मजुमदार की लाइन पर कामों की शुरुआत नागभूषण पटनायक और भुवनमोहन पटनायक ने की थी। कुछ समय बाद दोनों गिरफ़्तार हो गये, लेकिन 8 अक्टूबर,

1969 को जेल तोड़कर भाग निकलने के बाद नागभूषण पटनायक ने कोरापुट और श्रीकाकुलम में सफाया अभियान को नया संवेग प्रदान किया और पार्टी कांग्रेस के बाद उन्हें केन्द्रीय नेतृत्व की ओर से श्रीकाकुलम के अतिरिक्त ओडीशा के कोरापुट और आन्ध्र प्रदेश के विशाखापट्टनम और गंजम के इलाक़े में आन्दोलन चलाने की ज़िम्मेदारी मिली। वेंपटाप्पु और आदिभाटला की हत्या तथा नागभूषण पटनायक और अप्पाला सूरी की गिरफ़्तारी के बाद (ये चारों केन्द्रीय कमेटी के सदस्य थे) लगातार पुलिस की घेरेबन्दी और दमन का सामना कर रहे श्रीकाकुलम के अतिरिक्त कोरापुट, गंजम और विशाखापट्टनम के इलाक़े में भी पार्टी का काम ठहरावग्रस्त होकर बिखरने लगा। श्रीकाकुलम में एकमात्र पैला वासुदेव राव ही ऐसे महत्वपूर्ण नेता थे जो पुलिस की गिरफ़्त में नहीं आ सके थे।

इस नाज़ुक मोड़ पर भी चारु मजुमदार ने सफाये की लाइन पर पुनर्विचार की कोई ज़रूरत नहीं समझी, बल्कि उसी लाइन को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने श्रीकाकुलम के बचे हुए कामरेडों से नेतृत्व अपने हाथ में लेने का आह्वान करते हुए यह दिशा-निर्देश दिया कि वर्ग शत्रुओं और पुलिस का सफाया करते हुए और उनसे राइफ़लें छीनते हुए पूरे श्रीकाकुलम में जनमुक्ति सेना गठित करने के उद्देश्य से प्रत्येक दस्ते का यह अधिकार है कि वह अपनी योजना स्वयं बनाये। हालाँकि बचे हुए कामरेडों में से कुछ ने ऐसी कोशिशें भी कीं, पर वे नाकाम रहे। इसके बाद स्थानीय संगठनकर्ताओं का एक हिस्सा इस नतीजे पर पहुँचा कि वर्ग शत्रुओं के सफाये पर एकतरफ़ा तरीक़े से ज़ोर देना और संघर्ष के अन्य रूपों की उपेक्षा करना ग़लत था (हालाँकि उन्होंने इसे एक रणकौशलात्मक ग़लती ही माना)। ऐसे लोगों ने आंशिक और आर्थिक माँगों को लेकर संघर्ष के अन्य रूपों को अपनाकर ग़लतियों को ठीक करने की कोशिश की, लेकिन राज्यसत्ता के दमन, आतंक और जनता से अलगाव के माहौल में उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली। एक दूसरा हिस्सा ऐसा भी था जो सशस्त्र संघर्ष को पूरी तरह छोड़कर आर्थिक संघर्षों से शुरुआत करते हुए जनता को संगठित करने पर बल दे रहा था। एक तीसरा हिस्सा उन कामरेडों का था जो इन समाहारों से सहमत नहीं थे। वे केन्द्रीय नेतृत्व की नीति और रणकौशलों को शब्दशः लागू करने के पक्षधर थे और यह मानते थे कि क़तारों में अभी भी मौजूद संशोधनवाद का प्रभाव ही आन्दोलन के पीछे जाने का मुख्य कारण रहा है। इसी तीसरे हिस्से ने आगे चलकर अपने को आन्ध्र प्रदेश राज्य कमेटी के रूप में पुनर्गठित किया। बहरहाल, 1970 के अन्त तक श्रीकाकुलम का संघर्ष बिखर चुका था, हालाँकि यहाँ-वहाँ कुछ छिटफुट 'ऐक्शंस' उसके बाद भी होते रहे। चारु मजुमदार की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन श्रीकाकुलम में सबसे व्यवस्थित एवं सांगोपांग रूप में, सबसे लम्बे समय तक लागू हुई, लेकिन अन्ततोगत्वा, भारी नुक़सान उठाने के बाद वह पूरी तरह से विफल सिद्ध हुई।

कलकत्ता में छात्र-युवा विद्रोह

"वाम" दुस्साहसवाद की दूसरी अग्रणी प्रातिनिधिक अभिव्यक्ति पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले मार्च 1970 कलकत्ता के छात्रों-युवाओं के व्यापक उभार के रूप में सामने आयी जो तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति (भंजन-दहन-हनन समारोह) और शहरी सफाया अभियान के चरमोत्कर्ष तक पहुँचने के बाद 1971 के मध्य तक, राज्यसत्ता के अभूतपूर्व बर्बर दमन के बाद बिखर गयी। कलकत्ता के छात्र-युवा आन्दोलन के "वाम" दुस्साहसवादी विपथगमन ने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी क़तारों में भारी तादाद में क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं की भर्ती की

सम्भावनाओं का गला घोंटकर पार्टी-निर्माण की प्रक्रिया को जो भारी नुक़सान पहुँचाया, इसका अनुमान लगाने के लिए उस उभार के पहले के राजनीतिक घटना विकासक्रम की संक्षिप्त चर्चा ज़रूरी है।

1960 का दशक बंगाल के छात्रों-युवाओं की चेतना के तेज़ रैडिकलाइज़ेशन का दशक था। 1966 के खाद्यान्न आन्दोलन (जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है) के दौरान आन्दोलनकारी छात्रों-युवाओं का बहुलांश बुर्जुआ व्यवस्था के साथ ही संशोधनवादी नेतृत्व के विरुद्ध भी लामबन्द हो चुका था। 1967-68 में कलकत्ता के छात्रों-युवाओं के बीच नक्सलबाड़ी किसान-उभार के पक्ष में एक व्यापक लहर थी, जिसे "वाम" अतिवाद के प्रभाव के कारण कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन एक सुनिश्चित दिशा नहीं दे सका। चारु मजुमदार ने मई 1968 में 'देशव्रती' में प्रकाशित अपने लेख 'नौजवान और विद्यार्थी समाज के प्रति' में लिखा, "विद्यार्थियों और नौजवानों का राजनीतिक संगठन अनिवार्य रूप से रेडगार्ड संगठन ही होगा और इनका काम होगा चेयरमैन माओ के उद्धरणों का जितने व्यापक इलाक़े में सम्भव हो, प्रचार करना।" इस तरह चारु मजुमदार ने छात्रों-युवाओं के व्यापक मुद्दा आधारित आन्दोलनों और जनसंगठनों की आवश्यकता को ख़ारिज़ करते हुए उनके कार्यभार को केवल विचारधारात्मक प्रचार तक सीमित कर दिया। लेकिन तालमेल कमेटी के पूरे काल के दौरान कलकत्ता के छात्रों-युवाओं ने खाद्यान्नों की मूल्य-वृद्धि और ट्राम-भाड़ा-वृद्धि जैसे कई मुद्दों को लेकर और अपनी विभिन्न माँगों को लेकर कई आन्दोलन किये। 'वेस्ट बंगाल स्टेट स्टूडेण्ट्स' कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ रेवोल्यूशनरीज़' ने क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन का एक मसौदा राजनीतिक कार्यक्रम तैयार करके उसे बंगाल के क्रान्तिकारी छात्र-युवा कार्यकर्ताओं के बीच विचार-विमर्श के लिए वितरित किया। यह मसौदा 'लिबरेशन' के अप्रैल, 1969 अंक में प्रकाशित भी हुआ। चारु मजुमदार के उपरोक्त लेख की आम दिशा के विपरीत इस दस्तावेज़ में छात्र-युवा आन्दोलन की क्रान्तिकारी जनदिशा की हिमायत की गयी थी और कहा गया था कि भूमि क्रान्ति की राजनीति के प्रचारमात्र से छात्रों-युवाओं के केवल उन्नत और सचेत तत्व ही आगे आयेंगे और संघर्ष में हिस्सा लेंगे, इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि आम राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर, आम छात्रों-युवाओं की सापेक्षत: पिछड़ी चेतना वाली व्यापक आबादी को गोलबन्द और संगठित करने के लिए उन्हें प्रभावित करने वाले भोजन, शिक्षा, बेरोज़गारी, संस्कृति आदि से जुड़े मुद्दों को भी उठाया जाये और इसके लिए छात्रों-युवाओं का जन राजनीतिक संगठन बनाना ज़रूरी होगा। लेकिन वाम दुस्साहसवाद का आच्छादनकारी प्रभाव पार्टी गठन के समय तक जनदिशा की इस सोच को पीछे धकेल चुका था। अगस्त, 1969 में चारु मजुमदार ने 'नौजवानों और छात्रों के प्रति पार्टी का आह्वान' ('देशव्रती') नामक टिप्पणी में इस बात पर फिर बल दिया कि छात्रों-युवाओं को यूनियनों की अर्थवादी, अवसरवादी और भ्रष्टकारी राजनीति को सिरे से ख़ारिज़ करके मज़दूरों और ग़रीब व भूमिहीन किसानों के साथ एकरूप हो जाना होगा। पुन: मार्च 1970 में 'देशव्रती' में प्रकाशित अपने लेख 'क्रान्तिकारी नौजवानों और छात्रों से कुछ बातें' में चारु मजुमदार ने अपनी लाइन को आगे बढ़ाते हुए यह लिखा कि छात्रों-युवाओं को स्कूल-कॉलेज छोड़कर क्रान्ति के काम में कूद पड़ना होगा, ग़रीब-भूमिहीन किसानों व मज़दूरों से एकरूप होने के लिए गाँवों की ओर जत्थे बनाकर निकल पड़ना होगा, स्क्वाड बनाकर उनके बीच क्रान्तिकारी प्रचार करना होगा, गाँवों से लौटकर शहरों में रेड गार्ड संगठन बनाने होंगे और

इन रेडगार्ड संगठनों को मज़दूरों के बीच राजनीतिक प्रचार और क्रान्तिकारी प्रचार करने के साथ ही गुरिल्ला क़ायदे से स्क्वाड बनाकर हमलावर फासिस्ट लठैत सेना पर जवाबी हमले करने होंगे। चारु के इस आह्वान के बाद कलकत्ता से बड़ी तादाद में छात्र गाँवों की ओर गये और वहाँ "वाम" दुस्साहसवादी लाइन को लागू करने की कोशिशों में जुट गये। इस तरह पार्टी कांग्रेस के समय तक चारु लाइन कलकत्ता में एक शक्तिशाली क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन उठ खड़ा होने की सम्भावनाओं का गला घोंट चुकी थी।

डेबरा गोपीवल्लभपुर और अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में राजकीय दमन के घटाटोप और आतंकवादी लाइन की विफलता से जल्दी ही कलकत्ता से गये छात्रों-युवाओं के भीतर निराशा घर करने लगी और उनमें से अधिकांश शहर वापस लौट आये। कलकत्ता में मार्च 1970 से शुरू होकर लगभग 1971 के मध्य तक जारी रहने वाले अतिवामपन्थी छात्र-युवा उभार के पीछे गाँवों से लौटे युवा कार्यकर्ताओं की अहम भूमिका थी। शुरुआत अमेरिकी सहायता से चलने वाले शिक्षा संस्थानों पर हमले से हुई। फिर सभी स्कूलों-कॉलेजों पर धावा बोलकर वहाँ लाल झण्डे लहराये जाने लगे। इसके बाद तथाकथित बंगाल नवजागरण के राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे बुर्जुआ सुधारकों; गाँधी, चित्तरंजन दास, सुभाष चन्द्र बोस आदि बुर्जुआ नेताओं और रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रतिमाएँ तोड़ी जाने लगीं और सड़कों पर गाँधी वाङमय की होली जलायी जाने लगी। नैराश्यपूर्ण वर्तमान से उपजे आक्रोश की लहर पर सवार इस "सांस्कृतिक क्रान्ति" ने इतिहास और विरासत के प्रति एक अतिरेकी, एकांगी और अनैतिहासिक रवैया अपनाया। शुरू में तो भाकपा (मा-ले) नेतृत्व ने इस नये घटना-विकास के प्रति असम्पृक्त रुख़ अपनाया, लेकिन जब यह लहर पूरे कलकत्ता में फैल गयी तो चारु मजुमदार ने देहातों में किसान उभार की एक स्वाभाविक परिणति बताते हुए इसका पुरज़ोर समर्थन किया। गाँधी और अन्य बुर्जुआ नेताओं की मूर्तियाँ तोड़े जाने को "मूर्ति भंजन का उत्सव" घोषित करते हुए उन्होंने लिखा कि छात्रों ने औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था पर हमला बोल दिया है, क्योंकि वे समझ चुके हैं कि उसे नष्ट किये बिना तथा दलाल पूँजीपति वर्ग द्वारा खड़ी की गयी प्रतिमाओं को ध्वस्त किये बिना क्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था और संस्कृति का निर्माण सम्भव नहीं ('फ़ोर्ज क्लोज़र यूनिटी विद पीजेण्ट्स' आर्म्ड स्ट्रगल', 14.07.70)। साथ ही अपने इसी लेख में चारु ने यह भी लिखा कि चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की तरह इस संघर्ष का लक्ष्य पूरी सांस्कृतिक अधिरचना को ध्वस्त करना नहीं है, न ही यह इस मंज़िल में (यानी क्रान्ति की विजय के पूर्व) सम्भव है, अत: छात्रों-युवाओं को यह ध्यान में रखना होगा कि केवल मज़दूरों और ग़रीब व भूमिहीन किसानों के साथ एकरूप होकर ही वे अपना क्रान्तिकारी चरित्र बचाये रख सकेंगे। मूर्तिभंजन के प्रश्न से ही चारु लाइन के साथ पश्चिम बंगाल राज्य कमेटी के सचिव और वरिष्ठ नेता सुशीतल राय चौधुरी के मतभेदों की शुरुआत हुई और फिर आगे चलकर उन्होंने "वाम" दुस्साहसवाद की पूरी लाइन की समालोचना प्रस्तुत की। इस मतभेद की चर्चा हम आगे करेंगे। मूर्तिभंजन मुहिम की पुरज़ोर हिमायत करते हुए पोलिट ब्यूरो सदस्य तथा पुराने कवि व पत्रकार सरोज दत्त चारु लाइन के नये सांस्कृतिक सिद्धान्तकार के रूप में सामने आये। उन्होंने गाँधी, सुभाष, टैगोर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ताराशंकर बनर्जी आदि के बारे में धुआँधार अग्निवर्षी लेख लिखे। सरोज दत्त के अनुसार "बंगाल नवजागरण" के पुरोधा बंगाली भद्रलोक के समाज सुधारक औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति की उपज थे, जो शासकों और शासितों के बीच संवाद के माध्यम और शासन तन्त्र

के पुर्ज़े थे। औपनिवेशिक सत्ता-विरोधी जन प्रतिरोधों के वे विरोधी थे और मात्र मध्यवर्गीय दायरे तक सीमित समाज-सुधार की बातें कर रहे थे। गाँधी को वे उपनिवेशवाद का दलाल सिद्ध करते थे और सुभाष बोस को जापानी साम्राज्यवाद की कठपुतली एक फासिस्ट मानते थे। दरअसल भारतीय समाज और भारतीय पूँजीपति वर्ग के चरित्र का (दलाल पूँजीपति वर्ग के रूप में) जो आकलन भाकपा (मा-ले) का कार्यक्रम प्रस्तुत करता था, सरोज दत्त की सांस्कृतिक लाइन उसी का यान्त्रिक, अतिरेकी विस्तार मात्र था। यही दौर था जब बंगाल के बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों का जो अच्छा-ख़ासा हिस्सा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा से हमदर्दी रखता था, वह भी चारु मजुमदार की राजनीतिक लाइन की परिणतियों और सरोज दत्त के अतिवामपन्थी सांस्कृतिक चिन्तन को देखने के बाद छिटककर दूर हो गया।

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, शिक्षा संस्थानों पर हमलों और मूर्तिभंजन की मुहिम स्वत:स्फूर्त ढंग से शुरू हुई थी। इसमें बड़े पैमाने पर मेधावी छात्र तो शामिल थे ही, बहुतेरे लुम्पन तत्व भी घुस गये थे। पार्टी ने आन्दोलन का समर्थन तो किया, पर वस्तुत: उस पर उसका नियन्त्रण नहीं था और वह उसके पीछे घिसट रही थी। अपने उपरोक्त लेख में चारु ने यह भी लिखा था कि पुलिस उत्पीड़न के आगे घुटने टेकने के बजाय छात्र-युवा और मज़दूर पुलिस अफ़सरों का सफाया कर रहे हैं। ऐसी घटनाएँ उस समय तक छिटपुट हो रही थीं, पर चारु के इस लेख के प्रकाशन के बाद पुलिसकर्मियों, नौकरशाहों, व्यापारियों, दलालों और भाड़े के गुण्डों ('मस्तानों') के सफाये की मुहिम तेज़ हो गयी। जुलाई में ही कलकत्ता ज़िला कमेटी यह घोषणा कर चुकी थी कि पुलिस, सीआरपी के लोगों, कालाबाज़ारियों और पूँजीपतियों का सफाया करके बंगाल और आन्ध्र के कामरेडों की हत्या का बदला लिया जायेगा। सफाये की इस धुँआधार मुहिम के दौरान जादवपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति, कलकत्ता हाईकोर्ट के एक जज और बंगाल सरकार के एक सचिव जैसे कुछ विशिष्ट लोगों की हत्या हुई, लेकिन ज़्यादातर ट्रैफ़िक कांस्टेबल, कुछ छोटे व्यापारी और कारोबारी ही इसके शिकार हुए। फिर माकपा कार्यकर्ताओं के साथ सड़कों पर भिड़न्त की शुरुआत हुई और अगस्त 1971 तक 368 माकपा कार्यकर्ताओं के साथ 1345 मा-ले कार्यकर्ता भी मारे गये। 1971 के मध्यावधि चुनावों के दौरान चुनावी उम्मीदवारों का भी सफाया होने लगा। फ़ारवर्ड ब्लॉक के वयोवृद्ध नेता हेमन्तकुमार बोस एक संशोधनवादी पार्टी के नेता होने के बावजूद अपने सादे जीवन और सरल प्रकृति के कारण काफ़ी लोकप्रिय थे। उनकी हत्या ने बंगाल में काफ़ी विक्षोभ पैदा किया और भाकपा (मा-ले) के अलगाव को बढ़ाने में एक अहम भूमिका निभायी। सफाया अभियान के इस दौर में पूरे बंगाल में 700 स्क्वाड और सिर्फ़ कलकत्ता में 150 स्क्वाड सक्रिय थे। चारु मजुमदार के निर्देशानुसार, ये दस्ते स्थानीय पार्टी कमेटियों से स्वतन्त्र रहकर, उनकी जानकारी के बग़ैर अपनी कार्रवाइयों को अंजाम देते थे।

नयी जनवादी क्रान्ति कार्यक्रम के अनुरूप भी यदि क्रान्तिकारी जनदिशा अमल में लायी जाती तो गाँवों में वर्ग संघर्ष के विकास के साथ शहरों में कुछ उभारों के बावजूद आम नीति उस दौर में प्रतिरक्षात्मक होनी चाहिए थी और जन संघर्षों को पार्टी की सख़्त देखरेख में विकसित किया जाना चाहिए। लेकिन अपनी आतंकवादी लाइन को श्रीकाकुलम से भी आगे बढ़ाते हुए चारु मजुमदार ने शहरों में भी सफाये की लाइन को आक्रामक ढंग से आगे बढ़ाया, जन संघर्षों और जनसंगठनों के गठन को संशोधनवादी कार्रवाई बताते हुए सिरे से ख़ारिज़ कर दिया, दस्तों को पार्टी कमेटियों के नेतृत्व से आज़ाद करके उनकी अराजकता और स्वत:स्फूर्तता को जमकर बढ़ावा दिया तथा राजनीति को पूरी तरह हथियार के मातहत कर दिया।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का राजकीय दमन, जो पहले से ही जारी था, 1971 से सघन और व्यापक हो गया। सीआरपी और पुलिस को देखते ही गोली मारने के आदेश दे दिये गये। फ़र्ज़ी मुठभेड़ें रोज़ की घटनाएँ बन गयीं। जेलों में मा-ले कार्यकर्ताओं को बर्बर यन्त्रणाएँ दी जाती थीं। अकेले कलकत्ता में 1972 के अन्त तक लगभग 20,000 कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कार्यकर्ता (अधिकांश छात्र और उनके परिवार के लोग) मारे जा चुके थे। नक्सलवाड़ी में 3,000, बंगाल के अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में 4,000, बिहार और असम में 6,000 से अधिक कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त आन्ध्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब, केरल और तमिलनाडु में भी हज़ारों कार्यकर्ताओं की हत्या की जा चुकी थी। बंगाल में फौज़ी ऑपरेशन का अनुमान लेफ्टिनेण्ट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के एक वक्तव्य से लगाया जा सकता है। अरोड़ा के अनुसार, सेना की तीन डिवीज़नें (लगभग 50 हज़ार सैनिक) पश्चिम बंगाल गयी थीं और चुनावों के बाद नक्सली हिंसा से निपटने के लिए सैनिक वहीं रुक गये थे। तेलंगाना संघर्ष के दमन के बाद भारतीय राज्यसत्ता ने कम्युनिस्ट आन्दोलन के विरुद्ध सबसे व्यापक और योजनाबद्ध दमन की कार्रवाई 1970-72 के दौरान चलायी थी, हालाँकि यह कार्रवाई आगे आपातकाल के दौर तक किसी न किसी रूप में जारी रही। इस दौर की बर्बरता आज इतिहास का एक ज्ञात तथ्य है और यह सच्चाई भी आज बहुत सारे अध्ययनों में सामने आ चुकी है कि किस प्रकार केन्द्रीय गृह मन्त्रालय, सेना के अधिकारियों, और बुर्जुआ थिंक टैंकों के अतिरिक्त विभिन्न साम्राज्यवादी एजेंसियों के विशेषज्ञ भी उस समय "नक्सलवाद" के दमन की सामरिक नीतियाँ और उससे निपटने की सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ बनाने में लगे हुए थे।

बहरहाल, आन्दोलन के ठहराव-बिखराव का मूल कारण राज्यसत्ता का दमन नहीं बल्कि इसकी अपनी विचारधारात्मक लाइन (वाम दुस्साहसवाद) और भारतीय कार्यक्रम की ग़लत समझ (चीनी क्रान्ति के नक़्शेक़दम पर नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम) थी। राज्यसत्ता का दमन किसी देश के क्रान्तिकारी संघर्ष को कुछ समय के लिए पीछे धकेल सकता है, लेकिन चार दशकों से भी अधिक समय तक जारी रहने वाले ठहराव-बिखराव का वह बुनियादी कारण नहीं हो सकता। पश्चदृष्टि से देखते हुए इस बात को आसानी से और पूरी निश्चयात्मकता के साथ कहा जा सकता है। किसी भी क्रान्ति में शहादतें और कुर्बानियाँ तो होती ही हैं, लेकिन चारु मजुमदार की वाम दुस्साहसवादी लाइन 1970 के दशक के प्रारम्भिक दशकों के दौरान अकूत अनावश्यक शहादतों-कुर्बानियों के लिए ज़िम्मेदार थी, यह तय है। शत्रु की शक्ति का सही आकलन न करना या उसे कम करके आँकना, आत्मधर्माभिमान, उतावलापन, जनता की जगह वीर नायकों और राजनीति की जगह हथियार पर भरोसा करना - ये वाम दुस्साहसवाद के बुनियादी गुण होते हैं और चारु मजुमदार (और नेतृत्व में मौजूद उनके समर्थक) भी इन्हीं गुणों से लैस थे। आगे हम देखेंगे कि अतिवामपन्थी लाइन को लागू करने वाले नेतृत्व की सांगठनिक लाइन भी किस प्रकार विचारधारात्मक लाइन के ही अनुरूप नौकरशाही, व्यक्तिवाद, गुटबाज़ी और छल-नियोजन की कार्यशैली को लागू करती थी (इसके उदाहरण एआईसीसीसीआर काल में भी देखे जा चुके हैं), जिसके चलते संगठन में बार-बार बहस और स्वस्थ समाहार का गला घोंटा गया और उसे निर्णायक तौर पर बिखराव की राह पर धकेल दिया गया।

बहरहाल, फ़िलहाल हम 1971 के ऐतिहासिक वर्ष के उत्तरार्द्ध के कलकत्ता की ओर वापस लौटते हैं। 29 जून, 1971 को पश्चिम बंगाल में राष्ट्रपति शासन की घोषणा हुई।

केन्द्रीय मन्त्री सिद्धार्थ शंकर राय को राज्य में राष्ट्रपति शासन पर अमल की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी। जुलाई से नवम्बर तक का समय पूरे राज्य में और विशेषकर कलकत्ता में फ़र्जी मुठभेड़ों, गिरफ़्तारियों और जेलों में यन्त्रणाओं का बर्बरतम दौर था। इसी दौरान, 4-5 अगस्त की आधी रात को पुलिस ने सरोज दत्त को गिरफ़्तार करने के बाद गोली मारकर उनकी हत्या कर दी। रोमानी क्रान्तिकारी जोश और क़ुर्बानी के जज़्बे से भरे कलकत्ता के छात्रों-युवाओं ने असाधारण साहस का परिचय दिया। जेलों में भी संघर्ष की और जेल तोड़ने की कई घटनाएँ घटीं। लेकिन अन्ततोगत्वा राज्यसत्ता के उन्नत सशस्त्र बलों और बेलगाम दमनतन्त्र को विजयी होना ही था। नवम्बर 1971 तक कलकत्ता का छात्र-युवा उभार कुचला जा चुका था।

छात्रों-युवाओं की इस अपरिमित क्रान्तिकारी ऊर्जा के अपव्यय और उभार की असफलता का बुनियादी कारण चारु मजुमदार की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन थी। 'वेस्ट बंगाल स्टेट स्टूडेण्ट्स' कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ कम्युनिस्ट रेवोल्यूशनरीज़' द्वारा प्रस्तुत मसौदा राजनीतिक कार्यक्रम में निहित जनदिशा की लाइन का 1970 के शुरू में ही परित्याग किया जा चुका था। नवजनवादी क्रान्ति की माओ की अवधारणा दीर्घकालिक क्रान्तिकारी संघर्ष, गाँवों में भूमि संघर्ष पर मुख्य बल और गाँवों द्वारा शहरों को घेरने पर बल देती थी, लेकिन चारु मजुमदार के पूर्ण समर्थन से कलकत्ता में शहरी छापामार युद्ध के नाम पर दस्तों की कार्रवाई और "सांस्कृतिक क्रान्ति" के अतिरेकपन्थी एजेण्डा को लागू किया गया। 1975 तक कलकत्ता की मुक्ति का हवाई सपना युवाओं के दिलो-दिमाग़ पर 1970-71 में हावी था। इसके विरुद्ध सुशीतल राय चौधुरी के अतिरिक्त दबे स्वर में सुनीति कुमार घोष ने भी आवाज़ उठायी थी, लेकिन चारु मजुमदार, सोरेन बसु और कलकत्ता ज़िला कमेटी ने इन आपत्तियों को सिरे से ख़ारिज़ कर दिया। यही नहीं दस्तों की कार्रवाइयों को संचालित करने की न तो कोई स्पष्ट नीति थी, न ही कोई सुव्यवस्थित पार्टी-ढाँचा था। युवा कार्यकर्ताओं की विचारधारात्मक-राजनीतिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। उल्टे यदि कोई मार्क्सवादी क्लासिक्स का अध्ययन करता था तो पुस्तक पूजा की प्रवृत्ति का "शिकार" होने के लिए आलोचना और उपहास का पात्र बनता था। देश के विभिन्न हिस्सों में, और पश्चिम बंगाल में, जिस हद तक और जिन रूपों में भी क्रान्तिकारी किसान संघर्ष चल रहे थे, उनसे छात्रों-युवाओं के संघर्ष का कोई भी जुड़ाव या तालमेल नहीं था। कलकत्ता का छात्र-युवा आन्दोलन जब कुचला जा चुका था, उसके बाद चारु मजुमदार ने **'लिबरेशन'** (जुलाई 1971-जनवरी 1972) में लिखा : "हम कलकत्ता और विभिन्न शहरों को अभी क़ब्ज़ा नहीं कर सकते और यह सम्भव भी नहीं है। इसलिए, शहरी इलाक़ों के पार्टी सदस्य सत्ता क़ब्ज़ा करने के संघर्ष में सीधे भागीदारी नहीं कर सकते" (*'ए नोट ऑन पार्टी'ज़ वर्क इन अर्बन एरियाज़'*) ज़ाहिर है कि बिना किसी आलोचनात्मक समाहार के चारु मजुमदार अपनी पूर्व अवस्थिति से पलट रहे थे और छात्र-युवा उभार की विफलता की ज़िम्मेदारी से कतरा रहे थे। इसे अवसरवाद कहा जाये तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यूँ तो 1971 के अन्त तक, "वाम" दुस्साहसवादी लाइन देश में जहाँ कहीं भी संगठित या छिटफुट ऐक्शन के रूप में लागू करने की कोशिश हुई, वह असफल हो गयी। लेकिन श्रीकाकुलम के बाद कलकत्ता के छात्र-युवा उभार के दौरान इसकी विफलता सबसे स्पष्ट और घातक रूप में सामने आयी। यह चारु मजुमदार की लाइन थी, जिसके चलते हज़ारों छात्रों-युवाओं की क़ुर्बानियाँ व्यर्थ हो गयीं, असीमित सम्भावनाओं से युक्त युवा ऊर्जा बेकार चली गयी और राजकीय दमनतन्त्र ने उसे ख़ून के दलदल में डुबो दिया।

शहरी मज़दूर वर्ग पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर का प्रभाव

1967 से लेकर 1971 तक पूरे भारत और विशेषकर बंगाल-बिहार के औद्योगिक मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी उभार की लहरें बार-बार उग्र रूप धारण करती रहीं। न केवल भाकपा, बल्कि नवगठित माकपा के संशोधनवादियों के भी बार-बार के नग्न-निर्लज्ज विश्वासघातों ने मज़दूरों के बड़े हिस्से के सामने इस सच्चाई को स्पष्ट कर दिया था कि अपनी तमाम भ्रामक और गरमागरम जुमलेबाज़ियों के बावजूद माकपा भी वस्तुतः संसदीय वामपन्थियों का एक नया ग़द्दार गिरोह ही है। ऐसे में मज़दूरों को एक क्रान्तिकारी लाइन पर लामबन्द करने के लिए परिस्थितियाँ अत्यधिक अनुकूल थीं और उनकी भारी संख्या स्वयं कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर की ओर आकृष्ट हो रही थी, लेकिन "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के आच्छादनकारी प्रभाव ने इस सुनहरे ऐतिहासिक अवसर को सहज ही गँवा दिया। मज़दूर संघर्ष स्वतःस्फूर्त हड़तालों और भौगोलिक रूप से सीमित दायरों वाले अल्पकालिक विद्रोहों के बाद विसर्जित हो गये। "वाम" दुस्साहसवाद की विनाशकारी परिणतियों ने बुर्जुआ और संशोधनवादी पार्टियों की ट्रेड यूनियनों को यह अवसर दे दिया कि वे औद्योगिक मज़दूरों पर अपना उखड़ता प्रभाव फिर से स्थापित कर लें। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में जो भी इतिहास-लेखन हुआ है, उसमें मज़दूर आन्दोलन पर उसके प्रभाव की चर्चा बहुत कम देखने को मिलती है। नक्सलबाड़ी किसान उभार से लेकर 1971 तक की अवधि के औद्योगिक मज़दूरों के जुझारू आन्दोलनों के उभार और विसर्जन का सिलसिला इतिहास का उपेक्षित और विस्मृतप्राय अध्याय है। यहाँ हम उस दौर की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं की सिलसिलेवार संक्षिप्त चर्चा करेंगे, ताकि यह समझा जा सके कि चारु मजुमदार की "वाम" संकीर्णतावादी लाइन ने भारत के मज़दूर आन्दोलन को कितनी क्षति पहुँचायी और किस प्रकार उसकी क्रान्तिकारी सम्भावनाओं का गला घोंटकर ट्रेडयूनियन आन्दोलन पर संशोधनवादियों के एकछत्र प्रभुत्व का रास्ता साफ़ कर दिया।

19 सितम्बर, 1968 को डाक-तार और रेलवे सहित पूरे देश के चालीस लाख केन्द्रीय कर्मचारी हड़ताल पर चले गये। केन्द्र और राज्यों की सरकारों ने हड़ताल को कुचलने के लिए निरंकुश दमनकारी रवैया अपनाया। दस हज़ार से अधिक कर्मचारी और मज़दूर बर्ख़ास्त या निलम्बित कर दिये गये, इतने ही लोगों को जेलों में ठूँस दिया गया और दस मज़दूर पुलिस की गोलियों के शिकार हुए। संशोधनवादी नेताओं ने हड़ताल के दौरान तोड़फोड़, भितरघात और आत्मसमर्पण का जो रवैया अपनाया, उससे काफ़ी नुक़सान पहुँचा लेकिन इसका दूसरा नतीजा यह निकला कि मज़दूर आबादी के बीच माकपा के नये संशोधनवादियों की कलई भी काफ़ी हद तक उतर गयी। प.बंगाल में संशोधनवादियों के विश्वासघात के कारण हड़ताल पर ज़बरदस्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। हड़ताल को कुचलने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा लागू काले अध्यादेशों की केरल की संयुक्त मोर्चा सरकार के "मार्क्सवादी" मुख्यमन्त्री नम्बूदिरिपाद ने कथनी में तो आलोचना की, लेकिन करनी में उन्हीं अध्यादेशों को लागू करते हुए उनकी सरकार ने हड़तालियों पर 207 मुक़दमे दर्ज किये, 233 लोगों को गिरफ़्तार किया तथा बड़े पैमाने पर उन पर बल प्रयोग भी किया। केन्द्रीय कर्मचारियों की इस हड़ताल के पहले 26 जुलाई 1968 को केरल सचिवालय के 700 कर्मचारियों ने अपनी माँगों को लेकर जब सामूहिक आकस्मिक अवकाश लिया तो नम्बूदिरिपाद की सरकार ने उन्हें कुचलने के लिए न केवल सशस्त्र पुलिस बल का सहारा लिया, बल्कि उनकी वेतन कटौती और 'सर्विस ब्रेक' का

भी निर्देश जारी कर दिया। इसके भी पहले, मार्च के अन्त और अप्रैल के शुरू में कालीकट में मावुट स्थित बिड़ला के ग्वालियर रेयॉन मिल के मज़दूरों ने जब हड़ताल की थी तो सरकार ने पुलिस भेजकर उन्हें आतंकित करने और मालिकों के पक्ष में समझौते के लिए दबाव बनाने की कोशिश की।

19 सितम्बर 1968 की प्रतीकात्मक हड़ताल के बाद केन्द्रीय कर्मचारियों, मज़दूरों और डाक-तार विभाग के कर्मचारियों ने जब 'नियमानुसार काम करने' की रणनीति अपनाकर अपना संघर्ष जारी रखा तो संशोधनवादी पार्टियों के ट्रेडयूनियन नेता केन्द्र सरकार की मदद के लिए आगे आये। हरसम्भव तरीक़े से दबाव और भयादोहन के सहारे उन्होंने मज़दूरों-कर्मचारियों को क़दम पीछे खींचने के लिए मजबूर किया। 1967 में नक्सलबाड़ी किसान उभार को कुचलने में पूरी ताक़त झोंक देने वाली प.बंगाल की संयुक्त मोर्चे की सरकार ने मज़दूरों के प्रति भी खुला दमनकारी रवैया अपनाया। इससे बहुसंख्यक मज़दूर आबादी के सामने उनका चरित्र नंगा होता चला गया। माकपा और भाकपा के संशोधनवादियों को धता बताकर मज़दूर लगातार अपनी पहलक़दमी पर जुझारू आन्दोलन संगठित करने लगे और महत्वपूर्ण बात यही थी कि 1970 के अन्त तक ज़्यादातर आन्दोलनों में उन्होंने जीत हासिल की। पश्चिम बंगाल की संयुक्त मोर्चे की जिस सरकार में भाकपा और माकपा दोनों ही शामिल थे, उसके शासनकाल के दौरान, मार्च से सितम्बर 1967 के बीच राज्य में कुल 1,20,000 मज़दूरों की छँटनी हुई ('युगान्तर', 19 नवम्बर, 1967)। उपमुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने बेशर्मी से यह बयान दिया कि वे हड़ताल और तालाबन्दी नहीं, बल्कि उचित समझौता चाहते हैं ('स्टेट्समैन', 6 अक्टूबर, 1967)। संशोधनवादियों के इन कुकृत्यों के चलते मज़दूरों की भारी आबादी स्वत: उनसे दूर होती जा रही थी। उन्नत चेतना वाले मज़दूर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा की ओर तेज़ी से आकृष्ट हो रहे थे, लेकिन 1968 के उत्तरार्द्ध तक एआईसीसीआर में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन हावी हो चुकी थी जो ट्रेड यूनियन कामों को ही संशोधनवाद मानती थी और हर प्रकार की जनकार्रवाई के विरुद्ध थी। नतीजा यह हुआ कि समय रहते एक अनुकूलतम परिस्थिति का भी लाभ नहीं उठाया जा सका और एक ऐतिहासिक अवसर हाथ से निकल गया। उस समय के पूरे परिदृश्य और मज़दूर आन्दोलन के मूड-मिजाज़ को समझने के लिए केवल कुछ और घटनाओं का उल्लेख पर्याप्त होगा।

फ़रवरी, 1970 में दक्षिण-पूर्वी रेलवे में आकस्मिक हड़तालों और तोड़फोड़ की कई घटनाएँ घटीं। इन घटनाओं में सांगठनिक तौर पर माकपा (मा-ले) की कोई भूमिका नहीं थी, फिर भी 'स्टेट्समैन' ने अपनी एक रिपोर्ट में यह आशंका प्रकट की थी कि दक्षिण-पूर्वी रेलवे के कर्मियों के बीच कुछ "अतिवादी तत्वों" का प्रभाव बढ़ गया है जो विशेषकर राँची-जमशेदपुर बेल्ट में रेल संचालन को बाधित कर देना चाहते हैं। इन रेल मज़दूरों की संगठित शक्ति देश की अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने में कितनी प्रभावी हो सकती थी, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उस समय पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी रेलवे से ही देश का 60 प्रतिशत माल-परिवहन होता था तथा कलकत्ता, दुर्गापुर, आसनसोल, जमशेदपुर आदि अग्रणी औद्योगिक केन्द्रों को यही दोनों रेलवे जोड़ती थीं।

जुलाई, 1970 में उत्तर-पूर्वी सीमान्त रेलवे के मज़दूर और कर्मचारी आकस्मिक हड़ताल पर चले गये। वे सिलीगुड़ी पुलिस स्टेशन के प्रभारी की हत्या के आरोप में गिरफ़्तार लोगों की रिहाई की माँग कर रहे थे। सिलीगुड़ी रेलवे जंक्शन से शुरू हुई यह हड़ताल जल्दी ही दूसरे

इलाक़ों में भी फैल गयी और उत्तर-पूर्वी भारत की पूरी रेल-व्यवस्था ठप्प हो गयी। रेल मन्त्री नन्दा द्वारा सेना लगाने की धमकी, सीमा सुरक्षा बल और ईस्टर्न फ़्रण्टियर राइफ़ल्स की मदद से रेलें चलाने की कोशिशों तथा भाकपा-माकपा के ट्रेड यूनियन मठाधीशों की जी-तोड़ कोशिशों के बावजूद हड़ताल जारी रही। डाक-तार विभाग और राज्य बिजली बोर्ड के कर्मचारियों तथा सिलीगुड़ी के छात्रों ने हड़ताल के साथ पूरी एकजुटता दिखायी। 'स्टेट्समैन' अख़बार ने 2 अगस्त के अपने सम्पादकीय में यह आशंका ज़ाहिर की कि हड़ताल का नेतृत्व सम्भवत: "भूमिगत अतिवादी" कर रहे हैं। अन्ततोगत्वा, ग्यारह दिनों तक चली यह हड़ताल तभी समाप्त हुई, जब सरकार ने घुटने टेकते हुए हड़ताली मज़दूरों की माँगें मान लीं।

जुलाई, 1970 में ही दक्षिण-पूर्वी रेलवे में भी एक बड़ी हड़ताल हुई। 26 जुलाई को आद्रा रेलवे स्टेशन पर पुलिस द्वारा कुछ रेल मज़दूरों की पिटाई के विरोध में आकस्मिक हड़ताल की शुरुआत हुई। आद्रा डिवीज़न से शुरू हुई इस हड़ताल में चक्रधरपुर और खड़गपुर डिवीज़नों के रेल मज़दूर भी शामिल हो गये और भारत के समूचे दक्षिण-पूर्वी हिस्से का रेल-संचालन अस्त-व्यस्त हो गया। सरकार के झुकने के बाद ही रेल मज़दूर काम पर वापस लौटे। पुन: 1 अगस्त, 1970 को भिलाई मार्शलिंग यार्ड के कुछ मज़दूरों की गिरफ़्तारी के विरोध में दक्षिण-पूर्वी रेलवे के बिलासपुर डिवीज़न के मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। 6-7 अगस्त को चक्रधरपुर, आद्रा, खर्दा रोड और खड़गपुर डिवीज़न के रेल मज़दूर भी हड़ताल में शामिल हो गये। यह हड़ताल भी तभी समाप्त हुई जब सरकार ने गिरफ़्तार मज़दूरों को रिहा करने की माँग मान ली।

मज़दूरों की ये सभी हड़तालें आर्थिक माँगों को लेकर नहीं थीं, बल्कि राजनीतिक प्रकृति की थीं। ये सभी हड़तालें स्थापित यूनियनों के नेतृत्व (जो बुर्जुआ और संशोधनवादी पार्टियों से सम्बद्ध थे) के विरुद्ध विद्रोह करके हुई थीं। इसके जवाब में ट्रेड यूनियनों के संशोधनवादी नेताओं ने बौखलाहट में जो क़दम उठाये, उनसे मज़दूरों की निगाहों के सामने उनका चरित्र और अधिक नंगा हुआ। भाकपा के ट्रेड यूनियन नेता इन्द्रजीत गुप्त ने मज़दूरों की आकस्मिक हड़तालों की बेशर्म आलोचना करते हुए सरकार को यह लिखित अण्डरटेकिंग दी कि वे भविष्य में मज़दूरों की 'वाइल्डकैट स्ट्राइक्स' को रोकने की हर मुमकिन कोशिश करेंगे। ज्योति बसु ने यह बयान दिया कि वे हड़ताल नहीं बल्कि सौहार्द्रपूर्ण समझौते के पक्ष में हैं। कलकत्ता के औद्योगिक मज़दूरों में संशोधनवादियों के विरुद्ध घृणा और आक्रोश का उफान तो और अधिक प्रचण्ड था। मज़दूर स्वत:स्फूर्त ढंग से भाकपा (मा-ले), कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर और किसान संघर्षों के प्रति एकजुटता ज़ाहिर कर रहे थे। आवश्यकता बस इस बात की थी कि उन्हें एक सुनिश्चित क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर संगठित किया जाता और ठोस कार्यभार बताया जाता, जो न हो सका। 1970 में उत्तरी कलकत्ता स्थित राज्य सरकार के उपक्रम सेण्ट्रल डेयरी में भी एक महत्वपूर्ण हड़ताल हुई। उक्त डेयरी के एक मज़दूर पर कलकत्ता से बाहर जाते समय माकपा के गुण्डों ने घातक हमला किया और बुरी तरह घायल करने के बाद उसे पुलिस को सौंप दिया। यह ख़बर मिलते ही डेयरी के सभी मज़दूर हड़ताल पर चले गये। हड़ताल तभी समाप्त हुई जब डेयरी का प्रबन्धन गिरफ़्तार मज़दूर को रिहा कराकर उसके साथियों के बीच ले आया। 1970 से लेकर 1971 के पूर्वार्द्ध तक कलकत्ता और आसपास के औद्योगिक इलाक़ों में, केजी डॉक्स से लेकर स्ट्रैण्ड रोड तक पूरे पोर्ट एरिया में, तारातला-हाइड रोड के क्षेत्र में तथा कलकत्ता ट्राम वे कम्पनी, गार्डेन रीच वर्क्स (भारत सरकार का रक्षा उत्पादन

कारख़ाना) और काशीपुर गन एण्ड शेल फ़ैक्टरी (केन्द्र सरकार का उपक्रम) के मुख्यालयों पर – चारों तरफ़ लाल झण्डे लहराते देखे जा सकते थे। पुलिस यदि उन्हें उतारती भी थी तो मज़दूर उन्हें फिर लगा देते थे। पार्टी नेतृत्व से किसी निर्देश की प्रतीक्षा किये बिना मज़दूर स्थानीय भाकपा (मा-ले) कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में इस काम को अंजाम दे रहे थे। संशोधनवादी पार्टियों के ट्रेड यूनियन दफ़्तर उजाड़ पड़े रहते थे। पुलिस उनकी चौकीदारी करती रहती थी। माकपा के गुण्डे पुलिस की मदद के साथ विद्रोही मज़दूरों और भाकपा (मा-ले) कार्यकर्ताओं पर अक्सर हमले करते थे और मज़दूर और मा-ले क़तारों द्वारा उनका पुरज़ोर प्रतिकार तथा जवाबी कार्रवाइयाँ भी होती रहती थीं। कलकत्ता के छात्र-युवा आन्दोलन में शहरी छापामार युद्ध के नाम पर सफाये और हथियार छीनने की लाइन के पूरी तरह से हावी हो जाने और राज्यसत्ता के दमन की बर्बरता चरम पर पहुँच जाने के पहले, जब सड़कों पर जनउभार जैसा माहौल था तब मज़दूरों और निम्न पूँजीवादी युवाओं के बीच जुझारू एकजुटता की मिसालें आये दिन देखने को मिलती थीं। उत्तर कलकत्ता स्थित काशीपुर के एसपी इंजीनियरिंग कम्पनी में लम्बे समय से तालाबन्दी थी। 9 अगस्त, 1970 को मालिकों ने पुलिस के साथ साँठगाँठ करके जब कारख़ाने से मशीनों को हटाने की कोशिश की तो भाकपा (मा-ले) कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में आसपास की झुग्गियों में रहने वाले मज़दूरों के साथ ही छात्रों-युवाओं की भारी संख्या मैदान में आ डटी। पुलिस द्वारा कई राउण्ड गोली चलाने के बाद भी मज़दूर और छात्र-युवा पीछे नहीं हटे और मालिकों का प्रयोजन सिद्ध न हो सका। अगस्त, 1970 के प्रारम्भ में जब समीर भट्टाचार्य नामक युवा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी को पुलिस ने गिरफ़्तार किया और लॉकअप में यन्त्रणा देकर मार डाला तो तीन दिनों तक पूरे कलकत्ता के जनजीवन को ठप्प कर देने और सड़कों पर बहादुराना ढंग से पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों का शौर्यपूर्वक सामना करने में छात्रों-युवाओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर मज़दूरों की बहुत बड़ी संख्या डटी रही।

1970-71 के दौरान प.बंगाल और बिहार के राज्य बिजली बोर्डों और दामोदर घाटी निगम में लगातार कई हड़तालें हुईं। इनमें से चार बड़े पैमाने की हड़तालें थीं, जिनमें बड़े पैमाने पर तोड़फोड़ हुई तथा संयन्त्र एवं पारेषण की व्यवस्था को क्षतिग्रस्त कर दिया गया। पुलिस को सन्देह था कि इन हड़तालों के पीछे "नक्सलवादी" सक्रिय हैं, जबकि सच्चाई यह थी कि इनमें भाकपा (मा-ले) नेतृत्व की कोई भूमिका नहीं थी। 20 जून, 1970 को दुर्गापुर स्थित हिन्दुस्तान स्टील प्लाण्ट के एक ठेकेदार ने जब पाँच मज़दूरों की छँटनी कर दी तो तत्काल ठेकेदार के सभी मज़दूरों ने प्लाण्ट के मैनेजर और एक अन्य अधिकारी का घेराव कर दिया। माकपा और एसयूसीआई के लोगों ने घेराव समाप्त करने की जीतोड़ कोशिशें कीं, लेकिन मज़दूरों ने उन्हें भगा दिया। फिर वे पुलिस लेकर आये, लेकिन पुलिस भी विफल रही। अन्ततः ईस्टर्न फ़्रण्टियर राइफ़ल्स के जवान तीन ट्रकों में भरकर आये और उन्होंने दोनों अधिकारियों को घेराव से बाहर निकाला। मज़दूरों का आन्दोलन फिर भी जारी रहा। आख़िरकार, प्रबन्धन को बिना शर्त सभी बर्ख़ास्त मज़दूरों को काम पर वापस लेना पड़ा।

उपरोक्त विवरण के आधार पर 1967 से 1971 के दौरान, विशेषकर बंगाल में, और सामान्य तौर पर केरल, बिहार सहित भारत के अधिकांश औद्योगिक केन्द्रों में मज़दूरों में फैली व्यवस्था-विरोधी चेतना और संशोधनवादियों के ट्रेड यूनियनवाद-अर्थवाद के विरुद्ध विद्रोह की उनकी स्पिरिट का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 1970 तक "देहात आधारित पार्टी" के नेतृत्व में देहातों में छापामार संघर्ष के नाम पर सफाया अभियान पर ही पूरा ज़ोर देने

के कारण एआईसीसीसीआर और फिर भाकपा(मा-ले) के नेतृत्व पर हावी चारु मजुमदार के "वाम" अतिरेकपन्थी गुट ने शहरी मज़दूरों के संघर्षों पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। जनदिशा के समर्थक और शहरी मज़दूरों के बीच काम कर चुके असित सेन और परिमल दासगुप्त जैसे लोग तो पार्टी कांग्रेस के पहले ही निष्कासित किये जा चुके थे और हर प्रकार के जन संगठन बनाने, जनान्दोलन करने और खुले आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों को संशोधनवाद घोषित किया जा चुका था। कांग्रेस के ठीक पहले, मार्च 1970 में मज़दूर वर्ग के नाम अपने एक सन्देश में चारु मजुमदार ने उसका एकमात्र कार्यभार यह बताया कि उसे क्रान्ति के हरावल के रूप में आगे आकर गाँवों में सशस्त्र किसान संघर्ष का नेतृत्व करना चाहिए और भाकपा (मा-ले) के इर्द-गिर्द लामबन्द हो जाना चाहिए। ज़ाहिर है कि सभी मज़दूर गाँवों में सशस्त्र संघर्ष में शामिल होने नहीं जा सकते थे। इस तरह, चारु के हिसाब से, बहुसंख्यक औद्योगिक मज़दूरों की क्रान्ति में कोई भूमिका ही नहीं बनती थी। इसी महीने प्रकाशित औद्योगिक सर्वहारा के बीच काम करने वाले पार्टी कार्यकर्ताओं को सम्बोधित एक अन्य लेख में चारु मजुमदार ने मज़दूरों के बीच गुप्त पार्टी संगठन बनाने पर बल देते हुए लिखा कि पार्टी का काम ट्रेड यूनियनें संगठित करना नहीं है, लेकिन मज़दूरों द्वारा छेड़े गये हर संघर्ष को उसे प्रोत्साहन देना चाहिए। साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि संगठित पूँजीपति वर्ग के तालाबन्दी और छँटनी जैसे हमलों का मुक़ाबला अब हड़ताल जैसे हथियारों से नहीं किया जा सकता, संघर्ष अब बिना रक्तपात के, शान्तिपूर्ण तरीक़ों से विकसित नहीं हो सकता तथा मज़दूरों को अब घेराव, बैरिकेड संघर्षों, पुलिस और पूँजीपतियों के साथ टकराव और वर्ग शत्रुओं एवं उनके एजेण्टों के सफाये के ज़रिये अपने संघर्षों को आगे ले जाना होगा। चारु ने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि मज़दूरों को आर्थिक व रोज़मर्रे के संघर्षों में उलझाने के बजाय उनमें अपमानजनक गुलामी के विरुद्ध आत्मसम्मान की भावना जगानी होगी। ऐसा हो जाने पर वे साहसी, जुझारू क्रान्तिकारी बन जायेंगे। 1970 की रेल हड़तालों के काफ़ी समय बाद चारु मजुमदार ने उनका स्वागत करते हुए कहा था कि यह मज़दूर वर्ग पर युवा उभार का प्रभाव है और ये हड़तालें मज़दूर आन्दोलन में एक नये युग का सूत्रपात करती हैं, क्योंकि इनमें मज़दूर वर्ग किसी आर्थिक माँग के लिए नहीं बल्कि आत्मसम्मान के लिए लड़ रहा था।

1970-71 के दौरान, चारु मजुमदार के आह्वान पर अमल करते हुए दुर्गापुर और आसनसोल के कुछ औद्योगिक मज़दूरों ने छापामार दस्ते बनाकर हथियार छीनने, सफाया करने और फ़ैक्टरियों पर लाल झण्डा लगाने जैसी कुछ कार्रवाइयों को अंजाम भी दिया था, लेकिन ये कार्रवाइयाँ व्यापक मज़दूर वर्ग को जागृत या प्रभावित करने में विफल रहीं और ऐसे दस्ते जल्दी ही बिखर गये। 1970 के अन्त में कलकत्ता के छात्र-युवा उभार की सीमाओं को महसूस करते हुए चारु मजुमदार ने एक कामरेड को सम्बोधित एक पत्र में लिखा था कि यह सोचना सही नहीं होगा कि निम्न पूँजीपति वर्ग कभी डरेगा नहीं। जल्दी ही वह समय आयेगा जब केवल मज़दूर वर्ग ही हमारी हिफ़ाज़त कर पायेगा। उन्होंने यह भी लिखा कि केवल 'ऐक्शंस' राजनीतिक चेतना के स्तर को खुद-ब-खुद ऊपर नहीं उठा सकते और हमें शहरी मज़दूरों और ग़रीबों के बीच पार्टी इकाइयों के निर्माण को एक महत्वपूर्ण कार्यभार के रूप में हाथ में लेना होगा। ग़ौरतलब है कि यहाँ भी चारु मज़दूरों के बीच केवल पार्टी निर्माण पर बल दे रहे थे, जनकार्रवाइयों और ट्रेड यूनियन कार्यों को संगठित करने का उन्होंने कोई उल्लेख तक नहीं किया। 1971 के अन्त तक कलकत्ता का छात्र-युवा उभार बिखर चुका था और मज़दूर आन्दोलन का ज्वार भी उतार पर था और चारु मजुमदार भी यह स्वीकार कर चुके थे

कि फ़िलहाल कलकत्ता को या किसी भी दूसरे शहर को क़ब्ज़ा कर पाना सम्भव नहीं है। उस समय एक बार फिर चारु मजुमदार ने 'शहरी इलाक़ों में पार्टी के काम के बारे में' (18 नवम्बर 1971) शीर्षक अपनी टिप्पणी में मज़दूर वर्ग के भीतर ज़्यादा से ज़्यादा पार्टी इकाइयाँ बनाने, उसकी राजनीतिक सचेतनता बढ़ाने और उनके बीच से पार्टी संगठनकर्ता तैयार करने पर बल देते हुए लिखा था : "मज़दूर वर्ग लगातार छोटे-बड़े अनेक संघर्ष कर रहा है। हमारी राजनीतिक शिक्षा उनके संघर्ष की मदद करेगी और मज़दूरों के व्यापक हिस्से को हमारी राजनीति की ओर खींच लायेगी। वर्ग सचेत मज़दूर तब स्वेच्छा से देहाती इलाक़ों में जाकर किसानों के सशस्त्र संघर्ष में भाग लेंगे। इसी तरह मज़दूर-किसानों की दृढ़ एकता स्थापित होगी।" ग़ौरतलब है कि यहाँ भी चारु मजुमदार की सोच में मज़दूर वर्ग के अपनी वर्गीय (आर्थिक और राजनीतिक) माँगों पर जनान्दोलन संगठित करने और ट्रेड यूनियन कार्यों में पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका का कोई स्थान नहीं है। मज़दूरों के संघर्षों में मदद करने के अतिरिक्त राजनीतिक शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य वह मज़दूरों को क्रान्तिकारी राजनीति के प्रभाव में लाना मानते थे, ताकि मज़दूर गाँवों में जाकर किसानों के सशस्त्र संघर्ष में भागीदारी कर सकें। स्पष्ट है कि यह नज़रिया मज़दूर आन्दोलन में पार्टी की भूमिका की लेनिनवादी समझदारी के एकदम उलट था। यह नज़रिया नरोदवादी आतंकवादियों के नज़रिये से काफ़ी हद तक मेल खाता था।

1967-71 के दौरान भारतीय बुर्जुआ व्यवस्था और संशोधनवादियों की घृणित अर्थवादी-ट्रेड यूनियनवादी राजनीति के विरुद्ध भारतीय मज़दूर वर्ग के सामूहिक मानस में विद्रोह की जो प्रलयंकारी भावना उमड़-घुमड़ रही थी और स्वत:स्फूर्त उग्र संघर्षों के रूप में फूटकर सामने आ रही थी, उसे भारत का कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन यदि अपने प्रभाव में न ले सका और एक ऐतिहासिक अवसर का लाभ उठाने से चूक गया तो इसका बुनियादी कारण "वाम" दुस्साहसवादी भटकाव था, जिसके सूत्रधार और नेता चारु मजुमदार थे।

"हम एक छोटे-से समूह में एक ढलान भरे और मुश्किल रास्ते पर मार्च कर रहे हैं, एक दूसरे का हाथ मज़बूती से पकड़े हुए। हम हर तरफ़ से शत्रुओं से घिरे हैं और हमें लगभग लगातार उनकी गोलाबारी के बीच आगे बढ़ना है। हम शत्रु से लड़ने के मकसद से एक मुक्त रूप से अपनाये गये निर्णय से साथ आये हैं, न कि आस-पास के उस दलदल में जाने के लिए जिसके निवासी शुरू से ही हमें एक अलग समूह में अलग हो जाने के लिए और मेल-मिलाप की बजाय संघर्ष का रास्ता चुनने के लिए धिक्कारते रहे हैं। और अब हममें से ही कुछ लोग चीख-चिल्लाहट मचा रहे हैं: चलो दलदल में चलें! और जब हम उन्हें शर्मसार करना शुरू करते हैं, तो वे कठोरता से प्रत्युत्तर देते हैं: कैसे पिछड़े लोग हो तुम! क्या तुम्हें हमारी इस आज़ादी को छीनने पर शर्म नहीं आती कि हम तुम्हें एक बेहतर रास्ते पर ले जाने का आमन्त्रण दे रहे हैं! ओह, हाँ, भद्रजनो! आप हमें आमन्त्रण देने के लिए ही नहीं बल्कि जहाँ भी आपको जाना है, वहाँ जाने के लिए स्वतन्त्र हैं, यानी दलदल में। दरअसल, हमें लगता है कि दलदल ही आपकी सही जगह है, और हम वहाँ पहुँचने में आपको हर मदद देने को तैयार हैं। बस हमारा हाथ छोड़ दीजिये, हमें पकड़ कर मत रखिये और महान शब्द आज़ादी को मैला मत करिये, क्योंकि हम भी जहाँ चाहें जाने को "आज़ाद" हैं, न सिर्फ़ दलदल के विरुद्ध लड़ने के लिए बल्कि उनके ख़िलाफ़ लड़ने के लिए भी जो दलदल की ओर मुड़ रहे हैं!"

– लेनिन, **क्या करें?**, 'कठमुल्लावाद और 'आलोचना की स्वतन्त्रता'' (1901)

उन समझदारों के लिए सबक जो हमेशा हाशिये पर पड़े रहना चाहते हैं

● अभिनव सिन्हा

समझदारों का गीत
हवा का रुख़ कैसा है, हम समझते हैं
हम उसे पीठ क्यों दे देते हैं, हम समझते हैं
हम समझते हैं ख़ून का मतलब
पैसे की क़ीमत हम समझते हैं
क्या है पक्ष में विपक्ष में क्या है, हम समझते हैं
हम इतना समझते हैं
कि समझने से डरते हैं और चुप रहते हैं

चुप्पी का मतलब भी हम समझते हैं
बोलते हैं तो सोच-समझ कर बोलते हैं हम
हम बोलने की आज़ादी का
मतलब समझते हैं
टुटपुँजिया नौकरी के लिए
आज़ादी बेचने का मतलब हम समझते हैं
मगर हम क्या कर सकते हैं
अगर बेरोज़गारी अन्याय से
तेज़ दर से बढ़ रही है
हम आज़ादी और बेरोज़गारी दोनों के

ख़तरे समझते हैं
हम ख़तरों से बाल-बाल बच जाते हैं
हम समझते हैं
हम क्यों बच जाते हैं, यह भी हम समझते हैं।
.....
हम सरकार से दुखी रहते हैं
कि समझती क्यों नहीं
हम जनता से दुखी रहते हैं
कि भेड़ियाधँसान होती है

हम सारी दुनिया के दुख से दुखी रहते हैं
हम समझते हैं
मगर हम कितना दुखी रहते हैं यह भी
हम समझते हैं
यहाँ विरोध ही वाजिब कदम है
हम समझते हैं
हम कदम-कदम पर समझौते करते हैं
हम समझते हैं
हम समझौते के लिए तर्क गढ़ते हैं
हर तर्क गोल-मटोल भाषा में
पेश करते हैं, हम समझते हैं
हम इस गोल-मटोल भाषा का तर्क भी
समझते हैं

वैसे हम अपने को किसी से कम
नहीं समझते हैं
हर स्याह को सफ़ेद और
सफ़ेद को स्याह कर सकते हैं
हम चाय की प्यालियों में
तूफ़ान खड़ा कर सकते हैं
करने को तो हम क्रान्ति भी कर सकते हैं
अगर सरकार कमज़ोर हो
और जनता समझदार
लेकिन हम समझते हैं
कि हम कुछ नहीं कर सकते हैं
हम क्यों कुछ नहीं कर सकते हैं
यह भी हम समझते हैं।

– ***गोरख पाण्डेय***

हाशिये पर खड़े लोगों के अपने दु:ख होते हैं तो अपने सुख भी होते हैं। सवाल देखने के नज़रिये और ज़ोर का होता है। हाल ही में, हाशिये पर खड़े वामपन्थी आन्दोलन से लम्बे समय से जुड़े रहे एक बुद्धिजीवी रवि सिन्हा ने हाशिये पर खड़े अपने अन्य बिरादरों के लिए भारत में साम्प्रदायिक फासीवाद के उभार के बरक्स कुछ सबक पेश किये हैं (*http://nsi-delhi.blogspot.in/2014/05/lesson-for-saner-segments-of-margins.html* व हिन्दी अनुवाद 'समकालीन तीसरी दुनिया' के जून, 2014 के अंक में प्रकाशित)। लेकिन इन सबकों को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि ये सबक हमेशा हाशिये पर ही कैसे खड़े रहें, इसका 'यूज़र मैनुअल' है। यूँ भी कह सकते हैं कि यह आज के सबसे ज़रूरी कार्यभारों को अनिश्चितकाल तक के लिए स्थगित कर देने का प्रस्ताव है।

इस लेख की एक विस्तृत आलोचना पेश करना हम कई कारणों से ज़रूरी समझते हैं, हालाँकि इस लेख में हाशिये पर खड़े (पड़े!?) लोगों का आवाहन किया गया है!

पहला कारण यह है कि यह लेख 'हाशिये' को काफ़ी आकर्षक बना देता है; नतीजतन, जो अभी हाशिये पर नहीं है और राजनीतिक मुख्य भूमि की ओर जा सकते हैं, या फिर जो हाशिये पर अपनी इच्छा या चुनाव से नहीं हैं या सम्भवत: हाशिये पर अपनी अवस्थिति के बारे में सचेत भी नहीं हैं; ऐसे सभी लोगों के लिए यह लेख 'हाशिये' को एक वांछनीय स्थान बना देता है। **दूसरा कारण** यह है कि 'हाशिये' को मनमोहक बनाने की प्रक्रिया में यह लेख इतिहास और विचारधारा दोनों के ही साथ बदसलूकी करता है। फासीवाद के इतिहास और विचारधारा की इस 'समझदारों के पाठ' में जो समझदारी पेश की गयी है, उसे अधिकतम सम्भव उदारता के साथ लचर और बचकाना कहा जा सकता है। इसलिए कुछ अहम विचारधारात्मक और इतिहास-सम्बन्धी मुद्दों पर साफ़-नज़र होने के लिए भी हम इस लेख की आलोचना को ज़रूरी समझते हैं।

लेख में जो बातें कहीं गयीं हैं, उनकी क्रमानुसार या महत्वानुसार आलोचना की जा सकती है। चूँकि लेख में शैली और अन्तर्वस्तु की निरन्तरता कमोबेश बनी रही है, इसलिए क्रम का निर्धारण महत्व से ही हुआ है। और पाठकों की सुविधा के लिए लेख में पेश मुद्दों के क्रम के अनुसार अपनी आलोचना रखना ही उचित होगा। चूँकि प्रकाशित हिन्दी अनुवाद में कुछ स्थानों पर हमें शुद्धता का अभाव महसूस हुआ इसलिए हम मूल अंग्रेज़ी लेख को ही अपने स्रोत के तौर पर इस्तेमाल कर रहे हैं। जहाँ कहीं भी हमने लेखक को उद्धृत किया है, वह हमारा अनुवाद है।

सबकों की पृष्ठभूमि की तैयारी: भाषा में अन्तर्निहित भूगोल और स्थलाकृति

'जब बदलाव करना सम्भव था
मैं आया नहीं: जब यह ज़रूरी था
कि मैं, एक मामूली सा शख़्स, मदद करूँ,
तो मैं हाशिये पर रहा।'

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'सेण्ट जोन ऑफ दिन स्टॉकयार्ड्स'*)

लेखक मानता है कि उनका सरोकार उस हाशिये से नहीं है जो कि राजनीतिक मुख्यभूमि

के दक्षिण में पड़ता है, बल्कि उस हाशिये से है जो कि इस मुख्यभूमि के वाम पक्ष में पड़ता है। लेखक चिन्तामग्न है कि पूरा का पूरा वाम अब इस हाशिये पर ही चला गया है। यद्यपि परम्परागत वाम इस बात को अभी स्वीकार नहीं कर सका है। लेखक यह भी मानता है कि स्वयं उसके जीवन का बहुलांश इस हाशिये पर बीता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस हाशिये पर नये वामपन्थी आगन्तुकों का वह एक बहुआयामी विडम्बना-बोध के साथ स्वागत कर रहा है। इस विडम्बना-बोध का एक आयाम तो यह है कि इसके नवागन्तुकों का एक बड़ा हिस्सा अब तक राजनीतिक मुख्यभूमि में था और अब दक्षिणपन्थ के उभार ने उसे हाशिये पर धकेल दिया है! और इसका दूसरा आयाम यह है कि लेखक इन नवागन्तुकों का स्वागत करते हुए भी यह जानता है कि हाशिये पर रहने के लम्बे अनुभव से लैस एक समझदार व्यक्ति (wise man) द्वारा दिये जा रहे सबकों पर ये नवागन्तुक कान नहीं देंगे! इससे पहले कि लेखक द्वारा प्रयोग में लायी गयी शब्दावली की राजनीति पर अपनी बात रखते हुए हम अपनी आलोचना की विधिवत् शुरुआत करें, पहले इस शब्दावली में अन्तर्निहित भूगोल (geography) और स्थलाकृति-विज्ञान (topography) को भी समझ लिया जाय, विशेष तौर पर, राजनीतिक मुख्यभूमि और हाशिये को।

यहाँ राजनीतिक मुख्यभूमि संसद व विधानसभा प्रतीत होते हैं, हालाँकि ने लेखक ने सम्भवतः इरादतन इसके बारे में अस्पष्टता बनाये रखी है। समाज विज्ञान और आलोचनात्मक सिद्धान्त बहुत पहले ही बता चुका है कि चुप्पियों (silences) के भी अर्थ होते हैं, और अकसर वे 'टेक्स्ट' से भी अहम होते हैं। वस्तुतः, सामाजिक सिद्धान्त की किसी भी शाखा का असल मकसद शब्दों से ज़्यादा इन चुप्पियों को विकूटीकृत (decipher) करना होता है! बहरहाल, यहाँ **राजनीतिक मुख्यभूमि** का अर्थ संसद-विधानसभा ही प्रतीत होता है। क्योंकि संसदीय वाम के अतिरिक्त जो वाम है, वह तो पहले से ही हाशिये पर है! **ऐसे में, जिन नवागन्तुकों के हाशिये में आगमन की बात की जा रही है, वह निश्चित तौर पर संसदीय वाम ही है, यानी भाकपा, माकपा, भाकपा (माले) लिबरेशन इत्यादि।**

लेकिन **हाशिये** का अर्थ यहाँ केवल गैर-संसदीय वाम नहीं प्रतीत होता। बल्कि यह भूभाग उन शक्तियों का है जिनका समाज में कोई विशेष आधार या पकड़ नहीं है। पहले तो हाशिये पर वह वाम ही था जिसे आम तौर पर चलताऊ राजनीतिक शब्दावली में *'लेफ्ट ऑफ सीपीएम'* कहा जाता है। लेकिन अब दक्षिणपन्थी फासीवाद के इस नये उभार ने उस वाम को भी हाशिये पर पहुँचा दिया है जो *'सीपीएम* या *राइट ऑफ सीपीएम'* हैं! ऐसे में, लेखक चिन्तित है। वह खुद के लम्बे समय से हाशिये पर ही रहने से उतना चिन्तित नहीं है, जितना कि इस बात से कि जो संसदीय वामपन्थी हाशिये पर नहीं थे वे भी हाशिये पर आ गये हैं और हाशिया 'ओवरक्राउडेड' हो गया है! फिर भी, वह भारी मन और भरे दिल से इन संसदीय वामपंथियों का हाशिये पर खुली बाहों के साथ स्वागत भी कर रहे हैं! कम-से-कम लेखक के शब्दों के प्रयोग-व्यवहार या प्रयोग-धर्म से तो उनके राजनीतिक भूविज्ञान के यही अर्थ सम्प्रेषित होते हैं। क्योंकि उन्होंने राजनीतिक मुख्यभूमि और हाशिये की कोई विवादित सीमा-रेखा भी स्पष्ट नहीं की है। बहरहाल, यहाँ से हम अपनी आलोचना के पहले प्रमुख बिन्दु पर आ सकते हैं।

शब्दावली में निहित इस भूविज्ञान से एक बात स्पष्ट है: लेखक 'वाम' या 'वामपन्थ' को एक 'जेनेरिक' शब्द के रूप में इस्तेमाल करते हैं और इसका उग्रता के साथ तर्कपोषण करते हैं। 'समझदार लोगों' से लेखक का क्या तात्पर्य है, यह उन्होंने यह

कहकर बताने से इंकार कर दिया है कि ऐसी कसौटियाँ निर्धारित करने का पाण्डित्य-प्रदर्शन उन्हें नहीं करना है! लेकिन बाद में वह अपने आपको ऐसे पाण्डित्य-प्रदर्शन से रोक नहीं पाये हैं और एक बेहद व्यापक पैमाना उन्होंने पेश कर ही दिया है! इसमें वे सभी लोग हैं, जो कि उन "पागलों से भरी परिधि" में नहीं हैं जो कि संशोधनवादी वामपन्थ और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद में फर्क करते हैं! इस बात को लेखक ने प्रहसनात्मक ढंग से कहा है: *"जो बाकी सभी दूसरे लोगों पर संशोधनवाद, ग़द्दारी और इससे भी बुरे आरोप लगाकर ही ज़िन्दा रहते हैं!"* स्पष्ट है कि अगर लेनिन या माओ ज़िन्दा होते तो वह भी लेखक के अनुसार इसी पागलपन की परिधि में आते! हम स्पष्ट कर दें कि **सवाल यहाँ यह नहीं है कि कोई क्रान्तिकारी मार्क्सवादी संशोधनवादियों के सैद्धान्तिकीकरणों से विचारधारात्मक तौर पर 'इंगेज' करेगा या नहीं!** सवाल यह है कि वह उनसे कोई बहस या संवाद इसलिए नहीं चलाता है कि वह उन्हें क्रान्तिकारी वाम का अंग मानता है या उनसे कोई उम्मीद रखता है! लेनिन या बाद में माओ ने अगर संशोधनवादियों से विचारधारात्मक संघर्ष चलाया तो इसका मक़सद क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की हिफ़ाज़त और क्रान्तिकारी कतारों की शिक्षा थी। लेकिन यहाँ सभी क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को जानबूझकर एक श्रेणी में रख दिया गया है: वे बचकाने लोग जो अपने सिवा बाकी सभी लोगों को संशोधनवादी, ग़द्दार आदि की संज्ञा देकर ज़िन्दा रहते हैं; वे बचकाने लोग जो मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच के पुराने पड़ चुके फर्क की माला जपते रहते हैं, जबकि दूसरी ओर साम्प्रदायिक फासीवादी उभार सिर पर खड़ा है! निश्चित तौर पर, यह स्वर पराजयबोध और निराशा के गर्त में पड़े लोगों को वाकई 'वाइज़ मैन' का स्वर प्रतीत हो सकता है! लेकिन सच्चाई यह है कि 'वाइज़ मैन' के पास न तो फासीवाद की कोई ऐतिहासिक समझदारी है और न ही उसके प्रतिरोध को संगठित करने की रणनीतियों के बारे में। वह इस बात से भी नावाकिफ़ है कि इतिहास में फासीवादी उभार में योगदान करने वाले कारकों में एक अहम कारक रहा है सामाजिक-जनवादियों की ग़द्दारी और मज़दूर आन्दोलन को बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों और वैधिकता (legality) का कैदी बनाये रखना।

बहरहाल, रवि सिन्हा 'वामपन्थ' और 'वाम' जैसे शब्दों के अपने इस प्रयोग-धर्म और उसके तर्क-पोषण के ज़रिये शेष लेख का स्वर और इसमें सिखाये गये "पाठों" की अन्तर्वस्तु निर्धारित कर देते हैं। लेखक कहता है कि किसी को अच्छा लगे या न लगे, उन्हें तो इन परिधिगत वामपन्थी पागलों को भी वाम में शामिल करना ही पड़ेगा और अफसोस की बात यह है कि उससे सरोकार रखे बिना, उसके विषय में चिन्तित हुए बिना भी नहीं रहा जा सकता है! लेकिन लेखक इस बात को लेकर आश्वस्त है कि ये पागल लोग उनके इस लेख में सिखाये गये पाठों को नहीं सीखेंगे और अन्त में इसे लेकर आपस में झोंटा-झुटव्वल करेंगे! इस कथन के पीछे का सन्देश यह है, *'अगर तुमने मेरे द्वारा दिये गये सबक की आलोचना की तो मैं तुम्हें संकीर्ण हितवादी, स्वार्थी, झगड़ालू और बन्द-दिमाग़ बुलाऊँगा!'* बहरहाल, इस ख़तरे को उठाते हुए भी हम आलोचना के कार्यभार को पूरा करने के लिए आगे बढ़ते हैं।

16 मई को नरेन्द्र मोदी की लोकसभा चुनावों में अभूतपूर्व विजय के बारे में अपनी समझदारी को सामने रखते हुए लेखक शुरुआत करते हैं। **बुर्जुआ चुनावों की जीत-हार का यहाँ जो विश्लेषण पेश किया गया है, वह प्रतीतिगत यथार्थ को ही सारभूत यथार्थ के तौर पर देखता है।** लेखक की यह दलील निश्चित तौर पर कुछ वज़न रखती है कि मोदी की जीत के बाद वामपन्थी खेमे (यहाँ हम भी 'वामपन्थी' शब्द का इस्तेमाल सिर्फ़

तात्कालिक स्पष्टता के लिए 'जेनेरिक' विशेषण के तौर पर कर रहे हैं!) में तमाम लोग *'डिनायल मोड'* में चले गये थे। इससे मोदी की विजय से उनमें पैदा हुए मानसिक सदमे का अनुमान लगाया जा सकता है। इन लोगों की लेखक ने एक सही आलोचना पेश की है और कहा है कि यह मानना चाहिए कि इन चुनावों में धुर दक्षिणपन्थ को स्पष्ट तौर पर ज़बरदस्त जनादेश मिला है। लेकिन इसके बाद लेखक इस जनादेश के लिए जनता से थोड़ा नाराज़ से नज़र आते हैं! इस नाराज़गी को वह अभी थोड़ा छिपा रहे हैं। लेकिन लेख में आगे बढ़ते-बढ़ते उनका संयम जवाब दे जाता है। लेकिन बाद की बातों पर बाद में। यहाँ लेखक यह बताने की कोशिश करते हैं कि बुर्जुआ चुनावों में जनता ने नरेन्द्र मोदी को जो जनादेश दिया है वह **जनता द्वारा अपनी इच्छा और विवेक का प्रकटीकरण** था, हालाँकि उसमें कारपोरेट मीडिया व धनबल का भी हाथ है। इस बात से रवि सिन्हा वामपंथियों (जो कि जनता पर अनालोचनात्मक भरोसा करते हैं!) के लिए यह सबक निकालते हैं: **उन्हें जनता के विवेक पर अपनी अनालोचनात्मक आस्था के साथ इस बात का सामंजस्य बिठाना पड़ेगा कि आखिर उनकी महान जनता ने नरेन्द्र मोदी को जनादेश कैसे दे दिया!**

बुर्जुआ चुनावों में विजय और पराजय का यह विश्लेषण, बहुत छूट देकर कहें तो, एक पस्तहिम्मत उदार निम्न-पूँजीवादी बुद्धिजीवी के हारे हुए दिल की कराह है। कोई भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति यह जानता है कि बुर्जुआ चुनावों में पूँजीपति वर्ग जनता से शासन करने की *सहमति* लेता है; इस मायने में यह वर्ग समाज का पहला शासक वर्ग है जो कि सहमति लेकर शासन करता है और इसीलिए उसके शासन का मूल आधार वर्चस्व है, महज़ प्रभुत्व नहीं; उसका शासन दिव्य रूप से प्रदत्त (divinely-ordained) नहीं होता। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि बुर्जुआ समाज में यह 'सहमति' निर्मित होती है, 'मैन्युफैक्चर' की जाती है। **इसलिए सीधे यह कहना कि जनता ने 'अपने विवेक से' नरेन्द्र मोदी और संघ परिवार को जनादेश दिया है, कम-से-कम एक गम्भीर रूप से अधूरी बात तो मानी ही जायेगी।** जनता अपने *स्वत:स्फूर्त* विवेक से इतिहास में पहले भी बर्बरों का साथ दे चुकी है, चाहे वह उन समाजों की जनता ही क्यों न हो जिन्हें लेखक आधुनिक समाज मानता है! जनता की स्वत:स्फूर्त चेतना ही यदि सर्वहारा चेतना होती तो सर्वहारा वर्ग के हिरावलों की आवश्यकता शायद ही पड़ती! बहरहाल, पहली बात तो यह है कि जनता 'अपने विवेक से' कभी प्रतिक्रियावाद के पक्ष में नहीं खड़ी होती है, ऐसा किसी विवेकवान वामपन्थी का मानना नहीं है। **लेनिन** ने कहीं लिखा था कि जनता अत्यधिक श्रान्ति की स्थिति में प्रतिक्रिया के पक्ष में जाकर खड़ी हो जाती है और इसके लिए मूल तौर पर स्वयं जन समुदायों को नहीं बल्कि उनके बीच क्रान्तिकारी शक्तियों की अनुपस्थिति को ज़िम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। सर्वहारा विश्व-दृष्टिकोण, या मज़दूर वर्ग की राजनीतिक वर्ग चेतना मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों के समाहार से नि:सृत होती है, जो समाहार मज़दूर वर्ग के सदस्य बिरले ही करते हैं। आम तौर पर, ऐसे लोग मध्य वर्गीय बौद्धिक जमातों से आते हैं। हम यहाँ कोई भी नयी बात नहीं कह रहे हैं। लेकिन चूँकि रवि सिन्हा भी यहाँ कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं, बल्कि पुराने अवसादग्रस्त उदार बुर्जुआ 'ऑर्थोडॉक्सी' को ही नये पाण्डित्यपूर्ण शब्दों में पुनर्जीवित कर रहे हैं, इसलिए हम भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान द्वारा दिये गये जवाबों को ही प्रस्तुत करने को बाध्य हैं। यहाँ तमाम प्रयासों के बावजूद भारत की नालायक जनता से रवि सिन्हा की नाराज़गी टपक ही जाती है; लेकिन यह तो सिर्फ़ ट्रेलर है! कुल मिलाकर, इस पूरे हिस्से में बुर्जुआ चुनावों का एक बेहद सतही विश्लेषण है और जनता द्वारा नरेन्द्र मोदी को

दिये गये जनादेश की भी एक अनालोचनात्मक समझदारी सामने आती है। इसके अलावा, जनता को कोई एक एकाश्मीय, सजातीय प्रवर्ग के तौर पर पेश किया गया है। दूसरे शब्दों में, रवि सिन्हा के विश्लेषण से वर्ग दृष्टि पूर्ण रूप से अनुपस्थित है। इस पर हम आगे थोड़ा विस्तार से आयेंगे। साथ ही, इस पूरे विश्लेषण में जनता के राजनीतिक निर्णयों और कार्रवाइयों में अगुआ क्रान्तिकारी शक्तियों की उपस्थिति/अनुपस्थिति/अपर्याप्त उपस्थिति की भूमिका को एक चर राशि (variable) के तौर पर शामिल ही नहीं किया गया है। यह एक उदार बुर्जुआ रूपवादी (formalist) व प्रत्यक्षवादी (positivist) विश्लेषण है, जो विशेष तौर पर फासीवादी उभार का विश्लेषण करते हुए अक्सर हताशा और अवसाद अथवा अवसरवाद में ही समाप्त होता है।

नरेन्द्र मोदी की विजय के बाद लेखक हर बात को लेकर दु:खी भी नहीं है! उनकी यह दलील दुरुस्त है कि नरेन्द्र मोदी की अगुवाई में भाजपा व संघ परिवार अपनी निर्णायक विजय के बाद खुले और व्यापक दंगों की रणनीति नहीं अपनायेगा। हमारा भी मानना है कि अब गुजरात-2002 जैसे नरसंहार कराने की आवश्यता नहीं है। न तो यह पूँजी के हितों के लिए बेहतर है और न ही बुर्जुआ जनवाद के विभ्रम को बरक़रार रखने के लिए अच्छा है। बस मुसलमानों का घेट्टोकरण करके और एक प्रकार की अघोषित 'अपार्थाइड' की नीति के ज़रिये उनका हिन्दुओं से पार्थक्य स्थापित करना पर्याप्त होगा। लेखक का यह प्रेक्षण भी **कमोबेश** ठीक लगता है। लेकिन इसके बाद वह अपने पहले सबक पर जाते हैं और यह बताते हैं कि भारत में भगवा साम्प्रदायिक फासीवादियों की कार्यपद्धति में सत्ता में आने के बाद यह बदलाव क्यों होगा, और यहीं से भयंकर दिक्कतें शुरू होती हैं। आइये, रवि सिन्हा के विश्लेषण और उनके तर्कों पर एक निगाह डालते हैं।

पहला सबक: आओ चलें संसद, विधानसभाओं और अदालतों की ओर!

"जो काम बल-प्रयोग से किया जाता है वह अच्छा नहीं होता। मैं उनमें से नहीं हूँ। अगर भूख और दरिद्रता के हालात ने बचपन में ही मुझे हिंसा सिखायी होती तो मैं भी उनमें से एक होता और कोई प्रश्न नहीं पूछता। लेकिन जैसा है वैसा है। इसलिए मुझे जाना चाहिए।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'दि रेज़िस्टिबल राइज़ ऑफ आर्तुरो उई'*)

रवि सिन्हा का मानना है कि फासीवादियों के सत्ता में आने के बाद वे देश के सामाजिक ताने-बाने के साथ क्या करते हैं यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि यह कि वे *"राज्य और उसकी संरचना के साथ क्या कर सकते हैं और क्या नहीं।"* उनके अनुसार जो बात यहाँ वामपंथियों के लिए आकाशवाणी के समान या सहज उपलब्ध तथ्य के समान नहीं है, काउण्टर-इण्ट्यूटिव (counter-intuitive) है, वह समझना ज़्यादा अहम है। बकौल रवि सिन्हा फासीवादियों की बर्बर शक्ति का स्रोत समाज में है, लेकिन अपनी इस शक्ति के बूते वे राज्य की संरचनाओं को अपनी सामाजिक विचारधारा के अनुसार नहीं बदल सकते हैं। लेखक मानता है कि यह तर्क सामान्य बोध से समझा जा सकता है कि एक बार सत्ता में आने के बाद फासीवादियों को पूँजीवादी राज्य सत्ता में अहम बदलाव करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह राज्यसत्ता कारपोरेट हितों की सेवा करने के लिए पर्याप्त है। लेकिन सिर्फ़ इतना समझना

लेखक के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि यह एक अहम नुक्ते को पकड़ने से चूक जाना होगा। उनके अनुसार यह नुक़्ता उस फ़र्क में अन्तर्निहित है जो कि एक प्रबुद्ध बुर्जुआ-जनवादी कल्याणकारी राज्य और एक हिटलर जैसी फासीवादी तानाशाही के बीच होता है। रवि सिन्हा पूछते हैं कि क्या इस अन्तर के एक वामपन्थी के लिए कोई मायने नहीं हैं? उनके अनुसार *"भारतीय राज्यसत्ता एक ऐसे समाज की गोद में बैठी है जो कई बार ऐसे लोगों को सत्ता में बिठा सकता है जो कि एक फासीवादी-तानाशाहाना रास्ते को अख़्तियार करना पसन्द करेंगे।"* लेकिन भारतीय संवैधानिक बुर्जुआ जनवादी राज्यसत्ता का धन्यवाद ज्ञापन करते हुए, बल्कि शुक्र मनाते हुए, वह इस बात पर राहत का अहसास करते हैं कि भारत में फासीवादी सत्ता में काबिज़ होने के बावजूद अपनी चाहतों और विचारधाराओं के अनुसार यह सब नहीं कर पायेंगे! उनके अनुसार, इस पूरे विश्लेषण से वामपंथियों के लिए जो पहला सबक निकलता है वह है भारतीय राज्यसत्ता और भारतीय समाज के बीच के पहेलीनुमा रिश्तों को समझना। उनके अनुसार, *"आपको इस बात पर ग़ौर करना चाहिए कि समाज बर्बर शक्तियों को पैदा करता है और उन्हें राज्यसत्ता की ज़िम्मेदारी सौंपता है लेकिन राज्यसत्ता बर्बरों को सभ्य बनने के लिए और संवैधानिक ढाँचे के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करती है। इतिहास ने एक अभी-तक-आधुनिक-नहीं-हुए-समाज के बीच से एक आधुनिक राजनीति को ढाला है। इस समाज का निर्माण करने वाली तमाम संस्कृतियाँ और प्रथाएँ आधुनिक राजनीतिक संरचना के साथ असुविधाजनक रूप से अस्तित्वमान हैं। और फिर भी राजनीतिक संरचना काफ़ी हद तक सुरक्षित है। बच्चा एक ऐसी माता के गोद में बैठा है जो बच्चे को कई बार अजनबी और यहाँ तक कि शत्रुतापूर्ण पाती है, लेकिन वह फिर भी बच्चे को अपनी गोद में लिए रहती है।"*

यहाँ रवि सिन्हा ने भारत में राज्य और समाज के सम्बन्धों की एक समझदारी पेश करते हुए इससे अपना पहला सबक निकाला है। अगर मौजूदा हालात में नये फासीवादी शासक वामपंथियों के विरुद्ध अपना अभियान जारी करते हैं तो हमें क्या करना चाहिए? वह कहते हैं कि वामपन्थी कहेंगे कि हम जनता के बीच जायेंगे और उनकी शक्ति के बूते फासीवादियों से लड़ेंगे; यह उनके अनुसार *पूरी तरह से ग़लत* नहीं होगा। लेकिन वह हिदायत देते हैं कि फिर फासीवादी शक्तियाँ आप से भी ज़्यादा लोगों तक पहुँचेंगी! फिर आप क्या करेंगे? फिर वह एक ग़ज़ब का उदाहरण देते हैं। वह कहते हैं कि अगर वामपन्थी पश्चिम बंगाल की सड़कों और खेतों पर तृणमूल कांग्रेस से नहीं लड़ पाये तो फिर अगर सारे वामपन्थी साथ भी आ जायें, जिसकी उम्मीद कम है, तो भी अन्धकार के इस नये राजकुमार से वे शहरों, बस्तियों, गाँवों और जंगलों में कैसे लड़ेंगे? वह भी तब जबकि नये राजकुमार को यूनानी देवताओं के समान जनसमुदायों की सराहना, डरों और प्रार्थनाओं से जीवन शक्ति मिलती है? **इसलिए रवि सिन्हा के मुताबिक नये फासीवादी शासकों को जनता के बीच राजनीतिक संघर्ष करने के लिए न्यौता देने से पहले अच्छी तरह से सोच लेना चाहिए!** रवि सिन्हा के अनुसार ज़्यादा बेहतर तरीका होगा कि वामपन्थी अपने आपको पहले से अस्तित्वमान राजनीतिक ढाँचे में यानी कि संसद, विधानसभाओं, अदालतों आदि में बचाने का प्रयास करें जिसमें कि वे संविधान और कानून की पूरी मदद ले सकते हैं। यहाँ पर वह मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ के साहसिक संघर्षों का उदाहरण देते हैं, जो कि अहमदाबाद की सड़कों पर नहीं हुआ बल्कि अदालतों में हुआ। बाद में वह एक *कैविएट* जोड़ते हैं, जिसे एक बेशर्म दलील पेश करने के बाद इज़्ज़त बचाने का प्रयास कहना ज़्यादा उचित होगा। वह कहते हैं कि हमें आधुनिक राज्यसत्ता और राजनीति व उनकी संरचनाओं से ज़्यादा उम्मीदें भी नहीं

करनी चाहिए क्योंकि जब बर्बर शक्तियाँ सत्ता में आती हैं तो वे इन संरचनाओं को भी अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार एक हद तक तोड़ती-मरोड़ती हैं, लेकिन फिर भी, उनके अनुसार, उनकी उपरोक्त दलील मूलतः और मुख्यतः सही ठहरती है।

अब आइये लेखक के पहले सबक में अन्तर्निहित इस पूरी तर्क पद्धति के गुणों और अवगुणों के आधार पर इसका मूल्यांकन करते हैं। हम यहाँ शुरुआत अपने नतीजों से नहीं करेंगे क्योंकि फिर इस बात की पूरी गुंजाइश होगी हमारी बात सुनने से पहले ही हाशिये पर खड़े या पड़े समझदार लोग हमें 'वाम की पागल परिधि' की संज्ञा दे दें! इसलिए हम लेखक द्वारा पेश की गयी दलीलों की एक क्रमबद्ध पड़ताल करेंगे और उससे उनकी तर्क पद्धति और विचारधारात्मक-राजनीतिक अवस्थिति को निःसृत करने का प्रयास करेंगे और देखने की कोशिश करेंगे कि यह तर्कपद्धति फासीवाद के इतिहास और विचारधारा की समस्याओं और उससे लड़ने की रणनीति और रणकौशलों के विषय में इतिहास के सबकों को किस हद तक समझ पाती है।

रवि सिन्हा ने भारत में राज्य और समाज के चरित्र के बीच एक विरोधाभास पेश किया है। **उनके अनुसार भारतीय समाज अभी आधुनिक नहीं बना है, जबकि कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से उसे एक आधुनिक बुर्जुआ उदार जनवादी संवैधानिक राज्य प्राप्त हुआ है।** इसके लिए उन्होंने ऊपर बतायी गये माँ और बच्चे वाले रूपक को पेश किया है (हालाँकि यह रूपक सटीकता के पैमाने पर दुरुस्त नहीं ठहरता है)। उनके अनुसार फासीवादियों की बर्बर शक्ति का स्रोत समाज में है क्योंकि समाज पुनर्जागरण, धर्म-सुधार आन्दोलन व प्रबोधन जैसे आन्दोलनों की अनुपस्थिति में प्राक्-आधुनिक रह गया है, जबकि राज्य और उसकी संरचनाएँ बुर्जुआ उदार जनवादी हैं व संवैधानिक नियम-कायदों से बँधी हुई हैं। इसी बुनियादी तर्क पर उन्होंने अपने सबक निकाले हैं। लेखक के अनुसार भारत में समाज ऐसा है जो अपनी अन्तर्निहित प्रकृति से फासीवादी, धुर दक्षिणपन्थी और तानाशाहाना ताक़तों को सत्ता में लाता है; लेकिन भला हो भारत के जनवादी राज्य का जिसके कारण सत्ता में आने के बाद फासीवादी ताक़तों को अपने हाथ बाँधने पड़ते हैं, क्योंकि वे इस बुर्जुआ जनवादी राज्य संरचना को या संविधान को बदल नहीं सकते हैं; वास्तव में, ये राज्य, राजनीति और उसकी संरचनाएँ एक प्रकार से फासीवादी बर्बर ताक़तों को सभ्य बनने पर मजबूर करती हैं, उन्हें अपने अनुकूल अनुशासित करती हैं! यह पूरी समझदारी कई बल्कि लगभग हर स्तर पर ग़लत, अनैतिहासिक, समाजशास्त्रीयतावादी (sociologist) है और बुर्जुआ विभ्रमों का भयंकर तरीके से शिकार है।

पहली बात तो यह है कि भारतीय समाज और राज्यसत्ता का यहाँ क्रमशः प्राक्-आधुनिक व आधुनिक के तौर पर सारभूतीकरण (essentialization) किया गया है, जो कि वास्तविकता से बहुत दूर है। दूसरी बात यह कि फासीवादी आन्दोलन और विचारधारा का भी यहाँ एक प्राक्-आधुनिक परिघटना या प्राक्-आधुनिक स्रोतों से पैदा हुई परिघटना के तौर पर सारभूतीकरण किया गया है, जो कि न सिर्फ़ हमारे देश के सन्दर्भ में बल्कि फासीवाद के पूरे वैश्विक इतिहास के सन्दर्भ में ग़लत है। तीसरी बात यह कि फासीवादी उभार का राजनीतिक अर्थशास्त्रीय और ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण इस लेख से पूरी तरह अनुपस्थित है। यह एक बुर्जुआ समाजशास्त्रीयतावादी विश्लेषण है और वह भी ख़राब गुणवत्ता का; यदि किसी को फासीवादी उभार का उदार बुर्जुआ और समाजशास्त्रीय विश्लेषण ही पढ़ना होगा तो इससे बेहतर विकल्प मौजूद हैं। **और**

चौथी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज और राज्यसत्ता के बीच के सम्बन्धों का जो विश्लेषण पेश किया गया है वह न सिर्फ़ अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक और भोंड़ा प्रत्यक्षवादी विश्लेषण है, बल्कि वह वास्तव में अमेरिकी ड्यूई़वादी व्यवहारवाद से काफ़ी कुछ उधार लेता है। इस विश्लेषण का क्रान्तिकारी वामपन्थी या मार्क्सवादी विश्लेषण से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। इसे ज़्यादा से ज़्यादा एक उदार बुर्जुआ फेबियनवादी व व्यवहारवादी विश्लेषण कहा जा सकता है। इसके अलावा, रवि सिन्हा चलते-चलते भारतीय वामपन्थ पर ऐसी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करते हैं, जो उन पर लागू नहीं होती। मिसाल के तौर पर, उनका प्रश्न है कि क्या वामपन्थी उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य और एक तानाशाहाना फासीवादी बुर्जुआ राज्य में फर्क नहीं करते हैं या फिर पर्याप्त रूप से फ़र्क करते हैं? कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्रश्न मूल्यरहित नहीं है और इसमें एक आक्षेप अन्तर्निहित है। लेकिन हमें ताज्जुब होता है कि लेखक इस बात से वाक़िफ़ नहीं है कि दुनिया भर में मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के बीच यह स्थापित तथ्य है कि एक उदार बुर्जुआ राज्य और एक फासीवादी बुर्जुआ राज्य के बीच फर्क किया जाना चाहिए; इस फर्क को मार्क्सवादियों ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से और पूँजीवाद के ऐतिहासिक विश्लेषण से स्पष्ट किया है और इस फर्क के मुताबिक रणनीतिक और रणकौशलात्मक नतीजे भी निकाले हैं। हम जानते हैं कि ऐसा कहना कतई ग़लत होगा कि फासीवादी और विशेष तौर पर वर्तमान फासीवादी उभार के बारे में कम्युनिस्टों ने सारा विश्लेषण पहले ही कर रखा है! लेकिन रवि सिन्हा का यह इशारा कि कम्युनिस्टों को उदार बुर्जुआ राज्य और फासीवादी बुर्जुआ राज्य में फर्क करने का सबक भी हाशिये से प्रसारित होते उनके सबकों से लेना होगा, अनुचित लगता है।

बहरहाल, अब रवि सिन्हा द्वारा भारत में राज्य और समाज के रिश्तों की जो अवधारणा पेश की गयी है, उस पर आते हैं। भारतीय समाज को एक प्राक्-आधुनिक समाज के रूप में पेश किया गया है, जिसमें नैसर्गिक तौर पर सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियाँ मौजूद है और इन प्रवृत्तियों के चलते ही वह स्वत:स्फूर्त तौर पर कई बार फासीवादियों और तानाशाहों को सत्ता सौंप देता है! **यह भारतीय समाज का एक अनैतिहासिक सारभूतीकरण (ahistorical essentialization) है।** निश्चित तौर पर, भारतीय समाज पश्चिम के समान पुनर्जागरण, धर्म सुधार आन्दोलन और प्रबोधन की प्रक्रिया से नहीं गुज़रा और जिस समय यहाँ पुनर्जागरण और प्रबोधन के अलग किस्म के संस्करणों की ज़मीन तैयार हो रही थी, उसी समय उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय समाज में बुर्जुआ आधुनिकता के तत्वों के प्रकट होने और पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं को कुचल दिया। अंग्रेज़ी औपनिवेशिक राज्य ने अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए एक शिक्षा व्यवस्था, कानून के समक्ष समानता आदि की स्थापना की तो दूसरी ओर भारतीय समाज के पुनरुत्थानवादी, प्राक्-आधुनिक तत्वों को प्रश्रय भी दिया। औपनिवेशिक राज्यसत्ता की नीति का द्वन्द्व बार-बार प्रकट होता रहता था, जैसा कि 'सहमति की आयु' विवाद, कानून के समक्ष समानता को लेकर हुए विवाद, और भूमि व्यवस्था (land settlement) को लेकर फ़िज़ियोक्रैट्स और यूटिलिटैरियन फरके में चली बहस आदि में देखा जा सकता है। एक ओर सामन्ती शासक वर्ग और प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ संश्रय बनाने की आर्थिक और राजनीतिक ज़रूरत थी, तो दूसरी ओर औपनिवेशिक राज्य की अन्य प्रशासनिक व राजनीतिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मैकाले की शिक्षा व्यवस्था और एक कानूनी, संवैधानिक व्यवस्था की स्थापना भी वांछनीय थी। औपनिवेशिक राज्यसत्ता की इस दोहरी और परस्पर अन्तरविरोधी ज़रूरतों और उसके नतीजे के तौर पर सामने आने वाली दोहरी

और एक हद तक अन्तरविरोधी नीतियों के कारण राष्ट्रवादी आन्दोलन के उदय में हमें दो धाराएँ देखने को मिलती हैं: पुनरुत्थानवादी धारा और पश्चिमी प्रबोधन व तर्कणा से प्रभावित आधुनिकतावादी धारा। ये दोनों धाराएँ कुछ अर्थों में 1916 के बाद के राष्ट्रवादी आन्दोलन में आकर संलयित हुईं और इस प्रक्रिया के प्रतीक पुरुष गाँधी थे। गाँधी में जहाँ पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया के स्पष्ट तत्व मौजूद हैं तो वहीं उनमें बुर्जुआ आधुनिकता, मानवतावाद और उदारतावाद के तत्व भी दिखायी पड़ते हैं। **लेकिन कुल मिलाकर कहा जाय तो राष्ट्रवादी आन्दोलन मुख्य तौर पर एक आधुनिकतावादी आन्दोलन था** (यहाँ हम सबऑल्टर्न इतिहासकारों की तरह राष्ट्रवादी आन्दोलन को आधुनिक नहीं कह रहे हैं)। यह महज़ एक देशभक्तिपूर्ण (patriotic) आन्दोलन नहीं था बल्कि एक राष्ट्रवादी आन्दोलन था; 'राष्ट्र' की अवधारणा अपनी प्रकृति से ही एक बुर्जुआ आधुनिक अवधारणा या परिकल्पना है। **कोई राष्ट्रीय आन्दोलन मूलतः और मुख्यतः प्राक्-आधुनिक हो ही नहीं सकता है। इस आन्दोलन में अलग-अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों में पुनरुत्थानवादी और प्राक्-आधुनिक तत्व हो सकते हैं, जिन्हें आधुनिक बुर्जुआ राष्ट्रवाद ने अपनी ज़रूरतों के मुताबिक सहयोजित किया हो, जैसा कि भारत में मामले में कहा जा सकता है।** ख़ैर, सवाल यह है कि आज़ादी के बाद जो भारतीय समाज सामने आया और आज़ादी के बाद से लेकर अभी तक भारतीय समाज में जो विकास हुए उसके फलस्वरूप आज जो भारतीय समाज हमारे सामने है, क्या आज हम उसे एक प्राक्-आधुनिक समाज कह सकते हैं? हमारा विचार है कि यह सूत्रीकरण सिरे से ग़लत है।

हमारे सामने जो समाज है वह एक उत्तर-औपनिवेशिक (उत्तरऔपनिवेशिक नहीं) आधुनिक समाज है; भारत में इस उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिकता में पर्याप्त मात्रा में प्राक्-आधुनिक, आदिम (primordial) तत्व मौजूद हैं और ये तत्व इस विशिष्ट किस्म की आधुनिकता के द्वारा सहयोजित, समायोजित और *आर्टिकुलेटेड* (articulated) हैं। इसके अलावा हम और कोई अपेक्षा भी नहीं कर सकते हैं। और इस समाज ने जिस राज्यसत्ता, राजनीतिक परम्पराओं और संरचनाओं को जन्म दिया वह इसी सामाजिक ढाँचे की हिफ़ाज़त के लिए है। यह कहना एक बात है कि सामाजिक-आर्थिक ढाँचे और राजकीय व राजनीतिक अधिरचना के बीच 'बराबर' का चिन्ह नहीं लगाया जा सकता है और उनके बीच अन्तरविरोध होने के कारण एक **संगति (correspondence)** का सम्बन्ध होता है; कोई भी मार्क्सवादी समाज विज्ञानी इस बात से सहमति ज़ाहिर करेगा; **लेकिन समाज और राज्य के बीच जिस प्रकार के द्विभाजन (dichotomy) और विरोधाभास (paradox) रवि सिन्हा पेश करते हैं, वह कतई बुर्जुआ समाजशास्त्रीयतावादी विश्लेषण है जो कि अपने ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव से पहचाना जा सकता है।** ऐसे विरोधाभासी सम्बन्ध के साथ कोई राज्य और समाज दीर्घकालिक अवधि के लिए अस्तित्व में रह ही नहीं सकते हैं। वास्तव में, भारतीय राज्य और समाज के बीच के सम्बन्ध को समझने में रवि सिन्हा ठीक इसलिए असफल रहते हैं क्योंकि वे भारतीय समाज के चरित्र और भारतीय राज्य के चरित्र को समझने और उसे एक विशिष्ट किस्म के उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी विकास के आख्यान में अवस्थित कर पाने में नाकाम रहते हैं। राज्य और समाज के चरित्र और उनके बीच के सम्बन्धों का एक आधिभौतिक दृष्टिकोण हमारे सामने पेश किया जाता है जो कि उनके सम्बन्धों को समझने का दावा करने के बावजूद उनके अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन नहीं करता है, बल्कि उन्हें अलग-थलग करके (in isolation) विश्लेषित करता है और अन्ततः उनके रिश्तों

का एक गतिक (dynamic) दृष्टि पर नहीं बल्कि एक स्थैतिक (static) दृष्टि पर पहुँचता है।

रवि सिन्हा भारतीय संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य को और उसकी राजनीतिक संरचनाओं को आधुनिक क़रार देते हैं; **लेकिन क्या यहाँ की राजनीतिक और राजकीय संरचनाओं व परम्पराओं को क्लासिकीय अर्थों में और अनालोचनात्मक तौर पर आधुनिक कहा जा सकता है?** हमें नहीं लगता। क्या धार्मिक कानूनों का व्यक्तिगत मामलों में लागू किया जाना एक सेक्युलर आधुनिक राज्य या संविधान की निशानी है? क्या हम राजनीतिक व राजकीय अधिरचना को यहाँ धर्म से पूर्ण रूप से अलग तौर पर देख सकते हैं? पाश्चात्य आधुनिकता राजनीतिक संस्थाओं में धर्म या धार्मिक संस्थाओं में राजकीय/राजनीतिक संस्थाओं की मौजूदगी का पूर्ण रूप से निषेध करती है, जिसे फ्रांसीसी भाषा में ***लाईसाईट*** **(laïcité)** की अवधारणा के द्वारा व्याख्यायित किया जाता है, और जिसे बुर्जुआ आधुनिकता का एक बुनियादी संघटक तत्व माना जाता है। क्या भारत में हम इसका दावा कर सकते हैं? भारत राज्यसत्ता और धर्म के पूर्ण अलगाव की बात नहीं करती बल्कि सभी धर्मों को बराबर मानने की बात करती है और इसी आधार पर धार्मिक आधार पर 'पर्सनल लॉ' की व्यवस्था की गयी है। **इसलिए भारतीय राज्य और संविधान को अनालोचनात्मक तौर पर और क्लासिकीय अर्थों में एक आधुनिक संस्था मानना भी एक भूल है।**

वास्तव में, भारत में जिस प्रकार की उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज और अर्थव्यवस्था आयी उन्होंने उसी प्रकार के उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्य और संविधान को भी जन्म दिया। समाज और राज्य दोनों में ही आधुनिकता और पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया के तत्व मौजूद हैं और शासक वर्गों के लिए अपने शासन को जारी रखने की ख़ातिर इन तत्वों का मिश्रण काफ़ी उपयोगी भी हैं। रवि सिन्हा के पूरे सैद्धान्तिकीकरण में भारतीय पूँजीवाद के विशिष्ट चरित्र की कोई द्वन्द्वात्मक समझदारी नहीं है। **वह अपनी उदार बुर्जुआ व्यवहारवादी (pragmatist) दृष्टि से प्रस्थान करते हैं और राज्य और समाज के बीच लगभग वैसा ही द्विभाजन पेश करते हैं, जो कि ड्यूई और रॉल्स जैसे व्यवहारवादियों और उनका अनुसरण करते हुए अम्बेडकर ने किया था।** उनकी नज़र में उदार बुर्जुआ संवैधानिक कल्याणकारी राज्य सबसे तार्किक अभिकर्ता होता है; समाज की अव्यवस्था, अनियमितता और असंगतियों को वह प्रति-सन्तुलित करता है! और भारत में तो रवि सिन्हा के मुताबिक इसकी बेइन्तहाँ ज़रूरत है क्योंकि भारतीय समाज की बात तो छोड़ दें, पाश्चात्य समाजों में भी (जो कि रवि सिन्हा के मुताबिक सर्वसत्तावादी, आदिम और प्राक्-आधुनिक नहीं हैं) कुछ असंगतियाँ, असमानताएँ आदि होती हैं जिन्हें कि राज्य अपनी सकारात्मक कार्रवाई के ज़रिये प्रति-सन्तुलित करता है। रवि सिन्हा का सैद्धान्तिकीकरण पूरी तरह ड्यूई या रॉल्स का अनुसरण तो नहीं करता, लेकिन यह कहना होगा कि उस पर ड्यूई और रॉल्स की छाया बराबर बनी रहती है। रवि सिन्हा के विश्लेषण में भारतीय संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य का ढाँचा पूर्वप्रदत्त नियतांक (given constant) है। भारतीय समाज मुख्यत: और मूलत: प्रतिक्रियावादी, सर्वसत्तावादी और प्राक्-आधुनिक है और समय-समय पर बर्बरों को सत्ता में पहुँचा देता है; लेकिन सत्ता में पहुँचने के बाद बेचारे बर्बरों को भारतीय राज्यसत्ता और संविधान सभ्य बनने पर मजबूर करने लगते हैं! यह हास्यास्पद है और भारतीय इतिहास के तथ्यों का मखौल बनाना है। **भारतीय राज्य और संविधान ने इतिहास ने बार-बार दिखलाया है कि धुर दक्षिणपन्थी ताक़तें और प्रतिक्रियावादी ताक़तें बिना संवैधानिक ढाँचे और**

राज्य की संरचनाओं से खिलवाड़ किये, अपने राजनीतिक 'डिज़ाइन' पर अमल कर सकती हैं। बल्कि कहना चाहिए कि भारतीय राज्य और संविधान में शुरू से ही इस बात की सुषुप्त सम्भावना मौजूद थी कि उसके बुनियादी ढाँचे में कोई परिवर्तन किये बिना या फिर किसी मामूली परिवर्तन के ज़रिये उससे फासीवादी और दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी हितों की सेवा करवायी जा सकती है। इसके बावजूद, रवि सिन्हा का यह प्रेक्षण कि भारतीय राज्य और संवैधानिक ढाँचा बर्बरों को सत्ता में आने के बाद सभ्य बनने के लिए बाध्य करेगा, यह दिखलाता है कि भारतीय इतिहास की उनकी समझदारी बेहद दरिद्र है और साथ ही यथार्थवादी होने के नाम पर वास्तव में बुर्जुआ समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में पेश आद्यरूपीय श्रेणियों (archetypal categories) को वास्तविक इतिहास में ढूँढने का असफल प्रयास करती रहती है।

यहाँ हम रवि सिन्हा के विश्लेषण में एक और अजीबो-ग़रीब सूत्रीकरण को देख सकते हैं। **उनके अनुसार, फासीवादी ताक़तों के चरित्र और उनकी शक्ति के स्रोतों को प्राक्-आधुनिक क़रार दिया गया है।** यह वास्तव में उदारवादी बुर्जुआ विश्लेषण से भी पीछे जाने के समान है। ज़ाहिर है, फासीवाद क्या है और उसके उभार के ऐतिहासिक कारण क्या हैं, इसकी जो व्याख्या रवि सिन्हा पेश करते हैं उसमें राजनीतिक अर्थशास्त्रीय और ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण ग़ायब है। **फासीवाद का उभार बुर्जुआ उदारवादी राज्य और व्यवस्था के आख्यान (narrative) में किसी विच्छेद (rupture) को प्रदर्शित नहीं करता है, बल्कि उसकी निरन्तरता (continuity) को भी प्रदर्शित करता है।** अगर विच्छेद का कोई तत्व है भी तो वह रूप के धरातल पर ज़्यादा है। पूँजीवादी राज्य के लिए ऐतिहासिक तौर पर और आम तौर पर ज़्यादा मुफ़ीद अस्तित्व-रूप (modus vivendi) निश्चित तौर पर बुर्जुआ जनवादी राज्य है (चाहे वह कल्याणकारी हो या न हो)। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था का असमाधेय संकट द्वैध सुषुप्त सम्भावनाओं को जन्म देता है। यह संकट मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के राजनीतिक तौर पर तैयार होने और उसकी हिरावल शक्तियों के तैयार होने की सूरत में इतिहास को क्रान्तिकारी परिवर्तनों की दिशा में *ले जा सकता* है, और ऐसा न होने की सूरत में संकट प्रतिक्रियावादी समाधान (फासीवाद या किसी अन्य प्रकार के प्रतिक्रियावादी दक्षिणपन्थी उभार) की ओर ले सकता है। फासीवाद पूँजीवाद के महाख्यान में कोई विच्छेद नहीं बल्कि उसी का एक हिस्सा है। **फासीवाद वास्तव में एक आधुनिक परिघटना है जिसे हम मोटे तौर पर बड़ी पूँजी की बर्बर और नग्न तानाशाही और साथ ही टटपुँजिया वर्गों के रूमानी उभार के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं। निश्चित तौर पर, यह समाज में मौजूद पुनरुत्थानवाद और प्राक्-आधुनिक तत्वों का इस्तेमाल करता है लेकिन वह इससे स्वयं कोई प्राक्-आधुनिक राजनीतिक परिघटना नहीं बन जाता है।** फासीवाद कोई भी दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी उभार नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक आन्दोलन है। लेकिन इसे सिर्फ़ एक सामाजिक आन्दोलन कहना पर्याप्त नहीं होगा; साथ ही, इस राजनीतिक सामाजिक आन्दोलन का वर्ग विश्लेषण करना भी यहाँ अपरिहार्य होगा, अन्यथा उसे रवि सिन्हा के समान पूरे समाज और पूरी जनता पर यह कहकर थोपा जा सकता है कि 'जनता ने अपने विवेक' से फासीवादियों को सत्ता में पहुँचाया।

फासीवाद पूँजीवादी संकट का एक प्रतिक्रियावादी और बर्बर समाधान पेश करता है, जिसका कतई यह अर्थ नहीं है कि वह राजनीतिक तौर पर आधुनिक नहीं है। बुर्जुआ

आधुनिकता का अनालोचनात्मक तौर पर जश्न नहीं मनाया जा सकता है, जैसा कि रवि सिन्हा करते हैं; न ही उसे पूरा का पूरा कचरा-पेटी में फेंका जा सकता है जैसा कि तमाम उत्तरआधुनिकतावादी, उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्तकार और सबऑल्टर्न सिद्धान्तकार करते हैं (हालाँकि, ये सारे के सारे स्वयं बुर्जुआ आधुनिकता के दायरे का अतिक्रमण नहीं करते हैं, बल्कि उसके दक्षिणपन्थी, प्रतिक्रियावादी और जनविरोधी हिस्से में वास करते हैं)। एंगेल्स 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में बुर्जुआ आधुनिकता का एक द्वन्द्वात्मक विश्लेषण पेश करते हैं और उसके एक दौर में ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील चरित्र की बात करते हुए, उसे बुर्जुआ वर्ग के शासन के नैसर्गिकीकरण के तौर पर भी देखते हैं। आज के दौर में जब पूँजीवादी व्यवस्था अपने सबसे पतनशील और मानवद्रोही दौर में प्रवेश कर चुकी है और पूरी मानवता के भविष्य पर उसने एक सवालिया निशान लगा दिया है, तो फिर बुर्जुआ आधुनिकता अपने आपको तमाम मानवद्रोही, जनविरोधी, बर्बर और प्रतिक्रियावादी रूप में पेश करेगी और कर भी रही है। जो व्यक्ति बुर्जुआ प्रबोधन और तर्कणा के प्रति भक्ति का रुख़ अपनाये हुए हो और *एनाक्रॉनिस्टिक* ढंग से उसके हैंग-ओवर में फँसा हुआ हो, केवल वही फासीवाद के उभार पर यह सोच सकता है कि यह बुर्जुआ आधुनिकता का अंग नहीं है, बल्कि समाज में मौजूद सर्वसत्तावादी रुझानों से पैदा हुआ है, जबकि राज्यसत्ता आधुनिक निकाय के तौर पर फासीवादियों की बर्बरता को अपनी आधुनिक सभ्य-ता से प्रतिसन्तुलित कर रही है। **रवि सिन्हा के पूरे सैद्धान्तिकीकरण में बुर्जुआ आधुनिकता प्रति एक *फेटिश* (fetish) को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।** और बुर्जुआ आधुनिकता के नैसर्गिक अंग और पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक परिणति के तौर फासीवाद के उभार के बरक्स स्वयं रवि सिन्हा भी एक प्रकार के 'डिनायल मोड' में चले गये हैं और बार-बार फासीवादी उभार के चरित्र और उसके स्रोतों को प्राक्-आधुनिक क़रार देने पर तुले हुए हैं, जबकि वास्तव में ये दोनों ही निहायत आधुनिक चीज़ें हैं। **ऐसा करके वस्तुगत तौर पर रवि सिन्हा बुर्जुआ आधुनिकता के एक 'अपॉलोजिस्ट' के तौर सामने आते हैं।**

फासीवाद के उभार का पूर्ण विश्लेषण पूँजीवादी व्यवस्था की राजनीतिक अर्थशास्त्रीय आलोचना और ऐतिहासिक व्याख्या के बिना केवल समाजशास्त्रीयतावादी और प्रत्यक्षवादी ही हो सकता है। और रवि सिन्हा के विश्लेषण के साथ यही समस्या है। यह विश्लेषण फासीवाद के उभार की अब तक की गयी मार्क्सवादी-लेनिनवादी और यहाँ तक कि अराजकतावादी और सामाजिक जनवादी व्याख्याओं से या तो अनभिज्ञ है या उन्हें सुविधाजनक चुप्पी के साथ नज़रन्दाज़ करता है। वामपन्थी विद्वानों के बीच फासीवाद के उदय और विकास के कारणों को लेकर भारी बहस मौजूद रही है। **कर्ट गॉसवीलर, ऐंसन रैबिनबाख़, टिम मेसन, माईकल कालेकी, ब्रेष्ट, लूकाच, डेविड अब्राहम, डेरेक लिण्टन** आदि के विषय में रवि सिन्हा का विश्लेषण अनभिज्ञ है। अलग-अलग दृष्टिकोणों के बावजूद इन वामपन्थी विद्वानों के बीच एक बात को लेकर सहमति है: फासीवाद एक आधुनिक परिघटना है और इसे किसी भी रूप में प्राक्-आधुनिक या आदिम प्रवृत्तियों से गड्ड-मड्ड करना केवल यह दिखलाता है कि आप पूँजीवादी आधुनिकता को ही नहीं समझते हैं। रैबिनबाख़ का यह कथन ग़ौर करने योग्य है: **"फासीवाद निस्सन्देह रूप से एक आधुनिक परिघटना है। युद्धोत्तर उन्नत पूँजीवाद के दौर में पैदा हुए राज्य और समाज के सम्बन्धों के रूपान्तरण में यह बात सबसे अधिक देखी जा सकती है, हालाँकि यह उदार जनतन्त्र के सन्दर्भों में हुआ है।"** (रैबिनबाख़, **'टुवर्ड्स ए मार्क्सिस्ट थियरी ऑफ फाशिज़्म'**, *रेज़िस्टिबल राइज़*, सं.-मार्गिट

कोव्स व शास्वती मजुमदार, लेफ्ट वर्ड बुक्स, 2005, पृ. 71) आगे रैबिनबाख़ स्पष्ट करते हैं कि फासीवादी उभार का चरित्र और आवश्यकताएँ ही ऐसी हैं कि वह टटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी के लिए ज़रूरी विचारधाराओं के लिए अतीत में देखता है और साथ ही उसकी भावी योजना समाज और अर्थव्यवस्था का एक अतिरेकपूर्ण पूँजीवादी आधुनिक पुनर्गठन की होती है।

यह भी ग़ौरतलब है यहाँ जिस अतीत की विचारधारा का फासीवाद आवाहन करता है, वह कोई प्राक्-आधुनिक चीज़ नहीं है। वह वास्तव में एक गौरवशाली अतीत की आधुनिक कल्पना, आविष्कार और नवोन्मेष होता है। अतीत के "गौरव" के आवाहन की अनुगूँज टटपुँजिया जनसमुदायों के बीच इसलिए मिलती हैं क्योंकि इन वर्गों का संकट भी आधुनिक है और उसके समाधान की उनकी *फैण्टास्टिक* (fantastic) अपेक्षाएँ भी मूलतः आधुनिक हैं! रैबिनबाख़ ने ही आगे लिखा है, **"फासीवाद के वे सिद्धान्त जो इन असंगत दिखने वाले क्षणों को नहीं समझते–यानी कि इसकी तकनोलॉजिकल और राजनीतिक आधुनिकता और इसका विचारधारात्मक परम्परावाद–वे अपूर्ण हैं।"** (वही) रैबिनबाख़ के पूरे सिद्धान्त से सहमति न रखते हुए भी इस प्रेक्षण को कमोबेश सही माना जा सकता है। **वाल्टर बेंजामिन** ने एक जगह लिखा था, **"अतीत का ऐतिहासिक आर्टिकुलेशन पेश करने का यह अर्थ नहीं है कि उसकी पहचान ठीक उस रूप में की जाये 'जैसा कि वह वास्तव में था' (रांके)। इसका अर्थ होता है स्मृति की उस कौंध को पकड़ना जो कि ख़तरे के क्षण में उपस्थित होती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद अतीत की उस छवि को कायम रखना चाहता है जो कि इतिहास द्वारा अकेले किये गये व्यक्ति के समक्ष ख़तरे के क्षण में अनपेक्षित रूप में उपस्थित होती है। यह ख़तरा परम्परा की अन्तर्वस्तु और इसके प्राप्तकर्ताओं, दोनों को ही प्रभावित करती है। एक ही जोखिम उनके सिर पर लटक रहा होता है: शासक वर्ग का उपकरण बन जाने का।"** (वॉल्टर बेंजामिन, **'थीसीज़ ऑन दि फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री'**, *इल्यूमिनेशंस*, फोण्टाना/कॉलिंस, ग्लास्गो, 1977, पृ. 257) इस उद्धरण में मौजूद जुडाइक मसीहावाद के प्रभाव को छोड़ दें, तो यह प्रेक्षण बिल्कुल सही है कि परम्पराओं और उसके प्राप्तकर्ताओं दोनों के सामने ख़तरे के क्षण में शासक वर्ग का उपकरण बन जाने का जोखिम मौजूद रहता है।

रवि सिन्हा का विश्लेषण एक अन्य मायने में फासीवाद के उदय की व्याख्या करने वाले तमाम स्कूलों में से उदार बुर्जुआ स्कूलों के साथ जाकर खड़ा होता है और वास्तव में उनकी अवस्थितियों का एक दरिद्र मिश्रण है। इसमें से एक है **फ्यूहरर-स्टेट का सिद्धान्त** जो कि हिटलर जैसे किसी तानाशाह के सत्ता में पहुँचने को 'जनता की इच्छा' की अभिव्यक्ति मानते हैं! इस सिद्धान्त में जनता या समाज को एक जैविक पूर्णता (biological totality) या एकाश्मीय निकाय के तौर पर देखा जाता है। न तो यह सिद्धान्त समाज का कोई वर्ग विश्लेषण पेश करता है और न ही फासीवादी तानाशाही के वर्ग चरित्र को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर पाता है। इसलिए इसमें तानाशाह पर भी कुछ अति-केन्द्रण हो जाता है। ऐसा विश्लेषण ही 'अन्धकार के राजकुमार'-मार्का भाषा का इस्तेमाल कर सकता है। निश्चित तौर पर, 'राजकुमार', 'बर्बरों' आदि जैसे रूपकों का इस्तेमाल फासीवाद के एक सम्पूर्ण वर्ग विश्लेषण में किया जा सकता है। लेकिन अगर पूरे विश्लेषण की जगह ही ऐसे साहित्यिक रूपक ले लें तो बात दिक्कततलब है!

रवि सिन्हा का विश्लेषण फासीवाद के विश्लेषण को आधुनिक और प्राक्-आधुनिक

के द्विभाजन के उपकरण द्वारा व्याख्यायित करने के प्रयास में (सम्भवतः अपनी इच्छा से स्वतन्त्र) पूँजीवादी व्यवस्था को दोषमुक्त कर देता है! क्योंकि फासीवादी उभार उनके लिए पूँजीवादी व्यवस्था के आख्यान का एक नैसर्गिक अंग नहीं है बल्कि भारतीय या ऐसे समाजों में निहित सर्वसत्तावादी, प्राक्-आधुनिक, आदिम, बर्बरतापूर्ण प्रवृत्तियों का नतीजा है और उनकी प्रतिसन्तुलनकरी ताक़त अम्बेडकर द्वारा निर्मित बुर्जुआ उदार जनवादी संविधान और उसके द्वारा संचालित (?) राज्य व्यवस्था है! यह अद्वितीय विश्लेषण न चाहते हुए भी रवि सिन्हा को **हेनरी ऐशबाई टर्नर** जैसे असुधारणीय रूप से उदारवादी बुर्जुआ सिद्धान्तकारों की कतार में खड़ा कर देता है, जो कि फासीवादी उभार और पूँजीवादी व्यवस्था के बीच के नाभिनालबद्ध सम्बन्ध को जाने या अनजाने या तो ग़ायब कर देता है या फिर कमज़ोर कर देता है। आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता की 'बाइनरी' का रवि सिन्हा (केवल इस लेख में ही नहीं बल्कि अन्य स्थानों पर भी) जिस प्रकार इस्तेमाल करते हैं, उसे **गाइल्स देल्यूज़** ने सही नाम दिया है : **'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस' (dysjunctive synthesis)**, यानी, छद्म विकल्पों का समुच्चय। रवि सिन्हा जो 'बाइनरी' हमारे सामने पेश कर रहे हैं और वास्तव में जिस बाइनरी से उनका पूरा विश्लेषण और उनके द्वारा दिये जाने वाले 'सबक' निर्धारित होते हैं, वह वास्तव में एक 'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस', एक छद्म विकल्पों की 'बाइनरी' है। फासीवाद के विरुद्ध पूरे संघर्ष को इस 'बाइनरी' में अपचयित (reduce) कर दिया गया है। और जो नतीजे निकले हैं, वे भयंकर हैं!

इसके अलावा, रवि सिन्हा के सैद्धान्तिकीकरण पर फासीवाद के उभार के एक अन्य बुर्जुआ सिद्धान्त की छाया भी देखी जा सकती है, जिसे **राष्ट्रीय विशिष्टता के सिद्धान्त** से भी जाना जाता है। इसके एक सिद्धान्तकार **जूर्गेन कोका** ने दलील पेश की है कि जर्मन समाज सही मायने में कभी बुर्जुआ आधुनिक समाज नहीं था और यही कारण है कि वहाँ फासीवाद का उदय हुआ; क्योंकि वहाँ अतार्किक, प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं और बर्बर मूल्यों व सिद्धान्तों के फलने-फूलने की ज़मीन मौजूद थी। **यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करने में असफल रहता है कि फासीवाद के उभार का पूँजीवाद के विकास के एक विशिष्ट क्षण से रिश्ता है और इस विशिष्ट क्षण में ही दुनिया के कई देशों में फासीवादी आन्दोलन पैदा हुए थे, हालाँकि उन्हें सफलता जर्मनी, इटली और एक हद तक स्पेन, हंगरी, पुर्तगाल, यूनान आदि जैसे देशों में ही मिली थी।** आज के दौर में भी जब विश्व पूँजीवाद अभूतपूर्व संकट से गुज़र रहा है, तो न केवल हम यूनान जैसे दक्षिण यूरोपीय देश में 'गोल्डेन डॉन' जैसी फासीवादी ताक़तों का उभार देख रहे हैं, बल्कि फ्रांस जैसे आधुनिक समाज में (यानी, जितने अधिक से अधिक आधुनिक की आप कल्पना कर सकते हैं!) 'नेशनल फ्रण्ट' जैसी धुर दक्षिणपन्थी फासीवादी पार्टी के उभार को भी देख रहे हैं। 'आधुनिक' और 'प्राक्-आधुनिक' के छद्म विकल्पों के समुच्चय के ज़रिये आज फासीवादी और धुर दक्षिणपन्थी ताक़तों के वैश्विक उदय की व्याख्या नहीं की जा सकती है। न तो भारत में फासीवादी उभार की विशिष्टता को रवि सिन्हा की पद्धति से पहचाना जा सकता है और न ही इसे फासीवाद के वैश्विक उभार की सामान्यता में अवस्थित किया जा सकता है।

यह है रवि सिन्हा द्वारा राज्य और समाज के सम्बन्धों के विषय में प्रस्तुत समझदारी, जिसे भरपूर उदारता के साथ राजनीतिक तौर पर उदार बुर्जुआ, व्यवहारवादी, सुधारवादी और सामाजिक-जनवादी और विचारधारात्मक तौर पर अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और अतार्किक कहा जा सकता है। ऐसे विश्लेषण से निकाले गये उनके पहले

सबक के बारे में भी यही कहा सकता है। रवि सिन्हा का कहना है कि फासीवादी उभार का मुकाबला करने के लिए फिलहाल जनता के पास जाना, उन्हें संगठित करना उपयुक्त रणनीति नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर फासीवादी भी जनता के बीच जायेंगे और उनकी पहुँच आपसे ज़्यादा होगी। लेखक वामपन्थ की पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस के हाथों हार का उदाहरण देते हुए पूछते हैं, *"अगर वामपन्थ, मिसाल के तौर पर, पश्चिम बंगाल की सड़कों और खेतों में तृणमूल के ख़िलाफ़ नहीं लड़ पाया तो यह पूरे देश के शहरों, बस्तियों, गाँवों और जंगलों में अन्धकार के नये राजकुमार से कैसे लड़ेगा, अगर सारे वामपन्थी साथ आ जायें तो भी, जिसकी कम ही उम्मीद है।"* रवि सिन्हा इस बात से पर्याप्त भयाक्रान्त नज़र आते हैं कि अन्धकार के नये राजकुमार को जनता से पर्यात सराहना, भय और प्रार्थनाएँ मिल रही हैं! हम देख सकते हैं कि समाज और जनता पर भरोसे के अभाव में वह काफ़ी डर गये हैं और इसीलिए उन्होंने विश्लेषण के लिए सही आरम्भ बिन्दु नहीं चुना, यानी कि **फासीवाद का उभार हुआ क्यों है और क्या हमारे पहले से ही जनता के बीच न जाने का इसमें कोई योगदान है?** यही कारण है कि अन्त में वे बुर्जुआ जनवादी संवैधानिक संस्थाओं जैसे कि संसद और विधानसभाओं और साथ ही न्यायपालिका में फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान करते हैं और उनके आदर्श हैं मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़।

पहली बात तो यह कि उनके नतीजे में इस बात का कोई विश्लेषण नहीं है कि फासीवाद का उभार हुआ ही क्यों है, जिसे हमने पहले सही आरम्भ-बिन्दु का चुनाव न करना कहा है। निश्चित तौर पर, इसके वस्तुगत और मनोगत कारण दोनों ही हैं। पूँजीवाद का संकट वह वस्तुगत पृष्ठभूमि तैयार करता है, जिसमें फासीवादी शक्तियाँ फलती-फूलती हैं। लेकिन यह वस्तुगत आधार अपने आप में फासीवादी शक्तियों को सत्ता में नहीं पहुँचा देता है; वह फासीवादी शक्तियों के उदय की एक पूर्वशर्त है। वस्तुतः, यही पूँजीवादी संकट क्रान्तिकारी परिस्थितियों को भी तैयार करता है और एक क्रान्तिकारी सम्भावना को भी जन्म देता है। लेकिन यह भी केवल एक पूर्वशर्त की पूर्ति ही होता है। इतिहास के ऐसे दौर में जिस प्रकार का अभिकर्ता (agent) राजनीतिक-विचारधारात्मक तौर पर अधिक तैयार, सांगठनिक तौर पर अधिक सुदृढ़ और अधिक व्यापक सामाजिक पहुँच रखता है, उसी प्रकार की सम्भावना के वास्तविकता में तब्दील होने की गुंजाइश ज़्यादा होती है। फासीवाद का उदय इस रूप में वास्तव में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों की असफलता को दर्शाता है। जर्मनी, इटली, पुर्तगाल, स्पेन और हंगरी में भी नात्सीवादी और फासीवादी उभार समाजवादी आन्दोलन और मज़दूर आन्दोलन के खण्डहर पर हुआ था। फासीवाद का उभार प्रतिरोध्य से अप्रतिरोध्य इसलिए नहीं बन जाता कि सम्बन्धित समाज में कुछ ऐसी अन्तर्निहित सर्वसत्तावादी रुझानें होती हैं जो कि समय-समय पर फासीवाद को सत्ता में पहुँचा देती हैं, जैसा कि रवि सिन्हा हमें यक़ीन दिलाना चाहते हैं! कम-से-कम फासीवाद का वैश्विक इतिहास तो ऐसा कुछ भी नहीं दिखलाता है; न ही फासीवादी उभार का राजनीतिक आर्थिक विश्लेषण ऐसा कुछ सिद्ध करता है। **क्या जर्मनी और इटली में फासीवाद के उदय का इतिहास यह दिखलाता नहीं है कि सामाजिक-जनवाद की ग़द्दारी ने इसमें एक बहुत बड़ी भूमिका निभायी थी? क्या जर्मनी का इतिहास यह दिखलाता नहीं है कि वीमर गणराज्य के दौर में पूँजी और श्रम के बीच का असुविधाजनक विवाह अन्त में पूँजीवादी और टटपुँजिया प्रतिक्रिया के अंकुरण और प्रस्फुटन की ओर ले गया? क्या जर्मनी का 1920 के दशक का पूरा इतिहास इस बात का गवाह नहीं है कि पूँजीवादी संकट ने जो क्रान्तिकारी सम्भावना पैदा की थी, मज़दूर वर्ग की सच्ची हिरावल शक्तियाँ अपनी**

विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक कमज़ोरियों के कारण उन्हें हकीकत में तब्दील करने में नाकामयाब रहीं? ऐसे प्रश्न इटली, हंगरी, पुर्तगाल और स्पेन के इतिहास के बारे में भी पूछे जा सकते हैं। क्या इसे रवि सिन्हा-मार्का "वाम" का सामूहिक राजनीतिक *एम्नीज़िया* नहीं कहेंगे कि वह भूल गया है कि अतीत में भी फासीवाद का प्रतिरोध्य उभार अप्रतिरोध्य क्यों और कैसे बन गया? क्योंकि ऐसी विस्मृति के फलस्वरूप ही कोई फासीवादी उभार से लड़ने का ऐसा बासी सामाजिक-जनवादी रास्ता सुझा सकता है, जो कि रवि सिन्हा सुझा रहे हैं और जो न सिर्फ़ इतिहास में बार-बार पिट चुका है बल्कि साथ ही फासीवाद के उभार का कारण भी बना है। **यह एक मज़ाकिया डर है कि अगर हम जनता के बीच जाकर फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए उसे गोलबन्द और संगठित करेंगे तो सत्ताधारी फासीवादी भी और ज़्यादा बड़े पैमाने पर जनता के बीच जायेगा और हमारे लिए अस्तित्व का संकट पैदा कर देगा!** वास्तव में फासीवाद सत्ताधारी बना इसलिए क्योंकि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन हमारे देश में विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक तौर पर बिखरा हुआ और कमज़ोर है और जनता के व्यापक हिस्सों में पहुँच नहीं रखता है! बाईबिल की भाषा में बात करें तो यहाँ 'मूल पाप' सामाजिक-जनवादियों के कुकर्म हैं कि उन्होंने संघी फासीवादियों को सड़क पर 'इंगेज' करने का साहस और मज़बूती ही नहीं दिखलायी। साथ ही हमारे देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का कठमुल्लावाद और संकीर्णतावाद भी इसके लिए उतने ही ज़िम्मेदार हैं कि उन्हें जहाँ होना था वे वहाँ नहीं हुए; कि उन्होंने भारत के विशाल सर्वहारा वर्ग को फासीवादी कारपोरेटिज़्म और संशोधनवादियों के भरोसे छोड़ दिया। और अब उसी 'मूल पाप' के नये सिरे से और पहले से भी ज़्यादा भयंकर दुहराव का नुस्खा हमें रवि सिन्हा सुझा रहे हैं। फासीवाद के उदय के पीछे वस्तुगत ज़मीन तैयार होने के अलावा (क्योंकि वे तो किसी भी सूरत में आवर्ती चक्रीय क्रम में बार-बार तैयार होंगी ही) मनोगत शक्तियों की जो तमाम कमज़ोरियाँ ज़िम्मेदार थीं, रवि सिन्हा उनमें से कम-से-कम कुछ को दुहराने की वकालत कर रहे हैं और उसके पक्ष में पाण्डित्यपूर्ण भाषा में तर्क भी पेश कर रहे हैं। उनका मूल तर्क यह है कि फासीवादी शक्तियों से सड़क पर, समाज में संघर्ष को फिलहाल अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दिया जाना चाहिए और फिलहाल अपने संघर्ष को अदालत और संसद-विधानसभा जैसी संवैधानिक संस्थाओं में सीमित कर दिया जाना चाहिए। इसी बाबत मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ की मिसाल दी गयी है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ का संघर्ष कई मायनों में साहसिक है और उन्होंने समझौताविहीन कानूनी संघर्ष चलाया है। **लेकिन उनके संघर्ष अपनी साहसिकता और सिद्धान्तनिष्ठ होने के बावजूद क्या ठीक इसी बात की ताईद नहीं करते हैं कि *महज़* ऐसे संघर्षों से फासीवाद का मुकाबला कर पाना, फासीवादी उभार को रोक पाना सम्भव नहीं है?** क्या वे ठीक इसी बात को सिद्ध नहीं करते हैं कि ऐसे तमाम संघर्ष वास्तव में बर्बर फासीवादियों को सभ्य बनने पर मजबूर करने में नाकाम रहे हैं? बाबरी मस्जिद के ध्वंस से लेकर गुजरात नरसंहार तक क्या इक्के-दुक्के निम्न स्तर के लम्पटों, गुण्डों या छुटभैया नेताओं को कुछ समय तक सलाखों के पीछे रखने के अलावा ऐसे कानूनी संघर्ष (जिन वांछनीयता पर कोई प्रश्न नहीं है) कुछ और कर पाये हैं? निश्चित तौर पर, फासीवाद के विरुद्ध बुर्जुआ संवैधानिक और कानूनी संघर्षों की फासीवाद-विरोधी जन गोलबन्दी और आन्दोलन के एक अंग के तौर पर ही कोई प्रासंगिकता है। लेकिन समूचे फासीवाद-विरोधी संघर्ष को कुछ समय के लिए भी महज़ कानूनी-संवैधानिक संघर्ष तक सीमित कर देना बुर्जुआ संवैधानिक जनवाद के प्रति रवि सिन्हा के भयंकर विभ्रमों को ही दिखलाता है।

फासीवाद के इतिहास पर भी नज़र डालें तो ऐसे कानूनी संघर्ष वास्तव में फासीवाद के लिए खुजली का कारण भी नहीं बने हैं, या फिर ज़्यादा से ज़्यादा खुजली का ही कारण बने हैं! **कोस्ता गावरास** जैसा एक रैडिकल फिल्मकार भी इस सच्चाई को *ज़ेड* नामक अपनी प्रसिद्ध फिल्म में खूबसूरती के साथ पेश करता है। **बेर्टोल्ट ब्रेष्ट** ने भी *दि रेज़िस्टिबल राइज़ ऑफ आर्तुरो उई* में इस सत्य को उघाड़कर सामने रखा है। और जहाँ तक अकादमिक और ग़ैर-अकादमिक मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण की बात है, तो बुर्जुआ संविधान और कानून के दायरे में फासीवाद-विरोधी संघर्षों की उपयोगिता और साथ ही सीमाओं पर पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है, जिनमें से कुछ नामों का हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। लेकिन रवि सिन्हा की 'विवेकवान' व्यवहारवादी वाम अवस्थिति कोस्ता गावरास जैसे रैडिकल फिल्मकार की अवस्थिति से भी पीछे जा चुकी है। वास्तव में, यह अवस्थिति एक किस्म के पराजयवाद और हताशा से पैदा हुई अवस्थिति है और साथ ही फासीवादी उभार के समक्ष क्रान्तिकारियों के अपरिहार्य कार्यभारों को अनिश्चितकाल तक स्थगित या रद्द करने देने का घोषणापत्र पेश करती है। और ग़ौरतलब बात यह है कि अकादमिक और आम बौद्धिक मानकों से भी देखा जाय तो यह अवस्थिति बेहद दरिद्र है। **स्पष्ट है कि कानूनी और संवैधानिक दायरे में फासीवादी ताक़तों के विरुद्ध होने वाला संघर्ष आम तौर पर और ऐतिहासिक तौर पर केवल बुर्जुआ *लीगैलिटी* की सीमाओं को ही दिखलाने के तौर पर उपयोगी सिद्ध हुआ है। लेकिन अगर कोई इससे ज़्यादा उम्मीद लगाकर बैठा है तो उसे भारी सदमे के लिए तैयार रहना चाहिए।**

दूसरा सबक: बुर्जुआ जनवादी संवैधानिक उदार कल्याणकारी राज्य की जय हो!

पीचम: "कानून केवल एक चीज़ के लिए बना था, उन लोगों के शोषण के लिए जो इसे नहीं समझते, या जो नग्न दरिद्रता के कारण इसका पालन नहीं कर पाते। जो भी इस शोषण के कुछ टुकड़े चाहता है उसे स्वयं कानून का सख़्ती से पालन करना चाहिए।"

ब्राउन: "अच्छा, तो आप मानते हैं कि हमारे न्यायाधीश भ्रष्ट बनाये जा सकते हैं।"

पीचम: "कतई नहीं, महाशय, कतई नहीं। हमारे न्यायाधीश तो बिल्कुल भ्रष्टाचार से परे हैं: लेकिन सिर्फ पैसा उन्हें एक न्यायपूर्ण फैसला सुनाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता है।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'थ्री पेनी ऑपेरा'*)

रवि सिन्हा का दूसरा सबक इस बाबत है कि जनवाद की प्रक्रियाएँ और रूप कैसे होने चाहिए? यानी कि जनवाद का पूरा ढाँचा कैसा हो। इस बारे में उनका मानना है कि जनवाद का केवल मज़बूत होना, तृणमूल धरातल पर होना और भागीदारी से भरा हुआ होना पर्याप्त नहीं है। वह तमाम नव दार्शनिकों, एनजीओ सिद्धान्तकारों, सामाजिक आन्दोलनों और मैगसेसे पुरस्कार विजेताओं की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने केवल भागीदारी जनवाद, तृणमूल जनवाद आदि जैसी अवधारणाओं पर बल दिया है। लेखक उन तमाम भागीदारी जनवाद समर्थकों की इस बात के लिए आलोचना करता है कि उन्होंने 'आम आदमी पार्टी' के रूप में भारतीय राजनीतिक दृश्यपटल पर उपस्थित हुए नये योद्धाओं की सराहना की जिन्होंने 'नीचे से जनवाद', 'भागीदारी जनवाद', 'मुहल्ला जनवाद' आदि जैसी अवधारणाओं को लागू करने का प्रयास किया, हालाँकि इन बौद्धिकों में कुछ ऐसे भी थे जो इनके रखवाले वाले रुख़ (vigilantism) को लेकर सशंकित थे। लेकिन इसके बावजूद ऐसे

बौद्धिकों ने 'व्यवस्था को अन्दर तक हिला डालने' के लिए 'आप' की प्रशंसा की। रवि सिन्हा तृणमूल जनवाद या भागीदारी जनवाद की अपने कारणों और अपने तरीके से हिमायत करने वाले वामपंथियों की भी इस बात की आलोचना करते है कि उन्होंने भी भागीदारी जनवाद के समर्थन के चक्कर में एक अहम नुक्ता नज़रन्दाज़ कर दिया है। रवि सिन्हा के अनुसार भागीदारी जनवाद राजनीतिक प्रक्रिया को गाढ़ा या सघन बनाता है और साथ ही निर्णय लेने की प्रक्रिया को धुंधला और अपारदर्शी बनाता है। लेकिन रवि सिन्हा के अनुसार केवल तृणमूल या भागीदारी जनवाद की अवधारणा जनवाद पर कहर भी बरपा कर सकती है, जैसा कि खाप पंचायतों और 'आप' के शासन के दौरान खिड़की एक्सटेंशन की घटना ने दिखलाया; लेकिन अपने उदाहरणों में चलते-चलते रवि सिन्हा 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' को भी जोड़ देते हैं, जिसके दौरान भीड़ के जनवाद ने अपने जौहर दिखाये थे! इस पर हम थोड़ा आगे आयेंगे। रवि सिन्हा दावा करते हैं कि वामपन्थी लोग भागीदारी जनवाद का समर्थन इस ज़मीन से करते हैं कि उनके लिए बुर्जुआ जनवाद की किसी संस्था या प्रथा का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि वे सभी तो पूँजी के हितों की सेवा के लिए बनायी गयी थीं। और इसीलिए वामपन्थी लोग पूँजीवाद के तहत भी बस जनवाद को अधिक से अधिक भागीदारीपूर्ण और प्रत्यक्ष बनाने के लिए संघर्ष करते हैं! रवि सिन्हा के मुताबिक ये सारे लोग भागीदारी जनवाद की हिमायत करते हुए यह बात भूल जाते हैं कि एक मज़बूत जनवादी परम्परा और संवैधानिक-प्रातिनिधिक-उदार जनवादी व्यवस्था और संरचना के बिना तृणमूल या भागीदारी जनवाद एक ऐसी दीवार होती है जो दोनों तरफ़ गिर सकती है, एक दुधारी तलवार होती है। **इसलिए एक कानून और नियम से बँधा जनवादी संवैधानिक राज्य होना बहुत आवश्यक है क्योंकि प्राक्-आधुनिक जनता पर भरोसा नहीं किया जा सकता है।**

चलते-चलते वामपंथियों पर यह दृष्टिकोण भी थोप दिया जाता है कि उनका यह मानना है कि बुर्जुआ जनवाद को लाने के लिए जनता ने कुछ भी नहीं किया, यह तो पूँजी के हितों में पूँजीपतियों द्वारा बनाया गया एक उपकरण मात्र है। फिर लेखक सीख देता है कि समाजवाद आने पर बुर्जुआ जनवाद की कई संस्थाओं को हमें लेना होगा और उनमें समाजवाद के केन्द्रीय सिद्धान्तों के मुताबिक बदलाव करना होगा। क्योंकि बुर्जुआ जनवाद केवल राज्य और सत्ता की संरचनाओं का मसला नहीं है बल्कि इसका रिश्ता नागरिकों के अधिकारों, पसन्द और आज़ादियों से भी जुड़ा हुआ है! इसके बाद रवि सिन्हा कहते हैं कि जनवाद राज्यसत्ता की सरंचना को संघटित करने का रूप भी होता है और सत्ता की सभी संरचनाएँ अन्तिम विश्लेषण में स्वतन्त्रता का निषेध करती हैं। इसलिए इंसानियत को अगर तरक्की करनी है तो उन्हें सत्ता की संरचनाओं को अधिक से अधिक कमज़ोर और पारदर्शी बनाते जाना होगा और इसी प्रक्रिया में अन्त में वे विलोपित हो जायेंगी। ऐसा सच में होगा इसको लेकर लेखक थोड़ा सशंकित है लेकिन वह मानता है कि इससे कम-से-कम यह तो साबित होता ही है कि हमें जनवाद और राज्य की संरचनाओं को अधिक से अधिक पारदर्शी बनाना होगा। राज्य ऐसे में सिंकुड़ेगा और जीवन के तमाम क्षेत्र उसकी पकड़ से बाहर होंगे। लेकिन रवि सिन्हा के मुताबिक पूँजीवाद के मातहत यह आज़ादी को बढ़ायेगा नहीं बल्कि राज्य की पकड़ से जो कुछ छूटेगा वह बाज़ार की पकड़ में जायेगा। इसलिए पूँजीवाद के तहत राज्य का पारदर्शी होना बहुत ज़रूरी है और ऐसा केवल भागीदारी जनवाद से नहीं बल्कि एक जनवादी संवैधानिक राज्य व्यवस्था के ज़रिये ही हो सकता है क्योंकि भागीदारी जनवाद किसी युग की जनवादी भावना और संस्कृति को एकसमान रूप में आत्मसात नहीं करता है। यह काम रवि

सिन्हा के मुताबिक एक संवैधानिक जनवादी राज्य करता है! उनके अनुसार ऐसे राज्य को लोग भी बना सकते हैं और यह भागीदारी जनवाद के उसूलों का खण्डन भी नहीं होगा। अब दूसरे सबक में अन्तर्निहित इस पूरी तर्क प्रणाली का थोड़ा अध्ययन कर लिया जाय।

इस दूसरे सबक का मर्म यह है कि भागीदारी जनवाद या तृणमूल जनवाद अपने आप में पर्याप्त नहीं है, विशेष तौर पर हमारे यहाँ और अन्य प्राक्-आधुनिक समाजों में क्योंकि वहाँ समाज या जनसमुदाय "उस युग की आधुनिक भावना" को एकसमान रूप में आत्मसात नहीं करते हैं; ऐसे में, यदि कोई नियम व कानून से बँधा हुआ जनवादी राज्य नहीं होगा, तो जनता का भागीदारी जनवाद वास्तव में जनवाद को नष्ट भी कर सकता है! लेकिन राज्य यहाँ "युग की आधुनिक भावना" का नैसर्गिक वाहक माना गया है। यहाँ रवि सिन्हा का **ड्यूईवादी व्यवहारवाद** पूरी तरह खुलकर सामने आया है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, ड्यूई का यही सिद्धान्त था कि राज्य सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता (most rational actor/agent) होता है और समाज में मौजूद असंगतियों और अन्तरविरोधों को अपने सकारात्मक तार्किक हस्तक्षेप से प्रति-सन्तुलित करता है। ड्यूई का दूसरा उपकरण समाज में एक नैतिक संहिता की मौजूदगी था जिसकी आपूर्ति एक समानतामूलक धर्म द्वारा भी की जा सकती थी; अम्बेडकर ने इन्हीं दोनों ड्यूईवादी दलीलों को हूबहू अपनाया था; लेकिन रवि सिन्हा इन दोनों बातों को हूबहू नहीं अपनाते हैं; उनके सैद्धान्तिकीकरण में नैतिक संहिता की जगह जॉन रॉल्स की **सार्वजनिक तर्कणा (public reason)** जैसी कोई चीज़ ले लेती है। यहाँ जॉन रॉल्स के विचारों का रवि सिन्हा पर असर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। **चूँकि भारतीय व अन्य प्राक्-आधुनिक समाजों में ऐसी सार्वजनिक तर्कणा मौजूद नहीं है; चूँकि समाज ने "युग की आधुनिक भावना" को आत्मसात नहीं किया है, इसलिए उनके सैद्धान्तिकीकरण में एक बुर्जुआ जनवादी उदार संवैधानिक राज्य की भूमिका और भी ज़्यादा बढ़ जाती है।** अगर ड्यूई और रॉल्स में राज्यसत्ता की भूमिका एक **सुगठित समाज (well-ordered society)**, यानी कि एक सार्वजनिक तर्कणा और राजनीतिक बहुलता को अपनाने वाले समाज में पैदा होने वाले विरोध में पंच या मध्यस्थ की होती है, तो रवि सिन्हा के सैद्धान्तिकीकरण में एक जनवादी संवैधानिक राज्य की मौजूदगी प्राक्-आधुनिक, सर्वसत्तावादी समाज की बर्बरता को रोकने की गारण्टी है। लेकिन ड्यूई और रॉल्स जैसे व्यवहारवादी, उदार बुर्जुआ चिन्तकों से पद्धति की समानता को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। राज्य दोनों ही सूरत में आधुनिक तर्कणा का मूर्त रूप (embodiment of modern reason) है। उसकी अवस्थिति रवि सिन्हा के सिद्धान्तों में वही है जो कि हेगेल की विचार-पद्धति में *देमी उर्गोस* (परम विचार) की है। रॉल्स पर काण्ट के विचारों के असर से लोग वाक़िफ़ हैं।

काण्ट के राज्य के सिद्धान्त के दो बुनियादी आधार हैं। पहला यह कि साथ रहने वाले मनुष्य स्वतन्त्र तभी हो सकते हैं जब उनके पास एक दूसरे के बरक्स कुछ अधिकार हों (जिसे काण्ट बाह्य स्वतन्त्रता कहते हैं); आन्तरिक स्वतन्त्रता का रिश्ता मनुष्य के नैतिक व तार्किक निर्णय-निर्माण प्रक्रिया से है; दूसरा यह कि ऐसा तभी सम्भव है जब सभ्यता/नागरिकता (civility) की स्थिति को सुनिश्चित किया जाये और इसे सुनिश्चित करने का कार्यभार तर्कणा के मूर्त रूप के तौर पर राज्य करता है। अगर इन विचारों की रोशनी में हम रवि सिन्हा के राज्य और समाज के सम्बन्धों के सिद्धान्त को देखें तो हम पाते हैं कि उनका चिन्तन उदार बुर्जुआ विचारधारा की परम्परा में मज़बूती से जड़ित (embedded) है।

उनके दूसरे सबक में, यानी कि भागीदारी जनवाद के अपने आप में अपर्याप्त होने और एक नियमबद्ध संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य की वांछनीयता में, हम स्पष्ट तौर पर इस चीज़ को देख सकते हैं। निश्चित तौर पर, जैसा कि वह खुद भी मानते हैं, यह दूसरा सबक उनके पहले सबक की ही निरन्तरता में है और उससे जुड़ा हुआ है। और यह निरन्तरता क्या है? आधुनिक राज्य और प्राक्-आधुनिक समाज का वही अनैतिहासिक और ग़ैर-द्वन्द्वात्मक द्विभाजन जिस पर रवि सिन्हा का पूरा सिद्धान्त खड़ा है। यहाँ एक प्रासंगिक प्रसंगान्तर कर हम आगे बढ़ सकते हैं। ग्राम्शी का भी यह मानना था कि इतालवी समाज में पिछड़ेपन और परम्परागत विचारों के प्रभाव में टटपुँजिया आबादी और यहाँ तक कि मज़दूर आबादी के एक हिस्से ने फासीवाद का समर्थन किया था और समाज के कुछ हिस्सों में सांस्कृतिक-ऐतिहासिक तौर पर ऐसी सम्भावना-सम्पन्नता थी कि वह बर्बरता की ताक़तों का समर्थन करे। लेकिन ग्राम्शी का स्पष्ट तौर पर यह मानना था कि यह बर्बरता पूँजीवाद और पूँजीवादी आधुनिकता द्वारा समायोजित है और साथ ही किसी भी किस्म का बुर्जुआ राज्य आज उसे सीमित, अनुशासित या नष्ट नहीं कर सकता है; केवल एक सर्वहारा वर्ग का राज्य ही ऐसा काम कर सकता है। ग्राम्शी की पूरी अवस्थिति पर हम यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन दिलचस्पी रखने वाले पाठक उनके लेख **'ऑन फाशिज़्म'** (1921) में देख सकते हैं। अब रवि सिन्हा के तृणमूल भागीदारी जनवाद और संवैधानिक बुर्जुआ उदार जनवादी राज्य के तुलनात्मक अध्ययन की चर्चा पर लौटते हैं।

रवि सिन्हा का कहना है कि सभी विचारधाराओं के लोगों में इस बात को लेकर सहमति है कि एक मज़बूत, तृणमूल, भागीदारी जनवाद वांछनीय है। इसमें वे नवदार्शनिकों, सामाजिक आन्दोलन वालों, एनजीओ-पंथियों, वामपंथियों और मैगसेसे पुरस्कार विजेताओं जैसे सभी लोगों को जोड़ देते हैं। नवदार्शनिकों, सामाजिक आन्दोलन वालों और एनजीओ-पन्थियों की आलोचना रवि सिन्हा यहाँ यह नहीं समझने के लिए करते हैं कि भागीदारी जनवाद के साथ एक जनवादी संवैधानिक राज्य की अनिवार्यता है! **यह वैसा ही है कि कोई ख़राब वायलिन बजाने के लिए हिटलर की आलोचना करे!** साम्राज्यवादी फण्डिंग एजेंसियों, बुर्जुआ सरकारों और पूँजीपतियों के वित्त-पोषण से चलने वाले 'सामाजिक आन्दोलनों' और एनजीओ वालों की विचारधारा क्या है और वह वस्तुगत तौर पर क्या भूमिका अदा कर रहे हैं, रवि सिन्हा की आलोचना का निशाना यह नहीं है। वैसे भी 'सामाजिक आन्दोलन' किस बला का नाम है यह हम आज तक नहीं समझ पाये! यह शब्द मेरे विचार में जयप्रकाश नारायण के 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के जैसा शब्द है, इन अर्थों में कि ये दोनों ही शब्द पुनरुक्तिपूर्ण (tautological) हैं। मतलब, कौन-सा आन्दोलन सामाजिक नहीं होता है? और कौन-सी क्रान्ति सम्पूर्ण नहीं होती है? जब इस प्रकार की पुनरुक्ति मौजूद हो तो वास्तव में उसके पीछे दूसरे अर्थ छिपे होते हैं। मिसाल के तौर पर, 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का नारा दिया ही वास्तविक क्रान्तिकारी आन्दोलन और लहर को व्यवस्था द्वारा सहयोजित कर लेने के लिए गया था। उसी प्रकार, सामाजिक आन्दोलन एक दूसरे प्रकार के आन्दोलन, यानी कि राजनीतिक आन्दोलन के विकल्प के तौर पर पेश किया गया है। **'सामाजिक आन्दोलन', मतलब कि जो राजनीतिक न हो; जो राज्यसत्ता के प्रश्न को न उठाये!** आज के सारे तथाकथित सामाजिक आन्दोलनों की यही तो ख़ासियत है–वे जनता की तमाम समस्याओं को उठाने की बात करते हुए कभी यह नहीं बताते कि शत्रु कौन है? लड़ना किसके ख़िलाफ़ है? लेकिन रवि सिन्हा एनजीओपंथियों और सामाजिक आन्दोलन वालों की यह आलोचना पेश नहीं करते हैं! वह तर्जनी उठाकर उन्हें

सीख देते हैं, 'दोस्तो! सिर्फ भागीदारी जनवाद से काम नहीं चलेगा, बल्कि एक संवैधानिक जनवादी राज्य भी ज़रूरी है!' या यूँ कहें कि इन बेचारों ने "युग की आधुनिक भावना" को पर्याप्त रूप से आत्मसात नहीं किया है, इसलिए रवि सिन्हा ने इनकी आलोचना पेश की है! इसीलिए हमने कहा कि यह ख़राब वायलिन बजाने के लिए हिटलर की आलोचना करने के समान है।

संवैधानिक जनवादी राज्य की वांछनीयता को न समझने और दूसरे कारणों से भागीदारी जनवाद का समर्थन करने के लिए रवि सिन्हा वामपन्थियों को भी लताड़ते हैं! वास्तव में, एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट राजनीतिक रूप से अयोग्य और नपुंसक शब्दावली में जनवाद के प्रकार या उनकी वांछनीयता के बारे में चर्चा करता ही नहीं है। यहाँ पर भी रवि सिन्हा ने एक 'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस' पेश की है–**भागीदारी जनवाद बनाम संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवाद! यह शब्दावली अंशतः आई.एम.एफ.-वर्ल्ड बैंक विमर्श, अंशतः वर्ल्ड सोशल फोरम विमर्श और अंशतः रूसो, लॉक, ड्यूई, रॉल्स की उदार बुर्जुआ चिन्तन परम्परा से उधार ली हुई है।** मार्क्सवाद जनवाद के प्रश्न को इस तरह से देखता ही नहीं है। **पहली बात तो यह है कि संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवाद और जिसे रवि सिन्हा भीड़ जनवाद कहते हैं, भारत में उनके बीच कोई विशेष और वास्तविक अन्तरविरोध अभी तक उपस्थित ही नहीं हुआ है और इसकी उम्मीद भी कम है कि भविष्य में ऐसा होगा।** निश्चित तौर पर, कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति खाप पंचायतों के "भागीदारी जनवाद" का विरोध करेगा; लेकिन आकाशकुसुम की अभिलाषा करने वाला कोई भोला-भाला और उदार बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों का शिकार कोई प्रगतिशील व्यक्ति ही इस भयंकरता का मुकाबला करने के लिए इस देश की अदालतों और नियमबद्ध कानून व्यवस्था पर भरोसा कर सकता है। हमारे देश के स्वातन्त्र्योत्तर इतिहास पर निगाह डालें तो कुछ अपवादों को छोड़कर आप एक भी उदाहरण दे सकते हैं जिसमें हमारे लेखक की प्राच्य प्राक्-आधुनिक बर्बरता का मुकाबला हमारे देश की आधुनिक सभ्य/नागरिक कानूनबद्ध राज्य व्यवस्था द्वारा किया गया हो? या फिर कभी उदार बुर्जुआ संवैधानिक राज्य ने फासीवादी बर्बरों को सभ्य बनाया हो, इसका कोई उदाहरण आप दे सकते हैं? अगर ऐसा होता तो 2002 गुजरात नरसंहार का घटित होना भी सम्भव था? क्या गुजरात नरसंहार को अंजाम देने वाली ताक़तों का अदालती या कानूनी संघर्ष वास्तव में कुछ ख़ास बिगाड़ पाया? अगर कोई झूठी उम्मीद इतने वर्षों के अनुभवों के बावजूद बनी हुई है तो इसे असुधारणीय बुर्जुआ विभ्रम न कहा जाय तो क्या कहा जाय?

सच तो यह है कि भागीदारी जनवाद या संवैधानिक जनवादी राज्य व्यवस्था दोनों ही अपने आप में दमनकारी या बर्बर भी हो सकते हैं और वे वास्तव में प्रगतिशील और जनता की पहलकदमी को खोलने वाले भी हो सकते हैं। इन रूपों (forms) के बीच कोई द्विभाजन खड़ा करके और इस प्रकार का रूपवादी (formalist) विश्लेषण पेश करके इनके बारे में सिर्फ़ विभ्रम ही फैलाये जा सकते हैं। असल प्रश्न यहाँ इन अलग-अलग किस्म की संस्थाओं के वर्ग चरित्र और उसके नेतृत्व का है। अगर जनता के सत्ता के अपने तृणमूल निकायों में जनता की राजनीतिक चेतना और सक्रियता नहीं होगी और अगर वहाँ एक सर्वहारा हिरावल का नेतृत्व मौजूद नहीं होगा, तो निश्चित तौर पर ऐसी संस्थाएँ अज्ञात चर राशि (unknown variable) बन सकती हैं। क्योंकि क्रान्तिकारी जन-चेतना कोई सहज उपलब्ध और आदर्श रूप में मौजूद वस्तु नहीं होती है, बल्कि सतत् राजनीतिक व विचारधारात्मक वर्ग

संघर्ष के ज़रिये और द्वन्द्वात्मक रूप में नि:सृत होती रहती है। असल प्रश्न यहाँ जनवाद की संस्था की किस्म का या फिर उस समाज (मानो कि वह कोई एकाश्मीय निकाय हो!) के सारत: आधुनिक या प्राक्-आधुनिक होने का नहीं बल्कि उनकी राजनीतिक-विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु का है, जिसका निश्चित तौर पर एक वर्ग चरित्र होता है। लेकिन रवि सिन्हा का पूरा विश्लेषण जनवाद के रूप पर ही सीमित है। उसकी वर्ग अन्तर्वस्तु के बारे में उनका विश्लेषण शान्त है। अगर हम यह भी मान लें कि लेख की विषय-वस्तु केवल पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर फासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति तक सीमित है, तब भी वह बुर्जुआ जनवाद के दो रूपों के तुलनात्मक अध्ययन से आगे नहीं जाते और उनमें फर्क करने की उनकी कसौटी आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता है। यही कारण है कि रवि सिन्हा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान जागृत जन पहलकदमी और खाप पंचायत और "खिड़की एक्सटेंशन गणराज्य" में कोई फर्क नहीं कर पाते हैं। उनकी वर्ग पक्षधरता ग़ायब है। उनके लिए आधुनिक बनाम प्राक्-आधुनिक के सिवा और कोई पैमाना नहीं है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान समाजवादी राज्य और व्यवस्था में मौजूद बुर्जुआ विरूपताओं और नौकरशाहाना विरूपताओं के ख़िलाफ़ जनता का जो आक्रोश फूटा था, वह प्यारे, नर्म-नर्म, शराफत भरे विमर्शवादी अन्दाज़ में नहीं अभिव्यक्त हो सकता था। वह एक राजनीतिक संघर्ष था जो चीन में समाजवादी सर्वहारा सत्ता के अस्तित्व का प्रश्न उठा रहा था। नतीजतन, उस संघर्ष में सर्वहारा जनसमुदायों के राजनीतिक व्यवहार में निश्चित तौर पर ग़ैर-जनवादी तत्व थे; उतने ही गैर-जनवादी तत्व जितना कि एक युद्ध में की जाने वाली हिंसा में मौजूद होते हैं। क्या युद्ध में की जाने वाली ठोस हिंसा में जनवाद होता है? हमें नहीं लगता। यूँ तो किसी भी आमूलगामी परिवर्तन या क्रान्ति की ठोस तात्कालिक प्रक्रिया औपचारिक तौर पर जनवादी नहीं होती है! सामन्ती वर्ग के बुद्धिजीवियों ने बास्तीय के कारागार पर धावे को भी भीड़ की हरक़त ही क़रार दिया था! लगभग उसी ज़मीन से उदार बुर्जुआ जनवादी बुद्धिजीवी न सिर्फ़ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को भीड़ जनवाद आदि जैसी संज्ञा देते हैं, बल्कि मज़दूर वर्ग की तमाम अन्य कार्रवाइयों को भी भीड़ की कार्रवाई क़रार देते हैं। फैसला सुनाने का यह पूरा स्वर स्पष्ट तौर पर बुर्जुआ कुलीनता के रंग में रंगा हुआ है। वर्ग संघर्ष या कहें कि वर्ग युद्ध की ठोस अभिव्यक्तियों में यदि कोई उदार बुर्जुआ जनवादी बुद्धिजीवी शराफ़त और विमर्श के तत्व ढूँढेगा तो उसे निश्चित तौर पर धक्का लगेगा; इस धक्के की *पैथोलॉजिकल* प्रतिक्रिया उसकी राजनीतिक दृष्टि को धूमिल कर देगी। **धूमिल दृष्टि के साथ हर वर्ग संघर्ष में भीड़ ही नज़र आती है! और यही रवि सिन्हा के साथ हुआ है।** और यही कारण है कि वे खाप पंचायत, खिड़की एक्सटेंशन की घटना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में कोई फर्क नहीं कर पाते हैं। बहरहाल, मूल चर्चा पर वापस लौटते हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था को अधिक प्रातिनिधिक, भागीदारीपूर्ण और संविधानबद्ध (अगर संविधान और कानून व्यवस्था बुर्जुआ मापदण्डों और मानकों के अनुसार भी प्रगतिशील हों) बनाने के लिए संघर्ष करता है, वहीं वह अपनी राजनीतिक प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्थाएँ भी खड़ी करता है। लेकिन रवि सिन्हा की रणनीति में इसका कोई स्थान नहीं है क्योंकि उनके लिए यह तथ्य आकाशवाणी समान (axiomatic) है कि भारत एक प्राक्-आधुनिक समाज है और उसमें जनता अगर ऐसी संस्थाएँ खड़ी भी करेगी तो वह भीड़ जनवाद का शिकार हो जायेगी या कम-से-कम हो सकती है और उसे भी संवैधानिक बुर्जुआ उदार राज्य से विनियमन की

आवश्यकता होगी! **ऐसे में मज़दूर अगर भारत में कल सोवियतों जैसी किसी संस्था का निर्माण करते हैं, तो रवि सिन्हा उसके प्रति सशंकित रहेंगे और बुर्जुआ राज्य द्वारा उसके विनियमन की वकालत करेंगे!** कम-से-कम उनकी तर्क पद्धति तो इसी नतीजे पर पहुँचती है।

आगे रवि सिन्हा दावा करते हैं कि वामपन्थी 'कॉमन सेंस' यह है कि बुर्जुआ जनवाद की किसी भी संस्था या संघटक अंग को समाजवाद के दौरान नहीं अपनाया जायेगा; अधिकतम सम्भव बुर्जुआ जनवाद के लिए संघर्ष करना मज़दूर वर्ग का काम नहीं है और जितना बुर्जुआ जनवाद हासिल है उसे प्राप्त करने में जनता ने कुछ नहीं किया है। **यह रवि सिन्हा का मार्क्सवाद के बारे में उदार बुर्जुआ 'कॉमन सेंस' हो सकता है, कम-से-कम सही मार्क्सवाद का ऐसा दृष्टिकोण नहीं है।** यह दृष्टिकोण मार्क्सवाद पर थोप दिया गया है। सर्वहारा वर्ग भी प्रतिनिधित्वपूर्ण जनवाद में भरोसा करता है और निश्चित तौर पर सर्वहारा जनवाद बहुसंख्यक मेहनतकश जनता के सामने इस प्रतिनिधित्व का अवसर उपस्थित करेगा। लेकिन निश्चित तौर पर समाजवादी जनवाद का अस्तित्व-रूप (modus vivendi) बहुपार्टी उदार संसदीय पूँजीवादी लोकतन्त्र नहीं हो सकता है (इस नुक़्ते पर आलोचनात्मक चर्चा के लिए देखें-इसी अंक में पृष्ठ 118-119)। समाजवादी राज्य एक संविधानबद्ध शासन भी देगा। लेकिन इस संविधान की वर्ग अन्तर्वस्तु अलग होगी। इस रूप में जहाँ तक संस्थागत पहलू का प्रश्न है सर्वहारा जनवाद अपनी नयी संस्थाओं का निर्माण करेगा। वह दिखलायेगा कि बुर्जुआ जनवाद का सिद्धान्त बुर्जुआ दार्शनिकों का एक आदर्शीकृत स्वप्न था और पूँजीवादी व्यवस्था के रहते हुए इसका अर्थ बेचने-ख़रीदने की स्वतन्त्रता, कानून के समक्ष औपचारिक समानता के अलावा ज़्यादा कुछ नहीं हो सकता था और अन्ततः उसे किसी न किसी किस्म के प्रतिक्रिया में ही परिणत होना होता है। लेकिन रवि सिन्हा के लिए जनवाद की कोई वर्ग अन्तर्वस्तु नहीं है। उनके इस कथन पर ग़ौर करें, *"आधुनिक जनवाद का इतिहास पूँजीवाद के इतिहास को अतिच्छादित करता है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है यह उसका समानार्थी है।"* यह दृष्टिकोण जनवाद और पूँजीवाद के प्रश्न को द्विभाजित तौर पर देखता है। जनवाद के विकास को भी एक **योगात्मक प्रक्रिया (aggregative process)** के तौर पर देखता है। इसके अनुसार, पूँजीवाद के दौर में आधुनिक जनवाद विकसित हुआ और फिर समाजवाद में यह और विकसित हो जायेगा! इस पूरी प्रक्रिया में कहीं कोई विच्छेद (rupture) का तत्व नहीं है। इस प्रकार का क्रमवाद (gradualism) और विकासवाद (evolutionism) वास्तव में उसी समाजशास्त्रीयतावाद की निशानी है, जिसका कि रवि सिन्हा का विश्लेषण बुरी तरह से शिकार है। **पूँजीवाद के उद्भव और उसके विकास और फिर उसके पतन का इतिहास पूँजीवाद जनवाद के उद्भव, विकास और पतन का भी इतिहास होता है।** वास्तव में, आर्थिक संकट के साथ आर्थिक कट्टरवाद के पैदा होने और राजनीतिक संकट के साथ राजनीतिक कट्टरवाद के पैदा होने के साथ ही समूची पूँजीवादी व्यवस्था अपनी असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचती है। पूँजीवाद के आदि से अन्त तक जनवाद का विकास एकरेखीय नहीं होता बल्कि जन्म, शीर्ष पर पहुँचने और फिर पतन की कहानी कहता है। बुर्जुआ जनवाद प्रगतिशील सम्भावना के जन्म, उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचने और फिर हर प्रकार की प्रगतिशील सम्भावनाओं से रिक्त होने के साथ उसके पतन की मंज़िलों से होकर गुज़रता है। रवि सिन्हा की बुर्जुआ जनवाद के पूरे ऐतिहासिक आख्यान की समझदारी इस रूप में भयंकर भोण्डे क्रमवाद और विकासवाद की शिकार है।

समाजवाद बुर्जुआ जनवाद के आदर्शों से सीखता है, लेकिन साथ ही इसका यथार्थवादी रूपान्तरण भी करता है और स्पष्ट तौर पर दिखलाता है कि सच्चा जनवाद मज़दूर वर्ग का शासन ही दे सकता है, जो सही मायने में बहुसंख्यक मेहनतकश जनता का जनवाद हो; साथ ही, वह यह भी दिखलाता है कि जनवाद कोई वर्गेतर अवधारणा नहीं होती। **यदि जनवाद सभी के लिए हो, तो फिर समानता और जनवाद में कोई वास्तविक व प्रभावी अन्तर नहीं रह जायेगा। यही कारण है कि समानतामूलक समाज बनाने की कम्युनिस्ट परियोजना को पहले सामाजिक जनवाद का नाम दिया गया, यानी वह आन्दोलन जो कि जनवाद का समाजीकरण करे। बाद में बेशक़ इसे अपर्याप्त होने और नये ऐतिहासिक अर्थ ग्रहण करने के कारण क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन ने त्याग दिया। बहरहाल, जनवाद का कोई अर्थ ही तभी निकल सकता है, जब उसके वर्ग चरित्र को स्पष्ट किया जाय।**

रवि सिन्हा दलील देते हैं कि बुर्जुआ जनवाद केवल बुर्जुआ राज्य और सत्ता की अन्य संरचनाओं को संघटित करने का रूप ही नहीं होता, बल्कि वह व्यक्तिगत नागरिकों के लिए अधिकारों, चुनाव के विकल्पों (choices) और आज़ादियों के एक क्षेत्र को भी निर्मित करता है! यह विचार वास्तव में बुर्जुआ राज्य की उसी उदारवादी बुर्जुआ अवधारणा को प्रदर्शित कर रहा है, जो राज्यसत्ता को **अधिकार-विमर्श (rights-discourse)** के दायरे में परिभाषित करती है। निश्चित तौर पर, बुर्जुआ राज्यसत्ता से जनता ने लड़कर तमाम जनवादी अधिकार हासिल किये हैं। साथ ही, बुर्जुआ राज्यसत्ता स्वयं भी कई जनवादी और नागरिक अधिकार देती है। **लेकिन बुर्जुआ राज्यसत्ता का मूल और मुख्य सरोकार नागरिकों को अधिकार देने का नहीं होता, बल्कि जनता को विनियमित (regulate) करने का होता है। इस विनियमन के बग़ैर बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व का एक बुनियादी संघटक तत्व अनुपस्थित होगा।** और यह बात केवल आम नागरिक कानूनों के बारे में ही नहीं बल्कि सभी कानूनों, मसलन श्रम कानूनों और अपराध दण्ड कानूनों पर भी लागू होती है। मार्क्सवाद बुर्जुआ उदार राज्य और संविधान द्वारा दिये जाने वाले अधिकारों को **विनियमन-विमर्श (regulation discourse)** के ज़रिये समझता है। यहाँ भी यह दिख जाता है कि आधुनिक बुर्जुआ उदार कल्याणकारी राज्य के "वैभव" से लेखक किस कदर चमत्कृत है।

जनवाद और सत्ता के सन्दर्भ में वर्ग चरित्र के प्रश्न को न उठाने के ही कारण रवि सिन्हा लिखते हैं, **"सभी सत्ता की संरचनाएँ आखिरी विश्लेषण में स्वतन्त्रता के प्रतिकूल होती हैं।"** किसकी स्वतन्त्रता? कैसी सत्ता संरचनाएँ? यहाँ भी वर्ग विश्लेषण अनुपस्थित है। इस कथन पर **मिशेल फूको** के विचारों का असर स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। निश्चित तौर पर, राज्य का क्षेत्र दमन का क्षेत्र होता है, जैसा कि एंगेल्स ने कहा था। और इस रूप में सर्वहारा राज्य भी दमन का उपकरण होगा। लेकिन अगर इस सवाल को गोल कर दिया जाय कि किसका दमन और किसके द्वारा दमन तो यह एक निष्क्रियतावादी आमूलगामी जनोत्तेजन (passive radical demagoguery) से ज़्यादा और कुछ नहीं होगा। लेखक का मानना है कि मानव विकास का मकसद राज्य की संस्थाओं को विरल और पारदर्शी बनाते हुए समाप्ति की ओर ले जाना होता है, हालाँकि वह इस बारे में संशकित हैं कि राज्य का वाकई कभी विलोपन होगा या नहीं! यह शंका राज्यसत्ता के उद्भव, विकास और अन्ततः विलोपन के विषय में लेखक के अनैतिहासिक दृष्टिकोण को अनावृत्त करती है। लेकिन यहाँ भी वह इस विलोपन की प्रक्रिया का एक क्रमवादी और विकासवादी नज़रिया पेश करते हैं। उनके

अनुसार, पूँजीवादी व्यवस्था के दौर में प्रगतिशील ताक़तें राज्य की संस्थाओं को विरल बनाने और पारदर्शी बनाने का कार्य शुरू कर देंगी और यह काम पूरा होगा समाजवाद के दौरान। वास्तव में, पूँजीवाद के दौरान जनवादी स्पेस और अधिकारों के लिए संघर्ष पूँजीवादी राजकीय संस्थाओं को अधिक पारदर्शी और विरल नहीं बनाता है और न ही कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पूँजीवादी राजकीय संस्थाओं को अधिक पारदर्शी और विरल बनाने के लिए यह संघर्ष करते ही हैं। **कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी बुर्जुआ उदार राज्य और संविधान के वायदों और प्रतिबद्धताओं के साथ इसलिए *ओवर-आइडेण्टिफाई* (over-identify) करते हैं और उनके लिए इसलिए संघर्ष करते हैं क्योंकि यह संघर्ष पूँजीवादी व्यवस्था और उदार बुर्जुआ जनवाद को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु (point of impossibility) तक पहुँचाता है।** इस प्रक्रिया के उपोत्पाद के तौर पर यदि बुर्जुआ राज्य अधिक पारदर्शी या विरल बनता है तो यह अलग बात है। यही कारण है कि लेनिन ने कहा था कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ जनवाद के तहत जनवादी अधिकारों के लिए जुझारू संघर्ष करता है क्योंकि एक ओर यह सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण और वर्ग संघर्ष के लिए सबसे मुफीद ज़मीन मुहैया कराता है, वहीं पूँजीवादी व्यवस्था को बेनक़ाब भी करता है। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था के तहत बुर्जुआ जनवादी स्पेस और अधिकारों को अधिकतम बनाने का संघर्ष पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष का एक हिस्सा है।

रवि सिन्हा मानते हैं कि राज्य को क्रमिक प्रक्रिया में जीवन के अधिकांश क्षेत्रों को अपने नियन्त्रण से मुक्त करना होता है और इसी प्रक्रिया में वह सिंकुड़ता जाता है और उसका विलोपन होता है। लेकिन उनके अनुसार पूँजीवाद के तहत ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि राज्य के नियन्त्रण क्षेत्र से पूँजीवाद के तहत जो भी बाहर जायेगा वह बाज़ार के मातहत आयेगा! यह भी ग़जब की समझदारी है। इसके अनुसार, आज बुर्जुआ राज्य के मातहत जो क्षेत्र हैं, वह मुनाफ़े और बाज़ार के मातहत नहीं हैं! **यहाँ भी हम एक ग़ैर-द्वन्द्वात्मक द्विभाजन देख सकते हैं और इसके पीछे एक कल्याणकारी राज्य का सामाजिक-जनवादी यूटोपिया और साथ ही उदार बुर्जुआ राज्य की एक आदर्शवादी समझदारी है। यह द्विभाजन है राजकीय विनियमन बनाम बाज़ार विनियमन। दूसरे शब्दों में नियोजन बनाम बाज़ार का द्विभाजन।** अर्थशास्त्रीय तौर पर इसे ज़्यादा से ज़्यादा एक नवकीन्सीय समझदारी कहा जा सकता है, जिसके शिकार पॉल स्वीज़ी भी थे। उन्होंने समाजवादी संक्रमण पर चली बहस में नियोजन को समाजवाद और बाज़ार को पूँजीवाद का पैमाना माना था, जिसकी बेतेलहाइम ने कमोबेश सन्तुलित आलोचना पेश की थी। यह द्विभाजन ही ग़लत है, जब तक कि राज्य और बाज़ार दोनों के ही राजनीतिक चरित्र के सवाल को नहीं समझा जाता है। **आज के दौर में भी जो राज्य के मातहत है वह वास्तव में बाज़ार के मातहत ही है। बल्कि कहना चाहिए कि आज जिसे यह नहीं दिख रहा है उसे राजनीतिक अन्धता का शिकार न कहा जाय तो क्या कहा जाय?** राजकीय क्षेत्र में बाज़ार की शक्तियों के काम करने की पद्धति शुद्ध बाज़ार के क्षेत्र में बाज़ार की शक्तियों के काम करने के तरीके से कुछ भिन्न होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि राजकीय विनियमन के तहत आने वाले क्षेत्रों में बाज़ार का नहीं बल्कि किसी कल्पित उदार कल्याणकारिता का साम्राज्य होता है! **यह भी बुर्जुआ उदार राज्य के प्रति रवि सिन्हा के अनालोचनात्मक *फेटिश* को ही प्रदर्शित कर रहा है।** उनके तर्क का मर्म यह है कि पूँजीवाद के रहते तो हमें उदार बुर्जुआ संवैधानिक जनवादी राज्य की और भी ज़रूरत महसूस करनी चाहिए क्योंकि एक ओर यह प्राक्-आधुनिक बर्बरता को सन्तुलित करेगा वहीं यह बाज़ार की शक्तियों को विनियमित

करेगा। एक ऐसे समय में ऐसा तर्क देना जब राज्य सबसे ज़्यादा नंगे तौर पर बाज़ार की शक्तियों की लूट के लिए मैदान खाली कराने का काम कर रहा है, हास्यास्पद है। अकादमिक और राजनीतिक हलकों में हालिया दौर में यह बहस चलती रही है कि राज्य नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के दौर में ज़्यादा हस्तक्षेपकारी (interventionist) हुआ है या फिर वह अधिक से अधिक अदृश्य और अनुपस्थित होता जा रहा है। हमारा मानना है कि राज्य कभी भी कम हस्तक्षेपकारी या अनुपस्थित नहीं हुआ है बस इसके हस्तक्षेप और उपस्थिति के रूप बदलते रहे हैं। तथाकथित "मुक्त-व्यापार" पूँजीवाद के दौर में भी राज्य एक अलग तरीके से विनियमनकारी और हस्तक्षेपकारी भूमिका निभाता था। कल्याणकारी राज्य के दौर के बारे में तो कोई बहस ही नहीं है, जब राज्य ने पूँजी के दूरगामी हितों के मद्देनज़र कई बार वैयक्तिक पूँजी की इच्छाओं के विपरीत आचरण किया और जनता के लिए कुछ कल्याणकारी नीतियाँ लागू कीं। लेकिन आज के दौर में बारे में कई लोगों का कहना है कि राज्य की भूमिका कम होती जा रही है, उसका हस्तक्षेप घटता जा रहा है। यह एक दृष्टिभ्रम से ज़्यादा और कुछ नहीं है। वास्तव में, आज राज्य पहले से ज़्यादा हस्तक्षेपकारी हो गया है। लेकिन कल्याणकारी दौर के विपरीत अब यह नंगे और बेशर्म तरीके से पूँजी के हितों के लिए हस्तक्षेप करता है। चाहे वह देश की प्राकृतिक सम्पदा या फिर सस्ते श्रम की लूट को सुगम बनाने में राज्य की भूमिका हो या फिर श्रम कानूनों के विनियमन के ज़रिये हासिल होने वाली सुरक्षा को समाप्त करने में राज्य की भूमिका हो, राज्य के हस्तक्षेप को कहीं भी पहले के दौर से कम नहीं माना जा सकता; बल्कि ज़्यादा ही मानना पड़ेगा। ऐसे में यह तर्क देना कि पूँजीवाद के मातहत राज्य के नियन्त्रण से जीवन के जो क्षेत्र बाहर जायेंगे वे बाज़ार की पाशविक शक्तियों के मातहत चले जायेंगे, उदारवादी भोलापन है और केवल यह दिखलाता है कि बुर्जुआ समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र की पुस्तकों में पेश पूँजीवाद की तस्वीर को रवि सिन्हा ने कुछ ज़्यादा ही गम्भीरता से ले लिया है। पूँजीवाद के मातहत राज्य और बाज़ार के बीच इस प्रकार का कोई द्विभाजन या विरोधाभास नहीं होता है क्योंकि वे दोनों ही पूँजीवादी राज्य और पूँजीवादी बाज़ार होते हैं। उनके बीच के अन्तरविरोधों को समझने की यह पद्धति पूँजीवाद के तहत राज्य और बाज़ार के सम्बन्धों की कभी सही व्याख्या नहीं कर सकती है।

बुर्जुआ संवैधानिक उदार जनवादी राज्य के प्रति रवि सिन्हा का दृष्टिकोण यह है कि ऐसा राज्य पारदर्शी होता है! यह भी एक भयंकर विभ्रम है। उनके अनुसार ऐसा पारदर्शी संवैधानिक और नियमबद्ध जनवादी राज्य तृणमूल भागीदारी जनवाद के अतिरेकों को सन्तुलित कर सकता है क्योंकि यह जहाँ एक ओर पारदर्शी होता है वहीं यह आधुनिक तर्कणा का मूर्त रूप होता है। ऐसे राज्य को वह जनता के तृणमूल जनवाद का शत्रु नहीं बल्कि पूरक मानते हैं और मानते हैं कि ऐसे राज्य को जनता भी गठित कर सकती है! लेकिन अगर हम भारत ही नहीं बल्कि दुनिया के उदारतम बुर्जुआ कल्याणकारी जनवादी राज्यों पर निगाह डालें तो क्या हम ऐसा कोई पारदर्शी बुर्जुआ राज्य देख पाते हैं, जिसकी कल्पना रवि सिन्हा कर रहे हैं? दुनिया भर में पूँजीवादी आधुनिक राज्य कारपोरेट घरानों के साथ गोपनीय जनविरोधी समझौतों में लिप्त है; हर जगह पूँजीवादी राज्य राष्ट्रवाद और आन्तरिक सुरक्षा के नाम पर तमाम अहम सूचनाओं को सार्वजनिक संज्ञान से बाहर रखते हैं; अमेरिका समेत दुनिया के तमाम पूँजीवादी राज्यों ने ऐसे दमनकारी और विशिष्ट कानून बनाये हैं जो कि जनता के जनवादी और संविधान-प्रदत्त अधिकारों को छीनते हैं; कहने की ज़रूरत नहीं है कि उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्य में यह अपारदर्शिता और भी ज़्यादा होगी। लेकिन किसी भी नस्ल के उदार

बुर्जुआ जनवादी राज्य से पूर्ण पारदर्शिता की उम्मीद करना अहमकाना होगा।

रवि सिन्हा जनवाद की राजनीतिक अन्तर्वस्तु को नहीं देखते बल्कि उसका एक **संस्थावादी (institutionalist)** विश्लेषण करते हैं। यानी कि कुछ जनवादी संस्थाएँ (संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य) सही मायने में आधुनिक और जनवादी होंगी, जबकि अन्य (मुहल्ला पंचायतें, कमेटियाँ या अन्य भागीदारी जनवाद की संस्थाएँ) कम जनवादी होंगी और उनमें जनवाद को नष्ट कर देने की प्रवृत्तियाँ भी मौजूद होंगी। और यह संस्थावादी विश्लेषण अन्त में फिर से आधुनिक और प्राक्-आधुनिक के द्विभाजन पर आकर ख़त्म होता है, जिसके सतहीपन का विश्लेषण हम ऊपर कर चुके हैं। फासीवाद के हालिया उभार और सत्तारूढ़ होने के बरक्स उसके प्रतिरोध के बारे में रवि सिन्हा के पहले और दूसरे सबक का सारतत्व यही है: **पहला,** फासीवाद का मुकाबला करने के लिए फासीवाद के विरुद्ध जनता की गोलबन्दी और सड़क की लड़ाई के प्रयास आत्मघाती सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि (1) भारत की जनता स्वयं वह प्राक्-आधुनिक सर्वसत्तावादी समुदाय है जिसके 'अपने विवेक' से दिये गये समर्थन के बूते फासीवाद सत्ता में पहुँचा है और (2) अगर प्रगतिशील ताक़तें जनता के पास जायेंगी तो फासीवादी और ज़्यादा बड़े पैमाने पर जनता के बीच जायेगा और चूँकि समाज प्राक्-आधुनिक है और फासीवादियों के बर्बर आवाहनों को इस समाज में प्रगतिशील आवाहनों से ज़्यादा अनुगूँज मिलेगी, इसलिए जनता के बीच या सड़क की लड़ाई में विजय की उम्मीद करना व्यर्थ है; इसलिए रवि सिन्हा के मुताबिक फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई को आधुनिक संवैधानिक उदार राज्य के दायरे में सीमित कर देना चाहिए क्योंकि यही राज्य प्राक्-आधुनिक बर्बर फासीवादियों पर भी सभ्य बनने का दबाव डालता है। दूसरा, जनवाद के लिए संघर्ष में राज्य के निकायों को अधिक से अधिक पारदर्शी और राजनीतिक प्रक्रिया को अधिक से अधिक विरल बनाने पर ज़ोर दिया जाना चाहिए न कि तृणमूल भागीदारी जनवाद के मॉडल खड़े करने पर क्योंकि तृणमूल भागीदारी जनवाद के भीड़ जनवाद में तब्दील हो जाने के ख़तरे मौजूद रहेंगे; कारण एक बार फिर यह है कि समाज प्राक्-आधुनिक और सर्वसत्तावादी रुझानों से भरा हुआ है। इन दोनों सबकों के आधार पर हम कुछ और प्रेक्षण और रखेंगे और फिर लेखक के तीसरे सबक की ओर बढ़ेंगे।

पहली बात तो यह है कि भारतीय उत्तर-औपनिवेशिक समाज में प्राक्-आधुनिक, सर्वसत्तावादी और बर्बर रुझान हैं, इसमें कोई दो राय नहीं है। लेकिन इन रुझानों की एक **ऐतिहासिकता (historicity)** है, जिसे रवि सिन्हा पकड़ नहीं पाते हैं और इसीलिए उनका **सारभूतीकरण (essentialization)** करते हैं। इसका कारण यह है कि एक उत्तर-औपनिवेशिक राज्य और समाज में आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के द्वन्द्व और *आर्टिकुलेशन* को समझने में वह नाकाम रहते हैं। इस द्वन्द्व में अगर प्रधान पहलू की बात करें तो वह निश्चित तौर पर आधुनिकता है, जिसने प्राक्-आधुनिक बर्बर और सर्वसत्तावादी रुझानों को अपने अनुसार सहयोजित किया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह पूँजीवादी आधुनिकता है और पूँजीपति वर्ग इसकी चालक शक्ति है। ऐसे में, एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीपति वर्ग जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था के आर्थिक *आर्किटेक्टॉनिक (architectonic)* के सुगम परिचालन के लिए आधुनिकता को अपनाता है तो वहीं अपने राजनीतिक वर्चस्व को **बहुसंस्तरीय (multi-layered)** और व्यापक बनाने के लिए एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज में मौजूद प्राक्-आधुनिक तत्वों को भी अपनाता है। इसलिए भारतीय समाज और राज्य भी, कई बार अगर प्राक्-आधुनिक तत्वों का प्रदर्शन करते हैं, तो इससे पूँजीवादी आधुनिकता के प्रति

फेटिश रखने वाले लोगों को इनके प्राक्-आधुनिक होने का दृष्टिभ्रम (optical illusion) पैदा हो सकता है। रवि सिन्हा काफ़ी हद तक इसी के शिकार हैं।

दूसरी बात यह है आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के इस द्वन्द्व को अलग-थलग तौर पर देखना रवि सिन्हा को उदार बुर्जुआ चिन्तन की परम्परा में सुदृढ़ तौर पर अन्त:स्थापित कर देता है। वास्तव में इस द्वन्द्व के पीछे वर्ग शक्तियों की अन्योन्यक्रिया (interplay) जारी रहती है। इसलिए रूप के धरातल पर मौजूद आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के सामाजिक वर्ग संघर्ष के साथ नाभिनालबद्ध सम्बन्ध को समझे बग़ैर किसी भी विश्लेषण के समक्ष एक संस्थावादी विश्लेषण के गड्ढे में गिरने का ख़तरा मौजूद रहता है। अगर भारतीय समाज में प्राक्-आधुनिकता के तत्व मौजूद हैं तो उसकी प्रतिशक्ति के तौर पर आधुनिकता की शक्तियाँ भी मौजूद हैं, और निश्चित तौर पर उसमें केवल मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ नहीं शामिल हैं। बल्कि कहा जा सकता है कि भारतीय समाज के प्राक्-आधुनिक तत्वों को प्रति-सन्तुलित करने में पूँजीवादी आधुनिकता की ताक़तें अब तक अपर्याप्त ही साबित हुई हैं। **आज के दौर में क्रान्तिकारी सर्वहारा प्रबोधन की शक्तियों के ज़रिये, और अगर हमें इस शब्द का प्रयोग करने की आज्ञा दी जाये, तो *सर्वहारा आधुनिकता* के ज़रिये ही भारतीय समाज में मौजूद प्राक्-आधुनिक, प्रतिक्रियावादी ताक़तों का मुकाबला किया जा सकता है, जो कि विशेष तौर पर एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज में उस तर्कणा और आधुनिकता के उसूलों की सही वारिस है, जिसे बुर्जुआ वर्ग के क्रान्तिकारी दार्शनिकों ने प्रतिपादित किया था और जो बुर्जुआ वर्ग के शासन के वास्तविक रूप ग्रहण करने के साथ धूल में फेंक दिये गये।**

यहीं से हम अपने **तीसरे नुक़्ते** पर आ सकते हैं। **वर्तमान की चुनौतियों का मुकाबला अतीत की ज़मीन पर खड़े होकर नहीं किया जा सकता है।** यह बात इतिहास के हर दौर के लिए सही सिद्ध होती है। आज भारतीय पूँजीवादी उत्तर-औपनिवेशिक समाज में जो प्राक्-आधुनिक तत्व मौजूद हैं, वह बस सीधे तौर पर किसी बीते सामन्ती या प्राक्-पूँजीवादी युग के अवशेष या उनकी निरन्तरता नहीं हैं। यह बीते युग की बर्बरताओं के आधुनिक युग की बर्बरताओं के साथ होने वाले *आर्टिकुलेशन* से पैदा हुई विशिष्ट रूप की बर्बरता है, जिसे सही मायनों में सामन्ती, प्राक्-पूँजीवादी या प्राक्-आधुनिक कहा भी नहीं जा सकता है। यहाँ तक कि खाप पंचायतों के इतिहास के अध्ययन भी दिखलाते हैं कि ये महज़ कोई प्राक्-पूँजीवादी प्राक्-आधुनिक निरन्तरता नहीं है, बल्कि आज के दौर की विशिष्ट परिघटना है और पूँजीवादी आधुनिकता के हाथों सुविधाजनक और सुगम रूप से सहयोजित है। इस विशिष्ट किस्म की उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिक बर्बरता का मुकाबला आप 16वीं और 17वीं सदी में खड़े होकर नहीं कर सकते हैं; पुनर्जागरण, धार्मिक सुधार आन्दोलन और प्रबोधन और उसके बाद वैज्ञानिक क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति की प्रक्रिया से गुज़रकर पैदा हुई पूँजीवादी आधुनिकता की ज़मीन पर खड़े होकर आज की इस चुनौती का मुकाबला नहीं किया जा सकता है। प्रबोधनकालीन बुर्जुआ दार्शनिकों ने पूँजीवादी व्यवस्था और शासन के जिस आदर्शीकृत रूप की कल्पना की थी उसकी ज़मीन पर खड़े होकर और इस किस्म के किसी *एनाक्रॉनिस्टिक नॉस्टैल्जिया (anachronistic nostalgia)* के बूते आप आज भारतीय समाज में मौजूद बर्बरता के तत्वों का सामना नहीं कर सकते हैं। **आज इसका मुकाबला करने के लिए एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन की ज़रूरत है। आज सर्वहारा वर्ग ही यह काम कर सकता है, चाहे उसके भीतर प्राक्-आधुनिक विचारों का जो भी प्रभाव हो।** निश्चित तौर पर, मज़दूर

वर्ग ऐसा स्वत:स्फूर्त तौर पर नहीं कर सकता है और उसके लिए एक सर्वहारा हिरावल की ज़रूरत होगी जो कठमुल्लावाद और जड़सूत्रवाद को छोड़ भारतीय पूँजीवादी राज्य और समाज की विशिष्टता को समझते हुए अपने विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यभार निकाले। मज़दूर वर्ग के पास स्वत: और सहज उपलब्ध चेतना, या यूँ कहें कि स्वत:स्फूर्त मज़दूर चेतना ही सर्वहारा चेतना नहीं होती है। इस सर्वहारा चेतना के लिए सतत् विचारधारात्मक-राजनीतिक वर्ग संघर्ष और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान से लैस हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व की दरकार होती है। लेकिन इतना तय है कि आज कोई प्रबुद्ध मध्यवर्गीय टटपुँजिया बुद्धिजीवी वर्ग इस कार्यभार को पूरा करने में अगुवाई नहीं कर सकता है और न ही इसका मुकाबला केवल अदालतों और कानूनी फ्रेमवर्क में चलने वाले संघर्षों से ही किया जा सकता है। इतिहास के जो कार्यभार भारत में औपनिवेशिकीकरण के कारण छूट गये उन्हें इतिहास में वापस जाकर पूरा करना सम्भव नहीं है। **इतिहास की गति इसी प्रकार होती है; मानव प्रगति की *रीडेम्प्टिव* गतिविधि (redemptive activity) इसी प्रकार की होती है।**

तीसरा सबक: 'रोम में रहो तो वह करो जो रोमवासी करते हैं'

"आप किस चीज़ पर काम कर रहे हैं?" श्रीमान क. से पूछा गया। श्रीमान क. ने जवाब दिया: "मैं काफ़ी दिक्कत से गुज़र रहा हूँ; मैं अपनी अगली ग़लती की तैयारी कर रहा हूँ।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'महाशय कॉयनर की कहानियाँ'*)

"छोटे बदलाव, बड़े बदलावों के दुश्मन होते हैं।"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट)

रवि सिन्हा का तीसरा सबक बुर्जुआ राज्य की नीतियों और कार्यक्रम के सम्बन्ध में है जिसमें वे उन बुनियादी माँगों की बात करते हैं जिसके लिए आज वामपंथियों को लड़ना चाहिए। यहाँ वह कोई नया सबक नहीं दे रहे हैं। वास्तव में, वह जो बात कह रहे हैं वह सी. पी. चन्द्रशेखर, जयति घोष, प्रभात पटनायक आदि जैसे सामाजिक-जनवादी राजनीतिक अर्थशास्त्री हर हफ्ते *दि हिन्दू, फ्रण्टलाइन, मैक्रोस्कैन, नेटवर्क आइडियाज़,* आदि जैसी पत्र-पत्रिकाओं और वेबसाइटों पर देते रहते हैं। यह और कुछ नहीं है बल्कि पुराना कीन्सीय नुस्खा है, जिसके अनुसार वामपंथियों को कल्याणकारी राज्य और पूँजी की निर्बाध गति के विनियमन के लिए लड़ना चाहिए। इसके पीछे के लेखक के कारण बिल्कुल वैसे नहीं हैं, जैसे कि उपरोक्त सी.पी.एम.-ब्राण्ड अर्थशास्त्रियों के हैं। क्योंकि उनके कारणों के नीचे एक मज़बूत कीन्सीय, हॉब्सनियन अल्पउपभोगवादी (under-consumptionist), काऊत्स्कीपन्थी, सामाजिक जनवादी और संशोधनवादी विचारधारात्मक-राजनीतिक ज़मीन है। रवि सिन्हा सीधे वे कारण बता नहीं सकते वरना पहचान का संकट पैदा हो जायेगा; लेकिन उन कारणों के स्थानापन्न के तौर पर वह या तो कोई कारण बता ही नहीं पाते हैं, या फिर उनके बताये हुए कारण हास्यास्पद हैं।

लेखक दलील देता है कि भारतीय पूँजीवाद आज विशेष तौर पर हिंस्र और खूँखार मंज़िल में है और इसके दो प्रमुख कारक हैं। पहला यह है कि भारत में प्रचुर मात्रा में मौजूद सस्ता श्रम और दूसरा यह है कि भारत में जंगलों, खानों-खदानों के रूप में अधिकांश प्राकृतिक सम्पदा और साथ ही अधिकांश छोटी सम्पत्तियाँ अभी पूँजी में तब्दील नहीं हुई हैं। यह पूरा प्रेक्षण एक बार फिर दिखलाता है कि लेखक उत्तर-औपनिवेशिक

पूँजीवादी विकास के सामान्य प्रक्षेप-पथ (trajectory) को समझ नहीं पाया है। पहली बात तो यह है कि लेखक द्वारा बताया गया दूसरा कारक तथ्यतः सटीक नहीं हैं। भारत में मौजूद प्राकृतिक संसाधन और अधिकांश छोटी सम्पत्तियाँ मुख्य तौर पर पूँजी में तब्दील हो चुकी हैं। पूँजी में तब्दील होने का अर्थ है कि उत्पादन उपभोग हेतु नहीं बल्कि विपणन हेतु हो रहा है, यानी कि विनिमय के लिए। यानी कि माल-मुद्रा-माल का चक्र अब मुद्रा-माल-मुद्रा में तब्दील हो चुका है। भारत में छोटी सम्पत्तियों का बाहुल्य कृषि क्षेत्र में देखा जा सकता है। आज से करीब एक दशक पहले ही देश के 60 प्रतिशत ग्रामीण घरों के आय का मुख्य स्रोत उजरती श्रम था; दूसरे स्थान पर छोटे माल उत्पादन के विपणन से होने वाली आय थी; 20 प्रतिशत घरों में बेशी उत्पादन के विपणन से होने वाली आय और मज़दूरी से होने वाली आय बराबर थी। देश के परिधिगत किसानों, यानी कि सबसे छोटी जोत वाले किसानों के उत्पादन का भी 40 प्रतिशत हिस्सा बेचने के लिए था। निश्चित तौर पर, पिछले दस वर्षों में स्थितियाँ और बदली होंगी। दूसरी बात जिसे समझना ज़रूरी है वह यह है कि पूँजी द्वारा श्रम प्रक्रिया को औपचारिक तौर पर अपने मातहत लाना (formal subsumption) और वास्तविक तौर पर अपने मातहत लाना (real subsumption)। मार्क्स ने इन दोनों चरणों मे स्पष्ट फर्क किया था और बताया था कि पूर्ण रूप से पूँजीवादी संचय दूसरे चरण के साथ ही शुरू होता है। पहले पूँजी पहले से मौजूद श्रम प्रक्रिया को अपने मातहत लाती है। इस चरण में पूँजी उत्पादन के साधनों को अपने मातहत लाती है और उत्पादकों को उजरती मज़दूरों में तब्दील कर देती है और पूँजी संचय को सम्भव बनाती है। लेकिन श्रम प्रक्रिया मोटा-मोटी पहले के समान ही जारी रहती है। दूसरे चरण में पूँजी अपने हितों के अनुरूप पूरी की पूरी श्रम प्रक्रिया और तकनीक को अपने मातहत लाती है और उसका रूपान्तरण कर देती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था इस दूसरे चरण के साथ ही परिपक्व रूप ग्रहण करती है। इसे हम मैन्युफैक्चर से मशीनोफैक्चर तक की यात्रा से भी समझ सकते हैं। क्लासिकीय तौर पर पूँजीवाद के विकास में इन दो चरणों के बीच सैद्धान्तिक तौर पर और साथ ही एक हद तक ऐतिहासिक तौर पर एक रेखा खींची जा सकती है। **लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी देशों में पूँजीवादी विकास की यह एक विशिष्टता है कि उसके ऐतिहासिक विकास के कई क्षण (moments) सहअस्तित्वमान होते हैं।** इसलिए हमें भारत में बेहद उन्नत पूँजी संचय की मिसालें बड़ी संख्या में मिल सकती हैं तो साथ ही हमें ऐसे इलाके भी मिल सकते हैं जहाँ कालानुक्रम-दोष के साथ "आदिम" पूँजी संचय के क्षण भी दिख सकते हैं जिसमें कि छोटे उत्पादकों, आदिवासियों आदि को उनके जल, जंगल और ज़मीन से उजाड़ा जा रहा है और उनके प्राकृतिक संसाधनों की कारपोरेट लूट का रास्ता साफ़ किया जा रहा है। वैसे भी मार्क्स के लिए "आदिम" पूँजी संचय कोई शुद्धतः कालिक (temporal) अवधारणा नहीं थी। यूँ तो चाहे कोई भी देश हो पूँजीवादी विकास अपनी प्रकृति से ही काल और दिक् दोनों के ही आयामों पर असमान होता है, लेकिन एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवाद में यह असमानता विशिष्ट और चमत्कृत कर देने वाले रूपों दिखलायी पड़ती है। लेकिन इन सबके बावजूद यह कहना कि समूची अर्थव्यवस्था में छोटे मालिकाने की सम्पत्तियाँ अभी पूँजी में तब्दील नहीं हुई हैं, सच्चाई से बहुत दूर है। यह ज़रूर है कि देश में छोटी सम्पत्तियाँ चाहें वे कृषि के क्षेत्र में हों या उद्योग के क्षेत्र में, अभी कारपोरेट इज़ारेदार पूँजी के वर्चस्व के तहत पूरी तरह से नहीं आयी हैं। इसलिए कारपोरेट पूँजीवाद के साथ-साथ हमारे देश में

टटपुँजिया पूँजीवाद भी मौजूद है, हालाँकि स्पष्ट तौर पर पहले की हिस्सेदारी अर्थव्यवस्था के आकार में काफ़ी ज़्यादा है।

लेकिन अगर रवि सिन्हा इन दो कारकों को आज पूँजीवादी पशु के ज़्यादा भूखे होने के लिए ज़िम्मेदार बता रहे हैं, तो बात समझ में नहीं आती है। **क्योंकि सस्ते श्रम की मौजूदगी और प्राकृतिक सम्पदा और छोटी सम्पत्तियों की भारी मौजूदगी भारत में आज से नहीं बल्कि पिछले कई दशकों से है, तो फिर भारतीय पूँजीवाद में यह विशिष्ट चरण आज ही क्यों आया है!** उनके अनुसार यह आज भारतीय पूँजीवाद के विशेष तौर पर लुटेरे चरित्र को दिखलाता है! अगर ऐसा है तो यह विशिष्टता पहले ही पैदा हो जानी चाहिए थी क्योंकि उनके दोनों कारण आज से नहीं बहुत पहले से मौजूद हैं। यह सही है कि आज भारतीय पूँजीवाद विशेष तौर पर लुटेरे दौर में है। लेकिन इसकी व्याख्या भारतीय पूँजीवाद के इतिहास के एक नये चरण से की जानी चाहिए। यहाँ दो कारक हमारे विचार में विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य हैं: **पहला,** भारतीय पूँजीवाद का 1990 में सार्वजनिक क्षेत्र पूँजीवाद से खुले नवउदारवादी पूँजीवाद के दौर में प्रवेश जिसके साथ देश भर की वह श्रम सम्पदा और प्राकृतिक सम्पदा जो अभी तक निजी पूँजी की निर्बाध लूट के दायरे से बाहर थी, वह अधिक से अधिक उसकी लूट के दायरे में आती गयी; और **दूसरा,** भारतीय व्यवस्था का वैश्विक वित्तीय पूँजीवादी तन्त्र में पहले से अधिक और जैविक समेकन, जिसके कारण वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में मन्दी और संकट के हिचकोले भारतीय अर्थव्यवस्था में भी सीधे तौर पर और पहले से ज़्यादा महसूस किये जाने लगे। ये दो ऐसे कारक हैं जो पहले मौजूद नहीं थे और आज भारतीय पूँजीवाद की विशिष्टता को सन्तोषजनक रूप से व्याख्यायित कर सकते हैं। लेकिन इन दोनों ही कारकों को समझने में लेखक नाकाम रहता है और उन नियतांकों को गिनाता है जो कि पहले से मौजूद हैं और अपने आप में मौजूदा परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकते हैं।

बहरहाल, रवि सिन्हा भारतीय पूँजीवाद के इस विशिष्ट तौर पर लुटेरे चरण में वामपंथियों को दो माँगों पर लड़ने की सलाह देते हैं: पहला, कल्याणकारी राज्य के लिए और दूसरा पूँजी की निर्बाध लूट को विनियमित करने के लिए। वह कहते हैं कि एक कल्याणकारी राज्य प्रगतिशील कराधान प्रणाली के ज़रिये जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी लेगा। इसके अलावा, प्राकृतिक संसाधनों (बशर्ते कि उनका राष्ट्रीकरण न हो जाये) और छोटी सम्पत्तियों (बशर्ते कि उन्हें नये उद्यमों में स्थायी शेयरहोल्डर न बना दिया जाय) को पूँजी में तब्दील करने से रोकने के लिए एक कानूनी ढाँचे के लिए लड़ना होगा। इन दोनों माँगों के 'इण्डिया अगेंस्ट करप्शन' और बाद में 'आप' द्वारा ले उड़ने पर रवि सिन्हा दुखी हैं और इसे फासीवादी उभार में अन्ततः मददगार भी मानते हैं और साथ ही मानते हैं कि ये माँगें कम्युनिस्टों को उठानी चाहिए। लेकिन ये दोनों ही माँगें न सिर्फ़ आर्थिक तौर पर अव्यावहारिक हैं बल्कि लेखक की निम्न पूँजीवादी और अनैतिहासिक राजनीतिक सोच को दिखलाती हैं। इनमें से दूसरी माँग तो आज सबसे निकृष्ट किस्म के सामाजिक-जनवादी भी बिरले ही करते हैं। ख़ैर, यहाँ जिन दो माँगों के लिए लड़ने का सुझाव दिया गया है वह तमाम संशोधनवादी राजनीतिक पार्टियों और बुद्धिजीवियों और दूसरी ओर रवि सिन्हा के बीच के सारे अन्तर समाप्त कर देता है। वैसे रवि सिन्हा ने पहले ही लेख में स्पष्ट कर दिया है कि जो "परिधि पर खड़े पागल" संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद में फर्क करते हैं, उनसे उन्हें कोई उम्मीद नहीं है और वे उनके सबकों पर संकीर्णतापूर्ण सवाल उठायेंगे! चूँकि हमें पूर्वानुमानपूर्ण

फैसले में पागल घोषित कर ही दिया गया है, इसलिए हम इस नुक्ते पर अपनी पूरी बात कह ही देते हैं!

क्या क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कल्याणकारी राज्य के लिए लड़ते हैं? हमारा मानना है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर जनता की उन सभी माँगों के लिए लड़ते हैं जो कि संवैधानिकता के दायरे में आती हैं और कानूनसम्मत होती हैं और उनके बाहर भी होती हैं। वास्तव में, नागरिक अधिकार और जनवादी अधिकार के बीच यही फर्क होता है। हमारी लड़ाई जनता के रोज़गार, रिहायश और शिक्षा के बुनियादी हक़ के लिए होती है। लेकिन कल्याणकारी राज्य की माँग करना एक अलग राजनीतिक माँग बनती है और लघुकालिक तौर पर भी वे कल्याणकारी राज्य की माँग नहीं करते हैं क्योंकि इसके साथ एक राजनीतिक अर्थशास्त्र और राजनीति जुड़ी हुई है। यह कीन्सीय और हॉब्सनियन अल्पउपभोगवादी समझदारी है जिसकी माला आज प्रभात पटनायक, जयति घोष से लेकर सी. पी.चन्द्रशेखर तक जप रहे हैं। यानी कि कल्याणकारी और अल्पउपभोगवादी नीतियों द्वारा घरेलू माँग को बढ़ाकर संकट को दूर करने और जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने का नुस्खा। **क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट जनता के हरेक कानूनी और साथ ही साथ जायज़ हक़ के लिए लड़ते हैं और फिर भी उस लड़ाई को कल्याणकारी राज्य के लिए संघर्ष में तब्दील नहीं करते हैं।** वे उन सभी माँगों के लिए लड़ते हुए जो कुछ पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में हासिल किया जा सकता है, हासिल करते हैं और जो नहीं हासिल किया जा सकता है, उससे व्यवस्था को बेनक़ाब करते हैं और उसे उसकी असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचाते हैं। हमारा संघर्ष समाजवादी व्यवस्था के लिए होता है। मुद्दे तो वही होते हैं लेकिन लड़ने की पहुँच और पद्धति भिन्न होती है। आज भारतीय समाज में हमेशा से ज़्यादा इस बात की ज़मीन तैयार है कि हम जनता को सिर्फ़ केक के लिए नहीं बल्कि पूरी बेकरी हथियाने के लिए लड़ना सिखाएँ! ऐसे में, कल्याणकारी राज्य की माँग को उठाना प्रतिगामी है।

जर्मनी में फासीवादी ताक़तों के उदय का एक कारण यह था कि सामाजिक जनवादियों ने कल्याणकारी राज्य को बचाये रखने की लड़ाई लड़ी न कि समाजवाद की लड़ाई जो कि पूँजीवादी दायरे का अतिक्रमण करती हो। एक मज़बूत मज़दूर आन्दोलन के बूते पर वे पूँजी की शक्तियों को कुछ समय के लिए श्रम की शक्तियों के साथ समझौता करने और कल्याणकारी राज्य को बनाये रखने के लिए मजबूर करने में सफल भी हुए। लेकिन इस बीच वे जनता के बीच इसके विभ्रमों को तोड़ने के राजनीतिक कार्य की बजाय उन्हें मज़बूत बनाते रहे क्योंकि उनका राजनीतिक जुमला (rhetoric) ही कभी कल्याणकारी राज्य के आगे नहीं गया। नतीजतन, जैसे ही संकट के दौर में श्रम और पूँजी के बीच का यह समझौता दबाव के मातहत आने लगा और जर्मन पूँजीपति वर्ग मुनाफे के सिंकुड़ने (profit squeeze) का शिकार हुआ, वैसे ही उसने हिटलर और नात्सी पार्टी को टटपुँजिया वर्गों की गोलबन्दी के ज़रिये मज़दूर आन्दोलन को ध्वस्त करने के लिए राजनीतिक मंच सौंप दिया और इसी के साथ वीमर गणराज्य का पतन हुआ। अगर आज के दौर में भी हमारा राजनीतिक माँगपत्रक कल्याणकारी राज्य की माँग करेगा तो हम इतिहास में वही ग़लती दुहरायेंगे। **हमारी माँग शिक्षा, रोज़गार और रिहायश को जन्मसिद्ध अधिकार बनाने की माँग होते हुए भी कल्याणकारी राज्य की माँग नहीं होती है।** दूसरी बात यह है कि आज कल्याणकारी राज्य की माँग एक अनैतिहासिक माँग है। कल्याणकारी राज्य के इतिहास के रंगमंच से अनुपस्थित होने का रिश्ता उस क्षण से है जिसमें आज

विश्व पूँजीवाद है; न तो आज पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों के लिए कल्याणकारी राज्य का ख़र्च उठा पाना सम्भव है और न ही उत्तर-औपनिवेशिक पिछड़े पूँजीवादी देशों के लिए। रवि सिन्हा का मानना है कि हमें ठोस तथ्यों के आधार पर लड़ाई का एजेण्डा तय करना चाहिए और ठोस तथ्य यह है कि कल्याणकारी राज्य की माँग ही आज की यथार्थवादी माँग है, हालाँकि वामपन्थी इसे बीते ज़माने की बात मानते हैं। इसके प्रासंगिक होने के प्रमाण के तौर पर वह इस तथ्य का बयान करते हैं कि संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन ने भी धुर दक्षिणपन्थी नवउदारवादी भाजपा के समक्ष कल्याणकारी राज्य का ही एजेण्डा रखा था, हालाँकि वह इसे लागू करने में असफल रही थी। वामपन्थी (सीपीआई, सीपीएम, आदि) इसे लागू करने या करवाने के लिए सबसे अच्छी स्थिति में थे, लेकिन उन्होंने परमाणु समझौते के प्रश्न पर यूपीए-एक से बाहर जाने की मूर्खता कर दी! रवि सिन्हा काफ़ी हद तक इस मूर्खता को फासीवादी उभार और 16 मई को मोदी के सत्ता में आने का कारण मानते हैं! **वास्तव में, ये सारे तथ्य जैसे कि कांग्रेस द्वारा कल्याणकारी राज्य के जुमले का इस्तेमाल यह नहीं दिखलाता कि कल्याणकारी राज्य की माँग आज की प्रासंगिक और यथार्थवादी माँग है! यह इसके बिल्कुल विपरीत को दिखलाता है–यह आज के दौर में एक अनैतिहासिक और प्रहसनात्मक माँग है।** यह माँग आज के दौर में न केवल राजनीतिक तौर पर ग़लत है, बल्कि अव्यावहारिक भी है। इस माँग के संसदीय राजनीति में जुमले के तौर पर इस्तेमाल को तो समझा जा सकता है, लेकिन किसी कम्युनिस्ट द्वारा आज कल्याणकारी राज्य की माँग करना (ग़ौर करें, जनता की ज़रूरतों से जुड़ी माँगों को उठाते हुए व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु तक ले जाने और समाजवादी विकल्प का प्रचार करने की नहीं, बल्कि कल्याणकारी राज्य को ही लक्ष्य बनाकर माँग करना) प्रतिगामिता नहीं तो और क्या है? यात्री को जब आगे कुछ नहीं दिखायी देता है, तो वह पीछे ही देखता है। एक बार फिर लेखक वर्तमान की चुनौतियों का मुकाबला अतीत की ज़मीन पर खड़ा होकर करना चाहता है। रवि सिन्हा के मुताबिक आज वामपंथियों को नेहरूवियन कल्याणकारी राज्य या ऐसे किसी अतीत के लिए लड़ना चाहिए! ऐसा इतिहास में पहले भी हुआ है कि यथार्थवादी होने और ठोस तथ्यों को आधार बनाने के नाम पर निराशावाद, समझौतापरस्ती और पराजयवाद परोसा गया है।

रवि सिन्हा की दूसरी माँग भी यही करती है, बल्कि इससे कुछ ज़्यादा करती है। उनके अनुसार प्राकृतिक संसाधनों को जब तक राज्य की सम्पत्ति न बना दिया जाये तब तक पूँजी में उनके रूपान्तरण का विरोध किया जाना चाहिए। यहाँ तक तो बात कमोबेश ठीक है, लेकिन साथ ही वह यह माँग उठाने की वकालत करते हैं कि छोटी सम्पत्तियों का तब तक पूँजी में रूपान्तरण नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि उनके पूँजी में रूपान्तरण से पैदा होने वाले भावी उद्यमों में उन्हें स्थायी हिस्सेदार (share-holder) न बनाया जाय! यह तो भयंकर है। इसके अनुसार अगर छोटे कारखाना मालिकों और टटपुँजिया उत्पादकों को यदि कोई बड़ी पूँजी निगलना चाहती है तो उन्हें नये उद्यमों में हिस्सेदारी देनी चाहिए! उसी प्रकार अगर कोई एग्रो-बिज़नेस करने वाली कम्पनी छोटी या मँझोली किसानी को निगलता है तो उजड़े हुए किसानों को नये फार्म में हिस्सेदारी दी जानी चाहिए! किसानों के प्रश्न पर कुछ आगे चर्चा करते हैं, **लेकिन किसी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट को छोटे कारखाना मालिकों और छोटी पूँजी के उजड़ने पर क्यों पेट दर्द होगा?** यह माँग हर सूरत में प्रतिगामी है। यह इतिहास को पीछे की ओर धकेलने की वकालत करती है। कई माँगें पूँजीवादी दायरे के भीतर संघर्ष करने के लिए उपयुक्त होती

हैं। लेकिन ये मध्यवर्ती माँगें वे माँगें होती हैं जो कि पूँजीवादी व्यवस्था को बेनक़ाब करती हैं और व्यापक मेहनतकश आबादी के लिए कुछ फौरी राहत दे सकती हैं। लेकिन इस माँग में तो ये दोनों ही गुण नहीं हैं। जहाँ तक किसान आबादी का प्रश्न है, तो व्यापक किसान आबादी भी आज छोटे मालिकाने के विभ्रमों से मुक्त हो रही है। 2003 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण में 40 प्रतिशत छोटे व मँझोले किसानों ने बताया कि वे मौका मिलने पर खेती छोड़ना चाहेंगे। इसी सर्वेक्षण में पता चलता है कि खेती में करीब 11 करोड़ भूमि के स्वामी किसान हैं जबकि 10 करोड़ खेतिहर मज़दूर। 11 करोड़ स्वामी किसानों की 60 प्रतिशत आबादी के जीविकोपार्जन का मुख्य स्रोत खेती नहीं बल्कि उजरती श्रम है। ऐसे में ग्रामीण आबादी के 22 करोड़ कृषि में लगे लोगों में से करीब 16 करोड़ लोग पहले ही सर्वहारा अथवा अर्द्धसर्वहारा की स्थिति में पहुँच चुके हैं। अमित बसोले और दीपांकर बसु का अध्ययन (http://sanhati.com/wp-content/uploads/2009/05/india_surplus_may_ 11.pdf) दिखलाता है कि छोटे किसानों को बचाने या छोटी जोत की खेती को बचाने का प्रयास करने की पूँजीवाद के दायरे के भीतर भी कोई प्रासंगिकता नहीं है; **यह मध्यवर्ती माँग भी नहीं बनती है क्योंकि यह किसानों को लेनिन के शब्दों में 'आत्म-शोषण' के भयंकर कुचक्र में धकेलने के समान होगा।** अगर आँकड़ों के आधार कहें तो अगर आज पुनर्वितरण वाले भूमि सुधार किये जायें तो हरेक किसान के हिस्से 1.25 हेक्टेयर भूमि आयेगी, जो कि कतई अपर्याप्त है। ऐसे में, इस प्रकार के सुधारों की माँग मध्यवर्ती माँग के तौर पर भी अपनी प्रासंगिकता खो चुकी है। और जहाँ तक खेती में छोटे खेतों के अधिग्रहण से पैदा होने वाले नये कृषि या ग़ैर-कृषि उपक्रमों में स्थायी हिस्सेदारी का प्रस्ताव है, तो यह हास्यास्पद होने की हद तक अव्यावहारिक भी है और राजनीतिक तौर पर प्रतिगामी भी। **कोई भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ऐसी माँग की वकालत क्यों करेगा?** आज तो इतिहास ने इस बात के लिए और भी ज़्यादा मुफ़ीद हालात मुहैया कराये हैं कि छोटे और निम्न मध्यम किसानों के उजड़ने पर समाजवादी कृषि कार्यक्रम का एक नये रूप में प्रचार किया जा सके। ऐसे में, हम उजड़ने वाले किसानों को वापस छोटे मालिक या छोटे हिस्सेदार के तौर पर ग़रीबी और बदहाली के कुचक्र में धकेलने की वकालत क्यों करें? जब पूरा तन्दूर ही हमारा है तो फिर सिर्फ नान क्यों माँगें?

और ये सारी सलाहें या सबक हमें यथार्थवाद, व्यावहारिकता और ग़ैर-कठमुल्लावादी रुख़ रखने के बहाने से दिया जाता है। यह व्यावहारिकता नहीं बल्कि व्यवहारवादी समझौतापरस्ती और प्रतिगामिता है। संसदीय वामपंथियों की मूर्खता और "कठमुल्लावाद" पर लेखक बेतरह नाराज़ है। उसके अनुसार संसदीय वामपंथियों ने यूपीए-एक सरकार से अपने उस राष्ट्रवादी कीड़े के कारण परमाणु क़रार के मुद्दे पर रिश्ता तोड़ लिया जो कि अन्त में मोदी के नेतृत्व में फासीवादी उभार का एक कारक बना, जो कि औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के दौर में उसके भीतर घुस गया था! यह भी चमत्कृत कर देने वाला विश्लेषण है। हम यहाँ संसदीय वामपंथियों की इस कथित भूल की तो विस्तार में चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन इतना स्पष्ट है कि नन्दीग्राम, सिंगूर और लालगढ़ में अपने असली सामाजिक फासीवादी रवैये को प्रदर्शित करने वाले संसदीय वाम के विषय में लेखक का विभ्रम बीमारी की हद तक है। वह तृणमूल कांग्रेस के लम्पटों और माकपा के लम्पटों में माकपा के लम्पटों को बेहतर मानता है! इसके विश्लेषण में औपनिवेशिक दौर में पैदा हुए राष्ट्रवाद को बेवजह ही घुसा दिया गया है। माकपा और भाकपा केवल उन्हीं अर्थों में "राष्ट्रवादी" कहे जा सकते हैं जिनके अनुसार वे देशी छोटी पूँजी की नुमाइन्दगी करते हैं,

हालाँकि अब ये काम भी वे बहुत मन से नहीं करते हैं। **सिंगूर की घटनाओं के बाद माकपा ने अपने बचाव में जो कुछ लिखा उसका सार ये था कि बड़ी पूँजी ऐतिहासिक तौर पर ज़्यादा प्रगतिशील है और टटपुँजिया पूँजीवाद और खेती के क्षेत्र में छोटी किसानी की हिफ़ाज़त ऐतिहासिक तौर पर प्रतिगामी है! हालाँकि इससे उन्होंने ये नतीजा निकाला कि इस छोटी किसानी को उजाड़ने के लिए माकपा को ही सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए!** बहरहाल, चूँकि रवि सिन्हा के लिए वामपन्थ एक 'जेनेरिक' श्रेणी है और वह उस "पागलपन भरी परिधि" में नहीं जाना चाहते हैं जो कि संशोधनवाद, सामाजिक जनवाद आदि जैसे पुराने पड़े शब्दों को इस्तेमाल करती है (!) इसलिए इस बाबत हमें उनकी अवस्थिति के विषय में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं महसूस होती।

रवि सिन्हा के अनुसार भारतीय वामपंथियों की दो समस्याएँ हैं। एक है कठमुल्लावाद जिसके कारण वे भविष्य के समाजवाद की एक व्यावहारिक रूपरेखा या एक व्यापक कार्यक्रम जनता के सामने नहीं पेश कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि तमाम नये समाजवादी सिद्धान्तकारों का तथाकथित 'इक्कसवीं सदी का समाजवाद' और 'भावी समाजवाद' बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की स्मृतियों का बन्दी बना हुआ है और उससे आगे नहीं देख पा रहा है। इसका कारण यह है कि इन वामपंथियों के लिए बीसवीं सदी का समाजवाद एक प्रामाणिक (canonical) मॉडल बना हुआ है। **जहाँ तक हम जानते हैं समाजवाद के तमाम नये सिद्धान्तकारों को यहाँ बेकार में ही घसीट दिया गया है।** इसका कारण यह है कि चाहे **इस्तेवान मेस्ज़ारोस** हों, **माइकल लेबोवित्ज़** हों या फिर **मार्ता आनेकर** जैसे बुद्धिजीवी हों, वे बीसवीं सदी के समाजवादी मॉडल के प्रति एक 'रिजेक्शनिस्ट' रुख़ रखते हैं और कम-से-कम उनके बारे में यह कहना कि वे बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की स्मृतियों के बन्दी बने हुए हैं, हास्यास्पद हैं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि वे भयंकर स्मृति-लोप का शिकार हैं। सोवियत समाजवादी प्रयोगों की उनकी समझदारी और जानकारी के बारे में जितना कम कहा जाय उतना अच्छा है। मिसाल के तौर पर, इस्तेवान मेस्ज़ारोस अपनी एक हालिया रचना में लिखते हैं कि स्तालिन ने ट्रेड यूनियनों को राज्य के अधीन लाने के लिए उन्हें 'कन्वेयर बेल्ट', 'ट्रांसमिशन बेल्ट' आदि की संज्ञा दी थी! कोई भी सोवियत इतिहास का जानकार जानता है कि लेनिन ने ये शब्द इस्तेमाल किये थे और वह भी केवल ट्रेड यूनियनों के लिए नहीं बल्कि बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी मशीनरी के लिए जिसके लिए उन्होंने 'कॉग व्हील्स' और 'कन्वेयर बेल्ट' या 'ट्रांसमिशन बेल्ट' के रूपक का प्रयोग किया था। दूसरी बात यह कि उन्होंने ऐसा ठीक इसलिए किया था क्योंकि वह त्रात्स्की द्वारा ट्रेड यूनियनों के राजकीयकरण के ख़िलाफ़ थे! लेकिन मेस्ज़ारोस यहाँ सारे ऐतिहासिक विवरणों को गड्ड-मड्ड कर अजीब खिचड़ी पका देते हैं। ऐसे ही उदाहरण हम लेबोवित्ज़ और आनेकर की रचनाओं से भी दे सकते हैं, जिसके लिए हमारे पास यहाँ स्थान नहीं है। लेकिन एक बात तय है–"भावी समाजवाद" और "इक्कसवीं सदी के समाजवाद" के इन सिद्धान्तकारों के लिए बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग न केवल कोई मॉडल नहीं हैं, बल्कि उनके अनुसार इन मॉडलों में सीखने के लिए ज़्यादा कुछ नहीं है। इसके अलावा, अगर बेदियू, ज़िज़ेक आदि की बात करें तो वे तो रवि सिन्हा से भी आगे बढ़कर बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को आपदा (disaster) मानते हैं, लिहाज़ा, रवि सिन्हा निश्चित तौर पर उनके बारे में तो बात नहीं ही कर रहे हैं। **इसलिए रवि सिन्हा यहाँ तथ्यतः ग़लत हैं।**

यह ज़रूर है कि भारत में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में कठमुल्लावाद एक अहम समस्या है; विशेष तौर पर, कार्यक्रम के प्रश्न पर। जिस कठमुल्लावाद की बात रवि सिन्हा कर रहे हैं, उसके बारे में वे कुछ विस्तार से लिखते तो ज़्यादा बेहतर होता। **लेकिन एक बात तय है कि इस कठमुल्लावाद को जो भी संघटित करता हो, इसके विकल्प के तौर पर जो धुरीविहीन "मुक्त" चिन्तन वह पेश कर रहे हैं वह न केवल कोई नया व्यावहारिक समाजवादी कार्यक्रम के निर्माण की ओर नहीं ले जा सकता है, बल्कि दरअसल वह पुराने दन्त-नखविहीन सामाजिक-जनवाद, संशोधनवाद, उदार बुर्जुआ व्यहवारवाद और सुधारवाद का ही एक विचित्र मिश्रण है।** इसे बस पाण्डित्यपूर्ण भाषा की नयी बोतल में पेश करने का प्रयास किया गया है।

रवि सिन्हा के अनुसार, भारतीय वामपंथियों के लिए दूसरी समस्या है लोकरंजकतावाद जिसके कारण वे उदार बुर्जुआ वर्ग जितना भी रैडिकल नहीं हो पाते। वे युग की ऐतिहासिक चेतना और जनता की अस्तित्वमान लोकप्रिय चेतना के बीच के अन्तर को कम करने के लिए उतने साहसिक कदम भी नहीं उठा पाते जितना कि उदार बुर्जुआ लोग उठा लेते हैं। यहाँ के वामपन्थी 'नॉस्टैल्जिक' होकर राष्ट्रवाद के दौर को गाँधीवादी समुदायवादी भावना को याद करते हैं जब कम्युनिस्ट पार्टी का किसानों से जैविक रिश्ता बना हुआ था और फिर जनता से रिश्ता टूट जाने पर वामपन्थ की असफलता का दोष डाल देते हैं! यहाँ सारी बातें जानबूझकर गड्डमड्ड कर दी गयी हैं। पहला प्रश्न यह है कि युग की कौन-सी ऐतिहासिक चेतना और कौन-से उदार बुर्जुआ की बात यहाँ की गयी है? लेख के पहले के स्वर और अन्तर्वस्तु से हम बता सकते हैं यहाँ युग की ऐतिहासिक चेतना का रिश्ता भी आधुनिकता से है और उदार बुर्जुआ के रूप में हम इतिहास में अम्बेडकर को देख सकते हैं और आज के दौर में सम्भवत: तीस्ता सेतलवाड़ या मुकुल सिन्हा जैसे लोगों को। **हमारा समझना है कि युग की ऐतिहासिक चेतना आज पूँजीवादी आधुनिकता से आगे निकल चुकी है। और ठीक इसीलिए आज स्पष्ट तौर पर उन उदार बुर्जुआ लोगों और उनकी राजनीति से ज़्यादा की ज़रूरत है जिनकी बात रवि सिन्हा कर रहे हैं।** दूसरा प्रश्न यह है कि आज कौन-से क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट गाँधीवादी समुदायवाद को लेकर 'नॉस्टैल्जिक' हैं? चूँकि मार्क्सवाद और वामपंथ की लेखक की परिभाषा अभूतपूर्व रूप से व्यापक है इसलिए हो सकता है कुछ ऐसे लोग हों! लेकिन वामपन्थी लोग किसानों या जनता से कम्युनिस्ट पार्टी के अतीत के जुड़ाव को लेकर 'नॉस्टैल्जिक' हैं और उसके टूट जाने से दुखी हैं। और उनके इस दुखी होने से लेखक दुखी है! हालाँकि, अगर कोई कम्युनिस्ट जनता से जुड़ाव के टूटने पर अफ़सोसज़दा है, तो इसमें ग़लत क्या है? लेकिन बात यह है कि हमारी जानकारी में कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट केवल इसी को एकमात्र समस्या नहीं मानता है। अगर हमारी जानकारी कम है और ऐसे लोग भी हैं तो हम निश्चित तौर पर रवि सिन्हा की इस बात से सहमत हैं कि केवल जनता से जुड़ाव होना ही सारी समस्याओं का समाधान नहीं है और एक सही विचारधारात्मक और राजनीतिक कार्यदिशा का होना भी उतना ही ज़रूरी है। लेकिन हमें नहीं लगता कि इस दिशा में लेखक द्वारा दिये गये सबकों से कोई लाभ होता है, हानि की सम्भावना ज़रूर है। **साथ ही हमें ऐसा भी लगता है कि जिन लोगों के हाशिये पर होने का एक अहम कारण जनता से जुड़ाव नहीं होना भी है, कम-से-कम उन्हें तो इस बारे में अफ़सोसज़दा होना ही चाहिए!**

चौथा सबक: 'समझदारों को सलाह देना आसान होता है'

(सर्बियाई लोकोक्ति)

"मैं हमेशा सिखाता रहता हूँ। मैं कब सीखूँगा?"

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, *'गैलीलियो'*)

"वह जो चीज़ों से किनारा करके खड़ा रहता है, उसके साथ यह जोखिम होता है कि वह अपने आपको दूसरों से बेहतर समझने लगे और समाज की अपनी आलोचना का दुरुपयोग अपने निजी हितों के लिए विचारधारा के तौर पर करने लगे।"

(थियोडोर अडोर्नो)

जैसा कि लेखक स्वयं मानते हैं, यह चौथा और आख़िरी सबक वास्तव में कोई सबक नहीं है बल्कि हालिया स्वत:स्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों की एक पड़ताल करने का प्रयास है और इस बाबत वामपन्थ के कार्यभारों को सूत्रबद्ध करने की दिशा में एक कदम है। लेकिन जैसे ही आप इस उम्मीद के साथ आगे बढ़ते हैं कि इन आन्दोलनों का एक विश्लेषण आपके सामने पेश किया जायेगा, तो आपको एक के बाद एक नाउम्मीदियों का सामना करना पड़ता है। स्पष्टत: लेखक ने बेवजह यह चौथा सबक अपने लेख में डाल दिया है क्योंकि बेहद संक्षेप में इन आन्दोलनों के इतिहास और वर्तमान का एक बेहद ग़लत विश्लेषण पेश किया गया है। सम्भवत: इस "सबक" को लेख में बस इसलिए डाल दिया गया है कि लेख अपने समय की सही तरीके से नुमाइन्दगी कर सके! क्योंकि जो विषय इसमें उठाया गया वह निश्चित रूप से व्यवस्थित आलोचनात्मक चर्चा का हक़दार था।

यहाँ रवि सिन्हा ने हाल में हुए 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' जैसे आन्दोलनों की चर्चा करते हुए दावा किया है कि इनमें से कुछ ने आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न उठाये तो कुछ ने राजनीतिक प्रश्नों को भी एजेण्डे पर लिया। लेकिन इन सबमें जो बात साझा थी वह यह कि इन आन्दोलनों ने आधुनिकता और आधुनिकता के ज़रिये पहचानी जाने वाली एक पूरी जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा किया। ऐसा कैसे हुआ और आधुनिकता द्वारा प्रोत्साहित जीवन शैली पर इन आन्दोलनों ने किस रूप में प्रश्न खड़ा किया इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। शायद इसका कारण यह है कि लेखक इन आन्दोलनों की परिघटना के उत्स को 1960 के दशक के छात्र आन्दोलनों, नारीवादी आन्दोलनों, नस्लवाद-विरोधी और युद्ध-विरोधी आन्दोलनों में देखते हैं, जिसमें निश्चित तौर पर कुछ सच्चाई भी है। इन आन्दोलनों को नव-वामपंथियों का समर्थन मिला और साथ ही इनके उभार में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा प्रोत्साहित आमूलगामिता की भी एक भूमिका थी। लेकिन लेखक के अनुसार इन आन्दोलनों ने ऐसे नये सामाजिक आन्दोलनों के युग की शुरुआत की जो कि कम्युनिस्ट पार्टियों की अगुवाई में चले मज़दूर आन्दोलनों और राष्ट्रवादियों और साथ ही वामपंथियों की अगुवाई में चले उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलनों से काफ़ी भिन्न थे। बकौल रवि सिन्हा इनमें से कुछ आन्दोलनों को काफ़ी सफलता मिली और उन्होंने मानवता के सामाजिक-राजनीतिक-विचारधारात्मक-सांस्कृतिक भूदृश्य को बदल डाला। कुछ अन्य जिन विशिष्ट मुद्दों पर शुरू हुए थे, उन विशिष्ट मुद्दों के अप्रासंगिक होते हुए विश्व इतिहास के नेपथ्य में चले गये। लेखक के अनुसार, 1960 के दशक के आन्दोलनों और अब समकालीन स्वत:स्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों के बूते पर कुछ नववामपन्थी आदि ये दावे कर रहे हैं कि

अब पार्टियों द्वारा या उनके नेतृत्व में संगठित आन्दोलनों का युग बीत गया है। अब नये स्वत:स्फूर्त या ढीले-ढाले तौर पर संगठित सामाजिक आन्दोलनों का युग आ चुका है। इस दावे पर रवि सिन्हा सन्देह करते हैं लेकिन इसके खण्डन के लिए कोई तर्क नहीं पेश करते। वह कहते हैं कि ये नये सामाजिक आन्दोलन अब उतने नये नहीं रह गये हैं। ग़ौरतलब है कि इनमें वह वर्ल्ड सोशल फोरम को भी जोड़ते हैं जो कि सामाजिक प्रश्नों तक सीमित रहा, और अरब बसन्त और तहरीर चौक को भी, जिन्होंने अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रश्नों को खड़ा किया। इसके बाद बस वह इतना ही कहते हैं कि पता नहीं ऐसे सामाजिक आन्दोलनों की हिमायत करने वाले लोग कब तक दुनिया को बदलने के कार्यभार में ऐसे सामाजिक आन्दोलनों का कोई विकल्प न होने, वामपंथियों और वर्ग-आधारित आन्दोलनों की असफलता की ओर इशारा करते रहेंगे?! इसका क्या मतलब है? निश्चित तौर पर वे तब तक ऐसा करते रहेंगे जब तक कि कम्युनिस्टों की ओर से सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के ही धरातल पर उन्हें उचित उत्तर नहीं दिया जाता! कम-से-कम ऐसे 'रेटॉरिकल' प्रश्नों को पूछने से तो वे नहीं रुकेंगे! बहरहाल, हम इन नये स्वत:स्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों के विषय में रवि सिन्हा की समझदारी पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालते हैं।

रवि सिन्हा कहते हैं कि इन आन्दोलनों ने, जिसमें वे वर्ल्ड सोशल फोरम, ऑक्युपाई आन्दोलन, अरब बसन्त सभी को शामिल करते हैं, आधुनिकता और आधुनिकता द्वारा प्रेरित जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा किया। हमें ऐसा नहीं लगता है और इस दावे के पक्ष में रवि सिन्हा ने कोई दलील पेश करना भी ज़रूरी नहीं समझा है। **पहली बात तो यह है कि जिन आन्दोलनों के नाम रवि सिन्हा ने गिनाये हैं उन्हें एक टोकरी में रखना सम्भव ही नहीं है। दूसरी बात यह कि तमाम बेहद बुनियादी फर्कों के साथ अगर हम कोई एक साझा चारित्रिक आभिलाक्षणिकता इन आन्दोलनों में देखना ही चाहते हैं तो निश्चित तौर पर यह इनके द्वारा आधुनिकता और उसकी जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा करना तो कतई नहीं है। अगर कोई एक साझी ख़ासियत है तो वह यह है कि इन सभी आन्दोलनों ने किसी न किसी तौर पर आज के अभूतपूर्व वैश्विक पूँजीवादी संकट के दौर में तमाम देशों में कल्याणकारी राज्यों के पीछे हटने पर, ख़त्म होती सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा और बढ़ती अनिश्चितता पर, असमानता और पूँजीवाद के अन्य तोहफ़ों जैसे कि बेघरी, पर्यावरणीय विनाश आदि पर प्रश्न खड़ा किया, चाहे इन आन्दोलनों में कुछ प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भी क्यों न सक्रिय रही हों।** कुछ मामलों में ये आन्दोलन अपने इस विरोध के बारे में सचेत थे और इरादतन इन चीज़ों का विरोध कर रहे थे और अन्य मामलों में वे पूँजीवाद द्वारा लायी जा रही तबाही की **रोगात्मक प्रतिक्रिया (pathological reaction)** थे। ये आन्दोलन कुछ मामलों कुछ ज़्यादा या कुछ कम, ज़्यादा स्पष्ट या आकारहीन किस्म के हो सकते हैं; लेकिन यह बात उनमें समान थी: इनमें से अधिकांश स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन थे; और इस रूप में वे आधुनिकता के उन रूपों का विरोध कर रहे थे, जो कि पूँजीवादी व्यवस्था और समाज अपने सबसे पतनशील, मरणासन्न और मानवद्रोही दौर में पैदा कर रहे हैं। **लेकिन अपने आप में उनका एजेण्डा आधुनिकता और उसकी जीवन-शैली का विरोध करना नहीं था। वास्तव में, ये आन्दोलन स्वयं आधुनिक आन्दोलन ही थे।** ये आन्दोलन भूमण्डलीकरण और नग्न नवउदारवादी नीतियों का विरोध कर रहे थे जो कि आज के ढाँचागत संकट के दौर में जनता के ऊपर कहर बरपा कर रहे थे। निश्चित तौर पर, अमेरिका में ये आन्दोलन 'ऑक्युपाई' आन्दोलन का ही रूप ग्रहण करते और

अरब विश्व में ये 'अरब बसन्त' का ही रूप ग्रहण करते; यह भी कहना पुनरुक्तिपूर्ण ही होगा कि 'कमज़ोर कड़ियों' में वैश्विक पूँजीवाद के संकट के फलस्वरूप अगर कोई स्वत:स्फूर्त आन्दोलन भी पैदा होगा तो उसका ज़्यादा राजनीतिक चरित्र होगा और उसमें संगठन का तत्व भी अपने पश्चिमी समानान्तरों से ज़्यादा होगा। इसका स्पष्ट कारण मिस्र समेत अन्य अरब देशों के राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास और अमेरिका या पश्चिमी व उत्तरी यूरोप के देशों के राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास के फर्क में अन्तर्निहित है। **इसलिए वैश्विक संकट ने अलग-अलग जगह अलग-अलग प्रकार के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों को जन्म दिया।** जो बात साझा थी वह था एक भूमण्डलीकृत पूँजीवादी विश्व का विश्व ऐतिहासिक सन्दर्भ सन्दर्भ यानी कि अब तक का सबसे ढाँचागत आर्थिक संकट और साथ ही इस पूँजीवाद के संकट का बोझ जनता पर डाले जाने के विरोध में जनता के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन। **लेकिन यही इन आन्दोलनों की कमज़ोरी भी थी: आज महज़ स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोध पर्याप्त नहीं है।** चूँकि इन आन्दोलनों की राजनीति और विचारधारा अस्पष्ट, अपूर्ण और धुंधली थी, इसलिए वे कोई सकारात्मक प्रस्ताव रख ही नहीं सके और पूँजीवादी व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं पेश कर पाये। जैसा कि स्लावोय ज़िज़ेक ने 'ऑक्युपाई' आन्दोलन के बारे में कहा था, यह काफ़ी हद तक कल्याणकारी राज्य के नॉस्टैल्जिया में जी रहा है और उसकी वापसी की माँग कर रहा है, जबकि आज ज़रूरत है पूँजीवादी कल्याणकारी राज्य की माँग से आगे जाकर कम्युनिज़्म की माँग करने की, क्योंकि कल्याणकारी राज्य, वैसे भी, वापस आ ही नहीं सकता है। ज़िज़ेक से आम तौर पर सहमत न होते हुए भी इस प्रेक्षण से सहमति जतानी होगी। **आज पूँजीवाद जिस ढाँचागत संकट से गुज़र रहा है वह 1930 के दशक की महामन्दी से इन मायनों में भिन्न है कि अब कोई वास्तविक 'बूम' का दौर आयेगा ही नहीं।** कल्याणकारी राज्य एक अभूतपूर्व तेज़ी के दौर की पैदावार था, जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी पूँजीवाद देख रहा था। अमेरिकी 'ऑक्युपाई' आन्दोलन कुछ अर्थों में अमेरिकी स्वर्ण युग के 'हैंगओवर' को ही अभिव्यक्त कर रहा था। ज़िज़ेक के विश्लेषण के तमाम नुक़्तों और कम्युनिज़्म के उनके मॉडल से बुनियादी असहमति रखने के बावजूद उनके इस प्रेक्षण को सही माना जाना चाहिए।

दूसरी ओर अरब बसन्त भी हालाँकि पूँजीवाद-विरोध से आगे नहीं जा सका, लेकिन यह कई मायनों में 'ऑक्युपाई' आन्दोलन से भिन्न था। **पहली बात तो यह कि मिस्र के आन्दोलन में मज़दूर आन्दोलन सबसे अहम संघटक अंग था, हालाँकि बाद में यह एक सही और एकीकृत राजनीतिक नेतृत्व के अभाव में टटपुँजिया आमूलगामिता में सहयोजित हो गया।** लेकिन टटपुँजिया आमूलगामिता थोड़े समय के लिए पैदा होती और फिर सोती रहती है। जब टटपुँजिया रूमानी आमूलगामिता घर बैठ गयी, तब भी मिस्र के महल्लम जैसे इलाकों में ज़बर्दस्त मज़दूर आन्दोलन जारी रहा और अब भी जारी है। तहरीर चौक से शुरू हुए आन्दोलन ने मिस्र में वे वस्तुगत परिस्थितियाँ निर्मित कर दी थीं जब जनता व्यवस्थागत परिवर्तन के लिए तैयार थी और मिस्र का शासक वर्ग अपने शासन को जारी रखने में सक्षम नहीं था। लेकिन एक सही राजनीतिक विचारधारा और संगठन के अभाव में 'क्रान्ति की घड़ी बीत गयी' और मिस्र की जनता को पहले मुस्लिम ब्रदरहुड और फिर सेना के शासन के प्रतिक्रियावादी दौर को झेलना पड़ रहा है। आने वाले समय में भी मिस्र शान्त नहीं होने वाला है, लेकिन यह भी तय है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति को क्रान्ति में तब्दील करने के लिए जिस अभिकर्ता की आवश्यकता है, उसके अनुपस्थित रहते हुए शासन (regime) बदल सकता है

लेकिन व्यवस्था (system) नहीं। बहरहाल, हम यहाँ अरब बसन्त और विशेष तौर पर मिस्र के जनान्दोलन की व्याख्या नहीं पेश कर सकते। **मूल बात यह है कि रवि सिन्हा बिना कोई विश्लेषण पेश किये इन सभी आन्दोलनों को एक कोष्ठक में रख देते हैं और उन पर आधुनिकता और जीवन शैली का विरोध करने का बेजा आरोप थोप देते हैं, जो कि तथ्यतः भी ग़लत है और राजनीतिक तौर पर भी ग़लत है।**

जैसा कि हमने कहा है, इस प्रेक्षण में कुछ सच्चाई है कि आज के नव-वामपन्थी, उत्तर-मार्क्सवादियों, उत्तर-आधुनिकतावादियों के विचारधारात्मक उत्स को 1960 के दशक के आन्दोलनों में तलाशा जा सकता है, जैसा कि हमने कहीं और भी लिखा है ('सोवियत समाजवादी प्रयोग और समाजवादी संक्रमणः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ', पाँचवी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी, इलाहाबाद में पेश आधार-पेपर, arvindtrust.org पर उपलब्ध)। लेकिन ऐसा आज के पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों और विशेष तौर पर उनके समकालीन सिद्धान्तकारों के बारे में एक ही अर्थ में कहा जा सकता हैः इन सिद्धान्तकारों और कम-से-कम पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों में हुए पूँजीवाद-विरोधी स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों के विचारधारात्मक उत्स को ही 1960 के दशक के आन्दोलनों में देखा जा सकता है क्योंकि उनका ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भ और पृष्ठभूमि पहले से गुणात्मक रूप से भिन्न है। आज के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों का 1960 के दशक के आन्दोलनों से सीमित अर्थों में कुछ विचारधारात्मक उत्सों को साझा करने से ज़्यादा कोई रिश्ता नहीं है। 1960 के दशक का अन्त कई बातों से पहचाना जा सकता था। पूँजीवाद का 'स्वर्ण युग' समाप्ति की ओर था; सोवियत संघ में समाजवाद के पतन और सामाजिक साम्राज्यवाद के उदय और पूर्वी यूरोप और दुनिया के अन्य हिस्सों में उसके कुकर्म और अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ उसकी प्रतिस्पर्द्धा के साथ दुनिया भर में प्रगतिशील राजनीतिक और बौद्धिक हलकों में एक पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया का जन्म, विशेष तौर पर यूरोप में; महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और माओवाद का यूरोप के बौद्धिक व राजनीतिक दायरों में दोहरा प्रभाव (यानी एक ओर माओवाद के प्रभाव में नयी माओवादी पार्टियों का जन्म और वहीं दूसरी ओर एक छद्म-माओवाद का पैदा होना जो कि अन्त में ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, ऑपराइज़्मो, काउंसिल कम्युनिज़्म, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के रास्ते से होता हुआ उत्तर-मार्क्सवाद की विभिन्न प्रजातियों के रूप में परिणत हुआ जो कि आज मार्क्सवाद से ज़्यादा रैडिकल किसी विचारधारा के दावे कर रहे हैं); नागरिक अधिकार और नस्लवाद-विरोधी आन्दोलनों का होना; स्त्रीवादी आन्दोलनों और विचारधार की दूसरी लहर (second wave) का आना; वित्तीय पूँजीवाद का द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर दौर में एक गुणात्मक रूप से नये परजीवी दौर में प्रवेश जिसे उत्तर-फोर्डवाद (post-fordism), ऋण-वित्तपोषित 'बूम', वि-विनियमन (deregulation), बाज़ार 'फ्लेक्ज़िबिलाइज़ेशन' आदि से पहचाना जाता है, जिसमें कि वित्तीय पूँजी अभूतपूर्व रूप से सट्टेबाज़ और अनुत्पादक रूप में सामने आयी; इसके साथ ही उत्तर औद्योगिक सिद्धान्त, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त और उत्तरआधुनिकतावाद का पैदा होना और कई वामपन्थी बुद्धिजीवियों का इन 'रेटॉरिकल रैडिकैलिटी' वाले सिद्धान्तों में 'कन्वर्ज़न', जो कि सोवियत समाजवाद के पतन के 'पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया' का ही एक अंग था; इनमें और बहुत-सी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएँ जोड़ी जा सकती हैं, जिनसे कि 1960 के दशक को और साथ ही 1970 के दशक को भी पहचाना जा सकता था। उस दौर में जो सामाजिक आन्दोलन पैदा हुए उन

पर इन विचारधाराओं की अमिट छाप थी, जिसमें साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के अपराधों पर समूचे प्रबोधन, आधुनिकता, तर्कणा पर थोप दिया गया; मार्क्सवाद को प्रबोधन द्वारा प्रेरित तर्कणा और आधुनिकता के महाख्यान का ही एक अध्याय घोषित किया गया; हर प्रकार की **सामान्यता (generality)** या **सार्वभौमता (universality)** की अवधारणा को आधुनिकता की दमनकारी पाश्चात्य परियोजना का अंग माना गया और हर तरफ़ **खण्डों (fragments)** और **अन्तर (difference)** के जश्न को प्रोत्साहन दिया गया, हालाँकि यह और कुछ नहीं था बल्कि खण्डों और अन्तरों का सार्वभौमीकरण ही था! इस सारी दार्शनिक जुगाली का राजनीतिक निचोड़ यह था: **यह सच है कि उदार पूँजीवाद मानवता को तबाही और बरबादी दे रहा है, लेकिन इसका विकल्प पेश करने का दावा करने वाले लोगों ने भी क्या दिया? सर्वसत्तावाद!** इसलिए एक छद्म विकल्पों का समुच्चय पेश किया गया : उदार बुर्जुआ जनवाद, जो कम-से-कम कुछ वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकार तो देता है, या फिर सर्वसत्तावाद (जो हर प्रकार की स्वतन्त्रता और अधिकार को कुचलकर रख देता है)! 1990 के दशक की शुरुआत तक यह छद्म विकल्पों का समुच्चय अपने सबसे बुरे रूप में सामने आ चुका था जब फ्रांसिस फुकोयामा ने 'इतिहास के अन्त' का नारा बुलन्द किया। ख़ैर, वह पूँजीवादी विजयवाद (triumphalism) का स्वर्ण युग था। 1990 के दशक का अन्त आते-आते उत्तरआधुनिक उन्मादी चीख-पुकार मिमियाहट में तब्दील हो चुकी थी क्योंकि पूँजीवाद 1997 के एशियाई बाघों के धराशायी होने के साथ एक अल्पजीवी तेज़ी के दौर के अन्त में आ चुका था, और सोवियत संघ के नकली लाल झण्डे के गिरने को लेकर पैदा हुआ उल्लास भी अब दुहरावपूर्ण और उबाऊ बन चुका था। 2000 के दशक में पूँजीवादी विजयवाद अपनी कब्र में जा चुका था और नंगे पूँजीवादी विजयवाद का ढोल बजाने वाले उत्तरआधुनिकतावादियों की बजाय सामाजिक आन्दोलन वाले, एनजीओपन्थी, उत्तरमार्क्सवादी कम्युनिज़्म की बात करने वाले बहेतू (vagabond) दार्शनिक पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के लिए ज़्यादा उपयोगी हो गये हैं।

आज तमाम पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों के सिद्धान्तकार जैसे नेग्री, हार्ट, बेदियू, हैलोवे, और थोड़ा अलग अर्थों में ज़िज़ेक (क्योंकि उनको सीधे नेग्री, हार्ट या बेदियू की श्रेणी में रखना विश्लेषण के लिए कई असुविधाएँ पैदा करता है) वास्तव में यह नहीं कह रहे कि पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है। वे एक नये किस्म के कम्युनिज़्म की बात कर रहे हैं; वास्तव में, वे पूँजीवाद का ही एक नया सैद्धान्तिकीकरण पेश कर रहे हैं, जिसमें पूँजीवाद एक अवैयक्तिक शक्ति (impersonal entity) बन जाता है; उसका विरोध करने वाले भी एक अवैयक्तिक, आकारहीन चीज़ बन जाते हैं, जिसे नेग्री और हार्ट 'मल्टीट्यूड' का नाम देते हैं; और जिस चीज़ के लिए लड़ना और जिसके ख़िलाफ़ लड़ना है वह भी अवैयक्तिक और अस्पष्ट सी चीज़ बन जाती है! पूँजीवाद की जगह 'एम्पायर' ले लेता है और सर्वहारा वर्ग की जगह 'मल्टीट्यूड' ले लेता है। बेदियू के मुताबिक मुक्तिकामी परियोजना के लिए राज्य और पार्टी जैसी अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं। 'सबट्रैक्शन' सिद्धान्त जैसे निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद के सिद्धान्त आ रहे हैं जो दावा करते हैं कि आज क्रान्तिकारी परिवर्तन के आन्दोलनों को वैश्विक पूँजी के वर्चस्व के क्षेत्रों से अपने आपको वापस ले लेना चाहिए (withdraw) जिससे कि वैश्विक पूँजी का ढाँचा ढह जायेगा और जन भागीदारी के नये रूपों के ज़रिये राज्यसत्ता का राजनीतिक रूपान्तरण हो जायेगा; **यानी कि क्रान्ति कैसे न करें, इसके सैद्धान्तिकीकरण पेश किये जा रहे हैं। यह वैश्विक पूँजी के वर्चस्व की नयी रणनीति है: 'यह मत कहो कि दूसरी दुनिया सम्भव नहीं**

है! यह कहो कि बहुत-सी दूसरी दुनियाएँ सम्भव हैं! लेकिन किसी एक को भी बनाने के बारे में भी कुछ मत बताओ! और जो दूसरी दुनिया वाकई मुमकिन है, उसके लिए ज़रूरी बदलाव से अभिकर्ता और अभिकरण को छीन लो! परिवर्तनकामी सामाजिक ताक़तों को बताओ कि राज्य और पार्टी और वर्ग की अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं!' आज के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलनों को ये नये बहेतू दार्शनिक और विचारक यही बता रहे हैं और निश्चित तौर पर इस तरह के विचारों का उनके बताये बग़ैर भी इन आन्दोलनों पर अच्छा-ख़ासा प्रभाव है, क्योंकि इन आन्दोलनों के भीतर भी ऐसे ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी समूह सक्रिय हैं जो इन विचारों को मानते हैं। वैसे भी हमें भूलना नहीं चाहिए कि नेग्री और ट्रॉण्टी जैसे सिद्धान्तकारों का मूल मज़दूर आन्दोलन में सक्रिय अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रुझानों में ही था।

इस रूप में हम कह सकते हैं कि आज के स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों पर उन विचारधाराओं का असर है जो कि काफ़ी हद तक 1968 के भ्रमित पेरिस में जन्मी थीं। लेकिन आज के आन्दोलन उस दौर के आन्दोलनों की निरन्तरता में नहीं रखे जा सकते और न ही यह माना जा सकता है कि 1960 के दशक के सामाजिक आन्दोलन (चाहे इसका जो भी मतलब होता हो!) आज के इन जनान्दोलनों की परिघटना के लिए मील का पत्थर थे, जैसा कि रवि सिन्हा मानते हैं। ऐतिहासिक आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सन्दर्भ बिल्कुल भिन्न हैं। और विचारधारात्मक तौर पर जो निरन्तरता का तत्व मौजूद है, उसे हम ऊपर चिन्हित कर चुके हैं। वास्तव में, आज जिस प्रकार के ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, संगठन-विरोध और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का प्रयोग नये विचारक व दार्शनिक इन आन्दोलनों से परिवर्तन का अभिकरण (agency) छीनने के लिए कर रहे हैं, रवि सिन्हा उसकी कोई सुसंगत आलोचना नहीं पेश करते। और तो और वह इन सामाजिक आन्दोलनों में वह वर्ल्ड सोशल फोरम को भी शामिल करते हैं; मतलब, उनके लिए 'आक्युपाई', अरब बसन्त और वर्ल्ड सोशल फोरम में कोई बुनियादी विचारधारात्मक-राजनीतिक अन्तर नहीं है और वे उन सभी की राजनीतिक अस्पष्टता, स्वत:स्फूर्ततावाद के लिए आलोचना करते हैं। जहाँ तक वर्ल्ड सोशल फोरम की बात है, तो निश्चित तौर पर हम एक बार फिर कह सकते हैं कि उसकी स्वत:स्फूर्तता के लिए आलोचना करना हिटलर की वायलिन ख़राब बजाने की आलोचना करने के समान है! **और दूसरी बात यह है कि वर्ल्ड सोशल फोरम इतना स्वत:स्फूर्त या अस्पष्ट है भी नहीं क्योंकि यह वास्तव में स्वत:स्फूर्तता और अस्पष्टता को सचेतनता और स्पष्टता की ओर बढ़ने से रोकने के लिए सचेतन तौर पर बनाया गया सांगठनिक रूप है!** यह सचेतन तौर पर संगठित स्वत:स्फूर्तता और अस्पष्टता की सांगठनिक अभिव्यक्ति है और इस कार्य के लिए इसे फ्रांस की सरकार से लेकर तमाम साम्राज्यवादी एजेंसियों से वित्त-पोषण प्राप्त होता है। एक साम्राज्यवादी वित्त-पोषित संस्था जो कि जनता के तमाम संघर्षों के सहयोजन के लिए बनायी गयी है, और अरब बसन्त में फर्क न करना रवि सिन्हा की राजनीतिक दृष्टि के बारे में काफ़ी-कुछ बताता है। बहरहाल, रवि सिन्हा इन तमाम आन्दोलनों की कोई आलोचना पेश करने की बजाय एक जुमलेनुमा सवाल पूछते हैं: कि आखिरी ऐसे आन्दोलन के विचारक कब तक वामपंथियों की नाकामयाबी पर उंगली उठाते रहेंगे? यह कैसी आलोचना है? **दरअसल, यह करुण और दारुण स्वर भी लेखक के खुद की दार्शनिक, विचारधारात्मक और राजनीतिक अनिर्णय की अवस्था और डगमगाये हुए आत्मविश्वास को ही दिखलाता है।**

अन्तिम पैराग्राफ में रवि सिन्हा वामपन्थ की असफलता का कारण बताते हुए कहते हैं कि इसका कारण यह नहीं है कि उसने उपरोक्त सामाजिक आन्दोलनों का अनुसरण नहीं किया, बल्कि इसका कारण यह है कि उसके पास उपनिवेशवाद, राजतन्त्रवाद, सैन्य तानाशाहियों और सामन्तवाद से लड़ने की कला तो है, लेकिन ये दुश्मन अब बीते ज़माने के दुश्मन बन चुके हैं। आज के ज़माने के दुश्मन यानी कि पूँजीवाद-साम्राज्यवाद से लड़ने की कला उसे विकसित करनी होगी। वैसे तो यह एक हद तक *ओवरस्टेटमेण्ट* माना जायेगा क्योंकि रूस में हुई समाजवादी क्रान्ति में रूसी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद से ही लड़ रहा था, हालाँकि वह एक नवजात, अशक्त और पिछड़ा पूँजीवाद था और अर्द्धसामन्ती शक्तियों की बैसाखी पर भी टिका हुआ था; लेकिन इस बात में सत्यांश है *आज के दौर के पूँजीवाद* से लड़ने की रणनीति और आम रणकौशल को विकसित करना भारत के लिए नहीं बल्कि दुनिया भर के मार्क्सवादियों के एजेण्डे पर सबसे केन्द्रीय प्रश्न है। विशेष तौर पर, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व पूँजीवाद की कार्यपद्धति (modus operandi) में आये बेहद अहम बदलावों को समझना आज बेहद ज़रूरी है और उसके अनुसार नयी समाजवादी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में आने वाली अहम बदलावों को सूत्रबद्ध करना भी बेहद आवश्यक है। **लेकिन इस नवोन्मेष के नाम पर अगर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान के बुनियादी उसूलों को कोई बिना किसी जायज़ तार्किक कारण रद्द करने की बात करता है, तो वह घातक है; अगर कोई राज्य और क्रान्ति की बुनियादी लेनिनवादी थीसिस को छोड़ने, क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और संशोधनवाद में फर्क करने, फासीवाद की एक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझदारी को छोड़ने, और यथार्थवाद और ठोस तथ्यों पर नतीजे निकालने के नाम पर सामाजिक-जनवाद, सुधारवाद, समाजशास्त्रीयतावादी प्रत्यक्षवाद, व्यवहारवाद, अनैतिहासिकतावाद और उदार बुर्जुआ सिद्धान्तों की बासी खिचड़ी पेश करता है, तो निश्चित तौर पर ऐसी खिचड़ी की सही जगह इतिहास की कचरा-पेटी ही हो सकती है।** रवि सिन्हा का पूरा सैद्धान्तिकीकरण वास्तव में एक ऐसी ही खिचड़ी है, जिसे पाण्डित्यपूर्ण भाषा की चाशनी में डुबाकर परोसा गया है। यह निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी बौद्धिक हलकों में काफ़ी प्रभावी और लोकप्रिय सिद्ध होगा क्योंकि उन्हें हमेशा कुछ न करने के बहाने चाहिए होते हैं, या हाशिये पर बने अपने आरामदेह नेह-नीड़ में बने रहने के बहाने चाहिए होते हैं; क्योंकि जैसा कि हमने बिल्कुल शुरू में कहा था कि हाशिये पर रहने के अपने दुख होते हैं तो अपने सुख भी होते हैं; ये सुख उस सुविधा और सुरक्षा-बोध से पैदा होते हैं, जो कि हाशिये पर रहने वाले सम्भ्रान्त बौद्धिक हलकों को नसीब होता है। रवि सिन्हा का लेख 'हाशिये पर खड़े (पड़े) समझदार लोगों के लिए सबक' नहीं बल्कि 'उन समझदार लोगों के लिए सबक है जो कि हाशिये पर ही पड़े रहना चाहते हैं'।

"सभ्यता का ऐसा कोई दस्तावेज़ नहीं जो कि साथ ही में बर्बरता का दस्तावेज़ भी न हो।"

– वॉल्टर बेंजामिन

महान बहस के 50 वर्ष

● राजकुमार

आज 21वीं सदी के दूसरे दशक में खड़े होकर इतिहास पर नज़र डालें तो 20वीं सदी में सम्पन्न दो महान समाजवादी प्रयोगों के अनुभव हमारे सामने मौजूद हैं। हम कह सकते हैं कि कम्युनिस्ट आन्दोलन के विचारधारात्मक विकास और व्यावहारिक प्रयोग के पूरे दौर में नेतृत्व के बीच से संशोधनवादी भितरघाती पैदा होते रहे हैं, जो सर्वहारा क्रान्तियों के सबसे बड़े दुश्मन सिद्ध हुए हैं। मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन से लेकर स्तालिन तथा माओ तक कम्युनिस्ट आन्दोलन का सैद्धान्तिक विकास संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए हुआ है। विकास के इस पूरे दौर में स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन और माओकालीन चीन के महान क्रान्तिकारी समाजवादी प्रयोगों ने इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लागू किया और समाजवादी संक्रमण की विचारधारात्मक समझ को और परिपक्व बनाया।

सर्वहारा क्रान्तियों के विचारधारात्मक विकास की इस कड़ी में 1963-64 में माओ के नेतृत्व में चली महान बहस ने आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष करते हुए समाजवादी संक्रमण के बारे में पूरी दुनिया के कम्युनिस्टों को एक सुव्यवस्थित मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त से हथियारबन्द किया। इस बहस ने स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन के अनुभवों और ख्रुश्चेव द्वारा पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का सैद्धान्तिक निचोड़ प्रस्तुत किया जो समाजवादी संक्रमण को समझने में एक मील का पत्थर है। इन अनुभवों के आधार पर महान बहस में माओ ने चीन में 1966 से 1976 तक चली महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार की।

यह लेख 'समाजवादी संक्रमण की समस्याएँ' विषय पर पाँचवी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी (10-14 मार्च, 2014 इलाहाबाद) में आलेख के तौर पर प्रस्तुत किया गया था।

आज महान बहस की 50वीं वर्षगाँठ पर 2014 में पूरी दुनिया के कम्युनिस्टों के सामने स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन के समाजवादी प्रयोग, ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के जन्म, और माओ के नेतृत्व में हुई चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के महान अनुभव मौजूद हैं। इन अनुभवों ने आने वाले समय में सर्वहारा वर्ग को समाजवादी क्रान्ति के महान लक्ष्य को पूरा करने और पूँजीवादी समाज से कम्युनिस्ट समाज तक पूरे संक्रमण काल के क्रान्तिकारी नेतृत्व की मार्क्सवादी-लेनिनवादी सैद्धान्तिक समझ को आधुनिक हथियारों से लैस किया है।

1871 में पेरिस कम्यून के बारे में मार्क्स ने कहा था, "यदि कम्यून को नष्ट कर दिया जाता है, तब भी संघर्ष सिर्फ़ स्थगित होगा। कम्यून के सिद्धान्त सार्वभौमिक और अनश्वर हैं, ये तब तक बार-बार प्रकट होते रहेंगे जब तक मज़दूर वर्ग स्वतन्त्र नहीं हो जायेगा।"

1. महान बहस की पृष्ठभूमि

विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन में आधुनिक संशोधनवादियों के विरुद्ध चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा 1963 से 1964 के बीच चलायी गयी महान बहस ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद और आधुनिक संशोधनवाद के बीच एक विभाजन रेखा खीचकर निर्णायक संघर्ष का आरम्भ किया था। 24 फ़रवरी, 1956 में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में ख्रुश्चेव द्वारा प्रस्तुत किये गये गुप्त भाषण के साथ ही चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने स्तालिनकाल पर ख्रुश्चेव द्वारा उठाये गये सवालों पर अपनी मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को स्पष्ट करने के कार्य को तत्काल आरम्भ नहीं किया था। चीनी पार्टी ने "सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक अनुभव" (4 अप्रैल, 1956) "सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक अनुभव के बारे में कुछ और बातें" (29 दिसम्बर, 1956) नाम से दो लेख प्रकाशित किये जिनमें सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्तालिनकाल के बारे में की गयी आलोचना के कई बिन्दुओं पर अपनी सहमति दर्ज़ करायी थी। इसके बाद विश्व सर्वहारा आन्दोलन की आम मार्क्सवादी-लेनिनवादी दिशा के प्रस्ताव के रूप में दुनिया की आठ कम्युनिस्ट-मज़दूर पार्टियों की भागीदारी से 1957 का घोषणापत्र (मास्को घोषणापत्र) और 81 कम्युनिस्ट पार्टियों की भागीदारी से 1960 का वक्तव्य (मास्को वक्तव्य) जारी किया गया।

इस दौर में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी 1957 का घोषणापत्र और 1960 का वक्तव्य के प्रस्तावों के विपरीत "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व", "शान्तिपूर्ण होड़", "शान्तिपूर्ण संक्रमण", "समूची जनता का राज्य" तथा "समूची जनता की पार्टी" जैसे संशोधनवादी सिद्धान्तों को पेश कर अपनी संशोधनवाद नीतियों को एक पूर्ण व्यवस्था के रूप में लागू करने तथा सर्वहारा वर्ग को साम्राज्यवादी शक्तियों के सामने निशस्त्र करने के काम में लगी थी (महान बहस *[आगे म.ब.]*, पृष्ठ 322)। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध 16 अप्रैल, 1960 को "लेनिनवाद ज़िन्दाबाद!" लेख छापा और इसके बाद 15 दिसम्बर, 1962 से 8 मार्च, 1963 के बीच सोवियत यूनियन द्वारा चीनी पार्टी पर किये जा रहे प्रहारों का जवाब देते हुए सात लेख लिखे, जिनमें चीनी पार्टी ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी कार्यदिशा को स्पष्ट करने का सैद्धान्तिक कार्य आरम्भ कर दिया था। लेकिन इस समय तब तक इसे खुली बहस के रूप में पूरी दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों के सामने नहीं रखा गया था। (म.ब., पृष्ठ 39)

2. महान बहस, 1963 से 1964

1956 से 1962 के बीच ख्रुश्चेवी संशोधनवादी नीतियों के विरुद्ध खुला संघर्ष न करने के बावजूद, भले देर से ही सही, लेकिन चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने माओ के नेतृत्व में आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध शानदार अवस्थिति लेकर पूरे कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का समाहार प्रस्तुत किया और समाजवादी संक्रमणकाल की समझ को गुणात्मक रूप से विकसित करते हुए मार्क्सवादी-लेनिनवादी आम कार्यदिशा के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभायी और मार्क्सवाद-लेनिनवाद तथा संशोधनवाद के बीच की एक विभाजन रेखा खींचने का काम किया। इस बहस के तहत चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने 14 जून, 1963 को "अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा के बारे में एक सुझाव" में 25 सूत्रीय कार्यक्रम का प्रस्ताव सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के नाम प्रकाशित किया और इसके बाद 14 जुलाई, 1964 तक इसके 25 सूत्रीय कार्यक्रम की व्याख्या करते हुए एक के बाद एक 9 टिप्पणियाँ प्रकाशित कीं, जिन्हें महान बहस कहा जाता है। 1963-64 की महान बहस के नौ दस्तावेज़ों में आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध खुले संघर्ष में माओ के नेतृत्व में चीनी पार्टी ने जो अवस्थिति अपनायी वह उन संघर्षों से कम नहीं थी जो लेनिन ने काउत्स्की तथा बर्नस्टीन के संशोधनवाद के विरुद्ध और मार्क्स ने बाकुनिनपन्थियों के विरुद्ध अपने-अपने दौर में चलाये थे।

महान बहस से पहले अल्बानिया की कम्युनिस्ट पार्टी भी अनवर होज़ा के नेतृत्व में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की संशोधनादी नीतियों की आलोचना कर रही थी, और 16 नवम्बर, 1960 में मास्को में पूरी दुनिया की 81 कम्युनिस्ट पार्टियों की कॉन्फ्रेंस में पहली बार खुले रूप में अनवर होज़ा ने आधुनिक संशोधनवाद के वाहक के रूप में ख्रुश्चेव की आलोचना करते हुए अपना भाषण "सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस की संशोधनवादी नीतियों और ख्रुश्चेव गुट की मार्क्सवाद-विरोधी स्थिति का विरोध करो! मार्क्सवाद-लेनिनवाद की रक्षा करो!" दिया था। महान बहस से पहले चीनी पार्टी द्वारा लिखे गये दस्तावेज़ों में ऐसा लगता है कि उस समय तक चीनी पार्टी का यह मानना था कि सोवियत यूनियन के नेता संशोधनवादी भटकावों के शिकार हैं, और उन्हें समझा-बुझाकर सही राह पर लाया जा सकता है। यही कारण था कि 1957 के घोषणापत्र तथा 1960 के वक्तव्य में चीनी पार्टी शान्ति के सवाल पर सोवियत यूनियन को कुछ छूट देती हुई दिखायी देती है। 14 जून, 1963 में "आम दिशा के बारे में एक सुझाव" में चीनी पार्टी ने कहा था, "हमें हार्दिक आशा है कि चीनी और सोवियत पार्टियों की वार्ता के सकारात्मक परिणाम निकलेंगे।" (म.ब., पृष्ठ 41) लेकिन 21 नवम्बर, 1964 के महान बहस के अन्तिम दस्तावेज़ में चीन ने कहा था, *"ख्रुश्चेव का पतन हो गया है और उसके द्वारा ज़ोर-शोर से चलायी गयी संशोधनवादी दिशा भी दीवालिया हो गयी है।"* (म.ब., पृष्ठ 379)

माओ द्वारा ख्रुश्चेवकालीन सोवियत नेतृत्व की इस पृष्ठभूमि के आकलन में सैद्धान्तिक चूक हुई, जिसका कारण संशोधनवाद के प्रति उनकी उदारता बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता, बल्कि उस दौर की अपनी ऐतिहासिक सीमाएँ थीं। आज सोवियत यूनियन के अभिलेखों का जितना खुलासा हो चुका है और जितने सबूत दुनिया के सामने आ चुके हैं, उनके आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि ख्रुश्चेव द्वारा 20वीं पार्टी कांग्रेस में स्तालिन का पूर्ण निषेध और उसके बाद लागू की गयीं संशोधनवादी नीतियाँ विचारधारात्मक भटकाव नहीं,

बल्कि सोवियत यूनियन में पैदा हो चुके विशेषाधिकार-भोगी वर्ग द्वारा पूँजीवाद की पुनर्स्थापना की एक सोची-समझी रणनीति का हिस्सा थीं (तथ्यों के साथ इसका विश्लेषण हम आगे करेंगे)। लेकिन उस समय मौजूद तथ्यों से यह आकलन करना सम्भव नहीं था और चीन की पार्टी क़तारों में भी क्रान्तिकारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी कार्यदिशा तथा संशोधनवादी कार्यदिशा के बीच दो लाइनों का संघर्ष चल रहा था और पार्टी में पूँजीवादी रोडर मौजूद थे जो ख्रुश्चेव की संशोधनवादी लाइन का समर्थन कर रहे थे।

आज हम पीछे मुड़कर देखें तो कहा जा सकता है कि यदि चीनी पार्टी ने पूरी दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच 1956-57 में ही इस बहस को खुले रूप में शुरू किया गया होता तो ख्रुश्चेवी सुधारवादियों को स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन की महान उपलब्धियों पर कीचड़ उछालने और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बारे में विभ्रम पैदा करने का ज़्यादा मौक़ा नहीं मिला होता और कई देशों में कम्युनिस्ट आन्दोलन को संशोधनवादी विचलनों और भटकावों का शिकार होने से बचाया जा सकता था। चूँकि सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी लेनिन और स्तालिन के नेतृव में समाजवाद का निर्माण करने वाली तथा सर्वहारा वर्ग की महान क़ुर्बानियों के दम पर बनी पहली कम्युनिस्ट पार्टी थी, इसलिए पूरी दुनिया में इसकी मान्यता थी जिसके कारण ख्रुश्चेव द्वारा संशोधनवादी लाइन अपनाने के बाद सोवियत यूनियन के भटकाव का असर भी पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलनों पर ज़्यादा गहरा हुआ। यदि ग़लत प्रवृत्तियों के विचारों के प्रचार का खुलकर विरोध न किया जाये और उनकी असलियत सबक़े सामने उजागर न की जाये तो समय के साथ वे ग़लत विचार आम धारणा बन जाते हैं, और तब उनके विरुद्ध संघर्ष करना भी अधिक कठिन हो जाता है।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने संशोधनवाद और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बारे में अपना विश्लेषण रखते हुए कहा था,

"मार्क्सवाद-लेनिनवाद एक विज्ञान है और विज्ञान बहस से नहीं कतराता। कोई भी चीज़ जो बहस से कतराती है, वह विज्ञान नहीं है। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में चल रही वर्तमान महान बहस सारे देशों में मौजूद कम्युनिस्टों, क्रान्तिकारियों और क्रान्तिकारी जनता को प्रेरित कर रही है कि वे अपनी बुद्धि पर ज़ोर डालकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के अनुसार विश्व क्रान्ति और अपने देश की क्रान्ति से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करें। इस महान बहस के ज़रिये लोग सही और ग़लत में, और सच्चे व छद्म मार्क्सवाद-लेनिनवाद में अन्तर कर सकेंगे। इस महान बहस के ज़रिये विश्व की तमाम क्रान्तिकारी ताक़तें गोलबन्द हो जायेंगी, सभी मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारात्मक रूप से परिपक्व हो जायेंगे और मार्क्सवाद-लेनिनवाद को ज़्यादा परिपक्व तरीक़े से अपने देशों के ठोस व्यवहार से जोड़ सकेंगे। इस प्रकार मार्क्सवाद-लेनिनवाद निस्सन्देह समृद्ध होगा, विकसित होगा और नयी ऊँचाइयों को छुयेगा।" (म.ब., पृष्ठ 274)

महान बहस के दस्तावेज़ों में बहस की अवस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है,

"अन्तिम विश्लेषण में, अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में चल रही महान बहस के केन्द्रीय मुद्दे ये हैं कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद का अनुसरण किया जाये या संशोधनवाद का, सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद का अनुसरण किया जाये या महाशक्ति अहंकारवाद का और एकता की इच्छा की जाये या फूट की।" (म.ब., पृष्ठ 269)

सोवियत यूनियन और चीन की समाजवादी क्रान्तियों में सर्वहारा वर्ग द्वारा किये गये समाजवादी निर्माण के महान प्रयोगों को करीब से देखने वाली अमेरिकी पत्रकार अन्ना लुईस

स्ट्रांग ने महान बहस के बारे में लिखा है, *"यह सिर्फ़ "झगड़ा" नहीं है। यह एक संकटपूर्ण दौर में इंसानियत के लिए रास्ता निर्धारित करने की एक कोशिश है। यह उस राह की तलाश है जिसके बारे में कई धर्म और अनेक दार्शनिक सदियों से चिल्लाते रहे हैं। मार्क्स से लेकर आज तक कुछ लोग वर्ग संघर्ष और इतिहास के सबक़ों से सीख लेते हुए इस राह को तलाश रहे हैं। कम्युनिस्ट इसे नीरसता से "पार्टी लाइन" कहते हैं।"* और *"जो क्रान्तिकारी बहिष्कार करने का जोखिम वहन कर लेंगे वे एक नये रूप में संगठित होने के लिए आगे आयेंगे। इससे विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन का कोई नुक़सान नहीं होगा।"*

3. विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के विकास में संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष का इतिहास

वैज्ञानिक समाजवाद के जनक मार्क्स-एंगेल्स के दौर में 1864 में पहले इण्टरनेशनल की स्थापना की गयी। उस समय मार्क्स और एंगेल्स को छोड़कर पूरी यूरोपीय परम्परा में सुधारवादी अर्थवादी प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं और उत्पादन के साधनों के विकास पर ज़ोर दिया जाता था। उस समय के बाकुनिनवादी मार्क्स पर हमला कर रहे थे और अपने संशोधनवादी कठमुल्ला विचारों को इण्टरनेशनल पर आरोपित करने का प्रयास कर रहे थे। मार्क्स-एंगेल्स ने बाकुनिनवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष किया और उन्हें खुली चुनौती दी, और अन्त में 1872 में बाकुनिनवादियों को पहले इण्टरनेशनल से निकाल बाहर कर दिया गया।

पहले इण्टरनेशनल में मार्क्स और एंगेल्स ने अवसरवाद और फूटपरस्ती के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए अन्तरराष्ट्रीय आन्दोलन में क्रान्तिकारी लाइन का विचारधारात्मक नेतृत्व स्थापित किया। जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के गोथा कार्यक्रम की आलोचना के दौर में 1879 में मार्क्स ने कहा था, "लगभग चालीस वर्षों से हम लोग इस पर विशेष ज़ोर देते आ रहे हैं कि वर्ग संघर्ष इतिहास की प्रत्यक्ष चालक शक्ति है और विशेषकर पूँजीवादियों और सर्वहारा के बीच का वर्ग-संघर्ष आधुनिक सामाजिक क्रान्ति का महान उत्तोलक है; इसलिए हम लोगों के लिए उन लोगों के साथ सहयोग करना असम्भव है जो आन्दोलन से वर्ग-संघर्ष को मिटा देना चाहते हैं।" (म.ब., पृष्ठ 237-238)

1876 में पहले इण्टरनेशनल के अन्त की घोषणा की गयी और कई देशों में सामाजिक-जनवादी कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना हुई। 1889 में एंगेल्स के प्रभाव में दूसरा इण्टरनेशनल बना जो पूँजीवाद के विकास का एक शान्तिपूर्ण दौर था जिसमें क़ानूनी संघर्ष करते हुए कई पार्टियाँ क़ानूनवादी बन गयीं और अवसरवादी विचलनों की शिकार हुईं। अन्त में 1895 में एंगेल्स की मृत्यु के बाद ये अवसरवादी रुझानें दूसरे इण्टरनेशनल में और प्रभावी हुईं। यूरोपीय परम्परा में काउत्स्की और प्लेख़ानोव जैसे कई बड़े नेताओं पर इन अवसरवादी प्रवृत्तियों की ओर रुझान का असर दिखायी देता है। आन्दोलन में मौजूद इस अर्थवादी अवसरवादी भटकाव का असर उस दौर की कला और साहित्य पर भी पड़ा, जो कई लेखकों की रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है।

मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी कार्यदिशा को आगे बढ़ाते हुए अवसरवादियों के विरुद्ध संघर्ष की महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी लेनिन ने अपने हाथ में ली। लेनिन में रूस में मौजूद अवसरवादी रुझान का नेतृत्व करने वाले मेन्शेविकों के विरुद्ध मार्क्सवाद की रक्षा करते हुए समझौताविहीन संघर्ष किया और मार्क्सवादी सिद्धान्तों के मज़बूत आधार पर बोल्शेविक पार्टी को संगठित किया। 1912 में मेन्शेविकों को पार्टी से बाहर कर दिया गया। इस दौर में सभी अवसरवादियों

ने लेनिन को ख़ूब गालियाँ दीं और उन्हें फूटपरस्त घोषित कर दिया। उस दौर में लेनिन ने अवसरवादियों के हमले के जवाब में कहा था, *"एकता एक महान चीज़ है और एक महान नारा है। लेकिन मज़दूरों के कार्य को जिसकी ज़रूरत है वह है* ***मार्क्सवादियों की एकता****, न कि मार्क्सवादियों और मार्क्सवाद के विरोधियों और उसे विकृत करने वालों के बीच की एकता।"* (म.ब., पृष्ठ 239)

मेन्शेविज़्म के विरुद्ध संघर्ष करते हुए लेनिन ने दूसरे इण्टरनेशनल में काउत्स्की और बर्नस्टाइन के अवसरवाद के विरुद्ध आमने-सामने संघर्ष का एक सिलसिला चलाया। पहले विश्वयुद्ध में दूसरे इण्टरनेशनल के नेताओं ने मज़दूर वर्ग को खुलेआम धोखा दिया, जिसकी लेनिन ने दृढ़ता के साथ कड़े शब्दों में भर्त्सना की। और अन्त में 1919 में दूसरे इण्टरनेशनल की जगह तीसरे इण्टरनेशनल की स्थापना लेनिन के नेतृत्व में हुई। यह सोवियत यूनियन की महान समाजवादी क्रान्ति का दौर था जिसने कम्युनिस्ट आन्दोलन को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की नयी ऊँचाइयों पर पहुँचाया।

जिस समय सोवियत यूनियन में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद उपनी जड़ें जमा रहा था, तब कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल जैसा कोई मंच मौजूद नहीं था। लेकिन महान बहस के माध्यम से माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध एक निर्णायक संघर्ष किया और मार्क्सवाद-लेनिनवाद की हिफ़ाज़त की।

काउत्स्की के संशोधनवाद से जितना नुक़सान लेनिन के समय दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलनों को हुआ, उससे भी अधिक नुक़सान ख्रुश्चेव के संशोधनवादी पतन के दौर में दुनिया के सर्वहारा आन्दोलनों को उठाना पड़ा।

4. दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच सम्बन्धों का सवाल

1943 में पूरी दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों की आम सहमति के आधार पर कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल को भंग कर दिया गया था। महान बहस में इसे भंग करने के प्रस्ताव का ज़िक्र करते हुए चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का कहना था कि,

"अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास के एक दौर में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल ने दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों को केन्द्रीय नेतृत्व दिया। इसने अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना और विकास को प्रोत्साहित करने में महान ऐतिहासिक भूमिका अदा की। लेकिन जब कम्युनिस्ट पार्टियाँ परिपक्व हो गयीं और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की स्थिति और जटिल हो गयी तब कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल द्वारा केन्द्रीय नेतृत्व देना न तो व्यावहारिक रहा और न ही आवश्यक।" (म.ब., पृष्ठ 257)

4 फ़रवरी, 1964 को प्रकाशित महान बहस के सातवें दस्तावेज़ में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कम्युनिस्ट पार्टियों के सम्बन्ध के बारे में लिखा कि *"सभी बिरादराना पार्टियाँ, चाहे वे बड़ी हों या छोटी, नयी हों या पुरानी, सत्ता में हों या सत्ता से बाहर, वे सभी स्वतन्त्र और बराबर हैं। बिरादराना पार्टियों की किसी बैठक या एकमत से स्वीकार किये गये किसी समझौते ने उन्हें कभी ऐसी शर्त में नहीं बाँधा है कि उनमें वरिष्ठ और अधीनस्थ पार्टियाँ होती हों, कि एक पार्टी पिता हो और अन्य पार्टियाँ पुत्र हों...।"* (म.ब., पृष्ठ 256) आगे कहा गया कि, *"अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा के क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास दिखाता है कि क्रान्ति के असमान विकास के कारण एक ख़ास ऐतिहासिक अवस्था में, कभी एक तो*

कभी दूसरे देश के सर्वहारा और उसकी पार्टी ने आन्दोलन की अग्रिम पंक्ति में मार्च किया है।" (म.ब., पृष्ठ 256) लेकिन इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि, *"अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन की अग्रिम पंक्ति में शामिल कोई भी पार्टी अन्य बिरादराना पार्टियों पर हुकुम चला सकती है, या कि अन्य पार्टियों को उसका पालन करना चाहिए।"* (म.ब., पृष्ठ 257)

सभी बिरादराना पार्टियों की समानता और उनके बीच सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल को भंग करने के प्रस्ताव का समर्थन करने के साथ महान बहस में यह भी कहा गया है कि, *"बिरादराना पार्टियों को स्वतन्त्र और पूर्णत: समान दर्ज़े का होना चाहिए और साथ ही, उन्हें एकताबद्ध भी होना चाहिए। साझा सरोकार के सवालों पर उन्हें विचार-विमर्श के ज़रिये आम सहमति पर पहुँचना चाहिए और उन्हें साझा लक्ष्य के संघर्ष में अपने क्रिया-कलापों को केन्द्रित करना चाहिए। बिरादराना पार्टियों के बीच सम्बन्धों को निर्देशित करने वाले ये उसूल 1957 के घोषणापत्र और 1960 के वक्तव्य में साफ़-साफ़ दर्ज हैं।"* (म.ब., पृष्ठ 258)

आगे विश्व की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच सम्बन्धों के बारे में चीनी पार्टी ने कहा था, *"वास्तविक वर्तमान परिस्थितियों में, जिसमें कॉमिण्टर्न जैसा नेतृत्व न तो अस्तित्व में है न ही अपेक्षित, बिरादराना पार्टियों के बीच सम्बन्धों में बहुमत के समक्ष अल्पमत के झुकने के उसूल को लागू करना बिल्कुल ग़लत है। यह उसूल कि अल्पमत को बहुमत के सामने झुकना चाहिए और निचले स्तर के पार्टी संगठन को उच्च स्तर के पार्टी संगठन के सामने, एक पार्टी के भीतर तो माना जाना चाहिए। लेकिन इसे बिरादराना पार्टियों के बीच के सम्बन्धों पर लागू नहीं किया जा सकता। अपने पारस्परिक सम्बन्धों में प्रत्येक बिरादराना पार्टी अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखती है और उसी समय सभी के साथ एकतारबद्ध भी होती है। यहाँ उन सम्बन्धों का अस्तित्व ही नहीं है जिनमें अल्पमत को बहुमत के सामने झुकना चाहिए और वे सम्बन्ध तो निश्चित ही नहीं हैं जिनमें निचले पार्टी संगठन को ऊपरी पार्टी संगठनों के सामने झुकना चाहिए।* ***विचार-विमर्श के उसूल के अनुसार आम सहमति पर पहुँचना ही वह एकमात्र आधार है जिस पर बिरादराना पार्टियों के साझा हितों के सवालों पर कार्रवाई की जानी चाहिए।"*** तथा, ***"...एक पार्टी के भीतर अल्पमत बहुमत के मातहत होने के उसूल का पालन संगठनात्मक रूप से होना चाहिए। विचारधारात्मक समझदारी के मामले में यह नहीं कहा जा सकता है कि ग़लती की तुलना में सत्य की पहचान सदैव इस बात के आधार पर की जा सकती है कि कौन सी बहुमत की राय है और कौन सी अल्पमत की।"*** (ज़ोर हमारा है) (म.ब., पृष्ठ 260-261)

इन उद्धरणों पर ध्यान दें और मुड़कर सोवियत यूनियन और चीन में समाजवादी संक्रमण और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के इतिहास पर नज़र डालें तो यह एक विचार करने का विषय है कि **विचारधारात्मक विचार-विमर्श के माध्यम से एकताबद्ध होने** तथा **आम सहमति पर पहुँचने** के लिए यदि उस दौर में एक वैश्विक मंच मौजूद होता तो चीनी पार्टी को पूरी दुनिया की पार्टियों में ख्रुश्चेवी संशोधनवादियों द्वारा पैदा किये गये विभ्रमों के विरुद्ध संघर्ष चलाने में सहायता मिली होती। जैसाकि 14 जून, 1964 में सोवियत यूनियन को लिखे जवाब "अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा के बारे में" में 1957 के घोषणापत्र का ज़िक्र करते हुए हर देश में कम्युनिस्ट पार्टी की आवश्यकता तथा उसके सैद्धान्तिक कार्यभार की व्याख्या करते हुए कहा गया,

"अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के अनुभवों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सबक़ यह है

कि किसी भी क्रान्ति का विकास और विजय सर्वहारा वर्ग की पार्टी के अस्तित्व पर निर्भर है। क्रान्तिकारी पार्टी अवश्य होनी चाहिए।"

सर्वहारा पार्टियों को, *"आम मार्क्सवादी-लेनिनवादी सच्चाई को अपने देश की शान्ति और निर्माण के ठोस अमल के साथ... मिलाने के उसूल का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।"* आगे कहा गया है, *"...यह आवश्यक है कि हमेशा वास्तविकता से प्रारम्भ किया जाये, जनता के साथ घनिष्ठ सम्पर्क क़ायम रखा जाये, जन संघर्षों के अनुभवों का लगातार निचोड़ निकाला जाये तथा अपने देश के अनुकूल नीतियों और कार्यनीतियों को स्वतन्त्र रूप से बनाया जाये। अगर कोई ऐसा करने में असमर्थ रहा, अगर उसने अन्य कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों और कार्यनीतियों का यान्त्रिक रूप से अनुसरण किया, दूसरों की इच्छा को अन्धे होकर मान लिया, अथवा अन्य कम्युनिस्ट पार्टी के प्रोग्राम और प्रस्तावों को बिना विश्लेषण किये ही अपनी दिशा के रूप में स्वीकार कर लिया, तो वह कठमुल्लावादी ग़लतियाँ करेगा।"* (म.ब., पृष्ठ 36, 37)

अपने देश की परिस्थितियों के आधार पर अपने प्रोगाम को निर्धारित करने की आवश्यकता तथा हर क्रान्तिकारी पार्टी के इस कार्यभार को इंगित करते हुए आगे कहा गया है,

"अगर वह ऐसी पार्टी न हो, जो ख़ुद सोचने के लिए अपना दिमाग़ इस्तेमाल कर सकती हो तथा गम्भीर जाँच-पड़ताल व अध्ययन के ज़रिये अपने देश में अलग-अलग वर्गों के रुझानों की सही जानकारी प्राप्त कर सकती हो तथा जो यह जानती हो कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद की आम सच्चाई को कैसे लागू किया जाये और अपने देश के ठोस अलम के साथ कैसे मिलाया जाये, बल्कि ऐसी पार्टी हो, जो दूसरों के शब्दों को तोते की तरह रट लेती है, विदेशों के अनुभव को बिना विश्लेषण किये नक़ल करती है, विदेशों के कुछ लोगों के निर्देश-दण्ड के मुताबिक़ कभी इधर दौड़ती है तो कभी उधर तथा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के उसूलों को छोड़कर संशोधनवाद, कठमुल्लावाद और हर दूसरी चीज़ की खिचड़ी बन गयी है, तो ऐसी पार्टी क्रान्तिकारी संघर्ष में सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनता का नेतृत्व करने में बिल्कुल असमर्थ है, क्रान्ति में विजय प्राप्त करने में बिल्कुल असमर्थ है तथा सर्वहारा वर्ग के महान ऐतिहासिक मिशन को पूरा करने में बिल्कुल असमर्थ है।" (म.ब. , पृष्ठ 37-38)

इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए आज हमें 1943 में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल को भंग किये जाने के सवाल पर एक बार फिर से विचार करना होगा, कि क्या जनवादी-केन्द्रीयता पर आधारित उसके विश्व पार्टी के ढाँचे तथा उत्तरदायित्व को बदल देना चाहिए था और दूसरे देशों में क्रान्ति की आम रणनीति तथा आम रणकौशल की दिशा देने के कार्य से मुक्त कर देना चाहिए था। यह कहना भी ग़लत नहीं होगा कि यदि इसकी भूमिका को पूरी दुनिया के देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच आम सैद्धान्तिक दिशा को लेकर बहसें चलाने के एक मंच में रूपान्तरित कर दिया जाता तो महान बहस के दौरान, और वर्तमान समय में भी, पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन में पैदा होने वाले सुधारवादियों और त्रोत्स्कीपन्थियों के विरुद्ध संघर्ष चलाना, और हर पार्टी द्वारा अपनी अवस्थिति को सभी पार्टियों के सामने बहस के लिए रखना अधिक सुगम होता। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि ख्रुश्चेव द्वारा लागू की जा रही संशोधनवादी नीतियों के दौर में तीसरी दुनिया के कई देशों में अपरिपक्व कम्युनिस्ट पार्टियाँ मौजूद थीं जिन्हें परिपक्व दिशा-निर्देश की आवश्यकता भी थी।

आज पूरे वैश्विक परिदृश्य में कम्युनिस्ट आन्दोलन में जो भाँति-भाँति की संशोधनवादी

या अतिवामपन्थी प्रवृत्तियाँ आन्दोलन के विकास में बेड़ियाँ बनी हुई हैं, उसके आधार पर सोचने के लिए सारे रास्ते हमारे सामने खुले हैं, कि कम्युनिस्ट पार्टियों के अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों पर जो सिद्धान्त महान बहस के दौरान प्रस्तुत किये गये थे उसके लिए विश्व स्तर पर वाद-विवाद के एक मंच की आवश्यकता है।

5. समाजवादी संक्रमण की मार्क्सवादी-लेनिनवादी कार्यदिशा

स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव ने अपने पूर्वनियोजित लक्ष्य के तहत सोवियत यूनियन में "शान्तिपूर्ण संक्रमण", "समूची जनता का राज्य", "शान्तिपूर्ण होड़" और "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व" जैसी संशोधनवादी नीतियाँ लागू करना आरम्भ कर दिया था। महान बहस में चीन ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों के आधार पर यह रेखांकित किया कि ख्रुश्चेव जिस संशोधनवादी लाइन का नेतृत्व कर रहे थे, वह सोवियत यूनियन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना करने की ग़द्दारी भरी नीतियाँ थी। चीनी पार्टी ने महान बहस में स्पष्ट किया कि समाजवादी संक्रमण के दौरान सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत सतत् वर्ग-संघर्ष जारी रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि समाजवाद कम्युनिज़्म की ओर आगे बढ़ने का एक संक्रमण काल है। समाजवाद का लक्ष्य है संक्रमण के दौरान सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत कम्युनिस्ट समाज तक वर्ग-संघर्ष को जारी रखना जहाँ,

"वर्ग और वर्ग विभेद पूरी तरह मिट जाते हैं, समूची जनता की कम्युनिस्ट चेतना और नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा हो जाता है तथा साथ ही श्रम के प्रति असीम उत्साह और पहलक़दमी पैदा हो जाती है, सामाजिक उत्पादनों की बहुतायत हो जाती है और "हरएक से उसकी योग्यता के अनुसार और हरएक को उसकी ज़रूरत के अनुसार" के उसूल को लागू किया जाता है जिसमें राज्यसत्ता मुरझा जाती है।" (म.ब., पृष्ठ 356)

महान बहस के दौरान यह स्पष्ट किया गया कि किसी एक देश में समाजवाद की स्थापना के बाद उसका उद्देश्य होगा कि,

"सभी वर्गों और वर्गभेदों के ख़ात्मे की ओर अभियान करना।...", "उत्पादन के साधनों पर समूची जनता की मिल्कियत की एकात्मक व्यवस्था की ओर अभियान करना।...", "सामाजिक उत्पादन की भारी बहुतायत की ओर अभियान करना तथा "हरएक से उसकी योग्यता के अनुसार और हरएक को उसकी ज़रूरत के अनुसार" के उसूल को अमल में लाना।...", "जनता की कम्युनिस्ट चेतना को ऊँचा करने की ओर अभियान करना।...", "राज्य के मुरझाने की स्थिति ओर अभियान करना।..." और *"मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अनुसार, समाजवाद के काल में सर्वहारा अधिनायकत्व पर क़ायम रहने का उद्देश्य ठीक यह होता है कि समाज के कम्युनिज़्म की दिशा में विकास करने की गारण्टी की जा सके।"* (म.ब., पृष्ठ 356, 357, 358)

मार्क्सवाद-लेनिनवाद बताता है कि, चूँकि समाजवादी समाज पूँजीवाद के गर्भ से पैदा होता है जिसमें संक्रमण के लम्बे दौर में शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम करने वालों के बीच, शहरों और देहातों के बीच तथा मज़दूरों और किसानों के बीच अन्तर बने रहते हैं, और पूँजीवादी अधिकारों को अभी पूरी तरह समाप्त नहीं किया जाता है; श्रम अभी भी माल के रूप में मौजूद होता है, और खपत के माल का वितरण अभी भी श्रम की मात्रा के अनुरूप

ही होता है, न कि आवश्यकता के हिसाब से। इन अन्तरों को एक लम्बे दौर में ही समाप्त किया जा सकता है। सोवियत यूनियन तथा चीन के समाजवादी अनुभवों का निचोड़ यह है कि समाजवादी समाज एक अत्यन्त लम्बी ऐतिहासिक मंज़िल तक मौजूद रहता है। समाजवादी संक्रमण के इस पूरे क्रान्तिकारी रूपान्तरण के दौर में पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के बीच वर्ग-संघर्ष जारी रहता है तथा पूँजीवादी रास्ते और समाजवादी रास्ते में से कौन विजयी होगा, यह सवाल बना रहता है। इस पूरे दौर में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का ख़तरा बना रहता है। (म.ब., पृष्ठ 324)

माओ ने बताया कि ***"समाजवाद की पूर्ण विजय एक या दो पीढ़ियों में नहीं हो सकती; इस सवाल को पूरी तरह हल करने के लिए पाँच या दस पीढ़ियों की अथवा इससे भी ज़्यादा लम्बे समय की ज़रूरत होती है।"*** (म.ब., पृष्ठ 329) इन अनुभवों के आधार पर चीनी पार्टी ने यह निष्कर्ष दिया कि, *"सर्वहारा वर्ग के सत्ता प्राप्त करने के बाद काफ़ी लम्बे समय ऐतिहासिक काल में वर्ग-संघर्ष मानव की इच्छा से स्वतन्त्र एक वस्तुगत नियम के रूप में जारी रहता है तथा सत्ता प्राप्त करने के पहले की तुलना में सिर्फ़ उसका रूप बदल जाता है।"* (म.ब., पृष्ठ 325)

स्तालिन की मृत्यु के पश्चात 1956 में सोवियत यूनियन में ख्रुश्चेव द्वारा पूँजीवाद की पुनर्स्थापना किये जाने के बाद उस दौर के अनुभवों के विश्लेषण के आधार पर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि समाजवादी समाज में मौजूद अन्तरों और पुरानी आदतों के प्रभाव के कारण लम्बे समय तक समाज तथा पार्टी नेतृत्व के अन्दर पूँजीवादी पथगामी पैदा होते रहते हैं। यदि इन पूँजीवादी तत्वों के प्रति अधिरचना में सतत् वर्ग संघर्ष न चलाया जाये तो समाज के आर्थिक सम्बन्धों का पूँजीवादी सम्बन्धों और सर्वहारा अधिनायकत्व का पूँजीवादी अधिनायकत्व में रूपान्तरित होने का ख़तरा पैदा हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि आर्थिक मूलाधार के रूपान्तरण के साथ-साथ राजनीतिक-सांस्कृतिक वैचारिक अधिरचना में भी एक सतत् क्रान्ति हो, अन्यथा अधिरचना में पैदा होने वाले पूँजीवादी विचार आर्थिक मूलाधार में भी पूँजीवादी सम्बन्धों को बहाल कर पूँजीवाद की पुनर्स्थापना कर सकते हैं, जिसका ख़तरा समाजवाद के पूरे काल में बना रहता है।

"राजनीति अर्थनीति की ही केन्द्रीय अभिव्यक्ति है।... राजनीति का अर्थनीति के मुक़ाबले अनिवार्यत: अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके विपरीत दलील देने का मतलब है मार्क्सवाद की प्रारम्भिक जानकारी को भी भूल जाना।" (म.ब., पृष्ठ 354)

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने यूगोस्लाविया में टीटो का साम्राज्यवादियों के साथ गठजोड़ तथा ख्रुश्चेवी संशोधवाद के दौर में सोवियत यूनियन में पैदा होने वाले विशेषाधिकार प्राप्त पूँजीवादी पथगामी तत्वों की ज़मीन की जाँच-पड़ताल की और समाजवादी सोवियत यूनियन के समाज का विश्लेषण करते हुए कई सबूतों और उदाहरणों के माध्यम से यह सिद्ध किया कि समाजावादी निर्माण के दौरान पार्टी क़तारों के बीच, सरकारी संस्थाओं में, सार्वजनिक संगठनों, आर्थिक विभागों तथा सांस्कृतिक और शैक्षणिक प्रतिष्ठानों में लगातार एक विशेषाधिकार प्राप्त तबका पैदा होता रहता है। ये पूँजीवादी तत्व विचारधारा, संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्र में सर्वहारा विश्व-दृष्टिकोण के मुक़ाबले पूँजीवादी विश्व-दृष्टिकोण को ला खड़ा करते हैं तथा सर्वहारा और अन्य मेहनतकश जनता को पूँजीवादी विचारधारा से आचरण-भ्रष्ट कर देते हैं। (म.ब., पृष्ठ 325-326)

"समाजवाद की समूची मंज़िल में राजनीतिक, आर्थिक, विचारधारात्मक और सांस्कृतिक

व शैक्षणिक क्षेत्रों में सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का वर्ग संघर्ष कभी नहीं रुक सकता।" तथा "समाजवादी समाज का वर्ग-संघर्ष अनिवार्य रूप से कम्युनिस्ट पार्टी में भी प्रतिबिम्बित होता है। पूँजीपति वर्ग और अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवाद, ये दोनों ही यह समझते हैं कि एक समाजवादी देश को पतित करके पूँजीवादी देश बनाने के लिए पहले कम्युनिस्ट पार्टी को पतित करके संशोधनवादी पार्टी बना देना आवश्यक है। नये-पुराने पूँजीवादी तत्व, नये-पुराने धनी किसान और हर किस्म के पतनशील तत्व संशोधनवाद का सामाजिक आधार हैं तथा वे कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर अपने एजेण्ट खोजने के हरसम्भव उपाय अपनाते हैं। पूँजीवादी प्रभाव का अस्तित्व संशोधनवाद का आन्तरिक स्रोत है और साम्राज्यवादी दबाव के सामने आत्म-समर्पण उसका बाहरी स्रोत है। समाजवाद की समूची मंज़िल में समाजवादी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों में मार्क्सवाद-लेनिनवाद और विभिन्न प्रकार के अवसरवाद - मुख्य रूप से संशोधनवाद - के बीच अनिवार्य रूप से संघर्ष होता है। इस संशोधनवाद की विशेषता यह है कि यह वर्गों और वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व से इनकार करता है, सर्वहारा वर्ग पर प्रहार करते समय पूँजीपति वर्ग का पक्ष-पोषण करता है तथा सर्वहारा अधिनायकत्व को पूँजीपति वर्ग के अधिनायकत्व में बदल देता है।" (म.ब., पृष्ठ 327)

मार्क्स ने कहा था, "वर्ग-संघर्ष अनिवार्य रूप से सर्वहारा अधिनायकत्व की ओर ले जाता है।", कि "पूँजीवाद और कम्युनिस्ट समाज के बीच एक का दूसरे में क्रान्तिकारी रूपान्तरण होने का काल मौजूद रहता है। इसी के साथ-साथ एक राजनीतिक संक्रमण काल भी चलता है जिसमें राज्य का स्वरूप क्रान्तिकारी सर्वहारा अधिनायकत्व के अलावा और कुछ नहीं हो सकता।" (म.ब., पृष्ठ 328)

यूगोस्लाविया में टीटो की नीतियों की आलोचना करते हुए महान बहस में बताया गया कि, *"सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता हथियाये जाने के बाद भी काफ़ी समय तक एक समाजवादी देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों का होना, जिनमें निजी पूँजीवादी क्षेत्र भी शामिल है, आश्चर्य की बात नहीं है। महत्व इस बात का है कि सरकार निजी पूँजीवाद के प्रति किस किस्म का रवैया अपनाती है - उसे इस्तेमाल करने, नियन्त्रित करने, रूपान्तरित करने और मिटाने की नीति अथवा उसे चलने देने, उसका पालन-पोषण करने और उसे प्रोत्साहन देने की नीति। यह इस बात को तय करने का महत्वपूर्ण पैमाना है कि कोई देश समाजवाद की तरफ़ विकास कर रहा है या पूँजीवाद की तरफ़।"* (म.ब., पृष्ठ 112) इसी विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है, *"मार्क्सवाद-लेनिनवाद हमें सिखाता है कि व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था से, छोटी उत्पादक अर्थव्यवस्था से, हर रोज़ और हर घण्टे पूँजीवाद पैदा होता है।"* (म.ब., पृष्ठ 114)

ख्रुश्चेव के "शान्तिपूर्ण संक्रमण", "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व" और "समूची जनता के राज" की वास्तविकता यह थी कि इसने सोवियत यूनियन में सर्वहारा अधिनायकत्व को पूँजीवादी अधिनायकत्व में रूपान्तरित कर दिया था, जहाँ पैदा हुआ पूँजीवादी तबका पार्टी सदस्यों से मिलकर भ्रष्टाचार की मदद से विशेष सुविधाएँ हासिल कर रहा था, व्यक्तिगत फ़ायदों के लिए सार्वजनिक उद्योगों से चोरी कर रहा था, और सार्वजनिक उपक्रमों पर अपने व्यक्तिगत अधिकार के लिए ज़मीन तैयार कर चुका था। यह विशेषाधिकार प्राप्त पूँजीवादी तबका अपने व्यक्तिगत हितों के लिए मज़दूरों का शोषण करने लगा था। पदाधिकारियों और जनता के बीच सम्बन्ध शोषक और शोषित के सम्बन्धों में बदल हो चुके थे और समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध पुनः पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों में रूपान्तरित हो चुके थे। (म.ब., पृष्ठ

333-334, 337-338)।

इन विश्लेषणों को और आगे विकसित करते हुए चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने समाजवादी समाज में पार्टी के अन्दर पैदा होने वाले इन पूँजीवादी तत्वों के विरुद्ध सतत् वर्ग संघर्ष चलाने और व्यापक जन-चौकसी को मज़बूत बनाने की आवश्यकता को रेखांकित किया। इससे पहले सोवियत यूनियन में स्तालिनकाल तक यह माना जा रहा था कि समाजवाद में पूँजीवादी पुनर्स्थापना का मुख्य स्रोत साम्राज्यवादी हस्तक्षेप ही हो सकता है। लेनिन अपने अन्तिम दिनों में सांस्कृतिक क्रान्ति के बारे में चिन्तन कर रहे थे। 1923 में लेनिन ने कहा था, "यदि सारे किसान सहकारों में संगठित हो जाते तो अब तक हमारे दोनों पैर समाजवाद की ज़मीन पर होते। लेकिन सभी किसानों को सहकारी समितियों में संगठित करना उन्हें एक सांस्कृतिक स्तर पर लाने की माँग करता है, और किसानों की बड़ी संख्या के बीच यह काम एक सांस्कृतिक क्रान्ति के बिना पूरा नहीं किया जा सकता।" ... "हमारे देश में राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति ने सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार की है, और यह सांस्कृतिक क्रान्ति आज हमारे सामने खड़ी है।" ... "सांस्कृतिक क्रान्ति की मदद से ही हम अपने देश को एक पूर्ण समाजवादी देश बनाने का काम पूरा कर सकते हैं। लेकिन इसमें हमारे सामने विशुद्ध सांस्कृतिक (जिसमें हम अभी अशिक्षित हैं) तथा भौतिक प्रकृति (जिसमें सुसभ्य होने से पहले हमें भौतिक उत्पादन के साधनों को एक स्तर तक अवश्य विकसित करना होगा, जिसके लिए एक भौतिक आधार होना ज़रूरी है) की वृहद कठिनाइयाँ मौजूद हैं।" (सहकारिता के बारे में, 6 जनवरी, 1923, लेनिन)

सांस्कृतिक क्रान्ति की आवश्यकता के बारे में लेनिन द्वारा छोड़ी गयी इस कड़ी को पकड़ते हुए माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने आर्थिक मूलाधार और अधिरचना में मौजूद पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारक तत्वों की गतिकी को समझा और समाजवाद में वर्ग संघर्ष के संचालन और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लिए प्रयत्नशील बुर्जुआ तत्वों के आधारों को नष्ट करने तथा कम्युनिज़्म तक संक्रमण की बारे में विचारधारात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किये। जिसके आधार पर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के ऐतिहासिक प्रयोग ने "सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति" और "अधिरचना में क्रान्ति" के सिद्धान्तों का विकसित किया।

6. शान्तिपूर्ण संक्रमण का सवाल

आम दिशा के दस्तावेज़ों में कार्यनीति के संसदीय तथा शान्तिपूर्ण संक्रमण के सवाल को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, *"क्रान्ति के दौरान सर्वहारा वर्ग और अन्य मेहनतकश जनता का नेतृत्व करने के लिए मार्क्सवादी लेनिनवादी पार्टियों को चाहिए कि वे संघर्ष के सब रूपों में माहिर हो जायें। ... सर्वहारा वर्ग का हरावल दस्ता सभी परिस्थितियों में अजेय तभी हो सकता है, यदि वह संघर्ष के सब रूपों में माहिर हो जाये - शान्तिपूर्ण और सशस्त्र संघर्ष में, खुले और गुप्त संघर्ष में, क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी संघर्ष में, संसदीय संघर्ष और जनव्यापी संघर्ष में, इत्यादि। जब संसदीय संघर्ष और संघर्ष के दूसरे क़ानूनी रूपों को अपनाया जा सके और अपनाया जाना चाहिए, उस समय उन्हें अस्वीकार कर देना ग़लत है। लेकिन अगर कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी क़ानूनपरस्ती या संसदीय जड़वामवाद का शिकार हो जाती है और संघर्ष को केवल उसी हद तक सीमित रखती है, जिस हद तक पूँजीपति वर्ग इजाज़त देता है, तो इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि वह सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व का*

परित्याग कर देगी।" (म.ब., पृष्ठ 13)

आगे कहा गया है कि *"यदि किसी ख़ास परिस्थिति में कोई कम्युनिस्ट पार्टी संसद में सीटों का बहुमत प्राप्त भी कर ले या चुनाव में जीतने की वजह से सरकार में शामिल भी हो जाये, तो इससे संसद और सरकार का पूँजीवादी स्वरूप नहीं बदल जायेगा, और इसका मतलब पुरानी राज्य-मशीनरी को चकनाचूर करना और नयी राज्य-मशीनरी की स्थापना करना तो बिल्कुल भी नहीं होगा। पूँजीवादी संसदों या सरकारों पर निर्भर रहकर बुनियादी सामाजिक परिवर्तन करना बिलकुल असम्भव है। प्रतिक्रियावादी पूँजीपति वर्ग राज्य-मशीनरी को अपने क़ब्ज़े में रखकर चुनाव को रद्द कर सकता है, संसद को भंग कर सकता है, सरकार में शामिल कम्युनिस्टों को बर्ख़ास्त कर सकता है, कम्युनिस्ट पार्टी को ग़ैर-क़ानूनी करार दे सकता है तथा जनता और प्रगतिशील शक्तियों का दमन करने के लिए बर्बर शक्ति का इस्तेमाल कर सकता है।"* (म.ब., पृष्ठ 302)

साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा 1973 में साम्राज्यवादियों द्वारा चिली में संसदीय चुनाव के माध्यम से अयेन्दे के नेतृत्व में सत्ता में पहुँची कम्युनिस्ट पार्टी के बर्बर ख़ूनी दमन और 1965 में इण्डोनेशिया में सुकर्णो के नेतृत्व में चुनाव जीतकर सत्ता में आये कम्युनिस्टों का सैनिक तख़्तापलट के बाद बर्बर हत्याओं की घटनाओं - इन दोनों देशों के अनुभवों ने चीनी पार्टी के शान्तिपूर्ण संक्रमण के विश्लेषण को व्यवहार में सही सिद्ध कर दिया है। चिली और इण्डोनेशिया दोनों देशों में कम्युनिस्ट पार्टी चुनाव के माध्यम से सत्ता में आयी थी, लेकिन मौजूदा राज्य मशीनरी को क्रान्तिकारी रूप से ध्वस्त नहीं किया गया था, जिसका अन्त साम्राज्यवादी ताक़तों की सहायता से प्रतिक्रियावादी तख़्तापलट और देश की संघर्षरत जनता के ख़ूनी दमन के रूप में हुआ। (लेख के अन्त में स्रोत देखें)

लेनिन और स्तालिन ने अपने मूल्यांकन में बताया था कि पूँजीवाद से समाजवाद में शान्तिपूर्ण संक्रमण कुछ विशेष परिस्थितियों में हो सकता है, जब भविष्य में कोई ऐसा पूँजीवादी देश होगा जो चारों तरफ़ से समाजवादी देशों से घिरा हो और सर्वहारा वर्ग का चौतरफ़ा दबाव उस पर हो तब वह शान्तिपूर्ण ढंग से सत्ता छोड़ देगा, और किसी भी परिस्थिति में यह सम्भव नहीं है। ('लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त', स्तालिन)

20वीं सदी तक आते-आते लेनिन ने तीसरी दुनिया के देशों में उपनिवेशवाद का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया था कि पूँजीवाद एक खुले दमनकारी तन्त्र के रूप में साम्राज्यवाद की अवस्था तक विकसित हो चुका था। लेनिन ने उस दौर की परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर बताया था कि साम्राज्यवाद लगातार खुद को हथियारबन्द कर रहा है, और ज़रूरत पड़ने पर पूँजीवादी जनतन्त्र की पूँजीवादी सत्ताएँ भी अपने जनवाद का मुखौटा हटाकर सेना और पुलिस का इस्तेमाल अपने देश के सर्वहारा जनता का खुला दमन करने में कोई संकोच नहीं करेंगी। लेनिन ने कहा था, "बुर्जुआ राज्यसत्ता को बलपूर्वक ध्वस्त करके उसकी जगह पर नयी राज्यसत्ता स्थापित किये बिना सर्वहारा क्रान्ति असम्भव है।" ('राज्य और क्रान्ति', लेनिन) कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स-ऐगल्स ने कहा था, "मज़दूर वर्ग पहले से मौजूद राज्यसत्ता को अपने नियन्त्रण में लेकर अपने लक्ष्य हासिल करने के लिए इसे इस्तेमाल नहीं कर सकता।" मार्क्स ने आगे कहा है कि सर्वहारा क्रान्ति का लक्ष्य "अफ़सरशाही की मशीनरी को एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तान्तरित करना नहीं है, बल्कि उसको ध्वस्त करना है... यह सभी सच्ची जन-क्रान्तियों की मूल शर्त है," (लुडविन कुगेलमान को कार्ल मार्क्स का पत्र, 17 अप्रैल 1871)

आज भी कई संशोधवादी अपने समर्थन में मार्क्स का सन्दर्भ देकर शान्तिपूर्ण संक्रमण की बात सही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, लेकिन मार्क्स ने शान्तिपूर्ण संक्रमण की बात एक विशेष परिस्थिति में पूँजीवाद के विकास के आरम्भिक दौर में ब्रिटेन, अमेरिका और हॉलैण्ड के सन्दर्भ में की थी, जो पूँजीवाद के विकास का शान्तिपूर्ण दौर था। 15 सितम्बर 1872 में एक भाषण में मार्क्स ने शान्तिपूर्ण संक्रमण के साथ यह भी कहा था कि, "ऐसी स्थिति में, हमें ध्यान रखना चाहिए कि महाद्वीप के ज़्यादातर देशों में क्रान्ति का लीवर बल होगा..." (स्वतन्त्रता पर भाषण, 1872, कार्ल मार्क्स)

21वीं सदी में आज वैश्विक स्तर पर हो रही घटनाओं का विश्लेषण करें तो साम्राज्यवाद लगातार दूसरे देशों में हस्तक्षेप के माध्यम से मेहनतकश जनता का बर्बर दमन जारी रखने की कोशिशों में लगा है, और लगातार ज़्यादा हिंसक रूप में सामने आ रहा है। अपने अन्तरविरोधों के कारण जारी पूँजीवादी संकट के इस दौर में पूँजीवादी जनवाद का चरित्र भी लगातार अधिक फासीवादी होता जा रहा है, ऐसी विश्व परिस्थितियों में शान्तिपूर्ण समाजवादी संक्रमण की बात करना किसी भी दृष्टिकोण से सही नहीं है।

चीनी पार्टी ने महान बहस के सातवें दस्तावेज़ में लेनिन को उद्धरित करते हुए सही ही कहा था कि *"मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के सक्रिय लोग, जो अवसरवादी रुझान का अनुसरण करते हैं, वे पूँजीपति वर्ग के स्वयं उसकी अपेक्षा अधिक अच्छे रक्षक होते हैं।"* (म.ब., पृष्ठ 249-250)

7. स्तालिनकाल का मूल्यांकन

"स्तालिन के मूल्यांकन का सवाल उसूल का एक ऐसा महत्वपूर्ण सवाल है जिसका सम्बन्ध समूचे अन्तरराष्टीय कम्युनिस्ट आन्दोलन से है।" (म.ब., पृष्ठ 90)

महान बहस की तुलना में स्तालिनकाल के बारे में आज जितने खुलासे हो चुके हैं, और जो तथ्य हमारे सामने हैं, उनके आधार पर स्तालिनकाल और आधुनिक संशोधनवाद का मूल्यांकन और भी स्पष्ट रूप में किया जा सकता है। 1956 में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में ख्रुश्चेव द्वारा दिये गये गुप्त भाषष में स्तालिन के पूर्ण निषेध की आलोचना करते हुए महान बहस में कहा गया,

"...स्तालिन ने भूलें कीं। इन भूलों की अपनी विचारधारात्मक तथा सामाजिक और ऐतिहासिक जड़ें थीं। यह आवश्यक है कि स्तालिन की उन भूलों की आलोचना की जाये जो उन्होंने सचमुच कीं, न कि उन भूलों को जिन्हें बिना किसी आधार के उन पर मढ़ दिया गया है। और यह आलोचना सही आधार पर और सही तरीक़ों से की जाये। लेकिन हम लोगों ने ग़लत आधार पर और ग़लत तरीक़ों से की गयी स्तालिन की आलोचना का हमेशा विरोध किया है।" (म.ब., पृष्ठ 91)

स्तालिनकाल की उपलब्धियों का ज़िक्र करते हुए बहस में आगे कहा गया है,

"लेनिन के जीवनकाल में स्तालिन जारशाही से लड़े और मार्क्सवाद का प्रचार किया; अक्टूबर क्रान्ति के बाद पहले समाजवादी राज्य के निर्माण में सर्वहारा क्रान्ति की रक्षा के लिए लड़े।" ... "लेनिन की मृत्यु के बाद स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत यूनियन ने आन्तरिक और बाहरी दोनों प्रकार के दुश्मनों से दृढ़संकल्प होकर लड़ने में सोवियत जनता का नेतृत्व किया।" ... "स्तालिन ने समाजवादी औद्योगिकीकरण और कृषि-सामूहिकीकरण की लाइन पर क़ायम रहने में तथा समाजवादी रूपान्तरण और समाजवाद की रचना में महान सफलताएँ प्राप्त करने

में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत जनता का नेतृत्व किया।" ... "स्तालिन ने फासीवाद-विरोधी युद्ध में महान विजय के लिए किये गये कठिन और तीखे संघर्ष में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी, सोवियत जनता और सोवियत सेना का नेतृत्व किया।" . .. "स्तालिन ने विभिन्न प्रकार के अवसरवाद के विरुद्ध, लेनिनवाद के शत्रुओं के विरुद्ध, त्रात्स्कीपन्थियों, जिनोवियेवपन्थियों, बुखारिनपन्थियों तथा अन्य बुर्जुआ एजेण्टों के विरुद्ध संघर्ष में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की रक्षा की और उसे विकसित किया।" (म.ब., पृष्ठ 91)

महान बहस में माना गया कि स्तालिन ने कुछ उसूली भूलें कीं और कुछ व्यावहारिक कार्यों के दौरान ग़लतियाँ हुईं, और कुछ ग़लतियों से बचा जा सकता था। विचारधारात्मक ग़लतियों के मामले में स्तालिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से विचलित हुए और कुछ सवालों पर अधिभौतिकवाद और मनोगतवाद के शिकार हुए। पार्टी के अन्दर के तथा पार्टी के बाहर के, दोनों ही प्रकार के संघर्षों में, कुछ मौक़ों और कुछ सवालों पर, हमारे और शत्रु के बीच तथा जनता के अपने अन्दर के, इन दो प्रकार के अन्तरविरोधों से निपटने के अलग-अलग तरीक़ों के बारे में भी वे भ्रान्तियों के शिकार हुए। यह घोषित करना कि सोवियत यूनियन में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं रह गये हैं, स्तालिन की एक विचारधारात्मक ग़लती थी। स्तालिन द्वारा 1936 में आठवीं पार्टी कांग्रेस में कहा था,

"सभी शोषक वर्गों का उन्मूलन हो चुका है।" ... "पूँजीपति वर्ग को पहले ही समाप्त किया जा चुका है, और उत्पादन के साधन पूँजीपतियों से ज़ब्त कर राज्य को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं, जिनका नेतृत्व मज़दूर वर्ग के हाथ में है।" ... "अब सिर्फ़ मज़दूर वर्ग, किसान वर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग बचे हैं।" (अनुच्छेद 2, "सोवियत यूनियन के संविधान के मसौदे पर", स्तालिन द्वारा सोवियत यूनियन की आठवीं कांग्रेस, 25 नवम्बर, 1936 में पढ़ी गयी रिपोर्ट)

चीनी पार्टी द्वारा उस समय के मूल्यांकन के आधार पर कहा था, "1937 तथा 1938 में प्रतिक्रान्तिकारियों के दमन के कार्य को विस्तृत करने की भूल हुई। पार्टी और सरकार के संगठन के विषय में उन्होंने सर्वहारा जनवादी केन्द्रीयता का पूरी तरह से इस्तेमाल नहीं किया और कुछ हद तक उसका उल्लंघन किया। बिरादराना पार्टियों और देशों के साथ रिश्तों में उन्होंने कुछ ग़लतियाँ कीं। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में उन्होंने कुछ ग़लत सुझाव भी दिये।" आगे कहा गया, "स्तालिन के गुण और उनकी ग़लतियाँ दोनों ही ऐतिहासिक, वस्तुगत यथार्थ के अंग हैं। इन दोनों की तुलना यह दर्शाती है कि उनके गुण उनके दोषों से कहीं बढ़कर थे।" ऐसी स्थिति में "स्तालिन की भूलों को, जो केवल गौण थीं, यदि ऐतिहासिक सबक़ की तरह लिया जाये ताकि सोवियत यूनियन तथा अन्य देशों के कम्युनिस्ट इससे चेतावनी ले सकें और उन भूलों को दुहराने से बच सकें या कम भूलें करें तो यह लाभदायक होगा।" (म.ब., पृष्ठ 92-93)

महान बहस के दौर की तुलना में सोवियत यूनियन के बारे में आज कई नये तथ्य सामने आ चुके हैं, जो उस दौर में ज्ञात नहीं थे। अमेरिकी रिसर्चर ग्रोवर फ़र और रूसी अनुसन्धानकर्ता यूरी जोख़ोव जैसे कई इतिहासकारों ने स्तालिनकालीन सोवियत यूनियन के परालेखों (archive) के अध्ययन के आधार पर अनेक सबूतों के साथ खुलासे किये हैं। इन दस्तावेज़ों के आधार पर उस दौर में हुई व्यावहारिक ग़लतियों की पृष्ठभूमि समझने में मदद मिलती है कि किन परिस्थितियों में पार्टी में मौजूद पूँजीवादी तत्वों के विरुद्ध स्तालिन के नेतृत्व में संघर्ष किया जा रहा था। चूँकि सोवियत यूनियन में पहली बार समाजवादी निर्माण का

प्रयोग किया जा रहा था जिसका कोई अनुभव मौजूद नहीं था, ऐसे में उस समय स्तालिन पार्टी में पैदा हो रहे षड्यन्त्रकारियों और पूँजीवादी पथगामियों के पैदा होने की विचारधारात्मक ज़मीन नहीं तलाश सके। ग्रोवर फ़र ने अपनी पुस्तक "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष" के दो खण्डों में स्तालिन के दौर में पार्टी के भीतर जो संघर्ष चल रहे थे, सन्दर्भ सहित उनके विवरणों का खुलासा किया है।

1. 1920 में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में हारने के बाद कई विरोधी तत्व उस समय नेतृत्व में मौजूद नेताओं की हत्या करने और तख़्तापलट की षड्यन्त्रकारी कोशिशें कर रहे थे। ख्रुश्चेव ने अपने गुप्त भाषण में सारी ग़लतियों का दोष स्तालिन पर लगाया, लेकिन 1930 से 1938 के बीच सोवियत यूनियन में नेतृत्व को बदनाम करने के लिए जनता के दमन की षड्यन्त्रकारियों की गतिविधियाँ चल रही थीं उनका कहीं ज़िक्र नहीं किया गया। (बिन्दु 47, 57 "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष", खण्ड 2, ग्रोवर फ़र)
2. दस्तावेज़ों में मिले सबूतों के आधार पर ग्रोवर फ़र ने खुलासा किया है कि द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले 1930 से 1938 के बीच और विश्वयुद्ध के बाद अपनी मृत्यु से पहले तक स्तालिन राज्य पर से पार्टी के प्रत्यक्ष नियन्त्रण को समाप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। उनका प्रस्ताव था कि नेतृत्व के चुनाव के लिए गुप्त मतदान होना चाहिए, जिससे व्यापक जन-समर्थन वाले नेताओं को नेतृत्व में लाया जा सके। पार्टी में पहले से मौजूद नेतृत्व के उन लोगों के लिए, जो अपने व्यक्तिगत हितों के चलते विशेष-अधिकारों का एक घेरा तैयार कर चुके, स्तालिन का यह क़दम ख़तरनाक होता, यही कारण था कि यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। (बिन्दु 113-119, "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष", खण्ड 1, ग्रोवर फ़र)
3. विश्वयुद्ध की समाप्ति के दौर में 1947 में स्तालिन और पोलिट ब्यूरो में उनका समर्थन करने वाले सदस्यों ने पार्टी नेतृत्व में मौजूद विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए पार्टी को राज्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण से हटाने और जनवादी चुनावी प्रणाली लागू करने का प्रस्ताव पुनः रखा था जो लागू नहीं हो सका। 1952 में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की 19वीं कांग्रेस में अन्तिम बार स्तालिन ने इसका प्रयास किया, लेकिन इस कांग्रेस की रिपोर्ट का कोई ज़िक्र ख्रुश्चेव ने अपने गुप्त भाषण में नहीं किया और आज तक यह रिपोर्ट तक प्रकाशित नहीं की गयी है। इस कांग्रेस में स्तालिन के भाषण का एक छोटा हिस्सा ही आज तक प्रकाशित किया गया है, जिसके अनुसार स्तालिन पार्टी के पद और संगठनात्मक ढाँचे में बदलाव करना चाहते थे। इन्हीं बदलावों के तहत स्तालिन ने पार्टी के महासचिव का पद समाप्त करने और ख़ुद महासचिव के पद से इस्तीफ़ा देकर 10 पार्टी सचिवों में से एक का हिस्सा बनने का प्रस्ताव रखा था। यदि स्तालिन के प्रस्ताव लागू कर दिये जाते तो उस समय राज्य के नियन्त्रण में मौजूद विशेषाधिकार प्राप्त पूँजीवादी पथगामियों और षड्यन्त्रकारियों का सत्ता में रहना मुश्किल हो जाता। (बिन्दु 2, 16, 17, 19, 21, "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष", खण्ड 2, ग्रोवर फ़र)
4. सोवियत यूनियन के उस पूरे ऐतिहासिक दौर में स्तालिन द्वारा चलाये जा रहे संघर्षों की रोशनी में इन घटनाओं का विश्लेषण तथा सबूतों के आधार पर ग्रोवर फ़र ने मार्च 1953 में हुई स्तालिन की मृत्यु के बारे में लिखा है, "दौरा पड़ने के बाद या तो

स्तालिन को उनके दफ़्तर में मरने के लिए छोड़ दिया गया था या ज़हर देकर उनकी हत्या की गयी थी।" (बिन्दु 43, "जनवाद के लिए स्तालिन का संघर्ष", खण्ड 2, ग्रोवर फ़र)।

5. स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत यूनियन का भविष्य पूरी तरह से पार्टी नेतृत्व के हाथों में आ गया। और इसने राज्य और आर्थिक क्षेत्र के सभी पदों पर अपनी इज़ारेदारी सुनिश्चित कर ली और पूरी तरह से किसी भी पूँजीवादी राज्य की तरह परजीवी के रूप में ख़ुद को सत्ता में स्थापित कर लिया। ख्रुश्चेव, गोर्बाचेव, येल्तसिन से लेकर पुतिन तक यही इज़ारेदार नेतृत्व आज तक रूस की सत्ता में मौजूद है जिन्होंने लम्बे समय तक अति-विशिष्ट कार्यकर्ताओं के रूप में सोवियत यूनियन की मेहनतकश जनता को निचोड़ा। (बिन्दु 45, 46, वही)

इस पूरे दौर का घटनाक्रम दर्शाता है कि अक्टूबर 1917 में क्रान्ति होने के बाद सोवियत यूनियन में पार्टी के अन्दर विशेषाधिकार प्राप्त पूँजीवादी पथगामी लगातार पैदा हो रहे थे और पहले समाजवादी राज्य की रक्षा में इन भ्रष्ट तत्वों के विरुद्ध स्तालिन के दौर में लगातार संघर्ष चलाया गया। लेकिन संघर्ष के सही विचारधारात्मक स्वरूप का विस्तार न कर पाने के कारण पूरा भरोसा राज्य के पदाधिकारियों पर किया गया और उनकी मदद से सज़ा देने का काम किया गया जिससे पार्टी में मौजूद षड्यन्त्रकारियों को अतिशय रूप से सज़ा देकर स्तालिन तथा राज्य को बदनाम करने का मौक़ा मिल गया। इन सभी ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर देखें तो पार्टी और दुश्मन तथा जनता के बीच अन्तरविरोधों को हल करने की जो विचारधारात्मक समझ चीनी पार्टी ने महान बहस में प्रस्तुत की, यह सही है कि स्तालिन उस दौर में इन अन्तरविरोधों को हल करने की सही लाइन विकसित नहीं कर सके। यह स्तालिन की ग़लती नहीं, बल्कि उस दौर की एक व्यावहारिक सीमा थी। महान बहस के दौरान चीनी पार्टी ने सोवियत यूनियन के अनुभवों का सार संकलन करते हुए कहा,

"अगर कहा जा सकता है कि अक्तूबर क्रान्ति ने सभी देशों के मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सकारात्मक अनुभव प्रस्तुत किये तथा सर्वहारा वर्ग द्वारा राज्यसत्ता हथियाये जाने का रास्ता खोल दिया, तो यह भी कहा जा सकता है कि ख्रुश्चेव के संशोधनवाद ने उनके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण नकारात्मक अनुभव भी प्रस्तुत किये हैं, जिससे सभी देशों के मार्क्सवादी-लेनिनवादी, सर्वहारा पार्टी और समाजवादी राज्य के पतन की रोकथाम के लिए उचित सबक़ सीख सकें।" (म.ब., पृष्ठ 362)

सोवियत यूनियन के इन अनुभवों के आधार पर ही चीन की पार्टी ने पार्टी में मौजूद इन अन्तरविरोधों को हल करने तथा दो लाइनों के बीच संघर्ष की इस लाइन को महान सर्वहारा क्रान्ति के प्रयोग में सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाया तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के स्वरूप को और आगे विकसित किया।

8. सोवियत यूनियन की 20वीं पार्टी कांग्रेस (1956) में ख्रुश्चेव का गुप्त भाषण

स्तालिनकाल का मूल्यांकन और उस दौर के बारे में अब जितने खुलासे हुए हैं, उनके आधार पर हम ख्रुश्चेव के गुप्त भाषण के पीछे छिपे मूल मक़सद को समझ सकते हैं। 1917 में अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियत यूनियन में समाजवादी निर्माण के पहले ऐतिहासिक प्रयोग

के दौरान लेनिन और फिर स्तालिन के नेतृत्व में सर्वहारा की संगठित शक्ति ने प्रतिक्रान्तिकारियों द्वारा क्रान्ति का तख़्तापलट करने के मंसूबों पर पानी फेरने से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध तक पूरी दुनिया को हिटलर और फासीवाद से मुक्ति दिलाने में अभूतपूर्व सफलता के साथ नेतृत्व किया था। सोवियत यूनियन में जनता के जीवनस्तर में गुणात्मक वृद्धि हुई थी, बेरोज़गारी और ग़रीबी जैसी पूँजीवादी बीमारियों को जड़ से समाप्त कर दिया गया था, महिलाओं को समाज में बराबरी का दर्ज़ा किसी भी अन्य पूँजीवादी देश से बेहतर रूप में मिला हुआ था, शिक्षा का समान अधिकार हर व्यक्ति को मिल चुका था और नाममात्र की जनसंख्या अशिक्षित बची थी, औद्योगिक-तकनीकी तथा वैज्ञानिक विकास के क्षेत्र में सोवियत यूनियन अनेक सफलताएँ हासिल कर रहा था। सोवियत यूनियन के समाजवादी प्रयोगों ने पूरी दुनिया की मेहनतकश जनता के सामने यह सिद्ध कर दिया था कि सर्वहारा वर्ग की समाजवादी सत्ता, जो एक वर्गहीन समाज के निर्माण के लिए संघर्षरत है, मानव समाज के विकास में सभी पुराने वर्ग समाजों की तुलना में एक लम्बी अग्रवर्ती छलांग है।

स्तालिनकाल की इन महान सफलताओं में स्तालिन के नेतृत्व की मान्यता के रहते ख्रुश्चेव के चारों और संगठित हुए विशेषाधिकार प्राप्त भ्रष्ट गुटों और पूँजीवादी पथगामियों के लिए अपनी संशोधनवादी मार्क्सवाद-लेनिनवाद विरोधी नीतियाँ लागू करना सम्भव नहीं होता। ऐसी स्थिति में पार्टी के नेतृत्व पर क़ाबिज़ इस संशोधनवादी गुट के लिए ज़रूरी था कि अपनी सर्वहारा विरोधी सुधारवादी नीतियों पर पर्दा डालने के लिए पहले स्तालिन और स्तालिन के पूरे दौर को बदनाम करता। 1953 में स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव ने 1956 तक सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर इस संशोधनवादी खेमे के समर्थन आधार का विस्तार किया और 1956 की 20वीं पार्टी कांग्रेस में अपना गुप्त भाषण पढ़ा जिसमें व्यक्ति पूजा समाप्त करने के नाम पर स्तालिन पर अनेक झूठे आरोप लगाये और सोवियत यूनियन के समाजवादी संक्रमण के दौरान हुई सभी ग़लतियों के लिए स्तालिन को दोषी ठहराकर उनका पूर्ण निषेध कर दिया। महान बहस में यह स्पष्ट रूप से चिन्हित किया कि,

"स्तालिन के ऊपर अपने भयानक हमले दुहराने में, सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का उद्देश्य इस महान सर्वहारा क्रान्तिकारी के अमिट प्रभाव को सोवियत संघ की जनता के बीच से और पूरी दुनियाभर से मिटा देना था, और मार्क्सवाद-लेनिनवाद को, जिसकी स्तालिन ने रक्षा की थी और जिसे उन्होंने विकसित किया था, नकारने का रास्ता तैयार करना तथा संशोधनवादी कार्यदिशा को पूरी तरह लागू करना था। उनकी संशोधनवादी कार्यदिशा ठीक बीसवीं कांग्रेस से शुरू हुई और बाईसवीं कांग्रेस में पूरी तरह व्यवस्थित हो गयी। तथ्यों ने निरन्तर अधिक स्पष्टता से यह दिखाया है कि साम्राज्यवाद, युद्ध और शान्ति, सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व, उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में क्रान्ति, सर्वहारा की पार्टी इत्यादि के बारे में मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों के उनके संशोधन स्तालिन को उनके पूरी तरह नकारने से अविच्छेद्य ढंग से जुड़े हुए हैं।" (म.ब., पृष्ठ 101)

अपने भाषण में स्तालिन पर कीचड़ उछालकर ख्रुश्चेव ने सर्वहारा वर्ग के नेता के रूप में स्तालिन को ही नहीं, बल्कि उस पूरे दौर में लागू की गयी नीतियों, सर्वहारा अधिनायकत्व और समाजवादी संक्रमण के मूल मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को पूरी दुनिया में बदनाम करने की धूर्ततापूर्ण कोशिश की। जिसने पूरे विश्व के कम्युनिस्ट आन्दोलनों में सैद्धान्तिक स्तर पर एक विभ्रम की स्थिति पैदा कर दी थी। इस वक्तव्य के माध्यम से ख्रुश्चेव ने समाजवाद को बदनाम करने का एक और मौक़ा साम्राज्यवादियों की झोली में डाल दिया।

लेनिन ने अपने दौर में आन्दोलन में मौजूद ग़लत प्रवृत्तियों के प्रति बहसों का हवाला देते हुए कहा था कि *"कभी-कभी गरुड़ मुर्ग़ियों से नीचे उड़ सकते हैं, लेकिन मुर्ग़ियाँ कभी भी गरुण की ऊँचाई तक नहीं उठ सकतीं।"* (म.ब., पृष्ठ 93) इस उद्धरण को स्तालिन और ख्रुश्चेव के सन्दर्भ में आसानी से समझा जा सकता है। चीनी पार्टी ने ख्रुश्चेव द्वारा स्तालिन के पूर्ण निषेध के पीछे मूल कारण के बारे में कहा था, *"स्तालिन के प्रति इस गाली-गलौज में, ख्रुश्चेव, दरअसल, सोवियत व्यवस्था और राज्य की अन्धाधुन्ध भर्त्सना कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में उनका भाषण काउत्सी, त्रात्स्की, टीटो और जिलास जैसे भगोड़ों की भाषा से किसी भी तरह कमज़ोर नहीं, बल्कि वास्तव में, उनसे भी तीक्ष्ण है।"* (म.ब., पृष्ठ 97)

ख्रुश्चेव ने अपने गुप्त वक्तव्य में स्तालिन को "हत्यारा", "निरंकुश शासक", "इतिहास का सबसे बड़ा तानाशाह" जैसे सम्बोधनों से नवाज़ा था और व्यक्तिपूजा के अनेक आरोप लगाये थे, जो सभी झूठ थे। आज यह पर्दा हट चुका है कि स्तालिन पर ख्रुश्चेव ने अपने गुप्त भाषण में जो भी आरोप लगाये थे, सारे झूठ थे। इसका विस्तृत विवरण तथ्यों के साथ ग्रोवर फ़र की पुस्तक "ख्रुश्चेव के 61 झूठ" में देखा जा सकता है, जो पूरी सोवियत यूनियन के लेखागार के दस्तावेज़ों में मिले तथ्यों के अध्ययन पर आधारित है।

पूरी दुनिया में आज तक आधुनिक संशोधनवादी, त्रात्स्कीपन्थी, अराजकतावादी ख्रुश्चेव द्वारा तैयार किये गये "स्तालिन की ग़लतियों" के पर्दे की आड़ लेकर सर्वहारा वर्ग के साथ अपनी ग़द्दारी को छुपाने का काम कर रहे हैं। सर्वहारा वर्ग के प्रति ख्रुश्चेव की इस ग़द्दारी के झण्डे को उठाकर पूरी दुनिया के साम्राज्यवादी-पूँजीवादी आज तक कम्युनिस्ट आन्दोलनों को बदनाम करने और पूँजीवादी समाज में दमन-उत्पीड़न से जूझ रही मेहनतकश जनता के बीच समाजवाद के प्रति सन्देह पैदा करने के लिए हर सम्भव कोशिश में लगे हैं, ताकि आने वाले समय में कम्युनिस्ट आन्दोलनों को दिग्भ्रमित किया जा सके और व्यापक मेहनतकश जनता की लूटमार और शोषण पर खड़े अपने स्वर्ग के टापू को उजड़ने से बचाया जा सके।

9. साम्राज्यवाद के साथ सहअस्तित्व तथा युद्ध और शान्ति का सवाल

साम्राज्यवादियों द्वारा परमाणु बम की गीदड़भभकियों से भयभीत होकर ख्रुश्चेव पूरे समाजवादी खेमे में यह प्रचार कर रहे थे कि साम्राज्यवादी देशों के साथ समाजवादी देशों का शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व सम्भव है। और यदि समाजवादी अपनी तरफ़ से इस "शान्ति" के लिए प्रयास नहीं करेंगे तो आने वाले समय में परमाणु युद्ध से पूरी मानवता का भविष्य नष्ट हो जायेगा। इसी डर के प्रभाव में ख्रुश्चेव ने साम्राज्यवाद के साथ कई समझौते किये, और क्रान्तिकारी सोवियत जनता से साम्राज्यवादियों के सामने अपने हथियार डाल देने के अपने नीचतापूर्ण मंसूबों को अंजाम दिया। यह ख्रुश्चेव का एक बेहद कायरतापूर्ण क़दम था और मेहनतकश जनता की अनेक कुर्बानियों के साथ खुली ग़द्दारी थी। यदि कम्युनिस्ट नेताओं को जनता पर विश्वास न हो तो वे साम्राज्यवादियों की गीदड़-भभकियों से डर जाते हैं, और उनकी यह कायरता उन्हें जनता के साथ ग़द्दारी करने के लिए नये-नये बहाने गढ़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में ख्रुश्चेव इस ग़द्दारी और कायरता का जीता-जागता उदाहरण थे।

"आम दिशा के बारे में एक सुझाव" में चीनी पार्टी ने मानवीय उपादानों की भूमिका के बारे में कहा था, *"मार्क्सवादी-लेनिनवादियों का विचार है कि इतिहास का निर्माण जनता करती*

है। अतीत काल की ही तरह वर्तमान काल में भी मनुष्य निर्णयात्मक तत्व है। तकनोलॉजिकल परिवर्तन की भूमिका को मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवश्य महत्व देते हैं, लेकिन मनुष्य की भूमिका को कम आँकना तथा तकनोलॉजी की भूमिकी को बढ़ा-चढ़ाकर आँकना ग़लत है।"

"जैसे अतीत काल में नयी तकनोलॉजी का उदय पुरानी व्यवस्थाओं को उनके विनाश से नहीं बचा सका, उसी तरह नाभिकीय शस्त्रों का उदय न तो मानव जाति के इतिहास के विकास को रोक सकता है और न ही व्यवस्था को बचा सकता है।" (म.ब., पृष्ठ 22)

महान बहस ने युद्ध और शान्ति के सवाल को स्पष्ट करते हुए बताया कि वैश्विक स्तर पर शान्ति तब तक हासिल नहीं की जा सकती और साम्राज्यवादी युद्धों के ख़तरों को तब तक नहीं टाला जा सकता, जब तक पूरी दुनिया के सभी देशों की सर्वहारा जनता समाजवाद की स्थापना नहीं कर लेती। लेनिन ने पहले ही कहा था कि विदेश नीति का बुनियादी उसूल सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद है जो साम्राज्यवाद के आक्रमण और युद्ध की नीति के विरुद्ध है। उन्होंने कहा था, "...पूँजीपति वर्ग, चाहे कितना ही शिक्षित और जनवादी क्यों न हो, उत्पादन के साधनों की निजी मिल्कियत की रक्षा करने के लिए अब किसी भी किस्म का धोखा देने या अपराध करने में, लाखों मज़दूरों और किसानों की हत्या करने में नहीं हिचकिचाता।" (म. ब., पृष्ठ 206) ऐसे में *"विश्वशान्ति की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि लगातार साम्राज्यवाद का पर्दाफ़ाश किया जाये तथा साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ संघर्ष करने के लिए जनता को जगाया जाये और संगठित किया जाये..."* (म.ब., पृष्ठ 197)

अनुभवों का सारसंकलन करते हुए महान बहस में कहा गया है कि, *"समाजवादी देशों की विदेश नीति की आम दिशा की अन्तर्वस्तु यह होनी चाहिए : समाजवादी खेमे के देशों के साथ सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के उसूल के मुताबिक़ मैत्री, आपसी सहायता और सहयोग के सम्बन्धों का विकास करना; भिन्न समाज-व्यवस्था वाले देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए प्रयत्न करना तथा साम्राज्यवाद की आक्रमण व युद्ध की नीतियों का विरोध करना; तथा सभी उत्पीड़ित जनता और राष्ट्रों के क्रान्तिकारी संघर्षों का समर्थन करना और उनकी सहायता करना। ये तीनों पहलू एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रखते हैं तथा इनमें से एक को भी छोड़ा नहीं जा सकता।"* (म.ब., पृष्ठ 228)

साम्राज्यवाद के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के रास्ते के बारे में चीनी पार्टी का कहना था कि, *"यह विश्वशान्ति की रक्षा करने का रास्ता नहीं है, बल्कि युद्ध के अपेक्षाकृत अधिक ख़तरे की ओर ले जाने वाला ख़ुद युद्ध की ओर ले जाने वाला रास्ता है। ... दुनिया के कम्युनिस्ट और दुनिया की जनता निश्चित रूप से नया विश्वयुद्ध छेड़ने की साम्राज्यवादी साज़िश को चकनाचूर कर देंगे और विश्वशान्ति की रक्षा कर सकेंगे, बशर्ते कि वे साम्राज्यवादी धोखाधड़ी का पर्दाफ़ाश कर दें, संशोधनवादियों की झूठी बातों को पहचानें और विश्वशान्ति के कार्य को अपने कन्धों पर उठा लें।"* (म.ब., पृष्ठ 198-199)

ख्रुश्चेव की इन नीतियों से पर्दा उठाते हुए चीनी पार्टी ने महान बहस में स्पष्ट किया कि साम्राज्यवाद के मौजूद रहते विश्व शान्ति हासिल नहीं की जा सकती। हर समाजवादी राज्य का अन्तिम लक्ष्य पूरी दुनिया के स्तर पर एक साम्यवादी समाज की स्थापना करना है, अकेले एक देश में कम्युनिस्ट समाज की स्थापना सम्भव नहीं है और पूरी दुनिया के सभी देशों में एक साथ समाजवादी क्रान्ति भी सम्भव नहीं है, इसलिए एक देश में समाजवादी क्रान्ति होने के बाद उसकी भूमिका होगी कि वह अन्य देशों में संघर्षरत सर्वहारा की मदद करे।

"समाजवादी सभी देशों में एक साथ विजयी नहीं हो सकता। वह पहले किसी एक देश

में या कुछ देशों में विजयी होगा, जबकि बाक़ी देश कुछ समय तक पूँजीवादी या पूर्व-पूँजीवादी ही रहेंगे। एक देश में समाजवाद की स्थापना का दूरगामी उद्देश्य है कि वह समाजवादी देश पूरी दुनिया के स्तर पर कम्युनिस्ट आन्दोलनों की मदद करने में अपनी भूमिका निभाये।" (म.ब., पृष्ठ 201)

लेनिन और स्तालिन ने बताया था कि *"समाजवादी देश, जिसने सर्वहारा अधिनायकत्व क़ायम कर लिया है, विश्व सर्वहारा क्रान्ति को आगे बढ़ाने वाला एक अड्डा है।" "किसी देश में विजय प्राप्त करने वाली क्रान्ति को ख़ुद के बारे में यह नहीं समझना चाहिए कि वह अपने आप में पूर्ण इकाई है, बल्कि यह समझना चाहिए कि वह तमाम देशों के सर्वहारा वर्ग की विजय की रफ़्तार बढ़ाने की सहायक और साधन है।... वह इसके (विश्व क्रान्ति के) और अधिक विकास के लिए एक शक्तिशाली अड्डा बन जाती है।"* (म.ब., पृष्ठ 219)

दस्तावेज़ों में आगे कहा गया है कि,

"सर्वहारा वर्ग समूची मानव जाति को मुक्त कराने के बाद ही अन्त में ख़ुद मुक्त हो सकता है। सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक कार्य के दो पहलू हैं, एक अन्दरूनी और दूसरा अन्तरराष्ट्रीय। अन्दरूनी कार्य मुख्य रूप से यह है : सभी शोषक वर्गों को पूर्ण रूप से ख़त्म करना, समाजवादी अर्थव्यवस्था को विकास की चरम सीमा पर पहुँचा देना, जनता की कम्युनिस्ट चेतना को ऊँचा उठाना, समूची जनता की मिल्कियत और सामूहिक मिल्कियत के फ़र्क़ को ख़त्म करना, मज़दूरों और किसानों, शहरों और देहातों तथा बौद्धिक और शारीरिक श्रम करने वालों के फ़र्क़ को मिटा देना, तथा "हरएक से उसकी योग्यता के अनुसार और हरएक को उसकी ज़रूरत के अनुसार" के उसूल पर अमल करने वाले कम्युनिस्ट समाज की स्थापना के लिए स्थितियाँ तैयार करना। अन्तरराष्ट्रीय कार्य मुख्य रूप से यह है : अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवाद के हमलों की (जिनमें सशस्त्र हस्तक्षेप और शान्तिपूर्ण उपायों से छिन्न-भिन्न करना दोनों शामिल हैं) रोकथाम करना तथा जब तक सभी देशों की जनता साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और शोषण-व्यवस्था को अन्तिम रूप से समाप्त नहीं कर लेती, तब तक विश्व क्रान्ति का समर्थन करते रहना। इन दोनों कार्यों की पूर्ति से पहले, तथा कम्युनिस्ट समाज के उदय से पहले, सर्वहारा अधिनायकत्व बिल्कुल अनिवार्य है।" (म.ब., पृष्ठ 330)

यूगोस्लाविया में साम्राज्यवाद के साथ गठजोड़ करके पूँजीवाद की पुनर्स्थापना कर चुके टीटोपन्थियों का विश्लेषण कर चीनी पार्टी ने स्पष्ट किया कि, *"जब तक साम्राज्यवाद मौजूद है, तब तक यह कहने का कोई आधार नहीं है कि समाजवादी देशों में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना का ख़तरा मिट चुका है।"* (म.ब., पृष्ठ 141) इसलिए पूरी दुनिया के कम्युनिस्टों को अपने दीर्घकालिक लक्ष्य को सदैव ध्यान में रखना चाहिए, *"पूँजीवादी देशों के कम्युनिस्टों को चाहिए कि वे फ़ौरी संघर्षों का सक्रियता से नेतृत्व करने के साथ-साथ उन्हें दीर्घकालिक और आम हितों के संघर्ष के साथ जोड़ दें, जनता को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की क्रान्तिकारी भावना से शिक्षित करें, उसकी राजनीतिक चेतना को लगातार ऊँचा उठाते जाये तथा सर्वहारा क्रान्ति का ऐतिहासिक काम पूरा करें।"* (म.ब., पृष्ठ 13)

सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के तहत अलग-अलग समाज व्यवस्था वाले देशों के साथ समाजवादी देश के शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का यह अर्थ नहीं है कि वह उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करे। बहस में स्पष्ट किया गया कि *"वर्ग-संघर्ष, राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष तथा विभिन्न देशों में पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण... ये सब संघर्ष कटु और जीवन-मरण के*

संघर्ष हैं, जिनका उद्देश्य समाज-व्यवस्था को बदलना है। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों की जगह नहीं ले सकता। किसी भी देश में पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण केवल उस देश की सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के ज़रिये ही हो सकता है।" (म.ब., पृष्ठ 220)

विश्व युद्ध और परमाणु बमों से डरकर युद्ध को नहीं रोका जा सकता, बल्कि उसे क्रान्ति के माध्यम से पूँजीवादी साम्राज्यवादी होड़ को ध्वस्त करने के बाद ही विश्व शान्ति स्थापित की जा सकती है।

10. महान बहस में सोवियत यूनियन के अनुभव का समाहार और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति

1963-64 के दौरान महान बहस में आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए माओ के नेतृत्व में चीनी पार्टी ने आने वाले समय में हुई **महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की भूमिका तैयार की और सभी अनुभवों का सार-संकलन करते हुए मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सैद्धान्तिक विकास में एक ऐतिहासिक भूमिका निभायी।** महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित एक महान राजनीतिक विचारधारात्मक क्रान्ति थी जिसमें व्यापक मेहनतकश जनता की भागीदारी का आह्वान करते हुए बहसों, आलोचना और राजनीतिक लामबन्दी के साथ वर्ग-संघर्ष को संचालित करने के लिए सर्वतोमुखी सर्वहारा अधिनायकत्व लागू करने का पहला महान प्रयोग किया गया।

10 वर्ष तक चली सांस्कृतिक क्रान्ति में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में मेहनतकश जनता की अपार शक्ति की मदद से आर्थिक जगत, सामाजिक संस्थाओं, संस्कृति और मूल्यों के साथ-साथ कम्युनिस्ट पार्टी के रूपान्तरण का काम शुरू किया गया था। पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध संघर्ष की शुरूआत करते हुए माओ ने व्यापक जनसमूह का आह्वान किया और कहा कि बुर्जुआ "मुख्यालयों को तहस-नहस कर दो" और "मुट्ठीभर पूँजीवादी पथगामियों को, जो समाज को वापस पूँजीवाद के चंगुल में धकेलना चाहते हैं, उखाड़ फेंको"।

चीन में सदियों से कलाकार, बुद्धिजीवी और विशेषज्ञ शहरों में संकेन्द्रित हो चुके थे और समाज की आम मेहनतकश जनता से कटे हुए थे। सांस्कृतिक क्रान्ति का एक उद्देश्य चीन में सदियों से मौजूद इस सांस्कृतिक केन्द्रीकरण को तोड़ना था जिसके तहत कलाकारों, डॉक्टरों, तकनीशियनों, वैज्ञानिकों तथा सभी तरह के शिक्षित लोगों को मज़दूरों और किसानों के बीच जाने और क्रान्तिकारी आन्दोलनों में शामिल होने का आह्वान किया गया। समाज में मौजूद मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच, शहरों और देहातों के बीच, उद्योगों और कृषि के बीच और पुरुष और महिलाओं के बीच अन्तर को समाप्त करने के लिए सामाजिक स्तर पर बहसों को प्रोत्साहित किया गया। नये समाजवादी मूल्यों का प्रसार करने और पूँजीवादी व्यक्तिवादी मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए "जनता की सेवा करो" और देहात की ओर चलो का नारा दिया गया और बड़ी संख्या में नौजवानों और विशेषज्ञों ने इस आह्वान का स्वागत किया। शिक्षा में आमूलगामी परिवर्तन किये गये, पहले शिक्षा और योग्यता को दूसरों से आगे रहने और दूसरों की तुलना में अधिक सुविधा और विशेषाधिकार प्राप्त करने का एक माध्यम माना जाता था, सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान शिक्षा

और योग्यता को सामूहिक हितों के लिए प्रोत्साहित किया गया। फ़ैक्टरियों में एक व्यक्ति द्वारा प्रबन्धन को समाप्त कर दिया गया और उसकी जगह मज़दूरों, तकनीशियनों और कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों की तीन-पक्षीय समितियों ने दैनिक प्रबन्धन को अपने हाथ में ले लिया।

महान सर्वहारा क्रान्ति के दौरान व्यापक जनसमूह की भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए सही विचारों को परखने के लिए सार्वजनिक बहसें आयोजित की जाती थीं, जिससे पूँजीवादी विचारों को जनता के सामने लाकर उन पर वाद-विवाद किया जा सके। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान यह सिद्धान्त अपनाया कि सहयोगियों के साथ एकता को सुदृढ़ करो, ढुलमुल तत्वों को अपने पक्ष में लो, और विरोधी तत्वों को सार्वजनिक वाद-विवाद करते हुए जनता के सामने उजागर करो और अलगाव (Isolation) में डाल दो। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान विचारधारात्मक संघर्ष के महत्व को रेखांकित करते हुए माओ ने कहा था, "राजनीतिक सत्ता को उखाड़ फेंकने से पहले अनिवार्य रूप से इस बात की कोशिश की जाती है कि ऊपरी ढाँचे और विचारधारा पर अपना प्रभुत्व क़ायम कर लिया जाये, ताकि लोकमत तैयार किया जा सके, तथा यह बात क्रान्तिकारी वर्गों और प्रतिक्रियावादी वर्गों दोनों पर लागू होती है।" इस आधार पर माओ ने आह्वान किया कि "हम सर्वहारा तत्वों का पालन-पोषण करने के लिए और पूँजीवादी तत्वों को नेस्तनाबूद कर देने के लिए विचारधारा के क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष चलायें।" (महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति अमर रहे, हुङछी का सम्पादकीय, अंक 8, 1966)

समाज के आर्थिक और वैचारिक रूपान्तरण के लिए व्यापक मेहनतकश जनता की राजनीतिक भागीदारी मानव इतिहास में इससे पहले कभी नहीं देखी गयी थी। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में आर्थिक सम्बन्धों, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं, और संस्कृति, आदतों तथा विचारों को बदलने में इतिहास का सबसे मौलिक प्रयोग किया गया।

महान सर्वहारा क्रान्ति ने 10 साल (1966 से 1976) तक चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना को रोके रखा और कई सामाजिक तथा संस्थागत बदलावों के साथ "जनता की सेवा करो" के आधार पर समाज को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। [References from & http://www.revcom.us]

1976 में माओ की मृत्यु के बाद देंग-सियाओ-पिङ के नेतृत्व में संशोधनवादी तख़्तापलट करके एक बार फिर सोवियत यूनियन के ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के इतिहास को दोहराया गया और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के लिए रास्ते खोल दिये गये। वर्तमान संशोधनवादी चीनी पार्टी चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना को पूरी तरह से अंजाम दे चुकी है। चीन में संशोधनवादियों द्वारा तख़्तापलट कर पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के साथ सर्वहारा क्रान्तियों का पहला ऐतिहासिक चक्र पूरा हो चुका है। आज साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण का यह दौर पूरी दुनिया में विभिन्न रूपों में पूँजीवाद की सुरक्षा पंक्ति बनकर पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों की गोद में बैठे सभी संशोधनवादी ग़द्दारों और साम्राज्यवाद द्वारा पाले-पोसे जा रहे अनेक संशोधनवादी सिद्धान्तकारों के विरुद्ध एक खुली बहस चलाने की माँग कर रहा है, ताकि आने वाले समय में सही विचारधारात्मक समझ के साथ क्रान्तियों का नया एक चक्र शुरू हो सके। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान माओ ने कहा था कि पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग तथा पूँजीवाद और समाजवाद में "दो वर्गों और दो लाइनों के बीच संघर्ष एक, दो, तीन या चार सांस्कृतिक क्रान्तियों से तय नहीं हो पायेगा, बल्कि वर्तमान महान सांस्कृतिक क्रान्ति के परिणामों को कम से कम पन्द्रह

वर्षों तक सुदृढ़ करना होगा। हर सौ साल में दो या तीन सांस्कृतिक क्रान्तियाँ पूरी करनी होंगी। इसलिए हमें संशोधनवाद को उखाड़ फेंकने और किसी भी वक्त संशोधनवाद का विरोध करने के लिए अपनी ताक़त मज़बूत करने के काम को याद रखना होगा।" *(विदेशी सैनिक प्रतिनिधिमण्डल से अध्यक्ष माओ त्से-तुङ की बातचीत के अंश, 31 अगस्त, 1967)*

स्रोत सूची :

1 महान बहस, पीपुल्स पब्लिसिंग हाउस, अन्तरराष्ट्रीय प्रकाशन

2 Documents of Great Debate (3 Volumes), International Publication

3 Political Economy (Sangai Political Text Book)

4 माओ त्से तुङ की संकलित रचनाएँ

5 राज्य और क्रान्ति

6 कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र

7 'Khrushchev Lied' by Grover Furr

8 "Stalin and the Struggle for Democratic Reform", Part 1 and 2 by Grover Furr

9 Documents of Great Proletarian Cultural Revolutions and Great Leap Forward on http://www.revcom.us

10 http://www.thisiscommunism.org

11 "On Cooperation" January 6, 1923, Lenin http://www.marxists.org/archive/lenin/works/1923/jan/06.htm

12 The Truth About the Cultural Revolution, http://www.revcom.us/a/1251/communism_socialism_mao_china_facts.htm

13 Documents of marxists.org

14 Reject the Revisionist Theses of the XX Congress of the Communist Party of the Soviet Union and the Anti-Marxist Stand of Krushchev's Group! Uphold Marxism-Leninism!" by Enver Hoxha, Moscow, 16 November, 1960

15 **C.I.A. Tie Aserted in Indonesia Purge, The New York Times,** July 12, 1990

[http://www.nytimes.com/1990/07/12/world/cia-tie-aserted-in-indonesia-purge.html?pagewanted=all&src=pm]

Commemorating Chile's Military Coup, September 11, 1973: Chile and Latin America Forty Years Later, Global Research, September 11, 2013

[http://www.globalresearch.ca/commemorating-chiles-military-coup-september-11-1973-chile-and-latin-america-forty-years-later/5349284]

CIA Admits Involvement in Chile, W A S H I N G T O N, Sept. 20

[http://abcnews.go.com/International/story?id=82588]

Commemorating Chile's Military Coup, September 11, 1973: Chile and Latin America Forty Years Later, Global Research, September 11, 2013

[http://www.globalresearch.ca/commemorating-chiles-military-coup-september-11-1973-chile-and-latin-america-forty-years-later/5349284]

'वामपन्थी आन्दोलन के समक्ष कुछ विचारणीय प्रश्न'

प्रकाशक- पंज आब प्रकाशन, जालंधर
सम्पादक - बूटा सिंह

● सुखविन्दर

पिछले दिनों 'वामपन्थी अन्दोलन के समक्ष कुछ विचारणीय प्रश्न' शीर्षक से प्रकाशित पुस्तक कुछ प्रतिष्ठित समझे जानेवाले लेखकों के हिन्दी और अंग्रेजी से अनूदित लेखों व साक्षात्कारों का संग्रह है। इस में प्रो. रणधीर सिंह, सुमन्त बनर्जी और सुभाष गताड़े के लेखों के अलावा अरुन्धती राय और प्रो. उमा चक्रवर्ती के साक्षात्कार भीं शामिल किये गये हैं। पुस्तक का सम्पादकीय लेख हमें यह बताता है कि "हमारे देश का वामपन्थी आन्दोलन जनता के बीच अपने राजनीतिक प्रभाव और आधार को गहन और व्यापक बनाने के लिए कोई रास्ता निकाल पाने में असफल साबित हो रहा है। अकूत कुर्बानियों और बेशुमार संघर्षों की शानदार विरासत के बावजूद इस पर अतीत की भयंकर ग़लतियों और कमियों-कमज़ोरियों की काली परछाई भी है वहीं दूसरी तरफ वर्तमान और भविष्य की बड़ी चुनौतियों के बावजूद इससे उम्मीद की किरण भी मिलती है।" इन चुनौतियों और उनसे जुड़े प्रश्नों पर विचार विमर्श करने से अधिक इस पुस्तक के प्रकाशन का मकसद कदाचित उम्मीद की वह किरण दिखाना है जिसमें उपरोक्त 'नामवर चिन्तकों' के 'विचारों और टिप्पणियों' से मार्गदर्शन लेकर वामपन्थी आन्दोलन किसी नये रास्ते का संधान कर सकेगा और 'अतीत की 'भयंकर ग़लतियों और कमियों-कमजोरियों की काली परछाई' से स्वयं को मुक्त कर सकेगा। पुस्तक के सम्पादक और लेखकों का यहाँ वामपन्थी आन्दोलन से तात्पर्य सभी कम्युनिस्ट नामधारी

पार्टियों/संगठनों से है। इसमें वे घोषित रूप से संसदमार्गी हो चुकी पार्टियों यानी भाकपा, माकपा, और इनके विभिन्न हिस्सों और नक्सली कहे जाने वाले सभी ग्रुपों आदि को शामिल करते हैं। ज़ाहिर है वामपन्थी आन्दोलन की इस परिभाषा से ज़रा भी सहमत नहीं हुआ जा सकता। हमारे लिए वामपन्थी आन्दोलन से मतलब नक्सलबाड़ी आन्दोलन की ऐतिहासिक विरासत को मानने वाले उन ग्रुपों/संगठनों से है, जिन्होंने देश और दुनिया की परिस्थितियों के मूल्यांकन पर आपसी मतभेदों के बावजूद अपना सत्ता-विरोधी चरित्र बरकरार रखा हुआ है। भाकपा, माकपा और नक्सली पृष्ठभूमि वाले कई संगठन तो अब वर्तमान शोषणकारी व्यवस्था के साथ पूरी तरह नाभिनालबद्ध हो चुके हैं। इन्हें वामपन्थी आन्दोलन का हिस्सा मानना, विचारधारात्मक दिवालियेपन के प्रदर्शन से अधिक कुछ नहीं है।

हर क्रान्तिकारी आन्दोलन अपने अतीत के व्यवहार से सीखता है, इसकी ग़लतियों, कमियों, कमज़ोरियों से भी और इसकी उपलब्धियों से भी। भारत के वामपन्थी या क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में भी यही सच है। इसके लिए उसे आन्दोलन से हमेशा एक सुरक्षित दूरी पर रहने वाले बुद्धिजीवियों की सलाह की कोई ज़रूरत नहीं होती। उनके बिना भी वह ऐसा करता रहा है। कम्युनिस्ट या कम्युनिस्ट आन्दोलन किसी से भी सीखने के लिए तैयार रहता है बशर्ते कि सिखाने वाला वास्तव में इस लायक हो। इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो उपरोक्त पुस्तक के शुरू से अन्त तक कहीं भी न तो हमें कोई विचारधारात्मक अन्तर्दृष्टि मिलती है और न ही सोचने-विचारने लायक कोई प्रश्न। प्रो. रणधीर सिंह का लेख छोड़ दिया जाये (इसकी अपनी समस्याएँ हैं, जिनपर अलग से चर्चा की जायेगी) तो अन्य लेखक 'वामपन्थी आन्दोलन के समक्ष कुछ विचारणीय प्रश्न' तो मुहैया नहीं कराते और न ही वे यह बताते हैं कि वामपन्थी आन्दोलन 'अतीत की ग़लतियों की काली परछाइयों' से कैसे मुक्त हो सकता है, उल्टे वे भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन और विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के गौरवमय इतिहास पर कीचड़ खूब उछालते हैं। सुमन्त बनर्जी जैसे लोग तो इस मामले में साम्राज्यवाद के भोंपू डिस्कवरी, नैट जीओ आदि चैनलों को भी मात दे रहे हैं।

दरअसल यह पुस्तक असंगतिपूर्ण, अनैतिहासिक दृष्टि और मनोगतवादी विश्लेषण का बेमिसाल नमूना है। इसकी शुरुआत तो सम्पादक द्वारा लिखी गई भूमिका से ही हो जाती है। पुस्तक का सम्पादक जिन 'गम्भीर ग़लतियों की काली परछाइयों' की बात करता है और लेखकगण जिन ग़लतियों के लिए, विशेषकर जाति प्रश्न के सन्दर्भ में, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन को कोसते नहीं थकते, वास्तव में वे ग़लतियाँ भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन ने कभी की ही नहीं। जाति प्रश्न, स्त्री प्रश्न आदि को सही ढंग से हल करने के मामले में अतीत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की जो कमियाँ-कमजोरियां रही हैं उनकी जडों तक पहुँचने की बजाय ये लेखक (प्रो. रणधीर सिंह के सिवाय) इस प्रश्न को इस ढंग से उठा रहे हैं जैसे इसे हल करने में कम्युनिस्टों की नीयतन बेईमानी आड़े आ रही हो। उनमें कुछ तो (उदाहरण के तौर पर अरुन्धती राय) इसकी जड़ कम्युनिस्ट नेतृत्व की जातिगत संरचना में तलाशने लगते हैं।

जो व्यवहार और प्रयोग के धरातल पर कामों को अंजाम देता है, वह ग़लतियाँ भी करता है, यह व्यक्तियों के लिए भी सच है, पार्टियों और आन्दोलनों के लिए भी। दुनिया भर की कम्युनिस्ट पार्टियों से ग़लतियाँ हुई हैं और इन ग़लतियों से सीखते हुए ही वे आगे बढ़ी हैं। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन ने अतीत में बहुत गम्भीर ग़लतियाँ की हैं लेकिन उन तमाम ग़लतियों के बावजूद उसने एक गौरवशाली इतिहास का निर्माण भी किया है।

रूस की अक्टूबर 1917 की विजयी समाजवादी क्रान्ति के बाद मार्क्सवाद का तेज़ प्रकाश

दुनिया के पिछड़े देशों, उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों की ओर भी फैलने लगा। रूसी क्रान्ति के प्रभाव में सबसे पहले 1920 में एम.एन.राय के नेतृत्व में ताशकन्द में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई लेकिन भारत में इसका कोई आधार नहीं था। फिर भारत में सक्रिय विभिन्न कम्युनिस्ट ग्रुपों की एकता के जरिये 1925 में सत्यभक्त के नेतृत्व में कानपुर में अलग से भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। औपनिवेशिक गुलामी से त्रस्त भारत में पैदा हुई यह कम्युनिस्ट पार्टी शुरू से ही विचारधारात्मक तौर पर बेहद कमज़ोर थी। 1933 तक इस पार्टी की कोई केन्द्रीय समिति तक नहीं थी। कोमिण्टर्न व चीन, जर्मनी और ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टियों के कई बार सुझाव देने के बाद 1933 में कानपुर कांग्रेस में भाकपा की पहली केन्द्रीय समिति चुनी गई। लेकिन इसके बाद भी पूरी पार्टी एक एकजुट बोल्शेविक केन्द्र के नेतृत्व में नहीं आ सकी। पार्टी में गुट बरकरार रहे। जब तक यह पार्टी एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पार्टी बनी रही (1951 तक) इसने भारत के मेहनतकश लोगों की मुक्ति के लिए अकूत संघर्ष किया, अनेकों कुबार्नियाँ दीं। तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा वायलार इस गौरवशाली इतिहास के चमकते सितारे हैं। जहाँ एक तरफ पार्टी ने यह शानदार इतिहास रचा (1951 तक) वहीं दूसरी ओर पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी एक जन्मचिन्ह की तरह इससे चिपकी रही। 1951 तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के पास भारतीय क्रान्ति का कोई कार्यक्रम नहीं था। 1951 में जैसे-तैसे एक कार्यक्रम तैयार किया गया वह भी सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के सुझावों को आधार बनाकर। भारत तब जनवादी क्रान्ति के दौर में था, कृषि क्रान्ति को इस क्रान्ति का धुरी बनना था, लेकिन पार्टी के पास कोई कृषि कार्यक्रम तक न था। मार्क्सवादी विज्ञान की कमज़ोर समझ के चलते भारत की कम्युनिस्ट पार्टी न तो सही अर्थों में अपना लेनिनवादी ढाँचा ही खड़ा कर सकी और न ही भारत की ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के आधार पर भारतीय क्रान्ति का एक सही कार्यक्रम, रणनीति और रणकौशल ही गढ़ पाई। अगर भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के अतीत की कमज़ोरियों की चर्चा की जाये तो इसकी केन्द्रीय कमज़ोरी मार्क्सवादी विज्ञान की इसकी कमज़ोर समझ थी, जिसके चलते मार्क्सवाद की सर्वजनीन सच्चाइयों को वह भारत की परिस्थितियों में सृजनात्मक ढंग से लागू नहीं कर सकी। विचारधारात्मक तौर पर वह हमेशा विश्व की बड़ी बिरादराना पार्टियों पर निर्भर रही। अतीत की विजयी क्रान्तियों की नकल करने की कठमुल्लावादी धुन इस पर सदा सवार रही। अगर ग़लतियों की बात की जाये तो भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन पर वास्तव में आज भी इस ग़लती की काली परछाई बरकरार है। आज भी कई क्रान्तिकारी ग्रुप देश और दुनिया के बदले हुए हालातों को समझने में असमर्थ हैं। उनके लिए दुनिया दूसरे विश्व युद्ध के पहले के समय में ही रुक गई है। भारत के कई क्रान्तिकारी ग्रुप तो आज भी भारत को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक देश मानते हैं जहाँ उन्हें नवजनवादी क्रान्ति सम्पन्न करनी है। उनके इस क्रान्ति का कार्यक्रम, रणनीति एक तरह से चीन की नवजनवादी क्रान्ति की हूबहू नकल पर आधारित है। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के अतीत और वर्तमान के विभिन्न सामाजिक मसलों (जाति, लिंग, राष्ट्रीयता, धार्मिक अल्पसंख्यकों के मसले आदि) को हल करने में जो कमियाँ रही थीं/हैं उन्हें कम्युनिस्ट आन्दोलन की इस केन्द्रीय कमज़ोरी (विचारधारात्मक कमज़ोरी) के सन्दर्भ में रखकर देखा जाना चाहिए। इसी तरह से इसे सही ढंग से समझा जा सकता है और दूर किया जा सकता है। ज़ाहिर है कि उपरोक्त पुस्तक के सम्पादक और लेखक भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की कमज़ोरियों को सही सन्दर्भ में रखने में कामयाब नहीं हो सके।

अब हम इस पुस्तक में विभिन्न लेखकों द्वारा व्यक्त किए गए विचारों की ओर लौटते हैं। सबसे पहले हम प्रो. रणधीर सिंह के लेख की चर्चा करते हैं। अन्य लेखकों के विचारों में काफ़ी कुछ साझा है उनकी चर्चा की ओर हम बाद में लौटेंगे।

प्रो. रणधीर सिंह के विचारधारात्मक विभ्रम

प्रो. रणधीर सिंह एक मार्क्सवादी चिन्तक के तौर पर जाने जाते हैं। लेकिन उनका मार्क्सवाद मार्क्स के ज़माने में ही रुक गया लगता है। वे मार्क्स के बाद मार्क्सवाद में लेनिन और माओ द्वारा किए गए इज़ाफ़े को नहीं समझते। वह मार्क्सवाद के पॉल स्वीज़ी-पन्थी संस्करण के पैरोकार हैं। कुछ समय पहले 'समाजवाद का संकट' नामक उनकी पुस्तक भी आई है जिसमें उन्होंने पॉल स्वीज़ी-पन्थी चश्मे से 20वीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को देखने की कोशिश की है और इससे भयानक नतीजे निकाले हैं। बेशक भारत की मेहनतकश जनता की मुक्ति और भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रति प्रो. रणधीर सिंह के जेनुइन सरोकार हैं। इसके लिए वे चिन्तित भी रहते हैं। लेकिन विचारधारा के मामले में वह भी बुरी तरह विभ्रम के शिकार हैं। प्रस्तुत पुस्तक के उनके लेख में भी उनका विचारधारात्मक विभ्रम स्पष्ट झलकता है।

1992 में जालंधर के गदरी बाबाओं के मेले में दिया गया उनका वक्तव्य जो एक लेख की शक्ल में 'पंजाब के 1914-15 के क्रान्तिकारियों की याद में' शीर्षक से इस पुस्तक में शामिल है, इस बात को ही पुष्ट करता है कि स्वीज़ीपन्थी "मार्क्सवाद" के चश्मे ने चीज़ों को सही परिप्रेक्ष्य में उनके देखने समझने की प्रक्रिया को बुरी तरह बाधित कर रखा है। वक्तव्य में रूसी क्रान्ति के बारे में उनकी टिप्पणियों और भाकपा-माकपा जैसी संशोधनवादी पार्टियों के बारे में उनकी समझ को देखते हुए यह बात और स्पष्ट हो जाती है। वक्तव्य का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा भारत के 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' की समस्याओं को सम्बोधित है। 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' से उनका अभिप्राय मुख्य तौर पर 'मुख्य धारा के कम्युनिस्ट आन्दोलन से' है जिसका प्रतिनिधित्व माकपा और भाकपा करती हैं।

प्रस्तुत लेख में 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' की तुलना वे गदरी क्रान्तिकारी राजनीति से करते हैं और कुछ निराशाजनक नतीजों पर पहुँचते हैं। उनका कहना है कि गदरी क्रान्तिकारी राजनीति के तीन गहरे अन्तरसम्बन्धित पहलू ग़ौरतलब हैं। पहला, गदर के क्रान्तिकारियों के पास एक सुस्पष्ट रणनीतिक लक्ष्य था। दूसरा, तत्कालीन बुर्जुआ राष्ट्रवादी राजनीति की मुख्य धारा के सामान्तर उनके पास हथियारबन्द बग़ावत की एक आज़ाद और मुकम्मिल राजनीति थी। तीसरा पहलू था, गदरी क्रान्तिकारियों का जोशो-खरोश। आगे वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इन तीनों पहलुओं की दृष्टि से 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' यानी भाकपा, माकपा की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय है। प्रो. रणधीर सिंह इस सरल सामान्य सी सच्चाई को समझ नहीं पा रहे कि जिसे वह 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' कह रहे हैं उसे काफ़ी पहले से ही इन तीनों ही चीजों की जरूरत नहीं रह गई थी। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी 1951 तक इन तीनों ही पहलुओं से काफ़ी समृद्ध थी। भारतीय समाज की ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण, सही रणनीति व रणकौशल, आदि से सम्बन्धित तमाम समस्याओं के बावजूद पार्टी के पास भारत में समाजवाद की स्थापना का स्पष्ट रणनीतिक लक्ष्य था, बुर्जुआ राष्ट्रवादी आन्दोलन के समानान्तर एक आज़ाद ताकतवर कम्युनिस्ट आन्दोलन था और कम्युनिस्टों में क्रान्तिकारी जोश की कोई कमी नहीं थी। 1951 में पार्टी तेलंगाना का हथियारबन्द संघर्ष वापस लेने के बाद संसदमार्गी हो गई। 1951 में

सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के सुझावों के आधार पर भारत में लोक-जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम तैयार किया गया था, जो अपनी कई कमियों के बावजूद उस समय भारत के लिए प्रासंगिक था। लेकिन संसद की राह पकड़नेवाली पार्टी के लिए अब क्रान्ति का कार्यक्रम अलमारियों में धूल चाटने की चीज़ बन चुकी थी। 1956 में सोवियत संघ में ख्रुश्चेव के संशोधनवादी गुट के सत्ता पर काबिज़ होने के साथ पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हुई और वहाँ से आए 'तीन शान्तिपूर्ण' के सिद्धान्त पहले से ही संशोधनवाद की राह पर चल रही भाकपा के लिए बिल्ली के भाग से छींका टूटने के समान था। 1964 में भाकपा में फूट पड़ गई और इसके एक धड़े ने अलग होकर माकपा का गठन किया। यह पार्टी तो पैदाइशी संशोधनवादी थी। अब इन पार्टियों का एकमात्र "रणनीतिक" लक्ष्य था- वोट के खेल में शामिल होकर संसदीय चुनाव के ज़रिए राज्यों और केन्द्र में सरकारें बनाना और पूँजीपति वर्ग की सेवा में सन्नद्ध होकर मजदूर वर्ग और आम मेहनतकशों का दमन करना। यही इनकी "आज़ाद और मुतबादल राजनीति" थी। ऐसी राजनीति के लिए किसी 'क्रान्तिकारी जोशो-खरोश' की कोई ज़रूरत नहीं थी। यह सब कुछ तो 1951 में ही घटित हो गया था और उस समय से लेकर 1992 तक (रणधीर सिंह का वक्तव्य आने के समय तक) तो इन पुलों के नीचे से काफ़ी गन्दा पानी बह चुका था। रणधीर सिंह के "मार्क्सवादी" शब्दकोश में संशोधनवाद नाम का शब्द ही गायब है। वह भाकपा, माकपा के पतन की बात तो करते हैं, लेकिन इसके कारणों को समझने से पूरी तरह अक्षम हैं। वह इन पार्टियों के क्षरित और मद्धिम पड़ चुके 'क्रान्तिकारी जोश' से बहुत दुखी और निराश हैं। उनका कहना है कि "लम्बे समय से दुख भोग रही यह मिट्टी, आज बिल्कुल हार चुकी है, इससे अब ऐसे दिल-गुर्दे वाले (गदरी क्रान्तिकारियों जैसे) इंसान जन्म नहीं लेते"।

प्रो. रणधीर सिंह काफ़ी लम्बे अरसे से भाकपा, माकपा के लिए काम करते रहे हैं। इन पार्टियों ने संशोधनवाद की राह पकड़ ली है (खासकर भाकपा, क्योंकि माकपा का तो जन्म ही संशोधानवाद के पालने में हुआ था), इस बात को वे नहीं समझते। अतः इन पार्टियों से वे निराश और दुखी भी हैं और साथ ही इनसे उम्मीदें भी पालते हैं। जब ये उम्मीदें पूरी होती नहीं दिखतीं देतीं तो इससे उपजी निराशा का वे सामान्यीकरण कर देते हैं (जैसाकि उपरोक्त कथन में उन्होंने किया है)। धरती को बांझ कहते हुए वे इस हकीकत को देख नहीं पाते कि भाकपा, माकपा द्वारा भारतीय क्रान्ति के साथ गद्दारी करने के बाद नक्सलबाड़ी धारा के क्रान्तिकारियों ने (कार्यक्रम की ग़लत समझ के बावजूद) महान क्रान्तिकारी परम्पराओं की हिफ़ाज़त की। यह सिलसिला आज भी जारी है। लेकिन रणधीर सिंह भाकपा, माकपा के प्रति अपने निराशापूर्ण मोहग्रस्तता के कारण इस सच्चाई को देखने से इन्कार कर देते हैं।

प्रो. रणधीर सिंह 1947 के बाद भारत में हुए परिवर्तनों को ठीक-ठीक चिह्नित करते हैं, और यहाँ हुए पूँजीवादी विकास की चर्चा करते हैं। वह कहते हैं कि मेहनतकशों की मुक्ति की लड़ाई अब किसी राष्ट्रवादी दायरे में नहीं लड़ी जा सकती। अब यह एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के साथ लड़ाई नहीं बल्कि देश के अन्दर ही सत्ता पर काबिज़ पूँजीपति वर्ग के खिलाफ़ मेहनतकश जनता की लड़ाई है। इसी तरह के विचार उन्होंने अधिक स्पष्टता के साथ अपने लेख 'एक राष्ट्रीय लक्ष्य का अन्त' में भी व्यक्त किए थे। उनका कहना है कि भारत के 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' राष्ट्रवाद की बीमारी से ग्रसित हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि उनके तथाकथित 'कम्युनिस्ट वाम पक्ष' के लिए क्रान्तिकारी संघर्ष के किसी भी चौखटे का कोई मतलब नहीं रह गया है। हालाँकि, उनकी यह बात कई नक्सली ग्रुपों के मामले में आज भी

सही साबित होती है। ये ग्रुप आज भी राष्ट्रवाद की बीमारी से मुक्त नहीं हो पाए हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद देश और दुनिया की परिस्थितियाँ भले ही आज कितनी भी क्यों न बदल चुकी हों लेकिन ये आज भी नवजनवादी क्रान्ति पर अड़े हुए हैं। इनके मुताबिक भारत में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार आज भी भारत के लोगों के एजण्डे पर है। जनवादी क्रान्तियों के कार्यभार ऐसे कार्यभार थे जो इतिहास ने 20वीं सदी के शुरू में मज़दूर वर्ग के कन्धों पर लाद दिए थे क्योंकि रूस में 1917 की अक्टूबर (समाजवादी) क्रान्ति के बाद एशिया, अफ्रीका व लातिनी अमेरिका आदि के उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों और नव-उपनिवेशों का पूँजीपति वर्ग जनवादी क्रान्तियों को पूरा करने के अयोग्य हो गया था। 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इतिहास ने मज़दूर वर्ग को इन कार्यभारों से मुक्त कर दिया। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उपरोक्त देशों ने विभिन्न ढंग से औपनिवेशिक जकड़बन्दी से मुक्ति हासिल की और पूँजीवादी विकास यहाँ आगे बढ़ा। आज ये देश साम्राज्यवाद से राजनीतिक तौर पर आज़ाद पूँजीवादी देशों की श्रेणी में आते हैं जो कि समाजवादी क्रान्ति के मंजिल में दाखिल हो चुके हैं। लेकिन हमारे ये क्रान्तिकारी ग्रुप मार्क्सवाद की कठ्ठमुल्ला समझ के चलते अतीत के कार्यभार वर्तमान में पूरा करने की ज़िद कर रहे हैं।

रणधीर सिंह ने अपने वक्तव्य में सोवियत संघ में समाजवाद की अवधि के बारे में भी कुछ दिक्कततलब टिप्पणियाँ की हैं। वह कहते हैं कि लेनिन के नेतृत्व में रूस में सर्वहारा क्रान्ति सफ़ल हुई लेकिन सत्तर वर्ष बाद उसके (लेनिन के) नालायक वारिसों के हाथों असफल हो गई। सोवियत संघ में ख्रुश्चेवी गुट द्वारा 1956 में सत्ता हथियाए जाने के बाद विश्व के कम्युनिस्ट आन्दोलन में यह बहस चल रही थी कि सोवियत यूनियन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो चुकी है या नहीं। आज यह प्रश्न ही ख़त्म हो चुका है लेकिन आज भी विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन में इस प्रश्न पर बहस जारी है कि सोवियत यूनियन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना कैसे और कब हुई। यह दोनों प्रश्न समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। इन प्रश्नों पर स्पष्टता की कमी या ग़लत अवस्थिति किसी भी विद्वान या पार्टी को संशोधनवाद की तरफ ले जाएगी।

1956 में ख्रुश्चेव गुट ने सोवियत संघ में जब पार्टी और राज्य को हथिया लिया तो तो सबसे पहले उसने लेनिन के बाद समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ानेवाले विश्व सर्वहारा वर्ग के महान नेता व शिक्षक स्तालिन पर हमला बोला। फिर मार्क्सवाद लेनिनवाद की मूल प्रस्थापनाओं पर प्रहार करते हुए उसने तीन शान्तिपूर्ण का सिद्धान्त और समस्त जनता की पार्टी, समूची जनता का राज्य आदि संशोधानवादी नीतियाँ प्रतिपादित की। यह स्पष्ट रूप में मार्क्सवाद से सम्बन्ध-विच्छेद था। यह सबकुछ "बदली परिस्थितियों" का हवाला देकर और मार्क्सवाद-लेनिनवाद को विकसित करने के नाम पर किया जा रहा था। माओ और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चेवी संशोधनवाद को समझा और इसके खिलाफ़ संघर्ष चलाया। परन्तु पार्टी द्वारा ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के खिलाफ़ खुला संघर्ष चलाने में हुई देरी के कारण ख्रुश्चेव पन्थी विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को भारी नुक़सान पहुँचाने में कामयाब रहे। सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बारे में माओकालीन चीनी पार्टी की समझ और विश्लेषण को इतिहास ने सही साबित किया। लेकिन आज भी ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है जो सोवियत संघ में 1991 तक समाजवाद की मौजूदगी देखते हैं। प्रो. रणधीर सिंह भी 1991 तक सोवियत संघ में सर्वहारा सत्ता की मौजूदगी मानते हैं और 1991 में सोवियत संघ में 'समाजवाद को असफ़ल बनाने वालों' को वे लेनिन का वारिस कहते हैं। ऐसा बयान इतिहास के बारे में उनकी

ग़लत समझ को ही अभिव्यक्त करता है। इसी वक्तव्य में वह कहते हैं कि सोवियत संघ का 'वास्तविक समाजवाद' क्लासिकीय मार्क्सवाद द्वारा कल्पित समाजवाद का भद्दा रूप था। लेकिन इसकी कोई व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत नहीं की है। इसलिए इस बारे में हम यहाँ बस इतना ही कहेंगे कि किसी आदर्श समाजवाद के लिए किन्हीं आदर्श परिस्थितियों का इंतजार नहीं किया जा सकता। समाजवाद उपलब्ध वस्तुगत परिस्थितियों में पैदा होता और विकास करता है, और उसपर उन हालातों के जन्म-चिह्न का होना लाजिमी है। किसी आदर्श समाजवाद के लिए आदर्श परिस्थितियों का इंतजार निठ्ठले मुक्त चिन्तन की ओर ले जाती है।

इसके अतिरिक्त भी, उनके वक्तव्य में ऐसी कई टिप्पणियाँ हैं जो एतराज योग्य हैं लेकिन इन सभी पर चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं।

सुमन्त बनर्जी का कुत्साप्रचार

प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा महत्वपूर्ण लेख 'मार्क्स के बाद के हालात और क्रान्तिकारी परिवर्तन की चुनौतियाँ' है जो सुमन्त बनर्जी के किसी लम्बे लेख का संक्षिप्त संस्करण है। लेख पढ़कर ऐसा लगता है जैसे लेखक की मार्क्सवादी ज्ञान मीमांसा का मुख्य स्रोत नैट जीओ, डिस्कवरी जैसे साम्राज्यवादी मीडिया के भोंपू चैनल हैं। वह 20वीं सदी के समाजवादी निर्माण के गौरवशाली प्रयोगों पर जी भरकर कीचड़ उछालता है। मृत्युपर्यन्त समाजवाद की हिफ़ाज़त करने वाले और मज़दूर वर्ग के शत्रुओं का दृढ़तापूर्वक मुकाबला करनवाले महान नेता और शिक्षक कामरेड स्तालिन को यह निठल्ला अकादमिक बुद्धिजीवी 'आदर्शवादी क्रान्तिकारी' 'सनकी और वहशी' कहने की हद तक चला गया है। वह इन कम्युनिस्ट नेताओं पर चलते-चलाते ऐसी टिप्पणियाँ करता है, जिसके लिए न तो वह कोई दलील देना ज़रूरी समझता है और न ही कोई तथ्य। मार्क्स के बाद हुए परिवर्तनों को देखते हुए वह मार्क्सवाद के अधूरेपन की दम्भपूर्ण घोषणा करता नज़र आता है। कम्युनिस्ट पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा को वह तोड़ता-मरोड़ता है, और क्रान्ति व समाजवादी निर्माण में एक 'कम्युनिस्ट पार्टी' की भूमिका पर प्रश्न चिह्न लगाता है। कहा जाये तो उसके लेख में बुर्जुआ कुत्साप्रचार, उत्तर-आधुनिकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यावादी भूठ की भरमार है। यदि उसकी कोई बात सही भी है तो वह मौलिक नहीं है। त्रात्स्की के बारे में कहा जाता है कि जहाँ वह मौलिक बात करता है वहाँ वह ग़लत होता है और जहाँ वह सही बात करता है वहाँ वह मौलिक नहीं होता। जहाँ तक सुमन्त बैनर्जी का सवाल है तो उसके बारे में बस यही कहा जा सकता है कि वह कहीं भी मौलिक नहीं, न ही अपनी ग़लतियों के मामले में और न ही जब वह कोई सही बात करता है। आइये, अब हम इस लेख के कुछ महत्वपूर्ण नुक्तों की तरफ़ लौटते हैं।

1. लेखक को "नया" मार्क्सवाद चाहिए

अपने लेख के शुरू में ही लेखक मार्क्सवादियों (मार्क्सवादियों की आज विभिन्न किस्में मौजूद हैं। जिसमें हर कोई अपनी कथनी और करनी के लिए स्वयं ज़िम्मेदार है। लेकिन लेखक यहाँ कोई फर्क किए बगैर सभी को एक मानकर बात कर रहा है) की तुलना ऐसे शराबी से करता है जिसकी चाबियाँ गुम तो अँधेरी जगह में हुई हैं लेकिन वह ढूँढ़ उन्हें उस जगह रहा है जहाँ बल्ब का प्रकाश है। फिर वह प्रश्न करता है, "कभी-कभी मुझे हैरानी होने लगती है कि कहीं हमारा रवैया भी उसी शराबी जैसा तो नहीं? कहीं हम अपने समाज के

क्रान्तिकारी रूपान्तरण की चाबी एक ही राजनीतिक प्रकाश स्तम्भ के नीचे ढूँढने के लिए टक्करें तो नहीं मार रहे, हो सकता है कि चाबी उस बल्ब की रोशनी के दायरे के बाहर पड़ी हो। शायद यह हमारा विश्वास है कि हम जो तलाश करना चाहते हैं उसे परम्परागत मार्क्सवादी समझ के प्रकाश में ही ढूँढ़ा जा सकता है।" लेखक 'परम्परागत मार्क्सवादी क्लासिकीय' समझ को यहाँ पूरी तरह ख़ारिज नहीं करता। वह कहता है, "यह प्रकाश स्तम्भ पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली और इसके मौजूदा बदनाम रूप नवउदारवादी वैश्वीकरण के बहुत सारे अँधेरे कोनों पर सचमुच ही रोशनी डाल रहा है।" लेकिन फिर पूछता है, "क्या पुराना मार्क्सवादी प्रकाश स्तम्भ मौजूदा समाजिक-आर्थिक व्यवस्था के व्यापक बाहरी अँधेरे कोनों पर प्रकाश डालने के लिए काफ़ी है? क्या हमें मार्क्सवादी बल्ब की क्षमता नहीं बढ़ानी चाहिए जिससे यह वैश्वीकरण की नवउदारवादी व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध के उन विभिन्न उभारों को अपने में समाहित कर सके जो ऐन पश्चिम के केन्द्र में और तीसरी दुनिया के विभिन्न हिस्सों में अमेरिकी वैश्विक रणनीति की ख़्वाहिशों के ख़िलाफ़ उठ रहे हैं? और साथ ही जिससे भारत के विभिन्न हिस्सों में रोषपूर्ण प्रदर्शनों के मौजूदा विस्फोटों के बीच से समाज के भावी क्रान्तिकारी रूपान्तरण की सम्भावनाएँ तलाशी जा सकें?"

लेख विसंगतियों से भरा है, एकतरफ लेखक "मौजूदा बदल चुके विश्व" को समझने और बदलने में मार्गदर्शन करने की मार्क्सवाद की क्षमता और प्रासंगिकता को मानता है तो दूसरी तरफ "परिवर्तनों" के बहाने वह मार्क्सवाद की प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाता है और इसे पूरी तरह खारिज करने तक जा पहुँचता है। वह कहता है, "आधुनिक विश्व में क्रान्तिकारी बदलाव की चाबी पुराने मार्क्सवादी प्रकाश स्तम्भ के "पवित्र" दायरे के पार मौजूद है।"

इस पर सकारात्मक रूप से अपनी बात रखने से पहले लेखक से कुछ प्रश्न किए जा सकते हैं। मसलन, अगर समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की चाबी 'एक ही राजनीतिक प्रकाश स्तम्भ के नीचे' नहीं ढूँढ़ी जा सकती तो क्या इसे कई 'राजनीतिक प्रकाश स्तम्भों के नीचे' ढूँढना होगा? अगर 'पुराना मार्क्सवादी प्रकाश स्तम्भ मौजूदा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के व्यापक बाहरी कोनों पर रोशनी डालने के लिए' नाकाफ़ी है तो उसका नया मार्क्सवादी 'प्रकाश स्तम्भ' कौन सा है? वह 'मार्क्सवादी बल्ब की क्षमता' को कैसे बढ़ाएगा या उसने यह क्षमता कितनी और कैसे बढ़ा ली है? अगर 'आधुनिक विश्व में परिवर्तन की चाबी पुराने मार्क्सवादी प्रकाश सतम्भ के पार कहीं मौजूद है' तो इस चाबी का दर्शन जरा हमें भी करवा दें?

लेखक ने "पुराने" मार्क्सवाद पर तो प्रश्नों की झड़ी लगा दी है लेकिन पूरे लेख में उसने कहीं भी अपने नये मार्क्सवाद के हमें दर्शन नहीं करवाए। लेखक के पास साकारात्मक रूप में कहने के लिए वास्तव में कुछ है भी नहीं। उसके लेख का एकमात्र मकसद कम्युनिस्ट आन्दोलन की भर्त्सना और कम्युनिस्ट कतारों में भ्रम पैदा करना ही है।

मार्क्स के बाद विश्व में बेशक काफ़ी परिवर्तन आए हैं। दुनियाभर के मार्क्सवादी इन बदलावों को खुले दिमाग से, वैज्ञानिकों जैसे साहस के साथ इन्हें समझने की कोशिशें भी करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। लेकिन इसके साथ ही कठमुल्ले मार्क्सवादियों की भी एक धारा रही है, जो परिवर्तनों की अनदेखी करके अप्रासंगिक हो चुके फार्मूलों को नयी बदली हुई परिस्थितियों पर लागू करने की कोशिश करती रही है। यह धारा आज भी विश्व वामपन्थी आन्दोलन में मौजूद है। इन कठमुल्लावादियों के अतिरिक्त मार्क्सवादी कहलाने वाले मुक्त चिन्तकों की भी एक धारा पूरी दुनिया में मौजूद रही है जो परिवर्तनों की आड़ लेकर

बुनियादी मार्क्सवादी अवधारणाओं पर प्रहार करती रही है, इन्हें ही ग़लत ठहरा कर, व्यवस्था का हिस्सा बनती रही है या सामाजिक परिवर्तन की परियोजना को त्याग कर भूतपूर्व "मार्क्सवादियों" या "कम्युनिस्टों" की उपाधियाँ हासिल करती रही है। सुमन्त बनर्जी के लक्षण भी इन्हीं मुक्त चिन्तकों जैसे ही हैं।

आजकल यह एक बहुत प्रचलित, फैशनेबल जुमला है कि मार्क्स के बाद दुनिया बहुत बदल गई है। अगर यह कहने वालों पलटकर प्रश्न करें कि क्या बदल गया है तो इनमें से अधिकतर फटी-फटी आँखों से देखने लगते हैं। अगर कहीं यह पूछ लिया जाए कि क्या कुछ ऐसा भी है जो मार्क्स के समय से लेकर अब तक नहीं बदला तो ये और भी घबरा जाते हैं। दुनिया निरन्तरता और परिवर्तन के द्वन्द के जरिए विकास करती है। मार्क्स के बाद पूँजीवादी व्यवस्था में कई परिवर्तन आए हैं और कई पहलुओं की निरन्तरता भी बरकरार है। मुक्त चिन्तक सिर्फ बदलाव के पहलू पर ज़ोर देते हैं और कठमुल्ले सिर्फ निरन्तरता के पहलू पर। यह विश्लेषण की इनकी अधिभूतवादी पद्धति से पैदा होता है। द्वन्द्ववादी भौतिकवादी या कहें सच्चे मार्क्सवादी विकास प्रक्रिया के दोनों पहलुओं का अध्ययन करते हैं, उन्हें समझते हैं और फिर इसे बदलने की रणनीति व रणकौशल गढ़ते हैं।

मार्क्स के समय पूँजीवाद मुख्य रूप से एक यूरोपीय और उत्तर अमेरिकी परिघटना ही थी। यह स्वतंत्र प्रतियोगिता का पूँजीवाद था। 19वीं सदी के अन्त में स्वतंत्र प्रतियोगिता वाला पूँजीवाद एक नये दौर में दाखिल हुआ जिसे साम्राज्यवाद का दौर कहा जाता है। लेनिन ने पूँजीवाद की इस सर्वोच्च अवस्था, साम्राज्यवाद का विश्लेषण किया और इस बदले दौर में मज़दूर क्रान्तियों की रणनीति व रणकौशल गढ़े। पूँजीवादी विकास के इस दौर में लेनिन ने न सिर्फ मज़दूर आन्दोलन के भीतर और बाहर से मार्क्सवाद पर होने वाले हमलों से उसकी हिफ़ाज़त की बल्कि इसे आगे विकसित भी किया। मार्क्सवाद में लेनिन के अवदानों का समाहार करते हुए स्तालिन ने इन्हें लेनिनवाद कहा। उन्होंने कहा कि लेनिनवाद साम्राज्यवाद और मज़दूर क्रान्तियों के युग का मार्क्सवाद है। लेनिन के नेतृत्व में रूस में हुई पहली सफल क्रान्ति और इसके बाद लगभग चार दशकों में यहाँ हुए समाजवादी निर्माण के प्रयोगों ने मार्क्सवादी विचारधाारा को और समृद्ध बनाया।

1956 में ख्रुश्चेव के नेतृत्व में सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो चुकी थी। दूसरे बड़े समाजवादी देश, चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना का ख़तरा सामने था। माओ ने समाजवादी संक्रमण के दौर के चरित्र, पूँजीवादी पुनर्स्थापना के ख़तरों के स्रोतों, और समाजवादी समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों को गहराई में समझा। उन्होंने सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति का सिद्धान्त दिया जिसे महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति भी कहा जाता है। विश्वभर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने मार्क्सवाद के विकास में माओ के योगदानों का समाहार करते हुए इन्हें माओवाद का नाम दिया। इस तरह देखा जा सकता है कि मार्क्सवादी विचारधारा का विकास मार्क्स के समय में ही रुका नहीं रह गया और न ही दुनिया की बदलती परिस्थितियों की समझ से कम्युनिस्ट आन्दोलन वंचित ही है। बस सुमन्त बनर्जी जैसे विचारधारात्मक मोतियाबिंद के शिकार लोगों को ही यह असलियत दिखायी नहीं देती। वह मार्क्सवाद में लेनिन और उसके बाद माओ द्वारा किए गए इज़ाफ़े की तो कोई चर्चा नहीं करते। लेकिन कुछ अज्ञात लोगों को मार्क्स के विश्लेषण को और अधिक माँजने-निखारने का श्रेय देते हैं, 'आधुनिक राजनीति के वैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों के विभिन्न स्कूलों ने मार्क्स के विश्लेषण के औज़ारों को और अधिक निखारा व सुधारा है।' वह इन 'राजनीतिक विज्ञानियों और

समाजशास्त्रियों' का नाम बताने की ज़रूरत नहीं समझते और न ही यह बताने की कि उन्होंने 'मार्क्स के विश्लेषण के औज़ारों को' आखिर किस प्रकार 'और भी निखारा व सुधारा है'।

लेनिन और माओ के बाद भी दुनिया में परिवर्तनों का सिलसिला ज़ारी है। दुनियाभर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के प्रकाश के आलोक में इन परिवर्तनों को समझ रहे हैं और उसके मुताबिक अपनी रणनीति व रणकौशल गढ़ रहे हैं। जहाँ तक कठमुल्लों और मुक्त चिन्तकों की बात है वे परमहंस की अवस्था में पहुँच चुके हैं।

मार्क्स के समय में पूँजीवादी व्यवस्था, जो मुख्य तौर पर यूरोपीय और उत्तर अमेरिकी परिघटना थी, आज विश्वव्यापी परिघटना बन चुकी है। मार्क्स, एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र लिखते समय ही पूँजीवाद के जिस परिवर्तनक्रम को देख लिया था वह आज हकीकत बन चुका है। पूँजीवाद ने अब 'हर जगह घोंसले' (कम्युनिस्ट घोषणापत्र) बना लिए हैं और हर जगह बसेरा' कर लिया है और 'हर जगह सम्बन्ध' स्थापित कर लिए हैं। तमाम परिवर्तनों के बावजूद हर जगह यह पूँजीवादी व्यवस्था ही है। मार्क्सवाद का 'प्रकाश स्तम्भ' न केवल इन परिवर्तनों को समझने में हमारी मदद कर रहा है, बल्कि एकमात्र यही अकेला ऐसा प्रकाश स्तम्भ है।

जो "परिवर्तन" सुमन्त बनर्जी के लिए अबूझ पहेली बने हुए हैं, और जिनकी व्याख्या के लिहाज़ से उन्हें मार्क्सवाद अधूरा लगता है उन्हें वह इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "समाज के वंचित और अदृश्य हिस्सों की अब तक नज़रान्दाज की गईं शिकायतें (मसलन आदिवासियों, नस्ली, सांस्कृतिक व भाषाई अल्पसंख्यकों, और स्त्रियों के विशेष अधिकार सम्बन्धी) और सामाजिक व राजनीतिक माँगें अब प्रतिरोध की लपट बन फूट रहे हैं। ये लपट उस व्यापक अँधेरे के उपेक्षित कोनों पर रोशनी डाल रहे हैं जो मार्क्सवादी प्रकाश स्तम्भ के दायरे के बाहर मौजूद हैं।" 'मार्क्स और मार्क्स के बाद की राजनीति' की चर्चा करते हुए वह कहता है कि नवउदारवादी वैश्विक व्यवस्था में विकसित नई तकनोलॉजी ने जो परिवर्तन किये हैं उसने एक तरफ तो औद्योगिक मज़दूर वर्ग की संरचना बदल दी है वहीं दूसरी तरफ 'दबे कुचले समुदायों और हिस्सों' की अधिकार-चेतना को बढ़ाने का काम किया है। उसका कहना है मार्क्स के क्रान्तिकारी मॉडल की पूर्वशर्तों में से एक था 'पश्चिम के समकालीन विकसित पूँजीवादी राज्यों के औद्योगिक सर्वहारा का लाज़िमी तौर पर नेतृत्व'। 'मार्क्स के क्रान्ति के मॉडल' की अन्य 'पूर्वशर्तों' की चर्चा करते हुए वह आगे कहता है कि गुज़री सदी के दौरान मार्क्सवादी मॉडल की इन शर्तों को यूरोप व अन्य जगहों पर चुनौतियों का सामना करना पड़ा है।

यहाँ लेखक के हमले का निशाना है सामाजिक परिवर्तन (या समाजवाद के संघर्ष) में औद्योगिक सर्वहारा की नेतृत्वकारी भूमिका। अब से लगभग डेढ़ दशक पहले अरविन्द के नेतृत्व वाली भारत की कम्युनिस्ट लीग (माले) यही थीसिस लेकर आई थी। उसका कहना था कि अब 'क्रान्ति' में औद्योगिक मज़दूर वर्ग का नेतृत्व और वर्ग संघर्षों की जरूरत नहीं रह गई है अथवा यह सम्भव नहीं है। अब क्रान्ति 'नये सामाजिक आन्दोलनों' (पर्यावरण, जाति, लिंग आदि के मुद्दों पर संघर्ष) के जरिए सम्पन्न होगी। आज इस धड़े का हश्र हमारे सामने है। इन्होंने मज़दूर आन्दोलन से दूरी तो बना ही ली थी, 'नये सामाजिक आन्दोलनों' में भी वे कहीं नज़र नहीं आए। आज ये गैर सरकारी संगठनों का संचालन करते हुए व्यवस्था के पक्ष में जा खड़े हुए हैं। सुमन्त बनर्जी आज डेढ़ दशक बाद उन्हीं बातों को दोहरा रहे हैं और इस चोरी के माल को मौलिक चिन्तन बनाकर परोस रहा है।

पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंस और समाजवाद के निर्माण में औद्योगिक सर्वहारा की

नेतृत्वकारी भूमिका को ख़ारिज करना, मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में कोई नई बात नहीं है। अपने जन्म और विकास के विभिन्न पड़ावों के दौरान वैज्ञानिक समाजवाद तीखे विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्षों का केन्द्र रहा है। इस संघर्ष का केन्द्रीय बिन्दु सर्वहारा का क्रान्तिकारी और मुक्तिदायी मिशन रहा है और एक नेतृत्वकारी क्रान्तिकारी सामाजिक ताकत के तौर पर इसके उभार और सरंचना की वैज्ञानिक समझ मार्क्सवाद की कुंजीभूत प्रस्थापना रही है। मार्क्सवाद के विरोधियों द्वारा लगातार इस पर हमले होते रहे हैं। बुर्जुआ इतिहासकारों के विभिन्न रूझानों के लेखन का, भले ही वे रूढ़िवादी (Conservative) हों या रैडीकल,यह एक मुख्य थीम रहा है, और आज भी है। सुधारवादी, अराजकतावादी, अतिवामपन्थी, निम्न-बुर्जुआ समाजवादी आदि सभी तरह के लोग इन हमलों में शामिल रहे हैं। बुर्जुआ इतिहासकारों के विभिन्न स्कूल जैसे कि सामाजिक अधिकार स्कूल (Social Right School) का इतिहास लेखन, संस्थावाद (Institutionalism) के विचारक (थर्स्टीन वेब्लेन), व्यावसायिक इतिहासकार, नवउदारवादी और मैनेज़रिज़्म स्कूल (जोसेफ शुम्पीटर) आदि नियमत: बुर्जुआज़ी या गाँव अथवा शहर के निम्न-बुर्जुआ तबकों को या अन्त में 'टेक्नोक्रेसी' को विश्व इतिहास की सामाजिक चालक शक्ति घोषित करते रहे हैं। निम्न बुर्जुआ समाजवादियों और अराजकतावादियों ने निम्न बुर्जुआ व लम्पट सर्वहारा को समाज की चालक शक्ति घोषित किया। इसे निम्न बुर्जुआ समाजवादी प्रूधों और अराजकतावाद के संस्थापक बाकूनिन की रचनाओं में देखा जा सकता है।

कुछ का यह कहना है कि पूँजीवाद के बारे में मार्क्स का विश्लेषण 19वीं सदी के लिए तो प्रासंगिक था लेकिन 20वीं सदी में पूँजीवाद बुनियादी तौर पर बदल गया है। इसलिए अब न तो मार्क्सवाद ही प्रासंगिक रह गया है, न सर्वहारा रह गया है और न ही अब उसकी मुक्ति का प्रश्न। आस्ट्रीयाई सामाजिक जनवाद के मशहूर सिद्धान्तकार कार्ल रेनन ऐसा ही कहते हैं, "मैं कार्ल मार्क्स की पूँजी दुबारा पढ़ रहा हूँ। लेकिन पाठ के हाशिये पर मुझे यह लिखना पढ़ रहा है कि चीजें अब कितनी भिन्न हो चुकी हैं।"[(1)] जर्मन दार्शनिक एस. शॉक (H. Shock) अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद का संशोधित संस्करण ' (Revision of Marxism-Leninism) में लिखता है: 'मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन द्वारा चित्रित बहादुर सर्वहारा अब नहीं रहा। नतीजतन, समूची मानवता के पक्ष में सर्वहारा की मुक्ति का प्रश्न भी नहीं रहा।" अब इन पुरानी बातों को नये सिरे से दोहराने वालों की कमी नहीं है। तकनीकी विकास, स्वचालन (ऑटोमेशन) के बढ़ने आदि से सर्वहारा के विलोपित होने का शोर फिज़ा में काफ़ी अधिक है। सुमन्त बनर्जी तकनीकी विकास के चलते 'सर्वहारा की सरंचना बदलने' के बहाना लेकर आबादी के गैर-सर्वहारा हिस्सों की राजनीतिक सक्रियता पर ज़ोर देते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में अरुन्धति राय भी यही बात कहती है, "जब मार्क्स सर्वहारा की बात करता है, तो सर्वहारा से उसका अभिप्राय मज़दूर वर्ग से है। अधिकतर जगहों पर मज़दूरों की तादाद घटाने की पूरी कोशिश की जा रही है अब वहाँ रॉबोट व उच्च तकनीक का इस्तेमाल हो रहा है। क्लासिकीय मायनों में श्रमिकों की तादाद भी अब वह नहीं जो हुआ करती है ।" (पन्ना नं-42) यह कलासिकीय मायने क्या हैं? इसके अन्तर्गत मजदूरों की तादाद कितनी होती थी? और अब यह कितनी कम हो गई है? लेखिका इन प्रश्नों का जबाव देना ज़रूरी नहीं समझतीं। ऐसे बुद्धिजीवी अपने मुँह से निकले शब्दों को 'गुरू की वाणी' समझते हैं। जिन्हें सुनते ही जनता निहाल हो जाएगी और कोई प्रश्न नहीं उठायेगी। पंजाब में तो काफ़ी लोग लेखिका के वचनों पर भक्तिभाव रखते भी हैं। उनके लिए अरुन्धति राय मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन

और माओ से भी बड़ी विद्वान हैं। ये लोग अब "मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी" नहीं रह गये बल्कि अरुन्धतिवादी हो गये हैं। अरुन्धति राय अपने कहे को किसी भी तार्किक नतीजे तक नहीं पहुँचाती। वे यह नहीं बताती कि अगर मज़दूर वर्ग की जगह रोबोट ले रहे हैं तो विश्व इतिहास की अब सामाजिक चालक शक्ति कौन सी है? शायद आदिवासी हैं! जो भारत के जंगलों में हथियारबन्द लड़ाई लड़ रहे हैं। जहाँ अरुन्धति राय जैसे बुद्धिजीवी कभी-कभार तीर्थ यात्रा कर आते हैं। और लौटकर कुछ जज़बाती लेखों के ज़रिये वे जनमुक्ति की झूठी उम्मीदें जगाने के अपने कर्तव्य पूरा करते रहते हैं।

दरअसल पूँजीवादी व्यवस्था में गैर-सर्वहारा निम्न बुर्जुआ का एक हिस्सा लगातार मज़दूरों में रूपान्तरित होता रहता है। पूँजीवादी विकास इनके नाममात्र के उत्पादन के साधन लगातार छीनता रहता है। मेहनतकश जनता के इन हिस्सों का भी इस कारण बुर्जुआ राज्यसत्ता के साथ टकराव बना रहता है। विभिन्न रूपों में इनकी सत्ता के साथ संघर्ष चलता रहता है। लेकिन पूँजीवादी उत्पादन में इन्हें कोई महत्वपूर्ण जगह नहीं मिली होती। दूसरे, इनकी नाममात्र की सम्पत्ति इन्हें आपस में बाँटकर रखती है। तीसरे, यह हिस्सा अक्सर पिछड़े उत्पादन में लगा हाता है। इसलिए इनके संघर्ष या उभार स्थाई नहीं होते और अपने बूते ये बुर्जुआ राज्यसत्ता का कुछ भी बिगाड़ पाने में अक्षम होते हैं।

दूसरी ओर मज़दूर वर्ग, खास तौर पर औद्योगिक मज़दूर वर्ग पूँजीवादी उत्पादन में सबसे अहम स्थान रखता है। पूँजीवादी समाज में लगभग सारी भौतिक दौलत इसके हाथों ही सृजित होती है। पूँजीवादी उत्पादन इसे बड़े औद्योगिक केन्द्रों में इकठ्ठा करता है और बहुत सारे दृश्य व अदृश्य कड़ियों के ज़रिए इसे न सिर्फ़ राष्ट्रीय पैमाने बल्कि अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर भी जोड़ता है। इस वर्ग के संघर्ष पूँजीवादी ढाँचे पर घातक चोट करते हैं। मार्क्स, एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र में लिखा था कि "सर्वहारा एकमात्र वास्तविक क्रान्तिकारी वर्ग है।" पूँजीवादी समाज के निम्न बुजुर्आ हिस्सों का अस्तित्व लगातार ख़तरे में रहता है और ख़त्म होता रहता है। इसलिए ये हिस्से इतिहास की चालक शक्ति नहीं बन सकते। सिर्फ़ मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में ही इनका संघर्ष क्रान्तिकारी भूमिका निभा सकता है ।

सुमन्त बनर्जी और अरुन्धति राय जैसे लोग इस व्याख्या पर चीख-पुकार मचाने लगेंगे। वे कहेंगे कि अब परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं और कदाचित वे हम पर कठमुल्ला (Dogmatic) होने का ठप्पा भी जड़ दें। यह उनकी अपनी कोई मौलिक सोच नहीं, सर्वहारा के विलोपित होने की थीसिस कर प्रतिपादन आज दुनिया भर के इस नमूने के तथाकथित सिद्धान्तकार कर रहे हैं। इन मूर्ख सिद्धान्तकारों को पहले यह जान लेना चाहिए कि सर्वहारा वर्ग के महान नेताओं, मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और न ही माओ ने कभी यह कहा कि औद्योगिक सर्वहारा पूँजीवादी समाज का बहुसंख्यक होता है। यह न तो मार्क्स के समय में था और न ही आज है। मार्क्स के समय यूरोप के कई देशों में अभी पूँजीवादी विकास जारी था। और सामन्ती अवशेषों को साफ़ करने का कार्यभार पूरा कर रहा था। तब यूरोपीय समाजों की बहुसंख्यक आबादी कृषि में लगी हुई थी। पूँजीवादी विकास के आगे डग भरने के साथ कृषि में लगी आबादी निरपेक्ष रूप से सिकुड़ती गई और औद्योगिक व सेवा क्षेत्र की आबादी में इज़ाफ़ा होता गया। पिछड़े क्षेत्रों में यह वृद्धि और भी तेज़ रही। आज नेपाल, भूटान जैसे बेहद पिछड़े देशों को छोड़ दिया जाये तो अपेक्षाकृत पिछड़ी अर्थव्यवस्था वाले अधिकांश देशों की कमोबेश यही तस्वीर है। विकसित पूँजीवादी देशों में औद्योगिक मज़दूरों की संख्या में निश्चय ही गिरावट आई है। इसकी मुख्य वजह यह है कि सस्ते कच्चे माल व सस्ती श्रम शक्ति की लूट

के लिए पूँजी यहाँ से निकलकर तीसरी दुनिया के देशों की ओर चली गई है। तीसरी दुनिया के इन देशों में औद्योगिक सर्वहारा की संख्या में तेज़ी के साथ वृद्धि हुई है। आज तीसरी दुनिया के देशों में औद्यागिक महानगर अस्तित्व में आ रहे हैं, जहाँ करोड़ों-करोड़ औद्योगिक मज़दूरों का महासागर देखा जा सकता है। गन्दी और बदहाल बस्तियों में भीषण जीवन परिस्थितियों के बीच रहते उनके जीवनमें आज भी 19वीं सदी के यूरोपीय साहित्य में चित्रित मज़दूरों के नारकीय जीवन का अक्स दिखाई पड़ता है। परन्तु अपने ही पाण्डित्य से चौंधियाये इन सिद्धान्तकारों को औद्योगिक सर्वहारा कहीं नज़र नहीं आता। इनकी समस्या यह है कि वे किसी एक-आध यूरोपीय देश की हक़ीकत का सामान्यीकरण कर पूरे विश्व पर थोप देते हैं। वे अंश को सम्पूर्ण बना देते हैं। सच्चाई यही है कि आज भी विश्व इतिहास की चालक शक्ति मज़दूर वर्ग ही है। यह मार्क्स के समय में जितना सच था उतना ही सच आज भी है। पूँजीवादी विकास के साथ जैसे-जैसे पूरी दुनिया में निम्न बुर्जुआ का एक हिस्सा उजड़कर सर्वहारा की कतारों में शामिल होता जा रहा है, यह सच और भी अधिक स्पष्ट हो कर सामने आता जा रहा है।

2. कम्युनिस्ट पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने की साज़िश

सुमन्त बनर्जी न सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा में तोड़-फोड़ करता है बल्कि 20वीं सदी के महान समाजवादी प्रयोगों पर कीचड़ उछालने का काम भी करता है। वह कहता है कि मध्यवर्ग बुद्धिजीवियों का बड़ा हिस्सा भ्रष्ट हो चुका है और सामाजिक दायरे व बौद्धिक जगत में प्रतिष्ठित मध्यवर्ग के इस 'पेशेवर तबके' को सहयोजित कर लेने की पूँजीवादी विश्व व्यवस्था की ताकत ने अब मार्क्सवादी आन्दोलन से मध्यवर्ग के इन चेतस बुद्धिजीवियों को ही छीन लिया है। इसलिए 'समाजवादी रूपान्तरण के लिए मधयवर्गीय बुद्धिजीवियों की एक "हिरावल दस्ते" के तौर पर (लेनिनवादी भावना के साथ) काम करने की न तो योग्यता रही और न ही ही कोई आकांक्षा।

लेनिन ने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को कहीं भी समाजवादी रूपान्तरण का हिरावल दस्ता नहीं कहा है। उन्होंने मज़दूर वर्ग की पार्टी को हिरावल दस्ता कहा था जिसकी बहुसंख्या वर्ग-सचेत मज़दूरों की होती है। लेनिन ने तो यहाँ तक कहा था कि इस हिरावल दस्ते (कम्युनिस्ट पार्टी) में जहाँ एक बुद्धिजीवी हो वहीं आठ मज़दूर होने चाहिए और बाद में उन्होंने इसे संशोधित कर कहा कि एक बुद्धिजीवी पर सैंकड़ों मज़दूर होने चाहिए।

सुमन्त बनर्जी का एक और प्रचण्ड झूठ : वह कहता है कि "रूस में, शहरी मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी तबका बोल्शेविक क्रान्ति का नेतृत्वकारी शक्ति बना", ऐसा ही सफद झूठ वह चीनी क्रान्ति के बारे में बोलता है। सच तो यह है कि रूसी समाजवादी क्रान्ति का नेतृत्व वहाँ के औद्योगिक मज़दूर वर्ग ने किया था और हिरावल दस्ते के रूप में इस मज़दूर वर्ग का नेतृत्व बोल्शेविक पार्टी कर रही थी, जिसकी बहुसंख्या वर्ग-सचेत मज़दूरों की थी। यही बात चीनी क्रान्ति के बारे में भी सच है। जहाँ तक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का प्रश्न है, वे भी इन क्रान्तियों में शामिल थे लेकिन मज़दूरों के मुकाबले इनकी संख्या काफ़ी कम थी। इन बुद्धिजीवियों से कइयों ने अपने वर्ग से नाता तोड़कर पूरी तरह अपनी नियति मज़दूर वर्ग के साथ जोड़ ली थी। समाजवादी मज़दूर आन्दोलन के पूरे इतिहास में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा हमेशा ही आन्दोलन में शामिल होता रहा है और आज भी हो रहा है ।

सुमन्त बनर्जी ने समूचे मध्य वर्ग को भ्रष्ट घोषित कर दिया है। वह इतनी सीधी-सरल-सी सच्चाई भी नहीं समझता कि पूँजीवादी व्यवस्था में अपनी स्थिति के चलते मध्यवर्ग के बड़े हिस्से को भ्रष्ट होने का अवसर ही मुहैया नहीं हो सकता। मध्य वर्ग का नीचे का हिस्सा हमेशा पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पीड़ित रहता है और इस आबादी से बड़ी संख्या में नौजवान, मज़दूर आन्दोलन के साथ जुड़ते रहते हैं। मध्य वर्ग के ऊपरी हिस्से को ज़रूर पूँजीपति वर्ग ने भ्रष्ट कर दिया है। लेकिन यहाँ से भी लगातार कुछ बुद्धिजीवी सर्वहारा पार्टी की कतारों में शामिल होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं भले ही इनकी संख्या काफ़ी कम होती है।

बीसवीं सदी के महान समाजवादी प्रयोगों के पहले चक्र के पराजय के बाद जब विश्व मजदूर आन्दोलन अभूतपूर्व विपर्यय के अंधेरे दौर से गुज़र रहा है और जर्जर, मरणासन्न पूँजीवाद अपने अस्तित्व की अन्तिम लड़ाई में प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के ज़रिये नौजवानों और मेहनतकशों पर विचारधारात्मक और सांस्कृतिक हमला कर रहा है तब दुनिया भर के कम्युनिस्ट संगठन ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मजदूर आन्दोलन को नेतृत्व देने और बदली परिस्थितियों में नई राह खोजने में लगे हुए हैं। परन्तु सुमन्त बनर्जी को उनके नेतृत्व में बौद्धिक क्षमता की कमी नज़र आती है (जैसे सिर्फ़ इसी कमी के कारण आज क्रान्तियाँ सम्पन्न नहीं हो रही)। सारी बुद्धि का ठेका तो सुमन्त बनर्जी के पास है। जिसका डंका वह आये दिन पीटते ही रहते हैं और इस काम से फारिग होकर वह अपने हाथी दांत की मीनार में जा बैठते हैं और दुनिया के सबसे सरलतम कामों में स्वयं को व्यस्त कर लेते हैं। यानी समाज के क्रान्तिकारी बदलाव के संघर्ष में लोगों में ग़लतियाँ निकालना और इस संघर्ष से एक सुरक्षित दूरी बनाकर उन्हें सलाह देते रहना। यह देखा गया है कि सक्रिय क्रान्तिकारी राजनीति से रिटायर होने के बाद अकसर लोग इस घिनौने धन्धे में व्यस्त हो जाते हैं।

सुमन्त बनर्जी एक तरफ़ तो इस बात से चिंतित और परेशान हैं कि 'भ्रष्ट हो चुके' मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अब कम्युनिस्ट पार्टी में नहीं आ रहे जिससे पार्टी में नई स्पिरिट पैदा हो सके और दूसरी ओर वह कम्युनिस्ट पार्टी पर ही 20वीं सदी की समाजवादी क्रान्तियों के पराजय का ठीकरा फोड़ते हैं। वह कहते हैं कि "पहले सोवियत संघ और फिर चीन में... पार्टी अधिपत्य ने आखिरकार कम्युनिस्ट आन्दोलन का नौकरशाहीकरण कर दिया।" यहाँ वह हार के कारणों का अतिसरलीकरण कर देता है। पार्टी अधिपत्य को हार की वजह बताना अपने आप में यह स्पष्ट कर देता है कि उतार-चढ़ाव से भरे समाजवादी संक्रमण और सतत् क्रान्ति के बारे में स्वयं सुमन्त बनर्जी की समझ कितनी भोथरी है। समाजवादी प्रयोगों की असफलता के कई वस्तुगत (क्रान्तियों और समाजवादी निर्माण का काम बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों में सम्पन्न होना) और आत्मगत (सोवियत संघ में स्तालिन व चीन में माओ से हुई ग़लतियाँ) कारण थे, जिन्हें समझे बिना न तो 20वीं सदी की समाजवादी क्रान्तियों की पराजय को समझा जा सकता है और न ही भविष्य में समाजवादी निर्माण के पथप्रदर्शक सिद्धान्त को विकसित ही किया जा सकता है (इसकी विस्तृत चर्चा अन्यत्र हो चुकी है लिहाजा यहाँ विस्तार में जाना गैर-ज़रूरी होगा)।[2]

सुमन्त बनर्जी के लिए 20वीं सदी की समाजवादी क्रान्ति के उत्तरवर्त्ती समाज में एक ही पार्टी के अधिपत्य का अनुभव 'त्रासदपूर्ण' था। लेकिन एक पार्टी सिद्धान्त का वह कोई विकल्प नहीं बताता। क्या वहाँ कई पार्टियों की 'हेजेमनी' होनी चाहिए थी? 20वीं सदी के समाजवादी निर्माण के प्रयोगों ने यह स्पष्त: दिखाया है कि सर्वहारा जनवाद का स्वरूप

बहुपार्टी नहीं हो सकता, जिन्होंने भी इस सबक को भुला दिया है, या इसकी अनदेखी की है वे संशोधनवाद की दलदल में जा धँसे हैं। इसका सबसे ताज़ा उदाहरण है प्रचण्ड के नेतृत्व वाली नेकपा (माओवादी), जिसे अब एनेकपा (माओवादी) के नाम से जाना जाता है।

3. क्रान्ति के दो रास्ते बनाम क्रान्ति के सभी बन्द होते रास्तों का प्रश्न

सुमन्त बनर्जी हमें अपने ज्ञान से समृद्ध करते हैं। वह बताते हैं कि क्रान्ति के "दो रास्ते" होते हैं। एक है संसदीय रास्ता और दूसरा हथियारबन्द संघर्ष का रास्ता। फिर वह कहते हैं कि इन दोनों ही रास्तों से क्रान्ति की कोशिशें सफल नहीं हुईं और वह कोई तीसरा रास्ता हमें बताते नहीं। यहाँ पाठक को भूलभुलैया में चक्कर काटता छोड़कर वह आगे बढ़ जाते हैं।

इसके उपरान्त संसदीय रास्ते की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वह फ्रेडरिक एंगेल्स को बतौर वकील पेश करते हैं। इसके लिए वह बड़ी चालाकी के साथ मार्क्स की पुस्तक 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष 1848-1850' की एंगेल्स द्वारा लिखी भूमिका से हवाला देते हैं। एंगेल्स द्वारा लिखी इस भूमिका को जर्मन सामाजिक जनवाद के अवसरवादी रुझान द्वारा भी तोड़ा-मरोड़ा गया था। मार्च 1895 में विल्हेल्म लीबनेख़्त ने इस भूमिका से कुछ अंश लेकर अपनी मर्ज़ी से पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र फोरवॉर्ट्स (Vorworts) में प्रकाशित किया था। इस संदर्भ में 3 अप्रैल 1895 के पाल लफ़ार्ग को लिखे अपने ख़त में एंगेल्स ने कहा था कि लीबनेख़्त ने वह सबकुछ ले लिया "जो हर क़ीमत पर शांति के रणकौशल की हिफ़ाजत करने और ताकत के प्रति नफ़रत दिखाने के लिए उसकी सेवा कर सकता हो"।[3] 1 अप्रैल 1895 को एंगेल्स ने काउत्स्की को लिखा, "आज मैंने 'फोरवॉर्ट्स' में अपनी भूमिका का एक हिस्सा देखा जिस मेरी जानकारी के बिना छापा गया है और इसकी इस ढंग से काँट-छाँट की गई है कि मैं हर क़ीमत पर कानूनियत का पूजक नज़र आऊँ।"[4]

मार्क्स ने एक जगह लिखा था कि इतिहास खुद को दोहराता है पर हू-ब-हू नहीं, पहली बार त्रासदी के रूप में और दूसरी बार प्रहसन के रूप में। लेकिन सुमन्त बनर्जी ने यहाँ अवश्य ही मार्क्स को गलत सिद्ध कर दिया है। एंगेल्स को शांतिवादी, कानूनवादी सिद्ध करने के लिए वह उनकी बातों को तोड़-मरोड़कर रखने में जर्मन सामाजिक जनवाद के अवसरवादी रुझान का इतिहास हू-ब-हू दोहराता नज़र आता है।

एंगेल्स ने अपनी भूमिका में लिखा था कि सार्विक मताधिकार ने मज़दूर वर्ग को संघर्ष का नया तरीका दिया है वह हमारे प्रचार का सर्वश्रेष्ठ साधन बन गया। इस मताधिकार ने हमें स्वयं अपनी शक्ति के बारे में और सभी विरोधी पार्टियों की शक्ति के बारे में सही सूचना दी और इस प्रकार हमारी कार्रवाइयों में सन्तुलन पैदा करने में मदद की है। वह कहते हैं कि चुनाव प्रचार के ज़रिये इसने हमें लोगों के सम्पर्क में रहने, और अपने विचारों और कार्यक्रम के प्रचार के लिए संसद के मंच का इस्तेमाल करने का अवसर प्रदान किया है। वह कहीं भी यह नहीं कहते कि संसदीय संघर्ष के जरिए समाजवाद आ जाएगा। वह कहते हैं कि अब 1848 की तरह की बगावतें और सड़कों पर मोर्चे बाँधकर लड़ाइयों का रूप बहुत हद तक अप्रासंगिक हो चुका है। इसके लिए वह सैन्य संख्या में वृद्धि, आधुनिक हथियारों, परिवहन के विकसित साधनों, मध्य वर्ग (1848 में बुर्जआजी) के मज़दूरों के पक्ष में न आने, शहरों की सरंचना में परिवर्तन आदि बदलावों का ज़िक्र करते हैं। लेकिन वह कहीं भी यह नहीं कहते कि अब शान्तिपूर्वक क्रान्ति हो जाएगी। वह कहते हैं, "क्या इसका मतलब यह है कि भविष्य में सड़कों की लड़ाई की कोई भूमिका नहीं रह जायेगी? नहीं, निश्चय ही नहीं!"

इसका मतलब केवल यह है कि 1848 के बाद से संघर्षरत जनता के लिए परिस्थितियाँ कहीं अधिक प्रतिकूल और सेना के लिए कहीं अधिक अनुकूल हो गई हैं।

सुमन्त बनर्जी क्रान्ति के "दो रास्तों" की बात करते हैं (हालांकि वह दोनों रास्ते बन्द भी कर देते हैं) लेकिन विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की यह सर्वस्वीकृत समझ है कि क्रान्ति का रास्ता एक ही है। वह है हिंसक क्रान्ति का रास्ता। संघर्ष के संसदीय रूप को कम्युनिस्ट रणकौशल की तरह इस्तेमाल करते हैं। यह उनके लिए रणनीति का प्रश्न होता ही नहीं है।

हमने सुमन्त बनर्जी द्वारा उठाए गए उन्हीं प्रश्नों को लिया है और उन पर अपना पक्ष रखा है जो मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं के बारे में भ्रम फैलाते हैं। उसका लेख तमाम तरह की ऊट-पटाँग बातों से भरा हुआ है। ज़ाहिरा तौर पर इन सब पर चर्चा करना हम अपनी ऊर्जा और समय का अपव्यय मानते हैं।

सुभाष गाताड़े का अम्बेडकरवाद

प्रस्तुत पुस्तक में एक अन्य वृहत्तर, निबन्धमार्का लेख मार्क्सवादी से अम्बेडकरवादी बने सुभाष गाताड़े का है। गाताड़े ने अपने इस लेख में जाति उन्मूलन के प्रति अतीत में भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का रुख़, दलित मुक्ति की अम्बेडकरवादी धारा के प्रति कम्युनिस्टों का रवैया, अम्बेडकर का मार्क्सवाद, और उनका भारत के कम्युनिस्टों और उपनिवेशवाद के प्रति दृष्टिकोण आदि मुद्दों को समेटा है। ग़ौरतलब है कि इन सभी मुद्दों पर गाताड़े को कम्युनिस्टों में सिर्फ़ गड़बड़ियाँ ही नज़र आती हैं जबकि अम्बेडकर की वह किसी आलोचनात्मक विवेक के बगैर हर हाल में हिफ़ाजत करने पर आमादा नज़र आते हैं। इन सभी प्रश्नों पर हम पहले भी काफ़ी विस्तार में लिख चुके हैं।[5] इसलिए यहाँ हम संक्षेप में ही अपनी बात रखेंगे।

सुभाष गाताड़े ने यह साबित करने में एड़ी चोटी का ज़ोर लगा दिया है कि भारत के कम्युनिस्टों ने अपने पूरे इतिहास में (और ख़ासकर औपनिवेशिक दौर में) किस प्रकार यहाँ जाति प्रश्न की अनदेखी की है। इसके लिए उन्होंने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेजों से काफ़ी उद्धरण भी दिए हैं। लेकिन भारत के कम्युनिस्टों ने इस देश के हर कोने में जातिवाद के खिलाफ़ व्यवहारिक धरातल पर उतरकर जो लड़ाई लड़ी है उसके बारे में उन्होंने ने पूरी तरह चुप्पी साध रखी है। औपनिवेशिक दौर में जाति प्रश्न को हल करने के प्रति भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की पहुँच में जो समस्याएँ रहीं और व्यवहारिक धरातल पर पार्टी ने इस मसले पर जो रुख़ अपनाया, उसके बारे में हम यहां संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना 1925 में हुई थी और 1933 में इसने अपने नेतृत्वकारी केन्द्र (केन्द्रीय समिति) का गठन किया। इस दौर में पार्टी ने मज़दूरों, किसानों के गौरवशाली ऐतिहासिक संघर्षों का नेतृत्व किया। हर तरह के शोषण और उत्पीड़न से मेहनतकशों की मुक्ति के संघर्ष में कम्युनिस्टों ने साहस व त्याग के नये कीर्तिमान स्थापित किए। भारत में जाति-आधारित दमन-उत्पीड़न के विरुद्ध भी कम्युनिस्टों ने अनेकशः लड़ाइयाँ लड़ीं परन्तु भारतीय समाज की इस विशिष्टता को समुचित रूप में समझने, इसके खात्मे के लिए एक कारगर रणनीति बनाने और एक विशेष कार्य के रूप में इसे हाथ में लेकर इसके विरुद्ध संघर्ष छेड़ने में वे असफ़ल रहे। हालांकि बिल्कुल शुरू में ही पार्टी ने भारत में जातिवाद और छुआ-छूत की समस्या को पहचान लिया था।

यह सच है कि कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति उन्मूलन के सवाल को अपने दस्तावेजों में शामिल करने और अपने जनसंगठनों द्वारा जातिवाद की समस्या पर कुछ प्रस्ताव पारित करने

से आगे बढ़कर, कभी भी इसे एक व्यापक आन्दोलन का मुद्दा नहीं बनाया। इस बात को भी बेझिझक स्वीकार किया जाना चाहिए कि भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में दलित प्रश्न, स्त्री प्रश्न और अन्य अधिरचना के प्रश्नों को देखने का एक वर्ग अपचयनवादी भटकाव पार्टी में मौजूद रहा है। यह भी एक तरह का वर्ग अपचयनवाद ही है कि आर्थिक प्रश्नों पर तो सोचा गया, इससे थोड़ा आगे बढ़े तो राजनीतिक अधिरचना के बारे में भी सोच लिया जैसेकि राजनीतिक वर्ग संघर्ष का स्वरूप क्या होगा, वर्गों की लामबन्दी किसप्रकार होगी। लेकिन वर्ग संघर्ष की जो सामाजिक सांस्कृतिक तैयारी का प्रश्न है, संघर्ष का जो सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र (Arena) है, उसके बारे में पार्टी ने कभी नहीं सोचा। इसकी मुख्य वजह यह है कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अपने जन्म से ही विचारधारात्मक तौर पर काफ़ी कमज़ोर रही है। इस विचारधारात्मक कमज़ोरी की भी एक वजह है, वह है भारत का औपनिवेशिकीकरण, एक औपनिवेशिक सामाजिक ढाँचे में निर्मित पार्टी ऐसी ही हो सकती थी। लेकिन यह एक अलग चर्चा का विषय है। जैसे कि हमने ऊपर की पंक्तियों में उल्लेख किया है पार्टी 1925 में अपनी स्थापना के आठ वर्ष बाद भी अपने नेतृत्वकारी केन्द्र का गठन नहीं कर सकी थी। उस समय भारत एक अर्द्धसामन्ती-औपनिवेशिक देश था जो नवजनवादी क्रान्ति की मंजिल में था, लेकिन पार्टी के पास क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक न था। और न ही नवजनवादी क्रान्ति की मंजिल में होते हुए भी इसके पास अलग से कोई कृषि कार्यक्रम ही था। ऐसी हालत में इससे कैसे उम्मीद की जा सकती थी कि वह पूरे विश्व की सबसे जटिल परिघटनाओं में से एक जातिवाद की परिघटना को समझे और उसके बारे में एक दस्तावेज़ पेश करे? दूसरे, यह पार्टी अन्य देशों की बड़ी बिरादर पार्टियों ख़ासकर सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी पर विचारधारात्मक तौर पर निर्भर रही। ज़ाहिर है अपने देश की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों का इसका विश्लेषण भी बहुत सतही ही था। स्थिति यह थी कि पार्टी कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की नीतियों और मार्क्सवादी सिद्धान्तकार के रूप में ख्यात रजनीपाम दत्त के ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल और 'इम्प्रेकोर' (दुनिया भर के क्रान्तिकारियों को एक दूसरे के विचारों और दस्तावेजों से परिचित कराने और समझ बनाने के उद्देश्य से 'थर्ड इण्टरनेशनल' द्वारा स्थापित मार्क्सवादी पत्रिका जो 1938 में बन्द हो गई) में छपे निबन्धों के आधार पर अपनी रणनीति एवं आम रणकौशल तय करती थी। जातिवाद जैसी बेहद जटिल परिघटना को समझ पाने और इसके उन्मूलन की कोई रणनीति निरूपित कर पाने में कम्युनिस्ट पार्टी की अक्षमता को उसकी इसी विचारधारात्मक कमज़ोरी के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाना चाहिए। समस्या को समझने का हमारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक होना चाहिए, किसी को कोसने और ग़लतियाँ निकालने का नज़रिया हमें महज अहमन्नयतापूर्ण और अनुत्पादक बहस में उलझाये रखेगा।

भारत की जाति व्यवस्था नस्लीय या रंग आधरित भेदभाव से बिल्कुल भिन्न व अत्यन्त प्राचीन है। रंग और नस्लीय भेदभाव आधुनिक इतिहास की परिघटनाएँ हैं जबकि जाति व्यवस्था की मौजूदगी प्राचीन इतिहास काल की निरन्तरता में है। जब भारत में गुलामी का युग था, जब गणराज्यों का युग था उसी समय से जाति व्यवस्था अपना रूप बदलती हुई मौजूद रही है। समाज के वर्ग अन्तरविरोधों का टकराव कहीं तो जातिगत अन्तरविरोधों से होता रहा है और कहीं इनकी ओवरलैपिंग (Overlaping) भी होती रही है। जिसके चलते जाति का सवाल और भी अधिक जटिल हो जाता है। ज़ाहिर है इसे समझ पाना भारत जैसी विचारधारात्मक तौर पर एक अत्यंत कमज़ोर कम्पुनिस्ट पार्टी के लिए काफ़ी मुश्किल काम

था। दलित समस्या को अगर हम एक सामाजिक समस्या, सामाजिक अधिरचना के साथ जुड़ी समस्या के रूप में लें तो यह सच है कि इस मामले में अनेक प्रश्नों की अनदेखी हुई है।

परन्तु यह अनदेखी कम्युनिस्ट पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण थी, लिहाज़ा पार्टी का ज़ोर आर्थिक-राजनीतिक मुद्दों पर केन्द्रित वर्ग संघर्ष पर अधिक रहा और सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों को न तो वह ठीक ढंग से समझ ही पाई और न ही इनके इर्द-गिर्द संघर्ष संगठित करने पर वह पूरा ज़ोर ही दे पाई। उस समय मोटे तौर पर कतारों तक में यह समझ पैठी हुई थी कि वर्ग संघर्ष जब आगे बढ़ेगा तो ऐसे सारे प्रश्न इस प्रक्रिया में हल हो जायेंगे। दूसरी यह धारणा भी उनके दिमाग में बैठी हुई थी कि कुछ मोटे-मोटे नारे देकर, मसलन, दो ही जातियाँ हैं एक अमीर और दूसरा ग़रीब, या कि जातिवाद के सारे फर्क भुलाकर सभी ग़रीब एक हो जाओ, कम्युनिस्ट आन्दोलन इस बात पर ध्यान नहीं दे पाया कि पूरे सामाजिक ताने-बाने में उसके एक-एक रेशे में, तमाम छोटी-छोटी सामाजिक संस्थाओं में जातिगत संस्कार घुले हुए हैं। उनके खिलाफ़ लगातार सांस्कृतिक क्रान्ति चलाए बिना, शासक वर्ग के विचारधारात्मक-सांस्कृतिक वर्चस्व को तोड़े बिना, जिसे बनाए रखने के लिए वह लोगों के बीच जड़ जमाए जातिगत संस्कारों का इस्तेमाल करता है, कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन विकास नहीं कर सकता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि कम्युनिस्टों ने इन प्रश्नों पर कुछ किया ही नहीं, जैसा कि तमाम तरह के दलितवादी इलज़ाम लगाते हैं। कम्युनिस्टों ने अपने सहज वर्ग बोध से हर तरह की सामाजिक-आर्थिक असमानता, लूट-दमन, और अन्याय के खिलाफ़ हर जगह लड़ाई लड़ी। उल्लेखनीय है कि कम्युनिस्टों के नेतृत्व में लड़े गए ऐतिहासिक तेलंगाना किसान संघर्ष की ज़मीन आंध्र महासभा ने तैयार की थी जिसमें कम्युनिस्ट प्रभावी हैसीयत में थे। इसने जातिवाद, स्त्रियों के दमन-उत्पीड़न, नशा व दहेज जैसी कुरीतियों के विरुद्ध छह-सात साल ज़बरदस्त सामाजिक आन्दोलन चलाया था। जिसके उपरांत तेलंगाना संघर्ष की ज़मीन तैयार हुई थी। तेलंगाना के महान संघर्ष के दौरान भी दलितों और स्त्रियों के दमन के खिलाफ़ आवाज़ बुलन्द की गई थी और इस आन्दोलन ने दलितों और स्त्रियों पर होनेवाले दमन-उत्पीड़न को काफ़ी हद तक रोका। सामन्तों और उच्च जातियों के लिए किये जाने वाले वेटी (बेगार) को, जिसे मुख्यत: दलित ही करते थे, ख़त्म कर दिया गया। इसके प्रभाव से खेतिहर मज़दूरों (जो मुख्य रूप से दलित ही थे) की उजरत में वृद्धि हुई। सामन्तों की लाखों एकड़ की ज़मीन ग़रीब, भूमिहीन और मँझोले किसानों के बीच (जिनमें दलित भी शामिल थे) बाँट दी गई। स्त्रियों के ख़िलाफ गैर-बराबरी और अन्याय तथा हर किस्म के भेदभाव और छुआछूत पर तेलंगाना के किसान विद्रोह ने जो ज़बरदस्त चोट की उसके बारे में सुन्दरैया लिखते हैं :

"इस संघर्ष में स्त्रियों ने पुरुषों के बराबर भागीदारी की थी, अत: समाज में युगों से प्रचलित इन विचारों के खिलाफ कि स्त्रियाँ, पुरुषों से कमतर होती हैं, अभियान चलाना आसान हो गया। राज्य ग्राम समितियों ने इस तरह के अभियान चलाये और यह घोषित किया कि स्त्रियों और मर्दों के अधिकार बराबर हैं। स्त्रियाँ ग्राम पंचायत समितियों में चुनी गईं... अनचाही शादियों पर (यानी लड़कियों को ऐसे व्यक्ति से शादी के लिए मज़बूर करना जिसे वे पसन्द नहीं करतीं) रोक लगाई गई और उचित मामलों में उनके लिए तलाक लेना साथ ही नये वैवाहिक जोड़े के लिए एक सम्मानजनक ज़िन्दगी बसर करना आसान बनाया गया।"

आगे वह छुआछूत के ख़ात्मे के बारे में लिखते हैं, "गाँवों में जाति-आधारित भेद-भाव काफ़ी गहरे थे। सरकार के विरुद्ध संघर्ष में जाति और धर्म के भेदभाव भुलाकर लोगों को जब

एकजुट होकर एकबारगी लड़ना पड़ा, तो छुआछूत के खिलाफ लड़ना भी उसके बाद अपेक्षाकृत आसान हो गया। गुरिल्ला दस्तों में समानता और परस्पर सम्मान पर सख़्ती से अमल किया जाता था। इस व्यवहार ने लोगों की सोच को बदलने का काम किया।

ईश्वर, भूत-प्रेतों आदि में विश्वास बहुत हद तक टूट गए। खासकर नौजवानों में यह उल्लेखनीय हद तक समाप्त हो गए।"(6)

ऐसी ही गतिविधियाँ कम्युनिस्टों ने कई जगहों पर संचालित किया। पूर्वी उत्तर प्रदेश में कम्युनिस्टों द्वारा संगठित संघर्ष की बदौलत आज़ादी के पहले ही गाँव के साझा कुओं से दलितों के पानी पीने पर रोक जैसी प्रथाएँ खत्म हो गई थीं। सुभाष गाताड़े जैसे लोगों को यह पता होना चाहिए कि वे कम्युनिस्ट ही थे जिन्होंने जातिवाद की बेड़ियों के खिलाफ़ जबरदस्त संघर्ष चलाते हुए दलितों के बीच लगातार रहकर इस प्रकार काम किया कि वे चमार ही कहे जाने लगे।

इस प्रकार कम्युनिस्ट कतारें अनुभववादी ढंग से जगह-जगह काम तो करती रहीं, लेकिन पार्टी नेतृत्व ने इसे सूत्रबद्ध नहीं किया। इन कामों को उन्होंने विचारधारात्मक आधार मुहैया नहीं कराया।

सुभाष गाताड़े का कहना है कि औपनिवेशिक भारत में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौर में कम्युनिस्ट आन्दोलन, और फूले व अम्बेडकर के आन्दोलन में एक रणनीतिक गठबन्धन की सम्भावना मौजूद थी। लेकिन डा. अम्बेडकर और जाति के प्रश्न पर कम्युनिस्ट पार्टी की ग़लत पहुँच के चलते ऐसा सम्भव नहीं हो सका। यह सरासर ग़लतबयानी है। औपनिवेशिक भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन और अम्बेडकर के नेतृत्व वाले "आन्दोलन" में ऐसे किसी भी गठबन्धन की कोई सम्भावना नहीं थी। यह दोनों धाराएँ एक-दूसरे से विपरीत दिशाओं में बह रही थीं। कम्युनिस्ट पार्टी औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति की लड़ाई लड़ रही थी जबकि अम्बेडकर दलितों की रहनुमाई करते-करते उपनिवेशवाद के पक्ष में जा खड़े हुए थे।

राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन काल में देश के जात-पात व अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन के तीन बड़े नाम हैं : ज्योतिबा फुले, अम्बेडकर और पेरियार (बेशक यह कोई इकलौता आन्दोलन नहीं था, इसी के समान्तर और इससे कहीं ताक़तवर कम्युनिस्ट आन्दोलन भी था, जो तमाम विचारधारात्मक कमजोरियों के बावजूद, अपने ढंग से जात- पात व अस्पृश्यता के ख़िलाफ़ अपेक्षाकृत कहीं अधिक बड़े पैमाने पर और कामयाबी के साथ लड़ रहा था।) ज्योतिबा फूले अम्बेडकर के पहले थे, जबकि पेरियार उनके समकालीन। जाति के मूल और इसके उन्मूलन के सवालों पर इन तीनों के विचार अलग-अलग हैं, लेकिन भारत की औपनिवेशिक गुलामी के लिए ज़िम्मेदार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति इनकी पहुँच एक समान थी। भारत के औपनिवेशीकरण से, ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा यहाँ के प्राकृतिक संसाधनों तथा सस्ती श्रमशक्ति के बेतहाशा शोषण के उपोत्पाद के बतौर यहाँ जिस पूँजीवादी विकास की शुरुआत हुई, उससे यहाँ के जातिगत कठोर श्रम-विभाजन में दरारें पड़ने लगीं। नये-नये धन्धों के पैदा होने से दलितों के एक हिस्से को भी अपने जाति आधारित धन्धे छोड़कर अन्य पेशों को अपनाने का मौक़ा मिला। अंग्रेज़ों द्वारा शुरू की गयी शिक्षा व्यवस्था में दलित जातियों के एक छोटे से हिस्से को भी पढ़ने का मौक़ा मिला। ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा किये गये ऐसे "सुधारों" के चलते फुले, अम्बेडकर तथा पेरियार जैसे समाज-सुधारक ब्रिटिश राज्य के प्रति प्रशंसा का रुख़ रखते थे। अम्बेडकर कहते हैं, "यह हिन्दू ईश्वर द्वारा पहले से

आदेशित नियति थी। ब्रिटिश के आने से पहले, अछूत, अछूत बने रहने में ही संतुष्ट थे। यह हिन्दू ईश्वर द्वारा पूर्व आदेशित नियति थी और हिन्दू राज्य इसे लागू करवाता था। इससे बचने का कोई उपाय नहीं था। दुर्भाग्य या सौभाग्य से, ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत में अपनी सेना के लिए सैनिकों की आवश्यकता पड़ी और उसे अछूतों के अलावा और कोई नहीं मिला।... अछूतों से बनी सेना की मदद से ब्रिटिश ने भारत को जीता।..."[7] **अम्बेडकर कहते हैं कि इससे अछूतों को भी फ़ायदा हुआ, उन्होंनें अंग्रेज़ों से शिक्षा प्राप्त की। हालाँकि फूले तथा अम्बेडकर बीच-बीच में ब्रिटिश राज्य की आलोचना भी करते रहे हैं, मगर यह आलोचना ज़ुबानी जमाख़र्च से अधिक कुछ नहीं थी। व्यवहार में वह कभी भी औपनिवेशिक राज्य के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल नहीं हुए। फुले ब्रिटिश राज्य की आलोचना करते हुए भी अंग्रेज़ों के शुभाकांक्षी रहे और किसी प्रकार की माँग के लिए वे अपील करने तक सीमित रहते हैं।[8] अम्बेडकर तथा उनके समकालीन पेरियार ने तो राष्ट्रीय आन्दोलन के ख़िलाफ़ ब्रिटिश साम्राज्यवाद का साथ दिया। पेरियार नास्तिक थे। वह जात-पात विरोधी, ब्राह्मणवाद विरोधी होने के साथ-साथ उत्तर विरोधी तथा हिन्दी भाषा विरोधी भी थे। अम्बेडकर तथा फुले की तरह वह भी अपने समय के अन्तरविरोधों को समझने में नाकाम रहे। वह अंग्रेज़ों से भारत की आज़ादी के सख़्त विरोधी थे। उनका कहना था कि अंग्रेज़ों से आज़ादी का नतीजा ब्राह्मणवाद की वापसी होगा।**

अम्बेडकर कहीं तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद का महिमागान करते हैं और कहीं इसकी आलोचना करते हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का महिमागान करते हुए वह कहते हैं, "दलित वर्ग तथा ब्रिटिश एक असाधारण बन्धन में बँधे हुए हैं। दलित वर्गों ने अंग्रेज़ों का रूढ़िवादी हिन्दुओं के सदियों पुराने जुल्मों तथा अत्याचारों से मुक्ति दिलाने वाले लोगों के रूप में स्वागत किया था। उन्होंने हिन्दुओं, मुसलमानों तथा सिखों के ख़िलाफ़ युद्ध लड़कर अंग्रेज़ों को भारत का यह विशाल साम्राज्य जीतकर दिया था, जिसके चलते उन्होंने दलित वर्गों के सरपरस्त की भूमिका ग्रहण की।"[9]

अपनी उक्त अवस्थिति से 180 डिग्री के कोण पर मुड़कर ब्रिटिश राज्य की कटु आलोचना करते हुए वह कहते हैं, "उन्नीसवीं शताब्दी के पहले 25 वर्षों में जब ब्रिटिश शासन एक यथार्थ बन गया, यहाँ पाँच अकाल पड़े, जिन्होंने क़रीब 10 लाख लोगों की जान ली। दूसरे 25 वर्षों में दो अकाल पड़े, लगभग चार लाख लोग मारे गये। तीसरे 25 वर्षों में छह अकाल पड़े, और मरने वालों की संख्या 50 लाख हो गयी। और सदी के अन्तिम 25 वर्षों में हम क्या देखते हैं? अठारह अकाल! और इनमें मरने वालों की संख्या अन्दाज़न डेढ़ से दो करोड़ है।... महानुभावो, इसका कारण क्या है! साफ़-साफ़ शब्दों में कहना हो तो यह ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गई नीति है, जिसका उद्देश्य हमेशा देश में व्यापार और उद्योग के विकास को रोकना रहा है।... इस नीति के चलते भारत को एक ग़रीब देश में बदल दिया गया है। ग़रीबी की स्थापना के मुख्य शिकार कौन हैं? वे दलित किसान जो अभी भी छह-छह महीने अपना पेट नहीं भर पाते, वह शिकारों की बहुसंख्या है...

"...ब्रिटिशों के आने से पहले अस्पृश्यता के चलते आपकी हालत अत्यन्त भयानक थी। क्या ब्रिटिश सरकार ने इस अस्पृश्यता को ख़त्म करने के लिए कुछ भी किया है? ब्रिटिशों के आने से पहले आप गाँव के कुँओं से पानी नहीं ले सकते थे। क्या ब्रिटिश सरकार ने आपको यह अधिकार देने की कोशिश की है? ब्रिटिशों के आने से पहले आप मन्दिरों में दाख़िल नहीं

हो सकते थे। क्या आप आज ऐसा कर सकते हैं? ब्रिटिशों के आने से पहले आपको पुलिस में नौकरी नहीं दी जाती थी। क्या ब्रिटिश सरकार अब आपको नौकरी दे रही है? ब्रिटिशों के आने से पहले आपको फ़ौज में भर्ती होने की आज्ञा नहीं थी। क्या अब आपके लिए यह मौक़ा है?... महानुभावो, आप एक भी सवाल का हाँ में जवाब नहीं दे सकते। जिन्होंने इस देश पर इतना लम्बा समय शासन किया है, हो सकता है कि उन्होंने कुछ अच्छी चीज़ें की हों। पर एक बात पक्की है कि आपकी हालत में इससे कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया है..."(10)

अम्बेडकर के ही शब्दों में ब्रिटिश शासन की एक शताब्दी (19वीं) में भारत में उसकी नीतियों की बदौलत पड़े अकालों के कारण 2 करोड़ से भी अधिक हिन्दुस्तानी (ग़रीब) मारे गये जिनमें बहुसंख्यक दलित थे। अम्बेडकर यह भी कहते हैं कि अंग्रेज़ों के आने से भारत में अछूतों की हालत में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया। इस सबके बावजूद वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय संघर्ष में शामिल नहीं हुए, बल्कि उसका विरोध करते रहे।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद से देश की आज़ादी के आन्दोलन में अछूतों के शामिल न होने (यहाँ पर अम्बेडकर सभी अछूतों की तरफ़ से बोल रहे हैं, भले ही अछूतों के एकमात्र नेता केवल वही नहीं थे। देश में जगह-जगह दलित कम्युनिस्टों के नेतृत्व में जाति उत्पीड़न के साथ-साथ देश की आज़ादी के लिए भी लड़ रहे थे) की वजह बताते हुए अम्बेडकर कहते हैं कि उसकी वजह, "यह नहीं है कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के औज़ार हैं, बल्कि उनका यह डर है कि भारत की स्वतंत्रता से हिन्दू प्रभुत्व स्थापित हो जायेगा जो निश्चय ही उनके लिए जीवन, समृद्धि और खुशी प्राप्त करने की सभी संभावनाओं के द्वार बंद कर देगा।"(11)

अम्बेडकर देश की आज़ादी की लड़ाई को "कपटभरा आन्दोलन" "Dishonest Agitation"(12) कहते हैं। देश की आज़ादी के आन्दोलन का जातिवादी विश्लेषण पेश करते हुए वह कहते हैं कि आज़ादी की लड़ाई "मुख्य तौर पर हिन्दुओं द्वारा लड़ी जा रही है।" (गांधी और कांग्रेस ने अछूतों के साथ क्या किया, अम्बेडकर, What the Congress and Gandhi have done to the Untouchables) इसलिए दलितों को इस लड़ाई से दूर रहना चाहिए।

एक अन्य जगह पर अम्बेडकर कहते हैं, "डिप्रेस्ड क्लासेज़ (यानी अम्बेडकर तथा उनके नेतृत्व वाला आन्दोलन – लेखक) व्यग्र नहीं हैं, वे शोर नहीं मचा रहे हैं, उन्होंने यह माँग करते हुए कोई आंदोलन नहीं शुरू किया है कि ब्रिटिश द्वारा भारतीय जनता को तत्काल सत्ता का हस्तांतरण होना चाहिए। ...सीधे शब्दों में कहें तो उनकी अवस्थिति यह है कि हम राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण के लिए व्यग्र नहीं हैं..."(13)

अम्बेडकर इस विभ्रम के शिकार थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से आज़ाद होने के बाद भारत के दलितों की हालत में कोई सुधार नहीं आयेगा, बल्कि उनकी हालत और भी बुरी हो जायेगी। अंग्रेज़ों के भारत पर क़ब्ज़े के बाद यहाँ के दलितों की स्थिति में कुछ मामूली सुधार ज़रूर हुए थे, लेकिन अंग्रेज़ों ने यहाँ की जाति व्यवस्था को जस का तस रहने दिया था। मुख्य तौर पर इसी बिन्दु पर अम्बेडकर ब्रिटिश शासन की बार-बार आलोचना करते थे। और यहाँ की जाति व्यवस्था को ख़त्म करने का बार-बार अंग्रेज़ों से अनुरोध करते थे।

भारत के लोगों के जातियों में बँटवारे (इसी तरह धार्मिक, इलाक़ाई, राष्ट्रीय बँटवारों) को ख़त्म करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित में नहीं था। उल्टे ऐसे बँटवारे लोगों में फूट डालकर

उन पर शासन करने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सहायक सिद्ध होते थे। इसीलिए उन्होंने यहाँ पहले से ही विद्यमान जाति व्यवस्था से कोई छेड़छाड़ नहीं की। लार्ड कार्नवालिस ने जिस नये भूमि-बन्दोबस्त (ज़मींदारी बन्दोबस्त) को लागू किया, उसमें दलितों की स्थिति ठीक वैसी ही बनी रही, जैसी ग्रामीण भाईचारे की व्यवस्था में थी। अंग्रेज़ों ने दलितों को पुलिस या सेना में भी भर्ती नहीं किया। बस अलग से एक महार रेजिमेण्ट बना दी थी। कहीं भी उन्होंने दलितों तथा अन्य जातियों के भारतीय सैनिकों की साझा रेजिमेण्ट नहीं बनायी।

दरअसल, ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत में हुकूमत करने के वास्ते यहाँ पर सामन्तवाद के साथ गठबन्धन बनाया था। उसने यहाँ पर सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को बरकरार रखा। इस व्यवस्था में दलितों की भारी बहुसंख्या कृषि मज़दूर या ग़रीब भूमिहीन किसान थे। एक छोटी सी दलित आबादी शहरों में निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम थी, जो अपने जाति आधारित पेशों में लगी हुई थी। इसलिए औपनिवेशिक भारत में उस समय के प्रभुत्वशील उत्पादन सम्बन्धों को तोड़े बगैर दलित मुक्ति की बात करना हवा में क़िले बनाने जैसा था, और यही काम अम्बेडकर, फुले और पेरियार ने किया। वे भारत में जाति व्यवस्था की जड़ तक पहुँचने में नाकाम रहे। अपने भाववादी विश्वदृष्टिकोण के चलते वह जाति व्यवस्था की जड़ ब्राह्मणवादी विचारधारा में ही खोजते रहे। और अम्बेडकर ने तो इस खोज की ख़ातिर प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने में अपने जीवन का अच्छा-ख़ासा वक़्त बर्बाद किया। वह अपने समय के अन्तरविरोधों और उनमें से प्रधान अन्तरविरोध छाँटने में नाकाम रहे। यही दृष्टिकोण उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ मेल-मिलाप की तरफ़ ले गया। अपने समकालीन आन्दोलनों, कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों तथा कम्युनिस्ट आन्दोलन का अम्बेडकर ने जातिवादी विश्लेषण पेश किया। कांग्रेस के नेतृत्व वाले आन्दोलन को उन्होंने सवर्णों का आन्दोलन बताकर ख़ुद को इससे अलग कर लिया। इस तरह राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई का मैदान पूरी तरह सवर्णों के लिए खुला छोड़कर अम्बेडकर ने ख़ुद को गाँव के कुँओं से दलितों के पानी लेने के हक़, तथा दलितों के मन्दिरों में प्रवेश करने के "आन्दोलनों" तथा ब्रिटिश सरकार से दलितों के लिए रियायतों के कुछ टुकड़ों की भीख माँगने तक सीमित कर लिया।

अम्बेडकर के नेतृत्व में समाज-सुधार के जो आन्दोलन हुए भी, वे इतने मरियल तथा बेजान थे कि वे जाति व्यवस्था पर किसी तरह की प्रभावी चोट कर पाने में निहायत ही अयोग्य थे। उनके नेतृत्व में दलितों के मन्दिर प्रवेश के जो भी "आन्दोलन" हुए, उनमें से ज़्यादातर असफल ही रहे। एकाध मामले में ही उन्हें कामयाबी मिली (जैसे 1929 में बम्बई में एक सार्वजनिक स्थल पर गणेश की मूर्ति पूजा के हक़ के लिए दलित "आन्दोलन")।

अम्बेडकर के नेतृत्व में जो सबसे बड़ा दलित आन्दोलन हुआ वह था, उस समय के बम्बई महाप्रान्त के कोलाबा ज़िले के महाड़ क़स्बे में स्थित चावदार तालाब से दलितों द्वारा पानी लेने के लिए मार्च 1927 में हुआ आन्दोलन। इस आन्दोलन में लगभग 10 हज़ार दलितों ने हिस्सा लिया। अम्बेडकर के नेतृत्व में हज़ारों दलित महाड़ क़स्बे में जुटे, उन्होंने चावदार तालाब तक मार्च किया और वहाँ से पानी लिया। उसके बाद जब लोग छोटी-छोटी टुकड़ियों में अपने-अपने घरों को लौट रहे थे तो हिन्दू कट्टरपन्थियों ने उन पर हमला किया और उन्हें घेर-घेरकर पीटा। उसके बाद हिन्दू कट्टरपन्थियों ने अपने धार्मिक अनुष्ठानों से तालाब को शुद्ध किया और उस पर पुनः क़ब्ज़ा करके दलितों के वहाँ से पानी लेने पर पाबन्दी लगा दी।

दिसम्बर 1927 में अम्बेडकर के नेतृत्व में चावदार तालाब से दलितों द्वारा पानी लेने के लिए दोबारा आन्दोलन शुरू किया गया। मगर आन्दोलन शुरू होने से पहले ही हिन्दू

कट्टरपन्थियों ने स्थानीय अदालत से स्टे ले लिया। अम्बेडकर का आन्दोलन 25 दिसम्बर 1927 को महाड़ से पाँच मील दूर दसगाँव से शुरू हुआ। जैसे ही अम्बेडकर वहाँ पहुँचे, उन्हें ज़िला मजिस्ट्रेट से बुलावा आ गया और अम्बेडकर डी.एम. से मिलने पहुँचे। डी.एम. ने अम्बेडकर को क़ानून अपने हाथ में न लेने की "सलाह" दी और अम्बेडकर ने यह "सलाह" मान ली। बाद में डी.एम. खुद दलितों की सभा में पहुँचे और उसे सम्बोधित करते हुए उन्होंने दलितों को क़ानून का उल्लंघन करने पर सख़्त सज़ाओं की धमकी दी। इसके बाद 27 दिसम्बर को अम्बेडकर ने आन्दोलन वापस लेने का एलान कर दिया, ताकि सरकार दलितों से नाराज़ न हो।[14] अम्बेडकर के नेतृत्व में लड़े गये जिस सबसे बड़े आन्दोलन की चर्चा होती है वह इस प्रकार समाप्त हुआ।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ देश की आज़ादी की लड़ाई में शामिल न होने को अम्बेडकर यह कहकर जायज़ ठहराते रहे कि "हम एक ही समय में सभी दुश्मनों ने नहीं लड़ सकते।"[15]अम्बेडकर औपनिवेशिक भारत में दलितों के शोषण-उत्पीड़न की जड़ (साम्राज्यवाद-सामन्तवाद गठबन्धन) पर हाथ डालने की बजाय ब्राह्मणवाद विरोधी छोटे-मोटे सुधार "आन्दोलनों" में ही उलझे रहे। ऐसे सुधारों के लिए भी कभी भी वह क़ानून का उल्लंघन करने को तैयार नहीं थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन में उस समय एक और बड़ी शक्ति थी, उस समय की कम्युनिस्ट पार्टी। कम्युनिस्ट पार्टी ही उस समय साम्राज्यवाद-सामन्ती गठबन्धन के ख़िलाफ़ आन्दोलन का नेतृत्व कर रही थी। भारत में जाति प्रश्न का समाधान अटूट रूप से साम्राज्यवाद-सामन्ती गठबन्धन से भारत के तमाम मेहनतकश लोगों की मुक्ति के साथ जुड़ा हुआ था। यह सच है कि उस समय कम्युनिस्ट पार्टी एक हद तक वर्ग अपचयनवाद के भटकाव की शिकार थी। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति प्रश्न के समाधान के लिए कुछ किया ही नहीं, जैसा कि आज के दलितवादी बुद्धिजीवी इल्जाम लगाते हैं। जैसा कि अम्बेडकर कम्युनिस्ट पार्टी की 'ब्राह्मण लड़कों का झुण्ड' कहकर भर्त्सना करते थे।[16]हर जगह कम्युनिस्टों ने हर तरह की सामाजिक-आर्थिक ग़ैर-बराबरी, शोषण-उत्पीड़न, अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ाई लड़ी। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में लड़े गये महान तेलंगाना किसान संघर्ष ने सामन्ती व्यवस्था द्वारा किये जा रहे महिलाओं तथा दलितों के शोषण-उत्पीड़न पर भी ज़ोरदार प्रहार किया था। (इस पर और अधिक विस्तार से जानने के लिए देखें, पी. सुन्दरैया, 'Telengana People's Struggle and Its Lessons')

लेकिन अपनी विचारधारात्मक कमजोरियों के चलते कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस के हाथों से छीनने में नाकाम रही। इस कारण भारत के मेहनतकशों की मुक्ति की परियोजना (जाति प्रश्न के समाधान सहित) आगे नहीं बढ़ पायी।

अम्बेडकर ने कम्युनिस्टों की सिर्फ़ 'ब्राह्मण लड़कों का झुण्ड' कहकर ही भर्त्सना नहीं की, उन्होंने कम्युनिस्टों द्वारा अपनाये जाने वाले हिंसक तौर-तरीक़ों की भी भर्त्सना की।[17] हिंसा के सवाल पर भी अम्बेडकर का स्टैण्ड एकदम विरोधाभासी था। कहीं तो वह शोषित वर्गों द्वारा अपनी मुक्ति के लिए हिंसा का सहारा लिये जाने के ख़िलाफ़ (उपरोक्त) हैं और कहीं वह इसके हक़ में दिखायी पड़ते हैं। वह कहते हैं, "अहिंसा सबसे सही नियम है...जो व्यक्ति आपको मारने, या किसी स्त्री को बेइज़्ज़त करने आता है, या किसी दूसरे के घर को आग लगाता है, या चोरी करता है और भागने की कोशिश में मारा जाता है, वह खुद अपने पापों के द्वारा मारा जाता है जैसा कि सभी हमलावरों और दुष्ट लोगों

के साथ होता है... सच कहूँ तो नियम यह होना चाहिए कि जहाँ भी सम्भव हो वहाँ अहिंसा हो, और जब भी आवश्यक हो तब हिंसा हो।"[18]

हिंसा के सवाल पर अम्बेडकर के ख़यालात भले ही कितने भी विरोधाभासी रहे हों, लेकिन व्यवहार में उन्होंने हमेशा ही अहिंसा का पालन किया। उनके नेतृत्व में दलितों की हालत में सुधार के लिए चले "आन्दोलनों" में से कोई भी "आन्दोलन" कभी भी व्यवस्था से टक्कर लेने की राह पर आगे नहीं बढ़ा।

हिंसा कभी भी कम्युनिस्टों के लिए पहली पसन्द नहीं रही। यह उनके लिए आख़िरी उपाय है। कम्युनिस्ट शोषक वर्गों द्वारा फैलाई जाने वाली प्रति-क्रान्तिकारी हिंसा के प्रतिकार के लिए मेहनतकश जनता को क्रान्तिकारी हिंसा के लिए तैयार करते हैं, क्योंकि इसके बग़ैर शोषित जनों का कोई भी आन्दोलन कामयाबी की दिशा में एक इंच भी नहीं बढ़ सकता। हिंसा के प्रति नकारात्मक रुख़ या क़ानूनी दायरे में ही सीमित रहने के चलते अम्बेडकर के नेतृत्व वाला कोई भी समाज-सुधार "आन्दोलन" कभी भी वह स्तर हासिल नहीं कर पाया, जो कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में तेलंगाना के किसान संग्राम ने हासिल किया था, जिसने सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों पर घातक प्रहार करने के साथ-साथ दलितों और महिलाओं को भी बड़े पैमाने पर हर तरह के शोषण-उत्पीड़न से राहत पहुँचायी।

अम्बेडकर के नेतृत्व वाला दलित आन्दोलन ज़्यादातर कुँओं से पानी भरने तथा मन्दिर प्रवेश जैसे मुद्दों में ही उलझा रहा। भले ही समाज में दलितों को बराबरी का दर्ज़ा दिलाने के लिए ये अहम मुद्दे थे। लेकिन इनसे भी अहम (सर्वाधिक अहम) मुद्दा था भूमि सुधारों, या सामन्तों के क़ब्ज़े वाली ज़मीन के ग़रीब तथा भूमिहीन किसानों में वितरण का मुद्दा, जो सभी जातियों के ग्रामीण ग़रीबों का साझा मुद्दा था। अगर इस तथा ऐसे ही सभी ग़रीबों के साझा मुद्दों पर जनता को लामबन्द किया जाता, तो मेहनतकश जनता के भीतर के अन्तरविरोधों (जैसे कि उच्च जातियों के ग़रीबों के जातीय पूर्वाग्रह) को भी हल किया जा सकता था। इस तरह 'ब्राह्मणवादी' शक्तियों (उच्च जाति के कुलीनों) को उन्हीं की जातियों के ग़रीबों से अलग-थलग किया जा सकता था। लेकिन अम्बेडकर दलित मुक्ति के सर्वाधिक अहम मुद्दों को उठाने की बजाय गौण मुद्दों में ही उलझे रहे। और अम्बेडकर द्वारा ग़लत क्रम से उठाये गये मुद्दे उच्च जातियों के ग़रीबों को भी (अपने जातीय पूर्वाग्रहों के चलते) ग़रीब दलितों के विरोध में खड़ा कर देते थे। इस तरह अम्बेडकर अनजाने ही 'ब्राह्मणवाद' को कमज़ोर करने की बजाय और मज़बूत ही बनाते थे।

जब अंग्रेज़ 'फूट डालो और राज करो' की अपनी नीति के तहत हिन्दू, मुसलमानों तथा सिखों के लिए अलग मण्डल बना रहे थे तो अम्बेडकर ने अंग्रेज़ों की चाल में आकर अछूतों के लिए अलग निर्वाचक मण्डल बनाये जाने की माँग उठा दी। लेकिन बाद में गाँधी के दबाव में वह इस माँग से पीछे हट गये (प्रसिद्ध पूना पैक्ट)। अम्बेडकर द्वारा उठाया गया यह भी एक ग़ैर-मुद्दा ही था। यह राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डालता और उसे कमज़ोर बनाता था।

अम्बेडकर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में एक फूट-परस्त शक्ति के रूप में काम करते रहे। उन्होंने अपने प्रभाव वाले दलितों को राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई से दूर रखा। उन्होंने कम्युनिस्टों को 'ब्राह्मण लड़कों का झुण्ड' का नाम देकर दलितों को उनकी मुक्ति की असल विचारधारा तथा राह से दूर किया।

अम्बेडकर ने मज़दूर संघर्षों में भी फूट-परस्त की ही भूमिका निभायी, इसका उदाहरण है 1929 की बम्बई के टेक्सटाइल मज़दूरों की हड़ताल। बम्बई टेक्सटाइल मिलों के मालिक अपने

कारख़ानों में नयी मशीनें लाये, जिससे एक ही मज़दूर तीन लूम चला सके। नतीजे के तौर पर मज़दूरों की छँटनी शुरू हुई। इस छँटनी के ख़िलाफ़ कम्युनिस्ट नेतृत्व वाली मज़दूर यूनियन गिरनी कामगार महामण्डल के आह्वान पर डेढ़ लाख मज़दूर हड़ताल पर चले गये। ई.डी. सेसून मिल (E.D. Sassoon Mill) के मैनेजर फ़्रेडरिक स्टोन्ज़ की अपील पर अम्बेडकर ने हड़ताल में शामिल मज़दूरों को काम पर लौटने के लिए प्रेरित किया। अम्बेडकर के कहने पर दलित मज़दूरों के काम पर लौटने से, बम्बई के लाखों टेक्सटाइल मज़दूरों की हड़ताल टूट गयी। 26 अप्रैल 1929 को जब गिरनी कामगार महामण्डल के आह्वान पर बम्बई के टेक्सटाइल मज़दूरों ने दोबारा हड़ताल की तो अम्बेडकर ने इस हड़ताल की तोड़ने के लिए फिर से ज़ोरदार अभियान चलाया।

अम्बेडकर द्वारा इन हड़तालों का विरोध करने की वजह एक तो यह बतायी जाती है कि उस समय कपड़ा मिलों में बुनाई विभाग जैसे अधिक तनख़्वाह वाले विभाग में दलित मज़दूरों को काम करने की आज्ञा नहीं थी। और कोई भी ट्रेड यूनियन इस भेदभाव के ख़िलाफ़ नहीं लड़ रही थी। इसके अलावा अम्बेडकर समझते थे कि कम्युनिज़्म तथा हड़तालें अलग ना किये जा सकने वाले जुड़वा हैं। उनका मानना था कि हड़तालों का इस्तेमाल मज़दूरों की आर्थिक लड़ाई से ज़्यादा राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है, जिससे दलितों की आर्थिक स्थिति अधिक बिगड़ जाती है।[19]

यहाँ पर अम्बेडकर कम्युनिज़्म से अपनी नफ़रत तथा मालिकों के प्रति वफ़ादारी दर्शाते हुए, फिर से मेहनतकशों की (दलित और ग़ैरदलित की) साझा दुश्मन के साथ लड़ाई को आगे बढ़ाने की बजाय जनता के बीच के दोयम दर्जे के अन्तरविरोधों को प्रधान बनाने की ग़लती करते हैं, जिससे दलित और ग़ैरदलित मज़दूरों दोनों को ही नुक़सान उठाना पड़ता है और फ़ायदा सिर्फ़ मालिकों को ही होता है।

अम्बेडकर की हर हाल हिफ़ाजत करने के चक्कर में लेखक है उपनिवेशवाद के प्रति अम्बेडकर की पहुँच की तुलना भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रभावों के बारे में 'मार्क्स की समझ' के साथ करता है। लेकिन ऐसा वह बेहद अवसरवादी ढंग से करता है और अपने कुकर्म को सही सिद्ध करने के लिए मार्क्स की रचना से कुछ पसन्दीदा हिस्से सन्दर्भ से काटकर छाँट लेता है। वह अपनी बात साफ-साफ कहने की बजाए एक प्रश्न के रूप में कहता है। वह प्रश्न करता है (जो कि दरअसल प्रश्न नहीं, बल्कि उत्तर है) कि "क्या यह कहना दुरुस्त न होगा कि अंग्रजों के अधीन भारत के बारे में फुले-अम्बेडकर की समझ की तुलना आंशिक तौर पर कार्ल मार्क्स की समझ से की जा सकती है? मार्क्स ने 1853 में लिखा है कि, "इंग्लैंड को भारत में दोहरा मिशन पूरा करना था, एक ध्वंस, और दूसरा पुनर्निर्माण का- पुराने एशियाई समाज का खात्मा भी और पश्चिमी समाज के नींव की स्थापना।" फिर चलताऊ ढंग से वह यह भी जोड़ देता है कि मार्क्स ने 1857 के जंग को जंगे आज़ादी' कहा था। फिर वह हमें बताते हैं कि 'मार्क्स को 'यह कहने में कोई हिचक नहीं कि अंग्रेजों ने नई सामाजिक क्रान्ति के बीज' बोए हैं।'

मार्क्स को अम्बेडकर के पक्ष में खड़ा करने का गाताड़े ने जो अवसरवादी कुकर्म किया है, उसके भण्डाफोड़ के भय से वे मार्क्स के उक्त उद्धरण का सन्दर्भ बड़ी चालाकी से गोल कर जाते हैं। ऐसी चालाकियों और शब्दों की बाजीगरी से कुछ लोगों को भरमाने में वह एक हद तक सफल तो हो ही जाते हैं। बहरहाल, 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' में 22 जुलाई 1853 को प्रकाशित मार्क्स के आलेख 'भारत में ब्रिटिश शासन के भावी नतीजे' के जिस अंश के हवाले

से उन्होंने अपनी बात कही है उसी आलेख में आगे चलकर, जिसकी चर्चा से गाताड़े बच निकलते है, मार्क्स यह लिखते हैं, "अंग्रेज बुर्जुआजी को चाहें जो कुछ भी करने को बाध्य कर दिया जाये वह जनता को मुक्ति नहीं दिलाएगी, न ही भौतिक तौर पर उनकी सामाजिक स्थिति को बेहतर बनाएगी, ये दोनों ही बातें उत्पादक शक्तियों के विकास पर ही नहीं, बल्कि जनता द्वारा उनके विनियोजन पर भी निर्भर करती हैं। लेकिन जिस चीज़ को करने में अंग्रेज पूँजीपति वर्ग विफल नहीं होगा, वह है इन दोनों की भौतिक बुनियाद रखना। क्या बुर्जुआजी ने कभी इससे कुछ अधिक भी किया है? व्यक्तियों और जनता को ख़ून और गन्दगी, विपदा और दुर्गति में घसीटे बगैर भी क्या इसने कभी विकास किया है? भारतीय जनता ब्रिटिश बुर्जआ वर्ग द्वारा अपने बीच बिखेरे गए समाज के नये तत्वों का लाभ तब तक नहीं उठा सकेगी जब तक स्वयं ब्रिटेन में मौजूदा शासक वर्गों की जगह औद्योगिक सर्वहारा नहीं ले लेता, या जब तक हिन्दुस्तानी खुद इतने शक्तिशाली नहीं हो जाते कि अंग्रेजी जुए को पूरी तरह उतार फेंकें।[20]

ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्तों द्वारा भारत के प्राकृतिक संसाधानों की लूट के उपोत्पाद के तौर पर उत्पादक शक्तियों की यहाँ एक सीमित हद तक विकास के चलते, मार्क्स कहीं भी इस नतीजे पर नहीं पहुँचते कि ब्रिटिश गुलामी भारतीय जनता के लिए वरदान है, या इस गुलामी के बोझ को अपने गले से उतार फेंकने के लिए भारत की जनता को संघर्ष नहीं चाहिए। अम्बेडकर की ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रति पहुँच मार्क्स की पहुँच के बिलकुल विपरीत थी। वह भारत की औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति के घनघोर विरोधी थे। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रति मार्क्स और अम्बेडकर की पहुँच को एक समान बताना अत्यन्त सुनियोजित ढंग से किया गया कुत्सा प्रचार ही है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि अम्बेडकर मार्क्सवाद को समझे बगैर उसके प्रति कटु भाव रखते थे। वह मार्क्सवाद को 'सुअरों का दर्शन' कहने तक चले गए। लेकिन सुभाष गाताड़े मार्क्सवाद के प्रति अम्बेडकर की हमदर्दी का प्रमाण देने के लिए उनके लेख 'जाति उन्मूलन' से कुछ पंक्तियाँ चुनकर हमारे सामने धर देते हैं। और इस बात से हमें सहमत करने में अपनी पूरी काबिलियत लगा देते हैं कि किसी भी सामाजिक शोषण-उत्पीड़न के खात्मे के लिए अब मार्क्सवाद को अम्बेडकर और बुद्ध के विचारों से अपने को समृद्ध करना होगा। वह कहते हैं, "उनकी (अम्बेडकर की) एक शानदार रचना 'जाति उन्मूलन' पर एक सरसरी नज़र ही यह स्पष्ट कर देती है कि वे मार्क्सवाद की कद्र करते थे, लेकिन इसके भारतीय पैरोकारों का व्यवहार उनके लिए एक बड़ी पहेली जैसा ही था। उन्होंने अपने निबन्ध 'बुद्ध या कार्ल मार्क्स' में मार्क्स के क्रान्तिकारी समानतावाद के प्रति आस्था व्यक्त की है। वह यह मानते थे कि एक मुक्तिदाता विचारधारा के तौर पर मार्क्सवाद बुद्ध मत के बहुत करीब है। दोनों में कुछ बातें साझा हैं। बुद्ध मत की तरह, मार्क्सवाद भी निजी सम्पत्ति के खात्मे की वकालत करता था, गरीबी का सम्बन्ध सामाजिक लूट-खसोट के साथ जोड़कर देखता था और सामाजिक संताप का हल वहीं और उसी वक्त प्रस्तुत करता था।"

हमें यहाँ यथार्थ को समझना होगा।

अम्बेडकर ने यूँ तो अपने लेखन तथा भाषणों में कई जगह कम्युनिज्म और मार्क्सवाद पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ की हैं। लेकिन 'बुद्ध अथवा कार्ल मार्क्स'[21] के अपने निबन्ध में उन्होंने मार्क्सवाद के बारे में अपने जिन विचारों का सविस्तार रखा है, मार्क्सवाद के बारे में अपनी जो समझ पेश की है तथा मार्क्सवाद की जो आलोचना प्रस्तुत की है, वह नितान्त चलताऊ, सतही और लचर है। उनके इस निबन्ध से ही यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि

उन्होंने मार्क्सवाद की एक भी मूल कृति को नहीं पढ़ा है।

अम्बेडकर अपने निबन्ध की शुरुआत इन शब्दों से करते हैं, "यदि कुछ लोगों को कार्ल मार्क्स और बुद्ध के बीच तुलना का काम मज़ाकिया लगता है, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।"[22] बुद्ध और कार्ल मार्क्स की तुलना करना अपने आप में निश्चय ही कोई मज़ाक़ की बात नहीं है। लेकिन उचित होता कि वे दोनों के सिद्धान्तों का पहले स्वयं भलीभांति अध्ययन करने के उपरान्त ही इस काम में हाथ डालते, तब यह पाठक के लिए ज्ञानवर्धक होता और लेखक के रूप में खुद अम्बेडकर के लिए भी। आगे अम्बेडकर लिखते हैं, "दोनों (बुद्ध और कार्ल मार्क्स – लेखक) के बीच तुलना आकर्षक तथा शिक्षाप्रद है।"[23] अफ़सोस कि अम्बेडकर द्वारा की गयी इस तुलना में से ये दोनों ही चीज़ें ग़ायब हैं। यह आकर्षक होने की बजाय बेहद उबाऊ और शिक्षाप्रद होने की जगह ग़लत जानकारियों से लबरेज़ है। आगे अम्बेडकर लिखते हैं, "यदि मार्क्सवादी अपने पूर्वाग्रहों को पीछे रखकर बुद्ध का अध्ययन करें और उन बातों को समझें जो उन्होंने कही हैं और जिनके लिए उन्होंने संघर्ष किया, तो मुझे यक़ीन है कि उनका दृष्टिकोण बदल जायेगा। वास्तव में उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि बुद्ध की हँसी व मज़ाक़ उड़ाने का निश्चय करने के बाद वे उनकी प्रार्थना करेंगे"[24] यहाँ पर अम्बेडकर पहले से ही यह मानकर चल रहे हैं कि मार्क्सवादी बुद्ध के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त हैं और उनकी हँसी व मज़ाक़ उड़ाते हैं। कौन ऐसे मार्क्सवादी हैं? अम्बेडकर यह नहीं बताते और न ही उनके ऐसे किसी लेखन का हवाला ही देते हैं। अगर हम थोड़ी देर के लिए अम्बेडकर से सहमत भी हो जायें कि कोई मार्क्सवादी बुद्ध के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त है और उनका मज़ाक़ उड़ाता है तब भी इसमें मार्क्सवाद का क्या दोष है? यह किसी मार्क्सवादी की समझ का दोष हो सकता है। मार्क्सवाद तो किसी भी दर्शन के पैदा होने, विकसित होने तथा पतन (और ऐसा होने के भौतिक आधार) को वैज्ञानिक ढंग से समझने में हमारी मदद करता है। मार्क्सवाद का दर्शन भौतिकवादी है तथा पद्धति द्वन्द्वात्मक। यह पद्धति हमें हर चीज़ को 'एक को दो में बाँटने' तथा सकारात्मक को नकारात्मक से अलग करना सिखाती है। इसी पद्धति से मार्क्सवादी बौद्ध धर्म या दर्शन का अध्ययन करते हैं। उसके सकारात्मक तत्वों को स्वीकार करते हैं तथा नकारात्मक तत्वों को नकारते हैं। वह बुद्ध की हँसी व मज़ाक़ तो बिल्कुल नहीं उड़ाते और ऐसा न करने के बावजूद भी वह बुद्ध की प्रार्थना तो क़तई नहीं करते।

आगे अम्बेडकर बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं या यूँ कहें कि वह बुद्ध और कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों की ख़ुद की समझ की व्याख्या करते हैं। बुद्ध के सिद्धान्तों के बारे में बताने के लिए तो वह कहते हैं कि "मैंने त्रिपिटक का अध्ययन किया।" लेकिन कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों के बारे में बताने के लिए उन्होंने मार्क्सवाद की कौन सी कृति का अध्ययन किया था, इसके बारे में वह कुछ नहीं बताते। मार्क्सवाद के बारे में जानकारी देते हुए वह कहते हैं, "मार्क्स आधुनिक समाजवाद या साम्यवाद का जनक है। परन्तु उसकी रुचि केवल समाजवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने व प्रस्तुत करने में ही नहीं थी। यह कार्य तो उससे बहुत पहले अन्य लोगों द्वारा कर दिया गया था। मार्क्स की अधिक रुचि इस बात को सिद्ध करने में थी कि उसका समाजवाद वैज्ञानिक है। उसका जेहाद पूँजीपतियों के विरुद्ध जितना था, उतना ही उन लोगों के विरुद्ध भी था, जिन्हें वह स्वप्नदर्शी या अव्यावहारिक समाजवादी कहता था।"[25] अगर अम्बेडकर ने मार्क्सवाद के बारे में बताने से पहले कुछ अध्ययन कर लेने की ज़रा सी भी जहमत उठाई होती तो वह इस तरह की हास्यास्पद बातें नहीं करते। वह यह नहीं बताते कि 'समाजवाद के सिद्धान्तों को प्रतिपादित व प्रस्तुत' करने

का काम कार्ल मार्क्स से 'बहुत पहले' किसने किया था? शायद उनका इशारा स सेंट-सीमों, शार्ल फूरिये, रॉबर्ट ओवेन के समाजवाद (यूटोपियाई) की तरफ़ है जो एक ऐसे समय में पैदा हुआ था जब सर्वहारा वर्ग अल्पसंख्यक और अविकसित था। यूटोपियाई समाजवाद के प्रवर्तकों के ख़िलाफ़ मार्क्सवाद के जेहाद या नापसन्दगी की बात तो दूर रही उल्टे आधुनिक (वैज्ञानिक) समाजवाद खुद को यूटोपियाई समाजवाद का वारिस मानता है। अपनी पुस्तिका 'समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में एंगेल्स यूटोपियाई समाजवादियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, वहीं वे उनके सिद्धान्तों की सीमाओं की भी चर्चा करते हैं। मार्क्सवाद का 'जेहाद' काल्पनिक समाजवादियों के अनुयायियों के विरुद्ध था जो विभिन्न धड़े व सम्प्रदाय बनाकर बिल्कुल अलग ही भूमिका अदा कर रहे थे। मज़दूर आन्दोलन के विकास के बावजूद काल्पनिक समाजवाद और कम्युनिज़्म के समर्थक पहले की ही भाँति हड़तालों, ट्रेड यूनियनों और राजनीतिक संघर्ष के प्रति नकारात्मक रुख़ रखते थे। वे मज़दूरों को वर्ग संघर्ष के पथ से परे एक यूटोपिया के क्षेत्र में, समाजवादी मनसूबेबाज़ी के क्षेत्र में (जैसेकि कम्युनिस्ट कालोनियों की स्थापना का विचार) ले जाते थे। अम्बेडकर न तो काल्पनिक तथा वैज्ञानिक समाजवाद के पैदा होने की भिन्न भौतिक परिस्थितियों को ही समझते हैं और न ही दोनों के बीच के बुनियादी फ़र्क़ को। अम्बेडकर "मार्क्सवाद" की अपनी व्याख्या जारी रखते हुए "मार्क्स के सिद्धान्तों" की एक सूची बनाते हैं और एक के बाद एक उन पर कहर बरपा करते हैं। उनका कहना है, "मार्क्स की अवधारणा निम्नलिखित प्रमेयों पर आधारित है :-

"दर्शन का उद्देश्य विश्व का पुनर्निर्माण करना है, ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की व्याख्या करना नहीं।"[26] इसी बात को अम्बेडकर दूसरे शब्दों में भी प्रस्तुत करते हैं, "दर्शन का कार्य विश्व का पुनर्निर्माण करना है, विश्व की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण देने या समझाने में अपना समय नष्ट करना नहीं।" लेकिन मार्क्स ऐसा कुछ नहीं कहते। अम्बेडकर जो कहते हैं, वह मार्क्स द्वारा फ़ायरबाख़ पर लिखी गयी ग्याहरवीं थीसिस का बिगड़ा और ग़लत रूप है। मार्क्स कहते हैं, "दार्शनिकों ने तरह-तरह से दुनिया की केवल व्याख्या की है, सवाल उसे बदलने का है।"[27] ऐसा नहीं है कि अम्बेडकर ने मार्क्स की कही हुई बात को ग़लत रूप में समझा, बल्कि उन्होंने इसे समझा ही नहीं है। आगे अम्बेडकर कहते हैं कि मार्क्स के मुताबिक़, "समाज दो वर्गों में विभक्त है – मालिक तथा मज़दूर"। यहाँ भी अम्बेडकर ग़लत जानकारी ही दे रहे हैं। मार्क्सवाद पूँजीवादी समाज को (या किसी भी अन्य पूर्व पूँजीवादी वर्गीय समाज को सिर्फ़ दो वर्गों में बँटा हुआ नहीं मानता। मार्क्सवाद बताता है कि मालिक तथा मज़दूर पूँजीवादी समाज के दो मुख्य वर्ग हैं, मगर इनके अलावा वह समाज में अन्य (मध्य) वर्गों की मौजूदगी से इनकार नहीं करता है। अम्बेडकर हमें बताते हैं कि मार्क्स कहते हैं, "मज़दूरों का मालिकों द्वारा शोषण किया जाता है। मालिक उस अतिरिक्त मूल्य का दुरुपयोग करते हैं।" इसमें से अम्बेडकर आधी बात तो सही कहते हैं कि मालिक मज़दूरों का शोषण करते हैं, लेकिन मार्क्सवाद अतिरिक्त मूल्य के दुरुपयोग या सदुपयोग की बात नहीं करता। मार्क्सवाद हमें बताता है कि पूँजीपतियों के धन (मुनाफ़े) का एकमात्र स्रोत मज़दूरों के श्रम (अतिरिक्त मूल्य) का शोषण है। मार्क्सवाद ऐसा कुछ नहीं कहता कि अगर मालिक वर्ग इस अतिरिक्त मूल्य का दुरुपयोग करते हैं तो मज़दूरों का शोषण ग़लत है और अगर सदुपयोग करते हैं तो मज़दूरों का शोषण सही है।

आगे अम्बेडकर बताते हैं कि मार्क्सवादी सिद्धान्त के मौलिक संग्रह में से कई बातों को इतिहास द्वारा असत्य प्रमाणित कर दिया गया है। वह कहते हैं कि जब से मार्क्सवाद अस्तित्व

में आया है, तभी से इसकी काफ़ी आलोचना होती आ रही है। इस आलोचना के फलस्वरूप कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत विचारधारा का काफ़ी बड़ा ढाँचा ध्वस्त हो चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्क्स का यह दावा कि उसका समाजवाद अपरिहार्य है, पूर्णतया असत्य सिद्ध हो चुका है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही सर्वप्रथम 1917 में, उसकी पुस्तक दास कैपिटल, समाजवाद का सिद्धान्त के प्रकाशित होने के लगभग सत्तर वर्ष बाद (अम्बेडकर इतना भी नहीं जानते कि 'पूँजी' कब प्रकाशित हुई थी) यहाँ तक कि साम्यवाद, जोकि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का दूसरा नाम है, रूस में आया, तो यह किसी प्रकार के मानवीय प्रयास के बिना किसी अपरिहार्य वस्तु के रूप में नहीं आया था। घनघोर अज्ञान! अम्बेडकर की मार्क्सवाद की समझ निहायत ही गयी-गुज़री है। मार्क्सवाद का सामान्य विद्यार्थी भी समझ सकता है कि यह एकदम वाहियात बकवास है। क्या मार्क्स ने कहीं भी कहा है कि समाजवाद अपरिहार्य है तो यह बिना किसी मानवीय प्रयासों के ही स्थापित हो जायेगा। मार्क्स बार-बार कहते हैं कि समाजवाद (सर्वहारा वर्ग की तानाशाही) सर्वहारा वर्ग के संगठित, सचेतन प्रयासों (वर्ग संघर्ष) के ज़रिये ही पूँजीवादी व्यवस्था को उलट कर ही स्थापित हो सकता है। अम्बेडकर कहते हैं कि 'साम्यवाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का दूसरा नाम है।' यह निहायत ही बचकानापन है। मार्क्सवाद के मुताबिक़ साम्यवाद समाजवाद के आगे की मंज़िल है। यहाँ वर्ग, वर्ग संघर्ष तथा इन वर्ग अन्तरविरोधों के उत्पाद राज्य का अस्तित्व नहीं रह जायेगा।

इसलिए साम्यवाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का ही दूसरा नाम नहीं है, बल्कि एक-दूसरे के विपरीत चीज़ें हैं।

यह दावा करने के बाद कि मार्क्सवाद का काफ़ी बड़ा हिस्सा ध्वस्त हो चुका है, अम्बेडकर हमें बताते हैं कि मार्क्सवाद की ये चार बातें ही बाक़ी बची रहती हैं :

1. दर्शन का कार्य विश्व का पुनर्निर्माण करना है, विश्व की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण देने या समझाने में अपने समय को नष्ट करना नहीं।
2. एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ स्वार्थ व हित का टकराव व उनमें संघर्ष होता है।
3. सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से एक वर्ग को शक्ति प्राप्त होती है और दूसरे वर्ग को शोषण के द्वारा दुख पहुँचाया जाता है।
4. समाज की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करके, दुख का निराकरण किया जाये।[28]

इसके बाद अम्बेडकर बुद्ध और कार्ल मार्क्स के बीच तुलना करते हुए कहते हैं कि इन चार बिन्दुओं पर बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स में सहमति है और पहली बात पर बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स में पूर्ण सहमति है। हम देख चुके हैं कि मार्क्सवाद ('बाक़ी बचे') की अम्बेडकरवादी व्याख्या में जिस पहले बिन्दु की चर्चा की गयी है, वह सरासर ग़लतबयानी है। मार्क्स ने ऐसा कुछ कहा ही नहीं। जहाँ तक दूसरे बिन्दु की बात है, उस पर अम्बेडकर कहते हैं कि बुद्ध के मुताबिक़ "राजाओं के बीच, कुलीनों के बीच, ब्राह्मणों के बीच, गृहस्थों के बीच, माता तथा पुत्र के बीच, पुत्र तथा पिता के बीच, भाई तथा बहन के बीच, साथियों तथा साथियों के बीच सदा संघर्ष चलता रहता है।"[29] अम्बेडकर के इस तर्क के जवाब में रंगनायकम्मा लिखती हैं, "अम्बेडकर की दृष्टि में इन टिप्पणियों का आशय वर्ग संघर्ष की बात करना है।"

यहाँ तक कि जो लोग वर्गों के बारे में बिल्कुल ही अनजान हैं, वो भी ऐसी दयनीय अवस्था में नहीं होंगे।

जब हम वर्गों की बात करते हैं तो हम 'मालिक-मज़दूर' सम्बन्ध के अस्तित्व की बात

करते हैं। हम श्रम के शोषण की भी बात करते हैं।...

श्रम के शोषण पर ही वर्ग टिके रहते हैं। वर्ग संघर्ष और विभिन्न हित वर्गों पर टिके रहते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर हम किसी भी प्रकार के समाज में वर्गों को रेखांकित कर सकते हैं।...

हम वर्गों, वर्गों के भीतर विद्यमान तबकों और सामाजिक सम्बन्धों के पूरे समुच्चय को समझने में तभी सक्षम हो सकेंगे, जब हम श्रम के शोषण के बारे में स्पष्ट रूप से जानते हों।

अम्बेडकर के इस दावे का वर्गों से कुछ लेना-देना नहीं है कि 'बुद्ध ने वर्गों के बारे में पहले ही बता दिया था।' किन्तु यदि हम वर्गों को यथोचित रूप में समझ लें तो हम उन अन्तरविरोधों की प्रकृति को समझ सकते हैं, जिनका बुद्ध ने उल्लेख किया है।"[30]

तीसरे तथा चौथे बिन्दु की व्याख्या करते हुए अम्बेडकर बताते हैं कि कैसे बुद्ध ने दुखों की जड़ निजी सम्पत्ति का उन्मूलन किया, कि बौद्ध भिक्षु केवल आठ व्यक्तिगत वस्तुओं के अलावा कोई निजी सम्पत्ति नहीं रख सकते थे। अम्बेडकर की इस तुलना का निजी सम्पत्ति के उन्मूलन के मार्क्सवादी सिद्धान्त से कुछ भी लेना-देना नहीं। मार्क्सवादी शिक्षा के मुताबिक़ सर्वप्रथम सर्वहारा अपनी क्रान्तिकारी (कम्युनिस्ट) पार्टी के नेतृत्व में संगठित हो बुर्जुआ वर्ग से राज्यसत्ता छीनता है। इसके बाद वह उत्पादन के साधनों तथा फिर क्रमशः सम्पत्ति के अन्य रूपों का समाजीकरण करता जाता है तथा एक प्रक्रिया में वर्गविहीन समाज (कम्युनिज़्म) की तरफ़ बढ़ते जाना सर्वहारा सत्ता का उद्देश्य होता है। संन्यास तथा त्यागवाद (बुद्ध) से मार्क्सवाद का कुछ भी लेना-देना नहीं है। मार्क्सवाद का सरोकार मानवता की भौतिक तथा सांस्कृतिक ख़ुशहाली से है।

अपने लेख के अन्त में अम्बेडकर बुद्ध तथा मार्क्सवाद द्वारा अपने उद्देश्य (अम्बेडकर का कहना है कि दोनों का उद्देश्य एक ही है) को हासिल करने के साधनों की तुलना की है। अम्बेडकर का कहना है कि "साम्यवादी कहते हैं कि साम्यवाद को स्थापित करने के केवल दो ही साधन हैं, पहला है हिंसा।... दूसरा साधन है सर्वहारा वर्ग की तानाशाही।"[31] जहाँ तक हिंसा का प्रश्न है, इस पर अम्बेडकर कहते हैं, 'हिंसा का पूर्णतया त्याग नहीं किया जा सकता।' बुद्ध हिंसा के विरुद्ध थे। परन्तु वह न्याय के पक्ष में भी थे और जहाँ पर न्याय के लिए बल-प्रयोग अपेक्षित होता है, वहाँ उन्होंने बल-प्रयोग की अनुमति दी है।[32] लेकिन अम्बेडकर साम्यवादियों की हिंसा के लिए भर्त्सना करते हैं क्योंकि, "साम्यवादी हिंसा का प्रतिपादन एक निरपेक्ष सिद्धान्त के रूप में करते हैं।"[33] लेकिन अपने इस इल्ज़ाम के हक़ में अम्बेडकर कोई भी तथ्य पेश नहीं करते। वह यह मानकर चलते हैं कि साम्यवादी जब हिंसा की वकालत करते हैं तो यह हिंसा न्याय की ख़ातिर नहीं होती। अगर मेहनतकश वर्ग शोषण-उत्पीड़न से निजात पाने के लिए तथा शोषक वर्गों द्वारा उन पर थोपी प्रतिक्रियावादी हिंसा की प्रतिक्रिया में हिंसा का इस्तेमाल करते हैं तो क्या यह न्याय के लिए नहीं है? अगर यह भी न्याय के लिए नहीं है तो फिर अम्बेडकर की न्याय की परिभाषा क्या है? इस पर अम्बेडकर पूरी तरह मौन साधे हुए हैं।

तानाशाही तथा लोकतन्त्र आदि सवालों पर भी अम्बेडकर बुरी तरह से भ्रमित हैं। वह इतना भी नहीं समझते कि जिसे वह लोकतन्त्र कह रहे हैं, वह भी किसी ना किसी वर्ग की तानाशाही ही होता है। पूँजीवादी समाज में यह बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही होता है। यह बुर्जुआ वर्ग के लिए जनवाद तथा सर्वहारा वर्ग के लिए तानाशाही होता है। मार्क्सवादी बस इतना ही "गुनाह" करते हैं कि वह डण्डे को डण्डा कहते हैं। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही सत्ताच्युत

किये बुर्जुआ वर्ग के लिए तानाशाही तथा सर्वहारा तथा अन्य मेहनतकश वर्गों के लिए जनवाद होता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद की अम्बेडकरवादी व्याख्या तथा आलोचना बेहद बचकानी तथा हास्यास्पद है। यह अम्बेडकर के अज्ञान तथा राजनीतिक अनपढ़ता का उत्पाद है।

अरुन्धति राय के अनोखे लेकिन मौलिक विचार!

भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की जाति प्रश्न के समाधान के लिए जो पहुँच रही है, उसके बारे में अरुन्धति राय के विचारों की हम पहले ही चर्चा कर आए हैं। इस पुस्तक में अरुन्धति राय का जो साक्षात्कार छपा है उसमें उसने कई अजीबो-गरीब विचार व्यक्त किए हैं, जिन पर चर्चा ज़रूरी है। बेशक उसने इस साक्षात्कार में कुछ सही बातें भी की हैं (कोई भी मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति सारी बातें ग़लत नहीं करता और न ही कर सकता है)। अपने साक्षात्कार के शुरू में ही अरुन्धती राय एक अर्धसत्य बात करती है। उसका कहना है कि आज लड़ाई मुख्य तौर पर उन लोगों के लिए लड़ी जा रही है, जिनके पास ज़मीन है। भाकपा (माओवादी) भी यही लड़ाई लड़ रही है। अरुन्धती राय ने यह बात ठीक ही पकड़ी है। किसी न किसी रूप में यह बात सभी नक्सली ग्रुपों पर लागू होती है। आज यह ग्रुप सम्पत्तिहीन मज़दूरों की लड़ाई को त्यागकर स्वामी वर्गों की लड़ाई लड़ रहे हैं। लेकिन अरुन्धति राय का यह कहना दुरुस्त नहीं है कि शहरी ग़रीब या दलित, जिनके पास कुछ भी नहीं है उनके लिए कोई भी नहीं लड़ रहा। ऐसी वाम शक्तियाँ हैं जो शहरी मज़दूरों को संगठित करने में लगी हुई हैं। बेशक आज ये अभी कमज़ोर हैं। यह अलग बात है कि अरुन्धती राय अपनी "बौद्धिक व्यस्तताओं" के चलते इन ग्रुपों के बारे में जानने के लिए वक्त नहीं निकाल पाती।

अपने साक्षात्कार में उसने कुछ ऐसी बातें कही हैं जिन्हें अनर्गल बातों की कोटि में ही रखा जा सकता है। कुछ झलकें देखें। उसका कहना है, "जो कुछ हो रहा है वह तो पूँजीपति भी नहीं करते। यहाँ जो मुकाबलेबाज़ी के लिए एकसमान मैदान होता है, वह अब नहीं है। कारोबारी लोगों (व्यपारियों) को कार्पोरेटों ने एक कोने में धकेल दिया है। छोटे व्यपारियों को मॉल ने कोने में धकेल दिया है। यह पूँजीवाद नहीं है। यह पता नहीं क्या है? यह कोई अन्य ही बला है?"

न जाने लेखिका के सपनों में कौन-सा पूँजीवाद बसता है, जहाँ मुकाबलेबाज़ी के लिए एकसमान मैदान होता है। ऐसा 'मैदान' तो पूँजीवाद के पूरे इतिहास में कभी नज़र नहीं आया। पूँजीवाद में मुकाबला हमेशा असमान होता है और ऐसा ही हो सकता है। इस मुकाबले में बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। यह जो हो रहा है, पूँजीवादी व्यवस्था में यही होता है। किसी अन्य तरह के पूँजीवाद की कल्पना करना मूर्खतापूर्ण भोलापन है। इस भोलेपन का एक और नमूना देखें, लेखिका कहती है, "नवउदारवादी नीतियाँ... ताकतवर को और ताकतवर बनाती हैं। यही तो कार्पोरेट पूँजीवाद है। हो सकता है यह क्लासिकीय पूँजीवाद जैसा न हो, क्योंकि क्लासिकीय पूँजीवाद उसूलों पर चलता होगा और वहाँ 'चेक व बैलेंस' की व्यवस्था होगी।" यह क्लासिकीय पूँजीवाद उसूलों पर चलने वाला पूँजीवाद भी लेखिका के ख्यालों में बसता है। पूँजीवाद के पूरे इतिहास में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। उभर रहे पूँजीवाद (अगर लेखिका का अर्थ इस पूँजीवाद से है) का बर्बर रूप मार्क्स, एंगेल्स, अनेकों मार्क्सवादी और

गैर-माक्सवादी इतिहासकारों, शेक्सपियर, बालज़ाक, डिकेन्स आदि अनेकों साहित्यकारों की रचनाओं में देखा जा सकता है। अगर क्लासिकीय पूँजीवाद से लेखिका का अर्थ भाकपा, माकपा और इनसे जुड़े बुद्धिजीवियों की तरह सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुखता वाली "मिश्रित अर्थव्यवस्था" से है तो इसके लिए भारत की आज़ादी के बाद का इतिहास देखना ही काफ़ी रहेगा।

अरुन्धति राय ने कम्युनिस्ट पार्टियों के पतन के कारणों पर रोशनी डालता मौलिक सिद्धान्त भी खोज ही लिया है। उसका कहना है, "जब पार्टियाँ छोटी होती हैं,...तो हमारे पास नेक नीयत होती है। तुम अच्छी अवस्थितियों और उच्च नैतिक आधार अपना सकते हो। लेकिक अगर तुम....बड़ी पार्टी हो तो हालत और होती है।" यानी किसी पार्टी को पतन से बचना है तो उसे बड़ी पार्टी बनने से बचना होगा, छोटी पार्टी ही बने रहना होगा। है न अनोखा लेकिन मौलिक विचार। अरुन्धति राय का यह सिद्धान्त जानकर तो कई कम्युनिस्ट सिद्धान्तकार भी शर्मा गए होंगे कि इतना "महान" विचार उनके दिमाग में क्यों नहीं आया। ऐसे अनोखे लेकिन मौलिक विचार पढ़कर अरुन्धति राय के श्रद्धालुओं की समझ पर दया आती है, जो उसकी बौद्धिकता पर हमेशा मंत्र-मुग्ध हुए रहते हैं।

संदर्भ

1 The International Working Class Movement, Problems of History and Theory, Vol.1, P.629
2 देखें, प्रतिबद्ध, बुलेटिन 21 और 22 में छपा लेख 'सोवियत संघ विच समाजवादी प्रयोगां दे तजुर्बे - इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ' (पंजाबी)
3 Marx, The Class Struggle in France 1848 to 1850, P.5, Progress Publsihers, Moscow 1975 (vuqokn gekjk)
4 उपरोक्त
5 देखें, प्रतिबद्ध, बुलेटिन-20, (सितम्बर, 2013) में छपा लेख 'अम्बेडकर अते दलित मुक्ति' (पंजाबी)
6 P. Sundraya, Telengana People's Struggle and its Lessons, pages 126-27
7 Dr. Baba Saheb Ambedkar, Writings and Speeches, vol. 9, p. 189, vuqokn gekjk
8 Gail Omvedt, 'Dalits and Democratic Revolution', First Edition, 1994, p. 98
9 अम्बेडकर, सम्पूर्ण रचनाएँ (हिन्दी), भाग -5, पन्ना-16 (अनुवाद हमारा)
10 गेल की उपरोक्त पुस्तक में अम्बेडकर का उद्धरण, पन्ना 80-81, अनुवाद हमारा
11 Dr. Baba Saheb Ambedkar, Writings and Speeches, vol. 9, p. 189, अनुवाद हमारा
12 उपरोक्त, पन्ना 178
13 उपरोकक्त, पन्ना 63-64, अनुवाद हमारा
14 इस पर अधिक विस्तार में देखें Dhananjay Keer, 'Ambedkar Life and Mission', Chapter 6
15 Gail Omvedt, उपरोक्त, पन्ना 15
16 Gail Omvedt, उपरोक्त, पन्ना 183
17 देखें बहिष्कृत भारत (हिन्दी), 31 मई 1929

18 Dhananjay Keer, Ibid
19 इस पर अधिक जानकारी के लिए देखें, उपरोक्त पाठ 7-8
20 मार्क्स-एंगेल्स, 'बस्तीवाद बारे' (पंजाबी), पंजाब बुक सेंटर, चण्डीगढ़, पन्ना 93-94
21 सम्पूर्ण वांगमय (हिन्दी), खण्ड 7, डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्राकशित
22 उपरोक्त, पन्ना 343
23 उपरोक्त
24 उपरोक्त
25 'बुद्ध या कार्ल मार्क्स', उपरोक्त, पन्ना 345
26 उपरोक्त, पन्ना 346
27 Marx-Engles, 'The German Ideology', Progress Publishers, Moscow, p. 617
28 डा. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वांगमय (हिन्दी), खण्ड 7, पन्ना 347
29 उपरोक्त, पन्ना 348
30 रंगानायकम्मा, 'जाति प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफ़ी नहीं, अम्बेडकर भी काफ़ी नहीं, मार्क्स ज़रूरी नहीं, (हिन्दी) पन्ना 357-58
31 डा. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वांगमय (हिन्दी), खण्ड 7, पन्ना 354
32 उपरोक्त, पन्ना 355
33 उपरोक्त, पन्ना 356

भावुकतावादी क्रान्तिवाद बनाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी अप्रोच एवं पद्धति

● कात्यायनी

अनुभववादी भावुकतावादी क्रान्तिवादियों और मार्क्सवादियों में एक बुनियादी फर्क होता है। भावुकतावादी क्रान्तिवादी विचारधारा को मार्गदर्शक नहीं बनाते, इसलिए किसी क्रान्तिकारी संघर्ष से वे अति-आशावादी होकर उम्मीदें पाल लेते हैं, उसकी दिशा और विकास की गतिकी को नहीं समझ पाते और उस प्रयोग का विचारधारात्मक विचलन जब विफलता के नतीजे के रूप में सामने आ जाता है, तो फिर वे निराशा में डूब जाते हैं या मिथ्या आशा के किसी और स्रोत की तलाश में जुट जाते हैं।

जिन लोगों ने 1956 में सोवियत पार्टी के विचारधारात्मक विपथगमन को नहीं समझा और उसके बाह्य स्वरूप को देखकर उसके समाजवादी मानते रहे, वे उस समय मायूस हो गये जब सोवियत समाज का राजकीय पूँजीवादी चरित्र नंगा हो गया। कुछ फिर भी उसे समाजवादी मानते रहे, पर जब सोवियत संघ अपनी स्वाभाविक आंतरिक गति से विघटित हो गया और पूरे सोवियत ब्लॉक में "समाजवादी" मुखौटे वाला राजकीय पूँजीवाद नवउदारवादी निजी पूँजीवाद में बदल गया तब वे निराश हो गये। जो लोग 1976 में चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना को मार्क्सवादी विज्ञान के आधार पर नहीं समझ सके, वे "बाजार समाजवाद" का नंगा चेहरा सामने आने के बाद पस्तहिम्मत हैं। ऐसे ही कुछ लोग समाजवादी संक्रमण की प्रकृति और समस्याओं को समझे बिना, सोवियत संघ और चीन के अनुभवों से निराश होकर इक्कीसवीं सदी के नये समाजवाद के मॉडल की तलाश में निकल पड़े और

वेनेजुएला के ह्यूगो शावेज में उन्हें समाजवाद का नया मसीहा दीखने लगा। सच्चाई यह है कि वेनेजुएला में ज़्यादा से ज़्यादा एक साम्राज्यवाद-विरोधी, लोकप्रिय, कल्याणकारी बुर्जुआ राज्य है जो पेट्रो डॉलर (तेल-राजस्व) से पोषित बहुत सारे जनकल्याणकारी कदम उठा रहा है (ऐसा तो एक हद तक लीबिया और इराक में भी हुआ था)। वहाँ अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसकी कठपुतली संस्थाओं से लम्बे संघर्ष के अनुभव ने स्वत:स्फूर्त ढंग से आम जनता के बहुत सारे संगठनों, मंचों और संस्थाओं को जन्म दिया है, जिनका दबाव 'बोलिवारियन क्रान्ति' के जनपरक, रैडिकल चरित्र को बनाये रखने में फिलहाल एक भूमिका निभा रहा है। लेकिन यह इतिहास की एक अल्पजीवी परिघटना है। 'बोलिवारियन क्रान्ति' समाजवादी संक्रमण की आगे की मंजिलों में न तो कदम बढ़ा रही है, न ही बढ़ा सकती है। आर्थिक-सामाजिक गतिकी के सामान्य नियमों से इस प्रयोग को कालान्तर में ठहराव और विघटन का शिकार होना ही है। फिर भावुक क्रान्तिवादियों के लिए आशाओं का एक और स्रोत सूख जायेगा।

क्यूबा कुछ लोगों के लिए अभी भी आशाओं का स्रोत बना हुआ है। बेशक क्यूबाई क्रान्ति एक महान क्रान्ति थी और चे और फिदेल का क्रान्तिकारी नायकत्व निर्विवाद है। क्यूबा ने अमेरिकी साम्राज्यवाद की घेरेबन्दी और साज़िशों का शौर्यपूर्वक सामना करते हुए जनशक्ति की लामबंदी करके उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के समाजीकरण, अर्थतंत्र के समाजवादी नियोजन तथा शिक्षा-स्वास्थ्य आदि के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कदम उठाये। अमेरिका और पश्चिमी ब्लॉक के साथ अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में सोवियत साम्राज्यवाद ने क्यूबा को अपना संश्रयकारी बनाया, अफ्रीका महाद्वीप में उसका इस्तेमाल भी किया और बदले में उसे तकनोलॉजी, औद्योगिक उपकरणों, अनाज आदि (क्यूबा की चीनी के बदले) देकर काफ़ी मदद की। इस निर्भरता का नकारात्मक प्रभाव यह पड़ा कि क्यूबा में उत्पादन के सभी क्षेत्रों में संतुलित-सर्वांगसम विकास नहीं हो सका और वहाँ का अर्थतंत्र मुख्यत: कृषि (गन्ना-तम्बाकू आदि) आधारित बना रहा तथा चीनी और खनिजों को सोवियत संघ निर्यात करने पर टिका रहा। सोवियत संघ के विघटन के बाद, इसी वजह से एक दशक से भी अधिक समय तक क्यूबा की गम्भीर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। यह मानना पड़ेगा कि जनता में व्याप्त समाजवादी स्पिरिट और अमेरिकी साम्राज्यवाद-विरोधी घृणा के चलते व्यापक जन-लामबन्दी करके क्यूबा की सरकार उस संकट से उबरने में सफल रही और एक हद तक स्वावलंबिता भी हासिल की। वेनेजुएला से तेल की मदद और अमेरिका-विरोधी अन्य लातिन अमेरिकी देशों से व्यापार सम्बन्धों ने भी उसकी समस्या को हल करने में एक भूमिका निभायी। लेकिन बेहद पिछड़ी उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण के आगे न बढ़ पाने की मूल समस्या क्यूबा में अभी भी बनी हुई है। बुनियादी बात यह है कि क्यूबाई क्रान्ति का नेतृत्व कभी भी इस बात को नहीं समझ सका कि समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ समाजवादी उत्पादन-सम्बन्धों का निरन्तर उच्चतर रूप क़ायम करना होता है, मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के अन्तर, कृषि और उद्योग के अन्तर, गाँव और शहर के अन्तर - इन तीनों को क्रमश: कम करते हुए इनके आधार पर क़ायम बुर्जुआ अधिकारों को कम करते जाना होता है, और साथ ही साथ अधिरचना का निरन्तर क्रान्तिकारीकरण करते जाना होता है। यानी समाजवादी संक्रमण के दौरान, उत्पादक शक्तियों के विकास पर वर्ग संघर्ष को प्राथमिकता देकर, सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति और अधिरचना में सतत् क्रान्ति चलाकर ही समाजवाद को आगे ले जाया जा सकता है तथा पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोका जा सकता है। चीन की

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की यही शिक्षा थी, जो वहाँ की पार्टी ने सोवियत संघ के सकारात्मक-नकारात्मक अनुभवों से और अपने देश के वर्ग संघर्ष से हासिल की थी। हालाँकि इस नतीजे तक पहुँचने तक चीन में भी नये बुर्जुआ तत्व पार्टी, राज्य और समाज में अपनी जड़ें इतनी मज़बूत कर चुके थे और वर्ग-शक्ति सन्तुलन इस हद तक बदल चुका था कि पहली सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति (1966-76) के बाद ही, वहाँ भी प्रतिक्रान्तिकारी तख़्तापलट के बाद पूँजीवादी पुनर्स्थापना की शुरुआत हो गयी। पर सांस्कृतिक क्रान्ति की जो सैद्धान्तिक निष्पत्ति थी, उसका सार्वभौमिक महत्व लगातार बना रहेगा। क्यूबा की पार्टी ने चीनी सांस्कृतिक क्रान्ति से कुछ भी नहीं सीखा और यह ज़रा भी आश्चर्यजनक नहीं है। यह क्यूबा की पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी ही थी कि उसने ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध चीनी पार्टी के विचारधारात्मक संघर्ष में तटस्थता की अवस्थिति अपनाई थी और बाद में तो उसने सोवियत संघ के इशारे पर खुला चीन-विरोधी रुख़ भी अपनाया था। इसका एक पहलू यह भी था कि विचारधारात्मक प्रश्नों और अन्तरराष्ट्रीयतावाद से हटकर इस पूरे विवाद में क्यूबा ने अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता दी थी, जो अपने आपमें मार्क्सवाद-लेनिनवाद से एक विचलन है। 2012 में हुई क्यूबा की पार्टी की कांग्रेस ने साफ़ कर दिया कि अपने समाज के गतिरोध को तोड़ने के लिए क्यूबा की पार्टी समाजवादी संक्रमण की अग्रवर्ती मंज़िलों की ओर बढ़ने का साहस जुटाने और आंतरिक वर्ग संघर्ष के तूफ़ानों में उतरने के बजाय कुछ-कुछ उसी तरह "नियंत्रित खुले दरवाज़े की नीति" या "बाज़ार समाजवाद" की नीति अपनाने की दिशा में आगे बढ़ रही है, जैसे माओ की मृत्यु के बाद चीन की पार्टी बढ़ी थी। क्यूबा की पार्टी की पिछली कांग्रेस की तुलना कई मायनों में चीन की पार्टी की ग्यारहवीं कांग्रेस से की जा सकती है। क्यूबाई समाज में इन परिवर्तनों के प्रभाव अभी से ही दीखने लगे हैं। वहाँ की मुद्रा की अर्थव्यवस्था के अतिरिक्त दो और समानान्तर अर्थव्यवस्थाएँ चल रही हैं : वैध डॉलर की सीमित अर्थव्यवस्था और अवैध डॉलर की समान्तर अर्थव्यवस्था। कालाबाज़ारी, बाहर से डॉलर लाने वाले पर्यटकों द्वारा लायी जा रही अपसंस्कृति, वेश्यावृत्ति और अपराध बढ़ रहे हैं। निजी स्वामित्व और निजी व्यापार के लिए दी गयी "नियंत्रित" छूटें अपना रंग दिखा रही हैं। जो मार्क्सवादी विज्ञान के आधार पर समाज की गतिकी को समझता है, वह बता सकता है कि देर-सबेर क्यूबा का भविष्य भी चीन और वियतनाम के "बाज़ार समाजवाद" जैसा ही होगा। या पूर्वी यूरोपीय देशों (प्रतिक्रान्तिकारी तख़्तापलट के बाद बुर्जुआ जनवाद का आना) जैसा भी हो सकता है। पर ऐसा कहने पर भावुक क्रान्तिवादी निराश हो जाते हैं, उन्हें लगता है कि समाजवाद की अनिष्टता की भविष्यवाणी करके उसे श्राप दिया जा रहा है और कोई पाप किया जा रहा है।

1990 के बाद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी दुनिया में बेकली से आसन्न विजयोन्मुख क्रान्तिकारी संघर्ष का कोई प्रकाश स्तम्भ तलाश रहे थे और उनका ध्यान पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) द्वारा चलाये जा रहे उस लोकयुद्ध की ओर बरबस गया जिसने पहले अलेन गार्सिया और फिर फूजीमोरी की सरकारों की नाक में दम कर दिया था। लेकिन उस पार्टी के कुछ विचारधारात्मक विचलन शुरू से ही स्पष्ट थे। पार्टी का ज़ोर शुरू से ही विचारधारा और राजनीति से अधिक हथियार पर था। थोड़ी सफलताओं के बाद पार्टी ने चेयरमैन गोंजालो के नाम पर 'गोंजालो चिन्तन' जोड़कर 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद-गोंजालो चिन्तन' कहना शुरू कर दिया जबकि 'गोंजालो चिन्तन' में ऐसी कोई भी मौलिक और सार्वभौमिक महत्व की बात नहीं थी जिसे विचारधारा में कोई आंशिक गुणात्मक इज़ाफ़ा भी माना जा सके। पेरू का

ग्रामीण क्षेत्र विशाल है, लेकिन आबादी का बहुलांश शहरी है। देश की 48 प्रतिशत आबादी अकेले राजधानी लीमा और उसके उपनगरीय इलाकों में रहती है। ऐसे देश में पेरू की पार्टी नवजनवादी क्रान्ति की बात कर रही थी। वहाँ सुदूरवर्ती क्षेत्रों में छापामार युद्ध तो लम्बे समय से चलाया जा सकता था, लेकिन भारी शहरी आबादी को छोड़कर राज्यसत्ता कब्ज़ा करने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। पेरू की पार्टी की क्रान्ति की मंज़िल की पूरी समझ ही ग़लत थी। नतीजा सामने है। गोंजालो की गिरफ़्तारी के बाद संघर्ष जल्दी ही बिखर गया और उस मॉडल से अतिशय उम्मीद पाल बैठे भावुकतावादी कम्युनिस्ट निराश हो गये।

फिर जल्दी ही उम्मीदों का नया केन्द्र नेपाल में उभरा। 1996 में प्रचण्ड के नेतृत्व में नेकपा (माओवादी) ने जनयुद्ध की शुरुआत की तो बहुतों को लगा कि जल्दी ही सगरमाथा पर लाल झण्डा फहरा जायेगा। पर वह झण्डा लेकर नेपाल की माओवादी पार्टी संसद में घुसी तो फिर उसी खेल में लग गयी। सच यह है कि पार्टी में शुरू से ही विचारधारात्मक विचलन मौजूद थे, जिनकी निरन्तरता में पेण्डुलम "वाम" से दक्षिण की ओर गया, प्रचण्ड इक्कीसवीं शताब्दी में सर्वहारा अधिनायकत्व-विषयक लेनिन की स्थापना में इजाफ़ा करते हुए बहुदलीय संसदीय जनवाद की समझदारी लेकर आये, फिर संविधान सभा चुनावों में भागीदारी 'टैक्टिक्स' से 'स्ट्रैटेजी' बन गयी, सरकार चलाना और संविधान बनाना ही परम पुनीत लक्ष्य बन गया, जन सेना को शासक वर्ग की सेना में मिला दिया गया, आधारक्षेत्र में विकसित लोक संस्थाओं को भंग कर दिया गया, भूस्वामियों से छीनी गयी ज़मीनें वापस कर दी गयीं, तरह-तरह के शब्दजालों के बावजूद, शान्तिपूर्ण संक्रमण का नया रास्ता सामने आ ही गया और "प्रचण्ड पथ" संसद पथ में रूपान्तरित हो गया। प्रचण्ड-भट्टराई के नवसंशोधनवाद की आलोचना करते हुए किरण वैद्य आदि ने विद्रोह करके नयी पार्टी बनायी जिसने नयी संविधान सभा का बॉयकाट करते हुए जनविद्रोह की धमकियाँ भी दी, लेकिन ग़ौरतलब है कि किरण वैद्य ने अपनी पूर्व पार्टी की मूल विचारधारात्मक अवस्थिति के संशोधनवादी चरित्र और उसके विकास की प्रक्रिया की, "प्रचण्ड पथ" की (यह नाम उन्होंने ही दिया था) कभी बुनियादी स्तर की आलोचना नहीं की, केवल लक्षणों और अभिव्यक्तियों की ही आलोचना की। अब यह पार्टी भी कहने लगी है कि सशस्त्र लोकयुद्ध के रास्ते की बजाय वह जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि प्रश्नों पर आन्दोलन करते हुए आगे बढ़ेगी क्योंकि आज की बहुध्रुवीय दुनिया में शान्तिपूर्ण संघर्ष की सम्भावनाएँ प्रचुर हैं। यह पार्टी भी यही कह रही है कि फिलहाल बाहर से दबाव बनाया जायेगा कि संविधान सभा ज़्यादा से ज़्यादा जनपरक संविधान बनाये। तय है कि यह नयी पार्टी भी, चाहे जितना भी रैडिकल तेवर अपनाये, अपने जन्मकाल से ही विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर और संशोधनवादी विचलन की शिकार है। इससे अधिक उम्मीद पालने वाले भावुकतावादी क्रान्तिवादियों को भी भविष्य में फिर सदमा लगने वाला है। बार-बार ऐसे सदमों से दिल का दौरा पड़ने और कोमा में चले जाने की प्रचुर सम्भावना रहती है।

1980 में दुनिया के कई मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठनों और पार्टियों को लेकर एक 'क्रान्तिकारी अन्तरराष्ट्रीयतावादी आन्दोलन' (रिम) नामक मंच गठित करने की कोशिश शुरू हुई और 1984 में उसका घोषणापत्र जारी हुआ। इस मंच का विचारधारात्मक आधार शुरू से ही कमज़ोर था और कुछ को छोड़कर अधिकांश की अपने देश में न कोई ताक़त थी, न कोई आधार, न संघर्षों का कोई अनुभव। फिर भी कुछ लोगों को इस मंच से अधिक ही उम्मीदें पैदा हो गयीं थीं और वे 'रिम' की कोई भी विचारधारात्मक-राजनीतिक आलोचना सुनने को

तैयार नहीं होते थे। इस मंच के घटक माओ विचारधारा (जिसे पेरू की पार्टी और आर.सी.पी., यू.एस.ए. की पहल पर बाद में माओवाद कहा जाने लगा) में नया इज़ाफ़ा करने की बेहद जल्दबाज़ी में थे। सबसे पहले रिम के एक भारतीय घटक सी.आर.सी., सी.पी.आई. (एम.एल.) के सचिव के. वेणु सर्वहारा अधिनायकत्व की लेनिनवादी अवधारणा को ज़्यादा "जनवादी" बनाने के लिए बहुदलीय संसदीय जनवाद के रंग-गंध वाली सोच लेकर आये और 'रिम' से बाहर कर दिये गये। फिर उनका संगठन भी विसर्जित हो गया। फिर माओ त्से-तुङ बनाम माओ विचारधारा के सवाल पर मोहन विक्रम सिंह के नेतृत्व वाली पार्टी रिम का घटक बनी और संसदमार्गी होने के बाद उसे भी बाहर कर दिया। इस बीच रिम के कई घटक टूटते या विलुप्त होते रहे। कुछ क्रान्तिकारी संघर्षों में तो लगे थे, पर चीनी क्रान्ति के कार्यक्रम के जड़सूत्रवादी अंधानुकरण के चलते वे लम्बे समय से या तो एक ही जगह खड़े हैं या छीजते जा रहे हैं। 'रिम' लगभग एक दशक से सुषुप्त ही रहा है। इधर रिम के गठन में पहल लेने वाली प्रमुख पार्टी आर.सी.पी., यू.एस.ए. के चेयरमैन बॉब अवाकिएन विचारधारा में इज़ाफ़ा करते हुए माओ से भी काफ़ी आगे निकल गये हैं, उनकी पार्टी इक्कीसवीं शताब्दी की विश्व सर्वहारा क्रान्ति के लिए अवाकिएन के 'नये संश्लेषण' के सिद्धान्त को मार्गदर्शक मानती है, जिसने माओवाद की तमाम कमियों का "समाहार" करके विचारधारा को एक "नयी ऊँचाई" प्रदान कर दी है। 'नया संश्लेषण' (न्यू सिन्थेसिस) राजनीति और दर्शन का भोंड़ा प्रहसन है, पर उसमें इतनी लफ़्फ़ाज़ी है कि उसकी चर्चा अलग से विस्तार की माँग करती है। उसमें कुछ बातें तो माओ की हैं, जिन्हें चुराकर नयी भाषा में रख दिया गया है। दूसरे 'निरपेक्ष सत्य' की नयी घोर अमार्क्सवादी अवधारणा प्रस्तुत की गयी है। तीसरे, मार्क्सवाद और माओवाद को जोड़ने वाली कड़ी लेनिनवाद को बताते हुए मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की अब तक की अवधारणा को विचित्र सारसंग्रहवादी खिचड़ी बना दिया गया है। मूल बात है कि यह सारी सोच वर्ग संघर्ष के किसी अनुभव का नतीजा नहीं, बॉब अवाकिएन के दिमाग़ की उपज है। यह पार्टी घोर हरावलपन्थी (वैंगार्डिस्ट) पार्टी है, जिसका कोई अपना जनसंगठन या मज़दूर संगठन नहीं है। इसके लोग अश्वेत लोगों के और अन्य जनउभारों एवं आन्दोलनों में हिस्सा लेते रहते हैं। पार्टी बस विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार-प्रसार, लेखन-चिन्तन-विमर्श का काम करती रही है। इतिहास ने एक जोकर के इर्दगिर्द 'कल्ट-बिल्डिंग' का इतना फूहड़ प्रहसन शायद कभी नहीं देखा होगा।

अब "बॉब अवॉकिएनवाद" के आलोचक 'रिम' के कई घटक और अन्य मार्क्सवादी-लेनिनवादी ग्रुप कोई अन्तरराष्ट्रीय संगठन नये सिरे से बनाने की कोशिश कर रहे हैं। समस्या यह है कि (i) ये ग्रुप, संगठन या पार्टी, स्वयं अपने देश के ही कई संगठनों में से एक (या दो) हैं, (ii) अपने देश में ही मा-ले शिविर के दीर्घकालिक बिखराव और ठहराव को हल करने की दिशा में ये दो क़दम भी आगे नहीं बढ़ सके हैं, (iii) इनमें से अधिकांश का कोई संघर्ष-निर्मित जनाधार नहीं है और कुछ "वाम" तथा कुछ दक्षिणपन्थी विचलन के शिकार हैं, (iv) माओवाद/माओ विचारधारा की हिफ़ाजत ये स्वयं ही बेहद कठमुल्लावादी अवस्थिति से करते हैं, माओ के प्राधिकार को स्वीकारने का मतलब यह मानते हैं कि माओकालीन समाजवादी संक्रमण के किसी प्रयोग की भी (लाख तर्क होने के बावजूद) आलोचना वर्जनीय है, (v) ये संगठन प्रायः माओवाद/माओ विचारधारा की हिफ़ाजत कठमुल्लावादी अवस्थिति से करते हैं, विचारधारा और कार्यक्रम के अन्तर को ही नहीं समझते और तीसरी दुनिया के हर देश में (कुछ तो आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और तुर्की

तक में) नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल मानना माओ के प्राधिकार को मानने की शर्त मानते हैं, नवउदारवाद के दौर को उपनिवेशवाद/नवउपनिवेशवाद की वापसी मानते हैं, तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में पूँजीवादी विकास और "प्रशियाई मार्ग" से हुए क्रमिक पूँजीवादी विकास को मानना तो दूर, उस पर सोचने और बहस करने तक करने को तैयार नहीं होते। यदि ऐसा एक अन्तरराष्ट्रीय संगठन बनेगा, तो इसके घटक संगठनों के देशों के ही अन्य मा-ले संगठन मिलकर अन्य (सम्भवत: एकाधिक) अन्तरराष्ट्रीय संगठन बनायेंगे जो परस्पर प्रतिस्पर्द्धी होंगे। हम समझते हैं कि माओवादी संगठनों का जो भी अन्तरराष्ट्रीय संगठन आज की स्थिति में बनेगा, वह अपना उद्देश्य पूरा करने की जगह ग़ैर मुद्दों पर कठहुज्जती वाली बहसों को जन्म देगा और कालान्तर में बिखर जायेगा। लेकिन भावुकतावादी क्रान्तिवादियों का क्या, वे तो फिर उम्मीद पाल लेंगे, बहुत ही जल्दी फिर मायूस हो जाने के लिए। थोड़ी चिन्ता तो हमें उनकी है ही, क्योंकि थोड़ी-बहुत दुनियादारी में लिथड़ी होने के बावजूद प्राय: वे निर्मल आत्माएँ होती हैं।

हमारी तो यह स्पष्ट और दृढ़ सोच है कि आज की परिस्थिति में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों को विचारधारा और कार्यक्रम (रणनीति एवं आम रणकौशल) के अन्तर को तो समझना होगा! बात बहुत सीधी-सपाट है। जो भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन वर्ग संघर्ष और सर्वहारा अधिनायकत्व को मानता है, शान्तिपूर्ण संक्रमण का विरोधी है, समाजवादी समाज में वर्ग और वर्ग संघर्ष की मौजूदगी तथा सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति एवं अधिरचना में क्रान्ति के सिद्धान्त को मानता है, जो भी चुनाव को रणनीति नहीं बल्कि राण्कौशल मानता है, जो भी पार्टी की लेनिनवादी ढाँचे और कार्यप्रणाली को लागू करता है और जो भी अपनी ताक़त और योजना के हिसाब से जनता के बीच काम कर रहा है, उसे विचारधारात्मक रूप से हमसफ़र तो मानना ही होगा। पर कार्यक्रम का सवाल तो किसी भी काल विशेष की दुनिया में देश विशेष में मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के हिसाब से उत्पादन-सम्बन्धों के अध्ययन से, तदनुरूप वर्ग-सम्बन्धों के (क्रान्ति के मित्र व शत्रु वर्गों के निर्धारण) निर्धारण से तय होता है। कार्यक्रम निर्धारण के उपकरण हमें विचारधारा से मिलते हैं, लेकिन कार्यक्रम विचारधारा का संघटक अवयव कदापि नहीं हो सकता। आज की दुनिया न तो 1949 की दुनिया है, न ही 1963 की दुनिया है। कार्यक्रम चीनी पार्टी द्वारा 1963 में प्रस्तुत विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के दस्तावेज़ से नहीं तय होगा, बल्कि देश विशेष के उत्पादन-सम्बन्धों और फिर अधिरचना के ठोस अध्ययन से तय होगा। पहली पद्धति निगमनात्मक (डिडक्टिव) होगी, जबकि दूसरी आगमनात्मक (इण्डक्टिव) होगी। मार्क्सवादी दर्शन तर्क की मूल गतिकी को आगमनात्मक मानता है और निगमनात्मक को उसका सहायक मानता है। बहरहाल, यह अलग से एक विस्तृत चर्चा का विषय है। हमारा कहना यह है कि आज ज़्यादा से ज़्यादा, दुनिया के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन विचारधारात्मक साझा उद्देश्य से मंच बना सकते हैं, बशर्ते कि वे विचारधारा और कार्यक्रम के बीच का अन्तर समझते हों, वे सच्चे बोल्शेविक संगठन के समान जनता के बीच काम करते हों, उनके पास विचारधारात्मक परिपक्वता के साथ ही एक हद तक वर्ग संघर्ष का व्यावहारिक अनुभव भी हो और वे अपने देश में भी पार्टी निर्माण एवं पार्टी गठन के लिए मज़दूर वर्ग की सच्ची जुझारू एकजुटता बनाते जाने के आधार पर प्रयत्नशील हों। (i) सर्वहारा वर्ग एक अन्तरराष्ट्रीयतावादी वर्ग होता है, मात्र इसी आधार पर मनोगत ढंग से कोई नया इण्टरनेशनल या अन्तरराष्ट्रीय संगठन वस्तुगत स्थितियों और घटक संगठनों/पार्टियों की

मनोगत स्थिति को दरकिनार करके नहीं बन सकता। (ii) पहले, दूसरे और तीसरे इण्टरनेशनल के विश्व रंगमंच अलग-अलग थे। तीसरा इण्टरनेशनल जनवादी केन्द्रीयता पर आधारित एक विश्व पार्टी की सोच पर आधारित था। शुरू में उसकी भूमिका पूरी दुनिया में कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रसारक, पथ-प्रदर्शक और शिक्षक के रूप में सकारात्मक थी, पर जब पिछड़े देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ वर्ग संघर्ष की भट्ठी में तप-मँजकर तैयार हो गयीं तो विश्व क्रान्ति के केन्द्र का पूर्ववर्ती ढाँचा पार्टियों के स्वतंत्र अध्ययन और सोच को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करने लगा। (चीन का उदाहरण सर्वाधिक प्रातिनिधिक है और अन्तरराष्ट्रीय लाइन से राष्ट्रीय लाइन निगमित कर लेने की अन्धानुकरणवादी प्रवृत्ति ने तो भारत सहित कई देशों में काफ़ी नुक़सान पहुँचाया)। होना यह चाहिए था कि कोमिण्टर्न के सांगठनिक ढाँचे को बदल दिया जाता, उसे विश्व-पार्टी के बजाय मुख्यत: संघात्मक आधार पर पुनर्गठित किया जाता, यानी, विचारधारा की बुनियादी एकता के आधार पर वह एक संगठन होता जिसमें अलग-अलग देशों की पार्टियों की यह ज़िम्मेदारी स्वतंत्र और सुपरिभाषित होती कि वे अपने देशों में क्रान्ति का कार्यक्रम और रास्ता तय करें। पर ढाँचे के पुनर्गठन के बजाय कोमिण्टर्न को ही भंग कर दिया गया। इससे भविष्य में अन्तरराष्ट्रीय विचारधारात्मक संघर्ष में संशोधनवाद को लाभ मिला। अब आज की परिस्थितियों में यदि कुछ लोग सभी उत्तर-औपनिवेशिक देशों में नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को मानने की शर्त रखते हुए मंच के बजाय कोई विश्व संगठन बनाना चाहते हैं तो वे दो-चार अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन करके ज़रूर बना लेंगे, पर वह किसी काम का नहीं होगा और कालान्तर में विसर्जित हो जायेगा। दूसरी ओर, विज्ञान के बजाय "ठोस उपलब्धियों" से उम्मीद पाल बैठने वाले भावुकतावादी क्रान्तिकारी बौद्धिक और पिछड़ी चेतना वाले कम्युनिस्ट कार्यकर्ता फिर कुछ दिनों के लिए झूठी उम्मीद पाल बैठेंगे ताकि जल्दी ही फिर और अधिक निराशा में डूब सकें।

हमारे देश में भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बौद्धिक हमदर्दों और युवा रंगरूटों में यह विज्ञान-विरोधी संकीर्ण अनुभववादी प्रवृत्ति आम है कि 'अरे छोड़ो ये सैद्धान्तिक बातें, देखो, फलाँ संगठन कितना लड़ रहा है, कितनी कुर्बानी दे रहा है, क्या गज़ब चुनौती उपस्थित किया है सत्ता के सामने, वही सही होगा!' यही संकीर्ण अनुभववाद है। यह मार्क्सवादी पद्धति की ऐसी-तैसी करना है! अपने समय के मज़दूर आन्दोलन में कई बार अलग-थलग पड़कर भी मार्क्स-एंगेल्स और उनके पक्षधर अपने विश्लेषण के आधार पर धारा के विरुद्ध खड़े रहे और इतिहास ने उन्हें सही साबित किया। रूस के तत्कालीन क्रान्तिकारी सामाजिक जनवादी आन्दोलन में लेनिन हमेशा विज्ञान के सहारे खड़े रहे और धारा के विरुद्ध तैरते रहे। माओ और चीन की पार्टी ने भी यदि पहले वाली लीक नहीं छोड़ी होती और केवल द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति की पतवार से धारा के विरुद्ध नाव नहीं खेयी होती तो न 1949 की नवजनवादी क्रान्ति हो पाती, न ही 1966-76 की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति।

पिछले एक लम्बे समय से भाकपा (माओवादी) के नेतृत्व में जारी सशस्त्र संघर्ष को क्रान्तिकारी वाम बौद्धिक हलकों में आशा के एक नये स्रोत के रूप में प्रक्षेपित किया जाता रहा है और इस हद तक महिमामण्डित किया जाता रहा है विचारधारात्मक-राजनीतिक लाइन पर कोई बहस ही सम्भव न हो सके। किसी समर्थक बुद्धिजीवी या निचले स्तर कैडर से सवाल कीजिए तो वे बस यही कहेंगे कि 'हमारे साथी इतने वर्षों से लड़ रहे हैं, टिके हैं, अपार कुर्बानियाँ दी हैं और दण्डकारण्य में जनताना सरकार का एक मॉडल खड़ा किया है, लाइन पर और क्या बात करनी है? गौतम नवलखा, अरुंधति राय और जॉन मिर्डल भी हमारे

मुक्त क्षेत्रों को देख आये और अभिभूत होकर आये? – यही है वह भावुकतावादी क्रान्तिवाद, जो अन्ततोगत्वा गहरी निराशा के दलदल में घसीट ले जाता है। हमारे स्पष्ट सवाल मार्क्सवादी-लेनिनवादी मानकों पर आधारित हैं। जिस नवजनवादी क्रान्ति और दीर्घकालिक लोकयुद्ध के फ्रेमवर्क में यह सशस्त्र संघर्ष चल रहा है, क्या वह पूरे भारत के उत्पादन सम्बन्धों (और क्रान्ति की मंज़िल) के ठोस अध्ययन पर आधारित है, क्या यह दण्डकारण्य के बाहर पूरे देश के ग्रामीण क्षेत्रों में लागू हो सकता है, देश के शहरों और गाँवों के 75 करोड़ सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी के बीच काम की पार्टी की क्या योजना है, नवजनवादी क्रान्ति के 'लैण्ड टु द टिलर' के रणनीतिक नारे को पार्टी ग्रामीण क्षेत्रों में कैसे लागू करेगी, 'चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय' में खुशहाल मालिक किसानों के साथ ग्रामीण सर्वहारा को कैसे लायेगी, शहरों के मुख्यत: असंगठित 25-27 करोड़ (मुख्यत: असंगठित) सर्वहारा वर्ग को छोड़कर पिछड़ी उत्पादन प्रणाली से जुड़े पिछड़ी चेतना की उत्पीड़ित आबादी के "मुक्त द्वीप" बना लेने से भी क्या सर्वहारा क्रान्ति हो जायेगी? – भावुकतावादी क्रान्तिवादी कहता है, 'छोड़िये इन बातों को, वे लड़ रहे हैं, उन्होंने दिखा दिया।' अनुभववाद वैज्ञानिक तर्कणा को हमेशा से ही यही उत्तर देता आया है! हमारी यह स्पष्ट सोच है कि क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल का निर्धारण सर्वोपरित: उत्पादन सम्बन्धों के मूलाधार और फिर अधिरचना के अध्ययन के आधार पर होता है, किसी एक इलाका-विशेष में खड़े सफल संघर्ष के मॉडल के आधार पर नहीं। पूरे देश की भू-राजनीतिक परिस्थितियों से वाक़िफ़ लोग जानते हैं कि जो अधिकतम लगभग 7-8 प्रतिशत दुर्गम पर्वतीय वन्य और दुर्गम क्षेत्र हैं, उनमें भी दण्डकारण्य जैसे इलाके विरले ही मिलेंगे। छत्तीसगढ़, छत्तीसगढ़-महाराष्ट्र सीमान्त क्षेत्र और झारखण्ड के एक हिस्से में छापामार कार्रवाइयाँ सम्भव हो सकती हैं, दण्डकारण्य के एक दुर्गम क्षेत्र में आधार इलाका लम्बे समय तक चलाया जा सकता है, पर विशाल भारत की विस्तीर्ण ग्रामीण क्षेत्रों के पूँजीवादी विकास और पिछड़ी किसानी अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति सम्भव ही नहीं है, स्वयं भाकपा (माओवादी) का अनुभव भी यही बताता है, लेकिन वह उससे सीख लेने को तैयार नहीं है। वह अपने पुराने दुर्गम क्षेत्रों में टिके रहने और प्रतिरोध के पहलू को देखती है, लेकिन मैदानी क्षेत्रों की घोर विफलता और शहरी सर्वहारा के बीच लगभग पूर्ण विफलता या अनुपस्थिति के पहलू की अनदेखी करती है। भावुकतावादी क्रान्तिवादियों को हम समझाना चाहते हैं कि असमान विकास वाले पिछड़े पूँजीवादी देशों में आबादी के बहुलांश को पूँजीवादी देशों में आबादी के बहुलांश को पूँजीवादी उत्पादन एवं विनिमय की प्रणाली में समेट लेने के बावजूद कुछ पूँजीवाद-सहयोजित प्राक् पूँजीवादी अवस्थाओं के ऐसे दूरवर्ती द्वीप बचे रह जाते हैं, जहाँ की उत्पीड़ित जनता लम्बे समय तक सशस्त्र संघर्ष चलाती रहती है, लेकिन राज्यसत्ता के सामने अस्तित्व का संकट नहीं उपस्थित कर पाती। लातिन अमेरिका के कई देशों में छापामार संघर्ष चालीस और पचास वर्षों से जारी हैं। फिलिप्पींस की कम्युनिस्ट पार्टी पूँजीवादी विकास के केन्द्रों से दूर, सुदूरवर्ती दुर्गम ग्रामीण क्षेत्रों को आधार बनाकर लगभग आधी सदी से लड़ रही है, पर फिलिप्पींस की राज्यसत्ता के लिए वह कोई चुनौती नहीं है, क़ानून-व्यवस्था की एक गम्भीर समस्या है। सीमित अति उत्पीड़ित आबादी को लेकर हथियारबंद संघर्ष लम्बे समय तक जारी रखना और मुक्त क्षेत्र तक बना लेना एक बात है और पूरे देश की राज्यसत्ता को ध्वस्त करके नयी राज्यसत्ता स्थापित करने का मामला इससे सर्वथा अलग मामला है। सर्वहारा क्रान्ति हमेशा वैज्ञानिक दृष्टि और प्रणाली विज्ञान आधारित होगी, भावुकतावादी क्रान्तिवादी इसी बात को

कभी नहीं समझ पाते।

भावुकतावादी क्रान्तिवादी, विशेषकर इस नस्ल के बुद्धिजीवी, पवित्रात्मा होते हैं पर वे इस बात को समझ ही नहीं पाते हैं कि संघर्ष के किसी कथित मॉडल की फिलहाली क़ामयाबी-नाक़ामयाबी से किसी क्रान्तिकारी संगठन के सही-ग़लत होने का फैसला नहीं किया जाना चाहिए। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट का पैमाना हर हाल में मार्क्सवादी विज्ञान का प्रणाली-विज्ञान होना चाहिए। भावुकतावादी क्रान्तिवादियों को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की ऐतिहासिक दसवीं कांग्रेस (1973) की रिपोर्ट का यह अंश बार-बार पढ़ना चाहिए, "यदि किसी की लाइन ग़लत है तो उसका पतन अवश्यम्भावी है, भले ही केन्द्रीय, स्थानीय स्तर पर और सेना के नेतृत्व पर उसका नियंत्रण हो, उसका पतन अवश्यम्भावी है। यदि किसी की लाइन सही है तो भले ही शुरू में उसके पास एक भी सैनिक न हो, बाद में सैनिक जुट जायेंगे, और भले ही (उसके पास) राजनीतिक सत्ता न हो, (बाद में) राजनीतिक सत्ता भी आ जायेगी। यह हमारी पार्टी के अनुभवों का और मार्क्स के समय से लेकर अब तक के अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट अनुभवों का नतीजा है।"

हमें माओ त्से-तुङ की यह शिक्षा कभी नहीं भूलनी चाहिए कि, "विचारधारात्मक और राजनीतिक लाइन का सही या ग़लत होना ही सब कुछ तय करता है।"

लेनिन की इस उक्ति के मर्म को समझा जाना ज़रूरी है, "ठोस परिस्थिति का ठोस विश्लेषण मार्क्सवाद की आत्मा है।"

एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तर्कणा के सतत् विकास और ठोस परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर निर्णय लेने और ज़िम्मेदारी तय करने की चुनौतीपूर्ण ज़िम्मेदारी से बने-बनाये फार्मूलों और अतीत के गौरवशाली इतिहास की आड़ लेकर बच नहीं सकता, उसे यह काम तो ख़ुद करना ही होगा। पूर्वजों के अनुभव आपको आम दिशा दिखाते हैं, पर पूर्वज आकर आपका काम नहीं कर जाते, न ही पूर्वजों की चली राह पर हूबहू चला जा सकता है। मार्क्सवाद विज्ञान है, धर्मशास्त्र नहीं। लेनिन के इस उद्धरण को रट लेना आसान है, पर व्यवहार में उतारना बेहद मुश्किल, "मार्क्सवाद एक निष्प्राण जड़सूत्र नहीं है, न ही यह सम्पूर्ण बना दिया गया, बना-बनाया, अपरिवर्तनीय मत है, बल्कि कार्रवाई का जीवन्त मार्गदर्शक है।"

सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी आशावाद विज्ञान पर आशावाद विज्ञान पर आधारित व्यावहारिक चीज़ होता है। वह मिथ्या आशाओं और सदिच्छाओं पर आधारित नहीं होता। क्रान्ति के विज्ञान की समझ, उस पर आधारित अपने देश के वर्ग-सम्बन्धों की समझ और उस पर आधारित सही कार्यक्रम एवं मार्ग की समझ के बिना कोई भी पार्टी क्रान्ति को अंजाम तक नहीं पहुँचा सकती। इनके अभाव में क्रान्तिकारी संघर्ष आगे बढ़कर भी ठहरावग्रस्त हो जाते हैं और टूट-बिखर जाते हैं। क्रान्ति अधैर्य और मात्र क्रान्तिकारी स्पिरिट से सम्भव नहीं। क्रान्ति मॉडलों का अनुकरण करके आगे नहीं बढ़ती, मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आलोक में वह अपना पथसंधान स्वयं करती है। वैज्ञानिक समझ से रिक्त भावुकतावादी क्रान्तिवाद एक निम्न पूँजीवादी प्रवृत्ति है जो किसी भी देश में ठोस परिस्थितियों के ठोस अध्ययन, पूर्वाग्रह मुक्त सोच-विचार एवं बहस तथा क्रान्तिकारी सामाजिक प्रयोगों को बाधित करती है, उन्हें नुक़सान पहुँचाती है।

मोदी सरकार के कार्यकाल का एक साल : विकास का विद्रूप प्रहसन

● मीनाक्षी

भारतीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की बहुप्रचारित कर्मठता के आलोक में उनकी सरकार के कामकाज का सालभर का आकलन-मूल्यांकन यह स्पष्ट करता है कि दिन के अठारह घण्टे की अतिचर्चित कार्यावधि के बावजूद अपेक्षित परिणाम के लिहाज़ से वह और उनकी सरकार नितान्त विफल रही है। इस सन्दर्भ में यह लोकोक्ति 'नौ दिन चले अढाई कोस' चरितार्थ होती लगती है यानी नौ दिन चलते रहने के बाद भी महज़ ढाई कोस की दूरी तय की जा सकी। केवल लम्बी समयावधि ही किसी कार्य के अपेक्षित परिणाम के लिए ज़रूरी नहीं होती, इसके लिए जनता की ज़रूरतों और आकांक्षाओं के अनुरूप नीतियों का अमल आवश्यक है। यह एक हद तक उदार पूँजीवाद के दौर में ही सम्भव था। यह बीत चुका है और अपनी सहज गति से इसने अनुत्पादक सट्टेबाज़ पूँजीवाद का रूप अख़्तियार कर लिया है। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा अब अतीत में दफन हो चुकी है। इस एकाधिकारी वित्तीय पूँजी को अब किसी मोदी जैसे प्रबन्धक की ज़रूरत थी जो अदम्य निर्णायकता के साथ उसका हितपोषण कर सके और विरोध यदि सहयोजित न किये जा सके तो उन्हें दबा डाले। इसके लिए मोदी ने एक तरफ लोकरंजक मसीहावाद का बाना पहना और दूसरी तरफ जनता की आकांक्षाओं को नवउदारवाद का चौखटा दिया–चमकते हिन्दुस्तान के स्मार्ट शहर और उनके बीच दौड़ती बुलेट ट्रेन, ई गवर्नेन्स से मोबाइल गवर्नेन्स की सम्भाव्यता, डिजिटल इण्डिया, रोजगार के अवसर सृजित करने के लिए 'मेक इन

इण्डिया', अमीर-ग़रीब के बीच खाई पाटने के लिए 'जन धन योजना', सामाजिक सुरक्षा को सुगम बनाने के लिए 'जीवन-ज्योति बीमा योजना और सुरक्षा बीमा योजना, लड़कियों के सुरक्षित जन्म और शिक्षा के लिए 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' और ऐसी ही कई योजनाएँ। ये आम लोगों के सामान्य बोध का हिस्सा बन सके इसके लिए सार्वजनिक घोषणाएँ की गईं, वक्तव्य दिये गये, नारे गढ़े गये और नारों को ही समाधान के तौर पर प्रस्तुत कर दिया गया। इसमें मीडिया का इस्तेमाल एक प्रभावी उपकरण के रूप में हुआ। परन्तु असलियत जल्दी ही सामने आ गई, मोदी के भाषणों का मिजाज़ पहला बजट पेश करने के पहले ही बदलने लगा था अब हमें यह बताया जाने लगा था कि जनता की भलाई के लिए कुछ सख़्त फैसले लेने पड़ेंगे क्योंकि मर्ज़ को ख़त्म करने के लिए कड़वी दवा से बचा नहीं जा सकता। यह हर बुजुर्आ सरकार का प्रिय जुमला रहा है। मतलब स्पष्ट था संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था की सघनतम अभिव्यक्तियाँ मोदी के तथाकथित करिश्माई आवरण के पीछे छिपायी नहीं जा सकती थी। भाजपा के अरुण शौरी और लालकृष्ण आडवानी जैसे नेताओं ने प्रकारान्तर से मोदी की योजनाओं और कार्यप्रणाली की आलोचना रखनी शुरू कर दी थी।

आर्थिक मोर्चे पर मोदी सरकार अपनी असफलताओं को नेपथ्य में धकेल सके, कदाचित इसीलिए विश्व में भारत का गौरव और समृद्धि बढ़ाने के नाम पर मोदी की विदेश यात्राओं का सिलसिला बगैर किसी ठोस सकारात्मक नतीजों के लगातार जारी है। पूर्ववर्ती प्रबन्धकीय संचालक टीम (आप चाहें तो इसे सरकार भी कह सकते हैं) की आर्थिक राजनीतिक निष्क्रियता, घोटाले दर घोटाले और जनता की विकल्पहीनता की स्थिति में नवउदारवाद के एक प्रचण्ड पैरोकार और लफ्फाज़ बहुरुपिया के रूप में जब मोदी अच्छे दिनों के वादे के साथ प्रकट हुए तो पूँजीपति वर्ग और उच्च मध्य वर्ग की बाँछे खिल उठीं। भूलना नहीं होगा कि रतन टाटा ने दूसरे पूँजीपतियों से पूँजीपरस्त योजनाओं के क्रियान्वयन को लेकर मोदी को कुछ और दिन मोहलत देने की अपील की थी। ऐसे लफ्फाज़ों के बारे में लेनिन ने कहा है कि वे जनता के सबसे बड़े शत्रु होते हैं। परन्तु जीवनयापन की रोज़ की कठिनाइयों से जूझती आम मेहनतकश जनता को आडम्बरपूर्ण शब्दों की चटाई बुनकर दिग्भ्रमित नहीं किया जा सकता था। इसलिए सबका साथ सबका विकास के खोखलेपन को वह जल्दी ही समझ गई। अकलमंदों ने तो इसे सालभर बाद जाकर आँकड़ों से समझा है। इन योजनाओं का क्रियान्वयन यदि किसी हद तक संभव हुआ भी तो पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के प्रभावी रहते उसका लाभ सम्पत्तिशालियों के हिस्से में ही आया। सम्पत्तिहीन हमेशा की तरह वंचित ही रह गये थे। इसलिए मोदी के सारे वादे और नारे खोखले ही साबित होने थे। सरकार का हर मोर्चे पर विशेषकर पहले से ही जर्जर आर्थिक मोर्चे पर औंधे मुँह गिरना लाज़िमी था। मोदी सरकार ने सत्ता में आते ही आर्थिक संकट से उबरने के लिए जिन उपायों को लागू किया उससे उसकी वर्गीय पक्षधरता स्पष्ट होती है। सबसे पहले उन्होंने लाभ में चल रहे सार्वजनिक उपक्रमों को विनिवेश के जरिये निजी हाथों में सौंपने की मुहिम चलायी, उससे प्राप्त धन का इस्तेमाल कैसे और कहाँ हुआ इसका कोई आँकड़ा सार्वजनिक नहीं किया गया। वित्तीय घाटे को पूरा करने की ज़रूरत बता कर सार्वजनिक मदों में भारी कटौती की गई। सकल घरेलू उत्पाद से इनका प्रतिशत 2.1 से घटाकर 1.7 कर दिया गया। स्वास्थ्य और परिवार कल्याण से लेकर आवास, ग़रीबी उन्मूलन और समेकित बाल विकास सेवा जैसी समाज कल्याण की योजनाओं के मद में आबंटित राशि इतनी कम कर दी गई कि विभागीय कर्मचारियों और कार्यकर्ताओं के वेतन भुगतान के लाले पड़ गये। अन्ततः भारतीय जनता पार्टी ही की महिला और बाल विकास मंत्री

मेनका गांधी को 'कुपोषण मुक्त भारत' की याद दिलाते हुए वित्त मंत्रालय को शिकायती पत्र लिखने को बाध्य होना पड़ा। निश्चय ही मोदी सरकार के सामने भी वे आँकड़े मौजूद रहे होंगे जो बताते हैं कि आज भी 60 प्रतिशत बच्चे ख़ून की कमी से ग्रस्त हैं और 9 हज़ार बच्चे प्रतिदिन भूख और कुपोषण से मरते हैं। लेकिन मोदी की चिन्ता के केन्द्र में जनता के जीने के अधिकार मुहैया कराना है ही नहीं। उनकी सरकार अपने पूर्ववर्ती सरकार की उन्हीं नीतियों और योजनाओं को लेकर चल रही थी, बल्कि उन्हें लागू करने की गति को उसने और तेज़ कर दिया था जिसका विरोध कर वह सत्ता में आई थी। उद्योगपतियों को मुनाफे की गिरती दर को बचाने के लिए करोड़ों की छूट दी गई। पिछली सरकार द्वारा दी गयी छूट के मुकाबले मोदी सरकार ने छूट की इस राशि को बढ़ा कर यह संकेत दे दिया कि वह वास्तव में किसके हित में काम कर रही है। देखा जाये तो पूँजीपतियों के मुनाफे में नगण्य सी कमी को लेकर भी वह अत्यन्त संवेदनशील हो जाती है। बहुसंख्यक जनता उसकी संवेदनशीलता के दायरे में आ भी नहीं सकती। उल्टे उसने बड़ी चालाकी से आधार वर्ष को बदल कर ग़रीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करनेवालों की तादाद ही नहीं घटा दी बल्कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) के अन्तर्गत प्रतिव्यक्ति मिलने वाले अनाज की मात्रा भी कम कर दी है। इसके लिये उसने कई स्तरों पर काम किया है। पहले उसने ग़रीबी रेखा के नीचेवाली आबादी (बीपीएल) का दायरा छोटा कर उसे ग़रीबी रेखा के ठीक ऊपर वाली आबादी (एपीएल) को अलग कर दिया, दूसरे उसने यह सुनिश्चित किया कि पीडीएस के अन्तर्गत केवल बीपीएल आबादी को लाभ मिले और ग़रीबी रेखा को छूती हुई ऊपरी आबादी जो किसी भी स्थिति में बीपीएल के मुकाबले बेहतर नहीं कही जा सकती उस लाभ से पूरी तरह वंचित हो जाये। तीसरा इस्तेमाल में लाया गया सर्वाधिक शातिराना तरीका था उन राज्यों को आबंटित अनाज के कोटे को प्रतिबन्धित कर देना जहाँ बीपीएल के साथ एपीएल आबादी भी पीडीएस लाभ के दायरे में आती है। इसका नतीजा हुआ अच्छी फसल और अच्छे समर्थन मूल्य के बावजूद पीडीएस के तहत खाद्यान्न की बिक्री में कमी, लिहाज़ा भण्डारण में वृद्धि। ज़ाहिरा तौर पर प्रत्यक्ष ही नहीं इन प्रच्छन्न कटौतियों से भी अब अनाज के भण्डार में और अधिक बढ़ोत्तरी होगी और आम जन अधिकाधिक तादाद में भूख और कुपोषण से मरते रहेंगे। यह नवउदारवादी नीतियों का तर्क है जो बताता है कि कटौतियों का यह सिलसिला आगे भी जारी रहेगा। तो दूसरी तरफ कारपोरेट घरानों के कर-छूट में आज 5 प्रतिशत की वृद्धि कल और भी ज्यादा होगी, और 'गार' (पूँजी निवेश में टैक्स चोरी रोकने का कानून) के अमल को और कुछ वर्ष तक स्थगित रखने की योजना आज की ही भाँति भविष्य में भी ऐसे ही ली जाती रहेगी। लेखा महानियंत्रक द्वारा जारी जीडीपी और केन्द्रीय व्यय अनुपात के आँकड़े भी मोदी सरकार की आर्थिक नपुंसकता की ही पुष्टि करते हैं। इसके अनुसार सकल घरेलू उत्पाद में कुल केन्द्रीय व्यय का प्रतिशत 2012-13 के 14.1 से गिरकर 2013-14 में 13.8 और 2014-15 में 13 फीसदी तक जा पहुँचा है। औद्योगिक उत्पादन के माहवार आँकड़े भी बताते हैं कि उत्पादन की दर घटकर ऋणात्मक स्तर पर आ गयी। अनुमान है कि अगले छः महीनों में कृषि उत्पादन में 5.3 प्रतिशत की गिरावट दर्ज़ की जायेगी। राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन और राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी (मनरेगा) जैसी स्कीमों में मोदी सरकार ने भीषण कटौती की है। इन योजनाओं के भ्रष्ट अमल के बाद भी जनता को इस पूँजीवादी उत्पादन और वितरण प्रणाली के अन्तर्गत जितना और जैसा सम्भव है उतना और वैसा लाभ उसे प्राप्त था। लेकिन स्वास्थ्य, सफाई और पोषण के सामाजिक मद में की गई कटौती के बरक्स 'स्वच्छ भारत' के

प्रचार में ही लाखों की रकम फूँक डालने का औचित्य भला कैसे सिद्ध किया जा सकता है? तिस पर भी इस योजना के तहत शौचालयों के निर्माण का काम कारपोरेट घरानों के 'सामाजिक उत्तरदायित्व' के भरोसे छोड़ दिया गया है। भारतीय जनता के स्वास्थ्य के प्रति मोदी सरकार का रुख़ क्या है यह उस कार्रवाई से ज़ाहिर हो जाता है जिसके तहत कुछ जीवन रक्षक दवाओं के मूल्य नियंत्रण से सम्बंधित 2014 मई में जारी आदेश को दवा उद्योग के मगरमच्छों के दबाव में सरकार द्वारा वापस ले लिया जाता है। नतीजतन कैंसर की 5900 और 8500 रुपये मूल्य पर उपलब्ध दवाएँ अब क्रमशः 11,500 और 1,08,000 की क़ीमत पर मिलेंगी। अन्य जीवन रक्षक दवाओं की स्थिति इससे बेहतर नहीं।

कौशलपूर्ण भारत के निर्माण का हश्र भी शिक्षा के क्षेत्र में होनेवाली भारी कटौती और उसके भगवाकरण के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। देश के प्रौद्योगिकी संस्थानों में शिक्षकों के लगभग 39 प्रतिशत और केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में लगभग 38 प्रतिशत जगहें रिक्त हैं, जिन प्राथमिक पाठशालाओं में शिक्षा की बुनियाद रखी जाती है उसकी दुर्गति तो सर्वविदित है। ये वह ज़मीनी हालात हैं जहाँ मोदी सरकार कौशल विकास करना चाहती है। यह कोरी जुमलेबाज़ियाँ ही हैं जिसकी पुष्टि काला धन लाने समेत ऐसे ही कई वायदों के बारे में स्वयं भाजपा अध्यक्ष अमित शाह पहले ही कर चुके हैं। उन्होंने सार्वजनिक तौर पर स्पष्टतः यह जता दिया है कि ये महज़ चुनावी नारे उर्फ वादे थे। मोदी की भाजपा सरकार के चाल चेहरा चरित्र की ये ज्वलन्त बानगियाँ हैं। इसी एक वर्ष ने मोदी के 'श्रमेव जयते' का पाखण्ड भी देखा। श्रमिकों के जीवन और काम की प्रतिकूल परिस्थितियों की किसी बेहतरी से आँखें मूँद कर कारपोरेट घरानों के 'व्यावसायिक सहूलियत और सकून' के लिए पर्यावरण और श्रम कानूनों को लचीला बनाया गया। मज़दूरों की खुली लूट के मकसद से पूँजीपतियों पर से तमाम तरह की कानूनी बंदिशें हटा ली गईं और कानूनी सुरक्षा के नाम पर मज़दूरों को नई प्रॉविडेंट फण्ड स्कीम जैसे निष्प्रभावी कानून थमा दिये गये। इस स्कीम के मुताबिक प्रॉविडेण्ट फण्ड में मज़दूरों के अंशदान बढ़ने के साथ ही उनकी कहीं ज़्यादा बड़ी आबादी इसके दायरे में समेट ली जायेगी। फलस्वरूप पी.एफ. में संचित राशि की पाँच से लेकर पन्द्रह फीसदी तक का शेयर बाजार में आसानी से निवेश किया जा सकता है। वास्तव में सरकार की योजना की यही असलियत है। सुरक्षा के नाम पर असुरक्षित भविष्य। श्रम कानूनों को लचर बनाने का प्रयास जारी है। बाल श्रम पर रोक लगाने के नाम पर संशोधित कानून द्वारा 14 साल से कम आयु वाले बच्चों के श्रम को अनौपचारिक और असंगठित क्षेत्र में निचोड़ने का प्रावधान कर दिया गया है। श्रम पर यह प्रतिबन्ध महज संगठित क्षेत्र में है। क्योंकि प्रावधान के अनुसार वे अपने परिवार का हाथ बँटा सकते हैं जहाँ घर में ही ठेके पर पीसरेट पर काम होते हैं। इस तरह उत्पादन प्रक्रिया को विखण्डित कर उन्हें अलग-अलग स्तरों पर चलाने का जो काम घरों के भीतर संचालित हो रहा था और जिसमें बच्चों की भागीदारी पहले से ही होती रही है अब वह कानून के किसी दखल से घोषित तौर पर मुक्त हो गया है। मज़दूरों के हित में दिखते हुए भी ये सभी कानूनी संशोधन मज़दूरों पर ज़्यादा से ज़्यादा दबाव डालने के तरीके खोजने में पूँजीपतियों की मदद करते हैं। बाज़ार की शक्तियों को निर्बन्ध करने के लिहाज़ से मोदी के लिए ऐसा करना आवश्यक भी था। यह अनायास नहीं कि नीति आयोग के उपाध्यक्ष और प्रधानमंत्री के मुख्य आर्थिक सलाहकार के पद क्रमशः अरविन्द पनगढ़िया और अरविन्द सुब्रमण्यम को सौंपा गया है। ये दोनों ही मुक्त बाज़ार की नीतियों के कट्टर अमल के पक्षधर हैं। पनगढ़िया जी तो राजस्थान सरकार के श्रम सुधारों के मुख्य सूत्रधार रहे हैं। समग्रता में देखा

जाये तो आर्थिक स्वास्थ्य के मामले में मोदी की निष्क्रियता प्रत्यक्ष है। सक्रियता केवल श्रम सुधारों के साथ भूमि अधिग्रहण को गति देकर पूँजी के लिए अनुकूल परिवेश बनाने में है। विशाल कम्पनियों को भूमि के बड़े-बड़े भूभागों पर कब्ज़ा दिलाने के मामले में पहले की सरकारों के बनिस्बत मोदी सरकार ने अधिक बेशर्मी का परिचय दिया है। उद्योगों को बढ़ावा देने के नाम पर सरकार द्वारा सौंपी ज़मीन का इस्तेमाल करने में इन पूँजीपतियों ने अभी तक कोई जल्दी नहीं दिखाई है, हालाँकि उन्हें ज़मीन उपलब्ध कराने के मामले में सरकार बहुत मुस्तैदी से काम करती है। पिछले साल मित्तल ने कर्नाटक में हज़ारों एकड़ की ज़मीन इस्पात संयत्र स्थापित करने के नाम पर प्राप्त की थी पर इस प्रोजेक्ट पर अभी तक उन्होंने इसमें हाथ भी नहीं लगाया है। भूमि अधिग्रहण अध्यादेश की हड़बड़ी को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। यदि यह अध्यादेश पारित हो जाता है तो 39 प्रतिशत कृषियोग्य भूमि इसकी भेंट चढ़ जायेगी। मोदी ने किसानों की हित की सुरक्षा का दायित्व लिया था और स्वामिनाथन कमीशन के कृषि सम्बन्धी सुझावों को लागू करने का भरोसा दिलाया था, इसमें किसानों को 4 प्रतिशत की दर से ऋण देने और सिंचाई सुविधा उपलब्ध कराने की व्यवस्था थी। लेकिन सत्ता हासिल होते ही मोदी सरकार इस वादे से निहायत बेशर्मी से मुकर गई। सिर्फ यही नहीं, उसने इस आशय का उच्चतम न्यायालय में तुरन्त एक हलफनामा दाखिल कर दिया कि वह स्वामीनाथन आयोग के सुझावों को अमल में लाने में असमर्थ है। बाज़ारोन्मुख नीतियों के अन्धाधुन्ध अमल से जब उद्योगों में पूँजी संतृप्त हो जाती है और इसका रुख़ कृषि और कृषि योग्य ज़मीन की ओर हो जाता है तो इसमें ग़रीब और निम्न मध्यम किसान उजड़ते ही हैं, अधिशेष का लाभांश तो बड़ी पूँजी हड़प जाती हैं। बड़े फार्मर या कुलक लाभांश हड़पने के मामले में फिर भी औद्योगिक पूँजी से पीछे रहते हैं। पूँजीवाद में कृषि के मुकाबले उद्योग की वरीयता बनी रहती है। इसका समाधान समाजवादी नियोजित अर्थव्यवस्था में ही सम्भव है। ज़ाहिर है इस परजीवी परभक्षी पूँजीवादी व्यवस्था में 'सबका साथ सबका विकास' पाखण्ड के सिवा कुछ नहीं। एक अलग सन्दर्भ में लेनिन बुर्जुआ वर्ग के बारे में जो कहते हैं वह उसके प्रबंधक मोदी के बारे में उतना ही सही साबित होता है- 'उनकी 'समूची नीति में शाब्दिक उलझावों, झूठों, मक्कारियों और कायरतापूर्ण हौलेबाज़ियों का एक अनन्त सिलसिला रहता है'।

विगत एक वर्ष पूर्व मोदी के चुनाव प्रचार के दौरान भाजपा के शीर्ष नेताओं ने कांग्रेस को भ्रष्टाचार का पर्याय कहते हुए कांग्रेस और भ्रष्टाचार मुक्त भारत का नारा दिया और उसे लागू करने की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। भ्रष्टाचार नियंत्रण सम्बन्धी संस्थाओं को मज़बूत बनाने और रिक्त पदों की भर्ती का आश्वासन दिया। परन्तु भ्रष्टाचारमुक्त परिवेश के प्रति मोदी सरकार की प्रतिबद्धता कितनी और कैसी है इसका आकलन सिर्फ इस तथ्य से किया जा सकता है कि इन भ्रष्टाचार नियंत्रणकारी संस्थाओं के महत्वपूर्ण रिक्त पद अभी भी भरे नहीं गये हैं। मज़बूत लोकपाल की नियुक्ति में सरकार की स्पष्टत: कोई दिलचस्पी नहीं दिखती। लोक लेखा समिति, सरकार के स्तर पर वित्तीय अनियमितताओं पर नियंत्रण के लिए गठित केन्द्रीय सतर्कता आयोग, वित्तीय मामलों और काले धन की जाँचकर्ता संस्था प्रवर्तन निदेशालय, केन्द्रीय सूचना आयोग जैसी संस्थाओं के पास 2014 से ही नियमित निदेशक नहीं हैं। अत: सरकार के ख़िलाफ़ किसी शिकायत या अपील सुनावाई की कोई सम्भावना शेष नहीं रहती। मुख्य सूचना आयोग का अध्यक्ष पद रिक्त होने का लाभ मोदी सरकार को मिल रहा है। ज़ाहिर है कैबिनेट सचिव, प्रधानमंत्री कार्यालय, रक्षा मंत्रालय, उच्च न्यायालय व उच्चतम

न्यायालय आदि को सूचना अधिकार के दायरे से बाहर रखने के निर्णय पर आयुक्त की अनुपस्थिति में कोई अपील असम्भव है। पूर्व सूचना आयोग अध्यक्ष शैलेष गांधी का यह स्पष्ट कहना है कि इन पदों को रिक्त इस कारण से रखा गया है कि विचारधारात्मक अनुकूलता के हिसाब से भर्ती की जा सके या ऐसी किसी व्यक्ति की अनुपलब्धता की स्थिति में इसे अक्रियाशील और निष्प्रभावी रखा जा सके। भ्रष्टाचार निवारण के प्रति सरकारी रुख़ का अनुमान लगाने के लिए यह बताना पर्याप्त होगा कि मंत्रियों की सम्पत्ति सम्बन्धी जानकारी हासिल करने पर मोदी सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया है, उसे अब पासवर्ड सुरक्षा के साथ जोड़ दिया गया है। अत: हर किसी को यह सूचना उपलब्ध नहीं हो सकेगी। सूचना प्राप्त करने का अधिकार विशेष व्यक्तियों को हासिल होगा। इसके साथ, यह जानना भी दिलचस्प होगा कि बतौर प्रधान सेवक और प्रधान ट्रस्टी मोदी ने जिस दिन लुटेरों की लूट से जनता की रक्षा और लुटेरों के बुरे दिनों की शुरुआत की घोषणा की, ठीक उसके पन्द्रह दिनों बाद, घटनाएँ इतनी प्रबल वेग से घटित हुईं कि 'अच्छे भ्रष्टाचार मुक्त दिन आने' का नारा उसके आगे टिक न सका।

इण्डियन प्रीमियर लीग के चेयरमैन और आयुक्त रहे जिन ललित मोदी की धनशोधन और अन्य वित्तीय अनियमितताओं के मामले में प्रवर्तन निदेशालय को तलाश थी उन्हें गैरकानूनी तौर पर मदद पहुँचाने में भाजपा की विदेश मंत्री सुषमा स्वराज और राजस्थान की भाजपाई मुख्यमंत्री वसुन्धरा राजे की संलिप्तता की घटना सामने आई। दस्तावेजी प्रमाणों से इसकी पुष्टि हो चुकी है। सुषमा जी ने अपने स्पष्टीकरण में मानवीय पहलू को मदद की वजह बताई। परन्तु ललित मोदी के अपनी पत्नी के आपरेशन के लिए जिस हस्ताक्षर की अनिवार्यता को उन्होंने मदद का आधार बताया था ऐसे किसी हस्ताक्षर की कोई अनिवार्यता थी ही नहीं जैसाकि अस्पताल के कागज़ात से ही स्पष्ट हो गया था। बाद में सुषमा स्वराज के अधिवक्ता पति स्वराज कौशल और बेटी बाँसुरी स्वराज जिन्होंने ललित मोदी के भ्रष्टाचार सम्बन्धी मुकदमे में उनकी ओर से पैरवी भी की थी, उनसे सम्बन्धित कुछ और तथ्यों के सामने आने पर मानवीय तकाज़े पर मदद की उनकी दलील का कोई आधार ही नहीं बचा। साथ ही, सुषमा स्वराज द्वारा ब्रिटिश दूतावास को भेजे गये पत्र के बारे में विदेश सचिव सुजाता सिंह की अनभिज्ञता इस पूरे प्रकरण में पारदर्शिता की कमी को दर्शाती है। वसुन्धरा राजे के मामले में घोटाले का स्वरूप निस्संदेह बहुआयामी और व्यापक है। यह कोई छिपा तथ्य नहीं है कि 2008 में जयपुर आईपीएल मैच के समय भी ललित मोदी ने तत्कालीन मुख्यमंत्री वसुन्धरा राजे के रिलीफ फण्ड के नाम पर उन्हें 6 करोड़ का चेक दिया था। मोदी की सहायता के लिए राजे ने अदालत में उनकी अर्ज़ी के समर्थन में दाखिल हालिया हलफनामे को गुप्त रखने का उनसे अनुरोध किया था। मदद की गुप्तता का यह आग्रह वर्तमान मामले में उनके किसी तरह के स्पष्टीकरण को स्वत: ही संदिग्ध बना देता है। यह भी पता चला है कि वसुन्धरा के सांसद पुत्र दुष्यन्त सिंह के धौलपुर नियंत हैरिटेज होटल के दस रुपये के शेयर ललित मोदी द्वारा 96180 रुपये के दर से खरीदे हैं, उन्होंने 11 करोड़ का ब्याज़ रहित कर्ज़ भी दुष्यन्त सिंह को मुहैया कराया है। इस तरह के निराधार सहायता का भला क्या औचित्य हो सकता है सिवाय राजे परिवार को अनुचित लाभ पहुँचाने के? यह पूरा मामला अपारदर्शी और भ्रष्ट क्रिया व्यापार की आशंका को ही पुष्ट करता है। 'क्रोनी कैपिटलिज़्म' के बेहतरीन नमूने उजागर हो रहे हैं। तीसरी घटना मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी से जुड़ी है। उनके द्वारा अलग-अलग अवधियों में शैक्षिक योग्यता सम्बन्धी अलग-अलग

जानकारी उपलब्ध कराना किसी भी तरह भाजपाई शुचिता या पारदर्शिता की कोटि में नहीं आता। प्रश्न यहाँ शैक्षिक योग्यता का उतना नहीं है जितना हलफनामों में सचेतन तौर पर विसंगतिपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत करने का। इसके साथ ही महाराष्ट्र की महिला व बाल विकास मंत्री पंकजा मुण्डे के बारे में घनघोर वित्तीय अनियमितताओं में सलंग्नता के प्रत्यक्ष प्रमाण भी आ चुके हैं। थोथी बयानबाजी के अलावा नियम विरुद्ध विभागीय ख़रीदारी और निविदा में गैरज़रूरी हस्तक्षेप के बारे में उनकी तरफ से अभी तक कोई स्पष्टीकरण सामने नहीं आया है। स्कूलों के लिए ख़रीदे गये खाद्य सामग्री के पैकटों की गुणवत्ता मानक के अनुरूप नहीं हैं, यह बात इसके इस्तेमाल के बाद अब सामने आ चुकी है। इन घोटालों की सूची यहीं आकर खत्म नहीं हो जाती। मध्यप्रदेश का बहुचर्चित व्यावसायिक परीक्षा मण्डल घोटाला (व्यापमं) जिसमें अब तक 49 अस्वाभाविक मौतें हो चुकी हैं और 500 लोग ग़ायब हैं इतना व्यापक और गहरा है कि यदि निष्पक्ष जाँच की सुविधा हो तो कई दिग्गजों के मुखौटे गिर सकते हैं। परन्तु इस पूरे मामले में शुचिता और नैतिकता की प्रतिमूर्ति माने जानेवाले मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान की निष्क्रियता और घोटाले की सीबीआई जाँच के प्रति उदासीनता और बाद में सीबीआई जाँच स्वीकार करने के बाद उसमें हर प्रकार की बाधा डालना निश्चय ही संदिग्ध है। भाजपाई मुख्यमंत्री रमनसिंह भी घोटाले के आरोप से बरी नहीं हैं। भ्रष्टाचार विरोध की दुंदुभि बजाने वाली भाजपा के पास पहले भी जुदेव और यदियुरप्पा जैसे भ्रष्टाचार पगे मंत्रिगण रहे हैं। अतीत का कालिख इनके माथे पर पहले ही से मौजूद है। 'न खाऊंगा न खाने दूंगा' जैसे नारेनुमा बड़बोलापन आम लोगों के मन में अब विदूपताही पैदा करता है। ज़ाहिर है मसीहाई लोकरंजकतावाद से भ्रष्टाचार खत्म नहीं किया जा सकता। यह पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की नैसर्गिक उपज है, जिस पूँजीवादी तंत्र के रेशे-रेशे में स्वाभविक रूप से लोभ-लाभ की संस्कृति बसी हो उससे सन्तई की अपेक्षा ही एक टटपुँजिया मनोवृत्ति का द्योतक है। पूँजीवाद के पूर्ण ख़ात्मे में ही भ्रष्टाचार का समाधान निहित है।

मोदी के प्रधानमंत्रित्व काल का एक वर्ष विकास के विभ्रमकारी आग्रहों के सार्वजनिक प्रदर्शन का समय रहा है। इस दौरान किसी बड़ी साम्प्रदायिक घटना की अनुपस्थिति से लोगों में एक मिथ्या आश्वस्ति का भाव पैदा हुआ था, जो अब ख़त्म हो रहा है। यह सतह की सच्चाई थी और असली तस्वीर कहीं अधिक भयावह है, जो अब सामने आ रही है। मोदी की सरकार बनते ही विभिन्न माध्यमों से जनता के बीच मद्धिम अन्दाज़ में यह सन्देश प्रसारित हुआ कि अच्छे दिनों की लहर किस प्रकार आम लोगों को वैदिक ज्ञान और सभ्यतामूलक पवित्रता के साथ हिन्दू राष्ट्र के तट तक ले जायेगी। मोदी की सचेतन चुप्पी के बीच उनके मंत्रियों, नौकरशाहों और अनुषांगिक संगठनों की तरफ से उन्मादी प्रचार के जरिये परिवेश को तनावपूर्ण बनाने की कोशिशें लगातार होती रही हैं। धर्मान्तरण, लव जेहाद, घर वापसी, रामज़ादे-हरामज़ादे, गोवंश हत्या और मन्द स्वर में रामजन्म भूमि पर मन्दिर निर्माण जैसे मुद्दों के जरिये आम लोगों की चेतना में अल्पसंख्यकों के खिलाफ घृणा को स्थायित्व देने काम हिन्दुत्ववादी ताकतें नितान्त सुनियोजित तरीके से कर रही हैं। इस प्रसंग में योगी आदित्यनाथ, गिरिराज सिंह, साध्वी प्राची और साध्वी निरंजन ज्योति जैसे लोगों की सक्रियता भाषाई अभिव्यक्ति और व्यवहार में देखी जा सकती है। जबकि असलियत यह है कि लव जेहाद जैसे मामलों में अभी तक एक भी प्रामाणिक साक्ष्य नहीं मिला है। हिन्दुत्व के ये प्रचारक ऐसी घटनाओं के बारे में योजनाबद्ध ढंग से झूठी अफवाह फैलाते हैं और साम्प्रदायिक तनाव और दंगे भड़काने में सफल हो जाते हैं। उत्तर प्रदेश में मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, दादरी से लेकर

दिल्ली के त्रिलोकपुरी, समयपुर बादली, मजनूँ का टीला में जगह-जगह छोटे-छोटे स्तरों पर इसी प्रकार दंगे भड़काये गये हैं। मिशनरी स्कूलों में सरस्वती प्रतिमा की स्थापना, गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ घोषित करने की माँग, हिन्दू स्त्रियों द्वारा अधिक बच्चे पैदा करने की ज़रूरत पर बल आदि को हिन्दुत्ववादी ताकतें वैमन्यस फैलाने का माध्यम बना रही हैं। निस्सन्देह ऐसे ही मुद्दे धार्मिक बहुसंख्यावादी राजनीति को आगे भी प्रभावी बनाये रखेंगें। एक तनावपूर्ण माहौल की उपस्थिति निरन्तर बनी रहेगी। छोटे स्तर के और स्थानीय रूपवाले दंगे छोटी-छोटी कालावधियों में उभरते रहेंगे। आज घनघोर प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग को भी, जिसका मोदी संसद में प्रतिनिधित्व करते हैं, गुजरात जैसे दंगों की ज़रूरत नहीं। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि पूँजीपति वर्ग के लिए अब ज़ंजीर से बंधे साम्प्रदायिक फासीवाद के शिकारी कुत्ते का कोई उपयोग नहीं। वास्तव में इसके आवश्यकतानुसार इस्तेमाल की ज़रूरत संकटग्रस्त पूँजीवाद को पहले से कहीं ज़्यादा है। आम मेहनतकश आबादी की एकजुटता को रोकने और उन्हें बाँटकर उनकी श्रम शक्ति को अधिकतम सीमा तक निचोड़ने और उससे उपजे जनप्रतिरोध को कुचलने में यह एक प्रभावी उपकरण के रूप में काम करता रहेगा। सत्ता में रहते हुए मोदी की भाजपा सरकार नवउदारवादी नीतियों के अमल से जन्मे हर असन्तोष, हर विरोधी आवाज़ का दमन करने से परहेज़ नहीं करेगी। सत्ता से बाहर रहकर भी भाजपा अपने अनुषंगी कार्यकर्ता आधारित संगठन के बूते सामाजिक संरचना का फासीवादीकरण करती रहेगी। सट्टेबाज पूँजी नियंत्रित फासीवाद की मौजूदगी की पक्षधर है। भविष्य इसे सही साबित करेगा।

जिस नग्न निरंकुश और परभक्षी वित्तीय पूँजी ने अपने प्रबंधन समिति के रूप में राजकाज चलाने के लिए मोदी सरकार पर दाँव लगाया है उसके अनुरूप परिस्थितियाँ तैयार करने में मोदी की तत्परता पिछले एक वर्ष में देखी जा सकती है। आर्थिक जर्जरता इतनी प्रत्यक्ष है कि उसके बारे में आम लोगों को भ्रम में नहीं रखा जा सकता है। इसलिए फासीवादी चरित्रवाली भाजपा सरकार बौद्धिक सांस्कृतिक शैक्षिक प्रणाली के ज़रिये चीज़ों को सत्ता पक्ष के नज़रिये से समझने के लिए जनता को एक व्याख्यात्मक चौखटा देने की कोशिशों में लगी है। मोदी ने जब भारत में वैदिक और महाभारत काल से ही चिकित्सा विज्ञान के अति विकसित अवस्था में मौजूदगी का प्रमाण गणेश के कटे सिर को प्लास्टिक सर्जरी द्वारा जोड़ने और माँ के गर्भ के बिना कर्ण का जेनेटिक साइंस की मदद से जन्म लेने के उदाहरणों से दिया तो यह उनकी मूर्खता नहीं थी जैसा कि समझा जाता है। या भारतीय विज्ञान कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में जब एक तथाकथित वैज्ञानिक द्वारा भारत में सात हज़ार वर्ष पहले विमान की तकनीक के अत्यन्त विकसित होने का दावा करता पर्चा बिना किसी बाधा के पढ़ा गया था तो यह केवल कूपमण्डूकता और रूढ़िवादिता ही नहीं थी। बल्कि इन जानकारियों को पिछड़ी चेतना वाली जनता के दिमागों में एक सामान्य बोध के रूप में स्थापित करने का सचेतन प्रयास था। बार-बार और अनेक प्रकार से दोहराये जाने से झूठ भी सच बनने लगता है। अन्धराष्ट्रवाद और उग्र हिन्दुत्ववाद के लगातार पनपते रहने के लिए यह जरूरी है। वर्चस्व स्थापित करने की लम्बी योजना ली गयी है। इतिहास, कला, साहित्य, शिक्षा और संस्कृति के संस्थानों में या तो ऐसे लोग बैठाये गये जो हिन्दुत्वादी विचारधारा के पोषक और रूढ़ियों के कट्टर समर्थक थे। या फिर इन संस्थानों के महत्वपूर्ण पदों को रिक्त छोड़ दिया गया ताकि उन्हें उपलब्धता के आधार पर भाजपा समर्थक धार्मिक रूढ़िवादियों से भरा जा सके। असहमति जतानेवाले इतिहासकारों और शिक्षाविद्ों को सरकार के हाथों अपमान झेलना पड़ा।

इस प्रसंग में एनसीईआरटी की निदेशक परवीन सिक्लेयर का, जिनपर वित्तीय अनियमितता का झूठा आरोप लगा कर संस्थान छोड़ने पर मजबूर कर दिया गया और दिल्ली आइआइटी के निदेशक शिवगांवर का, जिनपर गलत निर्णयों के लिए मानव संसाधन विकास मंत्री की तरफ से अनुचित दबाव बनाया गया था, उदाहरण लिया जा सकता है। जिन चर्चित वाइ सुदर्शन राव की योग्यता, इतिहास का उनका ज्ञान संदिग्ध रहा है उन्हें भारतीय इतिहास अनुसंधान का अध्यक्ष बना दिया गया, उनकी नियुक्ति का आधार भाजपा के प्रति अन्धभक्ति और मुस्लिम विरोधी भावना है। राव ने आते ही आईसीएचआर की परामर्श समिति का पुनर्गठन कर रोमिला थापर, सतीश चन्द्रा, मुजफ्फर अली और इरफान हबीब जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के प्रगतिशील इतिहासवेत्ताओं को बाहर का रास्ता दिखा दिया। इसी प्रकार राष्ट्रीय बुक ट्रस्ट के निदेशक को अपने कार्यकाल के सात माह पूर्व इस्तीफा देने को बाध्य होना पड़ा और उनकी जगह आर आर एस के प्रचारक रहे बलदेव भाई शर्मा को अध्यक्ष बनाया गया। अब एनसीईआरटी हिन्दू संस्कृति और परम्पराओं का सरलीकृत पाठ प्रस्तुत करेगी, एनबीटी ने योग और संघ से जुड़े व्यक्तियों पर पुस्तके प्रकाशित करना शुरू भी कर दिया है। राष्ट्रीय संग्रहालय और भारतीय समाज विज्ञान परिषद में इसी तरह की नियुक्तियाँ हो चुकी हैं। स्पष्ट है, अब विषयों को वृहत्तर आयामों से काट कर रूढ़िवादी कट्टरपन्थ के खाँचे में बैठाने का काम होगा। मिथकों को इतिहास और इतिहास को मिथक बनाने का काम आसान हो गया।

कला, साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, इतिहास से जुड़े संस्थानों में अधिकांश पदों पर नियुक्तियाँ संघ परिवार का निष्ठावान समर्थक विवेकानंद इण्टरनेशनल फाउण्डेशन से की गई हैं। यह वही इण्टरनेशनल फाउण्डेशन है जो आरएसएस के भूतपूर्व महासचिव एकनाथ रानाडे द्वारा स्थापित विवेकानन्द केन्द्र से सम्बद्ध है। इसके साथ ही स्वायत्त संस्थाओं को सरकारी नियंत्रण में लाने की मुहिम शुरू हो चुकी है। ललित कला अकादेमी, साहित्य अकादेमी की स्वायत्तता सुनियोजित ढंग से समाप्त की जा रही है। इनमें निर्णयकारी पदों पर कट्टर हिन्दुत्वाद के समर्थकों को योजनाबद्ध ढंग से बिठाया जा रहा है। अभी हाल में ही नेहरू स्मृति संग्रहालय और पुस्तकालय सोसायटी में जिन सदस्यों की नियुक्ति की गई है उनमें अर्थशास्त्री बिबेक देबरॉय, पत्रकार स्वप्न दास गुप्ता व एम जे अकबर और इंफोसिस के संस्थापक एन आर नारायणमूर्ति जैसे भाजपा समर्थकों की मौजूदगी मोदी सरकार की मंशा को उजागर करता है। यही विज्ञान, चिकित्सा, अभियांत्रिकी थियेटर, और फिल्म-टेलीविजन के उच्च शिक्षण-प्रशिक्षण के संस्थानों में भी हो रहा है। पुणे के फिल्म और टेलीविजन इंस्टीट्यूट के निदेशक पद पर फिल्म विधा से जुड़ी किसी ऊँची शख़्सियत की जगह गजेन्द्र चौहान की नियुक्ति की गई। यह वही शख्स हैं जो 'महाभारत' में भूमिका निभाने के पहले सी ग्रेड की फिल्मों में काम करते थे। 2014 के चुनाव में मथुरा की भाजपा प्रत्याशी हेमामालिनी के प्रचार में इनकी सक्रिय भूमिका निश्चय ही एक अतिरिक्त व विशेष योग्यता थी। इन महाशय को गुलज़ार, श्याम बेनेगल और अदूर गोपालकृष्णन की क़ीमत पर चुना गया और छात्रों के लगातार जारी विरोध के बावजूद जो अभी भी अपने पद पर बने हुए हैं। चिल्ड्रेन्स फिल्म सोसायटी के प्रमुख के पद पर मुकेश खन्ना की नियुक्ति को इसी रूप में देखा जा सकता है।

इतिहास, साहित्य संस्कृति कला जैसी विधाएँ जनता के अवचेतन के कई संस्तरों तक जाकर प्रभावित करती हैं। सत्ताधारी इनका उपयोग लोगों के अवचेतन को अपने उन नीतियों, विचारों व कार्रवाइयों के पक्ष में अनुकूलित करने के लिए करता है जो उसके हितों

का पोषण करते हैं। इस प्रक्रिया में वह उनमें इन नीतियों और विचारों के प्रति स्वेच्छा या सहमति की मिथ्या चेतना पैदा करता है, जिसे ग्राम्शी ने शासन के लिए सहमति का निर्माण कहा है। दूसरी तरफ ढाँचागत आर्थिक संकट के असाध्य होते जाने के साथ सत्ताधारियों के लिए यह नितान्त ज़रूरी हो जाता है कि लोगों की पिछड़ी धार्मिक चेतना का इस्तेमाल वे साम्प्रदायिक कट्टरपन्थ की ज़मीन तैयार करने और उसे सामाजिक औचित्य प्रदान करने में करें। इस आलोक में यदि मोदी सरकार के शासनकाल के एक वर्ष का आकलन किया जाय तो निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक दोनों ही मोर्चों पर उसकी सतत् कार्रवाइयों का सिलसिला मद्धिम गति से जारी है। ये जनोन्मुखी तो निश्चय ही नहीं हैं और जनचेतना को सदियों पीछे ले जाने के लिए प्रयासरत हैं। इसकी तात्कालिक प्रभाविता आज भले ही न हो (यह स्पष्ट तौर पर देखा भी जा सकता है कि साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की कोशिश केवल अल्पकाल के लिए एक हद तक ही प्रभावी हुई है।) लेकिन क्रान्तिकारी ताकतें यदि एकजुट नहीं होतीं तो भविष्य में इसका असर निश्चय ही घातक होगा। जहाँ तक आर्थिक मोर्चे का प्रश्न है, मोदी सरकार की विफलता बिल्कुल प्रत्यक्ष है। नित नयी योजनाएँ उछालकर भी मोदी लोगों का ध्यान असली मुद्दों से भटकाने में सफल नहीं हो सके हैं। उनकी लोकप्रियता का ढलान पहले उपचुनावों के नतीजे से ही पुष्ट हो गये थे। राजनीतिक और कूटनीतिक मामलों में तमाम विदेशी यात्राओं और द्विपक्षीय समझौतों के बावजूद कोई ठोस सफलता मोदी के हाथ नहीं आयी है। उल्टे, इन समझौतों से अपेक्षाकृत अधिक शक्तिसम्पन्न देशों ने ही लाभ उठाया है। इसका इस्तेमाल उनकी मीडिया निर्मित नायकत्व की छवि को और अधिक महिमामण्डित करने में भले ही हुआ हो। परन्तु चौंक-चमत्कार से भरे उनके भाषणों और विदेशों की धावाधूपी से देश को कुछ भी अब तक सकारात्मक हासिल नहीं हो सका। यह है मोदी सरकार के विकास की असली तस्वीर। यह विकास अपनी विकलांगता से मुक्त नहीं हो सकता। संकटग्रस्त विश्व पूँजीवाद के दौर में यह सम्भव भी नहीं है। विकास सच्चे अर्थों में आगे डग भरने के मंसूबे बाँध सके इसके लिए ज़रूरी है कि आर्थिक व्यवस्था का समाजवादी नियोजन हो, जो सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को कायम किये बिना सम्भव नहीं है।

"आज का संकट ठीक इस बात में निहित है कि जो पुराना है वह मर रहा है और नया पैदा नहीं हो सकता है; इस अन्तराल में रुग्ण लक्षणों का ज़बर्दस्त वैविध्य प्रकट होता है।"

-अन्तोनियो ग्राम्शी (प्रिज़न नोटबुक्स)

इस्लामिक स्टेट का उभार और मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का नया दौर

● आनन्द

11 सितम्बर के आतंकवादी हमले की 13 वीं बरसी पर नोबेल शान्ति पुरस्कार विजेता अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने इस्लामिक स्टेट (आईएस) नामक आतंकी संगठन को कमज़ोर करने और उसको नष्ट करने के घोषित उद्देश्य के तहत सीरिया और इराक़ में उसके ठिकानों पर हवाई बमबारी एवं इराक़ में 500 अतिरिक्त सैन्य सलाहकारों को भेजने का ऐलान किया। साथ ही सीरिया के राष्ट्रपति बशर अल-असद की सरकार के ख़िलाफ़ लड़ रहे विद्रोहियों के 'नरमपन्थी' हिस्सों को हथियारों की सप्लाई एवं सैन्य प्रशिक्षण की योजना का भी खुलासा किया गया। 23 सितम्बर से अमेरिका ने सीरिया की सीमा के भीतर क्रूज़ मिसाइलों और प्रिसीज़न-गाइडेड बमों की बौछार शुरू कर दी। इसके पहले अमेरिका ने इराक़ में हवाई हमले 8 अगस्त से ही शुरू कर दिये थे। यह मध्य-पूर्व में प्रत्यक्ष अमेरिकी हस्तक्षेप का नया दौर है। ग़ौरतलब है कि अभी तीन वर्ष पहले ही अमेरिका ने अपनी सेना इराक़ से वापस बुलायी थी जो 2003 में इराक़ पर अमेरिकी क़ब्ज़े के समय से ही वहाँ तैनात थी। उसके बाद पिछले वर्ष अमेरिका ने सीरिया में इस आरोप की आड़ में प्रत्यक्ष सैन्य हस्तक्षेप की तैयारी कर ली थी कि सीरिया में जारी गृहयुद्ध में असद सरकार ने रासायनिक हथियारों का प्रयोग किया था। परन्तु जल्द ही यह सच्चाई सामने आने लगी कि दरअसल सीरियाई गृहयुद्ध में रासायनिक हथियारों का प्रयोग सीरिया के विद्रोहियों ने किया था जिनको अमेरिका और मध्य-पूर्व में उसके सहयोगी सैन्य और

वित्तीय मदद दे रहे थे। उस वक़्त अमेरिका सीरिया में प्रत्यक्ष सैन्य हस्तक्षेप करने के अपने मक़सद में क़ामयाब नहीं हो पाया था क्योंकि वह नाटो के अन्य सहयोगियों को इस हमले के लिए तैयार नहीं कर सका था। परन्तु एक साल बाद अब मध्य-पूर्व का परिदृश्य काफ़ी बदल चुका है। अब इस्लामिक स्टेट के रूप में अमेरिका और नाटो के अन्य साम्राज्यवादियों को एक ऐसा पुख़्ता कारण मिल चुका है जिसके नाम पर वे अपने-अपने देशों की जनता को सैन्य हस्तक्षेप करने के लिए तैयार कर सकते हैं।

इस्लामिक स्टेट (आईएस) का उभार

इस साल जून के महीने में यकायक इस्लामिक स्टेट ऑफ इराक़ एण्ड सीरिया (आईएसआईएस जिसे अब आईएस के नाम से जाना जाता है) नामक एक इस्लामिक कट्टरपन्थी संगठन के द्वारा इराक़ में की जाने वाली मध्ययुगीन बर्बर करतूतों की ख़बरें पूरी दुनिया में सुर्ख़ियाँ बटोरने लगीं। आईएस के जिहादी लड़ाके तेज़ी से एक के बाद एक इराक़ के कई मुख्य शहरों पर क़ब्ज़ा करने लगे और यहाँ तक कि वे इराक़ की राजधानी बग़दाद के प्रवेशद्वार तक आ पहुँचे। यही नहीं, इस संगठन के सरगना अबू बक्र अल-बग़दादी ने अपने आपको समूचे इस्लामिक जगत का ख़लीफ़ा तक घोषित कर दिया। मध्य-पूर्व की राजनीति से अनजान लोगों के लिए भले ही आईएसआईएस एक नया नाम हो, परन्तु उस पूरे क्षेत्र की राजनीति एवं वहाँ अमेरिका-नीत साम्राज्यवादी हस्तक्षेप से वाकिफ़ लोग इस संगठन से परिचित थे, हालाँकि मध्य-पूर्व के प्रकाण्ड रणनीतिक विश्लेषकों के लिए भी इसका इराक़ में इतनी तेज़ी से उभार और फैलाव विस्मयकारी था। अभी कुछ महीनों पहले तक आईएसआईएस के जिहादी लड़ाके अमेरिकी, ब्रिटिश, फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों एवं उनके अरब के टट्टुओं मसलन सउदी अरब, कतर और कुवैत की शह पर सीरिया के राष्ट्रपति बशर अल-असद का तख़्तापलट करने के उद्देश्य से वहाँ जारी गृहयुद्ध में भाग ले रहे थे। उस समय अमेरिका की नज़र में वे "अच्छे" जिहादी थे क्योंकि वे अमेरिकी हितों के अनुकूल काम कर रहे थे। लेकिन अब जब वे अमेरिका के हाथों से निकलते दिख रहे हैं तो वे बुरे जिहादी हो गये हैं और उन पर नकेल कसने की कवायदें शुरू हो गयी हैं। दरअसल, इस्लामिक स्टेट अल-क़ायदा और तालिबान की तर्ज़ पर अमेरिकी साम्राज्यवाद द्वारा पैदा किया गया और पाला-पोसा गया नया भस्मासुर है जो अब अपने आका को ही शिकार बनाने लगा है।

आईएस की पृष्ठभूमि

इस्लामिक स्टेट (आईएस), जिसको आईएसआईएस के नाम से भी जाना जाता है, अल-कायदा से ही निकला एक आतंकवादी संगठन है जिसने हाल ही में दज़ला और फ़रात नदियों के किनारे स्थित उत्तरी सीरिया एवं उत्तरी और मध्य इराक़ के अनेक महत्वपूर्ण शहरों, तेलशोधक कारखानों और बाँधों पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया है। इस लेख के लिखे जाने तक इराक़ के लगभग एक तिहाई क्षेत्र पर इसका क़ब्ज़ा हो चुका है और सीरिया के कई इलाकों में भी इसने अपनी पैठ बना ली है। इस आतंकवादी संगठन ने इराक़ में 2003 के अमेरिकी हमले (ऑपरेशन शॉक एण्ड ऑ) के बाद वहाँ अपनी जड़ें जमानी शुरू की। ग़ौरतलब है कि इस हमले के पहले तक इराक़ में अल-क़ायदा का नामोनिशान तक नहीं था। सद्दाम हुसैन बेशक एक तानाशाह था जिसने अपने देश की जनता पर अकथनीय जुल्म ढाये, परन्तु उसके शासन में शिया-सुन्नी के अन्तरविरोध दुश्मनाना नहीं थे। उस दौर में इराक़ में शिया-सुन्नी में

आपस में विवाह आम बात थी। अमेरिकी हमले में सद्दाम हुसैन के सत्ताच्युत होने के बाद इराक़ में घोर अराजकता, पन्थीय और नृजातीय संकीर्णता और इस्लामिक कट्टरपंथियों के पनपने की ज़मीन तैयार हुई। साथ ही इराक़ में अमेरिकी क़ब्ज़े और सेना की उपस्थिति के ख़िलाफ़ व्यापक जनउभार भी शुरू हो गया। इस जनउभार को काबू में करने के लिए अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने योजनाबद्ध तरीके से इराकी समाज में शिया-सुन्नी की पन्थीय संकीर्णता एवं उत्तरी इराक़ में रहने वाली कुर्द नृजातीय आबादी में अलगाववादी भावनाओं को हवा देना शुरू किया। "बाँटो और राज करो" की इस साम्राज्यवादी नीति का नतीजा यह हुआ कि इराक़ में एक गृहयुद्ध जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी। शियाओं एवं सुन्नियों की अलग-अलग मिलीशिया और फ़िदायीं दस्ते बनने लगे जो एक दूसरे के ख़ून के प्यासे हो गये।अमेरिकी साम्राज्यवादियों की शह पर बनने वाली राजनीतिक संरचना में शिया-सुन्नी विवाद को हवा देने के लिए ऐसे प्रावधान डाले गये जिससे वहाँ की राजनीति में बहुसंख्यक शियाओं का दबदबा क़ायम हो सके।

ग़ौरतलब है कि इराक़ में शियाओं की बहुसंख्या होने के बावजूद अमेरिकी हमले से पहले तक वहाँ की राजनीति में शियाओं के वर्चस्व जैसी कोई बात नहीं थी। सद्दाम हुसैन स्वयं अल्पसंख्यक सुन्नी समाज से आता था और उसकी बाथ पार्टी में शिया और सुन्नी दोनों ही सदस्य थे। अमेरिकी हमले के बाद इराक़ में जो राजनीतिक संरचना अस्तित्व में आयी उसमें संवैधानिक रूप से यह प्रावधान किया गया कि वहाँ के सबसे रसूख़दार प्रधानमंत्री के ओहदे पर शिया ही क़ाबिज़ हो सकता है एवं राष्ट्रपति तथा संसद के स्पीकर जैसे कम महत्वपूर्ण ओहदे क्रमशः सुन्नियों तथा कुर्दों के लिए सुरक्षित रखे गये। लेबनान मॉडल पर किये गये इस विचित्र संवैधानिक-राजनीतिक प्रबन्ध का नतीजा यह हुआ कि समय बीतने के साथ ही साथ वहाँ की राजनीति एवं अर्थव्यवस्था में शियाओं का दबदबा बढ़ता गया और सुन्नी एवं कुर्द हाशिये पर जाते गये। इसकी वजह से सुन्नियों एवं कुर्दों में अलगाववादी भावना पनपने लगी। अमेरिकी हमले के बाद इराक़ की अर्थव्यवस्था तहस-नहस हो गयी, बेरोज़गारी और महँगाई आसमान छूने लगी। हालाँकि इस अराजकता का दंश इराक़ की जनता के हर हिस्से ने झेला, लेकिन सुन्नी जो सद्दाम हुसैन के शासनकाल में बेहतर स्थिति में थे, उनकी तो मानो पूरी दुनिया ही तबाह हो गयी।

ये वो हालात थे जिनमें सुन्नी इस्लामिक कट्टरपन्थी अल-कायदा ने इराक़ में पैर जमाना शुरू किया। इसका शुरुआती नाम 'अल-कायदा इन मेसोपोटामिया' था जिसकी स्थापना इराक़ के ताल अफ़ार नामक शहर में हुई थी। शुरुआत में इसका नेतृत्व जार्डनी आतंकवादी अबू मुसब अल-ज़रकावी के हाथों में था जिसे ओसामा बिन लादेन तक ने अत्यधिक हिंसक और संकीर्ण माना था। यही संगठन 2006 में इस्लामिक स्टेट आफ इराक़ (आईएसआई) के नाम से जाना जाने लगा जो बाद में आईएसआईएस या सिर्फ़ आईएस के नाम से प्रचलित हुआ। इसका मौजूदा मुखिया अबूबक्र अल-बग़दादी है जो 2003 तक एक छुटभैया चोर-उचक्का था। इराक़ में अमेरिकी हमले के बाद अमेरिकी डिटेंशन सेंटर में प्रताड़ना झेलने के बाद वह आतंकवाद की दिशा में बढ़ा और आईएस जैसे आतंकवादी संगठन का मुखिया बन बैठा। इस संगठन ने मुक़्तदा अल-सद्र की महदी शिया सेना और बद्र एवं सलाम ब्रिगेड जैसी शिया मिलीशिया से भी लोहा लिया था। लेकिन यह अभी भी महज़ एक छोटा सा जिहादी समूह भर था जिसके पास इतनी ताक़त हरगिज़ नहीं थी कि वह इराक़ के किसी शहर पर क़ब्ज़ा करने की सोच भी सकता। आईएसआईएस की ताकत में इज़ाफ़ा होना तब शुरू हुआ जब

2011 के बाद से सीरिया में जारी गृहयुद्ध में इसने विद्रोहियों की तरफ़ से शिरकत करनी शुरू की।

आईएस की बढ़ती ताक़त की वजह

2011 में ट्यूनिशिया एवं मिस्र में जनविद्रोहों के बाद अरब के तमाम देशों की तरह सीरिया में भी निरंकुश शासन एवं आर्थिक संकट के विरोध में व्यापक जनउभार देखने को आया। अमेरिकी एवं पश्चिमी यूरोपीय साम्राज्यवादियों को इस जनउभार में सीरिया के राष्ट्रपति बशर अल-असद (जिसकी क़रीबी रूस और ईरान से है) का तख़्तापलट करने की सम्भावना दिखी। साम्राज्यवादियों की मंशा यह थी कि जिस प्रकार वे लीबिया में इस्लामिक कट्टरपन्थी विद्रोहियों को सैन्य एवं वित्तीय मदद देकर क़द्दाफ़ी का तख़्तापलट करने में क़ामयाब रहे (यह बात दीग़र है कि लीबिया में इस्लामिक कट्टरपंथियों की बढ़ती ताक़त की वजह से अभी भी राजनीतिक अस्थिरता एवं अराजकता का माहौल व्याप्त है), उसी प्रकार सीरिया में भी बशर अल-सद्र का भी तख़्तापलट किया जा सकता है और वहाँ एक कठपुतली सरकार बनवाई जा सकती है। इसके लिए उन्होंने सीरिया में सुन्नी कट्टरपंन्थी विद्रोहियों को बढ़ावा दिया जाये। असद सरकार के ख़िलाफ़ जिहाद का एलान करने वाले लड़ाकों को मुद्रा, हथियार एवं सैन्य प्रशिक्षण देने के काम में उनकी मदद सउदी अरब, कतर एवं कुवैत के शेखों और शाहों के साथ ही साथ तुर्की की सरकार ने की। आईएस के अतिरिक्त सीरिया में जिहाद का एलान करने वाले लड़ाकों में एक अन्य इस्लामिक कट्टरपन्थी संगठन जबत अल-नूसरा भी है जिसको अल-कायदा की सीरिया शाखा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सीरिया में असद सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह का ऐलान करने वाले में फ्री सीरियन आर्मी के लड़ाके शामिल हैं, परन्तु आईएस के मुकाबले उनकी ताक़त बहुत कम है।

लेकिन बशर अल-असद की सरकार क़द्दाफ़ी की सरकार जितनी कमज़ोर न थी, उसकी सैन्य क्षमता एवं सामाजिक आधार कहीं ज़्यादा व्यापक थे। नतीजतन, साम्राज्यवादियों को सीरिया में बशर अल-असद का तख़्तापलट करने में अभी तक कोई ख़ास क़ामयाबी नहीं हासिल हुई है। सीरिया में विद्रोही जिहादियों ने महज़ कुछ ही शहरों को अपने कब्ज़े में लेने में क़ामयाबी हासिल की है। लेकिन इस प्रक्रिया में आईएस जैसे खूँख़ार जिहादी लड़ाकों को अकूत धनसामग्री एवं अत्याधुनिक हथियार (ख़ासकर टोयोटा ट्रक और हॉविटज़र बन्दूकें) ज़रूर मिल गये जिससे उनकी ताक़त में ज़बरदस्त इज़ाफ़ा हुआ।

पिछले साल के अन्त में आईएसआईएस ने सीरिया-इराक़ की सीमा को पार कर इराक़ में एक बार फिर से नयी ताकत के साथ प्रवेश किया। इस साल जनवरी में उसने इराक़ के अनबार प्रदेश के रमादी एवं फलूजा शहरों पर क़ब्ज़ा कर लिया। जून में उसने समारा, मोसुल, निनेवेह एवं सद्दाम हुसैन के गृह शहर तिकरित पर क़ब्ज़ा कर लिया। जून के अन्त तक इराक़ की सीरिया एवं जार्डन की सीमा पर आईएस का क़ब्ज़ा हो चुका था और उसके जिहादी लड़ाके बग़दाद के प्रवेशद्वार तक पहुँच चुके थे।

सीरिया में प्राप्त मुद्रा, हथियारों एवं सैन्य प्रशिक्षण के अतिरिक्त आईएस की बढ़ती ताकत का एक अन्य प्रमुख कारण सद्दाम हुसैन की बाथ पार्टी से जुड़े सेना के जनरलों एवं नौकरशाहों के साथ उसका गठबन्धन रहा। ग़ौरतलब है कि 2003 के अमेरिकी हमले के बाद से अमेरिका के निर्देश पर सुनियोजित रूप से वहाँ विबाथीकरण (डीबाथीफिकेशन) की मुहिम चलायी गयी जिसकी वजह से बाथ पार्टी से जुड़े सेना के अधिकारी और नौकरशाह

बेरोज़गार होकर वस्तुतः सड़क पर आ गये। सैन्य अधिकारियों ने 'मिलिटरी काउंसिल' नाम से एक संगठन बनाया जो इस वक़्त आईएस के लड़ाकों को रणनीतिक मार्गदर्शन कर रहा है। आईएस के दूसरे सहयोगी नक़्शबन्दी आन्दोलन से जुड़े लड़ाके हैं जिनका नेतृत्व सद्दाम हुसैन की सरकार में उपराष्ट्रपति एवं पूर्व बाथ पार्टी का सदस्य इज़्ज़त अल-दौरी कर रहा है। हालाँकि नक़्शबन्दी आन्दोलन इस्लाम की सूफ़ी परम्परा से प्रेरित है, लेकिन उसने आईएस जैसे कट्टरपन्थी संगठन से एक अवसरवादी गठजोड़ बना लिया है जिससे आईएस की ताक़त में ज़बरदस्त इज़ाफ़ा हुआ है।

आईएस की गुरिल्ला फौज में इराक और अरब जगत के इस्लामिक कट्टरपंथियों के अतिरिक्त चेचेन्या, पाकिस्तान एवं यूरोपीय देशों के इस्लामिक कट्टरपन्थी लड़ाके हैं। भारत से भी कुछ मुस्लिम युवाओं के आईएस में शामिल होने की ख़बरें आयी हैं। इराक़ की राजनीति में शियाओं के वर्चस्व होने के बाद से सुन्नी समुदाय की आम आबादी का बड़ा हिस्सा भी आईएस को अपने हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले लड़ाकू संगठन के रूप में देखता है। इराक़ में इतनी तेज़ी से आईएस के प्रभुत्व के बढ़ने के पीछे एक अन्य कारण अमेरिकी हमले के बाद से इराक़ी सेना के मनोबल में भारी गिरावट भी रहा जिसकी वजह से संख्या में आईएस के मुकाबले कई गुना होने के बावजूद वे उसके सामने टिक न सके। आईएस ने जिन शहरों पर क़ब्ज़ा किया वहाँ भारी मात्रा में इराकी सेना के हथियारों और लूटपाट से अर्जित अकूत धनदौलत से भी आईएस की ताक़त में इज़ाफ़ा हुआ। इसके अतिरिक्त मोसुल और किरकुक जैसे स्थानों में स्थित तेलों के कुँओं पर कब्ज़े से भी उनकी आर्थिक ताक़त बढ़ी। लेकिन जितनी तेज़ी से इसकी ताक़त बढ़ी उतनी ही तेज़ी से समूचे अरब जगत की आम जनता के बीच इसके प्रतिक्रियावादी चरित्र का खुलासा भी हुआ। जब यह इराक़ में एक के बाद एक शहरों पर क़ब्ज़ा करने में व्यस्त था था उसी दौरान जॉयनवादी इज़रायल गाज़ा की जनता पर अकथनीय क़हर बरपा रहा था। लेकिन पूरी दुनिया में इस्लामिक राज्य का स्थापित करने का दावा करने वाले इस आतंकवादी संगठन के पास फ़िलिस्तीन की जनता के शानदार और बहादुराना संघर्ष में भाग लेना तो दूर उनके समर्थन में एक शब्द तक नहीं बोले।

इराक़ एवं सीरिया में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के पीछे का राजनीतिक अर्थशास्त्र

इराक़ एवं सीरिया सहित समूचे मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप शुरू से ही इस क्षेत्र की अकूत तेल और गैस संसाधनों की मौजूदगी से सीधे तौर पर जुड़ा रहा है। दुनिया के कुल तेल रिज़र्व का 65 फ़ीसदी मध्य-पूर्व में और लगभग 10 फ़ीसदी अकेले इराक़ में है। 1991 के प्रथम खाड़ी युद्ध, उसके बाद इराक़ पर अमानवीय प्रतिबन्ध और 2003 में द्वितीय खाड़ी युद्ध के बाद सद्दाम हुसैन की सत्ता का पतन और उसके बाद से इराक़ में जारी भयंकर अराजकता, इन सभी का मूल कारण इराक़ के तेल के संसाधन ही थे। हालाँकि सद्दाम हुसैन को इराक़ का तानाशाह बनाने में अमेरिका की भी भूमिका थी और 1980 के दशक में चले ईरान-इराक़ युद्ध में अमेरिका ने सद्दाम हुसैन का साथ दिया था, लेकिन सद्दाम हुसैन चूँकि अमेरिका का कठपुतली बनने की बजाय स्वतंत्र आकांक्षाएँ पालने लगा था, इसलिए वह अमेरिकी साम्राज्यवाद की आँखों की किरकिरी बन गया था। प्रथम खाड़ी युद्ध की से ठीक पहले सद्दाम हुसैन कुवैत पर क़ब्ज़ा करके उसके तेल के कुँओं को पर नियंत्रण करने के ख़्वाब देख रहा था जो अमेरिका को हरगिज़ मंजूर न था। सितम्बर 2000 में सद्दाम हुसैन ने

यूरोपीय यूनियन की मुद्रा यूरो में तेल व्यापार करने की की घोषणा कर दी थी जिससे विश्व तेल व्यापार में डालर के वर्चस्व को ख़तरा उत्पन्न हो गया था। इसके बाद 2001 में विश्व व्यापार केन्द्र पर आतंकी हमले की आड़ में तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने आतंक के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा की जिसके तहत अमेरिका ने पहले अफगानिस्तान पर साम्राज्यवादी हमला किया गया और फिर 2003 में इराक़ पर हमला किया और सद्दाम हुसैन को सत्ताच्युत करके इराक़ पर क़ब्ज़ा कर लिया और वहाँ अपनी कठपुतली सरकार की स्थापना कर दी। लेकिन इराक़ में अमेरिकी क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ वहाँ जनप्रतिरोध भी शुरू हो गया। इस जनप्रतिरोध को तोड़ने के लिए अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने इराक़ी समाज में शिया-सुन्नी की पन्थीय संकीर्णता और कुर्द की नृजातीय अलगाववादी भावनाओं को हवा देना शुरू किया। इराक़ के उत्तरी भाग में स्थित कुर्दिस्तान स्वायत्तशासी क्षेत्र वहाँ के तेल संसाधन सम्पन्न क्षेत्रों में से एक है जहाँ एक्सान मोबिल और शेवरान जैसी अमेरिकी तेल कम्पनियाँ तेल के कुओं से तेल निकालकर अकूत मुनाफ़ा कमाती हैं। कुर्दिस्तान स्वायत्त क्षेत्र की राजधानी इरबिल में इन तमाम तेल कम्पनियों के क्षेत्रीय कार्यालय हैं। अमेरिका का दूतावास भी इरबिल में स्थित है और इसके अलावा यह अमेरिका के सैन्य और खुफ़िया अधिकारियों का गढ़ भी है। अगस्त के महीने में जब आईएस के जिहादी लड़ाके इरबिल की ओर बढ़ने लगे तो इरबिल में आईएस के क़ब्ज़े की सम्भावना से अमेरिका सकते में आ गया। आनन-फानन में अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा, जो अब तक आईएस को एक छोटा-मोटा संगठन बताते थे, ने कुर्दिस्तान में आईएस के क़ब्ज़े वाले क्षेत्रों में अमेरिकी वायुसेना को हवाई हमले का आदेश दे दिया। दुनिया भर की पूँजीवादी मीडिया में यह प्रचारित किया गया कि अमेरिका ने आईएस के डर से सिंजर पहाड़ों में छिपे यज़ीदी समुदाय के लोगों को बचाने के लिए यह हमला किया था। लेकिन सच्चाई यह थी कि यह हमला आईएस को इरबिल से दूर हटाने के लिए किया गया था। इस हमले की दूसरा मक़सद मोसुल बाँध पर से आईएस के कब्ज़े से छुड़ाना था जिससे इराक़ के बड़े हिस्से में बिजली और पानी भेजी जाती है। यज़ीदी समुदाय के लोगों को बचाने का काम दरअसल सीरिया स्थित वाईपीजी (पीपुल्स प्रोटेक्शन ग्रुप) और तुर्की की पीकेके (कुर्दिश वर्कर्स पार्टी) के ज़मीनी कुर्द लड़ाकों ने किया था।

इराक़ पर क़ब्ज़ा करने के बाद अमेरिकी साम्राज्यवादियों का अगला प्रमुख निशाना ईरान था। ईरान कच्चे तेल के रिज़र्व के मामले में दुनिया में चौथे स्थान पर और प्राकृतिक गैस में दुनिया मे दूसरे स्थान पर है। 1979 की इस्लामिक क्रान्ति के बाद से ही अमेरिका और ईरान के सत्ताधारियों के बीच दुश्मनाना सम्बन्ध रहे हैं। सामरिक रूप से ईरान की नज़दीकी रूसी साम्राज्यवादियों से रही है। अपनी अकूत तेल और गैस सम्पदा के बूते ईरान ने अपना स्वतंत्र तेल बाज़ार बना लिया है जिसमें वह डालर के अलावा अन्य मुद्राओं में भी व्यापार करता है। इस प्रकार ईरान ने विश्व तेल बाज़ार में अमेरिकी डालर के एकाधिकार को ज़बरदस्त चुनौती दी है। आर्थिक मन्दी से गुजर रही अमेरिकी अर्थव्यवस्था के लिए यह एक ज़बरदस्त धक्का था। इसीलिए अमेरिका पिछले कई वर्षों से ईरान पर हमला करने की फ़िराक में है। राष्ट्रपति बराक ओबामा अपने पूरे कार्यकाल के दौरान ईरान पर हमले के लिए जनमत तैयार करते रहे हैं। और ईरान पर प्रतिबन्ध भी इसी मक़सद से लगाये गये।

मध्य-पूर्व में सामरिक, सैन्य एवं आर्थिक रूप से ईरान का सबसे घनिष्ठ सहयोगी सीरिया रहा है। इसके अतिरिक्त लेबनान स्थित हिज़बुल्ला भी मध्य-पूर्व में ईरान का घनिष्ठ सहयोगी है जिसने इज़रायली जॉयनवादियों की नाक में दम कर रखा है। इस प्रकार मध्य-पूर्व में

ईरान-सीरिया-हिज़बुल्ला की एक धुरी है जो उस क्षेत्र में शिया-सुन्नी की पन्थीय संकीर्णता के बढ़ने के साथ ही साथ ही सुदृढ़ हुई है। हालाँकि बशर अल-असद स्वयं शिया नहीं है, बल्कि अलावी पन्थ से आता है, लेकिन उसका सीरिया के शिया और ईसाई अल्पसंख्यकों में अच्छा-ख़ासा आधार है। सीरिया की बाथ पार्टी की सरकार लम्बे समय से पश्चिमी साम्राज्यवादियों की योजनाओं में एक बड़ी बाधा रही है और हिज़बुल्ला तथा हमास जैसे प्रतिरोध आन्दोलनों के समर्थन की वजह से इज़रायल से भी उसके सम्बन्ध दुश्मनाना रहे हैं। भू-राजनीतिक दृष्टि से मध्य-पूर्व में सीरिया बेहद अहम स्थान रखता है क्योंकि यह क्षेत्रीय शक्ति-सन्तुलन एवं जल तथा प्राकृतिक गैस जैसे संसाधनों के ट्रांज़िट के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। हाल में मध्य-पूर्व के क्षेत्र से यूरोप को पाइपलाइन के ज़रिये प्राकृतिक गैस पहुँचाने के लिए दो योजनाएँ प्रस्तावित हैं और ये दोनों प्रस्तावित पाइपलाइनें सीरिया से होकर जाने की योजना है। पहली योजना, जिसको इस्लामिक पाइपलाइन भी कहा जा रहा है, में गैस पाइपलाइन ईरान की असालुयेह गैस क्षेत्र से ईराक़ और सीरिया होते हुए मेडिटेरेनियन समुद्री तट और फिर वहाँ से यूरोप को ले जायी जायेगी। दूसरी योजना में कतर से गैस पाइपलाइन शुरू होकर हुए सउदी अरब, जॉर्डन और सीरिया होकर तुर्की और फिर वहाँ से यूरोप की ओर जायेगी। इस्लामिक गैस पाइपलाइन के लिए 2011 में समझौते पर दस्तख़त भी हो चुके हैं। यदि यह पाइपलाइन अस्तित्व में आती है तो इससे कतर, इज़रायल और अमेरिकी साम्राज्यवादियों को काफ़ी नुक़सान पहुँचेगा एवं ईरान लाभ की स्थिति में होगा। इसीलिए साम्राज्यवादियों की योजना में सीरिया काफ़ी अहमियत रखता है।

मध्य-पूर्व में हालिया हस्तक्षेप के पीछे अमेरिकी साम्राज्यवाद की रणनीति

अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने इराक़ और सीरिया में हालिया हस्तक्षेप का मक़सद इस्लामिक स्टेट (आईएस) को कमज़ोर करके उसको नष्ट करना बताया है। परन्तु जिस तरीके से अमेरिका आईएस का हौव्वा खड़ा करके समूचे मध्य-पूर्व के क्षेत्र में अमेरिकी सैन्य उपस्थिति बढ़ा रहा है उससे साफ़ ज़ाहिर है कि उसका असली मक़सद अभी भी असद सरकार का तख़्तापलट करवाना और फिर ईरान का घेरना है। हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं कि पिछले वर्ष भी अमेरिका सीरिया पर हमला करने की फ़िराक में था, लेकिन साम्राज्यवादियों के आपसी मतभेद की वजह से वह अपने मक़सद में क़ामयाब न हो सका था। आईएस और जबत अल-नूसरा जैसे जिहादी लड़ाकों को उसने अपने सहयोगियों की मदद से इसलिए बढ़ावा दिया था ताकि वे असद सरकार का तख़्तापलट करवाने के उसके मक़सद को पूरा करें। लेकिन अब जबकि आईएस अमेरिका के काबू से बाहर होकर एक स्वतंत्र ताकत बन चुका है तो साम्राज्यवादियों की अपनी रणनीति में फेरबदल करना पड़ा है। अब वह आईएस द्वारा ढायी जा रही मध्ययुगीन बर्बरता जैसे गला रेतकर हत्या करना, सामूहिक कत्लेआम करना, महिलाओं को यौन दास बनाकर रखना, गैर-मुस्लिमों को ज़बरन इस्लाम कबूल करवाने की वीडियो इलेक्ट्रानिक और सोशल मीडिया के ज़रिये फैलाकर मध्य-पूर्व में सैन्य हस्तक्षेप के लिए औचित्य प्रतिपादन और जनमत तैयार करने की रणनीति अपना रहा है। अभी हाल ही में अमेरिकी मीडिया में अचानक खोरासान ग्रुप नामक एक नये जिहादी संगठन का हौव्वा खड़ा किया गया जिसके बारे में यह प्रचारित किया गया कि वह आईएस से भी ज़्यादा ख़तरनाक और बर्बर संगठन है और वह अमेरिका पर एक बड़ा हमला करने की योजना बना रहा है।

अमेरिकी मीडिया में एक बार फिर से मध्य-पूर्व में सेना भेजने की चर्चाएँ आम हो गयी हैं।

लेकिन अमेरिकी साम्राज्यवादियों की रणनीति के अपने अन्तरविरोध भी है। जहाँ एक ओर वह आईएस को कमज़ोर करने के लिए अन्य नरमपन्थी जिहादियों एवं कुर्दों को हथियारों की सप्लाई एवं सैन्य प्रशिक्षण देकर मज़बूत करना चाहता है, वही दूसरी ओर उसके क्षेत्रीय सहयोगी इसमें उतनी दिलचस्पी नहीं ले रहे हैं। मिसाल के तौर पर तुर्की का यह डर है कि यदि कुर्दों की ताक़त बढ़ती है तो वे तुर्की में अपने आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग तेज़ कर देंगे। ग़ौरतलब है कि तुर्की में 1.5-2 करोड़ कुर्द रहते हैं और लम्बे अरसे से वे अपने आत्मनिर्णय के अधिकार को लेकर संघर्षरत हैं। तुर्की की सरकार इस संघर्ष का बर्बर दमन करती आयी है। इस संघर्ष का नेतृत्व पीकेके (कुर्दिश वर्कर्स पार्टी) के हाथों में है जिसको तुर्की ने आतंकवादी संगठन घोषित कर रखा है। अभी हाल ही में जब आईएस की जिहादी तुर्की-सीरिया सीमा से लगे सीरियाई शहर कोबानी को कब्ज़ा करने के क़रीब आ पहुँचे तो कुर्दों की माँग के बावजूद तुर्की ने न तो स्वयं हस्तक्षेप किया और न ही पीकेके के लड़ाकों को वहाँ जाने की अनुमति देने में कोई आतुरता दिखायी। मध्य-पूर्व क्षेत्र के विशेषज्ञों का मानना है कि तुर्की ने कोबानी को आईएस के कब्ज़े से बचाने में कोई आतुरता इसलिए नहीं दिखायी क्योंकि वह चाहता था कि कोबानी कुर्दों के हाथ से निकल जाये। कोबानी सीरिया के कुर्दों के स्वायत्तशासी क्षेत्र के बीचोंबीच स्थित है और यदि वह कुर्दों के हाथ से निकल जाता तो कुर्दों की ताक़त कमज़ोर होती जिससे तुर्की में आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए चल रहा उनका संघर्ष भी कमज़ोर पड़ता। इसी प्रकार से अमेरिका का घनिष्ठतम सहयोगी सउदी अरब भी हालाँकि आईएस की स्वतंत्र आकांक्षाओं से खौफ़ज़दा है, लेकिन उसे यह भी डर है कि आईएस के कमज़ोर पड़ने से सीरिया और ईरान की ताक़त बढ़ेगी। इराक़ में शियाओं के वर्चस्व के बाद ईरान की ताक़त बढ़ने से वह पहले से ही चिन्तित रहता है।

इन तमाम अन्तरविरोधों के बावजूद अमेरिकी साम्राज्यवादी आईएस और अन्य इस्लामिक कट्टरपन्थी संगठनों का हौव्वा खड़ा करके समूचे मध्यपूर्व में सैन्य हस्तक्षेप बढ़ाकर सीरिया में तख़्तापलट और फिर ईरान को घेरने की योजना को बदले हुए परिदृश्य में भी लागू करने की ओर बढ़ रहे हैं। साथ ही वह इराक़ में शिया-सुन्नी-कुर्द की दरार को और बढ़ाकर इराक़ को तीन स्वतंत्र क्षेत्रों में विभाजित करने की अपनी योजना को अमल में लाने की दिशा में ही आगे बढ़ रहे हैं। दरअसल अमेरिकी साम्राज्यवादियों की योजना समूचे मध्य-पूर्व का नक्शा बदलकर वर्तमान राष्ट्र-राज्यों को छोटे-छोटे कई हिस्सों में बदलने की है जिससे कि उनको बेहतर तरीके से साम्राज्यवादियों के हितों के अनुकूल संचालित किया जा सके। इस जटिल परिस्थिति में इतना तो तय है कि आने वाले दिनों में यह पूरा क्षेत्र भयंकर पन्थीय हिंसा और गृहयुद्धों की चपेट में रहेगा। लेकिन इतिहास ने यह बार-बार सिद्ध किया है कि किसी समाज का विकास सदैव साम्राज्यवादियों की रणनीतियों के अनुसार ही नहीं होता बल्कि उनकी इच्छा से स्वतंत्र और अक्सर उनकी इच्छा के विपरीत उसकी स्वतंत्र गति भी होती है। मध्य-पूर्व के समूचे क्षेत्र में वहाँ के शासकों और साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ जनता में ज़बरदस्त असंतोष व्याप्त है। इस क्षेत्र में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के नये दौर में यह जन असंतोष और उग्र रूप धारण करेगा और भविष्य में जन विद्रोहों की दिशा में अग्रसर होगा।

यूनानी त्रासदी के भरतवाक्य के लेखन की तैयारी

● शिशिर

29 जून को सिरिज़ा की सरकार ने यूरोपीय संघ, यूरोपीय केन्द्रीय बैंक और आई.एम.एफ़ की त्रयी से असहनीय शर्तों पर बेलआउट पैकेज स्वीकार करने के प्रश्न पर जनमत संग्रह की घोषणा की। यह जनमत संग्रह 5 जुलाई को होने वाला है। सिरिज़ा सरकार के मुखिया एलेक्सिस सिप्रास के लिए 5 महीनों तक साम्राज्यवादी त्रयी के इशारों पर नाचने के बाद यह अनिवार्य हो गया था कि वह आगे बेलआउट लेने और तथाकथित किफ़ायतसारी की नीतियों को लागू करने के लिए जनमत संग्रह का एलान करें। ग़ौरतलब है कि सिरिज़ा सरकार की स्वीकार्यता दर हालिया दिनों में ही 36 प्रतिशत से गिरकर 34 प्रतिशत हो गयी है। यूनान की जनता का 35 प्रतिशत से भी ज़्यादा हिस्सा अब यूरो व यूरोपीय संघ से बाहर जाने का अनुमोदन कर रहा है। जनता के विभिन्न हिस्सों, विशेष तौर पर, मज़दूरों और छात्रों के प्रदर्शनों की बारम्बारता बढ़ गयी है। हाल ही में एथेंस में राष्ट्रीय तकनीकी विश्वविद्यालय पर छात्रों ने कब्ज़ा कर लिया था जिसे एलेक्सिस सिप्रास की सरकार ने पुलिस के बल-प्रयोग द्वारा ज़बरन ख़ाली करवाया। 5 जुलाई को जो जनमत संग्रह होने वाला है उसमें भी जो विकल्प जनता के सामने रखे जायेंगे वह साम्राज्यवादी त्रयी की शर्तों पर बेलआउट या फिर सिरिज़ा सरकार की शर्तों पर यूरोपीय संघ व यूरो के भीतर रहने के विकल्प हैं और जनता के सामने यूरो व यूरोपीय संघ से बाहर जाने का कोई विकल्प नहीं रखा गया है। वास्तव में सिप्रास ने जनमत संग्रह से पहले ही घुटने टेकने के संकेत देने शुरू कर दिये हैं और साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सिरिज़ा सरकार के तहत यूनान यूरोपीय संघ में ही रहेगा।

इसलिए वास्तव में इस जनमत संग्रह में चुनने के लिए जनता के पास ज़्यादा कुछ नहीं होगा। यह जनमत संग्रह कराया ही इसलिए जा रहा है कि यूनान पूँजीवाद के दायरे से बाहर न जाये और उसके भीतर ही रहे, चाहे यूरोपीय संघ के साथ या फिर यूरोपीय संघ से बाहर। इसमें भी सिरिज़ा यूरोपीय संघ के भीतर बने रहने को लेकर विशेष तौर पर उत्सुक है। ग़ौरतलब है कि 30 जून को आई.एम.एफ़. को 1.6 अरब यूरो की किश्त अदा करने की आख़िरी तिथि के पहले जहाँ एक ओर सिप्रास ने 5 जुलाई के जनमत संग्रह का एलान किया तो वहीं लगातार यूरोपीय संघ से बेलआउट पैकेज दिये जाने की आख़िरी क्षण की अपीलें भी करते रहे! लेकिन इससे पहले कि हम इस जनमत संग्रह के पीछे की पूरी राजनीति पर चर्चा करें, सबसे पहले सिरिज़ा के सरकार बनाने के बाद हुए परिवर्तनों पर एक निगाह डालना बेहतर होगा।

सुधारवादी-लोकरंजकतावादी वामपन्थ का वास्तविक चरित्र: सिरिज़ा सरकार का आधा साल

जेम्स पेत्रास ने सिरिज़ा को यूरोप में एक विशिष्ट परिघटना का अंग बताया है जिसे कि वह 'गैर-वामपन्थी वाम का उभार' कहते हैं। कुछ मायनों में यह विश्लेषण दुरुस्त बैठता है। सिरिज़ा की सरकार के आधे वर्ष ने स्पष्ट कर दिया है कि सिरिज़ा किसी भी रूप में पूँजीवादी व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं करने वाली है; पूँजीवादी व्यवस्था के अतिक्रमण की बात तो छोड़ दें, सिरिज़ा पूँजीवादी दायरे के भीतर भी उपलब्ध बेहतर रणनीति या रणकौशल को चुनने की बजाय साम्राज्यवादी त्रयी (यूरोपीय संघ-अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष-यूरोपीय आयोग बैंक) के समक्ष घुटने टेक रही है। सिरिज़ा 5 वर्ष की किफ़ायतसारी के विरुद्ध जनता के आक्रोश के बल पर सत्ता में आयी थी। पहले पासोक की सामाजिक-जनवादी सरकार और उसके बाद न्यू डेमोक्रेसी की समारास सरकार के दौर में साम्राज्यवादी त्रयी द्वारा थोपी गयी किफ़ायतसारी की नीतियों के फलस्वरूप यूनान में बेरोज़गारी, ग़रीबी, बेघरी और मज़दूरी में गिरावट की दरों में ज़बरदस्त बढ़ोत्तरी हुई थी। जनता के व्यापक हिस्सों में इन नीतियों के ख़िलाफ़ भयंकर असन्तोष था। सिरिज़ा के 2012 के बाद तेज़ी से उभरने के पीछे जो कारण था वह था इसका किफ़ायतसारी की नीतियों का विरोध। सिरिज़ा का कहना था कि अगर वह सरकार बनाती है तो वह यूरोपीय संघ में रहते हुए किफ़ायतसारी की नीतियों का अन्त करेगी, जिसके कारण यूनानी जनता को भयंकर तबाही का सामना करना पड़ा है। उसने यूरोपीय संघ के साम्राज्यवादी मंसूबों की भी मुख़ालफ़त की थी और उसके साम्राज्यवादी युद्धों से यूनान को अलग करने की घोषणा की थी। जनता के लिए कल्याणकारी नीतियों का वायदा किया गया था। और भयंकर तबाही से तंग यूनानी जनता के व्यापक जनसमुदायों ने सिरिज़ा को इन्हीं वायदों के कारण वोट दिया था क्योंकि पासोक और न्यू डेमोक्रेसी जैसी पार्टियाँ अपनी विश्वस्नीयता खो चुकी थीं। लेकिन सरकार बनते ही जनता की आशाओं पर कुठाराघात का एक सिलसिला शुरू हुआ। फिलहाल, जनमत संग्रह के एलान से जनता के एक हिस्से को एक बार फिर लग रहा है कि सिरिज़ा अपने पुराने एजेण्डे पर लौट सकती है। लेकिन मज़दूरों के व्यापक हिस्सों में यह उम्मीद कम ही है। क्योंकि पिछले छह माह के धोखे ने मज़दूरों के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को सिरिज़ा के प्रति नाउम्मीद भी बनाया है। फिर भी, कोई और विकल्प नहीं होने के कारण अभी सिरिज़ा को ही देश में सबसे ज़्यादा जनसमर्थन है लेकिन यह मानने की

भूल नहीं करनी चाहिए कि सारे लागे बिना शंकाओं और आपत्तियों के यह समर्थन दे रहे हैं। इन शंकाओं और आपत्तियों के कई कारण पिछले छह माह में सिरिज़ा ने विशेष तौर पर मेहनतकश जनसमुदायों को दिये हैं। यह भी समझा जाना चाहिए कि यह समर्थन अचानक बेहद उग्र विरोध में भी तब्दील हो सकता है। सिप्रास व सिरिज़ा इस बात को समझ रहे हैं। बहरहाल, हम चुनाव के बाद के घटनाक्रम पर वापस लौटते हैं।

पहले तो सिरिज़ा ने इस दलील के आधार पर धुर दक्षिणपन्थी और अंधराष्ट्रवादी एनेल पार्टी के साथ साझा सरकार बनायी कि वह किफ़ायतसारी की नीतियों का दृढ़ता से विरोध करती है, हालाँकि इस दलील के आधार पर यूनानी कम्युनिस्ट पार्टी के.के.ई. के साथ भी गठबन्धन बनाया जा सकता था। लेकिन किफ़ायतसारी की नीतियों को तो सिरिज़ा सरकार ने ख़त्म ही नहीं किया; उल्टे आगे बढ़ाया! तो फिर एनेल जैसी पार्टी के साथ गठबन्धन का क्या तुक था?इसका एक कारण यह था कि भविष्य में सिरिज़ा को यूरोपीय संघ में बने रहने के लिए जो मज़दूर-विरोधी नीतियाँ लागू करनी पड़तीं, उसके लिए एनेल ज़्यादा बेहतर साझीदार सिद्ध होता। ख़ैर, इसके बाद 20 फरवरी को सिरिज़ा ने साम्राज्यवादी त्रयी के साथ नया समझौता किया जिसमें उसने पूरे कर्ज़ को वापस करने की प्रतिबद्धता जतायी और माना कि साम्राज्यवादी त्रयी द्वारा कर्ज़ के सही और न्यायपूर्ण होने का दावा सही है! ज़ाहिर है कि इसके बाद सिरिज़ा ने किफ़ायतसारी की नीतियों को न सिर्फ़ जारी रखने को सहमति दी बल्कि उसे और बढ़ाने पर भी रज़ामन्दी जतायी। नतीजतन, पिछले 5 माह में यूनान पर कर्ज़ के दबाव, बेरोज़गारी, मज़दूरी और पेंशन में कटौती, ग़रीबी और बेघरी में और भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी हुई है। सिरिज़ा की सरकार साम्राज्यवादी त्रयी से नये समझौते की शर्तों पर कुछ समय तक कुछ प्रार्थनाएँ और निवेदन करती रही, लेकिन इन सभी को साम्राज्यवादी त्रयी ने नकार दिया।

इन प्रार्थनाओं और विनतियों के अलावा सिरिज़ा से सरकार ने जिन्होंने ज़्यादा उम्मीद रखी थी, वह बेज़ा ही रखी थी। सिरिज़ा ने कभी इस बात को नहीं छिपाया था कि वह यूरोपीय संघ और यूरो के लिए प्रतिबद्ध है। ज़ाहिर है कि सिरिज़ा सरकार किसी भी क़ीमत पर यूरोपीय संघ और यूरो के भीतर रहकर ही यूनान के लिए एक अच्छे सौदे की उम्मीद कर रही थी। इसके पीछे सिरिज़ा का यह बुनियादी विचारधारात्मक पूर्वाग्रह भी है कि समाजवाद की ऐतिहासिक पराजय हो चुकी है और पूँजीवाद में ही सुधार के रास्ते को आज़माया जाना चाहिए। कहने की ज़रूरत नहीं है कि सरकार चलाने और यूरोपीय संघ के साथ वार्ताओं के पाँच महीनों ने सिरिज़ा के इस बुनियादी विचारधारात्मक पूर्वाग्रह को डगमगा दिया है। यह अनायास नहीं है कि सिरिज़ा के भीतर भी इस समय उथल-पुथल मची हुई है। जनता के बीच स्वीकार्यता खो बैठने के डर के साथ सिरिज़ा में फूट की सम्भावना ने भी एलेक्सिस सिप्रास को जनमत संग्रह करवाने के लिए मजबूर किया है, हालाँकि इस जनमत संग्रह में एक शातिर दाँव भी खेला गया है, जिस पर हम आगे आयेंगे। लेकिन जनमत संग्रह के पहले आख़िरी कुछ दिनों में भी सिप्रास लगातार एंजेला मर्केल और आई.एम.एफ़. प्रमुख लगार्ड के पास अपनी प्रार्थनाएँ और विनतियाँ भेज रहे हैं कि नया बेलआउट पैकेज दे दिया जाय, अन्यथा मामला हाथ से निकल जायेगा और यूनान यूरोपीय संघ व यूरो से बाहर भी जा सकता है। ज़ाहिर है कि सिप्रास न सिर्फ़ पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के अतिक्रमण को अव्यावहारिक मानते हैं बल्कि वह इस दायरे के भीतर भी वह यूरोपीय संघ-आई.एम.एफ़.-ई.सी.बी. के वर्चस्व के मातहत ही रहना चाहते हैं और

अन्य उपलब्ध विकल्प नहीं आजमाना चाहते।

यूनानी वित्त मन्त्री यानिस वारूफ़ाकिस ने, जो कि अपने आपको "सनकी मार्क्सवादी" कहते हैं (!), सिरिज़ा सरकार के गठन के बाद ही कह दिया था कि यूनान अपना पूरा कर्ज़ चुकायेगा और अपने ऋणदाताओं को निराश नहीं करेगा। यूनान ने मई में इस प्रतिबद्धता पर अमल भी किया और आख़िरी तिथि आने के एक दिन पहले ही किश्त का भुगतान करते हुए 7500 लाख यूरो का भुगतान किया। देश का सरकारी ख़ज़ाना तो पहले ही बुरी हालत में था, तो ऐसे में सिरिज़ा सरकार ने यह भुगतान किया कैसे? 1951 के एक दमनकारी कानून का इस्तेमाल करके! इस कानून के मुताबिक सरकार तमाम सार्वजनिक मदों को ख़ाली कर सकती है। इस दमनकारी कानून का इस्तेमाल कर सिरिज़ा सरकार ने राजकीय स्वास्थ्य बीमा, जल व विद्युत आपूर्ति के मद की राशि को हड़प लिया और इसके ज़रिये 3 अरब यूरो इकट्ठा किये। लेकिन कुल कर्ज़ उस समय तक 300 अरब यूरो हो चुका था! ज़ाहिर है, इस अन्यायपूर्ण और अनुचित तरीके से राशि एकत्र करके भी सिरिज़ा के पास कर्ज़ चुकता करने की रकम नहीं थी। मई के बाद के तीन महीनों में ही इस कर्ज़ के भुगतान की किश्तों में यूनान को 17 अरब यूरो का भुगतान करना था। लेकिन सिरिज़ा सरकार द्वारा जनता के पैसों को निचोड़कर साम्राज्यवादियों को इस तरह से सौंपा जाना सिरिज़ा सरकार के बारे में भी काफ़ी-कुछ बताता है क्योंकि उसके इस कदम से यूनान साम्राज्यवादी त्रयी पर और ज़्यादा निर्भर हो गया। सिरिज़ा को उम्मीद थी कि अगर वह शुरुआती महीनों में ही इस प्रकार की आज्ञाकारिता दिखलायेगी तो यूरोपीय संघ यूनान के प्रति कुछ नरमी बरतेगा, बेलआउट की शर्तों में कुछ छूट देगा और शायद कर्ज़ में भी कुछ कटौती करे। लेकिन हुआ बिल्कुल उल्टा! यूरोपीय संघ ने जून में नये बेलआउट के लिए और भी ज़्यादा मुश्किल शर्तें रखी हैं जिसमें मज़दूरी की दर को नीचे करने, श्रम बाज़ार के और ज़्यादा विनियमन, पेंशनों में कटौती भी शामिल है। ज्ञात हो कि सिरिज़ा सरकार ने पहले ही श्रम बाज़ारों को साम्राज्यवादी त्रयी के निर्देश पर लचीला बना दिया था और तमाम ट्रेड यूनियनों को "कुशलता" बढ़ाने वाले उपकरणों में तब्दील कर दिया था। लेकिन असाध्य संकट से बौखलाये साम्राज्यवादियों की हवस महज़ इतने से पूरी नहीं होने वाली थी। इसलिए जून में साम्राज्यवादी त्रयी ने शर्त रखी कि आगे के बेलआउट पैकेज के लिए यूनान को अपनी सेवानिवृत्ति आयु को बढ़ाकर 67 वर्ष करना होगा, सेवानिवृत्ति लाभ में भारी कटौती करनी होगी और इसे 487 यूरो से घटाकर 320 यूरो करना होगा, कार्यदिवस की लम्बाई को बढ़ाना होगा! सिरिज़ा सरकार जानती है कि वह जिस प्रकार की सुधारवादी-लोकरंजकतावादी राजनीति कर रही है उसके दायरे में ये कदम उठा पाना अब सम्भव नहीं रह गया था। इन कदमों को उठाने का अर्थ था सिरिज़ा के भीतर अपेक्षाकृत ज़्यादा वाम पक्ष का प्रतिनिधित्व करने वाले हिस्सों की बग़ावत और साथ ही जनता के बीच भी विस्फोट, जिसके कुछ शुरुआती संकेत छात्रों और मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त प्रदर्शनों में मिलने लगे थे। साम्राज्यवादी त्रयी की बात को न मानकर यूरोपीय संघ से बाहर जाने और यूरो से बाहर जाने का अर्थ यूनान में नये प्रकार से क्रान्तिकारी स्थिति के पैदा होने की सम्भावना है, जबकि यूरोपीय संघ और यूरो में बने रहने का अर्थ होगा एक दूसरे रूप में क्रान्तिकारी स्थिति का पैदा होना, सिरिज़ा की राजनीति का पूरी तरह बेनक़ाब हो जाना और विश्वस्नीयता खो देना। ऐसे में, सिप्रास ने जनमत संग्रह का एलान करके एक जुआ खेला है क्योंकि वह भी जानता है कि अगर जनता यूरोपीय संघ की शर्तों पर बेलआउट को 'हाँ'

कहती है, तो आने वाली तक़लीफ़ों के लिए वह किसी और को ज़िम्मेदार नहीं ठहरा सकती और अगर वह 'नहीं' कहती है तो फिर सिप्रास यूरोपीय संघ के सामने मोलभाव करने की बेहतर स्थिति में होंगे क्योंकि याद रहे, इस जनमत संग्रह में यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर जाने का प्रश्न उठाया ही नहीं गया है।

इससे पहले सिरिज़ा ने जर्मनी से द्वितीय विश्वयुद्ध के एवज़ में युद्ध क्षतिपूर्ति की माँग की थी, ताकि कर्ज़ के दबाव को कुछ समय के लिए टाला जा सके। यह रणनीति पूरी तरह से असफल साबित हुई। यह जुमलों की राजनीति थी जिसका कोई परिणाम नहीं निकलना था। लेकिन इस जुमले के पीछे की राजनीति को भी समझने की आवश्यकता है जो कि मज़दूर वर्ग के नज़रिये से बिल्कुल ग़लत है। यह एक राष्ट्रवादी नारा था जिससे कि सिरिज़ा एक दिखावटी आमूलगामिता के साथ यूनानी जनता के व्यापक हिस्से में अपनी स्वीकार्यता को बनाये रख सके। वास्तव में, सिरिज़ा के अन्य नारों का चरित्र भी अलग-अलग हदों तक राष्ट्रवादी है और उसकी तात्कालिक अपील का एक कारण यह भी है। लेकिन यूरोप में आज प्रश्न वर्ग का है, राष्ट्र का नहीं। सवाल साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के विरुद्ध पूरे यूरोप के मज़दूर वर्ग को एकजुट करने का है, न कि जर्मनी से युद्ध क्षति पूर्ति की माँग का। यह सिरिज़ा की संशोधनवादी लोकरंजक राजनीति का ही एक मुज़ाहिरा था।

यह भी ग़ौरतलब है कि सिरिज़ा सरकार के आने के बाद यूनान अभी भी नाटो में बना हुआ है। हालाँकि सिरिज़ा सरकार बीच-बीच में यूनान की रणनीतिक भू-राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाने का प्रयास करते हुए दिखती है, लेकिन कुल मिलाकर यह अमेरिकी व यूरोपीय साम्राज्यवाद के पक्ष में खड़ी है। सिरिज़ा सरकार का नाटो का अंग बने रहना इसी की निशानी है। नाटो का अंग बने रहने का अर्थ यह भी है कि यूनान को अपने बजट का एक तय हिस्सा सैन्य तैयारियों पर ख़र्च करना होता है। यही कारण है कि सिप्रास ने हाल ही में टोही विमानों की मरम्मत के लिए 5000 लाख यूरो का ठेका दिया है। सिरिज़ा ने 'आतंकवाद के ख़िलाफ़ युद्ध' का हिस्सा बने रहने की इच्छा जतायी है। पूर्वी भूमध्य सागर के क्षेत्र पर केन्द्रित एक शिखर वार्ता में हाल ही में सिप्रास मिस्र के सैन्य तानाशाह अल सीसी के साथ गलबहियाँ करते हुए नज़र आये। यूनान के जल्दी ही एक ऐसी शिखर वार्ता में शामिल होने की भी चर्चाएँ चल रही हैं जिसमें इज़रायल व साइप्रस हिस्सा लेंगे। यह शिखर वार्ता भूमध्य सागर के समुद्री संसाधनों के उपयोग पर केन्द्रित होगी। ज़ाहिर है, सिप्रास विश्व पूँजीवाद के मुखियों को यह दिखला देना चाहते हैं कि वह उनमें से ही एक हैं और उन्हें उनके प्रति सशंकित होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस जनमत संग्रह की घोषणा के पहले तक सिप्रास की सरकार यूनानी राज्यसत्ता के दमनकारी उपकरण को चाक-चौबन्द करने पर काफ़ी ध्यान दे रही थी और काफ़ी ख़र्च भी कर रही थी, वह भी एक ऐसे देश में जो कि दिवालिया होने की कगार पर है। दमनकारी तन्त्र को मज़बूत करने पर वित्त मन्त्री वारूफ़ाकिस ने कहा कि देश को वृद्धि की राजनीतिक क़ीमत तो चुकानी ही पड़ती है! सिप्रास ने कहा कि उनकी सरकार कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कोई भी कदम उठाने के लिए तैयार है! जन व्यवस्था मन्त्री यिआनिस पानूसिस पुलिस को एक ऐसे तन्त्र के रूप में रूपान्तरित करने की बात कर रहे हैं जो "महज़ देखरेख" न करे बल्कि ज़रूरत पड़ने पर "कार्रवाई भी कर सके"! यह मज़ाकिया बात है। यूनान के इतिहास में पुलिस कभी भी "महज़ देखरेख" करने वाला निकाय नहीं थी और यह हमेशा से ही, 1974 में तानाशाही ख़त्म होने के बाद भी, बेहद दमनकारी रही है। सिरिज़ा के

आने बाद भी पुलिस ने तमाम प्रदर्शनों में मज़दूरों और छात्रों से जैसा बर्ताव किया है, वही इसी तथ्य की गवाही देता है। ये सारे बयान दिखलाते हैं कि सिरिज़ा की सरकार राज्यसत्ता के दमनकारी तन्त्र को मज़दूर वर्ग के साथ भावी टकराव के लिए तैयार कर रही है। यही सिरिज़ा सरकार बनाने के पहले पुलिस राज्य को समाप्त करने और राज्यसत्ता को ही "समाप्त" करने की बात करती थी! लेकिन अब सरकार योजना बना रही है कि वह एक विशेष पुलिस बल तैयार करे जो कि प्रदर्शनों से निपटने में माहिर होगा और इस पुलिस बल को क्लब्स और पिस्तौलों से लैस करने की तैयारी की जा रही है! सिरिज़ा सरकार ने इस दमनकारी तन्त्र का थोड़ा-बहुत इस्तेमाल भी शुरू कर दिया था। सिरिज़ा सरकार के पाँच माह के समझौतों के ख़िलाफ़ जनता के रोष का जगह-जगह फूटना स्वाभाविक था। सिरिज़ा सरकार इनसे कठोरता से निपट रही थी। एथेंस के राष्ट्रीय तकनीकी विश्वविद्यालय को छात्रों के कब्ज़े से ज़बरन ख़ाली करवाया जाना इसका प्रातिनिधिक उदाहरण था।

जैसा कि हमने लिखा है, सिरिज़ा का शुरू से ही यह मानना रहा है कि पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ समाजवादी व्यवस्था और क्रान्ति का रास्ता ऐतिहासिक तौर पर असफल हो चुका है। सिरिज़ा के इस भरोसे का कारण उसके जन्म में भी देखा जा सकता है, जिसके बारे में विस्तार से आप 'दिशा सन्धान' के पिछले अंक में आये लेख में पढ़ सकते हैं। लेकिन अभी इतना बता देना काफ़ी होगा कि सिरिज़ा दो धाराओं के साथ आने से बनी थी: पहला, यूरोकम्युनिस्ट समूह और संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टी। इन दोनों के साथ आने के बाद बीच में इनमें फूट पड़ी, लेकिन अन्ततः ये दोनों दुबारा साथ आ गयीं। सिरिज़ा ('आमूलगामी वाम का गठबन्धन') के बनने के साथ और भी विभिन्न रंगों और प्रकारों के ग्रुप इसमें शामिल हुए, जैसे कि पर्यावरणवादी, नारीवादी, सहकारवादी, विभिन्न प्रकार के 'रैडिकल' वामपन्थी इत्यादि। लेकिन इन सभी समूहों में मुख्य तौर पर यूरोकम्युनिस्ट धड़ा और संशोधनवादी धड़ा विशेष तौर पर प्रभावी है। इन दोनों धड़ों के नेतृत्व में इन सारे समूहों के मिलने से संशोधनवादी वाम सुधारवाद का एक नया संस्करण तैयार हुआ है जिसमें तथाकथित नये सामाजिक आन्दोलन, सहकार आन्दोलन, सॉलिडैरिटी नेटवर्क आन्दोलन, उत्तरवामपन्थ, नारीवाद आदि का एक विचित्र मिश्रण है। ऐसे में, सिरिज़ा का यूनान में पूँजीवाद के अन्तिम रक्षक के तौर पर उभरना स्वाभाविक था। यह साम्राज्यवाद के साथ एक बेहतर समझौते से ज़्यादा किसी चीज़ की बात नहीं करता है। लेकिन यहीं पर इसकी सीमा भी सामने आती है जो कि सिरिज़ा के मौजूदा संकट का कारण है। दरअसल, किफ़ायतसारी की नीतियों को थोपना और यूनानी मज़दूर वर्ग को लूटना यूरोपीय साम्राज्यवाद के लिए विचारधारात्मक विकल्प या चयन के मुद्दे नहीं हैं; आज के संकट के दौर में ये उसके लिए अपरिहार्य और अनिवार्य है! इसलिए सिरिज़ा की कल्पना का 'तार्किक समझौता' असम्भव है, इसका कोई अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। समझौता केवल साम्राज्यवाद की शर्तों पर ही हो सकता है। दूसरा विकल्प है समाजवाद और मज़दूर क्रान्ति, जो कि सिरिज़ा को स्वीकार नहीं है। इसलिए सिरिज़ा सरकार इस समय यूनान में पूँजीवाद के आख़िरी चौकीदार के समान अपना आख़िरी संघर्ष कर रही है।

सिरिज़ा के भीतर मौजूद अन्तरविरोध

सिरिज़ा के भीतर इस समय मौजूदा संकट को लेकर दो धड़े मौजूद हैं। एक अलेक्सिस सिप्रास के नेतृत्व वाला धड़ा जो कि समझौतापरस्ती और व्यवहारवादी रास्ते को अख़्तियार करने के पक्ष में है और दूसरा सिरिज़ा के भीतर के रैडिकल वाम का धड़ा जो कि यूरोपीय संघ और

यूरो से बाहर जाने की वकालत कर रहा है। यूनान में बुर्जुआ वर्ग, विशेष तौर पर सबसे बड़े पूँजीपति घरानों, बैंकों और वित्तीय संस्थानों का एक बड़ा हिस्सा यूरोपीय संघ में रहना चाहता है और यूरो से भी बाहर नहीं जाना चाहता है। इसका एक कारण यह है कि यह यूनानी पूँजीवाद का वह अंग है जो कि वैश्विक वित्तीय तन्त्र के साथ ज़्यादा मज़बूती से और जैविक तौर पर समेकित है और उसे यूरोपीय संघ से बाहर जाना और भविष्य में किसी और साम्राज्यवादी धुरी के साथ नत्थी होने का विकल्प बहुत जोखिम भरा लग रहा है। इसके अतिरिक्त भी ऐतिहासिक तौर पर इस पूँजीपति वर्ग के आर्थिक तार करीबी से यूरोपीय संघ के अग्रणी देशों से जुड़े हुए हैं। लेकिन यूनानी बुर्जुआ वर्ग का एक दूसरा अच्छे-ख़ासे आकार वाला हिस्सा भी है जो कि यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर होना चाहता है, जिसे हम "राष्ट्रवादी" हिस्सा कह सकते हैं। यह हिस्सा यूनान की मूल मुद्रा द्राख़्मा को वापस लाना चाहता है और साथ ही यूनान के ऋण की समस्या को मौद्रिक लचीलेपन या दूसरे शब्दों में कहें तो नोट छापकर हल करना चाहता है। इस दूसरे विकल्प का नतीजा यह होगा कि ऋण तो चुकता हो जायेगा और साथ ही पर्यटन के सस्ते हो जाने के कारण यूनान की पर्यटन से आय भी बढ़ेगी, लेकिन साथ ही क़ीमतें आसमान छूने लगेंगी, श्रम और सस्ता होगा क्योंकि वास्तविक आय में गिरावट आयेगी। इससे यूनान के पूँजीपति वर्ग के इस हिस्से को लाभ पहुँचेगा क्योंकि यूनानी पूँजीवाद वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा में ज़्यादा प्रतिस्पर्द्धी बनेगा। कुल मिलाकर, इस कदम से भी यूनान के पूँजीपति वर्ग के एक हिस्से को ही फ़ायदा पहुँचेगा। इस रास्ते से अगर बैंकों का राष्ट्रीकरण भी होगा तो उसका लाभ इस पूँजीपति वर्ग को ही मिलेगा क्योंकि राज्य उसके लिए सहज उपलब्ध वित्त मुहैया करायेगा। इससे केवल तात्कालिक और प्रतीतिगत समस्या का एक क्षणिक हल होगा और यूनान एक अलग किस्म के संकट के भँवर में फँसेगा। हालाँकि, यह वामपन्थी धड़ा कई कीन्सीय नुस्खों, यानी कि कल्याणकारी नीतियों को लागू करने का प्रस्ताव भी रख रहा है। लेकिन यूरोज़ोन से बाहर आने के बाद यूनान के पूँजीपति वर्ग के सामने जो संचय का संकट होगा वह ऐसी कल्याणकारी नीतियों का ख़र्च उठाने की कितनी इजाज़त देगा यह कहना मुश्किल है। कुल मिलाकर, अगर सिरिज़ा के रैडिकल वाम धड़े (जो कि वस्तुतः संशोधनवादी ही है) का रास्ता अपनाया जाता है तो भी कुछ समय बाद दूसरे रास्ते से संकट एक नये रूप में उपस्थित होगा ही। कारण यह है कि इस समय यूनान की समस्याओं का समाधान सिर्फ़ और सिर्फ़ मज़दूर क्रान्ति के ज़रिये समाजवादी व्यवस्था की स्थापना, सभी उद्योगों, खानों-खदानों, बैंकों, वित्तीय संस्थाओं का राष्ट्रीकरण ही है और सिरिज़ा में व्यवहारवादी सिप्रास धड़ा हावी हो या फिर रैडिकल वाम धड़ा, समस्या का समाधान नहीं हो सकता है।

सिरिज़ा के भीतर का वामपन्थी धड़ा अच्छी-ख़ासी ताक़त रखता है। 2013 में हुए सम्मेलन में इस धड़े को 60 सीटों पर जीत मिली थी और 30 सांसद इसी धड़े से सम्बन्ध रखते हैं। यूरो ज़ोन से अलग होने, किफ़ायतसारी की थोपी गयी नीतियों को रद्द करने के प्रश्न पर 23-24 मई को सिरिज़ा की केन्द्रीय कमेटी की बैठक में हुई वोटिंग में यह हिस्सा हारा ज़रूर लेकिन केवल 95-75 के अन्तर से, जो दिखलाता है कि सिप्रास इस धड़े को नज़रन्दाज़ करके कोई नीति निर्माण नहीं कर सकते हैं। सिप्रास अगर यूरोपीय संघ के सामने घुटने टेकने की नीति को और जारी रखते, तो जनता के हिंस्र विस्फोट तो होते ही, लेकिन साथ ही सिरिज़ा में भी फूट पड़ जाती। इसलिए जनमत संग्रह का एलान सिप्रास के लिए बाध्यता का मसला था, चयन का नहीं। हालाँकि सिप्रास ने इसमें भी चालाकी करते हुए बेलआउट की

साम्राज्यवादी त्रयी की शर्तों और सिरिज़ा द्वारा प्रस्तावित शर्तों में से एक को चुनने के लिए कहा है। यह दीगर बात है कि वास्तव में यह जनमत संग्रह बेलआउट को स्वीकार करने और नकार देने का जनमत संग्रह ही बन जायेगा क्योंकि सिरिज़ा की शर्तों पर बेलआउट को यूरोपीय संघ और आई.एम.एफ़. कभी स्वीकार नहीं करेंगे और उस सूरत में मामले की सुई फिर से उसी जगह आकर अटक जायेगी।

इस तरह से सिरिज़ा के इन दोनों धड़ों के बीच का अन्तरविरोध किसी भी रूप में पूँजीवाद के अतिक्रमण और समाजवादी क्रान्ति की बात नहीं कर रहा है।इन दोनों ही धड़ों के रास्ते दो अलग किस्म के पूँजीवादी रास्तों की बात कर रहे हैं जो आज यूनानी मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश समुदायों की समस्या का कोई हल नहीं पेश कर सकते हैं। निश्चित तौर पर, कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति यही चाहेगा कि 5 जुलाई के जनमत सर्वेक्षण में यूनानी जनता यूरोपीय संघ, आई.एम.एफ़. और ई.सी.बी. की शर्तों वाले बेलआउट के प्रस्ताव को नकार दे क्योंकि इससे यूनान में अन्तरविरोधों की तीव्रता बढ़ेगी और उनका क्रान्तिकारी दिशा में विकास होगा। लेकिन यह क्रान्तिकारी स्थिति स्वयं क्रान्ति में तब्दील नहीं हो सकती है। इसे क्रान्ति में तब्दील करने के लिए एक हिरावल पार्टी की आवश्यकता है। यूनान में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी और कई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ग्रुप मौजूद हैं। लेकिन उनकी समेकित शक्ति भी अभी काफ़ी कमज़ोर है। ऐसे में यूनान में आने वाले कुछ हफ़्तों में क्या होगा यह वाकई दिलचस्प होगा और एक रूप में यह ऐतिहासिक महत्व रखता है।

एक तीसरी सम्भावना भी है। मध्यमार्गी दक्षिणपन्थी पार्टी न्यू डेमोक्रेसी ने सिप्रास के सामने 'राष्ट्रीय आम सहमति की संक्रमणकालीन सरकार' बनाने का प्रस्ताव रखा है। अगर सिरिज़ा में फूट पड़ती है और सिप्रास का धड़ा अलग होता है तो वह न्यू डेमोक्रेसी के साथ मिलकर ऐसी सरकार बना सकता है। ज़ाहिर है, यह सरकार एक संसदीय तानाशाही का प्रतिनिधित्व करेगी। सिप्रास ऐसा नहीं कर सकते, इसके प्रमाण मौजूद नहीं हैं। उल्टे सिप्रास की सरकार ने कई ऐसे नौकरशाहों को अहम पद अपनी सरकार में सौंपे हैं जो कि समारास की न्यू डेमोक्रेसी सरकार के सबसे कुख्यात चेहरे थे। सिप्रास का तर्क यह था कि उन्हें सिर्फ़ इसलिए ये पद दिये गये हैं क्योंकि वे कुशल प्रशासक हैं! ऐसे में, अगर सिप्रास को कल न्यू डेमोक्रेसी के रूप में एक कुशल सहयोगी नज़र आने लगे जो कि यूनान में पूँजीवाद की रक्षा में उनकी मदद करे, तो कोई ताज्जुब की बात नहीं होनी चाहिए। वैसे भी सिप्रास चुनाव के पहले के अपने तमाम वायदों से मुकर चुके हैं। ग़ौरतलब है कि चुनाव से पहले सिप्रास ने जो कार्यक्रम जनता के सामने पेश किया था उसमें बैंकों और बड़े उद्योगों का राष्ट्रीकरण, सामाजिक कल्याण की नीतियों को लागू करना आदि भी शामिल था। पिछले पाँच माह में सिप्रास की सरकार ने इस दिशा में कोई कदम उठाने की बजाय समारास सरकार की नीतियों को ही बदले हुए जुमले और छोटे-मोटे बदलावों के साथ जारी रखा है।

यूनान पर साम्राज्यवादी ऋण किस प्रकार अन्यायपूर्ण है?

यूनान का तथाकथित सम्प्रभु ऋण संकट वास्तव में वैश्विक साम्राज्यवादी संकट की ही अभिव्यक्ति है। यह सम्प्रभु ऋण संकट है ही नहीं, बल्कि निजी बैंकों का ऋण संकट है। 2008-9 में अमेरिकी सबप्राइम संकट के चरम पर पहुँचने के साथ यूरोप के तमाम देशों के बैंक और वित्तीय संस्थाएँ धराशायी होने लगीं। यूनान में भी तमाम बैंकों ने पाया कि उन्होंने जो 'कोलैटरल डेट ऑब्लिगेशन' पैकेज ख़रीदे थे उनमें तमाम बुरे ऋण शामिल थे। अमेरिका में

आवास बुलबुले के फूटने के साथ जब डिफॉल्ट शुरू हुए तो उसका 'चेन रिएक्शन' यूनान समेत सभी यूरोपीय देशों में भी हुआ और विशेष तौर पर उन देशों में हुआ जिन पर पहले से काफ़ी ऋण लदा हुआ था। यानी कि दक्षिणी यूरोप के तमाम देश। यह ऋण संकट पूँजीवादी अतिउत्पादन के संकट की ही एक अभिव्यक्ति है, जिससे कि पूँजीवाद ऋण-वित्त पोषित उपभोग द्वारा निपटने का प्रयास कर रहा था। क्रेडिट कार्ड ऋण और अन्य ऋणों के ज़रिये तात्कालिक तौर पर किसी एक सेक्टर में बुलबुले को फुलाया जाता है और कृत्रिम माँग पैदा करके उपभोग को बढ़ावा दिया जाता है। लेकिन ऋण को अन्त में चुकता करना ही होता है! ऋण लेने वालों की जमात में पहले अच्छी माली हालत वाले लोग ही थे और डिफॉल्ट का जोखिम आज के मुकाबले कम होता था। लेकिन यह ऋण बाज़ार कालान्तर में सन्तृप्त हो गया और इसे विस्तारित करने की आवश्यकता पैदा हुई। इसी के लिए सबप्राइम ऋण के उपकरण को ईजाद किया गया और इसे वित्तीय बाज़ारों के 'लोकतान्त्रीकरण' का नाम दिया गया! यह वह ऋण था जो शून्य बैंक बैलेंस वाले व्यक्ति को भी दिया जा सकता था और इसमें कई बार पहले छह माह तक किश्तें चुकाने से छूट भी दी जाती थी। लेकिन साथ ही इसमें ब्याज़ दरें कई बार 30 प्रतिशत तक होती थीं ताकि डिफॉल्ट होने से पहले ही कुछ ही किश्तों में मूल धन से कुछ अधिक की प्राप्ति कर ली जाय। लेकिन ज़ाहिरा तौर पर जब ये ऋण बेहद व्यापक पैमाने पर दिये गये तो एक अच्छी-ख़ासी आबादी पहली-दूसरी किश्त देने में भी अक्षम साबित हुई। और इसी के साथ शुरू हुआ डिफॉल्ट और नीलामी का सिलसिला। लेकिन अब बाज़ार में इन घरों के पर्याप्त ख़रीदार ही नहीं थे। नतीजा था तरलता का संकट। बैंकों के पास अपने खाताधारकों को पैसा देने के लिए भी धन नहीं बचा क्योंकि उनकी पूँजी घरों और कारों में फँस चुकी थी। यहीं से बैंकों का धड़ाधड़ धराशायी होना शुरू हुआ। जो पूँजीपति वर्ग पहले सरकार के हस्तक्षेप को कुफ्र मानता था, जो इस नवउदारवादी सिद्धान्त (जो कि वास्तव में दो सौ साल से भी ज़्यादा पुराना सिद्धान्त है जिसे जे.बी. से नामक अर्थशास्त्री ने दिया था और इसे 'सेज़ लॉ' के नाम से भी जाना जाता है) को मानता था कि बाज़ार को अगर बिना किसी हस्तक्षेप के छोड़ दिया जाय तो उसमें माँग और आपूर्ति स्वत: एक-दूसरे को सन्तुलित करते रहते हैं, वह अब दौड़ा-दौड़ा सरकार के पास पहुँचा और उससे बचाव पैकेज देने और जनता के धन, यानी कि कराधान से एकत्र सरकारी ख़ज़ाने से बैंकों और वित्तीय जुआघरों को बचाने के लिए दबाव डालने लगा। इन्हीं पूँजीपतियों की नुमाइन्दगी करने वाली सरकारों को यही करना भी था। इसी के साथ दुनिया भर के तमाम देशों में स्टिम्युलस पैकेज, बेलआउट पैकेज आदि दिये गये और सार्वजनिक ख़र्चों में कटौती करके (किफ़ायतसारी!) और सार्वजनिक ख़जानों को ख़ाली करके कैसीनो अर्थव्यवस्था को बचाने का प्रयास किया गया।

यूनान में भी बैंकों को बचाने के लिए यही कदम उठाया गया लेकिन एक दूसरे रास्ते से। 2010 में पापैण्डरू की सामाजिक-जनवादी पासोक सरकार ने साज़िशाना तरीके से बैंकों की ऋण संकट को सरकार का ऋण संकट बना दिया। यह सच है कि यूनानी सरकार पर 1980 के दशक से ही ऋण बढ़ता रहा है। लेकिन यह प्रक्रिया यूरोप के अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों में भी चली है। दूसरी बात यह कि यूनान में सार्वजनिक ऋण या सरकारी ऋण में बढ़ोत्तरी वास्तव में जनता द्वारा हुए ख़र्च या उपभोग के कारण नहीं हुई है, जो कि यूरोपीय संघ के कई देशों से काफ़ी कम था। यह बढ़ोत्तरी हुई है अतार्किक रूप से ऊँची ब्याज़ दरों के कारण। इसके अलावा, नाटो का अंग होने के कारण अत्यधिक सैन्य ख़र्च, काले धन की

समानान्तर अर्थव्यवस्था के द्वारा समृद्धि का देश के बाहर जाना, और निजी बैंकों को सरकार सहायता भी इस बढ़ते सरकारी ऋण का कारण थी। यूरो को अपनाने के बाद निजी ऋणों में ज़बरदस्त बढ़ोत्तरी हुई और इसके कारण तमाम निजी बैंक (यूनानी भी और अन्य यूरोपीय बैंक भी) आने वाले वित्तीय जोखिम के सामने अत्यधिक अरक्षित होते गये। 2010 में पापैण्डरू सरकार ने बैंकों के ऋण संकट को सरकारी ऋण संकट में तब्दील करने के लिए बयान दिया कि यूनानी सरकार लम्बे अरसे से अपने ऋण के आकार का ग़लत आकलन पेश करती रही है और ऋण अब इतना बढ़ गया है कि सरकार को उसकी किश्तें चुकाने के लिए भी अपने कर्मचारियों का वेतन तक रोकना पड़ सकता है। इसके साथ ही 2010 यूनान के लिए यूरोपीय संघ, आई.एम.एफ़. और ई.सी.बी. की त्रयी ने बेलआउट पैकेज की शुरुआत की, लेकिन इस शर्त पर कि यूनान किफ़ायतसारी की नीतियों को लागू करेगा। यानी कि यूनानी सरकार सामाजिक मदों में होने वाले ख़र्चों में कटौती करेगी, पेंशन कम करेगी, मज़दूरी दरें कम करेगी, श्रम बाज़ार को लचीला बनायेगा, शिक्षा, चिकित्सा व सामाजिक सुरक्षा के मदों में भारी कटौती करेगी। 2010 से लेकर अब तक यूनान में जारी इन नीतियों ने पूरे यूनानी समाज को भयंकर तबाही, बरबादी, ग़रीब और बेरोज़गारी की ओर धकेला है और अब जनता का धैर्य जवाब दे रहा है। आर्थिक संकट अपने आपको सामाजिक और राजनीतिक संकट के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है।

अगर हम 2010 से अब तक यूनान को मिले साम्राज्यवादी ऋण के आकार और उसके ख़र्च के मदों पर निगाह डालें तो हम पाते हैं कि इसका बेहद छोटा हिस्सा जनता पर ख़र्च हुआ और अधिकांश पुराने ऋणों की किश्तें चुकाने पर ही ख़र्च हुआ है। दूसरे शब्दों में इस बेलआउट पैकेज से भी तमाम निजी बैंकों, वित्तीय संस्थाओं और यूरोपीय संघ, ई.सी.बी. व आई.एम.एफ़. ने जमकर कमाई की है! मार्च 2010 से लेकर जून 2013 तक साम्राज्यवादी त्रयी ने यूनान को 206.9 अरब यूरो का कर्ज़ दिया। इसमें से 28 प्रतिशत का इस्तेमाल यूनानी बैंकों को तरलता के संकट से उबारने के लिए हुआ, यानी, दीवालिया हो चुके बैंकों यह पैसा दिया गया। करीब 49 प्रतिशत हिस्सा सीधे यूनान के ऋणदाताओं के पास किश्तों के भुगतान के रूप में चला गया, जिनमें मुख्य तौर पर जर्मन और फ्रांसीसी बैंक शामिल थे। कहने के लिए 22 प्रतिशत राष्ट्रीय बजट में गया, लेकिन अगर इसे भी अलग-अलग करके देखें तो पाते हैं कि इसमें से 16 प्रतिशत कर्ज़ पर ब्याज़ के रूप में साम्राज्यवादी वित्तीय एजेंसियों को चुका दिया गया। बाकी बचा 6 प्रतिशत यानी लगभग 12.1 अरब यूरो। इस 12.1 अरब यूरो में से 10 प्रतिशत सैन्य ख़र्च में चला गया। यानी कि जनता के ऊपर जो ख़र्च हुआ वह नगण्य था! 2008 में यूनान का ऋण उसके सकल घरेलू उत्पाद का 113.9 प्रतिशत था जो 2013 में बढ़कर 161 प्रतिशत हो चुका था! सामाजिक ख़र्चों में कटौती के कारण जनता के उपभोग और माँग में बेहद भारी गिरावट आयी है। इसके कारण पूरे देश की अर्थव्यवस्था का आकार ही सिंकुड़ गया है। 2008 से लेकर 2013 के बीच यूनान के सकल घरेलू उत्पाद में 31 प्रतिशत की गिरावट आयी है, जिस उदार से उदार अर्थशास्त्री महामन्दी क़रार देगा। आज नौजवानों के बीच बेरोज़गारी 60 प्रतिशत के करीब है।

यूनान के समक्ष क्या विकल्प है?

29 जून को एलेक्सिस सिप्रास ने जनमत संग्रह की घोषणा की है। 5 जुलाई को यह जनमत संग्रह होगा। लेकिन इसमें जनता मुक्त रूप से अपनी राय व्यक्त कर पायेगी इसकी

उम्मीद कम है। कारण यह है कि यह जनमत संग्रह बैंकों के राष्ट्रीकरण के बिना करना ही व्यर्थ है। बैंकों के राष्ट्रीकरण के बिना जनता के आर्थिक हालात पर साम्राज्यवादी नियन्त्रण बरकरार है। पेंशन, वेतन आदि के लिए लोग 30 जून की रात तक एटीएम मशीनों के सामने लाइन लगाये खड़े थे। ऐसे में, कालान्तर में उनमें यह राय भी बन सकती है कि साम्राज्यवादी त्रयी की शर्तों पर बेलआउट पैकेज को 'हाँ' कह दिया जाय।इस प्रकार यूरोपीय संघ, आई.एम.एफ़. और ई.सी.बी. लगातार लोगों की बाँह मरोड़ रहे हैं और दूसरी ओर यूनानी जनता में एक प्रचार अभियान चला रहे हैं कि यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर जाने का अर्थ होगा पूर्ण तबाही। ऐसे में, जनता मुक्त रूप से अपनी राय कैसे व्यक्त कर सकती है? जनता खुलकर और स्वतन्त्रता के साथ अपना वोट तब दे सकती है जब उसे ब्लैकमेल करने का कोई 'लीवर' यूरोपीय संघ और आई.एम.एफ़. के हाथ में न हो। लेकिन इस बात से वाकिफ़ होते हुए भी सिरिज़ा ने बिना बैंकों के राष्ट्रीकरण के (जो कि उसका चुनावी वायदा भी था) जनमत संग्रह का एलान कर दिया। इसके बावजूद अभी भी जनता का बड़ा हिस्सा अभी तक इस जनमत संग्रह में साम्राज्यवादी त्रयी के बेलआउट पैकेज और शर्तों को नकारने के पक्ष में ही है, लेकिन 5 जुलाई तक यह स्थिति बदल नहीं जायेगी इसकी कोई गारण्टी नहीं है क्योंकि एक अच्छी-ख़ासी आबादी के पास अपनी ज़रूरत के सामान ख़रीदने के लिए भी नकदी की कमी है। सिरिज़ा सरकार ने एक और चालाकी भी की है। उसने जनमत संग्रह में जो दो विकल्प पेश किये हैं उनमें यूरोज़ोन व यूरोपीय संघ से बाहर जाने का कोई विकल्प नहीं है! यानी कि सिरिज़ा के लिए अभी भी यह प्रश्न एजेण्डे पर ही नहीं है। दूसरा विकल्प यह है कि जनता सिरिज़ा सरकार द्वारा बनाये गये प्रस्ताव को चुने, लेकिन इससे क्या फर्क पड़ेगा जब यूरोपीय संघ उसे स्वीकार ही नहीं करेगा?दूसरी बात यह है कि सिरिज़ा के प्रस्ताव में भी तमाम मज़दूर-विरोधी नीतियाँ प्रस्तावित हैं और उसमें तथा साम्राज्यवादी त्रयी के प्रस्ताव में महज़ परिमाणात्मक फर्क ही है। ऐसे में, जनमत संग्रह स्वयं एक प्रहसन ही साबित होगा और ज़्यादा से ज़्यादा से साम्राज्यवादी त्रयी के बरक्स सिप्रास की मोलभाव की ताक़त बढ़ाने का एक उपकरण साबित हो सकता है, लेकिन उस सूरत में भी जनता को कुछ नहीं हासिल होगा। लेकिन चूँकि तमाम दबाव के कारण जनता ने इसमें 'नहीं' कहने का मन बनाया हुआ है, इसलिए सिप्रास की मुश्किलें यहाँ ख़त्म नहीं होतीं। इस बात की भी पूरी सम्भावना है कि सिप्रास आख़िरी मौके पर जनमत संग्रह के पहले ही यूरोपीय संघ के सामने घुटने टेक दें और उनकी माँगों को स्वीकार कर लें। लेकिन उसके बाद सिरिज़ा पार्टी और उसकी सरकार का भविष्य अधर में पड़ेगा। क्योंकि बेहद जल्द ही जनता के बीच से सिरिज़ा की इस ग़द्दारी के ख़िलाफ़ हिंस्र प्रतिक्रिया सामने आयेगी। यानी कि सिरिज़ा के सामने इस संकट के समाधान का कोई रास्ता नहीं है, चाहे वह जनमत संग्रह करवाये या न करवाये।

सिरिज़ा के रैडिकल वाम धड़े का विकल्प भी कोई विकल्प नहीं है, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। यह धड़ा बैंकों के राष्ट्रीकरण की बात तो कर रहा है मगर यह समूची अर्थव्यवस्था के मज़दूर नियन्त्रण और समाजवादी नियोजन की बात नहीं कर रहा है। यह राष्ट्रवादी बुर्जुआ वर्ग की आकांक्षाओं की नुमाइन्दगी करते हुए यूरोपीय संघ व यूरो से बाहर आने, द्राख़्मा की पुनर्स्थापना करने, बैंकों के राष्ट्रीकरण करने की बात कर रहा है। यह धड़ा ऋण को रद्द करने की बात भी नहीं कर रहा है, जो कि एक न्यायपूर्ण नारा होता। यह केवल यूरोपीय संघ और यूरो से बाहर यूनानी पूँजीवाद का एक अलग रास्ता पेश कर रहा है। अगर

यूनान इस रास्ते पर चलता और और आगे चलकर रूस-चीन धुरी की तरफ़ झुकता है तो निश्चित तौर पर साम्राज्यवाद के अन्तरविरोध तीखे होंगे लेकिन यूनान के पैमाने पर समस्याओं का हल इस रास्ते से नहीं निकलने वाला है। यह भी हो सकता है कि अगर यह धड़ा देश में सत्ता में काबिज़ होता है और अपने रास्ते पर अमल करता है तो यूरोपीय संघ की साम्राज्यवादी ताक़तें अमेरिकी सहयोग के साथ यूनान में कोई सैन्य तख़्तापलट करवाने का प्रयास करें। जो भी हो सिरिज़ा के रैडिकल वाम धड़े के पास भी यूनान के व्यवस्थागत संकट का कोई समाधान नहीं है क्योंकि वह भी पूँजीवाद के सीमान्त का अतिक्रमण नहीं करना चाहता है।

आज यूनान के संकट का केवल एक समाधान है और वह है मज़दूर क्रान्ति और समाजवादी व्यवस्था। तात्कालिक तौर पर यूरोज़ोन व यूरोपीय संघ से बाहर आने से अपने आप में कोई समस्या हल नहीं होती बशर्ते कि उसमें निम्न चीज़ें शामिल न हों: पहला, सभी साम्राज्यवादी कर्जों को रद्द करना; दूसरा, सभी बैंकों व वित्तीय संस्थानों के साथ-साथ सभी उद्योगों का राष्ट्रीकरण और उन्हें मज़दूर नियन्त्रण के मातहत रखा जाना; तीसरा, राज्यसत्ता में पर मज़दूर वर्ग का नियन्त्रण क्योंकि इसके बिना उपरोक्त दो कार्य भी असम्भव हैं। इन तीन चीज़ों के बिना महज़ यूरोज़ोन व यूरोपीय संघ से बाहर आने से कुछ भी नहीं होगा, केवल साम्राज्यवाद के आन्तरिक समीकरणों में कुछ फर्क आ जायेगा। यह कार्यभार केवल एक ही सूरत में पूरा हो सकता है: एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के ज़रिये जो कि मज़दूर वर्ग की बिखरी शक्तियों को संगठित कर सके और पूँजीवाद पर निर्णायक प्रहार कर सके। यूनान में मज़दूर आन्दोलन में भी एक ठहराव की स्थिति है। मज़दूर वर्ग के स्वत:स्फूर्त आन्दोलन तो होते रहे हैं और आगे भी होंगे। लेकिन संशोधनवादी नेतृत्व वाली ट्रेड यूनियनें मज़दूर वर्ग को धोखा देने का काम कर रही हैं। संकट की शुरुआत के बाद से इन ट्रेड यूनियनों ने कई बार प्रतीकात्मक आम हड़तालें की हैं। लेकिन एक-दो दिनों की ये प्रतीकात्मक आम हड़तालें वास्तव में मज़दूर वर्ग के गुस्से और असन्तोष को क्रमिक प्रक्रिया में निकालने का ही काम करती रही हैं। आज की ज़रूरत है यूनान में एक अनिश्चितकालीन आम हड़ताल। यानी आर्थिक हड़तालों से राजनीतिक हड़ताल की ओर। लेकिन ऐसी राजनीतिक आम हड़ताल को संगठित करने के लिए मज़दूर वर्ग की जिस हिरावल अगुवा ताक़त की ज़रूरत है और अभी फिलहाल ऐसी कोई ताक़त यूनान में नज़र नहीं आ रही है। लेकिन यह भी सही है कि यूनान में ऐसी ताक़त के जल्दी संगठित होने की सम्भावना मध्य-पूर्व के देशों, विशेषकर मिस्र के मुकाबले कुछ ज़्यादा है। साथ ही, अगर ऐसी कोई ताक़त संगठित होकर यूनान को राजनीतिक आम हड़ताल और आम बग़ावत के रास्ते मज़दूर क्रान्ति और मज़दूर सत्ता तक ले जा सकी, तो उसके टिक पाने की क्षमता भी कुछ अर्थों में यूनान में अपेक्षाकृत ज़्यादा है। लेकिन अगर क्रान्तिकारी स्थिति यूनान में बेहद करीब है और अगर तब तक कोई ऐसी ताक़त संगठित नहीं हो सकी तो यूनानी त्रासदी का अन्तिम अध्याय, उसका भरतवाक्य फिर से एक ऐतिहासिक खेद के रूप में ख़त्म होगा। दुनिया के मज़दूर आन्दोलन और इतिहास की निगाहें आज यूनान में इस सम्भावना के वास्तविकता में तब्दील होने पर टिकी हुई हैं।

(1 जुलाई, 2015)

भूमण्डलीकरण के दौर में तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा

● आनन्द सिंह

पिछली सदी के अन्तिम दशक की शुरुआत में सोवियत संघ के नामधारी समाजवाद के पतन के बाद से न सिर्फ़ बुर्जुआ सिद्धान्तकारों ने बल्कि बहुतेरे मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों ने अमेरिका के एकछत्र साम्राज्य और विश्व-पूँजीवाद की एकध्रुवीयता को एक स्थायी परिघटना मानते हुए भाँति-भाँति के सिद्धान्त गढ़े और भूमण्डलीकरण के दौर में बदली हुई परिस्थितियों का हवाला देते हुए साम्राज्यवाद विषयक लेनिन के सूत्रीकरण को मौजूदा विश्व में अप्रासंगिक बताने की मानो होड़ सी लग गयी। कई सिद्धान्तकारों ने काउत्स्की के अति-साम्राज्यवाद (अल्ट्रा-इम्पीरियलिज़्म) की थीसिस का आधुनिक संस्करण प्रस्तुत करते हुए यह भी कहना शुरू कर दिया कि भूमण्डीकरण के युग में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पधर्ा स्थायी एवं अनुत्क्रमणीय तौर से ख़त्म हो गई है और विश्व पूँजीवाद अन्तरविरोधों से रहित एक शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता के दौर में प्रविष्ट हो चुका है। लेकिन विश्व पटल पर पिछले कुछ वर्षों के घटनाक्रम इस ओर साफ़ इशारा कर रहे हैं कि सतह पर दिखने वाली अमेरिका के साम्राज्यवादी वर्चस्व की एकध्रुवीयता एवं विश्व-पूँजीवाद का एकाश्मी स्वरूप के पीछे अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के तीखे होने की ज़मीन भी तैयार हो रही है। अमेरिका के नेतृत्व वाले पश्चिमी साम्राज्यवादी खेमे को कड़ी चुनौती देता हुआ और उससे तगड़ी प्रतिस्पर्धा करता हुआ चीन और रूस के नेतृत्व में नये साम्राज्यवादी खेमे का उभार समय बीतने के साथ ही साथ दिन के उजाले की तरह दिखायी पड़ता जा रहा है। यूक्रेन व

मध्य-पूर्व में जारी अस्थिरता व विनाशकारी युद्धोन्मादभी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के तीखे होने एवं विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में पैदा होने वाली दरारों एवं दरकनों की ही निशानी है।

विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व में ह्रास

अमेरिका की सैन्य शक्तिमत्ता की सर्वोच्चता अक्सर यह भ्रम पैदा करती है कि विश्व-स्तर पर अमेरिकी साम्राज्यवाद का वर्चस्व बढ़ रहा है। सोवियत संघ के विघटन के बाद से इस भ्रम के फैलने का आधार और भी ज़्यादा मजबूत हुआ है। परन्तु जब हम सतह पर दिखने वाले आभासी यथार्थ को भेदकर वास्तविक यथार्थ तक पहुँचकर किसी परिघटना का विश्लेषण करने वाले मार्क्सवादी विज्ञान की रोशनी में अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व की पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अस्तित्व में आया अमेरिकी साम्राज्यवादी वर्चस्व 1970 के दशक की शुरुआत में डॉलर-गोल्ड मानक के ढहने के साथ ही ढलान पर बढ़ चुका था और समय बीतने के साथ ही साथ ही विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में उसका वर्चस्व कम होता आया है।

विश्व पूँजीवाद में अमेरिकी वर्चस्व के ह्रास को चन्द आँकड़ों के ज़रिये आसानी से समझा जा सकता है। विश्व बैंक द्वारा जारी आँकड़ों के अनुसार जहाँ 1960 में दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में अमेरिका का हिस्सा 38.4 था वहीं 2012 में यह घटकर 22.5 प्रतिशत रह गया। ग़ौरतलब है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद अमेरिका की हिस्सेदारी 56.4 प्रतिशत थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से दुनिया के जीडीपी में जर्मनी, फ्रांस एवं इटली की हिस्सेदारी बढ़ी, हालाँकि पिछले डेढ़ दशकों में इन साम्राज्यवादी देशों की हिस्सेदारी कम हुई है। हाल के वर्षों में चीन ने विश्व पूँजीवादी उत्पादन में अपनी हिस्सेदारी अभूतपूर्व रूप से बढ़ायी है। यही नहीं अमेरिकी अर्थव्यवस्था में अधिकांश निवेश वित्तीय सेवा क्षेत्र में ही हुआ है जो उसके परजीवी चरित्र की निशानी है। यदि संयुक्त राष्ट्र के आँकड़े के अनुसार मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र में पिछले 40 वर्षों में अमेरिकी अर्थव्यवस्था की हिस्सेदारी 26 प्रतिशत से घटकर 20 प्रतिशत रह गई। 2007 से जारी महामन्दी ने अमेरिकी अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ दी है और इस महामन्दी से निकट भविष्य में निजात मिलने के कोई आसार भी नहीं नज़र आ रहे हैं।

इराक़ एवं अफ़गानिस्तान में सैन्य हस्तक्षेपों में भी अमेरिकी साम्राज्यवादियों के मंसूबे पर पानी फिरने से उसकी सैन्य शक्तिमत्ता पर भी सवालिया निशान खड़े हो गये हैं। एक दशक से भी लम्बे समय से जारी तथाकथित आतंक के ख़िलाफ़ युद्ध ने आतंकवाद को ख़त्म करने की बजाय और अधिक भयावह रूप दिया है। अल क़ायदा को ख़त्म करना तो दूर अमेरिकी साम्राज्यवादी नीतियों ने इस्लामिक स्टेट, बोको हरम जैसे कई भस्मासुरों को पैदा किया है जो अब अपने आका को ही काट खाने को अमादा हैं।

एक साम्राज्यवादी देश के रूप में चीन का उभार

माओ की मृत्यु के पश्चात देंग के नेतृत्व में चीन ने समाजवाद से रिवर्स गियर लगाते हुए पूँजीवाद की ओर रुख़ किया। इतिहास की इस पश्चगति से जहाँ एक ओर आम मेहनतकश आबादी का जीवन दुरूह हो गया वहीं चीन दुनिया के सबसे तेज़ गति से विकसित होने वाले पूँजीवादी देश के रूप में उभरा। यही नहीं, नयी सदी में वह एक साम्राज्यवादी देश के रूप में

तेज़ी से उभरा है और अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व को तगड़ी चुनौती दे रहा है। आज चीन की अर्थव्यवस्था दुनिया में दूसरे नम्बर की अर्थव्यवस्था है और अमेरिका के थिंक टैंकों के ही आकलन बता रहे हैं कि कुछ ही वर्षों में यह अमेरिका को पछाड़कर दुनिया की सबसे बड़ी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था बन जायेगी। पिछले 40 वर्षों में दुनिया के कुल मैन्युफैक्चरिंग मूल्य में चीन की हिस्सेदारी 1 प्रतिशत से बढ़कर 18 प्रतिशत के आसपास पहुँच चुकी है। हालाँकि चीन के राज्य पूँजीवाद में अभी भी सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का ही दबदबा है, लेकिन 1990 के दशक से वहाँ भी निजीकरण की प्रक्रिया ने गति पकड़ी है और सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों में भी निजी कम्पनियों जैसा ही तानाशाहाना प्रबन्धन काम करता है।

दुनिया के दस सबसे बड़े बैंकों में चार बैंक चीन के हैं। यह तथ्य विश्व वित्तीय बाज़ार में चीन का बढ़ते दबदबे की ओर इशारा करता है। औद्योगिक पूँजी और बैंकिंग पूँजी के विलय से चीन में भी वित्तीय पूँजी का एक विराट साम्राज्य खड़ा हुआ है जिसकी अहमियत चीन की अर्थव्यवस्था में समय बीतने के साथ बढ़ती ही जा रही है। वित्तीय पूँजी के अस्तित्व के अलावा साम्राज्यवाद की अभिलाक्षणिकता के रूप में लेनिन ने पूँजी निर्यात को भी प्रमुखता दी थी। इस पैमाने की कसौटी पर जब हम चीन की अर्थव्यवस्था को परखते हैं तो पाते हैं कि पूँजी के निर्यात के मामले में भी चीन की अर्थव्यवस्था ने पिछले कुछ वर्षों में ज़बरदस्त विकास किया है जो उसके साम्राज्यवादी चरित्र को स्पष्ट करता है। 2007 में शुरू हुई मौजूदा विश्वव्यापी महामन्दी के पहले से ही चीन ने 'गो ग्लोबल' ('दुनिया की ओर जाओ') नीति के तहत अपनी अर्थव्यवस्था को सस्ते मालों के निर्यात वाली अर्थव्यवस्था से पूँजी निर्यात वाली अर्थव्यवस्था की ओर मोड़ना शुरू कर दिया था। महामन्दी के बाद से तो इस दिशा में वह अभूतपूर्व तेज़ी के साथ आगे बढ़ा है। वर्ष 2011 में चीन ने कुल 4.6 खरब डॉलर की पूँजी निर्यात की थी। यह बात भी सच है कि चीन की अर्थव्यवस्था में विदेशी पूँजी का आयात भी बड़े पैमाने पर होता है, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से चीन का पूँजी निर्यात पूँजी आयात के मुकाबले कहीं तेज़ी से बढ़ा है और आज चीन नेट पूँजी निर्यातक देश बन चुका है। चीन के पूँजी निर्यात में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश एवं पोर्टफोलियो निवेश दोनों ही शामिल हैं। चीन से निर्यात किये जाने वाले पोर्टफोलियो निवेश का बहुत बड़ा हिस्सा अमेरिका के ट्रेज़री बॉण्ड के रूप में होता है। इस प्रकार के बॉण्ड में चीन के निवेश के ज़रिये अमेरिकी सरकार चीन की कर्ज़दार बन गई है जो चीन के बढ़ते प्रभुत्व को ही दर्शाता है।

आज चीन पश्चिमी विकसित मुल्कों से लेकर एशिया, अफ्रीका एवं लातिन अमेरिका के देशों सहित दुनिया के कोने-कोने में अपनी पूँजी लगा रहा है। चीन की कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर अमेरिका की कई कम्पनियों में निवेश कर रही हैं और तमाम कम्पनियों को ख़रीद भी रही हैं जिससे अमेरिकी पूँजीपति सकते में आ गए हैं। ऑस्ट्रेलिया में चीन ने खनन, तेल, गैस व अन्य प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में बड़े पैमाने पर निवेश किया है और हाल के वर्षों में उसने खाद्य, एग्रीबिज़नेस, रियल स्टेट, नवीकरणीय ऊर्जा, हाई टेक एवं वित्तीय सेवाओं में भी निवेश करना शुरू किया है। इसी तरह से कनाडा में भी चीन तेल, गैस व खनन में बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है। ब्राजील में चीन का निवेश मुख्य रूप से ऊर्जा एवं धातु उद्योग में हो रहा है। इसी तरह से लातिन अमेरिका के अन्य मुल्कों जैसे पेरू, अर्जेंटीना, इक्वाडोर आदि में चीन ऊर्जा एवं अवरचनागत क्षेत्र में पूँजी लगा रहा है। अपने पड़ोसी मुल्क वियतनाम में चीन लकड़ी, रबर, खाद्य फसलों एवं खनिज सम्पदा के दोहन में बेतहाशा निवेश कर रहा है और वहाँ से मालों की ढोकर चीन लाने के लिए बड़े पैमाने पर सड़कों एवं रेलमार्ग के विकास में

निवेश कर रहा है। इसी तरह चीन हिन्द चीन एवं दक्षिण पूर्वी एशिया के मुल्कों में भी बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है। दक्षिण एशिया में नेपाल, पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका में भी चीन पूँजी निवेश कर रहा है। नेपाल में चीन पूँजी निवेश के मामले में भारत को भी पीछे छोड़ चुका है। मोदी की हालिया चीन यात्रा में चीन ने 'मेक-इन-इण्डिया' को भारत में पूँजी निर्यात के अवसर के रूप में हाथोंहाथ लिया है।

अफ्रीका में चीन पूँजी निवेश करने पर विशेष ज़ोर दे रहा है। ग़ौरतलब है कि माओकालीन चीन अफ्रीकी मुल्कों में बुनियादी ढाँचे के निर्माण से लेकर खनन आदि में निवेश करके मित्रतापूर्ण मदद करता था। लेकिन आज का चीन इस पुरानी दोस्ती का इस्तेमाल अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी निवेश करके अपनी अर्थव्यवस्था को सरपट रफ़्तार से दौड़ाने के लिए ज़रूरी तेल और खनिज सम्पदा की लूट के लिए कर रहा है। चीन का पूँजी निवेश नाइजीरिया, ज़ाम्बिया, घाना, लिबेरिया, रवाण्डा, सूडान जैसे अफ्रीकी मुल्कों में सबसे ज़्यादा है। इस वक़्त समूचे अफ्रीका में चीन की 800 से भी अधिक कम्पनियाँ काम कर रही हैं और वहाँ रहने वाले चीनी नागरिकों की संख्या 10 लाख से भी अधिक है। ये तथ्य अपने आप में अफ्रीका में चीन की साम्राज्यवादी दख़ल को दिखाने के लिए पर्याप्त हैं।

सामाजिक साम्राज्यवाद के पतन के बाद रूस का नये सिरे से एक साम्राज्यवादी देश के रूप में उभार

स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में पूँजीवादी पुर्नस्थापना होने के बाद से रूस सोवियत संघ के अन्य देशों के उत्पीड़क के रूप में उभरा। इसके अलावा दुनिया के अन्य देशों में भी उसने साम्राज्यवादी विस्तार की नीतियाँ अमल में लायीं एवं अमेरिका के नेतृत्व वाले पश्चिमी साम्राज्यवादी खेमे के बरक्स एक सामाजिक साम्राज्यवादी खेमे का नेतृत्व किया। परन्तु 1990 के दशक की शुरुआत में सोवियत संघ के विघटन के बाद रूस की अर्थव्यवस्था औंधे मुँह गिर पड़ी। लेकिन नयी सदी आते-आते रूस की अर्थव्यवस्था एक बार फिर उठ खड़ी हुई और अब हालात यह है कि रूस एक बार फिर से पश्चिमी साम्राज्यवादी खेमे के बरक्स एक नये साम्राज्यवादी खेमे की नेतृत्वकारी ताकत के रूप में उभर रहा है। आज रूस सिर्फ़ कॉमनवेल्थ ऑफ इंडिपेंडेंट स्टेट्स (पूर्व सोवियत संघ में शामिल देशों का समूह) में ही नहीं बल्कि बल्कि यूरोप, एशिया, अमेरिका एवं अफ्रीका के देशों में भी अपनी पूँजी का निर्यात कर रहा है। यूरोप के कई देशों में रूस गैस पाइपलाइन के ज़रिये गैस की सप्लाई करता है। आज उसके पास लगभग 60 अरब डॉलर का विदेशी मुद्रा भण्डार है दुनिया के तमाम मुल्कों में उसका कुल पूँजी निवेश 200 अरब डॉलर से भी अधिक है। ये सभी तथ्य ये साफ़ इशारा कर रहे हैं कि रूस एक बार फिर से अमेरिकी साम्राज्यवाद से होड़ करने की स्थिति में पहुँच चुका है।

तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा की कुछ अभिव्यक्तियाँ

बढ़ती हुई और लगातार तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का प्रमुख लक्षण ब्राजील, रूस, भारत, चीन व दक्षिण अफ्रीका जैसे मुल्कों के समूह ब्रिक्स के रूप में दिखाई पड़ रहा है। ग़ौरतलब है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम दौर में अस्तित्व में आयी विश्वबैंक

एवं आईएमएफ जैसी संस्थाओं में अमेरिका का अत्यधिक दबदबा है और उनमें उसके वोटिंग अधिकार विश्व अर्थव्यवस्था में उसकी हिस्सेदारी से कहीं ज़्यादा हैं। इसको लेकर चीन व अन्य देश आपत्ति जताते रहे हैं। हाल ही में ब्रिक्स द्वारा विश्वबैंक (एवं आईएमएफ) के विकल्प के रूप में एक अन्तरराष्ट्रीय विकास बैंक की स्थापना की कवायदें की जा रही हैं। 2013 में डर्बन में हुए ब्रिक्स के शिखर सम्मेलन में ब्रिक्स के सदस्य देशों ने ऐसे बैंक की स्थापना पर सहमति जतायी। हालाँकि ब्रिक्स के देशों में आपस में भी तमाम मतभेद हैं लेकिन अमेरिकी साम्राज्यवाद के बरक्स एक नयी साम्राज्यवादी धुरी तैयार करने को लेकर उनमें आम सहमति है। यहाँ तक बात चल रही है कि ब्रिक्स के देश विदेशी व्यापार में डॉलर की बजाय एक दूसरे की मुद्रा में व्यापार कर सकते हैं। भविष्य में इंडोनेशिया, थाइलैंड, मैक्सिको जैसे देशों को भी ब्रिक्स समूह में शामिल करने की क़वायदें चल रही हैं। तुर्की भी यूरोपीय संघ में शामिल न होने के परिदृश्य में ब्रिक्स की ओर क़रीबी बढ़ा सकता है। यहाँ तक कि दक्षिण कोरिया जैसा देश भी इस नये समूह से क़रीबी बढ़ाने की सोच रहा है। स्पष्ट है कि अमेरिकी साम्राज्यवाद के बरक्स एक नया साम्राज्यवादी खेमा न सिर्फ़ अस्तित्व में आ चुका है बल्कि इस नये खेमे का विस्तार भी हो रहा है।

यूरेशिया इन दिनों अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का मुख्य क्षेत्र बना हुआ है जहाँ साम्राज्यवाद के अन्तरविरोध युद्ध जैसी परिस्थिति पैदा कर रहे हैं। यूक्रेन में रूस एवं नाटो के बीच हाल के वर्षों में जो तनाव की स्थिति बनी हुई है वह साम्राज्यवाद में आयी दरारों एवं दरकनों की ओर ही इशारा कर रही हैं। ग़ौरतलब है कि नाटो के देशों में आपस में भी अन्तरविरोध काम कर रहे हैं। यूरोपीय देश अमेरिका द्वारा रूस पर लगाये गये प्रतिबन्धों को जारी रखने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखा रहे हैं क्योंकि रूस यूरोपीय देशों में तेल और गैस की सप्लाई का प्रमुख स्रोत एवं यूरोपीय मालों के लिए एक बड़ा बाज़ार भी है। ग़ौरतलब है कि अमेरिका से शुरू हुई मौजूदा महामन्दी ने यूरोप के मुल्कों में ज़बरदस्त कहर ढाया है और यूरोपीय संघ जो कभी अमेरिका के साम्राज्यवादी वर्चस्व को चुनौती देने के लिए यूरोपीय साम्राज्यवादी खेमे के उभार का सूचक था आज काफ़ी कमज़ोर हो चुका है। विशेषकर दक्षिण यूरोप के देशों जैसे यूनान, इटली, स्पेन और पुर्तगाल की अर्थव्यवस्थायें खस्ताहाल हो चुकी हैं। यूरोपीय मुल्क इस महामन्दी के लिए कहीं न कहीं अमेरिका को ज़िम्मेदार मानते हैं और इसलिए भी नाटो के देशों में आपस में तमाम अन्तरविरोध उभर रहे हैं। अमेरिका यूरोप को अपनी ओर खींचने के लिए ट्रांस अटलांटिक ट्रेड एंड इनवेस्टमेंट पार्टनरशिप डील पर काम कर रह है, लेकिन यूरोपीय देश इस डील को लेकर भी बहुत उत्साहित नहीं दिख रहे हैं।

रूस ने अपने ऊपर लगे प्रतिबन्ध का सामना करने के लिए चीन के साथ व्यापार सम्बन्ध एवं ज्वाइंट वेंचर बनाने की दिशा में क़दम बढ़ाया है। हाल ही में रूस और चीन के बीच एक बड़ा गैस समझौता हुआ है जिसके तहत रूस डॉलर की बजाय चीन की मुद्रा युआन में गैस की क़ीमतें लेने के लिए तैयार हो गया है। चीन से यूरोप तक एक आधुनिक 'सिल्करोड' बनाने की क़वायदें भी चल रही हैं जो चीन के साम्राज्यवादी उभार की ओर ही इंगित कर रही हैं।

यूरेशिया के पूर्वी हिस्से यानी प्रशान्त महासागर से लगे हिस्से की बात करें तो वहाँ पूर्वी एवं दक्षिणी चीन सागर में चीन द्वारा तेल और गैस के संसाधनों पर क़ब्ज़ा करने की वजह से अमेरिका सकते में आ गया है। यही वजह है कि वह इस क्षेत्र में स्थित देशों के साथ जल्द

से जल्द ट्रांस पैसिफिक पार्टनरशिप एग्रीमेंट पर हस्ताक्षर करवाना चाहता है ताकि वह चीन की बढ़ती आर्थिक ताक़त को काबू में कर सके। लेकिन चीन ट्रांस पैसिफिक के देशों के साथ व्यापारिक संधियों पर काम कर रहा है और अमेरिका की मुसीबतें बढ़ा रहा है। चीन को सैन्य रूप में घेरने के लिए अमेरिका प्रशान्त महासागर से लगे देशों के साथ रिमपैक नामक एक सैन्य समझौते पर भी काम कर रहा है। चीन और रूस का खेमा भी शंघाई कोऑपरेशन ऑर्गनाइज़ेशन नाम से एक बहुदेशीय सैन्य संगठन पहले ही बना चुके हैं जिसमें मध्य एशिया के कई देशों को शामिल किया गया है। ये सैन्य गुट भी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के तीखे होने की ओर ही इंगित कर रहे हैं।

मध्य-पूर्व भी हाल के वर्षों में दुनिया का सबसे अधिक हिंसाग्रस्त हिस्सा बना हुआ है। गाज़ा में इज़राइली बर्बर हमला, लीबिया व सीरिया में जारी गृहयुद्ध, इस्लामिक स्टेट का उभार, अरब देशों द्वारा यमन पर हमला ये सभी साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों के तीखे होने की निशानी हैं। दरअसल मध्य-पूर्व के देशों के शासकों एवं वहाँ की जनता के बीच अन्तरविरोध, विभिन्न देशों के शासकों के बीच के अन्तरविरोध एवं साम्राज्यवादी खेमों के बीच के अन्तरविरोध, ये तीनों एक साथ काम कर रहे हैं। अरब के मुल्कों में आम बग़ावतों पर काबू पाने की कोशिश में लगा अमेरिकी साम्राज्यवाद अपने ही बुने जाल में फँसता जा रहा है। सीरिया में रूस की सरपरस्ती वाली असद सरकार का तख़्तापलट करने के मक़सद से अमेरिका ने इस्लामिक स्टेट के आतंकियों का सहारा लिया था, लेकिन अब ये जिहादी आतंकवादी खुद अपने आका को काट खाने पर अमादा हैं। अरब के देशों में ईरान, चीन व रूस की पैठ बढ़ने से अमेरिका ख़ौफ़ज़दा है। चीन ने अरब के देशों में तेल व गैस की खोज के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी लगायी है जो अमेरिका के लिए चिन्ता का सबब है। इसी तरीके से चीन ने अफ़्रीका एवं लातिन अमेरिका के देशों में तेल, गैस, लकड़ी, धातु एवं अन्य खनिज संसाधनों का दोहन करने के लिए एवं अपने मालों के लिए बाज़ार का विस्तार करने के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी लगायी है जो अमेरिकी साम्राज्यवादी वर्चस्व की कड़ी चुनौती दे रहा है।

लेनिन ने कहा था कि तीखी होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा युद्धों को जन्म देती है। भूमण्डलीकरण के दौर में राष्ट्रपारीय निगमों के अस्तित्व में आने की वजह से दुनिया के साम्राज्यवादी देशों की पूँजी चूँकि दुनिया भर में लगी हुई है और दुनिया के कई मुल्क इस समय परमाणु अस्त्र से लैस हैं इसलिए विश्वयुद्ध होने की सम्भावना तो बहुत क्षीण हो चुकी है, परन्तु हाल के वर्षों के घटनाक्रम इस बात की ओर साफ़ इशारा कर रहे हैं कि तीखी होती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा क्षेत्रीय स्तर पर पहले से कहीं विनाशकारी युद्धों को जन्म देगी। इसके कुछ नमूने हमें गाज़ा, सीरिया, यमन आदि में दिख रहे हैं। साम्राज्यवाद के इस दौर में आज पूँजीवाद ने मानवता को जिस क़दर तबाही के कगार पर ला खड़ा किया है उससे निजात सिर्फ़ सर्वहारा क्रान्ति ही दिला सकती है। इसलिए साम्राज्यवाद के बढ़ते अन्तरविरोधों के मद्देनज़र दुनिया भर में सर्वहारा क्रान्ति की पक्षधर ताक़तों को अपना पूरा ज़ोर अपनी मनोगत कमज़ोरियों को दूर करके युद्धों के सिलसिले को क्रान्ति के बैरियर से तोड़ देने के लिए जीजान से जुट जाना चाहिए।

कश्मीर में बाढ़, भारत में अन्धराष्ट्रवाद की आँधी और कश्मीरी जनता का बढ़ता अलगाव

● पुरुषोत्तम

यह लेख 2014 में कश्मीर में आयी बाढ़ के समय ही 'दिशा सन्धान' के लिए लिखा गया था। प्रकाशन में देर होने के कारण यह पुराना ज़रूर हो गया है लेकिन इसमें उठाये गये मूल मुद्दों की प्रासंगिकता अब भी बनी हुई है।
– सम्पादक

सितम्बर के पहले सप्ताह में जम्मू एवं कश्मीर में आये सैलाब के बाद विशेषकर कश्मीर घाटी में आयी बाढ़ की वजह से जितनी जान-माल की तबाही हुई उसको देखते हुए इसे हाल के दशकों में कश्मीर में आयी सबसे भयंकर आपदा बताया जा रहा है। इस आपदा में लगभग 300 लोग जान से हाथ धो बैठे, लाखों लोग बेघर हो गये और ग्रामीण क्षेत्रों मे फसलें तबाह हो गयीं। इस आपदा की भीषणता का अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि इसमें गाँव के गाँव डूब गये और भूस्खलन से कई गाँवों का तो नामोनिशान भी नहीं बचा। श्रीनगर के गली-मुहल्लों में हफ़्तों तक पानी का जमावड़ा लगा रहा। कई दिनों तक लोग अपने घरों की ऊपरी मंजिलों और छतों पर भोजन-पानी के अभाव में फँसे रहे। संचार व्यवस्था के पूरी तरह से ठप्प हो जाने की वजह से लाखों लोग कई दिन तक पूरी दुनिया से कटे रहे। जम्मू एवं कश्मीर सरकार के अनुसार इस आपदा में कुल 1 लाख करोड़ रुपये का नुक़सान हुआ। सितम्बर के अन्त तक हालाँकि श्रीनगर के अधिकांश इलाकों से पानी का जमावड़ा हट चुका था, परन्तु भोजन तथा पीने के पानी की किल्लत और बीमारी-महामारी का ख़तरा लगातार बना हुआ है। स्थिति सामान्य होने में महीनों लग सकते हैं।

पिछले साल केदारनाथ में आयी तबाही की तरह इस भीषण आपदा की शुरुआत भी बादल फटने की घटना से हुई जिसमें बेहद कम समयान्तराल में अत्यधिक वर्षा (सितम्बर के पहले सप्ताह में ही श्रीनगर में 500 मिमी वर्षा हुई जबकि वहाँ की औसत मासिक वर्षा 56. 4 मिमी है) होने से नदियों एवं जलाशयों में पानी भर आया और तटबन्धों और डूब क्षेत्र को पार करता हुआ रिहायशी इलाकों में फैल गया। हिमालय के समूचे क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों में भीषण वर्षा को पर्यावरणविद् जलवायु परिवर्तन की परिघटना से जोड़कर देख रहे हैं जो अन्धाधुन्ध पूँजीवादी विकास की तार्किक परिणति है। इसके अतिरिक्त हिमालय के क्षेत्र में बेतहाशा तरीके से जंगलों की कटाई की वजह से वर्षा का पानी पहाड़ के ढलान पर तेज़ी से नीचे की घाटियों की ओर आता है और बड़े पैमाने पर तबाही मचाता है। साथ ही जंगलों की बेतहाशा कटाई से पिछले कुछ वर्षों में भूस्खलन की घटनाओं में भी ज़बरदस्त बढ़ोतरी देखने में आयी है जिसकी वजह से निचले इलाकों में बाढ़ की विभीषिका कई गुना बढ़ जाती है। इसके अलावा कश्मीर में आयी इस आपदा की भीषणता की एक प्रमुख कारण तमाम पर्यावरण नियमों को ताक पर रखकर पिछले कुछ दशकों में झेलम नदी के डूब क्षेत्रों एवं डल, अंचल और वूलर जैसी झीलों के किनारे अन्धाधुन्ध रिहायशी एवं वाणिज्यिक निर्माण कार्य भी रहा। श्रीनगर की प्रसिद्ध डल झील अपने मूल आकार का एक बटा छठाँ हिस्सा ही रह गयी है। श्रीनगर जैसे शहर के अनियोजित विकास की वजह से जहाँ एक ओर एक दूसरे से जुड़े हुए जलाशयों द्वारा जलनिकासी का प्राकृतिक संरचना तबाह हुई वहीं दूसरी ओर जलनिकासी का वैकल्पिक तरीका नहीं विकसित किया गया जिसकी वजह से श्रीनगर में बाढ़ का पानी लम्बे समय तक जमा रहा।

किसी देश के एक हिस्से में इतनी भीषण त्रासदी आने पर होना तो यह चाहिए कि पूरे देश की आबादी प्रभावित क्षेत्र की जनता के साथ तदनुभूति दिखाते हुए उसे हरसम्भव मदद करे और साथ ही साथ ऐसी त्रासदियों की वजह पर विमर्श करे और भविष्य में ऐसी आपदाओं को टालने के तरीकों पर गहन विचार-विमर्श हो। परन्तु कश्मीर को अपना अभिन्न अंग मानने का दावा करने वाले भारत में कश्मीर की इस भीषण आपदा के बाद जिस तरीके से अन्धराष्ट्रवाद की आँधी चलायी गयी वह कश्मीर की जनता के जले पर नमक छिड़कने के समान था। भारतीय सेना ने इस मौके का फ़ायदा उठाते हुए भारतीय बुर्जुआ मीडिया की मदद से अपने पक्ष में एक क़िस्म का प्रचार अभियान सा चलाया जिसमें कश्मीर की बाढ़ के बाद वहाँ भारतीय सेना द्वारा चलाये जा रहे राहत एवं बचाव कार्यों का महिमामण्डन करते हुए कश्मीर में भारतीय सेना की मौजूदगी को न्यायोचित ठहराने की कोशिश की गयी। मीडिया ने इस बचाव एवं राहत कार्यों को कुछ इस तरह से प्रस्तुत किया मानो भारतीय सेना राहत और बचाव कार्य करके कश्मीरियों पर एहसान कर रही है। यही नहीं कश्मीरियों को "पत्थर बरसाने वाले" एहसानफ़रामोश क़ौम के रूप में भी चित्रित किया गया। कुछ टेलीविज़न चैनलों पर भारतीय सेना के इस "नायकत्वपूर्ण" अभियान को एक "ऐतिहासिक मोड़बिन्दु" तक करार दिया गया और यह बताया गया कि इस अभियान से कश्मीरी जनता में सेना की छवि सुधरेगी और उनका भारत से अलगाव कम होगा।

परन्तु कश्मीर की स्थानीय मीडिया में स्थानीय लोगों के हवाले से तथा सोशल मीडिया पर कश्मीरियों की जो राय आयी, उनसे एकदम अलग तस्वीर उभर कर आती है। इस तस्वीर में यह साफ़ दिखता है कि इस आपदा के प्रबन्धन, सेना की भूमिका एवं विशेष रूप से भारतीय मीडिया की अतिरंजनापूर्ण कवरेज ने कश्मीरियों के भारत से अलगाव को कम करने

की बजाय बढ़ाया ही है। कश्मीर घाटी में अनियंत्रित और और अनियोजित विकास के मद्देनज़र एक लम्बे अरसे से पर्यावरणविद कश्मीर घाटी में इस किस्म की आपदा आने की बात करते रहे थे। नियोजित शहरी विकास एवं जलाशयों तथा नहरों की हिफ़ाजत करके श्रीनगर जैसे शहर में इस विभीषिका की भयावहता को कम किया जा सकता था। परन्तु जलाशयों एवं नहरों के किनारे एवं नदियों के डूब क्षेत्र में अन्धाधुन्ध रिहायशी, वाणिज्यिक एवं सरकारी निर्माण कार्य को बेरोकटोक जारी रहने दिया गया। कई नहरों को पाट कर उनपर सड़कें बनायी गयीं जिससे झेलम नदी के बाढ़ झेलने की श्रीनगर शहर की क्षमता काफ़ी कम हुई। वर्ष 2010 में बाढ़ के ख़तरे को कम करने के लिए उत्तरी कश्मीर की वूलर झील की काई साफ़ करने की एक योजना भी बनायी गयी थी। परन्तु जैसा कि अन्य क्षेत्रों में होता है, यह योजना भी सिर्फ़ सरकारी फाइलों की धूल फाँकती रही। झेलम नदी पर बाढ़ की चेतावनी देने की कोई व्यवस्था उपलब्ध न होने की वजह से भी इस आपदा की आकस्मिकता बढ़ी। पर्यावरणविदों द्वारा ऐसी आपदा की चेतावनी दिये जाने के बावजूद जम्मू एवं कश्मीर सरकार व केन्द्र सरकार ऐसी आपदा से निपटने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थी। पिछले कुछ दशकों से भारत सरकार ने जम्मू एवं कश्मीर को महज़ सुरक्षा के दृष्टिकोण से देखते हुए अपना पूरा ध्यान आतंकवादियों से निपटने में लगाया और यही वजह थी कि उसके पास ऐसी आपदा से निपटने की कोई योजना नहीं थी। जम्मू एवं कश्मीर के मुख्यमंत्री उमर अब्दुल्ला ने भी माना कि घाटी में बाढ़ आने के शुरुआती कुछ दिनों में तो मानो वहाँ का सिविल प्रशासन बाढ़ के पानी में बह-सा गया था।

सिविल प्रशासन के विलुप्त हो जाने की स्थिति में बचाव और राहत का काम पूरी तरह से कश्मीर घाटी में तैनात सैन्य बलों के हाथों में आ गया। सैन्य बलों ने जिस तरीके से राहत एवं बचाव कार्यों में आम कश्मीरियों की बजाय पर्यटकों, बाहरी लोगों एवं धनिकों तथा वीआईपी लोगों को बचाने को प्राथमिकता दी, उससे भी आम कश्मीरियों में असन्तोष की भावना पनपी। जहाँ एक ओर भारतीय मीडिया में राहत एवं बचाव कार्यों में सेना की बहादुरी का गौरवगान चल रहा था, वहीं दूसरी ओर कश्मीरियों का कहना था कि आम कश्मीरियों के लिए अधिकांश राहत, बचाव एवं पुनर्वास का काम स्थानीय स्वयंसेवी संस्थाओं ने किया। यंग कश्मीर वालिंटियर एलायंस (वाईकेवीएल) नामक कश्मीरी स्वयंसेवी संस्थाओं के एक समूह ने अपने अध्ययन में बताया है कि इस बाढ़ में 96 फ़ीसदी लोगों को स्थानीय स्वयंसेवकों ने बचाया और बाकी 4 फीसदी लोगों को सेना और राष्ट्रीय आपदा प्रतिक्रिया बल (एनडीआरएफ) ने बचाया। इस संस्था ने अपने अध्ययन में यह भी पाया कि 92.3 फीसदी पुनर्वास केन्द्रों को भोजन सामग्री स्थानीय स्वयंसेवक समुदायों ने पहुँचायी। राहत एवं बचाव कार्यों में नौका, टेंट, खाद्य एवं पेय सामग्री की किल्लत के मद्देनज़र कश्मीरियों का मानना था कि भारत को अन्तरराष्ट्रीय मदद स्वीकार करनी चाहिए। परन्तु भारत सरकार ने इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानते हुए किसी भी प्रकार की अन्तरराष्ट्रीय मदद से साफ़ इन्कार कर दिया जिसकी वजह से भी कश्मीरियों में रोष देखा गया। नौका की किल्लत को देखते हुए स्थानीय स्वयंसेवक दस्तों ने लकड़ी, प्लास्टिक, पानी के खाली टैंक, ट्यूब आदि जो कुछ भी तैर सकता था उसको नौका के रूप में इस्तेमाल करते हुए ज़्यादा से ज़्यादा जान-माल की रक्षा करने का भरसक प्रयास किया। नौकाओं एवं अन्य सामग्रियों की किल्लत के बावजूद भारतीय मीडिया के तमाम पत्रकार सेना की नौकाओं एवं हेलीकाप्टर में बैठकर रिपोर्टिंग करते हुए पाये गये जिससे कश्मीरियों के इस आरोप को बल मिलता है कि भारतीय सेना ने इस मौके का

इस्तेमाल अपनी छवि बनाने में किया और भारतीय शासक वर्ग ने इसका इस्तेमाल पूरे देश में अन्धराष्ट्रवाद की आँधी चलाने में किया। कश्मीर में बाढ़ और भारतीय सेना एवं मीडिया द्वारा चलायी गयी इस अन्धराष्ट्रवादी मुहिम का कुल नतीजा यह हुआ कि कश्मीरी जनता का भारतीय राज्यसत्ता से अलगाव कम हाने की बजाय बढ़ता ही गया। कश्मीरी जनता के इस अलगाव का एक लम्बा इतिहास रहा है, आइये इस लम्बे इतिहास पर एक नज़र दौड़ा लेते हैं ताकि हम यह समझ सकें कि इसकी प्रकृति क्या है और क्यों यह समय बीतने के साथ बढ़ता ही गया है।

कश्मीरी जनता का भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता से अलगाव का इतिहास

भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता के जन्मकाल से ही कश्मीरी राष्ट्रीयता का उससे अलगाव होना शुरू हो गया था। बर्तानवी गुलामी से भारत के आज़ाद होने के वक़्त जम्मू एवं कश्मीर राज्य उन 562 रियासतों में से एक था जो अंग्रेजी राज्य के अधीन थे। आज़ादी मिलने के तुरन्त बाद हैदराबाद, जूनागढ़ तथा जम्मू एवं कश्मीर को छोड़कर अन्य सभी राजों-रजवाड़ों ने भारत या पाकिस्तान में से किसी एक डोमिनियन में शामिल होने का फैसला कर लिया। हैदराबाद का निज़ाम एक स्वतंत्र राष्ट्र के ख़्वाब देख रहा था जबकि जूनागढ़ का नवाब पाकिस्तान में मिलने का पक्षधर था। इन दो रियासतों में भारत का तर्क था कि उनके भविष्य का फैसला वहाँ के शासक नहीं बल्कि जनता करेगी। उन दो रियासतों की बहुसंख्यक आबादी भारत में विलय की पक्षधर थी और इसलिए वे भारत में शामिल हुए। जूनागढ़ में तो फरवरी 1948 में बाकायदे रिफरेंडम भी करवाया गया जिसमें वहाँ की जनता ने भारी बहुमत से भारत में शामिल होने के पक्ष में मत दिया। परन्तु जम्मू एवं कश्मीर में स्थिति इसके ठीक उलट थी। वहाँ की अधिकांश जनसंख्या मुस्लिम थी, परन्तु वहाँ का शासक महाराजा हरी सिंह हिन्दू था। हरी सिंह भारत या पाकिस्तान में मिलने की बजाय जम्मू एवं कश्मीर को एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाना चाहता था ताकि उसके वंश का शासन बरकरार रहे। ग़ौरतलब है कि जम्मू एवं कश्मीर राज्य को हरी सिंह के पूर्वज गुलाब सिंह ने कुख़्यात अमृतसर की संधि में अंग्रेज़ों से 75 लाख रुपये में खरीदा था। अंग्रेज़ों को डोगरा राजा गुलाब सिंह की वफ़ादारी पर पूरा भरोसा था क्योंकि वह पहले सिख शासन से दग़ाबाजी करते हुए अंग्रेजों के पाले में आ खड़ा हुआ था। भारत की आज़ादी के वक़्त जम्मू एवं कश्मीर में लगभग 77 फ़ीसदी आबादी मुस्लिम थी। यदि सिर्फ़ कश्मीर घाटी की बात की जाये तो वहाँ 94 फ़ीसदी से भी ज़्यादा आबादी मुस्लिम थी। जम्मू एवं कश्मीर में डोगरा राजाओं के शासन में अधिकांश जागीरदार और भूस्वामी हिन्दू थे जबकि आम ग़रीब किसान आबादी में मुस्लिमों की बहुतायत थी। इस प्रकार वहाँ वर्गीय ध्रुवीकरण और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण में संगति होने से बाद में वर्षों में हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों धर्मों की कट्टरपन्थी ताक़तों को अपना आधार जमाने में मदद मिली। हालाँकि ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि वैष्णव, शैव, सूफ़ी परम्पराओं के मिलेजुले प्रभाव की वजह से कश्मीर में इस्लाम की प्रकृति भारतीय महाद्वीप के अन्य हिस्सों से बिल्कुल अलग है। इसी वजह से कश्मीरी अवाम की लड़ाई को पाकिस्तानपरस्ती की दिशा में ले जाने की पाकिस्तान की तमाम कोशिशों के बावजूद अभी तक कश्मीरियों की आज़ादी की लड़ाई ने एक स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखा है।

बर्तानवी गुलामी से भारत की आज़ादी के वक़्त कश्मीर के सबसे लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला थे। शेख अब्दुल्ला 1931 में मुस्लिम कान्फ्रेंस नामक दल से जुड़े हुए थे जो शुरू में कश्मीर में सरकारी नौकरियों में कश्मीरी मुस्लिमों के प्रतिनिधित्व को बढ़ाने के लिए संघर्ष करता था। परन्तु बाद में यह आन्दोलन जनवाद के लिए संघर्ष की शक़्ल अख़्तियार करने लगा और डोगरा सामन्ती शासन के विरोध में कश्मीरी किसानों का आन्दोलन बनता गया। शीघ्र ही सामन्तवाद विरोधी इस जनवादी आन्दोलन को कश्मीर के गैर-मुस्लिम नेतृत्व मसलन पंडित प्रेमनाथ बजाज एवं सरदार बुद्ध सिंह के साथ ही साथ गाँधी, नेहरू, आज़ाद, खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खान जैसे भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के नेताओं का भी समर्थन मिलने लगा। शेख अब्दुल्ला भी भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष और उसके नेताओं से प्रभावित होते गये और उन्हें इस सच्चाई का एहसास होने लगा कि आन्दोलन को व्यापक रूप देने के लिए उन्हें उसे धर्म निरपेक्ष बनाना होगा। इसीलिए शेख अब्दुल्ला ने अपनी पार्टी का नाम मुस्लिम कान्फ्रेंस से बदलकर नेशनल कान्फ्रेंस रखने का प्रस्ताव रखा जो 11 जून 1939 को पारित हुआ। उसी समय शेख अब्दुल्ला ने पंडित प्रेमनाथ बजाज, सरदार बुध सिंह, पंडित सुदमा सिधा, जिया लाल कीलम, कश्यप बन्धु जैसे ग़ैर-मुस्लिम प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर 'राष्ट्रीय माँगें' नामक मांगपत्रक का मसौदा तैयार किया जो भविष्य के 'नया कश्मीर' घोषणापत्र की पूर्वपीठिका थी जिसमें कश्मीर के जनता के कल्याण के लिए एक जनवादी संविधान की माँग की गयी थी। शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कान्फ्रेंस मुस्लिम लीग और जिन्ना द्वारा प्रचारित 'टू नेशन थियरी' का विरोध करती थी और मज़हब के आधार पर बने मुल्क पाकिस्तान में विलय की हरगिज़ पक्षधर नहीं थी। साथ ही शेख अब्दुल्ला भारत में पूर्ण विलय को लेकर भी संशंकित थे।

5 मई 1946 के एक बयान में शेख अब्दुल्ला ने सांस्कृतिक और भाषायी समरसता को ध्यान में रखते हुए वैज्ञानिक आधार पर भारत के राज्यों का पुनर्विभाजन करने के बाद भारत की सभी राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार की बात की। ग़ौरतलब है कि शेख अब्दुल्ला की यह सोच तत्कालीन भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) की लाइन से प्रभावित थी। मई 1946 में ही शेख ने महाराजा हरी सिंह के ख़िलाफ़ 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन का आग़ाज़ किया जिसके बाद उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया और तीन साल की सजा हुई। परन्तु वे 16 महीने बाद 29 सितम्बर 1947 को रिहा कर दिये गये। रिहाई के फौरन बाद शेख ने बयान दिया कि 'यदि जम्मू एवं कश्मीर में रहने वाले 40 लाख लोगों को दरकिनार कर राज्य भारत अथवा पाकिस्तान में विलय की घोषणा करता है तो मैं विद्रोह का परचम थाम लूँगा और हमें संघर्ष करना होगा'। (स्रोत: ए जी नूरानी की पुस्तक 'दि कश्मीर डिस्प्यूट', अनुवाद हमारा)। अक्टूबर 1947 में पाकिस्तान द्वारा समर्थित कबायलियों ने कश्मीर पर हमला कर दिया जिसका सामना करने में हरीसिंह की सेना सर्वथा असमर्थ थी। यही नहीं जम्मू एवं कश्मीर के पुँछ इलाके में महाराजा की सेना में ही बग़ावत हो गयी। इसके अतिरिक्त भारत और पाकिस्तान के विभाजन के बाद राज्य में शरणार्थियों की आवाजाही की वजह से भी वहाँ साम्प्रदायिक तनाव की स्थिति पैदा हो गयी। पाकिस्तान द्वारा समर्थित कबायली हमले और पुँछ में हरी सिंह की सेना में बग़ावत ने एक स्वतंत्र राज्य का शासक बने रहने की उसकी सारी महत्वकांक्षाओं पर पानी फेर दिया और उस हमले का मुक़ाबला करने के लिए उसे मजबूरन भारतीय सेना से मदद की गुहार करनी पड़ी। भारत ने इस सैन्य मदद की एवज़ में हरी सिंह से जम्मू एवं कश्मीर के भारत में विलय के दस्तावेज़ पर दस्तख़त करवा लिये।

परन्तु यह विलय आरज़ी और सशर्त था, जैसा कि विलय के दस्तावेज़ के साथ संलग्न दस्तावेज़ो और जम्मू एवं कश्मीर पर भारत सरकार के श्वेत पत्र में स्पष्ट तौर पर उल्लिखित था। 1948 में जारी इस श्वेत पत्र में भारत सरकार ने स्पष्ट तौर पर लिखा था: 'जैसे ही कश्मीर में कानून और व्यवस्था क़ायम हो जायेगी और उसकी ज़मीन से आक्रमणकारियों को खदेड़ दिया जायेगा, राज्य के विलय के फैसले के बारे में वहाँ की जनता से निर्देश लिया जायेगा।' (स्रोत: ए जी नूरानी की पुस्तक 'दि कश्मीर डिस्प्यूट', अनुवाद हमारा)

1947 से ही भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने अनेक अवसरों पर इस बात को ज़ोर देते हुए कहा कि जम्मू एवं कश्मीर के भारत में विलय के बारे में अन्तिम फैसला वहाँ की जनता करेगी और वहाँ की जनता की मर्ज़ी के बग़ैर उसको भारत में मिलाने की उनकी कोई मंशा नहीं है। कश्मीर मसले को संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले जाने के पहले ही नेहरू वहाँ जनमतसंग्रह कराने की बात सार्वजनिक रूप से कह चुके थे। कश्मीर में पाकिस्तान द्वारा समर्थित कबायली हमले के बाद भारत सरकार ने यह मसला संयुक्त राष्ट्रसंघ में रखा। 20 जनवरी 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद ने प्रस्ताव संख्या 39 पारित किया जिसमें इस मसले की तथ्यों के आधार पर जाँच करने के मक़सद से एक आयोग बनाने की बात की गयी। इसके बाद 21 अप्रैल 1948 को सुरक्षा परिषद ने एक अन्य प्रस्ताव (प्रस्ताव संख्या 47) पारित किया जिसमें जम्मू एवं कश्मीर के भारत अथवा पाकिस्तान में विलय को वहाँ एक मुक्त और निष्पक्ष जनमतसंग्रह के द्वारा कराने की बात कही गयी थी। 1953 तक भारत कश्मीर में जनमतसंग्रह की बात करता रहा, लेकिन उसके बाद वह इस वायदे से मुकर गया।

अक्टूबर 1947 में कश्मीर में पाकिस्तान समर्थित कबायली हमले के बाद महराजा हरीसिंह ने जम्मू एवं कश्मीर राज्य के भारत में विलय के दस्तावेज़ पर दस्तख़त करने के साथ ही साथ एक आपातकालीन प्रशासन की नियुक्ति की और इस सरकार के नेतृत्व की जिम्मेदारी शेख अब्दुल्ला को सौंपी गयी। मार्च 1948 में जम्मू एवं कश्मीर में अन्तरिम सरकार का गठन किया गया और शेख अब्दुल्ला ने औपचारिक रूप से जम्मू एवं कश्मीर के प्रधानमंत्री पद की शपथ ली। इस अन्तरिम सरकार की एक ज़िम्मेदारी यह थी कि वह राज्य का संविधान बनायेगी। इसके अलावा शेख अब्दुल्ला व कुछ अन्य कश्मीरियों को भारत की संविधान सभा में भी शामिल किया गया। भारत की संविधान सभा ने जो संविधान बनाया उसमें धारा 370 में जम्मू एवं कश्मीर को विशेष राज्य का दर्ज़ा गया जिसके अनुसार जम्मू एवं कश्मीर को भारतीय संघ के तहत अपना अलग संविधान बनाने का अधिकार था; जम्मू एवं कश्मीर के सन्दर्भ में भारत की संसद का अधिकार महज़ रक्षा, विदेशी मसलों एवं संचार तक सीमित था।

1948 से 1953 तक जम्मू एवं कश्मीर के प्रधानमंत्री के कार्यकाल के दौरान शेख अब्दुल्ला कश्मीर के पाकिस्तान में विलय अथवा जनमतसंग्रह की बजाय उसकी स्वायत्तता के पक्षधर थे। परन्तु जम्मू में श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में भारतीय जनसंघ द्वारा समर्थित प्रजा परिषद् आन्दोलन के बाद कश्मीर मसले का ज़बरदस्त साम्प्रदायिकीकरण हुआ जिसके बाद कश्मीरी अवाम का भारत से अलगाव बढ़ा और शेख अब्दुल्ला भी अपने रुख़ पर पुनर्विचार करने लगे। प्रजा परिषद आन्दोलन जम्मू के डोगरा भूस्वामियों के हितों की नुमाइन्दगी करता था जिनकी आर्थिक शक्ति में शेख अब्दुल्ला सरकार द्वारा लागू किये गये रैडिकल भूमि सुधारों के बाद ज़बरदस्त कमी आयी थी। परन्तु प्रजा परिषद् ने अपने इन वर्गीय हितों को छिपाने के लिए समूचे कश्मीर मसले को साम्प्रदायिक रंग दे दिया। इस आन्दोलन की मुख्य माँग यह थी कि जम्मू एवं कश्मीर राज्य को जम्मू, लद्दाख और कश्मीर इन तीन हिस्सों में बाँटकर जम्मू

एवं लद्दाख से धारा 370 हटाकर उनका पूरी तरह भारत में विलय कर दिया जाये। जम्मू में इस आन्दोलन के बढ़ते आधार को देखकर शेख अब्दुल्ला और नेहरू दोनों सकते में आ गये। शेख अब्दुल्ला जो पहले ही कश्मीर मसले पर पटेल के साम्प्रदायिक बयानों से कश्मीर से भारत में विलय के मसले पर सशंकित हो उठे थे, प्रजा परिषद् आन्दोलन के बाद से और भी ज़्यादा सशंकित हो गये। नेहरू इस साम्प्रदायिक आन्दोलन की बढ़ती ताक़त से इसलिए भयभीत थे क्योंकि धर्म के आधार पर जम्मू को भारत में पूरी तरह मिलाने का निहितार्थ यह था कि कश्मीर घाटी पर भारत के दावे का आधार कमज़ोर हो जाता।

जम्मू में प्रजा परिषद् आन्दोलन के ज़ोर पकड़ने की वजह से कश्मीर मसले के साम्प्रदायिकीकरण के बाद शेख अब्दुल्ला भारतीय राज्य के भीतर स्वायत्तता की बजाय कश्मीर की आज़ादी के बारे में भी सोचने लगे थे। यही वह दौर था जब नेहरू और शेख अब्दुल्ला के बीच रिश्तों में भी कड़वाहट पैदा होनी शुरू हुई। इसकी इन्तेहाँ तब हो गयी जब 8 अगस्त 1953 को अचानक शेख अब्दुल्ला को बर्ख़ास्त कर उनको गिरफ़्तार कर लिया गया। तब से 11 वर्षों तक का अधिकांश समय उन्हें जेल में ही बिताना पड़ा। शेख अब्दुल्ला की जगह भारत ने अपने पिट्ठू बख़्शी गुलाम मोहम्मद को जम्मू एवं कश्मीर के प्रधानमंत्री पद पर बिठा दिया। उसके बाद नेहरू कश्मीर में जनमतसंग्रह के अपने वायदे से साफ़ मुकरने लगे। 6 फरवरी 1954 को कश्मीर की संविधान सभा ने कश्मीर के भारत में विलय को अविच्छिन्न क़रार दिया।

1953 में शेख अब्दुल्ला सरकार की बर्ख़ास्तगी और उनकी गिरफ़्तारी ने कश्मीरी अवाम और भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता के बीच के अलगाव को नयी ऊचाइयों पर पहुँचाया। जम्मू एवं कश्मीर में नई दिल्ली की शह पर 1951 से ही की गयी चुनावी धाँधली ने भी कश्मीरी अवाम के अलगाव को बढ़ाने में एक अहम भूमिका निभायी। 1951 के संविधान सभा के चुनावों में 75 में से 73 सीटों पर नेशनल कान्फ्रेंस के उम्मीदवार निर्विरोध चुने गये क्योंकि विपक्षी उम्मीदवारों के नामांकन मामूली आधार पर रद्द कर दिये गये। संविधान सभा के इन्हीं चुनावों के आधार पर राज्य की विधान सभा का गठन हुआ था जिसने भारतीय संविधान की धारा 370 में जम्मू एवं कश्मीर को दिये गये विशेष दर्ज़े को तनु करने पर मोहर लगायी। उसके बाद 1957 और 1962 के चुनावों में भी धाँधली हुई जिसके आधार पर बख़्शी गुलाम मोहम्मद ने कमोबेश भारत के एजेंट के रूप में जम्मू एवं कश्मीर में सरकार चलायी। 1967 के विधान सभा चुनावों एवं 1971 के लोकसभा चुनावों में धाँधली का काम नेशनल कान्फ्रेंस के ही एक अन्य नेता जी एम सादिक़ के नेतृत्व में किया गया। 1967 के चुनावों में बड़े पैमाने पर हुई धाँधली का कश्मीर घाटी में ज़बरदस्त विरोध हुआ।

उधर शेख अब्दुल्ला अप्रैल 1964 में जेल से रिहा कर दिये गये थे। परन्तु अगले ही वर्ष उन्हें कोडईकनाल में नज़रबन्द कर दिया गया क्योंकि उन्होंने चीन के प्रधानमंत्री चाउ एनलाई से अल्जीयर्स में मुलाकात की थी। अन्ततः जनवरी 1968 को ही जाकर वे मुक्त हो सके। डेढ़ दशक की इस गिरफ़्तारी और नज़रबन्दी के बाद शेख अब्दुल्ला कमज़ोर पड़ चुके थे और रिहा होने के बाद वे भारत सरकार से समझौते के बारे में सोचने लगे थे। 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के बाद उन्होंने भारत सरकार के सामने पूरी तरह से घुटने टेक दिये। 1975 के इंदिरा गाँधी-शेख अब्दुल्ला समझौते के तहत उन्होंने कश्मीर की स्वायत्तता की माँग भी छोड़ दी और भारत सरकार द्वारा धारा 370 के तनुकरण को भी मंजूरी दे दी।

इंदिरा गान्धी और शेख अब्दुल्ला के बीच 1975 में हुए समझौते के पहले ही कश्मीर

घाटी में कुछ ऐसे ग्रुप बन चुके थे जो सशस्त्र संघर्ष के ज़रिये कश्मीर की आज़ादी की बात करते थे। इस समझौते में शेख अब्दुल्ला द्वारा घुटने टेकने के बाद ऐसे ग्रुपों की ताक़त बढ़ी और कश्मीरी राष्ट्रीयता के संघर्ष के एक नये दौर की शुरुआत हुई। इस समझौते का सबसे मुखर रूप में विरोध करने वाले संगठनों में 'जम्मू एवं कश्मीर पीपुल्स लीग' प्रमुख था जो कश्मीर की आज़ादी की बात करता था। इसके संस्थापकों में शेख अब्दुल अजीज़, मुसादिक आदिल, बशीर अहमद टोटा, आज़म इंक़लाबी, अब्दुल हमीद वानी थे। शब्बीर शाह इस संगठन के महासचिव थे। बाद में यह संगठन भी कई फूटों का शिकार हुआ।

बहरहाल शेख अब्दुल्ला 1982 तक जम्मू एवं कश्मीर के मुख्यमंत्री बने रहे। 1982 में उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र फारूख़ अब्दुल्ला ने मुख्यमंत्री पद की कमान संभाली। जुलाई 1984 में इंदिरा गान्धी ने फारूख अब्दुल्ला की सरकार को बर्ख़ास्त कर दिया जिससे घाटी में एक बार फिर असन्तोष बढ़ने लगा। श्रीनगर में 72 दिनों तक कर्फ्यू लगा रहा। लेकिन 1986 में फारूख अब्दुल्ला ने भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के साथ समझौता किया और वे एक बार फिर मुख्यमंत्री बने। मार्च 1987 में जम्मू एवं कश्मीर विधानसभा का चुनाव सम्पन्न हुआ जिसमें नेशनल कान्फ्रेंस और कांग्रेस ने गठबन्धन बनाया। इन चुनावों में बड़े पैमाने पर धाँधली हुई। विपक्षी मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट (एमयूएफ) की कश्मीर घाटी में ज़बरदस्त लोकप्रियता होने के बावजूद चुनावी धाँधली की वजह से उसे विधानसभा में सीटें नहीं जीत पायी। इन चुनावों में धाँधली के बाद कश्मीरी युवाओं की बड़ी आबादी को चुनावी प्रक्रिया से भरोसा उठ गया और बड़ी संख्या में युवाओं ने बन्दूकें थामी। इसके बाद से ही कश्मीर में सशस्त्र संघर्ष प्रभावी होकर सामने आया। ग़ौरतलब है कि जिन नेताओं ने बाद में आतंकवाद की राह पर जाने का फैसला किया उनमें से अधिकांशं ने 1987 के चुनावों में हिस्सा लिया था और चुनावी धाँधली की वजह से उनका मोहभंग हुआ। 1986 में गठित इस्लामिक स्टूडेंट्स लीग के चार प्रमुख सदस्यों – अब्दुल हमीद शेख, अश्फ़ाक माज़िद वानी, जावेद अहमद मीर और यासीन मलिक – जिन्हें हाजी ग्रुप कहा जाता था, ने एमयूएफ के समर्थन में चुनाव प्रचार किया था। यहाँ तक कि हिजबुल मुजाहिद्दीन का मुखिया सैयद सलाहुद्दीन जिसका असली नाम मोहम्मद यूसुफ शाह है, ने भी एमयूएफ के उम्मीदवार के रूप में 1987 के चुनाव में भागीदारी की थी।

शुरुआती दौर में कश्मीर की आज़ादी के लिए सशस्त्र संघर्ष का नेतृत्व जम्मू एंड कश्मीर लिबरेशन फ्रण्ट (जेकेएलएफ) के हाथों में था। जेकेएलएफ की स्थापना 1978 में इंग्लैण्ड में अमानुल्ला खान ने की थी जो मक़बूल बट की कश्मीर लिबरेशन आर्मी का एक सदस्य था। मक़बूल बट भारतीय कब्ज़े में सक्रिय था और अमानुल्लाह खान पाक अधिकृत कश्मीर में। शुरुआती दौर में जेकेएलएफ एक धर्मनिरपेक्ष संगठन था और वह भारत और पाक दोनों द्वारा कब्ज़ा किये गये कश्मीर की आज़ादी की बात करता था। परन्तु भारतीय राज्य द्वारा बर्बर दमन के बाद जेकेएलएफ में इस्लामिक कट्टरपंथियों का दबदबा बढ़ने लगा। 11 फरवरी 1984 को मकबूल बट को तिहाड़ जेल में फाँसी दे दी गयी थी जिसके बाद से कश्मीरी युवाओं में असंतोष बढ़ रहा था। 1987 के चुनावों में भारी धाँधली के बाद कश्मीर में जो जनउभार देखने को आया उसके पीछे पिछले 40 सालों का कुशासन, आर्थिक बदहाली, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार भी प्रमुख कारण थे। 1988 में बिजली की दरों में वृद्धि के ख़िलाफ़ प्रदर्शन के दमन से कश्मीर घाटी की जनता में ज़बरदस्त आक्रोश देखने को आया। उसी साल मकबूल बट की बरसी पर पुलिस ने कश्मीरी आज़ादी के समर्थकों पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलायीं। दिसम्बर

1989 में कश्मीर समूची कश्मीर घाटी में बग़ावत की ज्वाला भड़क उठी। इस बग़ावत को बर्बरता से कुचलने के लिए कश्मीर में सैन्य बल विशेष अधिकार कानून (आफ्सपा) लगाकर सेना को असीमित अधिकार दे दिये गये। लेकिन 1990 तक आते-आते कश्मीर घाटी में लाखों लोग आज़ादी के नारे लगाते हुए उतर पड़े थे। यही वह दौर था जब पाकिस्तान ने अफगानिस्तान में सोवियत संघ के ख़िलाफ़ लड़ाई में प्रशिक्षित मुजाहिद्दीनों को कश्मीर में जेहाद के लिए भेजना शुरू किया और कश्मीर की आज़ादी के संघर्ष को इस्लामिक कट्टरपन्थी रंग देने की कुटिल चाल चली। इसी दौर में कश्मीर की छोटी सी अल्पसंख्यक कश्मीरी पण्डित आबादी के ऊपर भयंकर जुल्म ढाये गये। सैकड़ों कश्मीरी पण्डितों का नरसंहार किया गया और लाखों पण्डितों को परिवार समेत घाटी छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। इसके बाद ही संघ परिवार के फ़ासिस्टों ने कश्मीरी पण्डितों के बीच अपना आधार मज़बूत किया और कश्मीर मसले के साम्प्रदायिकीकरण करने की घृणित योजना को अमली जामा पहनाया। यही वह दौर था जब कश्मीर में हरकत-उल-मुजाहिद्दीन और लश्कर-ए-तोयबा जैसे पाकिस्तानपरस्त संगठनों का दबदबा भी बढ़ा।

कश्मीर घाटी में सशस्त्र जनउभार और आतंकवाद का भारतीय सेना के बर्बरतापूर्वक दमन किया। 1990 के दशक के अन्त तक कश्मीर में सशस्त्र संघर्ष और आतंकवादियों पर काफ़ी हद तक काबू पा लिया गया था। 1995 तक जेकेएलएफ के यासीन मलिक ने भारत के सामने घुटने टेक दिये और सशस्त्र संघर्ष का रास्ता छोड़ दिया। परन्तु इस प्रक्रिया में भारतीय सेना ने जिस क़दर कश्मीरी अवाम के मानवाधिकारों का धड़ल्ले से हनन किया उससे कश्मीरी अवाम के दिलों में भारत के प्रति नफ़रत की भावना अभूतपूर्व रूप से बढ़ी। कश्मीरियों के ज़ेहन में 1991 में भारतीय सेना द्वारा किये गये कुनान-पोशपोरा जैसे सामूहिक बलात्कार और यातना की घटनाओं की यादें अभी भी ताज़ा है। इसके अलावा अन्य बलात्कार काण्डों, फर्ज़ी मुठभेड़ों, गुमशुदगी की घटनाओं आदि की एक लम्बी दास्तान है। पिछले डेढ़ दशकों में कश्मीर में 60,000 से भी ज़्यादा लोग मारे जा चुके हैं और 700 लोग लापता हैं। हाल ही में कश्मीर में पायी गयी हज़ारों गुमनाम कश्मीरियों की सामूहिक कब्रें पायी गयी हैं। इसके अलावा पाकिस्तान समर्थित आतंकवादियों और भारतीय सेना के ख़ूनी खेल की वजह से कश्मीरियों में भारत से अलगाव की भावना गहराई तक जड़ जमा चुकी है।

21वीं सदी आते-आते भारत ने कश्मीर में आतंकवाद को काफ़ी हद तक काबू में कर लिया गया था। 11 सितम्बर 2001 को अमेरिका के विश्व व्यापार केन्द्र पर आतंकी हमले के बाद अमेरिका द्वारा पाकिस्तान पर नकेल कसने की वजह से पाकिस्तान से कश्मीर में जेहाद के लिए आने वाले आतंकियों पर रोक लगी। सरकारी आँकड़ों के भी इस बात की गवाही देते हैं कि आतंकवाद की घटनाओं में ज़बरदस्त कमी आयी है। एक सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक पूरी घाटी में अब 1,000 आतंकवादी भी नहीं है। लेकिन अभी भी घाटी में 7 लाख से भी ज़्यादा भारतीय सैनिक और अर्द्ध सैन्य बलों के जवान डेरा डाले हुए हैं। कुख़्यात काला कानून आफ्सपा अभी तक वहाँ लागू है। वहाँ खुफिया एजेंसियाँ ऐसे काम करती हैं मानो वो किसी दुश्मन देश में काम करती हों। सेना द्वारा की गयी नृशंस हत्याओं, बलात्कारों और यातनाओं के अलावा घाटी में इतने लम्बे अरसे से इतनी बड़ी तादाद में सेना की उपस्थिति मात्र अपने आप में कश्मीरी अवाम में आतंक पैदा करती है। कश्मीरी इस सेना की उपस्थिति को भारतीय कब्ज़े की निशानी के रूप में देखते हैं।

हालिया वर्षों में भारतीय मीडिया ने कश्मीर मसले की ऐसी रिपोर्टिंग की है मानो

आतंकवादियों पर नकेल कसने के बाद अब वहाँ अमन-चैन कायम हो गया है क्योंकि वहाँ जाने वाले पर्यटकों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है और चुनावों में भागीदारी बढ़ी है। खाते-पीते भारतीय मध्यवर्ग को यह लगने लगा था कि आख़िरकार कश्मीर समस्या का समाधान हो चुका है। लेकिन 2009 में अमरनाथ यात्रा के लिए भूमि अधिग्रहण के ख़िलाफ़ हुए आन्दोलन के बाद से कश्मीरियों का संघर्ष एक नयी शक्ल अख़्तियार करता नज़रा आया। उस आन्दोलन में काफ़ी समय बाद 'भारत वापस जाओ' के नारों से समूची कश्मीर घाटी गूँज उठी। चूँकि यह एक शान्तिपूर्ण नागरिक प्रतिरोध था, इसलिए भारतीय सेना के लिए इसका बर्बर दमन करना आसान न था। अब जो कश्मीरी नौजवान सड़कों पर उतर रहे थे उनके हाथों में एके 47 या हैंड ग्रेनेड नहीं होते बल्कि पत्थर होते हैं। वे हिजबुल मुजाहिद्दीन या लश्करे तोयबा के दुर्दान्त आतंकवादी नहीं बल्कि इनमें स्कूल जाने वाले किशोर, बेरोज़गार नौजवान, प्रौढ़ और अधेढ़ महिलायें और आम जनता शामिल थी जो भारतीय सेना के दमन और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरे थे। अमरनाथ यात्रा विवाद के बाद शोपियाँ में दो महिलाओं के साथ सशस्त्र बलों द्वारा बलात्कार और हत्या, माछिल फर्जी मुठभेड़ में हत्या और जुलाई 2010 में तुफैल मुट्टू नामक 17 वर्षीय किशोर की सेना की गोलीबारी में मौत के बाद हुआ पूरी कश्मीर घाटी में व्यापक जनउभार देखने को आया जिसे इन्तिफ़ादा या जनविद्रोह की भी संज्ञा दी गयी जिसमें सैन्य बल की गोलियों से सौ से ज़्यादा युवाओं, किशोरों और बच्चों की जानें गयीं।

कश्मीरी अवाम की आकांक्षाएँ और उनका भविष्य

जम्मू एवं कश्मीर में हाल में आयी बाढ़ के बाद भारतीय बुर्जुआ मीडिया और बुद्धिजीवियों के एक हिस्से ने यह उम्मीद बाँधनी शुरू कर दी की भारतीय सेना के राहत और बचाव कार्यों से कश्मीरी जनता भारत पर फिदा हो जायेगी और इस प्रकार यह राहत और बचाव कार्य कश्मीर में भारत के लिए 'टर्निंग प्वाइण्ट' साबित होगा। लेकिन इस किस्म के बचकाने विश्लेषण से भारत के टीवी दर्शक मध्यवर्ग को आत्ममुग्ध करने से ज़्यादा और कुछ नहीं करते। भारतीय मध्यवर्ग सेना के इस मानवीय चेहरे की तारीफ़ करता नहीं अघाता। परन्तु यदि कश्मीरियों की बात की जाये तो उनमें सेना के बचाव कार्यों में कुलीनों और पर्यटकों का तवज्जो देने और अन्तर्राष्ट्रीय मदद न स्वीकार करने से असन्तोष ही देखने में आया। बाढ़ से पीड़ितों के पुनर्वास का कोई इन्तज़ाम न होता देख कश्मीरियों की ग़रीब आबादी में ख़ास तौर पर गुस्सा देखने में आया। जिन लोगों के पास बहुमंज़िला घर थे वे तो अपने घरों की ऊपरी मंज़िलों और छतों पर चले गये, लेकिन झोपड़पट्टी में रहने वाले ग़रीबों की तो मानो इस बाढ़ ने पूरी दुनिया ही उजाड़ दी। सेना के ख़िलाफ़ असन्तोष इस हद तक था कि बचाव और राहत कार्य के दौरान भी कश्मीर में कुछ स्थानों पर स्थानीय लोगों द्वारा सेना का पत्थरों से स्वागत किया गया। ज़ाहिर है कि पिछले 67 सालों लगातार बढ़ रहे कश्मीरियों के भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता से अलगाव को एक प्राकृतिक आपदा में राहत एवं बचाव कार्य करके उसका ढिंढोरा पीटने से ख़त्म नहीं किया जा सकता।

पिछले 67 सालों के भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता के दमन, उत्पीड़न और वायदाख़िलाफ़ी की वजह से कश्मीरी अवाम का भारत से अलगाव बढ़ा है और उसमें आज़ादी की आकांक्षा कम होने की बजाय बढ़ी ही है। लेकिन यह भी सच है कि निकट भविष्य में इस आकांक्षा के पूरा होने के कोई आसार नज़र नहीं आ रहे। इस समय कश्मीरी अवाम की आज़ादी की आकांक्षा की सबसे मुखर रूप से पैरोकारी ऑल पार्टी हुर्रियत कान्फ्रेंस कर रही है। लेकिन

हुर्रियत के सबसे रैडिकल धड़े का नेतृत्व कर रहे सैयद अली शाह गिलानी कश्मीर की आज़ादी के नाम पर उसको मज़हब के नाम पर बने राष्ट्र पाकिस्तान में मिलाना चाहते हैं। गिलानी बड़ी ही चालाकी से कश्मीर को इस्लामिक राज्य बनाने की अपनी योजना को जानबूझकर अस्पष्ट बनाये रखते हैं ताकि कश्मीरी अवाम, जो ऐतिहासिक रूप से इस्लाम की सूफ़ी धारा से प्रभावित है, उनको पाकिस्तानपरस्त नेता की बजाय कश्मीर की आज़ादी का रहनुमा ही समझती रहे। लेकिन उनके सिपाहसलार मसर्रत आलम और आसिया अन्द्राबी की खुले रूप से इस्लामिक कट्टरपन्थी हरकतों से गिलानी की मंशा साफ़ हो जाती है। यदि आज कश्मीरी अवाम का विचारणीय हिस्सा गिलानी को अपने प्रतिरोध का नेता मानता है तो उसकी वजह यह है कि गिलानी ने भारतीय राज्यसत्ता के दमन के ख़िलाफ़ सबसे मुखर तरीके से विरोध किया है और अभी तक भारतीय राज्यसत्ता के सामने घुटने नहीं टेके हैं। लेकिन वे भारतीय राज्यसत्ता के सामने जितने कठोर दिखायी देते हैं, पाकिस्तानी शासकों के प्रति उनका रुख़ उतना ही नरम दिखायी देता है। पाकिस्तान के कब्ज़े वाले कश्मीर में पाकिस्तान के दमन और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ वे चूँ तक नहीं करते। साथ ही वे इस बात पर गोलमटोल जवाब देते हैं कि जम्मू एवं कश्मीर में इस्लामिक राज्य स्थापित होने पर जम्मू के हिन्दुओं, लद्दाख के बौद्धों एवं गुज्जर व बकरवाल जैसे नृजातीय समूहों का भविष्य क्या होगा। कश्मीरी पण्डितों के घाटी में पुनर्वास पर भी उनकी कोई ठोस नीति नहीं है। ज़ाहिरा तौर पर इस प्रकार का संकीर्ण नेतृत्व कश्मीरियों के न्यायपूर्ण संघर्ष को अन्तिम विश्लेषण में कमज़ोर ही करता है। परन्तु धर्मनिरपेक्ष बुर्जुआ नेतृत्व की समझौतापरस्ती के चलते आज कश्मीर में जो विकल्पहीनता की स्थिति बनी है उसी का लाभ गिलानी जैसे इस्लामिक कट्टरपंथियों को मिल रहा है। लेकिन कश्मीर की जनता से गिलानी जैसे इस्लामिक कट्टरपंथियों की आज़ादी के नाम पर पाकिस्तानपरस्ती बहुत ज़्यादा दिन तक नहीं छिप सकती। कश्मीर में बाढ़ की त्रासदी के बाद वहाँ की आम ग़रीब जनता ने भारतीय राज्य के भेदभावपूर्ण आचरण के साथ ही साथ तथाकथित अलगाववादी नेताओं की उनसे दूरी भी देखी है। कश्मीरियों की जो ग़रीब आबादी भारी पैमाने पर बाढ़ के बाद बेघर हुई है उनको अब अस्थायी पुनर्वास केन्द्रों से निकाल बाहर किया जा रहा है और ये कश्मीरियों के रहनुमा होने का दावा करने वाले ये नेता भी उनको पूछने नहीं आ रहे हैं। ये नेता भी भारतीय सेना की ही तरह राहत कार्यों के नाम पर मीडिया में फोटो खिंचवाने से अलग हटकर जनता के दुखों-तकलीफों से जुड़ने में असमर्थ रहे।

आज के दौर में दुनिया भर में राष्ट्रीयताओं की लड़ाई कमज़ोर हुई है। दुनिया के किसी भी हिस्से में आज बुर्जुआ वर्ग इतना रैडिकल नहीं रह गया है कि राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय की लड़ाई में जीत हासिल कर सके। कश्मीर में भी भारत जैसे ताक़तवर बुर्जुआ राज्यसत्ता से कश्मीरी बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में आत्मनिर्णय की लड़ाई में जीत हासिल करना संभव नहीं जान पड़ता। कश्मीरी बुर्जुआ वर्ग का एक बड़ा हिस्सा इस लड़ाई के दौरान ही भारतीय बुर्जुआ वर्ग द्वारा सहयोजित कर लिया गया। निम्न बुर्जुआ वर्ग का जो हिस्सा आज कश्मीर की जनता के संघर्ष का नेतृत्व कर रहा है वह भी इस्लामिक कट्टरपन्थ के पंककुण्ड में कूद पड़ने की अपनी इच्छा के चलते इस लड़ाई को कमज़ोर ही कर रहा है। लेकिन भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता के दमन और उत्पीड़न की वजह से कश्मीर की जनता में अलगाव आगे भी बढ़ेगा। नरेन्द्र मोदी सरकार की साम्प्रदायिक फ़ासिस्ट सरकार की नीतियाँ आने वाले दिनों में कश्मीरियों के भारत से अलगाव को और

ज़्यादा बढ़ायेगी। भारत और पाकिस्तान दोनों ही देशों की बुर्जुआ राजनीति में जिस तरीके से कश्मीर का प्रश्न राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है और जिस तरीके से दोनों देशों का तेज़ी से सैन्यकरण हो रहा है, ऐसे में बुर्जुआ व्यवस्था के दायरे में कश्मीर समस्या का कोई समाधान नज़र नहीं आता। इस जटिल समस्या का समाधान तो भारत में सर्वहारा क्रान्ति के बाद समाजवादी सरकार ही कर सकती है जो कश्मीर सहित सभी दमित और उत्पीड़न राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ एक समाजवादी संघ में शामिल होने के लिए उनके जनमानस को तैयार करेगी। परन्तु इसके लिए हमें सर्वहारा क्रान्ति आने तक इन्तज़ार नहीं करना चाहिए। सर्वहारा क्रान्ति के लिए संघर्षरत सभी लोगों को आज से ही कश्मीरी जनता के संघर्षों से एकता क़ायम करने की कोशिश करनी होगी और उनके बीच इस बात की पैठ बनानी होगी कि उनको आत्मनिर्णय का अधिकार एक सच्चे अर्थों में समाजवादी सत्ता ही दे सकती है। यानी कश्मीर सहित सभी राष्ट्रीयताओं के संघर्ष को भारत में सर्वहारा के संघर्ष से जोड़कर ही इस समस्या के वास्तविक समाधान की ओर बढ़ा जा सकता है।

"इसलिए, पुस्तक की चुप्पी कोई कमी नहीं है जिसे दुरुस्त किया जाना है, या कोई अनुपयुक्तता जिसका मुआवज़ा भरा जाना हो। यह कोई अस्थायी चुप्पी नहीं है जिसका अन्त में उन्मूलन हो सकता है। हमें इस चुप्पी की ज़रूरत को अलग करके देखना चाहिए। मिसाल के तौर पर, यह दिखलाया जा सकता है कि कई अर्थों को एक-दूसरे के बरक्स खड़ा किया जाना और उनके बीच का टकराव वह चीज़ है जो एक आमूलगामी अन्यता पैदा करती है, जो कि रचना को एक रूप-आकार प्रदान करती है: यह इस टकराव को हल नहीं करती है और न ही सोख लेती है, यह बस उसे प्रदर्शित कर देती है।"

– पियेर माशेरी ('ए थियरी ऑफ़ लिटररी प्रोडक्शन')

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

एक वैचारिक मुहिम, एक सांस्कृतिक अभियान

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फ़ुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। जनचेतना अब देश के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कलात्मक सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

हिन्दी क्षेत्र में यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ़ के बिना, समर्पित वालण्टियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

आइये, आप भी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।

मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फ़ोन : 0522-2786782 / 8853093555

अन्य केन्द्र

- 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर-273001, फ़ोन: 8738863640
- दिल्ली : 9971158783 • लुधियाना (पंजाब) फ़ोन : 09815587807
- ग़ाज़ियाबाद : 9654077902 • इलाहाबाद : 8115491369
- नियमित स्टॉल : कॉफ़ी हाउस के पास, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)

राहुल फाउण्डेशन, परिकल्पना प्रकाशन, अनुराग ट्रस्ट, शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन, दस्तक प्रकाशन और अरविन्द स्मृति न्यास की पुस्तकों के मुख्य वितरक। विस्तृत पुस्तक-सूची के लिए सम्पर्क करें या हमारी वेबसाइट देखें।

ईमेल : info@janchetnabooks.org

वेबसाइट : http://janchetnabooks.org

अरविन्द स्मृति न्यास के तीन महत्वपूर्ण प्रकाशन

अरविन्द स्मृति संगोष्ठियों में प्रस्तुत आलेखों के संकलन

(हिन्दी व अंग्रेज़ी में उपलब्ध)

इक्कीसवीं सदी में भारत का मज़दूर आन्दोलन : निरन्तरता और परिवर्तन, दिशा और सम्भावनाएँ, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Working Class Movement in India in the Twenty-first Century: Continuity and Change, Orientation and Possibilities, Problems and Challenges

मूल्यः 40 रुपये

भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलनः दिशा, समस्याएँ और चुनौतियाँ

Democratic Rights Movement in India: Orientation, Problems and Challenges

मूल्यः रु. 80

जाति प्रश्न और मार्क्सवाद

Caste Question and Marxism

मूल्यः रु. 150

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोनः (0522) 2786782, 8853093555, ईमेलः **info@janchetnabooks.org**

An Important Book from Rahul Foundation

Historical Writings

Karl Marx & Frederick Engels, ***2 Volumes***

These historical writings by Karl Marx and Frederick Engels were written immediately after the events of which they treat. On the basis of concrete material, Marx and Engels give striking examples of the materialist explanation of history. But the theoretical analysis of the events does not by any means exhaust the significance of these historical works. Marx's work as historical investigator is intimately bound up with the practical struggle of the proletariat. The writings and documents collected in this edition also give the reader sufficient material for studying the foundations of the theory and policy of scientific communism as created and developed by Marx and Engels.

Price: Rs. 700 (Set), Pages: 1248, ISBN 978-93-80303-58-1, 978-93-80303-59-8

For copies contact:

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow - 226020

Phone: 0522-2786782, 8853093555 Email: info@janchetnabooks.org

हिन्दी जगत के पाठकों के लिए एक बेहद ज़रूरी नयी पत्रिका

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

पिछले 25 वर्षों के दौरान, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जो बदलाव आये हैं, और इनमें जनसंचार माध्यमों, ख़ासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और 'नये मीडिया' का जो योगदान है, उस पर काफ़ी चर्चा होती रही है। सहमति और "असहमति" मैन्युफ़ैक्चर करने और विचार-निर्मिति के लिए शासक वर्गों के हाथों में यह एक बेहद प्रभावी हथियार है और इसकी प्रभाविता तथा पहुँच आज पहले से कई गुना बढ़ चुकी है। समाज के बौद्धिक तत्वों और उन्नत मस्तिष्कों को प्रभावित और अनुकूलित करने में इण्टरनेट-आधारित माध्यम बेहद कारगर साबित हो रहे हैं।

मीडिया की वैचारिकी पर आज काफ़ी काम हो रहा है, मार्क्सवादी दृष्टि से भी और 'उत्तर' सरणियों से पैदा हुई दृष्टि से भी। उन सभी की विवेचनाओं में जाना भी ज़रूरी है।

इस परिदृश्य में एक वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की ज़रूरत और चुनौतियाँ पहले से कहीं ज़्यादा हैं। लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक परिवर्तन की परियोजनाओं के एक अंग के तौर पर वैकल्पिक मीडिया का ताना-बाना खड़ा करने की व्यापक सम्भावनाएँ भी आज मौजूद हैं। इस दृष्टि से नये मीडिया की नयी सम्भावनाओं के अन्वेषण और उपयोग के साथ ही इसकी सीमाओं-समस्याओं को भी विचार के दायरे में लाना होगा।...

हिन्दी में सुनिश्चित लक्ष्य पर केन्द्रित ऐसी एक विशिष्ट पत्रिका की शिद्दत के साथ ज़रूरत महसूस होती रही है। इस ज़रूरत को पूरा करने की यह एक विनम्र कोशिश है।

पत्रिका के तीसरे अंक की सामग्री इस प्रकार है:

- कला-संस्कृति, शिक्षा एवं अकादमिक जगत पर भगवा फासिस्टों का बर्बर हमला
- साहित्य में अवसरवादी घटाटोप के सामाजिक-आर्थिक कारण
- विज्ञापन की राजनीति • बुर्जुआ समाज में खेल
- स्त्री आखेटकों के उत्सव, आचार और विचार
- पूँजीवाद का संकट और 'सुपर हीरो' व 'एंग्री यंग मैन' की वापसी (दूसरी किस्त)
- हान्स आइस्लर का लेख 'मज़दूर आन्दोलन और संगीत'
- नवसाम्राज्यवाद की रणनीति और नोबल पुरस्कारों के निहितार्थ
- गाब्रियल गार्सिया मार्खेज़ और एदुआर्दो गालियानो की याद
- फिल्म समीक्षा

सम्पादक: **कात्यायनी, सत्यम** मूल्य: 40 रुपये

वार्षिक सदस्यता : 160 रुपये (डाक व्यय अतिरिक्त), त्रैमासिक

सम्पादकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

ईमेल: naandipath@gmail.com, फोन: 9936650658 / 8853093555

वेबसाइट: http://naandipath.in फेसबुक: www.facebook.com/naandipath

Disha Sandhan October-December 2015
RNI Title Code: UPHIN43949

"चीखते-चिल्लाते महत्वोन्मादियों, गुण्डों, शैतानों और स्वेच्छाचारियों की यह फ़ौज जो फासीवाद के ऊपरी आवरण का निर्माण करती है, उसके पीछे वित्तीय पूँजीवाद के अगुवा बैठे हैं, जो बहुत ही शान्त भाव, साफ़ सोच और बुद्धिमानी के साथ इस फ़ौज का संचालन करते हैं और इनका ख़र्चा उठाते हैं। फासीवाद के शोर-शराबे और काल्पनिक विचारधारा की जगह उसके पीछे काम करने वाली यही प्रणाली हमारी चिन्ता का विषय है। और इसकी विचारधारा को लेकर जो भारी-भरकम बातें कही जा रही हैं उनका महत्व पहली बात, यानी घनघोर संकट की स्थितियों में कमज़ोर होते पूँजीवाद को टिकाये रहने की असली कार्यप्रणाली के सन्दर्भ में ही है।"

– रजनी पाम दत्त

जनवरी-मार्च 2017
अंक 4 100 रुपये

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

अक्टूबर क्रान्ति के शतवार्षिकी वर्ष के आरम्भ के अवसर पर

"जब क्रान्ति फूट पड़ी हो और चढ़ाव पर हो,
जब सभी लोग क्रान्ति में शामिल हो रहे हों
सिर्फ़ इसलिए कि वे उसमें बह गये हैं,
क्योंकि यह चलन में है, और कभी-कभी
करियरवादी मंशाओं से भी, उस समय
क्रान्तिकारी होना मुश्किल नहीं होता। जब
प्रत्यक्ष, खुले, वास्तव में व्यापक और वास्तव
में क्रान्तिकारी संघर्ष की स्थितियाँ अभी
अस्तित्व में न आयी हों, उस समय
क्रान्तिकारी होना कहीं ज़्यादा मुश्किल – और
कहीं ज़्यादा मूल्यवान – होता है।"

– लेनिन

("वामपन्थी" कम्युनिज़्म : एक बचकाना मर्ज़)

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

4

जनवरी-मार्च 2017

4

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

जनवरी-मार्च 2017

सम्पादक

कात्यायनी/सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :
69 ए-1, बाबा का पुरवा
पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 9936650658/8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

प्रति अंक : 100 रुपये
वार्षिक सदस्यता : 400 रुपये (डाकख़र्च 160 रुपये)
आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क **'दिशा सन्धान'** (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता ज़रूर बता दें।
चालू खाता सं. 076200219003644
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,
आईएफएससी कोड : PUNB0076200

●

सम्पादन-संचालन पूर्णत: अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा क्रिएटिव प्रिंटर्स, 628/5-28, शक्तिनगर, लखनऊ द्वारा मुद्रित

इस अंक में

सम्पादकीय की एवज़ में

'रुग्ण लक्षणों' का यह समय और हमारे कार्यभार 5

आपकी बात **11**

विशेष लेख

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव :
इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ
(चौथी किस्त) — *अभिनव सिन्हा* 13

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन
(तीसरी किस्त) — *दीपायन बोस* 101

समकालीन

माकपा के भीतर फ़ासीवाद पर बहस चुनावी जोड़-जुगाड़
के लिए सामाजिक जनवाद की बेशर्म क़वायद
— *आनन्द सिंह* **115**

मोदी सरकार द्वारा नोटबन्दी का राजनीतिक अर्थशास्त्र
— *शिशिर* **121**

मराठा मूक मोर्चों के पीछे मौजूद सामाजिक, आर्थिक
और राजनीतिक गतिकी : एक मूल्यांकन
— *शिवार्थ* **131**

अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव - डोनाल्ड ट्रम्प की जीत
के निहितार्थ — *आनन्द सिंह* **143**

फ़िलीपींस में दुतेर्ते परिघटना और उसके निहितार्थ
— *तुहिन दास* **151**

'रुग्ण लक्षणों' का यह समय और हमारे कार्यभार

2017 की शुरुआत में हम 'दिशा सन्धान' के चौथे अंक के साथ आपके बीच उपस्थित हैं। पिछले तीन अंकों को देश भर में पाठकों से उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया मिली है। लेकिन समय पर पत्रिका उपलब्ध कराने की प्रतिबद्धता पर अभी तक हम अमल नहीं कर पाये हैं और बार-बार इसके लिए क्षमा माँगने की बजाय हम यह प्रतिबद्धता फिर से दोहरायेंगे कि पाँचवाँ अंक आपके पास वक़्त पर पहुँचा सकें। जिस समय हम आपके बीच चौथे अंक को लेकर आये हैं, उसके बारे में अन्तोनियो ग्राम्शी का यह कथन कमोबेश लागू किया जा सकता है, "संकट ठीक इस बात में अन्तर्निहित है कि जो पुराना है वह मर रहा है लेकिन नया जन्म नहीं ले पा रहा है; इस अन्तर्काल में तमाम किस्म के रुग्ण लक्षण जन्म लेते हैं।" कई मायनों में आज के समय के बारे में यह कथन सही बैठता है। विश्व पूँजीवाद अभूतपूर्व संकट में घिरा हुआ है जो कि पिछले लगभग एक दशक से जाने का नाम नहीं ले रहा है। यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है आज का संकट कई मामलों में पुराने संकटों से भिन्न है। यह कहीं ज़्यादा गहरा संकट है और इस संकट के बाद किसी वास्तविक आर्थिक तेज़ी का दौर नहीं आने वाला है, जैसा कि पिछली सदी के पूर्वार्द्ध के आर्थिक संकटों के बाद हुआ था। यह अन्तकारी संरचनात्मक संकट है। इस संकट के राजनीतिक नतीजे पिछले कुछ वर्षों में ज़्यादा अभिव्यक्त रूप में सामने आने लगे हैं।

विश्व पैमाने पर ब्रेक्ज़िट, अमेरिका में ट्रम्प का चुनाव, यूरोप के तमाम देशों में धुर-दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया और अर्द्ध-फ़ासीवादी

राजनीति का उभार, सामाजिक-जनवाद और सुधारवाद की असफलता और उसका बेनकाब होना (मसलन, सिरिज़ा), फ़िलिप्पींस में दुतेर्ते का सत्ता में आना, मध्य-पूर्व में, विशेषकर सीरिया में उस बर्बरता की झलकें मिलना, जिसकी बात रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने की थी जब उन्होंने कहा था कि मानवता के पास दो ही रास्ते हैं, समाजवाद या बर्बरता, यह दिखला रहा है कि विश्व पूँजीवादी व्यवस्था आज किस स्थिति में है। वहीं भारत में फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा जनता के जीने के हक़ों और नागरिक और जनवादी अधिकारों पर लगातार किये जा रहे हमले, लगातार मज़दूरों के अधिकारों को योजनाबद्ध तरीक़े से छीना जाना, स्वतन्त्र चिन्तन करने वाले रैडिकल व जनपक्षधर बुद्धिजीवियों पर हमले और उनके लिए एक सतत् आतंक का माहौल क़ायम करना, देश में अन्धराष्ट्रवाद का माहौल तैयार करना और हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को राजकीय या ग़ैर-राजकीय तानाशाही द्वारा कुचला जाना वास्तव में व्यवस्था के राजनीतिक व आर्थिक संकट को ही दिखला रहा है। किसी भी सूरत में यह कहा जा सकता है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने आर्थिक और राजनीतिक संकट में बुरी तरह घिरी हुई है और जनता के अधिकारों पर अपने हमलों को हताशा में बढ़ाती जा रही है।

अभूतपूर्व ढाँचागत आर्थिक संकट के कारण साम्राज्यवादी समीकरणों में परिवर्तन आ रहे हैं। एक ओर सीरिया में अलेप्पो में हार अमेरिकी साम्राज्यवादियों और उनके द्वारा पाले गये आईएस, अलनुसरा जैसी इस्लामिक कट्टरपन्थी ताक़तों की निर्णायक हार है। अगर द्वितीय इराक़ युद्ध से मध्य-पूर्व में अमेरिकी वर्चस्व की स्थिति को देखें तो दावे से कहा जा सकता है कि यह बहुत अच्छी स्थिति नहीं है। अमेरिका के विकल्प मध्य-पूर्व में लगातार घट रहे हैं। सऊदी अरब और क़तर को छोड़ दें तो अमेरिका के पास इस समय मध्य-पूर्व में ज़्यादा विकल्प नहीं हैं। यह सच है कि तुर्की उसे बीच-बीच में मध्य-पूर्व में मदद पहुँचाता रहा है, लेकिन उसके साथ भी अमेरिका के रिश्ते एर्दोआन के तख्तापलट के प्रयास के बाद से तनावपूर्ण हैं और तुर्की ने विदेश नीति में कहीं ज़्यादा स्वतन्त्र और स्वायत्त बर्ताव करना शुरू कर दिया है। द्वितीय इराक़ युद्ध में अमेरिका का मक़सद ही यही था कि सद्दाम हुसैन का तख्तापलट कर कोई ऐसा शासन लाया जाये जो कि मध्य-पूर्व में सऊदी अरब और क़तर जैसी राजशाहियों पर अमेरिकी निर्भरता को कम कर दे। लेकिन इराक़ युद्ध के अन्त में अमेरिका एक तो बहुत बेआबरू होकर वहाँ से रुख़सत हुआ और वह भी एक ऐसे शासन के सत्ता में आने के साथ जो कि अमेरिकी साम्राज्यवादी हितों की बजाय ईरान, सीरिया और हिज़बुल्ला से क़रीबी रखता था। नतीजतन, अमेरिका ने दूसरा प्रयास सीरिया में किया कि असद की सत्ता को गिराया जा सके। वह प्रयास भी रूस, ईरान और हिज़बुल्ला के साथ आने और साथ ही चीन द्वारा इस युद्ध में रूसी धुरी का पक्ष लिये जाने के कारण बेकार हो चुका है। यह सच है कि असद की सत्ता एक दमनकारी सत्ता थी, लेकिन फिर भी वह कई पुरानी बाथिस्ट नीतियों को लागू करता था जिसमें कि कई कल्याणकारी नीतियाँ थीं। इसके कारण जब अमेरिकी साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और अलनुसरा व आईएस जैसी ताक़तों ने सीरिया में युद्ध की शुरुआत की तो जनता का बड़ा हिस्सा असद शासन के साथ खड़ा हुआ। रूसी हस्तक्षेप के पीछे

निश्चित तौर पर रूसी साम्राज्यवाद के अपने हित हैं। लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं है कि रूस के प्रभावी हस्तक्षेप के समक्ष अमेरिका ज़्यादा कुछ नहीं कर पाया। सीरिया में 'नो फ़्लाई ज़ोन' बनाने, जिसका अर्थ होता रूस से सीधे युद्ध मोल लेना, के तमाम शोर के बावजूद अन्त में अमेरिकी साम्राज्यवाद को सीरिया में मुँह की खानी पड़ी और क़दम पीछे हटाने पड़े।

यह वस्तुगत और ऐतिहासिक तौर पर एक सकारात्मक है। आर्थिक और राजनीतिक संकट के कारण जब विश्व पूँजीवाद के साम्राज्यवादी समीकरणों में कोई बदलाव आता है, उसी समय क्रान्तिकारी हस्तक्षेप की सम्भावनाएँ भी जन्म लेती हैं। इस रूप में अमेरिकी साम्राज्यवाद की मध्यपूर्व में कमज़ोर होती पकड़ और रूसी-चीनी धुरी का मध्य-पूर्व में ज़्यादा 'एसर्टिव' होना और सीरिया, ईरान और हिज़बुल्ला से मिलकर अमेरिकी सऊदी-क़तर गठजोड़ के समक्ष एक चुनौती खड़ा करना आने वाले समय में तमाम सम्भावनाएँ पैदा कर सकता है, जिसके बारे में अभी दावे से कुछ कहा नहीं जा सकता, सिवाय इसके कि यह परिवर्तन वस्तुगत तौर पर सकारात्मक होगा। इसका क़तई यह अर्थ नहीं कि एक साम्राज्यवाद की जगह दूसरे साम्राज्यवाद को चुना जाये। इसका केवल एक अर्थ है कि बढ़ती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा आने वाले समय में किसी क्रान्तिकारी 'इवेण्ट' की सुषुप्त सम्भावना-सम्पन्नताओं को जन्म दे सकता है। यह इतिहास में प्रगतिशील हस्तक्षेप के लिए एक 'स्पेस' तैयार कर सकता है। ठीक यही बात एक दूसरे सन्दर्भ में ट्रम्प के चुनाव के बारे में कही जा सकती है। सभी जानते हैं कि हिलेरी क्लिण्टन अमेरिकी कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद की आम सहमति से चुनी हुई प्रतिनिधि थी। यह भी सभी ने देखा कि पूरा का पूरा कॉरपोरेट मीडिया किस तरह से हिलेरी क्लिण्टन के पक्ष में जनता की राय का निर्माण करने का काम कर रहा था। लेकिन इसके बावजूद क्लिण्टन चुनाव हार गयी। इसको देखकर एक मायने में ख़ुशी ही हुई क्योंकि हिलेरी क्लिण्टन जितनी बेशर्मी, रुग्णता और नग्नता के साथ साम्राज्यवादी हमलों और क़त्ले-आम को सही ठहराती थी, जिस बेशर्मी से झूठ बोलती थी और जिस ढिठाई के साथ अपने इन कुकर्मों के बेनकाब होने के बाद भी अपने 'नियोकॉन' एजेण्डे पर काम जारी रखती थी, उसे देखकर किसी भी व्यक्ति को घृणा होगी। यह महान अमेरिकी पूँजीवादी जनवाद का चमत्कार ही कहा जायेगा कि हिलेरी क्लिण्टन के विकल्प के तौर पर उसने जनता के सामने एक धुर दक्षिणपन्थी, पैथोलॉजिकल तौर पर स्त्री विरोधी, प्रवासी विरोधी और अश्वेत विरोधी, श्वेत श्रेष्ठतावादी अर्द्धजोकर को रखा था, यानी डोनाल्ड ट्रम्प। इसमें कौन ज़्यादा बुरा है, यह बताना वाक़ई मुश्किल होगा। लेकिन इतना ज़रूर है कि अमेरिकी बड़े पूँजीपति वर्ग द्वारा चुना गया उम्मीदवार कॉरपोरेट मीडिया द्वारा उसके पक्ष में सतत् प्रचार के बावजूद हार गया। इसका कारण यह है कि संकट के दौर में पूँजीवादी व्यवस्था की वर्चस्व की मशीनरी और प्रणालियाँ सही तरीक़े से काम नहीं करतीं। ट्रम्प की जीत भी एक ऐसा 'इवेण्ट' है, जो कि प्रगतिशील ताक़तों के लिए अमेरिका में कुछ सुषुप्त सम्भावना-सम्पन्नताएँ पैदा करता है। निश्चित तौर पर, ट्रम्प की जीत के बाद अमेरिकी समाज में नस्लवादी शक्तियों की आक्रामकता स्वत:स्फूर्त रूप से बढ़ी है। वे आत्मविश्वास में हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि उनका उम्मीदवार जीत

गया है। लेकिन ट्रम्प की जीत के पीछे मात्र नस्लवाद और पुरुष श्रेष्ठतावाद नहीं खड़ा था, बल्कि उस श्वेत मज़दूर वर्ग का असन्तोष भी खड़ा था जो कि संकट के दौर में उस संरक्षणात्मक आवरण से वंचित होता जा रहा है, जो कि शीर्ष साम्राज्यवादी देश में रहने के कारण उसे मिला हुआ था। आर्थिक संकट के दौर में बुश व विशेषकर ओबामा प्रशासन के दौरान शिक्षा, चिकित्सा और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में जो कल्याणकारी नीतियाँ अमेरिकी मज़दूर वर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को मिली हुई थीं, वे सब एक-एक करके छीनी जा रही थीं। एक युवा श्वेत अमेरिकी मज़दूर के लिए यह अभूतपूर्व था और उसे लगता था कि ऐसा कभी नहीं होगा। लेकिन यह सपना अब टूट रहा था। ऐसे में, एक असन्तुष्ट और मोहभंग का शिकार अमेरिकी मज़दूर वर्ग और निम्न मध्य वर्ग प्रकट हो चुका था जो कि डेमोक्रैट्स के बुर्जुआ उदारवादी जुमलों से ऊब चुका था। अमेरिकी वामपन्थी आन्दोलन इस असन्तोष और मोहभंग को प्रगतिशील दिशा देने की स्थिति में ही नहीं था। अमेरिकी वाम का बड़ा हिस्सा वैसे भी डेमोक्रैटिक पार्टी के "लेफ़्ट विंग" की भूमिका अदा करने से ज़्यादा औकात नहीं रखता है। क्रान्तिकारी वाम अपनी अलग कमज़ोरियों के कारण इस वर्ग में आधार बना पाने की स्थिति में नहीं था। ऐसे में, संकट द्वारा पैदा की गयी इस सम्भावना को एक रोगात्मक (पैथोलॉजिकल) तौर पर धुर दक्षिणपन्थी रिपब्लिकन नेता ने सहयोजित कर लिया, यानी डोनाल्ड ट्रम्प ने। डोनाल्ड ट्रम्प के लिए बहुत से लोग 'फ़ासीवादी' शब्द का इस्तेमाल करते हैं, जो कि उसी पुरानी बचकानी प्रवृत्ति का परिचायक है जो कि हर धुर दक्षिणपन्थी बुर्जुआ प्रतिक्रिया को फ़ासीवाद की संज्ञा देता है। ट्रम्प के पीछे कोई प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन, कोई सुनियोजित व सुगठित फ़ासीवादी विचारधारा या कोई फ़ासीवादी काडर आधारित संगठन नहीं है। ट्रम्प एक धुर दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी है जिसने आर्थिक संकट के दौर में पैदा हुए मोहभंग की लहर पर सवारी करते हुए चुनाव में जीत हासिल की है। आगे ट्रम्प को अमेरिकी बुर्जुआ वर्ग के हितों के अनुसार एक हद तक अनुशासित भी होना पड़ेगा, जिसके चिन्ह और लक्षण अभी से ही दिखने लगे हैं। साथ ही, ट्रम्प अपनी घरेलू नीति में ज़्यादा ग़ैर-जनवादी और रूढ़िवादी हो सकता है। लेकिन विदेश नीति में ट्रम्प कुछ मायनों में हिलेरी क्लिण्टन से अलग साबित हो सकता है, जिसके संकेत इस बात से मिलने लगे हैं कि वह रूस से कोई सीधा टकराव नहीं मोल लेना चाहता है। लेकिन साथ ही, हिलेरी क्लिण्टन के विपरीत, ट्रम्प ने इराक़ में दोबारा हस्तक्षेप करने की मंशा जताई है। आगे ट्रम्प क्या करेगा यह सही-सही बता पाना मुश्किल है क्योंकि अमेरिका बुर्जुआजी के लिए भी वह एक हद तक अज्ञात चर राशि है। लेकिन कुल मिलाकर यह ज़रूर कहा जा सकता है कि ट्रम्प के सत्ता में आने के साथ साम्राज्यवादी समीकरणों में बदलाव सुनिश्चित है। यह सम्भावित परिवर्तन एक बार फिर इतिहास के मौजूदा दौर में एक सम्भावना, एक 'स्पेस' को पैदा करेगा और इस रूप में सकारात्मक है कि यह पुरानी निरन्तरता और यथास्थिति के टूटने का एक लक्षण होगा।

हमारे देश में भी हालात तरल हैं और आने वाले समय की सम्भावनाओं की ओर इशारा कर रहे हैं। क्रान्तिकारी जमातों में हताशा के दौर में यह प्रवृत्ति होती है कि वे शासक वर्ग की ग़लतियों

के पीछे भी कोई गहरी युक्तिपूर्ण चाल और 'ग्रैण्ड ईविल डिज़ाइन' खोजने की कोशिश करते हैं। मोदी द्वारा नोटबन्दी के मामले में भी यह बात लागू होती है। यह स्पष्ट है कि नोटबन्दी का क़दम मूलत: एक आर्थिक नहीं बल्कि राजनीतिक क़दम था जिसमें कि मोदी को यह उम्मीद थी कि इस प्रकार के अचम्भित कर देने वाले और चौंका देने वाले क़दम से वह जनता का ध्यान अपनी नाकामियों से हटाकर अपनी एक मज़बूत नेता की छवि पर ले आयेगा जो साहसिक क़दम उठाने से घबराता नहीं है। 8 नवम्बर के तत्काल बाद मोदी का गुणगान करने वाले कॉरपोरेट मीडिया के अथक प्रयासों से कुछ समय के लिए ऐसा लग रहा था कि मोदी इसमें कामयाब हो सकता है। लेकिन यह पूरा क़दम इतनी मूर्खतापूर्ण तरीक़े से और बिना तैयारी के उठाया गया था कि एक माह बीतते-बीतते मोदी सरकार के प्रति असन्तोष बढ़ने लगा। यह सम्पादकीय टिप्पणी लिखे जाने के समय तक मोदी और भाजपा की प्रतिक्रियाओं में भी एक बदहवासी नज़र आने लगी है, जो कि उनके 'अनसेटल' होने को दिखला रही है। व्यापक जनता में यह स्पष्ट हो रहा है कि मोदी का क़दम जनविरोधी और विशेष तौर पर ग़रीब-विरोधी और मज़दूर-विरोधी है। इस स्थिति ने भारत में फ़ासीवाद-विरोधी मुहिम को सशक्त बनाने और मोदी सरकार और कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध जनसमुदायों को जागृत, गोलबन्द और संगठित करने की एक सम्भावना पैदा की है।

अन्य देशों में भी दक्षिणपन्थी सत्ताओं के उभार और सामाजिक-जनवाद और सुधारवाद की असफलता और ग़द्दारी के सामने आने के साथ ऐसी सम्भावनाएँ पैदा हो रही हैं। लेकिन हमारे देश में और अन्य देशों में भी ये सम्भावना-सम्पन्नताएँ सुषुप्त रूप में मौजूद हैं और इनके किसी प्रगतिशील दिशा में वास्तवीकरण के लिए क्रान्तिकारी 'सब्जेक्टिविटी' के हस्तक्षेप की आवश्यकता है। क्रान्ति की मनोगत शक्तियों की स्थिति ज़्यादातर स्थानों पर संकटग्रस्त है। इस संकट के कारणों पर हम पहले के अंकों में चर्चा कर चुके हैं लेकिन यहाँ उनका हम संक्षेप में ज़िक्र करेंगे। इन कारणों में से प्रमुख हैं मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के क्रान्तिकारी उसूलों की अनुपयुक्त समझदारी, क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट व मज़दूर आन्दोलन में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और विभिन्न प्रकार के ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद का असर, रैडिकल व जनपक्षधर बौद्धिक हलक़ों के बीच उत्तर-मार्क्सवादी विचार-सरणियों का प्रभाव और क्रान्ति के कार्यक्रम के प्रश्न पर 'सेमी-फ़्यूडल सेमी-कलोनियल ऑर्थोडॉक्सी' (अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक सैद्धान्तिकीकरण की कट्टरता और परम्परानिष्ठता) का असर और लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों पर समझौता करने की प्रवृत्ति। जहाँ तक हमें जानकारी है, अलग-अलग रूपों में ये सभी या इनमें से कुछ विजातीय प्रवृत्तियाँ लगभग उन सभी देशों के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद हैं जिन्हें आज के दौर में साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की 'कमज़ोर कड़ी' या 'हॉट स्पॉट्स टर्निंग इण्टू फ़्लैश पॉइण्ट्स' कहा जा सकता है। कुछ देशों में इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने वाली क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट धाराएँ हैं, मगर उनका प्रभाव और विस्तार अभी बेहद सीमित है।

ऐसी स्थिति में इस बात की भी गुंजाइश है कि मौजूदा आर्थिक और राजनीतिक संकट के कारण पैदा हुई सम्भावना-सम्पन्नताओं को प्रगतिशील रूप से वास्तवीकृत कर पाने में ये ताक़तें सफल

न हों या वक़्त रहते इसमें सक्षम न बन पायें। उस सूरत में, जैसा कि लेनिन ने कहा था, 'इतिहास कभी स्थिर नहीं खड़ा रहता', इस दौर में भी इतिहास स्थिर नहीं खड़ा रहेगा। ये सम्भावनाएँ बेकार जा सकती हैं और उस सूरत में इनका वास्तवीकरण प्रतिक्रियावादी और प्रतिक्रान्तिकारी तौर पर होगा। ऐसे में हम किसी और ज़्यादा प्रतिक्रियावादी दौर के साक्षी बनेंगे, जिसमें मज़दूर आन्दोलन पर और भी ज़्यादा बर्बर हमले कर उसका ध्वंस किया जायेगा, जनवादी और नागरिक अधिकारों का नग्नता से हनन किया जायेगा, साम्राज्यवादी युद्ध बर्बरता के नये रूपों को जन्म देगा और पूँजीवाद दुनिया को और समूची मानव सभ्यता को बर्बादी की कगार पर ले जायेगा। हम निश्चित तौर पर इस क्रान्तिकारी आशावाद के हामी हैं कि ऐसी स्थिति के पैदा होने से पहले दुनिया के उन तमाम देशों में क्रान्ति का ज्वार उठेगा जो साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के शोषण, उत्पीड़न, लूट और दमन का सबसे बुरी तरह से शिकार हैं। ग्राम्शी ने जब कहा था कि 'मैं बुद्धि से निराशावादी हूँ और इच्छाशक्ति से आशावादी" तो उनका अर्थ था कि दुनिया के विश्लेषण को करते समय हमें पूर्ण रूप से वस्तुपरक, मनोगतता से मुक्त, आवेगहीन होना चाहिए लेकिन इस विश्लेषण के तौर पर निकलने वाले नतीजों के आधार पर हमें मुश्किल और जटिल (असम्भव दिखने वाले) कार्यभारों को साहसिकता से हाथ में लेना चाहिए। आज भी इसकी ज़रूरत है, अन्यथा हम बुद्धि और तर्क के मामले में आशावादी और आज के दौर के मुश्किल और जटिल कार्यभारों का निर्वाह करने के मामले में निराशावादी सिद्ध होंगे।

आपकी बात

सोवियत इतिहास पर जारी लेख की तीसरी किश्त अभी पढ़कर ख़त्म की। पिछले 4 दिनों से इसी में लगा था। पिछले अंक में चार्ल्स बेतेलहाइम पर लिखने का ज़िक्र करके आपने मेरी उत्सुकता और बढ़ा दी थी। हिन्दी में तो बेतेलहाइम पर गम्भीर आलोचनात्मक सामग्री मेरी नज़र में नहीं के बराबर है, अंग्रेज़ी में भी मैंने उनके विचारों का ऐसा विस्तृत और सारगर्भित विवेचन कहीं नहीं देखा है। मेरे लिए बहुत सी बातें आँखें खोलने वाली हैं, या सटीक ढंग से कहूँ तो चीज़ों को देखने की एक नयी दृष्टि देने वाली हैं। आपने बिल्कुल ठीक लिखा है कि बेतेलहाइम की रचनाओं का दुनिया के माओवादी आन्दोलन में व्यापक प्रभाव है। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में मार्क्सवाद के गम्भीर अध्ययन के प्रति एक प्रकार का शत्रु भाव बना रहा है, और जो पढ़ते हैं उनमें से ज़्यादातर पल्लवग्राहिता से आगे नहीं जाते। कुछ लोग हो सकता है वाकई में गम्भीरता से पढ़ते हों लेकिन उनकी स्वान्त:सुखाय पढ़ाई से आन्दोलन या हम जैसे जिज्ञासुओं को तो कोई लाभ नहीं मिलता। अगले अध्यायों की आतुरता से प्रतीक्षा है। कहने की ज़रूरत नहीं कि सोवियत इतिहास की इस व्यापक और गहरी जाँच-पड़ताल से भावी समाजवादी क्रान्तियों के लिए बहुत ज़रूरी सबक़ निकलेंगे जिन पर गहरे सोच-विचार की ज़रूरत है। मुझे लगता है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन की आज की समस्याओं को समझने के लिए भी इतिहास की इन समस्याओं पर गहन चिन्तन-मनन की ज़रूरत है। सम्पादकों से एक अनुरोध यह है कि इस प्रकार के लेखों के साथ यदि स्रोत सामग्री के सन्दर्भ भी उपलब्ध कराये जायें तो बहुत उपयोगी होगा।

— शरदेन्दु चौधरी, नई दिल्ली

'दिशा सन्धान' का तीसरा अंक मेरे हाथ कुछ दिन पहले लगा। इसके बाद मैंने आपकी वेबसाइट से पिछले अंकों के भी कई लेख पढ़े। बिला शक, ऐसी सीरियस और मौलिक मार्क्सवादी पत्रिका

की आज बहुत ज़रूरत है। 'वामपन्थी आन्दोलन के सामने कुछ विचारणीय प्रश्न' लेख में मैंने शायद पहली बार प्रो. रणधीर सिंह के विचारों की एक मार्क्सवादी आलोचना पढ़ी। बेशक उनके व्यक्तित्व और उनके काम का हम सब गहरा सम्मान करते हैं, लेकिन उनके बहुत से विचारों, ख़ासकर समाजवादी समाज की समस्याओं के उनके विश्लेषण में भारी समस्याएँ रही हैं। उनके विचारों का काफ़ी प्रभाव भी रहा है, नेपाल में माओवादी पार्टी के नेतृत्व के कुछ लोग तो उनसे बहुत ही ज़्यादा प्रभावित थे। मगर उनके विचारों के साथ कोई पॉलिमिक्स नहीं चली है। सोवियत समाजवाद पर लम्बी लेखमाला और तैयारी के साथ अध्ययन की माँग करती है। मगर तीनों कड़ियों के विषयों को देखकर मुझे यह कहने में कोई गुरेज़ नहीं कि इसे भारत में वाम बौद्धिक सर्किलों में ज़रूर पढ़ा जाना चाहिए और इस पर बहस होनी चाहिए। हालाँकि ऐसा होने के प्रति मैं बहुत आशावान नहीं हूँ।

— सन्त प्रकाश, मुम्बई

आपकी पत्रिका में नक्सलबाड़ी के इतिहास पर दोनों किश्तें मैं पढ़ चुका हूँ। इस अंक में मोदी की जीत पर रवि सिन्हा के लेख के बहाने फासीवाद विरोधी आन्दोलन पर की गयी विस्तृत चर्चा के अधिकांश बिन्दुओं से मैं सहमत हूँ। सही वैज्ञानिक समझ के बग़ैर फासीवाद से की गयी तमाम लड़ाइयों का हश्र हम पहले देख चुके हैं। आईएस व पश्चिम एशिया के संकट और कश्मीर पर शामिल आलेख भी बहुत तथ्यपूर्ण और विचारोत्तेजक हैं। यूनान में सीरिज़ा का विश्लेषण भी बिल्कुल कन्विंसिंग है, हालाँकि मेरे कई वाम मित्र उसके प्रशंसक हैं।

— ज़ेड. बर्नी, मुंगेर

सम्पादक द्वय से मेरा बस इतना निवेदन है कि इतनी महत्वपूर्ण पत्रिका में भाषा और शब्दों के मानकीकरण पर अगर ध्यान दे सकें तो बहुत अच्छा होगा। जैसे, चे ग्वेरा, एलेन बेज्यू, त्रात्स्की आदि नाम अलग-अलग ढंग से लिखे मिलते हैं। हिन्दी में विदेशी नामों, उच्चारणों को लेकर बहुत ढीला-ढाला रवैया रहा है। मार्क्सवादी शब्दावली के प्रति भी ऐसा ही रुख़ रहा है। अगर इधर भी आप लोग ध्यान दे सकें तो अच्छा होगा। आप लोगों से उम्मीद है, इसलिए यह अनुरोध कर रहा हूँ।

— केशव सेन

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव : इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

● अभिनव सिन्हा

(चौथी किस्त)

अध्याय V.

दो क्रान्तियों के बीच

फ़रवरी क्रान्ति के बाद का दौर बेहद उथल-पुथल का दौर था। कहा जा सकता है कि इस दौर में कई वर्षों के परिवर्तन कुछ महीनों में हो गये, जैसा कि क्रान्तिकारी दौरों में हुआ करता है। पिछले अध्याय में हमने चर्चा की थी कि किस तरह सर्वहारा वर्ग ने राजनीतिक चेतना, संगठन और पहलक़दमी की कमी के चलते ज़ार का तख्ता पलटने के बाद सत्ता अपने हाथों में लेने की बजाय स्वेच्छा से उसे दूमा के हाथों सौंप दिया। लेनिन ने इस विषय में लिखा है कि लाखों की तादाद में मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनसमुदाय ज़ारशाही, साम्राज्यवादी युद्ध और आर्थिक विघटन के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था और वह राजनीतिक कार्रवाई में हिस्सा लेने लगा था। लेकिन रूस में आम मेहनतकश जनसमुदायों का बड़ा हिस्सा

टटपुँजिया आबादी का था। 40 प्रतिशत मज़दूर मोर्चे पर भेज दिये गये थे और सैन्य भर्ती से बचने के लिए कई छोटे मालिक, दुकानदार और दस्तकार कारख़ानों में काम करने लगे थे और मज़दूर आबादी में शामिल हो गये थे। सर्वहारा चेतना इनके लिए एक परायी चीज़ थी। यही कारण था कि सर्वहारा वर्ग का संगठन और चेतना फ़रवरी क्रान्ति के वक़्त इस स्थिति में नहीं थे कि सत्ता अपने हाथों में ले सकें। उन पर निम्न-पूँजीवादी विचारों का वर्चस्व बना हुआ था। लेनिन लिखते हैं :

"एक विराट निम्न पूँजीवादी लहर हर चीज़ पर छा गयी है। और उसने न सिर्फ़ तादाद से बल्कि विचारधारा से भी वर्ग-चेतन सर्वहारा को मोह लिया है। उसने मज़दूरों के बहुत बड़े हिस्से को निम्न-पूँजीवादी राजनीतिक दृष्टिकोण की छूत लगा दी है और उसके मन में यह दृष्टिकोण बिठा दिया है।" (लेनिन, 2003, **'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास'** में उद्धृत, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ, पृ. 182)

इस वस्तुगत कारक के अलावा, इसके लिए काफ़ी हद तक सोवियतों में मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों का हावी होना भी ज़िम्मेदार था। बोल्शेविक उस समय तक सोवियतों में बहुमत में नहीं थे। फ़रवरी क्रान्ति में बुर्जुआ दूमा, मुख्यत: उस समय तक उदार, बुर्जुआ कैडेट पार्टी के हाथों में सत्ता जाने के बावजूद, फ़रवरी क्रान्ति ने एक ऐसी प्रक्रिया की शुरुआत कर दी थी, जिसे बुर्जुआ वर्ग भी अपने मनचाहे नियन्त्रण में नहीं रख सकता था। फ़रवरी क्रान्ति के दौरान जो सोवियतें अस्तित्व में आयीं, वे सोवियतें बुर्जुआ आरज़ी सरकार के गठन के बाद भंग नहीं हुईं बल्कि क़ायम रहीं। पेत्रोग्राद सोवियत की मान्यता मज़दूरों और सैनिकों में फ़रवरी क्रान्ति के बाद बनी बुर्जुआ आरज़ी सरकार से ज़्यादा थी और वे उसके फ़ैसलों को ज़्यादा मानते थे। नतीजतन, एक 'दोहरी सत्ता' अस्तित्व में आ चुकी थी। इस 'दोहरी सत्ता' के दबाव में बुर्जुआ आरज़ी सरकार को तमाम राजनीतिक कैदियों को छोड़ना पड़ा, जिसमें अधिकांश बोल्शेविक थे और साथ ही कुछ अन्य जनवादी व नागरिक अधिकारों को भी लागू करना पड़ा। आरज़ी सरकार द्वारा राजतन्त्र से समझौते के सारे प्रयास सोवियतों की आंशिक सत्ता के कारण ही असफल हो गये। साथ ही, आरज़ी सरकार विद्रोही सैनिकों व मज़दूरों से शस्त्र भी नहीं रखवा सकी, जो कि उन्होंने फ़रवरी क्रान्ति के दौरान पुलिस व अन्य सशस्त्र बलों से हथिया लिये थे।

इस 'दोहरी सत्ता' की विशिष्ट स्थिति को लेनिन ने समझा और उसके अनुसार बोल्शेविक पार्टी की कार्यदिशा प्रस्तावित की। ऐसा नहीं था कि लेनिन के साहसिक प्रस्तावों को पार्टी ने सहजता से स्वीकार कर लिया। मार्च में 'सुदूर से पत्र' और फिर अप्रैल में लेनिन द्वारा प्रस्तावित 'अप्रैल थीसीज़' वे प्रमुख लेखन हैं जिनमें हम लेनिन द्वारा हर दिन बदलती परिस्थितियों के द्वन्द्वात्मक मूल्यांकन को देख सकते हैं। ये वे प्रमुख रचनाएँ हैं जिनमें लेनिन फ़रवरी क्रान्ति के बाद हुए परिवर्तनों के अनुसार रूस की विशिष्ट परिस्थितियों में सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल को प्रतिपादित करते हैं।

इन रचनाओं ने पार्टी दायरों में तीखी बहसों की शुरुआत की। लेकिन हम फ़रवरी क्रान्ति से लेकर अक्टूबर क्रान्ति के पहले तक पार्टी के भीतर जारी विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष की चर्चा से पहले इस दौर में रूस में हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों का एक ब्यौरा पेश करना ज़रूरी समझते हैं ताकि उन विचारधारात्मक व राजनीतिक कार्यदिशाओं के संघर्ष के सन्दर्भ को समझा जा सके।

1. फ़रवरी से अक्टूबर तक की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियाँ : अन्तरविरोधों का एक सन्धि-बिन्दु जिसने सर्वहारा वर्ग को इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में ला खड़ा किया

रूस में युद्ध के कारण जो आर्थिक विघटन पैदा हुआ था वह ज़ारशाही के दौर से ही जारी था। **मॉरिस डॉब** ने अपनी पुस्तक 'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917' में इस आर्थिक विघटन का विस्तृत चित्र उपस्थित करते हुए यह दिखलाया कि बुर्जुआ आरज़ी सरकार बनने के बाद इस आर्थिक विघटन पर क़ाबू पाने के लिए ऐसे कई क़दम उठाये गये, जो कि अन्य युद्धरत पूँजीवादी देशों में उठाये जा रहे थे। इन क़दमों को राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद के क़दम कहा जा सकता है। मिसाल के तौर पर, एक राजकीय बैंक की स्थापना, फ़सलों में व्यापार की इज़ारेदारी सरकार को देना, आदि। लेकिन बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामी वर्ग इन क़दमों को कामयाब नहीं होने दे रहा था और आरज़ी सरकार का जो वर्ग चरित्र था वह किसी भी सूरत में इन वर्गों के सीधे विपरीत नहीं जा सकती थी। नतीजतन, आरज़ी सरकार के बनने के बाद युद्ध में भागीदारी जारी रही और साथ ही आर्थिक विघटन की प्रक्रिया भी थमने की बजाय और ज़्यादा बढ़ी।

कई अनुभववादी व संशोधनवादी (सामाजिक-जनवादी के अर्थ में नहीं बल्कि संशोधनवादी इतिहास-लेखन के अर्थ में) इतिहासकारों ने ज़ार निकोलस द्वितीय की शासन के दौरान आर्थिक विघटन को रोकने के लिए उठाये गये क़दमों की विफलता के लिए कुछ अक्षम व्यक्तियों को ज़िम्मेदार ठहराया है, जो कि उस समय प्रमुख पदों पर थे। यह उस समय रूसी बुर्जुआ वर्ग की एक वर्ग के तौर पर ऐतिहासिक असफलता को समझने की बजाय एक व्यक्तिवादी (individualist) मूल्यांकन पेश करता है। ऐसे मूल्यांकन विशेष तौर पर रूसी क्रान्ति के अमेरिकी इतिहासकारों की रचनाओं में देखे जा सकते हैं। इनमें अग्रणी हैं **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच**, जिनकी तीन रचनाएँ ('प्रिल्यूड टू दि रिवोल्यूशन', 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर' और 'दि बोल्शेविक्स इन पावर') अपने विस्तृत दस्तावेज़ीय विश्लेषण के लिए पढ़ने योग्य हैं, हालाँकि उनकी रचनाओं में कई गम्भीर तथ्यात्मक ग़लतियाँ हैं। लेकिन उनके विश्लेषण की विचारधारा-अन्धता के बारे में जितना कम कहा जाये उतना अच्छा है। आइये उनके लेखन से ज़ारकालीन आर्थिक विघटन और राजनीतिक अराजकता के विश्लेषण का एक नमूना देखते हैं : **''वेर्दुन में और सोमने नदी पर हुए व्यर्थ रक्तपात से ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सेनाओं का मनोबल भी उतना ही टूटा हुआ**

था। रूसी स्थिति को जिस चीज़ ने ज़्यादा त्रासद बना दिया था वह यह था कि मोर्चे पर गिरते मनोबल के साथ देश के भीतर राजनीतिक पक्षाघात और आर्थिक विघटन का पहलू मिश्रित हो गया था। रूस में कोई लॉयड जॉर्ज या क्लेमेंशो नहीं पैदा हुए जो कि पराजयवाद की बढ़ती भावना का गला घोंट पाते और जनता को एक निर्णायक राष्ट्रीय प्रयास के लिए तैयार कर पाते। याद किया जा सकता है कि 1914 में युद्ध की शुरुआत के समय रूसी जन भावना के बड़े हिस्से ने राजनीतिक विरोध का निषेध किया था और सरकार का वफ़ादारी से समर्थन किया था...अगर ऐसा ही था तो यह एक अवसर था जिसकी शुरू से उपेक्षा की गयी। हर जन पहलक़दमी की अभिव्यक्ति को विद्रोह के रूप में देखने की प्रवृत्ति के साथ निर्बल और अत्यधिक सठियाये हुए आई. एल. गोरेमाइकिन के तहत रूसी सरकार ने कई बेशक़ीमती प्रयासों को कुचलने में कोई कसर नहीं छोड़ी जैसे कि अखिल रूसी जेम्स्त्वो यूनियन और अखिल रूसी नगर यूनियन जिनका लक्ष्य था उद्योगों, शरणार्थी राहत कार्य, और चिकित्सीय सेवाओं के पुनर्संगठन के ज़रिये युद्ध प्रयास को आगे बढ़ाना।'' (अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन : दि पेत्रोग्राद बोल्शेविक्स एण्ड दि जुलाई 1917 अपराइज़िंग'**, इण्डियाना यूनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन एण्ड इण्डियाना पोलिस, पृ. 20-21) हमने रैबिनोविच का यह लम्बा उद्धरण इसलिए प्रस्तुत किया ताकि इतिहास-लेखन की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से चिन्हित किया जा सके, जिस पर बुर्जुआ प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद और व्यक्तिवादी विश्लेषण का गहरा असर है। रैबिनोविच ढाँचागत कारकों को पकड़ने की बजाय 1916-17 के दौर को रूसी बुर्जुआ वर्ग के लिए एक 'गँवा दिये गये' मौक़े के तौर पर देखते हैं, विशेषकर युद्ध के मामले में। रैबिनोविच के अनुसार यदि कोई लॉयड जॉर्ज या क्लेमेंशो जैसा बुर्जुआजी का सक्षम प्रतिनिधि रूस में भी मौजूद होता तो शायद युद्ध का अच्छी तरह संचालन हो पाता, आर्थिक विघटन और राजनीतिक-सामाजिक अराजकता रोकी जा सकती और शायद क्रान्ति को भी रोका या कम-से-कम टाला जा सकता। लेकिन रूस के उदार बुर्जुआ वर्ग ने ऐसा कोई नायक ही नहीं पैदा किया! इस बारे में यही कहा जा सकता है कि रैबिनोविच नहीं समझते कि हर देश को वैसा ही बुर्जुआ वर्ग मिलता है, जिसका वह अधिकारी होता है! बहरहाल, हम रैबिनोविच के इतिहास-लेखन की एक विस्तृत आलोचना इस अध्याय के परिशिष्ट के रूप में देंगे। (देखें इस अध्याय का परिशिष्ट **'अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच का इतिहास-लेखन : अन्तर्दृष्टि की दृष्टिहीनता'** जो कि अगले अंक में प्रकाशित होगा) इसका कारण यह है कि रैबिनोविच के संशोधनवादी, प्रत्यक्षवादी, अनुभववादी और व्यक्तिवादी विश्लेषण को न सिर्फ़ बुर्जुआ अकादमिक दायरों में सराहा गया है, बल्कि कई त्रात्स्कीपन्थी भी रैबिनोविच के दीवाने हो गये हैं। इसका एक कारण यह है कि रैबिनोविच का इतिहास-लेखन त्रात्स्की को लेकर हमदर्दी से भरा हुआ है। लेकिन इसका दूसरा कारण स्वयं त्रात्स्कीपन्थ का टटपुँजिया वामपन्थी और अवसरवादी चरित्र है। बहरहाल, हम फ़िलहाल अपने ब्यौरे पर वापस लौटते हैं।

इस आर्थिक विघटन के कारण जनता पर जो असर पड़ रहा था, वह भयंकर था। खाद्य संकट

पैदा हो चुका था और कई इलाक़ों में अकाल जैसी स्थिति थी। 1917 की गर्मियाँ आते-आते रोटी की क़ीमत युद्धपूर्व स्तर से तीन गुना ज़्यादा हो चुकी थी। दुग्ध उत्पादों की क़ीमतें पाँच गुना और मांसाहारी खाद्य पदार्थों की क़ीमतें सात गुना बढ़ चुकी थीं। औद्योगिक उत्पादों और ईंधन की क़ीमत में तो और भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी हुई थी। मौद्रिक मज़दूरी में हुई बढ़ोत्तरी केवल रोटी की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी का मुक़ाबला कर सकती थी, लेकिन अन्य सभी उत्पादों की क़ीमतें मौद्रिक मज़दूरी से कहीं तेज़ रफ़्तार से बढ़ रही थीं। आरज़ी सरकार ने इस स्थिति से निपटने के लिए खाद्यान्न की क़ीमतों को नियन्त्रित करने का प्रयास किया। लेकिन इसके जवाब में किसानों ने एक प्रकार की बिक्री हड़ताल शुरू कर दी क्योंकि युद्ध प्रयासों के कारण औद्योगिक उत्पादन भयंकर विघटन का शिकार था और गाँव और शहर के बीच का विनिमय बुरी तरह से प्रभावित हुआ था। इसका नतीजा यह हुआ कि खाद्यान्न की राजकीय प्राप्ति में भारी गिरावट आयी। खाद्यान्न के राजकीय वितरण में विशेष तौर पर पेत्रोग्राद में लगभग 50 फ़ीसदी की गिरावट आयी। ये सारे कारक मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के जनसमुदायों में असन्तोष को बढ़ाते जा रहे थे।

अक्टूबर के ठीक पहले तक रूस में परिवहन व्यवस्था पूरी तरह ढह गयी थी। नतीजतन, गाँवों और शहरों के बीच जो थोड़ा बहुत विनिमय हो रहा था वह भी समाप्त होने लगा और साथ ही मोर्चे पर रसद, गोला-बारूद और बन्दूक़ों आदि की आपूर्ति पर भी भयंकर असर पड़ा। मित्र देशों से जो हथियार मिल रहे थे उनका गोदियों पर ढेर लगता जा रहा था क्योंकि उनको मोर्चों तक पहुँचाने के लिए परिवहन के साधन ही नहीं थे। कोयला, लोहा जैसे बुनियादी औद्योगिक सामानों का उत्पादन 1917 में पिछले वर्ष के मुक़ाबले तेज़ी से घटा था। इनके आँकड़ों के लिए देखें **मॉरिस डॉब** की ऊपर उल्लिखित पुस्तक (मॉरिस डॉब, 1972, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917'**, रूटलेज एण्ड कीगनपॉल, लन्दन, पृ 73-74) सूती मिलें कच्चे माल के तुर्केस्तान से न आ पाने के कारण बन्द होने लगीं। उराल क्षेत्र में आधे कारख़ाने बन्द हो चुके थे। अक्टूबर आते-आते अपने मज़दूरों की माँगों के जवाब में उद्योगपति मॉस्को और पेत्रोग्राद में तालाबन्दी कर रहे थे। नतीजतन, मोर्चे पर आपूर्ति के लिए उत्पादन भी ज़रूरत की तुलना में मात्र 20 प्रतिशत रह गया था। इन स्थितियों में सैनिकों में भी असन्तोष बढ़ता जा रहा था क्योंकि उन्हें मोर्चे पर सारे साज़ो-सामान से लैस जर्मन सेना का मुक़ाबला बिना जूतों, बन्दूक़ों, तोपों और रसद के करना पड़ रहा था। स्पष्ट है, यह एक प्रकार से रूसी सैनिकों की साम्राज्यवादी युद्ध में बलि देने के समान था। उपरोक्त सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों ने वह सन्दर्भ पैदा किया था जिसमें बुर्जुआ आरज़ी सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूरों और किसानों के जनसमुदायों में असन्तोष बढ़ते हुए सितम्बर तक इस मुक़ाम पर पहुँच गया था कि एक आम बग़ावत की स्थितियाँ और शर्तें तैयार हो गयी थीं। फ़रवरी से अक्टूबर के बीच आर्थिक विघटन को समझने के लिए हमारे विचार में अब भी मॉरिस डॉब की उपरोक्त उद्धृत रचना सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से एक है। इसके अलावा, ई.एच. कार का विवरण भी देखने योग्य है। अब हम इसी दौर में हो रहे कुछ राजनीतिक परिवर्तनों पर निगाह डालते हैं।

•

फ़रवरी क्रान्ति के बाद रूस में जो परिस्थिति पैदा हुई, उसे लेनिन ने 'दोहरी सत्ता' का नाम दिया। एक ओर मार्च के पहले सप्ताह में ज़ारकालीन दूमा के विरोध पक्ष ने आरज़ी सरकार का गठन किया, वहीं दूसरी ओर पेत्रोग्राद में कारख़ाना मज़दूरों व सैनिकों के प्रतिनिधियों ने पेत्रोग्राद सोवियत को संगठित किया। **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच** ने इसका जीवन्त चित्रण पेश किया है। 26 फरवरी को दूमा की प्रमुख पार्टियों, विशेषकर कैडेट पार्टी, ने एक आरज़ी कमेटी का गठन किया जिसने ज़ार द्वारा दूमा को भंग किये जाने और विसर्जित होने के निर्देश को स्वीकार नहीं किया। इस अवहेलना का मुख्य कारण यह था कि मज़दूरों की बग़ावत और सैनिकों द्वारा उसके समर्थन ने पहले ही ज़ार की सत्ता को एक नाममात्र की सत्ता में तब्दील कर दिया था। 27 फरवरी को जेल से रिहा हुए समाजवादी मज़दूर नेताओं और दूमा में समाजवादी प्रतिनिधियों के नेतृत्व में तौरीद प्रासाद में पेत्रोग्राद सोवियत का गठन हुआ। (देखें, अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1991, पृ. 27) पेत्रोग्राद सोवियत के गठन के बाद पहले बड़े शहरों में मज़दूरों ने अपनी सोवियतों का गठन किया और फिर छोटे शहरों और गाँवों में सोवियतों का गठन हुआ। इन सोवियतों ने मार्च 1917 में अपनी पहली अखिल रूसी सोवियत कॉन्फ्रेंस की, जिसमें कि मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी बहुमत में थे। यहाँ सोवियतों के उभार के आन्दोलन के बारे मे कुछ शब्द कहना ज़रूरी है।

चार्ल्स बेतेलहाइम ने सोवियत आन्दोलन के बारे में कुछ सन्तुलित प्रेक्षण रखे हैं। बेतेलहाइम का मानना है कि पेत्रोग्राद सोवियत में बोल्शेविकों का असर अप्रैल के बाद से ही बढ़ता जा रहा था। वास्तव में, समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों ने मार्च में अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन और फिर जून में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस इसलिए की थी ताकि पेत्रोग्राद सोवियत के बढ़ते प्राधिकार को प्रतिसन्तुलित किया जा सके, हालाँकि वे ऐसा कर नहीं सके। बहरहाल, अक्टूबर क्रान्ति के ठीक एक दिन बाद शुरू हुई द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में भी बोल्शेविकों ने बहुमत हासिल कर लिया। पेत्रोग्राद और मॉस्को की सोवियतों में तो वे अगस्त के अन्त और सितम्बर के प्रारम्भ में ही बहुमत में आ चुके थे। कारख़ाना समितियों में वे शुरू से ही बहुमत में थे। बेतेलहाइम का किसान सोवियतों के बारे में मूल्यांकन भी सटीक है, हालाँकि किसान प्रश्न पर उनकी पूरी समझदारी से यह मूल्यांकन पूरी तरह मेल नहीं खाता है। बेतेलहाइम लिखते हैं कि किसान सोवियतों में राजनीतिक चेतना का स्तर बहुत निम्न था। इसका एक कारण इन सोवियतों का समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व और गाँवों में किसानों की राजनीतिक चेतना को *मीर* (ग्राम समुदाय) की संरचना द्वारा कुन्द किया जाना था जो कि वास्तव में धनी किसानों का और कुलकों का एक उपकरण बन चुका था। **लेकिन एक दूसरा बुनियादी कारण किसान वर्ग चरित्र भी था।** यही कारण था कि मज़दूर सोवियतों ने न सिर्फ़ आर्थिक माँगों को पूरा करने का प्रश्न उठाया बल्कि उन्होंने सत्ता का राजनीतिक प्रश्न भी उठा दिया लेकिन किसान सोवियतें अन्त तक सत्ता के प्रश्न को नहीं उठा सकीं। वे भूमि के प्रश्न पर ही सीमित रहीं और उससे आगे

कभी नहीं सोच सकीं। इसमें किसान वर्ग चरित्र के पहलू की भूमिका हमारे विचार में समाजवादी-क्रान्तिकारी विचारधारात्मक व राजनीतिक नेतृत्व के पहलू से भी ज़्यादा अहम है क्योंकि अप्रैल के बाद से किसान सोवियतें व भूमि समितियाँ समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के संविधान सभा का इन्तज़ार करने के निर्देशों को भी नहीं मान रही थीं और भूमि क़ब्ज़ा आन्दोलन को आगे बढ़ा रही थीं। लिहाज़ा, किसान सोवियतों का बर्ताव केवल इस बात से तय नहीं हो रहा था कि उनके नेतृत्व में कौन सी राजनीतिक शक्ति है, बल्कि किसानों के वर्ग चरित्र से भी तय हो रहा था। **बेतेलहाइम का यह प्रेक्षण भी बिल्कुल सटीक है कि यदि सर्वहारा आन्दोलन ने किसानों के आन्दोलन को अपने साथ जोड़ा न होता तो किसानों का आन्दोलन कभी सफल नहीं होता और आरज़ी सरकार उसे कुचलने में कामयाब हो जाती।** यह बोल्शेविकों की गाँवों में कमज़ोर राजनीतिक स्थिति और प्रभाव था जिसकी वजह से बोल्शेविक समाजवादी क्रान्ति भूमि के प्रश्न पर रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से आगे नहीं जा पायी। वस्तुगत तौर पर, किसानों के भूमि क़ब्ज़ा आन्दोलन ने बोल्शेविक क्रान्ति के लिए एक अनुकूल सन्दर्भ तैयार किया। इस रूप में, बेतेलहाइम आंशिक तौर पर सही हैं और वे किसान सोवियतों के टटपुँजिया वर्ग चरित्र की सही पहचान करते हैं, हालाँकि जब वे अक्टूबर क्रान्ति के बाद किसान प्रश्न और बोल्शेविक पार्टी द्वारा इस प्रश्न के समाधान के प्रयासों की बात करते हैं कि तो वे ही मँझोली व खाती-पीती किसान आबादी के नैसर्गिक टटपुँजिया वर्ग चरित्र की बात भूल जाते हैं और क्रान्तिकारी जनदिशा के नाम पर 'किसानवादी' अवस्थिति से बोल्शेविक पार्टी की आलोचना पेश करते हैं, जिसकी आलोचना हम बेतेलहाइम और उनके रचना कर्म का मूल्यांकन करते समय कर चुके हैं। (देखें, अध्याय 4 का परिशिष्ट 'चार्ल्स बेतेलहाइम का मार्क्सवाद : माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद को तिलांजलि', **दिशा सन्धान**, अक्टूबर-दिसम्बर, 2015, अंक 3, पृ. 13-202)

बेतेलहाइम के मूल्यांकन में यहाँ एक त्रात्स्कीपन्थी प्रभाव को भी आंशिक तौर पर देखा जा सकता है। वह कहते हैं कि किसान आन्दोलन रूस में रैडिकल बुर्जुआ वर्ग की अनुपस्थिति या कमज़ोरी के कारण सर्वहारा वर्ग का *अचेतन समर्थक* बन गया। त्रात्स्की का लेनिन से इसी बात पर मतभेद था कि लेनिन का मानना था कि सर्वहारा आन्दोलन को किसानों के समर्थन को और मुख्यत: ग़रीब किसानों के समर्थन को सचेतन तौर पर जीतना होगा, जबकि त्रात्स्की का मानना था किसान आन्दोलन एक अज्ञात चर राशि है जो राजनीतिक अचेतनता के साथ क्रान्ति या प्रतिक्रान्ति के साथ जा सकता है। इतिहास ने दिखलाया कि किसान आन्दोलन राजनीतिक अचेतनता के साथ बोल्शेविकों के साथ नहीं आया बल्कि इस राजनीतिक चेतना से लैस होने के चलते ही बोल्शेविकों के साथ आया कि भूमि के प्रश्न को रैडिकल तरीक़े से बोल्शेविक ही हल करेंगे, हालाँकि वह भूमि कार्यक्रम समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी का था जिसे वह स्वयं रैडिकल तरीक़े से अमल में लाने को तैयार नहीं थी।

बहरहाल, मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में पेत्रोग्राद सोवियत ने स्वेच्छा

से राजनीतिक सत्ता दूमा के विपक्ष को हस्तान्तरित कर दी। पहली आरज़ी सरकार में कैडेट पार्टी (संवैधानिक जनवादी पार्टी, जो कि 1905 की क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आयी थी और मुख्यत: रूस के उदार बुर्जुआ वर्ग की प्रमुख पार्टी थी, हालाँकि 60 प्रतिशत कैडेट कुलीन घरानों से आते थे और क्रान्तिकारी जनज्वार के समक्ष यह पार्टी अधिक से अधिक प्रतिक्रियावादी बनती गयी) का प्रभुत्व था और पाँच प्रमुख मन्त्रालय उनके हाथों में थे। वहीं पेत्रोग्राद सोवियत में अभी प्रमुख नेतृत्वकारी शक्ति मेंशेविक थे। इसीलिए पेत्रोग्राद सोवियत के पहले अध्यक्ष के तौर पर मेंशेविक नेता चखीद्ज़े को चुना गया था। मेंशेविक व गौण रूप से समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व के कारण ही पेत्रोग्राद सोवियत ने, लेनिन के शब्दों में, "स्वेच्छा से राजनीतिक सत्ता को बुर्जुआ आरज़ी सरकार को सौंप दिया।" दूमा के बुर्जुआ नेतृत्व ने मूलत: ज़ार निकोलस द्वितीय को हटाकर उसके भाई माईकेल रोमानोव को सत्ता में बिठाने की योजना बनायी थी जो कि रूसी बुर्जुआ वर्ग से ज़्यादा नज़दीकी रखता था। लेकिन फ़रवरी के जनविद्रोह ने स्पष्ट कर दिया था कि उदार बुर्जुआ वर्ग का यह प्रयास सफल होना मुश्किल है।

अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच इसे कैडेट पार्टी द्वारा निरन्तरता के तत्व को बनाये रखने का प्रयास बताते हैं, जो कि कैडेट पार्टी के रूढ़िवाद को बेहतर रोशनी में पेश करने का प्रयास करता है। लेकिन वस्तुगत तौर पर वह एक सही प्रेक्षण पेश करते हैं, "शुरुआत में कुछ दूमा के उदारवादी, जिसमें कि कैडेट नेता पॉल मिल्यूकोव शामिल थे, ने उम्मीद की कि अतीत से कुछ निरन्तरता बनाये रखी जाये और एक लोकप्रिय रूप से चुनी सरकार के साथ एक संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना की जाये, लेकिन क्रान्ति पहले ही इस मंज़िल से आगे जा चुकी थी।" (रैबिनोविच,1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन'**, पृ. 28)

युद्ध में लगातार पराजयों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि ज़ारशाही रूसी बुर्जुआ वर्ग के हितों के मुताबिक़ युद्ध का संचालन नहीं कर सकती है। यही कारण था कि बुर्जुआ वर्ग भी ज़ार के ख़िलाफ़ हो गया था। बुर्जुआ वर्ग रैडिकल तरीक़े से राजतन्त्र को ख़त्म करने की बजाय दूमा की शक्तियों को बढ़ाने और माईकेल रोमानोव को गद्दी पर बिठाना चाहता था। लेकिन बुर्जुआ वर्ग की योजनाएँ अमल में आ पातीं, इससे पहले ही एक जनविद्रोह ने ज़ार की सत्ता पलट दी और राजतन्त्र से किसी भी प्रकार के समझौते की सम्भावना को समाप्त कर दिया। लेकिन फ़रवरी क्रान्ति के दौरान अस्तित्व में आयी मज़दूरों व सैनिकों के प्रतिनिधियों की पेत्रोग्राद सोवियत ने मेंशेविक नेतृत्व के कारण सत्ता स्वयं अपने हाथों में नहीं ली बल्कि उसे बुर्जुआ आरज़ी सरकार के हाथों में सौंप दिया। रैबिनोविच का मूल्यांकन सही है कि मेंशेविक नेतृत्व में सोवियत ने क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथ में लेने की बजाय क्रान्ति का रखवाला बनने की भूमिका चुनी। इसका कारण जनवादी क्रान्ति के स्वरूप को लेकर मेंशेविकों और "क़ानूनी मार्क्सवादियों" की पूरी समझदारी थी।

जैसा कि हमने पिछले अध्याय में रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में जारी राजनीतिक संघर्ष पर चर्चा करते समय बताया था, जनवादी क्रान्ति के स्वरूप को लेकर मेंशेविकों और बोल्शेविकों में बुनियादी फ़र्क़ यह था कि मेंशेविकों का मानना था कि जनवादी क्रान्ति का

नेतृत्व बुर्जुआ वर्ग के हाथों में रहेगा और सर्वहारा वर्ग की भूमिका एक ऐसे विपक्ष की होगी जो कि बुर्जुआ वर्ग पर जनवादी क्रान्ति के कार्यभार पूरे करने के लिए दबाव बनायेगा। सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को अपने नेतृत्व में सम्पन्न नहीं कर सकता और ऐसा करना जनवादी क्रान्ति के चरण को लाँघने के समान होगा। बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में सम्पन्न जनवादी क्रान्ति के बाद सर्वहारा वर्ग को दीर्घकाल तक पूँजीवादी व्यवस्था के तहत शिक्षित-प्रशिक्षित होना होगा और उसके बाद ही वह समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने के बारे में सोच सकता है क्योंकि तभी उसका आकार और उसकी चेतना इस लायक हो सकेगी।

चार्ल्स बेतेलहाइम ने अपनी पुस्तक 'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर' के पहले खण्ड में लिखा है कि मेंशेविक मानते थे कि सोवियतें सत्ता का निकाय नहीं बन सकतीं क्योंकि उसमें किसानों और बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा शामिल नहीं था और उन्हें "क्रान्तिकारी संघर्ष" और प्रचार के मंच की भूमिका निभानी चाहिए (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फ़र्स्ट पीरियड : 1917-23'**, दि हार्वेस्टर प्रेस लि., ससेक्स, पृ. 73)। लेकिन यह बात पूरी तरह सही नहीं है। मेंशेविकों द्वारा सोवियतों को राज्यसत्ता का निकाय बनाने का मुख्य विरोध जनवादी क्रान्ति को लेकर उनकी समझदारी से पैदा होता था, जिसके अनुसार जनवादी क्रान्ति और फिर पूँजीवाद के दीर्घकालिक विकास की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसान आबादी नेतृत्व की भूमिका में नहीं रह सकती और नेतृत्व बुर्जुआ वर्ग के हाथ में ही रहेगा। यही कारण था कि पेत्रोग्राद सोवियत और दूमा के विपक्ष के बीच समझौते के फलस्वरूप बुर्जुआ आरज़ी सरकार का गठन हुआ था और सोवियतों को क्रान्तिकारी विरोध की भूमिका तक सीमित कर दिया गया था, हालाँकि व्यवहारत: ऐसा हुआ नहीं और सोवियतें राज्यसत्ता के निकाय के रूप में उभरने लगीं।

फ़रवरी क्रान्ति के पहले लेनिन का भी मानना था कि रूस अभी जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में है लेकिन उनका मानना था कि रूसी बुर्जुआ वर्ग जनवादी क्रान्ति को रैडिकल तरीक़े से मुक़ाम पर नहीं पहुँचा सकता है। **फ़रवरी क्रान्ति के साथ और बुर्जुआ आरज़ी सरकार के अस्तित्व में आने के साथ जनवादी क्रान्ति का कार्यभार मूल रूप से पूरा हो गया है क्योंकि राज्यसत्ता का प्रश्न मुख्यत: और मूलत: हल हो गया है, हालाँकि आरज़ी बुर्जुआ सरकार जनवादी क्रान्ति के समस्त कार्यभारों को, विशेष तौर पर भूमि सुधार के कार्यभारों को और साथ ही मज़दूर वर्ग के जनवादी अधिकारों को पूरा करने के कार्यभारों को रैडिकल तौर पर सम्पन्न नहीं कर सकती है; युद्ध और सोवियत सत्ता के रूप में मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही के *सम्भावना-सम्पन्न रूप में* अस्तित्व में आने की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण बुर्जुआ वर्ग और उसकी आरज़ी सरकार भयाक्रान्त होकर प्रतिक्रियावादी वर्गों की शरण लेगी और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का भी गला घोंट देगी। इसलिए लेनिन का मानना था कि फ़रवरी क्रान्ति में मज़दूर वर्ग को नेतृत्व अपने हाथों में लेना चाहिए था और पूरे किसान वर्ग को साथ लेकर बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति**

के कार्यभारों को क्रान्तिकारी और रैडिकल तरीक़े से पूरा करना चाहिए था और उसके बाद, बिना रुके, गाँवों के मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसान आबादी यानी कि अर्द्धसर्वहारा वर्ग को साथ लेकर समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ना चाहिए था। पहले 'सुदूर से पत्र' और 'अप्रैल थीसीज़' और उसके बाद अप्रैल से लेकर सितम्बर तक के लेनिन के लेखन में इन विचारों को मूर्त रूप ग्रहण करते हुए देखा जा सकता है। जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसानों की नेतृत्वकारी भूमिका के बारे में वे बारह वर्ष पहले ही लिख चुके थे।

बहरहाल, ऐसा नहीं हो सका और सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति में नेतृत्व में नहीं आ पाया, जिसके कई कारण थे। पहला कारण तो यह था कि पेत्रोग्राद सोवियत में बोल्शेविक पार्टी बहुमत में नहीं थी। पेत्रोग्राद सोवियत जो कि *लगभग* स्वत:स्फूर्त रूप से जनता की क्रान्तिकारी पहलक़दमी से अस्तित्व में आयी थी, मेंशेविकों के नियन्त्रण में थी, हालाँकि शहरी कारख़ाना मज़दूरों का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा बोल्शेविकों के पक्ष में भी था। साथ ही समाजवादी-क्रान्तिकारियों को भी सोवियतों में अच्छा-ख़ासा प्रतिनिधित्व मिला हुआ था। किसान सोवियतों में तो वे बहुमत में थे। लुब्बेलुबाब यह कि सोवियत सत्ता जो कि आरज़ी सरकार के समानान्तर सत्ता के तौर पर अस्तित्व में आयी थी, वह बोल्शेविकों के नेतृत्व में नहीं थी। **दूसरे शब्दों में, सर्वहारा राजनीति और विचारधारा सोवियतों में अभी वर्चस्वकारी स्थिति में नहीं थे।** यही कारण था कि पेत्रोग्राद सोवियत ने मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के टटपुँजिया नेतृत्व में फ़रवरी क्रान्ति में सत्ता अपने हाथों में लेने की बजाय, स्वेच्छा से उसे कैडेट पार्टी-नीत बुर्जुआ आरज़ी सरकार के हाथों में सौंप दिया, जो कि मूलत: एक पूँजीपति वर्ग और कुलक व युंकर भूस्वामी वर्ग की नुमाइन्दगी करती थी।

पेत्रोग्राद सोवियत द्वारा राजनीतिक सत्ता को बुर्जुआ आरज़ी सरकार के हाथों सौंपे जाने के बावजूद मज़दूरों और सैनिकों के बीच पेत्रोग्राद सोवियत मान्य और वास्तविक सत्ता बनने लगी थी। **रैबिनोविच** इस विषय में लिखते हैं, **"हालाँकि 2 मार्च को स्थापित की गयी आरज़ी सरकार को सोवियत का औपचारिक समर्थन प्राप्त था, लेकिन वस्तुत: पेत्रोग्राद की ज़्यादा रैडिकल रुझान रखने वाली कार्यकारी समिति अपने संघटक तत्वों से सतत दबाव में आरज़ी सरकार के मसलों पर एक रखवाली करने वाले निकाय की भूमिका निभाती थी। यह व्यवस्था अस्थायी थी क्योंकि ल्वोव कैबीनेट को केवल औपचारिक सरकार के तौर पर मान्यता प्राप्त थी, जबकि सोवियत, हालाँकि वह स्वयं अपने हाथों में शक्ति लेने में झिझक रही थी, उस भरोसे के कारण कहीं ज़्यादा अन्तर से एक अधिक शक्तिशाली ताक़त थी जो कि उसमें औद्योगिक मज़दूरों और सशस्त्र बलों के राजनीतिक रूप में से सचेत हिस्सों ने जताया था।"** (रैबिनोविच, 1991, पृ. 31) अधिक से अधिक मज़दूर और मोर्चे से लौटने वाले सैनिक आरज़ी सरकार के प्रति असन्तोष और गुस्से से भरते जा रहे थे और पेत्रोग्राद सोवियत को ही वे अपनी राजनीतिक सत्ता मान रहे थे। इसका कारण यह था कि कुछ शुरुआती जनवादी सुधार करने (जैसे कि सभी राजनीतिक बन्दियों को छोड़ना, मृत्युदण्ड का

उन्मूलन करना, प्रेस व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को औपचारिक तौर पर लागू करना, आदि) के अतिरिक्त बुर्जुआ आरज़ी सरकार ने मज़दूरों और किसानों की बुनियादी और सबसे अहम माँगों पर टाल-मटोल करने का रुख़ अपनाया था। ये माँगें थीं शान्ति, रोटी और ज़मीन की माँग। साथ ही, जो जनवादी सुधार उसे तत्काल करने पड़े उसका भी असली कारण मज़दूर और सैनिकों की सोवियतों का दबाव था। फ़रवरी क्रान्ति के बाद मज़दूरों और सैनिकों को आरज़ी सरकार निरस्त्र नहीं कर सकी थी और जनसमुदाय अभी भी हथियारबन्द थे। इसके कारण पेत्रोग्राद सोवियत की समानान्तर सत्ता केवल औपचारिक नहीं थी, बल्कि वास्तविक थी। उसके द्वारा डाले गये दबाव के कारण ही आरज़ी सरकार को कुछ जनवादी व नागरिक अधिकारों को पूरा करना पड़ा। लेकिन जनता की मूल माँग थी - युद्ध का ख़ात्मा और शान्ति, रोटी और ज़मीन। आरज़ी सरकार ने सत्ता में आने के बाद साम्राज्यवादी युद्ध से रूस की भागीदारी समाप्त नहीं की और कुछ हफ़्तों बाद ही मित्र शक्तियों से किये गये वायदों को पूरा करने की बात करने लगी। उसने जनता के बीच भी "राष्ट्रीय रक्षा" की कार्यदिशा को हावी कराने का प्रयास किया। फ़रवरी क्रान्ति के ठीक बाद के दौर में कुछ समय तक किसानों, मध्य वर्ग और मज़दूरों के भी एक हिस्से में इसी "राष्ट्रीय रक्षा" की सोच का असर भी था।

भूमि के प्रश्न पर आरज़ी सरकार ने यह कहकर टाल-मटोल शुरू किया कि यह एक ऐसा अहम मसला है जिस पर संविधान सभा बुलाये जाने के बाद ही फ़ैसला हो सकता है। तात्कालिक तौर पर, कैडेट पार्टी-नीत सरकार ने गाँवों में **भूमि समितियों** के गठन का निर्णय लिया। लेकिन इन भूमि समितियों के पास करने को कुछ ख़ास नहीं था और उन पर कुलकों का नियन्त्रण ज़्यादा था। वास्तव में मूलत: इनका मुख्य कार्य था कि बढ़ते किसान असन्तोष और छिटपुट विद्रोहों पर क़ाबू पाया जाये। मोर्चे पर मिल रही लगातार हार के कारण साम्राज्यवादी युद्ध को ख़त्म करने की माँग ज़ोर पकड़ती जा रही थी। जो सैनिक मोर्चे से लौट रहे थे, वे वास्तव में किसानों के ही बेटे थे। उनके लौटने के साथ गाँवों में ज़मीन और शान्ति की माँग विकराल रूप में भड़कने लगी थी। कैडेट पार्टी-नीत सरकार द्वारा गठित भूमि समितियों पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने क़ब्ज़ा कर लिया। उनकी माँग ज़मीन के राष्ट्रीकरण और बँटवारे की थी। **लेकिन वे केवल भूस्वामियों की ज़मीन की ज़ब्ती की बात कर रहे थे और धनी व खाते-पीते किसानों की ज़मीन की ज़ब्ती और बँटवारे की बात नहीं कर रहे थे। कैडेट पार्टी का भूमि कार्यक्रम और भी प्रतिक्रियावादी था। यह बड़े युंकरों की ज़मीन ज़ब्ती के बदले उन्हें मुआवज़ा देने की बात करता था। किसान इसके ख़िलाफ़ थे। बोल्शेविक बड़ी जागीरों को ज़ब्त करने के साथ-साथ धनी किसानों की ज़मीनों को भी ज़ब्त करने और फिर जनवादी बँटवारे की माँग कर रहे थे।** आगे बोल्शेविकों ने समाजवादी-क्रान्तिकारियों के भूमि कार्यक्रम को क्रान्ति के ठीक पहले ज्यों का त्यों अपना लिया। इसके कई कारण थे।

एक कारण तो यह था कि किसान आबादी में पूँजीवादी विकास के तौर पर आर्थिक तौर पर वर्ग विभाजन काफ़ी आगे बढ़ चुका था लेकिन राजनीतिक तौर पर अभी गाँवों में ग़रीब, निम्न

मँझोले, मँझोले और धनी किसानों के बीच विभाजन नहीं हुआ था। दूसरा कारण जो कि पहले कारण से जुड़ा हुआ है वह यह था कि गाँवों में बोल्शेविक पार्टी का राजनीतिक आधार केवल नाममात्र का ही था। गाँवों में समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी का आधार सबसे ज़्यादा था और यही कारण था कि किसान आबादी में आर्थिक विभाजन के काफ़ी आगे बढ़ने के बावजूद राजनीतिक विभाजन अभी बेहद आदिम और पिछड़ा हुआ था। किसान आबादी के आर्थिक विभेदीकरण और राजनीतिक विभेदीकरण के फ़र्क़ पर हम पिछले अध्याय के परिशिष्ट में थोड़ी चर्चा कर चुके हैं, जब हम चार्ल्स बेतेलहाइम की आलोचना रख रहे थे।

गाँवों में इन राजनीतिक स्थितियों के मद्देनज़र बोल्शेविक पार्टी ने फ़रवरी क्रान्ति के बाद किसानों के बीच अपने आधार को विस्तारित करने पर सबसे ज्यादा ज़ोर दिया। बोल्शेविकों ने निरन्तरता के साथ किसानों की भूमि समितियों द्वारा ज़मीन पर क़ब्ज़े के आन्दोलन का समर्थन किया। जैसा कि हमने ज़िक्र किया है, ये भूमि समितियाँ वास्तव में पहली आरज़ी सरकार के कैडेट कृषि मन्त्री द्वारा ही बनायी गयीं थीं ताकि बढ़ते किसान असन्तोष पर क़ाबू पाया जा सके। लेकिन इन किसान समितियों पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने क़ब्ज़ा कर लिया था, जो कि भूमि के राष्ट्रीकरण का समर्थन तो करते थे, मगर भूमि समितियों द्वारा स्वत:स्फूर्त रूप से ज़मीन क़ब्ज़े के आन्दोलन का समर्थन नहीं करते थे। वे किसानों से कह रहे थे कि संविधान सभा तक इन्तज़ार किया जाना चाहिए। बोल्शेविक भी भूमि के राष्ट्रीकरण और बँटवारे की बात कर रहे थे, मगर वे भूमि समितियों द्वारा ज़मीन क़ब्ज़े की मुहिम का खुलकर समर्थन कर रहे थे। लेनिन का मानना था कि ज़मीन क़ब्ज़े की मुहिम के साथ रूसी जनवादी क्रान्ति अपने अगले चरण में प्रवेश कर गयी है। **उनका कहना था कि एक मार्क्सवादी के लिए कार्रवाई** (action) **उसकी वैधिकता** (legality) **के पैदा होने से पहले आती है।** बोल्शेविकों ने कहा कि हम संविधान सभा के इन्तज़ार के तर्क को ग़लत मानते हैं और किसानों द्वारा ज़मीन क़ब्ज़े की कार्रवाई का समर्थन करते हैं। लेनिन स्पष्टत: इस बात को समझ रहे थे कि समाजवादी-क्रान्तिकारी और मेंशेविक बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को रैडिकल तरीक़े से मुक़ाम तक पहुँचाने की बजाय क्रान्ति को बुर्जुआ वैधिकता के दायरे में रखना चाहते हैं। इस रूप में जनवादी क्रान्ति कभी पूर्णता तक नहीं पहुँच सकती है। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने किसानों के भूमि पर क़ब्ज़े के आन्दोलन को लगातार पूर्ण समर्थन देना जारी रखा।

मॉरिस डॉब बताते हैं कि अप्रैल में ही किसानों ने ज़मीन पर क़ब्ज़े की मुहिम को शुरू कर दिया था। अभी ये कार्य कई जगहों पर स्थानीय सोवियतें कर रही थीं। जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, 3 मई को आरज़ी सरकार की एक आज्ञप्ति द्वारा भूमि समितियाँ स्थापित की गयीं जिनका कार्य था संविधान सभा के बैठने तक भूमि सुधारों के लिए "तैयारी" करना और इसके लिए "कुछ आरज़ी क़दम उठाने का मसौदा" तैयार करना। ज़ाहिर है, ये भूमि समितियाँ सरकार ने केवल दिखावे के लिए बनायी थीं ताकि किसानों के बढ़ते असन्तोष पर कुछ पानी के छींटे डाले जा सकें और उन्हें तुष्ट किया जा सके। लेकिन 15 दिनों के भीतर ही इन भूमि समितियों पर

समाजवादी-क्रान्तिकारियों का क़ब्ज़ा हो गया। इसके बाद समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के भी निर्देशों की अवहेलना करते हुए और सरकार से स्वायत्त तौर पर इन समितियों ने भूमि क़ब्ज़े के आन्दोलन को व्यवस्थित तौर पर आगे बढ़ाया। मई में 175 ज़िलों में भूमि क़ब्ज़े की रपटें आयीं। जून में क़रीब 300 ज़िलों से भूमि क़ब्ज़े की ख़बरें आयीं। जैसा कि मॉरिस डॉब बताते हैं, कैडेट पार्टी के अधिक से अधिक प्रतिक्रान्ति और प्रतिक्रिया के पक्ष में जाने के अलावा, जुलाई में प्रिंस ल्वोव के इस्तीफ़े का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उनका समाजवादी-क्रान्तिकारी कृषि मन्त्री इन भूमि क़ब्ज़ों को वैध बता रहा था और इसके कारण संविधान सभा की प्रासंगिकता समाप्त होती जा रही थी।

अक्टूबर की शुरुआत आते-आते ज़मीनों पर क़ब्ज़े की घटनाएँ अप्रैल के स्तर से क़रीब 20 गुना बढ़ चुकी थी और केरेंस्की सरकार मोर्चे से कई सैन्य दस्तों को किसानों को कुचलने के लिए बुलाने पर विचार कर रही थी। मॉरिस डॉब बताते हैं कि इन आन्दोलन में एक पैटर्न को देखा जा सकता था। शुरुआती दौर में ये जागीरों को आग लगा देने और उन्हें लूट लेने जैसी अराजक घटनाओं से शुरू हुआ और आगे चलकर इसने व्यवस्थित और संगठित तौर पर ज़मीनों पर क़ब्ज़े का स्वरूप धारण कर लिया। दूसरी ग़ौर करने वाली बात यह थी कि इस आन्दोलन में अपवादस्वरूप कुछ जगहों पर ज़मींदारों के कारिन्दों को मारा गया, अन्यथा, यह आन्दोलन ज़्यादातर शान्तिपूर्ण तरीक़े से क़ब्ज़े के रूप में विकसित हुआ। मॉरिस डॉब ने भूमि समितियों के आन्दोलनों का समाहार करते हुए लिखा है, **''भूदास प्रथा के दिनों में किसानों के बीच एक कहावत प्रचलित थी : ''हम ज़मींदारों के हैं, लेकिन जिस ज़मीन पर हम काम करते हैं, वह हमारी है।'' अब किसानों ने इसे नये दौर के मिजाज़ के मुताबिक़ बदल लिया था : ''ज़मींदार हमारा ज़मींदार है : हम उसके लिए काम करते थे और उसकी सम्पत्ति हमारी है।'' ''** (मॉरिस डॉब,1972, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवेलपमेण्ट सिंस 1917'**, पृ. 76)

इसी बीच एक ऐसा परिवर्तन भी हुआ था जिसके कारण भूमि प्रश्न पर किसानों का समर्थन जीतने का सुनहरा अवसर बोल्शेविकों को मिल गया था। अप्रैल 1917 में पहली आरज़ी सरकार के विदेश मन्त्री मिल्युकोव ने मित्र शक्तियों को प्रथम विश्व युद्ध में "गौरवपूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति" तक रूस का पूर्ण सैन्य सहयोग देने की घोषणा की। इसके कारण, आरज़ी सरकार के विरुद्ध ज़बरदस्त माहौल तैयार हुआ और उसके ख़िलाफ़ प्रदर्शनों का दौर शुरू हो गया। आरज़ी सरकार के भीतर, जिसके मुखिया इस समय कैडेट पार्टी के ज्यॉर्जी ल्वोव थे, एक संकट की शुरुआत हो गयी। इस संकट का नतीजा यह हुआ कि विदेश मन्त्री मिल्युकोव और युद्ध व नौसेना मन्त्री गुचकोव को इस्तीफ़ा देना पड़ा। इस इस्तीफ़े के बाद, सरकार में सोवियतों में प्रभावी प्रमुख पार्टियों को शामिल करके नयी संयुक्त सरकार का गठन किया गया। इस नयी सरकार में बोल्शेविक पार्टी को छोड़कर सभी समाजवादी पार्टियों ने हिस्सेदारी की। मेंशेविकों और समाजवादी-पार्टी के आरज़ी सरकार में शामिल होने के साथ, उनके बेनक़ाब होने की ज़मीन तैयार हो गयी। मेंशेविक अब तक यह दावा करते रहे थे कि वे आरज़ी सरकार में शामिल नहीं होंगे और "विपक्ष" की पार्टी बने रहेंगे। इस नयी

स्थिति को बोल्शेविक पूरी तरह समझ रहे थे और उन्होंने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया। कृषि मन्त्रालय अब एक समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के मन्त्री के हाथों में था और भूमि सुधारों को तत्काल लागू करने की ज़िम्मेदारी अब सीधे उसके सिर थी। समाजवादी-क्रान्तिकारी अभी भी किसानों की भूमि समितियों को संविधान सभा का इन्तज़ार करने की नसीहतें दे रहे थे और ज़मीन क़ब्ज़ा करने की मुहिम को रोकने के लिए कह रहे थे। युद्ध के कारण जो आर्थिक संकट पैदा हुआ था उसने शहरों में आम ग़रीब आबादी और साथ ही गाँवों में किसानों के लिए भयंकर स्थिति पैदा कर दी थी। शहरों में खाद्य सामग्री की कमी वस्तुत: अकाल जैसी स्थिति पैदा कर रही थी। आरज़ी सरकार द्वारा युद्ध में हिस्सेदारी को ख़त्म न करने के फ़ैसले के कारण उत्पादक आबादी के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को मोर्चे पर भेज दिया गया था। कारख़ाने बन्द हो रहे थे और गाँवों और शहरों के बीच विनिमय टूट चुका था। किसान आबादी युद्ध के विरुद्ध और ज़मीन के लिए एक प्रकार का असहयोग छेड़ चुकी थी। इनकी चर्चा हम ऊपर सामाजिक-आर्थिक विघटन का विवरण पेश करते समय कर चुके हैं। मोर्चे से सैनिकों के गाँवों में लौटने से भूमि के लिए हो रहे आन्दोलन ने और भी ज़्यादा आक्रामक रुख़ अख्तियार कर लिया था। ऐसी स्थिति में, समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के समझौतापरस्त रुख़ के कारण उसका किसानों के बीच दबदबा धीरे-धीरे घटने लगा।

अप्रैल से ही सभी सोवियत कांग्रेसों में समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की स्थिति ख़राब होनी शुरू हो गयी थी। उनका नारा तो भूमि के राष्ट्रीकरण और भूमि समितियों द्वारा भूमि के पुनर्वितरण का ही था, मगर उनके अनुसार इस सारे कार्य को संविधान सभा के फ़ैसले तक रोके रखा जाना चाहिए। दूसरी ओर बोल्शेविकों ने किसान सोवियतों में भी अपनी अवस्थिति को निरन्तरतापूर्ण तरीक़े से रखा और सितम्बर आते-आते क्रमिक प्रक्रिया में भूमि क़ब्ज़े के प्रश्न पर अपने कार्यक्रम पर किसानों के समर्थन को जीता।

अगस्त 1917 में अखिल रूसी किसान सोवियत कांग्रेस हुई। कांग्रेस पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों का वर्चस्व स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था। इस कांग्रेस में समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने एक "आदर्श आज्ञप्ति" पारित की जिसमें भूमि के राष्ट्रीकरण और भूमि समितियों द्वारा पुनर्वितरण के एजेण्डे को दुहराया गया लेकिन इसके लिए संविधान सभा का इन्तज़ार करने का प्रावधान किया गया। **लेनिन ने इस आज्ञप्ति के कार्यक्रम का समर्थन किया लेकिन साथ ही यह कहा कि यह कार्य *अब* बिना समाजवादी क्रान्ति के सम्भव नहीं है।** इसका एक कारण तो यह है कि आरज़ी सरकार संविधान सभा के नाम पर इस कार्यभार को टालती रहेगी और युद्ध में रूसी भागीदारी को समाप्त नहीं करेगी, लेकिन इसका दूसरा और **सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि अधिकांश बड़े भूस्वामियों ने अपनी जागीरों को बैंकों को गिरवी रख दिया है और अब भूमि के राष्ट्रीकरण का प्रश्न बैंकों के राष्ट्रीकरण के साथ जुड़ गया है।** यह कार्य अब केवल मज़दूर क्रान्ति द्वारा ही पूरा हो सकता है और उसके बाद ही ज़मीन का राष्ट्रीकरण और पुनर्वितरण किया जा सकता है। यहाँ लेनिन स्पष्ट रूप से यह सम्प्रेषित कर रहे थे कि अब बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की जारी प्रक्रिया को बुर्जुआ वर्ग की आरज़ी सरकार मुक़ाम पर नहीं पहुँचायेगी

और वह ज़्यादा से ज़्यादा प्रतिक्रियावादी होती जायेगी। लेनिन इस बात को भी समझ रहे थे कि इस सूरत में समाजवादी मज़दूर क्रान्ति बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करते हुए समाजवाद की ओर 'कुछ आरम्भिक क़दम' बढ़ायेगी। निश्चित तौर पर, यह समाजवादी क्रान्ति तुरन्त 'समाजवाद की शुरुआत' (immediate introduction of socialism) कर दे यह सम्भव नहीं होगा और इसके एजेण्डे पर तात्कालिक तौर पर यह प्रश्न होगा कि यह बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के अधूरे कार्यभारों को सर्वाधिक क्रान्तिकारी तरीक़े से पूर्ण करे और समाजवादी व्यवस्था की ओर कुछ पहले क़दम बढ़ाये।

लेनिन पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों और साथ ही कुछ बोल्शेविकों ने भी यह आरोप लगाया कि उन्होंने समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के भूमि कार्यक्रम को शब्दश: अपना लिया। लेनिन ने इस आलोचना का जवाब देते हुए कहा कि रणकौशलात्मक तौर पर यह ज़रूरी था क्योंकि यह व्यापक किसान आबादी की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता था। चूँकि किसान आर्थिक तौर पर विभाजित होने के बावजूद राजनीतिक तौर पर बोल्शेविक पार्टी के मूल भूमि कार्यक्रम पर सहमत नहीं थे, चूँकि समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी अपने रैडिकल जनवादी भूमि कार्यक्रम पर अमल नहीं कर रही थी और चूँकि युद्ध और सोवियत सत्ता के तौर पर समानान्तर सत्ता के उभार ने एक विशिष्ट स्थिति पैदा कर दी थी, ***इसलिए*** बोल्शेविक पार्टी को समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के रैडिकल भूमि कार्यक्रम को अपनाना चाहिए और उसे क्रान्तिकारी तरीक़े से मुक़ाम तक पहुँचाना चाहिए, जिसके लिए कोई भी बुर्जुआ या टटपुँजिया पार्टी तैयार नहीं थी। लेनिन ने स्पष्ट किया कि समाजवादी भूमि कार्यक्रम को लागू करते हुए भी मज़दूर सत्ता उजरती श्रम का शोषण न करने वाले मँझोले व ग़रीब किसानों की ज़मीनों को ज़बरन नहीं छीनती बल्कि उन्हें लम्बी प्रक्रिया में समझाने-बुझाने और मॉडल व सामूहिक फ़ार्मों की मिसाल पेश करने के रास्ते सामूहिकीकरण के कार्यक्रम पर राजी करती। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना होता कि समाजवादी भूमि कार्यक्रम लागू करते हुए बड़ी जागीरों और बड़े किसानों की ज़मीनों को तत्काल राजकीय व सामूहिक फ़ार्मों में तब्दील किया जाता। लेकिन रूस की विशिष्ट परिस्थितियों में समाजवादी सत्ता तत्काल यह काम नहीं कर सकती है। लेनिन ने बड़ी जागीरों को तत्काल मॉडल समाजवादी फ़ार्मों में तब्दील करने के प्रस्ताव को भी छोड़ा नहीं था, लेकिन फ़िलहाल वे उस पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दे रहे थे। लेनिन का मानना था कि समाजवादी क्रान्ति के बाद व्यापक किसान आबादी को उनके अनुभवों से यह समझने का अवसर दिया जाना चाहिए कि छोटे पैमाने की खेती उन्हें ग़रीबी और भुखमरी से निजात नहीं दिला सकती है। समाजवादी क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी को सचेतन और निरन्तर राजनीतिक कार्य से भी यह चेतना उन किसानों के बीच पैदा करनी होगी जो उजरती श्रम का शोषण नहीं करते हैं। बहरहाल, अक्टूबर क्रान्ति की विशिष्टता के बारे में लेनिन के विचारों पर आगे हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

अन्तत: लेनिन किसानों का समाजवादी क्रान्ति पर समर्थन जीतने में सफल रहे क्योंकि किसान आबादी को समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की समझौतापरस्ती दिख रही थी और उन्हें पता था

कि लेनिन जिस मज़दूर क्रान्ति की बात कर रहे हैं, केवल वही उन्हें भूस्वामियों के जुए से मुक्ति दिला सकती है और ज़मीन की उनकी माँग को पूरा कर सकती है और साथ ही उन्हें साम्राज्यवादी युद्ध से भी मुक्ति दिला सकती है। चार्ल्स बेतेलहाइम का यह प्रेक्षण सही है कि बोल्शेविकों ने क्रान्ति से पहले किसान आबादी में अपने राजनीतिक नेतृत्व को स्थापित किया था और इसे विचारधारात्मक नेतृत्व के साथ गड्डमड्ड नहीं किया जाना चाहिए। किसानों का समर्थन भूमि के प्रश्न पर बोल्शेविकों के साथ था। लेकिन इससे आगे के सभी प्रश्नों पर अभी भी वे समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की अवस्थिति पर ही खड़े थे। यही कारण था कि जिस पार्टी का सर्वाधिक प्रभाव अक्टूबर क्रान्ति के बाद भी कुछ वर्षों तक किसान सोवियतों में बना हुआ था वह समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ही थी। लेकिन क्रान्ति से पूर्व बोल्शेविकों द्वारा किसानों के विद्रोह के निरन्तरता के साथ समर्थन के फलस्वरूप अक्टूबर क्रान्ति से ठीक पहले किसानों और किसान सोवियतों का समर्थन बोल्शेविकों के पक्ष में आ चुका था। इस पहलू ने सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लेनिन के निर्णय में प्रमुख भूमिका निभायी।

●

जिस प्रकार से कृषि क्षेत्र में किसानों का स्वत:स्फूर्त विद्रोह जारी था, उसी के समानान्तर उद्योग के क्षेत्र में मज़दूरों का भी एक विद्रोह जारी था। मज़दूरों की कारख़ाना समितियों ने श्रम अधिकारों को लागू न करने पर कारख़ानों पर क़ब्ज़ा शुरू कर दिया था। मॉरिस डॉब कारख़ाना समितियों के इस आन्दोलन का एक जीवन्त चित्रण पेश करते हैं। डॉब बताते हैं कि पेत्रोग्राद और मॉस्को में कई बार सोवियत के प्राधिकार के नाम पर कार्रवाई करते हुए कई कारख़ानों के मज़दूरों ने उन कारख़ानों पर क़ब्ज़ा कर लिया, या उनके प्रबन्धकों, मालिकों व फोरमैनों को निकाल दिया जिन्होंने 8 घण्टे के कार्यदिवस व अन्य श्रम अधिकारों को लागू करने के पेत्रोग्राद सोवियत के साथ हुए समझौते को लागू करने से इंकार कर दिया। 1 जून को सोवियतों की कार्यकारी समिति ने सभी कारख़ानों के मज़दूरों को कारख़ानों में कारख़ाना समिति या परिषद् बनाने का निर्देश दिया था। इसके बाद इन कारख़ाना समितियों ने तमाम औद्योगिक केन्द्रों व शहरों में कारख़ानों पर क़ब्ज़ा किया और उनके अकाउंटों को अपने नियन्त्रण में ले लिया। पेत्रोग्राद और मॉस्को की मज़दूर सोवियतों ने इन क़दमों का समर्थन किया लेकिन उनकी इसमें कोई प्रत्यक्ष व सीधी भूमिका नहीं थी। यह मूलत: कारख़ाना समितियों ने अपनी पहलक़दमी पर किया। अक्टूबर आते-आते तमाम खानों-खदानों को भी मज़दूरों की समितियों ने अपने नियन्त्रण में ले लिया था। मॉरिस डॉब ने आगे चलकर प्रतिक्रान्ति के एक प्रमुख नेता बनने वाले जनरल कालेदिन का एक उद्धरण दिया है जो स्थिति को स्पष्ट करता है, "फ़िलहाल, समस्त सत्ता विभिन्न स्वयंभू संगठनों द्वारा हथिया ली गयी है जो कि अपने अलावा और किसी के प्राधिकार को नहीं मानती हैं।" (डॉब, 1972, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवेलपमेण्ट सिंस 1917'**, पृ. 78)

ई. एच. कार का मानना है कि इस मामले में बोल्शेविकों को थोड़ी शर्मिन्दगी का सामना

करना पड़ा क्योंकि उनका मानना था कि क्रान्ति के तुरन्त बाद समाजवादी राज्यसत्ता तुरन्त ही पूँजीवादी सिण्डिकेटों व उद्योगों पर सीधा नियन्त्रण क़ायम कर लेगी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं और जिस प्रकार ज़मीनों पर किसानों ने स्वत:स्फूर्त तरीक़े से क़ब्ज़ा करना शुरू कर दिया था, उसी प्रकार मज़दूरों ने उनके जनवादी अधिकारों को न लागू किये जाने के विरोध में कारख़ानों से मालिकों व प्रबन्धकों को निकाल कर उस पर ज़बरन क़ब्ज़े की मुहिम की शुरुआत कर दी थी। इस प्रक्रिया में कार ज़मीन पर किसानों द्वारा स्वत:स्फूर्त रूप से क़ब्ज़े को बोल्शेविकों के आकलन के विपरीत जाने वाली घटना बताते हैं। **इन दोनों ही मुद्दों पर कार की अवस्थिति एक बार फिर से प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी है।** इसमें कोई दो राय नहीं थी कि कारख़ाना क़ब्ज़ा की मुहिम में कारख़ाना समितियों की भूमिका प्रमुख थी और ये मुहिम मूलत: और मुख्यत: स्वत:स्फूर्त थी। लेकिन बोल्शेविकों ने शुरू से ही क्रान्ति की एक तात्विक शक्ति (elemental force) के रूप में इनका समर्थन किया था और इसे मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पहलक़दमी के रूप में देखा था। उस समय अधिकांश ट्रेड यूनियनें मेंशेविकों के क़ब्ज़े में थीं और वे इस आन्दोलन का विरोध कर रहीं थीं क्योंकि उनका मानना था कि यह समूची उत्पादन व्यवस्था को अराजकता में डाल देगी। उत्पादन की कार्रवाई को सुगम रूप से चलाने के लिए उद्योगों पर एक केन्द्रीकृत नियन्त्रण की आवश्यकता होती है और अलग-अलग कारख़ानों पर उनके मज़दूरों के क़ब्ज़े का अर्थ होगा ऐसे नियन्त्रण का भंग होना। लेनिन इस बात को समझते थे कि कम्युनिस्ट समूचे उद्योग पर समूचे मज़दूर वर्ग के नियन्त्रण के हामी हैं न कि अलग-अलग कारख़ानों पर उनके मज़दूरों के नियन्त्रण के। लेकिन यह व्यवस्था समाजवादी सत्ता के अन्तर्गत हो सकती है। एक बुर्जुआ सरकार के विरोध में यदि क्रान्तिकारी परिस्थिति में मज़दूर कारख़ानों पर क़ब्ज़ा करते हैं, तो कम्युनिस्टों को उसका स्वागत और समर्थन करना चाहिए। मेंशेविक इस पूरी प्रक्रिया में अपने अर्थवाद को उजागर कर रहे थे और इस प्रक्रिया में तत्कालीन राज्यसत्ता के चरित्र की अवहेलना कर रहे थे। **इस तौर पर, लेनिन और बोल्शेविकों ने किसी बाध्यता के कारण कारख़ाना क़ब्ज़ा की मुहिम का और ज़मीन क़ब्ज़ा की मुहिम का समर्थन नहीं किया, जैसा कि कार कहते हैं। उन्होंने एक प्रतिक्रियावादी आरज़ी बुर्जुआ सरकार के विरुद्ध क्रान्ति की तात्विक शक्तियों के रूप में इन आन्दोलनों का स्वागत और समर्थन किया।** ठीक इसी तर्क से क्रान्ति के बाद बोल्शेविकों ने कारख़ाना समिति के आन्दोलन में निहित अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए उन्हें ट्रेड यूनियन कांग्रेस के मातहत लाया और साथ ही ट्रेड यूनियनों और सर्वहारा राज्यसत्ता के बीच एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित किया। (इस बिन्दु की विस्तार से व्याख्या के लिए तीसरा अध्याय देखें जिसमें 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों की आलोचना रखी गयी है।)

ई. एच. कार का यह मूल्यांकन भी ग़लत है कि कारख़ाना क़ब्ज़ा आन्दोलन ने त्रात्स्की की उस भविष्यवाणी को सही साबित किया जो कि उन्होंने 1905 की क्रान्ति के दौरान की थी कि मज़दूर बुर्जुआ क्रान्ति पर रुकेंगे नहीं और सीधे समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ेंगे और इसलिए

दो चरणों में क्रान्ति का लेनिन का सिद्धान्त ग़लत है। त्रात्स्की और साथ ही उनका अनुसरण करने वाले यह बताने में असफल रहते हैं कि फ़रवरी क्रान्ति में क्या हुआ था? लेनिन स्पष्ट करते हैं कि फ़रवरी क्रान्ति के साथ बुर्जुआ आरज़ी सरकार और सोवियत सत्ता के तौर पर जो 'दोहरी सत्ता' अस्तित्व में आयी, उसने राज्य के प्रश्न को हल किया और इस तौर पर जनवादी क्रान्ति का चरण पूर्ण हो गया, हालाँकि कई जनवादी कार्यभार अभी पूरे करने बाक़ी थे। रूसी बुर्जुआ वर्ग के बारे में लेनिन का शुरू से यह मूल्यांकन था कि वह जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को क्रान्तिकारी रूप में पूरा नहीं कर सकता है। यह कार्य मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही द्वारा ही पूरा हो सकता है। सोवियत सत्ता के रूप में मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही सम्भावना-सम्पन्न रूप में अस्तित्व में तो आयी, मगर सही राजनीतिक नेतृत्व व संगठन न होने के कारण उसने राजनीतिक सत्ता अपने हाथों से बुर्जुआ वर्ग के हाथों में सौंप दी, हालाँकि मज़दूरों और किसानों की आबादी में सोवियत की सत्ता के रूप में स्वीकार्यता बढ़ती गयी। अन्तरविरोधों के इस विशिष्ट सन्धि-बिन्दु के कारण ही 'दोहरी सत्ता' अस्तित्व में आयी। फ़रवरी क्रान्ति के बाद युद्ध, आर्थिक विघटन और मज़दूरों व किसानों के आन्दोलनों ने वह स्थिति पैदा कर दी जिसने सर्वहारा वर्ग और उसकी पार्टी को तत्कालीन रूस में इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में रख दिया। इसके बाद यदि सर्वहारा वर्ग बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में लेकर अपनी भूमिका का निर्वाह नहीं करता तो न सिर्फ़ जनवादी क्रान्ति की असमय मृत्यु हो जाती बल्कि समाजवादी क्रान्ति भी लम्बे समय के लिए प्रतिक्रिया के लम्बे दौर द्वारा नेपथ्य में धकेल दी जाती। लेकिन त्रात्स्की, त्रात्स्कीपन्थी और त्रात्स्की से प्रभावित बुद्धिजीवी कई बार यह जताने का प्रयास करते हैं या इस भ्रम में फँस जाते हैं कि अप्रैल थीसीज़ के बाद लेनिन स्वयं त्रात्स्की की अवस्थिति पर आ गये थे। इस पूरे तर्क के विस्तार से खण्डन के लिए पिछले अध्याय को सन्दर्भित करें, जिसमें त्रात्स्की और त्रात्स्कीपन्थ की लेनिनवादी आलोचना पर चर्चा की गयी है। इसके अलावा, मज़दूरों द्वारा कारख़ानों पर नियन्त्रण भी लेनिन के अनुसार रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से आगे नहीं जाता था। यह केवल उत्पादन और वितरण पर नियन्त्रण रखने के समान होता। इससे सम्पत्ति सम्बन्धों में कोई बुनियादी अन्तर नहीं आता। इसलिए कारख़ाना क़ब्ज़ा आन्दोलन अपने आप में समाजवादी क्रान्ति की विशिष्ट चारित्रिक आभिलाक्षणिकता नहीं मानी जा सकती है। इस रूप में भी कार का तर्क सही नहीं ठहरता।

बेतेलहाइम ऐसा नतीजा तो नहीं निकालते कि लेनिन अक्टूबर में त्रात्स्की की अवस्थिति पर आ गये थे, लेकिन वे स्वयं जो नतीजा निकालते हैं उस पर स्पष्ट त्रात्स्कीपन्थी प्रभाव है। इसमें वे बुर्जुआ जनवादी व समाजवादी क्रान्तियों के अन्तर्गुंथन और गाँवों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति और शहरों में समाजवादी क्रान्ति की बात करते हैं। यह मूल्यांकन बेहद विशिष्ट परिस्थितियों में रूस में समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ पैदा होने के कारक को नहीं समझता है और गाँवों में समाजवादी क्रान्ति के रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से आगे न जाने को गाँवों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का नाम दे देता है। बोल्शेविक क्रान्ति की "द्वैतता" का सिद्धान्त वास्तव में स्वयं त्रात्स्कीपन्थी सिद्धान्त नहीं

तो त्रात्स्कीपन्थ को सांस लेने के लिए काफ़ी जगह मुहैया ज़रूर करा देता है। हम पहले ही किसानों के आर्थिक विभेदीकरण और राजनीतिक विभेदीकरण के बीच अन्तर की बात कर चुके हैं। रूस में समाजवादी क्रान्ति युद्ध और सोवियत सत्ता के रूप में 'दोहरी सत्ता' के पैदा होने की विशिष्टता के कारण अक्टूबर में आसन्न हो गयी। जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया, अगर उस समय सर्वहारा वर्ग आगे आकर सत्ता स्थापित नहीं करता तो "उसे इतिहास के रंगमंच से काफ़ी समय के लिए बाहर फेंक दिया जाता"। हमने बेतेलहाइम के बोल्शेविक क्रान्ति की द्वैतता/दो क्रान्तियों के अन्तर्गुंथन के सिद्धान्त का पिछले अध्याय के परिशिष्ट में विस्तार से आलोचनात्मक विवेचन किया है जिसे पाठक सन्दर्भित कर सकते हैं। अभी हम इतना ही कहेंगे कि यह एक समाजवादी क्रान्ति थी जो अपवादस्वरूप स्थितियों में हुई और उसे जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को रैडिकल तरीक़े से पूरा करना पड़ा, अन्यथा रूसी जनवादी क्रान्ति भी प्रतिक्रिया और दक्षिणपन्थी प्रतिक्रान्ति के गड्ढे में जा गिरती। इसी वजह से वह किसान प्रश्न पर मूलत: रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से आगे नहीं गयी।

ई. एच. कार के इतिहास-लेखन में एक और जगह एक त्रुटि दिखती है। वह यह नहीं बताते कि कारख़ाना समितियों का आन्दोलन पूर्णत: स्वत:स्फूर्त नहीं था और उसमें बोल्शेविकों की एक अहम भूमिका थी। वह बस इतना कहते हैं कि कारख़ाना समितियों के क़ब्ज़ा आन्दोलन को बढ़ावा देने के लिए बोल्शेविकों ने हर सम्भव प्रयास किया क्योंकि बढ़ती अराजकता उनके लक्ष्यों के लिए बेहतर थी। यहाँ बता दें कि यह बात कार किसी नकारात्मक रूप में नहीं कह रहे हैं और इस बात के ज़रिये वे बोल्शेविकों की परिस्थिति की समझ और बेहतर रणकौशल की सराहना ही करना चाहते हैं। **लेकिन एक वफ़ादार प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी के तौर पर वे विचारधारात्मक और राजनीतिक तौर पर बोल्शेविक रणनीति व आम रणकौशल को नहीं देखते, बल्कि आनुभविक और तथ्यवादी तौर पर देखते हैं।** इसीलिए वह नतीजा निकालते हैं कि परिस्थितियों ने एक प्रकार से बोल्शेविकों को बाध्य किया कि कारख़ाना समितियों के संघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद का समर्थन करें। एक बार फिर से कार यह नहीं समझ पा रहे हैं कि समाजवादी क्रान्ति के पहले मज़दूरों द्वारा कारख़ाना क़ब्ज़ा के आन्दोलन और क्रान्ति के बाद कारख़ाना समितियों द्वारा किसी भी व्यापक और केन्द्रीय सर्वहारा विनियमन के अन्तर्गत आने से बचने के संघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद में फ़र्क़ करने की आवश्यकता है। ज़ाहिर है, किसी भी अनुभववादी व प्रत्यक्षवादी के लिए इस बात को समझना मुश्किल है और वह इसे इस रूप में व्याख्यायित करता है कि पहले तो बोल्शेविक ही इस कारख़ाना क़ब्ज़ा के कारख़ाना समितियों के आन्दोलन का समर्थन कर रहे थे क्योंकि वह उनके हितों को पूरा कर रहा था और बाद में (यानी क्रान्ति के बाद) वे ही अलग-अलग कारख़ानों पर प्रत्यक्ष उत्पादक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण का विरोध करने लगे! दूसरी बात यह है कि कारख़ाना समितियाँ सचेतन और विचारधारात्मक तौर पर पार्टी नेतृत्व का विरोध नहीं कर रही थीं, न ही वे आमतौर पर सचेतन विचारधारात्मक तौर पर किसी केन्द्रीय विनियमन का विरोध कर रही थीं; वे एक बुर्जुआ सत्ता द्वारा और पूँजीपति वर्ग द्वारा उनके जनवादी अधिकारों के हनन और उन्हें लागू न किये जाने के विरोध में कारख़ानों

पर क़ब्ज़ा कर रही थीं। निश्चित तौर पर, इनमें सुषुप्त व सम्भावना-सम्पन्न तौर पर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी मोड़ लेने की गुंजाइश मौजूद थी। लेकिन क्रान्ति से पहले कारख़ाना समितियों के आन्दोलन को अराजकतावादी व संघाधिपत्यवादी क़रार देना कार के विश्लेषण की विचारधारा-अन्धता है। कार का यह कहना सही है कि लेनिन समेत सभी कम्युनिस्टों ने "मज़दूर नियन्त्रण" और "राजकीय नियन्त्रण" में हमेशा फ़र्क़ किया था। लेनिन के लिए समाजवाद की शुरुआती मंज़िल का अर्थ था सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत समूची अर्थव्यवस्था पर राजकीय नियन्त्रण जिसे लेनिन ने "सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद" की संज्ञा भी दी थी। आरज़ी सरकार ने भी प्रमुख व कुंजीभूत उद्योगों के राष्ट्रीकरण का प्रयास किया था ताकि युद्ध की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए आर्थिक विसंगठन से निपटा जाये। लेनिन ने कारख़ाना समितियों के आन्दोलन का समर्थन किया क्योंकि कार के अनुसार लेनिन सोवियतों और कारख़ाना समितियों के आन्दोलन के प्रति अपने उत्साह में अपने इस समर्थन के सारे निहितार्थों को समझ नहीं पाये। **हम देख सकते हैं कि कार यह नहीं समझ पाते कि लेनिन किसी भी "राजकीय नियन्त्रण" का बिना शर्त समर्थन नहीं कर रहे थे और न ही कम्युनिस्टों ने कभी ऐसा किया था। वे सर्वहारा राज्य द्वारा उद्योगों के राजकीय नियन्त्रण की बात कर रहे थे।** एक बुर्जुआ राज्य द्वारा उद्योगों के राजकीय नियन्त्रण का बिना शर्त समर्थन लेनिन क्यों करते? लेनिन अर्थव्यवस्था के राजकीय नियन्त्रण की ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील भूमिका को मानते थे क्योंकि यह टटपुँजिया उत्पादन को कम कर देता है। लेकिन वह इसका बिना शर्त राजनीतिक समर्थन नहीं करते थे। लार्स टी. ली का यह दृष्टिकोण मोटा-मोटी सही है, **"लेनिन बुर्जुआ राज्य उपकरण को चकनाचूर करना चाहते थे, लेकिन बुर्जुआ आर्थिक उपकरण के बारे में उनकी काफ़ी अलग सोच थी। युद्धकालीन राज्य द्वारा इस उपकरण को पूर्ण किया गया था और इसे अपरिमित शक्तियाँ दी गयी थीं और इसे सावधानी से बचाया जाना चाहिए और क्रान्तिकारी वर्ग द्वारा इसे पहले से मौजूद एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया जाना चाहिए। जर्मनी का** Waffen-und Munitionsbeschaffungsamt (Weapons and Ammunitions Supply Department-WUMBA in German) **साम्राज्यवादी आर्थिक उपकरण का उत्कृष्ट प्रतीक था। समाजवादी क्रान्ति के लेनिन के दृष्टिकोण को इस रूप में पेश किया जा सकता है '**WUMBA **जनता के लिए'..."** (लार्स टी. ली, 2011, **'लेनिन'**, रीएक्शन बुक्स लि., लन्दन)

स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है कि कार के पूरे विश्लेषण में सत्ता के वर्ग चरित्र का मूल्यांकन अनुपस्थित रहता है, जो कि अनुभववाद और प्रत्यक्षवाद की विशेषता है। इसे अनुभववादी प्रत्यक्षवादी अन्तर्दृष्टि की दृष्टिहीनता ही कहा जा सकता है, जो एक मायने में अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच के इतिहास-लेखन पर भी लागू होती है। साथ ही कार मज़दूर समितियों द्वारा कारख़ाना क़ब्ज़ा बनाम "राजकीय नियन्त्रण" और किसानों के बीच भूमि के पुनर्वितरण बनाम राजकीय फ़ार्मों के प्रश्न को एक दूसरे के सामने खड़ा कर देते हैं। वे समझ नहीं पाते कि इन दोनों प्रश्नों की

तुलना सम्भव ही नहीं है। यह मार्क्सवाद बनाम अराजकतावाद और मार्क्सवाद बनाम नरोदवाद के बहस की अनैतिहासिक तुलना के समान होगा। बहरहाल, अन्त में कार स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि लेनिन ने एक ओर कारख़ाना समितियों के रूप में मज़दूरों की क्रान्तिकारी पहलक़दमी का स्वागत किया वहीं पेत्रोग्राद क्षेत्र की कारख़ाना समितियों के पहले सम्मेलन में उन्होंने जो मसौदा प्रस्ताव तैयार किया उसमें उन्होंने समूचे उद्योग के "मज़दूर नियन्त्रण" के अपने अर्थ को भी स्पष्ट किया। कार स्वयं लेनिन को उद्धृत करते हैं :

"इस विपदा से बचने का रास्ता है वस्तुओं के उत्पादन और वितरण पर वास्तविक मज़दूर नियन्त्रण स्थापित करना। ऐसे नियन्त्रण को स्थापित करने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले यह निश्चित किया जाये कि सभी बुनियादी संस्थाओं में मज़दूरों की बहुसंख्या है, यानी कुल वोटों के तीन-चौथाई से कम नहीं, और यह भी कि सभी मालिक जो अपने व्यवसाय को छोड़कर भागे नहीं हैं उन्हें और साथ ही वैज्ञानिक और तकनीकी रूप से प्रशिक्षित कर्मचारियों को भागीदारी करने के लिए बाध्य किया जाये; दूसरी ज़रूरी चीज़ है कि सभी कार्यशाला व कारख़ाना समितियों, मज़दूरों, सैनिकों व किसानों के प्रतिनिधियों की केन्द्रीय व स्थानीय सोवियतों और साथ ही ट्रेड यूनियनों को ऐसे नियन्त्रण में हिस्सेदारी करने का अधिकार मिले, और यह कि सभी वाणिज्यिक व बैंक खातों को उनके द्वारा जाँच के लिए खोल दिया जाये, और यह कि प्रबन्धन को सभी आँकड़ों को देने के लिए बाध्य किया जाये; तीसरी अहम चीज़ यह कि सभी ज़्यादा अहम जनवादी व समाजवादी पाटियों के प्रतिनिधियों को भी ये सारे अधिकार दिये जायें।

"मज़दूर नियन्त्रण, जिसे कि विवाद के मसले उपस्थिति होने पर कई पूँजीपतियों ने भी मान्यता दी है, को तत्काल सावधानी से सुविचारित और क्रमिक लेकिन तात्कालिक तौर पर अमल में लाये जाने वाले क़दमों की श्रृंखला के ज़रिये वस्तुओं के उत्पादन व वितरण पर मज़दूरों के पूर्ण नियन्त्रण के रूप में विकसित किया जाये।" (ई.एच. कार, 1980, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन', खण्ड-2**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, लन्दन, पृ. 60-61 पर उद्धृत)

कारख़ाना समितियों के क़रीब 400 प्रतिनिधियों का यह सम्मेलन 30 मई 1917 को हुआ और इसमें लेनिन के इस मसौदा प्रस्ताव को ज़िनोवियेव ने पेश किया। यह प्रस्ताव 21 के मुक़ाबले 297 वोटों से विजयी हुआ जबकि 44 प्रतिनिधियों ने वोट नहीं दिया। कारख़ाना समितियों का सम्मेलन उन शुरुआती सम्मेलनों में से था, जिसमें बोल्शेविक बहुमत के रूप में उभरे। स्पष्ट है कि कारख़ाना समितियों के आन्दोलन में बोल्शेविक एक वर्चस्वकारी शक्ति बनकर उभर चुके थे। क्रान्तिकारी परिस्थिति में कारख़ाना समितियों का आन्दोलन आम मज़दूरों की व्यापक बहुसंख्या की नुमाइन्दगी करता था, जबकि ट्रेड यूनियनों ने क्रान्तिकारी परिस्थिति में कोई विशेष भूमिका नहीं निभायी थी और उनका नेतृत्व एक हद तक आम मज़दूरों की व्यापक आबादी से कटा हुआ था।

जून 1917 में पहली अखिल रूसी ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस में मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी बहुमत में थे। कार का यह प्रेक्षण सही है कि ट्रेड यूनियन कांग्रेस में बोल्शेविकों का अल्पमत में होना और कारख़ाना समितियों के सम्मेलन में उनका बहुमत में होना यह दिखलाता था कि मज़दूर वर्ग के ऊपरी और अपेक्षाकृत बेहतर वेतन पाने वाले "कुलीन" तबक़ों में मेंशेविकों व समाजवादी-क्रान्तिकारियों का बहुमत था जबकि आम व्यापक मज़दूर आबादी में बोल्शेविकों का प्रभाव ज़्यादा था। यही कारण था कि ट्रेड यूनियनों ने अक्टूबर क्रान्ति में कोई विशेष भूमिका नहीं निभायी और कई ट्रेड यूनियनों ने तो उसका विरोध भी किया था। इसका कारण यही था कि उनमें मेंशेविक बहुमत में थे और उनकी राजनीति का चरित्र इसी से निर्धारित हो रहा था। इस ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने एक अखिल रूसी ट्रेड यूनियन काउंसिल का चुनाव किया जिसमें आनुपातिक रूप से विभिन्न पार्टियों को प्रतिनिधित्व मिला। इस काउंसिल में बोल्शेविक प्रतिनिधि थे रियाज़ानोव व श्ल्याप्निकोव। इसके अध्यक्ष के तौर पर **मेज़राओन्त्सी ग्रुप** के लोज़ोव्स्की को चुना गया। त्रात्स्की भी शुरुआत में इसी ग्रुप के सदस्य थे। इस ग्रुप का कुछ हफ़्तों बाद बोल्शेविकों में विलय हो गया था। ट्रेड यूनियन कारख़ाना समितियों को मान्यता तो दे रहे थे, मगर उनके द्वारा कारख़ाना क़ब्ज़ा की मुहिम और उनके द्वारा मज़दूर नियन्त्रण का विरोध कर रहे थे। उनके अनुसार मज़दूर नियन्त्रण का कार्य कोई केन्द्रीय संगठन ही कर सकता था। लेकिन उनके अनुसार यह केन्द्रीय संगठन राज्यसत्ता की भूमिका अदा करने वाले निकाय, यानी कि सोवियत, नहीं हो सकते थे। और न ही यह कार्य कारख़ाना समितियाँ कर सकती थीं। इस अवस्थिति में हम भावी ट्रेड यूनियन विरोध के बीज देख सकते हैं। वास्तव में, संघाधिपत्यवादी भटकाव का सबसे ज़्यादा शिकार उस समय ट्रेड यूनियनवादी ही थे। वे समूची अर्थव्यवस्था के विनियमन के कार्य को राज्यसत्ता से स्वतन्त्र और स्वायत्त रूप में ट्रेड यूनियनों को देने की वकालत कर रहे थे। समाजवादी-क्रान्तिकारी और अराजकतावादी कारख़ाना समितियों द्वारा उत्पादन व वितरण के स्वायत्त नियन्त्रण की वकालत कर रहे थे। लेनिन की अवस्थिति इनसे अलग थी। उनका मानना था कि कारख़ाना समितियों के आन्दोलन का पुरज़ोर समर्थन किया जाना चाहिए क्योंकि ये आरज़ी सरकार के विरुद्ध विद्रोह की तात्विक शक्तियों में से एक है। साथ ही, वे कारख़ाना समितियों द्वारा मज़दूर नियन्त्रण को अलग-अलग कारख़ानों के अलग-अलग कारख़ाना समितियों द्वारा नियन्त्रण के रूप में नहीं देख रहे थे, बल्कि कारख़ाना समितियों के एक अखिल रूसी केन्द्रीय संगठन, ट्रेड यूनियनों और सोवियतों द्वारा समन्वित नियन्त्रण के रूप में देख रहे थे। साथ ही, उनका मानना था कि यह समन्वित नियन्त्रण मज़दूर राज्यसत्ता के नेतृत्व में होगा। कारख़ाना समितियों ने अक्टूबर क्रान्ति के पहले कहीं ज़्यादा सक्रिय भूमिका निभायी और अक्टूबर तक चार सम्मेलन किये। अपने आख़िरी सम्मेलन को उन्होंने **अखिल रूसी कारख़ाना समिति** कांग्रेस के रूप में मान्यता दी। इस कांग्रेस ने कई प्रस्ताव पारित किये जिसमें उत्पादन के मज़दूर नियन्त्रण को राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित करने का समर्थन किया गया और कारख़ाना समितियों के एक केन्द्रीय प्रातिनिधिक संगठन को खड़ा करने का संकल्प लिया गया।

कारख़ाना समितियों और ट्रेड यूनियन के बीच के अन्तरविरोधों का विशेष तौर पर अगस्त के बाद के दौर में कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया था। मज़दूरों की कारख़ाना समितियाँ कारख़ानों पर क़ब्ज़ा कर रही थीं और दूसरी ओर भूमि समितियाँ ज़मीनों पर तेज़ी से क़ब्ज़ा कर रही थीं। सेना का ज़्यादा से ज़्यादा हिस्सा लगातार पेत्रोग्राद सोवियत के पक्ष में आता जा रहा था। अगस्त के आख़िरी सप्ताह से लेकर सितम्बर के पहले सप्ताह के बीच बोल्शेविक पार्टी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में पहली बार बहुमत में आ चुकी थी। मज़दूरों और सैनिकों की मॉस्को व पेत्रोग्राद सोवियतों में बोल्शेविक पार्टी अब वर्चस्वकारी स्थिति में थी। सितम्बर मध्य में लेनिन ने अपनी रचना **'बोल्शेविकों को सत्ता हासिल करनी ही होगी'** में लिखा कि अब सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का समय आ गया है। केन्द्रीय कमेटी कुछ समय तक लेनिन के सन्देश पर कोई निर्णय नहीं ले पा रही थी। इसके बाद लेनिन ने कई पत्रों और सन्देशों को पार्टी की केन्द्रीय कमेटी को भेजा। अन्तत: लेनिन के स्वयं केन्द्रीय कमेटी की एक बैठक में आने के साथ यह असमंजस की स्थिति टूटी और अन्तत: सशस्त्र विद्रोह के ज़रिये सत्ता हाथ में लेने का निर्णय लिया गया। इस पूरे प्रकरण पर हम अगले शीर्षक में आयेंगे।

इस दौर में लेनिन के विचारों के विकास को हम उनकी दो रचनाओं में देख सकते हैं। पहली रचना सितम्बर 1917 में लिखी गयी थी - **'आसन्न आपदा और उससे निपटने के रास्ते'**। दूसरी रचना थी **'क्या बोल्शेविक राज्यसत्ता पर काबिज़ रह पायेंगे'** जो कि अक्टूबर में लिखी गयी थी। पहली रचना में लेनिन ने पहली बार बुर्जुआ क्रान्ति के दायरे में अपने आर्थिक कार्यक्रम की रूपरेखा स्पष्ट की। इस रचना का मुख्य उद्देश्य वास्तव में यह था कि छह माह में पहले कैडेट-नीत बुर्जुआ आरज़ी सरकार और फिर समाजवादी पार्टियों के नेतृत्व में बनी बुर्जुआ आरज़ी सरकार की समझौतापरस्ती, बुर्जुआ क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने में इसकी अक्षमता और इसके प्रतिक्रिया की ओर खिसकते जाने की हरकत को बेनक़ाब किया जा सके। इसमें लेनिन ने उन क़दमों के बारे में बताया जो कि मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही को उठाने चाहिए थे और चूँकि फ़रवरी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आयी आरज़ी सरकार ने ये क़दम नहीं उठाये इसलिए उसे और उस पर काबिज़ पार्टियों यानी समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी और मेंशेविक पार्टी को क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता; बल्कि फ़रवरी से सितम्बर के सात महीने ये दिखला रहे हैं कि वे बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामी वर्ग के सामने आत्मसमर्पण करने वाली टटपुँजिया पार्टियाँ बन चुकी हैं और धुर प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ पार्टी की भूमिका अब कैडेट पार्टी निभा रही है, जो कि पहले उदार बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही थी। इस लेख में लेनिन ने बताया कि शुद्ध रूप से समाजवादी कार्यक्रम को लागू किये बिना, एक क्रान्तिकारी जनवादी सरकार बैंकों का राष्ट्रीकरण, उद्योगों का सिण्डिकेटीकरण, उपभोग का विनियमन, सभी छोटे उद्योगों व व्यवसायों का बलात सिण्डिकेटीकरण, समूचे उत्पादन व वितरण का मज़दूर सत्ता द्वारा राजकीय नियन्त्रण व निरीक्षण, और नियोक्ताओं व प्रबन्धकीय कर्मचारियों को इस व्यवस्था के तहत कार्य करने के लिए बाध्य करना जैसे क़दमों को लागू कर सकती है। यह

सम्पत्ति सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं लाता लेकिन समूची अर्थव्यवस्था को ज़्यादा वैज्ञानिक तौर पर संगठित करता और उसे राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद की ओर ले जाता। एक मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही के मातहत ऐसी व्यवस्था न केवल बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों को रैडिकल तरीक़े से पूर्ण करती बल्कि वह 'समाजवाद की ओर कुछ प्रारम्भिक क़दम' भी होती। लेनिन का इस रचना में मुख्य उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि बुर्जुआ आरज़ी सरकार ये कार्य पूरे करने में अक्षम है और इस तौर पर वह इतिहास की प्रतिक्रियावादी शक्ति बन चुकी है। यह अब बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का भी गला घोंट देगी और अब जनवादी क्रान्ति को पूर्ण करने के लिए समाजवाद की ओर कुछ प्रारम्भिक क़दम उठाना ऐतिहासिक अनिवार्यता बन गया है। लेनिन लिखते हैं :

''आमतौर पर इतिहास में स्थिर रहना असम्भव होता है, और युद्धकाल में तो विशेष तौर पर। बीसवीं सदी के रूस में, जिसने एक क्रान्तिकारी तरीक़े से गणतन्त्र और जनवाद हासिल किया है, समाजवाद की ओर *आगे बढ़े* बग़ैर, बिना इसकी ओर क़दम बढ़ाये, आगे बढ़ पाना *असम्भव* है (जो क़दम तकनोलॉजी व संस्कृति के स्तर से निर्धारित होंगे: किसान खेती में बड़े पैमाने का मशीन उत्पादन ''लाया'' नहीं जा सकता और न ही इसे चीनी उद्योग में हटाया जा सकता है)

''लेकिन आगे बढ़ने से डरने का अर्थ होगा पीछे हटना - जो कि केरेंस्की जैसे तमाम लोग त्सेरेत्लियों और चेर्नोवों की मूर्खतापूर्ण मदद से कर रहे हैं, और जिस पर मिल्युकोव व प्लेखानोव जैसे तमाम लोग तालियाँ पीट रहे हैं।

''इतिहास का द्वन्द्व ऐसा है कि इज़ारेदार पूँजीवाद के राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद में रूपान्तरण की गति को बढ़ाकर इसने ठीक इसी के ज़रिये मानव जाति को असाधारण रूप में समाजवाद की ओर आगे बढ़ा दिया है।

''साम्राज्यवादी युद्ध समाजवादी क्रान्ति की पूर्वसन्ध्या है। और ऐसा केवल इसलिए नहीं है कि युद्ध की भयंकरता ने सर्वहारा विद्रोह को बढ़ावा दे दिया है - कोई भी विद्रोह तब तक समाजवाद नहीं ला सकता है जब तक कि समाजवाद के लिए आर्थिक स्थितियाँ तैयार न हो गयी हों - बल्कि इसलिए कि राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद समाजवाद के लिए *भौतिक* तैयारी की पूर्णता तक पहुँचना है, समाजवाद की *दहलीज़* है। इतिहास की सीढ़ी में समाजवाद के सोपान और राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद के सोपान के बीच और *कोई मध्यवर्ती सोपान नहीं हैं*।'' (वी.आई. लेनिन, 1974, *दि इम्पेण्डिंग कैटास्ट्रॉफी एण्ड हाउ टू कॉम्बैट इट*, **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-25,** चौथा अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 362-363)

सितम्बर के अन्त व अक्टूबर के प्रथम सप्ताहों में लेनिन ने दूसरा अहम लेख **'क्या बोल्शेविक राज्यसत्ता पर क़ाबिज़ रह पायेंगे'** लिखा। इसमें लेनिन ने रूस में मज़दूर समाजवादी क्रान्ति के बाद मज़दूर सत्ता की आरम्भिक आर्थिक नीतियों के बारे में पहली बार स्पष्ट तौर पर लिखा।

क्रान्ति के बाद बैंकों के राष्ट्रीकरण, उद्योगों के सिण्डिकेटीकरण, छोटे उद्यमों के बलात एकीकरण, और मुख्यत: राज्य और अन्य सर्वहारा संस्थाओं के ज़रिये समूची अर्थव्यवस्था के विनियमन व नियन्त्रण को क़ायम किया जायेगा। सभी उद्योगों में मज़दूर नियन्त्रण स्थापित किया जायेगा। लेकिन लेनिन ने संघाधिपत्यवाद के आरोप का खण्डन करते हुए स्पष्ट किया कि यह आरोप तभी सही हो सकता था जब बोल्शेविक बिना सर्वहारा अधिनायकत्व के मज़दूर नियन्त्रण की बात करते। लेनिन इसी लेख में लिखते हैं :

''जब नोवाया जीज्न के लेखक कहते हैं कि ''मज़दूर नियन्त्रण'' के नारे को बुलन्द करके हम संघाधिपत्यवाद के गड्ढे में गिर रहे हैं तो उनका यह तर्क ''मार्क्सवाद'' को बिना पढ़े उसे लागू करने, उसे स्त्रूवे के समान रटकर सीखने के मूर्ख स्कूली बच्चे वाली पद्धति का एक उदाहरण मात्र बनकर रह गया। संघाधिपत्यवाद या तो सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को ख़ारिज़ करता है, या फिर इसे पीछे की सीट की ओर धकेल देता है, जिस प्रकार यह आमतौर पर राजनीतिक सत्ता के प्रश्न के साथ करता है। लेकिन हम इस प्रश्न को सबसे आगे रखते हैं। अगर हम केवल *नोवाया जीज्न* के लेखकों के साथ सहमति जताते हुए यह कहें : मज़दूर नियन्त्रण *नहीं बल्कि* राजकीय नियन्त्रण, तो यह केवल एक बुर्जुआ सुधारवादी जुमला बन जायेगा, यह सारत: एक शुद्ध रूप से कैडेट फ़ार्मुला बन जायेगा क्योंकि कैडेटों को ''राजकीय'' नियन्त्रण में मज़दूरों की भागीदारी पर कोई आपत्ति नहीं है। कोर्निलोवाइट कैडेटों को अच्छी तरह से पता है कि ऐसी भागीदारी बुर्जुआ वर्ग को मज़दूरों को वेवक़ूफ़ बनाने का सर्वश्रेष्ठ तरीक़ा देती है...

''जब हम कहते हैं : ''मज़दूर नियन्त्रण'', तो हम इस नारे को हमेशा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के *बरक्स* रखते हैं, हमेशा इसे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के *ठीक बाद* में रखते हैं, और इसके ज़रिये हम बताते हैं कि हम किस प्रकार के राज्य के बारे में बात कर रहे हैं...अगर यह (राज्य) सर्वहारा वर्ग का है, अगर हम सर्वहारा राज्य की, *यानी*, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की बात कर रहे हैं, तो मज़दूर नियन्त्रण एक देशव्यापी, सर्वसमावेशी, सर्वत्र उपस्थित, वस्तुओं के उत्पादन और वितरण का सबसे सटीक और सबसे सचेतन लेखांकन *बन सकता* है।'' (लेनिन, 1977, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-2, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ 364-65)

इस उद्धरण में लेनिन वे सभी भ्रम दूर कर देते हैं जिनका शिकार एक ओर ई.एच. कार जैसे अनुभववादी अध्येता हो जाते हैं, जो इस बात को बोल्शेविकों की चाणक्य-बुद्धि का प्रतीक मानते हैं कि पहले बोल्शेविक ही कारख़ाना समितियों द्वारा कारख़ानों पर क़ब्ज़े की मुहिम का समर्थन कर रहे थे क्योंकि वह आरज़ी सरकार के विरुद्ध माहौल बनाने में उनकी सहायता कर रहा था और सत्ता में आने के बाद उन्होंने ही कारख़ाना समितियों को ट्रेड यूनियनों के केन्द्रीय और उनके ज़रिये राजकीय नियन्त्रण में ला दिया और इस प्रकार "प्रत्यक्ष मज़दूर नियन्त्रण" को समाप्त कर दिया; और साथ ही, **'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन'** के सुजीत दास जैसे राजनीतिक नौदौलतियों के

अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विभ्रम को भी साफ़ कर देते हैं कि मज़दूर नियन्त्रण से उनका क्या अर्थ था।

क्रान्ति के पहले ही कई लेखों में लेनिन ने स्पष्ट किया था कि मज़दूर नियन्त्रण से उनका अर्थ है समूचे मज़दूर वर्ग द्वारा समूचे उद्योग व अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण न कि एक-एक कारख़ाने के मज़दूरों द्वारा अपने-अपने कारख़ाने पर नियन्त्रण। यही कारण था कि बोल्शेविकों ने कारख़ाना समितियों के भी एक केन्द्रीकृत संगठन को खड़ा किया और आगे चलकर (जब ट्रेड यूनियनों में बोल्शेविक बहुमत में आ गये) तो उन्हें ट्रेड यूनियनों के केन्द्रीय संगठन के मातहत किया।

इस प्रसंगान्तर के बाद हम घटनाओं के ब्यौरे पर वापस आ सकते हैं। मई के बाद के दो-तीन महीनों के दौरान कई अहम परिवर्तन हुए। जैसा कि हमने पहले बताया, बोल्शेविक पार्टी ने तेज़ी से किसान सोवियतों और भूमि समितियों में संगठित किसानों का समर्थन जीता। वहीं दूसरी ओर मज़दूरों के बीच कारख़ाना समितियों में वे जून तक वर्चस्वकारी राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित हो चुके थे। ट्रेड यूनियन कांग्रेस में अभी भी मेंशेविक बहुमत में थे, लेकिन चूँकि ट्रेड यूनियनों के आम सदस्यों का समर्थन बोल्शेविकों के पक्ष में जा चुका था इसलिए जून से अक्टूबर क्रान्ति तक ट्रेड यूनियन काउंसिल, जो कि जून की ट्रेड यूनियन कांग्रेस में चुनी गयी थी, उसकी कोई विशेष भूमिका नहीं थी। ई.एच. कार भी इस बात का ज़िक्र करते हैं और एक मेंशेविक ट्रेड यूनियन नेता के हवाले से बताते हैं कि इन चार महीनों के दौरान यह काउंसिल निष्क्रिय ही रही और इस निष्क्रियता के एकमात्र अपवाद लोज़ोव्स्की थे, जो कि काउंसिल के अध्यक्ष थे और जिन्होंने कुछ ही हफ़्तों बाद बोल्शेविकों के साथ हाथ मिला लिया था, क्योंकि उनका ग्रुप मेज़राओन्त्सी बोल्शेविक पार्टी में शामिल हो गया था। इस प्रकार मज़दूरों में भी जो आन्दोलन की सक्रिय शक्ति थी वह बोल्शेविकों के हाथों में आ चुकी थी।

जून के बाद से बोल्शेविकों का सितारा तेज़ी से बुलन्द होने लगा। मोर्चे पर लगातार हार, बड़े पैमाने पर रूसी सैनिकों के नरसंहार से सेना में युद्ध के ख़िलाफ़ माहौल बनता जा रहा था। किसान आबादी समाजवादी-क्रान्तिकारियों के संविधान सभा के बुलाये जाने तक इन्तज़ार करने के आश्वासनों से ऊब चुकी थी और भूमि समितियों द्वारा ज़मीनों पर क़ब्ज़े की मुहिम और रफ़्तार पकड़ चुकी थी। मज़दूरों का व्यापक हिस्सा पहले से ही बोल्शेविकों के साथ था। अप्रैल में मिल्युकोव और गुचकोव के इस्तीफ़े के बाद यह साफ़ हो गया था कि आरज़ी सरकार का संकट शुरू हो चुका है। उनके इस्तीफ़े के बाद पहली संयुक्त सरकार बनी जिसमें कैडेट पार्टी के साथ समाजवादी पार्टियों (मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी) के छह मन्त्रियों को शामिल किया गया था। ग़ौर करने की बात है कि ये ही मेंशेविक पहले किसी भी आरज़ी बुर्जुआ सरकार में न शामिल होने की वकालत करते थे और मानते थे कि उनकी पार्टी को आरज़ी बुर्जुआ सरकार पर दबाव डालने वाले "मज़दूर विपक्ष" की भूमिका निभानी चाहिए। लेकिन बुर्जुआ सरकार के संकट का समाधान करने के लिए वे बेशर्मी से आरज़ी सरकार में शामिल हो गये, ताकि आरज़ी सरकार के प्रति लगातार बढ़ रहे असन्तोष और मोहभंग पर क़ाबू पाया जा सके। इसी बीच

अप्रैल की बोल्शेविक पार्टी की सातवीं अखिल रूसी कॉन्फ्रेंस में पार्टी ने लेनिन की **अप्रैल थीसीज़** को मूलत: और मुख्यत: अपना लिया और 'सारी सत्ता सोवियतों को' का नारा अपनाया। पार्टी ने योजनाबद्ध तरीक़े से सोवियतों, ट्रेड यूनियनों और अन्य जनसंगठनों में मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों को बेनकाब करने का काम शुरू किया और जनता के सामने यह स्पष्ट करना शुरू किया कि नयी संयुक्त आरज़ी सरकार भी पूँजीपतियों, साम्राज्यवादियों और भूस्वामियों की नुमाइन्दगी करती है। यह सरकार न तो जनता को रोटी दे सकती है, न किसानों को ज़मीन, न साम्राज्यवादी युद्ध से मुक्ति और न ही मज़दूरों को उनके जायज़ जनवादी अधिकार। वास्तव में, अब यह बुर्जुआ सरकार बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने की बजाय जनवादी क्रान्ति का ही गला घोंटने का काम कर रही है और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को बचाने के लिए अब मज़दूर वर्ग को सत्ता अपने हाथों में लेनी होगी और समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देना होगा। हम ऊपर बतला चुके हैं कि बोल्शेविक कारख़ाना समितियों के सम्मेलन में बहुमत में आ चुके थे। जून में हुई ट्रेड यूनियन कांग्रेस में वे अभी भी बहुमत में नहीं थे, लेकिन क्रान्तिकारी प्रक्रियाओं में ट्रेड यूनियनों की भूमिका ही वस्तुत: बेहद कम थी और उनके भी आम सदस्य बोल्शेविकों के पक्ष में आ चुके थे।

जून में सोवियतों की पहली अखिल रूसी कांग्रेस हुई। इसमें बोल्शेविक अभी भी अल्पसंख्या में थे। बोल्शेविक उस दौर में 10 जून को पेत्रोग्राद में एक प्रदर्शन आयोजित करने और सोवियतों की कांग्रेस में अपनी माँगें व्यवस्थित रूप में पेश करने के लिए अभियान चला रहे थे। सोवियतों की कांग्रेस में मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व को यह डर था कि मज़दूर सोवियतों की इजाज़त के बिना ही प्रदर्शन कर देंगे। इसलिए अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने पहले बोल्शेविक पार्टी को 10 जून के प्रदर्शन को रद्द करने के लिए कहा और फिर उसने ही 18 जून को प्रदर्शन करने का आह्वान कर दिया। लेकिन बेहतर पार्टी संगठन और योजना के बूते और साथ ही साथ सही कार्यदिशा से लैस होने के चलते बोल्शेविक इस प्रदर्शन पर छा गये। अधिकांश बैनरों पर बोल्शेविकों के नारे थे, जो युद्ध समाप्त करने और सारी सत्ता सोवियतों को देने की माँग कर रहे थे और साथ ही आरज़ी सरकार के विरुद्ध असन्तोष जताते बैनरों की भरमार थी। अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने अभी आरज़ी सरकार को समर्थन जारी रखने का ही प्रस्ताव पारित किया था, लेकिन तृणमूल धरातल पर हो रहे परिवर्तन समय की बदलती धारा को दिखला रहे थे।

18 जून को ही आरज़ी सरकार ने इस उम्मीद में विश्व युद्ध में एक बड़े रूसी आक्रमण की शुरुआत का निर्णय लिया और 19 जून को उसकी घोषणा की, कि राष्ट्रवाद और देश की रक्षा की भावना को भड़काकर फिर से अपनी वरीयता स्थापित की जाये। उसे उम्मीद थी कि आक्रमण सफल होने पर सोवियतों का प्राधिकार समाप्त हो जायेगा और पूरी सत्ता वह अपने हाथों में ले लेगी। और अगर हमला असफल होता है तो उसका दोष बोल्शेविकों के सिर मढ़ दिया जायेगा कि उन्होंने अपने नकारात्मक प्रचार से सेना के मनोबल को गिरा दिया था। आक्रमण असफल होना ही था और वह हुआ भी। इसके बाद आरज़ी सरकार की उम्मीदों के विपरीत जनता के बीच

गुस्सा भयंकर तरीक़े से बढ़ा। मज़दूरों और सैनिकों में पेत्रोग्राद सोवियत की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के प्रति भी गुस्सा बढ़ रहा था, क्योंकि यह स्पष्ट तौर पर दिखायी दे रहा था कि मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति मौखिक तौर पर शान्ति और ज़मीन की बात करते हुए बुर्जुआ आरज़ी सरकार के पीछे घिसट रही है। इन सभी कारकों के चलते 3 जुलाई को पेत्रोग्राद में मज़दूरों और सैनिकों का एक जुझारू प्रदर्शन शुरू हुआ जो जल्द ही एक स्वत:स्फूर्त बग़ावत में तब्दील हो गया। बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्व इस बात को समझता था कि जब तक सोवियतों, विशेषकर पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत और साथ ही किसान सोवियतों का समर्थन निर्णायक तौर पर साथ नहीं आता, जब तक अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में बोल्शेविकों का बहुमत अर्जित नहीं होता, तब तक आम बग़ावत एक अपरिपक्व क़दम होगा और उसे आरज़ी सरकार कुचल देगी। बोल्शेविकों ने इन उग्र प्रदर्शनों को भरसक सीमा में रखने का और शान्तिपूर्ण बनाये रखने का प्रयास किया और वे उसमें काफ़ी हद तक कामयाब भी हुए। लेकिन इसके बावजूद आरज़ी सरकार ने सबसे प्रतिक्रियावादी और राजनीतिक चेतना से रिक्त सैन्य दस्तों के ज़रिये इन प्रदर्शनों को बर्बरता से कुचलवा दिया। लेकिन फिर भी बुर्जुआ शासक वर्ग बुरी तरह घबरा गया था। नतीजतन, संयुक्त आरज़ी सरकार ने, जिसमें कि समाजवादी-क्रान्तिकारी और मेंशेविक शामिल थे, बोल्शेविक पार्टी के विरुद्ध दमन का एक चक्र चलाया। *प्राव्दा* का दमन सबसे पहले किया गया क्योंकि यह बोल्शेविकों के प्रभावी राजनीतिक प्रचार का ज़बरदस्त माध्यम था। इसके बाद 7 जुलाई को लेनिन की गिरफ़्तारी का वारण्ट जारी हुआ। लेनिन और उनके साथ ज़िनोवियेव भूमिगत हो गये। लेकिन बोल्शेविक पार्टी के कई अन्य प्रमुख नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया, जैसे कि कामेनेव व कोलोन्ताई। त्रात्स्की भी गिरफ्तार हो गये जो अभी-अभी बोल्शेविक पार्टी में अपने समूचे समूह मेज़राओन्त्सी के साथ शामिल हुए थे। जुलाई में कुछ दिनों के लिए एक प्रतिक्रिया का दौर हावी हुआ और बोल्शेविकों के विरुद्ध सरकार द्वारा जर्मन एजेण्ट होने के कुत्साप्रचार का थोड़ा असर भी हुआ। लेकिन यह स्थिति गैलीशिया में रूसी सेना के आक्रमण के बुरी तरह असफल होने के साथ बदलती गयी।

सोवियत सत्ता फ़िलहाल निष्प्रभावी और संयुक्त आरज़ी सरकार की टट्टू बन गयी थी और फ़िलहाली तौर पर 'दोहरी सत्ता' समाप्त हो गयी थी। अब शान्तिपूर्ण तरीक़े से क्रान्तिकारी मज़दूरों, सैनिकों व किसानों की सोवियतों के हाथ में सत्ता आने का दौर बीत चुका था। बोल्शेविक पार्टी भूमिगत हो गयी। छठी पार्टी कांग्रेस में पार्टी के कार्यक्रम में बदलाव किया गया और पूँजीपतियों व भूस्वामियों की आरज़ी सरकार का बलपूर्वक तख्तापलट करने को कार्यक्रम के तौर पर स्वीकार किया गया। छठी कांग्रेस बोल्शेविकों के लिए एक महत्वपूर्ण पार्टी कांग्रेस थी।

पार्टी ने भूमिगत रहते हुए अपनी छठी कांग्रेस की जो कि पाँचवीं लन्दन कांग्रेस के दस वर्ष बाद हुई थी। बोल्शेविकों के प्राग सम्मेलन के भी पाँच वर्ष बाद यह कांग्रेस हो रही थी। इसमें कई अहम निर्णय लिये गये और कई बेहद महत्वपूर्ण बहसें हुईं जिन पर हम आगे चर्चा करेंगे, लेकिन इस कांग्रेस ने समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को पारित किया और सशस्त्र विद्रोह की तैयारी

करने का निर्णय लिया। 'सारी सत्ता सोवियतों को' के नारे को फ़िलहाल वापस ले लिया गया। जैसा कि **चार्ल्स बेतेलहाइम** ने लिखा है, सोवियतों को सत्ता देने का नारा बोल्शेविकों के लिए कोई अमूर्त विचारधारात्मक नारा नहीं था और इस नारे को अपनाना उनके लिए हमेशा सोवियतों के राजनीतिक वर्ग चरित्र पर निर्भर करता था। सोवियतों की सत्ता को एक 'फ़ेटिश' में तब्दील करने की प्रवृत्ति बाद में सोवियत समाजवाद की आलोचना करने वाले तमाम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, "वामपन्थी" आलोचकों द्वारा पैदा की गयी। बोल्शेविकों के लिए समानान्तर सत्ता के निकाय के रूप में सोवियतों की मान्यता सोवियतों के विचारधारात्मक व राजनीतिक नेतृत्व पर निर्भर करती थी। बहरहाल, कांग्रेस में तात्कालिक आर्थिक कार्यक्रम के तौर पर बैंकों व उद्योगों का राष्ट्रीकरण, समूचे उत्पादन व वितरण पर मज़दूर वर्ग की राज्यसत्ता के ज़रिये नियन्त्रण स्थापित करने, युद्ध का जनवादी शान्ति के साथ समापन करने और किसानों को ज़मीन देने का निर्णय पारित हुआ।

इस बीच आरज़ी बुर्जुआ सरकार ने 12 अगस्त को एक राज्य परिषद् गठित कर उसकी बैठक बुलायी जिसमें तमाम बुर्जुआ मन्त्रियों के साथ ही साथ सोवियतों के मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी नेता भी शामिल हुए। इस बैठक का मूल उद्देश्य था सोवियतों की बची-खुची सत्ता को पूरी तरह समाप्त कर आरज़ी सरकार के रास्ते के हरेक रोड़े को हटा दिया जाये। सेना के भीतर सत्ता-विरोधी सैनिकों को मौक़े पर सज़ा दी जाने लगी; कई बार तो सैनिकों के पूरे के पूरे समूहों को गोली मार दी गयी। कोर्निलोव ने तो मोर्चे के बाहर आमतौर पर भी मृत्युदण्ड को बहाल करने की वकालत की। बोल्शेविकों पर दमन और तेज़ कर दिया गया। केरेंस्की ने भूमि समितियों द्वारा ज़मींदारों की ज़मीन पर क़ब्ज़े की हर कोशिश को बलपूर्वक दबाने का ऐलान किया। बोल्शेविकों ने मॉस्को में आम हड़ताल का ऐलान किया जिसमें बड़ी तादाद में मज़दूरों ने हिस्सा लिया। कई अन्य शहरों में भी इस आह्वान के जवाब में मज़दूरों ने हड़तालें कीं।

सेना के दक्षिणपन्थी प्रतिक्रान्तिकारी जनरल कोर्निलोव ने इसी बीच सोवियतों और कारख़ाना समितियों व भूमि समितियों को पूरी तरह कुचल देने की माँग की। रूस का बड़ा पूँजीपति वर्ग और युंकर वर्ग क्रान्तिकारी आन्दोलन के बढ़ते ज्वार से भयाक्रान्त था और उसने तुरन्त इस दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया की शरण ली। जुलाई के जनउभार के बाद बुर्जुआ वर्ग का अधिक से अधिक दक्षिणपन्थी रुख़ लेना और ज़्यादा साफ़ तौर पर देखा जा सकता था। इस दक्षिणपन्थी बुर्जुआ वर्ग को एक बोनापार्तवादी शख्सियत की ज़रूरत थी। यह शख्सियत उन्हें जनरल कोर्निलोव के रूप में मिली। रैबिनोविच ने अपनी पुस्तक 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर' में कोर्निलोव के उभार की विस्तृत चर्चा की है। रैबिनोविच बताते हैं कि कोर्निलोव वास्तव में कोई बहुत सक्षम व दूरदर्शी जनरल नहीं था। वह युद्ध में दुश्मनों द्वारा गिरफ़्तार हुआ था और फिर उनकी जेल से भाग निकला था। शुरू से ही कोर्निलोव सेना में तानाशाहाना नियन्त्रण के पक्ष में था और आरज़ी सरकार की उदारता और प्रभावहीनता से घृणा करता था। उसका मानना था कि सोवियतों को और साथ ही बोल्शेविकों को बलपूर्वक कुचल दिया जाना चाहिए। वास्तव में, वह सोवियत सत्ता और बोल्शेविकों में

ज़्यादा फ़र्क़ ही नहीं कर पाता था। कोर्निलोव के दुश्मनों के क़ब्ज़े से भाग निकलने के बाद रूस में दक्षिणपन्थी मीडिया ने उसे नायक बना दिया। इसी बीच कैडेट पार्टी जो जुलाई के पहले सप्ताह में सरकार से बाहर निकल गयी थी, दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया के ज़्यादा से ज़्यादा क़रीब जाने लगी। सेना के अन्दर एक स्पष्ट वर्ग विभाजन था जिसमें अधिकारी वर्ग सेना में फैलती अराजकता के लिए क्रान्ति को ज़िम्मेदार मानता था और पुराने ज़ारकालीन व्यवस्था को फिर से सेना में लागू करना चाहता था। इन जनरलों में देनीकिन भी एक प्रमुख व्यक्ति था, जो कि आगे चलकर प्रतिक्रान्ति के प्रमुख नेताओं में से एक बना। इस प्रतिक्रिया के उभार में कई दक्षिणपन्थी समूहों की भूमिका थी। इसमें एक समूह का नेता था ज़ावॉइको जो कि आगे चलकर कोर्निलोव का मार्गदर्शक और सहयोगी बना। इसके अलावा, कुछ पुराने दक्षिणपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने भी केरेंस्की के शुरुआती दौर में कोर्निलोव के प्रति झुकाव को पैदा करने में विशेष भूमिका निभायी थी। इनमें साविंकोव और मैक्सिमिलियन फिलोनेंको प्रमुख थे। केरेंस्की सेना में मौजूद अराजकता पर क़ाबू पाने में अक्षम था और साथ ही बोल्शेविकों की बढ़ती ताक़त का भय उसे लगातार सता रहा था। नतीजतन, आरज़ी सरकार ने केरेंस्की के नेतृत्व में कोर्निलोव की दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया को प्रश्रय देने और उसे बोल्शेविक क्रान्तिकारी उभार के प्रतिभार के तौर पर इस्तेमाल करने की योजना बनायी। केरेंस्की साविंकोव और फिलोनेंको के सुझावों के प्रभाव में यह मानता था कि वह इस कोर्निलोव कारक को नियन्त्रण में रख पायेगा। लेकिन कोर्निलोव की प्रतिक्रिया जल्द ही केरेंस्की के नियन्त्रण से बाहर निकल गयी। केरेंस्की ने अपने आपको कोर्निलोव से अन्तिम मौक़े पर अलग कर लिया लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी और कोर्निलोव ने राजधानी पर चढ़ाई का ऐलान कर दिया था।

कोर्निलोव ने फ़ौज को जुटाकर पेत्रोग्राद पर चढ़ाई की तैयारी शुरू कर दी। ये तैयारियाँ खुलेआम हो रही थीं। 25 अगस्त को कोर्निलोव की सेना का पेत्रोग्राद की ओर कूच हुआ। बोल्शेविकों के नेतृत्व में मज़दूरों और सैनिकों ने इस प्रतिक्रान्ति का हथियारबन्द जवाब देने की तैयारी शुरू कर दी। पेत्रोग्राद के चारों ओर खन्दकें खोद दी गयीं और बैरीकेड्स खड़े कर दिये गये। कई हज़ार सैनिक क्रोंस्तात से पेत्रोग्राद की रक्षा के लिए आये। कोर्निलोव की आगे बढ़ रही सेना के पास कई प्रतिनिधि भेजे गये, जिन्होंने सैनिकों को कोर्निलोव की प्रतिक्रान्ति की असलियत समझाने का प्रयास किया। नतीजतन, कई प्रमुख दस्ते पहले ही कोर्निलोव के इस प्रयास से अलग हो गये। अन्ततः कोर्निलोव का प्रतिक्रान्तिकारी विद्रोह ठीक से शुरू हो पाने से पहले ही कुचल दिया गया। इस बीच आरज़ी सरकार के मन्त्री और केरेंस्की भयाक्रान्त थे और इस उम्मीद में बैठे हुए थे कि कोर्निलोव को बोल्शेविक हरा दें। इस विद्रोह को कुचलने के लिए तकनीकी और सैन्य धरातल पर बोल्शेविकों ने अन्य समाजवादी ताक़तों के साथ सहयोग और तालमेल किया। कोर्निलोव विद्रोह ने मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के भी एक हिस्से के सामने स्पष्ट कर दिया था कि क्रान्ति एक स्थान पर खड़ी नहीं रहेगी; या तो वह मज़दूर क्रान्ति की ओर आगे बढ़ेगी या फिर दक्षिणपन्थी प्रतिक्रान्ति की ओर।

लेनिन ने इसी उम्मीद में सितम्बर के शुरुआती दिनों में कुछ लेख लिखे जिसमें उन्होंने यह उम्मीद की कि मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व वाली सोवियत सत्ता को आरज़ी सरकार से छीन पूरी तरह अपने हाथों में ले लेगी और इस तौर पर जनवादी क्रान्ति अपने मुक़ाम तक पहुँचेगी और वहाँ तक क्रान्ति का शान्तिपूर्ण विकास हो पायेगा। इस पूरे प्रकरण को रैबिनोविच ने ग़लत रूप में व्याख्यायित किया है। लेनिन के उन लेखों को जिसमें वे मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से जनवादी क्रान्ति को मुक़ाम तक पहुँचाने की प्रक्रिया में सहयोग और समझौते की बात कर रहे हैं, उसे रैबिनोविच लेनिन के उन विचारों में बदलाव के रूप में चित्रित करने का प्रयास करते हैं जो कि लेनिन ने कुछ ही समय पहले रखे थे। लेनिन ने कुछ समय पहले यह कहा था कि सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का वक़्त क़रीब आ रहा है। कोर्निलोव के विद्रोह के बाद एक विशिष्ट स्थिति पैदा हुई थी जिसमें लेनिन लघुकालिक रणकौशलात्मक समझौतों की बात कर रहे थे। उस समय लेनिन की ऐसी सोच थी कि सोवियतों द्वारा सत्ता अपने हाथों में लिये जाने के साथ ही मज़दूर वर्ग अपने अधिनायकत्व को स्थापित करने की लड़ाई शुरू कर देता। लेकिन जल्द ही जनवादी राज्य सम्मेलन ने दिखला दिया था कि कोर्निलोव के विद्रोह के बावजूद मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि वे जनता की जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को रैडिकल तरीक़े से पूरा करने में कोई भूमिका निभायेंगे और उन्होंने सितम्बर के मध्य में ही इस जनवादी सम्मेलन और उसके द्वारा स्थापित प्रहसन प्री-पार्लियामेण्ट के बहिष्कार और सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लिए बोल्शेविकों का आह्वान किया। रैबिनोविच यह भी नहीं समझ पाते कि कोर्निलोव के हमले के दौरान पेत्रोग्राद में बोल्शेविकों ने अन्य समाजवादी ताक़तों के साथ जो तकनीकी और सैन्य तालमेल और सहयोग किया वह कोई राजनीतिक समझौता या सहयोग नहीं था।

बहरहाल, कोर्निलोव के विद्रोह के परिणाम ने निर्णायक रूप से दिखला दिया कि बोल्शेविक पार्टी मज़दूरों और सैनिकों में एक ऐसे नेतृत्व के रूप में उभर चुकी है जो प्रश्नों से परे है। इसने दिखला दिया कि क्रान्ति की सामरिक और राजनीतिक शक्ति अब प्रतिक्रान्ति से कहीं ज़्यादा है। मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारियों का चरित्र भी इस प्रक्रिया में जनता के सामने साफ़ हो गया था। कोर्निलोव की हार ने यह भी दिखला दिया कि अब अन्तरविरोधों का वह सन्धि-बिन्दु निर्मित हो चुका है जिसमें रूस या तो मज़दूर क्रान्ति की ओर जायेगा या फिर दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया और प्रतिक्रान्ति की ओर। कोर्निलोव से संघर्ष और फिर कोर्निलोव की हार ने सोवियतों को एक बार फिर से जागृत कर दिया। और ये नयी जागृत सोवियतें स्पष्ट तौर पर बोल्शेविकों के पक्ष में जा खड़ी हुई थीं। यहाँ तक कि किसान सोवियतों में भी बोल्शेविकों का असर काफ़ी तेज़ी से बढ़ा।

31 अगस्त को पेत्रोग्राद सोवियत और 5 सितम्बर को मॉस्को सोवियत बोल्शेविकों के पक्ष में आ गयीं क्योंकि कारख़ानों, मिलों और सैन्य दस्तों ने जो नये प्रतिनिधि चुनकर भेजे थे, वे अधिकांशत: बोल्शेविक थे। **इन दोनों प्रमुख सोवियतों के बोल्शेविकों के बहुमत में आने**

के साथ सशस्त्र विद्रोह की तैयारियों का रास्ता साफ़ हो गया और 'सारी सत्ता सोवियतों को' के नारे को फिर से पुनर्जीवित कर दिया गया।

इसी बीच समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने आसन्न क्रान्ति को टालने या रोकने की मंशा से एक नया प्रयास किया। उन्होंने एक जनवादी सम्मेलन बुलाया और उसे प्रेद पार्लियामेण्ट (प्री-पार्लियामेण्ट) का नाम दिया। बोल्शेविक पार्टी में भी कामेनेव, ज़िनोवियेव और तियोदोरोविच जैसे लोगों ने इसमें हिस्सा लेने की वकालत की क्योंकि वे सशस्त्र विद्रोह के पक्ष में नहीं थे। लेकिन लेनिन ने इसे जनता के बीच भ्रम पैदा करने और आरज़ी सरकार के वर्चस्व को बचाने का उपकरण बताया और इसमें हिस्सेदारी का पुरज़ोर विरोध किया। अन्ततः बोल्शेविकों ने इस तमाशे से अपने आपको अलग कर लिया और अपनी तैयारियों में लगे रहे। लेनिन ने सितम्बर से केन्द्रीय कमेटी और पार्टी को लिखे अपने पत्रों, सन्देशों और लेखों में यह दलील पेश करनी शुरू कर दी कि सशस्त्र विद्रोह का वक़्त आ चुका है, बोल्शेविक सत्ता अपने हाथों में ले सकते हैं क्योंकि दोनों प्रमुख प्रातिनिधिक सोवियतों यानी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में उनका बहुमत स्थापित हो चुका है। इस मसले में देर करना बुर्जुआ वर्ग को अपनी शक्ति को फिर से जुटाने और संगठित करने का मौक़ा देना होगा और साथ ही साम्राज्यवादियों को भी यह मौक़ा देना होगा कि वे रूसी क्रान्ति को कुचल दें। लेनिन के कई पत्रों और सन्देशों के बावजूद केन्द्रीय कमेटी निर्णय नहीं ले पा रही थी। अन्ततः लेनिन अक्टूबर के पहले सप्ताह के अन्त में गुप्त रूप से फ़िनलैण्ड से वापस पेत्रोग्राद आये और 10 अक्टूबर की केन्द्रीय कमेटी बैठक में हिस्सा लिया। केन्द्रीय कमेटी ने बहुमत से सशस्त्र विद्रोह करने का निर्णय लिया। ज़िनोवियेव और कामेनेव ने इसके ख़िलाफ़ वोट किया और त्रात्स्की अनिर्णय की स्थिति में बने रहे और एक ऐसा प्रस्ताव पेश किया जिसका अर्थ था सशस्त्र विद्रोह को टालना। त्रात्स्की ने कहा कि दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के पहले सशस्त्र विद्रोह नहीं करना चाहिए। लेकिन लेनिन के अनुसार तब तक सशस्त्र विद्रोह की घड़ी निकल जाने का ख़तरा है और जब मज़दूरों और सैनिकों के जनसमुदाय बोल्शेविकों के साथ हैं, तो अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस का इन्तज़ार करना एक बुर्जुआ वैधिकता के भ्रम में फँसने के समान है। लेनिन ने तर्कों के साथ दिखलाया कि सशस्त्र विद्रोह के लिए जो सारी शर्तें पूरी होनी चाहिए, वे सभी पूरी हो चुकी हैं और अब इस काम को न करना बोल्शेविकों का ऐतिहासिक अपराध होगा।

पार्टी ने अन्ततः सशस्त्र विद्रोह की सक्रिय तैयारी शुरू कर दी। केन्द्रीय कमेटी के निर्णय के अनुसार पेत्रोग्राद सोवियत ने एक क्रान्तिकारी सैन्य कमेटी बनायी। केरेंस्की भी इसी बीच अपनी तैयारियाँ शुरू करने लगा और प्रतिक्रान्तिकारी फ़ौजी दस्तों को संगठित करने लगा। इसके अलावा, केरेंस्की की यह योजना भी थी कि पेत्रोग्राद को आगे बढ़ती जर्मन सेना को सौंप दिया जायेगा और राजधानी को मॉस्को स्थानान्तरित कर दिया जाये ताकि जर्मन सेना वह काम कर दे जो कि आरज़ी सरकार नहीं कर पा रही थी - बोल्शेविकों का दमन। साथ ही, इस बात के भी संकेत मिल रहे थे कि रूसी क्रान्ति के चढ़ते ज्वार को दबाने के लिए ब्रिटिश और जर्मन साम्राज्यवादियों

में भी एक अनकहा समझौता हो गया था क्योंकि ब्रिटिश फ्लीट ने पेत्रोग्राद की तरफ़ जर्मन सेना के कूच के रास्ते में कोई बाधा नहीं डाली।

16 अक्टूबर को केन्द्रीय कमेटी की एक और बैठक हुई। इसमें विद्रोह का संचालन करने के लिए एक पार्टी सैन्य केन्द्र स्थापित किया गया। ज़िनोवियेव और कामेनेव ने फिर से सशस्त्र विद्रोह के निर्णय का विरोध किया। लेकिन बहुमत ने उनकी आपत्ति को ख़ारिज़ कर दिया। उन्हें भी सशस्त्र विद्रोह की तैयारी में भूमिकाएँ सौंपी गयीं। लेकिन कामेनेव ने 18 अक्टूबर को एक ग़ैर पार्टी अख़बार *नोवाया जीज्न* में इस फ़ैसले को अनावृत्त कर दिया और ज़िनोवियेव और अपनी ओर से एक लेख प्रकाशित किया। यह आपराधिक ग़लती थी जिसका ख़ामियाज़ा समूची पार्टी और मज़दूर वर्ग को ख़ून देकर भुगतना पड़ सकता था। लेकिन चूँकि आरज़ी सरकार स्वयं कोई त्वरित क़दम उठाने की स्थिति में नहीं थी इसलिए ऐसा नहीं हो सका। फिर भी, उन्हें बोल्शेविकों की इस योजना का पता तो चल ही गया था। केरेंस्की सरकार ने बोल्शेविकों के हेडक्वार्टर यानी स्मोल्नी संस्थान पर हमला करने की योजना बनायी जो कि सफल नहीं हो पायी। इसके बाद उसने 24 अक्टूबर को बोल्शेविकों के केन्द्रीय मुखपत्र *राबोची पुत* को कुचलने का प्रयास किया जिसे सैनिकों और मज़दूरों के सशस्त्र जवाबी हमले ने नाकाम कर दिया। 24 अक्टूबर के *राबोची पुत* में सशस्त्र विद्रोह का आह्वान किया गया था। विद्रोह शुरू हो चुका था। 20 अक्टूबर से ही सभी सैन्य दस्तों, कारख़ानों और मिलों में विद्रोह की तैयारी शुरू हो चुकी थी और सभी सैन्य दस्तों व कारख़ानों में पार्टी ने क्रान्तिकारी सैन्य समिति की ओर से कमिसार भेजे थे। नौसेना के दस्तों को भी तैयारियों के निर्देश भेजे जा चुके थे। 24 अक्टूबर की रात लेनिन विद्रोह के संचालन के लिए बोल्शेविक हेडक्वार्टर स्मोल्नी आ गये थे। उसी रात फ़ौज के क्रान्तिकारी दस्ते और रेड गार्डों के दस्ते स्मोल्नी पहुँचने लगे, जिन्हें बाद में राजधानी के केन्द्र की तरफ़ भेज दिया गया ताकि वे शीत प्रासाद पर घेरा डाल सकें। पेत्रोग्राद ग़ैरीसन और पीटर्स एण्ड पॉल क़िले के सैनिकों को विद्रोह के पक्ष में लाने में त्रात्स्की ने अहम भूमिका निभायी।

25 अक्टूबर को रेड गार्ड्स ने रेलवे स्टेशनों, डाकघरों, टेलीग्राफ़ कार्यालयों, सचिवालयों व मन्त्रालयों और अन्य सत्ता प्रतिष्ठानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। मेंशेविकों व समाजवादी-क्रान्तिकारियों की नौटंकी - प्रेद पार्लियामेण्ट भंग कर दी गयी। बोल्शेविक पार्टी के निर्देशन में पेत्रोग्राद सोवियत की सैन्य कमेटी के आदेश स्मोल्नी से जारी हो रहे थे और मज़दूरों व सैनिकों ने बड़े अनुशासन के साथ इन आदेशों का पालन किया। क्रोन्स्तात पहले से ही बोल्शेविकों का गढ़ था। नौसेना ने भी इस विद्रोह में महती भूमिका निभायी। अव्रोरा जलपोत ने 25 अक्टूबर को शीत प्रासाद पर गोला दागा और उसके साथ समाजवादी क्रान्ति के नये युग का सूत्रपात हुआ। आरज़ी सरकार गिर गयी। उसके मन्त्रियों को गिरफ़्तार कर लिया गया। पेत्रोग्राद में नाममात्र के प्रतिरोध के बाद आरज़ी सरकार के प्रति वफ़ादार दस्तों ने आत्मसमर्पण कर दिया। बोल्शेविकों ने "रूस के नागरिकों के नाम" नामक एक घोषणापत्र निकाला जिसमें आरज़ी सरकार के पतन और सोवियत सत्ता की स्थापना की घोषणा थी। मॉस्को में सशस्त्र संघर्ष आने वाले कुछ दिनों तक जारी रहा, लेकिन तब

तक समाजवादी क्रान्ति की विजय सुनिश्चित हो चुकी थी।

रात में लगभग ग्यारह बजे दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस हुई। इसमें बोल्शेविकों को भारी बहुमत मिला और मेंशेविक, दक्षिणपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी व अन्य प्रतिक्रान्तिकारी गुट सोवियत से उठकर चले गये। मज़दूरों, किसानों व सैनिकों के प्रतिनिधियों के सोवियतों की कांग्रेस अब एक क्रान्तिकारी स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी। कांग्रेस ने घोषणा की कि पेत्रोग्राद के मज़दूर विद्रोह के समर्थन से सारी सत्ता अब सोवियतों के हाथों में आ चुकी है।

सोवियत समाजवादी क्रान्ति हो चुकी थी और रूस में पहली मज़दूर सत्ता स्थापित हो चुकी थी। क्रान्ति के बाद के पहले आठ माह सोवियत सत्ता के सुदृढ़ीकरण के चुनौतीपूर्ण माह थे, जिन पर हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगे। उससे पहले हम थोड़ा पीछे लौटेंगे और फ़रवरी से लेकर अक्टूबर तक रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में और विशेष तौर पर बोल्शेविक पार्टी के भीतर चले प्रमुख विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्षों पर चर्चा करेंगे और साथ ही इस संघर्ष के विषय में प्रमुख इतिहासलेखन का एक आलोचनात्मक विवेचन करेंगे।

2. फ़रवरी क्रान्ति से अक्टूबर क्रान्ति के बीच रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में और बोल्शेविक पार्टी में दो लाइनों का संघर्ष

फ़रवरी से अक्टूबर के बीच रूस के सामाजिक-जनवादियों में सतत् बहसें जारी रहीं, जिसमें कि बोल्शेविक पार्टी ने लेनिन के नेतृत्व में क्रान्ति के स्वरूप के प्रश्न पर, भूमि प्रश्न पर, क्रान्ति के बाद के आर्थिक कार्यक्रम के प्रश्न पर, सांगठनिक कार्यदिशा के प्रश्न पर सामाजिक-जनवादियों (मेंशेविकों व अन्य मध्यमार्गी समूहों), त्रात्स्कीपन्थियों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से अहम बहसें चलायीं। फ़रवरी से नवम्बर के बीच के घटनाक्रम ने लगातार बोल्शेविकों की विचारधारात्मक, राजनीतिक व कार्यक्रम-सम्बन्धी अवस्थिति को सही ठहराया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं था कि बोल्शेविक पार्टी इन सही अवस्थितियों पर एकाश्मी रूप से पहुँची थी। **स्वयं बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों का तीखा संघर्ष लगातार जारी था।** यह संघर्ष न सिर्फ़ अक्टूबर क्रान्ति की पूर्वसन्ध्या तक जारी रहा बल्कि उसके बाद भी जारी रहा। हम यहाँ अक्टूबर तक बोल्शेविक पार्टी व अन्य राजनीतिक धाराओं के बीच बहसों और साथ ही बोल्शेविक पार्टी के भीतर चली बहसों का विवेचन करेंगे और यह भी दिखलाने का प्रयास करेंगे कि इन बहसों का न सिर्फ़ ऐतिहासिक सामान्य महत्व है, बल्कि समकालीन विशिष्ट महत्व है। इन बहसों की रोशनी में हम मौजूदा भारत में सर्वहारा आन्दोलन के भीतर मौजूद विजातीय प्रवृत्तियों पर भी जहाँ सम्भव हो अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करेंगे।

हमने पहले भी इस बात का उल्लेख किया था कि ई.एच. कार का मानना है कि फ़रवरी क्रान्ति के अचानक होने से सभी राजनीतिक दल चौंक गये थे और उनमें बोल्शेविक पार्टी और लेनिन भी शामिल थे। साथ ही, कार समेत कई इतिहासकार यह सिद्ध करने के लिए यह दावा करते हैं कि वास्तव में लेनिन फ़रवरी क्रान्ति के ठीक पहले रूस में क्रान्ति की आसन्नता को लेकर उम्मीद

खो चुके थे। इसका आधार लेनिन की यह उक्ति है : **"हम जो कि पिछली उम्रदराज़ पीढ़ी के हैं, शायद आने वाली क्रान्ति की निर्णायक लड़ाइयों को देखने के लिए जीवित न बचें।"** (22 जनवरी 1917 को स्विस मज़दूरों को 1905 की रूसी क्रान्ति पर दिये गये एक व्याख्यान से)। लेकिन हालिया शोध ने दिखलाया है कि यह सही नहीं है। **लार्स टी. ली** ने अपनी पुस्तक **'लेनिन'** (2011, रीएक्शन बुक्स, लन्दन) में दिखलाया है कि 1916-17 की सर्दियों से ही सुदूर स्विट्ज़रलैण्ड में लेनिन और उनके बोल्शेविक साथियों को रूस में लगातार क़रीब आती क्रान्ति का अहसास था। दिसम्बर 1916 में लेनिन ने लिखा था, **"...बढ़ता जन असन्तोष, बढ़ती हड़तालें और प्रदर्शन रूसी बुर्जुआजी को स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करने को बाध्य कर रहे हैं कि रूसी क्रान्ति आगे बढ़ रही है।"** (लेनिन,1964, *थीसीज़ फ़ॉर ऐन अपील टू दि इण्टरनेशनल सोशलिस्ट कमिटी एण्ड ऑल सोशलिस्ट पार्टीज़*, **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-23**, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को)। 10 फ़रवरी 1917 को इनेस्सा आर्मां को लिखे एक पत्र में लेनिन बताते हैं कि मॉस्को में उनके सूत्र उन्हें बता रहे हैं कि मज़दूरों में क्रान्तिकारी माहौल बना हुआ है और आगे वे लिखते हैं, **"हमारी गली में जल्द ही छुट्टी का दिन आने वाला है।"** (रूसी में एक कहावत जिसका अर्थ है हमारा दिन आने वाला है)। आगे लार्स ली ने यह भी दिखलाया है कि उस समय लेनिन के क़रीबी साथी ज़िनोवियेव ने भी रूस में क्रान्तिकारी स्थिति के परिपक्व होने का ज़िक्र किया था। इसलिए यह कहना कि फ़रवरी क्रान्ति के बारे में लेनिन व बोल्शेविक पार्टी का कोई पूर्वानुमान नहीं था और इसने उन्हें पूरी तरह चौंका दिया, सही नहीं होगा। निश्चित तौर पर, कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी फ़रवरी क्रान्ति जैसी घटना के दिन का निर्धारण नहीं कर सकती थी, लेकिन रूस में क्रान्तिकारी परिस्थिति के एक नयी दहलीज़ पर पहुँचने का आकलन लेनिन समेत कई बोल्शेविक क्रान्तिकारियों का था। हाँ, यह ज़रूर है कि फ़रवरी क्रान्ति ने उन ताक़तों को ज़रूर एक हद तक चौंका दिया था जो कि रूस में जनवादी क्रान्ति को पूरी तरह वैधिकता के दायरे में रखना चाहते थे और राजतन्त्र के साथ सहयोग-समझौते की रणनीति अपना रहे थे।

ई. एच. कार ने लिखा है कि फ़रवरी क्रान्ति के बाद मज़दूरों व सैनिकों के प्रतिनिधियों की पेत्रोग्राद सोवियत में मेंशेविकों के हावी होने का एक कारण यह था कि फ़रवरी क्रान्ति के तत्काल बाद की घटनाएँ मेंशेविक *स्कीमा* के अनुसार घटित होती हुई लग रही थीं और यही कारण था कि पेत्रोग्राद सोवियत में वे बहुसंख्या में आ गये और मेंशेविक नेता चखीद्ज़े को उसका पहला अध्यक्ष चुना गया। लेकिन यह दलील पूरी तरह सही नहीं लगती और ऐसा लगता है कि इसमें कारण को कार्य और कार्य को कारण की भूमिका दे दी गयी है। मेंशेविक *स्कीमा* यह था कि जनवादी क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग नेतृत्व करेगा और सर्वहारा वर्ग केवल एक आलोचनात्मक विपक्ष की भूमिका निभायेगा और पूँजीवाद के परिपक्व होने तक सभी *सही* मार्क्सवादी लोग बुर्जुआ वर्ग को एक आलोचनात्मक समर्थन देना जारी रखेंगे। लेकिन फ़रवरी क्रान्ति में मेंशेविक *स्कीमा* तात्कालिक तौर पर इसलिए सफल होता नज़र आया क्योंकि सोवियत ने नेतृत्व को अपने हाथों से बुर्जुआ हाथों में सौंप दिया। सोवियतों ने नेतृत्व को बुर्जुआ वर्ग के हाथों में इसलिए सौंप दिया

क्योंकि सोवियत में मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी नेतृत्व में थी। **यानी कि क्रान्ति का नेतृत्व बुर्जुआ हाथों में आ गया और मेंशेविक *स्कीमा* सही साबित हो गया इसलिए सोवियत में मेंशेविक नेतृत्व में आ गये ऐसा नहीं था, बल्कि सोवियत में मेंशेविक नेतृत्व में आ गये थे *इसीलिए* जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग के हाथों में नहीं आ सका और तात्कालिक तौर पर यह प्रतीतिगत यथार्थ उपस्थित हुआ कि चीज़ें मेंशेविक *स्कीमा* के अनुसार हो रही हैं।**

फ़रवरी क्रान्ति के तुरन्त बाद, जब ज़ार का तख्तापलट हो चुका था लेकिन अभी आरज़ी सरकार का गठन नहीं हुआ था तभी बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो ने अपना काम शुरू कर दिया। हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि सभी प्रमुख केन्द्रीय कमेटी नेता या तो विदेश में थे या फिर साईबेरिया में निर्वासन में थे। ऐसे में, रूसी ब्यूरो को संगठित करने वाले प्रमुख बोल्शेविकों, यानी श्ल्याप्निकोव, मोलोतोव और ज़ालुत्स्की ने पार्टी की रणनीति को संचालित किया। उन्हें लेनिन, ज़िनोवियेव, कामेनेव या स्तालिन जैसे अधिक अनुभवी केन्द्रीय कमेटी सदस्यों से कोई निर्देश प्राप्त नहीं हो रहा था और उनके पास 1914 में लेनिन द्वारा प्रस्तुत युद्ध के समय सामाजिक-जनवादियों के कार्यभार सम्बन्धी थीसीज़, 1915 में पेश की गयी *थीसीज़* (जिन्हें लार्स टी. ली ने अक्टूबर थीसीज़ कहा है) और युद्ध और क्रान्ति के प्रश्न पर 1914 से 1916 के बीच लेनिन के छिटपुट लेखन के अलावा मार्गदर्शन के लिए और कोई स्रोत या सामग्री नहीं थी। ई. एच. कार का यह कहना बिल्कुल दुरुस्त है कि इन हालात के मद्देनज़र युवा बोल्शेविकों के इस रूसी ब्यूरो ने क़ाबिले-तारीफ़ काम किया। इसने 26 फ़रवरी को *इज़्वेस्तिया* में, जो कि पेत्रोग्राद सोवियत का मुखपत्र था, परिशिष्ट के रूप में बोल्शेविक पार्टी का एक पार्टी घोषणापत्र प्रकाशित किया। इसमें आरज़ी सरकार से सम्बन्ध के प्रश्न में कुछ नहीं कहा गया था क्योंकि तब तक आरज़ी सरकार बनी ही नहीं थी। आरज़ी सरकार का गठन 2 मार्च को हुआ। यह घोषणापत्र सर्वहारा वर्ग और क्रान्तिकारी सेना का आह्वान कर रहा था कि वह एक क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार स्थापित करे जो कि एक गणराज्य की स्थापना करे और जनवादी सुधार लागू करे, जैसे कि 8 घण्टे का कार्यदिवस, सभी जागीरों की ज़ब्ती, सार्वभौमिक मताधिकार और गुप्त वोट के ज़रिये एक संविधान सभा का निर्माण, खाद्यान्न भण्डार की ज़ब्ती और उसका वितरण, और सभी युद्धरत देशों के सर्वहारा वर्ग के साथ वार्ता की शुरुआत करके सभी देशों में दमनकारी सत्ताओं के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष की शुरुआत की जाये और नरसंहार के साम्राज्यवादी युद्ध का समापन किया जाये। घोषणापत्र के अन्त में सभी सैनिकों और मज़दूरों से इस क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनने का आह्वान किया गया था और "क्रान्ति के लाल झण्डे", "जनवादी गणराज्य", "क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग" के नारों के साथ समापन किया गया था। लेनिन ने इस घोषणापत्र के लिए ब्यूरो की प्रशंसा की थी, विशेषकर, सभी युद्धरत देशों के सर्वहारा वर्ग से अन्तरराष्ट्रीयतावादी एकता स्थापित करने के बिन्दु पर। ग़ौरतलब है कि लेनिन ने इस घोषणापत्र के केवल कुछ हिस्से पढ़े थे जो कि जर्मन अख़बारों में छपे थे।

इसी दौरान लेनिन ने अपने प्रसिद्ध 'सुदूर से पत्र' लिखे जिसने रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में एक तीखी बहस की शुरुआत कर दी। **'सुदूर से पत्र'** लिखने की शुरुआत लेनिन ने 7 मार्च को की और उनका आख़िरी और पाँचवाँ पत्र 12 मार्च को लिखा गया। पहले पत्र में उन्होंने स्पष्ट किया कि आरज़ी सरकार भूस्वामी वर्ग और बुर्जुआ वर्ग की सरकार है और यह मेहनतकश वर्गों को धोखा देकर राजतन्त्र से समझौते करने का प्रयास करेगी; यह शान्ति, रोटी और ज़मीन नहीं दे सकती क्योंकि यह युद्ध में भागीदारी के पक्ष में है। लेनिन ने बताया कि उदार बुर्जुआ वर्ग और संशोधनवादी हमें बार-बार याद दिला रहे हैं कि अभी बुर्जुआ क्रान्ति की मंज़िल है इसलिए हमें बुर्जुआ वर्ग के पीछे चलना चाहिए। ऐसे में, कम्युनिस्टों को याद दिलाना चाहिए कि हर बुर्जुआ क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग ने थोथे वायदों से जनता को मूर्ख बनाया है और इस बार भी वह यही करेगा। ऐसे में, हमें मेहनतकश जनता को जनवादी क्रान्ति को मुक़ाम तक पहुँचाने के लिए क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथों में लेने को कहना चाहिए। लेनिन ने पहले पत्र के अन्त में यह भी कहा कि हम जनवादी क्रान्ति की मंज़िल से समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में संक्रमण कर रहे हैं।

दूसरे पत्र में, जो कि लेनिन ने 9 मार्च को लिखा था, लेनिन आरज़ी सरकार के वर्ग चरित्र को और स्पष्ट करते हैं और बताते हैं कि सोवियत सत्ता वास्तविक क्रान्तिकारी जनवादी सत्ता है। इस सत्ता ने आरज़ी सरकार पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कुछ क़दम उठाये थे। लेनिन ने इन क़दमों का स्वागत किया लेकिन साथ ही यह भी कहा ये क़दम सिर्फ़ एक शुरुआत होने चाहिए। लेनिन ने आगे कहा कि समाजवादी गणराज्य की स्थापना की दिशा का अगला क़दम यह होना चाहिए कि सोवियत सत्ता को मज़दूर मिलिशिया खड़ा करने की ओर क़दम बढ़ाने चाहिए। ऐसी मज़दूर मिलिशिया के बल पर ही मज़दूर सत्ता खड़ी की जा सकती है, जो कि समूचे उत्पादन और वितरण के तन्त्र पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर सके।

तीसरे पत्र में लेनिन ने सर्वहारा के मिलिशिया और साथ ही आमतौर पर क्रान्ति के दूसरे चरण में संक्रमण के दौर में सर्वहारा वर्ग के संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। लेनिन का मानना था कि पहले चरण में मिल्युकोव और गुचकोव जैसे कैडेटों और अक्टूबरवादियों ने सत्ता हासिल कर ली, हालाँकि ज़ारशाही का पतन मज़दूरों और सैनिकों के एक स्वत:स्फूर्त उभार के कारण हुआ था; इसका मूल कारण था रूसी बुर्जुआ वर्ग के संगठन का सर्वहारा वर्ग के संगठन से कहीं बेहतर स्थिति में होना। क्रान्ति जब दूसरे चरण में प्रवेश कर रही है, तो इसकी नियति इस बात पर निर्भर करती है कि सर्वहारा वर्ग किस हद तक अपने आपको संगठित कर पाता है। पहले चरण में सर्वहारा वर्ग ने बहादुरी और नायकत्व का प्रदर्शन कर ज़ारशाही को उखाड़ फेंका था। लेनिन ने लिखा, **"कमोबेश निकट भविष्य में (शायद ये पंक्तियाँ लिखे जाने के समय ही) आपको नायकत्व के वही चमत्कार फिर से करने होंगे ताकि आप भूस्वामियों और पूँजीपतियों के शासन को उखाड़ फेंकें जो साम्राज्यवादी युद्ध छेड़े हुए हैं। इस "अगली" वास्तविक क्रान्ति में आप *टिकाऊ जीत* नहीं हासिल कर पायेंगे अगर आप सर्वहारा संगठन के चमत्कार करके नहीं दिखाते।"** (लेनिन, 1964, **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-23**,

प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 323) आगे इसी पत्र में लेनिन ने स्पष्ट किया कि मज़दूर सोवियतें आने वाले समय में क्रान्तिकारी सत्ता के निकाय की भूमिका अदा करेंगी। ये वैसे ही निकाय हैं, जैसे कि पेरिस कम्यून। लेनिन ने कहा कि पूरे रूस में सर्वहारा वर्ग को अपनी सोवियतें खड़ी करनी होंगी और **उन्होंने विशेष ज़ोर देकर कहा कि क्रान्ति के दूसरे चरण में बोल्शेविक पार्टी को खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों (जो कि अनाज बेचते नहीं) की अलग सोवियतें बनानी चाहिए ताकि धनी किसानों के राजनीतिक वर्चस्व को तोड़ा जा सके। यह एक बहुत महत्वपूर्ण बिन्दु था।** लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि क्रान्ति के बाद एक संक्रमणकालीन दौर होगा जिसमें राज्यसत्ता की आवश्यकता होगी, लेकिन यह राज्यसत्ता बुर्जुआ राज्यसत्ता से अलग होगी जो कि नौकरशाहाना दमन का उपकरण होती है और जिसमें विधायिका और कार्यपालिका के बीच विभाजन होता है। समस्त सशस्त्र उत्पादक वर्ग ही विधान रचेंगे भी और उन्हें लागू भी करेंगे। सर्वहारा राज्यसत्ता इस रूप में अस्तित्वमान रहेगी। कहने की आवयश्कता नहीं है कि संक्रमणकालीन सर्वहारा राज्यसत्ता के बारे में लेनिन की अवधारणा क्रान्ति के बाद के दो-तीन वर्षों में और विकसित हुई और साथ ही संक्रमण के चरित्र, प्रकृति और इसके दीर्घकालिक चरित्र को लेकर भी लेनिन की सोच में कई बदलाव आये थे। लेकिन मूलत: लेनिन की अवधारणा वही थी, जो इस पत्र में प्रस्तुत की गयी थी। 11 मार्च को लिखे गये इस तीसरे पत्र का अन्त लेनिन इस उम्मीद से करते हैं कि रूसी सर्वहारा वर्ग तात्कालिक कार्यभार यानी सर्वहारा संगठन खड़ा करना, को पूरा करता है तो समाजवादी क्रान्ति के युग की शुरुआत रूस में होगी और उन्नत यूरोप में समाजवादी क्रान्तियाँ इसकी अन्तिम विजय को सुनिश्चित करेंगी।

12 मार्च को लिखे चौथे पत्र में लेनिन ने **मक्सिम गोर्की** के "क्रान्तिकारी रक्षावाद" के तर्क पर तीखी चोट की और स्पष्ट किया कि फ़रवरी क्रान्ति और मिल्युकोव-गुचकोव की सरकार के सत्ता में आने के बाद युद्ध को न्यायपूर्ण युद्ध और क्रान्ति की रक्षा में लड़ा जा रहा युद्ध समझना टटपुँजिया मूर्खता है। मूलत: यह सरकार बुर्जुआ और भूस्वामी वर्ग की सरकार है जो कि फ़्रांसीसी और ब्रिटिश वित्तीय पूँजी से नाभिनालबद्ध है। यह सरकार अपने साम्राज्यवादी मंसूबों और अपने साम्राज्यवादी मित्र देशों के हितों के लिए युद्ध में रूसी सैनिकों का क़त्लेआम करवा रही है। यही कारण है कि मिल्युकोव-गुचकोव ने साम्राज्यवादी गुप्त सन्धियाँ सबके सामने खोलकर नहीं रखी हैं। जो भी न्यायपूर्ण और जनवादी शान्ति चाहता है, उसे यह समझ लेना चाहिए कि कोई भी बुर्जुआ सरकार साम्राज्यवाद के दौर में यह न्यायपूर्ण व जनवादी शान्ति मुहैया नहीं करा सकती है। केवल और केवल सर्वहारा सरकार ही न्यायपूर्ण और जनवादी शान्ति स्थापित कर सकती है। ऐसी सरकार सत्ता में आते ही सारे युद्धरत देशों से तत्काल युद्ध-विराम की माँग करेगी, समस्त गुप्त सन्धियों को प्रकाशित कर देगी, शान्ति की शर्त के तौर पर सभी उपनिवेशों और दमित राष्ट्रीयताओं की मुक्ति की माँग करेगी, सभी देशों के सर्वहारा वर्ग से अपने देश की पूँजीपति वर्ग की सत्ता उखाड़ फेंकने और मज़दूर प्रतिनिधियों की सोवियतों के शासन को स्थापित करने का आह्वान करेगी और केवल ऐसी सत्ता के अस्तित्व में आने पर ही न्यायपूर्ण और जनवादी शान्ति

की उम्मीद की जा सकती है। इन शर्तों के न माने जाने की सूरत में सोवियत सरकार कुछ या सभी बुर्जुआ देशों के ख़िलाफ़ युद्ध लड़ सकती है और जीत सकती है और यह एक न्यायपूर्ण युद्ध होगा जो कि क्रान्ति की ज्वाला को इन देशों में भी भड़का देगा।

26 मार्च को लिखे आख़िरी पत्र में लेनिन ने पिछले चार पत्रों में पेश अवस्थितियों का सार-संक्षेप करने के बाद स्पष्ट किया कि युद्ध ने वह स्थिति पैदा कर दी है जिसमें कि सर्वहारा वर्ग इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में आ गया है। सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति के दूसरे चरण को पूर्ण करने के लिए अपनी सत्ता स्थापित करनी होगी और शान्ति और ज़मीन की माँग केवल और केवल तभी पूरी हो सकती है। लेनिन स्पष्ट करते हैं कि किसानों की माँग यदि अभी भी यही है जो कि 1906 में त्रुदोविकों ने रखी थी, तो वह माँग भी सर्वहारा क्रान्ति ही पूरा कर सकती है, यानी भूमि का राष्ट्रीकरण और उसका भोगाधिकार के आधार पर उन किसानों में वितरण जो कि अपनी मेहनत से खेती करते हैं। इसके लिए खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों की अलग सोवियतें स्थापित करने का काम तत्काल शुरू किया जाना चाहिए। किसानों के आन्दोलन की मदद से ही सर्वहारा वर्ग सत्ता हासिल कर सकता है। सत्ता हासिल करने के बाद भी सर्वहारा वर्ग रूस जैसे देश में पहले चरण में समाजवाद की ओर कुछ संक्रमणात्मक क़दम उठायेगा, जैसे कि समूचे सामाजिक उत्पादन तथा वितरण पर नियन्त्रण स्थापित करना, सार्वभौमिक श्रमदान की व्यवस्था करना, आदि। हम देख सकते हैं कि 'समाजवाद की ओर पहले क़दमों' के बारे में लेनिन के विचार अभी रूप ले रहे थे। अप्रैल थीसीज़ में लेनिन ने इन विचारों को ज़्यादा पूर्ण रूप में रखा।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि 'सुदूर से पत्र' अप्रैल थीसीज़ के तार्किक पूर्वज हैं और अगर अप्रैल थीसीज़ को इन पाँच पत्रों के साथ पढ़ा जाये तो लेनिन के विचारों के विकसित होने की प्रक्रिया को ज़्यादा बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है। अप्रैल थीसीज़ पर हम थोड़ा आगे और विस्तार से चर्चा करेंगे। अभी हम इतना बता दें कि जब 'सुदूर से पत्र' लिखे गये उस समय लेनिन, जो कि ज्यूरिख में थे, और रूस के पार्टी संगठनों के बीच सम्पर्क बहुत ही नाममात्र का था। जैसा कि **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच** ने लिखा है, "लेकिन मार्च, 1917 में ज्यूरिख में लेनिन और रूस में पार्टी संगठनों के बीच सीधा संवाद लगभग था ही नहीं, और किसी भी सूरत में पार्टी की नीतियों के लिए कोई प्रभावी तालमेल होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। युद्ध के प्रश्न पर राजधानी में मौजूद बोल्शेविक नेतृत्व पूरी तरह लेनिन के साथ था। केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो की 7 मार्च को हुई बैठक में अन्त में यह कहा गया, "(युद्ध के प्रति) हमारा रवैया नहीं बदला है क्योंकि यह युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है"...पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी भी उसी दिन मिली और उसने भी युद्ध पर इसी से मिलता-जुलता प्रस्ताव पारित किया।" (अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन : दि पेत्रोग्राद बोल्शेविक्स एण्ड दि जुलाई 1917 अपराइज़िंग'**, इण्डियाना यूनीवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन एण्ड इण्डियानापोलिस, पृ. 34)

रैबिनोविच आगे बताते हैं कि पार्टी के दायरों में एक बहस जारी हो गयी थी। आरज़ी सरकार के प्रश्न पर पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी ने लेनिन की कार्यदिशा का विरोध किया, वहीं वाइबोर्ग ज़िला

कमेटी ने "वामपन्थी" अवस्थिति अपनाते हुए तत्काल बुर्जुआ व भूस्वामी वर्ग की सरकार का तख्तापलट करने और सत्ता पर क़ब्ज़ा करने की बात की। 13 मार्च को स्तालिन, मुरानोव और कामेनेव के निर्वासन से लौटने के बाद पार्टी दायरों में बहस और बढ़ गयी। युद्ध के प्रश्न पर भी कुछेक बोल्शेविकों ने दक्षिणपन्थी अवस्थिति अपनायी जैसे कि कामेनेव। आरज़ी सरकार के प्रश्न पर शर्तों समेत समर्थन या उसके प्रति अविश्वासपूर्ण रवैया रखने वाली बीच की स्थिति रखने वाले बोल्शेविक भी मौजूद थे, जैसे कि स्तालिन। लेकिन स्तालिन का रवैया लेनिन के रूस आगमन के ठीक पहले काफ़ी हद तक आरज़ी सरकार के प्रति काफ़ी शत्रुतापूर्ण बन चुका था, हालाँकि अभी भी वे लेनिन की अवस्थिति पर नहीं पहुँचे थे।

फ़रवरी क्रान्ति के बाद आरज़ी सरकार को पेत्रोग्राद सोवियत के दबाव में जो जनवादी सुधार लागू करने पड़े थे, जिनमें प्रेस व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी शामिल था, उनके कारण बोल्शेविक पार्टी के लिए आसान हो गया कि वह अपने मुखपत्र *प्राव्दा* की फिर से शुरुआत कर सके। इसका पहला अंक 5 मार्च 1917 को प्रकाशित हुआ जिसे मुफ्त में वितरित किया गया। दूसरे अंक की क़रीब एक लाख प्रतियाँ बिकीं। पहले सात अंकों में ब्यूरो द्वारा *इज़्वेस्तिया* में प्रकाशित पार्टी घोषणापत्र के ही विभिन्न पहलुओं को विस्तार से समझाने का काम किया गया था। इसमें बुर्जुआ आरज़ी सरकार को, जो कि अब तक गठित हो चुकी थी, रूसी पूँजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग की सरकार बताया गया था और पेत्रोग्राद सोवियत का आह्वान किया गया था कि वह सत्ता अपने हाथों में लेकर एक संविधान सभा बुलाये। युद्ध के प्रश्न पर इसमें कहा गया था कि यह साम्राज्यवादी युद्ध है जिसमें पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए सभी देशों के मज़दूरों से एक-दूसरे का क़त्ले-आम करवाया जा रहा है और इसे गृहयुद्ध में तब्दील कर देना चाहिए जिससे कि सभी देशों के सर्वहारा वर्ग को पूँजीवाद के जुए से मुक्ति मिल सके। लेकिन अभी भी, जैसा कि ई.एच. कार ने लिखा है, अख़बार में लेनिन के शब्दों में साम्राज्यवादी युद्ध को क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में बदल देने और 'अपनी सरकार को हराने' के क्रान्तिकारी पराजयवाद की कार्यदिशा को खुलकर नहीं लिखा जा रहा था। कुछ अंकों में तो कुछ ऐसे लेख भी प्रकाशित हुए जो कि क्रान्तिकारी रक्षावाद की मेंशेविक कार्यदिशा की तरफ़ झुकाव रखते थे। जैसे कि 10 मार्च 1917 के अंक में ओल्मिंस्की का एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें यह लिखा था, "(बुर्जुआ) क्रान्ति अभी पूरी नहीं हुई है। हम अभी भी "एक साथ हमला करने" के नारे के तहत ही हैं। पार्टी के मामलों में, हर पार्टी अपने अनुसार काम करे; लेकिन साझा उद्देश्य के लिए सभी एक हों।" (ई.एच. कार, 1978, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन 1917-1923', खण्ड 1**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, लन्दन, में उद्धृत , पृ. 74)

युद्ध पर अवस्थिति को लेकर *प्राव्दा* में जो भ्रमित बातें आ रही थीं, उनमें एक और जटिलता भी जुड़ गयी। पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी फ़रवरी क्रान्ति के बाद पुनर्जीवित हो गयी थी। इसने यह अवस्थिति अपनायी कि जब तक बुर्जुआ आरज़ी सरकार सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनसमुदायों के हितों का उल्लंघन नहीं करती तब तक उसका समर्थन किया जाना चाहिए। मोलोतोव ने हर

सम्भव प्रयास किया कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी को इस ग़लत अवस्थिति से अलग करें, लेकिन वे सफल नहीं हो पाये। 13 मार्च को इसी भ्रम की स्थिति में साईबेरिया में निर्वासन से तीन केन्द्रीय कमेटी सदस्य वापस लौट आये - स्तालिन, कामेनेव और मुरानोव। स्तालिन 1912 के बोल्शेविक पार्टी के प्राग सम्मेलन (जिसमें बोल्शेविक पार्टी एक अलग पार्टी के रूप में संगठित हुई थी) से ही केन्द्रीय कमेटी सदस्य थे। कामेनेव भी अनुभवी पार्टी लेखक और पार्टी मुखपत्र *राबोचाया गज़ेटा* के नियमित लेखकों में से एक थे। मुरानोव पार्टी के दूमा धड़े के सदस्य, एक उम्दा संगठनकर्ता और पार्टी की ओर से चौथी दूमा में चुने भी गये थे। इन सभी ने एक साथ 1912 के पुराने *प्राव्दा* पर काम भी किया था। *प्राव्दा* और केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो का नेतृत्व अब इन लोगों ने अपने हाथों में ले लिया। स्तालिन पेत्रोग्राद के प्रमुख पार्टी संगठनकर्ता बन गये, मुरानोव *प्राव्दा* के सम्पादक बन गये और स्तालिन व कामेनेव सम्पादक मण्डल में शामिल हो गये। ई.एच. कार यह क़यास लगाते हैं कि इससे श्ल्याप्निकोव और मोलोतोव अवश्य नाख़ुश हुए होंगे लेकिन उन्होंने कुछ बोला नहीं क्योंकि एक बेहद जटिल सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक परिस्थिति में ज़िम्मेदारी उनके सिर से हट गयी थी। आगे कार कहते हैं कि इस दौर के लिए श्ल्याप्निकोव के संस्मरण उनके एकमात्र स्रोत हैं, जिसमें श्ल्याप्निकोव नाख़ुश होने के बारे में कुछ नहीं कहते। मोलोतोव ऐसे मसलों पर कभी ज़्यादा नहीं बोलते थे और वे भी चुप रहे। ऐसे में सवाल यह उठता है कि कार इस प्रकार की अटकल लगा ही क्यों रहे हैं? ऐसी अटकल का कोई आधार नहीं है। कार भी मानते हैं कि केन्द्रीय कमेटी के मुख्य तीन सदस्यों के वापस आने के बाद कामों का उनके द्वारा हाथ में लिया जाना नैसर्गिक है। ऐसे में, *हम* यह क़यास लगा सकते हैं कि अपनी प्रशंसनीय वस्तुपरकता के बावजूद कई बार कार अपने प्रेक्षणों में **इज़ाक डॉइशर** व त्रॉत्स्की के मूल्यांकनों के प्रभाव को आने से रोक नहीं पाते हैं।

स्तालिन ने 14 मार्च के *प्राव्दा* में एक लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने पार्टी में युद्ध और आरज़ी सरकार के प्रति रवैये को लेकर हावी इस भ्रम की स्थिति के कारण एक ऐसी अवस्थिति रखी जिसमें युद्ध और आरज़ी सरकार के प्रश्न पर ज़्यादा कुछ नहीं कहा गया था। इसमें एक सामान्य बात कही गयी थी कि फ़रवरी क्रान्ति में जो कुछ जीता गया है, उसे सुरक्षित किया जाना चाहिए और रूसी क्रान्ति को आगे ले जाने और पुरानी शक्तियों को पराजित करने के लिए जो सम्भव हो वह करना चाहिए। स्पष्ट है, पूरी पार्टी में अभी स्पष्टता की कमी थी। 'बोल्शेविक पार्टी के इतिहास' में इस पहलू का ज़िक्र नहीं आता कि शुरुआत में स्तालिन भी पूरी तरह इस मसले पर स्पष्ट नहीं थे कि युद्ध और आरज़ी सरकार के प्रति क्या रवैया अपनाया जाना चाहिए। बस इस आंशिक सत्य का ज़िक्र है कि स्तालिन ने इस लेख के तुरन्त बाद ही आरज़ी सरकार के प्रति एक अविश्वास की नीति अपना ली थी। 15 मार्च को कामेनेव ने *प्राव्दा* में एक लेख लिखा जो कि पूरी तरह से बोल्शेविक नीति और युद्ध और क्रान्ति पर लेनिन की सोच के विरुद्ध था। इसमें कामेनेव ने क्रान्तिकारी रक्षावाद की कार्यदिशा का समर्थन किया। कामेनेव ने लिखा, "जब सेना सेना के सामने खड़ी होती है तो यह सुझाव देना सबसे बेहूदा नीति होगी कि एक सेना अपने

हथियार डाले और घर लौट जाये। यह शान्ति नहीं बल्कि दासता की नीति होगी, जो किसी भी स्वतन्त्र जनता द्वारा घृणा के साथ अस्वीकार कर दी जायेगी।" (कार, 1978, में उद्धृत, पृ. 75) इतिहास ने दिखलाया कि इस उद्धरण में कामेनेव लेनिन की नीति को ग़लत तरीक़े से पेश कर रहे थे और लेनिन की जो नीति थी उसे जनता ने घृणा से ठुकराया नहीं बल्कि जून आते-आते उसी के पक्ष में खड़ी हो गयी। लेनिन ने हमेशा इस बात का विरोध किया था कि जनता की स्वत:स्फूर्त और बुर्जुआ राष्ट्रवाद से प्रेरित भावनाओं के अनुसार कम्युनिस्ट अपनी नीति तय करें। हिरावल का काम आम मेहनतकश जनसमुदायों की स्वत:स्फूर्त व टटपुँजिया भावनाओं व चेतनाओं के पीछ घिसटना नहीं होता, बल्कि सर्वहारा दृष्टिकोण से उसे नेतृत्व देना होता है। लेनिन को राष्ट्रीय पराजयवाद की नीति के सहीपन पर पूरा भरोसा था। ज़िम्मरवॉल्ड कॉन्फ्रेंस में लेनिन ने युद्ध-विरोध पर एकजुट सामाजिक-जनवादियों के बीच उन लोगों का विरोध किया था जो कि युद्ध का विरोध करते हुए शान्तिवाद का समर्थन कर रहे थे और उन्होंने इस बात की वकालत की थी कि साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में बदला जाना चाहिए, जो कि पूँजीपतियों के शासन के विरुद्ध एक न्यायपूर्ण युद्ध होगा। लेनिन के साथ जो छोटी सी अल्पसंख्यक आबादी खड़ी हुई उन्हें वामपन्थी ज़िम्मरवॉल्डियन कहा गया। **लार्स टी. ली** ने इन्हें ठीक ही 'अल्पसंख्या के भीतर अल्पसंख्या' नाम दिया है क्योंकि समूचे यूरोपीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में ज़िम्मरवॉल्ड कॉन्फ्रेंस में शिरकत करने वाले सामाजिक-जनवादी ही एक अल्पसंख्या थे। एक छोटी-सी संख्या के समर्थन के बावजूद लेनिन में अपनी कार्यदिशा के सर्वहारा सहीपन को लेकर पूरा आत्मविश्वास था। 1915 कार्ल रादेक को लिखे गये पत्र में इस आत्मविश्वास को देखा जा सकता है। लेनिन अपने समर्थन में खड़े लोगों को जोड़ते हुए लिखते हैं, **"डच *प्लस* हम लोग *प्लस* वामपन्थी जर्मन *प्लस* शून्य - लेकिन इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता क्योंकि बाद में यह *शून्य* नहीं बल्कि *हर व्यक्ति* होगा।"** (लार्स टी. ली, 2011, **'लेनिन'**, रीएक्शन प्रेस, लन्दन में उद्धृत)

अब अगर लेनिन के इस अप्रोच से कामेनेव के अप्रोच की तुलना की जाये, तो एक सर्वहारा हिरावल के रुख़ और एक टटपुँजिया वामपन्थी लोकरंजक रुख़ का फ़र्क़ समझा जा सकता है। यहाँ पर यह भी ज़िक्र करना प्रासंगिक होगा कि अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच ने क्रान्तिकारी पराजयवाद की लेनिन की नीति को एकदम ग़लत तरीक़े से समझा है। रैबिनोविच लिखते हैं, "अब, अगस्त 1914 के आख़िरी दिनों में, बर्न, स्विट्ज़रलैण्ड से लेनिन ने "युद्ध पर थीसीज़" में "समाजवाद से ग़द्दारी" करने के लिए द्वितीय इण्टरनेशनल के नेताओं की निन्दा की और तात्कालिक सामाजिक जनवादी नारे के तौर पर सभी देशों में सामाजिक क्रान्ति को मज़बूत बनाने का प्रस्ताव रखा। इसके अलावा, उन्होंने अपने आप को सभी दूसरे रूसी अन्तरराष्ट्रीयतावादी समूहों से एकदम अलग करते हुए तर्क दिया कि *जर्मनी के हाथों रूस की पराजय* वांछनीय है क्योंकि इसके ज़रिये राजतन्त्र कमज़ोर होगा। द्वितीय इण्टरनेशनल के तीखे खण्डन में, शान्ति की बजाय गृहयुद्ध पर अपने ज़ोर में और *रूस के लिए पराजयवाद* के अपने समर्थन में, लेनिन का कार्यक्रम अचम्भित कर देने की हद तक अतिरेकपूर्ण था।" (रैबिनोविच, 1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन'**, इण्डियाना यूनीवर्सिटी प्रेस,

ब्लूमिंगटन एण्ड इण्डियाना, पृ. 17, ज़ोर हमारा है) **स्पष्ट है कि रैबिनोविच एक बुनियादी बात नहीं समझते कि लेनिन ने यह कार्यदिशा 1914 में अन्तरराष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के लिए पेश की थी, न कि सिर्फ़ रूस के सामाजिक-जनवादियों के लिए। लेनिन केवल रूस के मज़दूर वर्ग का आह्वान नहीं कर रहे थे कि वह अपनी सरकार को हराये, बल्कि सभी युद्धरत देशों के मज़दूर वर्ग का आह्वान कर रहे थे कि वे साम्राज्यवादी युद्ध में पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए नहीं, बल्कि अपने असल दुश्मन यानी अपने देश के पूँजीपति वर्ग से लड़ें, उसे उखाड़ फेंकें और सर्वहारा सत्ता क़ायम करें।** लेकिन रैबिनोविच ने लेनिन की कार्यदिशा को यहाँ इस तरह से प्रस्तुत किया है, मानो वे केवल रूस के लिए पराजयवाद की वकालत कर रहे हों। 1917 में भी लेनिन की और अधिकांश बोल्शेविकों की युद्ध पर यही अवस्थिति थी। कामेनेव की अवस्थिति इसके विपरीत थी।

स्तालिन ने कामेनेव के रुख़ का कड़ाई से विरोध किया और साथ ही ज़िम्मरवॉल्ड के बहुमत के बरक्स लेनिन के वामपन्थी ज़िम्मरवॉल्डियन रुख़ का समर्थन किया। लेकिन तमाम अकादमिक लेखकों की तरह, जो कि स्तालिन के प्रति पूर्वाग्रहित होते हैं और कई बार जानबूझकर तथ्यों के साथ दुराचार करते हैं, **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच** ने भी स्तालिन की अवस्थिति को जानबूझकर ग़लत रूप में पेश किया है। रैबिनोविच दावा करते हैं कि स्तालिन की अवस्थिति युद्ध पर वही थी जो कि कामेनेव की थी और उन्होंने कामेनेव के लेख के एक दिन बाद यानी 16 मार्च को *प्राव्दा* में एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि "युद्ध मुर्दाबाद का नारा बेकार है।" हम पहले रैबिनोविच को उद्धृत करेंगे और फिर स्तालिन के उस लेख से उद्धरण पेश करके दिखलायेंगे कि किस तरह रैबिनोविच ने (निश्चित तौर पर) जानबूझकर स्तालिन के कथन को सन्दर्भ से काटकर पेश किया ताकि स्तालिन को मेंशेविक और कामेनेव की अवस्थिति पर खड़ा हुआ दिखलाया जा सके। रैबिनोविच लिखते हैं, "इस तरह इसके बाद कामेनेव और स्तालिन के लेखों ने आरज़ी सरकार के लिए सीमित समर्थन की वकालत की, "युद्ध मुर्दाबाद" के नारे को ठुकराया और मोर्चे पर विसंगठनकारी गतिविधियों को समाप्त करने की वकालत की। कामेनेव ने प्राव्दा में 15 मार्च को लिखा, "जब शान्ति नहीं है तो लोगों को अपने पदों पर बने रहना चाहिए, और तोप के गोलों का तोप के गोलों से गोलियों का गोलियों से जवाब देना चाहिए।" अगले दिन स्तालिन ने इसी को दुहराया, ' 'युद्ध मुर्दाबाद' एक बेकार नारा है।' " (रैबिनोविच, 1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन'**, इण्डियाना यूनीवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन एण्ड इण्डियाना, पृ. 36) यह तथ्यों का कितना भयंकर और आपराधिक विकृतिकरण है इसको प्रदर्शित करने के लिए हम स्तालिन के 16 मार्च के *प्राव्दा* में छपे लेख का उद्धरण पेश करेंगे। स्तालिन लिखते हैं :

"मौजूदा युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है। इसका मुख्य लक्ष्य है पूँजीवादी रूप से उन्नत राज्यों द्वारा विदेशी, मुख्य रूप से कृषि, क्षेत्रों को हड़पना (क़ब्ज़ा करना)। उन्हें नये बाज़ार, इन बाज़ारों से सुविधाजनक संचार, कच्चे माल और खनिज भण्डार चाहिए और वे हर जगह उसे हासिल करने के लिए प्रयास करते हैं...और यही कारण है कि रूस में

मौजूदा स्थिति इस बात का शोर मचाने और घोषणा करने का कोई कारण नहीं देती कि, "स्वतन्त्रता खतरे में है! युद्ध ज़िन्दाबाद!"

"और जिस तरह उस समय (1914 में) फ़्रांस में कई समाजवादियों (गुएस्दे, सेम्बात, आदि) के बीच यह खलबली मच गयी थी, उसी तरह रूस में भी कई समाजवादी "क्रान्तिकारी रक्षावाद" की घण्टी बजाने वाले बुर्जुआ कारिन्दों के पदचिन्हों पर चल रहे हैं।

"फ़्रांस में आगे के घटनाक्रम ने दिखलाया कि इस बात को लेकर ख़तरे की घण्टी बजाना एक झूठ है और स्वतन्त्रता और गणराज्य के बारे में चीख़-पुकार वास्तव में इस तथ्य को छिपाने का एक आवरण था कि फ़्रांसीसी साम्राज्यवादी आल्सेस-लॉरेन और वेस्टफ़ालिया के लिए ललचाये हुए हैं।

"हम पूरी तरह विश्वस्त है कि रूस में मौजूदा घटनाक्रम अन्तत: दिखलायेगा कि "स्वतन्त्रता ख़तरे में है" की उन्मादी चीख़ें किस क़दर झूठी हैं : "देशभक्तिपूर्ण" धूम्रावरण छँट जायेगा और लोग ख़ुद ही देखेंगे कि रूसी साम्राज्यवादी आख़िर किसी चीज़ के पीछे भाग रहे थे - जलडमरूमध्य और ईरान।

"गुएस्दे, सेम्बात और उस जैसों का ज़िम्मरवॉल्ड और कियेंथॉल समाजवादी कांग्रेसों में सही ही मूल्यांकन किया गया था।

"आगे की घटनाओं ने ज़िम्मरवॉल्ड और कियेंथॉल की थीसीज़ के सहीपन और उपयोगीपन को पूरी तरह सिद्ध किया है।...

हमारा, एक पार्टी के तौर पर मौजूदा युद्ध पर क्या रुख़ होना चाहिए?...

पहली बात तो यह, कि यह प्रश्नेतर है कि यह कोरा नारा, "युद्ध मुर्दाबाद!" व्यावहारिक कार्यों के लिए एकदम अनुपयुक्त है, क्योंकि, यह शान्ति के विचार के आमतौर पर प्रचार से आगे नहीं जाता, यह युद्धरत शक्तियों पर युद्ध को रोकने के लिए बाध्य करने के लिए व्यावहारिक दबाव बनाने के लिए कुछ भी मुहैया कराने में सक्षम नहीं है और न ही हो सकता है।" (स्तालिन, 1954, *'युद्ध'*, (16 मार्च 1917), **वर्क्स, खण्ड-3**, फ़ॉरेल लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को)

आगे स्तालिन बताते हैं कि युद्ध ख़त्म करने का एक ही रास्ता हो सकता है और वह यह है कि तमाम युद्धरत देशों का मज़दूर वर्ग अपने शासक वर्गों पर युद्ध ख़त्म करने के लिए क्रान्तिकारी दबाव बनाये। साफ़ है कि स्तालिन अभी लेनिन की "क्रान्तिकारी पराजयवाद" की कार्यदिशा तक नहीं पहुँचे थे। लेकिन रूस में लेनिन की इस रैडिकल कार्यदिशा के सबसे क़रीब स्तालिन ही थे। हमने स्तालिन का यह लम्बा उद्धरण इसलिए पेश किया ताकि अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच जैसे अमेरिकी (वैसे रैबिनोविच मूलत: रूसी हैं। रैबिनोविच के पिता क्रान्ति के बाद 1918 में रूस से भाग गये थे) इतिहासकारों द्वारा स्तालिन के विषय में फैलाये जाने वाले झूठ के स्तर को समझ सकें। इसके अलावा लेनिन के आने से पहले ही स्तालिन पुख्ता तरीक़े से युद्ध का विरोध कर

रहे थे (हालाँकि, वे ज़िम्मरवॉल्ड-किर्येथॉल लाइन पर सभी युद्ध विरोधियों की एकता स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे, जिस लाइन पर मेंशेविक प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता है), इसे जानने के लिए स्तालिन के कुछ अहम लेख देखे जा सकते हैं, जैसे कि 18 मार्च 1917 का लेख 'रूसी क्रान्ति के विजय की शर्तें' और 16 मार्च 1917 का लेख 'बिडिंग फ़ॉर मिनिस्टीरियल पोर्टफ़ोलियोज़'। इन लेखों को देखने से भी रैबिनोविच जैसे इतिहासकारों का यह आरोप निराधार सिद्ध हो जाता है कि स्तालिन ने युद्ध में भागीदारी का समर्थन किया था। ध्यान देने योग्य बात है कि त्रात्स्की ने भी स्तालिन पर यही आरोप लगाया है। हमने थोड़ा विस्तार से इस आरोप का खण्डन करना ज़रूरी समझा क्योंकि यद्यपि स्तालिन लेनिन की अवस्थिति पर नहीं पहुँचे थे, मगर वे कामेनेव की अवस्थिति पर भी नहीं थे। ग़ौरतलब है, ई.एच. कार के बाद अगर पश्चिमी अकादमिक जगत में किसी इतिहासकार के काम की सबसे ज़्यादा चर्चा हुई है तो वह अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच हैं और उनके काम का यह स्तर है कि वे स्तालिन के बारे में ऐसी आधारहीन टिप्पणी करते हैं। यहाँ यह भी बताना ज़रूरी है कि आरज़ी सरकार के बारे में भी स्तालिन का ठीक वही रुख़ नहीं था जो कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी का था। स्तालिन का रुख़ अगर मोलोतोव के समान आरज़ी सरकार की सीधी मुख़ालफ़त का नहीं था, तो स्पष्ट समर्थन का भी नहीं था। स्तालिन का रुख़ मूलत: और मुख्यत: आरज़ी सरकार के प्रति अविश्वास का था। इसे भी रैबिनोविच ग़लत तरीक़े से पेश करते हैं।

बहरहाल, कामेनेव के 15 मार्च के इस लेख के प्रकाशन पर पेत्रोग्राद के कारख़ाना मज़दूरों और अन्य बोल्शेविकों की तीखी प्रतिक्रिया आयी। स्तालिन और मुरानोव ने एक बैठक में इस रुख़ की कड़ी आलोचना की। इस बैठक में पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी, रूसी ब्यूरो के सदस्य, और साईबेरिया में निर्वासन से लौटे बोल्शेविक शामिल थे। बहुमत ने आरज़ी सरकार के प्रति एक तटस्थ नीति अपनाने का निर्णय किया जबकि युद्ध के मामले में मेंशेविकों की क्रान्तिकारी रक्षावाद की नीति का विरोध करने का निर्णय किया गया। स्तालिन ने आरज़ी सरकार के प्रति ज़्यादा पुख्ता तरीक़े से अविश्वास प्रकट किया हालाँकि उन्होंने क्रान्ति के दूसरी मंज़िल में प्रवेश और नेतृत्व को सर्वहारा हाथों में लेने की वकालत नहीं की। स्तालिन ने भी अभी आरज़ी सरकार के खुले विरोध की नीति नहीं अपनायी थी। स्तालिन का ऐसा कहना नहीं था कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के पूरा होने तक और पूँजीवाद के परिपक्व होने तक आरज़ी सरकार का समर्थन किया जाये जैसा कि मेंशेविक कह रहे थे। लेकिन स्तालिन बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के पूरा होने की प्रक्रिया में ही सर्वहारा वर्ग द्वारा नेतृत्व अपने हाथों में लेने की बात भी नहीं कर रहे थे। आगे चलकर स्तालिन ने त्रात्स्की के साथ अपनी बहस के दौरान अपनी इस ग़लती को स्वीकार किया था, हालाँकि 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में इसका स्पष्टता से ज़िक्र नहीं मिलता।

बहरहाल, इस अनिर्णय का कारण यह था कि क्रान्ति की मंज़िल को लेकर बोल्शेविक पार्टी में भी अभी एक विभ्रम की स्थिति बनी हुई थी। एक ओर यह आम राय बनी हुई थी कि क्रान्ति बुर्जुआ जनवादी मंज़िल में है, वहीं दूसरी ओर यह भी स्पष्ट था कि आरज़ी सरकार जनवादी क्रान्ति के मूल कार्यभारों को पूरा करने में आनाकानी और टालमटोल कर रही है। ऐसे

में, जिस निर्णायकता के साथ क्रान्ति के नेतृत्व को अपने हाथों में लिये जाने का आह्वान करने की आवश्यकता थी, वह पार्टी के भीतर कोई भी नहीं कर पा रहा था। न ही कोई उन चिन्हों को देख पा रहा था जो बता रहे थे कि युद्ध, 'दोहरी सत्ता' के पैदा होने, और किसानों के बढ़ते आन्दोलन के कारण पैदा हुई विशिष्ट परिस्थितियों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के सारे कार्यभारों के पूरा हुए बग़ैर ही, क्रान्ति समाजवादी चरण में प्रवेश कर चुकी है; लिहाज़ा, सर्वहारा वर्ग को सत्ता अपने हाथों में लेनी चाहिए, जनवादी क्रान्ति को रैडिकल रूप में पूर्णता तक पहुँचाना चाहिए और 'समाजवाद की ओर कुछ पहले क़दम' उठाने चाहिए। स्थिति की जटिलता और तरलता के चलते पार्टी में इस स्पष्ट सोच का अभाव था। लेनिन के आगमन के साथ विभ्रम का धुँआ छँटा और लेनिन ने अपने रैडिकल प्रस्तावों से न सिर्फ़ मेंशेविकों व अन्य सामाजिक-जनवादियों को चौंका दिया, बल्कि बोल्शेविक पार्टी में भी कई लोग लेनिन के प्रस्तावों पर आश्चर्यचकित हो गये थे। 'सुदूर से पत्र' के बाद लेनिन ने अपने विचारों को प्रसिद्ध अप्रैल थीसीज़ में विकसित किया और ठोस नतीजों तक पहुँचाया। जो बातें मार्च के पत्रों में आम विश्लेषण, संकेतों और आरज़ी निष्कर्षों तक पहुँची थी, अब वह ठोस, मूर्त और पुख्ता नतीजों, नारों और पार्टी के कार्यक्रम तक पहुँच गयी थी।

लेनिन 3 अप्रैल 1917 को पेत्रोग्राद के फ़िनलैण्ड रेलवे स्टेशन पर उतरे जहाँ कामेनेव, और कोलोन्ताई प्रमुख नेताओं में थे जो कि उनकी अगुवाई के लिए आये थे। श्ल्याप्निकोव एक स्टेशन पहले बेलूस्त्रोव से ही लेनिन के साथ हो गये थे। उनके साथ रूसी ब्यूरो के कुछ अन्य कॉमरेड भी थे। लेनिन ने पेत्रोग्राद पहुँचने से पहले ही ट्रेन में श्ल्याप्निकोव पर अपने सवालों की बारिश कर दी। लेनिन को पेत्रोग्राद में पार्टी के भीतर मौजूद स्थिति के बारे में जल्द से जल्द जानना था। साथ ही, उन्होंने मज़दूरों के बीच के माहौल और पेत्रोग्राद सोवियत के रवैये के बारे में भी कई सवाल पूछे। पेत्रोग्राद में उतरते ही उन्होंने मज़ाक़िया अन्दाज़ में कामेनेव से पूछा कि आजकल *प्राव्दा* में वे क्या ऊल-जुलूल लिख रहे हैं।

पेत्रोग्राद सोवियत की ओर से चखीद्ज़े भी लेनिन का स्वागत करने आये थे। चखीद्ज़े ने लेनिन के स्वागत में बात रखते हुए उन्हें मेंशेविक कार्यदिशा को अपनाने का न्यौता दिया। उन्होंने कहा कि रूस में सभी जनवादी शक्तियों को अपनी ताक़तों को एकजुट कर देना चाहिए। ज़ाहिर है, लेनिन ने इन बातों पर ज़्यादा ग़ौर नहीं किया और वे बोल्शेविक काडर व आम जनता के बीच अपने विचारों को जल्द से जल्द रखना चाहते थे। फ़िनलैण्ड स्टेशन पर लेनिन का ज़बरदस्त स्वागत हुआ। क्रोंस्टाट के नाविकों ने उनके सम्मान में 'गार्ड ऑफ़ ऑनर' दिया। उन्हें फूलों का गुलदस्ता पेश किया गया और पेत्रोग्राद सोवियत के अन्य प्रतिनिधियों ने भी स्वागत भाषण दिये। इसके बाद लेनिन ने स्टेशन के बाहर एकत्र भीड़ को सम्बोधित किया। इस भाषण में लेनिन ने साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में तब्दील करने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि यूरोपीय साम्राज्यवाद बुरी तरह से संकटग्रस्त है और उसने एक विश्व समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ पैदा कर दी हैं। लेनिन ने उनके स्वागत में निकाली गयी बोल्शेविक रैली में आयी बख्तरबन्द गाड़ी पर चढ़कर स्टेशन के बाहर के प्रमुख चौराहे पर दोबारा भाषण दिया। इस गाड़ी पर बोल्शेविक पार्टी

का झण्डा लगा हुआ था। इसके बाद उसी दिन शाम को लेनिन ने पार्टी के मुख्यालय पर पार्टी के कार्यकर्ताओं के बीच भाषण दिया। स्टेशन के बाहर दिये गये पहले भाषण में ही लेनिन ने कहा, **"अगर आज या कल नहीं, तो अब किसी भी दिन, समूचे यूरोपीय साम्राज्यवाद का पतन हो सकता है। आपके द्वारा सम्पन्न की गयी रूसी क्रान्ति ने इसकी शुरुआत की है, और इसने एक नये युग का सूत्रपात कर दिया है। विश्वव्यापी समाजवादी क्रान्ति की विजय हो।"**

लेनिन की बातों ने तत्काल अधिकांश लोगों को अचम्भे में डाल दिया था। कई पार्टी कार्यकर्ताओं को लग रहा था कि जो लोग अपेक्षाकृत ज़्यादा दृढ़ता से आरज़ी सरकार के विरोध की बात कर रहे थे, लेनिन उनकी आलोचना करेंगे (जैसे कि मोलोतोव) लेकिन एक पार्टी कार्यकर्ता के अनुसार लोग यह देखकर चकित थे कि मॉस्को व पेत्रोग्राद में मौजूद सभी पार्टी नेताओं में मोलोतोव ही लेनिन के सबसे क़रीब पड़ते थे। अगले दिन यानी 4 अप्रैल को लेनिन ने अपनी बहन के घर पर और फिर *प्राव्दा* के सम्पादकीय कार्यालय पर भी कई पार्टी नेताओं और कार्यकर्ताओं के सामने अपनी अवस्थिति रखी। इसके बाद उन्होंने तौरीद प्रासाद में सामाजिक-जनवादी नेताओं व कार्यकर्ताओं की एक मिश्रित बैठक के समक्ष अपने विचार रखे। इनमें मेंशेविक व अन्य समाजवादी भी शामिल थे। लेनिन के भाषण के दौरान कई मेंशेविकों ने बीच-बीच में टोका-टाकी की। एक भूतपूर्व बोल्शेविक गोल्डेनबर्ग ने कहा कि यूरोप में एक ताज कई दशकों से ख़ाली है, उसे उसका नया उम्मीदवार मिल गया है और यह ताज है बाकुनिन का। यानी, लेनिन पर गोल्डेनबर्ग ने अराजकतावाद का आरोप लगाया। बोग्दानोव ने बीच में टोकते हुए लेनिन की बातों को "एक पागल का प्रलाप" कहा। वहीं स्टेकलोव ने, जो जल्दी ही बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने वाले थे, लेनिन की बातों को अमूर्त निर्मितियों का समुच्चय कहा। लेकिन लेनिन ने इन सभी आक्षेपों और आपत्तियों के बावजूद पूरे आत्मविश्वास के साथ अपनी थीसीज़ पेश कीं। यही थीसीज़ आगे 'अप्रैल थीसीज़' के नाम से प्रसिद्ध हुईं और पहली बार ये 7 अप्रैल के *प्राव्दा* में 'वर्तमान क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के कार्यभारों के बारे में' के नाम से प्रकाशित हुईं।

अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच का इस बैठक के बारे में विवरण बिल्कुल भिन्न है। उनका मानना है कि बोल्शेविक लेनिन के आने के पहले युद्ध और आरज़ी सरकार पर मेंशेविकों की अवस्थिति के इतने क़रीब जा चुके थे कि वे एकीकरण के लिए एक बैठक करने वाले थे। वास्तव में आमतौर पर बोल्शेविक पार्टी और मेंशेविक पार्टी में सामान्य एकता उस समय एजेण्डे पर नहीं थी, वरन् सोवियत के भीतर एक एकीकृत अवस्थिति बनाने का प्रश्न था। रैबिनोविच के अनुसार, उस बैठक में शामिल होने वाले बोल्शेविकों के सामने लेनिन ने अप्रैल थीसीज़ पेश की और बाद में उसकी प्रतिलिपियाँ मेंशेविक नेताओं को दी गयीं, जिसके बाद बोग्दानोव, गोल्डेनबर्ग व स्टेकलोव ने उपरोक्त टिप्पणियाँ कीं। पहली बात तो यह है कि एकीकरण की बात को इस तरह पेश किया जा रहा है मानो बोल्शेविक पार्टी अपने सांगठनिक उसूलों का परित्याग कर मेंशेविकों से एकता की बात कर रही थी। इसका कोई प्रमाण कहीं नहीं मिलता, सिवाय संशोधनवादी और

स्तालिन-विरोधी इतिहासकार बर्दज़ालोव के। ई.एच. कार के अनुसार, यह सामाजिक-जनवादियों की साझा बैठक थी जिसमें मेंशेविक और बोल्शेविक दोनों ही शामिल थे। युद्ध और आरज़ी सरकार से रिश्ते के प्रश्न पर तमाम बोल्शेविक यदि अभी लेनिन की अवस्थिति तक नहीं आये थे, तो वे मेंशेविक अवस्थिति पर भी नहीं थे। स्तालिन ने स्वयं रैबिनोविच के अनुसार लेनिन द्वारा इन बैठकों में बोलने के पहले ही एक प्रस्ताव पारित कराया था जिसमें "आरज़ी सरकार की गतिविधियों पर चौकसीपूर्ण नियन्त्रण" और "एक क्रान्तिकारी सत्ता की शुरुआत के रूप में" पेत्रोग्राद सोवियत का समर्थन करने की बात कही गयी थी (रैबिनोविच, वही, पृ. 38)। ज़ाहिर है कि यह अवस्थिति मेंशेविक अवस्थिति से कुछ अहम मायनों में भिन्न है। इसके बाद रैबिनोविच यह दावा करते हैं कि बोल्शेविक इस हद तक मेंशेविकों की अवस्थिति पर चले गये थे कि वे एकीकरण के बारे में सोच रहे थे! यह अन्तरविरोधी बात है।

दूसरी बात यह है कि रैबिनोविच दावा करते हैं कि अप्रैल थीसीज़ में लेनिन ने एकीकरण का विरोध किया था। लेकिन यदि आप अप्रैल थीसीज़ को पढ़ें तो आपको एकीकरण या एकीकरण के विरोध की कोई चर्चा नहीं मिलेगी क्योंकि ऐसी कोई चर्चा वास्तव में बोल्शेविकों के बीच हो ही नहीं रही थी। यहाँ तक कि कामेनेव ने भी, जिन्होंने मेंशेविक "क्रान्तिकारी रक्षावाद" की अवस्थिति अपनायी थी, मेंशेविकों से एकीकरण का प्रस्ताव नहीं रखा था। एकीकरण की बात की चर्चा लेनिन के लेख 'लेटर्स ऑन टैक्टिक्स' में मिलती है। इस लेख में लेनिन स्वयं इस बात का ज़िक्र करते हैं कि उन्होंने अप्रैल थीसीज़ एकीकरण हेतु होने वाली वार्ता में जाने वाले बोल्शेविकों के समक्ष नहीं बल्कि बोल्शेविकों और मेंशेविकों की संयुक्त बैठक में की थी। लेनिन लिखते हैं :

"4 अप्रैल 1917 को शीर्षक में बताये गये विषय पर रिपोर्ट पेश करने का अवसर मुझे मिला था, पहले पेत्रोग्राद में बोल्शेविकों की एक बैठक में। ये मज़दूर व सैनिक प्रतिनिधियों के अखिल रूसी सम्मेलन में जाने वाले प्रतिनिधि थे, जिन्हें अपने घरों को वापस लौटना था और इसलिए मुझे इस काम को टालने की आज्ञा नहीं थी। इस बैठक के बाद, अध्यक्ष कॉमरेड ज़िनोवियेव ने पूरी सभा की ओर से मुझसे इस रिपोर्ट को तत्काल बोल्शेविक और मेंशेविक प्रतिनिधियों की एक संयुक्त बैठक के समक्ष दुहराने के लिए कहा, जो कि रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के एकीकरण के सवाल पर चर्चा करना चाहते थे।

"हालाँकि अपनी रिपोर्ट को तत्काल दुहराना मेरे लिए मुश्किल था, लेकिन मुझे लगा कि एक बार विचारों-में-मेरे-साथियों और साथ ही मेंशेविकों द्वारा माँग किये जाने के बाद मुझे मना करने का कोई अधिकार नहीं था, क्योंकि मेंशेविक मुझे अपने आसन्न प्रस्थान के कारण और देर करने की आज्ञा नहीं दे सकते थे।" (वी.आई. लेनिन, 1964, *'लेटर्स ऑन टैक्टिक्स'*, **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-24**, चौथा अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ.42)

यहाँ ग़ौर करने वाली बात है कि लेनिन ने जिस संयुक्त बैठक को सम्बोधित किया था वह

बोल्शेविकों और मेंशेविकों की कोई सामान्य बैठक नहीं थी, बल्कि उन बोल्शेविक व मेंशेविक प्रतिनिधियों की बैठक थी जिन्हें मज़दूर व सैनिक प्रतिनिधियों के अखिल रूसी सम्मेलन में भाग लेने जाना था। दूसरी बात यह कि इस बैठक में युद्ध के प्रश्न पर एक एकीकृत अवस्थिति को लेकर बहस होनी थी। इसलिए जिस एकीकरण की बात की जा रही थी, वह आमतौर पर बोल्शेविक पार्टी और मेंशेविकों के बीच सामान्य राजनीतिक-विचारधारात्मक एकता की बात नहीं थी, बल्कि एक विशिष्ट प्रश्न पर एक विशिष्ट मंच पर एकीकृत अवस्थिति बनाने की बात थी। अगर यह विवरण स्पष्ट न किया जाये, तो भ्रम की स्थिति पैदा होती है।

रैबिनोविच यह भी दावा करते हैं कि 6 अप्रैल को केन्द्रीय कमेटी के ब्यूरो की कोई बैठक हुई जिसमें कामेनेव ने लेनिन की अप्रैल थीसीज़ पर हमला किया और स्तालिन ने कामेनेव का समर्थन किया। इसका कोई विवरण ई.एच. कार, बेतेलहाइम, डॉब जैसे इतिहासकारों की पुस्तकों में नहीं मिलता है। न ही 6 अप्रैल की किसी बैठक का ब्यौरा लेनिन के लेखन में या स्तालिन के लेखन में मिलता है। और अगर ऐसी बैठक हुई भी थी तो स्तालिन ने किसी भी बिन्दु पर कामेनेव का साथ देते हुए लेनिन पर हमला किया हो, इसका कोई विवरण नहीं मिलता है, सिवाय बर्दज़ालोव जैसे संशोधनवादी इतिहासकार या त्रात्स्की के लेखन/त्रात्स्कीपन्थी ब्यौरों में।

इस प्रसंगान्तर के बाद हम अप्रैल थीसीज़ की अन्तर्वस्तु पर थोड़ी चर्चा करते हैं। 'अप्रैल थीसीज़' के प्रमुख तर्क इस प्रकार थे। पहला बिन्दु यह था कि जारी युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है और इसलिए तथाकथित क्रान्तिकारी रक्षावाद की कार्यदिशा का दृढ़ता से विरोध किया जाना चाहिए। क्रान्तिकारी रक्षावाद का समर्थन एक ही सूरत में किया जा सकता था यदि सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसान सत्ता में होते, सभी क़ब्ज़ों को कथनी नहीं बल्कि करनी के स्तर पर समाप्त कर दिया जाता और पूँजीवादी हितों से निर्णायक तौर पर विच्छेद हो गया होता। लेकिन ये तीनों ही शर्तें पूरी नहीं हो रही हैं और इसलिए इस युद्ध में हमें सेना के बीच दुश्मन सेना में लड़ रहे वर्दीधारी मज़दूर और किसान भाइयों से भाईचारा स्थापित करने की मुहिम चलानी चाहिए।

दूसरा बिन्दु सबसे महत्वपूर्ण था जिसमें लेनिन ने बताया कि वर्तमान में हमारे देश में क्रान्ति की ख़ासियत यह है कि यह पहले चरण (बुर्जुआ जनवादी) से दूसरे चरण (समाजवादी) में प्रवेश कर रही है। पहले चरण में अपर्याप्त संगठन और चेतना के कारण मज़दूर वर्ग ने सत्ता स्वेच्छा से बुर्जुआ वर्ग को हस्तान्तरित कर दी थी। इस संक्रमण की ख़ासियत यह है कि हमारा देश फ़रवरी क्रान्ति की वजह से राजनीतिक तौर पर यूरोप के सभी देशों से आगे निकल गया है, क्योंकि मज़दूरों व किसानों के दबाव ने आरज़ी पूँजीवादी सरकार को सबसे उदार जनवादी अधिकार देने को बाध्य किया है। वहीं दूसरी ख़ासियत यह है कि यह सरकार पूँजीपतियों और भूस्वामियों की सरकार है जो रोटी, शान्ति और ज़मीन की माँगों को पूरा नहीं कर सकती है। ऐसे में, हमें दूसरे चरण में संक्रमण के अनुसार अपने पार्टी कार्यभारों को सुनिश्चित करना होगा।

तीसरा बिन्दु यह था कि आरज़ी सरकार को किसी भी किस्म का बाशर्त या बेशर्त समर्थन देने का भी कोई प्रश्न नहीं उठता है। यह पूँजीपतियों और भूस्वामियों की सरकार है और इससे

यह उम्मीद करना कि यह साम्राज्यवादी बर्ताव न करे और जनवादी और न्यायपूर्ण शान्ति दे, मूर्खतापूर्ण है।

चौथा बिन्दु भी राजनीतिक तौर पर बेहद महत्वपूर्ण था। इसमें लेनिन एक ओर यह बताते हैं कि सोवियतें ही वे निकाय हैं जो कि समाजवादी सत्ता के कार्यभारों को सँभाल सकती हैं। लेकिन लेनिन यहाँ इन निकायों की सम्भावना-सम्पन्नता की बात कर रहे हैं। कारण यह है कि सोवियतों में अभी भी तमाम टटपुँजिया व बुर्जुआ ताक़तों का वर्चस्व था। इसमें मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी स्थिति में थे। आगे वे स्पष्ट करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी को सोवियतों के बीच अपने राजनीतिक कार्य को निरन्तरता के साथ चलाना होगा और उसमें अपने राजनीतिक वर्चस्व को स्थापित करना होगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक यह सम्भावना-सम्पन्नता एक सुषुप्त सम्भावना-सम्पन्नता ही बनी रहेगी।

पाँचवें बिन्दु में लेनिन स्पष्ट रूप में किसी संसदीय सरकार की सम्भावना को नकारते हैं। उनका मानना है कि अब जब कि सोवियतें एक नयी प्रकार की सत्ता, यानी मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों की सत्ता, के रूप में अस्तित्व में आ चुकी हैं, जो कि किसी भी बुर्जुआ संसदीय जनवाद से कहीं ज़्यादा वास्तविक रूप में जनवादी है, तो वापस संसदीय जनवाद को स्थापित करने की बात करना एक पीछे की ओर उठाया हुआ क़दम होगा। इसके बाद वे सेना, पुलिस व नौकरशाही को ख़त्म करने की बात करते हैं, जो कि बुर्जुआ राज्यसत्ता के **असली कार्यकारिणी** की भूमिका निभाते हैं। साथ ही, लेनिन यह भी कहते हैं कि सोवियतों के भावी गणराज्य में सभी राजकीय कर्मचारियों का वेतन एक योग्य कुशल मज़दूर से ज़्यादा नहीं होगा।

छठें बिन्दु में लेनिन भूमि के प्रश्न को उठाते हैं। यह छठाँ बिन्दु भी राजनीतिक रूप में महत्वपूर्ण है और क्रान्ति के नये चरण में भूमि के प्रश्न पर लेनिन के नज़रिये को दिखलाता है। लेनिन कहते हैं कि ज़मीन के प्रश्न के हल के लिए भूमि कार्यक्रम में पार्टी को अपना ज़ोर अब खेतिहर मज़दूरों और निर्धनतम किसानों की सोवियत पर बढ़ा देना चाहिए। वे जागीरों को तत्काल ज़ब्त करने की बात करते हैं और सारे भूमि के राष्ट्रीकरण को कार्यक्रम में शामिल करते हैं। लेनिन के अनुसार राष्ट्रीकरण के बाद ज़मीन के निपटारे का कार्य किसानों व भूमिहीन मज़दूरों की सोवियतों को सौंप दिया जायेगा। ग़रीब किसानों की सोवियतों को अलग से संगठित किया जाना चाहिए। और सार्वजनिक उत्पादन के लिए बड़ी जागीरों पर मॉडल फ़ार्म बनाये जायें जो कि खेतिहर मज़दूरों की सोवियतों के मातहत होंगे। ज़ाहिर है, कि लेनिन भूमि प्रश्न पर सावधानी के साथ समाजवादी कार्यक्रम की ओर आगे बढ़ने की बात कर रहे हैं। एक तरफ़ उन्होंने राष्ट्रीकृत भूमि के निपटारे का काम किसान सोवियतों और खेतिहर मज़दूरों की सोवियत पर छोड़ा है और साथ ही बड़ी जागीरों पर तत्काल राजकीय/सामूहिक खेती शुरू करने का भी प्रस्ताव रखा है। भूमि कार्यक्रम में वास्तव में क्या लागू हो पायेगा और क्या नहीं, इसके बारे में पहले से इससे ज़्यादा पुख्ता प्रस्ताव रखा ही नहीं जा सकता था और कहीं-न-कहीं लेनिन को इस बात का पूर्वानुमान था कि किसान आबादी में राजनीतिक विभेदीकरण अभी अल्पविकसित है और इस बात की प्रबल सम्भावना

है कि किसानों की अच्छी-ख़ासी आबादी अभी पुनर्वितरण पर ही राजी हो। **इसीलिए पार्टी की भूमिका में उन्होंने दो चीज़ों पर बल दिया है : पहला, खेतिहर मज़दूरों की अलग सोवियतें संगठित करना और दूसरा, ग़रीब किसानों की अलग सोवियतें संगठित करना।** केवल तभी क्रान्ति के उपरान्त समाजवादी भूमि कार्यक्रम को लागू करने के लिए आगे बढ़ा जा सकता था। यह बात दीगर है कि बाद में लेनिन ने समाजवादी-क्रान्तिकारियों के भूमि कार्यक्रम को अपनाया जो कि रैडिकल बुर्जुआ जनवादी चौहद्दियों से आगे नहीं जाता था और क्रान्ति के बाद केवल 3 से 4 प्रतिशत भूमि पर ही मॉडल फ़ार्म बन पाये। लेनिन इस बात को समझते थे कि बहुसंख्यक आबादी के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती कर उन्हें समाजवादी कार्यक्रम पर नहीं लाया जा सकता और उन्हें अपने अनुभव से और साथ ही बोल्शेविक राजनीति प्रचार व शिक्षण के ज़रिये लम्बी अवधि में सहकारी, सामूहिक व राजकीय खेती पर राजी करना होगा।

सातवें बिन्दु में लेनिन सभी बैंकों के राष्ट्रीकरण और एक राजकीय बैंक की स्थापना की बात करते हैं, जो कि सोवियत सत्ता के मातहत होगा।

आठवें बिन्दु में लेनिन स्पष्ट करते हैं कि सर्वहारा सत्ता का तात्कालिक कार्य समाजवादी आर्थिक कार्यक्रम को तुरन्त लागू करना नहीं होगा, बल्कि समाजवाद की ओर कुछ पहले क़दम बढ़ाना होगा। इस बिन्दु को लेनिन थीसीज़ में ज़्यादा विस्तारित नहीं करते हैं, लेकिन बाद में उन्होंने अपने लेखन में इस बिन्दु को विशेष तौर पर विस्तृत रूप में व्याख्यायित किया। लेनिन स्पष्ट थे कि देश में जब तक टटपुँजिया उत्पादन का बोलबाला रहेगा तब तक समाजवादी आर्थिक कार्यक्रम को लागू करना सम्भव नहीं होगा। ऐसे में, सबसे पहले समूचे उत्पादन व वितरण को मज़दूर राज्यसत्ता के नियन्त्रण में लाना होगा, जिसके लिए उद्योगों का सिण्डिकेटीकरण करना होगा, पहले चरण में बुर्जुआ वर्ग के विशेषज्ञों को सर्वहारा सत्ता के लिए काम करने के लिए बाध्य करना होगा, और सर्वहारा वर्ग को इन तमाम कामों को स्वयं सीधे अपने हाथों में लेने के लिए शिक्षित-प्रशिक्षित करना होगा। हम इस बिन्दु पर आगे आयेंगे, जब हम अगस्त, सितम्बर और अक्टूबर में लेनिन के महत्वपूर्ण लेखों पर चर्चा करेंगे। थीसीज़ का यह आठवाँ बिन्दु इसलिए भी अहम है क्योंकि यह रूसी समाजवादी क्रान्ति के एक विशिष्ट स्थिति में होने की सच्चाई को समझता है। लेनिन जानते थे कि युद्ध, आर्थिक विघटन, अकाल और साथ ही सोवियतों के रूप में समानान्तर सत्ता के उदय ने वे विशिष्ट स्थितियाँ पैदा कर दी हैं, जिसमें कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के बाद, मगर बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों के पूरा हुए बग़ैर, सर्वहारा वर्ग इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में आ गया है। युद्ध और जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन ने रूसी बुर्जुआ वर्ग को लगातार प्रतिक्रिया और प्रतिक्रान्ति की शरण में जाने को बाध्य किया है और वह जनवादी क्रान्ति को पूरा करना तो दूर जनवादी क्रान्ति को अवर्धित (abort) करने की साज़िश करेगा। ऐसे में, रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को भी बचाने और उसे रैडिकल तरीक़े से मुक़ाम पर पहुँचाने के लिए समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करना आवश्यक हो गया है।

नौवें बिन्दु में लेनिन पार्टी कार्यक्रम में बदली स्थितियों के मुताबिक़ बदलाव के प्रस्ताव रखते

हैं, जिसमें कि पार्टी के न्यूनतम कार्यक्रम को बदलने की बात शामिल थी। साथ ही, लेनिन प्रस्ताव रखते हैं कि पार्टी का नाम सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी से बदलकर कम्युनिस्ट पार्टी कर दिया जाना चाहिए। इसके कारण के तौर पर लेनिन यह बताते हैं कि यह नाम यूरोपीय सामाजिक-जनवाद की ग़द्दारी के साथ कलंकित हो गया है। आगे 'राज्य और क्रान्ति' में लेनिन ने लिखा था कि वैसे भी सामाजिक-जनवादी नाम कभी भी मार्क्स व एंगेल्स की पहली पसन्द नहीं था और उनके लिए पार्टी के लिए सबसे उपयुक्त नाम कम्युनिस्ट पार्टी ही था।

थीसीज़ के अन्त में यानी दसवें बिन्दु में लेनिन द्वितीय इण्टरनेशनल के संशोधनवादी और सामाजिक कट्टरवादी हो जाने के साथ एक नये इण्टरनेशनल के गठन की ज़रूरत पर प्रस्ताव रखते हैं।

अप्रैल थीसीज़ के बारे में **कार** का यह कहना सही है कि लेनिन ने जानबूझकर और सावधानीपूर्वक एक विशेष किस्म की व्यावहारिक अस्पष्टता को बनाये रखा था, विशेष तौर पर इस बारे में कि "समाजवाद में संक्रमण" या सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को स्थापित कर देने का सही क्षण कब आयेगा। लेकिन इतना तय था कि अब इतिहास ने जो सवाल एजेण्डे पर उपस्थित कर दिया है वह है समाजवादी क्रान्ति।

अप्रैल थीसीज़ 7 अप्रैल के *प्राव्दा* में प्रकाशित हुई और 8 अप्रैल को ही कामेनेव की ओर से टिप्पणी प्रकाशित हुई कि थीसीज़ में रखे गये विचार लेनिन के अपने विचार हैं, न कि *प्राव्दा* के पूरे सम्पादक मण्डल के। 9 अप्रैल को पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी में लेनिन की थीसीज़ 2 के मुक़ाबले 13 वोटों से पराजित हो गयी। ग़ौरतलब है, पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी में पहले से ही आरज़ी सरकार के समर्थन की ग़लत लाइन हावी थी। इसके बाद थीसीज़ को पेत्रोग्राद शहर के पार्टी सम्मेलन में पेश किया जाना था, जो कि 14 अप्रैल को होना था और इसके बाद उसे 24 अप्रैल को अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन में भी पेश किया जाना था। लेनिन ने 24 अप्रैल से पहले दो अन्य लेखों **'हमारी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के कार्यभार'** और **'दोहरी सत्ता'** में अपने विचारों को और विस्तार दिया। **इसमें ख़ासतौर पर पहला लेख बेहद महत्वपूर्ण है और इसे अप्रैल थीसीज़ का विस्तृत रूप माना जा सकता है।** इस लेख में लेनिन ने लिखा :

"रूस में राज्यसत्ता एक नये *वर्ग* के हाथों में हस्तान्तरित हो चुकी है, यानी, बुर्जुआ वर्ग और वे भूस्वामी जो बुर्जुआ बन गये हैं। *इस हद तक* रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति सम्पन्न हो चुकी है।" (वी.आई. लेनिन, 1977, 'टास्क्स ऑफ़ दि प्रोलेतैरियत इन अवर रिवोल्यूशन', **सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-2**, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 37) लेनिन ने इसी लेख में आगे लिखा कि मज़दूरों और सैनिकों (वर्दी में किसान) की सोवियत ने फ़िलहाल टटपुँजिया राजनीतिक चेतना और मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के टटपुँजिया नेतृत्व के कारण सत्ता स्वेच्छा से बुर्जुआ वर्ग की आरज़ी सरकार को सौंप दी है। इसका एक कारण यह भी है कि रूस में टटपुँजिया आबादी बहुसंख्या में है और यह विश्व दृष्टिकोण से बुर्जुआ वर्ग के साथ खड़ी होती है। लेकिन युद्ध और आर्थिक विघटन ने वह स्थिति पैदा कर दी है जिसके कारण बुर्जुआ आरज़ी

सरकार का वर्चस्व ख़त्म होता जायेगा और बोल्शेविकों का यह कार्यभार है कि इस सन्दर्भ में वे लगातार मज़दूर आबादी और ग़रीब किसान व सैनिक आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार करते हुए बुर्जुआ आरज़ी सरकार के असली वर्ग चरित्र का पर्दाफ़ाश करें। मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी लगातार इसके विपरीत कार्य करेंगे और मज़दूरों और ग़रीब किसान आबादी को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बनाने का प्रयास करेंगे। लेनिन लिखते हैं, **''निम्न पूँजीपति वर्ग के नेता जनता को पूँजीपति वर्ग पर भरोसा करना ''अवश्य'' सिखायेंगे। सर्वहाराओं को जनता को पूँजीपति वर्ग पर अविश्वास करना सिखाना ही होगा।''** (*वही*, पृ. 43) आगे लेनिन ने स्पष्ट किया कि साम्राज्यवादी युद्ध शान्तिवादी प्रार्थनाओं से ख़त्म नहीं हो सकता है और किसी एक पक्ष के हथियार रख देने से भी समाप्त नहीं हो सकता है। कारण यह है कि साम्राज्यवादी युद्ध साम्राज्यवादियों की शैतानी इच्छाओं का परिणाम नहीं है, बल्कि विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की गतिकी से पैदा होने वाला नैसर्गिक परिणाम है। इसलिए इसका ख़ात्मा पूँजीपति वर्ग के हाथों से सत्ता छीनने और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को स्थापित करके ही हो सकता है। **इसलिए रूस में भी शान्ति का प्रश्न अब पूरी तरह से समाजवादी क्रान्ति के प्रश्न से जुड़ चुका है।** आगे लेनिन ने स्पष्ट किया कि सोवियतों के रूप में रूस में एक ऐसी संस्था अस्तित्व में आ चुकी है जो भविष्य में कम्यून जैसी राज्यसत्ता का स्वरूप ले सकती है, जो कि कुछ अर्थों में 'अराज्य' में तब्दील हो जाता है। इन अर्थों में कि एक अलग से विशेषीकृत शासक जमात की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। जो विधायिका की भूमिका अदा करते हैं वही कार्यपालिका की भूमिका भी अदा करते हैं। ये लोग होते हैं उत्पादक वर्गों के लोग जो अब सशस्त्र हो चुके होते हैं। इस रूप में एक अलग से दमनकारी निकाय के रूप में पुलिस, फ़ौज और नौकरशाही की ज़रूरत ख़त्म हो जाती है। (लेनिन इस समय तक इस संक्रमण की अवधि बेहद छोटी समझ रहे थे, जिसमें कि राज्य अधिक से अधिक अराज्य में तब्दील होता जायेगा और सर्वहारा वर्ग न सिर्फ़ उत्पादन और वितरण के बल्कि शासन-प्रशासन के सारे कार्य भी अपने हाथों में लेता जायेगा। आगे लेनिन ने 1919 में यह स्पष्ट किया कि समाजवादी संक्रमण की अवधि कहीं ज़्यादा दीर्घकालिक होगी, और ख़ासकर रूस जैसे देशों में। इस पहलू पर हम आगे के अध्यायों में आयेंगे। इसके कुछ नुक्तों पर हमने तीसरे अध्याय में चर्चा की है, जिसे पाठक सन्दर्भित कर सकते हैं)। इसके बावजूद, इसमें कोई शक नहीं था कि सोवियत सत्ता एक नयी प्रकार की सत्ता की नुमाइन्दगी करती थी।

लेनिन ने बोल्शेविकों या आमतौर पर कम्युनिस्टों का अराजकतावादियों और सामाजिक-जनवादियों से फ़र्क़ भी स्पष्ट किया। पहले वाले मानते हैं कि राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है और क्रान्ति के दौर में और वे पूँजीवाद से कम्युनिज़्म में संक्रमण के दौर में राज्यसत्ता की आवश्यकता नहीं समझते। दूसरे, यानी सामाजिक-जनवादी (संशोधनवादी) मानते हैं कि पूँजीवादी राज्य अपने समूचे दमनकारी उपकरण के साथ समाजवादी व्यवस्था में तब्दील हो सकता है। बोल्शेविक मानते हैं कि सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी राज्यसत्ता का ध्वंस कर एक नयी प्रकार की राज्यसत्ता क़ायम करता है, जिसकी चारित्रिक आभिलाक्षणिकता होती है, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व। लेनिन

ने स्पष्ट किया कि सोवियत सत्ता में वह सम्भावना अन्तर्निहित है। **कृषि प्रश्न पर लेनिन ने अप्रैल थीसीज़ में रखी कार्यदिशा को और विस्तार से व्याख्यायित किया जो कि बेहद महत्वपूर्ण है। हम इसे पूरा उद्धृत नहीं कर सकते मगर हम इसे पढ़े जाने की सलाह देंगे** (*वही*, पृ 49-50)।

लेनिन ने अप्रैल थीसीज़ से लेकर 'दोहरी सत्ता' नामक अपने लेखों में फ़रवरी क्रान्ति के बाद रूस में राजनीतिक स्थिति के अपने मूल्यांकन को स्पष्ट कर दिया था। लेनिन का मानना था कि फ़रवरी क्रान्ति के साथ एक 'दोहरी सत्ता' अस्तित्व में आयी है - आरज़ी सरकार के रूप में बुर्जुआ वर्ग की सत्ता और सोवियत के रूप में मज़दूरों और किसानों की सत्ता। इसके साथ, बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल पूरी हो गयी है, हालाँकि, कई बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों को पूरा करना अभी बाक़ी रहता है। इस स्थिति की ख़ासियत थी बुर्जुआ जनवादी सत्ता और सम्भावना-सम्पन्न रूप में मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही का अन्तर्गुंथन (interweaving)। भविष्य में जो संघर्ष होना था वह था किसान जनसमुदायों के समर्थन के लिए सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच का संघर्ष। लेनिन ने लिखा कि पिछले बीस वर्षों से **''रूस के पूरे राजनीतिक इतिहास में जो एक चीज़ लगातार देखी जा सकती है वह है यह प्रश्न कि सर्वहारा वर्ग किसानों का नेतृत्व कर उन्हें समाजवाद की तरफ़ ले जायेगा या फिर बुर्जुआ वर्ग उन्हें पीछे घसीटकर पूँजीवाद के साथ समझौते की ओर ले लायेगा।''** (ई. एच. कार, 1950, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन', खण्ड-1**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, लन्दन, में उद्धृत, पृ. 81)।

लेनिन के अनुसार अप्रैल तक बुर्जुआ वर्ग का पलड़ा किसान आबादी और व्यापक मेहनतकश आबादी पर प्रभाव रखने के मामले में हावी था। यही कारण था कि मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी सोवियतों को आरज़ी सरकार का पिछलग्गू बनाने में फ़िलहाल सफल हुए थे। लेकिन हालात जिस तरह से विकसित हो रहे थे, उनमें ऐसी स्थिति बनी नहीं रह सकती थी। जैसे ही किसानों के सब्र का प्याला छलकेगा और वे ज़मीनों पर क़ब्ज़ा शुरू करेंगे, जनवादी क्रान्ति एक नयी मंज़िल में प्रवेश करेगी, किसान वर्ग का बुर्जुआ वर्ग के साथ संश्रय टूटेगा और सोवियतें बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक नेतृत्व से स्वतन्त्र हो सर्वहारा नेतृत्व के मातहत आ जायेंगी। इसके साथ ही सर्वहारा वर्ग समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये जनवादी क्रान्ति को रैडिकल तरीक़े से मुक़ाम तक पहुँचाने और फिर समाजवाद की ओर कुछ पहले क़दम बढ़ाने की स्थिति में आ जायेगा। 'दोहरी सत्ता' केवल एक संक्रमणकालीन और लघुकालिक स्थिति हो सकती है। या तो यह स्थिति प्रतिक्रिया और प्रतिक्रान्ति की ओर जायेगी या फिर सर्वहारा क्रान्ति की ओर। लेनिन ने बताया कि दो शत्रुतापूर्ण वर्ग शक्तियाँ राज्यसत्ता में सहअस्तित्व में नहीं रह सकती हैं।

लार्स टी. ली ने लेनिन की अपनी जीवनी 'लेनिन' में यह दावा किया है कि 'अप्रैल थीसीज़' के पेश किये जाने पर रूस में न सिर्फ़ सामाजिक-जनवादी दायरों में बल्कि बोल्शेविकों के भी एक हिस्से में जो आश्चर्य की लहर दौड़ गयी थी, उसका कोई विशेष कारण नज़र नहीं आता क्योंकि लेनिन ने जो बातें अप्रैल थीसीज़ में कहीं थीं, वे सभी बातें वे अक्टूबर 1915 में पेश अपनी

थीसीज़ (जिसे ली 'अक्टूबर थीसीज़' का नाम देते हैं) में कहीं थीं। लेकिन यह दावा सही और सटीक प्रतीत नहीं होता है। अक्टूबर थीसीज़ में क्रान्ति के पहले चरण से दूसरे चरण में संक्रमण और किसानों के बीच राजनीतिक विभेदीकरण करने के बारे में कुछ नहीं कहा गया था। **हमारे विचार में ये दो बिन्दु विशेष तौर पर अप्रैल थीसीज़ को युगान्तरकारी बनाते हैं।** कारण यह कि अक्टूबर 1915 में लेनिन अभी भी जनता की जनवादी क्रान्ति को ही कार्यभार मान रहे थे, जबकि अप्रैल थीसीज़ में लेनिन मानते हैं कि यह चरण *आदर्श (ideal)* या *अमूर्त (abstract)* रूप में नहीं बल्कि *वास्तविक (real)* और *मूर्त (concrete)* रूप में पूरा हो चुका है। यह सच है कि सत्ता बुर्जुआ वर्ग और बुर्जुआ बन चुके भूस्वामियों के हाथों में आ गयी है, लेकिन जनवादी कार्यभारों को वे क्रान्तिकारी तरीक़े से पूरा नहीं करेंगे। अब इन कार्यभारों को पूरा करने के लिए भी समाजवादी मज़दूर क्रान्ति अपरिहार्य हो गयी है। अप्रैल थीसीज़ का सबसे केन्द्रीय प्रस्ताव यही था जो कि उन्होंने अक्टूबर 1915 में पेश अपनी थीसीज़ में नहीं रखा था। अगर इस प्रकार का तर्क (यानी लार्स टी. ली जैसा तर्क) पेश किया जाये तो यह भी मानना पड़ेगा कि लेनिन अप्रैल थीसीज़ में एक त्रात्स्कीपन्थी कार्यदिशा रख रहे थे। लेकिन ऐसा नहीं था। क्योंकि ऐसे किसी तर्क के लिए यह समझाना मुश्किल हो जाता है कि फ़रवरी 1917 में क्या हुआ था। लार्स टी. ली का यह तर्क तथ्यत: भी सही नहीं ठहरता और इसी बात को आप दोनों थीसीज़ (यानी अक्टूबर 1915 की थीसीज़ और अप्रैल थीसीज़) पढ़कर स्वयं समझ सकते हैं।

बहरहाल, पेत्रोग्राद नगर पार्टी सम्मेलन में लेनिन का प्रस्ताव 6 के मुक़ाबले 20 वोटों से विजयी हुआ। लेनिन का प्रस्ताव था कि सोवियतों को आरज़ी सरकार का तख्तापलट करने के लिए तैयार करने का। कामेनेव का प्रस्ताव पराजित हुआ जो कि यह था कि आरज़ी सरकार पर क़रीबी नज़र रखी जाये और उसका तख्तापलट करने के किसी भी उकसावे से बचा जाये। लेनिन ने अपनी दूरदृष्टि और तर्कों से समूचे सम्मेलन की राय में परिवर्तन ला दिया था। साथ ही, अप्रैल का हर बीतता दिन लेनिन की भविष्यवाणियों को सही सिद्ध कर रहा था। इसके बाद आया ऐतिहासिक सातवाँ अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन जिसे 'बोल्शेविक पार्टी के इतिहास' ने एक पार्टी कांग्रेस जितना महत्वपूर्ण बताया है। इस सम्मेलन में लेनिन का प्रस्ताव और भी ज़्यादा बहुमत से विजयी हुआ और क्योंकि 24 अप्रैल तक, जब यह सम्मेलन शुरू हुआ, लेनिन की भविष्यवाणियाँ और भी सटीकता से सही सिद्ध होती नज़र आ रही थीं। मिल्युकोव और गुचकोव को युद्ध के समर्थन के कारण हुए जनविरोध के कारण इस्तीफ़ा देना पड़ा था और नयी संयुक्त सरकार में बोल्शेविकों को छोड़कर सभी समाजवादी पार्टियाँ शामिल हो गयी थीं। बोल्शेविक पार्टी के लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था। कामेनेव अभी भी अपनी अवस्थिति पर अड़े हुए थे। स्तालिन और ज़िनोवियेव ने कामेनेव पर तीखा हमला किया। लेनिन ने कामेनेव को समझाने का प्रयास किया। लेकिन अन्तत: वोटिंग हुई और लेनिन का प्रस्ताव भारी बहुमत से विजयी हुआ।

ई.एच. कार का कहना है कि इन सम्मेलनों में सोवियतों को सत्ता देने के प्रश्न पर तो भारी बहुमत लेनिन के पक्ष में था, मगर समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल के आने के प्रश्न पर वह उतना

स्पष्ट नहीं था। समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल के प्रश्न पर 71 वोट पक्ष में पड़े, 38 विरोध में और 8 प्रतिनिधियों ने वोट नहीं डाला। कई लोगों का यह मानना था कि सर्वहारा वर्ग सत्ता को अपने हाथों में लेकर बुर्जुआ क्रान्ति को मुक़ाम तक पहुँचा सकता है लेकिन रूस "युद्ध द्वारा पैदा हुई स्थितियों में सर्वहारा क्रान्ति की पहली मंज़िल में है" और इसकी विजय इस बात पर निर्भर करती है कि यूरोप के कई देशों का सर्वहारा वर्ग अपने-अपने पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध उठ खड़ा होता है या नहीं। यह बात सही है कि सम्मेलन में समाजवादी क्रान्ति को लेकर अभी कई दुविधाएँ और भ्रम थे। अभी लोग लेनिन की पूरी थीसीज़ को भी पूरी तरह समझ नहीं पाये थे जिसमें उन्होंने विशिष्ट सन्धि-बिन्दु के उपस्थित होने के कारण रूस में सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति की स्थिति पैदा होने और इस क्रान्ति के बाद तत्काल 'समाजवाद ला देने' की बजाय 'समाजवाद की ओर पहले क़दम बढ़ाने' की बात कही थी।

लेकिन कार स्वयं लेनिन की पूरी थीसीज़ को नहीं समझ पाये हैं। वे कहते हैं कि एक ओर सोवियतों को सत्ता देने का नारा देना और दूसरी ओर संविधान सभा बुलाने का नारा देना एक अन्तरविरोधी बात थी। मसला यह था कि रूस में समाजवादी क्रान्ति करना इसलिए अनिवार्य हो गया था क्योंकि उसके बिना जनवादी क्रान्ति भी बाधित हो जाती और अपूर्ण रह जाती। संविधान सभा का मसला कोई विचारधारा का मसला नहीं था। यही कारण था कि क्रान्ति के तत्काल बाद भी संविधान सभा भंग नहीं की गयी। वह तब भंग की गयी जब वह सर्वहारा अधिनायकत्व के बुर्जुआ व निम्न-बुर्जुआ विरोध का मंच बन गयी। लेनिन ने बाद में स्पष्ट किया कि सोवियत सत्ता क़ायम होने के बाद संविधान सभा में बोल्शेविकों द्वारा हिस्सेदारी और संविधान सभा का क्रान्तिकारी सत्ता के विरोध में वोट करना बहुत फ़ायदेमन्द रहा क्योंकि इसके ज़रिये जनता के समक्ष बुर्जुआ जनवादी संस्थाओं का बचा-खुचा विभ्रम भी टूट गया। यह विभ्रम केवल बोल्शेविक प्रचारकों के भाषणों और लेखों से नहीं दूर हा सकता था। यह समझने के लिए कि सोवियत सत्ता किसी भी बुर्जुआ जनवादी सत्ता से कहीं ज़्यादा जनवादी है, क्रान्तिकारी व्यवहार की आवश्यकता थी। इसीलिए, संविधान सभा को सोवियत सत्ता स्थापित होते ही भंग करने की बजाय लेनिन ने उदाहरण और व्यवहार से जनसमुदायों को शिक्षित करने का रास्ता अख्तियार किया। कार रणनीति और आम रणकौशल के मसले को विचारधारा का मसला बना देते हैं और इसलिए उन्हें अन्तरविरोध नज़र आता है।

इस सम्मेलन ने नयी केन्द्रीय कमेटी का चुनाव किया जिसमें लेनिन, ज़िनोवियेव, स्तालिन, कामेनेव, मिल्युतिन, नोगिन, स्वेर्दलोव, स्मिल्गा, फ़ेदेरोव थे।

ई.एच. कार मानते हैं कि लेनिन का रुख़ सोवियतों के प्रति 1905 की असफल क्रान्ति के तत्काल बाद संशय का था, लेकिन 1906 में वह बदला और लेनिन सोवियतों को क्रान्तिकारी सत्ता का निकाय मानने लगे। कार लेनिन का यह उद्धरण पेश करते हैं, **"ये निकाय पूरी तरह से जनता के *क्रान्तिकारी* संस्तर द्वारा स्थापित किये गये थे, वे सभी क़ानूनों और विनियमनों के दायरे के बाहर पूरी तरह से क्रान्तिकारी तरीक़े से आदिम जन रचनात्मकता के रूप**

में, जनता के स्वतन्त्र कार्रवाई के प्रदर्शन के रूप में स्थापित किये गये थे।" (कार, 1950, वही, पृ. 84) कार का मानना है कि लेनिन बाद में सोवियतों को क्रान्तिकारी सत्ता के निकाय के रूप में स्वीकारने लगे क्योंकि जनवादी क्रान्ति और मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही की लेनिन के फ्रेमवर्क में सोवियतें बिल्कुल सटीक फिट बैठती थीं। फिर कार कहते हैं कि जनवरी 1917 में भी लेनिन पहले सोवियतों की भूमिका को लेकर सशंकित थे और केवल बाद में, जब सोवियतें 1917 के बसन्त तक क्रान्तिकारी सत्ता का सबसे अहम मंच बन गयीं तब, लेनिन ने उन्हें क्रान्तिकारी सत्ता के निकाय की मान्यता दी। कार के अनुसार लेनिन द्वारा शुरुआत में सोवियतों को मान्यता न देने का एक कारण यह भी था कि वे एक ग़ैर-पार्टी निकाय थीं और साथ ही उससे भी बुरी बात यह थी कि उन पर मेंशेविकों का नियन्त्रण था। कार सोवियतों के प्रति लेनिन के सशंकित रहने की तुलना मार्क्स के शुरुआत में पेरिस कम्यून के प्रति संशय से करते हैं। कार की सोवियतों के प्रति लेनिन के दृष्टिकोण के प्रति यह अवस्थिति सन्तुलित नहीं लगती है।

पहली बात तो यह कि स्वयं कार बताते हैं कि लुनाचार्स्की के अनुसार लेनिन ने 1905 के अन्त में ही पेत्रोग्राद सोवियत में पेरिस कम्यून जैसी राज्यसत्ता के भ्रूण को देखा था। साथ ही, जुलाई 1905 के *प्रोलेतारी* में बिना लेखक के नाम के एक लेख छपा था जिसमें यह तुलना की गयी थी। ज्ञात हो कि *प्रोलेतारी* अप्रैल 1905 में बोल्शेविक धड़े द्वारा निकाला जाने वाला अख़बार था जिसके मुख्य सम्पादक लेनिन थे और सम्पादक मण्डल में लुनाचार्स्की भी थे। इस पृष्ठभूमि के बावजूद कार इस बात पर शक करते हैं कि लेनिन ने 1905 में सोवियतों में नयी क्रान्तिकारी सत्ता के निकाय को देखा था। इस संशय का कोई कारण नहीं समझ आता। दूसरी बात यह है कि 1917 की शुरुआत में लेनिन अगर सोवियतों को लेकर इसलिए संशयग्रस्त थे क्योंकि वे ग़ैर-पार्टी निकाय थीं और उन पर मेंशेविकों का प्रभुत्व था तो फिर सिर्फ़ इस वजह से 1917 के बसन्त में लेनिन का संशय दूर हो जाना कि सोवियतें क्रान्तिकारी सत्ता का केन्द्र बन गयी थीं, तर्कसंगत बात नहीं लगती है क्योंकि तब भी सोवियतों में मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी ही बहुमत में थे। 1905 के नवम्बर में ही लेनिन ने **'मज़दूर प्रतिनिधियों की सोवियत और हमारे कार्यभार'** में इस तर्क का विरोध किया था कि सोवियतों को पार्टी निकाय बन जाना चाहिए और पार्टी के नेतृत्व और सोवियतों के बीच 'बराबर' का चिन्ह रखने का विरोध किया था। इसी लेख में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया था कि सोवियत को अपने आप को क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार का केन्द्र घोषित कर देना चाहिए। (देखें, वी. आई. लेनिन, 1972, **'कलेक्टेड वर्क्स', खण्ड-10**, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 17-28) यह सच है कि लेनिन की सोवियतों के बारे में सोच अभी विकसित होने की प्रक्रिया में थी और ऐसे सन्दर्भ भी मौजूद हैं, जिनमें लेनिन ने सोवियतों को कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए बनाया गया निकाय क़रार दिया है। लेकिन कार के सामान्यीकरण फिर भी सटीक नहीं हैं।

मूल बात यह है कि लेनिन के लिए सोवियतों की भूमिका का प्रश्न कोई सामान्य रूप में हल प्रश्न नहीं था। सोवियतों की भूमिका क्या होगी यह कई कारकों और पूर्वस्थितियों पर निर्भर करता

था। इस प्रश्न पर बेतेलहाइम ने अपेक्षाकृत सही प्रेक्षण रखा है। बेतेलहाइम लिखते हैं, **''सोवियतों के विषय में लेनिन की अवधारणा कभी भी ''फ़ेटिशिस्ट'' नहीं थी। 1917 के दौरान जब बोल्शेविक-विरोधी नीति पर अमल करने को तैयार निम्न पूँजीवादी कट्टरपन्थी पार्टियों द्वारा सोवियतों पर प्रभुत्व सुदृढ़ होने का ख़तरा मँडरा रहा था, तो लेनिन ने ''सारी सत्ता सोवियतों को'' का नारा वापस ले लिया था - और यह स्पष्ट किया था कि सोवियतें ''प्रतिक्रान्ति को छिपाने का उपकरण मात्र'' बन सकती हैं।''** (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फ़र्स्ट पीरियड : 1917-1923'**, हार्वेस्टर प्रेस, ससेक्स, पृ. 105) कारण यह था कि सोवियतें उस समय विशेषकर जुलाई विद्रोह के कुचले जाने के बाद और कोर्निलोव विद्रोह तक निष्क्रिय हो चुकी थीं और बुर्जुआ आरज़ी सरकार की पिछलग्गू बन चुकी थीं।

बहरहाल, अप्रैल थीसीज़ सातवें पार्टी सम्मेलन में बहुमत से पारित हुई। लेनिन ने इसमें और आगे के अपने दो लेखों में स्पष्ट कर दिया था कि क्रान्ति पहले चरण से दूसरे चरण में प्रवेश कर रही है और अब जनवादी क्रान्ति को मुक़ाम तक पहुँचाने के लिए समाजवादी क्रान्ति का प्रश्न इतिहास ने सर्वहारा वर्ग के सामने प्रस्तुत कर दिया है। यदि सर्वहारा वर्ग इस ज़िम्मेदारी को नहीं उठाता तो फिर न सिर्फ़ जनवादी क्रान्ति एक *थर्मिडोर* में समाप्त होगी बल्कि समाजवादी क्रान्ति का सवाल भी लम्बे समय के लिए इतिहास के एजेण्डे पर नहीं आ सकेगा।

अप्रैल के बाद का पूरा घटनाक्रम भी लगातार लेनिन के मूल्यांकनों को सही साबित करता जा रहा था। पहले मिल्यूकोव की सरकार का पतन और संयुक्त आरज़ी सरकार का गठन, युद्ध में पराजयों का लगातार जारी सिलसिला, किसान आन्दोलन का उठता ज्वार और आर्थिक विघटन, अकाल की स्थिति और साथ ही बुर्जुआ वर्ग और टटपुँजिया पार्टियों का नंगा होता चरित्र, जुलाई में मज़दूरों का स्वत:स्फूर्त विद्रोह, उसे कुचला जाना, बोल्शेविक पार्टी का केरेंस्की-नीत सरकार द्वारा दमन, कैडेट पार्टी का सरकार को छोड़ना और नंगी दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया यानी कोर्निलोव के पक्ष में खड़ा होना, पूर्ण रूप से समाजवादी पार्टियों (मेंशेविकों, समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी, आदि) की संयुक्त सरकार बनना, कोर्निलोव द्वारा तख्तापलट की कोशिश और मज़दूरों द्वारा उसे नाकामयाब किया जाना: ये सारा घटनाक्रम लेनिन के विचारों की पुष्टि कर रहा था। इस पूरे घटनाक्रम की संक्षिप्त चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इसी बीच एक अन्य राजनीतिक विकास भी हुआ जिसका ज़िक्र करके हम आगे बढ़ सकते हैं। मई में त्रात्स्की भी रूस लौट आये थे। वापस आने पर उन्होंने एक अर्द्ध-मेंशेविक ग्रुप मेज़राओन्त्सी में शामिल होने का फ़ैसला किया था। मेज़राओन्त्सी अपने आपको गुट-विरोधी सामाजिक जनवादी समूह क़रार देता था। यह त्रात्स्की के पुराने बर्ताव से भी मेल खाता था जिसमें सांगठनिक प्रश्न पर बोल्शेविकों से अलग खड़े होने के कारण उनकी स्थिति मेंशेविकों के क़रीब बनती थी, जबकि क्रान्ति की मंज़िल के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी और मेंशेविकों दोनों से ही अलग समझदारी रखने के कारण वे अपने आपको "गुटविरोधी गुट" (anti-factionalist faction) के रूप में देखते थे। यद्यपि ज़्यादातार विवादास्पद मसलों में

उनकी एकता अक्सर मेंशेविकों के साथ बनती थी। लेकिन यह एकता कभी स्थायी नहीं रहती थी। लिहाज़ा, कहा जा सकता है कि मेजराओन्त्सी वह ग्रुप था जो कि मेंशेविकों से असहमत था और बोल्शेविकों से भी सारे मसलों पर सहमत नहीं था। मई में रूस वापस आने पर त्रात्स्की को लेनिन की समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आने वाली बात आकृष्ट कर रही थी और लेनिन की इस बात का विरोध करने वाले या इस पर ठोस प्रतिक्रिया न देने वालों की वह आलोचना कर रहे थे। मेज़राओन्त्सी ग्रुप ने मई के बाद से जुलाई तक तमाम सोवियत सम्मेलनों व अन्य जन मंचों पर बोल्शेविकों का समर्थन किया। मई में लेनिन मेज़राओन्त्सी की एक बैठक में गये थे और वहाँ उन्होंने इस समूह को बोल्शेविकों में शामिल होने का मौक़ा दिया था और साथ ही उन्होने यह भी प्रस्ताव रखा था कि कार्यदिशा की एकता की सूरत में उन्हें *प्राव्दा* के सम्पादक मण्डल में भी जगह दी जायेगी। त्रात्स्की ने सांगठनिक सिद्धान्तों पर अपने मेंशेविक आग्रहों के कारण ज़ोर दिया कि नयी पार्टी का नया नाम होना चाहिए और उन्होंने बोल्शेविक सांगठनिक उसूलों में भी समझौते की माँग की। लेनिन ने इस माँग को ठुकरा दिया और मई में मेज़राओन्त्सी बोल्शेविक पार्टी में शामिल नहीं हो सका। आगे जुलाई में यह ग्रुप पूरा का पूरा और बिना किसी शर्त बोल्शेविक पार्टी में शामिल हुआ और सभी बोल्शेविक उसूलों पर इसने सहमति जतायी।

1917 की गर्मियों ने लेनिन के सारे पूर्वानुमानों को कमोबेश सही साबित किया। मई में किसान सोवियतों की कांग्रेस हुई जिसमें समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी हावी थी। इसने आरज़ी सरकार के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया। मई के अन्त में पेत्रोग्राद के कारख़ाना मज़दूरों का सम्मेलन हुआ जिसमें बोल्शेविक बहुमत में थे। इसके बाद जून में पहली अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस हुई। इसमें 285 समाजवादी-क्रान्तिकारी, 248 मेंशेविक, 103 बोल्शेविक और 150 स्वतन्त्र प्रतिनिधि थे। त्रात्स्की और लुनाचार्स्की मेज़राओन्त्सी के दस प्रतिनिधियों में से थे और उन्होंने इस कांग्रेस में बोल्शेविकों का समर्थन किया था। सम्मेलन के दूसरे दिन मेंशेविक नेता त्सेरेतली जो कि आरज़ी सरकार में पोस्ट व टेलीग्राफ़ मन्त्री भी था, ने दावा किया कि रूस में अभी कोई एक पार्टी ऐसी नहीं है जो यह दावा कर सके वह सत्ता हाथ में लेकर उसे सँभाल सकती है। **लेनिन ने अपनी सीट से कहा, "ऐसी पार्टी है।"** लेनिन अल्पसंख्या में होने के बावजूद अपनी कार्यदिशा के सहीपन को लेकर पूरी तरह आत्मविश्वास से भरे हुए थे। उनका यह आत्मविश्वास आने वाले समय में पूरी तरह सही साबित होने वाला था। इस कांग्रेस में लेनिन का यह हस्तक्षेप एक प्रतीक कथन था जिसमें लेनिन ने यह स्पष्ट रूप से सम्प्रेषित कर दिया था कि बोल्शेविकों की ओर से बुर्जुआ आरज़ी सरकार के विरुद्ध एक राजनीतिक युद्ध का ऐलान कर दिया गया है। बहरहाल, जैसा कि होना था, कांग्रेस ने आरज़ी सरकार को समर्थन देते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। इसी कांग्रेस में सोवियत ने तत्काल कार्रवाई हेतु एक कार्यकारी परिषद बनायी जिसका नाम वीटीएसआई (अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस की कार्यकारी परिषद) था। यह दो सोवियत कांग्रेसों के बीच, जो कि हर तीन माह पर होनी थीं, कांग्रेस की शक्तियों से लैस एक कार्यकारी निकाय था। इसमें कुल 250 प्रतिनिधि थे और समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर इसमें 35 बोल्शेविक थे।

आरज़ी सरकार की स्वीकार्यता और मान्यता में जारी युद्ध और आर्थिक विघटन के कारण लगातार गिरावट आ रही थी। इसी बीच बोल्शेविकों ने अपनी शक्ति आँकने के लिए और साथ ही जनता के मिजाज़ को मापने के लिए 9 जून को एक प्रदर्शन का ऐलान किया था, जो कि 10 जून को होना था। सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस की आपत्ति पर पार्टी ने इस प्रदर्शन को रद्द कर दिया। यह एक बेहद दिलचस्प प्रकरण था। इस प्रकरण पर **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच** ने विस्तार से लिखा है। रैबिनोविच ने दस्तावेज़ी प्रमाणों के आधार पर दिखलाया है कि युद्ध के विरुद्ध बढ़ते असन्तोष के कारण पेत्रोग्राद ग़ैरीसन में और साथ ही अन्य सैन्य टुकड़ियों में ज़बरदस्त असन्तोष था। बोल्शेविक पार्टी का सैन्य संगठन पेत्रोग्राद में काफ़ी सक्रिय था और उसका सैनिकों में काफ़ी प्रभाव था। इस सैन्य संगठन की ज़िम्मेदारी मुख्य तौर पॉड्वॉइस्की और नेव्स्की के हाथों में थी। ये दोनों असाधारण क्षमता वाले संगठनकर्ता थे और पुराने बोल्शेविक थे। सैन्य संगठन ने केन्द्रीय कमेटी को सूचित किया कि सैनिक युद्ध के विरुद्ध एक सशस्त्र प्रदर्शन करना चाहते हैं। पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी भी इस प्रदर्शन के समर्थन में थी। केन्द्रीय कमेटी में ज़िनोवियेव, कामेनेव व नोगिन इस प्रदर्शन के विरोध में थे क्योंकि उनका यह मूल्यांकन था कि यह प्रदर्शन हिंस्र हो सकता है क्योंकि सैनिक सशस्त्र होंगे। लेकिन केन्द्रीय कमेटी ने प्रदर्शन करने का फ़ैसला किया। इसका एक कारण यह भी था कि इस बात की स्पष्ट रपटें सैन्य संगठन की ओर से आ रही थीं कि यदि बोल्शेविक पार्टी इस प्रदर्शन का नेतृत्व अपने हाथों में नहीं लेती है तो भी सैनिक प्रदर्शन करेंगे और उस सूरत में उसका नेतृत्व पेत्रोग्राद के अराजकतावादी-कम्युनिस्ट संगठन के हाथों में आ जायेगा जो कि इस प्रदर्शन को अपरिपक्व आम बग़ावत की ओर ले जा सकते हैं। यदि ऐसा होता तो क्रान्ति को भारी नुक़सान पहुँचने की सम्भावना थी। नतीजतन, केन्द्रीय कमेटी ने फ़ैसला किया कि वह इस प्रदर्शन की बागडोर अपने हाथों में सँभालेगी और अधिकतम संख्या में मज़दूरों को इससे जोड़ने का प्रयास करेगी। मज़दूरों को इस प्रदर्शन से जोड़ने के शुरुआती प्रयासों को काफ़ी सफलता भी मिल रही थी। इस प्रश्न पर भी पार्टी में बहस थी कि सैनिकों को बिना शस्त्रों के प्रदर्शन करने के लिए राजी किया जाये। लेकिन सैन्य संगठन का मूल्यांकन था कि यदि पार्टी निर्देश भी दे तो भी सैनिक सशस्त्र प्रदर्शन ही करेंगे। नतीजतन, सशस्त्र प्रदर्शन का फ़ैसला 8 जून की शाम को केन्द्रीय कमेटी, सैन्य संगठन और पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी की संयुक्त बैठक में बहुमत से पारित हो गया। इस समय तक ज़िनोवियेव भी इस फ़ैसले के पक्ष में आ गये थे। लेनिन शुरू से ही इस फ़ैसले के पक्ष में थे। साथ ही, स्तालिन और स्मिल्गा भी मज़बूती से इस फ़ैसले के पक्ष में थे।

9 जून को पहली बार स्तालिन द्वारा लिखित एक पर्चा प्रदर्शन के लिए आह्वान करते हुए कारख़ानों और बैरकों में बँटना शुरू हुआ। लेकिन इसी बीच अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व ने इस प्रदर्शन पर रोक लगा दी और इसके ख़िलाफ़ एक अपील जारी कर दी। बोल्शेविक पार्टी पहले ही जानती थी कि ऐसा ही होगा। **लेकिन जो अप्रत्याशित बात हुई वह यह थी कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में बोल्शेविक प्रतिनिधियों के ग्रुप ने इस फ़ैसले का विरोध किया।** इस विरोध का कारण यह था कि इस ग्रुप

को प्रदर्शन के फ़ैसले के बारे में सूचित ही नहीं किया गया था। बाद में हुई बहस से ज़ाहिर हुआ कि यह एक तकनीकी ग़लती थी जिसमें संवाद के अभाव और प्रदर्शन की गोपनीयता के कारण इस बात को लेकर अस्पष्टता रह गयी कि इस ग्रुप को कौन सूचित करेगा। ज़िनोवियेव के वक्तव्य से पता चलता है कि केन्द्रीय कमेटी यह मानकर चल रही थी कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी सोवियत कांग्रेस में बोल्शेविक धड़े को सूचित करेगी, जबकि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी को यह बात स्पष्ट ही नहीं थी कि यह काम उसे करना है। जो भी हो, अन्त में बोल्शेविक धड़े ने इसका विरोध किया और कहा कि अगर हम अभी भी प्रदर्शन की योजना को लागू करने का फ़ैसला करते हैं तो हमें सोवियत से बाहर जाना पड़ सकता है। वहीं दूसरी ओर अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना प्रचार और साथ ही वाईबोर्ग ज़िला पार्टी कमेटी व कुछ अन्य "वाम" भटकावग्रस्त बोल्शेविकों के रवैये के कारण यह सम्भावना बन गयी थी कि प्रदर्शन हिंस्र होगा और उसमें सत्ता क़ब्ज़ा करने का प्रयास किया जा सकता है। ऐसे में, 10 जून की भोर में एक आपात बैठक हुई जिसमें केन्द्रीय कमेटी ने प्रदर्शन को रद्द करने का फ़ैसला किया और इस सन्देश को पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी और सैन्य संगठन को तत्काल भिजवाया। प्रदर्शन रद्द हो गया। लेकिन इसके बाद इस पूरे घटनाक्रम की समीक्षा के लिए जो बैठक हुई उसमें पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी के बहुमत ने और साथ ही सैन्य संगठन के कई कॉमरेडों ने केन्द्रीय कमेटी के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रवैये की आलोचना की और कहा कि इससे सैनिकों और मज़दूरों के बीच बोल्शेविक पार्टी की मान्यता पर नकारात्मक असर पड़ेगा। ज़िनोवियेव को ख़ास तौर पर आलोचना का निशाना बनाया गया जिन्होंने इस फ़ैसले के लिये जाने की प्रक्रिया में कई बार अपना वोट बदला था। आख़िरी वोटिंग जिसमें कि इस फ़ैसले को रद्द किया था, उसमें लेनिन ने वोट नहीं डाला था। लेकिन उनकी राय भी अब प्रदर्शन को फ़िलहाल रद्द करने पर बन रही थी। सितम्बर में लेनिन ने अपने एक लेख में स्पष्ट किया था कि जुलाई में आम बग़ावत के लिए न तो पार्टी तैयार थी और न ही समूचा मज़दूर वर्ग; ज़ाहिर है, जैसे-जैसे यह स्पष्ट होता गया कि यह प्रदर्शन सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के अपरिपक्व प्रयास में तब्दील हो सकता है, वैसे-वैसे लेनिन इसके प्रति संशयग्रस्त होते गये। पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी के कई बोल्शेविकों ने केन्द्रीय कमेटी की सोवियत में बोल्शेविक प्रतिनिधियों के धड़े के दबाव में आने के लिए भी आलोचना की।

लेनिन ने बैठक में माना कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी व अन्य कॉमरेडों को केन्द्रीय कमेटी की आलोचना करने का पूरा अधिकार है लेकिन इस मसले में आख़िरी वक़्त पर फ़ैसला लिया जाना अनिवार्य हो गया था। लेनिन ने कहा कि अभी हम इस बात को लेकर सुनिश्चित नहीं हो सकते कि इस प्रदर्शन के बाद सोवियत से बाहर जाने का आगामी योजना पर क्या असर पड़ सकता था। साथ ही, प्रदर्शन के हिंस्र रुख़ लेने की सम्भावना बढ़ती जा रही थी। रैबिनोविच मानते हैं कि इस प्रकरण ने दिखलाया कि बोल्शेविक पार्टी कोई लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों पर कसी "एकाश्मी" पार्टी नहीं थी जो कि आँख मूँदकर लेनिन के निर्देशों पर चलती थी। आगे रैबिनोविच **"विभाजित पार्टी" (divided party)** की अपनी अवधारणा पेश करते हुए कहते हैं कि बोल्शेविक पार्टी

का एक "विभाजित पार्टी" होना एक सकारात्मक था और इसी सकारात्मक ने पार्टी को सत्ता तक पहुँचाया और उस पर बने रहने के क़ाबिल बनाया। बाद में, बोल्शेविक पार्टी को (लेनिन के ही दौर में, मगर, विशेषकर स्तालिन के दौर में) एक प्रश्नेतर प्राधिकार से सम्पन्न एकाश्मी पार्टी बना दिया गया जो कि उसकी भावी कमज़ोरी साबित हुई।

रैबिनोविच का यह पूरा सिद्धान्त कई स्तरों पर ग़लत है। पहली बात तो यह है कि लेनिनवादी पार्टी की अवधारणा कोई एकाश्मी पार्टी की अवधारणा नहीं है। यह जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों को मानती है जिसके अनुसार फ़ैसला लिये जाने से पहले पूर्ण जनवाद और फ़ैसला लिये जाने के बाद पूर्ण अनुशासन, अल्पमत के बहुमत के मातहत होने, दो पार्टी कांग्रेसों के बीच केन्द्रीय कमेटी के सर्वोच्च निकाय होने और नीचे की कमेटियों के ऊपर की कमेटियों के अधीन होने के सिद्धान्त को लागू किया जाता है। लेनिनवादी उसूलों का अर्थ बहस और आलोचना के अधिकार को ख़त्म करना नहीं है। रैबिनोविच पहले लेनिनवादी सिद्धान्तों का एक हास्यास्पद पुतला खड़ा करते हैं और फिर उसे ध्वस्त कर देते हैं। दिक़्क़त बस यह है कि इस पुतले का वास्तविक लेनिनवादी सांगठनिक सिद्धान्तों से कोई लेना-देना नहीं है। इस पूरे प्रकरण में भी मूल बात यह थी कि असहमतियों और आपसी अन्तरविरोध के बावजूद केन्द्रीय कमेटी के फ़ैसले को अन्तत: पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी और सैन्य संगठन ने हूबहू लागू किया। इस बात को स्मिल्गा ने, जो कि 10 जून के प्रदर्शन को वापस लिये जाने के सख्त ख़िलाफ़ थे, स्पष्ट रूप में इस प्रकार से अभिव्यक्त किया, **"यह प्रश्न हर मज़दूर और सैनिक के सामने खड़ा है; यह शब्दों नहीं बल्कि कार्रवाई की माँग करता है...क्रोंस्तात में हम सभी के लिए यह बेहद कड़वा और दुखद अनुभव था कि प्रदर्शन को रद्द कर दिया गया था, लेकिन हमें अपनी शक्ति पर गर्व होना चाहिए और इसके प्रति सचेत होना चाहिए, हमें सचेत होना चाहिए कि हमने क्रान्तिकारी अनुशासन की आवश्यकताओं का पालन किया, जो कि क्रोंस्तात स्वत:स्फूर्त तौर पर नहीं कर पाता।"** (रैबिनोविच, 1991, *वही*, में उद्धृत, पृ. 85-86) स्वयं रैबिनोविच ने स्मिल्गा के इस कथन को उद्धृत किया है जिसमें स्मिल्गा ने लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों की ताक़त को बयान किया है। बोल्शेविक पार्टी का सांगठनिक उसूल उसकी बहुत बड़ी शक्ति था। इसमें अल्पमत असहमत होने के बावजूद बहुमत की नीतियों पर अमल करता था। जिन बोल्शेविकों से इसमें चूक हुई (मसलन, आम बग़ावत का फ़ैसला लिये जाने के बाद ज़िनोवियेव व कामेनेव), उन्हें कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा। पार्टी में सतत् बहस और दो लाइनों के संघर्ष को, संवाद के अभाव में या तकनीकी कमियों के कारण 'निर्देश की श्रृंखला' के टूटने को, केन्द्रीय कमेटी व लेनिन से असहमति को रैबिनोविच 'विभाजित पार्टी' के अपने सिद्धान्त को सही ठहराने के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। रैबिनोविच यह दावा करते प्रतीत होते हैं कि कई बार लेनिन का अल्पमत में आ जाना, केन्द्रीय कमेटी व अन्य कमेटियों के बीच मतभेद होना, कई बार अलग-अलग कमेटियों का एक ही विषय पर अलग-अलग अवधारणाएँ रखना उनके शोध की खोज है। लेकिन अगर हम रैबिनोविच से काफ़ी पहले लिखी गयी रचनाओं, जैसे कि ई.एच.

कार, चार्ल्स बेतेलहाइम (रैबिनोविच की बाद की दो रचनाएँ बेतेलहाइम की पुस्तक के प्रकाशित होने के बाद आयीं) और मॉरिस डॉब द्वारा लिखित इतिहास को देखें, तो हम पाते हैं कि इन इतिहासकारों ने पहले ही दिखलाया है कि पार्टी के भीतर न सिर्फ़ लेनिन के जीवनकाल में बल्कि उसके बाद भी तीखा विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष चलता रहा और वह रैबिनोविच के कल्पित "लेनिनवादी सिद्धान्तों" पर अमल करने वाली पार्टी कभी नहीं थी! रैबिनोविच के इस दावे में कुछ सत्यांश है कि बाद के दौर के सोवियत इतिहासकारों (विशेषकर, संशोधनवाद के दौर के) की रचनाओं में इस तरह की तस्वीर पेश की गयी थी कि पार्टी प्रश्नेतर रूप से लेनिन के प्राधिकार को मानती थी। एक हद तक यह आलोचना 'बोल्शेविक पार्टी के इतिहास' पर भी लागू होती है। **लेकिन रैबिनोविच इस आंशिक रूप से सही आलोचना के आधार पर लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों को ग़लत रूप से विनियोजन करते हैं और साथ ही समूची बोल्शेविक पार्टी का एक उदार बुर्जुआ विनियोजन करते हैं।** हम इस अध्याय के परिशिष्ट में रैबिनोविच की तीनों रचनाओं यानी 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन : दि पेत्रोग्राद बोल्शेविक्स एण्ड दि जुलाई 1917 अपराइज़िंग', 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर' और 'बोल्शेविक्स इन पावर' की विस्तृत आलोचना पेश करेंगे। अभी हमारा मक़सद केवल 10 जून के रद्द किये गये प्रदर्शन के विषय में रैबिनोविच के विश्लेषण की कमियों को इंगित करना था।

10 जून के प्रदर्शन को रद्द करवाने के बाद अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने स्वयं ही 18 जून को एक प्रदर्शन का ऐलान किया, जिसका मक़सद मेंशेविक नीतियों के अनुरूप आरज़ी सरकार से माँग करना और उसे अर्जी देना मात्र था। साथ ही, मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी का नेतृत्व समझ रहा था कि जनता के बीच भरते गुस्से और असन्तोष को अभिव्यक्ति का मंच मिलना अपरिहार्य है, अन्यथा उनका नेतृत्व ही संकट में आ जायेगा। लेकिन, जैसा कि हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं, इस प्रदर्शन में बोल्शेविक पार्टी, उसके नारे और बैनर छा गये। यह मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों की एक निर्णायक हार थी।

इस प्रदर्शन के समय से ही **बोल्शेविक सैन्य संगठन** के कई लोगों में लगातार तत्काल सशस्त्र विद्रोह करने का माहौल बन रहा था। इसका प्रमाण हमें 16 जून को शुरू हुई अखिल रूसी बोल्शेविक सैन्य संगठन सम्मेलन की कार्रवाइयों में मिलता है। यह सम्मेलन 23 जून को समाप्त हुआ। 18 जून के प्रदर्शन में भागीदारी को ध्यान में रखते हुए सम्मेलन की कार्रवाई को 17 जून को जल्दी स्थगित कर दिया गया था और सम्मेलन दोबारा 18 जून की शाम को प्रदर्शन के समाप्त होने के बाद शुरू हुआ था। इस सम्मेलन में बोल्शेविक सैन्य संगठन के अधिकांश संगठनकर्ता इस बात की वकालत कर रहे थे कि सशस्त्र विद्रोह को ज़्यादा देर तक नहीं टाला जाना चाहिए। 19 जून को केरेंस्की सरकार ने गैलीशिया में नये आक्रमण की शुरुआत की घोषणा की। इसके बाद, सम्मेलन में सैन्य संगठन के अधिकांश संगठनकर्ता और पुख्ता तरीक़े से इस प्रस्ताव के समर्थन में आ गये कि निर्णायक सशस्त्र संघर्ष की तैयारी की जानी चाहिए और आरज़ी सरकार से बलपूर्वक सत्ता अपने हाथों में ले लेनी चाहिए। कई रेजिमेण्टों में पहले से ही "वामपन्थी" जल्दबाज़ी की कार्यदिशा

का प्रभाव मौजूद था। विशेष तौर पर, फ़र्स्ट मशीनगन रेजिमेण्ट और रिज़र्व इनफ़ैण्ट्री रेजिमेण्ट में। 17 जून को ज़िनोवियेव ने एक ऐसा भाषण दिया जिसका इरादा तो इस अधैर्य की आग को भड़काना नहीं था, लेकिन वस्तुगत तौर पर इस भाषण की ऐसी व्याख्या सम्भव थी कि तत्काल प्रत्यक्ष कार्रवाई की ओर आगे बढ़ना होगा। चूँकि सम्मेलन में तमाम सैनिक प्रतिनिधियों के बीच पहले से ही यह माहौल हावी था, इसलिए इस अधैर्य के माहौल को बल मिला। वहीं 18 जून के प्रदर्शन के बाद सम्मेलन में बोल्शेविकों के लिए समर्थन को लेकर आत्मविश्वास और भी बढ़ गया था और सैनिक प्रतिनिधियों और बोल्शेविक सैनिक संगठनकर्ताओं के बीच भी "वामपन्थी" कार्यदिशा को लेकर झुकाव और ज़्यादा बढ़ा था। बोल्शेविक सैन्य संगठन के प्रमुख संगठनकर्ता पॉड्वॉइस्की ने इस माहौल के बारे में 18 जून को केन्द्रीय कमेटी के साथ एक अनौपचारिक बैठक में सलाह-मशविरा किया। पॉड्वॉइस्की ने अपने संस्मरण में लिखा है कि **लेनिन** ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि अभी तत्काल सशस्त्र विद्रोह करना सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का अपरिपक्व प्रयास होगा और अभी हमें पूरा ज़ोर इस बात पर रखना चाहिए कि अपने सतत् राजनीतिक प्रचार द्वारा पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में बहुमत हासिल किया जाये और साथ ही अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में भी बहुमत प्राप्त किया जाये। लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि वह दौर अब बीत चुका है जिसमें सत्ता का शान्तिपूर्ण तरीक़े से सोवियतों को हस्तान्तरण हो सकता था। अब सत्ता बलपूर्वक ही हासिल करनी होगी। लेकिन आम बग़ावत कोई खेल नहीं है और इसकी तैयारी के लिए सभी पहलुओं पर ध्यान देना होगा।

पॉड्वॉइस्की ने सम्मेलन में लौटकर लेनिन की कार्यदिशा के आधार पर अपना वक्तव्य रखा। उन्होंने सेना के उन हिस्सों में सतत् प्रचार पर बल दिया जिसमें अभी बोल्शेविक समर्थन पर्याप्त नहीं है। साथ ही, सेना के भीतर बिना तालमेल के वैयक्तिक विद्रोह की कार्रवाइयों को रोकने की भी पॉड्वॉइस्की ने अपील की। इसके बाद, बोल्शेविक सैन्य संगठन के दूसरे प्रमुख संगठनकर्ता **नेव्स्की** ने, जो कि अपने मृदुल व्यवहार और सहज पहुँच रखने के कारण लोकप्रिय थे, बोल्शेविक सैन्य संगठन में पार्टी अनुशासन को बनाये रखने, केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों पर सख्ती से अमल करने और अपने संगठन को और ज़्यादा बेहतर बनाने पर बल दिया। अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच को यह लगता है कि नेव्स्की की अपीलों का ज़्यादा असर नहीं हुआ। उन्हें यह भी लगता है कि स्वयं लेनिन ने जो भाषण आगे इस सम्मेलन में दिया, उसका भी ज़्यादा असर नहीं हुआ और वामपन्थी अधैर्य की लहर मौजूद रही। यह दावा रैबिनोविच इसलिए कर रहे हैं ताकि वे अपनी "विभाजित पार्टी" की अवधारणा को सिद्ध कर सकें। क्योंकि रैबिनोविच स्वयं मानते हैं कि इस सम्मेलन ने जो प्रस्ताव पारित किये वे मूलत: और मुख्यत: लेनिन द्वारा प्रस्तावित कार्यदिशा का समर्थन करते थे। यह सच है कि इसके बाद भी सम्मेलन में एक वामपन्थी धड़ा बना हुआ था, लेकिन इसके अलावा रैबिनोविच और क्या उम्मीद करते हैं? क्या किसी सम्मेलन द्वारा कोई प्रस्ताव पारित होने का यह अर्थ निकाला जा सकता है कि सम्मेलन में उपस्थित हर व्यक्ति उस प्रस्ताव पर सहमत था? नहीं! निश्चित तौर पर, ऐसे किसी भी राजनीतिक सम्मेलन में पारित प्रस्ताव से असहमत एक विपक्षी

धड़ा (संगठित या असंगठित) होगा। लेकिन इससे यह अर्थ निकालना कि यह बोल्शेविक पार्टी के "विभाजित पार्टी" होने की निशानी है, कहाँ तक सही है?

जैसा कि हमने ज़िक्र किया इसी सम्मेलन के दौरान एक और घटना घटी। 19 जून को केरेंस्की द्वारा गैलीशिया आक्रमण के ऐलान की ख़बर पेत्रोग्राद पहुँच चुकी थी। आरज़ी सरकार ने फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट से 500 मशीनगनों और मोर्चे पर तैनाती के निर्देशों के पालन की माँग की थी। इससे इस रेजीमेण्ट में असन्तोष की एक लहर दौड़ गयी। सैनिक अपने हथियार देने को तैयार नहीं थे क्योंकि केरेंस्की सरकार ने वायदा किया था कि फ़रवरी क्रान्ति के दौरान सशस्त्र हुए बलों का निरस्त्रीकरण नहीं किया जायेगा। ज़ाहिर है, केरेंस्की अपना वायदा तोड़ रहा था। नतीजतन, रेजीमेण्ट ने एक सशस्त्र प्रदर्शन की तैयारी शुरू कर दी। इस रेजीमेण्ट के बोल्शेविक सैनिकों ने भी इसका साथ दिया क्योंकि इन सैनिकों ने सारे बोल्शेविक नारों को स्वीकार करके अपना लिया था। रेजीमेण्ट ने अन्य सैन्य बलों के पास इस प्रदर्शन में भागीदारी करने के लिए अपील करते हुए प्रतिनिधि भेजने शुरू कर दिये। यह ख़बर पेत्रोग्राद सोवियत की कार्यकारी समिति तक पहुँची और उसने इसके ख़िलाफ़ सन्देश जारी कर दिया। पेत्रोग्राद के बोल्शेविक नेतृत्व ने आगे आकर फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट को राज़ी किया कि वह अभी सशस्त्र प्रदर्शन न करे। बोल्शेविक जानते थे कि पेत्रोग्राद में जैसे विस्फोटक हालात हैं, उनमें कोई भी सशस्त्र प्रदर्शन पहले सशस्त्र टकराव और फिर सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के अपरिपक्व प्रयास में बदल जायेगा। ऐसे में, या तो यह प्रयास हज़ारों मज़दूरों और सैनिकों के हत्याकाण्ड में समाप्त होगा या फिर यदि सत्ता पर क़ब्ज़ा हो भी गया तो बोल्शेविक उस पर बने रहने में कामयाब नहीं होंगे। बोल्शेविक पार्टी ने बड़ी मुश्किल से सैनिकों को प्रदर्शन न करने पर राज़ी कर लिया।

लेनिन का पूरा ज़ोर इस समय ऐसे सभी प्रयासों को रोकने पर था जो कि तत्काल सशस्त्र विद्रोह की बात कर रहे थे। रैबिनोविच का यह कहना उचित है कि यह महज़ इत्तेफाक नहीं है कि जून के आख़िरी सप्ताह में ही **छठीं पार्टी कांग्रेस** की घोषणा की गयी क्योंकि इस समय में पार्टी नेतृत्व को वर्तमान स्थिति का एक मूल्यांकन बनाने, पेत्रोग्राद व मॉस्को सोवियतों में बहुमत हासिल करने और किसान जनसमुदायों में अपने समर्थन को पुख्ता करने के लिए ठोस क़दम उठाने की आवश्यकता थी। छठी कांग्रेस के लिए ठीक यही बिन्दु एजेण्डे के लिए प्रस्तावित भी किये गये। कांग्रेस तक बोल्शेविक नेतृत्व ने पेत्रोग्राद में विद्रोह के लिए तैयार होते माहौल को नियन्त्रण में रखने का प्रयास करने का निर्णय किया था। लेनिन 20 जून को **अखिल रूसी बोल्शेविक सैन्य संगठन सम्मेलन** में गये। वहाँ पर उन्होंने एक लम्बा वक्तव्य रखा जिसमें उन्होंने तत्काल विद्रोह का आह्वान करने वालों की आलोचना की। रैबिनोविच ने कई समकालीन स्रोतों को उद्धृत करते हुए बताया है कि सम्मेलन में कई बोल्शेविक प्रतिनिधि इससे अचम्भे में आ गये थे क्योंकि वे मानकर चल रहे थे कि लेनिन तत्काल आम बग़ावत के आह्वान का समर्थन करेंगे। इसका कारण यह था कि अप्रैल से लेकर जून तक के दौर में पार्टी के भीतर कामेनेव, नोगिन और ज़िनोवियेव के ख़िलाफ़ लेनिन यह दलील पेश करते आये थे कि समाजवादी क्रान्ति की

मंज़िल आ चुकी है और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के "पूर्ण" होने का इन्तज़ार करने का तर्क एक अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक तर्क है। लेकिन लेनिन ने अप्रैल थीसीज़ में भी आम बग़ावत की कोई समय सारणी पेश नहीं की थी। जैसा कि कार का कहना है, लेनिन ने जानबूझकर ऐसा नहीं किया था क्योंकि यह कहना कि अब देश समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में है और यह कहना कि तत्काल आम बग़ावत कर दी जानी चाहिए, दो अलग चीज़ें हैं। इस भ्रम का एक और कारण यह भी था कि 10 जून के प्रस्तावित सशस्त्र प्रदर्शन का लेनिन ने शुरुआत में समर्थन किया था, जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इन सभी कारकों ने बोल्शेविक सैन्य संगठन और आमतौर पर बोल्शेविकों का समर्थन करने वाले सैनिकों में लेनिन के प्रति यह राय बनायी थी कि लेनिन जल्द से जल्द, सम्भव हो तो तत्काल सशस्त्र विद्रोह कर आरज़ी सरकार का तख्ता पलट करने के पक्ष में हैं। लेकिन लेनिन ने सम्मेलन में बोलते हुए *तत्काल* आम बग़ावत न करने के पक्ष में अपने मज़बूत तर्क रखे। लेनिन का कहना था कि जब तक पेत्रोग्राद और मॉस्को सोवियत में बोल्शेविक बहुमत में नहीं आते हैं तब तक अगर हम आम बग़ावत में कामयाब हो भी गये तो हम सत्ता पर बने नहीं रह पायेंगे। क्योंकि व्यापक टटपुँजिया आबादी और साथ ही मज़दूर और सैनिकों की आबादी का भी एक हिस्सा मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के पक्ष में खड़ा है। यह सच है कि अप्रैल से लेकर जून तक उनका एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा बोल्शेविकों के पक्ष में आया है, लेकिन अभी भी उनका बहुमत या तो हमारे पक्ष में नहीं है या फिर दोलन कर रहा है। ऐसे में, हम तत्काल आम बग़ावत का नारा दें, तो यह एक अपरिपक्व और असमय दिया गया नारा होगा।

लेनिन के वक्तव्य के बाद सम्मेलन में आम राय लेनिन के पक्ष में बन चुकी थी, हालाँकि एक विपक्षी धड़ा मौजूद था जो कि अभी भी वामपन्थी कार्यदिशा पेश कर रहा था। इसी को रैबिनोविच अपनी "विभाजित पार्टी" की अवधारणा को सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल करते हैं, जिसका हम ऊपर खण्डन कर चुके हैं।

●

इसके बाद 3 जुलाई का विद्रोह हुआ। जैसा कि हमने बताया है, 19 जून को आरज़ी सरकार ने मित्र देशों के दबाव में गैलीशिया में एक नया हमला शुरू करने का ऐलान किया था। इसको लेकर तमाम सैनिक दस्तों में भयंकर असन्तोष था। साथ ही, पेत्रोग्राद और पूरे देश में आर्थिक संकट चरम पर था। खाद्यान्न संकट, ईंधन संकट और महँगाई भयंकर स्तरों पर थे। मज़दूरों के बीच भी इसको लेकर गुस्सा भरा हुआ था। विद्रोह की शुरुआत फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट में हुई। फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट के विद्रोही सैनिक कुछ अन्य सैनिक टुकड़ियों के समर्थन के साथ हज़ारों की संख्या में 3 जुलाई की शाम बोल्शेविक मुख्यालय पहुँचे और प्रदर्शन का नेतृत्व करने के लिए बोल्शेविक नेतृत्व का आह्वान करने लगे। पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी और सैन्य संगठन के नेताओं ने विचार-विमर्श के बाद यह तय किया कि वे प्रदर्शन का नेतृत्व करेंगे। बोल्शेविक नेताओं के सामने यह स्पष्ट था कि यदि वे इसका नेतृत्व नहीं भी करेंगे, तो सैनिक अपना सशस्त्र प्रदर्शन करेंगे और

उस सूरत में पार्टी का प्राधिकार भी उनके बीच कम होगा। बेहतर विकल्प यह है कि पार्टी प्रदर्शन का नेतृत्व अपने हाथों में ले और उसे अधिक से अधिक शान्तिपूर्ण रखने का प्रयास करे। कारण यह था कि पार्टी को अभी भी प्रान्तों में किसानों के समर्थन की कमी और मज़दूरों व सैनिकों के एक हिस्से में मेंशेविकों व समाजवादी-क्रान्तिकारियों के प्रति समर्थन का अहसास था। कई सैन्य टुकड़ियाँ भी अभी या तो तटस्थ थीं या फिर आरज़ी सरकार के पक्ष में थीं। ऐसे में, यदि पार्टी एक ऐसे सशस्त्र प्रदर्शन को शामिल हो कर नियन्त्रित न करती, तो यह एक अपरिपक्व आम बग़ावत का रूप ले सकता था। इसमें हार क्रान्ति को काफ़ी पीछे धकेल देती। ऐसे में, कामेनेव ने सोवियत की कार्यकारी समिति की बैठक में 3 जुलाई को ही स्पष्ट किया कि बोल्शेविकों ने इस प्रदर्शन का आह्वान नहीं किया था; लेकिन अब जबकि सैनिक और मज़दूर सड़कों पर हैं तो उन्हें उनके बीच में होना चाहिए और प्रदर्शन को हिंस्र होने से रोकना चाहिए। ज़िनोवियेव और त्रात्स्की ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया।

अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच जिन्हें कि रूसी क्रान्ति के सबसे क़ाबिल इतिहासकारों में से माना जाता है, इस बैठक के बारे में बुरी तरह से भ्रमित हैं। वे लिखते हैं कि 3 जुलाई को केन्द्रीय कमेटी की बैठक में कामेनेव ने यह प्रस्ताव रखा था और ज़िनोवियेव और त्रात्स्की ने उसका समर्थन किया था। **लेकिन 3 जुलाई को तो त्रात्स्की बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी में थे ही नहीं। त्रात्स्की छठीं पार्टी कांग्रेस में केन्द्रीय कमेटी में चुने गये थे और 3 जुलाई के विद्रोह के समय ही वे अपने ग्रुप मेज़राओन्त्सी के साथ बोल्शेविक पार्टी में शामिल हुए थे।** लेकिन केन्द्रीय कमेटी में उनका चुनाव छठी पार्टी कांग्रेस में हुआ था। 3 जुलाई को किसी केन्द्रीय कमेटी बैठक में त्रात्स्की के होने का ई.एच. कार या मॉरिस डॉब या बेतेलहाइम भी कोई ज़िक्र नहीं करते। **वास्तव में, स्वयं त्रात्स्की ने अपने 'रूसी क्रान्ति का इतिहास' में ऐसी किसी बैठक का ज़िक्र नहीं किया है।** उन्होंने भी सोवियत की कार्यकारी समिति की बैठक में कामेनेव के प्रस्ताव का अपने द्वारा समर्थन का ज़िक्र किया है। स्पष्टत: ऐसा लगता है कि रैबिनोविच यहाँ तथ्यों में गड़बड़ कर गये हैं (अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1976, **'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर'**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कं., न्यूयॉर्क, पृ.12)। सम्भवत: त्रात्स्की की भूमिका को अतिरंजित करने के प्रयास में ऐसा हो गया हो।

बहरहाल, 4 जुलाई को लेनिन भी बोल्शेविक मुख्यालय पहुँच चुके थे और वहाँ उन्होंने क़रीब दस हज़ार सैनिकों और मज़दूरों की भीड़ को सम्बोधित किया। इस भाषण में लेनिन ने स्पष्ट किया कि इस समय संयम और धैर्य की सख्त ज़रूरत है। अभी बोल्शेविक सोवियतों में बहुमत में नहीं हैं। सोवियतें सत्ता लेने को तैयार नहीं हैं। ऐसे में, हम ज़बरन सत्ता छीनकर सोवियतों को नहीं दे सकते हैं। पहले सोवियतों में बहुमत अर्जित करना होगा। उससे पहले हमें किसी भी ऐसे प्रदर्शन को शान्तिपूर्ण बनाये रखना होगा। लेनिन समझ रहे थे कि अभी सारी सैन्य टुकड़ियों में भी आरज़ी सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह का माहौल नहीं है। मोर्चे पर कई ऐसी टुकड़ियाँ थीं जिनमें मेंशेविक या समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व में थे। ऐसे में, उन्हें पेत्रोग्राद में किसी भी अपरिपक्व विद्रोह को

कुचलने के लिए बुलाया जा सकता है। ऐसा हुआ भी। 4 जुलाई की शाम को यह ख़बर मिली कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने आरज़ी सरकार के साथ अपनी पक्षधरता जताई और मोर्चे से उन टुकड़ियों को पेत्रोग्राद बुलाने की तैयारी शुरू कर दी। साथ ही, आरज़ी सरकार के ख़ुफ़िया विभाग ने लेनिन के ख़िलाफ़ जर्मन एजेण्ट होने का पूरा मामला तैयार किया और झूठे प्रमाणों को कई ग़ैरीसनों में फैलाया। इस प्रक्रिया में जो तटस्थ ग़ैरीसनें थीं वे आरज़ी सरकार के पक्ष में खड़ी हो गयीं। लेनिन और बोल्शेविक नेतृत्व समझ रहा था कि अगर स्थिति हाथ से निकली तो पेत्रोग्राद में सैनिक और मज़दूर ही एक दूसरे का ख़ून बहायेंगे। नतीजतन, 5 जुलाई को *प्राव्दा* ने अपने पिछले पृष्ठ पर घोषणा छापी कि प्रदर्शन वापस ले लिया गया है। जिन जगहों पर प्रदर्शन हुए उन्हें आरज़ी सरकार के प्रति वफ़ादार सैन्य टुकड़ियों ने कुचल दिया।

लेकिन इसके बाद भी छिटपुट टकराव व प्रदर्शन की घटनाएँ अगले 2 दिनों तक जारी रहीं। बोल्शेविकों ने प्रदर्शन को नियन्त्रित किया और उसे भरसक शान्तिपूर्ण बनाये रखने का प्रयास किया। इसका प्रमुख कारण यही था कि अभी बोल्शेविक पार्टी प्रमुख सोवियतों यानी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में बहुमत में नहीं थी और न ही वह कई अन्य निकायों में अपने प्रभाव को निर्णायक रूप से स्थापित कर पायी थी। साथ ही, किसानों का समर्थन भी बोल्शेविक अभी पूरी तरह से नहीं जीत पाये थे। यही कारण था कि लेनिन का मानना था कि आम बग़ावत का वक़्त अभी नहीं आया है। लेनिन ने कहा कि अभी सत्ता पर क़ब्ज़ा करना और उस पर क़ायम रह पाना सम्भव नहीं है क्योंकि बहुसंख्यक आबादी अभी भी "समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों द्वारा नियन्त्रित निम्न पूँजीवादी नीतियों में यक़ीन करती है।" जुलाई का स्वत:स्फूर्त उभार आरज़ी सरकार के बर्बर दमन द्वारा कुचल दिया गया। लेकिन अब स्वयं बुर्जुआ वर्ग डर गया था और उसने बोल्शेविक पार्टी के दमन की शुरुआत की।

लेनिन और ज़िनोवियेव भूमिगत हो गये और कामेनेव व कोलोन्ताई को गिरफ़्तार कर लिया गया। त्रात्स्की भी गिरफ़्तार हो गये। *प्राव्दा* का दमन कर दिया गया। बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ हर जगह छापे, गिरफ़्तारियाँ आदि शुरू हो गयीं। जुलाई भर बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ प्रचार का कुछ असर मज़दूरों और सैनिकों के भी कुछ हिस्सों पर हुआ। इसमें बोल्शेविकों और विशेषकर लेनिन के जर्मन एजेण्ट होने का कुत्सा-प्रचार प्रमुख था। इसके आधार पर जो माहौल पैदा हुआ, उसका लाभ उठाते हुए पूरे पेत्रोग्राद में बोल्शेविकों पर सड़कों पर हमले हुए, कई बोल्शेविकों की हत्या भी की गयी। तमाम बोल्शेविक नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया। यह बोल्शेविक पार्टी के सांगठनिक ढाँचे की ताक़त थी कि वह हर प्रकार के दमन को झेलकर भी अपने गोपनीय संगठन को क़ायम रखती थी और फिर से उबरने की शक्ति रखती थी। जल्द ही स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार के दमन से बोल्शेविकों की राजनीतिक व सांगठनिक शक्तियों को नष्ट नहीं किया जा सकता है।

धीरे-धीरे बोल्शेविक-विरोधी कुत्सा-प्रचार का असर जनता के बीच कम होने लगा। इसमें बोल्शेविकों के सतत प्रचार की भी एक भूमिका थी। दूसरी ओर, गैलीशियाई आक्रमण के बुरी तरह असफल होने की ख़बरें जैसे-जैसे पहुँच रही थीं, वैसे-वैसे पेत्रोग्राद में बोल्शेविकों के प्रति

समर्थन बढ़ता जा रहा था। बोल्शेविकों का दमन पूरे जुलाई और अगस्त जारी रहा। लेकिन इस दमन ने बोल्शेविकों का रुतबा लोगों के बीच में और ज़्यादा बढ़ाया। तमाम क्रान्तिकारी मज़दूर और सैनिक जो अभी भी मेंशेविक प्रभाव में थे, उन्होंने मेंशेविक पार्टी सदस्यता के कार्ड फाड़कर बोल्शेविक पार्टी में शामिल होना शुरू कर दिया। जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया, गैलीशिया में शुरू किया गया हमला बुरी तरह नाकामयाब हुआ था और बड़ी संख्या में रूसी सैनिक मारे गये या हताहत हुए थे। नतीजतन, प्रधानमन्त्री ल्वोव ने इस्तीफ़ा दे दिया और कैडेट पार्टी सरकार से बाहर हो गयी थी। अब केरेंस्की प्रधानमन्त्री बना और सरकार में समाजवादी-पार्टी और मेंशेविक ही प्रमुख ताक़त रह गये। ऐसी सरकार द्वारा बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ भयाक्रान्तता में उठाये गये क़दमों और 3 से 5 जुलाई के बीच मज़दूरों और सैनिकों के बर्बर दमन ने पेत्रोग्राद और मॉस्को के मज़दूरों और सैनिकों के बीच मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों को लेकर बचे रहे-सहे भ्रम को भी समाप्त कर दिया था। त्रात्स्की की गिरफ़्तारी के ठीक पहले उनकी अगुवाई में मेज़राओन्त्सी ग्रुप बोल्शेविक पार्टी में शामिल हो गया था। यही माहौल था जब 26 जुलाई को पेत्रोग्राद में गुप्त रूप से बोल्शेविक पार्टी की छठीं कांग्रेस का आयोजन हुआ।

लेनिन द्वारा भेजे गये एक पर्चे ('नारों के बारे में') में दी गयी कार्यदिशा की रोशनी में बोल्शेविक पार्टी की 1907 की लन्दन की कांग्रेस के बाद पहली कांग्रेस हुई। यह छठीं पार्टी कांग्रेस गुप्त रूप से 26 जुलाई से 3 अगस्त 1917 को हुई। इसमें स्वेर्दलोव ने अध्यक्षता की और स्तालिन व बुखारिन ने प्रमुख रपटें पेश कीं। ई.एच. कार व अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच के अनुसार त्रात्स्की की गिरफ़्तारी से पूर्व वर्तमान राजनीतिक स्थिति पर प्रमुख रिपोर्ट त्रात्स्की को पेश करनी थी। लेकिन त्रात्स्की की गिरफ़्तारी के बाद कार के अनुसार यह रिपोर्ट बुखारिन ने पेश की और स्तालिन ने एक दूसरी अहम रपट पेश की। रैबिनोविच के अनुसार त्रात्स्की द्वारा पेश की जाने वाली रिपोर्ट को पेश करने के लिए आनन-फ़ानन में स्तालिन को चुना गया, जोकि मौजूदा राजनीतिक स्थिति के विषय पर थी। यहाँ भी इस बयान के स्वर से रैबिनोविच के उदार बुर्जुआ पूर्वाग्रह प्रकट हो जाते हैं। ऐसी "आनन-फ़ानन" का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

ख़ैर, जुलाई में बुर्जुआ वर्ग द्वारा नग्न रूप में प्रतिक्रान्ति के साथ खड़े होने और साथ ही मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व वाली सोवियतों के आरज़ी सरकार के पिछलग्गू बन जाने की स्थिति में कांग्रेस ने "सारी सत्ता सोवियतों" का नारा वापस ले लिया। यह लेनिन की राय के अनुसार ही किया गया था। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि सोवियतों को सत्ता देने के नारे को वापस लेने का यह अर्थ नहीं था कि अब पार्टी सोवियत सत्ता की हामी नहीं थी। यह केवल यह दिखला रहा था कि क्रान्ति के शान्तिपूर्ण विकास की सम्भावनाओं का दौर अब बीत चुका है और अब आरज़ी सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह को पार्टी को संगठित करना होगा। कांग्रेस ने आरज़ी सरकार को उखाड़ फेंकने और मज़दूर सत्ता क़ायम करने का प्रस्ताव पारित किया। नोगिन ने यह प्रश्न उठाया कि पिछले दो महीनों में ऐसा क्या बदला है, कि हम ऐसा निर्णय ले रहे हैं। स्तालिन ने इसका तीखा जवाब देते हुए कहा, **"यह पूछना बेकार का पाण्डित्य-प्रदर्शन**

होगा कि रूस को अपने समाजवादी रूपान्तरण के लिए तब तक इन्तज़ार करना चाहिए, जब तक कि यूरोप 'शुरुआत' नहीं कर देता।'' आगे उन्होंने कहा कि, **''इस सम्भावना को ख़ारिज़ नहीं किया गया है कि रूस वह देश हो सकता है, जो समाजवाद की ओर जाने वाले पथ को प्रदर्शित करे।''** (कार, 1950, *वही*, पृ. 92) आगे स्तालिन ने यह कहा कि **''हमें यह घिसा-पिटा विचार छोड़ देना चाहिए कि यूरोप ही हमें रास्ता दिखा सकता है। एक कठमुल्लेपन का मार्क्सवाद होता है और दूसरा रचनात्मक मार्क्सवाद। मैं दूसरे का समर्थक हूं।''** (**बोल्शेविक पार्टी का इतिहास**, 2003, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ में उद्धृत, पृ. 199)

कार स्तालिन के इस कथन को पूरी तरह ग़लत रूप में व्याख्यायित करते हैं और कहते हैं कि त्रात्स्की 1906 में यही बात कह रहे थे। वास्तव में, लेनिन भी इस बात को मानते थे कि समाजवाद की ओर पथ प्रदर्शित करने का काम रूस कर सकता है। लेनिन समेत अधिकांश बोल्शेविक इस बात पर सहमत थे कि रूस में समाजवादी व्यवस्था को टिकाये रखने के लिए दो कारकों की आवश्यकता है: पहला, यूरोप में सर्वहारा क्रान्ति का फूट पड़ना और दूसरा, ग़रीब किसान आबादी का समर्थन। लेकिन त्रात्स्की का मानना था कि किसान आबादी की क्रान्तिकारी सम्भावना पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। मज़दूर वर्ग एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग है। 1906 में त्रात्स्की ने नारा दिया, "ज़ारशाही नहीं, मज़दूर सरकार"। लेनिन ने इसे वामपन्थी मूर्खता बताया और कहा कि तात्कालिक लक्ष्य मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही होगी और उसके बाद ही सर्वहारा वर्ग ग़रीब किसानों व खेतिहर सर्वहारा को लेकर समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ सकता है। पहला चरण 1917 की फ़रवरी क्रान्ति में मूलत: और मुख्यत: पूरा हो चुका था क्योंकि राज्यसत्ता का प्रश्न हल हो चुका था और किसानों का विभेदीकरण व खेती में पूँजीवादी विकास भी कई दशकों से जारी थे। इस चरण के पूरा होने के बाद लेनिन समाजवादी क्रान्ति के चरण की बात कर रहे थे। स्तालिन ने छठी पार्टी कांग्रेस में इसी बात को दुहराया था। बोल्शेविक पार्टी के भी कई नेता यह समझ रहे थे कि जब तक जनवादी क्रान्ति *पूरी* नहीं हो जाती यानी जब तक उसके सभी कार्यभार पूरे नहीं कर लिये जाते तब तक समाजवादी क्रान्ति की बात करना दुस्साहसवाद होगा। लेनिन के सतत संघर्ष से पार्टी इस अवस्थिति पर आ सकी कि रूस में युद्ध और 'दोहरी सत्ता' की विशिष्ट स्थिति के चलते अब यह अनिवार्य हो गया है कि सर्वहारा वर्ग समाजवादी क्रान्ति के कार्यभार को हाथों में ले और पूरा करे, अन्यथा जनवादी क्रान्ति भी बाधित हो जायेगी और अपूर्ण ही रह जायेगी। लेकिन ई.एच. कार इस पूरे तर्क को नहीं समझ पाते और यहाँ पर उन पर त्रात्स्की का असर स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

रैबिनोविच समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को अपनाने और यूरोप द्वारा समाजवादी क्रान्ति का इन्तज़ार न करने के स्तालिन के कथन के बारे में कहते हैं कि स्तालिन के प्रस्ताव पर काफ़ी लम्बी बहस चली जिसमें त्रात्स्की के साथ मेज़राओन्त्सी ग्रुप में रह चुके यूरेनोव, पुराने बोल्शेविक वोलोदार्स्की, मानुइल्स्की ने "सारी सत्ता सोवियतों को" के नारे को छोड़ने के प्रश्न पर स्तालिन का

विरोध किया। बुखारिन ने बीच-बीच की स्थिति अपनायी। सोकोलनिकोव, स्मिल्गा और बुब्नोव जैसे प्रमुख बोल्शेविक नेताओं ने स्तालिन के प्रस्ताव का समर्थन किया। रैबिनोविच अन्त में यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि कांग्रेस ने इस विषय पर जो प्रस्ताव पारित किया वह दोनों धड़ों की अवस्थितियों का मिश्रण है। लेकिन जब वे बताते हैं कि यह मिश्रण क्या है, तो आप पाते हैं कि स्तालिन का प्रस्ताव बेहद छोटे-मोटे मामूली संशोधनों के साथ हूबहू पारित हो गया था। (देखें, रैबिनोविच, 1976, **'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर'**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कं., न्यूयॉर्क, पृ. 85-89) उदार बुर्जुआ अकादमिकों की स्तालिन के प्रति एलर्जी को समझना कोई मुश्किल काम नहीं है। रैबिनोविच भी अन्य बुर्जुआ इतिहासकारों की तरह किसी न किसी तरह यह यक़ीन दिलाने का प्रयास करने का अवसर निकाल लेते हैं कि स्तालिन कोई बड़े सिद्धान्तकार नहीं थे, वे पार्टी नेतृत्व में ज़िनोवियेव, कामेनेव व त्रात्स्की के जितना क़द भी नहीं रखते थे, वग़ैरह। लेकिन अगर आप स्वयं लेनिन के लेखन को पढ़ें, पार्टी कांग्रेसों और केन्द्रीय कमेटी के कार्यवृत्त पर ग़ौर करें तो आपके सामने दूसरी तस्वीर निकलकर आती है।

बहरहाल, छठीं कांग्रेस में और कई अहम फ़ैसले हुए। मसलन, **पार्टी ने पहली बार औपचारिक तौर पर जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों को अपनी नियमावली में बाध्यताकारी नियम के रूप में शामिल किया।** यह सच है कि इस सिद्धान्त पर बोल्शेविक पिछले एक दशक से भी ज़्यादा समय से अमल कर रहे थे। लेकिन इसे पार्टी कार्यक्रम में औपचारिक तौर पर अभी तक शामिल नहीं किया था। इसके अनुसार, निर्णय लिये जाने से पहले पूर्ण जनवाद और निर्णय लिये जाने के बाद पूर्ण अनुशासन होगा, दो कांग्रेसों के बीच केन्द्रीय कमेटी सर्वोच्च निकाय होगी, अल्पमत बहुमत के मातहत होगा, सभी कमेटियाँ केन्द्रीय कमेटी के मातहत होंगी और नीचे की कमेटियाँ ऊपर की कमेटियों के मातहत होंगी। नियमावली में यह संशोधन पार्टी इतिहास में एक अहम मील का पत्थर था।

कांग्रेस में एक और अहम बहस हुई। कांग्रेस से पहले ही त्रात्स्की, नोगिन, लूनाचार्स्की और कामेनेव का मानना था कि लेनिन को, जो कि इस समय भूमिगत थे, अपने आपको क़ानून के हवाले कर देना चाहिए। लेकिन स्तालिन, ज़िनोवियेव व अन्य बोल्शेविक नेताओं का मानना था कि यह लेनिन की जान लेने के लिए बिछाया गया जाल है। छठीं कांग्रेस में भी इस बात को लेकर बहस उठी कि लेनिन को आत्मसमर्पण करना चाहिए या नहीं। कांग्रेस ने फ़ैसला किया कि किसी भी क़ीमत पर लेनिन की जान को ख़तरे में नहीं डाला जाना चाहिए। जिन मेंशेविक नेताओं ने लेनिन की सुरक्षा की गारण्टी की बात की है, उन्हीं ने जुलाई में बोल्शेविक पार्टी के दमन में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी। ऐसे में, ऐसी किसी गारण्टी पर भरोसा करने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में, त्रात्स्की मेंशेविकों पर पर्याप्त सन्देह न करने के कारण ही गिरफ़्तार हुए थे। उन्होंने मेंशेविक नेता व मन्त्री को ही बता दिया था कि वे लारिन के घर पर हैं। लारिन के घर से ही उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया था।

अगस्त माह में कई ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिन्होंने लेनिन की मूल्यांकनों को सटीकता

से सही ठहराया और साथ ही लेनिन को सितम्बर के दूसरे सप्ताह में इस नतीजे पर पहुँचाने में भी भूमिका निभायी कि अब सशस्त्र बग़ावत (armed insurrection) का समय आ गया है। केरेंस्की ने अगस्त के शुरुआत में एक राज्य समिति की बैठक बुलायी। इस बैठक में बुर्जुआ वर्ग, भूस्वामी वर्ग के प्रतिनिधि, मन्त्री और सेना के अधिकारी बैठे। यह बैठक क्रान्ति के बढ़ते ज्वार पर क़ाबू पाने की रणनीति पर विचार-विमर्श के लिए बुलायी गयी थी। बोल्शेविकों ने इसके विरोध में प्रदर्शन का आह्वान किया। यह बैठक असफलता में समाप्त हुई क्योंकि शासक वर्ग तेज़ी से प्रतिक्रिया के पक्ष में जा रहा था। इसी समय कोर्निलोव मृत्युदण्ड को पुनर्स्थापित करने और सोवियतों, भूमि समितियों व कारख़ाना समितियों को बर्बरता से कुचल देने की वकालत कर रहा था। शासक वर्ग को क्रान्तिकारी आन्दोलन के विरुद्ध इसी प्रकार की प्रतिक्रियावादी निर्णायकता की ज़रूरत थी। बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामी वर्ग तेज़ी से कोर्निलोव के पक्ष में चला गया। केरेंस्की शुरू में कोर्निलोव से समझौते कर रहा था लेकिन किसी भी प्रकार के सैन्य तख्तापलट को लेकर वह आत्मविश्वस्त नहीं था। नतीजतन, उसने कोर्निलोव के तख्तापलट के प्रयास से ख़ुद को अलग कर लिया। कोर्निलोव के विद्रोह का प्रयास शुरू होने से पहले ही विशेष तौर पर बोल्शेविकों के नेतृत्व में और आमतौर पर सभी सामाजिक-जनवादियों के नेतृत्व में, मज़दूरों और सैनिकों के प्रयासों से कुचल दिया गया। इसका विस्तृत ब्यौरा हम ऊपर पेश कर चुके हैं। इसके बाद क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति की सापेक्षिक ताक़त की एक तस्वीर जनता के सामने भी उपस्थित हो गयी थी और अगुवा मज़दूरों व सैनिक भी इस बात को समझने लगे थे कि अगर वे समाजवादी क्रान्ति की तरफ़ आगे नहीं जाते हैं, तो प्रतिक्रान्ति की ताक़तें फिर से एकजुट होकर प्रयास करेंगी और जारी क्रान्ति को कुचल डालेंगी।

इसी बीच मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के क्रान्तिकारी मिजाज़ को सहयोजित करने के लिए एक जनवादी राज्य सम्मेलन बुलाया और उसमें "गणराज्य की परिषद" का चुनाव किया। इस परिषद को "संसद पूर्व निकाय" (प्रेद पार्लियामेण्ट या pre-parliament) की भूमिका अदा करनी थी, जब तक कि संविधान सभा नहीं बुला ली जाती है। ज़ाहिर है, यह मेहनतकश जनसमुदायों की क्रान्तिकारी चेतना और पहलक़दमी को कुन्द करने के लिए उठाया गया क़दम था और इसका मक़सद था क्रान्ति को बुर्जुआ वैधानिकता के दायरे से बाहर न जाने देना। बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने अन्तत: इस फ़र्ज़ीवाड़े का बहिष्कार करने का निर्णय किया। लेकिन पार्टी के भीतर ही कामेनेव व तियोदोरोविच जैसे लोग प्रेद पार्लियामेण्ट में भाग लेने के हामी थे। कामेनेव शुरू से ही सशस्त्र विद्रोह का विरोध कर रहे थे और प्रेद पार्लियामेण्ट में हिस्सा लेने की दलील वे इसीलिए दे रहे थे ताकि सशस्त्र विद्रोह का कार्यक्रम टाला जा सके। लेकिन लेनिन इसका निरन्तरता से विरोध कर रहे थे। स्तालिन ने भी अखिल रूसी जनवादी सम्मेलन के बोल्शेविक धड़े की बैठक में इसका पुरज़ोर विरोध किया। त्रात्स्की ने भी प्रेद पार्लियामेण्ट के बहिष्कार का नारा दिया, जिसके लिए लेनिन ने उनकी प्रशंसा की। प्रेद पार्लियामेण्ट में भाग लेना लोगों में झूठी आशा पैदा कर सकता था और क्रान्ति के

ज्वार पर नकारात्मक असर डाल सकता था। प्रेद पार्लियामेण्ट के नाटक से अलग बोल्शेविकों ने सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस बुलाने का आह्वान किया। तय था कि इस कांग्रेस में बोल्शेविकों को बहुमत मिलेगा, जैसा कि अगस्त के आख़िरी सप्ताह के घटनाक्रम से तय हो गया था। बोल्शेविकों ने पेत्रोग्राद और मॉस्को सोवियतों में बहुमत जीत लिया था। किसान सोवियतों में और वीटीएसआईके में अभी भी बोल्शेविक अल्पमत में थे, लेकिन सितम्बर से भूमि क़ब्ज़ा आन्दोलन ने जैसा आक्रामक रूप धारण किया उससे तय हो गया था किसानों की आबादी का समर्थन उसी राजनीतिक शक्ति को मिलेगा जो कि भूमि क़ब्ज़ों का बिना शर्त समर्थन करेगी। और बोल्शेविक पार्टी शुरू से ऐसी एकमात्र पार्टी थी।

इस बीच समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी में भी फूट पड़ गयी और वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी धड़ा, जो कि बहुमत था, अलग हो गया और बोल्शेविकों के पक्ष में आ गया। इसके साथ, लेनिन की मज़दूर-किसान संश्रय के ज़रिये समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने की अवधारणा का एक अधूरा हिस्सा भी पूरा हो गया। समाजवादी-क्रान्तिकारियों में फूट के बारे में मॉरिस डॉब ने सही टिप्पणी की है, **"जैसा कि कृषि-प्रधान देशों में किसान पार्टियों के साथ अक्सर होता है, दक्षिणपन्थी धड़े में अपनी नीतियों को ज़्यादा समृद्ध किसानों के हितों के अनुसार अनुकूलित करने और ग्रामीण पूँजीपति वर्ग की पार्टी बनने की प्रवृत्ति होती है। लेकिन जैसे-जैसे गर्मी और फिर शरद में किसानों में वास्तविक धाराएँ आगे बढ़ीं, जिनका विवरण हम दे चुके हैं, यह भूमि प्रश्न के क्रान्तिकारी समाधान का पक्ष लेने वाला वामपन्थी धड़ा था जिसने ग्रामीण क्षेत्रों में सबसे ज़्यादा समर्थक जीते और ग्रामीण सोवियतों व अन्य स्थानीय निकायों में किसानों के जनसमुदायों का प्रमुख प्रवक्ता बन गया।"** (मॉरिस डॉब, 1948, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917'**, रूटलेट एण्ड कीगनपॉल लि., लन्दन, पृ. 79) ये वे स्थितियाँ थीं जिन्होंने अगस्त से लेकर सितम्बर के मध्य तक लेनिन के विचारों को विकसित करने में मुख्य भूमिका निभायी।

लेनिन के विचारों के विकसित होने के दौरान ही पार्टी के भीतर जनवादी राज्य सम्मेलन और उसके द्वारा गठित प्रेद पार्लियामेण्ट में हिस्सेदारी को लेकर तीखी बहस चल रही थी। लेनिन ने शुरू से ही जनवादी राज्य सम्मेलन को व्यर्थ और जनता की विद्रोही भावनाओं को बुर्जुआ वैधिकता के दायरे में रखने का उपकरण बताया था। कोर्निलोव के हमले को नाकाम करने के बाद पेत्रोग्राद, मॉस्को और तमाम प्रान्तों में मेहनतकश जनता तेज़ी से इस पक्ष में आ गयी थी कि सारी सत्ता सोवियतों को दे दी जानी चाहिए। लेनिन भी कोर्निलोव प्रकरण के बाद ही सोवियतों को सत्ता देने के नारे को पुनर्जीवित करते हैं। अगस्त अन्त और सितम्बर के प्रथम सप्ताह के बीच बोल्शेविक पेत्रोग्राद व मॉस्को सोवियतों में बहुमत में आ गये थे। लेकिन अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस की कार्यकारी परिषद में वे अभी भी अल्पमत में थे। कामेनेव ने 31 अगस्त से 2 सितम्बर तक चली इसकी बैठक में बोल्शेविकों की ओर से प्रस्ताव रखा कि नयी सरकार बनाये जाने की ज़रूरत है जिसमें प्रतिक्रियावादी कैडेट पार्टी और अन्य प्रतिक्रियावादी तत्वों को क़तई शामिल

नहीं किया जाना चाहिए; इसमें क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग और किसान वर्ग के प्रतिनिधि होने चाहिए जिन्हें रूस को एक जनवादी गणराज्य घोषित करना चाहिए। स्पष्ट है कि कामेनेव ने प्रस्ताव को अपनी समझदारी के अनुसार बनाया था और इसीलिए वे अभी भी जनवादी गणराज्य की बात कर रहे थे और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाये बग़ैर किसी भी आम बग़ावत और समाजवादी क्रान्ति के प्रस्ताव का शुरू से ही विरोध कर रहे थे। लेकिन उनके प्रस्ताव में एक अस्पष्टता है कि वे इस क़दम को एक संक्रमणात्मक क़दम के तौर पर पेश कर रहे हैं या फिर एक दीर्घकालिक समाधान के रूप में। बहरहाल, बोल्शेविकों का यह प्रस्ताव इसी समय जारी पेत्रोग्राद सोवियत की बैठक में बहुमत से पारित हो गया जो कि पेत्रोग्राद सोवियत में बोल्शेविकों के बहुमत में आने का प्रतीक था। लेकिन अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के कार्यकारी परिषद में यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका।

रैबिनोविच का मानना है कि कोर्निलोव प्रकरण के होने के बाद सितम्बर के प्रथम सप्ताह के दौरान लेनिन के चिन्तन में कुछ बदलाव आया और कुछ समय के लिए वे मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी से समझौते के बारे में सोचने लगे थे। कोर्निलोव के हमले ने तकनीकी और सैन्य मसलों में तालमेल करने के लिए सभी समाजवादी पार्टियों को बाध्य कर दिया था और इस सहयोग से लेनिन ने क्रान्ति के शान्तिपूर्ण विकास के रास्ते को फिर से पुनर्जीवित किया। रैबिनोविच कहते हैं कि लेनिन सोवियतों के "मृत" हो जाने और सीधे पार्टी के नेतृत्व में मज़दूर वर्ग द्वारा सत्ता पर क़ब्ज़ा करने की कार्यदिशा से पीछे चले गये थे। रैबिनोविच लेनिन के लेख "समझौतों के बारे में" को समूचे ऐतिहासिक सन्दर्भों से काटकर ये नतीजे निकालते हैं। वास्तव में लेनिन ने कोर्निलोव प्रकरण के बाद पैदा हुई विशिष्ट परिस्थितियों में इस सम्भावना को टटोलने का प्रयास किया था कि क्या मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों को इस बात के लिए राज़ी किया जा सकता है कि सोवियत कांग्रेस सारी सत्ता को अपने हाथों में ले ले। 3 सितम्बर को जब लेनिन इस लेख को छपने के लिए पेत्रोग्राद भेजने वाले थे, तभी मिली नयी सूचनाओं के आधार पर उन्होंने एक पश्चलेख जोड़ दिया जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि इस समझौते का दौर भी बीत चुका है। लेकिन यदि ऐसा न भी होता तो लेनिन का अर्थ यह क़तई नहीं था कि यह समझौता कोई दीर्घकालिक मिश्रित समाजवादी सरकार बनायेगा या अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस मेंशेविकों व समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में कोई दीर्घकालिक सरकार चलायेगी। लेनिन उस सूरत में भी यह मानते थे कि सोवियतों के हाथों में सत्ता आने के बाद तत्काल समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के लिए संघर्ष शुरू कर दिया जायेगा और अन्ततः बल प्रयोग के साथ ही सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को स्थापित किया जायेगा। लेनिन "समझौतों के बारे में" लेख में मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के समक्ष इस प्रकार के समझौते का प्रस्ताव रखते हुए भी स्पष्ट करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी प्रचार और उद्वेलन की अपनी स्वतन्त्रता को क़ायम रखेगी। लेनिन कहते हैं कि यदि मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी बुर्जुआ वर्ग से रिश्ता तोड़ ले और मिलकर सत्ता सोवियतों के हवाले कर दें, तो बोल्शेविक सरकार के बाहर रहेंगे और उन्हें प्रचार व उद्वेलन

की पूरी आज़ादी मिलनी चाहिए। स्पष्ट है कि लेनिन जिस समझौते की बात कर रहे थे, वह केवल कुछ समय के लिए क्रान्ति के शान्तिपूर्ण विकास की वकालत कर रहा था और अन्तत: पार्टी समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ने की अपनी स्वतन्त्रता को किसी भी रूप में गिरवी नहीं रख रही थी। यहाँ दो बातें और भी हैं। लेनिन इस क़दम के ज़रिये कोर्निलोव प्रकरण जैसे किसी प्रकरण की पुनरावृत्ति की सम्भावनाओं को भी न्यूनातिन्यून बनाने का प्रयास कर रहे थे। दूसरी बात यह कि लेनिन सोवियतों को सत्ता देने और सशस्त्र विद्रोह के आह्वान को तात्कालिक तौर पर छोड़ देने के बदले जिस स्वतन्त्रता की माँग कर रहे थे, वह मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी नहीं मानने वाली थी और कहीं न कहीं लेनिन को भी इस बात का आभास था। लेकिन फिर भी लेनिन बुर्जुआ वर्ग से निर्णायक विच्छेद करने और अपनी क्रान्तिकारी जनवादी विश्वसनीयता को फिर से अर्जित करने का एक अवसर टटपुँजिया व संशोधनवादी बुर्जुआ पार्टियों को दे रहे थे। रैबिनोविच लेनिन के इस दौर के तीन लेखों "क्रान्ति के कार्यभार", "रूसी क्रान्ति और गृहयुद्ध" और "क्रान्ति का एक बुनियादी प्रश्न" के कुछ उद्धरण पेश करके ऐसी तस्वीर पेश करने की कोशिश करते हैं कि लेनिन भी अब कामेनेव जैसे बोल्शेविकों की कार्यदिशा पर आ गये थे। लेकिन अगर आप स्वयं इन लेखों को पढ़ें तो आप पाते हैं कि लेनिन इन समझौतों की बात केवल एक लघुकालिक मध्यवर्ती मंज़िल के तौर पर कर रहे थे, जिससे कि बुर्जुआ प्रतिक्रिया के भावी हमलों की सम्भावना को न्यूनातिन्यून किया जा सके और फिर ज़्यादा विश्वस्त और सशक्त क़दमों के साथ समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ा जाये। **अगर ऐसा न होता तो वे मिश्रित सरकार में बोल्शेविक पार्टी को भी शामिल करने की बात करते और उसके लिए प्रचार और उद्वेलन की पूर्ण स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की माँग नहीं करते।** 'सारी सत्ता सोवियतों को' के नारे पर इस समझौते का प्रस्ताव रखने के पीछे लेनिन का एक अन्य कारण यह भी था कि बोल्शेविक तब तक पेत्रोग्राद और मॉस्को सोवियतों में बहुमत में आ गये थे और इस बात के भी स्पष्ट संकेत मिल रहे थे कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में भी वे बहुमत में आ सकते हैं क्योंकि भूमि के प्रश्न पर समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी अपने ही कार्यक्रम को लागू करने से मुकर चुकी थी। एक अन्य कारण यह भी था कि टटपुँजिया पार्टियों के दोलन के कारण उनमें भी फूट पड़ने के संकेत मिल रहे थे और इस बात की पूरी उम्मीद थी कि उनसे अलग होने वाले "वाम" धड़े बोल्शेविक कार्यक्रम पर राजी हो जायेंगे। लेनिन ने यहाँ एक बेहद युक्तिपूर्ण रणकौशल अपनाया था, जिसे रैबिनोविच कामेनेव जैसे समझौते की अवस्थिति पर जाना समझ बैठे हैं। (देखें, रैबिनोविच, 1976, **'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर'**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कं., न्यूयॉर्क, पृ. 169-174) लेकिन अन्त में रैबिनोविच ख़ुद ही इस बात को स्वीकार कर बैठे हैं। वे लिखते हैं, **"चाहे जो भी हो, जैसा कि जुलाई-पूर्व के दौर में था, (उसी प्रकार सितम्बर की शुरुआत में भी) कामेनेव जैसे दक्षिणपन्थी बोल्शेविकों के कार्यक्रम सम्बन्धी विचारों - जो कि रूस को समाजवादी क्रान्ति के लिए अपरिपक्व मानते थे, और मानते थे कि अभी एक व्यापक आधार वाली, विशिष्ट रूप से समाजवादी गठबन्धन सरकार बनाने से आगे नहीं देखा जा सकता जिसमें**

कि बोल्शेविक भी शामिल हों, एक जनवादी गणराज्य की स्थापना की जाये, और संविधान सभा को बुलाया जाये - और लेनिन, त्रात्स्की जैसे लोगों, और पेत्रोग्राद के स्थानीय बोल्शेविक नेताओं के विचारों में - जो कि मानते थे कि सत्ता सोवियतों को हस्तान्तरित करना और एक मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारियों की मिश्रित सरकार समाजवादी क्रान्ति के विकास में महज़ एक संक्रमणात्मक मंज़िल है, जिसके तुरन्त बाद सर्वहारा वर्ग और निर्धनतम किसानों की तानाशाही स्थापित कर दी जायेगी - छोटी दूरी में यह सहमति थी कि एक शान्तिपूर्ण रास्ता सम्भव है।" (रैबिनोविच, 1976, *वही,* पृ. 173-174) रैबिनोविच की इस बात से ही स्पष्ट है कि लेनिन इस दौर में भी कामेनेव की अवस्थिति पर नहीं गये थे और समझौतों की उनकी समझदारी पूरी तरह से समाजवादी क्रान्ति के विकास के रणकौशल में परिस्थितियों के कारण आया एक परिवर्तन था, जिसे आगे भी बदला जा सकता था और वास्तव में लेनिन ने आगे इसे बदला भी।

बहरहाल, हम रैबिनोविच को ज़्यादा दोष नहीं देंगे क्योंकि जब एक बेहद छोटे से दौर में लेनिन ने इन रणकौशलात्मक समझौतों की बात की (सितम्बर के पहले दो सप्ताह) तो स्वयं पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी और वाइबोर्ग ज़िला कमेटी ने इसे नहीं समझा था और इसके विरोध में राय प्रकट की थी। उनका मानना था कि लेनिन की पुरानी कार्यदिशा ही सही थी, जिसके अनुसार सशस्त्र विद्रोह के ज़रिये आरज़ी सरकार को उखाड़ फेंकने की वकालत की गयी थी।

लेनिन के इसी दौर के लेखन के आधार पर बोल्शेविक केन्द्रीय कमेटी ने अपना नीति निर्धारण शुरू किया। जनवादी राज्य सम्मेलन में हिस्सेदारी करने का निर्णय किया गया जिसका घोषित लक्ष्य था कोर्निलोव प्रकरण के बाद एक नयी संयुक्त सरकार का गठन करना। बहस के मुद्दों में यह भी शामिल था कि कैडेटों को नयी सरकार में कोई जगह मिलनी चाहिए या नहीं। इस सम्मेलन का प्रस्ताव मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों का था और उन्होंने बेहद सोच-समझकर इस सम्मेलन का संघटन तय किया था। इसका ढाँचा ऐसे बनाया गया था कि बोल्शेविक किसी भी रूप में इसमें बहुमत में न आ सकें। सभी मज़दूर निकायों, जैसे कि ट्रेड यूनियन व कारख़ाना समितियों में बोल्शेविक कार्यक्रम हावी था। लेकिन मेंशेविकों ने प्रान्तों से जेम्स्त्वो प्रतिनिधियों, ग्रामीण किसान पंचायतों, सहकारी संघों आदि के प्रतिनिधियों को प्रमुख स्थान दिया था जिसमें कि मध्यमार्गियों की भरमार थी और टटपुँजिया राजनीति का असर ज़्यादा था। बोल्शेविक पार्टी के सामने यह असलियत पहली बैठक में ही साफ़ हो गयी जिसमें 532 समाजवादी क्रान्तिकारी प्रतिनिधि (इनमें से मात्र 71 "वाम" धड़े के थे जो कि बाद में बोल्शेविकों के समर्थन में आ गये थे, हालाँकि देश भर में किसानों में वाम धड़े का प्रभाव ज़्यादा था), 530 मेंशेविक थे (इनमें से 56 अन्तरराष्ट्रीयतावादी मेंशेविक थे, जो बोल्शेविकों के क़रीब आ गये थे) और 134 बोल्शेविक थे। मज़दूरों और किसानों में बोल्शेविक भारी बहुमत में थे। लेकिन एक विचित्र मिश्रण तैयार करके मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने उन्हें अल्पमत में ला दिया था। पार्टी की केन्द्रीय कमेटी को तभी समझ लेना चाहिए था कि यह सम्मेलन एक प्रहसन है जिसका मक़सद है क्रान्ति

को बुर्जुआ वैधिकता के दायरे में सीमित करना। लेकिन ऐसा हो नहीं सका।

14 सितम्बर को जनवादी राज्य सम्मेलन में पार्टी ने हिस्सेदारी की और इस सम्मेलन में लेनिन के "समझौतों के बारे में" पेश कार्यदिशा को कामेनेव अपनी दक्षिणपन्थी समझदारी से लागू कर रहे थे और त्रात्स्की अपनी समझदारी से लागू कर रहे थे। कामेनेव एक जनवादी गणराज्य, मिश्रित समाजवादी सरकार और उस सरकार में बोल्शेविकों की सम्भावित भागीदारी की बात करते हुए जनवादी क्रान्ति के पूर्णता तक पहुँचने के विचार से संचालित थे, जबकि त्रात्स्की लेनिन की इस अवधारणा के ज़्यादा क़रीब थे कि ऐसी कोई भी सरकार और सोवियत सत्ता समाजवादी क्रान्ति के विकास में एक लघुकालिक संक्रमणात्मक क़दम होगी। इस सम्मेलन में ही प्रेद पार्लियामेण्ट का निर्माण हुआ जिसमें शुरुआत में बोल्शेविकों ने भी कामेनेव के प्रभाव के चलते हिस्सेदारी की।

लेकिन लेनिन ने इस कार्यदिशा पर तीखा प्रहार किया और 12 से 14 सितम्बर के बीच में लेनिन ने दो पत्र केन्द्रीय कमेटी को लिखे। ये पत्र कमेटी को 15 सितम्बर को प्राप्त हुए। लेनिन ने स्पष्ट किया कि कई कारणों से अब पार्टी को तत्काल सशस्त्र विद्रोह करने की तैयारी शुरू कर देनी चाहिए और वैसे भी किसी भी सूरत में जनवादी राज्य सम्मेलन और फिर प्रेद पार्लियामेण्ट जैसे किसी प्रहसन में हिस्सेदारी करना बेकार था क्योंकि उसके संघटन से ही स्पष्ट था कि उसका मक़सद क्रान्तिकारी जनज्वार को बुर्जुआ वैधिकता में सहयोजित करना है। लेनिन ने कहा कि अब हमें सशस्त्र विद्रोह की तैयारी निम्न कारणों से करनी चाहिए: दो प्रमुख शहरी सोवियतों यानी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में हम बहुमत में आ चुके हैं, कुछ अन्य क्षेत्रीय सोवियतों में भी हम बहुमत में आ गये हैं, गाँवों में भूमि क़ब्ज़ा आन्दोलन ने अभूतपूर्व रफ़्तार पकड़ ली है और उनके समर्थन में केवल बोल्शेविक पार्टी है, सेना मोर्चे पर पूरी तरह विघटन का शिकार है और शान्ति की माँग अपने चरम पर है, जर्मन नौसेना में बग़ावत जर्मनी में बदलती स्थितियों की ओर भी संकेत कर रहे हैं। लेनिन ने यह भी कहा कि इस बात के भी प्रमाण मिल रहे हैं कि ब्रिटिश, जर्मन साम्राज्यवादियों में अलग से कोई समझौता हो जाये और फिर रूसी बुर्जुआजी से तालमेल करके रूसी क्रान्ति को कुचलने के लिए ये ताक़तें एक हो जायें। इसके लिए केरेंस्की पेत्रोग्राद का जर्मनी के सामने आत्मसमर्पण भी कर सकता है। ये सारी स्थितियाँ दिखला रही हैं कि हमें तत्काल आम बग़ावत का कार्यभार अपना लेना चाहिए। इन दोनों पत्रों ('बोल्शेविकों को सत्ता पर क़ब्ज़ा करना ही होगा' और 'मार्क्सवाद और आम बग़ावत') को लेनिन की तीक्ष्ण दृष्टि को समझने के लिए और मार्क्सवाद और आम बग़ावत के नियमों के रिश्ते को समझने के लिए ज़रूर पढ़ा जाना चाहिए। दूसरे पत्र में लेनिन ने जुलाई और सितम्बर की स्थितियों में फ़र्क़ बताते हुए यह भी स्पष्ट किया कि जुलाई में आम बग़ावत क्यों अपरिपक्व होती और अब आम बग़ावत का वक़्त किस प्रकार आ चुका है। दूसरे पत्र में अन्त में लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी को ठोस सुझाव दिये जिसमें एक सैन्य केन्द्र स्थापित करना, अपनी सारी शक्ति को कारख़ानों, ग़ैरीसनों में आम बग़ावत की तैयारी के लिए भेज देना, आम बग़ावत के संचालन के लिए एक पार्टी मुख्यालय स्थापित करना आदि शामिल थे।

जब ये पत्र केन्द्रीय कमेटी को 15 सितम्बर को प्राप्त हुए तो उसमें एक बहस शुरू हो गयी। केवल स्तालिन का यह मानना था इन पत्रों को पार्टी दायरों में ले जाना चाहिए। अन्य सभी ने, जिसमें कि त्रात्स्की, कामेनेव, ज़िनोवियेव, स्वेर्दलोव, बुब्नोव, द्ज़र्जेंस्की आदि शामिल थे, यह निर्णय लिया कि इन पत्रों की एक प्रतिलिपि सुरक्षित करके इसे जला दिया जाना चाहिए। लोमोव ने बाद में बताया कि केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों को यह भय था कि इस पत्र के पार्टी की अन्य कमेटियों व इकाइयों तक पहुँचते ही एक अपरिपक्व आम बग़ावत की तैयारी शुरू हो जायेगी। रैबिनोविच के अनुसार त्रात्स्की के रवैये में लेनिन के इन पत्रों के बाद इतना बदलाव ज़रूर आया कि उन्होंने जनवादी राज्य सम्मेलन में पार्टी भागीदारी को विशेष महत्व देना बन्द कर दिया और सीधे सोवियतों को सत्ता हस्तान्तरित करने की बात करने लगे। लेकिन पार्टी ने अभी भी जनवादी सम्मेलन में भागीदारी जारी रखी और एक व्यापक समाजवादी सरकार के लिए दबाव डालने का प्रयास किया। लेनिन को इस समय तक यह बात सम्प्रेषित हो चुकी थी कि केन्द्रीय कमेटी उनकी सलाह को दरकिनार कर रही है। इसी बीच केन्द्रीय कमेटी ने 16 सितम्बर को लेनिन के पुराने लेख "रूसी क्रान्ति और गृहयुद्ध" को *राबोची पुत* में छाप दिया जिसमें लेनिन अभी क्रान्ति के शान्तिपूर्ण विकास और समझौतों की बात कर रहे थे। इस मौक़े पर लेनिन का धैर्य जवाब दे गया और उन्होंने स्वेर्दलोव और क्रुप्सकाया को सूचित किया कि वे पेत्रोग्राद लौट रहे हैं।

इसी बीच जनवादी राज्य सम्मेलन और प्रेद पार्लियामेण्ट के बारे में लेनिन की भविष्यवाणियाँ सही साबित हुईं क्योंकि इसमें टटपुँजिया पार्टियों ने अन्तत: बुर्जुआ वर्ग के प्रतिक्रियावादी तत्वों से समझौता करने और केरेंस्की से सौदेबाज़ी करने का फ़ैसला किया। अभी भी कामेनेव जनवादी सम्मेलन व प्रेद पार्लियामेण्ट में भागीदारी की वकालत कर रहे थे। त्रात्स्की और स्तालिन ने प्रेद पार्लियामेण्ट के बहिष्कार का नारा दिया। शुरू में कामेनेव का प्रस्ताव वोटिंग में विजयी हुआ। इस पर लेनिन ने गहरा क्षोभ व्यक्त किया और त्रात्स्की और स्तालिन के बहिष्कार के नारे का समर्थन किया। इसके बावजूद जनवादी सम्मेलन में मौजूद बोल्शेविक धड़े और केन्द्रीय कमेटी की संयुक्त बैठक में कामेनेव का प्रस्ताव विजयी हुआ। इसके बाद 22 सितम्बर को लेनिन का एक लेख "धोखाधड़ी के नायक और बोल्शेविकों की ग़लती" *राबोची पुत* के लिए लिखा जिसका एक सम्पादित संस्करण 24 सितम्बर को *राबोची पुत* में प्रकाशित हुआ। बोल्शेविकों की आलोचना वाले हिस्से को सम्पादक मण्डल ने सम्पादित कर दिया था। इस सम्पादक मण्डल में कामेनेव, सोकोलनिकोव, त्रात्स्की, स्तालिन और वोलोदार्स्की थे। इसके बाद 22 से 24 सितम्बर तक लेनिन ने एक लम्बा निबन्ध लिखा जो डायरी लेखन के रूप में था। यह प्रसिद्ध लेख था "एक प्रचारकर्ता की डायरी से" जो काफ़ी बाद में प्रकाशित हो सका। लेनिन ने इसे प्रकाशन के लिए भेजा लेकिन इसे सम्पादक मण्डल ने छापा नहीं। किन लोगों ने इसके विरुद्ध वोट किया इसका विवरण नहीं मिलता, लेकिन अन्तत: यह निबन्ध नहीं छपा। उल्टे लेनिन के पिछले मूल्यांकन को पेश करने वाला एक लेख "क्रान्ति के कार्यभार" को 26 सितम्बर को छापना शुरू किया गया। इससे क्षुब्ध होकर लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी के एक सदस्य स्मिल्गा को 27 सितम्बर को पत्र लिखा कि वह

पहल लें और केन्द्रीय कमेटी में इस बात को लेकर राय बनायें कि सशस्त्र विद्रोह की तैयारी शुरू की जाये। 1 अक्टूबर को उन्होंने एक अन्य लेख "संकट पक चुका है" लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि तमाम युद्धरत देशों में युद्ध के प्रति जनअसन्तोष बढ़ रहा है और वे सामाजिक उथल-पुथल की ओर बढ़ रहे हैं। जर्मन नौसेना में बग़ावत जर्मनी में भी क्रान्तिकारी स्थिति के निर्माण की ओर एक क़दम है। ऐसे में, विश्व सर्वहारा क्रान्ति के चक्र का उद्घाटन करने की ज़िम्मेदारी बोल्शेविकों पर आ पड़ी है। रूस में क्रान्तिकारी संकट पक चुका है और मज़दूर वर्ग को तत्काल सत्ता अपने हाथों में लेने की तैयारी करनी होगी। लेनिन ने अपने तर्कों को दुहराते हुए कहा कि इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में अभी बोल्शेविकों का बहुमत नहीं है क्योंकि यह बहुमत अर्जित करना अब केवल एक औपचारिकता है; दूसरी बात यह कि क्रान्ति की अगुवाई करने वाली दो प्रमुख सोवियतों यानी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में बोल्शेविक पहले ही बहुमत में आ चुके हैं; तीसरी बात, केरेंस्की पेत्रोग्राद से मॉस्को राजधानी स्थानान्तरित करने का प्रयास कर रहा था जिसका कारण यह था कि केरेंस्की पेत्रोग्राद का जर्मन सेना के समक्ष आत्मसमर्पण कर रहा था; जर्मन साम्राज्यवादियों और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों में एक अनकही समझदारी बन गयी है और इसलिए पेत्रोग्राद की ओर बढ़ने से ब्रिटिश सेना जर्मनी को रोक नहीं रही है; स्पष्ट है कि ब्रिटिश, जर्मन और रूसी साम्राज्यवादी रूसी क्रान्ति का गला घोंटने की तैयारी कर रहे हैं। प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियाँ सोवियत में बहुमत प्राप्त करने जैसी औपचारिकताओं की परवाह नहीं कर रही हैं; ऐसे में, यदि बोल्शेविक इसकी परवाह करेंगे तो उनकी हार होगी। शासक वर्ग रूस में असमंजस में है; टटपुँजिया शक्तियाँ भी असमंजस में हैं और बिखरी हुई हैं; सर्वहारा वर्ग बोल्शेविकों के नेतृत्व में संगठित है; देश भर में किसान उभार अभूतपूर्व स्तर पर है और प्रान्तों में कई जगहों पर स्थानीय सोवियतों ने शासन अपने हाथों में ले लिया है; ऐसे में, मार्क्स ने सशस्त्र विद्रोह की जो पूर्वशर्तें बतायी थीं, वे सभी पूरी हो चुकी हैं। लिहाज़ा, बुर्जुआ वैधानिकता के विभ्रम में फँसने का अर्थ होगा क्रान्ति की हार।

इस लेख का एक हिस्सा प्रकाशन के लिए नहीं था। वह केन्द्रीय कमेटी को पत्र था जिसमें लेनिन ने स्पष्ट किया कि बोल्शेविकों के दोलन के कारण क्रान्ति की घड़ी निकल जायेगी और इतिहास उन्हें क्रान्ति का ग़द्दार क़रार देगा। द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक इन्तज़ार करने की बात व्यर्थ है और तत्काल सशस्त्र विद्रोह कर सत्ता अपने हाथों में ली जानी चाहिए। यह इन्तज़ार बुर्जुआ वैधिकता का भ्रम है क्योंकि पेत्रोग्राद, मॉस्को व अन्य शहरों में जनता बोल्शेविकों के साथ है, भूमि के प्रश्न पर किसान बोल्शेविकों के साथ हैं और मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के जनसमुदाय इस समय बोल्शेविकों से प्रस्तावों, नारों और शब्दों की माँग नहीं कर रहे हैं, बल्कि कार्रवाई की माँग कर रहे हैं। इसके बाद लेनिन ने कहा कि चूँकि केन्द्रीय कमेटी उनकी राय पर ध्यान नहीं दे रही है और रूसी क्रान्ति के लिए उपयुक्त घड़ी निकली जा रही है इसलिए वे केन्द्रीय कमेटी से अपना इस्तीफ़ा दे रहे हैं ताकि पार्टी काडर में सीधे अपनी बात ले जाने की स्वतन्त्रता हासिल कर सकें। ई.एच. कार के मुताबिक़ लेनिन के द्वारा इस्तीफ़े की पेशकश

से केन्द्रीय कमेटी की बैठक में सन्नाटा छा गया था और अन्त में द्ज़र्जेंस्की ने कहा था कि पार्टी इतनी बड़ी क़ीमत नहीं चुका सकती है। लेकिन केन्द्रीय कमेटी ने कोई औपचारिक जवाब दिया हो इसका कोई रिकॉर्ड नहीं मिलता।

1 अक्टूबर को लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी, मॉस्को व पीटर्सबर्ग की पार्टी कमेटियों और मॉस्को और पीटर्सबर्ग सोवियत के बोल्शेविक सदस्यों को एक पत्र जारी कर अपनी कार्यदिशा स्पष्ट की। इसी समय लेनिन ने एक अपील भी लिखी जिसका नाम था - "मज़दूरों, किसानों और सैनिकों के नाम" जो व्यापक वितरण के लिए तैयार की गयी थी। इसमें लेनिन ने स्पष्ट कर दिया कि सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का वक़्त आ चुका है। कुछ ही दिनों के भीतर पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी, मॉस्को पार्टी कमेटी, वाईबोर्ग ज़िला कमेटी व अन्य स्थानीय कमेटियाँ लेनिन के पक्ष में आ गयीं। साथ ही, पेत्रोग्राद नगर कमेटी ने इस बात पर सख्त आपत्ति ज़ाहिर की कि लेनिन की राय को इतने समय तक केन्द्रीय कमेटी ने दबाकर रखा। 5 अक्टूबर को केन्द्रीय कमेटी में यह चर्चा हुई कि प्री-पार्लियामेण्ट से बाहर आ जाया जाये या नहीं। अन्ततः प्रेद पार्लियामेण्ट से निकलने का निर्णय लिया गया और बोल्शेविक उससे बाहर आ गये। इसी बीच पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी ने केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों के बिना ही सैन्य तैयारियाँ करने की शुरुआत कर दी थी। 7 अक्टूबर को केन्द्रीय कमेटी ने बैठक करके एक ब्यूरो गठित किया जिसको यह कार्य सौंपा गया कि वे सशस्त्र विद्रोह के लिए स्थितियों और जनता के मिजाज़ की जाँच करें। इसमें त्रात्स्की, स्वेर्दलोव और बुबनोव थे। बाद में इसमें बोल्शेविक सैन्य संगठन से पॉड्वॉइस्की और नेव्स्की को शामिल किया गया और पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी की ओर से लैटसिस और मॉसक्विन को शामिल किया गया। 7 अक्टूबर की शाम हो ही त्रात्स्की के एक भाषण के साथ बोल्शेविक प्री-पार्लियामेण्ट से निकल गये। इससे जनता के बीच यह सन्देश चला गया था कि बोल्शेविक अब सशस्त्र विद्रोह की तैयारी कर रहे हैं।

केन्द्रीय कमेटी के भीतर त्रात्स्की व कई अन्य लोगों का यह मत था कि द्वितीय अखिल रूसी सोवियत तक इन्तज़ार किया जाना चाहिए, जो कि 20 अक्टूबर को होने वाली थी और जिसे बाद में टालकर 25 अक्टूबर के लिए निर्धारित कर दिया गया था। लेनिन का स्पष्ट मानना था कि यह एक बुर्जुआ वैधानिकता के भ्रम में फँसना है। लेकिन इसके बावजूद केन्द्रीय कमेटी में क़दम उठा देने का आत्मविश्वास संचित नहीं हो पा रहा था। अन्त में लेनिन 10 अक्टूबर की केन्द्रीय कमेटी की बैठक में स्वयं पहुँच गये, जो कि पेत्रोग्राद में हुई थी। दिलचस्प बात यह है कि यह बैठक सुखानोव नामक एक अन्तरराष्ट्रीयतावादी मेंशेविक के फ्लैट पर बेहद गोपनीयता के साथ आयोजित हुई थी। सुखानोव की पत्नी एक बोल्शेविक थीं। स्वयं सुखानोव को इस बैठक के बारे में पता नहीं था। इस बैठक को आयोजित करने के लिए लेनिन ने स्वेर्दलोव को प्रस्ताव भिजवाया था। बहरहाल, इस बैठक में लेनिन ने अपनी दलीलों को विस्तार से रखा और केन्द्रीय कमेटी को इस बात के लिए राजी किया कि वह सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करे और उसके संचालन के लिए पोलित ब्यूरो नियुक्त करे। कार का मानना है कि पोलित ब्यूरो की संस्था का अस्तित्व में आना इसी घटना से शुरू हुआ और वह इसकी तुलना क्रान्ति के बाद पोलित ब्यूरो के निर्माण से करते

हैं। यह तुलना सही नहीं है क्योंकि सशस्त्र विद्रोह के लिए गठित पोलित ब्यूरो एक विशिष्ट कार्यभार के लिए बनाया गया निकाय था, जिसके बाद उसे भंग हो जाना था। लेकिन क्रान्ति के बाद पोलित ब्यूरो बनाने के कारण अलग थे और वह पोलित ब्यूरो दो केन्द्रीय कमेटी की बैठकों के बीच सामान्य तौर पर राजनीतिक कार्यों के दिशा-निर्देशन व संचालन के लिए था।

बहरहाल, लेनिन का प्रस्ताव 2 के मुक़ाबले 10 वोटों से विजयी रहा। स्तालिन, त्रात्स्की, स्वेर्दलोव, उरित्स्की, द्ज़र्जेंस्की, लोमोव, कोलोन्ताई, बुबनोव ने लेनिन के पक्ष में वोट किया। ज़िनोवियेव व कामेनेव ने इसके विरोध में वोट किया। त्रात्स्की ने सशस्त्र विद्रोह के पक्ष में वोट करते हुए दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक इन्तज़ार करने की वकालत की। अन्ततः इस मुद्दे पर लेनिन की बात से सहमति बनी जिसके अनुसार सोवियतों की कांग्रेस तक इन्तज़ार करने का अर्थ होगा बुर्जुआ वर्ग को मौक़ा देना। पोलित ब्यूरो में लेनिन, स्तालिन, त्रात्स्की, ज़िनोवियेव, कामेनेव, सोकोलनिकोव, व बुबनोव को चुना गया। ज़िनोवियेव और कामेनेव को उनके विरोध के बावजूद सशस्त्र विद्रोह के संचालन हेतु बनाये गये पोलित ब्यूरो में चुना गया। यह बोल्शेविक पार्टी के और लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों की विलक्षणता को दिखलाता है और जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त के कार्यान्वयन का एक असाधारण उदाहरण है। 16 अक्टूबर को पेत्रोग्राद सोवियत ने क्रान्तिकारी सैन्य कमेटी का निर्माण किया। त्रात्स्की दावा करते हैं कि पेत्रोग्राद सोवियत ने केन्द्रीय कमेटी के सशस्त्र विद्रोह के फ़ैसले से पहले ही यह कमेटी बना ली थी, लेकिन तब उसका उद्देश्य सशस्त्र विद्रोह का संचालन नहीं था। बाद में, पार्टी ने इसे अपनी योजना के अनुसार सहयोजित कर लिया। ई.एच. कार त्रात्स्की के इस ब्यौरे को सही मानते हैं। बहरहाल, इस कमेटी ने पार्टी द्वारा बनाये गये क्रान्तिकारी सैन्य केन्द्र के नेतृत्व में 20 अक्टूबर को अपना काम शुरू कर दिया।

11 अक्टूबर को ज़िनोवियेव व कामेनेव ने पार्टी दायरों में केन्द्रीय कमेटी के फ़ैसले के ख़िलाफ़ एक पत्र वितरित किया। 16 अक्टूबर को लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी की बैठक में फिर से सशस्त्र विद्रोह के फ़ैसले को सही ठहराया। इस बैठक में पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी, क्रान्तिकारी सैन्य समिति और ट्रेड यूनियनों व कारख़ाना समितियों के चुने हुए सदस्य भी उपस्थित थे। लेनिन ने कहा, **"स्थिति स्पष्ट है। या तो कोर्निलोव की तानाशाही या फिर सर्वहारा वर्ग और सबसे ग़रीब किसानों के वर्ग की तानाशाही। हम जनसमुदायों के मिजाज़ के अनुसार दिशा-निर्देशित नहीं हो सकते हैं : वह परिवर्तनीय है और अबोध्य है। हमें क्रान्ति के एक वस्तुपरक विश्लेषण और आकलन से दिशा-निर्देशित होना चाहिए। जनसमुदायों ने बोल्शेविकों में अपना भरोसा जताया है और वे हमसे कार्रवाई की माँग कर रहे हैं, शब्दों की नहीं।"** (कार, 1978, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन 1917-23' खण्ड-1**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, लन्दन, पृ. 95) लेनिन ने बैठक में बहुमत हासिल किया, हालाँकि, कार के अनुसार कुछ ऐसे लोग थे जिनमें कामेनेव व ज़िनोवियेव के समान कुछ असमंजस था। स्तालिन ने लेनिन के पक्ष में वक्तव्य रखते हुए कहा, **"यहाँ दो कार्यदिशाएँ हैं : एक क्रान्ति की विजय की ओर ले जाती है और यूरोप की ओर झुकाव रखती है; दूसरी वह है जो क्रान्ति में भरोसा नहीं करती**

और विपक्ष बने रहने के भरोसे बैठी रहती है। पेत्रोग्राद सोवियत ने सेनाओं को हटाने को आज्ञा देने से इंकार करके आम बग़ावत के रास्ते पर पहले ही अपनी अवस्थिति जता दी है।" (कार, 1978, पृ. 96) अन्तत: बैठक ने 2 के मुक़ाबले 19 वोटों से लेनिन की कार्यदिशा का समर्थन किया। कार अटकल लगाते हैं कि त्रात्स्की अगर इस बैठक में थे, तो वे बोले नहीं क्योंकि ऐसी बैठक में सैन्य तैयारियों के बारे में बात नहीं की जा सकती है। ऐसी अटकल की कोई आवश्यकता नहीं है और यह त्रात्स्की के प्रति हमदर्दी रखने की वजह से लगायी गयी अटकल ही मानी जायेगी। इस बैठक के बाद केन्द्रीय कमेटी सदस्य अलग से मिले और कमेटी ने पार्टी का क्रान्तिकारी सैन्य केन्द्र स्थापित किया जिसके सदस्य थे स्तालिन, स्वेर्दलोव, बुबनोव, उरित्स्की, द्ज़र्जेंस्की। इसी क्रान्तिकारी सैन्य केन्द्र ने आगे पेत्रोग्राद सोवियत के क्रान्तिकारी सैन्य समिति की कार्रवाइयों को निर्देशित किया।

18 अक्टूबर को कामेनेव ने अपने और ज़िनोवियेव के नाम से एक पत्र ग़ैर-पार्टी अख़बार *नोवाया जीज्न* में प्रकाशित कर सशस्त्र विद्रोह के फ़ैसले को अनावृत्त करते हुए उसका विरोध किया। उस समय आरज़ी सरकार ऐसी विघटन और लकवे जैसी स्थिति का शिकार थी कि इस जानकारी के खुलने के बाद भी वह तत्काल बोल्शेविक नेताओं के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं कर पायी। लेकिन ज़िनोवियेव और कामेनेव की इस हरक़त पर लेनिन बुरी तरह नाराज़ हुए और उन्होंने पार्टी काडरों के नाम पत्र लिखकर उन्हें "हड़ताल तोड़ने वालों" की संज्ञा दी और कहा कि वे अब उन्हें कॉमरेड नहीं मानते। केन्द्रीय कमेटी के नाम पत्र में लेनिन इन दोनों को कमेटी से निकाले जाने की माँग की। त्रात्स्की ने पेत्रोग्राद सोवियत में दावा किया कि पार्टी की सशस्त्र विद्रोह जैसी अभी कोई योजना नहीं है, ताकि कामेनेव की ग़लती से हुए नुक़सान की क्षतिपूर्ति की जा सके। लेकिन कामेनेव को लगा कि त्रात्स्की उनके पक्ष में आ गये हैं। ज़िनोवियेव ने इसी आशय का एक पत्र *राबोची पुत* में लिखा जो कि 20 अक्टूबर को छपा। इसी अंक में लेनिन का कामेनेव व ज़िनोवियेव की हरक़त का विरोध करते हुए लिखा गया पत्र भी छपा। स्तालिन ने इस विवाद पर कुछ पर्दा डालते हुए एक सम्पादकीय नोट लगाया और पार्टी में एकता बने रहने का दावा किया। 20 अक्टूबर को हुई केन्द्रीय कमेटी बैठक में कामेनेव की सभी ने कड़ी आलोचना की। कामेनेव ने अपना इस्तीफ़ा सौंपा जिसे स्वीकार कर लिया गया। कामेनेव और ज़िनोवियेव को विशेष निर्देश दिया गया कि वे केन्द्रीय कमेटी के किसी फ़ैसले के विरुद्ध बाहर कुछ नहीं बोलेंगे। त्रात्स्की ने स्तालिन के सम्पादकीय नोट के लिए उनकी आलोचना की। कार का दावा है कि स्तालिन ने इस्तीफ़े की पेशकश की जिसे केन्द्रीय कमेटी ने स्वीकार नहीं किया। यह तय किया गया कि 25 अक्टूबर की द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के पहले सशस्त्र विद्रोह किया जायेगा। लेनिन ने आगे इसके कारणों को स्पष्ट किया जिसका ब्यौरा पॉड्वॉइस्की अपने संस्मरण में देते हैं। 20 से 23 अक्टूबर के बीच किसी दिन लेनिन ने पॉड्वॉइस्की, नेव्स्की और अन्तोनियेव को मिलने के लिए वाइबोर्ग में बुलाया था, जो कि बोल्शेविक सैन्य संगठन के प्रमुख नेता थे। इस बैठक में लेनिन ने स्पष्ट किया कि समय का पहलू आरज़ी सरकार के पक्ष में खड़ा है।

वह मोर्चे से अपने प्रति वफ़ादार सैन्य टुकड़ियों को पेत्रोग्राद बुला रही है। उससे पहले यदि सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया जायेगा तो ये सैन्य टुकड़ियाँ भी क्रान्ति के पक्ष में खड़ी हो जायेंगी। दूसरी बात यह है कि सोवियत कांग्रेस से पहले सत्ता पर क़ब्ज़ा करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि तब मज़दूर क्रान्ति और मज़दूर सत्ता अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के लिए एक जीता-जागता सत्य होगा, न कि एक क्षीण सम्भावना। इस कांग्रेस में टटपुँजिया वर्गों के प्रतिनिधियों की प्रधानता है। ऐसे में, यदि इनके मिलने के पहले इनके सामने मज़दूरों की सत्ता पहले ही एक जीवन्त तथ्य के तौर पर उपस्थित होगी जो कि तत्काल शान्ति, ज़मीन और रोटी की माँगों को पूरा करेगी, तो वे उसका समर्थन करेंगे और वहाँ भी बोल्शेविक बहुमत में आ जायेंगे। अगर बोल्शेविक अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस से पहले सत्ता पर क़ब्ज़ा नहीं करते तो सोवियत कांग्रेस का रवैया टटपुँजिया राजनीति के पक्ष में भी खड़ा हो सकता है। एक और कारक यह भी था कि पेत्रोग्राद सोवियत वास्तविक सोवियत प्राधिकार थी और जैसा कि बेतेलहाइम ने दलील पेश की है, अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ने पेत्रोग्राद सोवियत के प्राधिकार के प्रतिभार के रूप में खड़ी की थी। इस दलील में निश्चित तौर पर आंशिक सच्चाई है। यही वे कारण थे जिनकी वजह से लेनिन त्रात्स्की की इस दलील को बुर्जुआ वैधानिकता के भ्रम में फँसने की संज्ञा दे रहे थे कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक सत्ता क़ब्ज़ा करने को स्थगित किया जाना चाहिए। अन्तत: यही तय हुआ कि द्वितीय अखिल रूसी कांग्रेस के शुरू होने से ठीक पहले सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया जायेगा।

24 अक्टूबर को केन्द्रीय कमेटी की बैठक हुई जिसमें सभी को सशस्त्र विद्रोह को संचालित करने सम्बन्धी अलग-अलग कार्य सौंपे गये। इस बैठक में कामेनेव और ज़िनोवियेव भी बैठे जिससे यह प्रतीत होता है कि 20 से 24 अक्टूबर के बीच कामेनेव और ज़िनोवियेव ने अपनी हरक़त के लिए माफ़ी माँग ली थी और उनके प्रति उदारता बरती गयी थी। बहरहाल, द्ज़र्जेंस्की को रेलवे, बुबनोव को पोस्ट व टेलीग्राफ़, स्वेर्दलोव को आरज़ी सरकार की कार्रवाइयों पर निगाह रखने, मिल्युतिन को खाद्य आपूर्ति का काम सौंपा गया।

24 अक्टूबर की रात लेनिन स्वयं स्मोल्नी आ गये ताकि सशस्त्र विद्रोह का संचालन कर सकें और केन्द्रीय कमेटी और क्रान्तिकारी सैन्य कमेटी के उन नेताओं पर ज़ोर डाल सकें जिनके दिमाग़ में यह सवाल मँडरा रहा था कि कहीं वे ज़रूरत से ज़्यादा तेज़ रफ़्तार से तो नहीं चल रहे हैं। निश्चित तौर पर, लेनिन के स्मोल्नी में आगमन से आम बग़ावत के काम को और तेज़ी से किया जाने लगा। 25 अक्टूबर की भोर बोल्शेविकों की टुकड़ियाँ हरकत में आ गयीं। शहर के केन्द्रीय बिन्दुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। आरज़ी सरकार के सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया गया, जबकि केरेंस्की भाग निकला। दोपहर में पेत्रोग्राद सोवियत की बैठक में "मज़दूरों व किसानों के विद्रोह" की जीत की घोषणा की गयी। शाम को दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने घोषणा की कि रूस में सारी सत्ता मज़दूरों, सैनिकों व किसानों के प्रतिनिधियों की सोवियतों को हस्तान्तरित कर दी गयी है। 26 अक्टूबर को कांग्रेस की दूसरी और आख़िरी बैठक में शान्ति और भूमि पर आज्ञाप्तियाँ पारित हुईं

और जनकमिसार परिषद (सोवनार्कोम) को नियुक्त किया गया, जोकि मज़दूरों व ग़रीब किसानों की पहली सरकार बनी। इस परिषद के अध्यक्ष के तौर पर लेनिन को नियुक्त किया गया।

कार अपने पूरे विवरण में सशस्त्र विद्रोह में त्रात्स्की की भूमिका की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। त्रात्स्की के नेतृत्व की क्षमता को उन्होंने अद्भुत बताया है और पेत्रोग्राद सोवियत में उनकी भूमिका को एक मिसाल क़रार दिया है। अक्टूबर क्रान्ति की रक्तहीन विजय का श्रेय त्रात्स्की को दिया गया है, क्योंकि पेत्रोग्राद की ग़ैरीसन को जीतने में उनकी महती भूमिका थी। लेकिन बाद में कार जोड़ते हैं कि इन सबके बावजूद अक्टूबर क्रान्ति की विजय मूलत: लेनिन और बोल्शेविक पार्टी की विजय थी। अप्रैल के बाद हर घटना ने लेनिन को सही साबित किया था और उनकी निर्णायकता के कारण ही पार्टी सशस्त्र विद्रोह के निर्णय पर पहुँची थी। इसमें कोई दो राय नहीं है कि पेत्रोग्राद में सशस्त्र विद्रोह को संगठित करने में त्रात्स्की की महत्वपूर्ण भूमिका था। लेकिन ई.एच. कार निश्चित तौर पर इसे बढा-चढ़ाकर पेश करते हैं। एलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच भी मानते हैं कि अक्टूबर विद्रोह को संगठित करने में त्रात्स्की की अहम भूमिका थी। लेकिन साथ ही रैबिनोविच ने यह भी स्वीकार किया है कि 24 अक्टूबर की रात को लेनिन के स्मोल्नी पहुँचने से पहले क्रान्तिकारी सैन्य समिति में, जिसमें त्रात्स्की की अहम भूमिका थी, इस बात को लेकर बेचैनी थी कि कहीं पार्टी कुछ ज़्यादा ही लम्बी दूरी कुछ ज़्यादा ही कम समय में तो नहीं तय कर रही है। उनमें इस बात का रुझान था कि द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के शुरू होने तक इन्तज़ार किया जाये। 'बोल्शेविक पार्टी के इतिहास' में बताया गया है कि अक्टूबर क्रान्ति के पहले की आख़िरी अहम केन्द्रीय कमेटी बैठक में त्रात्स्की आम बग़ावत को द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक टालना चाहते थे, जबकि लेनिन इसके सख्त ख़िलाफ़ थे। अन्तत: बहुमत ने लेनिन का साथ दिया था। रैबिनोविच दावा करते हैं त्रात्स्की ने आम बग़ावत को द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक टालने का प्रस्ताव नहीं रखा था। लेकिन अगर हम त्रात्स्की की पुस्तक 'अक्टूबर के सबक़' (1924) के प्रकाशित होने के बाद बोल्शेविक पार्टी में शुरू हुई बहस और उसके बाद प्रकाशित हुए एक सिम्पोज़ियम में ज़िनोवियेव, कामेनेव और स्तालिन के जवाबों पर निगाह डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि त्रात्स्की का वास्तव में ऐसा प्रस्ताव था और वह यहाँ तक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि 24 अक्टूबर तक इन्तज़ार करने से ही आम बग़ावत सफल हो पायी। इसके अलावा, त्रात्स्की अपनी उन सारी पुरानी बातों को सही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं जो कि उन्होंने बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने से पहले कहीं थीं। मिसाल के तौर पर, वे अपने 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को भी पीछे के दरवाज़े से वापस लाने का प्रयास करते हैं। लेकिन रैबिनोविच से लेकर तमाम अन्य संशोधनवादी इतिहासकार मई 1925 में प्रकाशित इस सिम्पोज़ियम (दि एरर्स ऑफ़ ट्रॉट्स्कीज़्म : ए सिम्पोज़ियम) का कोई सन्दर्भ नहीं देते। **इसका कारण यह है कि वे इसे यह कहकर ख़ारिज़ नहीं कर सकते कि यह स्तालिनवादी इतिहासकारों द्वारा किया गया इतिहास का विकृतिकरण है। कारण यह है कि इसमें त्रात्स्की के दावों का खण्डन करने वालों में बुखारिन, ज़िनोवियेव, कामेनेव, क्रुप्सकाया, सोकोलनिकोव जैसे लोग शामिल थे।**

यह कहना कि 1925 ये सभी स्तालिनवादी हो गये थे और झूठ बोल रहे थे, किसी उदार बुर्जुआ इतिहासकार के लिए भी मुश्किल होगा। हम पाठकों को इस सिम्पोज़ियम को सन्दर्भित करने की विशेष तौर पर सलाह देंगे। इस सिम्पोज़ियम को 'कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन' ने प्रकाशित किया था। हम आगे के अध्यायों में इस सिम्पोज़ियम में पेश विचारों का भी विवेचन करेंगे। वास्तव में त्रात्स्की ने बाद में ख़ुद इस बात को माना था कि आम बग़ावत को द्वितीय सोवियत कांग्रेस तक विलम्बित करने का उनका विचार था। चूँकि व्यवहारत: आम बग़ावत इस कांग्रेस के ठीक पहले आधी रात को शुरू हुई, इसलिए त्रात्स्की यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं यह उन्हीं की राय के कारण हुआ और इससे फ़ायदा हुआ। वह दावा करते हैं कि अगर लेनिन की सलाह मानकर विद्रोह पहले शुरू किया गया होता या फिर पेत्रोग्राद में न शुरू करके मॉस्को में शुरू किया गया होता तो उसमें हार भी मिल सकती थी। यह इतिहास का त्रात्स्की द्वारा मिथकीकरण है क्योंकि लेनिन का यह आग्रह नहीं था कि मॉस्को से बग़ावत शुरू की जाये। लेनिन इसे पूर्ण रूप से रणकौशलात्मक मसला मानते थे और इसे उन्होंने स्थानीय संगठनकर्ताओं और उन नेताओं के ऊपर छोड़ा था जो लगातार ठोस परिस्थितियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क में थे। उनका कहना था कि जहाँ भी शुरुआत जल्दी और निर्णायक रूप से की जा सके वहाँ से शुरुआत की जा सकती है, चाहे वह जगह पेत्रोग्राद हो या मॉस्को। मूल बात यह है कि विद्रोह की शुरुआत सोवियत कांग्रेस से पहले होनी चाहिए। रैबिनोविच भी इस बात को स्वीकार करते हैं। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि त्रात्स्की का मूल प्रस्ताव सोवियत कांग्रेस तक इन्तज़ार करने का था, जिसे स्वीकार नहीं किया गया और कांग्रेस के पहले ही सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया गया।

लेकिन यहाँ यह ज़िक्र करना भी ज़रूरी है कि अक्टूबर में आम बग़ावत के समय तमाम सैन्य दस्तों, विशेषकर पेत्रोग्राद ग़ैरीसन और पीटर एण्ड पॉल किले की टुकड़ी को आम बग़ावत और पार्टी के पक्ष में लाने में त्रात्स्की की अहम भूमिका थी। यह भी सच है कि 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में इस भूमिका का कहीं ज़िक्र नहीं आता है। इस रूप में, सोवियत संघ में विशेष तौर पर 1935-36 के बाद लिखे गये ऐतिहासिक विवरणों में त्रात्स्की की भूमिका को नज़रन्दाज़ किया गया है। यह कहना कि इसके लिए व्यक्तिगत तौर पर स्तालिन ज़िम्मेदार थे, सही नहीं होगा क्योंकि इस बात के पर्याप्त प्रमाण मौजूद नहीं हैं। लेकिन पार्टी के भीतर मज़बूत हो रही नौकरशाहाना बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ निश्चित तौर पर इसका कारक थीं, जो कि स्तालिन के नाम पर कला, साहित्य, संस्कृति, फिल्म से लेकर अकादमिक जगत तक में एक प्रकार का नौकरशाहाना नियन्त्रण स्थापित कर रही थीं और अपनी फ़रमानशाही को स्तालिन के नाम का प्राधिकार इस्तेमाल करके थोप रही थीं। और बहुत से सांस्कृतिक, अकादमिक कार्य इसी नौकरशाही के संचालन में हो रहे थे।

'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में आम बग़ावत में त्रात्स्की की भूमिका की चर्चा न मिलने का एक कारण यह भी हो सकता है कि तब तक त्रात्स्की की सोवियत संघ-विरोधी भूमिका, साम्राज्यवादियों से उनके रिश्ते और सोवियत संघ में पार्टी के विरुद्ध विद्रोह के उनके षड्यन्त्र काफ़ी हद तक सामने आ चुके थे। साथ ही, 1936 के मुक़दमों में कई ऐसे तथ्य सामने आये थे,

जिन्होंने त्रात्स्की और कई भूतपूर्व बोल्शेविक नेताओं को कठघरे में खड़ा कर दिया था। **लेकिन अगर इन सारे कारकों को ध्यान में रखा जाये तो भी कम्युनिस्ट पार्टी आधिकारिक तौर पर जो इतिहास-लेखन करेगी उसे वस्तुपरक होना चाहिए, चयनात्मक नहीं।** साथ ही, व्यक्तियों के विकास के विषय में उनकी समझदारी द्वन्द्वात्मक होनी चाहिए न कि अनैतिहासिक। मसलन, किसी प्रतिक्रान्तिकारी बन गये व्यक्ति का भी ऐसा अतीत हो सकता है, जिसमें उसने क्रान्ति के लिए योगदान किये हों। ऐसे में, उस व्यक्ति के राजनीतिक पतन को ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक तौर पर पेश किया जाना चाहिए न कि उसके नैसर्गिक गुण के रूप में। मिसाल के तौर पर, 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में यह दावा करना कि त्रात्स्की बोल्शेविक पार्टी में योजनाबद्ध तरीक़े से उसे विघटित करने और नुक़सान पहुँचाने के लिए शामिल हुए थे, ऐतिहासिक तौर पर सही नहीं ठहरता है। ऐतिहासिक लेखन की यह कमी हम 1930 के दशक के सोवियत संघ के आधिकारिक इतिहास लेखन में देख सकते हैं। हालाँकि, 1920 के पूरे दशक के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती है। चीनी पार्टी के इतिहास-लेखन में यह चीज़ और भी ज़्यादा प्रत्यक्ष रूप में दिखलायी पड़ती है। यह सच है कि इन दोनों पार्टियों ने बेहद तीखे वर्ग संघर्ष के दौर में समाजवादी प्रयोगों का संचालन किया और इस वजह से भी बहुत सी विकृतियाँ इन प्रयोगों के दौरान पैदा हुईं, विशेषकर कला, साहित्य, संस्कृति, इतिहास-लेखन आदि के क्षेत्रों में। लेकिन आज खड़े होकर पीछे मुड़कर देखा जाये तो इस प्रकार के इतिहास-लेखन से सर्वहारा वर्ग को तत्कालीन वर्ग संघर्ष में कोई टिकाऊ बढ़त मिल गयी हो, यह नहीं कहा जा सकता है। यह ज़रूर कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक तौर पर इस प्रकार के इतिहास-लेखन ने एक नकारात्मक कारक की ही भूमिका निभायी। लेकिन सम्भवत: यह बात हम आज सिंहावलोकन करते हुए ही कह सकते हैं और उस समय अस्तित्व का संकट झेल रही या फिर तीखे आन्तरिक और बाह्य वर्ग संघर्ष में संलग्न समाजवादी सत्ताओं का संचालन करने वाली कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए उसी समय इस बात को समझ लेना शायद इतना आसान नहीं था।

●

इसमें कोई दो राय नहीं है कि बोल्शेविक क्रान्ति ने मानव इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया। क्रान्ति का नेतृत्व बोल्शेविक पार्टी के निर्देशन में पेत्रोग्राद सोवियत और उसकी क्रान्तिकारी सैन्य समिति ने किया था। जैसा कि बाद में कई बोल्शेविक नेताओं ने कहा था बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में मज़दूर वर्ग ने आम विद्रोह के ज़रिये सत्ता हासिल करके उसे द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस को सौंपा था। पेत्रोग्राद के मज़दूरों और सैनिकों ने पार्टी के नेतृत्व में क्रान्ति सम्पन्न की थी। जैसा कि बेतेलहाइम ने कहा था, **यह कोई दीर्घकालिक युद्ध नहीं था, न ही यह कोई षड्यन्त्र या साधारण विद्रोह था, बल्कि यह एक सुनियोजित आम बग़ावत** (armed insurrection) **थी।** इसमें अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं थी और पेत्रोग्राद सोवियत की भूमिका भी ठीक इसीलिए थी क्योंकि उसमें बोल्शेविक सितम्बर

में बहुमत में आ गये थे। अक्टूबर का पूरा घटनाक्रम बेहद रोमांचक और दिलचस्प था। हम इस पूरे घटनाक्रम का विस्तार से वर्णन नहीं कर पाये हैं क्योंकि इसके लिए आप तमाम पुस्तकों को सन्दर्भित कर सकते हैं। त्रात्स्की के प्रति हमदर्दी रखने के बावजूद ई. एच. कार और उदार बुर्जुआ पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होने के बावजूद अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच द्वारा लिखित इतिहास अक्टूबर में बोल्शेविकों द्वारा सत्ता क़ब्ज़ा करने की प्रक्रिया का जीवन्त चित्र पेश करता है। साथ ही अभी भी जॉन रीड की पुस्तक 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' को क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया का चित्रण करने वाली सबसे अच्छी रचनाओं में से एक माना जाना चाहिए। इसके अलावा, तमाम बोल्शेविकों द्वारा लिखे गये संस्मरण भी इस दौर के घटनाक्रम पर अलग-अलग कोणों से प्रकाश डालते हैं। इस पूरी प्रक्रिया को दुबारा लिखने का कोई अर्थ नहीं था। इसलिए हमने केवल विवादास्पद मुद्दों पर प्रमुख इतिहासकारों के प्रेक्षणों पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करने या उन घटनाओं का अपना विश्लेषण पेश करने तक ख़ुद को सीमित रखा है, जिनकी व्याख्या पेश करना हमें समकालीन चिन्ताओं के कारण उपयोगी लगा।

सही मायनों में अक्टूबर क्रान्ति बोल्शेविक पार्टी और लेनिन की युगान्तरकारी जीत थी। 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी ही इसके युगान्तरकारी महत्व को नहीं समझ पाते और दावा करते हैं कि अतीत की सभी क्रान्तियों की तरह अक्टूबर क्रान्ति में भी एक छोटे-से गुट ने सत्ता पर जनता के नाम पर क़ब्ज़ा किया और फिर उसे हथिया लिया। ईमानदार बुर्जुआ इतिहासकार भी अक्टूबर क्रान्ति को एक युगान्तरकारी घटना मानते हैं, हालाँकि उनकी अपनी आलोचनाएँ हैं, जिन पर हम अभी तक टिप्पणी करते आये हैं और आगे भी उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन जारी रखेंगे। सुजीत दास और उनके जैसे तमाम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, जिन्हें अपनी नैसर्गिक टटपुँजिया भावना से पार्टी और पार्टी अनुशासन जैसे शब्दों से एलर्जी होती है, जनवाद की बुर्जुआ अवधारणाओं से प्रेरित होते हैं। उनके लिए यह समझना मुश्किल है कि सोवियत राज्यसत्ता एक राज्यसत्ता थी और इस तौर पर वह दमन का एक उपकरण ही थी। लेकिन 'किसके द्वारा किसका दमन' इस प्रश्न को ही भूल जाना वर्ग विश्लेषण और मार्क्सवादी विश्लेषण का 'क ख ग' भूलने के समान है। बोल्शेविक क्रान्ति ने इतिहास में पहली बार एक ऐसी राज्यसत्ता को जन्म दिया जिसकी चारित्रिक अभिलाक्षणिकता थी, शोषकों की अल्पसंख्या पर शोषितों की बहुसंख्या का अधिनायकत्व। इस अधिनायकत्व के विषय में भी एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी की सोच वास्तविक, मूर्त और ऐतिहासिक होनी चाहिए, न कि आदर्श, अमूर्त और अनैतिहासिक।

अक्टूबर क्रान्ति ने सत्ता मज़दूर वर्ग के हाथों में सौंपी। लेकिन यह बोल्शेविक पार्टी और रूसी मज़दूर वर्ग के समक्ष मौजूद चुनौतियों की समाप्ति नहीं था, बल्कि और भी ज़्यादा विशाल चुनौतियों की शुरुआत था। आने वाले चार वर्ष बोल्शेविक सोवियत सत्ता के लिए अस्तित्व के संकट के वर्ष थे, जब देश के भीतर प्रतिक्रियावादी प्रतिक्रान्तिकारियों ने सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ बग़ावत शुरू कर दी थी और साथ ही चौदह साम्राज्यवादी देशों ने सोवियत रूस की

घेराबन्दी और घुसपैठ शुरू कर दी थी। 1921 तक बोल्शेविक सत्ता को समाजवादी रूपान्तरण के कार्य को सुचारू और स्वस्थ रूप से चलाने का कभी अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ। पहले क़रीब आठ माह तो सोवियत सत्ता के सुदृढ़ीकरण और सुदूरवर्ती प्रान्तों में बोल्शेविक क्रान्ति के फैलने में लगे। इस दौर में, सोवियत सत्ता बुर्जुआ क्रान्ति के अधूरे कार्यभारों को पूरा करती रही और साथ ही 'समाजवाद की ओर आरम्भिक क़दम' उठाने की शुरुआत मात्र कर पायी। इसी दौरान गृहयुद्ध की शुरुआत हो गयी। गृहयुद्ध के दौरान पार्टी को तमाम आपात क़दम उठाने पड़े। इस दौर की नीतियों को 'युद्ध कम्युनिज़्म' की नीतियों के रूप में जाना जाता है। इन नीतियों ने जहाँ सोवियत सत्ता को अपना अस्तित्व बचाने में सक्षम बनाया वहीं समाजवादी रूपान्तरण के कार्यों में तमाम विकृतियाँ भी पैदा कर दीं। इसी दौर में पार्टी के भीतर भी कई महत्वपूर्ण विचारधारात्मक और राजनीतिक बहसें शुरू हो गयीं, जिन बहसों को जानना-समझना वास्तव में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी उसूलों में एक कोर्स करने के समान है। इस पूरे दौर पर हम सातवें अध्याय में विस्तार से लिखेंगे और उसकी रोशनी में मौजूदा राजनीतिक बहसों का भी विवेचन करेंगे। लेकिन सबसे पहले हमें बोल्शेविक क्रान्ति के चरित्र, सोवियत सत्ता के पहले आठ माह और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की व्यवस्था के निर्माण और उसके सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया को देखना होगा। अगले यानी छठे अध्याय में हम पहले आठ महीनों में हुए इन परिवर्तनों का विवेचन करेंगे।

(अगले अंक में इस अध्याय का परिशिष्ट प्रकाशित होगा :
'अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच का इतिहास-लेखन: अन्तर्दृष्टि की दृष्टिहीनता')

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन

(तीसरी किस्त)

● **दीपायन बोस**

निबन्ध के पहले भाग में हमने भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास और पार्टी के संशोधनवादी विपथगमन की संक्षिप्त पृष्ठभूमि के साथ नक्सलबाड़ी किसान-उभार, 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' के गठन, कमेटी के जीवनकाल के दौरान क्रान्तिकारी जनदिशा की हर पहुँच, सोच और लाइन को नौकरशाहाना ढंग से ठिकाने लगाकर "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के उत्तरोत्तर मज़बूत होते जाने की प्रक्रिया और फिर मुख्यतः इसी लाइन पर मई 1970 में आठवीं कांग्रेस के आयोजन तथा भाकपा (मा-ले) के गठन तक की चर्चा की थी। दूसरे हिस्से में श्रीकाकुलम में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन की विफलता के उल्लेख के साथ इन अल्पज्ञात तथ्यों की चर्चा की गयी थी कि नक्सलबाड़ी के क्रान्तिकारी उभार ने देश के छात्रों-युवाओं के साथ ही औद्योगिक मज़दूर वर्ग को भी कितनी गहराई से प्रभावित किया था लेकिन चारु मजुमदार और पार्टी नेतृत्व के मुख्य हिस्से द्वारा क्रान्तिकारी जनदिशा के पूर्ण निषेध के कारण पार्टी इस ऐतिहासिक अवसर का कोई लाभ नहीं उठा सकी।

अब निबन्ध के प्रस्तुत हिस्से में हम उन परिस्थितियों और घटना-क्रम की चर्चा करेंगे जो पार्टी-कांग्रेस के बाद पार्टी के भीतर उत्पन्न और गतिमान हुई थीं। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच एकता के साथ ही फूट का जो सिलसिला तालमेल कमेटी के कार्यकाल में ही शुरू हो गया था, वह कांग्रेस के बाद भी बदस्तूर जारी रहा।

कांग्रेस के बाद : सत्यनारायण सिंह से मतभेद, पार्टी में पहली फूट और फिर बिखराव के सिलसिले की शुरुआत

पार्टी की स्थापना कांग्रेस के ठीक बाद केन्द्रीय कमेटी की जो पहली बैठक हुई, वह अन्तिम बैठक सिद्ध हुई। केन्द्रीय कमेटी ने एक ग्यारह सदस्यीय पोलित ब्यूरो का गठन किया जिसके नौ सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल राय चौधुरी, शिव कुमार मिश्र, कानू सान्याल, सरोज दत्त, सत्यनारायण सिंह, रामप्यारे सर्राफ़, एल. अप्पू और सौरेन बसु। दो स्थान रिक्त रखे गये। इसके अतिरिक्त चार ज़ोनल ब्यूरो बनाये गये : दक्षिण, उत्तर-पश्चिम, उत्तर-केन्द्रीय और उत्तर-पूर्व क्षेत्रों के ब्यूरो। सरोज़ दत्त और सुनीति कुमार घोष को पार्टी-मुखपत्रों का प्रभारी बनाया गया। इन ज़ोनल ब्यूरो की भी आगे कोई बैठक नहीं हुई। कांग्रेस और केन्द्रीय कमेटी की बैठक में चारु मजुमदार को 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' मानने का प्रस्ताव ख़ारिज़ हो चुका था और यह तय हुआ था कि चारु मजुमदार केन्द्रीय कमेटी के अन्य सदस्यों के राय-मशविरे से काम करेंगे, लेकिन व्यवहारतः चारु मजुमदार ने अधिकांश फ़ैसले अकेले अपनी मर्ज़ी से ही लिये। इनमें 'जन मुक्ति सेना' के गठन की घोषणा जैसा अहम फ़ैसला भी शामिल था। सुशीतल राय चौधुरी जैसे जो पोलित ब्यूरो सदस्य राय-मशविरे के लिए उपलब्ध होते थे, उनसे भी वे कोई विचार-विमर्श नहीं करते थे। इस तरह, व्यवहारतः चारु ने कांग्रेस के बाद 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' जैसा ही आचरण किया, बल्कि उससे भी कहीं आगे एकछत्र नेतृत्व जैसा व्यवहार किया। पार्टी कांग्रेस के पहले की बची-खुची जनवादी कार्यप्रणाली भी कांग्रेस के बाद समाप्त हो गयी।

पार्टी कांग्रेस के ठीक चार महीने बाद सितम्बर 1970 में बिहार राज्य कमेटी ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसका शीर्षक था : 'नया उभार और वामपन्थी अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष।' इसके पहले, कांग्रेस के ठीक बाद, सत्यनारायण सिंह ने चारु मजुमदार को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने चारु से कांग्रेस में सर्वसम्मति से पारित 'राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट' और उस पर दिये गये चारु के भाषण से वह अंश निकाल देने के लिए कहा था जिसमें यह उल्लेख था कि कम्बोडिया पर अमेरिकी आक्रमण तीसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत है। सत्यनारायण सिंह का तर्क था कि चूँकि रिपोर्ट और भाषण अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं, अतः उक्त अंशों को निकाल देने से ये दस्तावेज़ माओ त्से-तुंग के 20 मई 1970 के उस वक्तव्य के अनुरूप हो जायेंगे, जिसमें उन्होंने कहा था : "एक नये विश्वयुद्ध का ख़तरा अभी भी मौजूद है, और सभी देशों के जन समुदाय को इसके लिए तैयार होना चाहिए, लेकिन क्रान्ति ही आज की दुनिया की मुख्य प्रवृत्ति है।" हालाँकि आठवीं कांग्रेस की रिपोर्ट में प्रस्तुत आकलन ग़लत था, लेकिन किसी कांग्रेस के पारित दस्तावेज़ों को किसी व्यक्ति,

या केन्द्रीय कमेटी द्वार भी, मनमाने ढंग से बदला नहीं जा सकता। यह जनवादी कार्यप्रणाली का निपट निषेध होता। सत्यनारायण सिंह का सुझाव अपने आप में उनकी अनौपचारिकतावादी, ग़ैरजनवादी, अवसरवादी कार्यपद्धति का परिचायक था। चारु मजुमदार ने उनके इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। यहाँ, राजनीति ग़लत होते हुए भी वे सही कार्य-प्रणाली के पक्ष में खड़े थे।

बिहार राज्य कमेटी द्वारा पारित प्रस्ताव वाम अवसरवाद का विरोध करते हुए, वस्तुतः स्वयं वाम अवसरवादी भटकाव से मुक्त नहीं था। इसमें चारु मजुमदार की प्रशंसा के पुल बाँधते हुए "शत्रुवध को... वर्ग संघर्ष का उच्चतर रूप और छापामार युद्ध की शुरुआत" बताया गया था और यह दावा किया गया था कि बारह राज्यों में अस्तित्व में आ चुके छापामार इलाक़े लगातार फैलते और मज़बूत होते जा रहे हैं। यह विवरण न सिर्फ़ अत्युक्ति था बल्कि तथ्यों से एकदम परे था। इसमें यह दावा किया गया था कि दुश्मन की घेरेबन्दी और दमन की मुहिम पूर्णतः विफल हो चुकी है और नागी रेड्डी-असित सेन जैसे "प्रतिक्रिया के भाड़े के टट्टुओं" के सभी विघटनकारी विचारधारात्मक आक्रमण नाकाम हो चुके हैं। पहली बात, श्रीकाकुलम और अन्य जगहों पर राजकीय दमन की धुँआधार मुहिम पार्टी-कांग्रेस के पहले ही छापामार युद्ध के नाम पर जारी शत्रुवध मुहिम को पीछे धकेल चुकी थी। दूसरी बात, सत्यनारायण सिंह अभी भी नागी रेड्डी और असित सेन को "प्रतिक्रिया का भाड़े का टट्टू" कहने जैसी गालियाँ दे रहे थे, जो लोग निष्कलंक-अकुण्ठ क्रान्तिकारी चरित्र के नेता थे और जिन्होंने साहसपूर्वक, तालमेल कमेटी के दौर में "वाम" दुस्साहसवादी भटकाव के विरुद्ध संघर्ष किया था। सत्यनारायण सिंह के अवसरवादी चरित्र को समझने के लिए एक घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा। पार्टी से अलग होने के बाद वे असित सेन को अपने साथ लेने के लिए उनके घर पहुँच गये थे। तब असित सेन ने उन्हें दुत्कार दिया था। मज़दूरों के सन्दर्भ में बिहार राज्य कमेटी के प्रस्ताव में कहा गया था कि वे आर्थिक संघर्ष की सीमाओं को ज़्यादा से ज़्यादा समझते जा रहे हैं, उन्होंने अब अपनी रोज़मर्रे की समस्याओं, माँगों और मुद्दों के बजाय आत्मसम्मान और स्वाभिमान के मसलों पर संघर्ष की शुरुआत कर दी है, तथा, उनका संघर्ष ज़्यादा से ज़्यादा दीर्घकालिक होता जा रहा है और हिंसक टकरावों में तब्दील होता जा रहा है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह आकलन भी शहरी मज़दूर वर्ग के बीच काम के बारे में और उसके कार्यभारों के बारे में चारु मजुमदार की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन से पूरी तरह मेल खाता है। यही नहीं, चारु मजुमदार के आह्वान के ही सुर में सुर मिलाते हुए प्रस्ताव में यह आह्वान किया गया था कि पार्टी शहरों में जारी सशस्त्र क्रान्तिकारी संघर्षों को गाँवों में जारी संघर्षों से जोड़कर लोक जनवादी क्रान्ति करके 1970 के दशक को साम्राज्यवाद और सामन्तवाद की जकड़ से मुक्ति का दशक बना दे।

तब फिर सहज ही यह सवाल उठता है कि बिहार राज्य कमेटी का प्रस्ताव आख़िरकार किन मुद्दों पर "वाम" प्रवृत्तियों का विरोध कर रहा था? मुद्दा केवल एक था, और वह था धनी किसानों का सवाल। प्रस्ताव का कहना था कि भूस्वामियों और धनी किसानों के बीच का अन्तर मिटाकर "वाम" अवसरवाद क्रान्तिकारी मोर्चे का दायरा संकीर्ण बना रहा है और प्रतिक्रान्तिकारी मोर्चे को

मज़बूत बना रहा है। केवल वे थोड़े से धनी किसान ही हमारे शत्रु हैं जो सामन्ती प्रवृत्ति के हैं या सामन्ती भूस्वामियों के साथ हैं। सिद्धान्ततः देखें तो नवजनवादी क्रान्ति के चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के हिसाब से यह बात ठीक थी कि धनी किसान भी क्रान्ति के (ढुलमुल) दोस्त होते हैं। लेकिन इस मसले पर पार्टी की आधिकारिक अवस्थिति भी यही थी। समस्या ठोस परिस्थितियों के आकलन की ग़लती से पैदा हो रही थी। 1970 तक पुराने सामन्ती भूस्वामी भी अब लगानजीवी नहीं रह गये थे और बाज़ार के लिए पैदा करने की प्रवृत्ति उनके भीतर भी मज़बूत हो रही थी। दूसरी ओर, पुराने धनी और ख़ुशहाल मध्यम किसानों में से भी धनी मालिक किसानों का वह वर्ग पैदा हो चुका था जो गाँव के ग़रीबों-भूमिहीनों का शोषण-उत्पीड़न करता था और मुनाफ़े के लिए खेती करता था। इन नये-पुराने भूस्वामियों के बीच प्रायः जातिगत आधार पर टकराव भी होते थे। एक और तथ्य यह था कि पूँजीवादी खेती में अधिक माहिर नये भूस्वामी पुराने भूस्वामियों को पीछे छोड़ते जा रहे थे। पार्टी सामन्ती भूस्वामी और धनी किसान में नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के अनुरूप भेद करने के लिए उत्पादन-सम्बन्धों की जगह इस पारिवारिक इतिहास को मानक बनाती थी कि कौन पहले ज़मींदार था और कौन काश्तकार। एक दूसरा अनुभवसंगत मानक जातिगत भेदभाव और उत्पीड़न था, क्योंकि सामन्ती पृष्ठभूमि वाले भूस्वामी प्रायः सवर्ण जातियों के थे, जबकि धनी किसान प्रायः मध्यजातियों से आते थे। गाँवों में जहाँ धनी किसान भी भूमिहीनों का उत्पीड़न करते थे, वहाँ उनके ख़िलाफ़ भी ग़रीबों में गहरा आक्रोश था और शत्रुवध को अंजाम देने वाली छापामार टुकड़ियाँ इन्हीं ग़रीबों के बीच संगठित हुई थीं। नतीजतन, छापामार टुकड़ियों की कार्रवाइयों का निशाना धनी किसान भी बनते रहते थे। इस स्थिति के बुनियादी कारण की तलाश उत्पादन-सम्बन्धों में आ रहे बदलावों में करने की जगह सत्यनारायण सिंह ने इसे पार्टी में "वाम" विचलन के प्रभाव के रूप में देखा। उत्तरवर्ती घटनाक्रम-विकास से ऐसा मानने के पर्याप्त आधार मिलते हैं कि सत्यनारायण सिंह ने इस मसले को अपनी राजनीतिक कैरियरवादी सोच के तहत उठाया था। यही उनका अवसरवाद था जिसके चलते "वाम" दुस्साहसवाद का धुरन्धर पैरोकार होने की स्थिति से खिसकते हुए और पैंतरापलट करते हुए कालान्तर में वे गम्भीर दक्षिणपन्थी भटकाव की अवस्थिति तक जा पहुँचे।

लेकिन बिहार कमेटी के प्रस्ताव ने कुछ सापेक्षतः सही अवस्थितियाँ भी अपनायी थीं और कुछ विचारणीय मुद्दे भी उठाये थे। भारतीय लोक जनवादी क्रान्ति के असमान और दीर्घकालिक चरित्र को देखते हुए दस्तावेज़ में गाँवों और शहरों में संघर्ष की प्रकृति में भेद न करने की आलोचना की गयी थी और इस बात पर बल दिया गया था कि वर्गयुद्ध की देशव्यापी उच्चतर अवस्था से पहले शहरों में छापामार कार्रवाइयों की प्रकृति प्रतिरक्षात्मक होनी चाहिए। यह वही समय था जब चारु गुट कलकत्ता के छात्र-युवा उभार के दिनों में कलकत्ता को मुक्त क्षेत्र बना देने के नारे देते हुए पुरानी अवस्थिति को छोड़ चुका था। बिहार कमेटी के दस्तावेज़ ने प्रकारान्तर से इस अवस्थिति का विरोध किया। नवजनवादी क्रान्ति की सोच के फ़्रेमवर्क में उसकी अवस्थिति इस मुद्दे पर सापेक्षतः सही थी। बिहार कमेटी के दस्तावेज़ में तत्कालीन समय को चारु मजुमदार द्वारा 'आत्म-बलिदान

का युग' कहे जाने की भी सही आलोचना की गयी थी और कहा गया था कि ऐसा अलग से कोई युग नहीं होता, संघर्ष के हर दौर में आत्म-बलिदान और आत्म-परिरक्षण - दोनों एक ही चीज़ के दो पहलू होते हैं। सत्यनारायण सिंह के अवसरवादी प्रस्थान-बिन्दु के बावजूद, दस्तावेज़ में, पार्टी में बढ़ती प्राधिकारवादी प्रवृत्ति की और सामूहिक कार्य-प्रणाली के अभाव की सही आलोचना की गयी थी, पर इसके लिए अकेले 'केन्द्रीय नेतृत्व' (यानी चारु) को ज़िम्मेदार ठहराया गया था। सत्यनारायण सिंह वास्तव में प्राधिकारवाद और अतिकेन्द्रीयता के कितने 'जेनुइन' विरोधी थे, इसे उस घटना से भी समझा जा सकता है, जिसका उल्लेख सौरेन बसु और सुनीति कुमार घोष ने अलग-अलग जगहों पर किया है। कांग्रेस के पहले, फ़रवरी 1970 में सत्यनारायण सिंह जब चारु मजुमदार की बिहार यात्रा का इन्तज़ाम करने कलकत्ता गये थे तो सुनीति कुमार घोष ने चारु मजुमदार को 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' घोषित करने के पक्ष में सौरेन बसु द्वारा लिखे गये लेख के बारे में उनकी राय पूछी। सत्यनारायण सिंह का कहना था कि यह ठीक है लेकिन लेख की कमी यह है कि 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' के तौर पर चारु मजुमदार के उत्तराधिकारी के बारे में इसमें कुछ नहीं कहा गया है। ज़ाहिर है कि वे स्वयं को ही उस उत्तराधिकारी के रूप में देखने की आकांक्षा रखते थे। यह भी एक कारण था कि सुनीति कुमार घोष, सौरेन बसु, सरोज़ दत्त और असीम चटर्जी के चारु के निकटवर्ती "बंगाली गुट" को "चारु चौकड़ी" कहते हुए वे उसकी निन्दा-भर्त्सना तक करने लगे थे।

अक्टूबर 1970 में कलकत्ता में केन्द्रीय कमेटी के पोलित ब्यूरो की एक बैठक हुई जिसमें बिहार राज्य कमेटी के प्रस्ताव पर विचार किया जाना था। यह पोलित ब्यूरो की पहली और आख़िरी बैठक थी। इसमें ब्यूरो के नौ सदस्यों में से चार सदस्य ही शामिल हो सके। वे थे : चारु मजुमदार, शिव कुमार मिश्र, सत्यनारायण सिंह और सरोज़ दत्त। बैठक में शामिल होने के लिए आते समय ही तमिलनाडु में एक भूस्वामी गिरोह ने अप्पू की हत्या कर दी जिसकी जानकारी नेतृत्व को बाद में मिली। बैठक से पहले ही सत्यनारायण सिंह और शिव कुमार मिश्र की मुलाक़ात संयोगवश हुई और सत्यनारायण सिंह ने शिव कुमार मिश्र को अपना दस्तावेज़ दिखाया। सरसरी तौर पर दस्तावेज़ देखने के बाद शिव कुमार मिश्र ने उन्हें अपने समर्थन का वायदा किया। शिव कुमार मिश्र एक निहायत निश्छल कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी थे। उनकी धारणा बनी कि बिहार कमेटी का दस्तावेज़ "वाम" भटकाव विरोधी संघर्ष की उसी कड़ी को आगे बढ़ा रहा है, जो सवाल पार्टी कांग्रेस के पहले से ही उत्तर प्रदेश राज्य कमेटी में भी उठ चुके हैं (इनमें शिव कुमार मिश्र से भी आगे की भूमिका श्री नारायण तिवारी और रामनयन उपाध्याय की थी)। बैठक में सत्यनारायण सिंह ने दस्तावेज़ रखते हुए अपना वक्तव्य रखा। फिर शिव कुमार मिश्र ने भी वक्तव्य रखा। चारु और सरोज़ दत्त स्पष्टतः ही इसके विरुद्ध थे। चारु की आकस्मिक अस्वस्थता के कारण बैठक लम्बी नहीं चली। सदस्य भी नौ में से मात्र चार ही उपस्थित थे। अतः फ़ैसला लिया गया कि बिहार कमेटी के दस्तावेज़ को केन्द्रीय कमेटी के समक्ष रखा जायेगा। लेकिन इसके बाद केन्द्रीय कमेटी की कोई बैठक नहीं बुलायी गयी। बिहार कमेटी के दस्तावेज़ को जनवरी 1971 में आहूत पश्चिम

बंगाल राज्य कमेटी की बैठक के समक्ष विचार के लिए रखा गया। इस समय तक सुशीतल राय चौधुरी भी "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के विरुद्ध लेखों की अपनी प्रसिद्ध श्रृंखला की शुरुआत कर चुके थे (इसकी चर्चा निबन्ध में आगे की जायेगी) और कमेटी की इसी बैठक में उनके एक लेख पर भी बहस होनी थी। बहरहाल, बंगाल राज्य कमेटी ने बिहार कमेटी के प्रस्ताव को संशोधनवादी और प्रतिक्रान्तिकारी बताते हुए ख़ारिज़ कर दिया और केन्द्रीय कमेटी से माँग की कि प्रस्ताव तैयार करने वाले लोगों को पार्टी से निकाल बाहर किया जाये। इसके पूर्व ही, चारु मजुमदार 'देशव्रती' में बिहार प्रस्ताव के विरुद्ध विस्तार से लिख चुके थे। बहरहाल, इसके ठीक बाद, सत्यनारायण सिंह और उनके साथियों को पार्टी से निकाल दिया गया। इसके पूर्व न तो केन्द्रीय कमेटी की कोई बैठक हुई, न ही बाद में कोई बैठक करके इस निर्णय का अनुमोदन कराया गया। चारु और उनके विशेष समर्थकों का एक 'कॉकस' इस समय तक वस्तुतः एक 'डी फ़ैक्टो' केन्द्रीय कमेटी के रूप में काम करने लगा था। बिहार राज्य कमेटी भंग कर दी गयी और उसकी जगह एक तदर्थ (एडहॉक) कमेटी बैठा दी गयी।

तत्काल जवाबी कार्रवाई करते हुए सत्यनारायण सिंह ने बिहार राज्य कमेटी का पूर्णाधिवेशन (प्लेनम) बुलाया और उसमें 'भारतीय क्रान्ति की समस्याएँ और नवत्रात्स्कीपन्थी भटकाव' शीर्षक वाली 110 पृष्ठों की विस्तृत रिपोर्ट पेश की। संक्षेप में, उक्त रिपोर्ट के निष्कर्ष इस प्रकार थे : (1) नवत्रात्स्कीपन्थी चारु चौकड़ी जनवादी, समाजवादी और सांस्कृतिक क्रान्तियों का घालमेल करके सारी क्रान्तियों की सम्भावनाओं को नष्ट कर रही है। (2) वह विश्व परिस्थितियों के माओ के मूल्यांकन को नहीं मानती, जनता की जगह साम्राज्यवाद को निर्णायक शक्ति मानती है तथा क्रान्ति की जगह युद्ध को आज की दुनिया की मुख्य प्रवृत्ति मानती है। (3) वह दीर्घकालिक लोकयुद्ध की रणनीति एवं रणकौशल को स्वीकार नहीं करती, उसकी जगह द्रुत विजय, आम उभार और सर्वत्र खुली मुठभेड़ों की फेरी लगाती है तथा निरुद्देश्य कार्रवाइयों (ऐक्शंस) को बढ़ावा देती है और इस तरह क्रान्ति की विजय को सुनिश्चित मार्ग से भटकाती है। (4) क्रान्ति को नष्ट करने के लिए देहातों में आधार-इलाक़े बनाने की लाइन छोड़कर वह शहरों को गुरुत्वाकर्षण का मुख्य केन्द्र बना रही है। (5) मज़दूरों, किसानों, निम्न बुर्जुआ वर्ग और जनता के अन्य हिस्सों के आर्थिक एवं आंशिक संघर्षों का विरोध करके वह क्रान्ति के जनचरित्र को नष्ट कर रही है। (6) वह मार्क्सवाद में संशोधनवादी तोड़-मरोड़ करके उसे विकृत करना चाहती है जिसके उदाहरण हैं : जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों, युद्ध और क्रान्ति तथा सशस्त्र संघर्ष और वर्ग संघर्ष के अन्य रूपों का समन्वय, लोकयुद्ध की रणनीति, रणकौशलों और राजनीतिक संघर्षों के साथ आर्थिक और आंशिक संघर्षों का समन्वय, तथा, पार्टी निर्माण और पार्टी कार्यशैली के बारे में उसकी ग़लत धारणाएँ। (7) यह चारु चौकड़ी माओ विचारधारा की जगह चारु विचारधारा को पार्टी का मार्गदर्शक सिद्धान्त बनाना चाहती है। रिपोर्ट में चारु मजुमदार द्वारा तीसरे महायुद्ध के आरम्भ के आकलन को माओ के आकलन के विपरीत बताते हुए इसकी खिल्ली उड़ायी गयी थी और अन्त में यह नतीजा पेश किया गया था कि चारु चौकड़ी अब भाकपा (मा-ले) का एक हिस्सा नहीं रह

गया है, यह पतित होकर प्रतिक्रान्तिकारी वर्गों का अग्रिम दस्ता बन गया है जो भारतीय क्रान्ति, पार्टी और विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व को क्षति पहुँचाने की जीतोड़ कोशिशें कर रहा है। इस प्लेनम में फूट की प्रक्रिया मुक़म्मिल हो गयी और सत्यनारायण सिंह ग्रुप एक समान्तर पार्टी-केन्द्र के रूप में काम करने लगा।

बिहार राज्य कमेटी के पूर्णाधिवेशन के समय तक शिव कुमार मिश्र गिरफ़्तार किये जा चुके थे। पार्टी के पोलित ब्यूरो की बैठक में उन्होंने बिहार कमेटी के प्रस्ताव का समर्थन किया था। वे "वामपन्थी" भटकाव को एक गम्भीर रणकौशलात्मक ग़लती मानते थे लेकिन चारु मजुमदार के नेतृत्व में उनकी अगाध आस्था थी (जो जीवनपर्यन्त बनी रही) और उन्हें पूरा विश्वास था कि चारु इस भटकाव को समय रहते ठीक कर लेंगे। पूर्णाधिवेशन में प्रस्तुत सत्यनारायण सिंह का दस्तावेज़ 'भारतीय क्रान्ति की समस्याएँ और नवत्रात्स्कीपन्थी भटकाव' उन्हें जेल में मिला। दस्तावेज़ से उनकी सख़्त असहमति थी। वे चारु के ऊपर त्रात्स्कीपन्थी का ठप्पा लगाने के सख़्त विरोधी थे। उनकी यह धारणा बनी कि सत्यनारायण सिंह की मंशा शुरू से ही चारु को किनारे लगाने की थी और यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश कमेटी के कुछ साथी भी ऐसा ही चाहते थे। उनका मानना था कि सत्यनारायण सिंह ने फूटपरस्ती के उद्देश्य से किये गये छल-नियोजन के तहत, उनके विश्वास का लाभ उठाकर उन्हें इस्तेमाल किया (उनकी यह धारणा उनके जीवनपर्यन्त बनी रही)। इसके बाद उ.प्र. कमेटी ने सत्यनारायण सिंह के सांगठनिक प्रयासों से अपने को अलग कर लिया, लेकिन बिहार कमेटी के प्रस्ताव के समर्थन का ख़ामियाज़ा उन्हें भी भुगतना पड़ा। चारु मजुमदार ने उ.प्र. राज्य कमेटी को भंग कर दिया और शिव कुमार मिश्र और उनके साथी भी संगठन से निकाल दिये गये।

चारु मजुमदार के साथ अगले महत्वपूर्ण मतभेद और अलगाव की प्रक्रिया असीम चटर्जी के साथ घटित हुई। सत्यनारायण सिंह ने चारु मजुमदार पर सरोज़ दत्त, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष और असीम चटर्जी की चौकड़ी से घिरे होने का आरोप लगाया था, लेकिन दरहक़ीक़त जब बिहार राज्य कमेटी का पूर्णाधिवेशन हो रहा था, उस समय तक चारु और असीम के बीच मतभेद पैदा हो चुके थे। जून 1971 में असीम चटर्जी के नेतृत्व में काम करने वाली 'बंगाल-बिहार-उड़ीसा सीमा क्षेत्रीय कमेटी' ने एक दस्तावेज़ जारी करके पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांगला देश) में जारी संघर्ष में पाकिस्तान के प्रति अपनायी जा रही आधिकारिक पार्टी-अवस्थिति की सख़्त आलोचना करते हुए इसे चीनी पार्टी की अवस्थिति के विरुद्ध बताया था। असीम चटर्जी का विचार था कि पाकिस्तान अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता, भौगोलिक अखण्डता और सम्प्रभुता की हिफ़ाज़त के लिए संघर्ष कर रहा है और चीन उसका समर्थन कर रहा है जबकि सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद और भारतीय विस्तारवादी अपने निहित स्वार्थों के लिए पाकिस्तान को बाँट देना चाहते हैं और पाकिस्तान की जनता के विरुद्ध हैं। यह सही है कि चीन दो अतिमहाशक्तियों में सोवियत साम्राज्यवाद को ज़्यादा आक्रामक और ज़्यादा ख़तरनाक (सामाजिक फ़ासीवादी) मानता था और भारतीय बुर्जुआ सत्ता को उसका विश्वस्त सहयोगी मानता था। इस दृष्टि से वह

पाकिस्तान के अन्दरूनी मामले में सोवियत समर्थित भारतीय हस्तक्षेप के ख़िलाफ़ था, लेकिन साथ ही उसका यह भी मानना था कि पूर्वी पाकिस्तान के सवाल को वहाँ की जनता की इच्छा के हिसाब से हल किया जाना चाहिए (एस. निहाल सिंह : 'द योगी एण्ड द बियर', पृ. 92, 172)। चीन पाकिस्तान का समर्थन करने और पूर्वी पाकिस्तान की जनता की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की लड़ाई के बीच दुविधा का शिकार था और पाकिस्तानी तानाशाह याह्या ख़ान को पूर्वी पाकिस्तान के मसले पर चीनी समर्थन न मिलने पर आश्चर्य था (सुल्तान एम. ख़ान की पुस्तक 'मेमोरीज़ एण्ड रिफ़्लेक्शंस ऑफ़ ए पाकिस्तानी डिप्लोमैट' की 'स्टेट्समैन', कलकत्ता संस्करण में प्रकाशित ए. जी. नूरानी की समीक्षा, 16 नवम्बर 1998)। निश्चय ही, इन सबके बावजूद उस दौर की चीनी विदेश नीति पर कुछ सवाल उठते हैं जो इस आकलन पर आधारित थी कि अधिक ख़तरनाक सोवियत साम्राज्यवाद की आक्रामकता के कारण तीसरे विश्वयुद्ध का ख़तरा बना हुआ है और इस स्थिति में तीसरी दुनिया के देशों की बुर्जुआ सत्ताओं और पश्चिमी देशों के साथ भी संयुक्त मोर्चा बनाया जा सकता है। यह मूल्यांकन ही बुनियादी तौर पर ग़लत था, समय ने इसे सिद्ध किया, पर इस विश्लेषण के लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं है। असीम चटर्जी की मूल ग़लती यह थी कि वह देश-विशेष की पार्टी की नीति पूरी तरह एक समाजवादी देश की विदेश नीति और कूटनीति के आधार पर तय कर रहे थे। यह सही है कि क्षेत्रीय स्तर पर भारत और विश्व स्तर पर सोवियत संघ पूर्वी पाकिस्तान की स्थिति का अपने हित में लाभ उठाने के लिए हस्तक्षेपकारी और विस्तारवादी नीति अपना रहे थे, लेकिन मूल अन्तरविरोध पाकिस्तानी समाज का अपना अन्दरूनी अन्तरविरोध था। पूर्वी पाकिस्तान की बंगाली राष्ट्रीयता पाकिस्तान की केन्द्रीय सत्ता (जिस पर पंजाबी राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग हावी था) के विरुद्ध अपनी मुक्ति की बहादुराना लड़ाई लड़ रही थी और बर्बर दमन का सामना कर रही थी। ऐसी स्थिति में आत्मनिर्णय और आज़ादी की इस लड़ाई का समर्थन ही किसी कम्युनिस्ट पार्टी की नीति होनी चाहिए थी। ग़ौरतलब है कि अपनी कम ताक़त के बावजूद मुहम्मद तोहा के नेतृत्व वाली 'पूर्वी पाकिस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले)' उस समय पाकिस्तान की तानाशाह हुकूमत के विरुद्ध कुछ क्षेत्रों में छापामार संघर्ष चलाने के साथ ही सोवियत और भारतीय हस्तक्षेप का तथा इनके प्रति घुटनाटेकू रवैया अपनाने वाले अवामी लीग के बुर्जुआ नेतृत्व (शेख़ मुजीबुर्रहमान) का भी विरोध कर रही थी। लेकिन तथ्यों के प्रति एकांगी नज़रिया अपनाते हुए असीम चटर्जी उस सीमा तक चले गये थे कि जुल्फ़िकार अली भुट्टो और उसकी पार्टी को पाकिस्तान के राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि मानने लगे थे। इस प्रश्न पर, कुल मिलाकर, चारु मजुमदार की अवस्थिति सही थी। उनका कहना था कि सोवियत साम्राज्यवाद और भारतीय विस्तारवाद की नीतियों का विरोध करते हुए भी पार्टी का यह कर्तव्य है कि वह पूर्वी पाकिस्तान की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार और उसके मुक्ति संघर्ष का पुरज़ोर समर्थन करे।

जल्दी ही, असीम चटर्जी ने 'बंगाल-बिहार-उड़ीसा क्षेत्रीय कमेटी' की ओर से 'वर्तमान पार्टी लाइन के सम्बन्ध में' शीर्षक वाला एक और दस्तावेज़ जारी किया। असीम चटर्जी ने बाद में एक

लघु पत्रिका में प्रकाशित लेख में स्वीकार किया था कि सौरेन बसु के जेल जाने के पहले उन्हें उनसे यह संक्षिप्त जानकारी मिल चुकी थी कि चीनी पार्टी के नेताओं ने भाकपा (मा-ले) की राजनीतिक लाइन के कुछ पहलुओं की गम्भीर आलोचना करते हुए कुछ सुझाव दिये हैं ('चीनी सुझावों' के प्रसंग की आगे विस्तार से चर्चा की जायेगी)। असीम चटर्जी के नये दस्तावेज़ के पीछे यही जानकारी निर्णायक उपादान के रूप में काम कर रही थी। इसी आलोक में अपने व्यावहारिक अनुभवों का समाहार करते हुए उन्होंने अपने नये दस्तावेज़ में पार्टी लाइन के विरुद्ध विद्रोह का परचम लहराया। यह दस्तावेज़ लिखने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करते हुए सौरेन बसु ने उन्हें अलीपुर जेल से पत्र भी लिखा था (तब तक वे गिरफ़्तार हो चुके थे)। असीम ने अपने इस दूसरे दस्तावेज़ में मिदनापुर (प. बंगाल), सिंहभूम (तत्कालीन बिहार, आज का झारखण्ड) और मयूरभंज (ओडिशा) में 120 लोगों के सफाये और कई थानों पर हमले के बाद भी आधार क्षेत्र और जन मुक्ति सेना नहीं बन पाने पर सवाल उठाया था और इसके लिए चारु मजुमदार के उपेक्षात्मक रवैये और ग़लत सोच को ज़िम्मेदार ठहराया था। दस्तावेज़ में कहा गया था कि पार्टी के नेतृत्व में जारी सशस्त्र संघर्ष के अनुभवों का समाहार करके रणकौशलात्मक लाइन में परिवर्तन किया जाना चाहिए। दस्तावेज़ में भारतीय क्रान्ति के असमान विकास को सही रूप में इंगित किया गया था और एक हद तक "वाम" विचलन को सुधारते हुए यह सवाल भी उठाया गया था कि सशस्त्र संघर्ष को जनान्दोलनों और जन संगठनों के निर्माण से जोड़ा जाना चाहिए। हालाँकि सशस्त्र संघर्ष से यहाँ तात्पर्य वर्ग शत्रुओं के गुप्त सफाये से ही था और ऐसी कार्रवाइयाँ शहरी क्षेत्रों में भी करने की हिमायत की गयी थी। दस्तावेज़ में चीनी पार्टी के सुझावों को रोके रखने के लिए पार्टी नेतृत्व की कड़ी आलोचना की गयी थी। इसमें यह विचार रखा गया था कि देहात में आधार-क्षेत्र की स्थापना सशस्त्र भूमि संघर्ष का उच्चतम रूप है जिसके बिना हर सफाया निरर्थक है और लोकसत्ता, जन मुक्ति सेना और राज्य सत्ता पर अधिकार जैसी बातों का कोई मतलब नहीं है। इस तरह, जनदिशा की लाइन को खण्डित रूप में स्वीकार करते हुए भी यह दस्तावेज़ अपने अन्तिम निष्कर्ष में स्वयं "वाम" अवसरवाद का शिकार था क्योंकि शत्रुवध की लाइन और 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' को यह ज़रूरी मानता था। इस विचलन का एक घटिया रूप यह था कि इसमें, एक ऐसे समय में अपने नेतृत्व में एक शक्तिशाली जन मुक्ति सेना की मौजूदगी का दावा किया गया था, और आधार इलाक़े के निर्माण का आह्वान किया गया था, जबकि वास्तव में उक्त कमेटी के इलाक़े में संघर्ष बिखर चुका था और कमेटी के नेतृत्वकारी सदस्यों ने सुरक्षित शेल्टरों के लिए वह इलाक़ा ही छोड़ दिया था। असीम चटर्जी और उनके साथियों ने इस दस्तावेज़ में ही यह चेतावनी भी दी थी कि पार्टी के भीतर विचारधारात्मक-राजनीतिक बहस वे आगे नहीं चलायेंगे और स्वतन्त्र रूप से अपनी लाइन को अमल में लायेंगे। व्यवहारतः इसका मतलब पार्टी से अलग हो जाना ही था। इस तरह चारु मजुमदार के अन्धभक्त से अन्धविरोधी बन जाने तक की असीम चटर्जी की यात्रा सम्पन्न हुई।

असीम चटर्जी अपने कुछ युवा साथियों के साथ पार्टी में 1969 में, उस समय शामिल हुए थे जब चीन की पार्टी लगातार भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन और चारु मजुमदार के

पक्ष में लेख, टिप्पणी और वक्तव्य जारी कर रही थी। तब चारु उन्हें 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' नज़र आने लगे थे। जैसे ही उन्हें चीनी पार्टी द्वारा आलोचना की जानकारी मिली, चारु की लाइन का धुर-विरोधी होते और पार्टी छोड़ते उन्हें देर न लगी।

पार्टी से अलग होते ही असीम चटर्जी का सत्यनारायण सिंह से सम्पर्क स्थापित हो गया जो बिहार राज्य कमेटी के पूर्णाधिवेशन के बाद नयी पार्टी बनाने के लिए नवम्बर 1971 में एक बैठक करने जा रहे थे। दोनों के बीच चारु-विरोध पर सहमति की और नाटकीय पैंतरापलट की साझा ज़मीन मौजूद थी, अतः एक राय होते देर न लगी। नवम्बर 1971 की उस बैठक के लिए जाते समय ही 3 नवम्बर को देवघर (बिहार) में असीम चटर्जी गिरफ़्तार हो गये। कुछ समय बाद ही उनके अन्य दो साथी सन्तोष राणा और मिहिर राणा भी गिरफ़्तार हो गये, लेकिन एक अन्य साथी उक्त बैठक में शामिल हो पाने में सफल रहा। बैठक में एक नयी केन्द्रीय कमेटी का गठन किया गया और सत्यनारायण सिंह को पार्टी का महासचिव चुना गया। सन्तोष राणा और मिहिर राणा भी आगे चलकर सत्यनारायण सिंह की पार्टी में शामिल हो गये। सत्यनारायण सिंह ने भारत का 'वांग मिंग' बताते हुए चारु मजुमदार को और उनके साथ सुनीति कुमार घोष को पार्टी से निकालने की घोषणा की। असीम चटर्जी ने अपने कारावास की लम्बी अवधि के दौरान अलग राह पकड़ी और 1980 में जेल से बाहर आने के बाद, सत्यनारायण सिंह के साथ जाने के बजाय कानू सान्याल के साथ राजनीति की नयी पारी शुरू की। यह साथ कुछ समय का ही रहा। फिर उन्होंने एक अलग राह पकड़ी जो संशोधनवाद के घृणित पंककुण्ड तक जाती थी। इस यात्रा की चर्चा आगे यथास्थान आयेगी।

असीम चटर्जी के कार्यक्षेत्र में जो उनके साथी कार्यरत थे वे 1972 के मध्य तक अपने तरीक़े से काम खड़ा करने की कुछ कोशिश करते रहे। फिर वे बिखर गये और उनमें से भी कुछ सत्यनारायण सिंह के साथ हो गये।

सुशीतल राय चौधुरी के साथ चारु मजुमदार और उनके समर्थकों का मतभेद पार्टी कांग्रेस के बाद के एक वर्ष के दौरान का एक अन्य महत्वपूर्ण घटनाक्रम था। सुशीतल राय चौधुरी एक पुराने कम्युनिस्ट नेता और सम्मानित सिद्धान्तवेत्ता थे जो 'अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' के महासचिव रह चुके थे और भाकपा (मा-ले) की केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो के सदस्य तथा प. बंगाल राज्य कमेटी के सचिव थे। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, पार्टी कांग्रेस के ठीक बाद हुई केन्द्रीय कमेटी की पहली और आख़िरी बैठक में सौरेन बसु, असीम चटर्जी और सरोज़ दत्त जब चारु मजुमदार को 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' घोषित किये जाने के पक्ष में दलीलें दे रहे थे, उस समय पार्टी कमेटी के सुदृढ़ीकरण के बारे में माओ का उद्धरण पढ़कर सुशीतल राय चौधुरी ने उनका परोक्ष प्रतिवाद किया था। "वाम" दुस्साहसवाद के विरुद्ध, तालमेल कमेटी के दौर में डी वी राव-नागी रेड्डी, परिमल दासगुप्ता, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्त आदि ने अलग-अलग समय में जब संघर्ष किया था, उस समय सुशीतल राय चौधुरी चारु की लाइन के साथ खड़े थे। उन्हें तथा उन जैसे बहुतेरे अन्य नेताओं ने "वाम दुस्साहसवाद" के विरोधियों के तर्कों पर उस समय ध्यान

ही नहीं दिया और बाद में, एक-एक करके, धीरे-धीरे वे स्वयं "वाम" भटकाव के विरोधी होते गये। पश्चदृष्टि से देखते हुए कहा जा सकता है कि इसका बुनियादी कारण यह था कि इन लोगों की विचारधारात्मक समझ काफ़ी हद तक कमज़ोर थी (जो भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की ऐतिहासिक विरासत थी)। इसी कमजोरी के चलते अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी एवं अनुभवी पार्टी के प्रति इनमें अनालोचनात्मक अनुकरण का रवैया मौजूद था। इसीलिए, जब तक चीन की पार्टी के मुखपत्रों और चीनी मीडिया में तालमेल कमेटी, भाकपा (मा-ले) और चारु मजुमदार के समर्थन और प्रशंसा का शोर था, तब तक इन लोगों ने चारु की लाइन के किसी विरोधी तर्क या उस लाइन की व्यवहार में सामने आ रही विफलता पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। लेकिन हालात बदलते ही जिन लोगों ने आलोचनात्मक विवेक के साथ सोचना शुरू किया और क्रमशः सही अवस्थिति पर पहुँचते चले गये, उनमें सुशीतल राय चौधुरी का नाम प्रमुखता के साथ शामिल है।

कलकत्ता के छात्र-युवा उभार की चर्चा हम निबन्ध में पहले ही कर चुके हैं। पार्टी कांग्रेस (मई 1970) के बाद छात्रों-युवाओं के 'ऐक्शन-स्क्वाडों' ने जब स्कूलों-कॉलेजों-पुस्तकालयों पर हमलों का तथा बुर्जुआ राष्ट्रीय नेताओं की मूर्तियाँ तोड़ने का सिलसिला शुरू किया, तो इस दौर में चारु और उनके सहयोगियों के साथ सुशीतल राय चौधुरी के मतभेद तेज़ी से बढ़े। अक्टूबर 1970 में (यानी बिहार राज्य कमेटी द्वारा चारु लाइन के विरोध में प्रस्ताव पारित किये जाने की उपरोल्लिखित घटना के ठीक एक माह बाद) सुशीतल राय चौधुरी ने स्वास्थ्यगत कारणों से राज्य सचिव की ज़िम्मेदारी से एक माह की छुट्टी ली। इसी दौरान उन्होंने 'पूर्ण' छद्म नाम से एक दस्तावेज़ लिखा और उसे पार्टी के समक्ष प्रस्तुत किया। दस्तावेज़ में उन्होंने कलकत्ता के छात्र-युवा उभार के दौरान कलकत्ता और प. बंगाल के कुछ और शहरों में शैक्षिक संस्थानों पर हमले करने, परीक्षाओं को बाधित करने, पुस्तकालयों-प्रयोगशालाओं में तोड़फोड़ मचाने जैसी कार्रवाइयों की आलोचना करते हुए इन्हें 'लुड्डाइट टाइप ऐक्शंस' की संज्ञा दी थी। ज्ञातव्य है कि 'नेपोलियॉनिक युद्धों' की समाप्ति के बाद इंग्लैण्ड जब गम्भीर आर्थिक संकट, बेरोज़गारी और भूख की चपेट में था तो बहुतेरे औद्योगिक मज़दूर यह सोचकर अपना गुस्सा मशीनों पर उतार रहे थे और उन्हें तोड़ रहे थे कि मशीनें ही वह शैतानी बला हैं जो उनकी ज़िन्दगी को कुचल रही हैं। इन्हीं कार्रवाइयों को 'लुड्डाइट' नाम दिया गया था। सुशीतल राय चौधुरी का यह सही तर्क था कि छात्रों का शिक्षा संस्थानों को निशाना बनाना 'लुड्डाइट ऐक्शन' जैसा ही है क्योंकि शिक्षा संस्थान शोषकों-उत्पीड़कों के हाथों में मात्र ऐसे उपकरण हैं जो प्रतिक्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था को बनाये रखने और संचालित करने का काम करते हैं।

सुशीतल राय चौधुरी ने मूर्तिभंजन की कार्रवाई की भी एक "वाम" अतिरेकी कार्रवाई के रूप में आलोचना की थी, लेकिन इस सन्दर्भ में उनकी तर्कप्रणाली विसंगतिपूर्ण थी। उनका कहना था कि राममोहन राय, विद्यासागर और टैगोर जैसों की मूर्तियाँ तोड़ना ग़लत है क्योंकि ये लोग देश की पुरानी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के ज़माने के बुद्धिजीवी थे। हाँ, गाँधी जैसे भारतीय बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधियों की मूर्तियाँ अवश्य तोड़ी जानी चाहिए, ताकि लोगों के मानस से ऐसे लोगों की स्थापित

छवि हटायी जा सके। इस तर्क-प्रणाली की पहली विसंगति यह थी कि राजा राममोहन राय और विद्यासागर जैसे लोग किसी भी प्रकार की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के ज़माने के बुद्धिजीवी नहीं थे। वे ब्रिटिश औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ से जन्मे मध्यवर्ग के प्रतिनिधि थे जिनका अस्तित्व औपनिवेशिक सत्ता पर निर्भर था। इस विसंगति को चारु मजुमदार ने अपने प्रत्युत्तर में बख़ूबी पकड़ा था और यह सवाल उठाया था कि क्या मूर्तियाँ चुनकर तोड़ी जायें? बुनियादी मुद्दा यह था कि मूर्तिभंजन किसी भी सूरत में ग़लत था क्योंकि मूर्तियाँ तोड़ने और तस्वीरें जलाने से जनमानस में अंकित किसी व्यक्ति की छवि को क़तई नहीं मिटाया जा सकता। इसके लिए विचारधारात्मक कार्य की लम्बी प्रक्रिया अनिवार्य होती है। माओ त्से-तुंग ने 'हुनान किसान आन्दोलन की जाँच-पड़ताल रिपोर्ट' में यह स्पष्ट कहा था कि जो किसान आने हाथों से मूर्तियाँ बनाते हैं, वे ही समय आने पर अपने ही हाथों से उन्हें किनारे हटा देंगे, अतः वक़्त से पहले किसी को यह काम करने की ज़रूरत नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टी जन समुदाय की राजनीतिक चेतना को ऊपर उठाने का काम करती है, और मूर्तिपूजा, अन्य अन्धविश्वासों और मिथ्या धारणाओं से छुटकारा पाने की ज़िम्मेदारी लोगों पर छोड़ देती है। ज़ाहिर है कि लोगों की राजनीतिक चेतना का स्तर उठाये बिना और पर्याप्त विचारधारात्मक कार्य किये बिना ऐसे लोगों की मूर्तियाँ तोड़ना, जो घर-घर के जाने-पहचाने नाम थे, एक अतिवादी कार्रवाई थी। यह उस शहरी निम्न बुर्जुआ वर्ग को नाराज़ करके उसे शत्रु के शिविर में धकेल देने जैसी कार्रवाई भी थी, जो भारतीय क्रान्ति में मेहनतकश वर्गों का रणनीतिक मित्र था। सुशीतल राय चौधुरी ने इस मुद्दे पर अपनी आपत्ति तो रखी, लेकिन उनके तर्क खण्डित और विसंगतिपूर्ण थे।

सुशीतल राय चौधुरी अपने दस्तावेज़ की प्रस्तुति के साथ ही अलग-थलग पड़ गये। बंगाल राज्य कमेटी और बंगाल के केन्द्रीय कमेटी सदस्यों में से किसी ने उनका साथ नहीं दिया। जनवरी 1971 की राज्य कमेटी की बैठक में स्थिति यह थी कि बेहद आक्रामक सौरेन बसु और असीम चटर्जी जैसे कुछ सदस्य सुशीतल राय चौधुरी को पार्टी से निकाल देने का प्रस्ताव रख रहे थे। सरोज़ दत्त और सुनीति कुमार घोष ने मौन धारण कर रखने का रास्ता चुना था। लेकिन चूँकि चारु मजुमदार जानते थे कि सुशीतल राय चौधुरी जैसे बुजुर्ग, लोकप्रिय और सम्मानित नेता के निष्कासन का बंगाल में कितना प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, इसलिए बीच-बचाव करते हुए उन्होंने कहा कि सुशीतल बाबू को कोई पार्टी से नहीं निकाल सकता और उनकी इच्छा के हिसाब से राज्य कमेटी पार्टी इकाइयों की बैठक बुलायेगी जिसमें अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए वे स्वतन्त्र होंगे। लेकिन व्यवहार में जो हुआ वह यह कि सुशीतल राय चौधुरी को पार्टी में रहते हुए ही पूरी तरह अलग-थलग कर दिया गया। इन्हीं स्थितियों में मार्च 1971 में उनका निधन हो गया।

निधन से पूर्व बांग्ला भाषा में उन्होंने एक दस्तावेज़ लिखा था : 'भारतीय क्रान्ति की समस्याएँ और संकट'। इसे निधनोपरान्त उनके कुछ समर्थकों ने प्रकाशित कराया। इसमें दस्तावेज़ पर नवम्बर 1970 का लेखन-समय दिया गया है, लेकिन सुनीति कुमार घोष ('नक्सलबाड़ी : बिफ़ोर एण्ड आफ़्टर', पृ. 264) के अनुसार, यह ग़लत है क्योंकि दस्तावेज़ में चारु मजुमदार द्वारा जन

मुक्ति सेना के गठन की घोषणा का उल्लेख है। यह घोषणा 7 दिसम्बर 1970 को हुई थी। यानी यह दस्तावेज़ इस तिथि के बाद ही कभी लिखा गया था। बहुत मुमकिन है कि यह दस्तावेज़ सुशीतल राय चौधुरी ने जनवरी 1971 की राज्य कमेटी की उपरोक्त बैठक के बाद तैयार किया हो।

इस निबन्ध में सुशीतल राय चौधुरी ने चारु मजुमदार की राजनीतिक लाइन की अधिक सांगोपांग और मुखर आलोचना करते हुए उसे 'अति दुस्साहसवादी' क़रार दिया था। उन्होंने लिखा था कि पहले पार्टी की सोच थी कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता श्रमसाध्य और दीर्घकालिक होगा। फिर चारु मजुमदार ने लाइन को बदल दिया और यह ज्योतिषीनुमा भविष्यवाणी कर दी गयी कि 1975 तक क्रान्ति विजयी हो जायेगी। इससे काम के तौर-तरीक़े बदल गये और 'द्रुतवाद' चतुर्दिक हावी हो गया। 'सफाये' या 'ख़ात्मे' (एनिहिलेशन) शब्द की चारु मजुमदार की व्याख्या को माओ विचारधारा विरोधी बताते हुए निबन्ध में लिखा गया था कि माओ के लिए इस शब्द का मतलब था शत्रु वर्ग को उसकी 'प्रतिरोध करने की शक्ति' से वंचित कर देना जबकि चारु मजुमदार के लिए इसका अर्थ शत्रु वर्ग के व्यक्तियों की हत्या करना था और इस कार्रवाई को गुप्त तौर पर गुप्त दस्ते अंजाम देते थे। सुशीतल राय चौधुरी के अनुसार, शहरी कार्रवाइयों के दौरान बाद के दौर में 'ऐक्शंस' को अत्यधिक महत्व दिया गया और राजनीतिक प्रोपेगैण्डा के महत्व को नकार दिया गया जो संशोधनवादी सोच की अभिव्यक्ति था। निबन्ध में यह आलोचना रखी गयी थी कि चारु मजुमदार की लाइन के हावी होने के बाद क्रान्ति के दौरान वर्ग संघर्ष के ज़रिये जनता को जागृत और लामबन्द करने के कार्यभार की उपेक्षा की गयी, पूर्व अवस्थिति को छोड़ते हुए आर्थिक संघर्षों को तिलांजलि दे दी गयी और मित्र वर्गों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की प्रक्रिया को हाथ में ही नहीं लिया गया, बल्कि इसके विपरीत, शहरी इलाक़ों में 'सफाया अभियान' के दौरान छोटे दुकानदारों और ऐसे ही लोगों को निशाना बनाया गया जो क्रान्ति में मज़दूर वर्ग के सम्भावित संश्रयकारी थे।

सुशीतल राय चौधुरी का कहना था कि पार्टी के सर्वहारा आधार का निर्माण, सभी न्यायसंगत और लाभकारी जन संघर्षों का निर्माण और उन संघर्षों को धैर्य एवं सूझबूझ के साथ चलाते हुए अपनी ताक़त बचाये रखना तथा इन्तज़ार करना - माओ के अनुसार शहरी क्षेत्रों में पार्टी का यही कार्यभार था, जिसे चारु और पार्टी नेतृत्व ने हाथ में ही नहीं लिया। चारु की नौकरशाहाना कार्यशैली की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था कि प्राधिकारवाद अपनी उन ऊँचाइयों तक जा पहुँचा था कि पार्टी कमेटियाँ काम ही नहीं करती थीं और सारी शक्तियाँ चारु ने अपने हाथों में केन्द्रित कर ली थीं। यहाँ तक कि मागुरजान की घटना के बाद बिना किसी से राय-मशविरा किये ही उन्होंने जन मुक्ति सेना की घोषणा कर दी। चारु की घोषणा के विपरीत सुशीतल राय चौधुरी ने अपना यह विचार भी निबन्ध में रखा था कि कोई भी युग अपने आप में 'आत्म-बलिदान का युग' नहीं होता। जैसा कि माओ ने कहा था कि युद्ध का लक्ष्य हमेशा स्वयं को बचाना और शत्रु को नष्ट करना होता है, पर ज़ाहिर है कि युद्ध में क़ुर्बानी भी देनी पड़ती है।

सुशीतल राय चौधुरी के अन्तिम लेखन में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन की सांगोपांग और

कुशाग्र आलोचना प्रस्तुत की गयी थी लेकिन अफ़सोसनाक बात यह थी कि निधनोपरान्त प्रकाशन के बावजूद पार्टी के भीतर की नौकरशाहाना कार्यशैली के वर्चस्व और अपारदर्शिता के कारण यह दस्तावेज़ उस समय पूरा देश तो दूर, पश्चिम बंगाल की पार्टी क़तारों तक भी नहीं पहुँच पाया। वर्षों बाद धीरे-धीरे लोग किसी हद तक सुशीतल राय चौधुरी के विचारों के विकास और उनके वैचारिक संघर्ष से परिचित हो पाये।

जनदिशा की अवस्थिति से चारु की लाइन की आलोचना रखने वालों में सुशीतल राय चौधुरी अन्तिम नहीं थे। इसके बाद, एक के बाद एक, चारु के बचे हुए विश्वसनीय साथी भी उनका साथ छोड़ते गये और "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के कटु आलोचक बनते चले गये। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

(अगले अंक में जारी...)

माकपा के भीतर फ़ासीवाद पर बहस

चुनावी जोड़-जुगाड़ के लिए सामाजिक जनवाद की बेशर्म क़वायद

● आनन्द सिंह

हाल ही में संसदीय वामपन्थ की सिरमौर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) के भीतर प्रकाश करात धड़े और सीताराम येचुरी धड़े के बीच फ़ासीवाद पर चल रही बहस सुर्ख़ियों में रही। ग़ौरतलब है कि फ़ासीवाद जैसे गम्भीर मुद्दे पर सामाजिक जनवाद की दो धाराओं के बीच की इस बहस का केन्द्र बिन्दु यह है कि चुनावों में कांग्रेस के साथ गठबन्धन बनाया जाये या नहीं। संसद के सुअरबाड़े में लोट लगाने के लिए अपने रहे-सहे कोने के भी छिनने की सम्भावना से तिलमिलाये सामाजिक जनवादी आने वाले चुनावों में अपनी लुटिया डूबने से बचाने के लिए जोड़-जुगाड़ के मौक़े तलाशने की क़वायद में लगे हैं। बेशर्मी भरी इस क़वायद पर गम्भीरता का आवरण डालने के लिए वे इसे फ़ासीवाद पर बहस का नाम दे रहे हैं। मज़दूर वर्ग के इन विश्वासघातियों से इससे ज़्यादा उम्मीद नहीं की जा सकती, लेकिन चूँकि इस क़वायद की आड़ में ये सामाजिक जनवादी फ़ासीवाद को लेकर भ्रम का धुँआ छोड़ रहे हैं इसलिए इस पर स्पष्टता बेहद ज़रूरी है।

प्रकाश करात का वैचारिक दिवालियापन: फ़ासीवाद नहीं निरंकुशता

गुज़रे 6 सितम्बर को अंग्रेज़ी दैनिक 'इण्डियन एक्सप्रेस' में लिखे अपने एक लेख में माकपा के पोलित ब्यूरो सदस्य और पूर्व महासचिव प्रकाश करात ने दलील दी कि नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा के सत्ता में आने के बाद भी भारत में फ़ासीवाद की कोई सम्भावना नहीं है, हालाँकि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर.एस.एस.) से सम्बन्ध रखने की वजह से वह समय आने पर निरंकुश राज्यसत्ता थोप सकती है। संघ परिवार को क्लीन चिट देते हुए करात लिखते हैं कि भाजपा फ़ासीवादी पार्टी नहीं है बल्कि वह बहुसंख्यकवादी साम्प्रदायिकता से लैस एक दक्षिणपन्थी पार्टी है। करात के अनुसार आर.एस.एस. की विचारधारा भी फ़ासीवादी नहीं बल्कि अर्द्ध-फ़ासीवादी है, हालाँकि वे इसका कोई कारण बताने की जहमत नहीं उठाते कि इस विचारधारा को फ़ासीवादी क्यों न कहा जाये। ज़ाहिरा तौर पर फ़ासीवाद के सन्दर्भ में करात के ज्ञानचक्षु हाल ही में खुले हैं, क्योंकि इस लेख से पहले तक माकपा के तमाम प्रकाशनों में संघ व भाजपा को फ़ासीवादी ही कहा जाता रहा है।

करात के इस लेख को पढ़ने से सामाजिक उथल-पुथल से दूर अपने आरामगाह में बैठे एक कुर्सीतोड़ नौकरशाह बुद्धिजीवी की निश्चिन्तता साफ़ उभरकर आती है। नरेन्द्र मोदी के कार्यकाल के ढाई वर्षों में जिस तरह से संघ परिवार ने पूरे देश में भय और आतंक का माहौल लगातार बनाया हुआ है, जिस तरीक़े से मज़दूरों के अधिकार छीने जा रहे हैं और जनता के जनवादी अधिकारों पर धड़ल्ले से हमले हो रहे हैं, जिस क़दर अन्ध-राष्ट्रवादी जुनून सुनियोजित ढंग से पूरे देश में फैलाया जा रहा है, जिस तरह से संघी गुण्डावाहिनियाँ अल्पसंख्यकों, दलितों, प्रगतिशील व धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, पत्रकारों और भाजपा व मोदी के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखने वालों पर हमले कर रही हैं, जिस तरह से नरेन्द्र मोदी की व्यक्तिपूजा की संस्कृति फल-फूल रही है उसे देखने के बाद भी अगर कोई व्यक्ति फ़ासीवाद की आहट तक नहीं सुन पा रहा है तो उसे निठल्ला नौकरशाह बुद्धिजीवी नहीं तो और क्या कहा जाये!

अपने निश्चिन्त नतीजे के पक्ष में दलील देते हुए करात 1935 में हुई कोमिण्टर्न की सातवीं कांग्रेस द्वारा दिये गये सूत्रीकरण को उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया था कि "फ़ासीवाद वित्तीय पूँजी के सबसे प्रतिक्रियावादी, सबसे अन्धराष्ट्रवादी, सबसे साम्राज्यवादी तत्वों की खुली आतंकी तानाशाही होती है"। करात के अनुसार भारत में ऐसी आर्थिक, राजनीतिक व वर्गीय परिस्थितियाँ नहीं हैं और इस समय ऐसा कोई संकट नहीं है जिससे पूँजीवादी व्यवस्था ढहने वाली हो एवं भारत का शासक वर्गों के वर्गीय शासन के ख़त्म होने का कोई ख़तरा नहीं है। उनके अनुसार शासक वर्ग का कोई भी हिस्सा बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए कार्यरत नहीं है। करात की माने तो शासक वर्ग अपने वर्गीय हितों के लिए फ़ासीवाद नहीं बल्कि केवल निरंकुशता के रूपों को ही आज़माना चाह रहे हैं।

करात के लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कोमिण्टर्न के सूत्रीकरण के अतिरिक्त द्वितीय

विश्वयुद्ध के पहले और बाद के तमाम मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों और मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों ने फ़ासीवाद की सैद्धान्तिकी विकसित करने का जो उत्कृष्ट काम किया है, उसको पढ़ने की जहमत नहीं उठायी है और फ़ासीवाद की पूरी परिघटना को महज़ एक उद्धरण में समेट दिया है। यानी उन्होंने एक कुर्सीतोड़ बुद्धिजीवी जितनी मेहनत भी नहीं की है, बस परीक्षा में नम्बर पाने वाले रट्टू छात्र की तरह एक उद्धरण रटकर फ़ासीवाद पर बहस करने उतर गये हैं।

अगर करात ने कोमिण्टर्न के सूत्रीकरण के उस सुप्रसिद्ध उद्धरण (जो दिमित्रोव थीसिस के नाम से भी जाना जाता है) के अलावा भी फ़ासीवाद की सैद्धान्तिकी पर तमाम मार्क्सवादियों ने जो काम किया है उसे पढ़ने की जहमत उठाई होती तो वे ऐसी बचकानी उद्धरणबाज़ी की बजाय फ़ासीवाद की परिघटना की बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं को समझने की कोशिश करते और वे पाते कि सत्ता में पहुँचने से पहले फ़ासीवाद एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के रूप में समाज में मौजूद रहता है, जिसका एक व्यापक सामाजिक आधार होता है जो मुख्य रूप से टटपुँजिया वर्ग और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से से निर्मित होता है। फ़ासीवाद मुख्यत: टटपुँजिया वर्ग का एक रूमानी और रहस्यमयी उभार होता है जिसका नेतृत्व फ़ासीवाद की आधुनिक विचारधारा से लैस एक काडर आधारित फ़ासिस्ट पार्टी करती है। फ़ासीवाद बड़ी पूँजी के ही हितों को साधता है क्योंकि मुनाफ़े की गिरती दर से आने वाले पूँजीवाद के संकट की परिस्थिति में जब इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग बुर्जुआ लोकतन्त्र के पुराने तरीक़े से सत्ता नहीं चला पाता तो वह फ़ासिस्ट विकल्प को चुनता है और इस प्रकार फ़ासीवादी आन्दोलन सत्ता तक पहुँच जाता है।

करात फ़ासीवाद की बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं को समझकर दिक् और काल में आये बदलावों के अनुसार उसमें आये बदलावों को समझने की बजाय दो विश्वयुद्धों के बीच जर्मनी और इटली की परिस्थिति का आज के भारत की परिस्थिति से सादृश्य निरूपण करते हैं और चूँकि ये परिस्थितियाँ हूबहू मेल नहीं खातीं, इसलिए उनका शान्त चित निश्चिन्त हो जाता है कि चलो भारत में फ़ासीवाद का कोई ख़तरा नहीं है। अगर वे दिमित्रोव थीसिस को भी पूरा पढ़ने की जहमत उठाते तो पाते कि उसमें भी यह लिखा था कि फ़ासीवाद अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग रूप धारण कर सकता है।

21वीं सदी के भारत की तुलना दो विश्वयुद्धों के बीच जर्मनी और इटली की परिस्थितियों से करने पर हम कुछ समानताओं के अतिरिक्त तमाम असमानताएँ भी पाते हैं। इन दोनों कालखण्डों में एक समानता यह है कि ये दोनों इज़ारेदार पूँजीवाद के संकट के दौर हैं, हालाँकि आज के दौर के पूँजीवादी संकट पहले के मुक़ाबले ढाँचागत है और इसमें आकस्मिकता के पहलू की बजाय सततता का पहलू हावी है। विश्व पूँजीवाद 1970 के दशक से ही इस ढाँचागत मन्दी का शिकार है जिसके बाद से उसने कोई तेज़ी का दौर नहीं देखा है, इस दौर में मन्दी की तीव्रता कभी बढ़ जाती है तो कभी कम। 2007 में अमेरिका में आवासीय बुलबुला फूटने से विश्वव्यापी मन्दी का जो मौजूदा चरण शुरू हुआ है उसकी तुलना 1930 के दशक की मन्दी से की जा रही है, हालाँकि पूँजीवाद को आज के दौर की मन्दी से निजात पाने के कोई आसार नहीं नज़र आ रहे हैं। ऐसे में दुनिया के

विभिन्न हिस्सों में धुर-दक्षिणपन्थी उभार की विभिन्न क़िस्में देखने में आ रही हैं।

भारत में धुर-दक्षिणपन्थी का जो उभार देखने में आया है वह फ़ासीवादी इसलिए है क्योंकि इसके पीछे टटपुँजिया वर्ग का एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन है जिसका नेतृत्व संघ के रूप में फ़ासीवादी विचारधारा वाला एक काडर आधारित संगठन कर रहा है। यह सच है कि 2014 में जब नरेन्द्र मोदी के रूप में भाजपा सत्ता में आयी उस समय भारत के पूँजीपति वर्ग के समक्ष अपने वर्गीय शासन के अस्तित्व का संकट नहीं था, लेकिन यह भी सच है कि मुनाफ़े की गिरती दर और आम जनता का कांग्रेस के भ्रष्टाचार से तंग आकर मोहभंग होने की स्थिति में भारत के पूँजीपति वर्ग के पास भाजपा का विकल्प ही सबसे कारगर विकल्प था जो सबसे अधिक मुस्तैदी से उसके हितों में नीतियाँ बनाकर उसके मुनाफ़े की दर को बढ़ा सकती थी और मज़दूर वर्ग के अधिकारों को सबसे बर्बर तरीक़े से छीन सकती थी। ऐसे में केवल इस आधार पर इस शासन को फ़ासीवादी न कहना जड़मति की निशानी ही कही जायेगी कि भारत के पूँजीपति वर्ग ने समय से पहले ही इस विकल्प को चुन लिया। करात जैसे लोग फ़ासीवाद की प्रक्रिया को समझने की बजाय महज़ उसके अन्त-उत्पाद को ही फ़ासीवाद मान बैठते हैं। ऐसे लोग फ़ासीवाद के अस्तित्व को तब तक स्वीकार नहीं करेंगे जब तक कि बुर्जुआ लोकतन्त्र का ढाँचा पूरी तरह विसर्जित न कर दिया जाये और जब लोग गैस चैम्बरों में न भेजे जाने लगें। ग़ौरतलब है कि फ़ासीवाद ने भी अपने अतीत से सबक़ लिया है और आज उसे अपनी घृणित करतूतों को अंजाम देने के लिए बुर्जुआ लोकतन्त्र का औपचारिक ढाँचा गिराने की ज़रूरत ही नहीं है। ऊपर से इस औपचारिक ढाँचे को क़ायम रखते हुए लोगों के अधिकारों को छीनकर और राज्यसत्ता को ज़्यादा से ज़्यादा ताक़त देकर इसे भीतर से खोखला करके वो सब कुछ किया जा सकता है जो एक नंगी तानाशाही में किया जा सकता है। नौकरशाही, न्यायपालिका और फ़ौज में फ़ासीवादियों की घुसपैठ से ये काम करना और भी आसान हो गया है। ऐसे में बुर्जुआ लोकतन्त्र का औपचारिक ढाँचा दरअसल फ़ासिस्टों की करतूतों के आवरण का काम करता है। इसी आवरण को देखकर प्रकाश करात और उनका धड़ा आश्वस्त है कि भारत में फ़ासीवाद न तो आया है और न ही इसके आने की कोई सम्भावना है। ज़्यादा से ज़्यादा करात इस ख़तरे को निरंकुशता का नाम देते हैं। लेकिन वे यह नहीं बताते कि अगर यह निरंकुशता है तो नवउदारवादी युग में ग़ैर-भाजपा दलों के नेतृत्व में बनी सरकारें क्या थीं? इसका कारण समझना मुश्किल नहीं है। आख़िर माकपा ने भी इस दौर में कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन को समर्थन दिया था तो वो निरंकुश कैसे हो सकती है। करात को अच्छी तरह पता होगा कि अगर नवउदारवादी दौर में अन्य सरकारों की निरंकुश कहने का जोख़िम उठायेंगे तो उन्हें नन्दीग्राम और सिंगूर को अंजाम देने वाली पश्चिम बंगाल की माकपा सरकार को भी निरंकुश कहना होगा।

फ़ासीवाद पर येचुरी की लाइन : कांग्रेस से चुनावी गठबन्धन की तैयारी

प्रकाश करात के लेख के बाद माकपा महासचिव सीताराम ने उनकी लाइन से मतभेद ज़ाहिर

करते हुए कहा कि भाजपा भले ही क्लासिकीय अर्थों में फ़ासिस्ट न हो लेकिन वह आर.एस.एस. की राजनीतिक धड़ा है जो फ़ासिस्ट एजेण्डे पर काम कर रही है। येचुरी ने यह भी कहा कि भले ही आज भारत की परिस्थितियाँ हिटलर के जर्मनी जैसी नहीं हैं, लेकिन भविष्य में ऐसी परिस्थितियाँ बन भी सकती हैं। उन्होंने पार्टी की हालिया कांग्रेस में पारित पार्टी कार्यक्रम को उद्धृत करते हुए कहा कि उसमें स्पष्ट रूप से आर.एस.एस-भाजपा को साम्प्रदायिक फ़ासीवादी कहा गया है। येचुरी ने यह भी कहा केन्द्रीय कमेटी ने लोकतान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष ताक़तों के साथ साम्प्रदायिकता-विरोधी मंच बनाने का फ़ैसला लिया था। ज़ाहिर है येचुरी का इशारा इस ओर था कि करात ने पार्टी लाइन के ख़िलाफ़ लिखा है।

किसी को यह भ्रम हो सकता है कि इस मुद्दे पर येचुरी जैसे व्यवहारवादी ने सैद्धान्तिक रूप से सापेक्षत: सही अवस्थिति अपनायी है। लेकिन सच तो यह है कि येचुरी की इस अवस्थिति के पीछे भी उनका व्यवहारवाद ही काम कर रहा है। पार्टी कार्यक्रम का हवाला देते हुए भाजपा-विरोधी जिस लोकतान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष ताक़तों के मंच की बात येचुरी कर रहे थे उसको सरल राजनीतिक शब्दावली में समझा जाये तो उनका मतलब कांग्रेस के साथ गठबन्धन बनाने से था। दरअसल जिसे फ़ासीवाद पर बहस का नाम दिया जा रहा है उसके मूल में कोई सैद्धान्तिक सवाल नहीं बल्कि यह सामाजिक जनवाद के दो धड़ों के बीच इस सवाल पर चल रही धींगामुश्ती है कि चुनावों में माकपा को कांग्रेस से गठबन्धन बनाना चाहिए या नहीं। येचुरी धड़े का मानना है कि कांग्रेस के साथ गठबन्धन बनाना चाहिए जबकि करात का धड़ा ऐसे गठबन्धन के ख़िलाफ़ है। माकपा की पश्चिम बंगाल इकाई येचुरी की लाइन के समर्थन में है, जबकि केरल इकाई करात की लाइन के समर्थन में है क्योंकि केरल में कांग्रेस मुख्य विरोधी पार्टी है। इस चुनावी तिकड़म में येचुरी के पलड़े में उस समय एक बड़ा बटखरा पड़ा जब करात के लेख के कुछ दिन बाद ही प्रख्यात मार्क्सवादी इतिहासकार इरफ़ान हबीब ने माकपा के नेतृत्व को पत्र लिखकर भाजपा के ख़िलाफ़ कांग्रेस के साथ गठबन्धन बनाने की पुरज़ोर वकालत की। इरफ़ान हबीब जब तक मध्यकाल के इतिहास पर लिखते हैं तब तक तो वे मार्क्सवादी उपकरणों का शानदार इस्तेमाल करते हैं, लेकिन जैसे-जैसे आधुनिक काल से होते हुए समकालीन इतिहास पर आते हैं तो मार्क्सवादी उपकरणों के इस्तेमाल की उनकी क्षमता आश्चर्यजनक रूप से गुम हो जाती है और वे भोथरी अकादमिक मार्क्सवादी रचनाओं से सामाजिक जनवाद की सेवा करते प्रतीत होते हैं।

येचुरी धड़े के समर्थन में दलील देने वाले अक्सर 1935 में कोमिण्टर्न की सातवीं कांग्रेस में पारित 'पॉपुलर फ़्रण्ट' की लाइन का हवाला देते हैं जिसमें उदार पूँजीवाद और फ़ासिस्ट तानाशाही के बीच फ़र्क किया गया था और फ़ासीवाद से लड़ने के लिए मज़दूर वर्ग की ताक़तों को उदार बुर्जुआ ताक़तों के साथ मिलकर मोर्चा बनाना चाहिए। लेकिन ऐसी दलील देने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि पॉपुलर फ़्रण्ट की लाइन कोई ऐसी सार्वभौमिक लाइन नहीं है जो फ़ासीवाद से लड़ाई के हर मुक़ाम और हर समय लागू करनी ही करनी है। कोमिण्टर्न की ख़ुद की लाइन भी हमेशा 'पॉपुलर फ़्रण्ट' की नहीं थी। 1921-28 तक कोमिण्टर्न की लाइन 'यूनाइटेड फ़्रण्ट' की थी

जिसमें केवल मज़दूर वर्ग की शक्तियों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की बात की गयी थी। 1924 में कोमिण्टर्न की पाँचवीं कांग्रेस में फ़ासीवाद के उभार में सामाजिक जनवादियों की भूमिका भी चिह्नित की गयी थी और उन्हें सामाजिक फ़ासीवादी कहते हुए बेनक़ाब करने की भी बात की गयी थी।

'पॉपुलर फ़्रण्ट' की लाइन एक विशेष परिस्थिति में अनुमोदित की गयी थी जब यूरोप के तमाम देशों में मज़दूर आन्दोलन निर्णायक तौर पर परास्त हो चुका था और जर्मनी व इटली में फ़ासीवादी तानाशाही मज़बूती से जड़ें चुकी थी और मानवता के ऊपर भीषण नरसंहार व विनाश का ख़तरा आसन्न था। वैसे अभी यह भी पक्के दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि 'पॉपुलर फ़्रण्ट' बना वहाँ उदार बुर्जुआ ताक़तों ने फ़ासीवाद-विरोधी गतिविधियों में बढ़चढ़ भागीदारी की थी जिससे फ़ासीवाद को हराने में विचारणीय मदद मिली हो।

ग़ौर करने की बात यह भी है कि पॉपुलर फ़्रण्ट की लाइन भी चुनावी मोर्चे के सम्बन्ध में नहीं बल्कि फ़ासीवाद-विरोधी कार्रवाइयों के सम्बन्ध में थी। वैसे भी इज़ारेदार पूँजीवाद आज जिस अवस्था में पहुँच चुका है उसमें उदार पूँजीपति वर्ग की थोड़ी भी प्रगतिशीलता पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न है। भारत की बात करें तो नवउदारवादी नीतियों को लागू करने की शुरुआत कांग्रेस की सरकार ने की थी। इन नीतियों ने फ़ासीवाद के लिए उपजाऊ ज़मीन मुहैया की जिसकी बदौलत ही आज फ़ासिस्ट सत्ता में पहुँचे हैं। ग़ौरतलब है कि नवउदारवादी नीतियों पर सभी चुनावी पार्टियों में आम-सहमति है। संसदीय वामपन्थी भी थोड़ी ना-नुकुर करने के बाद इन्हीं नीतियों को लागू करने पर अपनी सहमति जताते हैं और केरल व पश्चिम बंगाल में शासन करने के दौरान वे इन्हीं नीतियों को लागू करते हैं। ऐसे में आज की परिस्थितियों में 'पॉपुलर फ़्रण्ट' की लाइन के कारगर होने की सम्भावना नगण्य है। सामाजिक जनवाद से यह उम्मीद करना बेमानी होगा कि वे परिस्थितियों का द्वन्द्वात्मक विश्लेषण करके अपनी कार्यदिशा तय करेंगे, लेकिन क्रान्तिकारी ताक़तों को इस विषय में अपनी दृष्टि स्पष्ट रखनी चाहिए।

मोदी सरकार द्वारा नोटबन्दी का राजनीतिक अर्थशास्त्र

● शिशिर

8 नवम्बर की आधी रात से मोदी सरकार ने अपने अचानक लिये फ़ैसले में 500 रुपये और 1000 रुपये के नोटों का प्रचलन बन्द करने का ऐलान किया। यह ऐलान नोटों के प्रचलन के बन्द होने के मात्र 4 घण्टे पहले किया गया। इसके बाद से पूरे देश में जो अफ़रा-तफ़री मची वह अभी तक जारी है। इस तानाशाहाना फ़रमान के बाद से मोदी सरकार ने नोटबन्दी के ही विषय में कई सर्कुलर जारी किये हैं, जिन्होंने इस अफ़रा-तफ़री को बढ़ावा ही दिया है। मसलन, पुराने नोटों को बदलने की सीमा को घटाते जाने और साप्ताहिक नक़द निकासी पर सीमा निर्धारित करना आदि। अपने इस फ़रमान को सही ठहराने के लिए मोदी सरकार ने जो तर्क पेश किये वे इस प्रकार थे : इस प्रकार अचानक नोटबन्दी से काले धन की अर्थव्यवस्था पर एक 'सर्जिकल स्ट्राइक' की गयी है; नक़ली नोटों का लेन-देन इस नोटबन्दी की वजह से बन्द हो जायेगा; चूँकि नक़ली नोटों का प्रयोग आतंकवाद समेत तमाम किस्म की आपराधिक गतिविधियों में होता है, इसलिए इन गतिविधियों को चलाने वाले संगठनों/व्यक्तियों के वित्त की भी कमर टूट जायेगी; जो काला धन लौटकर सरकार के पास आयेगा उससे सरकार अवसंरचना का विकास करेगी जिससे कि निवेश बढ़ेगा और रोज़गार पैदा होंगे। ये सरकार के दावे थे। अभी हम उन अफ़वाहों की बात नहीं कर रहे हैं जो कि फ़ासीवादी मोदी

सरकार के तलवे चाटने वाले कॉरपोरेट मीडिया ने नोटबन्दी के बाद फैलायी। मसलन, एक अग्रणी समाचार चैनल 'आज तक' ने इस विषय पर एक घण्टे का कार्यक्रम पेश किया कि नये नोटों में कोई चिप लगा हुआ है, जिससे सभी नोटों को इलेक्ट्रॉनिक रूप से ट्रैक किया जा सकेगा। वैसे तो ऐसी अफ़वाहों और झूठी ख़बरों के लिए इन चैनलों पर मुक़दमा किया जाना चाहिए क्योंकि जनता को गुमराह करके ये मीडिया की बुनियादी नैतिकता और निष्पक्षता के उसूलों का उल्लंघन कर रहे हैं। लेकिन यहाँ हम केवल सरकार के दावों और हक़ीक़त पर अपनी बात केन्द्रित करेंगे और इस प्रक्रिया में दिखलाने का प्रयास करेंगे कि नोटबन्दी के राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्या मायने हैं। नोटबन्दी भारतीय इतिहास में पहली बार नहीं की गयी है। इससे पहले 1946 में सरकार ने 1000 और 10000 के नोटों का प्रचलन बन्द किया था। और उसके बाद मोरारजी देसाई की सरकार ने जनवरी 1978 में 1000, 5000 और 10000 के नोटों पर पाबन्दी लगायी थी। लेकिन उस समय और आज की नोटबन्दी में एक फ़र्क़ है। पहले जो नोटबन्दी हुई थी, उसमें वे नोट बन्द हुए थे जिन्हें आमतौर पर 80 फ़ीसदी जनता कभी देखती भी नहीं है, या कम-से-कम छू तो कभी नहीं पाती। 1946 में 1000 रुपये एक बहुत बड़ी रक़म थी जिसे देश के 90 फ़ीसदी से ज़्यादा लोग कभी देखते भी नहीं थे। 1978 में 1000 रुपये से आप जो कुछ ख़रीद सकते थे, उसे ख़रीदने के लिए आपको आज 25000 रुपयों की आवश्यकता होगी। ज़ाहिर है, आज अगर 25,000 रुपये का कोई नोट होता तो वह धन्नासेठों की तिजोरियों में ही पाया जाता क्योंकि देश की 77 फ़ीसदी आबादी की पारिवारिक मासिक आय 5000 रुपये से कम बैठती है। ऐसे में, 1978 में हुई नोटबन्दी या 1946 में हुई नोटबन्दी से आम मेहनतकश अवाम और मध्यवर्ग के निम्नवर्ती संस्तरों पर कोई विशेष असर नहीं पड़ा था। 1978 में रिज़र्व बैंक के गवर्नर आई. जी. पटेल ने तभी कहा था कि "इस प्रकार की कवायद से बिरले ही कोई नतीजा निकलता है...क्योंकि जिनके पास काला धन होता है वे इसे नक़द में नहीं रखते। यह सोचना नादानी है कि जिनके पास काला धन होता है वे उसे नोटों के रूप में सूटकेसों या गिलाफ़ों में ठूँसकर रखते हैं।" आगे हम काले धन की इस अवधारणा की चीर-फाड़ करेंगे जिसे कि पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकारों ने समाज में हावी बना रखा है।

लेकिन 2016 में 500 रुपये और 1000 रुपये के नोटों को बन्द करने से इन वर्गों के जीवन पर गहरा नकारात्मक असर पड़ा है। परिचलन में मौजूद कुल मूल्य का 86 प्रतिशत और नोटों की संख्या के अनुसार क़रीब 25 प्रतिशत नोट 500 और 1000 के थे। मज़दूर वर्ग और मध्य वर्ग की बहुसंख्यक आबादी की वेतन, मज़दूरी या आमदनी और साथ ही उनकी थोड़ी-बहुत बचत मुख्य रूप से इन्हीं नोटों के रूप में थी। सरकार ने यह नोटबन्दी करने से पहले कोई आर्थिक चिन्तन या विश्लेषण नहीं किया है, इसका प्रमाण यह है कि सरकार अभी तक परिचलन से हटाये गये नोटों का आधा हिस्सा भी अर्थव्यवस्था में वापस नहीं डाल पायी है, जिससे कि नक़दी के अभाव की समस्या विकराल रूप में बनी हुई है। वास्तव में, ऐसा सम्भव ही नहीं था क्योंकि मोदी सरकार ने 8 नवम्बर को 22 अरब नोटों को यानी कुल नोटों के 25 प्रतिशत को परिचलन से हटाया था। यदि सरकार के सभी नोट छापने वाले प्रेस अन्य सभी नोटों को छापना बन्द करके केवल नये 2000

और 500 के नोटों को छापें तो 86 प्रतिशत मूल्य परिचलन की कमी और 25 प्रतिशत नोटों की कमी को पूरा करने में एक वर्ष का समय लगेगा। मोदी सरकार का दावा था कि वह इस फ़ैसले पर लम्बे समय से विचार कर रही थी लेकिन उसने इसे गोपनीय रखा था ताकि जिन लोगों के पास "काला धन" है वे उसे ठिकाने न लगा पायें। यह तर्क मज़ाक़िया है क्योंकि मोदी सरकार यदि वाक़ई ऐसे लोगों को पकड़ना चाहती थी तो उसे नोटबन्दी का ऐलान करने के बाद कुछेक महीनों की मोहलत देनी चाहिए थी और उसके बाद अपने कर विभाग व आर्थिक चौकसी के लिए ज़िम्मेदार विभागों को निर्देश देना चाहिए था कि वह प्रॉपर्टी, सोने, जवाहरात आदि की ख़रीद पर निगाह रखे। ज़ाहिर है, ऐसे सभी काले धन के स्वामी आनन-फ़ानन में अपने काले धन को समृद्धि के अन्य रूपों में बदलते और फिर उन्हें एक प्रभावी और सक्षम कर प्रशासन द्वारा पकड़ा जा सकता था। लेकिन मूल बात यह है ही नहीं।

मूल बात यह है कि काले धन की जिस अवधारणा के चलते कुछ लोगों में मोदी सरकार की दलील शुरुआती दौर में असरदार हुई थी कि नोटबन्दी से काले धन पर फ़र्क़ पड़ेगा, वह अवधारणा ही बुरी तरह से ग़लत है। अव्वलन तो काले धन और सफ़ेद धन के बीच का बँटवारा ही ग़लत है। यह शुरू से ही ग़लत था लेकिन वित्तीय सट्टेबाज़ पूँजी के युग में तो यह एकदम मज़ाक़िया है। लेकिन अभी हम केवल काले धन के बारे में और उसके बारे में प्रचलित अवधारणा के बारे में बात करते हैं।

काला धन बोरियों, तकिये के गिलाफ़ों, रज़ाइयों, दीवानों और अलमारियों के छिपाया हुआ या ज़मीन में दबाया हुआ धन नहीं होता है। बहुत से लोगों को यह भी लगता है कि काला धन बैंकों में जमा नहीं होता। यह भी ग़लत है। काला धन हर व्यावहारिक मसले में सफ़ेद धन के समान ही होता है। इसे मरकूरी अवदेविच के समान लोग तकियों में छिपाकर नहीं रखते और न ही समुद्री लुटेरों की तरह किसी द्वीप में ज़मीन के नीचे छिपाकर रखते हैं। यह काला धन किसी भी धन की तरह लोग लगातार निवेश करते हैं। वे उसे अचल सम्पत्ति (रियल एस्टेट), शेयरों, सोने-चाँदी या जवाहरात आदि में लगाते हैं, उससे विदेशी मुद्रा ख़रीदते हैं और हवाला के रास्ते उसे विदेशी बैंकों में जमा करते हैं, तमाम कर चोरी के लिए उपयुक्त देशों में फ़र्ज़ी कम्पनियों में लगाते हैं, और अन्य तमाम प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में लगाते हैं। प्रभात पटनायक ने इस मामले में बिल्कुल सही कहा है कि काले धन के स्वामी भी वास्तव में पूँजीपति ही हैं जो अपनी पूँजी को मूल्य संवर्धन के लिए सतत निवेश करते रहते हैं। मार्क्स के शब्दों में वे कंजूस नहीं हैं, बल्कि तार्किक कंजूस हैं। पूँजीपति एक तार्किक कंजूस होता है और कंजूस एक ऐसा पूँजीपति होता है जो कि पागल हो चुका होता है। इसलिए काले धन का अर्थ नोटों के छिपे हुए भण्डार नहीं होते, बल्कि वे तमाम आर्थिक गतिविधियाँ होती हैं, जिनके बारे में सरकारी एजेंसियों और कर प्रशासन के अधिकारियों को रिपोर्ट नहीं की जाती। रिश्वतखोरी वग़ैरह इसका बहुत ही छोटा हिस्सा होती है। मुख्य तौर पर, काले धन के ये लेन-देन बहुत ही सुनियोजित और संगठित रूप से तमाम पूँजीपति, कम्पनियाँ, बड़े दुकानदार आदि करते हैं। इनमें मुख्य तौर पर ये गतिविधियाँ होती हैं : ओवर-इनवॉइसिंग/

अण्डर इनवॉसिंग, बिकवाली के मूल्य को कम करके रिपोर्ट करना, लागत को ज़्यादा करके दिखाना, ग़लत या ऐसे लेन-देन को दिखाना जो कि हुए ही नहीं हैं और हर प्रकार की आपराधिक गतिविधियाँ जैसे स्मगलिंग, ड्रग्स व्यापार आदि। मिसाल के तौर पर, यदि किसी कम्पनी को खनिज या तेल निकालने का ठेका मिला है और वह ज़्यादा खनिज या तेल निकालकर उसके उत्पादन को लेखांकन में कम दिखलाये और इस तरीक़े से अपनी देनदारियों (तमाम प्रकार के कर आदि) को कम करके दिखाये तो यह काला धन पैदा करने वाली आर्थिक गतिविधि की श्रेणी में आयेगा। यह काम तो दुनिया भर में सारे बड़े कॉरपोरेट घराने करते हैं। इनमें से भी बहुत से लेन-देन के लिए वस्तुत: नक़दी की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। इस विषय पर आगे आयेंगे कि यह एक भ्रामक धारणा है कि भ्रष्टाचार और काले धन के लिए नक़दी की ही आवश्यकता पड़ती है। जो भी हो, काला धन वास्तव में नक़दी के भण्डारों के रूप में नहीं होता है। अगर आँकड़ों की बात करें तो देश में काले धन की कुल अर्थव्यवस्था का मात्र 6 प्रतिशत ही नक़द के रूप में है, बाक़ी काला धन विदेशी बैंकों व कर चोरी के अड्डों में रखा गया है (वहाँ भी वह लगातार परिचलन में है), रियल एस्टेट में, सोने-जवाहरात में और शेयरों/बाण्ड्स आदि में रूपान्तरित करके रखा गया है। काले धन को शेयरों या बॉण्ड्स में रूपान्तरित करना तो सबसे आसान है और सरकार ने स्वयं इसके लिए उपयुक्त वित्तीय उपकरण मुहैया करा रखा है : पार्टिसिपेटरी नोट्स। यह एक ऐसा वित्तीय उपकरण है जिसके ज़रिये शेयर/बॉण्ड्स आदि की ख़रीद करने वाला व्यक्ति अपनी पहचान को छिपाकर रख सकता है। यूपीए के दोनों कार्यकालों में इन पार्टिसिपेटरी नोट्स पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग उठायी गयी थी और मोदी सरकार के कार्यकाल में भी ऐसी माँगें उठती रही हैं। लेकिन इन दोनों ही सरकारों ने इस पर प्रतिबन्ध न लगाकर काले धन की अर्थव्यवस्था को ख़त्म करने के प्रति अपनी कटिबद्धता को पहले ही जता दिया था।

इसलिए काला धन किसी भी अन्य प्रकार का धन है जिसे ग़ैर-क़ानूनी और अप्रेतिवेदित आर्थिक क्रियाकलाप द्वारा अर्जित किया जाता है और इसे अर्जित करके बोरों और अलमारियों में नहीं रखा जाता है, बल्कि इससे सतत निवेशित किया जाता है ताकि इस पूँजी का मूल्य-संवर्धन किया जा सके। यदि मार्क्स के शब्दों में कोई पूँजीपति, यानी तार्किक कंजूस, पागल होकर ठेठ कंजूस में तब्दील हो जाये, तो उसके धन के ढेर का कुछ महीनों या ज़्यादा से ज़्यादा कुछ वर्षों के बाद ही वह मूल्य नहीं रह जायेगा जो कि उसका आरम्भ में था। इसलिए कोई भी काले धन का स्वामी अपने सभी आर्थिक क्रियाकलापों में किसी भी अन्य पूँजीपति के समान होता है और अपने इस धन को लगातार निवेशित करता रहता है। इसलिए काले धन को पकड़ने के लिए नोटबन्दी किसी भी रूप में प्रभावी नहीं होने वाली थी। जिसे काला धन कहा जाता है, यदि सरकार उसे पकड़ना ही चाहती थी तो उसे अपना यह वायदा पूरा करना चाहिए था कि विदेशी बैंकों में जमा काला धन वह वापस लाती। अब सरकार के पास स्विस बैंकों व टैक्स हैवेन्स में काला धन रखने वालों की सूची भी है और वह चाहे तो उन पर कार्रवाई कर सकती है, मगर मोदी सरकार ने इन खाताधारकों के नाम उजागर करने तक से इंकार कर दिया है। साथ ही, मोदी सरकार को काले

धन की अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण करना ही था, तो उसे कर प्रशासन में तमाम ऐसे सुधार करने चाहिए थे जो कि कर चोरी रोकने को सम्भव बना पाता। अगर मोदी सरकार वास्तव में काले धन की अर्थव्यवस्था को लेकर संजीदा होती तो उसे चुनावी पार्टियों के चन्दे व अन्य लेन-देन को सूचना अधिकार के तहत लाना चाहिए था। लेकिन इसकी बजाय मोदी सरकार ने क्या किया? मोदी सरकार ने कॉरपोरेट घरानों के 1.14 लाख करोड़ रुपये की बैंक देनदारी माफ़ कर दी। साथ ही, लाखों-करोड़ों रुपये की कर देनदारी भी माफ़ कर दी। इसके अलावा, सबसे बड़े करचोर और बैंकों का पैसा गबन करने वाले विजय माल्या को बड़ी ही सुगमता से देश से भागने की इजाज़त दे दी गयी। पार्टिसिपेटरी नोट्स को बढ़ावा देकर शेयर बाज़ार में काले धन की अर्थव्यवस्था को और बढ़ावा दिया गया। स्पष्ट है, कि काले धन पर सर्जिकल स्ट्राइक एक और जुमला था। कुछ आँकड़ों पर नज़र डालें तो भी यह बात साफ़ हो जाती है कि नोटबन्दी का असली लक्ष्य काले धन की अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण पाना था ही नहीं। क्योंकि नोटबन्दी से काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था पर कोई विशेष असर नहीं पड़ने वाला है।

देश में काले धन की अर्थव्यवस्था का आकार क्या है? अलग-अलग स्रोतों के अनुसार इसका आकार सकल घरेलू उत्पाद के 25 प्रतिशत से लेकर 75 प्रतिशत तक है। एक निजी शोध समूह ऐम्बिट कैपिटल रिसर्च के अनुसार यह 25 प्रतिशत है जबकि राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त व नीति संस्थान के अनुसार यह 75 प्रतिशत है। देश के कुल सकल घरेलू उत्पाद का सुचारू रूप से विनिमय हो सके इसके लिए उसमें कितना नक़दी मौजूद है? कुल मौजूद नक़दी सकल घरेलू उत्पाद का 12 प्रतिशत है जो कि सतत विनिमय के लिए पर्याप्त है। इस कुल नक़दी का 86.2 प्रतिशत 500 और 1000 रुपये के नोटों के रूप में था। अब यदि हम मानते हैं कि काले धन की अर्थव्यवस्था सकल घरेलू उत्पाद का 25 से 75 फ़ीसदी है, और सकल घरेलू उत्पाद का 12 प्रतिशत नक़दी के रूप में है, और नक़दी का 86 प्रतिशत 500 रुपये और 1000 रुपये के नोटों के रूप में था, तो स्पष्ट है कि 500 और 1000 रुपये के नोटों को बन्द करने से नक़दी में मौजूद काले धन पर ही असर पड़ सकता है जो कि कुल काले धन का मात्र 2.3 से 5.2 प्रतिशत तक हुआ। दूसरी बात यह कि यह काला धन भी तभी पकड़ा जायेगा, जबकि इसके स्वामी बेहद नादान और मूर्ख हों। नोटबन्दी के बाद के दो महीनों में यह तो स्पष्ट हो गया है कि काले धन की अर्थव्यवस्था के बड़े खिलाड़ी इसमें कहीं भी हत्थे नहीं चढ़ने वाले क्योंकि उनका काला धन नक़दी में है ही नहीं। दूसरी बात यह कि छोटे और मध्यवर्ती आकार के खिलाड़ियों ने भी अपने नक़दी में रखे काले धन को ठिकाने लगाने के तरीक़े तुरन्त ही निकाल लिये। गुजरात के व्यापारियों ने तो अपनी नक़दी को 8 नवम्बर की रात ही बड़े पैमाने पर ज्यूलरी में तब्दील कर लिया था। और बाद में भी अवैध कारख़ानों के मालिकों, दुकानों के मालिकों ने अपने कारिन्दों, मज़दूरों को बैंकों की लाइन में लगवाकर नोट बदले और अपने नौकरों, ड्राइवरों, मालियों आदि के खातों में पैसे डलवाकर बाद में उसे निकलवा लिया। कुछ मामलों में उन्होंने इसके लिए कुछ कमीशन भी दिया लेकिन ज़्यादातर मामलों में तो उन्हें यह ख़र्च भी नहीं उठाना पड़ा क्योंकि ऐसे छोटे उद्यमियों के यहाँ काम

करने वाले ये मज़दूर आमतौर पर बेहद अरक्षित स्थिति में होते हैं, मालिकों पर निर्भर होते हैं और सौदेबाज़ी करने या कोई शर्त रखने की स्थिति में नहीं होते हैं। इसलिए काले धन की अर्थव्यवस्था का जो बेहद मामूली सा हिस्सा नक़दी में है, उस पर भी नोटबन्दी से कोइ असर नहीं पड़ने वाला है। उल्टे इस नोटबन्दी से देश के आम ग़रीब लोगों की ज़िन्दगी तबाह हो गयी है। इसका कारण यह है कि हमारे देश की अर्थव्यवस्था में अनौपचारिक क्षेत्र का काफ़ी महत्व है। देश की कार्यशक्ति का क़रीब 85 फ़ीसदी अनौपचारिक क्षेत्र में नौकरी करता है या किसी न किसी रूप में उसकी आय अनौपचारिक क्षेत्र पर निर्भर करती है। सकल घरेलू उत्पाद का क़रीब 47 प्रतिशत हिस्सा इसी अनौपचारिक क्षेत्र से आता है। इस क्षेत्र में लगभग सभी लेन-देन नक़दी में होते हैं क्योंकि उनका आकार आमतौर पर छोटा ही होता है। इससे आमदनी पाने वाले लोगों का धन कोई काला धन नहीं होता है। उनकी आमदनी आमतौर पर इतनी छोटी होती है कि वह प्रत्यक्ष कर के दायरे में नहीं आती है और अप्रत्यक्ष कर के तमाम रूपों का भुगतान तो वे करते ही हैं। ऐसे में, उनकी छोटी-सी आमदनी और सम्भवत: छोटी-सी बचत कोई काला धन नहीं होती। लेकिन नोटबन्दी के बाद इनमें से ज़्यादातर के पास जो भी जमा धन था वह रद्दी काग़ज़ बन गये। दिहाड़ी मज़दूरों को दिहाड़ी नहीं मिल रही, कारख़ाना मज़दूरों को मज़दूरी नहीं मिल रही या फिर मालिक उन्हें पुराने नोटों में भुगतान करने का प्रयास कर रहा है। और इनमें से अधिकांश के पास कोई बैंक खाता नहीं है। ऐसे में वे कुछ नहीं कर सकते। तमाम औद्योगिक केन्द्रों में कारख़ाने बन्द हो रहे हैं और मज़दूर गाँव लौट रहे हैं। जो मज़दूर लौट नहीं रहे हैं, उन्होंने अपनी ख़रीद में बेहद कमी कर दी है और वे नोट बचाकर रख रहे हैं। इससे मज़दूर इलाक़ों के छोटे व्यापारी और दुकानदार भी तबाह हो रहे हैं क्योंकि ख़रीद न होने के कारण और कुल उपभोग में कमी आने के कारण उनके पास भी नक़दी नहीं आ रही कि वे बड़ी थोक मण्डियों से माल ले सकें। नतीजतन, बड़ी थोक मण्डियों में भी माल पटा पड़ा सड़ रहा है। दिल्ली की सब्ज़ी मण्डी व फल मण्डी इसका उदाहरण है। फ़सल मण्डियों में जो ख़रीफ़ की फ़सल कटकर पहुँची उसे ख़रीदार नहीं मिल रहे हैं क्योंकि भुगतान के लिए नक़दी ही नहीं है।

जो मज़दूर गाँव लौट रहे हैं उन्हें गाँव में भी नोटबन्दी के कहर से कोई राहत नहीं है। किसानों और विशेषकर ग़रीब किसानों की स्थिति सबसे बुरी है। जब नोटबन्दी का फ़ैसला मोदी सरकार ने सुनाया तो उस समय ख़रीफ़ की फ़सल की कटाई का वक़्त आ रहा था और रबी की बुआई की तैयारी होनी थी। लेकिन ये दोनों कार्य ही बाधित हो गये हैं। किसानों की बहुसंख्या की पहुँच बैंकों तक नहीं है। बैंकों को गाँवों-गाँवों में पहुँचाने की लम्बी-चौड़ी बातों के बावजूद मोदी सरकार (और उसके पहले की सरकारों की) नवउदारवादी नीतियों के कारण बैंकों तक ग़रीब किसान आबादी की प्रत्यक्ष पहुँच कम होती गयी है। भारतीय राज्यसत्ता की पुरानी नीति थी कि किसानों को ऋण देने को प्राथमिकता श्रेणी में रखा जायेगा और इसके लिए सभी निजी बैंकों व सरकारी बैंकों के लिए ऋण की एक न्यूनतम सीमा तय की गयी थी जो कि ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों को दिया जायेगा। लेकिन सभी निजी बैंक इसका खुले तौर पर उल्लंघन करते हैं और सरकारी बैंकों ने

भी इस विनियमन से बचने के कई रास्ते निकाल लिये हैं। मिसाल के तौर पर, एग्रो आधारित व सम्बन्धित क्षेत्र की कम्पनियों को अपने बीज या उर्वरक के कारख़ानों या अन्य प्रकार के निवेशों के लिए भारी-भरकम ऋण दिये जाते हैं और इसे भी उस प्राथमिकता सेगमेण्ट में दर्ज कर दिया जाता है। निजी से लेकर सरकारी बैंकों तक ने पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद के पतन के बाद से बड़ी संख्या में किसानों के साथ लेन-देन करने में असमर्थता ज़ाहिर कर दी है और वे तमाम प्रकार के मध्यस्थों, यानी, सूदखोरों के ज़रिये किसानों तक ऋण की पहुँच बनाने के हामी हो गये हैं। नतीजतन, बैंकों और अन्य प्रकार के खातों की जितनी पहुँच आज से तीस वर्ष पहले सीधे किसानों तक थी, आज वह भी नहीं है और सरकारी से लेकर निजी बैंक तक तमाम प्रकार के निजी व्यक्तियों (सूदखोरों और मध्यस्थों) के ज़रिये अपना काम करते हैं। नतीजतन, एक बड़ी किसान आबादी सीधे-सीधे नक़द प्राप्ति के लिए इन मध्यस्थों पर निर्भर है। यही कारण था कि रबी की बुआई के लिए बीजों व अन्य चीज़ों की ख़रीद तक करने में किसानों को भारी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा है। इस तरह हम देख सकते हैं कि मोदी सरकार के नोटबन्दी के क़दम ने वास्तव में काले धन की अर्थव्यवस्था पर कोई ख़ास असर नहीं डाला, लेकिन आम ग़रीब मेहनतकश अवाम के जीवन को नर्क बना दिया। यहाँ तक कि शहरी मध्यवर्ग का भी एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा इससे बेहद परेशान हुआ है। जब यह बात स्पष्ट तौर पर सामने आ गयी तो फिर मोदी सरकार और उसके तलवे चाटने वाला कॉरपोरेट मीडिया दूसरी बीन बजाने लगा है। अब वह कह रहा है कि नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था का निर्माण किया जा रहा है, जिससे कि लोगों को डिजिटल दुनिया में जीने के सारे फ़ायदे मिलेंगे और साथ ही भविष्य में भ्रष्टाचार होने के कारण ही ख़त्म हो जायेंगे। पहली बात तो यह है कि भ्रष्टाचार और काले धन का नक़दी पर निर्भरता का सिद्धान्त ही मूर्खतापूर्ण है। अब हम मोदी सरकार के इस दावे पर आते हैं कि नोटबन्दी के ज़रिये नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था पैदा हो सकती है। सच है कि आबादी का ऊपर का छोटा-सा अमीर और खाता-पीता मध्यवर्ग और विशेष कर शहरों में, नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था के कुछ लाभ उठा सकता है क्योंकि उसके पास क्रेडिट कार्ड और इण्टरनेट की सुविधा है। मगर आबादी का बड़ा हिस्सा इस नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था का कोई लाभ नहीं उठा सकता है। इसके कारण समझने के लिए हमें समझना होगा कि नक़दी मुद्रा आख़िर क्या होती है। नक़दी मुद्रा और कुछ नहीं बल्कि रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया पर धारक का एक दावा होता है। नक़दी के रूप मे दावा केवल रिज़र्व बैंक के ऊपर होता है क्योंकि भारत में सभी नक़दी दावों के लिए केवल रिज़र्व बैंक ही ज़िम्मेदार होता है। अन्य बैंक केवल नक़दी-रहित दावों या ग़ैर-करेंसी डिपॉजिट को सँभालते हैं, यानी वे दावों को एक पक्ष से दूसरे पक्ष पर स्थानान्तरित करने का काम करते हैं। जहाँ भी ये दावे नक़दी के रूप में वास्तवीकृत होते हैं, वहाँ यह दावा वास्तव में रिज़र्व बैंक के ऊपर स्थानान्तरित हो जाता है। यानी जब हम नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था की बात करते हैं तो इसका अर्थ होता है दावों को रोकने और फिर रिज़र्व बैंक पर स्थानान्तरित करने की बजाय, हम इन दावों को साधारण बैंकों पर स्थानान्तरित करते हैं। मिसाल के तौर पर, अगर कोई चेक के ज़रिये आपके खाते में पैसा डाल रहा है तो वह बैंक के ऊपर अपने

दावे को आपको स्थानान्तरित कर रहा है; दूसरे शब्दों में वह अपनी लेनदारी आपको दे रहा है। आप अपनी लेनदारी किसी अन्य पक्ष को स्थानान्तरित करके तमाम उत्पादों अथवा सेवाओं के लिए भुगतान कर सकते हैं। नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था का अर्थ यह हुआ कि सारे आर्थिक विनिमय (उत्पादों अथवा सेवाओं, अथवा शुल्कों, करों, बिलों आदि के लिए भुगतान) अब साधारण बैंकों पर अपने दावों/लेनदारियों को स्थानान्तरित करके किये जायेंगे। साधारण बैंकों पर आपके दावे या लेनदारी दो प्रकार की हो सकती है। पहला है ऋण अथवा क्रेडिट के रूप में, यानी बैंक आपको पहले से जमा किसी राशि के बिना ही आपको ख़र्च करने के लिए एक राशि ऋण के तौर पर देता है, मसलन क्रेडिट कार्ड के रूप में। दूसरा है जब आप चेक अथवा किसी अन्य माध्यम से अपने खाते में कोई राशि डालते हैं तब उतनी राशि का आपका दावा/लेनदारी बैंक पर बनती है। अब अगर सरकार यह उम्मीद करती है कि देश में सारे आर्थिक क्रिया व्यापार इन दो प्रकार के दावों के एक से दूसरे पक्ष को स्थानान्तरण के ज़रिये हो तो इसके लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिए। आबादी की भारी बहुसंख्या क्रेडिट हेतु विश्वसनीयता की श्रेणी में आनी चाहिए; दूसरे शब्दों में, उसके पास पर्याप्त धन होना चाहिए, उसके खाते में पर्याप्त राशि में नियमित रूप से आना-जाना चाहिए। अगर ऐसा नहीं होता तो आपको ऋण हेतु अच्छा पात्र नहीं माना जायेगा और बैंक के लिए आपको क्रेडिट कार्ड हेतु उपयुक्त नहीं माना जायेगा। यह सच है कि शहरी खाते-पीते मध्य वर्ग के पीछे बैंक आज क्रेडिट कार्ड देने के लिए भाग रहे हैं, ताकि उपभोग बढ़े और पूँजीवादी व्यवस्था का संकट कुछ निपटे और साथ ही वित्तीय संस्थान सूद के ज़रिये अच्छी कमाई कर सकें। संकट से पैदा हुई हताशा में बैंक कई बार अच्छा क्रेडिट इतिहास न रखने वाले शहरी मध्यवर्ग को भी क्रेडिट कार्ड दे देता है। लेकिन यह एक विच्युति के तौर पर होता है। जब भी यह नियम के तौर पर होगा तो अन्ततः उसका नतीजा कुछ वैसा ही होगा जैसा कि अमेरिका में सबप्राइम संकट में हुआ था। इसलिए आमतौर पर क्रेडिट के रूप में लेनदारी के लिए आबादी का मुश्किल से 10 से 12 फ़ीसदी हिस्सा ही योग्य है। ऐसे में, भारत की 90 फ़ीसदी आबादी का पहले किस्म की यानी क्रेडिट के रूप में बैंकों पर कोई लेनदारी/दावा नहीं बनेगा और जब दावा बनेगा ही नहीं तो उसको स्थानान्तरित करके कोई आर्थिक विनिमय कर पाने का सवाल ही नहीं पैदा होता है। दूसरे प्रकार के दावों यानी कि खातों में पहले से जमा राशि के स्थानान्तरण के ज़रिये सारी आबादी अपना आर्थिक क्रिया-व्यापार के लिए यह ज़रूरी है कि सभी के पास बैंक खाते हों। भारत में मुश्किल से एक-तिहाई आबादी के पास बैंक खाते हैं। ऐसे में, यह कल्पना करना कि सारी आबादी इन नक़दी-रहित दावों को साधारण बैंकों के ज़रिये स्थानान्तरित करके अपने तमाम आर्थिक विनिमय करेंगे, एक शेखचिल्ली का सपना है। इस तरीक़े से हम देख सकते हैं कि मोदी सरकार द्वारा नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था के लिए मचाया जा रहा हल्ला बेकार है और जनता को मूर्ख बनाने की एक चाल है। फिर सवाल उठता है कि नोटबन्दी का क़दम मोदी सरकार ने क्यों उठाया है और इससे किसे लाभ हुआ है। पहली बात तो यह है कि यह मुख्य तौर पर एक राजनीतिक क़दम है। मोदी ने चुनाव प्रचार के दौरान दावा किया था कि वह स्विस बैंकों में जमा काले धन को वापस लायेगा और सभी

भारतीयों के खाते में 15 लाख रुपये डाले जायेंगे। इसी प्रकार भ्रष्टाचार के अन्य रूपों पर रोकथाम के लिए भी मोदी ने बड़े-बड़े दावे किये थे। जैसा कि हमने पहले बताया कि बुर्जुआ दायरे के भीतर भी अगर कोई सरकार भ्रष्टाचार और काले धन की अर्थव्यवस्था पर लगाम लगाना चाहेगी तो जो कार्य वह सबसे पहले करेगी वह है करचोरी के अड्डों से और स्विस बैंकों में जमा धन को वापस लाना, करचोरी करने वाले कॉरपोरेट डिफॉल्टर्स पर कार्रवाई करना और पार्टिसिपेटरी नोट्स पर रोक लगाना। लेकिन चूँकि मोदी सरकार इन सारे कामों को करने का कोई इरादा नहीं रखती और अपने तमाम अन्य वायदों पर भी वह बुरी तरह नाकाम हुई है, इसलिए उसने एक राजनीतिक स्टण्ट किया है जिससे कि लोगों का ध्यान बढ़ती महँगाई, भाजपाइयों के भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी से हट जाये। मोदी की छवि एक ताक़तवर नेता की बन सके जो कि परिणामों की परवाह किये बिना मज़बूत क़दम उठाने का साहस रखता है। यह बात कि यह क़दम किस क़दर जनविरोधी और मूर्खतापूर्ण है, इस पर कॉरपोरेट मीडिया के मोदी-समर्थक शोर में कोई ध्यान नहीं देगा। लेकिन वास्तव में ऐसा हो नहीं रहा है। जनता में इसके ख़िलाफ़ माहौल बना हुआ है और आने वाले समय में मोदी सरकार को इसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ेगी। उत्तर प्रदेश और पंजाब के चुनावों में भाजपा की हार तय थी। यह क़दम इसलिए भी उठाया गया कि इसके ज़रिये एक ओर मोदी और भाजपा की छवि सँवारी जा सके और दूसरी ओर अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों को शिकस्त दी जा सके। अब यह तथ्य सामने आ चुका है कि इस नोटबन्दी में भी एक बड़ा घोटाला हुआ है। भाजपा नेताओं और भाजपा की क्षेत्रीय इकाइयों को पहले से ही इस फ़ैसले की सूचना दे दी गयी थी जिसके बाद भाजपाइयों ने बड़े पैमाने पर अपने काले धन को सफ़ेद किया। बैंकों में भारी राशियाँ जमा की गयीं, ज़मीनें ख़रीदी गयीं, चुनाव प्रचार के लिए गाड़ियाँ आदि ख़रीदी गयीं। वहीं दूसरे विपक्षी दल अपने काले धन के भण्डार को ठिकाने नहीं लगा सके। बाद में, शासक वर्ग की तमाम चुनावी पार्टियों ने भाजपा के इस क़दम पर काफ़ी शोर मचाया।

एक अन्य मंशा जो ऐसा लगता है कि मोदी सरकार की थी वह था खुदरा व्यापार के क्षेत्र में बड़ी पूँजी को फ़ायदा पहुँचाना और खाते-पीते मध्यवर्ग के उपभोग के स्तर को बढ़ाना। नोटबन्दी के बाद से शहरों में मध्यवर्ग का वह हिस्सा जो क्रेडिट कार्ड आदि रखता है, मगर रोज़मर्रा की ज़रूरत की तमाम चीज़ें सामान्य परचून की दुकानों से ख़रीदता था, वह भी अब इन सामानों के लिए बड़ी खुदरा व्यापार कम्पनियों की दुकानों जैसे रिलायंस रीटेल, नाइन-इलेवेन, बिग बाज़ार, फ़ेयर प्राइस आदि से ख़रीद रहा है। इससे इन कम्पनियों को भारी फ़ायदा पहुँचा है क्योंकि पहले भी इनके पास खाते-पीते मध्य वर्ग के ग्राहक ही आते थे, और अब उनका कहीं ज़्यादा बड़ा हिस्सा इन दुकानों से ख़रीदारी कर रहा है जिन पर कार्ड से भुगतान हो सकता है। वहीं दूसरी ओर कार्ड से भुगतान यदि बाध्यता हो तो आप छोटी ख़रीद नहीं कर सकते। ऐसे में, लोग अपनी ज़रूरत से ज़्यादा सामान भी ख़रीद रहे हैं। ऐसे में, एक ओर बड़ी पूँजी की इज़ारेदारी खुदरा व्यापार के क्षेत्र में बढ़ेगी और छोटे व्यापारी और दुकानदार साफ़ होंगे। यही कारण है कि भाजपा के पारम्परिक समर्थक रहे छोटे और मँझोले व्यापारी नोटबन्दी पर काफ़ी छाती पीट रहे हैं। वहीं उपभोक्ता वर्ग

(खाते-पीते मध्यवर्ग) के उपभोग का स्तर भी बढ़ेगा। इस रूप में नोटबन्दी ने बड़ी पूँजी को किसी प्रकार का सीधा नुक़सान नहीं पहुँचाया है। निश्चित तौर पर, इसके दूरगामी प्रभाव के तौर पर जो आर्थिक दिक़्क़तें पैदा होंगी आगे उनका असर बड़ी पूँजी पर भी पड़ सकता है लेकिन तात्कालिक तौर पर उन्हें कोई विशेष हानि नहीं है और अगर कोई है तो भी इससे होने वाले फ़ायदे नुक़सान से बड़े हैं। ऐसे में, मोदी सरकार के इस क़दम का लाभ अमीरों और बड़ी पूँजी को होगा। लेकिन आम मेहनतकश अवाम पर इस क़दम का भारी नुक़सानदेह असर पड़ा है, जैसा कि हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। लेकिन मोदी सरकार का यह क़दम उसके लिए नुक़सानदेह ही साबित होगा। शुरुआती दौर में सरकारी प्रचार और कॉरपोरेट मीडिया के शोर ने नोटबन्दी के पक्ष में जो माहौल बनाया था और जिस तरीक़े से कुछ दिनों की असुविधा के बदले काले धन से निजात का जो सपना दिखाया था, वह हर बीतते दिन के साथ फीका पड़ता जा रहा है। मोदी की प्रतिक्रियाओं में भाजपा की घबराहट को देखा जा सकता है। मोदी जिस प्रकार की 'नी-जर्क' प्रतिक्रियाएँ दे रहा है, उससे समझ में आ रहा है कि उसका आत्मविश्वास डगमगा गया है और वह अनसेटल हो चुका है। आत्मविश्वास अब केवल दिखावे के स्तर पर है। दूसरे भाजपा के ही अन्य नेताओं ने मोदी के लिए इस क़दम को वापस लेने के रास्ते बन्द कर दिये हैं। मिसाल के तौर पर, वेंकैया नायडू ने बयान दिया था, "फ़ैसले वापस लेना मोदी जी के ख़ून में नहीं है।" उत्तर प्रदेश और पंजाब चुनावों में हार के ख़तरे को देखते हुए बीच में भाजपा ने चुनाव आयोग से चुनाव टालने की भी बात की थी। लेकिन तय है कि इस ग़लती की क़ीमत मोदी को चुकानी पड़ेगी। निराशा के माहौल में क्रान्तिकारियों में यह प्रवृत्ति होती है कि शासक वर्ग के हर क़दम के पीछे वे कोई बहुत ही युक्तिपूर्ण षड्यन्त्र या योजना तलाशते हैं। ऐसे में, कई बार उनका ध्यान इस बात पर नहीं जाता कि फ़ासीवादी शासक और आमतौर पर शासक वर्ग भी ग़लती करते हैं। मोदी का नोटबन्दी का क़दम ऐसी ही एक ग़लती है।

मराठा मूक मोर्चों के पीछे मौजूद सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिकी : एक मूल्यांकन

• शिवार्थ

13 जुलाई 2016 को महाराष्ट्र के अहमदनगर ज़िले के कोपर्दी गाँव में मराठा जाति की एक 14 वर्षीय बालिका के साथ सामूहिक बलात्कार एवं उसके पश्चात बेहद निर्ममता से उसकी हत्या किये जाने का मामला सामने आया। ग़ौरतलब है कि इसके तीनों पुरुष अभियुक्त दलित जातियों से आते हैं। घटना के तात्कालिक प्रभाव के तौर पर मराठा आबादी के साथ व्यापक जनता का इस घटना को लेकर रोष मुखर तौर पर सामने आया। दलित आबादी ने भी आरोपियों को कड़ी से कड़ी सज़ा देने की माँग उठायी। कई जगहों पर बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए जिनकी प्रमुख माँग थी, इन दोषियों की फ़ास्ट ट्रैक कोर्ट के अन्तर्गत सुनवाई करवाना और इन्हें मृत्युदण्ड दिलवाना। जल्द ही मराठा जातिगत राजनीति करने वालों ने इसे जातिगत मसला भी बना दिया। इसी के साथ ही कई जगह पर इस घटना की प्रतिक्रिया स्वरूप दलित आबादी पर हमले किये गये। जातिगत आधार पर संगठित मराठा आबादी के इन प्रदर्शनों की एक और अहम माँग जो सामने आयी वह यह थी कि दलित उत्पीड़न निरोधी क़ानून, 1989 में संशोधन किया जाये ताकि दलित इसका 'दुरूपयोग' न कर सके। एक तात्कालिक घटना की प्रतिक्रियास्वरुप और जातिगत वर्चस्ववादी मराठा राजनीति करने वालों के सहयोग से संगठित इन

तात्कालिक प्रदर्शनों ने अगस्त और सितम्बर आते-आते प्रदेशव्यापी स्तर पर गाँवों, क़स्बों से लकर राजधानी मुम्बई तक मराठा आबादी के व्यापक प्रदर्शनों का स्वरुप ग्रहण कर लिया। इन प्रदर्शनों में हज़ारों की संख्या में लोगों की भागीदारी नज़र आयी। रूप के धरातल पर इनका नेतृत्व करने वाली या उन्हें आयोजित करने वाली कोई चुनावी पार्टी या किसी एन.जी.ओ. इत्यादि के लोग नज़र नहीं आये। यह भी देखने में आया कि नौजवान लड़के-लड़कियों से लेकर बुज़ुर्गों और महिलाओं तक ने बड़ी संख्या में इनमें भागीदारी की और इनका आयोजन शुरुआती घटनाओं को छोड़कर शान्तिपूर्ण ही रहा है। यहाँ तक कि इन्हें 'मूक प्रदर्शनों' की संज्ञा भी दी गयी, क्योंकि आम प्रदर्शनों के मुक़ाबले इनमें नारे इत्यादि कम ही देखने को मिले। माँगें भी बदलती गयीं और उन्होंने अधिक से अधिक राजनीतिक स्वरुप ग्रहण करना शुरू कर दिया। अब सिर्फ़ अभियुक्तों को जल्द से जल्द सज़ा दिलाने के इतर जो तीन प्रमुख माँगें उभरकर सामने आईं, वे थीं - दलित उत्पीड़न निरोधी क़ानून में संशोधन कराया जाये, अन्य पिछड़ा वर्ग के अन्तर्गत मराठा आबादी के लिए सरकारी नौकरी एवं शिक्षा में आरक्षण दिया जाये एवं राज्य द्वारा किसानों से अनाज ख़रीदने के मूल्य, यानी न्यूनतम समर्थन मूल्य (एम.एस.पी.) में बढ़ोतरी की जाये।

इन प्रदर्शनों की व्यापकता देखकर, दो मत उभरकर सामने आ रहे हैं जिनकी पड़ताल करना ज़रूरी है। दलित चिन्तकों से लेकर कई चुनावी दलों तक का यह मत है कि इनके आयोजन के लिए होने वाले ख़र्च से लेकर इनको अप्रत्यक्ष तौर पर नेतृत्व प्रदान करने का काम प्रदेश की मराठा आबादी के बीच सबसे लोकप्रिय और विगत लोकसभा और विधानसभा चुनावों में बुरी तरह असफल रहने वाली एन.सी.पी. यानी राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी कर रही है। तथ्य के तौर पर यह बात भी है कि पार्टी के अध्यक्ष और महाराष्ट्र के सबसे विख्यात (कुख्यात भी पढ़ सकते हैं) नेताओं में से एक शरद पवार और एन.सी.पी. के लगभग हर छोटे-बड़े नेता ने बिना किसी गाजे-बाजे के इन प्रदर्शनों में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी है। अन्य चुनावी पार्टियों का भी रुख़ अपने वोट-बैंक के मूल्यांकन के आधार पर कमोबेश इसी प्रकार रहा है और भाजपा व शिवसेना में भी हावी मराठा लॉबी ने अपनी तरह से इसका लाभ उठाने का प्रयास किया है। वहीं दूसरी ओर चर्चित अख़बारों-पत्रिकाओं से लेकर बुद्धिजीवियों के एक धड़े का मानना है कि यह स्वतःस्फूर्त आधार पर उभरा एक जनआन्दोलन है जो, बावजूद इसके कि जातिगत आधार पर उभरकर सामने आया है, अपने अन्तर्य में लम्बे समय से मराठा आबादी के बहुलांश के बीच सरकार और चुनावी पार्टियों की नीतियों के विरुद्ध जनता में पनप रहे गुस्से और आक्रोश का परिचायक है। इस आन्दोलन के इस पहलू को, जिसकी हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे, ख़ारिज़ तो नहीं किया जा सकता। लेकिन यह भी ग़ौरतलब है कि तीन-चार महीनों तक चलने वाले आन्दोलन के पीछे कोई चालक शक्ति तो होगी और दूसरे जहाँ तक चुनावी गणित का सवाल है तो इनसे सबसे अधिक फ़ायदा एन.सी.पी. को और एक हद तक भाजपा को ही मिलेगा।

अगर इस आन्दोलन के केन्द्र में उपस्थित माँगों की रोशनी में देश के अन्य कृषि आधारित क्षेत्रों पर नज़र दौडाई जाये, तो दिखाई देता है कि पिछले 2-3 सालों में गुजरात, उत्तर प्रदेश,

हरियाणा एवं आन्ध्र प्रदेश में भी इस तरह के आन्दोलन हुए हैं जिसमें उभरती मँझोली किसान जातियों ने आरक्षण की माँग उठायी है और जातिगत गोलबन्दी की है। जुलाई 2015 के दौरान गुजरात में पटीदार आबादी द्वारा पिछड़ा एवं अन्य पिछड़ी जातियों में शामिल होने और शिक्षा एवं सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्राप्त करने को लेकर एक आन्दोलन की शुरुआत हुई। भले ही फ़ौरी तौर पर इससे कुछ ख़ास न अर्जित हुआ हो, लेकिन इतना तो ज़रूर हुआ कि मुख्यमन्त्री आनन्दीबेन पटेल को इस्तीफ़ा देना पड़ा और गुजरात की चुनावी राजनीति के जातिगत समीकरणों में परिवर्तन आया। अप्रैल 2016 में हरियाणा में जाट आबादी द्वारा मुख्यतः इसी माँग को लेकर प्रदेश स्तर पर एक बड़ा आन्दोलन देखने में आया, जिसमें कि जल्द ही लूट-पाट, बलात्कार और हत्याओं जैसी घटनाएँ भी सामने आने लगीं। फ़रवरी 2016 में आन्ध्र प्रदेश की कापू आबादी द्वारा आन्दोलन भी इस मुद्दे को लेकर ही संगठित हुआ था, हालाँकि वह पिछले एक दशक से ज़्यादा समय से आरक्षण-सम्बन्धी माँगों को लेकर प्रदर्शन करते रहे हैं।

महाराष्ट्र में पिछले पाँच महीनों से जारी मराठा आबादी के 'मूक मोर्चों' से इन सभी आन्दोलनों का बिल्कुल सादृश्य निरूपण तो नहीं किया जा सकता, लेकिन एक बात जो इनमें समान है, वह यह है कि ये सारे आन्दोलन पारम्परिक तौर पर कृषि पर निर्भर मध्य जातियों की बहुलांश आबादी के आन्दोलन हैं। उदारीकरण-निजीकरण के पिछले तीस वर्षों ने जहाँ एक ओर कृषि में लगी हुई आबादी के बीच वर्ग-विभेदीकरण की प्रक्रिया को अप्रत्याशित ढंग से तेज़ किया है और कृषि क्षेत्र से एक अच्छी-ख़ासी आबादी को उजाड़ा है, वहीं ग़ैर-कृषि क्षेत्रों में रोज़गार के अवसरों में हुई बढ़ोत्तरी बेशी आबादी में हुई बढ़ोत्तरी की तुलना में लगभग न के बराबर है उल्टे बेशी आबादी के सापेक्ष रोज़गार के अवसर घटे हैं। अगर आँकड़ों की बात करें तो 2010-11 में कृषि मन्त्रालय द्वारा जारी कृषि जनगणना के आँकड़ों के अनुसार 2001-02 के मुक़ाबले 2010-11 में 25 एकड़ से अधिक कृषि-योग्य भूमि रखने वाली आबादी 1 प्रतिशत से घटकर 0.7 प्रतिशत तक आ गयी है, वहीं 2.5 एकड़ से कम भूमि रखने वाली आबादी 62.1 प्रतिशत से बढ़कर 67 प्रतिशत तक पहुँच गयी है। 10 एकड़ से लेकर 25 एकड़ के बीच कृषि-योग्य भूमि रखने वाली किसान आबादी 2001-02 के मुक़ाबले 2010-11 में 5.3 प्रतिशत से सिकुड़कर 4.3 प्रतिशत तक पहुँच गयी है। वहीं दूसरी ओर धनी किसानों व कुलकों के हाथों में कृषि-योग्य-भूमि का संकेन्द्रण तेज़ी से बढ़ा है। यानी कुल मिलाकर कहा जाये तो देश की कृषि-योग्य भूमि का एक तिहाई से ज़्यादा हिस्सा खेती में लगी 5 प्रतिशत आबादी के पास है, वही 85 प्रतिशत आबादी के पास कुल भूमि का 40 प्रतिशत से भी कम है। कृषि में लगी हुई आबादी के बीच वर्ग-विभेदीकरण की प्रक्रिया 2010-11 से लेकर अब तक और तेज़ रफ़्तार से आगे बढ़ी है। वर्ग विभेदीकरण की इस प्रक्रिया के साथ (या कहें कि इसके फलस्वरूप) ही पिछले दो दशकों के दौरान कृषि संकट भी लगतार गहराता रहा है। इस दौरान पूरे देश में क़रीब तीन लाख से अधिक किसान आत्महत्या करने के लिए मजबूर हुए हैं। सिर्फ़ महाराष्ट्र में ही इसकी संख्या बीस हज़ार से अधिक है। अगर अर्थव्यवस्था में कृषि की भागीदारी की बात की जाये तो सकल घरेलू उत्पाद का 15 प्रतिशत से भी कम कृषि और उससे

जुड़ी हुई गतिविधियों से आता है, वहीं आबादी का एक बड़ा हिस्सा अपने जीविकोपार्जन के लिए इस पर निर्भर है, हालाँकि कृषि कार्यों में लगी आबादी का हिस्सा गाँवों तक में पिछले एक दशक में बेहद तेज़ी से कम हुआ है और गैर-कृषि कार्यों में लगी आबादी का हिस्सा बढ़ा है। कृषि से इतर मैन्युफ़ैक्चरिंग और प्रत्यक्ष उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में रोज़गार का सृजन नकारात्मक दरों में है। सरकारी एवं प्राइवेट क्षेत्रों में भी यही हालत है और जो नयी भर्ती हो भी रही है वह अधिकतर ठेका-केजुअल-एडहॉक के अन्तर्गत ही हो रही है।

यही कारण है कि पारम्परिक तौर पर खेती-किसानी में लगे हुए घरों के नौजवान जो कभी नौकरी इत्यादि को हिक़ारत की नज़र से देखते थे, उनके सामने आज अस्तित्व का संकट पैदा हो गया है। आज से क़रीब बीस साल पहले के मुक़ाबले आज उन्हें इसकी कहीं ज़्यादा ज़रूरत महसूस हो रही है कि डिग्री इत्यादि हासिल कर किसी भी तरह प्राइवेट सेक्टर की या सरकारी नौकरी प्राप्त कर ली जाये। कई प्रदेशों में तो किसान संकटग्रस्त कृषि के मद्देनज़र अपनी ज़मीनें बेचकर चपरासी व खलासी की सरकारी नौकरी के लिए रिश्वत देने को तैयार है। सबसे धनी कृषि प्रदेशों यानी हरियाणा और पंजाब में क़रीब 40 प्रतिशत किसान पहला मौक़ा मिलते कृषि छोड़ कोई अन्य रोज़गार अपना लेना चाहते हैं। महाराष्ट्र में पूँजीवादी कृषि संकट और उसके साथ सूखा के पूँजीवाद-जनित संकट ने भी ऐसी ही स्थिति पैदा कर दी है। इस सामान्य कारक के बावजूद महाराष्ट्र में जारी, लगभग प्रदेशव्यापी स्तर पर मराठा आबादी का जन आक्रोश अपने आप में विशिष्ट पड़ताल की माँग करता है। इसके माध्यम से जहाँ एक ओर हम नवउदारवादी नीतियों के चलते मज़दूरों के बीच पिछले कुछ समय से जारी स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों के बाद अब क़स्बों एवं गाँवों की ग़रीब आबादी को भी सड़कों पर उतरने के लिए मजबूर होने की प्रक्रिया को देख पायेंगे, तो वहीं दूसरी ओर हम नये सिरे से जातिगत आधार पर संगठित होने वाले आन्दोलनों की सीमाएँ एवं उनके वर्गीय लक्षणों की भी चर्चा कर सकेंगे।

अगर महाराष्ट्र के भीतर, जनसंख्या के आधार पर देखा जाये तो आबादी का क़रीब एक-तिहाई हिस्सा और कुछ आँकड़ों के अनुसार 35-38 फ़ीसदी मराठा आबादी का है। 27 फ़ीसदी अन्य पिछड़ी जातियों जिसमें कुनबी, धनगर जातियाँ आदि हैं और 10-12 फ़ीसदी आबादी दलितों की है। मराठा आबादी की बात की जाये तो अन्य जातियों की अपेक्षा इसमें काफ़ी विविधता है। मुख्यतः हम इन्हें पाँच प्रमुख प्रवर्गों में बाँट सकते हैं, सबसे ऊपर देख सकते हैं उन 200 कुलीन और अतिधनाढ्य मराठा परिवारों को जिनका आज प्रदेश के लगभग सारे मुख्य आर्थिक संसाधनों और राजनीतिक सत्ता के केन्द्रों पर कब्ज़ा है। यह मराठा आबादी का सबसे कुलीन वर्ग है, जिसके पास अप्रत्याशित रूप से राजनीतिक और आर्थिक ताक़त का संकेन्द्रण है। प्रदेश के क़रीब 54 प्रतिशत शिक्षा संस्थानों पर इनका क़ब्ज़ा है, प्रदेश की 105 चीनी मीलों में से क़रीब 86 का मालिकाना इनके पास है, प्रदेश के क़रीब 23 सहकारी बैंकों के यही खाते-पीते मराठा प्रबन्धक हैं, प्रदेश के विश्वविद्यालयों में क़रीब 60-75 प्रतिशत प्रबन्धन इनके क़ब्ज़े में है। क़रीब 71 फ़ीसदी सहकारी समितियाँ इनके पास हैं। जहाँ तक राजनीतिक ताक़त की बात

है तो 1962 से लेकर 2004 तक चुनकर आये 2430 विधायकों में 1336 (यानी 55 फ़ीसदी) मराठा हैं, जिनमें अधिकांश इन्हीं परिवारों से आते हैं। 1960 से लेकर अब तक महाराष्ट्र के 19 मुख्यमन्त्रियों में से 10 इनके बीच से ही हैं।

इनके ठीक नीचे है मराठा आबादी का दूसरा वर्ग - धनी किसान या 'बागायती' वर्ग जो नक़दी फ़सलें पैदा करता है और गाँवों का पूँजीपति वर्ग है। महाराष्ट्र में क़रीब 80-90 प्रतिशत कृषि-योग्य भूमि के हिस्से का मालिकाना मराठा जाति के पास है। इनमें से क़रीबी एक-तिहाई से ज़्यादा इसी धनी किसान वर्ग के पास है। यह वर्ग ऊपर के धनी घरानों जैसी आर्थिक शक्तिमत्ता तो नहीं रखता, लेकिन यह महाराष्ट्र की चुनावी राजनीति का एक प्रमुख राजनीतिक प्रेशर ग्रुप है, जिसका नीति-निर्धारण पर असर है। इनके नीचे आता है मँझोले किसानों का वर्ग जिनके पास 2.5 एकड़ से लेकर 10 एकड़ तक की ज़मीनें हैं। यह न तो पूरी तरह ख़ुशहाल है, न ही बर्बादी के क़गार पर खड़े हैं। ये अनिश्चितता में जीते हैं और अपनी खेती में काफ़ी हद तक मौसम-बारिश जैसे प्राकृतिक कारकों और सरकारी नीतियों पर निर्भर होते हैं। ये धनी किसानों की क़तार में शामिल होने के लगातार सपने सँजोते हैं, और जब ऐसा करने में आर्थिक तौर पर नाकामयाब होते हैं, तो हताशा और रोष का शिकार होते हैं। ये सूदखोरों और बैंकों द्वारा तंग किये जाने पर आत्महत्याएँ कर लेते हैं। मँझोले किसानों के इस वर्ग का अच्छा ख़ासा हिस्सा पिछले दशकों में खेतिहर मज़दूरों की क़तार में भी शामिल हुआ है। इसके नीचे आने वाला चौथा वर्ग है ग़रीब मराठा आबादी का जो कि केवल खेती से जीविकोपार्जन नहीं कर पाते और उनका अच्छा-ख़ासा हिस्सा बड़े किसानों के खेतों पर मज़दूरी भी करता है। इनकी स्थिति काफ़ी हद तक खेतिहर मज़दूरों जैसी होती है। ये अपने बच्चों को स्तरीय शिक्षा नहीं दिला सकते। डिग्री इत्यादि के अभाव में शहरों तक पहुँच रोज़गार प्राप्त कर सकने की इनकी स्थिति नहीं होती। इनमें सांस्कृतिक और शैक्षणिक पिछड़ापन बुरी तरह व्याप्त है। पाँचवाँ वर्ग सबसे ग़रीब मराठा आबादी का यानी खेतिहर मज़दूरों का है, जो दूसरे के खेतों पर मज़दूरी करने या सरकार की रोज़गार गारण्टी योजनाओं पर निर्भर रहने को बाध्य हैं। यह आबादी सबसे भयंकर ग़रीबी में जीवनयापन कर रही है। कुछ नमूना सर्वेक्षणों के अनुसार कुल मराठा आबादी का क़रीब 35-40 हिस्सा खेतिहर मज़दूरों का है।

इसमें नीचे के विशेषकर तीन वर्गों का गुस्सा ग़रीबी, बेरोज़गारी और असमानता के ख़िलाफ़ लम्बे समय से संचित हो रहा है। इस गुस्से का निशाना मराठा जातियों की नुमाइन्दगी करने वाली प्रमुख पार्टियाँ बन सकती हैं, जो कि वास्तव में मराठों के बीच मौजूद अतिधनाढ्य वर्गों की नुमाइन्दगी करता है। यह वर्ग अन्तरविरोध अपने आपको इस रूप में अभिव्यक्त करने की सम्भावना-सम्पन्नता रखता है। लेकिन यह सम्भावना-सम्पन्नता स्वत: एक यथार्थ में तब्दील हो, इसकी गुंजाइश कम है। ग़रीब मेहनतकश मराठा आबादी में भी जातिगत पूर्वाग्रह गहराई से जड़ जमाये हुए हैं। ब्राह्मणवादी वर्चस्ववाद की सोच उनमें भी अलग-अलग मात्रा में मौजूद है। ऐसे में, मराठों के बीच मौजूद जो शासक वर्ग है और उसकी नुमाइन्दगी करने वाली मराठा पहचान की राजनीति करने वाली बुर्जुआ पार्टियाँ मराठा जातियों के व्यापक मेहनतकश वर्ग के वर्गीय गुस्से

को एक जातिगत स्वरूप दे सकती हैं और देती रही हैं। इन आबादी को इस बात पर भरमाया जा सकता है कि उसकी ग़रीबी और बेरोज़गारी का मूल कारण दलित हैं जो कि आरक्षण के ज़रिये रोज़गार के मौक़े हड़प जा रहे हैं। इसी के साथ दलित आबादी के बीच जो एक मध्यवर्ग पैदा हुआ है, वह भी अस्मितावादी राजनीति के प्रभाव में होने के चलते जातीय तौर पर अपने आपको एसर्ट कर रहा है, जिससे कि वर्गीय अन्तरविरोधों को जातिगत स्वरूप देने की सम्भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं। जब भी वर्गीय अन्तरविरोध सही रूप में तन्तुबद्धीकृत होकर अभिव्यक्त (आर्टिकुलेट) नहीं होते, तो वे किसी न किसी प्रकार की विकृत अभिव्यक्ति पाते हैं। यह विकृत अभिव्यक्ति अलग-अलग ऐतिहासिक सन्दर्भों और परिप्रेक्ष्यों में अलग-अलग रूप धारण कर सकती है। कभी ये नस्लीय स्वरूप ले सकती है, कभी ये प्रवासी-विरोध (ज़ेनोफोबिया) के रूप में सामने आ सकती है, कभी ये साम्प्रदायिक चोला ओढ़कर आ सकती है और भारत में अक्सर ये जातिगत अन्तरविरोध का स्वरूप धारण करती है। चाहे ये जो भी स्वरूप धारण करे, इसके मूल में वर्गीय अन्तरविरोध ही प्रवाहित होते रहते हैं।

ऐसे में यह समझना महत्वपूर्ण है कि, इस पूरे आन्दोलन को अगर महज़ जातिगत फ्रेमवर्क में देखा जाये तो हम मराठा आबादी के बहुलांश का सत्ता प्रतिष्ठानों आर सरकारी मशीनरी के विरुद्ध लम्बे समय से पनप रहे गुस्से और असन्तोष को नहीं समझ पायेंगे और यह भी नहीं समझ पायेंगे कि ये "मूक मोर्चे" जिस दौर में हुए उसी दौर में क्यों हुए। इसी रोशनी में यह देखना दिलचस्प और ज़रूरी होगा कि इस आन्दोलन के केन्द्र में उपस्थित माँगों का वर्गीय चरित्र क्या है। जैसे कि हमने पहले ही इंगित किया कि हत्या और बलात्कार के दोषियों को जल्द से जल्द मृत्युदण्ड दिलाने (जिस पर तमाम दलित भी माँग उठा रहे थे) के अलावा जो तीन प्रमुख माँगें उभरकर सामने आयी हैं, वे हैं दलित उत्पीड़न निरोधी क़ानून, 1989 के प्रावधानों को ढीला किया जाये, या इस क़ानून को ही पूरी तरह वापस कराया जाये; शिक्षा संस्थानों व सरकारी एवं प्राइवेट सेक्टर की नौकरियों में आरक्षण दिया जाये; एवं न्यूनतम समर्थन मूल्य (एम.एस.पी.) को बढ़ाया जाये।

अगर सिर्फ़ चिन्हित हुई घटनाओं से जुटाये गये आँकड़ों के आधार पर भी बात की जाये तो, पूरे महाराष्ट्र में ही और विशेषकर अहमदनगर ज़िले में दलितों के ख़िलाफ़ सबसे जघन्य अपराध मराठा जाति से आने वाले दबंगों धनी किसानों द्वारा ही होता है। अक्सर ये दलित खेतिहर मज़दूरों के बीच से आते हैं। वैसे तो पूरे देश भर में ही दलित आबादी के विरुद्ध होने वाले अपराधों में पिछड़ी जातियाँ, किसी भी रूप में ब्राह्मणों-क्षत्रियों से पीछे नहीं हैं बल्कि कहना चाहिए कि पिछले कई दशकों से दलितों के विरुद्ध प्रमुख दमनकारी जाति की भूमिका में ये मध्य किसान जातियाँ हैं (जिनसे एकता के आधार पर 'बहुजन समाज' निर्मित करने और ब्राह्मणवाद से लड़ने का दिवास्वप्न दिखलाया जाता है)। महाराष्ट्र में तो इस तरह की नब्बे फ़ीसदी उत्पीड़न की घटनाएँ मराठा जाति से आने वाले धनी वर्ग के लोगों द्वारा ही की जाती हैं। अगर कुछ प्रतीक घटनाओं की बात की जाये तो अहमदनगर ज़िले के जवखेड़ तहसील में अक्टूबर 2014 में एक दलित परिवार के तीन लोगों को मार दिया गया था; अप्रैल 2014 में यहीं पर एक सत्रह वर्षीय दलित

लड़के को भीड़ द्वारा मार दिया गया; जनवरी 2013 में सोनई गाँव के एक ही दलित परिवार के तीन लोगों को मार दिया गया था। इन सभी घटनाओं में अभियुक्त मराठा जाति से आने वाले लोग ही थे। सवाल तो यह भी उठता है कि इन अपराधों पर व्यापक मराठा आबादी ने उस तरह रोष क्यों नहीं प्रकट किया जैसे वो इस हालिया घटना को लेकर कर रहे हैं। वहीं दूसरी और आँकड़ों के लिहाज़ से देखें तो पिछले पाँच सालों में यानी 2010 से लेकर 2015 के एफ़.आई.आर. या केस जो दलित उत्पीड़न निरोधी क़ानून के अन्तर्गत दर्ज कराये गये थे उनकी संख्या 319 से घटकर 290 तक पहुँच गयी है। इसमें अभियुक्त को सज़ा दिये जाने की दर भी महज़ 7 प्रतिशत है, यानी साल-भर में मुश्किल से 20-22 लोग पूरे महाराष्ट्र में इस क़ानून के अन्तर्गत दण्डित हुए होंगे। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे प्रदेशों के लिहाज़ से भी यह आँकड़ा बहुत कम है। यह बात बिल्कुल साफ़ है कि इस क़ानून का कितना 'दुरुपयोग' हो रहा है, और इसको संशोधित किये या वापस लिये जाने से आम मराठा आबादी को क्या मिल जायेगा! वहीं दूसरी तरफ़ ग़रीब दलितों के लिए इसके परिणाम भयंकर होंगे। एक बड़ा तबक़ा दलितों के विरुद्ध अपनी सीमाओं का उल्लंघन इसलिए नहीं करता कि, दलितों के लिए ऐसा क़ानून है जो कम से कम नाम मात्र के लिए ही सही कुछ संरक्षण मुहैया कराता है। वास्तव में यह कितना प्रभावी है, उसके आँकड़े तो हम देख ही चुके हैं। इस क़ानून के बावजूद अगर देशव्यापी स्तर पर दलितों के ख़िलाफ़ होनेवाले अपराधों की हालत यह है, तो इसके न होने पर स्थिति क्या होगी यह स्वतः ही समझा जा सकता है। अपवादस्वरूप अगर इसके दुरुपयोग के मामले हुए भी होंगे और इसके आधार पर अगर ऐसा कोई निर्णय लिया जाये, तो फिर देश के सभी क़ानूनों को रद्द करना पड़ेगा क्योंकि हमारे देश में किस क़ानून का दुरुपयोग नहीं होता।

अगर इस आन्दोलन में प्रमुखता से उठ रहे दूसरे मुद्दे यानी मराठा आबादी के लिए अन्य पिछड़ा वर्ग से अलग शिक्षा और रोज़गार में आरक्षण की बात की जाये तो इसके लिए महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमन्त्री फड़नवीस की एक दलील ही स्थिति काफ़ी साफ़ कर देती है। उनके अनुसार मराठा आबादी के लिए आरक्षण लागू करने के बाद कॉलेजों में क़रीब 900 सीटें उपलब्ध हो जायेंगी और सरकारी नौकरियों में क़रीब 7500 लोगों को रोज़गार मिल जायेगा। करोड़ों की संख्या में बेरोज़गार मराठी नौजवानों के लिए इससे क्या हासिल हो जायेगा? हम स्वत: ही समझ सकते हैं। दूसरी बात यह कि इन उपलब्ध हुए अवसरों का इस्तेमाल भी पैसे की ताक़त रखने वाले चन्द ऊपरी तबक़ों के लोग ही कर पायेंगे। इसका एक बड़ा कारण यह है कि अन्य पिछड़ी जातियों की अपेक्षा मराठा आबादी में विशेषकर महिलाओं के बीच शिक्षा का स्तर काफ़ी नीचे है। आरक्षण का यह झुनझुना केवल एक विभ्रम है और इससे व्यापक मेहनतकश मराठा आबादी की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में कोई अन्तर नहीं आने वाला। यह एक उपकरण है जिसका शासक वर्ग मेहनतकश जनता को जातिगत आधार पर बाँटने के लिए करता है और अभी भी कर रहा है।

आज बुनियादी सवाल रोज़गार सृजन का है। उदारीकरण-निजीकरण के इस दौर में अगर

सरसरी तौर पर देखा जाये तो लेबर ब्यूरो द्वारा देश स्तर पर जारी हालिया आँकडे स्थिति काफ़ी स्पष्ट कर देते हैं। बेरोज़गारी की दर पिछले पाँच वर्षों के शिखर पर है - जहाँ 2011 में यह 3.8 फ़ीसदी और 2013 में 4.9 फ़ीसदी थी, वहीं 2015 में यह बढ़कर 7.3 फ़ीसदी तक पहुँच गयी है। रोज़गार प्राप्त व्यक्तियों से एक तिहाई के पास पूरे वर्ष काम नहीं रहता जबकि कुल परिवारों में से 68 फ़ीसदी परिवारों की मासिक आय 10,000 रुपये से कम है। ग्रामीण क्षेत्रों में हालत और भी ख़राब है यहाँ 42 फ़ीसदी लोगों के पास पूरे सालभर काम नहीं रहता और 72 फ़ीसदी परिवारों की मासिक आय 10,000 रुपये से कम है। जहाँ तक शिक्षा की बात है तो ज़्यादातर प्राइवेट इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट कॉलेज मराठी धनकुबेरों के पास ही हैं, जहाँ शिक्षा इतनी महँगी है कि ग्रामीण मज़दूर तो दूर निम्न मध्यम वर्ग की और मध्यम वर्ग के घरों से आने वाले नौजवान मुश्किल से ही दाख़िला प्राप्त कर सकता है।

यह भी ग़ौर करने योग्य बात है कि सुप्रीम कोर्ट द्वारा तय किये गये मानकों के अनुसार नौकरियों और शिक्षा संस्थानों में 50 फ़ीसदी से अधिक आरक्षण नहीं दिया जा सकता। महाराष्ट्र में यह पहले ही 51 फ़ीसदी के क़रीब है। अब बिना किसी संशोधन के इसे बढ़ाना सम्भव नहीं है। वोट बैंक की राजनीति के चलते, 2014 में आम चुनावों से ठीक पहले ऐसी कोशिश की भी गयी थी, जब राज्य सरकार द्वारा एक अधिनियम के अन्तर्गत मराठा आबादी के लिए सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थानों में 16 फ़ीसदी आरक्षण दे दिया गया था। लेकिन एक जनहित याचिका पर सुनवाई के दौरान बम्बई उच्च न्यायालय ने इसे स्थगित कर दिया। जहाँ तक रही संवैधानिक संशोधन जैसे किसी भी प्रयास के द्वारा आरक्षण देने की बात तो ऐसा करते ही अन्य पिछड़ी जातियाँ भी आरक्षण के लिए सड़कों पर उतर आयेंगी। कुल मिलाकर चुनावी राजनीति की गोटियाँ ही ऐसी फँसी हुई हैं कि, मराठी नौजवानों पर यह वाक्य ठीक ही जँचता है - 'तुम आरक्षण पा सको यह हो नहीं सकता और तुम इसे भूल जाओ यह हम होने नहीं देंगे!!' अगर निगमनात्मक पद्धति से भी उनकी हालत पर नज़र दौडाई जाये, जिन्हें आरक्षण मिला हुआ है उन जातियों से आने वाली क़रीब 90 फ़ीसदी आबादी भयंकर ग़रीबी और बदहाली में जीवन यापन करने के लिए मजबूर है। आज भी शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षित सीटों का एक हिस्सा भरा ही नहीं जाता क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए जिस न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता की दरकार है, वह भी एक छोटा तबक़ा ही हासिल कर पाता है और दूसरी ओर इन सभी शिक्षण संस्थानों की नौकरशाही का चरित्र जातिवादी ब्राह्मणवादी है जो कि इन सीटों को भरने में जालसाजी करता है। आज की परिस्थितियों में न सिर्फ़ अन्य पिछड़ी जातियों बल्कि दलित घरों से आने वाले नौजवानों के लिए भी आरक्षण की नीति शासक वर्गों द्वारा जनता के बीच राज्य को लेकर एक विभ्रम कायम करने का पैंतरा मात्र है। यही कारण है कि दलित आबादी के बीच भी इसको लेकर झगड़ा पनपाया जाता है। नयी-नयी श्रेणियाँ खड़ी करके (जैसे महादलित, अति-पिछड़ा आदि) आरक्षण के लुकमे उछाले जाते हैं और स्वयं दलित जातियाँ आपस में लड़ पड़ती हैं, कभी आदिवासी और दलितों को आपस में भिड़ा दिया जाता है, कभी आदिवासियों और पिछड़ों को आपस में लड़ा दिया जाता है।

जहाँ तक न्यूनतम समर्थन मूल्य (एम.एस.पी.) की माँग का सम्बन्ध है, तो ग़रीब मराठा शहरी आबादी, ग़रीब किसानों और यहाँ तक की मध्यम किसानों के लिए भी यह एक प्रतिक्रियावादी माँग है। एम.एस.पी. बढ़ने से फ़ायदा उन्हीं किसानों को होगा जो मुख्यतः बाज़ार में बेचने के लिए उत्पादन करते हैं और जो मुख्य रूप से अनाज के ख़रीदार नहीं बल्कि अनाज को बेचने वाले हैं। इससे उन ग़रीब मराठा किसानों को कोई फ़ायदा नहीं मिलेगा जो उत्पादन मुख्यतः अपने भरण-पोषण के लिए एवं एक छोटा हिस्सा बाज़ार में बेचकर अपने जीवन-यापन के लिए ज़रूरी अन्य वस्तुएँ ख़रीदने में करते हैं। जो मराठा किसान मुख्य रूप से अनाज को बेचने वाले नहीं बल्कि मुख्य रूप से अनाज के ख़रीदार हैं, उनको एम.एस.पी. बढ़ने से फ़ायदा नहीं बल्कि नुक़सान होगा। एक मराठा किसान आबादी जो कि अमीर किसान तो नहीं मानी जायेगी, मगर वह अनाज पर्याप्त मात्रा में बेचती है, उसे भी एम.एस.पी. बढ़ने का लाभ नहीं मिलेगा क्योंकि बढ़ोत्तरी का पूरा लाभ बिचौलियों और आढ़तियों को जायेगा जो कि अक्सर स्वयं धनी किसान होते हैं। दूसरी बात यह कि एम.एस.पी. या लाभकारी मूल्य के बढ़ने से अनाज व अन्य वस्तुओं के दाम भी बढ़ जायेंगे जिसकी मार भी ग़रीब जनता पर ही पड़ेगी। इस विषय पर सही अवस्थिति, किसी भी राजनीतिक तौर पर सचेत व्यक्ति के लिए एक हल हुआ मुद्दा है। आज ग़रीब और निम्न मध्यम किसान आबादी भी राजनीतिक चेतना और स्वतन्त्र संगठन के अभाव में धनी किसानों की इस माँग को उठाते हुए उनके पीछे-पीछे चलती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि यह माँग उनके हक़ में है।

इस आन्दोलन के केन्द्र में प्रमुखता से रही इन तीन माँगों की वर्गीय दृष्टि से समीक्षा करने के पीछे जो हमारा मुख्य मक़सद था, वह यह दर्शाना है कि जातिगत आधार पर संगठित कोई भी आन्दोलन, अपने सार रूप में शासक वर्गों और उनके अलग-अलग धडों के बीच प्रेशर-टैक्टिस का ही काम करता है। आरक्षण से लेकर एम.एस.पी. बढ़ाने तक सभी माँगें मराठा आबादी के कुलीन तबक़े, गाँवों के पूँजीपति वर्ग यानी बड़े किसानों और एक हद तक मँझोले किसानों और शहरी उच्च मध्यम एवं मध्य वर्ग को ही लाभ पहुँचायेगी। इसका मराठा आबादी के ही बीच से आने वाले खेतिहर मज़दूरों से लेकर ग़रीब किसान आबादी और शहरी निम्न मध्यम वर्ग को कोई फ़ायदा नहीं मिलेगा। सारा फ़ायदा ऊपर के एक बेहद छोटे तबक़े तक ही सीमित रह जायेगा लेकिन इसके लिए अर्जी लगाने और सड़कों पर अपनी ताक़त का प्रदर्शन करने के लिए सबसे अधिक ग़रीब आबादी के लोगों का ही इस्तेमाल किया जा रहा है। हालाँकि दलित आन्दोलन को हूबहू इसी आधार पर सिरे से ख़ारिज नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों में ही मूलभूत फ़र्क़ है। लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि जातिगत आधार पर संगठित किसी भी दलित आन्दोलन से, दलित आबादी के ग़रीब हिस्सों को जितना फ़ायदा होगा उससे ज़्यादा नुक़सान होगा, क्योंकि सिर्फ़ जातिगत आधार पर खड़ा हुआ कोई भी राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों पर केन्द्रित आन्दोलन, उन्हें अन्य जातियों से आने वाली ग़रीब जनता और उसके नौजवानों से काट देगा और इन जातियों के कुलीनों को मौक़ा देगा कि वे इन जातियों की ग़रीब आबादी को भी दलितों के ख़िलाफ़ खड़ा कर दें। ऐसी सम्भावना-सम्पन्नता ग़ैर-दलित मँझोली और उच्च जातियों

की ग़रीब आबादी में है क्योंकि उस पर भी ब्राह्मणवादी जातिवादी वर्चस्ववाद का गहरा असर है और जातिगत पूर्वाग्रह उसके भीतर भी मौजूद हैं। इसलिए अस्मिता के आधार पर संगठित किसी भी जाति का आन्दोलन चाहे वह दलित जातियों का हों या ग़ैर-दलित जातियों का, अन्तत: मेहनतकश आबादी की वर्ग एकजुटता को स्थापित करने में बाधा खड़ी करेगा। महाराष्ट्र की चुनावी राजनीति में रामदास अठावले की रिपब्लिकन पार्टी इस तर्क का इस्तेमाल कर लम्बे समय से अपनी चुनावी गोटियाँ लाल कर रही है। इसी का नतीजा है कि फ़िलहाल वह मोदी सरकार की गोद में बैठकर दलित हितों की 'रक्षा' कर रही है!

वैसे तो औपनिवेशिक काल (और उससे पहले भी) जातिगत बँटवारे और उसके अन्तर्गत होने वाली किसी भी गोलबन्दी का इस्तेमाल शासक वर्गों ने अपने हित साधन के लिए ही किया है लेकिन आज की परिस्थितियों में जातिगत या किसी भी अन्य अस्मिता पर खड़े किये आन्दोलन अपनी प्रकृति से ही जनविरोधी हैं और व्यापक जनता की वर्गीय एकजुटता पर प्राणान्तक चोट करते हैं। यह सच है कि यह वर्गीय एकजुटता पहले से बनी हुई नहीं है। वह भी एक सम्भावना-सम्पन्नता के तौर पर मौजूद है। जैसा कि आमतौर पर इतिहास में होता है, हमेशा प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी सम्भावना-सम्पन्नताएँ मौजूद होती हैं, प्रश्न यह होता है कि कौन-सा अभिकर्ता किस सम्भावना-सम्पन्नता को अपनी प्रैक्सिस के ज़रिये यथार्थ में रूपान्तरित कर सकता है। यह सच है कि विभिन्न जातियों के बीच ऐतिहासिक तौर पर जो अन्तर व्याप्त हैं वे वर्गीय एकजुटता क़ायम करने की राह में एक बाधा का काम करते हैं। हम कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि मराठा आबादी स्वत: इस बात के लिए तैयार हो जायेगी कि दलित जातियों के ग़रीब घरों से आने वाले नौजवान और ग़रीब मराठा नौजवानों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अपनी माँगों को लेकर लड़ें। वैसे तो यह एक अत्यन्त पेचीदा विषय है, जिसको सीधे तौर पर सम्बोधित करना इस लेख की सीमा से परे है, लेकिन हम नुक्तेवार कुछ बातें कर सकते हैं।

आज शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों से और विशेषकर ग़रीब घर से आने वाले नौजवानों के लिए जातिगत पार्थक्य पहले के मुक़ाबले टूटा है। मिसाल के तौर पर, आनुवांशिक श्रम विभाजन और साथ खाने-पीने से जुड़े जातिगत पूर्वाग्रह काफ़ी हद तक कमज़ोर हो चुके हैं। जो एक चीज़ बनी हुई है वह है 'बेटी के रिश्ते' का सवाल जो कि आज भी बना हुआ है। कारण यह कि पहले दो गुण पूँजीवादी व्यवस्था के संचय के तर्क से मेल नहीं खाते और अन्तरजातीय विवाह का प्रश्न पूँजीवादी संचय के लिए कोई बाधा नहीं पैदा करता, उल्टे वह निजी सम्पत्ति को उससे भी ज़्यादा पवित्र बना देता है, जितना कि पूँजीवाद उसे बनाता है। पूँजी की चतुर्दिक मार ने दलितों और ग़ैर-दलित जातियों के नौजवानों को कॉल सेण्टरों से लेकर फ़ैक्टरियों में, खेतिहर मज़दूरों के रूप में बड़े-बड़े भूस्वामियों की ज़मीन पर, एक साथ खड़ा होने और काम करने को बाध्य कर दिया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जातिगत पार्थक्य इससे स्वत: ही टूट गया है। यह स्वत:स्फूर्त ढंग से होना बेहद मुश्किल है। इसके लिए क्रान्तिकारी 'सब्जेक्टिविटी' के सचेतन हस्तक्षेप की आवश्यकता है। लेकिन यह भी सही है कि पूँजीवाद द्वारा जाति व्यवस्था की दो

बुनियादी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं और दिक् व काल के आयामों में मौजूद पार्थक्य को तोड़ने या कम कर देने के कारण एक क्रान्तिकारी हस्तक्षेप के ज़रिये जातियों को तोड़ने की ज़्यादा मुफ़ीद ज़मीन ज़रूर पैदा हो गयी है। यह ज़रूर है कि चुनाव इत्यादि में यही लोग विकल्पहीनता और मानसिक संकीर्णता के चलते अपना निर्णय जातिगत आधार पर ही करते हैं, और कई 'क्रूशियल' मसलों पर यही पैमाना इनको ज़्यादा सुलभ दिखाई देता है। लेकिन इसका एक प्रमुख कारण किसी क्रान्तिकारी विकल्प और हस्तक्षेप की अनुपस्थिति भी है। फिर भी, स्थितियाँ आज पहले से काफ़ी बदल चुकी हैं, हालाँकि पूरे भारत के बारे में एक सामान्यीकरण प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं है। जातिगत बन्धनों से मुक्त होकर प्रेम विवाह करने के लिए और इसके अन्तर्गत हर ख़तरे को उठाने के लिए तैयार रहने की घटनाएँ आज अगर प्रचलन में नहीं तो अपवाद भी नहीं है, हालाँकि ऐसी घटनाएँ गाँवों में अपेक्षाकृत कम होती हैं।

राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों को लेकर क्रान्तिकारी नेतृत्व में वर्ग आधारित सशक्त आन्दोलन इन्हें वह ज़मीन मुहैय्या करायेंगे जहाँ इस जातिगत अन्तरविरोध की परिघटना को भेदकर वर्गीय अन्तर्वस्तु तक पहुँचने की सम्भावना तैयार होगी। शासक वर्गों के रूप में विभिन्न जातियों से आने वाले अपने दुश्मनों को साथ खड़ा देखकर, उनकी पुलिस और फ़ौज से एक साथ ही सड़कों पर मुक़ाबला करते हुए उन्हें इस बात का अहसास होने की ज़मीन तैयार हो सकेगी कि उनके असली दोस्त और दुश्मन कौन हैं। ज़ाहिरा तौर पर यह बात करने वाला मैं कोई पहला व्यक्ति नहीं हूँ और न जाने कितनी बार ये सही बातें कही और लिखी गयी होंगी. लेकिन सही बातें कहते रहने में कोई हर्ज़ नहीं है और यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगा कि ज़मीन पर उतरकर इस तरह की कोशिशें कम ही हुई हैं। आज भी राजनीतिक दायरों में अस्मितावादी राजनीति का ही बोलबाला है और इसके ख़िलाफ़ पक्ष चुनने वालों को, या जनता के बीच इसकी असलियत उजागर करने वालों को 'कुलीनतावादी' का तमगा पहना दिया जाता है। वामपन्थी दायरों में भी अस्मितावाद और अम्बेडकरवाद के साथ मार्क्सवादी विज्ञान का मिश्रण करने या फिर अनजाने में दलितों के प्रति दयाभाव प्रदर्शित कर अस्मितावादी राजनीति के आग्रहों को 'दलितों की आह' बताकर सहयोजित करने की प्रवृत्ति मौजूद है।

इस पूरे आन्दोलन के केन्द्र में जो एक सबसे महत्वपूर्ण पहलू होना चाहिए था और चाहे-अनचाहे जिसे पूरी तरह नज़रअन्दाज किया गया, वह था स्त्री विरोधी अपराधों के विरुद्ध सरकार को कठघरे में खड़ा करना और इनके ख़िलाफ़ राज्य को कड़े क़दम उठाने के लिए बाध्य करना था। लेकिन दोषियों को मृत्युदण्ड दिलाये जाने की माँग से इतर, इस लिहाज़ से और कोई माँग नहीं उठायी गयी। 'दामिनी काण्ड' के विरोध में देशभर से लेकर राजधानी दिल्ली में बने जन-दबाव ने सरकार को 'बैकफुट' पर ला दिया था और जस्टिस वर्मा समिति गठित करने के लिए बाध्य कर दिया था। न सिर्फ़ इतना, बल्कि पूँजीवाद के अन्तर्गत लगातार खाद-पानी प्राप्त कर रही स्त्री विरोधी पूँजीवादी संस्कृति को आम जनता के बीच एक बहस के मुद्दे के तौर पर स्थापित कर दिया था। एन.सी.आर.बी. द्वारा जारी आँकड़ों के अनुसार महिलाओं के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों

में महाराष्ट्र उत्तरप्रदेश और पश्चिम बंगाल के बाद तीसरे नम्बर पर आता है। बलात्कार के मामलों में यह मध्य प्रदेश के बाद दूसरे नम्बर पर है। पिछले वर्ष यहाँ पर महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराध, जो कि पुलिस रिकॉर्ड में दर्ज किये गये उनकी संख्या थी 33,218। ज़ाहिरा तौर पर कुल अपराधों की संख्या इससे कहीं ज़्यादा रही होगी। लेकिन सांस्कृतिक और शैक्षणिक तौर पर अत्यन्त पिछड़ी मराठा आबादी के जातिगत आधार पर उभरे आन्दोलन में ऐसी किसी माँग की अनुगूँज नहीं ही सुनाई देगी।

ग़ौरतलब है कि कोपर्दी में हुए इस बर्बर काण्ड का शिकार हुई लड़की, महज़ 14 साल की थी और हॉकी खेलने दूसरे गाँव जाती थी। उसका इस प्रकार 'मॉडर्न' होना कुछ लोगों को खटकने लगा। वे 'दलित' थे यह तो दर्ज किया गया लेकिन वे 'पुरुष' भी थे जिन्हें पूँजीवादी संस्कृति से प्राप्त खाद-पानी ने मानवद्रोही होने की कगार तक पहुँचा दिया था। इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ कर दिया गया। हर अस्मितावादी आन्दोलन तमाम सारी जटिलताओं और अन्तरविरोधों को पृष्ठभूमि में ढकेल देता है, या कहें कि उन्हें 'लील' जाता है। स्त्री-विरोधी मानसिकता से लेकर जातिगत उत्पीड़न के केन्द्र में ये पूँजीवादी व्यवस्था और उसकी संस्कृति है, जो हर दिन इन्हें सहयोजित करती है और इनका पोषण करती है। इसकी मिसाल के तौर पर, गिन्नी माही नामक एक दलित गायक के बनाये हुए गीतों, जैसे कि 'डेंजर चमार' और 'फ़ैन बाबा साहेब दी' को देखकर आप समझ सकते हैं कि दमित जनता के प्रतिरोध की संस्कृति और संगीत किस प्रकार पूँजीवादी 'परवर्जन' का शिकार होता है। इसके म्यूज़िक वीडियो में ही आप पौरुषिकता के पूँजीवादी रूपों को अपने सबसे भौंडे रूपों में देख सकते हैं। ये म्यूज़िक वीडियो और इनका संगीत पंजाब के धनी जट्ट पॉप स्टारों की शैली की पूरी नक़ल करता है और वास्तव में यह संगीत स्वयं पंजाब में दलितों में पैदा हुए एक छोटे-से धनिक वर्ग के 'एसर्शन' को दिखलाता है, न कि ग़रीब दलितों के जीवन की तकलीफ़ों और संघर्षों को। लेकिन अस्मितावादी राजनीति के भँवर में फँसे कई वामपन्थी टिप्पणीकार भी गिन्नी माही जैसे गायकों को दलित 'एसर्शन' का प्रतीक मानते हैं। इसके बारे में जितना कम कहा जाये उतना बेहतर है। लुब्बेलुबाब यह कि अस्मितावादी ज़मीन पर खड़े होकर आज कोई भी आन्दोलन या सांस्कृतिक उत्पाद केवल शासक वर्गों की सेवा कर सकता है।

अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव

डोनाल्ड ट्रम्प की जीत के निहितार्थ

● आनन्द सिंह

अमेरिका में नवम्बर 2016 में हुए राष्ट्रपति चुनावों में नस्लवादी, स्त्रीद्वेषी, मुस्लिम-विरोधी व धुर-दक्षिणपन्थी ख़रबपति डोनाल्ड ट्रम्प की जीत के बाद पश्चिम जगत का उदारवादी तबक़ा स्तब्ध है। ग़ौरतलब है कि इन चुनावों में अमेरिका के पूँजीपति वर्ग के बड़े हिस्से ने हिलेरी क्लिंटन पर अपना दाँव लगाया था क्योंकि उनका मानना था कि क्लिंटन पूँजी के हितों की हिफ़ाज़त करने में ज़्यादा सक्षम उम्मीदवार थी। ट्रम्प एक पूँजीपति होते हुए भी वॉल स्ट्रीट के वित्तीय महाप्रभुओं का चहेता नहीं बन पाया था क्योंकि उनकी नज़रों में वह बहुत अस्थिर और अननुमेय था और उसके बड़बोलेपन से अमेरिकी शासक वर्ग के चेहरे से उदारवादी मुखौटे के उतरने का ख़तरा था जिसको उन्होंने साम्राज्यवाद की चौधराहट के पूरे कालखण्ड में लगाया हुआ था। अमेरिकी मीडिया का बड़ा हिस्सा भी अमेरिका के इतिहास में पहली बार एक महिला राष्ट्रपति बनने की भविष्यवाणियाँ कर रहा था। ऐसे में ट्रम्प की जीत ने अमेरिकी राजनीतिक समीकरणों में बहुत बड़ा उलटफेर कर दिया। ब्रिटेन के यूरोपीय संघ से बाहर निकलने के फ़ैसले (ब्रेक्ज़िट) के बाद अब ट्रम्प जैसे व्यक्ति के साम्राज्यवाद के नये सिरमौर के रूप में पदासीन होने के निहितार्थ अमेरिका ही नहीं समूचे विश्व के लिए गहरे हैं और इसीलिए दुनिया भर में तमाम राजनीतिक विश्लेषक इसकी तरह-तरह से व्याख्याएँ कर रहे हैं।

उदारवादी बुर्जुआ विश्लेषक ट्रम्प की इस अप्रत्याशित जीत के

लिए अमेरिका में बढ़ते नस्लभेद, मुस्लिम-विरोध और स्त्री-विरोधी मानसिकता को मुख्य रूप से ज़िम्मेदार मानते हैं। ग़ौरतलब है कि ये वही विश्लेषक हैं जो 8 साल पहले बराक ओबामा के राष्ट्रपति बनने के बाद अमेरिकी लोकतन्त्र की शान में कसीदे पढ़ रहे थे और यह दावा कर रहे थे कि अमेरिका में नस्लभेद इतिहास की चीज़ बन चुकी है क्योंकि उस चुनाव में बड़ी संख्या में गोरे अमेरिकियों ने ओबामा को वोट दिया था। दरअसल ऐसे विश्लेषकों के विश्लेषण में वर्ग-विश्लेषण सिरे से गायब होता है जिसकी वजह से वे कभी इस छोर तो कभी उस छोर पर दोलन करते रहते हैं। ज़ाहिरा तौर पर वर्ग-विश्लेषण के मार्क्सवादी उपकरण के द्वारा ही हम इस अन्तर्विरोधी परिघटना को समझ सकते हैं कि जिस समाज में अभी कुछ वर्षों पहले ही एक अश्वेत व्यक्ति राष्ट्रपति चुना गया था उसी समाज में एक घोर नस्लवादी व्यक्ति कैसे चुनाव जीत सकता है।

ट्रम्प की जीत की वजहें

ट्रम्प की जीत के कारणों को गहराई से समझने के लिए हमें इतिहास में थोड़ा पीछे जाना होगा क्योंकि अमेरिका की जिन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने ट्रम्प रूपी दानव को जन्म दिया है उनके समकालीन इतिहास की शुरुआत 2007 की मन्दी में देखी जा सकती है। ग़ौरतलब है कि 2007 में अमेरिका में आवासीय बुलबुले के फटने के साथ शुरू हुई विश्वव्यापी महामन्दी अभी तक जारी है। वैसे तो पूँजीवाद अपने जन्म से ही एक चक्रीय मन्दी का शिकार होता रहा है, लेकिन मौजूदा महामन्दी 1930 के दशक की महामन्दी के बाद से सबसे बड़ी मन्दी है और उससे उबरने की प्रक्रिया भी उस 1930 के दशक की उस महामन्दी के बाद से सबसे सुस्त रही है। मन्दी की मार से जहाँ एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के मेहनतकश लोग कंगाली और भुखमरी की समस्या से जूझ रहे हैं वहीं अमेरिका और यूरोप के विकसित देशों का मज़दूर और मध्यवर्गीय तबक़ा भी इसकी चपेट में आ गया है। वैसे विकसित देशों की मेहनतकश जनता की समृद्धि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के कुछ वर्षों तक ही रही थी जिसे अमेरिकी पूँजीवाद का स्वर्ण युग कहा जाता है। 1960 के दशक से ही अमेरिका के मज़दूर वर्ग की आमदनी में कमी की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। 1980 के दशक में नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के प्रादुर्भाव ने अमेरिका के मेहनतकश वर्ग को और झटका दिया जब मुनाफ़े की गिरती दर को रोकने के लिए अमेरिकी पूँजीपति सस्ते श्रम के लालच में अपने कारख़ाने अमेरिका से हटाकर तीसरी दुनिया के देशों की ओर रुख़ करने लगे थे। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप अमेरिका का डेट्रॉयट जैसा शहर, जो कभी ऑटोमोबाइल मैन्युफ़ैक्चरिंग का गढ़ माना जाता था, उजाड़ हो गया।

हालाँकि मौजूदा विश्वव्यापी महामन्दी के दौरान अमेरिकी अर्थव्यवस्था अन्य विकसित अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में थोड़ा बेहतर प्रदर्शन किया है, लेकिन निरपेक्ष रूप में देखने पर यह प्रदर्शन बेहद फिसड्डी रहा है। इस मन्दी के बाद से अमेरिका में प्रति व्यक्ति वास्तविक जीडीपी वृद्धि दर मात्र 1.4 प्रतिशत रही जो इस मन्दी के पहले के दौर की तुलना में बेहद कम है। उससे भी भयावह बात यह है कि भविष्य में भी इससे उबरने के आसार नहीं नज़र आ रहे हैं। उल्टे कुछ

अर्थशास्त्री तो भविष्य में एक दूसरी मन्दी की बातें भी कर रहे हैं जो मौजूदा मन्दी से भी ख़तरनाक साबित हो सकती है।

जब मौजूदा मन्दी की शुरुआत हुई थी तब अमेरिका में रिपब्लिकन पार्टी का जॉर्ज बुश राष्ट्रपति था। 2008 के राष्ट्रपति चुनाव में अमेरिकी जनता ने रिपब्लिकन पार्टी को ख़ारिज़ कर डेमोक्रैटिक पार्टी के बराक ओबामा को इस उम्मीद में राष्ट्रपति चुना था कि उसकी नीतियाँ मन्दी से उबारेंगी। उस चुनाव में ओबामा बदलाव और आशा के खोखले नारे देकर अमेरिकी जनता के अच्छे-ख़ासे हिस्से को बरगलाने में क़ामयाब हो गया था क्योंकि अमेरिका के लोग मन्दी के असर से ख़ौफ़ज़दा थे। बुर्जुआ विश्लेषक जिसे नस्लवाद पर जीत की संज्ञा दे रहे थे वह दरअसल अमेरिकी जनता की मन्दी से निजात पाने की तड़प की अभिव्यक्ति थी। लेकिन ओबामा के दो कार्यकाल पूरा होने पर भी अमेरिकी अर्थव्यवस्था मन्दी के भँवरजाल से बाहर नहीं निकल पायी है। ओबामा ने जनता की गाढ़ी कमाई से कई ट्रिलियन डॉलर के बेलआउट पैकेज देकर बैंकों और वित्तीय महाप्रभुओं को जीवनदान दिया जिसका फ़ायदा बैंकों और उनके शीर्ष अधिकारियों को ही हुआ, जबकि आम लोगों की ज़िन्दगी की परेशानियाँ कम होने की बजाय बढ़ती ही गयीं।

ओबामा की नीतियों का फ़ायदा किस तरह से समाज की मुट्ठी भर रईस आबादी को हुआ, यह इस आँकड़े से स्पष्ट है कि अमेरिका में 2009-2012 के दौरान 95 प्रतिशत आय में बढ़ोतरी शीर्ष की 1 फ़ीसदी आबादी के खाते में गयी। 2015 में अमेरिका के शीर्ष 500 सीईओ की आय वहाँ के मज़दूरों की औसत आय का 335 गुना थी। यही नहीं अमेरिका में रोज़गार के नये अवसर नहीं पैदा हो रहे हैं और पिछले आठ वर्षों के दौरान मज़दूर वर्ग के साथ ही साथ टटपुँजिया मध्य वर्ग की भी आमदनी और क्रयशक्ति में तेज़ी से गिरावट देखने में आयी है। आर्थिक संकट की परिस्थिति में अमेरिकी राज्य के लिए जनता को सामाजिक सुरक्षा और बुनियादी सुविधाओं को जारी रखना मुमकिन नहीं रह गया और 'ऑस्टेरिटी' (किफ़ायतशाही) इन सुविधाओं में भी ज़बरदस्त कटौती की जानी लगी। इसका नतीजा अमेरिकी समाज में आर्थिक असमानता की खाई के चौड़ा होने के रूप में सामने आया। इस घोर आर्थिक असमानता की अभिव्यक्ति टटपुँजिया वर्ग के नेतृत्व में चले 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' आन्दोलन में भी हुई थी जिसका निशाना कॉरपोरेट पूँजी थी। 2012 के राष्ट्रपति चुनाव में हालाँकि ओबामा को जीत हासिल हुई थी, लेकिन उसे 2008 के मुक़ाबले बहुत कम वोट मिले थे जो डेमोक्रैटिक पार्टी की घटती लोकप्रियता का ही संकेत था।

अमेरिका का बुर्जुआ लोकतन्त्र वहाँ के लोगों को राष्ट्रपति चुनने का जो अधिकार देता है उसका इस्तेमाल करके ज़्यादा से ज़्यादा लोग यह कर सकते हैं कि बुर्जुआ वर्ग के एक नुमाइन्दे से त्रस्त आकर बुर्जुआ वर्ग के दूसरे नुमाइन्दे को चुन लें। इस बार के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनावों में अमेरिकी जनता का गुस्सा डेमोक्रैटिक पार्टी ही नहीं बल्कि पूरे बुर्जुआ लोकतन्त्र के ख़िलाफ़ देखने में आया। यह इस बात से समझा जा सकता है कि इस बार के चुनाव में 45 प्रतिशत मतदाताओं ने किसी भी उम्मीदवार के पक्ष में वोट नहीं डाला। हिलेरी क्लिंटन और डोनाल्ड ट्रम्प दोनों को महज़ 26-26 प्रतिशत के आसपास ही वोट मिले। हालाँकि ट्रम्प को पिछले चुनाव में

रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार मिट रॉमनी के मुक़ाबले ज़्यादा वोट नहीं मिले लेकिन वह अपने चुनाव प्रचार के दौरान कुशलतापूर्वक हिलेरी क्लिंटन को जो शासक कुलीन तबक़े के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करने में और ख़ुद को उस कुलीन तबक़े से बाहर का आदमी साबित करने में सफल रहा। हिलेरी क्लिंटन की तमाम कोशिशों के बावजूद उसकी कॉरपोरेट-परस्ती जनता की निगाहों से नहीं छिप सकी। इसका नतीजा हिलेरी क्लिंटन और डेमोक्रैटिक पार्टी के पक्ष में डाले गये वोटों में ज़बरदस्त कमी के रूप में सामने आया जिसका लाभ ट्रम्प को हुआ। विस्कॉन्सिन, पेन्सिलवेनिया और मिशीगन जैसे राज्य जो कभी डेमोक्रैटिक पार्टी के गढ़ हुआ करते थे उनमें मज़दूर वर्ग का गुस्सा हिलेरी क्लिंटन और डेमोक्रैटिक पार्टी पर जमकर फूटा जिसका लाभ डोनाल्ड ट्रम्प को हुआ। ग़ौरतलब है कि ये वे राज्य हैं जो कभी अमेरिका के मैन्युफ़ैक्चरिंग के केन्द्र हुआ करते थे, लेकिन जो भूमण्डलीकरण के दौर में अब उजड़ चुके हैं। इन राज्यों को 'रस्ट बेल्ट' (जंग खाये इलाक़े) कहा जाता है क्योंकि भूमण्डलीकरण के दौर से पहले के ये समृद्ध राज्य अब तबाह हो चुके हैं।

हालाँकि ट्रम्प ख़ुद एक पूँजीपति और धनपशु है लेकिन उसने आर्थिक मुश्किलों से जूझ रहे अमेरिकी मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के गुस्से को अपनी सस्ती लोकरंजक जुमलेबाज़ी के ज़रिये जमकर भुनाया। किसी क्रान्तिकारी ताक़त की अनुपस्थिति में अमेरिकी जनता के पास भविष्य के किसी विकल्प न होने की सूरत में ट्रम्प की बातें जँचीं। ट्रम्प ने उन्हें अमेरिका को फिर से महान बनाने के सब्ज़बाग दिखाये। जिस तरह 2008 में लोगों ने बदलाव की आशा में ओबामा को वोट दिया दिया था उसी तरह इस बार तमाम लोगों ने ट्रम्प को आज़माना चाहा है, हालाँकि ट्रम्प की जीत ओबामा की जीत से बहुत छोटी है। ट्रम्प ने मन्दी और छँटनी से जूझ रहे लोगों को यह यक़ीन दिलाया कि उनकी समस्याओं की वजह बाहर से आ रहे प्रवासी मज़दूर हैं जो मेक्सिको, चीन व एशिया-अफ़्रीका के देशों से आकर उनकी नौकरियाँ छीन रहे हैं। उसने यहाँ तक कहा कि राष्ट्रपति बनने के बाद आप्रवासन रोकने के लिए वह अमेरिका और मेक्सिको की सीमा पर ऊँची दीवार बनवायेगा और उसका ख़र्च मेक्सिको की सरकार से वसूलेगा। उसने मेक्सिको के लोगों को बलात्कारी और हत्यारा तक कहा। यही नहीं उसने मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत को चरम पर ले जाते हुए कहा कि राष्ट्रपति बनने के बाद वह मुसलमानों को अमेरिका में आने पर प्रतिबन्ध लगा देगा। भूमण्डलीकरण की मार से कराह रही आम आबादी को उसने यक़ीन दिलाया कि सत्ता में आने के बाद वह ऐसी नीतियाँ लायेगा जिससे अमेरिकी कम्पनियाँ विदेशों में निवेश करने की बजाय अमेरिका में ही निवेश करेंगी जिससे कि वहाँ नये रोज़गार के अवसर पैदा होंगे। उसने लोगों को बताया कि अमेरिकी कम्पनियों का मुनाफ़ा इसलिए कम हो रहा है क्योंकि पर्यावरण सुरक्षा के नाम पर उनका ख़र्च बहुत बढ़ जाता है। उसने सत्ता में आने के बाद पर्यावरण सुरक्षा सम्बन्धी नीतियों को किनारे लगाकर पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ाने के बात की और लोगों को यक़ीन दिलाया कि पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ेगा तो उनकी ज़िन्दगी में भी बेहतरी आयेगी। उसने मध्य-पूर्व में अमेरिकी सैन्य कार्रवाइयों को और ज़्यादा आक्रामक करने की ज़रूरत पर बल देते हुए कहा

कि अमेरिका को फिर से महान बनाने के लिए दुनिया को डराकर रखना होगा। उसने मुस्लिमों, महिलाओं, अश्वेतों, प्रवासियों को निशाने पर लिया जो गोरे टटपुँजिया वर्ग और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से के लिए 'पराये' थे। ट्रम्प ने उन्हें यक़ीन दिलाया कि वे 'पराये' ही दरअसल उनकी बरबादी के लिए ज़िम्मेदार हैं। उसने अपनी छवि एक "निर्णायक और सशक्त" नेता के तौर पर बनायी जो टटपुँजिया वर्ग को बहुत अपील करता है। वर्ग चेतना के अभाव, लम्बे समय से किसी सशक्त मज़दूर आन्दोलन की अनुपस्थिति और अमेरिकी ट्रेड यूनियन आन्दोलन में नस्लवाद के लम्बे इतिहास को देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अमेरिका के मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को ट्रम्प की घनघोर मज़दूर-विरोधी बातें भी रास आयीं और उन्होंने ट्रम्प जैसे लम्पट और अय्याश पूँजीपति के पक्ष में वोट देने से भी गुरेज़ नहीं किया।

क्या ट्रम्प की जीत के साथ ही अमेरिका में फ़ासीवाद आ गया है?

ट्रम्प ने अपने चुनाव प्रचार के दौरान अन्धराष्ट्रवादी, मुस्लिम-विरोधी, प्रवासी-विरोधी और नस्लवादी बयान ख़ूब दिये, जिसको देखते हुए अमेरिका की उदारवादी बुद्धिजीवी जमात और कुछ वाम हलक़ों में ट्रम्प को फ़ासीवादी क़रार दिया जाने लगा है। ट्रम्प की जीत निश्चय ही अमेरिका में फ़ासीवाद की ज़मीन के उपजाऊ होने का सूचक है, लेकिन यह कहना सटीक नहीं होगा कि ट्रम्प की जीत से अमेरिका में फ़ासीवाद आ गया है। विश्वव्यापी महामन्दी के मौजूदा दौर में दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में प्रतिक्रियावादी एवं धुर-दक्षिणपन्थी राजनीति का उभार देखने में आया है। लेकिन हर प्रतिक्रियावादी उभार को फ़ासीवाद कहना भूल होगी। फ़ासीवाद एक काडर आधारित पार्टी के नेतृत्व में व्यापक सामाजिक आधार वाला टटपुँजिया वर्ग का एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन होता है जिसकी एक सुस्पष्ट विचारधारा होती है जो पूँजीवाद के संकट के काल में फलती-फूलती है और जिसके मुख्य निशाने पर मज़दूर आन्दोलन होता है। ट्रम्प के उभार में ये पहलू अनुपस्थित हैं। यह सच है टटपुँजिया वर्ग के बड़े हिस्से ने ट्रम्प की चुनावी लहर का समर्थन किया, लेकिन व्यापक साामाजिक आधार वाला ऐसा कोई प्रतिक्रियावादी आन्दोलन हो, यह नहीं कहा जा सकता। ट्रम्प की कोई गुण्डावाहिनी नहीं है जो हिटलर की 'एसए' या मुसोलिनी की 'ब्लैक शर्ट्स' की तरह सड़कों पर मज़दूर आन्दोलन और प्रगतिशीलों पर हमला करती हो। ट्रम्प एक पूँजीपति है जिसने रियल एस्टेट, शेयर बाज़ार, जुआघर, गोल्फ़ कोर्स और मनोरंजन उद्योग में निवेश किया है। अभी कुछ साल पहले तक वह राजनीति की दुनिया से बाहर था और रिपब्लिकन और डेमोक्रैट दोनों पार्टियों को चुनावों से पहले बतौर पूँजीपति फ़ण्ड देता रहा था। उसका किसी फ़ासीवादी संगठन या विचारधारा से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। अमेरिका में 'कू-क्लक्स-क्लैन' और 'ओथ टेकर्स' जैसे नव-फ़ासिस्ट और घोर-दक्षिणपन्थी समूह ज़रूर सक्रिय हैं और उन्होंने इन चुनावों में ट्रम्प को समर्थन भी दिया और उसकी जीत पर जश्न भी मनाया, लेकिन वे अभी भी हाशिये पर हैं।

अगर ट्रम्प फ़ासीवादी नहीं है तो फिर आख़िर उसकी राजनीति है क्या? क्या वह रिचर्ड

निक्सन, रोनाल्ड रीगन और जॉर्ज बुश की ही तरह एक और दक्षिणपन्थी नेता है? जवाब है नहीं! दरअसल ट्रम्प की राजनीति व्यवहारवादी (प्रैगमैटिस्ट) दर्शन की धुर-दक्षिणपन्थी अभिव्यक्ति है। व्यवहारवाद के अनुसार सत्य इस्तेमाल से ही पैदा होता है। अमूर्तन और नियमबद्धता को ख़ारिज़ करते हुए वह सिद्धान्त की बजाय कार्रवाई पर ज़ोर देता है ज़रूरत के अनुसार किसी भी पद्धति का इस्तेमाल करने की बात करता है। ट्रम्प रिपब्लिकन पार्टी के उस धुर-दक्षिणपन्थी धड़े का प्रतिनिधित्व करता है जिसका सामाजिक आधार गोरे टटपुँजिया वर्ग व मज़दूर वर्ग का एक हिस्सा है और जो अमेरिका के पूर्वी तट के वित्तीय महाप्रभुओं से उतनी ही नफ़रत करता है जितनी वह अश्वेतों और प्रवासियों से करता है।

ट्रम्प का उभार ऐसे दौर में हुआ है जब दुनिया के विभिन्न हिस्सों में आर्थिक संकट की परिस्थिति में जहाँ एक ओर शासक वर्ग पुराने तरीक़े से सत्ता नहीं चला पा रहा है और वहीं दूसरी ओर उसकी सत्ता को चुनौती देने वाला कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन भी अनुपस्थित है। ऐसी परिस्थिति में पूँजीवाद के भीतर से ही भाँति-भाँति की व्यवहारवादी-लोकरंजकतावादी (दक्षिणपन्थी और वामपन्थी दोनों क़िस्म के) ताक़तें उभर रही हैं। इस बार के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनावों में दक्षिणपन्थी व वामपन्थी लोकरंजकतावाद की बानगी देखने को मिली। जहाँ ट्रम्प दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद का प्रतिनिधित्व कर रहा था वहीं बर्नी सैण्डर्स (जो डेमोक्रैटिक पार्टी के कन्वेंशन में हिलेरी क्लिंटन से हार गया था और जिसने बाद में क्लिंटन को अपना समर्थन दिया) वामपन्थी लोकरंजकतावाद की बानगी पेश कर रहा था। यूरोप में लोकरंजकतावाद की ये दोनों क़िस्में देखने में आ रही हैं। जहाँ यूनान में सिरिजा और स्पेन में पोदेमॉस के उभार में वामपन्थी लोकरंजकतावाद का उदाहरण देखने को आया वहीं फ़्रांस में फ़्रण्ट नेशनेल (एफ़एन) की मैरीन ली पेन, ब्रिटेन में यूकेआईपी के नाइज़ेल फ़ैराज़, जर्मनी में एएफ़डी का उभार दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद की बानगी पेश कर रहा है।

लेकिन साथ ही भविष्य में इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि ट्रम्प का उभार अमेरिका में फ़ासीवादी राजनीति के उपजाऊ होने का सूचक है। ट्रम्प के राष्ट्रपति बनने के बाद अमेरिका में फ़ासीवादी राजनीति की ज़मीन निश्चय ही मज़बूत होगी और जो रुझान अभी हाशिये पर हैं वे मुख्यधारा भी बन सकते हैं।

ट्रम्प की भावी नीतियाँ और मज़दूर आन्दोलन की चुनौतियाँ

हालाँकि अमेरिका के पूँजीपति वर्ग के बड़े हिस्से और वॉल स्ट्रीट ने ट्रम्प पर अपना दाँव नहीं लगाना श्रेयस्कर नहीं समझा था, लेकिन उसके राष्ट्रपति बनने के बाद उनको यह तसल्ली है कि ट्रम्प थोड़ा बड़बोला भले हो लेकिन उनका अपना ही आदमी है। इसके संकेत अमेरिकी शेयर बाज़ार से मिल रहे हैं, जोकि ट्रम्प की जीत के बाद से उछाल पर है। यही नहीं अमेरिकी डॉलर की क़ीमत में भी ट्रम्प की जीत के ठीक बाद उछाल देखने को आया है। यह लेख लिखे जाने तक ट्रम्प ने अपने मन्त्रालय में कैबिनेट पोस्ट के लिए जिन 17 लोगों को चुना है उनकी सम्पत्ति अमेरिका के

एक-तिहाई घरों की कुल सम्पत्ति से ज़्यादा है। ट्रम्प के मन्त्रिमण्डल में बैंकरों से लेकर हेज फ़ण्ड मैनेजर और राष्ट्रपारीय निगमों के पूर्व सीईओ तक शामिल हैं। मौक़े की नज़ाक़त को समझते हुए वित्तीय पूँजी ने ट्रम्प को अपने आगोश में लेना शुरू कर दिया है। ट्रम्प ने भी जीत के बाद अपने बयानों में कुछ विवादास्पद वायदों से पलटने के संकेत दे दिये हैं।

ट्रम्प ने जो वायदे किये हैं उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो अमेरिकी वित्तीय महाप्रभुओं के हितों से मेल खाते हैं। ज़ाहिरा तौर पर ऐसे वायदों को पूरा करने में ट्रम्प ज़रा भी देरी नहीं करेगा क्योंकि ऐसा करना वित्तीय पूँजी के भी हित में होगा। मसलन, उसका एक बड़ा वायदा कॉर्पोरेट कर और आयकर में कटौती करने का है। ऐसी कोई भी कटौती अमेरिका के शीर्ष के 1 प्रतिशत धनपशुओं के हित में होगी जिसका पूँजीपति वर्ग पलक-पाँवड़े बिछाकर स्वागत करेगा। इसके अलावा ट्रम्प ने बैंकों के विनियमन और श्रम अधिकारों में कटौती करने का भी वायदा किया है जो पूँजीपति भी चाहते हैं। यही नहीं ट्रम्प ने यह भी कहा कि उसकी आने वाले 4 वर्षों में पूरे देश में नये इंफ्रास्ट्रक्चर और निवेश प्रोज़ेक्टों में 1 ट्रिलियन डॉलर ख़र्च करने की योजना है। ग़ौरतलब है कि ट्रम्प जिस ख़र्च की बात कर रहा है वह सरकारी नहीं निजी खिलाड़ियों की अगुवाई में होगा। सरकार बस ऐसे निवेश को प्रोत्साहन देगी। बड़ी निर्माण कम्पनियाँ व रियल एस्टेट कम्पनियाँ (ट्रम्प ख़ुद ऐसी कम्पनियों का मालिक है) इस घोषणा से बहुत ख़ुश हैं क्योंकि उनको मुनाफ़ा कूटने के नये अवसर मिलेंगे।

जिन मुद्दों पर ट्रम्प के वायदों और पूँजीपति वर्ग के हितों में टकराहट होने की सम्भावना है वे हैं व्यापार संरक्षणवाद और आप्रवासन में बन्दिशें। अमेरिका में नौकरियाँ बढ़ाने के नाम पर ट्रम्प जापान और एशिया के साथ क्षेत्रीय व्यापार समझौते ट्रांस-पेसिफ़िक पार्टनरशिप (टीपीपी) और यूरोप के साथ व्यापार समझौते ट्रांस एटलांटिक ट्रेड एण्ड इनवेस्टमेण्ट (टीटीआईपी) को ख़त्म करने की बात कर रहा है। यही नहीं वह मेक्सिको और कनाडा के साथ मुक्त व्यापार समझौते नॉर्थ अमेरिकन फ़्री ट्रेड एग्रीमेण्ट (नाफ़्टा) पर भी फिर से मोलभाव करने की बात कर रहा है। वह अमेरिकी कम्पनियों को दूसरे देशों में निवेश करने की बजाय अमेरिका में निवेश करने पर ज़ोर देने की भी बात कर रहा है। अपने चुनावी भाषणों में उसने दावा किया था कि वह एप्पल जैसी कम्पनी को कहेगा कि वह अपने कम्प्यूटर और आईफ़ोन चीन में बनाने की बजाय अमेरिका में बनाये ताकि अमेरिका के लोगों को रोज़गार मिल सके। उसने अमेरिका में चीनी उत्पादों के आयात पर 45 फ़ीसदी कर लगाने की भी बात की थी। ज़ाहिरा तौर पर ये वो जुमले थे जिनका इस्तेमाल ट्रम्प ने चुनाव जीतने के मक़सद से किया था। ख़ुद एक पूँजीपति होने के नाते ट्रम्प यह अच्छी तरह से जानता होगा कि अमेरिकी कम्पनियाँ विदेशों में निवेश इसलिए करती हैं क्योंकि उन्हें वहाँ सस्ता श्रम और कच्चा माल मिलता है जिससे उनका मुनाफ़ा बढ़ता है। ज़ाहिरा तौर पर अमेरिका का पूँजीपति वर्ग राष्ट्रप्रेम में इतना अन्धा नहीं हो जायेगा कि वह मुनाफ़े में कटौती करके अपनी कब्र ख़ुद ही खोदने की ग़लती करेगा। ऐसे मुद्दों पर ट्रम्प को वित्तीय महाप्रभुओं के सामने घुटने टेकने ही पड़ेंगे।

ट्रम्प एक ऐसे समय अमेरिका के राष्ट्रपति का पद सँभालने जा रहा है जब विश्व पूँजीवाद अपने अन्तकारी संकट से बिलबिला रहा है। ट्रम्प की नीतियों में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस संकट से छुटकारा दिला सकने में सक्षम हो। उस पर से तुर्रा यह कि अमेरिका में एक नयी मन्दी की भी सम्भावनाएँ जतायी जा रही हैं। ऐसे में ट्रम्प जैसे धूर-दक्षिणपन्थी व्यक्ति का अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर होने से नस्लीय नफ़रत व मुस्लिम-विरोधी दुष्प्रचार को बढ़ावा दिया जाना तय है। मन्दी की मार झेल रहा अमेरिका का पूँजीपति वर्ग ट्रम्प के ज़रिये दुनिया के विभिन्न हिस्सों को नये युद्धों की ओर झोंकने में कोई कसर नहीं छोड़ेगा ताकि उत्पादक शक्तियों को तबाह कर पूँजी के मुनाफ़े की नयी सम्भावनाओं के द्वार खुल सकें। जीत के बाद ट्रम्प ने पर्यावरण क़ानूनों को धता बताने और नाभिकीय होड़ को बढ़ावा देने के संकेत भी दिये हैं। स्पष्ट है कि आने वाले वर्ष समूची दुनिया में ज़बरदस्त तबाही, उथल-पुथल और भीषण रक्तपात के होने वाले हैं। ऐसे में बड़ा सवाल यह है कि क्या ये परिस्थितियाँ मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी उभार को जन्म देंगी। इस सवाल का जवाब भविष्य के गर्त में छिपा है।

फ़िलीपींस में दुतेर्ते परिघटना और उसके निहितार्थ

• तुहिन दास

पिछले साल दुनिया के विभिन्न हिस्सों में दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी राजनीति का उभार देखने में आया। अमेरिका में ट्रम्प का उभार, ब्रिटेन में बहुमत का यूरोपीय संघ से बाहर निकलने के पक्ष में वोट करना, फ़्रांस में मैरीन ली पेन की बढ़ती लोकप्रियता व जर्मनी में धुर-दक्षिणपन्थी पार्टी एएफ़डी का उभार इसी की बानगी थी। ऐसी ही एक परिघटना फ़िलीपींस में देखने में आयी जब पिछले साल 10 मई को फ़िलीपींस के राष्ट्रपति चुनाव में रोड्रिगो दुतेर्ते ने भारी बहुमत से जीत हासिल की। दुतेर्ते के राष्ट्रपति बनने से न सिर्फ़ फ़िलीपींस के राजनीतिक समीकरणों में बल्कि समूचे एशिया प्रशान्त क्षेत्र में अमेरिकी साम्राज्यवाद के दाँव-पेंच और दक्षिण चीन सागर के इलाक़े में अमेरिका व चीन के बीच चल रही अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के पुराने सामरिक समीकरणों में बड़े बदलाव के आसार साफ़ नज़र आ रहे हैं। ऐसे में दुतेर्ते के उभार के सामाजिक-आर्थिक कारणों और साम्राज्यवादी समीकरणों में उसके निहितार्थों को समझना बेहद ज़रूरी हो जाता है।

कौन है रोड्रिगो दुतेर्ते?

पेशे से वकील रोड्रिगो दुतेर्ते राष्ट्रपति बनने से पहले फ़िलीपींस के मिंडानाओ द्वीप के दक्षिण में स्थित दवाओ शहर के महापौर और उप महापौर का पद सँभाल चुका था। 1986 में फ़र्डीनांड मार्कोस

की तानाशाही के पतन के बाद दुतेर्ते ने अपने राजनीतिक कॅरियर की शुरुआत दवाओ शहर से ही की थी। तब से लेकर अब तक अधिकांश समय में दवाओ शहर के प्रशासन की कमान दुतेर्ते और उसके परिवार के ही हाथों रही है। दवाओ में अपने कार्यकाल के दौरान दुतेर्ते अपने डेथ स्क्वाडों के ज़रिये नशीले पदार्थों की तस्करी करने वालों को निर्ममता से मरवाने के लिए कुख्यात था। राष्ट्रपति बनने के बाद उसने ये मुहिम पूरे फ़िलीपींस में छेड़ रखी है और अब तक इस मुहिम में 6000 से ज़्यादा लोग मारे जा चुके हैं। दुतेर्ते ने एक बेबाक, निर्णायक और सशक्त नेता के रूप में अपनी छवि बनायी है। हालाँकि नशीले पदार्थों की तस्करी के ख़िलाफ़ मुहिम में दुतेर्ते के अधिकांश शिकार ग़रीब व मेहनतकश पृष्ठभूमि के लोग रहे हैं, लेकिन मज़बूत नेता के रूप में उसकी छवि से उसे मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से का ज़बरदस्त समर्थन भी प्राप्त है। राष्ट्रपति बनने के बाद अमेरिका के ख़िलाफ़ अपने कई तीखे बयानों और चीन व रूस के प्रति नरम रवैया अपनाने की वजह से वह अक्सर अन्तरराष्ट्रीय मीडिया की सुर्ख़ियों में भी छाया रहता है। मीडिया के ज़रिये सनसनीखेज बयान देकर वह अपनी लोकप्रियता बढ़ाने में भी माहिर है। कभी वह ओबामा को भद्दी गाली देता है तो कभी यह आरोप लगाता है कि सीआईए उसकी हत्या करवाने की योजना बना रही है। वास्तव में वह फ़िलीपींस के बुर्जुआ वर्ग का ही प्रतिनिधि है, हालाँकि हर दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी की ही तरह तात्कालिक रूप से वह एक हद तक वर्ग से स्वायत्त प्रतीत होता है।

दुतेर्ते के राष्ट्रपति बनने के सामाजिक-आर्थिक कारण

दुतेर्ते जैसे दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी व्यक्ति के फ़िलीपींस का राष्ट्रपति बनने के पीछे के सामाजिक-आर्थिक कारणों को जानने के लिए हमें वहाँ के हालिया इतिहास पर एक नज़र दौड़ानी होगी। 1986 में जनान्दोलन के दबाव में मार्कोस की तानाशाही के पतन के बाद फ़िलीपींस में बुर्जुआ लोकतन्त्र का औपचारिक ढाँचा तो पुनर्स्थापित हुआ लेकिन वहाँ की राजनीति और अर्थव्यवस्था में मुट्ठी भर प्रभुत्वशाली घरानों का दबदबा बना रहा। 1990 के दशक के बाद दुनिया के तमाम हिस्सों की तरह फ़िलीपींस में भी नवउदारवादी नीतियाँ लागू की गयीं जिनका नतीजा फ़िलीपींस में पहले से मौजूद आर्थिक असमानता की खाई के चौड़ा होने के रूप में देखने में आया। एक आँकड़े के अनुसार वर्ष 2011 में फ़िलीपींस के कुल सकल घरेलू उत्पाद के लगभग तीन चौथाई हिस्से का मालिकाना हक़ वहाँ के 40 सबसे अमीर घरानों का क़ब्ज़ा था।[1] इन घरानों का मालिकाना फ़िलीपींस के प्रमुख उद्योगों और कृषि-योग्य भूमि तक विस्तृत है। वहाँ की राजनीति में भी इन्हीं घरानों की दख़ल रही है। इन घरानों की अपनी निजी सेनाएँ हैं। वहाँ के चुनावों में बाहुबल और धनबल का धड़ल्ले से इस्तेमाल होता है।

पिछले 30 सालों में नवउदारवादी आर्थिक नीतियों और राजनीति में शासक घरानों के वर्चस्व की वजह से फ़िलीपींस की आम मेहनतकश आबादी ग़रीबी और बदहाली भरा जीवन बिताने मजबूर है। इन वर्षों में आर्थिक विकास की दर तो तेज़ रही लेकिन इस विकास का लाभ शासक

घरानों तक ही सीमित रहा। जहाँ मुट्ठी भर रईसों की विलासिता विकसित देशों के धनकुबेरों की विलासिता को टक्कर देती है वहीं आम लोग बड़ी मुश्किल से अपना जीवन-यापन कर पाते हैं। फ़िलीपींस के 'सोशल वेदर स्टेशन्स' के हालिया सर्वेक्षण के मुताबिक़ वहाँ ग़रीब परिवारों का अनुपात 46 प्रतिशत और कुपोषण के शिकार परिवारों का अनुपात 13 प्रतिशत है।[2] फ़िलीपींस के मेट्रो मनीला में दुनिया के सबसे ज़्यादा बेघर लोग रहते हैं। वहाँ का पूरा विकास राजधानी मनीला के कुछ समृद्ध इलाक़ों तक ही सीमित है। मनीला के विकसित इलाक़ों की तुलना में शेष फ़िलीपींस के अत्यन्त पिछड़ेपन के मद्देनज़र वहाँ के लोग उन विकसित इलाक़ों को व्यंग्यात्मक रूप से 'इम्पीरियल मनीला' बोलते हैं। इस 'इम्पीरियल मनीला' में ही लुज़ोन द्वीप का कुलीन तबक़ा विलासिता भरी ज़िन्दगी बिताता है।

भीषण आर्थिक असमानता और भयंकर क्षेत्रीय असन्तुलन और साथ ही साथ बढ़ते भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद एवं अपराध व तस्करी की वजह से फ़िलीपींस के आम लोगों में बड़े शासक घरानों के ख़िलाफ़ गुस्सा लम्बे समय से पक रहा था जिसका लाभ उठाने में दुतेर्ते क़ामयाब रहा। हालाँकि दुर्तेते ख़ुद एक धनी व राजनीतिक परिवार से आता है और उसने भी मिंडानाओ द्वीप में वंशवाद की राजनीति को ही बढ़ावा दिया, लेकिन अपने चुनावी अभियान में वह ख़ुद को लुज़ोन द्वीप और 'इम्पीरियल मनीला' के बाहर का प्रस्तुत करके लोगों को यह यक़ीन दिलाया कि वह कुलीन घरानों की सत्ता को चुनौती देगा, बदलाव लाएगा और लूज़ॉन द्वीप और मनीला शहर के अलावा भी फ़िलीपींस के अन्य इलाक़ों को विकसित करेगा। दुतेर्ते की लोकरंजक और बेबाक शैली ने मध्यवर्ग के बड़े हिस्से को उसकी ओर आकर्षित किया जो कुलीन शासक घरानों की विलासिता और भ्रष्टाचार से तंग आ चुका था। ये वो परिस्थितियाँ थीं जिनमें दुतेर्ते को केन्द्रीय सत्ता तक पहुँचा।

दुतेर्ते के अब तक के कार्यकाल का लेखा-जोखा और भविष्य की सम्भावनाएँ

रोड्रिगो दुतेर्ते के फ़िलीपींस के राष्ट्रपति पद का कार्यकाल सँभाले छह महीने से ज़्यादा का समय बीत चुका है। इन छह महीनों में उसके शासन की रूपरेखा समझी जा सकती है। हालाँकि वह ख़ुद को एक "वामपन्थी" और फ़िलीपींस का पहला "समाजवादी" राष्ट्रपति कहता है और वह फ़िलीपींस की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक महासचिव होसे मारिया सिसों का छात्र भी रह चुका है, लेकिन उसकी कैबिनेट के संघटन और पिछले छह महीने में उसकी नीतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ख़ुद का वामपन्थी कहना उसके लिए महज़ एक जुमला है जिसका इस्तेमाल वह आम मेहनतकशों का समर्थन हासिल करने के लिए करता है। ग़ौरतलब है कि फ़िलीपींस में पूँजीवादी विकास के पर्याप्त प्रमाण होने के बावजूद फ़िलीपींस की कम्युनिस्ट पार्टी 1963 की जनरल लाइन से अभी तक चिपकी हुई और और फ़िलीपींस को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक मानते हुए दुतेर्ते को राष्ट्रीय बुर्जुआ का प्रतिनिधि बताकर उसके साथ सहयोग की नीति अपना रही है। दुतेर्ते ने भी उसको तुष्ट करने के लिए अपने मन्त्रिमण्डल में तीन कैबनेट पद – श्रम, भूमि सुधार और

समाज कल्याण - वामपन्थियों को दिये हैं और शान्ति वार्ता की प्रक्रिया भी शुरू की है। लेकिन ग़ौर करने वाली बात यह है कि दुतेर्ते ने प्रमुख आर्थिक मन्त्रालय घोर नवउदारवादियों को दिये हैं और अपने अब तक के कार्यकाल के दौरान उसने उन नवउदारवादी नीतियों का बदस्तूर जारी रखा है जिनकी वजह से फ़िलीपींस में आम लोगों की ज़िन्दगी नरक जैसी बन गयी है।

फ़िलीपींस की कम्युनिस्ट पार्टी यह उम्मीद बाँधे बैठी थी कि दुतेर्ते स्टील जैसे बुनियादी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके और छोटे व मंझोले उद्योगों को बढ़ावा देकर राष्ट्रीय उद्योगीकरण की दिशा में क़दम उठायेगा। लेकिन दुतेर्ते ने अब तक के अपने कार्यकाल में यह स्पष्ट कर दिया है कि उसका ऐसा कोई इरादा नहीं है और उसने फ़िलीपिनो लोगों के सस्ते श्रम को निचोड़ने की खुली आज़ादी का लालच देते हुए विदेशी निवेश आकर्षिक करने की पुरानी सरकार की नीतियों का बदस्तूर जारी रखा है। ग़ौरतलब है कि फ़िलीपींस भी भारत की ही तरह बिज़नेस प्रॉसेस आउटसोर्सिंग (बीपीओ) का एक गढ़ है जहाँ अमेरिकी और यूरोपीय कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर अपने बिज़नेस के एक हिस्से (मिसाल के लिए कॉल सेंटर, ट्रांसक्रिप्शन आदि) को आउटसोर्स करती हैं।

दुतेर्ते सरकार मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ाने और ठेकाकरण ख़त्म करने के अपने वायदे से भी पलटती नज़र आ रही है। इसके अतिरिक्त रियल एस्टेट और एग्रीबिज़नेस कम्पनियों के दबाव में सरकार कृषि-योग्य भूमि के किसी अन्य इस्तेमाल पर रोक की किसानों की माँग की भी अनदेखी कर रही है। अवरचनागत (इंफ्रास्ट्रक्चर) विकास के लिए दुतेर्ते सरकार ने भी अपने पूर्ववर्ती सरकारों की ही तरह पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप का रास्ता अपनाकर सार्वजनिक कोष से सब्सिडी देकर पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ाने की नीति को जारी रखा है। यही नहीं आयकर, एस्टेट कर, कैपिटल गेन्स कर, ट्रांजैक्शन कर जैसे प्रत्यक्ष करों को कम करने और वैट जैसे अप्रत्यक्ष कर को बढ़ाने की जो नवउदारवादी कर नीतियाँ दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बुर्जुआ शासकों द्वारा लागू की जा रही हैं उन्हीं को दुतेर्ते सरकार भी लागू कर रही है।

विदेश नीति के मामले में हालाँकि दुतेर्तो ने अमेरिका के ख़िलाफ़ कुछ तीखे बयान ज़रूर दिये (उसने अमेरिका के साथ सैन्य समझौते को रद्द करने और दक्षिण चीन सागर में अमेरिका की सैन्य चौकी तक हटाने तक की धमकी दी) और चीन व रूस की ओर मित्रता का हाथ भी बढ़ाया, लेकिन समय बीतने के साथ ही साथ यह स्पष्ट होता जा रहा है कि दुतेर्ते का अमेरिका से सम्बन्ध-विच्छेद का कोई इरादा नहीं है। दरअसल दुतेर्ते दक्षिण चीन सागर में फ़िलीपींस की भू-सामरिक स्थिति (फ़िलीपींस) और अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर फ़िलीपींस के आर्थिक और सामरिक विकल्पों को विस्तारित करने की फ़िलीपींस के बुर्जुआ वर्ग की आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दे रहा है। जहाँ एक ओर वह चीन से क़रीबी बढ़ा रहा है, वहीं दूसरी ओर वह अमेरिका से पूरी तरह रिश्ता नहीं तोड़ रहा है। चीन अपनी महत्वाकांक्षी योजना 'वन बेल्ट वन रोड' के तहत यूरेशिया और अफ़्रीका के 60 देशों को सड़कों, तीव्र गति की रेलों, फ़ाइबर ऑप्टिक लाइनों, ट्रांसकॉन्टिनेंटल सबमरीन ऑप्टिकल केबल प्रोज़ेक्टों और सैटेलाइट इन्फ़ॉर्मेशन पासवेज़ के ज़रिये जोड़ना चाहता है। दुतेर्ते फ़िलीपींस के विभिन्न द्वीपों और शहरों को जोड़ने के लिए इस योजना के तहत चीनी निवेश फ़िलीपींस की ओर आकर्षित करना चाहता है।

इसी मक़सद से उसने हाल ही में चीन की यात्रा भी की जिस दौरान वह फ़िलीपींस में 24 अरब डॉलर का चीनी निवेश आकर्षित करने में सफल भी रहा। चीन के प्रति नरम रुख़ अख़्तियार करते हुए दुतेर्ते ने दक्षिण चीन सागर में एक अन्तरराष्ट्रीय ट्राइब्यूनल के फ़ैसले को न मानने के चीन के फ़ैसले के ख़िलाफ़ कोई अपील नहीं करने का फ़ैसला किया। ग़ौरतलब है कि अन्तरराष्ट्रीय ट्राइब्यूनल में यह विवादित मामला फ़िलीपींस की ही पुरानी सरकार ले गयी थी।

हालाँकि सैन्य मामलों में लेकिन साथ ही दुतेर्ते अमेरिका द्वारा प्रस्तावित ट्रांस-पैसिफ़िक पार्टनरशिप (टीपीपी) नामक मुक्त व्यापार समझौते की ओर भी दिलचस्पी दिखा रहा है जिसमें चीन को छोड़कर एशिया-प्रशान्त क्षेत्र के सभी देश शामिल होंगे। इस समझौते की एक प्रमुख शर्त यह है कि इसमें शामिल सभी देशों को अपने यहाँ के उद्योगों में पूर्ण विदेशी स्वामित्व की मंज़ूरी देनी होगी। इसके लिए फ़िलीपींस के संविधान में संशोधन करना होगा। दुतेर्ते ने हाल ही में इस संविधान संशोधन के लिए एक कमेटी का गठन किया है। अमेरिका का अलावा दुतेर्ते जापान से भी सम्बन्ध बरक़रार रखना चाहता है। इसी मक़सद से उसने चीन के बाद जापान की भी यात्रा की। यही नहीं वह यूरोप के देशों के साथ मुक्त व्यापार समझौतों पर भी हस्ताक्षर करने की भी पहल की है।

स्पष्ट है कि दुतेर्ते भले ही स्वयं को वर्गों को बुर्जुआ वर्ग के हितों का ही प्रतिनिधित्व कर रहा है। नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के लिए जिस निरंकुशता की ज़रूरत होती है वह दुतेर्ते में कूट-कूट कर भरी हुई है। उसकी कोशिशों के नतीजे के रूप में फ़िलीपींस में भले ही विदेशी पूँजी निवेश को बढ़ावा मिलेगा, लेकिन उसका फ़ायदा वहाँ के रईसों को ही होने वाला है और फ़िलीपींस की आम मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी की मुश्किलें बरक़रार रहेंगी क्योंकि नवउदारवादी नीतियाँ रोज़गारविहीन विकास ही दे सकती हैं, जिसके फलस्वरूप असमानता की खाई का चौड़ा होना और जारी रहेगा। । हाँ यह ज़रूर है कि फ़िलीपींस के इतिहास में पहली बार अमेरिकी साम्राज्यवादियों पर पूर्ण निर्भरता की बजाय फ़िलीपींस के भू-सामरिक स्थिति का लाभ उठाकर वह अमेरिका और चीन दोनों से मोलतोल करने की दिशा में आगे बढ़ेगा। देखना यह है कि अमेरिका में ट्रम्प के सत्ता में आने के बाद एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में आए इस बड़े बदलाव और से इस इलाक़े पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इतना तो तय है कि दक्षिण चीन सागर में अमेरिकी व चीनी साम्राज्यवादियों के बीच जारी प्रतिस्पर्द्धा और तेज़ होगी जिससे वहाँ तनाव व अस्थिरता का माहौल भी पैदा होगा जिसका दुष्परिणाम फ़िलीपींस की आम आबादी को ही झेलना होगा।

सन्दर्भ सूची

1. https://business.inquirer.net/110413/philippines-elite-swallow-countrys-new-wealth
2. http://www.bworldonline.com/content.php?section=TopStory&title=poverty-statistics-at-multi-year-lows&id=128159

The Anvil

A Journal of Marxist Theory

We are living in a challenging time pregnant with unlimited possibilities. The unprecedented structural crisis plagues the world capitalist system and the caterwaul of 'End of History' has fallen silent. The crisis has led to the rise of different forms of bourgeois reaction, including Fascism, in a number of countries. However, the last decade has also been witness to revival of popular anti-capitalist movement and working class movement. The lull that had gripped working class movement is coming to an end. Nevertheless, the working class movements are scattered, spontaneous and in want of a revolutionary political leadership. The crisis of capitalist system is matched by the crisis of the working class movement. The latter is constituted by the unresolved questions facing the revolutionary communist movement. In such a scenario, 'The Anvil' presents a humble and modest initiative in the direction of responding to the ideological and political challenges of the movement, of problematizing the axiomatic and intuitive notions hindering the path of creative and critical thinking, of posing the right questions and initiating a fruitful debate among revolutionary communists.

Issue Number 1 • January 2007

In the First Issue...

— Naxalbari and Subsequest Four Decades: A Retrospection

— Resistible Rise of Fascism and the Challenges of the Working Class Movement

— Hands off Lenin: 'Patnaik Conjuncture' and the Travesty of Leninism

— Lessons for the Saner Segments Who Wish to Inhabit the Margins Forever

— Demonetisation and the Indian Left

— Kashmir: A Tragic Tale of the Betrayal of the Indian State

— Palestinian Liberation Struggle: Contradictions Within

Price: Rs. 100 Only

To buy the first issue, contact:

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow-226020

Phone: 0522-2786782, 8853093555,

Email: info@janchetnabooks.org

हिन्दी जगत के पाठकों के लिए एक बेहद ज़रूरी नयी पत्रिका

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

पिछले 25 वर्षों के दौरान, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जो बदलाव आये हैं, और इनमें जनसंचार माध्यमों, ख़ासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और 'नये मीडिया' का जो योगदान है, उस पर काफ़ी चर्चा होती रही है। सहमति और "असहमति" मैन्युफ़ैक्चर करने और विचार-निर्मिति के लिए शासक वर्गों के हाथों में यह एक बेहद प्रभावी हथियार है और इसकी प्रभाविता तथा पहुँच आज पहले से कई गुना बढ़ चुकी है। समाज के बौद्धिक तत्वों और उन्नत मस्तिष्कों को प्रभावित और अनुकूलित करने में इण्टरनेट-आधारित माध्यम बेहद कारगर साबित हो रहे हैं।

मीडिया की वैचारिकी पर आज काफ़ी काम हो रहा है, मार्क्सवादी दृष्टि से भी और 'उत्तर' सरणियों से पैदा हुई दृष्टि से भी। उन सभी की विवेचनाओं में जाना भी ज़रूरी है।

इस परिदृश्य में एक वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की ज़रूरत और चुनौतियाँ पहले से कहीं ज़्यादा हैं। लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक परिवर्तन की परियोजनाओं के एक अंग के तौर पर वैकल्पिक मीडिया का ताना-बाना खड़ा करने की व्यापक सम्भावनाएँ भी आज मौजूद हैं। इस दृष्टि से नये मीडिया की नयी सम्भावनाओं के अन्वेषण और उपयोग के साथ ही इसकी सीमाओं-समस्याओं को भी विचार के दायरे में लाना होगा।...

हिन्दी में सुनिश्चित लक्ष्य पर केन्द्रित ऐसी एक विशिष्ट पत्रिका की शिद्दत के साथ ज़रूरत महसूस होती रही है। इस ज़रूरत को पूरा करने की यह एक विनम्र कोशिश है।

अब तक प्रकाशित तीन अंकों की सामग्री की जानकारी
पत्रिका की वेबसाइट पर उपलब्ध है

सम्पादक: **कात्यायनी, सत्यम**

मूल्य: 40 रुपये

वार्षिक सदस्यता : 160 रुपये (डाक व्यय अतिरिक्त), त्रैमासिक

सम्पादकीय पता: **69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006**

ईमेल: **naandipath@gmail.com**, फोन: **9936650658 / 8853093555**

वेबसाइट: **http://naandipath.in** फेसबुक: **www.facebook.com/naandipath**

Disha Sandhan January-March 2017
RNI Title Code: UPHIN 43949

चाहे कोई सिद्धान्तकार (लेनिन) को ऐतिहासिक विश्लेषण के प्रमाण के नीचे दफ़्न कर देने की कितनी भी कोशिश करे, यह एक इन्सान है जो हमेशा इतिहास और हमारी ज़िन्दगियों के धरातल पर खड़ा होता है, चिरकालिक 'वर्तमान स्थिति' में। वह शान्त भाव से या आवेग के साथ बात करता जाता है। वह किसी सरल-सी चीज के बारे में बात करता जाता है: उसका क्रान्तिकारी व्यवहार, वर्ग संघर्ष का व्यवहार, इस बारे में कि वह कौन सी चीज़ है जो इतिहास पर कार्रवाई करने को सम्भव बनाती है...यह दिखाने के लिए नहीं कि क्रान्तियाँ अवश्यम्भावी होती हैं, बल्कि उन्हें हमारे अद्वितीय वर्तमान में सम्पन्न करने के लिए।

– लुई अल्थूसर

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

जनवरी-मार्च 2018
अंक 5 100 रुपये

मार्क्स की 'पूँजी' के प्रथम प्रकाशन के 150 वर्ष (14 सितम्बर, 2017) पूरे होने के अवसर पर

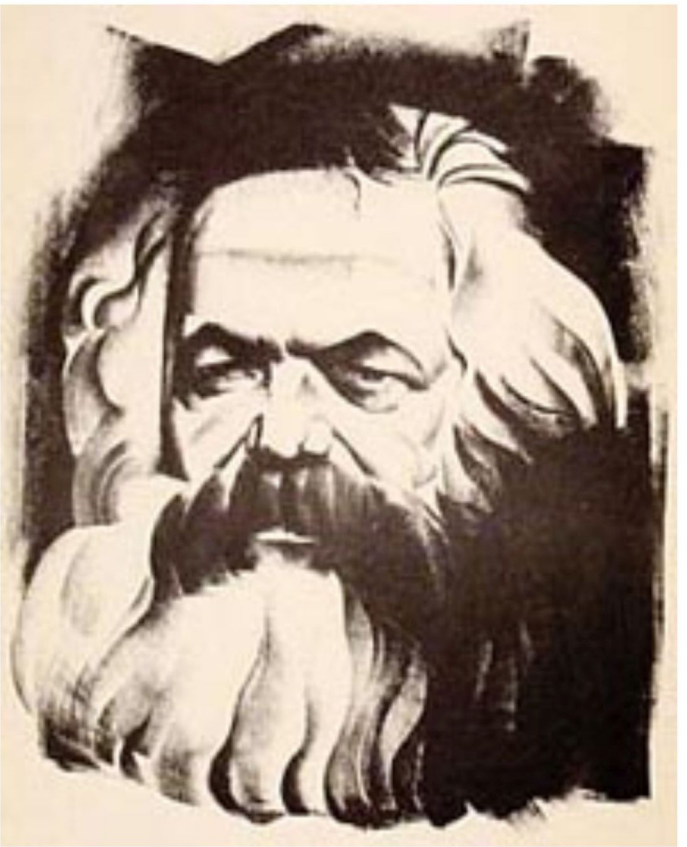

"अर्थशास्त्रियों ने मार्क्स को तरह-तरह से बदला है,
लेकिन प्रश्न है उनकी व्याख्या करने का...सही तरह से।"
- एण्ड्रू क्लिइमन (प्रसिद्ध मार्क्सवादी अर्थशास्त्री)

मार्क्स का वुडकट: प्रसिद्ध अमेरिकी मार्क्सवादी चित्रकार ह्यूगो गेलर्ट

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

5

जनवरी-मार्च 2018

5
दिशा सन्धान
मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच
जनवरी-मार्च 2018

सम्पादक
कात्यायनी/सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :
69 ए-1, बाबा का पुरवा
पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 9936650658/8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

प्रति अंक : 100 रुपये
वार्षिक सदस्यता : 400 रुपये (डाकख़र्च 160 रुपये)
आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क **'दिशा सन्धान'** (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता ज़रूर बता दें।
चालू खाता सं. 0762002109003644
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,
आईएफएससी कोड : PUNB0076200

•

सम्पादन-संचालन पूर्णत: अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा क्रिएटिव प्रिंटर्स, 628/5-28, शक्तिनगर, लखनऊ द्वारा मुद्रित

इस अंक में

सम्पादकीय की एवज़ में

गुजरात व हिमाचल के चुनाव और फ़ासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति का प्रश्न **5**

आपकी बात **13**

विशेष लेख

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव : इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ
(पाँचवीं किस्त) — *अभिनव सिन्हा* **14**

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन
(चौथी किस्त) — *दीपायन बोस* **78**

बहस

विज्ञान और मार्क्सवादी दर्शन के सम्बन्धों का एक अवैज्ञानिक और अज्ञानतापूर्ण पाठ : एक आलोचना — *सनी सिंह* **94**

वैचारिकी

उत्तर-मार्क्सवाद के 'कम्युनिज़्म': उग्रपरिवर्तन के नाम पर परिवर्तन की हर परियोजना को तिलांजलि देने की सैद्धान्तिकी — *शिवानी, बेबी* **134**

समकालीन

ट्रम्प का यरुशलम दाँव : अमेरिकी साम्राज्यवाद की बौखलाहट की निशानी
— *आनन्द सिंह* **167**

चीन : एक उभरती हुई साम्राज्यवादी ताक़त और उसके निहितार्थ
— *आनन्द सिंह* **173**

राजसमन्द हत्याकाण्ड और भारतीय फ़ासीवाद का चरित्र — *शिवानी कौल* **182**

बिटकॉइन : पूँजीवादी संकट के भँवर में एक नया बुलबुला
— *उत्कर्ष* **187**

रिपोर्ट

आज के साम्राज्यवाद पर लखनऊ में आयोजित छठी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी की रिपोर्ट — *आनन्द सिंह* **192**

गुजरात व हिमाचल के चुनाव और फ़ासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति का प्रश्न

हालिया चुनावों के नतीजे अपेक्षाओं के अनुरूप ही थे। जैसा कि हिमाचल प्रदेश में हमेशा होता है, जिस पार्टी की सरकार थी वह पार्टी चुनाव हार गयी। कांग्रेस की जगह प्रदेश में भाजपा की सरकार बन गयी। लेकिन गुजरात चुनावों में तथाकथित मोदी लहर की गिरावट के स्पष्ट संकेत मिले। अभी हम ईवीएम के साथ छेड़छाड़ और चुनाव आयोग द्वारा स्पष्ट तौर पर भाजपा के 'बाह्य अघोषित विभाग' के रूप में काम करने के पहलू पर बात न भी करें, तो इतना स्पष्ट है कि तथाकथित मोदी लहर गिरावट के पहले लक्षण प्रदर्शित कर रही है। अगर हम चार महानगरों यानी अहमदाबाद, सूरत, वडोदरा और राजकोट के नतीजों को अलग कर दें, तो कांग्रेस ने यह चुनाव अच्छे अन्तर से जीता है। कांग्रेस के इस पुनरुत्थान का कारण है कि नोटबन्दी और जीएसटी जैसे जनविरोधी आर्थिक क़दमों के कारण मोदी सरकार का घटता सामाजिक आधार। इसके अलावा, कुछ दीर्घकालिक कारक भी काम कर रहे थे, जैसे कि मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद से बेरोज़गारी, महँगाई और खेती के संकट का अभूतपूर्व रफ्तार से बढ़ना। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि मोदी सरकार ने सत्ता में आने के बाद से ही जनविरोधी और पूँजीपरस्त नीतियों को धड़ल्ले से और तानाशाहाना तरीक़े से लागू करना शुरू किया। मोदी को सत्ता में पहुँचाने के लिए बड़े पूँजीपतियों और साम्राज्यवादी पूँजी ने इसीलिए तो हज़ारों करोड़ रुपये मोदी के चुनाव प्रचार में पानी की तरह बहाये थे। और मोदी के सत्ता में

आने के बाद से संकट झेल रहे पूँजीपति वर्ग ने मोदी सरकार को और भाजपा को अपना सहयोग और समर्थन अभूतपूर्व रूप से बढ़ाया है। इसकी इन्तहा इस बात में देखी जा सकती है भाजपा के अतिरिक्त अन्य पूँजीवादी पार्टियों को चुनावों के लिए पर्याप्त चन्दा पूँजीपति घरानों से नहीं मिल रहा है। मोदी द्वारा नवउदारवादी नीतियों को धक्काज़ोरी से आगे बढ़ाने में किसी को भी आश्चर्य नहीं होता क्योंकि फ़ासीवाद हमेशा ही बड़े पूँजी के सबसे प्रतिक्रियावादी धड़े की "सबसे बर्बर और नग्न तानाशाही" होता है। मोदी सरकार इस आम नियम का अपवाद नहीं है।

मोदी सरकार और संघ परिवार ने इन नवउदारवादी नीतियों के समर्थन सन्दर्भ के तौर पर साम्प्रदायिक फ़ासीवादी प्रचार और अभियानों को जमकर बढ़ावा दिया है, जैसे कि 'लव जिहाद', 'गोरक्षा', 'घर वापसी' आदि। यह भी स्वाभाविक है और राजनीतिक तौर पर सचेत हर व्यक्ति पहले से ही जानता था कि मोदी सरकार नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के साथ-साथ फ़ासीवादी लम्पट गिरोहों को खुला हाथ दे देगी, सभी प्रगतिशील शक्तियों पर हमला करेगी, साम्प्रदायिक तनाव को हवा देगी और भीड़ द्वारा अल्पसंख्यकों की हत्या को खुली छूट दे देगी, तर्कवादियों की हत्याओं को बढ़ावा देगी, युवाओं के व्यवस्थित फ़ासीवादीकरण के लिए पाठ्यक्रम में बदलाव करेगी, पूँजीवादी जनवादी प्रक्रियाओं और संस्थाओं को निलम्बित व बरबाद करेगी, भले ही संसदीय जनवाद का ढाँचा औपचारिक तौर पर क़ायम रहे और यह सबकुछ हिन्दुत्व राष्ट्रवाद के नाम पर किया जायेगा। इस सब में भी कुछ अचरज पैदा करने वाला नहीं है। फ़ासीवाद हमेशा से ही सबसे रोगात्मक क़िस्म की धार्मिक कट्टरता/नस्लवाद/प्रवासी-विरोध, अन्धराष्ट्रवाद, आधुनिक पुनरुत्थानवाद, विक्षिप्त क़िस्म के प्रगतिशीलता-विरोध, *मित्तेलस्टाण्ड* (टटपुँजिया वर्ग) के रूमानी उभार का मिश्रण रहा है, जो कि मज़दूर वर्ग के भी एक हिस्से को अपने साथ बहा ले जाता है; संक्षेप में, फ़ासीवाद हमेशा से ही एक प्रतिक्रियावादी *सामाजिक आन्दोलन* रहा है; यह *कोई भी* दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया नहीं है। संघ परिवार और मोदी सरकार ने फ़ासीवाद की इस ख़ासियत को एक बार फिर से प्रदर्शित किया है, जिसे बहुत समय पहले मार्क्सवादियों द्वारा पहचान लिया गया था लेकिन जिसके बारे में आज भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों में सबसे कम समझदारी दिखलायी पड़ती है।

मोदी सरकार ने फ़ासीवाद की उपरोक्त दो विशेषताओं को अपने शासन में सफलतापूर्वक मिश्रित किया है। इसका कारण फ़ासीवाद की तीसरी विशिष्टता में निहित है, यानी एक काडर-आधारित संगठन। भारतीय फ़ासीवाद ने एक काडर-आधारित संगठन विकसित करने में विशेष तौर पर सफलता हासिल की है। इस काडर-आधारित संगठन के बूते, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने एक लम्बी प्रक्रिया में भारतीय राज्य मशीनरी और सशस्त्र बल और साथ ही नौकरशाही और न्यायपालिका तक में घुसपैठ की है। इसी प्रकार, संघ ने भारतीय 'नागरिक समाज' की पोरों तक में एक लम्बी प्रक्रिया में अपनी पैठ बनायी है, जो कि आज़ादी के पहले ही शुरू हो गयी थी। इस प्रकार, जिस प्रक्रिया को ग्राम्शी ने 'आणविक व्याप्ति' (molecular permeation) का नाम दिया था, वह भारतीय फ़ासीवाद के मामले में एक लम्बी दीर्घकालिक प्रक्रिया रही है, जबकि जर्मन

और इतालवी फ़ासीवाद के मामले में इस प्रक्रिया में एक तीव्रता और तीक्ष्णता का तत्व प्रधान था। दूसरे शब्दों में, भारतीय फ़ासीवाद की ऊष्मायन अवधि (incubation period) ज़्यादा लम्बी थी और इस वजह से इसका उभार किसी आकस्मिक आपदा के समान (cataclysmic) नहीं था। यह व्याख्या भी अब धीरे-धीरे भारतीय फ़ासीवाद की समझदारी के बारे स्वीकृत होती जा रही है।

भारतीय फ़ासीवाद का दीर्घकालिक उभार, या ग्राम्शी के शब्दों में एक लम्बा 'पैस्सिव रिवोल्यूशन' सभी फ़ासीवादी उभारों में निहित एक अन्य विशिष्टता को भी प्रदर्शित करता है : एक विशिष्ट प्रकार की 'विचारधारात्मक एकता'। इस विचारधारात्मक एकता के बुनियादी आयाम हैं एक कल्पित शत्रु, एक 'अन्य' की छवि का निर्माण, जो कि भारतीय मामले में 'मुसलमान' है; मिथकों को 'कॉमन सेंस' के रूप में स्थापित करना; एक रूमानी और प्रतिक्रियावादी पश्चगामिता (millenarianism) जो कि 'रामराज्य' की फन्तासी में प्रकट होती है; रोगात्मक क़िस्म का राष्ट्रवाद व प्रगतिशीलता-विरोध और एक आधुनिक क़िस्म का आधुनिकता-विरोध। ये सभी गुण आज के भारतीय फ़ासीवाद में देखे जा सकते हैं। ये सभी चीज़ें उदार बुर्जुआ जनवाद के संकट और भारतीय संशोधनवाद और सामाजिक-जनवाद की अवश्यम्भावी असफलता के नतीजे के तौर पर ही सामने आ रही हैं। जो बुनियादी अन्तरविरोध उदार बुर्जुआ परियोजना और साथ ही सामाजिक-जनवादी परियोजना की असफलता का कारण बनता है वह है बार-बार आने वाला पूँजीवाद का आर्थिक संकट, जो कि कुण्डलाकार पथ में प्रकट होता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह ह्रास और पतन की ओर बढ़ता 'स्पाइरल' होता है।

भारत में फ़ासीवाद के उदय को समझने के लिए और इस फ़ासीवादी उभार के प्रतिरोध के लिए प्रभावी और सही रणनीति और रणकौशल तय करने के लिए उपरोक्त सभी चारित्रिक अभिलाक्षणिकताओं को समझना बेहद ज़रूरी है। गुजरात और हिमाचल के विधानसभा चुनावों के नतीजे सामने आने के बाद, इन बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं को समझने में कुछ "वामपन्थियों" की अक्षमता के कारण वे कई ग़लत विश्लेषणों और नतीजों तक पहुँच रहे हैं।

इन "वामपन्थियों" के एक हिस्से को हम "चिरन्तन और नादान आशावादी" कह सकते हैं। यह हिस्सा विशेष तौर पर गुजरात के नतीजों से सदमे में आ गया था। इस धड़े के लोगों ने दावा किया था कि भाजपा गुजरात में हारने जा रही है और वोटों की गिनती के पूरा होने से पहले ही इन्होंने कुछ देर के लिए जश्न मनाना भी शुरू कर दिया था (जब एक छोटे-से समय के लिए कांग्रेस भाजपा से आगे निकल गयी थी)। लेकिन जब अन्ततः भाजपा जीत गयी, हालाँकि वह गिरते-पड़ते ही बहुमत के आँकड़े तक पहुँच पायी थी, तो इस धड़े के नादान आशावादियों की आशाओं पर तुषारापात हो गया और वे दावा करने लगे कि फ़ासीवादी भाजपा इसलिए जीती है क्योंकि नतीजों में हेरफेर किया गया है और ईवीएम के साथ छेड़छाड़ की गयी है। यह एक अन्तरविरोधी बात है क्योंकि इसमें यह अन्तरनिहित है कि हम जिस राजनीतिक परिघटना के साक्षी बन रहे हैं, वह फ़ासीवाद ही है और अगर हम यह मानते हैं तो ईवीएम से छेड़छाड़ पर चकित या दुखी होना बेकार है। यह स्वाभाविक ही है कि फ़ासीवाद हर बुर्जुआ जनवादी प्रक्रिया, प्रथा और संस्था को

कमज़ोर बनायेगा ही, अगर वह उसे एकदम ख़त्म नहीं भी करता है। इस स्वीकृति में इस बात का अहसास भी अन्तर्निहित होना चाहिए कि फ़ासीवाद को महज़ चुनावी रणनीति से नहीं हराया जा सकता है; इसलिए भाजपा की चुनावी हार पर हर्षोन्मत्त हो जाना और उसकी चुनावी जीत पर हताशा में डुबकी लगा जाना इस प्रकार के नादान आशावादियों के 'उदार बुर्जुआ वायरस' से पैदा हुए विभ्रमों को ही दिखलाता है।

"वामपन्थियों" का एक अन्य हिस्सा है जो कहता है कि भाजपा की जीत में कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि चुनावों में कोई 'वास्तविक विकल्प' था ही नहीं; लेकिन इतना तय है कि भाजपा बस किसी तरह से हाँफते-काँपते जीती है। यह सच है। लेकिन इस बात से ये दूसरी श्रेणी के लोग क्या नतीजा निकालते हैं? यह कि फ़ासीवाद ह्रास और पतन का शिकार है। जैसा कि हम देख सकते हैं कि वे 'मोदी लहर' और फ़ासीवाद के बीच फ़र्क़ नहीं कर पाते। 'मोदी लहर' मौजूदा फ़ासीवादी उभार का तात्कालिक अस्तित्व रूप है; न कि अपने आप में फ़ासीवाद। किसी सन्तृप्ति बिन्दु पर पहुँचने के साथ 'मोदी लहर' की जगह किसी 'योगी लहर' को पैदा किया जा सकता है, ऐसी अटकल लगाने में कुछ भी अतार्किक नहीं है। ऐसे 'वामपन्थियों' का राजनीतिक मोतियाबन्द उन्हें सारवस्तु को देखने नहीं देता और वे हमेशा परिघटना के स्तर पर ही अटके रहते हैं। यही कारण है कि जब कोई मोदी जीत जाता है तो पुनरावलोकन में उन्हें आडवाणी 'लेसर ईविल' दिखने लगता है; जब कोई आडवाणी शीर्ष पर पहुँच जाता है, तो उन्हें पुनरावलोकन में अटल उदार लगने लगता है; और यह असम्भव नहीं है कि जब मोदी से भी ज़्यादा रोगात्मक, प्रतिक्रियावादी और आक्रामक 'फ्यूरर' व्यक्तित्व फ़ासीवादियों या फिर सरकार के शीर्ष पर पहुँच जायेगा तो ऐसे लोगों को पुनरावलोकन में मोदी भी उदार नज़र आने लगे। जैसा कि हम देख सकते हैं कि ऐसे लोगों का विश्लेषण प्रत्यक्षवादी और अधिभूतवादी होता है। यह सारतत्व और अन्तर्सम्बन्धों को नहीं देख पाता है।

उदार "वाम" का एक अन्य हिस्सा भी है जो कि अभी भी मोदी व फ़ासीवाद को हराने के लिए दमित अस्मिताओं की योगात्मक एकता का कोई समीकरण बनाने के फेर में पड़ा हुआ है। चुनावों में भाजपा के अपेक्षा से कम प्रदर्शन का मुख्य कारण था समाज के कुछ हिस्सों का वर्ग असन्तोष व गुस्सा, हालाँकि वे वर्ग 'राजनीतिक' रूप में सचेत या वर्ग 'राजनीतिक' रूप में संगठित नहीं थे। लेकिन इस हिस्से के लोगों ने दावा किया कि दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों, पिछड़ों आदि ने मिलकर भाजपा को तमाम जगहों पर हराया है। यह भूला नहीं जाना चाहिए कि मुसलमानों के अपवाद के साथ (जिसे समझा जा सकता है), समाज के उपरोक्त सभी समुदायों के विचारणीय हिस्सों ने इन चुनावों में भाजपा को वोट दिया है। वोटिंग के पैटर्न ने दो प्रकार के विभाजन को स्पष्ट तौर पर प्रदर्शित किया: पहला, वर्ग विभाजन और दूसरा, गाँव-शहर विभाजन, जो कि आंशिक तौर पर वर्ग विभाजन से जुड़ा हुआ है। यह ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों, निम्न मध्य वर्ग और मज़दूर वर्ग का असन्तोष था जिसके कारण चुनावों में भाजपा का प्रदर्शन अपेक्षा के अनुरूप नहीं रहा। यहाँ पर यह भी याद रखा जाना चाहिए कि गुजरात के शहरों में गुजराती मज़दूरों का

एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा वोटर के रूप में गाँवों में पंजीकृत है। इसलिए, इन मज़दूरों का गुस्सा ग्रामीण वोट में प्रतिबिम्बित हुआ, न कि शहरी वोट में। वोटिंग पैटर्न के इस स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ने वाले वर्ग चरित्र के बावजूद, यह उदारवादी वाम/वाम उदारवादी धड़ा, और विशेष तौर पर बुद्धिजीवी, भाजपा को हराने के एक अस्त्र के रूप में 'दलित + ओबीसी + मुसलमान + स्त्री' जैसे योगात्मक समीकरणों का सुझाव दे रहे हैं। यह बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय को एक बहुसंख्यवादी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी गोलबन्दी में तब्दील करने के भाजपा के मंसूबों को फ़ायदा ही पहुँचाता है और दूसरी बात यह है कि ऐसी कोई योगात्मक एकता बन ही नहीं सकती है। जिस गोलबन्दी में फ़ासीवाद का मुँहतोड़ जवाब देने की ताक़त है वह है वर्ग गोलबन्दी। लेकिन वर्ग गोलबन्दी पर इन उदार वामपन्थियों को भरोसा नहीं है।

भारत के "उदारवादी वामपन्थी" भूराजनीतिक प्रान्त में रहने वाली चौथी श्रेणी उन लोगों की है जो कि अचानक राहुल गाँधी और कांग्रेस के कट्टर समर्थक बन गये हैं। उन्होंने अख़बारों में और वेबसाइटों पर राहुल गाँधी और कांग्रेस में आये भारी बदलाव के बारे में कॉलम लिखने शुरू कर दिये हैं। कांग्रेस के खेल में वापस आने से वे हर्षातिरेक का अनुभव कर रहे हैं। उनका तर्क एकदम कॉमन सेंसिकल है : फ़ासीवादी भाजपा को हराने के लिए हमें रणकौशलात्मक तौर पर राहुल गाँधी का समर्थन करना चाहिए, जो, चाहे राजनीतिक लाभ के लिए ही सही, लेकिन आम मेहनतकश जनता के मुद्दे उठा रहे हैं। ऐसे लोगों का राजनीतिक स्मृतिलोप निरपेक्ष और पूर्ण हो चुका हेाता है, क्योंकि राजनीतिक तौर पर उन्हें लघुकालिक स्मृतिलोप की शिकायत होती है। मज़ेदार बात यह होती है कि उन्होंने सचेतन तौर पर चुना होता है कि उन्हें लघुकालिक स्मृतिलोप की बीमारी हो। दूसरे शब्दों में, लघुकालिक स्मृतिलोप का शिकार होना वे कभी भूलते नहीं हैं! किसी भी प्रकार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण में उनका भरोसा नहीं होता और वे किसी कम बुरे की तलाश में हमेशा व्यस्त रहते हैं, हालाँकि उनकी यह तलाश उनकी इच्छा के विपरीत हमेशा उन्हें सबसे बुरे विकल्प पर पहुँचा देती है। वे भूल जाते हैं कि फ़ासीवाद का ज़हरीला कुकुरमुत्ता हमेशा उदार बुर्जुआ जनवाद के खण्डहर पर उगता है। वे किसी राहुल गाँधी, ममता बनर्जी (जो कि और भी हास्यास्पद है), लालू प्रसाद यादव या शरद पवार के कन्धे पर खड़े होकर फ़ासीवाद को पीछे धकेल देने का मुग़ालता पाले रहते हैं।

अन्तिम श्रेणी ऊपर वाली चौथी श्रेणी के ठीक विपरीत होती है। यह वह श्रेणी है जो कि फ़ासीवादी पूँजीपति वर्ग और पूँजीपति वर्ग के अन्य हिस्सों में फ़र्क़ करने में बुरी तरह असफल हो जाती है। त्रासदी की बात है कि कई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कॉमरेड भी इस भोंडे भौतिकवादी और यान्त्रिक विश्लेषण का शिकार हो गये हैं। चौथी श्रेणी के लोगों का प्रतिवाद करते हुए इस पाँचवी श्रेणी के वामपन्थी और यहाँ तक कि कम्युनिस्ट कॉमरेड फ़ेसबुक और व्हॉट्सऐप पर लिखना शुरू करते हैं : "क्या फ़र्क़ पड़ता है? भाजपा जीते या कांग्रेस, हारेगी तो जनता ही!"; "कांग्रेस तो ख़ुद ही फ़ासीवादी है, क्या आप आपातकाल को भूल गये?"; "कांग्रेस की राजनीति के कारण ही तो संघ परिवार बढ़ा है, इसलिए इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है कि भाजपा जीतती है या

कांग्रेस!" यह अवस्थिति न सिर्फ़ ग़ैर-मार्क्सवादी है बल्कि यह बुरी तरह से अर्थहीन भी है। यह एक छद्म आमूलगामिता से भरी "वामपन्थी" भाषणबाज़ी से ज़्यादा कुछ नहीं है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति ने हमेशा फ़ासीवादियों और अन्य प्रकार की दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया और साथ ही फ़ासीवादियों और उदार बुर्जुआ वर्ग/मध्यमार्गी बुर्जुआ वर्ग/दक्षिण-मध्य बुर्जुआ वर्ग के बीच अन्तर किया है। क्लासिकीय तौर पर, भारत में कभी कोई बड़ी उदार बुर्जुआ राजनीतिक पार्टी नहीं रही है; भारत में सामाजिक-जनवादी राजनीति का प्रभाव भी स्थानीयकृत और सीमित रहा है, राष्ट्रीय कम रहा है। दूसरी पूँजीवादी पार्टी जो कि भारतीय बुर्जुआ राजनीति में फ़ासीवादी संघ परिवार के विपरीत ध्रुव की भूमिका अदा करती है, वह कांग्रेस है जो कि स्वयं एक व्यापक रूप में मध्य-दक्षिणपन्थी पूँजीवादी पार्टी है, जिसमें कि ज़रूरत और तात्कालिक लाभ के लिए वाम दिशा में यात्रा करने का लचीलापन और सम्भावनासम्पन्नता मौजूद है। कांग्रेस के इस विशिष्ट गुण के कारण, क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को भाजपा और कांग्रेस के बीच निश्चित ही फ़र्क़ करना चाहिए क्योंकि इस फ़र्क़ का फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति के प्रभावी होने पर काफ़ी फ़र्क़ पड़ता है।

उपरोक्त तर्कों की रोशनी में गत विधानसभा चुनावों का विश्लेषण करना आवश्यक है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि तथाकथित मोदी लहर उतार पर है। गुजरात चुनाव प्रचार के दौरान मोदी की भाव-भंगिमा और सड़कछाप बातों से ही पता चल गया था कि भाजपा अन्दर से डोली हुई है और पुराना आत्मविश्वास ग़ायब है। लेकिन मोदी-लहर को ही फ़ासीवादी उभार समझ लेना ग़लत और आत्मघाती होगा। दूसरी बात यह है कि हमें यह याद रखना चाहिए कि मोदी सरकार भारत की पहली व्यवस्थित रूप से फ़ासीवादी सरकार है। इसी प्रकार, मोदी *फ्यूरर-कल्ट* के पहले पूर्णता को प्राप्त भारतीय संस्करण की नुमाइन्दगी करता है। वाजपेयी की सरकार में प्रबल फ़ासीवादी रुझान थे, लेकिन, विविध प्रकार के वस्तुगत और मनोगत कारकों के चलते वह पहली व्यवस्थित फ़ासीवादी सत्ता नहीं थी और न ही बन सकती थी। अब जबकि मोदी लहर, जो कि भारत में फ़ासीवादी उभार का मौजूदा अस्तित्व-रूप है, संकट के पहले लक्षणों की साक्षी बन रही है, हमें यह निश्चित तौर पर समझ लेना चाहिए कि इस अस्तित्व-रूप की जगह कोई और अस्तित्व रूप ले सकता है। फ़ासीवादी साँप अपने अस्तित्व को क़ायम रखने के लिए ही अपना केंचुल बदलता रहता है। तीसरी बात यह है कि हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि 'पीछे हटता फ़ासीवाद' किसी भी अर्थ में कोई कम फ़ासीवादी फ़ासीवाद नहीं होता। वास्तव में, सभी तात्कालिक और व्यावहारिक अर्थों में, संकटग्रस्त फ़ासीवाद ज़्यादा आक्रामक और ख़तरनाक होता है। अगर भाजपा को यह लगता है कि वह 2019 का चुनाव हार सकती है, तो यह अपने पूर्णरूपेण और खुले तौर पर फ़ासीवादी एजेण्डा और रणकौशल पर चली जायेगी, जैसा कि गुजरात चुनावों के दौरान राम मन्दिर के मुद्दे को फिर से उभारने की भाजपा की रणनीति में दिखलायी पड़ रहा था। क्रान्तिकारी शक्तियों को निरन्तर मेहनतकश जनता को फ़ासीवाद और आम तौर पर पूँजीवाद के विरुद्ध गोलबन्द और संगठित करना होगा और उन्हें भाजपा के ख़राब चुनावी प्रदर्शन पर हर्षातिरेक का शिकार होने की बजाय अपनी शक्तियों पर निर्भर करना होगा। चौथी बात यह है, कि

हमेशा याद रखना चाहिए कि इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवाद आपदा के रूप में अचानक घटित होने वाली और आपदा के रूप में अचानक पतन का शिकार होने वाली परिघटना के रूप में मौजूद नहीं है। संकट जिस प्रकार से विशेष तौर पर 1970 के दशक से पूँजीवादी व्यवस्था का नया 'नॉर्मल' बन चुका है, या जिस प्रकार संकट कहीं ज़्यादा दीर्घकालिक व ढाँचागत रूप में अपने आपको प्रकट कर रहा है, उसी प्रकार फ़ासीवाद भी इक्कीसवीं सदी की साम्राज्यवादी दुनिया में कहीं ज़्यादा स्थायी परिघटना के रूप में प्रकट हुआ है, चाहे वह सत्ता में रहे या नहीं रहे। जब वह सत्ता में नहीं भी होता, तो हड़ताल तोड़ने वाले दस्तों के रूप में, अल्पसंख्यक विरोधी लम्पट ब्रिगेडों के रूप में, सामाजिक पुलिस आदि के रूप में, पूँजीपति वर्ग की अनौपचारिक राज्यसत्ता का काम करता है और फ़ासीवाद की यह भूमिका मौजूदा पूँजीवादी समाज में काफ़ी महत्वपूर्ण बन गयी है। कारण यह है कि मौजूदा पूँजीवादी समाज में बुर्जुआ वर्ग का कोई भी हिस्सा या उसकी कोई भी पार्टी अब सत्ता में होने पर भी फ़ासीवादियों के ख़िलाफ़ क़दम नहीं उठाने वाली है। साम्राज्यवाद के मौजूदा दौर में, इसकी मरणासन्नता और परजीवी चरित्र इस स्तर पर पहुँच चुका है कि पूँजीपति वर्ग के सभी हिस्से चाहते हैं कि फ़ासीवाद चाहे सत्ता में न भी हो तो वह समाज में मौजूद रहे। ऐसी स्थिति में, यह ज़रूरी हो जाता है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तें जनसमुदायों को फ़ासीवादियों के ख़िलाफ़ 'जब और जैसी ज़रूरत हो' के आधार पर नहीं बल्कि एक दीर्घकालिक आधार पर शिक्षित, प्रशिक्षित, तैयार, गोलबन्द और संगठित करें और इसके लिए नियमित और निरन्तर राजनीतिक कार्य को अपना आधार बनायें। अन्त में, क्रान्तिकारी ताक़तों को इस तथ्य के प्रति सचेत होना चाहिए कि अगर 2019 के आम चुनावों में भाजपा के सामने हार का ख़तरा मँडरायेगा, तो ये फ़ासीवादी किसी भी हद तक जाने को तैयार होंगे।

इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवादी उभार को समझते समय यह बात दिमाग़ में रखी जानी चाहिए कि इतिहास अपने आपको दुहराता नहीं है। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में ऐसे कई लोग हैं जो भारत में फ़ासीवाद के मौजूदा उभार के अपने विश्लेषण को भारत में फ़ासीवादी उभार का विश्लेषण बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के जर्मन या इतालवी फ़ासीवादी उभार से सादृश्य निरूपण के आधार पर करते हैं। फ़ासीवाद के विशिष्ट और आम राजनीतिक व विचारधारात्मक गुणों और इसके विशिष्ट व आम ऐतिहासिक सन्दर्भ के फ़र्क़ को समझने के बजाय ऐसे साथी दो कॉलम बनाते हैं और फिर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के फ़ासीवाद के अनुभव और आज के फ़ासीवादी उभार के गुणों का मिलान करने लग जाते हैं और कई गुणों का मिलान न होने की सूरत में ऐलान कर देते हैं कि मौजूदा फ़ासीवादी उभार पर्याप्त रूप में फ़ासीवादी नहीं है, या अर्द्धफ़ासीवादी है, या अभी पूरी तरह से फ़ासीवादी नहीं हुआ है, या चूँकि अभी संसदीय लोकतन्त्र बना हुआ है इसलिए यह फ़ासीवादी नहीं है, आदि। यह अनैतिहासिक नज़रिया यह नहीं समझ पाता है कि केवल क्रान्तिकारी विचारधारा व राजनीति ही *रिडेम्प्टिव* गतिविधि नहीं करती। प्रतिक्रियावादी विचारधारा और राजनीति भी अपने ऐतिहासिक अनुभवों का समीक्षा-समाहार करते हैं, उससे सीखते हैं और अपनी "ग़लतियों" को दुरुस्त करते हैं। भारत में भी ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि

भारत में चूँकि अभी संसदीय लोकतन्त्र क़ायम है, इसलिए मोदी सरकार को फ़ासीवादी सरकार नहीं माना जा सकता है; कुछ तो यह भी कहते हैं कि भारतीय संविधान के "प्रगतिशील" और "जनवादी" चरित्र के कारण भारत में फ़ासीवाद आ ही नहीं सकता है! ऐसे तर्क के बारे में जितना कम कहा जाय उतना अच्छा है। ऐसे लोग इतिहास की गति समझ पाने में असमर्थ हैं।

राज्य में हुए हालिया चुनावों, विशेषकर गुजरात के चुनावों ने निश्चित तौर पर दिखलाया है कि भाजपा के खराब प्रदर्शन पर तालियाँ पीटने, या फ़ासीवाद को हराने के लिए चुनावी रणनीति को एकमात्र रणनीति के तौर पर देखने के बजाय, हमें एक लम्बी और निर्णायक लड़ाई की तैयारी करनी होगी; इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौजूदा सन्धिबिन्दु हमें अपना काम शुरू करने के लिए सबसे मुफ़ीद मौक़ा दे रहा है क्योंकि भारतीय फ़ासीवाद का मौजूदा अस्तित्व रूप यानी मोदी लहर, गिरावट के प्रथम लक्षण प्रदर्शित कर रहा है। लोग नाराज़ हैं, असन्तुष्ट हैं और क्रान्तिकारी प्रचार और उद्वेलन के लिए तैयार हैं। साथ ही, यह भी याद रखा जाना चाहिए कि क्रान्तिकारी शक्तियों को पूँजीवादी चुनावों में भी रणकौशलात्मक भागीदारी करनी चाहिए और सर्वहारा वर्ग का स्वतन्त्र राजनीतिक पक्ष प्रस्तुत करना चाहिए और साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचाना चाहिए। लेकिन यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि समूची फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति को चुनावी रणनीति पर अपचयित नहीं कर दिया जाना चाहिए। यह न सिर्फ़ नुक़सानदेह होगा, बल्कि आत्मघाती होगा। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों के बीच मज़दूर वर्ग का संयुक्त मोर्चा स्थापित करना और जनसमुदायों के बीच मज़बूत सामाजिक आधार का निर्माण आज कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष दो महत्वपूर्ण और तात्कालिक कार्यभार हैं। आगे हम किस हद तक सफल होंगे, यह इस बात पर ही निर्भर करता है कि इन दोनों कार्यभारों को किस हद तक पूरा कर पाते हैं।

आपकी बात

'दिशा सन्धान' काफ़ी अन्तराल पर निकल रहा है लेकिन हर अंक विचार और सामग्री की दृष्टि से बेहद समृद्ध है। कम्युनिस्ट आन्दोलन का लम्बे समय से शुभचिन्तक होने के नाते मैं इसकी वर्तमान स्थिति से व्यथित हूँ लेकिन मैं आपके इस विश्लेषण से असहमत होने का कोई आधार नहीं पाता कि आन्दोलन की मूल समस्या वैचारिक-सैद्धान्तिक है। इसके बावजूद पॉलिमिक्स पर ध्यान न देना और वाद-विवाद-संवाद को सही स्पिरिट में न लेना अखरता है। आशा है आपका यह प्रयास ठहराव को तोड़ेगा। मेरी शुभकामनाएँ।

- एस.सी. रावत, जयपुर

'दिशा सन्धान' के अब तक प्रकाशित चारों अंक पढ़ चुका हूँ। हिन्दी समाज में ऐसी गम्भीर पत्रिका की निश्चय ही ज़रूरत है, विशेषकर जब सैद्धान्तिकी पर इतना कम ध्यान दिया जा रहा है, या फिर सिद्धान्त के नाम पर तमाम तरह का आयातित कचरा परोसा जा रहा है। भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास और सोवियत इतिहास पर दोनों लेखमालाएँ बहुत श्रमसाध्य शोध के साथ लिखी गयी हैं और अपार तथ्यों के साथ गहन विश्लेषण भी प्रस्तुत करती हैं। बेहद विचारोत्तेजक। समकालीन विषयों पर आपकी टिप्पणियाँ भी बहुत संजीदगी और मेहनत के साथ लिखी गयी होती हैं। कृपया इसकी आवर्तिता बढ़ाने का प्रयास करें।

- राजशरण वर्मा, कानपुर

मैं 'दायित्वबोध' का पुराना पाठक रहा हूँ और मेरा मानना है कि उसके बन्द होने से आन्दोलन की बहुत क्षति हुई। लेकिन 'दिशा सन्धान' ने न केवल उसकी कमी पूरी की है बल्कि यह उससे कहीं अधिक समृद्ध पत्रिका है। हालाँकि शायद इससे इसका दायरा कुछ सीमित हुआ होगा। लेकिन मार्क्सवादी विचारधारा पर ऐसे गम्भीर विमर्श के मंच की आज सख़्त ज़रूरत है। बेशक यह पत्रिका 'मशीन मेकिंग मशीन' का भी काम करेगी, यानी ऐसे लेखक और कार्यकर्ता तैयार करने का, उनकी वैचारिक समझ को और समृद्ध करने का काम करेगी भी जो इन विचारों को जन-जन तक अपनी भाषा में लेकर जायेंगे। आज सर्वहारा अधिनायकत्व और कम्युनिज़्म के मूल सिद्धान्तों पर तरह-तरह के वैचारिक हमलों ने जैसा धूलगर्द का बवण्डर खड़ा किया है, उसे साफ़ करके मार्क्स, लेनिन और माओ की शिक्षाओं को सही रूप में लोगों तक पहुँचाने के लिए ऐसी पत्रिका की अत्यन्त आवश्यकता है। आज अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अनेक धाराएँ मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ के बुनियादी उसूलों को तोड़ने-मरोड़ने में लगी हैं। इनका प्रतिवाद करने और देश के भीतर प्रासंगिक प्रश्नों पर बहस को दिशा देने में हमें आपकी पत्रिका से बहुत अपेक्षाएँ हैं।

- श्रीकृष्ण त्यागी, दिल्ली

सोवियत समाजवादी प्रयोगों के अनुभव : इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

• अभिनव सिन्हा

(पाँचवीं किस्त)

अध्याय V
परिशिष्ट

अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच का इतिहास-लेखन : अन्तर्दृष्टि की दृष्टिहीनता

बोल्शेविक क्रान्ति और सोवियत समाजवादी प्रयोगों के बारे में इतिहास-लेखन को कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। एक श्रेणी सोवियत समाजवादी प्रयोगों के जारी रहने के दौरान लिखे गये बोल्शेविक क्रान्ति और सोवियत समाजवाद के प्रयोगों के तत्कालीन विवरणों की है, जिसमें स्तुलोव जैसे इतिहासकारों द्वारा लिखे गये इतिहास-लेखन से लेकर बोल्शेविक क्रान्ति के साक्षी या उसमें हिस्सेदारी करने वाले बोल्शेविकों द्वारा लिखे गये इतिहास व संस्मरण आदि शामिल हैं। दूसरी श्रेणी उन तत्कालीन ग़ैर-बोल्शेविक प्रेक्षकों के इतिहास-लेखन, रिपोर्ताज व संस्मरणों की है, जिनमें मेंशेविकों से लेकर समाजवादी-क्रान्तिकारियों और अराजकतावादियों द्वारा लिखे गये इतिहास-लेखन व संस्मरणों को शामिल किया जा सकता है, जैसे कि सुखानोव, मिल्युकोव आदि

द्वारा लिखित विवरण। तीसरी श्रेणी तमाम ऐसे मार्क्सवादी अध्येताओं की है जो कि सोवियत संघ से बाहर थे और जो वहाँ पूँजीवादी पुनर्स्थापना के पहले और बाद के दौर के साक्षी रहे, जिनमें मॉरिस डॉब, चार्ल्स बेतेलहाइम, पॉल स्वीज़ी आदि को शामिल किया जा सकता है। और चौथी श्रेणी उन इतिहासकारों की है जो कि सोवियत संघ से बाहर थे और ग़ैर-मार्क्सवादी थे, जिसमें कि चैम्बरलेन, ई.एच. कार, इज़ाक डॉइशर, मार्क फेरो व अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच जैसे अध्येताओं को शामिल किया जा सकता है।

इस चौथी श्रेणी में कुछ ऐसे हैं जो बोल्शेविकों के प्रति सहानुभूति रखते हैं, हालाँकि बोल्शेविक क्रान्ति और सोवियत समाजवाद के प्रति उनका नज़रिया बुर्जुआ प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद का नज़रिया है, जैसे कि कार व रैबिनोविच। कुछ ऐसे हैं जो कि बोल्शेविक पार्टी, लेनिनवाद और सोवियत समाजवाद के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया रखते हैं, जिनमें मोटे तौर पर मार्क फेरो को भी शामिल किया जा सकता है। इनमें से कुछ त्रात्स्की के प्रति हमदर्दी रखने वाले लोग भी हैं, हालाँकि उन्हें सीधे तौर पर त्रात्स्कीपन्थी नहीं कहा जा सकता है।

एक पाँचवीं श्रेणी भी बनायी जा सकती है, जिसमें कि त्रात्स्की और उनके अनुयायियों के लेखन को शामिल किया जा सकता है। यह एक व्यापक श्रेणी है जिसमें आन्तरिक तौर पर काफ़ी वैविध्य है। इसमें स्वयं त्रात्स्की द्वारा किया गया इतिहास-लेखन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिस पर हम अन्यत्र लिखेंगे। इन सारी श्रेणियों में हमने संशोधनवाद के दौर में सोवियत संघ में हुए इतिहास-लेखन को शामिल नहीं किया है, क्योंकि इसमें बेहद चालाकी के साथ तथ्यों का विकृतीकरण किया गया है और स्तालिन को संशोधनवादी तक बना देने का प्रयत्न किया गया है। सही मायने में इसे इतिहास-लेखन कहना ही मुश्किल है, यह प्रोपगैण्डा लेखन की श्रेणी में ज़्यादा फिट बैठेगा। इसलिए उसका हमने ज़िक्र नहीं किया है। यह सच है कि स्तालिन के दौर में लिखे गये पार्टी इतिहास-लेखन की भी अपनी समस्याएँ हैं। मिसाल के तौर पर, विपक्ष में आने वाले सभी वामपन्थी या दक्षिणपन्थी धड़ों के विषय में, त्रात्स्की के विषय में और त्रात्स्की से चली बहसों के विषय में इन इतिहास-लेखनों में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती, विशेष तौर पर, 1930 के बाद के दौर में। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि 1930 के दशक में विशेष तौर पर त्रात्स्की ने सोवियत संघ के बरक्स एक प्रतिक्रान्तिकारी भूमिका निभायी थी। इसलिए इस दौर के सोवियत इतिहास-लेखन में एक निश्चित रूप में त्रात्स्की का चित्रण किया गया है। हमने प्रवृत्ति पर पहले टिप्पणी कर चुके हैं और अभी हम इस पर ध्यान केन्द्रित नहीं करेंगे।

फ़िलहाल, हमारी दिलचस्पी चौथी श्रेणी में आने वाले एक अग्रणी इतिहासकार **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच** के लेखन में है जिनकी तीन पुस्तकें आज विश्व भर में बोल्शेविक क्रान्ति पर पिछले चार-पाँच दशकों में हुए सबसे अच्छे शोध-कार्यों में मानी जाती है : 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन', 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर' और 'दि बोल्शेविक्स इन पावर'। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती है कि ये बहुमूल्य शोधकार्य हैं और हर मार्क्सवादी-लेनिनवादी को इनका अध्ययन कर लेना चाहिए। लेकिन जिस प्रकार ई.एच. कार का लेखन मूल दस्तावेज़ों के अध्ययन के आधार पर किया गया

एक बहुमूल्य शोध होने के बावजूद अपने विशिष्ट विचारधारात्मक व राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण अक्सर ग़लत नतीजों तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार रैबिनोविच के शोध में भी तथ्यपरकता के बावजूद एक प्रकार की विचारधारा-अन्धता है (जो कि स्वयं एक विचारधारात्मक अवस्थिति ही है)। बल्कि कहना चाहिए कि रैबिनोविच का इतिहास-लेखन इस मायने में कार के इतिहास-लेखन से कमज़ोर ठहरता है। इसके निश्चित कारण हैं।

ई.एच. कार ब्रिटिश अनुभववाद व प्रत्यक्षवाद की धारा से आने वाले इतिहासकार हैं और साथ ही उन पर मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव और विशेष तौर पर त्रात्स्की और त्रात्स्कीपन्थी विद्वानों (जैसे कि इज़ाक डॉइशर) के विचारों के प्रभाव से भी इंकार नहीं किया जा सकता है। लेकिन रैबिनोविच प्रत्यक्षवाद की अमेरिकी धारा से आते हैं जिसके कारण उनके इतिहास-लेखन में तथ्यपरकता तो है, लेकिन साथ ही व्यक्तिवादी विश्लेषण का काफ़ी प्रभाव है। इसलिए जहाँ कार व्यक्तियों के प्रभावों का विश्लेषण करते हुए भी ढाँचागत कारकों को प्रधानता देते हैं, वहीं रैबिनोविच के लेखन में व्यक्तियों की विशिष्ट भूमिकाओं पर अतिरेकपूर्ण ज़ोर है और कई बार तमाम ऐतिहासिक परिवर्तनों के लिए भी व्यक्तियों की भूमिका को ढाँचागत कारकों के साथ द्वन्द्वात्मक अन्तर्क्रिया में नहीं बल्कि स्वतन्त्र रूप से ज़िम्मेदार ठहराया गया है।

साथ ही, रैबिनोविच का इतिहास-लेखन मूलत: उस दौर में हुआ जिस दौर में सोवियत संघ संशोधनवादी नेतृत्व में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के रास्ते पर काफ़ी आगे बढ़ चुका था। वहीं कार के 14 खण्डों के शुरुआती और सम्भवत: सबसे महत्वपूर्ण खण्ड 1950 से 1953 के बीच आ गये थे। सोवियत संघ उस समय द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह विनाश और बलिदानों से उबर कर समाजवादी निर्माण की दिशा में आगे बढ़ रहा था और दुनिया के नवस्वाधीन और राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्षरत देशों के लिए एक प्रेरणास्रोत था। यही कारण है कि अपनी तमाम आलोचनाओं के बावजूद कार सोवियत संघ को विश्व राजनीति में एक प्रगतिशील शक्ति मानते थे। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि संशयवाद के चरम पर पहुँचने की अवधि में हुआ रैबिनोविच का इतिहास-लेखन इस कारण से भी कार के इतिहास-लेखन से काफ़ी अलग है। लेकिन रैबिनोविच के इतिहास-लेखन का विश्लेषण इस आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। वह उनके इतिहास-लेखन के ठोस नमूनों के आधार पर किया जाना चाहिए और यहाँ हम यही करेंगे।

हम यहाँ मुख्य रूप से उनकी पुस्तक 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन' का विश्लेषण करेंगे। उनकी दूसरी पुस्तक 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर' के बारे में संक्षेप में कुछ प्रेक्षण हम अध्याय के मुख्य हिस्से में कर चुके हैं। रैबिनोविच की पहली पुस्तक का विश्लेषण उनके इतिहास-लेखन को समझने के लिए पर्याप्त है क्योंकि रैबिनोविच की मूल थीसिस उनकी पहली पुस्तक में ही आ गयी है। आगे की दोनों पुस्तकों में केवल उस थीसिस को पुष्ट किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी बाद की दोनों पुस्तकों को नहीं पढ़ा जाना चाहिए। कारण यह है कि ये तीनों ही पुस्तकें क्रान्तिकारी रूस में दिन-प्रतिदिन क्या हो रहा था, कैसे हो रहा था, इसका एक जीवन्त चित्र पेश करती हैं। यदि पाठक रैबिनोविच के इतिहास-लेखन की कमज़ोरियों से परिचित है तो उसके लिए ये पुस्तकें

उपयोगी साबित हो सकती हैं।

रैबिनोविच की मूल थीसिस है एक **'विभाजित पार्टी'** की थीसिस। इसके अनुसार बोल्शेविक पार्टी कोई एकाश्मी पार्टी नहीं थी जो किसी भी प्रश्न के बिना लेनिन के नेतृत्व के मातहत काम करती थी। रैबिनोविच का यह दावा है कि अधिकांश आधिकारिक सोवियत इतिहास-लेखन में ऐसी तस्वीर पेश की गयी है जिसके अनुसार बोल्शेविक पार्टी लेनिन की इच्छा के अन्तर्गत लौह-अनुशासन व चट्टान जैसी मज़बूती के साथ काम करने वाली पार्टी थी, जिसमें लेनिन प्रश्नों से इतर थे। हालाँकि जब आप यह देखते हैं कि रैबिनोविच के अनुसार ये 'आधिकारिक सोवियत इतिहास-लेखन' क्या हैं, तो आप पाते हैं कि वे सभी संशोधनवाद के दौर में लिखी गयी पुस्तकें हैं। 1956 के पहले की जिस इतिहास की पुस्तक को रैबिनोविच बार-बार उद्धृत करते हैं वह है स्तुलोव की पुस्तक जो कि 1930 में छपी थी और इस पुस्तक को रैबिनोविच अपना दावा सिद्ध करने के लिए उद्धृत करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी एक 'विभाजित पार्टी' थी। 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' को रैबिनोविच उद्धृत नहीं करते हैं। न ही रैबिनोविच लेनिन और स्तालिन के मूल लेखन से उन्हें उद्धृत करते हैं। अगर वे लेनिन और स्तालिन को उद्धृत करते भी हैं तो अधिकांशत: अन्य लोगों द्वारा लिखे गये संस्मरणों से करते हैं, जिसमें कि संस्मरण लेखकों ने स्मृति के आधार पर बताया है कि अमुक अवसर पर लेनिन या स्तालिन ने क्या कहा। कहीं-कहीं प्राव्दा व अन्य पत्र-पत्रिकाओं से लेनिन व स्तालिन को उद्धृत किया गया है, लेकिन बेहद कम। स्तालिन को तो कई जगह इरादतन ग़लत उद्धृत किया गया है और उनकी अवस्थितियों को तोड़-मरोड़ कर पेश किया गया है। साथ ही, जिन लोगों के संस्मरणों को सबसे ज़्यादा उद्धृत किया गया है, उनमें से अधिकांश मेंशेविक हैं। त्रात्स्की को ज़रूर उद्धृत किया गया है, विशेष तौर पर उनकी रचनाओं 'रूसी क्रान्ति का इतिहास' और 'स्तालिन्स स्कूल ऑफ़ फ़ॉल्सीफ़िकेशन' को। लेकिन त्रात्स्की को भी केवल तभी उद्धृत किया गया है, जब रैबिनोविच 'विभाजित पार्टी' के अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने में त्रात्स्की को मददगार पाते हैं। जहाँ-जहाँ त्रात्स्की का इतिहास-लेखन 'विभाजित पार्टी' के रैबिनोविच के सिद्धान्त के विपरीत खड़ा है, वहाँ-वहाँ त्रात्स्की के लेखन की भी उपेक्षा कर दी गयी है।

सच्चाई यह है कि न तो लेनिन के लेखन में, न ही स्तालिन के लेखन में और न ही किसी अन्य बोल्शेविक नेता के लेखन में बोल्शेविक पार्टी की ऐसी तस्वीर मिलती है जिसमें लेनिन का नेतृत्व प्रश्नेतर हो और उनकी इच्छा के मातहत पूरी पार्टी एकाश्मी रूप से एकजुट हो। यहाँ तक कि 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में भी ऐसी तस्वीर नहीं पेश की गयी है, जिसे बुर्जुआ इतिहासकार व विद्वान सबसे ज़्यादा शक की निगाह से देखते हैं। साथ ही, 1956 से पहले लिखे गये सोवियत इतिहास लेखन में भी ऐसी कोई तस्वीर नहीं मिलती। कारण यह कि ऐसी तस्वीर पेश करने की सोवियत इतिहासकारों को कोई आवश्यकता नहीं थी। ऐसी आवश्यकता संशोधनवादियों और सामाजिक-फ़ासीवादियों की थी जो कि पार्टी के प्रति एकनिष्ठा के नाम पर पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध हर प्रतिरोध को "प्रतिक्रान्तिकारी" क़रार देना चाहते थे। यही कारण है कि 1956 के

पहले और विशेष तौर पर 1930 के दशक के पहले सोवियत इतिहास-लेखन की किस पुस्तक में ऐसी एकाश्मी पार्टी का मॉडल पेश किया जा रहा था, अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच नहीं बता पाते हैं। ग़ौरतलब है कि 1930 के दशक के मध्य से सोवियत संघ आन्तरिक और और बाह्य, दोनों ही तौर पर एक आपात स्थिति से गुज़र रहा था। फ़ासीवाद का ख़तरा सिर पर मँडरा रहा था; पार्टी में आन्तरिक कलह, षड्यन्त्र और दुरभिसन्धियों का माहौल 'महान शुद्धीकरण' के बाद भी समाप्त नहीं हुआ था और समाजवादी संक्रमण की समस्याओं की समुचित समझदारी न होने के कारण राज्यसत्ता में नौकरशाहाना विकृतियाँ बढ़ती जा रही थीं। इस दौर में जो इतिहास-लेखन हुआ, उसकी अपनी समस्याएँ हैं। मगर फिर भी उनकी तुलना संशोधनवाद के दौर में हुए इतिहास-लेखन से नहीं की जा सकती है।

अब हम उनकी पहली पुस्तक 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन' के विश्लेषण के आधार पर दिखलायेंगे कि रैबिनोविच का लेखन दस्तावेज़ी शोध और तथ्यों में समृद्ध होने के बावजूद अपने विचारधारात्मक व राजनीतिक पूर्वाग्रहों के कारण बोल्शेविक क्रान्ति के इतिहास की एक असन्तुलित और कहीं-कहीं विकृत तस्वीर पेश करता है।

फ़रवरी से जुलाई के दौर के विषय में रैबिनोविच : 'विभाजित पार्टी' की अवधारणा को सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास

'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन' के 1991 में प्रकाशित हुए मिडलैण्ड संस्करण की प्रस्तावना के प्रारम्भ में ही रैबिनोविच अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर देते हैं। वह लिखते हैं कि 1964 में ख्रुश्चेव के सत्ताच्युत होने के बाद "स्तालिनवादी ऑर्थोडॉक्सी" पुन: सशक्त हो गयी है और फिर सोवियत इतिहास के बारे में सभी पाश्चात्य अध्येताओं की रचनाओं को हमले का निशाना बनाना शुरू कर दिया गया है। पाश्चात्य प्रेक्षकों के लिए ख्रुश्चेव प्यारा था और ब्रेझनेव उतना प्यारा नहीं था, तो यह सहज ही समझा जा सकता है। ब्रेझनेव का दौर अमेरिका के साथ सामाजिक-साम्राज्यवाद की प्रतिस्पर्द्धा के अभूतपूर्व उभार का दौर था, जबकि ख्रुश्चेव को निश्चय ही पूँजीवादी पुनर्स्थापना के अगुवा के रूप में पश्चिमी विश्व में प्रतिष्ठा प्राप्त थी। रैबिनोविच के अनुसार ब्रेझनेव के दौर के सोवियत इतिहासकारों के द्वारा उनकी रचनाओं को विशेष तौर पर निशाना बनाया गया क्योंकि उनके शोध ने ठोस प्रमाणों के आधार पर दिखलाया था कि *लेनिन के नेतृत्व के अन्तर्गत एकजुट एकाश्मी पार्टी* की स्तालिनवादी अवधारणा झूठ है और साथ ही यह भी दिखलाया कि सोवियत इतिहास-लेखन के विपरीत जुलाई में पेत्रोग्राद में हुआ मज़दूरों व सैनिकों का प्रदर्शन कोई शान्तिपूर्ण प्रदर्शन नहीं था, बल्कि एक बग़ावत थी।

यह स्वाभाविक ही है कि एक बुर्जुआ इतिहासकार होने के नाते रैबिनोविच 1953-56 के पहले और बाद के दौर के बीच फ़र्क़ नहीं करते। उनके लिए संशोधनवादी दौर और संशोधनवाद के पहले के दौर के बीच कोई अन्तर नहीं है। उल्टे ख्रुश्चेव उनके लिए एक सुधारक था जबकि ख्रुश्चेव के जाने के बाद ब्रेझनेव के दौर में स्तालिनवाद की वापसी हो गयी थी। शीतयुद्ध के दौर

में सारे अमेरिकी इतिहास-लेखन की यह एक साझा थीम है और इसके बारे में हमें ज़्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन असल मुद्दा यहाँ यह है कि रैबिनोविच के लिए 'सोवियत इतिहास-लेखन' का क्या अर्थ है? चूँकि वे संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद-लेनिनवाद में कोई फ़र्क़ नहीं करते इसलिए लाज़िमी है कि वे 1953-56 के पहले के सोवियत इतिहास-लेखन और 1960 के दशक से हुए सोवियत इतिहास-लेखन में कोई अन्तर नहीं करेंगे। लेकिन अगर वे फ़र्क़ न करते और सोवियत इतिहास-लेखन में 1953-56 से पहले हुए इतिहास-लेखन को भी शामिल करते तो बेहतर होता। वे अपने "सोवियत इतिहास-लेखन" में केवल 1956 के बाद की रचनाओं का ज़िक्र करते हैं। वे 1930 में छपी स्तुलोव की पुस्तक का ज़िक्र करते हैं, लेकिन यह साबित करने के लिए कि उनकी 'विभाजित पार्टी' की अवधारणा सही है। यानी कि स्तुलोव की पुस्तक को वे सोवियत इतिहास-लेखन का प्रातिनिधिक उदाहरण नहीं मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार वह किसी एकाश्मी बोल्शेविक पार्टी का चित्र नहीं पेश करती है। स्तुलोव के अतिरिक्त, वे 1956 के पहले के किसी इतिहास-लेखन का ज़िक्र नहीं करते, हालाँकि वे 1956 के पहले लिखे गये तमाम रिपोर्ताजों व संस्मरणों का ज़िक्र ज़रूर करते हैं। लेकिन केवल इसी आधार पर उनका यह दावा रद्द हो जाता है कि सोवियत इतिहास-लेखन में लेनिन के नेतृत्व में एकाश्मी तौर पर एकजुट बोल्शेविक पार्टी की तस्वीर पेश की गयी है, कि न तो 1956 के पहले की किसी भी इतिहास की रचना में ऐसी कोई तस्वीर मिलती है और न ही लेनिन या स्तालिन या किसी अन्य बोल्शेविक के लेखन में ऐसी कोई तस्वीर मिलती है। यहाँ तक कि 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में भी ऐसी कोई तस्वीर नहीं मिलती है। इन सभी स्रोतों में जो तस्वीर मिलती है वह एक ऐसी पार्टी की तस्वीर है जिसमें दो लाइनों का तीखा और जीवन्त संघर्ष लगातार जारी था और जो जनवादी केन्द्रीयता के बुनियादी उसूलों पर काम कर रही थी। यह सम्भव है कि स्तालिन के दौर में हुए पार्टी इतिहास-लेखन की कुछ अपनी समस्याएँ हों। लेकिन पार्टी के भीतर शुरू से ही जारी तीखे दो लाइनों के संघर्ष की तस्वीर उसमें भी मिल जाती है।

रैबिनोविच पार्टी के भीतर जारी दो लाइनों के संघर्ष, लेनिन से विभिन्न नेताओं के अलग-अलग समय पर मौजूद विचारधारात्मक व राजनीतिक मतभेदों व बहसों, व अलग-अलग बोल्शेविकों द्वारा कुछ मौक़ों पर पार्टी अनुशासन की अवहेलना की घटनाओं का इस्तेमाल यह सिद्ध करने में करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी विभिन्न प्रकार के समूहों का एक समुच्चय थी। इसमें विभिन्न लक्ष्य व विभिन्न हित रखने वाले अलग-अलग गुट थे जो आपस में संघर्षरत रहते थे। रैबिनोविच यहाँ तक दावा करते हैं कि जुलाई 1917 के "विद्रोह" के समय तक पार्टी के भीतर सत्ता के तीन केन्द्र काम कर रहे थे: केन्द्रीय कमेटी, बोल्शेविक सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी। उनके अनुसार, इन तीनों केन्द्रों के अलग-अलग हित थे और अलग-अलग लक्ष्य थे। सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी अपनी स्वायत्तता को बढ़ाने के लिए लगातार संघर्ष करते रहते थे और केन्द्रीय कमेटी उन पर अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए लगातार प्रयत्न करती रहती थी। इस दावे को साबित करने के लिए दो प्रकार के वाकयों का सहारा लिया जाता है :

पहला, पार्टी की केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और सैन्य संगठन में और इन तीनों के बीच जारी राजनीतिक बहसों की घटनाएँ और साथ ही पार्टी अनुशासन व पार्टी द्वारा तय कार्यदिशा की अवहेलना की व्यक्तिगत घटनाओं का (जिनमें से कई इस वजह से हुई थीं क्योंकि पार्टी की केन्द्रीय कमेटी अपने फ़ैसलों को निम्नतर इकाइयों या ज़िम्मेदार व्यक्तियों तक समय पर सम्प्रेषित नहीं कर पायी थी)। बहसों का कारण कई बार ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषणों में मौजूद फ़र्क़ था तो कई बार निम्नतर इकाइयों की जनदबाव में आकर विश्लेषण व कार्रवाई करने की प्रवृत्ति। उपरोक्त आधार पर रैबिनोविच बाकी पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी एक 'विभाजित पार्टी' थी और एक 'विभाजित पार्टी' होने के कारण ही उसमें यह क्षमता थी कि वह आगे चलकर सत्ता पर क़ब्ज़ा कर पायी। यह सिद्ध करने के प्रयास में कई मौक़ों पर वे तथ्यों में ही हेर-फेर करते हैं, जिन पर हम आगे आयेंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ पर रैबिनोविच के उदारवादी बुर्जुआ पूर्वाग्रह स्पष्ट रूप से प्रकट हो गये हैं। बोल्शेविक पार्टी जब तक (रैबिनोविच के अनुसार) किसी लौह-अनुशासन में नहीं काम कर रही थी और उसका ढाँचा भी किसी भी पश्चिमी बुर्जुआ पार्टी के समान असंगत और वैविध्यपूर्ण समूहों व गुटों के एक ढीले-ढाले समुच्चय जैसा था, तब तक वह प्रगतिशील और कामयाब थी। इस ढीले-ढालेपन को "आन्तरिक जनवाद" का पर्याय माना गया है! इसलिए 'विभाजित पार्टी' होना रैबिनोविच के लिए कोई नकारात्मक बात नहीं थी, बल्कि बोल्शेविक पार्टी की शक्ति का परिचायक थी। समझा जा सकता है कि त्रात्स्कीपन्थियों को रैबिनोविच का इतिहास-लेखन क्यों काफ़ी पसन्द आया है। त्रात्स्की जब भी अल्पसंख्या में होते थे जो वे गुटों के अस्तित्व की हिमायत करने लगते थे और जब बहुसंख्या में होते थे तो नौकरशाह होने की हद तक "अनुशासन" की हिमायत करने लगते थे। चूँकि ऐतिहासिक तौर पर बोल्शेविक पार्टी के भीतर चली बहस में वे अन्त तक अल्पसंख्या में रहे इसलिए उनका और उनके अनुयायियों का गुटवाद और "विभाजित पार्टी" की अवधारणा का समर्थक होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि तमाम त्रात्स्कीपन्थी वेबसाइटों ने रैबिनोविच की पुस्तक की मूलत: प्रशंसामूलक समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं।

'विभाजित पार्टी' की अपनी अवधारणा को सिद्ध करने के लिए पहली पुस्तक में रैबिनोविच ने 10 जून 1917 के रद्द कर दिये गये विरोध प्रदर्शन और 3-5 जुलाई के दौरान हुए जनउभार की घटनाओं का अपना विश्लेषण पेश किया है। तथ्यों व दस्तावेज़ों के अध्ययन के मामले में यह विश्लेषण समृद्ध है और आलोचनात्मक तौर पर पढ़े जाने पर यह विवरण किसी मार्क्सवादी-लेनिनवादी के लिए भी उपयोगी हो सकता है। लेकिन जहाँ तक तथ्यों के वैज्ञानिक व तार्किक विश्लेषण का प्रश्न है, यह विश्लेषण अमेरिकी समाजशास्त्रीय प्रत्यक्षवादी और व्यक्तिवादी विश्लेषण की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाता है।

3-5 जुलाई की घटनाओं का विवरण पेश करके रैबिनोविच दो बातें सिद्ध करना चाहते हैं: पहला, कि ये घटनाएँ शान्तिपूर्ण नहीं थीं और इस दौरान हिंसा हुई थी; दूसरा यह कि तृणमूल

धरातल पर काम करने वाले बोल्शेविक सैनिकों और मज़दूरों को सशस्त्र विद्रोह के लिए तैयार कर रहे थे। यानी कि रैबिनोविच के अनुसार सोवियत विवरणों के विपरीत, 3-5 जुलाई को कोई शान्तिपूर्ण विरोध प्रदर्शन नहीं बल्कि एक विद्रोह हुआ था और साथ ही यह कि बोल्शेविक पार्टी के लोग इस विद्रोह की तैयारियों में शामिल थे। आइये देखते हैं कि इन दावों के आधारभूत आग्रह क्या हैं और इनमें कितनी सच्चाई है।

जैसा कि हमने पहले बताया रैबिनोविच के लिए सोवियत विवरणों में लेनिन, स्तालिन और यहाँ तक त्रात्स्की का लेखन नहीं शामिल है; उनके लिए सोवियत स्रोतों का अर्थ है केवल संशोधनवादी इतिहासकारों की रचनाएँ। वे 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' तक को उद्धृत नहीं करते, जो कि रैबिनोविच के मानकों के अनुसार सर्वाधिक असुधारणीय रूप से "स्तालिनवादी" पुस्तक है! इसलिए हम लेनिन, स्तालिन और यहाँ तक कि त्रात्स्की के विवरणों में जाकर देखेंगे कि उन्होंने 3-5 जुलाई के प्रदर्शन के बारे में क्या लिखा है और रैबिनोविच के दावे सही हैं या नहीं।

लेनिन ने मध्य-जुलाई से लेकर जुलाई के अन्त के दौर में कई ऐसे लेख लिखे जिनमें 3-5 जुलाई की घटनाओं का एक विश्लेषण पेश किया गया है। इनमें प्रमुख हैं : 'नारों के बारे में', 'तीन संकट', 'एक उत्तर'। इन तीनों लेखों में लेनिन ने जुलाई के जनउभार के बारे में कुछ बातें स्पष्ट कर दी हैं : पहला, 3-5 जुलाई का प्रदर्शन शान्तिपूर्ण नहीं था, हालाँकि हिंसा की शुरुआत प्रतिक्रान्तिकारी गिरोहों और सरकार के दस्तों द्वारा की गयी थी; दूसरा, यह महज़ प्रदर्शन नहीं था, बल्कि उससे कुछ ज़्यादा था, हालाँकि इसे क्रान्तिकारी विद्रोह की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती है; तीसरा, बोल्शेविक पार्टी ने इस जनउभार को पहले रोकने का प्रयास किया था क्योंकि यह अपरिपक्व सशस्त्र बग़ावत में तब्दील हो सकता था और जब उसे रोकना सम्भव नहीं रहा तो पार्टी ने उसे अधिकतम सम्भव 'शान्तिपूर्ण और संगठित' बनाने का प्रयास किया।

आइये देखते हैं कि लेनिन इसके बारे में क्या लिखते हैं। 'तीन संकट' नामक लेख में लेनिन लिखते हैं कि रूसी क्रान्ति के विकास में फ़रवरी क्रान्ति के बाद तीन क्रान्तिकारी संकट उत्पन्न हुए हैं : पहला, 20-21 अप्रैल का संकट, दूसरा, 10-18 जून का संकट और तीसरा, 3-5 जुलाई का संकट। ये तीनों ही संकट प्रदर्शनों के रूप में प्रकट हुए लेकिन वे महज़ प्रदर्शन नहीं रहे बल्कि जनता की क्रान्तिकारी भावना की अभिव्यक्ति बनते हुए प्रदर्शन से आगे की मंज़िल में पहुँच गये, हालाँकि उन्हें क्रान्ति का प्रयास नहीं क़रार दिया जा सकता है। लेनिन लिखते हैं :

"तीसरा संकट 2 जुलाई को बोल्शेविकों द्वारा इसे रोकने के प्रयासों के बावजूद 3 जुलाई को फूट पड़ा। 4 जुलाई को यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने के साथ ही 5 और 6 जुलाई को इसने प्रतिक्रान्ति के तीव्र विस्फोट को जन्म दिया। समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों के ढुलमुलपन ने अपने आपको स्पिरिदिनोवा व अन्य कई समाजवादी-क्रान्तिकारियों की इस घोषणा में अभिव्यक्त किया कि सारी सत्ता सोवियतों को स्थानान्तरित कर दी जानी चाहिए, और साथ ही मेंशेविक अन्तरराष्ट्रीयतावादियों के ढुलमुलपन ने भी इसी विचार को अभिव्यक्त करने में अपने आपको प्रकट किया, जो कि

पहले इस विचार का विरोध कर रहे थे।

"इन सभी घटनाओं को उनके अन्तर्सम्बन्धों में देखा जाये तो अन्तिम और सम्भवत: सबसे अनुदेशात्मक निर्णय जो कि हमारे सामने आता है वह यह है कि इन तीनों संकटों ने अपने आपको किसी न किसी प्रकार के प्रदर्शन में प्रकट किया जो कि हमारी क्रान्ति के इतिहास में नया है, ऐसे प्रदर्शन में जो अधिक जटिल प्रकार हैं जिसमें आन्दोलन लहरों में आगे बढ़ता है, जिसके दौरान आकस्मिक गिरावट के बाद तीव्र उभार आता है, जिसमें क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति अधिक विकट हो जाते हैं, और मध्यमार्गी तत्व कमोबेश व्यापक दौर के लिए समाप्त हो जाते हैं।

"इन तीनों ही संकटों में, आन्दोलन ने एक *प्रदर्शन* का रूप लिया। एक सरकार-विरोधी प्रदर्शन - जो कि घटनाओं का सर्वाधिक सटीक, औपचारिक विवरण होगा। लेकिन वास्तव में ये कोई साधारण प्रदर्शन नहीं थे; यह किसी प्रदर्शन से कहीं ज़्यादा थे, लेकिन किसी क्रान्ति से कम थे। यह क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति का *एक साथ* होने वाला विस्फोट थे, मध्यमार्गी तत्वों का तीव्र और कई बार लगभग अचानक होने वाला ख़ात्मा थे, जब सर्वहारा और बुर्जुआ तत्व तूफ़ानी रूप में प्रकट हुए।" (वी.आई. लेनिन, 1974, *तीन संकट,* **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड - 25,** प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 172-73)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लेनिन 3-5 जुलाई के प्रदर्शन को महज़ साधारण शान्तिपूर्ण प्रदर्शन नहीं मानते थे। **ऐसे में प्रश्न उठता है कि रैबिनोविच लेनिन को उद्धृत क्यों नहीं करते?** वे महज़ संशोधनवादी इतिहासकारों के विवरणों को लेकर यह दावा क्यों करते हैं कि सभी आधिकारिक सोवियत विवरणों में 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों को साधारण शान्तिपूर्ण प्रदर्शन क़रार दिया गया है? क्या लेनिन के लेखन को सोवियत स्रोत नहीं माना जाना चाहिए? आइये देखते हैं कि इन प्रदर्शनों में हुई हिंसा के विषय में लेनिन का क्या कहना है :

"यह ग़ौर करना किसी भी मानक से महत्वपूर्ण बात है कि 4 जुलाई को गोलियाँ चलने के बारे में रिपोर्ट छापने वाला पहला *बुर्जुआ* विक्षिप्त रूप से बोल्शेविक-विरोधी अख़बार था उसी दिन का सांयकालीन *बिर्जेव्स्का।* और इसी रपट में यह बताया जाता है कि गोली चलना प्रदर्शनकारियों की ओर से *नहीं* शुरू किया गया था, और जो पहली गोलियाँ चलीं थीं वे उनके *ख़िलाफ़* चलायी गयी थीं!! ज़ाहिर है कि "समाजवादी" कैबिनेट के "रिपब्लिकन" अधिवक्ता ने *बिर्जेव्स्का* की गवाही के बारे में खामोश रहना पसन्द किया है!! और फिर भी इस पूर्ण रूप से बोल्शेविक-विरोधी *बिर्जेव्स्का* की गवाही जो कुछ हुआ था और हमारी पार्टी जिस रूप में इसे देखती है, उस सामान्य तस्वीर से पूरी तरह से मेल खाता है। अगर यह कोई सशस्त्र विद्रोह होता, तो, ज़ाहिर है, विद्रोहियों ने प्रदर्शन का विरोध कर रहे प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ नहीं चलायी होतीं बल्कि कुछ निश्चित बैरकों और कुछ निश्चित इमारतों को घेर लिया होता; उन्होंने कुछ निश्चित सैन्य इकाइयों का सफ़ाया कर दिया होता, आदि। वहीं दूसरी ओर, अगर यह सरकार के

ख़िलाफ़ एक प्रदर्शन था, जिसके बरक्स सरकार के समर्थकों का जवाबी प्रदर्शन हो रहा था, तो यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि प्रतिक्रान्तिकारी पहले गोलियाँ चलायें, आंशिक तौर पर इसलिए कि वे प्रदर्शनकारियों की इतनी बड़ी संख्या देखकर क्रुद्ध थे, और आंशिक तौर पर इसलिए कि उनका इरादा प्रदर्शनकारियों को उकसाना था। और यह भी उतना ही स्वाभाविक था कि प्रदर्शनकारी गोलियों का जवाब गोलियों से दें।

...

"वास्तव में, (मृत लोगों) की प्रकाशित सूचियों पर एक सरसरी निगाह डालने से भी यह साफ़ हो जाता है कि उसमें दो प्रमुख समूह थे, कज़्ज़ाक और नाविक, और उन दोनों के ही लोग बराबर संख्या में मारे गये थे। अगर वास्तव में कोई सशस्त्र विद्रोह करना सशस्त्र नाविकों का इरादा होता जो कि दस हज़ार की संख्या में मज़दूरों और सैनिकों, विशेष तौर पर, मशीनगनर्स के साथ शामिल होने के लिए 4 जुलाई को पेत्रोग्राद में पहुँचे थे, तो क्या ऐसा होना सम्भव होता?

"निश्चित तौर पर, कज़्ज़ाकों और सशस्त्र विद्रोह का विरोध करने वाले अन्य लोगों में मृतकों की संख्या उस सूरत में दस गुना ज़्यादा होती, क्योंकि इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि पेत्रोग्राद की सड़कों पर 4 जुलाई के दिन सशस्त्र आबादी के भीतर बोल्शेविकों का वर्चस्व स्थापित था...

"अगर मृतकों की संख्या दोनों पक्षों में कमोबेश समान है, तो यह सिद्ध करता है कि गोलियाँ चलाने की शुरुआत प्रतिक्रान्तिकारियों की तरफ से की गयी थी और प्रदर्शनकारियों ने बस गोलियों से इसका जवाब दिया था...

"अन्त में, प्रेस में आयी निम्न सूचना बेहद महत्वपूर्ण है : 4 जुलाई को प्रदर्शनकारियों और प्रति-प्रदर्शनकारियों के बीच हुई झड़प में कज़्ज़ाकों की मौत होने की सूचना है। ऐसी झड़पें ग़ैर-क्रान्तिकारी काल में भी होती हैं, अगर आबादी उद्वेलित है; मिसाल के लिए, लातिनी देशों में, विशेषकर दक्षिण में, तो ऐसी घटनाएँ आम हैं। 4 जुलाई के बाद बोल्शेविकों के भी मारे जाने की ख़बरें हैं, जब कि उत्तेजित प्रदर्शनकारियों और प्रति-प्रदर्शनकारियों के बीच कोई टकराव *नहीं* हो रहा था, और इसलिए एक निःशस्त्र व्यक्ति की एक सशस्त्र व्यक्ति द्वारा हत्या एक निर्मम हत्या के अलावा कुछ नहीं था। श्पालेर्नाया मार्ग पर 6 जुलाई को बोल्शेविक वॉइनोव की हत्या ऐसी ही हरक़त था।" (वी.आई. लेनिन, 1974, *एक उत्तर,* **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-25,** प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 216-217)

लेनिन के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेनिन इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों के दौरान हिंसा हुई थी और यह महज़ कोई शान्तिपूर्ण जुलूस या प्रदर्शन नहीं रह गया था। लेनिन यह भी स्पष्ट करते हैं कि हिंसा की शुरुआत प्रतिक्रान्तिकारी ताक़तों की ओर से की गयी थी। मज़ेदार बात यह है कि रैबिनोविच भी अपनी पुस्तक में एक पश्चटिप्पणी में इस बात

को स्वीकार करते हैं कि हिंसा की शुरुआत दक्षिणपन्थी बुर्जुआ गिरोहों द्वारा की गयी थी और प्रदर्शनकारियों ने उसके जवाब में गोलियाँ चलायी थीं। ऐसे में, रैबिनोविच का यह दावा औंधे मुँह गिर जाता है कि सोवियत स्रोतों में (हम यहाँ संशोधनवादी स्रोतों की बात नहीं कर रहे) 3-5 जुलाई के प्रदर्शन को एक साधारण व शान्तिपूर्ण प्रदर्शन बताया गया था। अगर हम इस दौर में स्तालिन द्वारा लिखे गये लेखों 'क्लोज़ दि रैंक्स', 'व्हाट हैज़ हैपेण्ड' आदि को देखें तो रैबिनोविच का यह दावा और भी हास्यास्पद लगता है। हम केवल एक लेख 'क्लोज़ दि रैंक्स' से एक उद्धरण पेश करेंगे जिससे कि इस दौर के बारे में स्तालिन का मूल्यांकन स्पष्ट हो जाये। स्तालिन लिखते हैं :

"न तो बोल्शेविकों न और न ही किसी अन्य पार्टी ने 3 जुलाई के प्रदर्शन का आह्वान किया था। और तो और, 3 जुलाई तक भी बोल्शेविक पार्टी जो कि पेत्रोग्राद में सर्वाधिक प्रभावशाली थी, मज़दूरों और सैनिकों से प्रदर्शन न करने का आह्वान ही कर रही थी। लेकिन जब इन सारे प्रयासों के बावजूद आन्दोलन फूट पड़ा, तो हमारी पार्टी ने यह मानते हुए कि उसे इस मामले से हाथ झाड़ लेने का कोई अधिकार नहीं है, इस बात का हर सम्भव प्रयास किया कि आन्दोलन को एक शान्तिपूर्ण और संगठित चरित्र दिया जाये।

"लेकिन प्रति-क्रान्तिकारी ऊँघ नहीं रहे थे। उन्होंने उकसाने के लिए गोलियाँ चलवायी थीं; उन्होंने प्रदर्शन के दिनों को ख़ून से लाल कर दिया और, मोर्चे की कुछ विशेष इकाइयों के बूते उन्होंने क्रान्ति के ख़िलाफ़ आक्रमण की शुरुआत कर दी।" (जोसेफ़ स्तालिन, 1953, *क्लोज़ दि रैंक्स,* **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-3,** फ़ॉरेन लैंग्वेजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 110-111)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व ने 3-5 जुलाई के प्रदर्शन को रोकने का हर सम्भव प्रयास किया था। 3 जुलाई की देर रात तक ये प्रयास जारी थे। लेकिन जब ये प्रयास सफल नहीं हुए और पार्टी के समक्ष यह स्पष्ट हो गया कि अब प्रदर्शन को रोका नहीं जा सकता है, तो पार्टी ने उसमें हिस्सेदारी करके उसे अधिकतम सम्भव शान्तिपूर्ण और संगठित रूप देने का प्रयास किया। लेनिन के भी ऊपर उल्लिखित तीन लेखों में बार-बार इस बात का ज़िक्र किया गया है। साथ ही, स्तालिन के उपरोक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन सोवियत स्रोतों में, बोल्शेविक नेताओं के लेखन से लेकर इतिहास-लेखन तक में 3-5 जुलाई के प्रदर्शन को किसी शान्तिपूर्ण प्रदर्शन के रूप में चित्रित नहीं किया गया था। लेकिन अपने बुर्जुआ पूर्वाग्रहों के कारण रैबिनोविच का लेनिन और स्तालिन के लेखन के प्रति संशय की भावना हो सकती है। इसलिए आइये उनके प्रिय स्रोत त्रात्स्की पर चलते हैं और देखते हैं कि उन्होंने जुलाई 1917 में ही जुलाई की घटनाओं के बारे में क्या लिखा था। वे लिखते हैं :

"बोल्शेविकों समेत सभी पार्टियों ने 16 जुलाई (3 जुलाई) के प्रदर्शन से जनसमुदायों को रोकने का हर सम्भव प्रयास किया लेकिन जनता ने प्रदर्शन किया और वह भी अपने हाथों में हथियार लेकर। 16 जुलाई की शाम को ही सभी आन्दोलनकारियों ने ऐलान किया कि चूँकि सत्ता का प्रश्न हल नहीं हुआ है, इसलिए 17 जुलाई (4 जुलाई) का प्रदर्शन

होना अपरिहार्य है, और कोई भी क़दम जनता को इससे रोक नहीं सकता है। यह एकमात्र कारण था कि बोल्शेविक पार्टी, और उसके साथ ही हमारे संगठन (उस समय त्रात्स्की *मेज़राओन्त्सी* नामक ग्रुप में थे - *लेखक*) ने तय किया कि वह इससे अलग-थलग नहीं रह सकते और इसके परिणामों से हाथ नहीं झाड़ सकते, बल्कि उन्हें 17 जुलाई के मामले को एक शान्तिपूर्ण जनप्रदर्शन में तब्दील करने के लिए हर सम्भव प्रयास करना चाहिए। 17 जुलाई की अपील का और कोई अर्थ नहीं था। ज़ाहिर है कि यह स्पष्ट था कि प्रतिक्रान्तिकारी गिरोहों के लगभग तय हस्तक्षेप के मद्देनज़र ख़ूनी टकराव की स्थितियाँ पैदा होंगी। यह सच है कि जन समुदायों को बिना किसी राजनीतिक मार्गदर्शन के छोड़ा जा सकता है, उन्हें राजनीतिक तौर पर छिन्न-भिन्न किया जा सकता है, और उन्हें निर्देशित करने से इंकार करके उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ा जा सकता था। लेकिन हम मज़दूर पार्टी होने के नाते पाइलेट के रणकौशल का अनुसरण नहीं कर सकते थे (पाइलेट वह रोमन अधिकारी था जिसने न चाहते हुए भी ईसा को सूली पर चढ़ाये जाने के लिए सौंप दिया था - *लेखक*) : इसलिए हमने जन समुदायों के साथ शामिल होने और उनके साथ डटे रहने का निर्णय लिया, ताकि उनकी तात्विक उथल-पुथल में हम अधिकतम सम्भव संगठन ला सकें, जितना कि दी गयी परिस्थितियों में सम्भव था, और सम्भावित हताहतों की संख्या को न्यूनतम सीमा तक रख सकें। तथ्य सभी को अच्छी तरह से पता हैं। ख़ून बहाया गया है। और अब बुर्जुआ वर्ग का "प्रभावी प्रेस" और बुर्जुआ वर्ग की सेवा करने वाले अन्य अख़बार इन परिणामों की सारी ज़िम्मेदारी हमारे कन्धों पर रखने का प्रयास कर रहे हैं - जनसमुदायों की ग़रीबी, श्रान्ति, असन्तोष और विद्रोही भावना की ज़िम्मेदारी हम पर डालने का प्रयास कर रहे हैं।" (लियॉन त्रात्स्की, 1918, *दि जुलाई अपराइज़िंग,* **दि प्रोलेतारिन रिवोल्यूशन इन रशिया,** सं. लुइस सी फ्रायना, दि कम्युनिस्ट प्रेस, न्यूयॉर्क)

स्पष्ट है कि त्रात्स्की 1917 में भी जुलाई की घटनाओं को शान्तिपूर्ण प्रदर्शन नहीं मानते थे। उनका भी मानना था कि बोल्शेविक पार्टी की मंशा यही थी कि इस प्रदर्शन को रोका जाये क्योंकि इसके अपरिपक्व सशस्त्र बग़ावत में तब्दील होने का ख़तरा था, लेकिन जब इसे रोका नहीं जा सका तो बोल्शेविक पार्टी ने इसमें शामिल होकर इसे अधिकतम सम्भव संगठित और शान्तिपूर्ण रूप देने का प्रयास किया। लेकिन ताज्जुब की बात यह है कि इस प्रश्न पर रैबिनोविच त्रात्स्की को भी उद्धृत नहीं करते हैं।

हमने यहाँ लेनिन, स्तालिन और त्रात्स्की को विस्तार से इसलिए उद्धृत किया ताकि रैबिनोविच के इस दावे की सच्चाई की पड़ताल की जा सके कि सभी सोवियत स्रोतों में 3-5 जुलाई की घटनाओं को शान्तिपूर्ण प्रदर्शन के रूप में चित्रित किया गया है, जो कि आधिकारिक सोवियत दृष्टिकोण था और चूँकि सोवियत रूस में इतिहास-लेखन सोवियत सरकार की राजनीतिक ज़रूरतों से निर्धारित होता था इसलिए सोवियत इतिहास-लेखन में 3-5 जुलाई की घटनाओं का सही चित्रण नहीं मिलता है। हम लेनिन, स्तालिन और यहाँ तक कि त्रात्स्की के उपरोक्त उद्धरणों

में देख सकते हैं कि प्रदर्शन को बोल्शेविकों ने शान्तिपूर्ण और संगठित रूप देने का प्रयास किया लेकिन प्रतिक्रान्तिकारी गिरोहों द्वारा किये गये हमले के कारण प्रदर्शनकारियों ने भी जवाबी हमला किया और हिंसा हुई। इसलिए आप अन्त में ताज्जुब करते हैं कि रैबिनोविच के "सोवियत स्रोत" कौन-से हैं। जब आप ग्रन्थ सूची देखते हैं तो आपको पता चलता है कि ये तथाकथित सोवियत स्रोत 1953-56 के बाद किया गया संशोधनवादी इतिहास-लेखन है या फिर उन मेंशेविकों का जिन्होंने उस समय स्पष्ट तौर पर प्रतिक्रान्ति का पक्ष चुन लिया था और बोल्शेविक पार्टी के दमन का माहौल बनाने के लिए उस पर सशस्त्र विद्रोह की तैयारी का आरोप लगा रहे थे।

अपनी पुस्तक के 'प्राक्कथन' में रैबिनोविच लिखते हैं कि इस पुस्तक में उनका प्रमुख लक्ष्य यह दिखलाना है कि जून और जुलाई के घटनाक्रम से यह साफ़ हो जाता है कि बोल्शेविक पार्टी लेनिन के नेतृत्व में काम करने वाली कोई एकाश्मी संरचना नहीं थी जो बिना प्रश्न उठाये लेनिन की इच्छाओं का पालन करे। वह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी एक 'विभाजित पार्टी' थी जिसमें सत्ता के तीन केन्द्र काम कर रहे थे और इन तीनों ही केन्द्रों के लक्ष्य और हित अलग-अलग थे। ये तीन केन्द्र थे केन्द्रीय कमेटी, बोल्शेविक सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी। साथ ही, रैबिनोविच यह सिद्ध करने का दावा करते हैं कि अप्रैल 1917 में चुनी गयी केन्द्रीय कमेटी कोई सजातीय निकाय नहीं थी। उसमें एक ओर लेनिन और उनका अनुसरण करने वाले लोग थे तो दूसरी ओर दक्षिण रुझान रखने वाला एक धड़ा था जिसकी अगुवाई कामेनेव कर रहे थे। यह दावा करते हुए रैबिनोविच यह नहीं बताते कि किस बोल्शेविक नेता के लेखन में या 1953-56 तक के सोवियत इतिहास-लेखन में ऐसा दावा किया गया है कि बोल्शेविक पार्टी एक "मोनोलिथ" थी, या कि केन्द्रीय कमेटी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष मौजूद नहीं था। रैबिनोविच की बोल्शेविक सांगठनिक उसूलों के बारे में कोई समझदारी नहीं है। उनका मानना है कि लेनिन में एक छोटी, गुप्त, षड्यन्त्रकारी और लौह-अनुशासित पार्टी खड़ी करने का एक पागलपन भरा जुनून था जिसमें कि केन्द्रीय कमेटी के फ़रमानों के अनुसार सारे कार्य-कलाप होंगे; जिसमें केन्द्रीय कमेटी लेनिन की एकल इच्छाशक्ति के मातहत एकजुट होगी और लेनिन की कार्यदिशा प्रश्नों से इतर होगी। आइये देखें कि रैबिनोविच की लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों के बारे में क्या समझदारी है :

"1903 में लेनिन ने इस बात पर अपने जुनूनी ज़ोर के साथ रूसी मज़दूर आन्दोलन की एकता को स्थायी रूप से छिन्न-भिन्न कर दिया था कि केवल एक छोटा, पेशेवर और बेहद केन्द्रीकृत क्रान्तिकारी संगठन ही समाजवादी क्रान्ति में रूसी सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व देने में सक्षम होगा, वह भी उस समय जबकि रूसी सामाजिक-जनवादी एक ज़्यादा जनवादी रूप से संगठित, मोटे तौर पर सहिष्णु, एक जन पार्टी चाहते थे।" (अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1991, **प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन,** मिडलैण्ड संस्करण, इण्डियाना यूनीवर्सिटी प्रेस, पृ. 16)

इस उद्धरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि रैबिनोविच ने पार्टी के लेनिनवादी उसूलों के बारे में लेनिन की कोई भी मूल रचना नहीं पढ़ी है और इस बाबत उनका ज्ञान बुर्जुआ पाठ्यपुस्तकों और बुर्जुआ कक्षाओं के दिये जाने वाले ज्ञान तक सीमित है। बहरहाल, रैबिनोविच का दावा है

कि लेनिन के इन विचारों के कारण बोल्शेविक पार्टी का एक विशिष्ट दृष्टिकोण "आधिकारिक सोवियत इतिहास-लेखन" में हावी रहा है, जिसके अनुसार यह पार्टी एक "मोनोलिथ" के समान थी, हालाँकि रैबिनोविच के अनुसार वास्तविकता इससे भिन्न थी। यह बता देना ज़रूरी होगा कि बोल्शेविक पार्टी के बारे में न तो लेनिन, स्तालिन, स्वेर्दलोव, बुखारिन या प्रतिक्रान्ति का पक्ष चुनने से पहले के दौर में त्रात्स्की की ऐसी कोई समझदारी थी और न ही 1953-56 के पहले के सोवियत इतिहास लेखन में ऐसी कोई तस्वीर पेश की गयी है। लेकिन रैबिनोविच संशोधनवाद के दौर के कुछ स्रोत लेकर यह दावा कर देते हैं कि सभी सोवियत स्रोतों में यह भ्रामक तस्वीर पेश की गयी है। जब एक बार "आधिकारिक सोवियत दृष्टिकोण" का एक पुतला खड़ा कर दिया जाता है, तो फिर उसका ध्वंस करने में भी रैबिनोविच को ज़्यादा दिक़्क़त नहीं पेश आती है।

रैबिनोविच दावा करते हैं कि बोल्शेविक सैन्य संगठन केन्द्रीय कमेटी के मुक़ाबले ज़्यादा वाम अवस्थिति अपनाता था क्योंकि इसका नेतृत्व अधिक रैडिकल था और इसके ऊपर जनता की रैडिकल भावनाओं का सतत् दबाव रहता था। यह सैन्य संगठन वैसे तो सीधे केन्द्रीय कमेटी के मातहत था लेकिन यह काफ़ी हद तक स्वायत्त था। उसी प्रकार पीटर्सबर्ग कमेटी भी केन्द्रीय कमेटी से अलग अवस्थितियाँ अपनाती थी और केन्द्रीय कमेटी से इसका अक्सर टकराव होता रहता था क्योंकि ये दोनों ही कमेटियाँ मुख्य रूप से एक शहर में सक्रिय रहती थीं, यानी पेत्रोग्राद। इन सारे कारकों के चलते केन्द्रीय कमेटी, सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी के बीच एक त्रिकोणीय तनाव बना रहता था और सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी हमेशा अधिक स्वतन्त्रता और स्वायत्तता के लिए संघर्ष करते रहते थे, जबकि केन्द्रीय कमेटी सतत् इन पर अपना कठोर नियन्त्रण स्थापित करने के प्रयास में संलग्न रहती थी। रैबिनोविच का दावा है कि लेनिन के क्रान्ति के पूरे सिद्धान्त को इन तीनों निकायों ने अलग-अलग तरीक़े से व्याख्यायित किया। इन सारे दावों के बाद रैबिनोविच अपना एक 'पलायन मार्ग' भी 'प्राक्कथन' में ही तैयार कर लेते हैं क्योंकि सम्भवत: वे भी समझते हैं कि इन सारे दावों को सही ठहरा पाना मुश्किल होगा। रैबिनोविच लिखते हैं :

"इस बिन्दु पर मैं बस आपको सावधान करना चाहूँगा कि मेरे शोध के नतीजे ग़ैर-दस्तावेज़ी स्रोतों पर अति-निर्भरता के कारण हर प्रकार चूक की सम्भावना रखते हैं, वे अनिवार्य रूप से आरज़ी हैं और इसमें एक निश्चित मात्रा में शिक्षित अटकलबाज़ियाँ हैं।" (अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1991, पृ. 7)

'प्रस्तावना' और 'प्राक्कथन' में पेश विचारों पर एक सरसरी निगाह डालने के बाद हम रैबिनोविच द्वारा फ़रवरी क्रान्ति के बाद पैदा हुई परिस्थितियों के विश्लेषण की ओर आगे बढ़ सकते हैं।

रैबिनोविच का प्रच्छन्न रुदन : रूस को कोई सक्षम बुर्जुआ प्रशासक क्यों नहीं मिला?

पहले अध्याय में रैबिनोविच प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत के बारे में अलग-अलग लोगों के विचार पेश करते हैं जिसमें ज़ार के मन्त्रियों के विचारों से लेकर लेनिन तक के विचार शामिल हैं।

रैबिनोविच बताते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के दौर में रूस एक संक्रमण से गुज़र रहा था। इस संक्रमण का बयान करते हुए रैबिनोविच बताते हैं कि पूँजीवाद के रास्ते पर रूस का विकास अभी अधूरा था, और इसी वजह से वहाँ पर क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ पैदा हुईं। रैबिनोविच लिखते हैं :

"स्तोलिपिन की कल्पना के जैसा स्वतन्त्र किसानों का एक स्थायी वर्ग अभी गाँवों में स्थापित नहीं हुआ था, और तेजी से बढ़ रहे रूसी सर्वहारा वर्ग ने अभी उन महत्वपूर्ण आर्थिक लाभों को हासिल नहीं किया था जिन्होंने उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी की शुरुआत में ही पश्चिमी यूरोपीय मज़दूर की क्रान्तिकारी सरगर्मी को ठण्डा कर दिया था।" (रैबिनोविच, 1991, *वही*, पृ. 10)

जैसा कि हम देख सकते हैं ई.एच. कार के समान ही रैबिनोविच पर भी इस उदार बुर्जुआ तर्क का प्रभाव है जिसके अनुसार रूस में क्रान्ति होने का कारण यह था कि यहाँ पर पूँजीवाद का समुचित विकास नहीं हुआ, बुर्जुआ जनवाद ज़्यादा विकसित नहीं हुआ, उदार बुर्जुआ जनवाद के अभाव में मज़दूरों को तमाम आर्थिक अधिकार हासिल नहीं हुए, स्वतन्त्र किसानों का एक स्थायी वर्ग नहीं पैदा हुआ और एक सर्वसत्तावादी शासन के ख़िलाफ़ जनसमुदायों में विद्रोह की भावनाएँ पनपती रहीं। यदि रूस के हुक्मरानों ने पूँजीवाद का समुचित विकास किया होता, यदि उन्होंने एक पश्चिमी शैली वाला उदार बुर्जुआ जनवाद मुहैया कराया होता तो रूस में समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ ही पैदा नहीं होतीं। इस प्रकार रूसी क्रान्ति के होने की कारणात्मक व्याख्या पूँजीवाद और उदार बुर्जुआ जनवाद के अपूर्ण विकास पर निर्भर हो जाती है। इस प्रकार की विचारधारात्मक अन्धता वाली व्याख्या पेश करने की प्रक्रिया में साम्राज्यवाद की भूमिका, पश्चिमी यूरोप में मज़दूर आन्दोलन के सुधारवाद के गर्त में जाने और फिर पतन की और रूसी क्रान्ति में बोल्शेविक पार्टी की भूमिका के बारे में रैबिनोविच कोई समझदारी नहीं पेश करते हैं। **लुब्बेलुबाब यह कि रूस की क्रान्ति पूँजीपति वर्ग की ग़लती के कारण हुई थी और अगर रूसी पूँजीपति वर्ग ने पश्चिमी यूरोप से सीखा होता तो उसे क्रान्ति की विभीषिका से नहीं गुज़रना पड़ता।** ई. एच. कार का मूल्यांकन करते हुए हमने इस तर्क की अर्थहीनता के बारे में लिखा था। यह तर्क रैबिनोविच के उदार बुर्जुआ पूर्वाग्रहों को स्पष्ट कर देता है। इन्हीं पूर्वाग्रहों के कारण रैबिनोविच रूसी क्रान्ति के घटित होने, उसके पीछे काम कर रहे ढाँचागत कारकों की कोई सुसंगत समझदारी नहीं पेश कर पाते। इसी तर्क का विस्तार आप रैबिनोविच के निम्न व्यक्तिवादी विश्लेषण में भी देख सकते हैं :

"रूस की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के समाधानों को ढूँढ़ने और बीसवीं सदी में रूसी साम्राज्य के प्रवेश को सही तरीक़े से अधीक्षित करने के भारी अपरिमित लक्ष्य की पूर्ति के लिए किसी पीटर महान की अग्रणी भावना और असीम ऊर्जा या कम-से-कम अलेक्ज़ैण्डर द्वितीय के राजनीतिक यथार्थवाद और अनुकूलन की क्षमता की आवश्यकता थी। लेकिन इसके विपरीत, रूस का भविष्य एक ज़िद्दी और अदूरदर्शी राजा के हाथों में था जो अन्त तक रूस के लिए निरंकुश राजतन्त्र के मूल्य में भरोसा रखता था और अपने समय की विशालकाय समस्याओं का हल करना

तो दूर उन्हें समझने की क्षमता भी नहीं रखता था।" (वही, पृ 12-13)

एक बार फिर आप देख सकते हैं कि रैबिनोविच के अनुसार रूस में क्रान्ति की त्रासदी इसलिए घटित हुई क्योंकि उसके पास कोई सक्षम शासक नहीं था। अगर उसके पास कोई पीटर महान या अलेक्ज़ैण्डर द्वितीय जैसा काबिल हुक्मरान होता तो शायद रूस में क्रान्ति की त्रासदी घटित नहीं होती! रैबिनोविच के अनुसार इसी अक्षम शासक यानी निकोलस द्वितीय की अक्षमता और अकर्मण्यता थी जिसके कारण रूसी क्रान्ति की स्थितियाँ तैयार हुईं। दूसरे शब्दों में, कोई आधुनिकतावादी और सक्षम शासक क्रान्ति की विभीषिका से रूस को बचा सकता था। अमेरिकी इतिहास-लेखन में इस प्रकार के व्यक्तिवादी विश्लेषण के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इसी अध्याय में प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने के बाद दुनिया भर के मज़दूर आन्दोलन में शुरू हुई बहस का रैबिनोविच हवाला देते हैं और बताते हैं कि इस बाबत लेनिन ने किस प्रकार क्रान्तिकारी पराजयवाद की एक अतिवादी अवस्थिति अपनायी। लेकिन जैसे ही वे लेनिन की इस अवस्थिति के बारे में बताते हैं तो आप पाते हैं कि इस बारे में भी रैबिनोविच की जानकारी लेनिन के मूल लेखन और उस दौर में इस मुद्दे पर चली बहस में हुए मूल योगदानों पर आधारित नहीं है। सही कहा जाये तो रैबिनोविच ने लेनिन की अवस्थिति को समझा ही नहीं है। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच लिखते हैं :

"...उन्होंने (लेनिन ने) अपने आपको यह तर्क देकर अन्य सभी रूसी अन्तरराष्ट्रीयतावादी समूहों से अलग कर लिया कि जर्मनी के हाथों रूस की हार राजतन्त्र को कमज़ोर करने के एक ज़रिये के रूप में वांछनीय है। द्वितीय इण्टरनेशनल के एक कठोर खण्डन में, शान्ति के बजाय गृहयुद्ध पर ज़ोर में और रूस के लिए पराजयवाद की हिमायत में, लेनिन का कार्यक्रम चौंका देने की हद तक अतिवादी था। रक्षावादियों और मेंशेविक तथा समाजवादी-क्रान्तिकारियों द्वारा समान बल के साथ इसकी आलोचना की गयी। वास्तव में, कई बाद में महत्वपूर्ण बन गये बोल्शेविकों की अवस्थिति भी मार्तोव के अधिक मध्यमार्गी अन्तरराष्ट्रीयतावाद के क़रीब थी, बजाय लेनिन के असहिष्णु क़िस्म के रैडिकलिज़्म के।" (वही, पृ. 17)

स्पष्ट है कि रैबिनोविच या तो लेनिन की युद्ध पर अवस्थिति को समझ नहीं पाये हैं या फिर उसे जानबूझकर विकृत कर रहे हैं। ग़ौरतलब है कि लेनिन ने क्रान्तिकारी पराजयवाद की रणनीति 1914 में अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए पेश की थी, न कि सिर्फ़ रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के लिए। इस रणनीति का मक़सद केवल रूस की हार और जर्मनी की विजय नहीं था; यह रणनीति सभी युद्धरत देशों के मज़दूर वर्ग और सामाजिक-जनवादी आन्दोलन का आह्वान कर रही थी कि वे अपनी देश के सरकार के विरुद्ध क्रान्तिकारी गृहयुद्ध की शुरुआत करें। यह रणनीति सभी देशों के मज़दूर वर्ग का आह्वान करती थी कि वे साम्राज्यवादी युद्ध में पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए अन्य देशों के अपने वर्ग भाइयों के ख़िलाफ़ नहीं, बल्कि अपने असली दुश्मन, यानी कि अपने देश के पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ लड़ें, उसे उखाड़ फेंकें और सर्वहारा सत्ता स्थापित

करें। लेकिन रैबिनोविच लेनिन की इस कार्यदिशा को ऐसे व्याख्यायित करते हैं, मानो लेनिन केवल जर्मनी के हाथों रूस की हार की हिमायत कर रहे हों। लेनिन आम तौर पर साम्राज्यवादी युद्ध को क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में परिवर्तित करने की बात कर रहे थे और सभी युद्धरत देशों के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए यह नीति पेश कर रहे थे, न कि सिर्फ़ रूस के लिए।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, रैबिनोविच में अमेरिकी इतिहास-लेखन में हावी व्यक्तिवादी विश्लेषण की प्रवृत्ति को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। विशेष तौर पर अगर हम ज़ारकालीन रूस में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हावी आर्थिक विघटन और राजनीतिक अराजकता के बारे में रैबिनोविच के विचारों को देखें तो यह रुझान अपने प्रातिनिधिक रूप में देखा जा सकता है। रैबिनोविच लिखते हैं : *"वेर्दुन में और सोमने नदी पर हुए व्यर्थ रक्तपात से ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सेनाओं का मनोबल भी उतना ही टूटा हुआ था। रूसी स्थिति को जिस चीज़ ने ज़्यादा त्रासद बना दिया था वह यह थी कि मोर्चे पर गिरते मनोबल के साथ देश के भीतर राजनीतिक पक्षाघात और आर्थिक विघटन का पहलू मिश्रित हो गया था। रूस में कोई लॉयड जॉर्ज या क्लेमेंशो नहीं पैदा हुए जो कि पराजयवाद की बढ़ती भावना का गला घोंट पाते और जनता को एक निर्णायक राष्ट्रीय प्रयास के लिए तैयार कर पाते। याद किया जा सकता है कि 1914 में युद्ध के शुरुआत के समय रूसी जन भावना के बडे हिस्से ने राजनीतिक विरोध का निषेध किया था और सरकार का वफ़ादारी से समर्थन किया था... अगर ऐसा ही था तो यह एक अवसर था जिसकी शुरू से उपेक्षा की गयी। हर जन पहलक़दमी की अभिव्यक्ति को विद्रोह के रूप में देखने की प्रवृत्ति के साथ निर्बल और अत्यधिक सठियाये हुए आई.एल. गोरेमाइकिन के तहत रूसी सरकार ने कई बेशक़ीमती प्रयासों को कुचलने में कोई कसर नहीं छोड़ी जैसे कि अखिल रूसी ज़ेम्स्त्वो यूनियन और अखिल रूसी नगर यूनियन जिनका लक्ष्य था उद्योगों, शरणार्थी राहत कार्य, और चिकित्सीय सेवाओं के पुनर्संगठन के ज़रिये युद्ध प्रयास को आगे बढ़ाना।"* (*वही,* पृ. 20-21)

जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट है, रैबिनोविच के अनुसार रूस में क्रान्तिकारी स्थिति पैदा होने का कारण यह था कि रूस में ब्रिटेन के समान लॉयड जॉर्ज या फ़्रांस के समान कोई क्लेमेंशो नहीं था जो कि इस आर्थिक विघटन, राजनीतिक बिखराव और युद्धजनित संकट को सम्भाल पाता। रूस के वर्ग संघर्ष, अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवादी श्रृंखला में रूस की अवस्थिति और रूस में बोल्शेविक पार्टी के संगठन और नेतृत्व की इसमें कोई भूमिका नहीं थी। इस प्रकार रूस में क्रान्तिकारी स्थिति का पैदा होना और फिर क्रान्ति का सम्पन्न होना वास्तव में रूसी बुर्जुआ वर्ग और उसके प्रतिनिधियों की अकर्मण्यता का नतीजा था; अगर उसके पास भी ब्रिटिश या फ़्रांसीसी बुर्जुआ वर्ग जैसी इच्छाशक्ति और सक्षम नेतृत्व होता तो युद्ध का संकट रूस में क्रान्तिकारी स्थिति की तरफ़ न गया होता। देखा जा सकता है कि इतिहास के विश्लेषण में रैबिनोविच व्यक्तियों की भूमिका को निर्धारक तत्व के रूप में पेश कर रहे हैं, न कि वर्ग संघर्ष के ढाँचागत कारक को। यह अमेरिकी इतिहास-लेखन की बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं में से एक है : व्यक्तिवादी व आकस्मिकतावादी विश्लेषण।

विचारधारा के प्रति ऐसी ही अन्धता रैबिनोविच तब भी दिखलाते हैं जब वे पहले ही अध्याय में यह दावा करते हैं कि मेंशेविक जो कि पेत्रोग्राद सोवियत की कार्यकारी समिति में बहुमत में थे इस *कट्टर मार्क्सवादी विचार* को मानते थे कि जनवादी क्रान्ति के बाद उदार बुर्जुआ शासन का एक अनियतकालीन दौर चलेगा (*वही,* पृ. 29)। रैबिनोविच यह नहीं बताते कि उन्हें इस "कट्टर मार्क्सवादी विचार" के बारे में किस क्लासिकीय मार्क्सवादी रचना से पता चला। न तो मार्क्स में ऐसा कोई विचार मिलता है, न ही लेनिन में। वे निश्चित तौर पर जनवादी और समाजवादी क्रान्ति के चरणों के बीच फ़र्क़ करते थे, क्योंकि दोनों चरणों में क्रान्ति के मित्र वर्गों और शत्रु वर्गों के समीकरणों में अन्तर आ जाता है। लेकिन उनके बीच की अवधि लम्बी होगी या छोटी, यह कभी भी विचारधारा का मुद्दा नहीं था, न तो मार्क्स के लिए और न ही लेनिन के लिए। यह अवधि दिये गये राजनीतिक व ऐतिहासिक सन्धि-बिन्दु में छोटी या बड़ी हो सकती है। लेकिन रैबिनोविच इन विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रश्नों से अनभिज्ञ हैं और मेंशेविकों और बोल्शेविकों के बीच के विचारधारात्मक-राजनीतिक अन्तर के बारे में उनका ज्ञान बुर्जुआ कक्षाओं के ज्ञान तक सीमित है। लेकिन मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में रैबिनोविच की जानकारी मूल स्रोतों पर नहीं बल्कि बुर्जुआ व्याख्याकारों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान पर आधारित है, जैसा कि हम पहले ही ज़िक्र कर चुके हैं।

स्तालिन : रैबिनोविच समेत सभी बुर्जुआ इतिहासकारों का प्रमुख निशाना

रैबिनोविच फ़रवरी क्रान्ति के बाद के दौर में और विशेष तौर पर लेनिन के अप्रैल में रूस लौटने तक के दौर में बोल्शेविक पार्टी के भीतर हावी भ्रम की स्थिति और साथ ही दो लाइनों के संघर्ष के बारे में विवरण पेश करते हुए तथ्यों की कई ग़लतियाँ करते हैं। विशेष तौर पर, स्तालिन की अवस्थितियों को जानबूझकर तोड़ते-मरोड़ते हैं, सन्दर्भ से काटकर उन्हें पेश करते हैं।

फ़रवरी क्रान्ति के तुरन्त बाद बोल्शेविक पार्टी में एक हद तक युद्ध को लेकर और विशेष तौर पर आरज़ी सरकार के बारे में रवैये को लेकर काफ़ी भ्रम की स्थिति थी। रूस में फ़रवरी क्रान्ति के पहले से ही पार्टी गतिविधियों को संचालित करने की ज़िम्मेदारी केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो ने सम्भाल रखी थी। इसके सदस्य थे श्ल्याप्निकोव, मोलोतोव और ज़ालुत्स्की। इस रूसी ब्यूरो ने फ़रवरी क्रान्ति के ठीक बाद एक घोषणापत्र जारी किया और लेनिन की अवस्थिति को काफ़ी हद तक सही ढंग से इसमें पेश किया। इस घोषणापत्र में युद्ध का बिना शर्त विरोध किया गया और साथ ही आरज़ी सरकार को बड़े पूँजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग की सरकार बताया गया। मोलोतोव ने लेनिन के सबसे क़रीब की अवस्थिति अपनायी थी। पीटर्सबर्ग कमेटी के पुनर्गठन के बाद उन्होंने इस अवस्थिति पर उसे सहमत करने की कोशिश भी की थी। युद्ध के प्रश्न पर तो पीटर्सबर्ग कमेटी ने लगभग लेनिन की अवस्थिति को ही अपनाया था, लेकिन आरज़ी सरकार के प्रश्न पर उसने अलग अवस्थिति अपनायी जो कि मेंशेविक अन्तरराष्ट्रीयतावादियों के नज़दीक पड़ती थी: यह

अवस्थिति थी बाशर्त समर्थन की अवस्थिति, दूसरे शब्दों में आरज़ी सरकार को उस हद तक समर्थन देने की घोषणा की गयी जिस हद तक वह जनता के पक्ष में निर्णय लेती है, लेकिन साथ ही उस पर चौकसी बरतने की बात भी कही गयी। कुछ समय बाद ही साईबेरिया से स्तालिन, कामेनेव और मुरानोव लौट आये। रैबिनोविच यहाँ पर भी शब्दों के खेल से ऐसा जताने की कोशिश करते हैं कि इन तीनों ने रूसी ब्यूरो से नेतृत्व "हथिया" लिया। हालाँकि, यह स्वाभाविक ही था कि वरिष्ठ नेतृत्व के वापस लौटने के बाद *प्राव्दा* के सम्पादन और पार्टी कार्यों के कुल संचालन की प्रमुख ज़िम्मेदारी वही उठायेगा। लेकिन रैबिनोविच जैसे इतिहासकार इसे "नेतृत्व हड़पे जाने" के तौर पर पेश करते हैं। इसमें कोई अचरज की बात भी नहीं है, क्योंकि यह रैबिनोविच के 'विभाजित पार्टी' के विचार को ही बल देने का काम करता है।

बहरहाल, स्तालिन भी लेनिन के आगमन से पूर्व लेनिन की अवस्थिति का पूर्वानुमान नहीं कर सके थे और उसे अपना नहीं सके थे। उनकी अवस्थिति युद्ध के प्रश्न पर तो लेनिन के ही समान थी, लेकिन आरज़ी सरकार के प्रश्न पर बिना शर्त विरोध की अवस्थिति वे अभी नहीं अपना सके थे। वे अस्पष्ट शब्दों में क्रान्तिकारी प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की बात कर रहे थे और साथ ही आरज़ी सरकार पर क्रान्तिकारी नियन्त्रण क़ायम करने की बात कर रहे थे। एक दक्षिणपन्थी अवस्थिति कामेनेव व ओल्मिंस्की जैसे लोगों ने अपना रखी थी, जो मेंशेविकों की क्रान्तिकारी रक्षावाद की प्रतिक्रियावादी अवस्थिति से ज़्यादा भिन्न नहीं थी। स्तालिन की अवस्थिति लेनिन की अवस्थिति और कामेनेव की दक्षिणपन्थी अवस्थिति के बीच में पड़ती थी, बल्कि लेनिन की अवस्थिति की ओर सापेक्षत: ज़्यादा झुकाव रखती थी। लेकिन रैबिनोविच स्तालिन की पूरी अवस्थिति को बुरी तरह से विकृत करके पेश करते हैं, ताकि बाद में वे दिखा पायें कि लेनिन के आने के बाद स्तालिन धीरे-धीरे दक्षिणपन्थी अवस्थिति से दूर गये।

सच्चाई यह है कि स्तालिन ने कामेनेव के रुख़ का कड़ाई से विरोध किया और साथ ही ज़िम्मरवॉल्ड के बहुमत के बरक्स लेनिन के वामपन्थी ज़िम्मरवाल्डियन रुख़ का समर्थन किया। लेकिन तमाम अकादमिक लेखकों की तरह, जो कि स्तालिन के प्रति पूर्वाग्रहित होते हैं और कई बार जानबूझकर तथ्यों के साथ दुराचार करते हैं, अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच ने भी स्तालिन की अवस्थिति को जानबूझकर ग़लत रूप में पेश किया है। रैबिनोविच दावा करते हैं कि स्तालिन की अवस्थिति युद्ध पर वही थी जो कि कामेनेव की थी और उन्होंने कामेनेव के लेख के एक दिन बाद यानी 16 मार्च को *प्राव्दा* में एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि "युद्ध मुर्दाबाद का नारा बेकार है।" हम पहले रैबिनोविच को उद्धृत करेंगे और फिर स्तालिन के उस लेख से उद्धरण पेश करके दिखलायेंगे कि किस तरह रैबिनोविच ने (निश्चित तौर पर) जानबूझकर स्तालिन के कथन को सन्दर्भ से काटकर पेश किया ताकि स्तालिन को मेंशेविक और कामेनेव की अवस्थिति पर खड़ा हुआ दिखलाया जा सके। रैबिनोविच लिखते हैं :

"इस तरह इसके बाद कामेनेव और स्तालिन के लेखों ने आरज़ी सरकार के लिए सीमित समर्थन की वकालत की, "युद्ध मुर्दाबाद" के नारे को ठुकराया और मोर्चे पर विसंगठनकारी

गतिविधियों को समाप्त करने की वकालत की। कामेनेव ने प्राव्दा में 15 मार्च को लिखा, "जब शान्ति नहीं है तो लोगों को अपने पदों पर बने रहना चाहिए, और तोप के गोलों का तोप के गोलों से और गोलियों का गोलियों से जवाब देना चाहिए।" अगले दिन स्तालिन ने इसी को दुहराया, 'युद्ध मुर्दाबाद' एक बेकार नारा है।' " (वही, पृ. 36)

यह तथ्यों का कितना भयंकर और आपराधिक विकृतीकरण है इसको प्रदर्शित करने के लिए हम स्तालिन के 16 मार्च के *प्राव्दा* में छपे लेख का उद्धरण पेश करेंगे। स्तालिन लिखते हैं :

"मौजूदा युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है। इसका मुख्य लक्ष्य है पूँजीवादी रूप से उन्नत राज्यों द्वारा विदेशी, मुख्य रूप से कृषि, क्षेत्रों को हड़पना (क़ब्ज़ा करना)। उन्हें नये बाज़ार, इन बाज़ारों से सुविधाजनक संचार, कच्चे माल और खनिज भण्डार चाहिए और वे हर जगह उसे हासिल करने के लिए प्रयास करते हैं...और यही कारण है कि रूस में मौजूदा स्थिति इस बात का शोर मचाने और घोषणा करने का कोई कारण नहीं देती कि, "स्वतन्त्रता ख़तरे में है! युद्ध ज़िन्दाबाद!"

"और जिस तरह उस समय (1914 में) फ़्रांस में कई समाजवादियों (गुएस्दे, सेम्बात, आदि) के बीच यह खलबली मच गयी थी, उसी तरह रूस में भी कई समाजवादी "क्रान्तिकारी रक्षावाद" की घण्टी बजाने वाले बुर्जुआ कारिन्दों के पदचिन्हों पर चल रहे हैं।

"फ़्रांस में आगे के घटनाक्रम ने दिखलाया कि इस बात को लेकर ख़तरे की घण्टी बजाना एक झूठ है और स्वतन्त्रता और गणराज्य के बारे में चीख़-पुकार वास्तव में इस तथ्य को छिपाने का एक आवरण था कि फ़्रांसीसी साम्राज्यवादी आल्सेस-लॉरेन और वेस्टफ़ेलिया के लिए ललचाये हुए हैं।

"हम पूरी तरह विश्वस्त हैं कि रूस में मौजूदा घटनाक्रम अन्ततः दिखलायेगा कि "स्वतन्त्रता ख़तरे में है" की उन्मादी चीख़ें किस क़दर झूठी हैं : "देशभक्तिपूर्ण" धूम्रावरण छँट जायेगा और लोग ख़ुद ही देखेंगे कि रूसी साम्राज्यवादी आख़िर किसी चीज़ के पीछे भाग रहे थे - जलडमरूमध्य और ईरान।

"गुएस्दे, सेम्बात और उस जैसों का ज़िम्मरवॉल्ड और कियेंथॉल समाजवादी कांग्रेसों में सही ही मूल्यांकन किया गया था।

"आगे की घटनाओं ने ज़िम्मरवॉल्ड और कियेंथाल की थीसीज़ के सहीपन और उपयोगीपन को पूरी तरह सिद्ध किया है।...

हमारा, एक पार्टी के तौर पर मौजूदा युद्ध पर क्या रुख़ होना चाहिए?...

पहली बात तो यह, कि यह प्रश्नेतर है कि यह कोरा नारा, "युद्ध मुर्दाबाद!" व्यावहारिक कार्यों के लिए एकदम अनुपयुक्त है, क्योंकि, यह शान्ति के विचार के आम तौर पर प्रचार से आगे नहीं जाता, यह युद्धरत शक्तियों पर युद्ध को रोकने के लिए बाध्य करने के लिए व्यावहारिक दबाव बनाने के लिए कुछ भी मुहैया कराने में सक्षम नहीं है और न ही हो

सकता है।" (स्तालिन, 1954, *'युद्ध'*, (16 मार्च 1917), **वर्क्स, खण्ड-3,** फ़ॉरेन लैंग्वेजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को)

आगे स्तालिन बताते हैं कि युद्ध ख़त्म करने का एक ही रास्ता हो सकता है और वह यह है कि तमाम युद्धरत देशों का मज़दूर वर्ग अपने शासक वर्गों पर युद्ध ख़त्म करने के लिए क्रान्तिकारी दबाव बनाये। साफ़ है कि स्तालिन अभी लेनिन की "क्रान्तिकारी पराजयवाद" की कार्यदिशा तक नहीं पहुँचे थे। लेकिन रूस में लेनिन की इस रैडिकल कार्यदिशा के मोलोतोव के बाद सबसे क़रीब स्तालिन ही थे। हमने स्तालिन का यह लम्बा उद्धरण इसलिए पेश किया ताकि अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच जैसे अमेरिकी (वैसे रैबिनोविच मूलत: रूसी हैं। रैबिनोविच के पिता 1918 में क्रान्ति के बाद रूस से भाग गये थे) इतिहासकारों द्वारा स्तालिन के विषय में फैलाये जाने वाले झूठ के स्तर को समझ सकें। इसके अलावा लेनिन के आने से पहले ही स्तालिन पुख़्ता तरीक़े से युद्ध का विरोध कर रहे थे (हालाँकि, वे ज़िम्मरवॉल्ड-किर्येथाल लाइन पर सभी युद्ध विरोधियों की एकता स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे, जिस लाइन पर मेंशेविक प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता है), इसे जानने के लिए स्तालिन के कुछ अहम लेख देखे जा सकते हैं, जैसे कि 18 मार्च 1917 का लेख 'रूसी क्रान्ति के विजय की शर्तें' और 16 मार्च 1917 का लेख 'बिडिंग फॉर मिनिस्टीरियल पोर्टफोलियोज़'। इन लेखों को देखने से भी रैबिनोविच जैसे इतिहासकारों का यह आरोप निराधार सिद्ध हो जाता है कि स्तालिन ने युद्ध में भागीदारी का समर्थन किया था। ध्यान देने योग्य बात है कि त्रात्स्की ने भी स्तालिन पर यही आरोप लगाया है। हमने थोड़ा विस्तार से इस आरोप का खण्डन करना ज़रूरी समझा क्योंकि यद्यपि स्तालिन लेनिन की अवस्थिति पर नहीं पहुँचे थे, मगर वे कामेनेव की अवस्थिति पर भी नहीं थे। ग़ौरतलब है, ई.एच. कार के बाद अगर पश्चिमी अकादमिक जगत में किसी इतिहासकार के काम की सबसे ज़्यादा चर्चा हुई है तो वह रैबिनोविच हैं और यह ताज्जुब की बात है कि उनके काम का यह स्तर है कि वे स्तालिन के बारे में ऐसी आधारहीन टिप्पणी करते हैं। यहाँ यह भी बताना ज़रूरी है कि आरज़ी सरकार के बारे में भी स्तालिन का ठीक वही रुख़ नहीं था जो कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी का था। स्तालिन का रुख़ अगर मोलोतोव के समान आरज़ी सरकार की सीधी मुख़ालफ़त का नहीं था, तो स्पष्ट समर्थन का भी नहीं था। स्तालिन का रुख़ मूलत: और मुख्यत: आरजी सरकार के प्रति अविश्वास का था। इसे भी रैबिनोविच ग़लत तरीक़े से पेश करते हैं।

यहाँ यह भी ग़ौरतलब है कि रैबिनोविच दो पेज बाद ही स्तालिन के बारे में धीरे से अपनी अवस्थिति को बदल लेते हैं! यहाँ रैबिनोविच लिखते हैं कि लेनिन के बोल्शेविक बैठकों में आने के पहले स्तालिन आरज़ी सरकार पर "चौकसीपूर्ण नियन्त्रण" और पेत्रोग्राद सोवियत को क्रान्तिकारी सत्ता का आरम्भ मानने की बात कर चुके थे। लेकिन यदि स्तालिन पेत्रोग्राद सोवियत को क्रान्तिकारी सत्ता का केन्द्र मानते थे, तो फिर वह आरज़ी सरकार को समर्थन किस प्रकार दे रहे थे? स्पष्ट है कि स्तालिन की कार्यदिशा कामेनेव के साथ नहीं खड़ी थी, हालाँकि वे लेनिन की अवस्थिति तक भी नहीं पहुँच पाये थे। युद्ध पर उनकी अवस्थिति लेनिन के क़रीब बनती थी,

जैसा कि हमने ऊपर दिखलाया है। लेकिन चूँकि आरज़ी सरकार के प्रति रवैये को लेकर स्तालिन का रुख़ ढुलमुल और भ्रमित था इसलिए युद्ध के प्रश्न पर भी वे खुलकर क्रान्तिकारी पराजयवाद की हिमायत नहीं कर सके थे। लेकिन स्पष्टत: उनकी अवस्थिति कामेनेव से भिन्न थी। यहाँ तक कि कामेनेव की युद्ध पर अवस्थिति को जब पीटर्सबर्ग कमेटी की एक बैठक में नकारा गया तो स्तालिन भी कामेनेव की आलोचना रखने वालों में से एक थे।

इसके बाद रैबिनोविच तथ्यों की कुछ गम्भीर ग़लतियाँ भी करते हैं। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच यह दावा करते हैं कि लेनिन 3 अप्रैल को रूस वापस लौटने के बाद 4 अप्रैल को अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन में जाने वाले बोल्शेविक प्रतिनिधियों की एक बैठक को सम्बोधित करते हैं और पहली बार अपनी प्रसिद्ध 'अप्रैल थीसीज़' को पढ़ते हैं। यह तथ्यात्मक तौर पर ग़लत है। लेनिन ने 4 अप्रैल को दोपहर में जिस बैठक में पहली बार अपनी थीसीज़ औपचारिक तौर पर पेश की वह केवल बोल्शेविक प्रतिनिधियों की बैठक नहीं थी, बल्कि सभी सामाजिक-जनवादियों (जिसमें मेंशेविक व स्वतन्त्र सामाजिक-जनवादी भी शामिल थे) की साझा बैठक थी। दूसरी ग़लती रैबिनोविच यह करते हैं कि वह दावा करते हैं कि बोल्शेविकों की इस बैठक के बाद ये बोल्शेविक मेंशेविकों से एकीकरण की बात करने जा रहे थे। यह भी भ्रामक दावा है। यहाँ बोल्शेविक पार्टी और मेंशेविक पार्टी के एकीकरण का कोई प्रश्न नहीं था; अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन में बोल्शेविक प्रतिनिधि (जो कि लेनिन के आने से पहले आरज़ी सरकार पर एक ऐसी कार्यदिशा अपना रहे थे, जो कि मेंशेविक अन्तरराष्ट्रीयतावादियों के क़रीब पड़ती थी) और मेंशेविक प्रतिनिधि युद्ध के प्रश्न पर एक एकजुट अवस्थिति पेश करने को लेकर बातचीत करने जाने वाले थे। रैबिनोविच के अनुसार, इसके पहले ही बोल्शेविक प्रतिनिधियों के सामने लेनिन ने अपनी थीसीज़ पेश कर दी जिसके कारण एकीकरण की वार्ता खटाई में पड़ गयी। जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया, अव्वलन तो लेनिन ने थीसीज़ बोल्शेविक प्रतिनिधियों की अलग बैठक में नहीं बल्कि मेंशेविकों और बोल्शेविकों की एक साझा बैठक में पेश की थी और दूसरी बात यह कि पार्टियों के बीच एकीकरण कभी बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच एजेण्डे पर था ही नहीं। लेकिन इसे रैबिनोविच बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच आम तौर पर एकीकरण की वार्ता के तौर पर पेश करने का प्रयास करते हैं, जो सच्चाई से परे है।

यह भी ग़ौरतलब है कि इस दौर के ब्यौरे के लिए रैबिनोविच किसी बोल्शेविक नेता के लेखन पर निर्भर नहीं करते हैं। मज़ेदार बात यह है कि पहले तो रैबिनोविच इस बैठक को बोल्शेविक प्रतिनिधियों की बैठक क़रार देते हैं, जिसके बाद इन प्रतिनिधियों को मेंशेविकों के साथ एकीकरण की बैठक के लिए जाना था, लेकिन उसके कुछ ही आगे रैबिनोविच मेंशेविक नेताओं द्वारा लेनिन की थीसीज़ पर प्रतिक्रियाओं का भी ज़िक्र करते हैं; प्रश्न यह उठता है कि यदि उस बैठक में मेंशेविक थे ही नहीं तो उन्होंने लेनिन द्वारा उनकी थीसीज़ की प्रस्तुति पर वे प्रतिक्रियाएँ कैसे दीं? (देखें, *वही,* पृ. 40)

इसके बाद रैबिनोविच फिर से स्तालिन को अपना निशाना बनाते हैं। उनका दावा है कि 6

अप्रैल को केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो की एक बैठक में कामेनेव ने लेनिन की 'अप्रैल थीसीज़' पर हमला करते हुए कहा कि अगर इन्हें स्वीकार किया गया तो फिर पार्टी महज़ प्रचारकों के एक समूह में तब्दील हो जायेगी। जब कामेनेव ने यह बात रखी, तो रैबिनोविच के अनुसार, स्तालिन ने कामेनेव का समर्थन किया। आगे भी रैबिनोविच दावा करते हैं कि स्तालिन ने सातवें अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन (अप्रैल सम्मेलन) में ही कामेनेव की लगभग मेंशेविक अवस्थिति से अपना रिश्ता तोड़ा। इन सभी सूचनाओं का स्रोत स्तालिन-विरोधी इतिहासकार बर्दज़ालोव या कुछ अन्य मेंशेविक संस्मरण हैं। इनके अलावा, रैबिनोविच ने किसी को भी उद्धृत करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की है। लेकिन यदि आप इस सूचना को किसी अन्य स्रोत में तलाशना चाहेंगे तो आपको मुश्किल होगी, क्योंकि यह सूचना किसी भी अन्य स्रोत में आपको नहीं मिलेगी, न तो ई. एच. कार में, न क्रुप्सकाया के संस्मरणों में, न लेनिन के लेखन में, न स्तालिन के लेखन में और न ही पार्टी दस्तावेज़ों में। ज़ाहिर है, रैबिनोविच यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि स्तालिन की शुरुआती अवस्थिति हूबहू वही थी जो कि कामेनेव की है। इस दावे की असत्यता को हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

आगे भी जहाँ 10 जून के प्रदर्शन की चर्चा की जाती है, वहाँ स्तालिन को चलते-चलते एक बार फिर से निशाना बनाया जाता है। यहाँ 6 जून की पीटर्सबर्ग कमेटी की एक बैठक का ब्यौरा दिया गया है, जिसमें स्तालिन आते हैं। रैबिनोविच बताते हैं कि स्तालिन यहाँ पुरज़ोर तरीक़े से 10 जून को प्रदर्शन करने के पक्ष में तर्क देते हैं, जो कि लेनिन की कार्यदिशा थी और इससे पता चलता है कि स्तालिन किस हद तक वामपन्थी हो गये थे! रैबिनोविच लिखते हैं, *"अपनी टिप्पणियों में स्तालिन ने प्रदर्शित किया कि मार्च में राजधानी में आने के बाद उन्होंने वाम दिशा में कितनी लम्बी यात्रा तय कर ली थी।" (वही,* पृ. 60) ग़ौरतलब है, स्तालिन कभी भी कामेनेव की दक्षिणपन्थी अवस्थिति पर नहीं थे; वे आरज़ी सरकार को लेकर क्या अवस्थिति अपनायी जाये, इस सवाल पर भ्रमित ज़रूर थे, लेकिन वे कामेनेव के समान युद्ध में भागीदारी की हिमायत की अवस्थिति की ओर नहीं थे। लेनिन के आने के बाद निश्चित तौर पर स्तालिन के लिए यह भ्रम की स्थिति साफ़ हुई थी और उन्होंने रैबिनोविच के अनुसार "वाम दिशा में" कुछ यात्रा की थी। दूसरी बात यह है कि रैबिनोविच कहीं भी यह नहीं बताते कि कई वर्षों बाद त्रात्स्की से बहस के दौरान स्तालिन ने अपनी इस ग़लती को स्वीकार भी किया था। यह बौद्धिक बेईमानी नहीं तो और क्या है, कि रैबिनोविच इसका ज़िक्र तक नहीं करते हैं? 1924 में स्तालिन ने अपनी ग़लती को स्वीकार करते हुए लिखा था :

"पार्टी (इसका बहुमत) इस नयी दिशा की ओर अँधेरे में अपना रास्ता तलाश रही थी। इसने शान्ति के प्रश्न पर सोवियतों के ज़रिये आरज़ी सरकार पर दबाव की नीति अपनायी और तत्काल सर्वहारा वर्ग और किसानों की तानाशाही से सारी सत्ता सोवियतों को हस्तान्तरित करने के नारे को नहीं अपनाया। इस आधी-अधूरी नीति का लक्ष्य था शान्ति के ठोस प्रश्नों पर सोवियतों को आरज़ी सरकार के वास्तविक साम्राज्यवादी स्वभाव को

समझने में सक्षम बनाना और इस प्रकार आरज़ी सरकार का सोवियतों पर से नियन्त्रण हथिया लेना। लेकिन यह बुरी तरह से ग़लत अवस्थिति थी, क्योंकि यह शान्तिवादी भ्रमों को जन्म देती थी, रक्षावाद को बल देती थी और इस प्रकार जनसमुदायों की क्रान्तिकारी शिक्षा में बाधा डालती थी। उस समय मैंने भी अन्य पार्टी कॉमरेडों के साथ यही अवस्थिति अपनायी थी और अप्रैल के मध्य में मैंने इसे पूरी तरह से छोड़ दिया जब मैंने लेनिन की थीसीज़ को अपना लिया। एक नयी दिशा की आवश्यकता थी। यह नयी दिशा पार्टी को लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध अप्रैल थीसीज़ में दी थी।" (जे. वी. स्तालिन, 1953, *ट्रॉट्स्कीज़्म ऑर लेनिनिज़्म,* **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड - 6, अंग्रेज़ी संस्करण,** फ़ॉरेन लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को, पृ. 348)

लेकिन स्तालिन की इस आत्मालोचना को रैबिनोविच पूरी तरह से गोल कर जाते हैं, जिससे स्तालिन के बारे में एक भ्रामक तस्वीर पेश होती है। स्पष्ट है, हर उदार और यहाँ तक कि बोल्शेविकों से सहानुभूति रखने वाले बुर्जुआ इतिहासकार के लिए भी स्तालिन आँख की किरकिरी के समान हैं।

लेनिन के राजनीतिक नेतृत्व व प्रभाव के आकस्मिक कारण, बकौल रैबिनोविच!

रैबिनोविच का मानना है कि अन्ततः लेनिन की कार्यदिशा (अप्रैल थीसीज़ में प्रस्तुत) को पार्टी में स्वीकार किया गया तो इसके दो कारण थे: एक तो यह कि लेनिन का बौद्धिक प्रभाव पार्टी के ऊपर काफ़ी ज़्यादा था और दूसरा यह कि फ़रवरी क्रान्ति के बाद से ही पार्टी सदस्यता का ढाँचा बदलता जा रहा था और उसमें बहुत से ऐसे तत्व प्रवेश कर गये थे जिनमें एक प्रकार का क्रान्तिकारी अधैर्य था। ऐसे अधैर्यवान सदस्यों को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रवेश की बात करने वाली लेनिन की रैडिकल कार्यदिशा रुच रही थी और यही वजह थी की अन्ततः लेनिन की कार्यदिशा पार्टी में हावी हो गयी। रैबिनोविच लिखते हैं :

"फ़रवरी क्रान्ति के समय से ही पार्टी सदस्यता की शर्तों को लगभग रद्द कर दिया गया था, और अब बोल्शेविक क़तारें जल्दबाज़ नये रंगरूटों से भर गयी थीं जो कि मार्क्सवाद के बारे में लगभग कुछ नहीं जानते थे और जिन्हें क्रान्तिकारी कार्रवाई के लिए भयंकर अधैर्य एकजुट करता था। इसके अलावा, राजधानी में कारावास, निर्वासन और प्रवासन से लौटने वालों में तमाम पुराने पार्टी सदस्य थे, जो कि उन बोल्शेविकों से ज़्यादा रैडिकल होने का रुझान रखते थे जो कि युद्ध के दौरान पेत्रोग्राद में ही थे।" (रैबिनोविच, 1991, पृ. 41)

दूसरे शब्दों में, यदि पेत्रोग्राद में पहले की ही तरह पार्टी के भीतर सूझबूझ वाले, विवेकवान और मध्यमार्गी बोल्शेविकों का बोलबाला रहा होता (जैसे कि कामेनेव!) तो फिर लेनिन की जल्दबाज़ कार्यदिशा लागू नहीं हुई होती। हम देख सकते हैं कि रूसी क्रान्ति के बारे में तमाम बुर्जुआ व उदारवादी बुर्जुआ इतिहासकारों का दर्द आज तक भी शान्त नहीं हो पाया

है। मसलन, वे तमाम क़िस्म की आकस्मिकताओं या अलग-अलग विशिष्ट व्यक्तियों की कुछ ख़ास अभिलाक्षणिकताओं का हवाला देकर ऐसी बातें करते रहते हैं : "अगर रूस में भी कोई लॉयड जॉर्ज होता तो...", "अगर पार्टी में अधैर्यवान रंगरूट न भर गये होते तो लेनिन की रैडिकल कार्यदिशा की बजाय कामेनेव की नर्म कार्यदिशा लागू होती..." वग़ैरह।

पहली बात तो यह है कि बोल्शेविक पार्टी में सदस्यता की शर्तों में कभी छूट नहीं दी गयी थी; यह सच है कि ऐसे दौर आये थे जब कि खुले काम की परिस्थितियों के कारण सदस्यता देने में ज़्यादा उदारता बरती गयी। लेकिन ऐसा दौर महज़ फ़रवरी क्रान्ति के बाद ही नहीं आया था, बल्कि कई बार आया था। और पार्टी ने बार-बार शुद्धीकरण अभियान चलाकर ग़ैर-संजीदा तत्वों की छँटनी भी की थी। ग़ौरतलब बात यह है कि लेनिन की कार्यदिशा को स्वीकार करने के पीछे पार्टी के आम बौद्धिक स्तर का नीचे जाना और अदूरदर्शी नये रंगरूटों का भरना नहीं था। 6 अप्रैल से 24 अप्रैल तक ही (जब कि प्रसिद्ध अप्रैल सम्मेलन हुआ था) रूस में बदलती परिस्थितियाँ लगातार लेनिन की कार्यदिशा के सहीपन को साबित कर रही थीं। युद्ध में मिल रही लगातार पराजयों, मन्त्रिमण्डलीय संकट, भूख, मोर्चे से पलायन, सेना व मज़दूरों में विद्रोह की बढ़ती भावना - ये सभी बोल्शेविक पार्टी के सामने लेनिन की कार्यदिशा के सहीपन को सिद्ध कर रहे थे। इसलिए लेनिन की कार्यदिशा पहले 14 अप्रैल के पार्टी के पेत्रोग्राद नगर सम्मेलन में विजयी हुई और उसके बाद 24 अप्रैल के अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन में विजयी हुई। ई.एच. कार का ब्यौरा इस विषय में कहीं ज़्यादा सन्तुलित है और अमेरिकी इतिहास-लेखन के टिपिकल विकृतीकरण से मुक्त है :

"ये कार्यवाहियाँ एक बार फिर से पार्टी पर लेनिन की अपरिमित प्रभाव को दिखला रही थीं, जो प्रभाव जुमलों पर नहीं, बल्कि परिस्थितियों की अद्वितीय और गहरी समझदारी के अत्यंत सम्मोहक प्रभाव को सम्प्रेषित करने वाली साफ़ नज़र और तीक्ष्ण तर्कों पर आधारित था। "लेनिन के आने से पहले सभी कामरेड अँधेरे में भटक रहे थे", जैसा कि पेत्रोग्राद सम्मेलन में आये एक प्रतिनिधि ने बताया।" (ई.एच. कार, 1978, **दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन, खण्ड 1,** डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कं., न्यूयॉर्क, पृ. 82)

लेनिन की अवस्थितियों का विकृतीकरण या उसे समझने में अक्षमता का प्रदर्शन जारी रखते हुए रैबिनोविच दावा करते हैं कि लेनिन का अप्रैल में रूस आते ही शुरुआती मूल्यांकन यह था कि आरज़ी सरकार को तत्काल उखाड़ फेंका जाना चाहिए। 20-21 अप्रैल को पीटर्सबर्ग कमेटी द्वारा वामपन्थी कार्यदिशा पर अमल के कारण एक जन प्रदर्शन हुआ जो कि पार्टी के पूर्ण नियन्त्रण में नहीं रह सका। बोग्दातियेव की अगुवाई में एक वामपन्थी धड़ा काफ़ी हद तक इसका ज़िम्मेदार था। लेनिन ने इसे बड़ी भूल बताया और कहा कि कार्रवाई के मौक़ों पर ऐसी भूलें कई बार काफ़ी बड़ी क़ीमत वसूल लेती हैं, लेकिन साथ ही लेनिन ने यह भी कहा कि जो सक्रिय होते हैं और क़दम उठाते हैं उनसे ग़लतियाँ हो सकती हैं। रैबिनोविच यहाँ यह जोड़ देते हैं :

"इस मौक़े पर उनकी (लेनिन की) टिप्पणियाँ यह दिखलाती हैं कि आरज़ी सरकार को उखाड़

फेंकने के लिए जनसमुदायों को तैयार करने का कार्यभार अब उन्हें उन दिनों की अपेक्षा काफ़ी जटिल लग रहा था जब वे अभी रूस लौटे थे...'' (रैबिनोविच, 1991, पृ 45)

यह लेनिन की अवस्थिति का भयंकर विकृतीकरण है और उन्हें वामपन्थी भटकाव का शिकार बनाने का प्रयास है। रैबिनोविच यह इसलिए भी करते हैं क्योंकि इससे उनकी 'विभाजित पार्टी' की थीसिस को बल मिलता है। सच्चाई यह है कि लेनिन ने अपने रूस में आने साथ ही जो 'अप्रैल थीसीज़' पेश की थी उसमें तत्काल आरज़ी सरकार को उखाड़ फेंकने की कोई बात नहीं की थी। लेनिन का यह मानना था कि जब तक कि बोल्शेविक पार्टी पीटर्सबर्ग सोवियत और अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में बहुमत में नहीं आ जाती और जब तक वह प्रान्तों में बेहतर स्थिति में नहीं आ जाती तब तक बोल्शेविक अगर आरज़ी सरकार के ख़िलाफ़ क्रान्ति कर सत्ता स्थापित कर भी लें तो भी वे उस पर टिके नहीं रह पायेंगे। और यह अवस्थिति लेनिन की शुरू से ही थी न कि बाद में बनी। लेनिन ने शुरुआत में महज़ यह दावा किया था कि अब क्रान्ति की जनवादी मंज़िल से समाजवादी मंज़िल में संक्रमण शुरू हो चुका है और अब किसी प्रकार के संसदीय जनवाद की ओर लौटने की बात पीछे की ओर उठाया जाने वाला क़दम होगा। अब सारी सत्ता सोवियतों को सौंपने का नारा ही प्रासंगिक है। "दोहरी सत्ता" की विशिष्ट और अस्थायी स्थिति में कुछ समय के लिए राज्यसत्ता के सोवियतों के हाथों में शान्तिपूर्ण रूप से हस्तान्तरण की सम्भावना बनी हुई थी, लेकिन जुलाई के बाद ही यह सम्भावना समाप्त हुई जब राज्यसत्ता पूरी तरह बुर्जुआ वर्ग के हाथों में सुदृढ़ीकृत हो गयी और सोवियतों की भूमिका बुर्जुआ वर्ग के पिछलग्गू की बन गयी। लेकिन लेनिन की पूरी अवस्थिति को रैबिनोविच तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं। अप्रैल सम्मेलन के बारे में ही रैबिनोविच एक ऐसी तस्वीर पेश करते हैं जो कि 'विभाजित पार्टी' के उनके विचार का समर्थन करे। वे कहते हैं कि सम्मेलन में लेनिन को बिना शर्त नहीं बल्कि बाशर्त समर्थन मिला; दूसरे इण्टरनेशनल से नाता तोड़ने के उनके आह्वान को ज़्यादा समर्थन नहीं मिला और "वर्तमान स्थिति" पर लेनिन की अवस्थिति को बहुमत तो मिला लेकिन केवल 24 वोटों के अन्तर से विजय मिली। अव्वलन तो ये तथ्य ही सटीक नहीं है, और दूसरे किसी भी पार्टी सम्मेलन में तीखी बहस होना एक संक्रमणकालीन स्थिति में सामान्य था। तथ्यत: यह ग़लती है कि "वर्तमान स्थिति" पर लेनिन की अवस्थिति के समर्थन में 73 वोट पड़े जबकि उसके विरोध में 39 वोट पड़े, जबकि 8 प्रतिनिधियों ने वोट डालने से इंकार कर दिया। यानी लेनिन की अवस्थिति की 24 नहीं बल्कि 34 वोटों से जीत हुई थी और उसके पक्ष में कुल वोटों के दो-तिहाई वोट पड़े थे। बोल्शेविक पार्टी का सिद्धान्त ही यही है कि कार्यदिशा तय होने से पहले पूर्ण स्वतन्त्रता और बहस की पूरी आज़ादी और बहुमत द्वारा कार्यदिशा निर्धारित हो जाने पर पूर्ण केन्द्रीयता और पूर्ण अनुशासन। सातवें पार्टी सम्मेलन में लेनिन की अप्रैल थीसीज़ को इतने अन्तर से भी बहुमत प्राप्त हुआ तो वह लेनिन की कार्यदिशा की एक बड़ी विजय थी क्योंकि दस दिन पहले ही लेनिन की अवस्थिति अल्पमत में थी। लेकिन रैबिनोविच के लिए सम्मेलन में यह वोटिंग पैटर्न एक 'विभाजित पार्टी' को दिखलाता है।

साथ ही, रैबिनोविच दावा करते हैं कि सम्मेलन में लेनिन के विरोध में एक कामेनेव गुट था जिसमें नोगिन, मिल्युतिन और फेदोरोव थे, जबकि उसके विपरीत लेनिन का पक्ष लेने वाला धड़ा था जिसमें लेनिन के अलावा, ज़िनोवियेव, स्तालिन, स्वेर्दलोव और स्मिल्गा शामिल थे। इन नौ लोगों को ही केन्द्रीय कमेटी में भी चुना गया जिससे पता चलता है कि पार्टी में कामेनेव धड़े का भी काफ़ी प्रभाव था और इसी मध्यमार्गी धड़े को इसी वजह से नेतृत्व में इतना स्थान मिला था। यहाँ भी देख सकते हैं कि एक बुर्जुआ अनुभववादी इतिहासकार यदि बोल्शेविक पार्टी के भीतर चलने वाले दो लाइनों के संघर्ष का इतिहास लिखेगा तो किस नज़रिये से लिखेगा। वह उसमें दो लाइनों के संघर्ष और उसके कारण बनने वाली व्यापक अवस्थितियों को गुटों के रूप में देखेगा और साथ ही हर वोटिंग या चुनाव को प्रभावी गुटों के बीच एक समझौते के रूप में पेश करेगा। इसलिए रैबिनोविच के अनुसार सातवें सम्मेलन में लेनिन की अवस्थिति की कोई भारी विजय नहीं हुई बल्कि एक सन्तुलन स्थापित करने वाला समझौता किया गया! ज़ाहिर है, रैबिनोविच जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त को ही नहीं समझते हैं और हर पार्टी फ़ोरम पर सत्ता के लिए गुटों के बीच संघर्ष की तलाश करते नज़र आते हैं। पार्टी के भीतर जारी विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष का इस्तेमाल वे बोल्शेविक पार्टी को एक 'विभाजित पार्टी' के रूप में प्रदर्शित करने के लिए करते हैं और यह दावा करते हैं कि सोवियत स्रोतों में कहीं भी इस संघर्ष की तस्वीर नहीं मिलती है और अगर कहीं ज़िक्र आता भी है तो लेनिन की कार्यदिशा से विपथगमन करने वाले को वाम या दक्षिण भटकाव का शिकार बता दिया जाता है। यह एक विचित्र आपत्ति है।

निश्चित तौर पर, बोल्शेविक पार्टी जिस कार्यदिशा को तमाम बहस-मुबाहसे के बाद सही कार्यदिशा के रूप में स्वीकार करेगी उससे विचलन को निश्चित तौर पर वह सही द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अवस्थिति से वाम या दक्षिण विचलन के तौर पर ही देखेगी। इस बात पर दुखी होने का रैबिनोविच के पास कोई वैध कारण नहीं है। दूसरी बात जो स्पष्ट तौर पर सामने आती है वह यह है कि एक कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर जारी राजनीतिक व विचारधारात्मक उथल-पुथल, बहस और विमर्श के बीच तथा उस पार्टी की सांगठनिक एकता और अनुशासन के बीच रैबिनोविच व तमाम बुर्जुआ इतिहासकार फ़र्क़ नहीं कर पाते हैं। इसका कारण यही है कि वे जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त को नहीं समझ पाते हैं। अगर हम रैबिनोविच द्वारा लिखे गये इतिहास को ही देखें तो हम पाते हैं कि पार्टी में जो तमाम बहसें चल रही थीं, उसके बावजूद, अगर हम अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा पार्टी की तय कार्यदिशा से किये गये विचलनों को छोड़ दें, तो सांगठनिक अनुशासन के मामले में कमोबेश एकता मौजूद थी। पार्टी की कमेटियाँ केवल उन सूरतों में अपने से ऊपर की कमेटियों या केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों को लागू करने में असफल दिखती हैं, जबकि उनके बीच सम्पर्क टूट चुका होता है, या फिर जब कुछ विशिष्ट व्यक्ति अनुशासन का उल्लंघन करते हैं। इसके अतिरिक्त, सभी मौक़ों पर हर कमेटी सदस्य अपनी कमेटी के बहुमत द्वारा तय कार्यदिशा और केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों का पालन करता है और हर कमेटी अपने से ऊपर की कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों का पालन करती नज़र आती है। इसलिए विचारों और

कार्यदिशाओं के घमासान के बावजूद, अपवादस्वरूप स्थितियों, जैसे कि सम्पर्क का टूट जाना, के अलावा, कार्रवाई की एकता बोल्शेविक पार्टी की ख़ासियत के तौर पर सामने आती है। और चूँकि रैबिनोविच भी एक अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी इतिहासकार हैं, इसलिए वे भी तथ्यों की प्रस्तुति में इतना हेर-फेर नहीं कर पाते कि कोई और तस्वीर पेश कर पायें। उनका इतिहास-लेखन भी ग़ैर-इरादतन ही सही मगर इस तथ्य को सही सिद्ध करता है। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच का पूरा ब्यौरा दिखलाता है कि किस प्रकार सैन्य संगठन के पोदवॉइस्की और नेव्स्की केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को सैन्य संगठन के सम्मेलन में लागू करवाने का प्रयास करते हैं और साथ ही व्यापक सैनिक आबादी में बोल्शेविक कार्यदिशा को लागू करवाने के लिए अथक प्रयास करते हैं, लेकिन अलग से रैबिनोविच एक स्थान पर यह दावा करते हैं कि पोदवॉइस्की और नेव्स्की स्वतन्त्र व्यक्तित्व के स्वामी थे और वे अक्सर केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को लागू नहीं करते थे। इस दावे को सही सिद्ध करने के लिए रैबिनोविच संशोधनवाद के दौर के स्रोत का हवाला देते हैं। इस प्रकार के अन्तरविरोध रैबिनोविच के इतिहास-लेखन में हमें पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।

बोल्शेविक सैन्य संगठन और उसके नेतृत्व के बारे में रैबिनोविच के अन्तरविरोधी विचार

बोल्शेविक सैन्य संगठन के बारे में रैबिनोविच के विचारों की पड़ताल विशेष तौर पर उपयोगी है क्योंकि फ़रवरी से जुलाई के बीच जो कुछ हो रहा था उसमें सैन्य संगठन और सेना की भूमिका पर रैबिनोविच का अतिशय ज़ोर है, और राजनीतिक पहलू पर ज़ोर कम है। यह अलग से आलोचना का विषय है, लेकिन अभी हम सैन्य संगठन और उसके नेतृत्व के विषय में रैबिनोविच के विचारों पर ध्यान केन्द्रित करेंगे।

जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया है, 'विभाजित पार्टी' की अपनी अवधारणा को पुष्ट करने के लिए रैबिनोविच सैन्य संगठन के बोल्शेविक संगठनकर्ताओं की स्वायत्तता और राजनीतिक स्वतन्त्रता पर ज़्यादा बल देते हैं। लेकिन उसके बाद 10 जून के प्रदर्शन की तैयारी के विषय में हम उनके ही ब्यौरे को देखें तो हम पाते हैं कि चाहे इन नेताओं के विचार केन्द्रीय कमेटी के निर्णय से मेल खाते हों या नहीं, अन्ततः ये केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को ही लागू करने का प्रयास करते थे। इनमें दो नेता प्रमुख थे - पोदवॉइस्की और नेव्स्की। निश्चित तौर पर, आकस्मिक परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर सैन्य संगठन के ये नेता अपने स्वतन्त्र निर्णय का उपयोग करते थे और इसके अलावा उनसे और कोई उम्मीद भी नहीं की जा सकती है। लेकिन बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों में भी इन नेताओं ने विलक्षण अनुशासन का प्रदर्शन किया।

रैबिनोविच बताते हैं कि 10 जून के प्रदर्शन की योजना मूलतः बोल्शेविक सैन्य संगठन ने बनायी थी। लेकिन केन्द्रीय कमेटी मई माह के मध्य तक इस पर कोई ठोस निर्णय नहीं ले पा रही थी। वास्तव में केन्द्रीय कमेटी इस बात को लेकर सशंकित थी कि ऐसे किसी प्रदर्शन में सैनिकों के अतिरिक्त मज़दूरों की भागीदारी किस हद तक सुनिश्चित की जा सकती है। केन्द्रीय कमेटी का

स्पष्ट मानना था कि यदि प्रदर्शन में व्यापक जन भागीदारी सुनिश्चित नहीं की जा सकती, तो महज़ सैनिकों के भारी असन्तोष के आधार पर ऐसे प्रदर्शन के भारी नकारात्मक नतीजे सामने आ सकते हैं। यही कारण था कि केन्द्रीय कमेटी तत्काल सैन्य संगठन की इस योजना को स्वीकृति नहीं दे रही थी। वहीं दूसरी ओर बोल्शेविक सैन्य संगठन की स्थिति भी नाज़ुक थी क्योंकि पेत्रोग्राद के सैनिकों में असन्तोष बढ़ता जा रहा था और उसके आक्रोश को फूट पड़ने से रोक पाना मुश्किल हो रहा था। यही कारण था कि सैन्य संगठन के बोल्शेविक संगठनकर्ताओं के लिए एक मुश्किल हालत थी। केन्द्रीय कमेटी के निर्देश के बिना वे प्रदर्शन का आह्वान नहीं कर सकते थे और सैनिकों का दबाव नीचे से बहुत ज़्यादा था क्योंकि उनके लिए अब और इन्तज़ार करना बेहद मुश्किल था। अगर हम रैबिनोविच के ही ब्यौरे को देखें तो हम पाते हैं कि इसी दौरान पीटर्सबर्ग कमेटी की बैठक के दौरान नेव्स्की ने स्वयं कहा था कि केन्द्रीय कमेटी के निर्णय के बिना इस दिशा में कोई क़दम न उठाये जायें। 23 मई की सैन्य संगठन की एक बैठक में भी सैन्य संगठन के एक अन्य नेता दाश्केविच और नेव्स्की दोनों ने ही प्रदर्शन की योजना को बाशर्त समर्थन देते हुए यह कहा कि जनसमर्थन के बिना किसी प्रदर्शन का आयोजन करना एक रणकौशलात्मक भूल होगी लेकिन अगर व्यापक जनसमर्थन और भागीदारी को सुनिश्चित किया जा सकता हो, तो निश्चित तौर पर प्रदर्शन किया जाना चाहिए। रैबिनोविच की किताब में ही इस बैठक का और इसमें नेव्स्की द्वारा किये गये हस्तक्षेप का ज़िक्र आता है (पृ. 55)। यहाँ नेव्स्की और कुछ नहीं बल्कि केन्द्रीय कमेटी की राय को ही पेश कर रहे थे। इसके बावजूद, आगे रैबिनोविच नेव्स्की को उन लोगों में से एक व्यक्ति के तौर पर पेश करते हैं जो कि बोल्शेविक सैन्य संगठन में थे और केन्द्रीय कमेटी की इच्छाओं के विपरीत एक अपरिपक्व प्रदर्शन करने की हिमायत कर रहे थे।

रैबिनोविच का यह कहना बिल्कुल सही है कि पेत्रोग्राद में अलग-अलग गैरीसनों में प्रदर्शन करने को लेकर भारी माँग थी और इसका बोल्शेविक सैन्य संगठन पर काफ़ी दबाव पड़ रहा था। साथ ही, रैबिनोविच स्वयं ही दिखलाते हैं कि दुस्साहसवादी अवस्थिति अपनाने वाले अराजकतावादियों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के कारण भी सैनिकों के बीच में बोल्शेविकों का राजनीतिक कार्य काफ़ी मुश्किल हो जाता था। कई बार अधैर्य और असन्तोष से भरे हुए सैनिक अराजकतावादियों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के वाम दुस्साहसवाद की ओर आकृष्ट होने लगते थे। ऐसे में, बोल्शेविक सैन्य संगठन के संगठनकर्ताओं को रैडिकल *रेटरिक* का इस्तेमाल करते हुए, विस्फोट की स्थिति को रोकना पड़ता था। इस रैडिकल *रेटरिक* के कारण ही कई बार रैबिनोविच भ्रमित हो जाते हैं और उन्हें लगता है कि बोल्शेविक संगठनकर्ता भी अपरिपक्व प्रदर्शन का आह्वान कर रहे थे। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं था, क्योंकि बोल्शेविक संगठनकर्ताओं के लिए रैडिकल जुमलों और मुहावरों का इस्तेमाल करना एक मजबूरी बन गया था, अन्यथा तमाम गैरीसनों पर उनका राजनीतिक प्रभाव ख़तरे में पड़ जाता। अगर हम स्वयं रैबिनोविच के ही पूरे ब्यौरे को पढ़ें तो स्पष्ट हो जाता है कि बोल्शेविक सैन्य संगठन के ये नेता किसी भी तरह से जनआक्रोश के विस्फोट को तब तक टालने का प्रयास कर रहे थे, जब तक कि केन्द्रीय कमेटी इस

प्रश्न पर एक ठोस निर्णय न ले ले। पोदवॉइस्की और नेव्स्की इस प्रक्रिया में केन्द्रीय कमेटी को यह भी सम्प्रेषित कर रहे थे कि इस विस्फोट को बहुत लम्बे समय तक नहीं टाला जा सकता है क्योंकि अगर बोल्शेविक इसमें नहीं भी हिस्सा लेते हैं, तो सैनिक देर-सबेर सब्र खो बैठेंगे और प्रदर्शन करेंगे। उस सूरत में गैरीसनों में बोल्शेविकों के प्रभाव में ह्रास आयेगा और अराजकतावादियों का प्रभाव बढ़ सकता है। इसी पूरे सन्दर्भ में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग समिति में तीखी बहस और नोक-झोंक हुई। लेकिन रैबिनोविच द्वारा इससे यह नतीजा निकाला जाना कि यह बोल्शेविक पार्टी के विभाजित चरित्र को दिखलाता है, क़तई ग़लत है। यह भी सही हो सकता है कि कई बार बोल्शेविक पार्टी के सैन्य संगठन में काम कर रहा नेतृत्व आम सैनिकों के भारी दबाव के प्रभाव में आकर काम कर रहा हो; तब भी इससे यह नतीजा निकालना अनुचित होगा कि बोल्शेविक सैन्य संगठनकर्ता या बोल्शेविक सैन्य संगठन पार्टी के भीतर सत्ता का एक अलग केन्द्र था जिसके अपने हित और अपने लक्ष्य थे और जो लगातार अपने प्रभाव और स्वायत्तता को बढ़ाने के लिए प्रयासरत रहता था। नेव्स्की और पॉड्वाइस्की लगातार यह प्रयास करते थे कि सैनिकों के बीच केन्द्रीय कमेटी द्वारा तय कार्यदिशा पर सहमति बनायी जा सके। बताने की आवश्यकता नहीं है कि हमेशा ऐसा कर पाना सम्भव नहीं होता था, विशेष तौर पर उन परिस्थितियों में जिनसे उस समय रूस गुज़र रहा था।

आगे रैबिनोविच बताते हैं कि किस तरह पहले 6 जून को केन्द्रीय कमेटी के साथ संयुक्त बैठक में पोदवॉइस्की ने केन्द्रीय कमेटी से इस प्रश्न पर तत्काल निर्णय लेने की अपील की, किस प्रकार केन्द्रीय कमेटी में इसे लेकर तीखी बहस हुई जिसमें लेनिन, स्तालिन, स्वेर्दलोव और फेदोरोव ने इसका समर्थन किया जबकि कामेनेव, नोगिन और ज़िनोवियेव ने इसका विरोध किया। यहाँ तक कि क्रुप्सकाया भी इस प्रश्न पर पूरी तरह से लेनिन के साथ नहीं थीं और उनके भी इस विषय पर कुछ संशय थे। इसके बाद यह मसला पीटर्सबर्ग कमेटी में भी उठा वहाँ भी व्यापक बहस के बाद लेनिन की अवस्थिति को स्वीकार किया गया, लेकिन टॉम्स्की के आग्रह पर अन्तिम निर्णय को 9 जून की पीटर्सबर्ग कमेटी की विस्तारित बैठक तक के लिए टाल दिया गया। बाद में इस बैठक में भी प्रदर्शन करने के फ़ैसले पर मुहर लगी। इन बहसों का विवरण देते हुए रैबिनोविच वास्तव में 'विभाजित पार्टी' की थीसिस को ही सही ठहराने का निरन्तर प्रयास करते नज़र आते हैं, जिसके अनुसार सोवियत स्रोतों में (रैबिनोविच के लिए 1953-56 के बाद के सोवियत स्रोत) में लेनिन के प्रश्नेतर नेतृत्व की तस्वीर पेश करने के लिए इन बहसों के ब्यौरों को दबा दिया गया। लेकिन जो वास्तविक सोवियत स्रोत हैं, यानी 1953-56 से पहले के सोवियत स्रोतों में, जिसमें कि 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' भी शामिल है, इस बहसों को छिपाया नहीं गया है और इनका एक ब्यौरा दिया गया है। दूसरी बात यह है कि इन बहसों से क़तई यह साबित नहीं होता कि बोल्शेविक पार्टी एक 'विभाजित पार्टी' थी; उल्टे 'कार्रवाई में पूर्ण एकता' इन्हीं तीखी बहसों से पैदा होती थी और ये सांगठनिक कार्रवाई का धरातल है जहाँ यह देखा जाना चाहिए कि पार्टी एकजुट थी या नहीं। लेकिन रैबिनोविच लेनिन-कालीन और स्तालिन-काल से पहले की बोल्शेविक पार्टी को

उदार बुर्जुआ चौखटे में फिट करने के प्रयास में बोल्शेविक पार्टी में लगातार 'विभाजित पार्टी' की अपनी अवधारणा को थोपने का प्रयास करते रहते हैं।

10 जून के प्रस्तावित और बाद में रद्द कर दिये गये प्रदर्शन के ठीक पहले और ठीक बाद की स्थितियों और इस दौरान सैन्य संगठन की गतिविधियों की चर्चा करते हुए एक स्थान पर रैबिनोविच बोल्शेविकों और अराजकतावादियों व अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के बीच मौजूद कुछ समानताओं की बात करते हैं। हालाँकि, बाद में वे उनके बीच मौजूद विचारधारात्मक मतभेदों की चर्चा भी करते हैं, लेकिन समानताओं और असमानताओं, दोनों की ही चर्चा में यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मुद्दे पर रैबिनोविच की स्पष्ट समझदारी नहीं है। साथ ही, जिस रूप में रैबिनोविच कम्युनिस्टों व अराजकतावादियों के अन्तिम लक्ष्य का ज़िक्र करते हैं, उससे ही स्पष्ट हो जाता है कि वे इस लक्ष्य को ही आदर्शवादी यूटोपिया समझते हैं, हालाँकि वे ऐसा खुलकर नहीं कहते। रैबिनोविच लिखते हैं :

"अराजकतावादी-कम्युनिस्टों और बोल्शेविकों द्वारा कल्पित भावी आदर्श समाजों के बीच कई समानताएँ थीं। इसके अलावा ऐसे तात्कालिक मुद्दों पर भी उनकी अवस्थितियाँ एक थीं जैसे कि युद्ध को जारी रखना, सेना में अनुशासन की पुनर्स्थापना, उद्योगों पर मज़दूरों का नियन्त्रण, और आरज़ी सरकार के प्रति दृष्टिकोण।" (*वही*, पृ. 62)

स्पष्ट है कि रैबिनोविच जो दिखता है उसी को सच समझ बैठे हैं। यह सच है कि अन्तिम लक्ष्य के तौर पर एक राज्यविहीन समाज अराजकतावादियों और कम्युनिस्टों दोनों का ही लक्ष्य होता है, लेकिन कम्युनिस्ट इस बात को समझते हैं कि एक वर्गविहीन समाज के बिना एक राज्य विहीन समाज नहीं हो सकता है और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के बिना एक वर्गविहीन समाज में संक्रमण सम्भव नहीं है। अगले ही पृष्ठ पर रैबिनोविच इस बात को मानते हैं। लेकिन तात्कालिक तौर पर भी आरज़ी सरकार के विरोध के प्रति बोल्शेविकों का रवैया अलग था और अराजकतावादियों का अलग। बोल्शेविक आरज़ी सरकार को बुर्जुआ सरकार मानते हुए, उसका ध्वंस कर सर्वहारा सत्ता क़ायम करना चाहते थे, जबकि अराजकतावादी हर प्रकार की सत्ता के ख़ात्मे की बात कर रहे थे। उद्योगों पर नियन्त्रण के प्रश्न पर भी बोल्शेविकों की समझदारी समूचे राष्ट्रीय उद्योगों पर मज़दूर वर्ग के नियन्त्रण की थी, न कि एक-एक कारख़ाने पर मज़दूरों के नियन्त्रण की। हालाँकि बोल्शेविक पार्टी ने कुछ ही माह बाद क्रान्ति की तात्विक शक्ति के तौर पर कारख़ाना समितियों द्वारा कारख़ानों पर क़ब्ज़े के आन्दोलन का समर्थन किया था, लेकिन इसके समर्थन के साथ ही पार्टी इस अनिवार्यता के प्रति सचेत थी कि आगे इसे अलग-अलग कारख़ानों पर मज़दूरों के नियन्त्रण से राष्ट्रीय उद्योग पर मज़दूर वर्ग के नियन्त्रण में तब्दील करना होगा। इसलिए तात्कालिक तौर पर भी बोल्शेविकों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के बीच कई अन्तर थे, जिन्हें कई बार आम रूसी मज़दूर और सैनिक नहीं समझ पाते थे, जैसा कि रैबिनोविच ने भी लिखा है। लेकिन निश्चित तौर पर रैबिनोविच आम रूसी मज़दूर या सैनिक नहीं हैं!

10 जून, 18 जून और 3-5 जुलाई की घटनाएँ : बोल्शेविक पार्टी के बदलते मूल्यांकन और निर्णय और रैबिनोविच का 'विभाजित पार्टी' का सिद्धान्त

रैबिनोविच कहीं भी "आधिकारिक सोवियत व्याख्या" का पुतला खड़ा करना नहीं भूलते ताकि बाद में उसे ध्वस्त कर सकें। 10 जून के प्रदर्शन के लाटिसस पहले के दौर के बारे में लिखते हुए रैबिनोविच दावा करते हैं कि वाईबोर्ग ज़िला कमेटी के सदस्य लाटसिस ने अपनी डायरी में दर्ज किया है कि 8 जून को हुई बोल्शेविकों की बैठक में सैनिक समर्थन को लेकर तो कोई सन्देह नहीं था, लेकिन मज़दूरों की भागीदारी को लेकर अभी भी कुछ सन्देह बना हुआ था। छठी कांग्रेस में स्तालिन की रिपोर्ट में भी बताया गया था कि मज़दूरों की भागीदारी किस हद तक होगी, इसे लेकर कुछ प्रश्न चिन्ह बने हुए थे। लेकिन 11 जून के ही *प्राव्दा* में यह दावा किया गया था कि 10 जून के प्रदर्शन को मज़दूरों और सैनिकों, दोनों का ही समर्थन प्राप्त था, जो कि रैबिनोविच के मुताबिक़ आगे चलकर आधिकारिक सोवियत व्याख्या बन गयी। यहाँ सोचने की बात यह है कि छठी कांग्रेस में स्तालिन की रिपोर्ट से ज़्यादा आधिकारिक व्याख्या बोल्शेविकों के अख़बार *प्राव्दा* के एक लेख को क्यों माना जाना चाहिए? एक केन्द्रीय कमेटी सदस्य और एक वाईबोर्ग ज़िला कमेटी जैसी अहम कमेटी के सदस्य की व्याख्या को आधिकारिक क्यों नहीं माना जायेगा? इसी प्रकार के अन्तरविरोधों से रैबिनोविच का ब्यौरा भरा हुआ है।

यह भी एक ग़ौरतलब बात है कि रैबिनोविच हर उपलब्ध तथ्य को पेश ज़रूर करते हैं लेकिन जहाँ कहीं भी कोई तथ्य उनके 'विभाजित पार्टी' के सिद्धान्त के विपरीत जाता है, वहाँ वे शान्त रहते हैं और कोई टिप्पणी नहीं करते। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच यह तथ्य हमारे सामने पेश करते हैं 10 जून के प्रदर्शन के पक्ष में निर्णय लिये जाने की सूचना सोवियत के बोल्शेविक प्रतिनिधियों को नहीं दी गयी थी (जिसका कारण एक भ्रम प्रतीत होता है; केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों ने सोच लिया था कि यह कार्य पीटर्सबर्ग कमेटी करेगी और पीटर्सबर्ग कमेटी के सदस्यों ने यह सोच लिया था कि यह कार्य केन्द्रीय कमेटी करेगी)। सोवियत के बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने केन्द्रीय कमेटी व पीटर्सबर्ग कमेटी के समक्ष इसका कड़ा विरोध किया और कहा कि 10 जून के प्रदर्शन का आयोजन नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन साथ ही 9 जून की आधी रात साढ़े बारह बजे जब पहली अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने इस प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध लगाते हुए सैनिकों व मज़दूरों को अपनी वैकल्पिक समानान्तर अपील जारी की और प्रदर्शन में हिस्सेदारी न करने को कहा तो इस प्रस्ताव पर बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने वोट देने से इंकार कर दिया। यह घटना बोल्शेविक पार्टी में अनुशासन के उच्च स्तर को दिखलाने वाली एक प्रातिनिधिक घटना है। यह दिखलाती है कि पार्टी के भीतर राजनीतिक असहमति और संघर्ष जितना भी तीखा हो, ज़िम्मेदार बोल्शेविक निकायों ने हमेशा और ज़िम्मेदार बोल्शेविक संगठनकर्ताओं ने लगभग हमेशा पार्टी

अनुशासन का पालन किया। लेकिन इस घटना के बाबत सभी तथ्य पेश करते हुए भी रैबिनोविच इस पर कोई टिप्पणी नहीं करते, क्योंकि यह घटना उनके 'विभाजित पार्टी' के सिद्धान्त का खण्डन करती है।

ठीक ऐसी ही एक घटना थी 10 जून की भोर में 2 बजे केन्द्रीय कमेटी द्वारा प्रदर्शन को रद्द करने का फ़ैसला। रैबिनोविच स्वयं बताते हैं कि पीटर्सबर्ग कमेटी, जो पहले से भी केन्द्रीय कमेटी के कुछ निर्णयों को लेकर आलोचनात्मक रही थी, केन्द्रीय कमेटी के आख़िरी मौक़े पर लिये गये इस निर्णय से क़तई सहमत नहीं थी। लेकिन इसके बावजूद पीटर्सबर्ग कमेटी ने बेहद कम समय में 10 जून के प्रदर्शन को रोकने के लिए हर सम्भव प्रयास किया और काफ़ी हद तक उसे रोकने में कामयाब भी रही। यह दीगर बात है कि बाद में पीटर्सबर्ग कमेटी के अधिकांश सदस्यों ने केन्द्रीय कमेटी द्वारा आख़िरी समय पर प्रदर्शन रद्द किये जाने को लेकर काफ़ी कड़ी आलोचना रखी और इस आलोचना पर लेनिन को स्वयं केन्द्रीय कमेटी का दृष्टिकोण रखना पड़ा। लेकिन यहाँ ग़ौरतलब बात यह है कि पीटर्सबर्ग कमेटी ने केन्द्रीय कमेटी से गम्भीर असहमति रखते हुए भी उसके निर्णय को लागू किया और बाद में उचित मंच पर इस बहस को उठाया। लेकिन रैबिनोविच इस पर कुछ भी नहीं कहते और बाद में हुई बैठक का हवाला देकर यह चित्र प्रस्तुत करते हैं कि उसमें पीटर्सबर्ग कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के बीच एक बेहद तीखी बहस हुई और इस तस्वीर के आधार पर वे फिर से 'विभाजित पार्टी' की ही अपनी अवधारणा को पुष्ट करते हैं। जैसा कि हम देख सकते हैं चुन-चुनकर तथ्य लिये जाते हैं और फिर अपनी थीसीज़ को पुष्ट करने का प्रयास किया जाता है, हालाँकि रैबिनोविच अपने अनुभववादी और प्रत्यक्षवादी पूर्वाग्रहों के कारण वे तथ्य भी पेश करते हैं, जो उनकी थीसीज़ का खण्डन करते हैं। इतिहास-लेखन हमेशा ही एक विचारधारात्मक और राजनीतिक उपक्रम होता है और रैबिनोविच का इतिहास-लेखन इस बात को बिना शक सिद्ध कर देता है।

रैबिनोविच जो विवरण पेश करते हैं, उससे एक और बात सिद्ध हो जाती है। स्वयं त्रात्स्की के हवाले से रैबिनोविच बताते हैं कि 10 जून के प्रदर्शन को कुछेक अतिवामपन्थी बोल्शेविक ही सत्ता पर क़ब्ज़े के प्रयास के तौर पर व्याख्यायित कर रहे थे और ऐसी योजनाएँ भी बना रहे थे। लेकिन ये कुछ व्यक्तियों की व्यक्तिगत सोच थी और बोल्शेविक पार्टी के किसी भी ज़िम्मेदार निकाय या संगठनकर्ता की ऐसी सोच नहीं थी। इसलिए 10 जून के प्रदर्शन के सन्दर्भ में भी बोल्शेविक पार्टी में तीन सत्ता केन्द्र (केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी व बोल्शेविक सैन्य संगठन) नहीं थे जिनके "अलग-अलग लक्ष्य और अलग-अलग हित" थे, जैसा कि रैबिनोविच ने किताब की शुरुआत में दावा किया था। निश्चित तौर पर, ऐसे मौक़े आये थे (और इसमें कोई ताज्जुब की बात भी नहीं है) जब इन तीन निकायों के बीच भी और उनके भीतर भी मत-भिन्नता मौजूद थी। लेकिन इन तीनों ही निकायों के काम करने में हम कठोर सांगठनिक अनुशासन देख सकते हैं। यही बात हम एक अन्य घटना में भी देख सकते हैं। जब 10 जून के प्रदर्शन को केन्द्रीय कमेटी ने वापस ले लिया तो स्मिल्गा और स्तालिन उससे विशेष तौर पर नाराज़ थे और उन्होंने केन्द्रीय कमेटी से इस्तीफ़ा देने

तक की पेशकश की थी, जिसे कि ख़ारिज कर दिया गया था। स्मिल्गा का मानना था कि केन्द्रीय कमेटी ने सोवियत के बोल्शेविक प्रतिनिधियों की यह बात मानकर ग़लती की है कि प्रदर्शन रद्द कर दिया जाये और लेनिन समेत केन्द्रीय कमेटी का गैरीसन व कारख़ानों में हावी माहौल का मूल्यांकन ग़लत है। लेकिन फिर भी स्मिल्गा ने क्रोंस्टाट में सैनिकों को क्या कहा, वह बोल्शेविक पार्टी के अनुशासन को ही दिखलाता है। स्वयं रैबिनोविच ने स्मिल्गा के भाषण को उद्धृत किया है : **"यह प्रश्न हरेक मज़दूर और सैनिक के सामने खड़ा है; यह शब्दों नहीं बल्कि कार्रवाई की माँग करता है...क्रोंस्टाट में हम सभी के लिए यह कड़वी और दुख भरी बात है कि प्रदर्शन को रद्द कर दिया गया, लेकिन हमें गर्व होना चाहिए कि अपनी शक्ति के प्रति हम सचेत हैं, हम क्रान्तिकारी अनुशासन की ज़रूरत को समझते हैं और जिससे कि क्रोंस्टाट ने अपने से ही प्रदर्शन नहीं किया।"** (रैबिनोविच, 1991, में उद्धृत, पृ. 85-86)

जैसा कि हम देख सकते हैं कि तमाम वैचारिक व राजनीतिक संघर्षों के बावजूद बोल्शेविक पार्टी कार्रवाई के मामले में अद्भुत अनुशासन का पालन करती थी। यही बोल्शेविक पार्टी की असली शक्ति थी, न कि इसका 'विभाजित पार्टी' होना, जैसा कि रैबिनोविच दावा करते हैं। रैबिनोविच का विवरण कुछ और कहता है, लेकिन वे जहाँ कहीं भी कोई मूल्यगत निर्णय देते हैं, वे कुछ और ही कहते हैं। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच के विवरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी पार्टी निकाय 10 जून के प्रदर्शन को (यदि वह होता तो भी) सत्ता पर क़ब्ज़े के प्रयास के तौर पर नहीं देख रहा था। इस मायने में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी का मूल्यांकन भी समान था। जिस एक बोल्शेविक बोग्दातियेव ने (और उससे सहमत कुछ वामपन्थी बोल्शेविकों ने) ऐसे सपने पाल रखे थे, उसे आगे कमेटी से निष्कासित कर दिया गया था, हालाँकि उसकी पार्टी सदस्यता बरक़रार रखी गयी थी। लेकिन इसके बावजूद रैबिनोविच लिखते हैं :

"ये मतभेद 11 जून की पीटर्सबर्ग कमेटी की एक आपात बैठक में उभरकर सामने आ गये जो कि विशेष तौर पर केन्द्रीय कमेटी की व्याख्या सुनने के लिए आयोजित की गयी थी। इस बैठक के विस्तृत प्रकाशित प्रोटोकॉल से त्सेरेतली के कांग्रेस भाषण के प्रति बोल्शेविकों की आरंभिक प्रतिक्रिया, पीटर्सबर्ग कमेटी की कड़वाहट और स्वतन्त्रता की भावना, और 10 जून के प्रदर्शन के बारे में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी की आश्चर्यजनक रूप से भिन्न अवधारणाएँ सामने आती हैं।" (*वही,* पृ. 86)

रैबिनोविच यह नहीं बताते कि 10 जून के प्रदर्शन की केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी की अवधारणाओं में क्या भिन्नताएँ थीं? क्या पीटर्सबर्ग कमेटी इसे एक शान्तिपूर्ण प्रदर्शन से ज़्यादा मानती थी? नहीं! फिर दोनों की अवधारणाओं में फ़र्क़ क्या था? जब आप 11 जून की बैठक के बारे में रैबिनोविच के ही ब्यौरे को पढ़ते हैं तो आप पाते हैं कि अन्तर 10 जून के प्रदर्शन की अवधारणाओं में नहीं था, बल्कि इस बात के आकलन और मूल्यांकन में था कि सोवियत कांग्रेस द्वारा इस प्रदर्शन के ख़िलाफ़ प्रस्ताव पारित करने के बाद और इस बात की स्पष्ट सूचना मिलने के बाद कि दक्षिणपन्थी गिरोह, जैसे कि ब्लैक हण्ड्रेड्स, इस प्रदर्शन में घुसपैठ कर इसे हिंसात्मक

बना सकते हैं और फिर बोल्शेविकों के दमन का और उनके ख़िलाफ़ एक माहौल तैयार हो सकता है, प्रदर्शन को करना उचित होगा या नहीं। साथ ही, इस बात के आकलन में भी अन्तर मौजूद थे कि मज़दूरों की भागीदारी किस हद तक होगी, क्योंकि इसके बारे में पीटर्सबर्ग कमेटी के भीतर भी कोई एक राय नहीं थी। तीसरा कारण था सोवियत कांग्रेस में बोल्शेविक प्रतिनिधियों को सूचना न होना, जिसके कारण वे सोवियत की भावी कार्रवाइयों में पार्टी की ओर से सही तरीक़े से कोई अवस्थिति पेश नहीं कर पाते। रैबिनोविच ने लेनिन द्वारा दी गयी सफ़ाई का एक बेहद छोटा हिस्सा पेश किया है। यदि लेनिन के भाषण को पढ़ा जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रदर्शन से जुड़े ठोस मसलों के बारे में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी का मूल्यांकन और आकलन अलग था, न कि प्रदर्शन की अवधारणाओं में कोई फ़र्क़ था। लेनिन समझ रहे थे कि जब तक सोवियतें सत्ता की अर्द्धनिकाय बनी हुई हैं और उन्होंने स्पष्ट रूप से प्रतिक्रान्तिकारी अवस्थिति नहीं अपनायी है और वे केवल ढुलमुलपन दिखला रही हैं, तब तक सोवियतों के सीधे तौर पर ख़िलाफ़ जाने से बोल्शेविक जनसमुदायों में अलग-थलग पड़ सकते हैं; सोवियतों में बोल्शेविक अभी अल्पमत में थे और पार्टी अभी प्रान्तों में हावी माहौल को लेकर भी सुनिश्चित नहीं थी। ऐसे में, यदि 10 जून के प्रदर्शन के हिंस्र होने और अराजकता फैलने का ख़तरा स्पष्ट हो गया था, तो इसे रद्द कर लेनिन व केन्द्रीय कमेटी ने प्रशंसनीय लचीलापन दिखलाया था।

रैबिनोविच का पीटर्सबर्ग कमेटी द्वारा केन्द्रीय कमेटी के प्रति गुस्से के इज़हार को पीटर्सबर्ग कमेटी की "स्वतन्त्रता की भावना" के तौर पर पेश किया जाना भी तथ्यों का विकृतीकरण है। यदि ऐसा होता तो पीटर्सबर्ग कमेटी प्रदर्शन के रद्द किये जाने के फ़ैसले को ही मानने से इंकार कर देती। लेकिन उसने असहमत होने के बाद भी इस फ़ैसले को लागू किया। चूँकि इस प्रदर्शन को संगठित और सही तरीक़े से आयोजित करने की पूरी ज़िम्मेदारी पीटर्सबर्ग कमेटी ही मुख्य रूप से उठा रही थी, इसलिए आख़िरी समय पर प्रदर्शन का रद्द किया जाना उसके लिए एक शर्मनाक स्थिति पैदा करता था क्योंकि अब उन्हीं जनसमुदायों को प्रदर्शन करने से मना करना, जिन्हें पिछले दो दिनों से वे प्रदर्शन के लिए तैयार कर रहे थे, उनके लिए एक अजीब हालत पैदा करता था। पीटर्सबर्ग कमेटी ने जिस कड़वाहट के साथ केन्द्रीय कमेटी की इस मसले पर आलोचना रखी, उसका मुख्य कारण यह था। लेकिन इसे अलगाववाद या स्वतन्त्रता की भावना के तौर पर पेश करना किसी भी तरीक़े से तार्किक नहीं है। बहरहाल, इसके बाद रैबिनोविच 18 जून को हुए प्रदर्शन का एक अच्छा ब्यौरा पेश करते हैं, जो कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के आह्वान पर हुआ था, मगर जिसमें बोल्शेविक नारे व बैनर पूरी तरह हावी हो गये थे। एक प्रकार से 10 जून का रद्द प्रदर्शन ही 18 जून को आयोजित हो गया और यह स्पष्ट हो गया कि बोल्शेविकों की मान्यता मज़दूरों व सैनिकों में बढ़ती जा रही है।

चौथे अध्याय में रैबिनोविच 16 जून से 23 जून तक बोल्शेविक सैन्य संगठन के अखिल रूसी सम्मेलन का विवरण पेश करते हैं। इसमें रैबिनोविच कई महत्वपूर्ण प्रेक्षण पेश करते हैं, जोकि रूसी क्रान्ति के इतिहास के अध्ययन के लिए मूल्यवान हैं। लेकिन यहाँ भी 'विभाजित पार्टी' की

अवधारणा को बल प्रदान करने के लिए रैबिनोविच कुछ ऐसी टिप्पणियाँ करते हैं, जिनका कोई आधार नहीं है। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच दावा करते हैं कि इस सम्मेलन को कई बोल्शेविक संगठनकर्ता सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के उपकरण के रूप में देख रहे थे। यह प्रेक्षण केवल बेतुका दिख ही नहीं रहा है, बल्कि बेतुका है भी। बोल्शेविकों के सैन्य संगठन के सम्मेलन को ही कोई ज़िम्मेदार बोल्शेविक संगठनकर्ता सत्ता पर क़ब्ज़े के उपकरण के रूप में देख रहा हो, इसकी सम्भावना नगण्य है। यह ज़रूर सच है कि सैन्य संगठन के आम बोल्शेविक काडर में यह भावना बढ़ती जा रही थी कि सत्ता पर क़ब्ज़े को लम्बे समय तक टाला नहीं जा सकता है, और पार्टी को जल्द से जल्द उस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए और पेत्रोग्राद गैरीसन से आये कुछ प्रतिनिधि 18 जून को कार्यक्रम समाप्त होने के ठीक पहले मंच पर आकर इस बात की माँग कर रहे थे कि सम्मेलन के एजेण्डा में बदलाव किया जाये और सम्मेलन को ही सशस्त्र बग़ावत के प्रचालन स्टाफ़ में तब्दील कर दिया जाये। लेकिन सैन्य संगठन के आम काडरों में ऐसी भावना होना लाज़िमी है क्योंकि राज्यसत्ता के ध्वंस में बल प्रयोग का पहलू ही प्रधान होता है और जो निकाय क्रान्तिकारी बल प्रयोग के लिए विशिष्ट तौर पर निर्मित, शिक्षित, प्रशिक्षित हो, उसके आम काडर में यह भावना आना सहज है। दूसरी बात यह है कि इसी सम्मेलन के बीच 18 जून का प्रदर्शन हुआ जिसके लिए 18 जून के पहले सत्र को रद्द कर दिया गया था। इस प्रदर्शन से लौटने पर बोल्शेविकों के लिए व्यापक जनसमर्थन होने की भावना बोल्शेविक सैन्य संगठन में वैसे भी उभार पर थी और सशस्त्र बग़ावत के लिए आम काडर में अधैर्य बढ़ता जा रहा था, जिसे लेनिन को स्वयं सम्मेलन में आकर नियन्त्रित करना पड़ा। लेकिन इसकी इस रूप में व्याख्या करना कि कुछ बोल्शेविक इस सम्मेलन में हुए जुटान को ही सशस्त्र विद्रोह और क्रान्ति का उपकरण मान रहे थे, निहायत बेतुका है और रैबिनोविच यह उपक्रम सम्भवत: इसलिए करते हैं, ताकि बोल्शेविक पार्टी के भीतर विचारों की बहुलता और 'विभाजित पार्टी' के अपने सिद्धान्त को बल दे सकें।

साथ ही, रैबिनोविच इस प्रक्रिया में यह भी बताते हैं कि सम्मेलन में इस अधैर्य के माहौल पर पोदवॉइस्की ने स्वयं लेनिन से चर्चा की और लेनिन ने उन्हें स्पष्ट शब्दों में बताया कि अभी कोई भी सशस्त्र विद्रोह अपरिपक्व होगा और अगर वह सफल भी हो गया तो बोल्शेविक सत्ता में टिके नहीं रह पायेंगे। लेनिन ने इस माहौल को नियन्त्रित करने का निर्देश दिया और स्पष्ट कर दिया कि कोई भी दुस्साहसवाद पार्टी और क्रान्ति से भारी क़ीमत वसूल करेगा। इस निर्देश के अनुसार ही काम करते हुए पोदवॉइस्की और नेव्स्की दोनों ने ही ज़िम्मेदार बोल्शेविक संगठनकर्ता और नेता की भूमिका निभाते हुए सम्मेलन के प्रतिनिधियों के मन में यह बात बिठाने का अथक प्रयास किया कि अभी सशस्त्र विद्रोह के लिए वक़्त पका नहीं है। लेकिन अन्यत्र रैबिनोविच यह भी दावा करते हैं कि पोदवॉइस्की और नेव्स्की विशेष तौर पर स्वतन्त्रता और स्वायत्तता की भावना से भरे हुए थे और अनुशासन के प्रति उनका प्रतिरोध होता था। लेकिन जब वास्तविक तथ्यों का विवरण यह प्रदर्शित करता है कि बोल्शेविक सैन्य संगठन के ये दोनों ही शीर्ष नेता केन्द्रीय कमेटी और लेनिन के निर्देशों पर सख़्ती से अमल कर रहे थे, तो उस पर रैबिनोविच कोई भी टिप्पणी

नहीं करते हैं। चूँकि यह घटनाक्रम स्वयं रैबिनोविच की व्याख्याओं के विपरीत जाता है, इसलिए उसे रैबिनोविच "केन्द्रीय कमेटी के दबाव" के रूप में व्याख्यायित करते हैं, क्योंकि बोल्शेविक सांगठनिक अनुशासन को समझ पाना उनके उदार बुर्जुआ विचारों के कारण उनके लिए सम्भव नहीं है। रैबिनोविच लिखते हैं :

"पेत्रोग्राद सैन्य संगठन के विकास का विवरण देते हुए नेव्स्की ने बेहतर संगठन और ज़्यादा पार्टी अनुशासन के बारे में कुछ विशिष्ट बिन्दु पेश किये। उन्होंने माना, "फ़िलहाल, पीटर्सबर्ग संगठन अपने संगठन के बारे में ज़्यादा शेखी नहीं बघार सकता है...ऐसी रेजीमेण्टें हैं जहाँ हमारा काफ़ी प्रभाव है लेकिन वहाँ कोई औपचारिक संगठन नहीं है।" शायद केन्द्रीय कमेटी के दबाव में नेव्स्की ने सैन्य संगठन की गतिविधियों और केन्द्रीय कमेटी के बीच तालमेल की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा कि हालाँकि "सैन्य संगठन का एक विशेष चरित्र है"...और हालाँकि "सैनिक विशेष परिस्थितियों में रहते हैं...मगर फिर भी सैन्य संगठन को नियमित पार्टी संगठन का संघटक अंग होना चाहिए।" " (*वही*, पृ. 115-116)

रैबिनोविच यह अटकल लगाते हैं कि जून में यह तय किये जाने का, कि छठी कांग्रेस जुलाई में की जायेगी, एक कारण यह भी था कि परिस्थितियाँ बेहद तेज़ी से बदल रही थीं, जनसमुदायों में असन्तोष बढ़ रहा था और इसके मद्देनज़र भी जुलाई में छठी कांग्रेस करने का निर्णय लिया गया। वैसे तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता है, लेकिन फिर भी इस अटकल को पूरी तरह से ख़ारिज नहीं किया जा सकता है। लेकिन इसके आगे रैबिनोविच कहते हैं कि यह कांग्रेस मध्यमार्गी लेनिनवादी धड़े, वामपन्थी स्तालिन और स्मिल्गा तथा दक्षिणपन्थी कामेनेव व नोगिन के धड़े के बीच भी बहस का मंच होने वाली थी। लेकिन अगर हम छठी कांग्रेस के ब्यौरों को देखें तो हम पाते हैं कि स्तालिन और बुखारिन ने इसमें प्रमुख रिपोर्टें पेश कीं। लेनिन उस समय छिपे हुए थे और त्रात्स्की गिरफ़्तार थे। लेनिन ने *नारों के बारे में* नामक लेख के ज़रिये स्पष्ट किया था कि पार्टी को इस समय कौन-सी कार्यदिशा अपनानी चाहिए। ऐसे में स्तालिन को सीधे वामपन्थी धड़े का अंग बताना उचित नहीं प्रतीत होता है, हालाँकि 10 जून के प्रदर्शन के रद्द किये जाने के समय उनकी अवस्थिति वाम अवस्थिति के नज़दीक पड़ती थी। ई.एच. कार ने छठी कांग्रेस का ब्यौरा देते हुए बताया है कि इस कांग्रेस को स्तालिन ने सक्षम नेतृत्व दिया, लेनिन की सशस्त्र विद्रोह की कार्यदिशा का समर्थन किया और साथ ही कांग्रेस में आये प्रतिनिधियों को अपरिपक्व कार्रवाई के विरुद्ध विशेष तौर पर आगाह किया। ऐसे में, कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता कि स्तालिन उस समय वाम धड़े का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, उल्टे इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि स्तालिन लेनिन द्वारा प्रस्तुत कार्यदिशा पर पूरी कांग्रेस को संचालित कर रहे थे।

रैबिनोविच छठी कांग्रेस के पहले पीटर्सबर्ग कमेटी में सशस्त्र विद्रोह के प्रश्न पर जारी बहस का ब्यौरा देते हैं। इसके ठीक पहले रैबिनोविच बताते हैं कि किस प्रकार लेनिन ने सैन्य संगठन की अखिल रूसी कांग्रेस में अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह के ख़िलाफ़ बात रखी थी, हालाँकि रैबिनोविच के अनुसार लेनिन, पोदवॉइस्की व नेव्स्की की दलीलों के बावजूद तत्काल सशस्त्र विद्रोह के प्रति

आकर्षण आम बोल्शेविक काडर में कम नहीं हुआ था और यह मसला अभी हल नहीं हुआ था, हालाँकि तात्कालिक तौर पर सम्मेलन में लेनिन की कार्यदिशा से मिलती-जुलती कार्यदिशा ही पारित हुई थी। इसके ठीक बाद वे पीटर्सबर्ग कमेटी में बहस का विवरण देते हैं और बताते हैं :

"इस चर्चा के समापन पर पीटर्सबर्ग कमेटी ने 2 के मुक़ाबले 19 वोटों से वोलोदार्स्की और टॉम्स्की द्वारा प्रायोजित एक प्रस्ताव पारित किया जो कि सैन्य संगठन और केन्द्रीय कमेटी के साथ मिलकर (पीटर्सबर्ग कमेटी के) कार्यकारी आयोग को सर्वहारा वर्ग के प्रति एक अपील का मसौदा तैयार करने का अधिकार देता था, जो कि सर्वहारा वर्ग को अलग-थलग क्रान्तिकारी कार्रवाइयों में शिरकत न करने के लिए कहती और आबादी के अन्य वर्गों के बीच प्रभाव जीतने के लिए सभी प्रयास करने को कहती। यह केन्द्रीय कमेटी द्वारा किये गये विरोध के बिल्कुल अनुरूप उठाया गया क़दम था। लाटसिस द्वारा पेश एक संशोधन 9 के मुक़ाबले 12 वोटों से पारित हुआ और वह केन्द्रीय कमेटी की कार्यदिशा के अनुरूप नहीं था; यह कहता था कि "अगर जनसमुदायों को रोकना असम्भव हुआ तो पार्टी को आन्दोलन को अपने हाथों में ले लेना चाहिए और इसका इस्तेमाल सोवियत और सोवियतों की कांग्रेस पर दबाव डालने के लिए करना चाहिए।" देखने में लगता है कि इस संशोधन का मक़सद यह सुनिश्चित करना था कि वोलोदार्स्की व टॉम्स्की का प्रस्ताव पीटर्सबर्ग कमेटी और विशेष तौर पर वाईबोर्ग कमेटी को प्रदर्शन आन्दोलन का नियन्त्रण लेने से नहीं रोकेगा, अगर इसे नियन्त्रित नहीं किया जा सके। लेकिन इसका प्रभाव था लाटसिस, नाउमोव, डाइल और स्तुकोव जैसे रैडिकल नेताओं और ज़िला स्तर पर तमाम आम पार्टी सदस्यों की हरकतों को वैध ठहराना और उन्हें प्रोत्साहित करना, जो कि पहले से ही एक जल्दी होने वाले विद्रोह को अवश्यम्भावी और वांछनीय मानते थे।" (*वही*, पृ. 127-128)

स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है कि रैबिनोविच विभिन्न पार्टी निकायों के बीच दीवार खींचने का कोई भी अवसर गँवाना नहीं चाहते। यहाँ उन्होंने बेवजह पार्टी की केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी के बीच एक खाई बनाने का प्रयास किया है। रैबिनोविच दावा करते हैं कि पीटर्सबर्ग कमेटी ने भारी बहुमत से ऐसा प्रस्ताव पारित किया जो कि लेनिन की कार्यदिशा के अनुरूप था लेकिन एक वामपन्थी लाटसिस के प्रस्ताव पर उसमें एक ऐसा संशोधन भी जोड़ दिया जो कि लेनिन की कार्यदिशा के अनुरूप नहीं था। लेकिन हम स्तालिन और लेनिन दोनों के ही लेखन में देखते हैं कि केन्द्रीय कमेटी का भी यही मानना था कि अगर पार्टी अपने तमाम प्रयासों के बावजूद जनता को जुलाई के प्रस्तावित प्रदर्शन में शामिल होने से नहीं रोक पाती है, तो फिर पार्टी को उसमें शामिल होकर उसे अपने नियन्त्रण में ले लेना चाहिए। मिसाल के तौर पर, छठी कांग्रेस में स्तालिन ने जो रिपोर्ट पेश की उसमें बताया गया है कि जब स्वत:स्फूर्त प्रदर्शनों के फूट पड़ने की ख़बर पार्टी तक पहुँची तो उस समय बोल्शेविक पार्टी का पेत्रोग्राद नगर सम्मेलन जारी था। इस दिन का पूरा घटनाक्रम पेश करते हुए स्तालिन बताते हैं कि अन्त में तौरीदा महल में केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी की एक बैठक हुई। आगे स्तालिन कहते हैं :

"बैठक ने फ़ैसला लिया कि जब क्रान्तिकारी मज़दूर और सैनिक जनता "सारी सत्ता

सोवियतों को!'' के नारे के तहत प्रदर्शन कर रही है, तो सर्वहारा वर्ग की पार्टी को इससे हाथ झाड़ लेने और आन्दोलन से अलग-थलग खड़े रहने की कोई इजाज़त नहीं है; यह जनता को भाग्य के उतार-चढ़ाव पर नहीं छोड़ सकती है; इसे इस स्वत:स्फूर्त आन्दोलन को एक सचेत और संगठित चरित्र देने के लिए जनता के साथ बने रहना होगा।'' (स्तालिन, 1953, *वही,* पृ. 174)

लेनिन ने भी इस दौर के अपने लेखों *नारों के बारे में, तीन संकट, एक जवाब* आदि में यही बात दुहराई है। ऐसे में, रैबिनोविच का यह दावा कि आन्दोलन को रोक पाने में असफल होने पर उसे अपने नेतृत्व में ले लेने का लाटसिस का प्रस्ताव केन्द्रीय कमेटी के विपरीत था, बिल्कुल ग़लत है। तथ्यों के प्रति वफ़ादारी रखने के बावजूद रैबिनोविच ऐसी ग़लती क्यों कर बैठते हैं? क्योंकि रैबिनोविच हर मौक़े पर केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी के बीच एक दीवार खड़ी करना चाहते हैं और पीटर्सबर्ग कमेटी को ज़्यादा वामपन्थी दिखलाना चाहते हैं। जहाँ तक इन तमाम निकायों के बीच या उनके भीतर चल रही बहसों का प्रश्न है, अलग-अलग बोल्शेविक नेताओं ने कई बार वामपन्थी या दक्षिणपन्थी अवस्थिति अपनायी हो सकती है। लेकिन यह तो स्वाभाविक ही है। 'विभाजित पार्टी' की अवधारणा तभी सही ठहर सकती है जबकि इस कमेटियों के भीतर बहुमत द्वारा लिये गये निर्णयों को और ऊपर की कमेटियों द्वारा या केन्द्रीय कमेटी द्वारा लिये गये निर्णयों की नीचे की कमेटियों ने अवहेलना की हो। ऐसा कोई वाकया स्वयं रैबिनोविच नहीं बता पाते हैं।

ऐसा ही एक प्रयास रैबिनोविच तब करते हैं जब वे 22 जून की एक बैठक की बात करते हैं। यह बैठक सैन्य संगठन द्वारा प्रस्तावित की गयी थी और इसमें केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी के सदस्यों को भी हिस्सेदारी करनी थी। लेकिन इन तीनों ही निकायों के नेतृत्वकारी और प्रमुख सदस्यों की ग़ैर-मौजूदगी के कारण इस बैठक को रद्द करना पड़ा। मौक़े पर जुटे तृणमूल बोल्शेविक सदस्यों और इकाई स्तर के नेतृत्व के लोगों ने एक अनौपचारिक बातचीत की। जैसा कि उम्मीद की जा सकती है कि आम सैन्य काडर और सैन्य इकाई स्तर के कुछ तृणमूल नेताओं के एकत्र होने पर सशस्त्र विद्रोह के प्रति अधैर्य का ही प्रदर्शन होना था। इस अनौपचारिक बातचीत में भी इस अधैर्य का पहलू हावी था। लेकिन इस बैठक का पूरी पार्टी की रणनीति को निर्धारित करने में या पार्टी के औपचारिक निकायों के बीच कार्यदिशा के अन्तर को दर्शाने में कोई महत्व नहीं है। देखा जाये तो यह ऐसी अनौपचारिक चर्चा थी नहीं जिसे बहुत महत्व दिया जाये क्योंकि ऐसी चर्चाएँ उस समय पेत्रोग्राद की कई छावनियों में चल रही थीं। इससे केवल आम बोल्शेविक काडरों के एक हिस्से और जनसमुदायों के बीच हावी माहौल का पता चलता है। यह माहौल किस तरफ झुका था यह पार्टी के शीर्ष नेतृत्व को भी पता था और वह इसी को नियन्त्रित करने का प्रयास कर रहा था। लेकिन इस अनौपचारिक चर्चा को रैबिनोविच काफ़ी महत्व देते हैं, क्योंकि इससे उन्हें यह साबित करने में मदद मिलती है कि पूरी पार्टी एकमत होकर कभी लेनिन के मातहत नहीं थी, जो कि रैबिनोविच के अनुसार "सोवियत स्रोतों की औपचारिक व्याख्या" है। हम पहले ही बता

चुके हैं कि रैबिनोविच के "सोवियत स्रोत" क्या हैं।

जब बोल्शेविक पार्टी जुलाई के प्रदर्शन को रोकने का प्रयास कर रही थी, यानी 3 जुलाई की सुबह तक, तब तक के दौर के बारे में रैबिनोविच कहते हैं कि इस दौर में रणकौशलात्मक रूप में लेनिन की अवस्थिति लगभग वही हो गयी थी जो कि कामेनेव की अवस्थिति थी। यह भी जो दिख रहा है, उसे सच मान लेने की रैबिनोविच की प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी प्रवृत्ति को ही दिखलाता है। रैबिनोविच लिखते हैं, "दिलचस्प बात है कि इस दौर के *प्राव्दा* में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि लेनिन की रणकौशलात्मक अवस्थिति कुछ समय के लिए पार्टी के दक्षिणपन्थी धड़े की अवस्थिति से मिलने लगी थी। वास्तव में, पार्टी के वामपन्थी धड़े पर 22 जून के *प्राव्दा* में कामेनेव द्वारा हमला करने के लिए लिखा गया (जिसका शीर्षक था *"यह इतना सरल नहीं, कॉमरेडो"*) लेख इस समय लेनिन द्वारा भी लिखा जा सकता था।" (रैबिनोविच, 1991, पृ. 132) आगे रैबिनोविच कामेनेव के लेख से जो उद्धरण पेश करते हैं उसी से पता चला जाता है कि लेनिन की अवस्थिति और कामेनेव की अवस्थिति क़तई एक जैसी नहीं थी, उस वक़्त भी एक जैसी नहीं थी जबकि पार्टी 3-5 जुलाई की घटनाओं को घटित होने से रोकने के प्रयासों में संलग्न थीं।

कामेनेव ने लिखा था कि रूसी जनवाद को अभी विश्व सर्वहारा और विश्व सर्वहारा क्रान्ति में भरोसा नहीं है और तब तक सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का कोई अर्थ नहीं होगा क्योंकि रूसी क्रान्ति टिक नहीं पायेगी। इसका अर्थ यह था कि उन्नत पश्चिमी यूरोपीय देशों के सर्वहारा क्रान्ति के पहले रूस में क्रान्ति के बुर्जुआ जनवादी चरण को ही जारी रखना होगा। यह लेनिन की कार्यदिशा कभी नहीं थी, न तो रणकौशलात्मक दृष्टि से और न ही रणनीतिक दृष्टि से। लेनिन के अनुसार जुलाई सशस्त्र विद्रोह का समय इसलिए नहीं था क्योंकि सोवियतों में अभी बोल्शेविक बहुमत में नहीं थे और साथ ही प्रान्तों की स्थिति अभी पेत्रोग्राद की स्थिति से काफ़ी पीछे थी और बोल्शेविकों की वहाँ पकड़ भी कमज़ोर थी। लेनिन स्पष्ट तौर पर समझ रहे थे कि रूस इस समय साम्राज्यवादी विश्व के अन्तरविरोधों का सन्धि-बिन्दु बन रहा है और ऐसे में सर्वहारा क्रान्ति यहाँ सम्पन्न हो सकती है और इस रूप में रूस दुनिया में पहली समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा सत्ता की ज़मीन बन सकता है। इसलिए रणकौशलात्मक तौर पर भी लेनिन और कामेनेव के तर्क एकदम अलग थे। लेकिन चूँकि 2 जुलाई तक समूचा पार्टी नेतृत्व एकमत होकर जुलाई के प्रदर्शन को रोकने का प्रयास कर रहा था, इसलिए हर कोई *प्राव्दा* व अन्य बोल्शेविक पत्रों व पर्चों में प्रदर्शन रोकने के लिए ही दलीलें पेश कर रहा था। नतीजतन, इससे रैबिनोविच भ्रमित हो गये हैं कि लेनिन की अवस्थिति इस समय रणकौशलात्मक तौर पर कामेनेव से मिलने लगी थी। प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद की अन्तर्दृष्टि में इस प्रकार की दृष्टिहीनता को रैबिनोविच की पुस्तक पढ़ते हुए बार-बार देखा जा सकता है।

चौथे अध्याय में ही रैबिनोविच *प्राव्दा* और *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* के बीच अन्तर निकालते हैं। उनका दावा है कि जून के आख़िरी दिनों में जबकि बोल्शेविक पार्टी एक अपरिपक्व विद्रोह को रोकने के लिए जूझ रही थी उस समय *प्राव्दा* और *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में छप रही सामग्री में फ़र्क़

दिख रहा था क्योंकि *प्राव्दा* लेनिन के कठोर नियन्त्रण में काम कर रहा था जबकि *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* सैन्य संगठन का मुखपत्र होने के कारण काफ़ी स्वायत्त था और वह पोदवॉइस्की, नेव्स्की और झेनेव्स्की (सैन्य संगठन के एक अन्य बोल्शेविक नेता) की देख-रेख में निकल रहा था। रैबिनोविच का मक़सद यहाँ यह दिखलाना है कि बोल्शेविक सैन्य संगठन में अलगाववाद और स्वायत्तता की प्रवृत्तियाँ थीं, जिन्हें बाद में केन्द्रीय कमेटी ने नियन्त्रित किया। यह सिद्ध करने के लिए कि इन दोनों मुखपत्रों में अन्तर था, रैबिनोविच इन दोनों मुखपत्रों में छपे कई लेखों का उदाहरण देते हैं। मज़ेदार बात यह है कि अगर हम इन लेखों की ही विषय-वस्तु और प्रस्तुति को देखें तो पाते हैं कि दोनों मुखपत्रों में शैली और विषय की प्रस्तुति के फ़र्क़ के अलावा और कोई फ़र्क़ नहीं था। अन्तर्वस्तु में कोई अन्तर नहीं था।

यदि शैली और प्रस्तुति में अन्तर था तो यह अन्तर होना लाज़िमी था क्योंकि *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* सैनिकों के लिए निकलता था और उसमें उसी शैली और अन्दाज़ में बातें रखी जाती थीं जिस अन्दाज़ में सैनिकों को सम्प्रेषित करने के लिए आवश्यक था। चूँकि दोनों मुखपत्रों को पढ़ने वाले पाठक वर्ग का दायरा अलग था, इसलिए कहीं-कहीं ज़ोर में कुछ फ़र्क़ था। लेकिन इस फ़र्क़ को यूँ पेश किया जाना कि सैनिकों के लिए निकलने वाले मुखपत्र में बोल्शेविक सैन्य संगठन अपनी स्वतन्त्रता की भावना और स्वायत्तता दिखलाते हुए केन्द्रीय कमेटी से अलग कोई कार्यदिशा पेश कर रहा था, तथ्यत: ग़लत है। मिसाल के तौर पर, *प्राव्दा* में लेनिन ने 21 जून के अंक में एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लिए सशस्त्र विद्रोह का कोई भी अपरिपक्व प्रयास आगे भारी नुक़सान की ओर ले जा सकता है और इसके लिए इन्तज़ार करना होगा। लेनिन ने यह भी जोड़ा कि यह इन्तज़ार ज़्यादा लम्बा नहीं होगा। रैबिनोविच स्वयं कहते हैं : "इस समय से लेकर जुलाई के दिनों तक *प्राव्दा* की कार्यदिशा आम तौर पर लेनिन की अवस्थिति से मेल खाती थी।" (*वही,* पृ. 132) रैबिनोविच यह सूचना भी बिल्कुल दुरुस्त देते हैं कि बोल्शेविक पार्टी इस समय पेत्रोग्राद सोवियत में बहुमत जीतने और अन्य वर्गों और विशेषकर प्रान्तों में किसानों के बीच अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने के लिए मोहलत चाहती थी। लेनिन जानते थे कि इससे पहले सशस्त्र विद्रोह कामयाब हो भी गया तो बोल्शेविक सत्ता में बने नहीं रह पायेंगे और एक नये रूप में पेरिस कम्यून की कहानी दुहराई जायेगी।

लेकिन इसके आगे रैबिनोविच का ब्यौरा तथ्यात्मक ग़लतियों और मनमानीपूर्ण व्याख्याओं के गड्ढे में गिर गया है। मिसाल के तौर पर, पहले वे स्वीकार करते हैं कि 21 जून को *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में भी एक लेख छपा जिसमें कि असंगठित प्रदर्शन न करने की अपील की गयी है। लेकिन चूँकि इस घोषणा में निम्न बात भी जोड़ दी गयी इसलिए रैबिनोविच के अनुसार पूरी बात *प्राव्दा* में छपी बात से अलग हो गयी: "आवश्यकता पड़ने पर, सैन्य संगठन केन्द्रीय और पीटर्सबर्ग कमेटियों से सहमति लेकर एक प्रदर्शन का आह्वान करेगा।" पाठक स्वयं देख सकते हैं कि इस टिप्पणी से पूरी बात की अन्तर्वस्तु में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। यह भूलना नहीं चाहिए कि *प्राव्दा* में भी लेनिन ने लिखा था कि निर्णायक घड़ी का इन्तज़ार बहुत लम्बा नहीं होगा। साथ ही यह भी याद

रखना होगा कि आबादी के जिस हिस्से में इस समय सबसे विस्फोटक स्थिति थी वह था सैनिकों का हिस्सा। सैनिकों के बीच निकलने वाला मुखपत्र यदि सीधे प्रदर्शनों को अनियतकालीन तौर पर रोक देने की बात करता तो निश्चित तौर पर बोल्शेविकों का प्रभाव आम सैनिक जनसमुदायों में घटता। ऐसा इसलिए भी होता क्योंकि इस आबादी में अपने प्रभाव को बरक़रार रखने के लिए बोल्शेविकों को बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों में अराजकतावादियों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ रही थी। ऐसे में, *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में शैली का इतना फ़र्क़ होना लाज़िमी था।

रैबिनोविच की दलील है कि जिस प्रकार *प्राव्दा* में स्पष्ट रूप में से कहा गया था कि क्रान्ति के अगले चरण में जाने से पहले "टटपुँजिया भ्रमों" के दौर पर विजय पानी होगी और बोल्शेविकों को अपनी बुनियादी कमज़ोरियों को दूर करना (यानी सोवियत में बहुमत प्राप्त करना और प्रान्तों में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना) होगा, उसी प्रकार *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में इस भाषा में कभी कुछ नहीं लिखा गया था; ज़्यादा से ज़्यादा *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* ने 23 जून को लिखा था, "सबसे पहले संगठन", लेकिन इसमें भी ज़्यादा ज़ोर अनियोजित और असंगठित प्रदर्शनों को रोकने पर था। ज़ाहिर है, रैबिनोविच एक अनुभववादी अकादमिक दृष्टिकोण से दोनों बेहद भिन्न प्रकार के मुखपत्रों में तुलना करने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में, अपनी पुस्तक में ही रैबिनोविच ने कुछ बोल्शेविक नेताओं को उद्धृत किया है जो यह कह रहे हैं कि सैनिक और सेना में काम करने वाले बोल्शेविक बहुत ही अलग और विशिष्ट परिस्थितियों में रहते हैं। यह बात आज के दौर में भी लागू होती है। सशस्त्र बलों और सेना में काम करने वाली आबादी के बीच राजनीतिक चेतना का स्तर और उनके मुद्दे बिल्कुल भिन्न होते हैं। रैबिनोविच ने *प्राव्दा* और *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में जो भी फ़र्क़ बताये हैं, वे सारे फ़र्क़ वही हैं जो कि दो भिन्न प्रकार के पाठक समुदाय को सम्बोधित करने वाले मुखपत्रों में होता है। आगे भी, रैबिनोविच कुछ इसी प्रकार के अन्य अन्तर बताते हैं जो कि किसी भी प्रकार से अन्तर्वस्तु का फ़र्क़ नहीं है, बल्कि शैली और प्रस्तुति का अन्तर है।

जुलाई के प्रदर्शन के बारे में रैबिनोविच विस्तृत ब्यौरा देते हैं। सही कहा जाये तो उनकी पुस्तक 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन' विशेष तौर पर जुलाई की घटनाओं के बारे में ही है। जहाँ तक 20-21 जून से लेकर 6-7 जुलाई की घटनाओं के विवरण का प्रश्न है, रैबिनोविच लगभग हरेक घण्टे का विवरण देते हैं और अलग-अलग निकायों में, अलग-अलग जगहों पर और जनता के अलग-अलग हिस्सों में क्या हो रहा था, इसका विस्तृत चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि यह पूरा विवरण हरेक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी के लिए बेहद उपयोगी है। क्योंकि क्रान्तिकारी सिद्धान्तों पर गहरी पकड़ बनाने के साथ ही क्रान्तिकारी प्रक्रिया और वर्ग संघर्ष के विभिन्न रूपों में ठोस तौर पर घटित होने को समझना भी बेहद ज़रूरी है। इस मायने में रूसी क्रान्ति का पूरा घटनाक्रम और उसके साथ ही बोल्शेविक पार्टी द्वारा इस घटनाक्रम में किये गये हस्तक्षेपों के बारे में पढ़ना आज किसी भी अन्य क्रान्तिकारी घटना के ऐतिहासिक ब्यौरों से कुछ मायनों में ज़्यादा महत्वपूर्ण है। विशेष तौर पर, लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी द्वारा अन्तरविरोधों के सन्धि-बिन्दुओं की पहचान करने के कौशल का अध्ययन करना और उसे समझना आज बेहद

महत्वपूर्ण है। इसके लिए रैबिनोविच की यह पुस्तक और साथ ही इस श्रृंखला की उनकी अगली पुस्तक 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर', दोनों ही बेहद अहम हैं। इसके अलावा, जनता के विभिन्न वर्ग, विभिन्न तबके बोल्शेविक पार्टी के इन क्रान्तिकारी हस्तक्षेपों को किस प्रकार देख रहे थे और उन पर किस तरह से प्रतिक्रिया दे रहे थे, यह समझना भी बेहद आवश्यक है क्योंकि यह दिखलाता है कि कुशल से कुशल क्रान्तिकारी पार्टी भी जनसमुदायों की सभी प्रतिक्रियाओं को पहले से पूर्वानुमानित व नियन्त्रित नहीं कर सकती है। उसे लगातार इन प्रतिक्रियाओं को समझना होता है, उनके साथ अन्तर्क्रिया करनी होती है और सतत् जनदिशा लागू करके पार्टी की कार्यदिशा को सही तरीक़े से सूत्रबद्ध करना होता है। तभी वह बदलते समय और हालात के मुताबिक़ लचीलापन और दाँव-पेच की क्षमता अर्जित कर सकती है, जो कि पार्टी के लिए हमेशा ही ज़रूरी होती है, लेकिन एक क्रान्तिकारी परिस्थिति में अपरिहार्य हो जाती है, जबकि लेनिन के शब्दों में, सदियों में घटित होने वाली घटनाएँ दशकों में, वर्षों में, महीनों में या कई बार तो कुछ ही दिनों में घट जाती हैं। इन सारे पहलुओं को समझने के लिए भी रैबिनोविच का ब्यौरा काफ़ी उपयोगी है।

लेकिन इन ब्यौरों में भी, जो कि तथ्यों के मामले में काफ़ी समृद्ध हैं, रैबिनोविच वही विचारधारा-अन्धता प्रकट करते हैं, जिसका हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं। हालाँकि उनके विवरण उपयोगी हैं, लेकिन उनकी व्याख्याएँ अन्तर्दृष्टि की उस दृष्टिहीनता का ही प्रदर्शन करती हैं, जो कि सभी प्रत्यक्षवादी व अनुभववादी विवरणों व इतिहास-लेखन की ख़ासियत होती है।

पहली बात जो कि जुलाई के घटनाक्रम के बारे में सबसे पहले एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी के तौर पर हमारा ध्यान खींचती है, वह यह कि रैबिनोविच किसी भी हथियारबन्द विद्रोह और एक सुनियोजित क्रान्तिकारी सशस्त्र विद्रोह या आम बग़ावत (insurrection) में कोई अन्तर नहीं करते हैं। जहाँ तक सशस्त्र विद्रोह की मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवधारणा का प्रश्न है वह कोई अनियोजित, स्वत:स्फूर्त और बेतरतीब हथियारबन्द बग़ावत नहीं होती। यह एक क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में वर्ग शक्तियों के सन्तुलन के बारीक अध्ययन और आकलन, सही समय और सही मौक़े के सटीक निर्धारण पर आधारित एक योजनाबद्ध कार्रवाई होती है जिसका एक निश्चित लक्ष्य होता है : बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस और क्रान्तिकारी सर्वहारा सत्ता की स्थापना। लेकिन इस बुनियादी अन्तर को न समझ पाने के कारण और साथ ही कुछ अलग-अलग बोल्शेविक सदस्यों की "वामपन्थी" कार्रवाइयों और गैरीसन में व्याप्त भयंकर असन्तोष के कारण 3-5 जुलाई की घटनाओं को एक सशस्त्र विद्रोह के प्रयास के तौर पर देखते हैं। हालाँकि, रैबिनोविच मानते हैं कि बोल्शेविक पार्टी का केन्द्रीय नेतृत्व इसे सशस्त्र विद्रोह नहीं मानता था और न ही उस समय सशस्त्र विद्रोह करने का उसका कोई इरादा था, लेकिन फिर भी कुछ बोल्शेविकों और यहाँ तक कि मेंशेविकों के संस्मरणों और रिपोर्ताजों के आधार पर रैबिनोविच यह अटकल भी लगाते हैं कि लेनिन तथा सैन्य संगठन के नेतृत्व के कई लोगों ने सशस्त्र विद्रोह के विकल्प को पूरी तरह से छोड़ा नहीं था। हालाँकि इन अटकलों को वे सिद्ध नहीं कर पाते हैं। कई बार तो जुलाई की घटनाओं के बाद आरज़ी सरकार ने बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ जो जाँच की और मुक़दमे चलाये, उनके आधार

पर भी रैबिनोविच ऐसे दावे करते प्रतीत होते हैं कि 3-5 जुलाई के दौरान बोल्शेविकों ने सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का विकल्प खुला रखा था। ज़ाहिर है, 5 जुलाई के बाद जब प्रतिक्रान्तिकारी ताक़तें विजयी हो गयी थीं, तो आरज़ी सरकार का पहला लक्ष्य यही था कि बोल्शेविक नेताओं की गिरफ़्तारियाँ की जायें, बोल्शेविक पार्टी का दमन किया जाये और उन्हें षड्यन्त्रकारी घोषित करके प्रतिबन्धित कर दिया जाये। ऐसे में, आरज़ी सरकार द्वारा की गयी जाँच और मुक़दमे को सही सूचना का आधार मानना ही एक बड़ी भूल होगी।

यदि हम रैबिनोविच के ही ब्यौरे को ग़ौर से पढ़ें तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस बात के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं कि पार्टी 2 जुलाई की देर रात तक जुलाई के प्रदर्शन को रोकने का ही प्रयास कर रही थी, हालाँकि तृणमूल बोल्शेविक इकाइयों के आम सदस्यों व बोल्शेविकों के समर्थकों से ही प्रदर्शन आयोजित करने का पर्याप्त दबाव मौजूद था। केरेंस्की सरकार द्वारा गैलीशियन हमले की शुरुआत, तमाम रेजीमेण्टों को मोर्चे पर भेजने के निर्णय और प्रथम विश्वयुद्ध में रूसी सैनिकों के क़त्ले-आम के ख़िलाफ़ जो ज़बरदस्त असन्तोष था, उसे फटने से रोक पाना अब बहुत मुश्किल था। वास्तव में, बोल्शेविक पार्टी जून माह से ही कई बार गुस्से के ज्वालामुखी को फटने से रोक चुकी थी और जनता का सब्र अब जवाब दे रहा था। केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और साथ ही बोल्शेविक सैन्य संगठन तीनों ही जुलाई के प्रदर्शनों को रोकने के प्रयास में लगे हुए थे। इसमें कोई दो राय नहीं है कि इन तीनों ही निकायों में कुछ ऐसे नेता भी थे जिनका मानना था कि प्रदर्शन किया जाना चाहिए। लेकिन इस बात पर मोटे तौर पर सभी सहमत थे कि प्रदर्शन को अगर नहीं भी रोका जा सका, तो उसे शान्तिपूर्ण बनाये रखने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए। लेनिन का स्पष्ट तौर पर मानना था कि अभी संकट पका नहीं है और जब तक बोल्शेविक सोवियतों में और साथ ही प्रान्तों में, विशेष तौर पर किसानों के बीच, अपनी स्थिति सुदृढ़ नहीं करते, तब तक वे पेत्रोग्राद में सत्ता पर काबिज़ हो भी गये तो वे सत्ता पर क़ायम नहीं रह पायेंगे। लेनिन की इस बात को अब इन तीनों ही निकायों, यानी कि केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और बोल्शेविक सैन्य संगठन के बहुमत ने स्वीकार कर लिया था, हालाँकि लेनिन को इसके लिए काफ़ी प्रयास करना पड़ा था। लेकिन जब 3 जुलाई को यह स्पष्ट हो गया कि अब प्रदर्शन फूट पड़ा है और उसे नहीं रोका जा सकता है, तो बोल्शेविक पार्टी उसमें शामिल हुई।

अगर हम छठी कांग्रेस में पेश राजनीतिक रिपोर्ट को पढ़ें तो साफ़ हो जाता है कि जब पार्टी का पीटर्सबर्ग नगर सम्मेलन जारी था उसी समय फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट ने प्रदर्शन की शुरुआत कर दी थी। यह प्रदर्शन सशस्त्र सैनिक कर रहे थे। तेज़ी से अन्य रेजीमेण्टों व गैरीसनों के सैनिक इसमें शामिल हो रहे थे। कारख़ानों के मज़दूर प्रतिनिधि इसी बीच पीटर्सबर्ग कमेटी के दफ़्तर पर पहुँचे और इस प्रदर्शन की कमान अपने हाथों में लेने के लिए पार्टी से अपील करने लगे क्योंकि अगर पार्टी ऐसा नहीं करती है तो भारी रक्तपात होगा और क्रान्ति को हानि होगी। इस समय पार्टी ने प्रदर्शन की कमान अपने हाथों में लेने का निर्णय किया। इस बीच एक और बात जो ग़ौरतलब है वह यह कि पार्टी के नेतृत्व और ग्रासरूट धरातल के बोल्शेविक संगठनकर्ताओं में सम्पर्क

सुचारू रूप से नहीं चल रहा था। ऊपर से सैनिकों का प्रदर्शन ठीक उन्हीं नारों के तले हो रहा था जो कि उस समय के बोल्शेविक नारे थे, विशेष तौर पर, "सारी सत्ता सोवियतों को"। इसने एक भ्रम की स्थिति भी पैदा कर रखी थी। कई आम बोल्शेविक भी इस नारे और तत्काल सशस्त्र विद्रोह के नारे के बीच अन्तर नहीं कर पा रहे थे। यह क्रान्ति की उस मंज़िल के लिए दिया गया आम रणनीतिक नारा था, न कि एक 'एक्शन स्लोगन'। लेकिन इन विभ्रमों के कारण भी सारी चीज़ें पार्टी नेतृत्व के नियन्त्रण से बाहर थी। नतीजतन, जब प्रदर्शन स्वत:स्फूर्त रूप से शुरू हो गये तो पार्टी ने उसकी कमान अपने हाथों में लेने का निर्णय किया, जैसा कि पहले से तय था। 4 जुलाई को लेनिन वापस आये। उन्होंने अपने बेहद संक्षिप्त भाषण में चौकसी और धैर्य बनाये रखने और उकसावे में न आने का आह्वान किया। वे जानते थे कि अब प्रदर्शन को रोका नहीं जा सकता है, इसलिए इसे अधिकतम सम्भव संगठित और शान्तिपूर्ण स्वरूप देना होगा। लेनिन के लिए यह क्रान्ति को बचाने के लिए अपरिहार्य था। प्रदर्शनों को न रोक पाने का एक कारण अराजकतावादी-कम्युनिस्टों का गैरीसन व सैनिकों के बीच प्रभाव भी था।

इसलिए अब बोल्शेविकों के पास एक ही विकल्प था: प्रदर्शन को संगठित और शान्तिपूर्ण बनाये रखना और उचित अवसर आते ही कम-से-कम नुक़सान के साथ क़दम पीछे हटाना। इसमें समूची बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्व एकजुट होकर काम कर रहा था। जैसा कि लेनिन ने अपने लेख *'एक जवाब'* में लिखा है, अगर बोल्शेविकों का मक़सद 3-5 जुलाई के बीच सत्ता पर क़ब्ज़ा करना होता तो ऐसा करने से उन्हें कोई ताक़त रोक नहीं सकती थी क्योंकि इन दिनों पेत्रोग्राद एक प्रकार से बोल्शेविक समर्थक बलों के ही क़ब्ज़े में था। बोल्शेविकों का मक़सद था इस प्रदर्शन को एक अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह बनने से रोकना और इसमें अन्तत: वे सफल रहे, हालाँकि तात्कालिक तौर पर उन्हें काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा, कई बोल्शेविक संगठनकर्ता मारे गये, जेल गये; *प्राव्दा* प्रतिबन्धित हो गया, पार्टी दफ़्तरों पर छापे पड़े, त्रात्स्की व कामेनेव गिरफ़्तार हो गये, लेनिन और ज़िनोवियेव को भूमिगत होना पड़ा। तात्कालिक तौर पर, लेनिन व बोल्शेविकों के जर्मन एजेण्ट होने की अफवाह के आधार पर एक प्रतिक्रान्तिकारी लहर भी हावी हो गयी। इस पूरी प्रक्रिया का विवरण भी रैबिनोविच ने विस्तार से दिया है। लेकिन यहाँ भी दिक़्क़त उनकी व्याख्या के साथ है। मिसाल के तौर पर, रैबिनोविच कुछ आम बोल्शेविकों व ग्रासरूस सैनिक नेताओं की अनुशासनहीनता को और जनदबाव में प्रदर्शन की तैयारियों में शामिल होने को बोल्शेविक पार्टी के 'विभाजित पार्टी' होने के प्रमाण के तौर पर पेश करते हैं। इससे यह क़तई नहीं साबित होता कि बोल्शेविक पार्टी कई (रैबिनोविच के अनुसार, तीन) सत्ता केन्द्रों वाली एक विभाजित पार्टी थी जिसमें सभी सत्ता केन्द्रों के "अलग-अलग लक्ष्य और हित" थे। इससे केवल यह साबित होता है कि 3-5 जुलाई जैसे अपवादस्वरूप दौरों में तृणमूल धरातल पर काम करने वाले कुछ आम पार्टी सदस्य स्वत:स्फूर्त जन लहर के प्रभाव में आ सकते हैं। लेकिन यह भी सच है कि पार्टी के नेतृत्व द्वारा नियन्त्रित किये जाने पर वे पार्टी अनुशासन को बहाल भी करते हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो 3 व 4 जुलाई को आरज़ी सरकार का तख़्ता पलट करने के प्रयास हुए होते।

यह भी सही है कि केन्द्रीय कमेटी व अन्य नगर कमेटियों, प्रान्तीय कमेटियों आदि के निर्णयों व चिन्तन में एक अन्तर मौजूद होता है क्योंकि ये अलग-अलग कमेटियाँ लगातार अलग-अलग क़िस्म के सवालों और स्थितियों से रूबरू हो रही होती हैं। ऐसे में, इन निम्नतर कमेटियों का या सैन्य संगठन का कई सवालों पर केन्द्रीय कमेटी के फ़ैसलों से मतभेद होना भी लाज़िमी है। लेकिन अन्त में निर्णायक तथ्य यह होगा कि केन्द्रीय कमेटी के बहुमत के अन्तिम निर्णयों को असहमति रखने के बावजूद ये निकाय लागू करते हैं या नहीं। जून से लेकर जुलाई तक के घटनाक्रम में हमें इन विभिन्न पार्टी निकायों के बीच सतत् बहस के बहुत से उदाहरण मिलते हैं और इन बहसों को 1953-56 के पहले के सोवियत स्रोतों में छिपाया भी नहीं गया है, जैसा कि रैबिनोविच दावा करते हैं।

बुर्जुआ व मेंशेविक स्रोतों के प्रति रैबिनोविच का रुख़ सहज विश्वास का है। जहाँ कहीं बोल्शेविक स्रोतों की बात आती है, वहाँ वे व्यक्तिगत संस्मरणों से निकाले गये उद्धरणों के आधार पर कोई अन्तरविरोध तलाशने में लग जाते हैं। और व्यक्तिगत संस्मरणों के आधार पर अन्तरविरोध निकालना बेहद आसान है, जैसा कि कोई भी इतिहासकार या इतिहास का छात्र जानता है। लेकिन रैबिनोविच जब त्सेरेतली या सुखानोव जैसे मेंशेविकों के इतिहास, संस्मरण या रिपोर्ताज को उद्धृत करते हैं, या त्रात्स्की के बाद के लेखन जैसे कि *हिस्ट्री ऑफ़ दि रशियन रिवोल्यूशन* और *स्तालिन्स स्कूल ऑफ़ फ़ॉल्सिफ़िकेशन* जैसी पुस्तकों को उद्धृत करते हैं, तो उन्हें आकाशवाणी के समान सत्य माना जाता है।

यहाँ तक तो हम रैबिनोविच के उदार बुर्जुआ पूर्वाग्रहों को ही देखते हैं, लेकिन जब वे **रिचर्ड पाइप्स** जैसे अमेरिकी साम्राज्यवादी सत्ता के एजेण्ट के इतिहास-लेखन को भरोसेमन्द स्रोत के तौर पर देखते हैं, तो वाक़ई आश्चर्य होता है। मिसाल के तौर पर, 1917 की जुलाई में ही आरज़ी सरकार के समक्ष पैदा हुए यूक्रेन संकट के विषय में वे पूरी तरह से रिचर्ड पाइप्स और त्सेरेतली के लेखन पर निर्भर करते हैं। न सिर्फ़ जानकारी के मामले में, बल्कि रिचर्ड पाइप्स के मूल्य-आधारित निर्णयों को भी रैबिनोविच ने अनालोचनात्मक तौर पर लिया है। मिसाल के लिए पाइप्स के इस प्रेक्षण को रैबिनोविच अनुमोदन के साथ उद्धृत करते हैं : *"यह रवैया नैतिक और संवैधानिक दृष्टिकोण से तो सही था, मगर राजनीतिक व्यवहार के नज़रिये से यह घातक सिद्ध हुआ।" (वही,* पृ. 141) यहाँ बता दें कि पाइप्स राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के प्रति आरज़ी सरकार के रवैये की बात कर रहे हैं; दमित राष्ट्रीयताएँ फ़रवरी क्रान्ति के बाद तत्काल राष्ट्रीय मुक्ति व स्वायत्तता की माँग कर रही थीं, जबकि आरज़ी सरकार उन्हें संविधान सभा के बुलाये जाने तक टाल रही थी, ठीक उसी प्रकार जैसे कि भूमि प्रश्न के समाधान को मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी और साथ ही आरज़ी सरकार भी संविधान सभा बुलाये जाने तक टाल रहे थे और किसानों द्वारा भूमि क़ब्ज़े का विरोध कर रहे थे। पाइप्स आरज़ी सरकार के रवैये को नैतिक तौर पर सही मानते हैं। यह एक क्लासिकीय बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है जो कि परिवर्तन को वैधिकता (legality) का परिणाम मानता है और जनविरोधी है; प्रगतिशील दृष्टिकोण हमेशा क्रान्ति को वैधिकता के

ऊपर वरीयता देता है। अगर यह दृष्टिकोण नैतिक तौर पर सही है तो फ़्रांसीसी बुर्जुआ क्रान्ति को भी इन बुर्जुआ इतिहासकारों को ग़लत ठहराना चाहिए क्योंकि उस क्रान्ति ने भी वैधिकता की परवाह नहीं की थी। रैडिकल परिवर्तन, रूपान्तरण और क्रान्तियाँ हमेशा ग़ैर-क़ानूनी ही हुआ करती हैं। क्रान्तिकारी व प्रगतिशील नैतिकता के अनुसार वे नैतिक होती हैं, हालाँकि पाइप्स जैसे असुधारणीय कम्युनिस्ट-विरोधियों और साथ ही प्रतिक्रियावादियों के लिए वे अनैतिक और असंवैधानिक होती हैं। इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण को भी रैबिनोविच अनालोचनात्मक तौर पर लेते हैं।

इसके बाद रैबिनोविच 3 जुलाई को ज़मीनी स्तर पर चल रही कार्रवाइयों का एक ब्यौरा देते हैं जिसमें वे दिखलाते हैं कि बोल्शेविक सैन्य संगठन के कई सैनिक सदस्य इस समय तत्काल सशस्त्र विद्रोह और सरकार को गिराने के लिए छटपटा रहे थे और उनके भाषणों और अराजकतावादियों के भाषणों में कोई ज़्यादा अन्तर नहीं था। सेमाश्को, गोलोविन आदि जैसे बोल्शेविक स्वयं गैरीसनों का समर्थन जीतने, क्रोंस्टाट का समर्थन लेने के लिए ज़िम्मेदारियाँ ले रहे थे। फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट के सैनिकों ने बोल्शेविक काडर व अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों की पहल पर एक आरज़ी क्रान्तिकारी समिति भी बनायी जिसकी अगुवाई बोल्शेविक सेमाश्को कर रहे थे। इस समिति को रैबिनोविच एक प्रकार से सशस्त्र विद्रोह के संचालन की ज़िम्मेदारी सम्भालने वाली समिति के तौर पर पेश करते हैं। लेकिन आगे बताया जाता है कि 4 जुलाई को यह समिति स्वयं अपने नेतृत्व को बोल्शेविक केन्द्रीय कमेटी व पीटर्सबर्ग कमेटी को सौंप देती है! अगर इस समिति को सशस्त्र विद्रोह ही करना था, तो इसने स्वेच्छा से अपना नेतृत्व बोल्शेविक पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व को क्यों सौंप दिया जो कि प्रदर्शन को संगठित, शान्तिपूर्ण और अनुशासित रखने की बात कर रहा था और कह रहा था कि फ़िलहाल हमें सोवियत कांग्रेस के समक्ष अपनी मांगों को ज़ोरदार तरीक़े से रखने को ही लक्ष्य बनाना चाहिए? इस सवाल का जवाब देना रैबिनोविच आवश्यक नहीं समझते हैं।

यह सिद्ध करने के लिए कि बोल्शेविक तृणमूल संगठनकर्ताओं ने आरज़ी सरकार के विरुद्ध तख़्तापलट की पूरी योजना बना ली थी, रैबिनोविच किस स्रोत पर निर्भर करते हैं, यह जानकर आपको ताज्जुब होगा। वे आरज़ी सरकार द्वारा 3-5 जुलाई के बाद बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ बिठायी गयी जाँच समिति की रिपोर्ट और उसमें पेश की गयी गवाहियों और प्रमाणों को अपना स्रोत बनाते हैं! यह ताज्जुब की बात इसलिए है कि बोल्शेविक क्रान्ति के विषय में हुए इतिहास-लेखन में अधिकांश बेहतर इतिहासकारों की इस बात पर सहमति है कि जुलाई की घटनाओं के बाद सोवियतें दक्षिणपन्थी अवस्थिति पर चली गयीं और पूरी तरह आरज़ी सरकार के साथ खड़ी हो गयीं थीं, और साथ ही बुर्जुआ सत्ता सुदृढ़ हो गयी थी; इसके सुदृढ़ होते ही मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने बोल्शेविकों के दमन को अपना लक्ष्य बनाया। उन्होंने बोल्शेविकों और लेनिन के जर्मन एजेण्ट होने का आरोप लगाने, मोर्चे पर हो रही हार के लिए बोल्शेविकों को दोषी ठहराने, सोवियत सत्ता के विरुद्ध षड्यन्त्र करने से लेकर चरित्र-हनन तक, हर प्रकार की

चाल का सहारा लिया; जाँच करवाना तो सिर्फ़ एक बहाना था, जाँच के नतीजे तय थे और इसका मक़सद था जनता का बोल्शेविकों में भरोसा और जनता के समर्थन को तोड़ देना। ऐसी जाँच में पेश गवाहियों के आधार पर रैबिनोविच यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी इस समय खण्ड-खण्ड में विभाजित थी, उसके अलग-अलग खण्ड अलग-अलग हितों और लक्ष्यों के साथ काम कर रहे थे, और इनमें से कई 3-5 जुलाई के बीच सशस्त्र विद्रोह करने के प्रयासों में ही लगे हुए थे। लेकिन रैबिनोविच का अपना ब्यौरा ही इसे ग़लत साबित कर देता है।

हमारे पास आज इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि सैन्य संगठन के नेता पोदवॉइस्की व नेव्स्की लगातार सशस्त्र विद्रोह को रोकने के प्रयासों में लगे हुए थे; वे लगातार तमाम गैरीसनों व रेजीमेण्टों में संगठनकर्ताओं को भेज रहे थे ताकि सैनिकों को प्रदर्शन में भाग लेने से रोका जा सके। यह ज़रूर है कि बहुत से गैरीसनों व रेजीमेण्टों में ये अपीलें सुनीं नहीं जा रही थीं और कई जगह तो ऐसा माहौल था कि ये संगठनकर्ता कुछ बोलने की हिम्मत भी नहीं कर पाये; पीटर्सबर्ग कमेटी के टॉम्सकी ने बोल्शेविक पार्टी के पेत्रोग्राद नगर सम्मेलन में केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को पढ़कर सुनाया जिसमें यह कहा गया था कि प्रदर्शनों को रोकने का प्रयास किया जाना चाहिए। यह सच है कि टॉम्स्की ने इसके अन्त में यह जोड़ दिया कि हम इस आग को बुझा नहीं पायेंगे क्योंकि हमने यह आग जलाई नहीं है। लेकिन साथ में टॉम्स्की ने यह भी कहा कि हमें केन्द्रीय कमेटी के निर्णय को किसी भी तरह लागू करना होगा। चूँकि पीटर्सबर्ग कमेटी और सैन्य संगठन ज़मीनी स्तर पर हो रहे परिवर्तनों के ज़्यादा क़रीब थे, इसलिए वे केन्द्रीय कमेटी के मुक़ाबले ज़्यादा बेहतर तरीक़े से यह समझ पा रहे थे कि इन प्रदर्शनों का एक अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह में परिवर्तित होना ख़तरनाक होगा, लेकिन वे यह भी समझ रहे थे कि अब इन प्रदर्शनों को रोक पाना मुश्किल होगा। इसलिए पार्टी को इसमें शामिल होकर इसे नेतृत्व देना चाहिए और इसे अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह में तब्दील होने से रोकना चाहिए। रैबिनोविच यह भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि प्रदर्शनों को न रोके जा सकने की सूरत में इसमें शामिल होने की कार्यदिशा केन्द्रीय कमेटी की नहीं थी और वह उसके ख़िलाफ़ थी। हम पहले ही दिखला चुके हैं कि ऐसा नहीं है। स्वयं लेनिन और स्तालिन के तत्कालीन लेखन को देखने से साफ़ हो जाता है कि केन्द्रीय कमेटी इस विचार पर सहमत थी, भले ही यह विचार मूलत: पीटर्सबर्ग कमेटी द्वारा पेश किया गया हो।

आगे रैबिनोविच लिखते हैं :

"सोवियत इतिहासकार जुलाई "प्रदर्शनों" को एक शान्तिपूर्ण विरोध आन्दोलन के रूप में पेश करते हैं, जो कि सोवियतों को सत्ता के हस्तान्तरण के लिए संघर्ष के "शान्तिपूर्ण दौर" की अन्तिम घटना थी। लेकिन ग़ौरतलब है कि 3 जुलाई की जनसभाओं पर स्रोत सामग्री दिखलाती है कि जुलाई आन्दोलन का प्रतीतिगत लक्ष्य, जिस रूप में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और फ़र्स्ट मशीलगन रेजीमेण्ट ने उसे सूत्रबद्ध किया था, आरज़ी सरकार को सशस्त्र शक्ति द्वारा उखाड़ फेंकना था।" (*वही*, पृ 152)

जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं कि लेनिन और स्तालिन के लेखन में कहीं यह नहीं

लिखा गया है कि जुलाई का प्रदर्शन शान्तिपूर्ण प्रदर्शन था; हम यह भी दिखला चुके हैं कि बुर्जुआ इतिहासकारों के लिए सबसे सन्देहास्पद स्रोत, यानी 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में भी यह कहीं नहीं लिखा है कि ये प्रदर्शन शान्तिपूर्ण थे; यहाँ तक कि त्रात्स्की के लेखन में भी इसे शान्तिपूर्ण प्रदर्शन नहीं माना गया है। त्रात्स्की ने तो अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के प्रभाव की भी बात की है। ऐसे में, रैबिनोविच के सोवियत स्रोतों का अर्थ केवल एक ही रह जाता है : संशोधनवादी दौर की इतिहास की पुस्तकें, जब सामाजिक फ़ासीवादी सत्ता की यह आवश्यकता थी कि बोल्शेविक पार्टी की एक एकाश्मी छवि पेश की जाये क्योंकि जनता से एक ऐसी एकाश्मी पार्टी के प्रति ही अनालोचनात्मक एकनिष्ठा की माँग की जा सकती है! लेकिन रैबिनोविच यह दिखलाने में असफल रहते हैं कि स्वयं बोल्शेविक नेताओं के लेखन में, त्रात्स्की के लेखन में, पार्टी के आधिकारिक इतिहास लेखन में और 1953 से पहले के सोवियत इतिहासकारों के लेखन में कहाँ इस प्रदर्शन को शान्तिपूर्ण कहा गया है। उल्टा उस दौर के जिन एक-दो इतिहासकारों को, जैसे कि स्तुलोव को, वे उद्धृत करते हैं, उन्होंने इस प्रदर्शन के दौरान हुई हिंसा का ज़िक्र किया है। इस हिंसा के आधार पर ही रैबिनोविच इसे सशस्त्र विद्रोह (insurrection) की संज्ञा दे देते हैं। जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, रैबिनोविच सशस्त्र विद्रोह के अर्थ को नहीं समझते और उसे बेपरवाह तरीक़े से इस्तेमाल करते हैं। यह उनके इस उद्धरण से ही पता चल जाता है :

"वास्तव में, जुलाई सशस्त्र विद्रोह की शुरुआत का अध्ययन करते हुए आपको ऐसा प्रतीत होता है कि जिन अराजकतावादियों और अर्द्ध-अराजकतावादियों ने इसका शुरुआत की थी, विशेष तौर पर वे जो कि गैरीसन में थे, स्वयं उनके दिमाग़ में ही इन प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर मौजूद नहीं थे।" (*वही*, पृ. 152)

ये प्रश्न थे कि आरज़ी सरकार को उखाड़कर कैसे फेंका जायेगा और उसकी जगह क्या लाया जायेगा? सत्ता बोल्शेविकों को दी जायेगी या फिर सोवियतों को? यानी इन प्रश्नों का रैबिनोविच के "सशस्त्र विद्रोहियों" के पास कोई जवाब नहीं था! लेकिन फिर भी यह सशस्त्र विद्रोह (insurrection) था! इसी से पता चल जाता है कि रैबिनोविच ने यहाँ सारी चीज़ें गड्ड-मड्ड कर दी हैं। मिसाल के तौर पर, आगे रैबिनोविच लिखते हैं कि इस "सशस्त्र विद्रोह" के विस्तार का कारण यह था कि तमाम सैन्य रेजीमेण्टों व गैरीसनों में सैनिकों के ढेर सारे तात्कालिक असन्तोष व शिकायतें इकट्ठा हो गयीं थीं। इनमें मोर्चे पर स्थानान्तरण किया जाना प्रमुख कारण था। इस प्रकार रैबिनोविच ख़ुद मानते हैं कि स्वत:स्फूर्त उभार का कारण आम तौर पर तात्कालिक शिकायतें और असन्तोष था। यह भी किसी सशस्त्र विद्रोह का विवरण नहीं बल्कि असन्तोष और गुस्से के एक स्वत:स्फूर्त विस्फोट का विवरण ज़्यादा लगता है।

पीटर्सबर्ग कमेटी और केन्द्रीय कमेटी को अन्तरविरोधी दिखाने के रैबिनोविच के प्रयास

पीटर्सबर्ग कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के बीच एक खाई दिखाने का प्रयास करने का कोई

भी अवसर रैबिनोविच छोड़ते नहीं हैं। पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी के दूसरे नगर सम्मेलन का ज़िक्र करते हुए रैबिनोविच बताते हैं कि एक जुलाई को इस सम्मेलन का आरम्भ हुआ और उस समय सम्मेलन इस बात पर चर्चा कर रहा था कि लेनिन द्वारा पीटर्सबर्ग कमेटी के अलग मुखपत्र न निकालने की राय को माना जाये या उसे रद्द कर दिया जाये। केवल शब्दों के थोड़े से हेर-फेर से पूरा अर्थ बदला जा सकता है। यह सच है कि पीटर्सबर्ग कमेटी अपना एक अलग मुखपत्र चाहती थी क्योंकि उसे लगता था कि उसकी राजनीतिक उद्वेलनात्मक आवश्यकताओं को *प्राव्दा* पूरा नहीं कर पाता है। लेकिन अन्ततः इस कमेटी ने लेनिन व केन्द्रीय कमेटी के निर्देश का ही पालन किया। इसके बदले में केन्द्रीय कमेटी ने यह तय किया था कि मुखपत्रों के सम्पादक मण्डल में पीटर्सबर्ग कमेटी के प्रतिनिधि को परामर्शदाता की स्थिति में शामिल किया जाये। लेकिन रैबिनोविच पूरी पुस्तक में यह ब्यौरा कहीं नहीं देते। पीटर्सबर्ग कमेटी को इतना स्वायत्त दिखाने का प्रयास किया गया है कि वह किसी पार्टी सम्मेलन या पार्टी कांग्रेस के मंच पर बहस करने और अपने प्रस्ताव पर बहुमत प्राप्त करने के पहले ही केन्द्रीय कमेटी के किसी निर्देश की अवहेलना करने के बारे में विचार कर रही थी। इस स्वायत्तता की छवि को और बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने के लिए रैबिनोविच लिखते हैं कि *"कई सदस्य एक अलग मुखपत्र की स्थापना को ज़्यादा रूढ़िवादी केन्द्रीय कमेटी की शक्ति की क़ीमत पर पीटर्सबर्ग कमेटी की शक्ति और लचीलेपन को बढ़ाने के एक ज़रिये के तौर पर देखते थे।"* (*वही*, पृ. 155) इसमें कोई दो राय नहीं है कि इस प्रश्न पर लेनिन और पीटर्सबर्ग कमेटी के बीच बहस चली थी, लेकिन इस बहस की चर्चा करना एक अलग बात है और केन्द्रीय कमेटी के निर्णय की अवहेलना करने की बात करना एक अलग बात है। एक संगठन के भीतर जीवन्त बहस-मुबाहसे की बात करना है और दूसरा है सांगठनिक अनुशासन की बात करना। रैबिनोविच जाने-अनजाने दोनों बातों में अक्सर कोई फ़र्क़ नहीं करते और इस फ़र्क़ को सामने न रखा जाये, जो कि जनवादी केन्द्रीयता के लेनिनवादी उसूलों का सार है, तो फिर दो कार्यदिशाओं के बीच के संघर्ष को भी 'विभाजित पार्टी' की छवि पेश करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। और रैबिनोविच अक्सर ऐसा ही करते हैं।

नगर सम्मेलन के बारे में ही बात करते हुए रैबिनोविच कहते हैं कि इसमें फिर से 20 जून को पीटर्सबर्ग कमेटी द्वारा तय की गयी कार्यदिशा पर मुहर लगायी गयी, जिसके अनुसार यदि प्रदर्शनों को रोका न जा सका तो पार्टी उसके नेतृत्व को अपने हाथ में लेने में हिचकिचायेगी नहीं। रैबिनोविच का दावा है कि यह कार्यदिशा केन्द्रीय कमेटी की कार्यदिशा से अलग थी। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि स्वयं लेनिन व स्तालिन के तत्कालीन लेखों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि केन्द्रीय कमेटी इस कार्यदिशा से सहमत थी।

केन्द्रीय कमेटी के भीतर भी उस समय जो संघर्ष चल रहा था, रैबिनोविच अपने दृष्टिकोण और व्याख्या की पुष्टि के लिए उसका एक चयनबद्ध ब्यौरा देते हैं। लेकिन अगर उस ब्यौरे को ही पढ़ें तो स्पष्ट हो जाता है कि केन्द्रीय कमेटी का क्या निर्णय था। रैबिनोविच 3 जुलाई को तौरीदा महल में केन्द्रीय कमेटी की जारी बैठक का हवाला देते हैं और बताते हैं कि इस बैठक में प्रदर्शन को रोकने

का प्रयास करने का निर्देश पेत्रोग्राद नगर सम्मेलन को भिजवाया गया। लेकिन साथ में वे जोड़ते हैं, *"यह सन्देह के दायरे में है कि इस सावधानीपूर्ण रणनीति को सर्वसम्मति से समर्थन मिला। जैसी परिस्थितियाँ थीं, उसमें कम-से-कम* ***स्मिल्गा ने इस पर ज़रूर आपत्ति की होगी।*** *चाहे जो भी हो, केन्द्रीय कमेटी ने दो दिनों में दूसरी बार किसी प्रदर्शन में हिस्सेदारी करने के विरोध में वोट किया..."* (*वही*, पृ 157, *ज़ोर हमारा*) हम देख सकते हैं कि स्मिल्गा द्वारा आपत्ति की रैबिनोविच ने अटकल लगायी है। इसका स्रोत क्या है? यदि आप पश्चटिप्पणी को देखें तो रैबिनोविच इस अटकल का स्रोत स्तालिनकालीन इतिहास लेखन को बताते हैं, जिसमें स्मिल्गा को लाटसिस के साथ इस बात का हामी बताया गया था कि वह सशस्त्र विद्रोह के लिए फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट पर निर्भर रहने की लाइन को मानते थे। यानी, जो स्रोत आम तौर पर रैबिनोविच के लिए प्रोपगैण्डा लेखन है, वह अचानक विश्वसनीय बन जाता है। क्यों? क्योंकि रैबिनोविच इस बात को कैसे स्वीकार करें कि केन्द्रीय कमेटी ने कभी सर्वसम्मति से कोई निर्णय लिया होगा या फिर किसी अन्य कमेटी ने उस निर्णय की अवहेलना नहीं की? अगर रैबिनोविच ऐसा मानते हैं, तो 'विभाजित पार्टी' का उनका उदार बुर्जुआ मॉडल ढह जाता है। इसलिए जहाँ कहीं रैबिनोविच को कोई भी प्रमाण नहीं मिलता वहाँ वे अपनी सुविधा के अनुसार अटकलबाज़ी के विकल्प को अपनाते हैं।

यहीं आगे रैबिनोविच टॉम्स्की के भाषण को उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि अन्ततः पीटर्सबर्ग कमेटी ने 3 जुलाई को केन्द्रीय कमेटी द्वारा भेजे गये निर्देश को स्वीकार तो किया लेकिन केवल औपचारिक तौर पर। हम इस बात का ऊपर खण्डन कर चुके हैं। इस सम्मेलन द्वारा केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों की उपेक्षा के दावे के बाद अन्त में रैबिनोविच चलते-चलते स्वीकार कर लेते हैं कि इस सम्मेलन ने अन्ततः केन्द्रीय कमेटी की कार्यदिशा का ही अनुमोदन किया। रैबिनोविच लिखते हैं :

"राखिया ने अधैर्य के साथ टिप्पणी की कि सम्मेलन पेरिस कम्यून के समान दिख रहा है जो कि शत्रुतापूर्ण शक्तियों से घिरे होने के बावजूद केवल बात ही कर रहा है। उन्होंने सुझाव दिया कि केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों को स्वीकार करते हुए पीटर्सबर्ग कमेटी को केन्द्रीय कमेटी के साथ कारख़ाना प्रतिनिधियों व सैन्य प्रतिनिधियों की बैठक का इन्तज़ाम करना चाहिए, ताकि परिवर्तित होती स्थिति का सही आकलन बनाया जा सके...बैठक जब अन्त की ओर बढ़ रही थी, तो कैक्टिन, ओग्रेत्सा और सालना ने विद्रोही रेजीमेण्टों का समर्थन करने का प्रस्ताव रखा जो कि पराजित हो गया। उल्टे इस बात पर सहमति बनी कि (सोवियत की) केन्द्रीय कार्यकारी समिति को एक प्रतिनिधि मण्डल द्वारा अल्टीमेटम भेजा जाये कि अभी सत्ता अपने हाथ में लें, अथवा एक सशस्त्र जनउभार के लिए तैयार हो जायें। इसी के साथ सम्मेलन समाप्त हो गया।" (*वही*, पृ. 159)

एक बात इस उद्धरण से ही स्पष्ट है कि सम्मेलन किसी भी रूप में विद्रोह करने वाली रेजीमेण्टों के साथ नहीं था हालाँकि उसे यह ज़रूर लग रहा था कि केन्द्रीय कमेटी निर्णय लेने में देरी कर रही है। साथ ही वह सोवियत पर सत्ता अपने हाथों में लेने का दबाव डालने के लिए इस जनउभार के भय का इस्तेमाल करने को लेकर सहमत था। ऐसे में, यह किस प्रकार साबित हुआ कि पीटर्सबर्ग

कमेटी या उसका द्वितीय नगर सम्मेलन केन्द्रीय कमेटी के निर्णय से सहमत नहीं था या उसकी अवहेलना कर रहा था? पाठक को इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता मगर फिर भी उससे उम्मीद की जाती है कि रैबिनोविच के 'विभाजित पार्टी' के सिद्धान्त को वह स्वीकार कर ले।

अराजकतावादियों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों द्वारा शुरू किया गया सशस्त्र विद्रोह?

हम ऊपर देख चुके हैं कि 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों को रैबिनोविच अराजकतावादियों और अराजकतावादी-कम्युनिस्टों द्वारा, विशेषकर जो गैरीसनों में थे, शुरू किया गया सशस्त्र विद्रोह मानते हैं। लेकिन कुछ ही पृष्ठ बाद वे 3 जुलाई की शाम का पूरा ब्यौरा देते हैं, जिसमें कि बोल्शेविक संगठनकर्ता गैरीसनों से प्रदर्शन के लिए सैनिकों और कारख़ानों से निकले मज़दूरों को बोल्शेविक मुख्यालय की तरफ़ लाते हैं और सारे प्रदर्शनकारी क्शेसिंस्काया महल के बाहर एकत्र होने लगते हैं, जहाँ कि बोल्शेविक मुख्यालय स्थित था। अब प्रश्न यह उठता है कि अगर यह अराजकतावादियों व अराजकतावादी-कम्युनिस्टों द्वारा शुरू किया गया सशस्त्र विद्रोह (insurrection) था तो इन सशस्त्र विद्रोहियों ने सीधे सरकारी इमारतों, संस्थानों, रेलवे स्टेशनों, टेलीग्राफ़ कार्यालयों पर क़ब्ज़ा क्यों नहीं किया? दूसरी बात, अगर बोल्शेविक पार्टी सशस्त्र विद्रोह के विकल्प को एक खुला विकल्प मानती थी तो उसने प्रदर्शन का नेतृत्व अपने हाथ में आते ही ये सारे काम क्यों नहीं किये? ऐसी ख़तरनाक और फ़ैसलाकुन घड़ी में लाखों सशस्त्र प्रदर्शनकारियों को सड़क पर लेकर बोल्शेविक नेतृत्व क्या कर रहा था? उस समय के अख़बारी स्रोत तक मानते हैं कि उस दिन यदि बोल्शेविक सत्ता पर क़ब्ज़ा करना चाहते तो यह उनके लिए ज़्यादा मुश्किल नहीं होता। तो फिर बोल्शेविकों ने ऐसा क्यों नहीं किया? लेनिन ने हूबहू यही प्रश्न अपने लेख *'एक जवाब'* में आरज़ी सरकार के षड्यन्त्रकारियों से पूछा था। और यही प्रश्न रैबिनोविच जैसे इतिहासकारों से भी पूछा जा सकता है। रैबिनोविच का दावा है कि केन्द्रीय कमेटी का बहुमत चाहे जो चाहता हो लेकिन पीटर्सबर्ग कमेटी और सैन्य संगठन में विद्रोह का विचार पनप रहा था और ज़्यादा प्रभावी था। ऐसे में भी यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों निकायों के बोल्शेविक संगठनकर्ताओं ने सत्ता पर क़ब्ज़े का आह्वान क्यों नहीं किया? केन्द्रीय कमेटी की तो वे सुन नहीं रहे थे, बकौल रैबिनोविच। और प्रदर्शन का सीधा नेतृत्व भी तमाम अतिवादी बोल्शेविक नेताओं जैसे कि सेमाश्को, गोलोविन आदि के हाथों में था। तो फिर उन्हें किस चीज़ ने सशस्त्र विद्रोह करने और सत्ता पर क़ब्ज़ा करने से रोका?

3 जुलाई की देर रात का ब्यौरा देते हुए रैबिनोविच बताते हैं कि पेत्रोग्राद सोवियत के मुख्यालय तौरीदा महल के बाहर हज़ारों सैनिकों व मज़दूरों ने डेरा डाल दिया था। वे अपने नेताओं के भाषण सुन रहे थे, जिनमें से अधिकांश यह कह रहे थे कि अब समय आ गया है कि सोवियत बुर्जुआ वर्ग की आरज़ी सरकार से सत्ता अपने हाथों में ले ले। इन भाषण देने वालों में ज़िनोवियेव और त्रात्स्की भी शामिल थे। यहाँ पर रैबिनोविच स्वयं स्वीकार करते हैं, *"सभी समाजवादी नेताओं*

के लिए सौभाग्य की बात थी कि फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट और अराजकतावादी-कम्युनिस्ट अब मज़दूरों और सैनिकों को नियन्त्रित नहीं कर रहे थे," लेकिन आगे रैबिनोविच यह भी जोड़ देते हैं, *"और बोल्शेविकों को अभी आपस में इस प्रश्न पर सहमति बनानी थी कि वे एक प्रदर्शन के साक्षी बन रहे हैं या फिर क्रान्ति के।" (वही,* पृ. 172) लेकिन इसके बाद रैबिनोविच यह भी कहते हैं कि जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा था, सैनिक बिना किसी लक्ष्य के इधर-उधर टहलने लगे, लोग थकावट महसूस करने लगे, वग़ैरह। लेकिन आपके दिमाग़ में तुरन्त ही यह प्रश्न आता है कि पिछले 170 पृष्ठों में रैबिनोविच आपको यह क्यों यकीन दिलाते हैं कि प्रदर्शनकारी स्वत:स्फूर्त रूप से विद्रोह करना चाहते थे; अराजकतावादी और अराजकतावादी-कम्युनिस्ट भी यही चाहते थे और बोल्शेविक फ़ैसला नहीं कर पा रहे थे? क्योंकि अगर ऐसा ही था तो 3 जुलाई की रात को कौन-सी चीज़ इन हज़ारों-लाखों सैनिकों और मज़दूरों को रोके हुए थी? उन्होंने तत्काल आरज़ी सरकार का तख़्तापलट क्यों नहीं कर दिया? ये सारे सवाल अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

इन प्रश्नों का उत्तर आपको रैबिनोविच की पुस्तक में नहीं मिलेगा। इसका उत्तर आपको वास्तविक बोल्शेविक स्रोतों में मिलेगा। इसका उत्तर यह है कि यह बोल्शेविक पार्टी का अनुशासन था जिसने 3 से 5 जुलाई के बीच बोल्शेविक संगठनकर्ताओं को इस प्रदर्शन को एक संगठित और शान्तिपूर्ण रूप देने के लिए प्रेरित किया, चाहे वे व्यक्तिगत तौर पर केन्द्रीय कमेटी के धीरज बरतने और सही मौक़े का इन्तज़ार करने और उसके लिए तैयारी करने की कार्यदिशा से सहमत हों या नहीं हों; चाहे उन्होंने बाद में पार्टी मंचों पर इसके लिए केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों से बहस की हो; चाहे उन्होंने बाद में भी सहमत होने के बजाय अपनी असहमति ही दर्ज करायी हो; तब भी उन्होंने दो सम्मेलनों या कांग्रेसों के बीच केन्द्रीय कमेटी के निर्णय को सर्वोच्च निर्णय मानने के बोल्शेविक उसूलों का पालन किया। अगर उन्होंने ऐसा नहीं किया होता तो 3-5 जुलाई 1917 के दिनों का इतिहास किसी और ही प्रकार लिखा जाता। बल्कि कहा जा सकता है कि बोल्शेविक क्रान्ति का ही इतिहास कुछ और होता। यह ज़रूर है कि बोल्शेविक पार्टी के सैन्य संगठन ने इस सम्भावना के लिए भी तैयारी कर रखी थी कि यदि प्रदर्शन का नेतृत्व उनके हाथों से निकलता है और सशस्त्र प्रदर्शनकारी उनके अनुमोदन के बिना सत्ता पर क़ब्ज़ा करने और आरज़ी सरकार को अपदस्थ करने का प्रयास करते हैं, तो वे क्या करेंगे। लेकिन इसे सशस्त्र विद्रोह करने की तैयारी की संज्ञा देना मूर्खता होगी। निश्चित तौर पर, यह पूरा प्रदर्शन जनसमुदायों के बोल्शेविकीकरण का ही नतीजा था; यह दिखला रहा था कि जनता के बीच बोल्शेविक पार्टी की कार्यदिशा का वर्चस्व बढ़ता जा रहा था। लेकिन इस प्रदर्शन का समय-निर्धारण अकेले बोल्शेविक पार्टी मनोगत तरीक़े से नहीं कर सकती थी। ज़ाहिर है, इसके समय-निर्धारण के पीछे बहुत से वस्तुगत कारक और बहुत-सी अन्य मनोगत शक्तियाँ काम कर रही थीं। लेकिन चूँकि यह जनउभार बोल्शेविक नारों और कार्यदिशा के समर्थन में और उसके अन्तर्गत ही हो रहा था इसलिए बोल्शेविक पार्टी एक ज़िम्मेदार क्रान्तिकारी पार्टी के समान हर प्रकार की सम्भावना के लिए तैयारी कर रही थी : इस सम्भावना के लिए भी जबकि नेतृत्व पूरी तरह उनके हाथों में रहता और प्रदर्शन पूरी तरह शान्तिपूर्ण और संगठित रहता

और इस सम्भावना के लिए भी जबकि यह प्रदर्शन लेनिन के शब्दों में "महज़ एक प्रदर्शन" नहीं रह जाता, जैसा कि हुआ और जैसा कि लेनिन ने बाद में 'तीन संकट' नामक अपने लेख में लिखा भी था। लेकिन बोल्शेविक फिर भी एक अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह रोकने में कामयाब रहे; हालाँकि इस प्रक्रिया में तात्कालिक तौर पर उन्हें काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा था।

इस दौरान, किसी भी मौक़े पर किसी ज़िम्मेदार पार्टी के निकाय का इरादा सशस्त्र विद्रोह का नहीं था। रैबिनोविच ही द्वितीय पीटर्सबर्ग नगर सम्मेलन में पारित प्रस्ताव को उद्धृत करते हैं जिसमें स्पष्ट तौर पर पार्टी की पीटर्सबर्ग कमेटी ने यह निर्णय लिया था कि मज़दूर एवं सैनिक सड़कों पर उतरकर प्रदर्शन करें और सोवियत के समक्ष अपनी यह इच्छा पुरज़ोर तरीक़े से पेश करें कि वह सत्ता पूर्ण रूप से अपने हाथों में ले ले (देखें, *वही,* पृ. 164)। इससे ज़्यादा का लक्ष्य न तो केन्द्रीय कमेटी ने तय किया था और न ही किसी अन्य पार्टी निकाय ने।

वास्तव में, 4 जुलाई की सुबह प्रदर्शन पूरी तरह से बोल्शेविक पार्टी के हाथों में था। यही कारण था कि जब 4 जुलाई को प्रदर्शन की शुरुआत हुई तो बोल्शेविक संगठनकर्ताओं के आह्वान पर पहले प्रदर्शनकारियों की समूची भीड़ लेनिन को सुनने के लिए क्शेसिंस्काया महल पहुँची, जो कि उसी सुबह, फिनलैण्ड में अपनी छुट्टियाँ पूरी किये बिना ही बीच में ही वापस लौट आये थे। लेनिन ने अपने छोटे से भाषण में जनता को धैर्य, चौकसी और मज़बूती बनाये रखने का सन्देश दिया। लेकिन सारे प्रदर्शनकारियों को क्शेसिंस्काया महल की ओर ले जाने पर प्रदर्शन में शामिल अराजकतावादियों, अराजकतावादी-कम्युनिस्टों और मारिया स्पिरिदोनोवा जैसे वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने यह कहकर आपत्ति जतायी कि पूरे प्रदर्शन को एक बोल्शेविक प्रदर्शन में तब्दील किया जा रहा है। जनता ने उनकी बातें नहीं सुनीं और सारे प्रदर्शनकारी क्शेसिंस्काया महल की ओर चल पड़े, जहाँ पर लेनिन मौजूद थे क्योंकि यह प्रदर्शन 3 जुलाई की देर रात से एक बोल्शेविक प्रदर्शन ही बन चुका था। बोल्शेविक पार्टी ने अब इस प्रदर्शन की बागडोर अपने हाथों में ले ली थी ताकि उसे एक संगठित और शान्तिपूर्ण चरित्र प्रदान कर सकें।

इसी बीच पेत्रोग्राद सोवियत के मज़दूर सेक्शन में पहली बार बोल्शेविक बहुमत में आ गये। इसके बाद वहाँ बोल्शेविक संगठनकर्ताओं ज़िनोवियेव, कामेनेव और उस समय तक मेज़रायोन्त्सी ग्रुप के सदस्य त्रात्स्की ने हूबहू और शब्दश: वह प्रस्ताव पारित किया जो कि बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने पारित किया था। स्वयं रैबिनोविच ने इस प्रस्ताव को उद्धृत किया है :

"इस बैठक के सभी भागीदार ज़िलों में जायेंगे ताकि इस निर्णय के बारे में मज़दूरों और सैनिकों को सूचित कर सकें और इस आयोग से निरन्तर सम्पर्क में रहकर आन्दोलन को एक शान्तिपूर्ण और संगठित चरित्र देने का प्रयास करेंगे।" (*वही,* पृ. 170)

जैसा कि हम देख सकते हैं, यह हूबहू वही बात है जोकि केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी के प्रस्तावों में कही गयी थी। रैबिनोविच यह ब्योरा देना भी भूल जाते हैं कि जब 3 जुलाई को तौरीदा महल में केन्द्रीय कमेटी की बैठक चल रही थी तो शाम के वक़्त विभिन्न कारख़ानों के

मज़दूर प्रतिनिधि उसके पास आ रहे थे और शुरू हो चुके प्रदर्शन की सूचना देते हुए इस प्रदर्शन को शान्तिपूर्ण बनाये रखने के लिए बोल्शेविक पार्टी से कमान अपने हाथ में लेने का आग्रह कर रहे थे। ग़ौरतलब है, मज़दूरों की व्यापक बहुसंख्या प्रदर्शन में हिस्सेदारी करने को तो इच्छुक थी, लेकिन वह चाहती थी कि पार्टी प्रदर्शन की कमान अपने हाथों में ले अन्यथा सैनिकों का अधैर्य एक अपरिपक्व बग़ावत की ओर जा सकता था। यह पूरा ब्यौरा भी रैबिनोविच की पुस्तक से अनुपस्थित है।

लेनिन की पेत्रोग्राद वापसी और लेनिन के अनिर्णय का रैबिनोविच का मिथक

रैबिनोविच बताते हैं कि किस प्रकार 3 जुलाई की रात में अन्तत: बोल्शेविक नेतृत्व ने तय किया कि वे प्रदर्शन को रोक नहीं सकते और उन्हें इसे नेतृत्व देकर एक संगठित और शान्तिपूर्ण प्रदर्शन में तब्दील करना चाहिए। इसी के साथ वे तत्काल किसी को लेनिन को बुलाने के लिए भेजने का निर्णय लेते हैं। रैबिनोविच इस सूचना की पुष्टि के लिए ज़िनोवियेव को उद्धृत करते हैं, "ज़िनोवियेव ने पुष्ट किया कि तौरीदा महल पर तीस हज़ार पुतिलोव मज़दूरों के आने और क्रोंस्टाट से रैस्कॉलनिकोव (एक अन्य बोल्शेविक नेता) का फोन आने के साथ, जिन्होंने स्पष्ट तौर पर बताया कि कोई चीज़ या कोई व्यक्ति क्रोंस्टाट के नाविकों को अगली सुबह पेत्रोग्राद जाने से नहीं रोक सकता है, अन्तत: यह तय किया गया कि केन्द्रीय कमेटी अगले दिन (यानी 4 जुलाई) को मज़दूरों और सैनिकों के "सशस्त्र लेकिन शान्तिपूर्ण" प्रदर्शन की आज्ञा देगी और उसका नेतृत्व करेगी।" (*वही,* पृ. 174) हालाँकि रैबिनोविच पश्चटिप्पणी में रैस्कॉलनिकोव द्वारा दी गयी सूचना पर सन्देह करते हैं, लेकिन उनके द्वारा दिया गया ब्यौरा ही रैस्कॉलनिकोव के दावे को पुष्ट करता है। इसके बाद ही केन्द्रीय कमेटी ने लेनिन के लिए बुलावा भेजा। अगली सुबह लेनिन क्शेसिंस्काया महल पहुँचे और सारे प्रदर्शनकारी लेनिन को सुनने के लिए 4 जुलाई की सुबह वहाँ पहुँचे। यहाँ क्या हुआ था, यह हम पहले ही बता चुके हैं।

रैबिनोविच सही दावा करते हैं कि लेनिन पहले लोगों को सम्बोधित नहीं करना चाहते थे लेकिन फिर कई बोल्शेविक नेताओं के कहने पर उन्होंने सम्बोधित करने का आग्रह स्वीकार किया। लेनिन ने अपने भाषण में सब्र बरतने और चौकसी बनाये रखने की अपील की। इस बारे में रैबिनोविच का कहना है कि लेनिन ने प्रदर्शन की शुरुआत के बाद आरज़ी सरकार का तख़्तापलट करने की सम्भावना से इंकार नहीं किया था। इसके समर्थन में वे एक अन्य नेता कालिनिन को उद्धृत करते हैं, जिन्होंने इस मौक़े पर लेनिन से पूछा था कि यह क्या यह सिर्फ़ एक प्रदर्शन हो रहा है या फिर सत्ता क़ब्ज़ा करने की शुरुआत। इसके जवाब में लेनिन ने कहा कि यह वक़्त आने पर ही पता चलेगा। निश्चित तौर पर, लेनिन उस समय यही जवाब दे सकते थे क्योंकि अभी बोल्शेविक भी नहीं जानते थे कि प्रदर्शनकारी किस हद तक उनके नेतृत्व और नियन्त्रण में रहेंगे। लेकिन इसे

रैबिनोविच मंशा का प्रश्न बना देते हैं। उनके अनुसार, इरादे के स्तर पर भी लेनिन अभी अनिश्चय की स्थिति में थे और उन्होंने तख़्तापलट करने का विचार त्यागा नहीं था। लेकिन अन्य सभी स्रोतों से सिद्ध किया जा सकता है कि जहाँ तक लेनिन के आकलन, इच्छा और इरादे का प्रश्न था, आरज़ी सरकार का तख़्तापलट करना किसी भी रूप में अभी उनके एजेण्डा पर नहीं था। वह स्पष्ट तौर पर मानते थे कि अभी संकट पका नहीं है और पेत्रोग्राद की स्थिति पूरे रूस की स्थिति नहीं है। लेकिन रैबिनोविच यह अनिश्चय की स्थिति लेनिन पर एक प्रकार से थोप देते हैं। तत्काल क्या सम्भावनाएँ थीं और लेनिन के अनुसार क्या वांछनीय था, इसमें रैबिनोविच फ़र्क़ नहीं करते ताकि 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों को वे एक बाधित सशस्त्र विद्रोह (aborted insurrection) के रूप में पेश कर सकें। अगर लेनिन वाक़ई किसी अनिश्चय में थे, तो 4 जुलाई के पूरे घटनाक्रम में ऐसा कुछ नहीं था जो कि उन्हें सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लेने का अनुमोदन करने और इसके लिए निर्देश देने से रोकता। लेकिन लेनिन ने ऐसा नहीं किया; क्योंकि जब यह स्पष्ट हो गया था कि प्रदर्शनकारी मुश्किल से ही सही, मगर बोल्शेविक पार्टी के नियन्त्रण में हैं, तो लेनिन की रणनीति कम-से-कम नुक़सान उठाकर पीछे हटने की थी। इस बात को रैबिनोविच आगे स्वयं भी स्वीकार करते हैं।

रैबिनोविच स्वयं कम-से-कम दो स्थानों पर स्वीकार करते हैं कि 4 जुलाई को जो हिंसा की घटनाएँ हुईं उसके लिए बोल्शेविक नेतृत्व ज़िम्मेदार नहीं था। हालाँकि वे दक्षिणपन्थी गिरोहों (जैसे कि 'ब्लैक हण्ड्रेड्स') को बचाने का पूरा प्रयास करते हैं और कहते हैं कि हिंसा के लिए पूरा माहौल ज़िम्मेदार था। वे लिखते हैं :

"उस समय यह प्रश्न काफ़ी महत्वपूर्ण था कि पहली गोली किसने चलायी। पचास वर्षों बाद, अख़बारी ब्यौरों, दस्तावेज़ों और संस्मरणों के भ्रमित कर देने वाले समुच्चय को देखने से यह प्रभाव छूटता है कि काफ़ी सम्भावना थी कि गोली चलाने को तैयार प्रदर्शनकारी, उकसाने वाले तत्व, दक्षिणपन्थी तत्व और कई बार शुद्ध रूप से भ्रम का माहौल और भय का माहौल बराबर ज़िम्मेदार थे।" (*वही,* 171)

लेकिन आगे वह सच्चाई छिपा नहीं पाते और लिखते हैं :

"जब बीच दोपहर में क़रीब साठ हज़ार लोगों का जुलूस सादोवाइया और अप्राक्सिना मार्गों के कोने पर एक चर्च के पास से गुज़रा, तो एक बार फिर, मानो चर्च की घण्टी के संकेत पर, ऊपरी खिड़कियों और छतों से प्रदर्शनकारियों पर गोलियों की बौछार हुई। बाद में बोग्दातियेव ने आरज़ी सरकार के जाँच आयोग के सामने गर्व से गवाही थी कि पुतिलोव के मज़दूरों ने इन निशानेबाज़ों का इलाज कर दिया।" (*वही,* पृ. 185)

उस समय के कई बोल्शेविक स्रोतों और अख़बारों से स्पष्ट तौर पर साबित किया जा सकता है कि पहले हमला करने का काम दक्षिणपन्थी गिरोहों ने किया था ताकि प्रदर्शन हिंस्र हो जायेगा और फिर बोल्शेविक पार्टी का दमन करने और उसके ख़िलाफ़ माहौल बनाने में प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों को कोई दिक़्क़त न पेश आये। सही मायने में प्रदर्शनकारियों ने इन हमलों का बेहद सीमित

जवाब दिया और इसीलिए मारे गये और हताहत हुए लोगों में दोनों पक्षों की संख्या लगभग बराबर थी। अन्यथा, अगर वे खुलकर इन हमलों का जवाब देते तो उस दिन पेत्रोग्राद से इन दक्षिणपन्थी गिरोहों का सफ़ाया हो गया होता। लेनिन ने अपने लेख *'एक जवाब'* में इसका साक्ष्यों और प्रमाणों के साथ पूरा ब्यौरा दिया है। लेकिन रैबिनोविच इस लेख को एक बार भी उद्धृत नहीं करते क्योंकि इससे एक 'बाधित सशस्त्र विद्रोह' की उनकी थीसिस कूड़े की पेटी के हवाले हो जायेगी। इसलिए वे जानबूझकर चयन करके तथ्यों को पेश करते हैं। सच्चाई यह थी कि बोल्शेविकों ने अपने नेतृत्व में इस प्रदर्शन को अराजकतापूर्ण हिंसा या सशस्त्र विद्रोह के अपरिपक्व प्रयास में तब्दील होने से रोका था।

लेकिन बोल्शेविकों और लेनिन के अनिर्णय और अनिश्चय की बात को रैबिनोविच लगातार पेश करने की कोशिश करते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं :

"अन्त में, बीच में अनिर्णय के साथ दोलन कर रहे थे क्रोंस्टाट के बोल्शेविक नेता, जो कि आम तौर पर बेहद प्रभावी हुआ करते थे। वे भी अराजकतावादियों के ही समान अधैर्यवान थे कि आरज़ी सरकार का निपटारा कर दिया जाये और निश्चित तौर पर यही धारणा सम्प्रेषित करना चाहते थे कि इस आन्दोलन का शुरू से मक़सद ही यही था, लेकिन पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के अनिर्णय के कारण उनके पंख कट गये थे, ठीक उसी प्रकार जैसे कि पिछली रात गैरीसन के सैन्य संगठन के पर कट गये थे।" (*वही*, पृ. 187)

इस सूचना का स्रोत कौन है? मेंशेविक सुखानोव! उपरोक्त उद्धरण की पश्चटिप्पणी में रैबिनोविच सुखानोव का हवाला देते हैं। लेकिन उसके ठीक आगे प्रत्यक्षवादी ईमानदारी से मजबूर होकर उन्हें सैन्य संगठन के नेता नेव्स्की का भी उद्धरण देना पड़ा है जिसमें नेव्स्की ने स्पष्ट किया है कि इस अनिर्णय की स्थिति का क्या अर्थ था। बोल्शेविक नेतृत्व तौरीदा महल के बाहर एकत्र लोगों को किसी कार्रवाई का निर्देश नहीं दे रहा था क्योंकि उसे किसी कार्रवाई का निर्देश देना ही नहीं था! उसका लक्ष्य ही यही था कि इसे जनसमुदायों की इच्छा को सोवियत के समक्ष पेश करने वाले एक प्रदर्शन के रूप में समाप्त किया जाये। इसलिए प्रदर्शन में भाषण हो रहे थे, बीच-बीच में कुछ प्रतिनिधि मण्डल सोवियत के पास भेजे जा रहे थे। लेकिन किसी कार्रवाई का निर्देश नहीं दिया जा रहा था। आम जनता की निगाह में, जो कि कार्रवाई के लिए उतावली हो रही थी, यह अनिर्णय जैसा ही दिखलायी देगा। बीच में जनता का सब्र थोड़ा टूट भी गया और एक अराजकतावादी नाविक की गिरफ़्तारी पर सफ़ाई देने आये समाजवादी-क्रान्तिकारी मन्त्री विक्तोर चेर्नोव को प्रदर्शनकारियों ने हिरासत में भी ले लिया था, जिसे त्रात्स्की और रैस्कॉलनिकोव छुड़ाकर ले गये। (हालाँकि इसके बाद डरे हुए चेर्नोव ने बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ काफ़ी विषवमन किया और उनके ख़िलाफ़ कड़ी कार्रवाई की वकालत की क्योंकि इस गिरफ़्तारी के सदमे से वे काफ़ी समय तक उबर नहीं पाये थे!) लेकिन इस अलग-थलग अकेली घटना को छोड़ दिया जाये तो प्रदर्शनकारियों ने बोल्शेविकों द्वारा कोई निर्देश नहीं दिये जाने पर कोई कार्रवाई नहीं की। लेकिन कोई निर्देश नहीं

दिया जाना प्रदर्शनकारियों के बीच मौजूद अतिवादी तत्वों के लिए अनिर्णय और अनिश्चय जैसा दिख रहा था। लेकिन स्पष्ट तौर पर यह बोल्शेविक योजना का हिस्सा था। वास्तव में, लेनिन समेत बोल्शेविक नेतृत्व किसी अनिर्णय की स्थिति में नहीं था।

जब बोल्शेविक पार्टी प्रदर्शन को वापस लेने की सार्वजनिक घोषणा लागू कर देती है, रैबिनोविच के अनुसार लगभग उस समय तक भी सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का विकल्प उसने खुला रखा था और इसीलिए यह सार्वजनिक घोषणा *प्राव्दा* के पिछले पेज पर 5 जुलाई को प्रकाशित हुई थी। यह विचित्र बात है क्योंकि 4 जुलाई की शाम से ही यह स्पष्ट हो गया था कि प्रदर्शन की लहर अब ढलान पर है और रैबिनोविच स्वयं इसके कई कारण बताते हैं। 4 जुलाई की रात तक यह स्पष्ट हो गया था कि अगले दिन 3 और 4 जुलाई के घटनाक्रम की पुनरावृत्ति नहीं होने वाली है। ऐसे में, यह स्वाभाविक था कि *प्राव्दा* ने यह सूचना पिछले पेज पर प्रकाशित की। इसके आधार पर यह अटकल लगाना कि बोल्शेविक अभी भी सशस्त्र विद्रोह के लिए माकूल मौक़े के इन्तज़ार में थे, हास्यास्पद है। एक स्थान पर रैबिनोविच अपनी पूरी विचित्र अवस्थिति को थोड़ा सन्तुलित करने के लिए एक और भी विचित्र बात कहते हैं। वह कहते हैं कि सुखानोव के पूरे ब्यौरे पर पूरी तरह निर्भर रहते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि लेनिन किसी असफल विद्रोह का नेतृत्व कर रहे थे क्योंकि लेनिन इसे एक सशस्त्र विद्रोह के रूप में नहीं देखते थे; लेकिन फिर भी लेनिन ने 4 और 5 जुलाई को सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के विकल्प को त्यागा नहीं था! इसका क्या अर्थ है? ज़ाहिर है, रैबिनोविच तय नहीं कर पा रहे हैं कि वे सीधे लेनिन को एक सशस्त्र विद्रोह के योजनाकार के रूप में दिखायें या नहीं। तथ्य क़तई इस पक्ष में नहीं हैं, लेकिन रैबिनोविच की थीसिस उन्हें द्रविड़ प्राणायाम करने को मजबूर करती है।

छठे अध्याय के अन्त में एक बार फिर से रैबिनोविच केन्द्रीय कमेटी और *प्राव्दा* की अवस्थिति और *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* की अवस्थिति में अन्तर पैदा करने का प्रयास करते हैं। 5 जुलाई को *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* में एक सम्पादकीय अग्रलेख छपा जिसका शीर्षक था "सड़कों पर क्या हो रहा है"। इस लेख में यह कहा गया था कि जो प्रदर्शन हुआ है सर्वहारा वर्ग की पार्टी ने उसके नेतृत्व को स्वीकार किया है और आगे भी वह सोवियतों को सत्ता स्थानान्तरित करने के संघर्ष में सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व प्रदान करती रहेगी, तब तक जब तक कि यह संघर्ष जीत नहीं लिया जाता। रैबिनोविच इसे बोल्शेविक संगठन के वामपन्थी भटकाव का नमूना मानते हैं, जिससे केन्द्रीय कमेटी को देर में यह समझ आया कि आम बग़ावत के लिए अभी समय उपयुक्त नहीं है। एक बार फिर हम देख सकते हैं कि इस लेख की रैबिनोविच द्वारा मनमानी व्याख्या की गयी है। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो कि बोल्शेविक सैन्य संगठन के वामपन्थ को दिखलाये। निश्चित तौर पर, आबादी का जो हिस्सा सबसे ज़्यादा सुलग रहा था उसके बीच प्रदर्शन को फ़िलहाल रोक लेने के लिए जो अपील जारी होती, उसके शब्द कुछ ऐसे ही हो सकते थे। लेकिन चूँकि रैबिनोविच हर मौक़े पर केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और बोल्शेविक सैन्य संगठन के बीच दीवारें खड़ी करना चाहते हैं, इसलिए *सोल्दात्स्काइया प्राव्दा* के इस सम्पादकीय की भी वे मनमानी व्याख्या

करते हैं।

जुलाई प्रदर्शन का दमन और प्रतिक्रिया का दौर : रैबिनोविच की अटकलें

आख़िरी दो अध्यायों में रैबिनोविच अपनी विभाजित पार्टी की थीसिस के समर्थन में कुछ अन्तिम व्याख्याएँ पेश करते हुए उसे मुकाम तक पहुँचाते हैं। 3-5 जुलाई के प्रदर्शनों के वापस लिए जाने के फ़ैसले के साथ बोल्शेविक पार्टी ने रैस्कॉलनिकोव को यह ज़िम्मेदारी दी कि सशस्त्र प्रदर्शनकारियों को वापस ले जायें और इस प्रक्रिया में प्रदर्शनकारियों पर दक्षिणपन्थियों के हमलों से भी निपटें। यही कारण था कि रैस्कॉलनिकोव ने क्रोंस्टाट के नाविकों को एक अतिरिक्त दिन राजधानी में रहने की आज्ञा दी। रैबिनोविच लगातार इस बात पर शक करते हैं कि ये सारे इन्तज़ामात किस हद तक आत्मरक्षा के लिए किये जा रहे थे और किस हद तक अपनी ओर से हमला करने के लिए, यह बता पाना मुश्किल है। यहाँ भी रैबिनोविच यह छवि पेश करना चाहते हैं कि पार्टी द्वारा प्रदर्शन की वापसी के एलान के बाद भी सैन्य संगठन स्वायत्तता के साथ काम कर रहा था। लेकिन रैबिनोविच स्वयं बताते हैं कि रैस्कॉलनिकोव ने अपने संस्मरणों में लिखा कि *प्राव्दा* के कार्यालय के ध्वंस की ख़बर आ चुकी थी और यह स्पष्ट था कि क़दम पीछे हटाते हुए भी आत्मरक्षा के पूरे इन्तज़ामात करने होंगे। इसीलिए रैस्कॉलनिकोव ने सैनिकों को भी सावधान कर दिया था। बैरकों में पहुँच चुके सैनिकों को भी सावधान कर दिया गया था कि ज़रूरत पड़ने पर उन्हें भी आना पड़ सकता है। लेकिन रैस्कॉलनिकोव ने स्पष्ट शब्दों में बतलाया था कि ये सारे क़दम केवल और केवल आत्मरक्षा के लिए उठाये जा रहे थे। जबकि रैबिनोविच आगे लिदाक द्वारा लिखी गयी और 1932 में छपी बोल्शेविक क्रान्ति के इतिहास पर लिखे एक निबन्ध का हवाला देते हुए बताते हैं कि इसमें लिदाक ने बताया है कि यह बता पाना मुश्किल था कि सैन्य संगठन ने 5 जुलाई को जो-जो क़दम उठाये थे, वे सभी आत्मरक्षा के लिए ही थे या नहीं। लेकिन रैबिनोविच यह खुलासा इस निबन्ध की चर्चा के साथ नहीं करते, बल्कि पश्च टिप्पणी में करते हैं कि इस निबन्ध पर सम्पादक ने एक टिप्पणी लगायी थी जिसमें लिखा था कि लिदाक की इस सूचना को प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया जा सका। यह ज़रूर है कि पीछे हटते हुए आत्मरक्षा के लिए कहीं-कहीं कुछ बोल्शेविक सैनिकों ने हमलावर क़दम भी उठाये थे, लेकिन यह आम रुझान नहीं था और अलग-थलग कुछ घटनाएँ थीं। ज़ाहिर है, जिन स्थितियों में प्रदर्शन को वापस लिया गया था और जिस प्रकार सैनिकों को वापस बैरकों में ले जाना था, उसमें इस प्रकार की छिटपुट घटनाएँ होना लाज़िमी था। क़दम पीछे हटाना और वह भी कम-से-कम नुक़सान उठाकर हमेशा ही कठिन होता है, और दी गयी स्थितियों में तो यह और भी कठिन था। लेकिन इसे सैन्य संगठन की स्वायत्ततावादी हरकत क़रार देना रैबिनोविच की ग़लती है।

जिस उपशीर्षक के मातहत सातवें अध्याय में रैबिनोविच बोल्शेविकों द्वारा प्रदर्शन को वापस लिये जाने और क़दम पीछे हटाने की बात कर रहे हैं, उसका नाम है 'पेत्रोग्राद बोल्शेविकों का आत्मसमर्पण'। यह उपशीर्षक कुछ दुरुस्त नहीं है। निश्चित तौर पर, शहर के जिन हिस्सों पर प्रदर्शनकारियों का क़ब्ज़ा था, या जिन इमारतों पर उनका प्रभाव या क़ब्ज़ा था, पार्टी ने उनका

समर्पण करने का निर्देश दे दिया था। सैनिकों को एक प्रक्रिया में उनकी गैरीसनों में वापस भेजा गया। लेकिन बोल्शेविक नेता जिसमें लेनिन, पोदवॉइस्की आदि शामिल थे, वक़्त रहते पलायन कर गये थे और भूमिगत हो गये थे। इस बात का ब्यौरा रैबिनोविच ख़ुद ही देते हैं। प्रमुख नेताओं में त्रात्स्की व ज़िनोवियेव गिरफ़्तार कर लिये गये थे। लेनिन के आत्मसमर्पण का अर्थ होता उनकी जान को प्रतिक्रान्तिकारियों के हाथों में सौंपना। प्रतिक्रान्तिकारियों के लिए पहला निशाना लेनिन ही थे। लेकिन किसी भी रूप में बोल्शेविकों ने क़दम पीछे हटाये थे, आत्मसमर्पण नहीं किया था। इस ग़लती के बावजूद रैबिनोविच ने प्रदर्शन वापस लिये जाने के बाद बोल्शेविक पार्टी के क्रिया-कलाप का जो जीवन्त चित्र पेश किया है वह पठनीय है। इसमें बोल्शेविक पार्टी का अनुशासन, अपने नेताओं और पार्टी के मस्तिष्क यानी केन्द्रीय कमेटी को बचाने के लिए इसके आम सदस्यों में क़ुर्बानी की भावना शानदार थी। ग़ौरतलब है, जब क्शेसिंस्काया महल पर प्रतिक्रान्तिकारी ताक़तें क़ब्ज़ा करने वाली थीं, उस समय सात बोल्शेविक जल्दी-जल्दी पार्टी की सभी फ़ाइलों को समेट रहे थे; प्रमुख नेताओं जैसे कि लेनिन व पोदवॉइस्की को पहले ही वहाँ से निकाल दिया गया था। बोल्शेविकों के काम करने के तौर-तरीक़ों के बारे में रैबिनोविच का ब्यौरा बहुमूल्य है।

रैबिनोविच बताते हैं कि प्रदर्शन को वापस लिये जाने के बाद प्रतिक्रिया का एक दौर चला जिसमें पेत्रोग्राद में बोल्शेविक पार्टी की लोकप्रियता कुछ समय के लिए घट गयी थी। पार्टी कार्यों का काफ़ी नुक़सान हुआ था जैसा कि प्रदर्शन के वापस लिये जाने के तत्काल बाद की बैठक में लेनिन ने पूर्वानुमान किया था। लेनिन के जर्मन एजेण्ट होने की अफवाह को पूँजीवादी मीडिया और सरकार ने खूब हवा दी और मोर्चों पर हो रही हार की ज़िम्मेदारी बोल्शेविकों व लेनिन के सिर डालने का प्रयास किया। लेकिन यह प्रतिक्रिया का माहौल ज़्यादा लम्बा नहीं चल सका और कुछ ही समय में बोल्शेविकों का सितारा फिर से बुलन्दी पर जाने लगा। रूस में भूख, ग़रीबी और युद्ध के कारण भयंकर असन्तोष का माहौल एक बार फिर व्यापक आबादी को अपने प्रभाव में लेने लगा। रैबिनोविच का यह मूल्यांकन भी बिल्कुल दुरुस्त है कि अपनी बेहद चुस्त-दुरुस्त पार्टी सांगठनिक मशीनरी के कारण दमन के दौर में भी बोल्शेविक पार्टी को ज़्यादा नुक़सान नहीं उठाना पड़ा। समूचे पार्टी ढाँचे को, इसके प्रमुख नेताओं को और इसके बुनियादी ज़रूरी सम्पर्कों को कुशलतापूर्वक बचा लिया गया। *प्राव्दा* व अन्य बोल्शेविक मुखपत्रों को दबाये जाने के कुछ ही दिनों के भीतर बदले हुए नामों के साथ नये बोल्शेविक मुखपत्र निकलने लगे। संक्षेप में कहें तो बोल्शेविकों ने अपना सामाजिक आधार और अपनी सांगठनिक मशीनरी को फिर से हासिल करने और रवां करने में ज़्यादा वक़्त नहीं गंवाया।

लेकिन रैबिनोविच पूरा श्रेय बोल्शेविकों को नहीं देते और एक बार फिर रूसी बुर्जुआ वर्ग को एक मौक़ा चूकने के लिए कोसते हुए प्रतीत होते हैं। रैबिनोविच दावा करते हैं कि आरज़ी सरकार का सरकारी मशीनरी और नौकरशाही पर कोई नियन्त्रण नहीं था। नतीजा यह हुआ कि आरज़ी सरकार के आदेश के बावजूद 3-5 जुलाई के बीच सर्वाधिक सक्रिय रही रेजीमेण्टों व गैरीसनों को निशस्त्र करने का कार्य भी ढंग से नहीं किया जा सका। बस इन रेजीमेण्टों को तोड़ दिया गया ताकि

उनके बीच की एकजुटता को तोड़ा जा सके और फिर उन्हें अलग-अलग हिस्सों में मोर्चे पर भेज दिया गया। लेकिन यह करने के अलावा आरज़ी सरकार और क्या कर सकती थी? ज़ाहिर है कि मोर्चे पर उसे सैनिकों की आवश्यकता थी। इसलिए वह सबसे विद्रोही तेवर रखने वाली रेजीमेण्टों को तोड़कर मोर्चे पर ही भेज सकती थी; सभी को निशस्त्र करने का अर्थ होता समूची रिज़र्व ताक़त को समाप्त करना। जिस स्थिति में उस समय आरज़ी सरकार थी, उसमें उसने वह सबकुछ किया जो वह कर सकती थी। यह सरकारी अधिकारियों की अकर्मण्यता का या फिर उनके आधे-अधूरे मन से किये गये प्रयासों का प्रश्न नहीं था। यदि इस तर्क को माना जाये तो इसका यह नतीजा निकलता है कि अगर आरज़ी सरकार ने प्रतिक्रिया के माहौल का पूरी कुशलता और समझदारी से फ़ायदा उठाया होता तो फिर से बोल्शेविकों के उभार को रोका जा सकता था। हालाँकि, रैबिनोविच सीधे यह बात कहीं नहीं कहते और अलग से वे एक स्थान पर स्वीकार भी करते हैं कि यह बदलती परिस्थिति और बोल्शेविकों की कुशलता थी, जिसे इसका श्रेय दिया जाना चाहिए। रैबिनोविच बताते हैं कि मज़दूर अपने हथियार छिपाने में कामयाब हुए और जिनसे हथियार ले लिये गये थे, उन्हें कोर्निलोव के तख़्तापलट के प्रयास के दौरान पेत्रोग्राद सोवियत ने ख़ुद ही फिर से हथियारबन्द कर दिया था। कुल मिलाकर, नतीजा यह था कि बोल्शेविक पार्टी बेहद कम नुक़सान उठाकर और प्रतिक्रिया के छोटे-से दौर के बाद फिर से बेहद लोकप्रिय हो गयी और क्रान्ति को नेतृत्व देने की स्थिति में आ गयी।

रैबिनोविच जुलाई की घटनाओं को लेकर छठी पार्टी कांग्रेस में हुई बहस का ब्यौरा देते हैं। 1905 की असफल क्रान्ति के समय सैन्य संगठन ने अतिरेकपूर्ण स्वायत्तता का प्रदर्शन किया था और इसके लिए उसकी आलोचना की गयी थी। छठी कांग्रेस में भी कुछ लोगों ने सैन्य संगठन पर अति-स्वायत्तता प्रदर्शित करने और केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों को शब्दश: न लागू करने और साथ ही सैनिकों में विद्रोह की भावना पर नियन्त्रण करने के लिए पर्याप्त क़दम न उठाने का आरोप लगाया। इनमें से त्रात्स्की और कामेनेव ने तो यहाँ तक प्रस्ताव रखा कि एक अलग सैन्य संगठन की ज़रूरत पार्टी को नहीं है। लेकिन कांग्रेस ने उनके इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया और स्पष्ट किया कि क्रान्ति की सैन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सैन्य संगठन का अस्तित्व अपरिहार्य है, लेकिन इसे केन्द्रीय कमेटी की कमान के मातहत रहना चाहिए। ऐसा नहीं था कि इसके पहले सैन्य संगठन केन्द्रीय कमेटी की कमान में नहीं था। जैसा कि हमने उपरोक्त ब्यौरे में देखा, सैन्य संगठन का नेतृत्व हमेशा केन्द्रीय कमेटी के निर्णयों को लागू करने के लिए संघर्ष और प्रयास करता रहता था। जुलाई के शुरुआती दिनों में यह काम ही बेहद मुश्किल था। स्थितियाँ विस्फोटक थीं और अराजकतावादी ताक़तें आग में घी डालने का काम कर रही थीं; ऐसी स्थितियों में सैन्य संगठन का नेतृत्व जो कर सकता था वह उसने किया था। साथ ही, यह भी ध्यान देने वाली बात है कि सैन्य संगठन के अधिकांश लोग सेना में थे और बहुत अलग क़िस्म की परिस्थितियों में रहते थे; इस बात को पार्टी भी समझती थी। ऐसे में, बोल्शेविक सैन्य संगठन ने बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों में काफ़ी अच्छा काम किया था। बाद में, स्वयं लेनिन ने कहा था कि सैन्य संगठन के लोगों से

अगर ग़लतियाँ भी हुई हों तो उनकी मदद की जानी चाहिए क्योंकि जो लोग पहलक़दमी लेना नहीं जानते, वे कभी जीतने की उम्मीद नहीं कर सकते हैं और जो पहलक़दमी लेते हैं, उनसे ग़लतियाँ हो सकती हैं। रैबिनोविच आगे लिखते हैं कि सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी के मुखपत्रों को केन्द्रीय कमेटी ने अपने मातहत ले लिया और यह तय हुआ कि ये मुखपत्र पूरी तरह से केन्द्रीय कमेटी के नियन्त्रण में रहेंगे। रैबिनोविच को यह लगता है कि यह पीटर्सबर्ग कमेटी व सैन्य संगठन की स्वायत्तता को दबाने के लिए उठाया गया क़दम है। वास्तव में, बोल्शेविक पार्टी के बुनियादी उसूलों के मद्देनज़र यह क़दम बिल्कुल सही था और इसे पहले ही उठा लिया जाना चाहिए था।

लेकिन रैबिनोविच इस घटनाक्रम को अपने 'विभाजित पार्टी' के सिद्धान्त के अनुसार व्याख्यायित करते हैं। अगर यह सिद्धान्त सही है तो सैन्य संगठन और पीटर्सबर्ग कमेटी को ये निर्णय स्वीकार नहीं करने चाहिए थे। लेकिन उन्होंने ये निर्णय स्वीकार किये। साथ ही, रैबिनोविच इस क़दम को केन्द्रीय कमेटी द्वारा क़दम पीछे हटाना मानते हैं कि केन्द्रीय कमेटी ने बाद में सैन्य संगठन को एक केन्द्रीय कमेटी सदस्य की निगरानी में *सोल्दात* का प्रकाशन जारी रखने की इजाज़त दी। ज़ाहिर है, सैन्य संगठन अपना अलग मुखपत्र सैनिकों के लिए निकाले इस पर केन्द्रीय कमेटी की आपत्ति नहीं थी। केन्द्रीय कमेटी का मूल तर्क यह था कि यह मुखपत्र केन्द्रीय कमेटी की कार्यदिशा के अनुरूप निकलना चाहिए। इस प्रकार की बहस केन्द्रीय कमेटी के भीतर और केन्द्रीय कमेटी और पीटर्सबर्ग कमेटी व सैन्य संगठन के बीच होना स्वाभाविक था। पीटर्सबर्ग कमेटी की यह माँग भी स्वाभाविक थी कि *प्राव्दा* को पीटर्सबर्ग में पीटर्सबर्ग कमेटी की प्रचारात्मक और उद्वेलनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहिए। इसीलिए लेनिन ने *प्राव्दा* के सम्पादक मण्डल में परामर्श की शक्ति के साथ पीटर्सबर्ग कमेटी के प्रतिनिधियों को जगह देने की हिमायत की। लेकिन निश्चित तौर पर, अलग-अलग कमेटियों के पूर्ण रूप से स्वायत्त मुखपत्र नहीं हो सकते और यह बात बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्व भी व्यवहार के ज़रिये ही समझ सकता था। इस पूरे प्रकरण को 'विभाजित पार्टी' की अपनी अवधारणा को पुष्ट करने के लिए रैबिनोविच इस्तेमाल करते हैं। लेकिन उनके ही अनुसार 'विभाजित पार्टी' से उनका अर्थ था कि पार्टी के भीतर तीन सत्ता केन्द्र यानी केन्द्रीय कमेटी, पीटर्सबर्ग कमेटी और बोल्शेविक सैन्य संगठन मौजूद थे जिनके अलग-अलग लक्ष्य और अलग-अलग हित थे। हमने रैबिनोविच की लगभग पूरी पुस्तक का सार इस आलोचना के ज़रिये यहाँ पेश किया है। सच्चाई यह है कि रैबिनोविच के ही इतिहास-लेखन से 'विभाजित पार्टी' की उनकी अवधारणा को पुष्ट नहीं किया जा सकता है। चूँकि पूरी पुस्तक कई तथ्यों की ग़लत प्रस्तुति और व्याख्या के बावजूद रैबिनोविच के मूल तर्क से अलग कुछ कह रही है, इसलिए रैबिनोविच एक अन्तिम अध्याय लिखने की आवश्यकता महसूस करते हैं : 'परिणाम : विभाजित पार्टी', मानो बाकी पुस्तक में वे कुछ और कहने का प्रयास कर रहे हों!

अन्तिम अध्याय में एक सच्चे उदार बुर्जुआ इतिहासकार के समान रैबिनोविच एक आदर्श शुरुआत करते हैं और कहते हैं कि सोवियत रूस में शुरू से ही पार्टी लेखन को पार्टी की राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार नियन्त्रित किया जाता था। हम देख सकते हैं कि इस बात

को रैबिनोविच ज़्यादातर 1956 के बाद के इतिहास-लेखन पर लागू कर रहे हैं क्योंकि उसके पहले के जो स्रोत रैबिनोविच उद्धृत करते हैं, उन्हें वे अनुमोदन के साथ और अपनी थीसीज़ को सिद्ध करने के लिए उद्धृत करते हैं।

रैबिनोविच इस बात से दुखी हैं कि सोवियत स्रोतों और इतिहास-लेखन में जो भी लेनिन की कार्यदिशा से विचलन करता है उसे दक्षिणपन्थी कहकर, जैसे कि कामेनेव को कहा गया, फिर वामपन्थी कहकर, जैसे कि सेमाश्को को कहा गया, ख़ारिज कर दिया जाता है। निश्चित तौर पर जब मार्क्सवादी-लेनिनवादी इतिहासकार इतिहास लिखेंगे तो अपने अप्रोच और पद्धति के अनुसार ही लिखेंगे; ठीक उसी प्रकार जैसे रैबिनोविच ने अपने दृष्टिकोण और पद्धति के अनुसार अपना इतिहास-लेखन किया है। **यह उम्मीद करना कि किसी इतिहास-लेखन में इतिहासकार के विचारधारात्मक और राजनीतिक पूर्वाग्रह नहीं होंगे, एक पूर्ण रूप में वस्तुपरक इतिहास की कोरी कल्पना है। यह 'वस्तु अपने आप में' और उस वस्तु के प्रेक्षण के बीच फ़र्क़ नहीं करता जिन पर हर-हमेशा किसी न किसी वर्गीय दृष्टिकोण की छाप होती है। इस प्रकार की सोच प्रत्यक्षवाद की ख़ासियत होती है, जिसकी स्पष्ट छाप रैबिनोविच के इतिहास-लेखन पर है।**

परिणाम के तौर पर रैबिनोविच अपने इस दावे को दुहराते हैं कि सोवियत इतिहास-लेखन में हमें पार्टी में जारी वास्तविक बहसों और मतभेदों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है। हमने ऊपर ही बताया है कि 1953 के पहले के सोवियत स्रोतों के बारे में और विशेष तौर पर 1930 के दशक के पूर्वार्द्ध तक के सोवियत स्रोतों के बारे में यह दावा सही नहीं ठहरता है। साथ ही, यह भी अजीब बात है कि रैबिनोविच प्रमुख बोल्शेविक नेताओं में से त्रात्स्की को छोड़कर किसी अन्य को उद्धृत नहीं करते हैं।

रैबिनोविच अप्रैल सम्मेलन (सातवें अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन) के बारे में कहते हैं कि कुछ सोवियत इतिहासकार अब (यानी 1961 के बाद, जबकि यह पुस्तक लिखी गयी थी) यह मानते हैं कि अप्रैल में लेनिन के आने के पहले पार्टी में मतभेद थे लेकिन लेनिन के आगमन के बाद सारे मतभेद समाप्त हो गये। इसके बारे में यह कहा जा सकता है कि कम-से-कम लेनिन और स्तालिन के लेखन से ऐसी तस्वीर क़तई नहीं मिलती। यहाँ तक कि 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में भी अप्रैल के बाद जारी मतभेदों की एक तस्वीर मिल जाती है। यह एक दीगर बात है कि यह तस्वीर कई बार सटीक नहीं भी हो सकती है। रैबिनोविच शिकायत करते हैं कि अप्रैल सम्मेलन में लेनिन ने जो कार्यदिशा पेश की वह काफ़ी ढीली-ढाली थी और जो प्रस्ताव उसके आधार पर स्वीकार किया गया उसे दक्षिणपन्थी कामेनेव अपनी तरह से व्याख्यायित कर सकते थे, और जल्दबाज़ वामपन्थी धड़ा अपनी तरह से व्याख्यायित कर सकता था। इसका कारण रैबिनोविच के अनुसार यह था कि लेनिन ने यह तो बताया था कि बुर्जुआ जनवादी चरण से क्रान्ति समाजवादी चरण में जा रही है लेकिन यह नहीं बताया था कि सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लिए आम बग़ावत कब की जानी है। पार्टी के एक सम्मेलन में पेश प्रस्ताव से यह उम्मीद करना कि वह आम बग़ावत का

समय और तिथि बताये क्या मूर्खतापूर्ण नहीं माना जायेगा? और इस आधार पर कि आम बग़ावत का समय नहीं बताया गया, यह कहना कि यह प्रस्ताव बहुत ढीला-ढाला था जिसके आधार पर दक्षिणपन्थी धड़े और वामपन्थी धड़े को अपनी-अपनी कार्यदिशा लागू करने का 'स्पेस' मिल जाता था, किस हद तक समझदारी की बात मानी जायेगी? स्पष्ट है, रैबिनोविच 'विभाजित पार्टी' के अपने तर्क को सही सिद्ध करने के लिए विरोधाभासों के गड्ढे में गिर जाते हैं।

नतीजे के तौर पर...

जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि रूसी क्रान्ति के इतिहास के सभी विद्यार्थियों को और विशेष तौर पर मार्कसवादियों-लेनिनवादियों को रैबिनोविच की यह पुस्तक और उनकी बाकी दो पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिए। कारण यह है कि ये पुस्तकें उस दौरान हो रहे घटनाक्रम के लगभग एक-एक दिन का ब्यौरा देती हैं। तथ्यों का चयन करने में कई बार रैबिनोविच चयनपूर्ण रवैया अपनाते हैं, कुछ सीमित मौक़ों पर वे ग़लत तथ्यों पर या तथ्यों की ग़लत प्रस्तुति पर भी निर्भर करते हैं। लेकिन इसके बावजूद अधिकांश जगहों पर रैबिनोविच सही तथ्यों को ही पेश करते हैं, भले ही उनकी व्याख्या वह ग़लत करते हों। इसलिए उनकी पुस्तक क्रान्ति के दौरान की, विशेष तौर पर पेत्रोग्राद की और उस दौरान बोल्शेविक पार्टी और उसके नेतृत्व द्वारा किये जा रहे हस्तक्षेपों की, एक जीवन्त तस्वीर पेश करती है। इस रूप में उनकी तीनों ही पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं। हमने यहाँ केवल पहली पुस्तक की आलोचनात्मक समीक्षा रखी है। पिछले अध्याय में हमने उनकी दूसरी पुस्तक की कुछ ख़ामियों की ओर भी इशारा किया है। लेकिन यहाँ तीनों पुस्तकों की आलोचनात्मक समीक्षा रखने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि रैबिनोविच अपनी बुनियादी थीम पर क़ायम रहते हैं। इन तीनों ही रचनाओं में वे 'विभाजित पार्टी' के अपने सिद्धान्त को वैध ठहराने का प्रयास करते हैं।

जैसा कि हमने इस आलोचना में देखा है, स्वयं रैबिनोविच का ही इतिहास-लेखन इस निर्णय को या इस मूल्यांकन को पुष्ट नहीं करता है। जब वे एक प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी इतिहासकार के रूप में तथ्यों को दर्ज और व्यवस्थित कर रहे होते हैं तो वहाँ वे चयनपूर्ण तरीक़े से तथ्यों का चयन करने के अलावा ज़्यादा फेर-बदल नहीं कर सकते हैं। यही कारण है कि उन्हें अपनी व्याख्याओं को अलग से जोड़ना पड़ता है। यानी कि ये व्याख्याएँ और ये नतीजे विचारधारात्मक होते हैं। यदि पाठक रैबिनोविच के इतिहास-लेखन की इन समस्याओं से वाक़िफ़ हो तो उनकी पुस्तक उपयोगी साबित हो सकती है।

(अगले अंक में जारी)

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन

(चौथी किस्त)

• **दीपायन बोस**

मार्च 1971 में सुशीतल राय चौधरी का निधन हुआ और उसी महीने चारु मजुमदार की लाइन के प्रबलतम समर्थकों में से एक, सौरेन बसु भी गिरफ़्तार हो गये। उनके दूसरे निकटतम व्यक्ति सरोज दत्त की हत्या पुलिस के हाथों कुछ माह बाद, 5 अगस्त 1971 को हुई। असीम चटर्जी 3 नवम्बर 1971 को गिरफ़्तार होने से पहले ही चारु की लाइन के विरुद्ध खड़े हो चुके थे, जिसकी चर्चा पहले आ चुकी है।

1971 का उत्तरार्द्ध आते-आते चारु मजुमदार के निकटतम माने जाने वाले चार लोगों में से अन्तिम व्यक्ति – सुनीति कुमार घोष के साथ भी उनके मतभेद उठ खड़े हुए, जो गहराते चले गये। इसकी चर्चा आगे यथास्थान की जायेगी। उसके पहले सौरेन बसु की बहुचर्चित चीन यात्रा और चीनी पार्टी के बिरादराना सुझावों की चर्चा ज़रूरी है, क्योंकि इन सुझावों में वास्तव में वाम दुस्साहसवादी लाइन की, सार रूप में, ऐसी आलोचना निहित थी जिसने एक-एक करके नेतृत्व के अन्य बचे हुए लोगों को भी चारु मजुमदार के विरुद्ध खड़ा कर देने में अहम भूमिका निभायी। लेकिन इसके पहले, नक्सलबाड़ी और भाकपा (माले) के प्रति चीन की पार्टी के रुख़ की

संक्षेप में चर्चा ज़रूरी है, क्योंकि किसी-न-किसी रूप में, काफ़ी हद तक चीन की पार्टी के पुरज़ोर समर्थन ने 1967-70 के बीच चारु मजुमदार के नेतृत्व और उनकी लाइन को मज़बूत बनाने में मदद पहुँचायी थी।

नक्सलबाड़ी, भाकपा (माले) और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने नक्सलबाड़ी विद्रोह का उत्साहपूर्ण समर्थन किया था। नक्सलबाड़ी के बाद शुरू हुई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता का भी चीनी प्रेस और रेडियो ने संशोधनवाद और नवसंशोधनवाद के साथ निर्णायक विच्छेद और एक नयी शुरुआत के रूप में गर्मजोशी भरा स्वागत किया। 28 जून 1967 को रेडियो पीकिङ ने पहली बार नक्सलबाड़ी संघर्ष का स्वागत किया और फिर 5 जुलाई को पार्टी मुखपत्र *'पीपुल्स डेली'* में *'भारत में बसन्त का वज्रनाद'* शीर्षक प्रसिद्ध लेख प्रकाशित हुआ। इसके बाद 1970 के शुरुआती महीनों तक चीनी मीडिया द्वारा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर के घटना-क्रम-विकास और देश के विभिन्न हिस्सों में हो रहे 'ऐक्शन्स' के बारे में प्रसारण और मुद्रण का सिलसिला जारी रहा। 1967 में जुलाई के बाद के किसी महीने में कानू सान्याल, खोकन मजुमदार और कुछ अन्य लोग सीमा पार करके चीन भी गये। वहाँ कुछ नेताओं से बातचीत के अतिरिक्त उनकी माओ से भी संक्षिप्त मुलाक़ात हुई जिसमें माओ ने बस इतना कहा कि यहाँ देखी-सीखी गयी बातों को यहीं भूलकर आप लोगों को अपने देश वापस लौटकर वहाँ की ठोस परिस्थितियों का ठोस अध्यन करना चाहिए और उसके हिसाब से संघर्ष को आगे बढ़ाना चाहिए। जब *'लिबरेशन'* का प्रकाशन शुरू हुआ तो उसके कई लेखों के अनुवाद भी चीनी प्रेस में छपे।

चीनी पार्टी के इस समर्थन से नक्सलबाड़ी के सन्देश को पूरे देश में पहुँचाने में और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को एकजुट करने की प्रक्रिया में निश्चय ही महत्वपूर्ण मदद मिली। लेकिन अगले चरण में इस समर्थन ने, 'अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' के भीतर क्रान्तिकारी जनदिशा और वामपन्थी दुस्साहसवाद के बीच जारी दो लाइनों के संघर्ष को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया। चीनी प्रकाशनों और प्रसारणों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का साहित्य (विशेषकर 'लिबरेशन') उन्हें नियमित प्राप्त होता था। तालमेल कमेटी के दौर में परिमल दासगुप्ता, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्ता जैसे कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा और कई छोटे ग्रुपों द्वारा चारु की लाइन पर उठाये गये सवालों और उनके अलग हो जाने की यदि सटीक और विस्तृत जानकारी चीनी पार्टी तक न भी पहुँची हो, लेकिन डी.वी. राव-नागी रेड्डी के नेतृत्व वाली *आन्ध्र प्रदेश तालमेल कमेटी* और *'दक्षिण देश ग्रुप'* के अलग होने की जानकारी उस तक न पहुँची हो, यह लगभग असम्भव है। इसके बाद भी पूरे मामले की विस्तृत पड़ताल करने के बजाय चीन की पार्टी चारु मजुमदार को नक्सलबाड़ी संघर्ष और भारतीय क्रान्ति के निर्विवाद नेता के रूप में प्रस्तुत करती रही, जबकि विशेषकर 1969 के प्रारम्भ से *'लिबरेशन'* में प्रकाशित चारु मजुमदार के लेखों-टिप्पणियों से (और अन्य लेखों से भी) वामपन्थी दुस्साहसवाद की लाइन एकदम खुलकर

सामने आने लगी थी। चीन की पार्टी से प्राप्त इस मान्यता ने चारु मजुमदार को अपनी लाइन आगे बढ़ाने में काफ़ी मदद पहुँचायी।

इस दौर में चीनी पार्टी के मीडिया का आचरण कई बार स्वयं माओ त्से-तुङ की शिक्षाओं के भी उलट नज़र आता है। मार्क्स से लेकर माओ तक, विश्व सर्वहारा के सभी महान शिक्षकों ने इस बात को बार-बार रेखांकित किया है कि प्रत्येक देश की कम्युनिस्ट पार्टी को अपने देश की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण करने के बाद अपनी लाइन और नीतियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं निर्धारित करनी चाहिए। कोमिण्टर्न के दौर के कुछ नकारात्मक अनुभवों के बाद चीन की पार्टी इस बात पर हमेशा से बहुत बल देती आयी थी। 1957 में लातिन अमेरिकी देशों की कुछ कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रतिनिधिमण्डल से बातचीत के दौरान माओ ने स्पष्ट कहा था : *"चीनी क्रान्ति का अनुभव, यानी देहाती आधार पर इलाक़े बनाने, गाँवों से शहरों को घेरने और अन्ततः शहरों को क़ब्ज़ा करने का रास्ता, आपके बहुतेरे देशों में पूरी तरह लागू नहीं हो सकता है, हालाँकि यह आपके लिए एक सन्दर्भ का काम कर सकता है। मैं आपको विनम्र सुझाव देता हूँ कि चीनी अनुभव को यान्त्रिक ढंग से 'ट्रांसप्लाण्ट' न करें। किसी बाहरी देश का अनुभव मात्र सन्दर्भ की तरह काम कर सकता है, और उसे एक जड़सूत्र के समान क़तई नहीं लिया जाना चाहिए। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सार्वभौमिक सच्चाई और आपके अपने देश की ठोस परिस्थितियाँ – इन दोनों को समेकित किया जाना चाहिए।"* (*'सम एक्सपीरियेन्सेज़ इन अवर पार्टीज़ हिस्ट्री'*, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 5, पृष्ठ. 326)। ग़ौरतलब है कि चीनी मीडिया में नक्सलबाड़ी और भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन पर छपने वाले लेखों का अप्रोच प्राय: माओ के उपरोक्त अप्रोच से अलग होता था। *'भारत में बसन्त का वज्रनाद'* लेख में ही इस बात पर बल दिया गया था कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता चीन जैसा ही होगा। 'सिन्हुआ समाचार एजेन्सी' ने 27 दिसम्बर 1967 को एक लेख छापा : *'भारतीय क्रान्ति अध्यक्ष माओ द्वारा प्रकाशित दीप्तिमान मार्ग पर अग्रसर है।'* थोड़े परिवर्तनों के साथ यही लेख *'भारतीय क्रान्ति में ऐतिहासिक मोड़बिन्दु'* नाम से कुछ और पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था। लेख के इन दोनों रूपों में 'अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' की पहली घोषणा और उसके द्वारा घोषित कार्यभारों का हवाला दिया गया था। लेकिन तालमेल कमेटी के चार कार्यभारों में से जिस एक को ग़ायब कर दिया गया था, वह था : *'मज़दूर वर्ग और अन्य उत्पीड़ित जनगण के जुझारू क्रान्तिकारी संघर्षों को विकसित करना...।'* यहाँ इस सम्भावना से इन्कार नहीं कि यह लोप जानबूझकर किया गया हो और यह कार्रवाई सुझावमूलक हो, क्योंकि चीनी टिप्पणीकार के दृष्टिकोण से यह कार्यभार 'चीनी रास्ते' की उनकी सोच के अनुकूल न हो। जो भी हो, यदि यह एक चूक भी थी तो गम्भीर थी और इसका पूरा लाभ वाम दुस्साहसवादी लाइन को ही मिलने वाला था। चीन की पार्टी लगातार इस आशय की बातें कर रही थी कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता चीनी क्रान्ति का रास्ता होगा और साथ ही वह चारु मजुमदार को ही भारतीय क्रान्ति का नेता बता रही थी। यही कारण था कि जब चारु ने *'चीन का रास्ता हमारा रास्ता'* का नारा दिया और फिर उसे आगे बढ़ाते हुए यहाँ तक कहा कि *'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन'*

तो तालमेल कमेटी के भीतर से कोई विरोध नहीं आया। जिनके द्वारा विरोध की सम्भावना हो सकती थी, उन्हें पहले ही किनारे लगाया जा चुका था। शेष लोगों की विचारधारात्मक समझ इतनी कमज़ोर थी कि चीन की पार्टी से प्राप्त मान्यता के बाद, कम-से-कम उस समय, उन्होंने इन नारों के औचित्य-अनौचित्य पर कुछ सोचने तक की ज़रूरत नहीं समझी।

जैसाकि इस निबन्ध में पहले उल्लेख आ चुका है, चारु मजुमदार के आठ दस्तावेज़ों में से शुरुआती छह में अतिवामपन्थी विचलन के सूत्र मौजूद थे, लेकिन नक्सलबाड़ी में क्रान्तिकारी जनदिशा पर अमल के बाद से लेकर 1969 के प्रारम्भ तक उन्होंने 'कॉम्बैट यूनिट्स' या वर्ग शत्रुओं के गुप्त सफ़ाये की कभी कोई चर्चा नहीं की। मई 1968 की अपनी दूसरी मीटिंग के बाद जारी अपनी घोषणा में तालमेल कमेटी ने स्पष्ट कहा था : *"यदि भारतीय जनता के शत्रुओं को उखाड़ फेंकना है, तो षड्यन्त्र के तौर-तरीक़ों को नहीं, बल्कि सिर्फ़ जनदिशा को अमल में लाना होगा।"* यह चर्चा भी आ चुकी है कि श्रीकाकुलम के गिरिजन संघर्ष के नेतृत्व से सम्पर्क होने, फ़रवरी 1969 में आन्ध्र की यात्रा करने और श्रीकाकुलम के साथियों को लेकर आन्ध्र राज्य तालमेल कमेटी बनाने के बाद चारु मजुमदार ने फिर अपनी लाइन को तेज़ी से और खुले तौर पर आगे बढ़ाया। श्रीकाकुलम में शुरुआती दौर में सफ़ाये की लाइन बड़े पैमाने पर सफलता से लागू हुई और अपनी लाइन में चारु का विश्वास और अधिक पुख़्ता हुआ। 'आठ दस्तावेज़ों' के 'कॉम्बैट यूनिट्स' का स्थान अब 'गुरिल्ला यूनिट्स' ने ले लिया। चारु मजुमदार ने *'छापामार कार्रवाइयों के बारे में कुछ बातें'* शीर्षक टिप्पणी में स्पष्ट किया कि छापामार इकाइयों का गठन षड्यन्त्रकारी तौर-तरीक़ों से होगा और वे जनसमुदाय से और पार्टी इकाइयों से भी गुप्त होंगी *'जिन्होंने ग़ैर-क़ानूनी कामों के लिए ज़रूरी तौर-तरीक़ों और अनुशासन में अभी महारत नहीं हासिल की है।'* कहने की ज़रूरत नहीं कि चारु मजुमदार की छापामार युद्ध की सोच माओ और चीन की पार्टी से एकदम अलग थी। चीन में छापामार युद्ध लोकयुद्ध की एक मंज़िल था जो व्यापक जनसमुदाय की सक्रिय सहायता से चलाया गया था और जिसने अपने से अधिक शक्तिशाली दुश्मन को भारी नुक़सान पहुँचाकर, उसकी कमज़ोर पकड़ और पहुँच वाले सुदूर देहाती क्षेत्रों में आधार इलाक़ों के निर्माण को अंजाम दिया। वर्ग-शक्ति-सन्तुलन में अधिक अनुकूल बदलाव होने के बाद लोकयुद्ध चलायमान युद्ध की उन्नततर अवस्था में और फिर अवस्थितियों के युद्ध ('पोज़ीशनल वारफ़ेयर') में प्रविष्ट हो गया।

चारु एक निश्चित सीमा तक जनता की लामबन्दी के बाद छापामार युद्ध की शुरुआत की जगह छापामार युद्ध को ही जनता को लामबन्द करने का एकमात्र रास्ता मानते थे और छापामार युद्ध का उनके लिए मतलब था, गुप्त दस्तों द्वारा वर्ग शत्रुओं का सफ़ाया। माओ ने दीर्घकालिक लोकयुद्ध के बारे में लिखते हुए यह स्पष्ट बताया था कि बुर्जुआ वर्ग के सफ़ाये (एनिहिलेशन) का मतलब यह नहीं है कि उसका शारीरिक तौर पर सफ़ाया कर दिया जायेगा, बल्कि इसका मतलब यह है कि एक वर्ग के रूप में उसका सफ़ाया कर दिया जायेगा। उन्होंने यह भी कहा था कि शत्रु को तबाह कर देने का मतलब है उसे निशस्त्र कर देना और प्रतिरोध करने की ताक़त से वंचित कर

देना (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड पाँच, पृ. 504, और सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड दो, पृ. 156)। माओ ने यह ज़रूर कहा था कि हर काउण्टी में किसानों और ग़रीबों पर बर्बर ज़ुल्म ढाने वाले कुछ भूस्वामी और प्रतिक्रियावादी होते हैं। शत्रुओं को दबाने के लिए इनमें से सर्वाधिक ज़ालिम कुछ लोगों को मृत्युदण्ड दिया जा सकता है, लेकिन अन्धाधुन्ध हत्या सख़्ती से वर्जित है, हत्याएँ जितनी कम हों उतना बेहतर (देखिए, *रिपोर्ट ऑन ऐन इनवेस्टिगेशन ऑफ़ द पीज़ेण्ट मूवमेण्ट इन हुनान,* सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड एक, और *एसेंशियल प्वाइण्ट्स इन द लैण्ड रिफ़ॉर्म इन दि न्यू लिबरेटेड एरिया,* सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड चार, पृ. 202)। चीन की पार्टी के पोलित ब्यूरो के एक महत्वपूर्ण सदस्य और भूमि सुधार के विशेषज्ञ जेन पी-शिह ने भी वर्ग शत्रुओं के दमन और हत्या के बारे में माओ के विचारों को ही अपने एक वक्तव्य में विस्तार दिया है और मज़े की बात यह है कि उनका यह भाषण 'लिबरेशन' के मार्च 1968 के अंक (1, अंक 5) में प्रकाशित भी हुआ था (जेन पी-शिह, *'इम्पॉर्टेण्ट क्वेश्चंस एराइज़िंग ड्यूरिंग द एग्रेरियन रिफ़ॉर्म इन चाइना',* 'स्पीच टु ऐन एनलार्ज्ड सेशन ऑफ़ दि नॉर्थ-वेस्ट पीपुल्स लिबरेशन आर्मी'ज़ फ़्रण्ट कमेटी, 12 जनवरी 1948, 'लिबरेशन', मार्च 1968, पृ. 34, 37, 38, 42, 43)।

उपरोक्त चर्चा हमने यहाँ चारु मजुमदार की लाइन के वाम दुस्साहसवादी चरित्र को स्पष्ट करने के लिए नहीं की है, यह तो निबन्ध में पहले ही किया जा चुका है। यहाँ यह चर्चा हम चीन की पार्टी के राजनीतिक व्यवहार में आये विचलन को समझने के लिए कर रहे हैं। माओ और चीनी पार्टी के लेखन में छापामार युद्ध की समझ पूरी तरह से क्रान्तिकारी जनदिशा पर आधारित है और वर्ग शत्रुओं की हत्या को संघर्ष का आम रूप बनाने के पक्ष में चीनी पार्टी क़तई नहीं थी। लेकिन उल्लेखनीय है कि जबसे (यानी 1969 के शुरू से) चारु मजुमदार ने अपनी वाम दुस्साहसवादी लाइन को एकदम खुलकर रखना और तेज़ी से आगे बढ़ाना शुरू किया था, उसी समय चीनी मीडिया दिन-रात चारु मजुमदार को उद्धृत कर रहा था और उन्हें भारतीय क्रान्ति के नेता के रूप में प्रस्तुत कर रहा था। सिर्फ़ एक उदाहरण यहाँ काफ़ी होगा। 'सिनहुआ समाचार एजेन्सी' ने 28 मार्च 1970 के अपने डिस्पैच में लिखा था : *"भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के नेता चारु मजुमदार ने निर्दिष्ट किया है कि 1969 में संघर्ष के अमल ने सिद्ध कर दिया है कि : ग़रीब और भूमिहीन किसानों पर भरोसा करो। उन्हें माओ त्से-तुङ विचारधारा में शिक्षित करो; सशस्त्र संघर्ष के रास्ते पर दृढ़ता से डटे रहो, छापामार बलों का निर्माण करो और वर्ग शत्रुओं के सफ़ाये के रास्ते पर आगे बढ़ो, केवल तभी संघर्ष का ऊँचा ज्वार अप्रतिरोध्य रूप से आगे बढ़ सकता है" ('सीपीआई (एमएल) लीड्स इण्डियन पीपुल ऑनवर्ड अलांग द पाथ ऑफ़ सीजिंग पावर बाइ आर्म्ड फ़ोर्स',* 'लिबरेशन' में पुनर्मुद्रित, III, अंक 6, अप्रैल 1970)। कहना न होगा कि इस तरह के महिमामण्डन और "प्रमाण पत्र" ने चारु मजुमदार की वर्ग शत्रुओं के सफ़ाये की लाइन को स्थापित होने में विशेष मदद पहुँचायी। स्मरणीय है कि यही वह समय था जब चारु मजुमदार अपनी और तालमेल कमेटी की पूर्ववर्ती अवस्थिति को पलटते हुए जन संगठनों और जनान्दोलनों का खुलकर विरोध करने लगे थे और उन्हें क्रान्तिकारी संघर्षों के रास्ते की बाधा तथा संशोधनवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा

देने वाला बताने लगे थे।

तालमेल कमेटी और फिर भाकपा (माले) विश्व परिस्थितियों का अपना आकलन भी आँख मूँदकर चीनी पार्टी के हिसाब से ही करती थीं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि 1969-70 के दौर में चीनी पार्टी के विश्व-परिस्थितियों के मूल्यांकन में, दो अतिमहाशक्तियों के बीच गहराती प्रतिस्पर्द्धा, तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना और साम्राज्यवाद के "अन्तिम ध्वंस" की सम्भावना के आधार पर, चन्द दशकों के भीतर विश्व सर्वहारा क्रान्ति की निर्णायक विजय की जो अतिआशावादी और अतिउत्साहवादी भविष्यवाणियाँ प्रस्तुत की जा रही थीं, उनका भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। *'कन्फ़ेशन इन ऐन इम्पास : ए कमेण्ट ऑन निक्सन्स' "इनॉगरल एड्रेस" एण्ड द कण्टेम्प्टिबल एप्लॉज़ बाय द सोवियत रिवीज़निस्ट रीनिगेड क्लिक',* 'पीकिङ रिव्यू', अंक 5, 1969 में प्रकाशित हुआ (चीनी भाषा के पार्टी मुखपत्रों में यह पहले प्रकाशित हो चुका था)। इस लेख के अन्त में यह आश्चर्यजनक रूप से बेतुकी भविष्यवाणी की गयी थी कि तीसरी सहस्राब्दी की शुरुआत यानी वर्ष 2001 सर्वहारा क्रान्ति और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा की विश्वव्यापी विजय के शानदार उत्सव का समय होगा। यह लेख 'लिबरेशन' के मई 1969 अंक में भी पुनर्मुद्रित हुआ और फिर माकपा (माले) के भीतर इसी स्पिरिट और भाषा में क्रान्ति के भविष्य के बारे में बातें होने लगीं। बंगला मुखपत्र 'घटना प्रवाह' (दूसरा वर्ष, प्रथम अंक) ने भी अपने सम्पादकीय में लिखा कि क्रान्तिकारी चीन ने भविष्यवाणी कर दी है कि 2001 तक पूरी दुनिया में उत्पीड़ित जन मुक्त हो जायेंगे। 1969 में कलकत्ता में हुई मई दिवस रैली को सम्बोधित करते हुए कानू सान्याल ने भी इसी बात को दुहराया। 'पीकिङ रिव्यू' के उपरोक्त लेख का अनुवाद बंगला मुखपत्र *'देशब्रती'* में 5 जून 1969 को प्रकाशित हुआ। इस आधार पर, एक तरह से अंकगणितीय गणना करते हुए और ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण की मार्क्सवादी पद्धति को धता बताते हुए चारु मजुमदार ने 1970 के दशक को भारतीय जनता की मुक्ति का दशक बनाने का आह्वान कर डाला ('लिबरेशन', III, अंक 4, फ़रवरी 1970 में प्रकाशित लेख)। मई 1970 में पार्टी कांग्रेस में प्रस्तुत 'राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट' पर बोलते हुए भी उन्होंने इस बात को बल देकर दुहराया। फिर कुछ समय बाद 1975 को भारतीय क्रान्ति का वर्ष घोषित करते हुए उन्होंने चीनी भविष्यवाणी पर आधारित अपनी भविष्यवाणी के बेतुकेपन को चरम तक पहुँचा दिया। 'लिबरेशन', सितम्बर-दिसम्बर 1970 में प्रकाशित अपने लेख *'मार्च ऑनवर्ड, डे ऑफ़ विक्ट्री इज़ नियर'* में उन्होंने लिखा : *"यदि यह डर (अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा चीन पर हमले का डर) सच भी हो जाये तो भी भारत 1975 तक मुक्त हो जायेगा ... चेयरमैन (माओ त्से-तुङ) ने भारत के 50 करोड़ लोगों के प्रचण्ड विस्फोट की सम्भावना जब देखी तभी उन्होंने घोषणा की कि मानव सभ्यता का इतिहास 2001 में एक नये युग में प्रवेश कर जायेगा।"* ज़ाहिर है यह एक अटकलबाज़ी से अधिक कुछ भी नहीं है और जो चीनी भविष्यवाणी इस अटकलबाज़ी का आधार है, वैसी कोई भी बात माओ त्से-तुङ की किसी भी टिप्पणी या वार्ता में कहीं पढ़ने को नहीं मिलती। बल्कि माओ की पहुँच इसके उलट

होने के ढेरों प्रमाण मिलते हैं। *'महान बहस'* के दस्तावेज़ *'ख्रुश्चेव का नक़ली कम्युनिज़्म और दुनिया के लिए इसके सबक़'* में माओ के इस कथन का हवाला मिलता है कि समाजवाद की निर्णायक विजय होने में एक-दो नहीं बल्कि पाँच-दस पीढ़ियों का या इससे भी अधिक समय लग सकता है। सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, और अपने निधन के ऐन पहले तक माओ ने कई बार इस बात पर बल दिया कि चीन में और पूरी दुनिया के पैमाने पर समाजवाद की अन्तिम विजय सुनिश्चित होने में अभी काफ़ी समय लगेगा और इस दौरान लम्बे समय तक पूँजीवादी पुनर्स्थापना की सम्भावना बनी रहेगी। इसलिए तय है कि चीनी पार्टी की उपरोक्त बेतुकी भविष्यवाणी को माओ की भविष्यवाणी नहीं माना जा सकता।

1975 के वर्ष को क्रान्ति का वर्ष बनाने के उतावलेपन का नतीजा यह हुआ कि पहले से ही अधकचरे, विचारधारात्मक रूप से अपरिपक्व पार्टी नेतृत्व और क़तारों के दिमाग़ से यह बात ओझल हो गयी कि जनवादी क्रान्ति का रास्ता लोकयुद्ध का रास्ता होता है, जो दीर्घकालिक होता है। लोकयुद्ध के दौरों, चढ़ावों-उतारों और सामरिक रणनीतियों के बारे में माओ की सारी शिक्षा को ताक पर रखकर ही 1975 को क्रान्ति का वर्ष बनाया जा सकता था। इसकी एक तार्किक निष्पत्ति यह थी कि सफ़ाया अभियान को तेज़ गति से पूरे देश में चलाया जाये, क्योंकि चारु के अनुसार, इसी के प्रभाव से जनता को उठ खड़ा होना था। इसकी जो दूसरी तार्किक निष्पत्ति थी, वह कलकत्ता में छात्रों-युवाओं के अतिवामपन्थी उभार के रूप में सामने आयी, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

यह सही है कि चारु मजुमदार की वाम दुस्साहसवादी लाइन के पीछे यदि पूरे नेतृत्व का बड़ा हिस्सा खड़ा हो गया तो इसके बुनियादी कारण आन्तरिक ही हो सकते हैं और इसीलिए हमने निबन्ध के शुरू में ही भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की विचारधारात्मक कमज़ोरी, उसके कारणों और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा की है। लेकिन यह भी सही है कि चारु मजुमदार के नेतृत्व को, दो लाइनों के संघर्ष में (जिस हद तक भी उनकी लाइन का विरोध पार्टी के भीतर से और बाहर से उस समय हुआ) उनकी लाइन को आगे बढ़ाने में तथा स्थापित करने में 1969-70 के दौरान, भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में चीन की पार्टी के मनोगत एवं अपर्याप्त तथ्यों पर आधारित मूल्यांकनों की, भारतीय परिस्थितियों की उसकी ग़लत समझ की और तत्कालीन विश्व परिस्थितियों के आकलन में हुई कतिपय गम्भीर चूकों की एक भूमिका थी। चीनी पार्टी ने व्यवहार में, उस दौरान अपनी ही एक धारणा का किसी हद तक उल्लंघन किया कि किसी बड़ी और अनुभवी पार्टी को भी अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व की भूमिका निभाते हुए किसी अन्य देश की पार्टी को क्रान्ति की आम दिशा बतलाने का काम नहीं करना चाहिए। हालाँकि चीन की पार्टी के अप्रोच में इस मामले में एक क्षीण विच्युति ही थी, मुख्य ग़लती भारतीय नेतृत्व की थी, जो चीनी पार्टी के हर मूल्यांकन को अपने लिए दिशा-निर्देश समझता था।

बहरहाल, भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के सन्दर्भ में चीन की पार्टी से आकलन-मूल्यांकन सम्बन्धी उपरोक्त ऐसी गड़बड़ियाँ कैसे हुईं जो स्वयं माओ द्वारा निर्दिष्ट पहुँच-पद्धति

के प्रतिकूल थीं, इसके बारे में निश्चयात्मक भाषा में कोई बात करना विशुद्ध अटकलबाज़ी होगी। ज़्यादा-से-ज़्यादा, कुछ अनुमान लगाये जा सकते हैं और कुछ सम्भावनाओं की बात की जा सकती है। 1966 से 1969 तक, यानी चीनी पार्टी की नवीं कांग्रेस तक, चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रथम चक्र चला, जो एक तूफ़ानी दौर था। इस दौरान, जैसा कि किसी भी पथान्वेषी क्रान्ति के साथ होता है, अतिरेक, असन्तुलन और ग़लतियाँ भी हुईं। माओ के नेतृत्व में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पक्ष ने पूँजीवादी पथगामियों को शिकस्त तो दी, पर पार्टी और राज्य के भीतर हुए ध्रुवीकरण में माओ के पक्ष में कई अधकचरे वाम अतिरेकपन्थी भी आ खड़े हुए थे। और ऐसी स्थिति का लाभ कुछ करियरवादी भी उठाने की ताक में रहते ही हैं। जैसाकि बाद में पता चला, लिन प्याओ स्वयं एक वाम अतिरेकपन्थी और करियरवादी था। नवीं कांग्रेस के पहले ही उसके विरुद्ध अन्दरूनी संघर्ष की शुरुआत हो चुकी थी और 1970 के पूर्वार्द्ध तक पार्टी में उसका प्रभाव काफ़ी हद तक कम हो चुका था। इन्हीं जटिल परिस्थितियों में चीन की पार्टी के ये विचलन सामने आये थे। ग़ौरतलब है कि लिन प्याओ के लेखों में भी एक सैन्यवादी विचलन की निरन्तरता दीखती है। आश्चर्य नहीं कि उसके लेखों से चारु मजुमदार बहुत प्रभावित रहते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि चीन की पार्टी के नेतृत्व ने 1970 के शुरुआती महीनों से, अन्दरूनी तूफ़ान कुछ शान्त होने और चीज़ों के किसी हद तक व्यवस्थित होने के बाद भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की स्थिति का, उसके दस्तावेज़ों का और मुखपत्रों में प्रकाशित लेखों का व्यवस्थित ढंग से मूल्यांकन किया। वामपन्थी दुस्साहसवादी लाइन इस समय तक अपने बचकाने, नग्न और प्रहसनात्मक रूप में पूरे निखार पर थी और उसके बारे में नतीजे पर पहुँचना बहुत कठिन नहीं था।

सौरेन बसु की चीन यात्रा और चीनी पार्टी के बिरादराना सुझाव

मई 1970 में हुई भाकपा (माले) की पार्टी कांग्रेस के कुछ पहले से ही चीनी मीडिया में भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में आने वाली रिपोर्टों की संख्या काफ़ी कम हो गयी थी। 1970 के मध्य से ऐसी रिपोर्टों और ख़बरों का प्रसारण एवं प्रकाशन पूरी तरह से बन्द हो गया। पार्टी कांग्रेस के दस्तावेज़ भी सम्पर्क के ज़रिये चीनी पार्टी तक भेजे गये, लेकिन सन्नाटा फिर भी बरक़रार रहा। और पूछताछ करने पर यह सुझाव मिला कि पार्टी को विचार-विमर्श के लिए अपना एक प्रतिनिधिमण्डल चीन भेजना चाहिए। इसके बाद पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने अपना एक प्रतिनिधिमण्डल चीन भेजने का फ़ैसला लिया। प्रतिनिधिमण्डल में सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष और सरोज दत्त को जाना था, लेकिन कुछ अपरिहार्य तकनीकी कारणों से सुनीति कुमार घोष और सरोज दत्त का जाना सम्भव न हो सका और अकेले सौरेन बसु 25 अगस्त 1970 को पेरिस, लन्दन और अल्बानिया की राजधानी तिराना होते हुए पेइचिंग के लिए रवाना हुए।

लन्दन में 27 अगस्त से 12 सितम्बर तक रुकने के दौरान उनकी मुलाक़ात ग्रेट ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के चेयरमैन रेज़बर्ग, वाइस-चेयरमैन बिल ऐश, पोलित ब्यूरो सदस्य रंजना

ऐश और न्यूज़ीलैण्ड की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के चेयरमैन टेलर से हुई। इन नेताओं ने चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति भाकपा (माले) की निष्ठा को प्रश्नांकित करते हुए कहा कि किसी एक पार्टी की दूसरी बिरादराना पार्टी के प्रति निष्ठा नीति के तौर पर उचित नहीं है। उन्होंने शहरों में की जा रही कार्रवाइयों और सफ़ाये की लाइन की भी आलोचना की और कहा कि शहरी क्षेत्र के 'ऐक्शन्स' में काफ़ी क्रान्तिकारी ऊर्जा ज़ाया हो रही है। उन्होंने *'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन'* नारे की भी कठोर आलोचना की और चारु के इस कथन के साथ भी असहमति ज़ाहिर की कि *'जिसके हाथ वर्ग शत्रु के ख़ून से न रँगे हों, वह कम्युनिस्ट कहलाने के क़ाबिल नहीं है।'* उनका कहना था कि दुनिया की किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता के मुँह से ऐसी चलताऊ टिप्पणी नहीं सुनी गयी है। ब्रिटेन और न्यूज़ीलैण्ड के इन पार्टी नेताओं का विचार था कि भाकपा (माले) के पास देहाती इलाक़ों में किसानों के संघर्षों के अनुरूप कोई भूमि-नीति (एग्रेरियन पॉलिसी) नहीं है और क्रान्तिकारी जनता की सशस्त्र शक्तियों को ठीक से संगठित किये बिना, देहाती इलाक़ों में जो भी उपलब्धियाँ हैं, उन्हें बचाये नहीं रखा जा सकता। उन्होंने चारु मजुमदार के कुछ लेखन की विशेष तौर पर आलोचना की, जिनमें उन्होंने कहा था कि भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन द्वारा अब तक संघर्ष के जो भी तरीक़े विकसित किये गये हैं, वे वर्तमान युग में पूरी तरह अनुपयोगी हो चुके हैं ('लिबरेशन', सितम्बर 1969, पृ. 8-9) उनका कहना था कि प्रत्येक देश में जनता के संघर्षों के ज़रिये कार्यशैली का विकास होता है और भारतीय जनता ने अब तक जो कार्यशैली विकसित की है, उसे मात्र इस आधार पर सिरे से ख़ारिज नहीं किया जा सकता कि संघर्षों का नेतृत्व ग़लत नेताओं के हाथों में था। उन्होंने चारु मजुमदार की इस प्रस्थापना के साथ भी असहमति ज़ाहिर की कि पार्टी के भीतर के हर भटकाव को 'संशोधनवाद' माना जाना चाहिए। उनका कहना था कि भटकाव को ग़लतियों के रूप में देखा जाना चाहिए और ग़लतियाँ नेतृत्व के साथियों सहित किसी से भी हो सकती हैं। ग़लतियों को बातचीत और जाँच-पड़ताल के ज़रिये ठीक किया जा सकता है। इन नेताओं ने इस बात की भी आलोचना की कि भाकपा (माले) की नीतियों और व्यवहार में जनान्दोलन और ट्रेड यूनियन गतिविधि पूरी तरह से अनुपस्थित हैं।

बातचीत के दौरान ब्रिटेन और न्यूज़ीलैण्ड के पार्टी नेताओं ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि लगभग यही चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के भी विचार हैं, लेकिन सौरेन बसु को इस बात पर पूरा विश्वास नहीं था। उनकी सारी शंकाओं का निवारण उस समय हो गया, जब पेइचिंग में उनकी बातचीत चाऊ एन-लाई और काङ शेङ से हुई। लन्दन से सौरेन बसु रोम और तिराना होते हुए पेइचिंग पहुँचे। तिराना में अल्बानियाई नेताओं से राजनीतिक मसलों पर उनकी कोई बात नहीं हुई और उन लोगों ने उनके पेइचिंग जाने का प्रबन्ध कर दिया। 24 सितम्बर '70 को वह पेइचिंग पहुँचे और एक माह बाद, 29 अक्टूबर '70 को उनकी चाऊ एन-लाई और काङ शेङ से मुलाक़ात और बातचीत हुई। बातचीत के बाद गेस्ट हाउस पहुँचकर सौरेन बसु ने मुख्य बिन्दुओं को कुछ पन्नों पर दर्ज कर लिया था (क्योंकि उन्हें पूरे नोट्स लेकर भारत वापस लौटने से मना किया गया था) और उसी आधार पर बाद में अपनी रिपोर्ट तैयार की। कुछ ही वर्षों बाद चीनी पार्टी के नेतृत्व

की ओर से पूरी वार्ता का कार्यवृत्त जारी कर दिया गया, जो न केवल सौरेन बसु की रिपोर्ट की पुष्टि करता था, बल्कि उसमें पूरी बातचीत का अधिक विस्तृत ब्यौरा मौजूद था।

ढाई घण्टे की इस बातचीत की शुरुआत में चाऊ एन-लाई ने भाकपा (माले) की स्थापना, उसकी उपलब्धियों और पहली कांग्रेस के लिए बधाई दी और इसे भारतीय जनता के साथ ही अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए भी एक विजय बताया। उन्होंने कहा कि चीनी जनता की पीठ पर क्रान्ति के पहले तीन पहाड़ लदे थे, जबकि भारतीय जनता की पीठ पर साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और दलाल पूँजीवाद के साथ ही एक चौथा पहाड़ – आधुनिक संशोधनवाद भी लदा हुआ है। सोवियत संघ में जिस सामाजिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ है, यह पुराने संशोधनवादियों से इस मायने में भिन्न है कि इसके पास राजनीतिक सत्ता और सशस्त्र बल है। इसके बाद उन्होंने भाकपा (माले) की शुरुआती सफलताओं के लिए बधाई देते हुए इसे दूसरे विश्वयुद्ध के बाद भारत में एक नयी विजय बताया।

इसके बाद चाऊ एन-लाई ने *'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन'* नारे की गम्भीर आलोचना प्रस्तुत की और कहा कि यह एक महत्वपूर्ण उसूली सवाल है। किसी एक पार्टी के चेयरमैन को दूसरी पार्टी का नेता मानना माओ त्से-तुङ विचारधारा के विपरीत है। उन्होंने स्पष्ट किया कि दो पार्टियों के बीच सम्बन्ध बिरादराना होते हैं और किसी एक पार्टी को अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का नेता नहीं माना जा सकता। उन्होंने बताया कि वर्तमान परिस्थितियों में चीनी पार्टी तीसरे इण्टरनेशनल जैसे किसी अन्तरराष्ट्रीय संगठन के निर्माण के विचार का विरोध करती है। इतिहास के उदाहरणों से उन्होंने बताया कि इससे किस प्रकार "बड़ा भाईवाद" ("बिग ब्रदरिज़्म") पैदा होता है, जिसे चीनी पार्टी सख़्ती से नापसन्द करती है। उनका यह भी कहना था कि किसी दूसरे देश की पार्टी के चेयरमैन को अपनी पार्टी का चेयरमैन बताना जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को भी आहत करता है।

एक सच्ची सर्वहारा पार्टी के निर्माण की आवश्यकता के बारे में बात करते हुए चाऊ एन-लाई ने वामपन्थी दुससाहसवाद की परोक्ष आलोचना यह कहकर की कि कोई भी ऐसी पार्टी अनिवार्यत: जनदिशा का अनुपालन करती है और जनता से निकट सम्पर्क बनाये रखती है। देहातों में काम के अपने अनुभवों को बताते हुए चाऊ एन-लाई ने वर्ग-शत्रुओं की हत्या को संघर्ष की आम लाइन बनाने का विरोध किया और कहा कि ज़रूरत पड़ने पर जन समुदाय की गहरी घृणा के पात्र कुछ सामन्तों और ज़ालिमों को मारा जा सकता है, लेकिन यह जन समुदाय की माँग के आधार पर किया जाना चाहिए और इसके पहले उन पर सार्वजनिक तौर पर मुक़दमा चलाया जाना चाहिए। जब जन समुदाय पूरी तरह से लामबन्द हो जाता है और हम क्रान्ति की उपलब्धियों की हिफ़ाज़त के लिए हथियारबन्द ताक़त का इस्तेमाल करने लगते हैं तथा ज़मीन और अनाज बाँटने भी लगते हैं, तब ऐसी स्थिति में पहुँचकर किसान आबादी आपस में ज़मीन और अनाज ख़ुद बाँटने का साहस जुटा पाती है। खुले तौर पर जन समुदाय को लामबन्द करने के लिए किसी भूमि नीति (एग्रेरियन पॉलिसी) का होना ज़रूरी है, जिसे फिर पार्टी व्यवहार के ज़रिये एक भूमि कार्यक्रम

(एग्रेरियन प्रोग्राम) के रूप में विकसित करती है।

अतिवामपन्थी भटकाव के अपने स्वयं के अनुभवों की चर्चा करते हुए चाऊ एन-लाई ने बताया कि पहली क्रान्ति की पराजय के बाद, चीन में भी "वामपन्थी" भटकाव की लाइन कुछ समय के लिए पैदा हुई थी। थोड़े से लोग हथियार लेकर गाँवों में जाते थे और कुछ भूस्वामियों को मार देते थे। ऐसी कार्रवाई के पहले जनता के बीच प्रचार और लामबन्दी जैसा कोई काम नहीं होता था। कार्रवाई के बाद लोगों से उठ खड़ा होने की अपेक्षा की जाती थी और उनमें ज़ब्त अनाज बाँटने जैसे काम किये जाते थे। लेकिन जल्दी ही आसपास के गाँवों-शहरों का सैन्यबल घटना-स्थल पर पहुँच जाता था, और फिर हथियारबन्द उन्नत तत्वों को या तो भागता पड़ जाता था या फिर उन्हें गिरफ़्तार कर लिया जाता था अथवा हत्या कर दी जाती थी। ऐसे "वामपन्थी" भटकाव के इलाक़ों में पार्टी को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा। इसलिए, गाँवों में सशस्त्र संघर्ष को नेतृत्व देते समय सबसे बुनियादी मुद्दा पार्टी की राजनीतिक लाइन, उसूलों और नीतियों का होता है और यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि हमने व्यापक जनसमुदाय को लामबन्द किया है अथवा नहीं, उन पर भरोसा किया है या नहीं। इसके बिना हम अपने पैर क़तई नहीं जमा सकते।

कहने की ज़रूरत नहीं कि अपने अनुभवों की चर्चा करते हुए चाऊ एन-लाई ने वर्ग शत्रु के सफ़ाये और सभी प्रकार के जनान्दोलनों के निषेध की भाकपा (माले) की लाइन की एक स्पष्ट और दोटूक आलोचना रख दी थी। शहरी 'ऐक्शन्स' के बारे में भी चाऊ एन-लाई ने 1927 के अपने अनुभवों का हवाला दिया, जब वह स्वयं शंघाई में ऐसी कार्रवाइयों के इंचार्ज थे। कुछ पुलिस अधिकारियों की हत्या और ग़ैरक़ानूनी पर्चों के वितरण जैसी कार्रवाइयाँ की गयीं, लेकिन अन्ततोगत्वा नतीजा यह निकला कि यह सब कुछ विशुद्ध दुस्साहसवाद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उन्होंने दोटूक शब्दों में कहा कि खुले ट्रेड यूनियन कार्यों और खुले जनान्दोलनों को "पुराना पड़ चुका" मानना और दस्ते बनाकर गुप्त तरीक़े से की जाने वाली हत्याओं को ("छापामार युद्ध" मानते हए) क्रान्ति को आगे बढ़ाने का एकमात्र रास्ता मानना ग़लत है और इस पर सोचने की ज़रूरत है। चारु मजुमदार के आत्मबलिदान के आह्वान पर परोक्ष टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि पहली बात, दुस्साहसवाद के लिए जान देना आत्म-बलिदान नहीं है, और दूसरी बात, आत्म-बलिदान के साथ-साथ यदि आत्म-परिरक्षण पर भी बराबर ध्यान न दिया जाये, तो इससे क्रान्ति को ही नुक़सान पहुँचता है। चाऊ एन-लाई ने इस बात पर बल दिया कि जनदिशा लागू करने के साथ ही पार्टी को आलोचना-आत्मालोचना के ज़रिये अपने शुद्धीकरण की प्रक्रिया लगातार चलानी चाहिए। नेतृत्व और क़तारों के बीच इस प्रक्रिया को यदि न चलाया जाये तो पार्टी का सही रास्ते से विचलन अवश्यम्भावी होता है।

चाऊ एन-लाई ने कहा कि शत्रु को परास्त करने के लिए पार्टी के बाद दूसरा प्रमुख अस्त्र सेना है, जनता की एक ऐसी संगठित सशस्त्र शक्ति, जो पार्टी के नेतृत्व में काम करती हो और सही नीतियों को लागू करती हो। क्रान्ति का तीसरा प्रमुख हथियार सभी क्रान्तिकारी वर्गों का संयुक्त मोर्चा है जिसका अगुवा सर्वहारा वर्ग हो तथा नेतृत्व पार्टी के हाथों में हो। चाऊ एन-लाई ने चारु

मजुमदार द्वारा प्रस्तुत इस स्थापना को भी ग़लत बताया कि विभिन्न संश्रयकारी वर्गों का संयुक्त मोर्चा तभी बन सकता है जब कुछ इलाक़ों में सत्ता पर क़ब्ज़ा हो जाये। उन्होंने बताया कि संयुक्त मोर्चे का निर्माण एक प्रक्रिया होता है। संघर्ष की विभिन्न मंज़िलों में, इसमें कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। संयुक्त मोर्चे में उन सभी को शामिल किया जाना चाहिए जिन्हें अपने पक्ष में किया जा सके, और जिन्हें अपने पक्ष में करना सम्भव न हो उन्हें निष्क्रिय या निष्पक्ष बना दिया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि बुर्जुआ वर्ग का ठीक से अध्ययन किया जाना चाहिए और साम्राज्यवाद से अन्तरविरोध रखने वाले राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के हिस्सों की सटीक शिनाख़्त की जानी चाहिए।

चारु एन-लाई के चले जाने के बाद काङ शेङ ने बातचीत के सिलसिले को आगे बढ़ाया। उन्होंने नक्सलबाड़ी संघर्ष की, उस संघर्ष के अन्य इलाक़ों में फैलाव की, क़तारों की बहादुरी की, भाकपा (माले) द्वारा साम्राज्यवाद और संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष की, तथा सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को दिये जाने वाले समर्थन और माओ विचारधारा के प्रति सम्मान की सराहना करते हुए कहा कि भाकपा (माले) और चीन की पार्टी बिरादर पार्टियाँ हैं, उनके रिश्ते बराबरी के हैं, इसलिए चीनी पार्टी के चेयरमैन को भारतीय पार्टी का चेयरमैन नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा कि चूँकि भाकपा (माले) एक नयी पार्टी है, इसलिए इसमें कुछ कमज़ोरियों और ग़लतियों का होना स्वाभाविक है। संयुक्त मोर्चे के बारे में चारु मजुमदार की ग़लत सोच को उन्होंने भी रेखांकित किया।

'लिबरेशन' में प्रकाशित चारु मजुमदार के लेख *'चाइना'ज़ चेयरमैन इज़ अवर चेयरमैन, चाइना'ज़ पाथ इज़ अवर पाथ'* को चीनी पार्टी के मुखपत्रों में प्रकाशित नहीं करने के पीछे के कारणों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि इस लेख में जो आपत्तिजनक है, वह इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है। चारु मजुमदार के दूसरे लेख *'मार्च ऑनवर्ड बाइ समिंग अप द एक्सपीरियेंस ऑफ़ द पीज़ेण्ट रिवोल्युशनरी स्ट्रगल ऑफ़ इण्डिया'* को प्रकाशित न करने का कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि इस लेख में जन संगठन, जनान्दोलन, ट्रेड यूनियन आदि के बारे में जो स्थापनाएँ दी गयी हैं, उन पर चीनी पार्टी को आपत्ति है। 'छापामार युद्ध ही जन समुदाय को लामबन्द करने का एकमात्र रास्ता है' - लिन प्याओ के इस उद्धरण को चारु ने अपनी लाइन के पक्ष में और जनकार्रवाइयों के निषेध के लिए एक तर्क के रूप में प्रस्तुत किया था। काङ शेङ ने स्पष्ट किया कि यह बात सामरिक सन्दर्भों में कही गयी है, युद्ध की उस मंज़िल के सन्दर्भ में, जब दो सेनाओं की शक्ति असमान हो। उन्होंने कहा कि 'वर्ग शत्रु के सफ़ाये' का मतलब यदि जन समुदाय से कटे हुए गुप्त दस्तों द्वारा हत्या की कार्रवाई है, तो यह ख़तरनाक है।

काङ शेङ ने कहा कि भाकपा (माले) की आम दिशा सही है, लेकिन कुछ नीतियाँ ग़लत हैं। चीनी पार्टी के पास भूमि क्रान्ति का एक कार्यक्रम था, जिसके आधार पर उसने सत्ता-दख़ल के लिए किसानों को लामबन्द किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय पार्टी भूमि संघर्ष और छापामार युद्ध के बीच के सम्बन्ध के सवाल को अभी तक हल नहीं कर पायी है। उन्होंने इंगित

किया कि यह सूत्रीकरण कि 'किसान ज़मीन के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक सत्ता के लिए लड़ रहे हैं' - ग़लत है, क्योंकि भूमि-क्रान्ति का सवाल और राजनीतिक सत्ता का सवाल एक-दूसरे के जुड़े हुए हैं और वे अलग नहीं किये जा सकते। जनान्दोलन और जनसंगठन छापामार युद्ध के लिए बाधा नहीं होते, बल्कि उनका न होना छापामार युद्ध के लिए बाधा होता है।

अन्त में काङ शेङ ने यह सुझाव दिया कि नीतिगत मामलों की इन सभी ग़लतियों को क़दम-ब-क़दम इस तरह ठीक किया जाना चाहिए कि पार्टी क़तारों और जन समुदाय के उत्साह को धक्का न लगे। हमें अपनी ग़लतियों को ठीक करने में अधैर्य से काम नहीं लेना चाहिए और बदलाव एक झटके से नहीं होना चाहिए।

इस बातचीत के बाद 31 अक्टूबर '70 को सौरेन बसु पेइचिंग से रवाना हुए और शंघाई, कैण्टन, ढाका, कराची, रोम होते हुए तिराना पहुँचे। तिराना और लन्दन में कुछ दिन रुकने के बाद वह 27 नवम्बर को कलकत्ता पहुँचे। सुनीति कुमार घोष (चारु मजुमदार के गुप्त शेल्टर के प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी उन्हीं की थी) सौरेन बसु को चारु मजुमदार के शेल्टर पर ले गये। सौरेन बसु ने संक्षेप में बताया कि चीनी नेताओं ने पार्टी लाइन की क्या आलोचना रखी है! सुनीति कुमार घोष के अनुसार, बातचीत के दौरान चारु को बेहोशी का दौरा पड़ गया। फिर उन्हें कुछ दवाएँ दी गयीं और बातचीत अगली शाम के लिए टाल दी गयी। सौरेन बसु ने जब अपनी लिखित रिपोर्ट चारु मजुमदार को दी, उस समय सुनीति कुमार घोष वहाँ नहीं थे। वह पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के हिसाब से, असीम चटर्जी से मिलने जा चुके थे।

सुनीति कुमार घोष के अनुसार, 1 या 2 दिसम्बर को वह चारु को एक शेल्टर का इन्तज़ाम करके पुरी ले गये। उस समय चारु अन्दर से इतने हिले हुए थे कि एक दिन रो भी पड़े। सुनीति कुमार घोष को विश्वास था कि चीनी पार्टी के सुझावों को चारु मजुमदार कम-से-कम पार्टी के कुछ नेतृत्वकारी कामरेडों के सामने विचार-विमर्श के लिए रखेंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं रखा। 7 दिसम्बर को जब सुनीति घोष कलकत्ता लौट रहे थे तो चारु ने उन्हें एक टिप्पणी थमायी जिसमें पश्चिम बंगाल में जन मुक्ति सेना के गठन की घोषणा की गयी थी। टिप्पणी में लिखा गया था कि मागुरजान में राइफल छीनने की घटना ने स्पष्ट कर दिया है कि पश्चिम बंगाल के किसानों की जन-मुक्ति सेना का उदय हो गया है, अब से ग़रीब और भूमिहीन किसानों के सभी छापामार दस्ते पार्टी के नेतृत्व वाली जन मुक्ति सेना के 'कण्टिन्जेण्ट्स' होंगे और कमाण्डरों का चुनाव करने में ग़रीब और भूमिहीन किसानों को प्राथमिकता दी जायेगी। शायद दुनिया में पहली बार इस प्रकार जन मुक्ति सेना का गठन हो रहा था। उल्लेखनीय है कि इस घोषणा के पहले चारु मजूमदार ने नेतृत्व के किसी भी साथी से बातचीत तक नहीं की थी। 'लिबरेशन' में इस नोट के प्रकाशन के बाद इस पर सुशीतल राय चौधुरी ने भी सवाल उठाया था, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। चारु मजुमदार के बाद के निर्णयों और गतिविधियों से यह साफ़ हो गया कि चीनी सुझावों के सबके सामने आने के पहले वे अपनी लाइन को ठोस परिस्थितियों के हवाले से धीरे-धीरे बदल कर उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा चीनी सुझावों के निकट ला देना चाह रहे थे ताकि चीनी पार्टी की आलोचनाओं

से न क़तारों को अधिक झटका लगे, न ही उनके सम्मान को अधिक आँच आये। इसकी चर्चा आगे आयेगी।

सुनीति घोष के कलकत्ता लौटने के बाद सरोज दत्त ने 8 दिसम्बर '70 की सुबह उनसे कहा कि चीनी नेता हमारी पार्टी लाइन के प्रति आलोचनात्मक रुख़ रखते हैं, यह किसी को बताना नहीं है। इसके बाद सरोज दत्त पुरी गये और उनके लौटने के बाद सौरेन बसु गये जो दिसम्बर के अन्त में चारु को कलकत्ता वापस लिवा लाये। सुनीति घोष के इम्प्रेशन के अनुसार, कलकत्ता में चारु को फिर उन्होंने उनके पुराने आत्मविश्वास के साथ पाया। सरोज दत्त और सौरेन बसु जैसे अपने और अपनी अतिवामपन्थी लाइन के उत्कट समर्थकों से बातचीत और कार्य योजना तय होने के बाद चारु अब द्वन्द्व-मुक्त हो गये थे और उनका खोया आत्मविश्वास वापस आ गया था।

इस तरह, जिस बात की सुनीति घोष को भी क़तई उम्मीद नहीं थी, चीनी पार्टी नेतृत्व के आलोचनात्मक सुझावों को चारु मजुमदार ने पार्टी के नेतृत्वकारी कामरेडों के सामने भी नहीं रखा और उसे एकदम से दबा दिया गया। यह चारु मजुमदार के राजनीतिक अवसरवाद के, एक मुक़ाम पर पहुँचकर, व्यक्तिगत अवसरवाद में परिणत हो जाने का सूचक था। इस मुक़ाम पर पहुँचकर 'स्व' का सवाल और आत्मप्रतिष्ठा का सवाल उनके लिए क्रान्ति और पार्टी के हित के ऊपर हो गया था।

निस्सन्देह, यदि चीनी सुझावों को तत्काल पार्टी नेतृत्व के सामने और फिर पूरी पार्टी के भीतर बहस के लिए खुला कर दिया जाता तो वाम दुस्साहसवादी भटकाव के चलते आगे के दौरों में भी, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को जो नुक़सान उठाने पड़े, उनसे काफ़ी हद तक बचा जा सकता था। फिर यदि जनदिशा की धारा मज़बूत होती, तो संशोधनवादी राजनीति को भी ज़्यादा सांघातिक चोट पहुँचायी जा सकती थी। पर चारु मजुमदार की एक अक्षम्य ऐतिहासिक ग़लती ने ऐसा नहीं होने दिया।

इस पूरे प्रसंग में सबसे दिलचस्प, और सवालों के घेरे में आने वाली भूमिका तो सौरेन बसु की थी। सौरेन बसु और सरोज दत्त ही वे दो व्यक्ति थे, जो इस बात की जीतोड़ कोशिश कांग्रेस के समय से ही करते आ रहे थे कि चारु को भारतीय पार्टी में 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' का दर्जा दे दिया जाये, जैसा चीनी पार्टी में माओ का था। इस बात की पीछे कुछ चर्चा आ चुकी है और आगे भी कुछ आयेगी। चीन में बातचीत के दौरान, जैसा कि सौरेन बसु ने स्वीकार किया था कि उनका सारा विश्वास जड़मूल से हिल गया था। भारत लौटकर एक ओर तो वह पूरी मुस्तैदी के साथ अपने को चारु मजुमदार के साथ खड़ा दिखा रहे थे और उन्हें यह मशविरा दे रहे थे कि चीनी सुझावों को अभी पार्टी में खुला करने की ज़रूरत नहीं है, दूसरी ओर वह ख़ुद ही इन सुझावों के बारे में पार्टी में यहाँ-वहाँ थोड़े-बहुत इशारे छोड़ते जा रहे थे।

असीम चटर्जी ने स्वयं बाद में लिखा था कि सौरेन बसु से चीनी सुझावों के बारे में जो थोड़ी-सी जानकारी मिली थी, उसने चारु मजुमदार की लाइन के विरुद्ध उनके विद्रोह में निर्णायक भूमिका निभायी थी। मार्च 1971 में गिरफ़्तारी के बाद सौरेन बसु ने जेल में मौजूद नेतृत्व के साथियों को

चीनी सुझावों के बारे में तफ़सील से बताया और उन सुझावों को पूरी पार्टी के समक्ष रखकर उनके अनुरूप पार्टी लाइन में बदलाव करने की अपील करते हुए चारु को पत्र लिखने वाले आठ लोगों में भी शामिल हुए। यह चर्चा निबन्ध में आगे आयेगी।

अब यदि हम पश्चदृष्टि से देखते हुए चीनी पार्टी की आलोचना और सुझावों का मूल्यांकन करें, तो कुछ बातें ग़ौरतलब हैं। पहली बात तो वाम दुस्साहसवादी कार्यदिशा की यह आलोचना लगभग पूरी तरह सही, सटीक और सभी पक्षों को समेटने वाली थी। लेकिन उस दौर के सभी दस्तावेज़ों और इतिहास को देखने के बाद, चीनी पार्टी नेतृत्व का यह आकलन सही नहीं प्रतीत होता कि भाकपा (माले) की आम दिशा सही थी और केवल कुछ नीतियाँ ग़लत थीं। तथ्य तो यह बताते हैं कि पार्टी कांग्रेस के पहले ही, पार्टी में जनदिशा की बात करने वाली हर मुखर आवाज़ को किनारे किया जा चुका था और कांग्रेस की कार्यवाही तक से यही पता चलता है कि बचे-खुचे ढुलमुल और नरमपन्थी व्यक्तियों को 'मैनेज' करके पार्टी पर पूरी तरह वाम दुस्साहसवादी लाइन हावी हो चुकी थी। 1969 से ही तालमेल कमेटी और पार्टी अतिवामपन्थी लाइन को ही लागू कर रही थी। यह मार्क्सवाद से एक सुसंगत विचलन था और विचारधारात्मक-राजनीतिक लाइन का सवाल था, न कि सिर्फ़ नीतियों का सवाल था। चीनी पार्टी नेतृत्व ने इन ग़लतियों को क्रमशः, क़दम-ब-क़दम ठीक करने का सुझाव दिया, ताकि जनता और क़तारों में निराशा न फैले। इतिहास बताता है कि विचारधारात्मक ग़लतियाँ इंच-इंच करके क्रमिक प्रक्रिया में ठीक नहीं होतीं, बल्कि विचारधारात्मक रूप से ग़लत लाइन के विरुद्ध तत्क्षण संघर्ष छेड़कर, उस पर 'फ्रण्टल अटैक' करके, एक झटके के साथ ही उसे परास्त या नेस्तनाबूद किया जा सकता है। विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष में हमें लेनिन का यही अप्रोच देखने को मिलता है। ख़्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध एक बार संघर्ष खुला करने के बाद चीनी पार्टी ने 'महान बहस' के दौरान शानदार भूमिका निभायी थी, लेकिन यह भी सच है कि इस काम में उसने सात वर्षों की देरी की। इस दौरान द्विपक्षीय स्तर पर सोवियत पार्टी को समझाने का काम चलता रहा और ग़लत लाइन के साथ समझौते भी किये जाते रहे। चीनी पार्टी के भीतर के पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध संघर्ष में भी कई बार यह अप्रोच दीखता है। स्थानाभाव के कारण हम इसकी तफ़सील से चर्चा नहीं कर सकते, लेकिन हमारा यह आकलन है कि चीन की पार्टी कई बार सांगठनिक हित और एकता को कमान में रखकर विचारधारात्मक और उसूली संघर्षों को भी क़दम-ब-क़दम करके लड़ने का या खुले संघर्ष में देरी करने का रुख़ अपनाती थी, जो ग़लत है। उपरोक्त सुझाव में भी इस बात की झलक दिखायी देती है।

तीसरी बात, अपने सुझावों में हालाँकि चीन की पार्टी बिरादराना थी और पार्टी लाइन विषयक निर्देश देने का उसका रवैया बिल्कुल नहीं था, लेकिन उसके कुछ मूल्यांकनों का वस्तुगत तौर पर ग़लत प्रभाव पड़ना ही था। चाऊ एन-लाई और काङ शेङ यह मानकर चल रहे थे कि भारत में चीन जैसी ही नवजनवादी क्रान्ति होनी है। सही परामर्श तो इस सम्बन्ध में यह होता कि वे भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को जनदिशा पर काम करने के साथ-साथ भारतीय समाज के

उत्पादन-सम्बन्धों, वर्गीय संरचना और अधिरचना का स्वतन्त्र रूप से ठोस अध्ययन करके क्रान्ति की मंज़िल, प्रकृति और रणनीतिक वर्ग-संश्रय के बारे में नतीजे निकालने की राय देते, जैसा कि तालमेल कमेटी ने तय भी किया था। हालाँकि माओ इस बात पर विशेष बल देते थे कि हर देश के कम्युनिस्टों को अपने देश की विशिष्टताओं का अध्ययन करके क्रान्ति के स्वरूप और रास्ते के बारे में स्वयं तय करना होता है, लेकिन विशेषकर 1960 के दशक में चीन की पार्टी अक़सर इस प्रकार के अतिसामान्यीकरण का शिकार दीखती है कि एशिया-अफ़्रीका-लातिन अमेरिका के अधिकांश देशों की क्रान्ति का रास्ता चीनी क्रान्ति का ही रास्ता होगा। दुनिया-भर में 1960 और 1970 के दशक में गठित अधकचरी, अपरिपक्व माले पार्टियों ने इस बात को खींचकर वहाँ पहुँचा दिया कि क्रान्ति की मंज़िल और कार्यक्रम के सवाल को भी विचारधारा का अंग बना दिया और ऐसे हास्यास्पद सूत्रीकरण देने लगे कि जो कथित तीसरी दुनिया के देशों में नव-जनवादी क्रान्ति को नहीं मानता, वह माओ विचारधारा/माओवाद को ही नहीं मानता। बहरहाल, मूल विषय पर लौटने के लिए इस प्रसंग को भी हमें समेटकर यहीं छोड़ना होगा।

(अगले अंक में जारी)

विज्ञान और मार्क्सवादी दर्शन के सम्बन्धों का एक अवैज्ञानिक और अज्ञानतापूर्ण पाठ : एक आलोचना

• सनी सिंह

1. परिचय

''अज्ञानता कोई तर्क नहीं होता है।''

(Ignorance is no argument)

- स्पिनोज़ा

'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' पत्रिका के पहले अंक में प्रकाशित दीपक बख्शी का लेख 'मार्क्सवादी दर्शन तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्याएँ' प्रथम-दृष्टया गम्भीर विषयवस्तु पर विमर्श का प्रयास लगता है। बख्शी मार्क्सवाद के अपूर्ण व पुराने पड़ चुके सिद्धान्तों के 'निषेध' के ज़रिये क्रान्तिकारी आन्दोलन के ठहराव को तोड़ने की ज़रूरत महसूस करते हैं। मार्क्सवाद, उनके मतानुसार, आज गम्भीर संकट से गुज़र रहा है। क्रान्तिकारी आन्दोलन के ठहराव को तोड़ने की ज़रूरत को समझना और उसे पूरा करना बेहद गम्भीर व गहन शोध कार्य की माँग करता है। प्रतीतिगत और सारभूत यथार्थ में अन्तर होता है। यह बात इस लेख को पढ़कर दिमाग़ में बार-बार उठती है क्योंकि हम पाते हैं कि दीपक बख्शी का प्रयास बेहद अगम्भीर, जल्दबाज़ीभरा और हल्का है। उनके लेख में

वैज्ञानिक निषेध की जगह *प्रतिस्थापन* है, *द्वन्द्व* की जगह *यान्त्रिकता* है।

'मार्क्सवाद में संकट' के निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए दीपक बख्शी मार्क्सवाद का यान्त्रिक गणितीय सूत्र सरीखे नियम से प्रतिस्थापन कर देते हैं। मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त के सम्बन्ध को वे एक गणितीय श्रृंखला के रूप में सूत्रबद्ध करते हैं। यह श्रृंखला इस प्रकार है : ***प्राकृतिक विज्ञान - मार्क्सवादी दर्शन - मार्क्सवादी सिद्धान्त।*** इस श्रृंखला में आने वाले तमाम तत्व प्राथमिकता के क्रम के अनुसार बाएँ से दाएँ रखे गये हैं। यानी, किसी भी कम्युनिस्ट को क्रान्तिकारी आन्दोलन के ठहराव को तोड़ने के लिए पहले प्राकृतिक विज्ञान के विकास का अध्ययन करना होगा, तत्पश्चात प्राकृतिक विज्ञान के विकास को मार्क्सवादी दर्शन में व्याख्यायित करना होगा जिससे मार्क्सवादी दर्शन विकसित होगा, और तत्पश्चात इस विकसित मार्क्सवादी दर्शन की रोशनी में मार्क्सवादी सिद्धान्त विकसित हो सकते हैं।

यह मार्क्सवादी दर्शन में नवीनतम 'नकारात्मक योगदान' है! हमें यह नकारात्मक शिक्षा मिलती है कि इस 'नवीनतम' तरीक़े से ग़लती करने से बचा जाना चाहिए! दीपक बख्शी के विचार जगत में इस यान्त्रिक श्रृंखला के क्रम को जरा भी भंग नहीं किया जा सकता है। मौजूदा दौर में इस श्रृंखला का पालन न होने, यानी प्राकृतिक विज्ञान में बदलाव का अध्ययन न होने व मार्क्सवादी दर्शन के द्वारा इसकी विवचना न हाने के कारण, क्रान्तिकारी आन्दोलन में ठहराव आ गया है। पिछली शताब्दी में मार्क्सवादियों ने तथा मार्क्सवादी नेताओं माओ और स्तालिन ने प्राकृतिक विज्ञान में विकास का अध्ययन नहीं किया और न ही मार्क्सवाद पर हाइज़ेनबर्ग द्वारा किये 'सबसे गम्भीर हमले'(!) का जवाब दिया! यह 'सबसे गम्भीर हमला' क्वाण्टम भौतिकी का अनिश्चितता का नियम व उसकी नवकाण्टीय विवेचना व विस्तार है। नतीजतन, बख्शी के श्रृंखला नियम के अनुसार, माओ और स्तालिन द्वारा रचित दार्शनिक कृतियों में पेश की गयी द्वन्द्ववाद के नियमों की समझदारी ग़लत सिद्ध हुई और मार्क्सवादी सिद्धान्त में संकट उत्पन्न हुआ है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में संकट से दीपक बख्शी का तात्पर्य पार्टी और जनवादी केन्द्रीयता के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों से है।

साथ ही, श्री बख्शी रूसी क्रान्ति और चीनी क्रान्ति के बाद स्थापित हुईं समाजवादी व्यवस्थाओं पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं और इन्हें महज़ 'समाजवाद का प्रयास' घोषित करते हैं। रसायनशास्त्री जब प्रयोगशाला में आसवन की प्रक्रिया से अर्क निकालते हैं तो इस प्रक्रिया के प्रतिफल के तौर पर अवशेष (caput mortuum, या डेड हैड) बचता है जो कि लिसलिसा और तमाम तत्वों के यौगिक की जगह एक मिश्रण होता है। दीपक बख्शी का यान्त्रिक श्रृंखला नियम मार्क्सवादी वैचारिक संघर्षों के आसवन का अवशेष ('केपुट मॉर्चुअम') है जिसमें तमाम तत्वों का अधिभूतवादी मिश्रण है। परन्तु इस *केपुट मॉर्चुअम* पर मार्क्सवादी शब्दावली के इत्र का छिड़काव किया गया है ताकि बख्शी इसे मार्क्सवादी विमर्श के दायरे में रख सकें।

बख्शी अपनी यान्त्रिक श्रृंखला में प्राकृतिक विज्ञान के विषय आधुनिक भौतिकी को प्रमुख स्थान देते हैं। हाइज़ेनबर्ग का अनिश्चितता का नियम मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी के विकास की इस

यान्त्रिक श्रृंखला में सबसे कमज़ोर कड़ी साबित होता है, क्योंकि मार्क्सवादी नज़रिये से इसे व्याख्यायित नहीं किया गया। जब तक दीपक बख्शी ने इस अनिश्चितता के हमले को निष्फल नहीं किया था तब तक यह कम्युनिस्ट आन्दोलन को डरा रहा था! भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को 'अनिश्चितता' नामक प्रेत परेशान कर रहा था। सवाल कठमुल्लावाद या संशोधनवाद का नहीं है जो नवजनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क या संसदीय विभ्रमों से नहीं निकलने दे रहा है वरन आधुनिक भौतिकी की समस्याओं का है! 1925 के बाद से भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में दक्षिणपन्थ से वामपन्थ के बीच विचारधारात्मक दोलन वैचारिक कमज़ोरी के चलते नहीं बल्कि 'ग्रैविटेशनल वेव्स' के कारण हो रहा है! दिसम्बर 2017 में वैज्ञानिकों को पदार्थ के नये रूप 'एक्साइटोनियम' के बारे में पता चला है, तो दीपक बख्शी की तर्कपद्धति के अनुसार तत्काल ही इसका अध्ययन और इसकी मार्क्सवादी दार्शनिक समझ विकसित करना कम्युनिस्टों के सैद्धान्तिक कार्यक्रम में *प्राथमिक* होना चाहिए! इसमें कोई दो राय नहीं है कि विज्ञान के नये सीमान्तों के उद्घाटन के साथ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी इन खोजों के अध्ययन और व्याख्या के ज़रिये विकसित होता है। लेकिन यह कहना कि मार्क्सवादी दर्शन (और आम तौर पर दर्शन) हमेशा प्राकृतिक विज्ञान के पीछे-पीछे चलता है, न तो तार्किक रूप से सही दावा है और न ही आनुभविक और ऐतिहासिक तौर पर। इतिहास में अगणित बार ऐसा हुआ है कि उन सिद्धान्तों की खोज दार्शनिकों ने अपने वैज्ञानिक नज़रिये और आगमनात्मक तार्किक नज़रिये से पहले कर दी, जिन्हें बाद में प्राकृतिक विज्ञान ने आनुभविक तौर पर सिद्ध किया।

श्री दीपक बख्शी के दावे का दूसरा हिस्सा भी उतना ही अज्ञानतापूर्ण है जो कहता है कि बीसवीं सदी में प्राकृतिक विज्ञान की नयी खोजों व सिद्धान्तों का मार्क्सवाद ने व्याख्या व विश्लेषण नहीं पेश किया, जिसके कारण आज वह सैद्धान्तिक संकट का शिकार है। ऐसा नहीं है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन की ओर से आधुनिक भौतिकी की समस्याओं का अध्ययन नहीं हुआ है। बस दिक़्क़त यह है कि दीपक बख्शी इससे वाक़िफ़ नहीं हैं। उनका अध्ययन बेहद सीमित है। हाइज़ेनबर्ग के अनिश्चितता के नियम व दार्शनिक निहितार्थों के मार्क्सवादी विश्लेषण से अपरिचित दीपक बख्शी इसे पढ़कर सैद्धान्तिक संकट के भय से सिहर जाते हैं। उन्हें यह इलहाम होता है कि इस नियम व इसकी दार्शनिक विवेचना के अभाव के कारण ही मार्क्सवाद सैद्धान्तिक संकट में है। श्री बख्शी इस बात से वाक़िफ़ नहीं हैं कि इन सभी प्रश्नों पर मार्क्सवाद ने बीसवीं सदी में ही विचार किया है और इस पर हुई जीवन्त बहसों ने मार्क्सवादी दर्शन व सिद्धान्त को विकसित भी किया है। हाइज़नबर्ग के अनिश्चितता के सिद्धान्त और इसके नवकाण्टवादी विमर्श में ऐसा कुछ नहीं था जिसका जवाब मार्क्सवादी दृष्टिकोण से न दिया गया हो। जापानी वैज्ञानिकों ताकेतानी व सकाता ने और बाद में कई ग़ैर-मार्क्सवादी वैज्ञानिकों ने अनिश्चितता के नियम और इसकी प्रतिक्रियावादी विवेचना का जवाब दिया परन्तु दीपक बख्शी इन सबसे परिचित नहीं हैं। स्पिनोज़ा ने कहा था कि अज्ञानता कोई तर्क नहीं होती है (ignorance is no argumant) परन्तु दीपक बख्शी अपनी अज्ञानता का ही सैद्धान्तिकीकरण कर देते हैं! बीसवीं शताब्दी में आधुनिक भौतिकी के

"संकट" को आधार बनाते हुए वे मार्क्सवाद के "संकट" के अपने विचार के लिए रास्ता बनाते हैं। परन्तु आप जैसे-जैसे उनके रहस्योद्घाटनों को पढ़ते हैं वैसे-वैसे आप पाते हैं कि उन्होंने आधुनिक भौतिकी के क्षेत्र में बिलकुल भी अध्ययन नहीं किया है। प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धान्त तो दूर उन्होंने प्राकृतिक विज्ञान के इतिहास का भी अध्ययन नहीं किया है।

वैसे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में अध्ययन न करना आम समस्या है। दरअसल, मार्क्सवाद की छिछली समझ के चलते ही कई क्रान्तिकारी मार्क्सवादी संगठन और मार्क्सवादी बुद्धिजीवी मार्क्सवादी विचारधारा में 'संकट' का शोर रह-रहकर मचाते रहते हैं। अपने विभ्रमों और मार्क्सवाद की अधकचरी समझदारी के आधार पर कुछ लोग मार्क्सवाद पर ही सवाल खड़ा कर रहे हैं। अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी दृष्टिकोण ने ख़ास तौर पर तमाम ग़ैर-मार्क्सवादी विचारधाराओं के सम्मिश्रण को स्वीकार किया है और भारत में भी कई अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों ने पार्टी, क्रान्ति, हिरावल के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धान्तों को नकारने की मानो ज़िम्मेदारी ही उठा रखी है! दीपक बख्शी सरीखे कई लोग अभी-अभी उत्तरआधुनिकतावाद और क्वाण्टम मैकेनिक्स की नवकाण्टीय व्याख्याओं को पढ़ रहे हैं और उन्हें ये व्याख्याएँ पढ़कर अचानक अहसास हुआ है कि 'अरे! मार्क्सवाद तो संकट में है!' और फिर वे संकटमोचक की भूमिका में उतरते हैं। अगर ये राजनीतिक नौदौलतिये मार्क्सवाद पर हो रहे नवीनतम हमलों को पढ़कर भ्रमित हुए होते तो कम-से-कम यह तो कहा जा सकता था कि वे ऐसे राजनीतिक नौदौलतिये हैं जो 'अप-टू-डेट' हैं! मगर कुछ के बारे में तो यह भी नहीं कहा जा सकता। वे जिस चीज़ को देखकर 'यूरेका-यूरेका' का शोर मचा रहे हैं, वह अब बहुत पुरानी पड़ चुकी है और उस पर बहुत कुछ कहा-सुना जा चुका है। कम-से-कम संजीदा मार्क्सवादियों के लिए आज ये नये प्रश्न नहीं हैं और लगभग हल हो चुके प्रश्न हैं। मिसाल के तौर पर, विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी और तुलनात्मक साहित्य विभागों को छोड़ दिया जाय, तो अकादमिक जगत भी अब "उत्तरआधुनिकता द्वारा पैदा की गयी चुनौती" की बात करते हुए शर्मायेगा। वहीं क्वाण्टम मैकेनिक्स की नवकाण्टीय व्याख्याओं द्वारा खड़े किये गये प्रश्नों से भी मार्क्सवाद की आलोचनात्मक अन्तर्क्रिया का इतिहास अब पुराना हो चुका है, हालाँकि कई प्रबुद्ध वामपन्थी अकादमिक भी इससे वाक़िफ़ नहीं हैं। लुब्बेलुबाब यह कि कम-से-कम उत्तरआधुनिकतावाद और नवकाण्टवाद का हवाला देकर कोई मार्क्सवाद के 'संकट' की बात नहीं करता है। लेकिन भारत में ऐसे लोग भी हैं जो पूरे आत्मविश्वास के साथ आग का दोबारा आविष्कार करने का दावा करते घूम रहे हैं।

हम दीपक बख्शी के इस लेख को प्रातिनिधिक उदाहरण मानकर इसकी पड़ताल के ज़रिये यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि आज जिस तरह मार्क्सवाद के संकट के नाम पर मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों पर हमले की कोशिश हो रही है उसमें कुछ भी नया नहीं है। दीपक बख्शी का लेख इन हमलों का प्रातिनिधिक उदाहरण बनने के लायक तो नहीं है परन्तु यह उन सारे बिन्दुओं पर संक्षिप्त बात रखने का मौक़ा देता है जो ख़ास तौर पर प्राकृतिक विज्ञान के विकास को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने के लिए ज़रूरी हैं।

2. दीपक बख्शी के मूल तर्क का खण्डन

हम सबसे पहले बख्शी की यान्त्रिक श्रृंखला की प्राथमिक कड़ी यानी प्राकृतिक विज्ञान-मार्क्सवादी दर्शन के सम्बन्ध पर रोशनी डालेंगे। लेख के 'दर्शन, विज्ञान तथा मार्क्सवाद' शीर्षक में वे मार्क्स द्वारा 'क्रान्तिकारी व्यवहार' के हवाला देते हुए वैज्ञानिक प्रयोगों को इस व्यवहार में समाहित करने की दलील देते हैं :

"वैज्ञानिक प्रयोग और इण्डस्ट्री को ... व्यवहार माना जाना चाहिए।" (बख्शी, *'मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या',* मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन, अंक-1, वेब संस्करण, *अनुवाद हमारा*)

आगे वे लिखते हैं कि :

"प्राकृतिक विज्ञान और दर्शन का दीर्घकाल से स्थापित सम्बन्ध, ख़ासतौर पर मार्क्सवाद इसे जिस नज़रिये से देखता है, उससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान की इस शाखा के विकास का मार्क्सवादी दर्शन के विकास के साथ अन्तर्गुन्थन होता है।" (*वही, अनुवाद हमारा*)

यह दीपक बख्शी के यान्त्रिक श्रृंखला नियम की परिभाषा है। वे बताते हैं कि मार्क्स और एंगेल्स की मृत्यु के बाद इस नियम का अनुसरण नहीं हुआ। वे कहते हैं :

"कम्युनिस्ट धड़े के भीतर से ही मार्क्सवाद पर अनवरत हमले होते रहे हैं, ग़लत व्याख्याएँ हुई हैं - परन्तु भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना की तर्ज़ पर नया काम नहीं हुआ है। एंगेल्स के द्वारा प्राकृतिक विज्ञान पर किये गये काम को आगे बढ़ाने की ज़िम्मेदारी से मार्क्सवादी प्रत्यक्षतः पीछे हट गये हैं।" (*वही, अनुवाद हमारा*)

"मार्क्सवादियों ने एंगेल्स द्वारा प्राकृतिक विज्ञान पर किये कार्य का अनुसरण करना वस्तुतः छोड़ दिया है।" (*वही, अनुवाद हमारा*)

"एंगेल्स के प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन के महत्व पर बातचीत करना आज मार्क्सवादी सिद्धान्त के लिए बेहद ज़रूरी कार्यभार है।" (*वही, अनुवाद हमारा*)

यानी दीपक बख्शी की समझदारी के अनुसार "प्राकृतिक विज्ञान" की "ज्ञान शाखा का विकास मार्क्सवादी दर्शन के विकास के साथ अन्तर्गुन्थित है।" लेख में हमें मौजूदा दौर के संकट की घोषणा मिलती है :

"मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त और विचारों का विकास आज एक गम्भीर संकट से गुज़र रहा है।" (*वही*)

"वैचारिक संघर्ष के विस्तृत कार्यक्रम के कार्यभार" के दूसरे बिन्दु में बख्शी लिखते हैं -

"मार्क्सवादी नज़रिये से विज्ञान (ख़ास तौर पर भौतिकी, एस्ट्रोनोमी, जैनेटिक्स, बायोटेक्नॉलोजी, साइकोलोजी), भाषाशास्त्र, तकनोलॉजिकल विज्ञान... का अध्ययन, समझ बनाना, बहस-मुबाहिसे में उतरना और पिछले 150 सालों के सिद्धान्तों को विकसित करना होगा।" (*वही*)

अगर इन सारे तर्कों को जोड़ा जाये तो लुब्बेलुबाब यह है : वैज्ञानिक प्रयोग मानवीय व्यवहार है इसलिए इसका विकास मार्क्सवादी दर्शन से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है। बीसवीं शताब्दी

में वैज्ञानिक प्रयोग हुए परन्तु मार्क्सवादियों ने एंगेल्स के 'प्रकृति के द्वन्द्ववाद' के अध्ययन के कार्यभार को जारी नहीं रखा। प्राकृतिक विज्ञान में (ख़ासतौर पर भौतिकी में) संकट पैदा हुआ जिसने मार्क्सवाद में संकट पैदा किया। आज मार्क्सवादियों के सामने प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का कार्यभार है जो मार्क्सवादी दर्शन के ठहराव को तोड़ सकता है। यह दीपक बख्शी द्वारा लेख में प्रस्तुत यान्त्रिक श्रृंखला की पहली कड़ी है। यह उनके लेख का मूल तर्क है जिसके आधार पर वे अपने विचार जगत की चौंका देने वाली संरचनाएँ खड़ी करते हैं। श्री बख्शी के प्राकृतिक विज्ञान और मार्क्सवादी दर्शन के अन्तर्गुन्थन में प्रमुख पहलू हमेशा प्राकृतिक विज्ञान के विकास का होता है, जिसमें बदलाव के अनुरूप मार्क्सवादी दर्शन को बदलना होता है। यदि यह न हो तो मार्क्सवादी दर्शन की ग़लत समझदारी विकसित होती है। नतीजतन, ग़लत मार्क्सवादी सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते हैं। यह दीपक बख्शी का सैद्धान्तिकीकरण है जिसकी रोशनी में वे मौजूदा दौर में क्रान्तिकारी आन्दोलन के ठहराव की पड़ताल करते हैं। कारण - आधुनिक भौतिकी में संकट, कार्य - मार्क्सवाद में संकट। हम दीपक बख्शी के इस मूल तर्क का खण्डन दीपक बख्शी द्वारा इस यान्त्रिक श्रृंखला नियम को आधुनिक भौतिकी में अमली जामा पहनाने के प्रयास की पड़ताल के ज़रिये करेंगे।

2.1 मार्क्सवाद पर सबसे गम्भीर हमला

बख्शी 20वीं शताब्दी से आधुनिक भौतिकी में मौजूद संकट को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :

"1972' में हाइज़ेनबर्ग ने अपने सिद्धान्त दिये और प्राकृतिक विज्ञान की परिधि को पार कर इसकी दार्शनिक विवेचना की। उन्हें 1932 में 'मैट्रिक्स मैकेनिक्स की व्यवस्था' के लिए नोबल पुरस्कार से नवाज़ा गया। यह अनिश्चितता सिद्धान्त और इसकी दार्शनिक विवेचना एंगेल्स की मृत्यु के बाद मार्क्सवाद पर सबसे महत्वपूर्ण हमला था।" *(वही) ('टिप्पणी - उपरोक्त उद्धरण में 1972 की जगह 1932 होना चाहिए।)*

वे क्रिस्टोफ़र कॉडवेल की पुस्तक 'भौतिकी में संकट' से हवाला देकर यह घोषित करते हैं कि विज्ञान जगत संकट का शिकार है जो मार्क्सवादियों के लिए गहन चुनौती है। वे लिखते हैं :

"कॉडवेल की रचनाओं में स्पष्टता से यह बात अभिव्यक्त होती है कि विज्ञान के साथ सभी सैद्धान्तिक क्षेत्रों में संकट मौजूद है : 'विचारधारा के सभी क्षेत्रों में लक्षण हूबहू एक जैसे हैं।'"

हम इस विमर्श का निष्कर्ष कॉडवेल की टिप्पणी के साथ करेंगे जो आज मार्क्सवादियों के समक्ष विज्ञान जगत में मौजूद संकट की चुनौती की गहनता को स्पष्ट करेगी :

"आइन्सटीन सापेक्षिक भौतिकी के पिता हैं और प्लांक क्वाण्टम भौतिकी के जनक हैं। दोनों अपने आप में 'क्रान्तिकारी' थे। इसलिए प्लांक का यकीन और आइन्सटीन की अबोधगम्यता अनसुलझे प्रश्नों के हल में महत्व रखती है। परन्तु युवाओं में हाइज़ेनबर्ग, श्रोडिंगर और डिराक सरीखे लोग शामिल हैं जिनकी तकनीकी उपलब्धियाँ भी समान रूप से क्रान्तिकारी चरित्र रखती हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि यह नया स्कूल एक ज़्यादा रहस्यमय ब्रह्माण्ड के लिए संघर्ष में

जनसमर्थन जीत रहा है।" (*वही*)

हम आगे देखेंगे कि उन्होंने यहाँ कॉडवेल के कथन की ग़लत व्याख्या की है। कॉडवेल इस पुस्तक में बुर्जुआ विचारधारा में संकट का ज़िक्र कर रहे हैं वहीं बख्शी संकट के आगे 'बुर्जुआ' विशेषण हटा देते हैं और इसे मार्क्सवाद का संकट बना देते हैं। बहरहाल, हम आगे उनके प्राकृतिक विज्ञान-मार्क्सवादी दर्शन के नियम के 'कार्य-कारण' सम्बन्ध में 'कारण' की पड़ताल करेंगे। इस 'कारण' में दीपक बख्शी अनिश्चितता सिद्धान्त और उसकी दार्शनिक विवेचना को रखते हैं।

2.1.1. क्वाण्टम जगत की खोज तथा दीपक बख्शी की ऐतिहासिक अज्ञानता

"अज्ञानता के अमल से भयंकर कुछ भी नहीं है।" - गोएठे

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में वैज्ञानिकों की जमात पहली बार पदार्थ की आन्तरिक संरचना की गहराई तक पहुँची। पहली बार अणु के भीतर झाँक कर देखा जा सका। औद्योगिक क्रान्ति ने जिन मशीनों को जन्म दिया था वे अब इतनी ऊर्जा को क़ाबू कर सकती थीं कि अणु को भेद कर उसकी आन्तरिक संरचना तक पहुँचा जा सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी में डॉल्टन ने अणु की अवधारणा सत्यापित की थी। जे. जे. थॉमसन ने 1903 में डॉल्टन के अणु के अन्दर के नये गुणों की व्याख्या की। थॉमसन ने 'प्लम पुडिंग' मॉडल दिया जिसमें कैथोड रे में मिले इलेक्ट्रॉन अणु धनात्मक आवेश के प्रोटोन में जड़ित (प्लम) होते हैं। परन्तु 1911 में रदरफ़ोर्ड के वैज्ञानिक प्रयोग में अणु के भीतर की संरचना ने थॉमसन मॉडल से विपरीत क़िस्म का व्यवहार दर्शाया। अणु के रदरफ़ोर्ड मॉडल के अनुसार केन्द्र में धनात्मक आवेश के प्रोटोन मौजूद होते हैं जिसकी परिक्रमा इलेक्ट्रॉन अपनी कक्षा (ऑरबिट) में करते हैं। न्युटोनियन भौतिकी की प्रचलित अवधारणा के अनुसार पदार्थ के द्रव्य, ठोस और गैस रूप बुनियादी तत्व अणु से मिलकर बने होते हैं जिनमें तरह-तरह का ऊर्जा रूपान्तरण होता है व जिनके ऊर्जा, बल, गति और संवेग आदि गुणों का सटीक और निश्चित मूल्यांकन सम्भव था। वहीं मैक्सवेल का मॉडल रेडिएशन की संरचना और तरंग प्रकृति को न्यूटोनियन भौतिकी के ज़रिये व्याख्यायित करता था। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में विश्व का यह क्लासिकीय दृष्टिकोण चरमरा कर गिर रहा था। इधर सूक्ष्म स्तर पर नयी परिघटनाएँ भी इस दृष्टिकोण पर सवालिया निशान लगा रही थीं। बोर ने रदरफ़ोर्ड के मॉडल की व्याख्या प्लांक के क्वाण्टम नियम (जिससे प्लांक ने ब्लैक बॉडी रेडिएशन को व्याख्यायित किया था) व आइन्सटीन ने फ़ोटोइलैक्ट्रिक इफ़ैक्ट के अनुसार की। बोर ने प्लांक के क्वाण्टम नियम और न्यूटोनियन मैकेनिक्स के असंगत सिद्धान्तों को सार-संग्रहवादी तरीक़े से अपने सिद्धान्त में शामिल किया था। यह नाकाफ़ी था। साल दर साल आणविक स्तर पर परिघटनाएँ सामने आ रहीं थी जो बोर के मॉडल पर भी सवाल कर रही थीं। बोर ने कारेस्पॉण्डेंस प्रिंसिपल प्रतिपादित कर नयी परिघटनाओं को समझाने व क्वाण्टम और क्लासिकल जगत की सीमाओं के अन्तरभेदन को स्पष्ट करने का प्रयास किया। अन्य प्रयास भी हुए पर सब अधूरे साबित हो रहे थे। अन्ततः सभी असफल सिद्धान्तों का निषेध कर हाइज़नबर्ग और श्रोडिंगर द्वारा प्रतिपादित वेव मैकेनिक्स

और मैट्रिक्स मैकेनिक्स ने क्वाण्टम भौतिकी की मूल प्रतिस्थपनाएँ स्थापित कीं और सूक्ष्म स्तर पर पदार्थ की गति के नियम रचे। इस सिद्धान्त के ही एक अंग के तौर पर अनिश्चितता के नियम ने वैज्ञानिकों के बीच एक विभाजक रेखा खींच दी। मैट्रिक्स मैकेनिक्स कॉपनहेगन स्कूल का उत्पाद था तो दूसरी ओर नियतत्ववादी स्कूल के श्रोडिंगर ने वैव मैकेनिक्स रची। इन दोनों दृष्टिकोणों के साथ खड़े वैज्ञानिकों के भी कई रंग थे। जहाँ नियतत्ववादी स्कूल में आइन्सटीन, प्लांक, श्रोडिंगर और डीब्रोग्ली प्रमुख हैं वहीं अज्ञेयवादी और प्रत्यक्षवादी कॉपनहेगन स्कूल के प्रवर्तकों में बोर, हाइज़ेनबर्ग, डिराक, जोर्डन आदि थे। इस दौरान ही बोर और आइन्सटीन के बीच विज्ञान के क्षेत्र की एक महाकाव्यात्मक बहस चली। कॉपनहेगन स्कूल जीत रहा था। हर ओर कॉपनहेगन की धुन्ध छा गयी। दोनों स्कूलों में मूल मुद्दा 'प्रेक्षण समस्या' था जो हाइज़ेनबर्ग के अनिश्चितता के नियम की विवेचना की समस्या है। इस बहस में इन दोनों स्कूलों के दृष्टिकोणों में ज़बर्दस्त टकराव चल रहा था।

इस बहस में न सिर्फ़ बुर्जुआ वैज्ञानिकों ने बल्कि मार्क्सवादी वैज्ञानिकों ने भी हिस्सा लिया। व्लादिमिर फ़ॉक, राज़नफ़ेल्ड, बोर्न, ब्रोन्स्टीन, ब्लोखिन्स्तेव, ताकेतानी, सकाता से लेकर दर्जनों सोवियत और ग़ैर-सोवियत वैज्ञानिक मार्क्सवादी नज़रिये से इस बहस में हस्तक्षेप कर रहे थे। इन सबके भी अलग-अलग मत थे। परन्तु दीपक बख्शी इस इतिहास से अनजान हैं। इस परिचय के बाद प्रेक्षण समस्या पर बहस के मूल में जाकर देखते हैं कि दीपक बख्शी जिस अनिश्चितता के नियम पर हाहाकार मचा रहे हैं उससे क्या हमें भयाक्रान्त होना चाहिए और साथ ही हम मार्क्सवादी नज़रिये से इस समस्या की पड़ताल पर रोशनी डालेंगे।

अनिश्चितता के नियम के अनुसार क्वाण्टम स्तर पर मौजूद इलेक्ट्रॉन की गति और स्थिति के समक्षणिक प्रेक्षण में अनिश्चितता मौजूद रहती है। इस प्रेक्षण में प्रेक्षक स्थूल स्तर पर मौजूद मानव दृष्टि और उसके प्रेक्षण उपकरण हैं तो प्रेक्ष्य अणु के अंदर मौजूद इलेक्ट्रॉन। इस प्रेक्षण में अनिश्चितता का माप 0.52728×10^{-34} मी^{2} किग्रा प्रति सैकेण्ड से कम नहीं हो सकता है। यह संख्या काफ़ी अल्पतर प्रतीत होती है परन्तु सूक्ष्म स्तर पर मापने में अनिश्चितता पैदा करने के लिए काफ़ी है। अनिश्चितता क्वाण्टम स्तर पर मौजूद प्रेक्षणों को सम्भाव्यता के क्षेत्र में ले आती है। इलेक्ट्रॉन के गुण को गणितीय सूत्र के रूप में वेवफ़ंक्शन (Ψ) में परिभाषित करते हैं। इलेक्ट्रॉन एक पार्टिकल होते हुए भी तरंग की तरह व्यवहार करता है। जिस प्रकार क्लासिकीय जगत में किसी भी कण को उसकी स्थिति, गति व ऊर्जा के परिमाण से व्याख्यायित किया जाता है वैसे ही क्वाण्टम भौतिकी इलेक्ट्रॉन के वेवफ़ंक्शन की स्थिति (स्टेट) को व्याख्यायित करती है। यह वेवफ़ंक्शन इलेक्ट्रॉन के दिक् व काल (स्पेस एण्ड टाइम) में विस्तार को व्याख्यायित करता है। वेवफ़ंक्शन की स्थिति की अवधारणा में कण व तरंग के अन्तर्विरोध की एकता होती है। इलेक्ट्रॉन का कण होना उसके संवेग को मापने योग्य बनाता है तो तरंग होना उसमें अनिश्चितता पैदा करता है। जिस प्रकार पानी में उठती लहरें एक दूसरे में मिलकर छोटी-बड़ी बन जाती हैं वैसे ही इलेक्ट्रॉन का एक वेवफ़ंक्शन कई स्थितियों (स्टेट्स) से मिलकर बनता है जिस कारण क्वाण्टम भौतिकी में समग्र

तथा उपांग का अन्तरविरोध भी होता है। स्टेट की अवधारणा सांख्यिकी की अवधारणा होती है जिसके कारण इस सिद्धान्त में सटीकता की बहस ही बेमानी है।

जापानी मार्क्सवादी वैज्ञानिक ताकेतानी के अनुसार :

"क्वाण्टम भौतिकी में कण (पार्टिकल) और तरंग के दो अन्तरविरोधी परिघटनात्मक रूप होते हैं...जिन्हें स्टेट के सारभूत सिद्धान्त में इनकी एकता में समझा जा सकता है।" (ताकेतानी, 1971, *डायलेक्टिक्स ऑफ़ नेचर,* जर्नल ऑफ़ प्रोग्रेस इन थ्योरेटिकल फिज़िक्स, पेज 31, *अनुवाद हमारा*)

यह क्वाण्टम भौतिकी की बुनियादी मार्क्सवादी समझदारी है। इस समझदारी से अलग हाइज़ेनबर्ग प्रेक्षण की सीमा की दार्शनिक विवेचना अज्ञेयवादी व प्रत्यक्षवादी नज़रिये से कर रहे थे। हाइज़ेनबर्ग माख़वादी तरीक़े से केवल प्रत्यक्ष गुणों के आधार पर विज्ञान के अध्ययन की बात कह रहे थे। बोर ने 1927 की सोल्वे कॉन्फ्रेन्स में क्वाण्टम भौतिकी के नियतत्ववादी स्कूल के पुरोधा आइन्सटीन को अनिश्चितता सिद्धान्त पर चली बहस में हराकर कॉपनहेगन स्कूल की पताका फहराई। इस स्कूल का समर्थन, हालाँकि ग़लत, मार्क्सवादी दृष्टिकोण से फ़ॉक और रोज़ेन्फ़ेल्ड ने किया। वहीं श्रोडिंगर ने नियतत्ववादी कैम्प का झण्डा उठाया और वेव मैकेनिक्स और प्रेक्षण समस्या पर 'श्रोडिंगर की बिल्ली के पैरॉडॉक्स' के ज़रिये क्वाण्टम भौतिकी की अलग व्याख्या कर प्रेक्षण समस्या की बहस को आगे बढाया। 1937 में पहली बार **ताकेतानी** और बाद में **सकाता** ने क्वाण्टम भौतिकी की सही मार्क्सवादी नज़रिये से व्याख्या की और नवकाण्टवादी, प्रत्यक्षवादी व नियतत्ववादी व्याख्याओं की धज्जियाँ उड़ा दीं। 1952 में बोम ने भी मार्क्सवादी नज़रिये से क्वाण्टम भौतिकी को समझने व आगे विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह आइन्सटीन के बोर-आइन्सटीन बहस के सूत्रों को द्वन्द्वात्मक रूप से आगे बढ़ाने का प्रयास था। कॉपनहेगन स्कूल हार रहा था परन्तु निर्णायक चोट 1957 की ब्रिस्टल कॉन्फ्रेन्स में हुई जहाँ प्रेक्षण समस्या पर कॉपनहेगन स्कूल पर चौतरफ़ा हमला हुआ।

लेकिन दीपक बख्शी इन सब बहसों से परिचित नहीं हैं। वे पहली बार हाइज़ेनबर्ग के अनिश्चितता सिद्धान्त को पढ़कर काँप उठते हैं और अपनेआप ही गत्ते की तलवार लेकर इस अनिश्चितता से लड़ने लगते हैं और सभी मार्क्सवादियों को इस लड़ाई में कूद पड़ने का आह्वान करते हैं। परन्तु वे यह लड़ाई अपने कल्पनालोक में लड़ रहे हैं। **ये उनके अध्ययन के छूटे कार्यभार हैं मार्क्सवाद के नहीं।** अगर वे इतिहास से परिचित होते तो वे अनिश्चितता के नियम को 'मार्क्सवाद पर एंगेल्स की मृत्यु के बाद सबसे गम्भीर हमला' घोषित नहीं करते और न ही यह कहते कि इस हमले का मार्क्सवादी नज़रिये से आज तक कोई जवाब नहीं दिया गया। इतिहास-शून्यता और अज्ञानता से दीपक बख्शी ही नहीं आज के युग के वैज्ञानिक भी परेशान हैं! 2014 के एक सर्वे में सबसे अधिक वैज्ञानिकों ने क्वाण्टम भौतिकी की कॉपनहेगन विवेचना से सहमति दर्ज करायी। ख़ैर, दीपक बख्शी के 'प्राकृतिक विज्ञान-मार्क्सवादी दर्शन की अन्तर्निर्भरता के नियम' के 'कार्य-कारण सम्बन्ध' में अनिश्चितता के नियम द्वारा मार्क्सवाद पर हमले के 'कारण' का भाग पहला है जो मार्क्सवादी दर्शन में ठहराव व मार्क्सवादी सिद्धान्त के संकट के 'कार्य' को सम्पन्न

करता है।

लेकिन सच्चाई क्या है? अनिश्चितता का नियम मार्क्सवाद के लिए कभी संकट नहीं बना बल्कि उलट यह इसकी पुष्टि ही है। इस नियम का हाइज़ेनबर्ग द्वारा दार्शनिकीकरण और इसका सैद्धान्तिक विस्तार नवकाण्टवाद को पुनर्जीवित करने के प्रयास से ज़्यादा कुछ नहीं है। आइये क्वाण्टम भौतिकी की इस कॉपनहेगन व्याख्या को विस्तार में समझें जो असल में नवकाण्टवादी दर्शन का ही रूप है जिसे मार्क्सवाद पहले ही ध्वस्त कर चुका है। साथ ही हम विज्ञान जगत में ताकेतानी और सकाता द्वारा क्वाण्टम भौतिकी के मार्क्सवादी मूल्यांकन को समझेंगे जिससे दीपक बख्शी द्वारा उठाये सवालों की सतही समझदारी उभर कर सामने आ सके।

2.1.2 मेघे (कॉपनहेगन) ढँके तारा (मार्क्सवाद)

बख्शी के अनुसार हाइज़ेनबर्ग का 'अनिश्चितता का नियम' और इसकी दार्शनिक विवेचना मार्क्सवाद पर सबसे भयंकर हमला थी। क्वाण्टम भौतिकी के उद्भव और विकास के दौरान अनिश्तिता के नियम व अन्य विवेचना-सम्बन्धी समस्याओं को लेकर वैज्ञानिकों और दार्शनिकों में काफ़ी घमासान हुआ। इस घमासान से अपरिचित दीपक बख्शी अनिश्चितता के नियम के अलावा हाइज़ेनबर्ग के दर्शन को पढ़ने के बाद भयंकर भय का अनुभव करते हैं और भयाक्रान्त होकर मार्क्सवादियों को हिदायत देते हैं। हम देख चुके हैं कि अनिश्चितता के नियम के अनुसार प्रकृति में इलेक्ट्रॉन की गति और स्थिति का समक्षणिक सटीक प्रेक्षण नहीं किया जा सकता है व हर प्रेक्षण में एक अनिश्चितता मौजूद होती है। हाइजेनबर्ग ने इस अनिश्चितता का कारण हमारे ज्ञान के चरित्र में ढूँढ़ा और प्रकृति को हमारी धारणाओं का निर्माण बताया। वे 'वस्तु निज रूप', वस्तुगत यथार्थ और 'कार्य-कारण' की अवधारणाओं पर हमला करते हैं। हाइज़ेनबर्ग कहते हैं कि "भौतिकशास्त्रियों को औपचारिक तौर पर सिर्फ़ अनुभवों के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होता है", "आधुनिक भौतिकी में हम यथार्थ या अणुओं की संरचना को नहीं बल्कि महज़ परिघटनाओं के अनुभव को ट्रीट करते हैं।"

जैसा कि कोई भी पढ़ने-लिखने वाला मार्क्सवादी समझ सकता है, साफ़ तौर पर यह अनुभवसिद्ध आलोचना और नवकाण्टवाद का पुनर्जन्म ही था, और कुछ नहीं। हाइज़ेनबर्ग के अनुसार प्रेक्षक यथार्थ का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यथार्थ एक निर्मिति है। हाइज़ेनबर्ग द्वारा सूक्ष्म जगत में मौजूद अनिश्चितता के पहलू का यह नवकाण्टीय सामान्यीकरण भौतिकी के कार्य-कारण सम्बन्ध (कॉजैलिटी) सिद्धान्त को नकार देता है। इस दर्शन के विचारक यह तर्क देते हैं कि अगर किसी प्रयोग में 10 प्रेक्षण में से एक बार भी हमारी अवधारणा के विपरीत परिणाम आता है तो इसका मतलब यह है कि हम उस परिघटना के विषय में नहीं जान सकते हैं तथा यह कार्य-कारण सिद्धान्त का निषेध होता है। लेकिन वास्तव में यहाँ यह प्रयोग कार्य-कारण सिद्धान्त को दो तरह से सिद्ध करता है। 10 प्रेक्षण में से 9 बार हमारी पूर्वकल्पना के अनुसार परिणाम आते हैं और 1 बार विपरीत परिणाम आता है तो हमें उन अज्ञात कारणों की तलाश करने का मौक़ा मिलता

है, जिनके कारण हमारी प्रस्थापना पुष्ट नहीं हो पायी। यहाँ एक ऐसा कार्य-कारण सिद्धान्त काम करता है जो हमें ज्ञात नहीं होता है। यह 'काइनैटिक थियरी ऑफ़ गैस' के समान ही है जहाँ गैस के अणुओं की गति का मापन भी सम्भाव्यता में ही होता है। इसके अलावा, क्वाण्टम भौतिकी में अनिश्चितता भी हमारे प्रेक्षण पर निर्भर करती है। यहाँ अनिश्चितता हमारे प्रेक्षण के उपकरणों की सीमा के कारण उत्पन्न होती है। प्रेक्षणों के और अधिक उन्नत और गहरे होने के साथ अनिश्चितता, फिर से निश्चितता तथा अनिश्चितता में टूट जाती है। नयी निश्चितता पुरानी निश्चितता से ज़्यादा उन्नत होगी और नयी अनिश्चितता पुरानी अनिश्चितता से अधिक उन्नत होगी। **विज्ञान न सिर्फ़ उन्नत निश्चितताओं का स्वागत करता है, बल्कि उन्नत अनिश्चितताओं का भी स्वागत करता है, क्योंकि अनिश्चितता ही निश्चितता में बदल सकती है।** निश्चितता तो पहले से ही निश्चितता है। इसलिए उन्नत निश्चितताओं के जन्म के लिए अनिश्चितताओं का होना ज़रूरी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी शुरू से ही हर सिद्धान्त को दिक्-काल सापेक्ष मानता है और किसी भी निरपेक्ष सत्य या सिद्धान्त की अवधारणा के विरुद्ध है। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नजरिया है और वास्तव में हाइज़ेनबर्ग का अनिश्चितता का सिद्धान्त (अपनी नवकाण्टीय दार्शनिक व्याख्या व विस्तार के बिना) द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण को सिद्ध करता है, जो हमेशा से नियतत्ववाद और प्रत्यक्षवाद दोनों के ही विरुद्ध संघर्ष करता रहा है। अनिश्चितता परिघटनात्मक स्तर पर घटित होती है जिसे समझने के लिए हमें सारभूत स्तर तक जाना होगा ठीक उसी प्रकार जैसे पूँजीवाद में संकट की परिघटनात्मक समझदारी असमानुपातिकता और अल्पउपभोग को कारण बताती है परन्तु असल में संकट सारभूत स्तर पर 'मुनाफ़े की गिरती दर के रुझान का नियम' के कारण पैदा होता है जो असमानुपातिकता और अल्पउपभोग को पैदा करता है।

क्वाण्टम भौतिकी को मार्क्सवादी नज़रिये से देखने में अग्रणी नाम ताकेतानी और सकाता का आता है। ताकेतानी ने प्राकृतिक विज्ञान का 'तीन मंज़िल सिद्धान्त' दिया जिसमें तीन मंज़िलें हैं - परिघटनात्मक, तात्विक और सारभूत। यह प्राकृतिक विज्ञान या विज्ञान में होने वाले बदलावों के लिए कमोबेश सटीक सैद्धान्तिकीकरण है। इंसान के प्रेक्षण के गहराने या विस्तृत होने पर प्रकट होने वाली नयी परिघटनाओं को पहले तात्विक और फिर सारभूत स्तर पर समझाने वाले सिद्धान्त विकसित होते हैं और यह क्रम प्रेक्षण गहराने के साथ कुण्डलाकार गति में जारी रहता है। न्युटोनियन भौतिकी से क्वाण्टम भौतिकी के दौर में संक्रमण को इस तरह ही देखा जा सकता है। ताकेतानी के अनुसार :

"प्रकृति के संज्ञान की प्रक्रिया में तीन स्तर होते हैं। पहले स्तर पर परिघटना और प्रयोगात्मक परिणामों का उल्लेख किया जाता है। इस स्तर पर ...परिघटना के बारे में विभिन्न जानकारियों और तथ्यों का संचय किया जाता है। ...मैं इस स्तर को परिघटनात्मक स्तर का नाम देता हूँ। ...दूसरे स्तर में परिघटना को जन्म देने वाली तात्विक संरचना ज्ञात होती है जिसकी मदद से परिघटना का उल्लेख कर उसकी वैधता सुनिश्चित की जाती है। इसे हम तात्विक मंज़िल कहेंगे...तीसरे स्तर में ज्ञान तात्विक स्तर के माध्यम से सार में प्रवेश करता है। परिघटना का नियम पारस्परिक अन्तर्क्रिया

में लिप्त तत्वों की आवश्यक गति के माध्यम से उभारा जाता है। यह स्पष्ट करना होता है कि किस प्रकार परिघटना एक निश्चित संरचना के तत्वों से किसी निश्चित परिस्तिथि में उत्पन्न होती है। मैं इस स्तर को सारभूत स्तर कहता हूँ।" (*वही,* पेज 61-62, *अनुवाद हमारा*)

ताकेतानी और सकाता ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अवस्थिति से यह भी दर्शाया कि क्वाण्टम भौतिकी पूर्णतः पदार्थ जगत के एक विशिष्ट स्तर को समझाती है। यहाँ सटीकता की बहस ही बेमानी है। न्यूटोनीय भौतिकी वृहद जगत के लिए आज भी सच है। लेकिन प्रेक्षण के धरातल के बदलने के साथ, सन्दर्भ के बदलने के साथ, अलग-अलग जगत में गति के नियमों में भी परिवर्तन आ जाता है। क्वाण्टम भौतिकी में तीन स्तर पर अन्तरविरोध काम करते हैं - समग्र तथा अंग, आवश्यकता और आकस्मिकता तथा परिघटना (अनिश्चितता) और सार (स्टेट) के बीच मौजूद अन्तरविरोध। इलेक्ट्रॉन का स्टेट सारतत्व का स्तर होता है। यह सारतत्व ही अपने आप को परिघटनात्मक स्तर पर पेश करता है जिसे अनिश्चितता के रूप में समझा जाता है।

प्रकृति में निश्चितता और अनिश्चितता के बीच, निर्धारण और संयोग के बीच और परिघटनात्मक व सारभूत स्तर के बीच हमेशा एक द्वन्द्व मौजूद रहता है। निश्चित तौर पर यह द्वन्द्व अपने आपको प्रकृति के गति के नियमों की व्याख्या करने वाले विज्ञान में भी अभिव्यक्त करता है। सूक्ष्म जगत में जिन कारणों से आज अनिश्चितता मौजूद है, उसे इन वैज्ञानिकों ने प्रेक्षण समस्या (ऑब्ज़र्वेशन प्रॉब्लम) का नाम दिया और बताया कि प्रेक्षक और प्रेक्षण के उपकरणों के विकास के साथ इस धरातल पर मौजूद प्रेक्षण की समस्या का समाधान हो जायेगा, लेकिन तब कोई न कोई नया धरातल सामने होगा, जिस पर नये सिरे से अनिश्चितता और प्रेक्षण की समस्या मौजूद होगी। यह प्रक्रिया ही पदार्थ जगत के विकास की द्वन्द्वात्मकता को विज्ञान की द्वन्द्वात्मकता में प्रतिबिम्बित करती है।

अब चूँकि विज्ञान में निश्चितता और अनिश्चितता, दोनों के ही पहलू सतत और अनन्त रूप से मौजूद रहे हैं और रहेंगे, इसलिए यदि वैज्ञानिक पहले से ही एक द्वन्द्वात्मक अप्रोच को लेकर प्रस्थान नहीं करता तो वह निश्चित तौर पर या तो आइंस्टीन-श्रोडिंगर के नियतत्ववाद और स्पिनोज़ा के ईश्वर का शिकार बन जायेगा, या फिर, हाइज़ेनबर्ग और बोर के नवकाण्टीय अज्ञेयवाद की खाई में जा गिरेगा, जहाँ उसके लिए होने और न होने का अर्थ ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि समस्त पदार्थ जगत ही है या नहीं, इसकी कोई गारण्टी नहीं है; ऐसा भी हो सकता है कि सब माया हो! सामाजिक विज्ञान की तरह ही प्रकृति विज्ञान में भी एक वैचारिक संघर्ष जारी रहा है। यह संघर्ष बीसवीं सदी में अपनी ऊँचाइयों और गहराइयों तक गया। लेकिन महान प्रतिभाएँ भी विज्ञानवादी नियतत्ववाद और विज्ञानवादी अज्ञेयवाद का शिकार हो गयीं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने भौतिकी में मौजूद आभासी संकट का जो समाधान किया, उसे बुर्जुआ मीडिया कहीं भी नहीं प्रदर्शित करता और न ही उसे स्कूलों और कॉलेजों के पाठ्यक्रम में शामिल किया जाता है। लेकिन सकाता, ताकेतानी और उनके सहयोगी युकावा जैसे वैज्ञानिकों के योगदान को समझे बिना आधुनिक भौतिकी की एक सही समझदारी विकसित कर पाना मुश्किल है। हाइज़ेनबर्ग द्वारा मार्क्सवाद पर

सबसे गम्भीर हमले की बख्शी की विवेचना के काल्पनिक तर्क के बाद यह भी देख लिया जाये कि भौतिकी में संकट के सन्दर्भ में मार्क्सवादियों का दृष्टिकोण क्या है? क्योंकि दीपक बख्शी इस पहलू पर शान्त रहते हैं।

2.2 प्राकृतिक विज्ञान में संकट की मार्क्सवादी विवेचना

"मरना नये का बनना है।" - गोएठे

भौतिकी में आने वाला "संकट" भौतिकी के द्वन्द्वात्मक विकास की अभिव्यक्ति है। प्राकृतिक विज्ञान भी निषेध के निषेध के ज़रिये आगे बढ़ता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति को न देखने के कारण वैज्ञानिकों में संकट का शोर मच जाता है। प्राकृतिक विज्ञान आगे बढ़ता है और हर 10-15 साल में नये संकट का शोर मचता है। एंगेल्स ने प्राकृतिक विज्ञान के संकट की ओर इशारा करते हुए लिखा कि "खोज के परिणामों तथा पूर्वकल्पित चिन्तन प्रणलियों के बीच जो टकराव होता है उसी का नतीजा है कि इस समय सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान में एक गड़बड़ी फैल गयी है, जिसका लगता है कभी अन्त नहीं होगा और जो शिक्षक तथा शिक्षार्थी, लेखक तथा पाठक सभी को विक्षिप्त बनाये डाल रही है।" (एंगेल्स, 1980, ड्यूहरिंग मत खण्डन, प्रगति प्रकाशन, पृष्ठ 42)

इस 'गड़बड़' ने ही आगे 'संकट' का रूप लिया जिसका कारण मार्क्सवाद का संकट नहीं बल्कि सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान में मौजूद "पूर्वकल्पित चिन्तन प्रणलियों" का नये नतीजों के साथ टकराव था। लेनिन 1908 में आधुनिक भौतिकवाद के संकट के कारणों की पड़ताल करते हैं। ताज्जुब की बात है कि 'भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना' में लेनिन के प्राकृतिक विज्ञान में 'संकट' के अध्ययन के बारे में बख्शी चुप रहते हैं क्योंकि इस विषय पर लिखते हुए कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी इस पुस्तक का सन्दर्भ न पेश करे तो इसके पीछे या तो स्मृतिलोप हो सकता है या अध्ययन का अभाव। लेनिन ने पहली बार आधुनिक भौतिकी में और प्राकृतिक विज्ञान में संकट के शोर के पीछे मौजूद कारणों की गहनता से पड़ताल की। भौतिकवाद से अपरिचित वैज्ञानिक जिस दार्शनिक गढ्ढे में गिरते हैं उसे लेनिन ने "भौतिक भाववाद" का नाम दिया। लेनिन "भौतिक भाववाद" के कारण पैदा हुए 'संकट' के पीछे एक कारण ज्ञान की सापेक्षिकता की ग़लत समझदारी बताते हैं तो दूसरा कारण बुर्जुआ दर्शन का वैज्ञानिकों पर मौजूद प्रभाव बताते हैं। दार्शनिक भाववाद जिसे पूँजीवाद में बुर्जुआ वर्ग अपने अस्तित्व के लिए प्रसारित करता है इस संकट को बनाये रखता है। लेनिन लिखते हैं :

"जिस तरह एक डूबता हुआ इंसान तिनके का भी सहारा लेने की कोशिश करता है उसी तरह बेहद विशिष्ट तौर पर पढ़ा-लिखा बुर्जुआ कृत्रिम तौर पर श्रद्धावाद (fideism), जो जनता की अज्ञानता और पूँजीवाद के अतार्किक और बर्बर अन्तरविरोधों के कारण में पाया जाता है, को बचाने की हर तरह की कोशिश करता है।

"भौतिक भाववाद के बढ़ने का दूसरा कारण सापेक्षिकतावाद का सिद्धान्त है, हमारे ज्ञान की

सापेक्षिकता का सिद्धान्त जो पुराने सिद्धान्तों के असामयिक भंग होने के कारण भौतिकविदों के दिमाग़ों पर मज़बूत पकड़ बना रहा है और अगर वे द्वन्द्ववाद से परिचित न हों तो अन्त में भाववाद तक पहुँच जाते हैं।" (लेनिन, 1980, मैटिरियलिज़्म एण्ड इम्पिरियो क्रिटिसिज़्म, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृष्ठ 288, *अनुवाद हमारा*)

और आगे लेनिन बताते हैं कि :

"संकट का सार यह है कि आधुनिक भौतिकी में पुराने नियम और बुनियादी सिद्धान्त बदलने को मस्तिष्क के बाहर मौजूद वस्तुगत यथार्थ का ख़ारिज होना माना जा रहा है, यानी भौतिकवाद का भाववाद और अज्ञेयवाद से तब्दीली करना माना जा रहा है। "पदार्थ ग़ायब हो गया" - यह वह बुनियादी और चारित्रिक समस्या है जिसे उन सवालों के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है जो यह संकट लेकर आया है।" (*वही,* पेज 231, *अनुवाद हमारा*)

"पदार्थ के ग़ायब होने" की जगह हाइज़ेनबर्ग ने अनिश्चितता को ला खड़ा किया और आधुनिक भौतिकी में फिर से संकट का शोर मचने लगा। ज्ञान की सापेक्षिकता की अभिव्यक्ति लगातार प्राकृतिक विज्ञान में भी होती है जहाँ लगातार गहराते ज्ञान के आधार पर हमें पुरानी धारणाओं को त्यागकर नये गहरे सिद्धान्तों को समझना होता है। यही लगातार भौतिकी में विकास करता है और उसके तार्किक मूल्यांकन में बदलाव करता है। इस बदलाव को प्रकृति के अन्तर्सम्बन्ध की तस्वीर के जटिल और ज़्यादा परिष्कृत होने के रूप में समझा जा सकता है न कि भौतिकवाद के पतन के रूप में। यानी यह संकट असल में 'आभासी' संकट है। दीपक बख्शी इस संकट को मार्क्सवाद के सिद्धान्तों में 'संकट' के आधार के तौर पर पेश करते हैं, परन्तु एंगेल्स और लेनिन के दृष्टिकोण के अनुसार यह प्राकृतिक विज्ञान का संकट नहीं बल्कि बुर्जुआ दर्शन का संकट है। दरअसल बख्शी का प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञान बेहद कमज़ोर और भोंड़ा है। असल में संकट का कारण उलट है जिस तरफ़ लेनिन इशारा करते हैं -

"प्राकृतिक विज्ञान के वैज्ञानिकों को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा खोला गया रास्ता नहीं दिखता है।" (*वही,* पेज 290, *अनुवाद हमारा*)

दीपक बख्शी ज्ञान की सापेक्षिकता के सवाल पर थोड़ा लड़खड़ा जाते हैं। वे हाइज़ेनबर्ग के दर्शन का खण्डन करते हुए मार्क्सवादी ज्ञान सिद्धान्त के दृष्टिकोण से कोसों दूर खड़े दिखायी देते हैं। वे कहते हैं कि :

"मार्क्सवाद के लिए पदार्थ के अस्तित्व, गति व पदार्थ में बदलाव के अलावा (दार्शनिक तौर पर) कोई ज्ञान निरपेक्ष नहीं है। मार्क्सवाद निरपेक्ष सत्य को नकारता है।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्याएँ, अनुवाद हमारा*)

यहाँ दीपक बख्शी ने जो बात की है उसमें वह भौतिकवादियों से ज़्यादा भौतिकवादी हो गये हैं! और चिन्तन एवं अस्तित्व के सवाल पर बात करते हुए वे वह पहलू ग़ायब कर गये हैं जिससे ज्ञान पैदा होता है। "पदार्थ के अस्तित्व, गति व पदार्थ में बदलाव" का ज्ञान निरपेक्ष नहीं होता है। यह सापेक्ष भी होता है और निरपेक्ष भी होता है। मार्क्सवाद "पदार्थ के अस्तित्व, गति व बदलाव

के ज्ञान" को नहीं पदार्थ के अस्तित्व, गति व बदलाव को निरपेक्ष मानता है। इसका मनुष्य के मस्तिष्क से प्रतिबिम्बन होता है, जो कि सही या ग़लत हो सकता है। प्रतिबिम्बनों के सही तार्किक व वैज्ञानिक सामान्यीकरण से ही ज्ञान पैदा होता है, जो कि स्वयं सापेक्ष होता है। दीपक बख्शी की सोच से उलट मार्क्सवाद निरपेक्ष सत्य को नकारता नहीं है बल्कि वह इंसान द्वारा निरपेक्ष सत्य के विषय में निरपेक्ष ज्ञान के विकास की सम्भावना को नकारता है। एंगेल्स के अनुसार :

"मानव चिन्तन के स्वरूप की हमारी परिकल्पना आवश्यक रूप से निरपेक्ष है, पर यह परिकल्पना वास्तविकता प्राप्त करती है बहुत-से अलग-अलग मनुष्यों से, जो सबके सब केवल सीमित ढंग से ही सोच सकते हैं। यह एक ऐसा अन्तर्विरोध है, जो केवल अनन्त प्रगति के दौरान ही हल हो सकता है। यह अन्तर्विरोध केवल मानवजाति की असंख्य पीढ़ियों के - कम से कम व्यावहारिक दृष्टि से - एक अन्तहीन क्रम में ही हल हो सकता है। इस अर्थ में मानव चिन्तन जितना परम सत्तासम्पन्न है; ठीक उतना ही परम सत्ताहीन भी है और ज्ञान प्राप्त करने की उसकी सामर्थ्य जितनी असीम है, ठीक उतनी ही सीमित भी है। जहाँ तक मानव चिन्तन की प्रकृति, उसकी परवर्ती, उसकी सम्भावनाओं तथा उसके अन्तिम ऐतिहासिक लक्ष्य का सम्बन्ध है, वह परम सत्तासम्पन्न तथा असीम है। जहाँ तक उसके व्यक्तिगत मूर्त रूपों तथा किसी विशिष्ट क्षण में उसकी वास्तविकता का सम्बन्ध है, वह परम सत्तासम्पन्न नहीं है और सीमित है। शाश्वत सत्यों के बारे में भी ठीक यही बात सच है।" (एंगेल्स, 1980, पेज 141-142)

इसे लेनिन सरलीकृत कर बताते हैं कि "एंगेल्स के लिए निरपेक्ष सत्य सापेक्ष सत्यों का कुल जोड़ है" और "विज्ञान के विकास का हर क़दम निरपेक्ष सत्य में नये अंश को जोड़ता है, परन्तु इस सत्य की वैज्ञानिक प्रतिस्थापनाएँ सापेक्ष होती हैं, जो ज्ञान में वृद्धि के साथ कभी विस्तृत होती तो कभी सीमित होती हैं।" (लेनिन, 1980, पेज 118-119, *अनुवाद हमारा*)

"ज्ञान के सिद्धान्त में, जैसा कि हर विज्ञान के क्षेत्र में करना चाहिए, हमें द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। यानी हमें अपने ज्ञान को बना-बनाया और अपरिवर्तनीय नहीं मानना चाहिए, बल्कि हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि कैसे ज्ञान अज्ञान से उभरता है, कैसे अधूरा ज्ञान अधिक से अधिक पूर्ण होता जाता है।" (*वही,* पेज 88, *अनुवाद हमारा*)

यहाँ मार्क्सवादी ज्ञान मीमांसा को बेहतरीन तरीक़े से प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान के हर क्षेत्र में अज्ञानता से ही ज्ञान उभरता है। पर इस ज्ञान के विकास की सीमाएँ ऐतिहासिक तौर पर परिभाषित होती हैं। लेनिन आगे कहते हैं :

"हम कब और किन परिस्थितियों में अपने ज्ञान में वस्तुओं की मूलभूत प्रकृति तक पहुँचते हैं, मसलन कोलतार में एलिज़रिन का खोजा जाना और अणु में इलेक्ट्रॉन की खोज होना इतिहास द्वारा निर्धारित होता है; परन्तु हर ऐसी खोज से 'निरपेक्ष वस्तुगत सत्य' की प्रगति होती है, यह निश्चित है और बिना शर्त होता है।...हर विचारधारा इतिहास द्वारा निर्धारित होती है, पर यह बिना शर्त सत्य है कि (धार्मिक विचारधारों से अलग) हर वैज्ञानिक विचारधारा किसी निरपेक्ष प्रकृति, वस्तुगत सत्य के अनुरूप होती है। आप कहेंगे कि निरपेक्ष और सापेक्षिक सत्य में अन्तर अनिश्चित

है। मैं जवाब दूँगाः यह उतना ही 'अनिश्चित' है जितना कि विज्ञान को एक कठमुल्ला सिद्धान्त, मृत, अश्मिभूत बनने से बचने की ज़रूरत है; पर इसी समय यह इतनी ही 'निश्चित' है जितनी कि हम अपने आप को बेहद दृढ़ता और अटलता से अज्ञेयवाद और श्रद्धावाद (fiedism), दार्शनिक भाववाद से और ह्यूम और काण्ट के अनुयायिओं के हेत्वभासों से बचा सकें।" (*वही,* पेज 120-121, *अनुवाद हमारा*)

आगे लेनिन कहते हैं :

"द्वन्द्ववाद - जैसा हेगेल ने अपने समय में समझाया - में सापेक्षता का, निषेध का, सन्देहवाद का तत्व होता है पर यह सापेक्षतावाद में अपचयित नहीं की जा सकती है। मार्क्स और एंगेल्स के भौतिकवादी द्वन्द्ववाद में सापेक्षतावाद है, पर यह सापेक्षतावाद में अपचयित नहीं किया जा सकता है, यानी, यह हमारे ज्ञान की सापेक्षता को स्वीकार करता है, वस्तुगत सत्य को नकारने के रूप में नहीं, बल्कि इस अर्थ में कि ज्ञान के समीप पहुँचने की हदें इतिहास द्वारा निर्धारित होती हैं।" (*वही,* पेज 121, *अनुवाद हमारा*)

यही वह बुनियादी सिद्धान्त है जिसके ज़रिये प्राकृतिक विज्ञान व हर ज्ञान शाखा में अज्ञान से ज्ञान तक बढ़ने की प्रक्रिया को बेहतरीन ढंग से व्याख्यायित किया गया है। ज्ञान के विकास की यही सापेक्षता दरअसल ख़ुद मार्क्सवाद के विकास को भी निर्धारित करती है। इसके विकास की सीमाएँ भी इतिहास द्वारा ही निर्धारित होती हैं। लेकिन दीपक बख्शी के लिए अन्त में यह सब प्राकृतिक विज्ञान के विकास से संचालित होता है; परन्तु अफ़सोस इस बात का है कि वे प्राकृतिक विज्ञान के विकास की प्रक्रिया से भी अनभिज्ञ हैं। दरअसल, न सिर्फ़ वह इसके इतिहास से अनभिज्ञ हैं बल्कि दीपक बख्शी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण के सार तक ही नहीं पहुँचे हैं। उनका मार्क्सवाद यान्त्रिकतावाद है जो टुकड़े-टुकड़े में तो सभी बातें रख सकता है परन्तु इतिहास की किसी भी समस्या का हल नहीं कर सकता है। वह आधुनिक भौतिकी में जिस संकट की बात करते हैं असल में वह भी ज्ञान की सापेक्षिकता के कारण ही पैदा होता है जिसकी व्याख्या हमने ऊपर की है।

दीपक बख्शी क्रिस्टोफ़र कॉडवेल की टिप्पणी (ऊपर उपशीर्षक 2.1 में उद्धृत) को भी उलट कर पेश करते हैं। दीपक बख्शी यह साबित करते हैं कि इस दौर के भौतिकी के संकट की अभिव्यक्ति क्रिस्टोफ़र कॉडवेल ने भी की थी जिसके नतीजे के तौर बख्शी मार्क्सवाद में संकट की बात कहते हैं। परन्तु यहाँ वे कॉडवेल को ग़लत तरीक़े से पेश कर रहे हैं। कॉडवेल ने संकट की विवेचना करते हुए इसे बुर्जुआ दर्शन का संकट बताया था जहाँ बुर्जुआ दर्शन प्रणाली के अन्तर्गत फँसे रहने वाले वैज्ञानिक इस समाज का ही हिस्सा होते हैं। परन्तु दीपक बख्शी का दार्शनिक सर्कस यहाँ जारी रहता है। हम कॉडवेल की लेखनी के ज़रिये दीपक बख्शी की इस ग़लतबयानी को देखेंगे :

"भौतिकी का उदाहरण लीजिये। सबसे पहले तो यहाँ सामान्य सिद्धान्त या यान्त्रिकता का दर्शन मौजूद होता है जिसे बुर्जुआ वैज्ञानिक अचेतन रूप में स्वीकार कर लेता है। वह यह नहीं

जानता है कि यह अधिभूतवाद है, वह यह कल्पना करता है कि यही वस्तुओं को वैज्ञानिक यानी कि वस्तुगत तौर पर देखने का नज़रिया है। वह यह मानता है कि जिस प्रकार वस्तु बुर्जुआ अर्थव्यवस्था में प्रकट होती है केवल उसी प्रकार प्रकृति इन्सान के समक्ष प्रकट हो सकती है। यह दर्शन सभी विज्ञानों के लिए समान है। इसके अलावा वे विशिष्ट सिद्धान्त जो सीधे भौतिकी के व्यवहार से उत्पन्न होते हैं वे लगातार इस आम सिद्धान्त के अन्तरविरोध में खड़े होते हैं... सब ठीक चलता रहता है जब तक कि एक ऐसा समय आता है कि विज्ञान के हर क्षेत्र के व्यवहार में विशिष्ट सिद्धान्त से विज्ञान के आम सिद्धान्त का विरोध इतना बढ़ जाता है कि यान्त्रिकता के दर्शन की ही धज्जियाँ उड़ जाती हैं। जीव विज्ञान, भौतिकी, मनोविज्ञान, नृतत्वशास्त्र, और रसायन शास्त्र में प्रायोगिक आँकड़ों की पड़ताल का दबाव विज्ञान के अचेतन दर्शन को विखण्डित कर देता है। वैज्ञानिक विज्ञान के किसी आम सिद्धान्त के प्रति निराशावान हो जाते हैं और अनुभववाद में शरण ले लेते हैं, जहाँ विश्व दृष्टिकोण को पाने की कोशिशें त्याग दी जाती हैं, या सार-संग्रहवाद में शरण लेते हैं जहाँ हर क्षेत्र के सिद्धान्त को एक-दूसरे से असंगत रूप से जोड़ दिया जाता है, या विशिष्टीकरण में जहाँ सारे विश्व को किसी ख़ास विशिष्ट सिद्धान्त में अपचयित कर दिया जाता है। किसी भी परिस्थिति में विज्ञान अराजकता में बिखर जाता है और इंसान पहली बार विज्ञान से यथार्थ की किसी प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने की कोशिश में निराश हो जाता है। यही बुर्जुआ विज्ञान की मौजूदा हालत है, भौतिकी में संकट उसकी महज़ एक ख़ास अभिव्यक्ति है।" (क्रिस्टोफ़र कॉडवेल, 1939, *क्राइसिस इन फिज़िक्स,* पेज 60-61, *अनुवाद हमारा*)

कॉडवेल इस संकट को बुर्जुआ वर्ग का संकट बताते हैं परन्तु दीपक बख्शी इसे प्राकृतिक विज्ञान में संकट व मार्क्सवाद के दर्शन में ठहराव बताते हैं। वस्तुगत और आत्मगत के बीच पूँजीवादी समाज जो दरार खड़ी करता है यह संकट उसकी ही पैदाइश है और इसे हल करने का तरीक़ा इस दरार को मिटाने में है, यानी इस समाज को बदलने में है। परन्तु दीपक बख्शी की पूरी थीसिस इसकी उल्टी है उनके अनुसार मौजूदा संकट 'प्राकृतिक विज्ञान के संकट - मार्क्सवादी दर्शन के ठहराव - मार्क्सवाद सिद्धान्त के विकास' का संकट है और इस संकट को दूर करने के बाद ही क्रान्ति की समस्या भी हल हो सकती है। यानी, चीज़ों को उनके सिर के बल खड़ा कर दिया जाता है!

दीपक बख्शी खण्ड-खण्ड में मार्क्सवाद के हर सिद्धान्त पर मार्क्स व एंगेल्स की अवधारणाओं के बारे में लिख सकते हैं लेकिन जैसे ही सवाल इतिहास की व्यावहारिक समस्या पर आता है उनकी लेखनी संकट खोज लाती है। साफ़ है कि प्राकृतिक विज्ञान के इस संकट को समझने में दीपक बख्शी की अवधारणा मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और कॉडवेल से अलग है। वह इस मामले में कठमुल्ला साबित होते हैं। मार्क्स और एंगेल्स के ज़माने में भौतिकी के संकट का शोर नहीं था, यह हो भी नहीं सकता था क्योंकि मार्क्स और एंगेल्स के ज़माने की भौतिकी अपने पैरों पर खड़ी ही हो रही थी। परन्तु ज्ञान सिद्धान्त के उन्होंने जो सिरे दिये थे उसे लेनिन ने आगे विकसित किया और आधुनिक भौतिकी में संकट की अवधारणा का दार्शनिक सार बताया। ख़ुद वैज्ञानिकों की

एक अच्छी-ख़ासी जमात ने विश्व को अज्ञेय बनाने में लगे दार्शनिकों को मुँहतोड़ जवाब दिया। इतनी उम्मीद तो दीपक बख्शी से की जा सकती थी कि वे अपने विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से पहले कम से कम भौतिकी का इतिहास ही पढ़ लेते।

3. मार्क्सवाद व प्राकृतिक विज्ञान

दीपक बख्शी के विचार जगत में प्राकृतिक विज्ञान मानव व्यवहार से जनित अन्य शाखाओं से उन्नत पद पाता है, जिसे आगे दर्शन का आशीर्वाद प्राप्त होता है। मार्क्सवाद से पहले मौजूद दर्शन मानव अस्तित्व के दर्शन को और प्रकृति के दर्शन को अलग-अलग कर व्याख्यायित करते थे जिन्हें ध्वस्त कर मार्क्सवाद द्वन्द्वात्मक एकीकरण करता है। परन्तु दीपक बख्शी इस एकता को भंग करते हैं व यान्त्रिकतावादी समझदारी पेश करते हैं जिसके अनुसार प्राकृतिक विज्ञान ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से महत्वपूर्ण बन जाता है। दीपक बख्शी मार्क्स-एंगेल्स का हवाला देकर अपने यान्त्रिक श्रृंखला नियम को मार्क्सवादी समझदारी के तौर पर स्थापित करने का प्रयास भी करते हैं। अपनी थीसिस के पक्ष में गवाही दिलवाने के लिए उन्होंने मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं के उद्धरणों के साथ काफ़ी अत्याचार किया है। परन्तु वे इस प्रयास में असफल रहे हैं। हम प्राकृतिक विज्ञान के संकट का मार्क्सवादी विश्लेषण कर चुके हैं जो दीपक बख्शी की मार्क्सवाद के संकट की थीसिस का पूर्वाधार बनता है। एक-एक करके श्री बख्शी के सभी तर्क खोखले साबित होते हैं। लेख के इस हिस्से में हम दीपक बख्शी द्वारा अपने नियम का मार्क्सवाद द्वारा सत्यापन कराने के प्रयास का खण्डन करेंगे व यह देखेंगे कि प्राकृतिक विज्ञान को मार्क्सवाद किस प्रकार देखता है।

3.1 बख्शी द्वारा मार्क्स-एंगेल्स का ग़लत हवाला

दीपक बख्शी ने फ़ायरबाख के भौतिकवादी दर्शन और हेगेलवादी द्वन्द्ववादी भाववाद के निषेध से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विकसित होने की प्रक्रिया दिखाते हुए मार्क्स की डॉक्टोरल थीसिस, एंगेल्स द्वारा शेलिंग को जवाब, मार्क्स द्वारा 'हेगेलवादी दर्शन की सामान्य आलोचना', 'फ़ायरबाख पर निबन्ध', 'लुडविग फ़ायरबाख और जर्मन क्लासिकीय दर्शन का अन्त' व अन्य कृतियों से मार्क्स और एंगेल्स को उद्धृत किया है। परन्तु लेख के इस हिस्से में तारतम्यता नहीं है। बिना कोई गहन विश्लेषण किये वे चलताऊ तरीक़े से मार्क्सवादी दर्शन के उद्भव के समय को (उनके अनुसार 1837!) भी 'खोज' निकालते हैं। लेख में मार्क्स और एंगेल्स के कथनों को ज्यों का त्यों कई जगह पर लिख दिया गया है जिन्हें सही ढंग से उद्धृत भी नहीं किया गया है। हम यहाँ लेख के उन हिस्सों पर ही आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे जिनमें बख्शी ने प्राकृतिक विज्ञान और मार्क्सवादी दर्शन के अन्तर्सम्बन्ध की अपनी थीसिस के लिए मार्क्स और एंगेल्स का ग़लत हवाला दिया है। मार्क्स की डॉक्टोरल थीसिस का समाहार करते हुए वे बताते हैं कि :

"मार्क्स का यह लेख भौतिकी और दर्शन तथा यूनानी दर्शन के विकास की पड़ताल के बारे में

है।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा*)

परन्तु यह समाहार सही नहीं है। मार्क्स की थीसिस भौतिकी और दर्शन की पड़ताल नहीं बल्कि यूनानी प्रकृति दर्शन के इतिहास की समस्या पर आधारित थी। मार्क्स एपीक्यूरस को महज़ डेमाक्रिटस का शिष्य मानने से इन्कार कर दोनों के प्रकृति दर्शन का अन्तर स्पष्ट करते हैं। इस कृति में मार्क्स के रचना काल की न किसी भौतिकी की परिघटना का ज़िक्र आता है और न ही भौतिकी का हवाला मिलता है। यह प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन पर विमर्श नहीं है परन्तु दर्शन पर विमर्श है। मार्क्स द्वारा यूनानी भौतिकी की अणु की अवधारणा का विवरण दार्शनिक अर्न्तवस्तु तक पहुँचने के लिए किया गया है। निश्चित ही इस थीसिस में मार्क्स का मूल्यांकन आधुनिक भौतिकी की समस्याओं व अणु की संरचना तथा उसके भीतर झाँककर देख पाने में एक द्वन्द्वात्मक दृष्टि देता है। पर "भौतिकी और दर्शन तथा यूनानी दर्शन के विकास" तथा यूनानी प्रकृति दर्शन के अध्ययन में फ़र्क़ करना ज़रूरी है।

आगे बख्शी कहते हैं कि -

"1844 की पाण्डुलिपियों में मार्क्स दार्शनिकों और दर्शनों की प्राकृतिक विज्ञान के अपार ज्ञान से दूर रहने के लिए, जो असल में सभी ज्ञान का आधार है, आलोचना करते हैं"। (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त की समस्याएँ*)

इस रचना में मार्क्स ने ऐसा नहीं कहा है। यह बख्शी की ग़लतबयानी है। मार्क्स ने यह कहा है कि :

"प्राकृतिक विज्ञान ने विराट सक्रियता पैदा की है और लगातार निरन्तर बढ़ती सामग्री एकत्रित की है। दर्शन, हालाँकि इससे इतना ही विलग रहा है जितना यह दर्शन से। उनकी क्षणभंगुर एकता सिर्फ़ एक मृग मरीचिका थी।" (मार्क्स, 1977, इकोनोमिक एण्ड फ़िलोसोफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट्स, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृष्ठ 104, *अनुवाद हमारा*)

"प्राकृतिक विज्ञान...जीवन का आधार बनेगा।" (*वही,* पृष्ठ 105, *अनुवाद हमारा*)

मार्क्स जिस बात पर ज़ोर डालना चाहते हैं वह यह है कि विज्ञान केवल एक होता है, मनुष्य के जीवन के विज्ञान को और प्रकृति के विज्ञान को अलग करके नहीं देखा जा सकता है। यानी समाज के बदलाव के विज्ञान के लिए भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक आवश्यक पहुँच और पद्धति है और प्रकृति के बदलाव के विज्ञान के लिए भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक आवश्यक पहुँच और पद्धति है। परन्तु दीपक बख्शी इसे इस तरह से पेश करते हैं कि प्राकृतिक विज्ञान समस्त ज्ञान का आधार होता है। यह प्राकृतिक विज्ञान को बाकी अन्य ज्ञान शाखाओं से ऊँचा उठा देता है। आगे वे मार्क्स को 'जर्मन विचारधारा' से उद्धृत करते हुए कहते हैं कि :

"हम सिर्फ़ एक विज्ञान जानते हैं, इतिहास का विज्ञान। कोई व्यक्ति इतिहास को दो पहलुओं से देख सकता है और इसे प्रकृति के इतिहास और मनुष्य के इतिहास में बाँट सकता है। परन्तु ये दोनों पहलू अविभाज्य हैं; मनुष्य का इतिहास और प्रकृति का इतिहास एक दूसरे पर निर्भर करते हैं, जब तक मनुष्य का अस्तित्व है" (मार्क्स-एंगेल्स, जर्मन विचारधारा)। मार्क्स और एंगेल्स

द्वारा प्राकृतिक विज्ञान और मनुष्य के सामाजिक-ऐतिहासिक विकास में परस्पर सम्बन्ध और अविभाज्यता जो हमें जर्मन विचारधारा में देखने को मिलती है वह एंगेल्स द्वारा आगे व्याख्यायित की गयी थी।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त की समस्याएँ*)

जहाँ यह पंक्ति ख़त्म होती है उसके बाद मार्क्स ने एक ज़रूरी बात कही है जो बख्शी उद्धृत नहीं करते हैं क्योंकि वह उनकी थीसिस के लिए घातक साबित हो सकता था।

"प्रकृति का इतिहास, जो प्राकृतिक विज्ञान कहलाता है, अभी हमारी चिन्ता विषय नहीं है परन्तु हमें मनुष्य के इतिहास की पड़ताल करनी होगी, क्योंकि लगभग सारी विचारधारा इस इतिहास की विकृत अवधारणा है या उससे पूरी तरह अमूर्त अवधारणा है।" (मार्क्स-एंगेल्स, 2010, जर्मन आइडियोलोजी**,** पीपीएच, पृष्ठ 34, *अनुवाद हमारा*)

परन्तु दीपक बख्शी सबसे ज़्यादा चिन्ता प्राकृतिक विज्ञान की ही करते हैं। दूसरी बात, जर्मन विचारधारा की पाण्डुलिपियों में यह भाग मार्क्स और एंगेल्स ने काटा हुआ था। मार्क्स और एंगेल्स ने जर्मन विचारधारा में प्रकृति के इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान में फ़र्क़ किया है और सम्भवतः इस कारण ही इस हिस्से को काटा गया हो। इस हिस्से से अलग वे इस पुस्तक में जगह-जगह प्राकृतिक विज्ञान को मानव चेतना का रूप बताते हैं जिसका मानव इतिहास से अलग कोई इतिहास नहीं होता है। प्रकृति का इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान में अन्तर होता है। प्रकृति का इतिहास मनुष्य से पहले से मौजूद होता है। प्रकृति के इतिहास को प्राकृतिक विज्ञान में अपचयित नहीं किया जा सकता है। प्राकृतिक विज्ञान इतिहास में इंसान द्वारा प्रकृति को समझने और नियंत्रित करने के प्रयास में विकसित होता है, यह मानव चेतना का एक रूप है। मार्क्स के उपरोक्त कथन से जो आशय है वह प्रकृति और मानव समाज की एकरूपता है, जिसमें सिर्फ़ एक विज्ञान, इतिहास का विज्ञान कार्यरत है। यहाँ दीपक बख्शी द्वारा वही भोंड़ा प्रयास किया गया है जिसके अनुसार प्राकृतिक विज्ञान एक ऐसा क्षेत्र बन जाता है जिसका अध्ययन मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास के लिए न केवल अपरिहार्य है बल्कि मार्क्सवाद का विकास इस पर निर्भर करता है और इससे व्युत्पन्न होता है। यहाँ प्रकृति में बदलाव के विज्ञान और मानव समाज में हो रहे बदलाव के विज्ञान की जो एकता बार-बार मार्क्स और एंगेल्स पेश करते हैं उसे दीपक बख्शी भंग करते हैं और इनमें से प्रकृति के विज्ञान यानी प्राकृतिक विज्ञान को मानव समाज के बदलाव करने वाले कारक की निर्धारक भूमिका में पहुँचा देते हैं। मार्क्स के द्वारा इस हिस्से को काटना स्पष्ट है क्योंकि आगे वे लिखते हैं :

"नैतिकता, धर्म, अधिभूतवाद, और इनसे संगत सभी विचारधाराएँ व चेतना के रूप, स्वतंत्र होने का आवरण नहीं धारण कर सकते हैं। इनका कोई इतिहास नहीं होता है, बल्कि अपने भौतिक उत्पादन और क्रिया-व्यापार का विकास करते इंसान का, अपने विश्व और अपने चिन्तन में और चिन्तन के नतीजों में बदलाव को विकसित करते हुए इंसान का इतिहास होता है।" (*वही,* पृष्ठ 42, *अनुवाद हमारा*)

आगे इस पुस्तक में मार्क्स 'सामाजिक चेतना के रूप' शीर्षक में पुनः इस तरह अभिव्यक्त करते हैं :

"राजनीति, क़ानून, विज्ञान, आदि, कला का, धर्म का कोई इतिहास नहीं होता है।" (*वही,* पृष्ठ 101, *अनुवाद हमारा*)

"...परन्तु प्राकृतिक विज्ञान उद्योग व व्यापार के बग़ैर कहाँ होता? "शुद्ध" प्राकृतिक विज्ञान को उसकी सामग्री के समान ही लक्ष्य भी व्यापार तथा उद्योग, इंसान की *सेन्सुअस एक्टिविटी* से मिलता है।" (*वही,* पृष्ठ 46, *अनुवाद हमारा*)

दीपक बख्शी का तर्क फ़ायरबाख का तर्क है। फ़ायरबाख भौतिकीविद और रसायनविद के प्राप्त अनुभव का विशिष्टिकरण करते हैं तो मार्क्स उन्हें टोकते हैं और प्राकृतिक विज्ञान को इंसान की ऐन्द्रिक गतिविधि (सेन्सुअस ऐक्टिविटी) पर निर्भर बताते हैं। इसे वे 1844 की पाण्डुलिपियों में दोहराते हैं -

"उद्योग और प्रकृति का, इसलिए प्राकृतिक विज्ञान का मनुष्य से असल रिश्ता है।..प्राकृतिक विज्ञान...मनुष्य की असल ज़िन्दगी का आधार बनेगा, और ज़िन्दगी का एक आधार होना और विज्ञान कोई अलग आधार होना एक झूठ होगा।

"प्राकृतिक विज्ञान ने इंसान की ज़िन्दगी को भेदा है और तब्दील कर दिया है, वह भी सबसे ज़्यादा उद्योग के माध्यम से; व साथ ही इसने मनुष्य की आज़ादी के लिए आधार खड़ा किया है, हालाँकि इसका तात्कालिक असर मनुष्य को अमानवीय बनाने में है।

"उद्योग असल में इंसान का प्रकृति से रिश्ता है, प्रकृति का ऐतिहासिक रिश्ता, और इसलिए प्राकृतिक विज्ञान का मनुष्य से।" (मार्क्स, 1977, इकोनोमिक एण्ड फ़िलोसोफ़िकल मैन्युस्क्रिप्ट्स, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, पृष्ठ 104-5, *अनुवाद हमारा*)

वहीं बख्शी के अनुसार "वैज्ञानिक प्रयोग और उद्योग को ...व्यवहार माना जाना चाहिए।" साफ़ है कि वैज्ञानिक प्रयोग और इण्डस्ट्री के बीच समानता का नहीं मध्यस्थता का सम्बन्ध होता है। प्राकृतिक विज्ञान निश्चित ही व्यवहार का हिस्सा है परन्तु यह उद्योग द्वारा *मीडिएट* होता है। यह प्रमुख नहीं है। यानी मार्क्स के अनुसार प्राकृतिक विज्ञान की उत्पादन पर निर्भरता होती है। इस सवाल पर अगले हिस्से में हम विस्तार से बात करेंगे। ऊपर किये विमर्श से मार्क्स-एंगेल्स व बख्शी के दृष्टिकोण के बीच अन्तर स्पष्ट है तथा उनके ग़लतबयानी के प्रयास भी पकड़े गये हैं।

दीपक बख्शी की बात का दो स्तर पर खण्डन होता है। पहला यह कि दीपक बख्शी से अलग मार्क्स प्राकृतिक विज्ञान को 'सामाजिक चेतना के रूप' समझते हैं जिसे अन्य किसी ज्ञान शाखा पर वरीयता नहीं दी गयी है। दूसरा इसका विकास ऐतिहासिक तौर पर निर्धारित होता है। इतिहास में भी यह मानव व्यवहार की बुनियादी क्रिया उत्पादन के ज़रिये सक्रिय होती है। मार्क्स और एंगेल्स ने अन्य रचनाओं में भी इन दोनों पहलुओं पर लिखा है। हम उनपर नज़र डालने से पहले मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का एक अति संक्षिप्त ब्यौरा देना चाहते हैं।

3.2 मार्क्स और एंगेल्स का प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन

"प्रकृति द्वन्द्ववाद की कसौटी है।" - एंगेल्स

मार्क्स की गणित की पाण्डुलिपियाँ दर्शाती हैं कि उन्होंने गणित की कुछ समस्याओं का गहन अध्ययन किया था। इस अध्ययन की उन्हें पूँजी की गतिकी और उसके विस्तार की पड़ताल हेतु ज़रूरत पड़ी। इस दौरान उन्होंने लीब्निज़ से लेकर न्यूटन द्वारा रचित कैल्कुलस का अध्ययन किया। मार्क्स द्वारा कैल्कुलस पर टिप्पणियाँ बेहद महत्वपूर्ण थीं जिन्हें आगे चलकर तमाम गणितज्ञों ने स्वतन्त्र तौर पर भी विकसित किया। उनसे पहले भी कोची ने ऐसा प्रयास किया था परन्तु मार्क्स की इस सवाल को लेकर पहुँच अलग थी जिस पर डर्क स्ट्रुइक ने विशेष ध्यान दिया। आज कोई यह कहे कि इस अध्ययन से आधुनिक गणित में बदलाव किया जा सकता है तो यह मूर्खता होगी क्योंकि आज का गणित मार्क्स के युग से बहुत आगे बढ़ चुका है और उन समस्याओं को हल कर चुका है जिस पर मार्क्स उस समय लिख रहे थे। परन्तु इससे जो सीखा जा सकता है वह है प्राकृतिक विज्ञान का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने की पद्धति व पहुँच। मार्क्स द्वारा गणित का अध्ययन एंगेल्स के गणित के अध्ययन से ज़्यादा व्यापक और गहन था।

एंगेल्स ने प्राकृतिक विज्ञान का विस्तृत अध्ययन किया था जिसमें भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीव विज्ञान, गणित, एस्ट्रोनॉमी आदि शामिल थे। एंगेल्स द्वारा लिखित **ड्यूहरिंग मत खण्डन** व **प्रकृति में द्वन्द्वात्मकता** प्रमुख रचनाएँ हैं जिनमें एंगेल्स प्रकृति में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण के लागू होने और उसकी पुष्टि की बात करते हैं। पिछली शताब्दी में एंगेल्स के प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन को सोवियत रूस में और समाजवादी चीन में आधार बनाकर प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में विस्तार से कार्य किया गया। इस विषय पर विराट अध्ययन हुआ है। इसके इतिहास पर हेलेना शीहन, लौरेन ग्राहम से लेकर रोबर्ट कोहेन का लेखन ग़लतियों के बावजूद पठनीय है। मार्क्स-एंगेल्स की प्राकृतिक विज्ञान पर लिखी कृतियों से भी यही स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार मानव समाज व मानव मस्तिष्क की क्रियाओं से ऊपर प्राकृतिक विज्ञान का मार्क्सवादी दर्शन से कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं होता है। इनका एकमात्र सम्बन्ध इनकी एकरूपता में है, यानी मानव समाज व मानव मस्तिष्क की क्रियाओं और प्रकृति के विज्ञान की एकता, यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के रूप में। इतिहास में मानव समाज के विकास के साथ ही इसका विकास हुआ है। **ड्यूहरिंग मत खण्डन** में एंगेल्स लिखते हैं :

"जब मैंने गणित और प्राकृतिक विज्ञान का पुनः अध्ययन किया था, तो मेरा उद्देश्य ख़ुद को यह विश्वास दिलाना था कि जिस बात की सामान्य सच्चाई में मुझे कोई सन्देह नहीं था, वह बात अलग-अलग रूप में सच है। अर्थात मैं इस बात की सच्चाई को अलग-अलग रूप में परखना चाहता था कि प्रकृति में जो असंख्य परिवर्तन होते रहते हैं, उनके बीच भी गति के वे ही द्वन्द्वात्मक नियम बलपूर्वक अमल में आते हैं; जो इसी प्रकार मानव चिन्तन के विकास के इतिहास में भी एक सतत् सूत्र की भाँति दिखायी पड़ते हैं तथा धीरे धीरे मनुष्य की चेतना में प्रवेश करते हैं।" (एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत खण्डन,** पेज 20-21)

"प्रकृति द्वन्द्ववाद की कसौटी है; और आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान के बारे में यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसने द्वन्द्ववाद के प्रमाण के रूप में अत्यन्त मूल्यवान सामग्री दी है, जो दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और इस प्रकार उसने सिद्ध कर दिया है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति में हर चीज़ अधिभूतवादी ढंग से नहीं बल्कि द्वन्द्वात्मक ढंग से घटती रहती है। लेकिन प्रकृति विज्ञान के ऐसे विद्वानों की संख्या अभी बहुत थोड़ी है जिन्होंने द्वन्द्वात्मक ढंग से सोचना सीख लिया है, और खोज के परिणामों तथा पूर्वकल्पित चिन्तन प्रणलियों के बीच जो टकराव होता है उसी का नतीजा है कि इस समय सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान में एक गड़बड़ी फैल गयी है, जिसका लगता है कभी अन्त नहीं होगा और जो शिक्षक तथा शिक्षार्थी, लेखक तथा पाठक सभी को विक्षिप्त बनाये डाल रही है। अतः विश्व की, उसके विकास की, मनुष्यजाति के विकास की तथा मनुष्यों के मस्तिष्क में इस विकास के प्रतिबिम्ब की सच्ची अवधारणा केवल द्वन्द्ववाद की पद्धति द्वारा ही की जा सकती है, जो निर्माण और निर्वाण की, प्रगतिशील और प्रतिगामी परिवर्तनों की असंख्य क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को निरन्तर ध्यान में रखती है।" (*वही,* पेज-42)

दीपक बख्शी द्वारा 'गड़बड़ी' को संकट में तब्दील कर शोर मचाने की आदत के विपरीत एंगेल्स बताते हैं कि प्राकृतिक विज्ञान मार्क्सवादी दर्शन-पद्धति तक पहुँचे बिना ग़लत रास्तों में चक्कर काटता रहता है। इसकी विस्तारपूर्वक विवेचना हम 'प्राकृतिक विज्ञान और संकट' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं। एंगेल्स बताते हैं कि :

"मेरे लिए द्वन्द्ववाद के नियमों को प्रकृति में ज़बर्दस्ती ठूँसने का कोई प्रश्न नहीं उठा सकता था; मुझे तो इन नियमों को प्रकृति से खोज कर निकलना था और प्राकृतिक जगत के आधार पर उनको विकसित करना था।" (*वही,* पेज-23)

अपनी रचना **लुडविग फ़ायरबाख** में एंगेल्स उन तीन महती खोजों, जिन्होंने अधिभूतवादी दृष्टिकोण को हटाकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए जगह बनायी, के बारे में लिखते हैं :

"वास्तव में प्रकृति-विज्ञान, जो पिछली शताब्दी के अन्त तक प्रधानतः संग्रही विज्ञान, निष्पन्न वस्तुओं का विज्ञान था, हमारी शताब्दी में सारतः क्रम विषयक विज्ञान, प्रक्रियाओं का तथा इन वस्तुओं के उद्भव और विकास का और इन समस्त प्राकृतिक प्रक्रियाओं को एक सूत्र में बाँधकर उन्हें एक समष्टि का रूप देने वाले अन्तर्सम्बन्ध का विज्ञान बन गया।" इन तीन "महती खोजों" - "इकाई के रूप में कोशिका की खोज, दूसरी, ऊर्जा के रूपान्तरण की खोज और तीसरी डार्विन का उद्विकास का सिद्धान्त (थियरी ऑफ़ इवोल्यूशन) - ने प्राकृतिक प्रक्रियाओं के अन्तर्सम्बन्ध के हमारे ज्ञान को अत्यधिक वेग से आगे बढ़ाया है।

"इन तीन महती खोजों और प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र में और दूसरे बहुत बड़े क़दम बढ़ाये जाने की बदौलत हम अब प्रकृति की प्रक्रियाओं के अन्तर्सम्बन्ध केवल क्षेत्र विशेष में ही नहीं, बल्कि इन विशेष क्षेत्रों के बीच भी अन्तर्सम्बन्ध समग्रतः दिग्दर्शित कर सकते हैं और इस प्रकार आनुभविक प्रकृति-विज्ञान द्वारा प्रस्तुत तथ्यों के ज़रिये हम काफ़ी क्रमबद्ध रूप में, प्रकृति के अन्तर्सम्बन्ध का एक व्यापक चित्र दे सकते हैं।" (एंगेल्स, 2006, **लुडविग फ़ायरबाख और**

क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त, राहुल फ़ाउण्डेशन, पेज 39-40)

प्राकृतिक विज्ञान में हुई प्रगति ने भी इंसान को उसके सही दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के करीब पहुँचने में मदद की और आगे होने वाली खोजें इस क्रिया को क़दम-ब-क़दम आगे बढ़ाती जायेंगी। प्राकृतिक विज्ञान में हो रहे बदलावों से भौतिकवाद को भी विकसित होना होता है। यही मार्क्सवादी नज़रिया है।

"प्राकृतिक विज्ञान (मानव इतिहास के बारे में आम तौर पर) में हर युगप्रवर्तक खोज के साथ भौतिकवाद को अपना रूप बदलना होता है।" (*वही,* पेज 19)

परन्तु इतिहास में "प्राकृतिक विज्ञान में हर युगप्रवर्तक खोज" उत्पादन शक्तियों के विकास के ज़रिये होती है। मार्क्स ने **पूँजी** के खण्ड-एक में प्राकृतिक विज्ञान को "श्रम शक्ति से पृथक कर दी गयी उत्पादन शक्ति" बताया है जिसे पूँजी की सेवा में लगा दिया जाता है। विज्ञान इतिहास की अलग-अलग मँज़िलों जैसे कि आदिम समाज, दास व्यवस्था, सामन्तवाद, विभिन्न प्राक् पूँजीवादी सामाजिक संरचनाओं और पूँजीवाद तक विकसित होता हुआ आया है और समाजवाद के लघुजीवी प्रयोगों में भी विज्ञान ने अद्भुत रफ़्तार से तरक़्क़ी की। आज हम ऐसे दौर में जी रहे हैं जहाँ दुनिया भर में समाजवाद के प्रथम प्रयोग असफल हो चुके हैं और पूँजीवाद ने साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण के अपने इस अभूतपूर्व रूप से मरणासन्न, सड़े और परजीवी दौर में दुनिया को युद्ध, तबाही और ग़रीबी में धकेल दिया। आरम्भिक सभ्यता के सृजन से लेकर पुनर्जागरण और औद्योगिक क्रान्ति के बाद 20वीं शताब्दी के दौर समाज के उथल-पुथल या समाज के विकास के दौर थे। समाज की आर्थिक संरचना में बदलाव के दौरों में और विकास के दौर में विज्ञान व तकनोलॉजी में छलाँगें लगती रही हैं। विज्ञान व तकनोलॉजी उत्पादन शक्ति का ही अभिन्न अंग है जिन्हें पूँजीवाद में मुनाफ़ा पीटने के लिए ही लगा दिया जाता है। यही इसके ठहराव का कारण हैं। इसका ठहराव श्रम से विज्ञान के विभाजन में अभिव्यक्त होता है। यही वह उक्ति है जो मार्क्स ने विज्ञान के लिए दी थी - श्रम से कट कर विज्ञान पूँजी की सेवा में लगी उत्पादक शक्ति बन जाता है। मौजूदा दौर में उत्पादक शक्तियों के विकास का ठहराव ही विज्ञान व तकनीक का ठहराव है। यही वह बेड़ी है जो इसके विकास पर पड़ी हुई है। मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के बिना इस बेड़ी को भी तोड़ा नहीं जा सकता है। यही आकलन मार्क्स ने अपनी 1844 की पाण्डुलिपियों में किया है जहाँ वे कहते हैं कि "प्राकृतिक विज्ञान ने इंसान की ज़िन्दगी को भेदा और तब्दील कर दिया है, वह भी सबसे ज़्यादा उद्योग के माध्यम से; व साथ ही इसने मनुष्य की आज़ादी के लिए आधार खड़ा किया है, हालाँकि इसका तात्कालिक असर मनुष्य को अमानवीय बनाने में है।" (मार्क्स, इकोनोमिक एण्ड फ़िलोसॉफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट्स**,** पृष्ठ 105, *अनुवाद हमारा*)

आज प्राकृतिक विज्ञान का प्रयोग जिस क्षेत्र में सबसे ज़्यादा और उन्नत स्तर पर किया जा रहा है वह है युद्ध। इसका प्रयोग मनुष्य को मशीन बनाने में किया जा रहा है और "मनुष्य की आज़ादी के लिए आधार" सामाजिक क्रान्ति के बिना सम्भव नहीं है। यह वह वृहद् दृष्टिकोण है जो दीपक बख्शी द्वारा प्राकृतिक विज्ञान के सामाजिक बदलाव के यान्त्रिकतावादी दृष्टिकोण को ग़लत

साबित करता है। दीपक बख्शी के लिए प्राकृतिक विज्ञान में ठहराव के कारण मार्क्सवादी दर्शन में ठहराव आता है और इस कारण मार्क्सवादी सिद्धान्त में और मार्क्सवाद संकट में पड़ जाता है। मार्क्सवाद का मत इससे भिन्न है। एंगेल्स ने **प्रकृति में द्वन्द्वात्मकता** के परिचय में दिखाया है कि किस प्रकार सामाजिक परिवर्तनों के कारण ही प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में तब्दीली होती है। जिस प्रकार सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल प्रगति इतिहास में इनसे पूर्व हुई सामाजिक क्रान्तियों के बाद हुई और फिर इसने पलटकर उत्तरोत्तर सामाजिक परिवर्तनों को भी बल दिया, उसी तरह सामाजिक क्रान्तियों और उथल-पुथल ने ही उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल प्रगति में भूमिका निभायी। यही मार्क्स द्वारा विज्ञान को उत्पादक शक्ति के रूप में व्याख्यायित करने का अर्थ है। दूसरे शब्दों में, जब तक पुराने पड़ चुके उत्पादन सम्बन्धों को क्रान्तियों द्वारा बदला नहीं जाता तब तक वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल धरातल पर भी कोई क्रान्तिकारी युगान्तरकारी छलाँग लगना मुश्किल होता है (हालाँकि महत्वपूर्ण परिमाणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं) और विज्ञान और तकनोलॉजी के क्षेत्र में लगने वाली हर नयी छलाँग फिर से क्रान्तिकारी परिवर्तनों की ज़मीन भी तैयार करती है।

3.3 मार्क्सवाद में संकट या पूँजीवाद का संकट

आज विज्ञान का संकट उत्पादक शक्तियों के ठहराव का संकट है। यही वह संकट है जिसे न समझ पाने के कारण दीपक बख्शी मार्क्सवाद के ऊपर यह ज़िम्मेदारी डाल देते हैं कि वह भौतिकी में हुई नयी खोजों और नये सिद्धान्तों को व्याख्यायित कर स्वयं का विकास करे और अपना संकट दूर करे। अव्वलन तो यह मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त का संकट नहीं, बल्कि बुर्जुआ दर्शन, विज्ञान और सिद्धान्त का संकट है और दूसरी बात यह कि मार्क्सवाद ने भौतिकी के क्षेत्र में पेश नये सिद्धान्तों की व्याख्या की दिशा में बहुत काम किया है, जिनकी श्री बख्शी को जानकारी नहीं है। उत्पादक शक्तियों के ठहराव के संकट को दूर करने का काम सामाजिक क्रान्ति के ज़रिये किया जा सकता है। सोवियत रूस में प्राकृतिक विज्ञान को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से देखने की नज़र दी गयी और वहाँ इस सवाल पर ज़बर्दस्त दार्शनिक बहसें चलीं। ब्लोखिंस्तेव, व्लादिमिर फ़ोक, लैन्दाऊ से लेकर रोसेंफ़ेल्ड, बोर्न, लेंजविन व तमाम प्राकृतिक वैज्ञानिकों ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण को अपनाया और आधुनिक भौतिकी के विकास में मदद की। इस दृष्टिकोण से ताकेतानी ने तीन मंज़िल का सिद्धान्त भी दिया और क्वाण्टम भौतिकी की प्रेक्षण समस्या का हल भी निकाला। जिन समाजों में मानवता की रचनात्मकता और नवोन्मेष पर मुनाफ़े की ताक़तों द्वारा लगायी गयी पाबन्दियाँ हटा दी गयीं, उन समाजों में विज्ञान ने चमत्कारिक रफ़्तार से तरक्की की। सोवियत संघ में 1920 से लेकर विशेष तौर पर 1970 के दशक के अन्त तक सैद्धान्तिक और प्रायोगिक विज्ञान दोनों के ही क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास हुआ। राज्यसत्ता पर संशोधनवाद के काबिज़ होने का असर अधिरचना के विभिन्न क्षेत्रों में आते-आते कुछ समय लगना स्वाभाविक था। फ़ॉक का यह कथन वैज्ञानिकों के बीच उस दौर की आम अभिव्यक्ति

था - "दिक्-काल और गुरुत्वाकर्षण-सम्बन्धित हमारे विचारों के सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और विशेषकर लेनिन के भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना के प्रभाव में निर्मित हुए थे।" (व्लादिमिर फ़ोक, *थियरी ऑफ़ स्पेस, टाइम एण्ड ग्रेविटेशन,* पृष्ठ 16) समाजवादी सोवियत रूस में और चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान प्राकृतिक विज्ञान में द्वन्द्व की पड़ताल करने वाली पत्रिकाओं - सोवियत संघ में **अण्डर दि बैनर ऑफ़ मार्क्सिस्म** और चीन में निकलने वाला जर्नल **डायलेक्टिक्स ऑफ़ नेचर** इसके ही प्रातिनिधिक उदाहरण हैं। केवल तभी विज्ञान के संकट को दूर किया जा सकता है जब पूँजी की बेड़ियों से विज्ञान मुक्त हो जाये।

आज की आधुनिक भौतिकी पर नजर डालें तो **हिग्स बुसोन** के मिलने के बाद भी आधुनिक भौतिकी में संकट के गीत बजने लगे हैं। और यह लाज़िमी भी है। कारण यह कि इस खोज की व्याख्या भी एक *ए प्रायोरी* द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से नहीं की जा रही है। नतीजतन, नियतत्ववाद और अज्ञेयवाद के दो छोरों के बीच दोलन स्वाभाविक है। विज्ञान में संकट के अन्य ठोस भौतिक कारण भी मौजूद हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्पेन देश है जहाँ आर्थिक मन्दी के चलते सरकार ने दो साल पहले अपने विज्ञान मन्त्रालय को ही ख़त्म कर दिया। यूरोप में लगभग हर सरकार ने प्राकृतिक विज्ञान पर हो रहे खर्च को 60-80 फ़ीसदी कम किया है और यही कारण है कि आज के ऐतिहासिक युग का महानतम वैज्ञानिक प्रयोग (सर्न का हाईड्रॉन कोलाइडर प्रयोग) भी वित्तपोषण के अपर्याप्त होने के कारण अपेक्षित गति से आगे नहीं बढ़ पा रहा है। इस संकट से निजात पाना समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के बिना असम्भव है।

परन्तु दीपक बख्शी का मत अलग है। उनके मतानुसार आज का कार्यभार :

"मार्क्सवादी नज़रिये से विज्ञान (ख़ास तौर पर भौतिकी में, एस्ट्रोनोमी, जैनेटिक्स, बायोटेक्नॉलोजी... का अध्ययन, उनकी समझ बनाना, बहस-मुबाहिसे में उतरना और विज्ञान के पिछले 150 सालों के सिद्धान्तों को विकसित करना होगा।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्याएँ, अनुवाद हमारा*)

परन्तु आज हम फ़ैराडे के ज़माने में नहीं जी रहे हैं। फ़ैराडे बेहद ग़रीब परिवार में पैदा होने के कारण उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाये परन्तु इसके बावजूद वे भौतिकी और रसायन विज्ञान में महानतम वैज्ञानिक अविष्कार अंजाम देने व नये सिद्धान्त रच पाने में सफल हुए। फ़ैराडे किताब पर जिल्द लगाने वाली दुकान में काम करते थे और इस दुकान के ही पिछले आँगन में विज्ञान की किताबें पढ़कर स्वयं रसायन विज्ञान तथा भौतिकी के प्रयोग करते थे। परन्तु आज के युग में आधुनिक भौतिकी की सैद्धान्तिकी या प्रयोगों को दीपक बख्शी या कोई भी अपने घर के आँगन में नहीं आज़मा सकता है। "विज्ञान के पिछले 150 सालों के सिद्धान्तों को विकसित" करने के लिए हमें सर्न और लीगो जैसी विशाल प्रयोगशालाएँ चाहिए। परन्तु ये प्रयोगशालाएँ आज पूँजी की सेवा में लगी हुई हैं। सर्न प्रयोगशला में एक दशक से ऊपर से वैज्ञानिक सैद्धान्तिक विकास के लिए जो माथापच्ची कर रहे हैं वह प्रक्रिया बार-बार थम जाती है। संक्षेप में कहें तो यह रुकावट पूँजी निवेश न हो पाने के कारण, शोध नीति में निवेशकों के प्रति संस्थान की जवाबदेही के कारण

और वैज्ञानिकों के बीच पैटेन्ट, कॉपीराइट और पर्चे छपाने की होड़ के चलते आती है। दूसरा, बुर्जुआ समाज की परवरिश के चलते उपजी वैज्ञानिकों की ग़लत दार्शनिक प्रतिस्थापनाएँ उन्हें सही नतीजों पर नहीं पहुँचने देती हैं। आज पूँजी की बेड़ियों में जकड़ा विज्ञान संकट का शिकार है। इन बेड़ियों को चकनाचूर किये बिना हम विज्ञान के संकट को दूर नहीं कर सकते हैं। परन्तु दीपक बख्शी का उपरोक्त तर्क इसके बिलकुल उलट है, उनके अनुसार क्रान्ति के विज्ञान को विकसित करने के लिए हमें प्राकृतिक विज्ञान को विकसित करना होगा। यह इसलिए कि वे न तो प्राकृतिक विज्ञान का इतिहास ही जानते हैं और न ही आधुनिक भौतिकी के मौजूदा व्यवहार से वाक़िफ़ हैं।

प्राकृतिक विज्ञान पर दीपक बख्शी द्वारा मार्क्सवादी दृष्टिकोण की निर्भरता के सिद्धान्त को मार्क्सवाद से आशीर्वाद दिलाने का प्रयास बिखर गया है। दीपक बख्शी की तर्क प्रणाली मार्क्सवादी विश्व-दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं है। मार्क्सवाद का विश्व-दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जिसे मार्क्स और एंगेल्स ने प्रकृति, मानव समाज तथा मानव चिन्तन के विज्ञान के रूप में व्याख्यायित किया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण को समाज, प्रकृति व मानव चिन्तन के विकास के अनुसार विकसित और व्याख्यायित होना होता है न कि इसके उलट समाज, प्रकृति व मानव चिन्तन को इस दृष्टिकोण पर खरा उतरना होता है। यह विश्व-दृष्टिकोण वास्तव में प्रकृति, समाज और चिन्तन के तार्किक और वैज्ञानिक प्रेक्षण, विश्लेषण व सामान्यीकरण की प्रक्रिया में ही विकसित हुआ है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी किसी भी सामाजिक, प्राकृतिक या मानव चिन्तन के जगत की परिघटना को इस विज्ञान की दृष्टि से देखते हैं और यही प्रक्रिया इसी क्रम में इस विज्ञान को उत्तरोत्तर विकसित और समृद्ध भी करती है। इस विज्ञान की समृद्धि में सबसे बड़ी भूमिका सामाजिक व्यवहार की होती है। सामाजिक व्यवहार में भी उत्पादन व वर्ग संघर्ष सबसे प्रमुख महत्व रखते हैं। वर्ग संघर्ष ही इतिहास में समय-समय पर सामाजिक क्रान्तियों के रूप में परिणत होता है। इन सामाजिक क्रान्तियों की भी विज्ञान के विकास में महती भूमिका होती है। इतिहास के मौजूदा दौर में यह वैज्ञानिक समाजवाद के विज्ञान का आधार बनता है। यह खुले तौर पर सर्वहारा वर्ग की सेवा करने की घोषणा करता है। विश्व इतिहास की पिछली दो शताब्दियों में पूँजीवाद के ख़िलाफ़ जारी संघर्षों, सफल और असफल क्रन्तियों के अनुभवों के कुल योग के रूप में वैज्ञानिक समाजवाद विकसित हुआ। मार्क्स और एंगेल्स के बाद लेनिन और स्तालिन ने रूसी क्रान्ति के दौर में मार्क्सवाद को एक नये क़दम की ओर बढ़ाया और माओ ने चीनी क्रान्ति और विशेष तौर पर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में इसे नयी ऊँचाई तक पहुँचाया। आधुनिक भौतिकी से लेकर कला के उत्तरोत्तर विकास के क्षेत्र में भी सामाजिक क्रन्तियों ने ही अग्रिम भूमिका निभाते हुए एक ओर मानव सृजनशीलता के विकास को निर्बन्ध किया जो कि उत्पादक शक्तियों का सबसे अहम पहलू है और दूसरी ओर उत्पादक शक्तियों के वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल पहलू के विकास को भी प्रेरणा दी। पुराने उत्पादन सम्बन्धों की बेड़ियों से मुक्त हुए बिना, मानव समाज विज्ञान, कला, साहित्य, संस्कृति के क्षेत्र में भी जड़ता का शिकार हो जाता है (हालाँकि, परिमाणात्मक विकास लगातार होते रहते हैं) और ऐसे दौरों में ही ग्राम्शी के शब्दों में "रुग्ण लक्षण"

जन्म लेते हैं। क्या आज विज्ञान और कला दोनों की ही दुनिया में ऐसे रुग्ण लक्षणों को नहीं देखा जा सकता है? परन्तु दीपक बख्शी सरीखे राजनीतिक नौदोलतिए इन लक्षणों का कारण मार्क्सवाद में देखते हैं। दीपक बख्शी अपने लेख में मार्क्सवादी दर्शन में ठहराव और मार्क्सवादी सिद्धान्त के संकट से राजनीतिक परिणाम भी निकालते हैं। आइये अब इस 'केपुट मॉर्चुअम' (आसवन के अवशेष) के ऐतिहासिक और राजनीतिक नतीजों की पड़ताल कर लेते हैं।

4. बुर्जुआ दार्शनिक हमले व मार्क्सवाद की ग़लत व्याख्या का संकट

"कोई यह नहीं सोचता कि कितना ख़ून बहा है।" - दांते

मार्क्सवाद लगातार विकसित होता हुआ विज्ञान है जो हज़ारों-लाखों इंसानों के सामूहिक सामाजिक व्यवहार के ज़रिये मानव समाज और प्रकृति से जुड़े हर आयाम में विकसित हो रहे मानव ज्ञान का सामान्यीकरण करता है। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ जैसे प्रतिभावान सामाजिक वैज्ञानिकों की भूमिका निश्चित तौर पर अहम होती है और इस वैज्ञानिक सामान्यीकरण के काम को वे अंजाम देते हैं। आधुनिक भौतिकी के क्षेत्र में ताकेतानी, सकाता से लेकर सोवियत काल में बोरिस हेस्सेन से लेकर व्लादिमिर फ़ोक ने तो वहीं कला के क्षेत्र में पिकासो, बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और आइज़ेंस्ताइन व अन्य कलाकारों ने भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत अपने-अपने कर्मक्षेत्रों में प्रयोग, खोज व सैद्धान्तिकीकरण किया जिसने मार्क्सवादी सिद्धान्त में इज़ाफ़ा किया। परन्तु यह बिलकुल सीधे-सपाट रास्ते से नहीं हुआ बल्कि बेहद गहन और गम्भीर वैचारिक संघर्षों के जटिल, टेढ़े-मेढ़े और अन्तर्गुन्थित रास्तों से हुआ है। परन्तु दीपक बख्शी बीसवीं शताब्दी में मार्क्सवाद में हुए इन सैद्धान्तिक इज़ाफ़ों को ख़ारिज कर देते हैं या उनका ज़िक्र ही नहीं करते। प्राकृतिक विज्ञान के मार्क्सवादी दर्शन से रिश्ते की यान्त्रिक समझदारी क़ायम करने के बाद वे मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त के बीच भी यान्त्रिक सम्बन्ध क़ायम करते हैं। उनके अनुसार "भविष्य के सैद्धान्तिक, विचारधारात्मक व राजनीतिक सवालों के आकलन में" दार्शनिक सवाल प्रमुख होता है। दीपक बख्शी की ***'प्राकृतिक विज्ञान - मार्क्सवादी दर्शन - मार्क्सवादी सिद्धान्त'*** की यान्त्रिक श्रृंखला में हम प्राकृतिक विज्ञान-मार्क्सवादी दर्शन की कड़ी की बात कर चुके हैं। अब इस यान्त्रिक श्रृंखला की दूसरी कड़ी पर बात कर लेते हैं।

दीपक बख्शी अपने लेख की शुरुआत इस घोषणा से करते हैं कि आज मार्क्सवादी सिद्धान्त का विकास संकट में है और इसमें विकास की ज़रूरत सभी क्रान्तिकारी धड़े महसूस कर रहे हैं। दीपक बख्शी बताते हैं कि 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' का प्रयास इस ज़रूरत की पूर्ति के लिए है। दीपक बख्शी के शब्दों में:

"कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा पेश किये गये सिद्धान्तों व विचारों का विकास आज एक बेहद कठिन संकट से गुज़र रहा है। लेनिन के हाथों में मार्क्सवाद एक तरफ़ तो विकसित हुआ और वहीं दूसरी तरफ़ मूलभूत सवालों व चुनौतियों से इसका सामना हुआ।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा*)।

यहाँ लेनिन और मार्क्स-एंगेल्स के बीच फ़र्क़ से यह बात ज़ाहिर है कि बख्शी के अनुसार लेनिन के दौर से ही मार्क्सवाद के सामने दिक़्क़ततलब अनुत्तरित प्रश्न उठने शुरू हो गये थे। आगे वे लिखते हैं :

"इक्कीसवीं शताब्दी की शुरुआत में मार्क्सवादी सिद्धान्त में एक गुणात्मक छलाँग निरपेक्ष रूप से ज़रूरी (इम्पेरेटिव) है" और "विश्व भर में कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी धड़े बुर्जुआ सैद्धान्तिक हमलों के आगे कमज़ोर और असहाय महसूस कर रहे हैं...जो लोग इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि मार्क्सवाद का विकास संकट से गुज़र रहा है वे मार्क्सवाद के उभरने व परिपक्व होने की आशा करेंगे...एंगेल्स द्वारा मार्क्सवादी सिद्धान्त को पूर्ण बनाने का प्रयास, जो उन्होंने मार्क्स की सलाह पर किया, हमें कहीं भी अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में लेनिन के बिखरे हुए कार्य के बाद देखने को नहीं मिलता है।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा*)

यहाँ वह साफ़ तौर पर लेनिन के प्रयासों को 'बिखरा' हुआ मानते हैं और स्तालिन एवं माओ के अवदानों को बिलकुल सिरे से ख़ारिज कर देते हैं। आगे वह संकट की बात जारी रखते हुए कहते हैं कि आज मार्क्सवाद में नये सिद्धान्तों की ज़रूरत है :

"हमारा यह मत है कि आज मार्क्सवादी सिद्धान्त के 'विकास' की जो दशा है उसमें पुराने सिद्धान्तों में किसी भी क़िस्म के संयोजन से कुछ नहीं होगा। किसी भी एकतरफ़ा या असन्तुलित सिद्धान्त से मौजूदा परिस्थिति में बदलाव नहीं आने वाला है। आज हमें मार्क्सवाद के तमाम क्षेत्रों में सुसंगत और विशद सिद्धान्तों की ज़रूरत है।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा*)

बख्शी की सैद्धान्तिक 'संघर्ष' की माँग का आधार उनकी मार्क्सवाद की व्याख्या को समझे बिना नहीं जानी जा सकती है। उनके अनुसार -

"मार्क्सवादी सिद्धान्त और मार्क्सवादी दर्शन के बीच अन्तर्सम्बन्ध मार्क्सवाद के विकास में सबसे महत्वपूर्ण आधार है।"

"सामाजिक-ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में किस तरह आवश्यकता और स्वतन्त्रता सही द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध में स्थानान्तरित होंगे यह न तो आर्थिकी का सवाल है, न इतिहास का और न ही राजनीति का सवाल है बल्कि यह दर्शन का सवाल है।" (*वही, अनुवाद हमारा*)।

आइये दीपक बख्शी के इस नवीन 'दर्शन-सिद्धान्त' की विचार प्रणाली पर सिलसिलेवार आलोचनात्मक दृष्टि डालें। दीपक बख्शी क्रान्ति के विचारधारात्मक, राजनीतिक और सैद्धान्तिक प्रश्नों के लिए दर्शन को प्रमुख बताते हैं। निश्चित ही सही दार्शनिक रोशनी में ही इन सभी प्रश्नों पर बात हो सकती है क्योंकि इन प्रश्नों में दार्शनिक अवस्थिति अभिव्यक्त होती है। दार्शनिक नज़रिया सैद्धान्तिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रश्नों का ही सार्वभौमिकीकरण है। सैद्धान्तिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रश्न दार्शनिक नज़रिये के विशिष्टीकरण हैं। क्रान्ति का सवाल 'आवश्यकता और स्वतन्त्रता' को राजनीति, आर्थिकी और इतिहास में ही हल करता है परन्तु

यहाँ बख्शी एक यान्त्रिक बँटवारा करते हैं और दर्शन के सवाल को इन सबसे ऊँचा बना देते हैं। मार्क्सवाद राजनीति, सिद्धान्त और विचारधारा के इस यान्त्रिक बँटवारे को ही ग़लत मानता है। दीपक बख्शी सवाल पूछते हैं कि इतिहास में आवश्यकता और स्वतन्त्रता के द्वन्द्व का हल किस नज़रिये की रोशनी में होगा; ग़ौर कीजिए कि आवश्यकता और स्वतन्त्रता दार्शनिक प्रवर्ग हैं; इस प्रश्न का जवाब देते हुए श्री बख्शी कहते हैं कि इस सवाल का जवाब दार्शनिक दृष्टिकोण से ही दिया जा सकता है। यह तर्क ही गोल है जिसमें सवाल के अन्दर पहले से ही जवाब छिपा हुआ है। अपने इस आवश्यकता और स्वतन्त्रता के द्वन्द्व के सवाल के ज़रिये वे यह साबित करते हैं कि दर्शन का सवाल मार्क्सवाद में मुख्य बिन्दु है। मार्क्स और एंगेल्स ने इस यान्त्रिक दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए कहा था :

"भौतिकवाद मूलतया द्वन्द्वात्मक है और अब उसे अन्य विज्ञानों के ऊपर खड़े हुए किसी दर्शनशास्त्र की आवश्यकता नहीं है।" (एंगेल्स, ड्यूहरिंग मत खण्डन, पेज 47)

"सारा दर्शनशास्त्र प्रकृति और इतिहास के निश्चित विज्ञान का अंग बन जाता है।...पर जिस तरह प्रकृति की द्वन्द्वात्मक धारणा पूरे प्रकृति दर्शन को अनावश्यक और असंभव बना देती है, उसी तरह उपरोक्त धारणा (इतिहास की मार्क्सवादी धारणा) इतिहास के क्षेत्र में दर्शन को ख़त्म कर देती है।" (एंगेल्स, लुडविग फ़ायरबाख व क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त, पृष्ठ 51-52)

मार्क्सवाद के उद्भव में दार्शनिक सवाल अहम था क्योंकि मार्क्स और एंगेल्स के बौद्धिक जीवन की जब शुरुआत हुई तब विशेष रूप से दर्शन के आवरण में राजनीतिक टकराव हो रहे थे। परन्तु इसके बाद मार्क्स और एंगेल्स ने उस दौर के राजनीतिक संघर्षों में हिस्सेदारी की और उनकी समझ में राजनीतिक व्यवहार ने उनके आगे के जीवन का रास्ता तय किया, और वे 'वैज्ञानिक समाजवाद' तक पहुँचे। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को तो उनसे स्वतन्त्र रूप में एक हद तक जर्मन मज़दूर डिएत्ज़गेन ने भी खोज निकाला था। परन्तु उसे सबसे परिष्कृत रूप देना व इतिहास तथा विज्ञान में लागू करने का कार्यभार मार्क्स और एंगेल्स ने स्वतन्त्र रूप से पूरा किया था। यह उन्होंने केवल दर्शन या प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन से ही नहीं बल्कि अपने राजनीतिक व्यवहार से भी किया। एंगेल्स लिखते हैं :

"...यह धारा मूलभूत रूप से मार्क्स के नाम के साथ जुड़ी हुई है...मैं इससे इनकार नहीं कर सकता कि मार्क्स के साथ चालीस वर्षों के अपने सहयोग के समय और इससे पहले भी इस सिद्धान्त की बुनियाद डालने और विशेषकर इसे विकसित करने में मेरा एक हद तक स्वतन्त्र योगदान रहा है। पर इसके अग्रणी, मूलभूत सिद्धान्तों का अधिकतर भाग, ख़ासकर अर्थशास्त्र और इतिहास के क्षेत्र में, और सर्वापरि इन सिद्धान्तों का सटीक निरूपण मार्क्स की देन है।" (एंगेल्स, लुडविग फ़ायरबाख और क्लासिकी जर्मन दर्शन का अन्त, पेज 35)

"इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा और बेशी मूल्य के द्वारा पूँजीवादी उत्पादन के रहस्य का उद्घाटन इन दोनों महान आविष्कारों के लिए हम मार्क्स के आभारी हैं। इन आविष्कारों के कारण समाजवाद एक विज्ञान बन गया।" (एंगेल्स, ड्यूहरिंग मत खण्डन, पेज 49)

इतिहास के दौर विशेष में समाज में बदलाव सामाजिक व्यवहार के अलग-अलग आयामों में अभिव्यक्त होते हैं जिनके सार को व्यवहार विशेष के क्षेत्र के सिद्धान्त में अभिव्यक्त किया जाता है। आधुनिक भौतिकी में पदार्थ के सूक्ष्म स्तर की संरचना की गतिकी को क्वाण्टम मैकेनिक्स अभिव्यक्त करती है तो पूँजी की गतिकी को बेशी मूल्य का सिद्धान्त अभिव्यक्त करता है। समाज की गतिकी को उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियो के अन्तरविरोध को समाहित करने वाली ऐतिहासिक भौतिकवादी धारणा में अभिव्यक्त किया जाता है। इन सभी विज्ञानों का विश्व दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद होता है। इस प्रस्तुति में जो एकरूपता है दीपक बख्शी इसे भंग कर देते हैं जिससे कि आगे माओ और स्तालिन के मूल्यांकन में उनकी "शुद्ध" दार्शनिक कृतियों में हुई 'ग़लतियों' को आधार बनाकर उनके समस्त सैद्धान्तिक और राजनीति कर्म को ग़लत साबित कर सकें। वे लिखते हैं कि :

"इस लेख में हमने हाइडेगर और देरीदा के सिद्धान्तों जैसे मार्क्सवाद-विरोधी सिद्धान्तों के बारे में बात नहीं की है। लेकिन 'मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण की विवेचना' या 'मार्क्सवादी सिद्धान्त के आम विकास' के लिए कोई हाइडेगर, देरीदा, कार्ल कोर्श, जॉर्ज लुकाच या अल्थूसर कोई संकट उत्पन्न नहीं करते। इन बुद्धिजीवियों का दुनियाभर के कम्युनिस्टों के क्रान्तिकारी व्यवहार से कोई सीधा महत्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं था और न ही यह मार्क्सवादी सिद्धान्त के क्षेत्र में किसी संकट या समस्या को पैदा करने की स्थिति में थे। केवल कम्युनिस्टों की आन्तरिक सीमाएँ, कमज़ोरियाँ और असफलताएँ ही सिद्धान्त में ऐसी 'समस्या' पैदा कर सकती हैं।"

वैसे तो जॉर्ज लूकाच और एक हद तक अल्थूसर के समूचे सैद्धान्तिक व राजनीतिक जीवन के बारे में ऐसी टिप्पणी तथ्यतः ग़लत है कि उनका "क्रान्तिकारी व्यवहार से कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं था" लेकिन अभी हम इसमें नहीं जायेंगे क्योंकि श्री बख्शी की हरेक अज्ञानतापूर्ण टिप्पणी का विवेचन करना किसी एक लेख में सम्भव नहीं है। आइये अब इन आन्तरिक समस्याओं पर मन्थन करें जो मार्क्सवाद के संकट के लिए ज़िम्मेदार हैं।

4.1 मार्क्सवाद में संकट

दीपक बख्शी मार्क्सवाद में संकट की पहली अभिव्यक्ति 1920 के दशक में मार्क्सवाद पर शुरू हुए हमले के रूप में बताते हैं जब मार्क्स और एंगेल्स के दर्शन के बीच अन्तर करने की कोशिश की गयी। दीपक बख्शी के अनुसार 1920 का संकट मुख्यतः एंगेल्स द्वारा प्रकृति में द्वन्द्ववाद व्याख्यायित करने के सवाल को लेकर था। सिडनी हुक, जॉर्डन, लिख्तेम से लेकर ज्याँ पॉल सार्त्र, मौरिस लेफ़ेब्र तक ने इस सवाल पर एंगेल्स की आलोचना रखी। जहाँ मार्क्स को क्रान्तिकारी व मानवीय समाज की क्रान्तियों के ज्ञान के अध्येता के रूप में बताया गया वहीं एंगेल्स को प्रत्यक्षवादी व अनुभववादी के रूप में पेश किया गया। दीपक बख्शी ने लेख के इस हिस्से को हेलेना शीहन की किताब 'मार्क्सवाद और प्राकृतिक विज्ञान के दर्शन' के शोध पर आधारित किया है। वह कहते हैं कि इस हमले का मार्क्सवादियों की तरफ़ से और ख़ास तौर

पर माओ और स्तालिन तथा कम्युनिस्ट पार्टियों (सोवियत रूस व चीन) द्वारा जवाब नहीं दिया गया। यह तथ्यतः ग़लत है। हेलेना शीहन की किताब में ही प्रस्तुत एंगेल्स के पक्ष में लिखने वाले सिद्धान्तकारों (जिनमें कई नाम सोवियत रूस से हैं) के पक्ष को दीपक बख्शी बिलकुल ग़ायब कर देते हैं। दीपक बख्शी ज़ोर देते हैं कि मार्क्सवाद पर इस हमले का जवाब नहीं दिये जाने का कारण दर्शन के सवाल को तरजीह नहीं दिया जाना है। वह कहते हैं कि :

"मार्क्सवादियों के धड़ों में आज कई लोगों के अनुसार मार्क्सवाद किसी 'नये' दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है या नहीं इस पर बात करना या बहस करना ज़रूरी व अर्थपूर्ण नहीं है। अगर 'सर्वहारा की तानाशाही' लागू करने में कोई भी भ्रम नहीं है तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्राकृतिक विज्ञान पर लागू होने के सवाल का समाधान निकालना या उस पर बहस करना किसी भी महत्व या तात्कालिकता से रहित हो जाता है।"

"कामरेड स्तालिन और कामरेड माओ ने लेनिन की मृत्यु के बाद बुर्जुआ दार्शनिकों के हमले के ख़िलाफ़ कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया।"

"मार्क्स और एंगेल्स की मृत्यु के बाद एक तरफ़ तो काउत्स्की, हिल्फ़र्डिंग और दूसरी तरफ़ लूकाच, कोर्श, ग्राम्शी और अल्थूसर ने अपनी आलोचना के पहले दौर में मार्क्स के सर्वहारा की तानाशाही के विचार का ज़ोर देकर समर्थन किया और मार्क्स की अमर कृति **पूँजी** को सामाजिक ऐतिहासिक विकास को देखने के लिए चुनने में कोई दुविधा महसूस नहीं की। परन्तु इन विचार शाखाओं का अन्ततः क्या विकास हुआ यह सभी जानते हैं। इनसे अलग, अगर हम लेनिन-स्तालिन-माओ की क्रान्तिकारी शाखा को देखें तो हम पाते हैं कि उन्हें इन अन्तरराष्ट्रीय बहसों ने आन्तरिक और मुखर तौर पर प्रभावित किया। लेनिन ने दूसरे इण्टरनेशनल के लोगों के साथ गहन राजनीतिक और विचारधारात्मक युद्ध किया। परन्तु स्तालिन और माओ ने लूकाच या कोर्श के ख़िलाफ़ कोई मज़बूत सैद्धान्तिक रचना नहीं लिखी।" (बख्शी, *मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की समस्या, अनुवाद हमारा*)

'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' से लेकर 'महान बहस' तक के दौर में मार्क्सवाद पर लगातार हमले होते रहे हैं और ये आज भी जारी हैं। इनके ख़िलाफ़ मार्क्स से लेकर माओ तक संघर्ष करते रहे, हालाँकि मार्क्स-एंगेल्स का दौर, उनके जीवन्त प्रश्न और कार्यभार अलग थे जबकि माओ के दौर के जीवन्त प्रश्न और कार्यभार अलग थे। बल्कि कहना चाहिए कि विजातीय प्रवृत्तियों और विचारधाराओं के विरुद्ध संघर्ष की प्रक्रिया में ही मार्क्सवाद विकसित हुआ। उन्नीसवीं सदी में बर्नस्टीन से लेकर बीसवीं सदी में देङ सियाओ-पिङ तक ने मार्क्सवादी सिद्धान्त पर कई बड़े हमले किये। ख़ास तौर पर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी में साम्राज्यवाद के दौर में संशोधनवाद और अर्थवाद ने मार्क्सवाद को गम्भीर चुनौती दी। साम्राज्यवादियों के भाड़े के टट्टू कलमघसीट तो लगातार मार्क्सवाद को बदनाम करने का प्रयास करते ही रहे जिनका जवाब प्राथमिकता के क्रम में दिया गया। परन्तु दीपक बख्शी ने 1920 के दशक की इस लेख में जो तस्वीर पेश की है वह बेहद ही सरलीकृत तस्वीर है और उस परिस्थिति के मर्म तक नहीं पहुँचती जिसका सामना

लेनिन, स्तालिन और माओ ने किया। स्तालिन पर समाजवादी व्यवस्था चलाने का कार्यभार था और एक ओर वह सोवियत समाजवाद पर और मार्क्सवाद पर हो रहे संशोधनवादी हमलों से तो दूसरी ओर फ़ासीवाद की व्यवहारिक चुनौती से जूझ रहे थे। स्तालिन के बाद माओ ने सोवियत समाजवाद का व स्तालिन की ग़लतियों का आलोचनात्मक विवेचन किया। चीनी क्रान्ति से पहले भी माओ ने सोवियत रूस के देबोरिन के अधिभूतवादी द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण के खिलाफ़ बहस चलायी। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के अवदानों से समाजवादी संक्रमण की सैद्धान्तिकी में इजाफ़ा किया। परन्तु दीपक बख्शी बेहद भोंड़े तरीक़े से माओ, स्तालिन और दबे स्वरों में लेनिन की आलोचना करते हैं। साथ ही वे यह भी ग़लत बताते हैं कि मार्क्सवाद पर हमला करने वाले दार्शनिकों की अवस्थितियों का जवाब नहीं दिया गया। लूकाच की सोवियत रूस के देबोरिन और हंगरी के रुडास से लम्बी बहसें चली जिसके जवाब में लूकाच को अपनी 'हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शियसनैस' में दी गयी कुछ अवस्थितियाँ बदलनी भी पड़ीं (*ए डिफ़ेन्स ऑफ़ हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शियसनैस, टेलिस्म एण्ड डायलैक्टिक*) व जिसे वे 'हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शियसनैस' के 1960 के बाद लिखे प्राक्कथन में दोहराते भी हैं। तीसरे इण्टरनेशनल के पाँचवे विश्व सम्मेलन में ज़िनोविएव ने कोर्श और लूकाच की पहली बार आलोचना रखी थी (इस सम्मेलन में लेनिन भी मौजूद थे)। बख्शी द्वारा लेनिन, माओ और स्तालिन के दौर का प्रस्तुतिकरण बख्शी के इतिहास ज्ञान की शून्यता को दिखाता है। दूसरी बात यह है कि यह मानना ही मूर्खतापूर्ण है कि माओ और स्तालिन के दौर में मार्क्सवाद-लेनिनवाद पर हो रहे हर हमले का जवाब व्यक्तिगत तौर पर माओ और स्तालिन को देना था! कोर्श, अल्थूसर व लूकाच जो कुछ लिख रहे थे, दुनिया भर के तमाम कम्युनिस्ट सिद्धान्तकार और कम्युनिस्ट पार्टियाँ उसका जवाब दे रहे थे। माओ और स्तालिन के समक्ष और ज़्यादा ज़रूरी और जीवन्त प्रश्न और समस्याएँ मौजूद थीं जिनका जवाब उन्हें देना था। लेकिन चूँकि श्री बख्शी के लिए दर्शन की समस्याएँ सबसे महत्वपूर्ण हैं और भौतिक और ठोस समस्याओं से अलग कहीं हवा में अस्तित्वमान रहती हैं इसलिए माओ और स्तालिन द्वारा मार्क्सवाद-लेनिनवाद की संशोधनवाद से हिफ़ाज़त के लिए लिखी गयी उनकी रचनाओं में या समाजवाद की समस्याओं के विषय में लिखी गयी शानदार रचनाओं में कोई दिलचस्पी नहीं है, क्योंकि उनके अनुसार ये रचनाएँ शुद्ध रूप से दार्शनिक प्रश्नों का जवाब नहीं दे रही थीं।

दीपक बख्शी लेनिन के प्रयासों से भी खुश नहीं हैं! दीपक बख्शी के अनुसार लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स के दर्शन और सिद्धान्त को आगे बढ़ने का प्रयास किया मगर वह 'खण्डित' प्रयास था। वे यह भी कहते हैं कि "जहाँ तक हमारे (*मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन* के - लेखक) ज्ञान और समझ की बात है तो हमारा यह मत है कि मार्क्स और एंगेल्स के बाद के मार्क्सवादी नेताओं की भौतिकवादी दर्शन की समझ किसी भी 'असंगति' या 'अधूरेपन' को समझ या इंगित कर पाने में इस सिद्धान्त के जनकों की तुलना में बेहद अबोध्य थी।" आगे वह लिखते हैं कि लेनिन के प्रयासों का मूल्यांकन करने की ज़रूरत है और "**पूँजी से साम्राज्यवाद: पूँजीवाद की आखिरी मंज़िल** तक की यात्रा" की विवेचना करने की ज़रूरत है। पर वह यह नहीं बताते हैं कि क्या कारण है कि

यह विवेचना करने की ज़रूरत है। ओह नहीं! दरअसल वे बताते हैं कि उनके अनुसार लेनिन ने आधुनिक भौतिकी के संकट का संतोषजनक दार्शनिकीकरण नहीं किया! मत भूलिए कि हम श्री बख्शी के विचार जगत से संवाद में हैं जहाँ यान्त्रिक श्रृंखला का नियम कार्यरत है! इस नियम की रोशनी में ही श्री बख्शी माओ और स्तालिन की दार्शनिक अवस्थिति के नाम पर उनके समस्त राजनीतिक कर्म पर सवाल खड़ा करते हैं। उनके अनुसार दार्शनिक प्रश्नों पर ग़लत समझदारी रखने से (जिसका कारण आधुनिक भौतिकी का अध्ययन न करना है) मार्क्सवाद में संकट पैदा हो गया और 1920 के बाद के दौर में मार्क्सवादियों का व्यवहार ग़लत है। मसलन :

"संकट यहीं है। पिछले 100 सालों के क्रान्तिकारी व्यवहार के बावजूद द्वन्द्ववाद के नियमों की व्याख्या में एक गहन संकट है।" (*वही, अनुवाद हमारा*)

दीपक बख्शी के अनुसार माओ द्वारा निषेध का निषेध को न मानना "अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए सबसे अनपेक्षित और चौंका देने वाली घटना थी।" वे माओ और स्तालिन पर एक गम्भीर हमला करते हैं और कहते हैं :

"दोनों ने अलग क़िस्म के 'भौतिकवाद' की पैरवी की, जो मार्क्स और एंगेल्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अलग था।" (*वही, अनुवाद हमारा*)

स्तालिन ने अपनी पुस्तक 'द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद' में द्वन्द्ववाद की जो व्याख्या पेश की है उसमें निश्चित ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से भटकाव दिखता है परन्तु इसे "अलग क़िस्म का 'भौतिकवाद'" कहना अति होगी। स्तालिन के दार्शनिक-राजनीतिक-सैद्धान्तिक कर्म को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विरोधी मानना मूर्खतापूर्ण होगा बावजूद इसके कि स्तालिन के दर्शन में यान्त्रिकता का स्पष्ट प्रभाव था, जिसके बारे में स्वयं माओ ने भी लिखा था। माओ द्वारा 'निषेध का निषेध' को नकारने के पक्ष में माओ की एक अनौपचारिक बातचीत (जिसका ज़िक्र बख्शी करते हैं) के अलावा कोई लेख नहीं है, और इस अनौपचारिक बातचीत का स्रोत भी बहुत विश्वसनीय नहीं है। माओ ने अपनी कृतियों में कई जगह 'निषेध का निषेध' के नियम का ज़िक्र किया है। वहीं कुछ कृतियों में उन्होंने 'अफ़र्मेशन' व 'निगेशन' का इस्तेमाल किया है। हमें लगता है कि इस सवाल पर निर्णायक तौर पर बात करने के लिए गम्भीर शोध किये जाने की ज़रूरत है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक विश्व दृष्टिकोण है जो कि सतत् विकास से गुज़रता है। मार्क्स और एंगेल्स के बाद इसके विकास पर लेनिन ने गहन शोध-कार्य किया और यह कार्य उनके दौर के जीवन्त प्रश्नों और विचारधारात्मक वर्ग संघर्ष के सन्दर्भ में हुआ। यह कार्य उनके द्वारा माखवादी दर्शन की आलोचना और उनकी दार्शनिक नोटबुक्स में देखा जा सकता है। लेनिन ने पहली बार 'विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष' यानी अन्तरविरोध के नियम को द्वन्द्ववाद का सबसे महत्वपूर्ण नियम बताया और साथ ही निषेध का निषेध के नियम को भी स्वीकार किया। माओ ने अन्तरविरोध के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त को नयी ऊँचाइयों पर पहुँचाया। इस प्रक्रिया में हर परिवर्तन सहज, सरल और सकारात्मक नहीं हो सकता था और न ही ऐसा हुआ। इस प्रक्रिया में स्तालिन, माओ या किसी से भी ग़लती हो सकती है। लेकिन यह कहना कि लेनिन, स्तालिन

और माओ ने इस विषय में कोई चिन्तन नहीं किया या द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के विकास के कार्यभार को संजीदगी से नहीं लिया, श्री बख्शी द्वारा अपने भयंकर अज्ञान का प्रदर्शन है।

दीपक बख्शी इतिहास-अज्ञानता से इस क़दर ग्रसित हैं कि उनसे यह माँग करना बेमानी होगा कि वह ऐसा कोई ज्ञान प्रदर्शित करें। इतिहास की उपेक्षा करते हुए और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की उपेक्षा करते हुए अगर मान भी लें कि माओ और स्तालिन ने अपनी दार्शनिक कृतियों में ग़लत समझदारी के कारण 'निषेध का निषेध' मानने से इनकार कर दिया तो "यह अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए सबसे अनपेक्षित और चौंका देने वाली घटना" कैसे बन गयी!? महान नेताओं व शिक्षकों और बोल्शेविक पार्टी, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी सरीखी महान पार्टियों की कई दार्शनिक व राजनीतिक अवस्थितियाँ ग़लत हो सकती हैं। इससे मार्क्सवाद में में संकट कैसे आ जायेगा? इस बात में यह मान्यता निहित है कि मार्क्सवादी नेताओं और महान पार्टियों के चिन्तन में कोई ग़लती नहीं होगी और यदि ऐसा होगा तो मार्क्सवादी दर्शन में ही संकट पैदा हो जायेगा। अगर दुनिया भर में कम्युनिस्ट आन्दोलन में लोग इस बात से घबरा जाते हैं कि उनके नेता व पार्टी ग़लत बोल सकते हैं या बोल रहे हैं और इससे मार्क्सवादी दर्शन में ही संकट पैदा हो जायेगा तब तो हमें कम्युनिज़्म को एक धर्म घोषित कर देना चाहिए और माओ व स्तालिन को इस कम्युनिस्ट धर्म के मसीहा! माओ और स्तालिन के दार्शनिक सवालों पर ग़लत होने से क्या उनके अन्य मार्क्सवादी सिद्धान्त या समूचा मार्क्सवादी दर्शन ही ग़लत या संकटग्रस्त साबित हो जाते हैं? निश्चित ही कोई कम्युनिस्ट नेता किसी पहलू पर ग़लत हो सकता है परन्तु इससे मार्क्सवादी दर्शन की सेहत पर असर नहीं पड़ता है।

वे आगे पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी और नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा द्वन्द्व की व्याख्या में 'निषेध का निषेध' की व्याख्या न कर पाने या ग़लत व्याख्या करने का भी दोष माओ और स्तालिन पर मढ़ देते हैं। दीपक बख्शी की सारी बातों का सार यह है : मार्क्स और एंगेल्स के बाद का मार्क्सवाद एक रुकावट का शिकार है। यह अनैतिहासिक दृष्टिकोण न सिर्फ़ ग़लत है बल्कि भयंकर रूप से अज्ञानतापूर्ण है।

4.2 बुर्जुआ दर्शन का हमला - श्री बख्शी की नौदौलतिया फ़लसफ़ाबाज़ी

बीसवीं सदी के मध्य से लेकर उत्तरार्द्ध तक प्रथम समाजवादी प्रयोगों के पतन के दौर में ही साम्राज्यवाद ने कई नयी विचार सरणियों को जन्म दिया, जिनमें उत्तरआधुनिकतावाद और उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तों ने कोई नयी बात नहीं कही। इसने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पैदा हुई कई मानवतावाद-विरोधी, तार्किकता-विरोधी विचारधाराओं से उधार लिया और नयी मानवद्रोही विचार सरणियों की रचना की। इनमें नीत्शे का मानवतावाद-विरोध और प्रबोधन व तार्किकता का विरोध, स्पेंगलर का प्रगतिवाद-विरोध, रूसी सर्वखण्डनवाद, नवकाण्टवादी अज्ञेयवाद, आदि का एक मिश्रण तैयार किया गया। 1960 के दशक से ही इन विचार सरणियों ने समाजवाद के प्रयोगों और मार्क्सवाद पर हमले करने शुरू किये। हर तरफ़

इतिहास के अन्त, कविता के अन्त, भौतिकी के अन्त आदि की बातें की जाने लगीं। ख़ुद क्रान्तिकारी दायरों में भी कुछ लोगों ने इस प्रभाव में बहकर 'अन्त' के सिद्धान्तकारों के सिद्धान्तों को मार्क्सवाद में मिलाने की कोशिश की व मार्क्सवादी दृष्टिकोण की मूल प्रस्थापनाओं पर ही सवाल खड़े करने शुरू कर दिये। ख़ास तौर पर बीसवीं शताब्दी की क्रन्तियाँ निशाना बनीं जिन्हें मार्क्सवाद से विचलन के तौर पर पेश किया गया और इस 'विचलन' के दौर में विकसित हुए मार्क्सवाद में संशोधन की माँग की जाने लगी।

आज भी ज़िज़ेक से लेकर एलन बेदियू जैसे उत्तरमार्क्सवादी सिद्धान्तकार मार्क्स, लेनिन और माओ पर सवाल खड़े करते हुए ये दावा कर रहे हैं कि मानव मुक्ति की परियोजना के लिए मार्क्सवाद की प्रासंगिकता एक दौर में थी, मगर वह अब ख़त्म हो चुकी है, या फिर यह कि बीसवीं सदी का समाजवाद एक 'विपदा' था और अब 'कम्युनिस्ट विचार' के लिए यह अपरिहार्य हो गया है कि वह जितनी जल्दी हो सके बीसवीं सदी की इन 'विपदाओं' के 'हैंग-ओवर' से मुक्त हो जाये। उत्तर-मार्क्सवादी वास्तव में वही काम कर रहे हैं जो कि एक दौर में उत्तरआधुनिकतावादी कर रहे थेः मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी कोर पर हमला। जब उत्तरआधुनिकतावादियों के ये हमले क्रान्तिकारी मार्क्सवादियों के जवाबों और साथ ही पूँजीवादी संकट के गहराने के साथ बेकार हो गये, तो यही काम अब 'रैडिकल' जमातों के भीतर घुसकर उत्तर-मार्क्सवाद कर रहा है। इस उत्तर-मार्क्सवादी *ऑफ़ेंसिव* में भी कुछ नया नहीं है, बस पुराने अज्ञेयवाद, लकानियन मनोविश्लेषण के एक विशेष संस्करण, नीत्शेवाद, आदि का एक नये क़िस्म का मिश्रण है जो कि 'रैडिकल पैकेजिंग' में पेश किया जा रहा है क्योंकि उत्तरआधुनिकतावाद गम्भीर अकादमिकों के बीच में भी एक चुटकुला बन चुका है। परन्तु दीपक बख्शी के लिए यह चुटकुला नहीं है बल्कि मार्क्सवाद में संकट की अभिव्यक्ति है। वे हाइज़ेनबर्ग के हमले के साथ अन्य प्रचलित प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों का भयानक विवरण पेश करते हैं :

"हाइज़ेनबर्ग का सिद्धान्त कोई पृथक्कृत सिद्धान्त नहीं है, बल्कि यह इक्कीसवीं सदी के पहले दशक तक समकालीन भाषाशास्त्र और दर्शन में प्रचलित प्रभावी प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों का हिस्सा है। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से ही बुर्जुआ विचारधारा का ज्ञान के हर क्षेत्र में दबदबा था और हाइज़ेनबर्ग के इस दर्शन को भी इसी से जोड़ कर देखा जाना चाहिए, जो विज्ञान की दुनिया का सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली आदर्शवादी विचार है। अगर हाइडेगर शिलिंग की मशाल देरिदा को थमाते हैं तो हाइज़ेनबर्ग भी विज्ञान की दुनिया में उसी स्कूल से शिक्षा लेते हैं। हाइडेगर और हाइज़ेनबर्ग के राजनीतिक जीवन में के बीच गहरी समरूपता है, दोनों ही हिटलर के सक्रिय समर्थक थे।

"कमज़ोरी आखिरी सदी के तीसरे दशक से महसूस की जा सकती है। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की दोनों बड़ी पार्टियों में से किसी ने भी मार्क्सवासी सिद्धान्त पर हाइडेगर, हाइज़ेनबर्ग, लूकाच, अल्थूसर आदि द्वारा किये जा रहे प्रचण्ड आक्रमणों का न ही कोई जवाब देने का प्रयास किया और न ही कोई प्रतिक्रिया व्यक्त की।

"कामरेड स्तालिन और कामरेड माओ ने लेनिन की मृत्यु के बाद बुर्जुआ दार्शनिकों के हमले के ख़िलाफ़ कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया।" (*वही, अनुवाद हमारा*)

दीपक बख्शी हाइज़ेनबर्ग, हाइडेगर और देरिदा की विचारधाराओं के प्रचण्ड दबदबे से भयाक्रान्त हैं। उनके अनुसार इनका कोई जवाब नहीं दिया गया। यह दावा उनकी भयंकर अज्ञानता को ही प्रदर्शित करता है। वे इन विचारधाराओं को पढ़कर भयाक्रान्त हो गये हैं और इस कारण मार्क्सवाद में संकट की घोषणा करते हैं। दीपक बख्शी के उपरोक्त कथनों में ज़रा भी सच्चाई नहीं है। हाइज़ेनबर्ग के उदाहरण में हम उनकी अज्ञानता की विस्तार से विवेचना कर चुके हैं। जिस प्रकार उत्तरआधुनिकतावादी आलोचनाओं के दौर में मार्क्सवाद में 'संकट' का शोर मचा था, उसी प्रकार आज भी दीपक बख्शी सरीखे 'आउट-डेटेड' राजनीतिक नौदौलतिए मार्क्सवाद में 'संकट' का शोर मचा रहे हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि कम्युनिस्ट *आन्दोलन* आज संकट का शिकार है। मगर क्या मार्क्सवादी *विचारधारा* संकट का शिकार है? इन नये हमलों में क्या नया है जिनका जवाब मार्क्सवादी विचारधारा ने पेश नहीं किया है? परन्तु दीपक बख्शी से इन जवाबों की उम्मीद रखना ही बेमानी है क्योंकि उनके विचार जगत में यह जानकारी मौजूद नहीं है। और दीपक बख्शी के लिए 'इग्नोरेन्स इज़ द ऑरग्युमेण्ट' यानी अज्ञानता ही तर्क है।

4.3 दीपक बख्शी की अप्रत्यक्ष राजनीतिक अवस्थिति

बख्शी के अनुसार, मुख्य प्रश्न 'चेतना का प्रश्न' है जो कि दार्शनिक सवाल है और मार्क्सवादी दर्शन का सीधा सम्पर्क प्राकृतिक विज्ञान से है। इन्हीं प्रश्नों पर अपनी ग़लत समझदारी के कारण लेनिन, स्तालिन और माओ ने मार्क्सवाद के ग़लत सिद्धान्तों को जन्म दिया जिसके कारण मार्क्सवाद संकट में है और पूरा कम्युनिस्ट आन्दोलन संकट में है। इस बात को ही पुष्ट करते हुए दीपक बख्शी माओ और स्तालिन के दार्शनिक लेखों को द्वन्द्ववाद के नियमों से दूर पाते हैं जो कि मार्क्स और एंगेल्स ने दिये थे। परन्तु इस बौद्धिक सर्कस के ज़रिये जाने या अनजाने दीपक बख्शी का यान्त्रिक श्रृंखला नियम वास्तव में अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी अवस्थिति की अप्रत्यक्ष तौर पर सेवा करता है। हालाँकि वे खुलकर कहीं यह व्यक्त नहीं करते हैं परन्तु कुछ जगह वे इशारों में बात करते हैं। बकौल दीपक बख्शी - "विश्व इतिहास की अद्वितीय घटनाएँ; रूसी और चीनी क्रान्तिकारी सत्ता अधिग्रहण और **'समाजवाद' को क़ायम करने लिए हुए संघर्षों** के अनुभव का पूँजी और ड्यूहरिंग मत खण्डन के प्रकाश में उच्चतम वस्तुपरकता एवं उद्यम से पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए।"

'वैचारिक संघर्ष के विस्तृत कार्यक्रम के कार्यभार' के चौथे बिन्दु में बख्शी लिखते हैं-

"समाजवादी संक्रमणकाल की अवधि में 'सर्वहारा का अधिनायकत्व' और 'सर्वहारा जनवाद' के बीच के द्वन्द्वात्मक रिश्ते का" तथा "कम्युनिस्ट पार्टी में 'जनवादी केन्द्रीयता' के व्यवहार में 'केन्द्रीयता' और 'सर्वहारा जनवाद' के एक दूसरे में अन्तर्भेदन और रूपान्तरण की उचित प्रकृति और चरित्र का, राज्यसत्ता पर कब्ज़े से पहले और बाद में कम्युनिस्ट पार्टी और सर्वहारा के बीच

के अन्तरसम्बन्ध का... गहन रूप से विश्लेषण और पुनःनिरीक्षण करना आवश्यक है।" (*वही, अनुवाद हमारा*)

अपने सम्पूर्ण लेख में मार्क्सवाद में संकट की रोशनी में प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन अलावा वे जिन सिद्धान्तों का "गहन रूप से विश्लेषण और पुनःनिरीक्षण करने" की बात करते हैं वे जनवादी केन्द्रीयता व 'सर्वहारा का अधिनायकत्व' हैं। समाजवादी प्रयोगों को "समाजवाद के प्रयास" बनाने की यह अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद की राजनीतिक छलाँग बख्शी प्राकृतिक विज्ञान-दर्शन-सिद्धान्त की यान्त्रिक श्रृंखला के स्प्रिंग से सम्भव करते हैं। 'मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन' पत्रिका के अन्य लेख ज़्यादा खुले तौर पर अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी समझदारी व्यक्त करते हैं। वहीं बख्शी की ***'प्राकृतिक विज्ञान - मार्क्सवादी दर्शन - मार्क्सवादी सिद्धान्त'*** यान्त्रिक श्रृंखला अप्रत्यक्ष रूप से इस राजनीति की सेवा करती है। उपरोक्त उद्धरण में हम देख सकते हैं कि श्री बख्शी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बुनियादी शिक्षाओं के बारे में भी किस कदर भ्रमित हैं। मिसाल के तौर पर, 'जनवादी केन्द्रीयता' की अवधारणा को एक योगात्मक अवधारणा बना दिया गया है, जिसके अनुसार इसमें केन्द्रीयता और सर्वहारा जनवाद के "एक-दूसरे में अन्तर्भेदन" की बात की गयी है। जनवादी केन्द्रीयता के विषय में इससे ज़्यादा हास्यास्पद क्या हो सकता है? उसी प्रकार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की भी ऐसी ही योगात्मक और अधिभूतवादी अवधारणा पेश की गयी है। लेकिन अभी हम इन भ्रमों के खण्डन में नहीं जा सकते हैं।

दीपक बख्शी के इस लेख के विषय में बहुत-कुछ लिखना पड़ेगा अगर हम इसकी एक-एक अज्ञानता और मूर्खता का खण्डन करें। हमने केवल उनकी अज्ञानताओं में अन्तर्निहित बुनियादी तर्क (मेथड इन मैडनेस) का खण्डन किया है। श्री बख्शी इतिहास से अनभिज्ञ हैं, यान्त्रिकतावादी हैं और नौदौलतिया फ़लसफ़ेबाज़ी के शिकार हैं। इस यान्त्रिकता के चलते ही वे मार्क्सवादी दर्शन की प्राकृतिक विज्ञान पर निर्भरता का सम्बन्ध खोज निकलते हैं जिसके आधार पर वह मार्क्सवादियों द्वारा दार्शनिक व्याख्या में ग़लती ढूँढ़कर पूरे विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए संकट घोषित कर देते हैं। इस प्रकार का बड़बोलापन केवल उनकी आधी-अधूरी पढ़ाई और भयंकर अज्ञानता को ही प्रदर्शित करता है।

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायनशास्त्र विभाग में शोधार्थी हैं)

सन्दर्भ सूची:

1. डायलैक्टिक्स ऑफ़ नेचर - फ़्रेडरिक एंगेल्स
2. ड्यूहरिंग मत खण्डन - फ़्रेडरिक एंगेल्स
4. मार्क्स-एंगेल्स, कलेक्टेड वर्क्स - खण्ड 1
5. मार्क्स-एंगेल्स, कलेक्टेड वर्क्स - खण्ड 2
6. मार्क्स-एंगेल्स, कलेक्टेड वर्क्स - खण्ड 3
7. लुडविग फ़ायरबाख और क्लासिकल जर्मन दर्शन का अन्त - फ़्रेडरिक एंगेल्स

8. फ़िलोसोफ़िकल नोटबुक्स - व्लादीमिर लेनिन

9. कार्ल मार्क्स और उनकी शिक्षा - व्लादीमिर लेनिन

10. मैटिरियलिज़्म एण्ड इम्पीरियो क्रिटिसिज़्म - व्लादीमिर लेनिन

11. द जर्मन आइडियोलॉजी - मार्क्स-एंगेल्स

12. अन्तरविरोध के बारे में - माओ त्से तुङ

13. क्यों माओवाद - शशि प्रकाश

14. सोवियत समाजवाद के अनुभवः इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ, **दिशा सन्धान** (1, 2, 3, व 4) - अभिनव सिन्हा

15. मैटिरियलिज़्म और काण्टियनिज़्म - जी. प्लेखानोव

16. पूँजी, खण्ड-1 - कार्ल मार्क्स

17. मार्क्सिस्ट फ़िलोसोफ़ी एण्ड द प्रोब्लम ऑफ़ डेवलपमैन्ट ऑफ़ मार्क्सिस्ट थियरी, मार्क्सिस्ट इण्टेलेक्शन, दीपक बख्शी

18. हिस्ट्री एण्ड क्लास कान्शियसनेस - जी. लूकाच

19. ए डिफ़ेन्स ऑफ़ हिस्ट्री एण्ड क्लास कान्शियसनैस-टैलिस्म एण्ड डायलैक्टिक - जी. लूकाच

20. मार्क्सिज़्म एण्ड द फ़िलोसोफ़ी ऑफ़ साइन्सः ए क्रिटिकल हिस्ट्री - हेलेना शीहेन

21. संकलित रचनाएँ - माओ त्से तुङ

22. होली फ़ैमिली, ए क्रिटिक ऑफ़ क्रिटिकल क्रिटिसिज़्म - मार्क्स-एंगेल्स

23. द एसेन्शियल स्तालिनः मेजर थियरेटिकल राइटिंग्स, 1905-52 - सं. ब्रूस फ्रैंकलिन

24. क्राइसिस इन फ़िज़िक्स - क्रिस्टोफ़र कॉडवेल

25. फ़िज़िक्स एण्ड फ़िलोसोफ़ी - वर्नर हाइज़ेनबर्ग

26. क्राइसिस इन फिज़िक्स, (साइंस एण्ड सोसाइटी) - हान्स फ्रेस्टाट

27. सोवियत मार्क्सिज़्म एण्ड नैचुरल साइंस - डेविड ज़ोराव्स्की

28. मार्क्स एण्ड मैथेमैटिक्स - डर्क जे. स्ट्रुइक

29. द थियरी ऑफ़ स्पेस, टाइम एण्ड ग्रेविटेशन - व्लादीमिर फ़ॉक

30. द प्रेज़ेण्ट स्टेट ऑफ़ द प्रॉब्लम ऑफ़ 'मार्क्सिज़्म एण्ड फ़िलोसोफ़ी' - एन एण्टी क्रिटिक - कार्ल कोर्श

31. ड्रीम्स ऑफ़ ए फ़ाइनल थियरी - स्टीवन वेनबर्ग

32. 100 इयर्स ऑफ़ क्वाण्टम मिस्ट्रीज़ - मैक्स टेगमार्क व जॉन आर्किबाल्ड वीलर

33. लॉजिक एण्ड फ़ॉरमेशन ऑफ़ क्वाण्टम मैकेनिक्स - ताकेतानी

34. बियोण्ड द होक्सः साइंस, फ़िलोसोफ़ी एण्ड कल्चर - एलन सोकल

35. पोस्ट मॉडर्निज़्म डिसरोब्ड - रिचर्ड डाकिन्स

36. मार्क्सिज़्म एण्ड फ़िलोसोफ़ी - कार्ल कोर्श

37. ऑन मैटिरियलिज़्म - सबैस्चिएनो टिम्पानारो
38. क्वाण्टम मैकेनिक्स - ब्लोखिन्स्तेव
39. द फ़िलोसोफ़ी ऑफ़ क्वाण्टम मैकेनिक्स - मैक्स जैमर
40. डायलैक्टिक्स इन मॉडर्न फ़िज़िक्स - ओमेल्यानोव्स्की
41. रेडिकलाइज़ेशन ऑफ़ साइंस - हिलेरी एण्ड स्टीवन रोज़
42. साइंस एण्ड फ़िलोसोफ़ी इन सोवियत यूनियन - एल.आर. ग्राहम
43. द सोशल फ़ंक्शन ऑफ़ साइंस - जे. डी. बरनाल
44. साइंस इन हिस्ट्री (चार खण्डों में) - जे. डी. बरनाल
45. द ट्रबल विद फ़िज़िक्स - ली स्मोलिनी
46. द हिस्टोरिकल डेवेलपमेन्ट ऑफ़ क्वाण्टम मैकेनिक्स (सभी खण्ड) - जगदीश मेहरा
47. द स्ट्रक्चर ऑफ़ साइंटिफिक रिवोल्युशन्स - थॉमस कुन
48. मार्क्सेज़ इकोलॉजी - जॉन बेलैमी फ़ॉस्टर
49. क्लासिकल एण्ड नॉन-क्लासिकल कॉनसेप्ट्स इन क्वाण्टम थियरी, एन आन्सर टू हाइज़ेन्बर्ग्स फ़िज़िक्स एण्ड फ़िलोसोफ़ी, द ब्रिटिश सोसाइटी फ़ॉर द फिलोसोफ़ी ऑफ़ साइंस - डेविड बोहम
50. फ़िफ़्थ कांग्रेस ऑफ़ द कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल - पब्लिश्ड बॉय कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन
51. क्वाण्टम मैकेनिक्स एज़ ए बेसिस ऑफ़ फ़िलोसोफ़ी - जे.बी.एस. हाल्डेन
52. इज़ थियरेटिकल फ़िज़िक्स इन क्राइसिस, सर्न डाक्युमेण्ट सर्वर - हैरिएट जारलैट
53. मार्क्स, माओ एण्ड मैथेमैटिक्स, द पॉलिटिक्स ऑफ़ इन्फ़ाइनाट्स्मल्स, डाक्युमेन्टा मैथेमेटिका, एक्स्ट्रा वाल्युम आईसीएम - जोसेफ़ डॉबेन
54. सप्लिमेन्ट ऑफ़ प्रोग्रेस ऑफ़ थियरेटिकल फ़िज़िक्स, वाल्यूम 50, 1971

उत्तर-मार्क्सवाद के 'कम्युनिज़्म' :

उग्रपरिवर्तन के नाम पर परिवर्तन की हर परियोजना को तिलांजलि देने की सैद्धान्तिकी

• शिवानी, बेबी

विचार
जब सिर्फ़ विचार होते हैं
अस्पष्ट होते हैं
प्रशंसनीय होते हैं।
विचार जब
व्यापकता पाते हैं
योजनाओं में ढलते हैं
योजनाएँ जब
गतिशील होती हैं
आपत्तियाँ सिर उठाती हैं।
- बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

दार्शनिकों ने
दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है
पर सवाल उसको बदलने का है,

मानता हूँ।
लेकिन फ़िलहाल मैं असन्तुष्ट हूँ
दुनिया की व्याख्याओं से
और मानता हूँ कि
नये बदलावों की हो रही व्याख्याएँ
या तो नाकाफ़ी या फिर ग़लत हैं
और यह कि
रुका हुआ है आज
दुनिया को बदलने का काम भी।
इसलिए अभी तो मैं
दुनिया की एक और व्याख्या कर रहा हूँ।

- कात्यायनी (दुनिया को बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-1)

"उत्तर-मार्क्सवाद के 'कम्युनिज़्म'" - इस विषय पर एक आलेख की ज़रूरत क्यों? क्या मार्क्सवाद का दौर बीत चुका है और कोई उत्तर-मार्क्सवादी दौर शुरू हो गया है? इस आलेख के आरम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारे विचार में एक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद के सामने कोई संकट नहीं है लेकिन यह भी उतना ही सच है कि मार्क्सवाद पर विचारधारात्मक हमलों का सिलसिला आज तक बदस्तूर जारी है। फ़र्क़ बस इतना है कि 1989 में बर्लिन की दीवार के गिरने और 1990 में सोवियत संघ के औपचारिक विघटन के साथ विचारधारा और राजनीति की दुनिया में पूँजीवादी विजयवाद की उन्मत्त घोषणाओं की तरह ये नये बौद्धिक आक्रमण उतने खुले और आवरणहीन नहीं हैं। आज के दौर में, एक बार फिर, बुर्जुआ सांस्कृतिक और बौद्धिक उपकरण मार्क्सवाद पर नये हमले कर रहे हैं और कम्युनिस्ट आन्दोलन से लेकर छात्रों, बुद्धिजीवियों आदि के बीच विभ्रम पैदा करने का प्रयास कर रहे हैं। यह भी अनायास नहीं है कि पूँजीवाद, अपने वर्चस्वकारी मैकेनिज़्म के ज़रिये सहज गति से तमाम क़िस्म के रंग-बिरंगे 'रैडिकल' बुद्धिजीवियों को पैदा कर रहा है, जो मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं पर चोट कर रहे हैं। उत्तर-मार्क्सवादियों की एक पूरी धारा है जो उग्र-परिवर्तनवादी जुमलों का सहारा लेकर मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अर्न्तवस्तु पर निशाना साध रही है। ऐलन बेदियू, स्लावोय ज़िज़ेक, एण्टोनियो नेग्री, माइकल हार्ट, ज़ाक रैंसिये, अर्नेस्टो लाक्लाऊ, चैण्टेल माउफ़ आदि जैसे तमाम "रैडिकल दार्शनिक" इसी उत्तर-मार्क्सवादी विचार-सरणि से आते हैं। एक बात जिसे यहाँ पर विशेष तौर पर रेखांकित करने की ज़रूरत है वह यह कि मार्क्सवाद पर जो भी विचारधारात्मक-बौद्धिक हमले होते रहे हैं या फिर हो रहे हैं, उनके नाम नये हो सकते हैं लेकिन उनकी अन्तर्वस्तु में कुछ भी नया नहीं है, जैसा कि एक बार एक अलग सन्दर्भ में ज्याँ पॉल सार्त्र ने कहा था। सार्त्र ने कहा था कि मार्क्सवाद-विरोधी विचारधाराएँ जो कुछ सही कह रही हैं, वह मार्क्सवाद पहले ही कह चुका है और जो कुछ वे नया कह रही हैं वह ग़लत है! उत्तर आधुनिकतावाद, उत्तर-संरचनावाद, प्राच्यवाद, उत्तर-प्राच्यवाद, सबऑल्टर्निज़्म जैसी तमाम 'उत्तर-' विचार-सरणियों की "चुनौतियों"

का क्या हश्र हुआ, यह हम सभी जानते हैं। ये सभी विचार-सरणियाँ विचारधारात्मक कोमा में पड़ी आख़िरी साँसें गिन रही हैं! उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त इन्हीं क़िस्म-क़िस्म की 'उत्तर-' विचार सरणियों का एक 'अपग्रेडेड वर्जन' है।

हालाँकि मार्क्सवाद पहले ही ऐसे तमाम विचारधारात्मक और सैद्धान्तिक हमलों का जवाब दे चुका है; लेकिन आज जो नये विचारधारात्मक हमले हैं, वे कम से कम ऊपर से पूँजीवाद की अन्तिम विजय की बात नहीं कर रहे हैं। उल्टा वे पूँजीवाद से आगे जाने और कई बार 'कम्युनिज़्म' की बात कर रहे हैं। लेकिन जैसे ही आप उनके 'कम्युनिज़्म' के विस्तार में जाते हैं तो आप पाते हैं कि उसमें नाम के अतिरिक्त कुछ भी कम्युनिस्ट नहीं है! वे मार्क्सवाद से ज़्यादा 'रैडिकल' किसी विचारधारा की माँग रख रहे हैं, मार्क्सवाद से आगे जाने का दावा कर रहे हैं, और मार्क्स की शिक्षाओं की प्रासंगिकता समाप्त होने का दावा कर रहे हैं; उनका दावा है कि हम मार्क्सवादी कम्युनिज़्म से आगे आ चुके हैं और अब उत्तर-मार्क्सवादी कम्युनिज़्म का दौर है! आगे हम इनके उत्तरमार्क्सवादी 'कम्युनिज़्मों' की अन्तर्वस्तु की विस्तार से पड़ताल करेंगे। लेकिन एक बात तय है कि एक बार फिर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन का एक अहम कार्यभार यह भी बन जाता है कि ऐसे विचारधारात्मक हमलों के बरक्स न सिर्फ़ मार्क्सवाद की दृढ़ता से हिफ़ाजत की जाये बल्कि इन हमलों का मुँहतोड़ जवाब भी दिया जाये और दिखलाया जाये कि इन 'नये' हमलों में कुछ भी नया नहीं है और दरअसल पुराने बुर्जुआ सिद्धान्तों की 'शराब' को ही नयी फ़ैशनेबुल फ़्रांसीसी दर्शन की 'बोतल' में परोस दिया गया है। विशेषकर उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तन पर कठोरता से चोट किये जाने की आवश्यकता है क्योंकि इस चिन्तन सरणि के अधिकांश रैडिकल 'दार्शनिक' एक नये क़िस्म के 'कम्युनिज़्म' की बात कर रहे हैं। क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं और बुद्धिजीवियों का भी एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा इन उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तकों के "चिन्तनों" के प्रभाव में आकर इनके मार्क्सवाद-विरोधी विजातीय विचारों को ही मार्क्सवाद और कम्युनिज़्म का सिद्धान्त मानने की भूल कर रहे हैं। अब आप कल्पना कीजिए, स्लावोय ज़िज़ेक और ऐलन बेदियू जैसे उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तकार लेनिन और माओ की संकलित रचनाओं का सम्पादन करते हुए जो प्रस्तावनाएँ और परिशिष्ट लिख रहे हैं, उनमें वे कौन से विचार व्यक्त कर रहे हैं? ये दोनों ही और इनके अलावा अन्य उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक भी, लेनिन, माओ और साथ ही मार्क्स का भी, अपने उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन के अनुरूप हस्तगतीकरण (appropriation) करते हैं और वस्तुतः मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर चोट करते हैं। इस तरह ये सभी 'रैडिकल विचारक' क्रान्ति के भर्ती केन्द्रों और भावी पाँतों में विभ्रम और विचारधारात्मक प्रदूषण फैलाने का काम कर रहे हैं। इसलिए इन्हें माक़ूल जवाब देना आज का एक ज़रूरी कार्यभार है। साथ ही इस उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन के ग़ैर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकीकरणों का प्रभाव भारत समेत दुनिया भर के वामपन्थी दायरे के कुछ हिस्सों पर भी है, परिणामस्वरूप जिसका 'रिपल इफ़ेक्ट' अन्य स्थानों (कॉलेज, विश्वविद्यालय, बौद्धिक-सांस्कृतिक प्रतिष्ठान) पर देखा जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में भी देखें तो उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन और सिद्धान्त की एक प्रबल मार्क्सवादी आलोचना आज के दौर का एक महत्वपूर्ण विचारधारात्मक कार्यभार बन जाता है। यह आलेख इसी दिशा में एक

प्रयत्न है।

उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी की विस्तृत और वृहत् समालोचना में जाने से पहले हम यहाँ कुछेक बातें साझा कर लेना चाहते हैं। हम अपने आलेख में विभिन्न उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों के राजनीतिक दर्शन से जुड़े सैद्धान्तिकीकरणों की पड़ताल करेंगे। विशेष तौर पर यह आलेख इस पर केन्द्रित होगा कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों (ख़ास तौर पर रूस और चीन में हुए प्रयोगों), समाजवादी संक्रमण और कम्युनिज़्म के विषय में उत्तर-मार्क्सवादी अवस्थिति क्या है; साथ ही, भविष्य की राजनीति/मुक्तिकामी राजनीति (Emancipatory politics) पर तमाम उत्तर-मार्क्सवादी दार्शनिकों के क्या विचार हैं, हम इसकी भी पड़ताल करेंगे। इसके अलावा उत्तर-मार्क्सवाद के प्रमुख दार्शनिक राजनीतिक स्रोतों और प्रभावों की भी चर्चा हम करेंगे। एक बात जिसे हम यहाँ पर ज़ोर देकर रेखांकित करना चाहते हैं वह यह कि उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तन की एक सम्पूर्ण दार्शनिक समालोचना इस आलेख की विषय-वस्तु नहीं है। राजनीतिक-विचारधारात्मक मुद्दों पर इस चिन्तन-सरणि की आलोचना के लिए जहाँ हमें उसके दार्शनिक मूलों पर जाना पड़ा, केवल वहीं हम उसके दर्शन का ज़िक्र करेंगे। वैसे राजनीतिक-विचारधारात्मक समालोचना अपने आप में उत्तर-मार्क्सवाद के दर्शन के बारे में भी काफ़ी कुछ बताती है।

उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी का इतिहास-भूगोल एवं मुख्य दार्शनिक-राजनीतिक स्रोत

जिसे आमतौर पर उत्तर-मार्क्सवाद की संज्ञा दी जाती है, वह अपने आप में कोई एकाशमी (monolithic) या सजातीय (homogeneous) चिन्तन-प्रणाली नहीं है। कई मुद्दों पर इस विचार-सरणि के तहत आने वाले सिद्धान्तकार एक-दूसरे की बातों को काटते हुए भी नज़र आते हैं। हालाँकि तमाम भिन्नताओं और वैषम्य के बावजूद मार्क्सवाद की मूल क्रान्तिकारी प्रस्थापनाओं के खण्डन और बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के नकारात्मक आकलन के विषय में यह सभी सिद्धान्तकार एक मत हैं। इनमें से अधिकांश जिस नये कम्युनिज़्म की बात करते हैं, वह मार्क्सवादी नहीं होगा! बीसवीं सदी के मार्क्सवादी कम्युनिज़्म का अन्त एक विपदा/दुर्गति में हुआ, इसलिए एक नये क़िस्म के कम्युनिज़्म की ज़रूरत है! आज के दौर में पार्टी और राज्य जैसी अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं (श्रीमान बेदियू)! पूँजीपति वर्ग के बजाय ये दमनकारी 'शासक' (rulers) और सर्वहारा वर्ग की जगह 'बहुसंख्या' (multitude) शब्द का इस्तेमाल बहुत पसन्द और चाव के साथ करते हैं; पूँजी, उत्पादन, सम्पत्ति आदि जैसी श्रेणियों की जगह ये साझा (commons) की बात करना पसन्द करते हैं (श्रीमान नेग्री व श्रीमान हार्ट तथा श्रीमान ज़िज़ेक भी)! कुछ ऐसे हैं जो मार्क्सवादी कम्युनिज़्म के आगे जाने का भी दावा नहीं करते, और उसे मानने का भी दावा नहीं करते, न ही वे राज्य और पार्टी की ज़रूरत के बारे में कुछ साफ़ कहते हैं; सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में भी हर वर्ष वे नियम से अवस्थिति बदलते हैं; लेकिन इतना वे ज़रूर कहते हैं कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग एक 'आपदा' के रूप में ख़त्म हुए और

इसलिए आज के कम्युनिज़्म का 'विचार' उससे सर्वथा भिन्न होगा और नारा देते हैं कि 'बीसवीं सदी बीत गयी!' (श्रीमान् ज़िज़ेक)! कुछ इन सब बातों में यह जोड़ देते हैं कि सर्वहारा वर्ग/दमित वर्ग/अधीनस्थ वर्ग को किसी नेतृत्व या हिरावल की आवश्यकता नहीं है; वे दमित की "स्वशिक्षा" के पक्षधर हैं और कहते हैं आज की ज़रूरत मार्क्सवाद से ज़्यादा रैडिकल सोच की है, क्योंकि मार्क्सवाद स्वयं सत्तावादी, दमनकारी और अपचयनवादी है (श्रीमान रैंसिये)! इसके अलावा कुछ ऐसे हैं जिन्होंने हर प्रकार की सार्वभौमिकता (universality) का नाश करने की ठान रखी है और कह रहे हैं कि सार्वभौमिकता, निरपेक्षता, सामान्यता की सभी बातें वास्तव में दमनकारी होती हैं; इसलिए हमें खण्डों की हिफ़ाज़त में तन-मन-धन से लग जाना चाहिए, यानी कि, वर्ग जैसी अवधारणाएँ, सर्वहारा वर्ग की एकता जैसी अवधारणाएँ ही दमनकारी हैं और हमें टुकड़ों का जश्न मनाना चाहिए (सुश्री जुडिथ बटलर, श्रीमान लाक्लाऊ व सुश्री माउफ़)।

इन तमाम "मौलिक" प्रस्थापनाओं के बाद ऐसे सभी "दार्शनिकों" को सट्टेबाज़ (speculative) और बहेतू (vagabond) दार्शनिक ही कहा जा सकता है क्योंकि इनके "चिन्तन" की कोई धुरी नहीं है। आप अगर ग़ौर करें तो पायेंगे कि तमाम रैडिकल तेवर, उग्रपरिवर्तनवादी जुमलों और नये क़िस्म की मुक्तिकामी राजनीति का पक्ष रखने के दावों के बावजूद इनका निशाना ठीक वे अवधारणाएँ हैं जो मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का निर्माण करती हैं। मिसाल के तौर पर वर्ग की अवधारणा, सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा, वर्ग के हिरावल के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी की अवधारणा, पूँजी की अवधारणा, अलगाव और शोषण की अवधारणा, आदि। ये तमाम उत्तर-मार्क्सवादी "स्पेक्युलेटिव दार्शनिक" या तो इन अवधारणाओं को नकार देते हैं या उन्हें विकृत कर देते हैं। इनकी छद्म दार्शनिक जालसाज़ियों (जो कि आम तौर पर फ़ैशनेबल उत्तर-आधुनिकतावादी, फ़्रांसीसी दार्शनिक शब्दावली के आवरण में परोसी जाती हैं) को समझना हो तो इनका दार्शनिक और राजनीतिक स्रोत देखना होगा। वास्तव में, इनमें से अधिकांश का स्रोत वही है जो कि उत्तर-आधुनिकतावादी विचार सरणियों का था - यानी, मई 1968 का छात्र-मज़दूर आन्दोलन जिसका केन्द्र पेरिस था। सोवियत साम्राज्यवाद के पूर्वी यूरोप में किये गये हस्तक्षेप और पूर्वी यूरोप के छद्म समाजवादी देशों में जनता का अनुभव 1960 के दशक में सोवियत साम्राज्यवाद के प्रति आक्रोश का कारण बना। यूरोप में और विशेषकर फ़्रांस में तमाम ऐसे राजनीतिक और दार्शनिक चिन्तक थे, जिनकी विचारधारात्मक शुरुआत एक मार्क्सवादी के रूप में हुई थी, लेकिन बाद में सोवियत साम्राज्यवाद के अनुभव के कारण उनका मोहभंग मार्क्सवाद से ही हो गया क्योंकि वे क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और संशोधनवाद, समाजवाद और सामाजिक-साम्राज्यवाद के बीच फ़र्क़ नहीं देख पाये। बेदियू, ज़िज़ेक, नेग्री जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों की वर्तमान राजनीतिक अवस्थिति के मूल को यूरोपीय वाम की, यूरोपीय, विशेषकर फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवाद और सोवियत संघ के सामाजिक फ़ासीवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद के कुकृत्यों से पैदा हुए राजनीतिक 'ट्रामा' में देखा जा सकता है। यूरोपीय देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ, मिसाल के तौर पर फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी (पी.सी.एफ़.), इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी (पी.सी.आई.) आदि 1960 के दशक से ही संशोधनवाद का रास्ता पकड़ चुकी

थीं। 1953 में सोवियत संघ में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद आने के बाद भी ये तमाम पार्टियाँ उसका समर्थन कर रही थीं और हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया जैसे पूर्वी यूरोप के देशों में सोवियत साम्राज्यवाद के कुकृत्यों को लेकर या तो चुप थीं या समझौतापरस्त अवस्थिति अपना रही थीं। ऐसे में, इन संशोधनवादी सामाजिक-जनवादी पार्टियों से मोहभंग हो जाना लाज़िमी था। लेकिन मई 1968 में यूरोपीय वाम और यूरोपीय रैडिकल बुद्धिजीवी वर्ग ने सोवियत संशोधनवाद और उसके कुकर्मों और यूरोपीय सामाजिक-जनवादी पार्टियों के सुधारवाद और बुर्जुआ सत्ता से प्रणय पर जो प्रतिक्रिया दी, वह एक रोगात्मक प्रतिक्रिया (pathological reaction) थी, क्योंकि उसमें कोई आलोचनात्मक विवेक नहीं था। सोवियत संशोधनवादी पार्टी और सामाजिक साम्राज्यवादी व सामाजिक फ़ासीवादी राज्य के अपराधों को मार्क्सवाद की पार्टी, राज्य और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अवधारणा पर ही आरोपित कर दिया गया। बेदियू, ज़िज़ेक जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक इसी पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया का अंग थे। साथ ही, उसी समय चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति भी जारी थी, जिसे बहुतों ने 'पार्टी के विरुद्ध क्रान्ति' समझा (स्वयं बेदियू भी इसी समझदारी से ग्रस्त हैं।) कुल मिलाकर, नतीजा यह हुआ कि ये तथाकथित 'नव दार्शनिक' (New Philosophers) सारी बुराई की जड़ पार्टी और सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त को समझने लगे। इनमें से कुछ मार्क्सवाद को सर्वसत्तावादी, दमनकारी आदि कहते हुए उत्तर-आधुनिकतावाद की ओर चले गये, जैसे कि मिशेल फूको, ज़ाक देरीदा, आदि। और कुछ ऐसे थे जो नये क़िस्म के मार्क्सवाद की बात करने लगे! इनमें से कुछ अल्थूसर के छात्र थे। ऐलन बेदियू, ज़ाक रैंसिये आदि जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक इसी श्रेणी में आते हैं। हम देख सकते हैं कि जिन दार्शनिकों को या उत्तर-मार्क्सवादी सट्टेबाज़ दार्शनिक कहा गया है, उनकी वर्तमान राजनीतिक अवस्थिति के ईंधन का स्रोत दार्शनिक भ्रम-विभ्रम की यही भट्ठी है।

इसके अतिरिक्त, उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों की 'उग्रपरिवर्तनवादी' प्रस्थापनाओं का राजनीतिक स्रोत यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन के कुछ विशेष हिस्सों में, जैसे कि इटली और स्पेन के मज़दूर आन्दोलनों में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही मौजूद 'मज़दूरवाद' (workerism) और स्वतःस्फूर्तवाद (spontaneism) की प्रवृत्तियाँ भी हैं। मार्क्सवाद-विरोधी ये पेटी-बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ मज़दूर वर्ग की स्वतःस्फूर्तता की अन्धपूजा और आदर्शीकरण (idealization) तो करती ही हैं साथ ही मार्क्सवाद की हिरावल पार्टी की अवधारणा को ख़ारिज भी करती हैं। आज एक बार फिर दुनिया भर के और भारत के भी मज़दूर आन्दोलन में तमाम ऑटोनोमिस्ट (Autonomist), 'मज़दूरवादी', अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी ताक़तें जड़ जमाने की कोशिश कर रही हैं और अपनी इन मार्क्सवाद-विरोधी, विजातीय प्रवृत्तियों का वैचारिक ईंधन वर्तमान में उत्तर-मार्क्सवादियों के अराजकतावाद और ऑपराइज़्मो (Operaismo) की सैद्धान्तिकी से ग्रहण कर रही हैं।

उत्तर-मार्क्सवादी दर्शन के मुख्य स्रोतों की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद हम इस विचार-सरणि के प्रातिनिधिक उदाहरण के तौर पर ऐलन बेदियू, स्लावोय ज़िज़ेक, एण्टोनियो नेग्री-माइकल हार्ट, अर्नेस्टो लाक्लाऊ-चैण्टल माउफ़ के राजनीतिक, विचारधारात्मक सैद्धान्तिकीकरणों की पड़ताल

करेंगे, नये क़िस्म के कम्युनिज़्म या भविष्य की मुक्तिकामी राजनीति (emancipatory politics of future) पर उनके "विचारों" और "चिन्तनों" की संक्षिप्त समीक्षा करेंगे और साथ ही, बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों पर उनकी अवस्थिति का भी मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे। शुरुआत हम ऐलन बेदियू के 'कम्युनिज़्म' के विचार से करेंगे।

ऐलन बेदियू का "कम्युनिज़्म" का विचार या परिवर्तन की परियोजना से क्रान्तिकारी अभिकरण छीनने की निर्लज्ज और हताश कवायद

दार्शनिकों ने
दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है
पर सवाल उसको बदलने का है।
अब चूँकि दुनिया बदलना
मेरे वश की बात नहीं
इसलिए मैं इसकी
एक और व्याख्या कर रहा हूँ
और जो थोड़ी बहुत कोशिशें हो रही हैं
दुनिया बदलने की
उनकी समीक्षा कर रहा हूँ।

- कात्यायनी (दुनिया बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-3)

"मार्क्सवाद, मज़दूर आन्दोलन, सामूहिक जनवाद, लेनिनवाद, सर्वहारा वर्ग की पार्टी, समाजवादी राज्य - ये सभी जो बीसवीं शताब्दी के आविष्कार हैं - अब हमारे लिए अपनी उपयोगिता खो चुके हैं। सैद्धान्तिक धरातल पर ये ज़रूर अध्ययन और समीक्षा की माँग करते हैं - लेकिन व्यावहारिक राजनीति में अब ये किसी काम के नहीं रह गये हैं।"

- ऐलन बेदियू, 2008

ऐलन बेदियू और 'कम्युनिज़्म' के विचार-विषयक उनकी सैद्धान्तिकी पिछले कुछ समय से आम बौद्धिक हलकों में ही नहीं बल्कि वामपन्थी दायरों में भी चर्चा का विषय बने हुए हैं। भारत के कई बौद्धिक समूह और क्रान्तिकारी संगठन भी बेदियू पर चर्चा कर रहे हैं। अन्य देशों के कम्युनिस्ट ग्रुपों में भी बेदियू का सिद्धान्त चर्चा का विषय बना हुआ, बल्कि कहना चाहिए कि भ्रम का स्रोत बना हुआ है। भारत के भी कुछ अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी कम्युनिस्ट समूहों को बेदियू से काफ़ी-कुछ सीखने को मिल रहा है! बेदियू ख़ुद को 'कम्युनिज़्म की वापसी' की उद्घोषणा करने वाले सिद्धान्तकार के रूप में पेश कर रहे हैं। इसके चलते ही कुछ लोग इन्हें इस दौर का सबसे बड़ा 'कम्युनिस्ट' दार्शनिक बता रहे हैं। बेदियू 2010 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि कम्युनिस्ट

हाइपोथीसिस' में ही 'कम्युनिज़्म' के विचार संबंधी अपनी परिकल्पना (hypothesis) प्रस्तुत करते हैं, साथ ही, उक्त पुस्तक में ही वे बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के विषय में अपनी अवस्थिति रखते हैं। इसलिए इस पुस्तक में उनके तमाम सैद्धान्तिकीकरणों की समीक्षा के ज़रिये ही हम बेदियू के 'कम्युनिज़्म' के विचार की वास्तविक राजनीति की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु तक पहुँच सकते हैं।

'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' अलग से लिखी गयी कोई किताब नहीं है, बल्कि बेदियू द्वारा अलग-अलग समय पर लिखे गये लेखों या दिये गये व्याख्यानों का संकलन है। इस किताब का मुख्य स्रोत 2008 में बेदियू द्वारा **'न्यू लेफ़्ट रिव्यू'** के लिए इसी नाम से लिखा गया वह निबन्ध है जिसमें बेदियू 2007 के राष्ट्रपति चुनावों में निकोलस सारकोज़ी की जीत के ऐतिहासिक महत्व की पड़ताल करते हैं।

इसके अलावा, मार्च 2009 में लंदन में **'कम्युनिज़्म का विचार' ('दि आइडिया ऑफ़ कम्युनिज़्म')** नाम से आयोजित एक कॉन्फ्रेंस में बेदियू द्वारा प्रस्तुत किया गया वक्तव्य भी इस पुस्तक का एक स्रोत है। यहाँ बताते चलें कि इस सम्मेलन में बेदियू के अलावा **स्लावोय ज़िज़ेक, जुडिथ बालसो, ब्रूनो बोस्तील्स, टेरी ईगलटन, पीटर हॉलवर्ड, माइकल हार्ट, एण्टोनियो नेग्री, ज़ाक रैंसिये, एलेक्सान्द्रो रूसो, एल्बर्टो टस्कानो, जियानी वातिमो** जैसे तमाम क़िस्म के मार्क्सवादियों, नव-मार्क्सवादियों और उत्तर-मार्क्सवादियों ने शिरकत की थी।

बेदियू के 'कम्युनिज़्म' विषयक सैद्धान्तिकीकरणों की विस्तृत समीक्षा में जाने से पहले यहाँ कुछेक बातें स्पष्ट करना आवश्यक है। **पहली बात** यह कि **बेदियू का कम्युनिज़्म का विचार या सिद्धान्त एक ग़ैर-मार्क्सवादी कम्युनिज़्म** की बात करता है और मार्क्सवादी विचारधारा को भविष्य की मुक्तिकामी राजनीति (emancipatory politics) के लिए अपर्याप्त, अप्रासंगिक और ग़ैर-ज़रूरी मानता है। **दूसरी बात** यह कि **बेदियू का कम्युनिज़्म का विचार अनैतिहासिक** है। बेदियू के अनुसार कम्युनिज़्म का यह विचार अनादि-अनन्त (eternal) है। यह मानवता के उद्भव के साथ ही जन्म ले चुका था। उनके लिए प्लेटो का *दि रिपब्लिक,* रूसो का *सोशल कॉण्ट्रैक्ट,* फ़्रांसीसी क्रान्ति और जैकोबिन आतंक-राज्य, पेरिस कम्यून और मार्क्सवादी कम्युनिज़्म (जो 1917 की बोल्शेविक क्रांति के साथ शुरू होता है और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के साथ ख़त्म होता है) कम्युनिज़्म के शाश्वत विचार (eternal idea) की यात्रा के अलग-अलग क्षण, पड़ाव या मील के पत्थर हैं। **तीसरी बात** यह कि बेदियू के अनुसार बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग दुर्गति/विपदा में समाप्त हुए। उनका मानना है कि सोवियत संघ और चीन में क्रान्तियों की मुक्तिकामी सम्भावना-सम्पन्नता को पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क, हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व और समाजवादी राज्यसत्ता ने पहले बाधित किया और फिर पूरी तरह नष्ट कर दिया। और **चौथी बात** यह कि इस सारे "विश्लेषण" से बेदियू इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कम्युनिज़्म के विचार और मुक्ति की राजनीति को क्रान्ति के 'पैराडाइम' में अवस्थित नहीं किया जा सकता है और न ही पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क का 'बन्दी' बनाया जा सकता है। और यह भी कि "क्रान्तियों का युग" बीत चुका है। अपनी पुस्तक 'दि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस' में बेदियू इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

बेदियू अपनी पुस्तक की शुरुआत में कहते हैं कि 1970 की 'लाल दशाब्दी' के अन्त के साथ पश्चिमी पूँजीवादी देशों का कम्युनिज़्म-विरोध एक बार फिर ज़ोर-शोर के साथ सामने आया। 'नये दर्शन' के हिमायतियों ने समाजवादी राज्यों की 'निरंकुशता और सर्वसत्तावाद' पर ख़ूब शोर मचाया और बुर्जुआ संसदवाद और प्रातिनिधिक जनवाद की अच्छाइयों को गिनाना शुरू कर दिया। इस उन्मादी हर्षोल्लास के पीछे जो तर्क काम कर रहा था वह यह था कि समाजवाद, जो कि कम्युनिस्ट विचार का एकमात्र मूर्त रूप था, बीसवीं सदी में पूरी तरह विफल हो गया। इसके बाद बेदियू कहते हैं कि इसलिए विफलता के विचार पर आज "विचार" करने की आवश्यकता है। बेदियू पूछते हैं कि जब हम कहते हैं कि कम्युनिस्ट हाइपोथीसिस (परिकल्पना) के अमलीकरण के तौर पर जो समाजवादी प्रयोग हुए, उनका अन्त 'विफलता' में हुआ, तो हमारा मतलब क्या होता है? क्या वे पूरी तरह से असफल हुए? क्या इसका मतलब है कि हम इस परिकल्पना को ही त्याग दें या मुक्ति की पूरी समस्या को ही तिलांजलि दे दें? बेदियू को यहाँ तक पढ़ने पर पाठक के मन में उम्मीदें जगने लगती हैं, लेकिन ये उम्मीदें ज़्यादा देर तक नहीं ठहरतीं। क्योंकि इसके बाद बेदियू जो स्वर अपनाते हैं, वह वही पुराना राग है - **चूँकि बीसवीं सदी की क्रान्तियाँ पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क में क़ैद थीं, इसलिए वे असफल होने के लिए अभिशप्त थीं।** यह प्रश्न बेदियू यहाँ इस प्रकार उठाते हैं कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों ने जो रूप अपनाया और जो रास्ता अख़्तियार किया, क्या उसी में तो इस 'विफलता' के कारण अन्तर्निहित नहीं हैं और इसलिए 'विफलता' उनकी नियति थी? यहाँ यह बात जोड़नी ज़रूरी है कि **इस पूरी पुस्तक में, या फिर बेदियू की अन्य सभी कृतियों में भी, बीसवीं सदी में मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये समाजवाद के प्रयोगों को बिना किसी वैज्ञानिक-ऐतिहासिक विश्लेषण को इस्तेमाल किये ही एक 'त्रासदी' या 'आपदा' मान लिया गया है।** ज़िज़ेक के लेखन की तरह यहाँ भी यह नतीजा आकाशवाणी के समान (axiomatic) है।

दूसरी बात यह कि रूस और चीन में समाजवादी प्रयोगों का पतन या विफलता किस दौर में शुरू होती है, इसकी भी कोई समझदारी बेदियू के लेखन में आपको नहीं मिलेगी। पश्चिमी साम्राज्यवादी प्रोपगैण्डा मशीनरी की तरह यहाँ पर भी 1990 में सोवियत संघ के विघटन तक समाजवाद का दौर क़ायम माना जाता है! 1956 के बाद सोवियत संघ की अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक साम्राज्यवादी भूमिका और देश के अन्दर जनता के ख़िलाफ़ सामाजिक फ़ासीवादी भूमिका को ही समाजवाद के रूप में चित्रित किया जाता है। हालाँकि बेदियू के लिए कम्युनिज़्म की अपनी परिकल्पना के लिए इस 'विफलता' की कालिकता या स्थानिकता (temporality and spatiality) को स्पष्ट करना ज़रूरी नहीं है क्योंकि इस परिकल्पना के अनुसार तो 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के साथ ही समाजवाद की 'विफलता' का दौर शुरू हो गया था; आख़िर इस क्रान्ति ने ही तो कम्बख़्त पार्टी-राज्य के 'पैराडाइम' को संस्थाबद्ध और सुव्यवस्थित किया था! **इसलिए बेदियू इस पुस्तक में और अन्यत्र भी, 1917 से 1953 तक के दौर की कभी चर्चा नहीं करते।** इस पूरे दौर का समाहार वह यह कह कर देते हैं कि पार्टी-राज्य ने एक नयी क़िस्म की "निरंकुशता" को जन्म दिया जिसकी मुख्य आभिलाक्षणिकताएँ थीं- 'पुलिस द्वारा दमन'

और 'आन्तरिक नौकरशाहाना जड़ता'। **क्या इस समझदारी पर उन्हीं आलोचनाओं की छाप नज़र नहीं आती जो अलग-अलग तरीक़े से लियॉन त्रात्स्की, रॉय मेदवेदेव, इज़ाक डॉइशर, मार्क फ़ेरो जैसे लोग करते हैं? हालाँकि इन सब में काफ़ी मतान्तर और विविधता है लेकिन रूसी क्रान्ति और समाजवादी मज़दूर सत्ता को और विशेष तौर पर स्तालिन के नेतृत्व में समाजवाद के निर्माण को कोसने में गहरी एकता है?**

इसके बाद बेदियू **तीन प्रकार की विफलताओं** की बात करते हैं। पहली प्रकार की 'विफलता' वह है जिसमें क्रान्तिकारी कुछ समय के लिए किसी देश या किसी विशिष्ट इलाक़े में सत्ता पर काबिज़ होते हैं लेकिन हथियारबन्द प्रतिक्रान्तिकारी ताक़तों द्वारा कुचल दिये जाते हैं। इस 'विफलता' के तौर पर वह **पेरिस कम्यून** और रोज़ा लग्ज़मबर्ग और कार्ल लीबनेख़्त के नेतृत्व में प्रथम-विश्वयुद्ध के बाद की **स्पार्टकिस्ट बग़ावत** का उदाहरण देते हैं। दूसरे प्रकार की 'विफलता' के उपशीर्षक के तहत वे उन व्यापक जनान्दोलनों को गिनाते हैं जिनका मक़सद सत्ता हथियाना होता ही नहीं है, हालाँकि ये आन्दोलन कुछ समय के लिए राज्य की प्रतिक्रियावादी ताक़तों को रक्षात्मक मुद्रा में आने के लिए बाध्य करते हैं। इसके उदाहरण के तौर पर वह **मई 1968 का आन्दोलन** गिनाते हैं। फिर बेदियू तीसरे प्रकार की 'विफलता' का चर्चा करते हैं जिसके तहत वे बिना कोई फ़र्क़ किये बीसवीं सदी के सभी समाजवादी प्रयोगों को गिनाते हैं जिनमें कम्युनिस्ट परिकल्पना के अमलीकरण के नाम पर "पार्टी-राज्य का आतंक राज्य क़ायम हुआ" और कम्युनिज़्म के विचार को ही त्याग दिया गया! अपनी प्रस्तावना का अन्त बेदियू **"प्वाइण्ट" (बिन्दु या क्षण)** की अपनी अवधारणा से करते हैं। आम तौर पर भी इस पुस्तक में जहाँ-तहाँ बेदियू उत्तर-मार्क्सवादियों की पसन्दीदा हेगेलीय दर्शन और लकानीय मनोविश्लेषण की श्रेणियों का इस्तेमाल करते नज़र आते हैं, उदाहरण के लिए बेदियू की "ट्रूथ-प्रोसीजर", "इवेण्ट", "सब्जेक्ट" इत्यादि की अवधारणा आदि, मगर फ़िलहाल हम पहले "प्वाइण्ट" की बेदियू की अवधारणा पर विचार करते हैं। "प्वाइण्ट" की अवधारणा को व्याख्यायित करते हुए बेदियू कहते हैं कि किसी भी मुक्तिकामी राजनीति के क्रम या श्रृंखला में (यानी कि किसी भी क्रान्ति के दौरान) यह वह क्षण होता है जिसमें विकल्प की 'बाइनरी' पर (यानी कि इस प्रश्न पर कि विकल्प 'क' अपनाया जाये या विकल्प 'ख') उस पूरी प्रक्रिया का भविष्य निर्भर करता है। वे आगे कहते हैं कि हमें यह समझना होगा कि सभी "विफलताओं" का कारण इसी क्षण पर लिये गये फ़ैसलों में अन्तर्निहित है। सीधे-साफ़ शब्दों में कहें तो **बेदियू के कहने का अभिप्राय यह है कि पेरिस कम्यून के अनुभवों के बाद, पहले मार्क्स और फिर लेनिन द्वारा, हिरावल पार्टी और सर्वहारा राज्य-सत्ता (सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व) की प्रस्थापनाओं का प्रतिपादन ही इस क्षण पर लिये गये ग़लत फैसले थे। यह 'मूल पाप' था; नाज़ुक मौक़े पर ग़लत फ़ैसला! और यहीं से सारी ग़लती और विफलता की शुरुआत होती है!** बेदियू अपनी इसी थीसिस को इस पुस्तक के बाकी हिस्सों में स्पष्ट करते चलते हैं और हर स्पष्ट अवधारणा को इस प्रक्रिया में अस्पष्ट करते जाते हैं।

अन्यत्र बेदियू कहते हैं कि मई 1968 की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। इसके बाद बेदियू मई 1968 की विजातीयता और बहुलता की बात करते हुए कहते हैं कि मई 1968 कोई एकाश्मीय परिघटना नहीं थी बल्कि चार अलग-अलग परिघटनाओं की जटिलता लिये हुए थी (बेदियू स्वयं भी इस आन्दोलन का हिस्सा थे)। **पहला** मई 1968 वह था जिसमें विश्वविद्यालय और स्कूलों के छात्रा-छात्राएँ हिस्सा ले रहे थे, यानी कि जिसका मुख्य तत्व **छात्र-आन्दोलन** था। **दूसरा** मई 1968 **मज़दूर आन्दोलन** के इर्द-गिर्द केन्द्रित था, जिसमें सी.जी.टी. (जनरल कॉनफ़ेडरेशन ऑफ़ लेबर - एक संशोधनवादी ट्रेड यूनियन संघ) और अन्य यूनियनों द्वारा आयोजित हड़तालों के साथ ही परम्परागत यूनियन के सांगठनिक ढाँचे के बाहर भी मज़दूरों द्वारा आयोजित हड़तालें थीं, जिन्हें "वाइल्डकैट स्ट्राइक्स" की संज्ञा दी जाती थी। इस दौरान फैक्ट्रियों पर कब्ज़ा आम बात थी। **तीसरे** मई 1968 को **स्वच्छन्तावादी (लिबर्टैरियन) मई** कहा जा सकता है जिसमें पेटी बुर्जुआ वर्ग की वैयक्तिक स्वतन्त्राता का मुद्दा अहम था। इसकी अभिव्यक्ति उस दौर के कला साहित्य, सिनेमा में भी नज़र आती है। इसके बाद बेदियू **चौथे मई 1968** की चर्चा पर आते हैं, जो उनके अनुसार उपरोक्त सभी से कहीं ज़्यादा ज़रूरी था। बेदियू के अनुसार यह इसलिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी है क्योंकि यह राजनीति की पुरानी क्लासिकीय अवधारणाओं पर - जैसे पार्टी, यूनियन आदि पर - सवाल उठा रहा था। इस कथन में आंशिक सच्चाई है। जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं 1960 के दशक से ही फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी (पी.सी.एफ़.) संशोधनवाद के रास्ते पर चल चुकी थी। जहाँ तक सी.जी.टी. जैसी संशोधनवादी, अराजकतादी-संघातिपत्यवादी यूनियनों का सवाल था, तो उनकी स्थिति और अवस्थिति बहुत कुछ वर्तमान भारत में सीटू, ऐटक जैसी यूनियनों के जैसी ही थी। **ऐसे में, पार्टी और यूनियनों का जो मॉडल मौजूद था, उससे मोहभंग होना लाज़िमी था और चूँकि उस समय कोई क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद नहीं था जो इन स्वतःस्फूर्त जनउभार की कार्रवाइयों को संगठित कर सकता इसलिए मई 1968 बस मई 1968 बनकर ही रह गया।** केवल विद्रोह की सफलता और असफलता की बात की जाये तो इसका अन्त उसी हताशा में हुआ, जिस हताशा में 'ऑक्युपाई' आन्दोलन और अरब बसन्त का हुआ है, हालाँकि मई 1968 का महत्व इस रूप में भी था कि इसके बाद तमाम ऐसी विचार-सरणियाँ पैदा हुईं जिनका अन्त 'उत्तर'-वादी विचार-सरणियों में हो गया। इसका उल्लेख हम आलेख के पहले हिस्से में कर चुके हैं।

शायद बेदियू बिल्कुल इन्हीं कारणों से मई 1968 को लेकर इतना *नॉस्टैलजिक* हैं, क्योंकि मई 1968 ने पार्टी, राज्य और वर्ग अधिनायकत्व की बुनियादी अवधारणाओं पर प्रश्न उठाना शुरू किया। इस दौर में पुरानी क्लासिकीय अवधारणाओं पर खड़े हो रहे सवालों के तर्क को बेदियू बढ़ाते हुए मार्क्सवाद और क्रान्ति के विज्ञान को ख़ारिज करने तक ले जाते हैं। बेदियू कहते हैं कि "धीरे-धीरे यह सत्य उजागर होने लगा था कि जो सामान्य भाषा, जिसका द्योतक लाल झण्डा था, हम सब बोल रहे थे, वह दरअसल मृत्यु को प्राप्त हो रही थी।" **मई 1968 की असली अहमियत बेदियू के लिए यहाँ छिपी है।**

बेदियू जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों का हमला मूलतः मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर है। इस विषय में बेदियू की स्पष्टवादिता की दाद देनी पड़ेगी कि वह सीधे-सीधे यह कह भी देते हैं कि मार्क्सवाद, पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सोच पूरी तरह अप्रासंगिक हो चुकी है। चीन में 1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का भी बेदियू एक ग़ैर-पार्टीवादी विनियोजन करते हैं। बेदियू के अनुसार **महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** के साथ जो नया युग शुरू हुआ उसमें पार्टी-राज्य का फ़्रेमवर्क (यानी हिरावल पार्टी और सर्वहारा तानाशाही की मार्क्सवादी अवधारणाएँ) अब बेकार हो चुका है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पर बेदियू के विचारों की चर्चा हम आगे करेंगे। लेकिन यहाँ इस बात को रेखांकित करना ज़रूरी है कि मार्क्सवादी कम्युनिज़्म के बरक्स बेदियू के "कम्युनिज़्म" के काण्टीय, हेगेलीय, लकानीय विचार के बावजूद, और शायद इसी वजह से, भी उनका निशाना एकदम ठीक वे अवधारणाएँ हैं जो मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अर्न्तवस्तु का निर्माण करती हैं।

राजनीतिक अर्थशास्त्र की बेहद अधकचरी और सीमित समझदारी का परिचय भी बेदियू जहाँ-तहाँ अपने लेखन में देते चलते हैं। **मसलन, बेदियू एक जगह कहते हैं कि वित्तीय पूँजीवाद पिछले 500 सालों से पूँजीवाद का एक केन्द्रीय संघटक अवयव रहा है!** साम्राज्यवाद के ग़ैर-लेनिनवादी अध्येता और आम अकादमिक शोधकर्ता भी इस तरह की बचकानी प्रस्थापनाएँ नहीं देते हैं! मार्क्सवादी-लेनिनवादी विज्ञान को तो बेदियू ने पहले ही इतिहास की कचरा-पेटी के हवाले कर दिया है। हालाँकि कोई ग़ैर-मार्क्सवादी भी उपनिवेशवाद के प्राक्-वित्तीय दौर और वित्तीय दौर में फ़र्क़ करेगा, लेकिन बेदियू ऐसा नहीं कर पाते। क्योंकि, लकाँ और हेगेल के पोथों के बीच ही वे दब-से गये हैं! वैसे, सभी उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तकों के बारे में एक बात दावे से कही जा सकती है - इन्हें राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'क ख ग' भी नहीं आता है। इस कमी को इतिहास की सुसंगत जानकारी और एक सन्तुलित ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव के रूप में भी देखा जा सकता है। और कमी को ये बेदियू पूरा कैसे करते हैं? फ़्रांसीसी फ़ैशनेबल उत्तर-वाम की लच्छेदार शब्दावली में ऐतिहासिक तथ्यों के विकृतीकरण के अद्वितीय हुनर के ज़रिये! आमतौर पर बेदियू इतिहास के प्रति अवहेलना का दृष्टिकोण ही अपनाते हैं। लेकिन अपने राजनीतिक-दार्शनिक हित-साधन के लिए वह आत्मगत चयन करते हुए ऐतिहासिक तथ्यों का ब्यौरा देने से बाज़ नहीं आते हैं। वह इन तथ्यों को इस तरह तोड़-मरोड़ कर और मनमाने ढंग से पेश करते हैं कि उनकी अन्तर्वस्तु ही बदल जाती है। मसलन, महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पर अपने विचार रखते हुए वे जमकर तथ्यों का ब्यौरा देते हैं, लेकिन यह आत्मगत पूर्वाग्रहों के साथ किया गया इतिहास का एक पाठ है, जिसमें नतीजे पहले ही तय कर लिये गये हैं और उनके आधार पर तथ्यों का चयन बाद में किया गया है।

बेदियू अपने लेखन में एक टटपुँजिया स्वच्छन्दतावादी की तरह (जो कि वह हैं!) रूमानीपन का प्रदर्शन करते हैं और छद्म आशावाद से ग्रस्त होकर कहते हैं कि आज सबसे अहम है विचारों और एक सामान्य परिकल्पना के प्रति अपने जुनून को एक बार फिर तलाशना (!), इस विश्वास के साथ की एक दूसरी दुनिया सम्भव है! "हमें पूँजीवाद के घृणित तमाशे के बरक्स लोगों का, लोगों

के जीवन का और विचारों के आन्दोलन का यथार्थ खड़ा करना होगा।" यह कैसे खड़ा होगा यह बताना बेदियू ज़रूरी नहीं समझते लेकिन अपनी पुरानी थीम पर वह ज़रूर एक बार फिर लौटते हैं (ऐसा करना वह कभी नहीं भूलते!)। वे कहते हैं कि हालाँकि 'कम्युनिज़्म' शब्द को "सस्ता और वेश्या बना दिया गया है" लेकिन हम इसे लुप्त नहीं होने देंगे। चूँकि बेदियू "कम्युनिज़्म" के इस विचार के तारणहार हैं, इसलिए वह "कम्युनिज़्म" को बचाएँगे! एलेन बेदियू उसे अतीत के सारे अनुभवों से, क्रान्ति के सिद्धान्त से, समाजवादी राज्य से और हिरावल पार्टी के भारी-भरकम बोझ से इस "शाश्वत" विचार को भारमुक्त करेंगे और "मुक्ति की नयी राजनीति" गढ़ेंगे, जो क्या होगी यह बेदियू नहीं बताएँगे क्योंकि वह ख़ुद भी इससे अपरिचित हैं!

अपने उत्तरमार्क्सवादी चिन्तन से पैदा हुए पूर्वाग्रहों के चलते बेदियू माओ का, माओवाद का और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का निकृष्ट क़िस्म का हस्तगतीकरण (appropriation) और विकृतीकरण (distortion) करते हैं। वह कहते हैं कि सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति पार्टी-राज्य के स्वरूप के संतृप्तीकरण (saturation) का प्रारूपिक उदाहरण है। इसके बाद वे जोड़ते हैं कि हालाँकि यह स्वयं (सांस्कृतिक क्रान्ति) पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क के भीतर ही काम कर रही थी और इसीलिए "विफल" हुई, लेकिन इसने आने वाले दिनों के लिए कुछ ज़रूरी सबक़ दिये। बेदियू के अनुसार यह ज़रूरी सबक थे - सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के मार्क्सवादी सिद्धान्त को तिलांजलि देने की वांछितता। अपने इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बेदियू सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर की कई घटनाओं का ब्यौरा टुकड़ों-टुकड़ों में देते हैं, मनमाने ढंग से उन घटनाक्रमों की व्याख्या करते हैं और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का विकृतीकरण करते हैं।

बेदियू माओ का पेटी बुर्जुआ लोकरंजकतावादी विनियोजन करके उन्हें हिरावल पार्टी की अवधारणा के विरुद्ध खड़ा करने का प्रयास करते हैं। हालाँकि यह दीगर बात है कि इस उपक्रम में वह कोई विशेष सफलता हासिल नहीं कर पाते हैं। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को समझने की उम्मीद हम बेदियू जैसे उत्तर-मार्क्सवादी और उत्तर-माओवादी (क्योंकि बकौल बेदियू पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क की क़ैद से कम्युनिज़्म के विचार को मुक्त कराने में वे माओ से भी आगे निकल गये हैं!) से कर भी नहीं सकते हैं। इस अध्याय के अन्त में वे कहते हैं, "आज हम जानते हैं कि हर क़िस्म की मुक्तिकामी राजनीति को पार्टी के मॉडल के आगे सोचना होगा और पार्टी-राज्य के फ्रेमवर्क के अध्याय को अन्तिम और निर्णायक तौर पर बन्द कर देना होगा। भविष्य की राजनीति पार्टी के बिना होगी..." लेकिन, भविष्य की यह राजनीति क्या होगी, बेदियू एक बार फिर इस प्रश्न पर चुप्पी साधे हुए हैं।

बेदियू अपनी रचनाओं में पेरिस कम्यून के मॉडल का खूब समर्थन करते हैं। कारण स्पष्ट है - क्योंकि पेरिस कम्यून के वक़्त हिरावल पार्टी और सर्वहारा राज्य की अवधारणा उतनी सुस्पष्ट नहीं थी जितना कि मज़दूर वर्ग के राजनीतिक सत्ता पर क़ाबिज़ होने के इस पहले प्रयोग के समाहार के बाद वह हुई। बेदियू के शब्दों में कहें तो कम्यून पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क का बन्दी नहीं था।

मार्क्स ने कम्यून की परिस्थितियों, कारणों और अनुभवों का निचोड़ निकालते हुए जो निष्कर्ष निकाला, उसे भी याद करना यहाँ ज़रूरी है। मार्क्स ने कहा था, **"मज़दूर वर्ग बनी-बनायी राज्य मशीनरी को ज्यों का त्यों हाथ में नहीं ले सकता और उसे अपना मक़सद पूरा करने के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता।"** उन्होंने बताया कि सर्वहारा वर्ग को पुरानी राज्य मशीनरी को "तोड़ने" और "चकनाचूर करने के लिए" क्रान्तिकारी हिंसा का इस्तेमाल करना चाहिए तथा "सर्वहारा अधिनायकत्व" को लागू करना चाहिए। बेदियू का कहना कि मार्क्स कम्यून के अपने आकलन में सुस्पष्ट नहीं थे, कोरी लफ़्फ़ाज़ी है। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सर्वहारा राज्यसत्ता के विषय में मार्क्स के विचार वास्तव में क्या थे। यह बेदियू का स्वतःस्फ़ूर्ततावाद और पार्टी-राज्य फ्रेमवर्क से उनकी 'एलर्जी' है जो उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है। बेदियू के अनुसार एक दूसरी दुनिया का भ्रूण कम्यून के मॉडल में ही आकार ले रहा है क्योंकि यह मॉडल पार्टी-राज्य के स्वरूप से मुक्त है। यह इतिहास के चक्के को पीछे धकेलना नहीं तो और क्या है? पेरिस कम्यून का प्रयोग ठीक यही दिखलाता था कि सर्वहारा वर्ग को क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी संगठन की आवश्यकता है और उनके ज़रिये ही वह बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस कर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को क़ायम कर सकता है। मज़दूर वर्ग व अन्य मेहनतकश वर्गों के विरुद्ध हिंसा के संगठित उपकरण का ध्वंस संगठित क्रान्तिकारी हिंसा के ज़रिये ही किया जा सकता है। लेकिन बेदियू के लिए पेरिस कम्यून का मॉडल राज्य, पार्टी आदि की अशुद्धताओं से मुक्त था! यह तथ्यतः भी ग़लत है। दस सप्ताह से कुछ ज़्यादा समय तक पेरिस में मज़दूरों की सत्ता ने जो कुछ किया वह क्रान्तिकारी हिंसा और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ही था! बल्कि, मार्क्स के शब्दों को उधार लेते हुए कहा जा सकता है कि भ्रूण रूप में सर्वहारा सत्ता और शासन का एक नमूना पेश करने के बावजूद, पेरिस कम्यून की सबसे बड़ी ग़लती यही रही कि उसने क्रान्तिकारी हिंसा और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को पर्याप्त हद तक लागू नहीं किया। लेकिन बेदियू हर ऐतिहासिक घटना की तरह पेरिस कम्यून का ज़िक्र करते हुए भी मनमाने ढंग से तथ्यों का चयन और व्याख्या करते हैं ताकि अपनी पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया को और राजनीतिक सदमे को अभिव्यक्ति दे सकें। बेदियू का काम आसान है : नतीजे पहले से तय हैं, बस तथ्यों को उसमें फिट करना है।

बेदियू के "कम्युनिज़्म" का विचार क्या है, इसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। अपने "कम्युनिज़्म" के विचार को परिभाषित करने के लिए बेदियू यथार्थ (the Real), काल्पनिक (the Imaginary) और प्रतीकात्मक (the Symbolic) की लकानियन त्रयी को लागू करते हैं। उनके अनुसार इतिहास 'प्रतीक' का क्षेत्र है, भविष्य की परियोजना (उनके लिए कम्युनिज़्म का विचार) 'काल्पनिक' का क्षेत्र है और राजनीति 'यथार्थ' का क्षेत्र है! आप इस बँटवारे के पीछे बेदियू की पूरी हेगेलीय-लकानीय समझदारी को देख सकते हैं। यदि कम्युनिज़्म की परियोजना 'काल्पनिक' का क्षेत्र है तो कम्युनिज़्म की पूरी परियोजना एक आत्मगत कारक बन जाती है। इसके अलावा बेदियू का कम्युनिज़्म एक काण्टीय नियामक विचार (Regulative Idea) है जिसके लिए यथार्थ के अनुरूप होना या उसका प्रतिनिधित्व करना अनिवार्य नहीं है। यह एक

लोकोत्तर विचार (transcendental Idea) है। **इसलिए बेदियू के कम्युनिज़्म का विचार महज़ एक विचार है, यह किसी क़िस्म के अमलीकरण या मूर्तीकरण का मोहताज नहीं है!** ऐसा क्यों है इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

बेदियू मार्क्सवाद पर हमला करने के लिए ज़ाक लकाँ के मनोविश्लेषण की श्रेणियों का इस्तेमाल एक विशेष उद्देश्य से करते हैं। इस प्रच्छन्न उद्देश्य को समझने के लिए हमें कुछ शब्द लकाँ की इन श्रेणियों को समझने पर ख़र्च करने पड़ेंगे, अन्यथा बेदियू के असली मन्तव्य और मंशा को सही ढंग से समझा नहीं जा सकता है। यह कुछ साथियों को थोड़ा उबाऊ या ग़ैर-ज़रूरी लग सकता है। लेकिन इन उत्तर-मार्क्सवादियों का हमला मार्क्सवाद पर इसी प्रकार का है कि असल बात तक पहुँचने से पहले लफ़्फ़ाज़ियों के कई पर्दों को चीरना पड़ता है। इसके बिना बेदियू जैसे उत्तर-मार्क्सवादियों की सुसंगत आलोचना मुश्किल है, और किसी भी प्रकार की यान्त्रिक या चलताऊ आलोचना मार्क्सवाद के उद्देश्य को लाभ के बजाय हानि ही पहुँचाती है। हम इसे अधिकतम सम्भव सहज और सरल रूप में रखने का प्रयास करेंगे, ताकि बुनियादी बात को समझकर बेदियू की आलोचना पर आगे बढ़ सकें। हम आपको यक़ीन दिलाते हैं इस छोटे-से बोझिल पैराग्राफ़ के बाद हम बेदियू द्वारा मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों पर हमले के मूल को देख सकेंगे!

कम्युनिज़्म के विचार को 'काल्पनिक' के रूप में, इतिहास को 'प्रतीकात्मक' के रूप में और राजनीतिक को 'यथार्थ' के रूप में चित्रित करने के पीछे भी जो सोच काम कर रही है, वह क्या है और इसके पीछे बेदियू का मक़सद क्या है? इसके अनुसार, इतिहास 'प्रतीकात्मक' का प्रतिनिधित्व करता है। लकानीय त्रयी में अगर हम 'यथार्थ', 'प्रतीकात्मक' और 'काल्पनिक' के सम्बन्ध को समझ लें तो बेदियू का हेगेलीय भाववाद खुलकर सामने आ जाता है। मनुष्य के मनोविज्ञान के निर्माण की व्याख्या करते हुए लकाँ ने कहा कि 'यथार्थ' (the Real) 'वास्तविकता' (the reality) से अलग वस्तु है। 'यथार्थ' वह स्थिति है जिससे हम उस क्षण हमेशा के लिए काट दिये जाते हैं, जिस दिन हम भाषा के जगत में प्रवेश करते हैं। यानी कि अपनी छवि के प्रति सचेत होने के पहले एक नवजात शिशु 'यथार्थ' के जगत में होता है। इस मंज़िल में बच्चा सिर्फ़ आवश्यकता और उसकी पूर्ति को पहचानता है। वह अभी अपने, अपनी माँ या बाह्य जगत में अन्तर नहीं जानता है। लकाँ के लिए यह मंज़िल पूर्णता (completeness या fullness) की मंज़िल है। यह बोध भाषा में बच्चे के प्रवेश के साथ खो जाता है। भाषा के जगत में प्रवेश करते ही आवश्यकता (necessity) माँग (demand) बन जाती है। यथार्थ से यह अलगाव स्थायी होता है और इसीलिए लकाँ का कहना था कि मनुष्यों के लिए यथार्थ असम्भव है, क्योंकि इसे भाषा में अभिव्यक्त ही नहीं किया जा सकता है। लेकिन लकाँ के मुताबिक़ यथार्थ हमेशा एक भूमिका अदा करता रहता है और 'काल्पनिक' और 'प्रतीकात्मक' 'यथार्थ' के पत्थर से बार-बार टकराते हैं और असफल होते रहते हैं। 'काल्पनिक' से लकाँ का क्या अभिप्राय है? 'काल्पनिक' की अवस्था 'मिरर स्टेज' की अवस्था है जिसमें *सब्जेक्ट (व्यक्ति)* आदिम आवश्यकता से "माँग" की मंज़िल में प्रवेश करता है। आवश्यकता पूरी हो सकती है, लेकिन "माँग" कभी पूरी नहीं हो सकती है। इसकी

वजह से एक 'अभाव/कमी' का बोध जन्म लेता है। जैसे ही किसी को अपने अस्तित्व के दुनिया से अलग होने का पता चलता है वैसे ही एक अकुलाहट की भावना जन्म लेती है, जिसके पीछे कुछ 'खो' जाने का बोध काम करता है। बच्चा जैसे ही इस मंज़िल में पहुँचता है, उसकी "माँग" होती है इस अन्यता (otherness) के घेरे में आ चुकी दुनिया को अपना अंग बनाना, जैसा कि बच्चे की नवजात अवस्था में हुआ करता था, जब बच्चा भाषा में प्रवेश के साथ अपने आपको दुनिया से अलग नहीं देखता था। यह "माँग" अपूरणीय होती है, क्योंकि यह उस छवि (image) पर आधारित है जो बच्चे ने अपने मन में बनायी है; यह छवि सुसंगत है, पूर्ण है, और स्थिरतापूर्ण है, लेकिन यह छवि उस वास्तविक बच्चे जैसी नहीं है। यह छवि एक कल्पना है जो बच्चे ने अपनी माँग के आधार पर बनायी है और इस रूप में अपूरणीय है। यह छवि किसी भी ऐसे व्यक्ति की हो सकती है जो कि बच्चा बनना चाहता हो; और इस रूप में अपनी 'काल्पनिक' छवि से उसका सम्बन्ध *नारसिसिस्टिक* है। अब आते हैं लकाँ के 'प्रतीकात्मक' के सिद्धान्त पर। 'प्रतीकात्मक' वास्तव में 'काल्पनिक' की सहायता से और भाषा के माध्यम के ज़िरये 'यथार्थ' की एक श्रेणीबद्ध प्रस्तुति है। मिसाल के तौर पर, 'काल्पनिक' के विश्व में हम अच्छे-बुरे, दुख-आनन्द, आदि के बारे में आदर्शीकृत धारणाएँ रखते हैं और अच्छा बुरे का, दुख आनन्द का बहिष्कार करता है; उनमें से एक ही स्वीकार्य होता है; यह वह धरातल होता है जहाँ हम चयन करते हैं। लेकिन 'प्रतीकात्मक' के जगत में इन दोनों का अस्तित्व सम्भव होता है; हालाँकि उनके बीच हम भेद करते हैं, मगर हम उन दोनों के अस्तित्वों को स्वीकार करते हैं। 'यथार्थ' में ऐसी श्रेणियाँ होती ही नहीं हैं; चूँकि 'यथार्थ' उस दौर का प्रतिनिधित्व करता है जब/जहाँ भाषा नहीं थी और इसलिए विचारधारा भी नहीं थी। बाद में, भाषा के प्रवेश के साथ और अपनी 'कल्पनाओं' की श्रेणियों की सहायता से हम 'यथार्थ' का 'वास्तविकता' के रूप में पुनरुत्पादन करते हैं। **यह सारा झमेला दरअसल यह कह रहा है कि 'काल्पनिक' मानसिक निर्मिति है, जो कि भाषा के जगत में प्रवेश के समय 'स्व' और 'अन्य' में भेद के साथ पैदा होती है; इस दौर के पहले 'स्व' और 'अन्य' एक व पूर्ण होते हैं और यह 'यथार्थ' की मंज़िल होती है; इसके बाद, भाषा (विचारधारा) के माध्यम से हम 'यथार्थ' को समझने के प्रयास में उसे श्रेणीबद्ध करते हैं, उसे समझने के लिए विभेदीकृत करते हैं (जो कि दरअसल 'यथार्थ' होता ही नहीं है!) और इस प्रक्रिया में अपने लिए एक 'वास्तविकता' का निर्माण करते हैं जो कि एक निर्मिति ही होती है और यही 'प्रतीकात्मक' का आधार है! यथार्थ अज्ञेय है! और इसीलिए जैसे ही हमारा 'काल्पनिक' और 'प्रतीकात्मक' इस 'यथार्थ' से टकराते हैं, वैसे ही वे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, और इसके साथ ही नये 'काल्पनिक' और नये 'प्रतीकात्मक' की रचना होती है, जो एक नयी 'वास्तविकता' के रूप में एक नयी निर्मिति का निर्माण करते हैं, जो कि और कुछ नहीं बल्कि 'यथार्थ' की एक छद्म प्रस्तुति ही होती है।**

अब ज़रा याद करें कि बेदियू ने अपने कम्युनिज़्म के विचार की बात करते हुए इस लकानियन त्रयी में किसे क्या कहा है - इतिहास 'प्रतीकात्मक' का प्रतिनिधित्व करता है; कम्युनिज़्म का

विचार 'काल्पनिक' का प्रतिनिधित्व करता है; और राजनीति 'यथार्थ' का प्रतिनिधित्व करती है! **यानी कि इतिहास भाषा और पाठ का क्षेत्र है, वास्तव में इतिहास ('ऐसा हुआ था') का कोई अस्तित्व नहीं है, यह आपकी कल्पनाओं की मदद से इतिहास की भाषाई निर्मिति है! कम्युनिज़्म का विचार कल्पनाओं का क्षेत्र है जिसमें मानवता अपनी वह "माँग" रखती है, जो कि एक आदर्श मनोगत छवि और यथार्थ के टकराव या विरोध से पैदा हुई है, और जो ठीक इसीलिए पूर्ण नहीं हो सकती; नतीजतन, इस "माँग" को शाश्वत रूप से (eternally) यथार्थ से टकराते रहना है, भंग होते रहना है और पुनर्निर्मित होते रहना है! कम्युनिज़्म के विचार की यह अनन्त यात्रा है, जिसमें अब पुरानी "माँगें" (पार्टी, राज्य, वर्ग आदि) यथार्थ से टकरा कर भंग हो चुकी हैं और अब नयी "माँगें" यथार्थ के साथ नये द्वन्द्व में निर्मित हो रही हैं और "इच्छाओं" के रूप में अपने आपको भाषा/विचारधारा में अभिव्यक्त कर रही हैं। और यथार्थ क्या है? वह समकालीन राजनीति है जिसकी संरचना को भाषा या विचारधारा में नहीं बाँधा जा सकता है; यह 'यथार्थ' भाषा-पूर्व युग की वस्तु है और भाषा में कल्पना के सहारे इसकी निर्मिति उसकी छद्म प्रस्तुति ही होगी, एक 'वास्तविकता' का निर्माण होगा! तो फिर आप राजनीति सचेतन तौर पर और योजनाबद्ध रूप में करें क्या? बेदियू का जवाब सीधा है - कुछ नहीं!** यह यथार्थ स्वायत्त रूप से विकसित होना है और इसमें जो बदलाव होंगे उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, और यहीं से हम बेदियू के कुछ अन्य निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी प्रतिपादनों पर आ सकते हैं, जिसमें सबसे अहम है "इवेण्ट" की अवधारणा। बेदियू के "इवेण्ट" (घटना/संयोग) की अवधारणा के अनुसार समाज में होनेवाले सभी बदलाव **आकस्मिक** होते हैं और उनका सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जा सकता। अब आप इस बात को बेदियू की 'यथार्थ' की अवधारणा से जोड़ सकते हैं। चूँकि यथार्थ सैद्धान्तिकीकरण से परे है (क्योंकि सैद्धान्तिकीकरण का माध्यम भाषा और पाठ है) इसलिए यथार्थ में होने वाले परिवर्तनों के बारे में भी कुछ पहले से नहीं कहा जा सकता, उनका सैद्धान्तिकीकरण नहीं किया जा सकता और इन्हीं परिवर्तनों को व्याख्यायित करने के लिए "इवेण्ट" की अवधारणा बेदियू द्वारा रची गयी है। **यह "इवेण्ट" ही नयी सम्भावनाओं को जन्म देता है, लेकिन "इवेण्ट" का होना संयोग या इत्तेफ़ाक की बात है, इसलिए आमूलगामी सामाजिक परिवर्तन की पूरी परियोजना ही बेदियू द्वारा संयोग के क्षेत्र में धकेल दी गयी है।** इसमें सचेतन योजना और राजनीति का स्थान नहीं है या अगर है तो वह एक निष्प्रभावी स्वतःस्फ़ूर्ततावादी उपस्थिति है। और इस तरह से क्रान्ति या कहें कि परिवर्तन से हर प्रकार का अभिकरण छीन लिया गया है। क्योंकि किसी सचेतन अभिकर्ता की आवश्यकता ही नहीं है! इसी निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद की मदद के लिए एक अन्य सैद्धान्तिकीकरण जो बेदियू यहाँ प्रस्तुत करते हैं वह है उनका "सबट्रैक्शन" (व्यवकलन) का सिद्धान्त। इसके अनुसार आज कम्युनिज़्म का लक्ष्य राज्य का विलोपीकरण नहीं है (क्योंकि यह एक असीमित, अपरिमित प्रक्रिया है!), बल्कि "राज्य से दूरी बनाये रखने की राजनीति" है - जो किसी भी राज्य में किसी भी

रूप में सम्मिलित होने को नकारती है। "सबट्रैक्शन" के अपने सैद्धान्तिकीकरण के ज़रिये एक बार फिर बेदियू सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा पर हमला करते हैं और दरअसल क्रान्ति करने के सिद्धान्त पर ही हमला बोलते हैं।

"कम्युनिज़्म" की अपनी परिकल्पना और विचार के नाम पर बेदियू मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं और क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को ख़ारिज करने का काम करते हैं। वह अतीत के सभी समाजवादी प्रयोगों पर "विफलता", "त्रासदी" और "आपदा" का लेबल तो चस्पाँ कर देते हैं, जो कि बेदियू के लिए आकाशवाणी-समान सत्य है, लेकिन न तो उन प्रयोगों का कोई आलोचनात्मक मूल्यांकन पेश करते हैं और न ही सामाजिक परिवर्तन का अपना कोई सकारात्मक मॉडल पेश करते हैं। इस पूरे उत्तरमार्क्सवादी उपक्रम का असली मक़सद है अति-आमूलगामी शब्दावली में आमूलगामिता की हर सम्भावना या समझदारी पर चोट की जाये और इसीलिए उनके हर सिद्धान्त का असल निशान मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी कोर अन्तर्वस्तु यानी कि वर्ग, राज्य, और पार्टी का सिद्धान्त है।

'कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस' या स्लावोय ज़िज़ेक के निठल्ले, निष्क्रिय, नुक़सानदेह सैद्धान्तिकीकरण का नया उदाहरण

दार्शनिकों ने
दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है
पर सवाल उसको बदलने का है,
मानता हूँ।
मेरे लिए मगर मुमकिन नहीं रह गया है,
बदलना इसे।
इसलिए अब मैं
सलाहकार बन गया हूँ
दुनिया बदलने वालों का
आओ दुनिया बदलने वालो!
मेरे अनुभव का लाभ उठाओ,
अन्यथा बदलते रह जाओगे
नहीं बदलेगी यह दुनिया।

- कात्यायनी (दुनिया को बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-2)

स्लावोय ज़िज़ेक का ज़िक्र आम तौर पर अन्तरराष्ट्रीय वाम के 'सुपरस्टार' दार्शनिक के रूप में होता है। वह अपनी फैशनेबल उत्तर-मार्क्सवादी, लकानियन, हेगोलियन अभिव्यक्ति शैली के कारण भी काफ़ी प्रचलित हैं। समकालीन पूँजीवादी सांस्कृतिक परिदृश्य पर उनकी टिप्पणियों या आलोचना को देखें, तो बेशक कई अन्तर्दृष्टियाँ मिलती हैं, और इस मायने में, एक सांस्कृतिक

समालोचक (cultural critic) के रूप में, ज़िज़ेक उम्दा भूमिका निभा रहे हैं। लेकिन इसके अलावा, उनके ज़्यादातर सैद्धान्तिकीकरणों की वास्तविक अर्न्तवस्तु में नयापन बस नाम के लिए ही है। ज़िज़ेक के पास एक सशक्त रूप है, जिसका वह कुशलता के साथ इस्तेमाल करते हैं। लेकिन वह इसका इस्तेमाल ऐसी बातें कहने में करते हैं, जो आमतौर पर सैद्धान्तिक रूप से बेहद दरिद्र, कई बार तथ्यात्मक तौर पर ग़लत, और ख़राब क़िस्म के सार-संग्रहवाद की मिसालें होती हैं। आलेख के इस भाग में हम स्लावोय ज़िज़ेक के राजनीतिक-विचारधारात्मक सैद्धान्तिकीकरणों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालेंगे और उनकी पड़ताल करेंगे। साथ ही, हमारा ध्यान मुख्य तौर पर इस बात पर होगा कि ज़िज़ेक अपने तमाम (मार्क्सवाद से ज़्यादा!) रैडिकल दावों के बाद अन्त में क्या सकारात्मक प्रस्ताव हमारे सामने रखते हैं।

स्लावोय ज़िज़ेक के चिन्तन और रचना कर्म की एक ख़ास विशेषता है उनके चिन्तन और लेखन में किसी भी संगति और सामंजस्य का अभाव। 1989 में अंग्रेजी में प्रकाशित उनकी पहली पुस्तक 'दि सब्लाइम ऑबजेक्ट ऑफ़ आइडियॉलोजी' से लेकर पिछले वर्ष के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित 'दि इयर ऑफ़ ड्रीमिंग डेंजरसली' तक की यात्रा में ज़िज़ेक ने कई विचारधारात्मक कलाबाज़ियाँ और गुलाटियाँ मारी हैं। शुरुआत में वह 'उग्रपरिवर्तनवादी जनवादी परियोजना (Radical Democratic Project) की अवस्थिति पर खड़े थे जो अब मार्क्सवादी कम्युनिज़्म (ज़िज़ेक के अनुसार) में तब्दील हो चुकी है। स्लावोय ज़िज़ेक की पिछले डेढ़ दशकों के दौरान लिखी गयी रचनाओं को पढ़कर बरबस ही फ़ेदिन के उपन्यास 'आग्नेय वर्ष' के चरित्र त्स्वेतख़िन की याद आती है जो बोल्शेविक क्रान्ति के दौरान व्यावहारिकता के तकाज़े से पक्ष चुन रहा था और आवश्यकतानुसार पक्ष बदल भी रहा था। वैसे ज़िज़ेक के कम्युनिज़्म का यह विचार कितना मार्क्सवादी है, इसकी पड़ताल हम आगे करेंगे। ज़िज़ेक के उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तन की अपनी समालोचना का दायरा हम मुख्यतः उनकी दो पुस्तकों में प्रस्तुत विचारों तक सीमित रखेंगे - 'फ़र्स्ट ऐज़ ट्रेजडी, दैन ऐज़ फ़ार्स' और 'दि इयर ऑफ़ ड्रीमिंग डेंजरसली'। राजनीति और विशेषकर भविष्य की राजनीति से जुड़े ज़िज़ेक के सैद्धान्तिकीकरण, मुख्य तौर पर इन दो पुस्तकों में उभरकर सामने आ जाते हैं। एक बात जो ज़िज़ेक के लेखन में आपको आमतौर पर दिख जायेगी, वह है अपने विश्लेषण के दौरान वे बेहद बेतुकी दिखने वाली तुलनाएँ करते हैं और उनमें समानताएँ तलाशने की लॉटरी खेलते हैं। मिसाल के तौर पर, ज़िज़ेक अगर कीर्केगार्द, मार्क्स और हेनरिख़ हाइने की तुलना करें तो आपको अचम्भित नहीं होना चाहिए। वह ऐसी तुलनाओं के ज़रिये जो करते हैं, वह और कुछ नहीं बल्कि ऐसी सामान्य परिघटनाओं का जटिल प्रस्तुतिकरण है, जिन्हें अन्य विचारकों, विशेष तौर पर मार्क्सवादी विचारकों, ने पहले ही सही ढंग से व्याख्यायित किया है। ऐसे प्रस्तुतिकरण के लिए वे हेगेलीय और लकाँवादी दार्शनिक और वैचारिक श्रेणियों का इस्तेमाल करते हैं। इन श्रेणियों के अतिरिक्त ज़िज़ेक सार-संग्रहवादी तरीके से किसी भी प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक या समकालीन विचारक की अवधारणाओं का इस्तेमाल कर सकते हैं - ताओ, बुद्ध और प्लेटो से लेकर लॉक और देकार्त तक; काण्ट, कीर्केगार्द, अडोर्नो, वॉल्टर

बेंजामिन और हाइडेगर से लेकर देल्यूश, नेग्री, हार्ट, बेदियू और जुडिथ बटलर तक। हालाँकि, इन अवधारणाओं में आम तौर पर कुछ भी सामान्य/साझा नहीं होता। इस प्रकार के तर्क से ज़िज़ेक लगातार अलग-अलग दार्शनिक व्यवस्थाओं में समानान्तर रेखाएँ खींचते रहते हैं और फिर इन समानान्तर रेखाओं का इस्तेमाल समकालीन परिदृश्य की व्याख्या करने के लिए करते हैं। इस तरीके से अलग-अलग जगहों से अलग-अलग तत्वों को अन्दाज़े से जोड़ने और जोड़कर उसे अपनी समकालीनता की व्याख्या में बिठाने को हम सट्टेबाज़ दार्शनिक पद्धति (स्पेक्युलेटिव फ़िलोसॉफ़िकल मेथड) कह सकते हैं। लेकिन यह विश्लेषण अन्त में कहीं नहीं ले जाता है, और वास्तव में यह दुनिया बदलने की बात तो बहुत दूर, दुनिया की एक आंशिक तौर पर सही व्याख्या भी नहीं होती है। कुल मिलाकर, लकाँ के मनोविश्लेषण, लेवी स्ट्रॉस के उत्तरसंरचनावाद, उत्तरआधुनिकतावाद और तमाम अन्य मार्क्सवाद-विरोधी विचार-सरणियों से मिलने वाली जूठन का इस्तेमाल करते हुए इनका दर्शन अपने आपको मार्क्स से ज़्यादा रैडिकल दिखलाने का प्रयास करता है, और लगातार यह दिखाने का प्रयास करता है कि मार्क्स क्या-क्या नहीं समझ पाये और कहाँ-कहाँ वह ग़लत थे।

साथ ही एक और बात जो ज़िज़ेक के चिन्तन की आभिलाक्षणिकता है वह है उनका ख़ुद को 'लेनिनवादी' क़रार देते रहना। वह बार-बार इस बात पर शोर देते हैं कि आज लेनिन को 'दोहराये' जाने की ज़रूरत है। लेकिन जब वह इस 'दोहराव' को व्याख्यायित करते हैं तो उसमें कुछ भी लेनिनवादी नहीं होता बल्कि वे लेनिनवाद की मूल प्रस्थापनाओं को ख़ारिज करते चलते हैं। उदाहरण के लिए, 2009 में 'आइडिया ऑफ़ कम्युनिज़्म' नाम से आयोजित एक सम्मेलन में (इसकी चर्चा हम पहले कर चुके है) प्रस्तुत किये गये अपने वक़्तव्य 'हाउ टू बिगिन फ़्रॉम दि बिगिनिंग' में लेनिन को दोहराये जाने की बात करते है और इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आज बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के अध्याय को पूरी तरह से बन्द किये जाने की आवश्यकता है और इसलिए हमें एक "नयी शुरुआत" करनी होगी। हम देख सकते हैं कि माओ के विचारों का जैसा हस्तगतीकरण और विकृतीकरण बेदियू अपने चिन्तन में करते है, ठीक वही काम स्लावोय ज़िज़ेक लेनिन के सन्दर्भ में करते हैं। ज़िज़ेक जैसे उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों के लिए 'लेनिनवाद' जैसी अवधारणाएँ महज़ एक 'कैचवर्ड' हैं और अपने लेखन में वह जहाँ-तहाँ इसका इस्तेमाल करते चलते हैं।

अब ज़रा देखते हैं कि मार्क्सवाद से अधिक रैडिकल सिद्धान्त देने के चक्कर में ज़िज़ेक किस तरह की सैद्धान्तिक कलाबाज़ियाँ दिखाते हैं। मसलन, वह दावा करते हैं कि मार्क्स का 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान' का वह प्रसिद्ध कथन, जिसमें वे उत्पादक सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों व आर्थिक आधार और अधिरचना के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में बताते हैं, वास्तव में इतिहासवाद और उद्भववाद का शिकार है। मार्क्स के इस उद्धरण को अगर आप स्वयं पढ़ें तो उसमें मार्क्स कहीं भी कोई इतिहासवादी या नियतत्ववादी बात नहीं कह रहे हैं। जो वह कह रहे हैं वह सिर्फ़ इतना है : समाज में लोग प्रभावी उत्पादन व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी

इच्छा से स्वतन्त्र निश्चित उत्पादन सम्बन्धों में बँधते हैं; एक दौर तक प्रभावी उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास को गति देते हैं, लेकिन इतिहास की एक निश्चित मंज़िल पर उत्पादक शक्तियों का विकास मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों के तहत सम्भव नहीं रह जाता; यहाँ से सामाजिक क्रान्ति का युग शुरू होता है (इसका यह अर्थ नहीं है, कि किसी पूर्वनिर्धारित मौके पर इस युग में क्रान्ति का सम्पन्न हो जाना तय है); आगे मार्क्स बताते हैं कि कोई भी व्यवस्था उत्पादक शक्तियों के विकास के मौजूदा ढाँचे के भीतर बाधित होने से पहले नष्ट नहीं हो सकती और नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि उसके लिए आवश्यक शर्तें मौजूदा व्यवस्था के भीतर ही पूरी न हो गयी हों (इसका यह अर्थ नहीं है कि वे उत्पादन सम्बन्ध ही पुरानी व्यवस्था के गर्भ में पूर्णतः पैदा हो चुके हों, यहाँ मार्क्स सिर्फ़ अनिवार्य पूर्वशर्तों की बात कर रहे हैं); और अन्त में मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मानवता अपने लिए वही लक्ष्य निर्धारित कर सकती है, जो लक्ष्य वह वास्तव में प्राप्त कर सकती है। इसका सिर्फ़ इतना ही अर्थ है कि दास समाज या सामन्ती समाज के उत्पीड़ित वर्ग साम्यवादी समाज का सपना नहीं देख सके थे। लेकिन ज़िज़ेक के लिए ऐसी कोई सीमा नहीं है। एक सच्चे प्रत्ययवादी-हेगेलवादी के समान वह कहते हैं कि आज के दौर में भी भावी बेहतर समाज के बारे में कोई परिकल्पना नहीं निर्मित की जानी चाहिए। उसे पूरी तरह से गोपनीयता के राज्य की वस्तु माना जाना चाहिए, जिसे ज़िज़ेक 'कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस' का नाम देते हैं। इसका अर्थ है कि एक ऐसा कम्युनिज़्म जिसके बार में पहले से कोई नक्शा तैयार नहीं किया जाना चाहिए। ज़िज़ेक यहाँ पर एलेन बेदियू के पदचिन्हों पर ही चल रहे हैं। फ़र्क़ इस इतना है कि ज़िज़ेक कहीं सीधे-सीधे यह नहीं कहते कि मार्क्सवाद, पार्टी और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सोच पूरी तरह से अप्रासंगिक हो चुकी है। लेकिन वास्तव में वह जो करते हैं वह और भी ज़्यादा ख़तरनाक है। बेदियू अपने इरादों में स्पष्ट हैं और उनकी आलोचना अपेक्षाकृत ज़्यादा आसान है। लेकिन ज़िज़ेक अपनी सभी बातों को स्वयं ही काटते चलते हैं।

एक अन्य जगह पर ज़िज़ेक कहते हैं कि मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की जो आलोचना की है, उसे आज दुहराने की ज़रूरत है, लेकिन कम्युनिज़्म की उस यूटोपियाई समझदारी के बग़ैर जो कि मार्क्स ने प्रस्तुत की। ज़िज़ेक मार्क्स द्वारा राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना को न समझ पाने के कारण ही ऐसा समझते हैं कि मार्क्स की कम्युनिज़्म की समझदारी यूटोपियाई और फ़न्तासी के समान थी। कम्युनिज़्म की मार्क्सवादी परियोजना कोई पूर्वकल्पित या पूर्वनिर्धारित यूटोपिया या फ़न्तासी नहीं थी, बल्कि पूँजीवाद की वैज्ञानिक आलोचना का ही नतीजा थी। जैसा कि मार्क्स कहते थे, 'कम्युनिज़्म कोई लक्ष्य नहीं है, जिसे हासिल किया जाना है। यह इतिहास की वास्तविक गति है।' लेकिन ज़िज़ेक के लिए इतिहास की ऐसी कोई गति नहीं होती। मार्क्स स्वयं कम्युनिस्ट समाज के एक-एक विवरण को पहले से निर्धारित करने के ख़िलाफ़ थे, और ऐसी किसी भी कवायद को वह अनुत्पादक मानते थे। लेकिन ज़िज़ेक कम्युनिस्ट समाज के विषय में मार्क्स के कुछ भी कहने को ग़ैर-मुनासिब मानते हैं!

ज़िज़ेक कहते हैं कि मार्क्स का इतिहासवादी स्कीमा रद्द करने की ज़रूरत है और इसके लिए हमें आज के पूँजीवाद की तीन चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं पर नज़र डालने की ज़रूरत है। ज़िज़ेक के मुताबिक़ पहली सबसे प्रमुख अभिलाक्षणिकता आज की पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े से लगान (रेण्ट) की ओर संक्रमण या तब्दीली है। ज़िज़ेक यहाँ दो अर्थों में लगान की बात कर रहे हैं - साझा बौद्धिक सम्पत्ति और प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकर से मिलने वाला लगान। लेकिन इस परिघटना में नया क्या है और इसकी खोज करने का दावा ज़िज़ेक क्यों कर रहे हैं, यह समझ से परे है। वास्तव में इन दोनों परिघटनाओं को मार्क्स और लेनिन दोनों ने ही अपनी रचनाओं में दर्ज किया है। वास्तव में, यह रिकार्डो का सिद्धान्त था कि लगान सम्पत्ति के एकाधिकार से नहीं बल्कि उत्पादन की अलग-अलग स्थितियों से पैदा होता है। जबकि मार्क्स और लेनिन का स्पष्ट रूप में यह मानना था कि लगान सम्पत्ति के एकाधिकार से पैदा होता है और वह अधिशेष का एक हिस्सा बनता है। इस रूप में मुनाफ़े से लगान की ओर जाने की बात करना दरअसल ज़िज़ेक के एक विभ्रम को दिखलाता है और साथ ही यह भी दिखलाता है कि सभी हेगेलीय लकानियन उत्तर-मार्क्सवादियों की तरह ही ज़िज़ेक की समझ भी राजनीतिक अर्थशास्त्र में दयनीय है।

ज़िज़ेक का दावा है कि मार्क्स ने सामान्य बुद्धि (जनरल इण्टेलेक्ट) के निजीकरण की कल्पना नहीं की थी। ज़िज़ेक का यह दावा भी ग़लत है कि मार्क्स ने कभी नहीं सोचा था कि सामान्य बुद्धि का इस पैमाने पर निजीकरण होगा। मार्क्स स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हर प्रकार के श्रम के सभी उत्पाद सामाजिक सम्पत्ति हैं और ज्ञान भी एक सामाजिक सम्पत्ति है। लेकिन पूँजीवाद श्रम के भौतिक उत्पादों और बौद्धिक उत्पादों दोनों का ही निजीकरण करता है। प्राक्-पूँजीवादी युग में सामान्य बुद्धि के विकास का जो स्तर था, उसमें ज़ाहिरा तौर पर बौद्धिक उत्पादों के निजीकरण की प्रवृत्ति कम ही होगी। जैसे-जैसे पूँजीवाद उत्पादन पद्धति आगे बढ़ी, उत्पादक शक्तियों का विकास हुआ, उत्पादकों की राजनीतिक और तकनोलॉजिकल चेतना का स्तरोन्नयन हुआ, वैसे-वैसे उत्पादन में सूचना और तकनीकी पद्धति के ज्ञान का महत्व बढ़ता गया। पूँजीपतियों के बीच की प्रतिस्पर्द्धा और मज़दूर वर्ग की स्वायत्त चेतना (जो बुर्जुआ वर्चस्व से सापेक्षिक रूप से मुक्त हो) के उदय के डर ने बौद्धिक सम्पदा के निजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। जहाँ तक बौद्धिक सम्पदा के नयेपन और सूचना के सर्वशक्तिशाली बन जाने का प्रश्न है, तो यह मूर्खतापूर्ण दावा है। एक कुल्हाड़ी या चक्का बनाने में भी प्राचीनकाल में सूचना की आवश्यकता होती थी। यह सच है कि सामान्य बुद्धि के स्तरोन्नयन के साथ सूचना की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है, लेकिन उसका निजीकरण और उसका मालकरण कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिस पर उत्तर-मार्क्सवादी चिन्तक इतना विस्मित हों। आलेख के अगले भाग में हम देखेंगे कि नेग्री और हार्ट भी इस परिघटना को लेकर काफ़ी चकित हैं।

उत्तर-मार्क्सवादियों के इस नये सैद्धान्तिकीकरण की मूल बात यह है कि सर्वहारा वर्ग इनके लिए अनुपस्थित हो चुका है और टटपुँजिया वर्ग परिवर्तन का नया अगुआ है। ज़िज़ेक भी एक प्रकार से इसी थीम का अनुसरण करते हैं। शारीरिक श्रम करने वालों का उदाहरण देने की ज़रूरत

होती है तो वह ज़्यादा से ज़्यादा 'फ़्लाइट अटेण्डेण्ट' का उदाहरण दे पाते हैं! औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का कहीं ज़िक्र भी नहीं होता। अभौतिक उत्पादन (जैसे सूचना का उत्पादन) एक उन्नत दुनिया का प्रतीक है; इसमें कोई शक़ नहीं। यह बात अलग है कि पूँजीवादी व्यवस्था में भौतिक उत्पादन निकृष्ट बन गया है, और अभौतिक उत्पादन उस पर अपना वर्चस्व और प्रभुत्व स्थापित करके बैठा हुआ है। लेकिन पूँजीवाद में सीधा क्या है? संक्षेप में कहें, तो ज़िज़ेक और उनके जैसे तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों ने सूचना पूँजीवाद के उदय के साथ आने वाले परिवर्तनों की जो समझदारी प्रस्तुत की है, वह वास्तव में मार्क्सवाद की बुनियादी श्रेणियों को रद्द करने के लिए की गयी है। इसमें तार्किक निरन्तरता की भारी कमी है, और थोड़ी ही पड़ताल पर उसका उथलापन और ओछापन सामने आ जाता है।

अब आते हैं एक नये क़िस्म की बुर्जुआज़ी के उदय बारे में ज़िज़ेक के दावे। पर। जिसे वह उत्तर-आधुनिक पूँजीवाद की दूसरी चारित्रिक अभिलाक्षणिकता मानते हैं। नयी बुर्जुआज़ी की अवधारणा को वह एक लकानियन विचारक ज्याँ क्लॉड मिल्नर से उधर लेते हैं, और उसे अपने विचारधारात्मक खाँचे में फिट करते हैं। इस बुर्जुआज़ी में न सिर्फ़ डॉक्टर, इंजीनियर, आदि जैसे पेशे के लोग भी शामिल हैं, बल्कि इस वर्ग के सम्भावित उम्मीदवारों में ज़िज़ेक विश्वविद्यालय छात्रों को भी गिनाते हैं। ज़िज़ेक का यह दावा है कि इस नयी बुर्जुआज़ी के ऊपरी हिस्से नियमित स्थायी रोज़गार, बेहद ऊँचे वेतनों और विशेषाधिकरों के स्वामी हैं। जबकि निचले हिस्से वे हैं जिनके सिर पर पूँजीवाद ने अनिश्चितता की तलवार लटका रखी है। ये निचले हिस्से ही हैं, जो कि 2011 में वे "ख़तरनाक सपने" देख रहे थे ('ऑक्युपाई' आन्दोलन) जिनकी बात ज़िज़ेक अपनी नयी पुस्तक में करते हैं। ज़िज़ेक मानते हैं कि अरब जनउभार, ब्रिटिश छात्र-युवा आन्दोलन और निम्न वर्गों के दंगे, स्पेन और यूनान में चल रहे आन्दोलन और साथ ही 'ऑक्युपाई' आन्दोलन इन्हीं वर्गों की आकांक्षाओं की नुमाइन्दगी करते हैं। ज़िज़ेक इन आन्दोलनों को "वामपन्थी" अर्थों में क्रान्तिकारी नहीं मानते। उनका कहना है कि इन आन्दोलनों के पास कोई भविष्य दृष्टि नहीं है। लेकिन अगले ही पल ज़िज़ेक को इन आन्दोलनों में "भविष्य के चिन्ह" भी दिखलायी देते हैं। ऐसे विरोधभासों से ज़िज़ेक का पूरा लेखन कर्म भरा पड़ा है।

बेदियू की ही तरह इतिहास के प्रति अवहेलना का दृष्टिकोण ज़िज़ेक का भी है, लेकिन अपनी क़िस्म से। वह इतिहास को पूरी तरह प्रतीकात्मक तो नहीं मानते लेकिन वह बीसवीं सदी में मज़दूर वर्ग द्वारा किये गये समाजवाद के प्रयोगों को बिना किसी विश्लेषण के एक त्रासदी मानते हैं, और इस रूप में उसे लक्षण के रूप में ही देखते हैं, जैसा कि बेदियू कहते हैं। ज़िज़ेक के लिए भी बीसवीं सदी के समाजवाद की तरफ़ एक भी दृष्टि डाले हुए भी भावी कम्युनिस्ट समाज का निर्माण हो सकता है। ज़िज़ेक ने अपनी किसी भी रचना में बीसवीं सदी के समाजवाद को, विशेषकर रूस और चीन में समाजवादी प्रयोगों के अनुभवों को एक बुरे अनुभव, त्रासदी या विपदा के तौर पर चित्रित करने के लिए किसी वैज्ञानिक-ऐतिहासिक विश्लेषण का इस्तेमाल नहीं किया है। ज़िज़ेक के लेखन में यह नतीजा आकाशवाणी के समान (axiomatic) है। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि

आज के समय में कम्युनिस्ट तब तक नया कुछ नहीं कर सकते, जब तक कि वह बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की तरफ़ देखना पूरी तरह से बन्द नहीं कर देते और यह मान नहीं लेते कि वे पूर्ण असफलता में समाप्त हुए। इस इतिहास-दृष्टि के बारे में जितना कम कहा जाये, उतना बेहतर है।

पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलनों की समीक्षा करते हुए कहते है कि आज जो पूँजीवाद-विरोधी प्रतिरोध आन्दोलन हो रहे हैं वह बेहद अराजकतापूर्ण हैं और अस्त-व्यस्त (messy) हैं। लेकिन उन्हें इसी रूप में स्वीकार करने की ज़रूरत है। अस्त-व्यस्त आन्दोलनों के सैद्धान्तिकीकरण के व्यवस्थित होने की ज़िज़ेक विरोध करते हैं। अगर वस्तुगत परिस्थिति में अराजकता, उथल-पुथल और अस्त-व्यस्तता है, तो इसका यह नतीजा कैसे निकाला जा सकता है उसका सैद्धान्तिक विश्लेषण भी अस्त-व्यस्त होना चाहिए? एक तरफ़ तो ज़िज़ेक मौजूदा प्रतिरोध-आन्दोलनों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने की हिमायत करते हैं, वहीं दूसरी ओर वह उनकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि वे मौजूदा व्यवस्था का अंग हैं, और चूँकि उनके पास किसी भावी कम्युनिस्ट समाज का प्रस्ताव या विज़न नहीं है, इसलिए वे प्रगतिशील नहीं हैं, बल्कि वे उन वर्गों के आन्दोलन हैं जिन्हें अपनी विशेषाधिकर-प्राप्त सामाजिक स्थित के खोने का भय है। इसके बाद वह यह भी कहते हैं कि भावी कम्युनिज़्म के बारे में कोई विज़न या ठोस प्रस्ताव होना ही नहीं चाहिए, और हमारा प्रस्ताव होना चाहिए कम्युनिज़्म एब्सकॉण्डिटस! अब आप ही बतायें कि ज़िज़ेक आख़िर कहना क्या चाहते हैं? कुछ नहीं! यह सारा सैद्धान्तिक तमाशा एक निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद के अलावा और कुछ नहीं है, जिसे लकानियन शोरबे और हेगेलीय मसाले के साथ छद्म-मार्क्सवादी अँगीठी पर परोसा जा रहा है। इसका कोई ऑपरेटिव पार्ट नहीं है।

हम देख सकते हैं कि छद्म-मार्क्सवादी आवरण में ज़िज़ेक मार्क्सवाद की स्थापित बुनियादी प्रस्थापनाओं को ख़ारिज करने की ही कोशिश करते है। भावी मुक्तिकामी परियोजना की कोई तस्वीर न तो वह पेश करते हैं न ही ऐसा करने के हिमायती हैं। वह अगर कुछ करने में सक्षम हैं तो वह है निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी और नुक़सानदेह रूप से भ्रामक सैद्धान्तिकीकरण, जिसके ज़रिये वह दुनिया की एक बेहद दयनीय रूप से असफल व्याख्या ही कर पाते हैं।

'ऑपराइज़्मो' (मज़दूरवाद) की ज़मीन पर एण्टोनियो नेग्री-माइकल हार्ट की 'अमूर्त' 'अभौतिक', 'आकारविहीन' सैद्धान्तिकी

दार्शनिकों ने
दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है
पर सवाल उसको बदलने का है।
लेकिन हम ख़ुद सोचेंगे
सभी सवालों पर फिर से,
नये ढंग से।
हर पुरानी चीज़ पर

सवाल उठाना हैं हमें
जैसे कि इस कथन पर भी
कि दार्शनिकों ने ...

- कात्यायनी (दुनिया बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-6)

अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'एम्पायर' (2000) के फ़्रांसीसी संस्करण की शुरुआत एण्टोनियो नेग्री और माइकल हार्ट इस दावे के साथ करते हैं कि इस पुस्तक के ज़रिये उन्होंने "इक्कीसवीं सदी का नया कम्युनिस्ट घोषणापत्र" लिखने की कोशिश की है। इसके अलावा नेग्री और हार्ट का यह भी मानना है कि जहाँ अन्य उत्तर-मार्क्सवादी विचारक पुरानी शब्दावली से ही काम चला रहे हैं, वहाँ इन दोनों ने नयी शब्दावली गढ़ी है। वैसे इस नयी शब्दावली के पीछे की पूरी सैद्धान्तिकी में मार्क्सवाद को छोड़कर सब कुछ मिल जाता हैं। इसमें आपको स्पिनोज़ा का प्रकृतिवादी यान्त्रिक भौतिकवाद मिल जायेगा; गिलेश डेल्यूश, फ़ेलिक्स ग्वातारी, मिशेल फ़ूको का उत्तर-आधुनिकतावाद मिल जायेगा; यहाँ तक कि अमेरिकी संघवादी जेम्स मैडिसन का सिद्धान्त भी आपको इनके लेखन में मिल जायेगा, साथ ही नेग्री-हार्ट की इस अजीबो-ग़रीब मिश्रण वाली उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी की जड़ में इतालवी मज़दूरवाद (ऑपराइज़्मो) की ग़ैर-मार्क्सवादी अर्थवादी सोच है। नेग्री-हार्ट की प्रातिनिधिक रचनाओं - 'एम्पायर' (Empire, 2000), मल्टीट्यूड (Multitude, 2004), कॉमनवेल्थ (Commonwealth, 2009) के सन्दर्भ में संक्षिप्त चर्चा करते हुए हम इनके प्रमुख राजनीतिक-विचारधारात्मक सैद्धान्तिकीकरणों की पड़ताल करेंगे। चूँकि मज़दूरवाद का इतालवी संस्करण (ऑपराइज़्मो) लेखकद्वय की सैद्धान्तिकी में एक विशेष स्थान रखता है, बल्कि यूँ कहें तो इनकी पूरी उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिक अट्टालिका, मज़दूरवाद के राजनीतिक आधार पर खड़ी है, इसलिए यह ज़रूरी हो जाता है कि एक सरसरी निगाह हम ऑपराइज़्मो की इस विशिष्ट इतालवी परिघटना पर भी डालें।

अंटोनियो (टोनी) नेग्री ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत इटली में 1950-1960 के दशक के मज़दूर आन्दोलनों में शिरकत से की। 1970 के दशक के ऑटोनोमिस्ट आन्दोलन के प्रमुख नेता और सिद्धान्तकारों में से एक रहे नेग्री रोमन कैथोलिक ग्रुप (GIAC) से भी जुड़े हुए थे। 1956 से 1963 तक इतालवी समाजवादी पार्टी के सदस्य भी रहे। पार्टी छोड़ने के बाद इतालवी ऑपराइज़्मो के जन्मदाता मारियो ट्रोण्टी के साथ जुड़े। 1950 के दशक की शुरुआत में मारियो ट्रोण्टी इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी (PCI) के सदस्य थे। पार्टी छोड़ने के बाद 1959 में वह इतालवी समाजवादी रैनिएरो पांशिएरी के साथ Quadoni Rossi (Red notebook) नामक पत्रिका निकालने लगे। 1966 में उन्होंने Operai e Capitale (Workers and Capital) लिखा और 1967 में पार्टी में फिर लौट आये ताकि ऑपराइज़्मो को एक सिद्धान्त के तौर पर पार्टी के अन्दर भी लागू किया जा सके।

1968 में ओपराइस्टों (मज़दूरवादियों) के समूह में मुख्य रूप से दो मुद्दों पर फूट पड़ गयी। पहला मुद्दा था, इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों का प्रभुत्व और दूसरा मुद्दा था, CGIL (General Italian Confederation of Workers) द्वारा सामाजिक संघर्षों में हस्तक्षेप एवं

मध्यस्थता की पद्धति पर ज़्यादा ज़ोर देने की आवश्यकता को रेखांकित किया जाना। नेग्री ने 1968 में ट्रोण्टी का साथ छोड़ दिया, क्योंकि नेग्री का मानना था कि पी.सी.आई. की राजनीति अब कोई नया मोड़ नहीं ले सकती है, जबकि ट्रोण्टी एक और कोशिश करने की बात कह रहे थे। इसी समय नेग्री ने पोतेरे ओपराइया नामक ग्रुप की स्थापना की जो 1968 से 1973 तक सक्रिय रहा और 1975 में ऑटोनोमिया आन्दोलन से जुड़ गया।

इतालवी मज़दूर आन्दोलन में ऑपराइज़्मो की धारा 1960 के दशक में जड़ जमाने लगी। चूँकि कोई क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद नहीं था (इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी का संशोधनवादी और समझौता-परस्त चरित्र 1950-60 का दशक आते-आते साफ़ हो चुका था) इसलिए ऑपराइज़्मो जैसी विजातीय प्रवृत्तियों को मज़दूर आन्दोलन के बीच फलने-फूलने का मौक़ा मिला। ऑपराइज़्मो धारा के मुख्य सिद्धान्तकार थे - मारियो ट्राण्टी, एण्टोनियो नेग्री और पाउलो विरनो। 1960 एवं 1970 के दशक इटली की जनता में फैले भयानक असंतोष और जनउभारों के दशक हैं। तत्कालीन सरकार की आर्थिक नीतियों ने कृषि आधारित दक्षिणी इटली से औद्योगिक क्षेत्र उत्तरी इटली की ओर प्रवास की स्थिति पैदा कर दी। औद्योगिक क्षेत्र को सस्ता श्रम मिल रहा था लेकिन सरकार इतनी बड़ी जनसंख्या को शहरों में गुज़र करने के लिए अन्य सुविधएँ देने में असमर्थ थी। इस स्थिति ने मज़दूर आन्दोलनों को जन्म दिया। ये मज़दूर आन्दोलन जल्दी ही जनता के आन्दोलनों में तब्दील हो गये। 1962 में तूरिन में फियेट (Fiat) के मज़दूरों ने बड़ी हड़ताल की। 1968 में बड़े पैमाने पर हड़तालें और हिंसात्मक घटनाएँ हुईं। इसी दौरान 1970 में विश्व पूँजीवाद मन्दी के दौर में प्रवेश कर चुका था और दुनिया भर में (फ़्रांस, जर्मनी, ग्रीस आदि) जनता के आन्दोलनों का दौर शुरू हो चुका था। 1975 में इटली में ऑटोनोमिया आन्दोलन शुरू हुआ जिसमें बड़ी संख्या में मज़दूर, स्त्रियाँ, छात्रा, युवा बेरोशगार सभी शामिल थे। यह आन्दोलन स्वतःस्फूर्त और प्रतिनिधित्व-विरोधी (anti-representation) था। ओपेराइस्ट (Operaist) विचारकों ने इन आन्दोलनों से अपनी सैद्धान्तिक प्रामाणिकता प्राप्त की। इनमें लिबरटैरियन, अराजकतावादी, नव-अराजकतावादी, "विचारधारा-मुक्त" राजनीतिक कार्यक्रम यानी कि मज़दूर आन्दोलनों की हर क़िस्म की विजातीय प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं।

मज़दूरवाद का इतालवी संस्करण ऑपराइज़्मो "मज़दूर वर्ग की संरचना" में आये "बदलावों" को रेखांकित करने की बात करता है। तात्पर्य यह है कि वह सर्वहारा वर्ग को नये तरीके से परिभाषित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, दिहाड़ी मज़दूर (wage earning workers), कर्मचारी (white coller), शारीरिक श्रम करने वाले औद्योगिक मज़दूर (blue collar) और छात्र, बेरोज़गार युवा, घरेलू कामगार आदि सभी इस "नये सर्वहारा" में शामिल हैं। इनमें वे सभी हैं जो यूनियन के किसी भी रूप में संगठित नहीं हैं। यह सिद्धान्त "मास वर्कर्स" के "सोशलाइज़्ड वर्कर्स" में रूपान्तरण की अवधारणा देता है। यह सोशलाइज़्ड वर्कर उच्च शिक्षा प्राप्त, बौद्धिक कार्यों के 'मानकीकरण' एवं 'सर्वहाराकरण' से पैदा हुआ वर्ग था। यह वर्ग अकुशल एवं शारीरिक श्रम करने वाले "मास वर्कर" से भिन्न था। नेग्री-हार्ट की 'अभौतिक श्रम' (immaterial labour) की अवधारणा का स्रोत सर्वहारा वर्ग की यही 'नयी परिभाषा' है। ऑपराइज़्मो राज्य, ट्रेड यूनियन,

पार्टी या किसी भी तरह के अनुशासित राजनीतिक संगठन से मज़दूर वर्ग को मुक्त रखने का हिमायती है तथा "स्वतः संगठित प्रतिरोध" को प्रधनता देता है, क्रान्ति की जगह "विप्लव" की बात करता है लेकिन "विप्लव" कब, कौन, कैसे करेगा; इसका कोई जवाब नहीं देता -

"हम क्रान्ति नहीं विप्लव की बात करते हैं : आज यह ज़्यादा महत्वपूर्ण है कि पूँजी द्वारा सर्वहारा के एकजुट मोर्चे को तोड़ने के लिए ली गयी पूर्ण पहलक़दमी को लगातार परास्त किया जाये।" (Crisi dello stato-Piano, Negri, pg. 42)

आगे नेग्री ने लिखा है, कि लेनिन ने सर्वहारा के एकीकरण की जो प्रक्रिया बतायी है वह आधुनिक विश्व में उलट गयी है। अब पार्टी के नेतृत्व में "ऊपर से नीचे" (Top-down process) की प्रक्रिया की जगह "जन अग्रगामी समूह" (mass avant gardes) से उत्प्रेरित "नीचे से ऊपर" (bottom-up) प्रक्रिया की ज़रूरत है। यह लेनिनवादी पार्टी और हिरावल की अवधारणा को ख़ारिज करना ही है। ऑपराइज़्मो ने एक और विचित्र क़िस्म का सैद्धान्तिकीकरण पेश किया है। इसे अस्वीकरण के सिद्धान्त (Theory of refusal) की संज्ञा दी गयी। इसके अनुसार मज़दूर वर्ग, पूँजीवादी व्यवस्था को अपना श्रम देने से इंकार और पूँजीवादी विकास में अपनी सहभागिता से इंकार करेगा। यह कैसे सम्भव होगा, ऑपराइज़्मो के सिद्धान्तकार यह बताना ज़रूरी नहीं समझते। ऑपराइज़्मो के संक्षिप्त परिचय के बाद हम नेग्री और हार्ट के सैद्धान्तिक लेखन पर बात करेंगे।

नेग्री और हार्ट की सैद्धान्तिकी पर विस्तार से बात करने से पहले सारतः कुछ बातें स्पष्ट कर देनी ज़रूरी हैं। पहली, यह कि नेग्री और हार्ट के अनुसार मार्क्सवादी सिद्धान्त एवं पद्धति पिछले 150 वर्षों, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पैदा हुए नये यथार्थ को समझने के लिए नाकाफ़ी है। मार्क्सवाद को सिरे से ख़ारिज करते हुए लेखकद्वय का विचार है कि आज आर्थिक और सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष को एक नया रूप चुनना होगा। ऐसी नयी अवधारणाएँ खोज निकालनी होंगी जो नये यथार्थ के अनुरूप हो और बड़े पैमाने पर जनता के राजनीतिक संघर्ष की वस्तुगतता की पुनर्स्थापना करे। (यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि वह रूप कैसा होगा?) दूसरी, कि जिस प्रकार पूँजीवाद के अन्दर समाजवाद के भौतिक आधार मौजूद होते हैं उसी तरह आज इस भूमण्डलीकरण ने सामाजिक एवं आर्थिक न्याय पर आधारित एक विश्वव्यापी समाज की ज़मीन तैयार कर दी है। उत्पादन एवं श्रमिक वर्ग की संरचना में आये बदलावों ने पूँजी के उत्पीड़न और दमन के खिलाफ़ संघर्ष के नये अवसर पैदा किये हैं। ऐसे सिद्धान्त-प्रतिपादनों के द्वारा नेग्री-हार्ट पूँजीवाद साम्राज्यवाद के 'अपॉलोजिस्ट्स' की भूमिका बखूबी निभा रहे हैं। तीसरी, कि आज साम्राज्यवाद का दौर नहीं "एम्पायर" (Empire) का दौर है इसलिए देशीय या क्षेत्रीय स्तर पर संघर्ष का कोई मतलब नहीं है और सर्वहारा वर्ग जैसा कोई केन्द्रीकृत वर्ग नहीं है, बल्कि निर्गुण, निराकार "मल्टीट्यूड" है जो किसी राज्य-सत्ता के अन्तर्गत नहीं बल्कि "ग्लोबल सिटीज़नशिप" के अन्तर्गत है और विप्रादेशिकृत (deterritorialized) है। चौथी, कि यह "मल्टीट्यूड" सामाजिक स्तर पर उत्पीड़ित "भूमण्डलीकृत जनसंख्या" है जो "एम्पायर" के अन्दर ही गठित हो रही है। यह मल्टीट्यूड 'एम्पायर' के खिलाफ़ परस्पर सहभागिता और सहकार के आधार पर साझा सम्पदा "कॉमन" (Common) की खोज करेगा और स्वतः ही संगठित होगा। यह बात दीगर है कि उनकी

किताब 'कॉमनवेल्थ' के दो सौ पन्ने इसी बात की असफल खोज करते हुए रंगे गये हैं कि यह "कॉमन' अस्तित्वमान कैसे होगा! पाँचवीं, कि बीसवीं शताब्दी के तमाम क्रान्तिकारी प्रयोग ग़ैर-जनवादी और निरंकुश शासन (Tyranny) थे इसलिए "कॉमन" की खोज करनी होगी।

अब नेग्री-हार्ट की सैद्धान्तिकी के विस्तार पर आते हैं। अपने लेखन में नेग्री और हार्ट पूँजीवाद या साम्राज्यवाद शब्द का प्रयोग नहीं करते बल्कि 'एम्पायर' की बात करते हैं। यह 'एम्पायर' किसी भी सीमा में नहीं बँधा हुआ है और इसका कोई केन्द्र नहीं है। यह कोई ऐतिहासिक सत्ता नहीं बल्कि निरपेक्ष सत्ता है। यहाँ नेग्री-हार्ट, डेल्यूज़ और ग्वातारी जैसे उत्तर-आधुनिकतावादियों से "डिटेरिटोरिअलाइज़ेशन" की अवधारणा ले आते हैं जिससे उनका तात्पर्य है पूँजी और जनसंख्या का सीमातीत ग्लोबल प्रसार। उनके अनुसार यह 'एम्पायर' इतिहास की गति में कोई अवस्था नहीं है, बल्कि एक ऐसी सत्ता है जो इतिहास से बाहर है या इतिहास के अन्त पर है। यह मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को ही संचालित नहीं करता है बल्कि मानव प्रकृति को भी शासित करता है और समाज में गहरायी तक व्याप्त है। इस प्रकार यह 'बायोपॉवर' (जैवशक्ति) का पैराडाइम रचता है। 'बायोपॉवर' की यह अवधारणा फ़ूको की दी हुई है जिसके अनुसार 'बायोपॉवर' आधुनिक राष्ट्र-राज्य (Nation State) और पूँजीवाद द्वारा "बॉडीज़" (Bodies) को अधीन करके जनसंख्या पर नियन्त्रण रखता है। यहाँ फ़ूको व्यक्ति को एक जैविक सत्ता के रूप में "बॉडी" का नाम देता है। अब आइये इस पूरे बौद्धिक-सैद्धान्तिक गड़बड़झाले की पड़ताल करते हैं।

'डिटेरिटोरियलाइज़ेशन' की इस अवधारणा में इसके नाम के अलावा कुछ भी नया नहीं है। विस्तार और प्रसार तो पूँजी की चारित्रिक विशेषता है और नैसर्गिक गति है। बिना स्वयं को प्रसारित किये वह अपना अस्तित्व नहीं बचा सकती। इसलिए भूमण्डलीकरण के दौर में वह अपने वैश्विक प्रसार से सभी बाधओं को हटाते जाती है ताकि वित्तीय पूँजी एवं माल का आगमन-निगमन सुगम बनाया जा सके। इस यथार्थ का सैद्धान्तिकीकरण मार्क्सवाद ने ही किया था। फैशनेबल नाम देकर उत्तर-मार्क्सवादी इसे अपना आविष्कार बताने पर तुले हुए हैं। जहाँ तक मिशेल फ़ूको के "बायोपावर" और "बायोपॉलिटिक्स" जैसी अवधारणाओं का प्रश्न है तो यह सत्ता की अपराजेयता को ही रेखांकित करने के लिए गढ़ी गयी हैं। यह उसी पुरानी फूकोल्डियन उत्तर-आधुनिकतावादी सैद्धान्तिकी का विस्तार मात्रा है कि सत्ता पोर-पोर में समायी हुई है और इसलिए सत्ता का सामूहिक प्रतिरोध व्यर्थ है। इस सिद्धान्त के अनुसार सत्ता का सामूहिक प्रतिरोध हर-हमेशा स्वयं सत्ता की संरचनाओं को जन्म देगा इसलिए इस प्रतिरोध को वैयक्तिक और निजता की जगत में हर प्रकार के सार्वभौमिक और मानक को तोड़ कर किया जाना चाहिए।

बकौल नेग्री-हार्ट "एम्पायर" के अंदर एक ऐसी प्रतिरोधी ताक़त पैदा हो रही है जो इसे परास्त करेगी। वह ताक़त है "मल्टीट्यूड"। यह "मल्टीट्यूड" उनके लिए वर्ग का स्थानापन्न है। इसकी अवधारणा को विकसित करते हुए लेखकद्वय "श्रम की संरचना" में आये "बदलावों" की ओर इंगित करते हैं और "अभौतिक श्रम" (Immaterial labor) की एक नयी अवधारणा देते हैं। उनके अनुसार बीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में औद्योगिक श्रम का वर्चस्व ख़त्म हो गया और इसकी जगह "अभौतिक श्रम" स्थापित हो गया। यह अभौतिक श्रम ज्ञान, सूचना, संचार,

रिलेशनशिप, भावनात्मक संप्रेषण आदि उत्पादित करता है। यानी सेवा क्षेत्र, बौद्धिक श्रम और संज्ञानात्मक श्रम "अभौतिक श्रम" हैं। इस अभौतिक श्रम के द्वारा जो उत्पादन पैदा होता है यह "बायोपोलिटिकल उत्पादन" है। बायोपोलिटिकल इसलिए कि यह विचार, इमेज, संकेत उत्पादित करता है। यह उत्पादन स्वायत्त है और इसे मापा नहीं जा सकता है। यही बायोपोलिटिकल उत्पादन 'मल्टीट्यूड' को परस्पर सहभागिता एवं सहकार की ओर ले जायेगा।

क्रान्तिकारी वर्ग राजनीति को ख़ारिज करते हुए वे कहते हैं कि, क्रान्तिकारी वर्ग राजनीति का उद्देश्य बस सभी को सार्वभौम रूप से दो वर्गों - बुर्जुआ और सर्वहारा में बाँट देना है और इसलिए सामाजिक समानता पर आधारित संरचना पैदा कर पाने में वह असमर्थ है। आज चूँकि अलग-अलग अस्मिताओं और "सिंग्युलैरिटी" का सवाल अहम है इसलिए इस तरह की राजनीति अप्रासंगिक है। आज सिर्फ़ "ग़ैर-क्रान्तिकारी परियोजनाएँ" ही मज़दूरों की अस्मिताओं की रक्षा कर सकती हैं। यह और कुछ नहीं बल्कि वही पुराना उत्तर आधुनकितावादी राग है जो अस्मितावादी राजनीति की बात करता है। अब चूँकि क्षेत्र, जाति, भाषा, नस्ल, धर्म की विभिन्नताएँ मौजूद हैं इसलिए इन्हें एक ही चीज़ है जो समाहित कर सकती है, वह है परम "उदार" "मल्टीट्यूड" जो "एकता में अनेकता" का मॉडल देता है।

नेग्री व हार्ट आगे बताते है कि अब राजनीतिक संघर्ष 'निष्क्रमण' (Exodus) के रूप में होगा। मल्टीट्यूड समय के साथ परिपक्व होगा और इस अवस्था में पहुँचेगा कि "बायोपोलिटिकल उत्पादन" में पैदा हुए श्रम की स्वायत्तता के बल पर ख़ुद को "एम्पायर" से अलग कर लेगा। (Commonwealth, पृ. 153) दरअसल इस "एक्सोडस" की जड़ें ऑपराइज़्मो के "अस्वीकरण सिद्धान्त" में हैं। लेकिन इतना सारा "अहम कार्य" मल्टीट्यूड करेगा कैसे? अब श्रीमान नेग्री-हार्ट को तो पार्टी और हिरावल जैसी अवधारणाओं से परहेज़ है, क्योंकि इस तरह के संगठन "अस्मिता" का हनन कर देते हैं इसलिए सहभागिता, स्वायत्तता और "नेटवर्क संगठन" (Network Organisation) ही उसे संगठित करेंगे। अब आपको नेग्री और हार्ट बारहवीं शताब्दी में ले जाते हैं और एक "सोशल वर्कर" की अवधारणा देते हैं। यह सोशल वर्कर 12वीं शताब्दी के इतालवी कैथोलिक उपदेशक सेंट फ़्रांसिस ऑफ़ असीसी का चोगा पहनकर आदर्शवादी रूप में "ड्यूटी" और "अनुशासन" से काम करते हुए "नेटवर्क संगठन" बनायेगा। बकौल नेग्री-हार्ट सेंट फ़्रांसिस ही "भविष्य की राजनीति को रास्ता दिखायेंगे" (Empire, p. 413)। तो नेगी-हार्ट द्वारा प्रस्तावित मुक्तिकामी राजनीति के मॉडल - एक कैथोलिक धर्म गुरु हैं। अब आप देख सकते हैं कि इन सट्टेबाज़ दार्शनिकों का धुरीविहीन चिन्तन इन्हें कहाँ ले आया - सीधे धर्म की गोद में!

अब ज़रा बीसवीं शताब्दी के समाजवादी प्रयोगों और समाजवादी संक्रमण पर नेग्री-हार्ट की "मौलिक" प्रस्थापनाओं पर भी एक सरसरी निगाह दौड़ाई जाये। बकौल नेग्री-हार्ट समाजवादी संक्रमण "बायोपोलिटिकल इकोनॉमी" को नियन्त्रित करने में अक्षम है। आज उत्पादन औद्योगिक नहीं रहा बायोपालिटिकल (अभौतिक) हो गया है इसलिए समाजवाद की प्रासंगिकता ख़त्म हो गयी है। हालाँकि बीसवीं शताब्दी में एक शक्तिशाली आर्थिक मॉडल दिया गया लेकिन यह समझना आवश्यक है कि समाजवाद और पूँजीवाद कभी भी परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि समाजवाद

पूँजीवादी उत्पादन के राज्य द्वारा प्रबन्धन का दौर है। यह चूँकि औद्योगिक पूँजी के प्रोत्साहन और विनियमन के लिए काम करता है इसलिए श्रम के अनुशासन की एक ऐसी सत्ता क़ायम करता है जो सरकार एवं नौकरशहाना संस्थाओं के द्वारा चलायी जाती है (Commonwealth, पृ. 269, 361, 362)। चूँकि समाजवाद औद्योगिक पूँजी के "पैराडाइम" से निकलता नहीं इसलिए सारी क्रान्तियाँ विफल हो गयीं! वे आगे कहते हैं कि सोवियत यूनियन के अन्तिम दशकों में सामाजिक उत्पादन की आन्तरिक गतिकी और इसके राह की बाधाओं को देखना पड़ेगा। 1960 से 1980 के दशकों में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक वातावरण विकसित हो रहा था जिसे समाजवादी व्यवस्था द्वारा दबाने की कोशिश की गयी। चूँकि इस रचनात्मकता की राह में बाधा खड़ी की गयी इसलिए स्थिरता की स्थिति बन गयी और उस दौरान हो रहा बायोपोलिटिकल उत्पादन दबकर रह गया।

तो बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की यह बचकानी आलोचना नेग्री-हार्ट पेश करते हैं! इसे आलोचना कहना भी आलोचना शब्द का मज़ाक उड़ाना होगा! एक तो यह तथ्यात्मक रूप से भी ग़लत है। 1960 से 1980 के दशक जिसे नेग्री-हार्ट समाजवादी काल मान रहे हैं, वह तो समाजवाद का दौर था ही नहीं। दूसरे "बायोपॉलिटिकल इकॉनमी" यानी की सूचना के उत्पादन (अभौतिक उत्पादन) की सम्भावनासम्पन्नता के प्रति इन विचारकों में एक प्रकार का *फ़ेटिश* (अन्धभक्ति) है। एक बात जो ये 'चिन्तक' नज़रअन्दाज कर जाते हैं वह यह कि उत्पादन में सूचना का कितना भी महत्व हो जाये (और ऐसा कब नहीं था), भौतिक उत्पादन का महत्व और उसकी मानव जीवन के लिए अनिवार्यता किसी भी सूरत में कम नहीं हो सकती। अभौतिक उत्पादन करने वालों को भोजन, मकान, कपड़े व अन्य भौतिक वस्तुओं की ज़रूरत होगी, और इनके मिलने के बाद ही वह अभौतिक उत्पादन कर सकता है। साथ ही, आज सिर्फ़ संख्यात्मक तौर पर भी देखा जाये तो भौतिक उत्पादन करने वालों की तादाद अभौतिक उत्पादन करने वालों से कहीं ज़्यादा है। लेकिन भौतिक और अभौतिक उत्पादन के बीच इस प्रकार का बँटवारा ही अवैज्ञानिक और अतार्किक है।

इनकी पूरी सैद्धान्तिकी का सार-संक्षेप करे तो नेग्री और हार्ट जिस अभौतिक उत्पादन, अभौतिक श्रम और अभौतिक पूँजीवाद की बात करते है, जिसके अनुसार आज पूँजीवादी विश्व में सूचना प्रमुख और प्रभावी उत्पाद/माल बन चुकी है, और इसके उत्पादन में लगी श्रमशक्ति प्रमुख श्रम शक्ति बन चुकी है, वह इसीलिए गढ़ा गया है कि सर्वहारा वर्ग की परिभाषा को प्रदूषित किया जा सके। एक अभौतिक पूँजीवाद के नाश के लिए वह एक आकृतिविहीन आकारविहीन मल्टीट्यूड की कल्पना करते हैं। यह मल्टीट्यूड एक उतने ही आकारविहीन और आकृतिविहीन क़िस्म के शासकों के समूह (एम्पायर) का तख्तापलट कर, कॉमन्स (साझा-सम्पदा) को निजी कब्ज़े से मुक्त करायेगा। इनकी सैद्धान्तिकी में पूँजीवाद एक अवैयक्तिक (इम्पर्सनल) शक्ति बन जाता है, प्रतिरोध एक अमूर्त चीज़ बन जाती है और प्रतिरोध करने वाले भी आकृतिविहीन वस्तु बन जाते हैं। यह पूरी अवधारणा बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्तों, जैसे कि वर्ग की अवधारणा,

निजी सम्पत्ति और पूँजी की अवधारणा, पार्टी और राज्य की अवधारणा आदि पर हमला करने के लिए ही गढ़ी गयी है।

अर्नेस्टो लाक्लाऊ और चैण्टल माउफ़ की 'उग्रपरिवर्तनवादी जनवाद' की अवधारणा : उत्तर-आधुनिकतावादी अस्मितावादी राजनीति की एक और सैद्धान्तिकी

दार्शनिकों ने
दुनिया की तरह-तरह से व्याख्या की है
पर सवाल उसको बदलने का है,
लेकिन मुकम्मिल तौर पर
बदलना इस दुनिया को
मेरे बूते की बात नहीं।
इसलिए मैं पैबन्द लगाता हूँ।
- कात्यायनी (दुनिया को बदलने के बारे में कतिपय सुधीजनों के विविध विचार-4)

आज उत्तर-मार्क्सवादी 'दार्शनिकों' की नयी खेप (बेदियू, ज़िज़ेक, नेग्री-हार्ट आदि) के अवतरित होने के साथ अर्नेस्टो लाक्लाऊ और चैण्टल माउफ़ के सैद्धान्तिकीकरण बौद्धिक जगत से थोड़े 'आउटडेटेड' हो गये हैं। क्या करें, आजकल इनसे भी ज़्यादा "रैडिकल" और गर्मागर्म जुमलों का इस्तेमाल करने वाले "चिन्तकों" के "चिन्तनों" का बाज़ार गर्म है! लेकिन 1985 जब 'हेजेमनी एण्ड सोशलिस्ट स्ट्रैटजी : टुवर्ड्स ए रैडिकल डेमोक्रेटिक स्ट्रैटजी : टुवर्ड्स ए रैडिकल डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स' प्रकाशित हुई थी तब इसे राजनीतिक सिद्धान्त की मार्क्सवादी परम्परा में एक "ब्रेकथ्रू" रचना के तौर पर देखा जा रहा था क्योंकि यह "मरणासन्न, जड़, कठमुल्लावादी" मार्क्सवादी सिद्धान्त से उत्तर-संरचनावादी, "उत्तर-मार्क्सवादी" दर्शन की तरफ़ संक्रमण का संकेत दे रही थी। इस मायने में लाक्लाऊ-माउफ़ को उत्तर-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी के जन्मदाता के तौर पर भी देखा जा सकता है। हालाँकि, आज इनका रचनाकर्म अकादमिक दायरों में उतनी हलचल नहीं पैदा कर पा रहा है, लेकिन आज तक ज़िज़ेक जैसे अधिक फैशनेबल उत्तर-मार्क्सवादी, लाक्लाऊ-माउफ़ की कई अवधारणाओं की बुनियाद पर ही अपने नित-नये सैद्धान्तिकीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

लाक्लाऊ और माउफ़, अपनी उक्त पुस्तक में क्रान्तिकारी सम्भावना की हर बात को ख़ारिज करते हुए "उग्रपरिवर्तनवादी" सुधारवादी परियोजनाओं को हाथ में लेने की हिमायत करते हैं। इनका मानना है कि 'कठमुल्लावादी' मार्क्सवाद को उसके 'सारभूतवादी' (essentialist) तत्वों (यानी की वर्ग की अवधारणा, क्रान्तिकारी परिवर्तन की अवधारणा, हिरावल के रूप में पार्टी

की अवधारणा, सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा) से निजात दिलाने के लिए समकालीन उत्तर-आधुनिकतावादी, उत्तर-संरचनावादी दर्शन के सैद्धान्तिक उपकरणों का इस्तेमाल करना पड़ेगा। साथ ही ज़ाक लकाँ, मिशेल फूको, रोलाँ बार्थ, ज़ाक देरिदा जैसे दार्शनिकों से भी काफ़ी कुछ सीखना होगा। मार्क्सवादी सिद्धान्त में अन्तर्निहित 'आर्थिक नियतत्ववाद' (economic determinism) को इसी तरह से दुरुस्त किया जा सकता है।

लाक्लाऊ और माउफ़ भी क्रान्तिकारी मार्क्सवादी विचारकों का अपनी उत्तर-मार्क्सवादी राजनीति के हिसाब से विनियोजन करने में पीछे नहीं रहते। यहाँ इन्होंने अपना निशाना ग्राम्शी को बनाया है। हालाँकि यह सिर्फ़ ग्राम्शी के सिद्धान्तों के हस्तगतीकरण तक नहीं रुकते बल्कि उससे भी आगे जाने की बात करते है! वैसे इसमें भी कुछ नया नहीं हैं! बेदियू माओ से भी आगे निकलकर उत्तर-माओवादी हो गये, ज़िज़ेक लेनिन से भी आगे निकलकर उत्तर-लेनिनवादी हो गये, लाक्लाऊ और माउफ़ ग्राम्शी से आगे निकलकर उत्तर-ग्राम्शीवादी हो गये! और यह सभी मिलकर, मार्क्सवाद की हदों को लाँघकर, मार्क्सवाद से भी अधिक रैडिकल विचारधारा की खोज करते हुए, उत्तर-मार्क्सवादी हो गये हैं!

अपने 'उग्रपरिवर्तनवादी जनवाद' की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लाक्लाऊ और माउफ़ कहते हैं कि यह किसी 'एक राजनीतिक स्पेस' की बात नहीं करता बल्कि 'जनवादी संघर्षों' की ख़ोज "राजनीतिक 'स्पेस' की बहुलता" में यक़ीन करता है। और यहाँ पर लाक्लाऊ और माउफ़ अपनी अस्मितावादी राजनीति की अवधारणा को लाते हैं। वर्ग-आधारित एकजुटता और तदजनित संघर्ष एक क़िस्म की एकाशमीयता और सार्वभौमिकता का निर्माण करते हैं। चूँकि हर क़िस्म की सार्वभौमिकता और सामान्यता दमनकारी होती है इसलिए आज के 'रैडिकल जनवाद' की परियोजना को नये सामाजिक आन्दोलनों - जैसे कि पर्यावरण, शान्ति से जुड़े आन्दोलनों, नारीवादी आन्दोलन, समलैंगिकों के आन्दोलन आदि को अपने दायरे में लाना होगा। भारत में कुछ बौद्धिकतावादी मार्क्सवादियों ने लाक्लाऊ और माउफ़ के इस सिद्धान्त को भारत के परिप्रेक्ष्य में जाति, जेण्डर, आदिवासियों आदि के संघर्ष पर लागू किया है और इस थीसिस तक गये हैं कि अब वर्ग संघर्ष अपने क्लासिकीय रूपों में नहीं होगा, बल्कि इन पहचानों के संघर्ष के रूप में होगा; या अब क्लासिकीय वर्ग संघर्ष तमाम 'जनवादी संघर्षों' में से एक होगा, जिनमें जाति, जेण्डर आदि के संघर्ष भी शामिल होंगे और वर्ग संघर्ष पर अलग से बल देना नियतत्ववाद होगा। अब तक यह स्पष्ट हो चुका है लाक्लाऊ-माउफ़ का राजनीतिक एजेण्डा वाक़ई में उत्तर-आधुनिकतावादी, अस्मितावादी राजनीति का एजेण्डा ही है। इनके लिए वर्ग-आधारित राजनीति अतीत की बात है। आज इसका दौर बीत चुका है। आज के दौर में सुधारवाद के ज़रिये, पैबन्दसाज़ी के ज़रिये पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर ही 'रैडिकल जनवादी' स्पेस बनाया जा सकता है, इसलिए इनके अनुसार क्रान्तिकारी परिवर्तन की, सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रान्ति की कोई ज़रूरत नहीं रह गयी है। यही इनके सिद्धान्त की मूल अन्तर्वस्तु है।

अन्त में...

इस पूरी चर्चा के बाद हम स्पष्ट तौर पर यह कह सकते हैं कि उत्तर-मार्क्सवाद के अलग-अलग 'शेड्स' के 'सिद्धान्तकारों' की भाँति-भाँति की सैद्धान्तिकियों का मक़सद मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु पर हमला करना है। सही मायनों में कहें, तो उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रत्यक्ष हमलों के चुक जाने के बाद उत्तर-आधुनिकतावाद का विरोध करने की नौटंकी करते हुए, इन तमाम सट्टेबाज़ उत्तर-मार्क्सवादी दार्शनिकों के धुरी-विहीन चिन्तन और दार्शनिक ख़ानाबदोशी का वास्तविक निशाना एक बार फिर मार्क्सवाद ही है। इनके शब्द अलग हैं; उत्तर-आधुनिकतावाद जिस बेशर्मी के साथ पूँजीवाद की अन्तिम विजय, कोई विकल्प न होने, पहचान की राजनीति के समर्थन, आदि की बात करता था, अब वैसा करना असम्भव है और किसी के लिए ऐसा करना अपना मज़ाक उड़वाने जैसा होगा। इसलिए इन नये दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष तौर पर पूँजीवाद-विरोध की भाव-भंगिमा अपनायी है और पूँजीवाद की ये लोग एक "नये क़िस्म की आलोचना" करते हैं। आज के ज़माने में पूँजीवाद के ख़िलाफ़ आम जनता सड़कों पर उतर रही है। यह 1990 का दौर नहीं है जब दुनिया भर में पस्ती और निराशा छायी हुई थी। उस समय उत्तर-आधुनिकतावाद नंगे तौर पर 'अन्त' की घोषणाएँ कर सकता था। अब कोई भी विचारधारा जो ऐसा प्रयास करेगी, उसके हश्र का अनुमान लगाया जा सकता है। इसलिए पूँजीवादी बौद्धिक तन्त्र ने अपनी सहज गति से नये क़िस्म के "दार्शनिकों" को पैदा किया है जिसमें से किसी को 'मोस्ट एण्टरटेनिंग थिंकर', 'ग्रेटेस्ट लिविंग थिंकर' आदि कहा जा रहा है तो किसी को 'मोस्ट इनोवेटिव थिंकर ऑफ़ जेनरेशन' और पता नहीं क्या-क्या कहा जा रहा है। लेकिन जैसा कि हमने देखा, इन नये "दार्शनिकों" का निशाना भी वही है जो कि 1990 के दशक और 2000 के दशक की शुरुआत में उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त आदि का था - मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु। आज इन तमाम उत्तर-मार्क्सवादियों दार्शनिकों की दार्शनिक आवारागर्दी की कठोर आलोचना की ज़रूरत है और इनके विचारों के वास्तविक मार्क्सवाद-विरोधी चरित्र को साफ़ करने की ज़रूरत है। यह समझने की ज़रूरत है कि शब्दों के सारे खेल और बाज़ीगरी के पीछे इनका इरादा और मक़सद क्या है।

ट्रम्प का यरुशलम दाँव

अमेरिकी साम्राज्यवाद की बौखलाहट की निशानी

• आनन्द सिंह

यूरोपीय संघ और अरब जगत के अपने सहयोगियों की चेतावनी के बावजूद अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प ने गुज़रे 6 दिसम्बर को यरुशलम को इज़रायल की राजधानी के रूप में मान्यता देने की घोषणा कर दी। यह घोषणा करते हुए ट्रम्प ने ख़ुद की पीठ थपथपाते हुए कहा कि वह ऐसा क़दम उठाने जा रहा है जिसे उठाने का साहस अब तक अमेरिका का कोई भी राष्ट्रपति नहीं कर सका था। ग़ौरतलब है कि 1995 में अमेरिका कांग्रेस ने 'यरुशलम एम्बैसी एक्ट' पारित किया था जिसके तहत इज़रायल में अमेरिका के दूतावास को यरुशलम स्थानान्तरित करने का प्रावधान था। परन्तु इसके गम्भीर निहितार्थ को देखते हुए उसके बाद से सभी अमेरिकी राष्ट्रपति इस फ़ैसले को टालते आ रहे थे। ट्रम्प ने यह फ़ैसला ऐसे समय लिया है जिस समय जहाँ एक ओर अमेरिका के भीतर घरेलू मोर्चे पर फिसड्डीपन की वजह से ट्रम्प की लोकप्रियता दिनो-दिन कम होती जा रही है वहीं दूसरी ओर सीरिया में असद सरकार को गिराने में अमेरिकी साम्राज्यवाद की विफलता और समूचे मध्यपूर्व में रूस-ईरान-सीरिया-हिज़बुल्ला धुरी का पलड़ा भारी होने की वजह से अमेरिकी साम्राज्यवादी खेमे में उहापोह की स्थिति बनी हुई है। ऐसे में यरुशलम को इज़रायल की राजधानी के रूप में मान्यता देने का दाँव अमेरिकी साम्राज्यवाद की बौखलाहट की ही अभिव्यक्ति

है। इस फ़ैसले के गहरे निहितार्थों के मद्देनज़र इसके पीछे के कारणों को समझना बेहद ज़रूरी है।

यरुशलम सम्बन्धित विवाद : एक पश्चदृष्टि

ग़ौरतलब है कि 1948 में इज़रायल नामक राष्ट्र के जन्मकाल के समय से ही यरुशलम शहर की स्थिति को लेकर चल रहा विवाद फ़िलिस्तीन के प्रश्न का एक अहम पहलू रहा है। 1947 की संयुक्त राष्ट्र की योजना में भी यरुशलम के प्रशासन को एक विशेष अन्तरराष्ट्रीय संस्था के हवाले करने का प्रावधान था जिसे अरब देशों ने ख़ारिज कर दिया था। 1948 में इज़रायल की स्थापना की घोषणा के फ़ौरन बाद इज़रायल और अरब देशों के बीच क़रीब 10 महीने तक युद्ध की स्थिति बनी रही जिसके बाद संयुक्त राष्ट्र की मध्यस्थता में युद्धविराम की संधि पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार यरुशलम के पश्चिमी हिस्से पर इज़रायल का अधिकार हो गया जबकि पूर्वी यरुशलम जॉर्डन के नियन्त्रण में रहा।

ग़ौरतलब है कि पूर्वी यरुशलम इस्लाम, यहूदी और ईसाई तीनों की धर्मों के अनुयायियों द्वारा अपने-अपने धर्म का पवित्र स्थल माना जाता है। पूर्वी यरुशलम में ही पुराने शहर का वह हिस्सा आता है जिसमें 'हरम-अल-शरीफ़' मस्जिद स्थित है जो अरब के लोगों के लिए सबसे पवित्र स्थानों में से एक मानी जाती है। यहूदी लोग इस परिसर को 'टेम्पल माउण्ट' कहते हैं। इसी परिसर में अल-अक्सा मस्जिद भी स्थित है जिसे इस्लाम की तीसरी सबसे पवित्र मस्जिद के रूप में मान्यता प्राप्त है। 1967 के अरब-इज़रायल युद्ध के बाद पूर्वी यरुशलम का हिस्सा भी इज़रायली क़ब्ज़े में आ गया। हालाँकि इस क़ब्ज़े को अब तक अन्तरराष्ट्रीय मान्यता नहीं मिली है क्योंकि जेनेवा कन्वेंशन के मुताबिक़ युद्ध के ज़रिये क़ब्ज़ा किये गये भूक्षेत्र की स्थिति सैन्य क़ब्ज़े की होती है। अभी दिसम्बर 2016 में ही संयुक्त राष्ट्र में एक प्रस्ताव पारित किया गया था जिसमें यह साफ़ लिखा था कि फ़िलिस्तीन का भूक्षेत्र इज़रायली सैन्य क़ब्ज़े में है। फ़िलिस्तीन के लोगों का पूर्वी यरुशलम से गहरा भावनात्मक लगाव है और वे उसे भविष्य के स्वतन्त्र और एकजुट फ़िलिस्तीन राज्य की राजधानी के रूप में देखते हैं। यरुशलम की विवादित स्थिति के मद्देनज़र ही 1978 के कैम्प डेविड समझौते और 1993 के ओस्लो समझौते में भी यरुशलम की स्थिति को भविष्य में फ़ैसलाकुन बातचीत के लिए टाल दिया गया था। ग़ौरतलब है कि वर्ष 2000 में दूसरे इन्तिफ़ादा की चिंगारी उस समय के इज़रायल के विपक्षी नेता और पूर्व राष्ट्रपति एरियल शैरोन द्वारा 'टेम्पल माउण्ट' के परिसर में प्रवेश करने के बाद ही भड़की थी।

ग़ौर करने की बात यह भी है 1995 में 'यरुशलम एम्बैसी एक्ट' पारित करने के बाद अमेरिकी कांग्रेस ने 2002 में एक बार फिर इज़रायल में अमेरिकी दूतावास को यरुशलम में स्थानान्तरित करने और यरुशलम में पैदा हुए अमेरिकियों के पासपोर्ट में जन्मस्थान के रूप में इज़रायल का नाम डालने से सम्बन्धित एक विधेयक पारित किया था। लेकिन दक्षिणपन्थी अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज डब्ल्यू. बुश भी उसे लागू नहीं कर सका था। ट्रम्प के मौजूदा फ़ैसले से पहले तक अमेरिका की आधिकारिक अवस्थिति यह रही थी कि यरुशलम की स्थिति शान्ति प्रक्रिया के तहत इज़रायलियों

और फ़िलिस्तीनियों के बीच बातचीत के ज़रिये तय होनी चाहिए। इसलिए निश्चित रूप से यह अमेरिकी विदेश नीति में एक बड़ा क़दम है जिसके बाद से मध्यपूर्व में शान्ति स्थापित करने के उसके तमाम दावों की असलियत सबके सामने उजागर हो गयी है।

ट्रम्प के फ़ैसले के पीछे के कारण

यरुशलम को इज़रायल की राजधानी के रूप में मान्यता देने के अमेरिकी फ़ैसले के पीछे के कारणों और निहितार्थों को समझने के लिए पश्चिमी एशिया के क्षेत्र के तेल व गैस संसाधनों पर नियन्त्रण करने और समूचे क्षेत्र में अपना प्रभुत्व क़ायम करने के लिए दो साम्राज्यवादी धुरियों - अमेरिका के नेतृत्व में अरब देशों और इज़रायल की धुरी और रूस के नेतृत्व में ईरान-सीरिया-हिज़बुल्ला धुरी – के बीच चल रही होड़ में वर्तमान रणनीतिक शक्ति सन्तुलन को समझना ज़रूरी है। ग़ौरतलब है कि 2011 से सीरिया में जारी गृहयुद्ध में दखल देकर बशर अल-असद की सरकार को गिराने का अमेरिकी साम्राज्यवाद का दाँव उल्टा पड़ता नज़र आ रहा है। इस प्रक्रिया में खड़ा किया गया इस्लामिक स्टेट नामक भस्मासुर अपने आका को ही काट खाने पर आमादा हो गया है। अमेरिका की इस रणनीतिक विफलता का मुख्य कारण रूसी साम्राज्यवाद का सीरिया के पक्ष में खुले रूप में उतरना रहा है जिसकी वजह से असद सरकार अपने पैरों पर फिर से खड़ी होने में क़ामयाब होती दिख रही है।

सीरिया के अतिरिक्त पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में भी अमेरिका के सहयोगी अरब देशों का पलड़ा हल्का होता दिख रहा है और ईरान का दबदबा बढ़ता दिखायी दे रहा है। हाल के वर्षों में इराक़ और यमन में ईरान का प्रभाव बढ़ा है जिसकी वजह से सऊदी अरब और ईरान के रिश्ते भी दिन-ब-दिन बिगड़ते गये हैं। ग़ौरतलब है कि पिछले साल सऊदी अरब ने शियाओं के एक धर्मगुरु को मौत के घाट उतार दिया था और ईरान के साथ अपने कूटनीतिक रिश्ते तोड़ लिए थे। उधर लेबनॉन की संसद व सरकार और ख़ासकर देश के दक्षिणी हिस्से में भी ईरान के सहयोगी हिज़बुल्ला का नियन्त्रण दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। हाल ही में लेबनॉन के प्रधानमन्त्री साद अल-हरीरी ने सऊदी अरब के दौरे के दौरान रियाद से ही अचानक इस्तीफ़ा दे दिया। अल-हरीरी के अनुसार उसकी ज़िन्दगी ख़तरे में थी क्योंकि लेबनॉन में हिज़बुल्ला ने राज्य के भीतर राज्य बना लिया है और पूरे देश को अपने चंगुल में ले लिया है। उसने यह भी कहा कि अरब के मामलों में ईरान की दखलन्दाज़ी बढ़ती जा रही है। अरब देशों और ईरान-हिज़बुल्ला के बीच तनाव तब और बढ़ गया जब सऊदी अरब और बहरीन ने लेबनॉन से अपने नागरिकों को वापस बुला लिया।

मध्य-पूर्व में ईरान के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए सऊदी अरब और इज़रायल के बीच क़रीबी भी बढ़ती जा रही है। सऊदी अरब के नये शहज़ादे मोहम्मद बिन सलमान ने इज़रायल से अपने रिश्तों को और प्रगाढ़ करने के संकेत दिये हैं। इस नये शहज़ादे को ट्रम्प प्रशासन का पूरा सहयोग मिल रहा है। हाल ही में ट्रम्प ने सऊदी अरब का दौरा किया और रियाद से उसका विमान सीधे तेल अवीव गया जोकि अभूतपूर्व था। हालाँकि 1970 के दशक से ही अमेरिका की अगुवाई में

अरब देशों और इज़रायल के बीच सम्बन्ध प्रगाढ़ होते आये हैं, लेकिन अमेरिका के किसी भी अन्य राष्ट्रपति की तुलना में ट्रम्प इन सम्बन्धों को कहीं ज़्यादा खुले रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। हाल ही में ट्रम्प ने ओबामा प्रशासन द्वारा ईरान के साथ किये गये नाभिकीय समझौते को रद्दी की टोकरी में फेंकने का भी फ़ैसला किया।

ट्रम्प के यरुशलम सम्बन्धी फ़ैसले को उपरोक्त समीकरणों की रोशनी में ही देखा जाना चाहिए। हालाँकि अपने भाषण में ट्रम्प ने मध्य-पूर्व में शान्ति प्रक्रिया जारी रखने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का दम भरा, लेकिन इज़रायल के पक्ष में इस अभूतपूर्व घोषणा से यह दिन के उजाले की तरह साफ़ हो गया है कि अमेरिका का इरादा मध्य-पूर्व में स्थिरता या शान्ति फैलाना नहीं बल्कि अस्थिरता और अशान्ति फैलाकर इस क्षेत्र में अपनी दखल बढ़ाने का है। इसके अतिरिक्त इस घोषणा के ज़रिये ट्रम्प अमेरिका की घरेलू राजनीति में अपनी लोकप्रियता के घटने के मद्देनज़र अपने दक्षिणपन्थी और रूढ़िवादी सामाजिक आधार को सुदृढ़ करने की फ़िराक़ में भी है। ग़ौरतलब है कि ट्रम्प ने अपने चुनाव प्रचार के दौरान भी यरुशलम को इज़रायल की राजधानी के रूप में मान्यता देने का वायदा किया था। अमेरिका में रूढ़िवादी ईसाइयों का अच्छा-ख़ासा हिस्सा ऐसा है जो 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' में दी गयी कहानी को सच मानता है। इन 'इवैंजेलिकलों' को बाइबल की इस "जगत के अन्त (end of days)" भविष्यवाणी में शब्दश: भरोसा है कि यरुशलम पर यहूदियों का क़ब्ज़ा होने के बाद सभ्यताओं की एक जंग छिड़ेगी जिसमें यहूदियों को ईसाइयत या मौत में से एक को चुनना होगा। वे यीशू के दूसरी बार धरती पर आने की भविष्यवाणी (second coming of Christ) को भी सच मानते हैं और यरुशलम पर इज़रायल के नियन्त्रण को उसका संकेत मानते हैं। इन धुर दक्षिणपन्थी रूढ़िवादियों ने ट्रम्प की घोषणा का दिल खोलकर स्वागत किया। इनमें जुआघर चलाने वाला एक अरबपति शेल्डन अडेल्सन भी शामिल है जिसने ट्रम्प के चुनाव में बीस मिलियन अमेरिकी डॉलर का चन्दा दिया था और जो इज़रायल में अमेरिकी दूतावास को यरुशलम में स्थानान्तरित करने के लिए लॉबी करता आया है। इसके अतिरिक्त 'अमेरिकन इज़रायल पब्लिक अफ़ेयर्स कमेटी' जैसी ज़ायनवादी लॉबियाँ भी लंबे समय से यह माँग करती आयी हैं।

ट्रम्प के यरुशलम दाँव के निहितार्थ

मध्य-पूर्व के भूराजनीतिक समीकरणों को देखते हुए यह समझना मुश्किल नहीं है कि ट्रम्प के फ़ैसले के बाद पहले से अस्थिर रहे इस क्षेत्र की अस्थिरता और ख़ून-खराबे में निश्चय ही बढ़ोतरी होगी। इस घोषणा के बाद फ़िलिस्तीन के प्रश्न के बहुचर्चित 'दो राज्यों वाले समाधान (two-state solution)' का कोई मतलब नहीं रह गया है क्योंकि पूर्वी यरुशलम की स्थिति ऐसे किसी समाधान का अहम अंग थी। शान्ति के पैरोकार के रूप में अमेरिका की छवि इस क्षेत्र में पहले ही संदिग्ध थी, नंगे रूप में इज़रायल के पक्ष में की गयी इस घोषणा के बाद उसकी रही-सही साख़ पर भी बट्टा लग गया है और उसकी तटस्थता का सारा ढोंग उजागर हो गया है। राष्ट्रपति

बनने के बाद ट्रम्प ने अपने युवा और अनुभवहीन दामाद जेर्ड कुशनर को मध्य-पूर्व की शान्ति प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की ज़िम्मेदारी सौंपी थी। रिपोर्टों के मुताबिक़ कुशनर एक बेहद सीमित सम्प्रभुता वाले फ़िलिस्तीनी राज्य के फॉर्मूले पर काम कर रहा है। अभी हाल ही में ट्रम्प प्रशासन ने वाशिंगटन डीसी में फ़िलिस्तीन मुक्ति संगठन का कार्यालय बन्द करने की धमकी दी थी जिससे स्पष्ट है कि अमेरिका धौंसपट्टी के ज़रिये फ़िलिस्तीनियों को घुटने के बल झुकाना चाहता है। महमूद अब्बास के नेतृत्व वाला फ़तह धड़ा भले ही ऐसे सीमित फ़िलिस्तीनी राज्य को स्वीकार कर ले लेकिन फ़िलिस्तीन के अवाम को ऐसा कोई भी समाधान स्वीकार्य नहीं होगा। वैसे भी अब्बास की मौक़ापरस्ती और फ़िलिस्तीनी प्राधिकरण में व्याप्त भ्रष्टाचार की वजह से फ़तह की लोकप्रियता दिनोदिन कम होती जा रही है और उसका सामाजिक आधार खिसकता जा रहा है। ट्रम्प की घोषणा के बाद अब्बास के पास भी फ़िलिस्तीन के आवाम को किसी शान्ति फ़ॉर्मूले के लिए तैयार करने का कोई आधार नहीं बचा है।

अरब जगत के हुक्मरानों ने ट्रम्प की घोषणा के विरोध में बयान जारी किये और इस्लामिक सहयोग संगठन की आपात बैठक बुलाकर इस घोषणा की मुख़ालफ़त की और पूर्वी यरुशलम को फ़िलिस्तीन की राजधानी के रूप में मंज़ूरी देते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। लेकिन अरब जगत के किसी भी देश ने अमेरिका या इज़रायल के ख़िलाफ़ कोई सख़्त कूटनीतिक क़दम उठाने की हिम्मत नहीं दिखायी। उल्टे बहरीन की सरकार ने इस घोषणा के बाद ही एक बहुधर्मीय प्रतिनिधिमण्डल को इज़रायल की यात्रा की अनुमति दे दी।

हुक्मरानों के जबानी जमा खर्च के बावजूद अरब जगत की जनता के बीच इन हुक्मरानों की अमेरिकापरस्ती और इज़रायल की ओर झुकाव की वजह से जो गुस्सा था वह इस फ़ैसले के बाद फूट पड़ा। जैसाकि उम्मीद थी फ़िलिस्तीन सहित समूचे अरब जगत की सड़कों पर जनाक्रोश देखा गया। ग़ौरतलब है कि यह जनाक्रोश न सिर्फ़ अमेरिका और इज़रायल के ख़िलाफ़ था बल्कि अरब के हुक्मरानों के ख़िलाफ़ भी था जिन्होंने फ़िलिस्तीन के मसले पर इज़रायल के ख़िलाफ़ कोई सख़्त कार्रवाई करने के बजाय उससे अपनी क़रीबी बढ़ायी है।

यरुशलम के मसले पर अब तक भारत की अवस्थिति यह रहती थी कि वह पूर्वी यरुशलम को स्वतन्त्र फ़िलिस्तीनी राज्य की राजधानी के रूप में मान्यता देने का पक्षधर था। लेकिन ट्रम्प की घोषणा के बाद भारत सरकार की ओर से जो औपचारिक बयान जारी किया गया उसमें अपनी इस पुरानी अवस्थिति को नहीं दोहराया गया। स्पष्ट रूप से यह भारतीय शासकों के इज़रायल की ओर झुकाव और फ़िलिस्तीन से विश्वासघात का एक और प्रमाण है। फिर भी, अमेरिका द्वारा अपना दूतावास यरुशलम ले जाने के फ़ैसले पर 21 दिसम्बर 2017 को संयुक्त राष्ट्र में हुए मतदान में भारत ने 127 अन्य देशों के साथ विरोध में मत दिया जिससे अमेरिका पूरी तरह अलग-थलग पड़ गया। इसका एक प्रमुख कारण अरब देशों में भारत के आर्थिक हितों की चिन्ता थी। उल्लेखनीय है कि मतदान से पहले अरब राजनयिकों का प्रतिनिधिमण्डल भारतीय राजनयिकों से मिला था। हालाँकि, मोदी के सत्ता में आने के बाद इज़रायल की ओर भारत के बढ़ते झुकाव में महज़ इस

वोट से कोई कमी आयेगी, ऐसा नहीं लगता।

ट्रम्प प्रशासन द्वारा बौखलाहट में आकर उठाये गये इस क़दम का लाभ अन्ततः रूस की ओर झुकाव रखने वाली ईरान-सीरिया-हिज़बुल्ला धुरी को ही होगा क्योंकि इससे अमेरिका की ओर झुकाव रखने वाले अरब देशों धुरी का फ़िलिस्तीन के प्रश्न पर विश्वासघात की वजह से उनका सामाजिक आधार और कम होने वाला है। इसने ईरान को अरब की जनता के बीच फ़िलिस्तीन के मसले पर अरब देशों के विश्वासघात को उजागर करने और अपनी प्रतिबद्धता रेखांकित करने का मौक़ा दे दिया है। मध्य-पूर्व में ईरान के बढ़ते प्रभाव से अमेरिका की बौखलाहट की एक और अभिव्यक्ति संयुक्त राष्ट्र में अमेरिका की राजदूत निक्की हेली द्वारा 15 दिसम्बर की एक प्रेस कांफ्रेंस में देखने में आयी जिसमें उसने ईरान पर आरोप लगाया कि उसने यमन के हूती विद्रोहियों को बैलिस्टिक मिसाइल की आपूर्ति की है। हेली ने ईरान के ख़िलाफ़ एक अन्तरराष्ट्रीय गठबन्धन बनाने का आह्वान किया। ज़ाहिर है कि ईरान की धुरी का बढ़ता प्रभाव अमेरिकी साम्राज्यवादियों की बौखलाहट को और बढ़ायेगा जिसकी वजह से आने वाले दिनों में उनकी आक्रामकता और बढ़ने वाली है जिसका खामियाज़ा इस क्षेत्र की जनता को ही उठाना पड़ेगा। लेकिन साथ ही साथ इससे समूचे अरब जगत में जनविद्रोहों की आग को भी हवा मिलेगी और फ़िलिस्तीन के प्रश्न का ज़्यादा से ज़्यादा अन्तरराष्ट्रीयकरण होने से फ़िलिस्तीनी अवाम के बहादुराना संघर्ष को मिल रहे वैश्विक समर्थन में भी इज़ाफ़ा होगा।

चीन : एक उभरती हुई साम्राज्यवादी ताक़त और उसके निहितार्थ

• आनन्द सिंह

14-15 मई 2017 को चीन की राजधानी बीजिंग में सम्पन्न 'वन बेल्ट वन रोड' शिखर सम्मेलन में 29 देशों के राष्ट्राध्यक्षों और 130 देशों के व्यावसायिक प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन में चीन के राष्ट्रपति शी जिनपिंग ने विश्व के मुक्त व्यापार में चीन की नैतिक और व्यावहारिक नेतृत्वकारी क्षमता का दावा किया। विश्व मीडिया में इस सम्मेलन की व्यापक कवरेज हुई और तमाम बुर्जुआ विश्लेषकों ने भी इसे विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था में चीन के बढ़ते वर्चस्व के रूप में प्रस्तुत किया। इससे पहले जनवरी में डावोस में वर्ल्ड इकोनॉमिक फ़ोरम की बैठक में भी शी जिनपिंग ने अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प की संरक्षणवादी नीतियों के मद्देनज़र चीन को भूमण्डलीकरण के दौर में विश्व पूँजीवाद की रहनुमाई करने का दावा ठोंका था। नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में विश्व-पूँजीवाद की रहनुमाई करने की चीनी हुक़्मरानों की आकांक्षा का भौतिक कारण हाल के वर्षों में चीन का उभरती हुई साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में विश्वपटल पर उपस्थिति दर्ज़ कराना है। ऐसे में मात्र तीन दशकों के भीतर एक समाजवादी राष्ट्र के एक उभरते हुए साम्राज्यवादी राष्ट्र में हुए इस संक्रमण की प्रक्रिया और उसके निहितार्थ को समझना बेहद ज़रूरी हो जाता है।

चीन में माओ की मृत्यु के पश्चात 1970 के दशक के अन्त तक पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हो चुकी थी। पुनर्स्थापना की इस प्रक्रिया को देङ सियाओ-पेङ ने तथाकथित "बाज़ार समाजवाद" के ज़रिये औपचारिक स्वरूप दिया। इस प्रक्रिया के तहत गाँवों में पुराने सामूहिक फार्मों की व्यवस्था को समाप्त करके पारिवारिक फार्मों को मंज़ूरी दी गयी जो बाज़ार के लिए पैदा करते थे। इसी तरह ग्रामीण क्षेत्रों में कस्बा और गाँव उद्यम स्थापित किये गये जो बाज़ार के लिए हल्के-फुल्के औद्योगिक माल बनाते थे। लाखों की संख्या में राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों को बन्द किया गया और इन उद्यमों में काम करने वाले लाखों मज़दूरों को निकाल दिया गया। इसके अतिरिक्त दक्षिण में पर्ल नदी के डेल्टा क्षेत्र (हांगकांग और मकाओ से लगे), फुजिआन प्रदेश (ताइवान के निकट) और शंघाई में नये निर्यातोन्मुख औद्योगिक क्षेत्र स्थापित किये गये। इसकी वजह से पहले हांगकांग में रहने वाले चीनी लोगों और बाद में बड़ी पश्चिमी, जापानी और कोरियाई कम्पनियों की ओर से बड़े पैमाने पर विदेशी निवेश आना मुमकिन हुआ। ऐसे क़दमों से चीनी विशेषता वाले पूँजीवाद का विकास हुआ जिसके चलते 1980 से लेकर 2014 तक चीन की अर्थव्यस्था की वृद्धि दर अभूतपूर्व तेज़ी से बढ़ी।

विश्व अर्थव्यवस्था में चीन की अर्थव्यवस्था की वर्तमान स्थिति

चीन की अर्थव्यवस्था इस समय नॉमिनल जीडीपी के अनुसार अमेरिका के बाद दुनिया में दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है जिसका नॉमिनल जीडीपी 10 ट्रिलियन डॉलर से भी अधिक है जोकि विश्व की तीसरी व चौथी अर्थव्यवस्थाओं - जापान व जर्मनी - के जीडीपी के योग से भी अधिक है।

चूँकि दुनिया के तमाम देशों में जीवन स्तर और मुद्राओं का मूल्य अलग होता है, इसलिए विश्व अर्थव्यवस्था में किसी देश की वास्तविक स्थिति जानने के लिए उस देश के जीडीपी के अतिरिक्त उसकी मुद्रा के मूल्य को भी ध्यान में रखना चाहिए। परचेज़िंग पॉवर पैरिटी (पीपीपी) ऐसा ही एक मापदण्ड है जिसके अनुसार चीन की अर्थव्यवस्था पहले ही दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन चुकी है।[1] 1990 में विश्व अर्थव्यवस्था में चीन की अर्थव्यवस्था की हिस्सेदारी 2 प्रतिशत से भी कम थी जोकि 2014 में बढ़कर 13 प्रतिशत हो गयी।[2] इस समय दुनिया के 80 प्रतिशत एयरकंडीशनर, 70 प्रतिशत मोबाइल फ़ोन और 60 प्रतिशत जूते चीन में बनते हैं।[3] विश्व बैंक के डेटा के अनुसार वैश्विक कपड़ा निर्यात में चीन की हिस्सेदारी 40 प्रतिशत से भी ऊपर है। मैन्युफ़ैक्चरिंग सेक्टर, जिसे पूँजीवादी मूल्य उत्पादन का सबसे प्रमुख क्षेत्र माना जाता है, में चीन दुनिया का अग्रणी देश बन चुका है। इस प्रकार चीन ने मैन्युफ़ैक्चरिंग में 110 वर्षों से चले आ रहे अमेरिका के नेतृत्व को पछाड़ दिया है। दुनिया के कुल कच्चे स्टील के उत्पादन का लगभग आधा हिस्सा चीन का है। मार्क्सवादी भूगोलशास्त्री डेविड हार्वी ने यह दिखाया है कि वर्ष 2011 और 2013 के बीच चीन में सीमेण्ट की जितनी खपत हुई वह अमेरिका द्वारा समूची बीसवीं सदी में सीमेण्ट की कुल खपत का डेढ़ गुना है। इसके अतिरिक्त खदान व सेवा क्षेत्रों में भी चीन ने हाल

के दशकों मे तेज़ी से विकास किया है। आज दुनिया की कुल आर्थिक वृद्धि का 30 प्रतिशत चीन की बदौलत है।

'फ़ोर्ब्स' पत्रिका द्वारा हर वर्ष जारी दुनिया की शीर्ष की 2000 बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर आधारित एक अध्ययन में क्रिश्चियन फुक्स ने यह दिखाया है कि किस प्रकार 2004 और 2014 के बीच संख्या, परिसम्पत्ति और मुनाफ़े के लिहाज़ से अमेरिकी (व यूरोपीय) कम्पनियों की तुलना में चीनी कम्पनियों की ताक़त आश्चर्यजनक रूप से बढ़ी है।

	2004	2014
शीर्ष की 2000 कम्पनियों में चीन की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ	49	207
शीर्ष की 2000 कम्पनियों में अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ	751	563
चीन की परिसम्पत्तियों का हिस्सा	1.1%	13.7%
चीन के मुनाफ़े का हिस्सा	3.6%	14.3%
उत्तरी अमेरिका और यूरोप की परिसम्पित्तियों का हिस्सा	77.4%	63.1%
उत्तरी अमेरिका और यूरोप के मुनाफ़े का हिस्सा	82.9%	61.7%

ऐसे तमाम आँकड़े दिये जा सकते हैं जो यह निर्विवाद रूप से साबित करते हैं कि चीन दुनिया की अग्रणी पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं की क़तार में तमाम पुराने साम्राज्यवादी देशों को मात दे रहा है।

चीन की अर्थव्यवस्था में इज़ारेदारी का विकास और बढ़ता वित्तीयकरण

समाजवादी अतीत की वजह से 1970 के दशक के अन्त में चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना होने के बावजूद 1990 तक चीन की अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक उपक्रमों का ही दबदबा था। लेकिन 1990 के दशक से निजीकरण की प्रक्रिया के ज़ोर पकड़ने की वजह से चीन की अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका क्रमश: कम से कम होती गयी है। सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों में भी निजी कम्पनियों जैसा ही तानाशाहाना प्रबन्धन काम करता है। आज हालात ये हैं कि चीन का अधिकांश उत्पादन निजी क्षेत्र में होता है, हालाँकि अभी भी सार्वजनिक उपक्रम चीन की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सार्वजनिक कंपनियाँ भी निजी कम्पनियों की ही तरह मुनाफ़े के आधार पर काम करती हैं और उनको होने वाला मुनाफ़ा सरकार को न जाकर सार्वजनिक कम्पनियों के लिए विशेष रूप से निर्मित फ़ण्ड में जाता है। इस प्रकार चीन की अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी विकास के साथ ही साथ सार्वजनिक और निजी दोनों ही क्षेत्रों में इज़ारेदारी का विकास हुआ है।

चीन की अर्थव्यस्था में इज़ारेदारी का आलम यह है कि दुनिया की 2000 सबसे बड़ी और

सबसे ताक़तवर कम्पनियों की सूची *फ़ोर्ब्स ग्लोबल 2000* में चीन अमेरिका के बाद दूसरे स्थान पर है। इस सूची में 565 कम्पनियाँ अमेरिका की हैं, जबकि 263 कम्पनियाँ चीन की हैं। *फ़ॉर्च्यून ग्लोबल 500* सूची में 100 से भी अधिक कम्पनियाँ चीन की हैं, जबकि 2001 में इस सूची में केवल 12 चीनी कंपनियाँ थीं।[4] इनमें से दो-तिहाई से भी अधिक कम्पनियाँ सार्वजनिक क्षेत्र की हैं। दुनिया के दस सबसे बड़े बैंकों में चार बैंक चीन के हैं। यह तथ्य विश्व वित्तीय बाज़ार में चीन के बढ़ते दबदबे की ओर इशारा करता है। औद्योगिक पूँजी और बैंकिंग पूँजी के विलय से चीन में भी वित्तीय पूँजी का एक विराट साम्राज्य खड़ा हुआ है जिसकी अहमियत चीन की अर्थव्यवस्था में समय बीतने के साथ बढ़ती ही जा रही है। अधिकांश बैंक और बीमा कम्पनियाँ अभी भी राज्य के स्वामित्व में हैं। इस प्रकार चीन में एक विशिष्ट क़िस्म का राज्य एकाधिकार पूँजीवाद का निर्माण हुआ है।

पूँजी का निर्यात

पूँजी के निर्यात के मामले में भी चीन की अर्थव्यवस्था ने पिछले कुछ वर्षों में ज़बर्दस्त विकास किया है जो उसके उभरते हुए साम्राज्यवादी शक्ति का संकेत है। चीन का पूँजी निर्यात उत्पादक निवेश (कारख़ानों, सड़कों, बन्दरगाहों आदि के निर्माण के लिए) और वित्तीय पूँजी (बॉण्ड, क़र्ज आदि) दोनों ही रूपों में हो रहा है। पिछले तीन दशकों में उत्पादन के क्षेत्र में तेज़ी से बढ़ते पूँजी संचय के फलस्वरूप चीन में वित्तीय पूँजी का एक विशाल भण्डार एकत्र हुआ है जिसका एक सूचक वहाँ का विपुल विदेश मुद्रा भण्डार है। जहाँ वर्ष 2000 में यह भण्डार 1.65 बिलियन डॉलर था, वहीं अब यह बढ़कर 4 ट्रिलियन डॉलर के आसपास जा पहुँचा है। इस विदेशी मुद्रा भण्डार का बड़ा हिस्सा अमेरिका और यूरोप के तमाम देशों में ट्रेज़री बॉण्ड की ख़रीदारी में लगा है। इन ट्रेज़री बॉण्डों में निवेश की वजह से चीन अमेरिकी सरकार का सबसे बड़ा विदेशी ऋणदाता बन चुका है।

साम्राज्यवादी मुल्कों में वित्तीय पूँजी लगाने के अतिरिक्त चीन अपने देश में मेहनतकशों के शोषण से संचित अपार पूँजी का लाभ उठाते हुए विकासशील या अल्पविकसित देशों में भी विकास क़र्ज़ के रूप में वित्तीय पूँजी का निर्यात कर रहा है। तीसरी दुनिया के देशों को क़र्ज़ देने के मामले में चीन विश्व बैंक को भी पीछे छोड़ चुका है। 16 जनवरी 2016 को चीन के नेतृत्व में **एशियन इंफ्रास्ट्रक्चर इन्वेस्टमेण्ट बैंक (एआईआईबी)** की शुरुआत हुई जिसका मुख्यालय बीजिंग में है। यह एक बहुपक्षीय विकास बैंक है जिसका विशेष मैंडेट एशिया में इंफ्रास्ट्रक्चर का विकास करना है। 100 बिलियन डॉलर के पेडअप कैपिटल वाले इस बैंक में 50 बिलियन डॉलर का योगदान अकेले चीन ने किया है। यह बैंक शुरुआती पाँच से छह वर्षों में प्रतिवर्ष 10-15 बिलियन डॉलर का क़र्ज़ देगा। एआईआईबी की शुरुआत के अतिरिक्त चीन पिछले वर्ष **यूरोपियन बैंक फ़ॉर रीकंस्ट्रक्शन एंड डेवलपमेण्ट (ईबीआरडी)** के 67वें सदस्य के रूप में शामिल हुआ। जहाँ एआईआईबी एशिया में इन्फ्रास्ट्रक्चर के लिए फ़ण्डिंग पर ध्यान केंद्रित करेगा वहीं ईबीआरडी मुख्य तौर पर पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया के कुछ क्षेत्रों में इंफ्रास्ट्रक्चर

विकास पर ज़ोर देगा। इसके अतिरिक्त ब्रिक्स देशों द्वारा निर्मित ब्रिक्स बैंक या न्यू डेवलपमेण्ट बैंक (एनडीबी) की स्थापना में भी चीन की अग्रणी भूमिका रही है। एआईआईबी, ईबीआरडी और एनडीबी में चीन की अग्रणी भूमिका तथाकथित 'ब्रेटनवुड बहनों', वर्ल्ड बैंक और आईएमएफ़ के वर्चस्व में कमी और विश्व वित्तीय तन्त्र में बुनियादी बदलावों की ओर इंगित करती है। चीन पहले ही तीसरी दुनिया के देशों को ऋण देने के मामले में पश्चिमी साम्राज्यवादियों को पीछे छोड़ चुका है। ग़ौरतलब है कि चीनी बैंकों द्वारा दिये गये ऋण पर ब्याज़ की दर अन्य अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले ऋण पर ब्याज़ की दर से अमूमन अधिक होती है। उदाहरण के लिए श्रीलंका ने चीन से अरबों डॉलर का ऋण लिया है। श्रीलंका का कुल राष्ट्रीय ऋण 64.9 बिलियन डॉलर है जिसमें से चीन से लिये गये ऋण का हिस्सा 8 बिलियन डॉलर है जो बेहद उच्च ब्याज दर से लिया गया ऋण है। उदाहरण के लिए श्रीलंका के हम्बनटोटा बन्दरगाह के निर्माण के लिए वहाँ की सरकार ने चीन से 6.3 प्रतिशत की ब्याज दर पर 301 मिलियन डॉलर का ऋण लिया है जबकि विश्वबैंक और एशियाई विकास बैंक द्वारा 0.25 से 3 प्रतिशत की ब्याज दर पर ऋण दिये जाते हैं। श्रीलंका की अर्थव्यवस्था में मन्दी की वजह से श्रीलंका की सरकार चीन से लिये गये ऋण का भुगतान नहीं कर पा रही है जिसकी वजह से श्रीलंका की सरकार ने इस ऋण को ईक्विटी में बदलने का फ़ैसला किया है। इसकी परिणति उस परियोजना में चीन के मालिकाने के रूप में भी हो सकती है। यही नहीं श्रीलंका की सरकार ने चीन की कम्पनियों को हम्बनटोटा बन्दरगाह के कुल शेयर का 80 प्रतिशत और समूचे बन्दरगाह को 99 साल के पट्टे पर भी देने का फ़ैसला किया है। इसी प्रकार चीन की कम्पनियों को श्रीलंका के मट्टला हवाई अड्डे के परिचालन और प्रबन्धन का पूरा नियन्त्रण दे दिया गया है। ग़ौरतलब है कि मट्टला हवाई अड्डे का निर्माण श्रीलंका की सरकार ने चीन से 300-400 मिलियन डॉलर का ऋण लेकर किया था। चूँकि अब श्रीलंका की सरकार इस हवाई अड्डे के परिचालन व परिवहन में लगने वाला ख़र्च वहन नहीं कर पा रही है इसलिए उसने चीन की कम्पनियों को नियन्त्रण सौंप दिया है।

2007 में शुरू हुई मौजूदा विश्वव्यापी महामन्दी के पहले से ही चीन ने 'गो ग्लोबल' ('दुनिया की ओर जाओ') नीति के तहत अपनी अर्थव्यवस्था को सस्ते मालों के निर्यात वाली अर्थव्यवस्था से पूँजी निर्यात वाली अर्थव्यवस्था की ओर मोड़ना शुरू कर दिया था। महामन्दी के बाद से तो इस दिशा में वह अभूतपूर्व तेज़ी के साथ आगे बढ़ा है। वर्ष 2011 में चीन ने कुल 4-6 खरब डॉलर की पूँजी निर्यात की थी। यह बात भी सच है कि चीन की अर्थव्यवस्था में विदेशी पूँजी का आयात भी बड़े पैमाने पर होता है, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से चीन का पूँजी निर्यात पूँजी आयात के मुक़ाबले कहीं तेज़ी से बढ़ा है और आज चीन नेट पूँजी निर्यातक देश बन चुका है।

आज चीन पश्चिमी विकसित मुल्कों से लेकर एशिया, अफ्रीका एवं लातिन अमेरिका के देशों सहित दुनिया के कोने-कोने में अपनी पूँजी लगा रहा है। चीन की कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर अमेरिका की कई कम्पनियों में निवेश कर रही हैं और तमाम कम्पनियों को ख़रीद भी रही हैं जिससे अमेरिकी पूँजीपति सकते में आ गये हैं। ऑस्ट्रेलिया में चीन ने खनन, तेल, गैस व अन्य

प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में बड़े पैमाने पर निवेश किया है और हाल के वर्षों में उसने खाद्य, एग्रीबिज़नेस, रियल स्टेट, नवीकरणीय ऊर्जा, हाई टेक एवं वित्तीय सेवाओं में भी निवेश करना शुरू किया है। इसी तरह से कनाडा में भी चीन तेल, गैस व खनन में बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है। ब्राजील में चीन का निवेश मुख्य रूप से ऊर्जा एवं धातु उद्योग में हो रहा है। इसी तरह से लातिन अमेरिका के अन्य मुल्कों जैसे पेरू, अर्जेण्टीना, इक्वाडोर आदि में चीन ऊर्जा एवं अवरचनागत क्षेत्र में पूँजी लगा रहा है। अपने पड़ोसी मुल्क वियतनाम में चीन लकड़ी, रबर, खाद्य फसलों एवं खनिज सम्पदा के दोहन में बेतहाशा निवेश कर रहा है और वहाँ से मालों को ढोकर चीन लाने के लिए बड़े पैमाने पर सड़कों एवं रेलमार्ग के विकास में निवेश कर रहा है। इसी तरह चीन हिन्दचीन एवं दक्षिण पूर्वी एशिया के मुल्कों में भी बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है। दक्षिण एशिया में नेपाल, पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका में भी चीन पूँजी निवेश कर रहा है। नेपाल में चीन पूँजी निवेश के मामले में भारत को भी पीछे छोड़ चुका है। यही नहीं चीन ने भारत की 'मेक-इन-इण्डिया' स्कीम का लाभ उठाते हुए इसे भारत में पूँजी निर्यात के अवसर के रूप में हाथोहाथ लिया है।

अफ्रीका में चीन पूँजी निवेश करने पर विशेष ज़ोर दे रहा है। ग़ौरतलब है कि माओकालीन चीन अफ्रीकी मुल्कों में बुनियादी ढाँचे के निर्माण से लेकर खनन आदि में निवेश करके मित्रतापूर्ण मदद करता था। लेकिन आज का चीन इस पुरानी दोस्ती का इस्तेमाल अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी निवेश करके अपनी अर्थव्यवस्था को सरपट रफ़्तार से दौड़ाने के लिए ज़रूरी तेल और खनिज सम्पदा की लूट के लिए कर रहा है। अंगोला चीन के सबसे बड़े तेल-आपूर्तिकर्ताओं में से एक बन गया है। चीन का पूँजी निवेश नाइज़ीरिया, ज़ाम्बिया, घाना, लाइबेरिया, रवाण्डा, सूडान जैसे अफ्रीकी मुल्कों में सबसे ज़्यादा है। इस वक़्त समूचे अफ्रीका में चीन की 800 से भी अधिक कम्पनियाँ काम कर रही हैं और वहाँ रहने वाले चीनी नागरिकों की संख्या 10 लाख से भी अधिक है। ये तथ्य अपने आप में अफ्रीका में चीन की साम्राज्यवादी दख़ल को दिखा रहे हैं।

'वन बेल्ट, वन रोड' परियोजना

चीन की बहुचर्चित 'वन बेल्ट, वन रोड' (ओबीओर) परियोजना अपने आप में चीन की साम्राज्यवादी महत्वकांक्षा का सूचक है। इस परियोजना में 4 अरब से अधिक जनसंख्या वाले 68 देशों के शामिल होने की सम्भावना है जिनका वैश्विक जीडीपी में 40 प्रतिशत का योगदान है।[5] इसके दो हिस्से हैं – सिल्क रोड इकोनॉमिक बेल्ट और ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी मैरिटाइम सिल्क रोड। सिल्क रोड इकोनॉमिक बेल्ट के तहत चीन से यूरोप के बीच सड़क, रेलमार्ग, तेल और प्राकृतिक गैस पाइपलाइन समेत कई इंफ्रास्ट्रक्चर और व्यापारिक परियोजनाएँ शामिल हैं जिसका विस्तार चीन के मध्य में स्थित ज़ियान प्रान्त से शुरू होकर मध्य एशिया से होते हुए मॉस्को, रॉटरडम और वेनिस तक होगा। इस बेल्ट में कई मार्ग होंगे जो चीन-मंगोलिया-रूस, चीन-मध्य और पश्चिम एशिया, चीन-इण्डोचीन प्रायद्वीप, चीन-पाकिस्तान, चीन-बांग्लादेश-म्यांमार से होते हुए गुज़रेंगे।

जबकि ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी मैरिटाइम सिल्क रोड के तहत समूचे एशिया व प्रशान्त में शिपिंग लेन का समुद्र आधारित नेटवर्क और बन्दरगाह विकास की योजना है जिसका विस्तार दक्षिण व दक्षिण-पूर्व एशिया से होते हुए पूर्वी अफ्रीका और उत्तरी भूमध्यसागर तक होगा। चीन की राज्य मीडिया के अनुसार इस परियोजना में 1 ट्रिलियन डॉलर का निवेश पहले ही चुका है और अगले दशक तक कई ट्रिलियन डॉलर के निवेश की योजना है।[6] ग़ौरतलब है कि यह परियोजना केवल इंफ्रास्ट्रक्चर विकास तक ही सीमित नहीं है। इसके विज़न दस्तावेज़ के अनुसार इसमें इंफ्रास्ट्रक्चर के विकास के अतिरिक्त आर्थिक विकास की नीतियों में तालमेल, इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए तकनीकी मानकों में समरूपता, निवेश और व्यापार की बाधाओं को दूर करना, मुक्त व्यापार क्षेत्रों की स्थापना, वित्तीय तालमेल और सांस्कृतिक व अकादमिक लेन-देन के माध्यम से लोगों का लोगों से सम्पर्क स्थापित करना भी शामिल है।[7] इस परियोजना के माध्यम से पूँजी निर्यात करके चीन अपने देश में स्टील, एलुमिनियम और सीमेण्ट जैसे भारी उद्योगों में जारी अति-उत्पादन के संकट से उबरने और साथ ही साथ चीन के मालों के नये बाज़ार तैयार करने की फ़िराक में है। आर्थिक प्रभुत्व के साथ ही साथ चीन इस महत्वाकांक्षी परियोजना के ज़रिये अपनी सामरिक शक्ति में भी इज़ाफ़ा करना चाह रहा है। उदाहरण के लिए इस परियोजना के तहत ही चीनी सरकारी कम्पनी कॉस्को ने यूनान के पिरौस बन्दरगाह के 67 प्रतिशत शेयर खरीदकर उसपर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया जिससे उसे यूरोप में अपना पैर जमाने में मदद मिलेगी। इसी प्रकार इस परियोजना के ज़रिये हिन्द महासागर तक अपनी पहुँच बनाने के लिए चीन मलक्का जलडमरूमध्य और सिंगापुर पर अपनी निर्भरता कम करने के लिए दक्षिण-पश्चिमी चीन से हिन्द महासागर की ओर एक नये समुद्री मार्ग का निर्माण करना चाहता है। पाकिस्तान के ग्वादार बन्दरगाह का निर्माण भी चीन हिन्द महासागर तक अपनी पहुँच के विकल्पों को बढ़ाने के मक़सद से करवा रहा है।

जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया था, श्रीलंका का हम्बनटोटा बन्दरगाह और मट्टला हवाई अड्डे में काफ़ी हद तक चीन की कम्पनियों का नियन्त्रण स्थापित हो गया है। इससे हिन्द महासागर के समूचे क्षेत्र में चीन का रणनीतिक व सैन्य प्रभुत्व बढ़ेगा। इसी प्रकार चीन-पाकिस्तान-आर्थिक-कॉरिडोर के लिए चीन अब तक पाकिस्तान को ऊँची ब्याज़ दर पर 50 बिलियन डॉलर से भी अधिक का ऋण दे चुका है। विशेषज्ञों का मानना है कि पाकिस्तान इस ऋण को 40 साल से पहले भुगतान नहीं कर पायेगा। पाकिस्तान के ग्वादार बन्दरगाह के निर्माण में भी चीन की बड़ी भूमिका रही है। इसी प्रकार चीन म्यांमार और बांग्लादेश में भी अवरचनागत क्षेत्र में बड़े पैमाने पर निवेश कर रहा है।

चीन की बढ़ती सैन्य शक्ति और तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा

अपनी आर्थिक शक्तिमत्ता के विस्तार के अनुरूप चीन अपनी सैन्य शक्ति का ज़बरदस्त विकास कर रहा है। सैन्य सम्बन्धी ख़र्च की दृष्टि से चीन दुनिया में अमेरिका के बाद दूसरे स्थान पर

आता है। पिछले दशक के दौरान चीन ने अपनी सैन्य शक्ति का आधुनिकीकरण करने पर विशेष ज़ोर दिया है। एक वैश्विक सैन्य शक्ति बनने के मक़सद से चीन जहाज, पनडुब्बी, हवाई जहाज, इलेक्ट्रॉनिक खुफ़िया तन्त्र और विदेशी चौकियों का निर्माण कर रहा है। वह सुदूर सागर में वायु, धरातल और अधस्तल हर परिवेश के अनुसार अपनी सैन्य क्षमताओं को विकसित कर रहा है। चीन अपनी नाभिकीय शक्ति से लैस पनडुब्बियों में लगातार इज़ाफ़ा कर रहा है। इसके अलावा चीन विदेशों में अपनी चौकियाँ भी स्थापित कर रहा है, मिसाल के लिए अफ्रीका के जिबूती में चीन ने अपनी नयी सैन्य चौकी स्थापित की है। इसके अतिरिक्त श्रीलंका और पाकिस्तान में चीन जिन बन्दरगाहों का निर्माण कर रहा वे उसकी सामरिक शक्ति में विचारणीय इज़ाफ़ा करेंगे।

हथियारों के निर्यात के मामले में भी चीन ने पिछले दशक में ज़बरदस्त प्रगति की है। अमेरिका और रूस के बाद चीन दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा हथियारों का निर्यातक देश बन चुका है। इसके अतिरिक्त दुनिया के विभिन्न हिस्सों में संयुक्त राष्ट्र की शान्ति सेना में चीन 2 हज़ार से भी अधिक सैनिक भेजता है जो संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के सदस्यों में सबसे अधिक है। इससे चीन के सैनिकों को विभिन्न परिस्थितियों में लड़ने के लिए महत्वपूर्ण अनुभव मिलता है।

एक उभरती हुई साम्राज्यवादी ताक़त के रूप में विश्वपटल पर चीन की मौजूदगी और उसकी बढ़ती सैन्य शक्ति से दुनिया के पैमाने पर जारी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा तीखी हुई है। इस प्रतिस्पर्द्धा की घनीभूत अभिव्यक्ति दक्षिण चीन सागर में जारी तनाव में देखी जा सकती है। ग़ौरतलब है कि दुनिया के कुल कच्चे तेल का एक चौथाई हिस्सा और अन्य व्यापारिक वस्तुओं का आधा हिस्सा दक्षिण चीन सागर से होकर गुज़रता है। चीन के सैन्य रणनीतिकारों ने 'टू आइलैंड चेन' की धारणा के तहत समूचे विवादित समुद्री क्षेत्र को टापुओं की दो श्रृंखलाओं में बाँटा है। पहली श्रृंखला, ''नाइन डैश्ड लाइन'', को लेकर चीन का विवाद वियतनाम, फ़िलीपींस और मलेशिया से है। चीन दक्षिण चीन सागर के लगभग पूरे हिस्से में अपना वर्चस्व क़ायम करना चाहता है। दूसरी श्रृंखला थोड़ा और आगे से गुज़रती है जिसमें चीन का विवाद जापान जैसे साम्राज्यवादी देश से है। चीन के लिए दक्षिण चीन सागर का महत्व न सिर्फ़ व्यापार की दृष्टि से है, बल्कि संसाधनों की दृष्टि से भी यह क्षेत्र बेहद अहम है। मछलियों व समुद्री जीवों के साथ ही साथ इस क्षेत्र में तेल व गैस के भण्डार की भी प्रचुर सम्भावना जताई जाती है। सामरिक और आर्थिक दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण होने की वजह से इस क्षेत्र में एक तरह से हथियारों की होड़ लगी हुई है और दक्षिण चीन सागर के किनारे स्थित सभी देश अपनी-अपनी सैन्य शक्ति बढ़ा रहे हैं। इस क्षेत्र में चीन के बढ़ते वर्चस्व को देखकर अमेरिका भी सकते में आ गया है और इसी वजह से वह इस क्षेत्र में स्थित तमाम देशों को सैन्य मदद प्रदान कर रहा है, जिसकी वजह से स्थिति और तनावपूर्ण होती जा रही है।

हालाँकि चीन की सैन्य क्षमता अब भी अमेरिका की तुलना में बहुत कम होने की वजह से वह अमेरिका को अकेले टक्कर तो नहीं दे सकता, लेकिन हाल के वर्षों में रूस और चीन के संयुक्त नेतृत्व में अमेरिकी साम्राज्यवाद के बरक्स एक नयी साम्राज्यवादी धुरी का उभार साफ़ देखा जा

सकता है। मध्य-पूर्व और विशेषकर सीरिया में जारी युद्ध इस अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के तीखे होने की स्पष्ट गवाही दे रहा है। शंघाई कोऑपरेशन काउंसिल और ब्रिक्स जैसी बहुपक्षीय संस्थाओं का अस्तित्व में आना अपने आप में एकध्रुवीय विश्व के मिथक को ख़ारिज कर रहा है। उधर पश्चिम में भी ब्रिटेन के यूरोपीय संघ से बाहर जाने और अमेरिका में ट्रम्प की संरक्षणवादी नीतियों की वजह से नाटो में भी दरार के संकेत दिख रहे हैं जो इस सम्भावना को बल देते हैं कि यूरोप के कुछ मुल्क भी अपना खेमा बदल सकते हैं। जो भी हो, इतना तो तय है कि आने वाले दिनों में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा और तीखी होने वाली है। आज के दौर में विश्वयुद्ध की सम्भावनाएँ भले ही क्षीण हों, लेकिन क्षेत्रीय स्तर पर छोटे पैमाने के युद्धों और हिंसात्मक वारदातों की संख्या में निश्चय ही इज़ाफ़ा होगा।

सन्दर्भ सूची

[1] "Report for Selected Countries and Subjects". IMF

[2] http://data.worldbank.org/indicator/NY.GDP.MKTP.CD

[3] http://www.economist.com/news/leaders/21646204-asias-dominance-manufacturing-will-endure-will-make-development-harder-others-made

[4] https://www.forbes.com/forbes/welcome/?toURL=https://www.forbes.com/sites/corinnejurney/2017/05/24/the-worlds-largest-public-companies-2017/

[5] https://eng.yidaiyilu.gov.cn/info/iList.jsp?cat_id=10076&cur_page=1

[6] https://news.cgtn.com/news/3d63544d3363544d/share_p.html

[7] http://blogs.worldbank.org/eastasiapacific/china-one-belt-one-road-initiative-what-we-know-thus-far#_ftnref1

राजसमन्द हत्याकाण्ड और भारतीय फ़ासीवाद का चरित्र

• शिवानी कौल

आज जबकि भारत के वामपन्थी, ख़ास तौर पर संसदीय वाम, अभी भी फ़ासीवाद के होने न होने या अपने "असली" रूप में आने न आने को लेकर बहस करने में व्यस्त हैं, उसी वक़्त फ़ासीवाद के आगमन की पुनःघोषणा करता हुआ एक राजसमन्द घटित होता है जो किसी सोये हुए इंसान की भी अन्तरात्मा को झकझोर देने के लिए काफ़ी है। राजसमन्द का जघन्य हत्याकाण्ड फ़ासीवाद के घिनौने चेहरे और फ़ासीवादी विचारधारा द्वारा रचे खेल की ही झलक मात्र है। जैसा कि अब सब जानते हैं, इस साल के दिसम्बर माह की शुरुआत में राजस्थान के राजसमन्द ज़िले में मोहम्मद अफराज़ुल नाम के पश्चिम बंगाल के मालदा ज़िले से आये अप्रवासी मज़दूर की शम्भूलाल रैगर द्वारा 'लव जिहाद' के नाम पर निर्मम तरीक़े से कुल्हाड़ी से हमले के बाद ज़िन्दा जलाकर हत्या कर दी गयी थी। इतना ही नहीं, शम्भूलाल ने इस बर्बर हत्या की अपने 14 साल के भतीजे से बाकायदा रिकॉर्डिंग भी करवायी थी।

इसके बाद रैगर ने इस वीडियो को अन्य वीडियो के साथ, जिनमें कि वह खुलेआम मुसलमानों के ख़िलाफ़ ज़हर उगलते हुए तथा ऐसे ही और हत्याकाण्डों को अंजाम देने की धमकी देते हुए नज़र आता है, इण्टरनेट पर अपलोड कर दिया। यह अनायास नहीं कि इस पूरे हत्याकाण्ड के लिए रैगर ने 6 दिसम्बर का दिन चुना, यानी बाबरी मस्जिद के ध्वंस की बरसी, जिसे भारत में फ़ासीवादी ताक़तें "शौर्य

दिवस'' के रूप में मनाती हैं। दिलचस्प बात तो यह है कि राजस्थान पुलिस ने शम्भूलाल को ''दिमाग़ी तौर पर असन्तुलित'', ''विक्षिप्त हत्यारा'' और ''स्वनिर्मित हिन्दू-उन्मादी'' आदि घोषित कर दिया जिसका अतीत में किसी भी तरह के हिन्दूवादी दक्षिणपन्थी संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। हालाँकि यह स्पष्ट है कि ऐसे जघन्य कांड किसी ''मनोविकृत व्यक्तित्व'', या ''विक्षिप्त-उन्मादी'' के ख़ुद के दिमाग़ की उपज नहीं है बल्कि यह फ़ासीवादी ताक़तों द्वारा सामाजिक ताने-बाने के निरन्तर जारी फ़ासीवादीकरण की एक हिंसक अभिव्यक्ति है।

राजसमन्द हत्याकाण्ड कोई अकेली ऐसी घटना नहीं है और न ही ''पागलपन'' या ''फ़ितूर'' क़रार देकर इसे खारिज किया जा सकता है। हाल की एक रिपोर्ट के अनुसार, मई 2014 से भाजपा और नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने के बाद के साढ़े तीन सालों में घृणा-अपराधों, विशेषकर मुसलमानों के ख़िलाफ़, हिंसा की वारदातों तथा आतंकी घटनाओं में, अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी देखी गयी है। हिन्दुत्व फ़ासीवाद के सत्ता में आने के बाद ''गौ-रक्षा'', ''गौ-मांस'', ''लव-जिहाद'', ''घर-वापसी'' के नाम पर मॉब लिंचिंग (भीड़ द्वारा हत्या) और हिंसा की घटनाओं की जो बाढ़-सी आयी है, उन्हें निरन्तरता में ही देखा जाना चाहिए। अभी राजसमन्द की घटना को ज़्यादा वक़्त हुआ भी नहीं था कि साम्प्रदायिक फ़ासीवाद की एक और प्रयोगशाला, मध्य प्रदेश, में फ़ासीवादी हिंसा का दूसरा स्वांग रचा जाता है। सतना ज़िले में बजरंग दल के गुंडों ने क्रिसमस कैरोल गा रहे ईसाइयों पर हमला किया और एक पादरी की गाड़ी को भी जलाकर राख कर दिया। इसके बाद मध्य प्रदेश की पुलिस ने अपने असली चरित्र का प्रदर्शन करते हुए बजरंग दल के हमलावरों के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की और उलटे कैरोल-गायकों के ख़िलाफ़ ही केस बना डाला!

पुलिस के इस तर्क के यहाँ कोई मायने नहीं कि शम्भूलाल किसी दक्षिणपन्थी-हिन्दूवादी संगठन के सम्पर्क में नहीं था। हालाँकि ऐसे काफ़ी तथ्य मौजूद हैं जो स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि रैगर सोशल मीडिया, ख़ास तौर पर व्हाट्सएप्प ग्रुपों, पर फैलाये जा रहे फासिस्ट कचरे से ही लगातार अपनी मानसिक खुराक ले रहा था। इन ग्रुपों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संघ से जुड़े लोगों के तथा भाजपा नेताओं के भड़काऊ भाषण फैलाये गये थे जिन्हें स्वयं रैगर ने भी अपने वीडियो में दोहराया है। आज के दौर में फासिस्ट बनने के लिए सिर्फ़ 'शाखा' जाने की ज़रूरत नहीं है! आज शाखाएँ सुनियोजित तरीक़े से सोशल मीडिया पर चलायी जा रही हैं जहाँ पर शाखाओं का पाठ और भी व्यापक पैमाने पर पढ़ाया जा रहा है। भाजपा नेताओं का इन ग्रुपों में शामिल होना आख़िर और क्या साबित करता है? अलग-अलग मीडिया रिपोर्टों के अनुसार रैगर के द्वारा इस घिनौने अपराध को अंजाम देने से चन्द दिनों पहले इस इलाक़े में बजरंग दल द्वारा ''लव जिहाद'' पर एक पर्चा भी बाँटा गया था।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके अन्य अनुषंगी संगठनों, जो अनिवार्यतः संघ से न भी जुड़े हों, का नेटवर्क लम्बे अरसे से जनता के बीच फ़ासीवादी विचारधारा को निरन्तरता से फैलाने में और उसकी जड़ें गहरी करने में काफ़ी हद तक सफल रहा है। संघ अपने फ़ासीवादी प्रचार को अपने विशाल संस्थागत नेटवर्क के द्वारा न सिर्फ़ पिछले साढ़े तीन सालों से बल्कि 1925 से, यानी

अपने जन्मकाल से ही, और ख़ास तौर पर 1980 के दशक से निरन्तरता के साथ अंजाम देता आ रहा है। फ़ासीवादी विचारधारा के लिए सबसे उपजाऊ ज़मीन समाज के टटपुँजिया वर्ग (पेटी-बुर्जुआ) और लम्पट तत्वों के बीच होती है जो आर्थिक मन्दी के दौर में सब कुछ छिन जाने के डर और अनिश्चितता के ख़तरे में जीते हैं। इसलिये यह कहा जा सकता है कि फ़ासीवादी सामाजिक आन्दोलन का उभार पेटी-बुर्जुआ तबके का "रूमानी उभार" है, जो अपनी वर्ग अवस्थिति के कारण स्वतःस्फूर्त ढंग से फ़ासीवादी प्रतिक्रियावाद की तरफ आकर्षित होता है। यह तथ्य भी ग़ौर करने लायक है कि शम्भूलाल रैगर पिछले एक साल से अपने धन्धे के पिट जाने के बाद से बेरोज़गार था। इसलिए, शम्भूलाल रैगर जैसे लोग फ़ासीवादी तन्त्र के लिए सबसे उपयुक्त पैदल सैनिक साबित होते हैं।

भारत में एक तबका, ख़ास कर वे जो बुर्जुआ लोकतन्त्र के बारे में उदार-बुर्जुआ भ्रम के शिकार हैं, सामाजिक क्षेत्र में हिंसा के सामान्यीकरण ('नॉर्मलाइज़ेशन') से सकते में आ गये हैं। इतिहास का सबक़ है कि जहाँ कहीं भी फ़ासीवाद सत्ता में आया है, वहाँ पर सड़कों पर हिंसा उसका एक अनन्य हिस्सा रहा है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सड़कों पर हो रही हिंसा के साथ ही फ़ौज, पुलिस, नौकरशाही, न्यायतन्त्र आदि में भी फासिस्ट काडरों की घुसपैठ करायी जाती है। यही आज भारतीय फ़ासीवाद की भी सच्चाई है। आज भारत में खुलेआम ताण्डव मचा रहा फ़ासीवाद भी किसी "आदिमवाद" या "क़बीलावाद" ("ट्राइबलिज़्म") का रूप नहीं है जैसा कि उदारतावादी सोचने की ग़लती करते हैं, बल्कि यही फ़ासीवाद की "आधुनिक" विचारधारा की काम करने की तकनीक है। पेटी-बुर्जुआ प्रतिक्रिया के विभिन्न रूपों को एकीकृत करने के लिए किसी 'अन्य' के रूप में काल्पनिक शत्रु की आकृति खड़ी की जाती है। भारत के साम्प्रदायिक फ़ासीवाद के लिए यह 'अन्य' मुसलमान हैं। हालाँकि, ज़ल्द ही फ़ासीवाद द्वारा 'अन्य' बनाने की इस प्रक्रिया में समग्र राजनीतिक विरोध को अपनी ज़द में ले लिया जाता है।

यहाँ इस बात का भी उल्लेख ज़रूरी है कि भारत में साम्प्रदायिक फ़ासीवादी काफ़ी हद तक दलितों और आदिवासियों के फ़ासीवादीकरण में तथा "हिन्दू" अस्मिता के इर्द-गिर्द विचारधारात्मक एकता के निर्माण में सफल रहे हैं। हिन्दुत्व-फासिस्टों की प्रयोगशाला गुजरात इसी का एक उदाहरण है जहाँ फ़ासीवादी ताक़तों द्वारा दलितों की एक बड़ी आबादी को सहयोजित कर लिया गया है। 2002 के गुजरात दंगों में दंगाइयों की भीड़ में दलित और आदिवासी बड़ी संख्या में शामिल थे। शम्भुलाल ख़ुद दलित समुदाय की 'रैगर' जाति से आता है। हिन्दुत्व-फ़ासीवादी कथानक में दलितों और आदिवासियों को हिन्दू-शूरवीरों, धार्मिक-योद्धाओं के रूप में महिमामण्डित किया जाता है, जिस रूप में शम्भूलाल भी ख़ुद को पेश कर रहा है। ऐतिहासिक तथ्यों का विकृतीकरण कर दलितों और आदिवासियों की पिछड़ी अवस्था के लिए मुसलमानों को ज़िम्मेदार ठहराया जाता है। यहाँ यह बात रेखांकित किये जाने की ज़रूरत है कि यह फ़ासीवाद के विरुद्ध विभिन्न समुदायों तथा अस्मिताओं की योगात्मक एकता के उदारवादी-वामपन्थी प्रोजेक्ट की हास्यास्पद समझ को भी दिखाता है जैसे कि ये सारे समुदाय व अस्मिताएँ सजातीय

और वर्ग-अविभाजित हैं और यह भी कि ऐसी कोई व्यवहारवादी एकता सम्भव भी है, इसके टिकने की बात तो अभी छोड़ ही दीजिये! फ़ासीवाद को फ़ैसलाकुन शिकस्त एक जुझारू वर्ग-आधारित जाति-विरोधी और साम्प्रदायिकता-विरोधी आन्दोलन ही दे सकता है.

रस्म-अदायगी के तौर पर राजसमन्द की इस नृशंस घटना के बाद कुछ घड़ियाली आँसू भी बहाये गये। अफ़राजुल की हत्या पर शोक जताते हुए राजस्थान की मुख्यमन्त्री वसुन्धरा राजे ने "सख्त कार्रवाई" के आश्वासन भी दिये पर अब तक कोई ठोस कारवाई नहीं की गयी है। क्या अब तक भाजपा शासित राजस्थान में बिर्लोका (राजस्थान के नग़ौर ज़िले में स्थित) के ग़फूर ख़ान, नूह के पहलू ख़ान और प्रतापगढ़ के ज़फर ख़ान के लिए कोई "त्वरित कार्रवाई" की गयी थी? कौन नहीं जानता कि ऐसे जघन्य कृत्यों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर भाजपा सरकारों और संघ का संरक्षण प्राप्त है? ये किन्हीं "परिधिगत" तत्वों के द्वारा नहीं किये जा रहे हैं जिन पर लगाम लगाये जाने की ज़रूरत है। बल्कि यही भारतीय फ़ासीवाद का असली चेहरा है। संघ और उसका चुनावी निकाय भाजपा फ़ासीवादी मशीनरी द्वारा किये जा रहे इन कुकृत्यों से, जिनका वो काफ़ी कुशलता से संचालन कर रहे हैं, स्वयं को पाप-मुक्त नहीं कर सकते। अब, हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद की यह एक विशेषता बन गयी है कि जैसे ही कोई अखलाक या अफ़राजुल जैसी घटना होती है तो दोष इन "खर्च कर दिये जाने योग्य" "फ्रिंज" तत्वों पर डाल दिया जाता है। हालाँकि, 'फ्रिंज' और 'मुख्यधारा' के बीच की विभाजन रेखा स्वयं धुँधली है और यह धुँधलापन सोच-समझ कर निर्मित किया गया है। इसलिए, वडोदरा का पार्षद और गुजरात के दभोई विधानसभा क्षेत्र का भाजपा प्रत्याशी खुले-आम चुनावी रैलियों में भड़काऊ भाषण देता है। तेलंगाना का भाजपा विधायक, राजा सिंह, जिसका पिछला इतिहास ऊना की क्रूरता को "नीच दलितों को सिखाया गया सबक" के रूप में परिभाषित करने का रहा है, खुलेआम हिन्दुओं से "हिन्दू राष्ट्र" के निर्माण के लिए हथियार उठा लेने का आह्वान करता है। सूरत में हिन्दू युवा वाहिनी का अध्यक्ष, जिसके सरपरस्त ख़ुद उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ है, एक मुसलमान के क़त्ल के लिए शम्भूलाल की "हिम्मत" की दाद देता है और उसके पक्ष में लोगों से समर्थन की अपील करता है.

जब स्वयं राज्य मशीनरी का ही अपराधकर्ताओं के साथ गठजोड़ है, तो आप इससे उम्मीद ही क्या रख सकते हैं? अभी तक सबसे महत्वपूर्ण सवालों, जैसे कि उन वीडियो को फ़ैलाने के लिए कौन ज़िम्मेदार है जिन्हें देख कर रैगर ने इस घटना को अंजाम दिया, को जाँच के दायरे में लाया ही नहीं गया है। किन संगठनों और नेटवर्कों ने रैगर के वीडियो को फ़ैलाने का काम किया? वे लोग कौन हैं जो रैगर को महिमामण्डित कर नायक के तौर पर पेश कर रहे हैं और पुलिस द्वारा बैंक अकाउंट बन्द करने से पहले तक रैगर की पत्नी के नाम चन्दा इकठ्ठा कर 5 लाख तक जमा करने में सफल हो जाते हैं? क्या इस पूरे हत्याकाण्ड में ये सब गुनहगार नहीं हैं? और क्या अगर इन लोगों में भाजपा के नेता भी शामिल हैं, तो उन्हें भी जाँच के दायरे में नहीं लाना चाहिए? बजरंग दल की अगुवाई में शम्भूलाल के समर्थन में उदयपुर की अदालत पर प्रदर्शन कर रही भीड़ ने जमकर उत्पात मचाया, पत्थरबाज़ी की और पुलिस के आला अधिकारियों तक को घायल कर दिया,

लेकिन पुलिस ने न कोई बल-प्रयोग किया और न ही गिरफ़्तारी की। अगर इनकी जगह कोई मज़दूर संगठन किसी मज़दूर की ग़ैर-क़ानूनी बर्ख़ास्तगी के विरोध में या न्यूनतम वेतन लागू करवाने की संविधान-सम्मत माँग को लेकर प्रबन्धन के ख़िलाफ़ विरोध-प्रदर्शन कर रहा होता तो क्या पुलिस और प्रशासन का यही रवैया होता? हम इसका जवाब जानते हैं। इतना ही नहीं, इस फ़ासीवादी भीड़ को क़ानून और सज़ा से ऊपर होने का इस क़दर यक़ीन था कि उदयपुर के न्यायिक परिसर में न्यायलय के गुम्बद पर चढ़कर भगवा झण्डा तक फहरा दिया गया और किसी को कुछ करने की हिम्मत नहीं हुई। यह पूरा घटनाक्रम बरबस उस मुहावरे की याद दिलाता है कि "जब सैय्याँ भये कोतवाल, तब डर काहे का"!

राजसमन्द हत्याकाण्ड फ़ासीवाद द्वारा समाज के पोर-पोर में घिनौने तरीक़ों से फैलाये जा रहे ज़हर की बस एक और ताक़ीद है। खुलेआम हिंसा और आतंक का इस्तेमाल फ़ासीवादी ताक़तों द्वारा हर तरह के प्रतिरोध को शांत कराने और आत्मसमर्पण के लिए मजबूर करने के लिए किया जाता है। फ़ासीवाद सत्ता में हो या सत्ता से बाहर हो, हर-हमेशा ही यह बड़ी पूँजी के लिए 'अनौपचारिक राज्य-सत्ता' के तौर पर काम करता रहा है। जो उदारवादी-शान्तिवादी तर्क, संवैधानिक तन्त्र और जनवाद (असल में बुर्जुआ जनवाद) की विफलता पर विधवा-विलाप कर रहा है, और जो मौज़ूदा राजनीतिक-वैचारिक व्यवस्था की बर्बरता से सदमे में है, वह अपने आँसुओं की धारा में इस बर्बरता, यानी कि फ़ासीवाद, के उदय के पीछे के कारणों और सम्बन्धों को देख पाने में असमर्थ है।

अन्त में ब्रेष्ट का यह उद्धरण बिलकुल सटीक बैठता है, *"जो लोग पूँजीवाद का विरोध किये बिना फ़ासीवाद का विरोध करते हैं, जो उस बर्बरता पर दुखी होते हैं जो बर्बरता के कारण पैदा होती है, वे ऐसे लोगों के समान हैं जो बछड़े को जिबह किये बिना ही मांस खाना चाहते हैं। वे बछड़े को खाने के इच्छुक हैं लेकिन उन्हें ख़ून देखना नापसन्द है। वे आसानी से सन्तुष्ट हो जाते हैं अगर कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ थो लेता है। वे उन सम्पत्ति सम्बन्धों के ख़िलाफ़ नहीं हैं जो बर्बरता को जन्म देते हैं, वे केवल अपने आप में बर्बरता के ख़िलाफ़ हैं। वे बर्बरता के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं, और वे उन देशों में ऐसा करते हैं जहाँ ठीक ऐसे ही सम्पत्ति सम्बन्ध हावी हैं, लेकिन जहाँ कसाई मांस तौलने से पहले अपने हाथ धो लेता है।"*

बिटकॉइन : पूँजीवादी संकट के भँवर में एक नया बुलबुला

• उत्कर्ष

"क्या आप चन्द दिनों में करोड़पति बनना चाहते हैं? क्या आप मर्सिडीज़ खरीदने का सपना देखते हैं? अगर हाँ, तो बिटकॉइन में निवेश करें।" - यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इस तरह के विज्ञापन इन दिनों इण्टरनेट पर बढ़ते जा रहे हैं। अगर बिटकॉइन के मूल्य में बढ़ोतरी का ग्राफ़ देखा जाये तो यह वाक़ई मुमकिन लगता है। वर्ष 2017 की शुरुआत में एक बिटकॉइन का मूल्य 1000 अमेरिकी डॉलर से भी कम था, लेकिन यह लेख लिखने तक यह बढ़कर 15000 डॉलर से ऊपर जा चुका था। 6 दिसम्बर को इसका मूल्य 24 घण्टे में 13000 डॉलर से बढ़कर 17000 तक पहुँच गया था, हालाँकि 22 दिसम्बर को इसका मूल्य 20000 डॉलर से एकाएक नीचे गिरकर 13000 डॉलर से भी नीचे जा पहुँचा। जिन लोगों ने 2017 की शुरुआत में या उससे पहले बिटकॉइन में निवेश किया होगा उनके लिए उपरोक्त विज्ञापन निश्चय ही अतिशयोक्ति नहीं होगा। मौक़े का फ़ायदा उठाकर बिटकॉइन के मूल्य को लेकर सट्टेबाज़ी भी धड़ल्ले से हो रही है। ये सबकुछ संकट के भँवरजाल में फँसी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में एक नये बुलबुले के फूलने की ओर साफ़ इशारा कर रहा है जो कब फूटेगा यह बताना तो मुश्किल है लेकिन इतना तय है कि यह फूटेगा और अपने साथ और बड़ी तबाही

लायेगा। इसीलिए दुनिया के तमाम देशों के केन्द्रीय बैंक और पूँजीवादी थिंकटैंक सँभलकर निवेश करने की हिदायतें दे रहे हैं।

क्या है बिटकॉइन?

बिटकॉइन एक डिजिटल मुद्रा (करेंसी) है जिसे क्रिप्टोग्राफ़ी की तकनीक के ज़रिये सुरक्षित बनाया जाता है। इसलिए इसे क्रिप्टोकरेंसी कहते हैं। इसे 'इण्टरनेट का कैश' भी कहा जा रहा है। बिटकॉइन के अतिरिक्त कई अन्य क्रिप्टोकरेंसी भी इण्टरनेट पर उपलब्ध हैं, मसलन इथिरियम, लाइटकॉइन, रिपल और मोनेरो। बिटकॉइन की खोज 2008 में एक रहस्यमय व्यक्ति ने की थी जो अपना नाम सातोशी नाकामोतो बताता है, हालाँकि अभी तक यह नहीं पता चल पाया है कि वह व्यक्ति कौन है। बिटकॉइन की विशेषता यह है कि यह दुनिया के किसी भी देश या किसी भी संस्था द्वारा विनियमित नहीं होती। यह एक विकेन्द्रीकृत मुद्रा है जो किसी केन्द्रीय संस्था या बैंक द्वारा नहीं बल्कि ब्लॉकचेन नामक तकनीक की बदौलत कम्प्यूटर नेटवर्क के ज़रिये संचालित होती है।

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में मुद्रा का लेनदेन प्राय: बैंकों या अन्य 'थर्ड पार्टी' के ज़रिये होता है जिसमें बैंक अपने सभी खाताधारकों के बही-खातों का प्रबन्धन करते हैं। चूँकि बैंक सरकार द्वारा विनियमित किये जाते हैं इसलिए बैंकों के ज़रिये मुद्रा का लेनदेन करने की इस प्रणाली में लोगों का विश्वास बना रहता है। ब्लॉकचेन की तकनीक ने यह मुमकिन बनाया है कि बिना किसी बैंक या 'थर्ड पार्टी' के मुद्रा का लेनदेन किया जा सकता है। इस प्रकार बिना किसी सांस्थानिक हस्तक्षेप के ज़रिये लेनदेन किये जा सकते हैं और समय व धन दोनों की बचत भी होती है। इस तकनीक में बही-खाते किसी केन्द्रीय संस्था के पास नहीं रहते बल्कि इस नये माध्यम से मुद्रा का लेनदेन करने वाले सभी लोगों के पास उपलब्ध होते हैं। इस क़िस्म का ऑनलाइन लेनदेन करने वाले सभी लोग इण्टरनेट के माध्यम से एक कम्प्यूटर नेटवर्क से जुड़े होते हैं जिसे पियर-टू-पियर नेटवर्क कहते हैं। इस प्रक्रिया से होने वाले लेनदेन को सुरक्षित बनाने के लिए 'डिजिटल सिग्नेचर' और क्रिप्टोग्राफ़ी की तकनीक का इस्तेमाल किया जाता है। ऐसे लेनदेनों के सत्यापन की प्रक्रिया 'बिटकॉइन माइनिंग' का अंग है जो एक विशेष कुशलता की माँग करती है। इस कुशलता से लैस विशेषज्ञों को 'बिटकॉइन माइनर्स' कहते हैं। बिटकॉइन नेटवर्क में जब भी कोई लेनदेन होता है तो नेटवर्क में उपस्थित सभी 'माइनर्स' को अधिसूचना भेजी जाती है। जो 'माइनर' लेनदेन का सत्यापन सबसे पहले करता है उसके खाते में एक निश्चित मात्रा में (इस समय 25) बिटकॉइन चले जाते हैं। इस प्रकार 'माइनर्स' न सिर्फ़ बिटकॉइन का सत्यापन करते हैं, बल्कि वे उनका निर्माण भी करते हैं। लेनदेन का सत्यापन करने वाले 'माइनर्स' क्रिप्टोग्राफ़ी की तकनीक में सिद्धहस्त होते हैं। बिटकॉइन नेटवर्क में होने वाले कई लेनदेनों को मिलाकर एक ब्लॉक बनता है। ये ब्लॉक एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, इसी वजह से इस तकनीक को ब्लॉकचेन कहते हैं। हर ब्लॉक पर अपने पिछले ब्लॉक की पहचान दर्ज होती है और इस प्रकार सभी ब्लॉक एक श्रृंखला में जुड़े होते हैं। ब्लॉकचेन की इस तकनीक को हैक करना इसलिए मुश्किल है क्योंकि हैकर को सिर्फ़ एक ब्लॉक

में नहीं बल्कि बिटकॉइन की शुरुआत से लेकर अबतक के सभी ब्लॉकों में छेड़छाड़ करनी होगी जोकि लगभग असम्भव है।

बिटकॉइन के मूल्य में उतार-चढ़ाव की वजह

हाल के दिनों में बिटकॉइन के मूल्य में जो उछाल देखने में आ रहा है उसका मुख्य कारण इसके भविष्य को लेकर होने वाली अटकलबाज़ी और अफ़वाहों का फैलना है। इण्टरनेट पर भाँति-भाँति के प्रलोभन देकर लोगों को उकसाया जा रहा है कि वे बिटकॉइन में निवेश करें। चूँकि बिटकॉइन की आपूर्ति कम्प्यूटर प्रोग्राम से होने की वजह से सीमित है, इसलिए इस क़िस्म की अटकलबाज़ी और अफ़वाहों से कभी बिटकॉइन का मूल्य आसमान छूने लगते है तो कभी उसका मूल्य धड़ाम से नीचे गिर जाता है। अटकलबाज़ी के इस माहौल में दलालों और सट्टेबाज़ों की चाँदी हो गयी है। मुनाफ़े की गिरती दर के संकट से जूझ रहे पूँजीवाद में लाभप्रद निवेश के अवसर सीमित हो गये हैं। ऐसे में सट्टेबाज़ी की इस नयी सम्भावना की वजह से तमाम दलाल और हेज फ़ण्ड लार टपकाते हुए इसमें निवेश कर रहे हैं। अमेरिका की सीएमई और सीबीओई जैसे संस्थाओं ने दिसम्बर के महीने से बिटकॉइन में फ़्यूचर्स और डेरिवेटिव ट्रेडिंग भी शुरू कर दी है। सीएनबीसी की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ इस समय 120 से ज़्यादा हेज फ़ण्ड बिटकॉइन और अन्य डिजिटल करेंसियों पर निवेश कर रहे हैं। ऐसे में इसमें क़त्तई आश्चय की बात नहीं है कि सट्टेबाज़ी का यह बुलबुला फूलता जा रहा है। ग़ौरतलब है कि 1970 के दशक से ही मुनाफ़े की गिरती दर के संकट की वजह से मृत्युशैया पर लेटे पूँजीवाद में सट्टेबाज़ी के बुलबुलों के सहारे ही समय-समय पर थोड़ी जान आती दिखती है। ये बात दीगर है कि जब ये बुलबुले फूटते हैं तो तबाही का मंज़र छा जाता है।

मुद्रा के रूप में बिटकॉइन का भविष्य

बिटकॉइन के अतिउत्साही समर्थक बिटकॉइन को एक युगपरिवर्तनकारी मुद्रा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार चूँकि बिटकॉइन किसी सरकार या बैंक के नियन्त्रण में नहीं है और चूँकि वह विकेन्द्रीकृत है इसलिए इस मुद्रा के इस्तेमाल से लोग अपने पैसे पर ख़ुद नियन्त्रण कर सकते हैं और सरकार की मौद्रिक नीतियों व बैंकों द्वारा वसूले जाने वाले ख़र्च से बचा जा सकता है। तमाम क़िस्म के 'लिबर्टेरियन' और अराजकतावादी विचार रखने वालों को ये बातें बहुत भाती हैं और वे इसको पूँजीवादी संकट के एक रैडिकल समाधान के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ऐसे लोग 2007-08 की मन्दी का हवाला देते हुए कहते हैं कि मुद्रा पर बैंकों और सरकार का नियन्त्रण होने की वजह से मन्दी के बाद आम लोगों के पैसे से ही बैंकों को बेलआउट किया गया। इसी प्रकार 2013 में साइप्रस की सरकार द्वारा संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए बैंक खातों में एक निश्चित राशि से अधिक जमा हुए पैसों को ज़ब्त करने के बाद बिटकॉइन के समर्थकों के इस प्रचार को बल मिला कि सरकार और बैंकों के नियन्त्रण में रहने वाली मुद्रा पर भरोसा नहीं किया जा

सकता है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि यह पूँजीवादी संकट की एक निम्न-बुर्जुआ प्रतिक्रिया और समाधान है जो लोभ-लालच और मुनाफ़ाख़ोरी पर टिकी समूची व्यवस्था का विकल्प ढूँढ़ने के बजाय मौजूदा व्यवस्था के भीतर ही सरकार और बैंकों द्वारा नियन्त्रित केन्द्रीकृत मौद्रिक ढाँचे का विकल्प एक विकेन्द्रीकृत मुद्रा में ढूँढ़ता है।

ऐसे में यह सवाल लाज़िमी हो जाता है कि क्या बिटकॉइन वास्तव में एक वैश्विक मुद्रा के रूप में प्रचलित हो सकती है। एक तकनीक के रूप में ब्लॉकचेन निश्चय ही एक ऐसा नवोन्मेष है जिसका भविष्य में समाजवादी व्यवस्था में भी बहुआयामी इस्तेमाल होने की सम्भावना हो सकती है, लेकिन पूँजीवाद के रहते यह एक विश्वसनीय विश्वव्यापी मुद्रा बन पायेगी इसकी सम्भावना बहुत कम है। इसकी वजह यह है कि केवल ऐसी ही चीज़ मुद्रा के रूप में प्रभावी हो सकती है जो एक ऐसे सार्वभौमिक समतुल्य का काम करे जिसके सापेक्ष अन्य मालों के मूल्य को मापा जा सके और जो विनिमय के माध्यम का भी काम कर सके। पारम्परिक रूप से धातुएँ, ख़ासकर सोना, ऐसे सार्वभौमिक समतुल्य और विनिमय के माध्यम का काम करती थीं। यह बात सच है कि आधुनिक दौर में काग़ज़ के नोट और इलेक्ट्रॉनिक माध्यम ने भी मुद्रा का स्थान ग्रहण किया है जिनका स्वयं का मूल्य किसी सुनिश्चित मात्रा में धातु की मुद्रा के बराबर हो ऐसा आवश्यक नहीं है। लेकिन ग़ौरतलब बात यह है कि ऐसा इसलिए मुमकिन हो पाता है कि देशों की सरकारें इसकी गारण्टी देती हैं और उनकी यह क्षमता उनकी अर्थव्यवस्था की स्थिति से निर्धारित होती है। चूँकि बिटकॉइन जैसी क्रिप्टोकरेंसी किसी भी देश की सरकार और बैंकों द्वारा नियन्त्रित और संचालित नहीं है, इसलिए एक वैश्विक मुद्रा के रूप में इसकी विश्वसनीयता हमेशा सन्दिग्ध बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त इसकी एक सीमा यह भी है कि पूँजीवादी ढाँचे में निहित डिजिटल खाई के मद्देनज़र इण्टरनेट का इस्तेमाल न करने वाले दुनिया के अरबों लोगों के लिए इसका कोई मतलब नहीं है। साथ ही हाल के वर्षों में बिटकॉइन की विनिमय दर में हुए भयंकर उतार-चढ़ाव को देखते हुए भी मुद्रा के रूप में इसकी स्वीकार्यता पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न है क्योंकि मुद्रा की एक बुनियादी शर्त एक समयान्तराल में उसकी सापेक्षिक स्थिरता होती है। अकेले वर्ष 2107 में ही पाँच बार ऐसा हुआ कि बिटकॉइन के मूल्य में एक दिन के भीतर ही 30 प्रतिशत का फेरबदल हुआ। इसके अतिरिक्त बिटकॉइन के निर्माण की प्रक्रिया भी उसके एक स्वीकार्य मुद्रा के रूप में प्रचलित होने पर प्रश्नचिह्न लगाती है। ग़ौरतलब है कि बिटकॉइन एक कम्प्यूटर प्रोग्राम के ज़रिये निर्मित होती है जिसका मालों के उत्पादन से कोई समानुपातिक सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त बिटकॉइन की सुरक्षा के लिए इस्तेमाल होने वाली क्रिप्टोग्राफ़ी की तकनीक के बावजूद यह हैकिंग, चोरी और धोखाधड़ी से पूरी तरह से मुक्त नहीं है। अबतक के छोटे-से जीवनकाल के दौरान ही बिटकॉइन की चोरी और धोखाधड़ी के कई मामले सामने आ चुके हैं जिनकी वजह से चीन और रूस जैसे कई देशों में इस पर तमाम क़िस्म की पाबन्दियाँ भी लगायी जा चुकी हैं। साथ ही बिटकॉइन के नाम पर दुनिया भर में चल रही सट्टेबाज़ी का बुलबुला क़ाबू से बाहर होने पर तमाम सरकारें इसपर निश्चित ही नकेल कसना शुरू करेंगी जिससे सरकारों के हस्तक्षेप से स्वायत्त होने का बिटकॉइन समर्थकों

का दावा खोखला साबित हो जायेगा। इतनी सीमाओं को देखते हुए अगर भविष्य का अनुमान लगायें तो पूँजीवाद के दायरे में अधिक से अधिक यह हो सकता है कि मुद्रा के रूप में बिटकॉइन का उपयोग एक अत्यन्त सीमित रूप में होने लगे जिसके कुछ उदाहरण दिखने भी लगे हैं।

बिटकॉइन के कुछ अतिउत्साही समर्थक इसके न सिर्फ़ सरकार के नियन्त्रण से मुक्त होने का दावा करते हैं बल्कि इसके विकेन्द्रीकृत स्वरूप का हवाला देते हुए इसे कॉरपोरेट नियन्त्रण से भी मुक्त बताते हैं। यह बात सच है कि बिटकॉइन के निर्माण और संचालन की प्रक्रिया में किसी केन्द्रीय ढाँचे या केन्द्रीकृत संसाधन जैसे कि बड़े-बड़े सर्वर आदि की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि निर्माण और संचालन का काम फ़िलहाल दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में काम कर रहे बिटकॉइन 'माइनर्स' करते हैं। परन्तु इस विकेन्द्रीकृत ढाँचे में भी केन्द्रीकरण की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। ग़ौरतलब है कि बिटकॉइन 'माइनिंग' का काम साधारण कम्प्यूटर पर नहीं किया जा सकता है, इसके लिए बहुत अधिक प्रोसेसिंग रफ़्तार वाले विशेष क़िस्म के कम्प्यूटर की आवश्यकता होती है जिसमें बहुत ज़्यादा ऊर्जा की खपत होती है। एक हालिया रिपोर्ट के मुताबिक़ फ़िलहाल बिटकॉइन 'माइनिंग' में लगने वाली बिजली का कुल खर्च आयरलैण्ड जैसे देश के कुल बिजली खर्च से अधिक है। बिटकॉइन 'माइनिंग' की प्रतिस्पर्द्धी प्रक्रिया में बिटकॉइन लेनदेन को सत्यापित करने के लिए 'माइनर्स' के बीच होड़ लगी रहती है क्योंकि सबसे पहले सत्यापित करने वाले 'माइनर्स' के खाते में कुछ बिटकॉइन जाते हैं। इस होड़ में अपनी सफलता की सम्भावना बढ़ाने के लिए कई 'माइनर्स' ने अपने संसाधनों की पूलिंग करना शुरू कर दिया है जोकि स्पष्ट रूप से केन्द्रीकरण की प्रक्रिया की ओर इंगित कर रहा है। ऐसे में अगर भविष्य में बिटकॉइन का प्रचलन बढ़ता भी है तो इस सम्भावना से हरगिज़ इनकार नहीं किया जा सकता है कि बिटकॉइन 'माइनिंग' करने वाली बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ खुलने लगें। इस प्रकार कॉरपोरेट के नियन्त्रण से मुक्त होने का दावे का भी कोई आधार नहीं रह जायेगा।

आज के साम्राज्यवाद पर लखनऊ में आयोजित छठी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी की रिपोर्ट

गत 24 से 28 नवम्बर के बीच लखनऊ के अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध अध्ययन संस्थान, गोमतीनगर के सभागार में **अरविन्द स्मृति न्यास** द्वारा **'आज के समय में साम्राज्यवाद : उद्‌भव, कार्यप्रणाली और गतिकी'** विषय पर पाँच दिवसीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी में साम्राज्यवाद के क्लासिकीय मार्क्सवादी सिद्धान्तों की आलोचनात्मक पुनर्विवेचना, साम्राज्यवाद के नव-मार्क्सवादी सिद्धान्तों का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन, लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त और नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर का साम्राज्यवाद, साम्राज्यवाद के उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्त, मौजूदा अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा और उसके निहितार्थ, साम्राज्यवाद के संशोधनवादी, सुधारवादी और सामाजिक-जनवादी सिद्धान्त, लातिन अमेरिका में साम्राज्यवाद, साम्राज्यवाद और मौजूदा आर्थिक संकट, साम्राज्यवाद और संस्कृति जैसे विषयों पर विभिन्न शोधात्मक आलेख प्रस्तुत किये गये और उन पर गहन चर्चा और गम्भीर बहस-मुबाहसा हुआ। संगोष्ठी में देश के विभिन्न राज्यों के विद्वानों, लेखकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ ही नेपाल और अमेरिका से आये लेखकों, संस्कृतिकर्मियों और कार्यकर्ताओं ने भी भागीदारी की।

संगोष्ठी का पहला दिन

पहले दिन 24 नवम्बर को संगोष्ठी के आयोजक 'अरविन्द स्मृति न्यास' की मुख्य न्यासी **मीनाक्षी** ने एक स्वागत वक्तव्य के साथ संगोष्ठी की औपचारिक शुरुआत की जिसमें उन्होंने कहा कि आज साम्राज्यवाद के शोषण से एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के

देशों की जनता तबाह है और क़र्ज़ों के बोझ से दबी हुई है। एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के देश राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र हैं, परन्तु इन देशों का बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद के 'जूनियर पार्टनर' की भूमिका अदा करता है और इन देशों के मेहनतकश वर्ग को लूटता है। ख़ासकर मध्य-पूर्व का क्षेत्र अमेरिका की साम्राज्यवादी आक्रामकता का केन्द्र और विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों की होड़ का अखाड़ा बना हुआ है। इन देशों की जनता पिछले कई दशकों से युद्ध की विभीषिका झेल रही है। दुनिया के कई अन्य देशों में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और दबाव ने वहाँ की अर्थव्यवस्था को तबाह कर दिया है। लगातार जारी वैश्विक आर्थिक संकट ने इस समस्या को और गम्भीर बना दिया है। साम्राज्यवाद के विभिन्न पहलुओं को समझने तथा इसके प्रतिरोध की रणनीतियों पर आज दुनिया भर में विचार-मन्थन जारी है। उन्होंने उम्मीद जतायी कि संगोष्ठी में पाँच दिनों तक साम्राज्यवाद के विभिन्न पहलुओं पर गहन विचार-विमर्श का सिलसिला जारी रहेगा।

संगोष्ठी का पहला आलेख विश्व भारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल से आये **प्रशान्त बनर्जी** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था : 'साम्राज्यवाद और पूँजीवादी शोषण का विस्तार : एक क्लासिकीय मार्क्सवादी विवेचना'। इस आलेख में श्री बनर्जी ने मार्क्स व एंगेल्स से लेकर लेनिन, काउत्स्की, रोज़ा लग्ज़मबर्ग आदि के साम्राज्यवाद-विषयक विचारों का संक्षिप्त ब्योरा प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि साम्राज्यवाद कोई राजनीतिक या विचारधारात्मक परिघटना नहीं बल्कि उन्नत पूँजीवाद की प्रमुख आवश्यकता है। इसलिए सत्ता संघर्ष और औपनिवेशिक विस्तार के तौर पर साम्राज्यवाद की मार्क्सवादी व्याख्या को अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियों में खोजा जाना चाहिए। पूँजीवाद की प्रकृति ही ऐसी है कि मज़दूर वर्ग पर प्रभुत्व क़ायम करके, उन्हें लूटकर और उनका शोषण करके स्वयं को समृद्ध बनाने की आन्तरिक इच्छा उसके भीतर ही मौजूद है। इसलिए साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ क्रान्ति पूँजीवादी शोषण के ख़िलाफ़ क्रान्ति का ही एक पहलू है।

पहले दिन का दूसरा आलेख विश्व भारती के ही **मोहम्मद नज़मुल हसन** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था, "साम्राज्यवाद को पॉपुलिस्ट चुनौतियाँ : एक उत्तर-मार्क्सवादी आलोचनात्मक मूल्यांकन"। इस आलेख में उन्होंने साम्राज्यवाद के प्रतिरोध के लोकरंजकतावादी आन्दोलनों की चर्चा करते हुए एशिया, अफ़्रीका, लातिन अमेरिका में चल रहे विभिन्न आन्दोलनों और साम्राज्यवाद के उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्तों और उसके ख़िलाफ़ जारी 'पापुलिस्ट' संघर्षों पर संक्षेप में बात रखी। उन्होंने कहा कि 'पॉपुलिज़्म' कुलीनों को चुनौती देने के लिए किसानों, मज़दूरों और मध्यवर्ग का एक विस्तारित गठबन्धन था। वह सामान्य तौर पर परस्पर विरोधी तत्वों का मिश्रण होता है, मसलन आम लोगों के लिए राजनीतिक अधिकारों और सार्विक भागीदारी की समानता, परन्तु नेतृत्व अक्सर एक करिश्माई व्यक्ति करता है जिसमें एक क़िस्म का निरंकुशता का पुट होता है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की **लता कुमारी** ने अपने आलेख में लातिन अमेरिका में साम्राज्यवादी शोषण के लम्बे रक्तरंजित इतिहास पर विस्तार से चर्चा की। अपने आलेख में उन्होंने कहा कि अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन में लातिन अमेरिका औपनिवेशिक काल से लेकर अब तक सबसे शोषित क्षेत्र रहा है। लातिन अमेरिका में ही साम्राज्यवादियों ने नवउदारवादी नीतियों के सबसे पहले प्रयोग आज़माये। लता ने अपने आलेख में कोलम्बस के लातिन अमेरिका के तट पर पहुँचने के बाद शुरू हुए औपनिवेशिक काल से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद थोड़े समय तक रहे नव-औपनिवेशिक काल और उसके बाद नवउदारवाद के काल में पूँजी की बर्बर लूट का चित्रण किया। इसके बाद लता ने अपने आलेख में लातिन अमेरिका में साम्राज्यवाद विरोध के आन्दोलनों में प्रभावी विभिन्न सिद्धान्तों, ख़ासकर समूचे 'डिपेण्डेंसी थियरी स्कूल' की विवेचना की जिसकी

जन्मस्थली लातिन अमेरिका ही रही है। उन्होंने राउल प्रेबिश, आन्द्रे गुण्डर फ्रैंक, एफ़.एच. कार्दोसो, सामिर अमीन और मारिनी जैसे विचारकों के विचारों का आलोचनात्मक विवेचन किया। उन्होंने बताया कि 'डिपेण्डेंसी थियरी' उन सिद्धान्तों की प्रजातियों की उप-प्रजाति है जो उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन के क्षेत्र पर ज़ोर न देकर विनिमय सम्बन्धों व परिचलन के क्षेत्र पर ज़ोर देते हैं। 'डिपेण्डेंसी थियरी' विकसित देशों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों के अधिशेष को निचोड़े जाने को उन देशों के पिछड़ेपन का मुख्य कारण बताती है, परन्तु वह इस बात का उत्तर नहीं देती कि अधिशेष पैदा कैसे होता है। मार्क्सवाद के अनुसार अधिशेष उत्पादन के क्षेत्र में पैदा होता है और वह परिचलन के क्षेत्र में प्रकट होता है। 'डिपेण्डेंसी थियरी' देशों के भीतर की उत्पादन पद्धति की अवधारणा के सन्दर्भ में चुप्पी साध लेती है। लता ने यह दलील दी कि पूरी दुनिया में ऐतिहासिक अनुभवों ने 'डिपेन्डेंसी थियरी' को ग़लत साबित किया है; इसके कुछ पैरोकारों के दावों के बावजूद यह एक मार्क्सवादी सिद्धान्त नहीं है। 'डिपेण्डेंसी परिप्रेक्ष्य' के विपरीत आलेख में लातिन अमेरिका में साम्राज्यवाद को साम्राज्यवाद के लेनिनवादी सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में विवेचना का प्रयास किया गया।

आलेखों की प्रस्तुति के बाद उनमें उठाये गये मुद्दों पर जीवन्त बहस हुई जिसमें **सनी सिंह, अभिनव सिन्हा, शिवानी, मुकेश असीम और सुखविन्दर** शामिल हुए। (बहसों के वीडियो जल्द ही अरविन्द स्मृति न्यास के यूट्यूब चैनल पर देखे जा सकेंगे।) पहले दिन के सत्रों की अध्यक्षता न्यूयॉर्क के स्वतन्त्र मार्क्सवादी शोधार्थी व कार्यकर्ता **एरिक श्मिट**, जागरूक नागरिक मंच, पटना से जुड़े राजनीतिक कार्यकर्ता **देवाशीष बराट** और कवयित्री एवं सामाजिक कार्यकर्ता **कात्यायनी** ने की और संचालन सत्यम ने किया।

संगोष्ठी का दूसरा दिन

संगोष्ठी के दूसरे दिन तीन आलेख प्रस्तुत किये गये। पहले सत्र में गाजियाबाद से आये ट्रेड यूनियन ऐक्टिविस्ट **तपीश मैन्दोला** ने "समकालीन साम्राज्यवादी दुनिया के बुनियादी अन्तरविरोध : कुछ प्रेक्षण" विषयक अपना आलेख प्रस्तुत किया। इस आलेख में तपीश ने मार्क्स के समय से लेकर अब तक सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में आये बदलावों का विस्तृत ब्यौरा दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के देशों में औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक सत्ताओं के विघटन की प्रक्रिया का भी विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत किया। इसके बाद पूँजीवाद के विकास की प्रक्रिया की संक्षिप्त रूपरेखा देते हुए उन्होंने कहा कि एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के देशों में होने वाला पूँजीवादी विकास बेहद जटिल, असमान और उतार-चढ़ाव भरा रहा है। तपीश ने कहा कि समकालीन दुनिया में दो बुनियादी अन्तरविरोध कार्यरत हैं : पहला श्रम और पूँजी के बीच का अन्तरविरोध और दूसरा अन्तरराष्ट्रीय इजारेदारियों के बीच का एवं साम्राज्यवादी देशों के बीच का अन्तरविरोध। इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक और भूराजनीतिक कारणों से कुछ सापेक्षतया पिछड़े पूँजीवादी देशों और साम्राज्यवादी देशों के बीच का अन्तरविरोध भी उग्र रूप धारण कर रहा है। नतीजतन बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच का अन्तरविरोध प्रधान अन्तरविरोध बन गया है। इसलिए 1963 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रस्तावित सामान्य कार्यदिशा से आगे सोचने की ज़रूरत है।

दूसरे दिन का दूसरा आलेख लेखक और ऐक्टिविस्ट **आनन्द सिंह** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था "भूमण्डलीकरण के दौर का साम्राज्यवाद : परिवर्तन और निरन्तरता के पहलू"। इस

आलेख में 1977 में क्रिश्चियन पैलोया द्वारा दिये गये स्कीमा की आलोचनात्मक विवेचना प्रस्तुत की गयी जिसमें उन्होंने मार्क्स द्वारा 'पूँजी' खण्ड दो में प्रस्तुत की गयी अवधारणा 'पूँजी के परिपथ' के माध्यम से पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया को समझाया था। आनन्द ने कहा कि हालाँकि यह स्कीमा भूमण्डलीकरण की परिघटना को समझने के लिए उपयोगी है, परन्तु इसकी अपनी सीमाएँ भी हैं। इसके बाद उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से हुए प्रमुख घटनाक्रमों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की। तत्पश्चात उन्होंने नवउदारवादी भूमण्डलीकरण की प्रमुख अभिलाक्षणिकताओं का वर्णन करते हुए उत्पादन के अन्तरराष्ट्रीयकरण, वित्तीय पूँजी की निर्णायक विजय, मुनाफ़े की गिरती दर के संकट का जारी रहना और राष्ट्रपारीय निगमों का तीव्र विकास परन्तु फिर भी बदले हुए रूप में राष्ट्र-राज्यों की प्रसांगिकता के बरक़रार रहने की चर्चा की। उन्होंने रूस-चीन की साम्राज्यवादी धुरी के उभार के मद्देनज़र अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के वर्तमान स्वरूप पर चर्चा की। भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के देशों के बीच के सम्बन्धों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि इन देशों का बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवादी देशों के बुर्जुआ वर्ग का दलाल नहीं बल्कि उनका 'जूनियर पार्टनर' है।

दूसरे दिन का तीसरा आलेख भाकपा-माले, रेड स्टार की ओर से **विजय कुमार** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था, "आज के दौर में साम्राज्यवाद"। लेनिन द्वारा प्रस्तुत साम्राज्यवाद की पाँच बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं की चर्चा करने के बाद विजय ने 1940 के दशक से शुरू हुई विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का वर्णन किया। इस नयी परिस्थिति में अमेरिकी साम्राज्यवाद ने औपनिवेशीकरण को एक नया स्वरूप और अन्तर्वस्तु दी। इस नवऔपनिवेशीकरण के दौर का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि समूचे साम्राज्यवादी दौर में जहाँ साम्राज्यवाद की गति के नियम बुनियादी तौर पर वही रहते हैं वहीं नवऔपनिवेशीकरण के दौर में कुछ गुणात्मक बदलाव भी हुए हैं जिन्हें चिह्नित करना आवश्यक है। इनमें से एक महत्वपूर्ण बदलाव यह हुआ है कि नवउपनिवेशों में भूमि सम्बन्ध अब सामन्ती नहीं रहे। हालाँकि विजय ने ज़ोर देते हुए कहा कि बुर्जुआ वर्ग का चरित्र अभी भी दलाल का ही है। इसके बाद विजय ने ख्रुश्चेव काल में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा साम्राज्यवाद के प्रति संशोधनवादी पहुँच अपनाये जाने का उल्लेख किया। कीन्सियाई दौर से नवउदारवादी दौर की ओर संक्रमण की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि नवउदारवादी दौर की विशेषता सट्टेबाज़ पूँजी का निर्बाध अन्तरराष्ट्रीय प्रवाह है। उन्होंने पर्यावरण विनाश पर ज़ोर देते हुए कहा कि खाद्य संकट, विस्थापन, जल की कमी आदि उसके लक्षण हैं जो आर्थिक असमानता की वजह से और बढ़ रहे हैं। उन्होंने यह रेखांकित किया कि इस सन्दर्भ में भाकपा-माले, रेड स्टार ने अपने पार्टी दस्तावेज़ में पूँजी और प्रकृति के बीच के अन्तरविरोध को मुख्य अन्तरविरोध के रूप में सम्मिलित किया है।

आलेखों की प्रस्तुति के बाद बहस-मुबाहिसे का दौर शुरू हुआ जिसमें देहरादून से आये **अश्विनी त्यागी**, लुधियाना से आये **बलदेव सिंह,** चण्डीगढ़ से आये **मानव**, बलिया से आये **अवधेश सिंह,** नेपाल से आयीं **सरिता तिवारी, गुरप्रीत, आनन्द सिंह, अभिनव सिन्हा और तपीश मैन्दोला** ने हिस्सा लिया। दूसरे दिन के सत्रों की अध्यक्षता सिरसा से आये वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता **डा. सुखदेव हुन्दल,** पंजाबी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक **सुखविन्दर** और अरविन्द स्मृति न्यास की अध्यक्ष **मीनाक्षी** ने की और संचालन **शिवानी** ने किया।

संगोष्ठी का तीसरा दिन

संगोष्ठी के तीसरे दिन 26 नवम्बर को मज़दूर अख़बार 'मज़दूर बिगुल' के सम्पादक **अभिनव सिन्हा** ने अपना आलेख प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था : "मार्क्स के समय से लेकर अब तक साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त : एक समकालीन आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन"। इस आलेख में अभिनव ने मार्क्स के समय से लेकर अब तक के सिद्धान्तकारों, जैसे हार्वी, वुड आदि के साम्राज्यवाद पर मार्क्सवादी चिन्तन का एक सांगोपांग आलोचनात्मक और समकालीन सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। इस आलेख की शुरुआत में उन्होंने विश्व पैमाने पर पूँजीवाद के विस्तार, विकसित पूँजीवादी देशों और साथ ही पिछड़े देशों पर उसके प्रभाव के बारे में मार्क्स के प्रेक्षणों का उल्लेख किया जो उनकी विभिन्न कृतियों में बिखरे हुए मिलते हैं। आलेख में इस पर ज़ोर दिया गया कि पूँजीवाद के इस विस्तार और नतीजतन साम्राज्यवाद के उद्भव का कारण मुनाफ़े की गिरती हुई दर का गिरना था न कि वास्तवीकरण की समस्या। उन्होंने कहा कि जब मार्क्स की मृत्यु हुई उस समय पूँजीवाद के इजारेदारी के युग में प्रवेश करने की प्रकिया अभी जारी ही थी। फिर भी मार्क्स के लेखन में साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टियाँ मिलती हैं। इसके बाद अभिनव ने हिल्फ़र्डिंग की सर्वप्रमुख रचना 'वित्त पूँजी' में प्रस्तुत साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण किया। उन्होंने कहा कि हालाँकि इस पुस्तक ने साम्राज्यवाद के युग में पूँजीवाद की कार्यप्रणाली से सम्बन्धित कई मूल्यवान अन्तर्दृष्टियाँ दीं परन्तु उसमें सामंजस्यवादी और सामाजिक-जनवादी विभ्रम भी मौजूद थे। साम्राज्यवाद के प्रश्न से सम्बन्धित अगली प्रमुख रचना रोज़ा लग्ज़ेम्बर्ग की 'पूँजी का संचय' थी। उन्होंने कहा कि लग्ज़ेम्बर्ग का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त मूलत: मार्क्सवादी सिद्धान्त नहीं है क्योंकि उसमें अल्पउपभोगवादी अवस्थिति अपनायी गयी है। उसके बाद अभिनव ने बुखारिन की रचना 'साम्राज्यवाद और विश्व अर्थव्यवस्था' का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए कहा कि वह साम्राज्यवाद के प्रश्न पर पहली व्यवस्थित मार्क्सवादी रचना थी। इस रचना की त्रुटियों की आलोचना भी की गयी, मसलन बुखारिन की इस त्रुटिपूर्ण अवधारणा की कि राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्द्धा समाप्त होकर विश्व स्तर पर पुनरुत्पादित होती है। इसके बाद उन्होंने साम्राज्यवाद के लेनिन के सिद्धान्त की विवेचना की। उन्होंने कहा कि लेनिन का सिद्धान्त साम्राज्यवाद का अब तक का सबसे पूर्ण सिद्धान्त है जिसमें उच्च स्तर के सामान्यीकरण और द्वन्द्वात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है। अभिनव ने 1940 के दशक से लेकर 1970 के दशक के बीच के नव-मार्क्सवादी सिद्धान्तों जैसे स्वीज़ी-बरान के 'मोनोपोली कैपिटल स्कूल', आन्द्रे गुण्डर फ्रैंक की 'डिपेण्डेंसी थियरी', इमैनुएल वालरस्टीन की 'वर्ल्ड सिस्टम थियरी', सामिर अमीन का 'अल्पविकास' का सिद्धान्त और अरगिरी एमैनुएल के 'असमान विनिमय' का सिद्धान्त आदि का आलोचनात्मक विश्लेषण किया। उन्होंने एलेन मीक्सिन्स वुड, डेविड हार्वी और एलेक्स कैलिनिकोस जैसे तथाकथित 'नया साम्राज्यवाद' के नये सिद्धान्तों की भी आलोचना प्रस्तुत की।

अभिनव ने अपने आलेख में इस बात पर ज़ोर दिया कि ख़ास तौर पर 1970 के दशक के बाद से साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली में आये बदलावों की रोशनी में साम्राज्यवाद के एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के विकास का कार्य अभी पूरा किया जाना बाक़ी है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी परिप्रेक्ष्य से कई सारी चीज़ों का विश्लेषण करने की ज़रूरत है, जिनमें से कुछ परिमाणात्मक बदलाव हैं जबकि कुछ अन्य गुणात्मक बदलावों से सम्बन्धित हैं। पोस्ट-फ़ोर्डिज़्म के उभार से लेकर वैश्विक असेम्बली लाइन के उभरने, साम्राज्यवादी दुनिया में बहु-ध्रुवीयता के नये आयाम, उच्च स्तर का

अनौपचारिकीकरण, विनियमीकरण, अति-वित्तीयकरण, सट्टेबाज़ पूँजी का प्रभुत्व और किसी समाजवादी खेमे की ग़ैर-मौजूदगी, अमेरिका के वर्चस्व में होता ह्रास, चीन-रूस धुरी का उभार, अब पूँजीवादी देश बन चुके पूर्व उपनिवेशों में सर्वहारा क्रान्ति की नयी रणनीति और आम रणकौशल - इन सभी बदलावों का विश्लेषण करने और समझने की ज़रूरत है।

आलेख की प्रस्तुति के बाद एक जीवन्त बहस-मुबाहसे का दौर चला जिसमें **लखविन्दर, प्रेमप्रकाश, शिरीष मेढ़ी, हरजिन्दर सिंह, अभिनव सिन्हा** और **विजय कुमार** ने हिस्सा लिया। तीसरे दिन के सत्रों की अध्यक्षता नेपाल के वरिष्ठ वामपन्थी नेता एवं लेखक **निनू चपागाईं,** पंजाब के वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता **डॉ. सुखदेव सिंह** और दिल्ली से आयी ट्रेड यूनियन कर्मी और बिगुल मज़दूर दस्ता की सदस्य **शिवानी** ने की जबकि संचालन **आनन्द सिंह** ने किया।

संगोष्ठी का चौथा दिन

संगोष्ठी के चौथे दिन का पहला आलेख पंजाबी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक **सुखविन्दर** ने प्रस्तुत किया। आलेख का शीर्षक था "अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा, बदलता शक्ति सन्तुलन और भविष्य की सम्भावनाएँ"। आलेख में सुखविन्दर ने कहा कि सोवियत संघ के विघटन के बाद एकध्रुवीय विश्व, साम्राज्यवाद का अन्त, साम्राज्यवाद के लेनिन के सिद्धान्त की अप्रासंगिकता की बातें करने वाले तमाम सिद्धान्त लोकप्रिय होने लगे। काउत्स्की के सिद्धान्त की लेनिन की आलोचना से प्रेरणा लेते हुए सुखविन्दर ने प्रभात पटनायक और एजाज़ अहमद जैसे अकादमीशियनों द्वारा प्रस्तावित समकालीन नव-काउत्स्कीवादी सिद्धान्तों की आलोचना प्रस्तुत की। इन सिद्धान्तों की आलोचना करने के बाद उन्होंने पतनशील अमेरिकी साम्राज्यवाद के परिप्रेक्ष्य में वैश्विक वर्चस्व के लिए होड़ कर रही नयी साम्राज्यवादी धुरियों का ब्यौरा दिया। उन्होंने कहा कि किस प्रकार यूरोपीय संघ अमेरिकी साम्राज्यवाद को चुनौती देने वाली एक धुरी हो सकता है। उन्होंने अमेरिकी साम्राज्यवाद को सबसे बड़ी चुनौती देने वाले रूस के पुनरुत्थान का ब्यौरा पेश किया। चीन के उभार और उसके साम्राज्यवादी शक्ति बनने की सम्भावना एवं रूस के साथ उसके गठबन्धन ने एक चीन-रूस साम्राज्यवादी धुरी का निर्माण किया है। इसके बाद उन्होंने लातिन अमेरिका और मध्य-पूर्व जैसे क्षेत्रों में चल रहे तनावों और सीरिया, यूक्रेन आदि में चल रहे साम्राज्यवादी तनावों के बारे में बात रखी। अन्त में उन्होंने कहा कि सभी घटनाक्रम ये सन्देश दे रहे हैं कि भविष्य में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ने वाली है जो भविष्य में और ज़्यादा अस्थिरता को बढ़ायेगी।

इसके बाद केरल से आये **बिपिन बालाराम** ने एक प्रस्तुतीकरण दिया जिसमें उन्होंने शुरुआत एजाज़ अहमद, सी.पी. चन्द्रशेखर, इरफ़ान हबीब, जयति घोष जैसे प्रमुख वाम अकादमिशियनों के विचारों पर आलोचनात्मक टिप्पणियों से की। इसके बाद वे प्रभात और उत्सा पटनायक की पुस्तक "साम्राज्यवाद का एक सिद्धान्त" की आलोचना की ओर बढ़े। उन्होंने इस पुस्तक में दिये गये सिद्धान्त को "निम्न बुर्जुआ के लिए/का शोकगीत" क़रार दिया। उन्होंने कहा कि पटनायक द्वय के सिद्धान्त का सबसे मुख्य पहलू विश्व की भौगोलिक असममिति है जिसमें चाय, कॉफी, गन्ना और कपास जैसे बुनियादी मालों का उत्पादन उष्णकटिबन्धीय देशों में ही होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उष्णकटिबन्धीय देशों के छोटे उत्पादकों की आय में कमी पैदा करने के लिए मेट्रोपॉलिटन पूँजी द्वारा आज़माये जाने वाले सभी तरीक़े साम्राज्यवाद की परिधि में आते हैं। बिपिन ने कहा कि डेविड हार्वी ने इस सिद्धान्त की असंगतता, उष्णकटिबन्धीय देश जैसी अवधारणाओं को ढीले-ढाले

ढंग से परिभाषित करने और भौगोलिक नियतत्ववाद के लिए उचित ही इसकी आलोचना की है, हालाँकि उन्होंने स्वयं भी साम्राज्यवाद का अपना सामाजिक-जनवादी और काउत्स्कीपन्थी सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा कि इस सिद्धान्त से यह हास्यास्पद नतीजा भी निकाला जा सकता है कि कोई उष्णकटिबन्धीय देश कभी साम्राज्यवादी हो ही नहीं सकता और ऐसा नतीजा वर्तमान साम्राज्यवादी दुनिया के कई घटनाक्रमों की व्याख्या नहीं कर पायेगा।

बिपिन के प्रस्तुतीकरण के बाद न्यूयार्क से आये विद्वान और मार्क्सवादी कार्यकर्ता **एरिक श्मिट** ने अपना आलेख प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था "विश्व की परिस्थिति और विश्व क्रान्ति"। आलेख की शुरुआत में एरिक ने कहा कि विश्व क्रान्ति के लिए आन्तरिक कारणों को ज़िम्मेदार ठहराना चाहिए जोकि ऐतिहासिक रूप से निर्धारित होते हैं और विभिन्न वर्गीय परिस्थितियों के अनुरूप होते हैं। साथ ही अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को एक सामान्य दिशा प्रस्तुत करनी चाहिए जिससे हर सर्वहारा विश्व क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिए कार्यभार निधारित कर सके। इसके बाद उन्होंने मौजूदा विश्व परिस्थिति की एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। समकालीन विश्व परिस्थिति की व्याख्या करते हुए उन्होंने कुछ विशेषताओं जैसे कि आर्थिक संकट, बुर्जुआ वर्ग का राजनीतिक बिखराव, बुर्जुआ विचारधारा का संकट और राजनीतिक रूप से एक वर्ग के रूप में सर्वहारा की कमज़ोरियों की वजह से क्रान्तिकारी खेमे की विफलता आदि का वर्णन किया। वास्तव में अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की कमज़ोरी आज साम्राज्यवादी खेमे की कमज़ोरियों से कहीं अधिक है। इसके बाद उन्होंने वर्तमान राजनीतिक सन्धि-बिन्दु का कालक्रम प्रस्तुत करते हुए कहा कि आज की विश्व परिस्थिति में साम्राज्यवाद और उत्पीड़ित देशों के बीच का अन्तरविरोध प्रधान अन्तरविरोध है जो यह माँग करता है कि हम अपनी मनोगत ताक़तों को एक स्वायत्त संगठन और कार्यक्रम के निर्माण की दिशा में विकसित करें। आज क्रान्तिकारी सर्वहारा को वर्ग संश्रय बनाने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ संयुक्त मोर्चे बनाने चाहिए ताकि वे अपना जनाधार सुदृढ़ कर सकें।

चौथे दिन की बहस में कर्नाटक से **रवीन्द्र डी. हालिंगली**, लुधियाना से **लखविन्दर**, महाराष्ट्र से **शिरीष मेढ़ी** ने हिस्सा लिया। उसके बाद एरिक के आलेख पर एक लम्बी और जीवन्त बहस हुई जिसमें **अभिनव** और **एरिक** ने हिस्सा लिया। सत्रों की अध्यक्षता **कविता कृष्णपल्लवी, अभिनव सिन्हा** और **आनन्द सिंह** ने की और संचालन **नमिता** ने किया।

पाँचवाँ और अन्तिम दिन

28 नवम्बर को संगोष्ठी के पाँचवें और अन्तिम दिन तीन आलेख प्रस्तुत किये गये और साम्राज्यवाद पर प्रभात पटनायक की अवस्थिति की आलोचना पर केन्द्रित पीआरसी, सीपीआई (एमएल) पटना के **अजय कुमार सिन्हा** का आलेख सदन में वितरित किया गया। पाँचवें दिन पहला आलेख विश्व भारती, शान्तिनिकेतन के **डॉ. एम.पी. टेरेंस सैमुएल** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था, "संस्कृति और साम्राज्यवाद"। इस आलेख में उन्होंने उल्लेख किया कि क्लासिकीय मार्क्सवादी समझ के अनुसार संस्कृति को अस्तित्वमान सामाजिक-आर्थिक संरचना और परिस्थितियों की अधिरचना के रूप में समझा गया। इसलिए यूरोपीय भूदेशों से गैर-यूरोपीय क्षेत्रों में पूँजीवाद के साम्राज्यवादी विस्तार ने औपनिवेशीकृत देशों के लोगों के सांस्कृतिक पहलुओं को प्रभावित किया, हालाँकि यह पूँजीवादी विस्तार मुख्यतया आर्थिक ही था। हालाँकि मार्क्स यह समझते थे कि किस प्रकार सामाजिक-आर्थिक आधार अधिरचना के तत्वों को द्वन्द्वात्मक ढंग से प्रभावित करता है,

परन्तु उन्होंने संस्कृति और साम्राज्यवाद/पूँजीवाद के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों के बारे में बहुत विस्तार से नहीं लिखा। सामाजिक-आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच यह सम्बन्ध एकतरफ़ा नहीं होता। होर्खाइमर और अदोर्नो की रचनाओं की चर्चा करते हुए डॉ. सैमुएल ने कहा कि उनके अनुसार आधुनिक काल में 'संस्कृति उद्योग' द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली तकनीकी प्रगति प्रभुत्व का साधन बनती है।

इसके बाद नेपाल के कम्युनिस्ट आन्दोलन के वरिष्ठ कम्युनिस्ट नेता और जाने-माने साहित्यिक आलोचक **निनू चापागाईं** ने नेपाल में भारत के साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और उसके दबंग और साम्राज्यवादी आचरण की चर्चा की। उन्होंने कहा कि उनके देश में संसदीय राजनीति अब विभिन्न प्रकार की विकृतियों का शिकार है जिसको लेकर कार्यकर्ताओं में निराशा व्याप्त है। सत्ता के लालच में वहाँ की पार्टी ने उन सिद्धान्तों की तिलांजलि दे दी है जिनके लिए उसने एक लम्बा संघर्ष छेड़ा था। इसके बाद मुम्बई से आये **हर्ष ठाकोर** ने साम्राज्यवाद के प्रतिरोध से सम्बन्धित वक्तव्य रखा।

अन्तिम दिन का दूसरा आलेख ट्रेड यूनियन एक्टिविस्ट और बिगुल मज़दूर दस्ता से जुड़ी **शिवानी** कौल ने प्रस्तुत किया। उनके आलेख का शीर्षक था "एम्पायर के उत्तर-मार्क्सवादी सिद्धान्त और साम्राज्यवाद का लेनिनवादी सिद्धान्त"। इस आलेख में उन्होंने मुख्यतया माइकल हार्ट और अन्तोनियो नेग्री की चर्चित पुस्तक "एम्पायर" की आलोचना प्रस्तुत की। "एम्पायर" के सिद्धान्त के दार्शनिक मूल की बात करते हुए उन्होंने कहा कि हार्ट और नेग्री उत्तर-मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक परम्परा से आते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि हार्ट और नेग्री के सैद्धान्तीकरण में मज़दूरवाद (ऑपराइज़्मो) के इतालवी संस्करण का भी असर साफ़ देखा जा सकता है। उन्होंने कहा कि जिसे "एम्पायर" का नाम दिया गया है वो और कुछ नहीं बल्कि भूमण्डलीकरण ही है, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि 'साम्राज्यवाद की मृत्यु" का दावा करने वाली पुस्तक साम्राज्यवाद के क्लासिकीय सिद्धान्तों के बारे में बिल्कुल मौन है। यह सिद्धान्त साम्राज्यवाद के मौजूदा यथार्थ को नहीं पकड़ पाता है। मार्क्सवाद की पूरी ठोस विश्लेषणात्मक श्रेणियों की जगह अमूर्त अटकलपच्चू श्रेणियों ने ले ली और नतीजा एक बिखरे हुए सैद्धान्तीकरण के रूप में सामने है। शिवानी ने दलील दी कि हार्ट-नेग्री के इस सैद्धान्तीकरण में सबकुछ अवैयक्तिक हो जाता है; सत्ता और संघर्ष दोनों, साम्राज्यवाद का स्थान साम्राज्य ले लेता है; वर्ग का स्थान 'मल्टीट्यूड' ले लेता है। उन्होंने "एम्पायर" के सैद्धान्तीकरण की कुछ अन्तर्निहित समस्याओं को चिह्नित किया और उनकी तुलना लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त से करते हुए कहा कि मौजूदा साम्राज्यवाद को समझने के लिए लेनिन का सिद्धान्त अभी भी सबसे बेहतरीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है।

संगोष्ठी का अन्तिम आलेख **अभिनव सिन्हा** ने प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था, "मौजूदा साम्राज्यवादी संकट : एक नयी महामन्दी"। पूँजीवाद के मौजूदा संकट के बारे में बात करते हुए अभिनव ने कहा कि यह संकट इस मायने में अतीत के संकट से अलग है कि यह कहीं ज़्यादा दीर्घकालिक और संरचनागत है, भले ही 1930 की महामन्दी जितना प्रलयंकारी न दिखे। यही वजह है कि इसे 'लॉन्ग डिप्रेशन" की संज्ञा भी दी जा रही है। इसके बाद उन्होंने माइकल हाइनरिख़ द्वारा किये गये पूँजी के पाठ और उनके द्वारा उठाये गये कुछ विवादित मुद्दों, ख़ासकर मुनाफ़े की दर के गिरने की प्रवृत्ति के मार्क्स के बुनियादी नियम जैसे मुद्दों पर हाइनरिख़ की अवस्थिति, का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने एण्ड्रू क्लिमैन, माइकल रॉबर्ट्स, गुग्लिएल्मो कारचेदी, एलन फ्रीमैन, फ्रेड मोस्ले आदि के दृष्टिकोणों का भी उल्लेख किया। उसके बाद उन्होंने एण्ड्रू क्लिमैन और माइकल रॉबर्ट्स का हवाला देते हुए संकट पर डुमेनिल और लेवी के दृष्टिकोण की

आलोचना प्रस्तुत की। इसके पश्चात उन्होंने सैम गिण्डिन और लियो पैनिच, डेविड हार्वी और एलेक्स कैलिनिकोस व अन्य के दृष्टिकोण की भी आलोचना पेश की। उन्होंने संकट पर अनवर शेख के दृष्टिकोण को सही बताया। उन्होंने दलील दी कि हार्वी और हाइनरिख़ के दावों के विपरीत मार्क्स ने संकट का एक सिद्धान्त दिया था और वह सिद्धान्त था मुनाफ़े की दर के गिरने की प्रवृत्ति का नियम। इसे आनुभविक रूप से सिद्ध किया जा सकता है कि यह साम्राज्यवाद के आवर्ती संकटों की अब तक की सबसे वैज्ञानिक और तार्किक व्याख्या है और यह उसके बुनियादी अन्तरविरोध अर्थात उत्पादन के समाजीकरण और विनियोजन के निजीकरण का पर्दाफ़ाश करता है। इसके बाद अभिनव ने विशेष रूप से दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से विश्व की अग्रणी अर्थव्यवस्थाओं में मुनाफ़े की दर से सम्बन्धित आँकड़े और ग्राफ़ प्रस्तुत करते हुए दिखाया कि किस तरह से सभी अर्थव्यवस्थाओं में मुनाफ़े की गिरती दर की प्रवृत्ति रही है। अन्त में उन्होंने कहा कि सवाल यह साबित करने का नहीं है कि मुनाफ़े की दर गिरती है या नहीं, बल्कि यह है कि यह दर क्यों गिरती है, और मार्क्स ने ठीक इसी सवाल का जवाब दिया था।

अन्तिम दिन चर्चा में फ़रीदाबाद से आये **सत्यवीर सिंह, सुखविन्दर, अभिनव** और **सत्यम** आदि ने प्रमुख रूप से भाग लिया। सत्रों की अध्यक्षता गाज़ियाबाद से आये **तपीश मैन्दोला**, दिल्ली से आये **प्रेम प्रकाश** तथा लुधियाना से आये **लखविन्दर** ने की जबकि संचालन **लता कुमारी** ने किया।

संगोष्ठी के अन्त में शाम को नवगठित क्रान्तिकारी रॉक बैण्ड **'अनुष्टुप'** ने दुनिया के विभिन्न हिस्सों के साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्तिकारी गीतों का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। बैण्ड में अनहद, सृजन, अभिनव और शिप्रा शामिल हैं।

'दायित्वबोध' पत्रिका के सम्पादक तथा प्रखर वामपन्थी कार्यकर्ता एवं बुद्धिजीवी दिवंगत **कॉमरेड अरविन्द सिंह** की स्मृति में अरविन्द स्मृति न्यास की ओर से सामाजिक बदलाव के आन्दोलन से जुड़े किसी अहम सवाल पर संगोष्ठी का आयोजन किया जाता है। पहली दो संगोष्ठियाँ दिल्ली व गोरखपुर में मज़दूर आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं पर हुई थीं जबकि तीसरी संगोष्ठी भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन के सवाल पर लखनऊ में आयोजित की गयी थी। चौथी संगोष्ठी 'जाति प्रश्न एवं मार्क्सवाद' विषय पर चण्डीगढ़ में तथा पाँचवीं संगोष्ठी 'समाजवाद की समस्याएँ' विषय पर इलाहाबाद में आयोजित हुई थी। सातवीं वृहत् संगोष्ठी 2019 में भूमि सम्बन्धों के सवाल पर होना प्रस्तावित है।

- आनन्द सिंह

अक्टूबर क्रान्ति की शतवार्षिकी के अवसर पर

शिनाख़्त

धरती चाक की तरह घूमती है
ज़िन्दगी को प्याले की तरह
गढ़ता है समय।
धूप में सुखाता है।
दुख को पीते हैं हम
चुपचाप।

शोरगुल में मौज़-मस्ती का जाम।
प्याला छलकता है।
कुछ दुख और कुछ सुख
आत्मा का सफ़ेद मेज़पोश
भिगो देते हैं।

कल समय धो डालेगा
सूखे हुए धब्बों को
कुछ हल्के निशान
फिर भी बचे रहेंगे।

स्मृतियाँ
अद्भुत ढँग से
हमें आने वाली दुनिया तक
लेकर जायेंगी।

सब-कुछ दुहराया जायेगा फिर से
पर हूबहू
वैसे ही नहीं।

– **शशिप्रकाश**

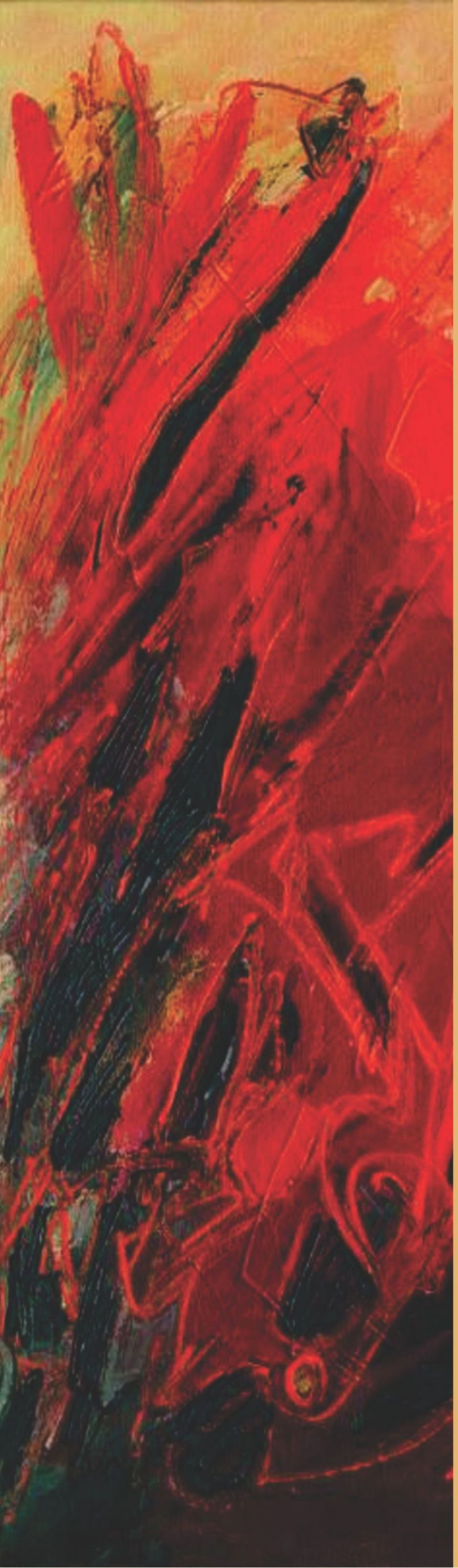

Disha Sandhan January-March 2018
RNI Title Code: UPHIN 43949

स्तालिन के जन्मदिवस पर

"लेनिन की मृत्यु के बाद, कॉमरेड स्तालिन ने अक्टूबर क्रान्ति के समय महान लेनिन द्वारा रचे गये विश्व के प्रथम समाजवादी राज्य को एक शानदार समाजवादी समाज के रूप में निर्मित करने में सोवियत जनता की अगुवाई की। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की विजय केवल सोवियत जनता की विजय नहीं थी, बल्कि पूरी दुनिया की जनता की साझा विजय भी थी। सर्वप्रथम, इस विजय ने सर्वाधिक वास्तविक ढंग से मार्क्सवाद-लेनिनवाद की अकाट्य सत्यता को सिद्ध किया और दुनियाभर के मेहनतकश लोगों को शिक्षित किया कि उन्हें एक अच्छे जीवन की ओर कैसे क़दम बढ़ाने चाहिए। दूसरे, इस विजय ने सुनिश्चित किया कि दूसरे विश्व युद्ध के दौरान मानवता के पास फ़ासिस्ट राक्षस को हराने की शक्ति होगी। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की विजय के बिना फ़ासीवाद-विरोधी युद्ध में विजय की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की विजय और फ़ासीवाद-विरोधी युद्ध में विजय के साथ समस्त मानवता की तक़दीर जुड़ी हुई थी, और इन विजयों का गौरव हमारे महान कॉमरेड स्तालिन के नाम है।"

— माओ त्से-तुङ